॥ प्रस्तावना ॥

इस संसार में ऐसा कौन प्राणी है जो दुःख से मुक्त होने की अभिलाषा नहीं करता. किन्तु जबतक उन दुः
के सत्य उपाय उसको मालूम न हों तबतक वह कैसे कृतकार्य (सफल) हो सकता है; इसलिये सभी को दुःख
के सत्य उपाय जानने की बड़ी अभिलाषा रहती है, कि इस अपार संसार समुद्र में निरन्तर भ्रमण करने वाले प्रा
होते हुए अत्युत्कट [जन्म-जरा-मरणादि] दुःखों से छूटने का कौनसा उपाय है ?। यद्यपि विचारशाली और बुद्धि
मनुष्य इसका उत्तर अवश्य देंगे, कि धर्म के सिवाय और कोई ऐसा दूसरा उपाय इन दुःखों से मुक्त होने का न
न्तु धर्माधर्म का विवेक करना ही सर्व साधारण को अतिदुष्कर है अर्थात् कौन धर्म है और कौनसा अधर्म है इसका नि
कुछ सहज काम नहीं है, क्यों कि इस दुनिया में अनेक धर्मनामधारी मत प्रचलित हो रहे हैं, जिनको
भी बहुत कठिन है तो फिर उनमें किसको धर्म और किसको धर्माभास कहा जाय ?। हां महानुभावों के
सार इतना अवश्य कह सकते हैं कि इस पञ्चमकाल में-अर्थात् दुःषम आरा में, धर्मनामों का प्रायः प्रचार विशे
चाहिये और धर्म की अवनति दशा विशेष होनी चाहिये। इस पर फिर यह जिज्ञासा होगी कि वैसा धर्म कौन
इसका उत्तर यह है कि जिस धर्म के प्रवर्तक पुरुष किसी के द्वेषी अथवा रागी न हों और जो धर्म किसी
[अत्यन्त प्रिय] प्राण का विघातक न हो-अर्थात् जिससे सभी जीवों को सुख हो प्राप्त हो सके हो। ऐसे
चाहिये । यदि ऐसा धर्म वस्तुगत्या देखा जाय तो जैन धर्म ही दिखाई देता है क्योंकि इसके प्रवर्तक [illegible]
भी रागद्वेष-विजेता हैं और उस धर्म का ' अहिंसा परमो धर्मः ' यह सिद्धान्त भी है । यद्यपि अन्य धर्मशास्त्रों में
अहिंसा की महिमा है किन्तु प्रधानरूप से उसकी कारणता [जन्मादि] दुःखों से मुक्त होने में नहीं कही गई है. अ
उनमें यदि एकाध अंश में दया है तो अन्यांश में हिंसा भी है । जैसे किसी मत का मन्तव्य है कि कोई कोई यह
प्राणी इस भव में दुःख सहता हो तो उसको इस जन्म से मुक्त करदेना ही दया है । अथवा-अब कभी करना
हो तो यज्ञ में प्राणियों को मारकर उनको उत्तमगति वाला बना देना । अस्तु-विशेष विस्तार इसका इसी ग्रन्थ के
प्रथम भाग में ' अहगकुमार ' और ' अहिंसा ' शब्द पर जिज्ञासुओं को देखना चाहिये । हरिभद्र का कहना है
कि ' पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु । युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ' ॥ १ ॥ और ' सर्व
सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम् ' इत्यादि ॥

यह जैनधर्म—द्रव्यधर्म, आचारधर्म, क्रियाधर्म, और वस्तुधर्म से चार भागों में विभक्त है । और इस धर्म का प्रका
कारण शासन है, जो समवसरण में बैठेहुए देवाधिदेव सर्वज्ञ भगवान् श्रीतीर्थङ्कर के उपदेश से प्रकाशित होता है
और पीछे उन्हीं उपदेशों को श्रीगौतमादि गणधर द्वादशाङ्गी अथवा एकादशाङ्गी-रूप में संदर्भित करते हैं, जिनका
' सूत्र ' नाम से व्यवहार किया जाता है। ये प्रत्येक तीर्थङ्करों के शासन काल में विद्यमान रहा करते हैं ।
यद्यपि पूर्वकाल में चौदह पूर्वधर, तथा दश पूर्वधर, श्रुतकेवली आदि महात्माओं को तो किसी दुरूहता की
आवश्यकता ही नहीं थी क्योंकि उनके अतिशय से उन्हें सूत्र से ही अर्थज्ञान हो जाता था परन्तु अर्थ करने में
ज्ञान में दुर्बलता होने से और जैन धर्म के विषय अति गहन होने से इनको स्पष्ट करने के लिये नियुक्ति-भाष्य-
र्णि-टीका-आदि रचने पड़े । परन्तु इस समय में जैन ग्रन्थों का इतना विस्तार हो गया है कि कोई भी
कोई मनुष्य सांसारिक कार्य करता हुआ एतदर्थ विरक्त भी इस जैनागमसमुद्र के पार को प्रायः नहीं पा
। कारण यह है कि पहिले तो सब ग्रन्थों की उपलब्धि सब कहीं नहीं होगी और जो मिलते भी हैं उनमें कौन
कहाँ पर है यह प्रायः ठीक २ पता हर एक को नहीं लगता और यदि किसी ग्रन्थ में पता भी लग जाय तो वह विषय
जगह या दूसरे ग्रन्थों में कहाँ कहाँ पर आता है यह पता नहीं लग सकता। यह कारण तो स्पष्ट ही है, दूसरा
ह भी है कि जिस भाषा में जैनदर्शन बना है, वह भाषा वही है कि जिसने प्राचीन समय में अपूर्वरूप से
भारतभूमि में स्थान पाया था, और जिसका संस्कृत से और गद्यपद्यों का बड़ा आदर किया गया, इसी कारण
बिलकुल नहीं है और जो नाटकों में कहीं कहीं दिखाई देता है इसको [illegible]
और यदि किसीने उसका कुछ अभ्यास भी कर लिया तो [illegible]

अर्थ समझ में नहीं आसकता, क्योंकि भगवान तीर्थङ्कर ने, तथा गणधरों ने अर्धमागधी भाषा में उन सूत्रों का प्रस्ताव किया है, जो कि सामान्य प्राकृत भाषा से कुछ विलक्षण है। पूर्व समय में तो लोग परिश्रम करके आचार्यों के मुख से सूत्रपाठ और उसका अर्थ सुनकर कण्ठस्थ करते थे तभी वे कृतकार्य भी होते थे (इसका संक्षिप्त विवरण पहिले भाग के 'अहालंदिय' शब्द पर देखो।) किन्तु आजकल ऐसी परिपाटी के प्रायः नष्ट होजाने से ज्ञान, दर्शन और चारित्र का अत्यन्त ह्रास होगया है। इस दशा को देखकर हमारे गुरुवर्य्य श्रीसौधर्मबृहत्तपागच्छीय कलिकालसर्वज्ञकल्प भट्टारक १००८ श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज को बड़ी चिन्ता उपस्थित हुई कि दिनों दिन जैन धर्म के शास्त्रों का ह्रास होता जाता है, इसीलिये बहुत से लोग उत्सूत्र काम भी करने लग गये हैं और अपने धर्मग्रन्थों से बिल्कुल बेखबर से होगये हैं। ऐसी दशा में क्या करना चाहिये? क्योंकि संसार में उसी मनुष्य का जीवन सफल है जिसने अपने धर्म की यथाशक्य उन्नति की, अन्यथा-'अ-[illegible] कश्चि-दपि नाहिंक्रियायुतैः। यस्त्वजाशब्दवत् पुंसः, संज्ञार्थं जन्म केवलम्' की तरह हो जाता है। ऐसी चिन्ता हृदय में बहुत दिन रही, किन्तु एक दिन रात्रि में ऐसा विचार हुआ कि-एक ऐसा ग्रन्थ नवीन रूढि से बनाना चाहिये जिसमें जैनागम की मागधी भाषा के शब्दों को अकारादि क्रम से रखकर संस्कृत में उनका अनुवाद, लिङ्ग, व्युत्पत्ति, और अर्थ लिखकर फिर उस शब्द पर जो पाठ मूलसूत्र का आया है उसको लिखना और टीका यदि उसकी प्राचीन मिले तो उसको देकर स्पष्ट करना और यदि ग्रन्थान्तर में भी वही विषय आया हो तो उसकी सूचना (भलावन) दे देना चाहिये। इससे नाथः अपने मनोऽनुकूल संसार का उपकार होगा। तदनन्तर प्रातःकाल होते ही पूर्वोक्त सूरीजी महाराज ने अपनी नित्य क्रिया को करके इस कार्य का भार उठाया, और दत्तचित्त होकर बाईस वर्ष पर्यन्त घोर परिश्रम करने पर इस कार्य में सफल हुए, अर्थात् 'अभिधानराजेन्द्र' नाम का कोष मागधीभाषा में रचकर चार भागों में विभक्त कर दिया। उसके बाद कितने ही श्रावकों ने और शिष्यों ने प्रार्थना की कि यदि यह ग्रन्थ भी और ग्रन्थों की तरह भण्डार में ही पड़ा रह जायगा तो कितने मनुष्य इससे लाभ उठा सकेंगे? इसलिये अनेक देश देशान्तरों में जिस तरह इसका प्रचार हो वह काम होना चाहिये। इसपर सूरीजी महाराज ने उत्तर दिया कि मेरा कर्तव्य तो पूर्ण होगया अब जिससे समस्त संसार का उपकार हो वैसा तुम लोगों को करना चाहिये, मैं इस विषय में तटस्थ हूँ। तदनन्तर श्रीसङ्घ ने इस ग्रन्थ के विशेष प्रचार होने के लिये छपवाना ही निश्चय किया। तब इस ग्रन्थ के शोधन का भार सूरीजी महाराज के विनीत शिष्य मुनि श्री दीपविजयजी और मुनि श्री यतीन्द्रविजयजी ने ग्रहण किया, जो इस कार्य के पूर्ण साक्षी हैं।

जैनधर्म का ऐसा कोई भी साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका-सम्बन्धी विषय नहीं है जो इस कोश में आया न हो, किन्तु साथ ही साथ विशेषता यह है कि अकारादिक्रम के अनुक्रम से शब्दों पर सब विषय रक्खे गये हैं। जो मनुष्य जिस विषय को देखना चाहे वह उसी शब्द पर पुस्तक खोलकर देख ले। जो विषय जहाँ २ जिस २ जगह पर आया है उसकी भलावन (सूचना) भी इसी प्रकार कर दी है। और कई २ शब्दों पर विषयसूची भी दी हुई है जिससे विषय जानने में सुगमता हो। तथा प्रत्यक्ष के सूत्र मूल १, और उनकी निर्युक्ति २, भाष्य ३, चूर्णि ४, टीका ५ तथा और भी प्रामाणिक आचार्यों के बनाये हुए [illegible] शब्दों पर [illegible] हैं। जिस शब्द पर या उसके विषय पर किसी आचार्य या श्रावक की कथा मिली है उसे भी उस शब्द पर [illegible] कर दी है ... [illegible] २ तीर्थों की और सभी तीर्थङ्करों की कई पूर्वभवों से लेकर निर्वाणपर्यन्त [illegible] दी हुई हैं; इत्यादि विषय आगे दी हुई संक्षिप्त सूची से समझना चाहिये।

इस ग्रन्थ में जो संकेत (नियम) रक्खे गये हैं वे इस तरह हैं—

१-प्राकृत शब्द का मूलशब्द, और उसका संस्कृत अनुवाद, तथा मूल की गाथा, और मूलसूत्र, [जिनकी टीका है] मोटे [illegible] अक्षरों में रक्खे हैं।

२-जहाँ कोई गाथा टीका में भी आई है और उसकी भी टीका है तो उसे भी [illegible] ([illegible]) में रक्खा है। और मोटे अक्षरों में न रखकर गाथा के आदि अन्त में (" ") ये चिह्न दे दिये हैं। फिर उसके नीचे से उसकी टीका प्रारंभ की है। ग्रन्थ का नाम [illegible] अक्षरों में, और टीका छोटे ([illegible]) अक्षरों में दी गई है।

३-जहाँ कहीं अवतरण में प्राकृत शब्द का संस्कृत [illegible] आया है उसके आदि अन्त में '' यह चिह्न दिया गया है, किन्तु [illegible] वहाँ पर भी [illegible] उसको रक्खा है। और यदि [illegible] वहाँ पर [illegible] ही मोटे अक्षरों में रक्खा है।

४-जिस शब्द का जो अर्थ है उसको सप्तम्यन्त से दिया है और उसके नीचे [,] यह चिह्न दिया है और उसके बाद जिस ग्रन्थ से वह अर्थ लिया गया है उसका नाम भी दे दिया है। यदि उसके आगे उस ग्रन्थ का कुछ भी पाठ नहीं है तो उस ग्रन्थ के आगे अध्ययन उद्देशादि जो कुछ मिला है वह भी दिया गया है और यदि उस ग्रन्थ का पाठ मिला है तो पाठ की समाप्ति में अध्ययन उद्देश आदि रक्खे गये हैं, किन्तु अर्थ के पास केवल ग्रन्थ का ही नाम रक्खा है ॥

५-मागधीशब्द और संस्कृत अनुवाद शब्द के मध्य में तथा लिङ्ग और अनुवाद के मध्यमें भी (—) यह चिह्न दिया है। इसी तरह तदेव दर्शयति- तथा चाह- या अवतरणिका के अन्त में भी आगे से संबन्ध दिखाने के लिये यही चिह्न दिया गया है।

६-जहाँ कहीं मागधी शब्द के अनुवाद संस्कृत में दो तीन चार हुए हैं तो दूसरे तीसरे अनुवाद को भी मोटे ही अक्षरों में रक्खा है किन्तु जैसे प्राकृत शब्द सामान्य पङ्क्ति (लाईन) से कुछ बाहर रहता है वैसा न रखकर सामान्य पङ्क्ति के बराबर ही रक्खा है और उसके आगे भी लिङ्गप्रदर्शन कराया है; बाकी सभी बात पूर्ववत् मूलशब्द की तरह दी है।

७-किसी किसी मागधीशब्द का अनुवाद संस्कृत में नहीं है किन्तु उसके आगे 'देशी' लिखा है वहाँ पर देशीय शब्द समझना चाहिये, उसकी व्युत्पत्ति न होने से अनुवाद नहीं है।

८-किसी २ शब्द के बाद जो अनुवाद है उसके बाद लिङ्ग नहीं है किन्तु (धा०) लिखा है उससे धात्वादेश समझना चाहिये।

९-कहीं कहीं (ब० व०) (क० स०) (बहु० स०) (त० स०) (न० त०) (३ त०) (४ त०) (५ त०) (६ त०) (७ त०) (अव्ययी० स०) आदि दिया हुआ है उनको क्रम से बहुवचन; कर्मधारय समास; बहुव्रीहि; तत्पुरुष; नञ्तत्पुरुष; तृतीयातत्पुरुष; चतुर्थीतत्पुरुष; पञ्चमीतत्पुरुष; षष्ठीतत्पुरुष; सप्तमीतत्पुरुष; अव्ययीभाव समास समझना चाहिये।

१०-पुं०। स्त्री०। न०। त्रि०। अव्य०-का संकेत क्रम से पुंल्लिङ्ग; स्त्रीलिङ्ग; नपुंसकलिङ्ग; त्रिलिङ्ग और अव्यय समझना।

अध्ययनादि के सङ्केत और वे किन किन ग्रन्थों में हैं—

११—१ अ०- अध्ययन- आवश्यकचूर्णि, आवश्यकवृत्ति, आचाराङ्ग, उपासकदशाङ्ग, उत्तराध्ययन, ज्ञाताधर्मकथा, दशाश्रुतस्कन्ध, दशवैकालिक, विपाकसूत्र और सूत्रकृताङ्ग में हैं।

२ अधि०- अधिकार- अनेकान्तजयपताकावृत्तिविवरण, गच्छाचारपयन्ना, धर्मसंग्रह और जीवानुशासन में हैं।

३ अध्या०- अध्याय- द्रव्यानुयोगतर्कणा में हैं।

४ अष्ट०- अष्टक- हारिभद्राष्टक और यशोविजयाष्टक में हैं।

५ उ०- उद्देश- सूत्रकृताङ्ग, भगवती, निशीथचूर्णि, बृहत्कल्प, व्यवहार, स्थानाङ्ग और आचाराङ्ग में हैं।

६ उल्ला०- उल्लास- सेनप्रश्न में हैं।

७ कर्म०- कर्मग्रन्थ- कर्मग्रन्थ में हैं।

८ कल्प- कल्प- विविधतीर्थकल्प में हैं।

९ ठा०- ठाणा- स्थानाङ्गसूत्र में हैं।

१० खण्ड- खण्ड- उत्तराध्ययननिर्युक्ति में हैं।

११ क्षण- क्षण- कल्पसुबोधिका में हैं।

१२ काण्ड- काण्ड- सम्मतितर्क में हैं।

१३ द्वा०- द्वात्रिंशिका- द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका में हैं।

१४ द्वार- द्वार- पञ्चवस्तुक, पञ्चसंग्रह, प्रवचनसारोद्धार और प्रश्नव्याकरण में हैं।

(प्रश्नव्याकरण में आश्रवद्वार और संवरद्वार के नाम से ही द्वार प्रसिद्ध हैं)

१५ पद- पद- प्रज्ञापनासूत्र में हैं।

१६ परि०- परिच्छेद- रत्नाकरावतारिका में हैं।

१७ चू०- चूलिका- दशवैकालिक और आचाराङ्ग में हैं।

१८ प्रति०– प्रतिपत्ति– जीवाभिगम सूत्र में हैं।
१६ पाद– पाद– प्राकृतव्याकरण और उसकी टीका दुण्ढिका में हैं।
२० पाहु०– पाहुडा– चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, ज्योतिष्करण्डक में हैं।
२१ वर्ग– वर्ग –निरयावलिका, अणुत्तरोववाई, अन्तकृद्दशाङ्ग में हैं।
२२ विव० –विवरण– षोडशप्रकरण और पञ्चाशक में हैं।
२३ प्रका०– प्रकाश– हीरप्रश्न में हैं।
२४ प्र०– प्रश्न– सेनप्रश्न में हैं।
२५ श०– शतक– भगवती सूत्र में हैं।
२६ श्रु०– श्रुतस्कन्ध– सूत्रकृताङ्ग, आचाराङ्ग, ज्ञाताधर्मकथा और विपाकसूत्र में हैं।
२७ वक्ष०– वक्षस्कार– जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में हैं।
२८ सम०– समवाय– समवायाङ्ग सूत्र में हैं।
२९ सू०– सूत्र– पञ्चसूत्र में हैं।

१२—जिन जिन ग्रन्थों का प्रमाण दिया है उनके सङ्केत और नाम—

१ अङ्ग० – अङ्गचूलिका।
२ अणु० – अणुत्तरोववाई सूत्र सटीक।
३ अनु० – अनुयोगद्वार सूत्र सटीक।
४ अने० – अनेकान्तजयपताकावृत्तिविवरण।
५ अन्त० – अन्तगडदशाङ्ग सूत्र।
६ अष्ट० – अष्टक यशोविजयकृत सटीक।
७ आचा० – आचाराङ्गसूत्र सटीक।
८ आ०चू० – आवश्यकचूर्णि।
६ आ०म०प्र०- आवश्यकमलयगिरि (प्रथमखण्ड)
१० आ०म०द्वि०- आवश्यकमलयगिरि (द्वितीयखण्ड)
११ आतु० – आतुरप्रत्याख्यान पयन्ना टीका।
१२ आ०क० – आवश्यककथा।
१३ आव० – आवश्यकबृहद्वृत्ति।
१४ उत्त० – उत्तराध्ययन सूत्र सटीक।
१५ उपा० – उपासकदशाङ्ग सूत्र सटीक।
१६ उत्त०नि० – उत्तराध्ययननिर्युक्ति।
१७ एका० – एकाक्षरीकोश।
१८ ओघ० – ओघनिर्युक्ति सटीक।
१९ औ० – औपपातिकसूत्र वृत्ति।
२० कर्म० – कर्मग्रन्थ सटीक।
२१ क०प्र० – कर्मप्रकृति सटीक।
२२ कल्प० – कल्पसुबोधिका सटीक।
२३ को० – पाइयलच्छीनाममाला कोश।
२४ ग० – गच्छाचारपयन्ना टीका।
२५ चं०प्र० – चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र सटीक।
२६ जै० गा० – जैनगायत्रीव्याख्या।
२७ जं० – जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति सूत्र सटीक।
२८ ज्ञा० – ज्ञाताधर्मकथा सूत्र सटीक।
२९ जी० – जीवाभिगम सूत्र सटीक।
३० जीत० – जीतकल्पवृत्ति।
३१ जीवा – जीवानुशासन सटीक।
३२ जै०इ० – जैनइतिहास।
३३ ज्यो० – ज्योतिष्करण्डक सटीक।
३४ ढुं० – ढुण्ढी (प्राकृतव्याकरण) टीका।
३५ तं० – तन्दुलवयाली पयन्ना टीका।
३६ तित्थु० – तित्थुगाली पयन्नामूल।
३७ दशा० – दशाश्रुतस्कन्ध सूत्रवृत्ति।
३८ दर्श० – दर्शनशुद्धि सटीक।
३९ दश० – दशवैकालिकसूत्र सटीक।
४० द० प० – दशपयन्नामूल।
" १ चउसरण पयन्ना।
" २ आतुरप्रत्याख्यान पयन्ना।
" ३ संथारगह पयन्ना।
" ४ चंदविज्झ पयन्ना।
" ५ गच्छाचार पयन्ना।
" ६ तंदुलवयाली पयन्ना।
" ७ देविंदत्थव पयन्ना।
" ८ गणिविज्जा पयन्ना।
" ९ महापच्चक्खाण पयन्ना।
" १० मरणविधि पयन्ना।
४१ द्रव्या० – द्रव्यानुयोगतर्कणा सटीक।
४२ द्वा० – द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका(बत्तीसबत्तीसी)सटीक
४३ द्वी० – द्वीपसागरप्रज्ञप्ति।
४४ दे० ना०– देशीनाममाला सटीक।

४५ ध० — धर्मसंग्रह सटीक।
४६ ध० र० — धर्मरत्नप्रकरण सटीक।
४७ नयो० — नयोपदेश सटीक।
४८ नं० — नन्दीसूत्र सवृत्ति।
४९ नि० — निरयावली सूत्र सटीक।
५० नि० चू० — निशीथसूत्र सचूर्णि।
५१ पं० चू० — पञ्चकल्पचूर्णि।
५२ पं० भा० — पञ्चकल्प भाष्य।
५३ पञ्चा० — पञ्चाशक सटीक।
५४ पं० व० — पञ्चवस्तुक सटीक।
५५ पं० सं० — पञ्चसंग्रह सटीक।
५६ पं० सू० — पञ्चसूत्र सटीक।
५७ प्रव० — प्रवचनसारोद्धारटीका।
५८ प्रव० मू० — प्रवचनसारोद्धार मूल।
५९ प्रति० — प्रतिमाशतक सूत्र सटीक।
६० प्रश्न० — प्रश्नव्याकरण सूत्र सटीक।
६१ प्रज्ञा० — प्रज्ञापना सूत्र सटीक।
६२ प्रमा० — प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार सूत्र।
६३ पिं० — पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति।
६४ पिण्ड० मू० — पिण्डनिर्युक्ति मूल।
६५ पा० — पाक्षिक सूत्र सटीक।
६६ प्रा० — प्राकृतव्याकरण।
६७ भ० — भगवती सूत्र सटीक।
६८ महा० — महानिशीथ सूत्र मूल।
६९ मण्ड० — माण्डलप्रकरण सवृत्ति।
७० यो० बि० — योगबिन्दु सटीक।
७१ रत्ना० — रत्नाकरावतारिका वृत्ति।
७२ रा० — राजप्रश्नीय (रायपसेणी) सटीक।
७३ ल० — ललितविस्तरा वृत्ति।
७४ लघु० — लघुप्रवचनसार मूल।
७५ ल० क्षे० — लघुक्षेत्रसमास प्रकरण।
७६ व्य० अ० — व्यवहार सूत्र अक्षरार्थ।
७७ वाच० — वाचस्पत्याभिधान (कोश)
७८ व्य० — व्यवहारसूत्रवृत्ति।
७९ ती० — विविधतीर्थकल्प।
८० बृ० — बृहत्कल्पवृत्ति सभाष्य।
८१ विशे० — विशेषावश्यक सभाष्य सबृहद्वृत्ति।
८२ विपा० — विपाक सूत्र सटीक।
८३ श्रा० — श्रावकधर्मप्रज्ञप्ति सटीक।
८४ षो० — षोडशकप्रकरण सटीक।
८५ स० — समवायाङ्ग सूत्र सटीक।
८६ संथा० — संथारगपइन्ना सटीक।
८७ संस० नि० — संसक्तनिर्युक्ति मूल।
८८ संघा० — सङ्घाचार भाष्य।
८९ सत्त० — सत्तरिसयठाणा वृत्ति।
९० सम्म० — सम्मतितर्क सटीक।
९१ स्था० — स्थानाङ्ग सूत्र सटीक।
९२ स्या० — स्याद्वादमञ्जरी सटीक।
९३ सू० प्र० — सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्र सटीक।
९४ सूत्र० — सूत्रकृताङ्ग सूत्र सटीक।
९५ सेन० — सेनप्रश्न।
९६ हा० — हारिभद्राष्टक सटीक।
९७ ही० — हीरप्रश्न।

१३—प्राकृतशब्दों में जो कहीं कहीं ( ) ऐसे कोष्ठक के मध्य में अक्षर दिये गये हैं, उनके विषय में थोड़े से नियम—

१—कहीं कहीं एक शब्द के अनेक रूप होते हैं परन्तु सूत्रों में एकही रूप का पाठ विशेष आता है इसलिये उसीको मुख्य रखकर रूपान्तर को कोष्ठक में रक्खा है—जैसे 'अदत्तादाण' या 'अणुजाग' शब्द है और उसका रूपान्तर 'अदिण्णादाण' या 'अणुजाव' होता है किन्तु सूत्र में पाठ पूर्व का ही प्रायः विशेष आता है तो उसीको मुख्य रखकर दूसरे को कोष्ठक में रखदिया है; अर्थात्—'अद्त्ता (दिण्णा) दाण, 'अणुजाग (व)'।

२—कहीं कहीं मागधी शब्द के अन्त में (ण्) इत्यादि व्यञ्जन वर्ण भी कोष्ठक में दिया गया है वह "अन्त्यव्यञ्जनस्य" ॥ ८।१।११॥ इस प्राकृतसूत्र से लुप्त हुए की सूचना है।

३—कहीं कहीं "क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक्" ॥ ८।१।१७७॥ इस सूत्र से एक पक्ष में व्यञ्जन के लोप होने पर बचे हुए (अ) (इ) आदि स्वरमात्र को रूपान्तर में दिया है।

४—इसी तरह "अवर्णो यश्रुतिः" ॥ ८।१।१८०॥ का भी विषय कोष्ठक में (य) आदि रक्खा है।

५—तथा "ख-घ-थ-ध-भाम्" ॥ ८।१।१८७॥ इस प्राकृत सूत्र से ख घ थ ध भ इन अक्षरों को प्रायः हकार हुआ करता

है [illegible] होने का भी रूप आता है तो रूपान्तर की सूचना के लिये (प)(भ) आदि
[illegible] है। यह नियम स्मरण रखने के योग्य है।

[illegible] के [illegible] १२-१३-१४-१५-१६-१७-१८-१९-२०-२१-[illegible]
[illegible] और दूसरे पाद के ७-९-५-८-१०-११ सूत्रों से भी किये हुए रूपान्तर को कोष्ठ[illegible]

[illegible] ॥ ८ । १ । २३६ ॥ इस सूत्र के लगने से फ को (भ) या (ह) होने पर, दो रूपों [illegible]
[illegible] में दिया गया है। इसी तरह इसी पाद के २४१-२४२-२४३-२४४-२४८-२४९-२५२-२५[illegible]
[illegible]-२६३-२६४ सूत्रों के विषय भी समझना चाहिये।

[illegible] ॥ ८ । २ । १६४ ॥ इस सूत्र से आये हुए क प्रत्यय को कहीं कहीं कोष्ठक में (अ) [illegible]
[illegible] ॥ ८ । १ । ३२८ ॥ सूत्र का जो आर्ष प्रयोगों में विकल्प होता है, इत्यादि विषय [illegible]
[illegible] में समझ लेना चाहिये।

१९—[illegible] शब्दों में कहीं २ संस्कृत शब्दों के लिङ्गों से विलक्षण भी लिङ्ग[illegible]

[illegible] हुआ करता है जैसे तृतीय भाग के ४१७ पृष्ठ में 'पिठ[illegible]
[illegible] है कि '[illegible], [illegible] नपुंसकलिङ्गता'। इसीतरह " प[illegible]
[illegible] इस सूत्र से [illegible] को पुंलिङ्ग होता है; और दामन्-शिरस्-नभस् शब्दों को [illegible]
[illegible] '[illegible]' । १ । ३३ । 'गुणाद्याः क्लीबे वा' । १ । [illegible]
[illegible] है। [illegible] में भी लोक प्रसिद्धि की अपेक्षा से ही [illegible]
[illegible] ३०४ पृष्ठ में 'कलवाइ (ण्)—कलवादिन्' इत्यादि कों में पुं[illegible]
[illegible] और नपुंसकलिङ्ग भी हो सकता है किन्तु उन दोनों का [illegible]
[illegible] 'आउसंत-आयुष्मन्' इत्यादि कों में यद्यपि ' बुधसं [illegible]
[illegible] है तथापि केवल पुंस्त्व का ही स्वीकार है; क्यों कि काव्या[illegible]
[illegible] गण में पद शब्द का पाठ होने से पुंस्त्व[illegible]
[illegible], किन्तु काव्यानुशासन-साहित्यदर्पण-काव्यप्र[illegible]
[illegible] का आदर नहीं किया है।

[illegible] शब्दों में से थोड़े शब्दों के उपयोगी वि[illegible]

[illegible] के कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

[illegible], अम्बूद्वीपों में परस्पर अन्तर, [illegible]
[illegible] का और [illegible] का अन्तर, [illegible] सूर्यों का [illegible]
[illegible] के द्वारों का अन्तर, विमानवासों का अन्त[illegible]
[illegible] का अन्तर इत्यादि विषय देखने के योग्य

[illegible] शब्द पर दश १० आचार्यों का नि[illegible]
[illegible] में वर्णित की व्याख्या की गई है।

[illegible] करने का निषेध, और [illegible]
[illegible] करने का निषेध, [illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible] ' शब्द पर [illegible] का विचार
[illegible]
[illegible] के योग्य है।

६–' अणेगंतवाय ' शब्द पर स्याद्वाद का स्वरूप, एकान्तवादियों को दोष, अनेकान्तवादियों के मत का प्रदर्शन, अनेकान्तवाद के प्रत्यक्षरूप से दिखाई देते हुए भी उसको तिरस्कार करने वालों की उन्मत्तता, एकान्तरूप से उत्पत्ति अथवा नाश मानने में दोष, हरएक वस्तु के अनन्तधर्मात्मक होने में प्रमाण, वस्तु को एकान्तसत्ता माननेवाले सांख्यमत का खण्डन इत्यादि विषय उत्तमोत्तम दिखाये गये हैं ।

७ ' अण्णउत्थिय ' शब्द पर एक जीव एक समय में दो आयुष्य करता है कि नहीं ? इसपर अन्ययूथिकों के साथ विवाद, अदत्तादानादि क्रिया के विषय में विवाद, एक समय में एक जीव के दो क्रिया करने में विवाद, कल्याणकारी शील है या श्रुत है ? इसपर अन्ययूथिकों के साथ विवाद, और अन्ययूथिकों के साथ गोचरी का निषेध, तथा अन्ययूथिकों को भोजन देने का निषेध, एवं उनके साथ विचारभूमि या विहारभूमि में जाने का निषेध आदि विषय आवश्यकीय हैं ।

८ ' अदत्तादाण ' शब्द पर अदत्तादान के नाम, अदत्तादान का स्वरूप, अदत्तादान का कर्ता. और अदत्तादान का फल इत्यादि विषय उपकारी हैं ।

९ ' अद्दगकुमार ' शब्द पर आर्द्रककुमार की कथा, रागद्वेषरहित के भाषण करने में दोषाभाव, बीजादि के उपभोक्ता श्रमण (साधु) नहीं कहे जाते, समवसरणादि के उपभोग करने पर भी अर्हन् भगवान् के कर्मबन्ध न होने का प्रतिपादन, केवल भावशुद्धि ही को माननेवाले बौद्धों का खण्डन, बिना हिंसा किये हुए भी मांस खाने का निषेध आदि विषय प्रदर्शित किये गये हैं ।

१० ' अधिगरण ' शब्द पर कलह करने का निषेध, उत्पन्न हुए कलह को शान्त करने की आज्ञा, कलह उत्पत्ति के कारण, कलह करके दूसरे गण में जाने का निषेध, गृहस्थ के साथ कलह उत्पन्न होजाने पर उसको बिना शान्त किये पिण्डादि ग्रहण करने का निषेध इत्यादि विषय स्मरण रखने के योग्य हैं ।

११ 'अप्पाबहुय' शब्द पर अल्पबहुत्व के चार भेद, पृथ्वीकायादिकों के जघन्यावगाहना में अल्पबहुत्व, आहारक और अनाहारक जीवों का अल्पबहुत्व, सेन्द्रियों का परस्पर अल्पबहुत्व, क्रोधादि कषायों का अल्पबहुत्व, किस क्षेत्र में जीव थोड़े हैं और किसमें बहुत हैं इसका निरूपण, जीव और पुद्गलों का अल्पबहुत्व, तथा ज्ञानियों का अल्पबहुत्व आदि अनेक विषय हैं ।

१२ 'अमावसा' शब्द पर एक वर्ष में द्वादश अमावास्याओं का निरूपण, तथा उनके नक्षत्रों का योग और उनके कुल, एवं कितने मुहूर्तों के जानेपर अमावास्या के बाद पूर्णमासी और पूर्णमासी के बाद अमावास्या आती है इत्यादि विषय हैं; और 'अयण' शब्द पर अयन का परिमाण, करण का निरूपण, चन्द्रायण के परिज्ञान में करण आदि विषय द्रष्टव्य हैं ।

१३ ' अहिंसा ' शब्द पर अहिंसा का स्वरूपनिरूपण, अहिंसा व्रत का लक्षण, जिनको यह मिली है और जिन्होंने इसको ग्रहण की है उनका वर्णन. अहिंसा पालन में उद्यत पुरुषों का कर्तव्य, अहिंसा की पांच भावनाएँ, शास्त्रोक्त की हिंसा करने का निषेध, वैदिक (याज्ञिक) हिंसा पर विचार, प्राणी के न मारने के कारण, जैनों के समान अन्य मत में अहिंसा के अभाव का निरूपण, अन्य मत में अहिंसा को मोक्ष की कारणता मुख्य न (गौण) होना. एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य आत्मा के मानने वालों के मत में अहिंसा का व्यर्थ हो जाना, आत्मा के परिणामी होने पर भी हिंसा में अविरोध का प्रतिपादन, आत्मा के नित्यानित्यत्व और देह से भिन्नाभिन्नत्व होने में प्रमाण, तथा आत्मा के शरीरावच्छिन्न होने में गुण आदि विषय ध्यान देने के योग्य हैं ।

प्रथम भाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथायें आई हैं उनकी नामावली—

' अइमुंतय ' ' अकंपिअ ' ' अंगारमद्दग ' ' अंजू ' ' अंब ' ' अंबड ' ' अक्कर ' [होतिचन्द नामचन्द की] ' अक्खरसुण्ण ' ' अगड्ड ' ' अगडदत्त ' ' अगहिलगराय ' ' अचंकारियभट्टा ' ' अचल ' ' अजियदेव ' ' अज्जगंग ' ' अज्जचंदणा ' ' अज्जमंगु ' ' अज्जमणग ' ' अज्जरक्खिय ' ' अज्जरविमित्त ' ' अज्जव ' (अर्जुनोपाख्यान) ' अज्जसुहत्थि ' ' अट्टणमल्ल ' ' अट्ट ' ' अट्ठाय ' ' अड्डमगाय ' ' अणवि ' ' अणिसिसिओसहाण ' ' अणीयस ' ' अणुवेसंपय ' ' अणुत्तरदंसण ' ' अणुतरेवा ' ' अत्तिपाउय ' ' अणदोसोवसंहार ' ' अत्थकुसम ' ' अद्दगकुमार ' ' अप्पराय ' ' अभय ' ' अमयमहेसर ' ' अजयकुमार ' ' अभयदेव ' ' अमरदत्त ' ' अर ' ' अरहन्नय ' ' अरिट्ठनेमि ' ' [illegible] ' ' [illegible] ' ' असद ' ' असत्यवादोदाहरण ' ' अहिच्छत्ता ' ' अहिनंदण ' आदि शब्दों पर कथायें

द्वितीय भाग के कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१—'[illegible]' शब्द पर [illegible] के भेद, [illegible] को [illegible] है इसका निरूपण, आयु की पुष्टि के कारण, और [illegible] देखने चाहिये।

२—'[illegible]' शब्द पर [illegible] के भेद, [illegible] के शरीरादि का वर्णन, और उसके सचित्त–अचित्त–मिश्र [illegible] का [illegible], [illegible] की [illegible], अप्काय ग्रहण का निरूपण, अप्काय की हिंसा का निषेध, अप्काय के [illegible] का [illegible], और [illegible] के [illegible] का निषेध आदि विषय हैं।

३—'[illegible]' शब्द में [illegible] और [illegible] की [illegible] किस ऋतु में और किस नक्षत्र के साथ कितनी होती हैं इत्यादि विषय देखने के योग्य हैं।

४—'[illegible]' शब्द पर [illegible] और [illegible] भेद से आगम के भेद, आगम का स्वतः प्रामाण्य, आगम के अपौ-[illegible] का [illegible], [illegible] का प्रामाण्य, जहाँ जहाँ प्रामाण्य का संभव है वह सभी प्रमाणी-[illegible] है [illegible], [illegible] के प्रामाण्य न होने पर विचार, शब्द के नित्यत्व का विचार, जो आगम-[illegible] का [illegible] है वह [illegible] का भी विषय हो सकता है इसका विचार, धर्ममार्ग और मोक्षमार्ग में आ-[illegible], [illegible] में आगम के ही नियामक होने का विचार, बौद्धों के [illegible] इत्यादि [illegible] विषय देखने योग्य हैं।

५—'[illegible]' शब्द पर [illegible] होने का निरूपण, परलोक में आज्ञा ही प्रमाण है, आज्ञा की [illegible], आज्ञारहित पुरुष का चारित्र ठीक नहीं रह सकता, और [illegible] है।

६—'[illegible]' शब्द पर [illegible] विषय [illegible] के देखने योग्य हैं।

७—'[illegible]' शब्द पर [illegible], आत्मा का [illegible], आत्मा के [illegible] पर विचार, आत्मा का [illegible], [illegible] पर विचार, आत्मा का [illegible], और आत्मा के क्षणिकत्व मानने पर [illegible] है।

८—'[illegible]' शब्द पर [illegible] और [illegible], [illegible] के आधाकर्म–औद्देशिक पर विचार, [illegible] का [illegible] परिणाम, और आधाकर्म–औद्देशिकों [illegible] हैं।

९—'[illegible]' शब्द पर [illegible] है, और 'आधाकर्मिक[illegible]' शब्द पर आधाकर्म[illegible] हैं।

१०—'[illegible]' शब्द पर [illegible] के भेद, आचार्य का [illegible] और पारमार्थिक [illegible], [illegible] आचार्य के [illegible], [illegible] प्रकार से आचार्य [illegible] है [illegible], [illegible] करने का निरूपण, [illegible], आचार्य के [illegible], [illegible] के आचार्य, [illegible], आचार्य पद का [illegible] के [illegible] होने की [illegible] है।

११—'[illegible]' शब्द पर [illegible], [illegible] और [illegible] में [illegible] के [illegible] और [illegible] करने में [illegible], [illegible] प्रकार, [illegible] के [illegible] भेद से [illegible] प्रकार,

आलोचना का समय, तथा किसके निकट आलोचना लेनी चाहिये इस पर विचार, आसन्नमरण जीव के भी आलोचना लेने में ब्राह्मण का दृष्टान्त, अदत्तालोचन पर व्याध का दृष्टान्त, आलोचना के आठ और दश स्थानक, कृत कर्मों की क्रम से आलोचना लेनी चाहिये, आलोचना न लेकर मृत होने पर दोष, और आलोचना का फल इत्यादि विषय आवश्यकीय हैं।

१२-'आसायणा' शब्द पर आशातना करने में दोष, और आशातना का फल इत्यादि विवेचन देखने के योग्य है।

१३-'आहार' शब्द पर 'सयोगी केवली, अनाहारक होते हैं' इस दिगम्बर के मत का खण्डन, केवलियों के आहार और नीहार प्रच्छन्न होते हैं इस पर विचार, पृथिवीकायिकादिकों के आहार का निरूपण, तथा वनस्पतियों का, वृक्षोपरिस्थ वृक्षों का, मनुष्यों का, तिर्यग्जलचरों का, स्थलचर सर्पादिकों का, खेचरों का, विकलेन्द्रियों का, पञ्चेन्द्रियों के मूत्र पुरीषों से उत्पन्न जीवों का आहार; तेजस्कायिक और वायुकायिक के आहार का निरूपण, और सचित्ताहार का प्रतिपादन, यावज्जीव प्राणी कितना आहार करता है इसका परिमाण, आहार के कारण, आहारत्याग का कारण, और आहार करने का प्रमाण, भगवान् ऋषभ स्वामी के द्वारा कन्दाहारी युगलियों का अन्नाहारी होना इत्यादि विषय हैं।

१४-'इंदिय' शब्द पर इन्द्रियों के पाँच भेद होने पर भी नामादि भेद से चार भेद, तथा द्रव्यादि भेद से दो भेद, और इन्द्रियों के संस्थान (रचना), इन्द्रियों के विषय, नेत्र और मन का अप्राप्यकारित्व, अवशिष्ट इन्द्रियों का प्राप्यकारित्व, और इन्द्रियों के शुभाशुभ दोष का निरूपण आदि विषय द्रष्टव्य हैं।

१५-'इत्थी' शब्द पर स्त्री के लक्षण, स्त्रियों के स्वभाव जानने की आवश्यकता, और उनके कृत्यों का वर्णन, स्त्रीसंबन्ध में दोष, स्त्रियों के साथ विहार नहीं करना, स्त्री के साथ संबन्ध होने से इसी लोक में फल, स्त्री के संसर्ग में दोष, भोगियों की विडम्बना, विश्राम देकर स्त्रियों के अकार्य करने का निरूपण, स्त्रियों के स्वरूप और शरीर की निन्दा, वैराग्य उत्पन्न होने के लिये स्त्रीचरित्र का निरीक्षण, स्त्रियों की अपवित्रता, प्राणी का सर्वस्व हरण करने वाली और बन्धन में विशेष कारण स्त्रियां हैं, उनके स्नेह में फंसे हुए पुरुष को दुःखप्राप्ति, स्त्री का संबन्ध सर्वथा त्याज्य है इसका निरूपण, और उसके त्याग के कारण, स्त्री के हस्तस्पर्श करने का निषेध, तथा स्त्री के साथ विहार, स्वाध्याय, आहार, उच्चार, प्रस्रवण, पारिष्ठापनिका, और धर्मकथादि करने का भी निषेध इत्यादि बहुत अच्छे ७० विषय द्रष्टव्य हैं।

१६-'इस्सर' शब्द पर ईश्वर के जगत्कर्तृत्व का खण्डन, तथा ईश्वर के एकत्व और विभुत्व का खण्डन, अन्य तीर्थिकों के माने हुए ईश्वर का खण्डन आदि विषय विचारने के योग्य हैं।

१७-'उईरणा' शब्द भी द्रष्टव्य है, और 'उववाय' शब्द पर ३० विषय ध्यान रखने के योग्य हैं, जैसे-देवता देवलोक में क्यों उत्पन्न होते हैं, अविराधित श्रामण्य होने पर देवलोक में उपपात होता है, और नैरयिक कैसे उत्पन्न होते हैं इत्यादि विषयों पर विचार है।

१८-'उवसंपया' शब्द पर आचार्यादि के काल कर जाने पर साधु के अन्यत्र गमन करने पर विचार, हानि और वृद्धि की परीक्षा करके कर्तव्याकर्तव्य का निरूपण, भिक्षु का एक गण से निकल कर दूसरे गण में प्राप्त हो के विहार, तथा इसीका दूसरा प्रकार, कुगुरु होने पर अन्यत्र गमन करना इत्यादि विचार है।

१९-'उवसग्ग' शब्द पर उपसर्ग की व्याख्या, उपसर्गकारी के भेद से उपसर्ग के भेद, और उपसर्ग का सहन, तथा संयमों का स्थरत्व आदि विषय हैं।

२०-'उवहि' शब्द पर उपधि के भेद, जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिकों के उपधि, जिन कल्पिक और गच्छवासियों के उपधि में उत्कृष्ट विभाग प्रमाण, उपधि के न्यूनाधिक्य में प्रायश्चित्त, प्रथम प्रव्रज्या के ग्रहण करने पर उपधि, प्रव्रज्या को ग्रहण करती हुई निर्ग्रन्थी के उपधि, रात्रि में अथवा विकाल में उपधि का ग्रहण, भिक्षा के लिये गये हुए साधु के उपकरण गिरजाने पर विधि, स्थविरों के ग्रहण योग्य उपधि, साध्वियों को जो उपधि देता हो उसे उनके आने के मार्ग में रख देना चाहिये इत्यादि विषय उपयोगी हैं।

२१-'उसभ' शब्द पर ऋषभस्वामी के पूर्व भव का चरित्र, ऋषभस्वामी के तीर्थङ्कर होने में कारण, ऋषभस्वामी का जन्म और जन्ममहोत्सव, ऋषभस्वामी के नाम, और उनकी वृद्धि, और उनका विवाह, पुत्र, नीतिव्यवस्था, राज्याभिषेक, राज्यसंग्रह, लोकस्थिति के लिये शिल्पादि का शिक्षण, दान, तदनन्तर ऋषभस्वामी के पुत्र का

अभिषेक, ऋषभस्वामी का दीक्षाकल्याणक, और उनके चीवरधारी होने का कालप्रमाण, भिक्षाकाल का प्रमाण, ऋषभस्वामी के आठ भवों का श्रेयांसकुमार के द्वारा कथन, ऋषभनाथ का श्रामण्य के बाद प्रवर्तनप्रकार, श्रामण्यावस्थावर्णन, केवलोत्पत्त्यनन्तर धर्मकथन, ऋषभस्वामी के वन्दनार्थ मरुदेवी के साथ भरत का गमन, और भरत का दिग्विजय, ब्राह्मणों की उत्पत्ति का प्रकार, ऋषभस्वामी की सङ्घसङ्ख्या, और उनके केवल ज्ञान उत्पन्न होने के बाद कितने कालानन्तर भव्यों का सिद्धिगमन प्रवृत्त हुआ, और कब तक रहा, ऋषभस्वामी के जन्मकल्याणकादि के नक्षत्र, और उनके शरीर की संपत्ति, शरीर का प्रमाण, कुमारावस्था में तथा राज्य करने के समय में और गृहस्थावस्था में जितना काल है उसका मान, ऋषभस्वामी का निर्वाण इत्यादि विषय स्थित हैं।

इस से अतिरिक्त भी विषय इस भाग में स्थित हैं जिनका विस्तार के भय से निरूपण नहीं हो सकता।

द्वितीय भाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथायें आई हुई हैं उनकी नामावली—

'आउ' 'आणंद,' 'आधाकम्म,' 'आपई,' 'आभीरवंचग,' 'आयरिय,' 'आराहणा,' 'आरुग्गदिय,' 'आलंबण,' 'आलोयणा,' 'ओगाहइड्ड,' 'इंददत्त,' 'इंदनाग,' 'इच्छकार,' 'इत्थिपरिसह,' 'इत्थी,' 'इलापुत्त,' 'इसिभद्दपुत्त,' 'इसिभासिय,' 'इस्सर,' 'उउंबरदत्त,' 'उक्कम,' 'उवयायमाण,' 'उज्जयंत,' 'उज्जुमतिववहार,' 'उज्जुववहार,' 'उज्झियय,' 'उण्हपरीसह,' 'उदयण,' 'उदयप्पहसूरि,' 'उद्देसिय,' 'उप्पत्तिय', 'उप्पत्तिया,' 'उवज्ज,' 'उववूह,' 'उवसंपया,' 'उवहि,' 'उवालंभ,' 'उस्सारकप्प' इत्यादि शब्दों पर कथायें द्रष्टव्य हैं।

तृतीय भाग में आये हुए कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१–'एगल्लविहार' शब्द पर एकाकी विहार करने में साधु को क्या दोष होता है इस पर विचार, एकाकिविहारियों के भेद, अशिवादि कारण से एकाकी होने में दोषाभाव, गण को छोड़ कर एकाकी विहार करने पर प्रायश्चित्तादि वर्णित हैं।

२–'एगावाइ' शब्द पर आत्मा का एकत्व मानने वालों का खण्डन, तथा एक मानने में दोष, अद्वैतवाद (पुरुषाद्वैत) का खण्डन विस्तार से है।

३–'एसणा' शब्द पर १४ विषय दिये हैं वे भी साधु और गृहस्थों के देखने योग्य हैं, जैसे–साधु को किस प्रकार भिक्षा लेना, और गृहस्थ को किस प्रकार देना चाहिये इत्यादि।

४–'ओगाहणा' शब्द पर अवगाहना के भेद, औदारिक शरीर की अवगाहना (क्षेत्र) का मान, द्वित्रिचतुरिन्द्रियों की औदारिकावगाहना, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियों की औदारिकावगाहना, मनुष्यपञ्चेन्द्रियों की औदारिकशरीरावगाहना, वैक्रिय शरीर की अवगाहना का मान, पृथिव्यादिकों की वैक्रियशरीरावगाहना, पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चों की वैक्रियशरीरावगाहना, असुरकुमारों की वैक्रियशरीरावगाहना, आहारकशरीरों की अवगाहना का मान, तैजस शरीर की अवगाहना का मान, निगोद जीवों की अवगाहना का मान, धर्मास्तिकाय के अवगाढानवगाढ की चिन्ता, एक जगह एक ही धर्मास्तिकायादि अवगाढ है इत्यादि विवेचन है।

५–'ओसप्पिणी' शब्द पर अवसर्पिणी शब्द की व्युत्पत्ति, और अवसर्पिणी कितने काल को कहते हैं, अवसर्पिणी काल में संपूर्ण शुभ भाव क्रम से अनन्त गुण से क्षीण होते हैं, और उसी तरह अशुभ भाव बढ़ते हैं, सुषमसुषमा से लेकर दुष्षमदुष्षमा पर्यन्त अवसर्पिणी के छ भेद, सुषमादिकों का प्रमाण, भेरुतालादि वृक्ष का वर्णन, अष्टम कल्पवृक्ष का स्वरूप, उस काल में होने वाले मनुष्यादिकों के स्वरूप का वर्णन, और उनकी भवस्थिति, प्रथम से लेकर षष्ठ आरा तक का स्वरूपनिरूपण, भरत की अवस्था का वर्णन, भरतभूमिस्वरूप, अवसर्पिणी के तीन भेद इत्यादि विषय दिये हुए हैं।

६–'ओहि' शब्द पर अवधि शब्द की व्युत्पत्ति और लक्षण, अवधि के भेद, अवधि के नामादि सात भेद, अवधिज्ञेय द्रव्य, क्षेत्रादिविषयक द्रव्य का मान, क्षेत्र और काल के विषय का मान इत्यादि अनेक विचार हैं।

७–'कत्तवाय' शब्द पर कर्त्रादि मतों का खण्डन आदि विषय विचारणीय हैं।

८–'कम्म' शब्द पर कर्म के भेद, और उनके स्वरूप का निरूपण, कर्म और शिल्प में भेद, नैयायिक और वैयाकरणों के कर्म पदार्थ का निरूपण, कर्म के स्वरूप का निरूपण, पुण्य और पापरूप कर्म की सिद्धि, अकर्मवादी नास्तिक के मत

का खण्डन, कर्म के मूर्तत्व पर आक्षेप और परिहार, जगत के वैचित्र्य से भी कर्म की सिद्धि, जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध, कर्म का अनादित्व, जगत की विचित्रता में कर्म ही कारण है ईश्वरादि नहीं है इसका निरूपण, स्वभाववादी के मत का खण्डन, पुण्य और पाप कर्म रूप ही हैं, पुण्य और पाप के भिन्न लक्षण, कर्म के चार भेद, ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और मोहनीयों का विचार, नामकर्म गोत्रकर्म और आयुष्यकर्म का निरूपण इत्यादि १७ विषय विचारणीय हैं।

९—'कसाय' शब्द पर कषायों का निरूपण है।

१०—'काउसग्ग' शब्द पर कायोत्सर्ग का अर्थ, किन किन कार्यों में कितने उच्छ्वास मान व्युत्सर्ग है, किस रीति से कायोत्सर्ग में स्थित होना इत्यादि १५ विषय बड़े गंभीर हैं।

११—'काय' शब्द पर काय की रूपित्वसिद्धि, अरूपित्व का खण्डन; तथा 'कायट्ठिइ' शब्द पर जीवों की कायस्थिति, जीवों की नैरयिकादि पर्याय में स्थितिचिन्ता, तिर्यक् तथा तिर्यक्स्त्रियों की, और मनुष्य तथा मनुष्यस्त्रियों की कायस्थिति, देव तथा देवियों की कायस्थिति, पर्याप्तापर्याप्त के विशेष से नैरयिकों की कायस्थिति, इन्द्रियों के द्वारा से जीवों की कायस्थिति, कायद्वार से जीवों की कायस्थिति, इसी तरह योगद्वार, वेदद्वार, कषायद्वार, लेश्याद्वार, सम्यग्दृष्टिद्वार, ज्ञानद्वार, दर्शनद्वार, संयमद्वार, उपयोगद्वार, आहारद्वार, भाषकाभाषकद्वार, संज्ञिद्वार, भवस्थितिकद्वार के भेद से जीवों की कायस्थिति, और बादरकायादिकों की कायस्थिति इत्यादि ३० विषय हैं।

१२—'काल' शब्द पर कालशब्द की व्युत्पत्ति, काल की सिद्धि, काल का लक्षण, काल के भेद, दिगम्बर की प्रक्रिया से काल का निरूपण, और उसका खण्डन, काल का ज्ञान मनुष्य क्षेत्र ही में होता है इसका निरूपण, काल के संख्येय, असंख्येय और अनन्त भेद से तीन भेद तीर्थंकर और गणधरों से कहे हुए हैं, स्निग्ध और रूक्ष भेद से काल के दो भेद, स्निग्ध और रूक्ष के तीन तीन भेद इत्यादि विषय निर्दिष्ट हैं।

१३—'किइकम्म' शब्द पर कृतिकर्म में साधुओं की अपेक्षा से साध्वियों का विशेष, यथोचित वन्दना न करने में दोष, कृतिकर्म में द्रव्य और भाव के जनाने के लिये दृष्टान्त, कृतिकर्म करने के योग्य साधुओं का निरूपण, तथा वन्दन करने के योग्य साधुओं का निरूपण, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से भेद, आचरणा का लक्षण, और पर्याय ज्येष्ठों से आचार्य की वन्दना का विचार, दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण के मध्य में स्तुति मङ्गल अवश्य करना चाहिये, कृतिकर्म किसको करना चाहिये और किसको नहीं इसका विवेचन, पार्श्वस्थादि कों की वन्दना पर विचार, सुसाधु के वन्दना पर गुण का विचार, कृतिकर्म करने में उचितानुचित का निरूपण, कृतिकर्म को कब करना और कब नहीं करना, और कितनी बार कृतिकर्म करना इसका निरूपण, नियत वन्दनस्थान की संख्या का कथन, कृतिकर्म के स्वरूप का निरूपण इत्यादि ३१ विषयों का विवेचन है।

१४—'किरिया' शब्द पर क्रिया का स्वरूप, क्रिया का निक्षेप, क्रिया के भेद, स्पृष्टास्पृष्टत्व से प्राणातिपातक्रिया का निरूपण, क्रिया का सक्रियत्व और अक्रियत्व, मृषावादादि का आश्रयण करके क्रियाकरने का प्रकार, अष्टादश स्थानों के अधिकार से एकत्व और पृथक्त्व के द्वारा कर्मबन्ध का निरूपण, ज्ञानावरणीयादि कर्म को बाँधता हुआ जीव कितनी क्रियाओं से समाप्त करता है, मृगयादि में उद्यत पुरुष की क्रिया का निरूपण, क्रिया से जन्य कर्म और उसकी वेदना के अधिकार से क्रिया का निरूपण, श्रमणोपासक की क्रिया का कथन, अनायुक्त में जाते हुए अनगार की क्रिया का निरूपण इत्यादि १८ विषय आये हुए हैं।

१५—'कुसील' शब्द पर कुशील किसको कहना, और उनके भेद, कुशील के चरित्र, कुशीलों के निरूपणानन्तर सुशीलों का निरूपण, पार्श्वस्थादिकों का संसर्ग नहीं करना, और उनके संसर्ग में दोष इत्यादि विषय हैं।

१६—'केवलणाण' शब्द पर केवलज्ञान शब्द का अर्थ, केवलज्ञान की सिद्धि, इसका साद्यपर्यवसितत्व, केवलज्ञान के भेद, सिद्ध का स्वरूप, किस प्रकार का केवलज्ञान होता है इसका निरूपण, स्त्रीकथा भक्तकथा देशकथा और राजकथा करनेवाले के लिये केवल ज्ञान और केवल दर्शन का प्रतिबन्ध इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं।

१७—'केवलिपण्णत्त' शब्द पर केवली से कहे हुए धर्म का निरूपण, केवली के भेद, पहिले केवली हो कर ही सिद्धि को प्राप्त होता है, केवली के आहार पर दिगम्बर की विप्रतिपत्ति आदि विषय निरूपित हैं।

१८—'खओवसमिय' शब्द पर क्षयोपशमिक के भेद तथा औपशमिक से इसका भेद, और उसके अठारह भेद इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं।

१९—'खरयर' शब्द पर खरतर गच्छ का संक्षिप्त विवरण; तथा 'खणियवाइ' शब्द पर बौद्धों के मत का संक्षिप्त निरूपण, और खण्डन आदि देखने के लायक है।

२०—'खेत्त' शब्द पर क्षेत्र का निरूपण, क्षेत्र के तीन भेद, क्षेत्र के गुण, क्षेत्र का आभवनव्यवहार आदि कई विषय निरूपित हैं।

२१—'गइ' शब्द पर स्पृशद्गति और अस्पृशद्गति से गति के दो भेद, प्रकारान्तर से भी दो भेद, गति शब्द की व्युत्पत्ति, नारक तिर्यग् मनुष्य देव के भेद से गति के चार भेद, प्रकारान्तर से पाँच भेद, अथवा आठ भेद, नारकादिकों की शीघ्रगति आदि विषय दिये हुए हैं।

२२-'गच्छ' शब्द पर गच्छविधि, सदाचाररूपी गच्छ का लक्षण, गच्छ का अगच्छत्व, गच्छ में वसने से विशेष निर्जरा होती है इसका निरूपण, शिष्य तथा गच्छ का स्वरूप, आर्यिकाओं के साथ संवाद का निषेध, क्रयविक्रयकारी गच्छ का निषेध, सुगच्छ में वसना चाहिये, वसति का रक्षण, अनुष्ठापन, गच्छमर्यादा, आचार्यादिकों के अभाव होने पर गच्छ में नहीं वसना, गच्छ और जिनकल्प दोनों की प्रशंसा इत्यादि विषय हैं।

२३-'गणह (ध) र' शब्द पर गणधर का स्वरूप, किस तीर्थङ्कर के कितने गणधर हैं, गणधर शब्द का अर्थ, जिन गुणों से गणधर होने की योग्यता होती है उनका निरूपण किया है।

२४-'गब्भ' शब्द पर गर्भ में अहोरात्रियों का प्रमाण, मुहूर्तों का प्रमाण, गर्भ में निःश्वासोच्छ्वास का प्रमाण, गर्भ का स्वरूप, स्त्रीयोनि के काल का मान, कितने वर्ष के बाद स्त्री गर्भ धारण नहीं करती और पुरुष निर्वीर्य हो जाता है इसका निरूपण, कितने जीव एक हेला से एक स्त्री के गर्भ में उत्पन्न होते हैं, कुक्षि में पुत्रादि कहाँ वसते हैं, गर्भ में जीव उत्पन्न होकर क्या आहार करता है?, गर्भस्थ जीव के उच्चार और प्रस्रवण का विचार, गर्भ से भी जीव नरक या देवलोक को जाता है या नहीं इस गौतमस्वामी के प्रश्न का उत्तर, नवमास का अन्तर हो जाने पर पूर्व भव को जीव क्यों नहीं स्मरण करता?, और गर्भगत का शौचादि विचार, स्त्री के गर्भधारण करने के पाँच प्रकार, गर्भपतन का कारण, गर्भपोषण में विधि इत्यादि विषय हैं।

२५-' गिलाण ' शब्द पर ग्लान के प्रति जागरण, सचित्ताचित्त से चिकित्सा, ग्लान का अनुवर्त्तन, वैद्यानुवर्त्तना, वैद्य का उपदेश, ग्लान के लिये एषणा इत्यादि विषय हैं।

२६-' गुण ' शब्द पर मूलगुण, उत्तरगुण, एकतीस सिद्धादिगुण, सत्ताईस अनगार गुण, मार्दव मार्दवादि, सौजन्यादि, मृदुत्वौदार्यादि, धान्यादि, वैशेषिकसंमत गुण, द्रव्यगुणों का परस्पर अभेद, गुणपर्याय के भेद, गुणपर्याय का स्वरूप, और जैनसंमत गुण इत्यादि द्रष्टव्य विषय हैं।

२७-' गुणट्ठाण ' शब्द पर चौदह गुणस्थान, कायस्थिति, गुणस्थान में बन्ध इत्यादि विषय हैं।

२८-' गोयरचरिया ' शब्द पर जिनकल्पिक स्थविरकल्पिक, निर्ग्रन्थियों की भिक्षा में विधि, भिक्षाटन में विधि, आचार्य की आज्ञा, जाने के समय पर्याप्तापर्याप्त और कार्याकार्य, मार्ग में जिस तरह जाना, वृष्टिकाय के गिरने पर विधि, पर घर, द्वार के कपाटों को खोल कर के नहीं खड़े होना, अंगुली दिखाने का निषेध, अगारी (स्त्री) के साथ खड़े होने का निषेध, आचार्यादि को छोड़ देर कर के भिक्षा के लिये प्रवेश नहीं करना, तीर्थंकर और उत्पन्नकेवलज्ञानदर्शन वाले भिक्षा के लिये भ्रमण नहीं करते, आचार्य भिक्षा के लिये नहीं जाना, प्राघूर्णक, गोचरातिचार में प्रायश्चित्त, साध्वियों की भिक्षा का प्रकार इत्यादि विषय बहुत उपयोगी हैं।

२९-' चक्कवट्टि ' शब्द पर चक्रवर्तियों की गति का प्रतिपादन, गोत्रप्रतिपादन, चक्रवर्ती के पुर का प्रतिपादन, चक्रवर्ती का वर्ण, [illegible], [illegible] के सन्तान आदि का निरूपण, उत्सर्पिणी में १२ चक्रवर्ती होते हैं, कौन और कैसे चक्रवर्ती होते हैं इसका निरूपण इत्यादि विषय हैं।

३०-' चारित्त ' शब्द पर कुम्भ के दृष्टान्त से चारित्र के चार भेद, सामायिकादि रूप से चारित्र के पाँच भेद, जिस तरह चारित्र की प्राप्ति होती है इसका प्रतिपादन, चारित्र से हीन ज्ञान अथवा दर्शन मोक्ष का साधन नहीं होता है, जिन कषायों के उदय से चारित्र का लाभ नहीं होता और जिन से हानि होती है इसका निरूपण, वीतराग का चारित्र न बढ़ता है और न घटता है, चारित्र की [illegible] नहीं करता, [illegible] है। ज्ञान: चारित्र का कारण है इत्यादि विषय हैं।

१-'चेइय' शब्द पर चैत्य का अर्थ, प्रतिमा की सिद्धि, चारणमुनिकृत वन्दनाधिकार, चैत्य शब्द का अर्थ जो ज्ञान करते हैं उनका खण्डन, चमरकृतवन्दन, देवकृत चैत्यवन्दन, सावद्य पदार्थ पर भगवान् की अनुमति नहीं होती, और निषेध न करने से भगवान् की अनुमति समझी जाती है क्योंकि निषेध न करने से अनुमति ही होती है इसपर दृष्टान्त, प्रतिमा का विचार, साधु को स्वातन्त्र्य से चैत्य में अनधिकार, द्रव्यस्तव में गुण, जिनपूजन में वैयावृत्त्य, तीन स्तुति, जिन भवन के बनाने में विधि, प्रतिमा बनाने में विधि, प्रतिष्ठाविधि, जिनपूजाविधि, जिनस्नात्रविधि, आजकल के विषय में दिगम्बरों के मत का प्रदर्शन और खण्डन, चैत्यविषयक प्रश्नों पर हीरविजय सूरिकृत उत्तर इत्यादि अनेक विषय हैं।

२-' चेइयवंदण ' शब्द पर नैषेधिकीत्रय, पूजात्रिक, भावनात्रिक, त्रिदिङ्निरीक्षणप्रतिषेध, प्रणिधान, अभिगम, चैत्यवन्दनदिक्, अवग्रह, ३ वन्दना, ३ या ४ स्तुति, जघन्यवन्दना, अपुनर्बन्धकादिक अधिकारी हैं, नमस्कार, प्रणिपातदण्डक, २४ स्तव, सिद्धस्तुति, वीरस्तुति, वैयावृत्य की चौथी स्तुति, १६ आकार, कायोत्सर्ग इत्यादि अनेक विषय आये हैं।

३-' जीव ' शब्द पर जीव की व्युत्पत्ति, जीव का लक्षण, जीव का कथञ्चिद्भिन्नत्व, और कथञ्चित् अभिन्नत्व, हस्ति और कुन्थु का समान जीव है इसका प्रतिपादन, जीव और चैतन्य का भेदाभेद, संसारी और सिद्ध के भेद से जीव के दो भेद, संसारियों का सेन्द्रियत्व, सिद्धों का अनिन्द्रियत्व इत्यादि विषय वर्णित हैं।

४-' जोइसिय ' शब्द पर जम्बूद्वीपगत चन्द्र सूर्य की सङ्ख्या, तथा लवण समुद्र के, धातकी खण्ड के, कालोद समुद्र के, पुष्करवर द्वीप के, और मनुष्यक्षेत्रगत समस्त चन्द्रादि की संख्या का मान, चन्द्र-सूर्यों की कितनी पंक्तियाँ और किस तरह स्थित हैं इसका निरूपण, चन्द्रादिकों के भ्रमण का स्वरूप, और इनके मण्डल, तथा चन्द्र से चन्द्र और सूर्य से सूर्य का परस्पर अन्तर इत्यादि अनेक विषय हैं, जिनका पूरा २ निरूपण यहाँ नहीं किया जा सकता।

५-' जोग ' शब्द पर योग का स्वरूप, तथा योग के भेद, और योग का माहात्म्य आदि अनेक वृहद् विषय हैं।

६-' जोणि ' शब्द पर योनि का लक्षण, और उसकी संख्या, और भेद, तथा स्वरूप आदि अनेक विषय हैं।

७-' झाण ' शब्द पर ध्यान का अर्थ, ध्यान के चार भेद, शुक्लध्यानादि का निरूपण, ध्यान का आसन, ध्यान और ध्यानकर्ताओं का निरूपण, ध्यान का मोक्षहेतुत्व इत्यादि विषय हैं।

८-' ठवणा ' शब्द पर स्थापनानिक्षेप, प्रतिक्रमण करते हुए गणधर स्थापना करते हैं, स्थापनाचार्य का स्थापन, स्थापना किस प्रदेश में होती है इसका निरूपण, स्थापना शब्द की व्युत्पत्ति, और स्थापना के भेद इत्यादि विषय हैं।

९-' ठाण ' शब्द पर साधु और साध्वी को एक स्थान पर कायोत्सर्ग करने का निषेध, स्थान के पंद्रह भेद, बादर पर्याप्त तेजस्कायिक स्थान, पर्याप्तापर्याप्त नैरयिक स्थान, पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों का स्थान, भवनपति का स्थान, और स्थान शब्द की व्युत्पत्ति इत्यादि विषय हैं।

१०-' ठिइ ' शब्द पर नैरयिकों की स्थिति, पृथिवीविभाग से स्थितिचिन्ता, देवताओं की स्थिति, तथा देवियों की, भवनवासियों की, भवनवासिनियों की, असुरकुमारों की, असुरकुमारियों की, नागकुमारों की, नागकुमारियों की, सुवर्णकुमारों की, सुवर्णकुमारियों की, पृथिवीकायिकों की, सूक्ष्म पृथिवीकायिकों की, अप्कायिकों की, बादर अप्कायिकों की, तेउकायिकों की, सूक्ष्म तेउकायिकों की, बादर तेउकायिकों की, वायुकायिक-सूक्ष्म वायुकायिक-बादर वायुकायिकों की, वनस्पतिकायिक-सूक्ष्म वनस्पतिकायिक-बादर वनस्पतिकायिकों की, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक, संमूर्छिम पञ्चेन्द्रिय तिर्यक्, जलचरपञ्चेन्द्रिय, संमूर्छिम जलचर पञ्चेन्द्रिय, चतुष्पद स्थलचर पञ्चेन्द्रिय, संमूर्छिम चतुष्पद स्थलचर पञ्चेन्द्रिय, गर्भापक्रान्तिक चतुष्पद स्थलचर पञ्चेन्द्रिय, उरःपरिसर्प स्थलचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक, भुजपरिसर्प स्थलचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक, संमूर्छिम भुजपरिसर्प स्थलचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक, गर्भापक्रान्तिकभुज०, खचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिक, संमूर्छिम०, गर्भापक्रान्तिक०, मनुष्यों की, स्त्रियों की, नरकों की, निर्ग्रन्थों की, वाणव्यन्तरों की, वाणव्यन्तरियों की, ज्योतिष्कों की, ज्योतिष्कदेवों की स्थिति, चन्द्रविमान में, सूर्यविमान में, ग्रहविमान में, नक्षत्रविमान में, ताराविमान में स्थिति, वैमानिकों की स्थिति, सौधर्म कल्प में, ईशान कल्प में, सनत्कुमार कल्प में, माहेन्द्र कल्प में, ब्रह्मलोक-लान्तक कल्प में, महाशुक्र-सहस्रार कल्प में, आनत कल्प में, प्राणत कल्प में, आरण-अच्युत कल्प में स्थिति; अधोऽधोग्रैवेयकों की, अधोमध्यमग्रैवेयकों की, अधउपरितनग्रैवेयकों की, मध्यमाधस्तनग्रैवेयकों की, मध्यममध्यमग्रैवेयकों की, मध्यमउपरिमग्रैवेयकों की, उपरिमाधस्तनग्रैवेयकों की, उपरिममध्यमग्रैवेयकों की, उपरिमउपरिम

[illegible] की स्थिति; [illegible]सिद्धों में देवों की स्थिति,वेदनीय कर्मों की स्थिति,पुंनपुंसकों [illegible] [illegible] व्यन्तरों में उत्पन्न की स्थिति; बाल मरण से मरे हुये व्यन्तरों की,विधवाओं [illegible] व्यन्तरों में उत्पन्नों की स्थिति इत्यादि विषय बहुत भेद प्रभेद से निरूपित हैं।

४१—'[illegible]' शब्द पर नक्षत्रों की संख्या, इन नक्षत्रों में कब क्या कार्य (गमन प्रस्थानादि) करना, स्वाध्यायादि [illegible] [illegible] और ज्ञानवृद्धि कर नक्षत्र, चन्द्रनक्षत्रयोग, कितने भाग नक्षत्र चन्द्र के साथ युक्त होते हैं, प्रमर्दयोगी [illegible] [illegible] नक्षत्र कितने [illegible] हैं, नक्षत्रों के देवता, नक्षत्रों के गोत्र, भोजन, द्वार, नक्षत्रविजय, सायंकाल और प्रातःका[illegible] [illegible], [illegible] में चन्द्रनक्षत्रयोग, संवत्सरान्तों में नक्षत्रचन्द्रयोग, और संस्थान (रचना) आदि विषय [illegible]

४२—'[illegible]' शब्द पर नमस्कार के भेद, सिद्धनमस्कार, वीतराग के अनुग्रह से रहित होने पर भी नम[illegible] का [illegible] होना, [illegible] होते हैं, नमस्कार का क्रम इत्यादि अनेक विषय द्रष्टव्य हैं।

४३—'[illegible]' शब्द पर नय का लक्षण, [illegible], सप्तभङ्गी, वस्तु का अनन्तधर्मात्मकत्व, एक जगह अनेक [illegible] [illegible] प्रमाणात्मक है इसपर विचार, द्रव्यार्थिक नय, पर्यायार्थिक नय, और उनदोनों [illegible] के मत में नैगमादि नयों का अन्तर्भाव, नैगमादि ७ मूल नय हैं और उनके म[illegible] [illegible] के मत में ६ नय, नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्दनय, एवंभूत नय, ७०० नय, [illegible] [illegible] किस नय से उत्पन्न हुआ, शब्दब्रह्मवादियों का मत, अद्वैतवादियों का मत, निश्चय और [illegible] [illegible] का अन्तर्भाव, व्यवहार नय से साङ्ख्यमत, वेदान्त और साङ्ख्य का शुद्धाशुद्धत्व, नैगम [illegible] [illegible] के अन्तर्भाव, [illegible] और सौगत (बौद्ध) का मत, दिगम्बर मत में नय, शब्दनय, अर्थनय, न[illegible] [illegible], [illegible] आदि विषय दिये हुये हैं।

४४—'[illegible]' शब्द पर [illegible], नरकवेदना, नरक के बहुत से स्वरूप इत्यादि अनेक विषय हैं।

४५—'[illegible]' [illegible], [illegible] भेद से ज्ञान के भेद, ज्ञान का साकारानाकारत्व, ज्ञान का [illegible] [illegible] है, और 'णिग्गंथ' शब्द पर निर्ग्रन्थ शब्द की व्युत्पत्ति आदि देखना चाहि[illegible]

४६—'[illegible]' शब्द पर [illegible], अनशन [illegible], बाह्य और आभ्यन्तर तप का निरूपण, तप [illegible] न हो, तप का फल, तप के चार भेद इत्यादि विषय हैं।

[illegible] और यह [illegible] है इस का निरूपण, तीर्थकरों के अति[illegible] [illegible] का प्रभाव, तीर्थकरों के अभिग्रह और उनकी [illegible], भाव[illegible] [illegible], [illegible], देवलोक से उतरने के मार्ग, [illegible], [illegible] [illegible] मुनियों की संख्या, [illegible], [illegible], केवल(ज्ञान)[illegible] [illegible], [illegible], केवलवृक्ष, केवलवृक्षमान, केवलवन, केवलवेला, केवलिकाल, केव[illegible] [illegible], [illegible], गृहस्थावस्था के तीन ज्ञान, गोत्र, चतुर्दशपूर्वी, [illegible] [illegible], [illegible], छद्मस्थावस्था में [illegible], यक्ष, यक्षिणी, [illegible] [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], तपसंख्या, तीर्थप्रवृत्ति [illegible], बलदेव, वासुदेव, [illegible], [illegible], दीक्षाकाल, दर्शन, दीक्षा[illegible] [illegible], [illegible], [illegible], दीक्षादान, दीक्षाराशि, दीक्षातप [illegible] [illegible] आन, और इनके आसनों का [illegible], [illegible] [illegible], [illegible] का कृत्य, [illegible] [illegible], [illegible], धर्मभेद, [illegible] [illegible], [illegible], [illegible] [illegible], [illegible], [illegible] [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] [illegible] के द्वारा [illegible], [illegible]

५९-'पत्त' शब्द पर पात्र का तिरस्करणादिक देखना चाहिये।

६०-'पमाण' शब्द पर प्रमाण का स्वरूप, प्रमाण का लक्षण, स्वतःप्रामाण्यविचार, प्रमाणसंख्या, प्रमाणफल, [illegible] आदि विषय हैं।

६१-'परिग्गह' शब्द पर परिग्रह के दो भेद, मूर्च्छापरिग्रह आदि अनेक भेद द्रष्टव्य हैं।

६२-'परिट्ठवणा' शब्द पर परिष्ठापनाविधि, पृथ्वीकायपरिष्ठापना, अशुद्ध गृहीत आहार की परिष्ठापना, कालगत साधु की परिष्ठापनविधि इत्यादि अनेक विषय हैं।

६३-'परिणाम' शब्द पर परिणाम की व्युत्पत्ति और अर्थ, जीवाजीव के परिणाम, नैरयिकादिकों का परिणाम [illegible], स्कन्ध और पुद्गलों का परिणामादि. देवताओं का बाह्यपुद्गलों को लेकरके परिणामी होने में सामर्थ्य, पुद्गल-परिणाम, वर्ण गन्ध रस स्पर्श के संस्थान से पुद्गल परिणत होते हैं, पुद्गलों का प्रयोग परिणत होना, दण्डक, जीव का परिणाम, मूलप्रकृति का महदादिपरिणाम, स्वभावपरिणाम, परिणाम के अनुसार से कर्मबन्ध, आकारबोध और क्रिया के भेद से परिणाम इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं।

६४-'पव्वज्जा' शब्द पर प्रव्रज्या का अर्थ और व्युत्पत्ति, प्रव्रज्या के पर्याय, दीक्षा का तत्त्व, किससे किसको प्रव्रज्या देना, किस नक्षत्र और किस तिथि में दीक्षा लेनी, दीक्षा में अपेक्षित वस्तु, दीक्षा में अनुराग आदि, लोकविरुद्ध-त्याग, [illegible], [illegible] की विधि, [illegible] में दीक्षा, वामकेशादिरूप दीक्षासामाचारी, दीक्षा किस प्रकार से देना, [illegible], [illegible] के गुण, और उनके पालन में गुण, प्रव्रज्या में विधि, गुरु से अपना निवेदन, दीक्षा की [illegible], [illegible] की [illegible] वेषादि धारण करना, दीक्षाफल, प्रव्रजित का आर्यिकाओं के द्वारा [illegible], [illegible] करना जिनसे भवन भी दीक्षा होती, परीक्षा करके प्रव्राजन, एकादशप्रतिमाप्रतिपन्न श्रावक को दीक्षा देना, [illegible] ([illegible]) [illegible] को दीक्षा नहीं देना इत्यादि अनेक विषय हैं।

६५-'[illegible]' शब्द पर [illegible] की [illegible] किया है।

६६-'पोग्गल' शब्द पर पुद्गल शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ, पुद्गल का लक्षण, पुद्गल [illegible] हैं, परमाणु का [illegible] इत्यादि विषय [illegible] हैं।

६७-'बंध' शब्द पर [illegible], बन्ध के भेद, [illegible] और [illegible], प्रदेशबन्ध, अनुभागबन्ध, बन्ध में [illegible] का [illegible], [illegible] इत्यादि अनेक बातें हैं।

६८-'[illegible]' शब्द पर [illegible], [illegible] का निरूपण, और वहाँ के मनुष्यों का [illegible], [illegible] का [illegible], और इसके [illegible] का निरूपण, तथा [illegible] और [illegible] का [illegible], [illegible] इस नाम पड़ने का कारण, तदनन्तर [illegible] की कथा है।

६९-'[illegible]' शब्द पर [illegible] का [illegible], [illegible] भावना का निरूपण, मैत्र्यादि भावनाओं के चार भेद, [illegible] के [illegible] का [illegible] इत्यादि विषय आये हैं।

७०-'[illegible]' शब्द पर [illegible] और [illegible] रूप से मार्ग के दो भेद, मार्ग का निरूपण, मार्ग के [illegible] का [illegible] इत्यादि अनेक विषय हैं।

७१-'[illegible]' शब्द पर [illegible] और [illegible], [illegible] का [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], मरण के भेद इत्यादि विषय दिये गये हैं।

७२-'[illegible]' शब्द पर [illegible] की कथा द्रष्टव्य है।

७३-'[illegible]' शब्द पर [illegible], [illegible], [illegible] की निन्दा, [illegible] का [illegible], [illegible] के भेद आदि निर्दिष्ट हैं।

७४-'[illegible]' शब्द पर [illegible] के [illegible] का [illegible] किया है।

७५-'[illegible]' शब्द पर [illegible], [illegible] है कि नहीं, इसका निरूपण, [illegible] का कारण [illegible] [illegible] और [illegible] का [illegible], [illegible] का [illegible], [illegible]

वेदान्तियों के मत का निरूपण और खण्डन, स्त्री की मोक्षसिद्धि. मोक्ष का उपाय इत्यादि विषय हैं।

तृतीय भाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथायें आई हुई हैं उनकी संक्षिप्त नामावली—

'एगत्तभावणा,' 'एलकच्छ,' 'एसणासमिइ' 'कण्णाणयणीय,' 'कण्णीरह,' 'कत्तिय,' 'कप्प,' 'कप्पट्ठ,' 'कयग्ग' 'कयवि-जरख,' 'कंबरिय,' 'कंबल,' 'करंड,' 'करकंडिय,' 'कायगुत्ति,' 'काल,' 'कालसोअरिय,' 'कामीगज,' 'किइकम्म,' 'कुबेरदत्त,' 'कुबेरदत्ता,' 'कुबेरसेणा,' 'कोडिसिला,' 'गंगदत्त,' 'गयसुकुमाल,' 'गुणचंद,' 'गुणसागर,' 'गुत्तगुत्ति,' 'गुरुकु-लवास,' 'गुरुणिग्गह,' 'गोट्ठामाहिल,' 'चंदरुद,' 'चंदगुत्त,' 'चंदप्पहसूरि,' 'चंपा,' 'चक्कदेव,' 'चेलणवरण,' 'जत्तासिद्ध,' 'णंदगिरि,' 'णंदिसेण,' 'नरसुंदर,' 'णागज्जुण,' 'णागहत्थिय,' 'नागचंद,' 'दमदंत,' 'दमदत्त,' 'दसण्णभद्द,' 'धणमित्त,' 'धणवई,' 'धणावह,' 'धणगिरि,' 'धम्मघोस,' 'धम्मजस,' 'पउमसीह,' 'पउमसेह,' 'पउमावई,' 'पउमसिरी,' 'पउमभद्द,' 'पउमरह,' 'पुहविचंद,' 'फासिंदिय,' 'बंधुमई,' 'भद्द,' 'भरतादिन,' 'भरह,' 'भीमकुमार,' 'मल्लि,' 'महापउमकित्तर,' 'मुणिसुव्वय,' 'मूलदत्ता,' 'मूलसिरी,' 'मेहघोस,' 'मेहपुर,' 'मेहमुह,' 'मेहरिपुत्त' शब्द पर कथाएँ द्रष्टव्य हैं।

चतुर्थ भाग में आये हुए कतिपय शब्दों के संक्षिप्त विषय—

१–'रओहरण' शब्द पर रजोहरण शब्द का अर्थ और व्युत्पत्ति, रजोहरण का प्रमाण, मांसचक्षु वाले मनुष्यों को सूक्ष्म जीव दिखाई नहीं दे सकते इसलिये उनको जीवदयार्थ रजोहरण धारण करना चाहिये, रजोहरण की दशा (किनारी या अग्रभाग) सूक्ष्म नहीं करना चाहिये, रजोहरण के धारण करने का क्रम और नियम, अनिसृष्ट रजोहरण ग्रहण नहीं करना चाहिये इत्यादि विषय देखने के योग्य हैं।

२–'राइभोयण' शब्द पर रात्रिभोजन का त्याग, रात्रिभोजन करने वाला अनुद्घातिक होता है, रात्रिभोजन के चार प्रकार, रास्ते में रात्रि को आहार लेने का विचार, कैसा आहार रात्रि में रक्खा जा सकता है इसका विवेक, मार्ग में [illegible] होने पर रात्रि को भी आहार लेने में दोषाभाव, रात्रि में उद्गार आने पर उद्गिरण करने में दोष, रात्रिभोजन [illegible] स्थापना करना, रात्रिभोजन के प्रायश्चित्त, औषधि के रात्रि में लेने का विचार इत्यादि अनेक विषय हैं।

३–'रुद्दज्झाण' शब्द पर रौद्रध्यान का स्वरूप, और उसके चार भेद, रौद्रध्यानी के चिह्न आदि अनेक विषय हैं।

४–'लेस्सा' शब्द पर लेश्या के भेद, लेश्या के अर्थ, सातों लेश्याओं का अल्पबहुत्व, [illegible], कौन लेश्या कितने ज्ञानों में मिलती है, कौन लेश्या किस वर्ण से साधित होती है, मनुष्यों की लेश्या, लेश्याओं के गुणस्थानक, धर्मध्यानियों की लेश्या आदि विषय हैं।

५–'लोग' शब्द पर लोग शब्द का अर्थ और व्युत्पत्ति, लोक का लक्षण, लोक का प्रमाण, लोक का संस्थान आदि विषय हैं।

६–'वत्थ' शब्द पर लिखा है कि कितनी दूर तक वस्त्र के वास्ते जाना, कितनी प्रतिमा से वस्त्र का अन्वेषण करना, याच्ञा वस्त्र और निमन्त्रण वस्त्र की याच्ञा पर विचार, निर्ग्रन्थियों के वस्त्र लेने का प्रकार, चातुर्मास में वस्त्र लेने पर विचार, आचार्य की अनुज्ञा से ही साधु अथवा साध्वी को वस्त्र लेना चाहिये, वस्त्र का प्रमाण [illegible] वस्त्र लेने की अनुज्ञा, वस्त्रों के रँगने का निषेध, वस्त्र के सीने पर विचार, अन्यतीर्थिक और पार्श्वस्थादि को वस्त्र देने का निषेध, वस्त्र को यत्न से रखना जिससे त्रिकेन्द्रियों का घात न हो, वस्त्रों के धोने का निषेध, आचार्य के मलिन वस्त्रों के धोने की अनुज्ञा इत्यादि विशेष विचार हैं।

७–'वसहि' शब्द पर किस प्रकार के उपाश्रय में रहना चाहिये इसका निरूपण, उपाश्रय के [illegible] का निरूपण, भिक्षु के वास्ते असंयम उपाश्रय बनावे, अविधि से उपाश्रय के प्रमार्जन में दोष, जहां गृहपति [illegible] का आहार करता है वहां नहीं रहना, सागारिक उपाश्रय में नहीं रहना, [illegible] जहां [illegible] की वाञ्छा करे उस गृहपति के गृह में नहीं बसना, गृहपति के घर में बसने के दोष, [illegible] जिसके घरवाला भोजन बनावे वहां नहीं रहना, और जहां पर घर का मालिक [illegible] नहीं रहना, जहां पर साधर्मिक निरन्तर आते हों वहां नहीं रहना, [illegible] से चरक और [illegible] वसति के याचन का प्रकार, जहां पर [illegible] के मनुष्य बकवाद करते हों [illegible] हैं।

रहना, कब कहां कितना दान करना इसका नियम, जहां राजा हो उस उपाश्रय में वसने का निषेध, साध्वियों की वसति में साधु के जाने का निषेध इत्यादि विषय हैं ।

८ ' विजय ' शब्द पर विजय की विशेषवक्तव्यता देखना चाहिये ।

९ ' विनय ' शब्द पर विनय के पाँच भेद, और सात भेद, विनयमूलक धर्म की सिद्धि, गुरु के निकट विनय की आवश्यकता, आर्यिका के विनय इत्यादि विस्तृत विषय देखने के योग्य हैं।

१० ' विमान ' शब्द पर विमानों की संख्या, और विमानों का मान, विमानों का संस्थान, विमानों के वर्ण, विमानों की प्रभा , गन्ध, स्पर्श, और महत्त्व आदि देखने के योग्य हैं।

११–' विहार ' शब्द पर आचार्य और उपाध्याय के एकाकी विहार करने का निषेध, किनके साथ विहार करना और किनके साथ नहीं करना इसका निरूपण, वर्षाकाल में या वर्षा में विहार करने का निषेध, अशिवादि कारणों में वर्षा में भी विहार करना, वर्षा की समाप्ति में विहार करना, मार्ग में युगमात्र देखते हुए जाना चाहिये, नदी के पार जाने में विधि, आचार्य के साथ जाते हुए साधु को विधि, साधुओं का और साध्वियों का रात्रि में या विकाल में विहार करने का विचार इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं ।

१२–'वीर' शब्द पर वीरशब्द की व्युत्पत्ति, और कथा देखना चाहिये, तथा ' संथार ' शब्द परसंस्तार का विचार है । ' संवर ' शब्द पर सम्वर का निरूपण है । ' संसार ' शब्द पर संसार की असार दशा दिखाई गई है ।

१३–' सक्क ' शब्द पर शक्र की ऋद्धि और स्थान, विकुर्वणा. और पूर्वभव, शक्र का विमान, और शक्र किस भाषा को बोलते हैं, इसका निरूपण और शक्र की सामर्थ्य आदि वर्णित है ।

१४–' सज्झाय ' शब्द पर स्वाध्याय का स्वरूप, स्वाध्यायकाल, स्वाध्यायविधि, स्वाध्याय के गुण, स्वाध्याय के फल इत्यादि विषय हैं, तथा ' सत्तभंगी ' शब्द पर सप्तभङ्गी का विचार हैं ।

१५–' सद्द ' शब्द पर शब्द का निरूपण, नामस्थापनादि भेद से चार भेद, बौद्धों के अपोहवाद का खण्डन, नित्यानित्य विचार, और शब्द का पौद्गलिकत्व, शब्द के दश भेद, मनोज्ञ शब्दों के सुनने का निषेध, शब्द के आकाश गुणत्व का खण्डन इत्यादि विषय हैं ।

१६–' सावय ' शब्द पर श्रावक शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ, श्रावक के लक्षण, श्रावक का सामान्य कर्त्तव्य, निवासविधि, श्रावक की दिनचर्या, श्रावक के २१ गुण इत्यादि विषय हैं ।

१७–' हिंसा ' शब्द पर हिंसा का स्वरूप, वैदिक हिंसा का खण्डन, षड्जीवनिकायों की हिंसा का निषेध, जिन मन्दिर बनवाने में आते हुए दोष का परिहार इत्यादि अनेक विषय हैं ।

१८–' हेउ ' शब्द पर हेतु के स्वरूपलक्षण, कारक और ज्ञापक रूप से हेतु के दो भेद इत्यादि विषय द्रष्टव्य हैं ।

चतुर्थ भाग में जिन जिन शब्दों पर कथा या उपकथायें आई हुई हैं उनकी संक्षिप्त नामावली—

' रहनेमि ' ' रोहिणी ' ' रोहिणेयचोर ' ' वद्धमाणसूरि ' ' वरदत्त ' ' वराहमिहिर ' ' वरुण ' ' ववहारकुसल ' ' वाणारसी ' ' विजयकुमार ' ' विजयकुमार ' ' विजयघोष ' ' विजयचंद ' ' विजयसिंहसूरि ' ' विजयसेठि ' ' विजयसेण ' ' विण्हुधर ' ' विसेसपरदु ' ' वीर ' ' संगम ' ' संजय ' ' संतिदास ' ' संतिविजय ' ' सद्दाल ' ' सब ' ' समुद्दपाल ' ' सयंभूदत्त ' ' सावत्थी ' ' सारयगुण ' ' सिरिसिरि ' ' सीहलदीव ' ' सीह ' ' सुदंसणा ' ' सुद्द ' ' सुग्गीव ' ' सुभसिरि ' ' सुमित्त ' ' सुहिय ' ' सुणंद ' ' सुणक्खत्त ' ' सुदंसण ' ' सुदंसण ' ' सुरूप ' ' सुरज ' ' सुनंद ' ' सुदंस ' ' सुमंगल ' ' सुमंगला ' ' सुव्वय ' ' सूर ' ' सेणिय ' ' सोमचंद ' ' सोमा ' ' हरिएस ' ' हरिचंद ' इत्यादि शब्दों पर कथायें द्रष्टव्य हैं ।

इस ग्रन्थ में कहीं कहीं [illegible] माहुम [illegible] है । [illegible]

अकार से ककार तक शब्दों के अन्तर्गत () कोष्ठक में आये हुए शब्दों की अकारादिक्रम से सूची-

[illegible]

अनागतकाल-अणागयकाल।
अनागतकालग्गहण-अणागयकालग्गहण।
अणिउंतय-अणिउंतय।
अणिच्छमाण-अणिच्छमाण।
अणिच्छमाणमग्ग-अणिच्छमाणमग्ग।
अणिदा-अणिया।
अणिदाण-अणियाण।
अणिदाणनुय-अणियाणनुय।
अणिदाणया-अणियाणया।
अणियत-अणियय।
अणिययचारिण्-अणिययचारिण्।
अणिययप्प-अणिययप्प।
अणिययवट्टि-अणिययवट्टि।
अणिययवास-अणिययवास।
अणिययवित्ति-अणिययवित्ति।
अणिहुय-अणिहुय।
अणिहुयपरिणाम-अणिहुयपरिणाम।
अणुग्गाम-अणुग्गाम।
अणुजाय-अणुजाय।
अणुभव-अणुभव।
अणुपरिहारि-अणुपरिहारि।
अणुपायकिरिया-अणुपायकिरिया।
अणुपालग-अणुपालग।
अणुपालण-अणुपालण।
अणुपालणाकप्प-अणुपालणाकप्प।
[illegible]

अण्णात-अण्णाय।
अण्णातउञ्छ-अण्णायउञ्छ।
अण्णातचरय-अण्णायचरय।
अण्णादिस-अन्नादिस-अण्णारिस-अन्नारिस।
अण्णुण्ण-अन्नुण्ण-अण्णुन्न-अन्नुन्न।
अतारिस-अतालिस।
अत्तसंजोग-अप्पसंजोग।
अत्तहिय-आयहिय।
अत्थिज्ञ-अत्थिय।
अत्याहाण-अत्थायाण।
अत्थिणत्थिप्पवाय-अत्थिनत्थिप्पवाय।
अथिर-अधिर।
अथिरछक्क-अधिरछक्क।
अथिरणाम-अधिरणाम।
अथिरतिग-अधिरतिग।
अथिरदुग-अधिरदुग।
अथिरव्वय-अधिरव्वय।
अथियाय-अधियाय।
अत्थुग्गह-अत्थोग्गह।
अत्थुग्गहण-अत्थोग्गहण।
अद्दंसकुरंडिम-अद्दंसकोरंडिम।
अद्दंसण-अद्दंसण।
अदत्त-अदिण्ण।
अदत्तहारि-अदिण्णहारि।
अदत्तादाण-अदिण्णादाण।
अदत्तादाणकिरिया-अदिण्णादाणकिरिय
अदत्तादाणवत्तिय-अदिण्णादाणवत्तिय
अदत्तादाणविरइ-अदिण्णादाणविरइ।
अदत्तादाणवेरमण-अदिण्णादाणवेरमण
अदत्तालोयण-अदिण्णालोयण।
[illegible]

[illegible]

अपच्चक्खाण-अप्रत्याख्यान ।
अपच्चक्खाणकिरिया-अप्रत्याख्यानक्रिया ।
[illegible]
अप्पडिक्कम-अप्रतिक्रम ।
[illegible]
अप्पडिबद्ध-अप्रतिबद्ध ।
अप्पडिबुद्ध-अप्रतिबुद्ध ।
अप्पडिरूव-अप्रतिरूप ।
अप्पडिलेहिय-अप्रतिलेखित ।
अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहियउच्चारपासवणभूमि-अप्रतिलेखितदुष्प्रतिलेखितोच्चारप्रस्रवणभूमि ।
अप्पडिलेहियदुप्पडिलेहियसिज्जासंथार-अप्रतिलेखितदुष्प्रतिलेखितशय्यासंस्तारक ।
[illegible]
अप्पडिहय-अप्रतिहत ।
अप्पडिहयबलवीरियपरक्कम-अप्रतिहतबलवीर्यपराक्रम ।
अप्पडिहयवरनाणदंसणधर-अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधर ।
अप्पडिहयसासण-अप्रतिहतशासन ।
अप्पडीकार-अप्रतीकार ।
अप्पडुप्पण्ण-अप्रत्युत्पन्न ।
अपत्तभूमिय-अप्राप्तभूमिक ।

[illegible]
अप्पमज्जिय-अप्रमार्जित ।
अप्पमज्जियदुप्पमज्जियउच्चारपासवणभूमि-अप्रमार्जितदुष्प्रमार्जितोच्चारप्रस्रवणभूमि ।
अप्पमज्जियदुप्पमज्जियसिज्जासंथार-अप्रमार्जितदुष्प्रमार्जितशय्यासंस्तारक ।
अप्पमत्त-अप्रमत्त ।
अप्पमत्तसंजय-अप्रमत्तसंयत ।
अप्पमत्तसंजयगुणट्ठाण-अप्रमत्तसंयतगुणस्थान ।
अप्पमाय-अप्रमाद ।
अप्पमायपरिहिंसा-अप्रमादपरिहिंसा ।
अप्पमाय-अप्रमाद ।
अप्पमायपरिसेवणा-अप्रमादपरिसेवना ।
अपराइय-अपराजित ।
अपरिस्साव-अपरिस्राव-अपरिस्साविन्-अपरिस्राविन् ।
अप्पसील-अप्रशील ।
अपावण-अपावन ।
अपि-अपि ।
अपीडणया-अपीडनता ।
अपुरिसय-अपुरुषक ।
अप्पाउय-अल्पायुष्क ।
अप्पावहुग-अल्पबहुक ।
अप्पोयण-अप्पोयण ।
अबहुस्सुय-अबहुश्रुत ।

आधिगरणिया-आहिगरणिया।
आधिगुण-आहिगुण।
आधिधेण-आहिधेण।
आधिदेविय-आहिदेविय।
आधिबंध-आहिबंध।
आधिमोइय-आहिमोइय।
आधिरज्ज-आहिरज्ज।
आधिवेयणिय-आहिवेयणिय।
आधीगड-आहीगड।
आधीगरण-आहीगरण-
आधुणिय-आहुणिय।
आधुय-आहुय।
आधेय-आहेय।
आधेवच्च-आहेवच्च।
आधोरण-आहोरण।
आधोधिय-आहोहिय।
आव-आव।
आवई-आवई।
आवईधम्म-आवईधम्म।
आवगा-आवगा।
आवगेज्ज-आवगेज्ज।
आवडण-आवडण।
आवडव-आवडव।
आवडिग-आवडिग।
आवडिय-आवडिय।
आवण-आवण।
आवणगिह-आवणगिह।
आवणवीहि-आवणवीहि।
आवणिग-आवणिग।
आवणिज्ज-आवणिज्ज।
आवण्ण-आवण्ण।
आवण्णपरिहार-आवण्णपरिहार।
आवण्णसत्ता-आवण्णसत्ता।
आवत्त-आवत्त।
आवत्ति-आवत्ति।
आवत्तिसुत्त-आवत्तिसुत्त।
आवदकाल-आवदकाल।
आवदेव-आवदेव।
आवमिधग-आवमिधग।
आवपित्ता-आवपित्ता।
आवरापिदय-आवरापिदय।
आवलव-आविलव।
आवसरीरअणवकंखपयत्तिया-आवसरीरअणवकंखवत्तिया।
आवाग-आवाय-आवाग-आवाय।
आवाइ-आवाइ।
आवाण-आवाण।
आवाणग-आवाणग।
आवाय-आवाय।
आवायग्गी-आवायग्गी।

आवायण-आवायण।
आवायभद्दय-आवायभद्दय।
आवायग्निया-आवायग्निया।
आवाग्नि-आवाग्नि।
आवाग्निधिय-आवाग्निधिय।
आविंजर-आविंजर।
आविसग्नि आविसग्नि।
आवेक्खिय-आवेक्खिय।
आमिट्टघर-आमिट्टगार।
आमेल-आवेड।
आमोडग-आमोडय।
आयइ-आयई।
आयज्झ-आयज्झ।
आयतकणायय-आययकणायय।
आयतचक्खु-आययचक्खु।
आयतजोग-आययजोग।
आयतट्ठित-आययट्ठिय।
आयनतर-आयतयर।
आरियखेत्त-आयरियखेत्त।
आरियछाण-आयरियट्ठाण।
आरियदंसि-आयरियदंसि।
आरियदिण्ण-आयरियदिण्ण।
आरियदेस-आयरियदेस।
आरियधम्म-आयरियधम्म।
आरियपएसिय-आयरियपएसिय।
आरियपण्ण-आयरियपण्ण।
आरियव्वेय-आयरियव्वेय।
आयाम-आयाम।
आयारमंत-आयारमंत।
आरम्भइत्ता-आरम्भइत्ता।
आराहग-आराहय।
आरि-आरिय।
आरुग्ग-आरोग्ग।
आरुग्गफल-आरोग्गफल।
आरुग्गबोहिलाभ-आरोग्गबोहिलाभ।
आरुग्गबोहिलाभाइपत्थणाचित्ततुल्ल-आरोग्गबोहिलाभाइपत्थणाचित्ततुल्ल।
आरुग्गसाहग-आरोग्गसाहग।
आलिवग-आसीवग।
आलिवण-आसीवण।
आलिविय-आसीविय।
आलिसंदग-आलिसिंदग।
आलुग-आलुय।
आव-आव।
आवत्त-आवत्त-आवट्ट-आवट्ट।
आवडपश्चावत्तसेढिपसेढियसोत्थिय(सोत्थिय) पूसमाणवद्धमाणगमच्छंडमकरंडगजारामाराफुल्लावलिपउमपत्तसागरतरंगवसंतलयपउमलयभत्तिचित्त-आवट्टपश्चावत्तसेढिपसेढियसोत्थिय (सो-

त्थिय) पूसमाणवद्धमाणगमच्छंडमकरंडगजारामाराफुल्लावलिपउमपत्तसागरतरंगवसंतलयपउमलयभत्तिचित्त।
आवत्तकूड-आवट्टकूड।
आवत्तण-आवट्टण।
आवत्तणपेढिया-आवट्टणपेढिया।
आवत्तणिज्ज आवट्टणिज्ज।
आवत्तय-आवट्टय।
आवत्तायंत-आवट्टायंत।
आवथि-आवसी।
आवलियणिवाय-आवलियाणिवाय-आवलिनिवाय।
आवलियपविट्ठ-आवलियापविट्ठ।
आवलियपविभत्ति-आवलियापविभत्ति।
आवलियबाहिर-आवलियाबाहिर।
आवीकम्म-आवीकम्म।
आसुरा-आसुरी।

॥ इ ॥

इइ-इति।
इइकह-इतिकह।
इइकायव्वया-इतिकायव्वया।
इइह-इतिह।
इइहास इतिहास।
इओ-इत्तो-इदो-एत्तो।
इंगिअ-इंगिय।
इंगिअमरण-इंगियमरण।
इंदगाइय-इंदगाइय।
इंदियत्थकोवण-इंदियत्थविकोपन।
इक्खाग-इक्खागु।
इक्खागकुल-इक्खागुकुल।
इक्खागभूमि-इक्खागुभूमि।
इक्खागराय-इक्खागुराय।
इक्खागवंश-इक्खागुवंश।
इक्खु-उच्छु।
इक्खुकरण-उच्छुकरण।
इक्खुखंड-उच्छुखंड।
इक्खुगंडिया-उच्छुगंडिया।
इक्खुघर-उच्छुघर।
इक्खुचोयग-उच्छुचोयग।
इक्खुजंत-उच्छुजंत।
इक्खुडालग-उच्छुडालग।
इक्खुपेसिया-उच्छुपेसिया।
इक्खुभित्ति-उच्छुभित्ति।
इक्खुमेरग-उच्छुमेरग।
इक्खुलट्ठि-उच्छुलट्ठि।
इक्खुवण-उच्छुवण।
इक्खुवाड-उच्छुवाड।
इक्खुवाडिया-उच्छुवाडिया।
इक्खुसालग-उच्छुसालग।
इच्छक्कार-इच्छाकार।

ह्वामित्त इच्छामेत्त ।
ड्ढि-रिद्धि-इद्धि ।
ड्ढिअप्पवट्टण-इद्धिअप्पवर्त्तन ।
ड्ढिमं-इर्द्धिमंत ।
थी-इत्थी-इत्थी ।
त्थिआणमणी-इत्थीआणमणी ।
त्थिकम्म-इत्थीकम्म ।
त्थिकला-इत्थीकला ।
त्थिकलेवर-इत्थीकलेवर ।
त्थिकहा-इत्थीकहा ।
त्थिकाम-इत्थीकाम ।
त्थिकामभोग-इत्थीकामभोग ।
त्थिगण-इत्थीगण ।
त्थिगब्भ-इत्थीगब्भ ।
त्थिगुम्म-इत्थीगुम्म ।
त्थिचिंध-इत्थीचिंध ।
त्थिचोर-इत्थीचोर ।
त्थिजण-इत्थीजण ।
त्थिजिय-इत्थीजिय ।
त्थिठाण-इत्थीठाण ।
त्थिणपुंसग-इत्थीणपुंसग ।
त्थिणामगोयकम्म इत्थीणामगोयकम्म ।
त्थितित्थ-इत्थीतित्थ ।
त्थिदोस-इत्थीदोस ।
त्थिपच्छाकड-इत्थीपच्छाकड ।
त्थिपण्णवणी-इत्थीपण्णवणी ।
त्थिपरिण्णज्झयण-इत्थीपरिण्णज्झयण ।
त्थिपरिण्णा-इत्थीपरिण्णा ।
त्थिपरिसह-इत्थीपरिसह ।
त्थिपरिसहविजय-इत्थीपरिसहविजय ।
त्थिपोसय-इत्थीपोसय ।
त्थिपुंसलक्खणा-इत्थीपुंसलक्खणा ।
त्थिभाव-इत्थीभाव ।
त्थिभोग-इत्थीभोग ।
त्थिमज्झगय-इत्थीमज्झगय ।
त्थिरज्ज-इत्थीरज्ज ।
त्थिरयण-इत्थीरयण ।
त्थिराग-इत्थीराग ।
त्थिरूव-इत्थीरूव ।
त्थिलक्खण-इत्थीलक्खण ।
त्थिलिंग-इत्थीलिंग ।
त्थिलिंगसिद्ध-इत्थीलिंगसिद्ध ।
त्थिलिंगसिद्धकेवलणाण-इत्थीलिंगसि-
द्धकेवलणाण ।
त्थिवउ-इत्थीवउ ।
त्थिवयण-इत्थीवयण ।
त्थिवस-इत्थीवस ।
त्थिविग्गह-इत्थीविग्गह ।
त्थिविण्णवणा-इत्थीविण्णवणा ।
त्थिविप्पजह-इत्थीविप्पजह ।
त्थिविप्परियासिया-इत्थीविप्परियासिया ।

इत्थिविलोयण-इत्थीविलोयण ।
इत्थिवेय-इत्थीवेय ।
इत्थिवेयण-इत्थीवेयण ।
इत्थिसंकिलिट्ठ-इत्थीसंकिलिट्ठ ।
इत्थिसंग-इत्थीसंग ।
इत्थिसंपक्क-इत्थीसंपक्क ।
इत्थिसंपरिवुड-इत्थीसंपरिवुड ।
इत्थिसंवास-इत्थीसंवास ।
इत्थिसंसत्त-इत्थीसंसत्त ।
इत्थिसद्दा-इत्थीसद्दा ।
इत्थिसहाव-इत्थीसहाव ।
इत्थिसेवा-इत्थीसेवा ।
इदाणि-इयाणि-इयाणिं ।
इंध-चिंध ।
इब्भग-इब्भय ।
इमी-इमा-इमिआ ।
इसि-रिसि ।
इसिदिण्ण-इसिदत्त ।
इस्सर-ईसर ।
इस्सरकड-ईसरकड ।
इस्सरकरुणाइ-ईसरकरुणाइ ।
इस्सरकारय-ईसरकारय ।
इस्सरवाइ-ईसरवाइ ।
इस्सरविभूइ-ईसरविभूइ ।
इस्सरसरिस-ईसरसरिस ।
इस्सरियमय-इस्सरियामय-ईसरियमय-
ईसरियामय ।
इस्सरियसिद्धि-ईसरियसिद्धि ।
इस्सरीकय-ईसरीकय ।
ईसि-ईसिं-ईसी ।
ईसिउड्ढावलंबि-ईसिंउड्ढावलंबि ईसीउ-
ड्ढावलंबि ।
ईसितंबच्छिकरणी-ईसिंतंबच्छिकरणी-
ईसीतंबच्छिकरणी ।
ईसितुंग-ईसिंतुंग-ईसीतुंग ।
ईसिपण्णवणिज्ज-ईसिंपण्णवणिज्ज-ईसी
पण्णवणिज्ज ।
ईसिपब्भार-ईसिंपब्भार-ईसीपब्भार ।
ईसिपब्भारगय-ईसिंपब्भारगय-ईसीप-
ब्भारगय ।
ईसिपब्भारा-ईसिंपब्भारा-ईसीपब्भारा ।
ईसिपुरोवाय-ईसिंपुरोवाय-ईसीपुरोवाय ।
ईसिमत्त-ईसिंमत्त-ईसीमत्त ।
ईसिरहस्स-ईसिंरहस्स-ईसीरहस्स ।
ईसिविच्छेयकडुया-ईसिंविच्छेयकडुया—
ईसीविच्छेयकडुया ।
ईसिसिलिंदपुप्फप्पगास-ईसिंसिलिंदपुप्फप्प-
गास-ईसीसिलिंदपुप्फप्पगास-ईसिसिलिंध-
पुप्फप्पगास-ईसिंसिलिंधपुप्फप्पगास-ई-
सीसिलिंधपुप्फप्पगास ।

॥ उ ॥

उइओइअ-उदिओइअ-उइओदिअ-उदि-
ओदिअ ।
उइएण-उदिएण ।
उइएणकम्म-उदिएणकम्म ।
उइण्णबलवाहण-उदिण्णबलवाहण ।
उइण्णमोह-उदिण्णमोह ।
उइण्णवेय-उदिण्णवेय ।
उइय-उदिय ।
उइयत्थमिय-उदियत्थमिय ।
उईण-उदीण ।
उईणा-उदीणा ।
उईणपाईण-उदीणपाईण ।
उईणवाय-उदीणवाय ।
उईच्चा-उदीच्चा ।
उईरण-उदीरण ।
उईरणा-उदीरणा ।
उईरिज्जमाण-उदीरिज्जमाण ।
उईरिय-उदीरिय ।
उईरेंत-उदीरेंत ।
उउंबर-उंबर ।
उउंबरदत्त-उंबरदत्त ।
उउंबरपणग-उंबरपणग ।
उउंबरपुप्फ-उंबरपुप्फ-उउंबरपुप्फु-उंबर-
पुप्फु ।
उउंबरवच्च-उंबरवच्च ।
उउंबरीय-उंबरीय ।
उउपरियट्ट-उऊपरियट्ट ।
उउसंधि-उऊसंधि ।
उंदुर-उंदुरू ।
उंदुरमाला-उंदुरूमाला ।
उक्कुट्ठ-उक्किट्ठ ।
उक्खय-उक्खाय ।
उचिअकरण-उचियकरण ।
उचिअकरणिज्ज-उचियकरणिज्ज ।
उचिअकिच्च-उचियकिच्च ।
उचिअजोग-उचियजोग ।
उचिअट्ठिइ-उचियट्ठिइ ।
उचिअत्त-उचियत्त ।
उचिअप्पाबायण-उचियप्पाबायण ।
उचिअपडिवत्तिपदाण-उचियपडिवत्ति—
दाण ।
उचिआचरण-उचियाचरण ।
उचिआणुट्ठाण-उचियाणुट्ठाण ।
उच्च-उच्चअ ।
उच्छाण-उच्छाण ।
उच्छूढसरीरगेह-उच्छूढसरीरघर ।
उच्छेद-उच्छेय ।
उज्जुग-उज्जुय ।

उज्जुगभूय-उज्जुयभूय ।
उज्जुगया-उज्जुयया ।
उज्जुगा-उज्जुया ।
उज्जुमइ-रिउमइ ।
उज्जुसुत्त-उज्जुसुय ।
उज्जुसुत्तवयणविच्छेय-उज्जुसुयवयणविच्छेय ।
उज्जुसुत्तनास-उज्जुसुयनास ।
उड्डिम-उड्डिय ।
उड्डिमदंड-उड्डियदंड ।
उद्दंसग-उद्दंसग ।
उद्धाय-उद्धाय ।
उद्धमोय-उद्धमोय ।
उद्धमोयविमोत्ति-उद्धमोयविमोत्ति ।
उम्ह-उम्ह ।
उण्हाणी-उण्हाणी ।
[illegible]-[illegible]-
[illegible] ।
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

उवगारण-उवयारण ।
उवगारियालयण-उवगारियलयण ।
उवचित-उवचिय ।
उवट्टण-उव्वट्टण ।
उवट्टणविहि-उव्वट्टणविहि ।
उवट्ठवणा-उवट्ठावणा ।
उवट्ठवणाकप्पिय-उवट्ठावणाकप्पिय ।
उवट्ठवणागहण-उवट्ठावणागहण ।
उवट्ठवणायरिय-उवट्ठावणायरिय ।
उवट्ठवणारिह-उवट्ठावणारिह ।
उवट्ठवणी-उवट्ठावणी ।
उवट्ठवित्तए-उवट्ठावित्तए-उवट्ठवेत्तए-
उवट्ठावेत्तए ।
उवरिम-उवरिम ।
उवल्लीण-उवल्लीण ।
उववूह-उववूहा ।
उसभ-उसह ।
उसभकंठ-उसहकंठ ।
उसभनाराय-उसहनाराय ।
उसभदत्त-उसहदत्त ।
उसभपुर-उसहपुर ।
उसभपुरी-उसहपुरी ।
उसभसेण-उसहसेण ।
[illegible] ।
ऊसिय-ऊसिय ऊसिव ।

॥ ए ॥

एई-एया ।
एग-एग-एय ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible]-
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।

एगारस-एगारह ।
एगूणवीस-एगूणवीसइ ।
एज-एय ।
एजंत-एजयंत ।
एजण-एयण ।
एजणा-एयणा ।
एजमाण-इज्जमाण ।
एणिज्ज-एणेज्ज ।
एणिज्जय-एणेज्जय ।
एतीह-एताहे ।
एत-एय ।
एतकम्म-एयकम्म ।
एतप्पगार-एयप्पगार ।
एतप्पहाण-एयप्पहाण ।
एतसमायार-एयसमायार ।
एतारिस-एयारिस-एतारिच्छ-एयारिच्छ ।
एतारूव-एयारूव ।
एतावंति-एयावंति ।
एरिवल-एलिवल ।
एलकक्ख-एलकच्छ ।
एलग-एलय ।
एव एवं ।

॥ ओ ॥

ओघसिय-ओग्घसिय ।
ओघ-ओह ।
ओघिइय-ओघिच्च ।
ओघियजोग-ओघिच्चजोग ।
ओदण-ओयण ।
ओदणविहि-ओयणविहि ।
ओभासण-ओहासण ।
ओभासणभिक्खा-ओहासणभिक्खा ।
ओभासमाण-ओहासमाण ।
ओरसबलसमन्नागय-ओरस्सबलसमन्ना-
गय ।
ओलि-ओली ।

॥ क ॥

कअग्गह-कयग्गह ।
[illegible] ।
[illegible]-
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।

कंसपत्ती-कंसपाई ।
कक्कोड-कक्कोस ।
कच्छभी-कच्छवी ।
कच्छू-कच्छू ।
कच्छूस-कच्छुस्स ।
कज्जोग-कयजोग ।
कडि-कडी ।
कडुग-कडुय ।
कडुगतुंबी-कडुयतुंबी ।
कडुगफलदंसण-कडुयफलदंसण ।
कडुगफलविवाग-कडुयफलविवाग ।
कणगावली-कणगावलि ।
कणाद-कणाय ।
कणिआर-कण्णिआर ।
कणिक-कणिय ।
कण्णधार-कण्णहार ।
कण्णपाली-कण्णवाली ।
कप्पववहार-कप्पववहार ।
कमण-कमन ।
कमसागरसंकयोदय-कमसागरसंपयोदय ।
कमलापीड-कमलामेल ।
कम्भीर-कम्हीर ।
कम्मकारि-कम्मकत्ता ।
कम्मपगडि-कम्मपयडि ।
कम्मयकायजोग-कम्मणकायजोग ।
कम्मयणाम-कम्मणणाम ।
कम्मयवग्गणा-कम्मणवग्गणा ।
कम्मायरिय-कम्मारिय ।
कम्मोपाहिविणिमुक्क-कम्मोवाहिविणिमुक्क ।
कयण्णु-कयण्णू ।
कयविक्कयभाण-कयविक्कयठाण ।
करणभा-करणभो ।
करतल-करयल ।
करतलपगहिय-करयलपग्गहिय ।
करतलपब्भट्ठविप्पमुक्क-करयलपब्भट्ठवि-प्पमुक्क ।
करतलमाय-करयलमाय ।
करतलपरिमिय-करयलपरिमिय ।
करभ-करह ।
कलसंबलिया-कलसिंबलिया ।
कलाद-कलाय ।
कलिकलुस-कलिकलुस ।

कलुसकम्मण-कलुसकम्म ।
कलुसाउलचेय-कलुसाविलचेय ।
कवुग-कवुय ।
कविंजुय-कवेंजुय ।
कविंजुयावाय-कवेंजुयावाय ।
कह-कहं ।
कहकहभूय-कहकहगभूय ।
काउण-काऊण ।
काक-काग ।
काकंदिय-कागंदिय ।
काकंदिया-कागंदिया ।
काकजंघ-कागजंघ ।
काकजंघा-कागजंघा ।
काकणि-कागणि ।
काकणिमंसग-कागणिमंसग ।
काकणिरयण-कागणिरयण ।
काकणिलक्खण-कागणिलक्खण ।
काकतालिज्ज-कागतालिज्ज ।
काकतुंड-कागतुंड ।
काकघड-कागघड ।
काकपाल-कागपाल ।
काकपिंडी-कागपिंडी ।
काकल-कागल ।
काकलि-कागलि-काकली-कागली ।
काकस्सर-कागस्सर ।
काणक-काणग ।
कादंब-कायंब ।
कादंबग-कायंबग ।
कादंबरी-कायंबरी ।
कामभोगासंसप्पओग-कामभोगासंसाप-ओग ।
कामासंसप्पओग-कामासंसापओग-का-मासंसपओग ।
कायपरिचारग-कायपरियारग ।
कायरा-कायला ।
कारयण-कारायण ।
कारयाहिय-कारायाहिय ।
कारविय-कारविय ।
कालागरु-कालागुरु ।
कालिग-कालिय ।
कालिगसुय-कालियसुय ।
कालिगा-कालिया ।
कालिगदाय-कालियदाय ।

कालोद-कालोय ।
किंचिदावरय-किंचियावरय ।
किम्मल-किम्मलय ।
कीदक्क-कीदगक ।
कुंतग-कुंतय ।
कुंभगार-कुंभयार ।
कुक्खि-कुच्छि ।
कुक्खिकिमि-कुच्छिकिमि ।
कुक्खिपूर-कुच्छिपूर ।
कुक्खिवेयणा-कुच्छिवेयणा ।
कुक्खिसंभूय-कुच्छिसंभूय ।
कुक्खिसंबल-कुच्छिसंबल ।
कुक्खिसूल-कुच्छिसूल ।
कुक्खिहार-कुच्छिहार ।
कुबेर-कुवेर ।
कुमुद-कुमुय ।
कुमुदवणविबोहग-कुमुयवणविबोहग ।
कुमुदा-कुमुया ।
कुमुदागर-कुमुयागर ।
कुलकर-कुलगर ।
कुलकरवंसी-कुलगरवंसी ।
कुलकरइत्थी-कुलगरइत्थी ।
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

☞ आगे से कोष्ठक में शब्दान्तर देने की इच्छा उठा दी गई है किन्तु उनको [illegible] और '[illegible]' इस सूत्र से [illegible] हुए वर्ण का शब्दान्तर [illegible] नहीं है । [illegible]

आवश्यक कतिपय सङ्केत—

१–प्राकृतशैली से अनुस्वार और मकार (गाथाओं में) समस्त दो शब्दों के मध्य में भी आया करता है, इसीलिये अनेक स्थल पर (टीका में) लिखा रहता है कि 'अनुस्वारोऽत्रालाक्षणिकः' तथा 'मकारोऽत्रालाक्षणिकः,' जैसे प्र० भा० ८९० पृष्ठ में 'असज्झाइय' शब्द पर बृ० की गाथा है–'पंसुयमंसयरुहिरं–केससिलावुद्वि तह रओघाए' ॥ यहाँ समस्त 'रुहिर' शब्द में भी अनुस्वार है। और ३९५ पृष्ठ में 'अणुजाण' शब्द पर "सीलेह मंखफलए, इयरे चोयंति तंतुमादीसु"। यहाँ 'तन्त्वादिषु' का 'तंतुमादीसु' हुआ। और तृ० भा० ६०३ पृष्ठ में भी 'कुसमयमोहमोहमइमोहिय'–'कुसमयौघमोहमतिमोहित' इस शब्द पर लिखा है कि–'मकारस्तु प्राकृतत्वात्'। इस पाठ से भी यह बात सिद्ध होती है।

२–बहुत सी जगह गाथाओं में दीर्घ को ह्रस्व, और ह्रस्व को दीर्घ हुआ करता है, उसका कारण यह है कि ऐसा करने से गाथाओं के बनाने में बहुत सुगमता होती है, इसीलिये कहा हुआ है कि–"अपि माषं मषं कुर्यात् छन्दोभङ्गं न कारयेत्"। और व्याकरणकार भी "दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ" ॥ ८। १। ४ ॥ इस सूत्र से इस बात का अनुमोदन करते हैं। जैसे 'साहू' को 'सहू', और 'विरुज्झइ (ति)' का 'विरुज्झई [ती]' होता है।

३–कहीं कहीं प्राकृतशैली से अनुस्वार का लोप भी होता है, जैसे विशेषावश्यक भाष्य के २०८६ गाथा में "समत्ताइ असमत्ताई, इन्विह कत्ता य कम्मं च ॥" (इन्विह त्ति) 'अनुस्वारस्य लुप्तस्य दर्शनात्'। प्रायः करके निर्युक्तिकार अपनी गाथाओं में इस नियम को विशेष रूप से काम में लाये हैं, इसलिये उनको गाथा बनाने में अत्यन्त सुगमता हुई है। जैसे तृ० भा० ५१७ पृष्ठ में 'किइकम्म' शब्द पर आवश्यकनिर्युक्ति है कि–'गुरुजण वंदावंती, सुस्समण जहुत्तकारिं च' ॥३३॥ इसकी वृत्ति में लिखा है कि 'अनुस्वारलोपोऽत्र द्रष्टव्यः'।

४–प्राकृतशैली से कहीं कहीं बहुवचन के स्थान में भी एकवचन हुआ करता है, जैसे आवश्यकवृत्ति के पाँचवें अध्ययन में 'भरतैरवतविदेहेषु' के स्थान में 'भरहेरवयविदेहे' ऐसा एकवचन किया है।

५–प्रायः सूत्रों में और निर्युक्तिगाथाओं में जो निर्विभक्तिक पद आया करते हैं उनमें "स्यम्–जस्–शसां लुक्" ॥ ८। ४। ३४४ ॥ तथा "षष्ठ्याः" ॥ ८। ४। ३४५ ॥ इन सूत्रों से अथवा सौत्र सुप् का लोप समझना चाहिये। जैसे तृतीय भाग के ४४६ पृष्ठ में उत्त० २४ अ० का मूलपाठ है कि–"उच्चारपासवणखेलजल्लसिंघाणए" इत्यादि। और इसपर टीकाकार लिखते हैं कि 'उच्चारपत्र सौत्रत्वात् सुपो लुक्'। इसी तरह अन्य स्थल में भी समझना चाहिये।

६–सूत्रों में बाहुल्य से प्रथमा के एक वचन में 'अतः सेर्डोः'। ८।३।२। इस सूत्र को न लगाकर "अत एत्सौ पुंसि मागध्याम्"। ८। ४। २८७ ॥ इस सूत्र से एकार ही किया गया है, जैसे तृ० भा० ४६० पृष्ठ में है कि–"आहारए दुविहे पण्णत्ते"। इस पर टीकाकार की टीका है कि 'आहारको द्विविधः प्रज्ञप्तः'। इसी तरह निर्युक्तिगाथाओं में भी समझना चाहिये–जैसे "वाहे" का अनुवाद 'व्याधः' है।

७–प्रायः करके सूत्रों में आया करता है कि–"तेणं कालेणं तेणं समएणं" और इसपर टीकाकार लिखा करते हैं कि "तस्मिन् काले तस्मिन् समये" इसको हेमचन्द्राचार्य भी सिद्धहैमव्याकरण के अष्टमाध्याय–तृतीयपाद में "सप्तम्या द्वितीया"। ८। ३। १३७ ॥ इस सूत्रपर अनुमोदन करते हैं कि 'आर्षे तृतीयाऽपि दृश्यते। यथा–'तेणं कालेणं तेणं समएणं' अस्यार्थः–'तस्मिन् काले तस्मिन् समये'। किन्तु रायपसेणी के टीकाकार मलयगिरि लिखते हैं कि 'ते इति प्राकृतशैलीवशात् तस्मिन्निति द्रष्टव्यम्' णमिति वाक्यालङ्कारे। दृष्टान्तश्चान्यत्रापि–'णं' शब्दो वाक्यालङ्कारार्थः। यथा–'इमाणं पुढवी' इत्यादि। यह पक्षान्तर भी उनके मत से स्थित है।

८–व्यवहार, बृहत्कल्प, आवश्यकचूर्णि और निशीथ सूत्र, पं० भा०, पं० चू० आदि में प्रायः करके विशेष रूप से सूत्र निर्युक्ति और चूर्णि में 'यतोऽस्तः'।८।४।३०७। इस से और आर्षत्वात् भी वर्णान्तर के स्थान में तकार हो जाता है, जैसे तृ० भा० 'किइकम्म' शब्द के ५१४ और ५१५ पृष्ठ में बृहत्कल्प की निर्युक्ति है कि–"ओसंके मे दट्ठुं, संकच्चेती उ बालगो कुविओ"। यहाँ पर शब्दच्छेदार्थी दकार को तकार और बालक की ककार को तकार किया है। इसी तरह "इय संजमस्स वि वतो, तस्सेवट्ठा ण दोसा य"॥ इस गाथा में भी व्यय शब्द की यकार को भी तकार किया है। इसी तरह तृ० भा० ५०६ पृष्ठ के 'काहिय' शब्द पर निशीथ सूत्र की निर्युक्ति और चूर्णि की व्यवस्था है, जैसे 'तद्धम्मो जो धम्मं, कधेति सो काधितो होई' ॥ ६३ ॥

इस निर्युक्तिगाथा की चूर्णि है कि–'एवंविधो काहितो जवाते'। यहाँ पर भी कायिक के ककार को तकार किया हुआ है, इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिये। थकार को धकार तो 'थो धः' ॥ ८। ४। २६७॥ और 'अनादौ स्वरादसंयुक्तानां कगतदथपफां गजदधबभाः' । ८। ४। ३९६। इत्यादि सूत्रों से होता है।

९–संस्कृत शब्दों की सिद्धि तो पचास अक्षरों से है, परन्तु प्राकृत शब्दों की सिद्धि चालीस ही अक्षरों से होती है, क्योंकि स्वरों में तो ऋ, लृ, ऐ, औ का अभाव है और व्यञ्जन में श, ष, तथा असंयुक्त ङ, ञ आदि कई व्यञ्जनों का अभाव है।

१०–व्यञ्जनान्त शब्दों के व्यञ्जन का 'अन्त्यव्यञ्जनस्य लुक्' ॥८।१।११॥ इस सूत्र से लुक् होजाने पर किसी शब्द का तो व्यञ्जनान्तत्वही नष्ट हो जाता है और किसी किसी का अजन्त में विपरिणाम हो जाता है, इसीलिये हलन्त शब्दों की सिद्धि के लिये कोई विशेष नियम नहीं है, केवल 'आत्मन्' शब्द और 'राजन्' शब्द की सिद्धि के लिये जो थोड़े से नियम हैं उन्हीं से अन्य नकारान्त शब्दों की भी व्यवस्था की जाती है।

११–यदि किसी ग्रन्थ का पाठ कुछ बीच में छोड़कर फिर लिया है तो जहाँ से पाठ छूटा है वहाँ पर उसी ग्रन्थ का नाम इस बात की सूचना के लिये चलते हुए पाठ के मध्य में भी दे दिया है कि पाठक भ्रम में न पड़ें।

१२–प्राकृत भाषा में हिन्दी भाषा की तरह द्विवचन नहीं होता, किन्तु "द्विवचनस्य बहुवचनं नित्यम्" ॥ ८। ३। ११० ॥ इस सूत्र से द्विवचन के स्थान में बहुवचन हो जाता है, इसलिये द्वित्वबोधन की जहाँ कहीं विशेष आवश्यकता होती है वहाँ द्वि शब्द का प्रयोग किया जाता है; और चतुर्थी के स्थान में षष्ठी "चतुर्थ्याः षष्ठी" ॥ ८। ३। १३१ ॥ इस सूत्र से होती है।

१३–गाथाओं में पाद पूरे होने पर यदि सुबन्त अथवा तिङन्त रूप पद पूरा हो जाता है तो (,) यह चिह्न दिया जाता है और जहाँ पाद पूरा होने पर भी पद पूरा नहीं हुआ है वहाँ [–] ऐसा चिह्न दिया है।

१४–बहुतसी जगह गाथाओं में शुद्ध या व्यञ्जनमिश्रित एकार स्वर आता है किन्तु उसकी दीर्घाक्षर में परिगणना होने से जो किसी जगह मात्रा बढ़ जाती है, उसको कम करने के लिये [˘] ऐसा चिन्ह दिया गया है। यद्यपि 'दीर्घ–ह्रस्वौ मिथो वृत्तौ' ॥ ८। १। ४ ॥ इस सूत्र से ह्रस्व करने पर एकार को इकार हो सकता है, किन्तु वैसा करने से सर्वसाधारण को उसकी मूल प्रकृति का ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये ह्रस्वबोधक संकेत किया गया है, इसीतरह व्याकरणमहाभाष्य में भी लिखा है कि–" अर्ध एकारः, अर्ध ओकारो वा इति राणायनीयाः पठन्ति"। और वाग्भटविरचित प्राकृत पिङ्गलसूत्र में भी लिखा है कि–

" दीहो संजुत्तपरो, बिन्दुजुओ पाडिओ अ चरणंते।
स गुरू वंक दुमत्तो, अण्णो लहु होइ सुद्ध एक्कअलो "॥

इस तरह गुरु लघु की व्यवस्था करके लिखते हैं कि–

'कत्थ वि संजुत्तपरो, वण्णो लहु होइ दंसणेण जहा।
परिहसइ चित्तधिज्जं, तरुणिकडक्खम्मि णिव्वुत्तं' ॥

दूसरा अपवाद– 'इहिकारा बिन्दुजुआ, एओ सुद्धा अ वण्णमिलिआ वि लहू।
रहवंजणसंजोए, परे असेसं पि सविहासं' * ॥

उदाहरण– 'माणिणि ! माणहिँ काइँ फल, ऐंओं जें चरण पडु कन्त।
सहजें भुअँगम जइ णमइ, किं करिए मणिमन्त ?' ॥

दूसरा विकल्प– 'जइ दीहो वि अ वण्णो, लहु जीहा पढइ सो वि लहु।
वण्णो वि तुरियपढिओ, दो तिण्णि वि एक जाणेहु" ÷ ॥

उदाहरण– 'अरें रें वाहहि कान्ह ! णाव छोटि डगमग कुगति ण देहि।
तइ इथि णदिहिँ सँतार देइ, जो चाहसि सो लेहि" ॥

---

* इकारहिकारौ बिन्दुयुतौ एओ शुद्धौ च वर्णमिलितावपि लघू। रेफहकारौ, व्यञ्जनसंयोगे परेऽशेषमपि सविभाषम् ॥
÷ यदि दीर्घमपि वर्णं लघुं जिह्वा पठति सोऽपि लघुः। वर्णा अपि त्वरितपठितौ द्वौ त्रयो वा एकं जानीत ॥

राज ने अनुग्रह करके सिद्धहेम सूत्रों पर श्लोकबद्ध विवरण रचकर सरल कर दिया, जो कि कोश के प्रथम भाग के परिशिष्टों में संकलित कर दिया गया है। क्योंकि जिस भाषा का ज्ञान अपेक्षित होता है उसके व्याकरण की बड़ी आवश्यकता होती है, अर्थात् विना व्याकरण के किसी भाषा का पूरा पूरा ज्ञान नहीं हो सकता। इस लिये पहिले उसको एक बार खूब मनन करके पीछे कोश को देखने से विशेष आनन्द आवेगा।

६–यद्यपि महानिशीथ सूत्र में टीका या चूर्णि नहीं पायी जाती, तथापि हमारी पुस्तक में चतुर्थाध्ययन की समाप्ति में लिखा है कि–"अत्र चतुर्थाध्ययने बहवः सैद्धान्तिकाः, केचिदालापकान्न सम्यक् श्रद्दधत्येवं तैरश्रद्दधानैरस्माकमपि न सम्यक् श्रद्धानमित्याह हरिभद्रसूरिः,न पुनः सर्वमेवेदं चतुर्थाध्ययनमन्यानि वाऽध्ययनानि। अस्यैव कतिपयैः परिमितैरालापकैरश्रद्धानमित्यर्थः। यतः स्थानसमवायजीवाभिगमप्रज्ञापनादिषु न कथञ्चिदिदमाचख्ये, यथा प्रतिसंतापस्थलमस्ति–तद्गुहावासिनस्तु मनुजास्तेषु च परमाधार्मिकाणां पुनः २ सप्ताष्टवारान् यावदुपपातस्तेषां च तैर्दारुणैर्वज्रशिलाघरट्टसंपुटैर्गिलितानां परिपीड्यमानानामपि संवत्सरं यावत् प्राणव्यापत्तिर्न भवतीति। वृद्धवादस्तु पुनर्यथा–तावदिदमार्षसूत्रं, विकृतिर्न तावदत्र प्रविष्टा, प्रभूताश्चात्र श्रुतस्कन्धे अर्थाः, सुष्ठ्वातिशयेन सातिशयानि गणधरोक्तानि चेह वचनानि, तदेवं स्थिते न किञ्चिदाशङ्कनीयम् ॥" इसके बाद फिर 'एवं कुसीलसंसग्गिं सव्वोपाएहिं पयहियं' इत्यादि पञ्चमाध्ययन का प्रारम्भ है। इसीतरह कहीं २ चूर्णि भी मिलती है जैसे इसी कोश के प्र० भा० 'अरहंत' शब्द पर ७५६ पृष्ठ में मूल और चूर्णि दोनों हैं। और 'एस समासत्थो' 'वित्थरत्थं तु इमं' ऐसा हमारे पुस्तक के ६ पत्र २ पृष्ठ २६ पङ्क्ति में लिखा है।

७–सूत्रकृताङ्ग की गाथाएँ कई अध्ययनों में ऐसी टूटीसी मालूम पड़ती हैं जैसे छन्दोभङ्गवाली हों, किन्तु प्रायः वे भी छन्दोलक्षणविहीन नहीं हैं, क्यों कि बहुत से ऐसे भी छन्द हैं जो पढ़ने में असङ्गत से मालूम होते हैं किन्तु लक्षण से पूर्ण सङ्गत हैं। क्योंकि प्राकृत पिङ्गलसूत्र में चन्द्रलेखा-चित्र-नाराच-नील-चञ्चला-ऋषभगजविलसित-चकिता-मदनललिता-वाणिनी-प्रवरललित-गरुडरुत-अचलधृति छन्द भी विलक्षण हैं। जैसे मदन ललिता का यह उदाहरण है–

> " विभ्रष्टस्रग्गलितचिकुरा पीताधरपुटा,
> म्लायत्पत्रावलिकुचतटोच्छ्वासोर्मितरला।
> राधाऽत्यर्थं मदनललिताऽऽन्दोलालसवपुः,
> कंसारातेः रतिरसमहो चक्रेऽतिचटुलम् " ॥ १ ॥

और यदि कहीं पर किसी भी छन्द का लक्षण सङ्गत न हो तो वहाँ आर्ष छन्द समझना चाहिये।

पैंतालीस आगमों के नाम, और उनकी मूलश्लोकसंख्या, और हर एक पर पृथक् पृथक् आचार्यों की निर्मित बृहद्वृत्ति, लघुवृत्ति, निर्युक्ति और भाष्यादिक, और उनका श्लोकसंख्याप्रमाण इस रीति से है–

श्रीसुधर्मास्वामीकृत ग्यारह अङ्गों के नाम और व्याख्यासहित ग्रन्थप्रमाण–

१–आचाराङ्ग सूत्र, अध्ययन २५, मूलश्लोकसंख्या २५००, और उसपर शीलाङ्काचार्यकृत टीका १२०००, चूर्णि ८३००, तथा भद्रबाहुस्वामिकृत निर्युक्तिगाथा ३६८, श्लोक ४५०, (भाष्य और लघुवृत्ति इस पर नहीं है)। संपूर्णसंख्या २३२५० है।

२–सूत्रकृताङ्ग सूत्र, श्रुतस्कन्ध २, अध्ययन २३, मूलश्लोकसंख्या २१००, और उसपर शीलाङ्काचार्यकृत टीका १२८५०, चूर्णि १००००, तथा भद्रबाहुस्वामिकृत निर्युक्तिगाथा २०८, श्लोक २५०, (भाष्य नहीं है) संपूर्ण संख्या २५२०० है। संवत् १५८३ में नवीन श्रीहेमविमलसूरि ने दीपिका टीका बनायी है, किन्तु वह पूर्वाचार्यों की गिनती में नहीं है।

३–स्थानाङ्ग सूत्र, अध्ययन (ठाणा) १०, मूलश्लोकसंख्या ३७७०, और उसपर संवत् ११२० में अभयदेवसूरि ने टीका बनायी है, उसका मान १५२५० है, संपूर्ण संख्या १९०२० है।

४–समवायाङ्ग सूत्र, (१०० समवाय तक समवाय गिनने हैं) मूलश्लोकसंख्या १६६७, और उसपर अभयदेवसूरिकृत टीका ३७७६, चूर्णि पूर्वाचार्य कृत ४००, संपूर्ण संख्या ५८४३ है।

९-कल्पावतंसिका उपाङ्ग, [अन्तगडदशाङ्गप्रतिबद्ध] पद्म, महापद्म, भद्र, सुभद्र, पद्मभद्र, पद्मसेन, पद्मगुल्म, न‍लिनीगुल्म, आनन्द, नन्दन के नाम से १० अध्ययन हैं ।

१०-पुष्पिका उपाङ्ग, [अणुत्तरोववाईप्रतिबद्ध] चन्द्र, सूर, शुक्र, बहुपुत्रिका, पुण्यभद्र, माणिभद्र, दत्त, शि‍वाले, अनादृत नाम से दश १० अध्ययन हैं ।

११-पुष्पचूलिका उपाङ्ग, [प्रश्नव्याकरणप्रतिबद्ध] श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, इलादेवी, सुरादेवी, रसदेवी, गन्धदेवी नाम से दश १० अध्ययन हैं ।

१२-वह्निदशा उपाङ्ग, [विपाकसूत्रप्रतिबद्ध] निसढ, अग्नि, दढ, वह, पगती, जुति, दसरह, दढरह, महाधनु, सत्तधनु, दसधनु, नामेसय के नाम से १२ अध्ययन हैं ।

इन पाँचो उपाङ्गों का एक नाम ' निरयावली ' है, और कल्पिका आदि पाँचो उपाङ्गो के ५२ अध्ययन हैं । इनकी संपूर्ण मूलग्रन्थसंख्या ११०९ है, इनकी वृत्ति ७०० श्री चन्द्रसूरिकृत है । संपूर्ण ग्रन्थसंख्या १८०६ है ॥

इस तरह बारह उपाङ्गों की मूलसंख्या २५४२० है और टीका की संख्या ६७७३६, और लघुवृत्ति ६०२७, चूर्णि ३३६०, संपूर्णसंख्या १०३५४४ है ।

दश पइन्नाओं (प्रकीर्णक) की गाथा संख्या इस तरह है—

१-चउसरण पइन्ना में ६३ गाथा हैं । २ आउरपच्चक्खाण पइन्ना में ८४ गाथा हैं । ३ भत्तपच्चक्खाण पइन्ना में १७२ गाथा हैं । ४ संथारग पइन्ना में १२२ गाथा हैं । ५ तंदुलवेयाली पइन्ना में ४०० गाथा हैं । ६ चन्दविज्झगपइन्ना में ३१० गाथा हैं । ७ देविन्दत्थव पइन्ना में २०० गाथा हैं । ८ गणिविज्जा पइन्ना में १०० गाथा हैं । ९ महापच्चक्खाण पइन्ना में १३४ गाथा हैं * । १० समाधिमरण पइन्ना में ७२० गाथा हैं ।

इन दश पइन्नाओं की संपूर्ण गाथासंख्या २३०५ है और प्रत्येक में दश दश अध्ययन हैं, और ये दश पइन्ना जो पैंतालीस आगम की गिनती में हैं ।

१ वीरस्तव पइन्ना गाथा ४३ ।

२ ऋषिभाषित सूत्र संख्या ७५० ।

३ सिद्धिप्राभृतसूत्र संख्या १५०, और इसकी टीका ७५० है ।

४ दीवसागरपन्नत्ति संग्रहणी संख्या २८०, और इसकी टीका २५०० है ।

५ अङ्गविज्जापइन्ना संख्या ८००० (कहीं २ पाई जाती) है ।

६ ज्योतिष्करण्डक पइन्ना संख्या५०७, इसकी टीका मलयगिरिकृत ५४०० है, और २१ पाहुडा [प्राभृतक] हैं ।

७ गच्छाचारपइन्ना, टीका विजयविमलगणिविरचित, मूलटीका संख्या ५८५० है, और ४ अधिकार हैं ।

८ अङ्गचूलिया ग्रन्थसंख्या ८००, इसमें लिखा हुआ है कि "आर्यसुधर्मा स्वामी से उन के शिष्य जम्बूस्वामी ने पूछा कि-ग्यारह अङ्गों की अङ्गचूलिका किस वास्ते हैं ?" इस पर सुधर्मा स्वामी ने उत्तर दिया कि-"जिस तरह आभूषणों से अङ्ग शोभित होते हैं उसी तरह अङ्गचूलिका से एकादशाङ्गी शोभित होती है, इस लिये निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों को ये जानने के लायक हैं और गुरुपरंपरागम से ग्रहण करने के योग्य है" । फिर जम्बू स्वामी ने पूछा कि-"गुरुपरंपरागम कैसा ?"। उत्तर में सुधर्मा स्वामी ने कहा कि-"आगम तीन प्रकार के हैं-१ अत्तागम, २ अनन्तरागम, और ३ परंपरागम । अर्थ से तो अर्हन् भगवान का अत्तागम है, और सूत्र से गणधरों का अत्तागम है । तदनन्तर गणधरशिष्यों का अनन्तरागम है, उसके बाद सभी का परंपरागम है " । और अङ्गचूलिका के अन्त में उपाङ्गचूलिका की चर्चा है कि-सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामी से कहते हैं कि-" सेसं उवंगचूलिया तो गहेयव्वं " अर्थात् अवशिष्ट भाग उपाङ्गचूलिका से लेना चाहिये ।

* कई लिखी प्रतियों में महापच्चक्खाण पइन्ना के स्थान में ४३ गाथावाला वीरस्तव पइन्ना लिखा है, किन्तु ऊपर कहे हुए दश पइन्नाओं से पृथक् भी है परन्तु उसकी यहाँ आवश्यकता न होने से केवल नामनिर्देश ही किया है।

छः छेदग्रन्थों के नाम और उनकी ग्रन्थसंख्या—

१-निशीथ सूत्र, उद्देश २०, मूलश्लोकसंख्या ८१५, और इस पर लघुभाष्य ७४००, और [illegible] [illegible] चूर्णि २८०००, बृहद्भाष्य १२००० है, यह टीका के नाम से ही प्रसिद्ध है। भद्रबाहुस्वामी की [illegible] [illegible] है। संपूर्ण ग्रन्थसंख्या ४८२१५ है। शीलभद्रसूरि के शिष्य चन्द्रसूरि ने वि० सं० ११[illegible] [illegible] है। जिनदासगणिमहत्तर ने अनुयोगद्वारचूर्णि, निशीथचूर्णि, बृहत्कल्पभाष्य, आवश्यकचूर्णि [illegible] [illegible] है।

२-महानिशीथ सूत्र, अध्ययन ७, चूलिका २, मूलश्लोकसंख्या ४५००, मतान्तर में इसकी तीन वाच[illegible] [illegible]: ३५००; २-मध्यवाचना ४५००; ३-बृहद्वाचना ११८०० है। किन्तु हमारी पुस्तक के अन्त[illegible]

" चत्तारि सयसहस्सा, पंचसयाओ तहेव पंचासं ॥
चत्तारि सिलोगा वी, महानिसीहम्मि पाएणं " ॥ १ ॥ ४५५४ ॥

३-बृहत्कल्पसूत्र, उद्देश ६, मूलसंख्या ४७३ है। इसपर सं० १३३२ में बृहच्छालीय श्रीक्षेमकीर्तिसूरि ने [illegible] टीका बनाई है। भाष्य जिनदासगणिमहत्तरकृत १२०००, लघुभाष्य ८००, चूर्णि १४३२[illegible] [illegible] है। टीका में लिखा हुआ है कि– [कः सूत्रमकार्षीत्, को वा निर्युक्तिं, को वा भाष्यमि[illegible] [illegible] दृष्टिवादस्य वस्तु तस्मिन् विंशतिनामप्राभृते मूलगुणेप्[illegible] [illegible] पार[illegible], कालक्रमेण च दुःषमानुभावतो धृतिबलवीर्यबुद्ध्यायुःप्र[illegible] [illegible] मा भूत् प्रायश्चित्तव्यवच्छेद इति साधूनामनुग्रहाय चतुर्दशपूर्वधरे[illegible] [illegible], भद्रबाहुस्वामी चाचार्यः उभयोरपि च सूत्रस्पर्शिकानिर्युक्ती]

४-[illegible] सूत्र, उद्देश १०, दो खण्ड, मूलश्लोकसंख्या ६००, टीका मलयगिरि[illegible] [illegible], [illegible] १००० है। निर्युक्ति की संख्या अज्ञात है। संपूर्ण ग्रन्थ संख्या ५०५८६ है।

५-[illegible] सूत्र, [illegible] १४, मूलसंख्या ११३३, चूर्णि २१३०, और दूसरी टीका [illegible] [illegible], [illegible] १२८=, और गाथासंख्या २०० है।

६-[illegible] सूत्र, मूलसंख्या १८३७, अध्ययन १०, चूर्णि २२४५, निर्युक्तिसंख्या [illegible] [illegible] है, इसका आठवाँ अध्ययन कल्पसूत्र १२१६ है जिसकी टीका क[illegible]

७-[illegible] सूत्र, मूलसंख्या १०८, टीका १२०००, सेनकृत चूर्णि १०००, भाष्य ३१[illegible] [illegible] है [illegible] संख्या ११२० है, और इसकी लघुवृत्ति श्रीसाधुरत्नकृत ५३००, [illegible] [illegible] है।

[illegible] १३१, [illegible] चूर्णि २२५० है, और उसपर पृथ्वीचन्द्रकृत टि[illegible] [illegible] है, इसकी चूर्णि और टीकाएँ बहुत है, परंतु भाष[illegible] [illegible] है।

[illegible] सूत्रों की संख्या इस तरह है—

१-[illegible] सूत्र, मूलसंख्या [illegible], टीका हरिभद्रसूरिकृत २२०००, निर्युक्ति भद्रबाहुस्वामि[illegible] [illegible] है [illegible] [illegible] २२०७० है, इसकी लघुवृत्ति जिनकाचार्य [illegible] [illegible] १२००० है, इसका भाष्य ४००० है, आवश्यकदीपिका [illegible] [illegible] है [illegible] है, निर्युक्ति की टीका हरिभद्रसूरिकृत २२५०० है।

[illegible]

-विशेषावश्यकसूत्र, [आवश्यकसूत्र मूल (सामायिकाध्ययन) का विशेष परिकर है] मूलसंख्या ५००० है। श्री-भद्रगणिक्षमाश्रमण कृत है, और इसकी बृहद्‌वृत्ति १८००० मलधारिहेमचन्द्रसूरिकृत है, लघुवृत्ति १४००० कोट्याचार्यकृत, या द्रोणाचार्यकृत है, बृहद्‌वृत्ति की टीका तर्कानुविधा जैनस्थापनाचार्य कृत है।

१-पाखी (पाक्षिक) सूत्र, मूल १६०, सं० ११८० में यशोदेवसूरिकृत टीका २७००, चूर्णि ४०० है।

१-यतिप्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति ६०० है।

२-दशवैकालिक सूत्र, सय्यंभवसूरिकृत, मूल ७००, वृत्ति तिलकाचार्यकृत ७०००, दूसरी वृत्ति हरिभद्रसूरिकृत ७१०, और मलयागिरिकृत वृत्ति ७७००, चूर्णि ७८००, लघुवृत्ति ३७०० है। निर्युक्तिगाथा ४५० है। आधुनिक समसुन्दरसूरिकृत लघुटीका ४२००, तथा समयसुंदरउपाध्यायकृत लघुटीका २६०० है।

३-पिण्डनिर्युक्ति, भद्रबाहुस्वामिकृत, मूलसंख्या ७००, इसपर टीका मलयगिरिकृत ७०००, दूसरी प्रति में ६६०० , वि० सं० ११६० में वीरगणिकृत टीका ७५०० है और महासूरिकृत लघुवृत्ति ४००० है, संपूर्णसंख्या १९२०० है।

३-ओघनिर्युक्ति, भद्रबाहुस्वामिकृत, मूलगाथा ११७० हैं, द्रोणाचार्यकृत टीका ७०००, और इसका भाष्य ३००० है, चूर्णि ७००० है, संपूर्णसंख्या १८४५० है।

४-उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन ३६ हैं, मूलसंख्या २००० है, वादिवेताल शान्तिसूरिकृत बृहद्‌वृत्ति [पाईटीका] १८००० है, दूसरी प्रति में १३६४५ [लक्ष्मीवल्लभी टीका] है, सं० ११२९ में नेमिचन्द्रसूरि से कृत लघुवृत्ति १३६०० है, भद्रबाहुस्वामिकृत गाथानिर्युक्ति ६०७ है, और चूर्णि ६००० है, संपूर्णसंख्या ४०३०० ।

अब दो चूलिकासूत्र की संख्या और नाम—

१-नन्दीसूत्र, देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणकृत, मूलसंख्या ७०० है, इसपर मलयगिरिकृत वृत्ति ७७३५, चूर्णि सं० ७३३ में बनी हुई २००० है, हरिभद्रसूरिकृत लघुटीका २३१२ है, संपूर्णसंख्या १२७४७ है। चन्द्रसूरिकृत टिप्पण ३००० है।

२-अनुयोगद्वारसूत्र, गाथा १६०० हैं, उसपर मलधारिहेमचन्द्रसूरिकृत वृत्ति ६००० है। जिनदासगणिमहत्तर कृत चूर्णि ३,०००, और हरिभद्रसूरिकृत लघुवृत्ति ३५०० है, इसतरह संपूर्णसंख्या १४१०० है।

☞ इस तरह ग्यारह अङ्ग, बारह उपाङ्ग, दस पइन्ना, छः छेदसूत्र, चारमूलसूत्र, और दो चूलिकासूत्र मिलकर इस समय पैंतालीस आगमों की संख्या की जाती है। इत्यलं विस्तरेण।

विशेष विज्ञापन—

इस पुस्तक के संशोधन में हमारे सतीर्थ्य मुनि श्री दीपविजयजी और मुनि श्री यतीन्द्रविजयजी ने पूर्ण परिश्रम किया है किन्तु लेखकों की लिखी हुई पुस्तकों के अत्यन्त जीर्ण होने से और प्रायः एकही एक प्रति के मिलने से भी कहीं कहीं त्रुटित गाथाएँ टीका का अवलम्बन लेकर प्रकरण और विषय के अविरोध से पूरी की गयी हैं उनमें यदि कहीं पर पाठ भेद हो गया हो तो सज्जनों को उसे ठीककर लेना चाहिये।

निवेदक

उपाध्याय मुनि श्री १०८ मोहनविजयजी

स्वरेऽन्तरश्च ॥ १४ ॥

अन्तरो निर्दुरोश्चान्त्यं, व्यञ्जनं लुप्यते स्वरे ।
निरन्तरं अंतरप्पा, निरसेसं दुरुत्तरम् ॥
दुरवगाहमित्यादि, क्वचिल्लुक् चापि दृश्यते ।
यथा अन्तोवरीत्यत्र, तकारो लोपमाप्तवान् ॥

स्त्रियामादविद्युतः ॥ १५ ॥

स्त्रियां प्रवर्तमानस्य, शब्दस्यान्त्यं यदक्षरम् ।
तस्य स्थाने भवत्यात्वं, विद्युच्छब्दे तु नेष्यते ॥
प्रतिपत् पाडिवया स्यात, संपत् संपआ च सरित् सरिआ च ।
बाहुलकात् 'सरिया' ऽप्यपि, 'अविद्युतः' किं?, यथा विज्जू ॥

रो रा ॥ १६ ॥

स्त्रियां रेफान्तशब्दस्य, 'रा' इत्यादेश इष्यते ।
अयमात्वापवादोऽस्ति, यथा रूपं धुरा-पुरा ॥

क्षुधो हा ॥ १७ ॥

क्षुधो ऽन्त्यस्य तु हादेश-स्तेन रूपं 'छुहा' भवेत् ।

शरदादेरत् ॥ १८ ॥

शरदादेरन्तिमस्य, व्यञ्जनस्याद् भवेदिह ।
शरद् भिषक् यथा स्यातां, सरओ भिसओ क्रमात् ॥

दिक्प्रावृषोः सः ॥ १९ ॥

दिक्प्रावृषोः सो भवति, तेन स्यात् पाउसो दिसा ।

आयुरप्सरसोर्वा ॥ २० ॥

आयुषोऽप्सरसश्चान्ते, सो वा भवति, तद्यथा- ।
दीहाउसो च दीहाऊ, अच्छरा अच्छरसा भवेत् ॥

ककुभो हः ॥ २१ ॥

ककुभो ऽन्त्य 'हः' स्यात्, ककुहा तेन सिद्ध्यति ।

धनुषो वा ॥ २२ ॥

धनुषः अन्त्य हो वा स्यात्, धणुहं च धणू यथा ।

मोऽनुस्वारः ॥ २३ ॥

अन्त्यमस्य मकारस्या-नुस्वारोऽत्र विधीयते ।
जलं फलं गिरिं पश्य, पदेष्वेतेषु निदर्शनम् ॥
क्वाप्यनन्त्यस्यापि यथा,-वणम्मि च वणंमि च ।

वा स्वरे मश्च ॥ २४ ॥

अन्त्यस्य मकारस्या-नुस्वारो वा स्वरे परे ।
पक्षे लुगपवादो मः, तस्य स्थाने भवेदिह ॥
उसभं अजिअं वंदे, उसभमजिअं च वा ।
बहुलत्वात् तथाऽन्यस्य, व्यञ्जनस्यापि मो भवेत् ॥
साक्षात् सक्खं, यत् जं, तत् तं, विष्वक् च वीसुमथ सम्यक् ।
सम्मं, पृथक् पिहं, इत्येवमादय चाऽन्येऽपि बोध्य ॥

ङ-ञ-ण-नो व्यञ्जने ॥ २५ ॥

ङ-ञ-ण-नामनुस्वारः स्या-दनुस्वारोऽग्रिमे व्यञ्जने
पङ्क्ती पंती च, पराङ्मुखः परंमुहो, कञ्चुकः कंचुओ ।
लाञ्छनं लंछणं, षण्मुखः छंमुहो, उत्कण्ठा उक्कंठा, सन्ध्या ।
संझा, सन्ध्या संझा च, विन्ध्य इति विंझो ।
वा, इत्यनुस्वार-निर्देशं बोध्यमिति वेदय ॥

वक्रादावन्तः ॥ २६ ॥

वक्रादौ च शब्दगणे, प्रथमादिस्वरस्य च स्वरः ।

तस्यान्ते स्यादनुस्वारा-ऽऽगमो लक्ष्यानुसारतः ॥
वंकं तंसं अंसु, मंसू पुंछं च कुंपलं पंसु ।
गुंछं मुंढा बुंधं, कंकोडो विंछिओ गिंठी ॥
मंजारो दंसणमि-त्यादिष्वाद्यस्य कार्यमिह वेद्यम् ।
पडंसुआ च वयंसो, मणंसिणी चापि माणंसी ॥
मणंसिला चेत्यादि-ष्वागमकार्यं भवेद् द्वितीयस्य ।
उवरिं अतिमुत्तयमइमुंतयमवरिं अनयोस्तृतीयस्य ॥
क्वचिच्छन्दःपूरणेऽपि, 'देवं-नाग-सुवण्णं' ।
क्वचिन्न-गिठी मज्जारो, मणासिला मणासिला ॥
आर्षे 'मणोसिला' रूपं, 'अइमुत्तयम्' इत्यपि ।
वक्रं त्र्यस्रं श्मश्रु पुच्छं, गुच्छं मूर्धा च कुड्मलः ॥
अश्रुणि वयस्यो मा-र्जारो गृष्टिर्मनस्विनी ।
पर्शुर्बुध्नश्च कर्कोटो, दर्शनं गृष्टि-वृश्चिकौ ॥
अतिमुक्तकः प्रतिश्रुत्, मनस्वी च मनःशिला ।
इत्याद्यो भूरि शब्दाः, वक्रादौ परिकीर्तिताः ॥

क्त्वा-स्यादेर्ण-स्वोर्वा ॥ २७ ॥

क्त्वाप्रत्ययस्य स्यादीनां, प्रत्ययानां च यौ ण-सू ।
तयोरन्तस्यनुस्वारो, वा स्यादित्यवधार्यताम् ॥
यथा-काऊण काऊण, काउआण पदं तु वा ।
स्यात काउआणं, स्यादौ च-च्छेण वच्छेणमित्यपि ॥
तथा वच्छेसु वच्छेसुं, 'णस्वोरिति' किम्? अग्गिणो ।

विंशत्यादेर्लुक् ॥ २८ ॥

विंशत्यादिपदानां योऽ-नुस्वारस्तस्य लुग्भवेत् ।
तेन स्याद् विंशतिर्वीसा, त्रिंशत् तीसा च सक्कयम् ॥
सक्कयं स्याच्च संस्कारः, सक्कारो विनिगद्यते ।

मांसादेर्वा ॥ २९ ॥

मांसादीनामनुस्वारो, लोपमेति विकल्पतः ।
मासं मंसं, मासल मंसलं वा,
कासं कंसं, केसुअं किंसुअं वा ।
सीहो सिंहो, किं कि, वा दाणि दाणिं,
पासू पंसू वा, कहं वा कह स्यात् ॥
एव एवं नूण नूणं, समुहं संमुहं तथा ।
इआणि वा इआणिं, स्यादु मांसादीनां निदर्शनम् ॥
मांसं कांस्यं कथं पांसु-मांसलः सिंह-किंशुकौ ।
एवं नूनम् इदानीम् किम्, दाणिम् संमुख इत्यपि ॥

वर्गेऽन्त्यो वा ॥ ३० ॥

अनुस्वारस्य वर्गान्त्यो, वा तद्वर्गे परे भवेत् ।
पङ्को पंको, कञ्चुओ कंचुओ वा,
सञ्झा संझा, कण्टओ कंटओ वा ।
कण्डं कण्डं, अन्तरं अंतरं वा,
चन्दो चंदो, कम्पो कंपो वा ॥
इत्याद्यन्यद् वेदितव्यं च तदर्थ, वर्गे किंच? संसओ संहरेति ।
केचिद् धीराः शब्दविद्याप्रवीणा, एतत्कार्यं नैत्यिकं वर्णयन्ति ।

प्रावृट्-शरत्-तरणयः पुंसि ॥ ३१ ॥

प्रावृट्शब्दः शरच्छब्द-स्तरणिश्चेति ते त्रयः ।
पुंसि स्युस्तरणी चैव, पाउसो सरओ यथा ॥

स्नमदाम-शिरो-नभः ॥ ३२ ॥

दामन्-शिरो-नभो वर्ज्यं, सत् सान्तं नान्तमपि वा ।
शब्दरूपं तथा पुं, पुंसि प्रयुज्यते ॥

' असो पञ्चो नमो नेञ्चो, उरो ' सान्ते निदर्शनम् ।
' अम्मो नम्मो तथा मम्मो , ' नान्ते लक्ष्यमिदं मतम् ॥
'अदामित्यादि' किं प्रोक्तम् ? , यथा-दामं सिरं नहं ।
सेयं चम्मं वयं चैना इत्थं बाहुलकं पदम् ॥

वाऽक्ष्यर्थ-वचनाद्याः ॥ ३३ ॥

ये चाक्षिवाचकाः शब्दा-स्तथा ये वचनादयः ।
ते पुंसि संप्रयोक्तव्याः , सर्वेऽपीह विकल्पनात् ॥
तत्राक्ष्यर्था यथा-' अच्छी, अच्छीइं ' चापि गद्यते ।
अञ्जल्यादिगणे पाठात् , ' एसा अच्छी ' क्वचिद् भवेत् ॥
चक्खू चक्खूइं , नयणा,नयणाइं च , लोअणा ।
लोअणाइं च , वचना-दिर्यथा-वयणा तथा ॥
वयणाइं, विज्जुणा तु, विज्जुए च , कुलो कुलं ।
छन्दो छन्दं च , माहप्पो , माहप्पं , भायणाइं तु ॥
भायणा च , तथा दुक्खा, दुक्खाइं चेति भण्यते ।
नेत्ता नेत्ताइमित्यादेः , सिद्धिः संस्कृतवद् भवेत् ॥

गुणाद्याः क्लीबे वा ॥ ३४ ॥

क्लीबे गुणादयः शब्दाः , प्रयोक्तव्या विकल्पनः ।
गुणा गुणाइं, देवाणि, देवा , बिन्दूइं बिन्दुणो ॥
खग्गं खग्गो , मण्डलग्गं, मण्डलग्गोऽपि भण्यते ।
कररुहं कररुहो , रुक्खा रुक्खाइं चेत्यपि ॥

वेमाञ्जल्याद्याः स्त्रियाम् ॥ ३५ ॥

ये तु शब्दा इमान्ताः स्यु-स्तथाऽञ्जल्यादयश्च ये ।
ते सर्वे वा स्त्रियां वाच्या -स्तदुदाह्रियते यथा- ॥
गरिमा महिमा निल्ल-ज्जिमा च धुत्तिमाऽणिमा ।
एते त्वा पुंस्यपीभ्याः, अथाञ्जल्यादिरुच्यते ।
अंजली चोरिआ विही , तथा पिट्ठं च चोरिअं ।
अच्छी अच्छिं च वा पण्हा, पण्हो कुच्छी बली निही ॥
गण्ठी रस्सी विही धिमो-रस्तोऽञ्जल्यादिरिष्यते ।
' गड्डा गड्डो ' अनयोः सिद्धि-स्त्र संस्कृतवन्मता ।
इमोऽन्त नत्त्वमाश्रित्य, कार्यमुर्वीमिहेष्यते ॥
त्वादेशस्य डिमेत्यस्य, पृथ्व्यादीनां च संग्रहः ।
त्वादेशस्य तदा स्त्रीत्व-मिच्छन्त्येके विपश्चितः ॥

बाहोरात् ॥ ३६ ॥

आकारो बाहुशब्दस्य, स्त्रीत्वेऽन्तादेश इष्यते ।
" बाहाए जेण धरिओ, एक्काए " इति दृश्यते ॥

अतो डो विसर्गस्य ॥ ३७ ॥

अतः परः संस्कृतोत्थो , यो विसर्गो भवेदिह ।
तस्य स्थाने तु ' डो ' इत्येवा-देशो विधीयते ॥
सर्वतः सव्वओ तेन, पुरतः पुरओ तथा ।
अग्रतस्त्वग्गओ वाच्यो , मार्गतो मग्गओऽपि च ।
सिद्धावस्थापेक्षयाऽपि , भवतो भवओ तथा ।
भवन्तस्तु भवन्तो स्यात्, सन्त संतो, कुतः कुदो ।

निष्प्रती ओत्परी माल्य-स्थोर्वा ॥ ३८ ॥

निष्प्रती ओत्परी वा स्तः, परे माल्ये च तिष्ठतौ ।
अत्र योऽभेदनिर्देशः, स च सर्वार्थं इष्यते ।
ओमालं वाऽपि निम्मल्लं , पइट्ठा परिट्ठा तथा ॥

आदेः ॥ ३९ ॥

आदेरित्यधिकारोऽयं, 'कगचज-'।८।१।१७७। इत्यवधिको मतः ।
इतः परन्तु यः स्थाने , तस्यादेः कार्यमिष्यते ॥

त्यदाद्यव्ययात् तत्स्वरस्य लुक् ॥ ४० ॥

त्यदाद्यव्ययशब्दाभ्यां, यौ त्यदाद्यव्ययौ परौ ।
तयोरादेः स्वरस्येह, बहुलं लुग् विधीयते ॥
अम्हे एत्थ यथाऽम्हेत्थ, जइ इमा जइमाऽपि वा ।
अहमहं अहयं , चैव-मादं येवं निदर्शनम् ॥

पदादपेर्वा ॥ ४१ ॥

पदात्परो योऽपि शब्द-स्तस्यादेरत्र लुग्भवेत् ।
यथा-केण वि केणावि, वा , तं पि तमवीत्यपि ।

इतेः स्वरात् तश्च द्विः ॥ ४२ ॥

इतिः पदात् परो यत्र, तस्येकारो विलुप्यते ।
स्वरात्परस्तकारस्तु, तदीयो द्विर्भवत्युत ॥
[illegible] किं ति जं ति दिट्ठं ति, ' न जुत्तं ति ' स्वरात् [illegible]
तह त्ति झ त्ति पिओ त्ति, पुरिसो त्ति निदर्शनम् ॥

लुप्त-य-र-व-श-ष-सां श-ष-सां दीर्घः ॥ ४३ ॥

[illegible] आदेर्दीर्घः [illegible] ।
[illegible] पश्यन्ति, [illegible] ॥
[illegible] ' पासइ , कासवो ' इति [illegible] ।
' कासवो , कासवो ' ' [illegible] ' [illegible] ।
[illegible] लोपे तु ' विसामो , वीसामो ' [illegible] ।
' विस्सइ , ' [illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥

अतः समृद्ध्यादौ वा ॥ ४४ ॥

समृद्ध्यादिषु दीर्घः स्या-[illegible] ।
सामिद्धी च समिद्धी , [illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।

दोसोचे हे ॥ ४५ ॥

[illegible] हे , परे स्याद् , [illegible] यथा ।
[illegible] स्याद् [illegible], यथा [illegible] नो भवेत् ।

इः स्वप्नादौ ॥ ४६ ॥

स्वप्नादिषु भवेदित्व-मादेरस्येह तद्यथा-
सिविणो सिमिणो, आर्षे, [illegible]-सुमिणो यथा ।
[illegible], ईसि, वेडिसो, [illegible] च [illegible] मिरिअं ।
किविणो [illegible] मुइंगो, [illegible] ।
[illegible] विधिः ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।

पक्वाङ्गार-ललाटे वा ॥ ४७ ॥

[illegible]
[illegible]

मध्यम-कतमे द्वितीयस्य ॥ ४८ ॥

[illegible]
[illegible]

सप्तपर्णे वा ॥ ४९ ॥

[illegible]
[illegible]

मयट्यइर्वा ॥ ५० ॥

[illegible]
[illegible]

ईर्हरे वा ॥ ५१ ॥

[illegible]
[illegible]

ध्वनि-विष्वचोरुः ॥ ५२ ॥

[illegible]
[illegible]

वन्द्र-खण्डिते णा वा ॥ ५३ ॥

[illegible]
[illegible]

गवये वः ॥ ५४ ॥

[illegible]
[illegible]

प्रथमे प-थोर्वा ॥ ५५ ॥

[illegible]
[illegible]

ज्ञो णत्वेऽभिज्ञादौ ॥ ५६ ॥

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

एच्छय्यादौ ॥ ५७ ॥

शय्यादिषु भवेदेत्व-मकारस्यादिमस्य तु ।
सेज्जा पत्थ च सुन्देरं , गेन्दुअं चैवमादयः ॥
आर्षे पुराकर्म पदं , पुरेकम्मं प्रयुज्यते ।

वल्ल्युत्कर-पर्यन्ताश्चर्ये वा ॥ ५८ ॥

वल्ल्युत्करपर्यन्ता-श्चर्येऽकारस्य वैत्वमादिभुवः ।
तेन हि वेल्ली वल्ली, उक्केरो उक्करो , भवति ॥
पेरन्तो पज्जन्तो, अच्छेरं अच्छरिज्जं च ।
अच्छरिअं अच्छअरं, तथाऽच्छरीअं विनिर्दिष्टम् ।

ब्रह्मचर्ये चः ॥ ५९ ॥

ब्रह्मचर्ये चकारस्या-कार एत्वमवाप्नुयात् ।
अतो बुधा ब्रह्मचर्यं, बम्हचेरं प्रयुञ्जते ॥

तोऽन्तरि ॥ ६० ॥

अन्तः शब्दे तकारस्या-कारस्यैत्वं विधीयते ।
तस्मादन्तःपुरं ' अंते-उरं ' विद्भिरुच्यते ॥
अन्तश्चारी भवेदन्ते-आरी , नायं क्वचिद् विधिः ।
यथा-' अंतग्गयं ' ' अंतो, वीसम्भो ' विनिगद्यते ॥

ओत्पद्मे ॥ ६१ ॥

ओत्वमादेरतः पद्म-शब्दे, ' पोम्मं ' ततो भवेत् ।
पद्म-छद्मेति ।८।२।११२। सूत्रेण , विश्लेषे ' पउमं ' स्मृतम् ॥

नमस्कारपरस्परे द्वितीयस्य ॥ ६२ ॥

द्वितीयस्याऽत ओत्वं स्यात्, नमस्कारपरस्परे ।
अतो रूपं सुनिष्पन्नं-' नमोक्कारो ' ' परोप्परं ' ॥

वार्पौ ॥ ६३ ॥

आदेरतस्तु वौत्वं स्याद् , धातावर्पयतौ यथा-।
रूपं ' ओप्पेइ अप्पेइ , ओप्पिअं अप्पिअं भवेत् ॥

स्वपावुच्च ॥ ६४ ॥

' स्वप् ' धातौ क्रमतः स्वाद्या-मादेरस्योत्तुतौ स्वरौ ।
तेन ' सोवइ सुवइ , ' सुत्तं रूपं विभाव्यते ॥

नात्पुनर्यादाई वा ॥ ६५ ॥

नञः परे ' पुनः ' शब्दे , नकारस्याकारोऽन्ति नस्य तु ।
' आ आइ ' इत्यादेशौ वा , स्यातामिति विधीयते ॥
' न उणा न उणाइ ' स्यात् , न उणो न उण ' इत्यपि ।
केवलस्यापि यद् रूप , ' पुणाइ ' चापि दृश्यते ॥

वाऽलाब्वरण्ये लुक् ॥ ६६ ॥

अलाब्वरण्ययोरादे-रकारस्येह लुग्भवेत् ।
लाउं अलाउं वा स्यात्, [illegible] विकल्पनात् ॥
[illegible] स्यात् , ' [illegible] ' [illegible] ।
' [illegible] ' [illegible] ॥

वाऽव्ययोत्खातादावदातः ॥ ६७ ॥

अव्ययेषु [illegible] भवेत् ।
[illegible] ' जह जहा, ' [illegible] ' तह तहा ' तथा ॥
' [illegible] ' [illegible] यथा ।
[illegible], [illegible] , [illegible] तथा ॥
[illegible] , [illegible] पुनः ।
[illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

घञ्वृद्धेर्वा ॥ ६८ ॥

[illegible]

' पयारो पवहो ' वा [illegible], ' पयारो पवाहो ' [illegible] ॥

[illegible]

महाराष्ट्रे ॥ ६९ ॥

[illegible]

' मरहट्ठं मरहट्ठो, ' [illegible] ॥

मांसादिष्वनुस्वारे ॥ ७० ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

श्यामाके मः ॥ ७१ ॥

[illegible]

[illegible]

इः सदादौ वा ॥ ७२ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

आचार्ये चोऽच्च ॥ ७३ ॥

[illegible]

[illegible]

ईः स्त्यान-खल्वाटे ॥ ७४ ॥

[illegible]

[illegible]

उः सास्ना-स्तावके ॥ ७५ ॥

[illegible]

[illegible]

ऊद्वाऽऽसारे ॥ ७६ ॥

[illegible]

[illegible]

आर्यायां र्यः श्वश्र्वाम् ॥ ७७ ॥

[illegible]

[illegible]

एद् ग्राह्ये ॥ ७८ ॥

[illegible]

द्वारे वा ॥ ७९ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

पारापते रो वा ॥ ८० ॥

[illegible]

[illegible]

मात्रटि वा ॥ ८१ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

उदोद्वार्द्रे ॥ ८२ ॥

[illegible]

[illegible]

ओदाल्यां पङ्क्तौ ॥ ८३ ॥

[illegible]

[illegible]

ह्रस्वः संयोगे ॥ ८४ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

इत एद्वा ॥ ८५ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

किंशुके वा ॥ ८६ ॥

[illegible]

[illegible]

मिरायाम् ॥ ८७ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

पथि-पृथिवी-प्रतिश्रुन्मूषिक-हरिद्रा-बिभीतकेष्वत् ॥ ८८ ॥

[illegible]

मढिलं मयनि पमढिलं,सिढिलं पसिढिलमिहाऽस्त्वैकल्प्यात्।
गढ्ढुअनढ्ढुअनिढ्ढुअ-शब्दे रूपद्वयं बोध्यम् ॥

तित्तिरौ रः ॥ ९० ॥

रस्येतोऽत्त्वं तित्तिरौ स्यात्, तेन रूपं हि 'तित्तिरो'।

इतौ तो वाक्यादौ ॥ ९१ ॥

वाक्यादेरितिशब्द-स्यान्त्यस्येतोऽत्र संभवत्यत्वम् ॥
'इअ' जम्पिअवसाणे, 'इअ' विअसिअ-कुसुमसरोऽयादि ॥

ईर्जिह्वा-सिंह-त्रिंशद्विंशतौ त्या ॥ ९२ ॥

जिह्वादिषु इकारस्य, ईकारः संप्रयुज्यते।
'जीहा' सीहो 'तथा' 'तीसा' , यत्र तिस्त्वत्र त्या सह ॥
'वीसा' इति भवेद् रूपं, किन्तु क्वापि न जायते।
'सिहदत्तो' 'सिहराओ' इति बाहुलकान्मतम् ॥

र्लुकि निरः ॥ ९३ ॥

निरो रलोपे दीर्घः स्यान्निरिकारस्येति गम्यते।
स्याद्'नीसासो' 'नीसरइ,' एवमन्यन्निदर्शनम् ॥
'लुकीति' किम ?, यथा-निम्म-हाइं अंगाइं, निएगमो।

द्विन्योरुत् ॥ ९४ ॥

द्विशब्दे त्वुपसर्गे च, संभवत्युत्वमितो यथा-।
दु-मत्तो च दु-आई च, दु-रेहो दु-विहो तथा ॥
क्वचिदत्वं, वैकल्प्यं च , भवेद् बाहुलकादिह।
दु-वयणं दि-वयणं चैव, दुउणो विउणो तथा ॥
'द्विरद' द्विरदः शब्दो, 'दिरओ' स्याद् द्विओ 'दिओ'।
ओत्वं क्वापि यथा रूपं, 'दो-वयणं' प्रजायते ॥
स्याद् 'णुमज्जइ' 'णुम-अण,' न्युपसर्गे निदर्शनम्।
क्वचिन्नस्याद् 'णिवडइ,' भवेदित्यादि सूरिभिः ॥

प्रवासीक्षौ ॥ ९५ ॥

इक्षौ प्रवासिनि तथा, भवेदुत्त्वमितो, यथा-।
'उच्छू' 'पावासुओ' चेत्थं, इव स्यादित्थं पदम् ॥

युधिष्ठिरे वा ॥ ९६ ॥

युधिष्ठिरे भवेदादे-रित उत्वं विकल्पनात्।
जहुट्ठिलो तथा रूपे, विकल्पेन जहिट्ठिलो ॥

ओच्च द्विधाकृगः ॥ ९७ ॥

[illegible]

'दोहा-किज्जइ' तेन रूपं, 'दुहा-किज्जइ' इत्यपि।
दोहा-इअं दुहा-इअमिति, 'कृग' इति किं ?, 'दिहागयं' चैव।
क्वचिद् केवलस्य स्यात्, 'दुहा वि सो सुर-वहू-सत्थो'।

वा निर्झरे ना ॥ ९८ ॥

[illegible]
'ओज्झरो' 'णिज्झरो' [illegible]

हरीतक्यामीतोऽत् ॥ ९९ ॥

[illegible]
रूपं 'हरडई' तेन, [illegible]

आत्कश्मीरे ॥ १०० ॥

[illegible] 'कम्हारा' तेन [illegible]

पानीयादिष्वित् ॥ १०१ ॥

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

इत्यपि श्रमिति संवेद्यः, पानीयादिगणो विदुषा।
बाहुलकात् क्वचिदेषु, स्याद् वैकल्प्यं ततः क्वापि ॥
पाणीअं च अलीअं, उवणीओ जीअइ स्यात् ॥
पाणीयं ग्रीडिअं वलनी-कं वदानी प्रदीपितम्।
अवसीदद्दलीकं चा-ऽऽनीतं जीवति जीवतु ॥
उपनीते गृहीते च, शिरीषं च प्रसीद च।
गभीरस्तृतीयकरी-षट्टिनीयादयः स्मृताः ॥

उज्जीर्णे ॥ १०२ ॥

जीर्णशब्दे भवेदीत-उत्वं जुण्ण-सुरा ततः।
क्विपे मोक्षणमत्ते च, नात्र बाहुलकाद् भवेत् ॥

ऊर्हीन-विहीने वा ॥ १०३ ॥

ऊत्वं हीने विहीने स्या-दीकारस्य विभाषया।
हूणो हीणो विहीणो च,विहूणो सिद्धिमाययुः ॥

तीर्थे हे ॥ १०४ ॥

ऊत्वमीतो भवेत् तीर्थ-शब्दे हे तु कृते सति।
तूहं, 'हे' इति किं प्रोक्तम् ?, 'तित्थं' नात्र यथा भवेत् ॥

एत् पीयूषापीड-बिभीतक-कीदृशेदृशे ॥ १०५ ॥

पीयूषापीड-बिभीतक-कीदृशेदृशेषु स्यादेत्वम्।
पेऊसं आमेलो, बहेडओ केरिसो एरिसो ॥

नीड-पीठे वा ॥ १०६ ॥

नीडपीठयोरीतो, वा स्यादेत्वं ततश्च सिद्ध्यन्ति।
नेडं नीडं पेढं, पीढं चाप्यन्यथाऽपि स्यात् ॥

उतो मुकुलादिष्वत् ॥ १०७ ॥

मुकुलादीनामादे-रुतो भवेदत्वमत्र तेन स्युः।
मउलं मउलो मउरं, मउडं अगरुं गलोई च ॥
जहिट्ठिलोऽथ च गरुई, जहुट्ठिलो सोअमल्लमिति शब्दाः।
क्वचिदाकारोऽपि स्याद्, यथा-विद्रुतस्तु 'विद्दाओ'॥
मुकुलो मुकुरो गुर्वी, सौकुमार्य-युधिष्ठिरौ।
अगुरुश्च गुडूची च, मुकुटं मुकुलादयः ॥

वोपरौ ॥ १०८ ॥

उपरौ स्यादुतो वाऽत्वम, अवरिं उवरिं यथा।

गुरौ के वा ॥ १०९ ॥

गुरोः कृते स्वार्थिके के, वाऽऽत्वमादिस्थितो भवेत्।
गरुओ गुरुओ रूपे, कं विना तु 'गुरू' स्मृतम् ॥

इर्भ्रुकुटौ ॥ ११० ॥

भ्रुकुटी स्यादुतश्चादे-रित्वं हि 'भिउडी' भवेत्।

पुरुषे रोः ॥ १११ ॥

पुरुषे रोरुतः स्यादिः, पुरिसो वा पउरिसं।

ईः क्षुते ॥ ११२ ॥

क्षुतं प्रयुज्यते छीयं, भवेदीत्वमुतो यदा।

ऊत् सुभग-मुसले वा ॥ ११३ ॥

सुभगे मुसले च स्या-दुत ऊत्वं विभाषया।
सूहवो सुहवो तेन, मूसलं मुसलं भवेत् ॥

अनुत्साहोत्सन्ने त्सच्छे ॥ ११४ ॥

[illegible]
[illegible]

ऊसुओ ऊसवो ऊसि-त्तो ऊसरइ, उच्छुकः।
ऊसुमो ऊससइ चे-त्यादि वेदं निदर्शनम् ॥
उत्साहोत्सन्नयोस्तुच्छा-दो उच्छओ निगद्यते।

लुकि दुरो वा ॥ ११५ ॥

दुरो रेफस्य लोपे स्या-दुत ऊत्वं विकल्पनात् ।
दुसहो दूसहोऽपि स्याद्, दुहवो दूहवो तथा।
सूत्रे लुकीति किं ? प्रोक्तं, दुस्सहो विरहोऽत्र न ॥

ओत् संयोगे ॥ ११६ ॥

ओत्वमादेरुतो नित्यं, संयोगे परतो भवेत् ।
तोण्डं मोण्डं पोक्खरं कोट्टिमं वा,
कोण्ढो कोन्तो पोत्थओ मोत्थओ वा ।
वोकन्तं वा मोग्गरो पोग्गलं वा,
मोत्था चेतान्यस्य लक्ष्याणि सन्ति ॥

कुतूहले वा ह्रस्वश्च ॥ ११७ ॥

कुतूहले भवेदोत्वमुतो ह्रस्वश्च वा ततः ।
कोऊहलं कोउहल्लं, कुऊहलमिति त्रयम् ॥

अदूतः सूक्ष्मे वा ॥ ११८ ॥

सूक्ष्मशब्दे भवेदत्त्व-मूतो वा तेन सिध्यति।
सण्हं सुण्हं तथाऽर्थे तु, 'सुहुमं' संप्रयुज्यते ॥

दुकूले वा लश्च द्विः ॥ ११९ ॥

दुकूलशब्दे वाऽत्वं स्या-दूतो लश्च द्विरुच्यते ।
दुअल्लं च दुऊलं च, 'दुगुलं' स्यार्षे वक्ष्यते ॥

ईर्वोद्व्यूढे ॥ १२० ॥

उद्व्यूढशब्दे स्यादीत्व-मूकारस्य विभाषया ।
'उव्वीढं' तेन 'उव्वूढं,' द्वयं विद्धिरिहोच्यते ॥

उर्भूहनूमत्कण्डूय–वातूले ॥ १२१ ॥

भ्रूहनूमत्कण्डूय-वातूलेषून उर्भवेत्।
भुमया हणुमंतो वा-उलो, कण्डुअइ स्मृतम् ॥

मधूके वा ॥ १२२ ॥

ऊत उत्वं मधूके वा, महुअं महूअं यथा ।

इदेतौ नूपुरे वा ॥ १२३ ॥

इदेतौ नूपुरे स्यातामूकारस्य विकल्पनात् ।
निउरं नेउरं पक्षे, णूउरं संप्रकीर्त्यते ॥

ओत् कूष्माण्डी-तूणीर-कूर्पर-स्थूल-ताम्बूल-गुडूची-मूल्ये ॥ १२४ ॥

कूष्माण्डी-स्थूल-ताम्बूल-गुडूची-मूल्य-कूर्परे ।
तूणीरे च भवत्योत्वमूकारस्येति दर्श्यते ।
कोहण्डी कोहली थोरं, तोणीरं कोप्परं तथा।
मोल्लं गलोई तंबोलं, व्युत्क्रमेण प्रदर्शितम् ॥

स्थूणा-तूणे वा ॥ १२५ ॥

स्थूणा-तूणयोरोत्वमूकारस्य विभाषया ।
थोणा थूणा तथा तोणं, तूणं चैवमुदाहृतम् ॥

ऋतोऽत् ॥ १२६ ॥

ऋकारस्याऽऽदिभूतस्य, अकारत्वमिहोर्यते ।
घयं घतहो वाच्यो, घुट्ठं घट्ठोऽभिधीयते ॥
घृतं घयं, तृणं तणं, कृतं कयं, मृगो मओ ॥
उदाहार्यं कृपादिषा-दत्रोऽपवाद इत्यपि ॥

आत् कृशा-मृदुक-मृदुत्वे वा ॥ १२७ ॥

मृदुक-मृदुत्व-कृशाया-मात्वमृतः स्याद् यथा किसा कासा।
माउक्कं च मउत्तण-मथ माउअं च मउअं वा ॥

इत् कृपादौ ॥ १२८ ॥

कृपेत्यादिषु शब्देषु, भवेदित्वमृतो यथा ।
किवा मिट्टं रसे वाच्यं, मट्ठमन्यत्र पठ्यते ॥
हिययं दिट्ठं मिट्ठं, दिट्ठी सिट्ठी गिवो किवो किवा ॥
गिद्धी पिच्छी इसी, गिट्ठी गिन्ठं घिई किच्चं ॥
सिंगारो भिंगारो, भिंगो किसिओ निऊ घिणा घुसिणं ।
किसरो किई सिआलो, विसी विइण्हो विहा किविणो ।
विंछ-कई वाहित्तं, किसो समिद्धी च सइ किसाणू वा ॥
हित्थं विसुओ वित्तं, इसी निसंसो च उक्किट्ठं ॥
वित्ती तथा विहिओ, किवाणयं वा कृपाद्यभीते ।
बाहुलकादपि कार्यं, येथं सिध्येद् यथा रिद्धी ॥
कृपा मृष्टं दृष्टं हृदय-भृगु-मृष्टं दृष्ट्यनृणौ,
घृणा दृष्टिः सृष्टिः कृति-घुसृण-सृष्टिः दृष्टहनौ ॥
वृष्मी पृथ्वी कृत्या हृषित-कृपणौ वृश्चिकभृतौ ।
नृशंसो भृङ्गारः कृशर-सहशी व्याहृत-ऋषी ॥
उत्कृष्ट-वृहित-शृगाल-कृशानु-गृद्धि-
शृङ्गार-वृद्धकवि-वृत्त-कृपाण-मृगाः
ऋद्धि-स्पृहे अथ वितृष्ण-समृद्धि-कृत्य-
भृङ्गारस्तु वृत्तिरपि तेऽत्र कृपादयः स्युः ॥

पृष्ठे वाऽनुत्तरपदे ॥ १२९ ॥

स्यात् पृष्ठेऽनुत्तरपदे, वेत्वमृत्वस्य, तद्यथा-
पिट्ठी पट्ठी पिट्ठि, परि-ट्ठविअं संप्रयुज्यते ॥
किमनुत्तरपद इति ?, महिवट्ठं यथा भवेत् ।

मसृण-मृगाङ्क-मृत्यु-शृङ्ग-धृष्टे वा ॥ १३० ॥

शृङ्गे धृष्टे मृगाङ्के च, मृत्यौ च मसृणे तथा ।
ऋकारस्य भवेदित्वं, विकल्पेनेति दृश्यताम् ॥
स्याद् मिअङ्को मयङ्को वा, मिच्चू मच्चू च पठ्यते ।
सिंगं संगं विजानीयाद्, धिट्ठो धट्ठोऽपि गद्यते ॥

उदृत्वादौ ॥ १३१ ॥

ऋत्वादीनामृकारस्य, भवेदुत्वमिहागमात् ।
उऊ पुट्ठो परामुट्ठो, पउट्ठो पुहई मुई ॥
पउत्ती पाउसो पुहा-वणो पुट्ठो च निव्वुअं ।
पाउओ पाहुडं वुड्ढी, उज्जू वुत्तन्तं संवुअ ॥
निहुअं निउअं जामा-उओ माउओ माउओ ।
मुणालं च परहुओ, वुंदं वुड्ढि निव्वुइं ॥
पिउअं उसहो पिउ-णो, पुहवी च माउआ ।
ऋतुः परामृष्टमृणालवृन्दा-वृन्दारकनिर्वृतिनिर्वृताः ।
वृन्दावनमातृकमातृकामा-पुष्टवृत्तान्तवृषभवृद्धवृष्टा ॥
विवृतनिवृतवृन्द-प्रावृषभिमातृका-
मृणालितृकर्पूरवृष्य, संवृतमातृकृता च ।
परभृतनिभृतवृ-इति निर्वृतवृषी,
परिपठति च प्राज्ञा-इदं यानं निर्वृतिष ॥

निवृत्त-वृन्दारके वा ॥ १३२ ॥

ऋत उत्वं वा वाच्यं, निवृत्तवृन्दारके पदे सुधिया ।
वुन्दारया च वन्दा-रया निवुत्तं निअत्तं च ॥

आदेः स्वरस्य स्तः सत्य-स्त्रनस्वरपरस्य, वा ॥
पद्धरणं पावरणं, पायरणमुदाहृतम् ।

स्वरादसंयुक्तस्यानादेः ॥ १७६ ॥

सूत्रं 'स्वरादसंयुक्त-स्यानादेः' निखिलं त्विदम् ।
इतोऽधिक्रियते कार्य्य-सिद्ध्ये, तद् विचिन्त्यताम् ॥

क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक् ॥ १७७ ॥

स्वरात् परेऽसंयुक्ता अनादिभूतास्तु सन्ति ये तेषाम् ।
क-ग-च-ज-त-द-प-य-वानां, प्रायो लुक् प्राकृते भवति ॥
के-तित्थयरो लोओ, गे-नयरं स्यात् नओ मयंको च ।
चे-सई कयग्गहो स्याद्, जे-वा रययं पयावई च गओ ।
ते-जई रसायलं, दे-मयणो, पे-रिऊ सुउरिसो च ।
दे-नु विओओ नयणं, वे-लायण्णं च विउहो च ।
प्रायोग्रहणात् [illegible] न भवति [illegible] ।
[illegible] सुकुसुमं तथा सुगओ ।
स्वरात् परः किं कथितः ?, दुंदुहो संबुदो च संकरओ ॥
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible] ॥ १७८ ॥

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible] ॥ १७९ ॥

[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible] ॥ १८० ॥

[illegible]
[illegible]
[illegible]

मयणो नयणं कयग्गहो, सयलं तित्थयरो रसायलं ॥
'लायण्णं' चैव 'पायालं,' 'दयालू' इति गृह्यते ।
अवर्ण इति किं प्रोक्तं, 'सउणो' 'पउणो' 'कई'।
'पउरं' 'निहओ' 'वाऊ,' 'राईवं' 'निनओ' तथा ।
यश्रुतिर्नात्र कर्त्तव्या, नच 'लोअस्स' 'देअरो'।
भवत्यवर्णादित्येव, क्वचित् 'पियइ' इत्यपि ॥

कुब्ज-कर्पर-कीले कः खोऽपुष्पे ॥ १८१ ॥

कुब्जकर्परकीलेषु, कस्य वर्णस्य खो भवेत् ।
कुब्जाभिधेयं पुष्पं चेत्, तदा नैव विधीयते ॥
'खुज्जो' च 'खीलओ' चैव, 'खप्परं' च तथैव हि ।
अपुष्प इति किं प्रोक्तं, 'बंधेउं कुज्ज-पुप्फयं' ॥
आर्षेऽन्यत्रापि 'खसिअं' 'कसिनं' 'खासिअं' तथा ।
'कासितं' रूपमप्येवं, विकल्पमिह दृश्यते ॥

मरकतमदकले गः कन्दुके त्वादेः ॥ १८२ ॥

मरकतमदकलशब्दौ, कस्य च गत्वेन सिद्ध्यतः किंतु ।
कन्दुकशब्दस्यादे-रेव च गत्वं विनिर्दिश्यम् ॥
रूपं 'मरगयं' 'मय-गलो' 'गेंदुअमित्यपि ।

किराते चः ॥ १८३ ॥

किरातशब्दे चत्वं हि, ककारस्य विधीयते ॥
विधिः पुलिन्द पर्यायं, 'चिलाओ' इति दृश्यते ।
न कामरूपिणि विधिः, 'नमो हरकिरायं' ॥

शीकरे भ-हौ वा ॥ १८४ ॥

शीकरे तु ककारस्य, भ-हौ स्यातां विकल्पनात् ।
सीभरो सीहरो, पक्षे सीअरो विनिगद्यते ॥

चन्द्रिकायां मः ॥ १८५ ॥

चन्द्रिका चन्दिमा जाता, कस्य मे विहिते सति ।

निकष-स्फटिक-चिकुरे हः ॥ १८६ ॥

निकषे स्फटिके चिकुरे, कस्य हकारो विधीयते तस्मात् ।
निहसो फलिहो चिहुरो, क्रमेण रूपाणि सिध्यन्ति ॥

ख-घ-थ-ध-भाम् ॥ १८७ ॥

स्वरात् परेऽसंयुक्ता अनादिभूतास्तु सन्ति ये, तेषाम् ।
ख-घ-थ-ध-भां वर्णानां, प्रायो हः प्राकृते भवति ॥
खे मेहला च साहा, घे-मेहो जहणमिति तथा माहो ।
थे-आवसहो, नाहो, धे-बाहो बाहरं-न्हइ ॥
भे-सभहरो सहावो, सहा नहं सोहइ त्युदाहरणम् ।
स्वरात् परः किं कथितः ?, संखो संघो तथा बंधो ॥
किमसंयुक्ताः ? [illegible], [illegible] [illegible] च सिद्धओ बंधइ ।
'गज्जइ च मेहो,' अनादिभूतानिधानेन ।
प्रायोग्रहणाद् [illegible], [illegible] वा नभं च जिणधम्मो ।
[illegible], कार्यं [illegible] ॥

पृथकि धो वा ॥ १८८ ॥

[illegible], स्यात् धो वा विधीयते ।
[illegible] ॥

[illegible] ॥ १८९ ॥

[illegible] ।

पुन्नाग-भागिन्योर्गो मः ॥१९०॥

स्यात् पुन्नागे च भागिन्यां, गकारस्य मकारता ।
'पुन्नामाइं वसन्ते च' 'भामिणी' संप्रयुज्यते ॥

छागे लः ॥१९१॥

छागे गस्य लकारः स्यात्, छालो छाली च सिध्यतः ।

ऊत्वे दुर्भग-सुभगे वः ॥१९२॥

दुर्भगे सुभगे चोत्वे, कृते गस्य तु वो भवेत् ।
दूहवो सूहवोऽनूत्वे-'दुहओ सुहओ' मतः ॥

खचित-पिशाचयोश्चः स-ल्लौ वा ॥१९३॥

खचिते तथा पिशाचे, चस्य तु स-ल्लौ विकल्पतो भवतः ।
खसिओ खइओ तस्माद्, भवति पिसल्लो पिसाओ च ॥

जटिले जो झो वा ॥१९४॥

जटिले जस्य झो वा स्याद्, झडिलो जडिलो तथा ।

टो डः ॥१९५॥

स्वरात् परस्यासंयुक्त-स्यानादेष्टस्य डो भवेत् ।
नडो भडो घडो रूपं, घडइ प्रणिगद्यते ॥
अस्वरात्तु भवेद् घंटा, खट्टा-संयुक्तदर्शनात् ।
चादेरित्येवतः 'टक्को' क्वचिन्न स्याद् यथा-ऽटइ ॥

सटा-शकट-कैटभे ढः ॥१९६॥

सटायां शकटे कैट-भे शब्दे टस्य ढो भवेत् ।
केढवो सयढो तद्वत्, सढा रूपं पृथक् पृथक् ॥

स्फटिके लः ॥१९७॥

स्फटिके टस्य लादेशे, 'फलिहो' सिद्धिमृच्छति ।

चपेटा-पाटौ वा ॥१९८॥

चपेटायां च, पा ण्यन्ते, पटिधातौ च टस्य लः ।
चविला चविडा फाले-इ फाडेइ प्रसिध्यति ।

ठो ढः ॥१९९॥

स्वरात्परस्यासंयुक्त-स्यानादेष्ठस्य ढो भवेत् ।
मढो सढो च कमढो, कुढारो पढइत्यपि ॥
स्वरादित्येव वेकुंठो-ऽसंयुक्तस्यैव चिट्ठइ ।
अनादेरेव 'हिअय-ठाइ' चैवं प्रयुज्यते ॥

अङ्कोठे ल्लः ॥२००॥

अङ्कोठे ठस्य ल्लो द्वित्व-भूतो भवति तेन हि ।
अंकोल्लतेल्ल-तुप्पं तु, पदं लोकैः प्रयुज्यते ॥

पिठरे हो वा रश्च डः ॥२०१॥

पिठरे ठस्य हो वा, हस्य योगे च रस्य डः ।
पिहडो पिढरो रूप-द्वयं सिद्धिमुपागमत् ।

डो लः ॥२०२॥

स्वरात्परस्यासंयुक्त-स्यानादेर्डस्य लो भवेत् ।
प्रायो, 'गरुलो' वडवा-मुखं च-'वलयामुहं' ।
असंयुक्तस्य किं ?-खग्गो, स्वरात् किम् ?-मोंडमिष्यते ।
अनादेरिति किम् ? डिंभो, प्रायः किम् ? क्वापि वा भवेत् ॥

वलिसं वडिसं णाली, णाडी वाऽपि च णलं णडं ।
दालिमं दाडिमं आमे-लो आमेडो, गुलो गुडो ॥
क्वचिन्नैव, यथा-नीडं निविडं गउडो तडी ।
बहू पीडिअमित्यादि यथालक्ष्यं विनाव्यताम् ॥

वेणौ णो वा ॥ २०३ ॥

वेणौ तु णस्य लो वा स्यात्, 'वेलू वेणू' द्वयं मतम्

तुच्छे तश्च-छौ वा ॥ २०४ ॥

तुच्छशब्दे तकारस्य, च-छौ वा स्तो यथाक्रमम् ।
चुच्छं छुच्छं तथा तुच्छं, रूपत्रयमुदाहृतम् ॥

तगर-त्रसर-तूवरे टः ॥ २०५ ॥

त्रसर-तगर-तूवर-पदे, तस्य टकारो विधीयते त
टसरो टगरो टूवरो, रूपत्रयमत्र जानीहि ॥

प्रत्यादौ डः ॥ २०६ ॥

प्रत्यादिषु शब्देषु तु, तस्य डकारः प्रवर्तते तस्मात्
पडिवन्नं पडिहासो, पडिहारो पडिनिअत्तं च ॥
पाडिप्फद्धी पडिमा, पडंसुआ पडिवया च पडिसा
पहुडि पाहुडं मडयं, वहेडओ हरडई पडाया च ॥
दुष्कृतं दुक्कडं त्वापि सुकृतं सुकडं तथा ।
अवहृतं चाऽवहडं, आहृतं स्या ऽऽहडं स्मृतम् ॥
प्रायः किम् ? प्रतिसमयं पइसमयं, प्रतीपमिति पई
संप्रति संपइ योज्यं, तथा प्रतिष्ठा पइट्ठा च ॥
प्रति-प्रभृति-मृतक-प्राभृताश्च हरीतकी ।
बिभीतक-पताका-व्या-पृताः, प्रत्यादिरिष्यते ॥

इत्वे वेतसे ॥ २०७ ॥

इत्वे सति तकारस्य, डः स्यात् शब्दे तु वेतसे ।
वेडिसो, इत्व इति किम् ? 'वेअसो' नेत्यमत्र तु ॥

गर्भितातिमुक्तके णः ॥ २०८ ॥

गर्भितातिमुक्तकयो-स्तस्य णकारः प्रवर्तते तस्मात् ।
अणिउँतयं गब्भिणोऽपि, क्वचिन्न-'अइमुत्तयं' प्रयो

रुदिते दिना ण्णः ॥ २०९ ॥

रुदिते तु दिना सार्कं, तस्य ण्णे-रुण्णमुच्यते । *

सप्ततौ रः ॥ २१० ॥

सप्ततिः सत्तरी जाता, तस्य रे विहिते सति ।

अतसी-सातवाहने लः ॥ २११ ॥

---

* अत्र केचिद् ऋत्वादिषु द इत्यारब्धवन्तः, स
रसेनीमागधीविषय एव दृश्यते इति नोच्यते । प्र
ऋतुः—' रिऊ ' ' उऊ '। रजतम्—' रययं '। एतद्-
गतः—' गओ '। आगतः—' आगओ '। सांप्रतम्—'
यतः—' जओ '। ततः—' तओ '। कृतम्—' कयं '।
तम्-' हयं '। हताशः-' हयासो '। श्रुतः-' सुओ '। आ
' आकिई '। निर्वृतः-' निव्वुओ '। तातः-' ताओ '। क
यरो '। द्वितीयः-' दुइ (ई) ओ '। इत्यादयः प्रयोगाः
न पुनः ' उदू ' ' रयदमित्यादि । क्वचिद् भावेऽपि "
यत्र " (४।४४७) इत्येव सिद्धम् । ' दिही ' इत्येत
" धृतेर्दिहिः " (२।१३१) इति वक्ष्यामः ।

मनस्वी-मानसाह्वने, तस्य सकारो भवेद्, यथा-मणसी ।
माणसरूहो माणा-इणो च माणाहणो माणा ॥

पलिते वा ॥ २१२ ॥

पलिते लस्य लो वा स्यात्, पलिअं पलिअं यथा ।

पीते वो ले वा ॥ २१३ ॥

पीते तस्य तु वः स्यात्, स्वार्थलकारे परे विकल्पेन ।
भवति पीवलं पीअलमिति, लः किम् ? स्याद् यथा-'पीअं' ॥

वितस्ति-वसति-भरत-कातर-मातुलिङ्गे हः ॥ २१४ ॥

वितस्ति वसती मातु-लिङ्गे भरत-कातरे ।
[illegible] हकारादेशः इष्यते ॥
विहत्थी, वसही भरह-काहलो स्याद् 'वसई' यथा ।
[illegible] मातु-लिङ्ग [illegible] ॥

मेथि-शिथिर-शिथिल-प्रथमे थस्य ढः ॥ २१५ ॥

मेथि-शिथिर-शिथिल-प्रथ-मेषु थकारस्य ढो भवत्यत्र ।
मेढी सिढिलो सिढिलो, पढमो रूपाणि सिध्यन्ति ॥

निशीथ-पृथिव्योर्वा ॥ २१६ ॥

निशीथे च पृथिव्यां च, थकारस्य ढो भवेत् ।
निसीढो च निसीहो च, पुढवी पुहवी तथा ॥

दशन-दष्ट-दग्ध-दोला-दण्ड-दर-दाह-दम्भ-
दर्भ-कदन-दोहदे दो वा डः ॥ २१७ ॥

[illegible]

दंश-दहोः ॥ २१८ ॥

[illegible]

संख्या-गद्गदे रः ॥ २१९ ॥

[illegible]

कदल्यामद्रुमे ॥ २२० ॥

[illegible]

प्रदीपि-दोहदे लः ॥ २२१ ॥

[illegible]

कदम्बे वा ॥ २२२ ॥

[illegible]

दीपौ धो वा ॥ २२३ ॥

[illegible]

कदर्थिते वः ॥ २२४ ॥

[illegible]

ककुदे हः ॥ २२५ ॥

ककुदे दो दस्य तेन-' कउहं ' सिद्धिमृच्छति ।

निषधे धो ढः ॥ २२६ ॥

निषधे धस्य ढत्वेन-' निसढो ' रूपमाप्नुयात् ।

वौषधे ॥ २२७ ॥

ओषधे धस्य ढो वा स्याद्, यथा-ओसढमोसहं ।

नो णः ॥ २२८ ॥

स्वरात्परस्यासंयुक्त-स्यानादेर्नस्य णो भवेत् ।
कणयं वयणं नयणं, मयणो माणइ, तथाऽऽरनालं तु ।
आर्षे-अनिलो अनलो, नानारूपाणि सन्तीह ॥

वाऽऽदौ ॥ २२९ ॥

असंयुक्तस्य नस्य स्या-दादिभूतस्य वा तु णः ।
णरो नरो, णेइ नेइ, तथैव च णई नई ॥
असंयुक्तस्य किम् ?-न्यायो-' नाओ ' नैवात्र णो भवेत् ।

निम्ब-नापिते ल-ण्हं वा ॥ २३० ॥

निम्ब-नापितयोर्नस्य, ल-ण्हादेशौ यथाक्रमम् ।
लिम्बो निम्बो, ण्हाविओ तु, नाविओ, सिद्धिमाप्नुतः ।

पो वः ॥ २३१ ॥

स्वरात्परस्यासंयुक्त-स्यानादेः पस्य वो भवेत् ।
प्रायः, सवहो सावो उवसग्गो कासवो पईवो च ।
उवमा कविलं पावं, कुणवं गोवइ च महि-वालो [१] ।

पाटि-परुष-परिघ-परिखा-पनस-पारिभद्रे फः ॥ २३२ ॥

पाटिधातुर्णेर्न्ता [illegible], परुषादिश्च यो गणः ।
तयोरेव पकारस्य, फकारादेश इष्यते ॥
यथा फाडेइ फालेइ, फरुसो फलिहो तथा ।
फलिहा फणसो फालि-हद्दो रूपाण्यमूनि हि ॥

प्रभूते वः ॥ २३३ ॥

प्रभूते पस्य वो वा स्याद्, वहुत्तं तेन सिध्यति ।

नीपाऽऽपीडे मो वा ॥ २३४ ॥

नीपाऽऽपीडयोः पस्य, मकारः पाक्षिको यथा ।
नीमो नीवो, तथा-ऽऽमेलो, आवेडो सिद्धिमाप्नुतः ॥

पापर्द्धौ रः ॥ २३५ ॥

पापर्द्धावपदादौ स्यात्, 'पारद्धी' पस्य रे कृते ।

फो भ-हौ ॥ २३६ ॥

स्वरात्परस्यासंयुक्त-स्यानादेः फस्य भा भहौ ।
क्वचित् भकारः स्याद्रत्र-रेफो रेभो, सिभा सिहा ।
क्वचिद् हकारः स्यात् मुत्ता-हलं, क्वचिदुभावपि ।
सभलं सहलं, सेभा-लिआ सेहालिआ तथा ।

बो वः ॥ २३७ ॥

स्वरात्परस्यासंयुक्त-स्यानादेर्बस्य वो भवेत् ।
[illegible] ॥

बिसिन्यां भः ॥ २३८ ॥

बिसिनी भिसिणी प्राप्य, बस्य भ बिसिनी भवति [२] ।

[१] [illegible]
[२] [illegible]

कबन्धे म-यौ ॥२३९॥

स्यात् कमन्धो कयन्धो च, कबन्धे बस्य वा म-यौ ।

कैटभे भो वः ॥२४०॥

कैटभे भस्य वत्वेन, 'केढवो' सिद्धिमाप्नुयात् ।

विषमे मो ढो वा ॥२४१॥

विषमे मस्य ढो वा स्यात्, 'विसढो विसमो' यथा ।

मन्मथे वः ॥२४२॥

मन्मथे मस्य वत्वेन, वम्महो सिद्धिमृच्छति ।

वाऽभिमन्यौ ॥२४३॥

अभिमन्यौ मकारस्य, वकारो वा विधीयते ।
' अहिवन्नू अहिमन्नू , ' इयं सिद्धिमुपागमत् ॥

भ्रमरे सो वा ॥ २४४ ॥

भ्रमरे मस्य सो वा स्याद्, भसलो भमरो यथा ।

आदेर्यो जः ॥ २४५ ॥

पदादेर्यस्य आदेशः, जसो जाइ जमो यथा ।
बहुलात् सोपसर्गस्या-नादेरपि भवेत् क्वचित् ॥
सञ्जोगो संजमो क्वापि न-'पओओ' ऽनिधीयते ।
लोपोऽप्यार्षे-यथाख्यात-महक्खायं प्रयुज्यते ॥

युष्मद्यर्थपरे तः ॥ २४६ ॥

युष्मदर्थपरे यस्य, तकारादेश इष्यते ।
तुम्हारिसो तुम्हकेरो, किमर्थपर इष्यते ? ।
'जुम्हदम्हपयरणं' मात्र, शब्दपरो यतः ।

यष्ट्यां लः ॥ २४७ ॥

यष्ट्यां यस्य लो 'लट्ठी,' वेणुलट्ठी च भण्यते ।

वोत्तरीयानीय-तीय-कृद्ये ज्जः ॥२४८॥

उत्तरीयेऽनीय-तीय-कृद्येषु प्रत्ययेषु च ।
द्विरुक्तो यस्य वा ज्जः स्यात्, तद्रुदाहियतेऽधुना ॥
उत्तरिज्जं उत्तरीअं, करणिज्जं विभाषया ।
करणीअं, बिइज्जो तु बीओ तीयस्य दृश्यताम् ।
कृद्यस्य पेज्जा पेआ च, इत्थं सर्वमुदाहृतम् ।

छायायां होऽकान्तौ वा ॥ २४९ ॥

अकान्तिवाचके छाया-शब्दे हो यस्य वा भवेत् ।
वच्छस्स छाही छाया वा, कान्त्यभावे हि दृश्यते ॥

डाह-वौ कतिपये ॥ २५० ॥

यस्य स्यातां कतिपये, डाहो वश्चाप्युभौ क्रमात् ।
कइवाहं कइअवं, इदं सिध्येत्तेन पदम् ॥

किरि-भेरे रो डः ॥ २५१ ॥

किरि-भेरयोः रस्य डः, किडी भेडो च सिद्ध्यतः ।

पर्याणे डा वा ॥ २५२ ॥

पडायाणं च पल्लाणं, पर्याणे रस्य डाऽस्तु वा ।

करवीरे णः ॥ २५३ ॥

'कणवीरो' करवीरे, रस्याऽऽद्यस्य तु णो भवेत् ।

हरिद्रादौ लः ॥ २५४ ॥

असंयुक्तस्य रस्य स्याद्, हरिद्रादिगणे तु लः ।

हलिद्दी सिढिलो लुक्को हलिद्दाइ जहुट्ठिलो ॥
दलिद्दो मुहलो दालिद्दं हलिद्दो च काहलो ।
चलणो वलुणो इङ्गालो सक्कालो च निट्ठुलो ॥
सोमालो कलुणो फालि-हद्दोऽवद्दालं फलिहा ।
चिलाओ फलिहो चैव, भसलो बढलो तथा ॥
जढलं चेति रूपाणि, सिद्ध्यन्ति सर्वसूरिभिः ।
हरिद्रा दारिद्र्यं शिथिर-मुखराङ्गार-दरिद्र,
हरिद्रः सत्कारो जठर-वरुणौ करुण-चरणौ ।
किरातापद्वार-भ्रमर-सुकुमाराश्च बठरो,
दारिद्र्याभिधानं परिख-परिघौ निष्ठुरमपि ॥
युधिष्ठिरः स्फाटिको, हरिद्रः कातरस्तथा ।
हरिद्रादिगणश्चाय-माकृत्या परिगद्यते [१] ॥

स्थूले लो रः ॥ २५५ ॥

स्थूले लस्य रकारः स्यात्, थोरं स्थूलपदेन तथा ।
थूलभद्दो हरिद्रादित्वेऽपि स्थूलस्य सिध्यति ।

लाहल-लाङ्गल-लाङ्गूले वाऽऽदेर्णः ॥ २५६ ॥

लाहले लाङ्गले लाङ्गू-ले वाऽऽदेर्लस्य णो भवेत् ।
णाहलो लाहलो, णङ्गू-लं लङ्गूलं च णङ्गलं ।
लङ्गलं चेति रूपाणि, [illegible] ॥

ललाटे च ॥ २५७ ॥

ललाटे चादिलस्य, [illegible] ।
णिडालं च णडालं च, [illegible] ।

शबरे बो मः ॥ २५८ ॥

शबरे बस्य मत्वेन, समरो सिद्धिमृच्छति ।

स्वप्न-नीव्योर्वा ॥ २५९ ॥

स्वप्न-नीव्योर्वकारस्य, मकारो वा विधीयते ।
सिमिणो सिविणो, [illegible] ।

शषोः सः ॥ २६० ॥

शषयोस्तु सकारः स्यात् सर्वत्र, निदर्शने ।
सेसो विसेसो निसो, कसाओ [illegible] ॥

स्नुषायां ण्हो न वा ॥ २६१ ॥

स्नुषायां षस्य ण्हो वा स्यात्, यथा 'सुण्हा सुसा' इत्यपि ।

दश-पाषाणे हः ॥ २६२ ॥

दशन्-पाषाणयोर्हो वा, शषयोर्भवति ध्रुवम् ।
दहमुहो दस-मुहो दहबलो दस-बलो ।
दह-रहो दस-रहो पाहाणो-पासाणो ।
एकादशस्य तु एआरहो, [illegible] ॥

दिवसे सः ॥ २६३ ॥

दिवसे सस्य हो वा स्याद्, दिवहो दिवसो यथा ।

हो घोऽनुस्वारात् ॥ २६४ ॥

अनुस्वाराद् हकारस्य, घकारो वा विधीयते ।

---

[१] [illegible]

[illegible] [१] ॥

[illegible] ॥ ३१९ ॥

[illegible]

॥ ० अर्हम् ० ॥

॥ अथ द्वितीयः पादः ॥

संयुक्तस्य ॥१॥

[illegible] [२।१।२] [illegible] अधिकारोऽयमीरितः ।

[illegible] संयुक्तस्य [illegible] ॥

शक्त-मुक्त-दष्ट-रुग्ण-मृदुत्वे को वा ॥२॥

[illegible]

क्षः खः क्वचित्तु छ-झौ ॥३॥

[illegible]

ष्क-स्कयोर्नाम्नि ॥४॥

[illegible]

शुष्क-स्कन्दे वा ॥५॥

[illegible]

क्ष्वेटकादौ ॥६॥

[illegible]

[illegible] ॥७॥

[illegible] 'अ' [illegible]

[illegible] वा ॥८॥

[illegible]

[illegible] ॥९॥

[illegible]

[illegible] वा ॥१०॥

[illegible]

[illegible] वा ॥११॥

[illegible]

[illegible] ॥१२॥

[illegible]

प्रत्यूषे षश्च हो वा ॥१४॥

प्रत्यूषे त्यस्य चः स्यात् तत्संनिधौ षस्य हश्च वा ।
विधीयते च पच्चूहो, पच्चूसो तेन सिध्यतः ॥

त्व-थ्व-द्व-ध्वां च-छ-ज-झाः क्वचित् ॥१५॥

त्व-थ्व-द्व-ध्वां च-छ-ज-झाः क्वचिदेते भवन्ति हि ।
भुक्त्वा भोच्चा, ज्ञात्वा णच्चा,
श्रुत्वा सोच्चा पृथ्वी पिच्छी ।
विद्वान् विज्जं, बुद्ध्वा बुज्झा,
एवं चान्यद् रूपं ज्ञेयम् ।
"भोच्चा सयलं पिच्छिं, विज्जं बुज्झा अणण्णयगामि ।
चइऊण तवं काउं, सन्ती पत्तो सिवं परमं ॥"

वृश्चिके श्चेर्ञ्चुर्वा ॥१६॥

वृश्चिके श्चेः सस्वरस्य, ञ्चुरादेशो विभाष्यते ।
विञ्चुओ विंचुओ, पक्षे-विञ्छिओ, छोऽत्र बाध्यते ।

छोऽक्ष्यादौ ॥१७॥

अक्ष्यादिषु छकारः स्यात् संयुक्तस्य, प्रबाध्य खम् ।
अच्छिं उच्छू लच्छी कच्छं, छीअं छीरं कुच्छी दच्छं ।
छेत्तं वच्छं वच्छा कच्छा, छुण्णो छारो सारिच्छं च ।
सरिच्छो मच्छिआ कुच्छो, 'अयं पच्छो' छये छुरो ।
छुहा, आर्षे तु-सारिक्खं, इक्खू खीरं च दृश्यते ।
अक्षी-इक्षु-लक्ष्मी-क्षुत-कक्ष-कौक्षेयक-क्षेत्र-वक्षः-क्षत-दक्ष-वृक्षाः ॥
कक्षा-क्षुर-क्षार-सदृक्ष-कुक्षि-क्षीर-क्षुधः क्षमथो क्षुण्णश्च ।
सादृश्यं मक्षिका क्षुभः, कथितोऽक्ष्यादिरित्ययम् ॥
आकृतिग्रहणाः शब्दाः, न संख्यानियमस्ततः ।

क्षमायां कौ ॥ १८ ॥

पृथिव्यर्थे क्षमाशब्दे, क्षस्य छादेश इष्यते ।
क्षमा छमाऽपि छमा भूमिः, क्षान्त्यर्थे तु क्षमा खमा ॥

ऋक्षे वा ॥ १९ ॥

ऋक्षे क्षस्य छकारो वा, रिच्छो रिक्खोऽखिलैर्मतौ ।
वृक्ष-क्षिप्त (२।१२७) इतिसूत्रेण, 'रुक्ख-छूढो' च सेत्स्यतः ॥

क्षण उत्सवे ॥ २० ॥

उत्सवार्थे क्षणे क्षस्य छः, ' छणो ' स्यात् खणोऽन्यतः ।

ह्रस्वात् थ्य-श्च-त्स-प्सामनिश्चले ॥ २१ ॥

ह्रस्वात् थ्य-श्च-त्स-प्सां, स्थाने छो भवति, निश्चले न स्यात् ।
मिच्छा, पच्छा, संव-च्छलो, जुगुच्छइ च लिच्छइ च ॥
ह्रस्वात् किम्? 'ऊसारिओ'-ऽनिश्चल इति किम्? च 'निच्चलो' येन,
आर्षे-तथ्ये चोऽपि तु भवति ततः ' तच्चमिति रूपम् ॥

सामर्थ्योत्सुकोत्सवे वा ॥ २२ ॥

उत्सुकोत्सव-सामर्थ्ये, वा संयुक्तस्य छो भवेत् ।
सामच्छं वा च सामत्थं, उच्छुओ ऊसुओ तथा ॥
उच्छवो ऊसवो वा स्यात्, पृथगुक्तं द्वयं द्वयम् ।

स्पृहायाम् ॥ २३ ॥

संयुक्तस्य छकारः स्यात्, स्पृहायां फस्य बाधकः ।
छिहा, बाहुलकात् क्वापि निस्पृहो ' निप्पिहो ' मतः ॥

द्य-य्य-र्यां जः ॥ २४ ॥

द्य-य्य-र्याणां तु युक्तानां, स्थाने जः संप्रवर्तते ।
(द्य) मज्जं अवज्जं, (य्य) जज्जो च, सेज्जा, (र्य) भज्जा च भारिआ ॥

अभिमन्यौ ज-ञ्जौ वा ॥ २५ ॥

अभिमन्युपदे न्योर्जो, ञ्जश्चाऽऽदेशौ विकल्पनात् ।
अहिमज्जू अहिमञ्जू, अहिमन्नू तु पाक्षिकः ॥ [१]

साध्वस-ध्य-ह्यां झः ॥ २६ ॥

साध्वसे ध्य-ह्ययोश्च स्याद्, युक्तयोर्झो हि, सज्झसं ।
सज्झाओ वज्झए झाणं, मज्झं गुज्झं च नज्झइ ॥

ध्वजे वा ॥ २७ ॥

ध्वजे ध्वस्य झकारो वा, ततः स्यातां 'झओ' 'धओ' ।

इन्धौ झा ॥ २८ ॥

इन्धौ धातौ तु युक्तस्य, ' झा ' इत्यादेश इष्यते ।
समिज्झाइ च विज्झाइ, चेदृशं संप्रयुज्यते ॥

वृत्त-प्रवृत्त-मृत्तिका-पत्तन-कदर्थिते टः ॥ २९ ॥

वृत्ते प्रवृत्ते पत्तने, मृत्तिकायां कदर्थिते ।
संयुक्तस्य टकारः स्याद्, यथा वट्टं कवट्टिओ ॥
पवट्टो मट्टिआ पट्टो, पट्टणं समुदाहृतम् ।

र्तस्याधूर्तादौ ॥ ३० ॥

धूर्तादीन् वर्जयित्वा टो, 'र्त'स्य स्थाने प्रवर्तते ।
केवट्टो नट्टई संव-ट्टिअं अट्टो पवट्टइ ॥
धूर्तादौ तु विधिर्नायं, ततो धूर्तादिरुच्यते ।
धुत्तो कित्ती वत्ता, निवत्तओ पत्तिओ मुहुत्तो च ॥
आवत्तणं च संव-त्तणं च आवत्तओ मुत्ती ।
निवत्तणं च पवत्तण-मुक्कत्तिओ वत्तिआ वत्तिओ च
निव्वत्तओ पवत्तओ, संवत्तओ कत्तरी मुत्ती ।
आवर्तकावर्तनवर्तिनिर्मूर्तिवार्ताप्रवर्तकमुहूर्तनिवर्तनाश्च ।
संवर्तकोत्कर्तिनमूर्तपूर्वप्रवर्तनं वार्तिककार्तिके च ॥
वर्तिका कर्तरी चापि, संवर्तननिवर्तने ।
निवर्तकमसौ धूर्तादिर्गणः परिकीर्तितः ॥

वृन्ते ण्टः ॥ ३१ ॥

संयुक्तस्य भवेद् वृन्ते, ण्टाऽऽदेशो निर्विकल्पकः ।
तालवेण्टं च वेण्टं च यथा सिद्धिं समश्नुते ॥

ठोऽस्थि-विसंस्थुले ॥ ३२ ॥

विसंस्थुलेऽस्थिशब्दे च, संयुक्तस्य ठकारता ।
अट्ठी विसंठुलं तेन, पृथक् सिद्धिमुपागतम् ॥

स्त्यान-चतुर्थार्थे वा ॥ ३३ ॥

अर्थ-स्त्यान-चतुर्थेषु, वा संयुक्तस्य ठो भवेत् ।
ठीणं थीणं चउट्ठोऽट्ठो-ऽत्थोऽत्थो चउत्थकः ॥

ष्टस्यानुष्ट्रेष्टासंदष्टे ॥ ३४ ॥

संदष्टमिष्टामुष्ट्रं च त्यक्त्वा ष्टस्य तु ठो भवेत् ।
लट्ठी मुट्ठी सुरट्ठा च, कट्ठं दिट्ठो कणिट्ठं च ॥
उट्टो इट्टा च संदट्ठो इत्युष्ट्रादिसमुद्भवम् ।

गर्ते डः ॥ ३५ ॥

स्याद् गर्ते 'र्त'स्य डो, ' गड्डो गड्डा '-ऽपि टस्य बाधकः ।

संमर्द-वितर्दि-विच्छर्द-च्छर्दि-कपर्द-मर्दिते र्दस्य ॥ ३६ ॥

संमर्दे विच्छर्दे छर्दि-वितर्दि-कपर्द-मर्दिते च ।
र्दस्य डकारो भवति, सम्मड्डो मड्डिओ वड्डी ।

[१] अभिमन्यवान् इह न भवति- ' मञ्जू ' ।

बृहस्पति-वनस्पत्योः सो वा ॥ ६९ ॥

बृहस्पतिवनस्पत्योः, सो युक्तस्य विकल्पनात् ।
बहस्सई बहप्फई भयस्सई भयप्फई ।
वणस्सई वणप्फई च सिद्धिमश्नुते पृथक् ॥

बाष्पे होऽश्रुणि ॥ ७० ॥

स्यादश्रुवाचके बाष्पे, संयुक्तस्य हकारता ।
बाहो नेत्रजलं, 'बप्फो-' ऊष्मार्थेऽयं प्रयुज्यते ॥

कार्षापणे ॥ ७१ ॥

कार्षापणे हकारः स्यात्, संयुक्तस्येति कथ्यते ।
काहावणो, क्वचिद् ह्रस्वे कृते रूपं कहावणो [१] ॥

दुःख-दक्षिण-तीर्थे वा ॥ ७२ ॥

दुःखे च दक्षिणे तीर्थे वा संयुक्तस्य हो भवेत् ।
दाहिणो दक्खिणो, तित्थं तूहं, दुक्खं दुहं तथा ॥

कूष्माण्ड्यां ष्मो लस्तु ण्डो वा ॥ ७३ ॥

'ष्मा' इत्येतस्य कूष्माण्ड्यां हः स्याद्, ण्डस्य तु वा च लः ।
कोहण्डी कोहली चैतद् रूपं व्युत्पद्यते ततः ॥

पक्ष्म-श्म-ष्म-स्म-ह्मां म्हः ॥ ७४ ॥

म्हः पक्ष्म-श्म-ष्म-स्म-ह्मानां संयुक्तानामादेशः स्यात् ।
पक्ष्माणि स्यात् पम्हाइं, कुश्मानः कम्हाणो पठ्यते ।
ग्रीष्मो गिम्हो भवेद् 'अम्हा-रिसो' अस्मादृशः स्मृतः ।
ब्रह्मा बम्हा, तथा सुह्माः 'सुम्हा' जातास्तथा पुनः ।
बम्हणो बम्हचेरं च, दृश्यते म्भोऽपि कुत्रचित् ।
बम्भणो बम्भचेरं च, सिम्भो रूपं यथा भवेत् ।
क्वचिन्न दृश्यते चाथ रश्मिः-रस्सी, स्मरः-सरो ॥

सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न-ह्न-ह्ण-क्ष्णां ण्हः ॥ ७५ ॥

सूक्ष्म-श्न-ष्ण-स्न-ह्न-ह्ण-क्ष्णां
संयुक्तानामादेशो ण्हः ।
सूक्ष्म सण्हं (श्न) पण्हो सिण्हो
(ष्ण) विण्हू जिण्हू उण्हीसं स्यात् ।
(स्न) जोण्हा ण्हाओ पण्हुओ च, (ह्न) वण्ही जण्हू तथैव च ।
(ह्ण) पुव्वण्हो अवरण्हो च, (क्ष्ण) सण्हं तिण्हं प्रयुज्यते ।
विप्रकर्षे तु कसणो कसिणो कृष्ण-कृत्स्नयोः ॥

ह्लो ल्हः ॥ ७६ ॥

ल्हः स्याद् ह्लस्य तु कल्हारं, पल्हाओ रूपमीदृशम् ।

क-ग-ट-ड-त-द-प-श-ष-स-ᳵक-ᳶपामूर्ध्वं लुक् ॥ ७७ ॥

क-ग-ट-ड-त-द-प-श-ष-सानां, ᳵक-ᳶपानां तथोर्ध्वभूतानाम् ।
संयुक्तवर्णसम्ब-न्धिनां लुगेवेति शास्ति मुनिः ।
(क) भुत्तं (ग) दुद्धं (ट) षट्पदः 'छप्पओ' च
(ड) खड्गः खग्गो (त) उत्पलं उप्पलं च ।
(द) मद्गुः-मग्गू, मुद्गरो-मोग्गरो च,
(प) सुप्तो सुत्तो (श) निश्चलो निच्चलो च ।
(ष) गोष्ठी गोट्ठी निट्ठुरो च, (स) नेहो च खलिओ तथा ।

(ᳵक) दुᳵखं दुक्खं (ᳶप) अन्तᳶपातः अन्तप्पाओ निगद्यते ।

अधो म-न-याम् ॥ ७८ ॥

युक्ताधो वर्त्तमानानां, मनयानां तु लुग् भवेत् ।
(म) जुग्गं रस्सी सरो (न) नग्गो, (य) सामा कुड्डं यथा पद्म ।

सर्वत्र ल-व-रामवन्द्रे ॥ ७९ ॥

युक्तस्योर्ध्वमधो वा ये, संस्थिता ल-व-राः क्वचित् ।
वन्द्रशब्दं विना तेषां लुक् स्यादित्युपदिश्यते ॥
(ऊर्ध्वम्) (ल) उल्का उक्का, वल्कलं वक्कलं च,
(व) शब्दः सद्दो, लुब्धको लोद्धओ च ।
(र) अर्को अक्को अर्क-वर्गौ भवेताम्,
(अधः) (ल) श्लक्ष्णं सण्हं, विक्लवो विक्कवो च ॥
(व) पक्वं पक्कं च विद्धं च, (र) चक्रं चक्कं ग्रहो गहो ।
रात्रिः रत्ती, यथालक्ष्यं, लोपः स्यात् क्वापि, तद्यथा ।
(ऊर्ध्वम्) उद्विग्नः स्याद् उव्विग्गो, द्विगुणो बिउणो तथा ।
कल्मषं कम्मसं, सर्वं-सव्वं, सन्ति सहस्रशः ।
(अधः) काव्यं कव्वं प्रवज्यं, माल्यं मल्लं, द्विपो दिओ ।
पर्यायेण क्वचित् द्वारं-बारं दारं प्रयुज्यते ।
एवमुद्विग्न उव्विग्गो, उव्विग्गो निगद्यते ।
वन्द्रं पदं तु संवन्द्रं, संस्कृते प्राकृते समम् ।

द्रे रो न वा ॥ ८० ॥

द्र-शब्दे तु विकल्पेन, लुक् स्याद् रेफस्य तद्यथा ।
चन्दो चन्द्रो च, रुद्दो रुद्रो, भद्दं भद्रमित्यपि ॥
परिवृत्य स्थिते रूपद्वयं चैव द्रहे यथा ।
द्रहो दहो, मतं तु केऽपि नेच्छन्ति सूरयः ।
ये वोद्रहादयः शब्दास्तत्तदर्थवाचकाः ।
ते नित्यं रेफसंयुक्ता देश्या एवेति बुध्यताम् ॥

धात्र्याम् ॥ ८१ ॥

धात्र्यां वा लुक् रस्य, धत्ती धाई धारी बुधोदितम् ।

तीक्ष्णे णः ॥ ८२ ॥

तीक्ष्ण-शब्दे णस्य लुग् वा, तिक्खं तिण्हं मतो द्वयम् ।

ज्ञो ञः ॥ ८३ ॥

ज्ञस्य सम्बन्धिनो ञस्य, लुक् स्यादत्र विभाषया ।
जाणं णाणं, क्वचिन्न स्याद्, विण्णाणं संप्रयुज्यते ॥

मध्याह्ने हः ॥ ८४ ॥

स्याद् 'मज्झन्नो च मज्झण्हो' मध्याह्ने लुकि हस्य वा ।

दशार्हे ॥ ८५ ॥

दशार्हे हस्य लुक् वेदो, दसारो सिद्धिमृच्छति ।

आदेः श्मश्रु-श्मशाने ॥ ८६ ॥

श्मश्रु-श्मशानयोरादे-र्लुगादेशो विधीयते ।
मासू मंसू च मस्सू च, मसाणं चेद सिध्यति ।
आर्षे सुसाणं सीसाणं, श्मशानस्य द्विरूपता ।

श्चो हरिश्चन्द्रे ॥ ८७ ॥

श्चस्य लुक् स्याद् हरिश्चन्द्रे, 'हरिअन्दो' मतो भवेत् ।

[१] कथं 'कहावणो' । "ह्रस्वः संयोगे" [१।८४] इति पूर्वमेव ह्रस्वत्वे पश्चादादेशे, कार्षापणशब्दस्य वा भविष्यति ।

एण्हिं एत्ताहे इदानीमः ॥ १३४ ॥

इदानीमो भवेद् एण्हिं, एत्ताहे च विकल्पनात् ।
इआणिं एण्हिमं एत्ताहे, अयं चैतत् प्रकल्पितम् ।

पूर्वस्य पुरिमः ॥ १३५ ॥

पूर्वस्य पुरिमो वा स्यात्, पुव्वं च पुरिमं तथा ।

त्रस्तस्य हित्थ-तट्ठौ ॥ १३६ ॥

त्रस्त-शब्दस्य वा स्यातां, हित्थ-तट्ठौ विकल्पनात् ।
हित्थं तट्ठं च तत्थं च, अयं सिद्धिं समश्नुते ॥

बृहस्पतौ बहो भयः ॥ १३७ ॥

बृहस्पतौ बहस्य वा भयो निगद्यते पदे ।
भयस्सई भयप्फई भयप्पई ततो भवेत् ।
बहस्सई बहप्फई बहप्पई च पाक्षिकम् ।
इत्थं च यत्र 'वा बृहस्पतौ' (१ । १३८) इति प्रदर्शितौ ।
बिहस्सई बिहप्फई बिहप्पई बुहस्सई ।
बुहप्फई बुहप्पई च तत्र यान्ति सिद्धिताम् ।

मलिनोभय-शुक्ति-छुप्ताऽऽरब्ध-पदातेर्मइलावह-
सिप्पि-छिक्का-ढत्त पाइक्कं ॥ १३८ ॥

मलिनादेर्मइलादिरादेशो वा विधीयते ।
मलिनं-मलिणं मइलं, उभयं-अवहं च उवहमिति केचित् ।
शुक्तिः-सिप्पी सुत्ती, छुप्तः-छिक्को च छुत्तो च ॥
आरब्धस्यादत्तो आरद्धो वा, पदातिरिति तु पदम् ।
पाइक्को च पयाई, 'उभयोकालं' प्रयेदार्षे ।

दंष्ट्राया दाढा ॥ १३९ ॥

दंष्ट्रा-शब्दस्य दाढा स्यात्, संस्कृतेऽप्ययमिष्यते ।

बहिसो बाहिं-बाहिरौ ॥ १४० ॥

' बाहिं बाहिरमित्येतौ ' स्थाने द्वौ बहिसो मतौ ।

अधसो हेट्ठं ॥ १४१ ॥

हेट्ठं इत्ययमादेशोऽधसो, हेट्ठमतो भवेत् ।

मातृ-पितुः स्वसुः सिआ-छौ ॥ १४२ ॥

मातुः पितुः परः स्वसृ-शब्दः, तस्य सिआ च छा ।
स्याद् माउच्छा माउसिआ, पिउच्छा च पि (उ) ऊसिआ ।

तिर्यचस्तिरिच्छिः ॥ १४३ ॥

तिरिच्छिस्तिर्यचः स्थाने आदेशो विनिगद्यते ।
'तिरिच्छि पेच्छइ' आर्षे-'तिरिआ' अपि प्रयुज्यते ॥

गृहस्य घरोऽपतौ ॥ १४४ ॥

गृहस्य घर आदेशः, पतिशब्दः परो न चेत् ।
घर-सामी, राय-हरं पइ-घरं गहवई पुनः ॥

शीलाद्यर्थस्येरः ॥ १४५ ॥

[illegible] भवेत् ।
इर [illegible] विधीयते ॥
[illegible] तथा ।
[illegible] च ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥

क्त्वस्तुमत्तूण-तुआणाः ॥ १४६ ॥

[illegible] तु ।

(तुम) भेत्तुं (अत्) भमिअ (तूण) काऊण,
कट्टु-ऽऽर्षे (तुआण) भेत्तुआण च ।

इदमर्थस्य केरः ॥ १४७ ॥

प्रत्ययस्येदमर्थस्य, 'केर' आदेश इष्यते ।
तुम्हकेरो अम्हकेरो, युष्मदीयाऽस्मदीययोः ।
न स्यात् 'मईअ-पक्खे' तु 'पाणिणीया' इहापि च ।

पर-राजभ्यां क्क-डिक्कौ च ॥ १४८ ॥

प्रत्ययः पर-राजभ्या-मिदमर्थः परोऽस्तु यः ।
तस्य स्थाने भवेतां तु, क्क-डिक्कौ केर इत्यपि ॥
परकीयं तु पारक्कं, परक्कं पारकेरअं ।
राजकीयं तु राइक्कं रायकेरं च पठ्यते ।

युष्मदस्मदोऽञ एच्चयः ॥ १४९ ॥

यः परो युष्मदस्मद्भ्यां प्रत्ययोऽञिदमर्थकः ।
एच्चयस्तस्य, युष्माकमिदं यौष्माकमित्यदः ।
तुम्हेच्चयं स्याद्, आस्माकं त्वम्हेच्चयं तथा ।

वतेर्व्वः ॥ १५० ॥

प्रत्ययस्य वतेर्व्वः स्याद्, 'महुरव्व' निदर्श्यते ।

सर्वाङ्गादीनस्येकः ॥ १५१ ॥

सर्वाङ्गात् 'सर्वादेः पथ्यङ्गे-[हैम०७।१] त्यादिना य ईनऽस्ति ।
तस्येकः स्यात्, सर्वाङ्गीणः-सव्वङ्गिओ गदितः ।

पथो णस्येकट् ॥ १५२ ॥

"नित्यं णः पन्थश्च" [हैं०६।४] सूत्रेणैतेन यः पथो णः स्यात् ।
तस्येकट् करणीयः, पान्थः पहिओ ततो भवति ।

ईयस्यात्मनो णयः ॥ १५३ ॥

आत्मनः पर ईयो यो, णयादेशोऽस्तु तस्य तु ।
आत्मीयं पठ्यते तेन, बुधैरप्पणयं पदम् ।

त्वस्य डिमा-त्तणौ वा ॥ १५४ ॥

त्व-प्रत्ययस्य वा स्यातां 'डिमा' 'त्तण' इमौ क्रमात् ।
पीणिमा पुप्फिमा, पीणत्तणं पुप्फत्तणं तथा ।
पक्षे पीणत्तं पुप्फत्तं, प्रथम-पक्षदर्शनम् ।
इमः पृथ्व्यादि-शब्देषु नियतत्वादयं विधिः ।
तदन्यप्रत्ययान्तेषु साम्प्रतं तु विधीयते ।
पीनता 'पीणया' चेहाऽप्यभाषायां तु-'पीणदा' ।
तेनेह 'दा' तलः स्थाने, आदेशो न विधीयते ।

अनङ्कोठात् तैलस्य डेल्लः ॥ १५५ ॥

अङ्कोठवर्जितात् शब्दात्, 'डेल्लः' तैलस्य कथ्यते ।
कडुएल्लं, न चाङ्कोल्लतेल्लमत्र प्रवर्तते ।

यत्तदेतदोतोरित्तिअ एतल्लुक् च ॥ १५६ ॥

इत्तिओ यत्तदेतद्भ्यः स्याद् मात्राद्यर्थतोरिह ।
परिमाणार्थकस्यात्रऽदेशो, लुक् स्यादेतदोऽपि च ।
यावत् जित्तिअं, तावत् तित्तिअं, इत्तिअं ।

इदंकिमश्च डेत्तिअ-डेत्तिल-डेद्दहाः ॥ १५७ ॥

शब्देभ्यो यत्तदेतद्भ्यः किमिदंभ्यां च यः परः ।
अतुर्वा डवतुर्वा स्यात् तस्य स्थाने त्रिलक्षणः ।
केद्दहो केत्तिओ केत्तिलो, भवेदेतदश्च लुक् ।
एत्तिअं एत्तिलं एद्दहं स्यादियत्
केत्तिअं केत्तिलं केद्दहं स्यात् कियत् ।
जेत्तिअं जेत्तिलं जेद्दहं यावतः

तेत्तिअं तेत्तिलं तेद्दहं तावतः ।
पत्तिअं पत्तिलं पद्दहमेतावतः ।
एद्दहं, चेद्दहं सूरिभिर्योद्दतम ॥

कृत्वसो हुत्तं ॥ १५८ ॥

"वारे कृत्वस्" [हेम०७।२] हि सूत्रेण यः कृत्वस्प्रत्ययः कृतः ।
तस्य स्थाने भवेद् 'हुत्तं' 'सयहुत्तं' निदर्शनम ।
कथं प्रियाभिमुखं तु 'पियहुत्तं' प्रयुज्यते ?।
हुत्तेनाभिमुखार्थेन रूपसिद्धिर्भविष्यति।

आल्विल्लोल्लाल-वन्त-मन्तेत्तेर-मणा मतोः ॥ १५९ ॥

आलु इ, इल्लो, मणो, वन्त-आल-उल्ल-इरः, तथा ।
इत्तो, मन्तो, यथालक्ष्यं, नवाऽऽदेशा मतोः स्मृताः ।
(आलु) नेहालू च दयालू (इल्ल) सोहिल्लो भवति जामइल्लो च।
(उल्ल) मंसुल्लो दप्पुल्लो (आल) तथा जडालो च सद्दालो ॥
(वन्त) धणवन्त-भत्तिवन्तौ (मन्त) हणुमन्तो भवति पुण्णमन्तो च।
(इत्त) कव्वइत्तो माणइत्तो (इर) गव्विरो रेहिरो भवेत ।
(मण) स्याद् 'धणमणो,' कथंचिद्, मादेशाद् हणुमा मतः ॥[१]

त्तो दो तसो वा ॥ १६० ॥

प्रत्ययस्य तसः स्थाने 'त्तो' 'दो' वा भवतो, यथा ।
सव्वत्तो सव्वदो, पक्षे भवेद् रूपं तु सव्वओ ।

त्रपो हि-ह-त्थाः ॥ १६१ ॥

प्रत्ययस्य त्रपः स्थाने हि-ह-त्थाः स्युरिमे त्रयः ।
निदर्शनं यत्र-तत्र-कुत्राणामिह दृश्यताम ।
जहि वा जह वा जत्थ, तत्थ वा तहि वा तह ।
कहि वा कह वा कत्था-ऽन्नत्थ वाऽन्नहि वाऽन्नह ।

वैकाद्दः सि सिअं इआ ॥ १६२ ॥

एक-शब्दात् परो यो दा-प्रत्ययस्तस्य वा त्रयः ।
'इआ सिअं सि' इत्येते, आदेशाः स्युर्यथाक्रमम् ॥
स्यादेकदा 'एक्कसिअं', तथा 'एक्कसिआ' ऽपरम् ।
'एक्कसि' त्रितयं चैतत्, पक्षे स्याद् 'एगया' पदम् । [२]

डिल्ल-डुल्लौ भवे ॥ १६३ ॥

नाम्नः परौ डिल्ल-डुल्लौ, भवेऽर्थे प्रत्ययौ मितौ ।
गामिल्लिआ, उपाल्लयं, आत्वाभौ [२।१५१] प्रत्ययावपि।[३]

स्वार्थे कश्च वा ॥ १६४ ॥

स्वार्थे को डिल्ल-डुल्लौ च, मितौ वा प्रत्ययास्त्रयः ।
चन्दओ इदयं, क्वापि द्विर्भवं ' बहुअयं ' यथा ।
ककारोच्चारणं पैशाचिकभाषार्थमिष्यते ।
यथा वतनकं, इह स्तोऽपि लक्ष्यते एकुदम ।
पुरा पुरो वा ' पुरिल्लो ' ' पल्लविल्लेण ' इत्यपि ।
उल्ल-पिअल्लओ इत्युक्ता मुहुल्लं च भवेत् ।
पक्षे-चन्दो इह बहु बहुअं मुहमित्यपि ।
स्यात् कुत्सादिविशिष्टे तु ' कप् ' संस्कृतवदेव च ।
यावादिलक्षणः कस्तु, नियतस्थान इष्यते ।

ल्लो नवैकाद्वा ॥ १६५ ॥

नवादेकाद्वा स्वार्थे संयुक्तो ' ल्लः ' प्रवर्तते ।
नवो नवल्लो एक्कल्लो, पक्षे एक्को भवेऽपि वा।
सेवादित्वात् (२।९९) कस्य द्वित्वे ' एक्कल्लो ' सिद्धिरूच्यते

उपरेः संव्याने ॥ १६६ ॥

संव्यानेऽर्थे स्थितात् स्वार्थे ल्लो भवेद् उपरेरिह ।
' अवरिल्लो ' ' उवरि ' रूपमसंव्याने प्रतिष्ठितम ।

भ्रुवो मया डमया ॥ १६७ ॥

स्वार्थिकौ प्रत्ययौ स्यातां, भ्रूशब्दाद् डमया मया ।
भुमया ममया चेमौ, शब्दौ सिद्धिमवाप्नुतः ।

शनैसो डिअम् ॥ १६८ ॥

शनैस्शब्दाद् भवेत् स्वार्थे, डिअम तु 'सणिअं' यथा ।

मनाको न वा डयं च ॥ १६९ ॥

डयम् डिअम् च वा स्वार्थे, मनाक्शब्दादिमौ यथा ।
मणयं मणिअं पक्षे ' मणा ' इत्यपि सिध्यति ।

मिश्राड्डालिअः ॥ १७० ॥

मिश्र-शब्दात् तु वा स्वार्थे, ' डालिअः ' प्रत्ययो भवेत्।
मीसालिअं तथा पक्षे, ' मीसं ' इत्यपि दृश्यते ।

रो दीर्घात् ॥ १७१ ॥

स्वार्थे दीर्घात् परो वा रः, दीहरं दीहमित्यपि ।

त्वादेः सः ॥ १७२ ॥

'भावे त्वतल्' (हेम०७।१) हि सूत्रेण, यः स्वार्थे विहितस्तदा।
स्वार्थे स एव त्वादिर्वा, भवेदित्युपदिश्यते ।
मृदुकत्वेन ' मउअत्तयाइ ' अनुवाद्यते ।
स्यात् कश्चिद्द्विरपरो द्विरूपरो कः पूर्वाक्तियम्।

विद्युत्पत्र-पीतान्धाल्लः ॥ १७३ ॥

वा विद्युत्पत्रपीतान्धशब्देभ्यः स्वार्थिकोऽस्तु लः ।
विज्जुला पत्तलं अन्धलो च पीअलं पीअलं ।
पक्षे विज्जू च पत्तं च पीअं 'अन्धो' कथुच्यताम् ।
यमलस्य संस्कृतस्य ' जमलं ' कथमिष्यते ।

गोणादयः ॥ १७४ ॥

गोणादयो निपात्यन्ते, बहुलं लक्ष्यदर्शनात् ।
गोणो गावी च गावीओ, गावीओ गाव कथ्यते ।
बइल्लो तु बलीवर्दः, आऊ आप इतीरितः ।
' पञ्चावण्णा पणपण्णा ' पञ्चपञ्चाशदिष्यते ।
तेवण्णा तु त्रिपञ्चाशत्, तेआलीसा त्रिचत्वारिंशत् ● ।
विउसग्गो तु व्युत्सर्गं, वोसिरणं व्युत्सर्जनम ।
' बहिद्धा ' इत्ययं शब्दो बहिर्वा मैथुनार्थकः । [१]
' णामुक्कसिअम्'-इत्येतत् कार्यं, कत्थइ तु क्वचित् ।
मुव्वहइ उद्वहति, अवस्मारस्तु वम्हलो ।
कन्दुट्टं उत्पलं, धिप्पिधिक् छिछि धिद्धि च कथ्यते ।
' धिरत्थु ' वाक्यमित्येतद् धिगस्तु प्रतिपाद्यते ।
पडिसिद्धी प्रतिस्पर्धी, प्रतिस्पर्धाभिधीयते ।
थासिअ स्थासकः, मयी निश्चयः, भ्रम अप्फुण्णं ।
चिइहणं तु निलयः, मघोणो मघवान्निति ।
महान् मइन्तो, सामिद्धा सामिद्धिरिति, मव्वइ पुरः ।
भवन्तो पुव्वविद्धुत्थानी इत्यादि पुरे, यथा ।
पुहवी पृथिवी, स्याद् हिरण्णो निम्मरिषः ।
भुवि इ इष्यते क्वापि, दुद्धुरो पुरुषो यथा ।
' भामिणी ' भामिनी, स्त्रीत्वम्-' कामुकं ' च, हरो ' हरो '।
लाउकन्दी च लाउकुण्डं बहुत्वमिदम्।

. [१] मतोरिति किम् ?, धणी, अत्थिअओ । [२] एगया । [३] पुरिल्लं, हेट्ठिल्लं, उवरिल्लं, अप्पुल्लं ।

● त्रिपञ्चाशदादिषु दन्त्यः । [१] बहिर्धा-मैथुनम ।

ककुधं, कडुमित्येतत् कुतूहलपदस्य तु ।
चूतो भवति मायन्दो, 'आगया '-असुराः तथा ।
माकन्दः संस्कृतेऽपि स्यात्, महिओ विष्णुरुच्यते ।
श्मशाने करसी, खलं खेड्डुं, अह्नं दिनं तथा ।
पौर्ण रजस्तु 'तिङ्गिच्छि,' समर्थः पक्कलो, बली ।
उज्जल्लो, पयरुको णेलच्छो, शाखा साहुली मता ।
कर्पासः पहली, ताम्बूलं मतं झसुरं इह ।
पुंश्चली छिंछई, चैवं सन्ति सहस्राणि भूरिशः ।
याऽधिकारात्तु पक्षेऽत्र यथादर्शनमिष्यते ।
तेन गौः-' गउओ ' ईदृग्रूपं चापि प्रयुज्यते ।
गोला गोआवरी चेमौ, गोला-गोदावरी-भवौ ।
भाषाशब्दाश्च सन्तीह बहवस्तान् ब्रवीम्यहम् ।
आहित्थो लल्लक्को, विड्डिर-पच्चड्डिओ च उज्जल्लो ।
तप्पेहुरु-विट्टरुप्फरु-मरुप्फरो अड्डमड्डो च ।
पड्डिच्छिर-हल्लप्फल इत्याद्या भूरिशोऽभिधाशब्दाः [१] ।
अवयासइ फुम्फुल्लइ, उप्फालेई क्रियाशब्दाः ।
अत एव कृष्ट-घृष्ट-वाक्य-विद्वत्प्रचेतसाम् ।
वाचस्पति-प्रोक्त-प्रोत-विष्टरश्रवसां तथा ।
अग्निचित्-सोमसुत्-सुग्ल-सुम्लादीनां च भूयसाम् ।
क्विबादिप्रत्ययान्तानामनुक्तानां तु सूरिभिः ।
प्रतीतिवैषम्यपरः, प्रयोगो न विधीयते ।
किंतु शब्दान्तरैरेव, तदर्थोऽत्राऽभिधीयते ।
वाचस्पतिर्गुरुः, कृष्टः कुशलो, विष्टरश्रवाः ।
हरिरित्यादिवद् ज्ञेयो, भवेत् पर्यायसंभवः ।
सोपसर्गस्य घृष्टस्य, प्रयोगः क्रियते बुधैः ।
परिघट्टं निहट्टं चैवेयमादि निदर्शनम् ।
आर्षे यथादर्शनं तु, न विरुद्धं किमप्यतः ।
' घट्ठा मट्ठा विउसा, ' तथैव ' सुअ-लक्खणाणुसारेण ' ।
' वक्कंतरेसु अ पुणो, ' इत्याद्यपि विजानीयात् ।

अव्ययम् ॥ १७५ ॥

अव्ययमित्यधिकार आपादपरिपूरणात् ।
इतः परं ये वक्ष्यन्ते, ते सर्वेऽप्यव्ययाभिधाः ।

तं वाक्योपन्यासे ॥ १७६ ॥

तमिति वाक्योपन्यासे, प्रयोक्तव्यं यथाविधि ।
' तं तिअस-बन्दिमोक्खं ' पदं सर्वत्र बुध्यताम् ।

आम अभ्युपगमे ॥ १७७ ॥

आम-शब्दोऽभ्युपगमे, वाच्ये साधु प्रयुज्यताम् ।
तद्यथा-' आम बहला वणोली ' ईदृगुच्यते ।

णवि वैपरीत्ये ॥ १७८ ॥

णवीति वैपरीत्ये स्यात्, तथाहि-' णवि हा वणे ' ।

पुणरुत्तं कृतकरणे ॥१७९॥

' पुणरुत्त ' इतिशब्दः, कृतकरणेऽर्थे प्रयुज्यते हि, यथा- ।
' अइ सुप्पइ पंसुलि ! णीसहेहि अङ्गेहि पुणरुत्तं ' ॥[२]

हन्दि विषाद-विकल्प-पश्चात्ताप-निश्चय-सत्ये ॥१८०॥

विषादे निश्चये सत्ये, पश्चात्तापे विकल्पने ।

' हन्दि ' शब्दः प्रयुज्येत, सत्यमेतद् निशम्यताम् ।
"हन्दि चलणे णओ सो, ण माणिओ हन्दि हुज्ज एत्ताहे
हन्दि ण होही भणिरी, सा सिज्जइ हन्दि तुह कज्जे" ।[१]

हन्द च गृहाणार्थे ॥ १८१ ॥

'हन्द' ' हन्दि ' इमौ शब्दौ गृहाणार्थस्य वाचकौ ।
यथा-' हन्द पलोएसु इमं ' हन्दि गृहाण च ।

मिव पिव विव व्व व विअ इवार्थे वा ॥ १८२ ॥

'मिव-पिव-विअ-विव-व-व्वा' अमी इवार्थे च वा प्रयुज्यन्ते ।
कुसुमं मिव, हंसो विव, कमलं विअ, चन्दणं पिव च ।
सेससस व निम्मोओ, खीरोओ सायरो व्व, पक्षे तु ।
नीलुप्पलमाला इव, दिशाऽनया त्वन्यदपि बोध्यम् ।

जेण तेण लक्षणे ॥ १८३ ॥

जेण तेण इत्येतौ, सदा लक्षणे बुधैः प्रयोक्तव्यौ ।
जेण भमररुअं कमलं, ' भमररुअं तेण कमलवणं ' ।

णइ चेअ चिअ च अवधारणे ॥ १८४ ॥

' णइ चेअ च चिअ ' इमे-ऽवधारणेऽर्थे यथा-'गईए णइ' ।
जं चेअ मउलणं लो-अणाण, ते चेअ सप्पुरिसा ॥
अणुबद्धं तं चिअ का-मिणीण, सेवादिदर्शनाद् द्वित्वे ।
' ते चिअ धन्ना ' इत्यपि, स च्च य रूवेण, स च्च सीलेन ।

बले निर्धारण-निश्चययोः ॥ १८५ ॥

निर्धारणे निश्चये, ' बले ' इतीदं, यथा-'बले सीहो' ।[२]
अत्थि बले सप्पुरिसो, धणंजओ खत्तिआणं तु । [३]

किरेर हिर किलार्थे वा ॥ १८६ ॥

' किर इर हिर ' इत्येते, अयः किलार्थे हि वा प्रयुज्यन्ते ।
एते सोदाहरणाः, कथ्यन्ते तेऽवगन्तव्याः ।
'कल्लं किर खर-हिअओ' 'एवं किल तेण सिविणए भणिआ' ।
'तस्स इर,' 'पिअ-वयंसो हिर' किल-शब्दोऽपि वा वाच्यः ।

णवरं केवले ॥ १८७ ॥

णवरं तु केवलार्थे, 'णवरं' ' नवरं ' च कुत्रचिद् दृष्टम् ।
' णवरं पिआइ चिअ णि-व्वडन्ति' चैवं प्रयोक्तव्यम् ।

आनन्तर्ये णवरि ॥ १८८ ॥

आनन्तर्ये ' णवरि ' प्रयुज्यते, तन्निदर्शनं चैतत् ।
'णवरि अ से रहु-वइणा,' 'णवरणवरि' सूत्रमेकेषाम् । [४]

अलाहि निवारणे ॥ १८९ ॥

अर्थे निवारणे ' अलाहि, ' सुधीभिः समुदीरितम् ।
अलाहि किं वाइएण, लेहेणेति निदर्श्यते ।

अण णाइं नञर्थे ॥ १९० ॥

' अण, णाइं ' इत्येतौ, बुधैर्नञोऽर्थे परं प्रयुज्येते ॥
अणचिन्तिअममुणन्ती, ' णाइं रोसं करेमि ' यथा ।

माइं माऽर्थे ॥ १९१ ॥

'माइं रोसं तु काहीअ,' अत्र माइं तु मार्थकः ।

-[१] इत्यादयो महाराष्ट्रविदर्भादिदेशप्रसिद्धा लोकतोऽवगन्तव्याः । [२] हे पांसुले ! त्वं निःसहैरङ्गैः पुनरुक्तं [वारं वारं] स्वपिषि ।

[१] हन्दि [विषादे] चरणे नतः सः, न मानितो हन्दि [विकल्पे] भविष्यति इदानीम् (नवा) । हन्दि [पश्चात्तापे] न भविष्यति भणिरि [प्रणयशीला] सा खिद्यते हन्दि [सत्यम्] तव कार्ये । [२] निश्चये-सिंह एवायम् । [३] निर्धारणे । [४] केचित्तु केवलानन्तर्यार्थयोः 'णवर-णवरि' इत्येकमेव सूत्रं कुर्वते, तन्मते उभावप्युभयार्थौ ।

हद्धी निर्वेदे ॥ १९२ ॥

'हद्धी' इति निर्वेदे, हाधिक्-शब्दस्य भवति वाऽऽदेशः ।
तस्माद् 'हद्धी हद्धी' तथा च 'हा धाह धाह' इति ।

वेव्वे भय-वारण-विषादे ॥१९३॥

भय-वारण-विषादेषु, 'वेव्वे' इत्यभिधीयते ।
"वेव्वे त्ति भये वेव्वे, त्ति वारणे जूरणे अ वेव्वे त्ति ।
उल्लाविरीइ वि तुहं, वेव्वे त्ति मयच्छि ! किं णेयं ? ॥
किं उल्लावेन्तीए उअ जूरन्तीएँ किं नु भीआए।
उव्वाडिरीएँ वेव्वे त्ति तीएँ भणिअं न विम्हरिमो" [१] ॥

वेव्व च आमन्त्रणे ॥१९४॥

'वेव्वे' 'वेव्व' च आमन्त्रणे, यथा-भवति 'वेव्व गोले' वा ।
'वेव्वे मुरन्दले वहइ-सि पाणिअं' ईदृशं वाक्यम् ।

मामि हला हले सख्या वा ॥१९५॥

'हला मामि, हले' चैते सख्या आमन्त्रणे तु वा ।
पणवह माणस्स हला,'मामि हु सरिसक्खराण'वि'च कथितम्।
'हले हयासस्स' तथा, पक्षे-'सहि एरिसि च्चिअ गई' तु ।

दे संमुखीकरणे च ॥ १९६ ॥

'दे' तु संमुखीकरणे, सख्या आमन्त्रणे च वक्तव्यम् ।
'दे' पसिअ ताव सुन्दरि'! 'दे आ सु पसिअ निअत्तसु च ॥

हुं दान-पृच्छा-निवारणे ॥१९७॥

स्याद् 'हुं' निवारणे दाने, पृच्छायां चापि, तद्यथा-।
'अप्पणो चिअ हुं गेण्ह' 'हु निर्लज्ज ! समोसर ।
'हुं च साहसु सब्भावं, एवमादि निदर्शनम् ।

हु खु निश्चय-वितर्क-संभावन-विस्मये ॥१९८॥

'हु' 'खु' निश्चय-संभावन-वितर्क-विस्मय-पदेषु वक्तव्यौ ।
(निश्चये) 'तं पि हु अच्छिन्नसिरी', 'तं खु सिरीए रहस्सं च'।
ऊहसंशयी द्वावपि, वितर्क-वाच्यौ (ऊहे) हसइ खु एसं सा ।
'न हु णवरं संगहिआ' (संशये) खु जलहरो धूमवडलो खु॥
(संभावने)'एअं खु हसइ' इत्यपि,'णवर इमं ण हु तरिअं' च ।
(विस्मये) को खु सहस्ससिरो, हुर्नाऽनुस्वारात्परो वाच्यः ।

ऊ गर्हाऽऽक्षेप-विस्मय-सूचने ॥१९९॥

'ऊ' गर्हा-विस्मयाऽऽक्षेप-सूचनेषु प्रयुज्यते ।
(गर्हा)'ऊ णिल्लज्ज' (सूचने) 'ऊ केण, न विण्णायं गुणे तुहं'।
(आक्षेपे) 'ऊ मए भणिअं किं तु'(विस्मये) 'ऊ मुणि आऽऽहय वह'।
आक्षेपः सोऽत्र, वाक्यस्य यद् विपर्यासकारणम् ।

थू कुत्सायाम् ॥२००॥

कुत्सायां थू, यथा-'लोओ निल्लज्जो थू' प्रयुज्यते ।

रे अरे संभाषण-रतिकलहे ॥२०१॥

संभाषणे तु 'रे' स्यात्, रतिकलहे संप्रयुज्यते च 'अरे' ।
रे हिअय ! मडह-सरिआ, 'अरे मए मा करेसु उवहासं' ।

हरे क्षेपे च ॥ २०२ ॥

क्षेपे रतिकलहे संभाषणविषये च कथ्यते तु 'हरे' ।
(क्षेपे) हरे णिल्लज्ज ! (रतिकलहे) हरे बहु-
वल्लह ! दुज्जण ! (संभाषणे) हरे पुरिसा ! ।

ओ सूचना पश्चात्तापे ॥ २०३ ॥

सूचनायां तथा पश्चात्तापे 'ओ' इति पठ्यते ।
'ओ अविणय तत्तिल्ले' (पश्चात्तापे) 'ओ न मए छाया इत्तिआए न' ।
उतस्य तु विकल्पार्थवाचकस्यापि 'ओ' भवेत् ।
यथा 'नहयले ओ विरएमि' निगद्यते ।

अव्वो सूचना-दुःख-संभाषणापराध-विस्मयानन्दादर-भय-खेद-विषाद-पश्चात्तापे ॥ २०४ ॥

अव्वो दुःखे सूचनायामपराधे च विस्मये ।
संभाषणे भये खेदे, पश्चात्तापविषादयोः ।
आनन्दादरयोश्चापि प्रयोक्तव्यं हि, तद्यथा ।
[१] अव्वो दुक्करयारय !(२) अव्वो हिअय दलन्ति पवसन्ति ।
[३] अव्वो किमिणं किमिणं, अपराधे विस्मये तु यथा-
[४] * अव्वो हरन्ति हिअयं, तह वि न वेसा हवन्ति जुवईण ।
[५] अव्वो किं पि रहस्सं, मुणन्ति धुत्ता जणब्भहिआ ॥
[६] अव्वो सुपहायमिणं (७) अव्वो अज्जम्ह सप्फलं जीअं ।
[८] अव्वो अइअम्मि तुमे, नवरं जइ सा न जूरिहिइ ॥
[९] अव्वो न जामि छेत्तं, पश्चात्तापेऽभिधीयते तु यथा ॥
[१०] "अव्वो तह तेण कया, अहयं जह कस्स साहेमि" ॥
[११] × "अव्वो नासेन्ति दिहिं, पुलयं वड्ढेन्ति देन्ति रणरणयं ।
एण्हिं तस्सेअ गुणा, ते च्चिअ अव्वो कहणु एअं ?॥

अइ संभावने ॥ २०५ ॥

अइ संभावने, अइ दिअर ! किं न पेच्छसि ?।

वणे निश्चय-विकल्पानुकम्प्ये च ॥ २०६ ॥

संभावनेऽनुकम्प्ये च विकल्पे निश्चये वणे ।
[निश्चये] वणे देमि 'वणे होइ, न होइ' स्याद् विकल्पने ।
दासो न मुच्चइ वणे, अनुकम्प्यो न मुच्यते ।
[संभावने] 'नत्थि वणे जं न देइ' विहि परिणामो' यथा ।

मणे विमर्शे ॥ २०७ ॥

मणे विमर्शे, 'मन्ये' इत्यर्थेऽपीच्छन्ति केचन ।
किंस्वित् सूर्यो-'मणे सूरो' इत्यादौ विदुर्बुधाः ।

अम्मो आश्चर्ये ॥ २०८ ॥

आश्चर्येऽर्थे भवेद् अम्मो, 'अम्मो कह पारिज्जइ' ।

स्वयमोऽर्थे अप्पणो नवा ॥ २०९ ॥

---

[१] वेव्वे इति भये वेव्वे इति वारणे जूरणे [खेदे] च वेव्वे इति । उल्लापयन्त्या अपि (सख्या) तव वेव्वे इति मृगाक्षि ! किं ज्ञेयम् । किं उल्लापयन्त्या उत जूरन्त्या किन्तु भीतया । उद्वाटयन्त्या (निषेधं कुर्वत्या) वेव्वे इति तया भणितं न विस्मरामः ।

[१] सूचनायाम् (२) दुःखे [३] संभाषणे [४] अपराधे [५] विस्मये [६] आनन्दे (७) आदरे [८] भये [९] खेदे [१०] विषादे [११] पश्चात्तापे ।
* अव्वो हरन्ति हृदयं तथापि न द्वेष्या भवन्ति युवतीनाम् । अव्वो किमपि रहस्यं जानन्ति धूर्ता जनाभ्यधिकाः ॥
× अव्वो नाशयन्ति धृतिं पुलकं वर्धयन्ति ददति रणरणकम् । इदानीं तस्यैव गुणास्त एव अव्वो कथं न्वेतत् ?॥

[illegible] ॥२१८॥

[illegible]

॥ ● अर्हम् ● ॥

॥ अथ तृतीयः पादः ॥

वीप्स्यात् स्यादेर्वीप्स्ये स्वरे मो वा ॥ १ ॥

[illegible] स्यादेः स्थाने मः स्यात् [illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] 'अङ्गमङ्गम्मि' [illegible] ।

अतः सेर्डोः ॥ २ ॥

[illegible] स्यादेः सेर्डो, 'वच्छो' यथा भवेत् ।

वैतत्तदः ॥ ३ ॥

[illegible] 'सो' विकल्पनात् ।
'सो णरो' 'स णरो' [illegible] ।

जस्-शसोर्लुक् ॥ ४ ॥

[illegible] ।
[illegible] 'वच्छा' [illegible] ।

अमोऽस्य ॥ ५ ॥

[illegible] 'वच्छं पेच्छ' [illegible] ।

टा-आमोर्णः ॥ ६ ॥

[illegible] ।
[illegible] ।

भिसो हि हिँ हिं ॥ ७ ॥

[illegible] ।
[illegible] ।

ङसेस् त्तो-दो-दु-हि-हिन्तो-लुकः ॥ ८ ॥

[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।

भ्यसस् त्तो दो दु हि हिन्तो सुन्तो ॥ ९ ॥

[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।

ङसः स्सः ॥ १० ॥

[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।

डे म्मि ङेः ॥ ११ ॥

[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।

[illegible] ॥ १२ ॥

[illegible]

वच्छादिन्तो च, पृथक्त्वे वच्छत्तो हस्व [१।४] सूत्रतः ।
वच्छाओ वच्छाउ [४।२।६], आमि-रूपं 'वच्छाण' सिध्यति ।
ङसिग्रहणेन सिद्धं, ' तो दो दु '-ग्रहणेन किम् ?।
अन्यस्य बाधनार्थाय भ्यसि, तस्य ग्रहो मतः ।

म्यसि वा ॥ १३ ॥

भ्यसादेशे परे दीर्घो, वाऽकारस्य विधीयते ।
यथा-' वच्छादि वच्छेहि, ' तथाऽन्यदपि बुध्यताम् ।

टाण-शस्येत् ॥ १४ ॥

टाऽऽदेशे-णे च, शसि च, भवत्येत्त्वमतो, यथा ।
[शस] वच्छे पेच्छ, [टा-ण] च वच्छेण, णेति किम् ? अ-
प्पणा यतः ।

भिस्भ्यस्सुपि ॥ १५ ॥

भिस्-भ्यस्-सुप्सु भवत्येत्त्वमतः, तद्दर्शयाम्यहम् ।
वच्छेहिन्तो च वच्छेहिं वच्छेसु चयमीरितम् । [७]

इदुतो दीर्घः ॥ १६ ॥

इकारोकारयोर्दीर्घो भिस्-भ्यस्-सुप्सु परेषु च ।
गिरीहिं च गिरीहिन्तो, गिरीसु च तरूसु च ।
तरूहि च तरूहिन्तो बुद्धीहिं, नापि कुत्रचित् ।
' दिअभूमिसु दाणजलोल्लिआइं ' तु पाठ्यम् । [८]

चतुरो वा ॥ १७ ॥

-उकारान्तस्य चतुरो भिस्-भ्यस्-सुप्सु परेषु वा ।
दीर्घो भवति, चऊओ चउओ, चऊहिं च वा ।
चउहिं, चऊसु स्याद् वा चउसु, इति बुध्यताम् ।

लुप्ते शसि ॥ १८ ॥

इदुतोः शसि लुप्ते तु दीर्घो भवति, तद्यथा ।
गिरी बुद्धी तरू धेणू पेच्छ, चैवं निदर्शनम् ।
' लुप्ते ' इति किम् ? ' गिरिणो, तरुणो पेच्छ ' यद् भवेत् ।
इदुतः किम् ? यथा-' वच्छे पेच्छ ' नास्त्यत्र दीर्घता ।
जस्-शस्-[३।१२] इत्यादिना योगः शसि दीर्घस्य यः कृतः ।
सोऽस्ति लक्ष्यानुरोधार्थो न सर्वत्र प्रवर्तते ।
[illegible]
[illegible]

अक्लीबे सौ ॥ १९ ॥

इदुतोः सौ भवेद् दीर्घः, स चाक्लीबे विधीयते ।
गिरी बुद्धी तरू धेणू, क्लीबे तु स्यात् दहिं महुं ।
विकल्प केऽपि दीर्घत्वं तद्भावे वदन्ति च ।
सेमादेशं, यथा निष्फल-अग्गिं वाउं निहिं विहुं ।

पुंसि जसो डउ डओ वा ॥२०॥

इदुतः परस्य जसोऽत्र अओ पुंसि वा स्थितौ ।
अग्गओ अग्गउ स्याताम्, 'अग्गिणो' इति पाक्षिकम् ।
'वायओ वायउ' प्राहुः 'वाउणो'-ऽप्यग्निवन्मतम् ।
शेषे स्यदन्तवद्भावाद् अग्गी वाऊ च सिध्यतः ।

वोतो डवो ॥२१॥

उदन्तात् परस्य जसः, पुंसि वा 'डवो' इदिष्यते ।
साहवो, साहओ पक्षे साहू साहउ साहुणो ।

जस्-शसोर्णो वा ॥२२॥

इदुतः परयोः पुंसि जस्-शसोर्वाऽस्तु 'णो' इति ।
गिरिणो तरुणो, पक्षे स्यातां रूपे 'गिरी तरू' । [१]

ङसि-ङसोः पुं-क्लीबे वा ॥२३॥

इदुतो वा ङसिङसोः, पुंसि क्लीबे च वाऽस्तु 'णो' ।
गिरिणो तरुणो रूपं दहिणो महुणो तथा ।
पक्षे 'गिरीओ गिरीउ गिरीहिन्तो,' ऽनया दिशा ।
अन्येषामपि रूपाणि, हि-लुकौ न भविष्यतः ।
ङसो 'गिरिस्स' इत्येकं पक्षे रूपं प्रयुज्यते ।

टो णा ॥२४॥

इदुद्भ्यां पुंसि क्लीबे च, 'टा' इत्यस्य तु 'णा' भवेत्
गिरिणा च गामणिणा, तरुणा दहिणा यथा ।

क्लीबे स्वरान्म् सेः ॥२५॥

क्लीबे स्वरान्ताद् नाम्नः सेः, स्थाने मो व्यञ्जनं भवे
दहिं महुं वणं पेम्मं, केऽपीच्छन्त्यनुनासिकम् ॥ [२]

जस्-शस् इँ-इं-णयः सप्राग्दीर्घाः ॥ २६ ॥

नाम्नः परयोर्जस्-शसोः क्लीबे इँ-इं-णयस् त्रयः ।
एषु सत्सु भवेत् पूर्वस्वराणां दीर्घता, यथा ॥
धयणाइँ पङ्कयाइं दहीइं पङ्कयाणि च ।

स्त्रियामुदोतौ वा ॥ २७ ॥

नाम्नः परयोर्जश्शसोर् उदोतौ वा स्त्रियां मतौ ।
तयोस्तु परयोः पूर्वस्वरस्येष्टा च दीर्घता ॥
यथा बुद्धीउ बुद्धीओ, सहीओ च सहीउ च ।
पक्षे बुद्धी सही चैवमन्येऽप्यूह्या विचारणात् ।

ईतः सेश्चाऽऽ वा ॥ २८ ॥

सेर्जस्-शसोश्च वाऽऽकारः, स्त्रियामीतः परस्य तु ।
यथा एसा हसन्तीआ, गोरीआ सन्ति पेच्छ वा ।
पक्षे हसन्ती गोरीओ, एवमन्यत्र बुध्यताम् ।

टा-ङस्-ङेरदादिदेद् वा तु ङसेः ॥ २९ ॥

नाम्नः परेषां स्त्रीलिङ्गे, टा-ङस्-ङीनां क्रमात् बुधैः ।
अद् आद् इद् एतश्चत्वारः, सप्राग्दीर्घाः प्रकीर्तिताः ।
केवलस्य ङसेः स्थाने, सप्राग्दीर्घा अमी तु वा ।
यथा मुद्धाअ मुद्धाइ मुद्धाए च कयं ठिअं ।
कप्रत्यये मुद्धिआअ, मुद्धिआइ च कथ्यते ।
[illegible]
[illegible]
[illegible]

नात आत् ॥ ३० ॥

स्त्रियामातः परेषां तु, ङसिटाङि-ङसां न चाऽऽत् ।
भवेद् 'मालाअ मालाइ मालाए' चेति वै त्रयम् ।

प्रत्यये ङीर्न वा ॥ ३१ ॥

अणादि [हेम०२।४] सूत्रतो यो ङीरुक्तो, वा स स्त्रि
यात् [हेम०२।४] स्यात् च भवेत् पक्षे, साहणी साहण

अजातेः पुंसः ॥ ३२ ॥

अजातिवाचिपुंल्लिङ्गात् स्त्रियां ङीर्वा विधीयते ।

---

[४] तो [५] दो [६] दु [७] भिस्-वच्छेहि, वच्छेहिँ, वच्छेहिं । भ्यस्-वच्छेहि, वच्छेहिन्तो, वच्छेसुन्तो । सुप्-वच्छेसु । [८] द्विजभूमिषु दानजलार्द्रितानि ।

[१] जस्शसोरिति द्वित्वमिदुत इत्यनेन यथासं
वार्थम् । [२] दहिँ, महुँ । स्वरादिति इदुतो निवृत्त्यर्थम्

नीली नीला, हसमाणी हसमाणा, ङ्मीप तु ।
स्याद् ङ्माप, इमीए तु, इमाए, अभिधीयते ॥
अजातेरिति किम् ? यद्वत् करिणी पसया अया ॥
अप्राप्ते तु विभाषेयं, तेन संस्कृतवत् सदा ॥
गोरी 'कुमारी' इत्यादौ, बुधैर्ङीः प्रविधीयते ॥

किं यत्तदोऽस्यमामि ॥ ३३ ॥

कि-यद्-तद्भ्यः स्त्रियां ङीर्वा, न सौ आमि तथाऽमि च ॥
कीओ काओ कीसु कासु, कीए काए यथा किमः ॥
तथैव जीओ जाओ च, तीओ ताओ ऽस्ति यत्तदोः ॥
किमऽस्यमामि ? का जा सा कं जं तं, काण जाण च ॥

छाया-हरिद्रयोः ॥ ३४ ॥

छायाहरिद्रयोराप:, प्रसङ्गे ङीर्विकल्प्यते ।
छाही छाया हलद्दी तु हलद्दा तेन भण्यते ॥

स्वस्रादेर्डा ॥ ३५ ॥

डाप्रत्ययः स्त्रियां स्वस्रादिभ्यः स्यात् तद्यथा ससा ॥
दुहिआ दुहिआहि च, णणन्दा गउआ तथा ॥

ह्रस्वोऽमि ॥ ३६ ॥

स्त्रियां नाम्नोऽमि ह्रस्वः स्यात्, ' पेच्छ मालं मई वहुं ' ।

नामन्त्र्यात् सौ मः ॥ ३७ ॥

आमन्त्र्यार्थात् परे सौ तु, नैव 'क्लीबे स्वरान्मसेः' [३।२५] ।
इति सूत्रेण मो, हे तण ! हे दहि ! हे महु ! ।

डो दीर्घो वा ॥ ३८ ॥

आमन्त्र्यार्थात् परे सौ तु ' अतः सेर्डोः' [३।२] इत्यं विधिः ।
' अक्लीबे सौ ' [३।१९] इति दीर्घः, द्वयं चैतद् विकल्प्यते ।
यथा-हे देव ! हे देवो ! हे हरी ! हे हरि ! द्वयम् ।
हे गुरू ! हे गुरु ! च, ' हे पहू हे पहु ' इत्यपि ।
[illegible]
हे गोअमा ! हे गोअम ! हे हे कासवा ! कासव !

ऋतोऽद् वा ॥ ३९ ॥

[illegible]
हे पित ! हे पिअ [illegible], पक्षे हे पिअर [illegible] ।

नाम्न्यरं वा ॥ ४० ॥

[illegible]
[illegible] हे पिअ ! हे पिअरं !, पक्षे ' हे पिअ ' इत्यपि ।
[illegible] ! हे [illegible] ! हे [illegible] ! इति स्मृतम् ।

वाऽऽप ए ॥ ४१ ॥

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

ईदूतोर्ह्रस्वः ॥ ४२ ॥

[illegible]
[illegible]

क्विपः ॥ ४३ ॥

[illegible]
[illegible]

ऋतामुदस्यमौसु वा ॥ ४४ ॥

सि-अम्-औ-वर्जिते स्यादौ ऋदन्तानाम् उद् अस्तु वा ।
जसि ' भत्तू भत्तुणो च भत्तओ भत्तउ ' स्मृतम् ।
भत्तारा पाक्षिकं रूपं, शसि भत्तू च भत्तुणो ।
भत्तारे चेति, टायां तु भत्तारेण च भत्तुणा ।
भिसि भत्तूहि भत्तारेहिं रूपं, ङसि भत्तुणो ।
भत्तूहिंतो च भत्तूहि भत्तूओ भत्तूउ स्मृतम्, ।
भत्ताराहि च भत्ताराहिन्तो पाक्षिकरूपतः ।
भत्ताराओ च भत्तारा भत्ताराउ प्रयुज्यते ।
भत्तुस्स भत्तुणो ङसि भत्तारस्सेति पाक्षिकम् ।
सुपि भत्तूसु पक्षे तु, भत्तारेसु निगद्यते ।
व्याप्त्यर्थत्वाद् बहुलस्य नाम्न्यपि क्वाप्युदस्तु वा ।
जस्-शस्-ङस्-ङसां जामाउणो च पिउणो पुनः ।
टायां तु पिउणा रूपं, भिसि रूपं पिऊहिँ च ।
पिऊसु सुपि पक्षे तु पिअरा रूपमिष्यते ।
अस्यमौस्विति किं प्रोक्तं?(जस्)पिअरा(अम्)पिअरं(सि)पि

आरः स्यादौ ॥ ४५ ॥

ऋतः स्थाने भवेद् आराऽऽदेशः स्यादौ परे, यथा- ।
भत्तारो, चैव भत्तारा, भत्तारं, परिपठ्यते ।
भत्तारे च भत्तारेहिं, भत्तारेण ङनेस्तथा ।
लुप्तस्याद्यपेक्षया तु ' भत्तार-विहिअं ' मतम् ।

आ अरा मातुः ॥ ४६ ॥

मातृसम्बन्धिन ऋतः, स्यादौ तु आ अरा, मतौ ।
माआउ माअरा माआ, माआओ माअराउ च ।
माअराओ च माअं माअरं इत्यादि साध्यताम् ।
जनन्यर्थस्य आ-ऽऽदेशो देवतार्थस्य स्यादरा ।
यथा-माआए कुच्छीए, नमो मे माअराण च ।
' मातुरिद् वा ' [१।१३५] इत्यनेन, रूप 'माईण' सिध्यति ।
ऋतामुद-[३।४४] इत्येव तु 'माऊए समं वन्दे ममन्निअ' ।
स्यादौ किं तु ? माइदेवो, तथा माइगणो इति ।

नाम्न्यरः ॥ ४७ ॥

ऋदन्तस्याऽर इत्यादेशः स्यादौ हि नामनि । [१]
पिअरा पिअरं पिअरे, पिअरेण पिअरेहिमिष्यते रूपम् ।
' जामायरा, भायरा, ' रूपं पितृतुल्यमनयोः स्यात् ।

आ सौ न वा ॥ ४८ ॥

ऋदन्तस्येह वाऽऽकारः, सौ परे तु विधीयते ।
पिआ भाया च जामाया, कत्ता, पक्षे भवेद् ' अरः ' ।
पिअरो भायरो कत्तारो च जामायरो तथा ।

राज्ञः ॥ ४९ ॥

राज्ञो न-लोपेऽन्त्यस्याऽऽत्वं, वा भवेत् सौ परे यथा ।
राया तथा च हे राया ! ' रायाणो' इति पाक्षिकम् ।
शौरसेन्यां तु हे राय ! हे रायमिति लभ्यते ।
एवं हे अप्प ! हे अप्पं ! इत्यादीनि विदुर्बुधाः ।

जस्-शस्-ङसि-ङसां णो ॥ ५० ॥

राजशब्दात् परेषां वा, जस्-शस्-ङसि-ङसां हि ' णो ' ।
रायाणो जस्-शसोः, राया आणि, रायं च वा आणि ॥

---

[१] महाराष्ट्र ।

ङसौ रण्णो राइणो च, पक्षे नाथाभिशब्यताम् ।
रायाहिन्तो च रायाहि, राया रायाउ इत्यपि ॥
रायाओ (ङसि) राइणो रण्णो, पक्षे रायस्स पठ्यते ।

टो णा ॥ ५१ ॥

राजन्शब्दात् विकल्पेन, टा-स्थाने 'णा' विधीयते ।
रण्णा च राइणा, पक्षे, रायेणेत्यपि सिद्ध्यति ॥

इर्जस्य णो-णा-ङौ ॥ ५२ ॥

राजन्-शब्दस्य जस्यत्वं वा णो-णा-ङिषु कथ्यते ।
राइणो पेच्छ चिट्ठन्ति आगओ वा धणं यथा ॥
राइणा चैव, राइम्मि, पक्षे रूपं निशम्यताम् ।
रण्णो रायम्मि रायाणो, रायेण राइणा तथा ॥

इणममामा ॥ ५३ ॥

राजन्-शब्दस्य जस्येणम्, अमामभ्यां सह पठ्यते ।
राइणं वा धणं पेच्छ, रायं राईण पासिकम् ॥

ईद्भिस्भ्यसाम्सुपि ॥ ५४ ॥

राजन्-शब्दस्य जस्येत्वं भिस्-भ्यसाम्-सुप्सु पठ्यते ।
राईहिन्तो च राईहि राईसुन्तो भवेद् भ्यसि ॥
भिसि राईहि, राईण आमि, राईसु सुप्यदः ।
पक्षे 'रायाणेहि' इत्या-दीनि रूपाणि चक्षते ॥

आजस्य टा-ङसि-ङस्सु सणाणोष्वण् ॥ ५५ ॥

राजन्-शब्दस्य योऽस्त्याजोऽवयवस्तस्य अदेशः ।
णा-णो-आदेशरूपेषु, टा-ङसि-ङस्सु वा मतः ॥
टायां रण्णा राइणा, ङस्-ङस्यो रण्णो च राइणो ।
सणाणोष्विति किम् ? रायाओ रायस्स च रायेण ॥

पुंस्यन आणो राजवच्च ॥ ५६ ॥

अन्नन्तस्य भवेद् 'आण' इति पुंसि विकल्पनात् ।
पक्षे तु राजवत् कार्यं, यथादर्शनमिष्यते ॥
आणादेशे अतः सेर्डोः [३ । २] प्रथमादि प्रवर्तते ।
पक्षे तु राज्ञः 'जस्'-[३ । ५०] 'टोणा,' [३ । ५१]
'इणम्' [३ । ५३] एतद् विधित्रयम् ॥
अप्पाणो अप्पाणा, अप्पाणं अप्पाणे ।
अप्पाणाओ अप्पाणासुन्तो पञ्चम्याम् ॥
अप्पाणेण अप्पाणेहि, टायां भिसि यथाक्रमम् ।
अप्पाणस्सऽऽप्पाणाण, ङसि चाऽऽमि क्रमेण हि ॥
अप्पाणम्मि तथा अप्पा-णेसु ङौ सुपि चोच्यते ।
अप्पाण-रूपं, पक्षे तु, राजवत् कार्यमीदृशम् ।
अप्पा अप्पो च, हे अप्पा ! हे अप्प ! प्रथमीदृशम् ।
अप्पाणो जसि, अप्पाणं शसि, टायां तु अप्पणा ।
अप्पेहि भिसि, अप्पाओ अप्पाओऽप्पाउ वै पुनः ।
अप्पाहि अप्पाहिन्तो अप्पा अप्पासुन्तो स्याद् ङसि ।
अप्पणो धनम्, अप्पाण, अप्पे अप्पेसु कीर्तितम् ।
रायाणो चैव रायाणा 'एव सर्वं विभाव्यताम् ।
पक्षे तु राया इत्यादि, जुवाणो च जुवा तथा ।
बम्हाणो पाहिओ बम्हा, अद्धाणोऽद्धाऽपि पठ्यते ।
उच्छाणो वा भवेद्-उच्छा, गावा गावाणो वा भवेत् ।
तथैव पूसा पूसाणो, तक्खा तक्खाणो इत्यपि ।
मुद्धाणो वा च मुद्धा स्यात्, 'सासो सा' इवा प्रवर्तितः ।
सुकम्माणे पेच्छ, शर्मं सम्मं, इतीदृश मिष्यते ।

आत्मनष्टो णिआ णइआ ॥ ५७ ॥

आत्मशब्दाद् हि टा-स्थाने वा 'णिआ' 'णइआ' मतौ ।
अप्पाणिआऽप्पणइआ, पक्षेऽप्पाणेण' कथ्यते ।

अतः सर्वादेर्डेर्जसः ॥ ५८ ॥

अवेददन्तात् सर्वादेर्जसः स्थाने डिदेदिह ।
सव्वे अन्ने च जे ते के कयरे इयरे तथा ।

ङेः स्सि-म्मि-त्थाः ॥ ५९ ॥

सर्वादीनामतो ङेः स्युः स्सि-म्मि-त्थास्तु यथाक्रमम् ।
सव्वस्स सव्वस्सि सव्वम्मि, अतः किम् ? अमुम्मि तु ।

न वानिदमेतदो हिं ॥ ६० ॥

इदमेतदौ विना सर्वादेरदन्तात् परस्य ङेः ।
हिमादेशो विकल्पेन, सर्वादिष्वपि कथ्यते ।
सव्वहि अन्नहि, कियत्तद्भ्यः स्याद् हिं स्त्रियामपि ।
काहि जाहि च ताहि च, कियत्तद्भ्यो न डा [३।३३] स्त्र ।
एतद् द्वयं बाहुलकं कार्यं, पक्षे निशम्यताम् ।
सव्वस्स सव्वस्सि सव्वम्मि केवं कुलगतं परम् ।
स्त्रियां तु पक्षे काए च, कीए चैव विभाव्यताम् ।
इदमेतदोरिमस्सि, एअस्सि रूपमिष्यते ।

आमो डेसिं ॥ ६१ ॥

अदन्तात् सर्वनाम्नः स्यात्, आमो 'डेसिं' विभाषया ।
सव्वेसिं अन्नेसिं च, जेसिं तेसिं केसिं च ।
पक्षेऽनरात् सव्वाण जाण ताण काण च ।
स्त्रियां बाहुलकात्-सव्वासिं सव्वेसिं प्रयुज्यते ।

किंतद्भ्यां डासः ॥ ६२ ॥

किंतद्भ्यां तु परस्यामः, स्थाने डासो विकल्पते ।
तास कास प्रयोग, पक्षे-तेसिं केसिं प्रयुज्यते ।

किंयत्तद्भ्यो ङसः ॥ ६३ ॥

कियत्तद्भ्यो ङसः स्थाने, डासादेशो विकल्प्यते ।
ङसः स्स (३।१०) स्यादपवादोऽयं, पक्षे सोऽपि प्रवर्तते ।
कास कस्स जास जस्स, तास तस्स प्रयुज्यते ।
बाहुल्यात्स्यां च किन्तद्भ्या-मपि डासो विभाषया ।
कस्या. तस्याः कास तास, काए तए च पक्षिके ।

ईद्भ्यः स्सा से ॥ ६४ ॥

ईदन्तेभ्यः किमादिभ्यो, ङसः 'स्सा' 'से' विकल्पितौ ।
टाङस्-[३।२९] इत्यादिसूत्रस्यापवादोऽयं विकल्पितः ।
तेन पक्षेऽदादयोऽपि प्रवर्तन्ते, निदर्शनम् ।
'किस्सा कीसे कीअ कीआ, कीए कीइ' भवन्ति यद् ।
जिस्सा जीसे जीअ जीआ, जीए जीइ भवेत् ततः ।
'तिस्सा तीसे तीअ तीआ, तीए तीइ' इमे मताः ।

ङेर्डाहे डाला इआ काले ॥ ६५ ॥

कियत्तद्भ्यस्तु ङेः स्थाने, 'डाहे डाला इआ' भवेत् ।
हिंस्सिम्मित्थाश्च पक्षेऽन्य, काहे काले कइआ च ।
जाहे जाला जइआ, ताहे ताला तइआ ।
ताहे ताला तइआ, पक्षे ते कालं तथा ० ।
'कहिं कस्सिं कम्मि कत्थ' इत्यादयोऽपि भवन्ति च ।

ङसेर्म्हा ॥ ६६ ॥

---

० एतदा ङ्यन्तेन युगपत्, कालेन वर्तमानत्वे इत्यर्थः ।

[illegible] वा विधीयते ।
[illegible] तु पाक्षिकम् ।

[illegible] ॥ ६७ ॥

[illegible]

किमो डिणो-डीसौ ॥ ६८ ॥

[illegible]

इदमेतत्-कि-यत्-तद्भ्यष्टो डिणा ॥ ६९ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ ७० ॥

[illegible]

वेदं-तदेतदो ङसाम्भ्यां से-सिमौ ॥ ८१ ॥

इदम् तद् एतद् इत्येषां, वाऽऽम्ङस्भ्यां सह से-सिमौ ।
इदस्य तस्य च एतस्य शीलं-'से सील-मुच्यते ।
एषां तेषां तथैतेषां शीलं-'सिं सील-मिष्यते ।
पक्षे 'इमस्स चेमेसिं इमाण, तस्स ताण च ।
तेसिं, एअस्स एएसि एआण ' इति बुध्यताम् ।
कश्चिदामाऽपि से आदेशो यदीच्छन्त्यपीह ॥
से-सिमौ त्रिषु लिङ्गेषु, तुल्यं रूपमवाप्नुतः ।

वैतदो ङसेस्तो त्ताहे ॥ ८२ ॥

एतदः परस्य ङसेस् ' त्तो, त्ताहे ' स्तो विकल्पनात् ।
एत्तो एत्ताहे, पक्षे तु, एअ रूपाणि, तद्यथा— ।
एआहिन्तो च एआदि, एआ एआउ एआओ ॥

त्थे च तस्य लुक् ॥ ८३ ॥

एतदः त्थे परे ' त्तो त्ताहे-' ऽनयोः परयोरपि ।
तकारस्य लुग्, ' एत्ताहे, एत्थ एत्तो ' इति क्रमम् ॥

एरदीतौ म्मौ वा ॥ ८४ ॥

एतद् आदिमवर्णस्य, इत्यादेशो म्मौ भवेच्च वा ।
यथा-अयम्मि ईयम्मि, पक्षे एअम्मि भण्यते ॥

वैसेणमिणमो सिना ॥ ८५ ॥

सिना सहैतदः वा स्युः, एसेणमिणमो क्रमात् ।
[illegible] पक्षे एसा एसो च पाक्षिकाः ॥

तदश्च तः सोऽक्लीबे ॥ ८६ ॥

[illegible] पर यथा— ।
[illegible] ॥

वादसो दस्य होऽनोदाम् ॥ ८७ ॥

[illegible] [३ । ३] [illegible] [४ । ४४८]
[illegible] [३ । ४] [illegible] [३ । २४] [illegible] ।
अह पुरिसो अह महिला, अह वाहो अह णाण [illegible] ॥
[illegible] [३ । ८१] [illegible] ।

मुः स्यादौ ॥ ८८ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।

[illegible] ॥ ८९ ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible] तं तुं तुवं तुह तुमं सिना ॥ ९० ॥

[illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible] ॥ ९१ ॥

[illegible] ।
[illegible]

तं तुं तुमं तुवं तुह तुमे तुए अमा ॥ ९२ ॥
तुए तुमे तुमं तं तुं, तुवं तुह अमा सह ।

वो तुज्झ तुब्भे तुय्हे उय्हे भे शसा ॥ ९३ ॥
वो तुज्झ तुब्भे तुय्हे भे, उय्हे षट्कं शसा सह ।
'ब्भो म्हज्झौ वेति' [३।१०४] वचनात्, तुम्हे तुज्झे ततोऽष्टकम् ।

भे दि दे ते तइ तए तुमं तुमइ तुमए तुमे तुमाइ टा ॥९४॥
भे दि दे ते तइ तए, तुमाइ तुमए तुमं ।
तुमे तुमइ सार्धं तु, टया रुद्रमित [११] पदम् ।

भे तुब्भेहिं उज्झेहिं उम्हेहिं तुय्हेहिं उय्हेहिं भिसा ॥९५॥
तुय्हेहिं उय्हेहिं, तुब्भेहिं उज्झेहिं उम्हेहिं ।
भे-'ब्भो म्ह-ज्झौ' [३।१०४] सूत्रात्, तुम्हे तुज्झे ततोऽष्टौ स्युः ।

तइ-तुव-तुम-तुह-तुब्भा ङसौ ॥ ९६ ॥
तइ-तुव-तुम-तुह-तुब्भा ङसौ युष्मदो भवन्त्यमी नित्यम् ।
त्तो दो दु हि हिन्तो लुक् ङसेर्यथाप्राप्तमेव स्यात् ।
स्यात् तइत्तो तुवत्तो च, तुमत्तो च तुहत्तो च ।
तुब्भत्तो, ऽत्र तु तुम्हत्तो तुज्झत्तो, पूर्ववत् [३।१०४] पुनः ।
एवं दो-दु-हि-हिन्तो-लुक्ष्वप्युदाहियतां पुनः ।
स्वसः इत्यस्य तत्तोऽरो रूपमस्ति यलोपनात् ।

तुय्ह तुब्भ तहिन्तो ङसिना ॥ ९७ ॥
तुय्ह तुब्भ तहिन्तो च, त्रयः स्युर्ङसिना सह ।
तुम्ह तुज्झ च वैकल्प्याद्, रूपपञ्चकमिष्यते ।

तुब्भ-तुय्होय्होम्हा भ्यसि ॥ ९८ ॥
तुब्भ, तुय्ह, उय्ह, उम्ह इत्यमी युष्मदो भ्यसि ।
भ्यसः स्थाने यथाप्राप्तमादेशाः [३।६] पूर्वदर्शिताः ।
तुब्भत्तो तुय्हत्तो उय्हत्तो उम्हत्तो ।
तुम्हत्तो तुज्झत्तो वैकल्प्यात् परूरूपौ ।
तो आदेशे यथा चैवं परूरूपौ दर्शिता मया ।
एवं दो-दु-हि-हिन्तो-सुन्तोपूदाह्रियतां त्वया ।

तइ-तु-ते-तुम्हं-तुह-तुहं-तुव-तुम-तुमे-तुमो-तुमाइ-दि-
दे-इ-ए-तुब्भोब्भोय्हा ङसा ॥ ९९ ॥
ते तु तुहं तुम्ह, तुमो तुम तुमे तुह ।
इ तुव दे ए इ तुब्भोब्भोय्हादि, वा ङसा ।
विकल्पनात् [३।१०४] तुम्ह तुज्झ उम्ह उज्झ चतुष्टयम् ।
एवं द्वाविंशती रूपाणीह भवन्ति कोविदाः ।

तु वो भे तुब्भ तुब्भं तुब्भाण तुवाण तुमाण तुहाण
उम्हाण आमा ॥ १०० ॥
तुब्भं, तुवाण, उम्हाण, तुमाण, तु, तुहाण भे ।
तुब्भ, तुब्भाण, वो, आमा सह स्युर्युष्मदो दश ।
क्त्वा स्यादे-[१।२७] रित्यनुस्वारं, सानुस्वारं णपञ्चकम् ।
यथा-तुवाणं तुब्भाणं तुमाणं च तुहाणं च ।
उम्हाणं चेति यथान्ते पञ्च रूपाणि णस्य च ।
'ब्भो म्ह-ज्झौ वेति' [३।१०४] वचनात्, पुनरष्टौ भवन्ति च ।
तुज्झ तुज्झाण तुम्हाण, तुज्झाणं तुम्ह तुज्झ च ।
तुम्हाणं तुम्हमित्येवं, त्रयोविंशतिरामि तु ।

तुमे तुमए तुमाइ तइ तए ङिना ॥ १०१ ॥
तुमे, तुमाइ, तुमए, तए, तइ, ङिना सह ।
८

तु-तुव-तुम-तुह-तुब्भा
ङौ युष्मदस् ' तु तुव तुम, तुह तु
ङेस्तु यथाप्राप्तं स्यादादेशो दर्शितः
तुम्मि तुवम्मि तुमम्मि च, तुहम्मि तुब्भम्मि
तुम्हम्मि च तुज्झम्मि च, रूपाण्यन्यानि

सुपि ॥ १०३
सुपि युष्मदस् तु-तुव-तुम-तुह-तुब्भा
तुसु च तुवेसु तुमेसु च, तुहेसु तुब्भेसु
ब्भस्य [३।१०४] विकल्पाद् रूपद्वयं च तु
सुप्येत्यस्य विकल्पं, केचित् कथयन्ति,
तुब्भसु तुम्हसु तुज्झसु, तुवसु तुमसु तुह
ब्भस्याऽऽत्वमपि परः तु-ब्भासु च तुम्हा

ब्भो म्ह-ज्झौ वा ॥ १०४
युष्मदादेशरूपेषु, यो द्विरुक्तोऽभ उच्यते ।
तस्याऽऽदेशौ तु वा ' म्ह-ज्झौ, ' स्याताम्,

अस्मदो म्मि अम्मि अम्हि हं अहं अहयं
अम्मि अम्हि म्मि अहयं, अहं हं च सिना स
अस्मदः षट् तु रूपाणि, सौ भवन्तीति बुध्यताम्

अम्ह अम्हे अम्हो मो वयं भे जसा ॥ १
अम्हे अम्हो अम्ह मो भे वयं, षट् स्युर्जसा सह ।

णे णं मि अम्मि अम्ह मम्ह मं ममं मिमं अहं अ
अम्मि अम्ह मिमं णे णं मि मं मम्ह ममं अहं ।
अमा सह दशाऽऽदेशाः संभवन्त्यस्मदोऽत्र तु ।

अम्हे अम्हो अम्ह णे शसा ॥ १०८ ॥
अम्हे अम्हो अम्ह णे च, चत्वारि स्युः शसा सह ।

मि मे ममं ममए ममाइ मइ मए मयाइ णे टा ॥ १०९
मि मे ममं णे मयाइ, ममाइ ममए मए ।
मइ, चेति नवादेशाः, सार्धं टा-प्रत्ययेन हि ।

अम्हेहि अम्हाहि अम्ह अम्हे णे भिसा ॥ ११० ॥
अम्हाहि अम्ह अम्हे णे, अम्हेहि स्युर्भिसा सह ।

मइ-मम-मह-मज्झा ङसौ ॥ १११ ॥
ङसौ परे 'मइ-मम-मह-मज्झा,' स्युरस्मदः ।
ङसेर्यथाप्राप्तमेवाऽऽदेशा' स्युः पूर्वदर्शिताः ।
यथा मइत्तो मज्झत्तो, ममत्तो च महत्तो च ।
एवं दो-दु-हि-हिन्तो-लुक्ष्वप्युदाह्रियतां पुनः ।

ममाम्हौ भ्यसि ॥ ११२ ॥
भ्यसि स्यातां ममाम्हौ द्वौ, यथाप्राप्तं भ्यसोऽपि च ।
अम्हाहिन्तो ममाहिन्तो, अम्हासुन्तो ममत्तो च ।
ममेसुन्तो ममासुन्तो अम्हेसुन्तो च अम्हत्तो ।

मे मइ मम मह महं मज्झ मज्झं अम्ह अम्हं ङसा ॥११३॥
अम्हाम्हं मे मइ मम, मज्झ मज्झं महं मह ।
ङसा सह नवादेशाः, संभवन्त्यस्मदोऽत्र तु ।

णे णो मज्झ अम्ह अम्हं अम्हे अम्हो अम्हाण ममाण-

महाण मज्झाण आमा ॥ ११४ ॥

अम्हे महाण मज्झाण अम्हं महाण ममाण णे ।
णो अम्हं अम्ह मज्झ स्युर् आमा सार्धं च पञ्च षट् [११] ।
'क्त्वा स्यादेर्णस्वो' [१।२७] वा णस्य सानुस्वारं अनुस्वारम् ।
यथा महाणं मज्झाणं अम्हाणं च ममाणं च ।

मि मइ ममाइ मए मे ङिना ॥ ११५ ॥

मए ममाइ मइ मे, मि, स्युः पञ्च ङिना सह ।

अम्ह-मम-मह-मज्झा ङौ ॥ ११६ ॥

अम्ह-मज्झौ मम-महौ, ङौ स्युरेतेऽस्मदः परे ।
ङेः स्थाने तु यथाप्राप्तमादेशाः पूर्वदर्शिताः ।
यथा ममम्मि मज्झम्मि, तथाऽम्हम्मि महम्मि च ।

सुपि ॥ ११७ ॥

चत्वारोऽम्हादयोऽप्येते, भवन्ति सुपि तद्यथा ।
यथा ममेसु मज्झेसु, अम्हेसु च महेसु च ।
सुप्येत्वं केऽपि नेच्छन्ति, तन्मतेऽम्हसु मज्झसु ।
ममसु स्यात् महसु च, ततो रूपचतुष्टयी ।
केचिद् अम्हस्यात्वमपि, वाञ्छन्त्यम्हासु तन्मते ।

त्रेस्ती तृतीयादौ ॥ ११८ ॥

त्रेः स्थाने ती तृतीयादौ, प्रत्यये परतो भवेत् ।
तीहन्तो तीसु तिण्हं च, तीहिं चेति प्रकीर्तितम् ।

द्वेर्दो वे ॥ ११९ ॥

द्विशब्दस्य तृतीयादौ 'दो' 'वे' स्तः, दोहिं वेहिं च ।
दोण्हं वेण्हं च दोहिन्तो, वेहिन्तो दोसु वेसु च ॥

दुवे दोण्णि वेण्णि च जस्-शसा ॥ १२० ॥

जस्-शसभ्यां सहितस्य द्वेः, स्थाने स्युः, दोण्णि, वेण्णि, च ।
दुवे, दो, वे, 'दुण्णि विण्णि' संयोगे [१।८४] ह्रस्वदर्शनात् ॥

त्रेस्तिण्णिः ॥ १२१ ॥

जस्-शसभ्यां सहितस्य त्रेः, स्थाने तिण्णि प्रयुज्यते ।

चतुरश्चत्तारो चउरो चत्तारि ॥ १२२ ॥

चतुर् इत्यस्य जस्-शसभ्यां, सहाऽऽदेशास्त्रयो मताः ।
यथा चत्तारि चत्तारो, चउरो आसि पेच्छ वा ॥

संख्याया आमो ण्ह ण्हं ॥ १२३ ॥

संख्याशब्दात् परस्याऽऽमो, 'ण्ह ण्हं' एतद् द्वयं भवेत् ।
दोण्ह पञ्चण्ह सत्तण्ह, तिण्ह छण्ह चउण्ह च ॥
दोण्हं तिण्हं चउण्हं पञ्चण्हं छण्हं च सत्तण्हं ।
प्रवादाद् बहुलस्यैतौ, विंशत्यादेर्न व्याप्नुतः ॥

शेषेऽदन्तवत् ॥ १२४ ॥

इहोपयुक्तादन्यो यः, स शेष इति कथ्यते ।
तत्र स्यादिविधिः सर्वोऽदन्तवत् सोऽतिदिश्यते ॥
येष्वादन्तादिशब्देषु, पूर्वं कार्यं न दर्शितम् ।
तेष्वदन्ताधिकारोक्तो, सुगादि [३ । ४] विधिरिष्यते ॥
तत्र तावत् 'जस्-शसोर्लुक्' [३ । ४] विधिरेषोऽतिदिश्यते ।
' माला गिरी गुरू रेहन्ति वा पेच्छ ' यथोच्यते ॥
' अमोऽस्य ' [३।५] इति कार्यस्यातिदेशो दर्श्यतेऽधुना ।
गिरिं गुरुं सहिं पेच्छ, गामणिं खलपुं वहुं ॥
' टा-ऽऽमोर्णः ' [३ । ६] इति कार्यस्यातिदेशो दर्श्यतेऽधुना ।
कयं हाहाण, मालाण गिरीण धणमीदृशम् ॥
टायास्तु टो णा [३।२४] टाङस्ङेः [३।२९] इत्ययं दर्शितो विधिः ।
'भिसो हि हिँ हिं' [३ । ७] इत्येतत् कार्यं ... दृश्यते ।
यथा गिरीहि तरूहिँ गुरूहिं च महीहिँ च ।
निदर्शनं ... ॥
' ङसेस् त्तो-दो-दु ' -[३ । ८] सूत्रस्य ... ।
मालाहिन्तो च मालाओ गुरूओ, ... [३ । १२४] ।
' भ्यसस् त्तो दो दु ' [३ । ९] सूत्रस्यातिदेशोऽपि दर्श्यते ।
मालाहिन्तो तथा मालासुन्तो, किन्तु ... [३ । १२७] ।
' ङसः स्सः ' [३।१०] इति सूत्रस्यातिदेशो न दर्श्यतेऽधुना ।
गिरिस्सेति गुरुस्सेति दहिस्सेति महुस्स च ॥
' डे-म्मि ङेः ' [३ । ११] इति सूत्रे तु ... ।
' जस्-शस्-ङसि-त्तो-दो-द्वामि दीर्घः ' [३ । १२] इति सूत्रस्यातिदेशो दर्श्यतेऽधुना ।
यथा ' गिरिम्मि ' इत्यादि, ङेडेर्निषेधः निषेधने [३ । १२८] ।
'जस्-शस्-ङसि-त्तो' [३ । १२] सूत्रस्यातिदेशो दर्श्यतेऽधुना ।
गिरी गुरू गिरीओ च, गुरूओ च गुरुत्तो च ।
'भ्यसि वा' [३ । १३] इति सूत्रस्यातिदेशो ... ।
'इदुतो दीर्घः'-[३ । १६] सूत्रेण नित्यं दीर्घस्य ... ।
टाण-शस्येत् [३।१४] च 'भिस्-भ्यस्' [३।१५]
इत्यतिदेशो निषेधने [३ । १२८] ॥

न दीर्घो णो ॥ १२५ ॥

इदुतोऽन्त्ययोर्जस्-शस्-ङस्यादेशे णे परे नहि [३ । २२] ।
न दीर्घः पूर्ववर्णस्य, अग्गिणो वाउणो यथा ।

ङसेर्लुक् ॥ १२६ ॥

आकारान्तादिशब्देभ्यो, लुक् नैवादन्तवद् ङसेः ।
मालाहिन्तो च अग्गीओ, वाउओ-ऽग्गि निदर्शनम् ॥

भ्यसश्च हिः ॥ १२७ ॥

हिर्नाऽऽदन्तादिशब्देभ्योऽदन्तवत् स्याद् भ्यसो ङसेः ।
मालाहिन्तो च मालाओ, अग्गीहिन्तो निदर्शनम् ॥

ङेर्डेः ॥ १२८ ॥

' डे ' नाऽऽदन्तादिशब्देभ्योऽदन्तवत् ङेर्भवेदिह ।
यथा-अग्गिम्मि वाउम्मि, दहिम्मि च महुम्मि च ॥

एत् ॥ १२९ ॥

टा-शस्-भिस्-भ्यस्-सुप्सु नैत्वम्, आदन्तादेरदन्तवत् ।
कयं हाहाण, मालाओ पेच्छ, मालाहि वा कयं ।
मालाहिन्तो तथा मालासुन्तो मालासु अग्गिणो ।
वाउणो चेदृशं लक्ष्यं, विविधं प्रतिबुध्यताम् ।

द्विवचनस्य बहुवचनम् ॥ १३० ॥

सर्वासां हि विभक्तीनां, स्यादि-त्यादिप्रवर्तिनाम् ।
स्थाने द्विवचनस्येह, बहुत्वं संप्रयुज्यते ॥

चतुर्थ्याः षष्ठी ॥ १३१ ॥

स्थाने चतुर्थ्याः षष्ठी स्यात्, ' नमो देवस्स ' ईदृशम् ।

तादर्थ्यङेर्वा ॥ १३२ ॥

तादर्थ्यङेस् चतुर्थ्येकवचनस्य विभाषया ।
षष्ठी, देवस्स देवाय, 'देवार्थं ' तस्य बुध्यताम् ॥

वधाड्डाइश्च वा ॥ १३३ ॥

वधशब्दात् तु तादर्थ्यङेः षष्ठी डाइ चाऽस्तु वा ।
वहाइ वहस्स वहाय वधार्थं त्रयं मतम् ।

क्वचिद् द्वितीयादेः ॥ १३४ ॥

द्वितीयादिविभक्तीनां स्थाने षष्ठी क्वचिद् भवेत् ।

सोमाधरस्स यन्दे,तिस्सा भरिमो मुद्दस्स,भरहो अ (द्विती०षष्ठी)
लद्धो धणस्स, मुक्का चिरस्स (तृती०षष्ठी) चोरस्स बीहइ सा।
इमराइँ जाण सहुअक्खराइँ पायन्तिमिल्लसहिआण।(पञ्च०षष्ठी)
'पिट्ठीएँ केस-भारो' (सप्त० षष्ठी) विचिन्तनीयं बुधैरेवम्।

द्वितीया-तृतीययोः सप्तमी ॥ १३५ ॥

द्वितीयायास्तृतीयायाः स्थाने स्यात् सप्तमी क्वचित्।
गामे वसामि,नयरे न जामि (द्वि० स०) मइ वेविरीएँ मलिआइं।
तेसु तिसु अलंकिआ अ पुहवी अहा आइ। (तृती० सप्त०)

पञ्चम्यास्तृतीया च ॥ १३६ ॥

यातां तृतीया-सप्तम्यौ पञ्चम्याः कुत्रचित् यथा।
चोराद् बिभेति 'चोरेण बीहइ' प्रतिपाद्यते।
'अन्तेउरे महाराओ आगओ रमिउं' यथा।

सप्तम्या द्वितीया ॥ १३७ ॥

क्वचिद् द्वितीया सप्तम्याः स्थाने सद्भिः प्रयुज्यते।
भवेदार्षे तृतीयाऽपि, द्वितीया प्रथमास्थले।
'विज्जुज्जोयं रत्तिं भरइ,' तृतीया तु-तेण कालेणं।
तेणं समपणं वा, चउवीसं जिणवरा वि' यथा।

क्यङोर्यलुक् ॥ १३८ ॥

क्यङन्तस्य क्यङ्ष्न्तस्य, यस्य वा लुक् भवेदिह।
गरुआइ च गरुआअइ, अगुरुर्गुरुर्भवति, गुरुरिवाचरति।
दमदमाइ दमदमाअइ, लोहिआइ लोहिआअइ च।

त्यादीनामाद्यत्रयस्याद्यस्येचेचौ ॥ १३९ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यदस्ति प्रथमं त्रिकम्।
इचेचौ स्तः, तदाद्यस्य पदयोरुभयोरपि।
यथा-हसइ हसए, तथा वेवइ वेवए।
'इचेचः' [४।३१८] इति सूत्रस्य चकारावुपकारकौ।

द्वितीयस्य सि से ॥ १४० ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां यद् द्वितीयं त्रिकं भवेत्।
सि, से, च स्तः, तदाद्यस्य पदयोरुभयोरपि।
यथा-हससि हससे, तथा वेवसि वेवसे।

तृतीयस्य मिः ॥ १४१ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां यत् तृतीयं त्रिकं भवेत्।
मिरादेशस्तदाद्यस्य पदयोरुभयोरपि।
यथा-हसामि वेवामि, भवेद् बाहुलकादिह।
मेरिकारलोपो, न मरं न म्रिये तथा।
जाणय कुसिनं 'सक्कं' शक्नोमि गद्यते।

बहुष्वाद्यस्य न्ति न्ते इरे ॥ १४२ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यदस्ति प्रथमं त्रिकम्।
तस्य त्रयो 'न्ति न्ते इरे' स्युः पदयोर्द्वयोः।
न्ति रमिअन्ति वेवन्ति च हसन्ति च।
न्ते विच्छुहिरे बीहन्ते च पहुप्पिरे।
अपि क्वचिदिरे स्याद्य सूसइरे इति। [१]

मध्यमस्येत्था-हचौ ॥ १४३ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यदस्ति मध्यमं त्रिकम्।
'इत्था-हचौ' तदन्यस्य, भवेतां पदयोर्द्वयोः।
यथा हसह, वेविस्था अपि वेवह।

...तीत्यर्थः।

'इत्था'ऽन्यत्रापि बहुलम्-'यदस्ते रोचते' इदम्।
वाक्यं 'जं जं ते रोइत्था,' ईदृशं संप्रयुज्यते।
स्याद् यः 'हह-हचोर्हस्य' [४।२६८] सूत्रस्यास्य विशेष...

तृतीयस्य मो-मु-माः ॥ १४४ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, यत् तृतीयं त्रिकं भवेत्।
'मो-मु-माः' स्युस्तदन्यस्य, पदयोरुभयोरपि।
यथा हसामो हसामु हसाम, तुवराम च।
तुवरामो तुवरामु, तथाऽन्यत्रापि बुध्यताम्।

अत एवैच् से ॥ १४५ ॥

त्यादेः स्थाने तु यौ 'एच्, से' इत्येतौ परिकीर्तितौ।
अदन्तादेव तौ स्यातां, नाऽन्यस्मादिति हि स्थितिः।
हसए हससे-ऽतः किम्?, ठाइ ठासि न चेह तौ।
अदन्ताद् 'एच् से' पर्यत्ययधारणवारणः।
एवकारस्ततोऽदन्तात् सि-इचावपि सिध्यतः।
अतो 'हसइ हससि' तथा वेवइ वेवसि।

सिनाऽस्तेः सिः ॥ १४६ ॥

सिना मध्यत्रिकस्थेन, सहाऽस्तेः सिर्भवेदिह।
सिनेति किम्? 'अत्थि तुमं' से आदेशो हते सति।

मि-मो-मैर्म्हि-म्हो-म्हा वा ॥ १४७ ॥

अस्तेः स्थाने यथासंख्यं, 'मि-मो-मैः' सह वा त्रयः।
'म्हि-म्हो-म्ह' इत्यादेशास्तु भवन्ति,तन्निदर्श्यते।
'एस म्हि' एषोऽस्मीत्यर्थः, गयम्हो च गयम्ह च।
मुकारग्रहणात् तस्याऽप्रयोग इति मन्यताम्।
पक्षे-अत्थि अहं, अत्थि अम्हे, अम्हे वि अत्थि च।
ननु सिद्धावस्थायां,'म्हो'इति सिद्धं हि पक्ष्मसूत्र[२।७४]बलात्?।
प्रायस्तु साध्यमानावस्था मान्या विभक्तिविधौ।
नो चेत् 'सव्वे, जे, के,' इत्याद्यर्थं बहूनि सूत्राणि।
न विधेयानि स्युस्तोऽङ्गीकार्या साध्यमानाऽत्र।

अत्थिस्त्यादिना ॥ १४८ ॥

अस्तेः स्थाने भवेद् अत्थि-रादेशस्त्यादिभिः सह।
अत्थि सो, अत्थि ते, अत्थि तुमं, अत्थि अहं तथा।
अत्थि तुम्हे, अत्थि अम्हे, रूपद्वयमुदाहृतम्।

णेरदेदावावे ॥ १४९ ॥

णेः 'अत् एत् आव आवे' सन्त्यमी च यथाक्रमम्।
दरिसइ कारेइ करा-वइ च करावेइ, वा हसावेइ।
हासेइ हसावइ वा, नैवं क्वापीह बाहुलकात्।
जाणावेइ, न आवे इत्यादेशः प्रवर्तते क्वापि।
तेन भवेदिह रूप सिद्धं 'पायइ' 'भावेइ'।

गुर्वादेरविर्वा ॥ १५० ॥

गुर्वादेर्णेर् अविर्वा स्यात्, सोविअम-सोसिअ तथा।
सोसविअं, तोविअम-तोसविअ तोसिअं यथा॥

भ्रमेराडो वा ॥ १५१ ॥

भ्रमेः परस्य णेराड आदेशो वा विधीयते।
भमाडइ भमाडेइ, पक्षे रूप निदर्श्यताम्।
भमावइ भमावेइ, भामेइ भ्रामयत्यपि।

लुगावी क्त-भाव-कर्मसु ॥ १५२ ॥

चेलुग आवि भवेतां क्ते, भावे भावकर्मणोः।
कराविअं कारिअं हासिअं चैव हसाविअं।

महाण मज्झाण आमा ॥ ११४ ॥
अम्हे महाण मज्झाण अम्हाऽम्हाण ममाण णे ।
णो अम्हं अम्ह मज्झ स्युर् आमा सार्धं न पञ्च गद् [११] ।
'क्त्वा स्यादेर्णसोर्वा' [१।२७] वा णस्य सानुस्वारं मनुष्वरम् ।
यथा महाणं मज्झाणं अम्हाणं च ममाणं च ।

मि मइ ममाइ मए मे ङिना ॥ ११५ ॥
मए ममाइ मइ मे, मि, स्युः पञ्च ङिना सह ।

अम्ह–मम–मह–मज्झा ङौ ॥ ११६ ॥
अम्ह–मज्झौ मम–महौ, ङौ स्युरेतेऽस्मदः परे ।
ङेः स्थाने तु यथाप्राप्तमादेशः पूर्वदर्शितः ।
यथा ममम्मि मज्झम्मि, तथाऽम्हम्मि महम्मि च ।

सुपि ॥ ११७ ॥
चत्वारोऽम्हादयोऽप्यपि, भवन्ति सुपि तद्यथा ।
यथा ममेसु मज्झेसु, अम्हेसु च महेसु च ।
सुप्येत्वं केऽपि नेच्छन्ति, तन्मतेऽम्हसु मज्झसु ।
ममसु स्यात् महसु च, ततो रूपचतुष्टयी ।
केचिद् अम्हस्यात्वमपि, वाञ्छन्त्यम्हासु तन्मते ।

त्रेस्ती तृतीयादौ ॥ ११८ ॥
त्रेः स्थाने ती तृतीयादौ, प्रत्यये परतो भवेत् ।
तीहिन्तो तीसु तिण्हं च, तीहिं चेति प्रकीर्तितम् ।

द्वेर्दो वे ॥ ११९ ॥
द्विशब्दस्य तृतीयादौ ' दो ' ' वे ' स्तः, दोहि वेहि च ।
दोण्हं वेण्हं च दोहिन्तो, वेहिन्तो दोसु वेसु च ॥

दुवे दोण्णि वेण्णि च जस्–शसा ॥ १२० ॥
जस्–शस्भ्यां सहितस्य द्वेः, स्थाने स्युः, दोण्णि, वेण्णि, च ।
दुवे, दो, वे, ' दुण्णि विण्णि ' संयोगे [१।८४] ह्रस्वदर्शनात् ॥

त्रेस्तिण्णिः ॥ १२१ ॥
जस्–शस्भ्यां सहितस्य त्रेः, स्थाने तिण्णि प्रयुज्यते ।

चतुरश्चत्तारो चउरो चत्तारि ॥ १२२ ॥
चतुर् इत्यस्य जस्–शस्भ्यां, सहाऽऽदेशास्त्रयो मताः ।
यथा चत्तारि चत्तारो, चउरो अत्थि पेच्छ वा ॥

संख्याया आमो ण्ह ण्हं ॥ १२३ ॥
संख्याशब्दात् परस्याऽऽमो, ' ण्ह ण्हं ' एतद् द्वयं भवेत् ।
दोण्ह पञ्चण्ह सत्तण्ह, तिण्ह छण्ह चउण्ह च ॥
दोण्हं तिण्हं चउण्हं पञ्चण्हं छण्हं च सत्तण्हं ।
प्रमाणाद् बहुलस्येमौ, विंशत्यादेर्न चाप्नुतः ॥

शेषेऽदन्तवत् ॥ १२४ ॥
इहोपयुक्ताद्यो यः, स शेष इति कथ्यते ।
तत्र स्यादिविधिः सर्वोऽदन्तवत् सोऽतिदिश्यते ॥
येष्वादन्तादिशब्देषु, पूर्वं कार्यं न दर्शितम् ।
तेष्वदन्ताधिकारोक्तो, लुगादि [३ । ४] विधिरिष्यते ॥
तत्र तावत् 'जस्–शसोर्लुक्' [३ । ४] विधिरेषोऽतिदिश्यते ।
' माला गिरी गुरू देहिन्ति वा पेच्छ ' यथोच्यते ॥
' अमोऽस्य ' [३।५] इति कार्यस्यातिदेशो दर्श्यतेऽधुना ।
गिरिं गुरुं सहिं पेच्छ, गामणिं खलपुं वहूं ॥
' टा–ऽमोर्णः ' [३ । ६] इति कार्यस्यातिदेशो दर्श्यतेऽधुना ।
कयं हाहाण, मालाण गिरीण धणमीदृशम् ॥
टायास्तु टो णा [३।२४] टाङस्ङेः [३।२९] इत्ययं दर्शितो विधिः ।

'भिसो हि हिँ हिं' [३ । ७] इत्येतत् कार्यं [illegible] ।
यथा गिरीहि मालाहि गुरूहिं च वहूहिं च ।
[illegible]
' ङसेस् त्तो–दो–दु '–[३ । ८] सूत्रस्य [illegible]
मालाहिन्तो च मालाओ बुद्धीओ, [illegible] [३ । १२ ९ । १२]
' भ्यसस् त्तो दो दु ' [३ । ९] सूत्रस्यातिदेशो दर्श्यतेऽधुना
मालाहिन्तो तथा मालासुन्तो, [illegible] [३ । १२]
' ङसः स्सः ' [३ । १०] इति सूत्रस्यातिदेशो दर्श्यतेऽधुना
गिरिस्सेति गुरुस्सेति दहिस्सेति मदुस्स च ॥
' टा–ङस ङेः–[३ । २९] इति सूत्रं तु स्त्रियां [illegible]
' ङे म्मि ङेः ' [३ । ११] इति सूत्रस्यातिदेशो दर्श्यतेऽधुना
यथा ' गिरिम्मि ' इत्यादि, ङीत्वमिच्छन् [illegible] [३ । १२८]
'जस्–शस्–ङसि त्तो–दो–द्वामि दीर्घः' [३ । १२] सूत्रस्यातिदेशो दर्श्यतेऽधुना
गिरी गुरू गिरीओ च, गुरूओ च गुरूण च ।
'भ्यसि वा' [३ । १३] इति सूत्रस्यातिदेशो नोपदिश्यते ।
'इदुतो दीर्घः'–[३ । १६] सूत्रेण नित्यं दीर्घस्य शासनात् ।
टाण–शस्येत् [३ । १४] च ' भिस्भ्यस् [३ । १५]
इत्यतिदेशो निषेत्स्यते [३ । १२९] ॥

न दीर्घो णो ॥ १२५ ॥
इदन्तोदन्तयोर्जस्–शस्–ङस्यादेशे परे णवि [३ । २२]
न दीर्घः पूर्ववर्णस्य, अग्गिणो वाउणो यथा ।

ङसेर्लुक् ॥ १२६ ॥
आकारान्तादिशब्देभ्यो, लुक् नैवादन्तवद् ङसेः ।
मालाहिन्तो च अग्गीओ, वाउओ–ऽत्र निदर्शनम् ॥

भ्यसश्च हिः ॥ १२७ ॥
हिर्नाऽऽदन्तादिशब्देभ्योऽदन्तवत् स्याद् भ्यसो ङसेः ।
मालाहिन्तो च मालाओ, अग्गीहिन्तो निदर्शनम् ॥

ङेर्डे ॥ १२८ ॥
' डे ' नाऽऽदन्तादिशब्देभ्योऽदन्तवत् ङेर्भवेदिह ।
यथा–अग्गिम्मि वाउम्मि, दहिम्मि च महुम्मि च ॥

एत् ॥ १२९ ॥
टा–शस्–भिस्–भ्यस्–सुप्सु नैत्वम् , आदन्तादेरदन्तवत् ।
कयं हाहाण, मालाओ पेच्छ, मालाहि वा कयं ।
मालाहिन्तो तथा मालासुन्तो मालासु अग्गिणो ।
वाउणो चेदृशं तत्त्वं, विविधं प्रतिबुध्यताम् ।

द्विवचनस्य बहुवचनम् ॥ १३० ॥
सर्वासां हि विभक्तीनां, स्यादि–त्यादिप्रवर्तिनाम् ।
स्थाने द्विवचनस्येह, बहुत्वं संप्रयुज्यते ॥

चतुर्थ्याः षष्ठी ॥ १३१ ॥
स्थाने चतुर्थ्याः षष्ठी स्यात्, ' नमो देवस्स ' ईदृशम् ।

तादर्थ्यङेर्वा ॥ १३२ ॥
तादर्थ्यङेस् चतुर्थ्येकवचनस्य विभाषया ।
षष्ठी, देवस्स देवाय, 'देवार्थं ' तस्य बुध्यताम् ॥

वधाड् डाइश्च वा ॥ १३३ ॥
वधशब्दात् तु तादर्थ्यङेः षष्ठी डाइ चाऽस्तु वा ।
वहाइ वहस्स वहाय वधार्थं त्रयं मतम् ।

क्वचिद् द्वितीयादेः ॥ १३४ ॥
द्वितीयादिविभक्तीनां स्थाने षष्ठी क्वचिद् भवेत् ।

सीमाधरस्स वन्दे, तिस्सा मञ्मिमो मुहस्स, ममहां अ (द्विती० षष्ठी)
सदो धणस्स, मुक्का तिरस्स (तृती० षष्ठी) चोरस्स बीहइ वा।
इअराई जाण लहुअक्खराई पायन्तिमिल्लसहिआण (पञ्च० षष्ठी)
' पिट्ठीए केस-भारो ' (सप्त० षष्ठी) विविक्तनीयं सूत्रेऽत्र।

द्वितीया-तृतीययोः सप्तमी ॥ १३५ ॥

द्वितीयायास्तृतीयायाः स्थाने स्थात् सप्तमी क्वचित्।
गामे वसामि, नयरे न जामि (द्वि० स०) मह वेविरीऍ मलिअवं ।
तिसु तेसु अलंकिआ अ पुहवी जहा भाइ। (तृती० सप्त०)

पञ्चम्यास्तृतीया च ॥ १३६ ॥

स्थाने तृतीया-सप्तम्यौ पञ्चम्याः क्वचित् यथा।
चोराउ बिहेति ' चोरेण बीहइ ' प्रतिपादितं ।
'अन्तेउरे रमेउमागओ राया' यथा।

सप्तम्या द्वितीया ॥ १३७ ॥

क्वचिद् द्वितीया सप्तम्याः स्थाने भवति प्रयुज्यते।
आर्षेऽपि तृतीयाऽपि, द्वितीया प्रमाणतः।
'विज्जुज्जोयं भरइ रत्तिं,' तृतीया तु-तेणं कालेणं।
तेणं समएणं वा, प्रथमाया जिणवरा ति' यथा।

क्यङोर्यलुक् ॥ १३८ ॥

क्यङन्तस्य क्यङ्ष्यन्तस्य, यस्य वा लुक् भवेदिह।
गरुआइ च गरुआअइ, दवदवाअंति, सुहिआयंति।
दमदमाइ दमदमाअ-इ, लोहिआइ लोहिआअइ च।

त्यादीनामाद्यत्रयस्याद्यस्येचेचौ ॥ १३९ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, परस्मै प्रथम त्रिक।
इच्चेचौ स्तः, तदाद्यस्य पदयोरुभयोरपि।
यथा-हसइ हसए, तथा वेवइ वेवए।
' इचेचः ' [४।३१८] इति सूत्रस्य कथनाद्बहुवचनतो।

द्वितीयस्य सि से ॥ १४० ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां यद् द्वितीय त्रिक भवत्।
सि, से, च स्तः, तदाद्यस्य पदयोरुभयोरपि।
यथा-हससि हससे, तथा वेवसि वेवसे।

तृतीयस्य मिः ॥ १४१ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां यत् तृतीय त्रिक भवेत्।
मिरादेशस्तदाद्यस्य पदयोरुभयोरपि।
यथा-हसामि वेवामि, भवेद् बहुलत्वादिह।
मिवेर्मिर्लोपोऽपि, न मर न मिर्व तथा।
' बहुजाणय रूसिउं सक्क ' इत्येवं त्रि गद्यते।

बहुष्वाद्यस्य न्ति न्ते इरे ॥ १४२ ॥

त्यादीनां तु विभक्तीनां, परस्मै प्रथम त्रिक।
... हसन्ते हसिरे बहु ...
...
...
... ॥ [१]

मध्यमस्येत्था-हचौ ॥ १४३ ॥

[illegible]

'ज्झा' ... बहुत्व-... । [illegible]

तृतीयस्य मो-मु-माः ॥ १४४ ॥

... मो-मु-म ...
हसामो हसामु हसाम ...

अत एवैच् से ॥ १४५ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

॥ १६२ ॥

[illegible]

॥ १६३ ॥

[illegible]

॥ १६४ ॥

[illegible]

॥ १६५ ॥

[illegible]

॥ १६६ ॥

[illegible]

पक्षे रूपद्वयं धेयं, यथा-हासिमि हासिमि ।

श्रु-गमि-रुदि-विदि-दृशि-मुचि-वचि-छिदि-भिदि-भुजां सोच्छं गच्छं रोच्छं वेच्छं दच्छं मोच्छं वोच्छं छेच्छं भेच्छं भोच्छं ॥ १७१ ॥

श्रवादीनां दशधातूनां, स्यन्तानां हि भविष्यति ।
सोच्छमित्यादयस्तेषां निपात्यन्ते पदे, यथा ।
सोच्छं श्रोष्यामि तथा, दच्छं द्रक्ष्यामि, मोच्छं मोक्ष्यामि ।
वोच्छं वक्ष्यामि पुनः, छेच्छं छेत्स्यामि जानीहि ।
भेच्छं भेत्स्यामि तथा, भोच्छं भोक्ष्ये च भोजनम् ।
[illegible], रोदिष्यामीति रोच्छमिति भवति ।
वेदिष्यामि च वेच्छं, तथैव गच्छं गमिष्यामि ।

सोच्छादय इजादिषु हिलुक् च वा ॥ १७२ ॥

श्वादीनां धातूनां स्थाने सोच्छादयो यथासंख्यम् ।
भविष्यन्तीआदिष्टा-इजादिषु स्युः, हिलुक् वा च ।
सोच्छिइ वा तु सोच्छिहिइ, एवं सोच्छिन्ति सोच्छिहिन्ति तथा ।
सोच्छिसि सोच्छिहिसि स्यात्, सोच्छित्था सोच्छिहित्था च ॥
सोच्छिह सोच्छिहिह स्यात्, सोच्छिमि सोच्छिहिमि भवति रूपम् ।
सोच्छिस्सामि सोच्छिहामि सोच्छिस्सं सोच्छिमो सोच्छं ॥
सोच्छिहिमो सोच्छिस्सामो सोच्छिहामो सोच्छिहिस्सा च ।
रूपं च सोच्छिहित्था, एवं मु-मयोरपि ज्ञेयम् ॥
गच्छिइ वा तु गच्छिहिइ, एवं गच्छिन्ति गच्छिहिन्ति तथा ।
गच्छिसि गच्छिहिसि स्यात्, गच्छित्था गच्छिहित्था च ॥
गच्छिह गच्छिहिह स्यात्, गच्छिमि गच्छिहिमि भवति रूपम् ।
गच्छिस्सामि गच्छिहामि गच्छिस्सं गच्छिमो गच्छं ॥
गच्छिहिमो गच्छिस्सामो गच्छिहामो गच्छिहिस्सा च ।
रूपं च गच्छिहित्था एवं मु-मयोरपि ज्ञेयम् ॥
रुदादीनां च धातूनामप्युदाहार्यमीदृशम् ।

दु सु मु विध्यादिष्वेकस्मिंस्त्रयाणाम् ॥ १७३ ॥

विध्यादिषूत्पन्नानाम्, एकस्मिन्नर्थे प्रवर्तिनाम् ।
त्रयाणां हि त्रिकाणां तु, स्थाने स्युः 'दु सु मु' क्रमात् ॥
हसउ सा, हससु तुम्, हसामु अहमित्यपि ।
एवं भवति पेच्छामु तथा पेच्छउ पेच्छसु ॥
दकारोच्चारणं भाषान्तरार्थं प्रतिपद्यताम् ।

सोर्हिर्वा ॥ १७४ ॥

[illegible] पूर्वसूत्रेण सोः स्थाने हिर्विकल्प्यते ।
'देहि देसु' ततो रूपद्वयं सिद्धं समागतम् ।

अत इज्जस्विज्जहीज्जे-लुको वा ॥ १७५ ॥

अतः परस्य सोः स्थाने 'इज्जसु इज्जहि इज्जे'
इत्येते लुक् च आदेशाः क्वाचित्कास्तु विकल्पिताः ।
हसेज्जसु हसेज्जहि हसेज्जे च वा हस ।
पक्षे हससु, विकल्पः ईदृशः स्यात् होसु ठाहि च ।

बहुषु न्तु ह मो ॥ १७६ ॥

विध्यादिषूत्पन्नानां बहुत्वेऽर्थे प्रवर्तिनाम् ।
त्रयाणां हि त्रिकाणां तु, स्थाने स्युः 'न्तु ह मो' क्रमात् ।
यथा-[न्तु] हसन्तु हस [illegible] [ह] हसह हसेह वा हसह ।
भवति-[मो] हसामो च हसाम वा हसेम [illegible] ।

वर्तमाना-भविष्यन्त्योश्च ज्ज ज्जा वा ॥ १७७ ॥

वर्तमानाभविष्यन्त्योर्विध्यादिषु च वा [illegible] ।
प्रत्ययस्थाने तु स्थाने, 'ज्ज ज्जा'-आदेशौ विकल्पितौ ।
[वर्तमाना] हसेज्ज च हसेज्जा च, पक्षे 'हसइ' सिद्धमेव ।
पढेज्ज च पढेज्जा च, पक्षे-'पढइ' इत्यपि ।
[भविष्यन्ती] पढेज्ज च पढेज्जा च, पक्षे पढिहिइ स्मृतम् ।
[विध्यादिषु] हसेउ पक्षे, हसेज्ज हसेज्जउ च हसेज्ज च ।
एवं सर्वत्र बोद्धव्यं, तृतीये तु त्रिके यथा ।
अइवायएज्जा अइवायावेज्जा चैव पठ्यते ।
स्यात् न समणुजाणामि, समणुजाणेज्जा न वा ।
अन्ये तु भूतेऽप्यादेशमिमं [illegible] ।
तन्मतेनाह 'होज्ज' [illegible] ।

मध्ये च स्वरान्ताद् वा ॥ १७८ ॥

धातोः स्वरान्तात् प्रकृति-प्रत्यययोर्मध्यतः स्युः ।
धातुप्रत्यययोर्मध्ये, 'ज्ज ज्जा'-आदेशौ विकल्पितौ ।
वर्तमाना-भविष्यन्त्योर्विध्यादिषु च दर्शितम् ।
[वर्तमाना] होज्जइ होज्जाइ होज्जइ होज्जा, होइ तु पक्षेऽत्र ।
होज्जसि होज्जासि होज्जसि होज्ज, होसि तु पक्षेऽत्र ।
[भविष्यन्ती] होज्जहिइ होज्जाहिइ, होज्ज होज्जा च पक्षे ।
पक्षे 'होहिइ' इत्येतद् रूपं सिद्धं प्रसाध्यते च ।
होज्जाहिमि होज्जाहिमि, होज्ज होज्जा च होहिमि ।
होज्जहिमि होज्जाहिमि, [illegible] ।
होज्जहामि च होज्जस्सं, [illegible] ।
[विध्यादिषु] होज्जउ होज्जाउ होज्जउ होज्जा [illegible] ।
पक्षे होउ, [illegible] ।

क्रियातिपत्तेः ॥ १७९ ॥

क्रियातिपत्तेः स्थाने तु 'ज्ज ज्जा'-आदेशौ [illegible] ।
यथा-'अभविष्यत्' इत्यर्थे 'होज्ज होज्जा' [illegible] ।

न्त-माणौ ॥ १८० ॥

क्रियातिपत्तेः स्थाने तु, 'न्त-माणौ' इति [illegible] ।
यथा 'होन्तो' च 'होमाणो' [illegible] ।
"हरिण-ट्ठाणे हरिणङ्क ! जइ सि हरिणाहिवं निवेसन्तो ।
न सहन्तो च्चिअ तो राहुपरिहवं से जिअन्तस्स" ॥

शत्रानशः ॥ १८१ ॥

'शतृ-आनश्' [illegible] 'न्त-माणौ' [illegible] ।
[शतृ] हसन्तो हसमाणो च [आनश्] वेवन्तो वेवमाणो च ।

ई च स्त्रियाम् ॥ १८२ ॥

स्त्रियां शत्रानशोः स्थाने, 'ई, न्त-माणौ' भवन्ति च ।
हसई हसमाणी च हसन्ती च [illegible] ।
वेवई वेवमाणी च वेवन्ती [illegible] ।

[illegible]

इति [illegible] तृतीयः पादः ।

* [illegible]

विरिचेरोलुण्डोल्लुण्ड-पल्हत्थाः ॥ २६ ॥

विरिचेतेर्ण्यन्तस्य तु वा, स्युरोलुण्डोल्लुण्ड-पल्हत्थाः ।
ओलुण्डइ उल्लुण्डइ पल्हत्थइ वा विरेअइ च ।

तडेराहोड-विहोडौ ॥ २७ ॥

तडेर्ण्यन्तस्य वाऽऽहोड-विहोडौ भवतः क्रमात् ।
आहोडइ विहोडइ, पक्षे 'ताडेइ' सिध्यति ।

मिश्रेर्वीसाल-मेलवौ ॥ २८ ॥

मिश्रयतेर्ण्यन्तस्य तु, वा स्तो वीसाल-मेलवौ ।
वीसालइ मेलवइ, पक्षे 'मिस्सइ' जायते ।

उद्धूलेर्गुण्ठः ॥ २९ ॥

ण्यन्तस्योद्धूलि-धातोः स्याद्, गुण्ठाऽऽदेशो विभाषया ।
ततो गुण्ठइ पक्षे स्याद्, 'उद्धूलेइ' क्रियापदम् ।

भ्रमेस्तालिअण्ट-तमाडौ ॥ ३० ॥

तालिअण्ट-तमाडौ द्वौ, भ्रमेर्ण्यन्तस्य वा मतौ ।
स्यात् तालिअण्टइ तमाडइ चेति द्वयं, तथा ।
भमाडेइ भमावेइ, भामेइ त्रयमीरितम् ।

नशेर्विउड-नासव-हारव-विप्पगाल-पलावाः ॥ ३१ ॥

पलावो विउडो विप्पगालो नासव-हारवौ ।
पञ्च पञ्च विकल्पेन स्युर्ण्यन्तस्य नशेरिह ।
विप्पगालइ च पला-वइ हारवइ स्मृतम् ।
विउडइ नासवइ, पक्षे 'नासइ' सिध्यति ।

दृशेर्दाव-दंस-दक्खवाः ॥ ३२ ॥

दावो दंसो दक्खवश्च, दृशेर्ण्यन्तस्य वा त्रयः ।
दावइ दंसइ दक्खवइ दरिसइ स्मृतम् ।

उद्घटेरुग्गः ॥ ३३ ॥

ण्यन्तस्य चोद्घटेर् उग्गः, उग्गाडइ च उग्गइ ।

स्पृहः सिहः ॥ ३४ ॥

स्पृहो ण्यन्तस्य 'सिह' स्यादेशः, सिहइ स्मृतम् ।

संभावेरासङ्घः ॥ ३५ ॥

संभावयतेर्धातोरासङ्घो वा विधीयते ।
भवेद् आसङ्घइ तथा, संभावइ च पाक्षिकम् ।

उन्नमेरुत्थङ्घोल्लाल-गुलुगुञ्छोप्पेलाः ॥ ३६ ॥

उत्थङ्घोल्लाल-गुलुगुञ्छोप्पेला वा स्युर् उन्नमेः ।
उत्थङ्घइ उल्लालइ, उप्पेलइ तथा पुनः ।
गुलुगुञ्छइ, पक्षे तु पदम् उन्नावइ स्मृतम् ।

प्रस्थापेः पट्ठव-पेण्डवौ ॥ ३७ ॥

प्रस्थापयतेरादेशौ वा पट्ठव-पेण्डवौ ।
पट्ठवइ पेण्डवइ, पक्षे पट्ठावइ स्मृतम् ।

विज्ञपेर्वोक्कावुक्कौ ॥ ३८ ॥

वुक्कावुक्कौ विज्ञपतेः,स्यातां स्यातां विभाषया ।
स्याद् वुक्कइ वोक्कइ, पक्षे विण्णवइ स्मृतम् ।

अर्पेरल्लिव-चच्चुप्प-पणामाः ॥ ३९ ॥

त्रयो वाऽर्पयतेः स्थाने, पणामाऽल्लिव-चच्चुप्पाः ।
अल्लिवइ चच्चुप्पइ पणामइ, अप्पेइ वा ।

यापेर्जवः ॥ ४० ॥

जवो यापयतेर्वा जवइ, जावेइ वेष्यते ।

प्लावेरोम्वाल-पव्वालौ ॥ ४१ ॥

स्याताम् 'ओम्वाल-पव्वालौ' स्थाने प्लावयतेस्तु वा ।
ओम्वालइ पव्वालइ, पक्षे 'पावेइ' सिद्ध्यति ।

विकोशेः पक्खोडः ॥ ४२ ॥

वा विकोशयतेर्नामधातोः 'पक्खोड' इष्यते ।
'पक्खोडइ' ततः सिद्ध, पक्षे तु 'विकोसइ' ।

रोमन्थेरोग्गाल-वग्गोलौ ॥ ४३ ॥

स्याताम 'ओग्गाल-वग्गोलौ' रोमन्थेस्तु विभाषया ।
ओग्गालइ वग्गोलइ, रोमन्थइ तु पाक्षिकम् ।

कमेर्णिहुवः ॥ ४४ ॥

स्यात् कमेः स्वार्थण्यन्तस्य, णिहुवोऽत्र विकल्पनात् ।
प्रयुज्यते णिहुवइ, तथा कामेइ पाक्षिकम् ।

प्रकाशेर्णुव्वः ॥ ४५ ॥

णुव्वः प्रकाशेर्ण्यन्तस्य, वा पयासइ णुव्वइ ।

कम्पेर्विच्छोलः ॥ ४६ ॥

कम्पेर्ण्यन्तस्य विच्छोलो वा, विच्छोलइ कम्पेइ ।

आरोपेर्वलः ॥ ४७ ॥

ण्यन्तस्य त्वारोपेः स्थाने वलाऽऽदेशः प्रदिश्यते ।
ततः 'वलइ' इत्युक्तम्, आरोवेइ च पाक्षिकम् ।

दोले रङ्खोलः ॥ ४८ ॥

स्वार्थे ण्यन्तस्य तु पुनः, दोलेर्वा रङ्खोल इष्यते ।
सिद्धं रूप ततो रङ्खोलइ 'दोलइ' च पाक्षिकम् ।

रञ्जे रावः ॥ ४९ ॥

रञ्जेर्ण्यन्तस्य वा रावो, यथा-रावेइ रञ्जेइ ।

घटेः परिवाडः ॥ ५० ॥

परिवाडो विकल्पेन घटेर्ण्यन्तस्य जायते ।
साधितं परिवाडइ, पक्षे रूप घडेइ च ।

वेष्टेः परिआलः ॥ ५१ ॥

वेष्टेर्ण्यन्तस्य तु स्थाने 'परिआलो' विकल्पनात् ।
'परिआलेइ वेढेइ, इति रूपद्वयं भवेत् ।

क्रियः किणो वेस्तु क्के च ॥ ५२ ॥

क्रीणातेस्तु किणो वा, विपूर्वात् क्रिय इष्यते ।
वेः परस्य क्रियः क्के वा स्यात् विकल्पेन सूत्रतः ।
रूप किणइ किणेइ, तथा विक्केइ स्मृतम् ।

भियो भा-बीहौ ॥ ५३ ॥

भा-बीहौ वा भियो रूपं, भाइ बीहइ भायइ ।
बीहिअं, बहुलाद् 'भीअं,' इति रूप च सिध्यति ।

आलीङोल्ली ॥ ५४ ॥

आलीयतेः स्यादेश अल्ली, अल्लीअइ च आलियइ ।

निलीङेर्णिलीअ-णिलुक्क-णिरिग्घ-लुक्क-लिक्क-ल्हिक्काः ॥ ५५ ॥

णिलुक्क-णिरिग्घ-णिलीअ-लुक्का णिलीङो लिक्क-ल्हिक्का इमे ।

आदेशास्तु निलीङो धातोः षट् वा प्रवर्तन्ते ।
णिलुक्कइ णिलिक्कइ णिरिग्घइ भवति णिलीअइ तथा णिलुक्कइ च ।
तथा णिरिग्घइ रूपं, पक्षे चेह निलिज्जइ तु ।

विलीङेर्विरा ॥ ५६ ॥

विरा विलीङेरादेशो वा, विराइ विलिज्जइ ।

रुते रुञ्ज-रुण्टौ ॥ ५७ ॥

रौतेः स्थाने विकल्पेन रुञ्ज-रुण्टौ प्रकीर्तितौ ।
रुञ्जइ रुण्टइ ततः, पक्षे रवइ सिध्यति ।

श्रुटेर्हणः ॥ ५८ ॥

शृणोतेर्वा हणो, हणइ सुणइ सिद्धिमितः ।

धूगेर्धुवः ॥ ५९ ॥

धुनातेर्वा धुवो धुवइ स्याद् धुणइ पाक्षिकम् ।

भुवेर्हो-हुव-हवाः ॥ ६० ॥

'हो हुव हव' इत्येते भुवः स्थाने विकल्पिताः ।
'होइ हुवइ हवइ' स्युर्, 'होन्ति हुवन्ति च हवन्ति' बहुवचने ।
पक्षे भवइ भवन्ति च, प्रविशं पभवइ च परिभवइ ।
क्वचिदन्यदपि यथा-नत्तं, उब्भुअइ स्मृतम् ।

अविति हुः ॥ ६१ ॥

विङर्जे प्रत्यये 'हु' स्याद्, भुवः स्थाने विभाषया ।
यथा हुन्ति, भवन् हुन्तो, किम् ? अवितीति, 'होइ' च ।

पृथक् स्पष्टे णिव्वडः ॥ ६२ ॥

पृथग्भूते तथा स्पष्टे, कर्तरि 'णिव्वडो' भुवः ।
पृथक् स्पष्टो वा भवती-त्यर्थे 'णिव्वडइ' स्मृतम् ।

प्रभौ हुप्पो वा ॥ ६३ ॥

प्रभुकर्तृकस्य भुवः, स्थाने हुप्पो विकल्प्यते ।
प्रभुत्वं च प्रपूर्वस्य-वार्थो ऽर्थेति विभाव्यताम् ।
अङ्ग चिय पहुप्पइ, न, पक्षे पभवेइ च ।

क्ते हूः ॥ ६४ ॥

क्ते भुवो हू' अनुहूयं, पहूयं हूअमीदृशम् ।

कृगेः कुणः ॥ ६५ ॥

कृगः कुणो वा, कुणइ, करइ स्यात्तु पाक्षिकम् ।

काणेक्षिते णिआरः ॥ ६६ ॥

काणेक्षितविषयस्य तु, कृगः पदे वा णिआर आदेशः ।
काणेक्षितं करोतीत्यर्थे वाच्य 'णिआरइ' हि ।

निष्टम्भावष्टम्भे णिट्ठुह-संदाणं ॥ ६७ ॥

अवष्टम्भे च निष्टम्भे, कृगः संदाण-णिट्ठुहौ ।
इत्यादेशौ यथासंख्यं, विकल्पेनेह कुर्वताम् ।
णिट्ठुहइ तु निष्टम्भं करोती-त्यर्थबोधकम् ।
'संदाणइ' अवष्टम्भं करोतीत्यर्थवाचकम् ।

श्रमे वावम्फः ॥ ६८ ॥

श्रमविषयस्य तु कृगो, वावम्फो वा विधीयते ।
श्रमं करोति इत्यर्थे, 'वावम्फइ' विपद्यते ।

मन्युनौष्ठमालिन्ये णिव्वोलः ॥ ६९ ॥

मन्युनौष्ठमालिन्ये, 'णिव्वोलइ' इत्यस्तु वा ।

मालिनीकुरुते स्वौष्ठं क्रुधा, 'णिव्वोलइ' स्मृतम् ।

शैथिल्यलम्बने पयल्लः ॥ ७० ॥

शैथिल्ये लम्बनेऽर्थे च, 'पयल्लो' वा कृगो यथा ।
लम्बते वा च शिथिलीभवति स्यात् 'पयल्लइ' ।

निष्पाताच्छोटे णीलुञ्छः ॥ ७१ ॥

आच्छोटेऽर्थे च निष्पाते, 'णीलुञ्छो' वा कृगो भवेत् ।
'णीलुञ्छइ' निष्पतति, वाऽऽच्छोटयति कथ्यते ।

क्षुरे कम्मः ॥ ७२ ॥

क्षुरार्थस्य कृगः 'कम्म,' इत्यादेशो विभाषया ।
'क्षुरं करोति' इत्यर्थे, पदं 'कम्मइ' प्रपद्यते ।

चाटौ गुललः ॥ ७३ ॥

चाटुविषयस्य कृगो, 'गुललो' वा विधीयते ।
प्रयुज्यते 'गुललइ,' चाटुकारं करोत्यतः ।

स्मरेर्झर-झूर-भर-भल-लढ-विम्हर-सुमर-पयर-पम्हुहाः ॥ ७४ ॥

पम्हुहो विम्हरो झूरः पयरः, सुमरो भरः ।
भलो लढो झरो वैते, नवादेशाः स्मरेर्मताः ।
झूरइ झरइ विम्हरइ, सुमरइ पयरइ च पम्हुहइ भरइ ।
भरइ भलइ ढलइ ततः, स्मरेर्भवन्तीह रूपाणि ।

विस्मुः पम्हुस-विम्हर-वीसराः ॥ ७५ ॥

'पम्हुस विम्हर वीसर' इत्यादेशा भवन्ति विस्मरतेः ।
'पम्हुसइ विम्हरइ वीसरइ' च सिद्ध्यन्ति रूपाणि ।

व्याहृगेः कोक्क-पोक्कौ ॥ ७६ ॥

व्याहरतेर्वा स्याता-मादेशौ द्वौ हि 'कोक्क-पोक्कौ' च ।
कोक्कइ, ह्रस्वत्वे कुक्कइ पोक्कइ, 'वाहरइ' पक्षे ।

प्रसरेः पयल्लोवेल्लौ ॥ ७७ ॥

उवेल्लश्च पयल्लो वा, स्यातां प्रसरतेरिमौ ।
उवेल्लइ पयल्लइ, पक्षे पसरइ स्मृतम् ।

महमहो गन्धे ॥ ७८ ॥

गन्धार्थस्य प्रसरतेः, स्थाने महमहोऽस्तु वा ।
'मालई महमहइ,' गन्धे किं ? पसरइ च ।

निस्सरेर्णीहर-नील-धाड-वरहाडाः ॥ ७९ ॥

निस्सरतेर् 'वरहाडो, नीलो धाडो च णीहरो' वा स्युः ।
वरहाडइ नीलइ णीहरइ च धाडइ च, नीसरइ ।

जाग्रेर्जग्गः ॥ ८० ॥

जागर्तेर् 'जग्ग' इति तु, स्यादादेशो विभाषया ।
रूप 'जग्गइ' तेन स्यात्, पक्षे 'जागरइ' स्मृतम् ।

व्याप्रेराअड्डः ॥ ८१ ॥

व्याप्रियतेः स्थाने, 'आअड्डो' वा विधीयते ।
आअड्डइ तथा 'वावरेइ' रूपं तु पाक्षिकम् ।

संवृगेः साहर-साहट्टौ ॥ ८२ ॥

संवृणोतेस्तु साहर-साहट्टौ वा पदे मतौ ।
साहट्टइ साहरइ, पक्षे 'संवरइ' स्मृतम् ।

आदृङः सन्नामः ॥ ८३ ॥

वाऽऽद्रियतेः स्यात्तु 'सन्नामो,' आदरइ सन्नामइ ।

महगेः मारः ॥ ८४ ॥
मारः महरतेः स्थाने, वा पहरइ मारइ ।

अवतरेरोह-ओरसौ ॥ ८५ ॥
'ओह ओरस' इत्येतौ, वाऽवतरतेर्मतौ ।
ओहइ वा ओरसइ, पक्षे 'ओअरइ' स्मृतम् ।

शकेश्चय-तर-तीर-पाराः ॥ ८६ ॥
चयस्तरस्तीरपारौ, चयारो वा शकेरिमे ।
तीरइ पारइ सक्कइ, चयइ ताक, चयइ च त्यजतेः । [१]
तरतेरपि तु तरइ वा, तीरयतेरपि भवेत् तीरइ ।
पारयतेरपि भवेत, रूपं 'पारइ' पठ्यते । [२]

फक्कस्थकः ॥ ८७ ॥
थक्कस्तु फक्केः स्थाने भवेत, 'थक्कइ' सिध्यति ।

श्लाघः सलहः ॥ ८८ ॥
श्लाघतेः सलहादेशो भवेत, 'सलहइ' स्मृतम् ।

खचेर्वेअडः ॥ ८९ ॥
खचेतर् 'वेअडो' वा, 'वेअडइ' 'खचइ' स्मृतम् ।

पचेः सोल्ल-पउल्लौ ॥ ९० ॥
वा 'सोल्ल-पउल्लौ' इत्यादेशौ स्तः पचतेः स्थले ।
'सोल्लइ' वा 'पउल्लइ,' पक्षे 'पयइ' सिध्यति ।

मुचेश्छड्डावहेड-मेल्लोस्सिक्क-रेअव-णिल्लुञ्छ-धंसाडाः ।९१।
मेल्लोऽवहेडो धंसाडो, णिल्लुञ्छोस्सिक्क-रेअवाः ।
छड्डश्चैते मुचेः स्थाने, समादेशा विकल्पिताः ।
णिल्लुञ्छइ उस्सिक्कइ, अवहेडइ रेअवइ च धंसाडइ ।
छड्डइ मेल्लइ, पक्षे-'मुअइ' च रूपं तु भवतीति ।

दुःखे णिव्वलः ॥ ९२ ॥
दुःखविषयस्य मुचेर्णिव्वलो वा विधीयते ।
'दुःखं मुञ्चति' इत्यर्थे 'णिव्वलइ' क्रियापदम् ।

वञ्चेर्वेहव-वेलव-जूरवोमच्छाः ॥ ९३ ॥
वा वेहव-वेलव-जूरवा उमच्छोऽपि वञ्चतेः स्थाने ।
वेहवइ वेलवइ जूरवइ उमच्छइ च, वञ्चइ च ।

रचेरुग्गहावह-विडविड्डाः ॥ ९४ ॥
धातोः रचेर् उग्गहावह-विडविड्डास्त्रयो भवन्त्येते ।
विडविड्डइ उग्गहइ च अवहइ, पक्षे रयइ भवति ।

समारचेरुवहत्थ-सारव-समार-केलायाः ॥ ९५ ॥
समारचेर् उवहत्थः, केलायः सारवः समारो वा ।
उवहत्थइ केलायइ, समारयइ सारवइ समारइ च ।

सिचेः सिञ्च सिम्पौ ॥ ९६ ॥
सिञ्च-सिम्पौ विकल्पेन, सिञ्चतेर्वा पदे स्मृतौ ।
सिञ्चइ सिम्पइ, पक्षे सेअइ गण्यते ।

प्रच्छः पुच्छः ॥ ९७ ॥
स्थाने भवेत पुच्छादेश, पुच्छति सिद्धयति ।

गर्जेर्बुक्कः ॥९८॥
बुक्क इत्यादेशो वा, बुक्कइ, गज्जइ ।

वृषे ढिक्कः ॥९९॥
वृषे कर्तरि गर्जेर् वा, ढिक्काऽऽदेशो वि[धीयते ।]
'ढिक्कइ' 'गर्जति वृषः' इत्यर्थे परिपठ्यते ।

राजेरग्घ-छज्ज-सह-रीर-रेहाः ॥ [१००] ॥
अग्घो रीरो रेहः, छज्जश्च सहो भवन्तु वा ।
अग्घइ छज्जइ रीरइ, रेहइ रायइ च सह[इ ।]

मस्जेराउड्ड-णिउड्ड-बुड्ड-खुप्पाः ॥ [१०१] ॥
आउड्डश्च णिउड्डो, बुड्डः खुप्पश्च मज्जतेर्वा ।
आउड्डइ च णिउड्डइ, बुड्डइ खुप्पइ च मज्जइ ।

पुञ्जेरारोल-वमालौ ॥ १०२ ॥
आरोलश्च वमालश्च, पुञ्जेरेतौ विकल्पितौ ।
आरोलइ वमालइ, पक्षे-'पुञ्जइ' सिध्यति ।

लस्जेर्जीहः ॥ १०३ ॥
जीहो वा लज्जतेः स्थाने, यथा-जीहइ, लज्जइ[।]

तिजेरोसुक्कः ॥ १०४ ॥
ओसुक्को वा तिजेः स्थाने, ओसुक्कइ च तेअणं ।

मृजेरुग्घुस-लुञ्छ-पुञ्छ-पुंस-फुस-पुस-लुह-[हुल-]रोसाणाः ॥ १०५ ॥
उग्घुसो रोसाणो लुञ्छः, पुञ्छः पुंसः फुसः पुसः ।
लुहो हुलो, नवादेशा विकल्पेन मृजेर्मताः ।
लुञ्छइ पुञ्छइ पुंसइ, रोसाणइ फुसइ पुसइ तथा लुहइ ।
हुलइ उग्घुसइ, पक्षे-'मज्जइ' इति सिद्धिमेति पदम् ।

भञ्जेर्वेमय-मुसुमूर-मूर-सूर-सूड-विर-पविरञ्ज-करञ्ज-नीरञ्जाः ॥ १०६ ॥
मुसुमूरो विरो मूरः, सूरः सूडश्च वेमयः ।
पविरञ्जः करञ्जो नीरञ्जो वा भञ्जनेर्नव ।
मूरइ सूरइ सूडइ, मुसुमूरइ वेमयइ च पविरञ्जइ ।
नीरञ्जइ च करञ्जइ, विरइ च पक्षे भवेद्-'भञ्जइ' ।

अनुव्रजेः पडिअग्गः ॥ १०७ ॥
अनुव्रजेः 'पडिअग्ग' इत्यादेशो विकल्प्यते ।
'पडिअग्गइ' पक्षे तु-'अणुवच्चइ' सिध्यति ।

अर्जेर् विढवः ॥ १०८ ॥
अर्जधातोर्विकल्पेन, विढवाऽऽदेश इष्यते ।
प्रयुज्यते 'विढवइ,' तथा 'अज्जइ' पाक्षिकम् ।

युजो जुञ्ज-जुज्ज जुप्पाः ॥ १०९ ॥
युजः स्थाने 'जुञ्ज-जुज्ज-जुप्पा' एते त्रयो मताः ।
जुञ्जइ जुज्जइ तथा, जुप्पइ' सिद्धिमागमन् ।

भुजो भुञ्ज जिम-जेम-कम्माण्ह-समाण-चमढ-चड्डाः ।११०।
समाणश्चमढश्चड्डः, कम्मो भुञ्जो जिमस्तथा ।
अण्हो जेमो, भुजः स्थानेऽष्टादेशाः परिकीर्तिताः ।
' भुञ्जइ जिमइ च जेमइ, चमढइ कम्मेइ चड्डइ समाणइ ।
'अण्हइ ' इति भुजधातोः, रूपं वेद्यं सुधीभिरतः ।

वोपेन कम्मवः ॥ १११ ॥
उपेन युक्तस्य भुजेः, ' कम्मवो ' वा विधीयते ।
तेन सिद्ध ' कम्मवइ, ' ' उवहुञ्जइ ' इत्यपि ।

...नि करोति । [२] कर्म सनामाति ।

घटेर्गढः ॥ ११२ ॥

घटेर्गढो वा, गढइ, घडइ स्यात्तु पाक्षिकम् ।

समो गल्लः ॥ ११३ ॥

संपूर्वस्य घटेः स्थाने, गल्लादेशो विकल्पनात् ।
ततः सिद्धं 'संगल्लइ,' पक्षे 'संघडइ' स्मृतम् ।

हासेन स्फुटेर्मुरः ॥ ११४ ॥

हासेन स्फुटनेऽर्थे तु, स्फुटेः स्थाने मुरोऽस्तु वा ।
हासेन स्फुटतीत्यर्थे, रूपं 'मुरइ' कथ्यते ।

मण्डेश्चिञ्च-चिञ्चअ-चिञ्चिल्ल-रीड-टिविडिक्काः ॥११५॥

चिञ्चिल्लश्चिञ्चिञ्चअश्चिञ्चो, रीडष्टिविडिक्कस्तथा ।
एते मण्डेर् विकल्पेन, पञ्चादेशाः प्रकीर्तिताः ।
चिञ्चिल्लइ चिञ्चअइ, टिविडिक्कइ चिञ्चइ ।
रीडइ तथा, 'मण्डइ,' इति रूपं तु पाक्षिकम् ।

तुडेस्तोड-तुट्ट-खुट्ट-खुडोक्खुडोल्लुक्क-णिलुक्क-लुक्कोल्लूराः ॥ ११६

लुक्कोल्लूरौ तुट्ट-खुट्टौ, णिलुक्कश्च खुडोक्खुडौ ।
तोडोल्लुक्कौ, तुडः स्थाने, विनाप्या स्युरमी नव ।
तोडइ तुट्टइ खुट्टइ, उल्लुक्कइ उक्खुडइ णिलुक्कइ च ।
लुक्कइ तुट्टइ उल्लूरइ, खुडइ रूपं तुडेस्ततः ।

घूर्णो घुल-घोल-घुम्म-पहल्लाः ॥ ११७ ॥

घुलो घोलः पहल्लश्च, घुम्मो घूर्णेरमी मताः ।
'घुलइ घोलइ पहल्लइ घुम्मइ सिद्ध्यति ।

विवृतेर्ढंसः ॥ ११८ ॥

ढंसो वा विवृतेः स्थाने, ढंसइ स्याद् विवट्टइ ।

क्वथेरट्टः ॥ ११९ ॥

क्वथेरट्टो वा, अट्टइ, पक्षे-कढइ सिध्यति ।

ग्रन्थो गण्ठः ॥ १२० ॥

ग्रन्थेर्गण्ठोऽस्तु, गण्ठइ, गण्ठी साद्भिः प्रयुज्यते ।

मन्थेर्घुसल-विरोलौ ॥ १२१ ॥

घुसलश्च विरोलश्च, मन्थेरेतौ विकल्पिनौ ।
रूपं घुसलइ विरोलइ, मन्थइ इत्यपि ।

ह्लादेरवअच्छः ॥ १२२ ॥

ह्लादेर्ण्यन्तस्याण्यन्तस्याप्यवअच्छः स्थले भवेत् ।
ह्लादते ह्लादयति वा, 'अवअच्छइ' उच्यते ।
अवअच्छस्तु इकारस्यापि सदार्थः प्रयुज्यते ।

नेः सदो मज्जः ॥ १२३ ॥

निपूर्वस्य सदेः मज्जः, 'अत्ता एत्थ णिमज्जइ' ।

छिदेर्दुहाव-णिच्छल्ल-णिज्झोड-णिव्वर-णिल्लूर-लूराः ॥ १२४ ॥

[illegible] णिच्छल्ल-णिज्झोडौ, णिल्लूरो लूर-णिव्वरौ ।
दुहावश्च षडादेशाः, छिद-धातोः परे यथा ।
णिच्छल्लइ णिज्झोडइ, णिव्वरइ णिल्लूरइ दुहावइ च ।
लूरइ [illegible] छिद्धातोः, पक्षे 'छिन्दइ' मतं बुधैः ।

आङा ओअन्दोद्दालौ ॥ १२५ ॥

'ओअन्दोद्दालौ' वा, स्यातामाङा सहाच्छिद-धातोः ।
'ओअन्दइ, उद्दालइ' 'अच्छिन्दइ' इति विकल्पनात् ।

मृदो मल-मढ-परिहट्ट-खड्ड-चड्ड-मड्ड-पन्नाडाः ॥१२६॥

मड्ड-चड्डौ च पन्नाडः, परिहट्टो मढो मलः ।
मड्डश्चापि मृदः स्थाने, सप्तादेशाः प्रकीर्तिताः ।
पन्नाडइ मड्डइ च, परिहट्टइ खड्डइ ।
मढइ चड्डइ तथा, मलइ प्रतिपद्यते ।

स्पन्देश्चुलुचुलः ॥ १२७ ॥

स्पन्देश्चुलुचुलादेशो, विकल्पेन प्रयुज्यते ।
सिद्धं 'चुलुचुलइ' तु, पक्षे 'फन्दइ' इत्यपि ।

निरः पदेर्वलः ॥ १२८ ॥

निःपूर्वस्य पदेः स्थाने, वलादेशो विकल्प्यते ।
'निव्वलइ निप्पज्जइ,' द्वयं सिद्धिमगादिदम् ।

विसंवदेर्विअट्ट-विलोट्ट-फंसाः ॥ १२९ ॥

विअट्टश्च विलोट्टश्च, फंसश्चेति त्रयोऽपि वा ।
विसंपूर्वस्य तु वदेः, स्थाने सन्तु यथाक्रमम् ।
विअट्टइ ततः सिद्धं, विलोट्टइ च फंसइ ।
विसंवअइ चेतत्तु, पाक्षिकं रूपमिष्यते ।

शदो झड-पक्खोडौ ॥ १३० ॥

शदः स्तो झड-पक्खोडौ, झडइ, वा पक्खोडइ ।

आक्रन्देर्णीहरः ॥ १३१ ॥

आक्रन्देर्णीहरो वा स्याद्, णीहरइ अक्कन्दइ ।

खिदेर् जूर-विसूरौ ॥ १३२ ॥

खिदेर् जूर-विसूरौ तौ, स्यातामत्र विकल्पनात् ।
'विसूरइ' ततः सिद्धं, पक्षे जूरइ, खिज्जइ ।

रुधेरुत्थङ्घः ॥ १३३ ॥

रुधेरुत्थङ्घ इति वा, उत्थङ्घइ च रुन्धइ ।

निषेधेर्हक्कः ॥ १३४ ॥

हक्को निषेधतेर् हक्कइ वा पक्षे निसेहइ ।

क्रुधेर्जूरः ॥ १३५ ॥

क्रुधेर्जूरो विकल्पेन, 'जूरइ' 'कुज्झइ' इत्यपि ।

जनो जा-जम्मौ ॥ १३६ ॥

जा-जम्मौ जायतेः स्थाने, सिद्धं 'जाअइ जम्मइ' ।

तनेस्तड-तड्ड-तड्डव-विरल्लाः ॥ १३७ ॥

तड-तड्ड-तड्डव-विरल्लाश्चत्वारस्तनेः स्थले वा स्युः ।
तड्डइ तडइ तड्डवइ, तथा विरल्लइ, 'तणइ' पक्षे ।

तृपस्थिप्पः ॥ १३८ ॥

तृप्यतेस्तु पदे थिप्पः, 'थिप्पइ' प्रणिगद्यते ।

उपसर्पेरल्लिअः ॥ १३९ ॥

उपपूर्वस्य सृपेः, स्थाने वा 'अल्लिओ' मतः ।
ततः सिद्धम् 'अल्लिअइ,' 'उवसप्पइ' पाक्षिकम् ।

संतपेर्झङ्खः ॥ १४० ॥

संतपेर्झङ्ख इति वा, संतप्पइ च झङ्खइ ।

व्यापेरोअग्गः ॥ १४१ ॥

व्याप्नोतेस्तु विकल्पेनाऽऽदेश 'ओअग्ग' इष्यते ।

'ओअग्गइ' ततः पक्षे, रूपं 'धावेइ' सिध्यति ।

समापेः समाणः ॥ १४२ ॥

समाप्नोतेः समाणो वा, समावेइ समाणइ ।

क्षिपेर्गलत्थाड्डक्ख-सोल्ल-पेल्ल-णोल्ल-छुह-हुल-परी-घत्ताः ॥ १४३ ॥

सोल्लपेल्लौ परी-घत्तौ, गलत्थश्च छुहो हुलः ।
अड्डक्खो णोल्ल इत्येते, नवादेशाः क्षिपस्तु वा ।
अड्डक्खइ च गलत्थइ, सोल्लइ पेल्लइ छुहइ हुलइ घत्तइ ।
णोल्लइ हस्वत्वे णुल्लइ परीइ, पाक्षिकं खिवइ ।

उत्क्षिपेर्गुलगुञ्छोत्थङ्घाल्लत्थोब्भुत्तोस्सिक्क-हक्खुवाः॥१४४॥

गुलगुञ्छोत्थङ्घाल्लत्थोब्भुत्तोस्सिक्क-हक्खुवा वा स्युः ।
उत्पूर्वस्य तु क्षिपेर्, धातोः स्थाने षडादेशाः ।
गुलगुञ्छइ उत्थङ्घइ, अल्लत्थइ हक्खुवइ च उस्सिक्कइ ।
उब्भुत्तइ इति पक्षे, रूपं धेयं तु 'उक्खिवइ' ।

आक्षिपेर्णीरवः ॥ १४५ ॥

आङ्पूर्वस्य क्षिपेर्धातोर्णीरवो वा विधीयते ।
ततः सिद्धं 'णीरवइ,' पक्षे 'अक्खिवइ' स्मृतम् ।

स्वपेः कमवस-लिस-लोट्टाः ॥ १४६ ॥

'कमवस-लिस-लोट्टाः' वा, स्युरमी धातोः स्वपः स्थले क्रमशः ।
लोट्टइ लिसइ कमवसइ, भवति तु पक्षे 'सुअइ' रूपम् ।

वेपेरायम्बायज्झौ ॥ १४७ ॥

वेपेर् 'आयम्ब आयज्झ' इत्यादेशौ विकल्पनात् ।
आयम्बइ तथा आयज्झइ, पक्षे तु 'वेवइ' ।

विलपेर्झङ्ख-वडवडौ ॥ १४८ ॥

विलपेस्तु विकल्पेन, झङ्खो वडवडश्च वा ।
झङ्खइ वडवडइ, पक्षे विलवइ स्मृतम् ।

लिपो लिम्पः ॥ १४९ ॥

लिम्पस्तु लिम्पतेः स्थाने, ततो लिम्पइ सिध्यति ।

गुप्येर्विर-णडौ ॥ १५० ॥

स्थाने धातोर्गुप्यतेर्वा, भवेतां द्वौ 'विरो, णडः' ।
विरइ णडइ पक्षे, गुप्पइ सिद्धिमश्नुते ।

क्रपोऽवहो णिः ॥ १५१ ॥

अवहस्तु क्रपेः स्थाने, णयन्तो भवति, तद्यथा ।
'कृपां करोति' इत्यर्थे, 'अवहावेइ' पठ्यते ।

प्रदीपेस्तेअव-सन्दुम-सन्धुक्काब्भुत्ताः ॥ १५२ ॥

'तेअव-सन्दुम-सन्धुक्काब्भुत्ता' वा प्रदीप्यतेरेते ।
सन्धुक्कइ अब्भुत्तइ, सन्दुमइ पलीवइ तेअवइ ।

लुभेः संभावः ॥ १५३ ॥

संभावो लुभ्यतेर्वा स्यात्, संभावइ च लुब्भइ ।

क्षुभेः खउर-पड्डुहौ ॥ १५४ ॥

खउरः पड्डुहो वा स्तः, क्षुभेर्धातोः परे यथा ।
खउरइ पड्डुहइ, पक्षे 'खुब्भइ' सिध्यति ।

आङो रभेः रम्भ-ढवौ ॥ १५५ ॥

आङः परस्य तु रभेः, स्यातां रम्भो ढवश्च वा ।
आरम्भइ आढवइ, पक्षे 'आरभइ' स्मृतम् ।

उपालम्भेर्झङ्ख-पच्चार-वेलवाः ॥ १५६ ॥

उपालम्भेस्त्रयो वा स्युर्झङ्ख-पच्चार-वेलवाः ।
पच्चारइ वेलवइ, उवालम्भइ झङ्खइ ।

अवेर्जृम्भो जम्भा ॥ १५७ ॥

जृम्भेर् जम्भा, न तु वेः परस्य, जम्भाइ भवति अ[...]
किम् ? अवेरिति हि निषेधः, 'सुकेलिपसरो विअ[...]

भाराक्रान्ते नमेर्णिसुढः ॥ १५८ ॥

भाराक्रान्ते तु कर्तरि, णिसुढो वा नमेः स्मृतः ।
णिसुढइ, वा 'णवइ,' 'आक्रान्तो नमतीत्यतः' ।

विश्रमेर्णिव्वा ॥ १५९ ॥

'णिव्वा' विश्राम्यतेर्वा 'णिव्वाइ, वीसमइ' द्वयम ।

आक्रमेरोहावोत्थारच्छुन्दाः ॥ १६० ॥

आक्रमेः 'छुन्द उत्थार ओहावो' वा त्रयो मताः ।
ओहावइ उत्थारइ, वा अक्कमइ छुन्दइ ।

भ्रमेष्टिरिटिल्ल-ढुण्ढुल्ल-ढण्ढल्ल-चक्कम्म-भम्मड-भमड-भमाड-तलअण्ट-झण्ट-झम्प-भुम-गुम-फुम-फुस-ढुम-ढुस-परी-पराः ॥ १६१ ॥

चक्कम्मो भम्मडो झम्पष्टिरिटिल्लो भ्रमो गुमः ।
ढुण्ढुल्लो भमडो ढण्ढल्लो भमाडः फुमः फुसः ।
तलअण्टस्तथा झण्टो, ढुमो ढुस-परी-पराः ।
इत्यमी भ्रमतेरष्टादशादेशा विकल्पनात् ।
टिरिटिल्लइ ढुण्ढुल्लइ, ढण्ढल्लइ तलअण्टइ च झण्टइ ।
भमडइ चक्कम्मइ भम्मडइ भमाडइ भमइ झम्पइ ।
गुमइ फुमइ फुसइ ढुमइ, ढुसइ परीइ च परइ भमइ पक्षे ।
भ्रमधातोरिह रूप, विविधं धेयं सुधीभिस्तु ।

गमेरई-अइच्छाणुवज्जावज्जसोक्कुसाक्कुस-पच्चड्ड-पच्छन्द-णिम्मह-णी-णीण-णीलुक्क-पदअ-रम्भ-परिअल्ल-वोल-परिअल-णिरिणास-णिवहावसेहावहराः ॥१६२॥

अई णी पदओऽइच्छोऽणुवज्जोऽवज्जसोऽक्कुसः ।
पच्चड्डो णिवहः पच्छन्दोऽवसेहश्च णिम्महः ।
परिअल्लः परिअलो, णिरिणासस्तथोक्कुसः ।
रम्भो णीणश्च णीलुक्कोऽवहरो वोल इत्यमी ।
एकविंशतिरादेशा गमधातोस्तु वा मताः ।
अणुवज्जइ पच्चड्डइ, अवज्जसइ अक्कुसइ च पच्छन्दइ ।
णीणइ अईइ रम्भइ, णिरिणासइ णीइ णीलुक्कइ ।
पदअइ णिम्महइ अइच्छइ परिअल्लइ च उक्कुसइ वोलइ ।
अवसेहइ अवहरइ च, णिवहइ परिअलइ वा गच्छइ ॥
[णीहम्मइ आहम्मइ, पहम्मइ णिहम्मइ तु तथा हम्मइ ।
'हम्म गतौ' इति धातोरमूनि रूपाणि धेयानि ।]

आङा अहिपच्चुअः ॥ १६३ ॥

आङा सहितस्य गमेः, स्थाने वाऽस्त्वहिपच्चुअः ।
'अहिपच्चुअइ' स्याद् वा, तथा-ऽऽअच्छइ' पाक्षिकम् ॥

समा अब्भिडः ॥ १६४ ॥

समा युक्तस्य तु गमेर्, 'अब्भिडो' वा विधीयते ।
सिद्धं ततो 'अब्भिडइ, 'पक्षे-संगच्छइ स्मृतम् ।

श्लिषेः सामग्गावयास-परिअन्ताः ॥ १९० ॥

अवयासः सामग्गः, परिअन्तश्च त्रयः श्लिषेर्वा स्युः ।
अवयासइ सामग्गइ, परिअन्तइ, वा सिलेसइ च ।

म्रक्षेश्चोप्पडः ॥ १९१ ॥

म्रक्षेस्तु चोप्पडो वा स्याद्, वा मक्खइ चोप्पडइ ।

काङ्क्षेराहाहिलङ्घाहिलङ्ख-वच्च-वम्फ-मह-सिह-विलुम्पाः ॥ १९२ ॥

अहिलङ्घोऽहिलङ्खो वम्फो विलुम्पो महः सिहः ।
आहो वच्चः काङ्क्षतेर्वाऽष्टावादेशा अमी मताः ।
अहिलङ्घइ अहिलङ्खइ, आहइ वच्चइ महइ विलुम्पइ च ।
वम्फइ सिहइ च, पक्षे-'कङ्खइ' इति सिद्धिमेति पदम् ।

प्रतीक्षेः सामय-विहीर-विरमालाः ॥ १९३ ॥

परे प्रतीक्षेर्वा स्युः, विरमालः सामयो विहीरश्च ।
विरमालइ च विहीरइ, सामयइ तथा पडिक्खइ वा ।

तक्षेस्तच्छ-चच्छ-रम्प-रम्फाः ॥ १९४ ॥

तच्छश्चच्छो रम्पो, रम्फश्चैते तु तक्षेर्वा स्युः ।
तच्छइ चच्छइ रम्पइ, रम्फइ, तक्खइ तु वैकल्प्यात् ।

विकसेः कोआस-वोसट्टौ ॥ १९५ ॥

कोआसो वोसट्टो, विकसेरेतौ परे तु वा भवतः ।
कोआसइ वोसट्टइ, तथा विकल्पेन विअसइ च ।

हसेर्गुञ्जः ॥ १९६ ॥

हसेर्गुञ्जो विभाषा स्याद्, यथा हसइ गुञ्जइ ।

स्रंसेर्ल्हस-डिम्भौ ॥ १९७ ॥

ल्हसो डिम्भश्च वा स्यातां, स्रंसेर् धातोः परे यथा ।
ल्हसइ डिम्भइ तथा, पक्षे-'संसइ' सिध्यति ।

त्रसेर्डर-बोज्ज-वज्जाः ॥ १९८ ॥

बोज्जो वज्जो डरश्चैते, वा भवन्तु त्रसेः परे ।
सिद्धं बोज्जइ डरइ, तथा तसइ वज्जइ ।

न्यसो णिम-णुमौ ॥ १९९ ॥

न्यस्यतेः स्तो णिम-णुमौ, 'णिमइ णुमइ' यथा ।

पर्यसः पलोट्ट-पल्लट्ट-पल्हत्थाः ॥ २०० ॥

पर्यस्यतेः 'पलोट्टः, पल्लट्टः पल्हत्थ इति सन्तु हि ।
पल्लट्टइ पल्हत्थइ, तथा पलोट्टइ भवति रूपम् ।

निःश्वसेर्झङ्खः ॥ २०१ ॥

झङ्खो वा निःश्वसेर्, नीससइ झङ्खइ च रूपम् ।

उल्लसेरूसलोसुम्भ-णिल्लस-पुलआअ-गुञ्जोल्लारोआः ॥ २०२ ॥

ऊसुम्भ ऊसलो गुञ्जोल्लः पुलआअ-णिल्लसौ ।
आरोअः, वा षडादेशाः, उल्लसेस्तु परे मताः ।
पुलआअइ गुञ्जोल्लइ, 'गुञ्जुल्लइ ह्रस्वतस्तु,' ऊसलइ ।
ऊसुम्भइ आरोअइ, तथा णिल्लसइ च उल्लसइ ।

भासेर्भिसः ॥ २०३ ॥

भासेर्भिसो वा, 'भिसइ,' पक्षे-'भासइ' इत्यपि ।

ग्रसेर्घिसः ॥ २०४ ॥

ग्रसेर्घिसो वा, घिसइ, पक्षे 'गसइ' इत्यपि ।

११

अवाद् गाहेर्वाहः ॥ २०५ ॥

अवाद् गाहेस्तु वाहो वा, ओवाहइ ओगाहइ ।

आरुहेश्चड-वलग्गौ ॥ २०६ ॥

चडो वलग्गश्च द्वौ, भवेताम् आरुहेः परे ।
वा वलग्गइ चडइ, तथाऽऽरुहइ पाक्षिकम् ।

मुहेर्गुम्म-गुम्मडौ ॥ २०७ ॥

वा गुम्म-गुम्मडौ स्यातां, मुहेर्धातोः परे, यथा ।
वा गुम्मइ गुम्मडइ, पक्षे 'मुज्झइ' सिध्यति ।

दहेरहिऊलालुङ्खौ ॥ २०८ ॥

आलुङ्खो वाऽहिऊलश्च, दहेः स्थाने विकल्पितौ ।
अहिऊलइ आलुङ्खइ, पक्षे-डहइ स्मृतम् ।

ग्रहो वल-गेण्ह-हर-पङ्ग-निरुवाराहिपच्चुआः ॥ २०९ ॥

वल-गेण्ह-हर-पङ्ग-निरुवाराहिपच्चुआ ग्रहेः स्युरमी ।
अहिपच्चुअइ वलइ निरुवारइ गेण्हइ हरइ पङ्गइ ।

क्त्वा-तुम्-तव्येषु घेत् ॥ २१० ॥

क्त्वा-तुम-तव्येषु परतो, 'घेत्' आदेशो ग्रहेर्मतः ।
[क्त्वा] स्याद् घेत्तुआण घेत्तूण, क्वचिन्नो-'गेण्हिअ' स्मृतम् ।
[तुम्] घेत्तुं [तव्य] घेत्तव्वम्' इत्येतत्, त्रिविधसङ्ख्यमीरितम् ।

वचो वोत् ॥ २११ ॥

क्त्वा-तुम-तव्येषु वचेर् 'वोत्', इत्यादेशो विधीयते ।
'वोत्तूण वोत्तुं वोत्तव्वं', अयं चैतदुदाहृतम् ।

रुद-भुज-मुचां तोऽन्त्यस्य ॥ २१२ ॥

तः स्याद् रुद-भुज-मुचां, क्त्वा-तुम्-तव्येषु, तद्यथा ।
भोत्तूण मोत्तुं भोत्तव्व, ज्ञातव्यमनया दिशा ।

दृशस्तेन ट्ठः ॥ २१३ ॥

दृशोऽन्त्यस्य तकारेण, सह ट्ठः प्रभवेद्, यथा ।
दट्ठूण दट्ठुं दट्ठव्वं, संप्रयुक्तं बुधैरिदम् ।

आः कृगो भूत-भविष्यतोश्च ॥ २१४ ॥

क्त्वा-तुम-तव्येषु च तथा, काले भूते भविष्यति ।
कृगोऽन्त्यस्य तु 'आ' इत्यादेशः स्यादिति कथ्यते ।
' चकाराकार्षीदकरोत, ' एषु ' काहीअ ' भण्यते ।
' कर्ता करिष्यतीत्यर्थे, पदं ' काहिइ ' पठ्यते ।
क्त्वा-तुम-तव्येषु काऊण, काउं कायव्वमिष्यते ।

गमिष्यमाऽऽसां छः ॥ २१५ ॥

गमिष्यमाऽऽसामन्त्यस्य, छकारादेश इष्यते ।
गच्छइ इच्छइ तथा, सिद्धं जच्छइ अच्छइ ।

छिदि-भिदो न्दः ॥ २१६ ॥

न्दः स्यात् छिदि-भिदोर् अन्ते, यथा-छिन्दइ भिन्दइ ।

युध-बुध-गृध-क्रुध-सिध-मुहां ज्झः ॥ २१७ ॥

स्यात् क्रुध-युध-बुध-गृध-सिध-मुहां द्विरुक्तो 'ज्झ' इत्यादेशः ।
कुज्झइ जुज्झइ बुज्झइ, गिज्झइ सिज्झइ च मुज्झइ च ।

रुधो न्ध-म्भौ च ॥ २१८ ॥

रुधो न्ध-म्भौ तु चात् ' ज्झो ', रुन्धइ रुम्भइ रुज्झइ ।

सद्-पतोर्डः ॥ २१९ ॥

अन्ते सद्-पतोर्डः स्यात्, सडइ पडइ स्मृतम् ।

क्वथ-वर्धां ढः ॥ २२० ॥

क्वथेर् वर्धेर् अन्तिमस्य, ढः स्यात् कढइ वड्ढइ ।
वृधेः कृतगुणस्येह, वर्धेश्च ग्रहणं समम् ।

वेष्टः ॥ २२१ ॥

' वेष्ट वेष्टने ' इत्यस्य, धातोः 'कगट'-[८ । ७७] सूत्रतः ।
पक्षोपेऽन्त्यस्य ढो, 'वेढिज्जइ, वेढइ' इत्यपि ।

समो ल्लः ॥ २२२ ॥

संवेष्टतेरन्तिमस्य, ' ल्लः ' स्यात्, 'संवेल्लइ' स्मृतम् ।

वोदः ॥ २२३ ॥

वा ' ल्ल ' उद्वेष्टतेर् 'उव्वेल्लइ, उव्वेढइ' स्मृतम् ।

स्विदां ज्जः ॥ २२४ ॥

स्विदिप्रकाराणां ' ज्जः ' स्याद्, अन्तिमस्य द्विरूपकः ।
सव्वङ्ग-सिज्जिरीए संपज्जइ खिज्जइ स्मृतम् ।
बहुत्वं तु प्रयोगानुसरणार्थमिहेष्यते ।

व्रज-नृत-मदां च्चः ॥ २२५ ॥

अन्तिमस्य व्रज-नृत-मदानां ' च्चो ' भवेदिह ।
वच्चइ नच्चइ तथा, मच्चइ सिद्धिमाययुः ।

रुद-नमोर्वः ॥ २२६ ॥

रुद-नमोर् वो, रुवइ, रोवइ नवइ स्मृतम् ।

उद्विजः ॥ २२७ ॥

उद्विजतेरन्त्यस्य वः, उव्वेवो च उव्विवइ ।

खाद-धावोर्लुक् ॥ २२८ ॥

खाद-धावोर्लुग् अन्ते स्यात्, खाइ खाअइ खाहिइ ।
स्याद् धाइ धाउ धाहिइ, क्वचिन्नो-' धावइ ' स्मृतम् ।
वर्तमाना-भविष्यद्-विध्याद्येकवचनेषु हि ।
तेनेह नैव ' खादन्ति, धावन्ति ' बहुलग्रहात् ।

सृजो रः ॥ २२९ ॥

सृजो धातोरन्तिमस्य, रकारोऽत्र विधीयते ।
वोसिरामि वोसिरइ, तथा निसिरइ स्मृतम् ।

शकादीनां द्वित्वम् ॥ २३० ॥

अन्तिमस्य शकादीनां, द्वित्वं भवति, तद्यथा ।
[शक्] सक्कइ [जिम] जिम्मइ [लग] लग्गइ,
[मग्] मग्गइ [कुप] कुप्पइ [नुट] पलोट्टइ च [तुट] तुट्टइ ।
[नश्] नस्सइ [अट्] परिअट्टइ [नट्] न-
ट्टइ [सिव्] सिव्वइ, अन्यदपि चैवम् ।

स्फुटि-चलेः ॥ २३१ ॥

स्फुटेश्चलेश्च वैकल्पं, द्वित्वमन्त्यस्य भाष्यते ।
फुट्टइ फुडइ तथा, रूपं चल्लइ चलइ ।

प्रादेर्मीलेः ॥ २३२ ॥

प्रादेः परस्य मीलेर्वा, द्वित्वमन्त्यस्य बुध्यताम् ।
पमिल्लइ तथा संमीलइ, मीलइ नं विना ।

उवर्णस्यावः ॥ २३३ ॥

अवादेशस्तु धातूनामन्त्योवर्णस्य बुध्यताम् ।
[ह्नु] निण्हवइ [हु] निहवइ, [रु] रवइ प्रभृति स्मृतम् ।

ऋवर्णस्यारः ॥ २३४ ॥

अरादेश ऋवर्णस्य, भवेद् धातु-तदन्तिनः ।
यथा करइ धरइ, हरइ प्रभृति मतम् ।

वृषादीनामरिः ॥ २३५ ॥

अरिर्वृषादिधातूनाम्, ऋवर्णस्य परे भवेत् ।
वृषो 'वरिसइ' कृषो, तथा 'करिसइ' स्मृतम् ।
एवं मृषो 'मरिसइ', हृषो 'हरिसइ' स्मृतम् ।
अरिः संदृश्यते येषां, येषामेते हि वृषादयः ।

रुषादीनां दीर्घः ॥ २३६ ॥

रुषप्रभृतिधातूनां, स्वरस्य दीर्घो भवेद्, यथा रूसइ ।
तूसइ सूसइ दूसइ, पूसइ सीसइ, तथाऽन्यदपि ।

युवर्णस्य गुणः ॥ २३७ ॥

इवर्णोवर्णयोर्धातो-र्गुणः क्ङित्यपि ङित्यपि ।
यथा जेऊण नेऊण, नेइ उड्डेइ नेन्ति च ।
क्वचिन्नायं विधिर् नीओ, उड्डीओ सिध्यतो यतः ।

स्वराणां स्वराः ॥ २३८ ॥

धातुषु स्वराणां स्थाने, भवन्ति बहुलं स्वराः ।
सद्दहणं सद्दहाण, तथा धुवइ धावइ [१] ।
क्वचिन्नित्यं देइ लेइ, आर्षे 'बेमि' प्रयुज्यते ।

व्यञ्जनाददन्ते ॥ २३९ ॥

व्यञ्जनवर्णान्ताद् धातोरन्तेऽकार आगमो भवति ।
भमइ हसइ चुम्बइ उवसमइ कुणइ सिञ्चइ च रुंधइ ।
शपादीनां प्रयोगश्च, प्रायो नास्तीति बुध्यताम् ।

स्वरादनतो वा ॥ २४० ॥

अनदन्त-स्वरवर्णान्ताद् धातोर्वाऽस्त्वदागमस्त्वन्ते ।
पाअइ पाइ च, धाअइ धाइ, मिलाअइ मिलाइ तथा ।
उव्वाअइ उव्वाइ च, होऊण च होइऊण इति भवति ।
'अनत' इति च किमुक्तम् ?, यथा चिइच्छइ दुगुच्छइ च ।

चि-जि-श्रु-हु-स्तु-लू-पू-धूगां णो ह्रस्वश्च । २४१ ।

चिज्यादीनामन्ते भवति णागमः, स्वरस्य ह्रस्वश्च ।
[चि] चिणइ [जि] जिणइ [श्रु] सुणइ [हु] हुणइ,
[स्तु] थुणइ [लू] लुणइ [पू] पुणइ [धूग्] धुणइ तथा ।
बहुलात् क्वापि विकल्पो, जयइ जिणइ उच्चिणइ च उच्चेइ ।
जेऊण च जिणिऊण च, तथैव सोऊण सुणिऊण ।

न वा कर्म-भावे व्वः क्यस्य च लुक् ॥ २४२ ॥

भाव-कर्मप्रवृत्तानां, चिज्यादीनां विभाषया ।
व्वोऽन्ते, तत्सन्नियोगे च, क्यस्य लुक् स्यादितीर्यते ।
चिव्वइ चिणिज्जइ, जिव्वइ जिणिज्जइ,
सुव्वइ सुणिज्जइ, हुव्वइ हुणिज्जइ ।
थुव्वइ थुणिज्जइ, लुव्वइ लुणिज्जइ,
पुव्वइ पुणिज्जइ, धुव्वइ-धुणिज्जइ ।
एवं चिव्विहिइत्यादि, रूपं काले भविष्यति ।

म्मश्चेः ॥ २४३ ॥

भाव-कर्मप्रवृत्तस्य, चिगो धातोर् विभाषया ।
म्मोऽन्ते, तत्सन्नियोगे च क्यस्य लुक् स्यादितीर्यते ।
वर्तमाने ' चिणिज्जइ, तथा चिम्मइ चिव्वइ ' ।
' चिव्विहिइ चिणिहिइ, चिम्मिहिइ भविष्यति ।

---

[१] हवइ हिवइ । चिणइ चुणइ । रुवइ रोवइ ।

हन्-खनोऽन्त्यस्य ॥ २४४ ॥

धात्योर् हन-खनोरत्र, भाव-कर्मप्रवृत्तयोः ।
अन्त्यस्य वा स्याद् म्मः, तत्सन्निधोगे क्यस्य चास्तु लुक् ।
[वर्तमाने] यथा हम्मइ खम्मइ, हणिज्जइ खणिज्जइ ।
[भविष्यति] हम्मिहिइ हणिहिइ, खम्मिहिइ खणिहिइ ।
कर्तर्यपि हनोऽयं स्याद्, हन्तेर्थे तु ' हम्मइ ' ।
क्वचिन्न दृश्यते-'हन्तव्व' 'हन्तूण' 'हओ' यथा ।

म्भो दुह-लिह-वह-रुधामुच्चातः ॥ २४५ ॥

दुह-लिह-वह-रुधधातूनां म्भो वाऽन्त्यस्य भावकर्मजुषाम् ।
लुक् च तत्सन्निधोगे क्यस्य, भवेद् उद् वहेरस्य ।
स्याद् दुहिज्जइ दुब्भइ, वा लिब्भइ लिहिज्जइ ।
वुब्भइ वहिज्जइ रुब्भइ रुन्धिज्जइ स्मृतम् ।
दुब्भिहिइ दुहिहिइत्यादि काले भविष्यति ।

दहो ज्झः ॥ २४६ ॥

भाव-कर्मप्रवृत्तस्य, दहो धातोर् विनाऽन्यथा ।
ज्झः स्याद्, अन्त्यस्य तत्सन्नि-योगे क्यस्यापि लुग् भवेत् ।
स्याद् वर्तमाने डज्झइ, तथा रूपं डहिज्जइ ।
' डज्झिहिइ डहिहिइ ' इति काले भविष्यति ।

बन्धो न्धः ॥ २४७ ॥

भावकर्मप्रवृत्तस्य, बन्धधातोर्विभाषया ।
ज्झः स्याद् अन्त्ययोस् तत्सन्निधोगे क्यस्य चास्तु लुक् ।
स्याद् वर्तमाने बज्झइ, तथा बन्धिज्जइ स्मृतम् ।
' बज्झिहिइ बन्धिहिइ ' इति काले भविष्यति ।

समनूपाद्रुधेः ॥ २४८ ॥

भावकर्मप्रवृत्तस्य, समनूपाद् रुधेस्तु वा ।
अन्त्यस्य वा ज्झः, तत्सन्निधोगे क्यस्यापि लुग् भवेत् ।
संरुज्झइ अणुरुज्झइ, उवरुज्झइ भवति, पाक्षिकं तु यथा ।
संरुन्धिज्जइ अणुरुन्धिज्जइ उवरुन्धिज्जइ भवति ।
संरुज्झिहिइ संरुन्धिहिइत्यादि भविष्यति ।

गमादीनां द्वित्वम् ॥ २४९ ॥

भावकर्मप्रवृत्तानां, गमादीनां विभाषया ।
स्याद् द्वित्वमन्त्यस्य तत्सन्निधोगे क्यस्य चास्तु लुक् ।
[गम्] गम्मइ गमिज्जइ [हस] हस्सइ हसिज्जइ ।
[भण] भण्णइ भणिज्जइ [छुप] छुप्पइ छुविज्जइ ।
[रुद्] रुव्वइ रुविज्जइ [लभ] लब्भइ लहिज्जइ ।
[कथ्] कत्थइ कहिज्जइ [भुज] भुज्जइ भुंजिज्जइ ।
गम्मिहिइ गमिहिइत्यादि रूपं भविष्यति ।
रुद-[४ । २२६] सूत्रेण रुवयाऽऽदेशोऽत्र दर्शयिष्यते ।

ह-कृ-तृ-ज्रामीरः ॥ २५० ॥

धातूनां ह-कृ-तृ-ज्रां स्याद्, ईरादेशो विभाषया ।
क्यलुक् तत्सन्निधोगे च, भवेदित्युपदिश्यते ।
हीरइ हरिज्जइ, कीरइ करिज्जइ ।
तीरइ तरिज्जइ, जीरइ जरिज्जइ ।

अर्जेर्विढप्पः ॥ २५१ ॥

अर्जेर्विढप्पो वा तत्सन्निधोगे क्यस्य चास्तु लुक् ।
विढप्पइ, विढविज्जइ, अज्जिज्जइ पाक्षिके ।

ज्ञो णव्व-णज्जौ ॥ २५२ ॥

भाव-कर्मप्रवृत्तस्य, जानातेर्भवतः पदे ।
णव्वो णज्जश्च वा, तत्सन्निधोगे क्यस्य चास्तु लुक् ।
णव्वइ णज्जइ, पक्षे-जाणिज्जइ मुणिज्जइ ।
'म्न-ज्ञोर्णः' [२ । ४२] इति णादेशे, णाइज्जइ च सिध्यति ।
नञ्पूर्वकस्य जानातेर् 'अणाइज्जइ' पठ्यते ।

व्याहृगेर्वाहिप्पः ॥ २५३ ॥

भावकर्मप्रवृत्तस्य, भवेद् व्याहरतेः पदे ।
वाहिप्पो वाऽत्र तत्सन्निधोगे क्यस्यापि लुग् भवेत् ।
वाहिप्पइ तथा वाहरिज्जइ रूपनिदर्शनम् ।

आरभेराढप्पः ॥ २५४ ॥

आरभेः कर्मभावे स्याद्, वाऽऽढप्पः क्यस्य चास्तु लुक् ।
आढप्पइ भवेत्, पक्षे-' आढवीअइ ' सिध्यति ।

स्निह-सिचोः सिप्पः ॥ २५५ ॥

स्निह-सिचोः कर्मभावे, सिप्पः स्यात् क्यस्य चास्तु लुक् ।
'स्निह्यते, सिच्यते' इत्येतयोरर्थेऽत्र ' सिप्पइ ' ।

ग्रहेर्घेप्पः ॥ २५६ ॥

कर्मभावे ग्रहेर् घेप्पो, वा भवेत्, क्यस्य चास्तु लुक् ।
यथा ' घेप्पइ ' इत्येतत्, पक्षे गिण्हिज्जइ स्मृतम् ।

स्पृशेश्छिप्पः ॥ २५७ ॥

स्पृशेः कर्मभावे स्याद्, वा छिप्पः, क्यस्य चास्तु लुक् ।
तेन 'छिप्पइ' सन्सिद्धं, तथा रूपं 'छिविज्जइ ' ।

क्तेनाप्फुण्णादयः ॥ २५८ ॥

आक्रमिप्रभृतीनां तु, धातूनाम् अप्फुण्णादयः ।
अप्फुण्णो आक्रान्तः, उक्कोसं उत्कृष्टं, फुडं स्फुटम् ।
वोलीणोऽतिक्रान्तः, पल्हत्थं पल्लट्टं वा पर्यस्तम् ।
लुग्गं रुग्णं, विक्कसिओ वोसट्टो, निसिट्टं निसृष्टम् ।
क्याविद्ध, च चक्खिअं आस्वादितं, छिन्नं तु लुयिम् ।
निघानितो निसुढो स्याद्, हीयमाणं तु हीणम् ।
वा प्रमृष्टः पम्हुसिअः, पम्हुट्ठो परिमृष्टे ।
विद्दवणो महो, अर्ज स्वम, विढत्तं अर्जितं तथा ।
छित्तं स्पृष्टं, लुअं लूनं, भवेद् निच्छूढम् उद्वृत्तम् ।
इत्यादयो वेदितव्याः, शब्दा प्रकृत्यनुसारतः ।

धातवोऽर्थान्तरेऽपि ॥ २५९ ॥

उक्तादर्थात् प्रयत्नेऽर्थान्तरेऽपि धातवः ।
उक्तो बलिः प्राणनेऽर्थे, खादनेऽपि च वर्तते ।
यथा ' बलइ ' खादति, प्राणनं च करोति वा ।
एवं कलिश्च संख्याने, संज्ञानेऽपि च दृश्यते ।
यथा ' कलइ ' जानाति, संख्यानं च करोति वा ।
रिगिर्गतौ प्रवेशेऽपि, ' रिगइ ' विशतीति च ।
काङ्क्षेः प्राकृते वम्फो, 'वम्फइ' खादनार्थेन ।
फक्कतेः स्थक्कः आदेशस्तेन सिध्यति ' थक्कइ ' ।
नीचां गतिं करोतीति वा, विलम्बयतीति वा ।
भाषार्थे विलप्युपालभ्योर् झङ्ख इति तु ' झङ्खइ ' ।
तस्यार्थं उपालभते, वा विलपति भाषते ।
एवं हि 'पडिवालेइ', वा प्रतीक्षते प्रत्यक्षे ।
केचित् केश्चिदुपसर्गैर्नियतार्थाश्च सन्ति ।

'मंद्दरइ' मंथ्नातीति, स्यात 'पहरइ' युध्यते ।
'सन्दुहरइ' तु मरईमिवर्नीति 'नीहरइ' पुरीषमुत्सृजति ।
[illegible] 'विहरइ,' 'आहरइ' च खादति, 'उच्चुपइ' चटति ।
पुनः पूरयति 'पम्हिरइ,' स्यात् त्यजतीति 'परिहरइ' रूपम् ।
'ढक्करइ' पूत्करोति, 'थाहरइ' तथा-ऽऽह्वयति इत्यर्थे ।
[illegible] विरेये 'पयमइ,' निःसरतीत्यर्थे 'उल्लुहइ' भवति ।
एवं बहूनमथ्वान्, बहवो धातवो वेद्याः ।

इति प्राकृतभाषा समाप्ता ।

॥ अथ शौरसेनी भाषाऽऽरभ्यते ॥

तो दोऽनादौ शौरसेन्यामयुक्तस्य ॥ २६० ॥

शौरसेन्यां तु भाषायामपदादौ प्रवर्तिनः ।
[illegible] दकारः स्यात्, न च युक्तो भवेद् यदि ।
[illegible] पुरिद्-[illegible] भणिदो ।
[illegible] किम ? तम्म, जधा, नेह प्रवर्ततास ॥
[illegible] किम ? मत्तो, अय्यउत्तो, असउन्तले ! ।

अधः क्वचित् ॥ २६१ ॥

शौरसेन्यां तु [illegible] ।
[illegible], महन्दो [illegible] यथा ।

वाऽऽदेस्तावति ॥ २६२ ॥

[illegible] ता च, दाव च ताव च ।

आ आमन्त्र्ये सौ वेनो नः ॥ २६३ ॥

[illegible] परे यथा ।
[illegible] ! [illegible] ! [illegible] ! [illegible] ! वा । [१]

मो वा ॥ २६४ ॥

[illegible] परे [illegible] दीर्घ [illegible] ।
[illegible] ! [illegible] ! [illegible] ! ।
[illegible] ! [illegible] ! [illegible] ।

भवद्भगवतोः ॥ २६५ ॥

[illegible] परे [illegible] ।
[illegible] ! [illegible] । [२]
[illegible]
[illegible]

न वा र्यो य्यः ॥ २६६ ॥

[illegible]
[illegible]

थो धः ॥ २६७ ॥

[illegible]
[illegible]

इह-हचोर्हस्य ॥ २६८ ॥

[illegible] [३।१४३] [illegible]
[illegible]

भुवो भः ॥ २६९ ॥

[illegible]
[illegible]
[illegible]

तथा भुवदि हुवदि, भवदि हवदि स्मृतम् ।

पूर्वस्य पुरवः ॥ २७० ॥

पूर्वशब्दस्य 'पुरव' इत्यादेशो विकल्प्यते ।
यथा-ऽपुरवं नाडयं, पक्षे'ऽपुव्वं पदं' मतम् ।

क्त्व इय-दूणौ ॥ २७१ ॥

क्त्वाप्रत्ययस्य वा स्याताम्, 'इय-दूणौ' यथाक्रमम् ।
यथा 'भविय' 'भोदूण,' पक्षे 'भोत्ता' प्रयुज्यते ।

कृ-गमो डडुअः ॥ २७२ ॥

कृ-गमिभ्यां परस्य क्त्वः, स्थाने वा 'अडुओ'ऽस्तु डित् ।
सिद्धं कडुअ गडुअ, पक्षे रूपं निशम्यताम् ।
करिदूण गच्छिदूण, तथा करिय गच्छिय ।

दिरिचेचोः ॥ २७३ ॥

दिर् इचेचोः [३।१३९] भवेद्, नेदि देदि भोदि च होदि च ।

अतो देश्च ॥ २७४ ॥

अतः परयोर् इचेचोः, स्थाने 'दे दि' इमौ क्रमात् ।
अच्छदे अच्छदि तथा, सिद्ध गच्छदि गच्छदे ।
अतः किम् ? स्याद् 'वसुआदि' 'नेदि, भोदि' यथाऽत्र न ।

भविष्यति स्सिः ॥ २७५ ॥

भविष्यदर्थे विहिते, प्रत्यये स्सिः परे भवेत् ।
हिस्साहामपवादोऽयं, तथा रूपं भविस्सिदि ।

अतो ङसेर्डादो-डादू ॥ २७६ ॥

अतः परस्य तु ङसेः, 'आदो आदु' इमौ डितौ ।
'दूरादो य्येव' 'दूरादु' इयं सांसिद्धिमृच्छति ।

इदानीमो दाणिं ॥ २७७ ॥

इदानीमः पदे 'दाणिं' इत्यादेशोऽभिधीयते ।
'अनन्तरकरणीयं दाणिं आणवेदु,' व्यत्ययात् प्राकृतेऽपि च ।
अन्यत्रापि 'अम्ह च दाणिं बोहिं' प्रयुज्यते ।

तस्मात्ताः ॥ २७८ ॥

तस्माच्छब्दस्य 'ता' इत्यादेशो भवति, तद्यथा ।
'मांणेण परिणाद्धं ता,' 'ता जाव पविसामि च' ।

मोऽन्त्याण्णो वेदेतोः ॥ २७९ ॥

इदेतोः परयोर् अन्त्याद्, मात् परे णागमोऽस्तु वा ।
[इकारे]जुत्त णिम णुर्णामणं,[एकारे] किं णेदं वा किमेदं च ।

एवार्थे य्येव ॥ २८० ॥

एवार्थे 'य्येव' इति तु, निपातोऽयं निपात्यते ।
मम य्येव बम्भणस्स, 'सो य्येव एसो ' गद्यते ।

हञ्जे चेट्याह्वाने ॥ २८१ ॥

चेट्याह्वाने भवेद् 'हञ्जे,' 'हञ्जे चदुरिके ! ' यथा ।

हीमाणहे विस्मय-निर्वेदे ॥ २८२ ॥

'हीमाणहे' निपातोऽयं, निर्वेद विस्मये मतः ।
[विस्मये] जं [illegible] अवयवीसु, हे स हीमाणहे, यथा
[निर्वेदे] हीमाणहे [illegible], किं पुणरवि [illegible] वा ।

णं नन्वर्थे ॥ २८३ ॥

[illegible]
[illegible]
[illegible]

ममोत्तु णं, अथा णं च, तथा णं, इत्यमादयः।

अम्महे हर्षे ॥ २८४ ॥

'अम्महे' इति निपातो, हर्षेऽर्थे संप्रयुज्यते।
'अयं सुपलिगढिदो, सुम्मिलाए च अम्महे'।

हीही विदूषकस्य ॥ २८५ ॥

हर्षे विदूषकाणां तु, द्योत्ये 'हीही' निपात्यते।
'हीही पियवयस्सस्स, भो संपन्ना मणोरधा'।

शेषं प्राकृतवत् ॥ २८६ ॥

दीर्घ-[१।४]तो दो-[४।२६०]ऽनयोर्मध्ये,सूत्रयोर् यद्यदीरितम्।
तत् सर्वं कार्यमत्रापि बोध्यं, भेदस्तु दर्शितः [१]।
इति शौरसेनी भाषा समाप्ता।

॥ अथ मागधी भाषाऽऽरभ्यते ॥

अत एत् सौ पुंसि मागध्याम् ॥ २८७ ॥

मागध्यां सौ परेऽकारस्यैकारः पुंसि जायते।
एशे मेशे एष मेषः, एशे च पुलिशे तथा।
'भो भदन्त! करोमीति भवेद् 'भन्ते! करेमि भो'।
अतः किं तु? 'कली' रूपं, किं पुंसीति? 'जलं' यथा। [२]

र-सोर्ल-शौ ॥ २८८ ॥

ल-तालव्यशकारौ स्तो, रेफ-दन्त्यसकारयोः।
[र] नले कले [स] शुदं हंशे (उभयोः) 'शालशे पुलिशे' तथा।
"लहश-वश-नमिल-शुल-शिल-विअलिद-मन्दाल-लायिदंहि-युगे।
वील-यिणे पक्खालदु, मम शयलमवय्य-यम्बालं" ॥।

स-षोः संयोगे सोऽग्रीष्मे ॥ २८९ ॥

संयोगे स-षयोः सः स्याद्, न तु ग्रीष्मे कदाचन।
ऊर्ध्वलोपादिसूत्राणामपवादोऽयमीरितः।
[स] हस्ती बुहस्पदी मस्कली पस्खलदि विस्मये।
[ष] कस्ट, विस्नुं, शुस्क-दालुं, धनुस्खण्डं च निस्फलं।
'अग्रीष्मे' इति किम्? 'गिम्ह-वाशले' नेह सो भवेत्।

ट्ट-ष्ठयोः स्टः ॥ २९० ॥

द्विरुक्त-टस्य, षाऽऽक्रान्त-ठस्य 'स्टो' भवति द्वयोः।
[ट्ट] पस्टे, भस्टालिका, [ष्ठ] 'कोस्टागालं, शुस्टु कदं' यथा।

स्थ-र्थयोस्तः ॥ २९१ ॥

'स्थ-र्थ' इत्येतयोः स्थाने, सान्तान्तो विधीयते।
[स्थ] उपस्तिदे शुस्तिदे [र्थ] शस्तवाहेऽस्त...

ज-द्य-यां यः ॥ २९२ ॥

यथाऽवयवभूतानां, ज-द्य-यानां परेऽस्तु यः।
[ज] अय्युणे दुय्यणे [द्य] मय्यं, अय्ये विय्याहले...
आदेयों ज-[१।२४५] स्य बाधार्थ, यस्य यत्वं वि...

न्य-ण्य-ज्ञ-ञ्जां ञ्ञः ॥ २९३ ॥

'न्य-ण्य-ज्ञ-ञ्ज' अमीषां तु, द्विरुक्तो ञ्ञो विधीयते।
[न्य] कञ्ञा [ण्य] पुञ्ञ च [ज्ञ] शव्वञ्ञे,
[ञ्ज] अञ्ञली च धणञ्ञए।

व्रजो जः ॥ २९४ ॥

व्रजे जस्य द्विरुक्तो ञ्ञो, यापवादोऽस्तु, 'वञ्ञदि'।

छस्य श्चोऽनादौ ॥ २९५ ॥

अनादौ वर्तमानस्य, छस्य श्चः संविधीयते।
'पिश्चिले, उश्चलदि, पुश्चदि, गश्च' निदर्शनम्।
अयं लाक्षणिकस्यापि, यथा आपन्नवत्सलः।
'आवन्नवच्छले' चेतद्, भवेद् 'आवन्नवश्चले'।
अनादाविति किम्? 'छाले' नेह श्चत्वं भवेद् यथा।

क्षस्य ᳲकः ॥ २९६ ॥

अनादौ क्षस्य ᳲको जिह्वामूलीयो, 'लᳲकशे' यथा।

स्कः प्रेक्षा-चक्षोः ॥ २९७ ॥

प्रेक्षेर् धातोस्तथाऽऽचक्षेः, क्षस्य स्कः ᳲकस्य बाधकः।
आचस्कदि पेस्कदि च, इयं सिद्धिं समश्नुते।

तिष्ठश्चिष्ठः ॥ २९८ ॥

स्थाधातोस् 'तिष्ठ' इत्यस्य, 'चिष्ठो' भवति, चिष्ठदि।

अवर्णाद्वा ङसो डाहः ॥ २९९ ॥

अवर्णात् परस्य तु ङसः, स्थाने डाहो विकल्प्यते।
'पतिशाह इगे काली न कम्माह' प्रयुज्यते।
'भीमशेणस्स पश्चादो हिण्डीअदि' तु पाक्षिकम्।

आमो डाहँ वा ॥ ३०० ॥

अवर्णाद् उत्तरस्याऽऽमो, विभाषा 'डाहँ' इष्यते।
शयणाहँ सुहं, पक्षे 'नलिन्दाण' इति स्मृतम्।
व्यत्ययात् प्राकृतेऽपि स्यात्, तदुदाहरणं यथा।
ताहँ तुम्हाहँ अम्हाहँ, कम्माहँ सरिआहँ च।

अहं-वयमोर्हगे ॥ ३०१ ॥

'हगे' इत्यमादेशः, परेऽहं-वयमोर् भवेत्।
'शक्कावदालतित्थ-णिवाशी च धीवले हगे'।

शेषं शौरसेनीवत् ॥ ३०२ ॥

मागध्यां यदनुक्तं तच्छौरसेनीवदिष्यते [१]।

---

[१] शौरसेन्यामिह प्रकरणे यत्कार्यमुक्तं ततोऽन्यच्छौर-सेन्यां प्राकृतवदेव भवति। 'दीर्घ-ह्रस्वौ मिथो वृत्तौ' [१।४] इत्यारभ्य 'तो दोऽनादौ शौरसेन्यामयुक्तस्य' [४।२६०] एतस्मात् सूत्रात् प्राग् यानि सूत्राणि एषु यान्युदाहरणानि तेषु मध्ये अमूनि तदवस्थान्येव शौरसेन्यां भवन्ति, अमूनि पुनरेवं-विधानि भवन्तीति विभागः प्रतिसूत्रं स्वयमभ्यूह्य दर्शनीयः। ...था अन्तावेदी। जुवदि-जणो। मणसिला इत्यादि।

[२] यदपि "पोराणमद्ध-मागह-भासा-नियथं हवइ सुत्तं" इत्यादिनाऽऽर्षस्य अर्द्धमागधभाषानियतत्वमाम्नायि वृ-द्धैस्तदपि प्रायोऽस्यैव विधानान्न वक्ष्यमाणलक्षणस्य। कयरे आगच्छइ। से तारिसे दुक्खसहे जिइन्दिए इत्यादि।

* रभसवशनम्रसुरशिरोविगलितमन्दारराजिताङ्घ्रियुगः। वीरजिनः प्रक्षालयतु, मम सकलमवद्यजम्बालम् ॥

[१] 'शेषं प्राकृतवत्' [४-२८६] मागध्यामपि 'दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ' [१-४] इत्यारभ्य 'तो दोऽनादौ शौरसेन्यामयुक्तस्य' [४-२६०] इत्यस्मात् प्राग् यानि सूत्राणि तेषु यान्युदाहरणानि सन्ति तेषु मध्ये अमूनि तदवस्थान्येव मागध्याममूनि पुनरेवंविधानि भवन्तीति विभागः स्वयमभ्यूह्य दर्शनीयः।

[illegible] [४।३२१] [illegible]
इति [illegible] समाप्ता ।

॥ अथ पैशाची भाषा प्रारभ्यते ॥

[illegible] ॥ ३०३ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ ३०४ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ ३०५ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ ३०६ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ ३०७ ॥

[illegible]

कृगो डीरः ॥ ३१६ ॥
कृगः परस्य ' डीरः ' तु, क्त्वस्य स्थाने, विधीयते।
'मध्मानं कीरते सप्यरस्स स्नेय' तु निदर्शनम् ॥

यादृशादेर्दुस्तिः ॥ ३१७ ॥
यादृशादिपदे यो ' दृ,, ' तस्य तिः क्रियते परे।
यातिसो तातिसो युम्हातिसो अम्हातिसो तथा ॥
केतिसो एतिसो अन्नातिसो चेव भवातिसो।

इचेचः ॥ ३१८ ॥
इचे चो: [३।१३९] तिः, नेति नेति, वसुआति च भोति

आत्तेश्च ॥ ३१९ ॥
अतः परयोर् इचेचोः, परे ' ते ति ' इमौ मतौ।
गच्छते गच्छति यथा-ऽऽदिति किम् ? नेति होति ॥

भविष्यत्येय्य एव ॥ ३२० ॥
एय्य एव न तु स्सि: [४।२७५] स्यात्, इचेचोस्तु, भ-
वदुप [illegible] रश्मा, का एसा न दुस्य च ॥

अतो ङसेर्डातो-डातू ॥ ३२१ ॥
अतः परस्य तु ङसेः, ' डातो डातु ' इमौ मतौ।
यथा-तुरातु तुरातो, तुमातो च तुमातु च ॥

तदिदमोष्टा नेन स्त्रियां तु नाए ॥ ३२२ ॥
भवेद् टा-प्रत्ययेन स्यात्, ' नेन ' तदिदमोः परे।
स्त्रीलिङ्गे तु तयोरेव, ' नाए ' इत्यभिधीयते ॥
' नेन कत-सिनानेन नाए ' पुंसि, स्त्रियां पुनः।
[illegible] नाए च पुंसि च ॥
[illegible] नाए [illegible] च [illegible]

शेषं शौरसेनीवत् ॥ ३२३ ॥
पैशाच्यां वस्तुनः [illegible] ॥
[illegible] । [१]

न क-ग-च-जादि षट्-शम्यन्त सूत्रोक्तम् ॥
क ग च [१।१७७] षट्-शमी [१।२६५] इत्य-
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

इति पैशाची भाषा समाप्ता।

॥ अथ चूलिकापैशाचिकभाषा प्रारभ्यते ॥

चूलिकापैशाचिके तृतीय-तुर्ययोराद्य-द्वितीयौ ॥
[illegible]

नगरं नकरं तेन, मेघो मेखः प्रयुज्यते ।
एवं पञ्चसु वर्गेषु, लक्ष्यं ज्ञेयं मनीषिभिः ।
क्वचिल्लाक्षणिकस्यापि, पदे कार्यमिदं भवेत् ।
दाढा ताढा ततो ज्ञेया, पडिमा पटिमा तथा ।

रस्य लो वा ॥ ३२६ ॥

रस्य स्थाने लकारः स्यात्, गौरी 'गोली' हरो 'हलो' ।
"पनमथ पनय-पकुप्पित-गोली-चलनग्ग-लग्ग-पतिबिम्बं ।
तससु नख-तप्पनेसुं, एकातस-तनु-धलं लुद्दं ।
नच्चन्तस्स य लीला-पातुक्खेवेन कम्पिता वसुधा ।
उच्छलन्ति समुद्दा, सइला निपतन्ति तं हलं नमथ" [१]॥

नादि-युज्योरन्येषाम् ॥ ३२७ ॥

अन्येषां तु मते, धातौ युजि चाऽऽदिवर्णयोः ।
तृतीय-तुर्ययोराद्यद्वितीयौ भवतो न तौ ।
यथा 'नियोजितं' इत्येतद् अत्रापि 'नियोजितं' ।
गतिर् 'गती' तथा घर्मो, 'घम्मो' विद्वद्भिरुच्यते ।

शेषं प्राग्वत् ॥ ३२८ ॥

अत्रानुक्तं तु यत् कार्यं, तत् पैशाचीवदिष्यते ।
यथा नस्य णत्वं न, णस्य नत्वं तु सर्वतः ।
इति चूलिका-पैशाचिकभाषा समाप्ता ।

अथापभ्रंशभाषाऽऽरभ्यते ।

स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे ॥ ३२९ ॥

अपभ्रंशे स्वराणां तु, स्थाने प्राय: स्वरा मताः ।
यथा-बाहा बाह बाहु, किलिन्नओ च किलिन्नओ ।
'अथापभ्रंश-भाषायां, विशेषो यस्य वक्ष्यते ।
तस्यापि शौरसेनीवत्, कार्यं प्राकृतवत् क्वचित्' ।
व्यवस्थाबोधकः 'प्राय शब्दः' सूत्रे नियोजितः ।

स्यादौ दीर्घ-ह्रस्वौ ॥ ३३० ॥

प्रायः स्यादौ दीर्घ-ह्रस्वौ, स्तो नाम्नोऽन्त्यस्वरस्य तु ।
[सौ] "ढोल्ला सामला धण चम्पा-वण्णी ।
णाइ सुवण्ण-रेह कस-वट्टइ दिण्णी ॥
[आमन्त्र्ये] ढोल्ला ! मइँ तुहुं वारिया, मा कुरु दीहा माणु ।
निद्दए गमिही रत्तडी, दडवड होइ विहाणु ॥
[स्त्रियाम्] बिट्टीए ! मइ भणिय तुहुं, मा करु वङ्की दिट्ठि ।
पुत्ति ! सकण्णी भल्लि जिवँ, मारइ हिअइ पइट्ठि ॥
[जसि] एइ ति घोडा एह थलि एइ ति निसिआ खग्ग ।
एत्थु मुणीसिम जाणिअइ, जो नवि वालइ वग्ग" [२]॥

अन्यासां च विभक्तीनामेवमूह्यं निदर्शनम् ।

स्यमोरस्योत् ॥ ३३१ ॥

अत उत्वं स्यमोः, 'चउमुहु छंमुहु' सिध्यतः ।
"दहमुहु भुवण-भयंकरु तोसिअ-संकरु णिग्गउ रहवरि चडिअउ ।
चउमुहु छंमुहु झाइवि एक्कहिं लाइवि णावइ दइवें घडिअउ" [१]॥

सौ पुंस्योद् वा ॥ ३३२ ॥

नाम्नोऽकारस्य सौ पुंस्योद् वा, 'जो' 'सो' यथा भवेत् ।
"अगलिअ-नेह-निवट्टाहं जोअण-लक्खु वि जाउ ।
वरिस-सएण वि जो मिलइ सहि सोक्खहं सो ठाउ" [२]॥
पुंसीति किम्—
"अङ्गहिं अङ्गु न मिलिउ हलि ! अहरें अहरु न पत्तु ।
पिअ जोअन्तिहे मुह-कमलु एम्वइ सुरउ समत्तु" [३]॥

एट्टि ॥ ३३३ ॥

टायाम् एत्वमकारस्य, णत्वेन सहेण च ।
" जे महु दिण्णा दिअहडा, दइएं पवसन्तेण ।
ताण गणन्तिएँ अङ्गुलिउ जज्जरिआउ नहेण" [४]॥

ङिनेच्च ॥ ३३४ ॥

इदेतौ स्तो ङिना साकम्, अकारस्य पदे यथा ।
'तलि घल्लइ' इत्यत्र, 'तले घल्लइ' वेष्यते ।
" सायरु उप्परि तणु धरइ तलि घल्लइ रयणाइं ।
सामि सुभिच्चु वि परिहरइ, सम्माणेइ खलाइं" [५]॥

भिस्येद् वा ॥ ३३५ ॥

अत एत्वं वा भिसि स्याद्, 'गुणेहिं गुणहिं' यथा ।
" गुणहिं न संपइ कित्ति पर फल लिहिआ भुञ्जन्ति ।
केसरि न लहइ बोड्डिअ वि गय लक्खेहिं घेप्पन्ति" [६]॥

ङसेर् हे-हू ॥ ३३६ ॥

अतः परस्य 'हे हु' इत्यादेशौ स्तो ङसेः पदे ।
वच्छहे वच्छहु यथा, रूपं वैकल्पिकं मतम् ।
" वच्छहे गिण्हइ फलइं जणु कडु-पल्लव वज्जेइ ।
तो वि महद्दुमु सुअणु जिवँ, ते उच्छङ्गि धरेइ" [७]॥

भ्यसो हुं ॥ ३३७ ॥

अतः परस्य तु पञ्चमी-बहुवचनस्य हुं भवेत् ।

---

[१] प्रणमत प्रणयप्रकुपितगौरीचरणाग्रलग्नप्रतिबिम्बम् ।
दशसु नखदर्पणेषु एकादशतनुधरं रुद्रम् ।
नृत्यतश्च लीलापादोत्क्षेपेण कम्पिता वसुधा ।
उच्छलन्ति समुद्राः शैला निपतन्ति तं हरं नमत ।
[२] नायकः श्यामलः प्रिया चम्पकवर्णा ।
ज्ञायते सुवर्णरेखा कषपट्टके दत्ता ॥
नायक ! मया त्वं वारितो मा कुरु दीर्घमानम् ।
निद्रया गमिष्यति रात्रिः शीघ्रं भवति विभातम् ॥
पुत्रिके ! मया त्वं भणिता मा कुरु वक्रां दृष्टिम् ।
पुत्रि ! सकर्णा भल्लिर्यथा, मारयति हृदयं प्रविष्टा ॥
एते ते घोटका एषा स्थली एते ते निशिताः खड्गाः ।
अत्र मनुष्यत्वं ज्ञायते यो नापि वालयति वल्गाम् ॥

[१] दशमुखो भुवनभयंकरः तोषितशंकरो निर्गतो रथवरे आरूढः ।
चतुर्मुखं षण्मुखं च ध्यात्वैकस्मिन् लगित्वा ज्ञायते दैवेन घटितः ॥
[२] अगलितस्नेहनिर्वृत्तानां योजनलक्षमपि यातु ।
वर्षशतेनापि यो मिलति सखि ! सौख्यानां स स्थानम् ॥
[३] अङ्गैरङ्गं न मिलितं सखि ! अधरेणाधरो न प्राप्तः ।
प्रियस्य पश्यन्त्या मुखकमलमेवमेव सुरतं समाप्तम् ॥
[४] ये मम दत्ता दिवसा दयितेन प्रवसता ।
तान् गणयन्त्या अङ्गुल्यो जर्जरिता नखेन ॥
[५] सागर उपरि तृणं धारयति तले क्षिपति रत्नानि ।
स्वामी सुभृत्यमपि परिहरति संमानयति खलान् ॥
[६] गुणैर्न संपत् कीर्तिः परं, फलानि लिखितानि भुञ्जन्ति ।
केसरी न लभते कपर्दिकामपि गजा लक्षैर्गृह्यन्ते ॥
[७] वृक्षाद् गृह्णाति फलानि जनः कटुपल्लवान् वर्जयति ।
ततोऽपि महाद्रुमः सुजनो यथा, तान् उत्सङ्गे धारयति ॥

"दूरड्डाणें पडिउ खलु, अप्पणु जणु मारेइ ।
जिह गिरि-सिङ्गहुं पडिअ सिल अन्नु वि चूरु करेइ" [१]।

ङसः सु-हो-स्सवः ॥ ३३८ ॥

अतः परस्य ङसः पदे ' स्सु सु हो ' इमे भवन्ति ।
' तसु सुअणस्सु परस्सु वा, दुल्लहहो ' निगद्यते ।
" जो गुण गोवइ अप्पणा, पयडा करइ परस्सु ।
तसु हउं कलिजुगि दुल्लहहो बलि किज्जउं सुअणस्सु " [२]॥

आमो हं ॥ ३३९ ॥

अतः परस्य 'हं' आमः, पदे स्यात, 'तणहं' यथा ।
" तणहं तइज्जी भङ्गि नवि तें अवड-यडि वसन्ति ।
अह जणु लग्गिवि उत्तरइ अह सह सइं मज्जन्ति " [३]॥

हुं चेदुद्भ्याम् ॥ ३४० ॥

इदुद्भ्यां तु परस्याऽऽमो, भवेतां ' हुं हम ' इत्यम् ।
सिद्धं ' सउणिहं ' तेन, ' तरुहुं ' च पदद्वयम् ।
प्रायोऽधिकाराद् 'हुं' क्वाऽपि, सुपोऽपि ' दुहुम् ' इत्यपि ।
" दइवु घडावइ वणि तरुहुं सउणिहं पक्क फलाइं ।
सो वरि सुक्खु पइट्ठ णवि, कण्णहिं खल-वयणाइं " [४]॥

ङसि-भ्यस्-ङीनां हे-हुं-हयः ॥ ३४१ ॥

इदुद्भ्यां तु परेषां भ्यस्-ङसि ङीनां ' हि-हुं-हयः ' ।
[ङसेर्हे] तरुहे [भ्यसो हुं] तरुहुं रूपं,
तथा [ङेर्हि] कलिहि सिध्यति ॥
" गिरिहे सिलायलु तरुहे फलु घेप्पइ नीसावन्नु ।
घरु मेल्लेप्पिणु माणुसहं तो वि न रुच्चइ रन्नु ॥
तरुहुं वि वक्कलु फलु मुणि वि परिहणु असणु लहंति ।
सामिहुं एत्तिउ अग्गलउ आयरु भिच्चु गृहन्ति" [५]॥

आट्टो णानुस्वारौ ॥ ३४२ ॥

अतः परस्याद्यायास्तु, णानुस्वारौ मतौ, पदे ।
' दइएं पवसन्तेण, ' द्वाविमौ सिद्धिमृच्छतः ।

एं चेदुतः ॥ ३४३ ॥

इदुद्भ्यां टा-पदे ' एं ' चात् णानुस्वारौ, मतास्त्रयः ।
अतः सिध्यन्ति रूपाणि, ' अग्गि अग्गिण अग्गिएं' ।
" अग्गिएं उण्हउ होइ जगु, वाएं सीयलु तेवँ ।
जो पुण अग्गिं सीअला, तसु उण्हत्तणु केवँ " [६]॥

"[illegible] जइ वि पिउ, तो वि तं आणहि अज्जु ।
अग्गिण दड्ढा जइ वि घरु तो तें अग्गिं कज्जु " [१]॥

स्यम् जस् शसां लुक् ॥ ३४४ ॥

स्यम्-जस् शसां लुगाप्नोति, स्यम्-जसां [illegible]
"एइ ति घोडा एह थलि एइ ति निसिआ खग्ग ।
एत्थु मुणीसिम जाणिअइ जो नवि वालइ वग्ग" ।
[अत्र स्यमजसां लुक्]
"जिवँ जिवँ वंकिम लोअणहं णिरु सामलि सिक्खेइ ।
तिवँ तिवँ वम्महु निअय-सर खर-पत्थरि तिक्खेइ" [२]
[अत्र स्यमशसां लुक्]

षष्ठ्याः ॥ ३४५ ॥

षष्ठ्याः प्रायो लुगाप्नोति, गयकुम्भादरूणं यथा ।
"संगर-सएहिं जु वण्णिअइ देक्खु अम्हारा कन्तु ।
अइमत्तहं चत्तङ्कुसहं गय-कुम्भइं दारन्तु" [३]।
पृथग्योगः कृतो लक्ष्यानुसृत्याऽत्र सूत्रयोः ।

आमन्त्र्ये जसो होः ॥ ३४६ ॥

आमन्त्र्येऽर्थे जसः स्थाने ' हो ' स्याल्लोपस्य बाधकः ।
स्यात् अप्पहो तरुणहो, तथा तरुणहो यथा ।

भिस्सुपोर्हि ॥ ३४७ ॥

भिस्सुपोः 'हिं' भवेत [सुप] मग्गेहिं [भिस्] गुणेहिं' [illegible]

स्त्रियां जस्-शसोरुदोत् ॥ ३४८ ॥

स्त्रियां लोपापवादौ द्वावुदोतौ जस् शसोः पृथक् ।
यथा-जस्यंगुलिओ अंगुलिउ स्याद् द्वयं जसः ।
'विलासिणीओ सुन्दर-सव्वङ्गाउ' शसः स्मृतम् ।
यथासंख्यनिवृत्त्यर्थो, भेदोऽत्र वचनस्य तु ।

ट ए ॥ ३४९ ॥

स्त्रियां टायाः पदे स्याद् ' ए ' चन्दिमए च कान्तिए ।
" निअमुहकरहिं वि मुद्ध कर अन्धारइ पडिपेक्खइ ॥
ससिमण्डल चन्दिमए पुणु काइं न दूरे देक्खइ ? " [४]

ङस्-ङस्योर्हे ॥ ३५० ॥

स्त्रियां 'हे' ङस्ङस्योः स्याद् , धणहे बालहे यथा ।

भ्यसामोर्हुः ॥ ३५१ ॥

स्त्रियां भ्यसामोः स्थाने हुः, ' वयंसिअहु ' गद्यते ।

ङेर्हि ॥ ३५२ ॥

स्त्रियां ङेर्हि, यथा 'महाम् ' इत्येतत ' महिहि ' स्मृतम्

क्लीबे जस्-शसोरिं ॥ ३५३ ॥

क्लीबे ' इं ' जस्-शसां स्थाने, ' सायराइं ' ' कुलइं ' यथा

---

[१] दूरोड्डानेन पतितः खल आत्मानं जनं मारयति ।
यथा गिरिशृङ्गे पतिता शिला (स्वम) अन्यमपि चूर्णीकरोति ॥
[२] यो गुणान् गोपयति आत्मनः, प्रकटीकरोति परस्य ।
तस्याहं कलियुगे दुर्लभस्य बलिं क्रिये सुजनस्य ॥
[३] तृणानां तृतीया भङ्गी नापि, ततो अवटतटे वसन्ति ।
अथ जनो लगित्वाऽपि उत्तरति अथ सह स्वयं मज्जन्ति" ॥
[४] दैवो घटयति वने तरूणां शकुन्तानां पक्वफलानि ।
तद् वरं सुखं प्रविष्टानि नापि कर्णयोः खलवचनानि " ॥
[५] गिरेः शिलातलं तरोः फलं गृह्णाति निःसामान्यः ।
गृहं मुक्त्वा मनुष्येभ्यः ततोऽपि न रोचतेऽरण्यम् ॥
तरुभ्योऽपि वल्कलं फलं मुनयोऽपि परिधानमशनं लभन्ते ।
स्वामिभ्य इयदग्रमादरं भृत्या गृह्णन्ति ॥
[६] अग्निनोष्णं भवति जगत् वातेन शीतलं तथा ।
यः पुनरग्निनाऽपि शीतलस्तस्योष्णत्वं कथम् ? ॥

[१] विप्रियकारको यद्यपि प्रियस्तथाऽपि तमानयाद्य ।
अग्निना दग्धं यद्यपि गृहं ततोऽपि तेनाग्निना गृहकार्यम् ॥
[२] यथा यथा वक्रत्वं लोचनानां श्यामला शिक्षते ।
तथा तथा मन्मथो निजशरान् खरप्रस्तरे तीक्ष्णयति ॥
[३] संगरशतेषु यो वर्ण्यते पश्य मद् य कान्तम् ।
अतिमत्तानां त्यक्ताङ्कुशानां गजानां कुम्भान् दारयन्तम् ।
[४] निजमुखकरैरपि मुग्धा करमन्धकारे प्रत्यवेक्षते ।
शशिमण्डलं चन्द्रिकया पुनः कथं न दूरे पश्यति ? ॥

कान्तस्यात उं स्यमोः ॥ ३५४ ॥
क्लीबे मकारान्तनाम्नोऽत 'उं' स्यात् परयोः स्यमोः।
'यमदिअउं तुच्छउं, भग्गउं' चाऽभिधीयते ।

सर्वादेर्ङसेर्हां ॥ ३५५ ॥
सर्वादीनामकारान्ताद्, ङसेर्हां स्याद्, जहां तहां।

किमो डिहे वा ॥ ३५६ ॥
किमोऽदन्ताद् ङसेर् वा स्याद्, 'डिहे,' रूप 'किहे' यथा।

ङेर्हिं ॥ ३५७ ॥
सर्वादीनामकारान्ताद्, ङेः स्थाने 'हिं' यथा 'जहिं'।

यत्तत्किंभ्यो ङसो डासुर्न वा ॥ ३५८ ॥
यत्तत्किंभ्यो ङसो डासुर्, अदन्तेभ्यो विकल्प्यते ।
जासु तासु तथा कासु, सद्भिरेवं निगद्यते ।

स्त्रियां डहे ॥ ३५९ ॥
यत्तत्किंभ्यो 'डहे' वाऽस्तु, ङसः स्थाने स्त्रियां यथा।
जहे तहे कहे चैवम्, अयं सिद्धिं समश्नुते ।

यत्तदः स्यमोर्ध्रुं त्रं ॥ ३६० ॥
यत्तदोस्तु पदे 'ध्रुं' 'त्रं,' वा स्यातां परयोः स्यमोः।
'प्रङ्गणि चिट्ठदि, ध्रुं त्रं रणि करदि न ।

इदम इमुः क्लीबे ॥ ३६१ ॥
इमुः स्यादिदमः क्लीबे, स्यमोर्, 'इमु कुलु' स्मृतम्।

एतदः स्त्री-पुं-क्लीबे एह एहो एहु ॥ ३६२ ॥
स्त्री-पुं-क्लीबे 'एह एहो, एहु' स्यादेतदः स्यमोः।
'कुमारी एह' वा, 'एहु तणु' 'एहो नरु' स्मृतम्।

एइर्जस्-शसोः ॥ ३६३ ॥
एतदो जस्-शसोर् 'एइः,' 'एइ चिट्ठन्ति पेच्छ वा।

अदस ओइ ॥ ३६४ ॥
अदसो जस्-शसोर् 'ओइ,' 'ओइ चिट्ठन्ति पेच्छ वा।

इदम आयः ॥ ३६५ ॥
आय' स्याद्, इदमः स्यादौ, आयहो आयइं यथा।

सर्वस्य साहो वा ॥ ३६६ ॥
सर्वशब्दस्य साहो वा, सिद्ध 'साहु वि सव्वु वि'।

किमः काइं-कवणौ वा ॥ ३६७ ॥
वा किमः 'कवणो काइ, काइं दूरे न देक्खइ ।
'भण कज्जें कवणेण,' पक्षे 'गज्जहि किं खल'।

युष्मदः सौ तुहुं ॥ ३६८ ॥
युष्मदः सौ 'तुहु' इत्यादेशः स्यात्, त्वं 'तुहुं' ततः।

जस्-शसोस्तुम्हे तुम्हइं ॥ ३६९ ॥
युष्मदो जस्-शसोस् 'तुम्हे, तुम्हइं' च पृथक् पृथक्।
जाणइ तुम्हइं तुम्हे, तुम्हे पेच्छइ तुम्हइं।
यथासंख्यनिवृत्त्यर्थौ, भेदोऽत्र वचनस्य तु ॥

टा-ङ्यमा पइं तइं ॥ ३७० ॥
'अम टा ङि' इत्येतैः सार्धं, युष्मदस्तु 'तइं' 'पइं'।
'त्वां त्वया त्वयि' इत्येषां, स्थाने वाच्यं 'तइं' 'पइं'।

भिसा तुम्हेहिं ॥ ३७१ ॥
युष्मदस्तु भिसा साकं, 'तुम्हेहिं' इति पठ्यते ।

ङसि-ङस्भ्यां तउ तुज्झ तुध्र ॥ ३७२ ॥
ङसि-ङस्भ्यां सह 'तउ, तुज्झ, तुध्र' च युष्मदः।
'तव त्वत्' अनयोः स्थाने, 'तुज्झ' 'तुध्र' 'तउ' त्रयम्।

भ्यसाम्भ्यां तुम्हहं ॥ ३७३ ॥
युष्मदस्तु पदे, साकं भ्यसाम्भ्यां, तुम्हहं मतम्।
युष्मभ्यं तुम्हहं वाच्यं, तथा युष्माकमित्यपि।

तुम्हासु सुपा ॥ ३७४ ॥
युष्मदस्तु पदे, साकं सुपा 'तुम्हासु' पठ्यते ।

सावस्मदो हउं ॥ ३७५ ॥
अस्मदः सौ परे रूप, 'हउं' इत्यभिधीयते ।
'तुहुं अहो कज्जुणि हउं तसु' निदर्शनम्।

जस्-शसोरम्हे अम्हइं ॥ ३७६ ॥
अस्मदो जस्-शसोर् 'अम्हे अम्हइं' च पृथक् पृथक्।

टा-ङ्यमा मइं ॥ ३७७ ॥
'अम टा ङि' इत्येतैः सार्धम, अस्मदस्तु भवेद् 'मइं'।
'मां मया मयि' इत्येषां, स्थाने वाच्यं 'मइं' सदा।

अम्हेहिं भिसा ॥ ३७८ ॥
अस्मदस्तु भिसा साकम, 'अम्हेहिं' इति पठ्यते।

महु मज्झु ङसि-ङस्भ्याम् ॥ ३७९ ॥
ङसिङस्भ्यां सह 'महु मज्झु' स्तोऽत्राऽस्मदः पदे ।
'मत् ममेत्यनयोः स्थाने, 'महु मज्झु' यथाक्रमम् ।

अम्हहं भ्यसाम्भ्याम् ॥ ३८० ॥
अस्मदस्तु पदे, साकं भ्यसाम्भ्याम, 'अम्हहं' मतम्।
अस्मभ्यम 'अम्हहं' वाच्यं, तथा चास्माकमित्यपि।

सुपा अम्हासु ॥ ३८१ ॥
अस्मदस्तु पदे, साकं सुपा 'अम्हासु' पठ्यते।

त्यादेराद्यत्रयस्य बहुत्वे हिं न वा ॥ ३८२ ॥
त्यादीनां तु विभक्तीनां, यदाद्यं त्रिकमुच्यते।
तद्बहुत्वस्य 'हिं' वा स्याद्, धरन्ति-'धरहिं' स्मृतम्।

मध्यत्रयस्याद्यस्य हिः ॥ ३८३ ॥
त्यादीनां तु विभक्तीनां, यन्मध्यत्रिकमुच्यते ।
तत्राद्यवचनस्येह, हिरादेशो विकल्प्यते ।
"बप्पीहा ! पिउ पिउ भणवि, कित्तिउ 'रुअहि' हयास !।
तुह जलहें महु पुणु वल्लहें, बिहुं वि न पूरिअ आस।
[आत्मनेपदे] बप्पीहा ! काइं बोल्लिएण, निग्घिण वारइ वार।
सायरि भरिअइ विमलि-जलि, 'लहहि' न एक्कइ धार" * ।
एवं 'दिज्जहि' रूपं स्यात्, दद्यसीत्यादि वाक्यकम्।

बहुत्वे हुः ॥ ३८४ ॥
त्यादीनां तु विभक्तीनां, यन्मध्यत्रिकमुच्यते।
तद्बहुत्वस्य हुर्वा स्याद्, यथा-'इच्छहु इच्छह'।

अन्त्यत्रयस्याद्यस्य उं ॥ ३८५ ॥
त्यादीनां तु विभक्तीनां, यदन्त्यं त्रिकमुच्यते।
'उ' तदाद्यस्य वाऽऽदेशो, यथा-'कड्ढामि कड्ढउं'।

---

* बप्पीह ! प्रिय प्रिय भणित्वाऽपि कियत् रोदिषि हताश !।
तव जलधरेण मम पुनर्वल्लभेन द्वयोरपि न पूरिता आशा।
बप्पीहक ! किं कथनेन निर्घृण ! वारं वारम्।
सागरे भृते विमलजलेन लभसे नैकामपि

यद्धुरो हुं ॥ ३०६ ॥

स्यादीनां तु विनर्तीनां, यदन्त्यं त्रिकमुच्यते ।
तद्बहुत्वस्य ' हुं ' वा स्याद्, 'तहुं हुं तहिमु' स्मृतम् ॥

हि-स्वयोरिदुदेत् ॥ ३०७ ॥

पञ्चम्या हि-स्वयोर् वा स्युर्, ' इदुदेत ' इमे त्रयः ।
[इत्] "कुञ्जर ! सुमरि म सल्लइउ सरला सास म मेल्लि ॥
कवल जि पाविय विहि-वसिण ते चरि माणु म मेल्लि ॥
[उत्] भमरा ! एत्थु वि लिम्बडइ केवि दियहडा विलम्बु ॥
घण-पत्तलु छाया-बहुलु फुल्लइ जावँ कयम्बु ।
[एत्] प्रिय ! एम्वहिं करि सेल्लु करि छड्डहि तुहुं करवालु ॥
जं कावालिय बप्पुडा लेहिं अभग्गु कवालु" । [१]
पक्षे सुमरहीत्यादि, रूपं बोध्यं मनीषिभिः ॥

वर्त्स्यति स्यस्य सः ॥ ३८८ ॥

भविष्यदर्थे स्यादीनां, स्यस्य सो वा निपीयते ।
यथा ' होसइ ' इत्येतत्, पक्षे होहिइ पठ्यते ॥

क्रियेः कीसु ॥ ३८९ ॥

' क्रिये ' क्रियापदं त्वेतत्, वाऽस्य ' कीसु ' निगद्यते ।
पक्षे तु ' किज्जउं बलि सुअणस्सु ' प्रयुज्यते ॥

भुवः पर्याप्तौ हुचः ॥ ३९० ॥

पर्याप्त्यर्थे भुवो धातोः, पदे ' हुचः ', ' पहुच्चइ ' ।

ब्रूगो ब्रुवो वा ॥ ३९१ ॥

ब्रूगो धातोर् ब्रुवो वा स्याद्, ' ब्रुवह ब्रोप्पिणु ' स्मृतम् ।

व्रजेर्वुञः ॥ ३९२ ॥

व्रजतेस्तु वुञादेशो, वुञेप्पिणु वुञेप्पि च ।

दृशेः प्रस्सः ॥ ३९३ ॥

दृशेर्धातोः पदे प्रस्साऽऽदेशः, ' प्रस्सदि ' पश्यति ।

ग्रहेर्गृण्हः ॥ ३९४ ॥

गृण्हादेशो ग्रहेः स्थाने, ' पढ गृण्हेप्पिणु व्रतु '

तक्ष्यादीनां छोल्लादयः ॥ ३९५ ॥

तक्ष्यादीनां तु धातूनां, पदे छोल्लादयो मताः ।
ये क्रियावाचका देश्या आदिशब्दभवा हि ते ॥
"जिवँ तिवँ तिक्खा लेवि कर जइ ससि छोल्लिज्जन्तु ।
तो जइ गोरिहे मुह-कमलि सरिसिम कावि लहन्तु ॥
चूडुल्लउ चुण्णीहोइ सइ मुद्धि कवोलि निहित्तउ ।
सासानल-जाल-झलक्किअउ बाह-सलिल-संसित्तउ"॥ [२]

"धावइवँ पउ बे पाय पेम्मु निअत्तइ जावँ ।
सव्वासण-रिउ-संभवहो कर परिअत्ता तावँ ॥
हिअइ खुडुक्कइ गोरडी गयणि घुडुक्कइ मेहु ।
वासा-रत्ति-पवासुअहं विसमा संकडु एहु ॥
अम्मि ! पओहर वज्जमा निच्चु जे संमुह थन्ति ।
महु कन्तहो समरङ्गणइ गय-घड भज्जिउ जन्ति ॥
पुत्ते जाएं कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण ।
जा बप्पीकी भुंहडी चम्पिज्जइ अवरेण ॥
तं तेत्तिउ जलु सायरहो सो तेवडु वित्थारु ।
तिसहे निवारणु पलु वि न वि पर धुट्ठुअइ असारु" ॥ [१]

अनादौ स्वरादसंयुक्तानां क-ख-त-थ-प-फां ग-घ-द-ध-ब-भाः ॥ ३९६ ॥

स्वरात् परेऽसंयुक्ता अनादिभूतास्तु सन्ति ये, तेषाम् ।
'क-ख-त-थ-प-फ-' वर्णानां स्थाने 'ग घ-द ध-ब भाः' स्युः
[कस्य गः] "जं दिट्ठउं सोम-ग्गहणु असइहिं हसिउ निसंकु ।
पिअ-माणुस-विच्छोह-गरु गिलि गिलि राहु मयंकु ॥
[खस्य घः] अम्मीए सत्थावत्थेहिं सुधिं चिंतिज्जइ माणु ।
पिए दिट्ठे हल्लोहलेण को चेअइ अप्पाणु ? ॥
तथपफानां दधबभाः यथा—
सबधु करेप्पिणु कधिदु मइं तसु पर सभलउं जम्मु ।
जासु न चाउ न चारहडि न य पम्हट्ठउ धम्मु" ॥

मोऽनुनासिको वो वा ॥ ३९७ ॥

अनादौ वर्तमानस्यासंयुक्तस्य तु मस्य वा ।
स्याद् वोऽनुनासिकस्, तेन कवँलु कमलु इत्य
अयं लाक्षणिकस्यापि, जिवँ तिवँ इति स्मृतम् ।

वाऽधो रो लुक् ॥ ३९८ ॥

संयोगादधःस्थितस्येह, वा रेफस्य लुगिष्यते। प्रिय ।
' जइ केवइ पावीसु पिउ ' पक्षे ' प्रियण ' " करइ ॥
२? " [४]

अभूतोऽपि क्वचित् ॥ ३९९ ॥

रेफोऽत्राविद्यमानोऽपि क्वचिद् भवति, दर्श्यते यथा ।

---

[१] कुञ्जर ! स्मर मा सल्लकीन् सरलान् श्वासान् मा मुञ्च ।
कवला ये प्राप्ता विधिवशेन तान् चर मानं मा मुञ्च ॥
भ्रमर ! अत्रापि निम्बे कियन्ति दिवसानि विलम्बस्व ।
घनपत्रवान् छायाबहुलः फुल्लति यावत् कदम्बः ॥
प्रिय ! इदानीं करे सेल्लं कुरु मुञ्च त्वं करवालम् ।
यत् कापालिका वराका लान्ति अभग्नं कपालम् ॥
[२] यथा तथा तीक्ष्णान् लात्वा शरान् यदि शशी अतक्ष्यिष्यत ।
ततः जगति गौर्याः मुखकमलेन सदृशतां कामपि अलप्स्यत ॥
चूडकश्चूर्णीभविष्यति मुग्धे ! कपोले निहितः ।
श्वासानलज्वालातप्तः बाष्पसलिलसंसिक्तः ॥

[१] अनुव्रज्य (मुक्ताशाव्य) द्वौ पादौ प्रेम (प्रिया) निवर्तते यावत्
सर्वाशनरिपुसंभवस्य कराः परिवृत्तास्तावत् ॥
हृदये शल्यायते गौरी गगने गर्जति मेघः ।
वर्षारात्रिप्रवासिकानां विषमं संकटमेतत् ॥
अम्ब ! पयोधरौ वज्रमयौ नित्यं यौ संमुखौ तिष्ठतः ।
मम कान्तस्य समराङ्गणे गजघटा भङ्क्त्वा यान्ति ॥
पुत्रेण जातेन को गुणः अपगुणः को मृतेन ।
या पैतृकी भूमिराक्रम्यते अपरेण ॥
तत्तावत् जलं सागरस्य स तावान् विस्तारः ।
तृषाया निवारणे पलमपि नापि, परं शब्दायतेऽसारः ॥
[२] यद् दृष्टं सोमग्रहणमसतीभिर्हसितं नि शङ्कम् ।
प्रियमानसविक्षोभकरं गिल गिल राहो ! मृगाङ्कम् ॥
अम्ब ! स्वस्थावस्थैः सुखेन चिन्त्यते मानः ।
प्रिये दृष्टे औत्सुक्येन क आत्मानं चेतयते ॥
शपथं कृत्वा कथितं मया तस्य परं सफलं जन्म ।
यस्य न त्यागो न चारभटी न च प्रमृष्टो धर्मः ॥

"वासु महारिसि एउ भणइ जइ सुइ-सत्थु पमाणु ।
मायहं चलण नवन्ताहं दिविदिवि गङ्गा-ण्हाणु" ॥ [१]
क्वचिदिति किम् ? ' वक्ष वासेण वि भारह-खम्भि ' च ॥

आपद्विपत्संपदां द इः ॥ ४०० ॥

विपदापत्संपदां स्याद्, दस्येकारः क्वचिद्, यथा- ।
रूपम् ' आवइ ' ' संपइ ' तथा ' विवइ ' इत्यपि ॥
प्रायोऽधिकाराद् ' गुणहिं न संपइ कित्ति पर ' ।

कथं-यथा-तथां थादेरेमेमेहेधा डितः ॥ ४०१ ॥

' कथं यथा तथा ' एषां थादेरवयवस्य तु ।
' इह इध एम इम ' इत्यादेशा डितः पृथक् ।
अतः ' कथं ' ' किह किध किम केम ' निगद्यते ।
' यथा ' जिह जिधत्यादि, ' तथा ' तिह तिधादि च ।

यादृक्-तादृक्-कीदृगीदृशां दादेर्डेहः ॥ ४०२ ॥

' यादृक्तादृक्-कीदृगीदृग् ' इत्येषां तु योऽस्ति दः ।
तदाद्यवयवस्येह, डेहादेशो विधीयते ।
"मइं भणिअउ बलिराय ! तुहुं केहउ मग्गण एहु ।
जेहु तेहु नवि होइ वढ ! सइं नरायणु एहु" ॥ [२]

अतां डइसः ॥ ४०३ ॥

ईदृश-कीदृश-यादृश-तादृशशब्देषु दादिवर्णस्य ।
डइसाऽऽदेशो, जइसो तइसो कइसोऽइसो च यथा ।

यत्र-तत्रयोस्त्रस्य डिदेत्थत्तु ॥ ४०४ ॥

' एत्थु अत्तु ' डितौ त्रस्य, शब्दयोर्यत्र-तत्रयोः ।
' जेत्थु तेत्थु जत्तु तत्तु ' मिरु रूपचतुष्टयम् ।

एत्तु कुत्रात्रे ॥ ४०५ ॥

वाऽत्रयोस्त्रशब्दस्य, एदे ' एत्तु ' डिदिष्यते ।
कुत्थु वि केत्थु मित्तु, एत्तु जेत्थु वि तेत्थु वि ।

यावत्तावतोर्वादेर्म उं महिं ॥ ४०६ ॥

यावत्तावदित्यनयोर्, वाऽऽदेरवयवस्य तु ।
उं, महिं चेत्येते स्युर्, आदेशास्तु त्रयो यथा ।
जाउं ताउं, जाम ताम, जामहिं तामहिं तथा ।

वा यत्तदोऽतोर्डेवडः ॥ ४०७ ॥

अत्वन्तयत्तदोर् यावत्तावतो यो, तयोः पुनः ।
वाऽऽदेरवयवस्येह, एदे वा ' डेवडो ' ऽस्तु डित् ।
"जेवडु अन्तरु रावण-रामहं तेवडु अन्तरु पट्टण-गामहं" ।
पक्षे रूपं भवति जेत्तुलो, तावच्छब्दस्येह तेत्तुलो ।

वेदं किमोर्यादेः ॥ ४०८ ॥

अत्वन्तेदं-किमोर् ' इयत्-कियतो ' र्यो तयोः पुनः ।
याऽऽदेरवयवस्येह, एदे वा ' डेवडो ' ऽस्तु डित् ।
एत्तुलो केत्तुलो रूपं, तथा एवडु केवडु ।

परस्परस्यादिरः ॥ ४०९ ॥

परस्परस्य शब्दस्य, भवेद् आदावद् आगमः ।
' अवरोप्परु ' इत्येतत्, ततः सिद्धं परस्परे ।

कादि-स्थैदोतोरुच्चार-लाघवम् ॥ ४१० ॥

एदोतोर् लघुताऽस्तु, प्रायः स्थितयोः कादिषु हि ।
सुघें चिन्तिज्जइ माणु, तसु हउं कलि-जुगि दुल्लहहो ।

पदान्ते उं-हुं-हिं-हंकाराणाम् ॥ ४११ ॥

' उं-हु-हिं-ह ' इत्यमीषां, पदान्तानां तु प्रायेण ।
कर्तव्य लाघवं प्रायो, यथा तहहुं किज्जउँ ।

म्हो म्भो वा ॥ ४१२ ॥

प्राकृते पक्ष्म-[२।७४] सूत्रेण, यो म्हाऽऽदेशो विधीयते ।
तस्य ' म्भो ' वाऽत्र जायते, ' गिम्भो सिम्भो ' यथा पदम् ।

अन्यादृशोऽन्नाइसावराइसौ ॥ ४१३ ॥

स्थाने त्वन्यादृशस्यात्राऽन्नाइसः स्तोऽवराइसः ।

प्रायसः प्राउ-प्राइव-प्राइम्व-पग्गिम्वाः ॥ ४१४ ॥

' पग्गिम्व-प्राइव-प्राउ-प्राइम्वाः ' प्रायसः पदे ।

वाऽन्यथोऽनुः ॥ ४१५ ॥

' अनुः ' स्याद् वाऽन्यथेत्यस्य, पक्षे स्याद् रूपम् ' अन्नह ' ।

कुतसः कउ कहन्तिहु ॥ ४१६ ॥

' कहन्तिहु कउ ' स्यातामादेशौ कुतसः पदे ।

ततस्तदोस्तोः ॥ ४१७ ॥

' ततस् तदा ' इत्यनयोस्, ' तो ' इत्यादेश इष्यते ।
"जइ भग्गा पारक्कडा, तो सहि ! मज्झु प्रिएण ।
अह भग्गा अम्हहं तणा, तो तें मारिअडेण" ॥ [१]

एवं-परं-समं-ध्रुवं-मा-मनाग एम्व पर समाणु ध्रुवु मं मणाउं ॥ ४१८ ॥

एवं ' एम्व ' तथा मा ' मं, ' ध्रुव ध्रुवु, पर पर ।
मनाक् ' मणाउं ' वक्तव्य, समम अत्र ' समाणु ' च ।

किलाथवा-दिवा-सह-नहेः किराहवइ दिवे सहुं नाहिं ॥ ४१९ ॥

किल किर, अथवा अहवइ, दिवा दिवे, नहि नाहि ।
सह सहुम, इत्यभिधीयन्ते, प्रायो, नैव सदा हि ।
[सहस्य सहुं] "जउ पवसन्तें सहुं न गयअ न मुअ विओएं तस्सु ।
लज्जिज्जइ संदेसडा, दिन्तेहिं सुहय-जणस्सु" । [२]

पश्चादेवमेवैवेदानीं-प्रत्युतेतसः पच्छइ एम्वइ जि एम्वहिं पच्चलिउ एत्तहे ॥ ४२० ॥

पश्चात् पच्छइ, एव जि, इत एत्तहे, एवमेव एम्वइ च ।
भवतीदानीम् एम्वहिं, तथा प्रत्युतमिति पच्चलिउ ।

विषण्णोक्त-वर्त्मनो वुन्न-वुत्त-विच्चं ॥ ४२१ ॥

वुन्नं, वुत्तं, वर्त्म विच्च, विषण्ण वुन्न कथ्यते ।

शीघ्रादीनां वहिल्लादयः ॥ ४२२ ॥

शीघ्रादेस्तु वहिल्लादिरादेशोऽत्र निगद्यते ।
शीघ्रं ' वहिल्लु ' इत्युक्तं, झकटो घङ्घल स्मृतः ।

---

[१] व्यासो महर्षिरेतद्भणति यदि श्रुतिशास्त्रं प्रमाणम् ।
मातॄणां चरणौ नमतां दिवसे दिवसे गङ्गास्नानम् ॥
[२] मया भणितो बलिराज ! त्वं कीदृग् मार्गण एषः ।
यादृक् तादृग् नाऽपि भवति मूर्ख ! स्वयं नारायण ईदृक् ॥

[१] यदि भग्नाः परकीयास्ततः सखि ! मम प्रियेण ।
अथ भग्ना अस्मदीयास्तदा तेन मारितेन ॥
[२] यत् प्रवसता सह न गता न मृता वियोगेन तस्य ।
लज्ज्यते संदेशान् ददतीभिः सुभगजनस्य ॥

[illegible]

॥ ४२८ ॥

[illegible]

"विरहानल-जाल-करालिअउ पहिअ पन्थि जं दिट्ठउ ।
तं मेलवि सव्वाहिँ पंथिआहिँ सोजि किअउ अग्गिट्ठउ" [१] ॥
...स्य ' दोसडा ' इत्यस्य ... निदर्श्यते ।

योगजाश्चैषाम् ॥ ४३० ॥

एषाम् अ-डड-डुल्लानां, योगभेदेन निर्मिताः ।
आयन्ते प्रत्ययाः येऽत्र, तेऽपि स्वार्थे कचिन्मताः ।
[डडअ] 'फोडेन्ति जे हिअडउं' किसल्लेति [१।२६६] वक्तुं ... ।
[डुल्लअ] ' चुडुल्लउ चुण्णीहोइसइ ' डुल्लडं ... ।
[डुल्लडअ] "सामिपसाउ सलज्जु पिउ सीमा-संधिहिं वासु ।
पेक्खवि बाहु-बलुल्लडा धण मेल्लइ नीसासु" [२] ॥
आमि 'स्यादौ दीर्घ-ह्रस्वौ'-[४।३३०] इति दीर्घोऽत्र ... ।
' बाहुबलुल्लडउ ' तु, प्रत्ययत्रयसंभवम् ।

स्त्रियां तदन्ताड्डीः ॥ ४३१ ॥

पूर्वसूत्रद्वयोक्तप्रत्ययान्तात् डीः स्त्रियां भवेत् ।
"पहिआ दिट्ठी गोरडी दिट्ठी मग्गु निअन्त ।
अंसूसासेहिँ कञ्चुआ तिंतुव्वाण करन्त" [३] ॥

आन्तान्ताड्डाः ॥ ४३२ ॥

स्त्रियाम् ... -प्रत्ययान्तात् 'डा' ऽस्तु नेव डीः ।
"पिउ आइउ सुअ वत्तडी झुणि कन्नडइ पइट्ठ ।
तहो विरहहो नासन्तअहो धूलडिआ वि न दिट्ठ" [४] ॥

अस्येदे ॥ ४३३ ॥

[illegible]
' धूलडिआ वि ... ' ... ।

युष्मदादेरीयस्य डारः ॥ ४३४ ॥

[illegible]
"... ।
... [५] ॥
[illegible]

अतोर्डेत्तुलः ॥ ४३५ ॥

[illegible]

त्रस्य डेत्तहे ॥ ४३६ ॥

[illegible]
"... ।
... [६] ॥

[१] [illegible]

[२] [illegible]

[३] [illegible]

[४] [illegible]

[५] [illegible]

[६] [illegible]

त्व-तलोः प्पणः ॥ ४३७ ॥

प्रत्यययोस् त्व-तलोः स्यात्, 'प्पणः', वड्डप्पणु' स्मृतम्।
प्रायोऽधिकाराद् 'वड्डत्तणहो' इत्यपि सिध्यति।

तव्यस्य इएव्वउं एव्वउं एवा ॥ ४३८ ॥

इएव्वउं एव्वउं एवा' तव्यस्य पदे त्रयः।
"एउ गृण्हेप्पिणु ध्रु मइं, जइ प्रिउ उव्वारिज्जइ।
महु करिएव्वउं किं पि णवि, मरिएव्वउं पर देज्जइ।
देसुच्चाडणु सिहिकढणु, घणकुट्टणु जं लोइ।
मंजिट्ठए अइरत्तिए, सव्वु सहेव्वउं होइ।
सोएवा पर वारिआ, पुप्फवईहिं समाणु।
जग्गेवा पुणु को धरइ, जइ सो वेउ पमाणु ?" ॥ [१]

क्त्व इ-इउ-इवि-अवयः ॥ ४३९ ॥

'इवि इवि इउ इ' इतीमे, चत्वारः क्त्वः पदे भवन्ति, यथा।
[इ]जइ [इवि]चुम्बिवि च [अवि] विछोडवि,
[इउ]भज्जिउ रूपाणि सिध्यन्ति।
[अवि] "बाह विछोडवि जाहि तुहुं, हउं तेवँइ को दोसु ?।
हिअय-ट्ठिउ जइ नीसरइ, जाणउं मुञ्ज ! सरोसु ॥" [२]

एप्प्येप्पिण्वेव्येविणवः ॥ ४४० ॥

चत्वारः क्त्वः पदे 'एप्पि, एवि एप्पिणु एविणु'।
सूत्रार्थः पूर्वयोग उत्तरार्थः स इष्यते।
"जेप्पि असेसु कसाय-बलु, देप्पिणु अभउ जयस्सु।
लेवि महव्वय सिवु लहहिं, झाएविणु तत्तस्सु ॥" [३]

तुम एवमणाणहमणहिं च ॥ ४४१ ॥

"अणहिं अणहं एवं, अण एप्पिणु एविणु।
एप्पि एवि' अमी अष्टौ, प्रत्ययस्य तुमः पदे।
"देवं दुक्करु निअय-धणु, करण न तउ पडिहाइ।
एम्वइ सुहु भुञ्जणहं मणु, पर भुञ्जणहिं न जाइ।
जेप्पि चएप्पिणु सयल धर, लेविणु तवु पालेवि।
विणु सन्ते तित्थेसरेण, को सक्कइ भुवणे वि ? ॥" [४]

गमेरेप्पिण्वेप्प्योरेर्लुग् वा ॥ ४४२ ॥

गम-धातोः परौ यौ क्त्वः, 'एप्पि एप्पिणु' इत्यमू।
तयोर् एतो लुग् प्रशास्तु,विभाषेति विधीयते।
"गम्प्पिणु वाणारसिहिं नर, अह उज्जेणिहिं गम्पि।
मुआ परावहिं परम-पउ, दिव्वन्तरइं म जम्पि" । [५]

[१] एतद् गृहीत्वा यन्मया यदि प्रिय! उद्धार्यते।
मम कर्तव्यं किमपि नापि, मर्तव्यं परं दीयते ॥
देशोच्चाटनं शिखिक्वथनं घनकुट्टनं यल्लोके।
मञ्जिष्ठया अतिरक्तया सर्वं सोढव्यं भवति ॥
स्वपितव्यं परं वारिता पुष्पवतीभिः समम्।
जागर्तव्यं पुनः को धरति यदि स वेदः प्रमाणम् ॥
[२] बाहु विच्छोट्य यासि त्वं भवतु तथा को दोषः !।
हृदयस्थितो यदि निःसरसि जाने मुञ्ज ! सरोषः ॥
[३] जित्वाऽशेषं कषायबलं दत्त्वाऽभयं जगतः।
लात्वा महाव्रतानि शिवं लभन्ते ध्यात्वा तत्त्वम् ॥
[४] दातुं दुष्करं निजकधनं कर्तुं न तपः प्रतिभाति।
एवमेव सुखं भोक्तुं मनः परं भोक्तुं न याति ॥
जेतुं त्यक्तुं सकलां धरां लातुं तपः पालयितुम्।
विना शान्तिना तीर्थेश्वरेण कः शक्नोति भुवनेऽपि ? ॥
[५] गत्वा वाराणस्यां नरा अथोज्जयिन्यां गत्वा।
मृताः (म्रियन्ते) प्राप्नुवन्ति परमपदं दिव्यान्तराणि मा जल्प ॥

[एते] "गङ्ग गमेप्पिणु जो मुअइ, जो सिव-तित्थ गमेप्पि।
कीलदि तिदसावास-गउ, सो जम-लोउ जिणेप्पि ॥" [१]

तृनोऽणअः ॥ ४४३ ॥

प्रत्ययस्य तृनः स्थानेऽणआऽऽदेशो विधीयते।
बोल्लणउ वज्जणउ, तथा भसणउ स्मृतम्।

इवार्थे नं-नउ-नाइ-नावइ-जणि-जणवः ॥४४४॥

अपभ्रंशे ' जणि जणु नाइ नावइ नं नउ '।
इत्यमी षट् प्रयुज्यन्ते, इवार्थे कोविदैः सदा।
[नाइ] "वलयावलि-निवडण-भएण,धण उद्धब्भुअ जाइ।
वल्लह-विरह-महादहहो, थाह गवेसइ नाइ ॥" [२]

लिङ्गमतन्त्रम् ॥ ४४५ ॥

अत्र लिङ्गं व्यभिचारि, प्रायो भवति तेन हि।
स्त्रीपुंनपुंसकं लिङ्गं, यथेष्टं संप्रवर्तते।
"अब्भा लग्गा डुङ्गरिहिं, पहिउ रडन्तउ जाइ।
जो एहा गिरि-गिलण-मणु, सो किं धणहे धणाइ ॥" [३]
अत्र अब्भेति पुंस्त्वं हि, क्लीबस्य प्रतिपादितम्।
एवमन्यासु गाथासु, स्वयं बुद्ध्या विचार्यताम्।

शौरसेनीवत् ॥ ४४६ ॥

अपभ्रंशे शौरसेनीवत् कार्यं प्रायशः स्मृतम्।

व्यत्ययश्च ॥ ४४७ ॥

भाषाणां प्राकृतादीनां, लक्षणानि तु यानि हि।
तेषां च व्यत्ययः प्रायो, भवतीत्युपदिश्यते।
तिष्ठश्चिष्ठेति [४।२९८] मागध्यां, यथा कार्यं प्रदर्शितम्।
तत् पैशाची-शौरसेनी प्राकृतेष्वपि जायते।
अपभ्रंशे तु रेफस्याधो वा लुक् स्यादितीरितम्।
मागध्यामपि तत् कार्यं, भवतीति निदर्शितम्।
न केवलं हि भाषालक्षणानां व्यत्ययः कृतः।
त्यादादेशानामपि तु, व्यत्ययो दृश्यते यतः।
वर्तमाने प्रसिद्धा ये, ते भूतेऽपि भवन्ति तु।
भूतकाले प्रसिद्धास्तु, वर्तमानेऽपि कीर्तिताः।
यथा 'पेच्छइ' इत्येतत्, 'प्रेक्षाञ्चक्रे' र्थगमकम्।
'आभासइ' 'आबभाषे', 'इत्यर्थे क्वापि दृश्यते।
एवं 'सोहीअ' इति तु, शृणोतीत्यर्थकं क्वचित्।
शिष्टप्रयोगतः सर्वं, बोद्धव्यं सूक्ष्मदर्शिभिः।

शेषं संस्कृतवत् सिद्धम् ॥ ४४८ ॥

प्राकृतादिषु भाषासु, यत् कार्यं नेह दर्शितम्।
असमाप्यार्थानिबन्धेन, संस्कृतेन समं हि तत्।
"हेट्ठ-ट्ठिय-सूर-निवारणाय, छत्तं अहो इव वहन्ती।
जयइ ससेसा वराह-सास-दूरुक्खुया पुहवी" । [४]
यद्यत्र चतुर्थ्यास्तु, नादेशो दर्शितः क्वचित्।
तथाऽपि सोऽतिदेशेन, सिद्धः संस्कृतवत् ननु।

[१] गङ्गां गत्वा यो म्रियते यः शिवतीर्थं गत्वा।
क्रीडति त्रिदशावासगतः स यमलोकं जित्वा ॥
[२] वलयावलिनिपतनभयेन धन्या ऊर्ध्वभुजा याति।
वल्लभविरहमहाह्रदस्य स्ताघं गवेषयतीव ॥
[३] अभ्राणि लग्नानि पर्वतेषु पथिको रटन् याति।
य एतादृशो गिरिगिलनमनाः स किं धन्याया धनायति ? ॥
[४] अधःस्थितसूर्यनिवारणाय छत्रमध इव वहन्ती।
जयति सशेषा वराहश्वासदूरोत्क्षिप्ता पृथ्वी ॥

॥ ॐ अर्हम् ॐ ॥

॥ श्रीअभिधानराजेन्द्रपरिशिष्टम् ३ ॥

॥ संक्षिप्तप्राकृतशब्दरूपावलिः ॥

अकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'वृक्ष' शब्दः ।

विभक्ति,	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	वच्छो ।	वच्छा ।
द्वितीया	वच्छं ।	वच्छे, वच्छा ।
तृतीया	वच्छेणं, वच्छेण ।	वच्छेहि, वच्छेहिँ, वच्छेहिं ।
चतुर्थी	वच्छाय, * वच्छस्स ।	वच्छाणं, वच्छाण ।
पञ्चमी	वच्छत्तो, वच्छाओ, वच्छाउ)	वच्छत्तो, वच्छाओ, वच्छाउ, वच्छाहि, वच्छेहि,
,,	वच्छाहि, वच्छाहिन्तो, वच्छा ।	(वच्छाहिन्तो, वच्छेहिन्तो, वच्छासुन्तो, वच्छेसुन्तो ।
षष्ठी	वच्छस्स ।	वच्छाणं, वच्छाण ।
सप्तमी	वच्छम्मि, वच्छे ।	वच्छेसुं, वच्छेसु ।
संबोधनम्	हे वच्छ, हे वच्छो, हे वच्छा ।	हे वच्छा ।

आकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'गोपा' शब्दः ।

विभक्ति,	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	गोवो ।	गोवा ।
द्वितीया	गोवं ।	गोवा ।
तृतीया	गोवाणं, गोवाण ।	गोवाहिं गोवाहिँ, गोवाहि ।
चतुर्थी	गोवे, गोवस्स ।	गोवाणं, गोवाण ।
पञ्चमी	गोवत्तो, गोवाओ, गोवाउ)	गोवत्तो, गोवाओ, गोवाउ, गोवाहिन्तो,
,,	गोवाहिन्तो ।	(गोवासुन्तो ।
षष्ठी	गोवस्स ।	गोवाणं, गोवाण ।
सप्तमी	गोवम्मि ।	गोवासुं, गोवासु ।
संबोधनम्	हे गोवो, हे गोवा ।	हे गोवा ।

इकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'गिरि' शब्दः ।

विभक्ति,	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	गिरी ।	गिरिणो, गिरी, गिरउ, गिरओ ।
द्वितीया	गिरिं ।	गिरिणो, गिरी ।
तृतीया	गिरिणा ।	गिरीहि, गिरीहिँ, गिरीहिं ।
चतुर्थी	गिरिणो, गिरिस्स, गिरये ।	गिरीणं, गिरीण ।
पञ्चमी	गिरिणो, गिरित्तो, गिरीओ, गिरीउ)	गिरित्तो, गिरीओ, गिरीउ, गिरीहिन्तो,
,,	गिरीहिन्तो ।	(गिरीसुन्तो ।
षष्ठी	गिरिणो, गिरिस्स ।	गिरीणं, गिरीण ।
सप्तमी	गिरिम्मि ।	गिरीसुं, गिरीसु ।
संबोधनम्	हे गिरि, हे गिरी ।	हे गिरिणो, हे गिरी, हे गिरउ, हे गिरओ ।

* तादर्थ्यङेर्वा ॥ ८ । ३ । १३२ ॥ तादर्थ्यविहितस्य ङेश्चतुर्थ्येकवचनस्य षष्ठी वा भवति । देवस्स, देवाय, देवार्थमित्यर्थः ।

ईकारान्तः पुंलिङ्गो ' गामणी ' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
[illegible]	[illegible] ।	गामणिणो, गामणी, गामणउ, गामणओ ।
[illegible]	[illegible] ।	गामणिणो, गामणी ।
[illegible]	[illegible] ।	गामणीहि, गामणीहिँ, गामणीहिं ।
[illegible]	[illegible], [illegible], [illegible] ।	गामणीणं, गामणीण ।
[illegible]	[illegible], [illegible], गामणीओ)	गामणिणो, गामणीओ, गामणीउ, गामणीहिंतो
[illegible]	[illegible], [illegible] ।	(गामणीसुंतो ।
[illegible]	[illegible], [illegible] ।	गामणीणं, गामणीण ।
[illegible]	[illegible] ।	गामणीसुं, गामणीसु ।
[illegible]	हे [illegible], हे [illegible] ।	हे गामणिणो, हे गामणी, हे गामणउ, हे गामणओ ।

उकारान्तः पुंलिङ्गो 'गुरु' शब्दः ।

[illegible]	[illegible] ।	बहुवचन ।

विभक्ति	एकवचन।	बहुवचन।
चतुर्थी	पिअरस्स, पिउणो, पिउस्स ।	पिअराणं, पिअराण, पिऊणं, पिऊण ।
पञ्चमी	पिउणो, पिउत्तो, पिऊओ, पिऊउ, पिऊहि-)	पिअरत्तो, पिअराओ, पिअराउ, पिअराहि, पिअरेहि,
"	न्तो, पिअरत्तो, पिअराओ, पिअराउ, पिअराहि,)	(पिअराहिन्तो, पिअरेहिन्तो, पिअरासुन्तो, पिअरेसु-
"	पिअराहिन्तो, पिअरा ।	(न्तो, पिउत्तो, पिऊओ, पिऊउ, पिऊहिन्तो, पिऊसुन्तो।
षष्ठी	पिअरस्स, पिउणो, पिउस्स ।	पिअराणं, पिअराण, पिऊणं, पिऊण ।
सप्तमी	पिअरम्मि, पिअरे, पिउम्मि ।	पिअरेसुं, पिअरेसु, पिऊसुं, पिऊसु ।
सम्बोधनम्	हे पिअ, हे पिअरं ।	हे पिअरा, हे पिऊ, हे पिउणो।

ऋकारान्तः पुँल्लिङ्गो 'भर्तृ' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन।	बहुवचन।
प्रथमा	भत्ता, भत्तारो ।	भत्तुणो, भत्तू, भत्तउ, भत्तओ, भत्तारा।
द्वितीया	भत्तारं ।	भत्तुणो, भत्तू, भत्तारे ।
तृतीया	भत्तुणा, भत्तारेणं, भत्तारेण ।	भत्तारेहिं, भत्तारेहिँ, भत्तारेहि, भत्तूहिं, भत्तूहिँ, भत्तूहि।
चतुर्थी	भत्तुणो, भत्तुस्स, भत्तारस्स ।	भत्तूणं, भत्तूण, भत्ताराणं, भत्ताराण ।
पञ्चमी	भत्तुणो, भत्तुत्तो, भत्तूओ, भत्तूउ, भत्तूहिन्तो,)	भत्तुत्तो, भत्तूओ, भत्तूउ, भत्तूहिन्तो, भत्तूसुन्तो, भ-
,,	भत्तारत्तो, भत्ताराओ, भत्ताराउ, भत्ताराहि, भ-)	(त्तारत्तो, भत्ताराओ, भत्ताराउ, भत्ताराहि, भत्तारेहि, भ-
,,	त्ताराहिन्तो, भत्तारा ।	(त्ताराहिन्तो, भत्तारेहिन्तो, भत्तारासुन्तो, भत्तारेसुन्तो ।
षष्ठी	भत्तुणो, भत्तुस्स, भत्तारस्स ।	भत्तूणं, भत्तूण, भत्ताराणं, भत्ताराण ।
सप्तमी	भत्तुम्मि, भत्तारम्मि, भत्तारे ।	भत्तूसुं, भत्तूसु, भत्तारेसुं, भत्तारेसु ।
सम्बोधनम्	हे भत्त, हे भत्तार।	हे भत्तू, हे भत्तुणो, हे भत्तउ, हे भत्तओ, हे भत्तारा ।

नकारान्तस्यापि 'राजन्' शब्दस्य प्राकृतेऽकारान्तवद् रूपं ज्ञेयम् ।

विभक्ति	एकवचन।	बहुवचन।
प्रथमा	राया, रायाणो ।	रायाणो, राइणो, राया, रायाणा ।
द्वितीया	रायाणं, रायं, राइणं ।	रायाणो, राइणो, रायाणे, राए ।
तृतीया	रायाणेणं, रायाणेण, राइणा, रण्णा, राएणं,	रायाणेहिं, रायाणेहिँ, रायाणेहि, राईहिं, राईहिँ, रा-
,,	राएण, रायणा ।	(ईहि, राएहिं, राएहिँ, राएहि ।
चतुर्थी	रायाणस्स, रायाणो, रण्णो, राइणो, रायस्स।	रायाणाणं, रायाणाण, राइणं, राइण, राईणं, राईण,
,,	,,	रायाणं, रायाण ।
पञ्चमी	रायाणत्तो, रायाणाओ, रायाणाउ, रायाणाहि,)	राइत्तो, राईओ, राईउ, राईहिन्तो, राईसुन्तो, राया-
,,	रायाणाहिन्तो, रायाणा, राइणो, रायाणो, रण्णो,)	(णत्तो, रायाणाओ, रायाणाउ, रायाणाहि, रायाणेहि,
,,	रायत्तो, रायाओ, रायाउ, रायाहि, रायाहिन्तो,)	(रायाणाहिन्तो, रायाणेहिन्तो, रायाणासुन्तो, रायाणेसु-
,,	राया ।	(न्तो, रायत्तो, रायाओ, रायाउ, रायाहि, राएहि, राया-
,,	,,	(हिन्तो, राएहिन्तो, रायासुन्तो, राएसुन्तो ।
षष्ठी	रायाणस्स, राइणो, रण्णो, रायाणो, रायस्स।	रायाणाणं, रायाणाण, राईणं, राईण, राइणं, राइण,
,,	,,	(रायाणं, रायाण ।
सप्तमी	रायाणम्मि, रायाणे, राइम्मि, रायम्मि, राए।	रायाणेसुं, रायाणेसु, राईसुं, राईसु, राएसुं, राएसु ।
सम्बो०	हे रायाण, हे रायाणा, हे रायाणो, हे राअ, हे राआ।	हे रायाणा, हे राइणो, हे रायाणो ।

नकारान्तः पुँल्लिङ्ग 'आत्मन्' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन।	बहुवचन।
प्रथमा	अप्पाणो, अप्पो, अप्पा ।	अप्पाणा, अप्पाणो, अप्पा ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
द्वितीया	अप्पाणं, अप्पं ।	अप्पाणे, अप्पाणा, अप्पे ।
तृतीया	अप्पाणेणं, अप्पाणेण, अप्पेणं, अप्पेण, अप्प-)	अप्पाणेहिं, अप्पाणेहिँ, अप्पाणेहि, अप्पेहिं, अप्पेहिँ,
"	णा, अप्पणइआ, अप्पणिआ ।	(अप्पेहि ।
चतुर्थी	अप्पाणस्स, अप्पस्स, अप्पणो ।	अप्पाणाणं, अप्पाणाण, अप्पाणं, अप्पाण ।
पञ्चमी	अप्पाणत्तो, अप्पाणाओ, अप्पाणाउ, अप्पाणाहि,)	अप्पाणत्तो, अप्पाणाओ, अप्पाणाउ, अप्पाणाहि, अप्पा-
"	अप्पाणाहिन्तो, अप्पाणा, अप्पणो, अप्पत्तो, अप्पा-)	(णेहि, अप्पाणेहिन्तो, अप्पाणाहिन्तो, अप्पाणेसुन्तो,
"	ओ, अप्पाउ, अप्पाहि, अप्पाहिन्तो, अप्पा ।	(अप्पाणासुन्तो, अप्पत्तो, अप्पाओ, अप्पाउ, अप्पाहि,
"		(अप्पेहि, अप्पाहिन्तो, अप्पेहिन्तो, अप्पासुन्तो, अप्पेसुन्तो
षष्ठी	अप्पाणस्स, अप्पस्स, अप्पणो ।	अप्पाणाणं, अप्पाणाण, अप्पाणं, अप्पाण ।
सप्तमी	अप्पाणम्मि, अप्पाणे, अप्पम्मि, अप्पे ।	अप्पाणेसुं, अप्पाणेसु, अप्पेसुं, अप्पेसु ।
सम्बोधनम्	हे अप्पाणो, हे अप्पो, हे अप्प ।	हे अप्पाणो, हे अप्पाणा, हे अप्पा ।

॥ अथ सर्वादीनां पुँल्लिङ्गे रूपाणि तत्र सर्वशब्दः ॥

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	सव्वो ।	सव्वे ।
द्वितीया	सव्वं ।	सव्वे, सव्वा ।
तृतीया	सव्वेणं, सव्वेण ।	सव्वेहिं, सव्वेहिँ, सव्वेहि ।
चतुर्थी	सव्वस्स ।	सव्वेसिं, सव्वाणं, सव्वाण ।
पञ्चमी	सव्वत्तो, सव्वाओ, सव्वाउ, सव्वाहिन्तो, स-)	सव्वत्तो, सव्वाओ सव्वाउ, सव्वाहि, सव्वेहि, सव्वा-
"	व्वाहि, सव्वा ।	(हिन्तो, सव्वेहिन्तो, सव्वासुन्तो, सव्वेसुन्तो ।
षष्ठी	सव्वस्स ।	सव्वेसिं, सव्वाणं, सव्वाण ।
सप्तमी	सव्वस्सिं, सव्वम्मि, सव्वत्थ, सव्वहिं ।	सव्वेसुं, सव्वेसु ।
सम्बोधनम्	हे सव्व, हे सव्वो, हे सव्वा ।	हे सव्वे ।

तथाऽकारान्तः पुँल्लिङ्गो' विश्व' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	विस्सो ।	विस्से ।
द्वितीया	विस्सं ।	विस्से, विस्सा ।
तृतीया	विस्सेणं, विस्सेण ।	विस्सेहिं, विस्सेहिँ, विस्सेहि ।
चतुर्थी	विस्सस्स ।	विस्सेसिं, विस्साणं, विस्साण ।
पञ्चमी	विस्सत्तो. विस्साओ, विस्साउ, विस्साहि, वि-)	विस्सत्तो, विस्साओ, विस्साउ, विस्साहि, विस्सेहि, वि-
"	स्साहिन्तो, विस्सा ।	स्साहिंतो, विस्सेहिंतो, विस्सासुन्तो, विस्सेसुन्तो ।
षष्ठी	विस्सस्स ।	विस्सेसिं, विस्साणं, विस्साण ।
सप्तमी	विस्सस्सिं, विस्सम्मि, विस्सत्थ, विस्सहिं ।	विस्सेसुं, विस्सेसु ।
सम्बोधनम्	हे विस्स, हे विस्सो, हे विस्सा ।	हे विस्से ।

अकारान्तः पुँल्लिङ्ग 'उभय' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	उभयो ।	उभये ।
द्वितीया	उभयं ।	उभये, उभया ।

विभक्ति	एकवचन।	बहुवचन।
तृतीया	उभयेणं, उभयेण।	उभयेहिं, उभयेहिँ, उभयेहि।
चतुर्थी	उभयस्स।	उभयेसिं, उभयाणं, उभयाण।
पञ्चमी	उभयत्तो, उभयाओ, उभयाउ, उभयाहि, उ-)	उभयत्तो, उभयाओ, उभयाउ, उभयाहि, उभयेहि, उ-
,,	भयाहिन्तो, उभया।	(भयाहिन्तो, उभयेहिन्तो, उभयासुन्तो, उभयेसुन्तो।
षष्ठी	उभयस्स।	उभयेसिं, उभयाणं, उभयाण।
सप्तमी	उभयम्मि, उभयस्सिं, उभयत्थ, उभयहिं।	उभयेसुं, उभयेसु।
सम्बोधनम्	हे उभय, हे उभयो, हे उभया।	हे उभये।

तत्राकारान्तः पुंल्लिङ्गो 'अन्य' शब्दः।

विभक्ति	एकवचन।	बहुवचन।
प्रथमा	अन्नो।	अन्ने।
द्वितीया	अन्नं।	अन्ने, अन्ना।
तृतीया	अन्नेणं, अन्नेण।	अन्नेहिं, अन्नेहिँ, अन्नेहि।
चतुर्थी	अन्नस्स।	अन्नेसिं, अन्नाणं, अन्नाण।
पञ्चमी	अन्नत्तो, अन्नाओ, अन्नाउ, अन्नाहि, अन्ना-)	अन्नत्तो, अन्नाओ, अन्नाउ, अन्नाहि, अन्नेहि, अ-
,,	हिन्तो, अन्ना।	(न्नाहिन्तो, अन्नेहिन्तो, अन्नासुन्तो, अन्नेसुन्तो।
षष्ठी	अन्नस्स।	अन्नेसिं, अन्नाणं, अन्नाण।
सप्तमी	अन्नस्सिं, अन्नम्मि, अन्नत्थ, अन्नहिं।	अन्नेसुं, अन्नेसु।
सम्बोधनम्	हे अन्न, हे अन्नो, हे अन्ना।	हे अन्ने।

तत्राकारान्तः पुंल्लिङ्गः 'कतर' शब्दः।

विभक्ति	एकवचन।	बहुवचन।
प्रथमा	कयरो।	कयरे।
द्वितीया	कयरं।	कयरे, कयरा।
तृतीया	कयरेणं, कयरेण।	कयरेहिं, कयरेहिँ, कयरेहि।
चतुर्थी	कयरस्स।	कयरेसिं, कयराणं, कयराण।
पञ्चमी	कयरत्तो, कयराओ, कयराउ, कयराहि,)	कयरत्तो, कयराओ, कयराउ, कयराहि, कयरेहि, कय-
,,	कयराहिन्तो, कयरा।	राहिन्तो, कयरेहिन्तो, कयरासुन्तो, कयरेसुन्तो।
षष्ठी	कयरस्स।	कयरेसिं, कयराणं, कयराण।
सप्तमी	कयरस्सिं, कयरम्मि, कयरत्थ, कयरहिं।	कयरेसुं, कयरेसु।
सम्बोधनम्	हे कयर, हे कयरो, हे कयरा।	हे कयरे।

अकारान्तः पुंल्लिङ्गो 'अवर' शब्दः।

विभक्ति	एकवचन।	बहुवचन।
प्रथमा	अवरो।	अवरे।
द्वितीया	अवरं।	अवरे, अवरा।
तृतीया	अवरेणं, अवरेण।	अवरेहि, अवरेहिँ, अवरेहिं।
चतुर्थी	अवरस्स।	अवरेसिं, अवराणं, अवराण।
पञ्चमी	अवरत्तो, अवराओ, अवराउ, अवराहि, अ-)	अवरत्तो, अवराओ, अवराउ, अवराहि, अवरेहि, अ-
,,	वराहिन्तो, अवरा।	वराहिन्तो, अवरेहिन्तो, अवरासुन्तो, अवरेसुन्तो।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
षष्ठी	अवरस्स ।	अवरेसिं, अवराणं, अवराण ।
सप्तमी	अवरस्सिं, अवरम्मि, अवरत्थ, अवरहिं ।	अवरेसुं, अवरेसु ।
सम्बोधनम्	हे अवर, हे अवरा, हे अवरो ।	हे अवरे ।

अकारान्तः पुँल्लिङ्ग ' इतर ' शब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	इयरो ।	इयरे ।
द्वितीया	इयरं ।	इयरे, इयरा ।
तृतीया	इयरेणं, इयरेण ।	इयरेहि, इयरेहिँ, इयरेहिं ।
चतुर्थी	इयरस्स ।	इयरेसिं, इयराणं, इयराण ।
पञ्चमी	इयरत्तो, इयराओ, इयराउ, इयराहि, इयरा-)	इयरत्तो, इयराओ, इयराउ, इयराहि, इयरेहि,
,,	हिन्तो, इयरा ।	(न्तो, इयरेहिन्तो, इयरासुन्तो, इयरेसुन्तो ।
षष्ठी	इयरस्स ।	इयरेसिं, इयराणं, इयराण ।
सप्तमी	इयरस्सिं, इयरम्मि, इयरत्थ, इयरहिं ।	इयरेसुं, इयरेसु ।
सम्बोधनम्	हे इयर, हे इयरा, हे इयरो ।	हे इयरे ।

पुँल्लिङ्गे यच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	जो ।	जे ।
द्वितीया	जं ।	जे, जा ।
तृतीया	जेणं, जेण, जिणा ।	जेहि, जेहिँ, जेहिं ।
चतुर्थी	जस्स ।	जेसिं, जाणं, जाण ।
पञ्चमी	जत्तो, जाओ, जाउ, जाहि, जाहिन्तो, जा,)	जत्तो, जाओ, जाउ, जाहि, जेहि, जाहिन्तो,
,,	जम्हा ।	(जासुन्तो, जेसुन्तो ।
षष्ठी	जस्स ।	जेसिं, जाणं, जाण ।
सप्तमी	जस्सिं, जम्मि, जत्थ, जहिं, जाहे, जाला,)	जेसुं, जेसु ।
,,	जइया ।	,,

पुँल्लिङ्गे तच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	सो, णो ।	ते, णे ।
द्वितीया	तं, णं ।	ते, णे, ता, णा ।
तृतीया	तेणं, तेण, तिणा, णेणं, णेण ।	तेहि, तेहिँ, तेहिं, णेहि, णेहिँ, णेहिं ।
चतुर्थी	तास, तस्स, से, णस्स ।	तेसिं, ताणं, ताण, सिं, णेसिं, णाणं, णाण ।
पञ्चमी	तम्हा, तत्तो, ताओ, ताउ, ताहिन्तो, ता, णम्हा,)	तत्तो, ताओ, ताउ, ताहि, तेहि, ताहिन्तो, तेहि
,,	णत्तो, णाओ, णाउ, णाहि, णाहिन्तो, णा ।	(सुन्तो, तेसुन्तो, णत्तो, णाओ, णाउ, णाहि, णे
,,	,,	(हिन्तो, णेहिन्तो, णासुन्तो, णेसुन्तो ।
षष्ठी	ताम, तस्स, से, णस्स ।	तेसिं, ताणं, ताण, सिं, णेसिं, णाणं, णाण ।
सप्तमी	तस्सिं, तत्थ, तम्मि, तहिं, णस्सिं, णम्मि, णत्थ,)	तेसुं, तेसु, णेसुं, णेसु ।
,,	णहिं, ताहे, ताला, तइआ, णाहे, णाला, णइआ ।	,,

एकशब्दस्य रूपाणि।

विभक्ति	एकवचन।	बहुवचन।
प्रथमा	एक्को।	एक्के।
द्वितीया	एक्कं।	एक्के, एक्का।
तृतीया	एक्केणं, एक्केण।	एक्केहिं, एक्केहिँ, एक्केहि।
चतुर्थी	एक्कस्स।	एक्केसिं, एक्काणं, एक्काण।
पञ्चमी	एक्कत्तो, एक्काओ, एक्काउ, एक्काहि, एक्काहिन्तो,) एक्का।	एक्कत्तो, एक्काओ, एक्काउ, एक्काहि, एक्केहि, एक्काहिन्तो, (एक्केहिन्तो, एक्कासुन्तो, एक्केसुन्तो।
षष्ठी	एक्कस्स।	एक्केसिं, एक्काणं, एक्काण।
सप्तमी	एक्कंसि, एक्कम्मि, एक्कत्थ, एक्कहिं।	एक्केसुं, एक्केसु।

प्रकृत्यन्तरेण एकशब्दस्यैवान्यानि रूपाणि।

विभक्ति	एकवचन।	बहुवचन।
प्रथमा	एगो।	एगे।
द्वितीया	एगं।	एगे, एगा।
तृतीया	एगेणं, एगेण।	एगेहिं, एगेहिँ, एगेहि,
चतुर्थी	एगस्स।	एगेसिं, एगाणं, एगाण।
पञ्चमी	एगत्तो, एगाओ, एगाउ, एगाहि, एगाहिंतो,)	एगत्तो, एगाओ, एगाउ, एगाहि, एगेहि, एगाहिन्तो,
,,	एगा।	(एगेहिन्तो, एगासुन्तो, एगेसुन्तो।
षष्ठी	एगस्स।	एगेसिं, एगाणं, एगाण।
सप्तमी	एगंसि, एगम्मि, एगत्थ, एगहिं।	एगेसुं, एगेसु।

प्रकृत्यन्तरेणैव पुनरेकशब्दस्य रूपाणि।

विभक्ति	एकवचन।	बहुवचन।
प्रथमा	इक्को।	इक्के।
द्वितीया	इक्कं।	इक्के, इक्का।
तृतीया	इक्केणं, इक्केण।	इक्केहिं, इक्केहिँ, इक्केहि।
चतुर्थी	इक्कस्स।	इक्केसिं, इक्काणं, इक्काण।
पञ्चमी	इक्कत्तो, इक्काओ, इक्काउ, इक्काहि, इक्काहिन्तो,)	इक्कत्तो, इक्काओ, इक्काउ, इक्काहि, इक्केहि, इक्काहिन्तो,
,,	इक्का।	(इक्केहिन्तो, इक्कासुन्तो, इक्केसुन्तो।
षष्ठी	इक्कस्स।	इक्केसिं, इक्काणं, इक्काण।
सप्तमी	इक्कंसि, इक्कम्मि, इक्कत्थ, इक्कहिं।	इक्केसुं, इक्केसु।

किंशब्दस्य रूपाणि।

विभक्ति	एकवचन।	बहुवचन।
प्रथमा	को।	के।
द्वितीया	कं।	के, का।
तृतीया	केणं, केण, किणा।	केहिं, केहिँ, केहि।
चतुर्थी	कस्स, कास।	केसिं, काणं, काण, काम।
पञ्चमी	कत्तो, काओ, काउ, काहि, काहिन्तो, कम्हा,)	कत्तो, काओ, काउ, काहि, केहि, काहिन्तो, केहिन्तो,
,,	किणो, कीस।	कासुन्तो, केसुन्तो।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
षष्ठी	कस्स, कास ।	केसिं, काणं, काणं, कास ।
सप्तमी	कस्सिं, कम्मि, कत्थ, कहिं, काहे, काला, कइआ ।	केसुं, केसु ।

एतच्छब्दस्य रूपाणि।

विभक्ति	एकवचन।	बहुवचन।
प्रथमा	एसो, एस, इणं, इणमो ।	एए ।
द्वितीया	एअं ।	एए, एआ ।
तृतीया	एएणं, एएणं, एइणा ।	एएहिं, एएहिँ, एएहि ।
चतुर्थी	एअस्स, से ।	एएसिं, एआणं, एआण, सिं ।
पञ्चमी	एअत्तो, एआओ, एआउ, एआहि, एआहिन्तो,)	एअत्तो, एआओ, एआउ, एआहि, एएहि, एआहि
,,	एआ, एत्तो, एत्ताहे ।	(एएहिन्तो, एआसुन्तो, एएसुन्तो ।
षष्ठी	एअस्स, से ।	एएसिं, एआणं, एआण, सिं ।
सप्तमी	एअंसि, एअम्मि, अयम्मि, ईयम्मि, एत्थ ।	एएसुं, एएसु ।

इदंशब्दस्य रूपाणि।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	अयं, इमो ।	इमे ।
द्वितीया	इमं, इणं, णं ।	इमे, इमा, णे, णा ।
तृतीया	इमेणं, इमेण, णेणं, णेण, इमिणा ।	इमेहिं, इमेहिँ, इमेहि, णेहिं, णेहिँ, णेहि, एहिं, एहिँ, ए
चतुर्थी	इमस्स, अस्स, से ।	इमेसिं, इमाणं, इमाण, सिं ।
पञ्चमी	इमत्तो, इमाओ, इमाउ, इमाहि, इमाहिन्तो, इमा ।	इमत्तो, इमाओ, इमाउ, इमाहि, इमेहि, इमाहिन्तो, इ
,,	,,	हिन्तो, इमासुन्तो, इमेसुन्तो ।
षष्ठी	इमस्स, अस्स, से ।	इमेसिं, इमाणं, इमाण, सिं ।
सप्तमी	अस्सिं, इमस्सिं, इमम्मि, इह ।	इमेसुं, इमेसु ।

अदःशब्दस्य रूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	अह, अमू ।	अमुणो, अमओ, अमवो, अमउ, अमू ।
द्वितीया	अमुं ।	अमुणो, अमू ।
तृतीया	अमुणा ।	अमूहिं, अमूहिँ, अमूहि ।
चतुर्थी	अमुणो, अमुस्स ।	अमूणं, अमूण ।
पञ्चमी	अमुणो, अमुत्तो, अमूओ, अमूउ, अमूहिन्तो ।	अमुत्तो, अमूओ, अमूउ, अमूहिन्तो, अमूसुन्तो ।
षष्ठी	अमुणो, अमुस्स ।	अमूणं, अमूण ।
सप्तमी	अमुम्मि, अयम्मि, इअम्मि ।	अमूसुं, अमूसु ।

अथ स्त्रीलिङ्गशब्दाः ।

आकारान्तः स्त्रीलिङ्गो रमाशब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	रमा ।	रमाओ, रमाउ, रमा ।
द्वितीया	रमं ।	रमाओ, रमाउ, रमा ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
तृतीया	रमाए, रमाअ, रमाइ * ।	रमाहिं, रमाहिँ, रमाहि ।
चतुर्थी	रमाए, रमाअ, रमाइ ।	रमाणं, रमाण ।
पञ्चमी	रमाए, रमाअ, रमाइ, रमत्तो, रमाओ, रमाउ,)	रमत्तो, रमाओ, रमाउ, रमाहिन्तो, रमासुन्तो ।
,,	रमाहिन्तो ।	,,
षष्ठी	रमाए, रमाअ, रमाइ ।	रमाणं, रमाण ।
सप्तमी	रमाए, रमाअ, रमाइ ।	रमासुं, रमासु ।
सम्बोधनम्	हे रमे, हे रमा ।	हे रमाओ, हे रमाउ, हे रमा ।

इकान्तः स्त्रीलिङ्गो रुचिशब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	रुई + ।	रुईओ, रुईउ, रुई ।
द्वितीया	रुइं ।	रुईओ, रुईउ, रुई ।
तृतीया	रुईअ, रुईआ, रुईइ, रुईए ।	रुईहिं, रुईहिँ, रुईहि ।
चतुर्थी	रुईअ, रुईआ, रुईइ, रुईए ।	रुईणं, रुईण ।
पञ्चमी	रुईअ, रुईआ, रुईइ, रुईए, रुइत्तो, रुईओ, रुईउ,)	रुइत्तो, रुईओ, रुईउ, रुईहिन्तो, रुईसुन्तो ।
,,	रुईहिन्तो ।	,, ,,
षष्ठी	रुईआ, रुईअ, रुईइ, रुईए ।	रुईणं, रुईण ।
सप्तमी	रुईअ, रुईआ, रुईइ, रुईए ।	रुईसुं, रुईसु ।
सम्बोधनम्	हे रुई, हे रुइ ।	हे रुईओ, हे रुईउ, हे रुई ।

ईकारान्तः स्त्रीलिङ्गो नदीशब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	नई, नईआ × ।	नई, नईआ, नईउ, नईओ ।
द्वितीया	नइं ।	नई, नईआ, नईउ, नईओ ।
तृतीया	नईअ, नईआ, नईइ, नईए ।	नईहिं, नईहिँ, नईहि ।
चतुर्थी	नईअ, नईआ, नईइ, नईए।	नईणं, नईण ।
पञ्चमी	नईअ, नईआ, नईइ, नईए, नइत्तो, नईओ, नईउ,)	नइत्तो, नईओ, नईउ, नईहिन्तो, नईसुन्तो ।
,,	नईहिन्तो ।	,, ,,
षष्ठी	नईअ, नईआ, नईइ, नईए ।	नईणं, नईण ।
सप्तमी	नईअ, नईआ, नईइ, नईए ।	नईसुं, नईसु ।
सम्बोधनम्	हे नई, हे नइ ।	हे नईओ, हे नईउ, हे नई, हे नईआ ।

स्त्रीशब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	इत्थी, इत्थीआ ।	इत्थी, इत्थीओ, इत्थीउ, इत्थीआ ।
द्वितीया	इत्थिं ।	इत्थी, इत्थीओ, इत्थीउ, इत्थीआ ।
तृतीया	इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए ।	इत्थीहिं, इत्थीहिँ, इत्थीहि ।

---

* "टाङस्ङेरदादिदेद्वा तु ङसेः" ॥ ८ । ३ । २९ ॥ स्त्रियां वर्तमानान्नाम्नः परेषां टाङस्ङीनां प्रत्येकम् अत्, आत्, इत्, एत् एते चत्वार आदेशाः सप्राग्दीर्घा भवन्ति, ङसेस्तु पुनरेते वा भवन्ति । 'नात आत्' ॥ ८ । ३ । ३० ॥ स्त्रियां वर्तमानादादन्तान्नाम्नः परेषां टाङस्ङिङसीनामादादेशो न भवति । + 'अक्लीबे सौ' ॥ ८ । ३ । १९ ॥ इदुतोऽक्लीबे नपुंसकादन्यत्र सौ दीर्घो भवति । बुद्धी । × "ईतः सेश्चा वा" ॥ ८ । ३ । २८ ॥ स्त्रियां वर्तमानादीकारान्तात् सेर्जस्शसोश्च स्थाने आकारो वा भवति ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
चतुर्थी	इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए ।	इत्थीणं, इत्थीण ।
पञ्चमी	इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए, इत्थित्तो,)	इत्थित्तो, इत्थीओ, इत्थीउ, इत्थीहिन्तो इत्थीसुन्तो।
,,	इत्थीओ, इत्थीउ, इत्थीहिन्तो ।	,,
षष्ठी	इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए ।	इत्थीणं, इत्थीण ।
सप्तमी	इत्थीअ, इत्थीआ, इत्थीइ, इत्थीए ।	इत्थीसुं, इत्थीसु ।
सम्बोधनम्	हे इत्थी, हे इत्थि,	हे इत्थीओ, हे इत्थीउ, हे इत्थी, हे इत्थीआ ।

प्रकृत्यन्तरेण स्त्रीशब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	धी, * धीआ ।	धी, धीओ, धीउ, धीआ ।
द्वितीया	धिं ।	धी, धीओ, धीउ, धीआ ।
तृतीया	धीआ, धीअ, धीइ, धीए ।	धीहिं, धीहिँ, धीहि ।
चतुर्थी	धीआ, धीअ, धीइ, धीए ।	धीणं, धीण ।
पञ्चमी	धीआ, धीअ, धीइ, धीए, धित्तो, धीओ, धीउ,)	धित्तो, धीओ, धीउ, धीहिन्तो, धीसुन्तो ।
,,	धीहिन्तो ।	,,
षष्ठी	धीआ, धीअ, धीइ, धीए ।	धीणं, धीण ।
सप्तमी	धीआ, धीअ, धीइ, धीए ।	धीसुं, धीसु ।
सम्बोधनम्	हे धी, हे धि ।	हे धीओ, हे धीउ, हे धी, हे धीआ ।

उकारान्तः स्त्रीलिङ्गो धेणुशब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	धेणू ।	धेणूउ, धेणूओ, धेणू ।
द्वितीया	धेणुं ।	धेणूउ, धेणूओ, धेणू ।
तृतीया	धेणूअ, धेणूआ, धेणूइ, धेणूए ।	धेणूहिं धेणूहिँ, धेणूहि ।
चतुर्थी	धेणूअ, धेणूआ, धेणूइ, धेणूए ।	धेणूणं, धेणूण ।
पञ्चमी	धेणूअ, धेणूआ, धेणूइ, धेणूए, धेणुत्तो, धेणूओ,)	धेणुत्तो, धेणूओ, धेणूउ, धेणूहिन्तो, धेणूसुन्तो ।
,,	धेणूउ, धेणूहिन्तो ।	,,
षष्ठी	धेणूअ, धेणूआ, धेणूइ, धेणूए ।	धेणूणं, धेणूण ।
सप्तमी	धेणूअ, धेणूआ, धेणूइ, धेणूए ।	धेणूसुं, धेणूसु ।
सम्बोधनम्	हे धेणू, हे धेणु ।	हे धेणूओ, हे धेणूउ, हे धेणू ।

ऊकारान्तः स्त्रीलिङ्गो वधूशब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	वहू ।	वहूउ, वहूओ, वहू ।
द्वितीया	वहुं ।	वहूउ, वहूओ, वहू ।
तृतीया	वहूआ, वहूअ, वहूइ, वहूए ।	वहूहिं, वहूहिँ, वहूहि ।
चतुर्थी	वहूआ, वहूअ, वहूइ, वहूए ।	वहूणं, वहूण ।
पञ्चमी	वहूआ, वहूअ, वहूइ, वहूए, वहुत्तो, वहूओ, वहूउ,)	वहुत्तो, वहूओ, वहूउ, वहूहिन्तो, वहूसुन्तो ।
,,	वहूहिन्तो ।	,,

* [illegible] । [illegible] 'धी' [illegible]

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
षष्ठी	वहूआ, वहूअ, वहूइ, वहूए ।	वहूणं, वहूण ।
सप्तमी	वहूआ, वहूअ, वहूइ, वहूए ।	वहूसुं, वहूसु ।
सम्बोधनम्	हे वहु, हे वहू ।	हे वहूउ, हे वहूओ, हे वहू ।

ऋकारान्तः स्त्रीलिङ्गो मातृशब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	माआ, माअरा * ।	माअरा, माअराउ, माअराओ, माआ, माआउ, माआओ, माऊ, माऊउ, माऊओ ।
द्वितीया	माअं, माअरं ।	माअरा, माअराउ, माअराओ, माआ, माआउ, माआओ, माऊ, माऊउ, माऊओ ।
तृतीया	माअराइ, माअराए, माअराअ, माआए, माआइ, माआअ, माऊआ, माऊअ, माऊए, माऊइ ।	माअराहिं, माअराहिँ, माअराहि, माआहिं, माआहिँ, माआहि, माऊहिं, माऊहिँ, माऊहि ।
चतुर्थी	माअराइ, माअराए, माअराअ, माआए, माआइ, माआअ, माऊआ, माऊअ, माऊए, माऊइ ।	माअराणं, माअराण, माआणं, माआण, माऊणं, माऊण, माईणं, माईण + ।
पञ्चमी	माअराइ, माअराए, माअराअ, माआए, माआइ, माआअ, माऊआ, माऊअ, माऊए, माऊइ, माअरत्तो, माअराओ, माअराउ, माअराहिन्तो, माअत्तो, माआओ, माआउ, माआहिंतो, माउत्तो, माऊओ, माऊउ, माऊहिंतो ।	माअरत्तो, माअराओ, माअराउ, माअराहिंतो, माअरासुन्तो, माअत्तो, माआओ, माआउ, माआहिंतो, माआसुन्तो, माउत्तो, माऊओ, माऊउ, माऊहिंतो, माऊसुन्तो ।
षष्ठी	माअराइ, माअराए, माअराअ, माआए, माआइ, माआअ, माऊआ, माऊअ, माऊए, माऊइ ।	माअराणं, माअराण, माआणं, माआण, माऊणं, माऊण, माईणं, माईण ।
सप्तमी	माअराइ, माअराए, माअराअ, माआए, माआइ, माआअ, माऊआ, माऊअ, माऊए, माऊइ ।	माअरासुं, माअरासु, माआसुं, माआसु, माऊसुं, माऊसु ।
सम्बोधनम्	हे माअ, हे माअरं ।	हे माआ, हे माआउ, हे माआओ, हे माअरा, हे माअराउ, हे माअराओ, हे माऊ, हे माऊउ, हे माऊओ ।

ऋकारान्तः स्त्रीलिङ्गो दुहितृशब्दः ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	दुहिआ ।	दुहिआओ, दुहिआउ, दुहिआ ।
द्वितीया	दुहिअं ।	दुहिआओ, दुहिआउ, दुहिआ ।
तृतीया	दुहिआए, दुहिआअ, दुहिआइ ।	दुहिआहिं, दुहिआहिँ, दुहिआहि ।
चतुर्थी	दुहिआए, दुहिआअ, दुहिआइ ।	दुहिआणं, दुहिआण ।
पञ्चमी	दुहिआए, दुहिआअ, दुहिआइ, दुहिअत्तो, दुहिआओ, दुहिआउ, दुहिआहिन्तो ।	दुहिअत्तो, दुहिआओ, दुहिआउ, दुहिआहिन्तो, दुहिआसुन्तो ।
षष्ठी	दुहिआए, दुहिआअ, दुहिआइ ।	दुहिआणं, दुहिआण ।
सप्तमी	दुहिआए, दुहिआअ, दुहिआइ ।	दुहिआसुं, दुहिआसु ।
सम्बोधनम्	हे दुहिअ, हे दुहिआ ।	हे दुहिआओ, हे दुहिआउ, हे दुहिआ ।

---

* बाहुलकाद् जनन्यर्थे आ, देवतार्थस्य तु अरा इत्यादेशः। माआए कुच्छीए, नमो माअराण। + 'मातुरिद् वा'। ८।१।१३५। मातृशब्दस्य गौणस्य ऋत इद् भवति वा। क्वचिदगौणस्यापि। माईणं।

यच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	जा ।	जाओ, जाउ, जा ।
द्वितीया	जं ।	जाओ, जाउ, जा ।
तृतीया	जाए, जाअ, जाइ ।	जाहिं, जाहिँ, जाहि ।
चतुर्थी	जाए, जाअ, जाइ ।	जाणं, जाण ।
पञ्चमी	जाए, जाअ, जाइ, जत्तो, जाओ, जाउ, जा- हिन्तो, जम्हा ।	जत्तो, जाओ, जाउ, जाहिन्तो, जासुन्तो ।
षष्ठी	जाए, जाअ, जाइ ।	जाणं, जाण ।
सप्तमी	जाए, जाअ, जाइ ।	जासुं, जासु ।

प्रकृत्यन्तरेण यच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	जा * ।	जीओ, जीउ, जीआ, जी ।
द्वितीया	जं ।	जीओ, जीउ, जीआ, जी ।
तृतीया	जीअ, जीआ, जीइ, जीए ।	जीहिं, जीहिँ, जीहि ।
चतुर्थी	जीअ, जीआ, जीइ, जीए, जिस्सा, जीसे ।	जाणं, जाण ।
पञ्चमी	जीअ, जीआ, जीइ, जीए, जित्तो, जीओ, जीउ, जीहिन्तो ।	जित्तो, जीओ, जीउ, जीहिन्तो, जीसुन्तो ।
षष्ठी	जीअ, जीआ, जीइ, जीए, जिस्सा, जीसे ।	जाणं, जाण ।
सप्तमी	जीअ, जीआ, जीइ, जीए ।	जीसुं, जीसु ।

तच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	सा, ता, णा × ।	ताओ, ताउ, ता ।
द्वितीया	तं, णं ।	ताओ, ताउ, ता ।
तृतीया	णाए, ताए, ताअ, ताइ ।	ताहिं, ताहिँ, ताहि, णाहिं, णाहिँ, णाहि ।
चतुर्थी	ताए, ताअ, ताइ, तास + ।	ताणं, ताण, ताम ।
पञ्चमी	ताए, ताअ, ताइ, तत्तो, ताओ, ताउ, ताहिन्तो, तो, तम्हा ।	तत्तो, ताओ, ताउ, ताहिन्तो, तासुन्तो ।
षष्ठी	ताए, ताअ, ताइ, तास ।	ताणं, ताण, ताम ।
सप्तमी	ताए, ताअ, ताइ ।	तासुं, तासु ।

प्रकृत्यन्तरेण तच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	सा, ता, णा ।	तीओ, तीउ, तीआ, ती ।
द्वितीया	तं, णं ।	तीओ, तीउ, तीआ, ती ।
तृतीया	तीअ, तीआ, तीइ, तीए ।	तीहिं, तीहिँ, तीहि ।
चतुर्थी	तीअ, तीआ, तीइ, तीए, तिस्सा, तीसे ।	ताणं, ताण ।

---

* 'किंयत्तदोऽस्यमामि' । ८ । ३ । ३३ । सि अम् आम् वर्जिते स्यादौ परे एभ्यः स्त्रियां ङीर्वा । जीओ । अस्यमामीति किम् । जा, जं, जाण । × 'तदो णः स्यादौ क्वचित्' । ८ । ३ । ७० । तदः स्थाने स्यादौ परे ण आदेशो भवति क्वचित् लक्ष्यानुसारेण । [illegible] । हत्थुन्नामिअमुही णं तिअडा । तां त्रिजटेत्यर्थः । भणिअं च णाए, तयेत्यर्थः । णाहिं कयं, ताभिः कृतमित्यर्थः ।

+ बहुलाधिकारात् [illegible] सादेशो वा । तास धनं । पक्षे ताए ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
पञ्चमी	तीअ, तीआ, तीइ, तीए, तित्तो, तीओ, तीउ, ती-)	तित्तो, तीओ, तीउ, तीहिन्तो, तीसुन्तो ।
,,	हिन्तो ।	,,
षष्ठी	तीअ, तीआ, तीइ, तीए, तिस्सा, तीसे ।	ताणं, ताण ।
सप्तमी	तीअ तीआ, तीइ, तीए ।	तीसुं, तीसु ।

किंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	का ।	काओ, काउ, का ।
द्वितीया	कं ।	काओ, काउ, का ।
तृतीया	काए, काअ, काइ ।	काहिं, काहिँ, काहि ।
चतुर्थी	काए, काअ, काइ, काम ।	काणं, काण, कास, केसिं + ।
पञ्चमी	काए, काअ, काइ, कत्तो, काओ, काउ, काहिन्तो,	कत्तो, काओ, काउ, काहिन्तो, कासुन्तो ।
,,	कम्हा, कीस, किणो * ।	,,
षष्ठी	काए, काअ, काइ, काम ।	काणं, काण, कास, केसिं ।
सप्तमी	काए, काअ, काइ ।	कासुं, कासु ।

प्रकृत्यन्तरेण किंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	का ।	कीओ, कीउ, कीआ, की ।
द्वितीया	कं ।	कीओ, कीउ, कीआ, की ।
तृतीया	कीअ, कीआ, कीइ, कीए ।	कीहिं, कीहिँ, कीहि ।
चतुर्थी	कीअ, कीआ, कीइ, कीए, किस्सा, कीसे ।	काणं, काण, कास, केसिं ।
पञ्चमी	कीअ, कीआ, कीइ, कीए, कित्तो, कीओ, कीउ, कीहिन्तो ।	कित्तो, कीओ, कीउ, कीहिन्तो, कीसुन्तो ।
षष्ठी	कीअ, कीआ, कीइ, कीए, किस्सा, कीसे ।	काणं, काण, कास, केसिं ।
सप्तमी	कीअ, कीआ, कीइ, कीए ।	कीसुं, कीसु ।

एतच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	एसा, एस, इणं, इणमो × ।	एआओ, एआउ, एआ ।
द्वितीया	एअं ।	एआओ, एआउ, एआ ।
तृतीया	एआअ, एआइ, एआए ।	एआहिं, एआहिँ, एआहि ।
चतुर्थी	एआअ, एआइ, एआए, से ।	एआणं, एआण, एएसिं, सिं ।
पञ्चमी	एआअ, एआइ, एआए, एत्तो ÷, एआओ,)	एत्तो, एआओ, एआउ, एआहिन्तो, एआसुन्तो ।
,,	एआउ, एताहिन्तो ।	,,
षष्ठी	एआअ, एआइ, एआए, से ।	एआणं, एआण, एएसिं, सिं ।
सप्तमी	एआअ, एआइ, एआए ।	एआसुं, एआसु ।

प्रकृत्यन्तरेण एतच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	एई, एस, इणं, इणमो ।	एईओ, एईउ, एईआ, एई ।

+ "आमो डेसिं" । ८ । ३ । ६१ । बहुलाधिकारात् स्त्रियामपि । सव्वेसिं, केसिं । * "किमो डिणोडीसौ" ॥ ८ । ३ । ६८ ॥ × "वैसेणमिणमो सिना" ॥ ८ । ३ । ८५ ॥ एतदः सिना सह एस इणम् इणमो इत्यादेशा वा भवन्ति । एस मई । ÷ "त्थे च तस्य लुक्" ॥ ८ । ३ । ८३ ॥ एतदः त्थे त्तो त्ताहे परे तस्य लुक् । एत्थ, एत्तो, एत्ताहे ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
द्वितीया	एईं ।	एईओ, एईउ, एईआ, एई ।
तृतीया	एईअ, एईआ, एईइ, एईए ।	एईहिं, एईहिँ, एईहि ।
चतुर्थी	एईअ, एईआ, एईइ, एईए ।	एईणं, एईण, ।
पञ्चमी	एईअ, एईआ, एईइ, एईए एइत्तो, एईओ, एईउ, एईहिन्तो ।	एइत्तो, एईओ, एईउ, एईहिन्तो, एईसुन्तो ।
षष्ठी	एईअ, एईआ, एईइ, एईए ।	एईणं, एईण ।
सप्तमी	एईअ, एईआ, एईइ, एईए ।	एईसुं, एईसु ।

इदंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	इमिआ, इमा * ।	इमाओ, इमाउ, इमा ।
द्वितीया	इमं, इणं, णं × ।	इमाओ, इमाउ, इमा, णाओ, णाउ, णा ।
तृतीया	इमाए, इमाइ, इमाअ, णाए, णाइ, णाअ ।	इमाहिं, इमाहिँ, इमाहि, णाहिं, णाहिँ, णाहि, आहिं, आहिँ, आहि = ।
चतुर्थी	इमाए, इमाइ, इमाअ, से + ।	इमाणं, इमाण, सिं ।
पञ्चमी	इमाए, इमाइ, इमाअ, इमत्तो, इमाओ, इमाउ, इमाहिन्तो ।	इमत्तो, इमाओ, इमाउ, इमाहिन्तो, इमासुन्तो ।
षष्ठी	इमाए, इमाइ, इमाअ, से ।	इमाणं, इमाण, सिं ।
सप्तमी	इमाए, इमाइ, इमाअ, इह ÷ ।	इमासुं, इमासु ।

प्रकृत्यन्तरेण इदंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	इमिआ, इमी ।	इमीओ, इमीउ, इमीआ, इमी ।
द्वितीया	इमिं ।	इमीओ, इमीउ, इमीआ, इमी ।
तृतीया	इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए ।	इमीहिं, इमीहिँ, इमीहि ।
चतुर्थी	इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए ।	इमीणं, इमीण ।
पञ्चमी	इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए, इमित्तो, इमीओ, इमीउ, इमीहिन्तो ।	इमित्तो, इमीओ, इमीउ, इमीहिन्तो, इमीसुन्तो ।
षष्ठी	इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए ।	इमीणं, इमीण ।
सप्तमी	इमीअ, इमीआ, इमीइ, इमीए ।	इमीसुं, इमीसु ।

अदःशब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	अह, अमू ।	अमूउ, अमूओ अमू ।
द्वितीया	अमुं ।	अमूउ, अमूओ, अमू ।
तृतीया	अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए ।	अमूहिं, अमूहिँ, अमूहि ।
चतुर्थी	अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए ।	अमूणं, अमूण ।
पञ्चमी	अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए, अमुत्तो अमूओ, अमूउ, अमूहिन्तो ।	अमुत्तो, अमूओ, अमूउ, अमूहिन्तो, अमूसुन्तो ।
षष्ठी	अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए ।	अमूणं, अमूण ।
सप्तमी	अयम्मि, इअम्मि, अमूअ, अमूआ, अमूइ, अमूए ।	अमूसुं, अमूसु ।

* "पुंस्त्रियोर्न वाऽयमिमिआ सौ" ॥८।३।७३॥ पक्षे 'इदम इमः' ॥८।३।७२॥ × 'अमेणम्' ॥८।३।७८॥ 'णोऽम्शस्टाभि सि' ॥८।३।७७॥ = "स्सि-स्सयोरत्" ॥८।३।७४॥ बहुलाधिकारात् अन्यत्रापि भवति । आहि । + "वेदंतदेतदो ङसाम्भ्यां से-सिमौ" ॥८।३।८१॥ ÷ "ङेर्मेन हः" ॥८।३।७५॥ इदमः कृतेमादेशात् परस्य ङेः स्थाने मेन सह ह आदेशो वा भवति।

॥ अथ नपुंसकलिङ्गशब्दाः ॥

अकारान्तो नपुंसकलिङ्गो मङ्गलशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा मंगलं ॥ ।	मंगलाणि, मंगलाइं, मंगलाइँ × ।
द्वितीया मंगलं ।	मंगलाणि, मंगलाइं, मंगलाइँ ।

शेषं 'वच्छ' शब्दवत् + ।

इकारान्तो नपुंसकलिङ्गो दधिशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा दहिं, दहि, दहिँ * ।	दहीइं, दहीइँ, दहीणि ।
द्वितीया दहिं ।	दहीइं, दहीइँ दहीणि ।

शेषं पुम्वत् ।

उकारान्तो नपुंसकलिङ्गो मधुशब्दः ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा महुं महु, महुँ ।	महूइं, महूइँ, महूणि ।
द्वितीया महुं ।	महूइं, महूइँ, महूणि ।

शेषं 'गुरु' शब्दवत् ।

यच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा जं ।	जाणि, जाइं, जाइँ ।
द्वितीया जं ।	जाणि, जाइं, जाइँ ।

शेषं पुम्वत् ।

एवं तच्छब्दरूपाणि ज्ञेयानि ।

एतच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा एस, इणं, इणमो, एअं ।	एआणि, एआइं, एआइँ ।
द्वितीया एअं ।	एआणि, एआइं, एआइँ ।

शेषं पुम्वत् ।

इदंशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा इदं, इणं, इणमो = ।	इमाणि, इमाइँ, इमाइं ।
द्वितीया इदं, इणं, इणमो ।	इमाणि, इमाइँ, इमाइं ।

शेषं पुम्वत् ।

अदःशब्दरूपाणि ।

विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा अह, अमुं ÷ ।	अमूणि, [illegible] ।

॥ " क्लीबे स्वरान्म् सेः " । ८ । ३ । २५ ॥ × "जस्शसोः इँ-इं-णयः [illegible] । ८ । [illegible]
॥ ८ । ३ । २६ ॥ * दहि इति सिद्धापेक्षया । केचिदनुस्वारमपि इच्छन्ति दहिं [illegible]
इति स्यमन्यां सहितस्य इदम इणमो इणम् आदेशः । ÷ "वाऽदसः [illegible]

युष्मच्छब्दरूपाणि	विभक्ति एकवचन ।	बहुवचन ।
,,	तुम्हाहि, तुम्हाहिन्तो, तुम्हा, तुज्झत्तो, तुज्झा-)	(तुम्हेहि, तुम्हाहिन्तो, तुम्हेहिन्तो, तुम्हासुन्तो, तुम्हेसुन्तो,
,,	ओ, तुज्झाउ, तुज्झाहि, तुज्झाहिन्तो, तुज्झा,)	(उम्हत्तो, उम्हाओ, उम्हाउ, उम्हाहि, उम्हेहि, उम्हा-
,,	तुम्ह, तुब्भ, तुम्ह, तुज्झ, तहिन्तो ।	(हिन्तो, उम्हेहिन्तो, उम्हासुन्तो, उम्हेसुन्तो, उम्हत्तो,
,,	,,	(उम्हाओ, उम्हाउ, उम्हाहि, उम्हेहि, उम्हाहिन्तो,
,,	,,	(उम्हेहिन्तो, उम्हासुन्तो, उम्हेसुन्तो ।
षष्ठी	तइ, तु, ते, तुम्हं, तुह, तुहं, तुव, तुम, तुमे, तुमो,)	तु, वो, भे, तुब्भ, तुम्ह, तुज्झ, तुम्हे, तुम्हं, तुज्झं,
,,	तुमाइ, दि, दे, इ, ए, तुब्भ, तुम्ह, तुज्झ, उब्भ,)	(तुब्भाणं, तुब्भाण, तुम्हाणं, तुम्हाण, तुज्झाणं, तुज्झाण,
,,	उम्ह, उज्झ, उय्ह ।	(तुमाणं, तुमाण, तुवाणं, तुवाण, तुहाणं, तुहाण, उम्हा-
,,	,,	(णं, उम्हाण ।
सप्तमी	तुमे, तुमए, तुमाइ, तइ, तए, तुम्मि, तुवम्मि,)	तुसुं, तुसु, तुवेसुं, तुवेसु, तुमेसुं, तुमेसु, तुहेसुं, तुहेसु, तु-
,,	तुवंसि, तुवत्थ, तुमम्मि, तुमंसि, तुमत्थ, तुहम्मि,)	(ब्भेसुं, तुब्भेसु, तुम्हेसुं, तुम्हेसु, तुज्झेसुं, तुज्झेसु, तुवसुं,
,,	तुहंसि, तुहत्थ, तुब्भम्मि, तुब्भंसि, तुब्भत्थ,)	(तुवसु, तुमसुं, तुमसु, तुहसुं, तुहसु, तुब्भसुं, तुब्भसु,
,,	तुम्हम्मि, तुम्हंसि, तुम्हत्थ, तुज्झम्मि, तुज्झं-)	(तुज्झसुं, तुज्झसु, तुम्हसुं, तुम्हसु, तुब्भासुं, तुब्भासु,
,,	सिं, तुज्झत्थ ।	(तुम्हासुं, तुम्हासु, तुज्झासुं, तुज्झासु ।

अस्मच्छब्दरूपाणि ।

विभक्ति	एकवचन ।	बहुवचन ।
प्रथमा	अहं, हं, अहयं, म्मि, अम्हि, अम्मि ।	अम्ह, अम्हे, अम्हो, मो, वयं, भे ।
द्वितीया	णे, णं, मि, अम्मि, अम्ह, मम्ह, मं, ममं, मिमं अहं ।	अम्हे, अम्हो, अम्ह, णे ।
तृतीया	मि, मे, ममं, ममए, ममाइ, मइ, मए, मयाइ, णे ।	अम्हेहि, अम्हाहि, अम्ह, अम्हे, णे ।
चतुर्थी	मे, मइ, मम, मह, महं, मज्झ, मज्झं, अम्ह, अम्हं ।	णे, णो, मज्झ, अम्ह, अम्हं, अम्हे, अम्हो, अम्हाणं, अ-
,,		(म्हाण, ममाणं, ममाण, महाणं, महाण, मज्झाणं, मज्झाण ।
पञ्चमी	मइत्तो, मईओ, मईउ, मईहिन्तो, ममत्तो, ममाओ,)	ममत्तो, ममाओ, ममाउ, ममाहि, ममेहि, ममाहिन्तो, मे-
,,	ममाउ, ममाहि, ममाहिन्तो, ममा, महत्तो, महा-)	(हिन्तो, ममेसुन्तो, ममासुन्तो, अम्हत्तो, अम्हाओ, अम्हाउ,
,,	ओ, महाउ, महाहि, महाहिन्तो, महा, मज्झत्तो,)	(अम्हाहि, अम्हेहि, अम्हाहिन्तो, अम्हेहिन्तो, अम्हा-
,,	मज्झाओ, मज्झाउ, मज्झाहि, मज्झाहिन्तो, मज्झा ।	(सुन्तो, अम्हेसुन्तो ।
षष्ठी	मे, मइ, मम, मह, महं, मज्झं, मज्झ, अम्हं, अम्ह ।	णे, णो, मज्झ, अम्ह, अम्हं, अम्हे, अम्हो, अम्हाणं,
,,	,,	(अम्हाण, ममाणं, ममाण, महाणं, महाण, मज्झाणं, मज्झाण ।
सप्तमी	मि, मइ, ममाइ, मए, मे, अम्हम्मि, अम्हंसि,)	अम्हेसुं, अम्हेसु, ममेसुं, ममेसु, महेसुं, महेसु, मज्झेसुं,
,,	अम्हत्थ, ममम्मि, ममंसि, ममत्थ, महम्मि, मह-)	(मज्झेसु, अम्हसुं, अम्हसु, ममसुं, ममसु, मज्झसुं, मज्झसु,
,,	सिं, महत्थ, मज्झम्मि, मज्झंसि, मज्झत्थ ।	(महसुं, महसु, अम्हासुं, अम्हासु ।

॥ इति प्राकृतशब्दरूपावलिः समाप्ता ॥

पठन्तु बालकाः सर्वे जैनानामितरे तथा । तस्मान्मयेयं प्राकृत–शब्दरूपावलिः कृता ॥ १ ॥

* अर्हम् *

अभिधानराजेन्द्रः ।

जयति सिरिवीरवाणी, वुहविवुहनमंसिया या सा ।
वत्तव्वयं से वेमि, समासओ अक्खरक्कमसो ॥ १ ॥

अकार

अ–अ–पुं० स्वरसंज्ञके कण्ठस्थानीये स्वनामख्याते वर्णे, एका० । अर्हति, आद्याक्षरेण तस्य ग्रहणात् सिद्धे च । अशरीरेति सिद्धवाचकस्याद्याक्षरेण तद्बोधात् । गा० । अवति रक्षति अतति सातत्येन तिष्ठतीति वा अव अत–वा–ड–विष्णौ, "अकारो विष्णुरुद्दिष्टः" वाच० । शिवे, ब्रह्मणि, वायौ, वह्नौ, अग्नौ, प्राणे, कमठे, अन्तःपुरे, भूषणे, वरणे, कारणे, रणे, अजिने, वीर्ये, एका० ।

अ–अव्य० अव प्रीणनादौ, ड स्वरादिरसादव्ययत्वम् अभावे, वाच० । प्रतिषेधे, "अमानोनाः प्रतिषेधे" आ० म० द्वि० । सूत्र० । अत्रोदाहरणम्, "नियरिसणं अघडो" अकारस्य तद्भावप्रतिषेधे निदर्शनं यथा अघटोऽयमिति न घटो घटव्यतिरिक्तः पटादिकः पदार्थ इत्यर्थः । वृ० १ उ० । "अनावे न ह्यनोनः" इत्यमरटीकायां नञादेशोऽयमित्युक्तम् । स च आदेशः भक्तनमुच्यादिनिपातशब्दघटके उत्तरपदस्थे हलादौ शब्दे परे भवति । स तु नञर्थे एव ज्ञानिनुत्याथत्वादादेशस्य । वाच० । स्वल्पेऽर्थे, अनुकम्पायां, सम्बोधने, अ अनन्त ! अधिक्षेपे, अ पचसि त्वं जाल्म ! "उपसर्गस्वरविभक्तिप्रतिरूपकाश्चेति" स्वरादिगणसूत्रे अ इति सिद्धान्तकौमुद्यामुदाहृतं मनोरमायां च अ संबोधने, अधिक्षेपे, निषेधे चेति व्याख्यातम् । वाच० । "अपच्छिममारणंतियसंलेहणाजूसणाहिं" अत्र अपश्चिमाः पश्चात्कालभाविन्यः । अकारस्त्वमङ्गलपरिहारार्थ इति । स० ।

च–अव्य० कगचजतदपयवां प्रायो लुक्, ८ । १ । ७७ । इति सूत्रेण चलोपः । न चाऽस्मादेव नः क्वचिदादेरपि विधानात् । सो अ-स च० प्रा० । अर्थस्तु चशब्दे ।

अअ–अज–पुं० न जायते जन–ड–न० त० ईश्वरे, जीवे, ब्रह्मणि, विष्णौ, हरे, छागे, मेषरूपे प्रथमे राशौ, माक्षिकधातौ च । जनशून्ये गगनादौ, त्रि० । आत् विष्णोर्जायते इति । चन्द्रे, कामे, दशरथपितरि रघुनृपपुत्रे रामचन्द्रस्य पितामहे सूर्यवंश्ये नृपभेदे, वाच० । प्राकृते 'अजातेः पुंसः' ८ । ३ । ३२ इति अजिस्तगुंदासाम ङीप्यिकल्पः प्रा० । मेषशृङ्गयाम्, गा० ।

अअगर–अजगर–पुं० अजं छागं गिरति गिलति गृ–अच् । वृहत्सर्पे, । अजगरमगस्त्यशापात् वृहत्सर्पतायापन्नं नहुषमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः अण्–आजगरम् । अजगरकथायाम, न० । वाच० ।

अआवालग–अजापालक–पुं० ६ त० । छागरक्षके, अजारक्षणप्रवृत्ते ब्राह्मणे, वाचकभेदे च । वृ० ३ उ० । (तद्वृत्तं किंपाकस्य शब्दे) ॥

अइ–अयि–अव्य० सम्भावने, अइ संभावने ८ । २ । ? । संभावने अइ इति प्रयोक्तव्यम् । "अइ दिअर ! किं न पेच्छसि," अयि देवर ! किम प्रेक्षसे प्रा० ॥

गम्–धा० सक० पर० व्या० गतौ, गमेरइ त्ति ८ । ४ । ११ । इति सूत्रेण गमेः अइ आदेशः । अइइ–गच्छति प्रा० ।

अति–अव्य० अत–इ–पूजायाम, उत्कर्षे, अतिक्रमणे, विक्रमे, अवृत्तौ, भृशे, "विक्रमातिक्रमावृद्धिभृशार्थातिशयेष्वतीति" गणरत्नम् । तत्र विक्रमे अतिरथः । अतिक्रमे अतिमतिः । अवृत्तौ अतिगहनम् । वृद्धेर्विजयः । भृशे अतिगतम् । अतिशये अतिधवलः वाच० । "अति सर्वत्र वर्जयेत्" अत्र "अइरोसो अइ तोसो, अइहासो दुज्जणेहिं संवासो । अइउब्भडो य वेसो, पंच वि गुरुअं पि लहुअं पि" ध० १ अधि० ॥

अ [दि] इ–[ति] इ–अदिति–स्त्री० न दीयते खण्ड्यते बृहत्वात् दो–क्तिच् न० त० दातुं केनुमयोग्यायां पृथिव्याम, दितिसंतुअमाता । विरोधार्थे, न० त० । देवमातरि, सा च दक्षस्य सुता वाच० । पुनर्वसुनक्षत्रस्याधिष्ठातृदेवता ज्यो० ६ पाहु० । "पुणव्वसु अइइ देवयाए पण्णत्ते" सू० प्र० १०पाहु० । जं० । "दो अइइ" पुनर्वस्वोर्द्वित्वादद्दितिद्वित्वम् । स्था० २ ठा० ।

अइउक्कस–अत्युत्कर्ष–त्रि० उत्कर्षमतिक्रान्तः । उत्कर्षरहिते, "तवस्सी अइउक्कसो" तपस्वी साधुः अनुत्कर्षः कर्हि तपस्व्यप्युत्कर्षरहितः । दश० ५ अ० ॥

अइउब्भड–अत्युद्भट–त्रि० अतिशयितचेतश्चमत्कृतिकारिणि, "अइउब्भडो य वेसो" ध० २ अधि० ॥

अइंत–अतियत्–त्रि० प्रविशति, नि० चू० ११ उ० । "वदमं ससत्तं सुहेयं अइंतं पासइ" कल्प० ॥

अइंदि [य] अ–अतीन्द्रिय–त्रि० अतिक्रान्तमिन्द्रियं तदविषयत्वात् अत्या० स० कर्म० । इन्द्रियाग्राह्ये, वाच० ॥ अतीन्द्रिया अर्था आगमेन ज्ञायन्ते न प्रत्यक्षेण वेदनया सुखमा तद्वृत्तम । "आगमश्चोपपत्तिश्च, संपूर्ण दृष्टिकारणम् । अतीन्द्रियाणामर्थानां, सद्भावप्रतिपत्तये" । १ । विशे० । दर्श० ॥ धर्म० । अनु० । अथ न पुनर्वेति चेत् ॥

ज्ञापयेत् हेतुवादेन, पदार्था यतीन्द्रियाः ।
कालेनैतावता नार्हः, कृतः स्यात्तेषु निश्चयः ॥ ४ ॥

यदि यावता कालेनातीन्द्रिया इन्द्रियागोचराः पदार्था धर्मा[illegible] हेतुवादेन युक्तिप्रमाणसमूहेन ज्ञापयेत् एतावता कालेन [illegible]निदिध्यासनादिना स्यात्म[illegible]नुभवः कृतः स्यात् तदा तेषु धर्मास्तिकायादिषु [illegible] निश्चयः कृतः स्यात् नाईः इत्यनेन [illegible] स्वपरापबोधो भवति तेन सद्भिः [illegible] मति कार्या येन निश्चयासतः स्वपरा " जे [illegible] " इति वचनात् बोधपरित्यागादि [illegible] ॥ ४ ॥ [illegible] (ननु अतीन्द्रिया अर्था न सन्त्येवेति [illegible]) अतीन्द्रियार्थज्ञानं [illegible] [illegible] नाइन्द्र दृष्टा न विद्यते । नि[illegible] ॥ १ ॥ गा० ([illegible] उपपादयिष्यते)

[illegible] — अइदुक्खदुक्ख — [illegible] अतिशयिते [illegible] १ [illegible] ।

[illegible]

आचा० १ श्रु० ७ अ० । उपा० । विनाशे, आचा० १ श्रु० २ अ० । साधुक्रियोल्लङ्घने, आव० ४ अ० ।

अतिक्रमव्यतिक्रमादयः साधुक्रियोल्लङ्घनरूपास्तत्रातिक्रमस्याधाकर्माश्रित्य स्वरूपमित्थम् ।

आहाकम्म निमंतण, पडिसुणमाणो अतिकमो होइ ।
पयभेयाइवइक्कम — गहिए तइओ तरो गिलिए ॥

कोऽपि श्राद्धो नाम प्रतिबद्धो ज्ञानिप्रतिबद्धो गुणानुरक्तो वा आधाकर्म निष्पाद्य निमन्त्रयति । यथा भगवन्नस्मद्गृहे सिद्धमन्नमास्ते इति समागत्य प्रतिगृह्यतामित्यादि । तत्प्रतिशृणवति अभ्युपगच्छति अतिक्रमो नाम दोषो भवति । स च तावद्यावदुपयोगपरिसमाप्तिः । किमुक्तं भवति । यदभिश्रोति प्रतिश्रवणानन्तरं चोत्तिष्ठति पात्राण्युद्गृह्णाति उद्गृह्य गुरोः समीपमागत्योपयोगं करोति । एष समस्तोऽपि व्यापारोऽतिक्रमः । उपयोगपरिसमाप्त्यनन्तरं च यदाधाकर्मग्रहणाय पदभेदं करोति आदिशब्दान्मार्गे गच्छति गृहं प्रविशति आधाकर्मग्रहणाय पात्रं प्रसारयति न चाद्यापि प्रतिगृह्णाति एष सर्वोऽपि व्यापारो व्यतिक्रमः (गहिए तइओत्ति) आधाकर्मणि गृहीते उपलक्षणमेतत् । यावद्वसतौ समानीते गुरुसमक्षमालोचिते भोजनार्थमुपस्थापिते मुखे प्रक्षिप्यमाणेऽपि च यावन्नाद्यापि गिलति तावत्तृतीयोऽतिचारलक्षणो दोषः । गिलिते त्वाधाकर्मण्यनाचारः । एवं सर्वेष्वप्यौद्देशिकादिषु भावनीयम् । पि० । धर्म० । व्य० । स्था० । ध० र० । आतु० । एवं भावना मूलगुणेषूत्तरगुणेषु च कार्या । अत्रायं विवेकः । मूलगुणेषु अतिक्रमादिभिस्त्रिभिश्चारित्रस्य मालिन्यं तस्य चालोचनप्रतिक्रमणादिभिः शुद्धिश्चतुर्थे तु भङ्ग एव तथा च सति पुनरुपस्थापनैव शुद्धौ । उत्तरगुणेषु चतुर्भिरपि चारित्रस्य मालिन्यं न पुनर्भङ्ग इत्युक्ता मूलोत्तरगुणातिचाराः । ध० ३ अधि० (ज्ञानदर्शनचारित्रेष्वतिक्रमादीनां त्रैविध्यमिति संकिलेस शब्दे)

अइक्कमण — अतिक्रमण — न० अति-क्रम ल्युट् उल्लङ्घने, विराधने, ध० २ अधि० । आव० ।

अइक्कमणिज्ज — अतिक्रमणीय — त्रि० अतिलङ्घनीये, सूत्र० [illegible]

अइक्कमित्तु — अतिक्रम्य — अव्य० अति क्रम-त्वा-ल्यप् [illegible] त्यर्थे, " तं अइक्कमित्तु न पविसे " दशा० ५ अ० ।

अइगंभीर — अतिगम्भीर — त्रि० अतीवातुच्छाशये, पंचा० २ वि० ।

अइगच्छमाण — अतिगच्छत् — त्रि० अति-गम-शतृ प्रविशति, नि० चू० ९ उ० । ज्ञा० ।

अइगय (य) — अतिगत — त्रि० अति-गम क्त-प्रविष्टे, " [illegible] गाहावइकुलं अतिगते " नि० चू० ३ उ० । प्रश्न० । [illegible]

अइगम — अतिगम — पुं० प्रवेशे, आ० म० प्र० ।

अइगमण — अतिगमन — न० प्रवेशमार्गे, ज्ञा० १ अ० ।

अइगुरु — अतिगुरु — पुं० [illegible]

[illegible]

अइचंद — अतिचन्द्र — पुं० [illegible]

[illegible]

अइचिंत–अतिचिन्त–त्रि० अतीव चिन्ता यस्मिंस्तदतिचिन्तम्। अतिचिन्तासहिते, ह्रा० १ श्र० ॥

अइच्च–अतीत्य– अव्य० अति-इ-त्वा-ल्यप्-त्यक्त्वेत्यर्थे, "स-व्वाइं संगाइं अइच्च धीरे" सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ॥

अइच्छ–गम्–धा० व्या० प० सक०। गमेरई अइच्छे।८।४।१६१। इति सूत्रेण गमधातोरइच्छादेशः। गतौ, अइच्छइ, गच्छति, प्रा०।

अइच्छंत–गच्छत्–त्रि० विचरति, अतिक्रामति, उत्त० १८ अ०।

अइच्छत्त–अतिच्छत्र– पुं० अतिक्रान्तश्छत्रम् । छत्राकारेण अन्या० स०। (जातिया) इति प्रसिद्धे स्वल्पतृणविशेषे, (ताल-मखाना) इति प्रसिद्धे जलतृणभेदे च । क्षीरस्वामिमते छत्रा इत्येव नाम। छत्रातिक्रमकारिणि, त्रि० अतिक्रमेऽव्ययी० छत्रा-तिक्रमे, अव्य० वाच० ॥

अइच्छपच्चक्खाण –अदित्सा (अतिगच्छ) प्रत्याख्यान– न० प्रत्याख्यानभेदे, " भिक्खाईणमदाणं अइच्छं" भिक्षणं भिक्षा प्राभृतिका आदिशब्दाद्वस्त्रादिपरिग्रहस्तेषामदाने अतिग-च्छेति अदित्सेति वा वचनमतिगच्छप्रत्याख्यानमदित्साप्रत्याख्या-नं वा। आ० म० प्र० "अइ (च्छ) च्छ पच्चक्खाणं बंभणसमणा-णं। अइच्छंति " अदित्साप्रत्याख्यानं हे ब्राह्मण ! हे श्रमण ! अदि-त्सेति नाम दातुमनिच्छा न तु नास्ति यद्भवतां याचितं ततश्चादि त्स्यैव वस्तुतः प्रतिषेधात्मिकेति कृत्वा प्रत्याख्यातमिति गाथार्थः। आव० ६ अ० ॥

अइजाय–अतिजा (या) त– पुं० पितुः संपदमतिलङ्घ्य जा-तः संवृत्तो वाऽतिक्रम्य वा तां यातः प्राप्तो विशिष्टतरसंपदं स-मृद्धतर इत्यर्थः। इत्यतिजातोऽतियातो वा अपभवत्। सुतभेदे, स्था० ४ ठा० ॥

अइट्ठिय–अतिष्ठित–त्रि०अतिक्रान्ते, उल्लङ्घितवति, उत्त०७ अ०।

अतिट्ठाय– अव्य० अतिक्रम्योल्लङ्घ्येत्यर्थे, उत्त० ७ अ० ॥

अइणिच्चल–अतिनिश्चल–त्रि० अतीव निष्प्रकम्पे, पंचा०१५ विव०

अइणिद्धमहुरत्त–अतिस्निग्धमधुरत्व–न० घृतगुडादिवत् सु-खकारित्वकरे वक्तोर्विशेषे वचनातिशये, स० ॥

अ (ई) (ती) इ (य) त–अतीत– त्रि० अति-इ-क्त० अतिक्रान्ते, सूत्र०१ श्रु०१० अ०। आचा०। आ० म० प्र०। दशा०। विवक्षितसमयमवधीकृत्य भूतवति समयराशौ, ज्यो० १ पाहु०। प्राकृते, अतिक्रान्तसमयतावति, विशे० । आतु० (अतीतवस्तु-नः सर्वविचारः सव्वणुसद्दे) दूरीभूते च उत्त० १५ अ० ॥

अ (ई) (ती) इ (य) द्धा–अतीताद्धा– स्त्री० अती-तकाले, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । अतीतेषु अनन्तेषु पुद्गल-परावर्तेषु, अनु० ॥

अ (ई) (ती) इ (य) तपच्चक्खाण–अतीतप्रत्याख्यान– न० पूर्वकालकरणीयं प्रत्याख्यानभेदे, प्रव० ४ द्वा० । स०।प्र०॥

अ (ति) इ (या) ताण–अतियान– न०नगरादौ राजादेः प्रवेशे, स्था० ४ ठा० ॥

अ (ति) इ (या) ताणकहा–अतियानकथा– स्त्री० रा-जादेः नगरादौ प्रवेशकथायाम्, यथा " सिय सिंधुरखंधगओ, सियचमरो सेयछत्तछन्नहो । जणनयणकिरणसेओ, एसो पवि-सइ पुरे राया " इति स्था० ४ ठा०। राजकथाभेदे,(व्याख्या-रायकहा शब्दे) ॥

अ (ति) इ (या) ताणगिह–अतियानगृह–न० नगरादि-प्रवेशे यानि गृहाणि तेषु, स्था० २ ठा० ॥

अ (ति) इ (ता) याणिड्ढि–अतियानर्द्धि– स्त्री० राजा-देः नगरप्रवेशे सम्भवन्त्यां तोरणहट्टशोभाजनसम्मर्दादिलक्ष-णायामृद्धौ, स्था० ३ ठा० ॥

अ (ई) इ [ती] [या] ताणागयणाण–अतीतानागतज्ञान– न० अतिक्रान्तानुत्पन्नार्थपरिच्छेदने, द्वा० २६ द्वा० ॥

अइताल–अतिताल–न० उत्ताले गेयदोषे, अनु० ।

अइतिक्खरोस–अतितीक्ष्णरोष–त्रि० ६ ब०। पुनः पुना रोषण-शीले, दीर्घरोषिणि, बृ० २ उ० ।

अइतिव्व–अतितीव्र–त्रि० अत्युत्कटे, पंचा० १ विव० ।

अइतिव्वकम्मविगम–अतितीव्रकर्मविगम–पुं० ६ त० अत्युत्कट-स्य कर्मणो ज्ञानावरणीयमिथ्यात्वादेः विनाशे, पंचा० १विव० ।

अइतुट्टण–अतित्रुट्टण–न० अतिशयेनापनयने, सूत्र० १श्रु०१ अ०

अइतेआ–अतितेजा–स्त्री० चतुर्दश्यां रात्रौ, जं०७ वक्ष०। कल्प०।

अइदंपज्ज–ऐदंपर्य–न० इदं परं प्रधानमस्मिन् वाक्ये इतीदं परं तद्भाव ऐदंपर्यम्। वाक्यस्य तात्पर्यशक्तौ, षो०१ विव०। पूर्वोक्त-तात्पर्ये, षो० १६ विव० । भावार्थगर्भे (प्रति०) तत्त्वे, पञ्चा० १४ विव० ॥

अइदारुण–अतिदारुण–त्रि० महाभयानके, प्रश्न० ।

अइदुक्ख–अतिदुःख–न० अतिदुःसहे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ।

अइदुक्खधम्म–अतिदुःखधर्म्म–त्रि० अतीव दुःखमसातवेदनी-यं धर्मः स्वभावो यस्य तत्तथा । अत्यन्तासातस्वभावे, "गा-ढोवणीयं अइदुक्खधम्मं "सूत्र० १ श्रु०५ अ० । अतिदुःखरूपो धर्मः स्वभावो यस्मिन्निति इदमुक्तं भवति । अक्षिनिमेषमात्र-मपि कालं न दुःखस्य विश्राम इति । सूत्र० १ श्रु०५ अ० ।

अइदुद्दिण–अतिदुर्दिन–न० अतिशयेन मेघतिमिरे, पिं० ।

अइदुल्लह–अतिदुर्लभ–त्रि० अतिशयेन दुष्प्राप्ये, ग० ३ अधि० ।

अइदुस्सह–अतिदुस्सह–त्रि० अत्यन्तदुरध्यासे, उत्त०१९अ०

अइदूर–अतिदूर–त्रि० अतिविप्रकृष्टे, स० । औ० ।

अइदूसमा–अतिदुष्षमा–स्त्री० दुष्षमदुष्षमाऽऽख्ये अवसर्पि-ण्याः षष्ठे उत्सर्पिण्याश्च प्रथमे अरके, एतद्वर्णनञ्च तत्रैव ति० । नं० । ज्यो० ।

अइदेस–अतिदेश–पुं० अतिक्रम्य स्वविषयमुल्लङ्घ्य अन्यत्र वि-षये देशः अतिदेशः अतिदिश्यते या करणे कर्म्मणि वा घञ् "अ-न्यत्रैव प्रणीतायाः, कृत्स्नाया धर्मसंहतेः । अन्यत्र कार्यतःप्रा-प्ति-रतिदेशः स उच्यते ॥ प्राकृतात् कर्म्मणो यस्मा-त्तत्समानेषु कर्म्मसु। धर्मप्रदेशो येन स्या-दतिदेशः स उच्यते" इत्यधिक-रणमालाधृतातिवाक्योक्ते अन्यत्र प्राप्तस्यधर्मे, तत्प्रापके शास्त्रभेदे च । वाच० ।

अइधमंत–अतिधमत्–त्रि० अतिशयेन शब्दकारके, नि०चू०१उ०

अइधाडिय–अतिधाटित–त्रि० भ्रामिते, अतिवर्तिते च प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ३ अ० ।

अइधुत्त–अतिधूर्त–त्रि० अतीव प्रभूतं धूर्तमष्टप्रकारं कर्म यस्य

[illegible]मृदुः । सूत्रकृताङ्गे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अइरित्त-अतिरिक्त-त्रि० मतीव दुर्बिदग्धे, सू० १ श्रु० ।

अइरेगकम्मलिसा-अतिरेककम्बलिसा-स्त्री० [illegible] ... "दो अ-इरेगकम्बलिसाओ" स्था० ४ ठा० । [illegible] ... उ० २ अ० ।

अइरेगपडागा-अतिरेकपताका-स्त्री० [illegible] पताकामतिक्रम्य या प-[illegible] । [illegible] पताकोपरिवर्तिन्यां पताका-[illegible] ।

अइपरिणाम-अतिपरिणाम-पुं० अतिशयेन परिणामो यस्तु- [illegible] ।

[illegible]

मं [illegible] ज्ञानं [illegible] जे [illegible] काले ।

[illegible] ॥

[illegible]

[illegible] ॥

[illegible]

[illegible] ॥

[illegible]

लवणादिनिर्वासितानि उतानाथितानि (केद्दहत्ति) किं प्रमाणानि किं महन्ति किं वा लघूनि (छिन्नत्ति) किं पूर्वच्छिन्नानि किं वा इदानीं छित्वा आनीतानि । अथवा (छिन्नत्ति) किं छिन्नानि अवक्षीकृतानि किं वा सकलानि (कित्तिअ) कियन्ति वा गणनायां छियादिसंख्याकान्यानेकानि वा अपिरात्रासु किं कपरिवकानि अपक्वाम्बिकानि वा तरुणानि अरण्ये वेन्यत्रापि प्रयुज्यम । इत्थं शिष्येणाभिहिते आचार्येण वक्तव्यं सौम्य ! लभ्यानि सन्त्यपि मम पुनः पुरा विस्मृतान्यासादिदानीं स्मृतिपथमवनीयानीति । यद्वा पर्याप्तं तावदिदानीं प्रयोजनं समापतिते पुनर्वक्ष्यामि भणिष्यामि । अथवा वत्स ! किमनेन कार्यं विमर्शार्थं किमयं विनीतो न वा परिणामको वा नवेति विज्ञानार्थमुक्तोऽसीति । यः पुनरपरिणामकः स ब्रूयात् ।

किं ते पित्तपलावो, मा वयं परिसाई भंणाहि ।

मा एवं पेर वि सोउ, कहं पि नेच्छाम एयस्स ॥

भो आचार्य ! किं ते पित्तप्रलापः समजनि यदेवमुन्मत्तवदसंबद्धं प्रलपसि यदेकवारं मम मे आदिपते परिशिलितं नाम मा पुनर्द्वितीयं वारमीदृशानि तावद्यानि वचनानि अजल्पीति । यतो "मा णमि" स्येतत्परीत्ये वचनं परोऽप्यन्योऽपि श्रोष्यति । वयं पुनः कथमपि नेच्छाम एतस्यार्थस्याख्यानमपनयस्य किं पुनः कर्तव्यमाश्रित्यविशब्दार्थः । यः पुनरतिपरिणामकः स एवमभिदध्यात् ।

कालोऽमि अइगइ, अम्ह वि इच्छा न भाणिउं तरिमो ।

हि पत्तिहम्म बुत्तं, अम्हाणि वि किं न आणेमि ॥

हे क्षमाश्रमणा ! यदि युष्माकमपि प्रयोजनं तत इदानीमप्यानयामि यतः (तिईण) यथामायाणां कालोऽतिपतेन अतिक्रामति । अत तावदानि तरुणानि वर्तन्ते तत ऊर्ध्वं अतीतरिष्यन्तीत्यर्थः । यदा अस्माकमप्यामाणां ग्रहणे महती इच्छा परं किं कुर्मो न वयं यौष्माकीणमयनीताः भणितुं किमपि (तरिमो) शक्नुमः । अथवा यथामाणपि यदि तु भवतां तदा [illegible] । किं वा अन्यान्यपि मातुलिङ्गादीन्यानयामीति । अत [illegible] ।

नाभिप्पायं गिण्हसि, अगपंमि चेर मामगो वयणे ।

मुसं विअनीणकए, भिन्ने अइरा [illegible] ॥

भो मुग्ध ! त्वं न मदीयमभिप्रायं गृह्णासि [illegible] ... (मुग्धविज इत्यादि) [illegible] ... । [illegible] ।

[illegible]

निप्फावकोदवाई-णि बेमि रुक्खाणि न हरिए रुक्खे ।
अंबिलविद्धत्थाणि अ, भणामि न विरोहणसमत्थे ॥

निष्पावा वल्लाः कोद्रवाः प्रतीतास्तदादीनि (रुक्खाणित्ति) रूक्षाणि द्रव्याणि तान्यपाहं ब्रवीमि न हारितान् तु सचित्तान् वृक्षान् । तथा बीजान्यपि यानि अम्लभावितानि विध्वस्तानि वा व्यवच्छिन्नानि यानि कानि तान्यहं भणामि न विरोहणसमर्थानि पुनरङ्कुरोत्पादनशक्तिकानीत्येव आम्रादिदृष्टान्तः । कथनात्र्यै-णामीभिः स्थानैः "मुत्तविण" इत्यादिभिः प्रकारैः कृत्वा एवं परीक्ष्य यः परिणामकस्तस्य दातव्यम् । पुनस्तेन श्रोतव्यमित्याह ।

निद्दाविगहापरिव-ज्जिएण गुत्तिंदिएण पंजलिणा ।
भत्ती बहुमाणेण य, उवउत्तेणं सुणेयव्वं ॥
अभिकंखंतेण सुभा-सियाइं वयणाइं अत्थमहुराइं ।
विम्हियमुहेण हरिसा- गएण हरिसं जणंतेण ॥

निद्रायमाणः सन् न किञ्चिदप्यवधारयति । विकथायां क्रियमाणायां व्याघातो भवतीत्यतो निद्राविकथापरिवर्जितेन श्रोतव्यम् । गुप्तानि स्वस्वविषयप्रवृत्तिनिरोधेन संवृतानीन्द्रियाणि येनासौ गुप्तेन्द्रियस्तेन । तथा प्राञ्जलिना योजितकरयुगलेन भक्त्या बहुमानेन च श्रोतव्यम् । भक्तिर्नाम गुरूणामिति कर्तव्यतायां निषद्यारचनादिकायां बाह्या प्रवृत्तिः । बहुमानस्तु गुरूणामुपरि आन्तरः प्रतिबन्धः । अत्र चतुर्भङ्गी । भक्तिर्नामैकस्य न बहुमानः, बहुमानो नामैकस्य न भक्तिः, एकस्य भक्तिरपि बहुमानोऽपि, एकस्य न भक्तिर्न वा बहुमान इति । अत्र च भक्तिबहुमानयोर्विशेषज्ञापकं शिवकयपानमन्तरमेतयोर्भेदकपुलिन्दयोरुदाहरणं तच्च सुप्रसिद्धमिति कृत्वा न लिख्यते । यदि च भक्तिं बहुमानं वा न करोति तदा चतुर्लघु । तथोपयुक्तेनानन्यमनसा श्रोतव्यम् । "अभिकंखंतेणं" इत्यादि वचनानि सुभाषितरूपाणि सुभाषितानि शोभनभणितानि अर्थमधुराणि भावार्थगुरुत्वादीनि अभिकाङ्क्षता आभिमुख्येन वाञ्छता । तथा विस्मितमुखेन अपूर्वापूर्वश्रवणसमुद्भूतविस्मयरसवशेन हर्षगतेन अहो अमी भगवन्तः स्वगलतालुशोषमगणय्यास्मन्निमित्तमेवंविधं सूत्रार्थव्याख्यानं कुर्वन्ति यदतिमी भयेयममीषां परमोपकारिणामहमित्येवंविधं हर्षमागतः प्राप्तो हर्षागतस्तेन । तथा गुरूणामपि स्ववचनप्रसन्नतया सत्प्रश्नोत्थापनतया च हर्षम् अहो कथमयं संवेगरङ्गतरङ्गितमानसः परमागमव्याख्यायां शृणोतीतिलक्षणं प्रमोदं जनयता श्रोतव्यमिति ।

अथ परिणामकद्वारमुपसंहरन्नाह ।

आयारियगुणत्थो, सविसेसो दिज्जए परिणयस्स ।
सुपरिच्छिता य सुनिच्छि-यस्स इच्छागए पच्छा य ॥

कल्पव्यवहारादेः सूत्रार्थः सविशेषः सापवादः स्वगुरुसकाशादवधारित आगृहीतः स सर्वोऽपि दीयते परिणतस्य परिणामकस्य शिष्यस्य सुपरीक्ष्य पूर्वोक्तप्रकारदृष्टान्तैः सुष्ठु सविसंवादेन परीक्षां कृत्वा सुनिश्चितस्य प्रारब्धश्रुतार्थे गृहीतव्ये कृतनिश्चयस्य । यदा तावद्दर्शनचारित्राणि यावज्जीवमपि विराधनां न कर्तव्येत्येवं वस्तु निश्चितो निश्चयवान् यस्तु निश्चितस्तस्य दीयते (इच्छागए पच्छत्ति) अपरिणामकातिपरिणामकयोः पुनर्यदा वा यावत्तदा यथाक्रमं [illegible] इच्छा गता यदा भवति तदा पश्चात्तयोः देयानीति श्रावणीनि । उक्तं परिणामकद्वारम् । वृ० १ उ० । (अत्रैव अन्तरकाले स च पर्वकाले व्यवच्छेदकः प्रायश्चित्तं वक्ष्यते)

अइपास-अतिपार्श्व-पुं० भरतक्षेत्रजाते ऽत्र कमवसर्पिण्यां जाते ऐरवततजे तीर्थकरे, " अरजिणवरो य मरुदे, अइपासजिणे य परण " ति० ।

अइपासंत-अतिपश्यत्-त्रि० अतीव असाधारणं पश्यति, । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ अ० ।

अइप्पमाण-अतिप्रमाण-न० मात्रयाऽतीते भोजने, पिं० । (अइबहुशब्देऽस्य स्वरूपम्) अतिक्रान्तः प्रमाणम् । अत्या० स० प्रमाणातिक्रान्ते, यस्य यत् प्रमाणमुचितं ततोऽधिकप्रमाणवति, प्रा०स० । अत्यन्तप्रमाणे, बृहत्प्रमाणे, न० वाच० ।

अइप्पसंग-अतिप्रसङ्ग-पुं० अतिपरिचये, पञ्चा० १० विव० । अतिव्याप्तिलक्षणायामनिष्टापत्तौ, पञ्चा० ६ विव० ।

अइबल-अतिबल-त्रि० पुरुषान्तरबलान्यतिक्रान्तोऽतिबलः । प्रश्न० आश्र० ४ द्वा० । अतिक्रान्तमहोरात्रपरिमाणम्, । उपा० २ अ० । अतिशयबले, औ० । राय० । भ० । अवसर्पिण्याः पञ्चमे वासुदेवे च पुं० ती० । स्था० । ति० । इक्ष्वाकुवंशस्य चतुर्थे भवे महाबलनाम्नो राज्ञः पितामहे शतबलस्य पितरि, "इत्थमिह विज्जाहरनगरे अयबलस्स पिता सहस्रबलसुतः पुत्तो महाबलो नाम राया आसी" । आ० म० प्र० । आचूर्णौ तु "गंधसमिद्धं णगरं राया राणी य विपुलबलवंतो अणुवरो हरि सम-बलस्स पुत्तो णगरे जस्सुतो अतिबलसुतो महाबलो जातो" । आ० म० द्वि० । आ० चू० । भरतचक्रिणः प्रपौत्रे च । स्था० ठा० । आ० चू० । अतिशयितं बलं यस्याः ३ ब० । [illegible] पीतवर्णायां (बेड़ियाला) इति ख्यातायां लतायाम्, [illegible] ण नामाय दत्ते अस्त्रविद्यानिदे च स्त्री० । अतिशयितं बलं यस्मिन् प्रा० स० अत्यन्ते बले, सामर्थ्ये, सैन्ये च न० । अतिशयितं बलं यस्य अत्यन्तबलयुक्ते, त्रि० "अयमतिबलो राजा अन्यक्तबलं महाबल" इति रामा० । अतिशये च । वाच० ।

अइबहुय-अतिबहुक-न० अतिशयेन बहु-[illegible] भिके भोजने, पिं० ।

तत्स्वरूपम् ।

बहुयातीयमइबहुं, अइबहुसो तिन्नि तिन्नि य परेणं ।
तं चिय अइप्पमाणं, भुंजइ जं वा अतिप्पंतो ॥

बहुकातीतमतिशयेन बहु अतिशयेन [illegible] इत्यर्थः । तथा दिवसमध्ये यदा वारत्रयं भुङ्क्ते [illegible] परतस्तद्भोजनमतिबहुशः तदेव च [illegible] अनुच्यते " अइप्पमाणे " इत्यस्य व्याख्यानम् । [illegible] रान्तरेण व्याख्यानमाह । भुङ्क्ते यदा अतृप्यन् सन् " अइप्पमाणं " इत्यस्य शब्दस्यार्थः । " अइप्पमाणं " [illegible] इति पिं० ।

अइबहुसो-अतिबहुशस्-अव्य० दिवसमध्ये वारत्रयात् परतो वा परतो भोजने, पिं० । (अइप्पमाणशब्दे उक्तम्)

अइवेल-अतिवेल-न० वेलामतिक्रान्तम् [illegible] वारं वा ऽतिक्रम्य वर्तते, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । " अतिवेलं ण हसे " [illegible] काला० १ श्रु० ८ अ० ।

अइवेला-अतिवेला-स्त्री० [illegible] साधुमर्यादायाम् दश० ३ अ० ।

[illegible] । सूत्रकृताङ्ग, सूत्र० २, श्रु० २, अ० १ उ० ।

अइदुक्खधम्म-[illegible] सूत्रकृताङ्ग, सू० १ अ० ।

[illegible]

सयणादिनिर्वासितानि वतानाधितानि (केहत्ति) किं सन्प्तानि किं महन्ति किं वा लघूनि (छिन्नत्ति) किं पूर्वच्छिन्नानि किं वा इदानीं छित्त्वा आनीतानि । अथवा (छिन्नत्ति) किं छिन्नानि स्वयमीकृतानि किं वा सकलानि (किसितत्ति) किं यन्ति वा गननायां द्विर्यादिसंख्याकान्यानेकानि वा कतिसत्, किं बालाशिकानि अधबाशिकानि वा तरुणानि अतोऽपि धेन्यत्रापि प्रष्टव्यम । इत्थं शिष्येणाभिहिते आचार्येण वक्तव्यं सौम्य ! सन्त्यानि सन्त्यप्रेऽपि मम पुनः पुरा विस्मृतान्यासादिरुपं स्मृ[illegible]तीति । यद्वा पर्याप्तं तावदिदानीं प्रयोजनं सम्पन्ने पुनर्न चैव वक्ष्यामि भणिष्यामि । अथवा पश्य ! किं मम कार्यं विमर्शार्थे किमयं विनीतो न वा परिणामको वा ... विज्ञानार्थमुत्थोऽस्मीति । यः पुनरपरिणामकः स ब्रूयात् ।

कि मे पिणप्पसारो, मा वयं परिसाइं अंपाहि ।
मा णं पेर वि सोइ, कहं पि नेच्छाम एयस्स ॥

भो आचार्य ! किं ते पित्तप्राय. समजनि यदेवमुच्यसे ... अहं प्रमगसि यदेकवारं समीपे उदितं परिज्ञिप्तं ... पुनरित्रीयं वारमीदृशानि सावद्यानि वचनानि ब्रवीति । यो-"मा भणि" इत्येतद्दीर्घं वचनं परोऽप्यन्योऽपि श्रोष्यति । वयं पुनः कथमपि नेच्छाम एतस्य [illegible] किं पुनः ... [illegible] । य पुनरतिपरिणामकः स एवमभिदध्यात् ।

कालो मे अइगसइ, अम्ह वि इच्छा न भाणिउं सरिमो ।
किं पमिराम पुत्तं, अम्बाणि वि किं न आणेमि ॥

[illegible]

नाविज्ञायं गिण्हंति, आसपणं णेव मासगो वयणे ।
सुयं विउलो गुणवं, मिथे ओट्टगा किं हंगाने ॥

[illegible]

निप्फावकोद्दवाई-णि बेमि रुक्खाणि न हरिए रुक्खे ।
अविणट्ठविरूढयाणि य, भणामि न विरोहणसमत्थे ॥

निष्पावा वल्लाः कोद्रवाः प्रतीतास्तदादीनि (रुक्खाणित्ति) रूक्षाणि द्रव्याणि तान्यहं ब्रवीमि न हारितान् तु सचित्तान् वृक्षान् । तथा बीजान्यपि यानि अम्लभावितानि विध्वस्तानि वा व्यवच्छिन्नानि यानि कानि तान्यहं भणामि न विरोहणसमर्थानि पुनरङ्कुरोद्भवनशक्तिकानीत्येष आम्रादिदृष्टान्तः । कथनाचार्येणामीभिः स्थानैः "मुत्तं विन्न" इत्यादिभिः प्रकारैः कृत्वा एवं परीक्ष्य यः परिणामकस्तस्य दातव्यम् । पुनस्तेन श्रोतव्यमित्याह ।

निद्दाविगहापरिव-ज्जिएण गुत्तिंदिएण पंजलिणा ।
भत्ती बहुमाणेण य, उवउत्तेणं सुणेयव्वं ॥
अभिकंखंतेण सुभा-सियाइँ वयणाइँ अत्थमहुराइँ ।
विम्हियमुहेण हरिसा-गएण हरिसं जणंतेण ॥

निद्रायमाणः सन् न किंचिदप्यवधारयति । विकथायां क्रियमाणायां व्याघातो भवतीत्यतो निद्राविकथापरिवर्जितेन श्रोतव्यम् । गुप्तानि स्वस्वविषयप्रवृत्तिनिरोधेन संवृतानीन्द्रियाणि येनासौ गुप्तेन्द्रियस्तेन । तथा प्राञ्जलिना योजितकरयुगलेन भक्त्या बहुमानेन च श्रोतव्यम् । भक्तिर्नाम गुरूणामिति कर्तव्यतायां विश्रामणवचनादिकायां बाह्या प्रवृत्तिः । बहुमानस्तु गुरूणामुपरि आन्तरः प्रतिबन्धः । अत्र चतुर्भङ्गी । भक्तिर्नामैकस्य न बहुमानः, बहुमानो नामैकस्य न भक्तिः, एकस्य भक्तिरपि बहुमानोऽपि, एकस्य न भक्तिर्न वा बहुमान इति । अत्र च भक्तिबहुमानयोर्विशेषज्ञापकं शिवाख्यव्यवधानमन्तरमर्कयोर्मरुकपुलिन्दयोरुदाहरणं तच्च सुप्रसिद्धमिति कृत्वा न लिख्यते । यदि च भक्तिं बहुमानं वा न करोति तदा चतुर्लघु । तथोपयुक्तेनानन्यमनसा श्रोतव्यम् । "अभिकंखंतेणं" इत्यादि वचनानि सूत्रव्याख्यारूपाणि सुभाषितानि शोभनभाषितानि अर्थमधुराणि भावार्थगुरुत्वादूनि अभिकाङ्क्षता आभिमुख्येन वाञ्छता । तथा विस्मितमुखेनापूर्वापूर्वश्रवणसमुद्भूतविस्मयस्मेरवदनेन हर्षगतेन अहो अमी भगवन्तः स्वगलतालुशोषमवगणय्यास्मन्निमित्तमेवंविधं सूत्रार्थव्याख्यानं कुर्वन्ति नानृणी भवेयममीषां परमोपकारिणामहमित्येवंविधं हर्षमागतः प्राप्तो हर्षागतस्तेन । तथा गुरूणामपि स्ववदनप्रसन्नतया उत्फुल्ललोचनतया च हर्षम् अहो कथमयं संवेगरङ्गतरङ्गितमानसः परमागमव्याख्यानं शृणोतीत्येवंलक्षणं प्रमोदं जनयता श्रोतव्यमिति ।

अथ परिणामकद्वारमुपसंहरन्नाह ।

आयारियसुत्तत्थो, सविसेसो दिज्जए परिणयस्स ।
सुपरिच्छित्ता य सुनिच्छि-यस्स इच्छागए पच्छा य ॥

कल्पव्यवहारादेः सूत्रार्थः सविशेषः सापवादः स्वगुरुसकाशादवधारित आगृहीतः स सर्वोऽपि दीयते परिणतस्य परिणामकस्य शिष्यस्य सुपरीक्ष्य पूर्वोक्ताम्रादिदृष्टान्तैः सुष्ठु अविसंवादेन परीक्षां कृत्वा सुनिश्चितस्य प्रारब्धसूत्रार्थे प्रहीतव्ये कृतनिश्चयस्य । यद्वा ज्ञानदर्शनचारित्राणां यावज्जीवमपि विराधना न कर्तव्येत्येवं सम्यग् निश्चितो निश्चयवान् यः सुनिश्चितस्तस्य दीयते (इच्छागए पच्छत्ति) अपरिणामकातिपरिणामकयोः पुनर्यदा सा आत्मीया यथाक्रमं केवलोत्सर्गापवादरुचिलक्षणा इच्छा गता नष्टा भवति तदा पश्चात्तयोः छेदसूत्राणि दातव्यानीति । उक्तं परिणामकद्वारम् । बृ० १ उ० । (अत्रैव मरुकदृष्टान्तः स च पलंबशब्दे कारणिकतत्रदृष्टान्तावसरे वक्ष्यते)

अइपास-अतिपार्श्व-पुं० भरतक्षेत्रजारजिनसमकालजाते ऐरवतजे तीर्थंकरे, " अरजिणवरो य भरहे, अइपासजिणो य एरवए " ति० ।

अइपासंत-अतिपश्यत्-त्रि० अतीव असाधारणं पश्यति, । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ अ० ।

अइप्पमाण-अतिप्रमाण-न० धात्रयाऽतीते भोजने, पिं० । (अइबहुशब्देऽस्य स्वरूपम्) अतिक्रान्तः प्रमाणम् । अत्या० स० प्रमाणातिक्रान्ते, यस्य यत् प्रमाणमुचितं ततोऽधिकप्रमाणयति, प्रा०स० । अत्यन्तप्रमाणे, बृहत्प्रमाणे, न० वाच० ।

अइप्पसंग-अतिप्रसङ्ग-पुं० अतिपरिचये, पञ्चा० १० विव० । अतिव्याप्तिलक्षणायामनिष्टापत्तौ, पञ्चा० ६ विव० ॥

अइबल-अतिबल-त्रि० पुरुषान्तरबलान्यतिक्रान्तोऽतिबलः । प्रश्न० आश्र० ४ अ० । अतिक्रान्ताशेषपुरुषामरतिर्यग्बले, । उपा० २ अ० । अतिशयबले, औ० । राय० । स० । भविष्यति पञ्चमे वासुदेवे च पुं० ती० । स० । ति० । ऋषभदेवस्य चतुर्थभवे महाबलनाम्नो राज्ञः पितामहे शतबलस्य पितरि, "गंधसमिद्धे विज्जाहरनगरे अइबलरण्णो णत्ता सयबलरायणो पुत्ते महाबलो नाम राया जातो" । आ० म० प्र० । चूर्ण्यां तु "गंधसमिद्धं णगरं राया राणी य विसूरणयणो जणवयाहितो सतबलस्स रण्णो णगरं नत्तुओ अतिबलसुतो महाबलो नामं । आ० म० द्वि० । आ० चू० । भरतचक्रिणः प्रपौत्रे च । स्था० ८ ठा० । आ० चू० । अतिशयितं बलं यस्याः ५ ब० । अत्यन्तबलाधायिकायां पीतवर्णायां (बेरियाला) इति ख्यातायां लतायाम्, विश्वामित्रेण रामाय दत्ते मन्त्रविद्याभेदे च स्त्री० । अतिशयितं बलम् प्रा० स० अत्यन्ते बले, सामर्थ्ये, सैन्ये च न० । अतिरिक्तं बलमस्य अत्यन्तबलयुक्ते, त्रि० "जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबल" इति रामा० । अतिरथे च । वाच० ।

अइबहुय-अतिबहुक-न० अतिशयेन बहु-निजप्रमाणाऽत्यधिके भोजने, पिं० ।

तत्स्वरूपम् ।

बहुयातीयमइबहुं, अइबहुसो तिन्नि तिन्नि य परेणं ।
तं चि य अइप्पमाणं, भुंजइ जं वा अतिप्पंतो ॥

बहुकातीतमतिशयेन बहु अतिशयेन निजप्रमाणात्यधिकमित्यर्थः । तथा दिवसमध्ये बहून् वारान् भुङ्क्ते त्रिभ्यो वा वारेभ्यः परतस्तद्भोजनमतिबहुशः तदेव च वारत्रयातीतमतिप्रमाणमुच्यते " अइप्पमाणे " त्यवयवो व्याख्यातः । अस्यैव प्रकारान्तरेण व्याख्यानमाह । भुङ्क्ते यद्वा अतृप्यन् एष " अइप्पमाण " इत्यस्य शब्दस्यार्थः । " अइप्पमाण " इत्यत्र च शाब्दव्युत्पत्त्यभावान्नोक्तविवक्षायां यद्वा प्राकृतलक्षणवशादिति पिं० ।

अइबहुसो-अतिबहुशस्-अव्य० दिवसमध्ये त्रीन् वारान् त्रिभ्यो वा परतो भोजने, पिं० । (स्वरूपमनन्तरमुक्तम्)

अइवेल-अतिवेल-अ० वेलामतिक्रम्याऽतिवेलम् । यो यस्य कर्तव्यस्य कालोऽध्ययनं वा तां वेलामतिलङ्घ्येत्यर्थः, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । " नातिवेलं उवाचरे " न मर्यादोल्लङ्घनमित्यर्थः कुर्यादाव आचा० १ श्रु० ८ अ० ।

अइवेला अतिवेला-स्त्री० अन्यसमयातिशायिन्यां मर्यादायाम्, साधुमर्यादायाम् उत्त० २ अ० ।

अइजद्द–अतिजद्र–पुं० कस्यचिच्छ्रेष्ठिनः पुत्रे, येन श्रीकलहे सति भद्रनामभ्रातुः पृथग्भूय गृहार्द्धकरणं कृतम् तं० ।

अइभद्दग–अतिभद्रक–त्रि० भद्रदर्शने, प्रति० ।

अइभद्दा–अतिभद्रा–स्त्री० प्रभासनामगणधरस्य मातरि, आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

अइजय–अतिजय–त्रि० पेहलौकिकार्दानि प्रयान्यतिक्रान्ते, प्र० अ० १ द्वा० ।

अइजार–अतिभार–पुं० अत्यन्तं भारः । गुरुत्वे, पिं० । वोढुमशक्ये भारे, प्रव०४ द्वा० । अतीव भरणमतिभारः । प्रभूतस्य पूगफलादेः स्कन्धपृष्ठादिष्वारोपणरूपे, आव०६ अ० । धर्म० । ध० । र० । प्रव० । तथाविधशक्तिकलानां महाभारारोपणस्वरूपे, उपा० १ अ० । प्रथमाणुव्रतस्य चतुर्थेऽतिचारे, पंचा० १ विव० "अतिभारो न आरोवेयव्वो पुव्विं चेव जा वाहणाए जीविगा सा मोत्तव्वा न होज्ज अन्ना जीविगा ताहे दुपयो जं सयं उक्खिवइ ओयारेइ वा भारं एवं वहाविज्जइ बइल्लाणं जहा साभावियाओ वि भाराओ ऊणो उ कीरइ हलसगडेसु वि वेलाए मुयइ आसहत्थीसु वि एसेव विही" आव० ६ अ० चू० ।

अइभारग–अतिभारग–पुं० अतिभारेण वेगेन गच्छति, गमकृते त० गरे, अभ्वतरे, गर्दनाद् घटवायां जाते अश्वभेदे, वाच० ।

अइभारारोवण–अतिभारारोपण–न० अतिशयितो भारोऽतिभारो वोढुमशक्य इति यावत् तस्यारोपणं गोकरभरासभमनुष्यादेः स्कन्धे पृष्ठे शिरसि वा स्थापनम् । प्रथमाणुव्रतस्य चतुर्थेऽतिचारे, ध०२ अधि० । प्रश्न० ।

अइभूमि–अतिभूमि–स्त्री० वलुकातपरत्यागे, अननुज्ञाता गृहस्थैर्यत्राप्यतिशाचरा यान्तीत्यर्थः दश० ८ अ० । (तत्र गमनं निषिद्धमिति गोयरचरिया शब्दे) अतिशयिता भूमिर्मर्य्यादा आ० । म० । अतिक्रमेऽव्ययी० मर्य्यादातिक्रमे, अव्य० । भूमिं मर्य्यादां वाऽतिक्रान्ते, त्रि० वाच० ।

अइमंच–अतिमञ्च–पुं० मञ्चोपरितने विशिष्टमञ्चे, 'मञ्चाइमञ्चकलियं' औ० । दशा० । ज्ञा० ॥

अइमट्टिया–अतिमृत्तिका– स्त्री० कर्दमरूपायां मृत्तिकायाम्, जी० ३ प्रति० ।

अइमद्दव–अतिमद्दव– पुं० वयसाऽतिगरिष्ठे, व्य० ३ उ० ॥

अइमाण–अतिमान– पुं० अतीव मानोऽतिमानः । सुभूमादीनामिव महामाने, सूत्र०१ श्रु०८ अ० । चारित्रमतिक्रम्य वर्तमाने कषायभेदे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

अइमाय–अतिमात्र– त्रि० मात्रामतिक्रान्तः । मात्राऽधिके, उत्त० १६ अ० । आ० चू० ।

अइमाया–अतिमात्रा– स्त्री० उचितमात्राया अधिकमात्रायाम्, "अइमायाए पाणभोयणं आहारित्ता भवइ" उत्त० १६ अ० । प्रश्न० । अतिमाया–स्त्री० अतीव माया अतिमाया । चारित्रमतिक्रम्य वर्तमाने कषायभेदे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ॥

अइमुंत (मुत्त) य–अतिमुक्तक–न० मुक्तो भावे क्तः । अतिशयेन मुक्तं यस्मात् । तथा तस्य वा वाच० । वक्रादावन्तः ८।१।२६। इति तृतीयस्य अनुस्वाराऽऽगमः आर्षे तु न प्रा० । तिन्दुकवृक्षे, माधवीले, वाच० । पुण्ड्रकेऽतिमुक्तः, जं० १ वक्ष० । वल्लीभेदे, प्रज्ञा० १ पद । अतिमुक्तकमण्डपकाः जी० ३ प्रति० । विशे० । प्रज्ञा० । सत्तानेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० । ओ० । कंसभ्रातरि, पुं० देवपाल्यं देवकीश्वसुरपा प्रोक्ता 'त्वमष्टपुत्रान् सुषाद्य जनयिष्यसि' आ० म० द्वि० । आ० चू० । पोलासपुराभिख्ये विजयराजस्य श्रीनाम्न्यां देव्यां जाते पुत्रे, स्था० १० ठा० ।

तद्वक्तव्यता अन्तकृद्दशाङ्गे यथा ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं पोलासपुरे णयरे सिरीवणे उज्जाणे तस्स णं पोलासपुरे णयरे विजये नामं राया होत्था । तस्स णं विजयस्स रन्नो सिरी नामं देवी होत्था वण्णओ । तस्स णं विजयस्स रण्णो पुत्ते सिरीए देवीए अत्तए अइमुत्ते नामं कुमारे होत्था सुमालं० तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे ३ जाव सिरीवणे उज्जाणे विहरति । तेणं कालेणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूती जहा पएणत्तीए जाव पोलासपुरे णयरे उच्च जाव अडति इमं च णं अतिमुत्ते कुमारे ण्हाए जाव विभूसिते बहूहिं दारएहि य डिंभएहि य कुमारेहि य कुमारियाहि य सद्धिं संपरिवुडे साओ गिहाओ पडिनिक्खमइ पडिनिक्खमइत्ता जेणेव इंदट्ठाणे तेणेव उवागते तेहिं बहूहिं दारएहि य संपरिवुडे अभिरममाणे अभिरममाणे विहरति । तते णं भगवं गोयमे पोलासपुरे णयरे उच्चनीय जाव अडमाणे इंदट्ठाणस्स अदूरसामंतेणं वीतिवयति । तते णं से अइमुत्ते कुमारे भगवं गोयमं अदूरसामंतेणं वीतिवयमाणं पासति पासतित्ता जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागते भगवं गोयमं एवं वयासी । के णं भंते ! तुब्भे किं वा अडह तते णं भगवं गोयमे अतिमुत्तं कुमारं एवं वयासी । अम्हे णं देवाणुप्पिया समणा निग्गंथा इरियासमिया जाव बम्भचारी उच्चनीय जाव अडमाणे । तते णं अतिमुत्ते कुमारे भगवं गोयमे एवं वयासी । अह णं भंते ! तुब्भे जेणेव अहं तुब्भं भिक्खं दलावेमि त्ति कट्टु भगवं गोयमं अंगुलीते गेण्हति गेण्हतित्ता जेणेव सते गिहे तेणेव उवागए तते णं सा सिरि देवी भगवं गोयमं एज्जमाणं पासति पासतित्ता हट्ठतुट्ठा आसणाओ अब्भुट्ठेति अब्भुट्ठितित्ता जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छति उवागच्छतित्ता भगवं गोयमं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं वंदति नमंसति विउलेणं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिलाभेति पडिलाभेतित्ता पडिविसज्जेति । तते णं से अइमुत्ते कुमारे एवं वयासी । कहि णं भंते ! तुब्भे परिवसह । भगवं गोयमे अतिमुत्तं कुमारं एवं वयासी । एवं खलु देवाणुप्पिया ! मम धम्मायरिए धम्मोवएसए धम्मं नेतारिए समणे ३ महावीरे आदिकरे जाव संपाविउकामे इहेव पोलासपुरस्स नगरस्स बहिया सिरिवणे उज्जाणे य उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं जाव भावेमाणे विहरति । तत्थ णं अम्हे परिवसामो । तते णं से अतिमुत्ते कुमारे भगवं गोयमं

एवं वयासी गच्छामि णं भंते ! अह तुज्झेहिं सद्धिं समणं ३ पायं वंदति अहासुहं तते णं से अइमुत्ते कुमारे भगवं गोयमं सद्धिं जेणेव समणे ३ तेणेव उवागच्छति उवागच्छतित्ता समणं ३ तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेति जाव पज्जुवासति । तते णं भगवं गोयमे जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागते जाव पडिदंसेति पडिदंसेतित्ता संजमे तवसा आयाहिणं पयाहिणं विहरति । तेणं समणे ३ अतिमुत्तस्स कुमारस्स तीसे य धम्मकहा कहेइ से अतिमुत्ते समणस्स भगवओ अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० जं नवरं देवाणुप्पिया अम्मापितरो आपुच्छामि तते णं अहं देवाणुप्पिया अंतिते जाव पव्वयामि अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह । तते णं से अतिमुत्ते कुमारे जेणेव अम्मापियरो तेणेव उवागते जाव पव्वतिए तते णं अतिमुत्तं कुमारं अम्मापियरो एवं वयासी बालेसि ताव तुमं पुत्ता ! असंबद्धे किएह तुमं जाणसि धम्मं । तते णं से अइमुत्ते कुमारे अम्मापितरो एवं खलु अहं अम्मयाओ जं चेव जाणामि तं चेव न जाणामि जं चेव ण जाणामि तं चेव जाणामि । तते णं अइमुत्तं कुमारं अम्मापियरो एवं वयासी । कह णं तुमं पुत्ता ! जं चेव जाणामि जाव तं चेव न जाणामि तेसिं अतिमुत्ते कुमारे अम्मापियरो एवं वयासी जाणामि अहं अम्म जाओ जहा जातेण तहा अवस्सं मरियव्वं न जाणामि अहं अम्म जाओ काहे वा कहं वा कह वा केव चिरेणेव वा कालेण न जाणामि णं अम्म यो मे यातो केहिं कम्मायाणेहिं वा जीवा नेरइयतिरिक्खजोणियमणुस्सदेवेसु उववज्जंति । जाणामि णं अम्म यातो जहा सचेहिं कम्मायाणेहिं जीवा नेरइय जाव उववज्जंति । एवं खलु अहं अम्मं यातो जं चेव जाणामि तं चेव न जाणामि जं चेव न जाणामि तं चेव जाणामि तं इच्छामि णं अम्म यातो तुज्झेहिं अब्भणुण्णाते समाणे जाव पव्वतिए । तते णं से अइमुत्ते कुमारे अम्मापियरो जाहे नो संचाएति बहूहिं आघवति ४ तं इच्छामो ते जाया एगदिवसमवि रायसिरिं पासेति पासेतित्ता । तते णं से अतिमुत्ते कुमारे अम्मापिउवयणमणुवत्तमाणे तुसिणीए संचिट्ठति । अभिसेओ जहा महाबलस्स निक्खमणं जाव सामाइयाति एक्कारस अंगाइं अहिज्जति अहिज्जतित्ता बहूहिं वासाति सामण्णपरियागं पाउणेति पाउणित्ता गुणरयणेणं तवोकम्मेणं जाव विपुले पव्वए सिद्धे अन्त० ५ वर्ग० ।

अस्य सिद्धिविषयः स्थविराणां प्रश्नो यथा-

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी अइमुत्ते णामं कुमारसमणे पगइभद्दए जाव विणीए । तए णं से अइमुत्ते कुमारसमणे अण्णया कयाइं महा वुट्ठिकायंसि निवयमाणंसि कक्खपडिग्गहरयहरणमायाए बहिया संपट्ठिए विहाराए । तए णं से अइमुत्ते कुमारसमणे वाहयं वाहयमाणं पासइ पासइत्ता मट्टियपालिं बंधइ बंधइत्ता णाविया मे णाविओ विव णावमयं पडिग्गहयं उदगंसि पवाहमाणे अभिरमइ । तं च थेरा अद्दक्खु जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति उवागच्छंतित्ता एवं वयासी । एवं खलु देवाणुप्पिया णं अंतेवासी अइमुत्ते णामं कुमारसमणे । से णं भंते ! अइमुत्ते कुमारसमणे कइहिं भवग्गहणेहिं सिज्झिहिति जाव अंतं करेहिति ? अज्जोति समणे भगवं महावीरे ते थेरे एवं वयासी । एवं खलु अज्जो ! ममं अंतेवासी अइमुत्ते णामं कुमारसमणे पगइभद्दए जाव विणीए से णं अइमुत्ते कुमारसमणे एगेणं चेव भवग्गहणेणं सिज्झिहिइ जाव अंतं करेहिइ । तं मा णं अज्जो ! तुब्भे अइमुत्तं कुमारसमणं हीलह निंदह खिंसह गरिहह अवमण्णह तुब्भे णं देवाणुप्पिया अइमुत्तं कुमारसमणं अगिलाए संगिण्हह अगिलाए उवगिण्हह अगिलाएणं भत्तेणं पाणेणं विणएणं वेयावडियं करेह । अइमुत्तेणं कुमारसमणे अंतकरे चेव अंतिमसरीरिए चेव । तए णं ते थेरा भगवंतो समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ता समाणा समणं भगवं महावीरं वंदंति वंदंतित्ता अइमुत्तं कुमारसमणं अगिलाए संगिण्हंति जाव वेयावडियं करेंति

कुमारसमणेत्ति । षड्वर्षजातस्य तस्य प्रव्रजितत्वादाह च 'छव्वरिसो पव्वइओ णिग्गंथं रोइऊण पावयणंति' एतदेव चाश्चर्यमिहाऽन्यथा वर्षाष्टकादाराम्न प्रव्रज्या स्यादिति (कक्खपडिग्गहरयहरणमायायत्ति) कक्षायां प्रतिग्रहकं रजोहरणं चादायेत्यर्थः । (णावियामेत्ति) नौका द्रोणिका मे ममेयमिति विकल्पयन्निति गम्यते "नाविओ विव नावंति " नाविक इव नौवाहक इव नावं द्रोणीं (अयंति) असावतिमुक्तकमुनिः प्रतिग्रहकं प्रवाहयन्नभिरमते एवं च तस्य रमणक्रिया बालावस्थायला- द्दिति (अद्दक्खुत्ति) अद्राक्षुः दृष्टवन्तस्ते चैतदीयामत्यन्ता- नुचितां चेष्टां दृष्ट्वा तमुपहसन्त इव भगवन्तं पप्रच्छुः । एतदेवाह "एवं खलु" इत्यादि (हीलहत्ति) जात्याद्युद्घट्टनत (निंदहत्ति) मनसा (खिंसहत्ति) जनसमक्षम (गरिहहत्ति) तत्समक्षम (अवमन्नहत्ति) तदुचितप्रतिपत्त्यकरणेन (परिभवहत्ति) क्वचित्पाठस्तत्र परिभवः समस्तपूर्वोक्तपदकरणेन (अगिलाएत्ति) अग्लान्या अखेदेन (संगिण्हहत्ति) संगृह्णीत स्वीकुरुत (उवगिण्हहत्ति) उपगृह्णीत उपष्टम्भं कुरुत एतदेवाह (वेयावडियंति) वैयावृत्त्यं कुरुतास्येति शेषः (अंतकरे चेवत्ति) भवच्छेदकरः स च दूरतरभवेऽपि स्यादत आह (अंतिमसरीरिए चेवत्ति) चरमशरीर इत्यर्थः भ० ५ श० ४ उ० । अनुत्तरोपपातिकेषु दशमाध्ययनतयोक्तं च स्था० १० ठा० । (तदपर एवायं भविष्यतीति संभाव्यते)

अइमुच्छिय-अतिमूर्च्छित-त्रि० विषयदोषदर्शनं प्रत्यभिमूढतामुपगते, प्रश्न० आश्र० ४ द्वा० ।

अइमोह–अतिमोह–त्रि० अतीव मोहो यस्मिंस्तदतिमोहम् । अतिकामाद्यन्धे, अतिशयितमोहयुते, ज्ञा० १ अ० ॥

अइपंचिय–अत्यञ्च्य–अव्य० अतिक्रम्येत्यर्थे, स्था० ५ ठा० ।

अइपत्य–अतिगत्य–अव्य० अतिक्रम्येत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ।

अइयण–अत्यदन–न० अतिभक्षणे, " अणुकंपा साणाइयण–दुगुंछा " व्य० २ उ० ।

अइया–अतिका–स्त्री० छगलिकायाम्, वृ० १ उ० ।

अइया (य)त–अतियात–त्रि० गते, " अइयाओ णराहियो " उत्त० २० अ० ।

अइयावरक्ख–अत्यात्मरक्ष– त्रि० अतीवाऽऽत्मनः परेः पापकर्मभिः रक्षा यस्यासावत्यात्मरक्षः । अतीवाऽऽत्मानं पापे रक्षति, आयावरक्खे दाहिणगामिए नेरइए' सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अ (इ) (ति) (ती) इयार–अति (ती) चार–पुं० अतिचरणमतिचारः । सद्भूते, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । तृतीये अपराधे, पंचा० ११ विव० । व्य० भा० चू० । अतिक्रमे, अतिक्रम्य गमने, आव० ४ अ० । [illegible] चारित्रस्खलनविशेषे, [illegible] । देशतश्चैवैव आत्मनोऽशुभे परिणामविशेषे, धर्म० २ अधि० । देशभङ्गेऽतिचारता यथा ननु [illegible]

[illegible]

अतिक्रमे मासगुरु व्यतिक्रमेऽपि मासगुरु कालगुरु अतीचारे मासगुरु द्वाभ्यां विशेषितं तद्यथा तपोगुरु कालगुरु च । अनाचारे चतुर्गुरु यस्मात् गुरुकातीचारः चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः स चैतत् समुच्चिनोति अतिक्रमात् व्यतिक्रमो गुरुकस्तस्मादपि गुरुकोऽतीचार इति । ततोऽप्यतीचारात् गुरुतरकोऽनाचारः ।

तत इत्थं प्रायश्चित्तविशेषः

तत्थ भवे न उ सुत्ते, अतिकमादी उ वण्णिया केई ।
चोयग ! सुत्तं सुत्ते, अतिकमादी उ जोएज्जा ॥

तत्र एवमुक्तेन भवेन्मतिश्चोदकस्य यथा न तु नैव सूत्रे निशीथाध्ययनलक्षणे केचिदतिक्रमादय उपवर्णिताः सन्ति ततः कथं चत्वारोऽतिक्रमादयस्तत्रैवाध्ययने सिद्धा इति । सूरिराह चोदक ! सर्वोऽप्येष प्रायश्चित्तगणोऽतिक्रमादिषु भवति ततः साक्षात् सूत्रे सूचितान् अतिक्रमादीन् योजयेत् अर्थतः सूचितत्वात् व्य० १ उ० ।

अत्रैव प्रायश्चित्तविधिमाह ।

तिन्नि य गुरुगा मासा,
विसेसिया तिरिण चउगुरू अंते ।
एए चेव य लहुया,
विसोहिकोडीए पच्छित्ता ॥

त्रयाणामतिक्रमव्यतिक्रमातीचाराणां त्रयो गुरुका मासाः । कथंभूता इत्याह विशेषितास्तपःकालविशेषिताः । किमुक्तं भवति । अतिक्रमे मासगुरुर्व्यतिक्रमेऽपि मासगुरुरतीचारेऽपि मासगुरुरेते च त्रयोऽपि यथोत्तरं तपःकालविशेषिताः । तथा अन्ते अनाचारलक्षणे दोषे चतुर्गुरु चतुर्मासगुरु प्रायश्चित्तम् । एते च मासगुर्वादयः प्रायश्चित्ता अतिक्रमादिष्वविशोधिकोटयां द्रष्टव्याः विशोधिकोट्यां त्वेत एव मासादयो लघुकाः प्रायश्चित्तानि । तद्यथा अतिक्रमे मासलघु व्यतिक्रमेऽपि मासलघु अतीचारेऽपि मासलघु नवरमेते यथोत्तरं तपःकालविशेषिताः व्य० १ उ० ।

ज्ञानातिचारादयस्तेषु प्रायश्चित्तम् ।

उद्देसऽज्झयणगय–सुयंगेसु कमसो पमाइस्स ।
कालाइक्कमणाइसु, नाणायरणाइयारेसु ॥ २२ ॥
निव्वीए पुरिमड्ढे, गजत्तमायंबिलं च णागाढे ।
पुरिमाई खमणं तं, आगाढे एवमत्थे वि ॥ २३ ॥

गुणत्रमिह तपोऽर्हप्रायश्चित्ते ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारपञ्चकस्यातिचारचक्रमालोच्यम् । तत्राद्यो ज्ञानाचारस्तत्रातिचारे ज्ञानाचारातिचारः सोऽष्टविधः तद्यथा अकाले स्वाध्यायकरणं कालातिचारः ॥ १ ॥ श्रुतमधिजिगांसोः [illegible] गुरुषु विनयो वन्दनादिरूपः [illegible] हीनं वाऽविनयातिचारः ॥ २ ॥ श्रुते गुरौ वा बहुमानो [illegible] बहुमानातिचारः ॥ ३ ॥ उपधानम् [illegible] अनुपधानातिचारः ॥ ४ ॥ [illegible] ॥ ५ ॥ [illegible] यथा " धम्मो मंगलमुक्किट्ठ " [illegible] " [illegible] " [illegible]

आगमपदार्थस्यान्यथा परिकल्पनमर्थातिचारः । यथा आचारसूत्रेऽध्ययनमध्ये आवन्तीके "आवंती केआवंती लोगंसि विप्परामुसंति" यावत् केचित् लोकेऽस्मिन् पाषण्डिलोके विपरामृशन्तीति प्रस्तुतेऽर्थे अन्योऽर्थः परिकल्प्यते "आवंति होइ देसो, तत्थ य अरहट्टकूवजा कया । घट्टी मासा परिकिरियाहिं, हेउत्तं लोगो विपरामुसइ ॥ ७ ॥ यत्र च सूत्रार्थौ द्वावपि विनश्येते स तदुभयातिचारो यथा "धम्मो मंगलमुक्किट्ठो, अहिंसा गिरिमत्थए । देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मई" "अहाकडेसु रंधंति, कट्ठेसु रहकारओ । जओ जलेसि णं जत्थ, गहत्तो जत्थ दीसिह" ॥ ८ ॥ अयं च महीयानतिचारो यतः सूत्रार्थोभयनाशे मोक्षाभावस्तदभावे दीक्षावैयर्थ्यमिति । एवं कायोत्सर्गविधावपि । ज्ञानाचारातिचारो द्विधा ओघतो विभागतश्च । तत्र विभागतः उद्देशकाध्ययनश्रुतस्कन्धाङ्गेषु विषये प्रमादिनः प्रमादपरस्य कालातिक्रमणादिष्वष्टसु ज्ञानाचारातिचारेषु जातेषु क्रमशः क्रमेण तपोनिर्विकृतिकं पुरिमार्द्धैकभक्तं आचाम्लं च । अनागाढे दशवैकालिकादिके श्रुते उद्देशकातिचारे अकालपाठादिके निर्विकृतिकम् । अध्ययनातिचारे पुरिमार्द्धं श्रुतस्कन्धातिचारे एकाशनकम् अङ्गातिचारे आचाम्लमित्यर्थः । आगाढे सूत्राध्ययनभगवत्यादिके श्रुते यतेऽप्यथातिचारस्थानेषु पुरिमार्द्धादिक्षपणान्तमेव तपो भवति । एतद्विभागतः प्रायश्चित्तमुक्तम । जीत० । दर्श० ।

त्रससमारम्भप्रत्याख्याता पृथिवीसमारम्भे वर्तमानो व्रतं नातिचरति ॥

समणोवासगस्स णं भंते ! पुव्वामेव तसपाणसमारंभे पच्चक्खाए भवइ पुढवीसमारंभे अपच्चक्खाए भवइ, से य पुढविं खणमाणे अण्णयरं तसपाणं विहिंसेज्जा से णं भंते ! तं वयं अइचरइ ? णो इणट्ठे समट्ठे नो खलु से तस्स अइवायाए आउट्टइ । समणोवासयस्स णं भंते ! पुव्वामेव वणस्सइसमारंभे पच्चक्खाए से य पुढविं खणमाणे अण्णयरस्स रुक्खस्स मूलं छिंदेज्जा से णं भंते ! वयं अतिचरति ? णो इणट्ठे समट्ठे नो खलु से तस्स अइवायाए आउट्टइ ॥

भगवन्तः । (नो खलु से तस्स अइवायाए आउट्टति) न खल्वसौ तस्य त्रसप्राणस्यातिपाताय वधाय आवर्त्तते प्रवर्त्तते इति न सङ्कल्पवधोऽस्ति, सङ्कल्पवधादेव च निवृत्तोऽसौ । न चैवं तस्य संयम इति नासावतिचरति व्रतम् भ० ७ श० १ उ० । (देशविरता अतिचाराः कायक्लेशादेः) (मूलगुणोत्तरगुणातिचाराश्च मूलातिचारे प्रायश्चित्तमित्यवतरणमाश्रित्य पडिक्कमणादौ वक्ष्यन्ते)

सर्वेऽप्यतीचाराः संज्वलनकषायोदये भवन्तीत्याह ।

सव्वे वि य अइयारा, संजलणाणं तु उदयओ होंति ।
मूलच्छेज्जं पुण होइ, बारसण्हं कसायाणं ॥ ७५० ॥

सर्वेऽप्यालोचनाद्यतिक्रमणान्तपदिच्छेदपर्यन्तप्रायश्चित्तशोध्याः । अपिशब्दाच्छिद्यमानोऽपि च अतिचारान्तर्गतः [illegible] विरोधनाविशेषाः संज्वलनानामेवोदयतो भवन्ति । द्वादशानां पुनः कषायाणामुदयतो मूलच्छेद्यं भवति । मूलं च्छेद्यमपनेयं प्रायश्चित्तेन विनाशोऽपनीयते यत्र तत्तु मूलच्छेद्यम् । सर्वचारित्रोच्छेदकारीत्यर्थः एवं स्वरूपं दोषजातं द्वादशानामनन्तानुबन्धप्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानावरणकषायाणामुदये भवतीत्यर्थः । [illegible] दये संजायते । अथवा इदं मूलच्छेद्यं दोषजातं यथासंख्येयमेकैकस्येति तद्यथा प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्कोदये सर्वविरतिरूपस्य चारित्रस्य मूलच्छेद्यं सर्वनाशकं भवति । अप्रत्याख्यानकषायचतुष्कोदये तु देशविरतिचारित्रस्य अनन्तानुबन्धिकषायचतुष्कोदये पुनः सम्यक्त्वस्येति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ ७०० ॥

भाष्यम् ।

अइयारा छंदेना, सव्वे संजलणउदयओ होति ।
मेसकसायोदयओ, मूलच्छेज्जं वयागराणं ॥ ७५१ ॥

सकलसंयमवर्ती प्रायश्चित्तविशेषच्छेदकच्छेदान्तोऽतिचारदेशच्छेदेन समस्तप्रायश्चित्तान्तो दयाते [illegible] शेषाच्छेदान्ता सर्वेऽप्यतिचारा संज्वलनकषायोदयजन्या भवन्ति । शेषकषायाणां द्वादशानामुदये मूलच्छेद्यं [illegible] शोच्छेदकारकं दोषजातं भवति । प्रतिदुष्टत्वे च [illegible] कर्त्तव्य इत्यर्थः ।

अथवा यथासंख्येय मूलच्छेद्यं दर्शयन् [illegible]

अहवा भंजणमूल–च्छेज्जं तइयकसायोदये विरई ।
सम्मत्ताइ मूल–च्छेज्जं पुण बारसण्हं पि ॥ ७५२ ॥

तृतीयानां प्रत्याख्यानावरणकषायाणामुदये सकलस्य सर्वविरतिरूपस्य मूलच्छेद्यं विरतेर्विनाशं भवति [illegible] च्छेद्यं तु द्वादशानामप्युदये भवत्येव इति ।

अथ संयमातिदुष्टपरिहरणमाह ।

मूलविराहणे निच्चे, पुव्वं मूलगुणघायकट्ठाणं ।
इह सीले पुणो गहणं, अइयाराइविरयाणं वि ॥ ७५३ ॥
एगवयाइक्कमणं पि य, अइयारे [illegible] ।
तो मूलच्छेज्जमिणं, सेसवएसे निच्छओ ॥ ७५४ ॥

आह [illegible] " [illegible] मूलगुणघातिनां यदुक्तं " [illegible] निश्चयेन द्वादशानामुदये मूलच्छेद्यं [illegible] पुनस्तद्वचनमयुक्तमाह । [illegible] चारित्रां विशेषयवक्तव्यतात्पर्यं [illegible] (तदपनिन्याह) [illegible] " [illegible] " [illegible] व्याख्यानेऽपि [illegible] उदयतो होति " [illegible] शिष्यो [illegible] नियमेनापि । [illegible] तत्सर्वविशेषकसङ्ख्येयमेव संज्वलनकषायोदये [illegible] तत्र सर्वेऽप्यतिचाराः भवन्ति [illegible] भवति । [illegible] तु [illegible] इत्यादि [illegible] २।४ । [illegible] १०० [illegible] । [illegible] । [illegible] ।

[illegible]

सव्वं पि [illegible] ।
[illegible] ॥ ७५५ ॥
[illegible]

नेन सता तस्या एवेह प्रधानत्वात् । तथा विषये च स्थापयितव्यं तदर्पयेदं कुत इत्याह बहुश्रुतगुरुसकाशात्र स्वमनीषिकयेति गाथार्थः ।

एतदेवाह ।

जह सुहुमइआराणं, वंजीपमुहाइफलनिआणाणं ।
जं गुरुअं फलमुत्तं, एअं कह घडइ जुत्तीए ॥६६ ॥

यथा सूक्ष्मातिचाराणां लघुचारित्रापराधानां किंभूतानामित्याह । स्त्रीप्रमुखादिफलनिदानानां प्रमुखशब्दात्सुन्दरीपरिग्रहः आदिशब्दात्तपःस्तेनप्रभृतीनां यद्गुरु फलमुक्तं सूत्रे स्त्रीत्वं किल्बिषिकत्वादीति एतत्कथं घटते युक्त्या कोऽस्य विषय इति गाथार्थः । तथा ।

सइ एअम्मि अ एवं, कहं पमत्ताण धम्मचरणं तु ।
अइआरमयचूआ-ण हंदि मोक्खस्स हेउ त्ति ॥६७॥

सत्येतस्मिन्नर्थे यथार्थ एव कथं प्रमत्तानामयतनसाधूनां धर्मचरणमेवं हन्दि मोक्षस्य हेतुरिति योगः नैवेत्यभिप्रायः किंभूतानामित्याह । अतिचारभयभूतानां प्रभूतातिचारवतामिति गाथार्थः ॥

मार्गानुसारिणां विकल्पमाह ।

एवं च घडइ एवं, पवज्जिउं जो तिगिच्छमइआरं ।
गुरुअं पि कुणइ सो खलु,नरस विवागम्मि अइरोद्दो ।६८।

एवं च घटते एतदनन्तरोदितं प्रपद्य चिकित्सां कुष्ठादेरतिचारं तद्विषयविधिं किमित्याह सूक्ष्ममपि करोति स खलु तस्यातिचारे विपाकेऽतिरौद्रो भवति एवमेतदयं दार्ष्टान्तिकेऽपि भाविष्यमिति गाथार्थः ।

अतिचारदूषणहेतुमाह ।

पडिवक्खज्झवसाणं, पाएणं तत्थ खवणहेऊ वि ।
पाणाइवायाइमिणं, तेसि ओहेण तज्जाया ॥६९॥

प्रतिपक्षाध्यवसानं क्रियाविच्छेदे तुल्यगुणमधिकगुणं वा प्रायेण तस्यातिचारस्य क्षपणहेतुरपि यदन्यथापि हर्षिनादिप्रायोग्रहणं नालोचनामात्रम् । तथाविधभावशून्यं कुत इत्याह । तेषामपि पृथ्वीकायिकादीनां प्राणिनामोघेन सामान्येन तज्जायादालोचनादिमात्रजातादिति गाथार्थः ।

एवमन्नाणं पि हु, पइअइआरं विवक्खहेऊणं ।
आसेवणेण दोसो,-त्ति धम्मचरणं जहाभिहिअं ॥७०॥

एवं प्रमत्तानामपि साधूनां प्रत्यतिचारमतिचारं प्रति विपक्षहेतूनां यथोक्तप्रत्ययभावानामासेवने सति न दोषोऽतिचारकृतात् इत्येवं धर्मचरणं यथाऽभिहितं तदुक्तान्मोक्षस्य हेतुरिति गाथार्थः ।

अत्रैवेदं तात्पर्यमाह ।

मन्तंतरपडिआरं, बहुअं पि विसं न मारए जह उ ।
थोवं पि य विवरीअं, मारइ एमेत्थ एवं ॥७१॥

मन्त्रकृतप्रतीकारमगदमन्त्रादिना बह्वपि विषं न मारयति । यथा अहितं स्वल्पमपि च विपरीतमकृतप्रतीकारं मारयति तथेहाप्यतिचारादिविचार इति गाथार्थः ।

विशेषमाह ।

जे पडिक्कमगोरहिआ, पमाइणो तेसि पुण मयं विंति ।
दुग्गाइभयरोहण, अणिट्ठफलयं विसं भणिअं ॥७२॥

ये प्रतीकारविरहिता अतिचारेषु प्रमादिनो छद्मस्थाः पुनस्तद्धर्मचरणं यथोदितं किन्तु न भवतीत्यर्थः । एतं स्पष्टयति दुर्गृहीतद्वारोदाहरणात्तथा यथा दुर्गृहीतो हस्तमेव हन्तीति श्रामण्यदुष्परामृष्टनरकानुपकर्षतीत्यस्मादनिष्टफलमेतद्धर्मचरणं छद्मस्थं भणितं मनीषिभिरिति गाथार्थः ।

एतदेव सामान्येन द्रढयन्नाह ।

खुड्डइआराणं वि अ, मणुआइसु असुह माँ फलं नेअं ।
इअरेसु अ निरयाइसु, गुरुअं तं भणइ कत्ता ॥७३॥

क्षुद्रातिचाराणामेवोचितो धर्मसंबन्धिनां मनुष्यादिष्वशुभं ज्ञेयं स्त्रीत्वदारिद्र्यादि आदिशब्दात्तथाविधतिर्यक्परिग्रहः । तेषां पुनर्महातिचाराणां नरकादिषु गुरुकं तदशुभफलं काशुभापेक्षया आदिशब्दात् क्लिष्टतिर्यक्परिग्रहः । इत्थं चैतद् कर्तव्यं तदन्यथा कुतस्तस्य हेतुर्महातिचारानुक्त्येति गाथार्थः ।

उपसंहरन्नाह ।

एवं विआरणाए, सइ संवेगाउ चरणपरिसुद्धी ।
इहरा सम्मुच्छिमप-णितुल्लया दढं होइ दोसा य ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण विचारणायां मत्यां सदा संवेगाद्धेतोः मित्याह (चरणपरिसुद्धि त्ति) करणतया इतरथा सेषामन्तरेण सम्मूर्छनजप्राणितुल्यता दृढतया करणेन असा यं दोषाय भवति ज्ञातव्या प्रमज्यायामपीति गाथार्थः । पं० व० (श्रावकव्रतानामतिचाराः सम्यक्त्वातिचाराश्च स्वस्व यस्याष्टावतीचारगाथा गायन्ति तेनाष्टौ नमस्कारा गण्यन्ते गाथाया उच्छ्वासा द्वात्रिंशद्भवन्ति नमस्कारचतुष्कस्यापि नमस्काराष्टकस्य तु चतुःषष्टिरुच्छ्वासा भवन्ति तत्कथमिति चेत्? उत्तरं यस्याष्टौ गाथा गायन्ति तस्याष्टनमस्कार स्तम्भः कार्यते न तूच्छ्वासमानमिति श्र० ७० उल्ला० ६ प्र० । ग्रहस्य स्वस्वभोगकालमुल्लङ्घ्य चार राश्यन्तरगमनम् अति ज्योतिषोक्तेः भौमादिपञ्चकस्य स्वस्वाक्रान्तराशिषु भोग मुल्लङ्घ्य राश्यन्तरगमनं, अतिचारस्य-" रविर्मासं निशा सपादद्वियमद्वयम ... मतिशीघ्रतया अहरकांसैव ... गमनम् । वाच० ॥

अइरत्त-अतिरक्त-त्रि० ... वा अतिशोहितवर्णे, ... अतिरात्र-पुं० ... दिनवृद्धौ, ते च षट् ... छ अइरत्ता पण्णत्ता ... ससेम पर्वे ... (अइरत्त त्ति) ... कुर्वे पर्वे आषाढबहुलपक्ष ... भवेत्र पर्वाणीति, तथा० " तत्थ्यादि " तत्र ... प्रकाशस्तथा ... मासनिरन्तरायामे ... तथाहि त्रिंशता अहोरा... त्रैकः सूर्यमासो ... सौ कर्ममासद्वयमपेक्ष्य ... आषाढादिवत्सरस्य

ऽहोरात्रो भवत्यष्टमे पर्वणि गते द्वितीयः तृतीयो द्वादशे पर्वणि चतुर्थः षोडशे, पञ्चमो विंशतितमे, षष्ठश्चतुर्विंशतितमे इति । अवमरात्रश्च कर्ममासद्वयमपेक्ष्य चन्द्रमासचिन्तायां चन्द्रमासा श्च श्रावणाद्यास्ततो वर्षाकालस्य श्रावणादिरित्युक्तं प्राक् । संप्रति यमपेक्ष्यातिरात्रा यं चापेक्ष्य अवमरात्रा भवन्ति तदेतत् प्रतिपादयति ॥

छच्चेव य अइरत्ता, आइच्चाओ हवंति माणाहि ।
छच्चेव ओमरत्ता, चंदाहि हवंति माणाहि ॥ १ ॥

अतिरात्रा भवन्ति आदित्यमपेक्ष्य किमुक्तं भवति आदित्यमासानपेक्ष्य कर्ममासचिन्तायां प्रतिवर्षं षट् अतिरात्रा भवन्तीति (माणाहि) जानीहि । तथा षट् अवमरात्रा भवन्ति चन्द्रात् चन्द्रमपेक्ष्य चन्द्रमासमधिकृत्य कर्ममासचिन्तायां प्रति संवत्सरं षट् अवमरात्रा भवन्तीत्यर्थः इति (माणाहि) जानीहि तदेवमुक्ता अवमरात्रा अतिरात्राश्च चं० प्र० १२ पाहु० । ज्यो० । सू० प्र०॥

अइ (ति) रत्तकंबलसिला–अतिरक्तकम्बलशिला–स्त्री० मन्दरपर्वतस्योत्तरस्यां दिशि वर्तमानायामभिषेकशिलायाम्, " दो अइरत्तकंबलसिलाओ " स्था० २ ठा० ।

अइरा–अचिरा–स्त्री० विश्वसेनभार्यायां शान्तिजिनेन्द्रस्य मातरि, ती० ए क० । आव० । स० । प्रव० ।

अइ (ए) रावण–ऐरावण–पुं० इन्द्रगजे, को० ।

अइ (ति) रित्त–अतिरिक्त–त्रि० अति–रिच्–क्त–अतिशयिते, श्रेष्ठे, भिन्ने, शून्ये च । तत्र भेदे " अतिरिक्तमथापि यद् भवेदिति " भत्ता० । यस्य यावत्प्रमाणं युक्तं ततोऽधिकार्थे, वाच० । आचा० । अधिके, स्था० २ ठा० १ उ० । अतिप्रमाणे, स० । सूत्र० । अतिरेके, प्रश्न० सं० ५ द्वा० । भावे–क्त–अतिशये आधिक्ये च न० वाच० । नि० चू० ।

अइ (ति) रित्तसिज्जासणिय–अतिरिक्तशय्यासनिक–पुं० अतिरिक्ता अतिप्रमाणा शय्या वसतिरासनानि च पीठकादीनि यस्य सन्ति सोऽतिरिक्तशय्यासनिकः । चतुर्थेऽसमाधिस्थाने, स चाऽतिरिक्तायां शय्यायां घट्टशालादिरूपायामन्येऽपि कार्पटिकादयः (कार्पटिकादयः) आवासयन्तीति तैः सहाधिकरणसंभवादसमाधिस्थानमेव सहाधिकरणसम्भवाद्वात्मपरायसमाधौ योजयतीति स० । दशा० । आ० चू० प्रव० ।

अइरुग्गय–अचिरोद्गत–त्रि० क्षणमात्रमुद्गते, रा० । प्रथमोदिते, " अइरुग्गए वि सूरे " उत्त० ३ अ० । " अइरुग्गयसममासुरविद्धचंदढसंठियणिडाला " तं० ।

अइरूव–अतिरूप–पुं० अतिक्रान्तो रूपम् । रूपवर्जिते परमेश्वरे, वाच० (एतन्निराकरणमन्यत्र) भूतभेदे च प्रज्ञा० १ पद ।

अइ (ति) रेग–अतिरेक–पुं० अति–रिच्–घञ्–भेदे, प्राधान्ये, वाच० । अतिशये, जी० ३ प्रति० २ उ० । आधिक्ये, प्रा० १ अ० । " अइरेगरेहंतसरिसे " " अतिरेकेण राजमानस्य सदृशः " कल्प० । कर्मणि–घञ् । अधिकतरे, कल्प० ।

अइ (ति) रेगसंठिय–अतिरेकसंस्थित–त्रि० अतिरेकेण संस्थितं यस्य सः । अतिशायितया संस्थानवति, "कयलीखंभाइरेगसंठिय " जी० ३ प्रति० ।

अइ [चि] रेण–अचिरेण–अव्य० चिरेणेत्यव्ययस्य न० त० स्तोके काले, " अचिरेण सिद्धिवासायं " व्य० ८ उ० । विशे० ।

अइरोस–अतिरोष–पुं० अतिशयितक्रोधे, "अइरोसो अइतोसो, अइहासो दुज्जणेहि संवासो । अइउब्भडो य वेसो, पंच वि गुरुयं पि लहुयं पि " ध० र० ।

अइ [चि] रोववण्णग–अचिरोपपन्नक–त्रि० न० त० अचिरजाते, आव० ५ अ० ।

अइरोहिय–अतिरोहित–त्रि० न० त० । प्रकाशिते, स्फुटेऽर्थे, अव्यवहिते च वाच० ।

अइ [ति] लोलुय–अतिलोलुप– त्रि० अतीव रसलम्पटे, उत्त० ११ अ० ।

अइ [ति] वइत्ता-अति(व्रज्य)पत्य–अव्य० अति-पत-व्रज्-वा-क्त्वा ल्यप् । अतिक्रम्येत्यर्थे, ज्ञा० १ अ० । प्रविश्येत्यर्थे च प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

अइवट्टण–अतिवर्तन–न० उल्लङ्घने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

अइ [ति] वाइ [ति] न्–अतिपातिन्– त्रि० अतीव पातयितुं शीलमस्य । हिंसके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

अइवाइत्ता–अतिपातयितृ– त्रि० अति–पत–णिच्–शीलाऽर्थे तृन् । प्राणिनां विनाशनशीले, " णो पाणे अइवाइत्ता भवइ " स्था० ३ ठा० २ उ० ।

अतिपात्य–अव्य० अति–पत्–क्त्वा–ल्यप्-प्राणिनो विनाश्येत्यर्थे, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अइवाइय–अतिपातिक–त्रि० अतिपतनमतिपातस्स विद्यते यस्य सोऽतिपातिकः । प्राण्युपमर्दके, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अइवाइया-अतिपातिका-स्त्री० अतिक्रान्ता पातकमतिपातिका निर्दोषायाम्, पापाद् दूरीभूतायाम्, आचा० १ श्रु० ए अ० ।

अइ [ति] वाएमाण–अतिपातयत्–त्रि० प्राणिन उपमर्दयति, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

अइ (ति] वाय–अतिपात–पुं० अतिपतनमतिपातः । प्राण्युपमर्दने, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । विभ्रंशे, स्था० ५ ठा० । विनाशे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । पा० ।

अतिवाद–पुं० अत्यन्तकथने, वाच० ।

अइवास-अतिवर्ष-पुं० अतिशयवर्षे, घनवर्षणे, प्र० ३ श्रु० ६ स०

अइ (ति) वाहम–अतिव्याघ्रात–त्रि० अतीव घ्राते, दुर्गन्धादिविशिष्टे, बृ० ४ उ० ।

अइ [.ति) विज्ज–अ.ति.विद्वस्–त्रि० विदितागमसद्भावे, "तम्हा इ (ति) विज्जो णो पडिसंजलिज्जा" आचा० १ श्रु० ४ अ० ।

अइ [ति] विसय–अतिविषय–पुं० प्रबलपञ्चेन्द्रियप्रामस्ये, तं० ।

अइ [ति] विसाया–अति[विस्वादा][विषयगा][वृषाका][विषादा] विषादा–स्त्री० अतिविषादाः दारुणविषादहेतुत्वात् १, यद्वा अतीत्यतिक्रान्तो गतोऽपगतः पुंसां विषादः श्रेयो यासां तास्तथा २ यद्वा अतीति भृशं विषमं विषम् कामसन्ताद् ददति पुरुषाणां विरक्तः मत्यः सूर्यकान्ताविदिति अतिविषादाः ३ यद्वाऽतीति भृशं वीति नानाविधः स्वादो आस्वादं यासां ता अतिविस्वादास्तथा ४ अतिविषयगा अतिविषयात् प्रबलसरस्वतात् यद्वा नरकपृथिवीं गच्छन्ति इत्यत्र

अप्पमिलेह दुपेहा, पुव्वुत्ता सत्त भंगा उ ॥

आचार्यः कुलादिकार्येण निर्गतः प्रत्यागत उत्सर्गेण तावद्वसतेर्बहिरेव पादान् प्रस्फोटयति प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयति चेत्यर्थः। यदि पुनर्निष्कारणं बहिः पादान् न स्फोटयति तदा बहिरप्रमार्जने सत्येन आचार्यस्य प्रायश्चित्तं पञ्चकं शैक्षके साधौ बहिः पादान् अप्रमार्जयति लघुको मासः प्रायश्चित्तम्। तस्मात् बहिः पादान् प्रस्फोट्यान्तः प्रवेष्टव्यं तच्च प्रस्फोटनं विधिना कर्त्तव्यम्। स चाविधिः पुनरयं न प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयति ॥ १ ॥ न प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयति ॥ २ ॥ प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयति ॥ ३ ॥ प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयति च ॥ ४ ॥ तत्राद्येषु त्रिषु भङ्गेषु प्रत्येकं प्रायश्चित्तं मासिकं चतुर्थे भङ्गे भङ्गाश्चत्वारस्तद्यथा दुष्प्रत्युपेक्षते दुष्प्रमार्जयति ॥ १ ॥ दुष्प्रत्युपेक्षते सुप्रमार्जयति ॥ २ ॥ सुप्रत्युपेक्षते दुष्प्रमार्जयति ॥ ३ ॥ सुप्रत्युपेक्षते सुप्रमार्जयति ॥ ४ ॥ अत्र चतुर्थो भङ्गः शुद्धः शेषेषु तु त्रिषु भङ्गेषु प्रत्येकं प्रायश्चित्तं पञ्चरात्रिन्दिवम् एतदेवाह ॥ अप्रत्युपेक्षणे उपलक्षणमेतत् अप्रमार्जने च । तथा दुष्प्रेक्षायामप्युपलक्षणं ज्ञेयमिति दुष्प्रमार्जनतायां च पूर्वोक्ताः कल्पाध्ययनोक्ताः सप्त भङ्गाः। तत्र चोक्तः प्रायश्चित्तविधिः।

बहि अंतो विवच्चासो, पणगं सागारिय असंतम्मि ।
सागारियम्मि उ चले, अत्थंति मुहुत्तगं थेरा ।

यदि सागारिके असति अविद्यमाने बहिरन्तर्विपर्यासो भवति बहिरनास्फोट्यान्तः प्रस्फोटयतीत्यर्थः तदा गणिनः प्रायश्चित्तं पञ्चकम्। अथ सागारिको बहिस्तिष्ठति सोऽपि च चलश्चलो नाम मुहूर्त्तमात्रेण गन्ता तस्मिन्सागारिके चले तिष्ठति मुहूर्त्तकल्पार्थं कम्प्रत्ययोऽल्पं मुहूर्त्तं किमुक्तं भवति समताशातिमात्रं पदातिक्रमणमात्रं वा कालं स्थविरास्तिष्ठन्ति।

थिराविविक्खत्ते सागा-रिय अणुवउत्ते पमज्जिउं पविसे ।
निव्वाविक्खणुवउत्त, अंतो अ पमज्जणा तोह ॥

थिरो नाम यत्रावस्थायां ध्रुवकर्मिको व्याक्षिप्तः कर्म्मणि अव्याकुलस्तद्विपरीतोऽव्याक्षिप्तः । उपयुक्त आचार्यान् निरीक्षमाणस्तद्विपरीतोऽनुपयुक्तः। तत्र स्थिरे व्याक्षिप्ते सागारिके विद्यमाने बहिः पादान् प्रमृज्य प्रविशेत् निर्व्याक्षिप्ते उपयुक्ते बहिः सागारिके सति वसतेरन्तः पादानाम्। अथाचार्यस्य पादाः किं स्वयमेवाचार्येण प्रस्फोटयितव्याः उतान्येन साधुना तत आह।

[illegible]गाहियस्स अगति, तस्सेव रओहरेण आयरे ।
[illegible]पणत्र, पुस्संति य अणणाउत्तेणं ॥

साधुना अनिग्रहो गृहीतो वर्तते यथा मया आचार्यस्य प्रत्यागतस्य पादाः प्रस्फोटयितव्या इति स यत्र प्रमार्जनायोपस्थातव्यं तत्र आचार्यस्यात्मीयमन्यप्रमार्जनकमन्येन साधुना पादप्रमार्जनेनापरिहृतः तेपादान् प्रस्फोटयति । यथाभिग्रहिको न विद्यते तत्र स्थानस्य [illegible] अन्यतरेण तस्यैवाचार्यस्य रजोहरणेन पादप्रोञ्छनकेनानन्यहस्तेन पादान् प्रोञ्छयति । [illegible] अपि निष्कारणमाचार्यस्य पादाश्च प्रमार्जयति । अथात्मीयेन रजोहरणेन पादप्रोञ्छनकेन वाऽन्यपरिभुक्तेन प्रमार्जयति तदापि मासलघु । यदि सागारिकस्तिष्ठत्यन्तस्त्वाचार्यस्य पादा न प्रस्फोटिताः प्रविष्टस्य प्रस्फोटनीयास्तत्रायं विधिः।

विपुलाए अपरिभोगे, अप्पणओ वासए वनिट्ठस
एमेव भिक्खुयस्स वि, नवरिं बाहिं चिरयरं तु ॥

यदि विपुला वसतिस्तर्हि तस्यां विपुलायां वसतावपरि[illegible] अवकाशे आचार्येण स्थित्वा पादाः प्रस्फोटयितव्याः। अथ स[illegible]टा वसतिस्तर्हि य आचार्यस्य आत्मीयो [illegible] पर्यायपथिकी प्रतिक्रम्योपविष्टस्य पादाः प्रमार्जनीयास्ते च कु[illegible]क्षेन साधुना तथा प्रमार्जनीया यथा अन्ये साधवो धूल्या [illegible] वियन्ते । यथा आचार्यस्योक्तमेवं भिक्षोरपि द्रष्टव्यं नवरं यदि बहिर्वसतेः सागारिकस्तिष्ठति ततश्चिरतरमपि कालं प्रतीक्षते यावदसौ सागारिको व्यतिक्रामति। यदि पुनर्भिक्षुर्वसतेर्बहिः सागारिकाभावेऽपि पादानप्रस्फोट्य वसतेरन्तः प्रविशति तदा तस्य प्रायश्चित्तं मासलघु ॥

निगिज्झिय पमज्जाहि, अभणंतस्सेव मासियं गुरुणो ।
पायरयरवमगादी, चोयग कज्जागते दोसा ॥

यदि बहिः सागारिक इति कृत्वा वसतेरन्तः पादाः प्रस्फोटयितव्यास्ततः संकटायां वसतौ पादान् प्रमार्जयितुमुपस्थितं साधुमाचार्यो ब्रूते आर्य ! निगृह्य पादान्प्रमार्जय । किमुक्तं भवति तथा यतनया पादान् प्रमार्जय यथा पादधूल्या न कोऽपि साधुर्ध्रियते । अथैवं न ब्रूते तत एवमभणतो गुरोः प्रायश्चित्तं मासलघु। तथा पादरजसा क्षपकादयः खरण्टन्ते तथा सति वक्ष्यमाणाः दोषाः । अत्र चोदक आह आचार्यः कस्माद्बहिर्गच्छति सूरिराह कार्यागते कार्येषु समापतितेष्वागते दोषास्तस्मादवगच्छ-ति । अधुना " पायरयखमगादी " इत्येतत् व्याख्यानयति ॥

ववसासितो व खमगो, इड्ढिमवुड्ढो व कोवितो वा वि ।
मा भंरूणखमगादी, इति गुत्त निगिज्झिए भणणा ॥

तपसा शोषितस्तपःशोषितः क्षपकस्तस्य [illegible] कोपो जायते ततः स आचार्यपादप्रमार्जनधूल्या विकीर्णः कुपितो भवेत् कुपितश्च सन् भण्डनं कृत्वा अन्यत्र गच्छेत् प्रतिगमं प्रतिपद्येत वा । अथवा कोऽपि ऋद्धिमान् वृद्धो राजादिः प्रव्रजितः स पादधूल्याऽवकीर्णो रुष्टः सन् प्रत्यनीकत्वं कुर्यात् कोपितो नाम शैक्षकः कोऽपि रुष्टः प्रतिगच्छेत् तस्मात्पादानि-मौ भिरुननं कार्षीदिति सूत्रे निगिज्झिय निगिज्झियमित्युक्तमस्यार्थ-यतयो यतनयेति ।

सम्प्रति " चोयग कज्जागते दोसा " इति व्याख्यानयति ॥

पाणे कुप्पति खमगो, किं चेव गुरुस्स निग्गमो भणितो ।
भण्णइ कुलगणकज्जे, चेइयनमणं च पव्वेसु ॥

स्थाने कुप्यति क्षपकस्तथा हि स पादधूल्या अवकीर्यते मा कोपं कार्षीत । किं चैवं गुरोराचार्यस्य निर्गमः केन कारणेन भणितस्तत्कारणमेव नास्ति येन कारणेन बहिराचार्यस्य निर्गमनम्। आचार्य आह भण्यते उच्यते दीयते । कुलकार्ये गणकार्ये सङ्घकार्ये च बहुविधे समापतिते तथा पर्वसु पाक्षिकादिषु चैत्यानां सर्वेषामपि नमनमवश्यं कर्त्तव्यमिति हेतोश्चाचार्यस्य वसतेर्बहिर्निर्गमनम् ॥

पुनश्चोदक आह ॥

जति एवं निग्गमणे, भणाति तो बाहि चिट्ठए बुड्ढे ।
कुव्वति बहि मज्जंते, चोयग गुरुणो इमे दोसा ॥

चोदको भणति यदि एवं कुलादिकार्यनिमित्तमाचार्यस्य निर्गमनं ततो निर्गमे सति प्रत्यागतो यदि वसतेर्बहिः सागारिक-

स्तस्माद्बहिस्तिष्ठतु यावच्च सागारिको व्युत्क्रान्तो भवति ततो बहिरेव पादान् प्रस्फोट्य वसतेरन्तः प्रविशतु एवं च सति क्षपकादिदोषाः परित्यक्ता भवन्ति । आचार्य आह उच्यते उत्तरं प्रपद्यते हे चोदक ! गुरोराचार्यस्य वसतेर्बहिः तिष्ठत इमे वक्ष्यमाणा बहवो दोषास्तानेवाह ॥

तण्हुण्हाविअणाविय, उच्छा वा अत्यमाणपुच्छादी ।
विणए गिलाणमादी, साहू सवी पडिच्छंतो ॥

उच्चारादिकार्येण निर्गत आचार्य उष्णेन भाविते तृष्णा जायते ततस्तृष्णाभिभूतो वसतिमागतो यदि बहिर्वसतेः प्रतीक्षते यावत्सागारिकोऽपगच्छति ततस्तृष्णया उष्णेनादिशब्दादनागाढागाढपरितापनापरिग्रहः पीडितेन मूर्च्छा जायते । आदिशब्दात् वसतिप्रविष्टस्सन् प्रचुरं पानीयमापिबेत् । ततो भक्ताजीर्णतया ग्लानत्वं प्रवर्तेत्यादिपरिग्रहस्तथा वृद्धा उपशमेनत याक्षशैकासहायादयस्तत्कार्ये निष्ठन्ति प्रतीक्षन्ते ते च प्रतीक्षमाणाः प्रथमद्वितीयपरिषहाभ्यां पीडिता मूर्च्छामाप्नुवन्ति तथा ग्लान आदिशब्दात् क्षपकादिपरिग्रहस्ते विनयेन प्रतीक्षमाणा भोजनमकुर्वन्त औषधादिकं च गुरुणा विना अलभमाना गाढतरं ग्लानत्वमाप्नुवन्ति । तथा साधवः केचित्प्राघूर्णका गन्तुमनसस्तथा संज्ञितः श्रावका अष्टम्यादिषु कृततपसः पारणके भिक्षायामदत्तायामपायन्त आचार्यं प्रतीक्षमाणास्तिष्ठन्ति तत्र साधूनां दिवसो गतोऽपाव्यतः तत्र भोजनादिपरितापना दोषाः । संज्ञितां [illegible] गाथासंक्षेपार्थः ॥

इदानीमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः " तण्हुण्हादिममाविय "
इत्येतत् व्याख्यानयति

तण्हुण्हजाविदस्स, पडिच्छमाणस्स मुच्छमादी य ।
दवपाणे गिलाणे, गुणन्तविराहणा चेव ॥

उच्चारादिः [illegible] उष्णेन भावितः कश्चित्कदाचिदपवर्गोऽन्यत्र गतो बहिर्निस्सरत् ततः उच्चारादिकार्येषु निर्गतस्तृष्णाभिभूतो वसतिमागतोऽपि यदि सागारिकमपगच्छन्तं यावत्प्रतीक्षते तत्र प्रतीक्षमाणस्य तृष्णया उष्णेन च भावितस्य मूर्च्छादयो भवन्ति [illegible] परितापनापरिग्रहस्तथा वसतिप्रविष्टेनैव मूर्च्छामनुभूतः अत्यन्त प्रचुरस्य पानीयस्य पानं कृत्वा [illegible] इत्यर्थः । ततो भक्ता[illegible] ग्लाने [illegible] गुणादिहानिस्तथा च [illegible] स्यात् ग्लानत्वेनाचार्यो म्रियेत [illegible] साधूनां हानि[illegible] । [illegible] ग्लानत्वः साधवो हानि[illegible] कुर्वन्ति [illegible] ।

सम्प्रति " वुड्ढेत्ति " व्याख्यानार्थमाह ।

वुड्डादविहारी, सहती य पाणे विहुयमुणी ।
[illegible], न तु [illegible] लोरदर्हि ॥

[illegible]

क्लान्तो विनयेन पारणके बुभुक्षार्तः प्रतीक्षमाणास्तिष्ठन्ति न तु भुङ्क्ते अद्यापि नालोचितमाचार्येण च न दृष्टमिति कृत्वा ।

परितावअंतराया, दोसा होंति अभुंजणे ।
भुंजणे अविणादीया, दोसा तत्थ भवंति य ॥

एवं तपकस्य विकृष्टतपसा क्लान्तस्य प्रतीक्षणेनाभोजने गात्र परितापो भवति अन्तरायं चोपजायते । अथ शुद्धे कार्ये भोजने तत्राविनयादयो विनयः प्रतीत आदिशब्दादप्रत्युपेक्षितभोजने अदत्तादानदोषपरिग्रहो दोषा भवन्ति ।

ग्लानमधिकृत्याह ।

गिलाणस्सोसहादी उ, न देंति गुरुणो विणा ।
ऊणाहियं व देज्जाहि, तस्स वेला निगच्छति ॥

ग्लानस्यौषधादिकं साधवो गुरुणा विना न ददति । आदिशब्दात् भोजनपरिग्रहः । यदि वा ऊनमधिकं वा ददुस्तस्य च ग्लानस्याचार्यं प्रतीक्षमाणस्य वेलातिगच्छति ।

संप्रति "साहूसव्वी" इति व्याख्यानयति ।

पाहुणगा गंतुमणा, वंदिय जो तेसि उवएहसंतावो ।
पारणयपडिच्छंते, सव्वे वा अंतरायं तु ॥

प्राघूर्णकाः केचित्साधव आगतास्ते गन्तुमनसस्ते यद्याचार्यमवन्दित्वा अनापृच्छ्य गच्छन्ति ततोऽविनयादयो दोषास्तत्र प्रतीक्षमाणास्तिष्ठन्ति आचार्यश्चिरेण वसतिं प्रविष्टस्तावदिम आ समन्तात्ततोऽभवत् ततो गुरुं वन्दित्वा व्रजतां च उपतापस्तेषां स आचार्यनिमित्तकस्तथा श्राद्धे अष्टम्यादिषु वा सुष्टुतामक्ते पारणके आचार्ये प्रतीक्षमाणे अन्तरायं कृतं भवति ।

उपसंहारमाह ।

जम्हा एते दोसा, तम्हा बाहिं चिरं तु वसहीए ।
गुरुणा न चिट्ठियव्वं, तस्स न किं दोस होंते य ॥

यस्मादेते दोषास्तस्मात् गुरुणा न वसतेर्बहिश्चिरं स्थातव्यं निष्ठुणा पुनश्चिरमपि स्थातव्यं यावच्चलसागारिको न भवति ततो बहिः पादान्प्रमृज्यान्तर्वसतेः प्रवेष्टव्यम । अत्र परः आह तस्य निर्गमः किमेते अन्तरोदिता दोषा न भवन्ति ।

आचार्य आह ।

अणेगबहुणिग्गमणे, अब्भुट्ठणजाविया य हिंडंता ।
दसविह वेयावच्चं, सग्गामे बाहिं च वायामो ॥
सीउण्हसहा निरसा, न य हाणी वायणादिया तेसिं ।
गुरुणो पुण ते नत्थी, सगामपउंजिता य विवणो ॥

अनेकैः कारणैर्बहूनां निर्गमनमनेकबहुनिर्गमनं तस्मिन् सदा गुर्वादीनामभ्युत्थाने आसनप्रदानादौ च तथा भिक्षार्थं हिण्डमाना भाविता व्यायामिनस्तरिताः । बहुकमनेकैः कार्यैर्बहुशो निर्गमनं तत्र कारणान्याह दशविधवैयावृत्याभिर्मितं स्वग्रामे बहिः परग्रामे अनेकवारमनेकधा व्यायामोऽभवत् तथा शीतोष्णसहा निरसा न च तेषां निष्पन्ना वाचनादिका वाचनादिविषया [illegible] निर्गुणः पुनरनेकबहुनिर्गमनादयो न सन्ति ततस्तृष्णादयस्तस्मादिह आचार्यो वसतेर्बहिः सागारिके तिष्ठति च तु अन्तरेव प्रविशन्ति ततः [illegible] पादान् प्रमार्जयति ।

इदानीं भिक्षोरपि [illegible] माह ।

पुरकम्मियं च साडं, [illegible] वा अणभिवासि ।
[illegible], न उ चिरमपि बाहिं चिरयं [illegible] ॥

घमनेर्यैर्हिः सागारिकं ध्रुवकर्म्मिकं वा लोहकारादिकमन्येन वा कार्येणान्यमपि सागारिकमनतिपातिनमिच्छन्तं तथा श्वत्यादिसमाकुलं च ज्ञात्वा भिक्षुरपि बहिर्नोदीक्षेन न प्रतीक्षेत किन्तु वसतिं प्रविश्यात्मीयावकाशे यतनयाऽऽगमनः पादौ प्रमार्जयेत् । प्रथमोऽतिशयो गतः ।

आचार्योपाध्यायस्य अन्तरुपाश्रयस्य उच्चारप्रस्रवणत्यजननामा द्वितीयोऽतिशयः । संप्रति द्वितीयं विभावयिषुरिदमाह ।

बहिगमणे चउगुरुगा, आणादी वाणिए य मिच्छत्त ।
पडियरणमणाभोगे, खरिमुहमरुए तिरिक्खादी ॥

आचार्यो यदि विचारभूमिं बहिर्गच्छति ततः प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः आज्ञादयश्च दोषाः । तथा "वाणिए य मिच्छत्तमिति " वणिजे अभ्युत्थानं पूर्वं कृतं भवति पश्चादकुर्वति केषाञ्चिन्मिथ्यात्वमुपजायते । इयमत्र भावना । आचार्यं संज्ञाभूमिं व्रजन्तं ततः प्रत्यागच्छन्तं च दृष्ट्वा वणिजो निजनिजापणे स्थिता अभ्युत्थानं कृतवन्तस्तं च तथा वणिजां बहुमानेनाऽभ्युत्थानं दृष्ट्वा केचिदन्ये मन्यन्ते गुणवानेष आचार्यो येन वणिज एवमेनमभ्युपतिष्ठन्ति तस्मादस्माकमपि पूज्य इति तेऽपि पूजयन्ति । यदा त्वाचार्यः कदाचित् द्वौ वारौ संज्ञाभूमिं व्रजति तदा चतुरो वारान् गमने प्रत्यागमने चोत्थातव्यं ते चालस्यं मन्यमाना अभ्युत्थातव्यं भविष्यतीति कृत्वा आचार्यं दृष्ट्वाऽन्यतो मुखं कुर्वन्ति तांश्च तथा कुर्वतो दृष्ट्वा अन्ये चिन्तयन्ति नूनमेष प्रमादी जातो जातोऽपि गुणवानपि यदीदृशः पतति तर्हि न किञ्चिदिति ते मिथ्यात्वं गच्छन्ति । तथा आचार्यं लोकेन पूज्यमानं दृष्ट्वा मरुके ब्राह्मणस्य मारणबुद्ध्या प्रतिचरणं भवति । ततः संज्ञाभूमिं गतं विजने प्रदेशे मारयेत् तथा खरमुखीं नपुंसकीं दासीं वा प्रापयित्वोड्डाहं कुर्यात् अनाभोगेन वा वनगहने प्रविष्टे तिर्यगादौ च गर्दभ्यादौ कुलटादौ च प्रविष्टायामात्मपरोभयसमुत्था दोषाः एष गाथासंक्षेपार्थः ।

संप्रति " वाणिए य मिच्छत्तमि " त्येतद्विभावयिषुराह ।

थुयवंतं पि परिवा-रवं च वणियंतरज्जणुट्ठाणे ।
दुट्ठाण निग्गमम्मि य, हाणी य परमुहावण्णा ॥

संज्ञाभूमिं व्रजति ततः प्रत्यागच्छति वा तस्मिन्नाचार्ये श्रुतवानेष परिवारवांश्चेति मन्यमाना अन्तरा निजनिजापणेषु स्थिता वणिजोऽभ्युत्थानं कृतवन्तः तेषां चोत्थानैः लोकस्य च भूयान् बहुमान आसीत् । कदाचिदाचार्यो द्वौ वारौ संज्ञाभूमिं व्रजेत् ततो द्विस्थाने निर्गमने चतुरो वारान् गच्छति प्रत्यागच्छति चोत्थातव्यं ततस्ते आलस्यं मन्यमाना अभ्युत्थानस्य हानिं कुर्वन्ति ते च हानिमभ्युत्थानस्य चिकीर्षवोऽभ्युत्थातव्यं भविष्यतीति कृत्वा तमाचार्यं दृष्ट्वा परमुखा भवन्ति अन्यतो मुखं कुर्वन्तीति भावः । अथवा अवर्णः स्यात्तथाहि द्वौ वारौ संज्ञाभूमिं व्रजन्तमाचार्यं दृष्ट्वा ते वदन्ति नूनमेष आचार्यो द्वौ वारान्समुद्दिशति तेन द्वौ वारौ संज्ञाभूमिं याति ।

गुणवं तु जओ वणिया, पूयतणे वि सम्मुहा तम्मि ।
पडियं ति अणुट्ठाणे, दुविह नियत्ती अभिमुहाणं ॥

वणिजां बहुमानेनाभ्युत्थानं दृष्ट्वा केचिदन्ये चिन्तयन्ति । गुणवानाचार्यो यतो वणिजः पूजयन्ति एवं चिन्तयित्वा तेऽप्यन्ये तस्मिन्नाचार्ये सन्मुखा भवन्ति वारद्वयसंज्ञाभूमिगमने वणिजामनुत्थाने ते चिन्तयन्ति नूनमेष आचार्यः पतित अन्यथा वणिजः पूर्वमभ्युत्थानं कृतवन्तो नेदानीम् । तथा च सति तेषामभिमुखानां द्विविधा निवृत्तिस्तथा ये श्रावकत्वं ग्रहीतुकामा ये च तस्य समीपे प्रव्रजितुकामास्ते चिन्तयन्ति यद्येषोऽपि प्रधानो ज्ञाता कुशीलत्वं प्रतिपद्यते तर्हि नूनं सर्वं जिनवचनमसारमिति मन्यमानाः श्रावकत्वाद्व्रतग्रहणाद्वा प्रतिनिवर्त्तन्ते मिथ्यात्वं गच्छन्ति ।

संप्रति " पडियरणमणाभोगे " इत्यादि व्याख्यानयन्नाह ।

आउट्टो त्ति व लोगे, पडियरिओ दुम्मारए मरुगो ।
खरियमुहसंगहं वा, लोभेउ तिरिक्खसंगहणं ॥

गुणवानाचार्य इति कृत्वा सर्वो लोक आचार्यस्यावृत्तोऽभवत् प्रणतोऽभूत् धिग्जातीयानां केषांचित्पापीयसां तथा पूजामाचार्यस्य दृष्ट्वा महामत्सरो भवेत् मात्सर्येण संज्ञाभूमिगतमाचार्यं प्रतिचर्य छन्ने प्रदेशे मरुको ब्राह्मणः कोऽपि जीविताद्व्यपरोप्य गर्त्तादिषु प्रच्छन्ने प्रदेशे स्थगयेत् । तथा खरिकामुखीं दासीं नपुंसकं वा प्रलोभ्य तत्र प्रेष्य संग्रहं कुर्यात् यथा मैथुनमेव सेवमानो गृहीतस्ततः उड्डाहः स्यात्तथा अनाभोगेनाचार्यो घनादिगुपिलमवकाशं संज्ञाव्युत्सर्जनाय प्रविष्टः स्यात्तत्र च (तिरिक्खत्ति) तिर्यग्योनिका गर्दभ्यादिका पूर्वगता पश्चाद्वा प्रविष्टा भवेत् तां च केचित्प्रत्यनीका दृष्ट्वा उड्डाहं कुर्युः । मूलगाथायां यदुक्तं (तिरिक्खादीति) तत्रादिशब्दव्याख्यानार्थमाह ।

आदिग्गहणा उब्भा,-मिगा व तह अन्नतित्थिगा वा वि ।
अहवा वि अप्पदोसा, हवंतिमे वादिमादी य ॥

आदिग्रहणादुद्भ्रामिका कुलटा तथा अन्यतीर्थिका वा परिगृह्यते सा तस्मिन् गहने पूर्वं गता पश्चाद्वा प्रविष्टाऽभवत् । तत्र चात्मपरोभयसमुत्था दोषाः संग्रहणादयश्च प्रागुक्ताः । अथवा इमे वक्ष्यमाणा अन्ये वादादयो दोषा भवन्ति ।

तानेव संजिघृक्षुर्द्वारगाथामाह ।

वादीदंडियमादी, सुत्तत्थाणं च गच्छपरिहाणी ।
आवस्सगदिट्ठंतो, कुमार अकरंतकरंते य ॥

वादिदण्डिकादयो वादिदण्डिकादिविषया बहवो दोषास्तथा सूत्रार्थानां गच्छस्य परिहाणिः । अथवा सूत्रार्थानां परिहाणिर्गच्छे च ज्ञानादीनां परिहाणिस्तथा आवश्यकमुच्चारावश्यकं कुर्वन्नकुर्वंश्च कुमारो दृष्टान्तः । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः

सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतो वादिद्वारमाह ।

सन्नागतो त्ति पिट्ठे, जयानिमारो त्ति चेति परवादी ।
मा होही गिमिवग्भा, वसामि अहं वियाएण ॥

कोऽपि परप्रवादी बहुश्रुतमाचार्यं लोकपूजितं श्रुत्वा तेन समं वादं करिष्यामीत्यागतो भवेत् आचार्यश्च संज्ञाभूमिं तदा गतस्तेन चागतेन वसतौ पृष्टं क्व आचार्यः साधुभिः कथितमाचार्याः संज्ञाभूमिं गता एवं श्रुत्वा स परप्रवादी ब्रूयात् स मम भयेन पलायितो यदि वा मम भयेनातीसारो जातः अथवा मा भवत्वेषां हत्येति व्रजामि अलं पर्याप्तं विवादेन ।

अधुना "दण्डियमादीति " व्याख्यानयति ।

चंदगवेज्झसरिसं, आगमणं एय इड्डिमंताणं ।
पव्वज्जमावज्जइग-इच्चादिगुणाण परिहाणी ॥

यथा इन्द्रपुरे इन्द्रदत्तस्य राज्ञः सुतेन कथमपि पुत्तलिकाक्षिचन्द्रकस्य वेधः कृतस्तत्सदृशं " काकतालीयवत् " राज्ञः

[illegible]ष्टानामाचार्यसमीपे आगमनं आचार्ये च संग्रा- [illegible] गते [illegible] भवेत् ततः संग्रामभूमि गतश्चा- [illegible] यदि पुनः संग्रामभूमि न गता श्रा- [illegible] धर्मं श्रुत्वा कदाचित्ते प्रव्रज्यां गृह्णीयुः प्रव- [illegible] महती प्रवचनप्रभावना । तथा श्रावक- [illegible] यथा भद्रका या भवेयुस्तथा च [illegible] संग्रामनिर्गमने चैतेषां गुणानां [illegible] । "सुत्तत्थे च गच्छे परिहाणी" इत्येतद्व्या- [illegible] ॥

[illegible] परिहाणी, [illegible] जा पुणो एति ।
[illegible] मुत्तत्थेसुं न भीयंते ॥

[illegible] पुनरेति तावत्सूत्रार्थपरि- [illegible] संग्रामभूमिर्दूरे भवेत्सूत्रपौरुष्यामर्थपौरु- [illegible] गतः संग्राम- [illegible] कालवेलायां समाग- [illegible] शिष्याः मतोऽस्थ- [illegible] परिहाणिस्तथैव पु- [illegible] साधवो न सीदन्ति । [illegible] ॥

[illegible]

[illegible] हारो ।
[illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

घ वा। तत्र यदि शुद्धा तदा कृतावश्यकेन सूत्रपौरुष्यामर्थपौरुष्यां च सूत्रार्थप्रदानायोपवेष्टव्यं तथापि न तावद्वासितव्यं यावदवस- मुन्येयं भवति किन्त्वग्रे । अत्रार्थे निदर्शनमेक आचार्य [illegible] कं शोधयित्वा तिष्ठति दाण्डिकश्च धर्मश्रवणार्थमागत [illegible] धर्मकथा प्रारब्धा स च धर्मकथाक्षिप्तो राजकुमारो धर्मं [illegible] धर्मीत्तममर्यादया कायिकीव्युत्सर्जनायोत्तिष्ठति आचार्यस्य प्रच्छन्नो मूत्रकोशः समर्प्यते प्रच्छन्नं कायिकीमात्रकं साधवः समर्पयन्ति तत्र कायिकीं व्युत्सृजति । ततो विनये लोको- त्तरिके बलवति राज्ञः पृच्छा आचार्यस्य कथनमेतदेव वि- भावयिषुरिदमाह ॥

निद्धाहारो वि अहं, असइं उट्ठेमि नेस कहयंते ।
पासगतो तं (मत्तं) गत्तं, वत्थंतरियं पणामेइ ॥

राजा चिन्तयति मम स्निग्ध आहारस्तथाऽपि कायिक्युत्- सर्गाय पुनःपुनरुत्तिष्ठामि । आचार्यस्तु कथयन् रूक्षाहारो- ऽपि कायिकीव्युत्सर्गाय नोत्तिष्ठति नूनं मध्ये य एव आचा- र्यस्य पार्श्वे स्थितः क्षुल्लकः स तत्कायिकीमात्रं प्रच्छन्नं व- स्त्रान्तरितं प्रणमयति समर्पयति तत्र कायिकीमाचार्यो व्यु- त्सृजति एतच्च यदि पृच्छ्यते तर्ह्यविनयः कृतो भवति त- स्मादुपायेन पृच्छामीति विचिन्त्येदं पृच्छति ॥

विणओ लोइयलोउ-त्तरिओ त्ति य बली ततो गंगा ।
कतोमुही अचलंतो, जाणिति निवं आणिति जतो ॥

राजा सूरिमापृच्छति भगवन् ! किं लौकिको विनयो बली- यान् अथवा लोकोत्तरिकः । आचार्येणोक्तमयमर्थः परीक्षा- परमेवं ज्ञायते लोकोत्तरिको विनयो बलीयान् तत्र चोदि- तुमारब्धा आचार्येणोक्तं यस्तव दृढप्रत्ययो यं वा इत्था त्वं जानासि स एव विनयधर्मी तं प्रेषय । यथा कुतोमुखी गङ्गा वहतीति ज्ञात्वा निवेदय । ततो राजा च आहनिमान् यश्च दृढप्रत्ययकं प्रेषयति यत्र कुतो- मुखी गङ्गा वहति सोऽचलन् तत्रैव स्थितो नृपं भणति यथा पूर्वमुखी गङ्गा वहति लोकोऽप्यन्य एतत् जानाति । त- आचार्यो ब्रूते मम शिष्याणां मध्ये यं त्वं विनयकरणतत्परि- मिति मन्यसे जानासि । उक्तं च " विनयगुणैर्विनयगमा, [illegible]- क्षमाः समैः समाचाराः । कच्चरणपदनताता [illegible]- [illegible]ः पुरुषाः " विनयस्याथ विनयधर्मं करिष्यतीति तं प्रेषय ।

[illegible] पयंगितो एस, वयओ अविणीयदंसणो सयणो ।
पच्छागय उस्सग्गे, काउं आलोयए गुरुणो ॥

एवमाचार्येणोक्ते राजा यो विनयकरणतत्परतादिना [illegible] [illegible]तः श्रमणः प्रदर्शितः एष प्रजतु कुतो दिशा गङ्गा वहतीति आचार्येण संप्रेषितः स आचार्यमापृच्छ्य तत्र गत्वा [illegible] [illegible] कायोत्सर्गं कृत्वा गुरोः [illegible] [illegible] ॥

[illegible] दिसा सोयग—[illegible] य पुव्वमुही ।
[illegible] मा होउ, पुट्ठो [illegible] ॥

[illegible] भगवन् ! [illegible]

[illegible]

कमच्छ्वपुरुषैः परि (भाविय) भावापितं तैरपि तथैव कथितम्
ततो राजा प्राह ।

बहुबंधछेयमारण–निव्विसयधणवहारलोगम्मि ।
भवदंडो उत्तरितो, उच्छहमाणस्स तो बलितो ॥

लोके योऽस्माकमाज्ञां भनक्ति तस्य वधं लकुटादिप्रहारैस्ता-
डनं बन्धं निगडादिभिश्छेदं कर्णच्छेदादिकं केषाञ्चित् मा-
रणं विनाशनमपरेषां निर्विषयकरणमन्येषां धनापहारं कुर्म-
स्तथाऽपि केचिदस्माकमाज्ञां भञ्जन्ति । लोकोत्तरेषु पुनरेषां
भञ्जतामेतानि न भयानि सन्ति तथाऽपि परेण प्रयत्नेन लो-
कोत्तरिका आज्ञां कुर्वन्ति तत्र किं कारणमाचार्य आह "भ-
वदंडो" इत्यादि पश्चार्द्धं यस्तीर्थकरगणधरादीनामाज्ञां भनक्ति
तस्य परभवे हस्तच्छेदनादीनि भवन्ति एव लोकोत्तरे भव-
दण्डः अस्माज्ञोत्तस्य साधोरुत्सहमानस्य स्वशक्त्यानिगूह-
नेनोद्यमं कुर्वतो विनयो बलीयान् । एवं लोकोत्तरिको वि-
नयो बलिकः ।

अत्रैवापवादमाह ।

वितियपयं असतीए, छणाए उवस्सय व सागारो ।
न पवत्तति सन्ने त्ति, जे य समत्था समं तेहिं ॥
कुपहादीनिग्गमणे, नातिगभीरे अपच्चवायम्मि ।
थोसारियम्मि य गुरुणा, निसिरंति महंतदंडधरा ॥

द्वितीयपदमपवादपदमधिकृत्य संज्ञाभूमिमाचार्यो व्रजेत् ।
तदेव द्वितीयपदमाह । उपाश्रये च पश्चात्कृते संज्ञाभूमिर्नास्ति
ततस्तस्या असति बहिर्व्रजेत् । (आज्ञापत्ति) यत्र न ज्ञायते
एष आचार्यस्तत्रापि बहिर्व्रजेत् । अथवा उपाश्रये सागारिको
विद्यते ततो बहिर्याति कस्यापि पुनरुपाश्रयस्य पश्चात्कृते वि-
द्यमानेऽपि संज्ञा न प्रवर्त्तते सोऽपि बहिर्याति एतैः कारणैर्व-
हिर्गमनम् तत्र ये समर्थास्तरुणाः साधवस्तैः समं यानि । तत्र
यानि कुपथादीनि कुरथ्यादीनि निर्गन्तव्यं तैर्गच्छतोऽपि प्रायः
पूर्वोक्ता दोषा न भवन्ति । तथापि यत्रातिगम्भीरं नातिविषम-
मप्रत्यपायं प्रत्यपायविरहितं तत्राचार्यः संज्ञां व्युत्सृजति ।
येषां च महापानां हस्ते महान्तो दण्डकास्ते महादण्डधरा-
स्तनरूप्यपि दिशु संरक्षणपरायणास्तिष्ठन्ति व्युत्सृष्टे च गु-
रुणा पुरीषे ते महादण्डधरास्ततस्तरन्ति कस्मादेवं रक्षा
क्रियते इति चेत् कुलस्य तदायत्तत्वात् उक्तञ्च "जम्मि कुलं
आयत्तं, तं पुरिसं आयरेण रक्खाहि" इत्यादि कथं पुनः स
रक्षितव्य इत्यत आह ।

जह राया तोसलिओ, मणिपडिमा रक्खए पयत्तेण ।
तह होइ रक्खियव्वो, सिरियरसरिसो य आयरितो ॥

यथा राजा तोसलिको मणिप्रतिमे च प्रयत्नेन रक्षति तथा
पत्याचार्यो रक्षितव्यो यतः श्रीगृहसदृश एव आचार्यः ।
अथ के ते प्रतिमे इत्यत आह ।

हिमुप्पत्ती वाणिय, उदहिप्पातो उवायणं भीतो ।
यणडुगे जिणपडिमे, करेमि जइ उत्तरं विग्घं ॥
पाउवसमउत्तर–मविग्घए एकपडिमं वा ।
यछंदेण ततो, जाया वितिए वि पडिमा तो ॥

मयोरुत्पत्तिर्वक्तव्या सा चैवमेकस्य वणिजः समुद्रं प्रव-
बाधादस्योत्पात उपस्थितः । तत स औपयाचितिकं क-
रोति यथा यद्येतदौत्पातिकमुपशाम्यति अविघ्नेनोत्तर
ततोऽनयोर्द्वयोर्मणिरत्नयोर्द्वे मणिमय्यौ जिनप्रतिमे क
ष्यामि एवमौपयाचितिके कृते देवतानुभावेनोत्पाति
शान्तमविघ्नं समुद्रोत्तरणमभूत् स चोत्तीर्णः सन् लोभेन
स्मिन्मणिरत्ने एकां जिनप्रतिमां कारयति ततो देवतया
तीये मणिरत्ने द्वितीया जिनप्रतिमा कारिता तथा चाह । ह
ताच्छन्देन ततो जाता द्वितीयेऽपि मणिरत्ने प्रतिमा ।

तो भत्तीए वणितो, छसुसइ ता परेण जत्तेणं ।
ता दीवएण पडिमा, दीसंतिहरा उ रयणाई ॥

ततः कारापणानन्तरं ते प्रतिमे वणिको भक्त्या परेण यत्ने
न शुश्रूषते ततः तयोश्च प्रतिमयोरिदं प्रातिहार्यं ते प्रतिमे या
वद्दीपकः पार्श्वे ध्रियते तावद्दीपकेन हेतुना प्रतिमे दृश्येते इ
तरथा दीपकाभावे सप्रकाशे अपि प्रकाशमणिरत्ने दृश्येते ॥

सोऊण पाडिहेरं, राया घेत्तूण सिरिहरे छुहति ।
मंगलभत्तीए तो, पूएति परेण जत्तेण ॥

इदमनन्तरोदितं प्रातिहार्यं राजा तौसलिकः श्रुत्वा ते प्रति-
मे स्वयमेवात्मीयश्रीगृहके भाण्डारे क्षिपति मुञ्चति ततो
मङ्गलबुद्ध्या भक्त्या च परेण यत्नेन ते पूजयति । यस्मिंश्च
दिवसे ते प्रतिमे श्रीगृहमानीते ततः प्रभृति राज्ञः कोशादि-
षु वृद्धिरुपजाता । ततः श्रीगृहसदृश आचार्य इत्युक्तं तत
एवं दृष्टान्तभावना कर्त्तव्या यथा राजा श्रीगृहं प्रयत्नेन रक्ष-
यति एवमाचार्योऽपि रक्षणीयस्ततः कथमत्र मणिमयप्रतिमा-
भ्यां दृष्टान्तभावना कृता उच्यते ॥

मंगलभत्ती अहिया, उप्पज्जइ तारिसम्मि दव्वम्मि ।
रयणग्गहणं तेणं, रयणज्जूतो तहायरितो ॥

श्रीगृहे द्रविणं रक्षणीयं मणिमयप्रतिमयोः पुनर्द्रविणमप्य-
तिप्रभूतमस्ति मङ्गलबुद्धिश्च तत्रापि परमतीर्थकरभक्तिश्चेति ।
प्रयत्नेन रक्षणे त्रीणि कारणानि तथा चाह । मङ्गलं मङ्गल-
बुद्धिर्भक्तिश्चाधिका तादृशे द्रव्ये समुत्पद्यते ततो रत्नग्रहणं
यथा ते रत्नप्रतिमे कारणत्रयवशाद्विशिष्टेन प्रयत्नेन रक्षेते
शुश्रूष्येते च तथा विशिष्टैराचार्यः प्रयत्नेन रक्षणीयः शुश्रूषणीय-
श्च । अथैवमाचार्ये रक्षिते शुश्रूषिते च को गुण इत्यत आह ।

पूयंति य रक्खयंति य. सीसा सव्वे गणिं सया पयया ।
इह परलोए य गुणा, हवंति तप्पूयणे जम्हा ॥

गणिनमाचार्यं शिष्याः सर्वे सदा प्रयताः प्रयत्नपराः पूजय-
न्ति शुश्रूषन्ते च यस्मात्तत्पूजने आचार्यपूजने इह लोके परलोके
च गुणा भवन्ति इह लोके सूत्रार्थं तदुभयमुपयाति परलोके
सूत्रार्थान्यामधीतान्यां ज्ञानादिमोक्षमार्गप्रसाधनम् । अथवा
पारलौकिका गुणाः "आयरिय वेयावच्चं करेमाणे महानिज्जरे म-
हापज्जवसाणे भवति" इत्येवमादयः । गतो द्वितीयोऽतिशयः ।
संप्रति तृतीयमाह "इच्छाए पहू वेयावडियं करेज्जा" इत्येतद-
पमतिशयमभिधित्सुराह ।

जेणाहारो उ गणी, सबालवुड्डस्स होइ गच्छस्स ।
सो अतिसेसपउत्तं, इमेहिं दारेहिं तस्स भवे ॥

येन कारणेन गणी आचार्यः सबालवृद्धस्य गच्छस्याधारस्त-
स्मात्तस्य भवत्यतिशयप्रयुक्तमतिशायिप्रयुक्तं सदैभिर्द्वारैरुपमा
नैर्द्वारैरवगन्तव्यम् । तान्येवाह ॥

तित्थयरपवयणे नि-ज्झरा य सावेक्खभत्तिवोच्छेदो ।

[illegible] हि, आसंसेसा होंति आयरिए ॥

[illegible] तथा सूत्रतोऽर्थतश्चापी- [illegible] महती निर्जरा भवति । [illegible] गुर्वैयावृत्यं कुर्व- [illegible] पूजात् ज्ञानादिलाभो मह- [illegible] महान्संसारस्तथा [illegible] गच्छस्यानुग्रहकर- [illegible] भवति । यैः कारणैराचार्यस्य सु- [illegible] इति द्वारगाथासंक्षे- [illegible] । तत्र प्रथमं तीर्थकरद्वारं व्या- [illegible] ॥

[illegible] इमरा नगरा य ।
[illegible], ते गोयरियं न हिंडंति ॥

[illegible]

मा भवति । तथा मेढीभूत आचार्यस्तस्मिन् भिक्षार्थं शिष्यागणमात्मद्वाराभावात् प्राघूर्णकादीनां वात्सल्यकरणाभावः । तथा भक्तार्थं चेत् स्वयं व्रजति तस्य भोजने [illegible] भोजने परिष्ठापनिकादोषः। तथा भिक्षामटतो व्यास. [illegible] तिष्ठेत तत्र चात्मविराधनादोषस्ततो गणचिन्ता । तथा यदि कोऽपि समागतः स च भिक्षागतमाचार्यं श्रुत्वा [illegible] उड्डाहं वा कुर्यात् । तथा [illegible] आचार्यो भवति न स हिण्डापयितव्य इत्येष द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतो वातद्वारमाह ॥

भारेण वेयणाए, हिंडंते उच्चनीयसासो वा ।
वाहुकादिवायगहणं, विसमाकारेण सूलं वा ॥

भारेण भक्तभृतभाजनभारेण वेदना भवति । तथा कोऽपि ग्रामो गिरौ निविष्टो भवेत् तत्र च कानिचित् [illegible] तानि भारेण वेदनायां सत्यां हिण्डमानस्य श्वासो भवति तथा [illegible] वातग्रहणं भवति । तथा ग्रामे विषमाकारेण [illegible] यत्र तत्र वा तिर्यक्शरीरं कृत्वा गच्छतः शूलं वा भवेत्।

अच्चुण्हतावितो उ, सच्छंदयाइदीय अड्डणाई य ।
अपियण असमाही, गेलाणे सुत्तभंगाई ॥

तथा अत्युष्णेन परितापितः सन् [illegible] मधुरं रूपं पानीयं [illegible] आददीत । तथा परितापनायतः पुनः पुनः पानीयमापिबेत् तथा आहारपानीयेन ग्लानितः सन् न जीर्येत् [illegible] उद्वेगं वमनं भवेत् आदिशब्दात् आहारस्य [illegible] । अथवा पानीयं प्रभूतं न पिबति ततोऽसमाधिः । आहारस्य च पुनर्भोजने [illegible] ग्लानत्वे च सूत्रतः [illegible] । गतं वातद्वारम् ।

अधुना विषद्वारमाह ॥

वरिया य विसमुच्छा, पढमं उवहेण वा वि वसहीए ।
आदियणे अइणाई, सो चेव य पोरसीभंगो ॥

[illegible]

अधुना गणालोकद्वारमाह ॥

आसंगो तिणि वारं, गोणीला जहा नदेव [illegible] ।
नई न साहिंति [illegible] ॥

[illegible]

णिवृत्तः को वा नेति न ज्ञायते। तथा गणालोके अक्रियमाणे यो दीर्घ कालं भिक्षाचर्यां करोति को वा नेति केन ज्ञायते। तथा भिक्षामटत्याचार्ये भिक्षाचर्यात आगतानामालोचनायां कः शोधिं करोति। तथा भिक्षां हिण्डमाने गुरौ कोऽपि गृहनिरतो वाहयत्येतच्च ज्ञायते ॥

सो आवस्सयहाणिं, करेज्ज भिक्खालसो व अत्थेज्जा ।
तेण तिसंझालोगं, सिस्साण करेइ अत्थंतो ॥

भिक्षामटत्याचार्ये ये आवश्यककर्तव्या योगास्तेषां यः प्रमादतो हानिं करोति स न ज्ञायते तथा आचार्य एवास्माकं भिक्षामानेष्यतीति कश्चित् भिक्षालसो वसतावेव तिष्ठेन्न भिक्षामटेदुर्यत एवं गणालोकेऽक्रियमाणे इमे दोषास्तस्मात्रिसन्ध्यमपि संध्यासु शिष्याणामालोकं तिष्ठन् भिक्षामहिण्डमानः करोति। गतं गणालोकद्वारम् ॥

अधुना कायक्लेशद्वारमाह ।

हिंडंतो उच्वातो, सुत्तत्थाणं च गच्छपरिहाणी ।
नासेहिति हिंडंतो, सुत्तं अत्थं च आणेणं ॥

हिण्डमानः पुनर्भिक्षां महान् कायक्लेश इति (उच्वातोत्ति) परिश्रान्तो भवति परिश्रान्तत्वात्सूत्रमर्थं इति शिष्येषु प्रतीच्छकेषु च सूत्रार्थानां परिहाणिस्ततो गच्छस्यापि परिहाणिः शिष्याणां प्रातीच्छकानां चान्यत्रान्यत्र गणान्तरे संक्रमात्। तथा हिण्डमानः सूत्रमर्थं धारयेत्नाक्षेपेणात्मनो नाशयिष्यति। गतं कायक्लेशद्वारम् ।

इदानीं चिन्ताद्वारमाह।

जा आससिउं भुंजइ, भुत्तो खेयं च जाव परिणेइ ।
ताव गतो सो दिवसो, नट्ठमतो हाहितो किं वा ॥

यावद्भिक्षामर्थयित्वा क्षणमात्रमाश्वस्य भुङ्क्ते भुक्तोऽपि च खेदं भिक्षाटनपरिश्रमं यावत्प्रतिनयति स्फोटयति तावद्दिवसः सकलोऽपि गतस्ततो नास्ति सा वेला यत्र सूत्रस्यार्थस्य वा चिन्तां करोति अचिन्तितं च विस्मृतिमुपयाति ततो नष्टस्मृतिः किं दास्यति न किमपीति भावः। वाशब्दो दूषणसमुच्चये। एतदेव सुव्यक्तं भावयति ॥

एगा नत्थि दिवसतो, रत्तिं पि न जग्गते समुग्घातो ।
न य अगुणेउं दिज्जइ, अह दिज्जइ संकितो इहतो ॥

नास्ति एको विविक्तोऽवसरो दिवसमध्ये यत्र सूत्रमर्थं वा चिन्तयति रात्रावपि समुद्घातः सश्रमः परिश्रान्तो न जागर्ति। न च सूत्रमर्थं वा अगुणयित्वा दीयते यदि पुनर्दीयते तर्हि शङ्कितः सूत्रतोऽर्थतश्च हाहितो भवति। गतं चिन्ताद्वारम् ।

अधुना भेदिद्वारमाह ।

भेदीभूते बाहिं, भुंजण आदेसमाइ आगमणं ।
विणए गिलाणमादी, अत्थंते भेदिसंदेसा ॥

आचार्यः सर्वस्यापि गच्छस्य भेदीभूतः भेदिरिति वा आधार इति वा धुरिति वा एकार्थे स चेद्भिक्षां गच्छति ततः साधूनामन्येषामपि [illegible] भोजनं स्यादेतदपराधमेव प्रावर्तिष्यते। तत्र एवं ज्ञायते केचिदादेशाः प्राघूर्णका [illegible]केचिद्ग्लाधिता क्षपितपरिहीनास्तत्र [illegible] इत्यादि कः प्राघूर्णकानां विश्रामणं संदेशं वा कुर्यात् ॥ के वा क्षपितपरिहीनानां [illegible] तत्र दानं प्राघूर्णकानां [illegible] तेषां च यावदस्थाचरणे हिण्डतो न पुनः स्थापयता [illegible]

स्याद्विनाशात् बालवृद्धमहाप्राणानां च कः संदिष्टमनेन चिन्तां कुर्यात् तिष्ठति भिक्षामटत्याचार्ये भेदेः संदेशादादेशात् सर्वमादेशादि सुस्थं भवति।

संप्रति यदुक्तं " बाहिं हुंजणादि " तद्भावयति ॥

आलोयदावणं वा, कस्स करेहामु कं च इंतेणे ।
आयरिए य अडंते, को अन्नि ण मुच्छेड़ अन्नो ॥

शिष्याः प्रातीच्छकाश्च भिक्षां प्रविष्टाः [illegible] भिक्षार्थं निर्गता आचार्ये ततो यदा [illegible] कस्य पुरतः आलोचयिष्यामः कस्य वा भक्तं पानं वा दर्शयिष्याम कं साम्प्रतं साधुं तत्र [illegible] भिक्षामटत्याचार्ये कोऽन्यः साधुः [illegible] भिक्षां यातीति [illegible] यदि स्वयमाचार्यो भिक्षां हिण्डते [illegible] [illegible] सर्वं [illegible] कस्य [illegible] [illegible]मायागच्छेयुरिति। गत भेदिद्वारम् ॥

इदानीं [illegible]द्वारमाह ॥

णिक्खमिते अन्नायम्मि, हवे दरिसहरणा हरति दूरं ।
रायनिमंतणगहणे, जिणणरायारक्खा दूरं ॥

निष्क्रामत आचार्यस्य [illegible]

[illegible]

ज्ञेणेव कारणेणं, [illegible] ।

[illegible] ॥

येनैव कारणेन [illegible]

गच्छागयम्मि [illegible] ।

सयमेव [illegible] ॥

[illegible]

[illegible] ।

[illegible] ।

[illegible]

तमित्याह कोऽसावपगुण इत्याह अन्यस्यापि साधोर्दुर्लभं भवति भैक्षे नैते यद्वा तद्वा गृह्णन्तीत्यदानात् । तथा अकारक-स्य प्रतिषेधने कस्या अपि महत्या श्रद्धाया भङ्गः अपरस्या (अचियत्तं) अप्रीतिस्ततस्तद्वशाद्वचणो जिह्वादोष उत्पद्यते । संप्रति यदुक्तं राजनिमन्त्रणाग्रहणखिसनमिति तत्र तदेव खिसनमाह ।

पुव्विं अदत्तदाणा, अकोविया इह उ संकिलिस्संति ।
काऊण अंतरायं, नेच्छंतिट्ठं वि दिज्जंते ॥

आत्मभान्नादौ च दर्शिते राजा प्राह पूर्वमदत्तदाना यूयं तत इहाकोविदा अतत्त्वज्ञाः सन्तः क्लिश्यन्ते । तथाच राजपिण्ड इत्यन्तरायं कृत्वा इष्टमपि दीयमानं भवन्तो नेच्छन्ति ।

गहणपडिसेहलुंजणए, अभुंजणे चेव मासियं लहुयं ।
समणुण्ण अलंभे वा, खिसेज्ज व सेहमादी य ॥

अकारकस्य ग्रहणे सति यद्यन्यैः साधुभिः प्रतिषिध्यमानोऽपि भुङ्क्ते तदा भ्रान्तत्वमथ न भुङ्क्ते तदा अभोजने पारिष्ठापनिका-दोषस्तत्र च प्रायश्चित्तं मासिकं लघु । तथा यद्याचार्योऽल-ब्धिकस्तदा अमनोज्ञलाभे वा शैक्षकादयः खिसेयुर्न किमपि कोऽपि गतो लभते रिक्तमेतस्याचार्यत्वम् ।

आयरिया गिलाणा-दियाण (गेण्हइ) जोग्गं ति ते तओ बेंति
तुब्भे कीस न गेण्हह, हिंडंताओ सयं चेव ॥

आचार्यो लब्धिहीनः सन् शिष्यान्प्रातीच्छिकांश्च व्यापारयेत् यथा ग्लानादीनां ग्लानप्राघूर्णकप्रभृतीनां योग्यं गृह्णीत त एवं व्या-पारिताः सन्तो ब्रुवते यूयं स्वयमेव हिण्डमाना ग्लानादिप्रायो-ग्यं कस्मान्न गृह्णीत ।

एवाणाए परिभवो, बेंति य दीसंति य पाडिरूवं जे ।
ओलइ जाणमाणा, खिमंती एवमादीहिं ॥

एवमुपदर्शितेन प्रकारेण आज्ञायाः परिभव उत्पाद्यते यथा य-दि पूर्वं प्रायोग्यं न लभध्वे वयं कथं लप्स्यामहे एवमुक्ते यद्या-चार्यो ब्रूते आर्या वचनेन किं न लभ्यते तत एवमुक्ते ते ब्रुवते इष्यते यत्तु ते भवतां प्रातिहार्यं सातिशयमाचार्यत्वं स्वयमव-जानतः कस्मादानयत एवमादिभिरुपालम्भवचनैः खिंसयन्ति हीलयन्ति । गतमकारकद्वारम् ।

व्याख्याद्वारमाह ।

वाही य पाणमादी, दिट्ठंतो तत्थ होंति उत्तेण ।
होंति य अभिभंगो, विसे य इत्थीकए वा वि ॥

भिक्षामटतो व्याधिः श्वप्रभृतिभिः कदाचिल्लगति तथा महत्य-पद्मादिना तत्र दृष्टान्तदर्शनेन यथा उपर्युपरि भ्रियमाणं भाज-ने कथं पतितं न स किमपि एवमाचार्योऽपि बहुभिः परिवारि-तो गच्छति शोभते तथा भिक्षाटनप्रवृत्तस्तु आदिपरिगृहीतो न विभाति । तथा प्रतिरूपवानाचार्यो भवतीति लोकेन साधायां स-त्यां दुर्भाषणैरपि तत्रिवशीकरणं दोषहेतुः स्यात् । विषं वा केन-चिद्द्वेषेण दीयेत । एतद्दोषभयाद्व्याख्यानुगाह ।

दोसाइं कमसत्ता, एहं एहं य भत्तं तु गिपा ।
कुलिमह निरकस्सो, सो पुण सव्वं वि न सत्तो ॥

कुलिमच्छे दत्तपत्राद्यभावेन तत्क्षणादावना अन्यथा वर्द्ध वर्द्धं इत्थं स्तोकं न दत्तं कुलिना भोक्तुं न समर्थस्तेनानु-

इक्कस्य नावातप पुनर्वृत्तिकम भीयकपन्नात् कुत्सितान्नपि के नापि दोषेण यत्नात् स्वल्पाना मोचयितुं शक्नस्ततो यथा प्र-यत्नेन रक्ष्यते एवमाचार्योऽपि रक्षणीयोऽन्यथा दोषस्तथा चाह ।

एमेवायरियस्स वि, दोसा पडिरूववं च सो होइ ।
दिज्जवि स भिच्छुवासो, अभिजोगवसीकरणमादी ॥

एवमेव नर्त्तकस्येवाचार्यस्याप्यरक्षितस्य दोषा भवन्ति । तथाहि सोऽपि प्रतिरूपवान् भवति ततः कोऽपि भिक्षुपासको जिनप्रवचनप्रभावनामसहिष्णुर्विषं दद्यात्स्त्री वा काचिदुपलुब्धा अभियोगं कुर्यात् वशीकरणादि वा प्रयुञ्जीत यस्मादेते दोषास्त-स्मात्प्रयत्नेन रक्षणीयोऽन्यथा तदभावे गणस्याप्यभावाप-त्तिस्तथा चाह ।

नच्चणहीणा व नडा, नायगहीणा च रूविणी नारि ।
चक्कं व तुंबहीणं, न हवति एवं गणो गणिणा ॥

यथा नर्त्तनहीना नटा यथा नायकहीना रूपवती स्त्री यथा च चक्रं तुम्बहीनं न भवति एवं गणिनाऽऽचार्येण विना गणोऽपि न भवति तदेवं व्याख्याद्वारं गतम् । इदानीं गणचिन्ताद्वारमाह ।

लाभालाभज्झाणि, अकारके बालवुड्ढमादेसे ।
सेहखमए न नाहिति, हिंडतो नाहिति न सव्वो ॥

केन पर्याप्तं लब्धं केन वा न लब्धमिति न ज्ञास्यति स्वयं भि-क्षाटने परिश्रान्तत्वात्तथा अध्वनि मार्गे ये परिश्रान्ताः समागत-प्राघूर्णकाः तेषामिदं वाऽकारकं तथा बालान् वृद्धान् पूर्वान् गता-श्चादेशान् प्राघूर्णकान् तथा शैक्षान् क्षपकांश्च करणीयसारक-रणतया न ज्ञास्यति । स्वयं भिक्षापरिभ्रमणपरिश्रान्तत्वात् ति-ष्ठन् पुनः सर्वान् यथौचित्येन ज्ञास्यति परिश्रमाभावात् । गतं गणचिन्ताद्वारम् ।

अधुना वादिद्वारमाह ।

सोऊण गतं खिसति, पडिच्छितुआ य वादिपेल्लेइ ।
अरयंति सत्थचित्ते, न होंति दोसा तवादी य ॥

भिक्षामटितुं प्रवृत्ते आचार्ये वादी कोऽपि समागतस्तेन साधु-भ वक्तः क आचार्यः साधुभिरुक्तं भिक्षाटनाय गतस्ततः स भिक्षार्थं गतं श्रुत्वा खिंसति हीलयति एतावत्तस्य पाण्डित्यं यत् स्वयं भिक्षामटति । ततः क्षणमात्रं प्रतीक्षितः स चाचार्य उद्भ्रा-न्तः समागतस्तं समागतं दृष्ट्वा वादी प्रेरयति । स च परिश्रा-न्तत्वादुत्तरं दातुमसमर्थस्तिष्ठति । पुनः स्वस्थचित्ते दोषाभावाय आदिशब्दात्तृषितादिपरिग्रहो भवति तथा च सति न वादि-ना तस्य प्रेरणं किं तु जयति । वादी समागतो भिक्षार्थं गत इति श्रुत्वा यदि गच्छेत्तदुपदर्शयति ॥

पागडियं माहप्पं, विण्णाणं चेव सुट्ठु ते गुरुणो ।
जइ सो विजाणमाणे, न वि तुब्भमणाढितो हुंतो ॥

भिक्षार्थं गत इति भणद्भिर्भवद्भिः सुष्ठु अतिशयेन माहात्म्यं गु-रोः प्रकाशितं विज्ञानं च प्रकटितम् । यदि सोऽपि ज्ञाता भवेत् न चैव युष्माकमनादृतो भवेत् । अधुना " पडिच्छितुआ य वा-दि पिल्लेइ " इति व्याख्यानयति ।

न वि उत्तराणि पासइ, पामाणियाणं च होति परिभूतो ।
भिक्खादिममणा वि य, दढं अपुट्ठं परिणमंति ॥

स भिक्षाटनपरिश्रान्तः सन् न वि नैव उत्तराणि पश्यति परिश्रमेण बुद्धेः सम्यागादभावात्तथा च सति स प्राश्निकानामा-

रूपाणामपि परिभूतो भवति ततो ये शैक्षकादयो ये च भद्रका-दयस्ते तद्गुणं निरन्तरं दृष्ट्वा परिणमन्ति विपरिणामं व्रजन्ति ।

निक्षार्थमनटने पुनरिमे गुणाः ।

सुत्तत्थाण गुणाणं, विज्जामंता निमित्तजोगाणं ।
थंभिज्जे परिरक्खे, परिजिणइ रहस्ससुत्ते य ॥

सूत्रार्थानां तथा विद्यानां मन्त्राणां निमित्तशास्त्राणां योगशा-स्त्राणां च गुणनं परावर्त्तनं भवति । तथा विविक्तः सन् प्रतिरि-क्ते विविक्ते प्रदेशे रहस्यसूत्राणि परिजयति अत्यन्तं स्वभ्यस्तानि करोति तस्माद्भिक्षार्थमटितव्यमाचार्येण गतं वादिद्वारम् ।

इदानीमृद्धिमद्द्वारमाह ।

रण्णा वि दुवक्खरओ, ठवितो सव्वस्स उत्तमो होति ।
गच्छम्मि वि आयरितो, सव्वस्स वि उत्तमो होइ ॥

राज्ञा द्व्यक्षरको दासो यद्यपि जात्या हीनस्तथाऽपि संस्था-पितः सन् सर्वस्याप्युत्तमो भवति । उत्तमत्वाच्च यथा न कथ-नप्रेषणेन हिण्ड्यते सोऽप्येवं यथा तथा गच्छेऽप्याचार्यः स-र्वस्याप्युत्तमो भवतीति स सुतरां भिक्षां न हिण्डापयितव्यः ।

गामसपुरोहिय, सेट्ठी सेणावती तलवरा य ।
अभिगच्छंतायरिए, वड्डियं च इमं उदाहरणं ॥

यथा श्रीवर्द्धमानस्वामिनश्छद्मस्थकाले हिण्डमानोऽप्युत्पन्ने ज्ञाने देवेन्द्रा-अभिगमाश्च हिण्डन्ते । एवमाचार्यानपि आचार्यपदस्थापिता-न् राजा अमात्य पुरोहित श्रेष्ठी सेनापति तलवरा अभिगच्छ-न्ति ततस्तेऽपि भिक्षां न हिण्डन्ते । अन्यथा दोषस्तत्रेदमुदाहर-णं तदेवाह ।

सोऊण य उवसंतो, सद्धो रण्णो तगं निवेदेइ ।
राया बितिए दिवसे, तइए अमच्चो य देवी य ॥

राज्ञोऽमात्य आचार्यसमीपे धर्मं श्रुत्वा उपशान्तः स च राज्ञः स्वकमाचार्यं निवेदयति । यथा गुणवानमीषामाचार्योऽमुकप्रदेशे तिष्ठति ततो द्वितीयदिवसे राजा अमात्येन सह गतः धर्मं श्रुत्वा परितुष्ट आगतो निजाग्रमहिष्याः परिकथयति अमात्येना-प्यात्मीयभार्यायाः कथितं ततोऽमात्यी देवी च तृतीयदिवसे ध-र्मश्रवणाय समागते आचार्यो भिक्षार्थं गतस्ततः ।

सोउं पभिच्छिऊण, वगरा अहवा पभिच्छणे खिंसा ।
हिंसंति होंति दोसा, कारण पडिवत्तिकुसलेहिं ॥

भिक्षार्थं गत इति श्रुत्वा ते हीलयित्वा गते । अथवा क्षणमात्रं प्रतीक्ष्य हीलयन्त्यौ गते । यदि वा यावदाचार्य आगच्छति तावत्प्रतीक्षमाणे हीलयतः । अथवा प्रस्विन्नशरीरं पङ्किलप्र-स्वेदमागतं दृष्ट्वा खिंसतो यदि वा श्रमेन सुष्ठु कृतं वन्दनं वा मोनं कथयतो वा परिश्रमेण न सुष्ठु वचनविनिर्गमस्तत ख-िंसिते हीलयतो, यथा पिण्डोलक इवैष भिक्षामटति किमाचा-र्यत्वमेतस्य । एते भिक्षां हिण्डमाने दोषाः । यदि पुनः कारणे वक्ष्यमाणे भिक्षार्थं गतो भवेत् राजादयश्च तत्र गतास्ते च पृ-च्छेयुः क्व गत आचार्यस्तत्र ये प्रतिपत्तिकुशलास्तैरिदं प्रतिवक्त-व्यं भिक्षार्थं गत इति किंतु चैत्यवन्दननिमित्तं गत इति । यदि राजादय आचार्यमागच्छन्तं प्रतीक्षेरन् तदा येऽतीव दक्षा गी-तार्थास्ते सुन्दरं पात्रकं प्रथमालिकां च सुन्दरं कल्पं चोलपट्टं च गृहीत्वाऽऽचार्यस्य कथयन्ति । तत आचार्यो मुखहस्तपा-दादि प्रक्षाल्य प्रथमालिकां पात्रकं च कृत्वा कल्पं प्रावृत्य पात्रा-ण्यन्यस्य समर्प्य तादृशैरेव वसतावानीयते यथाऽलक्ष्य-तोऽपि राजादिभिर्ज्ञायते एष आचार्य इति । ततो वसति प्राप्तस्य पादप्रोञ्छनं पादप्रमार्जनार्थमादाय साधव उपतिष्ठन्ति । पादप्र-मार्जनानन्तरं वसतेरन्तः प्रविश्य पूर्वरचितायां निषद्यायामुप-विशति उपविष्टस्य चरणक्षालनकरणाय कोऽपि साधुरुपढौकते चरणप्रक्षालनानन्तरं च सर्वे साधवः पुरतः पार्श्वतः पृष्ठतो वा किंकरभूतास्तिष्ठन्ति यथा राजा चकितस्तिष्ठति । एतदेवाह ।

कारणनिग्गयस्स गते, वि कज्जमत्तं निवस्स साहित्ता ।
निज्जोगनयनपढमा, कमादिधुवणं मणुण्णाइ ॥

कारणे वक्ष्यमाणलक्षणे समापतिते भैक्षस्य गतेऽप्याचार्ये नृ-पस्यान्यत्कार्यं कथयित्वा प्रथमालिकादेर्नियोगस्य नयनं ततः क्रमादिप्रक्षालनं ततो मनोज्ञप्रथमालिकावितरणम् ।

कयकुक्कुय आसत्थो, पविसइ पुव्वरइयनिसेज्जाए ।
पयया य होंति सीसा, जह चकितो होइ राया वि ॥

कृतकुक्कुचः कृतकुलकुल आस्वस्थः प्रविशति प्रविश्य पूर्व-रचितायां निषद्यायामुपविशति ततः पादप्रक्षालनसमीपोपवे-शनप्रयतास्तथा भवन्ति यथा राजाऽपि चकितो जायते ।

अत्र परप्रश्नमाह ।

सीमा य परिच्चत्ता, चोयगवयणं कुडुंबिसामणिया ।
दिट्ठंतो दंडिएण, सावेक्खे चेव निरवेक्खे ॥

चोदकवचनमाचार्यं रक्षयित्वा शिष्या भिक्षायां प्रेषितास्तर्हि ते त्यक्ताः । आचार्य आह । अत्र कुटुम्बिगृहप्रदीपनदृष्टान्त-स्तथा दण्डिकेन दृष्टान्तः सापेक्षो निरपेक्षश्चाचार्ये एष द्वार-गाथासमासार्थः ।

संप्रत्येनामेव विवरीषुः प्रथमतः " सीसा य परिच्चत्ता " इति भावयति ।

वायादीया दोसा, गुरुस्स इतरेसि किं न ते होंति ।
रक्खयसिस्सचाए, हिंडणतुल्ले असमता य ॥

वातादयो दोषा गुरोर्भवन्ति इतरेषां साधूनां किं ते न भवन्ति भवन्त्येवेति भावः । ततो हिण्डने हिण्डनदोषे तुल्ये आत्मनो रक्षा क्रियते शिष्याणां च त्याग इत्यसमता नेदं समञ्जसमित्य-र्थः । अन्यच्च ॥

दसविहवेयावच्चे, निच्चं अब्भुट्ठिया असढभावा ।
ते दाणि परिभूआ-अणुज्जमंताण दंडो य ॥

दशविधे आचार्यादिभेदतो दशप्रकारे वैयावृत्ये नित्यं सर्वका-लमशठभावाः सन्तोऽभ्युत्थितास्ते संप्रति वातादिदोषान्पश्य-द्भिरपि भिक्षाटने प्रेष्यमाणाः परित्यक्तास्तथा दशविधे वैयावृ-त्ये नोद्यच्छन्ति ततस्तेषामनुद्यच्छतामाचार्यादिवैयावृत्याकरणे यथाऽर्हं प्रायश्चित्तं दण्डो दीयते तदेवं " सीसा य परिच्चत्ता " इति भावितम् ॥

इदानीं कुटुम्बिसामणियेति दृष्टान्तं भावयति ॥

वुड्ढीधन्नगुज्झरियं, कोट्ठागारं डज्झति कुडुंबिस्स ।
किं अम्ह मुद्दा देइ, केई तहियं न आणीआ ॥

एकः कौटुम्बिकः स कर्षकाणां कारेण उत्पन्ने वृद्ध्या कालान्तरक्र-यया धान्यं ददाति तथा च वृद्ध्या कौटुम्बिकस्य कोष्ठागाराणि धान्यसुपूर्णानि जातानि । अन्यदा च तस्यैकं कोष्ठागारं वृद्धिधा-न्यसुपूर्णं वह्निना प्रदीप्तेन दह्यते तत्र केचित्कर्षका विध्यापनानि-मित्तं तत्र प्रदह्यमाने कोष्ठागारे समागतास्तत्र केचिद्वदन्ति

किमेव कौटुम्बिकोऽस्माकं मुधा ददाति येन वयं विध्यापनार्थ-मभ्युद्यता भवामः ॥

एयस्स पभावेणं, जीवा अम्हेति एव नाऊण ।
आमे उ ममङ्गीणा, विज्झविए तेसि सो तुट्ठो ॥

अन्ये कर्षका एतस्य कौटुम्बिकस्य प्रभावेण वयं जीवन्तः स्म जीव अनुमत्ययः जीविता इत्यर्थः । एवं ज्ञात्वा समालीनास्तत्र समागता विध्यापनाय च प्रवृत्तास्ततो विध्यापिते कोष्ठागारे स कौटुम्बिकस्तेषां तुष्टः । ततः किमकार्षीदित्यत आह ॥

जे उ हायागत्तं, करेसु तेसि अवट्ठियं दिन्नं ।
दट्ठंति न दिण्णिपरे, अकासगा दुक्खजीवी य ॥

ये विकाले सहायकत्वमकार्षुस्तेषामवृद्धिकं कालान्तरवृद्धिर-हितं धान्यं दत्तमितरेषां तु सहायत्वमकृतवतां दत्त्वमित्युत्तरं विधाय न दत्तं ततस्ते अकर्षकाः सन्तो दुःखजीविनो जाताः । एष दृष्टान्तः ॥

सांप्रतमुपनयमभिधित्सुराह ॥

आयरिय कुडुंबी वा, सामाणियवाणिया जत्ते साहू ।
नाणाइधणणिहुआ, सुत्तत्था जाण धन्नं तु ॥

आचार्यः कुटुम्बी इव कुटुम्बितुल्य इत्यर्थः । सामान्यकर्षक-कर्मान्ताः साधव आचार्यस्य निष्क्रान्ते यातादिव्याघाता अभि-मुख्या सूत्रार्थान् जानीहि धान्यं धान्यतुल्यान् ॥

एमेव विणीयाणं, करेंति सुत्तत्थसंगहं थेरा ।
हावेंति उदासीणे, किलेसभागी य संसारे ॥

एवमेव कौटुम्बिकदृष्टान्तप्रकारेण ये विनीतास्तेषां स्थविरा आचार्याः सूत्रार्थसंग्रहं कुर्वन्ति सूत्रार्थान्प्रयच्छन्ति यस्तुदासी-नस्तस्य हापयन्तीति न प्रयच्छन्तीति भावः स चोदासीनो यत-स्ततः केवलं सूत्रार्थयोर्भवति क्लेशभागी च संसारे जायते तस्य क्लेशभागम् ।

सांप्रति द्वितीयकारणं विभावयिषुरिदमाह ॥

[illegible] पुण, अह सयमेव सहसा गुरू हिंडे ।
अप्पाण गच्छमुभयं, परिचयती गम्मिमं नायं ॥

अन्यच्च कारणं वक्ष्यमाणस्वरूपे यदि सहसा स्वयमेव गुरुरा-त्मानं गच्छमुभयं च परित्यजति तत्र चेदं वक्ष्यमाणं ज्ञातमुदा-हरणम् । तदेवाह ।

[illegible] सहसा [illegible] उ सो राया ।
[illegible] सो चरो, अप्पाणं रज्जमुभयं च ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible] ॥

[illegible]

आचार्योऽपि पूर्वं यतनां करोति तथाऽपि असंस्तरणे स्वयमी हिण्डते एवं चात्मानं गच्छमुभयं निस्तारयतीति भावः । संप्रति यैः कारणैराचार्येण भिक्षार्थमटितव्यं तानि कारणान्याह ।

अद्धाणकक्खमासति, गेलण्णादेसमाइएसुं तु ।
संथरमाणे भइतो, हिंडेज्ज असंथरंतम्मि ॥

अध्वाने प्रपन्नः सार्थेन सममाचार्यो गच्छश्च तत्र चासंस्तरे यदि सार्थिका आचार्यस्य गौरवेण प्रयच्छन्ति ततः स्वयमेवा-चार्यो हिण्डते एवं कर्कशेऽपि क्षेत्रे भावनीयं तथा असति सहायानामभावे को भिक्षामानीय दद्यादिति स्वयं हिण्डते। तथा ग्लाना बहवस्ततस्तेषां सर्वेषामपि गच्छसाधवः प्रायो-ग्यमुत्पादयितुमशक्ता अथवा ग्लानप्रयोग्यमन्यः कोऽपि न लभते तत आचार्यो हिण्डते एवमादेशाः प्राघूर्णका आदिग्रहणात् बालवृद्धासहपरिग्रहस्तेष्वपि भावनीयम् । एतेषु विषयेषु असंस्त-रति गच्छे नियमादाचार्यो हिण्डते अन्यथा प्रायश्चित्तमेवंवि-त्संस्तरति पुनर्भक्तो विकल्पितः हिण्डते कदाचिन्न कदाचित् विहारपरिकर्म कुर्वन् हिण्डते शेषकाले नेत्यर्थः । एष द्वारगा-थासंक्षेपार्थः । अत्र यदुक्तं संस्तरणे न हिण्डते इति तत्र सं-स्तरणं त्रिविधं जघन्यं मध्यममुत्कृष्टं च तत्र जघन्यमभिधित्सुराह।

पंच वि आयरियाई, अत्थंते जहण्णए वि संथरणे ।
एमेव संथरंते, सयमेव गणी अडति गामे ॥

जघन्येऽपि वक्ष्यमाणस्वरूपे संस्तरणे पञ्चाप्याचार्योपाध्याय-प्रवर्तिस्थविरगणावच्छेदिनस्तिष्ठन्ति जघन्येऽपीत्यपिशब्दः संभाव-ने स चैतत्संभावयति । यदि तावत् जघन्येऽपि संस्तरणे प-ञ्चाप्याचार्यादयस्तिष्ठन्ति ततो मध्यमे उत्कृष्टे संस्तरणे निय-मात्पञ्चभिरपि स्थातव्यम् । एवमपि जघन्येनापि संस्तरणेनासं-स्तरति गच्छे स्वयमेव गणी आचार्यो ग्रामे भिक्षामटति स च प्रतिलोमपरिपाट्या पर्यन्ते तथाहि जघन्येनापि असंस्तरति प्रथमं गणावच्छेदको हिण्डते तथाऽप्यसंस्तरणे स्थविरोऽपि हिण्डते एवमप्यसंस्तरणे प्रवर्त्त्यपि तथाप्यसंस्तरणे उपाध्यायोऽपि त-थापि चेन्न संस्तरति गच्छस्तत आचार्योऽपि ।

तत्र प्रथमत उत्कृष्टसंस्तरणमाह ॥

मंडलगयम्मि सूरे, उत्तिण्णा जाव पट्ठवणवेला ।
ता एंति सुत्तासेस-गया य उक्कोससंथरणे ॥

मनोमण्डलस्य मध्यगते सूर्ये मध्याह्न इत्यर्थः भिक्षार्थमटनीर्थ-स्ततः पर्याप्तं हिण्डित्वा यावत् तृतीयपौरुष्या आदौ स्वाध्याय-प्रस्थापनवेला तावत्स निवर्त्तते एतदुत्कृष्टं संस्तरणम् । अथवा तृ-तीयपौरुष्या आदौ स्वाध्यायप्रस्थापनवेलायां स निवर्त्तते ए-तदुत्कृष्टं संस्तरणम् ।

मध्यमं जघन्यं चाह ।

सण्णाओ आगयाणं, चउपोरिसि मज्झिमं हवति एयं ।
विगुणाविय भत्तदिणे, समातिऽत्थंते जहणं तु ॥

मध्याह्नादारभ्य भिक्षार्थमटनीयानां पर्याप्तं हिण्डित्वा चत-स्रपरानां [illegible] संज्ञानुभित आगतानां यदि च-तुर्थी पौरुषी भवति एतत् मध्यमं संस्तरणं भवति । मध्या-ह्नादारभ्य भिक्षामटित्वा [illegible] प्रत्यागमनमपि तु चि-सुगार्थितम्, [illegible] पुनर्दिने भवति जघन्यं सं-स्तरणमस्तमयनं तदेवमुक्तं जघन्यादिभेदभिन्नं संस्तरणम् ।

इदानीं मध्यादिद्वारव्याख्यानमाह ॥

मद्धाणे [illegible], अकोविचाणं विहरण पत्ते ।

एमेव कवयगम्मि वि, असति वि सहायगा नत्थि ॥

सत्यानि मार्येण समं यज्ञनामसंस्तरणे भिक्षार्थमाचार्यो हिण्डते । अथवा ते सहायाः अकोविदाः सार्थे च प्रलम्बादिविकरणीकृतान्यकल्पीकृतानि लभ्यन्ते तत आचार्यः स्वयमेव हिण्डमानस्तानि विकरणानि कृत्वा संनिवर्त्तते अथवा इदनामुपदेशं ददाति विकरणानि कृत्वा दद्यामिति । एवमकोविदानां सहायानां सार्थे प्रलम्बविकरणनिमित्तमाचार्यो गच्छति । एवमेव कर्कशेऽपि क्षेत्रे भिक्षार्थं गमनमाचार्यस्य भवति तत्रान्यसंस्तरणे अकोविदाः सहायनार्थे प्रलम्बविकरणाय वा गच्छन्तीति तथा असतीति नाम सहायका न सन्ति ततः स्वयमेव निर्गच्छति ।

बहुया तत्थ वरंता, अह गिलाणस्स सो परं लहति ।
एमेव य आदेसे, सेसेसु विजामतुट्ठाए ॥

बहवस्तत्र गच्छे अनतन्तो ग्लानास्ततः सर्वेषां गच्छसाधवः प्रायोग्यमुत्पादयितुमसमर्था अथवा ग्लानस्य परं प्रायोग्यमन्यो न लभते किंतु स एवाचार्यस्ततः स हिण्डते । एवमेवादेशेषु प्राघूर्णकेषु शेषेषु च बालवृद्धासहेषु विभाषा विज्ञापनं तत्र कुर्यात् कर्त्तव्य तदेवं यथादेशादयो बहवः सर्वेषां साधवः कर्तुं न शक्नुवन्ति यदि वा स यथादेशादिप्रायोग्यं लभते नान्यः कोऽपि ततः स हिण्डते ।

संप्रति " संथरमाणे सच्छो इति " व्याख्यानयति ।

अब्भुज्जयपरिकम्मं, कुणमाणो जा गणं न वोसिरिति ।
ताव सयं सो हिंडइ, इति भयणा संथरंतम्मि ॥

अभ्युद्यतविहारपरिकर्म्म कुर्वन् यावत् गणं न व्युत्सृजति तावत्स्वयं स आचार्यो हिण्डते इत्येषा भजना संस्तरति गच्छे ।

अच्छाणादिगुणेहं, सुहसीलत्तेण जो करेज्जाहि ।
गुरुगा य जं च तत्थ व, सव्वपयत्तेण कायव्वं ॥

अध्वादिषु अध्वकर्कशादिष्वसंस्तरति गच्छेन सुखशीलत्वेन सुखमाकाङ्क्षमाण आचार्योऽहमित्यालम्बनमाधाय य एवंरूप आचार्यः करोति भिक्षां न हिण्डते इत्यर्थस्तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः । यच्च तत्र वा अनागाढपरितापनादि साधवः प्राप्नुवन्ति तन्निष्पन्नमपि तस्य प्रायश्चित्तं तस्मात्सर्वप्रयत्नेनाध्वादिष्वसंस्तरणे भिक्षाटनं कर्त्तव्यम् ।

सांप्रतमसंस्तरणयतनामाह ।

असती पडिलोमं तु, सगामे गणगुरूणमद्देसु ।
पेसंति विनिए दिवसे, आवस्सइ सामियं गुरुयं ॥

असति अयमीदृशादिना गच्छसंस्तरणाभावे प्रतिलोमं गणावच्छेदकादारभ्य प्रतिकूलगमनमसमानीयं तदथा प्रतिकृषभादिमाऽसंस्तरणे गणावच्छेदकः प्रतिवृषभादिभिः सह हिण्डते तथाप्यसंस्तरणे स्थविरोऽपि तथाप्यसंस्तरणे प्रवर्त्तकोऽपि तथाप्यसंस्तरणे उपाध्यायोऽपि तथापि न संस्तरति तर्हि स्वग्रामे दानश्राद्धेषु कुलेष्वाचार्यगमनं भवति तथापि चेदसंस्तरणं तत आचार्योऽन्यान्यपि गृहाणि । तथा केनापि साधुना कस्मिंश्चित् कुले स्थानप्रायोग्यं किमपि द्रव्यं याचितं परं न लब्धम् । अथवा तद्द्रव्यं तस्मिन् गृहे प्रभूतमस्ति जानाति च न विन्देत तत यदि द्वितीये दिवसे तस्मिन्कुले येन न लब्धं तेनैवाचार्यः प्रेष्यन्ते तेन गुरुकं मासिकं प्रायश्चित्तम् । तस्मिन् कुले प्रतिलोमं प्रेषयति । तद्यथा प्रथमं गणावच्छेदकः प्रेष्यस्तेनालब्धे एवं स्थविरेणालब्धे प्रवर्त्तकेनालब्धे उपाध्यायेनालब्धे स्वयमाचार्यो व्रजति । यदि वा स गृहप्रभुर्यस्य गौरवं करोति स प्रेषयितव्यः ।

सांप्रतमस्या एव गाथायाः पूर्वार्द्धं भावयति ।

गणावच्छेइओ पुव्वं, दव्वखेत्तेसुं व हिंडइ सगामे ।
एवं थेरपवित्ती, अभिसेयं गुरुपडिलोमं ॥

पूर्वं गणावच्छेदकः स्वग्रामे स्थापनाकुलेषु हिण्डते एवं गणावच्छेदकादारभ्य प्रतिलोमं यतव्यं तद्यथा असंस्तरणे कश्चिदपि हिण्डते तथाऽप्यसंस्तरणे अभिषेक उपाध्यायस्तथापि असंस्तरणाभावे गुरुरपि । अधुना "पेसंति विनिए दिवसे" इत्यादि भावयति ।

ओभासिय पडिसिद्धं, तं चेव न लभइ पट्टवेज्जा उ ।
पडिलोमं जाणगाडी, गारवं जस्स वा कुणति ॥

केनापि साधुना ग्लानप्रायोग्यं किमपि द्रव्यं कस्मिंश्चित्कुले अवभाषितं याचितं प्रतिषिद्धः । तद् गृहप्रभुना प्रतिषिद्धस्तत्र तद्द्रव्यं नास्ति किं तु तस्मिन्नेव गृहे सतः द्वितीयदिवसे तत्र कुले न तमेव प्रेषयेत् तु प्रतिलोमं गणावच्छेदकप्रभृतिकं यथोक्तं प्राक् यत्र वा गृहप्रभुर्गौरवं करोति तं वा प्रेषयेत् ।

निग्गमणे वि सगणं, अहुणा यावदा निग्गमा चेव ।
वद्धंति तं च सगं, दुवालसंग पवयणं तु ॥

तीर्थकर इति द्वारं समाप्तम् । अधुना प्रवचन निर्ग्रन्थः इति द्वारे समकमेवकाल प्रवचनस्य प्रवचन नाम द्वादशाङ्गं गणिपिटकम् ।

तं तु अहिज्जेयाणं, वेयावच्चे उ निज्जरा होति ।
कम्म सयं वेगिसिया, गुणम्मि अहोत्त रज्जिया ॥

ननु द्वादशाङ्गं गणिपिटकमधीयानानां वैयावृत्त्ये निर्जरा तेषां वैयावृत्त्यकरणानां महती निर्जरा भवति [illegible] महापर्यवसान दुःखक्षयकरत्वात् । अत्र शिष्य आह । कस्य कीदृशी निर्जरा भवति । अत्रोच्यते । अत्र सूत्रे सर्पे च यथोत्तरं वर्णिका एतदेव विशेषयन्नाह ।

सुत्तत्थमग्गणादी, पंचमसुत्ताइ सह विगाहे य ।
धारे सुत्तमसुत्तं, सुत्तत्थे संतर्ग चेव ॥

सूत्रमात्रधरादि आचारादिपूर्वाणि यावत् कुर्वाणस्य महती महत्तरा निर्जरा वक्तव्याऽपि प्रवर्तयेत् । तथा [illegible] यथोत्तरं वर्णिका निर्जरा । इत्थं भावना । यः सूत्रधरस्य वैयावृत्त्यं करोति तस्य [illegible] महती निर्जरा [illegible] महाविकारः । [illegible]
[illegible]

वयणी खलु जम्हा, आयरितो तेण तस्स कुणमाणो
नीए निज्जराए. वहति साहू दसविहम्मि ॥

यत्नो प्रावचनिकः खलु यस्मादाचार्यस्तेन तस्य वैयावृत्यं कु-
र्वाणुमहत्यां निर्जरायां वर्त्तते एवं दशविधेऽपि वैयावृत्ये
यथासंगकत्वं भावनीयम् । संप्रति यदुक्तं भावे शुद्धे यथागुरु
तदनुसारतो निर्जरा भवतीति तत्र भावो व्यवहारतः गुरु-
लनाधाद्भवतीति प्रतिपिपादयिषुराह ।

[illegible] जं वत्थु, सुयं च निएहं च ओहिमादीणं ।
[illegible] चिय भावो, उप्पज्जति वत्थुतो जम्हा ॥

[illegible] यद्वस्तु प्रतिमादिकं यस्य यावच्च श्रुतं त्रयाणां चावृ-
[illegible] त्रयेन ये विशेषास्तस्माद्वस्तुनः श्रुताद्विशेषात्ताहशा-
[illegible] परिणामो व्यवहारस्तादृशा उत्पद्यते तदनुसारेण च
[illegible] पूर्वं श्रुतचिन्तायामर्थचिन्तायां तथा जिनानां च य-
[illegible] प्रतिमा निर्जरोक्ता । तथा चैवमेव व्यवहारनयं प्रति-
[illegible] ।

[illegible] द्रव्य-म्मि [illegible] हियनाणं चावे ।
[illegible] निज्जरं विउलं ॥

[illegible] येन कारणेन भावा-
[illegible] वस्तुनः प्रतिमाधुनादे-
[illegible] विपुला निर्जरा [illegible] व्यवहारो व्यव-
[illegible] ।

[illegible] वंदिया, [illegible] ।
[illegible] , [illegible] विराणादि ॥

[illegible]
[illegible] निर्जरा [illegible]
[illegible] निर्जरा [illegible]
[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible]

[illegible] ।

[illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible]

ततो वद्धमाणसामिस्स चरमतित्थगरभावे रायगिहे नयरे क-
विलस्स बंभणस्स य बडुगो जातो सो अन्नया समोसरणे आ-
गतो भयवंतं दट्ठूण धमधम्मेइ । ततो भयवया गोयमसामी पे-
सितो जहा उवसामेह ततो गतो अणुसासितो य जहा एस
महप्पा तित्थंकरो एयम्मि जो पडिनिवसति सो दुग्गइं जाति ।
एवं सो उवसामितो तस्स दिक्खा गोयमसामीणा दिन्ना ।

एतदेवाह ।

सीहो तिविद्वनिहतो, भमिउं रायगिहं कविलवडुग त्ति ।
जिणवरकहणमणुवसम, गोयमोवस मे दिक्खा य ॥

सिंहस्त्रिपृष्ठेन निहतः संसारं भ्रमित्वा राजगृहे कपिलस्य ब्रा-
ह्मणस्य बटुकोऽभूत् जिनस्य वीरस्य कथनं तथाऽपि तस्यानु-
पशमो गौतमेन चानुशासने कृतेऽभूत् उपशमो दीक्षा च । अत्र
भगवदपेक्षया हीनगुणेऽपि गौतमे तस्य गुरुपरिणामो जायते
इति महती निर्जराऽभवदिति ।

संप्रति 'सुत्तत्थे' इत्यस्य व्याख्यानमाह ।

सुत्ते अत्थे तदुभए, पुव्विं जणिया जहोत्तरं वलिया ।
मंडलिए पुण भयणा, जइ जाणइ तत्थ भूयत्थं ॥

सूत्रे अर्थे तदुभयस्मिन् स्वस्थाननिर्जरा पूर्वं यथोत्तरं बलिका
बलवती भणिता । संप्रति पुनः सूत्रार्थतदुभयेषु युगपच्चिन्त्य-
मानेषु यथोत्तरं निर्जरा बलवती । सांप्रतं 'मंडली चेयत्ति' व्या-
ख्यानार्थमाह (मंडलीए पुण इत्यादि) मण्डल्यां पुनर्भजना वि-
कल्पना यदि जानाति तत्र मण्डल्यां भूतार्थं सद्भूतमर्थं तदा
स महानिर्जरकः । इयमत्र भावना मण्डल्यां पठन्ति पाठय-
न्ति च तथावश्यकादि पठतां यथोत्तरं पठतो बलिकाः । यद्य
जानाति वैयावृत्यकरो यथाऽयमनलश्रुतपाठको ज्ञानादिभिर्गु-
णैरधिकतरस्ततोऽयमनलश्रुतपाठकस्य वैयावृत्यकरणे महती
निर्जरा इतरस्यास्य च अपरिनतश्रुतपाठकः स ज्ञानादिभिरधिक-
तर इति तद्वैयावृत्यकरणे महती निर्जरा । अथ जानाति वैया-
वृत्यकरो यथाऽयमनलश्रुतपाठको ज्ञानादिभिरधिकतरस्ततोऽ-
यमनलश्रुतपाठकस्य वैयावृत्यकरणे बलवती निर्जरा । पाठकप्रा-
तीच्छिकानां मध्ये यो पाठकस्तद्वैयावृत्यकरणे महती निर्जरा
अथ वैयावृत्यकरो जानात्येष प्रातीच्छिक आचार्यो यावदर्थं
तदनुभाषणमात्रं यावता सर्वमेतद्यायाति सूत्रतोऽर्थतश्चा-
धिकतर इति तदा तस्य प्रातीच्छिकस्य वैयावृत्यकृते महती
निर्जरा । इह सूत्रेऽपि तदुभये च यथोत्तरं बलवती निर्जरेत्युक्तम्
तत्र यथोत्तरं निर्जराया बलवत्त्वं भावयति ।

[illegible] उ महड्डिओ, कारणेणं [illegible] निग्गत्ती ।
[illegible] गुरुगा, राणो पाणो य देवी य ॥

[illegible] सूत्रार्थो महर्द्धिकः [illegible]
[illegible] । अत्र [illegible] सूत्रस्य [illegible]
[illegible] स सूत्रो महर्द्धिकः [illegible]
[illegible] सूत्रार्थो [illegible]
[illegible] ।

[illegible] सूत्रस्य
[illegible] आवयति ।

आराहितो नरवती, तिहि उ पुरिसेहिं तेसि संदिसति ।
अमुयपुरे सयसहस्सं, घरं च एएसि दायव्वं ॥
पट्टग घेत्तूण गतो, छेमियं विनिया उ तइओ उभयं ।
निप्फलगा दोणि तहिं, मुद्दापट्टे उ सफलो उ ॥

एको नरपतिस्त्रिभिः पुरुषैराराधितस्ततः परितुष्टः स नरपतिस्तेषां प्रत्येकं संदिशति । यथा अमुकपुरे सुन्दरं गृहं शतं सहस्रं च दीनाराणामित्येषां प्रत्येकं दातव्यमिति तत्रैकोऽमुं संदेशं पट्टके गृहीत्वा सेवयित्वा गतो द्वितीयः (चणिरूकां) मुद्रां गृहीत्वा गतस्तृतीय उभयं पट्टके लेखयित्वा गतस्तत्र येन पट्टकं मुद्राविरहितेन मुद्राप्रतिबिम्बमात्रं गृहीतं तौ द्वावपि निष्फलौ जातौ । तथाहि ते त्रयोऽपि तन्नगरं गतास्तत्र च आयुक्तस्तस्य समीपमुपागताः । पट्टकं मुद्रामुभयं च दर्शयन्ति तत्रायुक्तेन प्रथमो भणितो मुद्रां न पश्यामि कथं ददामि द्वितीयो भणितो जानामि राज्ञो मुद्रां न पुनर्जानामि राज्ञः संदेशं किं ददानीति । एवं तौ निष्फलौ जातौ यस्य पुनर्यस्य मुद्रा पट्टकश्च स सफलस्तस्यायुक्तेन यथाऽऽसंदानात् एष दृष्टान्तः ।

सांप्रतमुपनयमाह ।

एवं पट्टगसरिसं, सुत्तं अत्थो य उंगियट्ठाणे ।
उस्सग्गववादत्थो, उभयसरिच्छेय तेण वत्ती ॥

एवममुना प्रकारेण पट्टकसदृशं पट्टकस्थानीयं सूत्रम् चणिरूका मुद्रा तत्स्थानीयोऽर्थः उत्सर्गापवादस्य उभयसदृक्षस्तेन सफलीभूतस्योपनयस्य भावात् ।

संप्रति 'अब्भुट्ठाणे गुरुगा' इत्यस्य व्याख्यानार्थमाह ।

सुत्तस्स मंडलीए, नियमा उट्ठंति आयरियमादी ।
मुत्तूण पवायंतं, न उ अत्थे दिक्खाए गुरुं पि ॥

सूत्रमण्डल्यां वाचयन्त आचार्यादय आचार्योपाध्यायप्रभृतयः प्राघूर्णकादीनामागच्छतां सर्वेषामपि नियमादुत्तिष्ठन्ति अभ्युत्थानं कुर्वन्ति अर्थमण्डल्यां पुनरुपविष्टः सन् यस्य समीपेऽनुयोगं श्रृण्वन्तमेकं प्रवाचयन्तं मुक्त्वा अन्यं दीक्षणगुरुमपि नाभ्युत्तिष्ठति यद्यभ्युत्तिष्ठति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः । श्रोतारोऽपि यद्याचार्ये अनभ्युत्तिष्ठत्यभ्युत्तिष्ठन्ति तदा तेषामपि प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकं यदि पुनर्यस्य समीपेऽनुयोगं श्रृण्वन् तस्य नाभ्युत्तिष्ठति तर्हि तदापि तस्य चतुर्गुरुकम् । अत्र दृष्टान्तो राज्ञो देवी तं भावयति ।

पतिलीलं करेमाणी, नोट्ठिया सालवाहणं ॥
पुढवी नाम सा देवी, सो य रुट्ठो तहिं निवो ॥

राज्ञः शा(लि)तवाहनस्य पृथिवी नाम अग्रमहिषी अन्यदा सा क्वापि निर्गते राज्ञि शेषाभिरन्तःपुरिकाभिर्देवीभिः संपरिवृता शातवाहनवेषमाधाय राज्ञ आस्थानिकायामुपपतिर्लीलां विडम्बमानाऽवतिष्ठते । राजा प्रत्यागतः प्रविष्टस्तस्मिन्प्रदेशे सा च पतिलीलां कुर्वन्ती पृथिवी नाम देवी शातवाहनं राजानमायान्तमपि दृष्ट्वा नोत्थिता तस्या अनुत्थाने शेषा अपि देव्यो नाभ्युत्थितवत्यस्ततः स नृपो राजा तत्र रुष्टो भूते त्वं तावन्महादेवी ततो महादेवीत्वेन नाभ्युत्थिता एताः किं त्वया वारिता यदभ्युत्थानमकार्षुस्ततो न सुन्दरमेतदिति ।

ततो एवं आह सा देवी, अत्थाणीए तवाणहा ।
दासा वि मामियं एतं, नोट्ठंति आवि पत्थिवं ॥

ततो राज्ञोऽनन्तरं सा पृथिवी नाम देवी राजानमाह । तवास्थानिकायामुपविष्टा दासा अपि मामाः संपूर्णगुणाः पार्थिवमपि स्वामिनमागच्छन्तं नाभ्युत्तिष्ठन्ति तवास्थानिकायाः प्रभाव एवैषः । तथाहि ।

तुंबावि गुरुणो मोत्तुं न वि उट्ठेंति कस्सइ ।
न ते लीला कया होंती, उट्ठती इं स तोसितो ॥

एवमत्रयास्थानिकायामुपविष्टो गुरुन् मुक्त्वा नान्यस्य कस्यापि मदीयसोऽभ्युत्तिष्ठसि अहमपि तवास्थानिकायां त्वदीयां लीलां धरन्ती समुपविष्टा ततो न सपरिवाराऽभ्युत्थिता यदि पुनस्ते तव लीला न कृता स्यात्ततोऽहमभ्युत्तिष्ठेयमित्येवं राजा देव्या तोषितः । एवमत्रापि तीर्थकरस्थानीय आचार्योऽर्थमण्डल्यामुपविष्टः सन् न कस्याप्यभ्युत्तिष्ठति ॥

अमुमेवार्थं गौतमदृष्टान्तेन दृढयति ।

कहं ते गोयमा अत्थ, मोत्तुं तित्थगरं सयं ।
न वि उट्ठेइ अन्नस्स, तग्गयं चेव गम्मति ॥

न खलु भगवान् गौतमोऽर्थं कथयन् स्वकमात्मीयं तीर्थकरं मुक्त्वा अन्यस्य कस्यापि उत्तिष्ठति अभ्युत्थानं कृतवान् नहतं चेदानीं सर्वैरपि गम्यते तदनुष्ठितं सर्वमिदानीमनुष्ठीयते ततोऽर्थं कथयन् न कस्याप्युत्तिष्ठेत् ।

संप्रति श्रवणविधिमाह ।

सोयव्वे उ विही पुण, अव्वक्खेवादि होइ नायव्वो ।
निक्खेवम्मि य दोसा, आणादीया मुणेयव्वा ॥

श्रोतव्ये पुनरयं विधिरव्याक्षेपादिर्भवति ज्ञातव्य आदिशब्दाद्विकथादिपरिग्रहस्तद्व्याक्षेपे पुनराज्ञादयः । आज्ञाभङ्गस्थामिथ्यात्वविराधनारूपदोषा ज्ञातव्याः । अत एवाभ्युत्थानमपि न क्रियते तस्मिन्सति व्याक्षेपादिसंभवात्तथा चैतदर्थमेव द्वारगाथाद्वयेनाह ।

काउस्सग्गे विक्खेवया य विकहा वि सोतिया पयते ।
ठवणाय वाउलणा वि य, अक्खेवो चेव आहरणं ॥
आरोवणा परूवण, उग्गह निज्जरा य वाउलया ।
एएहि कारणेहिं, अब्भुट्ठाणं तु पडिकुट्ठं ॥

अनुयोगारम्भनिमित्तं कायोत्सर्गे कृते एतैः कारणैरभ्युत्थानं प्रति कुष्ट निराकृतम् । कैः कारणैरत आह । " विक्खेवया य इति " व्याक्षेपस्य व्याक्षेपशब्दस्य भावः प्रवृत्तिनिमित्तं व्याक्षेप इत्यर्थः । अभ्युत्थाने क्रियमाणे व्याक्षेपो भवति व्याक्षेपाच्च विकथा चतुर्विधा प्रवर्तते तत्प्रवृत्तौ चेन्द्रियमनसां विस्रोतसिका संयमस्थानगमनमिति भावः । तस्मादभ्युत्थानमकुर्वन् प्रयतः शृणुयात् प्रयतो नाम कृताञ्जलिप्रग्रहो दृष्ट्या सूरिमुखारविन्दमीक्षमाणो युक्तोपयुक्तस्तथाऽभ्युत्थाने क्रियमाणे स्थापनस्य विषये व्याकुलता स्थापनः कस्याप्यर्थे न क्रियेत । स्थापनग्रहणमुपलक्षणं तेन यद्ग्रहणं जातं तत् व्याकुलनात् भ्रश्यति पृच्छा वा कर्तुमारब्धा विस्मृतिमुपयाति कालो वा व्याख्यानस्य अत्येतीति । तथा निरन्तरमविच्छेदेन भाष्यमाणेऽस्य शृण्वतो महान्व्याक्षेपस्तीव्रशुभपरिणामरूपो जायते अभ्युत्थाने च तद्व्याघातस्तथा च सति शुभपरिणामभावनो योऽवस्थादिलाभः संभाव्यते तस्य विनाशोऽस्यार्थे चाहरणं ज्ञातं वक्ष्यमाणम् । तथा आरोपणायाः प्रायश्चित्तप्ररूपणे क्रियमाणे अभ्युत्थाने व्याघातो भवति, व्याघाताच्च सम्यगवग्रहो ग्रहणं न भवति न खलु

[illegible]र्हाति पत्रग्रहीतुं शक्नोति किं त्वप्याज्ञित इति प्रतीतमेतत् । [illegible]भ्युत्थाने क्रियमाणे व्याकुलता ततः सम्यक् श्रुतोपयोगो न भवति तदभावाच्च ज्ञानावरणीयस्य कर्म्मणो न निर्जरा । एतैः कारणैरभ्युत्थानं प्रतिकुष्टम् ।

[illegible] गाथाद्वयं विवरीषुः प्रथमतः "कायस्समे [illegible]" इति भावयति ॥

[illegible] नंदीए, [illegible] गुरुणो कवे ।
[illegible] पमत्ते य, दिट्ठंतो इत्थिसावका ॥

[illegible] न्यस्तां इ[illegible]रुपाया-[illegible]भ्युत्थानेनान्येन वा प्रकारेण यो व्याक्षेपं करोति [illegible] गुरवो मामतस्माद् व्याक्षेपो न कर्त्तव्यः । [illegible] प्रशस्ते च व्याक्षेपकरणे दृष्टान्ता [illegible] हस्ती च श्रावकानां [illegible] । तत्राप्रशस्त प्राल-[illegible]

[illegible] तुरंगिणो, [illegible] अत्थारिएहि उ ।
[illegible] तु [illegible], [illegible] ते य मग्गओ ॥
[illegible] माणाको, [illegible] तेण उ ।
[illegible] तु, [illegible] ज्ञाः ॥

[illegible]

…इयति विस्मृतिं याति यदि वा व्याकुलतया [illegible] आतं वा व्याकरणं वा पृच्छा वा कर्तुमारब्धा [illegible] लतया भ्रश्यति [illegible]व्याख्यानार्थमाह ।

भासंतो भावंतो वावि, तिव्वं मे जायमाणसो ।
लभंतो ओहिसंनादी, जहा मुण्डिवगो मुणी ॥

निरन्तरमविच्छेदेन भाषकः श्रावको वा उत्तरविं[illegible] नतस्तीव्रसंजातमानसो ज्ञानपरमोल्लेपो यद्यभ्युत्थाने [illegible] लेपो नामविष्यत् ततोऽवधिलाभादिकमलप्स्यत एव [illegible] को मुनिस्तथा मुण्डिम्बक आचार्यः परम[illegible] ध्याने प्रवृत्तोऽवध्यादिलब्धिमलप्स्यत यदि तस्य पुनर्ना ध्यानविघ्नो नाकरिष्यत परं सर्वसाधुमा[illegible] वदिति तेन ध्यानव्याघातः कृत ।

अधुना "आरोवणा पकवणेति" व्याख्यानार्थमाह ।

आरोवणमक्खेवं, दाउं कामो तहिं तु आयरिओ ।
वाउलणाए पिट्ठइ, उत्थेतुत्तणे न ओगेण्हे ॥

आरोपणां प्रायश्चित्तं तत्रार्थमथ[illegible]माचार्यो दातुम[illegible] पयतुकाम इति तात्पर्यार्थः । यद्यभ्युत्थानं करोति तर्हि [illegible] नया स्फिटति व्याकुलत्वेन प्रायश्चित्त[illegible] स्तथा अवग्रहीतुमना अभ्युत्थानेन व्याकुलत्वान्[illegible]

एकग्गो ओगिण्हइ, वितिसपवस्स विस्सुतिं वा ।
इंदपुरे इंददत्तो, अज्जुणतेणो य दिट्ठंतो ॥

एकाग्रः सन् अवगृह्णाति अभ्युत्थानेन पुनः [illegible] वगृहीतमपि विस्मृतिं याति कुतोऽनवगृहीता[illegible] पाय विस्मृतिगमने इन्द्रपुरपत्तने इन्द्रदत्त[illegible] दृष्टान्तस्तथा च तेषां कला अत्यस्यतां प्रमाद[illegible] किमप्यवगृहीतमभूत् यदपि किञ्चिदवगृहीतं [illegible] मुपगतमत एव ते राधावेधो न कर्तुं शकित । [illegible] स्तेनश्च दृष्टान्तस्तथाहि सोऽर्जुनस्तेनोऽगडदत्तेन [illegible] मानो न कथमप्यगडदत्तेन पराजेतुं शक्यते ततो [illegible] नीव रूपवती सर्वालंकारविभूषिता रथस्य पुरे [illegible] ततः स्त्रीरूपदर्शनव्याक्षेपात् युद्धकरण [illegible] सोऽगडदत्तेन विनाशितः । एवमिहापि व्याक्षेप[illegible] प्राणविनाशमाप्नोति ।

एए चेव य दोसा, अब्भुट्ठाणे वि होंति [illegible] ।
नवरं अब्भुट्ठाणं, इमेहिं तिहिं कारणेहिं तु ॥

[illegible] प्रायश्चित्त[illegible] दोषास्तस्मात्[illegible] । [illegible] दोषा अभ्युत्थानेऽपि क्रियमाणे [illegible] नवरमभ्युत्थानमेभिस्त्रिभिः [illegible] कर्तव्यं तान्येवाह ।

[illegible] काले, [illegible] ।
एएहिं कारणेहिं, अब्भुट्ठाणं तु [illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

दो चेव य ववहारे, पढमे दसमे य जे भणिया ॥

कल्पे कल्पाध्ययने द्वे प्रकृते तद्यथा प्रलम्बसूत्रं मासकल्पसूत्रं च व्यवहारे द्वे प्रकृते ये भणिते प्रथमे आरोपणासूत्रं दशमे पञ्चविधव्यवहारसूत्रम्। न केवलमेतदेव प्रकृतं किन्त्वन्यदपि तथा चाह।

पीढियातो य सव्वातो, चूलियातो तहेव य।
निज्जुत्ती कप्पनामस्स, ववहारस्स तहेव य ॥

सर्वाः प्रकल्पकल्पादिगताः पीठिकास्तथा सर्वाश्चूलिकास्तथा कल्पनाम्नो व्यवहारस्य च तथा चैवेति वचनादन्येषां च दश-वैकालिकप्रभृतीनां च निर्युक्तयः प्रकृताः।

अथैषादेशान्तरमाह।

अन्नो वि य आएसो, जो रायणिओ य तत्थ सोयव्वे।
अणुओगधम्मयाए, किइकम्मं तस्स कायव्वं ॥

अन्योऽपि चादेशो मतान्तरं तत्र श्रोतव्ये यो रात्निको रत्ना-धिकोऽनुज्ञापक इत्यर्थः तस्य सन्धामुच्चारितायामनुयोगधर्मं तथा कृतिकर्म वन्दनं कर्तव्यम्। तथा।

केवलिमाई चोद्दस, दसनवपुव्वी य उट्ठणिज्जा उ।
जे तीहि ऊणतरगा, समाणे अगुरुं न उट्ठंति ॥

अर्थमपि कथयता समागच्छन् केवली अभ्युत्थातव्यः। आ-दिशब्दात् मनःपर्यवज्ञानी अवधिज्ञानी च परिगृह्यते तथा ये तेभ्यो नवपूर्वधरादिभ्य ऊनतरास्तैर्नवपूर्वधरादिरभ्युत्थानी-यस्तथाहि कथको यदि कालिकश्रुतधारी तर्हि तेनार्थमपि क-थयता नवपूर्वी दशपूर्वी चतुर्दशपूर्वी चाऽभ्युत्थातव्यो नवपूर्विणा दशपूर्वी दशपूर्विणा चतुर्दशपूर्वीति। तथा यदि समागच्छन् समानः समानश्रुतोऽगुरुश्च तदा नेतरेऽभ्युत्तिष्ठन्ति। तदेव प्र-वचने निर्जरा चेति द्वारद्वयं गतम्।

इदानीं सापेक्षद्वारमाह।

सावेक्खे निरवेक्खे, गच्छे दिट्ठंतगामसगडेण।
राउलकज्जनिउत्तं, जह गामेणं कयं सगडं ॥
असमाविशुद्धियाए, पाडियं साडियं व न वि य रक्खंति।
रज्जाणसे दंडो, सयं न दीसंति कज्जेसु ॥

आचार्यस्य शिष्यैः प्रातीच्छिकैश्च सर्वं कर्तव्यं ते च यथा कु-र्वन्ति सापेक्षा उच्यन्ते ये तु न कुर्वन्ति ते निरपेक्षास्तत्र सापे-क्षे निरपेक्षे च गच्छे दृष्टान्तो ग्रामशकटेन तद्यथा एकस्मिन् ग्रामे ग्रामेयकैः पुरुषैः राजकुलकार्यनियुक्तं शकटमेकं कृतं ततो वसंते राजकुलेनाऽऽहूयन्ते धान्यं घृतघटादि वा तेनस्वमात्मीयं [illegible] अस्मिन् शकटे आरोप्य आनयन्ति नयन्ति वा। तथा तस्य च-[illegible] तेन कुर्वन्ति च-[illegible] कालेन गच्छता सगम्। अन्यदा राजकुलेन ते आहूता धा-[illegible] मानय तैः शकटानाथानानीय तत आरूभङ्गोऽकारीति तेषां [illegible] कार्येषु वा समापतितेषु स्वयं ते न दृश्यन्ते। एव-[illegible]न्तः।

अथार्थोपनयः।

एवं न करेंति सीसा, काहिंति पडिच्छगा वि आयरिए।
ते वि य सीसा ति ततो, हिंदणपेहादियं चिंता ॥

एवं ग्रामेयकस्थानीयकारेण शिष्याः प्रातीच्छिकाः [illegible]ति मन्या न कुर्वन्तीति तेऽपि च प्रातीच्छिकाः शि-[illegible]ष्यानिति बुद्ध्या न कुर्वते ततः सीदन्नाचार्यः स्वयं चोपकरणप्रेक्षादिकं विधत्ते इति हिण्डने प्रे-[illegible] पेक्षाः शिष्याः प्रातीच्छिकाश्च शकटनियुक्तपुरुष [illegible]याः प्रयान्ति विनाशं चोपयान्ति।

अथ सापेक्षे दृष्टान्तमाह।

सारावियं जेहिं सगडं रण्णा ते इक्का य कय [illegible]
इय जे करेंति गुरुणो, निज्जरलाभो य कित्ती य [illegible]

अपरस्मिन् ग्रामे द्वितीयके ग्रामे ग्रामेयकैः राजकुल [illegible] शकटं कृतं तेन राजकार्यं धान्यघृतघटादानयन्ति नय[illegible] शकटं तैः सम्यक् सारावितं ततो न कदाचिदपि [illegible] परितुष्टेन राज्ञा ते सर्वकराः करविहीनाः कृताः। एष दृष्टान्त-[illegible] र्थोपनय इति एवमुक्तेन प्रकारेण शिष्याः प्रातीच्छिकाश्च [illegible] प्रत्युत्थाय ये गुरोः कृत्यं कुर्वन्ति तेषां महान् प्रत्यय इ-[illegible] मानः कीर्तिश्च गतं सापेक्षद्वारम्।

सम्प्रति भक्तिच्छन्दद्वारमाह।

दव्वे जावं भत्ती, दव्वे गहिणाउ इति नाराचं।
भावम्मि संसियग्गो, करेति भत्तिं गुरुजणस्स ॥

आचार्यस्य भक्तौ क्रियमाणायां तीर्थस्याव्यवच्छेदो भवत्यपि [illegible] समाचारी तु तीर्थव्यवच्छेद। सा च भक्तिर्द्विधा द्रव्ये भावे च [illegible] तत्र प्रथम भक्तिर्द्रव्ये गुरुगणानां प्रति कुर्वन्ति तुल्येः [illegible] आगतानां तत्कृत्यं [illegible] यत् शिष्यशतैः [illegible] भक्तिं करोति। [illegible] गुरोरेति करोति तथापि तस्यापि निर्जरा [illegible] ष्वाऽन्येनापि भक्तिः [illegible]

जइ वि य सोहम्मसामी, गणहर सव्वो [illegible] दिट्ठं।
तह वि य गोयमसामी, पायए गोयम गुरुणं ॥

यद्यपि च सौधर्मस्वामी [illegible]
[illegible]

गुरु अणुवत्तणयाए गुरु, गच्छो अणुवत्तिओ [illegible]।
गच्छाणुवत्तणयाए, अव्वोच्छित्ती कया तित्थे ॥

गुरोरनुवर्तनया [illegible]
एतेषां [illegible]

वइ तेण उ होइ कयं, [illegible]।
तस्स पवत्ता अणुवत्ति-[illegible] य [illegible]।

[illegible]

पिकटिके। नाम गुणानस्थानकारी सो ह्यापि आयकाचार्यस्यगुणाभ्यां योग्यमतिशायि पौद्गलिकप्रकृतिकं विष्वक् मात्रके गृह्यमाणमाचेमन्नापि पुनर्योग्यमेकस्मिन्नेव पतद्ग्रहे गृह्यमाणं पश्यतो ग्लानाऽस्याचैमन्दसुमतोपमानगकलाम ।

बेंति सतो पं महा, मुञ्ज वि वीयं न घेप्पए कीस ।
सो बेंति अङ्गासंगू, सुञ्जे मिय इत्थ दिट्ठंतो ॥

तत्र धर्मागमनानन्तरं सो धार्मिकः प्रधान क्रियार्थस्य गुडाज्यादिवत् पुष्पाकमपि विष्वक् प्रायोग्यं गृह्णाति ततो गुरुर्भार्यायमत्र्य आचार्यः अत्रापि एवमेव दृष्टान्तः कथमित्याह ॥

जा संर्दा कुरुसा उ, तं तुज्ने बंधह पयत्तेण ।
न वि बंधह चालियाउ, दुब्बलवालिए य कुंभी वि ॥

अहो शाकटिक! या तव भवदी गन्त्री दुर्बला तां एवं प्रयत्नेन बध्नीथ । तत्र स वदति यदि पुनरबद्धा पातने तदा विनश्यति या पुनर्बलिका तां नैव बध्नीथ । बन्धनव्यतिरेकेणापि तस्या वहनात् । पैकटिकं प्रति सूत्रे भो पैकटिक ! या तव कुण्डी दुर्बला तां बंधादसंपर्शा तत्र यत्नं कुरुथ या तु बलिका कुण्डी तस्या बन्धनमकृत्वाऽपि तत्र न यत्नं कुरुथ "दुब्बलयालिए य कुंभी वि" अत्र तु ऊयति दुर्बला बलिका च भवतीयत् वक्तव्या । एष दृष्टान्तः ।

सांप्रतमुपनयमाह ।

एवं अज्जसमुद्दा, दुब्बलजंमी य संठवयणाए ।
धारेंति सरीरं तु, बलिसंमिणरिसिगचयं तु ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण दुर्बलमवदी दुर्बला गन्त्री धार्मीयं शरीरं संस्थापनया धारयति येनतस्यास्तस्मैरां योग्यं विष्वक् मात्रके गृह्णाते यथं तु बलिवन्तसोमस्ततोऽन्यतो न शरीरस्य संस्थापनामेव हामेह ।

निप्पडिकम्मो वि अहं, जोगाण तराभि संघणं काउं ।
नच्छामि य विनियंगे, बीयं इति बेंति ते मंगू ॥

निष्प्रतिकर्माऽपि योगानां संधानं कर्तुं शक्नोति ततो नेच्छामि द्वितीये भाजने मात्रके विष्वक् गृह्यमाणमिति ते मङ्ग्वाचार्या ब्रुवते।

न तरंति य तेण विणा, अज्जसमुद्दा उ तेण बीसं तु ।
इय आलसमा सरिप, सेसा पंतेण झार्देति ॥

आर्यसमुद्राः पुनराचार्यास्तेन विष्वक् प्रायोग्यग्रहणेन विना योगानां सन्धानं कर्तुं न शक्नुवन्ति । तेन तत्प्रायोग्यं विष्वक् गृह्णन्ति एवं शेषाणामपि इत्यस्मात् कारणात् अतिशेषा अतिशया आचार्ये भवन्ति शेषाः पुनः साधवः प्रान्तेन छादयन्ति आत्मानं यापयन्ति सातत्येऽपि योऽतिशयः आचार्योपाध्यायस्य वसतेरन्तर्बहिर्वा एकाकित्वेन वास इति चतुर्थपञ्चमावतिशयौ ।

सम्प्रति चतुर्थपञ्चमावतिशयावाह " अंतो उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा" इत्यादिसूत्रं (पूर्वोक्तं) विनावयितुरिदमाह ।

अंतो वहिं च वीसुं, वसमाणे मासियं तु भिक्खुस्स ।
संजमआयविराहण, सुण्णे अप्पुज्जोहंता होइ ॥

यदि भिक्षुरुपाश्रयस्यान्तरपवरके विष्वक् वसति यदि वा बहिरुपाश्रयात् शून्यगृहादिषु तदा तस्य प्रायश्चित्तं मासिकं न केवलमिदं प्रायश्चित्तं किन्तु दोषाश्च तानेवाह । अन्तर्बहिर्वा शून्यस्थाने वसतोऽशुभोदयोऽशुभकर्मोदयो भवति तद्वशाच्चात्मविराधना संयमविराधना च । एतामेव भावयति ॥

तम्भावुवओगेणं, रहिए कम्मादि संजमे भेदो ।
मेरावलंविया मे, वेहाणसमादिनिव्वेदा ॥

तस्य भावस्तद्भावः पुंवेद इत्यर्थः । तस्मिन्नुपयोगस्तेन तद्भावोपयोगेन विजने स्थाने च वर्तमानः सहायरहितो हस्तकर्मादि कुर्यात् एवं संयमे संयमस्य भेदो विराधना । तथा कोऽप्यतिप्रबलपुंवेदोदयपीडित एवं चिन्तयेत् यथा मया मर्यादा सकलजनसमक्षं गुरुपादसमीपेऽवलम्बिता संप्रति चाहमतिपीडित आसितुं न शक्नोमि तथा निर्वेदात् वैहानसमुत्कलम्बनमादिशब्दाद्व्यद्वा आत्मघातादिकमाचरेत् एषा आत्मविराधना । तथा विहरता वा एकाकिना न स्थातव्यमाह यदि संयमान्निर्गतभावस्ततस्तस्य सहाया अपि किं करिष्यन्ति तत आह ॥

जइ वि य निग्गयभावो, तह वि य रक्खिज्जए स अन्नेहिं ।
वंसकडिल्लो छिन्नो, वि वेणुतो पावए न महिं ॥

यद्यपि च स संयमात् निर्गतभावस्तथापि सोऽन्यैर्हस्तकर्मादि वैहानसादि वा समाचरन् रक्ष्यते अत्रैवार्थे प्रतिवस्तूपमामाह । (वंसकडिल्लेत्ति) वेणुको वंशो महीं न प्राप्नोति अन्यैरन्यैर्वंशैरपान्तराले स्खलितत्वात् एवं संयमभावान्निर्गतोऽपि शेषसाधुभिः सर्वथा एतत् रक्ष्यते तदेतद्विशेषतः कम् ।

इदानीं गणावच्छेदकाचार्ययोराह ॥

वीसुं वसंते दप्पा, गणिआयरिए य होंति एमेव ।
सुत्तं पुण कारणियं, भिक्खुस्स वि कारणे गुणा ॥

विष्वक् दर्पात् कारणमन्तरेण गणिनि गणावच्छेदके आचार्ये च एवमेव भिक्षोरिव प्रायश्चित्तं संयमात्मविराधने च भवतः । यद्येवं तर्हि सूत्रमनवकाशमत आह । सूत्रं पुनः कारणिकं कारणमधिकृत्य प्रवृत्तं ततो नानवकाशं न केवलं गणावच्छेदकाचार्ययोः कारणे वसतेरन्तर्बहिर्वा वसनमनुज्ञातं किं तु भिक्षोरपि कारणे बहिरन्तर्वा वसनस्यानुज्ञा ।

अथ किं तत्कारणं यदधिकृत्य सूत्रं प्रवृत्तमत आह ।

विज्जाणं परिवाडी, पव्वे पव्वे य देंति आयरिया ।
मासद्धमासियाणं, पव्वं पुण होइ मज्झं तु ॥

आचार्याः पर्वणि विद्यानां परिपाटीं ददति विद्याः परावर्तन्ते इति भावः । अथ पर्व किमुच्यते तत आह मासार्द्धमासयोर्मध्यं पुनः पर्व भवति । तदेवाह ।

पक्खस्स अट्ठमी खलु, मासस्स य पक्खियं मुणेयव्वं ।
अन्नं पि होइ पव्वं, उवरागो चंदसूराणं ॥

अर्द्धमासस्य पक्षात्मकस्य मध्यमाऽष्टमी सा खलु पर्व । मासस्य मध्यं पाक्षिकं पक्षेण निर्वृत्तं ज्ञातव्यं तच्च कृष्णचतुर्दशीरूपमवसातव्यं तत्र प्रायो विद्यासाधनोपचारज्ञायात् बहुलादिका मासा इति वचनाच्च न केवलमेतदेव पर्व किंत्वन्यदपि पर्व भवति यत्रोपरागो ग्रहणं चन्द्रसूर्ययोरेतेषु पर्वसु विद्यासाधनप्रवृत्तिर्यद्येवं तत एकरात्रग्रहणं तत आह ।

चउद्दसीगहो होइ, कोई अहवा वि सोलसिग्गहणं ।
वत्त तु अणुन्नंतो, होइ दुरायं तिरायं वा ॥

कोऽपि विद्याया ग्रहश्चतुर्दश्यां भवति अथवा षोडश्यां शुक्लपक्षप्रतिपदि विद्याया ग्रहणम् । किमुक्तं भवति कोऽपि विद्याग्रहश्चतुर्दश्यां कृतः कोऽपि प्रतिपदि क्रियते इत्येव त्रिरात्रवसनमथ च येन दिवसेन व्यहमनुध्यायमानं वि—

वाया ग्रहणं भवति । द्विरात्रं त्रिरात्रं वा विष्वक् वसनमिति। यदुक्तं सूत्रेऽतिरायं चेति तत्र वाशब्दव्याख्यानार्थमाह ।

वासइण चिरं पि, महपाणादीसु सो उ अत्थेज्जा ।
ओयविए भरहम्मि, जह राया चक्कवट्टादी ॥

वाशब्देनेदं सूच्यते चिरमपि कालं महा (पाना) प्राणादिषु ध्यानेषु स तिष्ठेत् स हि यावन्नाद्यापि विशिष्टलाभो भवति तावन्न निवर्त्तते ध्यानाद्वैव दृष्टान्तमाह । यथा राजा चक्रवर्त्यादिरादिशब्दाद्वासुदेवपरिग्रहः (ओयविए) प्रसाधिते अर्द्धभरते वा न निवर्त्तते यावदव्याद्विलाभो न भवतीति।

अथ महाप्राणध्याने कः कियन्तं कालमुत्कर्षतस्तिष्ठतीति प्रतिपादनार्थमाह ।

बारसवासा भरहा-हिवस्स छच्चेव वासुदेवाणं ।
तिण्णि य मंडलियस्स, छम्मासा पागयजणस्स ॥

महाप्राणध्यानमुत्कर्षतो भरताधिपस्य चक्रवर्त्तिनो द्वादश वर्षाणि यावत्षड् वर्षाणि वासुदेवानां बलदेवानामित्यर्थः । त्रीणि वर्षाणि माण्डलिकस्य षण्मासान् यावत् प्राकृतजनस्य।

जे जत्थ अहिगया खलु, अस्सादृक्खपाइया रण्णा ।
तेसि भरणम्मि ऊणे, भुंजंति भोए अदंडादी ॥

ये " अस्सादुक्खमाइया " महाश्वपत्यादयो यत्राश्वभरणादौ राज्ञा अधिकृता व्यापारितास्ते तेषामश्वादीनां भरणे ऊने सति भोगान् अदण्डादीन् दण्डादिरहितान् भुङ्क्ते न तस्य तथा भोगान् भुञ्जानस्य दण्डोऽपराधो वा अश्वाद्यभ्याद्विभरणभावात् एष दृष्टान्त उक्तः।

संप्रति दार्ष्टान्तिकयोजनामाह ।

इय पुव्वगयाधीते, बाहुसनामेव तम्मि णो पच्छा ।
पियइ त्ति य अत्थपए, मिणइ त्ति य दो वि अविरुद्धा ॥

इत्येवममुना दृष्टान्तप्रकारेण पूर्वगते अधीते "बाहुसनामेव" भद्रबाहुरिव तत् पूर्वगतं पश्चात् महापानध्यानबलेन मिनोति निर्ग्रन्थमात्मेच्छया तावन्न निवर्तते तावच्चिरकालमपि वसति तस्य न कोऽप्यपराधः प्रायश्चित्तं दण्डो वा। संप्रति महापानशब्दस्य व्युत्पत्तिमाह पिबतीति वा मिनोतीति वेति द्वावपि शब्दावेतावविरुद्धौ तत्पन एकार्थाविस्पर्थः । तत एव व्युत्पत्तिः पिबति अर्थपदानि यत्र स्थितस्तत् पानं महच्च तत्पानं च महापानमिति ।

अंतो गणी वा गणो, विक्खेवो मा हु होज्ज अग्गहणं ।
वसतेहिं परिक्खित्तो, ठ अत्थेत कारणे तेहिं ॥

अन्तर्गणी गणो वा वाशब्दादेवं बहिरपि । इयमत्र भावना । यदाचार्यो वसतेरन्तस्तदा गणो बहिर्वसति अथ गणोऽन्तस्तत आचार्यो बहिः किं कारणमाचार्यो गणाच्च विष्वक् वसति तत आह (विक्खेवो) इत्यादि आचार्यस्य विद्यादिगुणादिषु व्याक्षेपो मा भूत् (अग्गहणमिति) अयोग्यानां कर्णपतनेन विद्यादीनामग्रहणं भूयात् एताभ्यां कारणाभ्यां वृषभैः परिक्षिप्तोऽन्तर्बहिर्वा विष्वगाचार्यो वसति । व्य० ६ उ० ।

आचार्योपाध्यायस्य गणे सप्त अतिशयाः ।

आयरियउवज्झायस्स णं गणंसि सत्त अइसेसा पण्णत्ता तं जहा आयरियउवज्झाए अंतो उवस्सगस्स पाए निगिज्झिय २ पप्फोडेमाणे वा पमज्जेमाणे वा णाइक्कमइ एवं जहा पंचट्ठाणे जाव बाहिं उवस्सगस्स एगरायं वा दुरायं वा वसमाणे णाइक्कमइ उवगरणाइसेसे भत्तपाणाइसेसे ॥

एत द्व्याख्यानमेवेति इदमधिकमुपकरणातिशयः श्रेयस्तमुच्चप्रकाशात् प्रधानोज्ज्वलवस्त्राद्युपकरणतः उक्तं च । " आयरियगिलाणाणं, मइला मइला पुणो वि धोयंति । मा हु गुरुण अवण्णो, लोगम्मि अजीरणं इयरेसि " ॥ १ ॥ भक्तेन इत्यर्थः भक्तपानातिशयः पुज्यतरभक्तपानतेति उक्तञ्च " कलमोयणो उ पयसा, परिहाणी जाव कोद्दवज्झज्झी । तत्थ उ मिउम्महुरं, जत्थ य जं अहियं होसु " ॥ १ ॥ (कोद्दवज्झज्झित्ति कोद्रवझाउलये होसुत्ति) देशकालयोरिति गुणार्थिने "सुत्तत्थथिरीकरणं, विणओ गुरुपूय सेह बहुमाणो । दाणवइसद्धवुड्ढी, बुद्धिबलवद्धणं चेव त्ति " स्था० ७ ठा० ॥ १ ॥

गणावच्छेदकस्य गणे द्वौ अतिशयौ ।

(सूत्रम्) गणावच्छेयस्स गणंसि णं दो अइसेसा पण्णत्ता तं जहा गणावच्छेइए अंतो उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा वसमाणे णो अइक्कमइ ? गणावच्छेइए बाहिं उवस्सयस्स एगरायं वा दुरायं वा वसमाणे णो अतिक्कमइ॥

" गणावच्छेयस्स गणंसि णं " इत्यादि गणावच्छेदकस्य गणे गणमध्ये द्वावतिशयौ भवतस्तद्यथा गणावच्छेदक उपाश्रयस्यान्तः एकरात्रं वा द्विरात्रं वा वसन् नातिक्रामति नातीचारभाग्भवति तथा गणावच्छेदको बहिरुपाश्रयादेकरात्रं वा द्विरात्रं वा वसन् नातिक्रामति । एतौ च द्वावप्यतिशयौ सूत्रोक्तौ गणावच्छेदकस्य द्रष्टव्यौ यौ नियमादाचार्यो भविष्यति यः पुनर्गणावच्छेदकत्वे वर्त्तमान आचार्यपदस्यानर्हस्तस्यैतौ द्वावप्यतिशयौ न कल्पेते । भाष्यम् ।

पंचेते अतिसेसा, आयरिए होंति दोण्णि उ गणिस्स।
भिक्खुस्स कारणम्मि उ, अतिसेसा पंच वा भणिया॥

एते अनन्तरसूत्रोदिताः पञ्चातिशया आचार्ये भवन्ति । द्वौ गणिनो गणावच्छेदकस्य भिक्षोः पुनः कारणेऽप्यतिशया भणिताः । एतदेवाह ।

जे सत्त आतिसेसा, आयरिए अत्थतो व जे भणिया।
ते कज्जे जयसेवी, भिक्खू वि न वाउसी भवति ॥

येऽतिशेषा आचार्यसूत्रे साक्षादभिहिता ये चान्ये पञ्चार्थतो भणितास्तान् दशाप्यतिशयान् कार्ये कारणे समागते। "कज्जंति वा कारणंति वा एगट्ठमिति" वचनात् (जयसेवीति) यतनया सेवमानो भिक्षुरपि न बकुशत्वदोषेण गृह्यते इति भावः किं तत्कार्यमत आह ।

बालासहुमतरंतं, सुइवादि एप्प इड्ढिवुड्ढं वा ।
दस वि भइयातिसेसा, भिक्खुस्स जहक्कमं कज्जे ॥

बालमसहमतरन्तं ग्लानं शुचिवादिनं ऋद्धिवृद्धं वा प्राप्य दशाप्यतिशेषा भिक्षोः कार्ये समापतिते यथाक्रमं भजिता विकल्पिता भवन्तीति भावः तथा हि बालस्य हस्तपादादयः प्रक्षाल्यन्ते अन्ये चातिशया यथासंभवं क्रियन्ते तथा असहो ग्लानसमर्थस्तस्यापि यथायोगमतिशयाः क्रियन्ते । तथाऽतरन् ग्लानः शुचिवादी शौचप्रधानः शिष्य ऋद्धिवृद्धो राजादिः प्रव्रजित इत्येषामपि दशाप्यतिशया यथायोगं विधेयाः । व्य० ६ उ० ।

(जिनकल्पिकस्य द्वौ अतिशयौ) "दुविहो तेसिं" (जिनक-

[illegible] तदा यत्रौ देशादिनि विंशतितमः २० गृहद्भावनायामन- [illegible] नाधीयते अनन्तरत्वां पूर्वं ऽप्यादर्शय अम- [illegible] इत्येकोनविंशतितमः १९ म- [illegible] इति विंशतितमः २० (पच्चाहरओत्ति) प्रव्या- [illegible] (हियपगमणीउत्ति) हृदयङ्गमः (जो- [illegible]) [illegible] इत्येकविंशः २१ (अद्धमा- [illegible]) [illegible] मागधी ना- [illegible] मागध्यामित्यादिलक्षणवती सा अस्मा- [illegible] मागधीत्युच्यते तया धर्ममाख्याति [illegible] द्वाविंशः २२ (भासिज्जमाणीत्ति) [illegible] (आरियमणारियाणंति) आर्यानार्यदे- [illegible] मनुष्याश्चतुष्पदा गवादयः मृगा आरण्याः [illegible] सरीसृपा उरःपरिसर्पा भुजप- [illegible] आत्मीयपेत्यर्थः भाषा [illegible] संबन्धः । किं भूताऽसौ भा- [illegible] सुखं श्रवणकालेऽथवा- [illegible] इति त्रयोविंशः २३ पूर्वं भवा- [illegible] विमानिका अ- [illegible] सुवर्णाः [illegible] पते [illegible] व्यन्तरभेदाः ग- [illegible] भवनवासिविशेषाः ग- [illegible] एतेषां द्वन्द्वः (पयंत- [illegible]) [illegible] [illegible] इति चतु- [illegible] पत्तुन भ- [illegible] भगवन्तमिति ग- [illegible] (अणो अणो वि य- [illegible]) [illegible] (अणो अणो वि) [illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible]

धांपर्यम् ९ शिष्टम् १० असंदिग्धम् ११ अपहृतान्यो[illegible] हृदयग्राहि १३ देशकालाव्यतीतम् १४ तत्त्वानुरूप[illegible] कीर्णप्रसृतम् १६ अन्योऽन्यप्रगृहीतम् १७ अभि[illegible] अतिस्निग्धमधुरम् १९ अपरमर्मविद्धम् २० अर्थ[illegible] नपेतम् २१ उदारम् २२ परनिन्दात्मोत्कर्षविप्रयुक्त[illegible] तश्लाघम् २४ अनपनीतम् २५ उत्पादिताच्छिन्नकौ[illegible] अद्भुतम् २७ अनतिविलम्बितम् २८ विभ्रमविक्षेप[illegible] दिविमुक्तम् २९ अनेकजातिसंश्रयाद्विचित्र[illegible] ३० [illegible] षम् ३१ साकारम् ३२ सत्त्वपरिग्रहम् ३३ अपरि[illegible] अव्युच्छेदम् ३५ चेतिवचनम् महानुभावैर्[illegible] संस्कारवत्त्वं संस्कृतादिलक्षणयुक्तत्वम् । उदात्तत्व[illegible] उपचारोपेतत्वमग्राम्यता ३ गम्भीरशब्दं मेघस्येव ४ [illegible] प्रतिरवोपेतता ५ दक्षिणत्वं सरलत्वं ६ उपनीतरा[illegible] कोशादिग्रामरागयुक्तता ७ एते सप्त शब्दापेक्षा [illegible] अन्ये त्वर्थाश्रयास्तत्र महार्थत्वम् बृहदभिधेयता [illegible] पौर्वापर्यत्वम् पूर्वापरवाक्याविरोधः ९ शिष्टत्वम् [illegible] सिद्धान्तोक्तार्थता वक्तुः शिष्टतासूचकत्वं वा १० अ[illegible] असंशयकारिता ११ अपहृतान्योत्तरत्वम् परदूषणा[illegible] हृदयग्राहित्वम् श्रोतृमनोहरता १३ देशकालाव्यती[illegible] प्रोचितता १४ तत्त्वानुरूपत्वम् विवक्षितवस्तुस्व[illegible] १५ अप्रकीर्णप्रसृतत्वम् सुसंबन्धस्य सतः प्रसरण[illegible] संबन्धाधिकारित्वातिविस्तरयोरभावः १६ अन्योऽन्य[illegible] परस्परेण पदानां वाक्यानां वा सापेक्षता १७ [illegible] वक्तुःप्रतिपाद्यस्येव भूमिकानुसारिता १८ अतिस्नि[illegible] घृतगुडादिवत् सुखकारित्वम् १९ अपरमर्मवेधित्व[illegible] मुद्घट्टनस्वरूपत्वम् २० अर्थधर्माभ्यासानपेतत्वम् [illegible] बद्धत्वम् २१ उदारत्वम् अभिधेयार्थस्यातुच्छत्वगु[illegible] शेषं वा २२ परनिन्दात्मोत्कर्षविप्रयुक्तत्वमिति प्रती[illegible] उपगतश्लाघत्वम् उक्तगुणयोगात् प्राप्तश्लाघता २४ [illegible] त्वम् कारककालवचनलिङ्गादिव्यत्ययरूपवचनदो[illegible] वच्छिन्नकौतूहलत्वम् स्वविषये श्रोतृणां [illegible] कौतुकं येन तत्तथा तद्भावस्तत्त्वम् २६ अद्भुतत्व[illegible] नं च प्रतीतम् २७—२८ विभ्रमविक्षेप[illegible] मुक्तत्वम् विभ्रमो वक्तृमनसो भ्रान्तता [illegible] अभिधेयार्थं प्रत्यनासक्तता किलिकिञ्चितं रोषभयाभिलाषादि[illegible] पत्त मनः[illegible] तथा तद्भावस्तत्त्वम् २९ अनेकजातिसंश्रया[illegible] ज्ञानयो वर्णनीयवस्तुस्वरूपवर्णनानि ३० [illegible] [illegible] दौ विशेषता ३१ साकारत्व [illegible] [illegible] ३२ सत्त्वपरिग्रह[illegible] ३३ [illegible] [illegible]

गुणार्थपरिग्रहः ।

गुणत्थे [illegible] [illegible] ।

[illegible] [illegible]

[illegible]

पंडितसिद्धा वा । यद्वा विधा यागाश्रशम्दान्मन्त्राश्च एते एवं विशन्ति अन्तर्भवन्ति अतो द्विविधा अतिशयाः भवन्ति तत्र सूत्रार्थातिशयाः सामाचार्यातिशयाश्चैतेषामतिशयानामुपलब्धिः प्रवचनाचार्यपर्युपासनया भवति वृ० १ उ० । अव-ध्यादौ, औ० । कर्मणि प्रत्ययः अतिक्रान्ते, स्था० ४ ठा० १ उ० अतिशिष्यते कर्मणि घञ् । स्वल्पावशिष्टे; वाच० ।

अइसेसइड्ढि–अतिशेषर्द्धि–पुं० अतिशेषा अवधिमनःपर्याय-ज्ञानामर्षौषध्यादयोऽतिशयास्ते नैवां ऋद्धिर्यस्याऽसौ अतिशेषर्द्धिः।प्रथमे प्रवचनप्रभावके, प्रव० १४ द्वा०।नि० चू०। दशा०

अइसेसपत्त–अतिशेषप्राप्त–त्रि० आमर्षौषध्यादिलब्धीः प्राप्ते, कल्प० ॥

अइसेसपहुत्त–अतिशेषप्रभुत्व–न० अतिशायिप्रभुत्वे, व्य०६उ०।

अइसेसि (न)–अतिशेषिन्–त्रि० स्फीते, ओघ० ।

अइसेसिय–अतिशेषित–त्रि० अतिशयिते, व्य० ६ उ० ।

अइ (ति) हि–अतिथि–पुं० न विद्यन्ते सततप्रवृत्त्या विशदैकाकाराऽनुष्ठानतया तिथयो दिनविभागा यस्य सोऽतिथिः " तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे, त्यक्ता येन महात्मना । अतिथिं तं विजानीयाच्छेषमभ्यागतं विदुरित्युक्तलक्षणे (ध० २ अधि०) तिथिपर्वादिलौकिकव्यवहारपरिवर्जके भोजनकालोपस्थायिनि भिक्षुविशेषे, ध० २ अधि । आव० । आ० । आतु० । प्रति० । आचा० । आगन्तुके, भ० ११ श० ६ उ० ।

अइ (ति) हिपूआ–अतिथिपूजा–स्त्री० ६ त० आहारादिदानेनातिथेः सत्कारलक्षणे लोकोपचारविनयभेदे, द० ५ अ० " बलिवइस्सदेवं करेइत्ता अतिहिपूयं करेइ करेइत्ता तओ पच्छा अप्पणा आहारमाहारेइ" भ०११ श०६ उ०। नि०,

अइ (ति) हिवन्न–अतिथिवन्न–न० अतिथेः शक्त्युपनये, आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० । प्रति० ।

अइ (ति) हिम–अतिहिम–न० अतिशयितहिमे, पिं० ।

अइ (ति) हिवणीमग–अतिथिवनीपक–पुं० अतिथिमाश्रित्य वनीपकः । अतिथिदानप्रशंसनेन तद्भक्तात् लिप्स्यमाने याचकभेदे, स्था० ५ ठा० ।

सांप्रतमतिथिभक्तानां पुरतोऽतिथिप्रशंसारूपं वनीपकत्वं यथा साधुर्विदधाति तथा दर्शयति ।

पाएण देइ लोगो, उवगारिसु परिचिएसु जुसिए वा ।
जो पुण अद्धाखिन्नं, अतिहिं पूएइ तं दाणं ॥

इह प्रायेण लोक उपकारिषु यद्वा परिचितेषु यदि वा अभ्युषिते आश्रिते ददाति भक्तादि यः पुनरध्वखिन्नमतिथिं पूजयति तदेवं जगति दानं प्रधानमिति शेषः । पिं० । नि० चू० ।

अइ (ति) हिसंविभाग–अतिथिसंविभाग–पुं० तिथिपर्वादिलौकिकव्यवहारस्त्यागात् भोजनकालोपस्थायी श्रावकस्यातिथिः साधुरुच्यते तस्य संगतो निर्दोषो न्यायागतानां कल्पनीयान्नपानादीनां देशकालश्रद्धासत्कारक्रमयुक्तः पश्चात्कर्मादिदोषपरिहारेण विशिष्टो भाग आत्मानुग्रहबुद्ध्या दानमतिथिसंविभागः । यथा संविभागापरनामके चतुर्थे शिक्षाव्रते, ध० २ अधि० (तत्र च)

अतिहिसंविभागो नाम नायागयाणं कप्पणिज्जाणं अन्नपाणाईणं दव्वाणं देसकालसद्धासक्कारकमजुत्तं पराए भत्तीए आयाणुग्गहबुद्धीए संजयाणं दाणं ॥

नामशब्दः पूर्ववत् न्यायागतानामिति न्यायो द्विजक्षत्रियविट्शूद्राणां स्ववृत्त्यनुष्ठानं स्ववृत्तिश्च प्रसिद्धैव प्रायो लोकव्यवहार्या तेन तादृशा न्यायेनागतानां प्राप्तानामनेनान्यायेनागतानां प्रतिषेधमाह । कल्पनीयानामित्युद्गमादिदोषवर्जितानामनेनाकल्पनीयानां निषेधमाह अन्नपानादीनां द्रव्याणामादिग्रहणाद्वस्त्रपात्रौषधभेषजादिपरिग्रहः अनेनापि हिरण्यादिव्यवच्छेदमाह । देशकालश्रद्धासत्कारक्रमयुक्तं तत्र नानाव्रीहिकोद्रवकङ्गुगोधूमादिनिष्पत्तिभाग्देशः, सुभिक्षदुर्भिक्षादिः कालः, विशुद्धचित्तपरिणामः श्रद्धा, अभ्युत्थानासनदानवन्दनानुव्रजनादिः सत्कारः, पाकस्य पेयादिपरिपाट्या प्रदानं क्रमः, एभिर्देशादिभिः युक्तं समन्वितमनेनापि विपर्ययव्यवच्छेदमाह । परया प्रधानया भक्त्योत्पन्नेन फलभागी भवति कृतमतिशयमाह । आत्मानुग्रहबुद्ध्येति न पुनर्देवानुग्रहबुद्ध्येति तया ह्यात्मपरानुग्रहपरा एव यतयः संयताः मूलगुणोत्तरगुणसंपन्नाः साधवः तेभ्यो दानमिति सूत्राक्षरार्थः आव० ६ अ० । अथ वृद्धोक्ता सामाचारी श्रावकेण पौषधं पारयता नियमात्साधुभ्यो दत्वा पारयितव्यमन्यदा पुनरनियमो दत्वा वा पारयति पारयित्वा वा ददाति तस्मात्पूर्वं साधुभ्यो दत्वा पश्चात्पारयितव्यम् । कथं यदा देशकालो भवति तदात्मनो विभूषां कृत्वा साधूपाश्रयं गत्वा निमन्त्रयते भिक्षां गृह्णीतेति । साधूनां का प्रतिपत्तिरुच्यते । तदा एकः पटलकमन्यो मुखानन्तकमपरो भाजनं प्रत्युपेक्षते मा अन्तरायदोषाः स्थापनादोषा वा भवन्तु स च यदि प्रथमायां पौरुष्यां निमन्त्रयते अस्ति च नमस्कारसहितप्रत्याख्यानी तदा तत् गृह्यते । अथवा नास्त्यसौ तदा न गृह्यते यतस्तद्वोढव्यं भवति । यदि पुनर्घनं लगेत्तदा गृहीत्वा संस्थाप्यते च यो वा उद्घाटपौरुष्यां पारयति पारणकवानन्यो वा तस्मै तद्दीयते पश्चात्तेन श्रावकेण समं संघाटको व्रजत्येको न वर्तते प्रेषयितुं साधुयुगलः श्रावकस्तु मार्गतो गच्छति ततोऽसौ गृहं नीत्वा तावासनेनोपनिमन्त्रयते यदि निविशेते तदा सुन्दरमथ न निविशेते तथापि विनयः प्रयुक्तो भवति ततोऽसौ भक्तं पानं च स्वयमेव ददाति अथवा भाजनं धारयत्यथवा स्थित एवास्ते यावद्दत्तं साधू अपि सावशेषं गृह्णीतः पश्चात्कर्मपरिहरणार्थं ततो दत्वा वन्दित्वा च विसर्जयत्यनुगच्छति च कतिचित्पदानि ततः स्वयं भुङ्क्ते यच्च किल साधुभ्यो न दत्तं तत् श्रावकेण न भोक्तव्यम् । यदि पुनस्तत्र ग्रामादौ साधवो न सन्ति तदा भोजनवेलायां दिगवलोकनं करोति विशुद्धभावेन च चिन्तयति यदि साधवोऽभविष्यंस्तदा निस्तारितोऽहमभविष्यमिति विभाषितं गाथार्थः ३१ पंचा० १ विव० । ध०र० । ध० । श्रा० । " चत्तारि [illegible] सम्यगहिं संमयारेणसु सर्वाए [illegible] पुरस्स [illegible] उकामो य इहं इह परलोगे य हाण पसं" श्रा० ॥

अस्य [illegible] ।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

... निरस्य स्वार्थं निर्वर्तितस्य ... समिति ... विभजनं साधवे दान- ... विभागकरणं यथा भविभागस्तस्य (अविभक्तनिर्वचने-) ... निक्षेपणमप्रादेरदानबुद्ध्या मा- ... सचित्तेन फलादिना १ ... कालातिक्रमः कालस्य साधुभोजनकाल- ... कालातिक्रमः । अयमभिप्रायः कालमून- ... साधवो न प्रहीष्यन्ति ज्ञास्यन्ति च यथा- ... विहरन्तो दानार्थमभ्युत्थानमनोचार इति ३ । ... साधुभ्यो न दीयते इति ... साधवो ... [illegible]

[illegible]

सरऊ नईए समं मिलित्ता सग्गदुवारंति पसिद्धभावओ तेर उत्तरदिसाए चारसहिं जोयणेहिं अट्ठावयनगवरो जत्थ भ- गवं आइगरो सिद्धो जत्थ य भरहेसरेण सीहनिसिज्जाययणं ति कोसुयं कारियं नियनियपमाणसठाणाणुसारि च- उव्वीसजिणाणं बिंबाइं ठावियाइं तत्थ पुव्वदारे उसभअजियाणं दाहिणदारे संभवाईणं चउण्हं, पच्छिमदुवारे सुपासाईण अ- ट्ठण्हं उत्तरदुवारे धम्माईणं दसण्हं थूभसयं च भाउयाणं तेण च कारियं। जीए नयरीए सत्थधा अज्ज अट्ठावयउवच्च- यासु किलिसु जओ असेरीसयपुरे नयरंगविक्कारसाहण मुभयेहिं सिरिदेविंदसूरीहिं चत्तारि महाबिंबाइं दिव्वसत्तीए गयणमग्गेण आणीयाइं जत्थ अज्जवि नाभिरायस्स मंदिरं जत्थ पासनाहवाविअसीयाकुंडं सहस्सधारं च पायारट्ठिओ मत्तगयंदजक्खो अज्जावि अस्स अग्गे करिणो न सक्का संचरंति या ता मरंति गोपयराइणि य अलेगाणि य लोइय- ठाणि यट्टंति "एसा पुरी अउज्झा, सरउजलाभिसिच्चमाण- गढभित्ती । जिणसमवसरियतित्थी, असरिसपाविच्चजणा जयइ ॥" कई पुण देविंदसूरिहिं चत्तारि बिंबाणि अउज्झापुराओ आणि- याणि त्ति प्रसङ्गः सेरीसयनयरे विहरंता आराहिअपउमावय- इणिए उत्तावद्दीवसिरे देविंदसूरिणो उ कुराईं ... काउस्सग्गं करिंसु एवं बहुवारं करिंते बहुण सावयाण कुऊह- लयं को विसेसो इत्थ काउस्सग्गकरणे सूरिहिं भणियं इत्थ पहाणफलई। [illegible] ... सावयवयणेणं पउमावई आराहणा- ... पासणाहस्स ... [illegible]

[illegible]

अओघण–अयोघन–पुं० लोहघने, अयोमये घने, " सीसंपि निंदंति अओघणेहिं " सूत्र० १ श्र० २ उ० ।

अओमय–अयोमय–त्रि० लोहमये विकारे, "अओमयणं संडास-एण गहाय" सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अओमुह–अयोमुख–त्रि० अय इव मुखं यस्य लोहमुखे पक्ष्यादौ, "पक्खीहिं खज्जंति अओमुहेहिं" सूत्र०१ श्रु०४ अ०२ उ०। अयोमुखद्वीपनिवासिनि मनुष्ये, पुं० स्था०४ ठा०।

अओमुहदीव–अयोमुखद्वीप–पुं० गोकर्णनाम्नोऽन्तर्द्वीपस्य परतो दक्षिणपश्चिमायां विदिशि पञ्चयोजनशतान्यतिक्रम्य स्थिते पञ्चयोजनशतायामविष्कम्भे एकाशीत्यधिकपञ्चदशयोजनशतपरिक्षेपे पद्मवरवेदिकावनखण्डमण्डितपर्यन्तप्रदेशे अन्तर्द्वीपविशेषे, नं० । प्रज्ञा० । स्था० ।

अंक–अङ्क–पुं० अङ्क–अच् । शुक्लमणिविशेषे, उत्त० ३४ अ०। रत्नविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जं० । ज्ञा० । रा० । सूत्र० । उत्त० । औ० । भ० । आ०म०प्र० । प्रज्ञा० । नि०चू० । " पद्मासनस्थविद्रुमोन्मत्तरूपे आसनबन्धे, चन्द्र० ४ पाहु० । चन्द्रबिम्बान्तर्वर्तिमृगाकारपदे च । यल्लोके मृगादिव्यपदेशं लभते सं०२वक्ष०। सू०प्र० । चिह्ने, चन्द्र० २० पाहु० । उत्सङ्गे, औ० । उत्सङ्गे, स्था० ८ ठा० । जं० । ज्ञा० । सूत्र० । आचा० । रत्नकाण्डभेदे च पुं० भ० वाच० । रत्नप्रभापृथ्वीखरकाण्डभेदे, नवसंख्यायां च पुं० वाच० ।

अंककंड–अङ्ककाण्ड–न० अङ्करत्नमये योजनसहस्रबाहल्ये रत्नप्रभायाः खरकाण्डस्य चतुर्दशे भागे, स्था० १० ठा० ।

अंककरेल्लुअ–अङ्ककरेल्लुक–न० वनस्पतिविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

अंकट्ठिइ–अङ्कस्थिति–स्त्री० संख्यास्थानविनिवेशनप्रकारे अङ्कानां स्थाने, कल्प० ।

अंकण–अङ्कन–न० अङ्क–ल्युट् । तप्तायःशलाकादिना गवादीनां चिह्नकरणे, प्रश्न० आश्र० १ द्वा० । भ० । अङ्कनामकवर्णादिनिक्षेपणे च आश्र० ४ अ० । अङ्क–करणे ल्युट् । अङ्कना-धनद्रव्ये " गदाग्रामीति " प्रसिद्धे, वाच० ।

अंकधर (र) र–अङ्कधर–पुं० ६ त० चन्द्रमसि, औ० १ प्रति० । तं० । जं० ।

अंकधाई–अङ्कधात्री–स्त्री० उत्सङ्गधारणकारिण्यां धात्र्याम्, ज्ञा० १ अ० । नि० चू० । आचा० ।

अंकवणिय–अङ्कवणिज् (ज)–पुं० अङ्करत्नवणिजि, रा० ।

अंकमुह–अंकमुख–न० ६ त० एकस्मिन्नेव विश्वस्य उत्सङ्गकपार्श्वस्थापनस्थानम्, सूर० ५ पाहु० चं० ।

अंकमुहसंठिय–अङ्कमुखसंस्थित–त्रि० एकस्मिन्नेव विश्वस्य उत्सङ्गकस्थापनस्थानस्य मुखमयभागोऽर्द्धवलयाकारस्तस्येव संस्थितं यस्य । अर्द्धवलयाकारसंस्थानसंस्थिते, सू० प्र० ५ पाहु० । चन्द्र० ।

अंकलिवि–अङ्कलिपि–स्त्री० ब्राह्म्या लिपेर्भेदे अष्टादशलिपिभेदे, प्रज्ञा० १ पद० । स० ।

अंकमय–अङ्कमय–त्रि० अङ्करत्नमये, अङ्करत्नविकारे, अङ्करत्नप्रचुरे वा "अंकामया पक्खा पक्खवाहा" जी० ३ प्रति० ।

अंकावई–अङ्कवती–स्त्री० महाविदेहस्थविजये वक्षस्कारपर्वते राजधान्याम् । " रम्मे विजये अंकावई रायहाणी अंजणे वक्खारपव्वए" जं० ४ वक्ष० "दो अंकावईओ" स्था० २ ठा० । मन्दरस्य पूर्वे शीतोदाया महानद्या दक्षिणे वर्तमाने वक्षस्कारपर्वते च स्था० ४ ठा० ।

अंकिअ (य)–अङ्कित–त्रि० लाञ्छिते, आव० ४ अ० । औ० ।

अंकिल्ल–देशी० नटे, दे० १ व० ।

अंकुडग–अङ्कुटक–पुं० नागदन्तके, ज्ञा० १ श्रु० ।

अंकुत्तरपास–अङ्कोत्तरपार्श्व–त्रि० अङ्का अङ्करत्नमयाः उत्तर-पार्श्वा यस्य तत् अङ्कोत्तरपार्श्वम् । अङ्करत्नमयोत्तरपार्श्वयुक्ते द्वारे । रा० । जी० ।

अंकुर–अङ्कुर–पुं० न० अङ्क–उरच् । प्ररोहे, सू० १ अ० । शाल्यादिबीजसूचौ, भ० ७ श० ७ उ० । बाह्यादिबीजाद्युद्-भेदप्रथमाविभावे, औ० ३ प्रति० । स्था० । "दग्धे बीजे यथा-ऽत्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः" षो० २ विव० । जले, रोमाञ्चे, [illegible] । धीरे, लोमनि, पुष्पे च वाच० ।

अंकुस–अङ्कुश–पुं० न० अङ्क उशच् दृश्यौ, प्रश्न० आश्र० ४ द्वा० । "अंकुसेण जहा नागो धम्मे संपडिवाइओ" उत्त० २२ अ० । अङ्कुशाकारे [illegible] , जं० ३ प्रति० । स्था० । भ० ५ श० । विमानविशेषे, स० । [illegible] वृक्षशाखाकर्षणार्थे परिव्राजकोपकरणविशेषे, औ० । धर्मे वरमकारिणि, [illegible] च ।

हत्थगए हत्थिव्व, पिसं पियिगोत्ति अंकुसंति य ।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

" संकुसो दुविहो [illegible] अंकुसं [illegible]

[illegible] । [illegible] ।

अंकुसा–अङ्कुशा–स्त्री० [illegible] ।

[illegible]

अंकुसपरग–अङ्कुशपरक–पुं० [illegible] ।

अंकोट्ट–अंकोट [ठ] [ल] पुं० अङ्कोले स्वनामख्याते वृक्षे, [illegible] । अंकोल्ल ८ । १ । [illegible]

[illegible] । [illegible]

अंकोल्लतेल्ल-अंकोट [ठ] तैल- न० अङ्कोठ-तैलम् अनङ्कोठात्तैलस्य डेल्लः ८ । २ । ५५ । इत्यङ्कोठपर्युदासान्न तैलप्रत्ययस्य डेल्लः । अङ्कोठस्नेहे. प्रा० ॥

अंग-अङ्ग-अ० आमन्त्रणे, प्र० ए श० ३३ उ० । दशा० । ज्ञा० । औ० । अलंकारे च । "विभंगं पुण अहं अज्झोववगमिओ" स्था० ४ ठा० सकलप्यादिप्रकृणगतिविषयतिअङ्ग धातोरच्यन्ते गर्भोत्पत्ते शरीरस्य प्रथमोत्पत्तिर्जन्मप्रभृतेर्गम्यन्ते चेत्यङ्गानि । शिरउदरादिषु न० कर्म० । देहावयवेषु, प्रव० ८ द्वा० । आ० चू० प्र० अ० । नि० चू० । विशे० । तत्त० यानि अष्टौ शिरः प्रभृतीनि तदुक्तं " सीसमुरोयरपिट्ठी, दो बाहू ऊरुया य अट्ठंगा " कर्म० । रा० । " बाहूरुपुट्ठिसिरउरउयरंगा " बाहू भुजद्वयम् ऊरु ऊरुद्वयं पृष्ठिः प्रतीता शिरो मस्तकमुरो वक्षः उदरं पोट्टमित्यष्टावङ्गान्युच्यन्ते इह विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात् कर्म० १ क० । आ० म० । गात्रे, औ० । स्था० । तत्त० । अवयवे, स्था० ७ ठा० । " अट्ठंगाइं " ज्ञा० १ अ० । स० । स्था० लौकिकानि वेदस्य षडङ्गानि तद्यथा शिक्षा १ कल्पो २ व्याकरणं ३ छन्दो ४ निरुक्तं ५ ज्योतिषं ६ चेति आ० चू० २ अ० । अनु० । आ० म० । आव० । लोकोत्तराणि प्रवचनस्य द्वादश अङ्गान्याचाराङ्गादीनि (तानि अंगपविट्ठशब्दे व्याख्यास्यन्ते) कारणे, प्रति० । स्था० ।

अस्य निक्षेपमाह ।

णामंगं ठवणंगं, दव्वंगं चेव होइ भावंगं ।

एसो खलु अंगस्स, णिक्खेवो चउव्विहो होइ उत्त० नि०

नामाङ्गं स्थापनाङ्गं द्रव्याङ्गं चैव भवति भावाङ्गमेव खलु (अंगस्स इति) प्राकृतत्वादङ्गस्य निक्षेपश्चतुर्विधो भवतीति गाथासमासार्थः । तत्र च नामस्थापने प्रसिद्धत्वादनादृत्य द्रव्याङ्गमभिधित्सुराह ।

गंधंगमोसहंगं, मज्जाउज्जं सरीरजुद्धंगं ।

एत्तो एक्केकं पि य, णेगविहं होइ णायव्वं ॥

गन्धाङ्गमौषधाङ्गं (मज्जाउज्जं सरीरजुद्धंगं) [illegible] मद्याङ्गमातोद्याङ्गं शरीराङ्गं युद्धाङ्गमिति बहुधा (एत्तोत्ति) [illegible] भवति ज्ञातव्यमिति गाथाक्षरार्थः । भावार्थं तु [illegible] "यथोद्देशं निर्देशमिति" न्यायमाश्रित्य गन्धाङ्गमभिधित्सुराह ।

जमदग्गिजडा हरेणु-या सवराउवसणयं सपिल्लियं ।

[illegible] सा, मल्लिवासियकोडिअगयती ॥

[illegible], एस अरहाओ कारिसो ।

[illegible] भागो य, भागो य तमालपत्तस्स ॥

[illegible], [illegible] एस चेव पवरावो ।

[illegible], उदयणविसमपत्तीए ॥

[illegible]

"सयपुप्फाणंति" वचनव्यत्ययात् शतपुष्पाया भागो भागश्च तमालपत्रस्य भाग इह पलिका मात्रा । अस्य माहात्म्यमाह । एतत्स्नानमनुलिपनमेव चैव पटवासः वासवदत्तया चण्डप्रद्योतदुहित्रा कृतो विहित उदयनं वीणावत्सराजमभिधारयन्त्या चेतसि वहन्त्या अनेन परिचित्ताक्षेपकत्वमस्य महात्म्यमुक्तमिति सूत्रार्थः । औषधाङ्गमाह ।

दोण्णि य रयणी महिंद-फलं च तिण्णि य समूसणाइं ।

सरमंत्र कणयमूलं, एसा उदगट्ठमागुलिया ॥

एसा उ हणइ कंडुं, तिमिरं अद्धहेमगं सिरोरोगं ।

तेइज्जगचाउत्थग-मूसगसप्पावरद्धं च ॥

द्वे रजन्यौ पिण्डद्राक्षहरिद्रे माहेन्द्रफलं चेन्द्रयवा त्रीणि च समूषणं त्रिकटुकं तस्याङ्गानि सुण्ठीपिप्पलीमरिचद्रव्याणि सरसं चार्द्रकनकमूलं बिल्वमूलमेवोदकाष्टमेत्युदकमष्टमं यस्यां सा च तथा गुटिका वटिका । अस्याः फलमाह । एषा तु हन्ति कण्डुं तिमिरं (अद्धहेमगति) अर्द्धशिरोरोगं समस्तशिरोव्यथां (तेइज्जगचाउत्थगत्ति) सुपो लोपे तार्तीयिकचातुर्थिकौ कृष्या ज्वरौ मूषकसर्पापराद्धमुन्दराहिदष्टं चः समुच्चय इति गाथाद्वयार्थः । मद्याङ्गमाह ।

सोलस दक्खाभागा, चउरो भागा य धायतीपुप्फे ।

आढगमो उच्छुरसे, मागहमाणेण मज्जंगं ॥ दारं ॥

(सोलसगाहा) षोडश द्राक्षाभागाश्चत्वारो भागाश्च धातकीपुष्पे धातकीपुष्पविषयाः (आढगमोत्ति) आर्षत्वादाढक इक्षुरसविषयः आढक इह केन मानेनेत्याह । मागधमानेन "दोअसइ" इत्यादिरूपेण मद्याङ्गं मदिराकारणं भवतीति गाथार्थः ।

आतोद्याङ्गमाह ।

एगं मगुंदातूर-मेगं अहिमारुदारुअं अग्गी ।

एगं साल्लियपोरुं, वज्झो आमोलतो होइ ॥

(एगंगाहा) एकं मकुन्दातूर्यमिति । एकैव मकुन्दा वादित्रविशेषो गम्भीरस्वरत्वादिना तूर्यकार्यकारित्वात् तूर्यमनेनास्य विशिष्टमातोद्याङ्गत्वमेवाह । किमेकैव मकुन्दातूर्यं सोपस्कारत्वादर्थकमभिमारस्य वृक्षविशेषस्य दारुकं काष्ठमभिमारदारुकमग्निर्विशेषतोऽग्निजनकत्वात्तथा या एकं शाल्मलीपोरं शाल्मलीपुष्पं बद्धमामोडको भवति । आमोडकं पुष्पोन्मिश्रो बालबन्धविशेषः इत्थंभूतस्यास्य इत्थं इयान्तानिपातितमेव व्याख्यायते प्रमङ्गतो वाद्यामोडकाङ्गयोरप्यभिधानमिति गाथार्थः । शरीराङ्गमाह ।

सीसं उरो य उदरं, पिट्ठी बाहू य दोण्णि ऊरू य ।

एए होंति अट्ठंगा खलु, अंगोवंगाइं सेसाइं ॥

होंति उवंगा कण्णा, णासच्छीहत्थपादजंघा य ।

णहकेसमंसमंगुलि, ओट्ठा खलु अंगुवंगाइं [दारम्]

शिरश्च उरश्च प्रसिद्धमुदरं "पिट्ठित्ति" प्राकृतत्वात्पृष्ठं बाहू द्वौ ऊरू च एतान्यष्टाङ्गानि । प्राग्वत् [illegible] शेषाण्युपाङ्गानि अङ्गोपाङ्गानि शेषाणि नखादीनि उपलक्षणत्वात् [illegible] च कर्णादीनि यत उक्तम् । होंति उवंगा कण्णा नासाक्षी [illegible] उपहस्तपादाश्च । नहकेसमंसमंगुलि ओट्ठा खलु अंगुवंगाइं इति गाथार्थः ।

सांप्रतं युद्धाङ्गमाह ।

जाणावरणपहरणे, जुद्धे कुसलत्तणं च णीती य ।
दक्खत्तं ववसातो, सरीरमारोगए चेव ॥

(द्वारम्) (आणावरणपहरणेत्ति) यानं च हस्त्यादि तत्र सत्यपि न शक्नोत्यभिभवितुं शत्रुमत आवरणं च कवचादि स- त्यप्यावरणे प्रहरणं विना किं करोतीति प्रहरणं च खड्गादि या- नावरणप्रहरणानि यदि युद्धे कुशलत्वं नास्ति किं यानादिनेति युद्धे संग्रामे कुशलत्वं च प्रावीण्यरूपं सत्यप्यस्मिन्नीति विना न शत्रुजयनमतो नीतिश्चापक्रमादिलक्षणा सत्यामपि चास्यां द- क्षत्वाधीनो जयस्ततो दक्षत्वमाशुकारित्वं सत्यस्मिन्निर्व्यवसा- यस्य कुतो जय इति व्यवसायो व्यापारस्तत्रापि यदि न शरी- रमहीनाङ्गं ततो न जय इति शरीरमर्थात्परिपूर्णाङ्गं तत्राप्यारो- ग्यमेव जयायेति (आरोगयात्ति) आरोग्यता चः समुच्चये ए- वावधारणे ततः समुदितानामेवैषां युद्धाङ्गत्वमिति सूत्रार्थः

भावाङ्गमाह ।

भावंगं पि य दुविहं, सुतमंगं चेव णोसुतं अंगं ।
सुतमंगं बारसहा, चउव्विहं णोसुयज्झंगं ॥

भावाङ्गमपि च द्विविधम् (सुयमंगं चेवत्ति) श्रुताङ्गं चैव नो- श्रुताङ्गं च । श्रुताङ्गं द्वादशधा आचारादि भावाङ्गता चास्य क्षायोपशमिकभावान्तर्गतत्वात् । उक्तं च " भावे खओवसमिए दुवालसंगं पि होति सुयणाणंति" चतुर्विधं चतुष्प्रकारं नोश्रुता- ङ्गं तु नोशब्दस्य सर्वनिषेधार्थत्वादश्रुताङ्गं पुनः प्रकारश्च सर्व- त्राप्याक्षणिक इति गाथार्थः । एतदेवाह ।

माणुस्सं धम्मसुती, सद्धा तवसंजमम्मि विरयं च ।
एए भावंगा खलु, दुल्लभगा होंति संसारे ॥

मानुष्यं मनुजत्वमस्य चादावुपन्यास एतद्भावे शेषाङ्गभावा- त् धर्मश्रुतिरर्हत्प्रणीतधर्माकर्णनं श्रद्धा धर्मकरणाभिलाषः । तपोऽनशनादिस्तत्प्रधानः संयमः पञ्चाश्रवविरमणादिस्तप. सं- यमो मध्यमपदलोपी समासः । तपश्च संयमश्च तप संयममिति समाहारो वा तस्मिन्वीर्यं च वीर्यान्तरायक्षयोपशमसमुत्था शक्तिः । अस्य च द्विष्ठस्याप्येकत्वेन विवक्षितत्वान्नोक्तसंख्या- विरोधः । एतानि भावाङ्गानि खलु निश्चितं दुर्लभकानि भवन्ति संसारे क्लिष्टत्वन्यथा प्राप्तत्वादेतच्चानुक्तमपि सर्वत्र भाव- नीयमिति गाथार्थः । इह द्रव्याङ्गेषु शरीराङ्गं भावाङ्गेषु च सं- यमः प्रधानमिति । तदेकार्थिकान्याह ।

अंगं दसभागभेए, अवयव असगलचुण्णियाखंडे ।
देसे पदेसपव्वे, साहापडलपज्जवखिलं च ॥

दया य संजमे लज्जा, दुगुंछ अच्छलणादि य ।
तितिक्खा य अहिंसा य, हिरी त्ति एगट्ठिया पदा ।

अङ्गदशभागो भेदोऽवयवोऽसकलश्चूर्णः खण्डो देशः प्रदेशः पर्व शाखा पाटलं पर्यवः खिलं चेति शरीराङ्गपर्याया इति वृद्धाः । व्याख्यानिकस्त्वविशेषतोऽमी अङ्गपर्यायास्तथा (दसभाग- त्ति) दशभाग इति च भिन्नावेव पर्यायावित्याह । चः समुच्च- ये सूत्रत्वाच्च सुपः क्वचिदश्रवणमिति । संयमपर्यायानाह दया च संयमो लज्जा जुगुप्सा अच्छलना । इतिशब्दः स्वरूप- परामर्शकः पर्यन्ते योक्ष्यते तितिक्षा चाहिंसा च ह्रीश्चेत्येकार्थि- कान्यभिन्नाभिधेयानि पदानि सुबन्तशब्दरूपाणि पर्यायाभिधान च नानादेशजविनेयानुग्रहार्थमिति गाथाद्वयार्थः । दश० ३ अ० क्षा० । अज्यते व्यक्तीक्रियते ऽस्मिन्निति चतुर्विधं नामस्थाप- नाद्रव्यभावभेदात् । तत्र नामस्थापने क्षुण्णे द्रव्याङ्गं ज्ञशरीरभ- व्यशरीरव्यतिरिक्तं शिरो बाह्वादि । भावतोऽयमेवाचारः आचा- राङ्गम् आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । चित्ते, अङ्गजे कामे उपाये, प्रधानोपयोगिनि उपकरणे, फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमिति मीमांसा जन्मादिलग्ने, यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गमिति पाणिनिपरिभाषिते प्रत्ययावधिभूते शब्दभूते च वाच० । अप- भरेयस्य द्वादशे पुत्रे, कल्प० । ती० । जनपदविशेषे, यत्र चम्पा- नगरी ज्ञा० ८ अ० । प्रव० । स्था० । वृ० । कल्प० । सूत्र० ।

आङ्ग-पुं० अङ्गानां राजा आङ्गः अङ्गदेशाधिपे, बहुत्वेऽणो लुक् अङ्गा अङ्गदेशास्तद्राजानो वा भक्तिरस्य अण् आङ्गः । अङ्गदेशभक्ते, अङ्गराजभक्ते वा त्रि० । अङ्गादागतम् आङ्गम् । अङ्गनिमित्ते कार्ये, वार्णादाङ्गं बलीयः इति परिभाषा वाच० । अङ्गं शरीरा- वयवस्तद्विकार आङ्गम् । देहावयवविकारे, स्था० ८ ठा० । अङ्गे नवमाङ्गम् । शरीरोत्पन्ने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । अङ्गविषयमा- ङ्गम् । आव० ४ अ० । शिरःस्फुरणादौ, स्था० ८ ठा० । शरीराऽवयवप्रमाणस्पन्दितादिविकारफलोद्भावके महानिमित्त- भेदे, स० । अङ्गस्फुरणादिभिः शरीरावयवस्पन्दनप्रमाणादि- भिर्यदिह वर्तमानमतीतमनागत वा शुभं प्रशस्तमशुभं वाऽप्रश- स्तमन्यस्मै कथ्यते तत्कथ्यते आङ्गं निमित्तं यथा 'मूर्ध्नि स्फुर- त्याशु पृथिव्यवाप्तिः, स्थानप्रवृद्धिश्च ललाटदेशे । भ्रूघ्राणमध्ये प्रियसंगमः स्यात्राणातिमध्ये च महार्थलाभ' इत्यादि प्रव० २५७ द्वा० "दक्षिणपार्श्वे स्पन्दनमभिधास्ये तत्फलं स्त्रिया वामे । पृथि- वीलाभं शिरसि, स्थानविवृद्धिर्ललाटे स्यात्" इत्यादि स्था० ८ ठा० (आङ्गनाम्नो महानिमित्तस्य सूत्रादिमानम्) "अंगस्स सय- सहस्सं, सुत्तवित्ती य कोडिविण्णेया । वक्खाणं अपरिमियं, इय- मेव य वत्तियं जाण" आव० ४ अ० । आ० चू० । स० ।

अंगअ-अङ्गज-पुं० अङ्गाज्जायते जन-ड-पुत्रे, को० । ज्ञा० । आ० चू० । दुहितरि, स्त्री० देहजातमात्रे, त्रि० रुधिरे, न० रोगे, पुं० लोम्नि, न० अङ्गं मनस्तस्माज्जायते कामे, पुं० वाच० ।

अङ्गद-न० अङ्गं दायति शोधयति दै-क-बाहुशीर्षाभरणे, प्रश्न० २ पद० । जी० । प्र० । ज्ञा० । स्था० । रा० । औ० । वालि- वानरराजपुत्रे, वाच० ॥

अंगइ-अङ्गजित्-पुं श्रावस्तीवास्तव्ये गृहपतिभेदे, नि० । व्या० । (स च पार्श्वजिनान्तिके प्रव्रज्यां गृहीत्वाऽनशनेन मृत्वा चन्द्र- विमाने चन्द्रत्वेनोपपन्न इति चंदशब्दे वक्ष्यते)

अंगइ (रि) सि-अङ्गर्षि-अङ्गर्षि-पुं० चम्पावास्तव्ये कौ- शिकार्यशिष्ये, तस्य भद्रत्वादङ्गर्षिरिति कौशिकार्येण नाम कृतम् । आ० म० द्वि० । आव० । आ० चू० । आ० क० । ती० । (तेनोपशमे सति सामायिकमवाप्य केवलमधिगतमिति रुद्र- कशब्दे वक्ष्यते)

अंगचूलिया-अङ्गचूलिका-स्त्री० अङ्गस्याऽऽचारादेश्चूलिका यथाचाचारस्यानेकविधा इहानुक्तार्थसंग्राहिका चूलिका । का- लिकश्रुतभेदे, पा० । नं० । स्थानाङ्गसूत्रे तु संक्षेपिकादशमस्तृ- तीयाध्ययनत्वेनोक्ता स्था० १० ठा० ।

सम्प्रत्युपलभ्यमानाङ्गचूलिकाग्रन्थस्येत्थमारम्भादिः ।

नमो सुअदेवयाए भगवईए नमो अरिहंताणं नमो सिद्धाणं नमो आयरियाणं नमो . . . . नमो लोए सव्वसा- हूणं । तेणं कालेणं तेणं . . . . गामं णयरी होत्था

वाओ पुण्णभद्दे चेइए । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी अज्जसोहम्मे णामं अणगारे । जाइसंपन्ने जहा उववाइए जाव चउणाणसंपन्ने । पंचहिं अणगारसएहिं संपरिवुडे पुव्वाणुपुव्वि चरमाणे जाव जेणेव पुण्णभद्दे चेइए अहापडिरूवं विहरइ परिसा णिग्गया । धम्मं सोच्चा णिसम्म जामेव दिसिं पाउब्भूआ तामेव दिसिं पडिगया । तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्जसुहम्मस्स अंतेवासी अज्जजंबूणाम अणगारे । जायसड्ढे जाव जेणेव अज्जसोहम्मे सामी तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करइ करित्ता वंदति णमंसति वंदित्ता णमंसित्ता जाव पज्जुवासति एवं वयासी । जइ णं भंते समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं इक्कारस अंगाणं अयमट्ठे पन्नत्ते इक्कारस अंगाणं अंगचूलियाए केअट्ठे पन्नत्ते ततेणं अज्जसुहम्मे अणगारे जंबूअणगारं एवं वयासी । एवं खलु जंबू समणेणं जाव संपत्तेणं अंगचूलियाए अयमट्ठे पन्नत्ते । जंबू अंगचूलिया अंगचूलियानूया णायव्वा । जहा कणगगिरिचूलिया सिम्रा । चत्तालीसं जोअणुच्चा कणयगिरिम्मि रमणिज्जे दीसंति । जहा पुरिसित्थीणमच्छी । जहा य चूलियाए सिरं सोहंति मणिरयणमंडियमउडेणं मत्थयं दिप्पति तिलयरयणेणं भालं दिप्पति । विविहनाणामणिरयणकुंडलजुअलेणं कण्णो दिप्पंति । तेहिं [illegible] दिप्पंति । रयणनासाए विमलसमुत्ताहलं दिप्पति । कज्जलेणं णिमासओअणे दिप्पंति । [illegible] वयणकमलं दिप्पति । गीवान्तरेणं गीवा दिप्पति । वरमुत्ताहलहारएणं वच्छत्थलं दिप्पति । [illegible] करो दिप्पति । नेउरेणं पाए दिप्पंति । तहा अंगचूलियाए इक्कारसं अंगाणि दिप्पंति । सा अंगचूलिया निग्गंथाणं निग्गंथीणं [illegible] वासपरियाणं [illegible] सुत्तो [illegible] महापरिण्णा [illegible] । [illegible] एवं वयासी । कहं णं भंते ! [illegible] भगवया महावीरेणं [illegible] सेमं [illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

मङ्गमोट्ठसीसमुद्दच्छिमयं करेह येयगच्छहियं अंगच्छद्दियं इमं पुक्खफोडियं करेह " सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अंगच्छे [य] द—**अङ्गच्छेद**—पुं० दूषितावयवकर्त्तने, " अंगच्छेदो सअच्छितो सेसरक्खट्ठा " पंचा० १६ विव० ।

अंग [अङ्ग] ण—**अङ्गण (न)**—न० अगि-गतौ अङ्गयते गृहाभिःसृत्य गम्यते ल्युट् । पृषोदरादित्वाद्वा णत्वम् । वर्गेऽन्त्यो वा ८।१।३० इत्यनुस्वारस्य वा परसवर्णः । प्रा० अजिरे, प्रश्न० सं० २ द्वा० ४ अ० । गृहाग्रभागे, कल्प० । " अंगणं मंडवट्ठाणं " नि० चू० ३ उ० ।

अंगणा—**अङ्गना**—स्त्री० अङ्गे स्वशरीरे पयोधरनितम्बजघनस्पर्शकादिरूपे अनुरागो येषां ते अङ्गानुरागास्तान् अङ्गानुरागान् कुर्वन्तीति अङ्गनाः स्त्रीषु । तं० । आचा० । नि० चू० ।

अंगदिया—**अङ्गदिका**—स्त्री० तीर्थविशेषे, यत्र श्रीमदजितस्वामिशान्तिदेवताद्वयं श्रीमहेन्द्रदेवतायसरः ती० ४५ कल्प० ।

अंगप्पभव—**अङ्गप्रभव**—त्रि० अङ्गाद् दृष्टिवादादेः प्रभव उत्पत्तिरस्येति अङ्गप्रभवः दृष्टिवादादेरुत्पन्ने, यथोत्तराध्ययने परीषहाध्ययनम् " कम्मप्पवायपुव्वे सत्तरसे पाहुडम्मि जं सुत्तं । सणयं सोदाहरणं, तं चेव इहं पि णायव्वं " उत्त० १ अ० ।

अंगप्पविट्ठ—**अङ्गप्रविष्ट**—न० इह पुरुषस्य द्वादश अङ्गानि भवन्ति तद्यथा द्वौ पादौ द्वे जंघे द्वे ऊरुणी द्वे गात्रार्द्धे द्वौ बाहू ग्रीवा शिरश्च एवं श्रुतरूपस्यापि परमपुरुषस्याचारादीनि द्वादशाङ्गानि क्रमेण वेदितव्यानि तथा चोक्तम् । " पायदुगं जंघोरू गायदुगद्धं तु दो य बाहू य । गीवा सिरं च पुरिसो, बारस अंगेसु य पविट्ठो " श्रुतपुरुषस्याङ्गेषु प्रविष्टमङ्गप्रविष्टम् । अङ्गभावेन व्यवस्थिते श्रुतभेदे, नं० । स्था० । अनु० । पा० । अङ्गप्रविष्टस्यानङ्गप्रविष्टाद् भेद इह प्रदर्श्यते ॥ " अह परो भणइ ते चेव सव्वसुयमंगं को विसेसो । जहा इमं अंगपविट्ठं इमं अणंगपविट्ठं ति । आयरिओ आह जे अरहंतेहिं भगवंतेहिं अतीताणागतवट्टमाणदव्वखित्तकालभावजहावत्थितदंसीहिं अत्था परूविता ते गणहरेहिं परमबुद्धिसन्निवायगुणसंपन्नेहिं सयं चेव तित्थगरसकासातो उवलभिऊण सव्वसत्ताणं हितट्ठाय सुत्तत्तेण उवणिबद्धा तं अंगपविट्ठं आयारादि दुवालसविहं । जं पुण अन्नेहिं विसुद्धागमबुद्धिजुत्तेहिं थेरेहिं अप्पाउयाणं मणुयाणं अप्पबुद्धिसत्ताणं य दुग्गाहकंति णाऊण तं चेव आयारादि सुयणाणं परंपरागयं अत्थतो गंथतो य अतिबहुं ति काऊण अणुकंपानिमित्तं दसवेयालियमादि परूवितं अणेगभेदं अणंगपविट्ठं " आ० चू० १ अ० ॥ तथा च ॥

> गणधरथेरकयं वा, आएसा मुक्कवागरणओ वा ।
> धुवचलविसेसओ वा, अंगाणंगेसु णाणत्तं ॥

अङ्गानङ्गप्रविष्टश्रुतयोरिदं नानात्वमन्यद् भेदकारणं [illegible] गणधरा गौतमस्वाम्यादयस्तत्कृतं श्रुतं द्वादशाङ्गरूपम् अङ्गप्रविष्टमुच्यते [illegible] ॥ गणधरदेवा हि मूलभूतमाचारादिकं श्रुतमुपरचयन्ति तेषामेव सर्वोत्कृष्टश्रुतलब्धिसम्पन्नतया तद्रचयितुमीशत्वात्न शेषाणां ततस्तत्कृतं सूत्रं मूलभूतमित्यङ्गप्रविष्टमुच्यते (मं) यत्पुनः शेषैः श्रुतस्थविरैः तदेकदेशमुपजीव्य विरचितं तदनङ्गप्रविष्टम् (मं) अथवा [illegible] भद्रबाहुस्वाम्यादय [illegible] श्रुतमावश्यकनिर्युक्त्यादिकमनङ्गप्रविष्टम् [illegible] अथवा वारत्रयं गणधरपृष्टस्य तीर्थकरस्य संबन्धी य आदेशः

प्रतिवचनमुत्पादव्ययध्रौव्यवाचकं पदत्रयमित्यर्थः तस्मादभिनिर्वृत्तं तदङ्गप्रविष्टं द्वादशाङ्गमेव विपा० २ श्रु० १० अ० । आदेशा यथा "आर्यमङ्गुराचार्यस्त्रिविधं शङ्खमिच्छति एकभविकं बद्धायुष्कमभिमुखनामगोत्रं च । आर्यसमुद्रो द्विविधं बद्धायुष्कमभिमुखनामगोत्रं च । आर्यसुहस्ती एकमभिमुखनामगोत्रमिति । बृ० १ उ० । मुक्तं मुक्तकमप्रश्नपूर्वकं यद् व्याकरणमर्थप्रतिपादनम् (वि० २ श्रु० १० अ०) यथा धर्मदेवकुणालाख्यायामित्यादि । तथा मरुदेवी भगवती अनादिवनस्पतिकायिका तद्भवेन सिद्धा इति (बृ० १ उ०) तस्मादिष्पन्नमङ्गबाह्यमभिधीयते तथावश्यकादिकं वाशब्दोऽङ्गानङ्गप्रविष्टत्वे पूर्वोक्तभेदकारणादन्यत्वसूचकः। तृतीयभेदकारणमाह (धुवेति) ध्रुवं सर्वेषु तीर्थकरतीर्थेषु नियमभावि (विपा० २ श्रु० १० अ०) सर्वेषु क्षेत्रेषु सर्वकालं चार्थक्रमं चाधिकृत्य एवमेव व्यवस्थितं ततस्तदङ्गप्रविष्टमुच्यते अङ्गप्रविष्टमङ्गभूतं मूलभूतमित्यर्थः । नं० ॥ द्वादशाङ्गमिति यत्पुनश्चलमनियतमनिश्चयनाथि तत्तदुसंघकालिकप्रकीर्णकादिश्रुतमङ्गबाह्यं वाशब्दोऽत्रापि भेदकारणान्तरत्वसूचकः । इदमुक्तं भवति गणधरकृतं पदत्रयलक्षणतीर्थकरादेशनिष्पन्नं ध्रुवं च यत् श्रुतं तदङ्गप्रविष्टमुच्यते । तच्च द्वादशाङ्गीरूपमेव यत्पुनः स्थविरकृतमुत्कलार्थाभिधानं चलं च तदावश्यकप्रकीर्णादि श्रुतमङ्गबाह्यमिति विशे० ।

अङ्गप्रविष्टश्रुतभेदा यथा ।

से किं तं अंगपविट्ठं अंगपविट्ठं दुवालसविहं पन्नत्तं तं जहा । आयारो १ सुयगडो २ ठाणं ३ समवाओ ४ विवाहपन्नत्ती ५ नायाधम्मकहाओ ६ उवासगदसाओ ७ अंतगडदसाओ ८ अनुत्तरोववाइयदसाओ ९ पण्हावागरणाइं १० विवागसुयं ११ दिट्ठिवाओ य १२ ॥

अथ किं तदङ्गप्रविष्टं सूरिराह अङ्गप्रविष्टं द्वादशविधं प्रज्ञप्तं तद्यथा आचारः सूत्रकृतमित्यादि नं० आ०म० प्र०। ध०। (आचारादीनामर्थः स्वस्वस्थाने) एतेषां मानं तथा हि 'अट्ठारसपयसहस्सा आयारे १ दुगुणदुगुणसेसेसु । सुयगड २ ठाण ३ समवाय ४ भगवई ५ नायधम्मकहा ६।११ अंगं उवासगदसा, ७ अंतगडं ८ अणुत्तरोववाइदसा ९। पण्हवागरणं तहा, १० विवागसुय ११ मिगदसं अंगं' इत्यादि सर्वश्रुतसद्भावेऽपि शेषश्रुतरचने हेतु विशे० । आह ननु प्रथमं पूर्वाण्येवोपनिबध्नाति गणधर इत्यागमे श्रूयते पूर्वकरणादेव चैतानि पूर्वाण्यभिधीयन्ते तेषु च निःशेषमपि वाङ्मयमवतरति अतश्चतुर्दशात्मकं द्वादशमेवाङ्गमस्तु किं शेषाणामङ्गविरचनेन अङ्गबाह्यश्रुतरचनेन वा इत्यत्राह ॥

जइ वि य भूतावाए, सव्वस्स वि उगयस्स ओयारो ।

निव्वूहणा तहा वि हु, दुम्मेहे पप्प इत्थीया ॥

अशेषविशेषान्वितस्य समस्तवस्तुस्तोमस्य भूतस्य सद्भूतस्य वादो भणनं यत्राऽसौ भूतवादः । अथवाऽनुगमव्यावृत्तादिविशेषधर्मकलापान्वितानां सभेदप्रभेदानां भूतानां प्राणिनां वादो यत्राऽसौ भूतवादो दृष्टिवादः । दीर्घत्वं च तकारस्यार्षत्वात्तत्र यद्यपि दृष्टिवादे सर्वस्यापि वाङ्मयस्यावतारोऽस्ति तथापि दुर्मेधसां तदवधारणायोग्यानां मन्दमतीनां तथा स्त्रीणां चानुग्रहार्थं निर्यूहणा विरचना शेषश्रुतस्येति । विशे० १२० पत्र० ।

अंगबाहिर-अंगबाह्य-न० द्वादशाङ्गात्मकस्य श्रुतपुरुषस्य व्यतिरेकेण स्थितमङ्गबाह्यम् । अङ्गबाह्यत्वेन व्यवस्थिते श्रुतविशेषे, नं० । एतद्भेदा यथा "अंगबाहिरे दुविहे पन्नत्ते तं जहा आवस्सए चेव आवस्सयवइरित्ते चेव" स्था० १ ठा० नं० । अनु० । आ० चू० । पा० । कर्म० । (अङ्गप्रविष्टस्य भेदोऽनन्तरमेव अङ्गपविट्ठ शब्दे उक्तः)

अंगबाहिरिया-अङ्गबाह्या-स्त्री० अङ्गान्याचारादीनि तेभ्यो बाह्या अङ्गबाह्याः अनङ्गप्रविष्टायाम्, चन्द्रसूरजम्बूद्वीपद्वीपसागरप्रज्ञप्तयः ४ अङ्गबाह्याः । स्था० ४ ठा० ॥

अंगभंजण-अङ्गभञ्जन-न० शरीराऽवयवमोटने, प्रश्न० संव० ५ द्वा० ।

अंगभूय-अङ्गभूत-त्रि० कारणभूते, प्रव० १ द्वा० ।

अंगमंग-अङ्गाङ्ग-न० (प्राकृतेऽलाक्षणिको मकारः) अङ्गप्रत्यङ्गेषु, "कायलक्खणविराइयंगमंगा" रा० । स० । शरीरावयवेषु, ज्ञा० ९ अ० ।

अंगमंगिभावचार-अङ्गाङ्गिभावचार-पुं० परिणामपरिणामिभावगमने, द्वा० ।

अंगमंदिर-अङ्गमन्दिर-न० चम्पानगर्यां बहिर्विद्यमाने चैत्ये, "अंगमंदिरंसि चेइयंसि मल्लरामस्स सरीरं विप्पजहामि" । भ० १ श० १ उ० ।

अंगमद्दिया-अङ्गमर्दिका-स्त्री० शरीरमर्दनकारिण्यां दास्याम्, "अट्ठ अंगमद्दियाओ अट्ठ उम्मद्दियाओ" अङ्गमर्दिकाऽल्पमर्दिकानां चाल्पबहुमर्दनकृतो विशेषः । भ० ११ श० ११ उ० ।

अंगरक्ख-अङ्गरक्ष-न० अङ्गं रक्षति । अङ्ग रक्ष-अण् धर्मणि, ज्ञा० ३ अ० ।

अंगलुहण-अङ्गरूक्षण-न० अङ्गप्रोञ्छनाय स्नानप्रक्षालनानन्तरमङ्गप्रोञ्छने, ध० २ अधि० ।

अंगविज्जा-अङ्गविद्या-स्त्री० अङ्गरूपा व्याकरणादिशास्त्ररूपा विद्या ज्ञानसाधनम् । तत्प्रतिपादके व्याकरणादिशास्त्रे, वाच० । शिरःप्रभृत्यङ्गस्फुरणतः शुभाशुभसूचिकायां विद्यायाम्, अङ्गस्फुरणफलशास्त्रे, यथा " शिरसः स्फुरणे राज्यं, हृदयस्फुरणे सुखम् । बाह्वोश्च मित्रसंलापो जङ्घयोर्वित्तसंगमः ॥" इत्यादि उत्त० ८ अ० । स्थानाङ्गव्याख्याऽङ्गादिनिमित्तफलदर्शके ग्रन्थविशेषे च । स च ग्रन्थः कुतो नियूढः वादि भवाप्यादाः विद्यानां वा तत्र विद्या इति संप्रदायः प्रदर्शितं । यथा अङ्गानि च विद्यायां च अङ्गविद्या । अङ्गविद्याव्याख्यानेषु प्रोक्तानि "मा" इत्यादिषु हिलि हिलि मातङ्गिनि स्वाहा इत्यादिषु विद्यानुवादप्रसिद्धेषु विद्येषु च । "अंगविज्जं च जे पउंजंति न हु ते समणा" उत्त० ८ अ० ।

अंगवियार-अङ्गविकार-पुं० ६ त० शिरःस्फुरणादौ, शरीरस्फुरणादितः शुभाशुभसूचके शास्त्रे, उत्त० १५ अ० ।

अङ्गविचार-पुं० ६ त० शरीरस्य वर्तनस्य नेत्रादीनां स्फुरणस्य वा विचारे । तद्विचारेण फलादेशके शास्त्रे च उत्त० १५ अ० । "अंगवियारं सरस्स विजयं जो विज्जाहिं न जीवइ स भिक्खू" उत्त० १५ अ० ।

अंगसंचाल-अङ्गसंचार-पुं० रोमोद्गमादिषु सूक्ष्मगात्रसंचारेषु, "सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं" आव० ५ अ० । ध० । ह० ।

अंगमुहफरिस (फासिय)-अङ्गसुखस्पर्श-त्रि० अङ्गस्य सुखकारी स्पर्शो यस्य तत्तथा । भ० । देहसुखोत्पादके स्पर्शे, भ० ११ श० ११ उ० ।

अंगादाण-अङ्गादान-न० अङ्गं शरीरं शिर आदीनि वा अङ्गा-नि तेषामादानं प्रभवः प्रसूतिरङ्गादानम् । मेढ्रे, अङ्गादानस्य सं-[illegible] प्रायश्चित्तम् ।

[सूत्रम्] जे भिक्खू अंगादाणं कट्ठेण वा कलिंचेण वा अंगु-लियाए वा सिलागाए वा संचालेइ संचालेंतं वा साइज्जइ ॥१॥

अङ्गं शरीरं शिरमादीनि वा अंगाणि तेसिं आदाणं अंगादा-णं [illegible] । तं पुण अंगादाणं मेढ्रं भण्णति तं [illegible] कट्ठेण वा कलिंचो वंसकप्पट्टी अंगुली प्रसिद्धा [illegible] संचालेति साइज्जति वा तस्स मास-गुरुं पच्छित्तं ।

इयाणिं णिज्जुत्तीए भण्णति ।

अंगाण उवंगाणं, अंगोवंगाण एवमादीणं ।

[illegible] आदाणं, [illegible] वा जत्थ विसिट्ठं ॥ ८५ ॥

[illegible] अंगोवंगाण [illegible] संगादाणं भण्णति । [illegible] विसिट्ठं तम्म अंगादाण ति ॥

[illegible]

[illegible] य [illegible], [illegible] य [illegible] ।

[illegible], [illegible] ॥ ८६ ॥

[illegible] सिद्धी पसिद्धा [illegible]

[illegible] ।

[illegible], [illegible] अंगरक्खतामा य ।

[illegible], [illegible] ॥ ८७ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ ८८ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ ८९ ॥

[illegible]

[सूत्रम्] जे भिक्खू [illegible]

जे भिक्खू पूर्ववत् संवाहति एक्कसिं परिमद्दति पुणो पुणो संवाहणा सणिमित्ता वा अणिमित्ता वा पूर्ववत् । [illegible] वाहणा पूर्ववत् ॥

(सूत्रम्) जे भिक्खू अंगादाणं तेल्लेण वा घएण वा णवणीएण वा वसाए वा अब्भंगेज्ज वा मंखेज्ज वा अ-ब्भगेंतं वा मंखेंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

जे भिक्खू पूर्ववत् तेल्लघता पसिद्धा । वसा [illegible] एक्कसिं मंखेति पुणो पुणो अहवा थोवेण अब्भंगणं बहुणा मंखणं अब्भंगणासूत्रे सणिमित्तमणिमित्त वा पूर्ववत् साइज्जणा तहेव आणातिविराहणा पूर्ववत् ।

[सूत्रम्] जे भिक्खू अंगादाणं कक्केण वा लोद्धेण वा पउमचुण्णेण वा ण्हाणेण वा चुण्णेहिं वा वण्णेहिं वा उव्वट्टेइ वा परिवट्टेइ वा उव्वट्टेंतं वा परिवट्टेंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥

कक्कं उव्वट्टणयं द्रव्यसंयोगेन वा कक्कं क्रियते [illegible] तेण वा उव्वट्टेति पद्मचूर्णेन वा ण्हाणं [illegible] । अहवा [illegible] तं पुण मासचूर्णादि [illegible] वायणे अंगावसणयं [illegible] जो सुगंधो [illegible] जहा वट्टमाणगुणे [illegible] तहेव उव्वट्टेति एक्कसिं परिवट्टेति पुणो पुणो ।

[सूत्रम्] जे भिक्खू अंगादाणं सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण उच्छोलेज्ज वा पधोएज्ज वा उच्छो-लेंतं वा पधोयंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥

सीतमुदकं सीतोदकं वियडं [illegible] उसिणोदकं उच्छोलेति [illegible] पधोयणा पुणो पुणो ।

[सूत्रम्] जे भिक्खू अंगादाणं णिच्छोडेइ णिच्छोडेंतं वा साइज्जति ॥ ७ ॥

णिच्छोडेति त्वचं अपणेति [illegible] ।

[सूत्रम्] जे भिक्खू अंगादाणं जिंघति जिंघंतं वा साइज्जइ ॥८॥

जे भिक्खू पूर्ववत् जिघ्रति नासिकया [illegible] । [illegible] जिघति । [illegible]

[illegible] ।

संवाहणमब्भंगण, उव्वट्टणधोवणं च [illegible] ।

[illegible] णियमो उ, णिच्छोडणजिंघणाए य ॥ ९० ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible] ।

[illegible] ॥ ९१ ॥

[illegible]

एवं अंगादाणं पि परिमद्दमाणस्स मोहुब्भवो ततो चारित्तजी- वियविणासो भवति । सन्नंगणायसुत्ते इमो दिट्ठंतो हहरह वि ताव अग्गी उवसमेति किं पुण घतादिणा सिच्चमाणो एवं अंगा- दाणं वि मोडिज्जमाणो सुट्ठुतरं मोहुब्भवो भवति । उव्वट्टणासुत्ते इमो दिट्ठंतो मही शस्त्रविशेषः सा सलायेण तिण्हा किमंग ! पुण णिसिया एवं अंगादाणसमुत्थो सलायेण मोहो दिप्पति किं- मग ! पुण अब्भट्टिते । सद्दोहणा सुत्ते इमो दिट्ठंतो एगो सप्पो सो अच्छिरोगेण गहिओ संबद्धा य अच्छी तस्स य एगेण वेज्जे- ण घटियाए अक्खीणि भंजेऊण पउणीकताणि तेण सो चेव य अड्डो एवं अंगादाणं पि सो इतरं चारित्तायणासाय भवती- त्यर्थः । णिच्छोलणासुत्ते इमो दिट्ठंतो जहा अयगरस्स सुहप्प- सुत्तस्स मुहं वियलेति तं तस्स अप्पवहाय भवति एवं अंगा- दाणं पि णिच्छोलियं चारित्तविणासाय भवति । जिंघणासुत्ते इ- मो दिट्ठंतो चोरेति एगो राया तस्स चेव्वपसिद्धे अंबए जिं- घमाणस्स अंबट्ठी बाढी उट्ठा सो गंधप्पियेण या कुमारेण गध- मग्घायमाणेण अप्पा जीविया ववरोविओ एवं अंगादाणं जिंघ- माणो संजमजीवियाओ चुओ अणतयं च संसारं भमिस्सति त्ति सव्वेसु वि पदेसु एते आहरणा भवंतीत्यर्थः ॥ भणिओ उस्सग्गो । इदाणीं अववातो भण्णति ॥

तितियपदमणपभे, अपदंसे मुत्तसक्करपमेहे ।
सत्तसु वि पदेसु ते, वितियपदा होंति णायव्वा ॥१०२॥

वितियपदं अववादपदं अणप्पज्झो अनात्मवशः ग्रहगृहीत इत्यर्थः । सो संचालणादी पदे सव्वे करेज्जा । अपदंसो पि- त्तारसं मुत्तसुक्कप धाराकः पमेहो रोगो संसत्तं काइयं अ- इंतं अच्छति एतेसु पदेसु सत्तसु वि जहासंभवं भाणियव्वा भणियं संजयाणं ।

इदाणीं संजतीणं ।

एसेव गमो णियमा, संचालणवज्जितो उ वज्जाणं ।
सवाहणमादीसुं, उवरिल्लेसुं छसु पदेसु ॥१०३॥

एसेव गमो सव्वो णियमा संचालणासुत्तविवज्जिओ सं- वाहणादिसु उवरिल्लेसु छसु वि सुत्तेसु इत्यर्थः ।

[सूत्राणि] जे भिक्खू अंगादाणं अण्णयरंसि अचित्तंसि सोयगंसि अणुपवेसित्ता सुक्कपोग्गले णिग्घाएति णिग्घायंतं वा साइज्जति ॥ ए ॥

जे भिक्खू पूर्ववत् अण्णतरं णाम बहूणं पकरियाणं अण्णतरं अचित्तं णाम जीवविरहियं भवतीति श्रोत्रं तत्थ अंगादाणं प- विसिऊण सुक्कपोग्गले णिग्घाएति णाशयतीत्यर्थः साइज्जइ वा ।

इदाणीं णिज्जुत्ती ।

अचित्तं सोत्तं पुण, देहे पडिमा जुतेतरं चेव ।
दुविधं तिविधमणेगे, एक्केक्के तं पुणं कमसो ॥१०४॥

अचित्तं जीवरहितं सोत्तं छिद्दं पुणसद्दो भेदप्पदरिसणे तं अचित्तसोत्तं तिविहं देहजुयं पडिमजुयं इयरं च । एक्केक्कस्स पुणो इमो भेदो कमसो दट्ठव्वो । देहजुत्तं दुविहं पडिमाजुत्तं तिविहं एगतरं अणेगहा । तत्थ देहे जुयं देहजुयं दुविहं इमं ।

तिरियमणुस्सित्थीणं, जे खलु देहा भवंति जीवजढा ।
अपरिग्गहेतरा वि य, तं देहजुतं तु णातव्वं ॥१०५॥

तिरियमणुस्सित्थीणं जे देहा जीवजढा भवंति खलु अवधारणे ते पुण सरीरा अपरिग्गहा इतरा सपरिग्गहा । सचेतणं सपरि- ग्गहं उवरिं वक्खमाणं भविस्सति । एवं देहजुयं भवतीत्यर्थः ।

इदाणीं पडिमाजुत्तं तिविहं पकविज्जति ।

तिरियमणुयदेवीणं, जा य पडिमा असंणिहितिआ ।
अपरिग्गहेतरा वि य, तं पडिमजुत्त ति णायव्वं ॥१०६॥

तिरियपडिमा मणुयपडिमा देवपडिमा वा असंनिहियाओ संनिहियाओ य । असंणिहिआओ दुविहा अपरिग्गहा इतरा सपरिग्गहा य । जं एयविहाण छिद्द तं पडिमाजुत्तं ति णायव्वं ।

इदाणीं एतरं अणेगविहं पकविज्जति ।

जुगछिद्दणालियाकर-गीवमाति सोतगं ज तु ।
देहदुगविवरीतं, तु एतरं तं मुणेयव्वं ॥१०७॥

जुगं धाडिहाए खंधे आरोविज्जति लोगपसिद्धं तस्स छिद्दं अण्णतरं वा । णालिकाणंसणक्कणादीणं छिद्दं करगीयाणयखंगं तस्स गीवा छिद्दं वा एवमादि सोतगं देहं सरीरं अण्णयंति ता- मित्ति, अथवा प्रतिमा तेसिं विवरीतं अणेगधुत्तं भवति । इह पुण असंणिहियमपरिग्गहेसु अधिकारो जं एरिस तं एतरं मु- णेयव्वमित्यर्थः । एतेसिं सोयाणं अण्णतरे जो सुक्कपोग्गले णि- ग्घातेति तस्स पच्छित्तं भवति ।

मासगुरुगादि छल्लहु, जहणए मज्झिमे य उक्कोसे ।
अपरिग्गहितअचित्ते, अदिट्ठादिट्ठे य देहजुते ॥१०८॥

देहजुए अपरिग्गहिते अचित्ते जहण्णए अदिट्ठे मासगुरुं दिट्ठे चउलहुं अहोक्कंतीए धारियव्वं मज्झिमे अदिट्ठे, चउलहु दिट्ठे चउगुरुं उक्कोसते अदिट्ठे चउगुरुं दिट्ठे छलहु । तिरियमणुस्सा- भण्णेण देहजुयं अपरिग्गहियं भणियं ।

इदाणीं तिविहं परिग्गहियं भण्णति ।

चउलहुगादी मूलं, जहण्णगादिम्मि होंति अचित्ते ।
तिविहेहिं परिग्गहिते, अदिट्ठादिट्ठे य देहजुते ॥१०९॥

इमा वि अहोक्कंती धारणीया देहजुते अचित्ते पायच्च परि- ग्गहे जहण्णए अदिट्ठे चउलहुं दिट्ठे चउगुरुं कोडुंबियपरि- ग्गहे जहण्णए अदिट्ठे चउगुरुं दिट्ठे छल्लहुं दंडियपरिग्गहे जहण्णए अदिट्ठे छल्लहुं दिट्ठे छग्गुरुं एतेण चेव कम्मेण तिपरिग्गहे म- ज्झिमए चउगुरुगादी छेदे ठाति एतेण चेव कम्मेण तिपरिग्गहे उक्कोसए छल्लहुआदी मूले ठाति भणियं देहजुयं ।

इदाणीं पडिमाजुत्तं भण्णति ।

पडिमाजुयं पि एवं, अपरिग्गहएतरे असंणिहिते ।
अचित्तसोयजुत्ते, एसा भणिता भवे सोधी ॥११०॥

पडिमाजुयं पि एवं चेव भाणियव्वं जहा देहजुयं अचित्तं अपरिग्गहं तहा पडिमाजुयं असणिहियं अपरिग्गहियं ॥ जहा देहजुयं अचित्तं सपरिग्गहं तहा पडिमाजुयं असंणिहियं सपरिग्गहं भाणियव्वं । इतरेसु पुण जुगछिद्दणालियादिसु मास- गुरुं एस सुत्तणिवातो एसा अचित्तसोयसुत्ते सोही भणिया ।

एते मामएणतरे, तु सोतए जे उ दिएणमोहाओ ।
साणिमित्तमणिमित्तं वा, कुज्जा णिग्घातणादीणि ॥

एतेसिं अचित्तसोयाणादिणिग्गहणं पावेइ इमा संजमविराहणा

रागग्गिसंजलिअए, डाहो अह संजमे विराहणया ।
सुक्कक्खए य मरणं, अकिच्चकारि त्ति उड्डाहो ॥११२॥

राग एव अग्निः रागाग्निः संयम एव इन्धनं संयमेन्धनम्

मनस्तेन रागाग्निना संयमेन्धनस्य क्षायो भवति विनाश इत्यर्थः अह इति एवा संयमविराधना इमा आत्मविराधना पुणो पुणो विज्झापमाणस्स सुक्कक्खए मरणं भवति ते वा सुक्कपोग्गले णिग्घापत्ता अकिंचकारित्ति काउं अप्पाणं उब्बंधति उक्कलंबेतित्ति वुत्तं भवति (अपवादमार्गस्तु अन्यत एवावसेयः) नि० चू० १ उ० । जीतकल्पे नवमपत्रे स्नेहादिना म्रक्षणादिके पञ्चकल्याणकप्रायश्चित्तमुक्तम् (मैथुनप्रतिज्ञया अङ्गादानसंचालनम् मेहुण शब्दे प्रदर्शयिष्यते) (अङ्गादानाकारां कर्कटिकां दृष्ट्वा जातकौतुकायाः देव्या उदाहरणं पलंब शब्दे दर्शयिष्यते)

अं (इं) गार (ल)–अङ्गार–पुं० न० अङ्ग-आरन् । एकाङ्गारललाटे वा । ८ । १ । ४७ । इति सूत्रेणादेरत इत्त्वं वा प्रा० । विगतधूमज्वालदह्यमानेन्धनादिके बादरतेजस्कायभेदे, उत्त० ३६ अ० । आचा० । पिं० । जीवा० । जी० । प्रज्ञा० । प्र० । औ० । स्था० । दृ० ॥ चारित्रेन्धनस्य रागाग्निनाऽङ्गारस्येव करणे, ग० ७ अधि० । स्वादुमन्नं तद्दातारं वा प्रशंसयतो भोजने आपतति आहारदोषविशेषे, ध० ३ अधि० । पं० व० । प्रव० । उत्त० ॥ आचा० । तथं च ।

जे णं णिग्गंथे वा णिग्गंथी वा फासुयं एसणिज्जं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिग्गहेत्ता सम्मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववण्णए आहारमाहारेइ एस णं गोयमा ! सइंगाले पाणभोयणे भ० ७ श० १ उ० ।

"रागेण सइंगालं" पञ्चा० ३ अ० । एतदेव सव्याख्यानमाह ।

तं होइ सइंगालं, जं आहारेइ मुच्छिओ संतो ।
तं पुण होइ सधूमं, जं आहारेइ निंदंतो ॥

तद्भवति भोजनं साङ्गारं यत्तत्र विशिष्टगन्धरसास्वादवशातो जातगृद्धिप्रमूर्छः सन् अहो मिष्टमहो सुसंभृतमहो स्निग्धं सुपक्वं सुरसमित्येवं प्रशंसमाहारयति । तत्पुनर्भवति भोजनं सधूमं यत्तत्र विरसगन्धास्वादतो जाततद्विषयव्यलीकचित्तः अहो कदन्नमपक्वमसंस्कृतमलवणं चेति निन्दन्नाहारयति । अयं तत्र भावार्थः । इह द्विविधा अङ्गाराः तद्यथा द्रव्यतो भावतश्च । तत्र द्रव्यतः दृशानुदग्धाः खदिरादिदारुरूपनिर्विशेषाः भावतो रागाग्निना निर्दग्धं चरणेन्धनम् । धूमोऽपि द्विधा तद्यथा द्रव्यतो भावतश्च । तत्र द्रव्यतो योऽर्द्धदग्धानां काष्ठानां संबन्धी भावतो द्वेषाग्निना दह्यमानस्य मानस्य संबन्धी । कलुषभावो निन्दात्मकः ततः सहाङ्गारेण यद्वर्त्तते तत्साङ्गारं धूमेन सह वर्त्तते यत्तत्सधूमम् ।

संबन्ध्यङ्गारधूमयोर्दृष्टान्तमाह ।

अंगारत्तमपत्तं, जलमाणं इन्धणं सधूमं तु ।
अंगारत्ति पवुच्चइ, तं चिय दड्डं गए धूमे ॥

अङ्गारत्वमप्राप्तं ज्वलदिन्धनं सधूममुच्यते तदेवेन्धनं दग्धे धूमे गते सति अङ्गार इति । एवमिहापि चरणेन्धनं रागाग्निना निर्दग्धं सदङ्गार इत्युच्यते । द्वेषाग्निना तु दह्यमानं चरणेन्धनं सधूमं निन्दात्मककलुषभावरूपधूमाग्निमिश्रत्वात् ।

एतदेव प्राह ।

रागग्गिसंपलित्तो, भुंजंतो फासुयं पि आहारं ।
निद्दड्डंगालनिभं, करेइ चरणिंधणं खिप्पं ॥

[illegible]

दोसग्गी वि जलंतो, अप्पत्तियधूमधूमियं चरणं ।
अंगारमित्तसरिसं, जो न हवइ निद्दही ताव ॥

द्वेषाग्निरपि ज्वलन् अप्रीतिरेव कलुषभाव एव धूमोऽप्रीतिधूमस्तेन धूमितं चरणेन्धनं यावदङ्गारमात्रसदृशं न भवति तावत् निर्दहति

तत इदमागतम् ।

रागेण सइंगालं, दोसेण सधूमगं मुणेयव्वं ।
छायालीसं दोसा, बायव्वा भोयणविहीए ॥

रागेण ध्मातस्य यद्भोजनं तत्साङ्गारं चरणेन्धनस्याङ्गारभूतत्वात् । द्वेषेण ध्मातस्य तु यद्भोजनं तत्सधूमं निन्दात्मककलुषभावरूपधूममिश्रत्वात् पिं० १०९ पत्र० । पं० चू० । भौमग्रहे, पुं० रक्तवर्णे, न० तद्वति , त्रि० वाच० ।

आङ्गार–त्रि० अङ्गाराणामयमाङ्गारः । अङ्गारसंबन्धिनि, "इंगालं छारियरासिं" दशा० ५ अ० ॥

अं (इं) गार (ल) कड्डिणी–अङ्गारकर्षिणी–स्त्री० अङ्गारोत्थापिकायामीषद्वक्राग्रायां लोहमययष्टौ, भ० १६ श० १ उ० ।

अं [इ] गार [ल] कम्म -अङ्गारकर्म्मन्–न० अङ्गारविषयं कर्माङ्गारकर्म । अङ्गाराणां करणविक्रयस्वरूपे कर्मादानत्वात् कर्त्तव्ये कर्मणि, एवमग्निव्यापाररूपं यदन्यदपीष्टकापाकादिकं कर्म तदङ्गारकर्मोच्यते अङ्गारशब्दस्य तदन्योपलक्षणत्वात् भ० ८ श० ५ उ० । समानस्वभावत्वात् उपा० १ अ० । यतो योगशास्त्रे "अङ्गारभ्राष्ट्रकरणं, कुम्भायःस्वर्णकारिता । ठठारत्वेष्टकापाका–विति ह्यङ्गारजीविका ॥ ध० २ अधि० । प्रव० । आव० । "इङ्गाले दहिऊण विक्किणेति तत्थ छकायवहो तं न कप्पति अहवा लोहकारादि" आ० चू० ६ अ० । आ० । ध० । पंचा० ।

अं [इं] गार [ल] कारिया–अङ्गारकारिका–स्त्री० अङ्गारान् करोतीति अङ्गारकारिका । अग्निशकटिकायाम्, ।

इंगालकारिएणं भंते ! अगणिकाए केवइयं कालं संचिट्ठइ गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिण्णि राइंदियाइं अण्णेवेत्थ वाउकाए वक्कमइ ण विणा वाउकाएणं अगणिकाए उज्जलइ ॥

अङ्गारान् करोतीति अङ्गारकारिका अग्निशकटिका । न केवलं तस्यामग्निकायो भवति (अन्नेवेत्थत्ति) अन्योऽप्यत्र वायुकायो व्युत्क्रामति यत्राग्निस्तत्र वायुरिति कृत्वा कस्मादेवमित्याह " न विणेत्यादि " । भ० १६ श० १ उ० ।

अं (इं) गार (ल) ग–अङ्गारक–पुं० अङ्गार-स्वार्थे-कन् अङ्गारे, वाच० । मङ्गलनामके तारग्रहभेदे, स्था० ६ ठा० । औ० । प्रश्न० । आये महाग्रहे च कल्प० । सू० प्र० । चं० प्र० । स० । " दो इंगालगा " स्था० २ ठा० । अङ्गारमिव स्वार्थे कन् रक्तवर्णत्वात् । कुरण्टकवृक्षे, भृङ्गराजवृक्षे च पुं० स्वल्पार्थे कन् । स्फुलिङ्गे इति विख्याते अङ्गारक्षुद्रांशे, न० वाच० ।

अं (इं) गार (ल) डा (दा) ह–अङ्गारदाह–पुं० अङ्गारा दह्यन्ते यत्र । यत्राङ्गाराणां दाहो भवति तादृशे स्थाने, नि० चू० ३ उ० । आचा० । अङ्गारान् दहतीति अङ्गारदाहः । अङ्गाराणां दाहके, त्रि० (अङ्गारदाहकेन सद्गुणमज्ञानता चन्दनकाष्ठदाहेनेति चन्दनकोटीदृष्टान्तः सव्य बायलिय शब्दे) (मुनिमुखमस्यग्निगतिमिपच्छाङ्गारदाहकदृष्टान्तः सिद्ध शब्दे)

अं (इं) गार (ल) पतावणा–अङ्गारप्रतापना–स्त्री० अङ्गारेषु प्रतापनाऽङ्गारप्रतापना । शरीरस्य शीतकालादौ अङ्गारेषु प्रतापनायाम्, प्रश्न० सं० ५ द्वा० ।

अं (इं) गार (ल) मद्दग–अङ्गारमर्दक–पुं० जीवाश्रद्धानतोऽङ्गाराणां मर्दनेनाङ्गारमर्दकेति प्रसिद्धिं गते रुद्रदेवाभिधे अभव्याचार्ये, तत्सविधानकं चैवं श्रूयते ।

" सूरेर्विजयसेनाख्यो, मासकल्पविहारतः ।
समायातो महाभागः, पुरे गर्जनकाभिधे ॥ १ ॥
अथाऽत्र तिष्ठतस्तस्य, कदाचिन्मुनिपुङ्गवैः ।
गयां विसर्गवेलायां, स्वप्नोऽयं किल वीक्षितः ॥ २ ॥
कलभानां शतैः सूरिः, शूकरः परिवारितः ।
पञ्चभिर्निर्बद्धजातीना–मस्माकमाश्रमागतः ॥ ३ ॥
ततस्ते कथयामासुः, सूरेः स्वप्नं समद्भुतम् ।
सूरिस्तूचात्र तस्यार्थं, साधूनां पृच्छतामयम् ॥ ४ ॥
सुसाधुपरिवारोऽद्य, सूरिरेष्यति कोऽपि यः ।
प्राघूर्णकः परं नव्यो, नास्तीति विनिश्चयः ॥ ५ ॥
यावज्जल्पत्यसौ तेषां, साधूनां सूरिरग्रतः ।
रुद्रदेवाभिधः सूरि–स्तावत्तत्र समागतः ॥ ६ ॥
दानेश्वर इव श्लाघ्य–सौख्यमदगणान्वितः ।
परएतदयन्कान्त–कल्पवृक्षगणान्वितः ॥ ७ ॥
कृता च तस्य तैस्तूर्ण–मभ्युत्थानादिका क्रिया ।
आतिथेयी यथायोगं, स गच्छस्य यथागमम् ॥ ८ ॥
ततो विकालवेलायां, कौतुकात्तस्य तैः ।
परीक्षणाय निक्षिप्ताः, अङ्गाराः कायिकीभुवि ॥ ९ ॥
स्वकीयाचार्यनिर्दिष्टा–स्तत्रैव तके. स्थितैः ।
वाक्त्वन्यसाधुनिर्दिष्टा–स्ते प्राघूर्णकसाधवः ॥ १० ॥
पादसंचूर्णिताङ्गार–कणात्कारश्रवणान्मुनौ ।
मिथ्यादुष्कृतमित्येत–द्ब्रुवाणः प्राणिशङ्कया ॥ ११ ॥
कणात्कारस्थाने, कृतचिह्ना स्वतीच्छया ।
दिने निभालयिष्यामः, इत्याकाराः विमुक्तयः ॥ १२ ॥
आचार्यो रुद्रदेवस्तु, प्रस्थितः कायिकीं भुवम् ।
कणत्कारश्च कुर्व–न्नङ्गारपरिमर्दनात् ॥ १३ ॥
[illegible]वायवानतो मृढ़ो, वर्द्धमानाङ्गैः किल ।
[illegible]रचयोऽमी विनिर्दिष्टाः, प्रमाणे–कृता अपि ॥ १४ ॥
[illegible]स्मत्यसाधुभिर्दृष्टो, यथादृष्टं च साधितम् ।
[illegible]रेर्विजयसेनस्य, तेनापि कथितं ततः ॥ १५ ॥
[illegible]एव शूकरो भद्रा–स्त एते करहस्तिनः ।
[illegible]न गुञ्जिता ये वो, न विशेषोऽत्र संशयः ॥ १६ ॥
[illegible]मातेऽथ तद्विगुण्या, बाधिताश्चूपपत्तिभिः ।
[illegible] बोधिते भाव–अभव्य इति बुध्यताम् ॥ १७ ॥
[illegible] योऽयं, यतो घोर–संसारस्य कारणम् ।
[illegible]रत्नुपायेन, क्रमेणासौ विवर्जितः ॥ १८ ॥
[illegible]मङ्गसाधुत्वं, विधायाथ दिवं गताः ।
[illegible] मनुजाः सन्तः, हेवेगमुचैव भारते ॥ १९ ॥
[illegible]पुरे जाता, जिनराजे मदीपते ।
[illegible]ऽपि कालेन, ते प्राप्ता यौवनश्रियम् ॥ २० ॥
[illegible]ष गुरुत्वात्, कलाचौर्यसयोगतः ।
[illegible]तर्वातिस्था–समर्थनाद्वा स्वयं वरम् ॥ २१ ॥
[illegible]पुरे राजा, कनकध्वजसंज्ञितः ।
[illegible] वरयाय, तान् स्वयंवरमण्डपे ॥ २२ ॥
समायातैः स तैर्दृष्टो, गुरुरङ्गारमर्दकः ।
उष्ट्रत्वेन समुत्पन्नः, पृष्ठारूढमहाभरः ॥ २३ ॥
गवादयपिञ्जरपृष्ठ–उत्तुङ्गोऽप्रेमसं रटन् ।
पामनः सर्वशरीराङ्गो, गतत्राणोऽभिदुःखितः ॥ २४ ॥
तमुद्वीक्ष्यमाणानां, तेषां कारुण्यतो भृशम् ।
जातिस्मरणमुत्पन्नं, सर्वेषां शुभभावतः ॥ २५ ॥
देवजन्मोद्भवज्ञान–ज्ञानत्वात्तैरमी स्फुटम् ।
करभः प्रत्यभिज्ञातो, यथाऽयं वनतो गुरुः ॥ २६ ॥
ततस्ते चिन्तयामासु–र्धिङ् संसारविचेष्टितम् ।
येनैव तादृशज्ञान–मवाप्यापि कुनायकः ॥ २७ ॥
अवस्थामीदृशीं प्राप्त, संसारं च भ्रमिष्यति ।
ततोऽमी मोचितस्तेन्य–स्तत्स्वामिन्यः कृपापरैः ॥ २८ ॥
ततस्तदैव ते प्राप्य, भवनिर्वेदकारणम् ।
कामभोगपरित्यागा–त्ते प्रव्रज्यां प्रपेदिरे ॥ २९ ॥
ततः सुगतिसंसारा–निर्वाणमपि लब्धवान् ।
अन्यः पुनरभव्यत्वाद्, भवाब्धौ भ्रमिष्यतीति ॥ ३० ॥
(गाथार्थः १२) पंचा० ३ विव० ।

अं [इं] गार [ल] रासि–अङ्गारराशि–पुं० अङ्गारपुञ्जे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । आ० म० । आव० । आ० चू० ।

अं [इं] गारवई–अङ्गारवती–स्त्री० धुन्धुमारनृपदुहितरि, (तत्कथा संयमसारे वक्ष्यते)

अं [इं] गार [ल] सदृस–अङ्गारसदृश–त्रि० [illegible] नराणामभिक्रमाणां सदृशे, स्था० ८ ठा० ।

अं (इं) गालसोल्लिय–अङ्गारशू [सू] ल्य–त्रि० अङ्गारैः [illegible] पक्के, भ० ११ श० ६ उ० ।

अं (इं) गार [ल] वयणु–अङ्गारवदन–न० [illegible] परिकर्म क्रियते तस्मिन् [illegible], आचा० २ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

अं [इं] गारि [लि] य–अङ्गारित–त्रि० [illegible], आ० २ श्रु० १ अ० ८ उ० ।

अंगिरस–आङ्गिरस–पुं० [illegible] स्था० ७ ठा० ।

अंगीकय–अङ्गीकृत–त्रि० [illegible] स्वीकृते, स्था० ४ ठा० 'अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति' [illegible] स्वअङ्गीकृत वाच० ।

अं [इं] गुअ–इङ्गुद–पुं० [illegible] "[illegible]" ८ । १ । ८९ । [illegible] प्राकृते [illegible] । तापसतरौ, प्रा० ।

अंगुट्ठ–अङ्गुष्ठ–पुं० अङ्गौ [illegible] स्वम् । [illegible], स्था० १० ठा० ।

अंगुट्ठपसिण–अङ्गुष्ठप्रश्न–न० [illegible] [illegible] [illegible] ।

अंगुय–इङ्गुदी–स्त्री० पुं० [illegible] ८ । ४ । १८ । [illegible] । चूर्णि, [illegible] [illegible] प्रा० ।

अंगुल–अङ्गुल–पुं०

मनस्तेन रागाग्निना संयमेन्धनस्य दाघो भवति विनाश इत्यर्थः एद इति एषा संयमविराधना इमा आत्मविराधना पुणो पुणो विन्नापमानस्य सुक्कक्खए मरणं भवति तं वा सुक्कपोग्गले निग्घायत्ता अकिच्चकारित्ति काउं अप्पाणं वधेति उभकलंबेलोत्ति शुद्धं भवति (अपवादमार्गस्तु अन्यत एवावसेयः) नि० चू० १ उ० । जीतकल्पे नवमपत्रे स्नेहादिना प्रक्षणादिकं पञ्चकल्याणकं प्रायश्चित्तमुक्तम् (मैथुनप्रतिज्ञया अङ्गादानसंचालन च मेहुण शब्दे प्रदर्शयिष्यते) (अङ्गादानाकारां कर्कटिकां दृष्ट्वा जातकामानुकायाः देव्या उदाहरणं पलंब शब्दे दर्शयिष्यते)

अं (इं) गार (ल)-अङ्गार-पु० न० अङ्ग-आरन् । पक्वाङ्गारललाटे वा । ८ । १ । ४७ । इति सूत्रेणादेरत इत्वं वा प्रा० । विगतधूमज्वालादह्यमानेन्धनादिके बादरतेजस्कायभेदे, उत्त० ३६ अ० । आचा० । पिं० । जीवा० । जी० । प्रज्ञा० । भ० । औ० । दशा० । सू० ॥ चारित्रेन्धनस्य रागाग्निनाऽङ्गारस्येव करणे, ग० ३ अधि० । स्वादुकं तद्दातारं वा प्रशंसयतो भोजने आपतति आहारदोषविशेषे, ध० ३ अधि० । पं० व० । प्रव० । उत्त० ॥ आचा० । सर्गे च ।

जे णं णिग्गंथे वा णिग्गंथी वा फासुयं एसणिज्जं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिग्गहेत्ता सम्मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववएणए आहारमाहारेइ एस णं गोयमा ! सइंगाले पाणभोयणे भ० ७ श० १ उ० ।

"रागेण सइंगालं" महा० ३ अ० । एतदेव व्याख्यानमाह ।

तं होइ सइंगालं, जं आहारेइ मुच्छिओ संतो ।
तं पुण होइ सधूमं, जं आहारेइ निंदंतो ॥

[illegible] भोजनं आहारं [illegible] रसास्वादयतो [illegible] [illegible] भोजनं सधूमं [illegible] कश्चित्तः [illegible] निन्दन्नाहारयति । [illegible] भावार्थः । इह द्विविधा अङ्गारा तद्यथा [illegible] । तत्र ज्वलन्तः [illegible] खदिरादिधनस्य [illegible] चरणेन्धनम् । धूमोऽपि [illegible] [illegible] मानस्य संघ- [illegible] रागाङ्गारेण [illegible] [illegible] ।

[illegible] ।

[illegible], [illegible] मधूमं तु ।
[illegible], [illegible] धूमे ॥

[illegible] ।

[illegible] ।

[illegible] आहारं ।
[illegible] निरर्थं ॥

[illegible] वि-
[illegible] ।

दोसग्गी वि जलंतो, अप्पत्तियधूमधूमियं चरणं ।
अंगारमित्तसरिसं, जो न हवइ निद्दही ताव ॥

द्वेषाग्निरपि ज्वलन् अप्रीतिरेव कलुषभाव एव धूमोऽप्रीतिधूमस्तेन धूमितं चरणेन्धनं यावदङ्गारमात्रसदृशं न भवति तावत् निर्दहति

तत इदमागतम् ।

रागेण सइंगालं, दोसेण सधूमगं मुणेयव्वं ।
छायालीसं दोसा, बोधव्वा भोयणविहीए ॥

रागेण ध्मातस्य यद्भोजनं तत्साङ्गारं चरणेन्धनस्याङ्गारभूतत्वात् । द्वेषेण ध्मातस्य तु यद्भोजनं तत्सधूमं निन्दात्मककलुषभावरूपधूमसम्मिश्रत्वात् पिं० १०९ पत्र० । पं० चू० । भौमग्रहे, पुं० रक्तवर्णे, न० तद्वति , त्रि० वाच० ।

आङ्गार-त्रि० अङ्गाराणामयमाङ्गारः । अङ्गारसंबन्धिनि, "इंगालं छारियरासिं" दशा० ५ अ० ॥

अं (इं) गार (ल) कड्डिणी-अङ्गारकर्षिणी-स्त्री० अङ्गारोत्पाटिकायामीषद्वक्रायां लोहमययष्टौ, भ० १६ श० १ उ० ।

अं [इ] गार [ल] कम्म -अङ्गारकर्मन्-न० अङ्गारविषयं कर्माङ्गारकर्म । अङ्गाराणां करणविक्रयस्वरूपे कर्मादानव्यापारे कर्तव्ये कर्मणि, एवमग्निव्यापाररूपं यदन्यदपीष्टकापाकादिकं कर्म तदङ्गारकर्मोच्यते अङ्गारशब्दस्य तदन्योपलक्षणत्वात् भ० ८ श० ५ उ० । समानस्वभावत्वात् उपा० १ अ० । यो० योगशास्त्रे "अङ्गारभ्राष्ट्रकरणं, कुम्भाय स्वर्णकारिता । ठठारत्वेष्टकापाकाविति ह्यङ्गारजीविका ॥ ध० २ अधि० । प्रव० । श्राव० । "इङ्गाले दहिऊण विक्किणेति तत्थ छकायवहो तं न कप्पति भद्दया लोहकारादि" श्रा० चू० ६ अ० । आ० । पञ्चा० ।

अं [इं] गार [ल] कारिया-अङ्गारकारिका-स्त्री० अङ्गारान् करोतीति अङ्गारकारिका । अग्निशकटिकायाम् ।

इंगालकारिएणं भंते ! अगणिकाए केवइयं कालं संचिट्ठइ गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिणि राइंदियाइं अएणेवेत्थ वाउकाए वक्कमइ ण विणा वाउयाएणं अगणिकाए उज्जलइ ॥

अङ्गारान् करोतीति अङ्गारकारिका अग्निशकटिका । न केवलं तस्यामग्निकायो भवति (अएणेवेत्थ) अन्योऽप्यत्र वायुकायो व्युत्क्रामति यत्राग्निस्तत्र वायुरिति कृत्वा कस्मादेवमित्याह " न विणेत्यादि " । भ० १६ श० १ उ० ।

अं (इं) गार (ल) ग-अङ्गारक-पुं० अङ्गार-स्वार्थे-कन् अङ्गारे, वाच० । मङ्गलनामके तारग्रहभेदे, स्था० ६ ठा० । सू० प्र० । चं० प्र० । भ० । प्रश्न० । आपे महाग्रहे च कल्प० । सू० प्र० । चं० प्र० । भ० । " दो इंगालगा " स्था० २ ठा० । अङ्गार इव इवार्थे कन् रक्तवर्णत्वात् । कुरण्टकवृक्षे, भृङ्गराजवृक्षे च पुं० अल्पार्थे कन् रक्तवर्णत्वात् विस्फुलिङ्ग इति विख्याते अग्न्यवयवे, न० वाच० ।

अं (इं) गार (ल) दा (दा) ह-अङ्गारदाह-पुं० अङ्गारा दह्यन्ते यत्र । यत्राङ्गाराणां दाहो भवति तादृशे स्थानविशेषे, आचा० २ श्रु० । आचा० । अङ्गारान् दहतीति अङ्गारदाहः । अङ्गारदाहके, त्रि० (अङ्गारदाहकेन तद्दृष्टान्तेन [illegible]) ([illegible] [illegible])

अं (इं) गार (ल) पतावणा–अङ्गारप्रतापना–स्त्री० अङ्गारेषु प्रतापनाऽङ्गारप्रतापना । शरीरस्य शीतकालादौ अङ्गारेषु प्रतापनायाम्, प्रश्न० सं० ५ द्वा० ।

अं (इं) गार (ल) मद्दग–अङ्गारमर्दक–पुं० जीवाभ्यज्ञानतोऽङ्गाराणां मर्दनेनाङ्गारमर्दकेति प्रसिद्धिं गते रुद्रदेवाभिधे अभव्याचार्ये, तत्संविधानकं चैवं श्रूयते ।

" सूरिर्विजयसेनाख्यो, मासकल्पविहारतः ।
समायातो महाभागः, पुरे गर्जनकाभिधे ॥ १ ॥
अथाऽत्र तिष्ठतस्तस्य, कदाचिन्मुनिपुङ्गवैः ।
गतां विसर्गवेलायां, स्वप्नोऽयं किल वीक्षितः ॥ २ ॥
कलभानां शतैः सूरिः, शूकरः परिवारितः ।
पञ्चभिर्गजजातीना-मस्मदाश्रयमागतः ॥ ३ ॥
ततस्ते कथयामासुः, सूरेः स्वप्नं तमद्भुतम् ।
सूरिस्तूचाच तस्यार्थं, साधूनां पृच्छतामसुम ॥ ४ ॥
सुसाधुपरिवारोऽद्य, सूरिरेष्यति कोऽपि वः ।
प्राघूर्णकः परं भव्यो, नास्मायीति विनिश्चयः ॥ ५ ॥
यावज्जल्पत्यसौ तेषां, साधूनां सूरिरग्रतः ।
रुद्रदेवाभिधः सूरि-स्तावत्तत्र समागतः ॥ ६ ॥
शनैश्चर इव स्फार-सौम्यग्रहगणान्वितः ।
एरण्डतरुवत्कान्त-कल्पवृक्षगणान्वितः ॥ ७ ॥
कृता च तस्य तैस्तूर्ण-मभ्युत्थानादिका क्रिया ।
आतिथेयी यथायोगं, स गच्छस्य यथागमम् ॥ ८ ॥
ततो विकालवेलायां, कौलाकारस्य तस्य तैः ।
परीक्षणाय निक्षिप्ताः, अङ्गाराः कायिकीभुवि ॥ ९ ॥
स्वकीयाचार्यनिर्देशा-त्प्रच्छन्नैश्च तकैः स्थितैः ।
वाग्न्तःस्थसाधुनिर्देशा-त्ते प्राघूर्णकसाधवः ॥ १० ॥
पादसंचूर्णिताङ्गार-कृतात्काररवस्तुतौ ।
मिथ्यादुष्कृतमित्येत-द्ब्रुवाणः प्राणिशङ्कया ॥ ११ ॥
कृतात्काररवस्थाने, कृतचिह्ना इतीच्छया ।
दिने निभालयिष्यामः, कृतात्कारः किमुद्भवः ॥ १२ ॥
आचार्यो रुद्रदेवस्तु, प्रस्थितः कायिकीं भुवम् ।
कृतात्काररवं कुर्व-न्नङ्गारपरिमर्दनात् ॥ १३ ॥
जीवाश्रद्धानतो मूढो, यदर्थितार्जिनैः किल ।
जन्तवोऽमी विनिर्दिष्टाः, प्रमाणैर्न्यकृता अपि ॥ १४ ॥
धाम्नःस्थसाधुभिर्दृष्टो, यथादृष्टं च साधितम् ।
सूरिर्विजयसेनस्य, तेनापि गदितं ततः ॥ १५ ॥
स एव शूकरो भद्रा-स्त एते वरहस्तिनः ।
स्वप्नेन सूचिता ये वो, न विधेयोऽत्र संशयः ॥ १६ ॥
तैः प्रभातेऽथ तच्छिष्या, बाधितास्तूपपत्तिभिः ।
यथैवं वेष्टिते नाय-मभव्य इति बुध्यताम् ॥ १७ ॥
त्याज्यो वोऽयं, यतो घोर-संसारतरुकारणम् ।
ततस्तैरप्युपायेन, क्रमेणासौ विवर्जितः ॥ १८ ॥
ते चाकलङ्कसाधुत्वं, विधायाथ दिवं गताः ।
ततोऽपि प्रच्युताः सन्तः, क्षेत्रेऽमुत्रैव भारते ॥ १९ ॥
श्रीवसन्तपुरे जाता, जितशत्रोर्महीपतेः ।
पुत्राः सर्वेऽपि कालेन, ते प्राप्ता यौवनश्रियम् ॥ २० ॥
अन्यदा तान् सुरूपत्वात्, कलाकौशलयोगतः ।
सर्वत्र ख्यातकीर्तित्वा-त्स्वयंवरायु न्यमन्त्रयत् ॥ २१ ॥
हस्तिनागपुरे राजा, कनकध्वजसंज्ञितः ।
स्वकन्याया वरार्थाय, तान् स्वयंवरमण्डपे ॥ २२ ॥
तत्रायातैः स तैर्दृष्टो, गुरुरङ्गारमर्दकः ।
उष्ट्रत्वेन समुत्पन्नः, पृष्ठारूढमहाभरः ॥ २३ ॥
गलावबद्धविनस्यूत-कुतुपोऽपेसलं रटन् ।
पामनः सर्वजीर्णाङ्गो, गतत्राणोऽतिदुःखितः ॥ २४ ॥
तमुष्ट्रमीक्षमाणानां, तेषां कारुण्यतो भृशम् ।
जातिस्मरणमुत्पन्नं, सर्वेषां शुभभावतः ॥ २५ ॥
देवजन्मोद्भवज्ञान-ज्ञातत्वात्तैरसौ स्फुटम् ।
करभः प्रत्यभिज्ञातो, यथाऽयं वञ्चनो गुरुः ॥ २६ ॥
ततस्ते चिन्तयामासु-र्धिक् संसारविचेष्टितम् ।
येनैव तादृशज्ञान-मवाप्यापि कुभावतः ॥ २७ ॥
अवस्थामीदृशीं प्राप्तः, संसारं च भ्रमिष्यति ।
ततोऽसौ मोचितस्तेभ्य-स्तत्स्वामिभ्यः कृपापरैः ॥ २८ ॥
ततस्तदैव ते प्राप्य, भवनिर्वेदकारणम् ।
कामभोगपरित्यागा-च्च प्रव्रज्यां प्रपेदिरे ॥ २९ ॥
ततः सुगतिसंताना-न्निर्वास्यन्त्यचिरादमी ।
अन्यः पुनरभव्यत्वाद्, भवारण्ये भ्रमिष्यतीति ॥ ३० ॥
(गाथार्धः १२) पंचा० ३ विव० ॥

अं [इं] गार [ल] रासि–अङ्गारराशि–पुं० खदिराङ्गारपुञ्जे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । आ० क० । आव० । आ० चू० ।

अं [इं] गारवई–अङ्गारवती–स्त्री० धुन्धुमारनृपसुतायाम्, (तद्वक्तव्यता संवेगशब्दे वक्ष्यते)

अं [इं] गार [ल] सहस्स–अङ्गारसहस्र–न० ६ त० सधूमतराणामग्निकणानां सहस्रे, स्था० ८ ठा० ।

अं (इं) गालसोल्लिय–अङ्गारशू [ल]ल्य–त्रि० अङ्गारैरिव पक्वे, भ० ११ श० ९ उ० ॥

अं (इं) गारा [ला] यतण–अङ्गारायतन–न० यत्राङ्गारपरिकर्म क्रियते तस्मिन् गृहे, आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अं [इं] गारि [लि] य–अङ्गारित–त्रि० विवर्णीकृते, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० ।

अंगिरस–आङ्गिरस–पुं० गोतमगोत्रविशेषभूताङ्गिरःपुरुषापत्ये, स्था० ७ ठा० ।

अंगीकय–अङ्गीकृत–त्रि०अङ्गीतिच्व्यन्तं तत्पूर्वकात् कृञः कः स्वीकृते, स्था०५ठा० 'अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्तीति' चौरपञ्चाशिका वाच० ।

अं [इं] गुअ–इङ्गुद–पुं० इगि–वः इङ्गुः रोगः तं द्यति खण्डयति दो क "शिथिलेङ्गुदे वा" ८ । १ । ८९ । इति सूत्रेण प्राकृते आदेर्वा इत्वम् । तापसतरौ, प्रा० ।

अंगुट्ठ–अङ्गुष्ठ–पुं० अङ्गौ पाणौ प्राधान्येन तिष्ठति स्था–क–षत्वम् । हस्तावयवे, स्था० १० ठा० ।

अंगुट्ठपसिण–अङ्गुष्ठप्रश्न–न० विद्याविशेषे, यथाऽङ्गुष्ठे देवतावतारः क्रियते तत्प्रतिपादके प्रश्नव्याकरणानां नवमेऽध्ययने च परमिदानींतने प्रश्नव्याकरणपुस्तके नेदमुपलभ्यते स्था० १० ठा० ।

अंगुम–पूरि–धा० पूर० णिच् पूरेरग्घाडोग्घवोद्धुमाङ्गुमाहिरेमाः ८ । ४ । ६८ । इति सूत्रेण पूरेरङ्गुम इत्यादेशः । पूर्णी, अङ्गुमेइ पूरयति प्रा० ।

अंगुल–अङ्गुल–पुं० अङ्ग् उलच् । हस्तपादशाखायाम्, वाच० अष्टयवमध्यात्मके परिमाणभेदे, न० "अट्ठजवमज्झाओ से एगे

अंगुले" भ० ३ श० ७ उ० । ज्यो० । स्था० । अगिरगत्यादिद-एडके पठितः अगिर्गत्यर्थो धातुर्गत्यर्था ज्ञानार्था अपि भवन्त्य-तोऽङ्ग्यन्ते प्रमाणतो ज्ञायन्ते पदार्था अनेनेत्यङ्गुलम् । मानवि-शेषे, प्रव० २५४ द्वा० । तद्भेदा यथा ।

से किं तं अंगुले ? अंगुले तिविहे पण्णत्ते तंजहा । आयंगुले उस्सेहंगुले पमाणंगुले ॥

अङ्गुलं त्रिविधं प्रज्ञप्तं तद्यथा आत्माङ्गुलमुत्सेधाङ्गुलं प्रमाणाङ्गुल-म् । तत्र ये यस्मिन् काले भरतसगरादयो मनुष्याः प्रमाणयुक्ता भवन्ति तेषां च संबन्धी अत्रात्मा गृह्यते आत्मनामङ्गुलमात्मा-ङ्गुलम् एवाह आत्माङ्गुलम् ।

से किं तं आयंगुले आयंगुले जे णं जे ण जया मणूस्सा भवइ तेसि णं तया अप्पणो अंगुलेणं दुवालस अंगुलाइं मुहं नवमुहा पुरिसे पमाणजुत्ते भवइ । दोणिए पुरिसे माण-जुत्ते भवइ । अद्धभारं तुल्लमाणे पुरिसे उम्माणजुत्ते भवइ माणुम्माणप्पमाणजुत्ता लक्खणवंजणगुणेहिं उववेआ उत्तमकुलप्पसूआ उत्तमपुरिसा मुणेअव्वा ? हुंति पुण अहियपुरिसा, अट्ठसयं अंगुलाण उव्विद्धा । छण्णउइ अहमपुरिसा, चउत्तरं मज्झिमिल्लाओ । २ । हीणा वा अहिया वा जे खलु सरसत्तसारपरिहीणा । ते उत्तमपु-रिसाणं, अवसा पेसत्तणमुवेंति । ३ । एएणं अंगुलपमा-णेणं छ अंगुलाइं पादो, दो पाया विहत्थी, दो विहत्थी-ओ रयणी, दो रयणीओ कुच्छी, दो कुच्छीओ दंडं, धणु-जुगेनालिआ अक्खमुसले, दो धनूसहस्साइं गाउअं । चत्तारि गाउआइं जोअणं । एएणं आयंगुलप्पमाणेणं किं पओयणं ? एएणं आयंगुलेणं जे णं जया मनुस्सा हवंति तेसि णं तया णं आयंगुलेणं अगडतलागदहनदी वा वि पुक्खरिणी दोहि य गुंजालिआओ सरासरपंतिआओ सरसरपंतिआओ बिलपंतिआओ आरामुज्जाणकाणण-वणवणसंडवणराइओ देउलसभापवाथूभखाइअपरिहाओ पागारअट्टालचरिअदारगोपुरपासायघरसरणलयणआवण-सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहपहासगडरहजाणजुग-गिल्लिथिल्लिसिबिअसंदमाणिआओ लोहीलोहकडाहकडि-ल्लयभंडमत्तोवगरणमाईणि अज्जकालिआइं च जोअणाइं मविज्जंति से समासओ तिविहे पण्णत्ते तंजहा सूइअंगुले पयरंगुले घणंगुले अंगुलायया एगपएसिया सेढी सूइअंगु-ले सूई सूईए गुणिया पयरंगुले पयरं सूईए गुणितं घणंगुले एएसि णं सूइअंगुलपयरंगुलघणंगुलाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा सव्वत्थोवे सूइअंगुले पयरंगुले असंखेज्जगुणे घणंगुले असंखेज्जगु-णे सेत्तं आयंगुले ॥

ये यत्कालादय प्रमाणयुक्ता यदा भवन्ति तेषां तदा स्वकीयम-ङ्गुलमात्माङ्गुलमुच्यते इति टीका । इदं च पुरुषाणां कालादिभेदे-न अनवस्थितत्वादनवस्थितप्रमाणं द्रष्टव्यम् । अनेनात्माङ्गुलेन पुरुषाणां प्रमाणयुक्तादिनिर्णयं कुर्वन्नाह (अप्पणो अंगुलेणं दुवालसेत्यादि) यद्यस्यात्मीयमङ्गुलं तेनात्मनोऽङ्गुलेन द्वाद-शाङ्गुलानि मुखं प्रमाणयुक्तं भवत्यनेन च मुखप्रमाणेन नव मुखा-नि सर्वोऽपि पुरुषः प्रमाणयुक्तो भवति प्रत्येकं द्वादशाङ्गुलैर्न-वभिर्मुखैरष्टोत्तरं शतमङ्गुलानां संपद्यते । ततश्चैतावदुच्छ्रयः पुरुषः प्रमाणयुक्तो भवतीति परमार्थः । अथ तस्यैव मानयुक्ततामभि-धानार्थमाह । द्रोणिकः पुरुषो मानयुक्तो भवति द्रोणी जल-परिपूर्णा महती कुण्डिका तस्यां प्रवेशितो य पुरुषो जलस्य द्रोणं पूर्वोक्तस्वरूपं निष्काशयति द्रोणजलोनां वा तां पूरयति स द्रोणिकः पुरुषो मानयुक्तो निगद्यते इति भावः । इदानीं त-स्यैवोन्मानयुक्ततामाह । सारपुद्गलोपचितत्वात्तुलारोपितः सन् अर्द्धभारं तुलयन्पुरुष उन्मानयुक्तो भवति । तत्रोत्तमपुरुषाः यथोक्तैः प्रमाणमानोन्मानैः अन्यैश्च सर्वैरपि गुणैः संपन्ना एव भवन्तीति तद्दर्शयन्नाह (माणुम्माणगाहा) अनन्तरोक्तस्वरूपैर्मानोन्मान-प्रमाणैर्युक्ता उत्तमपुरुषाश्चक्रवर्त्यादयो ज्ञातव्या इति संबन्धस्त-था लक्षणानि शङ्खस्वस्तिकादीनि व्यञ्जनानि मषीतिलकादीनि गुणाः क्षान्त्यादयस्तैरुपेतास्तथोत्तमकुलान्युग्रादीनि तत्प्रसूता इति गाथार्थः । अथात्माङ्गुलेनैवोत्तममध्यमाधमपुरुषाणां प्रमा-णमाह (हुंति पुण गाहा) भवन्ति पुनरधिकपुरुषा उत्तमपुरुषा-श्चक्रवर्त्यादयोऽष्टशतमङ्गुला (उव्विद्धाउ) उद्विमिता उच्चत्वेन वा पुनःशब्दस्त्वेषामेवाधिकपुरुषादीनामनेकभेदतादर्शकः । आत्माङ्गुलेनैव षण्णवत्यङ्गुलान्यधमपुरुषा भवन्ति (चउत्तरमज्झि-मिल्लाउत्ति) तेनैवाङ्गुलेन चतुरुत्तरमङ्गुलशतं मध्यमाः तुशब्दो यथानुरूपशेषलक्षणादिमात्रप्रतिपादनपर इति गाथार्थः । अष्टो-त्तरशताङ्गुलमानाद्धीना अधिका वा ते किं भवन्तीत्याह (हीणा वा गाहा) अष्टोत्तरशताङ्गुलहीना वा अधिका वा ये खलु स्वर-सकलजनादेयत्वप्रकृतिगम्भीरतादिगुणालंकृतो ध्वनिः सत्त्वं दैन्य-विनिर्मुक्तो मानसोऽवष्टम्भः सारः शुभपुद्गलोपचयजः शारीरशक्ति-विशेषस्तैः परिहीना सन्तस्ते उत्तमपुरुषाणामुपचितपुण्यप्राग्भा-राणाम् अवशा अनिच्छन्तोऽप्यशुभकर्मवशतः प्रेष्यत्वमुपयान्ति स्वरादिशेषलक्षणवैकल्यसाहाय्यात् यथोक्तप्रमाणाद्धीनाधिक्य-मनिष्टफलप्रदायि प्रतिपत्तव्यं तत्केवलमिह लक्ष्यते । भरतचक्र-वर्त्यादीनां स्वाङ्गुलतो विंशत्यधिकाङ्गुलशतप्रमाणानामपि निर्दि-ष्टत्वात् । महावीरादीनां च केषांचिन्मतेन चतुरशीत्यङ्गुल-प्रमाणत्वाद्भवन्ति विशिष्टाः स्वरादयः प्रधानफलदायिनो यत उक्तम् " अस्थिष्वर्थाः सुखं मांसे त्वचि भोगाः स्त्रियोऽक्षिषु । गतौ यानं स्वरे चाज्ञा, सर्वं सत्त्वे प्रतिष्ठितमिति" गाथार्थः । एतेनाङ्गुलप्रमाणेन षडङ्गुलानि पादः पादस्य मध्यतः प्रदेशः षडङ्गु-लविस्तीर्णः पादैकदेशत्वात्पादाः द्वौ च युग्मीकृतौ पादौ वित-स्तिः द्वे च वितस्ती रत्निर्हस्त इत्यर्थः । रत्निद्वयं कुक्षिः प्रत्येकं कुक्षिद्वयनिष्पन्नास्तु षट्प्रमाणविशेषा दण्डधनुर्युगनालिकाक्षमुस-ललक्षणा भवन्ति । अत्राक्षो धुरी शेषो गतार्थः । द्वे धनुःस-हस्रे गव्यूतं चत्वारि गव्यूतानि योजनम् । " एतेणं आयंगुलप्प-माणेणं किं पओयणमिति " गतार्थं नवरं ये यदा मनुष्या भवन्ति तेषां तदा आत्मनामङ्गुलेन स्वकीयस्वकीयकालसंबन्धीन्यव-टतडागादीनि मीयन्त इति संटङ्कः । (अवटादीनां व्याख्या स्वस्व-स्थाने) अनु० । तदेवमात्माङ्गुलेनात्मीयात्मीयकालसंबन्धीनि व-स्तून्यवटादीनि च योजनानि मीयन्ते । ये यत्र काले पुरुषा भवन्ति तदपेक्षयाऽत्र शब्दो द्रष्टव्यः । इदं चात्माङ्गुलं सूच्यङ्गुला-दिभेदात्त्रिविधं तत्र दीर्घेणाङ्गुलायता बाहल्यस्त्वेकप्रदेशिकी नभ-

प्रदेशश्रेणिः सूच्यङ्गुलमुच्यते । एतच्च सद्भावतोऽसंख्येयप्रदेशात्मकमप्यसत्कल्पनया सूच्याकारव्यवस्थापितप्रदेशत्रयनिष्पन्नं द्रष्टव्यम् । तथा सूची सूच्यैव गुणिता प्रतराङ्गुलम् । इदमपि परमार्थतोऽसंख्येयप्रदेशात्मकम् । असत्कल्पनया त्वनन्तरदर्शिता त्रिप्रदेशात्मिका सूचिस्तयैव सूच्या प्रत्येकं प्रदेशत्रयनिष्पन्नं सूचीत्रयात्मकं नवप्रदेशसंख्यं संपद्यते । स्थापना प्रतरश्च सूच्या गुणितो दैर्घ्येण विष्कम्भतः पिण्डतश्च समसंख्यं घनाङ्गुलं भवति दैर्घ्यादिषु त्रिष्वपि स्थानेषु समतामनुभवत्येव समचतुरस्रया घनस्येह रूढत्वात् प्रतराङ्गुलं तु दैर्घ्यविष्कम्भयोरेव समं न पिण्डतस्तस्यैकप्रदेशमात्रत्वादिति भावः । इदमपि वस्तुवृत्त्याऽसंख्येयप्रदेशात्मकम् । असत्कल्पनया तु सप्तविंशतिप्रदेशात्मकं पूर्वोक्तसूच्या अनन्तरोक्तनवप्रदेशात्मके प्रतरे गुणिते एतावतामेव प्रदेशानां भावात् । एषा च स्थापना अनन्तरनिर्दिष्टा नवप्रदेशात्मकप्रतरस्याध उपरि च नव नव प्रदेशान् दत्वा भावनीया । तथा दैर्घ्यविष्कम्भपिण्डैस्तुल्यमिदमापद्यते " एएसिणं भंते" इत्यादिना सूच्यङ्गुलादिप्रदेशानामल्पबहुत्वचिन्ता यथानिर्दिष्टन्यायानुसारतः सुखावसेयेति तदेतदात्माङ्गुलमिति ॥

उत्सेधाङ्गुलनिर्णयार्थमाह ।

से किं तं उस्सेहंगुले ? उस्सेहंगुले अणेगविहे पण्णत्ते तंजहा "परमाणू तसरेणू रहरेणू अग्गयं च वालस्स । लिक्खा जूआ य जवो अट्ठगुणविवड्ढिया कमसो " ॥

उत्सेधः "अणंताणं सुहुमपरमाणुपोग्गलाणमित्यादि" क्रमेणोच्छ्रयो वृद्धिस्तस्माज्जातमङ्गुलमुत्सेधाङ्गुलम् अथवा उत्सेधो नारकादिशरीराणामुच्चत्वं तत्स्वरूपनिर्णयार्थमङ्गुलमुत्सेधाङ्गुलम् । तच्च कारणस्य परमाण्वादेरनेकविधत्वादनेकविधं प्रज्ञप्तम् ॥ (परमाणुवादानां स्वरूपं स्वस्वस्थाने)

एए णं उस्सेहंगुलएणं किं पओअणं ? एए णं उस्सेहंगुलेणं णेरइअतिरिक्खजोणिअमणुस्सदेवाणं सरीरोगाहणा मविज्जंति ॥

(तदेवमेषा ओगाहणा शब्दे वक्ष्यमाणा अवगाहना सर्वाऽप्युत्सेधाङ्गुलेन मीयते)

से समासओ तिविहे पण्णत्ते तं० सूईअंगुले पयरंगुले घणंगुले अंगुलायया एगपएसिया सेढी सूईअंगुले सूई सूइए गुणिया पयरंगुले पयरं सूइए गुणितं घणंगुले । एएसिणं सूईअंगुलपयरंगुलघणंगुलाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पे वा बहुए वा तुल्ले वा विसेसाहिए वा ? सव्वथोवे सूईअंगुले पयरंगुले असंखेज्जगुणे घणंगुले असंखेज्जगुणे सेत्तं उस्सेहंगुले ॥

एतच्च सूचीप्रतरघनभेदात्त्रिविधमात्माङ्गुलवद्भावनीयम् । उक्तमुत्सेधाङ्गुलम् ।

अथ प्रमाणाङ्गुलम् ।

से किं तं पमाणंगुले ? पमाणंगुले एगमेगस्स रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स अट्ठ सोवण्णिए कागणिरयणे छत्तले दुवालसंसिए अट्ठकण्णिए अहिगरणिसंठाणसंठिए पण्णत्ते तस्स णं एगमेगा कोडी उस्सेहंगुलविक्खंभा तं समणस्स भगवओ महावीरस्स अद्धंगुलं तं सहस्सगुणं पमाणंगुलं भवइ । एएणं अंगुलपमाणेणं छ अंगुलाइं पादो दुवालसंगुलाइं विहत्थी दो विहत्थीओ रयणी दो रयणीओ कुच्छी दो कुच्छीओ धणू दो धणुसहस्साइं गाउअं चत्तारि गाउआइं जोअणं । एएणं पमाणंगुलेणं किं पओअणं एएणं पमाणंगुलेणं पुढवीणं कंडाणं पातालाणं भवणाणं भवणपत्थडाणं निरयाणं निरयावलीणं निरयपत्थडाणं कप्पाणं विमाणाणं विमाणपत्थडाणं टंकाणं कूडाणं सेलाणं सिहरीणं पब्भाराणं विजयाणं वक्खाराणं वासहराणं पव्वयाणं वेलाणं वेइस्सणं वेइयाणं दाराणं तोरणाणं दीवाणं समुद्दाणं आयामविक्खंभोच्चत्तोव्वेहपरिक्खेवा मविज्जंति ॥

सहस्रगुणितादुत्सेधाङ्गुलप्रमाणाज्जातं प्रमाणाङ्गुलम् । अथवा परमप्रकर्षरूपं प्रमाणं प्राप्तमङ्गुलं प्रमाणाङ्गुलं नातः परं बृहत्तरमङ्गुलमस्तीति भावः । यद्वा समस्तलोकव्यवहारराज्यादिस्थितिप्रथमप्रणायकत्वेन प्रमाणभूतोऽस्मिन्नवसर्पिण्यां तावद्युगादिदेवो भरतो वा तस्याङ्गुलं प्रमाणाङ्गुलमेतच्च काकणीरत्नस्वरूपपरिज्ञानेन शिष्यव्युत्पत्तिप्रकर्षं गुणाधिक्यमपरथं तद्द्वारेण निरूपयितुमाह । " एगमेगस्स णं रन्नो इत्यादि " एकैकस्य राज्ञश्चतुरन्तचक्रवर्तिनोऽष्टसौवर्णिकं काकणीरत्नं षट्तलादिधर्मोपेतं प्रज्ञप्तं तस्यैकैका कोटिरुत्सेधाङ्गुलविष्कम्भा तत्प्रमाणस्य भगवतो महावीरस्यार्द्धाङ्गुलं तत्सहस्रगुणं प्रमाणाङ्गुलं भवतीति समुदायार्थः तत्रान्यान्यकालोत्पन्नानामपि चक्रिणां काकणीरत्नतुल्यताप्रतिपादनार्थमेकैकग्रहणं निरुपचरितराजशब्दविषयज्ञापनार्थं राजग्रहणं दिक्त्रयभेदनिजसमुद्रहिमवत्पर्वतपर्यन्तसीमाचतुष्टयरक्षणाच्चत्वारोऽन्तास्तानप्यसौ * क्षेत्र वर्तयति पालयतीति चतुरन्तचक्रवर्ती तस्य परिपूर्णषट्खण्डभरतभोक्तुरित्यर्थः । चत्वारि मधुरतृणफलान्येकः सर्षपः, षोडश सर्षपा एकं धान्यमाषफलं, द्वे धान्यमाषफले एका गुञ्जा, पञ्च गुञ्जाः एकः कर्ममाषकः, षोडश कर्ममाषकाः सुवर्णः, एतैरष्टभिः काकणीरत्नं निष्पद्यते । एतानि च मधुरतृणफलादीनि भरतचक्रवर्तिकालसंभवान्येव गृह्यन्ते अन्यथा कालभेदेन तद्वैषम्यसम्भवे काकणीरत्नं सर्वचक्रिणां तुल्यं न स्यात् तुल्यं चेष्यते तदिति चत्वारि चतसृष्वपि दिक्षु द्वे ऊर्ध्वाधश्च इत्येवं षट् तलानि यस्य तत् षट्तलम् । अथ उपरि पार्श्वतश्च प्रत्येकं चतसृणामश्रीणां भावात् । द्वादश अश्रयः कोटयो यत्र तद् द्वादशाश्रिकं कर्णिकाः कोणास्तेषां च अध उपरि च प्रत्येकं चतुर्णां सद्भावादष्टकर्णिकम् । अधःकरणिः सुवर्णकारोपकरणं तत्संस्थानेन संस्थितं तत्संस्थानाकारं समचतुरस्रमिति यावत्प्रागिह प्ररूपितं तस्य काकणीरत्नस्यैकैका कोटिरुत्सेधाङ्गुलप्रमाणविष्कम्भा द्वादशाप्यश्रय एकैकस्य उत्सेधाङ्गुलप्रमाणा भवन्तीत्यर्थः । अस्य समचतुरस्रत्वादायामो विष्कम्भश्च प्रत्येकमुत्सेधाङ्गुलप्रमाण इत्युक्तं भवति । येन च कोटिरुद्दिष्टा आयामं प्रतिपद्यते साऽप्यसिद्धत्वात् विष्कम्भमायामं च तत्प्रतिपद्यते आयामविष्कम्भयोरेकतरनिर्देशेऽप्यपरनिश्चयः स्यादेवेति सूत्रे विष्कम्भस्यैव ग्रहणं तद्ग्रहणे आयामोऽपि गृहीत एव समचतुरस्रत्वात्तस्येति तदेवं सर्वत्र उत्सेधाङ्गुल-

[illegible] सिद्धं [illegible] परकाणगी [illegible] तिमरं तु मर्यादेतो विद- [illegible] भगवतो महा- [illegible] श्रीमहावीरस्य सार्द्धहस्तत्रयमा- [illegible] सिद्धो भवति स एव [illegible] सार्द्धहस्तत्रयमानत्वा- [illegible] श्रीम- [illegible] भवति । येषां च मतेन [illegible] सार्द्धहस्तचतु- [illegible]

[illegible]

नयरम (टंकाणंति) छिन्नटङ्कानां (कूडाणंति) रत्नकूटानां (सेलाणंति) मुण्डपर्वतानां (सिहरीणंति) [illegible] शिखरवतां (पब्भाराणंति) तेषामेवावनतानां ([illegible]) [illegible] सन्धिवेलाधिवासभूमीनामुद्दीर्घभूमिमध्यप्रवाहतो [illegible] गुप्तविहितस्थिरपदी " इत्यादिगाथोपन्यस्ताङ्गुलादीनि [illegible] सानानि पदानि व्याख्यातानि ।

साम्प्रतं श्रेण्यादीनि श्रेणिपादीनि व्याचिख्यासुराह ।

से समासओ तिविहे पण्णत्ते तं जहा सेढीअंगुले पयरंगुले घणंगुले असंखिज्जाओ जोअणकोडाकोडीओ सेढी सेढीए गुणियाणं पयरं पयरं सेढीए गुणियं लोगो संखेज्जएणं लोगो गुणिओ संखेज्जा लोगा असंखेज्जएणं गुणिओ लोगो असंखेज्जा लोगा अणंतेणं लोगो गुणिओ अणंता लोगा एएसि णं सेढिअंगुलपयरंगुलघणंगुलाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पे वा बहुए वा तुल्ले वा विसेसाहिए वा सव्वत्थोवे सेढिअंगुले पयरंगुले असंखेज्जगुणे घणंगुले असंखेज्जगुणे सेत्त पमाणंगुले ।

अनन्तरनिर्दिष्टप्रमाणाङ्गुलेन यद्योजनं तेन योजनेनासंख्येयाभिः [illegible] योजनकोटीकोटीभिः [illegible] श्रेणिः [illegible] ([illegible] लोकस्य [illegible]) [illegible] [illegible] श्रेणिः सा च तयैव गुणिता प्रतरः [illegible] गुणितः लोकः [illegible] संख्येयेन [illegible] लोकाः असंख्येयेन तु [illegible] लोकाः अनन्तेन [illegible] ॥ अनु० ॥ [illegible] । [illegible] । [illegible] अंगुलपुहत्तिय-अङ्गुलपृथक्त्विक-त्रि० [illegible] [illegible] ।

अंगुलपोहत्तिय-अङ्गुलपृथक्त्विक-त्रि० [illegible] [illegible] प्रत्ययः औ० १ प्रति० । [illegible] प्रति० १ पद ।

अंगुलि (ली)-अङ्गुलि- (ली)-स्त्री० [illegible] मं० । औ० । प्रश्न० । [illegible]

अंगुलिकोस-अङ्गुलिकोश-पुं० [illegible] "अंगुलिकोसं [illegible]" [illegible]

अंगुलि [ली] अग्ग-अङ्गुल्यग्र-न० [illegible]

[illegible]

अंगुलिजलिया-[illegible]

अंगुलिमुद्दा-[illegible]

कगणनार्थमङ्गुलीश्चालयन् तथा योगो नाम स्थापनार्थं व्यापारान्तरनिरूपणार्थं भ्रुवौ चालयन् मूसंज्ञां कुर्वन् चकारादेवमेव वा मूकत्वं कुर्वन्नुत्सर्गे तिष्ठतीति अङ्गुलीभ्रूदोषः प्रव० ५ द्वा०।

अंगुलि [ली] विज्जा–अङ्गुलि [ली] विद्या–स्त्री० आ-यस्यां भगवती बुद्धप्रकाशिते महाप्रमाणे विद्याभेदे, " अंगुली-विज्जा य इत्थेव बुद्धेण संपयासिया महप्पभाया " तो० २५पत्र।

अंगोवंग–अङ्गोपाङ्ग–अङ्गानि शिरःप्रभृतीन्यष्टौ उपाङ्गानि अङ्गावयवभूतान्यङ्गुल्यादीनि शेषाणि तत्प्रत्यवयवभूतान्यङ्गुलीपर्वरेखादीनि अङ्गोपाङ्गानि अङ्गानि च उपाङ्गानि च अङ्गोपाङ्गानि अङ्गोपाङ्गं स्यादाघसंख्येय इत्येकशेषः। इतरेतरयोगः शिरःप्रभृतिषु, अङ्गुल्यादिषु, तत्पर्वरेखादिषु च प्रज्ञा० २३ पद०। कर्म०। महकेसमंसु अंगुलिओट्ठा खलु अंगुवंगाणि" उत्त० ३ अ०।

अंगोवंगणाम–अङ्गोपाङ्गनामन्–न० अङ्गोपाङ्गनिबन्धनं नाम अङ्गोपाङ्गनाम। नामकर्मभेदे, यदुदयाच्छरीरतयोपात्ता अपि पुद्गला अङ्गोपाङ्गविभागेन परिणमन्ति तत्कर्माङ्गोपाङ्गनाम। कर्म० १ क०। अङ्गोपाङ्गनाम त्रिविधं मन्तव्यं तथाहि औदारिकाङ्गोपाङ्गनाम वैक्रियाङ्गोपाङ्गनाम, आहारकाङ्गोपाङ्गनाम तैजसकार्मणयोस्तु जीवप्रदेशसंस्थानानुरोधित्वान्नास्ति अङ्गोपाङ्गसंभव इत्युक्तं त्रिविधमङ्गोपाङ्गनाम। कर्म० ६ क०। प्रज्ञा०। पं०सं०। प्रव०। भा०। आ०चू०।

अंचि—आञ्चि—पुं० गमने, भ० १५ श० १ उ०।

आञ्चि—पुं० आगमने, १५ श० १ उ०।

अंचिअ (त)–आञ्चित–त्रि० पूज्ये राजमान्ये पित्र्यादौ, व्य० ४ उ०। सकृद्गमने, भ० १५ श० १ उ०। पञ्चत्रिंशत्तमे-नाट्यभेदे, रा०। आ०म०प्र०। जं०। दाम्रसन्धौ, नि०चू० २ उ०।

अंचिअंचिय–अञ्चिताञ्चिक–पुं० अञ्चिते सकृद्गते अञ्चितेन सकृद्गतेन वा देशेनाञ्चि पुनर्गमनमञ्चिताञ्चि। गतपूर्वदेशे तेन वा पुनर्गमने प्रत्याञ्चि अच्या गमनेन सह आञ्चिरागमनमत्याञ्चि। गमागमे, "णो कमइ णो पक्कमइ अंचियंचियं करेइ" भ० १५ श० १ उ०। स्था०।

अंचिअ [य] रिभिय–अञ्चितरिभित–न० नाट्यभेदे, रा०। आ० म० प्र०।

अंचेइत्ता–अंचयित्वा–अव्य० उत्पाटयित्वेत्यर्थे, आ० म०। द्वा०।

अंछ–देशी धा० उभ० प० आकर्षणे, अंछंति वासुदेवं अगडतडम्मि आ० म० प्र०। विशे०। भ०। कल्प०।

अंछण–देशी० आकर्षणे, ओ०। नि० चू०।

अंजण–अञ्जन–न० अञ्ज ल्युट्। नयनयोः कज्जलप्रापणे, सूत्र० १ श्रु० ९ अ०। सं०। तप्तायःशलाकया नेत्रयोः दुःखोत्पादने, क्षारतैलादिना देहस्य म्रक्षणे च स०। अज्यतेऽनेन अञ्ज–करणे ल्युट् वाच०। कज्जले, ज्ञा० १ अ०। सौवीराञ्जने, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। जं०। आ० म० प्र०। औ०। जी०। प्रज्ञा०। आव०। रसाञ्जने, दशा० ३ अ०। रत्नविशेषे, आ० म० प्र०। रत्नप्रभायाः खरकाण्डस्य दशमे भागे च। तद्दलयोजनशतानि बाहल्येन प्रज्ञप्तम् स्था० १० ठा०। वनस्पतिविशेषे, औ०। आ० म०प्र०। चन्द्रसूर्याणां लेश्यानुबन्धचारिणां पुद्गलानां पञ्चमे पुद्गले, चं०प्र०२० पाहु०। सू० प्र०। मन्दरस्य पूर्वेण शीतोदाया महानद्या दक्षिणेन स्थिते वक्षस्कारपर्वतभेदे, स्था० ४ ठा०। जं०। " दो अंजणा " स्था० २ ठा०। द्वीपकुमारेन्द्रस्य वेलम्बस्य तृतीये लोकपाले, भ० ३ श० ६ उ०। उदधिकुमारेन्द्रस्य प्रभञ्जनस्य चतुर्थे लोकपाले, स्था० ४ ठा० मन्दरस्य पुरतो रुचकवरपर्वते, सप्तमे कूटे च पुं०। स्था० ८ ठा०।

अंजणा–अञ्जनिका–स्त्री० वल्लीभेदे, प्रज्ञा० १ पद०।

अंजणकेसिया–अञ्जनकेशिका–स्त्री० वनस्पतिविशेषे, भा०। म०प्र०। जं०। रा०। प्रज्ञा०।

अंजणग–अञ्जनक–पुं० अञ्जनरत्नमयत्वादञ्जनास्ततः स्वार्थे कप्रत्ययः। कृष्णवर्णत्वेन अञ्जनतुल्या अञ्जनकाः उपमाने कप्रत्ययः। जं० २ वक्ष०। नन्दीश्वरद्वीपस्य चतुर्दिक्षु व्यवस्थितेषु पर्वतभेदेषु, स्था० ४ ठा०। प्रव०।

अथ नन्दीश्वरस्य चतुर्दिक्षु व्यवस्थिता अञ्जनकपर्वताः उच्यन्ते

णंदीसरवरस्स णं दीवस्स चक्कवालविक्खम्भस्स बहुमज्झदेसभाए चउद्दिसिं चत्तारि अंजणगपव्वया पण्णत्ता तंजहा पुरच्छिमिल्ले अंजणगपव्वए पच्चत्थिमिल्ले अंजणगपव्वए उत्तरिल्ले अंजणगपव्वए दाहिणिल्ले अंजणगपव्वए। ते णं अंजणगपव्वयगा चउरासीतिं जोयणसहस्साइं उड्ढं उच्चत्तेणं, एगमेगं जोयणसहस्सं उव्वेहेणं मूले दसजोयणसहस्साइं धरणियले दसजोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं ततो णंतरं च णं मायाए पदेसपरिहाये माणामाणा उवरिं एगमेगं जोयणसहस्सं आयामविक्खंभेणं मूले एकतीसं जोयणसहस्साइं छच तेवीसजोयणसते किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं धरणितले तिन्नि जोयणसहस्साइं एगं च छावट्ठजोयणसतं किंचिविसेसाहियं परिक्खेवेणं पण्णत्ता मूले विच्छिण्णा मज्झे संखित्ता उप्पिं तणुया गोपुच्छसंठाणसंठिया अच्छा जाव पत्तेयं पत्तेयं पउमवरवेतिया परिक्खेवेणं पत्तेयं पत्तेयं वणसंडपरिक्खेत्ता वण्णओ गोयमा! तेसि णं अंजणपव्वयाणं उवरिं पत्तेयं पत्तेयं बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा पण्णत्ता से जहानामए आलिंगपुक्खरेति वा जाव सयंति।

ते अञ्जनकपर्वताश्चतुरशीतिर्योजनसहस्राणि ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन एकं योजनसहस्रमुद्वेधेन मध्ये सातिरेकाणि दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेन धरणितले दश योजनसहस्राणि। तदनन्तरं च मात्रया परिहीयमानाः परिहीयमाना उपरि एकैकं योजनसहस्रं विष्कम्भेन मूले एकत्रिंशत् योजनसहस्राणि षट्शतानि त्रयोविंशतियोजनानि किंचिद्विशेषाधिकानि (३१६२३) परिक्षेपेण धरणितले एकत्रिंशत् योजनसहस्राणि षट्शतानि त्रयोविंशतिर्योजनानि देशोनानि [३१६२३] परिक्षेपेण उपरि त्रीणि योजनसहस्राणि एकं च द्वाषष्टियोजनशतं किंचिद्विशेषाधिकं [३१६२] परिक्षेपेण ततो मूले विस्तीर्णा मध्ये संक्षिप्तानि उपरि तनुकाः अत एव गोपुच्छसंस्थानसंस्थिताः सर्वात्मना अञ्जनरत्नात्मकाः 'अच्छा जाव पडिरूवा' इति प्राग्वत् प्रत्येकं पद्मवरवेदिका परिक्षिप्ताः प्रत्येकं वनखण्डपरिक्षिप्ताः पद्मवरवेदिका वनखण्डवर्णनं प्राग्वत् "तेसिणमित्यादि" तेषामञ्जनपर्वतानां प्रत्येकं प्रत्येकमुपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः तस्य 'से जहानामए आलिंगपुक्खरेइ वा इत्यादि' वर्ण-

णं जम्बूद्वीपजगत्या उपरितनभागस्येव तावद्वक्तव्यं यावत् 'तत्थ णं बहवे वाणमंतरा देवा देवीओ य आसयंति जाव विहरंति'

तेसि णं बहुसमरमणिज्जाणं भूमिभागाणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं चत्तारि सिद्धायतणा एगमेगं जोयणसयं आयामेणं पण्णासं जोयणाइं विक्खंभेणं बावत्तरि जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभसयसन्निविट्ठा वण्णओ गोयमा ! तेसि णं सिद्धायतणाणं पत्तेयं पत्तेयं चउद्दिसिं चत्तारि दारा पण्णत्ता तंजहा देवद्दारे असुरद्दारे नागद्दारे सुवण्णद्दारे तत्थ णं चत्तारि देवा महिड्ढिया जाव पलिओवमट्ठिइया परिवसंति तं देवे असुरे नाग सुवण्णे तेणं दारा सोलसजोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अट्ठ जोयणाइं विक्खंभेणं तावतियं पवेसेणं सेतावरकणग० वण्णओ जाव वणमालाओ। तेसि णं दाराणं चउद्दिसिं चत्तारि मुहमंडवा पण्णत्ता ते णं मुहमंडवा एगमेगं जोयणसयं आयामेणं पण्णासं जोयणाइं विक्खंभेणं सातिरेगाइं सोलसजोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं वण्णओ तेसि णं मुहमंडवाणं चउद्दिसिं चत्तारि दारा पण्णत्ता ते णं दारा सोलस जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अट्ठजोयणाइं विक्खंभेणं तावतियं चेव पवेसेणं सेसं तं चेव जाव वणमालाओ। एवं पिच्छाघरमंडवा वि तं चेव पमाणं जे मुहमंडवाण दारा वि तहेव उवरिं बहुसमभूमिभाए पेच्छाघरमंडवाणं वइरामयअक्खाडगा मणिपेढियाओ अट्ठजोयणप्पमाणाओ सीहासणा सपरिवारा जाव दामा थूभा वि चउद्दिसिं तहेव णवरिं सोलस जोयणप्पमाणा सातिरेगाइं सोलस उच्चा सेसं तहेव। जिणपडिमाओ चेइयरुक्खा तहेव चउद्दिसिं तं चेव पमाणं जहा विजयाए रायहाणीए णवरिं मणिपेढियाओ सोलस जोयणप्पमाणाओ तेसि णं चेइयरुक्खाणं चउद्दिसिं चत्तारि मणिपेढियाओ अट्ठजोयणविक्खंभेणं चउजोयण-बाहल्लाओ महिंदज्झया चउसट्ठिजोयणुच्चा जोयणउ-व्वेहेणं जोयणविक्खंभेणं सेसं तहेव एवं चउद्दिसिं चत्तारि णंदापुक्खरिणीओ णवरिं खोयरसपडिपुण्णाओ जोयणसयं आयामेणं पण्णासं जोयणाइं विक्खंभेणं दस जोयणाइं उ-व्वेहेणं सेसं तहेव। मणोगुलिया गोमाणसिया अडया-लीसं अडयालीसं सहस्साओ पुरच्छिमेण वि सोलससाह-स्सीओ [illegible] दाहिणेण वि अट्ठ सहस्सा उ-त्तरेण वि अट्ठ सहस्साओ तहेव सेसं उल्लोगा भूमिभागा जाव बहुमज्झदेसभाए मणिपेढिया सोलस जोयणाइं आयामविक्खंभेणं अट्ठ जोयणाइं बाहल्लेणं तासिं णं मणि-पेढियाणं उप्पिं देवच्छंदगा सोलस जोयणाइं आयामविक्खं-भेणं सातिरेगाइं सोलस जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सव्वरयण-मया [illegible] जिणपडिमाणं [illegible] सव्वो सो चेव गमो

जहा वेमाणिय सिद्धाययणस्स ॥

तेषां बहुसमरमणीयानां भूमिभागानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं सिद्धायतनं प्रज्ञप्तं तानि च सिद्धायतनानि प्रत्येकं प्रत्येकं योजनशतमायामेन पञ्चाशद्योजनानि विष्कम्भेन द्विसप्ततियोजनानि ऊर्ध्वमुच्चैस्त्वेन अनेकस्तम्भशतसन्निविष्टानीत्यादि वर्णनं विजयदेवसुधर्मसभावद्वक्तव्यम् (तेसि णमित्यादि) तेषां सिद्धायतनानां प्रत्येकं चतुर्दिशि चतसृषु दिक्षु एकैकस्यां दिशि एकैकभावेन चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि तद्यथा पूर्वस्यामेवं दक्षिणस्यां पश्चिमायामुत्तरस्याम्। तत्र पूर्वस्यां दिशि द्वारं देवद्वारं देवनामकस्य तदधिपतेस्तत्र भावादेवं दक्षिणस्यामसुरद्वारं पश्चिमायां नागद्वारम् उत्तरस्यां सुवर्णद्वारम् (तत्थेत्यादि) तत्र तेषु चतुर्षु द्वारेषु यथाक्रमं चत्वारो देवा महर्द्धिका यावत्पल्योपमस्थितयः परिवसन्ति तद्यथा (देवेत्यादि) पूर्वद्वारे देवो देवनामा दक्षिणद्वारे असुरनामा पश्चिमद्वारे नागनामा उत्तरद्वारे सुवर्णनामा (तेणं दारा इत्यादि) तानि द्वाराणि षोडशयोजनानि प्रत्येकमूर्ध्वमुच्चैस्त्वेन अष्टौ योजनानि विष्कम्भतः (तावइयं चेवत्ति) तावन्त्येव अष्टावेव योजनानीति भावः। प्रवेशेन (सेयावरकणगथूभिया इत्यादिवर्णकः विजयद्वारस्येवेति विजयद्वारशब्दे भावयिष्यते)

तत्थ णं जेसे पुरच्छिमिल्ले अंजणगपव्वते तस्स णं चउद्दिसिं चत्तारि णंदापुक्खरिणीओ पण्णत्ताओ तंजहा णंदुत्तरा य णंदा आणंदा णंदिवद्धणा। ताओ णंदापुक्खरिणीओ एगमेगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं दस जोयणाइं उव्वेहेणं अच्छाओ सण्हाओ पत्तेयं पत्तेयं पउमवरवेइया पत्तेयं पत्तेयं वणसंडपरिक्खित्ता तत्थ तत्थ जाव तिसोपाणपडिरूवगा तोरणा तासि णं पुक्खरिणीणं बहुमज्झदेसभाए पत्तेयं पत्तेयं दहिमुहपव्वए पण्णत्ते ते णं दहिमुहपव्वया चउसट्ठिं जोयणसहस्साइं उड्ढं उच्चत्तेणं एगं जोयणसहस्सं उव्वेहेणं सव्वत्थ समा पल्लगसंठाणसंठिया दसजोयणसहस्साइं विक्खंभेणं एक्कतीसं जोयणसहस्साइं छच्च तेवीसे जोयणसए परिक्खेवेणं पण्णत्ता सव्वरयणमया अच्छा जाव पडिरूवा पत्तेयं पत्तेयं पउमवरवेइया वणसंडपरिक्खित्ता वण्णओ बहुसमरमणीय० जाव आसयंति सिद्धाययणं तं चेव पमाणं तं अंजणगपव्वएसु वत्तव्वया निरवसेसा भाणियव्वा जाव उप्पिं अट्ठट्ठमंगलगा ॥

तत्र तेषु चतुर्षु अञ्जनपर्वतेषु मध्ये योऽसौ पूर्वदिग्भावी अञ्जनपर्वतस्तस्य चतुर्दिशि चतसृषु दिक्षु एकैकस्यां दिशि एकैकनन्दापुष्करिणीभावेन चतस्रो नन्दापुष्करिण्यः प्रज्ञप्ताः तद्यथा पूर्वस्यां दिशि नन्दिषेणा दक्षिणस्याममोघा पश्चिमायां गोस्तूपा उत्तरस्यां सुदर्शना ताश्च पुष्करिण्य एकं योजनशतसहस्रमायामविष्कम्भाभ्यां त्रीणि योजनशतसहस्राणि [illegible] सहस्राणि द्वे शते [illegible] त्रीणि गव्यूतानि [illegible] धनुःशतं त्रयोदश अङ्गुलानि अर्द्धाङ्गुलं च किञ्चिद्विशेषाधिकं परिक्षेपेण प्रज्ञप्ताः। दश योजनानि उद्वेधेन "अच्छाओ सण्हाओ रययामयकूलाओ इत्यादि" जगत्युपरि पुष्करिणीवन्निरवशेषं वक्तव्यं यावद् "बहवे वाणमंतरा [illegible]

पुष्पगामो " इति विशेषः । ताश्च प्रत्येकं प्रत्येकं पद्मवरवेदिकया परिक्षिप्ताः प्रत्येकं प्रत्येकं वनखण्डेन परिक्षिप्ताः । अत्रापीदमन्यदधिकं पुस्तकान्तरे दृश्यते " तासि णं पुक्खरिणीणं पत्तेयं पत्तेयं चउद्दिसिं चत्तारि वणसंडा पन्नत्ता तं जहा पुरच्छिमेणं दाहिणेणं अवरेणं उत्तरेणं पुव्वेणं असोगवणं जाव चूयवणं उत्तरे पासे " एवं शेषाञ्जनपर्वतसंबन्धिनीनामपि नन्दापुष्करिणीनां वाच्यम् (तासिणमित्यादि) तासां पुष्करिणीनां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं दधिमुखो दधिमुखनामा पर्वतः प्रज्ञप्तः (तेणमित्यादि) ते दधिमुखपर्वताश्चतुःषष्टियोजनसहस्राणि ऊर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन एकं योजनसहस्रमुद्वेधेन सर्वत्र समाः पल्यसंस्थानसंस्थिता दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेन एकत्रिंशद्योजनसहस्राणि षट्त्रयोविंशानि त्रयोविंशत्यधिकानि योजनशतानि परिक्षेपेण प्रज्ञप्ताः । सर्वात्मना स्फटिकमया अच्छा यावत्प्रतिरूपाः प्रत्येकं प्रत्येकं पद्मवरवेदिकया परिक्षिप्ताः प्रत्येकं २ वनखण्डेन परिक्षिप्ताः (तेसिणमित्यादि) तेषां दधिमुखपर्वतानामुपरि प्रत्येकं बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः तस्य च वर्णनं तावद्वक्तव्यं यावद्बहवो " वाणमन्तरा देवा देवीओ य आसयंति सयंति जाव विहरंति " (तेसिणमित्यादि) तेषां बहुसमरमणीयानां भूमिभागानां बहुमध्यदेशभागे प्रत्येकं प्रत्येकं सिद्धायतनं प्रज्ञप्तं सिद्धायतनवक्तव्यता प्रमाणादिका अञ्जनकपर्वतोपरि सिद्धायतनवद्वक्तव्या यावदष्टशतं प्रत्येकं प्रत्येकं धूपकडुच्छुकानामिति ।

तत्थ णं जे से दक्खिणिल्ले णं अंजणपव्वए तस्स णं चउद्दिसिं चत्तारि णंदापुक्खरिणीओ पन्नत्ताओ तंजहा भद्दा य विसाला य कुमुया पुंडरीगिणी तं चेव तहेव दहिमुहपव्वया तं चेव पमाणं जाव सिद्धायतणे ।

[तत्थ णं जे से दाहिणिल्लेणं अंजणगपव्वए इत्यादि] दक्षिणाञ्जनकपर्वतकस्यापि पूर्वदिग्भाव्यञ्जनकपर्वतस्येव निरवशेषं वक्तव्यं नवरं नन्दापुष्करिणीनामिमानि नामानि तद्यथा पूर्वस्यां नन्दोत्तरा दक्षिणस्यां नन्दा अपरस्यामानन्दा उत्तरस्यां नन्दिवर्द्धना शेषं तथैव ॥

तत्थ णं जे से पच्चत्थिमेणं अंजणपव्वए तस्स णं चउद्दिसिं चत्तारि पुक्खरिणीओ पन्नत्ताओ तं जहा णंदिसेणा य अमोहा य गोत्थुभा य सुदंसणा य तं चेव सव्वं भाणियव्वं जाव सिद्धायतणं तत्थ जे से उत्तरिल्ले अंजणपव्वते तस्स णं चउद्दिसिं चत्तारि नंदापुक्खरिणीओ पन्नत्ताओ तंजहा विजया वेजयंती जयंती अपराजिता सेसं तहेव जाव सिद्धायतणा सव्वो चेति य वण्णणा णेयव्वा । तत्थ णं बहवे भवणवइवाणमंतरजोतिसवेमाणिया देवा चाउम्मासियपडिवएसु संवच्छरेसु य अण्णेसु बहुजिणजम्मणनिक्खमणणाणुप्पायपरिणिव्वाणमादिएसु य देवकज्जेसु य देवसमुदएसु य देवसमितीसु य देवसमवाएसु य देवपओयणेसु य एगंतओ सहिया समुवागया समाणा पमुदितपक्कीलिया अट्ठाहियाओ महामहिमाओ करेमाणा पालेमाणा सुहंसुहेण विहरंति । कइलाससहरिवाहणा य तत्थ दुवे देवा महिड्ढिया जाव पलिओवमट्ठितिया परिवसंति से तेण-

ट्ठेणं गोयमा ! जाव निच्चे जोतिसं संखेज्जं ॥

पूर्वदिग्भाव्यञ्जनकपर्वतस्येव पश्चिमदिग्भाव्यञ्जनपर्वतस्यापि वक्तव्यं यावत्प्रत्येकं प्रत्येकमष्टशतं धूपकडुच्छुकानां नवरं नन्दापुष्करिणीनां नामनानात्वं तद्यथा पूर्वस्यां भद्रा दक्षिणस्यां विशाला अपरस्यां कुमुदा उत्तरस्यां पुण्डरीकिणी शेषं तथैव । एवमुत्तरदिग्भाव्यञ्जनकपर्वतेऽपि वक्तव्यं नवरमत्रापि नन्दापुष्करिणीनां नामनानात्वं तद्यथा पूर्वस्यां दिशि विजया दक्षिणस्यां वैजयन्ती अपरस्यां जयन्ती उत्तरस्यामपराजिता शेषं तथैव यावत्प्रत्येकं प्रत्येकमष्टशतं धूपकडुच्छुकानामिति पोडशानामपि चामूषां वापीनामपान्तराले प्रत्येकं प्रत्येकं रतिकरपर्वतौ जिनभवनमण्डितशिखरौ शास्त्रान्तरे अभिहिताविति । सर्वसङ्ख्यया नन्दीश्वरद्वीपे द्वापञ्चाशत्सिद्धायतनानि (तत्थण मित्यादि) तत्र तेषु सिद्धायतनेषु णमिति पूर्ववत् बहवो भवनपतिवाणमन्तरज्योतिष्कवैमानिका देवाश्चातुर्मासिकेषु पर्युषणायामन्येषु च बहुषु जिनजन्मनिष्क्रमणज्ञानोत्पादपरिनिर्वाणादिषु देवकार्येषु देवसमितिषु एतदेव पर्यायद्वयेन व्याचष्टे देवसमवायेषु देवसमुदायेष्वागताः प्रमुदितप्रक्रीडिता अष्टाह्निकारूपा महामहिमाः कुर्वन्तः सुखं सुखेन विहरन्ति आसते । (अदुत्तरं च णं गोयमा ! इत्यादि) अथान्यत् गौतम! नन्दीश्वरवरद्वीपे चक्रवालविष्कम्भेन बहुमध्यदेशभागे चतसृषु विदिक्षु एकैकस्यां विदिशि एकैकभावेन चत्वारो रतिकरपर्वताः प्रज्ञप्ताः तद्यथा एक उत्तरपूर्वस्यां द्वितीयो दक्षिणपूर्वस्यां तृतीयो दक्षिणापरस्यां चतुर्थ उत्तरापरस्याम् । (तेणमित्यादि) ते रतिकरपर्वता दशयोजनसहस्राणि ऊर्द्ध्वमुच्चैस्त्वेन एकं योजनसहस्रमुद्वेधेन सर्वत्र समा झल्लरीसंस्थानसंस्थिता दशयोजनसहस्राणि विष्कम्भेन एकत्रिंशद्योजनसहस्राणि षट्त्रिंशानि योजनशतानि परिक्षेपेण सर्वात्मना रत्नमया अच्छा यावत् प्रतिरूपाः । तत्र योऽसावुत्तरपूर्वो रतिकरपर्वतस्तस्य चतुर्दिशि चतसृषु दिक्षु एकैकराजधानीभावेन ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य चतसृणामग्रमहिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणाः चतस्रो राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा पूर्वस्यां दिशि नन्दोत्तरा दक्षिणस्यां नन्दा पश्चिमायामुत्तरकुरा उत्तरस्यां देवकुरा । तत्र कृष्णायाः कृष्णनामिकाया अग्रमहिष्या नन्दोत्तरा कृष्णराज्या नन्दा रामाया उत्तरकुरा रामरक्षिताया देवकुरा । तत्र योऽसौ दक्षिणपूर्वो रतिकरपर्वतस्तस्य चतुर्दिशि शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य चतसृणामग्रमहिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणाश्चतस्रो राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा पूर्वस्यां सुमनाः दक्षिणस्यां सौमनसा अपरस्यामर्चिमाली उत्तरस्यां मनोरमा । तत्र पद्मायाः पद्मनामिकाया अग्रमहिष्याः सुमनाः शिवायाः सौमनसा सोमाया अर्चिमाली अञ्जुकाया मनोरमा । तत्र योऽसौ दक्षिणपश्चिमो रतिकरपर्वतस्तस्य चतुर्दिशि शक्रस्य देवराजस्य चतसृणामग्रमहिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणमात्राश्चतस्रो राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा पूर्वस्यां दिशि भूता दक्षिणस्यां भूतावतंसा अपरस्यां गोस्तूपा उत्तरस्यां सुदर्शना । तत्र अमलाया अमलनामिकाया अग्रमहिष्या भूता राजधानी अप्सरसोऽभूतावतंसिका नवमिकाया गोस्तूपा रोहिण्याः सुदर्शना । तत्र योऽसावुत्तरपश्चिमो रतिकरपर्वतस्तस्य चतुर्दिशि ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य चतसृणामग्रमहिषीणां जम्बूद्वीपप्रमाणाश्चतस्रो राजधान्यः प्रज्ञप्तास्तद्यथा पूर्वस्यां दिशि रत्ना दक्षिणस्यां रत्नोच्चया अपरस्यां सर्वरत्ना उत्तरस्यां रत्नसञ्चया । तत्र रत्नवसुनामिकाया अग्रमहिष्या

[illegible]

अञ्जलिकरणरूपे विनयविशेषे, भ० १४ श० ३ उ०। स्था०।
सम्भोगभेदे च। स० (संभोग शब्दे निरूपणम्)

अंजलिबंध-अञ्जलिबन्ध-पुं० करकुड्मलस्य शिरसि निवेशे
दशा० ।

अंज [म्]-अञ्जस्-न० अनक्ति गच्छति निभृतं यतो
अञ्जु गतौ' निभृते च असुन्, येगे, षत्वे, कौशिके च 'अञ्ज
स्तथमस्थानमिति' वार्तिकात् तृतीयाया अलुक्। अन्जसा इत्य
वाच० । प्रगुणे, न्याय्ये, विशे० ।

अंजिय-अञ्जित-त्रि० अञ्जित-स० कज्जलेन अञ्जिते, "तं ते
चक्खु निलए य ते कए" नि० चू० १ उ० ।

अंजु-ऋजु-त्रि० प्रगुणे, अकुटिले," अन्नाणो वविस्सन्ति
धम्मंबुद्धि दुम्मई " आचा० १ श्रु० ५ अ० । मायाप्रपञ्चरहि
ते, "अंजुधम्मं जहा तच्चं जिणाणं तं सुणेह मे" सूत्र० १
श्रु० ९ अ० । संयमे प्रगुणे अव्यभिचारिणि सूत्र० १ श्रु० १ अ०
आचा० । व्यक्ते, सूत्र० ९ श्रु० १ अ० । निर्दोषत्वात् तत्र, सूत्र०
२ श्रु० ७ अ० ।

अंजुगा-अञ्जुका-स्त्री० अरनाथस्य प्रथमशिष्यायाम्, स०

अंजू-अञ्जू-स्त्री० धनदेवसार्थवाहदुहितरि, तत्कथा [illegible]
[illegible]

जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं [illegible]
[illegible]

[illegible]

अञ्ज्वा वर्त्तमानभवः ।

इहेव वद्धमाणे णयरे धणदेवस्स सत्थवाहस्स पियंगुभारियाए कुच्छिंसि दारियत्ताए उप्पण्णा तएणं सा पियंगुभारिया णवएहं मासाणं दारियं पयाया णामं अंजू सेसं जहा देवदत्ताए । तए णं से विजये राया आसवाहणियाए णिज्जायमाणे जहा वेसमणदत्ते तहा अंजू पासइ णवरं अप्पणो अट्ठाए वरेइ जहा तेतली । जाव अंजूए दारियाए सद्धिं उप्पिं जाव विहरइ । तएणं तीसे अंजूदेवीए अन्नया जोणीसूले पाउब्भूए या वि होत्था । तएणं से विजये राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी गच्छह णं देवा वद्धमाणपुरे णयरे सिंघाडग जाव एवं वयह एवं खलु देवा विजए अंजूए देवीए जोणीसूले पाउब्भूए जो णं इच्छइ स वा ६ जाव उग्घोसइ तएणं से बहवे वेज्जा वा ६ इमं एयारूवं सोच्चा णिसम्म जेणेव विजए राया तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता अंजूए देवीए बहवे उप्पत्तियाहिं ४ बुद्धीहिं परिणामेमाणा इच्छंति । अंजूए देवीए जोणीसूले उवसामित्तं णो संचाएइ उवसामित्तए तएणं ते बहवे विज्जा य जाहे णो संचाएइ अंजूए देवीए जोणीसूले उवसामित्तए ताहे संता तंता जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगया तएणं सा अंजू देवी ताए वेयणाए अभिभूया समाणी सुक्का भुक्खा णिम्मंसा कट्ठाइं कलुणाइं वीसराइं विलवइ । एवं खलु गोयमा ! अंजू देवी पुरा जाव विहरइ अंजू णं भंते ! देवी कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिति कहिं उववज्जिहिति । गोयमा ! जहा तेयलि च ॥

ज्ञाताधर्मकथायां यथा तेतलिसुतनामा अमात्यः पोट्टिलाभिधानां कलादस्वर्णकारश्रेष्ठिसुतामात्मार्थं याचयित्वाऽऽत्मनैव परिणीतवानेवमयमपीति दशमाध्ययनविवरणम् ।

अञ्ज्वा भविष्यद्भवः ।

अंजू णं देवी णउइवासाइं परमाउयं पालइत्ता कालमासे कालं किच्चा इमीसे रयणप्पभाए णेरइयत्ताए उववज्जे ; एवं संसारो जहा पढमो तहा णेयव्वं जाव वणस्सईसाणं । तओ अणंतर उव्वट्टित्ता सव्वओ भद्दे णयरे मयूरत्ताए पच्चायाहिंति से णं तत्थ साउणिएहिं वहिए समाणे तत्थेव सव्वओ भद्दे णयरे सेट्ठिकुलंसि पुत्तत्ताए पच्चायाहिंति से णं तत्थ उम्मुक्कबालभावे तहारूवाणं थेराणं अंतिए केवलिं बोहिं बुज्झिहिति बुज्झिहिंतित्ता पव्वज्ज सोहम्मे सेणं ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं ३ कहिं गच्छिहिंति कहिं उववज्जिहिंति गोयमा ! महाविदेहे वासे जहा पढमे जाव सिज्झिहिति जाव अंतं काहिति । एवं खलु जंबू समणेणं जाव संपत्तेणं दुहविवागाणं दसमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते सेवं भंते विपा० ।

तद्ध्ययनामतिबद्धे कर्मविपाकानां दशमेऽध्यय... १० ग० । शक्रस्य चतुर्थ्यामग्रमहिष्यां च स्था० ... पूर्वभवे हस्तिनापुरे पश्चाद् विजयायामुत्पन्ना पार्श्व... प्रव्रजिता शक्रस्याग्रमहिषी जाता । स्थितिः स... महाविदेहेऽन्तं करिष्यति तत्प्रतिपादके ज्ञाता... द्वितीयश्रुतस्य नवमवर्गस्य चतुर्थेऽध्ययने च. ज्ञा० ...

अंड–अण्ड–न० अमन्ति सम्प्रयान्ति यान्ति अनेनेति ... स्वर्गादित्वेऽपि ह्रस्य नेत्वम् । पुंसोऽवयवभेदे मुष्के, पिपीलिकादीनां डिम्बे, सू० ४ ठ० । आचा० । चतुरिन्द्रिय... शेषनिर्वर्तितकोशाकारे, विशे० । ज्ञाताधर्मकथायाः प्रथम... ग्धस्य मयूराण्डकपक्तव्यताप्रतिबद्धे तृतीयेऽध्ययने, ज्ञा० ... आव० । प्रश्न० । स० । आ० चू० ।

तत्कथानकं चैवम् ।

जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव एवं... जंबू तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नयरी हो... वण्णओ तीसे णं चंपाए नयरीए बहिया उत्तरपुरत्थि... दिसीभाए सुभूमिभागे णामं उज्जाणे सव्वओ य सुरभि... णंदणवणे इव सुहसुरभिसीयलच्छायाए समणुबद्धे तस्स णं सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स उत्तरे एगदेसम्मि मालुया... कच्छए होत्था वण्णओ तत्थ णं एगा वणमयूरी दो पुट्ठे परियागते पिट्ठुंडी पंडुरे णिव्वणे निरुवहए भिन्नमुट्ठिप्पमाणे मयूरी अंडए पसवइ सएणं पक्खवाएणं संरक्खमाणी संगोवेमाणी संचिट्ठेमाणी विहरइ । तत्थ णं चंपाए णयरीए दुवे सत्थवाहदारगा परिवसंति तं जहा जिणदत्तपुत्ते य सागरदत्तपुत्ते य सह जायया सहवड्ढियया सह पंसुकीलिया सह दारदरिसी अन्नमन्नमणुरत्तया अन्नमन्नमणुव्वयया अन्नमन्नच्छंदाणुवत्तया अन्नमन्नहियइच्छियकारया अन्नमन्नेसु गिहेसु किच्चाइं करणिज्जाइं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । तए णं तेसिं सत्थवाहदारगाणं अन्नया कयाइं एगओ सहियाणं समुवगयाणं सण्णिसण्णाणं सण्णिविट्ठाणं इमेयारूवे मिहोकहासमुल्लावे समुप्पज्जित्था जेणं देवाणुप्पिया अम्हं सुहं वा दुहं वा पव्वज्जा वा विदेसगमणं वा समुप्पज्जति तेणं अम्हे एगओ समेच्च णित्थरियव्वं तिकट्टु अण्णमण्णं एयारूवं संकेयं पडिसुणंति सकम्मसंपउत्ता जाया वि होत्था । तत्थ णं चंपाए नयरीए देवदत्ता नामं गणिया परिवसति अड्ढा जाव भत्तपाणा चउसट्ठिकलापंडिया चउसट्ठिगणियागुणोववेया अउणत्तीसं विसेसरममाणी एक्कवीसरइगुणप्पहाणा बत्तीसपुरिसोवयारकुसला णवंगसुत्तपडिबोहिया अट्ठारस देसीभासाविसारया सिंगारागारचारुवेसा संगयगयहसियभणियविहियविलाससललियसंलावनिउणजुत्तोवयारकुसला ऊसियज्झया सहस्सलंभा विदिण्णछत्तचामरबालवीयणिया क-

[illegible] वि हरित्ता । बहूणं गणियासहस्साणं आ- [illegible] जाव विहरति । तएणं तेसिं सत्थवाहदारयाणं [illegible] कयाइ पुव्वावरण्हकालसमयंसि जिमियभुत्त- [illegible] आयंताणं चोक्खाणं परमसुइभूयाणं [illegible] मिहो कहासमुल्लावे समुप्प- [illegible] खलु देवाणुप्पिया कल्लं जाव जलंते विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेत्ता तं विपुलं अस- णं पाणं खाइमं साइमं धूवपुप्फगंधवत्थं गहाय देवदत्ताए [illegible] सद्धिं सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स उज्जाणसिरिं [illegible] विहरत्तए त्तिकट्टु अण्णमण्णस्स एय- [illegible] कल्लं पाउब्भूए कोडुंबियपुरिसे [illegible] एवं वयासी। गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडेह उवक्खडावेत्ता [illegible] असणं पाणं खाइमं साइमं धूवपुप्फं गहाय जेणेव [illegible] जेणेव नंदापुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ उ- [illegible] पुक्खरिणीए [illegible] थूणा मंडवं [illegible] सुगंधं जाव कलियं क- [illegible] चिट्ठह । तए णं से सत्थवाहदा- [illegible] एवं व- [illegible] सुहासणवरगया देवदत्ताए [illegible] नीलोप्प- [illegible] नाणामणिरयणकंच- [illegible] सुणामेर [illegible] सत्थवाह- [illegible] जेणेव दे- [illegible] उवागच्छंति । [illegible] तए णं सा [illegible] वयासी [illegible] तए णं [illegible] जेणेव उवा- [illegible] साहि [illegible] सुभूमिभागस्स उज्जा- [illegible]

च्छंति उवागच्छंतित्ता पवहणातो पच्चोरुहंति णंदापुक्ख- रिणी ओगाहंति जलमज्जणं करेंति जलकीडं करेंति [illegible] देवदत्ताए सद्धिं पच्चोरुहंति जेणेव थूणामंडवे तेणेव उवाग- च्छंति उवागच्छंतित्ता अणुप्पविसंति सव्वालंकारविभूसि- आसत्था वीसत्था सुहासणवरगया देवदत्ताए गणियाए सद्धिं तं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं धूवपुप्फवत्- त्थं आसाएमाणा विसाएमाणा परिभुंजमाणा एवं च णं विहरं- ति जिमियभुत्तुत्तरागया देवदत्ताए गणियाए सद्धिं विउ- लाइं माणुस्सगाइं कामभोगाइं भुंजमाणा विहरंति तए णं ते सत्थवाहदारया पुव्वावरण्हकालसमयंसि देवदत्ताए गणि- याए सद्धिं थूणामंडवाओ पडिनिक्खमंति [illegible] सुभूमिभागे बहुसु आलियघरेसु य कयलीघरेसु य लया- सु य अच्छणघरेसु य पेच्छणघरेसु य पासणघरेसु य मोह- घरेसु य सालघरेसु य जालघरेसु य कुसुमघरेसु उज्जाणसिरिं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति तए णं ते सत्थवाहदारया जेणे- से मालुयाकच्छे तेणेव पहारेत्थगमणाए तए णं सा वण- मयूरी ते सत्थवाहदारए एज्जमाणे पासति पासित्ता भीया तत्थ महया महया सद्देणं केकारवं विणिम्मुयमाणा मालुया कच्छाओ पडिनिक्खमइ । एगंसि रुक्खडालयंसि ठिच्चा ते सत्थवाहदारए मालुयाकच्छेयं च पविसमाणा अणिमिसाए दीए पेहमाणी चिट्ठइ । तए णं ते सत्थवाहदारया अण्णमण्णं सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी जहा णं देवाणुप्पिया एस वणमयूरी अम्हे एज्जमाणे पासित्ता भीया तत्थ तसिया [illegible] पलाया महया महया सद्देणं जाव अम्हं मालुया कच्छगं च पेहमाणी पेहमाणी चिट्ठति तं भवियव्वमेत्थ का- रणेणं । त्तिकट्टु मालुया कच्छगं अंतो अणुपविसंति । तए णं दो पुढे परियागए जाव पासित्ता अण्णमण्णं सद्दा- सद्दावेइत्ता एवं वयासी सेयं खलु देवाणुप्पिया अम्हं इमे वणमयूरी अंडए सा णं जाइमंताणं कुक्कुडियाणं अंडए [illegible] तए णं ताओ जाइमंताओ कुक्कुडियाओ [illegible] एए अंडए य सए णं पक्खवाएणं सारक्खमाणीओ सं- [illegible] विहरिस्संति । तए णं अम्हं एत्थ दो कीलाव- णा मयूरीपोयगा भविस्संति त्तिकट्टु अण्णमण्णस्स एय- मट्ठं पडिसुणेंति पडिसुणेत्ता सए सए दासचेडए सद्दावे- ति सद्दावेत्ता एवं वयासी। गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया इमे अंडए गहाय सयाणं जाइमंताणं कुक्कुडीए अंडएसु पक्खिवह [illegible] जाव ते वि पक्खिवंति तए णं ते सत्थवाहदारया देवद- त्ताए गणियाए सद्धिं सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स उज्जाण- सिरिं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति [illegible] जेणेव चंपानगरी जेणेव देवदत्ताए गणियाए गिहे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता । देवदत्ताए गिहे [illegible]

देवदत्ताए गणियाए विपुलं जीवियारिहं पीतिदाणं दलयंति सक्कारेंति सम्माणेंति देवदत्ताए गिहाओ पडिणिक्खमंति पडिणिक्खमंतित्ता जेणेव सयाइं गिहाइं तेणेव उवागच्छंति सकम्मसंपउत्ता जाया वि होत्था। तत्थ णं जे से सागरदत्तपुत्ते सत्थवाहे से णं कल्लं जाव जलंते जेणेव से वणमयूरीअंडए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तंसि मयूरीअंडयंसि संकिए कंखिए वितिगिच्छे समावण्णे भेयसमावण्णे कलुससमावण्णे किण्णं ममं एत्थ कीलावणमयूरीपोयए भविस्सति उदाहु नो भविस्सति त्तिकट्टु तं मयूरीअंडयं अभिक्खणं अभिक्खणं उव्वत्तइ परियत्तेति आसारेति संसारेति चालेति घट्टेइ खोभेति अभिक्खणं अभिक्खणं कण्णमूलंसि टिट्टियावेति तए णं से मयूरीअंडए अभिक्खणं अभिक्खणं उव्वत्तिज्जमाणे जाव टिट्टियाविज्जमाणे पोच्चडे जाए या वि होत्था। तए णं से सागरदत्तपुत्ते सत्थवाहदारए अण्णया कयाइं जेणेव से मयूरीअंडए तेणेव उवागच्छति उवागच्छइत्ता तं मयूरीअंडयं पोच्चडमेव पासति पासइत्ता अहो णं ममेस कीलावणमयूरीपोयए जाए त्तिकट्टु ओहयमण० जाव झियायति एवामेव समणाउसो जो अम्हं निग्गंथे वा निग्गंथी वा आयरियउवज्झायाणं अंतिए पव्वइए समाणे पंचमहव्वएसु जाव छज्जीवनिकाएसु निग्गंथे पावयणे संकिए जाव कलुससमावण्णे से णं इह भवे चेव बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं बहूणं सावयाणं बहूणं सावियाणं हीलणिज्जे निंदणिज्जे खिंसणिज्जे गरहणिज्जे परिभवणिज्जे परलोए वि य णं आगच्छइ बहूणि दंडणाणि य जाव अणुपरियट्टति। तए णं से जिणदत्तउत्ते जेणेव से मयूरीअंडए तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तंसि मयूरीअंडयंसि निस्संकिए सुवत्तए णं ममेत्थ कीलावणमयूरीपोयए भविस्सति त्तिकट्टु तं मयूरीअंडयं अभिक्खणं नो उव्वत्तेइ जाव नो टिट्टियावेइ तए णं से मयूरीअंडए अणुव्वत्तिज्जमाणे जाव अटिट्टियाविज्जमाणे। तेणं कालेणं तेणं समएणं उब्भिन्ने मयूरीपोयए एत्थ जाए तए णं से जिणदत्तउत्ते तं मयूरपोययं पासइ पासइत्ता हट्ठतुट्ठहियए मयूरपोसए सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी तुब्भे णं देवाणुप्पिया इमं मयूरपोययं बहूहिं मयूरपोसणपाउग्गेहिं दव्वेहिं आणुपुव्वेणं सारक्खेमाणे संगोवेमाणे संवड्ढेह नट्टुल्लगं च सिक्खावेह। तए णं से मयूरपोसगा जिणदत्तस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति पडिसुणेइत्ता तं मयूरपोययं गिण्हेंति जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता तं मयूरपोययं जाव नट्टुल्लगं सिक्खावेंति। तए णं से मयूरपोयए उम्मुक्कबालभावे विण्णाय जोव्वण-लक्खणवंजणमाणुम्माणप्पमाणपडिपुण्णपक्खपेहुणकलावे विचित्तपिच्छसयचंदए नीलकंठए नच्चणसीलए एगाए चप्पुडियाए कयाए समाणीए अणेगाइं नट्टुल्लगसयाइं केगाइं सयाणि य करेमाणे विहरति। तए णं ते मयूरपोसगा तं मयूरपोयगं उम्मुक्कबाल० जाव करेमाणे पासित्ता तं मयूरपोयगं गिण्हंति गिण्हंतित्ता जिणदत्तउत्ते उवणेंति। तए णं से जिणदत्तउत्ते सत्थवाहदारए मयूरपोयगं उम्मुक्क० जाव करेमाणं पासित्ता हट्ठतुट्ठे तेसिं विउलं जीवियारिहं पीइदाणं दलइ पडिविसज्जेइ। तए णं से मयूरपोयए जिणदत्तपुत्तेणं एगाए चप्पुडियाए कयाए समाणीए गीवाभंगसिरोधरे सेयावंगे ओयारियपइण्णपक्खे उक्खित्तचंदकाइयकलावे केक्काइयसयाणि य विमुच्चमाणे नच्चइ तए णं से जिणदत्तपुत्ते तं मयूरपोयगं चंपाए णयरीए सिंघाडग० जाव पहेसु सएहि य साहस्सिएहि य सयसाहस्सिएहि य पणिएहि जयं करेमाणे विहरति एवामेव समणाउसो जो अम्हं निग्गंथो वा णिग्गंथी वा पव्वइए समाणे पंचसु महव्वएसु छसु जीवनिकाएसु निग्गंथे पावयणे निस्संकिए निक्कंखिए निव्वितिगिच्छे से णं इह भवे बहूणं समणाणं बहूणं समणीणं जाव वितिवइस्सति एवं खलु जंबू समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं नायाणं तच्चस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि तच्चं णायज्झयणं सम्मत्तं ॥

टीका [illegible]

अंडकड-अण्डकृत-[illegible]

[illegible]

अंडकड-अण्डकृत-[illegible]

[illegible] " मंभूतो जातोऽण्डकात्प्रसुयोनिविशेषाल्लोकः [illegible] प्रश्न० आश्र० २ द्वा०

" [illegible] पंचमहव्वय पव्वियगतीरं ।
[illegible] ॥ १ ॥
[illegible] सुरकाले ।
[illegible] ॥ २ ॥
[illegible] जगं सव्वं ।
[illegible] ॥ ४ ॥
[illegible] अंडकडे जगे ।
[illegible] मुसंवदे ॥ १ ॥

[illegible] केवल पौ- [illegible] च । यथा जगदेतद- [illegible] तथाहि [illegible] संसार- [illegible]

[illegible]

शणकादिवर्ज्ये, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । प्रतिबन्धभेदे च । [illegible] हंसादिर्ममायमित्युल्लेखेन वा प्रतिबन्धो भवति [illegible] एडकं मयूरादीनामिदं रमणकमयूरादि कारणमिति [illegible] बन्धः स्यादित्यथवा अण्डजं पट्टसूत्रमिति वा [illegible] । ठा० । सूत्र० ।

अंडसुहुम-अण्डसूक्ष्म-न० अण्डमेव सूक्ष्मम् । [illegible] कागृहकोकिलाब्राह्मणीकृकलाशाद्यण्डकरूपे सूक्ष्मभेदे, [illegible] १ श्रु० ६ अ० । दशा० ।

से किं तं अंडसुहुमे ? अंडसुहुमे पंचविहे पत्तो तं० उद्दंसंडे १ उक्कलिअंडे २ पिपीलिअंडे ३ हलिअंडे ४ हल्लोहलिअंडे ५ जे निग्गंथे णं वा जाव पडिलेहियव्वे भवइ सेत्तं अंडसुहुमे ६ ।

" अण्डसुहुम उद्दंसंडे इत्यादि " उद्दंशा मधुमक्षिका [illegible] णाद्यास्तेषामण्डं उद्दंशाण्डम् १ उत्कलिकाण्डं [illegible] पीपिलिकाण्डं कीटिकाण्डम् ३ हलिका गृहकोकिला [illegible] ह्मणी वा तस्या अण्डम् ४ हल्लोहलिया अहिलोडी [illegible] किरडी इत्येकार्थास्तस्या अण्डम् एतानि सूक्ष्माणि [illegible] कल्प० । स्था० ।

अंडु-अण्डु (न्दु)-न० काष्ठमयेषु लोहमयेषु वा [illegible] पाद्योर्वा बन्धनविशेषेषु, औ० ।

अंत-अन्त-पुं० अम् गत्यादिषु तस्येह [illegible] गत्यर्थं अम् धातुर्गत्यादिष्वर्थेषु पठ्यते [illegible] यति । अमनमन्तः । अवसाने, विशे० । स्था० । [illegible] मस्ति न परं सोऽन्तः अनु० । पर्यन्ते, आ० म० प्र० । [illegible] निक्षेपोऽस्य षड्विधः तद्यथा नामान्तः स्थापनान्तो [illegible] व्यान्तः क्षेत्रान्तः कालान्तो भावान्तश्च । तत्र नामस्थापने [illegible] गते द्रव्यान्तो घटाद्यन्तः क्षेत्रान्त ऊर्ध्वलोकादि [illegible] समयाद्यन्तो भावान्त औदयिकादि आ० म० प्र० । [illegible] सू० । परमकाष्ठायाम्, सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । [illegible] विशे० । पारे, आ० १ अ० । समीपे, [illegible] स्था० । अमनमधिगमनमन्तः । परिच्छेदे, निर्णये, [illegible] ठा० । प्रज्ञा० । स त्रिविधः ।

[illegible]

[illegible]

दो अंता पंच धणुसयाइं तेजहा पुरंते य तणुयंते य २ तत्थ णं जे से पुरंते तेणं उच्चारे परिणमइ तत्थ णं जे से तणुयंते तेणं पासवणे परिणमइ ॥

द्वे अन्त्रे प्रत्येकं पञ्च पञ्च व्यामप्रमाणे प्रज्ञप्ते जिनैः तद्यथा स्थूलान्त्रं १ तन्वन्त्रम् २ तत्र यत्स्थूलान्त्रं तेनोच्चारः परिणमति। तत्र च यत्तन्वन्त्रं तेन प्रश्रवणं मूत्रं परिणमति तं०। प्रतिबोधार्थं भगवता वीरेण दृष्टे चतुर्थे स्वप्ने च, आ० म० द्वि०।

आन्त-न० अन्ते प्रथमान्तम्। धूलायशेषे, पंचा० १७ विव०। अरसतया सर्वधान्यान्तवर्त्तीनि वल्लचणकादी, प्र० ए श० ३३ उ०। स्था० "लिप्पावमाइ अंतं" निप्पावा वल्लाइचणकाः प्रतीताः आदिशब्दात्कुल्माषादिकं च आन्तमित्युच्यते सू० १ उ०। ठा०।

अंत [र] अन्तर्-अव्य० अम-अरन् तुडागमश्च । वाच० । स्वरेऽन्तरश्च ८ । १ । १४ इति अन्तःशब्दस्यान्त्यव्यञ्जनस्य स्वरे परे न लुक् अन्यत्र लुक् प्रा०। मध्ये, । आ० म० द्वि०। रा०। आचा०। विशे०। "अंतरप्पा" अत्र स्वरपरत्वान्न लुक्। क्वचिद्भवत्यपि "अंतोवरि" प्रा०।

अंतक (ग)-अन्तक-पुं० अन्तयति अन्तं करोति अन्त-णिच्-एवुल् वाच०। मृत्यौ, "समागमं कंखति अंतकस्स" सूत्र०१ श्रु० ७ अ०। पर्यन्ते, "जे एवं परिभासंति, अंतए ते समाहिए" सूत्र० १ श्रु० २ अ०। अन्तवर्तिनि च. सूत्र० १ श्रु० १५ अ०।

अंतकम्म-अन्तकर्मन्-न० अचलकर्मणि, औ०।

अंतक(ग)र-अन्तकर-त्रि० अन्तस्य करः। संसारस्य तत्कारणस्य वा क्षयकारिणि, "अंताणि धीरा सेवंति तेणं अंतकरा इह" सूत्र० १ श्रु० १५ अ०। आ० म० द्वि०। भ०। स्था०।

अंतकर (गड) भूमि-अन्तकर-(कृत्) भूमि-स्त्री०अन्तं भवस्य कुर्वन्तीति अन्तकराः (अन्तकृतो वा) तेषां भूमिः कालः कालस्य चाधारत्वेन कारणत्वाद् भूमित्वेन व्यपदेशः। मुक्तिगामिनां काले, सा द्विधा युगान्तकरभूमिः पर्यायान्तकरभूमिश्च जं० २ वक्ष० (यस्य तीर्थकृतो यावती अन्तकरभूमिः सा तच्छब्दे वक्ष्यते)

अंतकाल-अन्तकाल-पुं० मरणकाले, सूत्र० १ श्रु० ५ अ०।

अंतकिरिया-अन्तक्रिया-स्त्री० अन्तोऽवसानं तच्च प्रस्तावादिह कर्मणामवसातव्यमन्यथागमे अन्तक्रियाशब्दस्य रूढत्वात् तस्य क्रिया करणमन्तक्रिया। कर्मान्तकरणे, मोक्षे, कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्ष इति वचनात् प्रज्ञा० २० पद।

अन्त्य(न्त)-क्रिया-स्त्री० अन्त्या च सा पर्यन्तवर्तिनी क्रिया अन्त्यस्य वा कर्मान्तस्य क्रियाऽन्त्यक्रिया। कृत्स्नकर्मक्षयलक्षणायां मोक्षप्राप्तौ, भ० १ श० २ उ०। आ०म०प्र०। स०।

चत्तारि अंतकिरियाओ पण्णत्ता तंजहा तत्थ खलु इमा पढमा अंतकिरिया अप्पकम्मपच्चायाए वि भवइ से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले लूहे तीरट्ठी उवहाणवं दुक्खक्खवे तवस्सी। तस्स णं णो तहप्पगारे तवे भवइ णो तहप्पगारा वेयणा भवइ तहप्पगारे पुरिसजाए दीहेणं परियाएणं सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिणिव्वाइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ जहा से भरहे राया चाउरंतचक्कवट्टी। पढमा अंतकिरिया।

यस्य न तथाविधं तपो नापि परीषहादिजनिता तथाविधा वेदना दीर्घेण प्रव्रज्यापर्यायेण सिद्धिर्भवति तस्यैका यस्य तु तथाविधे तपोवेदने अल्पेनैव च प्रव्रज्यापर्यायेण सिद्धिः स्यात् तस्य द्वितीया यस्य च प्रकृष्टे तपोवेदने दीर्घेण च पर्यायेण सिद्धिस्तस्य तृतीया यस्य पुनरविद्यमानतथाविधतपोवेदनस्य ह्रस्वपर्यायेण सिद्धिस्तस्य चतुर्थीति । अन्तक्रियाया एकस्वरूपत्वेऽपि सामग्रीभेदाच्चातुर्विध्यमिति समुदायार्थः। अवयवार्थस्त्वयं चतस्रोऽन्तक्रियाः प्रज्ञप्ता भगवतेति गम्यते तत्रेति सप्तमी निर्द्धारणे तासु चतसृषु मध्य इत्यर्थः। खलुर्वाक्यालङ्कारे इयमनन्तरवक्ष्यमाणत्वेन प्रत्यक्षासन्ना प्रथमा इतरापेक्षया आद्या अन्तक्रिया। इह कश्चित् पुरुषः देवलोकादौ गत्वा ततोऽल्पैः स्तोकैः कर्मभिः करणभूतैः प्रत्यायातः प्रत्यागतो मानुषत्वमिति अल्पकर्मप्रत्यायातो य इति गम्यते । अथवा एकत्र अनितया ततोऽल्पकर्मा सन् यः प्रत्यायातः स तथा लघुकर्मतयोत्पन्न इत्यर्थः। चकारो वक्ष्यमाणमहाकर्मापेक्षया समुच्चयार्थः । अपिः सम्भावने सम्भाव्यतेऽयमपि पक्ष इत्यर्थः भवति स्यात् स इति। असौ णमिति वाक्यालङ्कारे मुण्डो भूत्वा द्रव्यतः शिरोलोचेन भावतो रागाद्यपनयनेनागारात् द्रव्यतो गेहात् भावतः संसाराभिनन्दिनां देहिनामायासभूतादविवेकगेहाद्विनिष्क्रम्येति गम्यतेऽनगारिताम् अगारी गृही असंयतस्तत्प्रतिषेधादनगारी संयतस्तद्भावस्तत्ता तां साधुतामित्यर्थः। प्रव्रजितः प्रगतः प्राप्त इत्यर्थः। अथवा विभक्तिपरिणामादनगारितया निर्ग्रन्थतया प्रव्रजितः प्रव्रज्यां प्रतिपन्नः किंभूत इत्याह (संजमबहुलेत्ति) संयमेन पृथिव्यादिसंरक्षणलक्षणेन बहुलः प्रचुरो यः स तथा । संयमो वा बहुलः प्रचुरो यस्य स तथा। एवं संवरबहुलोऽपि नवरमाश्रवनिरोधः संवरः अथवा इन्द्रियकषायनिग्रहादिभेदः। एवं च संयमबहुलग्रहणं प्राणातिपातविरतेः प्राधान्यख्यापनार्थम्। यतः "एकं चिय एत्थ वयं, निद्दिट्ठं जिणवरेहिं सव्वेहिं । पाणाइवायविरमण-मवसेसा तस्स रक्खट्ठत्ति" ॥ १ ॥ एतच्च द्वितयमपि रागाद्युपशमयुक्तस्यैव भवति। यत आह समाधिबहुलः समाधिस्तु प्रशमवाहिता ज्ञानादिर्वा समाधिः पुनरितिस्नेहस्यैव भवतीत्याह (लूहेत्ति) रूक्षः शरीरे मनसि च द्रव्यभावस्नेहवर्जितत्वेन रूपः लूषयति वा कर्ममलमपनयतीति लूषः कथमसावेवं संवृत्त इत्याह यतः (तीरट्ठी) तीरं पारं भवार्णवस्यार्थयत इत्येवं शीलस्तीरार्थी तीरस्थायी वा तीरस्थितिरिति वा प्राकृतत्वात् 'तीरट्ठीति' अत एवाह(उवहाणवंति)उपधीयते उपष्टभ्यते श्रुतमनेनेति उपधानं श्रुतविषयस्तप उपचार इत्यर्थस्तद्वान् अत एव च (दुक्खक्खवेत्ति) दुःखमसुखं तत्कारणत्वाद्वा कर्म तत् क्षपयतीति दुःखक्षपः। कर्मक्षपणं च तपोहेतुकमित्यत आह। (तवस्सीति) अभ्यन्तरकर्मेन्धनदहनज्वलनकल्पमनवरतशुभध्यानलक्षणमस्ति यस्य स तपस्वी (तस्स णं नि) एवंविधस्य णं वाक्यालङ्कारे नो तथाप्रकारमत्यन्तघोरं वर्द्धमानजिनस्येव तपोऽनशनादिर्भवति। तथा नो तथाप्रकारा अतिघोरैरुपसर्गादिभिर्जाता वेदना दुःखासिका भवति अल्पकर्मप्रत्यायातत्वा-

[illegible]ति । तत्र [illegible]प्रकारमल्पकर्मप्रत्यायातादिविशेषणक-[illegible] पुरुषजातं पुरुषप्रकारो दीर्घेण बहुकालेन पर्यायेण [illegible]न सिध्यति । अणिमादियोगेन निष्ठिता-[illegible] वा [illegible] सिद्धिगमनयोग्यो वा भवति सकलकर्मनाय-[illegible] ततो घातिचतुष्टयघातेन बुध्यते केवलज्ञान-[illegible] ततो मुच्यते भवोपग्राहिकर्मभिः परि-[illegible] सकलकर्मकृतविकारव्यतिकरनिराकरणेन; शीतीभव-[illegible] । किमुक्तं भवतीत्याह सर्वदुःखानामन्तं करोति शारी-[illegible] । [illegible]विधतपोवेदनो दीर्घेणापि पर्याये-[illegible] कोऽपि सिद्ध इति दृष्टान्तेनाह । " जहासेइत्यादि " [illegible] प्रथमजिनप्रथमनन्दनो नन्दनशतागजन्मा भर-[illegible] राजा [illegible] पर्यन्ताः पूर्वदक्षिणपश्चिमसमुद्रहिम-[illegible] पृथिव्याः सा चतुरन्ता तस्या अयं स्वामित्वेने-[illegible] चक्रवर्ती चेति स तथा । स हि प्राग-[illegible] सर्वार्थसिद्धविमानात् च्युत्वा चक्रवर्तितयोत्पद्य [illegible] सम्यग्ज्ञा: [illegible]विध-[illegible] सिद्धिमुक्त इति प्रथमान्तक्रियेति ॥

अहावरा दोच्चा अंतकिरिया महाकम्मे पच्चायाए वि भवइ से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए संजमबहुले [illegible] जाव उवहाणवं दुक्खक्खवे तवस्सी तस्स णं तहप्पगारे तवे भवइ तहप्पगारा वेयणा भवइ तहप्पगारे पुरिसजाए निरुद्धेणं परियाएणं सिज्झइ जाव अंतं करेइ जहा से गयसुकुमाले अणगारे दोच्चा अंतकिरिया ॥

[illegible] द्वितीया [illegible] महाकर्मा [illegible] प्रत्यायातः [illegible] " [illegible] " [illegible] महाकर्म-[illegible] भवति । [illegible] सिद्धेति भ-[illegible] स हि भगवतोऽरि-[illegible]

अहावरा तच्चा अंतकिरिया महाकम्मपच्चायाए वि भवइ से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ जाव पव्वइए जहा दोच्चा [illegible] दीहेणं परियाएणं सिज्झइ जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेइ जहा से सणंकुमारे राया चाउरंतचक्कवट्टी । तच्चा अंत-किरिया ३ ।

[illegible] सनत्कुमार [illegible] चक्रवर्ती [illegible]

अहावरा चउत्था अंतकिरिया अप्पकम्मपच्चायाए वि भवइ से णं मुंडे भवित्ता जाव पव्वइए संजमबहुले जाव तस्स णं नो तहप्पगारे तवे भवइ नो तहप्पगारा वेयणा भवइ तहप्पगारे पुरिसजाए निरुद्धेणं परियाएणं सिज्झइ जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेइ जहा सा मरुदेवा [illegible]

"अहावरेत्यादि" कण्ठ्यं यथासौ मरुदेवी प्रथमजिनजननी [illegible] हि स्थावरत्वेऽपि क्षीणप्रायकर्मत्वेनाल्पकर्मा अविद्यमानवेदना च सिद्धा गजवरारूढाया एवायुःसमाप्तौ सिद्धत्वादिति । [illegible] दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकानामर्थानां न सर्वथा साधर्म्यमन्वेष्यं देशदृष्टान्तत्वादेषां यतो मरुदेव्याः "मुण्डे भवित्तेत्यादि" विशेषणानि कानिचित् न घटन्ते । अथवा फलतः सर्वसाधर्म्यं मुण्डनादिकार्यस्य सिद्धत्वस्य सिद्धत्वादिति स्था० ४ ठा० । [illegible]

अन्तक्रियायाः सकला वक्तव्यता प्रदर्श्यते
तत्रेयमादावधिकारगाथा ।

नेरइयअंतकिरिया, अणंतरं एगसमय उव्वट्टा ।
तित्थगरचक्किबलदे–व वासुदेवमंडलियरयणा य ॥ १ ॥

प्रथमतो नैरयिकोपलक्षितेषु चतुर्विंशतिस्थानेष्वन्तक्रिया चिन्तनीया ततोऽनन्तरागताः किमन्तक्रियां कुर्वन्ति परम्परागता वेत्येवमन्तरं चिन्तनीयम् । ततो नैरयिकादिभ्योऽनन्तरागताः कियन्त एकसमये अन्तक्रियां कुर्वन्तीति चिन्त्यं तत "उव्वट्टा" उद्वृत्ताः सन्तः कस्यां योनावुत्पद्यन्ते इति वक्तव्यं तथा [illegible] तीर्थकराश्चक्रवर्तिनो बलदेवा वासुदेवा [illegible] तिनो रत्नानि च सेनापतिप्रमुखाणि भवन्ति [illegible] वक्तव्यानीति द्वारगाथासंक्षेपार्थः । विस्तरार्थं तु सूत्रकृदेव [illegible]

तत्र प्रथमतोऽन्तक्रियामभिधित्सुराह ।

जीवे णं भंते ! अंतकिरियं करेज्जा ? गोयमा ! [illegible] निए करेज्जा अत्थेगइए नो करेज्जा एवं नेरइए जाव वेमाणिए ।

जीवे णमिति वाक्यालंकृतौ भदन्त ! अन्तक्रियामिति [illegible] वसानं तच्च प्रस्तावादिह कर्मणामवसातव्यम् । [illegible] अन्तक्रियाशब्दस्य रूढत्वात् तस्य क्रिया करणम् [illegible] न्तकरणं मोक्ष इति भावार्थः । [illegible] कुर्यादुपपातात् । गौतम ! अस्त्येकको यः कुर्यात् [illegible] यो न कुर्यात् । इयमत्र भावना यस्तथाविधभव्यत्वपरिपाक[illegible] मनुष्यत्वादिकामविकलां सामग्रीमवाप्य [illegible] [illegible] क्षपकश्रेणिसमारोहणेन [illegible] समासाद्य घातीन्यपि कर्माणि क्षपयेत् स कुर्यात् [illegible] कुर्यादन्तक्रियामिति । एवं नैरयिकादिचतुर्विंशतिदण्डकेन [illegible] वैमानिकाः सूत्रमप्येवम् " नेरइए णं भंते ! अंतकिरियं करेज्जा गोयमा ! अत्थेगइए करेज्जा अत्थेगइए नो करेज्जा इत्यादि "

इदानीं नैरयिकेषु मध्ये वर्तमानोऽन्तक्रियां करोति किं वा [illegible] करोतीति [illegible]माह ॥

नेरइए णं भंते ! असुरकुमारेसु अंतकिरियं करेज्जा ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे एवं जाव वेमाणिएसु [illegible] रएसु अंतकिरियं करेज्जा पुच्छा ! गोयमा ! [illegible] करेज्जा अत्थेगइए नो करेज्जा एवं असुरकुमारा [illegible] वेमाणिए । एवमेव चउवीसं चउवीसा दंडगा भवंति [illegible]

[illegible]

वैमानिकपर्यवसानेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः। मनुष्येषु मध्ये समागतः सन् कश्चिदन्तक्रियां कुर्यात् यस्य परिपूर्णा चारित्रादिसामग्री कश्चिन्न कुर्यात् यस्तद्विकल इति एवमसुरकुमारादयोऽपि वैमानिकपर्यवसानाः प्रत्येकं नैरयिकादिचतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण वक्तव्यास्तत एवमेते चतुर्विंशतिदण्डकाश्चतुर्विंशतयो भवन्ति। अथ ते नैरयिकादयः स्वस्वनैरयिकादिभवेभ्योऽनन्तरं मनुष्यभवे समागताः सन्तोऽन्तक्रियां कुर्वन्ति किं वा तिर्यगादिसंव्यवधानेन परम्परागता इति निरूपयितुकाम आह।

नेरइयाणं भंते ! किं अणंतरागया अंतकिरियं करांति परंपरागया अंतकिरियं करांति ? गोयमा ! अणंतरागया वि अंतकिरियं करेंति परंपरागया वि अंतकिरियं करेंति एवं रयणप्पभापुढविनेरइया वि जाव पंकप्पभापुढविणेरइया धूमप्पभापुढविणेरइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! नो अणंतरागया अंतकिरियं पकरांति परंपरागया अंतकिरियं पकरांति जाव अहेसत्तमा पुढविणेरइया असुरकुमारा जाव थणियकुमारा। पुढविआउवणस्सइकाइया य अणंतरागया वि अंतकिरियं पकरांति परंपरागया वि अंतकिरियं पकरांति। तेउवाउबेइंदियतेइंदियचउरिंदिया नो अणंतरागया अंतकिरियं पकरेंति परंपरागया अंतकिरियं पकरेंति सेसा अणंतरागया वि अंतकिरियं पकरेंति परंपरागया वि अंतकिरियं पकरेंति ॥

प्रथमसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! अनन्तरागता अपि अन्तक्रियां कुर्वन्ति परंपरागता अपि तत्र रत्नशर्करावालुकापङ्कप्रभाभ्योऽनन्तरागता अपि धूमप्रभापृथिव्यादिभ्यः पुनः परंपरागता एव तथा स्वाभाव्यादेनमेव विशेषं प्रतिपादयितुः सूत्रसत्कमाह। " एवं रयणप्पभापुढविनेरइया वि इत्यादि " सुगमम् असुरकुमारादयः स्तनितकुमारपर्यवसानाः पृथिव्यब्वनस्पतयश्चानन्तरागता अपि अन्तक्रियां कुर्वन्ति परंपरागता अपि अन्तक्रियां कुर्वन्ति उभयथा आगता अपि। उभयथाऽप्यागतानां तेषामन्तक्रियाकरणाविरोधात् तथा केवलचक्षुरुपलब्धेः। तेजोवायुद्वित्रिचतुरिन्द्रियाः परम्परागता एव नत्वनन्तरागतास्तत्र तेजोवायूनामानन्तर्येण मनुष्यत्वस्यैवाप्राप्तेः द्वीन्द्रियादीनां तु तथास्वाभाव्यादिति। शेषास्तु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियादयो वैमानिकपर्यवसाना अनन्तरागता अपि परम्परागता अपि।

नैरयिकादिभवेभ्योऽनन्तरमागताः कियन्त एकसमये अन्तक्रियां कुर्वन्तीत्येवंरूपं तृतीयं द्वारमभिधित्सुराह।

अणंतरागया णं भंते ! णेरइया एगसमएणं केवतिया अंतकिरियं पकरांति ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं दस रयणप्पभा पुढविणेरइया वि एवं जाव वालुयप्पभापुढविणेरइया। अणंतरागयाणं पंकप्पभापुढविणेरइया एगसमएणं केवतिया अंतकिरियं पकरेंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं चत्तारि। अणंतरागयाणं भंते ! असुरकुमारा एगसमएणं केवइया अंतकिरियं पकरांति ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं दस। अणंतरागयाओ णं भंते ! असुरकुमारीओ एगसमएणं केवतियाओ अंतकिरियं पकरेंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं पंच एवं जहा असुरकुमारा सदेवीया तहा थणियकुमारा वि। अणंतरागया णं भंते ! पुढविकाइया एगसमएणं केवइया अंतकिरियं पकरेंति ? गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा उक्कोसेणं चत्तारि एवं आउकाइया वि चत्तारि वणस्सइकाइया छ पंचिंदियतिरिक्खजोणिया दस तिरिक्खजोणिणीओ दस मणुस्सा दस मणुस्सीओ वीसं वाणमंतरा दस वाणमंतरीओ पंच जोइसिया दस जोइसिणीओ वीसं वेमाणिया अट्ठसतं वेमाणिणीओ वीसं ॥

" अणंतरागया णं भंते इत्यादि " नैरयिकभवादनन्तरमव्यवधानेन मनुष्यभवमागता अनन्तरागता नैरयिका इति प्राग्भवपर्यायेण व्यपदेशः सुरादिभागतपर्यायप्रतिपत्तिव्युदासार्थः एवमुत्तरत्रापि तत्प्राग्भवपर्यायेण व्यपदेशः प्रयोजनं चिन्तनीयं शेषं कण्ठ्यम्।

सम्प्रति तत उद्वृत्ताः कस्यां योनावुत्पद्यन्ते इति चतुर्थद्वारमभिधित्सुराह।

णेरइया णं भंते ! णेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता नेरइएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे। णेरइए णं भंते ! णेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता असुरकुमारेसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे एवं निरंतरं जाव चउरिंदिएसु पुच्छा गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे। नेरइए णं भंते ! नेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जेज्जा अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा जे णं भंते ! नेरइएहिंतो अणंतरपंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जेज्जा से णं केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए गोयमा ! अत्थेगइए लभेज्जा अत्थेगतिए नो लभेज्जा। जे णं भंते ! केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए से णं केवलबोहिं बुज्झेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगइए बुज्झेज्जा अत्थेगइए नो बुज्झेज्जा। जे णं भंते ! बुज्झेज्जा से णं सद्दहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा ? गोयमा ! सद्दहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा। जे णं भंते ! सद्दहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा से णं आभिणिबोहियनाणसुयनाणाई उप्पाडेज्जा गोयमा ! उप्पाडेज्जा। जे णं भंते ! आभिणिबोहियनाणसुयनाणाई उप्पाडेज्जा से णं संचाएज्जा सीलं वा वयं वा गुणं वा वेरमणं वा पच्चक्खाणं वा पोसहोववासं वा पडिवज्जित्तए ? गोयमा ! अत्थेगतिए संचाएज्जा अत्थेगइए नो संचाएज्जा। जे णं भंते ! संचाएज्जा सीलं वा जाव पोसहोववासं वा पडिवज्जित्तए से णं ओहिनाणं उप्पाडेज्जा गोयमा ! अत्थेगतिए उप्पाडेज्जा अत्थेगतिए णो उप्पाडेज्जा। जे णं भंते ! ओहिनाणं उप्पाडेज्जा से णं संचाएज्जा मुंडे भवित्ता आगाराओ

[illegible]णारियं पव्वइत्तए ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । णेरइए णं भंते ! णेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता मणुस्सेसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगतिए उववज्जेज्जा अत्थेगतिए नो उववज्जेज्जा । जे णं भंते ! उववज्जेज्जा से णं केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए ? गोयमा ! जहा पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु जाव जे णं भंते ! ओहि-[illegible] उप्पाडेज्जा से णं संचाएज्जा मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए ? गोयमा ! अत्थेगतिए संचाएज्जा अत्थेगतिए नो संचाएज्जा । से णं भंते ! मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए से णं मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगतिए उप्पाडेज्जा अत्थेगतिए नो उप्पाडेज्जा । जे णं भंते ! मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा से णं [illegible] उप्पाडेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगतिए उप्पाडेज्जा अत्थेगतिए नो उप्पाडेज्जा । जे णं भंते ! केवलनाणं उप्पाडेज्जा से णं सिज्झेज्जा बुज्झेज्जा मुच्चेज्जा सव्वदुक्खाणं अंतं करेज्जा ? गोयमा ! सिज्झेज्जा जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करेज्जा । नेरइए णं भंते ! नेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता [illegible] उववज्जेज्जा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । असुरकुमारा णं भंते ! असुरकुमारेहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता नेरइएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । असुरकुमारे णं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता असुरकुमारेसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे एवं [illegible] । असुरकुमारा णं भंते ! असुरकुमारेहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता पुढविकाइएसु उववज्जेज्जा ? हंता गोयमा ! अत्थेगतिए उववज्जेज्जा अत्थेगतिए नो उववज्जेज्जा । जे णं भंते ! उववज्जेज्जा से णं केवलिपन्नत्तं [illegible] ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे एवं [illegible] । असुरकुमारे णं भंते ! असुरकुमारेहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता [illegible] बेइंदियतेइंदियचउरिंदिएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । अवसेसेसु पंचसु [illegible] असुरकुमारेसु जहा नेरइए [illegible] । पुढविकाइए णं भंते ! पुढविकाइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता नेरइएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे एवं असुरकुमारेसु वि जाव [illegible] । पुढविकाइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता [illegible] ? गोयमा ! अत्थेगतिए उववज्जेज्जा अत्थेगतिए नो उववज्जेज्जा । जे णं भंते ! उववज्जेज्जा से णं केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । [illegible]

जहा पुढविकाइओ भणिओ तहा आउकाइओ वि वणस्सइकाइओ जाणियव्वो । तेउकाइए णं भंते ! तेउकाइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता णेरइएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे एवं असुरकुमारेसु वि जाव थणियकुमारेसु वि । पुढविकाइयआउतेउवाउवणस्सइबेइंदियतेइंदियचउरिंदिएसु अत्थेगतिए उववज्जेज्जा से णं केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । तेउकाइए णं भंते ! तेउकाइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगतिए उववज्जेज्जा अत्थेगतिए णो उवव० जे णं उवव० से णं केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए ? गोयमा ! अत्थेगतिए लभेज्जा अत्थेगतिए णो लभेज्जा जे णं भंते ! केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए से णं केवलिबोहिं बुज्झेज्जा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे मणुस्सवाणमंतरजोइसियवेमाणिएसु पुच्छा गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे एवं जहेव तेउकाइए निरंतरं एवं वाउकाइए वि । बेइंदिए णं भंते ! बेइंदिएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता नेरइएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! जहा पुढविकाइए णवरं मणुस्सेसु जाव मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा एवं तेइंदियचउरिंदिया वि जाव मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा जे णं मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा से णं केवलनाणं उप्पाडेज्जा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । पंचिंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता नेरइएसु उववज्जेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जेज्जा अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा जे णं भंते ! उववज्जेज्जा से णं केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए ? गोयमा ! अत्थेगतिए लभेज्जा अत्थेगतिए नो लभेज्जा जे णं केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए से णं केवलबोहिं बुज्झेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगतिए बुज्झेज्जा अत्थेगतिए नो बुज्झेज्जा । जे णं केवलबोहिं बुज्झेज्जा से णं सद्दहेज्जा पत्तिएज्जा रोएज्जा ? गोयमा ! जाव रोएज्जा । जे णं भंते ! सद्दहेज्जा जाव रोएज्जा से णं आभिणिबोहियनाणसुयनाणओहिनाणाइं उप्पाडेज्जा ? गोयमा ! जाव उप्पाडेज्जा जे णं भंते ! [illegible] उप्पाडेज्जा से णं संचाएज्जा सीलं वा जाव [illegible] ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे एवं असुरकुमारेसु वि जाव थणियकुमारेसु एगिंदियविगलिंदिएसु जहा पुढविकाइए पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु मणुस्सेसु य जहा नेरइए [illegible] जहा नेरइएसु उववज्जइ पुच्छा [illegible] एवं मणुस्सेसु वि वाणमंतरजोइसियवेमाणिएसु जहा असुरकुमारेसु ॥

([illegible])

नाना इ नायमर्थः समर्थः तिरश्चां भवस्यभावतः तथारूपप-रिणामासंभवात् अनगारताया अभावे मनःपर्यवज्ञानस्य चा-भावः सिद्ध एव यथा च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियविषयं सूत्रकदम्बक-मुक्तं तथा मनुष्यविषयमपि वक्तव्यं नवरं मनुष्येषु सर्वभावस-म्भवात् मनःपर्यवज्ञानकेवलज्ञानसूत्रे अधिके प्रतिपादयति " जे णं भंते ! संचाएज्जा मुंडे भवित्ता इत्यादि " सुगमं नवरं सि-ज्झेज्जा इत्यादि सिद्ध्येत् समस्तार्थाणिमैश्वर्यादिसिद्धिनाद् भवे-त् बुध्येत् लोकालोकस्वरूपमशेषमवगच्छेत् मुच्येत् भवोपमा-हककर्मभिरपि । किमुक्तं भवति सर्वदुःखानामन्तं कुर्यात् वानमन्तरज्योतिष्कवैमानिकेषु प्रतिषेधो वक्तव्यो नैरयिकस्य भवस्थानाभ्यान्नैरयिकदेवभवयोग्यायुर्बन्धाऽसंभवात् तदेव नै-रयिकादिचतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्तितं साम्प्रतमसुरकु-मारान् नैरयिकादिचतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्तयति " असुर-कुमाराणं भंते" इत्यादि प्राग्वत् नवरमेते पृथिव्यब्वनस्पति-ष्वप्युत्पद्यन्ते ईशानान्तदेवानां तेषूत्पादाविरोधात् तेषु चोत्पन्ना न केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं लभन्ते। श्रवणतया श्रवणेन्द्रियस्याभावात् शेषं सर्वं नैरयिकवत् । "एवं जाव थणियकुमारा इति " एवम-सुरकुमारोक्तेन प्रकारेण तावद्वक्तव्यं यावत्स्तनितकुमाराः पृथि-व्यप्कायिका नैरयिकेषु च प्रतिषिध्यन्ते तेषां विशिष्टमनोद्रव्या-भावात् तीव्रसंक्लेशविशुद्धाध्यवसायाभावात् । शेषेषु तु स-र्वेष्वपि स्थानेषु उत्पद्यन्ते तद्योग्याध्यवसायस्थानसम्भवात् । अपि च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु च नैरयिकवद्वक्तव्यमेवमप्का-यिकवनस्पतिकायिकाश्च वक्तव्याः तेजस्कायिका वायुकायिका-श्च मनुष्येष्वपि प्रतिषेधनीयास्तेषामानन्तर्येण मनुष्येषूत्पादसं-भवात् असत्त्वदश्च क्लिष्टपरिणामतया मनुष्यगतिमनुष्यानु-पूर्वीमनुष्यायुर्बन्धासम्भवात् । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषूत्पन्नाः केव-लिप्रज्ञप्तं धर्मं श्रवणतया लभेरन् श्रवणेन्द्रियस्य भावात् । पुन-स्तां केवलिकीं बोधिं नावबुध्येरन् संक्लिष्टपरिणामत्वात् द्वित्रि-चतुरिन्द्रियाः पृथिवीकायिकवत् देवनैरयिकवर्जेषु शेषेषु स-र्वेष्वपि स्थानेषूत्पद्यन्ते नवरं पृथिवीकायिका मनुष्येष्वागता अ-न्तक्रियामपि कुर्युस्ते पुनरन्तक्रियां न कुर्वन्ति तथास्वभावत्वात् मनःपर्यवज्ञानं पुनरुत्पादयेयुस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याश्च सर्वे-ष्वपि स्थानेषूत्पद्यन्ते तद्वक्तव्यता पाठसिद्धा । वानमन्तरज्योति-ष्कवैमानिका असुरकुमारवद्भावनीया गतं चतुर्थद्वारम् । (ले-शाविशेषणेनान्तक्रियाविचारो माकंदिक शब्दे)।

इदानीं पञ्चमं तीर्थकरत्ववक्तव्यतालक्षणद्वारमभिधित्सुराह ।

रयणप्पभापुढविनेरइए णं भंते! रयणप्पभापुढविनेरइए-तो अणंतरं उव्वट्टित्ता तित्थगरत्तं लभेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगतिए लभेज्जा अत्थेगतिए नो लभेज्जा से केणट्ठेणं ! एवं वुच्चइ अत्थेगतिए लभेज्जा अत्थेगतिए नो लभेज्जा ? गोयमा ! जस्सन्नं रयणप्पभापुढविनेरइयस्स ति-त्थगरनामगोयाइं कम्माइं बद्धाइं पुट्ठाइं कडाइं पट्ठवियाइं णिविट्ठाइं अभिनिविट्ठाइं अभिसमन्नागयाइं उदिन्नाइं नो उवसंताइं हवंति से णं रयणप्पभापुढविनेरइएहिंतो अणं-तरं उव्वट्टित्ता णं तित्थगरत्तं लभेज्जा जस्सन्नं रयणप्पभा-पुढविनेरइयस्स तित्थगरनामगोयाइं णो बद्धाइं जाव नो उदिन्नाइं उवसंताइं भवंति से णं रयणप्पभापुढविनेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता तित्थगरत्तं नो लभेज्जा से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ अत्थेगतिए लभेज्जा अत्थेगतिए नो लभेज्जा। एवं जाव वालुयप्पभापुढविनेरइएहिंतो तित्थगरत्तं लभेज्जा। पंकप्पभापुढविनेरइए णं भंते ! पंकप्पभानेरइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता तित्थगरत्तं लभेज्जा? गोयमा ! णो इ-णट्ठे समट्ठे अंतकिरियं पुण करेज्जा धूमप्पभापुढविनेरइए णं पुच्छा ? गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे विरतिं पुण लभेज्जा तमाए पुच्छा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे विरयाविरतिं पुण लभेज्जा अहेसत्तमाए पुच्छा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे सम्मत्तं पुण लभेज्जा असुरकुमारे णं पुच्छा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे अंतकिरियं पुण करेज्जा एवं निरंतरं जाव आउकाइए । तेउकाइए णं भंते ! तेउकाइएहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता उववज्जेज्जा ? गोयमा! णो इणट्ठे समट्ठे केवलि-पण्णत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए एवं वाउकाइए वि। वणस्सइकाइए णं पुच्छा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे अंत-किरियं पुण करेज्जा बेइंदियतेइंदियचउरिंदिय पुच्छा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा पं-चिंदियातीरिक्खजोणियमणुस्सवाणमंतरजोइसिएणं पुच्छा? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे अंतकिरियाणं करेज्जा । सो-हम्मदेवेणं भंते ! अणंतरं चइत्ता तित्थगरत्तं लभेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगतिए लभेज्जा अत्थेगतिए नो लभेज्जा एवं जहा रयणप्पभापुढविणेरइए एवं जाव सव्वट्ठसिद्ध-गदेवे रयणप्पभापुढविणेरइए णं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता चक्कवट्टित्तं लभेज्जा ? गोयमा ! अत्थेगतिए लभेज्जा अ-त्थेगतिए नो लभेज्जा से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ गोय-मा ! जहा रयणप्पभापुढविणेरइयातित्थगरत्ते। सक्करप्पभा-पुढविणेरइए णं भंते ! अणंतरं उव्वट्टित्ता चक्कवट्टित्तं ल-भेज्जा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे एवं जाव अहेसत्त-माए पुढविणेरइए तिरियमणुएहिंतो पुच्छा ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे। भवणवइवाणमंतरजोइसियवेमाणिएहिंतो पुच्छा ? गोयमा! अत्थेगइए लभेज्जा अत्थेगइए नो लभे-ज्जा। एवं च बलदेवत्तं णवरं सक्करापुढविणेरइए वि लभे-ज्जा एवं वासुदेवत्तं दोहिंतो पुढवीहिंतो वेमाणिएहिंतो य अणुत्तरोववातियवज्जेहिंतो सेसेसु णो इणट्ठे समट्ठे । मं-डलियत्तं अहेसत्तमाए तेउवाउवज्जेहिंतो सेणावइरयण-त्तं गाहावइरयणत्तं वड्ढइरयणत्तं पुरोहियरयणत्तं इत्थिर-यणत्तं च एवं चेव नवरं अणुत्तरोववाइयवज्जेहिंतो आसर-यणत्तं हत्थिरयणत्तं च रयणप्पभाओ निरंतरं जाव सह-स्सारो अत्थेगतिए लभेज्जा अत्थेगतिए नो लभेज्जा। च-क्करयणत्तं चम्मरयणत्तं दंडरयणत्तं छत्तरयणत्तं मणिरय-णत्तं असिरयणत्तं कागिणिरयणत्तं एएसिं असुरकुमारेहिं-तो आरद्धं निरंतरं जाव ईसाणाओ सेसेहिंतो नो इणट्ठे समट्ठे।

एवं शर्करप्रभावालुकप्रभाविषयेऽपि सूत्रे वक्तव्ये पङ्कप्रभापृथिवीनैरयिकस्ततोऽनन्तरमुद्वृत्तः संस्तीर्थकरत्वं न लभते अन्तक्रियां पुनः कुर्यात्, धूमप्रभापृथिवीनैरयिकोऽन्तक्रियामपि न करोति सर्वविरतिं पुनर्लभते, तमःप्रभापृथिवीनैरयिकः सर्वविरतिमपि न लभते विरत्यविरतिं देशविरतिं पुनर्लभते । अधःसप्तमपृथिवीनैरयिकस्तामपि देशविरतिं न लभते परं सम्यक्त्वमात्रं लभते । असुरादयो यावद्वनस्पतिकायिका अनन्तरमुद्वृत्तास्तीर्थकरत्वं न लभन्ते अन्तक्रियां पुनः कुर्युः । वसुदेवचरिते पुनः नागकुमारेभ्योऽप्युद्वृत्ता अनन्तरमैरवतक्षेत्रेऽस्यामवसर्पिण्यां चतुर्विंशतितमस्तीर्थकर उपदर्शितः तदर्थतत्त्वं केवलिनो विदन्ति । तेजोवायवोऽनन्तरमुद्वृत्ता अन्तक्रियामपि न कुर्वन्ति मनुष्येषु तेषामानन्तर्येणोत्पादाभावादपि च ते तिर्यक्षूत्पन्नाः केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं श्रवणतया लभेरन् न तु बोधिमित्युक्तं प्राग् वनस्पतिकायिकाद्यनन्तरमुद्वृत्तास्तीर्थकरत्वं न लभन्ते अन्तक्रियां पुनः कुर्युः । द्वित्रिचतुरिन्द्रिया अनन्तरमुद्वृत्तास्तामपि न कुर्वन्ति मनःपर्यवज्ञानं पुनरुत्पादयेयुः तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यव्यन्तरज्योतिष्का अनन्तरमुद्वृत्तास्तीर्थकरत्वं न लभन्ते अन्तक्रियां पुनः कुर्युः । सौधर्मादयः सर्वार्थसिद्धपर्यवसाना नैरयिकवद्वक्तव्याः । गतं तीर्थकरद्वारम् । संप्रति चक्रवर्तित्वादीनि द्वाराण्युच्यन्ते तत्र चक्रवर्तित्वं रत्नप्रभानैरयिकभवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकेभ्यो न शेषेभ्यः बलदेववासुदेवत्वे शर्कराप्रभातोऽपि नवरं वासुदेवत्वे वैमानिकेभ्योऽनुत्तरोपपातवर्जेभ्यो माण्डलिकत्वमधःसप्तमतेजोवायुवर्जेभ्यः शेषेभ्यः सर्वेभ्योऽपि स्थानेभ्यः सेनापतिरत्नत्वं गाथापतिरत्नत्वं वर्धकिरत्नत्वं पुरोहितरत्नत्वं स्त्रीरत्नत्वमधःसप्तमपृथिवीतेजोवाय्वनुत्तरोपपन्नदेववर्जेभ्यः शेषेभ्य एव नेभ्यः अश्वरत्नत्वं हस्तिरत्नत्वं रत्नप्रभाया आरभ्य निरन्तरं यावत्सहस्रारात् चक्ररत्नत्वं छत्ररत्नत्वं दण्डरत्नत्वमसिरत्नत्वं मणिरत्नत्वं काकिणिरत्नत्वं चासुरकुमारादारभ्य निरन्तरं यावदीशानात् । सर्वत्र विधिवाक्यम् । "अत्थेगइए लभेज्जा अत्थेगइए नो लभेज्जा" इति वक्तव्यं प्रतिषेधे "नो इणट्ठे समट्ठे" इति तदेवमुक्तानि द्वाराणि प्रज्ञा० २० पद । (तीर्थकृतामन्तक्रिया तित्थयर शब्दे)

उग्रादयोऽस्मिन् धर्मेऽवगाहमाना अन्तक्रियां कुर्वन्ति ।

से इयं भंते ! उग्गा भोगा राइण्णा इक्खागा णाया कोरव्वा एए णं अस्सि धम्मे ओगाहइ ओगाहइत्ता अट्ठविहं कम्मरयमलं पवाहिंति पवाहित्ता तओ पच्छा सिज्झंति जाव अंतं करेंति हंता गोयमा ! जे इमे उग्गा भोगा तं चेव जाव अंतं करेंति अत्थेगइया अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति ।

(अस्सिं धम्मे त्ति) अस्मिन्नैर्ग्रन्थ्ये धर्मे इति भ०२० श०८उ० ।

[अंधः सद्दमदाभिन्नमेरुमादिभावं परिणमन्नान्तक्रियां करोतीति मरुगपुत्त शब्दे]

केवलिन एव अन्तक्रियां कुर्वन्तीति विवक्षुराह ।

छउमत्थे णं भंते ! मणूसे तीतमणंतं सासयं समयं केवलेणं संजमेणं केवलेणं संवरेणं केवलेणं बंभचेरवासेणं केवलाहिं पवयणमायाहिं सिज्झिंसु बुज्झिंसु जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ तं चेव जाव अंतं करिंसु ? गोयमा ! जे केइ अंतकरा वा अंतिमसरीरिया वा सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु वा करिंति वा करिस्संति वा सव्वे ते उप्पन्ननाणदंसणधरा अरहा जिणे केवली भवित्ता तओ पच्छा सिज्झंति बुज्झंति परिनिव्वायंति जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिंति करिस्संति वा से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु पडुप्पन्ने वि एवं चेव नवरं सिज्झंति जाणियव्वा अणागए वि एवं चेव नवरं सिज्झिस्संति जाणियव्वा जहा छउमत्थो तहा आहोहिओ वि तहा परमाहोहिओ वि तिन्नि तिन्नि आलावगा भाणियव्वा ॥

इह छद्मस्थोऽवधिज्ञानरहितोऽवसेयो न पुनरकेवलिमात्रमुत्तरत्रावधिज्ञानिनो वक्ष्यमाणत्वादिति (केवलेणंति) असहायेन शुद्धेन वा परिपूर्णेन वा असाधारणेन वा यदाह "केवलमेगं सुद्धं सगलमसाधारणमणंतं च" (संजमेणति) पृथिव्यादिरक्षणरूपेण (संवरेणंति) इन्द्रियकषायनिरोधेन "सिज्झिंसु" इत्यादौ च बहुवचनं प्राकृतत्वादिति एतच्च गौतमेनानेनाभिप्रायेण पृष्टं यदुत उपशान्तमोहाद्यवस्थायां सर्वविशुद्धाः संयमादयोऽपि भवन्ति विशुद्धसंयमादिसाध्या च सिद्धिरिति सा छद्मस्थस्यापि स्यादिति (अंतकरेत्ति) भवान्तकारिणस्ते च दीर्घतरकालापेक्षयाऽपि भवन्तीत्यत आह (अंतिमसरीरियावत्ति) अन्तिमं शरीरं येषामस्ति तेऽन्तिमशरीरिकाश्चरमदेहा इत्यर्थः वाशब्दौ समुच्चये " सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु " इत्यादौ "सिज्झिंसु सिज्झंति" इत्याद्यपि द्रष्टव्यम् । सिद्धत्वाविनाभूतत्वात्सर्वदुःखान्तकरणस्येति (उप्पन्ननाणदंसणधरेति) उत्पन्ने ज्ञानदर्शने धारयन्ति ये ते तथा त्वनादिसंसिद्धज्ञाना अत एव (अरहत्ति) पूजार्हाः (जिणत्ति) रागादिजेतारस्ते छद्मस्था अपि भवन्तीत्यत आह । केवलीति सर्वज्ञाः 'सिज्झंति' इत्यादिषु चतुर्षु पदेषु वर्तमाननिर्देशस्य शेषोपलक्षणत्वात् "सिज्झिंसु सिज्झंति सिज्झिस्संति" इत्येवमतीतादिनिर्देशो द्रष्टव्यः । अत एव "सव्वदुक्खाण" मित्यादौ पञ्चमपदेऽसौ विहित इति । "जहा छउमत्थो" इत्यादिरियं भावना "आहोहिएणं भंते ! मणूसे तीतमणंतं सासयमित्यादि" दण्डकत्रयं तत्र अधः परमावधेरधस्ताद्योऽवधिः सोऽधोऽवधिस्तेन यो व्यवहरत्यसावाधोऽवधिकः परिमितक्षेत्रविषयावधिकः (परमाहोहिओत्ति) परम आधोऽवधिकात् स परमाधोवधिकः प्राकृतत्वाच्च व्यत्ययनिर्देशः (परमोहिओत्ति) क्वचित्पाठो व्यक्तश्च स च समस्तरूपिद्रव्यासंख्यातलोकमात्रालोकखण्डासंख्यातावसर्पिणीविषयावधिज्ञानः (तिविधा आलावगत्ति) कालत्रयवेदिनः केवलिनोऽप्येत एव त्रयो दण्डकाः विशेषस्तु सूत्रोक्त एवेति ।

केवली णं भंते ! मणूसे तीतमणंतं सासयं समयं जाव अंतं करेंसु ? हंता गोयमा ! सिज्झिंसु जाव अंतं करिंसु एते तिन्नि आलावगा भाणियव्वा । छउमत्थस्स जहा नवरं सिज्झिंसु सिज्झंति सिज्झिस्संति । से णूणं भंते ! तीतमणंतं सासयं समयं पडुप्पन्नं वा सासयं समयं अणागयमणंतं वा सासयं समयं जे केइ अंतकरा वा अंतिमसरीरिया वा सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु वा करिंति वा करिस्संति वा सव्वे ते उप्पन्ननाणदंसणधरा अरहा जिणे

केवली भविता तओ पच्छा सिज्झंति जाव अंतं करिस्संति वा हंता गोयमा ! तीतमणंतं सासयं जाव अंतं करिस्संति वा से नूणं भंते ! उप्पन्ननाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली अलमत्थु त्ति वत्तव्वंसिया हंता गोयमा ! उप्पन्ननाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली अलमत्थु त्ति वत्तव्वंसिया सेवं भंते भंतेत्ति ॥

"से नूण" मित्यादिषु कालत्रयनिर्देशो वाच्य एवेति (अलमत्थुत्ति) अलमस्तु पर्याप्तं भवतु नातः परं किञ्चिज्ज्ञानान्तरं प्राप्तव्यमस्तीति एतद्वाच्यं स्यात् सर्वज्ञत्वस्यात्कर्येति भ० १ श० ४ उ० । विनाशे, "दुक्खाणमंतं करिंति कारी अविरेण कालेण" ध० २ अधि० । अन्तो भवान्तस्तस्य क्रियाऽन्तक्रिया भवच्छेद इत्यर्थस्तद्धेतुर्याऽऽराधना शैलेशीरूपा सा अन्तक्रियैवोपचारात् कृत्स्नकर्मक्षयलक्षणाभेदे, एषा च क्षायिकज्ञानिकेवलिना-मेव भवति स्था० २ ठा० ।

रागद्वेषक्षये सत्यान्तक्रिया प्रविशुं शक्नोति ।

से नूणं भंते ! कंखापदोसे खीणे समणे निग्गंथे अंतकरे भवइ अंतिमसरीरिए वा बहुमोहे वि य णं पुव्वि विहरित्ता अह पच्छा, संवुडे कालं करेइ तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ जाव अंतं करेइ ? हंता गोयमा ! कंखापदोस खीणे जाव अंतं करेइ भ० १ श० ६ उ० ।

(जीवो यावदेजते तावत्रो अन्तक्रियां कर्तुं शक्नोतीति 'किरिया' शब्दे) (आचार्य उपाध्यायो यावत्तृतीयभवे अन्तक्रियां कुर्वन् गतिनिर्भयैः सिध्यति इति 'गणसंगहकर' शब्दे)

अंतकुल—अन्त्यकुल—न० शूद्रकुले, कल्प० । आ० म० द्वि० ।

अंतखरिया—अन्त्याक्षरिका—स्त्री० अष्टादशलिपिभेदान्तर्गत लिपिविधाने, प्रज्ञा० १ पद । त्रिपष्टिमहालाकाप्र० कल्प० ।

अंतग—अन्तक—त्रि० विनाशकारिणि, सूत्र० १ श्रु० ए अ० ।

अन्तग—त्रि० अन्तं गच्छत्यन्तगः कुत्सितस्त्यजे, "विवाए अंतगं सो यं निरवेक्खो परिव्वए" सूत्र० १ श्रु० ए अ० । अन्तयति भवं करोतीति अन्त जिन लघुक मृत्यौ, वाच० ।

अंतगड—अन्तकृत्(त)—पु० अन्तो विनाशः स च कर्मणस्तत्फलस्य वा संसारस्य कृतो यैस्तेऽन्तकृताः तीर्थंकरादिषु, स० । स्था० । पा० । अन्त० । नं० । सूत्र० । अनु० । कल्प० ।

अंतगडदसा—अन्तकृद्(त)दशा—स्त्री० बहु० अन्तो भवान्तः कृतो विहितो यैस्तेऽन्तकृतास्तद्वक्तव्यता प्रतिबद्धा दशा दशाध्ययनरूपा ग्रन्थपद्धतय इति अन्तकृद् (त) दशा इह अष्टौ वर्गा भवन्ति तत्र प्रथमवर्गे दशाध्ययनानीति तासां संख्यया तेनेत्यभिधीयन्तेऽन्तकृद् (त) दशाः । अष्टमेऽङ्ग, कल्प० । स्था० । स० । पा० । नं० । अनु० ।

अष्टौ वर्गाऽध्ययनानि ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नयरी होत्था पुण्णभद्दे चेतिए वन्नओ तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्जसुहम्मे समोसरिते परिसा निग्गया जाव पडिगया । तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्जसुहम्मस्स अंतेवासी अज्जजंबू जाव पज्जुवासति एवं वयासी जति णं भंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं अयमट्ठे पण्णत्ते । अट्ठमस्स णं भंते ! अंगस्स अंतगडदसाणं समणेणं के अट्ठे पण्णत्ते एवं खलु जंबू ! समणेणं जाव संपत्तेणं अट्ठमस्स अंगस्स अंतगडदसाणं अट्ठ वग्गा पण्णत्ता जति णं भंते ! समणेणं १ जाव संपत्तेणं अट्ठमस्स अंगस्स अंतगडदसाणं अट्ठ वग्गा पण्णत्ता पढमस्स णं भंते ! वग्गस्स अंतगडदसाणं समणेणं १ जाव संपत्तेणं कति अज्झयणा पण्णत्ता एवं खलु जंबू ! समणेणं जाव संपत्तेणं अट्ठमस्स अंगस्स अंतगडदसाणं पढमस्स वग्गस्स दस अज्झयणा पण्णत्ता तं जहा [अन्त० १ वर्ग०] नमी य मायंगे सोमिले, रामगुत्ते सुदंसणे । जमाली य भगाली य, किंकमे पल्लतेतिय ॥१॥ फाले अ अंबडपुत्ते य, एमेते दस आहिया । स्था० १० ठा० ।

[illegible] इह [illegible] दशाध्ययनानि [illegible] ([illegible]) [illegible] [illegible] "[illegible]" [illegible] [illegible] ॥ [illegible]

द्वितीयवर्गे इमानि ।

अक्खोभि १ सागरे खलु, २ समुद्द ३ हिमवंत ४ अचलनामे य ५ । धरणे य ६ पूरणे य, ७ अभिचंदे चेव अट्ठमए ॥

तृतीये वर्गे ।

जति णं भंते ! तच्चस्स उक्खेवओ एवं खलु जंबू ! तच्चस्स वग्गस्स अंतगडदसाणं तेरस अज्झयणा पण्णत्ता तंजहा अणीयसे १ अणंतसेणे २ अजियसेणे ३ अणिहयरिऊ ४ देवसेणे ५ सत्तुसेणे ६ सारणे ७ गए ८ सुमुहे ९ दुम्मुहे १० कूवए ११ दारुए १२ अणाहिट्ठी १३ ॥

चतुर्थे वर्गे ।

जति णं भंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं तच्चस्स वग्गस्स अंतगडदसाणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ? एवं खलु जंबू ! समणेणं जाव संपत्तेणं चउत्थस्स वग्गस्स दस अज्झयणा पण्णत्ता तंजहा जाली १ मयाली २ उवयाली ३ पुरिससेणे य ४ वारिसेणे य ५ । पज्जुन्न ६ संब ७ अनिरुद्धे, ८ सच्चनेमी य ९ दढनेमी य १० ॥

पञ्चमे वर्गे ।

जति णं भंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं चउत्थस्स वग्गस्स अंतगडदसाणं समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते एवं खलु जंबू ! समणेणं जाव संपत्तेणं पंचमस्स वग्गस्स दस अज्झयणा पण्णत्ता तंजहा पउमावती य गोरी, गंधारी लक्खणा सुसीमा य । जंबुवती सच्चभामा य रुप्पिणी मूलसिरी मूलदत्ता वि ।

छट्ठे वग्गे।

जति णं भंते! छट्ठस्स उक्खेवतो णवरं सोलस अज्झयणा पन्नत्ता तंजहा " मकायी १ किंकमए चेव २ मोंग्गरपाणी य ३ कासवे ४ खेमगी ५ धितिधरे चेव ६ केलासे ७ हरिचंदन ८ वारत्त ९ सुदंसणे १० पुण्णभद्दे ११ तह सुमनभद्दे १२ सुपइट्ठे १३ मेहति १४ मुत्ते १५ अलक्खे १६ अज्झयणाणं तु सोलसयं ॥ २ ॥

सत्तमे वग्गे।

जति णं भंते! सत्तमस्स वग्गस्स उक्खेवतो जाव तेरस अज्झयणा पन्नत्ता तंजहा "नंदा १ तह नंदवती २ नंदुत्तरा ३ नंदिसेणिया ४ मरुया ५ सुमरुया ६ महामरुता ७ मरुदेवा ८ य १ भद्दा य भद्दा ९ सुभद्दा य १० सुजाया ११ सुमणाइया १२ भूयदिन्ना १३ य बोद्धव्वा सेणियभज्जाण नामानि २

अट्ठमे वग्गे।

[illegible] भगवया महावीरेणं जाव अट्ठमस्स वग्गस्स [illegible] जाव नवरं दस अज्झयणा पन्नत्ता तंजहा "काली १ सुकाली २ महाकाली ३ कण्हा ४ सुकण्हा ५ य [illegible] य ७ [illegible] रामकण्हा ८ [illegible] य । पउमसे[illegible] दसमी [illegible] य ॥

[illegible]

[illegible] अट्ठ वग्गा [illegible] दस [illegible] दस [illegible] तेरस उद्दे[illegible] दस [illegible] नायाधम्मकहाए ॥

[illegible]

से किं तं अंतगडदसाओ? अंतगडदसासु णं अंतगडाणं [illegible]

[illegible]

ओ, संखिज्जाओ संगहणीओ, संखिज्जाओ पडिवत्तीओ, से णं अंगट्ठयाए अट्ठमे अंगे एगे सुयक्खंधे अट्ठ वग्गा अट्ठ उद्देसणकाला अट्ठ समुद्देसणकाला, संखिज्जा पयसहस्सा, संखेज्जा अक्खरा, अणंता गमा, अणंता पज्जवा, परित्ता तसा, अणंता थावरा, सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवं आया एवं नाया एवं विन्नाया एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ, सेत्तं अंतगडदसाओ ॥ ८ ॥

तथा प्रासानाञ्च संयमोत्तमं सर्वविरतिजितपरीषहाणाञ्च [illegible] कर्मक्षये सति यथा केवलस्य ज्ञानादेर्लाभः पर्यायः [illegible] लक्षणो यावांश्च यावद्वर्षादिप्रमाणो यथा येन तपोविशेषा[illegible] णाविना प्रकारेण पालितो मुनिभिः पादपोपगमश्च पादपोप[illegible] निधानमनशनं प्रतिपन्नो यो मुनिर्यत्र शत्रुञ्जयपर्वतादौ यानि च भक्तानि भोजनानि छेदयित्वा अनशनिनां [illegible] यच्छेदो भवति अन्तकृतो मुनिवरो जात इति शेषः । तमो[illegible] ओघविप्रमुक्त एवं च सर्वेऽपि केवलज्ञानादिविशेषिता [illegible] मोक्षसुखमनुत्तरञ्च प्राप्ता आख्यायन्त इति क्रियायोगः । एवं [illegible] "चरयादि" प्राग्वत् नवरं (दस अज्झयणत्ति) प्रथमवर्गा[illegible] पेक्षयैव घटन्ते नन्द्यां तथैव व्याख्यातत्वात् यच्चेह [illegible] "सत्त वग्गत्ति" तत्प्रथमवर्गादन्यवर्गापेक्षया वर्गोऽत्र [illegible] वर्गा नन्द्यामपि तथा पठितत्वात्तद्वृत्तिश्चेयम् (अट्ठवग्गत्ति) अत्र वर्गः समूहः स चान्तकृतानामध्ययनानां वा सर्वाणि चैकवर्गगतानि युगपदुद्दिश्यन्ते ततो भणितं " अट्ठ उद्देसणकाला " [illegible] इह च दश उद्देशनकाला अधीयन्ते इति [illegible] न्यामः । तथा संख्यातानि पदशतसहस्राणि पदाग्रेण [illegible] च किल त्रयोविंशतिसहस्राणि चत्वारि च सहस्राणि ([illegible]) वर्गः समूहः स चान्तकृतामध्ययनानां [illegible] सर्वाणि चाध्ययनानि वर्गायवर्गाणाञ्चैतानि युगपदुद्दिश्यन्ते अत आह अष्टौ उद्देशनकालाः अष्टौ समुद्देशनकालाः [illegible] नि पदसहस्राणि पदाग्रेण च तानि च किल त्रयोविंशतिलक्षाणि चत्वारः सहस्राः शेषं पाठसिद्धं यावन्निगमनम् सं० । " [illegible] दसणकाला दस समुद्देसणकाला " वा० ।

अंतगत (य)—अन्तगत—त्रि० [illegible] [illegible]

[illegible]

पर्यन्ते स्थितमिति कृत्वा अन्तगतमित्युच्यते तैरेव पर्यन्तवर्ति-जिरात्मप्रदेशैः साक्षादवधिरूपेण ज्ञानेन ज्ञानात्प्रयोग्यैरिति। अथवा औदारिकशरीरस्य अन्ते गतं स्थितमन्तगतं कयाचिदेकदिशोपलम्भात् इदमपि स्पर्द्धकरूपमवधिज्ञानम्। अथवा सर्वेषामप्यात्मप्रदेशानां क्षयोपशमभावेऽपि औदारिकशरीरान्ते कयाऽपि दिशा यद्वशादुपलभ्यते तदप्यन्तगतम्। आह यदि सर्वात्मप्रदेशानां क्षयोपशमस्ततः सर्वतः किं न पश्यति ? उच्यते एकदिशैव क्षयोपशमस्य संभवात् विचित्रो हि क्षयोपशमस्ततः सर्वेषामप्यात्मप्रदेशानामित्थंभूत एव स्वसामग्रीवशात् क्षयोपशमः संवृत्तो यदौदारिकशरीरमपेक्ष्य कयाचिद्विवक्षितया एकदिशा पश्यतीति उक्तं च चूर्णौ। "ओरालियसरीरंते ठियं गयंति एगट्ठं तं चायप्पपएसफड्डगावहिएगदिसोवलंभओ य अंतगई ओहिनाणं भण्णइ। अहवा सव्वायप्पएसविसुद्धेसु वि ओरालियसरीरगते एगदिसि पासणागयंति अंतगयं भण्णइ" तृतीयोऽर्थः एकदिग्भाविनाऽवधिज्ञानेन यदुद्योतितं क्षेत्रं तस्यान्ते तदवधिज्ञानमवधिज्ञानवतस्तदन्ते वर्त्तमानत्वात्ततोऽन्ते एकदिग्रूपस्यावधिज्ञानविषयस्य पर्यन्ते व्यवस्थितमन्तगतम्।

तद्भेदा यथा।

से किं तं अंतगयं अंतगयं तिविहं पणत्तं तंजहा पुरओ अंतगयं मग्गओ अंतगयं पासओ अंतगयं। से किं तं पुरओ अंतगयं ? पुरओ अंतगयं से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चडुलियं वा अलायं वा मणिं वा पईवं वा जोइं वा पुरओ काउं पणोल्लेमाणे पणोल्लेमाणे गच्छिज्जा सेत्तं पुरओ अंतगयं। से किं तं मग्गओ अंतगयं मग्गओ अंतगयं से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चडुलियं वा अलायं वा मणिं वा पईवं वा जोइं वा मग्गओ काउं अणुकड्ढेमाणे अणुकड्ढेमाणे गच्छिज्जा सेत्तं मग्गओ अंतगयं। से किं तं पासओ अंतगयं पासओ अंतगयं से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चडुलियं वा अलायं वा मणिं वा पईवं वा जोइं वा पासओ काउं परिकड्ढेमाणे परिकड्ढेमाणे गच्छिज्जा सेत्तं पासओ अंतगयं सेत्तं अंतगयं ॥

अथ किं तत् अन्तगतम् अन्तगतं त्रिविधं त्रिप्रकारं प्रज्ञप्तं तद्यथा पुरतोऽन्तगतमित्यादि। तत्र पुरतोऽवधिज्ञानिनः स्वव्यपेक्षया अग्रभागे अन्तगतं पुरतोऽन्तगतम्। तथा मार्गतः पृष्ठतोऽन्तगतं मार्गतोऽन्तगतम्। तथा पार्श्वतो द्वयोः पार्श्वयोरेकतरपार्श्वतो वाऽन्तगतं पार्श्वतोऽन्तगतम्। अथ किं तत्पुरतोऽन्तगतम्(से ज इत्यादि) स यथानाम कश्चित्पुरुषः अत्र सर्वेष्वपि पदेषु एकारान्तत्वमतः सो पुंसि इमानि मागधिकभाषालक्षणात्सर्वमपीदि प्रवचनमर्द्धमागधिकभाषात्मकम्। अर्धमागधिकभाषया तीर्थकृतां देशनाप्रवृत्तेः। ततः प्रायः सर्वत्रापि मागधिकभाषालक्षणमनुसरणीयम्। (उक्कं वेति) उल्का दीपिका वाशब्दः सर्वोऽपि विकल्पार्थः। चटुली वा चडुली पर्यन्तज्वलिततृणपूलिका अलातं वा अलातमुल्मुकं च अग्रभागे ज्वलत्काष्ठमित्यर्थः। मणिं वा मणिः प्रतीतः ज्योतिर्वा ज्योतिः शरावाद्याधारो ज्वलदग्निः। आह च चूर्णिकृत "जोइ त्ति मल्लगाइठिओ अगणी जलतो इति" प्रदीपं वा प्रदीपः प्रतीतः पुरतोऽग्रतो वा हस्ते दण्डादौ वा कृत्वा (पणोल्लेमाणे पणोल्लेमाणे त्ति) प्रणुदन् प्रणुदन् हस्तस्थितं दण्डाग्राद्यवस्थितं वा क्रमेण स्वगत्यनुसारतः प्रेरयन् प्रेरयन् गच्छेत् यायात् एष दृष्टान्तः। उपनयस्तु स्वयमेव भावनीयः। तत उपसंहरति (सेत्तं पुरओ अंतगयं) से शब्दः प्रतिवचनोपसंहारदर्शने तदेतत् पुरतोऽन्तगतम्। इयमत्र भावना। यथा स पुरुषः उल्कादिभिः पुरत एव पश्यति नान्यत्र एवं येनावधिज्ञानेन तथाविधक्षयोपशमभावतः पुरतः एव पश्यति नान्यत्र तदवधिज्ञानं पुरतोऽन्तगतमभिधीयते। एवं मार्गतोऽन्तगतं पार्श्वतोऽन्तगतसूत्रं भावनीयं नवरम् (अणुकड्ढेमाणे अणुकड्ढेमाणेत्ति) हस्तगतं दण्डाग्रादिस्थितं वा अनु पश्चात् कर्षन् अनुकर्षन् पृष्ठतः पश्चात् कृत्वा समाकर्षन् समाकर्षन्नित्यर्थः। तथा (पासओ काउं परिकड्ढेमाणे परिकड्ढेमाणेत्ति) पार्श्वतो दक्षिणपार्श्वतोऽथवा वामपार्श्वतो यद्वा द्वयोरपि पार्श्वयोः उल्कादिकं हस्तस्थितं वा दण्डाग्रादिस्थितं वा परिकर्षन् परिकर्षन् पार्श्वभागे कृत्वा समाकर्षन् समाकर्षन्नित्यर्थः। न० १९ पत्र०। (मध्यगतादेश्य विशेषः आणुगामिय शब्दे)

अन्त्रगत–त्रि० अन्त्रान्तर्वर्त्तिनि, सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

अंतगअ–अन्तर्गत–त्रि० लोऽन्तरि ८,१,६० इति सूत्रस्य वैकल्पिकत्वादन्तः शब्दे तस्यात एत्वम्। मध्यगते, प्रा०। अभ्यन्तरे, अष्ट०।

अंतचरय–आन्तचरक–पुं० पार्श्वचारिणि, अभिग्रहविशेषधारके भिक्षाके, स्था० ५ ठा०। यो हि अभिग्रहविशेषाद्भक्तान्तेषु चरति स्था० ४ ठा०।

अंतचारि[न्]आन्तचारिन्–पुं० अन्तेन तुच्छावशेषेण वल्लादिप्रकृतेन चरन्तीति। अभिग्रहविशेषधारके भिक्षाके, स्था० १० ठा०। सूत्र०।

अंतजीवि (न्)–आन्तजीविन्–पुं० आन्तेन जीवितुं शीलमाजन्माऽपि यस्य स तथा। अभिग्रहविशेषधारके भिक्षौ, स्था० ५ ठा०। सूत्र०।

अंतट्ठ–अन्तःस्थ–पुं० अन्तः स्पर्शोष्मणोर्वर्णयोर्मध्ये तिष्ठतीति स्था–क्विप्। यरलवाख्येषु वर्णेषु, ते हि कादिमावसानस्पर्शानां शषसहरूपोष्मणां च मध्यस्थाः। वा विसर्गलोपेऽन्तस्था अपि मध्यस्थितमात्रे, त्रि० वाच०।

अंतद्धाण–अन्तर्धान–न० अन्तर्–धा०–ल्युट्। तिरोधाने,

शक्तिस्तम्भे तिरोधानं, कायरूपस्य संयमात्।

कायः शरीरं तस्य रूपं चक्षुर्ग्राह्यो गुणस्तस्य मास्त्ययमस्मिन् काये रूपमिति संयमाद्रूपस्य चक्षुर्ग्राह्यरूपायाः शक्तेः स्तम्भे, भावनावशात् प्रतिबन्धे सति तिरोधानं भवति चक्षुः प्रकाशरूपस्य सात्त्विकस्य धर्मस्य तद्ग्रहणव्यापाराभावात्तथा संयमवान् योगी न केनचिद् दृश्यत इत्यर्थः। एवं शब्दादितिरोधानमपि ज्ञेयम्। तदुक्तं कायरूपसंयमात् ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुः प्रकाशसंयोगेऽन्तर्द्धानम्। एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तमिति द्वा० २६ द्वा०। अञ्जनविद्यादिनाऽदर्शनीभवने, नि० चू० १ उ०। व्यवधाने च–व्य० २ उ०।

अंतद्धाणपिंड–अन्तर्धानपिण्ड–पुं० आत्मानमन्तर्हितं कृत्वा गृह्यमाणे पिण्डे, " अप्पाणं अंतरहितं काउं जो पिंडं गेण्हइ सो अंतद्धाणपिंडो भवति सो अंतद्धाणपिंडं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ" आज्ञादयोऽत्र दोषास्तेषु प्रायश्चित्तम्। नि० २ उ०। अधिवादिस्मरणेऽन्तर्धानपिण्डमुत्पादयेत (... एणं सुण शब्दे)

अंतद्धा (णिया) णी–अन्तर्धानिका–स्त्री॰ अन्तर्धानकारिणि विद्याविशेषे, सूत्र॰ २ श्रु॰ २ अ॰ ।

अंतद्धि–अन्तर्द्धि–पुं॰ व्यवधाने, हैम॰ ।

अंतब्भूय–अन्तर्भूत–त्रि॰ नष्टे, " नट्ठेत्ति वा विगयत्ति वा अंतब्भूतेत्ति वा एगट्ठा " आ॰ चू॰ १ अ॰ ॥

अंतपाय–अन्तःपात–पुं॰ कगटडतदपशषसऽकऽपामूर्ध्वं लुक् ८।२।७७ इति ककारात्पूर्वस्थस्य जीह्वामूलीयस्य लुक्। मध्ये पतने, प्रा॰ ।

अंतब्भाव–अन्तर्भाव–पुं॰ प्रवेशे, विशे॰ ।

अंतर–अन्तर–न॰ मध्ये, आचा॰१श्रु॰६अ॰ विशेषे, ध॰१ अधि॰ अवधौ, परिधानीयके, अन्तर्धाने, भेदे, परस्परवैलक्षण्यरूपे विशेषे, तादर्थ्ये, छिद्रे, आत्मीये, विनार्थे, बहिरर्थे, सदृशे, वाच॰ । मूलविशेषे, पानीयान्तरमिति सूत्रधारैर्यद् व्यपदिश्यते [illegible] १ अ॰ व्यवधाने, उं १ वक्र॰ । स्था॰ । अन्तं राति ददाति रा–क– । वि॰ । तं॰ । अवकाशे, भ॰ ७ श॰ ८ उ॰ । प्रश्न॰ । सूत्र॰ । नि॰ ।

[१] अन्तरस्य भेदाः ।

[२] द्वीपवर्षाणां परस्परं व्यवधाने वक्तव्ये ईषत्प्राग्भारायाः अलोकस्यान्तरमुक्तम् ।

[३] [illegible] चरमान्तात्स्तूपपर्यन्तस्य स [illegible] स्यान्तरम् ।

[४] [illegible] वडवामुखस्य पाश्चात्यचरमान्तस्यान्तरम्

[५] [illegible] मन्तरम् ।

[६] जम्बूद्वीपस्य [illegible] चरमान्तान्मेरुमस्य पाश्चात्यचरमान्तस्यान्तरम् ।

[७] जम्बूद्वीपस्य [illegible] धातकीखण्डस्य पा– [illegible] चरमान्तस्यान्तरम् ।

[८] [illegible] ।

[९] [illegible] ।

[१०] [illegible] रान्तरम् ।

[११] चन्द्रसूर्याणां परस्परमन्तरम् ।

[१२] [illegible] परस्परमन्तरम् ।

[१३] सूर्याणां परस्परमन्तरम् ।

[१४] [illegible] मन्तरम् ।

[१५] [illegible] ।

[१६] [illegible] मन्तरम् ।

[१७] [illegible] न्तरम् ।

[१८] [illegible] ।

[१९] [illegible]

[२०] [illegible] ।

[२१] [illegible] ।

[२२] [illegible] ।

[२३] [illegible]

[२४] लवणसमुद्रचरमान्तयोरन्तरम् ।

[२५] लवणसमुद्रद्वाराणामन्तरम् ।

[२६] वडवामुखादीनामधस्तनाच्चरमान्तादुपरितना स्तनचरमान्तस्यान्तरम् ।

[२७] विमानकल्पानामन्तरम् ।

[२८] आहारमाश्रित्य जीवानामन्तरं प्रतिपाद्य तत्प्रसङ्गे सयोगिभवस्थकेवल्यनाहारकस्य चान्तरम् ।

[२९] एकेन्द्रियाद्याश्रित्य कालतोऽन्तरम् ।

[३०] कषायमाश्रित्यान्तरं प्रतिपाद्य कायमाश्रित्यान्तरं निरूपितम् ।

[३१] गतिमाश्रित्यान्तरं प्रतिपाद्य ज्ञानमाश्रित्य जीवानामन्तरमभिहितम् ।

[३२] त्रसस्थावरनोत्रसस्थावराणामन्तरम् ।

[३३] सम्यग्दृष्टिकमाश्रित्यान्तरम् ।

[३४] पर्याप्तिमाश्रित्यान्तरमभिधाय कायादिपरीतानामन्तरमभिहितम् ।

[३५] पुद्गलमाश्रित्यान्तरमुक्त्वा प्रथमसमयाप्रथमसमयविशेषणेनैकेन्द्रियाणां नैरयिकादीनां चान्तरम् ।

[३६] बादरसूक्ष्मनोसूक्ष्मनोबादराणामन्तरम् ।

[३७] सूक्ष्मस्यान्तरं प्रतिपाद्य भाषामाश्रित्य जीवानामन्तरं निरूपितम् ।

[३८] योगमाश्रित्यान्तरमुक्त्वा लेश्यामाश्रित्य जीवानामन्तरं निरूपितम् ।

[३९] वेदविशिष्टजीवानामन्तरं प्रतिपाद्य मनुष्यादिभेदवेदविशेषविशिष्टानां स्त्रीपुंनपुंसकानामन्तरं प्रतिपादितम् ।

[४०] औदारिकादिशरीरविशिष्टानामन्तरमुक्त्वा संज्ञीविशेषणेन अन्तरं निरूपितम् ।

[४१] संयमविशेषणेनान्तरमभिधाय सिद्धस्यासिद्धस्य चान्तरं निरूपितम् ।

[१] अन्तरस्य भेदाः ।

चउव्विहे अंतरे पण्णत्ते तं जहा कट्ठंतरे पम्हंतरे लोहंतरे पत्थरंतरे एवामेव इत्थिए वा पुरिसस्स वा चउव्विहे अंतरे पण्णत्ते तं जहा कट्ठंतरसमाणे पम्हंतरसमाणे लोहंतरसमाणे पत्थरंतरसमाणे ॥

काष्ठस्य च काष्ठस्य चेति काष्ठयोरन्तरं विशेषो [illegible] रिभिः पर्यन्तेव काष्ठाद्यन्तरमिव [illegible] न्तरं विशिष्टमौकुमार्यादिभिर्लोहान्तरम् [illegible] भिः प्रस्तरान्तरं पाषाणान्तरं चिन्तितार्थ [illegible] दान्तरवत् स्त्रिया वा अन्यान्तरापेक्षया पुरुषस्य वा पुरुषान्तरापेक्षया चान्तरं स्त्रीपुंसयोश्चातुर्विध्यं प्रति [illegible] काष्ठान्तरेण समानं तुल्यमन्तरं [illegible] पक्ष्मान्तरसमानं [illegible] लोहान्तरसमानं [illegible] प्रस्तरान्तरसमानं चिन्तितचिन्तामणि [illegible] [illegible] स्था॰ ४ ठा॰ ।

(२) द्वीपवर्षधरादीनां परस्परं व्यवधानं वक्तव्ये तत्र [illegible] ईषत्प्राग्भारायाः अलोकस्य यथा

ईसिप्पब्भाराए णं भंते ! पुढवीए अलोगस्स य केव

अबाहाए पुच्छा, गोयमा ! देसूणं जोअणं अबाहाए अंतरं पण्णत्ते ।

(देसूणं जोयणंति) इह सिद्धलोकयोर्देशोनं योजनमन्तरमुक्तं, आवश्यके तु योजनमेव । तत्र च किञ्चिन्न्यूनताया अविवक्षणान्न विरोधो मन्तव्य इति भ० १४ श० ८ उ० ।

[३] क्षुद्रहिमवत्कूटस्योपरितनाच्चरमान्ताद्वर्षधरपर्यन्तस्य समधरणितलेऽन्तरम् ।

चुल्लहिमवंतकूडस्स णं उवरिल्लाओ चरमंताओ चुल्लहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स समधरणितले एस णं छ जोयणसयाई अबाहाए अंतरं पण्णत्ते एवं सिहरिकूडस्स वि ।

इह भावार्थो हिमवान् योजनशतोच्छ्रितस्तत्कूटं पञ्चशतोच्छ्रितमिति सूत्रोक्तमन्तरं भवतीति. स० ।

(४) गोस्तुभस्य पौरस्त्याच्चरमान्ताद् वडवामुखस्य पाश्चात्यचरमान्तेऽन्तरम् ।

गोथूभस्स णं आवासपव्वयस्स पुरच्छिमिल्लाओ चरमंताओ वलयामुहस्स महापायालस्स पच्चच्छिमिल्ले चरमंते एस णं बावन्नं जोयणसहस्साइं अबाहाए अंतरं पण्णत्ते ।

[गोथूभेत्यादि] गोस्तुभस्य प्राच्यां लवणसमुद्रमध्यवर्तिनो वेलन्धरनागराजनिवासभूतपर्वतस्य पौरस्त्याच्चरमान्तादपसृत्य वडवामुखस्य महापातालकलशस्य पश्चात्यचरमान्तो यावत् भवतीति गम्यते [एसणंति] एतदन्तरमव्यवधानेन व्यवधानलक्षणमित्यर्थः द्विपञ्चाशद्योजनसहस्राणि भवन्तीत्यक्षरघटना । भावार्थस्त्वयम् इह लवणसमुद्रं पञ्चनवतिं योजनसहस्राण्यवगाह्य पूर्वादिषु दिक्षु चत्वारः क्रमेण वडवामुखकेतुकयूपकेश्वराभिधाना महापातालकलशा भवन्ति । तथा जम्बूद्वीपान्ताद् द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्राण्यवगाह्य सहस्रविष्कम्भाश्चत्वार एव वेलन्धरनागराजपर्वताः गोस्तुभादयो भवन्ति । ततश्च पञ्चनवत्यास्त्रिचत्वारिंशत्यपकर्षितायां द्विपञ्चाशत्सहस्राण्यन्तरं भवति स० ५२ सम० ।

[५] जम्बूद्वाराणां परस्परमन्तरम् ।

जंबूद्दीवस्स णं भंते ! दीवस्स दारस्स य दारस्स य केवइए अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ? गोयमा ! अउणासीइं जोअणसहस्साइं बावण्णं च जोअणाइं देसूणं च अद्धजोअणं दारस्स य दारस्स य अबाहाए अंतरे पण्णत्ते जी० ।

जम्बूद्वीपस्य णमिति प्राग्वत् भदन्त ! द्वीपस्य संबन्धिनो द्वारस्य च द्वारस्य च कियत् किंप्रमाणम् (अबाहाए अंतरेत्ति) बाधा परस्परं संश्लेषतः पीडनं न बाधा अबाधा तया कियदन्तरं व्यवधानमित्यर्थः प्रज्ञप्तम् । इहान्तरशब्दो मध्यविशेषादिष्वर्थेषु वर्तमानो दृष्टस्ततस्तद्व्यवच्छेदेन व्यवधानार्थपरिग्रहार्थमबाधाग्रहणम् अत्र निर्वचनं भगवानाह गौतम ! एकोनाशीतिर्योजनसहस्राणि द्विपञ्चाशद्योजनानि देशोनं चार्धयोजनं द्वारस्य द्वारस्य चाबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम् । तथाहि जम्बूद्वीपपरिधिः प्रागभिहितयोजनानि तिस्रो लक्षाः षोडश सहस्राणि द्वे शते सप्तविंशत्यधिके (३१६२२७) योजनानाम् (३) क्रोशाः अष्टाविंशं धनुःशतम् (१२८) त्रयोदशाङ्गुलानि (१३) [illegible] । [illegible] द्वारचतुष्कविष्कम्भः [illegible] द्वारस्य विष्कम्भो योजनानि चत्वारि (४) [illegible] । द्वारशाखयोर्विष्कम्भश्च [illegible] ।

[illegible] परिमाणे चतुर्भुणे [illegible] योजनानि (१८) [illegible] (३१६२०९) चतुर्भागलब्धानि योजनानि [illegible] द्विपञ्चाशदधिकानि (७९०५२) [illegible] । [illegible] चतुष्करूपे [illegible] (६०००) [illegible] (१९२८) [illegible] (१२३२) [illegible] (१३) [illegible] (३) [illegible] (८) [illegible] (१) [illegible] (१३) [illegible] (३) [illegible] (८) [illegible] (३) [illegible] (७) [illegible] (७- १०२०) "[illegible]" [illegible] ।

[६] जम्बूद्वीपस्य [illegible] ।

जंबूद्दीवस्स णं दीवस्स [illegible] ।

([illegible]) [illegible] ।

(७) जम्बूद्वीपस्य [illegible] ।

जंबूद्दीवस्स णं दीवस्स [illegible] अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ।

[illegible] ।

(८) [illegible] ।

[illegible] ।

[illegible] १६५ द्वा० ।

[illegible]

[illegible] कोडिलक्खं, ५० अजियाओ कोडिलक्खं ३०। संभवओ कोडिलक्खं १० अभिनंदणओ कोडिलक्खं ९ सुमतिकोडीओ ३ पउमसहस्सेहिं ९०पउमप्पभाओ कोडीओ नव सहस्सेहिं ९ सुपासो कोडी नवसएहिं ९०० चंदप्पभो कोडीओ णउती ९०पुप्फदंतो कोडीउ णवहिओ ६ सीयलो कोडीऊणाऊणा १०० सा (६६२६००) वरिसाइं सेज्जंसो सागरोपमाइं ५४ वासुपुज्जो तीससागराइं ३० विमलो सागरोवमाइं ४ धम्मो सागरोवमाइं ३ ऊणाइं १ पलियचउब्भागेहिं ३ संतिपलियऊं कुंथुपलियचउब्भागो ४ ऊणाओ वासकोडीसहस्सेण १ अरो वासकोडीसहस्सं १ मल्ली य [illegible] उप्पन्ना ५४ मुणिसुव्वओ वरिसलक्खं ६ नमी वरिसलक्खं ५ अरिट्ठनेमि वरिससहस्सं ८३७५० पासो वाससयाइं २५० वद्धमाणो जिणंतराइं " इह [illegible] सर्वेषामेव जिनचक्रवर्तिवासुदेवानां यो यस्मिन् [illegible] वा चक्रवर्ती वासुदेवो वा भविष्यति बभूव वा तस्यान्तरस्यावगमेन [illegible] समन्वितस्य सुखपरिज्ञानार्थमयं [illegible] ।

" [illegible] चक्कीओ, काउं निरिया य ताहि रेहाहि ।
[illegible] काउं, पंच घराइं तओ पढमो ॥
[illegible] जिणतिरिय–सुन्नदुगं तिजिण सुन्नतिगं च ।
दो जिणसुन्नजिणिंदो, सुन्नजिणो सुन्न दोण्णि जिणा ॥
[चिन्तोपपत्तिट्टवणा]
दो [illegible] सुन्नतियम, पण चक्की सुन्नचक्कि दो सुन्ना ।
चक्की सुन्नदुचक्की, सुन्नं चक्की दुसुन्नं च ।
([illegible]पत्तिट्टवणा)
दस सुन्न पंच केसव, पण सुन्न केसि सुन्नकेसी य ।
दो सुन्न केसवो वि य, सुन्नदुगं केसव तिसुन्नं ॥
[illegible] ।
([illegible] पत्ते विन्निगते) [illegible]
[illegible] शरीरप्रमाणं च ।
(च) [illegible] वीरस्य ।

[illegible] भगवओ महावीरस्स य एगा सागरोवमकोडाकोडी [illegible] अंतरे पण्णत्ते ।

[illegible] इति वाक्ये [illegible] निर्देशः [illegible] द्विचत्वारिंशता वर्षसहस्रैः [illegible] स० । [illegible] । वीर– [illegible] " [illegible] सहस्साइं, वासा सत्तेव पंच मासाइं । [illegible] अंतरं [illegible] " ति० ।

[१०] [illegible] अन्तरं यथा ।

[illegible] भंते ! [illegible] केवइयाए [illegible] अंतरे पण्णत्ते ? गोयमा ! पणतीसं पणतीसं [illegible] जोयणसयाई [illegible] अंतरं [illegible] पण्णत्ते ।

[illegible]

[११] चन्द्रसूर्याणां परस्परमन्तरमाह ।

चंदातो सूरस्स य, सूरा चंदस्स अंतरं होइ ।
पण्णाससहस्साइं, तु जोयणाणं अणूणाइं ॥ ३५ ॥
सूरस्स य सूरस्स य, ससिणो ससिणो य अंतरं होइ ।
बहीं तु माणुसनगस्स, जोयणाणं सतसहस्सं ॥ ३६ ॥

मानुषनगस्य मानुषोत्तरपर्वतस्य बहिः सूर्यस्य सूर्यस्य [illegible] चन्द्रस्य चन्द्रस्य परस्परमन्तरं भवति योजनानां [illegible] लक्षम् । तथाहि चन्द्रान्तरिताः सूर्याः सूर्यान्तरिताश्चन्द्रा [illegible] तासां चन्द्रसूर्याणां च परस्परमन्तरं पञ्चाशद् योजनसहस्राणि (५००००) ततश्चन्द्रस्य सूर्यस्य च परस्परमन्तरं [illegible] लक्षं भवतीति सू० प्र० १९ पाहु० । (द० प०)

बे जोयणाणि सूरस्स, मंडलाणं तु हवइ अंतरियं ।
चंदस्स वि पणत्तीसं, साइरेगा होइ नायव्वा ॥

सूर्यस्य सवितुः सत्कानां मण्डलानां परस्परमन्तरि[illegible] रमेवान्तर्यं भेषजादित्वात् स्वार्थे यण्प्रत्ययः [illegible] ङीप्प्रत्यये आन्तरी अन्तरमेव आन्तर्यम् [illegible] द्वे योजने पुनश्चन्द्रस्य आन्तरिका भवति [illegible] जनानि साधिकानि पञ्चत्रिंशत् योजनानि [illegible] भागा योजनस्य एकस्य च एकषष्टिभागस्य [illegible] सत्काश्चत्वारो भागा इत्यर्थः ज्यो० १० पाहु० ।

[१२] ताराणां परस्परमन्तरम् ।

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे ताराए अ ताराए अ केवइए अंतरे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे अंतरे पण्णत्ते तंजहा वाघाइए य निव्वाघाइए अ । निव्वाघाइए जहण्णेणं पंचधणुसयाइं उक्कोसेणं दो गाउआइं । वाघाइए जहण्णेणं दोण्णि छावट्ठे जोअणसए उक्कोसेणं बारस जोअणसहस्साइं दोण्णि अ बायाले जोअणसए ताराऊवस्स तारारूवस्स अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ।

जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे तारायास्तारायाश्च [illegible] न्तरं प्रज्ञप्तं भगवानाह । गौतम ! द्विविधं व्याघातिकं निर्व्याघातिकं च । तत्र व्याघातः पर्वतादिस्खलनं तत्र भवं व्याघातिकं निर्व्याघातिकं व्याघातिकाद्भिन्नं [illegible] निर्व्याघातिकं तज्जघन्यतः पञ्चधनुःशतानि उत्कर्षतो द्वे गव्यूते एतच्च जगत्स्वभावादेवावगन्तव्यं यच्च व्याघातिकं तज्जघन्यतो द्वे योजनशते षट्षष्ट्यधिके एतच्च निषधकूटादिकमपेक्ष्य [illegible] तथाहि निषधपर्वतः स्वभावतोऽप्युच्चैस्त्वेन चत्वारि योजनशतानि तस्य चोपरि पञ्चयोजनशतोच्चानि कूटानि [illegible] पञ्चयोजनशतान्यायामविष्कम्भाभ्यां मध्ये [illegible] पञ्चसप्तत्यधिकानि उपरि अर्द्धतृतीये द्वे योजनशते [illegible] स्तिनमागममध्येप्रदेशे तथा जगत्स्वाभाव्यात् [illegible] व्याबाधया कृत्वा ताराविमानानि परिभ्रमन्ति [illegible] घातिकमन्तरं द्वे योजनशते षट्षष्ट्यधिके [illegible] द्विचत्वारिंशदधिके [illegible] तद्यथा । यथाहि मेरौ [illegible] योजनसहस्राणि [illegible] भवन्ति द्वादश योजनसहस्राणि [illegible] द्विचत्वारिंशदधिके [illegible]
जं० प० । जी० । चं० प्र० ।

उसभो	अजिओ	संभवो	अभिनंदणो	सुमती	पउमप्पभो	सुपासो	चंदप्पहो	पुप्फदंतो	सीयलो	सेज्जंसो	वासुपुज्जो	विमलो	अणंतो	धम्मो	*
भरहो	सागरो	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	*	मघवं
०	०	०	०	०	०	०	०	०	०	तिविट्ठू	दुविट्ठू	सयभू	पुरिसो-त्तमो	पुरिस सीहो	०
५००	४५०	४००	३५०	३००	२५०	२००	१५०	१००	९०	८०	७०	६०	५०	४५	४२॥
धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं
८४०००००	७२०००००	६००००००	५००००००	४००००००	३००००००	२००००००	१००००००	२०००००	१०००००	८४०००००	७२०००००	६००००००	३००००००	१००००००	५०००००
पुव्वलक्खं	पुव्वलक्खं	पुव्वलक्खं	पुव्वलक्खं	पुव्वलक्खं	पुव्वलक्खं	पुव्वलक्खं	पुव्वलक्खं	पुव्वलक्खं	पुव्वलक्खं	वरिस लक्खं	वरिस लक्खं	वरिस लक्खं	वरिस लक्खं	वरिस लक्खं	वरिस लक्खं

*	संती	कुंथू	अरो	*	*	*	मल्ली	मुणिसुव्वओ	*	णमी	*	णेमी	*	पासो	वद्धमाणो
सणंकुमारो	संती	कुंथू	अरो	०	सुभूमो	०	०	पउमो	०	हरिसेणो	जयनामा	०	बंभदत्तो	०	०
०	०	०	०	पुरिसपुंडरो	०	दत्तो	०	०	नारायणो	०	०	कण्हो	०	०	०
४१॥	४०	३५	३०	२९	२८	२६	२५	२०	१६	१५	१२	१०	७	९	७
धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनूसतं	धनू	हत्था	हत्था
३०००००	१०००००	९५०००	८४०००	६५०००	६००००	५६०००	५५०००	३००००	१२०००	१००००	३०००	१०००	७००	१००	७२
वरिस लक्खं	वरिस लक्खं	वरिस सहस्सं	वरिस सहस्सं	वरिस सहस्सं	वरिस सहस्सं	वरिस सहस्सं	वरिस सहस्सं	वरिस सहस्सं	वरिस सहस्सं	वरिस सहस्सं	वरिस सहस्सं	वरिस सहस्सं	वरिससतं	वरिससतं	वरिस

[१३] सूर्याणां परस्परमन्तरम् ।

ता केवतियं तं दुवे सूरिया अणमणस्स अंतरं कट्टु चारं चरंति आहितेति वदेज्जा । तत्थ खलु इमातो छ पडिवत्तिओ पन्नत्ताओ तत्थ एगे एवमाहंसु ता एगं जोयणसहस्सं एगं च तेत्तीसं च जोयणसतं अणमणस्स अंतरं कट्टु सूरिया चारं चरंति आहितेति वदेज्जा एगे एवमाहंसु । १ । एगे पुन एवमाहंसु ता एगं चउतीसं जोयणसयं अन्नमन्नस्स अंतरं कट्टु सूरिया चारं चरंति आहितेति वइज्जा एगे एवमाहंसु ।२। एगे पुण एवमाहंसु । ता एगे जोयणसहस्सं एगं च पणतीसं जोयणसयं अणमणस्स अंतरं कट्टु सूरिया चारं चरंति आहितेति वदेज्जा एगे एवमाहंसु ।३। एगं दीवं एगं समुद्दं अणमणस्स अंतरं कट्टु ।४। दो दीवे दो समुद्दे अणमणस्स अंतरं कट्टु सूरिया चारं चरंति ।५। तिन्नि दीवे तिन्नि समुद्दे अणमन्नस्स अंतरं कट्टु सूरिया चारं चरंति आहितेति वदेज्जा एगे एवमाहंसु ।६। वयं पुण एवं वदामो ता पंच पंच जोयणाइं पणतीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगे मंडले अणमणस्स अंतरं अभिवड्ढेमाणे वा निवड्ढेमाणे वा सूरिया चारं चरंति आहितेति वदेज्जा । तत्थ णं को हेतू ति वदेज्जा ता अयणं जंबूद्दीवे दीवे जाव परिक्खेवेणं पन्नत्ते ता जदा णं एते दुवे सूरिया सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरंति तदा णं णवणउतिं जोयणसहस्साइं छच्च चत्ताले जोयणसते अणमणस्स अंतरं कट्टु चारं चरंति आहितेति वदेज्जा । तता णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवति ते णिक्खममाणा सूरिया णवं संवच्छरं अयमाणा पढमंसि अहोरत्तंसि अब्भिंतराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरंति । ता जया णं एते दुवे सूरिया अब्भिंतराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरंति तदा णं णवणउतिं जोयणसहस्साइं छच्च पणयाले जोयणसते पणतीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स अणमणस्स अंतरं कट्टु चारं चरंति आहितेति वदेज्जा । तता णं अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणे दुवालसमुहुत्ता राती भवति । दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिया ते णिक्खममाणा सूरिया दोच्चंसि अहोरत्तंसि अब्भिंतरं तच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरंति । ता जया णं एते दुवे सूरिया अब्भिंतरं तच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरंति तदा णं णवणउतिं जोयणसहस्साइं छच्च एकावन्ने जोयणसते णव य एगट्ठिभागे जोयणस्स अणमणस्स अंतरं कट्टु चारं चरंति आहितेति वदेज्जा । तदा णं अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणे दुवालसमुहुत्ता राती भवति चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्ते-हिं अधिया । एवं खलु एते णुवाएणं णिक्खममाणा एते दुवे सूरिया तता णंतरतो तदाणंतरं मंडलातो मंडलं संकममाणा संकममाणा पंच पंच जोयणाइं पणतीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगे मंडले अणमणस्स अंतरं अभिवड्ढेमाणा अभिवड्ढेमाणा सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरंति । ता जया णं एते दुवे सूरिया सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरंति तता णं एगं जोयणसतसहस्सं छच्च सट्ठिजोयणसते अण्णमण्णस्स अंतरं कट्टु चारं चरंति । तता णं उत्तमकट्ठपत्ता उक्कोसिया अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ जहण्णए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति । एस णं पढमे छम्मासे एस णं पढमस्स छम्मासस्स पज्जवसाणे ते पविसमाणे दुवे सूरिया दोच्चे छम्मासे अयमीणे पढमंसि अहोरत्तंसि बाहिराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरंति । ता जया णं एते दुवे सूरिया बाहिराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरंति तदा णं एगं जोयणसयसहस्सं छच चउप्पन्ने जोयणसते छत्तीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स अणमणस्स अंतरं कट्टु चारं चरंति आहितेति वदेज्जा । तदा णं अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणा दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति । दोहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं आहिए ते पविसमाणा सूरिया दोच्चंसि अहोरत्तंसि बाहिरं तच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरंति ता जता णं एते दुवे सूरिया बाहिरं तच्चं मण्डलं उवसंकमित्ता चारं चरंति तता णं एगं जोयणसयसहस्सं छच्च अडयाले जोयणसते बावण्णं च एगट्ठिभागे जोयणस्स अणमणस्स अंतरं कट्टु चारं चरंति । तता णं अट्ठारसमुहुत्ता राई भवइ । चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ऊणा दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति चउहिं एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं अहिए । एवं खलु एतेणुवाएणं पविसमाणा एते दुवे सूरिया तताणंतरतो तदाणंतरं मंडलाओ मंडलं संकममाणा पंच पंच जोयणाइं पणतीसं च एगट्ठिभागे जोयणस्स एगमेगे मंडले अणमणस्स अंतरं णिवड्ढेमाणे णिवड्ढेमाणे सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरंति । ता जया णं एते दुवे सूरिया सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरंति । तता णं णवणउतिं जोयणसहस्साइं छच्च चत्ताले जोयणसते अणमणस्स अंतरं कट्टु चारं चरंति । तता णं उत्तमं कट्ठं पत्ते उक्कोसए अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राई भवति । एस णं दोच्चे छम्मासे एस णं दोच्चस्स छम्मासस्स पज्जवसाणे । एस णं आइच्चे संवच्छरे एस णं आइच्चसंवच्छरस्स पज्जवसाणे पढमस्स पाहुडपाहुडं समत्तं ।

(ता केवतियं एए दुवे सूरिया इत्यादि) ता इति पूर्वं

एतौ द्वावपि सूर्यौ जम्बूद्वीपगतौ कियत्प्रमाणं परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः चरन्तावाख्याताविति भगवान् वदेत् एवं भगवता गौतमेन प्रश्ने कृते सति शेषकुमतविषयतत्त्वबुद्धिव्युदासार्थं परमतरूपाः प्रतिपत्तीर्दर्शयति । "तत्थ खलु इमाओ इत्यादि" तत्र परस्परमन्तरचिन्तायां खलु निश्चितमिमा वक्ष्यमाणस्वरूपाः षट् प्रतिपत्तयो यथावस्थितवस्तुतत्त्वानुपगमलक्षणास्तैस्तैस्तीर्थान्तरीयैराधीयमानाः प्रज्ञप्तास्ता एव दर्शयति "तत्थेगे इत्यादि" तेषां षण्णां तत्प्रतिपत्तिरूपकाणां तीर्थकानां मध्ये एके तीर्थान्तरीयाः प्रथमं स्वशिष्यं प्रत्येवमाहुः "ता एगमित्यादि" ता इति पूर्ववद्भावनीयम् एकं योजनसहस्रमेकं च त्रयस्त्रिंशदधिकं योजनशतं परस्परस्यान्तरं कृत्वा जम्बूद्वीपे द्वौ सूर्यौ चारं चरतश्चरन्तावाख्याताविति स्वशिष्येभ्यो वदेत् । अत्रैवोपसंहारमाह । " एके एवमाहुरिति " । एवं सर्वत्राप्यक्षरयोजना कर्त्तव्या । एके पुनर्द्वितीयास्तीर्थान्तरीया एवमाहुरेकं योजनसहस्रमेकं च चतुस्त्रिंशदधिकं योजनशतं परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । एके तृतीयाः पुनरेवमाहुः एकं योजनसहस्रमेकं च पञ्चत्रिंशदधिकं योजनशतं परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । एके पुनश्चतुर्था एवमाहुः एकं द्वीपमेकं च समुद्रं परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । एके पुनः पञ्चमा एवमाहुः द्वौ द्वीपौ द्वौ समुद्रौ परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः एके षष्ठाः पुनरेवमाहुः त्रीन् द्वीपान् त्रीन् समुद्रान् परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरत इति । एते च सर्वे तीर्थान्तरीया मिथ्यावादिनोऽयथार्थवस्तुव्यवस्थापनात् । तथा चाह (वयं पुण इत्यादि) वयं पुनरासादितकेवलज्ञानलाभाः एतोर्थिकस्थापितवस्तुव्यवस्थाव्युदासेन एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण केवलज्ञानेन यथावस्थितं वस्तुतत्त्वमुपलभ्य वदामः । कथं वदथ यूयं भगवन्त इत्याह (ता पंचेत्यादि) 'ता इति' आस्तामन्यद्वक्तव्यमिदं तावत्कथ्यते द्वावपि सूर्यौ सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलान्निष्क्रामन्तौ प्रतिमण्डलं पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य पूर्वपूर्वमण्डलगतान्तरपरिमाणे अभिवर्द्धयन्तौ वाशब्द उत्तरविकल्पापेक्षया समुच्चये (निवुड्ढेमाणा वा इति) सर्वबाह्यान्मण्डलादभ्यन्तरं प्रविशन्तौ प्रतिमण्डलं पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशतं च एकषष्टिभागान् योजनस्य निर्वेष्टयन्तौ पूर्वपूर्वमण्डलगतान्तरपरिमाणात् हापयन्तौ वाशब्दः पूर्वविकल्पापेक्षया समुच्चये सूर्यौ चारं चरतः चरन्तावाख्याताविति स्वशिष्येभ्यो वदेत् । एवमुक्ते भगवान् गौतमो निजशिष्याणां निःशङ्कितत्वव्यवस्थापनार्थं भूयः प्रश्नयति । (तत्थमित्यादि) तत्र एवंविधाया वस्तुतत्त्वव्यवस्थाया अदगमे को हेतुः का उपपत्तिरिति प्रसादं कृत्वा वदेत भगवान् (ता अयन्नमित्यादि) इदं जम्बूद्वीपस्वरूपप्रतिपादकं वाक्यं पूर्ववत्परिपूर्णं स्वयं परिभावनीयम् । (ता जयाणमित्यादि) तत्र यदा णमिति वाक्यालंकारे एतौ जम्बूद्वीपप्रसिद्धौ भारतैरावतौ द्वावपि सूर्यौ सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः तदा नवनवतियोजनसहस्राणि षट् योजनशतानि चत्वारिंशदधिकानि परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः चरन्तावाख्याताविति वदेत् । कथं सर्वाभ्यन्तरे मण्डले द्वयोः सूर्ययोः परस्परमेतावत्प्रमाणमन्तरमिति चेदुच्यते । इह जम्बूद्वीपो योजनलक्षप्रमाणविष्कम्भस्तत्रैकोऽपि सूर्यो जम्बूद्वीपस्य मध्ये अशीत्यधिकं योजनशतमवगाह्य सर्वाभ्यन्तरे मण्डले चारं चरति । द्वितीयोऽप्यशीत्यधिकं योजनशतमवगाह्य अशीत्यधिकं च शतं द्वाभ्यां गुणितं त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि (३६०) भवन्ति एतानि जम्बूद्वीपविष्कम्भपरिमाणाल्लक्षरूपादपनीयन्ते ततो यथोक्तमन्तरपरिमाणं भवति (तया णमित्यादि) तदा सर्वाभ्यन्तरे द्वयोरपि सूर्ययोश्चरणकाले उत्तमकाष्ठां प्राप्तः परमप्रकर्षं प्राप्तः उत्कर्षक उत्कृष्टोऽष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति जघन्या सर्वजघन्या द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः (ते निक्खममाणा इत्यादि) ततस्तस्मात्सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्तौ द्वावपि सूर्यौ निष्क्रामन्तौ नवं सूर्यसंवत्सरमाददानौ नवस्य सूर्यसंवत्सरस्य प्रथमे अहोरात्रे (अब्भिंतराणंतरमिति) सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलादनन्तरं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः (ता जया णमित्यादि) ततो यदा एतौ द्वावपि सूर्यौ सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतस्तदा नवनवतियोजनसहस्राणि षट् शतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि योजनानां पञ्चत्रिंशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्येत्येतावत्प्रमाणं परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतश्चरन्तावाख्याताविति वदेत्तदा कथमेतावत्प्रमाणमन्तरमिति चेदुच्यते । इहैकोऽपि सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमण्डलगतानष्टचत्वारिंशदेकषष्टिभागान् योजनस्य अपरे च द्वे योजने विकम्प्य सर्वाभ्यन्तरानन्तरे द्वितीये मण्डले चरति । एवं द्वितीयोऽपि ततो द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्येति द्वाभ्यां गुण्यते गुणिते च सति पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्येति भवति एतावदधिकपूर्वमण्डलगतादन्तरपरिमाणादत्र प्राप्यते ततो यथोक्तमन्तरपरिमाणं भवति (तया णमित्यादि) तदा सर्वाभ्यन्तरानन्तरद्वितीयमण्डलचारचरणकाले अष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति द्वाभ्यां (एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ति) मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामूनः । द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिः द्वाभ्यां मुहूर्त्तैकषष्टिभागाभ्यामधिका (ता निक्खममाणा इत्यादि) ततस्तस्मादपि द्वितीयान्मण्डलान्निष्क्रामन्तौ सूर्यौ नवस्य सूर्यसंवत्सरस्य द्वितीये अहोरात्रे अभ्यन्तरस्य सर्वाभ्यन्तरस्य मण्डलस्य तृतीयमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः (ता जया णमित्यादि) ततो यदा णमिति पूर्ववत् एतौ द्वौ सूर्यौ अभ्यन्तरतृतीयं सर्वाभ्यन्तरस्य मण्डलस्य तृतीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः तदा तस्मिंस्तृतीयमण्डलचारचरणकाले नवनवतियोजनसहस्राणि षट् च शतानि एकपञ्चाशदधिकानि योजनानां नव चैकषष्टिभागान् योजनस्य परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः चरन्तावाख्याताविति वदेत्, तदा कथमेतावत्प्रमाणमन्तरकरणमिति चेदुच्यते इहाप्येकः सूर्यः सर्वाभ्यन्तरद्वितीयमण्डलगतानष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागान् योजनस्यापरे च द्वे योजने विकम्प्य चारं चरति द्वितीयोऽपि ततो द्वे योजनेऽष्टाचत्वारिंशच्चैकषष्टिभागान् योजनस्येति द्वाभ्यां गुण्यते द्विगुणमेव पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्येति भवति । एतावत्पूर्वमण्डलगतादन्तरपरिमाणादत्राधिकं प्राप्यते इति भवति यथोक्तमत्रान्तरपरिमाणम् (तया णमित्यादि) यदा सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्तृतीये मण्डले चारं चरतस्तदा अष्टादशमुहूर्त्तो दिवसो भवति चतुर्भिः [एगट्ठिभागमुहुत्तेहिं ति] मुहूर्त्तैकषष्टिभागैरूनः, द्वादशमुहूर्त्ता रात्रिश्चतुर्भिर्मुहूर्त्तैकषष्टिभागैरधिका (एवमित्यादि) एवमुक्तेन प्रकारेण खलु निश्चितमनेनोपायेन प्रतिमण्डलमेकैकः सूर्यो द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशतं चैकषष्टिभागान् विकम्प्य चारं चरन् ततोऽप्यपरः सूर्योऽप्येवमेव निष्क्रामन्तौ एतौ

[illegible] मूर्यो [illegible] सूर्यमण्डलस्य [illegible] पूर्वपूर्वमण्डलस्यगतास्तर- [illegible] पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशतं चैकषष्टिभागा- [illegible] पूर्वमण्डलाभ्यन्तरमण्डले प्रवी- [illegible] मण्डलमासाद्यमानमूते सर्व- [illegible] चारं चरति । (ता जया णमित्यादि) [illegible] सूर्यो सर्वबाह्यं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं [illegible] षट् शतानि षष्ट्यधिकानि [illegible] चारं चरतः । कथमेतदव- [illegible] योजनानि पञ्चत्रिं- [illegible]

[illegible]

शतं चैकषष्टिभागानां योजनस्य परस्परमन्तरं कृत्वा [illegible] मागुक्तयुक्त्या पूर्वमण्डलगतादन्तरपरिमाणाद् [illegible] मस्य पञ्चभिर्योजनैः पञ्चत्रिंशता चैकषष्टिभागैर्योजनस्य [illegible] स्यात् [तया णमित्यादि] तदा सर्वबाह्यमण्डलमनन्तरं [illegible] पतमण्डलचारचरणकाले मष्टादशमुहूर्ता रात्रिर्भवति [illegible] द्वाभ्यामेकषष्टिभागाभ्यां । द्वादशमुहूर्तो दिवसो द्वाभ्यामेकषष्टिभागाभ्यां मुहूर्तेरधिकः [एवं खलु इत्यादि] एवमुक्तप्रकारेण [illegible] भिनमेतेनोपायेन एकतोऽप्येकः सूर्योऽपरतोऽपि [illegible] मण्डलगतादन्तरपरिमाणादनन्तरे [illegible] रिमाणस्यामष्टचत्वारिंशतमेकषष्टिभागान् [illegible] स्यान्तरतोऽपरतः सूर्य इत्येवंरूपेण यती [illegible] मन्तरमण्डलमभ्यन्तरमण्डलं संक्रामन्तौ [illegible] पूर्वपूर्वमण्डलगतादन्तरपरिमाणात् [illegible] मण्डले पञ्च पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशतं चैकषष्टि- म् योजनस्य परस्परमन्तरपरिमाणं निर्वेष्टयन्तौ [illegible] यौ । द्वितीयस्य षण्मासस्य पर्यवसाने [illegible] सर्वाभ्यन्तरपर्यवसानपूर्ते सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः [ता जया णमित्यादि] तत्र यदा एतौ द्वौ सूर्यौ सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतः तदा [illegible] सहस्राणि षट् योजनशतानि चत्वारिंशानि [illegible] परस्परमन्तरं कृत्वा चारं चरतः । अत्र [illegible] भावना प्रागेव कृता शेषं सुगमम् । सू० प्र० १ पाहु० [illegible] ज्यो० । मं० । जं० । [मण्डलात् [illegible] प्रका इत्यादि [illegible] शब्दे]

(१४) [illegible] द्वाराभिधानं यथा ।

[illegible] णं भंते ! [illegible] णं केवतियं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ? गोयमा ! [illegible] तावत्तिरिसयाई [illegible] तिन्नि य [illegible] बाहाए अंतरे पण्णत्ते ।

[illegible]

[illegible]

मध्यगतमध्ये मेरोः पञ्चयोजनशतानि दूरतायां प्रथमभेत्तलायां चर्यापितमध्यमस्यान्तरमन्तात् सौगन्धिककाण्डस्य रत्नप्रभापृथिव्याः सत्काण्डाभिधानप्रथमकाण्डस्याधस्तनकाण्डभूतस्याद्यमरं सौगन्धिकाभिधानस्य मध्यमस्य सौगन्धिककाण्डस्याधस्तनान्तः पञ्चाशीतिर्योजनशतान्यन्तरमाधिक्य भवति । कथं पञ्च शतानि मेरोः सम्बन्धीनि प्रत्येकं सहस्रप्रमाणत्वाद्यान्तरकाण्डानामष्टमकाण्डमशीतिशतानीति । स० ।

(१६) नरकपृथ्वीनां रत्नप्रभाकाण्डानामन्तरम् ।

इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए उवरिल्लातो चरिमंतातो हेट्ठिल्ले चरिमंते एस णं केवतियं अबाधाए अंतर पण्णत्ते ? गोयमा ! असीउत्तरं जोयणसतसहस्सं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते । इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए उवरिल्लातो चरिमंतातो खरकंडस्स हेट्ठिल्ले चरिमंते एस णं केवतियं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ? गोयमा ! सोलस जोयणसहस्साइं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते । इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए उवरिल्लातो चरिमंतातो रयणस्स कंडस्स हेट्ठिल्ले चरिमंते एस णं केवतियं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ? गोयमा ! एक्कं जोयणसहस्सं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ॥

अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्या रत्नकाण्डस्य प्रथमस्य खरकाण्डविभागस्य (उवरिल्लाओ इति) उपरितनात् चरमान्तात् परतो योऽधस्तनचरमान्तचरमपर्यन्तः (एस णमित्यादि) एतत्सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् अन्तरं कियद्योजनप्रमाणम् अबाधया अन्तरव्याघातरूपया प्रज्ञप्तं भगवानाह गौतम ! एकं योजनसहस्रमेकयोजनसहस्रप्रमाणमन्तरं प्रज्ञप्तम् ।

इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए रयणकंडस्स उवरिल्लातो चरिमंतातो वइरस्स कंडस्स उवरिल्ले चरिमंते एस णं भंते ! केवतियं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ? गोयमा ! एक्कं जोयणसहस्सं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ।

(इमी से णमित्यादि) अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्याः रत्नकाण्डस्य उपरितनचरमान्तात्परतो यो वज्रकाण्डस्योपरितनचरमान्त एतत् अन्तरं कियत् किंप्रमाणमबाधया प्रज्ञप्तं भगवानाह गौतम ! एकं योजनसहस्रमबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तं रत्नकाण्डाधस्तनचरमान्तस्य वज्रकाण्डोपरितनचरमान्तस्य च परस्परसंलग्नतया उभयत्रापि तुल्यप्रमाणत्वात् ।

इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए उवरिल्लातो चरिमंतातो वइरस्स कंडस्स हेट्ठिल्ले चरिमंते एस णं भंते ! केवतियं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते गोयमा ! दो जोयणसहस्साइं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते एवं जाव रिट्ठस्स उवरिल्ले पण्णरस जोयणसहस्साइं हेट्ठिल्ले चरिमंते सोलस जोयणसहस्साइं ॥

अस्या भदन्त ! ... रत्नकाण्डस्य ... रमान्तात् वज्रकाण्डस्य ... रमान्त

कियत् अबाधया प्रज्ञप्तं भगवानाह गौतम ! द्वे योजनसहस्रे अबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम् । एवं काण्डे काण्डे द्वौ द्वौ वाच्यौ एतावत् काण्डस्य चाधस्तने चरमान्ते चिन्त्यमाने योजनसहस्रपरिवृद्धिः कर्तव्या यावत् रिष्टस्य काण्डस्याधस्तने चरमान्ते चिन्त्यमाने षोडश योजनसहस्राणि अबाधया प्रज्ञप्तमिति वक्तव्यम् जी० ३ प्रति० ।

इमी से णं रयणप्पभाए पुढवीए वइरकंडस्स उवरिल्लाओ चरिमंताओ लोहियक्खकंडस्स हेट्ठिल्ले चरिमंते एस णं तिन्नि जोयणसहस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ।

(इमी से णमित्यादि) अयमिह भावार्थः रत्नप्रभापृथिव्याः प्रथमस्य षोडशविभागस्य खरकाण्डाभिधानकाण्डस्य वज्रकाण्डं नाम रत्नकाण्डं द्वितीयं वैडूर्यकाण्डं तृतीयं लोहिताक्षकाण्डं चतुर्थं तानि च प्रत्येकं साहस्रिकाणीति त्रयाणां यथोक्तमन्तरं भवतीति स० ।

इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए उवरिल्लाओ चरिमंताओ पंकबहुलस्स कंडस्स उवरिल्ले चरिमंते एस णं अबाधाए केवतियं अंतरे पण्णत्ते ? गोयमा ! सोलस जोयणसहस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते हेट्ठिल्ले चरिमंते एक्कं जोयणसयसहस्सं ॥

अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्याः रत्नकाण्डस्योपरितनाच्चरमान्तात् परतो यः पङ्कबहुलस्य काण्डस्योपरितनचरमान्तस्तत् कियत् किंप्रमाणमबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तं भगवानाह गौतम ! षोडश योजनसहस्राणि अबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम् । [इमी से णमित्यादि] अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्या रत्नकाण्डस्योपरितनात् चरमान्तात् परतो यः पङ्कबहुलस्योपरितनचरमान्त एतदन्तरं कियत् अबाधया प्रज्ञप्तं भगवानाह गौतम ! एकं योजनशतसहस्रमबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम् ।

पंकबहुलस्स णं कंडस्स उवरिल्लाओ चरमंताओ हेट्ठिल्ले चरमंते एस णं चोरासीइजोयणसयसहस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ॥

धेयांसजिनं पङ्कबहुलं काण्डं द्वितीयं तस्य च बाहल्यं चतुरशीतिः सहस्राणीति यथोक्तसूत्रार्थं इति स० ।

आवबहुलस्स उवरि एक्कं जोयणसयसहस्सं हेट्ठिल्ले चरिमंते असीउत्तरं जोयणसयसहस्सं । घणोदधिस्स उवरिल्ले असी उत्तरं जोयणसयसहस्सं हेट्ठिल्ले चरिमंते दो जोयणसयसहस्साइं ।

अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्या रत्नकाण्डस्योपरितनाच्चरमान्तात् परतोऽब्बहुलस्य योऽधस्तनचरमान्त एतदन्तरं कियत् अबाधया ... ह गौतम ! अशीत्युत्तरं योजनशतम ... मान्ते पृष्टे एतदेव निर्वचनम् ... धस्तने पृष्टे इदं निर्वचनं द्वे ... प्रज्ञप्तम् ।

इमी ...

... स्स उव- ... रिमंते असी- ... रयणप्पभाए

पुढवीए तणुवातस्स उवरिल्ले चरिमंते असंखेज्जाइं जोयण-सतसहस्साइं अबाधाए अंतरे हेट्ठिल्ले वि संखेज्जाइं जोयण-सतसहस्साइं एवं उवासंतरे वि ।

घनवातस्योपरितने चरमान्ते पृष्टे इदमेव निर्वचनं घनोदध्य-धस्तनचरमान्तस्य घनवातोपरितनचरमान्तस्य च परस्परं सं-लग्नत्वात् घनवातस्याधस्तने चरमान्ते एतन्निर्वचनम् । असं-ख्येयानि योजनशतसहस्राण्यबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम् । एवं तनुवातस्योपरितने चरमान्ते अवकाशान्तरस्याप्युपरितने चरमा-न्ते इदमेव निर्वचनं वक्तव्यम् । असंख्येयानि योजनशतसह-स्राण्यबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तमिति । सूत्रपाठस्तु प्रत्येकं सर्वत्रा-पि पूर्वोक्तानुसारेण स्वयं परिभावनीयः सुगमत्वात् ।

सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए उवरिल्लातो चरिमंतातो हेट्ठिल्ले चरिमंते एस णं केवतियं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते गोयमा ! बत्तीसुत्तरं जोयणसतसहस्सं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते । सक्कर-प्पभाए णं भंते ! पुढवीए उवरि घणोदधिस्स हेट्ठिल्ले चरिमंते केवतियं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ? गोयमा ! बावण्णुत्तरं जोयणसय-सहस्सं अबाधाए घणवातस्स असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं प-ण्णत्ताइं एवं जाव उवासंतरस्स वि जाव अहेसत्तमाए । णवरं जीसे जं बाहल्लं तेण घणोदही संबंधेयव्वो बुद्धीए सक्करप्प-भाए अणुसारेण घणोदधिसहिताणं इमं पमाणं । वालुयप्प-भाए अडयालीसुत्तरं जोयणसतसहस्सं पंकप्पभाए पुढवीए चत्तालीसुत्तरं जोयणसतसहस्सं धूमप्पभाए पुढवीए अट्ठ-तीसुत्तरं जोयणसतसहस्सं तमाए पुढवीए छत्तीसुत्तरं जोयणसतसहस्सं अहेसत्तमाए पुढवीए अट्ठावीसुत्तरं जोय-णसतसहस्सं जाव अहेसत्तमाए । एस णं भंते ! पुढवीए उवरिल्लातो चरिमंतातो उवासंतरस्स हेट्ठिल्ले चरिमंते केव-तियं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते गोयमा ! असंखेज्जाइं जोय-णसतसहस्साइं अबाधाए अंतरे पण्णत्ते ॥

[illegible] भदन्त ! शर्करा पृथिव्या उपरितनाच्चरमान्तात् [illegible] विष्कम्भमबाधया अन्तरं [illegible] ! द्वात्रिंशदुत्तरं द्वात्रिंशत्सहस्राधिकं [illegible] अबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तं घनोदधेरुपरितने [illegible] द्वात्रिंशदुत्तरं योजनशतसहस्रम् [illegible] द्विपञ्चाशदुत्तरं योजन-[illegible] घनवातस्योपरितनचरमान्तपृच्छायामपि [illegible] तनुवातावकाशान्तरयोः [illegible] च यथा रत्नप्रभायां तथा वक्-[illegible] [illegible] ! [illegible] [illegible] । [illegible] प्रज्ञप्तम् । [illegible] विष्कम्भ [illegible]

ते चरमान्तपृच्छायामपि अधस्तनचरमान्तपृच्छायां तनुवा-[illegible] काशान्तरयोरुपरितनाधस्तनचरमान्तपृच्छासु च यथा रत्न-प्रभायां तथा वक्तव्यम् । एवं चतुर्थपञ्चमषष्ठसप्तमपृथिवीवि-[illegible] षयसूत्राण्यपि भावनीयानि जी० ३ प्रति०

छट्ठीए पुढवीए बहुमज्झदेसभायाओ छट्ठस्स घणोदहि-[illegible] स्स हेट्ठिल्ले चरमंते एस णं एगूणासीतिजोयणसह-[illegible] अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ॥

अस्य भावार्थः षष्ठपृथिवी हि बाहल्यतो योजनानां [illegible] सहस्राणि भवन्ति । घनोदधयस्तु यद्यपि सर्वेऽपि विंशतिसहस्राणि स्युस्तथाप्येतस्य मन्यस्य मतेन [illegible] कविंशतिः संभाव्यते तदेवं षष्ठपृथिवीबाहल्यार्द्ध [illegible] घनोदधिप्रमाणं चैकविंशतिरित्येवमेकोनाशीतिर्भवति । [illegible] न्तरमतेन तु सर्वघनोदधीनां विंशतियोजनसहस्र [illegible] रूपञ्चमीमाश्रित्येदं सूत्रमवसेयं यतस्तद्बाहल्यमष्टादशोत्तर [illegible] मुक्तं यत आह । "पढमा सीइसहस्सा, १ बत्तीसा २ अट्ठ-[illegible] ३ वीसा य ४ । अट्ठार ५ सोल ६ अट्ठ य, ७ सहस्स [illegible] कुज्जाओ" ॥ १ ॥ अथवा षष्ठ्याः सहस्राधिकोऽपि [illegible] विवक्षित एवमर्थसूत्रकत्वाद्बहुशब्दस्येति ॥ १७ ॥

[१८] रत्नप्रभादीनां परस्परमन्तरम् ।

इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए सक्करप्पभाए [illegible] पुढवीए केवइयं अबाहाए अंतरं पण्णत्ते ? गोयमा ! असंखे-ज्जाइं जोअणसहस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते । सक्कर-प्पभाए णं भंते ! पुढवीए वालुयप्पभाए य पुढवीए [illegible] इय एवं चेव एवं जाव तमाए अहेसत्तमाए य । अहेसत्त-माए णं भंते ! पुढवीए अलोगस्स य केवइयं अबा-[illegible] अंतरे पण्णत्ते ? गोयमा ! असंखेज्जाइं जोअणसह-[illegible] अबाहाए अंतरं पण्णत्तं । इमी से णं भंते ! रयण-[illegible] पुढवीए जोइसियस्स केवइयं पुच्छा, गोयमा ! सत्तउत्तरे [illegible] जोअणसए अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ॥

" इमी से णमित्यादि " (अबाहि अंतरेत्ति) बाधा [illegible] संश्लेषतः पीडनं न बाधा अबाधा तया अबाधया, [illegible] यदन्तरं व्यवधानमित्यर्थः । [illegible] मध्यवि-[illegible] र्येषु वर्तमानो दृष्टस्तल्लव्यवच्छेदेन व्यवधानार्थ [illegible] मबाधाग्रहणम् (असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं [illegible] प्रायः प्रमाणाङ्गुलनिष्पन्नं ज्ञातं " नगपुढविविमाणाइं मिण-पमाणंगुलेणं तु " इत्यत्र [illegible] [illegible] आदित्यप्रकाशादेरपि प्रमाणयोजनासंख्येयत्व [illegible] बाधा लोकश्रमेषु [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रमाणयोजनप्रमित [illegible] [illegible] पृथिव्या लोकान्तस्य [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥ भ० १४ श० ७ उ० ।

[१९] निषधकूटस्य उपरितलात्सिद्धायतनतलात्सम-
धरणितलस्यान्तरम् ।

निसढकूडस्स णं उवरिल्लाओ सिहरतलाओ णिसढस्स
वासहरपव्वयस्स समधरणितले एस णं नवजोयणसयाइं
अबाहाए अंतरे पण्णत्ते एवं नीलवंतकूडस्स वि ॥

(निसढकूडस्स णमित्यादि) इहायम्भावः निषधकूटं पञ्च-
शतोच्छ्रितं निषधश्च चतुःशतोच्छ्रित इति यथोक्तमन्तरम्भव-
तीति । स० ।

निषधपर्वतस्य रत्नप्रभाया बहुमध्यदेशभागो यथा ।

निसढस्स णं वासहरपव्वयस्स उवरिल्लाओ सिहरतलाओ
इमी से णं रयणप्पभाए पुढवीए पढमस्स कंडस्स बहुम-
ज्झदेसभाए एस णं नवजोयणसयाइं अबाहाए अंतरे प-
ण्णत्ते एवं नीलवंतस्स वि ।

(टीका नास्तीति न गृहीता) स० १६२ पत्र.

[२०] पुष्करवरद्वाराणामन्तरम् ।

पुक्खरवरस्स णं भंते ! दीवस्स दारस्स य दारस्स य एस
णं केवतियं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ? गोयमा ! "अडया-
लसयसहस्सा, बावीसं खलु भवे सहस्साइं । अगुणुत्तराइं
चउरो, दारंतरं पुक्खरवरस्स " ॥

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! अष्टचत्वारिंशत् योजन-
शतसहस्राणि द्वाविंशतिसहस्राणि चत्वारि योजनशतानि
एकोनसप्ततिर्द्वारस्य च परस्परमबाधयाऽन्तरपरिमाणम् ।
तथाहि चतुर्णामपि द्वाराणामेकत्र पृथुत्वमीलने अष्टादश यो-
जनानि तानि पुष्करवरद्वीपपरिरयपरिमाणात् (१९२८९८९४)
इत्येवंरूपात् शोध्यन्ते शोधितेषु च तेषु जातमिदमेका योज-
नकोटी द्विनवतिशतसहस्राणि एकोननवतिसहस्राणि अष्टौ
शतानि षट्सप्तत्यधिकानि (१९२८९८७६) तेषां चतुर्भिर्भागे
हृते लब्धं यथोक्तं द्वाराणां परस्परमन्तरपरिमाण (४८२२४६९)
मिति जी० ३ प्रति ।

[२१] मन्दराद् गोस्तूभादीनामन्तरम् ।

मंदरस्स णं पव्वयस्स पुरत्थिमिल्लाओ चरमंताओ गो-
थूभस्स आवासपव्वयस्स पुरत्थिमिल्ले चरमंते एस णं
अबाहाए अंतरे पण्णत्ते एवं
अट्ठासीइं जोयणसहस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते एवं
चउसु वि दिसासु नेयव्वं स० १४६ पत्र ।

मेरोः पूर्वान्तात् जम्बूद्वीपस्य पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्रा-
न्त्यात् जम्बूद्वीपान्ताच्च द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्रेषु गोस्तू-
भस्य व्यवस्थितत्वात्तस्य च सहस्रविष्कम्भत्वाद्यथोक्तः सूत्रा-
र्थो भवतीति । अनेनैव क्रमेण दक्षिणादिदिग्व्यवस्थितान् दका-
भासशङ्खदकसीमाख्यान् वेलन्धरनागराजनिवासपर्वताना-
धिकृत्य वाच्यमत एवाह 'एवं चउसु वि दिसासु नेयव्वमिति' स०।

जंबूदीवस्स णं दीवस्स पुरत्थिमिल्लाओ चरमंताओ गो-
थूभस्स णं आवासपव्वयस्स पच्चत्थिमिल्ले चरमंते एस णं
बायालीसं जोयणसहस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते एवं
चउद्दिसिं पि दगभासे संखे दगसीमे य ।

(पुरत्थिमिल्लाओत्ति) जगतीबाह्यपरिधेरपवृत्य गोस्तूभ-
स्यावासपर्वतस्य वेलन्धरनागराजसंबन्धिनः पाश्चात्यसीमा-
न्तश्चरमविभागो वा यावताऽन्तरेण भवति (पण्णत्ते) एत-
दन्तरं द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि प्रज्ञप्तमन्तरशब्देन विशे-
षोऽप्यभिधीयते इत्यत आह (अबाहाएत्ति) व्यवधानापेक्षया
यदन्तरं तदित्यर्थः स० १०६ पत्र. ।

मंदरस्स णं पव्वयस्स पच्चत्थिमिल्लाओ चरमंताओ गो-
थूभस्स णं आवासपव्वयस्स पच्चत्थिमिल्ले चरमंते एस णं
सत्ताणउइं जोयणसहस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते एवं
चउद्दिसिं पि ।

भावार्थोऽयं मेरोः पश्चिमान्तात् जम्बूद्वीपस्यान्तः पञ्चपञ्चा-
शत् सहस्राणि ततो द्विचत्वारिंशतो गोस्तूभ इति यथोक्तम-
न्तरमिति स० १५२ पत्र. ।

मंदरस्स णं पव्वयस्स बहुमज्झदेसभागाओ गोथूभस्स
आवासपव्वयस्स पच्चत्थिमिल्ले चरमंते एस णं बाणउइं जो-
यणसहस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते एवं चउण्ह वि आ-
वासपव्वयाणं ॥

भावार्थो मेरुमध्यभागात् जम्बूद्वीपस्य पञ्चाशत् सहस्राणि
ततो द्विचत्वारिंशत् सहस्राण्यतिक्रम्य गोस्तूभपर्वत इति
सूत्रोक्तमन्तरम्भवतीति । एवं शेषाणामपि स० १४७ पत्र. ।

[२२] मन्दराद्गौतमस्यान्तरं यथा ।

मंदरस्स णं पव्वयस्स पुरत्थिमिल्लाओ चरमंताओ गो-
यमदीवस्स पुरत्थिमिल्ले चरमंते एस णं सत्तसट्ठिं जोयणस-
हस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ।

मेरोः पूर्वान्ताज्जम्बूद्वीपोऽपरस्यां दिशि जगतीबाह्यान्तपर्यव-
सान. पञ्चपञ्चाशद्योजनसहस्राणि तावदस्ति ततः परं द्वादश-
योजनसहस्राण्यतिक्रम्य लवणसमुद्रमध्ये गौतमद्वीपाभिधा-
नो द्वीपोऽस्ति तमधिकृत्य सूत्रार्थः सम्भवति । पञ्चपञ्चाशतो
द्वादशानां च सप्तषष्टित्वभावात् । यद्यपि सूत्रपुस्तकेषु गौतम-
शब्दो न दृश्यते तथाप्यसौ दृश्यः जीवाभिगमादिषु लवणस-
मुद्रे गौतमचन्द्ररविद्वीपान् विना द्वीपान्तरस्याश्रूयमाणत्वादि-
ति । स० १२५ पत्र. ।

मंदरस्स पव्वयस्स पच्चत्थिमिल्लाओ चरमंताओ गोयमदी-
वस्स पच्चत्थिमिल्ले चरमंते एस णं एगूणसत्तरिं जो[yaṇa]-
सहस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ॥

लवणसमुद्रपश्चिमायां दिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यव[गाह्य]
द्वादशसहस्रमान. सुस्थिताभिधानस्य लवणसमुद्राधिपतेर्भ[वनं]
नालंकृतो गौतमद्वीपो नाम द्वीपोऽस्ति तस्य च पश्चिमान्तो [मेरोः]
पश्चिमान्तादेकोनसप्ततिसहस्राणि भवन्ति पञ्चचत्वारि[ंशतो]
जम्बूद्वीपसम्बन्धिनां द्वादशानामन्तरसम्बन्धिनां द्वादशा[नां]
द्वीपविष्कम्भसम्बन्धिनां च मीलनादिति ।

(२३) मन्दरस्य दकभासस्यान्तरम् ।

मंदरस्स णं पव्वयस्स दक्खिणिल्लाओ चरमंताओ [दगभा]-
सस्स आवासपव्वयस्स उत्तरिल्ले चरमंते एस णं स[त्तासीइं]
जोयणसहस्साइं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते एवं मंदरस्स [पच्च]-
त्थिमिल्लाओ चरमंताओ संखस्स वा पुरत्थिमिल्ले च[रमंते]
चेव. मंदरस्स उत्तरिल्लाओ चरमंताओ दगसीमस्स

[illegible] पहाए अंतरे पनसे म० १६० पत्र. ।

[illegible]

[illegible] पत्र एं [illegible] भंते पाणते एवं सप्प- [illegible]

[illegible] (१४ पत्र.)

[illegible] मंतोवरस्स कंव- [illegible] अवा- [illegible] ति ।

[illegible]

पंचाणउइसहस्साइं दुवि य असीए जोयणए [illegible] ।
दारंतरे अवरो जाव अवाहाए अंतरे पनसे ॥

अवणस्य भदन्त ! समुद्रस्य द्वारस्य द्वारस्य [illegible] अन्तरं कियत्या अवाधया अन्तरात्वा [illegible] भगवानाह गौतम ! त्रीणि योजनशतसहस्राणि [illegible] सहस्राणि अशीती द्वे योजनशते क्रोशश्चैको द्वारस्य द्वारस्य यथा अन्तरं प्रज्ञप्तम् । तथाहि एकैकस्य द्वारस्य [illegible] रि योजनानि एकैकस्मिंश्च द्वारे एकैव द्वारशाखा [illegible] द्वारे च द्वे द्वे शाखे ततः एकैकस्मिन् द्वारे [illegible] माने सार्द्धयोजनचतुष्टयप्रमाणे प्राप्यते [illegible] पुरुषमीलने [illegible] योजनानि [illegible] परिरयपरिमाणात् [illegible] सहस्राणि [illegible] योजनशतानि [illegible] परिमाणानि [illegible] च [illegible] परिमाणं तच यथोक्तमेव । उक्तं च "[illegible] यथा, पणनउइसहस्साति [illegible] च । कोसो [illegible] द्वाराण विरहं" जी० ३ प्रति ।

[२६] [illegible]
अनाधा [illegible] ।

[illegible] पायालस्स [illegible] बायं- [illegible] सीते [illegible] एं [illegible] योयणसहस्साइं अबाहाए अंतरे पनसे [illegible] केउस्स [illegible] जूयस्स [illegible] ईसरस्स [illegible] ।

[illegible]

[७] [illegible]

[illegible]

[टीका सुगमत्वान्न गृहीता]

[विवक्षितस्वजातिपरित्यागे सति पुनस्तज्जातिप्राप्तिविरहे आनुपूर्वीद्रव्याणामन्तरम् आणुपुव्वी शब्दे]

[२८] आहारमाश्रित्य जीवानामन्तरम् ।

छउमत्थआहारगस्स णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होइ गोयमा ! जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं दो समया। केवलिआहारगस्स णं अंतरं अजहएणमणुक्कोसेणं तिएिण समया छउमत्थअणाहारगस्स अंतरं जहएणेणं खुड्डगभवग्गहणं दुसमऊणं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं जाव अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं। सिद्धकेवलिअणाहारगस्स सातियस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं सजोगिभवत्थकेवलिअणाहारगस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वि अंतोमुहुत्तं अजोगिभवत्थकेवलिअणाहारगस्स नत्थि अंतरं ॥

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! जघन्येन क्षुल्लकभवग्रहणं द्विसमयोनमुत्कर्षतोऽसंख्येयं कालं यावदङ्गुलस्यासंख्येयो भाग यावानेव हि छद्मस्थस्याहारकस्य कालस्तावदेव छद्मस्थानाहारकस्यान्तरं छद्मस्थाहारकस्य च जघन्यतः कालोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसंख्येयाः उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽङ्गुलस्यासंख्येयो भागः एतावन्तं कालं सततमविग्रहेणोत्पादसंभवात् । ततः छद्मस्थानाहारकस्य च जघन्यत उत्कर्षतश्चैतावदन्तरं चेति जी० ३ प्रति० । [अधिकं खुड्डागभवग्गहणशब्दे नवरम्] सयोगिभवस्थकेवल्यनाहारकस्यान्तरमभिधित्सुराह । " सजोगिभवत्थकेवलिअणाहारगस्स णं भंते " इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह । गौतम ! जघन्येनाप्यन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षेणाप्यन्तर्मुहूर्त्तं समुद्घातप्रतिपत्तेरनन्तरमेवान्तर्मुहूर्त्तेन शैलेशीप्रतिपत्तिभावात् नवरं जघन्यपदादुत्कृष्टपदं विशेषाधिकमवसातव्यमन्यथोभयपदोपन्यासायोगात् अयोगिभवस्थकेवल्यनाहारकसूत्रे नास्त्यन्तरमयोग्यवस्थायां सर्वस्याप्यनाहारकत्वात् । एवं सिद्धस्यापि साद्यपर्यवसितस्यानाहारकस्यान्तराभावो भावनीयः जी० ३ प्रति० ॥

[२९] इन्द्रियमाश्रित्यान्तरम् ।

एगिंदियस्स णं भंते ! एगिंदियस्स अंतरं कालतो केव चिरं होति गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं दो सागरोवमसहस्साइं संखेज्जवासमब्भहियाइं। वेइंदियस्स णं भंते ! अंतरं कालतो केव चिरं होइ गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणप्फतिकालो एवं तेइंदियस्स वि चउरिंदियस्स वि णेरइयस्स वि पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स वि मणूसस्स वि देवस्स वि सव्वेसिं अंतरं भाणियव्वं ॥

अन्तरचिन्तायामेकेन्द्रियस्य जघन्यमन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो द्वे सागरोपमसहस्रे संख्येयवर्षाभ्यधिके द्वित्रिचतुरिन्द्रियनैरयिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवानां जघन्यतः प्रत्येकमन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकालः [सर्व० जी० ८ प्रति] "एगिंदियस्स णं भंते ! अंतरं कालतो केव चिरं होइ" इति प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह। गौतम! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं नच्चैकेन्द्रियादुद्वृत्य द्वीन्द्रियादावन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूय एकेन्द्रियत्वेनोत्पद्यमानस्य वेदितव्यम्। उत्कर्षतो द्वे सागरोपमसहस्रे संख्येयवर्षाभ्यधिके यावानेव हि त्रसकायस्य कायस्थितिकालस्तावदेवैकेन्द्रियस्यान्तरं त्रसकायस्थितिकालश्च यथोक्तप्रमाण एव तथा वक्ष्यति । " तसकाए णं भंते ! तसकायत्ति कालतो केव चिरं होइ गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं दो सागरोवमसहस्साइं संखेज्जवासा अब्भहियाइं" द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियसूत्रेषु जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं तच्च पूर्वप्रकारेण भावनीयमुत्कर्षतः सर्वत्रापि वनस्पतिकालः द्वीन्द्रियादिभ्यः उद्वृत्य वनस्पतिषु यथोक्तप्रमाणमनन्तरमपि कालमवस्थानात् यथैवामूनि पञ्चसूत्राण्यन्तरविषयाण्यौघिकान्युक्तानि तथैव पर्याप्तविषयाणि अपर्याप्तविषयाण्यपि भावनीयानि तानि चैवम्। " एगिंदियअपज्जत्ते "इत्यादि एवं पञ्च पर्याप्तसूत्राण्यपि वक्तव्यानि । जी० ५ प्रति० । [उत्पादमधिकृत्यान्तरम् उववाय शब्दे]

[३०] कषायमाश्रित्यान्तरम् ।

कोहकसाई–माणकसाई–मायाकसाई णं भंते ! अंतरं ? गोयमा ! जहएणेणं एकं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं लोभकसाइयस्स अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं कसाई तहेव जहा हेट्ठा ।

क्रोधकषायिणोऽन्तरं जघन्येनैकं समयं तदुपशमसमयानन्तरं मरणे भूयः कस्यापि तदुदयात् उत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तमेवं मानकषायिमायाकषायिसूत्रे अपि वक्तव्ये " लोभकसायियस्स अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं अकसाई तहेव जहा हेट्ठा " । सर्व० जी० ४ प्रति० ।

कायमाश्रित्यान्तरम् ।

पुढवीकाइयस्स णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो एवं आउतेउवाउकाइयतसकाइयाण वि वणस्सइकाइयस्स पुढविकालो एवं पज्जत्तगाण वि वणस्सतिकालो। वणस्सइकाइयाणं पुढविकालो पज्जत्तगाण वि एवं चेव वणस्सतिकालो पज्जत्ताणं वणस्सतीणं पुढविकालो ।

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं पृथिवीकायादुद्वृत्याऽन्यत्रान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयः पृथिवीकायिकत्वेन कस्याप्युत्पादात् उत्कर्षतोऽनन्तं कालं स चानन्तकालः प्रागुक्तस्वरूपो वनस्पतिकालः प्रतिपत्तव्यः पृथिवीकायादुद्वृत्यैतावन्तं कालं वनस्पतिष्ववस्थानसम्भवात् एवमप्तेजोवायुत्रससूत्राण्यपि भावनीयानि वनस्पतिसूत्रे उत्कर्षतोऽसंख्येयं कालं "असंखेज्जाओ उस्सप्पिणीओ कालतो खेत्ततो असंखेज्जा लोगा" इति वक्तव्यं वनस्पतिकायादुद्वृत्य पृथिव्यादिष्ववस्थानात् ते च सर्वेष्वप्युत्कर्षतोऽप्येतावत्कालमभावात् जी० ६ प्रति० ।

[३१] गतिमाश्रित्यान्तरं यथा ।

नेरइयस्स अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो एवं सव्वाणं तिरिक्खजोणियवज्जाणं तिरिक्खजोणियाणं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसतपुहुत्तं सातिरेगं ॥

नैरयिकस्य जघन्येनान्तरमन्तर्मुहूर्त्तं तच्च नरकादुद्वृत्तस्य तिर्यग्मनुष्यगर्भे एवाशुभाध्यवसायेन मरणतः परिभावनीयं सानुबन्धकर्म्मफलमेतदिति तात्पर्यार्थः । उत्कर्षतोऽनन्तं कालं स

[illegible] कालो वनस्पतिकालो नरकाडुद्वृत्तस्य पारम्पर्येणा-नन्तं कालं वनस्पतिष्ववस्थानात् तिर्यग्योनिकसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं तच्च तिर्यग्योनिकभवाडुद्वृत्यान्यत्रान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा पुनः तिर्यग्योनिकत्वेनोत्पद्यमानस्य वेदितव्यमुत्कर्षतः सागरोपमशतपृथक्त्वं सातिरेकं तिर्यग्योनिकसूत्रे मनुष्यसूत्रे मानुषी-सूत्रे देवसूत्रे च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकालः जी० ७ प्रति० ।

नैरयिकस्य ।

नेरइयमणुस्सदेवाणं य अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं साइरेगं ॥

नैरयिकस्य भदन्त ! अन्तरं नैरयिकत्वात्परिभ्रष्टस्य भूय आ-नैरयिकत्वप्राप्तेरपान्तरालं कालतः कियच्चिरं भवति कियन्तं कालं [illegible]। भगवानाह जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं कथमिति चेत् [illegible] नरकाडुद्वृत्य मनुष्यभवे तिर्यग्भवे वा अन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयो नरकोत्पादात् । तत्र मनुष्यभवे भावना इयं कश्चि-[illegible] गर्भजमनुष्यत्वेनोत्पद्य सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तो [illegible] वैक्रियलब्धिमान् राज्याद्याकाङ्क्षी परचक्रा-[illegible] स्वशक्तिप्रभावतश्चतुरङ्गं सैन्यं विकुर्वित्वा सं-[illegible] महारौद्रध्यानोपगतो गर्भस्थ एव कालं करोति [illegible] भूयो नरकेषूत्पद्यते तत्र चान्तर्मुहूर्त्तं तिर्यग्भवे [illegible] गर्भव्युत्क्रान्तिकमत्स्यत्वेनोत्पन्नश्च महा-[illegible] अन्तर्मुहूर्त्तं जीवित्वा भूयो नरके जायते इति [illegible] वनस्पतिष्वावादाद्यमात-[illegible] स च प्रागेव तः तिर्यग्योनिकवि-[illegible] जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं तच्च कस्यापि [illegible] मनुष्यभवे अन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा पुनः तिर्यक्त्वे-[illegible] सातिरेकं सागरोपमशतपृथ-क्त्वं [illegible] मनुष्यत्वमानस्यं मनु-[illegible] जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं तच्च [illegible] अन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयो मनुष्यत्वेनो-[illegible] कालं स चान्तरकालः [illegible] । देवसूत्रमपि सुगमं [illegible] [illegible] गर्भजमनुष्यत्वे-[illegible] पर्याप्तो [illegible] [illegible] धर्मध्यानोपगतो गर्भस्थ एव [illegible] भवः [illegible] वनस्प-[illegible] जी० ४ प्रति० । (गुणस्थानकालाधि-[illegible])

[illegible] भंते ! [illegible] कालओ केव चिरं होति गोयमा ! [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं अन्नाणिस्स दोण्ह वि [illegible] द्वाणं णत्थि अंतरं सातियस्स सपज्जवसियस्स [illegible] अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं सातिरेगाइं [illegible]

ज्ञानिनो भदन्त ! अन्तरं कालतः कियच्चिरं भवति [illegible] गौतम ! सादिकस्य अपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसि[illegible] सदा तद्भावापरित्यागात् सादिकस्य सपर्यवसितस्य [illegible] नान्तर्मुहूर्त्तमेतावता मिथ्यादर्शनकालेन व्यवधानेन पु[illegible] ज्ञानभावात् उत्कर्षेण अनन्तं कालमनन्ता उत्सर्पिण्य[illegible] पः कालतः क्षेत्रतोऽपार्द्धं पुद्गलपरावर्त्तं देशोनं सम्य[illegible] म्यक्त्वात् प्रतिपतितस्य एतावन्तं कालं मिथ्यात्वमनुभूय [illegible] नन्तरमवश्यं सम्यक्त्वासादनात् "अज्ञानिस्स णं भंते !" [illegible] दि प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! अनाद्यपर्यवसि[illegible] नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वादेवमनादिपर्यवसितस्यापि [illegible] भव्यात्केवलज्ञानस्य प्रतिपाताभावात् सादिपर्यवसितस्य [illegible] न्येनान्तर्मुहूर्त्तं जघन्यस्य सम्यग्दर्शनकालस्य [illegible] उत्कर्षतः षट्षष्टिसागरोपमाणि सातिरेकाणि [illegible] लात् सम्यग्दर्शनप्रतिपाते सत्यज्ञानभावात् जी. सर्व० [illegible]

आभिनिबोधिकादेरन्तरम् ।

आभिणिबोहियणाणिस्स णं भंते ! अंतरं कालओ [illegible] चिरं होइ गोयमा ! जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं [illegible] यंतं कालं जाव अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं एवं सु[illegible] णिस्स वि ओहिणाणिस्स वि मणपज्जवणाणिस्स [illegible] वलणाणिस्स णं भंते ! अंतरं सादियस्स अपज्जव[illegible] स्स णत्थि अंतरं । मति अएणाणिस्स णं भंते ! [illegible] अणादियस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं । अ[illegible] यस्स सपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं । सादियस्स स[illegible] वसियस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं छावट्ठिं [illegible] रोवमाइं सातिरेगाइं एवं सुयणाणिस्स वि [illegible] स्स णं भंते ! अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं [illegible] स्सइकालो ।

अन्तरचिन्तायामाभिनिबोधिकज्ञानिनोऽन्तरं ज[illegible] तमुत्कर्षतोऽनन्तं कालं यावदपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तं देशोनम् [illegible] श्रुतज्ञानिनो मनःपर्यवज्ञानिनश्चान्तरं वक्तव्यम् [illegible] सादिपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरं मत्यज्ञानिनः श्रुताज्ञानिनश्च [illegible] पर्यवसितस्यानादिसपर्यवसितस्य च नास्त्यन्तरं [illegible] सितस्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः षट्षष्टिः सागरोप[illegible] विभङ्गज्ञानिनः जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽनन्त काल [illegible] तिकाद्यः जी. सर्व० ७ प्रति० । भा० चू० [illegible]

(१२) [illegible]

[illegible] णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति गोयमा ! [illegible] हएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सइकालो [illegible] भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति गोयमा ! जहएणेणं [illegible] मुहुत्तं उक्कोसेणं [illegible]

[illegible]

कायिकमध्ये गमनेनायसातत्यमन्यत्र गत्यैवेनायत्प्रमाणमात्यान्त- रस्यासंभवात् " तस्स णं भंते ! अंतरमित्यादि " सुगमं नवरं " उक्कोसेण वणस्सइकालो " इति उत्कर्षतो वनस्पतिकालो वक्तव्यः स चैवम् । " उक्कोसेणं अणंतं कालमणंताओ उस्सप्पि- णीओ कालतो खेत्ततो अणंता लोगा असंखेज्जा पोग्गलपरिय- ट्टा ते णं पोग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागो " इति एतावत्प्रमाणं चान्तरं वनस्पतिकायमध्यगमनेन प्रतिपत्तव्यम- न्यत्र गत्यैवेनायतोऽन्तरस्यासंभवात्मानत्वात् जी० १ प्रति० ।

तमस्स णं अंतरं वणस्सतिकालो थावरस्स तसकालो नो तसस्स नो थावरस्स णत्थि अंतरं । जी० सर्वजी० २ प्रति० ।

दर्शनमाश्रित्य जीवानाम् ।

चक्खुदंसणस्स अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो अचक्खुदंसणस्स दुविहस्स णत्थि अंतरं ओहिदंसणस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सइ- कालो केवलदंसणस्स णत्थि अंतरं ।

चक्षुर्दर्शनिनोऽन्तरं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं प्रमाणेन अचक्षुर्दर्शन- [illegible] व्यवधानात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालः स च प्रागुक्तस्वरूपः अचक्षुर्दर्शनिनोऽनाद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वा- [illegible] अनादिपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरम् अचक्षुर्दर्शनस्यापगमे [illegible] सूर्योऽचक्षुर्दर्शनापायोत्पात् क्षीणघातिकर्मणः प्रतिपातासंभवात् अवधिदर्शनिनो जघन्येनैकं समयमन्तरं प्रतिपातसमयानन्तर- [illegible] समय एव कस्यापि पुनस्तल्लाभभावात् कश्चिदन्तर्मुहूर्त्तमिति [illegible] तः स च सुगमः तावता व्यवधानेन पुनस्तल्लाभभावात् । न [illegible] यं निर्मूलःपातो मूलटीकाकारेणापि मनाक्तरेण समर्थितत्वात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालः तावतः कालात् ऊर्ध्वमवश्यमवधिदर्श- [illegible] भावात् मिथ्यात्वेऽप्यविरोधात् ज्ञानं हि सम्यक्त्वं स- [illegible] न दर्शनमपीति भावना केवलदर्शनिनः साद्यपर्यवसितस्य [illegible] अन्तरमपर्यवसितत्वात् जी० सर्वजी० १ प्रति० ।

(३३) दृष्टिमाश्रित्यान्तरम् ।

[illegible] मदिट्ठिस्स अंतरं सातियस्स अपज्जवसियस्स णत्थि [illegible] सातियस्स सपज्जवसियस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं [illegible] णं अणंतं कालं जाव अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं [illegible] दिट्ठिस्स अणादियस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अं- [illegible] आदियस्स सपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं । सादिय- [illegible] ज्जवसियस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं छाव- [illegible] रोवमाइं सातिरेगाइं । सम्मामिच्छादिट्ठिस्स जह- [illegible] तोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अवड्ढं पो- [illegible] ट्टं देसूणं ।

[illegible] ट्ठिस्स णं भंते इत्यादि " प्रश्नसूत्रं सुगमं [illegible] साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् [illegible] [illegible]

गदर्शनकालस्य जघन्य उत्कर्षतश्चैतावानिति । सम्यग्मिथ्या- दृष्टेश्च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं सम्यग्मिथ्यादर्शनात् प्रतिपत्याऽन्त- र्मुहूर्त्तेन पुनः कस्यापि सम्यग्दर्शनभावात् । उत्कर्षतोऽनन्तं कालं यावदपार्द्धं पुद्गलपरावर्त्तं देशोनं यदि सम्यग्मिथ्यादर्शनात् प- [illegible] पुनः सम्यग्मिथ्यादर्शनमानस्य [illegible] नियमेनान्यथा तु मुक्तिः जी० २ प्रति० ([illegible] निगम शब्दे)

(३४) पर्याप्तिमाश्रित्यान्तरम् ।

पज्जत्तगस्स अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वि अं- तोमुहुत्तं अपज्जत्तगस्स जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं [illegible] णत्थि अंतरं

[illegible]

परीतान्तरम् ।

कायपरित्तस्स अंतरं जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वण- स्सतिकालो संसारपरित्तस्स णत्थि अंतरं [illegible] जहएणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं । [illegible] कालो [illegible] णत्थि अंतरं । अणादियस्स [illegible] नोपरित्तणोअपरित्तस्स वि णत्थि अंतरं ।

[illegible]

[३५] पुद्गलान्तरम् ।

[illegible]

[illegible] अणंतेणं, [illegible] पडुच्च जहएणेणं एगं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं पुढवीसियस्स णं भंते! [illegible] केवइयं कालं अंतरं होइ ? गोयमा ! [illegible] पडुच्च [illegible] एगं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं [illegible] पडुच्च जहएणेणं एगं समयं उक्कोसेणं [illegible] । [illegible] केवइयं कालं एवं चेव जहा [illegible] । [illegible] केवइयं कालं [illegible] पडुच्च जहएणे- [illegible] एगं समयं उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं, [illegible] पडुच्च [illegible] एगं समयं उक्कोसेणं अणंतं [illegible] । [illegible] भंते! [illegible] केवइयं कालं अंतरं होइ ? गोयमा ! णत्थि [illegible] अंतरं पुढवीसियाणं भंते! [illegible] अंतरं [illegible] एवं जाव [illegible]

[illegible]

मि पढमसमइयाणं जहएणेणं दो खुड्डागाइं भवग्गहणाइं [illegible] उक्कोसेणं वणस्सतिकालो [illegible] सेसाणं जहएणेणं खुड्डागभवग्गहणं समयाहियं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो ॥

प्रथमसमयैकेन्द्रियस्य भदन्त ! अन्तरं कालतः कियच्चिरं भवतीति भगवानाह गौतम ! जघन्यतो द्वे क्षुल्लकभवग्रहणे [illegible] ते च क्षुल्लकद्वीन्द्रियादिभवग्रहणव्यवधानेन [illegible] तथा [illegible] प्रथमसमयैके- न्द्रियक्षुल्लकभवग्रहणमेव द्वितीयं [illegible] क्षुल्लकभवग्रहणमिति उत्कर्षतो वनस्पतिकाल [illegible]

[illegible]

मणूसस्स णं भंते ! अंतरं कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहणेणं दो खुड्डायं भवग्गहणं समयूणाइं उक्कोसेणं वणप्फतिकालो अपढमसमयमणूसस्स णं भंते ! अंतरं जहणेणं खुड्डायं भवग्गहणं समयाहियं उक्कोसेणं वणप्फतिकालो देवस्स णं अंतरं जहा णेरतियस्स । पढमसमयसिद्धस्स णं भंते ! अंतरं कालओ केव चिरं होइ ? नत्थि अंतरं । अपढमसमयसिद्धस्स णं भंते ! अंतरं कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! सादियस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं । प्रथमसमयसिद्धस्य नास्त्यन्तरं पुनः प्रथमसमयसिद्धत्वाभावात् अप्रथमसमयसिद्धस्यापि नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् । जी० १० प्रति० ।

(३६) बादरसूक्ष्मनोसूक्ष्मनोबादराणामन्तरं यथा—

अंतरं बायरस्स बायरवणस्सतिकातिस्स णिओयस्स बायरणिओयस्स एतेसिं चउण्ह वि पुढविकालो जाव असंखेज्जा लोया सेसाणं वणस्सतिकालो एवं पज्जत्तगाणं अपज्जत्तगाण वि अंतरं ओहे य बायरतरू उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ एवं बायरनिओए कालमसंखेज्जतरं सेसाणं वणस्सतिकालो ॥

सप्तसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतोऽसंख्येयं कालं तमेव कालक्षेत्राभ्यां निरूपयति असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽसंख्येया लोका यदेव हि सूक्ष्मस्य सतः कायस्थितिपरिमाणं तदेव बादरस्यान्तरपरिमाणं सूक्ष्मस्य च कायस्थितिपरिमाणमेतावति बादरपृथिवीकायिकसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतोऽनन्तं कालं स चानन्तः कालो वनस्पतिकालः प्रागुक्तस्वरूपो वेदितव्यः एवं बादराप्कायिकबादरतेजस्कायिकबादरवायुकायिकसूत्राण्यपि वक्तव्यानि । सामान्यतो बादरवनस्पतिकायिकसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतोऽसंख्येयं कालं स चासंख्येयः कालः पृथिवीकालो वेदितव्यः स चैवम् असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽसंख्येया लोकाः प्रत्येकबादरवनस्पतिकायिकसूत्रं बादरपृथिवीकायिकसूत्रवत् सामान्यतो निगोदसूत्रं सामान्यतो बादरवनस्पतिकायिकसूत्रवत् बादरत्रसकायिकसूत्रं बादरपृथिवीकायिकसूत्रवत् एवमपर्याप्तविषया दशसूत्री पर्याप्तविषया च दशसूत्री यथाक्रमेण वक्तव्या नानात्वाभावात् । जी० ६ प्रति० ।

[३७] सूक्ष्मस्यान्तरम् ।

सुहुमस्स णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! जहणेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं कालओ असंखेज्जाओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ खेत्तओ अंगुलस्स असंखेज्जतिभागो एवं सुहुमवणस्सतिकाइयस्स वि सुहुमनिओयस्स वि जाव असंखेज्जतिभागो पुढविकाइया- [illegible] वणस्सतिकाओ एवं अपज्जत्तगाणं पज्जत्तगाण वि ।

सूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्तं [illegible] बादरपृथिव्यादिष्वन्तर्मुहूर्तं स्थित्वा [illegible] उत्कर्षतोऽसंख्येयं कालं [illegible] असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः [illegible] अङ्गुलस्यासंख्येयो भागः किमुक्तं भवति अङ्गुलमात्रे [illegible]

यस्यासंख्येयतमे भागे ये आकाशप्रदेशास्ते प्रतिसमयमेकैकप्रदेशापहारे यावतीभिरुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभिर्निर्लेपा [illegible] तावन्त इति "सुहुमपुढविकाइयस्स णं भंते" इत्यादि [illegible] सुगमं भगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्तं [illegible] उत्कर्षतोऽनन्तं कालं "जाव आवलियाए असंखेज्जइभागो" इति [illegible] यावत्करणादेव परिपूर्णः पाठः " अणंताओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ कालओ खेत्तओ अणंता लोगा असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा [illegible] यट्टा णं पोग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागो " [illegible] स्य व्याख्या पूर्ववत् भावना त्वियं सूक्ष्मपृथिवीकायिको हि सूक्ष्मपृथिवीकायिकभवादुद्धृत्यानन्तरेण पारम्पर्येण वा वनस्पतिष्वपि मध्ये गच्छति तत्र चोत्कर्षतोऽनन्तमपि कालं [illegible] ति तथा यथोक्तप्रमाणमन्तरमेवं सूक्ष्माप्कायिकतेजस्कायिकवायुकायिकसूत्राण्यपि वक्तव्यानि । सूक्ष्मवनस्पतिकायिकसूत्रे जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतोऽसंख्येयकालं पृथिवीकालो वक्तव्यः स चैवम् " असंखेज्जाओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ [illegible] खेत्तओ असंखेज्जा लोगा " इति । [illegible] बादरपृथिवीकायिकेषु [illegible] हि बादरवनस्पतिषु सूक्ष्मवनस्पतिकायिकेषु [illegible] तत्र च सर्वत्राप्युत्कर्षतोऽसंख्येयकालं [illegible] यथोक्तप्रमाणमेवान्तरमेवं सूक्ष्मनिगोदसूत्रमपि [illegible] एवमौघिकी दशसूत्री तथा तथा अपर्याप्तविषया च दशसूत्री वक्तव्या नानात्वाभावात् जी० ६ प्रति० ।

सुहुमस्स अंतरं बायरकालो बायरस्स अंतरं सुहुमकालो [illegible] तनियस्स णत्थि अंतरं ।

सूक्ष्मस्यान्तरं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतोऽसंख्येयं कालमसंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽङ्गुलस्यासंख्येयभागो बादरकालो जघन्यस्य [illegible] बादरस्यान्तरं जघन्येनान्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतोऽसंख्येयं कालमसंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽसंख्येया लोका [illegible] स्य जघन्यत उत्कर्षतश्च [illegible] स्य सादिपर्यवसितस्य [illegible] विवर्तितो माया [illegible] सिद्धस्यापर्यवसितत्वात् [illegible]

भवसिद्धिकस्य [illegible]

भवसिद्धियस्स णत्थि अंतरं एवं अभवसिद्धियस्स वि तनियस्स णत्थि अंतरं ।

अभवसिद्धिकस्यानादिअपर्यवसितत्वात् [illegible] अभवसिद्धिकस्य अभवसिद्धिकत्वापरित्यागात् [illegible] नास्त्यन्तरं भवसिद्धिकस्यापि [illegible] जी० ६ प्रति ।

[illegible]

[illegible] णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं [illegible] उक्कोसेणं कालं [illegible] लो [illegible] से [illegible] मे [illegible] केण अंतं मुहुत्तं ।

[illegible] सुगमं भगवानाह गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्तं [illegible]

त्तिभाए असंखेज्जइभागं, परट्ठाणंतरं पडुच्च जहएणेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं दुपदेसियस्स णं भंते ! खंधस्स देसेयस्स केवइयं कालं अंतरं होइ ? गोयमा ! सट्ठाणंतरं पडुच्च जहएणेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं परट्ठाणंतरं पडुच्च जहएणेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अणंतं कालं । सव्वेयस्स केवइयं कालं एवं चेव जहा देसेयस्स । णिरेयस्स केवइयं कालं सट्ठाणंतरं पडुच्च जहएणेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं, परट्ठाणंतरं पडुच्च जहएणेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अणंतं कालं एवं जाव अणंतपदेसियस्स । परमाणुपोग्गलाणं भंते ! सव्वेयाणं केवइयं कालं अंतरं होइ ? गोयमा ! णत्थि अंतरं णिरेयाणं केवइयं णत्थि अंतरं दुपदेसियाणं भंते ! खंधाणं देसेयाणं केवतिकालं णत्थि अंतरं सव्वेयाणं केवइ णत्थि अंतरं णिरेयाणं केवइ णत्थि अंतरं एवं जाव अणंतपदेसियाणं भ० २५ श० ४ उ० ।

[टीका [illegible] न व्याख्याता]

परमाणुपोग्गलस्स णं भंते ! अंतरं कालओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहएणेणं एगं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं दुपएसियस्स णं भंते ! खंधस्स अंतरं कालओ केव चिरं होइ गोयमा ! जहएणेणं एगं समयं उक्कोसेणं अणंतं कालं एवं जाव अणंतपएसिओ । एगपएसोगाढस्स णं

सिं पढमसमइकाणं जहएणेणं दो खुड्डाइं भवग्गहणाइं [illegible] याणाइं उक्कोसेणं वणस्सतिकालो अपढम[illegible] सेसाणं जहएणेणं खुड्डागभवग्गहणं समयाहियं [illegible] वणस्सतिकालो ॥

प्रथमसमयैकेन्द्रियस्य भदन्त ! अन्तरं कालतः कियच्चिरं [illegible] ति भगवानाह गौतम ! जघन्यतो द्वे [illegible] ते च क्षुल्लकद्वीन्द्रियादिभवग्रहणव्यवधानतः पुनरेके[illegible] न्द्रियत्वेनोत्पद्यमानस्यावसातव्ये तथा [illegible] प्रथमसमयै[illegible] न्द्रियक्षुल्लकभवग्रहणमेव द्वितीयं सम्पूर्णमेव [illegible] तमक्षुल्लकभवग्रहणमिति उत्कर्षतो वनस्पतिकाल [illegible] उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽनन्ता [illegible] ख्येयाः पुद्गलपरावर्ता आवलिकाया असंख्येयो भाग [illegible] यं स्वरूपं तथाहि एतावन्तं हि कालं सोऽप्रथमसमय[illegible] प्रथमसमयस्ततो द्वीन्द्रियादिषु क्षुल्लकभवग्रहणेन [illegible] य पुनरेकेन्द्रियत्वेनोत्पद्यमानः प्रथमे समये प्रथमसमय[illegible] भवत्युत्कर्षतो वनस्पतिकालोऽन्तरं प्रथमसमयैकेन्द्रिय[illegible] जघन्यमन्तरं क्षुल्लकभवग्रहणं समयाधिकं तथैकेन्द्रिय[illegible] चरमसमयस्याप्यधिकप्रथमसमयत्वात् तत्र भूयः [illegible] दिक्षुल्लकभवग्रहणेन व्यवधाने सति भूय एकेन्द्रिय[illegible] स्य प्रथमसमयातिक्रमे वेदितव्यम् । एतावन्तं काल[illegible] भवान्तराभावात् उत्कर्षतो द्वे सागरोपमसहस्रे संख्येय[illegible] भ्यधिके द्वीन्द्रियादिभवग्रहणस्योत्कर्षतोऽपि [illegible] न्तं कालं संभवात् । प्रथमसमयद्वीन्द्रिय[illegible] क्षुल्लकभवग्रहणे समयोन[illegible] हणमेव प्रथम[illegible]

कर्मभूमकमनुष्यनपुंसकस्यान्तरं हेवं प्रतीत्य जघन्येनान्तर्मु-
हूर्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकालः । धर्मचरणं प्रतीत्य जघन्यत एकं
समयं यावत् चरणप्रतिपातस्य सर्वजघन्यस्य एकसामयि-
कत्वात् उत्कर्षेणानन्तं कालं देशोनमपार्धपुद्गलपरावर्तं निर्यापयति
" भवंनाद्यो उक्तस्थितिरेणादिर्वपत्नीको कालतो केवलो अनंता
ओसप्पिणीउस्सप्पिणीओ कालओ खेत्तओ अणंता
लोगा अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणमिति" एवं भरतैरवतपूर्वविदे-
हापरविदेहकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकानामपि हेवं धर्मचरणं
च प्रतीत्य जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तरं प्रत्येकं वक्तव्यम् । अकर्मभू-
मकमनुष्यनपुंसकस्य जन्म प्रतीत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्तमेतावता
कालेनापारिकालेन स्वस्थानेनावात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालः
संहरणं प्रतीत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्तम् । तदेवं कोऽपि कर्म-
भूमकमनुष्यनपुंसकोऽकर्मभूमौ संहृतः स च मागधपुरु-
षान्तमात्रकर्मभूमक इति व्यपदिश्यते ततः विपत्कालानन्तर-
रं तथाविधबुद्धिपरावर्तननायतो भूयोऽपि कर्मभूमौ संहृतस्त-
च चान्तर्मुहूर्तं धृत्वा पुनरप्यकर्मभूमावानीतः उत्कर्षतो वनस्प-
तिकालः । एवं विशेषचिन्तायां हैमवतहैरण्यवतहरिवर्षरम्यक-
वर्षदेवकुरूत्तरकुर्वन्तर्द्वीपकमनुष्यनपुंसकानामन्तरद्वीपकमनु-
ष्यनपुंसकस्य च जन्म संहरणं च प्रतीत्य जघन्यत उत्कर्षतश्चा-
न्तरं वक्तव्यं तदेवमुक्तमन्तरम् जी० २ प्रति० । प० सं० ।

(४०) औदारिकादिशरीरविरहितकालान्तरम् ।

ओरालियसरीरस्स अंतरं जहण्णेणं एक्कं समयं उक्को-
सेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं वेउव्वि-
यसरीरस्स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं
वणस्सइकालो आहारगसरीरस्स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं
उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं
तेयगकम्मगसरीरस्स य दुविहा णत्थि अंतरं ॥

औदारिकशरीरिणोऽन्तरं जघन्यत. एकः समय. स च द्विसा-
मयिकयामयाक्तरालगती भावनीय. । प्रथम समये कार्मणयो-
गेनत्वात् [illegible] अन्तर्मुहूर्तमाप
[illegible] द्वितीये समये [illegible]
जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं [illegible] पुनरौदा-
रिकत्वात् [illegible] । उत्कर्षतो वनस्पतिकाल. प्रज्ञ-
प्त आहारकशरीरिणो जघन्येनान्तर्मुहूर्तं [illegible]
कालेन पुनः करणात् उत्कर्षतोऽनन्तं कालं यावदपार्ध-
पुद्गलपरावर्तं देशोनम् । जी० संग्रहजी० ४ प्रति० । (अथान्तर्द्वा-
राण्यन्तरं वक्ष्य वाक्ये)

संहरविशेषेणान्तरम् ।

[illegible] अंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्स-
[illegible] अंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं
[illegible] सागरोवमाइं सातिरेगाई णत्थि अंतरं ।
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
(४१) [illegible]
[illegible] अंतरं [illegible]

तोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अवड्ढं पोग्गलपरि-
यट्टं देसूणं । अणंतयस्स आहिरे णत्थि अंतरं सादियस्स
सपज्जवसियस्स जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं देसूणा
पुव्वकोडी चरमस्स णत्थि अंतरं ।

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
जं० ३ प्रति० । [illegible]

[illegible]

[illegible] भंते ! केवलिस्स अंतरं होति ? गोयमा !
[illegible] भंते ! केवलिस्स अंतरं होति ? गोयमा ! [illegible]
[illegible]
अंतरं ।

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
अंतर-[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
([illegible])
अंतरकिरिया-[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

मृतः सन् आनतकल्पादारतो ये देवास्तेषूत्पद्यते नाऽन्त-[illegible] तस्य तावन्मात्रकालस्य तद्योग्याध्यवसायविशुद्ध्यभावा-त् ततो य आनतादिभ्यश्च्युतः सन् भूयोऽप्यानतादिषूत्पद्यते स निरन्तरचारित्रमवाप्य चारित्रं चाष्टमे वर्षे तत उक्तं जघन्यतो वर्षपृथक्त्वमुत्कर्षतो वनस्पतिकालः। एवं प्राणतारणाच्युतक-ल्पग्रैवेयकदेवपुरुषाणामपि प्रत्येकमन्तरं जघन्यत उत्कर्षतश्च वक्तव्यम्। अनुत्तरोपपातिककल्पातीतदेवपुरुषस्य जघन्यतोऽन्तरं वर्षपृथक्त्वम् उत्कर्षतः संख्येयानि सागरोपमाणि सातिरे-काणि तत्र संख्येयानि सागरोपमाणि तदन्यवैमानिकेषु संख्ये-[illegible] सातिरेकाणि मनुष्यभवे तत्र सामान्याभिधाने-[illegible] सर्वार्थसिद्धे सकृद्देवोत्पादत-[illegible]। अन्ये त्वभिदधति भवनवासिन आरभ्य [illegible] जघन्यतोऽन्तरमन्तर्मुहूर्त्तं सनत्कुमारादार-[illegible] नव दिनानि आनतकल्पादारभ्याच्युतकल्पं [illegible] मासा नवसु ग्रैवेयकेषु सर्वार्थसिद्धमहाविमानवर्जेष्व-नुत्तरविमानेषु च नव वर्षाणि ग्रैवेयकान् यावत् सर्वत्रापि [illegible] वनस्पतिकालः विजयादिषु चतुर्षु महाविमानेषु [illegible] [illegible] " आ ईसाणादमरस्स अंतरं हीणयं मुहुत्तं-[illegible] अच्चुयणुत्तरदिणमासवासनवयावरकोसुक्को-[illegible] उयरामो दो अपरा विजयादिसु इति "

वैमानिकनपुंसकानामन्तरम्।

[illegible] भंते ? गोयमा ! जम्म णं [illegible] अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं (अंतोमु-हुत्तं) [illegible] पडुच जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं [illegible] अंतरदीवगाणं। णपुंसग-[illegible] भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! जह-[illegible] सागरोवमसतपुहुत्तं सातिरेगं [illegible] भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति [illegible] उक्कोसेणं वणकालो। रयणप्पभापुढ-[illegible] अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वण-[illegible] अहेसत्तमा तिरिक्खजोणियणपुं-[illegible] उक्कोसेणं सागरोवमसतपुहु-[illegible]।

[illegible] अंतरं कालतः कियच्चिरं भवति [illegible] कियता कालेन नपुंस-[illegible] अन्तर्मुहूर्त्तमेता-[illegible] सागरोपमशतपृथ-[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

सातत्येनावस्थानमन्तरं चोत्कर्षतः [illegible] पदसमुदायोपचारात् [illegible] तं " पुरिसेणं भंते ! पुरिसत्ति कालओ केवचिरं [illegible] होइ गोयमा ! जहणेणं (अहमेणं) अंतोमुहुत्तं [illegible] गरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं " नपुंसकान्तरोत्कर्षा-[illegible] दमेवाधिकृतं सूत्र[illegible]

[illegible]

यणात् प्रतिपृथिव्यपि वक्तव्यम् जी० २ प्रति०।

तिरश्चामन्तरम्।

एगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकस्स जहण्णेणं [illegible] हुत्तं उक्कोसेणं दो सागरोवमसहस्साइं संखेज्ज[illegible] पुढविआउतेउवाऊणं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं [illegible] णस्सतिकालो वणस्सतिकाइयाणं जहण्णेणं [illegible] उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं जाव असंखेज्जा लोगा [illegible] बेंदियादीणं जाव खहयराणं जहण्णेणं अंतोमुहु[illegible] सेणं वणस्सतिकालो।

तथा सामान्यचिन्तायां तिर्यग्योनिकनपुंसकस्य [illegible] ऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः सागरोपमशतपृथक्त्वं सातिरेकं [illegible] वत। भागेव विशेषचिन्तायां सामान्यत एकेन्द्रिय[illegible] नपुंसकस्यान्तर्मुहूर्त्तं तावता द्वीन्द्रियादिभवं [illegible] उत्कर्षतो द्वे सागरोपमसहस्रे संख्येयवर्षाभ्यधिके [illegible] तिकालस्य एकेन्द्रियत्वव्यवधायकस्योत्कर्षतोऽप्येतावत [illegible] संभवात्। पृथिवीकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकस्य [illegible] न्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकालः। [illegible] विकवायुकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकानामपि [illegible] नस्पतिकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकस्य [illegible] मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽसंख्येयं कालं यावत् स चासंख्येय [illegible] ख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽसंख्येया [illegible] विमुक्तं असंख्येयलोकाकाशप्रदेशानां [illegible] हारे यावत्य उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो भवन्ति तावत्य [illegible] स्पतिभवात् प्रच्युतस्यान्यत्रोत्कर्षत एतावन्तं [illegible] भवात् तदनन्तरं संसारिणो नियमेन भूयोऽपि [illegible] कत्वेनोत्पादभावात्। द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रिय[illegible] तिर्यग्योनिकनपुंसकानां [illegible] तिकनपुंसकानां सामान्यतो नपुंसकस्य च [illegible] मुत्कर्षतोऽनन्तं कालं स चानन्तः कालो वनस्पति[illegible] लक्षणः प्रतिपत्तव्यः।

मनुष्यनपुंसकाः।

मणुस्सणपुंसकस्स खेत्तं पडुच जहण्णेणं अंतोमु[illegible] कोसेणं वणस्सतिकालो धम्मचरणं पडुच जहण्णेणं [illegible] समयं उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अवड्ढं पोग्गलप[illegible] रियट्टं। एवं कम्मभूमगस्स वि भरहेरवयस्स पुव्व[illegible] विदेहगस्स वि अकम्मभूमगमणुस्सणपुंसकस्स [illegible] केवतियं कालं० जहण्णेणं [illegible] पडुच जहण्णेणं अंतो[illegible] सेणं वणस्सतिकालो। संहरणं पडुच जहण्णेणं [illegible] उक्कोसेणं वणस्सतिकालो। एवं जाव अंतरदीव[illegible]

कर्मभूमकमनुष्यनपुंसकस्यान्तरं क्षेत्रं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो वनस्पतिकालः । धर्मचरणं प्रतीत्य जघन्यत एकं समयं यावत् चरणलब्धिपातस्य सर्वजघन्यस्य एकसामयिकत्वात् उत्कर्षतोऽनन्तं कालं तमेवानन्तं कालं निर्धारयति " अणंताओ उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ कालओ खेत्तओ अणंता लोगा अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणमिति " एवं भरतैरवतपूर्वविदेहापरविदेहकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकानामपि क्षेत्रं धर्मचरणं च प्रतीत्य जघन्यत उत्कर्षं चान्तरं प्रत्येकं वक्तव्यम् । अकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकस्य जन्म प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमेतावता कालेनान्यत्रादिकालेन व्यवधानजाचात् उत्कर्षतो वनस्पतिकालः संहरणं प्रतीत्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम् । तच्चैवं कोऽपि कर्मभूमकमनुष्यनपुंसकेनाप्यकर्मभूमौ संहृतः स च मागधपुरुषदृष्टान्तबलादकर्मभूमक इति व्यपदिश्यते ततः कियत्कालानन्तरं तथाविधबुद्धिपरावर्त्तनतावतो भूयोऽपि कर्मभूमौ संहृतस्तत्र चान्तर्मुहूर्त्तं धृत्वा पुनरप्यकर्मभूमावानीतः उत्कर्षतो वनस्पतिकालः । एवं विशेषचिन्तायां हैमवतहैरण्यवतहरिवर्षरम्यकदेवकुरूत्तरकुरुषु अकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकानामन्तरद्वीपकमनुष्यनपुंसकस्य च जन्म संहरणं च प्रतीत्य जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तरं वक्तव्यं तदेवमुक्तमन्तरम् जी० २ प्रति० । पं० सं० ।

(४०) औदारिकादिशरीरविशिष्टानामन्तरम् ।

ओरालियसरीरस्स अंतरं जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं वेउव्वियसरीरस्स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं वणस्सतिकालो आहारगसरीरस्स जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं तेयगकम्मगसरीरस्स य दुविहस्स णत्थि अंतरं ॥

औदारिकशरीरिणोऽन्तरं जघन्यतः एकः समयः [illegible]
मायिक्य [illegible]
[illegible]
[illegible]
रं जघन्य [illegible] वायता कालेन पुनर्वैक्रियकरणात् माभवदेवेषु भावात् । उत्कर्षतो वनस्पतिकालः प्रकट एव आहारकशरीरिणो जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं स्वल्पकरणे एतावता कालेन पुनः करणात् उत्कर्षतोऽनन्तं कालं यावदपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तम् । जी० सर्वजी० ५ प्रति० । (संघातपरिशाटकरणयोरन्तरं करण शब्दे)

संज्ञाविशेषणेनान्तरम् ।

संण्णिस्स अंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सइकालो असंण्णिस्स अंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं तातियस्स णत्थि अंतरं ।

अन्तरचिन्तायां संज्ञिनोऽन्तरं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतोऽनन्तं कालम् । स चानन्तः कालो वनस्पतिकालः । असंज्ञिकालस्य जघन्यत उत्कर्षतश्चैतावत्प्रमाणत्वात् । असंज्ञिनोऽन्तरं जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः सागरोपमशतपृथक्त्वं संज्ञिकालस्य जघन्यत उत्कर्षतश्चैतावत्प्रमाणत्वात् नोसंज्ञिनोऽसंज्ञिनः साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् । जी० सर्वजी० २ प्रति० ।

(४१) संयमविशेषणेनान्तरम् ।

संजयस्स संजयासंजयस्स दोण्ह वि अंतरं जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं । असंजयस्स आदिदुवे णत्थि अंतरं साइयस्स सपज्जवसियस्स जहण्णेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी चउत्थगस्स णत्थि अंतरं ।

संयतस्य जघन्येनान्तरमन्तर्मुहूर्त्तं तावता कालेन पुनः कस्यापि संयतत्वभावात् उत्कर्षतोऽनन्तं कालमनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः कालतः क्षेत्रतोऽपार्द्धं पुद्गलपरावर्त्तं देशोनम् एतावतः कालादूर्द्ध्वं पूर्वमवाप्तसंयमस्य नियमतः संयमलाभात् । संयतस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसितत्वात् । अनादिसपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरं तस्य प्रतिपातासंभवात् । सादिसपर्यवसितस्य जघन्यत एकं समयं स चैकसमयः प्राग्व्याख्यातः संयतसमय एवमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी असंयतत्वव्यवधायकस्य संयतकालस्य संयतासंयतकालस्य वा उत्कर्षतोऽप्येतावत्प्रमाणत्वात् संयतासंयतस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं तद्भावपाते एतावता कालेन तल्लाभसिद्धेः । उत्कर्षतः संयतवत् त्रितयप्रतिषेधवर्त्तिनः सिद्धस्य साद्यपर्यवसितस्य नास्त्यन्तरमपर्यवसिततया सदा तद्भावपरित्यागात् । जी० सर्वजी० ३ प्रति० । (सामायिकादिसंयतानामन्तरं संजय शब्दे)

सिद्धासिद्धयोः ।

सिद्धस्स णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! सातीयस्स अपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं । असिद्धस्स णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होति ? गोयमा ! अणातीयस्स अपज्जवसियस्स अणातीयस्स सपज्जवसियस्स णत्थि अंतरं ।

प्रश्नसूत्रं सुगमं भगवानाह गौतम ! सिद्धस्य सादिकस्यापर्यवसितस्य नास्त्यन्तरम् । अत्र " निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनमिति " न्यायात् हेतौ षष्ठी तमांऽयमर्थो यस्मात्सिद्धः सादिरपर्यवसितस्तस्मात्तस्यान्तरमन्यथाऽपर्यवसितत्वायोगात् । असिद्धसूत्रे असिद्धस्यानादिकस्यापर्यवसितस्य नास्ति अन्तरमपर्यवसितत्वादेवासिद्धत्वाप्रच्युतेः अनादिकस्य सपर्यवसितस्यापि नास्त्यन्तरं भूयोऽसिद्धत्वायोगात् जी० सर्वजी० १ प्रति० ।

अंतरंग–अन्तरङ्ग–पुं० अन्तरं स्वरूपमङ्गं यस्य । आत्मीये, बहिरङ्गशास्त्रीयनिमित्तसमुदायमध्ये अन्तर्भूतानि अङ्गानि निमित्तानि यस्य । व्याकरणोक्ते परनित्यबहिरङ्गबाधके कार्यभेदे, तद्बोधके शास्त्रे च वाच० । अन्तरङ्गबहिरङ्गयोरन्तरङ्ग एव विधिर्बलवान् आ० म० द्वि० । अभ्यन्तरे, त्रि० सं० । विशे० । (काल शब्दे एतदुदाहरणम्)

अंतरंजिया–अन्तरञ्जिका–स्त्री० नगरीभेदे, यत्र भूतगृहं चैत्यं बलश्री राजा त्रैराशिकानामुत्पत्तिरभूत्, उत्त० ३ अ० । वि० । आ० म० द्वि० । कल्प० । स्था० । आ० चू० ।

अंतरकरणगोलिया–अन्तरकरणगोलिका–स्त्री० अन्तरकोशाभ्यन्तरस्य गोलिकायाम्, महा० ४ अ० ।

अंतरकंद–अन्तरकन्द– पुं० अनन्तकायवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद० ।

अंतर (रा) कप्प–अन्तर (रा) कल्प–पुं० पारिहारिकानन्तरवर्त्तिनि कल्पभेदे, । तदर्थमिन्धनम् ।

णिव्विसकप्पो एसो, एत्तो वोच्छामि अंतराकप्पं ।
संखेवपिंडियत्थं, गुरूवएसं जहाकमसो ॥ दारं ॥
पंचट्ठाणमसंखा, बारसगं चेव तिण्हि वितियाणं ।
अज्झत्थकरणणाण-ट्ठया य एसोंतराकप्पो ॥
सामादिसंजतादी, पंचहचरणं तु तेसि एक्केकं ।
संजमठाणमसंखा, एक्केके तत्थ ठाणम्मि ॥
होंति अणंता चारि-त्तपज्जवा ताण संखगुणियाणि ।
एकं संजमकंडग-कंडसंखा य छट्ठाणं ॥
छट्ठाणा संखेज्जा, संजमसेढी तु होति बोधव्वा ।
सामाइयछेदसंजम-ठाणागं तुं असंखेज्जा ॥
परिहारसंजमट्ठाण, ताहे लग्गंति ते असंखागा ।
गंतुं ण होंति भिण्णा, ताहे तत्तो पुणो परतो ॥
वट्टंति जे असंखा, सामाइयछेदसंजमट्ठाणा ।
सामाइयछेदठाणा, ताहे भिन्ना भवंती तु ॥
तो सुहुमसंगठाणा, ते वि असंखेज्जगं तु वोच्छिन्ना ।
तस्स अपच्छिमठाणा, अणंतगुणवड्ढितं णियमा ॥
एकं परमविसुद्धं, होति अहक्खाय संजमट्ठाणं ।
पंचमसंखतिगं तं, बारस गयारपडिमाओ ॥ दारं ॥
सुद्धपरिहारचउरो, अणुपरिहारी वि णवमकप्पठितो ।
एते तिविह तिया खलु, एतेसिं एक्कमेक्कस्स ॥
अंतरसंजमठाणा, होंति असंखासु तेसि सव्वेसिं ।
होति दुविहा तु सोही, करणे अज्झत्थतो चेव ॥
सो दो वी कायव्वा, णाणट्ठाए वउत्तेणं ।
एसो अंतरकप्पो पं०भा० ॥

इयाणिं अंतरकप्पो गाहा-(पंचट्ठाण) अंतरकप्पो नाम पंचविहं चारित्तं सामाइयमाइ एक्केक्कस्स असंखेज्जाइं संजमट्ठाणाइं अंतरं बारसत्ति बारस भिक्खुपडिमाओ तासिं पि तहेव अंतरं तिण्णि निग्गतिसु य परिहारिगा एव चत्तारि परिहारिया अणुपरिहारिया वि चत्तारि एसो कप्पट्ठिओ । एएसिं असंखेज्जाइं अंतरा संजमट्ठाणाइं तेसु पुण सव्वेसु वि दुविहा सोही अज्झत्थसोही य करणसोही य । दो वि कायव्वाओ नाणट्ठया एवं नाणनिमित्तं वा नाणोवउत्तो वा जं करेइ तत्थ वि अज्झत्थकरणं पडुच्च निज्जराविसेसो करणविसोहीए वि वाहिरए अज्झत्थओ चेव निज्जराविसेसो एस अंतरकप्पो । पं०चू० ।

अंतरकरण-अन्तरकरण-न० यथाप्रवृत्तकरणापूर्वकरणानिवृत्तिकरणभेदभिन्ने सम्यक्त्वौपयिककरणे, पं० सं० १ द्वा० । [सदृशं यथा प्रवृत्तादिशब्देषु करणशब्दे च]

अंतग्गय-अन्तर्गत-त्रि० मध्यगते, प्रश्न० सं० ३ द्वा० ।

अंतरगिह-अन्तरगृह-गृहान्तर-न० गृहस्य गृहयोर्वा अन्तरं राजदन्तादित्वात् अन्तरशब्दस्य पूर्वनिपातः । गृहस्य गृहयोर्वा अन्तराले, वृ० ३ उ० । गृहयोरन्तराले स्थानादि न कर्त्तव्यम् " निग्गंथनिग्गंथीणं अंतरगिहंसि चिट्ठित्तए ... " इत्यादिसूत्रेण तस्य ... ।

(सूत्रम्)नो कप्पति निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा अंतरगिहम्मि चिट्ठित्तए वा निसीयत्तए वा तुयट्टित्तए वा निद्दाइत्तए वा पयलाइत्तए वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारं आहारित्तए उच्चारं वा पासवणं वा खेलं वा सिंघाणं वा परिट्ठवित्तए सज्झायं वा करित्तए झाणं वा झाइत्तए काउस्सग्गं वा ठाणं वा ठाइत्तए अह पुण एवं जाणिज्जा वाहिए जराजुण्णे तवस्सी दुब्बले किलंते मुच्छिज्ज वा पवडिज्ज वा एवं से कप्पइ अंतरागिहंसि चिट्ठित्तए वा जाव ठाणं ठाइत्तए ।

नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अन्तरं गृहे गृहस्य गृहयोर्वा अन्तरे मध्ये राजदन्तादित्वादार्षत्वाद्वा अन्तरशब्दस्य पूर्वनिपातः स्थातुं वा निषत्तुं वा यावत्करणात्त्वग्वर्तयितुं वा निद्रापयितुं वा प्रचलायितुं वा असनं वा पानं वा खादिमं वा स्वादिमं वा आहर्तुमुच्चारं वा प्रस्रवणं वा खेलं वा सिंघाणं वा परिष्ठापयितुं स्वाध्यायं वा कर्तुं ध्यानं वा ध्यातुं (काउस्सग्गंति) कायोत्सर्गलक्षणं वा स्थातुं स्थानं कर्तुं सूत्रेणैवापवादं दर्शयति । अथ पुनरेवं जानीयात (वाहि इत्यादि) व्याधितो ग्लानो जराजीर्णः स्थविरस्तपस्वी क्षपको दुर्बलो ग्लानत्वादधुनैवोत्थितोऽसमर्थशरीरः एतेषां मध्यादन्यतमस्तपसा भिक्षापर्यटनेन वा क्लान्तः परिश्रान्तः सन् मूर्च्छेद्वा प्रपतेद्वा एवं कारणमुद्दिश्य कल्पते अन्तरगृहे स्थातुं वा यावद् कायोत्सर्गं वा कर्तुमिति सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यविस्तरः ।

सब्भावमसब्भावे, दुविह गिहाणंतरं तु सब्भावे ।
पासपुरोहडअंगण, मज्झंति य होतसब्भावं ॥

गृहान्तरं द्विधा सद्भावतोऽसद्भावतश्च । द्वयोर्गृहयोर्यदन्तरं मध्यं तत्सद्भावो गृहान्तरम् । यत्तु गृहस्य पार्श्वतः पुरोहडे अङ्गणे गृहमध्ये वा तत्सद्भावगृहान्तरं भवति एतस्मिन् द्विविधेऽपि भिक्षार्थं निर्गतस्य स्थानादि कर्तुं न कल्पते ।

कुड्डंतरभित्तीए, णिवेसणे गिहे तहेव रच्छाए ।
वायंतगणे लहुगा, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥

द्वयोः कुड्ययोरन्तरे (भित्तीयत्ति) सटितपतितस्याभिनवक्रियमाणस्य वा गृहस्य भित्तौ निवेशितधारित्रप्रभृतीनां गृहाणामाभोगे (गिहित्ति) गृहपार्श्वे रथ्यायां प्रतीतायामेतेषु स्थानेषु तिष्ठतश्चतुर्लघुकाः तत्राप्याज्ञादयो दोषा अस्तथ्यास्तु प्रायश्चित्तं पृथग्भवतीति भावः । तथा-

खरिए खरिया सुण्हा, णट्ठे वट्टे खरे व संकिज्जा ।
लिएणे य अगणिकाए, दारे विात्तिं व केण तिरियस्स ॥

खरको दासः खरिका दासी स्नुषा वधूः एतस्मरस्तुरङ्गमः एतेषु साधुः शङ्क्येत यः श्रमणकः कश्चेत्र गृहान्तरं उपविष्ट आसीत् तेन हृतं भविष्यति । द्वारे वा श्रमणेन उद्घाटिते स्तेनः प्रविश्य हृतवानिति (वित्तित्ति) येषां केनचित् खातं दत्त्वा प्रविश्य अग्निकायो वा केनापि दत्तो भवेत् द्वारेण वा प्रविश्य वृत्तिं वा छित्त्वा केनापि सुवर्णादिकमपि हृतं स्यात् निर्वन्दीमीणो वा गोमहिषीप्रभृतिको मृतो भवेत् तत्रापि शङ्कायां शाकर्षणादयो दोषा यत एवमतो गृहान्तरे आसनम् ।

अथ सूत्रोक्तं द्वितीयपदं भावयति ।

छुच्छसरीरं वा, दुब्बलतवसोसिते व जे होज्ज ।
मगाहिह्ले, वीसंभणवेसहसंके ॥

...गमात्र शरीरं यस्य स छुच्छशरीरो वाशब्दः ...या विकल्पार्थे दुर्बलोऽपुनोन्धिनग्लानः तपःशोषितो ...पोनिष्पन्नदेहो भवेत् यो वा स्थविरो जीर्णः पर्यवर्णा... ...न्मपर्याय सोऽपि यदि महान् सर्वेभ्योऽपि वृद्धतर ...मगहत्वार्थं गृहान्तरे तिष्ठेयुः । इह च व्याधितोदये ...निशाहनं न कार्यं परमात्मसरधिकारणापेक्षया भिक्षा- ...हत्मनमायनातो मन्तव्यः स च व्याधिनादिर्विभ्रमण- पेक्षः संविग्नवेषधारी इतरश्च हास्यादिविकारविकलतया भ- संनावनीयप्रत्यनीकादुः सन् तत्र स्थानादीनि पदानि कुर्यात् ।

अहवा ओमहहेतं, संखडिसंथारुए व वासासु ।
वाघाए वा तन्य उ, जयणाए कप्पती ठाउं ॥

सूत्रोक्तस्यापवादपदो दर्शितः । इदानीं प्रकारान्तरेणाप्यु- च्यते इत्यत्र वाशब्दार्थः औषधदेनाद्दातारं गृहे अस्वाधीन प्र- तीक्षते संनागरूपो वा यावद्वेला भवति संघाटकसाधुयां याव ...उपानभूतं भाजनं वसतौ विमोच्य समागच्छति वर्षासु वा गृहं प्रविष्टानां वर्षं निपतेत् वधूवरागमनेन वा रथ्यायां व्या- घातो भवेत् तावत्तत्रैव गृहान्तरे यतनया वक्ष्यमाणया स्थातु कल्पते एष द्वारगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवरीषुरौषधद्वारं व्याख्यानयति ।

पासंमि ओमहाइं, ओमहदाता व तन्य असहीणो ।
संखडि अमती काली, रहते वा परिच्छंति ॥

ग्लानस्यौषधानि पेषणीयानि तत्र पेषणशिला प्रतिश्रये नेतुं न कल्पते अतस्तेषां सागारिकाणां गृहान्तरे स्थित्वा तानि पेषन्ति । औषधमार्गणार्थं वा कस्यापि गृहं गताः स चौषधदाता त- दानीं तत्रास्वाधीनोऽस्तं प्रतीक्षमाणैः स्थातव्यम् । संखडी वा क्वापि वर्तते तत्र वर्तमानकालोऽद्यापि देशकालो न भवति गृहस्वामिना चोक्तं प्रतीक्षध्वं क्षणमेकं यावद्वेला भवति तत- स्तस्मिन्नन्यस्मिन् वा गृहे प्रतीक्षणीयम् । अगारिणो वा तदानीं गृहाङ्गणमापूर्य भोक्तुमुपविष्टाः सन्ति ततस्तानुपतिष्ठतः प्रतीक्षन्ते ।

संघाटकद्वारमाह ।

एगयर उभयओ वा, अलंभे अहव्व वा उभयलंभे ।
वसहिं जाणे एगो, ता इअरो चिट्ठई दूरे ॥

...कनरस्य भक्तस्य वा पानस्य वा उभयोर्वा अलाभे दुर्ल- ...भायामित्यर्थः । [आहच] कदाचिदुभयमपि प्रचुरतरं ...ं तेन च भाजनमापूरितं ततः संघाटकस्य मध्याद्यावदे- ...कभाजनं वसतिं नयति तावदितरः साधुरगारिणां दूरं ...तिष्ठति एष चूर्ण्यभिप्रायः । पुनरयं भक्तस्य पानकस्य ...स्य दुर्लभस्य लाभः समुपस्थितो मात्रकं च तस्मिन् दिने ...ोगेन न गृहीतं ततो यावदेको मात्रकं वसतेरानयति ...तरस्तत्र गृहिणां दूरे तिष्ठतीति ।

वर्षाद्वारमाह ।

...सु च वासंते, अणुग्घचित्ताण तस्य णावाहे ।
...गिहे गिहे वा, जयणाए दो वि चिट्ठंति ॥

...वा क्वापि गृहे गतानां वर्षं वर्षति गृहस्वामिनमनु- ...ज्ञाप्य तत्रानाबाधे अवकाशे अन्तरगृहे वा गृहे वा याव... संघाटकसाधू यतनया विकथादिपरिहारेण तिष्ठतः ।

प्रत्यनीकद्वारमाह ।

पडिणीयनिवेपंते, तस्स अंतेउरं गतो फिडिए ।
दुग्गहनिव्वहजाने, वाघातो एवमादीसु ॥

प्रत्यनीकं समागच्छन्तं दृष्ट्वा यावदसौ अतिव्रजति तावदेकान्ते निलीय तिष्ठन्ति नृपो वा सम्मुखेनैति तस्य वा नृपस्यान्तः- पुरं गजो वा हस्ती निर्गच्छति ततो यावदसौ स्फिटितो भव- ति तावत्तत्रैवासते (दुग्गहत्ति) दण्डिको द्विजौ वा द्वौ परस्प- रं विग्रहं कुर्वन्तौ समागच्छतो निर्वहं वधूवरं ततो महता वि- च्छर्देन समायाति आदिशब्देन गौष्ठिका गीतं गायन्तः समा- यान्ति एवमादिषु कारणेषु व्याघातस्तत्रैवं प्रतीक्षणलक्षणो भवति । तत्र च तिष्ठतामियं यतना ॥

अप्पाणगुत्ता विकहाविहीणा,
अच्छएणछाणे व ठिया पविट्ठा ।
अत्यंति ते संतमुहा णिविट्ठं,
भजंति वा सेसपदे जहुत्ते ॥

आदानैरिन्द्रियैर्गुप्तास्तथा विकथया भक्तकथादिरूपया वि- शेषेण हस्तसंज्ञादेरपि परिहारेण हीनास्त्यक्तास्तत्र गृहान्तरे अच्छन्ने छन्ने वा प्रदेशे ऊर्ध्वस्थिता उपविष्टा वा ते साधवः शान्तमुखा आसते । निवेश्य चोपविश्य शेषाण्यपि स्वाध्याय- विधानादीनि यथोक्तानि पदानि यथायोगं भजन्ते न च दोष- माप्नुवन्ते । कथमिति चेदुच्यते ।

थाणं च कालं च तहेव वत्थुं,
आसज्ज जो दोसकरे तु ठाणे ।
तेणेव अन्नस्स अदोसवंते,
भवंति रोगिस्स व ओसहाइं ।

स्थानं च स्त्रीपशुपण्डकसंसक्तं भूभागादि कालं च ... ...दिकं तथैव वस्तु तरुणनीरोगादिकं पुरुषद्रव्यमासा... ...कस्य गृहान्तरे स्थाननिषदनादीनि स्थानानि दोष... भवन्ति तान्येवान्यस्य पूर्वोक्तविपरीतस्थानकालपुरुष... ...चित्यादेदोषयन्ति रोगिण इवौषधानि । यथा किल यान्य... ...श्यैकस्य पित्तरोगिणो दोषाय भवन्ति तान्येवापरस्य वात... ...णो न कमपि दोषमुपजनयन्ति एवमत्रापि भावनीयम् ।

अन्तरगृहे धर्मकथा न कथनीया ।

[सूत्रम्] नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अं... गिहम्मि जाव चउगाहं वा पंचगाहं वा आइक्खित्तए वा ...भावित्तए वा किट्टइत्तए वा पवेइत्तए वा नन्नत्थ एग... ...एण वा एगवागरणेन वा एगगाहाए वा एगसिलोएण ...सेविय ठिच्चा नो चेव णं अठिच्चा ।

नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अन्तरगृहे यावच्चतुर्गा... ...वा पञ्चगाथं वा विभावयितुं वा कीर्तयितुं वा प्रवेदयितुं वा । एत... ...देयापवदमाह । "नन्नत्थ" इत्यादि नो कल्पते इति योऽयं निषेधः स एकज्ञाताद्वा एकगाथाया वा एकश्लोकाद्वा अन्यत्र मन्तव्यः । सूत्रे च पञ्चम्याःस्थाने तृतीयानिर्देशः प्राकृतत्वात् । अपि च एकगाथादिव्याख्यानं स्थित्वा कर्तव्यं नत्वास्थित्वा भिक्षां पर्यट- ता उपविष्टेन वा इति सूत्रार्थः ।

अथ विषमपदानि भाष्यकृद् विवृणोति ।

मंदियकड्ढणमादि-चलणं तु पदच्छेद मो विभागो उ ।
सुयक्खंधोच्छिणया, पवेनगं तप्फलं जाण ॥

इह संहिताया धर्म्मं जिनवरोच्चारणरूपाया यदाकर्षणं तदा- [illegible] तच्चेदं मनसमितिकषायाणां धारणरक्षणविनि- [illegible] धर्मः पञ्चेन्द्रियदमश्च एवं भिक्षो- [illegible] धर्मकथनार्थं संहिताकर्षणं करोति । यस्तु पद- च्छेदः ' मो ' इति पादपूरणे स विभागो विनायता प्रणयते यथा [illegible] रक्षणं कषायाणां निग्रह इत्यादि । [illegible] सा चेयं मतानि प्राणातिपा- [illegible] तेषां सम्यगप्रमत्तेन धारणं कर्त्तव्यम् । [illegible]

[illegible] सुयक्खंधो [illegible] आह ।

[illegible] पंच गाहाओ ।
[illegible] ॥

[illegible]

[illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

अकयमुह ! फलयमाणय, जा ते लिक्खं तु इंचमं ॥

पुस्तकप्रत्ययादेव भवता पठितं न गुरुमुखात् अतः किमेव प्रयासेन किं वा त्वमेवं शासन इव अभिलापं विस्तारयसि । यद्वा अकृतमक्षरसंस्कारेणासंस्कृतं मुखं यस्यासावकृतमुख- स्यामन्त्रणं हे अकृतमुख ! अपठिताशिक्षित ! एवं मयाऽपि ज्ञास्यति अतः फलकं पट्टिकामानय येन तव योग्यानि पञ्च- प्राण्यक्षराणि लिख्यन्तामस्माभिः । एवं भिक्षौ प्रयच्छ [illegible] ष्यते तत इदं प्रायश्चित्तम् ।

सहुगादी छग्गुरुगा, ततकालाविसेसिया चउगुरुगा ।
अधिकरणमुत्तरुत्तर-पसणसंकाइ किमियम्मि ॥

गाथायामर्द्धीकारके च चतुर्लघु, पुस्तके चतुर्गुरु, [illegible] षड्लघु, [illegible] षड्गुरु, । अथवा [illegible] चतुर्लघुकाः तद्यथा गाथार्द्धीकारकयोस्तपःकालाभ्यां लघु पुस्तके कालेन गुरुकाः [illegible] तपसा गुरुकाः [illegible] कालेन च गुरुकाः । अधिकरणं च कलहस्तेन समं [illegible] त्तरोत्तरा [illegible] कुर्वाणस्य च तस्य भिक्षायां [illegible] [illegible] तस्मिन् [illegible] प्रेरणं कुर्यात् [illegible] चारिणश्च शङ्कादयो दोषा भवन्ति ।

वागिएहुति इय सो जाव, तेण ता गरिय भायणा [illegible] ।
अत्थंते अंतरा य, एमेव य जो पडिलाहो ॥

यावदसौ तेन सममुत्तरप्रत्युत्तरिकां कुर्वन् [illegible] पेण वेलां गमयति तावदितरे साधवो गृहीतभाजना [illegible] आसते ततोऽन्तरायदोषः । एवमेव यो ग्लानः प्रतिश्रयान्ते [illegible] प्रायोग्यमद्य मया आनेतव्यमित्यर्थः ततस्तस्मिन्नपि [illegible] कालं बुभुक्षितो तिष्ठति तस्य साधोरन्तरायं भवति ।

कासाइक्कमदाणे, होइ गिलाणस्स रोगपरिवुड्डी ।
परितावणमाईति, चउलहुगा जाव चरिमपदं ॥

[illegible] ग्लानस्य भक्तपानदाने रोगाभिवृद्धिः [illegible] [illegible] परितापनादिकं प्राप्नोति तत्र चतुर्लघु- [illegible] यावत् कालगते चरमपदं पाराञ्चिकम् । [illegible] गोचरप्रविष्टोऽपि परेण स्पृष्टः सन् कथयेत् । किं [illegible] नि चेदुच्यते ।

किं जाणंति य वराग, हत्थं अहियाण मे उ पच्छाए ।
एवं [illegible] अवराणो, मा होहिइ तेण कहयंति ॥

[illegible]

एवं गाये [illegible], [illegible] धम्मो ।
[illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

चागरणं पुण जा ज-स्स धम्मना होति अत्थस्स ॥

ज्ञायते अनेन दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इति ज्ञातं दृष्टान्त इति चैकार्थं व्याक-रणं पुनर्यो यस्य मोक्षादेरर्थस्य धर्मता स्वभावस्तस्य निर्वचनम्। अर्थाद्धकदृष्टान्तो भाष्यते "एगो साहू अण्णामगामभिक्खायरियाए अन्नं गाम वच्चइ तस्स अंतरा गिहत्थो मिलितो ते दो वि वच्चंता अं-तरापहे उदगं उत्तिएणा सो अगारो गामं पविट्ठो तस्स य भगिणी अत्थि तीए घरं पाहुणगो गतो। साहू वि भिक्खं हिंडंतो तं घरं गतो भगिणीए पुरेकम्मं कयं साहुणा पडिसिद्धं। भगिणी-ए कहियं कीस नं गिएहसि। साहू भणइ उदगसमारंभो न वट्ट-इ। अगारो भणंति जे मए समं पंथे उदगं उत्तिएणो सि तं किह कप्पइ अहो मायाविणो दुद्दिट्ठधम्माणो त्ति। साहू भणइ न वयं मायाविणो न वा दुद्दिट्ठधम्माणो किं तु " एयं खु परिहरामो, अप्पप्पं भिक्खत्तं ण विज्जति हु। एयं खलु सावज्जं, वज्जंतो होइ अणवज्जो" माध्यमेव परिहर्तुं शक्यमेवं वयं परिहरामः अप्राप्य-स्य परिहर्तुमशक्यस्य मार्गक्रमायातोदकवाहकादेर्विवर्जकः परिहर्ता न विद्यते अत एव प्राप्यं सावद्यं पुरःकर्मादिकं वर्ज-यन् अनवद्यो निर्दोषो भवति। अपि च नायमेकान्तो यदेकत्रान-घतया दृष्टं तदन्यत्र प्राप्यमवद्यमेव भवति। तथाहि ।

चिरपाहुणओ भगिणि, अवयासिंतो अदोसवं होति ।

तं चेव मज्झ सक्खी, गरहिज्जइ आगहिं काले ॥

चिरकालादायातः प्राघूर्णको भगिनीमवकाशमानः सस्नेहमा-लिङ्गन् अदोषवान् भवति। तथा चात्र त्वमेव मम साक्षी प्रमाणं सांप्रतमेव भवता चिरप्राघूर्णकतया भगिनीपरिष्वङ्गस्य कृत-त्वादिति भावः। तामेव च भगिनीमन्यस्मिन् काले परिष्वजन् गर्ह्यते निन्द्यते अत्रापि त्वमेव प्रमाणमिति। तथा।

पादेहि अधोतेहि वि, आक्कमिय तम्मि कीरती अचा ।

सीमेण वि संकिज्जति, सवेव चितीकया उचिओ ॥

अर्चा प्रतिमा सा यावदद्यापि प्रतिष्ठिता तावदधौतैरपि पा-दैराक्रम्योपरि चटित्वाऽपि क्रियते। सैव प्रतिमा चितीकृता चै-त्यत्वेन व्यवस्थापिता शीर्षेणापि स्प्रष्टुं शङ्क्यते शिरसा स्पृश-द्भिरपि शङ्का विधीयत इति भावः।

केइ सरीरावयवा, देहत्था पूइया न पुण विउत्ता ।

सोहिज्जंति वणमुहा, मलम्मि पूढे ण सव्वे उ ॥

केचित् शरीरावयवा दन्तकेशनखादयो देहस्थाः सन्तः पू-जिताः प्रशस्ता भवन्ति न पुनर्वियुक्ताः शरीरात्पृथग्भूताः। तथा व्रणमुखान्यपि श्रोत्रचक्षुरादिप्रभृतीनि मले स्पृष्टे सति न सर्वाण्यपि शोध्यन्ते किंतु कानिचिदेवेति।

जइ एगत्थुवलद्धं, सव्वत्थ वि एवमागमी मोहा ।

भूमीतो होति कणगं, किण सुवण्णा पुणो भूमी ॥

यदि नाम एकत्र यदुपलब्धं सर्वत्रापि तेन भवितव्यमि-त्येवं मोहादज्ञानात् मन्यसे ततः कथय भूमीतः कनकमुत्प-द्यमानं दृश्यते ततः सुवर्णात्पुनरपि किं न भूमिः समुत्पद्यते।

तम्हा उ अणेगंतो, ण दिट्ठमेगत्थ सव्वहिं होति ।

लोए भक्खमभक्खं, पिज्जमपिज्जं च दिट्ठाई ॥

तस्मादनेकान्तोऽनियमो यः क्वचिद्दृष्टः स्यात्। नैवात्र दृष्टं स-र्वत्रापि भवतीति। तथाच लोके प्राण्यङ्गत्वे समानेऽप्योदनम-त्स्यादिकं भक्ष्यं मांसवसादिकमभक्ष्यं तथा दुग्धादिकं पेयं मद्यरुधिरादिकमपेयमित्यादीनि पृथक् व्यवस्थितानि दृ-ष्टानि तथात्रापि उदकसमारम्भादौ मन्तव्यानि गतमेकज्ञातम्। अर्थैकव्याकरणेन यथा धर्मोऽभिधीयते तथा दर्शयति।

जं इच्छसि अप्पणतो, जं च ण इच्छसि अप्पणतो ।

तं इच्छ परस्स वि यं, इत्तियगं जिणसासणयं ॥

यदात्मनः स्वजीवस्य सुखादिकमिच्छसि यच्च दुःखादिक-मात्मनो नेच्छसि तत्परस्याप्यात्मव्यतिरिक्तस्य जन्तोरिच्छ आत्मवत् परमपि पश्यति भावः। एतावत् जिनशासनमित्य-स्मात् जिनोपदेश इति। गाथया पुनरिदं धर्म उपदिश्यते।

सव्वारंभपरिग्गह-णिक्खेवो सव्वभूतसमया य ।

एक्कग्गमणसमाहा-णया अह एत्तिओ मोक्खो ॥

सर्वस्य सूक्ष्मबादरभेदभिन्नजीवनिकायस्यारम्भस्य सर्वस्य च सचित्ताचित्तमिश्रभेदभिन्नस्य परिग्रहस्य यो निक्षेपः स त्यागो यावत्सर्वभूतेषु समता, या च एकाग्रमनःसमाधानता, क-थित एतावान् मोक्ष उच्यते। कारणे कार्योपचारादेषो मो-क्षोपाय इत्यर्थः। श्लोकेन यथा।

सव्वजगज्जीवस्स, सम्मं भूयाइ पासओ ।

पिहियासवस्स दंतस्स, पावं कम्मं न बंधइ ॥

पाठसिद्धः। ये तु संस्कृतवचनेनैवमित्थं लोकेषा श्लोकेन वा धर्मकथा क्रियते। "सत्कर्मभिर्निकायानां, चारित्राद्विनिग्रहः सम्यक्। दण्डेभ्यश्चोपरमो, धर्मः पञ्चेन्द्रियसमथः॥ यत्र प्राणिवधो नास्ति, यत्र सत्यमनिन्दितम्। तथासर्वस्मिंस्तत्र स धर्ममपि गोपयेत्"।

अथ किं कारणं शिष्या धर्मः कथनीय इत्याह।

इरियावहियावसी, सिद्धं ण गिरहए अत्तो जिता ।

जरिहूं पमिलीए, आभिओगे चटाइ रि पांच ॥

ईर्यापथिकीं धर्मकथिका तां कुर्वन् धर्म कथयति तदा लोके अयशो भवति दुर्दृष्टधर्मोऽसौ यदेवं धर्मं कथयन्ति अपि च शिरसापि कोपमानि धर्मस्यैव धर्मेण न दृ-श्यते। अतः शिष्या एकश्लोकादि कथनीयम्। तदन्तरा उच्यते कश्चिद्धर्म धर्मश्रद्धालुः इदमेव धर्मं पृच्छ-ति ततः सत्यानुकम्पया प्रवचनस्य महत्त्वाय अविष्कर्तव्य इत्या निःश्रमनचः एक वा बहुना वा कथा धर्मकथा कर्तयितव्याः। प्रश्नदीपो वा कश्चित् धर्मप्रश्ने न धर्मलाभमात्रमाश्रित्य कथयेत् धर्मदर्शी धर्मशी धर्मे। यदा स प्रश्नकः सहसा दृष्टो भवेत् ततो वा धर्मभवतः स उपशमेकान्तिमिति बहुविधमुपदेशं दद्यात्। दरिद्रकस्य वा ज-भियोगो बलात्कारो भवेत्। किमुक्तं भवति। एकमेवैव धर्मे क-थिते दरिद्रको इत्यत्र कथय कथय मे संप्रति महर्षी भवत व-र्तेन तनधनुर्मा श्रेयःकामी परैः अपि कथयेत्। तत्र धीरही पुनः कथा कथयितव्या धीरदृष्टी वा भवेत्।

सिंगारसुत्तविजिया, मोहुन्ने पुंपुया हसाभेति ।

जं पुण सामुत्थवइ, समणेण न सा कहेयव्वा ॥

यां कथां शृण्वतः यौवनं मोहुपुण्यमतं इत्यत्रुत्पद्यते इत्यादि कथा कहणेन मर्या मोहनाश पुंपुयत (हसा-सति) उत्पद्यन्ते सा कथा श्रमणेन न कथयितव्या।

समणेण कहेयव्वा, सग्गेयव्वा ।

[illegible] वणसंडस्स बहुमज्झदेसभाए [illegible] मणा संपरिक्खित्ता [illegible] चक्कवालविक्खं- [illegible] वेइया [illegible] पन्नत्ते से णं वणखंडे [illegible] किण्हे किण्होभासे एवं जहा रायपसेणइज्जे वणसंडवन्नओ त- [illegible] भाणियव्वं । तणाण य वन्नगंधफासो सद्दो [illegible] पुढविसिलापट्टगा य [illegible] जाव तत्थ णं बहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ य [illegible] जाव विहरंति । एगुरुयदीवस्स णं दीवस्स [illegible] भूमिभागे पन्नत्ते से जहानामए [illegible] वा एवं सयणीए भाणियव्वे जाव पुढवि- [illegible] । तत्थ णं बहवे एगोरुयदीवया मणुस्सा य [illegible] जाव विहरंति । एगुरुयदीवे णं दीवे [illegible] बहवे [illegible] मोद्दालका [illegible] सं- [illegible] पन्नत्ता सम- [illegible] मूलमंतो कंदमंतो जाव [illegible] सिरीए [illegible] चिट्ठंति । एगुरुयदीवे णं [illegible]

[illegible]

वेया फलेहिं पुन्ना विव विसट्टंति कुसविकुसविसुद्धरुक्ख- [illegible] जाव चिट्ठंति । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ बहवे भिंगंगा [illegible] दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो ! जहा से वारगघडग- [illegible] कलसकरगकक्करिपायकंचणिउल्लंकवद्धणिसुपइट्ठगविट्ठ [illegible] गा भिंगारा करोडिसरगथरगपत्तीथाल [illegible] यपलगवालविचित्तवट्टकमणिवट्टकसिप्पिसार [illegible] मणिरयणभत्तिविचित्ता भायणविहिबहुप्पगारा [illegible] भिंगंगया वि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा परि- [illegible] ताए भायणविहीए उववेया फलेहिं पुण्णा विव [illegible] कुसविकुस जाव चिट्ठंति । एगुरुयदीवे णं दीवे [illegible] तुरियंगा नाम दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो ! [illegible] से आलिंगमुइंगपणवदद्दरपडहझल्लरिभंभा [illegible] खरमुहिमुयंगसंखियपरिल्लीवच्चगपरिवायणि [illegible] गोमुही [illegible] पंचपद [illegible] सतकलावेम [illegible] सकसंपत्ताओ आतोज्जविहीए [illegible] लेहिं फंदिया तिट्ठाणकरणसुद्धा [illegible] वि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा परिणयाए [illegible] बंधणसिराए चउविहाए आतोज्जविहीए उववेया [illegible] पुण्णा विव विसट्टंति कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूलाओ जाव चिट्ठंति । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ बहवे दीवसिहा णाम दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो ! जहा से संझा- रागसमए नवनिहिपतिणो दीविया चक्कवालविंदे [illegible] बहुवट्टिपलित्तसणेहिं [illegible] तिमिरमद्दए कणगनिगर- [illegible] कुसुमियपारिजातयवणप्पगासो कंचणमणिरयणविमलमह- [illegible] तवणिज्जुज्जलविचित्तदंडाहिं दीवियाहिं सहसा [illegible] [illegible] सविसयणिद्धतेयदिप्पंतविमलगहगणसमप्पहाहिं [illegible] वितिमिरकरसूरपसरिउज्जोयचिल्लियाहिं जालुज्जल [illegible] [illegible] गोभमाणाहिं [illegible] [illegible] दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा परिणयाए [illegible] [illegible] उववेया फलेहिं कुसविकुस जाव चिट्ठंति । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ बहवे जोइसिया नाम [illegible] पन्नत्ता समणाउसो ! जहा से अचिरुग्गयसरय [illegible]

[illegible]

दीवे तत्थ बहवे चित्तंगा नाम दुमगणा पण्णत्ता समणाउसो !
जहा से पेच्छाघरे व्व चित्ते रम्मे वरकुसुमदाममाला उज्जु-
ज्जलेभासंतमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिए विरल्लियविचि-
त्तमल्लसिरिसमुदयप्पगब्भे गंथिमवेढिमपूरिमसंघाइमेणं मल्लेणं
छेयसिप्पिविभागरइएणं सव्वओ समंता चेव समणुबद्धे प-
विरललंबंतविप्पइट्ठेहिं पंचवण्णेहिं कुसुमदामेहिं सोभमाणा
वणमालकयग्गए चेव दिप्पमाणे तहेव ते चित्तंगया वि दुम-
गणा अणेगबहुविविहवीससा परिणयाए मल्लविहीए उव-
वेया कुसविकुस वि जाव चिट्ठंति । एगुरुयदीवे णं दीवे
तत्थ बहवे चित्तरसा नाम दुमगणा पण्णत्ता समणाउसो !
जहा से सुगंधवरकलमसालितंदुलविसिट्ठणिरुवहयदुद्ध-
रद्धे सारयघयगुलखंडमहुमेलिए अइरसे परमन्ने होज्ज उत्त-
मवण्णगंधमंते रण्णो जहा वावि चक्कवट्टिस्स होज्ज निउणे-
हिं सूयपुरिसेहिं सज्जिए चाउरकप्पसेयसित्ते व ओदणे
कलमसालिणिव्वत्तिए विपक्के सव्वप्फमिउविसयसगलसित्थे
अणेगसालणगसंजुत्ते अहवा पडिपुण्णदव्वुवक्खडे सुसक्कए
वण्णगंधरसफरिसजुत्तबलवीरियपरिणामे इंदियबलपुट्ठिवद्धणे
खुप्पिवासामहणे पहाणगुलकढियखंडमच्छंडिउवणीए व्व
मोयगे सण्हसमियगब्भे हवेज्जा । परमइट्ठगसंजुत्ते तहेव
ते चित्तरसा वि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा परिण-
याए भायणविहीए उववेया कुसविकुस जाव चिट्ठंति ।
एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ बहवे मणियंगा नाम दुमगणा पण्ण-
त्ता समणाउसो ! जहा से हारद्धहारवेढणगमउडकुंडलवा-
सुत्तगहेमजालमणिजालकणगजालगसुत्तगउच्चितियकडग-
खुड्डयएगावलिकंठसुत्तमगरगउरत्थगेवेज्जसोणिसुत्तगचूला-
मणिकणगतिलगफुल्लगसिद्धत्थियकण्णवालिससिसूरउसभ-
चक्कगतलभंगयतुडियहत्थमालगवलक्खदीणारमालिया चंद-
सूरमालिया हरिसयकेऊरवलयपालंबअंगुलिज्जगकंचीमेह-
लाकलावपयरगपायजालघंटियखिंखिणिरयणोरुजालखुड्डि-
यवरनेउरचलणमालिया कणगणिगमालिया कंचणमणि-
रयणभत्तिचित्ता भूसणविही बहुप्पगारा तहेव ते मणियंगा
वि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा परिणयाए भूसणवि-
हीए उववेया कुसविकुस वि जाव चिट्ठंति । एगुरुयदीवे णं दीवे
तत्थ बहवे गेहागारा नाम दुमगणा पण्णत्ता समणाउसो !
जहा से पागारट्टालगचरियादारगोपुरपासायागासतलगमंडवए-
गसालगबिसालगतिसालगचउसालगगब्भघरमोहणघरवलभिघरचित्तसाल-
गमालियभत्तिघरवट्टतंसचउरंसनंदियावत्तसंठियावत्तपंडुरतलमुंडमा-
लहम्मियअहवणं धवलहरअद्धमागहविब्भमसेलद्धसेलसंठि-
यकूडागारगसुविहिकोट्ठगअणेगघरसरणलेणआवणविडंगजाल-
चंदनिज्जूहअपवरककपोतालिचंदसालिविभत्तिकलिता भव-

णविही बहुविगप्पा तहेव ते गेहागारा वि दुमगणा अणेगबहु-
विविहवीससा परिणयाए सुहारुहणसुहोत्ताराए सुहनिक्ख-
मणपवेसाए दद्दरसोपाणपंतिकलियाए पइरिक्काए सुहविहाराए
मणाणुकूलाए भवणविहीए उववेया कुसविकुस वि जाव चि-
ट्ठंति । एगुरुयदीवे णं दीवे तत्थ बहवे अणिगणा नाम दुमगणा
पण्णत्ता समणाउसो ! जहा से अणेग आइणगखोमतणुयकंब-
लदुगुल्लकोसेज्जकालमिगपट्टचीणअंसुयवण्णवरणातवारवा-
णिगयच्छआभरणचित्तसहिणगकल्लाणगभिंगमेहलकज्जल-
बहुवण्णरत्तपीयसुक्किल्लमक्खयमिगलोमहेमप्फरुल्लगअवरसगासिं-
धुउसभदामिलवंगकलिंगनलिणतंतुमयभत्तिचित्ता वत्थविही
बहुप्पगारा हवेज्ज वरपट्टणुग्गता वण्णरागकलिया तहेव ते
अणियणा वि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा परिणयाए
वत्थविहीए उववेया कुसविकुस वि जाव चिट्ठंति ९० । एगु-
रुयदीवे णं भंते ! दीवे मणुयाणं केरिसए आगारभावपडो-
यारे पण्णत्ते ? गोयमा ! ते णं मणुया अणतिवरसोमचारुरूवा
भोगुत्तमा भोगलक्खणधरा भोगसस्सिरीया सुजायसव्वं-
गसुंदरंगा सुपइट्ठियकुम्मचारुचलणा रत्तुप्पलपत्तमउयसुकु-
मालकोमलतला नगणगरमगरसागरचक्कंकहरंकलक्ख-
णंकियचलणा अणुपुव्वसुसाहयंगुलिया उण्णयतणुयतंब-
णिद्धणखा संठियसुसिलिट्ठगूढगुप्फा एणीकुरुविंदावत्तवट्टा-
णुपुव्वजंघा सामुग्गनिमुग्गगूढजाणू गयससणसुजातसण्णिभो-
रू वरवारणमत्ततुल्लविक्कमविलासितगती सुजातवरतुरगगुज्झ-
देसा आइण्णहओ व्व णिरुवलेवा पमुइयवरतुरगसीहअइ-
रेगवट्टियकडी साहयसोणिंदमुसलदप्पणणिगरियवरकणग-
च्छरुसरिसवरवइरवलियमज्झा उज्जुयसमसहियसुजायजच्च-
तणुकसिणणिद्धआदेज्जलडहसुकुमालमउयरमणिज्जरोम-
राई गंगावत्तपयाहिणावत्ततरंगभंगुररविकिरणतरुणबो-
हियअकोसायंतपउमगंभीरवियडणाभा झसविहगसुजायपी-
णकुच्छी झसोदरा सुइकरणा पम्हवियडणाभा सण्णयपासा
संगतपासा सुंदरपासा सुजातपासा मितमाइयपीणरइयपासा
अकरंडुयकणगरुयगनिम्मलसुजायनिरुवहयदेहधारी पसत्थ-
बत्तीसलक्खणधरा कणगसिलातलुज्जलपसत्थसमतलउव-
चियविच्छिन्नपिहुलवच्छा सिरिवच्छंकियवच्छा पुरवरफलि-
हवट्टियभुया भुयगीसरविपुलभोगआयाणफलिहउच्छूढ-
दीहबाहू जुगसन्निभपीणरइयपीवरपउट्ठसंठियउवचियघणा-
थिरसुबद्धसुनिगूढपव्वसंधी रत्ततलोवइयमउयमंसलपसत्थल-
क्खणसुजायअच्छिद्दजालपाणी पीवरवट्टियसुजायकोमलवरं-
गुलीया तंबतलिणसुइरुइल (रुचिर) निद्धणक्खा (नखा)
चंदपाणिलेहा सूरपाणिलेहा संखपाणिलेहा चक्कपाणिलेहा
दिसासोवत्थियपाणिलेहा चंदसूरसंखचक्कदिसासोवत्थियपा-

तासि णं भंते ! मणुईणं केवतिकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ ? गोयमा ! चउत्थभत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ । ते णं भंते ! मणुया किमाहारंति ? गोयमा ! पुढवीपुप्फफलाहारा ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! तीसे णं भंते ! पुढवीए केरिसए आसाए पन्नत्ते ? गोयमा ! से जहानामए गुलेइ वा खंडेइ वा सक्कराइ वा मच्छंडियाइ वा भिसकंदेइ वा पप्पडमोतेतति वा पुप्फुत्तराइ वा पउमुत्तराइ वा अकोसियाति वा विजयाति वा महाविजयाति वा पायसोवमाइ वा उवमाइ वा अणोवमाइ वा चउरक्के गोखीरे चउट्ठाणे परिणए गुडखंडमच्छंडिउवणीए मंदग्गिकढिए वण्णेणं उववेए जाव फासेणं भवे एतारूवेसि ता नो इणट्ठे समट्ठे । तीसे णं पुढवीए एत्तो इट्ठतराए चेव जाव मणामतराए चेव । आसाएणं भंते ! पुप्फफलाणं केरिसए आसाए पन्नत्ते ? गोयमा ! से जहानामए रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स कल्लाणपवरभोयणे सयसहस्सनिप्फन्ने वन्नेणं उववेए गंधेणं उववेए रसेणं उववेए फासेणं उववेए आसायणिज्जे वीसायणिज्जे दीवणिज्जे दप्पणिज्जे बीहिणिज्जे मयणिज्जे सव्विंदियगायपल्हायणिज्जे भवे ता रूवे सिया नो इणट्ठे समट्ठे । तेसि णं पुप्फफलाणं इत्तो इट्ठतराए चेव जाव आसाएणं पन्नत्ते । ते णं भंते ! मणुया तमाहारेत्ता कहिं वसहिं उवेंति ? गोयमा ! रुक्खगेहालया णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! ते णं भंते ! रुक्खा किं संठिया पन्नत्ता ? गोयमा ! कूडागारसंठिया पच्छागारसंठिया छत्तागारसंठिया झयसंठिया थूभसंठिया तोरणसंठिया गोपुरसंठिया पाझगसंठिया अट्टालगसंठिया पासायसंठिया हम्मितलसंठिया गवक्खसंठिया वालग्गपोतियसंठिया वलभीसंठिया अयणे तत्थ बहवे वरभवणसयणासणविसिट्ठसंठाणसंठिया सुभसीतलछाया णं ते दुमगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे गेहाणि वा गेहावयणाणि वा णो इणट्ठे समट्ठे रुक्खगेहालया णं मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे गामाइ वा नगराइ वा जाव सन्निवेसाइ वा णो इणट्ठे समट्ठे । जहत्थियकामगामिणो णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे असीइ वा मसीइ वा किसीति वा विवणीइ वा पणीइ वा वाणिज्जाइ वा नो इणट्ठे समट्ठे । ववगयअसिमसिकिसीविवणिपणियवाणिज्जाउज्जा णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे हिरण्णेइ वा सुवण्णेइ वा कंसेइ वा दूसेइ वा मणीइ वा मुत्तिएइ वा विपुलधणकणगरयणमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालसंत-सारसावएज्जे वा हंता ! अत्थि णो चेव णं तेसि मणुयाणं तिव्वे ममत्तिभावे समुप्पज्जइ । अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे रायाइ वा जुवरायाइ वा ईसरेइ वा तलवरेइ वा माडंबिएइ वा कोडुंबिएइ वा इब्भेइ वा सेट्ठिएइ वा सेणावईइ वा सत्थवाहेइ वा नो इणट्ठे समट्ठे ववगयइड्ढिसक्कारा णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे दासाइ वा पेसाइ वा सिस्साइ वा भयगति वा भाइल्लगाइ वा कम्मगाराइ वा भोगपुरिसाइ वा नो इणट्ठे समट्ठे ववगयआभोगिया णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे मायाति वा पियाइ वा भायाइ वा भयणीइ वा भज्जा वा पुत्ताइ वा धूयाइ वा सुण्हाइ वा हंता ! अत्थि नो चेव णं तेसि णं मणुयाणं तिव्वे पेम्मबंधणे समुप्पज्जइ पयणुपेम्मबंधणा णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे अरीइ वा वेरिइ वा घायगाइ वा वहगाइ वा पडणीइ वा पच्चामित्ताइ वा णो इणट्ठे समट्ठे ववगयवेराणुबंधा णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे मित्ताइ वा वयंसाइ वा घडियाति वा सहीति वा सुहीयाइ वा महाभागाति वा संगतियाति वा नो इणट्ठे समट्ठे ववगयपेम्माणुरागा णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे आवाहाइ वा विवाहाइ वा जन्नाइ वा सड्ढाइ वा थालिपागाइ वा चोलोवणयणाइ वा सीमंतोवणयणाइ वा पितिपिंडनिवेयणाइ वा नो इणट्ठे समट्ठे ववगयआवाहविवाहजन्नसड्ढथालिपागचोलोवणयणसीमंतोवणयणपितिपिंडनिवेदणा णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे इंदमहाइ वा रुद्दमहाइ वा खंदमहाइ वा सिवमहाति वा वेसमणमहाति वा मुगुंदमहाति वा नागमहाइ वा जक्खमहाइ वा भूतमहाइ वा कूवमहाइ वा तलागमहाइ वा नंदिमहाइ वा दहमहाइ वा पव्वयमहाति वा रुक्खमहाइ वा चेतियमहाइ वा थूभमहाइ वा णो इणट्ठे समट्ठे ववगयमहामहिमा णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! । अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे नडपेच्छाइ वा णट्टपेच्छाति वा मल्लपेच्छाति वा मुट्ठियपेच्छाति वा विडंबगपेच्छाति वा कहगपेच्छाति वा पवगपेच्छाति वा अक्खायगपेच्छाति वा लासगपेच्छाति वा लंखपेच्छाति वा मंखपेच्छाति वा तूणइल्लपेच्छाति वा तुंबवीणपेच्छाति वा कीवपेच्छाति वा मागहपेच्छाति वा जल्लपेच्छाइ वा बहुपेच्छाइ वा णो इणट्ठे समट्ठे ववगयकोउहल्ला णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि

णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे सगडाइ वा रहाइ वा जाणाइ वा गिल्लीति वा थिल्लीति वा पिल्लाइ वा पवहणाइ वा सीयाइ वा संदमाणियाइ वा नो इणट्ठे समट्ठे पादचारविहारिणो णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे आसाइ वा हत्थीइ वा उट्टाति वा गोणाइ वा महिसाइ वा खराइ वा अयाइ वा एलगाइ वा हंता अत्थि नो चेव णं तेसिं मणुयाणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति । अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे गावीइ वा महिसीइ वा उट्टीति वा अयाइ वा एलगाइ वा हंता ! अत्थि नो चेव णं तेसिं मणुयाणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति । अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे सीहाइ वा वग्घाइ वा दीवियाइ वा भल्लाइ वा परस्सराइ वा सियालाइ वा विडालाइ वा सुणगाइ वा कोलसुणगाति वा कोकंतियाइ वा ससगाइ वा चित्तलाति वा चिल्ललगाइ वा हंता ! अत्थि नो चेव णं अन्नमन्नस्स तेसिं वा मणुयाणं किंचि आबाहं वा पवाहं वा उप्पायंति छविच्छेयं वा करेंति । पगइभद्दगा णं ते सावयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे सालीइ वा वीहीइ वा गोहूमाइ वा इक्खूइ वा तिलाय वा हंता ! अत्थि नो चेव णं तेसिं मणुयाणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति । अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे गत्ताइ वा दरीइ वा घाइ वा घंसीइ वा भिगूइ वा उवाएइ वा विसमेइ वा विजलेइ वा धूलीइ वा रेणूति वा पंकेइ वा चलणीइ वा णो इणट्ठे समट्ठे । एगुरुयदीवे णं दीवे बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पन्नत्ते समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे खाणूइ वा कंटएइ वा हीरएइ वा सक्कराइ वा तणकयवराइ वा पत्तकयवराइ वा असुईइ वा पूईइ वा दुब्भिगंधाइ वा अचोक्खाइ वा णो इणट्ठे समट्ठे ववगयखाणुकंटकहीरसक्करतणकयवरअसुइपूइयदुब्भिगंधमचोक्खपरिवज्जिएणं एगुरुयदीवे पन्नत्ते समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे दंसाइ वा मसगाति वा पिसुयाइ वा जूयाइ वा लिक्खाइ वा ढिंकुणाइ वा नो इणट्ठे समट्ठे ववगयदंसमसगपिसुयजूयालिक्खढिंकुणपरिवज्जिए णं एगुरुयदीवे पन्नत्ते समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे अहीइ वा अयगराइ वा महोरगाति वा हंता अत्थि नो चेव णं ते अन्नमन्नस्स तेसिं वा मणुयाणं किंचि आबाहं वा पवाहं वा छविच्छेयं वा करेंति पगइभद्दगा णं ते वालगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे गहदंडाति वा गहमुसलाइ वा गहगज्जियाइ वा गहजुद्धाइ वा गहसंघाडाइ वा गहअवसव्वाइ वा अब्भाइ वा अब्भरुक्खाइ वा संझाइ वा गंधव्वणगराइ वा गज्जियाइ वा विज्जुयाइ वा उक्कापायाइ वा दि-

सादाहाइ वा णिग्घाइ वा पंसुविट्ठीइ वा जूयाइ वा जक्खालित्ताइ वा धूमियाइ वा महियाति वा रउग्घायाइ वा चंदोवरागाइ वा सूरोवरागाइ वा चंदपरिवेसाइ वा सूरपरिवेसाइ वा पडिचंदाइ वा पडिसूराइ वा इंदधणूइ वा उदगमच्छाइ वा अमोहाइ वा कविहसीयाइ वा पाईणवायाइ वा पडीणवायाइ वा जाव सुद्धवायाइ वा गामदाहाइ वा नगरदाहाइ वा जाव सन्निवेसदाहाइ वा पाणक्खयजणक्खयकुलक्खयधणक्खयवसणभूतमणारियाइ वा नो इणट्ठे समट्ठे । अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे डिंबाइ वा डमराइ वा कलहाइ वा बोलाइ वा खाराइ वा वेराति वा विरुद्धरज्जाइ वा नो इणट्ठे समट्ठे ववगयडिंबडमरकलहबोलखारवेरविरुद्धरज्जविवज्जिया णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे महाजुद्धाइ वा वा महासंगामाइ वा महासत्थनिवयणाइ वा महापुरिसपडाणाइ वा महारुधिरपडणाइ वा नागवाणाति वा खेलवाणाति वा तामसवाणाति वा दुब्भूयाइ वा कुलरोगाइ वा गामरोगाइ वा नगररोगाइ वा मंडलरोगाइ वा सीसवेयणाइ वा अच्छिवेयणाइ वा कन्नवेयणाइ वा नक्कवेयणाइ वा दंतवेयणाइ कासाइ वा सासाइ वा [illegible] वा दाहाइ वा कच्छूइ वा खसराइ वा कोढाइ वा कुडाइ वा दगोयराइ वा अरिसाइ वा अजीरगाइ वा [illegible] वा इंदग्गहाइ वा खंदग्गहाइ वा कुमारग्गहाइ वा नागग्गहाइ वा जक्खग्गहाइ वा भूयग्गहाइ वा [illegible] वा धणुग्गहाइ वा एगाहियाइ वा वेयाहियाइ वा तेयाहियाइ वा चाउत्थगाहियाइ वा हिययसूलाइ वा मत्थगसूलाइ वा पाससूलाइ वा कुच्छिसूलाइ वा जोणिसूलाइ वा गामम[illegible] वा जाव सन्निवेसमारी वा पाणक्खय जाव वसणभूयमणारियं वा नो इणट्ठे समट्ठे ववगयरोगायंका णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे अइवासाइ वा मंदवासाइ वा सुवुट्ठीइ वा मंदवुट्ठीइ वा उदवाहीइ वा पवाहाइ वा दगुब्भेयाइ वा दगुप्पीलाइ वा गामवहाइ वा जाव सन्निवेसवहाइ वा पाणक्खय जाव वसणभूतमणारियाइ वा नो इणट्ठे समट्ठे ववगयदगोवद्दवा णं ते मणुयगणा पन्नत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! एगुरुयदीवे णं दीवे अयागराइ वा तंबागराइ वा सीसागराइ वा सुवन्नागराइ वा रयणागराइ वा वइरागराइ वा वसुहाराइ वा हिरण्णवासाइ वा सुवन्नवासाइ वा रयणवासाइ वा वइरवासाइ वा आभरणवासाइ वा पत्तं वा पुप्फं वा फलं वा बीयं वा मल्लं वा गंधं वा वन्नं वा चुन्नं वा खीरवुट्ठीइ वा रयणवुट्ठीइ वा

हिरएणवुट्ठीइ वा सुवर्ण्ण वुट्ठीइ वा जाव चुन्नवुट्ठीइ वा सुकालाइ वा दुक्कालाइ वा सुभिक्खाइ वा दुब्भिक्खाइ वा अप्पग्घाइ वा महग्घाइ वा कयाइ वा विक्कयाइ वा संणिहीइ वा संचयाइ वा निधीइ वा निहाणाइ वा चिरपोराणाइ वा पहीणसामियाइ वा पहीणसउपाइ वा पहीणगोत्तागाराइं जाइं इमाइं गामागरनगरखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणासमसंवाहसन्निवेसेसु सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहपहेसु नगरनिद्धमणेसु सुसाणगिरिकंदरसंतिसेलोवट्ठाणभवणगिहेसु सन्निक्खित्ता चिट्ठंति नो इणट्ठे समट्ठे एगुरुयदीवे णं भंते ! दीवे मणुयाणं केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा ! जहएणेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं असंखेज्जति भागेणं ऊणगं उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखिज्जइभागं । ते णं भंते ! मणुया कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छंति कहिं उववज्जंति ? गोयमा ! ते णं मणुया छम्मासावसेसाउआ मिहुणाइं पसवंति अउणासीइं राइंदियाइं मिहुणाइं सारक्खंति संगोवंति सारक्खित्ता उस्ससित्ता णिस्ससित्ता कासित्ता छिंकित्ता अक्किट्ठा अव्वाहिया अपरियाविया सुहं सुहेणं कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति देवलोगपरिग्गहिया णं ते मणुयगणा पण्णत्ता समणाउसो ॥

एकोरुकमनुष्याणामेकोरुकद्वीपं विवक्षुराह । कहि णं भंते ! इत्यादि क भदन्त ! दाक्षिणात्यानामिह एकोरुकादयो मनुष्याः शिखरिण्यपि पर्वते विद्यन्ते ते च मेरोरुत्तरदिग्वर्तिन इति तद्व्यवच्छेदार्थं दाक्षिणात्यानामित्युक्तम् एकोरुकमनुष्याणामेकोरुकद्वीपः प्रज्ञप्तः भगवानाह गौतम ! जम्बूद्वीपे मन्दरपर्वतस्यान्यासंभवादस्मिन् जम्बूद्वीपद्वीपे इति प्रतिपत्तव्यं मन्दरपर्वतस्य मेरोर्दक्षिणस्यां दिशि क्षुल्लहिमवद्वर्षधरपर्वतस्य क्षुल्लपदेन महाहिमवद्वर्षधरपर्वतव्यवच्छेदार्थं पूर्वस्मात् पूर्वपर्यन्तात् उत्तरपूर्वेण उत्तरपूर्वस्यां दिशि लवणसमुद्रं त्रीणि योजनशतान्यवगाह्यात्रान्तरे क्षुल्लहिमवद्दंष्ट्राया उपरि दाक्षिणात्यानामेकोरुकमनुष्याणामेकोरुकद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः स च त्रीणि योजनशतान्यायामविष्कम्भेण समाहारो द्वन्द्वः आयामेन विष्कम्भेन चेत्यर्थः । नवैकोनपञ्चाशता-एकोनपञ्चाशदधिकानि नवयोजनशतानि (९४९) परिक्षेपेण प्रज्ञप्तः परिक्षेपस्य परिमाणगणितभावना विष्कम्भः " वग्गदहगुण-करणी वट्टस्स परिरओ होइ " इति करणवशात् स्वयं कर्त्तव्या सुगमत्वात् " से णमित्यादि " स एकोरुकनामा द्वीप एकया पद्मवरवेदिकया एकेन वनखण्डेन सर्वतः सर्वासु दिक्षु समन्ततः सामस्त्येन परिक्षिप्तः । तत्र पद्मवरवेदिकावर्णको वनखण्डवर्णकश्च वक्ष्यमाणजम्बूद्वीपजगत्युपरि पद्मवरवेदिकावनखण्डवर्णकवत् भावनीयः । स च तावत् यावदासयन्तीति पदम् । " एगोरुयदीवस्स णं भंते ! इत्यादि " एकोरुकद्वीपस्य ... भदन्त ! कीदृशः क इव दृश्यः आकारभावप्रत्यवतारः स्वरूपादिस्वरूपसम्भवः प्रज्ञप्तः भगवानाह गौतम ! एकोरुकद्वीपे बहुसमरमणीयः प्रभूततमः समः स्यात् भूमिभागः प्रज्ञप्तः " से जहा णामए आलिंगपुक्खरेइ वा इत्यादि " उत्तरकुरुसमवक्तव्यतानुसारेणैव यावत् मनुजानामेवं भूयः तावदिदं मनुष्याः अष्टौ धनुःशतान्युच्छ्रिता एकोरुकमनुष्याः ... पृष्ठकरण्डकाः पृष्ठवंशा वक्ष्यमाणानामिह पृष्ठे भवन्ति एकोनाशीतिं च रात्रिन्दिवानि स्वापत्यान्यनुपालयन्ति स्थितिस्तेषां जघन्येन देशोनः पल्योपमासंख्येयभागः एतदेव स्पष्टयति पल्योपमासंख्येयभागेन्यून इत्यर्थः । उत्कर्षतः परिपूर्णः पल्योपमासंख्येयभागः जी० ३ प्रति० ।

कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाणं आभासियमणुयाणं आभासियदीवे णामं दीवे पण्णत्ते ? गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं चुल्लहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणपुरच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ लवणसमुद्दं तिन्नि जोयणं सेसं जहा एगुरुयाणं निरवसेसं सव्वं ॥

क भदन्त ! दाक्षिणात्यानामाभासिकद्वीपनामकोऽन्तरद्वीपः प्रज्ञप्तः भगवानाह गौतम ! जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणस्यां दिशि क्षुल्लहिमवतो वर्षधरपर्वतस्य पूर्वस्मात् चरमान्तात् दक्षिणपूर्वस्यां दिशि लवणसमुद्रं चुल्लहिमवद्दंष्ट्राया उपरि त्रीणि योजनशतान्यवगाह्यात्रान्तरे दंष्ट्राया उपरि दाक्षिणात्यानामाभासिकमनुष्याणामाभासिकद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः शेषमत्र एकोरुकवक्तव्यतया यावत् निरवशेषम् ।

कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाणं वेसाणियमणुस्साणं पुच्छा ? गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं चुल्लहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं पच्चच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ लवणसमुद्दं तिन्नि जोयणा सेसं जहा एगुरुयाणं ।

" कहि णं भंते इत्यादि " क भदन्त ! दाक्षिणात्यानां वैषाणिकमनुष्याणां वैषाणिकद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः भगवानाह गौतम ! जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणस्यां दिशि क्षुल्लहिमवतो वर्षधरपर्वतस्य पाश्चात्यचरमान्तात् दक्षिणपश्चिमायां दिशि लवणसमुद्रं त्रीणि योजनशतान्यवगाह्य अत्रान्तरे दाक्षिणात्यानां वैषाणिकमनुष्याणां वैषाणिकद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः शेषं यथा एकोरुकाणां तथा वक्तव्यं यावत् निरवशेषम् ।

कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाणं णंगोलियमणुस्साणं पुच्छा गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं चुल्लहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरपच्चच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ लवणसमुद्दं तिन्नि जोयणसयाइं सेसं जहा एगुरुयमणुस्साणं ।

क भदन्त ! लाङ्गूलिकमनुष्याणां लाङ्गूलिकद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः भगवानाह गौतम ! जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणस्यां दिशि क्षुल्लहिमवतो वर्षधरस्य पश्चात्यचरमान्तात् उत्तरपश्चिमेन उत्तरपश्चिमायां दिशि लवणसमुद्रं त्रीणि योजनशतानि अवगाह्यात्रान्तरे दंष्ट्राया उपरि लाङ्गूलिकमनुष्याणां लाङ्गूलिकद्वीपो नाम द्वीपः प्रज्ञप्तः शेषमेकोरुकवत् वक्तव्यं यावत् निरवशेषम् । जी० ३ प्रति० । स्था० । भ० । प्रज्ञा० ।

द्वितीयचतुष्कम् ।

कहि णं भंते ! दाहिणिल्लाणं हयकन्नमणुस्साणं हयकन्नदीवे नामं दीवे पण्णत्ते ? गोयमा ! एगुरुयदीवस्स उत्तर-

[illegible] कण्णंधेरुत्तरपुरच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ जगतीओ लवणसमुदं [illegible] ओगा- [illegible] एत्थ णं उत्तरिल्लाणं [illegible] पव्वए [illegible] ॥

[illegible]

मध्यभागमविष्कम्भाः [illegible] एकोरुकदीपात् [illegible] पूर्वोत्तरादिचतुष्कविदिक्षु [illegible] हयमुख २ अश्वमुख ३ गोमुख ४ [illegible] हयकर्णस्य परतः आदर्शमुखो [illegible] गोकर्णस्य परतोऽयोमुखः शष्कुलीकर्णस्य [illegible] एवमग्रेऽपि भावना कार्या [illegible]

अश्वमुखा ।

तेसि णं दीवाणं चउसु वि दिसासु लवणसमुद्दं छ छ जोयणसयाइं ओगाहेत्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा [illegible] आसमुहदीवे हत्थिमुहदीवे सीहमुहदीवे [illegible] तेसु णं दीवेसु मणुस्सा भाणियव्वा ॥

एतेषां अयोमुखादीनां चतुर्णां द्वीपानां [illegible] यथाक्रमं पूर्वोत्तरादिविदिक्षु प्रत्येकं लवणसमुद्रं [illegible] तावगाह्य षड् योजनशतायामविष्कम्भा [illegible] योजनपरिक्षेपाः [illegible] अश्वमुखदीपादयः [illegible] दिसिमुखसिंहमुखव्याघ्रमुखनामानश्चत्वारो द्वीपाः [illegible] आदर्शमुखस्य परतोऽश्वमुखः [illegible] अयोमुखस्य परतः सिंहमुखः गोमुखस्य परतो [illegible]

अश्वकर्णाः ।

तेसि णं दीवाणं चउसु वि दिसासु लवणसमुद्दं [illegible] जोयणसयाइं ओगाहेत्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा पण्णत्ता, तं जहा आसकण्णदीवे हत्थिकण्णदीवे [illegible] कण्णपाउरणदीवे । तेसु णं दीवेसु मणुस्सा [illegible] स्था० ४ ठा० ।

[illegible]

[illegible]

तेसु णं दीवाणं चउसु वि दिसासु लवणसमुद्दं [illegible]

[illegible]

...मेघमुखः अकर्णस्य परतो उल्कामुखः हरिकर्णस्य परतो विद्युन्मुखः कर्णप्रावरणस्य परतो विद्युद्दन्तः ॥ जी० ३ प्रति० । प्रज्ञा० । कर्म० ।

तेसु णं दीवाणं चउसु वि दिसासु लवणसमुद्दं एव एव ...जोयणसयाइं ओगाहित्ता एत्थ णं चत्तारि अंतरदीवा ...एणत्ता तंजहा घणदंतदीवे लट्ठदंतदीवे गूढदंतदीवे सुद्ध-...दीवे । तेसु णं दीवेसु चउव्विहा मणुस्सा परिवसंति ...हा घणदंता लट्ठदंता गूढदंता सुद्धदंता ।

...तामप्युल्कामुखादीनां चतुर्णां द्वीपानां परतो यथाक्रम ...तरादिविदिक्षु प्रत्येकं नव योजनशतानि लवणसमुद्रमव-...नवयोजनशतायामविष्कम्भाः पञ्चचत्वारिंशदधिकाष्ट-...तयोजनशतपरिक्षेपा वेदिकावनखण्डसमवगूढा जम्बूद्वीप-वेदिकान्तात् नवयोजनशतप्रमाणान्तरा घनदन्तलष्टदन्तगूढदन्त-शुद्धदन्तनामानश्चत्वारो द्वीपास्तद्यथा उल्कामुखस्य परतो घ-...नदन्तः मेघमुखस्य परतो लष्टदन्तः विद्युन्मुखस्य परतो गूढद-...न्तः विद्युद्दन्तस्य परतः शुद्धदन्तः जी० ३ प्रति० ।

अन्तरद्वीपप्रकरणार्थसंग्रहगाथाः ।

" चुल्लहिमवंतपुव्वा-वरेण विदिसासु सागरं तिसए ।
...गंतूणंतरदीवा, तिन्नि सए होंति वित्थिन्ना ॥ १ ॥
...अउणापन्ननवसए, किंचूणे परिहिएसिमे नामा ।
...एगोरुय आभासिय, वेसाणी चेव लंगूली ॥ २ ॥
...एएसिं दीवाणं, परओ चत्तारि जोयणसयाइं ।
...ओगाहिऊण लवणं, स पडिदिसिं चउसयपमाणा ॥ ३ ॥
...चत्तारंतरदीवा, हयगयगोकन्नसंकुलीकन्ना ।
...एवं पंच सयाइं, छ सत्त अट्ठ य नव चेव ॥ ४ ॥
...ओगाहिऊण लवणं, विक्खंभोगाहसरिसया भणिया ।
...चउरो चउरो दीवा, इमेहिं नामेहिं नायव्वा ॥ ५ ॥
...आयंसमेंढगमुहा, अओमुहा गोमुहा य चउरंते ।
...अस्समुहा हत्थिमुहा, सीहमुहा चेव वग्घमुहा ॥ ६ ॥
...तत्तो य आसकन्ना, हत्थियकन्ना अकन्नपावरणा ।
...उक्कामुह मेहमुहा, विज्जुमुहा विज्जुदंता य ॥ ७ ॥
...घणदंत लट्ठदंता, निगूढदंता य सुद्धदंता य ।
...वासहरे सिहरम्मि वि, एवं चिय अट्ठवीसावि ॥ ८ ॥
...अंतरदीवेसु नरा, धणूसयअट्ठूसिया सया मुइया ।
...पालिंति मिहुणधम्मं, पल्लस्स असंखभागाओ ॥ ९ ॥
...चउसट्ठिं पिट्ठिकरं-डगाणि मणुयाण तच्चपालणया ।
...अउणासीइं तु दिणा, चउत्थभत्तेण आहारो त्ति ॥ १० ॥
...या० ४ ठा० । एतेषामेव द्वीपानामवगाहनायामविष्कम्भ-...परिरयपरिमाणसंग्रहगाथाषट्कमाह ।

...पढमम्मि तिन्नि उ सया, सेसाण सतोत्तरा नवउ जा च ।
...ओगाहण विक्खंभं, दीवाणं परिरयं वोच्छं ॥
...पढमचउक्कपरिरया, बीयचउक्कस्स परिरओ अहिओ ।
...सोलेहिं तिहिं उ जोयण-सएहिं एमेव सेसाणं ।
...एगोरुयपरिक्खेवो, नव चेव सयाइं अउणपण्णाइं ॥
...बारस पण्णट्ठाइं, हयकन्नाणं परिक्खेवो ।
...पन्नरस एकसीया, आयंसमुहाण परिरओ होइ ।
...अट्ठारस सत्तनउयाओ, आसमुहाणं परिक्खेवो ।

बावीसं तेराइं, परिक्खेवो होइ आसकण्णाण ॥
पणवीस अउणतीसा, उक्कामुहपरिरओ होइ ।
दो चेव सहस्साइं, अट्ठेव सया हवंति पणयाला ॥
घणदंता दीवाणं, विसेसमहिओ परिक्खेवो ।

प्रथमद्वीपचतुष्के चिन्त्यमाने त्रीणि योजनशतानि अवगाहना लवणसमुद्रावगाहं विष्कम्भं च विष्कम्भग्रहणादायामोऽपि गृह्यते तुल्यपरिमाणत्वात् जानीहि इति क्रियाशेषः शेषाणां द्वीपचतुष्काणां शतोत्तराणि त्रीणि शतानि अवगाहनाविष्कम्भं तावज्जानीयात् यावन्नव शतानि तद्यथा द्वितीयचतुष्के चत्वारि शतानि तृतीये पञ्च शतानि चतुर्थे षट् शतानि पञ्चमे सप्त शतानि षष्ठे अष्टौ शतानि सप्तमे नव शतानि अत ऊर्ध्वं द्वीपानामेकोरुकप्रभृतीनां परिरयप्रमाणं वक्ष्ये । प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति " पढमचउक्केत्यादि " प्रथमचतुष्कपरिरयात् प्रथमद्वीपचतुष्कपरिरयपरिमाणात् द्वितीयचतुष्कस्य द्वितीयद्वीपचतुष्टयस्य परिरयः परिरयपरिमाणमधिकः षोडशैः षोडशोत्तरैस्त्रिभिर्योजनशतैरेवमेवानेनैव प्रकारेण शेषाणां द्वीपानां द्वीपचतुष्काणां परिरयपरिमाणमधिकं पूर्वपूर्वचतुष्कपरिरयपरिमाणादवसातव्यमेतदेव चैतेन दर्शयति (एकोरुयेत्यादि) एकोरुकपरिक्षेप एकोरुकोपलक्षितप्रथमद्वीपचतुष्कपरिक्षेपो नव शतानि एकोनपञ्चाशदधिकानि ततस्त्रिषु योजनशतेषु षोडशोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु "हयकन्नाणमिति" बहुवचनात् हयकर्णप्रमुखाणां द्वितीयानां चतुर्णां द्वीपानां परिक्षेपो भवति स च द्वादश योजनशतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि तत्रापि त्रिषु योजनशतेषु षोडशोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु (आयंसमुहाणंति) आदर्शमुखप्रमुखाणां तृतीयानां चतुर्णां द्वीपानां परिरयपरिमाणं भवति तच्च पञ्चदशयोजनशतान्येकाशीत्यधिकानि ततो भूयोऽपि त्रिषु योजनशतेषु षोडशोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु (आसमुहाणंति) अश्वमुखप्रभृतीनां चतुर्थानां चतुर्णां द्वीपानां परिक्षेपस्तद्यथा अष्टादशयोजनशतानि सप्तनवत्यधिकानि तेष्वपि त्रिषु योजनशतेषु षोडशोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु (आसकण्णाणंति) अश्वकर्णप्रमुखाणां पञ्चमानां चतुर्णां द्वीपानां परिक्षेपो भवति तद्यथा द्वाविंशतियोजनशतानि त्रयोदशाधिकानि ततो भूयोऽपि त्रिषु योजनशतेषु षोडशोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु उल्कामुखपरिरयः उल्कामुखप्रमुखषष्ठद्वीपचतुष्कपरिरयपरिमाणं भवति तद्यथा पञ्चविंशतियोजनशतानि एकोनत्रिंशदधिकानि ततः पुनरपि त्रिषु योजनशतेषु षोडशोत्तरेषु प्रक्षिप्तेषु घनदन्तद्वीपस्य घनदन्तप्रमुखसप्तमद्वीपचतुष्कस्य परिक्षेपस्तद्यथा द्वे सहस्रे अष्टौ शतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि (विसेसमहिओइति) किंचिद्विशेषमधिकोऽधिकः परिक्षेपः पञ्चचत्वारिंशानि किंचिद्विशेषाधिकानीति भावार्थः । इदं पदमन्ते सन्निहितत्वात्सर्वत्राप्यभिसंबन्धनीयं तेन सर्वत्रापि किंचिद्विशेषाधिकमुक्तरूपं परिरयपरिमाणमवसातव्यम् तदेवमेते हिमवति पर्वते चतसृषु विदिक्षु व्यवस्थिताः सर्वसंख्यया अष्टाविंशतिः एवं हिमवत्तुल्यवर्णप्रमाणे पद्मह्रदप्रमाणायामविष्कम्भावगाहपुण्डरीकह्रदोपशोभितशिखरिण्यपि ...लवणोदार्णवजलसंस्पर्शात्... एव शिखरि- ...

...चत्तारि दीवाणं एगुरुयमणुस्साणं एगुरुयदी-

…णं दीवे पएणत्ता ? गोयमा ! जम्बूदीवे दीवे मंदरस्स …स्स उत्तरेणं सिहरिस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरपुर… …मिल्लाओ चरिमंताओ लवणसमुद्दं तिन्नि जोयणस… …ओगाहित्ता एवं जहा दाहिणिल्लाणं तहा उत्तरिल्लाणं …पव्वं णवरं सिहरिस्स वासहरपव्वयस्स विदिसासु …जाव सुद्धदंतदीवेत्ति जाव सेत्तं अंतरदीवगा ॥

…इ णं भंते ! एगुरुयेत्यादि" सर्वं तदेव नवरमुत्तरेण विभा… …संख्या सर्वसंख्यया षट्पञ्चाशदन्तरद्वीपाः । उपसंहारमा… …सत्तमन्तरदीवगा ते एते अन्तरद्वीपका इति ॥ जी० ३ … ॥ प्रज्ञा० । स्था० । न० । कर्म० । एतकृता मनुष्या अप्ये… …मान उपचारात्स्थन्ति । तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशो यथा पञ्चा… …निवासिनः पुरुषाः पञ्चाला इति प्रज्ञा० १ पद०। जी० । स्था० ।

…दीवग [य] अन्तर्द्वीपग [ज]–पुं० अन्तरद्वीपेषु गता …रद्वीपगाः प्रज्ञा० १ पद० । तेषु जाता वा अन्तरद्वीपजाः । … एकोरुकाद्यन्तरद्वीपवासिगर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्यभेदेषु, ते …कोरुकादिनामानोऽष्टाविंशतिर्दाक्षिणात्योत्तराहभेदेन भि… …नाः षट्पञ्चाशत् कर्म० १ क० । स्था० । आ० म० द्वि० । …एकोरुकोऽनन्तरमेवान्तरदीपशब्दे दर्शितः)

…दीववेदिया–अन्तर्द्वीपवेदिका–स्त्री० द्वीपान्तरवेदिका… …, तथा अन्तरद्वीपवेदिकायां द्वाराणि सन्ति न वेति प्रश्ने …र्या द्वाराणि कथितानि सन्ति अन्तरद्वीपेषु वेदिका जगत्याः …नेऽस्ति अतो वेदिकायामपि द्वाराणि संभाव्यन्ते इयेन० ४ …० १८ प्र० ।

…दीविया–अन्तर्द्वीपिका–स्त्री० अन्तरे मध्ये समुद्रस्य …पा ये ते तथा तेषु जाता आन्तरद्वीपाक्त एवान्तरद्वीपिकाः । …रद्वीपवास्यप्यमनुष्यस्त्रीषु, स्था० ३ ठा० । जी० । (य… …त्पत्ता वासामंतरदीवगशब्दे दर्शिता) ।

…द्धा–अन्तरद्धा–स्त्री० अन्तरकाले, आचा० १ श्रु०८ अ० । …र्धा–स्त्री० अन्तर्धाने, "सइ अन्तरद्धा" स्मृत्येर्भ्रंशोऽन्तर्धानं … यथा परिगृहीतं कथा मर्यादया कृतमित्येवमननुस्मरणमि… …र्थः उपा० १ अ० ।

…रपल्ली–अन्तरपल्ली–स्त्री० मूलक्षेत्रात्सार्द्धद्विगव्यूतस्थे ग्रा… …विशेषे, व्यव० ७ उ० । वृ० ।

…रप्पा–अन्तरात्मन्–पुं० अन्तर्मध्यरूप आत्मा शरीरस्थ इ… [illegible]

[illegible]

[illegible]

…रद्वाइ–अन्तरद्वाइ–पुं० परमार्थे, दश० १० विव० ।

…द्धारदंसि–अन्तरद्वारदर्शिन्–त्रि० परमार्थविदुषि, …द्ध० १८ विव० ।

[illegible]

यस्स भासमाणस्स वा वियागरेमाणस्स वा णो अंतरायं करेज्जा " आचा० २ श्रु० ३ अ० ।

अंतरहिय–अन्तर्हित–त्रि० व्यवहिते, " अणंतरहियाए पुढवीए " आचा० २ श्रु० १ अ० । नि० चू० ।

अंतरा–अन्तरा–अव्य० अन्तरेति इण्–आ–निकटे, वर्जने, मध्ये, नी–वाच० । अन्तराले, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । विशे० । आचा० । मध्ये, " इच्छाइयारमागंतुं अंतरायं विसीयइ" सूत्र० श्रु०३अ० अर्वागर्थे च. कल्प० " अंतरा वि य से कप्पइ नो से कप्पइ " अर्वागपि कल्पते परं न कल्पते व्य० ५ क० ।

अंतरा (य) इय–अन्तराय–न० पुं० अन्तरा दातृप्रतिग्राहकयोरन्तर्मध्ये भाण्डागारिकवद् विघ्नहेतुतया अयते गच्छतीत्यन्तरायम उत्त० ३३ अ० । अन्तरा अय–अन्–प्रव०१२द्वा० । जीवं दानादिकं वा अन्तरा व्यवधानापादनाय एति गच्छतीति अन्तरायम । अन्तरा–इ–अच्–पं० सं० ३ द्वा० । कर्म० । अन्तर्मध्ये दातृप्रतिग्राहकयोर्विचाले आयातीत्यन्तरायः जीवस्य दानादिविघ्नकारकेऽष्टमे कर्मभेदे, यथा राजा कस्मैचिद्दातुमुपदिशति तत्र भाण्डागारिकोऽन्तराले विघ्नकृद् भवति तदन्तरायकर्माऽष्टमम भवति उत्त० ३३ अ० । " जह राया दाणाई, न कुणइ भंडारिए विकूलम्मि । एवं जेणं जीवो, कम्मं तं अंतरायंति " स्था० ।

तद्भेदा यथा–

अंतराइए कम्मे दुविहे पण्णत्ते तंजहा पडुप्पण्णविणासिए चेव पिहतिय आगामिपहं स्था० २ ठा० ।

(पडुप्पन्नविणासिएचेवत्ति) प्रत्युत्पन्नं वर्तमानं लब्धं वस्तु तत्पविनाशितमुपहतं येन तत्तथा । पाठान्तरेण प्रत्युत्पन्नं विनाशयतीत्येवं शीलं प्रत्युत्पन्नविनाशि चैव समुच्चये इत्येकमन्यच्च पिधत्ते च निरुणद्धि च आगामिनो लब्धव्यस्य वस्तुनः पन्थाः आगामिपथः तमिति क्वचेदागामिपथानिति दृश्यते क्वचिच्च (आगमपहंति) तत्र च लाभमार्गमित्यर्थः । स्था० २ ठा० ।

अंतराइए णं भंते ! कम्मे कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते तंजहा दाणंतराइए जाव वीरियंतराइए प्रज्ञा० २५ पद० ।

तत्र यदुदयवशात् सति विभवे समागते च गुणवति पात्रे दत्तमस्मै महाफलमिति जानन्नपि दातुं नोत्सहते तद्दानान्तरायं यथा यदुदयवशाद्दानगुणेन प्रसिद्धादपि दातुर्गृहे विद्यमानमपि दीयमानमर्थजातं याच्ञाकुशलोऽपि गुणवानपि याचको न लभते तल्लाभान्तरायं तथा यदुदयवशात् सत्यपि विशिष्टाहारादिसंभवे असति च प्रत्याख्यानपरिणामे वैराग्ये वा प्रकर्षवत्यपि केवलं न भुंक्ते तद्भोगान्तरायमेवमुपभोगान्तरायमपि भावनीयम । नवरं भोगोपभोगयोरयं विशेषः सकृत् भुज्यते इति भोग 'आहारपुप्फमाई उ, उवभोगो उ पुणो पुणो । उवभुज्जइ वत्थविलयाई' तथा यदुदयात्सत्यपि नीरोगे शरीरे यौवनिकायामपि वर्तमानोऽल्पप्राणो भवति यद्वलवत्यपि शरीरे साध्येऽपि प्रयोजने हीनसत्त्वतया प्रवर्तते तद्वीर्यान्तरायम प्रज्ञा० २३ पद०।

दाणे लाभे य भोगे य, उवभोगे वीरिए तहा ।
पंचविहमंतरायं, समासेण वियाहियं उत्त० ३३ अ० ॥

एतच्च भाण्डागारिकसममिति दर्शयन्नाह ।

सिरिहरियसमं एयं, जह पडिकूलेण तेण रायाई ।
न कुणइ दाणाईयं, एवं विग्घेण जीवो वि ॥

श्रियो गृहं श्रीगृहं भाण्डागारं तद्विद्यते यस्य स श्रीगृहको भाण्डागारिकस्तेन समं तुल्यमेतदन्तरायकर्म यथा तेन श्रीगृहकेण प्रतिकूलेन राजादिः राजा नृपतिः आदिशब्दात् धेर्ग्गीश्वरतलवरादिपरिग्रहः न करोति कर्त्तुं न पारयति दानादि आदिशब्दाच्च लाभभोगोपभोगादिग्रहणम् । एवममुना श्रीगृहकदृष्टान्तेन विघ्नेनान्तरायकर्मणा जीवोऽपि जन्तुरपि दानादि कर्त्तुं न पारयतीति व्याख्यातं पञ्चविधमन्तराय कर्म । कर्म० १ कर्म० । पं०सं० । धा० । (अनुभागादयोऽस्य अनुभागादिशब्देषु) (बन्धोदयसत्तास्थानान्यस्य कम्म शब्दे) विघ्ने, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

योगस्यान्तरायाः ।

मन्पूहा व्याधयःस्त्यानं, प्रमादालस्यविभ्रमाः ।
संदेहाविरतीभूम्य-लाभश्चाप्यनवस्थितिः ॥ ए ॥

(मन्पूहा इति) व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तराया इति सूत्रम् । द्वा० १६ द्वा० । विघ्नकरणे, व्या०४द्वा०। व्यवच्छेदे, " जे अंतरायं चेएइ " स्था० । शक्त्यभावे च । " नत्थ अंतरायणं परगेहे णिसीयए " सूत्र० १ श्रु० ९ अ० ।

आन्तरायिक–न० विघ्ने, प्रश्न० संव० ३ द्वा० । बहुमत्पयाये, आचा० १ श्रु० ६ अ० ।

अंतरापह–अन्तरापथ– पुं० विवक्षितस्थानयोरन्तरालमार्गे, भ० २ श० १ उ० ।

अंतरायबहुल–अन्तरायबहुल–त्रि० विघ्नप्रचुरे, तं० ।

अंतरायवग्ग–अन्तरायवर्ग–पुं०अन्तरायप्रकृतिसमुदाये,कल्प०।

अंतराल–अंतराल–न०अन्तरं सीमानमाराति ददाति–आ–रा–क–रस्य लत्वम् वाच० । ३ ३ ३, विशे० । संकीर्णवर्णे च पुं० तद्वति त्रि० वाच० ।

अंतरावण–अंतरापण–पुं० अन्तरे ग्रामादीनामर्द्धपथे आपणाः अन्तरापणाः प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० । राजमार्गप्रकृतिमध्यमागवर्तिषु हट्टेषु, विपा० १ श्रु० ३ अ० । वीथीषु हट्टमार्गेषु, बृ० १ उ० । " अंतरावणाओ परपइए गिएहंति " परिवेषकमतोन्नपानवर्तिनो हट्टान् कुत्रकारस्याभिन्धिन इत्यर्थः द्वा० १२ अ० ।

अंतरावणगिह–अन्तरापणगृह–न० गृहविशेषे, तद्यथा ।

अह अंतरावणो पुण, वीहीमा एगओ व दुहओ वा ।
तत्थ गिहं अंतरावण–गिहं तु तयमावणो चेव ॥

अथेत्यानन्तर्ये अन्तरापणो नाम वीथी हट्टमार्ग इत्यर्थः सा एकतो वा एकपार्श्वेन (दुहओ त्ति) द्वाभ्यां वा पार्श्वाभ्यां भवेत् तत्र यद् गृहं तदन्तरापणगृहमुच्यते बृ० १ उ० ।

अन्तरावास–अन्तरवर्ष–पुं० अ नरम्यवसरो वर्षस्य वृष्टेर्यत्रासावन्तरवर्षः । वर्षाकाले, भ० १२ श० १ उ० ।

अन्तरावास–पुं० अन्तरेऽपि जिगमिषतः क्षेत्रप्राप्यादवपि यत्र वसति साधुभिस्तदवस्थायाति विधीयते सोऽन्तरावासः । वर्षाकाले, भ० १५ श० १ उ० । " अंतिए णामं मीसाए पढमं अंतरावासं उवागए " कल्प० ।

अंतरि (लि) क्ख–अन्तरि (री) क्ष–न० अन्तः स्वर्गपृथिव्योर्मध्ये ईक्ष्यते ईक्ष–कर्मणि घञ्–अन्तः अवकाशे अस्य वा पृषोदरादित्वात्के ह्रस्वः अकारस्य रिर्वा वाच० । अन्तर्मध्ये ईक्षा दर्शनं यस्य तदन्तरीक्षम् भ० १३ श० १० उ० । आकाशे, विशे० 'अंतलिक्खम्मि णं भुवा, गुज्झाणुचरियत्ति य' दृ० ७ अ० आन्तरिक्ष–न० अन्तरिक्षमाकाशं तत्र भवमान्तरिक्षम् । गन्धर्वनगरादौ, स्था० ८ ठा० । दश० । मेघादिके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । ग्रहणभुवनयुद्धादिग्रहविक्रमात्मके, कल्प० । गन्धर्वपथधूमकेतुप्रभृत्युत्पातसूचके निमित्तशास्त्रभेदे, (सम० १५ स०) आकाशप्रभवग्रहयुद्धभेदादिभावफलनिवेदके वा महानिमित्तशास्त्रे, ग० । " गन्धर्वनगरमहापातमनुमुख्यं अन्तरिक्षं " प्रव० २५७ द्वा० । गन्धर्वनगरादिफलमनुमन्मात्रिं निमित्तम् । तत्र गन्धर्वो गन्धर्व नगरदर्शनेन निमित्तः । नृपादीनां शुभाशुभकरणं त्रात्कल्पत्विकरणं यथा " त्रिकोणं रक्तमर्दम, गन्धर्वनगरं यदा । तदा राजभयं विद्याच्छत्रोर्भयं च दारुणम् " इत्यादि प्रमुखप्रहृतानां च गगनादुत्पाता यथा " कपिले सस्यघाताय, मांजिष्ठे हरणं गवाम् । अव्यक्तवर्णे कुरुते बलक्षोभं न संशयः । गन्धर्वनगरं स्निग्धं, सप्राकारं सतोरणम् । सौम्यां दिशं समाश्रित्य, राज्ञस्तद्विजयंकरम् " प्रव० २५७ द्वा० । अत्र सूत्रं गन्धर्वनगरं पूर्वतो द्रष्टव्य मानिक सांहिरमालुय स० ७९, एव– । स्थान० ।

अंतरि (लि) क्खजाय–अन्तरिक्षजात–त्रि० मञ्चकमाल–प्रासादादौ, मुत्र उपरिवर्तितत्रायमाने, आचा० २ श्रु० १ अ० ।

अंतरि (लि) क्खपडिवन्न–अन्तरिक्षप्रतिपन्न–त्रि० आकाशगते, उपा० ५ अ० । जं० ।

अंतरि (लि) क्खपासणाह–अन्तरिक्षपार्श्वनाथ–पुं० श्रीपुरे अन्तरिक्षपार्श्वनाथपरपतिमाया,

तत्कल्प इत्थम् ।

'पयरण्यमवतिभाषं, णमं पणंदिजु सिरिपूर्वे अप्ण । सिरेई अंतरिक्ख–द्धिवणपासमाउह कप्पलवं पुवि लेमपुरेम रु–सग्गिजेण अरवाहिवा रालो दुमालिप्रचारो बिहरंसो लग्गा केसादि पेनिया बेनि हांडमालकरंते रह रहे नसंवायं अतायया भोअपरेसा । तड्डारकर सिरिरं यह साय काजक जितपरिवाहरविणा कंसागदेवरमो पी रिसारिसा एएवि य कुण्ड वि पुजासरं देवरायं कंडकउ न कय वि भोयणं तओ दाकरमयवरिवकप्पर वरिहारि पडिवम्मि वि । निय विज्ञावलेण पवित्ताउ भाउ फ्ड रुद्दा भाविविनिरयमाणाइपरिवा निम्मविका । कप्पेयुन–लिहि मे पूयणा पेसावे कयं तओ पेजु पड एवं पवित्त मा पडिमा आपमभाविवयरोदुक्खं तीरं दक्खावा वेस पवग्ग उिया । काजलदेव जम्मं कओपरसा तइ करिक्खं अउपिर सब्दा व दिम्स । तओ मउरेपेण सिरिपुरंबेवेति पंमार्गे जग्ग सिरियमी जय अव्वंत तुहा । तो कसमाइर-हामिपुरिकम्मवेविसो कायपेरि हडी रतो तओ वेम्बो[illegible]-

[illegible] मइकेणं पत्तो तस्स पाडिअं पीअं [illegible] । तओ ते अंगावयवा जाया [illegible] । तओ परं गयस्स रण्णो [illegible] मादि ! कत्थ वि तुम्हेहिं [illegible] मह हिं पत्तं देवीए । चिंतियं [illegible] गया तत्थ नीओ तीए [illegible] सपरीगयपत्तो राया, तओ [illegible] भणिअं जो इत्थ देवया चिमि- [illegible] । नओ परं पभाए देवीए [illegible] मारिनिस्यपणामनाह- [illegible] मंनायं एअं [illegible] ति पिज्जुत्तिता [illegible] सट्ठाणं [illegible] पत्तोऽस्मइ [illegible]

[illegible]

अंतरिज्ज–अन्तरीय–न० अन्तरे भवं गहादित्वाच्छः "[illegible] पूर्वं च यद्वस्त्र–माच्छादयति जानुनी । अन्तरीयं [illegible] च्छिन्नमुभयान्तयो" रित्येवंलक्षणे परिधानवस्त्रे, [illegible] या अधस्तने वस्त्रे च । " अंतरिज्जं णाम [illegible] तरिज्जं णाम जं सेज्जाए होहिइ पोत्तं " नि० चू० [illegible] आचा० । तदर्थे–पुं० आन्तरीयकः तत्रैव, नि० चू० ।

अंनरिज्जिया–अन्तरीया–स्त्री० [illegible] तित (थेमयारिय) गणस्य [illegible] कल्प० [illegible]

अंनरिय–अन्तरित–त्रि० अन्तर–इन्–कर्तरि क्तः । [illegible] अन्तरं व्यवधानं करोतीति णिचि–कर्मणि–क्तः । [illegible] तिरस्कृते, आच्छादिते, वाच० । व्यवहिते, [illegible]

अन्तरिया–अन्तरिका–स्त्री० अन्तरस्य [illegible] का स्त्रीलिङ्गशब्दः [illegible] समाप्तौ, "[illegible] वट्टमाणस्स " आरब्धव्याख्यानस्य समाप्तिरपुर्नव्याख्यान[illegible] पं० ३० २ वक्ष० ।

आन्तरिका–स्त्री० अन्तरमेवान्तर्यं भेषजादित्वात्स्वार्थे [illegible] ततः स्त्रीत्वविवक्षायां ङीष् प्रत्यये आन्तरी [illegible] का । अन्तरे, व्यवधाने, सू० प्र० १० पाहु० । [illegible]

अंनरच्छुय–अन्तरिच्छुक–पुं० [illegible], आचा० १ [illegible] अ० "उभयोपेकरहियं अंतरच्छुयं होति" नि० चू० [illegible]

अंतरेण–अन्तरेण–अव्य० अन्तरेति इण्–ण–[illegible] लस्य [illegible] । मध्यार्थे, वाच० । विनार्थे च [illegible] महारअंतरेण णाम महाराजादेन नि० चू० १ उ० ।

अंतर (त)–अन्तरात्–त्रि० अन्तोऽस्यास्ती [illegible] मिते, "अंतवणिइय लोए इति धीरोति पासइ" [illegible] [illegible] परिमाणतः [illegible] सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अंतवाल–अन्तपाल–पुं० [illegible] [illegible] पूर्वदिगादिदेश[illegible] [illegible] प्र० ३ [illegible]

अंतरिक्खदिगंतपाल–अन्तरिक्षदिगन्तपाल–[illegible] [illegible], स० ।

अंतपुर–अन्तःपुर–न० [illegible], "[illegible] [illegible] सूत्र० १ श्रु० ४ अ० ।

अंतसो–अन्तशस्–अव्य० [illegible] "[illegible]" सूत्र० १ श्रु० [illegible] सूत्र० १ श्रु० [illegible] "[illegible]" सूत्र० १ [illegible] [illegible] "[illegible]" [illegible] सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अंतोइ (इं)–अन्तोदि (दी) [illegible]

[illegible]

अंति (न्)–अन्तिन्–त्रि० अन्तो आत्यादिमकर्मपर्यन्तोऽस्यास्तीत्यन्ती । आत्यादिभिरुपमनया पर्यन्तवर्त्तिनि, स्था० १० ठा० ।

अंतिअ [य]–अन्तिक–न० अन्त्यते संबध्यते सामीप्येन अन्त-घञ् । वाच० । समीपे, तं० । सूत्र० । उत्त० । स्था० । विशे० । उत्त० । "बुद्धाणं अंतिए सया" उत्त० १ अ० । प्रा० म० द्वि० । नि० । भ० । रा० । पर्यवसाने, "अह भिक्खू गिलापज्जा, आहारस्सेव अंतिया" आचा० १ श्रु० ८ अ० । पार्श्वे च "देवाणंदाए माहणीए अंतिए पयमट्ठं सोचा" कल्प० । अन्तोऽस्यास्तीति अन्तिकोऽन्ते वा चरतीत्यन्तिकः । पर्यन्तवासिनि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अंतिम–अन्तिम–त्रि० अन्ते भवमन्तिमम् । चरमे, स्था० १ ठा० । यतः परं न किञ्चिदस्ति विशे० ।

अंतिमराइया–अन्तिमरात्रिका–स्त्री० अन्तिमाऽन्तिमभागरूपावयवे समुदायोपचारात् सा चासौ रात्रिका चान्तिमरात्रिका । रात्रेरवसाने, स्था० १० ठा० । भ० ।

अंतिमसंघयणतिग–अन्तिमसंहननत्रिक–न० अर्द्धनाराचसंहननकीलिकासंहननसेवार्तसंहननरूपे संहननत्रिके, कल्प० ।

अंतिमसारीरिय–अन्तिमश (शा) रीरिक–त्रि० अन्ते भवमन्तिमं चरमं तच्च तच्छरीरं चेत्यन्तिमशरीरं तत्र भवा अन्तिमशारीरिकी दीर्घत्वं च प्राकृतशैल्या । चरमदेहभवेषु मिथ्यादिषु, स्था० १ ठा० ।

अंतारि (न्) अन्तश्चारिन्–त्रि० अन्तश्चरति अन्तर् चरति । तोऽन्तरि ८।१।६० इति अत उत्वम् । मध्यगामिनि, प्रा० ।

अंतेउ [पु] र–अन्तःपुर–न० अन्तरभ्यन्तरं पुरं गृहकर्मधा० । तोऽन्तरि ८।१।६० इत्यन्तःशब्दस्यात उत्वम् प्रा० । राजस्त्रीणां निवासगृहे, रा० । ज्ञा० । "चियत्तंतेउरघरदुवारपवेसी" औ० । तत्र गमनं निषिद्धम् ।

(सूत्रम्) जे भिक्खू रायंतेपुरं पविसइ पविसंतं वा साइज्जइ ॥३॥

इममेव सूत्रं गाथया व्याख्यानयति ।

अंतेउरं च तिविहं, जुण्णं णव चेव कण्णगाणं च ।
एक्केक्कं पि य दुविहं, सत्थाणत्थं च परत्थाणे ॥१८॥

चू० अंतेउरं तिविहं एहंसियं ओव्वणाओ अपरिभुज्जमाणाओ अच्छंति एयं जुण्णंतेउरं । ओव्वणं पत्ताओ परिभुज्जमाणाओ अत्थ अच्छंति तं णवंतेउरं । अपत्तजोव्वणाणं रायदुहियाणं संगहो कण्णंतेउरं । तं एक्केक्कं दुविहं सट्ठाणे परट्ठाणे य । सट्ठाणत्थं रायघरे चेव परट्ठाणत्थं वसंतादिसु उज्जाणियागयं ।

सामण्णतरं, रण्णो अंतेउरं तु जो पविसे ।
आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥१९॥

इमे दोसाः ।

विरवगदोवा–रियाहिं वरिसवरकंचुइज्जेहिं ।
हि अन्नेहि य, वायातो होइ भिक्खुस्स ॥२०॥

इमं वक्खाणं ।

दंडारक्खिओ, दोवारिआ तु दारिद्रा ।

वरिसवरसंदपडिपिणि, कंचुगिपुरिसा महत्तरगा ॥२१॥

दंडगाहियहत्थो समंततो अंतेपुरं रक्खइ रक्खो दंडिगेण इति पुरिसे वा अंतेपुरं णीणेति पवेसेति वा एस दंडरक्खिओ । दोवारिया दारं चेव जं सम्मेट्ठेति रिट्ठति ता जंपिया रण्णो आणत्तीए अंतेपुरियसमीवं गच्छंति । अंतेपुरिया अंतीए वा रण्णो समीवं गच्छंति जं रण्णो समीवं अंतेपुरिया आर्यति आर्योति आदिसहायं वा कडकाहिते कुवियं वा पसादेति कहेति य रण्णो विदितं ते कारणे आगुपणो वि जे अण्णतो कार्उ वर्यति ते महत्तरगा । अंते य इमे दोसा ॥

अग्गे य होति दोसा, आइण्णो गुम्मरतणइत्थीओ ।
तण्णीसाए पवेसो, तिरिक्खमणुया भवे दुट्ठा ॥२२॥

पुव्वद्धं ।

सद्दादिइंदियत्थो, पयोगदोसाण एस णं भीई ।
मिगारकट्ठाकट्ठो, एगतरुजए य बहु दोसा ॥२३॥

तत्थ सीयादिसदोसप्पओगेण इंदिय समलं या ण भोइति तहिं या पुरिसो मिगारकट्ठं करेज्ज । तत्थ य आयपरोभय-समुत्था दोसा एते सद्दाण य दोसा । इमे परट्ठाणे ।

पंडिता वढ्ढेति दोसा, केरिसगा कयगिहमादीया ।
गव्वो पायाति रवं, मिगाराणं च संसारं ॥२४॥

उज्जाणादिट्ठियासु कोइ साहू कोउगेण गच्छेज्ज से चेव पु-व्वपविट्ठया दोसा मिगारकट्ठाकट्ठेण या गव्वकरादिया दोसा अंतेपुरं पत्थयरा जाणगत्तं गच्छेज्ज ओगाससाहीए या सत्थं करेज्ज अंतरपवेसे ओगभासितो मिहद कण्ठं पत्तादिकप्प करेत पाउसदोसा भवति मिगारं च सोउं पुव्वरयक्कीलितं सुमरेज्ज अहवा पाउ दट्ठु अप्पणो पुव्वसिगारे सउरेज्ज एवमा पडिगम-णादी दोसा हवेज्ज ।

बितियपदमणाभोगे, बिसंधिपविसंततेव पडिहारे ।
इयमादी उट्ठाणे, गंधव्वमगाणाण काले व ॥२५॥

अणाभोगेण पविट्ठो अहवा अंतेपुरं पदोसमाणपाणदुल्ला काले पयाओ अंतेपुरियाओ पुरममंतेण पविट्ठो उवसग्गे अहवा साहू उज्जाणादिसु ठिया रायंतेपुरं च सायसो समणा आग-ओ पवितिट्ठिय ठिय अकबसहिअपाणे य ते वसहिं अंतेपुर अ-णेण अणिति दिति वा । अहवा संथारगस्स एवमादिकज्जे ट्ठो पविट्ठो अहवा सीहदण्णसमीसंविग्गयाण उट्ठाण एक्कसीयम वा मया रायंतेपुरं पविसेज्जा कहोवि कविय सीसज्जो वा सो क-ज्जेति कुलगमसंघकज्जेसु वा पदंसेज्जा तत्थ देवी इयस-रायणं उवलेति अंतेपुरपविट्ठो रायदमयो वि० चू० ९ उ० ।

अंतेउरपरियारसंपरिवुड–अन्तःपुरपरिवारसंपरिवृत–त्रि० अन्तःपुरं च परिवारश्च अन्तःपुरपरिवारौ ताभ्यां तेन वा संपरिवृतः । अन्तःपुरस्य परिवारेण वा संपरिवृते, ज्ञा० ८ अ० ।

अंतेउरिया–अन्तःपुरिका–स्त्री० अन्तःपुरे भवा अन्तःपुरिकी । कंतिमानुष्यकारके वितर्केण, यथा आतुरस्य अन्तःपुरस्था कामभोगऽनुमन्यमानेति अन्तःपुरान्तःपुरिका अन्तःपुरिका स्था० ४ ठा० ।

अंतेवासि (न्) अन्तेवासिन्–पुं० अन्ते मर्यादे वसतु अन्तेवासिनं चर्यार्थं वसतु दीक्षां दत्त्वा शिष्यत्वेन स्थापितं । दशा० ६ अ० ।

[illegible] अंतेवासी। शिष्ये, स्था० [illegible] ठा० [illegible]।

[illegible] अंतेवासिनं [illegible] ह ।

[illegible] अंतेवासी [illegible] नामं ए- [illegible] अंतेवासी, वायणंतेवासी नामं एगे नो उद्देसणं- [illegible], एगे उद्देसणंतेवासी वि वायणंतेवासी वि, एगे नो उद्देसणंतेवासी वि नो वायणंतेवासी वि ।

[illegible]

[illegible] अंतेवासी उ [illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

मुणिअ विमयसोरसं जलबुब्बुअसमाणं कुसग्गजलबिंदु-चलं जीवियं च णाऊण अधुवमिणं रयमिव पडग्गलग्गं संविधुणित्ताणं चइत्ता हिरण्णं जाव पव्वइआ। अप्पेगइआ अद्धमासपरिआया अप्पेगइया मासपरिआया एवं दुमास तिमासा जाव एक्कारस। अप्पेगइया वासपरिआया दुवास तिवासा अप्पेगइया अणेगवासपरिआया संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी बहवे निग्गंथा भगवंतो अप्पेगइया आभिणिबोहियणाणी जाव केवलणाणी। अप्पेगइआ मणबलिआ वयबलिआ कायबलिआ अप्पेगइआ मणेणं सावाणुग्गहसमत्था ३ अप्पेगइआ खेलोसहिपत्ता एवं जल्लोसहि विप्पोसहि आमोसहि सव्वोसहि। अप्पेगइआ कोट्ठबुद्धी एवं बीअबुद्धी पडबुद्धी अप्पेगइआ पयाणुसारी अप्पेगइआ संभिन्नसोआ अप्पेगइआ खीरासवा अप्पेगइआ महुआसवा अप्पेगइआ सप्पिआसवा अप्पेगइआ अक्खीणमहाणसिआ एवं उज्जुमती अप्पेगइआ विउलमई विउव्वणिड्ढिपत्ता चारणा विज्जाहरा आगासा-तिवाइणो। अप्पेगइआ कणगावलिं तवोकम्मं पडिवन्ना एवं एगावलिं खुड्डागसीहनिक्कीलियं तवोकम्मं पडिवन्ना अप्पेगइया महालयं सीहनिक्कीलियं तवोकम्मं पडिवन्ना भद्द-पडिमं महाभद्दपडिमं सव्वओभद्दपडिमं आयंबिलवद्धमाणं तवोकम्मं पडिवन्ना मासिअं भिक्खुपडिमं एवं दोमासिअं पडिमं तेमासिअं पडिमं जाव सत्तमासिअं भिक्खुपडिमं पडिवन्ना पढमं सत्तराइंदियं भिक्खुपडिमं पडिवन्ना जाव तच्चं सत्तराइंदियं भिक्खुपडिमं पडिवन्ना। अहोराइंदिअं भिक्खुपडिमं पडिवन्ना एगराइंदिअं भिक्खुपडिमं पडिवन्ना सत्तसत्तमियं भिक्खुपडिमं अट्ठअट्ठमिअं भिक्खुपडिमं णवणवमियं भिक्खुपडिमं दसदसमिअं भिक्खुपडिमं खुड्डियं मोअपडिमं पडिवन्ना महल्लिअं मोअपडिमं पडिवन्ना जवमज्झं चंदपडिमं पडिवन्ना वइरमज्झं चंदपडिमं पडिवन्ना संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति [illegible]

([illegible])

[illegible]

निक्खुपप्पहाणा अज्जवप्पहाणा मद्दवप्पहाणा लाघवप्पहाणा खंतिप्पहाणा मुत्तिप्पहाणा विज्जापहाणा मंतप्पहाणा वेअप्पहाणा बंभप्पहाणा नयप्पहाणा नियमप्पहाणा सच्चप्पहाणा सोअप्पहाणा चारुवणा लज्जातवस्सी जिइंदिआ सोही अणियाणा अप्पुस्सुआ अवहिल्लेसा अप्पडिलेसा सुसामण्णरया दंता इणमेव णिग्गंथे पावयणं पुरओ काउं विहरंति तेसि णं भगवंताणं आयवादी विदिता भवंति परवादी विदिता भवंति आयावादं जमइत्ता नलवणमिव मत्तमातंगा अच्छिद्दपसिणवागरणं रयणकरंडगसमाणा कुत्तियावणभूआ परवादिपमद्दणा दुवालसंगिणो सम्मत्तगणिपिडगधरा सव्वक्खरसण्णिवाइणो सव्वभासाणुगामिणो अजिणा जिणसंकासा जिणा इव अवितहं वा करेमाणा संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी बहवे अणगारा भगवंतो इरिआसमिआ भासासमिआ एसणासमिआ आदाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिआ उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमिआ मणगुत्ता वयगुत्ता कायगुत्ता गुत्तिंदिया गुत्तबंभयारी अममा अकिंचणा छिण्णगन्था छिण्णसोआ निरुवलेवा कंसपातीव मुक्कतोआ संख इव निरंगणा जीवो विव अप्पडिहयगती जच्चकणगं पिव जातरूवा आदरिसफलगा विव पगडभावा कुम्मो इव गुत्तिंदिआ पुक्खरपत्तं व निरुवलेवा गगणमिव निरालंबणा अणिलो इव निरालया चंद इव सोमलेसा सूर इव तेअलेसा सागरो इव गंभीरा विहग इव सव्वओ विप्पमुक्का मंदर इव अप्पकंपा सारयसलिलं व सुद्धहिअया खग्गविसाणं व एगजाया भारुंडपक्खी व अप्पमत्ता कुंजरो इव सोंडीरा वसभो इव जायत्थामा सीहो इव दुद्धरिसा वसुंधरा इव सव्वफासविसहा सुहुयहुयासणो इव तेअसा जलंता नत्थि णं तेसि णं भगवंताणं कत्थय पडिबंधे । से अपडिबंधे चउव्विहे पण्णत्ते तंजहा दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ । दव्वओ णं सचित्ताचित्तमीसएसु दव्वेसु, खेत्तओ गामे वा णगरे वा रण्णे वा खेत्ते वा खले वा घरे वा अंगणे वा, कालओ समए वा आवलिआए वा जाव अयणे वा अण्णतरे वा दीहकालसंजोगे, भावओ कोहे वा माणे वा मायाए वा लोहे वा भए वा हासे वा एवं तेसि णं भवइ तेणं भगवंतो वासावासवज्जं अट्ठ गिम्हहेमंतियाणि मासाणि गामे एगराइआ णगरे पंचराइआ वासी चंदणसमाणकप्पा समलेट्ठुकंचणा समसुहदुक्खा इहलोगपरलोगअप्पडिबद्धा संसारपारगामी कम्मणिग्घायणट्ठाए अब्भुट्ठिआ विहरंति ॥ औ० १०१ पत्र. ।

(पदार्थमात्रविन्यासिनी टीकेति न विन्यस्ता) (तेसि णं भगवंताणं एते णं विहारेणं विहरमाणा णं इमेयारूवे अब्भिंतरए बाहिरए तवोवहाणे होत्था तंजहा अब्भिंतरए छव्विहे बाहिरए छव्विहे इत्यादिरव आदिशब्देषु प्रदर्शयिष्यते । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स बहवे अणगारा भगवंतो अप्पेगइया आयारधरा इत्यादि णगारशब्दे) ।

श्रीरान्तेवासिनः कति सेत्स्यन्तीति पृच्छा ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं महासुक्काओ कप्पाओ महासग्गाओ विमाणाओ दो देवा महड्डिया जाव महाणुभागा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं पाउब्भूया । तए णं ते देवा समणं भगवं महावीरं मणसा चेव वंदंति नमंसंति वंदित्ता नमंसित्ता मणसा चेव इमं एयारूवं वागरणं पुच्छंति । कइ णं देवाणुप्पियाणं अंतेवासिसयाइं सिज्झिहिंति जाव अंतं करेहिंति ? तए णं समणे भगवं महावीरे तेहिं देवेहिं मणसा पुट्ठे तेसिं देवाणं मणसा चेव इमं एयारूवं वागरणं वागरेइ एवं खलु देवाणुप्पिया ममं सत्त अंतेवासिसयाइं सिज्झिहिंति जाव अंतं करेहिंति तए णं ते देवा समणेणं भगवया महावीरेणं मणसा पुट्ठेणं मणसा चेव इमं एयारूवं वागरणं वागरिया समाणा हट्टतुट्ठ जाव हियया समणं भगवं महावीरं वंदंति णमंसंति मणसा चेव सुस्सूसमाणा णमंसमाणा अभिमुहा जाव पज्जुवासंति भ० ५ श० ५ उ० ।

इहापि टीका प्रसिद्धशब्दार्थमात्रविन्यासिनीति न गृहीता ।

अन्तो–अन्तर्–अव्य० मध्ये, दशा० २ अ०। "अंतो परिग्गहंगेसि" आचा० २ श्रु० ६ अ० । दशा० । ज्ञा० । प्रश्न० । भाव० । सूत्र०। "एवामेव मायी मायं कट्टु अंतो अंतोज्झियाइ" अन्तरन्तःक्रियया ध्यापन्ति इन्धनैर्दीप्यन्ते दशा० ८ अ० ।

अंतोअंत–अन्तोपान्त–पुं० सान्तमध्ये, " तुमं चेव णं संतियं घरयं अंतोअंतेण परिलेहिस्सामि" त्वदीयमेवाहं गृहमन्तोपान्तेन प्रत्युपेक्षितं गृहीयाम । अन्तःसहितमन्तोपान्तकरपरिलेहादिग्रहणकरं, आचा० २ श्रु० १ अ० ।

अंतोकरण–अन्तःकरण–न० कृ-करणे-ल्युट् । अन्तरभ्यन्तरस्थं करणं कर्मधा० । तद्वृत्तिपदार्थानां सुखादीनां करणं ज्ञानसाधनम् । ज्ञानसुखादिसाधने, अन्यमते मनोबुद्धिचित्तादिपदाभिलप्यमाने इन्द्रिये, वाच० । तच्चान्तःकरणं स्मृतिप्रमाणवृत्तिसंकल्पविकल्पाहंवृत्याकारेण चित्तबुद्धिमनोऽहङ्कारशब्दैर्व्यवह्रियते म० ।

अंतोखरियत्ता–अन्तःखरिका–स्त्री० नगराभ्यन्तरवेश्यायां, विशिष्टवेश्यायां च । "इहेव रायगिहे णयरे अंतोखरियत्ताए उववज्जिहिति" भ० १५ श० १ उ० ।

अंतोगिरिपरिरय–अन्तर्गिरिपरिरय–पुं० गिरेरन्तः परिक्षेपे, जी० ३ प्रति० ।

अन्तोजल–अन्तर्जल–न० जलाभ्यन्तरे, "अन्तो जले वि एयं गुज्झंगं फासरक्खणिच्छंते" बृ० १ उ० ।

अंतोणाय-अन्तर्नाद-त्रि० हृदये सद्दु समारटति, "छोपउं मुहं हत्येउं अंतोणायं गले रवं" आव० ४ अ० ।

अंतोणियसणी-अन्तर्निवसनी-स्त्री० आर्याणामौघिकोपधिभेदे, तत्स्वरूपम् ॥ "अंतोणियंसणी पुण, लीणतरा जाव अद्ध-जंघाओ" । अन्तर्निवसनी पुनरुपरिकटिभागादारभ्याधोऽर्धजङ्घां यावद् भवति सा च परिधानकाले लीनतरा परिधीयते मा भूदनावृता जनोपहास्येति" बृ० ३ उ० । नि० चू० । पं० चू० ।

अंतोदहणसील-अन्तर्दहनशील-त्रि० हृदयस्य दुःखाग्निना दाहके, "कुंकुया विव अंतोदहणसीलाओ" (नार्यः) कुंकुकः करीषाग्निस्तद्वत् अन्तर्दहनशीलाः पुरुषाणामन्तर्दुःखाग्निना ज्वालनत्वात् । उक्तं च "पुत्रश्च मूर्खो विधवा च कन्या, शठं च मित्रं चपलं कलत्रम् । विलासकालेऽपि दरिद्रता च, विनाऽग्निना पञ्च दहन्ति कायम्" तं० ४६ पत्र. ।

अंतोदुट्ठ-अन्तर्दुष्ट-पुं०न० शुभादिदोषतो नवहीराधनावेन सौम्यत्वात् अभ्यन्तरदोषयुते मणभेदे, शठतया संवृताकारत्वाद् हृदयदुष्टे पुरुषभेदे च पुं० स्था० ४ ठा० ।

अंतोधूम-अन्तर्धूम-पुं०अभ्यन्तरधूमे,गृहादिनिरुद्धधूमे, आव०४अ.

अंतोपज्झाविमाणिय-अन्तर्मध्यावमानिक-पुं० लोकमध्याव-सानिकाख्ये अभिनयभेदे, नाट्यकुशलेभ्यो ऽय विशेषतो वेदितव्यः रा० ।

अंतोमुह-अन्तर्मुख-न० अभ्यन्तरद्वारे, "अंतोमुहस्स असणी [illegible] बाहिर [illegible] " बृ० १ उ० ।

अंतोमुहुत्त-अन्तर्मुहूर्त-न० मुहूर्तस्य घटिकाद्वयप्रमाणस्य का-[illegible] अन्तर्मुहूर्तम् । निपातनादेवात्र अन्तः-शब्दस्य पूर्वनिपातः कं० । भिन्नमुहूर्ते, आव०४ अ० ।

अंतोलित्त-अन्तर्लिप्त-त्रि० [illegible] लिप्तमन्तर्लिप्तम् । भाण्डे [illegible] , " [illegible] " बृ० १ उ० ।

अंतोवट्ट-अन्तर्वृत्त-[illegible] वृत्तसंस्थानसंस्थिते, "तेणं णरगा [illegible] " [illegible] वृत्ताः सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

अंतोवित्ति-अन्तर्व्याप्ति-स्त्री० [illegible] साधनस्य [illegible] , [illegible] वस्तु [illegible] तथैवोपपत्तेः र० ६ परि० ।

अंतोवाहिणी-अन्तर्वाहिनी-स्त्री० [illegible] शीतोदाया [illegible] ,स्था० ३ ठा० । "कुमुद [illegible] अंतोवाहिणी [illegible] " जं० ४ वक्ष० ।

अंतोविस्संभ-अन्तर्विस्रम्भ-पुं० अन्तर्विस्रम्भः [illegible] । विश्वासे, "अंतो-[illegible]" [illegible] ।

अंतोसल्ल-अन्तःशल्य-त्रि० अन्तर्मध्ये शल्यं यस्य [illegible] [illegible] व्रणभेदे, स्था० ४ ठा० । [illegible] , [illegible] । अन्तर्मध्ये [illegible] । [illegible] । [illegible] , [illegible] ।

अंतोसल्लमरण-[illegible] [illegible] , [illegible] ।

अंतोसल्लमरण-अन्तःशल्यमरण-न० अन्तःशल्यस्य द्रव्यतो ऽनुद्धृततोमरादेर्भावतः सातिचारस्य यन्मरणं तदन्तःशल्यमरणम् । बालमरणभेदे, भ० २ श० १ उ० । स० ।

तत्स्वरूपम्

लज्जाए गारवेण च, बहुस्सुयमयेण वावि दुच्चरियं ।
जेण कहेंति गुरूणं, ण हु ते आराहगा होंति ।
गारवपंकणिवुड्डा, अइयारं जे परस्स ण कहेंति ।
दंसणणाणचरित्ते, ससल्लमरणं हवति तेसिं उत्त० नि० ।

तत्र लज्जया अनुचितानुष्ठानसंवरणात्मिकया गौरवेण च सातर्द्धिरसगौरवात्मकेन मा तपो मममालोचनार्हमाचार्यमुपलभ्य स्तद्वन्दनादिना तदुक्ततपोनुष्ठानासेवनेन च अतिशयमहिमभावसंभव इति बहुश्रुतमदेन वा बहुश्रुतोऽहं तत्कथमल्पश्रुतोऽयं मम शल्यमुद्धरिष्यति कथं चाहमस्मै वन्दनादिकं दास्यामीति जना हीयं ममेत्यभिमानेन अपि: पूरणे ये गुरुकर्माणो न कथयन्ति नालोचयन्ति केषां गुरूणामालोचनार्हाणामाचार्यादीनां किं तत् दुश्चरितं दुरनुष्ठितमिति संबन्धः । न हु नैव तेऽनन्तरोक्तरूपाः आराधयन्त्यविकलतया निष्पादयन्ति सम्यग्दर्शनादीनीत्याराधका भवन्ति । ततः किमित्याह । गौरवपङ्क इव कालुष्यहेतुतया तस्मिन्निबुडा इति प्राकृतत्वान्निमग्ना इव निमग्नास्तत्कोडीकृततया लज्जामदयोरपि प्रागुपादाने यदिह गौरवस्यैवोपादानं तदस्यैवातिदुष्टताख्यापनार्थम् । अतिचारमपराधं परस्याचार्यादेर्न कथयन्ति किं विषयमित्याह । दर्शनज्ञानचारित्रे दर्शनज्ञानचारित्रविषयं दर्शनविषयं शङ्कादि ज्ञानविषयं कालातिक्रमादि चारित्रविषयम् । समित्यननुपालनादि तदपि [illegible] शल्यं कालान्तरेऽप्यनिष्टफलविधाने प्रत्यलत्वतया सह तेन सशल्यं तच्च तन्मरणं च सशल्यमरणं तथान्तःशल्यमरणं भवति । तेषां गौरवपङ्कमग्नानामिति गाथाद्वयार्थः ॥

अस्यैवात्यन्तपरिहार्यतां ख्यापयन् फलमाह ।

एतं ससल्लमरणं, मरिऊण महाभए दुरंतम्मि ।
सुचिरं भमंति जीवा, देही संसारकंतारे ॥ उत्त० नि० ।

एतदुक्तस्वरूपं सशल्यमरणं यथा भवति तथोक्तस्वरूपं [illegible] सशल्यमरणेन मृत्वा [illegible] जीवा इति संबन्धः । किं सुचिरं भ्रमन्ति बहुकालं पर्यटन्ति क संसारः कान्तारमिवातिगहनतया संसारकान्तारं [illegible] मिति संटङ्कः कीदृशि महद्रूपं यस्मिन्नन्महाभयं तस्मिन् [illegible] दुःखेनान्तः पर्यन्तो यस्य तद्दुरन्तं तस्मिन् । तथा [illegible] मादौ केषांचिदपर्यवसिते चेति तस्मात्सर्वथा परिहर्तव्यमेतन्म-[illegible] भाव इति गाथार्थः । प्रव० १४७ द्वा० ।

अंदरी-स्त्री०-अन्त्र-न० अपभ्रंशे स्वार्थिकप्रत्यये [illegible] [illegible] मनन्त्रम् ८।४।४४५। इति नपुंसकस्यापि स्त्रीत्वम् । [illegible] [illegible] प्याऽवयवभेदे, "पाइपिलग्गी अन्त्रडी" प्रा० ।

अंदु-अन्दु-स्त्री० अन्द्यते बध्यतेऽनेनेति अदि-कु-बन्ध० [illegible] निगडे, "अंदु सुवकिण्णविहत्थ देहे" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० । इति शीलाङ्क-

अंदेउर-अन्तःपुर-न० अप. क्वचिद् ८।४।२६० इति [illegible] नकारस्य दकारः । राजस्त्रीणां गृहे, प्रा० ।

अंदोलग-आन्दोलक-पुं० यत्रागत्य मनुष्या आत्मानमान्दोलयन्ति ते आन्दोलकाः । हिण्डोल इति लोकप्रसिद्धेषु, [illegible] १ श्रुत० । रा० । जं० । दोलनकर्मणि, त्रि० वाच० ।

अंदोल (य) ण–अ (आ) न्दोलन–न० दृक्षशाखादौ मे-
रुने, प० २ अधि० । करणे-ल्युट् हिण्डोल इति प्रसिद्धे आन्दो-
लमयन्त्रे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । यथान्दोलनेन दुर्गमनिलङ्घ्यते
तस्मिन् मार्गविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

अंध–अन्ध–त्रि० अन्ध-अच्-नयनरहिते, द्वा० १२ द्वा० । पो० ।
प्रश्न० । सूत्र० । स चान्धो द्विधा जात्यन्धः पश्चाद् हीनने-
त्रोऽपगतचक्षुः सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । स चान्धो द्रव्यतो
भावतश्च । सर्वेकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियाः द्रव्यभावान्धाः । च-
तुरिन्द्रियादयस्तु मिथ्यादृष्टयो भावान्धाः उक्तञ्च " एक हि
चक्षुरमलं सहजो विवेक-स्तद्वद्भिरेव सह संवसति द्वितीयम् ।
एतद् द्वयं भुवि न यस्य स तत्त्वतोऽन्ध-स्तस्यापमार्गचलने खलु
कोऽपराधः " तस्यगुद्दयस्युपहतनयना द्रव्यान्धास्त एव स-
चक्षुषो न द्रव्यतो नापि भावतस्तदेवमन्धत्वं द्रव्यभावभेदभि-
न्नमेकान्तेन दुःखजननमयाभीतीन्युक्तञ्च "जीवन्नेव मृतोऽन्धो,
यस्मात्सर्वक्रियासु परतन्त्रः । नित्यास्तमितदिनकर-स्तमो-
ऽन्धकारार्णवनिमग्नः" "लोकद्वयव्यसनवह्निविदीपिताङ्ग-मन्धं
समीक्ष्य कृपणं परयष्टिनेयम् । को नोद्विजेत भयकृज्जननादि-
...मात्, कृष्णादिनैकनिचितादिव चान्धगर्तात्" आचा० १
श्रु० २ अ० ३ उ० । अन्ध इवान्धः । अज्ञाने, ज्ञानरहिते, "ए-
एवं अंधा मूढा तमप्पविट्ठा " भ० ७ श० ७ उ० । " तिष्ठतो
...जनो वापि, यस्य चक्षुर्न दूरगम् । चतुष्पदां भुव मुक्त्वा,
...रिमाऽन्ध उच्यते " इत्युक्तलक्षणे परिमाणभेदे, वाच० ।
। अन्धयतीत्यन्धम् अन्ध-चु० प्रेरणे-णिच् अच् । अन्ध-
...णे, अच् वा अन्धकारे, तमसि, अज्ञाने च । जले, न.
...० । वाच० ।

...र–पुं० अन्ध्र-रन्० । देशभेदे, स च देशः जगन्नाथादूर्ध्वंना-
...ङ्क श्रीभ्रमरात्मकात् तावदन्ध्राभिधो देश इत्युक्तः वाच० ।
...त्पन्ने जने च, स्था० ७ उ० । स च म्लेच्छत्वेनोक्तः प्रज्ञा० १
प्रश्न० । प्रव० । सूत्र० । वैदेहेन कारावरस्य स्त्रियामु-
... अन्त्यजभेदे, व्याधभेदे इति काश्यपः वाच० ।
...ज्ञ–अन्धकण्टकीय–न० अन्धस्याचिन्तितकण्टको-
...ऽतर्कितोपगमने, आचा० १ श्रु० १ अ० ।
...आन्ध्यकृत्–त्रि० स्वरूपावलोकनशक्तिविकले, अष्ट०
... अहं ममेति मन्त्रोऽयं, मोहस्य जगदान्ध्यकृत्" अष्ट० ।
...या) र–अन्धकार–पुं० न० अन्धं करोति कृ-अण्
...वाच० । कृष्णतेजआदिनये, अरुणभवसमुद्भोद्भूयत-
... तं० ४६ पत्र. । बहुलतमोनिकुरम्बे, अनु० ।
... । नच तेजोद्रव्यसामान्याभावकमिति नैयायिकाः
...स्तं सहलं तं पिय वियाण नं अंधयारं ति" इत्युक्त-
...परिणाम इति समयविद्. सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।
...सद्दंधयारउज्जोओ, पहाछायातवेइया । वन्नगंधर-
...मग्गाणं तु लक्खणं" उत्त० २ अ० । नच तमस.
...सिद्धं चाक्षुषत्वान्यथानुपपत्तेः प्रदीपालोकवत् ।
...य तत् सर्वं प्रतिभासे आलोकमपेक्षते नचैवं
...क्षुषं भवम् उलूकादीनामालोकमन्तरेणापि तम-
...यस्त्यन्मदादिभिरप्यचाक्षुषं घटादिकमालोकं
... तैरपि तिमिरमालोकयिष्यते विचित्रत्वात्ना-
... पीतश्वेतादयोऽपि स्वर्णमुक्ताफलाद्या आलोक-
...चन्द्रादयस्तु प्रकाशान्तरनिरपेक्षा इति सिद्धं

तमश्चाक्षुषम् । रूपवत्त्वाच्च स्पर्शवत्त्वमपि प्रतीयते । शीतस्प-
र्शप्रत्ययजनकत्वात् । यानि त्वनिबिडावयवत्वमप्रतिघातित्वम-
नुद्भूतस्पर्शविशेषत्वमप्रतीयमानखण्डावयविद्रव्यप्रविभागत्व-
मित्यादीनि तमसः पौद्गलिकत्वनिषेधाय परैः साधनान्युपन्य-
स्तानि तानि प्रदीपप्रभादृष्टान्तेनैव प्रतिषेध्यानि स्या० ६ पत्र. ।
सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमधिकृत्यान्धकारसंस्थितिं प्रति-
पिपादयिषुस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह ।

तता णं किंसंठिता अंधकारसंठिती आहितातिवदेज्जा ।
ता उद्धीमुहकलंबुतापुप्फसंठिता आहितेति वदेज्जा । अं-
तोसंकुडा बाहिं वित्थडा तं चेव जाव ता से णं दुवे बाहातो
बाहिरिता चेव बाहा । तीसे णं सव्वब्भंतरिता चेव बाहा सव्व-
पव्वयं तेणं छ जोयणसहस्साइं तिण्णि य चउव्वीसे जो-
यणसते छ दसभागे जोयणस्स परिक्खेवेणं । ता से णं
परिक्खेवविसेसो कतो आहितेति वदेज्जा । ता जे णं मंद-
रस्स पव्वयस्स परिक्खेवेणं तं परिक्खेवं दोहिं गुणिता द-
सहिं छेत्ता दसहिं भागे हिरमाणे हिरमाणे एस णं परि-
क्खेवविसेसे आहितानि वदेज्जा । ता से णं सव्वबाहिरिता
बाहा लवणसमुद्दं तेणं तेवट्ठिं जोयणसहस्साइं दोण्णि य
पणयाले जोयणसते छच्च दसभागे जोयणस्स परिक्खेवेणं
ता से णं परिक्खेवविसेसो कतो आहितेति वदेज्जा । ता
जे णं जंबुद्दीवस्स दीवस्स परिक्खेवेण परिक्खेवं दोहिं गु-
णिता दसहिं छेत्ता दसहिं भागे हिरमाणे हिरमाणे एस
ण परिक्खेवविसेसे आहिता ति० ता से णं अंधकारे केवतिं
आयामेणं आहितातिः० ता अट्ठुत्तरिं जोयणसहस्साइं तिण्णि
य तेत्तीसे जोयणसते जोयणतिभाग च ...
वदेज्जा ...

[illegible]

... मत्ति । ता जता णं सूरिए
सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति ता उद्धीमुह-
कलंबुता पुप्फसंठिया तावक्खेत्तसंठिती अंतो संकुडा बाहिं
वित्थडा जाव सव्वब्भंतरिया चेव बाहा सव्वबाहिरि-
चेव बाहा । ता से णं सव्वब्भंतरिता बाहा मंदरपव्वते
छ जोयणसहस्साइं तिण्णि य चउव्वीसे जोयणसते छ
दसभागे जोयणस्स एवं जंपमाणं अब्भंतरमंडले अंधका-
रसंठितं तं इमाए वि तावक्खेत्तसंठिती णेतव्वा । बाहिर-
मंडले आयामो सव्वत्थ वि एको तया णं किंसंठिता
अंधकारसंठिती आहिताति वदेज्जा । ता उद्धीमुहकलंबुता
पुप्फसंठिता अंधकारसंठिती आहिताति वदेज्जा । अंतो
संकुडा बाहिं वित्थडा तं चेव जाव सव्वब्भंतरिता बाहा
सव्वबाहिरिता आहिता चेव बाहा । ता से णं सव्वब्भंत-
रिता बाहा मंदरपव्वयं तेणं णव जोयणसहस्साइं चत्तारि
य छलसीते जोयणसते णव दसभागे एवं जंपमाणे अब्भं-

तस्संमञ्जतिए सूरिए तावखेत्तसंठितीए तं चेव णेयव्वं जाव आतामो ता जता णं उत्तमउक्कोसा अट्ठारसमुहुत्ता राती भवति जहण्णए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति।

तदा सर्वाभ्यन्तरमण्डलचारकाले (किं संठिअत्ति) किं संस्थितं संस्थानं यस्याः। यद्वा कस्येव संस्थानं संस्थितिर्यस्याः सा किंसंस्थिता अन्धकारसंस्थितिराख्यातेति वदेत्। भगवानाह " ता इत्यादि " ता इति पूर्ववत् ऊर्द्धीकृतकलम्बुका पुष्पसंस्थिता अन्धकारसंस्थितिराख्यातेति वदेत्। सा चान्तर्मेरुदिशि विष्कम्भमधिकृत्य (संकुडा) संकुचिता बहिर्लवणदिशि विस्तृता। तथा अन्तर्मेरोर्दिशि वृत्ता ऊर्द्धवलयाकारा सर्वतो वृत्ता मेरुगतौ द्वौ देशभागौ व्याप्य तस्या अवस्थितत्वात्। बहिर्लवणदिशि पृथुला विस्तीर्णा एतदेव संस्थानकथनेन स्पष्टयति " अंतो अंकमुहसंठिआ बाहिं सत्थियमुहसंठिआ " अनयोः पदयोर्व्याख्यानं प्राग्वत् वेदितव्यम्। "उभओपासेणमित्यादि" तस्या अन्धकारसंस्थितेस्तापक्षेत्रसंस्थितेरिव व्यवस्थाया द्विधा व्यवस्थिताया मेरुपर्वतस्योभयपार्श्वेन उभयोः पार्श्वयोः प्रत्येकमेकैकभावेन ये जम्बूद्वीपगते बाहे ते आयामेन आयामप्रमाणमधिकृत्यावस्थिते भवतस्तद्यथा पञ्चचत्वारिंशत् योजनसहस्राणि (४५०००) द्वे च बाहे विष्कम्भमधिकृत्य एकैकस्या अन्धकारसंस्थितेर्भवतस्तद्यथा सर्वाभ्यन्तरा सर्वबाह्या च एतयोश्च व्याख्यानं प्रागिव द्रष्टव्यम्। ततः सर्वाभ्यन्तराया बाहाया विष्कम्भमधिकृत्य प्रमाणमभिधित्सुराह (तीसे णमित्यादि) तस्या अन्धकारसंस्थितेः सर्वाभ्यन्तरबाहा मन्दरपर्वतान्ते मन्दरपर्वतसमीपे सा च षड् योजनसहस्राणि त्रीणि शतानि चतुर्विंशत्यधिकानि (६३२४) षट् दश भागा योजनस्य (६) यावत् परिक्षेपेणाख्याता इति वदेत्। अमुमेवार्थं स्पष्टावबोधनार्थं पृच्छति (ता से णं इत्यादि) ता इति पूर्ववत् तस्या अन्धकारसंस्थितेः एषोऽनन्तरोदितप्रमाणः परिक्षेपविशेषो मन्दरपरिरयपरिक्षेपेण विशेषः कृतः। कस्मात्कारणादाख्यातो न्यूनाधिको वेति भगवान् वदेत् एवं प्रश्ने कृते भगवानाह। ता इति प्राग्वत्। यो णमिति वाक्यालङ्कारे मन्दरपर्वतस्य परिक्षेपः प्रागुक्तप्रमाणः तं परिक्षेपं द्वाभ्यां गुणयित्वा कस्माद् द्वाभ्यां गुणनमिति चेदुच्यते इह सर्वाभ्यन्तरे मण्डले चारं चरतोः सूर्ययोरेकस्यापि सूर्यस्य जम्बूद्वीपगतस्य चक्रवालस्य यत्र तत्र प्रदेशे तत्प्रकाशसम्बन्धानुसारेण दश भागास्त्रयः प्रकाशका भवन्ति। अपरस्यापि सूर्यस्य त्रयः प्रकाश्या [illegible] उभयपार्श्वे षट् दश भागा भवन्ति तेषां [illegible] द्वौ द्वौ दशभागौ तमसो [illegible] दशभिर्भागैर्हृते [illegible] मन्दरस्य समीपे अन्धकारसंस्थिति-[illegible]। तथाहि मन्दरपर्वतपरिरयपरिमाणमेकत्रिंशत् [illegible] षट् शतानि त्रयोविंशत्यधिकानि (३१६२३) [illegible] द्वाभ्यां गुणने जातानि त्रिषष्टिसहस्राणि द्वे शते षट्चत्वारिंशदधिके (६३२४६) तेषां च दशभिर्भागे हृते लब्धानि षट् योजनसहस्राणि त्रीणि शतानि चतुर्विंशत्यधिकानि योजनस्य (६३२४) (६) तत एव एतावान् [illegible] अन्धकारसंस्थितेः परिक्षेपो मन्दरपरिरयपरि-क्षेपेण [illegible] इति वदेत्। सर्वबाह्यमन्धकार-संस्थितेः सर्वाभ्यन्तराया बाहाया विष्कम्भपरिमाणम्। सम्प्रति सर्वबाह्याया बाहाया आह। " तीसे णं इत्यादि" तस्या अन्धकारसंस्थितेः सर्वबाह्या बाहा लवणसमुद्रान्ते लवणसमुद्रसमीपे जम्बूद्वीपपर्यन्ते सा च परिक्षेपेण जम्बूद्वीपपरिरयपरिक्षेपेणाख्याता त्रिषष्टिर्योजनसहस्राणि द्वे शते पञ्चचत्वारिंशदधिके योजनशते षट् दशभागा योजनस्य यावत् (६३२४५) (६) एतदेव स्पष्टं स्वशिष्यानवबोधयितुं भगवान् गौतमः पृच्छति "ता सेणं इत्यादि " ता इति पूर्ववत् तस्या अन्धकारसंस्थितेः एतावान् परिक्षेपविशेषो जम्बूद्वीपपरिरयपरिक्षेपेण (१०) विशेषः कृतः कस्मात्कारणादाख्यातो न्यूनाधिको वेति वदेत् भगवान् वर्द्धमानस्वामी आह "ता जे णं इत्यादि " ता इति पूर्ववत् यो णमिति वाक्यालङ्कारे जम्बूद्वीपस्य परिक्षेपः प्रागुक्तप्रमाणस्तं परिक्षेपं द्वाभ्यां गुणयित्वा दशभिश्छित्वा दशभिर्भज्य अत्र च कारणं प्रागेवोक्तं दशभिर्भागे ह्रियमाणे एतावदन्धकारसंस्थितेर्जम्बूद्वीपपरिरयपरिक्षेपणमागच्छति। तथाहि जम्बूद्वीपस्य परिक्षेपपरिमाणं त्रीणि लक्षाणि योजनसहस्राणि द्वे शते अष्टाविंशत्यधिके (३१६२२८) तद् द्वाभ्यां गुणने जातानि षट् लक्षाणि द्वात्रिंशत्सहस्राणि चत्वारि शतानि षट्पञ्चाशदधिकानि (६३२४५६) तेषां दशभिर्भागे हृते लब्धानि त्रिषष्टिर्योजनसहस्राणि द्वे शते पञ्चचत्वारिंशदधिके षट् च दशभागा योजनस्य (६३२४५) (६) तत एव एतावाननन्तरोदितप्रमाणोऽन्धकारसंस्थितेः परिक्षेपविशेषो जम्बूद्वीपपरिरयपरिक्षेपेण विशेष आख्यात इति वदेत्। तदेवमुक्तं सर्वबाह्याया अपि बाहाया विष्कम्भपरिमाणम्। "सम्प्रति सामस्त्येनान्धकारस्थितेरायामप्रमाणमाह "। " ता से णं इत्यादि "। इदं चायामपरिमाणं तापक्षेत्रसंस्थितेरायामपरिमाणवद्भावनीयं समानभावनिकत्वात्। अथैव सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्त्तमानयोः सूर्ययोर्दिवसरात्रिमुहूर्तप्रमाणमाह। "तया णं इत्यादि" सुगमं सर्वाभ्यन्तरे मण्डले तापक्षेत्रसंस्थितिमन्धकारसंस्थितिं चाभिधाय सम्प्रति सर्वबाह्यमण्डले तामभिधित्सुराह " ता जया णमित्यादि" ता इति पूर्ववत् यदा सूर्यः सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा किंसंस्थिता तापक्षेत्रसंस्थितिराख्यातेति भगवान्वदेत्। भगवानाह। "ता उद्धीमुहेत्यादि" पूर्ववद्व्याख्येया "ता से णं इत्यादि" तस्याः तापक्षेत्रसंस्थितेः सर्वाभ्यन्तरबाहा अभ्यन्तरमेरुसमीपे सा च परिक्षेपेण मन्दरपरिरयपरिक्षेपणेन षड् योजनसहस्राणि त्रीणि शतानि चतुर्विंशत्यधिकानि (६३२४) षट् च दशभागा योजनस्य (६) आख्यातानि मयेति वदेत् स्वशिष्येभ्यः। "एवं इत्यादि" एवमुक्ते सति कारणे यदभ्यन्तरमण्डलगते सूर्ये तमोऽन्धकारसंस्थितेः प्रमाणमुक्तं तद्बाह्यमण्डलगते सूर्ये तापक्षेत्रसंस्थितेः परिमाणं भावनीयम्। तथैव "ता से णं परिक्खेवविसेसे कतो आहितेति वदेज्जा। जे णं मंदरस्स पव्वयस्स परिक्खेवे तं परिक्खेवं तं दोहिं भागेहिं हिरमाणे एस णं परिक्खेवविसेसे आहितेति वएज्जा ता जे णं जम्बुद्दीवस्स दीवस्स परिक्खेवे तं परिक्खेवं दोहिं गुणित्ता दसहिं छित्ता दसहिं भागेहिं हिरमाणे एस णं परिक्खेवविसेसे आहिते त्ति वएज्जा ता से णं तावक्खेत्ते केवइयं आयामेणं आहितेति वएज्जा। ता अट्ठत्तरिं जोयणसहस्साइं तिण्णि य तेत्तीसे जोयणसते जोयणतिभागं च आयामेणं आहितेति वएज्जा" इदं सकलमपि सुगमं नवरं मन्दरपरिरयादिषु [illegible] गुणनं तत्रेदं कारणम् इह सर्वबाह्ये मण्डले चारं चरतोः सूर्ययोः

जम्बूद्वीपगतस्य चक्रवालस्य यत्र तत्र वा प्रदेशे तच्चक्रवालक्षे-
त्रानुसारेण द्वौ द्वौ दशभागौ तापक्षेत्रम् । एतच्च प्रागेव भावितं
मतो मन्दरपरिरयादि द्वाभ्यां गुण्यते गुणयित्वा च दशभिर्भा-
गहरणं तथा सर्वबाह्ये मण्डले सूर्यस्य चार चरतो श्रवणस-
मुद्रमध्ये पञ्चयोजनसहस्राणि तापक्षेत्रं वर्द्धते तत्त्रयशीतियो-
जनसहस्राणि इत्याद्युक्तम् । शेषाक्षरयोजना तु प्राग्वद्भावनीया
मेदयं सर्वबाह्ये मण्डले वर्तमाने सूर्ये तापक्षेत्रसंस्थितं परि-
माणमभिधाय सम्प्रति तत्रैवान्धकारसंस्थितिपरिमाणमाह ।
(तया णं किंसंठिया इत्यादि) तदा सर्वबाह्यमण्डले चारचरण-
काले णमिति वाक्यालङ्कारे किंसंस्थिताऽन्धकारसंस्थितिरा-
ख्यातेति वदेत् । भगवानाह " तावच्छीमुहेत्यादि " सुगमं
"ता से णं इत्यादि" तस्या अन्धकारसंस्थितेः सर्वाभ्यन्तरबाह्या
मन्दरपर्वतान्ते मन्दरपर्वतसमीपे । " ताव आव परिक्खेवचि-
सेसे आहिअत्ति वएज्जा । ता से णं अंधकारे केवइअं आया-
ए आहिअत्ति वएज्जा ता तेसीइं जोअणसहस्साइं तिन्नि अ
तत्तीसए जोअणस्स जोअणतिभागं च आहिअत्ति वएज्जा "
इह यन्मन्दरपरिरयादेस्त्रिभिर्गुणनं दशभिर्भागहरणं च शेषाक्षरयोजना तु
प्राग्वत्कर्त्तव्या । तदेवं सर्वबाह्येऽपि मण्डले तापक्षेत्रसंस्थितिः प-
रिमाणं चोक्तमधुना सर्वबाह्ये मण्डले वर्त्तमानयोः सूर्ययो रा-
त्रिन्दिवमुहूर्त्तपरिमाणमाह । (ता जया णं इत्यादि) तदा सा
सर्वबाह्यमण्डलचारकाले उत्तमकाष्ठां प्राप्ता उत्कृष्टाऽष्टादशमु-
हूर्त्ता रात्रिर्भवति जघन्यो द्वादशमुहूर्त्तो दिवसः तदेवमुक्तं ताप-
क्षेत्रसंस्थितिपरिमाणमन्धकारसंस्थितिपरिमाणं च । च० प्र०
४ पाहु० । सू० प्र० ॥

उद्योतान्धकारौ दण्डकक्रमेणाह ।

से णूणं भंते ! दिवा उज्जोए राइअंधयारे ? हंता गो-
यमा ! जाव अंधयारे से केणट्ठेणं ? गोयमा ! दिवा सुभा
पोग्गला सुभे पोग्गलपरिणामे रातिं असुभा पोग्गला
असुभे पोग्गलपरिणामे । से तेणट्ठेणं नेरइया णं भंते !
किं उज्जोए अंधयारे ? गोयमा ! नेरइयाणं नो उज्जोए
अंधयारे से केणट्ठेणं ? गोयमा ! नेरइयाणं असुभा पो-
ग्गला असुभे पोग्गलपरिणामे से तेणट्ठेणं असुरकुमाराणं
भंते ! किं उज्जोए अंधयारे ? गोयमा ! असुरकुमाराणं
उज्जोए नो अंधयारे । से केणट्ठेणं ? गोयमा ! असुरकु-
माराणं सुभा पोग्गला सुभे पोग्गलपरिणामे से तेणट्ठेणं
एवं वुच्चइ जाव थणियाणं पुढवीकाइया जाव तेइंदिया
जहा नेरइया । चउरिंदियाणं भंते ! किं उज्जोए अंधयारे ?
गोयमा ! उज्जोए वि अंधयारे वि से केणट्ठेणं ? गोयमा !
चउरिंदियाणं सुभासुभा पोग्गला सुभासुभे पोग्गलपरि-
णामे से तेणट्ठेणं एवं जाव मणुस्साणं वाणमंतरजोइसवे-
माणिया जहा असुरकुमारा ॥

"से णूणमित्यादि " (दिवा सुहा पोग्गलत्ति) दिवा दिवसे
शुभाः पुद्गला भवन्ति । किमुक्तं भवति शुभपुद्गलपरिणामः स
च रविकरसम्पर्कात् (रत्तिंति) रात्रौ (नेरइयाणं असुभा पोग्ग-
ला इत्यादि) तत्क्षेत्रस्य पुद्गलशुभतानिमित्तभूतरविकरादिप्रकाश-
कवस्तुविरहितत्वात् । (असुरकुमाराणं सुहा पोग्गलत्ति) तदा-
श्रयस्य भास्वरत्वात् (पुढविकाइयेत्यादि) पृथिवीकायि-

कादयस्त्रीन्द्रियान्ता यथा नैरयिका उक्तास्तथा वाच्या
हि नास्त्युद्द्योतोऽन्धकारं चास्ति पुद्गलानामशुभत्वात्
भावना चतुरिन्द्रिये सत्यपि रविकरादिसंपर्के चक्षुरि-
भावेन दृश्यवस्तुनो दर्शनाभावात् । शुभपुद्गलकार्याकरणे
शुभाः पुद्गला उच्यन्ते तत्कार्यमन्धकार चेति (चउरिंदि
सुभासुभपोग्गलत्ति) चक्षुर्हि चक्षुःसद्भावेन रविकरादिस
हि दृश्यार्थावबोधहेतुत्वात् शुभाः पुद्गला रविकराद्यभावे त्व
वबोधाजनकत्वादशुभा इति भ० ५ श० ९ उ० ।

अधोलोकेऽन्धकारः ।

अहोलोगे णं चत्तारि अंधकारं करेंति तंजहा णरग
णेरइया पावाइं कम्माइं असुभा पोग्गला ॥

"अहेत्यादि " सुगमं किन्तु अधोलोके उक्तलक्षणे चत्वारि
वस्तूनीति गम्यते नरका नरकावासा नैरयिका नारका एते कृ-
ष्णरूपत्वादन्धकारं कुर्वन्ति पापानि कर्माणि ज्ञानावरणादीनि
मिथ्यात्वाज्ञानलक्षणभावान्धकारित्वादन्धकारं कुर्वन्तीत्युच्यते ।
अथवाऽन्धकारस्वरूपेऽधोलोके प्राणिनामुत्पादकत्वेन पापानां
कर्मणामन्धकारकर्तृत्वमिति तथा अशुभाः पुद्गलास्तमिस्रभावे-
न परिणता इति । स्था० ४ ठा० । तथा स्थानाङ्गे चतुर्भिः कारणैर्लोके
उद्योतो भवति तथा अन्धकारमपि अर्हन्निर्वाणे व्युच्छिद्यमानप-
र्याये ज्ञानेऽन्धकारे च तत्र यथाऽर्हतां निर्वाणे लोके-
ऽन्धकारं भवति तथा अर्हतां मार्गे समानगुणकालिकशेषो येन
प्रभे लोकानुभावादिषार्थदर्शनां चतुर्णामप्युच्छेदे द्रव्यान्धकार
समानमग्निविनाशे अग्नेव्युच्छेदे भावान्धकारमधिकं स्यादिति
विशेषः स्थानाङ्गवृत्त्यनुसारेण ज्ञायत इति । १० अंग०२ अधि० ।
(अर्हन्ति निर्वाणं गच्छति धर्मे व्युच्छिद्यमाने पूर्वगते वा व्युच्छिद्य-
माने लोकान्धकार इत्यर्हच्छब्दे) तमसि, स्था० ३ ठा० । अरु-
णवरसमुद्रोद्भवतमस्काये च० तं० । तमोऽप्यस्यापरस्य प्र० ।
स्था० । अन्धकारयति, त्रि० ठा० १ अ० । औ० ।

अंधका (या) रपक्ख-अन्धकारपक्ष-पुं० कृष्णपक्षे, सूत्र० ।
१२ पाहु० ॥

अंधग-अंन्हिप-पुं० वृक्षे, भ० १८ श० ४ उ० ॥

अंधगवण्हि-अंन्हिपवह्नि-पुं० अन्हिपा वृक्षास्तेषां वह्नयस्तदा-
श्रयत्वेनेत्यान्हिपवह्नयः । बादरतेजस्कायेषु, भ० १८ श० ४ उ० ।
अन्धकवह्नि-अन्धका अप्रकाशकाः सूक्ष्मनामकर्मोदयात्
वह्नयस्ते अन्धकवह्नयः । सूक्ष्मतेजस्कायेषु, ।

जीवइया णं भंते ! चरा अंधगवण्हिणो जीवा तावइया
परा अंधगवण्हिणो जीवा ? हंता ! गोयमा ! जावइया चरा
अंधगवण्हिणो जीवा तावइया परा अंधगवण्हिणो जीवा
सेवं भंते ! भंतेत्ति ।

तत्परिमाणाः (परत्ति) पराः प्रकृष्टाः स्थितितो दीर्घायुष
इत्यर्थः इति प्रश्नः हन्तेत्याद्युत्तरमिति । भ० १८ श० ४ उ० ।
वृष्णिराजनृपभेदे, " बारवतीए णयरीए अंधगवण्हि णामं
राया परिवसइ महया हिमवंत वण्णओ तस्स णं अंधगव-
ण्हिस्स रण्णो धारणी णामं देवी होत्था " अन्त० । अन्धक-
वृष्णेस्तस्य पुत्राः " समुद्दे १ सागरे २ गंभीरे ३ थिमिए ४ अ-
यले ५ कंपिल्ले ६ अक्खोभे ७ पसेणई ८ विण्हुए ९ एते मन्त-
व्येषां प्रथमो गौतम इति दश-अन्त० १ वर्ग० । " अहं च

...इति भावे ... सुत्र इति मतान्तरे ...

...समवायाङ्गे, ...

...

...

घंस्य ८ । १ ८४ इति सूत्रेण आदेर्हस्वत्वम् । ... वृ०, स्था० । दर्श० (पार्श्वस्थादिभिः संसर्गे ... स्तः ...) तस्य फलम् ...

अप्रासुकाम्रग्रहणनिषेधो यथा ।

अह भिक्खू इच्छेज्जा अंबं भोत्तए वा से जं पुण ... जाणेज्जा सअंडं जाव समंताणं तहप्पगारं अंबं ... जाव णो पडिगाहेज्जा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा ... जं पुण अंबं जाणेज्जा अप्पंडं जाव संताणगं अतिरिच्छच्छिण्णं अवोच्छिण्णं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण अंबं जाणेज्जा ... जाव संताणगं तिरिच्छच्छिण्णं वोच्छिण्णं फासुयं ... पडिगाहेज्जा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा ... अंबभित्तगं वा अंबपेसिगं वा अंबचोयगं वा ... वा अंबडालगं वा भोत्तए वा पायए वा सेज्जं पुण ... जाणेज्जा अंबभित्तगं जाव अंबडालगं वा सअंडं जाव ... संताणगं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण जाणेज्जा अंबभित्तगं वा ... जाव संताणगं अतिरिच्छच्छिण्णं वा अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण ... जा अंबभित्तगं वा अप्पंडं जाव संताणगं तिरिच्छच्छिण्णं वोच्छिण्णं फासुयं जाव पडिगाहेज्जा ॥

(सूत्रम्) ...

मागाइककमयोवग. इगमुंरेगम्पि वाणियं पुव्वं ।
तं चेव पज्जवत्थो, सो पावति आणमादीणि ॥ ४ ॥
सचित्त मचित्तं पइट्ठियं वा पयं चेव दुविहं भेसं कंठं ।
अदिन्नाणानिणणे वा, अपक्कं सचित्तदोत्ति भिणं वा ।
तं चिय मयं भिन्नतं, कव्वगयं सचेयणपतिट्ठं ॥ ५ ॥
जं अभिणयं भिण्णं अभिमाए तं सचित्तं नयति । जं च दव्वे चेव ट्ठितं अच्चित्तं पइट्ठियं अपइट्ठियं वा अपक्कं वा तं पि सचित्तं । तं चिय सव्वं अपाइट्ठियं पलंबकणे चेव ट्ठियं दुव्वादिणा अप्पणा वा अप्पज्जति भावं मिलणं ते सेयपणपतिट्ठियं भवति ।

अहवा जं बद्धिणं, बाहिर पकं तं चिय णपतिट्ठं ।
चिविढ दव्वणेप जं वा, अवखुंदति विहसणे होंति ॥६॥
जं वा पक्कं बाहिरं कडाहपक्कं अभो सचेयणं बीय तं वा सचित्तपतिट्ठियं भवति । अपगीतस्य अनपनीयस्य च गुडेन वा सह कप्पूरेण वा सह लवणान्येन वा लवणचातुर्जातकवासादिना सह एवा विविधद्रव्यणा अवखुंद इति खचितं मुंचति अन्योन्यं व्याटे वा अवखुंदति अवयवा वि इदानीत्यर्थः एमा वा विकसणा भवति । एयं पढिते भणियं अणंते वि एयं च नवरं चउगुरुगविद्धं । सचित्ते सचित्त पतिट्ठिते य दोसु वि सुत्तेसु इमो अववातो गाहा ।

विनियपदमणप्पज्झे, मुंभे अविकोविए य अप्पज्जा ।
जाणंते यावि पुणो गिलाण अद्धाणओमेव ॥७॥
रोगादिणो अणप्पज्झो वा भुंजति सेहो वा अविकोवियत्तो अजाणंतो रोगोवसमणिमित्तं वेज्जो वा दसतो गिलाणो वा ठेजे अद्धाणोमेसु वा असयरता भुजंता विसुद्धा इमो दोसुवि विहसमाणसुत्ते अववातो गाहा ।

विनियपदमणप्पज्झे, विहसे अविवेव अप्पज्झे ।
जाणंतेयावि पुणो, गिलाण अद्धाणओमेव ॥८॥
कंठं णवरं चोदग आह-विरूसणा कीसा तं अयवाते माकरेउ। आचार्य आह । अरट्टपाहिरकडाहं न अयलेउं खायंतस्स अयवादो ण दोसो । अह वा पलंबस्स जो उवकारी लवणादिके तेण सह तं भुंजंतस्स ण दोसो । कोमल अरट्टं वा इमंति परिखाहेउं णदमादीहि वि अणुदेज्जा ।

(सूत्रम्) जे भिक्खू सचित्तं अंबं वा अंबपेसियं वा अंबभित्तिं वा अंबसालगं वा अंबचोयगं वा भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥७॥ जे भिक्खू सचित्तं अंबं वा अंबपेसियं वा अंबभित्तिं वा अंबसालगं वा अंबडालगं वा अंबचोयगं वा विरूसइ विहसंतं वा साइज्जइ ॥८॥ जे भिक्खू सचित्तपइट्ठियं अंबं भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥९॥ जे भिक्खू सचित्तपइट्ठियं अंबं विरूसइ विरूसंतं वा साइज्जइ ॥१०॥ जे भिक्खू सचित्तपइट्ठियं अंबं वा अंबपेसियं वा अंबसालगं वा अंबडालगं वा अंबचोयगं वा भुंजइ भुंजंतं वा साइज्जइ ॥११॥ जे भिक्खू सचित्तपइट्ठियं अंबं वा अंबपेसियं वा अंबभित्तिं वा अंबसालगं वा अंबडालगं वा अंबचोयगं वा विरूसइ विरूसंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥

एते उ सुत्तपदा विरूसणाए वि छच्चेय एतेसि इमो अत्थो अंबं संकलं ण केणइ ऊणं चोदग आह आदिल्लेसु चउसु सुत्तेसु ण पलंबसुत्तं चेव भणियं । आचार्य आह सच्चं किंतु तत्थ पलंबसामण्णेण पज्जत्तं गहियं इमं तु पलंबसुत्तं अपज्जत्तं अपरूढियं अविपक्कं सप्यादसकलमेवेत्यर्थः । पेसी दीहागारा अद्धभित्तं बाहिरा छल्ली सालं नवइ । अदीहं वि समचक्कालियागारेण जं संकंतं गतं भवति एदरतिभागारा जे केसरा तं चोयं भवति । इमो सुत्तफासो । गाहा ।
एमेव गमओ निद्दा-कगलेनोक्षेपमिमंपं चोए ।

चउसु वि सुत्तेसु भवे, पुव्वे अवराम्मि य पदे ड ॥ ९ ॥
अंबगं पंसियज्जा चउसु सुत्तेसुत्ति सेसं कंठं । अहवा आदिल्लेसु चउसु सुत्तेसु जो गमो भणितो सो चेव गमो अवगादिएसु इसु पदेसु सविरूसणेसु भाणियव्वो । चोदगाह पढमसुत्तेसु भणितो चेव अत्थो किं पुणो अंबगादियाणं गहणं । आचार्य आह । गाहा ॥

एवं ताव आभिण्णे, अस्सेव पुणो इमो भेदो ।
कगलं तु होइ खंडं, सालं पुण बाहिरा छल्ली ॥ १० ॥
एयं ताव आदिल्लेसु चउसु सुत्तेसु अभिण्णग्गहणं । अहवा आदिसुत्तेसु अविसिट्ठं गहण इह विसिट्ठ गहणं कयं । अहवा मा काइ वि तिहिनि अभिन्नभक्खणिज्जं भिण्णं अभक्खणिज्जं भिण्णं पुण भक्खतेण अंबगपेसिमादिणा विणिक्खिज्जति । कगलं तु पच्चद्धं कंठं । गाहा ।

भित्तं तु होइ अद्धं, चोयं जे तस्स केसरा होंति ।
सुहपएहकरं हारि, तेण तु अंबकयं सुत्तं ॥
पुव्वद्धं कंठं चोदगाहा किं अणेगाओ संभादिया फला भक्खा जेण अंबं चेव णिसिज्झति । आचार्य आह । एगग्गहणागहण तज्जातीयाणंति सव्वे संगहिया । अयं पुण सुहपएह पच्चद्धं अंबेण सुहं पल्हाति पसपंदते इत्यर्थः । किंच हारितं जिह्वेन्द्रियस्य प्रीतिकारकमित्यर्थः । अनेन कारणेन अंबे सूत्रप्रतिबन्धः कृतः । अन्याचार्याभिप्रायेण गाथा ।

अंबे केणतिऊणं, कगलद्धं भित्तगं चउब्भागो ।
चोयणतया उ जमति, सगलं पुण अवखुयं जाण॥१२॥
थोवेण ऊणं अंबं भवति कगलं अद्धं भवति भित्तं चउभागादितया चोयण भवति नरकादिभिक्खुण सालं भवति । भवखुं अंबमासमित्यर्थः पेसी पूर्ववत् ।

सचित्तं च फलेहिं, अग्गपलंबा तु सुचिता सव्वे ।
अग्गपलंबेहि पुणो, मूलं चेव कया सुया य ॥ १३ ॥

नि० चू० १५ उ० ।

अंबक–अम्बक–न० अम्बति शीघ्रं नक्षत्रस्थानपर्यन्तं गच्छति अम्ब एवुल् १ नेत्रे, अम्ब्यते स्नेहेनोपशब्द्यते अम् स्वार्थे क–२ पितरि, वाच० ।

अम्लक०पुं० अल्पोऽम्लः अल्पार्थे कन् लकुचवृक्षे वाच० ।

आम्रक–न० चूतफले, पि० ।

अंबगट्ठिया–आम्रकास्थि–न०आम्रकस्य फलविशेषस्यास्थीनि आतप दत्तेषु शुष्काम्रफलास्थिषु, अनु० ।

अंबगपेसिया–आम्रकपेशिका–स्त्री० आम्रफलखण्डे, अनु० ।

अंबडे परिव्वायए माय वसहिं उवेइ गोयमा ! अम्मडस्स णं परिव्वायगस्स पगइभद्दयाए जाव विणीयाए छटुं छट्टेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय २ सूराभिमुहस्स आयावणभूमीए आयावेमाणस्स सुभेणं परिणामेणं पसत्थेहिं लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं अन्नया कयाइ तदावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहावूहमग्गणगवेसणं करेमाणस्स वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए ओहिणाणलद्धी समुप्पण्णा । तए णं से अम्मडे परिव्वायए ताए वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए ओहिणाणलद्धीए समुप्पण्णाए । जणविम्हावणहेउं कंपिल्लपुरे घरसते जाव वसहिं उवेइ से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ अंबडे परिव्वायए कंपिल्लपुरे नगरे घरसए जाव वसहिं उवेंते । पभू णं भंते ! अंबडे परिव्वायए देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए णोतिणट्ठे समट्ठे गोयमा ! अम्मडे णं परिव्वायए समणोवासए अभिगयजीवाजीवे जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरति णवरं ऊसियफलिहे अवंगुदुवारे चियत्तंतेपुरघरदारपवेसी एवं ण वुच्चति अम्मडस्स णं परिव्वायगस्स थूलए पाणातिवाते पच्चक्खाते जावज्जीवाए जाव परिग्गहे णवरं सव्वे मेहुणे पच्चक्खाते जावज्जीवाए अम्मडस्स णं णो कप्पइ अक्खसोतप्पमाणमेत्तं पि जलं सयराहं उत्तरित्तए । णण्णत्थ अद्धाणगमणेणं अम्मडस्स णं णो कप्पइ सगडं एवं चेव भाणियव्वं । जाव णण्णत्थ एगा एगं गामट्टियाए अंबडस्स णं परिव्वायगस्स णो कप्पइ आहाकम्मिए वा उद्देसिए वा मीसजाएति वा अज्झोयरए वा पूइकम्मे वा कीयगडेति वा पामिच्चे वा णिअणिसिट्ठे वा अभिहडेइ वा ठइत्तए वा रइत्तए वा कंतारभत्तेइ वा दुब्भिक्खभत्तेइ वा पाहुणगभत्तेइ वा गिलाणभत्तेइ वा वद्दलियाभत्तेइ वा भोत्तए वा पाइत्तए वा अंबडस्स णं परिव्वायगस्स णो कप्पइ मूलभोयणे वा जाव बीयभोयणे वा भोत्तए वा पाइत्तए वा अंबडस्स णं परिव्वायगस्स चउव्विहे अणत्थादंडे पच्चक्खाए जावज्जीवाए तंजहा अवज्झाणायरिए पमादायरिए हिंसप्पयाणे पावकम्मोवदेसे अंबडस्स कप्पइ मागहए अ आढए जलस्स पडिगाहित्तए से वि य वहमाणए नो चेव णं अवहमाणए जाव से वि पूए नो चेव णं अपरिपूए से वि य सावज्जेत्ति काउं णो चेव णं अणवज्जे से वि य जीवाई कट्ठ णो चेव णं अजीवा से वि य दिण्णे णो चेव णं अदिण्णे से वि य दंतहत्थपायचारुचमसपक्खालणट्टाए पवित्तए वा णो चेव णं सिणाइत्तए अंबडस्स णं परिव्वायगस्स कप्पइ मागहए य आढए जलस्स पडिग्गाहित्तए से वि य वहमाणे दिण्णे नो चेव णं अदिण्णे से वि य सिणाइत्तए णो चेव णं हत्थपादचारुचमसपक्खालणट्ठयाए पिवित्तए वा अंबडस्स परिव्वायगस्स णो कप्पइ अण्णउत्थिया वा अण्णउत्थियदेवयाणि वा अण्णउत्थियपरिग्गहियाणि वा चेइयाइं वंदित्तए वा णमंसित्तए वा जाव पज्जुवासित्तए वा अरिहंते वा अरिहंतचेइयाणि वा ।

[णण्णत्थ अरहंतेहि यत्ति] न कल्पते इह योऽयं नेति प्रतिषेधः सोऽन्यत्रार्हद्भ्यः अर्हतो वर्जयित्वेत्यर्थः । स हि किल परिव्राजकवेषधारकोऽतोऽन्ययूथिकदेवतावन्दनादिनिषेधे अर्हतामपि वन्दनादिनिषेधो माभूदिति कृत्वा णण्णत्थेत्याद्यधीतं, औ० । भ०।

अम्बडस्य मृत्योपपातः ।

कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहिति कहिं उववज्जिहिति ? गोयमा ! अंबडेणं परिव्वायए उच्चावएहिं सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासेहिं अप्पाणं भावेमाणे बहूइं वासाइं समणोवासयपरियायं पाउणित्तए पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाइं छेदित्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा बंभलोए कप्पे देवत्ताए उववज्जेहिति तत्थ णं अप्पेगइयाणं देवाणं दससागरोवमाइं ठिती पण्णत्ता तत्थ णं अम्मडस्स वि देवस्स दससागरोवमाइं ठिती । से णं भंते ! अंबडे देवत्ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चइ चइत्ता कहिं गच्छिहित्ति कहिं उववज्जइत्ति ? गोयमा ! महाविदेहे वासे जाइकुलाइं भवंति अड्ढाइं दित्ताइं वित्ताइं विच्छिण्णविउलभवणसयणासणजाणवाहणाइं बहुधणजायरूवरययाइं आओगपओगसंपउत्ताइं विच्छड्डियपउरभत्तपाणाइं बहुदासीदासगोमहिसगवेलगप्पभूयाइं बहुजणस्स अपरिभूयाइ तहप्पगारेसु कुलेसु पुमत्ता पच्चायाहिति । तए णं तस्स दारगस्स गब्भत्थस्स चेव समाणस्स अम्मापित्तीणं धम्मे दढपतिण्णा भविस्सइ से णं तत्थ णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाणराइंदियाणं वीतिक्कंताणं सुकुमालपाणिपाए जाव ससिसोमाकारे कंतं पियदंसणे सुरूवे दारए पयाहिति । तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो पढमे दिवसे ठितिपडियं काहिंति तइयदिवसे चंदसूरदंसणियं काहिंति छट्ठे दिवसे जागरियं काहिंति एक्कारसमे दिवसे वीतिक्कंते णिव्वत्ते असुइ जायइ कम्मं करणे संपत्ते बारसमे दिवसे अम्मापियरो इमं एयारूवं गुणं गुणणिप्फण्णं णामधेज्जं काहिंति जम्हा णं अम्हं इमंसि दारगंसि गब्भत्थंसि चेव समाणंसि धम्मे दढपतिण्णा तं होऊणं अम्हं दारए दढपइण्णणामेणं तत्तेणं तस्स दारगस्स अम्मापियरो णामधेज्जं करोहिंति "दढपइण्णोत्ति" तं दढपइण्णं दारगं अम्मापियरो सातिरेगट्ठवासजातगं जाणित्ता सोभ-

णंसि तिहिकरणदिवसणक्खत्तमुहुत्तंसि कलायरियस्स उव-णेहिंति । तए णं से कलायरिए तं दढपइण्णं दारगं लेहा-इयाओ गणियप्पहाणाओ सउणरुयपज्जवसाणाओ बावत्तरिकलाओ सुत्ततो य अत्थतो य करणतो य सेहा-विहिति । औ० (कलानामानि कलाशब्दे) सिक्खावेत्ता अम्मापितीणं उवणेहिंति तए णं तस्स दढपइण्णस्स दारगस्स अम्मापियरो तं कलायरियं विपुलेणं असणपाणखाइमेणं साइमेणं वत्थगंधमल्लालंकारेण य सक्कारेहिंति सम्माणेहिंति सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता विपुलं जीवियारिहं पीइदाणं दलइ-स्संति विपुलं विपुलेत्ता पडिविसज्जेहिंति तए णं से दढपइण्णे दारए बावत्तरिकलापंडिए नवंगसुत्तपडिबोहिये अट्ठारस-देसीभासाविसारए गीतरती गंधव्वणट्टकुसले हयजोही गयजोही रहजोही बाहुजोही बाहुप्पमद्दी वियालचारी साहसिए अलं भोगसमत्थे आविभविस्सति तते णं दढपइ-ण्णं दारगं अम्मापियरो बावत्तरिकलापंडियं जाव अलं भोगसमत्थं वियाणित्ता विपुलेहिं अण्णभोगेहिं लेणभोगेहिं वत्थभोगेहिं सयणभोगेहिं कामभोगेहिं उवणिमंतेहिंति । तए णं से दढपइण्णे दारए तेहिं विउलेहिं अण्णभो-गेहिं जाव सयणभोगेहिं णो सज्जिहिंति णो रज्जिहिं-ति णो गिज्झिहिंति णो अज्झोववज्जिहिंति से जहाणामए उप्पलेइ वा पउमेइ वा कुमुएइ वा नलिणेइ वा सुभ-गेत्ति वा सुगंधेत्ति वा पोंडरीएत्ति वा महापोंडरीएत्ति वा सतपत्तेइ वा सहस्सपत्तेइ वा सतसहस्सपत्तेइ वा पंके जाते जले संवुड्ढे णोवलिप्पइ पंकरएणं णोवलिप्पइ जलरएणं एवमेव दढपइण्णे वि दारए कामेहिं जाते भोगे-हिं संवुड्ढे णो वलिप्पहिंति कामरएणं णोवलिप्पहिंति भो-गरएणं णोवलिप्पहिंति । मित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरि-जणेणं सेणं तहारूवाणं थेराणं अंतिए केवलं बोहिं बुज्झि-हिंति । केवलबोहिं बुज्झित्ता अगाराओ अणगारियं पव्व-इहिंति । से णं भविस्सइ अणगारे भगवंते इरियासमिते जाव गुत्तबंभयारी तस्स णं भगवंतस्स एते णं विहारेणं विहरमाणस्स अणंते अणुत्तरे णिव्वाघाए निरावरणे क-सिणे पडिपुण्णे केवलवरणाणदंसणे समुप्पज्जिहिंति । ततेणं से दढपइण्णे केवली बहूइं वासाइं केवली परियागं पाउणिहिति मासियाए संलेहणाए अप्पाणं झूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता जस्सट्ठाए कीरए णग्गभावे मुं-डभावे अण्हाणए अदंतवणए केसलोए बंभचेरवासे अ-च्छत्तगं अणोवाहणगं भूमिसेज्जा फलहसेज्जा कट्ठसेज्जा परघरपवेसो लद्धावलद्धं वित्तीए परेहिं हीलणाओ खिंसणाओ निंदणाओ गरहणाओ तालणाओ तज्ज-णाओ परिभवणाओ पव्वहणाओ उच्चावया गामकं-टगा बावीसं परीसहोवसग्गा अहियासिज्जंति । तमट्ठमा-राहित्ता चरिमेहिं उस्सासणिस्सासेहिं सिज्झिहिंति बुज्झि-हिंति मुच्चिहिंति परिणिव्वाहिंति सव्वदुक्खाणमंतं करेहिं-ति औ० । जं० ।

परिव्राजके विद्याधरश्रमणोपासके च अस्य वक्तव्यता। चम्पायां नगर्यामम्बडो विद्याधरश्रावको महावीरस्य ... मुपश्रुत्य राजगृहं प्रस्थितः स च गच्छन् भगवता बहुजनो- पकाराय भणितो यथा सुलसाश्राविकायाः कुशलवार्त्तां ... य स च चिन्तयामास पुण्यवतीयं यस्याः त्रिलोकनाथः ... कीयकुशलवार्त्तां प्रेषयति, कः पुनस्तस्या गुण इति ... कथं परीक्षे, ततः परिव्राजकवेषधारिणा गत्वा तेन ... सा, आयुष्मति ! धर्मो भवत्या भविष्यतीत्यस्माकं भक्त्या ... जनं देहि तया भणितं येभ्यो दत्ते भवत्यसौ ते विदिता ... तोऽसावकाशविरचिततामरसासनासीनो जनं विस्मा- ... स्स, ततस्तं जनो भोजनेन निमन्त्रयामास स तु नैच्छत् ... लोकस्तं पप्रच्छ कस्य भगवन् ! भोजनेन मासक्षपणकपर्यंतं संवर्द्धयिष्यसि । स प्रतिभणति स्म ... साया: । ततो लोकस्तस्या वर्द्धनकं न्यवेदयत् । ... गेहे भिक्षुरयं बुभुक्षुः तयाऽभ्यधायि किं पाखण्डिभिरस्माकं ... ति लोकस्तस्मै न्यवेदयत् । तेनापि व्यज्ञायि परमसम्यग्दृष्टि- रेषा या महातिशयदर्शनेनापि न दृष्टिव्यामोहमगमदिति ... लोकेन सहासौ तद्गृहे नैषेधिकीं कुर्वन्पञ्चनमस्कारमुच्चार- प्रविवेश । साऽप्यभ्युत्थानादिकां प्रतिपत्तिमकरोत् तेनापि ... बुपबृंहितेति । स्था० ९ ठा० । अयमागमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां ... नाम द्वाविंशस्तीर्थकृद् भूत्वा धर्मं प्रज्ञाप्य सेत्स्यति यावत्सर्वदुःखा- नामन्तं करिष्यति । स्था० ९ ठा० । ती० । आ० म० द्वि० । नि० चू० । ही० । अयं पूर्वोक्तादम्बडपरिव्राजकादन्य ... तदुक्तम् । यश्चौपपातिकोपाङ्गे महाविदेहे सेत्स्यतीत्यभि- सोऽन्य इति सम्भाव्यते । इति स्था० ९ ठा० । नि० चू० ।

अंबमा(दा)लग-आम्रहालक-न० आम्रसुकुमारेषु, ... श्रु० २ अ० ७ ।

अंबत्त-अ (आ) म्लत्व-न० (अम्लरसवत्त्वे) "अंबत्तणेण जीहाए, कूचिया होइ खीरमुदगंमि " विशे० ।

अंबदेव-आम्रदेव-पुं० नेमिचन्द्रसूरिकृताऽऽख्यानकमणिकोश- स्योपरि टीकाकारके स्वनामख्याते आचार्ये, जै० इ० ।

अंबपलंबकोरव-आम्रप्रलम्बकोरक- न० आम्रप्रलम्बं ... म्यः फलं तस्य कोरकं तन्निष्पादकं मुकुलमाम्रफलकोरक ... विशेषे, एवं यः पुरुषः सेव्यमान उचितकाले उचितमुपकार- फलं जनयत्यसावाम्रप्रलम्बकोरकसमान उच्यते, ...

अंबपल्लवपविजत्ति-आम्रपल्लवप्रविभक्ति-न० नाट्यविधि- ...

अंबपेसिया-आम्रपेशी-स्त्री० आम्रस्य पेशीव ...

आम्रपेशी-स्त्री० आम्रफलखण्डे । आचा० २ श्रु० ३ अ० ।

अंबफल-आम्रफल-न० रसालफले, स्था० ४ ठा० ... (मानवि- प्रफलानि आम्रवृक्षस्योपरि ... ... शिखरशब्दे) ।

अंबभित्तग-आम्रभित्तक-न० आम्रार्द्धे आचा० २ श्रु० ...

अंबर-अम्बर-न० अम्बेव मातेव जननसाधर्म्यादम्बा जलं तस्य दानाद्राशिर्विनिर्मितोऽम्बरम् आकाशे । भ० २ श० २ उ० । स्था० ५ ठा० । (अभिधानराजेन्द्रे) ठाणे, नि० चू० १ उ० । आ० म० प्र० । सूत्र० । आव० । प्रश्न० । वस्त्रनामख्याते गन्धद्रव्ये, अभ्रकधातौ च, वाच० ।

अंबरतल-अम्बरतल-न० आकाशतले, रा० । ज्ञा० ।

अंबरतिलय-अम्बरतिलक- पुं० यात्र्यीलगडस्थे पर्वतभेदे, यत्र भद्रसार्थपत्नीविजयपर्वतिनन्दिग्रामसन्निवेशस्य धरित्रिक्षुधज्ञा-तनिर्नामिका नाम कन्या मातुः व्यापमनवाप्य तद्वचनेन गत्वा पकफलानि गृहीतवती । आ० म० प्र० । आ० चू० ।

अंबरतिलया-अम्बरतिलका-स्त्री० नगरीभेदे यत्र दशार्णदिग्वि-विमर्दनो महाराजः । दर्श० ।

अंबरवत्थ-अम्बरवस्त्र-न० स्वच्छतया अम्बरतुल्यानि वस्त्राणि अम्बरवस्त्राणि स्वच्छवस्त्रेषु । कल्प० ।

अंबरस-अम्बरस-न० अम्बा पूर्वोक्तयुक्त्या जलं तद्रूपो रसो यस्माद्विनिर्गतोऽम्बरसम् आकाशे, भ० २० श० २ उ० ।

अंबरि (री) स-अम्बरि (री) ष-पुं० न० अम्ब्यते पच्यतेऽत्र अम्ब अरिष निर्० वा दीर्घः भर्जनपात्रे, अम्बरीसमपि वाच० भ्राष्ट्रे, भ० ३ श० ६ उ० । प्रव० । कोष्ठके, लोहकाराम्बरीषे वा, जी० ३ प्रति० ।

अंबरि (री) स (सि) -अम्बरीष (रीष) ऋषि (र्षि) - पुं० यस्तु नारकान् निहितान् कल्पनिकाभिः खण्डशः कृत्वा भ्राष्ट्रपाकयोग्यान् करोतीत्यम्बरीषस्य भ्राष्ट्रस्य संबन्धाद-म्बरीष इति द्वितीयपरमाधार्मिकः, प्रव० १८० द्वा० । भ० । स० ।

ओहयहयेय तहियं, णिस्सण्णे कप्पणीहिं कप्पंति ।
विदलगचहुलगछिण्णे, अंबरिसी तत्थ णेरइए ॥७२॥

(ओहयत्यादि) उप सामीप्येन मुद्गरादिना हता उपहताः पुनरप्युपहता एव खड्गादिना हता उपहतहतास्तान्नारकान् तस्यां नरकपृथिव्यां निःसंज्ञकान् नष्टसंज्ञकान् मूर्च्छितांस्ततः कर्पणीभिः कल्पयन्ति छिन्दन्तीत्यर्थस्तथा पाटयन्ति । तथा द्विद-लचटुलकच्छिन्नानिति मध्यपाटितान् खण्डशश्छिन्नांश्च नारकान्-नत्र नरकपृथिव्यामम्बरीषनामानोऽसुराः कुर्वन्तीति सूत्र० ५ अ० ५ अ० । आव० प्रव० । आ० चू० । प्रश्न० ।

अंबरिसि-अम्बऋषि (र्षि) -पुं० उज्जयिनीवास्तव्ये ब्राह्मण-भेदे, यस्य मालुकया प्रिया निम्बः सुतः (इति णिबओवगय शब्दे वक्ष्यते) धा० क० । आव० । आ० चू० ।

अंबवण-आम्रवण-न० आम्रस्य वनम् । नित्यं णत्वम् । आम्रवृ-क्षसमुदायात्मके वने, वाच० । आचा० ।

अंबसमाण-अम्लसमान-पुं० "अंबफरिसेहिं अंबो न तेहिं मिट्ठि तु ववहारो" येषु वचनेष्वकेषु परस्य शरीरं विकथविकायते तानि वचनान्यम्लानि अम्लैः परुषैश्च वचनैर्व्यवहारं न निर्विकल्पयति सोऽम्ल-वचनयोगादम्ल इति इत्युक्तलक्षणे दुर्व्यवहारिणि । व्य० १ उ० ।

अंबसालवण-आम्रसालवन-न० आम्रफले आम्रैः शालैश्चानि-प्रचुरतयोपलक्षिते वने तयोगादामलकल्पाया ईशानकोणस्थे चैत्ये च " आमलकप्पाए णयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दि-सीभाए अंबसालवणे णामं चेइए होत्था पोराणे जाव पडिरू-वे" पूर्णभद्रचैत्यवदस्य वर्णकः । रा० । उत्त० । ग० । आ० म० द्वि० । आव० । ज्ञा० । आ० चू० ।

अंबहुंडि-अम्बहुण्डि-स्त्री० देवीभेदे । महा० २ अ० ।

अंबा-अम्बा-स्त्री० अम्ब्यते स्नेहेनोपगम्यते अम्बा । कर्मणि घञ् । वाच० । मातरि । उत्त० २ अ० । स्था० । श्रीनेमिनाथस्य तीर्थाधिष्ठा-तृदेवतायां च सा च, अम्बादेवी कनककान्तरुचिः सिंहवाहना च-तुर्भुजा आम्रलुम्बिपाशयुतदक्षिणकरद्वया सिपुत्रांकुशाधिष्ठितवा-मकरद्वया च । प्रव० २७ द्वा० । तस्याः प्रतिमा यथा-अहिच्छत्रायाम-विदूरे सिद्धक्षेत्रे पार्श्वस्वामिनश्चैत्यप्राकारसमीपे श्रीनेमिमूर्तिस-हिता सिद्धबुद्धकलिता आम्रलुम्बिहस्ता सिंहवाहना अम्बादेवी तिष्ठति, ती० ७ कल्प० । प्रतिष्ठानपुरपत्तने पेरयतमेखलायां कृष्णेन अम्बादेवीप्रतिमा कृता " तत्थय अंबाए सेण ठवयासतिगेण " ती० २ कल्प । अम्बष्ठाङ्गनायां, काशीराजकन्यायां च, । वाच० ।

अंबाजक्ख-अम्बायक्ष-पुं० यक्षभेदे, " गोवाकंमि णिरुद्धा, समणा रोसेण मिसिमिसायंता । अंबाजक्खो य भणति, पयम-वाहेहि संघंति" ति० ।

अंबाडग-आम्रातक-पुं० आम्र इवातति आम्रात् किञ्चिद्धी-नरसफलकत्वात्, अत्-पचन् (आमडा) १ वृक्षे २ तत्फले, न० आम्रेण तत्फलरसेन तकते प्रकाशते । आ+तक हासे अच् । शु-ष्काम्ररसनिर्मिते (आमट्) खाद्यभेदे, तत्करणप्रकारः भाव-प्र० उक्तः । यथा "आम्रस्य सहकारस्य, कटेविस्तारितो रसः । घर्मशुष्को मुहुर्दत्त, आम्रातक इति स्मृतः " वाच० । प्रज्ञा० । अनु० । आचा० ।

अंबाडिय-आम्लित-त्रि० आम्ल इव कृतः खरण्टिते, आ० म० द्वि० 'चमढेति खरंटेति अंबाडेत्तित्ति वुत्तं भवति' नि० चू० ४ उ० ।

अंबातव-अम्बातपस्-न० अम्बोद्देशेन कृतं तपः अम्बातपः श्री-किकफलप्रदे तपोभेदे, तच्च अम्बातपः पञ्चसु पञ्चमीष्वेकाशना-दि विधेयं नेमिनाथाऽम्बिकापूजा चेति, पञ्चा० १९ विव० ।

अंबावल्ली-अम्लवल्ली-स्त्री० अम्लरसवती वल्ली त्रि० पर्णिका-नामकन्दभेदे, वाच० वल्लीभेदे, प्रज्ञा० १ पद० ।

अंबिआ (या)-अम्बिका-स्त्री० अम्बैव । कन्, मातरि, दुर्गायां, वाच० । नेमितीर्थाधिपदेवतायां, तस्याः प्रतिमा मथुरायाम् "इत्थं कुबेरो नरवाहणो अंबिआ सीहवाहणा" ती० १० कल्प० । उज्ज-यन्तशैलशिखरेऽवलोकनशिखरात्प्राक् "अंबियाए भवणं दीस-इ" ती० ५ कल्प० । टिपुर्यामम्बिकामूर्तिः "अत्राम्बिकाहारसमीप-वर्ती, श्रीक्षेत्रपालो भुजपद्मभास्वरः । सर्वज्ञपादाम्बुजसेवनालि-नौ, संघस्य विघ्नौघमपोहतः क्षणात्" ती० ४४ कल्प० । पञ्च-मवासुदेवमातरि च । स० । आव० ।

अंबियासमय-अम्बिकाश्रमय-पुं० उज्जयन्तशैले गिरिप्रद्युम्ना-वतारे स्वनामख्याते तीर्थभेदे । " गिरिपज्जुण्णवयारे, अंबिअ-समए य नामेणं । तत्थ वि पीआपुढवी, हिमवाए होइ वरहेमं" ती० ४ कल्प ।

अंबिणी-अम्बिनी-स्त्री० कोटीनारनगरवास्तव्यसोमब्राह्मण-भार्यायाम् । ती० ५६ कल्प । (कोहंडिदेवकल्पशब्दे)

अंबिल-अम्बिल-अ (आ) म्ल-पुं० अम्-क्तः प्राकृते "लात्" ८ । २ । १०६ । इति सूत्रेण संयुक्तलकारात्पूर्वमिदागमः, प्रा० । अग्नि-दीपनादिकृति अम्लिकाद्याश्रिते रसभेदे, " अम्लोऽग्निदीप्तिकृत् स्निग्धः, शोफपित्तकफावहः । क्लेदनः पाचनो रुच्यो, मूढवाता-नुलोमकः " ॥ १ ॥ कर्म० १ कर्म० । अनु० । जं० ।

एगे अंबिले-आम्रवणच्छेदनहृदम्लः । स्था० १ ठा० । अम्लरस-

वति, त्रि० । तक्रादिसंस्कृते, ज्ञा० १७ अ० । तक्रारनालकादौ, ल० । काञ्जिके, स्था० १० ठा० । सौवीरे, स्था० १० ठा० । वाच० । 'कह्वालदरेसु अंबिलं मा भण' " कलपात्रगृहेषु किलाम्लशब्दमनुच्चारिते सुरा विनश्यति अनिष्टपरिहारार्थमम्लं स्वादूच्यते, अनु० ।

अंबिलणाम-अम्लिलनामन्-न० रसनामकर्मभेदे, यदुदयाज्जीवशरीरमम्लीकादिवदम्लं भवति तदम्लनाम, कर्म० १ कर्म० ।

अंबिलरस-अम्लरस-पुं० क० स० अम्ले रसे, तद्वति, त्रि० वाच० अम्लरसश्च तक्रवत् । प्रश्न० संव० ५ द्वा० ।

अंबिलरसपरिणय-अम्लरसपरिणत-पुं० अम्लवेतसादिवदम्लरसपरिणामं गते पुद्गले, प्रज्ञा० १ पद ।

अंबिलिआ-अम्लिका-स्त्री० अम्लैव स्वार्थे कन् १ तिन्तिडयाम्, अम्लान्लिकत्यपि सा च २ पलाशीलतायां ३ श्वेताम्लिकायां ४ क्षुद्राम्लिकायाञ्च, राजनि० । जं० ३ वक्ष० ।

अंबिलोदग-अम्लोदक-न० काञ्जिकवत्स्वभावत एवाम्लपरिणामे, उदके, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।

अंबुणाह-अम्बुनाथ-पुं० समुद्रे, व्य० ६ उ० ।

अंबुणंध-अम्बुनिरुन्ध-पुं० जलनिरोधकरणे प्रयोगे कलाभेदे, कल्प० ।

अंबुभक्खि (न्)-अम्बुभक्षिन्-पुं० जलमात्रभक्षके वानप्रस्थभेदे, औ० । नि० ।

अंबुवासि (न्)-अम्बुवासिन्-पुं० अम्बुप्रधाने देशे वसति, [illegible] । [illegible], जलवासिमात्रे, त्रि० वाच० । [illegible], पुं० ये जलनिमग्ना एवासते । औ० ।

अंभ-अम्भस्-न० [illegible] । उदके कुम्भो योनि[illegible] वा । वाच० । जं०, प्रति० । अष्ट० ।

अंस-अंश-(स)-पुं० अश (स) भावे अच् । विभागे, स्था० ३ ठा० । [illegible] । प्रति०, विशे० । आ० चू० । प्रति० । आचा० [illegible] । [illegible], पञ्चा० ७ विव० । [illegible], विशे० । [illegible] । [illegible] । [illegible] । वाच० । पर्याये, विशे० । स्कन्धे च, ज्ञा० १८ अ० ।

अंस(ग)गय-अंस(क)गत-त्रि० स्कन्धदेशमागते, विपा० १ श्रु० ३ अ० । [illegible], ज्ञा० १८ अ० ।

अंसग-अंसक-पुं० स्कन्धे, म० ।

अंसि-अंसि-स्त्री० । [illegible] । कोटौ, स्था० ८ ठा० ।

अंसिया-अंशिका-स्त्री० । अंशु [illegible] । स्वार्थे [illegible] । [illegible] " [illegible] " सू० २ श्रु० । " [illegible] " [illegible] । [illegible] । [illegible], वि० सू० ३ श्रु० ।

[illegible] " [illegible] " वि० सू० ३ श्रु० । [illegible] " [illegible] " ([illegible]) [illegible], प्र० १६ शत० [illegible])

अंसु-अंशु-पुं० [illegible], सूर्ये, सूत्रांशे, प्रकाशे, [illegible] ।

अंसु-अश्रु-न० अश्नुते व्याप्नोति नेत्रमदर्शनाय । अश् क्रुन् । [illegible] वक्रादावन्तः ८।१।२६ इति सूत्रेण अनुस्वारागमः, प्रा० [illegible], वाच० । " गुरुदुक्खभरकंतस्स अंसुणि वायण जं अंसु [illegible] तं अगरुनलायणईसमुद्दमाईसु ण वि होज्ज " महा० [illegible] । " अंसुपुण्णणयणे तित्थयरसरीरयं तिवखुत्तो " जं० २ वक्ष० । 'अंसुपुण्णेहिं णयणेहिं उरं मे परिसिंचइ' उत्त० २० अ० ।

अंसुय-अंशुक-न० चीनविषये वहिस्त्वग्लग्ने सूत्रे, [illegible] । आ० म० प्र० । " अब्भंतरहीरे जं उप्पज्जति तं अंसुयं " नि० चू० ७ उ० । आचा० । अंशुकं श्लक्ष्णपट्टस्वरूपविशेषः, [illegible] २ उ० । वस्त्रविशेषे, ज्ञा० १ अ० । जं० । जी० । पत्रे च, [illegible] कन् । अंशुशब्दार्थे, पुं० । वाच० ।

अंसोवसत्त-अंसोपसक्त-त्रि० । ७ त० । अंस (स) [illegible] [illegible]स्कन्धयोरुपसक्तं लग्नं यत् स्कन्धलग्ने, कल्प० ।

अकइ (ति)-अकति-त्रि० न कति न संख्यातः [illegible] असंख्यातेषु अनन्तेषु, स्था० ३ ठा० । भ० ।

अकइ (ति) संचिय-अकतिसञ्चित-पुं० न कति [illegible] इत्यकति असंख्याता अनन्ता वा तत्र ये अकतयो [illegible] असंख्याता एकैकसमये उत्पन्नाः सन्तस्तथैव संचितास्ते [illegible] सञ्चिताः । स्था० ३१ ठा० । एकसमयेऽसंख्यातोत्पादेन [illegible] त्पादेन च पिण्डितेषु नैरयिकादिषु (अत्र [illegible] यिकादीनामकतिसंचितत्वमुपपातशब्दे) भ० २ श० [illegible] ।

अकंटग-अकण्टक-त्रि० न० ब० । कण्टकरहितेषु [illegible] मध्ये वब्बूलादिवृक्षाः सन्तीति, जी० ३ प्रति० । [illegible] व्यकण्टकविकलेषु, आव० ५ अ० । प्रतिस्पर्द्धिगोत्र [illegible] " ओहयकंटयं मलियकंटयं अकंटयं " ज्ञा० १ अ० । स्था० । सूत्र० ।

अकंड-अकाण्ड-न० । न० त० । अप्रस्तावे, अनवसरे, [illegible] "एत्थ मया अकंडे विणासिया तं कारणं सुणह" आ० म० [illegible] अकाले, वृ० १ उ० ।

अकंडूयग--अकण्डूयक-पुं० न कण्डूयते [illegible] स्था० ५ ठा० । अकण्डूयनकारके अभिग्रहविशेषणि, [illegible] संव० १ द्वा० ।

अकंत-अकान्त-त्रि० कान्तः कामितः [illegible], स्था० ७ ठा० [illegible] [illegible]न्तोऽकान्तः । जी० १ प्रति० । स्वरूपेणाकमनीये, स्था० [illegible] भ० । प्रश्न० ।

अकंततर-अकान्ततर-त्रि० स्वरूपेणात्यन्तमकमनीयतरे, [illegible] प्रति० । वि० ।

अकंतता-अकान्तता-स्त्री० असुन्दरतायाम्, भ० १ श० [illegible]

अकंतदुक्ख-अकान्तदुःख-त्रि० [illegible] [illegible]ऽकान्तदुःखवाः [illegible] सूत्र० १ श्रु० [illegible] "अंकन्तदुक्खं [illegible] दुहं अनुभव" आचा० २ श्रु० [illegible] [illegible], सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

अकंतस्सर-अकान्तस्वर-त्रि० [illegible] स्था० ७ ठा० ।

अकंदरिण (न)-अकन्दरिन्-त्रि० [illegible] [illegible], भ० १ श० ।

अकंप-अकम्प-त्रि० [illegible], भग० । [illegible], " [illegible]

...णंमि य, सव्वे चरित्ते य चउसु वि अकंप " अकम्पोऽक्षो-
...ति दैवैरप्यचाल्य इत्यर्थः, आतु० ।

...कंपिय-अकम्पित-पुं० । न० त० । श्रीमहावीरस्याष्टमे गणधरे,
...०० (अस्यागारपर्यायादयो गणधरशब्दे) आ० चू० । आ०
म० द्वि० । कल्प० । (अथमकम्पितनामा द्विजोपाध्यायो
...धीरान्तिकं गतो भगवता नामगोत्राभ्यामाभाष्य) वि० । "आ-
...इट्ठो य जिणेण, जाइजरामरणविप्पमुक्केणं । नामेण य गुत्तेण
य, सव्वन्नूसव्वदरिसीण ॥ किं मन्ने नेरइया, अत्थि नत्थि त्ति
संसओ तुज्झ, वेदपयाणं अत्थं, न याणसी तेसिमो अत्थो "
(इत्यादुक्तं इति नारयशब्दे प्रदर्शयिष्यते)

अककसभासा-अकर्कशभाषा-स्त्री० अतिशयोक्त्या हामत्स-
रपूर्वायां भाषायाम, दश० ७ अ० ।

अककसवेयणिज्ज-अकर्कशवेदनीय-न० अकर्कशेन सुखेन
वेद्यन्ते यानि तानि अकर्कशवेदनीयानि भरतादीनामिव सुख-
वेदनीयेषु कर्मसु ॥ अत्र दण्डक "अत्थि णं भंते जीवाण अकक-
सवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति ? हंता अत्थि कहण्णं भंते ! जीवा-
णं अककसवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति ! गोयमा ! पाणाइवायवे-
रमणेणं जाव परिग्गहवेरमणेणं कोहविवेगेणं जाव मिच्छादंस-
णसल्लविवेगेणं एवं खलु गोयमा ! जीवाणं अककस-
वेयणिज्जा कम्मा कज्जंति अत्थिणं भंते ! नेरइयाणं अकक-
सवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति णोइणट्ठे समट्ठे एवं जाव वेमा-
णियाणं णवरं मणुस्साणं जं जीवाणं । भ० ७ श० ६ उ० ।

...ज्ज-अकार्य-न० अप्रशस्तं कार्य्यम् अप्राशस्त्येन त० कुत्सि-
...कार्य्ये, निषिद्धकार्य्ये च । कर्त्तव्यभिन्ने, त्रि० वाच० । आचा० ।

...ज्जमाण-अक्रियमाण-त्रि० न० त० वर्त्तमानकाले अ-
...नेवर्त्तमाने भ० १ श० १० उ० ।

...ज्जमाणकड-अक्रियमाणकृत-त्रि० क्रियमाणं वर्तमान-
काले कृतं वातीतकाले तन्निषेधादक्रियमाणकृतं (वर्तमाना-
तीतकालयोरनिर्वर्त्यमानानां निर्वृत्ते) "अकिच्चं दुक्खं अकु-
सं दुक्खं अकज्जमाणकडं दुक्खं " भ० १ श० १० उ० ।

अकट्ठ-अकाष्ठ-त्रि० न० ब० काष्ठरहिते अनिन्धने, "जंसीज-
...संतो अगणी अकट्ठो " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

अकड-अकृत-त्रि० न० त० अविहिते । " कडं कडित्ति भा-
सिज्जा, अकडं नो कडित्ति य " उत्त० १ अ० " अकडं करि-
स्सामित्ति मन्नमणे " यदपरेण न कृतम् । आचा० १ श्रु० २ अ० ।

अकडजोगि (न्)-अकृतयोगिन्-पुं० यतनया योगमकृत-
वति, व्य० ३ उ० । अकृतयोगी अगीतार्थः त्रीन् वारान् कल्पमेष-
णीयं वा परिभाव्य प्रथमवेलायामपि यतस्ततोऽकल्पमनेषणी-
यमपि ग्राही । व्य० १० उ० । " अकडजोगत्ति दारं तिगुणं प-
च्छद्दंति तिसंखा तिन्नि गुणीओ तिगुणो असंथरतीसु
तिन्नि वारा एसणीयं सन्निसिद्धो जाव ततियवाराए वि ण
लज्जति तदा चउत्थपरियाडीए अणेसणीयं घेत्तव्वं एवं ति-
गुणं जोगं काऊण जोगो व्यापारः वितियवाराएव अणेस-
णीयं गेण्हति जो सो अकडजोगी भवति अकडजोगित्ति
गयं " नि० चू० १ उ० ।

अकडपायच्छित्त-अकृतप्रायश्चित्त-त्रि० न कृतं प्रायश्चित्तं येन
अननुष्ठितविशोधः " जे भिक्खू माहिगरणं अविउसविय-
पाहुडं अकडपायच्छित्तं " नि० चू० १० उ० ।

अकडसामायारि-अकृतसामाचारि-पुं० ३ ब० अवितथा मण्ड-
ल्युपसंपत्सामाचारीमकुर्वति, वृ० ३ उ० एवंविधां (सामाचारी-
शब्दे वक्ष्यमाणां उपसम्पन्मण्डलीविषयां द्विविधामपि सा-
माचारीं यो न करोति सोऽकृतसामाचारीक उच्यते, वृ० १ उ० ।

अकढिण-अकठिन-त्रि० कोमले, जी० ३ प्रति ।

अकण्ण-अकर्ण-पुं० सिंहलद्वीपस्य नैर्ऋतकोणे (अन्तरद्वी-
पशब्दोक्त) प्रमाणे अन्तरद्वीपे, तद्वास्तव्ये मनुष्ये च, स्था० ४
ठा० । प्रज्ञा० । न० । कर्णरहिते, वाच० ।

अकण्णछिण्ण-अकर्णच्छिन्न-अच्छिन्नकर्ण त्रि० न छिन्नौ
कर्णौ यस्य स तथा । अकृतश्रवणे, नि० चू० १४ उ० ।

अकत्तण-अकर्तन-त्रि० उच्चस्य फलं कर्तितुं शीलमस्य । कृत-
युच् न० त० । उच्चत्वविरोधिहस्तत्वयति खर्वे, कृत-भावे ल्युट्
न० ब० छेदनकर्तरि त्रि० वाच० ।

अकत्तिम-अकृत्रिम-त्रि० न कृत्रिमः । न० त० कृत्रिमभिन्ने, स्वना-
भसिद्धे, वाच० "अकत्तिमेहिं चेव कत्तिमेहिं चेव" जं० २ वक्ष० ।

अकप्प-अकल्प-पुं० कल्पो न्याय्यो विधिराचारश्चरणकरण-
व्यापार इति यावत् । न कल्पोऽकल्पः । अनरूप इत्यर्थः । पं० व०
अधि० अविधौ चरकादिदीक्षायाम्, अग्राह्ये, पंचा० १२ विव० ।
आव० । आ० चू० । अकल्प्ये, अयोग्ये, " अकप्पं परियाणामि
कप्पं उवसंपज्जामि " आव० ४ अ० । दर्पादौ, व्य० १ उ० ।
अभोज्ये, "जइ कम्मं अकप्पं तत्थियं " पिं० । "अकप्पं पडिगा-
हेज्जा, चउत्थाइ जहाजोग कप्पं वा । पडिसेहए अथवा-अवं
गोयर पविट्ठो उ " । महा० ७ अ० । दूषणीये । नि० चू० १५
उ० । अनाचारे, कल्प० । अकल्प. अमर्यादा अनीतिः अनुपद्य
इत्यनर्थान्तरम्, पं० चू० । पिण्डशय्यावस्त्रपात्ररूपचतुष्टयेऽक-
ल्पनीये, व्य० २ उ० । " वयछक्कं कायछक्कं, अकप्पो गिहिभायणं"
इत्यादि । दश० ६ अ० । तत्राकल्पो
अकल्पः शिक्षकस्थापनाकल्पः अकल्पस्थापनाकल्पश्च तत्र
द्विविधः शिक्षकस्थापनाकल्पः अनधीतपिण्डनिर्युक्त्यादिनानीतमाहा-
शिक्षकस्थापनाकल्पः अनधीतपिण्डनिर्युक्त्यादिनानीतमाहा-
...रादि न कल्पते इत्युक्तं च " अणहीया खलु जेणं, पिंडेस-
णसेज्जवत्थपाए । तेणाणियाणि जतिणो, कप्पंति न पिं-
...माईणि ॥ उउबद्धंमि ण अणला, वासावासेउ दो वि णो सेहा
दिक्खिज्जंती पायं, ठवणाकप्पो इमो होइ " अकल्पस्था-
...पनाकल्प स्याद ॥

जाइं चत्तारिऽभुज्जाइं, इसिणा हारमाइणि ।
ताइं विहिणा वज्जंतो, संजमं अणुपालए ॥४७॥

सूत्रं व्याख्या-यानि चत्वार्यभोज्यानि संयमापकारित्वेनाकल्पनीयानि
ऋषीणां साधूनामाहारादीन्याहारशय्यावस्त्रपात्राण्यनुपाल-
यानि तु विधिना वर्जयन् संयमं अतद्यत्प्रकारमनुपाल-
तानि तु विधिना वर्जयन् संयमं अनुपालयेदिति सूत्रार्थः । एतदेव स्पष्टयति
तदत्याग संयमाभावादिति सूत्रार्थः । एतदेव स्पष्टयति
पिंडसेज्जं च वत्थं च, चउत्थं पायमेव य ।
अकप्पियं न इच्छिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पियं ॥

पिण्डशय्यां च वस्त्रं चतुर्थं पात्रमेव च । एतत्सकलं
अकल्पिकं नेच्छेत् प्रतिगृह्णीयात् कल्पिकं यथो-
...धर्मकल्पिकं दोषमाह ।

सूत्रार्थः । अकल्पिके दोषमाह ।
जे नियागं ममायंति, कियमुद्देसियाहडं ।
वहं ते समणुजाणंति, इइ वुत्तं महेसिणा ॥ ४...

संकुलछटगं, पूरो जो होइ रसिपरिवुच्छो ।
अंपेगं, बहुविहमणाण सा जोणी ॥ २६ ॥
णियं तु पेयं, मज्झाहे विन्दुपाणियं चेव ।
काल न पेयं, तेसु वि जीवा अणेगविहा ॥ ३० ॥
नारगद्दीए, बरंबग छागलवासिद्धो अ ।
लेण अभक्खो, सो ऊ उणहो अ मज्झिलेणं ॥ ३१ ॥
मुच्छंति निगोया, तस्सा पंचिंदिया अणेगविहा ।
तूमा जइहिं दिट्ठा, तज्जोणीया बहू जीवा ॥ ३२ ॥
कुणकंतो धीमे-हिं मीसिओ ? एगरत्तिपरिवुच्छो ।
एगंतेण अभक्खो, तंमि निगोया य पंद्रका ॥ ३४ ॥
छागलतक्के मिस्सो, उगतेहिं किएहकंगुओ जीओ ।
पूलं कारेहि मासो, परिवुच्छो तस्स बहुयरया ॥ ३५ ॥
पंचसवसुट्ठवंदा, अकप्पिया सिद्धगागिनिच्चं पी ।
एसा कगाणवयं, सोरठा जाएदेसंम्मि ॥ ३६ ॥
बहुहिं पयारेहिं सया, न कप्पए कंगुओ तहिं देसे ।
जो अंबलंमि मच्छो, तस्सयमानघिया जीवा ॥ ३७ ॥
उएहे संमुच्छम्मि य, अणेगजीवा निगोयसंजाणा ।
सीयलयंमि य मच्छा, रहेएा मंतिया हवे ॥ ३८ ॥
छागलतक्के मिस्सो, कंगुओ खायरं ठि कटेहिं ।
उएहे निगोयजीवा, सीयलए तंतुया हुंति ॥ ३९ ॥
तक्क विलंपि मिस्सो, मासो लएएपयरयसमासम्मि ।
उएहंमि समा जीवा, सीयलए हुंति य निगोया ॥ ४० ॥
माहिसतक्के छागलेहिं, मिस्सओ जइति कंगुओ होइ ।
समुच्छंति अणेगा, सीयलए तंतुआ जीवा ॥ ४१ ॥
चच्छापत्तंमिठ्ठं-पि मिस्सयं उएहयं च अगिणीए ।
उप्पज्जंति अणेगा, सीयलए किएहया जीवा ॥ ४२ ॥
अंबिलमिस्सविगली, एगंतेणं च सा वि परिसिच्छा ।
उएहम्मि तसा जीवा, निगोयजीवा य सीयलए ॥ ४३ ॥
मासागरसावंगुथ, एए तिन्नि व उएहया कूरा ।
पारिहारियच्चा निच्चं सीयलए तंतुआ जीवा ॥ ४४ ॥
छागलतक्के मिस्सो, कंगुओ खायरंहि कटेहिं ।
निल्लयसलूणमिस्सो, निगोयपंचिंदिया हुंति ॥ ४५ ॥
निगंयाण अभक्खं, मुल्लगसागं तिरत्ति परिवुच्छं ।
निगंयाण अभक्खं, मुल्लगसागं तिरत्ति य बहुय जीवा ॥ ४६ ॥
कुंथुसमायनिगोया, उप्पज्जंति य बहुय जीवा ।
मासावहुपरिवुच्छा, एगंतेण वि हुंति अभक्खा ।
हुंति य निगोयजीवा, तंतुअ पंचिंदिया तस्य ॥ ४७ ॥
सतु अजवगा भक्खा, भक्खा परिवुच्छजेगुरुहदेसम्मि ।
पेज्जासुहुक्कुडिया, पंचिंदियजीवजोणी सा ॥ ४८ ॥
एगं मासं जवगा, पूवारिया कुंथुआ भवे पच्छा ।
एगंतेण अजवग्गा, परिवुच्छा मासपोज्जीया ॥ ४९ ॥
उप्पज्जंति निगोया, जीवा पंचिंदिया बहुविहा य ।
बुविहेसु मोयगेसुं, परिवुच्छाइसु तहिं देसे ॥ ५० ॥
गोसत्तरसाइयाणं, गोणीणं गोरसेण जं मिस्सं ।
संसप्पइ रसएहिं, खणेण वालगसरिसेहिं ॥ ५१ ॥
सव्वेसु वि देसेसुं, परिवुसियाइं अकप्पणिज्जाइं ।
असणं पाणमक्खं, नाणा जीवाण सा जोणी ॥ ५२ ॥
जा परिवुच्छं भुंजइ, एगरसं चउविहं पि आहारं ।
सा बहुविहजीवाणं, करेइ अंतं अयाणंतो ॥ ५३ ॥
जो नाही पडिवत्ति, णाणादेसेसु सत्तभणिएणं ।
सो संजमं अविकलं, करेइ साहु य परिहरंतो ॥ ५४ ॥
अंतमुघाणियाए, वायासट्ठीउ जो य इक्खुरसो ।
मच्छामसुच्छंति अ, तक्कालं सव्वदेसेसु ॥ ५५ ॥
संसत्तपणिज्जुत्ती, एसा साहूहिं चेव पडिअव्वा ।
अत्थो पुण सव्वेहि वि, सोयव्वो साहु पासाओ ॥ ५६ ॥
सं० नि० । आचा० ।

अकल्पित–त्रि० अयोग्ये, ग० १ अधि० ।

अकब्बर–पुं० पारसीकोऽयं शब्दः दिल्लीनगराधिपतौ, म्ले-च्छराजे, स हीरविजयप्रतिबोधितः " यो जीयानयदानडिण्डि-मोत्तमात् स्वीयं यशोडिण्डिम, षणमासान्प्रतिवर्षमुग्रमखिले भूमण्डलेऽघोषयत् । तेजे धार्मिकतामधर्मरसिको म्ले-च्छाग्रिमोऽकब्बरः, श्रुत्वा यद्वदनाद्वनाविलमतिर्धर्मोपदेशं शुभम् ॥ १ ॥ कल्प० ॥

अकम्म–अकर्मन्–न० न० त० कर्मकरणाभावे, सू० १ श्रु० १२ अ० । न विद्यते कर्मास्येति (बी-थयनिरोधे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । न विद्यते कर्मास्येति (वी-पाकर्माणि) पुं० आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

अकर्मणो गतिः ।

अत्थि णं भंते ! अकम्मस्स गई पएणायइ हंता अत्थि कहएहं भंते ! अकम्मस्स गई पएणायइ गोयमा ! निस्संगयाए निरंगणयाए गइपरिणामेणं बंधणछेयणयाए निरिंधणयाए पुव्वपओगेणं अकम्मस्स गई पएणायइ कहएहं भंते ! नि-स्संगयाए निरंगणयाए गइपरिणामेणं अकम्मस्स गई प-एणायइ गोयमा ! से जहा नामए केइ पुरिसे सुक्कं तुंबं निच्छिद्दं निरुवहयं आणुपुव्वीए परिकम्ममाणे २ दब्भेहि य कुसेहि य वेढेइ अट्ठहिं मट्टियालेवेहिं लिंपइ उएहं दलयइ भूइं भूइं सुक्कं समाणं अत्थाहमतारमपोरुसियंसि उदगंसि पक्खिवेज्जा से नूणं गोयमा ! से तुंबे तेसिं अट्ठएहं मट्टियालेवाणं गुरुयत्ताए भारियत्ताए गुरुयसंभारियत्ताए सलिलतलमइवइत्ता अहे धरणितलपइट्ठाणं भवइ हंता हवइ अहे णं से तुंबे तेसिं अट्ठएहं मट्टियालेवाणं परिक्खएणं धरणितलमइवइत्ता उप्पिं सलिलपइट्ठाणं भवइ हंता भवइ एवं खलु गोयमा ! निस्संगयाए निरंगणयाए गतिपरिणामेणं अकम्मस्स गइपण्णायइ कहएहं भंते ! बंधणछेयणयाए अकम्मस्स गई पण्णत्ता गोयमा ! से जहा नामए कलसिंबलिया

[illegible] तिपाइ वा मानसिरस्निपाइ वा सिवक्लिमिवक्षिपाइ वा [illegible] वा [illegible] मुक्का समाणी फुडित्ताणं [illegible] एवं खलु गोयमा! कहण्णं भंते! निरिंधण-[illegible] अकम्मस्स गई गोयमा! से जहा नामए धूमस्स इंधण-[illegible] वीससाए निव्वाघाएणं गई पवत्तइ एवं खलु गोयमा! कहण्णं भंते! पुव्वप्पओगेणं अकम्मस्स गई [illegible] गोयमा! से जहानामए कंडस्स कोदंडविप्पमुक्कस्स [illegible] निव्वाघाएणं गई पवत्तइ एवं खलु गोयमा! [illegible] अकम्मस्स गई पवत्तइ एवं खलु गोयमा! [illegible] निरंगणयाए जाव पुव्वप्पओगेणं अकम्मस्स गई [illegible] ।

([illegible]) [illegible] इति यावत् ([illegible]) [illegible] कर्मरजोगमेन (निरंगणया-[illegible]) [illegible] ([illegible]) गतिस्व-[illegible] ([illegible]) कर्मबन्धन-[illegible] ([illegible]) कर्मेन्धनविमो-[illegible] ([illegible]) [illegible] गतिपरिणाम-[illegible] (कहण्णमित्यादि) [illegible] ([illegible]) [illegible] ([illegible]) [illegible]

[illegible]

अकम्मभूमग-अकर्मभूमक-पुं० कर्म [illegible] तद्विकला भूमिर्यपान्ते अकर्मभूमको [illegible] आर्षत्वात्समासान्तोऽप्रत्ययः । जीवा० १ प्रति । [illegible] गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्येषु, प्रज्ञा० १ पद । ते च [illegible]

से किं तं अकम्मभूमिगा ? अकम्मभूमिगा [illegible] पण्णत्ता तंजहा पंचहिं हेमवएहिं पंचहिं [illegible] पंचहिं हरिवासेहिं पंचहिं रम्मगवासेहिं पंचहिं [illegible] पंचहिं उत्तरकुरूहिं सेत्तं अकम्मभूमिगा ।

अथ के ते अकर्मभूमिकाः ? सूरिराह [illegible] महसाः । तथ त्रिंशद्विधत्वं क्षेत्रभेदात् । तथा चाह [illegible] पंचहिं हेमवएहिं" इत्यादि । पञ्चभिर्हैमवतैः [illegible] तैः पञ्चभिर्हरिवर्षैः पञ्चभिः रम्यकवर्षैः पञ्चभिर्देवकुरुभिः [illegible] पञ्चभिरुत्तरकुरुभिर्भिद्यमानास्त्रिंशद्विधा भवन्ति । [illegible] त्रिंशत्संख्यात्मकत्वात् तत्र पञ्चसु हैमवतेषु मनुष्याः [illegible] मानशरीरोच्छ्रया पल्योपमायुषो [illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible]त्ति) उपस्थिता उपनीता इत्यर्थः । तत्र मत्ताङ्गकाः [illegible]। (तुडियंगत्ति) [illegible]नाः (निगत्ति) भाजनदायिनः । ([illegible]) [illegible]पादकाः (दीवत्ति) दीपशिखाः प्रदीपकार्यकारिणः [illegible]) ज्योतिरग्निस्तत्कार्यकारिण इति (चित्तंगत्ति) चि- [illegible]पुष्पदायिनः चित्ररसाः भोजनदायिनः मणयङ्गा आभर- [illegible]नः गेहाकाराः भवनत्वेनोपकारिणः अनग्नत्व सवजन्वं [illegible]वादनग्ना इति, स० १० सम० ।

[illegible]भूमि–अकर्मभूमि–स्त्री० न० कृष्यादिकर्मरहिताः । क- [illegible]दिफललोपभोगप्रधाना भूमयो हैमवतपञ्चकहरिवर्षपञ्चक- [illegible]रम्यकपञ्चकैरण्यवतपञ्चकरूपाश्च– [illegible]कुरुपञ्चकोत्तरकुरुपञ्चकरूपा [illegible]। प्रश्न० आश्र० ५ [illegible]कर्मभूमयः । नं० । इत्येतासु भोगभूमिषु, प्रश्न० [illegible]० । स्था० । प्रव० ।

जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं तओ अकम्म- भूमीओ पण्णत्ताओ तंजहा-हेमवए हरिवासे देवकुरा । जंबूदी- वे दीवे मंदरस्स उत्तरेणं तओ अकम्मभूमिओ पण्णत्ताओ तंजहा-उत्तरकुरा रम्मगवासे एरवए (स्था०३ ठा०४ उ०) -जम्बुद्दीवे दीवे देवकुरुउत्तरकुरुवज्जाओ चत्तारि अकम्मभू- मीओ पण्णत्ताओ तंजहा-हेमवए हेरण्णवए हरिवासे रम्म- गवासे, स्था० ४ ठा० ।

सर्वसङ्ग्रहे ।

जंबुद्दीवे दीवे छ अकम्मभूमीओ पण्णत्ताओ । तंजहा-हेमवए हेरण्णवए हरिवासे रम्मगवासे देवकुरा उत्तरकुरा । धायइसंड- दीवपुरच्छिमद्धेणं छ अकम्मभूमीओ पण्णत्ताओ । तंजहा-हेम- वए जहा जंबुद्दीवे तहा जाव अंतरणईओ जाव पुक्खरवरदीव- हे पच्चत्थिमद्धे भाणियव्वं (स्था० ६ ठा०) कइविहा णं भंते ! अकम्मभूमीओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! तीसं अकम्मभू- मीओ पण्णत्ताओ, तंजहा पंच हेमवयाइं पंच हेरण्णवयाइं । पंच हरिवासाइं पंच रम्मगवासाइं पंच देवकुराइं पंच उत्तर- कुराइं एयासु णं भंते ! तीसासु अकम्मभूमीसु अत्थि उस्सप्पिणीति वा ओसप्पिणीति वा ? णो इणट्ठे समट्ठे । भ० २० श० ८ उ० ।

अकम्मभूमिय–अकर्मभूमिज–पुं० अकर्मभूमिषु जाता अकर्म- भूमिजा गर्भजमनुष्यभेदेषु, नं० ।

अकम्मभूमिया–अकर्मभूमिजा–स्त्री० अकर्मभूमिर्भोगभूमि- स्तत्र जाता अकर्मभूमिजा भोगभूमिजायां मनुष्यस्त्रीकमनुष्य- स्त्रीषु, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

से किं तं अकम्मभूमियाओ अकम्मभूमियाओ तीसतिवि- धाओ पण्णत्ताओ । तंजहा–पंचसु हेमवएसु पंचसु हेरण्णवएसु पंचसु हरिवासेसु पंचसु रम्मगवासेसु पंचसु देवकुरूसु पंचसु उत्तरकुरूसु सेत्तं अकम्मभूमगमणुस्सीओ । जी० १ प्रति० ।

अकम्मया–अकर्मता–स्त्री० कर्मनाशभावे, अस्याः फलं यदा- [illegible]सेलेसिं पडिवज्जइ [illegible]मुहुत्तावसेसाउए जोगनिरोहं [illegible] सुहुमकिरियं अप्पडिवाइयं सुक्कज्झाणं झायमाणे [illegible]मणजोगं निरुंभइ मणजोगं निरुंभइत्ता वइजोगं [illegible]

निरुंभइ वइजोगं निरुंभइत्ता कायजोगं निरुंभइ कायजोगं निरुंभइत्ता आणापाणनिरोहं करेइ आणापाणनिरोहं करेइत्ता इसि पंच रहस्सक्खरुच्चारद्धाए य णं अणगारे समु- च्छिन्नकिरियं अनियट्टि सुक्कज्झाणं झियायमाणे वेय- णिज्जं आउयं नामं गोयं च एए चत्तारि वि कम्मंसे जुग- वं खवेइ ॥७२॥ तओ ओरालियकम्माइं च सव्वाहिं विप्प- जहणाहिं विप्पजहित्ता उज्जुसेढी पत्ते अफुसमाणगई उड्ढं एगसमएणं अविग्गहेणं तत्थ गंता सागारोवउत्ते सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणं अंतं करेइ ॥७३॥ (अहेति) केव- [illegible] शैलेश्यवस्थाप्रारम्भकालादनन्तरमायुष्कं अन्तर्मुहूर्तादिपरिमाणं [illegible] [illegible]मायुष्कं अवशिष्टमन्तर्मुहूर्तकालात् [illegible] [illegible] [illegible]मायुष्कः [illegible] [illegible]पाठान्तर[illegible] " इति [illegible] [illegible]मुहूर्तावशेषायुष्कः [illegible] [illegible]मायुष्कः । पठन्ति च " [illegible] ") [illegible] (जोगनिरोहं [illegible]) [illegible] योगनिरोधं कुर्वाणः [illegible] "समुग्घाय[illegible]" [illegible] [illegible] " इति [illegible] [illegible] मनसो योगो [illegible] [illegible] निरुणद्धि । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रतिसमयं निरुन्धन् [illegible] । [illegible] "[illegible]" इ [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] समए २ निरुंभमाणे [illegible] [illegible] [illegible] " [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] २ [illegible] [illegible] निरुणद्धि । यत उक्तम् " [illegible] [illegible] समए २ [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] " [illegible] [illegible] आणापाणनिरोहं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

छउमत्थस्स जिणस्स वा"। उत्त० २० अ०। अकषायाः सशान्त-मोहादयश्चत्वारः सिद्धाश्च, स्था० ४ ठा० ।

अकसिण-अकृत्स्न-त्रि० अपरिपूर्णे, प्रति० । पञ्चा० ।

अकसिणपवत्तय-अकृत्स्नप्रवर्तक-पुं० अकृत्स्नमपरिपूर्णं संयमं प्रवर्तयन्ति विदधति ये ते तथा। देशविरते, "अकसिणपवत्तगा-णं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो । संसारपयणुकरणे, दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो ॥ पञ्चा० ६ विव० ।

अकसिणसंजम-अकृत्स्नसंयम-पुं० देशविरती, प्रति० ।

अकसिणसंजमवंत-अकृत्स्नसंयमवत्-पुं० देशविरतिमति श्राद्धे, "किं योऽकृत्स्नसंयमवतां, पूजासु पूज्या अगुः, प्रति० ।

अकसिणा-अकृत्स्ना-स्त्री० चतुर्थे आरोपणाभेदे, स्था० ५ ठा० २ उ० । यस्यां षाण्मासाधिकं क्षोभ्यते तस्यां हि तदतिरिक्त-ज्झोषेनापरिपूर्णत्वादिति, स्था० ५ ठा० २ उ० । व्य० । नि० चू० ।

अकहा-अकथा-स्त्री० मिथ्यादृष्टिना अज्ञानिना लिङ्गस्थेन वा गृहिणा कथ्यमानायां कथायाम्, । तल्लक्षणम् ।

मिच्छत्तं वेयंतो, जं अन्नाणी कहं परिकहेइ ।

लिंगत्थो य गिही वा, सा अकहा देसिया समए ॥२१५॥

मिथ्यात्वमिति। मिथ्यात्वमोहनीयं कर्म वेदयन् विपाकेन यां कां-चित् अज्ञानी कथां कथयति। अज्ञानित्वं चाऽस्य मिथ्यादृष्टित्वादेव यथेयं मार्गोऽज्ञानिग्रहणेन मिथ्यावेदकत्वाज्ञानित्वाव्यभिचारादि-ति ज्ञापयति मिथ्यात्वानुभववेदकेन सम्यग्दृष्टिना व्यभिचारादिति। किं-विशिष्टोऽसावित्याह-लिङ्गस्थो वा द्रव्यप्रव्रजितोऽङ्गारमर्दकादि-र्गृही वा यः कश्चिदितर एव। सा एवं प्ररूपकप्रयुक्तत्वेन अकथा-धेयेति प्रज्ञापकगुणपरिणामनिबन्धना कथा देशिता समये। ततः प्रतिविशिष्टकथाफलाभावादिति गाथार्थः ॥२१५॥ दश० ३ अ० ।

अकाइय-अकायिक-पुं० नास्ति कायः (औदारिकादिः पृथि-व्यादिषड्कायरूपो वा) येषां ते अकायास्त एवाकायिकाः। सिद्धेषु, प्र० ७ श० २ उ० ।

अकाम-अकाम-पुं० कमनं काम इच्छा, न कामोऽकामः। अनि-च्छायाम्, सूत्र० २ श्रु० ६ उ०। उपरोपशीलतायाम् " तं च दुक्ख मकामेणं, विमणेणं पडिच्छियं" दश०५ अ० ११ उ० । इच्छा-मदनकामरहिते, आचा० निर्जराद्यनभिलाषिणि, निरभिप्राये, भ० १ श० १ उ०। मोक्षे च, तत्र सकलाभिलाषनिवृत्तेः। उत्त० १४ अ०।

अकाममरहाणग-अकामास्नानक-पुं० अकामास्नानरहिते, "अकाममरहाणगसीयायवदंसमसगसेयजल्लमलपंकपरितावं" अकामेन निर्जराद्यनभिलाषेण परितापः परिदाहः स तथा। अका-मा येऽस्नानकादयस्तेभ्यो यः परिदाहः स तथा निर्जरानभि-लाषिणामस्नानादिभिः परितापे, औ०। अस्नानादिभिः परिदाहे, निरभिप्राये वा, भ० १ श० १ उ० ।

अकामकाम-अकामकाम-त्रि० कामाभिलाषमदनकामेच्छाकाम-यते प्रार्थयते यः स कामकामी न तथा अकामकामः। न विद्यते कामस्य कामोऽभिलाषो यस्य स अकामकामः कामाभिलाष-रहिते, अकामो मोक्षाभिलाषस्तत्र काम अभिलाषविकृतेः, तं कामयते यः स तथा (मोक्षार्थिनि) "संयमं प्रतिपद्य अकाम-कामे" उत्त० १४ अ० ।

अकामकिच्च-अकामकृत्य-त्रि० कमनं काम इच्छा न कामो-ऽकामस्तेन कृत्यं कर्त्तव्यं अकामकृत्यम्। अनिच्छाकारि-णि,। सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अकामग-अकामक-त्रि० कर्मणि सप्तम्याः अभिलषणीये, प्रश्न० आश्र० १ द्वा० । कर्तरि ण्वुल् । अनिच्छति, " अकामगं परि-क्कमं, कोउ ते वारेउ मरिहति" सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । अनिच्छन्तं मृदुकायाद्यभिलाषरहितं पराक्रमन्तं संयमानुष्ठानं कुर्वाणं कस्त्वां भवन्तं वारयितुं निषेधयितुमर्हति योग्यो भवे-न्नैव वा (अकामगंति) वार्द्धक्यावस्थायां मदनेच्छाकामरहितं पराक्रमन्तं संयमानुष्ठानं प्रति कश्चानुपशान्ताः कर्मणि प्रवृत्तं वारयितुमर्हतीति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । द्वा० । विषयादि-वाञ्छारहिते, सं० । प्रश्न० ।

अकामछुहा-अकामक्षुधा-स्त्री० निर्जराद्यनभिलाषिणां प्रथम-परिषहसहने, भ० १ श० १ उ० ।

अकामणिगरण-अकामनिकरण-त्रि० अनिच्छाप्रत्यये, तद्यथा।

एए णं अंधा मूढा तमप्पविट्ठा तमपडलमोहजालपडिच्छन्ना अकामनिगरणं वेयणं वेदंतीति वत्तव्वं सिया हंता गोयमा! जे इमे असण्णिणो पाणा पुढविकाइया जाव वणस्सइकाइया छट्ठा जाव वेयणं वेदेंतीति वत्तव्वं सिया। अत्थि णं भंते! पभू वि अकामनिकरणं वेदणं वेदेइ हंता अत्थि कहण्णं भंते! पभू वि अकामनिकरणं वेयणं वेदेइ गोयमा ! जे णं नो पभू विणा पदीवेणं अंधकारंसि रूवाइं जे णं णो पभू पुर-ओ रूवाइं अणिज्झाइत्ताणं पासित्तए जे णं नो पभू मग्गओ रूवाइं अणवयक्खित्ताणं पासित्तए जे णं नो पभू पासओ रूवाइं अणुलोएत्ता णं पासित्तए एस णं अकामनि-करणं वेदणं वेदेइ अत्थि णं भंते ! पभूवि पकामनिकरणं वेयणं वेदेइ हंता कहण्णं समुद्दस्स जाव वेदणं वेदेइ जे णं नो पभू समुद्दस्स पारंगमेत्तए जे णं नो पभू पारगयाइं रूवाइं पासित्तए जे णं नो पभू देवलोगं गमित्तए जे णं नो पभू दे-वलोगगयाइं रूवाइं पासित्तए एस णं गोयमा! पभू वि पका-मनिकरणं वेदणं वेदेइ ।

(अंधत्ति) अन्धा इवान्धा अज्ञानाः (मूढत्ति) मूढास्तत्त्व-श्रद्धानं प्रति एत एवोपमयोच्यन्ते (तमप्पविट्ठत्ति) तमःप्रवि-ष्टा इव तमःप्रविष्टाः (तमपडलमोहजालपडिच्छन्नत्ति) तमः-पटलमिव तमःपटलं ज्ञानावरणं मोहो मोहनीयं तदेव जालं मोहजालं ताभ्यां प्रतिच्छन्ना आच्छादिता ये ते तथा (अकाम-निगरणत्ति) अकामो वेदनानुभवेऽनिच्छा अमनस्कत्वादकाम एव निकरणं कारणं यत्र तदकामनिकरणमज्ञानप्रत्ययमिति भाव। तद्यथा। भवतीत्येवं वेदनां सुखदुःखरूपां वेदनां वा, तीव्रं वेदयन्त्यनुभवन्तीति प्रश्नार्थः [illegible] (अकामनिकरणं) [illegible]

[illegible]

वेदयतीति संबन्धः (पुरओत्ति) अग्रतः (अणिज्झायमाणंति) अनिध्यायं चक्षुरव्यापार्य । (मग्गओत्ति) । पृष्ठतः (अणवयक्खमाणंति) अनवेक्ष्य पश्चाद्भागमनवलोक्येति अकामनिकरणेदनां वेदयतीत्युक्तमथ तद्विपर्ययमाह (पभूणमित्यादि) प्रभुरपि संज्ञित्वेन रूपदर्शनसमर्थोऽपि (पकामनिकरणंति) प्रकाम ईप्सितार्थाप्राप्तितः प्रवर्द्धमानतया प्रकृष्टोऽभिलाषः । स एव निकरणमिष्टार्थसाधकक्रियाणामभावो यत्र, तत्र प्रकामनिकरणम् । तथा यथा भवति एवं वेदनां वेदयतीति प्रश्न। उत्तरन्तु (जेणमित्यादि) यो न प्रभुः समुद्रस्य पारं गन्तुं तद्गतद्रव्याणि प्राप्तुमिच्छेत् तस्यापि तथाविधशक्त्यभावादत एव च, यो न प्रभुः समुद्रस्य पारगतानि रूपाणि द्रष्टुं स तद्गताभिलाषातिरेकात् प्रकामनिकरणवेदनां वेदयतीति । भ० ७ श० ७ उ० ।

अकामणिज्जरा–अकामनिर्जरा–स्त्री० अकामेन निर्जरां प्रत्यनभिलाषेण निर्जरा कर्मनिर्जरणहेतुर्बुभुक्षादिसहनं यस्याः सा अकामनिर्जरा । निर्जरानभिलाषेणैव क्षुधादिसहने, स्था० ४ ठा० ४ उ० । औ० । कर्म० । (अकामनिर्जरया असंयता व्यन्तरेषूपपद्यन्ते इति 'वंतर' शब्दे व्याख्यास्यामि)

अकामतण्हा–अकामतृष्णा–स्त्री० निर्जराद्यनभिलाषिणां सतां तृषि, भ० १ श० १ उ० । औ० ।

अकामबंभचेरवास–अकामब्रह्मचर्यवास–पुं० अकामानां निर्जराद्यनभिलाषिणां सतामकामो वा निरभिप्रायो ब्रह्मचर्येण स्त्र्यादिपरिभोगाभावमात्रलक्षणेन वासो रात्रौ शयनमकामब्रह्मचर्यवासः । (फलानभिसन्धिनां ब्रह्मचर्यसेवने) भ० १ श० १ उ० । औ० ।

अकाममरण–अकाममरण–न० अकामेन अनीप्सितत्वेन म्रियतेऽस्मिन् इति अकाममरणम् । बालमरणे, "बालाणं च अकामं तु, मरणं असई भवे " उत्त० ५ अ० । ('बालमरण' शब्दे व्याख्यास्यते)

अकामिय–अकामिक–त्रि० न० ब० निरभिलाषे, "तहेव संता तंतापरितंता अकामिया " विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अकामिया–अकामिका–स्त्री० अनिच्छायाम् । "अकामियाए चिणंति दुक्खं " प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

अकाय–अकाय–पुं० न० ब० पृथिव्यादिषड्विधकायविरहिते, स्था० २ ठा० ३ उ० । औदारिकादिकायपञ्चकविप्रमुक्ते (वा) सिद्धे, प्रव० १९१ द्वा० । आव० । राहौ, तस्य शिरोमात्रत्वेन कायशून्यत्वात् देहशून्ये, त्रि० वाच० ।

अकारग–अकारक–पुं० (न करोति भोजने रुचिम्) भक्तद्वेषरूपे, रोगविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । उपा० । अपथ्ये, औ० । [अकर्त्तरि] त्रि० । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अकारगवाइ (ण्)–अकारकवादिन्–पुं० अकारकं वदन्ति तच्छीलाः, आत्मनोऽमूर्त्तत्वनित्यत्वसर्वव्यापित्वेभ्यो हेतुभ्यः निष्क्रियत्वमेवाभ्युपगच्छन्सु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । ('णिकियवाइ' शब्दे चैतेषां मतं तत्खण्डनं च करिष्यते)

अकारण–अकारण–त्रि० नास्ति कारणं हेतुरुद्देश्यं वा यस्य हेतुरहिते, उद्देश्यरहिते च । वृ० १ उ० । कारणाभावे, न० वाच० । यदा तपःस्वाध्यायवैयावृत्त्यादिकारणषट्कं विना बलवीर्यार्थं सरसाहारं करोति तदा पञ्चमोऽकारणदोष इत्येवंलक्षणे पञ्चमे परिभोगैषणाया दोषे, उत्त० २४ अ० ।

अकारवित–अकारयत्–त्रि० आरम्भमन्यकारणे परमव्यापारयति, । "आरम्भनियत्ताणं, अकिणंताणं अकारवित्ताणं । धम्मट्ठा दायव्वं " वृ० १ उ० ।

अकारिय–अकारित–त्रि० अन्यैरकारिते, प्रश्न० संव० १ द्वा० ।

अकाल–अकाल–पुं० अप्राशस्त्ये, न० त० अप्रशस्तकाले, विहितकर्मसु पर्युदस्ततयाऽनिर्दिष्टे, गुरुशुक्रास्तकालादौ, अप्रस्तावे, उत्त० १ अ० । कर्त्तव्याऽनवसरे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । वृ० । अवर्षासु, " अकाले वरिसइ " स्था० ७ ठा० । अप्राप्तः कालो यस्य " प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः " इति वा० अन्यलोपश्च । अप्राप्तकाले, अनुचितकाले, पदार्थे । अनि कालः कृष्णः, न० त० । कृष्णविरुद्धशुभ्रवर्णे, न० ब० । कृष्णत्व विरोधिशुभ्रत्ववति, त्रि० । वाच० ।

अकालपडिबोहि(ण्)–अकालप्रतिबोधिन्–त्रि० (असमये व्याप्रियमाणे) " मिलक्खूणि अणारियाणि दुस्सण्णप्पाणि दुप्पण्णवणिज्जाणि अकालपडिबोहीणि " अकालप्रतिबोधीनि । न तेषां कश्चित् पर्यटनकालोऽस्ति अर्द्धरात्रेऽपि मृगयादौ गमनसम्भवात् । आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० । नि० चू० ।

अकालपढण–अकालपठन–न० असमयवाचनायाम्, पञ्चा० १२ विव० ।

अकालपरिहीण–अकालपरिहीण–न० परिहाणिः परिहीणं कालविलम्बः न विद्यते परिहीणं यत्र प्रादुर्भवने तत् कालपरिहीणम् (शीघ्रप्रकटीभवने) " अकालपरिहीणं चेव सूरियाभस्स अंतियं पाउब्भवह " रा० ।

अकालपरिभोगि (ण्) अकालपरिभोगिन्–त्रि० रात्रौ सर्वाद्रव्येण भुञ्जाने, " अकालपडिबोहीणि अकालपरिभोईणि " नि० चू० १६ उ० । आचा० ।

अकालमच्चु–अकालमृत्यु–पुं० अकाल एव जीवितभ्रंशे, " पढमो अकालमच्चू, तहिं तालफलेण दारको उ हतो" आव० १ अ० ।

अकालवासि (ण्) अकालवर्षिन्–पुं० अनवसरवर्षिणि मेघे, तद्वदनवसरे दानव्याख्यानादिपरोपकारार्थप्रवृत्ते पुरुषे च । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अकालसज्झायकर(कारिन्)–अकालस्वाध्यायकर (कारिन्)–पुं० असमाधिस्थानविशेषे, "अकाले सज्झायकारी य कालियसुयं उग्घारूपोदसीए पढइ यंत[?]देवया असमाहिए योजयति " इत्यसमाधिस्थानत्वं तस्य । आव० ४ अ० । स० ।

अकासि–देशी–पर्याप्ते, दे० ना० ।

अकाहल–अकाहल–त्रि० अमन्मनाक्षरे, प्रश्न० संव० २ द्वा० ।

अकिंचण–अकिञ्चन–त्रि० नाऽस्य किञ्चन प्रतिबन्धास्पदं धनकनकादि अस्तीति अकिञ्चनः । निष्परिग्रहे, उत्त० ३ अ० । आव० । आ० चू० । दशा० । औ० । प्रश्न० । आचा० । ज्ञा० । हिरण्यादिमिथ्यात्वादिद्रव्यभावकिञ्चनविनिर्मुक्ते, दश० ६ अ० । "समणा भविस्सामो अ, अणगारा अकिंचणा अपुत्ता य" सूत्र० २ श्रु० १ अ० । दरिद्रे, वाच० ।

अकिंचणकर–अकिञ्चनकर–त्रि० अकिञ्चित्संपादके, अकिञ्चनानां साधूनां प्रयोजनकरे, "ववहारइच्छिय [illegible] य " योऽपि कश्चित्साधूनां

[illegible]नां मयते न किञ्चिद् करोति । अथवाऽकिञ्चनानां [illegible] यदि [illegible] केवलज्ञाने प्रयोजनमुपजायते तर्हि [illegible] प्रयोजनार्थिन एव करोति, अ० २ उ० ।

अकिंचणया-अकिञ्चनता-स्त्री० न विद्यते किञ्चनद्रव्यजात-[illegible]ऽकिञ्चनता । निष्परिग्रहितायाम्, "चउ-[illegible] तंजहा [illegible] अकिंचणया [illegible] अकिंचणया" अकिञ्चनता च [illegible] भवतीति चातुर्विध्यम् । स्था० ४ ठा० ३ उ० । [illegible] भोगसाधनानामसी-[illegible], द्वा० द्वा० २१ ।

अकिंचिकर-अकिञ्चित्कर-पुं० हेत्वाभासभेदे, स च यथा प्र-[illegible] च, साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः प्रतीयते । [illegible] यथानुष्णः [illegible] पुरुषत्वादित्यादि [illegible] ([illegible] 'हेत्वाभास' शब्दे)

अकिट्ठ-[illegible] । अकर-[illegible], पञ्चा० १४ विव० । स्था० । प्रश्न० ।
"[illegible] भोगाइ [illegible] पाणा-[illegible] भोगाइ [illegible] उज्जोहेइ" [illegible] । भ० श० । [illegible]

[illegible] मूलगुणादिप्रति-[illegible] ।

[illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible]

क्रियावर्जिते, स्था० ७ ठा० । कायिक्यादिक्रिया[illegible] प्रशस्तमनोविनयभेदे, भ० २५ श० ७ उ० । [illegible] भ्युपगमात्परलोकविषयाः क्रिया येषान्तेऽक्रियाः । [illegible] "अकिरियराहुमुहदुद्धरिस" नं० । नास्य क्रिया [illegible] ते इत्यक्रियः । संवृतात्मकतया सांपरायिककर्म[illegible] २ श्रु० १ अ० ।

अकिरिया-अक्रिया-स्त्री० नञिह कु० शब्दार्थो [illegible] दुःशीलेत्यर्थः । ततश्चाक्रिया दुष्टक्रिया मिथ्यात्व[illegible] कसाधके अनुष्ठाने, यथा मिथ्यादृष्टेर्ज्ञानमप्यज्ञानमिति । [illegible] ध्यात्वभेदत्वेन दर्शिता, स्था० ३ ठा० ३ उ० । "[illegible] पण्णत्ता तंजहा । पओगकिरिया समुदाणकिरिया [illegible] अक्रिया हि अशोभना क्रियैवातोऽक्रिया । [illegible] प्रयोग इत्यादिना क्रियैवोक्तेति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । [illegible] ऽस्तीति रूपा सकलपदार्थसार्थव्यापिनी सैव यथा [illegible] यतया कुत्सिता अक्रिया नञः कुत्सार्थत्वात् नास्तिकवादे, [illegible] ठा० । नास्तिकवादे, "अकिरियं परियाणामि किरियं [illegible] संपज्जामि" ध० ३ अधि० । योगनिरोधे, स्था० ८ ठा० । "[illegible] अकिरिया" एका अक्रिया योगनिरोधप्रक्रणा, नास्तिकत्वं [illegible] स० १ सम० । अभावे, न० त० । अपरिस्पन्दे, सूत्र० १ [illegible] अ० । सर्वक्रियाविगमे च । ध० २ अधि० । क्रियया [illegible] भ० २७ श० २ उ० ।

अकिरियाआय-अक्रियात्मन्-पुं० अक्रिय आत्मा [illegible] गमे ते अक्रियात्मानः । सांख्येषु, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

जे केइ लोगंसि अकिरियाया, अन्नेण पुट्ठा धुयमादिसं[illegible]
आरंभसत्ता गढिता य लोए, धम्मं ण जाणंति [illegible]

ये केचन अस्मिन् लोके अक्रिय आत्मा येषाम[illegible] अक्रियात्मानः सांख्यास्तेषां हि सर्वव्यापित्वादात्मा [illegible] क्रियः पठ्यते । तथा चोक्तम् । "अकर्ता निर्गुणो [illegible] आत्मा कपिलदर्शने" इति [illegible]

[illegible]

अकिरिय (या) वाइ (न्)-अक्रियावादिन्-[illegible]

[illegible]

सैव कारकं सैव चोच्यते" नं०। अक्रियां जीवादिपदार्थो नास्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषामेऽक्रियावादिनः। भ० ३० श० १ उ०। नास्त्येव जीवादिकः पदार्थ इत्येवं वादिषु, सूत्र०१ श्रु० १२ अ०। नास्ति माता नास्ति पितेत्येवमादिवादिनि, नास्तिके, उत्त० ३ अ०। आचा०। ते चाशीतिः "अकिरियवाई य होइ चुलसी-ई" सूत्र० १ श्रु० १० अ०।

इह जीवाइ पयाइं, पुण्णं पावं विणा ठविज्जंति ।
तेसिमहोभायम्मि, ठविज्जए सपरसद्दडुगं ॥ २०८ ॥
तस्स वि अहो लिहिज्जइ, कालजदिच्छाइपयडुगसमेयं ।
नियइस्सहावईसर, अप्पात्ति इमं पयचउक्कं ॥ २०९ ॥

इहाक्रियावादिभेदानां प्रक्रमे जीवादीनि पूर्वोक्तानि पुण्यपापवर्जितानि सप्तपदानि परिपाट्या पट्टिकादौ स्थाप्यन्ते तेषां च जीवादिपदानामधोभागे प्रत्येकं स्वपरशब्दद्विकं स्थाप्यते स्वतः परत इति द्वे पदे न्यस्येते इत्यर्थः। असत्वादात्मनो नित्यानित्यविकल्पौ न स्तस्तद्धर्मिसिद्ध्यापत्तेः। तस्यापि च स्वपरशब्दद्विकस्याधस्तात् कालयदृच्छारूपपदद्वयसमेतमेतन्नियतिस्वभावेश्वरात्मलक्षणं पदचतुष्कं क्रियते, कालयदृच्छानियतिस्वभावेश्वरात्मरूपाणि षट् पदानि स्थाप्यन्ते इत्यर्थः। इह यदृच्छावादिनः सर्वेऽप्यक्रियावादिन एव न केचिदपि क्रियावादिनस्ततः प्राग्यदृच्छा नोपन्यस्ता। अथ विकल्पाभिलापमाह।

पढमे भंगे जीवो, नत्थि सओ कालओ तयणु बीए ।
परओ वि नत्थि जीवो, कालाइ य भंगगा दोन्नि ॥ २१० ॥
एव जदिच्छाईहि वि, पएहिं भंगदुगं दुगं पत्तं ।
मिलियावि ते दुवालस-संपत्ता जीवतत्तेण ॥ २११ ॥

नास्ति जीवः स्वतः कालत इति प्रथमो भङ्गः। तदनु नास्ति जीवः परतः कालत इति द्वितीयो भङ्गः। एतौ द्वौ च भङ्गौ कालेन लब्धौ, एवं यदृच्छादिभिरपि पञ्चभिः पदैः प्रत्येकं द्वौ द्वौ विकल्पौ जायेते। सर्वेऽपि मिलिता द्वादश। अमीषां च विकल्पानामर्थः प्राग्वद्भावनीयः। नवरं यदृच्छात इति यदृच्छावादिनां मतं। अथ गाथा। के ते यदृच्छावादिन उच्यन्ते। इह ये भावानां सन्तापेक्षया न प्रतिनियतं कार्यकारणभावमिच्छन्ति किन्तु यदृच्छया ते यदृच्छावादिनस्तथा त एवमाहुर्न खलु प्रतिनियतो वस्तूनां कार्यकारणभावस्तथा प्रमाणेनाग्रहणात् तथाहि-शालूकादपि शालूको जायते गोमयादपि, अग्नेरप्यग्निर्जायते अरणिकाष्ठादपि, धूमादपि जायते धूमः अग्नीन्धनसंपर्कादपि, कन्दादपि जायते कदली बीजादपि, वटादयोऽपि बीजादुपजायन्ते शाखैकदेशादपि, ततो न प्रतिनियतः कार्यकारणभाव इति। यदृच्छातः क्वचित् किंचिद्भवतीति प्रतिपत्तव्यं, न खल्वन्यथा वस्तुसद्भावं पश्यन्तोऽन्यथाऽऽत्मानं प्रेक्षावन्तः परिक्लेशयन्ति। एते च द्वादश विकल्पा जीवपदेन संप्राप्ता लब्धाः। एवमजीवादिभिरपि षड्भिः पदैः प्रत्येकं द्वादश विकल्पाः प्राप्ताः। ततो द्वादशभिः सप्त गुणिता जाता चतुरशीतिः। सर्वसंख्यया चाक्रियावादिनामेते भेदा भवन्तीति। प्रव० २०६ द्वा०। सूत्र०। स्था०। ध०। आव०।

साम्प्रतमक्रियावादिदर्शनं निराचिकीर्षुः गाथापश्चार्द्धमाह।

लवावसंकीय अणागएहिं, णो किरियमाहंसु अकिरियवाई।

लवं कर्म तस्मादपशङ्कितुमपसर्तुं शीलं येषां ते लवापशङ्किनो लोकायतिकाः शाक्यादयश्च, तेषामात्मैव नास्ति कुतस्तत्-क्रिया तज्जनितो वा कर्मबन्ध इति। उपचारमात्रेण ... तद्यथा "घटा मुक्ताश्च कथ्यन्ते, मुष्टिमन्थिकपोत... द्रव्यतः सन्ति, मुष्टिमन्थिकपोतकाः" तथा बौद्धान... गमो यथा क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इत्यस्थितानां च... स्यक्रियावादित्वम्। योऽपि स्कन्धपञ्चकाभ्युपगमस्त... संवृतमात्रेण न परमार्थेन यतस्तेषामयमभ्युपगमः। तद्... यमाणाः पदार्था न कथंचिदप्यात्मानं विज्ञानेन समर्पय... तथाह्यवयवी तत्त्वातत्त्वाभ्यां विचार्यमाणो न घटां प्राञ्च... प्यवयवाः परमाणुपर्यवसानतयाऽतिसूक्ष्मत्वाज्ज्ञानगोच... तिपद्यन्ते। विज्ञानमपि ज्ञेयाभावेनामूर्त्तस्य निराकार... स्वरूपं बिभर्ति। तथा चोक्तं "यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते, वि... न्ते तथा तथा। यदेतत् स्वयमर्थेभ्यो, रोचते तत्र के व... इति प्रच्छन्नलोकायतिका हि बौद्धास्तथाऽनागतैः क्षणैः... दतीतैश्च वर्तमानक्षणस्यासङ्गतेर्न क्रिया नापि च तज्जनितः... बन्ध इति। तदेवमक्रियावादिनो नास्तिकवादिनः सर्वापलापि... लवापशङ्किनः सन्तो न क्रियामाहुस्तथा अक्रिय आत्मा येषां... व्यापितया तेऽप्यक्रियावादिनः सांख्यास्तदेवं लोकायतिकबौ... सांख्या अनुपसंख्यया अपरिज्ञानेनैतेन पूर्वोक्तमुदाहृतवन्त... य तत्त्वाज्ञानेनैवोदाहृतवन्तः। तद्यथा। अस्माकं मेयमभ्युपगम... र्थोऽयमासते युज्यमानको भवतीति। तदेव श्लोकपूर्वार्द्धं काक... क्षिगोलकन्यायेनाक्रियावादिमतेऽप्यायोज्यमिति।

साम्प्रतमक्रियावादिनामज्ञानविजृम्भितं दर्शयितुमाह।

सम्मिस्सभावं च गिरा गहीए, से मुम्मुई होइ अणाणुवाई।
इमं दुपक्खं इममेगपक्खं, आहंसु छलायतणं च कम्मं ॥५॥

स्वकीयया गिरा वाचा स्वाभ्युपगमेनैव गृहीते सम्मिश्रभावे नान्तरीयकतया वा समागते सति तस्याऽस्तित्वस्यार्थस्य गिरा प्रतिषेधं कुर्वाणाः संमिश्रीभावमस्तित्वं नास्तित्वापगमं ते लोकायतिकादयः कुर्वन्ति, यतस्तत् प्रतिषेधं प्रतिषेध्याऽस्तित्वमेव प्रतिपादयन्ति। तथाहि। लोकायतिकास्तावदेवंविधं जीवाद्यभावप्रतिपादकं शास्त्रं प्रतिपादयन्तो नान्तरीयकतयाऽस्मान् कर्तारं करणं च शास्त्रं कर्मतापन्नं शिष्यानवश्यमभ्युपगच्छेयुः सर्वशून्यत्वे त्वस्य तु तत्त्वस्याभावान्मिश्रीभावो व्यवयो वा। बौद्धा अपि मिश्रीभावमेवमनुगताः। तद्यथा, "गन्ता च नास्ति कश्चिद्गतयः षड् बौद्धशासने प्रोक्ताः। गम्यत इति च गतिः स्यात् श्रुतिः कथं शोभना बौद्धी ॥ १ ॥ तथा कर्म च नास्ति फलं चास्त्यसति चात्मनि कारके कथं षड् गतयो ह्यसन्तानस्यापि सन्तानव्यतिरेकेण संवृतिसत्त्वात् इत्यस्य वास्थितत्वेन क्रियाभावाच्च नानागतिसम्भवः सर्वाण्यपि कर्माणि बन्धनानि प्ररूपयन्ति स्वागमे तथा पञ्चजातकशतानि च बुद्धस्योपदिशन्ति, तथा "मातापितरौ हत्वा, बुद्धशरीरे च रुधिरमुत्पाद्य। अर्हद्वधं च कृत्वा, स्तूपं भित्त्वा च पञ्चैते ॥ १ ॥ ... [illegible] ... तथा ... [illegible] ... "सम्यग्दर्शन ... " इति ... [illegible] ... तथा चोक्तं "यदि ... [illegible] ... " इत्यादि, तदेवं

अकुकूज–त्रि० मार्गन्याय्याहते तथान्यम, कुत्सितं कूजति पीडितः सन्नाक्रन्दति कुकूजो न तथेत्यकुकूजः, कुत्सितकूजना कर्त्तरि, उत्त० २१ अ० ।

अकौकुच्य–त्रि० नास्ति कौकुच्यं भाण्डविटचेष्टा यस्य सोऽकौकुच्यः । सम्यकसाधुसमाचारयुक्ते, उत्त० ११ अ० ।

अकुडिल्ल–अकुटिल–त्रि० न० त० अमायिनि, व्य० ३ उ० । अवक्रे, जं० ७ वक्ष० । ऋजौ, आचा० १ श्रु० १ अ०३ उ० ।

अकुऊहल्ल–अकुतूहल–त्रि० न विद्यते कुतूहलं यस्य स अकुतूहलः, कुहकेन्द्रजालभगप्रविधानाटकादीनामविलोकके । "नीयावित्ती अचवले, अमाई अकुऊहले " उत्त० १० अ० ।

अकुमारभूय–अकुमारभूत–त्रि० अकुमारब्रह्मचारिणि, "अकुमारभूए जे केइ कुमारभूए त्ति हंवए " । स० ३० सम० ।

अकुय–अकुच–त्रि० कुचस्पन्दने, न कुचतीत्यकुचः । इतस्ततोऽसञ्चरणः कस्यचिदपि । व्य० ८ उ० । निश्चले, नि० चू० १ उ० ।

अकुसल–अकुशल–त्रि० अनिपुणे, पं०व०४ द्वा० पञ्चाशकवृत्तिविनागानिपुणे । प्रश्न० आश्र०२ द्वा० । स्थूलमतौ, "तमथाधरहिंसाए, जणा अकुसला उवलप्पंति" दश०१ अ० । अशोभने च । औ० । न कुशलं मङ्गलमस्य, मङ्गलविरोधमङ्गलयुक्ते, न० त० । कुशलविरोधिनि अनर्थे, न० वाच० ।

अकुसलकम्मोदय–अकुशलकर्म्मोदय–पुं० अशुभकर्म्मोदये, अकर्मानुभावे च । ध० २ अधि० ।

अकुसलचित्तणिरोह–अकुशलचित्तनिरोध–पुं० आर्त्तध्यानादिग्निरोधनाऽकुशलमनोनिरोधे, दशा० ६ अ० ।

अकुसलजोगणिरोह–अकुशलयोगनिरोध–पुं० अकुशलानां मनोवाक्कायप्रयोगानां व्यापाराणां निरोधः अकुशलयोगनिरोधः । मनआदिविविधकरणैरप्रयुक्ततायाम, ओघ० ।

अकुसलणिविसिरूव–अकुशलनिष्टसिरूप–त्रि० तपापारम्भो परमणस्यभावे, पञ्चा० ७ विव० ।

अकुसील–अकुशील–पुं० न कुशीलोऽकुशीलः । कुशीलभिन्ने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अकुहय–अकुहक–त्रि० न० त० । इन्द्रजालादिकुहकरहिते, " अलोलुप अकुहए अमाई, अपिसुणे आवि अदीणवित्ती " दश० ६ अ० ७ उ० ।

अकू(कु)र–अकूर–पुं० न० त० । अरौद्राकारे । दर्श० । अक्लिष्टाध्यवसाये, क्रूरो हि परच्छिद्रान्वेषणपरः कलुषाशयः स्वानुष्ठानं कुर्वन्नपि फलभाग् न भवतीति (अकूरत्वं नाम श्रावकगुणः) प्रव० २३६ द्वा० । ध० ।

कूरो किलिट्ठभावो, सम्मं धम्मं न साहिउं तरइ ।
इय सो न इत्य जोगो, जोगो पुण होइ अकूरो ॥१७॥

किलिष्टभावो मात्सर्यादिदूषितपरिणामः सम्यक् निष्कलङ्कं धर्मं न नैव साधयितुमाराधयितुं (तरइ त्ति) शक्नोति विजयकुमारवत् । इत्यकारणेनासौ नैवात्र धर्मे योग्यः उचितः । पुनरकरगार्थः । अतो दोषदोषाकूर एव योग्य इति । तयोः कथा चैवम्—

...ए पुण्वा–समोहिया इत्थपत्ता... ।
...भूमिमंतिया, धरा... ॥१॥

...थपवित्थि विणियंदो, नरनाहो सुपञ्च्‌मयपच्चंदो ।
तस्स कणिट्ठो भाया, उवराया समरविजउ त्ति ॥२॥
अह हरियगयपयसरो, समियरओ मलियकंदरो मरुत ।
अंगीकयमहयमो, पत्तो सुमुणि व्व घणसमओ ॥३॥
तंमिय समए नीरं–घणवियपूरेण आयडू वहंतो ।
मयरोयगिरिहरं, दिट्ठा सरिया नरिंदेण ॥४॥
तो कोऊहलआउल–हियओ वंधवजुओ नदि गंतुं ।
चडइ निवो हआए, सह हेमाणु ...जणो ॥५॥
जा ते कीलंति नदिं, ता उवरि अमरदम्भि वुट्ठम्मि ।
सो कोवि महपवाहो, पत्तो भाणि... ॥६॥
... वि नम्मय न पुरए, वाघारो ... ॥७॥
... पडुपवणहया निव–दोणी च ... ॥८॥
... उत्तरइ निवो, ... ।
आ वीनमइ ... ॥९॥
... ॥१०॥
... ॥११॥
... ॥१२॥
... ॥१३॥
... ॥१४॥
... ॥१५॥
... ॥१६॥
... ॥१७॥
... ॥१८॥
... ॥१९॥
... ॥२०॥
... ॥२१॥
... ॥२२॥
... ॥२३॥
... ॥२४॥
... ॥२५॥

[illegible]

अकोविियप्प (ण्)-अकोविदात्मन्-पुं० सम्यक्परिज्ञानविकले, सू० १ उ० ।

अकोहण-अक्रोधन-त्रि० क्रोधरहिते, " एसप्पमोक्खो अमुसे वरे वि, अकोहणे सच्चरते तवस्सी ।" सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

अकंत-देशी-प्रवृद्धे, दे० ना० ।

अकंत-आक्रान्त-त्रि० आक्रम-क्तः । अधःकृते, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० । अभिभूते, स्वोपरिगत्या व्याप्ते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । भावे क्तः । आक्रमणे, नं० । भ० १ श० ३ उ० । आक्रान्ते, पादादिना घृतमादौ भवति । अचित्तवायुकायिकभेदे, पुं० स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

अकंतदुक्ख-दुःखाक्रान्त-त्रि० आक्रान्ता अभिभूता दुःखेन शारीरमानसेनाऽसातोदयेन दुःखाक्रान्ताः (दुःखाभिभूतेषु) सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । " सव्वे अकंतदुक्खाय, अओ सव्वे अहिंसिया " सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अकंद-आक्रन्द-पुं० आक्रन्द-घञ् । आरवे रोदने, वाच० । तदात्मके एकचत्वारिंशे उत्कृष्टाऽध्यानभेदे, आक्रन्दरुदितविशेषं पुत्रकलत्रादिवियोगे तं विधत्ते । प्रव० ३८ द्वा० । आह्वाने, शब्दे च, कर्मणि घञ् । मित्रे, भ्रातरि च, आधारे घञ् । दारुणे युद्धे, दुःखिनां रोदनस्थाने च । आक्रन्दयति-अच् पार्ष्णिग्राहपश्चाद्वर्तिनि नृपभेदे, 'पार्ष्णिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथाऽऽक्रन्दं च मण्डले' मनु० ।

अकंदण-आक्रन्दन-न० । आ+क्रन्द-ल्युट् । महता शब्देन विरवणे, आव० ४ अ० । आह्वाने च, वाच० ।

अकतु(र)री-अक्कतु(तू)वरी-स्त्री० गुच्छभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

अकत्थल-अर्कस्थल-न० मथुरासन्नस्थलभेदे, ती० ३ कल्प ।

अक्कम-आक्रम-पुं० आक्रम-घञ् । अवष्टम्भः । बलेनाऽतिक्रमणे, अभिभवे, व्याप्तौ, आमर्दे च । वाच० । प्राकृते " आक्रमे वोहावोत्थारच्छुंदा " ४।१।४६। इति सूत्रेणाक्रमेरेप आदेशाः वा वोहावइ उत्थारइ छुंदइ । अक्कमइ आक्रमते, प्रा० । आक्रमणमाक्रमः पराजये, कपर्दे, भा० म० प्र० । बलात्कारे, आव० ४ अ० । आक्रम्यते परलोकोऽनेन । करणे घञ् । परलोकप्राप्तिसाधने विद्याकर्मादौ, कृताक्रमणे, अभिभूते, व्याप्ते, आमर्दे च । वाच० ॥

अक्कमण-आक्रमण-न० अभिभवने, विशे० । पादेनाक्रमणे, आव० ४ अ० ।

अक्कमित्ता-आक्रम्य-अ० आक्रमणं कृत्वेत्यर्थे "भीमरूवेहिं अक्कमित्ता दढदाढा गाढं" प्रश्न० आश्र० १ द्वा० ।

अक्कशाला-देशी० बलात्कारे, ईषन्मत्तायां स्त्रियाम्, दे० ना० ।

अक्का-देशी-भगिन्याम्, दे० ना० ।

अक्कासीदेवी-स्त्री० व्यन्तरदेवीविशेषे, ती० ३ कल्प ।

अक्किट्ठ-अक्लिष्ट-त्रि० भ० श० अबाधिते, निर्वेदने, भ० ३ श० २ उ० । स्वशरीरोत्पन्नैः शररहिते, जी० ३ प्रति ।

अक्कुडुं-देशी० अध्यासिते, दे० ना० ।

अक्कुस-गम-धा० गतौ, " गमेरइ अइच्छाणुवज्जावज्जसोक्कुसाक्कुस० " ४।१६२। इति सूत्रेण गमेरक्कुसादेशः । अक्कुसइ, गच्छति, प्रा० व्या० ।

अक्केल्ल (य)-अकेप-त्रि० अकम्पनीये, स्था० ६ ठा० ।

अक्को-देशी-दूते, दे० ना० ।

अक्कोडण-आक्रोदन-न० संमर्दे, विशे० भुग अ० ।

अक्कोडी-देशी-छागे, दे० ना० ।

अक्कोस-अक्रोश-न० पर्यायोग्यक्षेत्रविशेषे, यस्य मूलनिबन्धात्स्वतः पञ्चसु दिशामन्यतरस्यामेकस्यां द्वयोस्तिसृषु वा दिक्षु अटवीजलश्वापदः सन्ति, तेन पर्वतनद्यादिव्याघातेन च गमनं भिक्षाचर्या च न सम्भवति, तन्मूलनिबद्धमात्रमक्रोशम् । व्य० १० उ० ।

आक्रोश-पुं० आक्रुश-घञ् । दुर्वचने, भ० ८ श० ८ उ० । निष्ठुरवचने, आव० ४ अ० । असभ्यभाषायाम्, उत्त० २ अ० । विरूपचिन्तने, शापे, निन्दायां च । वाच० ।

अक्कोसग-आक्रोशक-त्रि० दुर्वचनभाषिणि, उत्त० २ अ० ।

अक्कोसणा-आक्रोशना-स्त्री० मृतोऽसि त्वमित्यादिवचनेषु, प्रश्न० १६ अ० ।

अक्कोसपरि (री) सह-आक्रोशपरि (री) षह-पुं० आक्रोशनमाक्रोशोऽसभ्यभाषात्मकः स एव परीषहः आक्रोशपरीषहः द्वादशो परीषहे, उत्त० २ अ० । आक्रोशपरिषहजयनं, तच्छ्रुत्वा मार्दवनाशोत्थतया न कुप्येत् किन्तु सहेत आव० ४ अ० ।

"आकुष्टोऽपि हि आक्रोशेन, क्षमाश्रमणस्तो विदन् । प्रत्युताक्रोष्टरि यतिश्चिन्तयेदुपकारिताम् " ध० ३ अधि० । " आकुष्टो मुनिराक्रोशे-स्यदरप्रदानादपकर्षकः । अपदेष्टोपकारित्वं न तु द्वेषं कदाचन " आव० १ अ० । आ० म० द्वि० । यदाह शमी, कः कोपः, शिक्षयति हि मामयमुपकारी, न पुनरेवं करिष्यामीति । अमूनं चेत् पुनरेवं कोपो न कर्तव्यः । उक्तं च "आक्रुष्टेन मतिमता, तत्त्वार्थविचारणे मतिः कार्या । यदि सत्यं कः कोपः, स्यादनृतं किमिह कोपेन " इत्यादि परिभाव्य न कोपं कुर्यात् । प्रव० ८६ द्वा० । "आक्रोशः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथवा तापसः, किं वा तत्त्वनिवेशपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि वा । इत्यस्वल्पविकल्पजल्पमुखरैः संभाष्यमाणो जनै-र्नो रुष्टो न हि चैव हृष्टहृदयो योगीश्वरो गच्छति ॥" पुनरपि, ध्वंसेति विचिन्तयेत् । "ददतु ददतु गालीं गालिमन्तो भवन्तः, वयमपि तदभावात् गालिदानेऽप्यशक्ताः । जगति विदितमेतद्दीयते विद्यमानं, ददतु शशविषाणं ये महात्यागिनोऽपि ॥१॥" इति विचार्य समत्वेन तिष्ठेत् । उत्त० २ अ० । " अक्कोस सहए भाव, धम्मसंसाणवलसुयजाणं । तामं सम्म धीरे, अक्कुसगस्सु अभावयिम" सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । यदेव सूत्रकार ।

> अक्कोसेज्ज परो भिक्खुं,
> न तेसिं पडिसंजले ।
> सरिसो होइ बालाणं,
> तम्हा भिक्खू न संजले ॥ २४ ॥

आक्रोशेत्तिरस्कुर्यात् । परोऽन्यो धर्मनिरपेक्षो धर्मेतरः आक्रोशेत् भिक्षुं यतिं यथा धिग् मुण्ड किमिह त्वमागतोऽसि (न तेसिंति) मूलवचनस्य च व्यत्ययात् तस्मै प्रतिसंज्वलेत् निर्मलं प्रति । तत्प्रत्याक्रोशदानतो न संज्वलेद्दुर्गोचरं कुर्यादेव, हेतुदाहरणाभ्यां विवक्षितमर्थं निर्दिशन् इत्यर्थः, अक्षमकोपतर्जनं न कुर्वीत । संज्वलेदित्युक्तमर्थं विशेषयति-हयन इत्याह सदृशः समानः बालानां अज्ञानां किं न भवति? बालानामज्ञानां, तथाविधज्वलनत्वात् । तदा कर्तव्यं इत्यतो हेतु-

जातान्धे, गरुडे च, तुत्थे, सौवर्चले, कर्षपरिमाणे च, न० वाच० ।

अक्खइय–अक्षतिक–त्रि० अक्षये, "अक्खइयवीरियं अप्पाणं कम्मबंधणेणं मुद्दिर" अक्षतिकवीर्येण अक्षयेण दुःखहेतुनेत्यर्थः । प्रश्न० आश्र० २ द्वा० ।

अक्खओदय–अक्षयोदक–त्रि० अक्षयं शाश्वतमविनाश्युदकं जलं यस्य सोऽक्षयोदकः । नित्यसलिलभृते, "जहा से सयंभूरमणे उदही अक्खओदए" उत्त० ११ अ० ।

अक्खचम्म–अक्षचर्मन्–न० अक्षपाटकचर्मकोशे, "अक्खचम्मं उट्टगंडदेसं" ज्ञा० ६ अ० ।

अक्खणवेलं–देशी–सुरते, प्रदोषे च । दे० ना० ।

अक्खणिवद्धा–अक्षनिबद्धा–स्त्री० गन्त्र्याम्, पिं० ।

अक्खपाय–अक्षपाद–पुं० अक्षं नेत्रं दर्शनसाधनतया जातं पादेऽस्य न्यायसूत्रकारके गौतममुनौ, स हि स्वमतदूषकस्य व्यासस्य मुखदर्शनं चक्षुषा न कर्त्तव्यमिति प्रतिज्ञाय पश्चाद् व्यासेन प्रसादितः पादे नेत्रं प्रकाश्य तं दृष्टवानिति पौराणिकी कथा । वाच० । अक्षपादमते किल षोडश पदार्थाः "प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः" इति वचनात् । इत्याद्यन्यत्र प्ररूपयिष्यते । स्या० । "अक्षपादेनोक्ते ग्रन्थे च" विशे० । आ० म० प्र० ।

अक्खम–अक्षम–त्रि० क्षमते क्षमः । अच् । न० त० । असमर्थे, क्षमाभावे अव्य०, अभावार्थे, न० त० । क्षमाभावे, ईर्ष्यायाम्, स्त्री० । वाच० । अयुक्तत्वे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । अनुचितत्वे असमर्थत्वे, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

अक्खय–अक्षज–न० अक्षाद् इन्द्रियसन्निकर्षाज्जातः । जन–डः । इन्द्रियविषयसन्निकर्षोत्पन्ने प्रत्यक्षज्ञाने, वाच० । "अक्षव्यापारमाश्रित्य, भवदक्षजमिष्यते । तद्व्यापारो न तत्रेति, कथमक्षजं भवेत्" आ० म० द्वि० ।

अक्खय–पुं० वहु० न क्षताः । अखण्डतण्डुले, दर्श० । प्रश्न० । रत्ना० । सद्भावे, । न० क्षयशून्यनिधे, उत्कर्षान्विते, कपिदारौ, यवे च, त्रि० क्षयाभावे, वाच० । परिपूर्णे, स० १ सम० । प्रश्न० । क० न० त० क्षयाभावे, न० वाच० ।

अक्खय–त्रि० नाऽस्य क्षयोऽस्तीत्यक्षयः सं० । अपर्यवसाने, प्रश्न० ४ अ० । अप्रणाशिनि, पञ्चा० ४ विव० । स० । "सिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावत्तियं सिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपाविउकामे" अक्षयं क्षयरहितं साद्यनन्तत्वात् । कल्प० । अनार्हसाद्यपर्यवस्थितिकत्वात् भ० १ श० १ उ० । धनाशकरणाभावात् । औ० ३ प्रति० । रा० । ध० । "स पव्वया अक्खयसागरे वा, महोदही वा विसएणपारे" स भगवान् अक्षयाऽक्षयोऽक्षीणज्ञान इत्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अक्खयणिहि–अक्षयनिधि–पुं० देवनाभाण्डागारे, "अक्खयणिहिं च अणुवड्ढेस्सामि" विपा० १ श्रु० ३ अ० । अक्षये भाण्डागारे । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

अक्खयणिहितव–अक्षयनिधितपस्–न० सौविध्यकल्परूपे तपोभेदे, यत्र जिनबिम्बस्य पुरतः स्थापितपूर्णकलशः यावदिदं प्रतिदिनमाक्षतपुष्पमुष्ट्या पञ्चभिर्दिनैः पूर्यते तावन्ति दिनान्येकाशनेनाऽऽकारि तपोऽक्षयनिधितपः । पञ्चा० ९ विव० ।

अक्खयणीवि–अक्षयनीवि–स्त्री० अक्षया चासौ नीविश्च अक्षयनीविः । पो० ६ विव० । अक्षये मूलधने, येन ओग्गोन्नत देवकुलस्योद्धारः कारिष्यते । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

अक्खयतइया–अक्षयतृतीया–स्त्री० कर्म–स० । वैशाखशुक्लतृतीयायाम्, "वैशाखमासि राजेन्द्र, शुक्लपक्षे तृतीयका । अक्षया तिथिः प्रोक्ता, कृत्तिकारोहिणीयुता । तस्यां दानादिकं सर्वं अक्षयं समुदाहृतामिति, वाच० । तन्माहात्म्यकथा चैवम्-

प्रणिपत्य प्रभुं पार्श्वं श्रीचिन्तामणिसंज्ञकम् । अक्षयतृतीयाया व्याख्यानं लिख्यते मया ॥ १ ॥ यतदेवाह श्रुतकेवली भगवान् भद्रबाहुः । "उसभस्स य पारणए, इक्खुरसो आसि लोगनाहस्स । सेसाणं परमन्नं, अमियरसरसोवमं आसी ॥ १ ॥ घुट्ठं च अहोदाणं, दिव्वाणि आहयाणि तूराणि । देवा वि य संनिवडिआ, वसुहारा चेव वुट्ठीय ॥ २ ॥ भयवं परिहरिय सुयण, उरेण भयवं रंसतु पडिहत्थो । अण्णा निच्चमतुक्कम, गुणसदाणं महग्घवियं ॥ ३ ॥ रिसहेण समं पत्त, निरवज्जं इक्खुरससमं दाणं । सेयंससमो भावो, हविज्ज जइ मग्गियं हुज्जा ॥ ४ ॥" इति । एतासां गाथानां भावार्थः कथयाऽवगन्तव्यः । तथाहि- श्रीऋषभदेवस्वामिनो जीवः सर्वार्थसिद्धविमानात् च्युत्वाऽऽषाढकृष्णचतुर्थ्यां निशीथे नाभिनामकः कुलकरस्य भार्यायाः मरुदेव्याः कुक्षावुपन्नः । अथ मासान् नवार्धाष्टमदिनानि च अतीत्य चैत्रकृष्णाष्टम्यां निशीथसमये जन्म अभूत् । तदानीं दिक्कुमार्यः विदधुः । तत् सावधयैर्दिक्कुमारिकाः । तदनु षट्पञ्चाशद्दिक्कुमारिकाभिः सूतिकर्माणि कृतानि । तदा अवधिज्ञानेन भगवतो जिनस्य जन्मावगमात् च स्वस्वकार्यं संपाद्य निजनिजस्थानानि प्रययुः । तदनन्तरं च चतुःषष्टेरिन्द्राणामपि विष्टराः चेलुः । तेऽवधिज्ञानेनैव भगवतो जन्मदिनं विदित्वा सौधर्मेन्द्रप्रमुखेन्द्राः सर्वे सिद्धशिखरं इवमेरुं प्रति प्रययुः । ततः सौधर्मेन्द्रोऽपि जन्मस्थानं समागत्य तत्र भगवतो मातुर्मरुदेव्यः अवस्वापिनीं निद्रां दत्वा मातुः समीपे स्वरूपप्रतिरूपं भगवत्प्रतिबिम्बं विधाय भगवन्तमुपादाय पञ्चरूपो भूत्वा मेरुशिखरं समागतः । तत्र च चतुःषष्टिसुरेन्द्रैर्मिलित्वा संभूय स्नात्रमहोत्सवं कृत्वा पुनः सौधर्माधिपतिरिन्द्रः प्रभोर्जन्मभवनं प्रति भगवन्तं आनीय मातुः पार्श्वे मुक्त्वा, अवस्वापिनीं निद्रां पूर्वनिहितं भगवत्प्रतिबिम्बं चापहृत्य "भो लोकाः, जिनस्य मातुर्वाऽहितं ये चिन्तयिष्यन्ति तेषां शिरो मञ्जरीवच्छिद्यते" इत्युक्त्वा साकं देवैरन्यैर्निजं धाम जगाम । ततः प्रभाते सर्वं ज्ञात्वा ऋषभादिमहोत्सवं विधाय निजनिजस्थानं अगमन् । अथ स भगवान् सौधर्मेन्द्रसंचारितामृतभक्षणे निजाङ्गुष्ठेन वृद्धिं बभूव । मातुः स्तन्यपानं न चकार ह्युत्तमत्वात् सर्वेऽपि तीर्थकरास्तथा स्युः । ततः क्रमेण पिता 'ऋषभ' इति भगवतो नाम विदधे । इन्द्रस्तु महार्घरत्नमयाङ्गुलीयकादिना वंशस्थापनां विधाय इक्ष्वाकुवंशः स्थापितः । भगवान् कुमारावस्थायां निर्मलबुद्धिः सुनन्दा सुमङ्गलाभ्यां सह पाणिग्रहणं चकार । कालक्रमेण भरतबाहुबल्यादयः शतपुत्राः । सुनन्दा सुमङ्गला द्वे सुते ब्राह्मी सुन्दरी च । महाराज्यमनुशास्य । ततः लोकान्तिकदेवैः प्रबोधितो वार्षिकदानं दत्त्वा । चैत्रकृष्णाष्टम्यां चतुःसहस्रराजभिः सह दीक्षां जग्राह । एवं भगवान् ततः प्रभृति वर्षं यावत् निराहारो विजहार, तदा लोकाः अज्ञानतया भिक्षाविधिं न जानन्ति । कन्यारत्नहस्त्यश्वादिकं ददति । श्रेयांसोऽपि स्वप्ने दृष्ट्वा ...

दारार्थं प्रतिमार्गं विजहार च, भद्रपुरुषास्तु साधूनामाहारदानं न विदुरतो भिक्षां याचमानाय भगवते मणिमाणिक्यादीन्युत्तमवस्तून्येवोपाजह्रुः । भगवता त्यक्तपरिग्रहत्वात् दीयमानमपि तत्सर्वं न जगृहे, अतः सर्वतः पर्यटन् चतुर्विधाहाररहित एव किञ्चिदधिकमेकं वर्षमतिष्ठत् । अस्मिन्नेवावसरे गजपुरनगरे बाहुबलिनः प्रपौत्रः सोमयशःपुत्रः श्रेयांसकुमारोऽभूत्, तत्र भगवान् ऋषभदेव आहारार्थं विहरन्नाजगाम । तदा नक्तं श्रेयांसकुमारः " मेरुपर्वतः कृष्णीबभूव, मया चामृतकलशैरुक्षालयित्वा स शुक्लीकृतः" इतीदृशं स्वप्नमपश्यत् । तस्यामेव निशि तस्मिन्नेव पत्तने सुबुद्धिनामा श्रेष्ठ्यपि " सूर्यस्य किरणसहस्रं भूमौ निपपात श्रेयांसकुमारस्तु तदुत्थाप्य पुनः सूर्यबिम्बे संयुयोज " इति स्वप्नमद्राक्षीत् । पुनः सोमयशा भूपतिरपि " प्रचुररिपुसमवरुद्धो व्याकुलः कश्चन सुभटो यदा तान् स्वरिपून् जेतुं नाशकत्, तदा श्रेयांसकुमारेण तस्य साहाय्यमकारि, येन स तत्क्षणमेव सर्वान् विजिग्ये " इति स्वप्नं निरीक्षाञ्चक्रे । एवं स्वप्नत्रयं त्रयः पुरुषा ददृशुः । ततः प्रभाते सर्वे राजसभामुपसंगम्य यथास्वं स्वप्नं प्रत्यूचुः । तदवधार्य " अद्य श्रेयांसकुमारस्यापूर्वो लाभो भविष्यति " इति सर्वे सभ्या व्याजह्रुः । एतस्मिन्नेव [illegible] भगवान् भिक्षार्थं परिभ्रमन् तत्र श्रेयांसकुमारनिकेतनमुपतस्थे । तमागच्छन्तं भगवन्तं समवलोक्य कुमारोऽतीव जहर्ष । अन्ये च जना [illegible] पादाभ्यामेव पर्यटन्तं समवलोक्य हस्त्यश्वप्रभृतीनि विविधवस्तूनि समुपाहरन् । भगवांस्तु किमपि नोपाददे । तेन ते लोकाः कोलाहलं कृत्वा खिन्नमानसा चिन्तयन्ति स्म, यतो भगवान् अस्मद्दत्तं किमपि नोपादत्ते, अतः [illegible] इति । ते तु युगलधर्मव्यवस्थामचिरेण [illegible] दानविधिं न विदन्ति । अथ श्रेयांसकुमारो भगवतः सम्मुखं समवलोक्य 'ईदृशी मुद्रा मया पूर्वं कुत्रापि विलोकिता' इत्येवमूहापोहौ कुर्वन् तदानीं तस्य [illegible] समभूत् । तेन ज्ञानेन 'भगवता साकं [illegible]' इत्यादि सर्वं सोऽस्मरत् । तत्र " धण १ मिहुण २ सुर ३ महब्बल ४, ललियंग ५ वयरजंघ ६ मिहुणो य ७ । सोहम्म ८ विज्ज ९ अच्चुय १०, चक्की ११ सव्वट्ठ १२ उसभो य १३" । इति [illegible] त्रयोदशभवानां मध्ये प्रथमे भवे [illegible], द्वितीये युगलिकः, तृतीये [illegible], पञ्चमे ललिताङ्गनामको देवोऽभवत् । श्रेयांसकुमारस्तु प्रथमे भवे [illegible] । एवं क्रमेण ललिताङ्गदेवावस्थायां [illegible] । [illegible] स्वयंप्रभा च तस्य [illegible] । एवं [illegible] युगलि- [illegible] । [illegible] श्रेयांसस्तु [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] भगवतो [illegible] । [illegible] । [illegible] तेषु भ-

येषु पूर्वं साधुक्रियामद्राक्षीत्, अत एव श्रेयांसकुमारो व्यचिन्तयत् यत् संसारिजीवानां कीदृशमज्ञानित्वं भवति येन चिरं प्राप्तं राज्यपदवीं तृणवत् विसृज्य विषयभोगरूपं सांसारिकं किंपाकफलमिव विदित्वा साधुत्वं गृहीत्वा च कर्मबन्धनोच्छेदनाय प्रयतमानं रागद्वेषाद्यनेकानर्थकारणीभूतं परिग्रहं तृणमात्रमप्यस्वीकुर्वाणं भगवन्तं नावेदिषुः । यः सर्वथा [illegible] निष्परिग्रहः स कथं पुनर्हस्त्यश्वकन्यास्वर्ण[illegible]मुक्ताफलादीन् परिग्रहान् ग्रहीष्यति ? । एवं बुद्ध्वा स श्रेयांसकुमारो निजप्रासादगवाक्षात् तूर्णमधः समवतीर्य [illegible]णोपकरणं समाययौ भगवन्तं त्रिः परिक्रम्य परमानन्दसिन्धुनिमग्नो ववन्दे च । पुनरञ्जलिं बद्ध्वा भगवन्तं तुष्टाव [illegible] । हे स्वामिन् ! मयि कृपा विधीयतामहं संसारतापतप्तोऽस्मि अतो मे संसाराग्निस्तारः क्रियताम् । अष्टादशकोटाकोटिसागरोपमपर्यन्तविच्छिन्नो मुनिजनानां प्रासुकाहारदानविधिः प्रकाश्यताम् । मम गृहे उपहाररूपेण समागतान् इक्षुरसपूर्णान् शुद्धाहारभूतान् अष्टोत्तरशतघटान् भवान् समादत्ताम् । इति वचो निशम्य ज्ञानचतुष्टयसम्पन्नो भगवान् तमिक्षुरसं [illegible] कालभावानुकूलं निरवद्याहारं समवगत्य श्रेयांसाभिमुखं निजहस्ताञ्जलौ सर्वं युगपज्जग्राह । यतो भगवता पाणिपात्रलब्धिमता भूयते, तेनैव स निखिलोऽष्टोत्तरशतघटरसोऽञ्जलौ प्रविवेश । रसग्रहणसमये चैकबिन्दुरपि भूमौ न निपपात । यद्यप्ययमष्टोत्तरशतघटपरिच्छिन्न एव रसोऽभूत् यदि वा सहस्रलक्षपरिमितः समुद्रपरिमितो वा स्यात् तथापि [illegible] । एवं भगवते विशुद्धाहारदानस्य महानानन्दः श्रेयांसस्य हृदि ममौ । पुनर्व्यचिन्तयत् त्रिलोकीपूज्योऽनन्तगुणाभिधेयो [illegible] ऋषभदेवो यन्मे हस्तेनाहारमाददे तन्मयि परमप्रसादं [illegible] । भगवते निर्दोषाहारं ददतो मे सर्वः पापसमूहः [illegible] । यावत् स एवं विचिन्तयति तावदुपरि [illegible] देवाः पञ्च दिव्यानि प्रकटीचक्रुः, 'अहोदानमहोदानम्' एवं प्रजल्पन्तो देवदुन्दुभीन् च वादयांचक्रिरे । तिर्यग्जृम्भकाख्यास्त्रिदशाः सार्धद्वादश कोटिसुवर्णदीनाराणां रत्नानां च वृष्टिमकार्षुः । तदा श्रेयांसस्य गृहं सुवर्णदीनारै रत्नैः समृद्ध्यादिभिश्च परिपूर्णं बभूव । विश्वत्रयं धनधान्यादिभिः परिपूर्णम् । श्रेयांसस्य [illegible] प्रमुदितमानसं संजातम् । तदारभ्य लोके सर्वे [illegible] दानविधिं विज्ञाञ्चक्रुः । भगवान् यस्मिन् यस्मिन् [illegible] तस्मिन् तस्मिन् देशे कदापि [illegible] परमोत्तमाहारपूर्णानि बभूवुः, येन [illegible] । [illegible] परमान्नं प्रवर्तन्ते स्म [illegible] । वैशाखशुक्लतृतीयादिने भगवतः श्रीऋषभदेवस्य [illegible] श्रेयांसकुमारस्य गृहे इक्षुरसेन निर्वृत्ता । इदं च दानं [illegible] 'अक्षयतृतीया' वा संज्ञा लोके प्रावर्तिष्ट । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] ।

नं वस्तु तान् प्रादर्शयत् । तथा षण्मुखो भूपतो महता कष्टेन षट्पुण्यस्थानवत्तस्य स्थानानुगतं, अनन्तभवोपार्जितमन्तराय- कर्म दीक्षामहोत्सवमध्ये प्रादुर्भूतकर्पयान्तरमपोपशमनामपापे- ति । तथा तस्य दानस्य प्रभावेण धर्मामो मोक्षपदवीमवाप्स्यति । भगवांश्चैत्रमध्ये वर्षाणि उपस्थापस्थापामानिष्टत् । एकमहाघ- यौवनस्थपूर्ववर्षायोर्द्धिकपलिताचपरास्तां स्थित्याऽनेकान् प्र- स्वर्गांश्चान् प्रतिबोधयन् विजहार । ततोऽष्टापदपर्वतोपरि सम्य- ग्योगमं लोकमपास्य मोक्षमवाप । अतोऽक्षयतृतीयादिने भव्य- जीवानां शुभाचरनं, शीलपालनं, तपस्याऽऽचरणं, भावनानाम- नं, देवपूजनं, आत्मदानमयादिकं च कर्म विधीयत इति ॥

गधरपमयं होनत् पूर्वाचार्यैर्विनिर्मितम् ।
माहात्म्यं लिखितं सारं मया राजेन्द्रसूरिणा ॥ १ ॥

युगे प्रथमायामक्षयतृतीयायां केनापि पृष्टम् । के अतवः पूर्वं- महात्मा. को वा वस्मिन् वर्त्तते ? । तत्र प्रथमाया अक्षयतृती- याः प्राक् युगस्यादित आरभ्य पर्याप्तनिकान्तानि एको- नानि द्वे शते पञ्चाशीत्यधिके (२८५) अक्षयतृतीयायां किल- र्वाणि पर्यणामुपरि निवर्त्तितयः प्रविश्यन्ते जाते द्वे शते ष्टाशीत्यधिके (२८८) तावति च कालेऽयमराजाः पञ्च प्र- न, ततः पञ्च पारपन्ते जाते द्वे शते त्र्यशीत्यधिके (२८३) ते पां युगपन्ते जातानि पञ्च शतानि षट्षष्ट्यधिकानि (५६६) कषष्टिसहितानि क्रियन्ते जातानि षट्शतानि सप्तविंशत्य- ानि (६२७) तेषां द्वाषष्टिशतेन भागहरणं लभ्याः । च वृद्धिमासं न सहस्रं इति न तेषां षड्भिर्भागहारः, वंशा हरन्ति नास्ति, तेषामङ्काजाता साष्टौ, भागत्रं, च अवतीर्णकान्ताः षष्ठस्य च युगेः प्रवर्त्तमानस्याष्टौ दिवसा गता प्रथमं वर्त्तते इति । मू० प्र० १२ पाहु०

अक्खयपूया-अक्षतपूजा-स्त्री० जिनप्रतिमानां पुरोऽखण्डत- तण्डुलसमर्पणे, तन्माहात्म्यविषये शुककथानकं विजयचन्द्र- चरित्रादिलिख्यते । तद्यथा—

अक्खंडफुडियसुक्ख-क्खयपहिं पुंजत्तयं जिणिंदस्स ।
पुरओ नरा कुणंतो, पावंति अखंडियसुहाइं ॥ १ ॥
जह जिणपुरओ सुक्ख-क्खयपहिं पुंजत्तयं कुणतेणं ।
कीरमिहुणेण पत्तं, अक्खंडियं सासयं सुक्खं ॥ २ ॥
अत्थित्थ भरहवासे, सिरिपुरनयरस्स बाहिरुज्जाणे ।
रिसहजिणमंदिरवरं, देवविमाणं व रमणीयं ॥ ३ ॥
भवणस्स तस्स पुरओ, सहयारमहादुमम्मि सच्छाओ ।
अन्नुन्नेहरत्तं, सुयमिहुणं तम्मि परिवसइ ॥ ४ ॥
अह अन्नया कयाई, भणिओ सो तीइ भत्तणो सत्ता ।
जणेह डोहलो मे, सीसं इह सालिखित्ताओ ॥ ५ ॥
भणिया सो तेण पिए, एयं सिरीकंतराइणो खित्तं ।
जो लयमि वि सीसं, गिह्णइ सीसं निवो तस्स ॥ ६ ॥
भणिओ तीए सामिय !, तुह सरिसो नत्थि इत्थि कापुरिसो ।
जो मज्झ वि य मरणं, इच्छसि नियजीवलोहेण ॥ ७ ॥
इय भणिओ सो तीए, नेहाए जीवियस्स निरविक्खो ।
गंतूण सालिखित्ते, आणइ सो सालिसीसाए ॥ ८ ॥
एवं सो पइदियहं, रक्खंताणं वि रायपुरिसाणं ।
आणेइ मंजरीओ, भज्जाएसेण सो निच्चं ॥ ९ ॥
अह अन्नया नरिंदो, समागओ तम्मि सालिखित्तम्मि ।
पेच्छइ सउणविलुत्तं, तं खित्तं एगदेसम्मि ॥ १० ॥

पुट्ठो य आयरेणं, पुरिसोपालेण सालिया मुत्ति ।
किं इत्थ इमं दीसइ, सउणेहिं विणासियं खित्तं ॥ ११ ॥
सामिय ! इक्को कीरो, गच्छइ सो सालिमंजरी धित्तं ।
रक्खिज्जंतो वि दढं, चोरुव्व उड्डुत्ति नासेइ ॥ १२ ॥
भणिओ सो नरवइणा, मंडियपासेहिं तं गहेऊणं ।
आणेह मज्झपासे, हणेह चोरुव्व तं दुट्ठं ॥ १३ ॥
(आणेयव्वो पासे, सहसो चोरुव्व अइदुट्ठो । इतिपाठान्तरम्)
अह अन्नदिणे कीरो, रायाएसेण तेण पुरिसेणं ।
पासनिबद्धो निअइ, सुईए पिच्छमाणीए ॥ १४ ॥
पुट्ठिविलग्गा धावइ, अंसुजला पुन्नलोयणा सुई ।
पत्ता इरएण समं, सुउक्खिता रायभवणम्मि ॥ १५ ॥
अच्छाणट्ठिओ राया, विन्नत्तो तेण सालिपुरिसेणं ।
देवेसो सो सूओ, बद्धो चोरुव्व आणीओ ॥ १६ ॥
तं दट्ठूणं राया, खग्गं गहिऊण जाव पहणेइ ।
ता सहसच्चिय सुई, निवपहुणो अंतरे पडिया ॥ १७ ॥
पभणइ सुई पहणसु, निस्संको अज्ज मज्झ देहम्मि ।
मुंचसु सामिय ! एयं, मह जीवियदायगं जीयं ॥ १८ ॥
मुह सालीए उवरिं, संजाओ देव डोहलो मज्झ ।
सो तणसरिसं काउं, नियजीयं मह वि ओवम्मि ॥ १९ ॥
हसिऊण भणइ राया, कीर ! तुमं पडिओत्ति विक्खाओ ।
महिलाकज्जे जीयं, जो चयसि वियक्खणो कहसु ॥ २० ॥
पभणइ सुई सामिय, ! अच्छउ ता जणणिजणयवित्ताइं ।
नियजीवियं पि उज्झइ, पुरिसो महिलाणुराएण ॥ २१ ॥
तं नत्थि जं न कीरइ, वसणासत्तेहिं कामलुद्धेहिं ।
ता अच्छउ इयरजणो, हरेण देहद्धयं दिन्नं ॥ २२ ॥
जह सिरिदेवीइ कए, देवतुमं जीवियं पि छड्डेइ ।
तह अन्नो वि हु उज्झइ, को दोसो इत्थ कीरस्स ॥ २३ ॥
तीइ वयणेण राया, चिंतइ हियएण विम्हियं हंतो ।
कह एसा पक्खिणिया, वियाणए मज्झ वुत्तंत ॥ २४ ॥
पभणइ राया भद्दे, दिट्ठंतो कह कओ अहं तुमए ।
साहसु सव्वं एय, अइगरुयं कोउयं मज्झ ॥ २५ ॥
पभणइ कीरी निसुणसु, दिट्ठंतो इत्थ जह तुम जाओ ।
आसि पुरा तुह रज्जे, सामिय ! परिवायगा एगा ॥ २६ ॥
बहुकूडकवडभरिया, भत्ता जा हद्दखद्देवाणं ।
सा तुह भज्जाइ चिरं, सिरिया देविए उवयरिया ॥ २७ ॥
नरवइणोहं भज्जा, बहुभज्जो एस मज्झभत्तारो ।
कम्मवसेण जाया, सव्वेसिं दूहवा अहयं ॥ २८ ॥
ता तह कुणसु पसायं, भयवइ जह होमि वल्लहा पइणो ।
मह जीवियए जीवइ, मरइ मरंतीइ किं बहुणा ॥ २९ ॥
भणिया एसा वच्छे, गिह्णइ तुम ओसहीवलय ।
तं देसु तस्स पाणे, जेण वसे होइ तुह भत्ता ॥ ३० ॥
भयवइ भयणपवेसो, वि नत्थि कह दंसणं समं तेण ।
कह ओसहीवलयं, देमि अहं तस्स पाणम्मि ॥ ३१ ॥
अह एवं ता भद्दे, गहिऊण अज्ज महसयासाओ ।
साहुसु एगग्गमणा, मंतं सोहग्गसंजणणं ॥ ३२ ॥
भणिऊण सुहमुहुत्ते, दिन्नो पव्वाइयाइ सो मंतो ।
पुव्वं काऊण पुणो, तीए वि पडिच्छिओ विहिणा ॥ ३३ ॥
जा जावइ सा देवी, तं मंतं पइदिणं पयत्तेण ।
ता सहसा नरवइणा, पडिहारी पेसिया भणइ ॥ ३४ ॥
आणवइ देवि देवो, जह तुमए अज्ज वासभवणम्मि ।

[illegible]लवसमं, कुविश्रो [illegible] मेर कायन्त्रो ॥ ३५ ॥
[illegible]मगारा, [illegible] रायमोपपरिपरिया ।
[illegible] रायमवगम्मि ॥ ३६ ॥
[illegible], रोहणी देवि सिममहिलाणं ।
[illegible], संजाया सा महादेवी ॥ ३७ ॥
[illegible]सुकमं, संतुट्ठ देइ [illegible] दाणं ।
[illegible] च विनिग्गहं कुणइ ॥ ३८ ॥
[illegible] पुट्ठा, तीए [illegible] इमा देवी ।
[illegible] मणोरहा [illegible] ॥ ३९ ॥
[illegible], तुह पयमसाम जं न संनवई ।
[illegible] हिययं दोलायए मज्झ ॥ ४० ॥
[illegible], [illegible] मरह महमंतोप ।
[illegible] ॥ ४१ ॥
[illegible], [illegible] पयाए ।
[illegible] ॥ ४२ ॥
[illegible]

तिक्खागहपेण अहं, संतुट्ठा नयरमज्झम्मि ॥ १० ॥
गयवरखंधारूढे, काऊणं नियपपियपमाणाए ।
संपत्तो नियभवणे, माणंदमहूसवं कुणइ ॥ ११ ॥
फलिहमयमित्तघडिया, कंचणसोपाणपंभनिम्माविया ।
काराविया तिवेणं, मढिया मज्झाइ तुढेणं ॥ १२ ॥
पव्वइया सा नरवर-भरिऊणं मह्वाए दोसेनं ।
संजाया सुहसुहं, साहं पत्ता तुह सयासे ॥ १३ ॥
दट्ठूणं देव ! तुमं, तुह पासपरिट्ठियं महादेविं ।
जायं जाईसरणं, संभरिअं तुह मए चरितं ॥ १४ ॥
सोऊण तीइ वयणं, रोयंती भणइ सा महादेवी ।
भयवइ कह मरिऊणं, संजाया पक्खिणी तुमं ॥ १५ ॥
मा भूरसि किसोयरि, दुक्खिणी [illegible]
कम्मवसेणं जीवो, तं नत्थिहं जं न पावेइ ॥ १६ ॥
तेण तुमं दिट्ठंतो, दिट्ठो मरणाहमहिलिया विमए ।
सोऊण इमं राया, संतुट्ठो सुरगं भणए ॥ १७ ॥
सच्चो दिट्ठंतोहं, दिट्ठो तुम पाय महिलिया विमए ।
ता तुट्ठाहं पभणसु, जं इट्ठं तं पणामेमि ॥ १८ ॥
पभणइ सुई निसुणसु, महइट्ठो नाह भवणो [illegible]
ता तस्स देसु जीयं, न हु काजं किं पि मज्झेण ॥ १९ ॥
हसिऊण भणइ देवी, देव तुमं कुणसु [illegible]
पयाए पीईदाणं, मोयणदाणं च निस्साए ॥ २० ॥
भणिया सा नरवइणा, पच्चासु महं जहिच्छियं [illegible]
सुद्धोय पम [illegible], [illegible] सुणह वयणेण ॥ २१ ॥
भणिओ य साहिणाओ, वयाणं संदुलाणं च ।
[illegible] काऊण [illegible] ॥ २२ ॥
जं आणवेइ देवो, इय भणिए भणइ [illegible]
पम [illegible] सामिय ! इय भणिउं [illegible] ॥ २३ ॥
[illegible], संमूणं [illegible] ।
नियनियहम्मि पगूया, [illegible] ॥ २४ ॥
[illegible]
तम्मि [illegible] पगूया, [illegible] ॥ २५ ॥
जा सा [illegible], [illegible]
ता [illegible], [illegible] ॥ २६ ॥
जा [illegible] न [illegible], [illegible] ।
ता [illegible], [illegible] ॥ २७ ॥
न [illegible], [illegible] ।
[illegible] ॥ २८ ॥
[illegible]
[illegible] ॥ २९ ॥
[illegible]
[illegible] ॥ ३० ॥
[illegible]
[illegible] ॥ ३१ ॥
[illegible]

पुरओ भत्त कुमारो, गायंति कन्नाइ दियपुराइं ॥ ८७ ॥
इय पुरयवत्त मोडं, अक्खयपूया सकुच्छलं लोओ।
पूएण सा गूढं, पायलं निमयमाणो पंच ॥ ८८ ॥
कहं वि नाह ! एवं, अक्खयपुंजत्तयण जिणनाहं ।
पुरओ कयविसो, तिरिइत्तए जेण पावेमो ॥ ८७ ॥
एव भीए भणिए-भ संपुडे निविय अक्खयकरहिं ।
सच्छ तिन्निपुरओ, पुंजतियं वीरसिद्धएण ॥ ८८ ॥
अलिमं अक्खयपुंजसं, जणणीजणएहिं जिणवरिंदस्स ।
पुरओ मुंचइ अखयं, पावइ जेणक्खयं सुक्खं ॥ ८९ ॥
इय पाइदियहं काउं, अक्खयपूयं तिजिगुभत्तीए ।
आउक्खए सयाई, जायाइं वि देवलोगम्मि ॥ ९० ॥
भुंजेण देवसुक्खं, सो सुभओ पुणो वि चविऊण ।
संजाओ हेमपुरे, राया हेमप्पहो नाम ॥ ९१ ॥
सो वि य सुगंधी, तओ य चविऊण देवलोगाओ ।
हेमप्पहस्स भज्जा, जाया जयसुंदरी नाम ॥ ९२ ॥
सा पच्छिमा वि सूई, नवगाइ हिंडिऊण सा जाया ।
हेमप्पहस्स रण्णो, रइमाला भारिया हुयइ ॥ ९३ ॥
सयलाओ वि कमेणं, पवनया जाव भारिया सयम ।
आयाओ पुण ऽट्ठा, पउमा ते भारिया दो वि ॥ ९४ ॥
(सत्तजाया पुण ऽट्ठा, पउमाओ भारिया दुवि) इति पाठान्तरम् ।
अह अन्नया नरिंदो, दुस्सहज्जरदाहवावियसरीरो ।
चंदणजलुल्लिओ वि हु, सोमइ भूमीइ अप्पाणं ॥ ९५ ॥
एवं अमरलदिढ्ढो, चिट्ठइ जा निसि सत्तए राया ।
ता अंगनाइएसा, विज्जा वि पर मुद्दा आया ॥ ९६ ॥
लाघोसरइ सच्चो, दिज्जंति य बहुविहाइं दाणाइं ।
जिणभवणेसु य पूया, देवयआराहणाओ य ॥ ९७ ॥
रयणी य पच्छिमद्धे, पयडो होऊण रक्खसो भणइ ।
किं सुत्तो सि नरेसर ! भणइ निवो कह णु मह निद्दा ॥ ९८ ॥
ओयारणं करेउ, अप्पाणं जइ नरिंद ! तुह भज्जा ।
पक्खिवइ अग्गिकुंडे, तो जीवइ अन्नहा नत्थि ॥ ९९ ॥
इय भणिऊण नरिंदं, विणिगओ रक्खसो नियट्ठाणं ।
राया विम्हियहियओ, चिंतइ किं इंदजालु त्ति ॥ १०० ॥
किं वा दुक्खवसेणं, भज्ज मए एस सुविणगो दिट्ठो ।
अहवा न होइ सुविणो, पच्चक्खो रक्खसो एसो ॥ १०१ ॥
इत्तो विनयपराहिया, चोइणा जामिणी नरिंदस्स ।
उदयाचलम्मि चडिओ, सूरो वि हु कमलिणीनाहो ॥ १०२ ॥
रयणीए वुत्तंतो, नरवइणा साहिओ सुमंतिस्स ।
तेण वि भणियं किज्जउ, देव ! इमं जीवकज्जम्मि ॥ १०३ ॥
परजीवणं नियजीव-परक्खणं न हु कुणंति सप्पुरिसा ।
ता होउ मज्ज हियं, इय भणिओ राइणा मंती ॥ १०४ ॥
सद्दाविऊण सव्वाओ, मंतिणा नरवइस्स भज्जाओ ।
कहिओ रक्खसभणिओ, वुत्तंतो ताण नीसेसो ॥ १०५ ॥
सोऊण मंतिवयणं, सव्वाओ नियजियस्स लोहेण ।
जाउ अहोमुहीओ, न दिंति मंतिस्स पडिवयणं ॥ १०६ ॥
पप्फुल्लवयणकमला, उट्ठेउ भणइ रई महादेवी ।
मह जीविएण देवो, जइ जीवइ किं न पज्जत्तं ॥ १०७ ॥
इय भणिए सो मंती, नयणगयक्खरस्स हिट्ठभूमीए ।
खणाविऊण कुंडं, भरावइ अगरुकट्ठेहिं ॥ १०८ ॥
ता वि य कयसिंगारा, नमिऊण भणइ सा पइणो कंतं ।
सामिय ! मह जीवेणं, जीवसु नियडामि कुंडम्मि ॥ १०९ ॥

भणइ नरिंदो कत्थं गया, मज्झ कए देवि ! अप्पणु मा जीयं ।
अणुहविय सुक्खं च मए, सयमेव पुराकयं कम्मं ॥ ११० ॥
पभणइ महाएविमिणा, सामिय ! मा भणसु एरिसं वयणं ।
जं जाइ तुज्झ कज्जे, तं सुलहं जीवियं मज्झ ॥ १११ ॥
ओयारणं करेई, अप्पाणं सायला वि नरवइणो ।
भवणगवक्खे जाउ, जलिए कुंडम्मि पक्खिवई ॥ ११२ ॥
अह सो रक्खसनाहो, तीसे सत्तेण तोसिओ सहसा ।
अप्पत्तं वि य कुंडे, हुयासदूरं समुक्खिवई ॥११३॥
भणिया रक्खसयएणा, तुट्ठो हं अज्ज तुज्झ सत्तेण ।
मग्गसु जं हियइट्ठं, देमि वरं तुज्झ किं बहुणा ॥११४॥
जणणिजणएहिं दिण्णो, हेमपहो मह वरो किमन्नेण ।
मग्गसु तह वि हु भद्दे, देवाण न दंसणं विहलं ॥११५॥
जइ एवं ता एसो, मह भत्ता देव तुह पसाएण ।
जीवउ वाहिविहीणो, चिरकालं होउ एस वरो ॥११६॥
एवं ति पभणिऊणं, दिव्वालंकारभूसियं काउं ।
कंचणपउमे सुत्तं, देवो हु अदंसणीहूओ ॥ ११७॥
जीव तुमं भणइ जणो, सीसे पुप्फक्खए खिवेऊण ।
नियजीवियदाणेणं, जीए जीयाविओ भत्ता ॥११८॥
तुट्ठो तुह सत्तेणं, वरसु वरं जंपिए पिय तुज्झ ।
भणिया पइणा पभणइ, देव वरो मह तुमं चेव ॥११९॥
जीवियमुल्लेण तुए, वसीकओ हं सया वि कमलच्छि ।
ता अन्नं करणीयं, भणसु तुमं भणइ सा हसिउं ॥१२०॥
जइ एवं ता चिट्ठउ, एस वरो सामि ! तुह सयासम्मि ।
अवसरवडियं एयं, पच्छिस्सं तुह सयासाओ ॥ १२१॥
अह अन्नया रईए, भणिया पुत्तत्थिणीइ कुलदेवी ।
जयसुंदरिपुत्तेणं, देमि बलिं होउ मह पुत्तो ॥१२२॥
भवियव्वयावसेणं, जाया दुण्हं पि ताण वरपुत्ता ।
बहुलक्खणसंपुन्ना, सुहजणया जणणिजणयाणं ॥१२३॥
तुट्ठा रई वि चिंतइ, दिन्नो कुलदेवयाइ मह पुत्तो ।
जयसुंदरिपुत्तेणं, कह कायव्वा मए पूया ॥१२४॥
एय चिंतंतीए, लद्धो पूयाइ साहुणो वाओ ।
नरवइवरेण रज्जं, काऊण बले करिस्सामि ॥१२५॥
इय चिंतिऊण तीए, अवसरपत्ताइ पभणिओ राया ।
जो पुव्विं पडिवन्नो, सो दिज्जउ मह वरो सामि ॥१२६॥
मग्गसु जं हियइट्ठं, देमि वरं जीविय पि किं बहुणा ।
जइ एवं ता दिज्जउ, मह रज्जं पंचदियहाइं ॥१२७॥
एव त्ति पभणिऊणं, दिन्नं तुह पिये मए रज्जं ।
पडिवन्नं तं तीए, महापसाउ त्ति काऊणं ॥१२८॥
पालइ सा तं रज्जं, पत्तो रयणीए पच्छिमे जामे ।
जयसुंदरीइ पुत्तं, आणावइ रोयमाणीए ॥१२९॥
तं न्हाविऊण बालं, चंदणपुप्फक्खएहिं पूएउं ।
पडलयउवरिं काउं, ठावइ दासीइ सीसम्मि ॥१३०॥
वच्चइ परियणसहिया, उज्जाणे देवयाइ भवणम्मि ।
वज्जिरतूररवेणं, बहिरं नरनारिलोएण ॥१३१॥
अह विज्जाहरवइणा, कंचणपुरसामिएण सूरेण ।
वच्चंतेण नहेणं, दिट्ठो सो दारगो तेण ॥१३२॥
उज्जोयंतो गयणं, दिणयरतेउ व्व निययतेएण ।
गहिऊण तेण अलक्खं, अन्नं मयबालगं मुत्तुं ॥१३३॥
भणिया मुत्ता भज्जा, जंघोवरियाइमं ठवेऊण ।
उच्छह सहुं किंतोपरि, विच्छुट्टसु नियदारगं जायं ॥ १३४ ॥

इह इत्थंमि गुणे मालिय !, हरिया हं निम्मिलेण देवेण ।
किं [illegible] मुणइ, देवपुत्तं च पत्तेह ॥ १३५ ॥
[illegible], जइ मह पवनेण नत्थि सद्दहणं ।
[illegible] मज्झ चिय, निययुत्तं दंसणासि य ॥ १३६ ॥
इय [illegible], [illegible] माहिऊण सा भणिया ।
[illegible], [illegible] मम पुत्तो त्ति ॥ १३७ ॥
[illegible] एवं, नं [illegible] मो य पत्तदिवहं ।
[illegible], [illegible] निवंहु त्ति ॥ १३८ ॥
[illegible], [illegible] देवीए ।
[illegible] [illegible] मुहा ॥ १३९ ॥
[illegible], [illegible] मुहं कमइ ।
[illegible], [illegible] दुक्खिया [illegible] ॥ १४० ॥
[illegible], [illegible] ।
[illegible], [illegible] जणनि ॥ १४१ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ १४२ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ १४३ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ १४४ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ १४५ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ १४६ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ १४७ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ १४८ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ १४९ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ १५० ॥
[illegible]
[illegible] ॥ १५१ ॥
[illegible]
[illegible] ॥ १५२ ॥
[illegible]
[illegible] ॥ १५३ ॥
[illegible]
[illegible] ॥ १५४ ॥
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

भयवं ! किं तं सच्चं, जं भणियं वानरीइ मह पुरओ ।
मुणिवइणा वि हु भणिओ, सच्चं तं होइ भद्द [illegible] ॥ [illegible]
निच्चं चिट्ठामि इओ, कम्मक्खयकारणम्मि [illegible] ।
हेमपुरे सविसेसं, साहिस्सइ केवली तुज्झ ॥ [illegible]
इय भणिओ तं नमिउं, सहिओ जणणीए सो गओ [illegible] ।
जणणिजणएहिं दिट्ठो, हरिसियहियएहिं सो [illegible] ॥ [illegible]
पणमेत्तं ठविऊणं, पत्तंगयलणेण पुच्छिया जणणी ।
अम्मो साहसु फुडं, कह जणणी मज्झ का [illegible] ॥ [illegible]
चिंतइ सा सविसेसं, किं पुत्तो मज्झ पुच्छए एवं ।
पभणइ पुत्तय ! अहं पि, तुह जणणी एस जणओ त्ति ॥ [illegible]
सच्चं अम्मो एवं, तह वि हु पुच्छामि अम्म [illegible] ।
तं परमत्थं पुत्तय !, तुह जायइ एस जणओ त्ति ॥ [illegible]
तेण वि परितुट्ठेणं, कहिउं पत्तलायरपरो [illegible] ।
तह पुण जणओ पुत्तय, पिआओ किंचि मह मम [illegible] ॥ [illegible]
भणिओ कुमरेण पुणो, पत्ता जा ताव [illegible] ।
सा वानरीइ सिट्ठा, पत्ता तुह जम्मजणणि त्ति ॥ ११७ ॥
मुणिणा वि हु पुट्ठेणं, एवं चिय साहिऊण भणियं [illegible] ।
हेमपुरे गंतूणं, पुच्छसु तं केवलिं एयं ॥ ११८ ॥
तो ताय तत्थ गंतुं, पुच्छामो केवलिं निरवसेसं ।
जेणम्हाणं संदेहो, तुट्टइ मह [illegible] ॥ ११९ ॥
इय भणिऊणं कुमरो, चलिओ सह [illegible]
(इय भणिऊणं चलिओ सहिओ सह जणणि [illegible]

इति पाठान्तरम्)

[illegible] हेमपुरे, केवलिणो पायमूलम्मि ॥ [illegible]
[illegible], केवलिणो पायपंकयं नमिउं ।
उवविट्ठो धरणियले, [illegible] ॥ [illegible]
जयसुंदरी वि देवी, [illegible] ।
निययुत्तेण समेया, निसुणइ गुरुभासियं [illegible] ॥ [illegible]
हेमरहो वि य राया, निसुणइ [illegible] ।
उवविट्ठो गुरुमूले, निसुणइ गुरुभासियं [illegible] ॥ [illegible]
[illegible] नाऊणं, [illegible] भणइ [illegible] ।
भयवं ! का मह जणणी, [illegible] ॥ [illegible]
[illegible] सो [illegible], [illegible] ' [illegible]
[illegible], भयवं ' [illegible] ॥ [illegible]
[illegible] पुत्तो, [illegible] ।
[illegible], [illegible] पुत्तो [illegible] ॥ [illegible]
[illegible], [illegible] पुत्तो [illegible]
[illegible] ॥ [illegible]
[illegible]
[illegible] ॥ [illegible]
[illegible]
[illegible] ॥ [illegible]
[illegible]
[illegible] ॥ [illegible]
[illegible]
[illegible]
([illegible]
[illegible])
[illegible]

जइ देवाण वि परिसा, बहुदुक्खसमाउला जाया ॥ १८२ ॥
(जइ देवाण वि दुक्खं, परिसा मज्झे समागमं इत्यपि)
पुट्ठो य रयंतीए, भयवं ! मह केण ! कम्मणा एसो ।
जाओ पुत्तवियोगो, सोऽसत्थसरिसाण अइदुसहो ॥ १८३ ॥
मोत्तसमुद्दुत्तराई, सुरभवे जं सुहाइं तुमिया ।
थोवं हरिउण तए, सुयविरहो तेण तुह जाओ ॥ १८४ ॥
जो दुक्खं च सुहं वा, तिलतुसमित्तं पि देइ मन्नस्स ।
सो थोवं च सुसित्तं, परलोए बहुफलं लहइ ॥ १८५ ॥
सोउं गुरुणो वयणं, गुरुपच्छायावताविएमणाए ।
अन्मंतरदुच्चरियं, खमाविया सा रई तीए ॥ १८६ ॥
तीए वि उट्ठिऊणं, भणिया जयसुंदरी वि नमिऊणं ।
खमसु तुमं पि महायस, जं सवियं तुज्झ सुयदुक्खं ॥ १८७ ॥
भणिया गुरुणा तुम्ह वि, जं बद्धं मच्छरेण गुरु कम्म ।
तं भग्गं खामणाए, सायंये मुक्कोहि सीसेसं ॥ १८८ ॥
भणइ नरिंदो भयवं, ! अन्नभवे किं कयं पावं ।
जेण सह सुंदरीए, कुमरेण य पाविय रज्जं ॥ १८९ ॥
जइ सुगजम्मम्मि तए, जिणपुरओ अक्खएहिं खिविऊण ।
संपत्तं देवत्तं, रज्जं तह साहियं गुरुणा ॥ १९० ॥
जं अम्भंतरविहियं, अक्खयपुंजत्तयं जिणिंदस्स ।
तस्स फलं तुह भज्ज वि, तइयभवे सासयं ठाणं ॥ १९१ ॥
इय भणिए सो राया, रज्जं दाऊण रयणपुत्तस्स ।
जयसुंदरिकुमरजुओ, पव्वइओ गुरुसमीवम्मि ॥ १९२ ॥
पव्वज्जं पालेउं, सहिओ इत्थाइ तह य पुत्तेण ।
मरिऊण समुप्पन्नो, सत्तमकप्पम्मि सुरनाहो ॥ १९३ ॥
तत्तो चुओ समाणो, लद्धूण य माणुसत्तणं परमं ।
पाविहिसि कम्ममुक्को, अक्खयसुक्खं गओ मुक्खं ॥ १९४ ॥
जह राया तह जाया, कुमरो देवत्तणम्मि जा देवा ।
चत्तारि वि पत्ताई, अक्खयसुक्खम्मि मुक्खम्मि ॥ १९५ ॥

अक्खयायार—अक्षताचार—पुं० ६ त० । स्थापितादिपरिहारिणि आचारवति साधौ, "आहाकम्मुद्देसिय, ठवियरइयकीयकारियं छेज्जं । उब्भिन्नाहडमालं, वणीमगाजीवणणिकाए । परिहरति सर्व पाणं, सज्झोवहिपूतिसंकियं मोसं । अक्खयमभिण्णमत्ताए, संकिलिट्ठं थासए तुत्तो" एतानि (आधाकर्मादीनि) योऽशनपानादिशय्योपधीश्च परिहरति । तथा पूर्ति सशंकितं मिश्रम्, उपलक्षणमेतत् अध्यवपूरकादिकं च यथावसरे मुखः सोऽक्षताचारः । व्य० ३ उ० ।

अक्खयायारया—अक्षताचारता—स्त्री० परिपूर्णाचारतायाम् व्य० ३ उ० ।

अक्खयायारसंपण्ण—अक्षताचारसंपन्न—त्रि० अक्षतेनाचारेण संपन्नः । अक्षताचारसंपन्ने, व्य० ३ उ० ।

अक्खर—अक्षर—न० न क्षरतीत्यक्षरं स्वभावात्कदाचिन्न प्रच्यवत इति कृत्वाऽक्षरम् परे तत्त्वे, "ज्योतिः परं परस्तात्, तमसो यद्गीयते महामुनिभिः आदित्यवर्णममलं, ब्रह्माद्यैरक्षरं परं ब्रह्म" षो० १४ विव० । न क्षरति न विनश्यतीत्यक्षरम् । केवलज्ञाने, "सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो णिच्चुग्घाडिओ" विशे० । क्षर सञ्चलने, न क्षरतीति अक्षरम् । ज्ञाने, चेतनायाम्, । न स्खलितमनुपयोगेऽपि प्रच्यवते ततोऽक्षरमिति, आ० म० प्र० ।

न क्खरइ अणुवओगे, वि अक्खरं सो य चेयणाभावो ।
अविसुद्धनयाणमयं, सुद्धनयाणक्खरं चेव ।

'क्षर संचलने' न क्षरति न चलत्यनुपयोगेऽपि न प्रच्यवत इत्यक्षरः स च चेतनाभावो जीवस्य ज्ञानपरिणाम इत्यर्थः । (तथा च तन्मतानुसारिणो मीमांसका नित्यं शब्दमातिष्ठमानाः प्रणीता एव । बृ० १ उ०) एतच्च नैगमादीनामविशुद्धनयानां मतं शुद्धानां तु ऋजुसूत्रादीनां ज्ञानं क्षरमेव न त्वक्षरमिति ।

कुत इत्याह—

उवओगे चिय नाणं, सुद्धा इच्छंति जन्न तव्विरहे ।
उप्पायभंगुरा वा, जं तेसिं सव्वपज्जाया ॥

यस्माच्छुद्धनया उपयोग एव सति ज्ञानमिच्छन्ति नानुपयोगे, घटादेरपि ज्ञानवत्त्वप्रसङ्गात् । अथवा यस्मात्तेषां शुद्धनयानां सर्वेऽपि मृदादिपर्याया घटादयो भावा उत्पादभङ्गुरा उत्पत्तिमन्तो विनश्वराश्चेत्यर्थः । न पुनः केचिन्नित्यत्वादक्षरा इति भावः । अतो ज्ञानमप्युत्पादभङ्गुरत्वेन क्षरमेवेति प्रकृतम् । अशुद्धनयानां तु सर्वभावानामप्यवस्थितत्वाज्ज्ञानमप्यक्षरमिति । एवं तावदभिलापहेतोर्विज्ञानस्याक्षरतानक्षरता चोक्ता ॥

इदानीं साभिलापविज्ञानविषयभूतानामभिलाप्यार्थानामप्यक्षराऽनक्षरते नयविभागेनाह ।

अभिलप्पा वि य अत्था, सव्वे दव्वट्ठयाए जं निच्चा ।
पज्जाएणानिच्चा, तेण खरा अक्खरा चेव ॥

अभिलप्या अप्यर्था घटव्योमादयः सर्वेऽपि द्रव्यास्तिकनयाभिप्रायेण नित्यत्वादक्षराः, पर्यायास्तिकनयाभिप्रायेण त्वनित्यत्वात् क्षरा एवेति (क्षरा घटादयोऽक्षरा धर्मास्तिकायादयः । बृ० १ उ०)

अथ परोऽनिष्टापत्तिमुद्भावयन्नाह ।

एवं सव्वं चिय ना-णमक्खरं जमविसेसियं सुत्ते ।
अविसुद्धनयमएणं, को सुयनाणे मइविसेसो ॥

यदि न क्षरतीत्यक्षरमुच्यते एवं सति सर्वं पञ्चप्रकारमपि ज्ञानमविशुद्धनयमतेनाक्षरमेव । सर्वस्यापि ज्ञानस्य स्वरूपाविचलनात्तथाविशेषितं सूत्रेऽप्यभिहितमित्युपस्कारः । तद्यथा "सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडिओ" त्ति तत्राक्षरशब्देनाविशेषितमेव ज्ञानमभिप्रेतं न पुनः श्रुतज्ञानमेव अपरं च सर्वेऽपि भावा अविशुद्धनयाभिप्रायेणाक्षरा एव ततोऽत्र श्रुतज्ञाने को मतिविशेषो येनोच्यते 'अक्षरश्रुतमनक्षरश्रुतम' इति ।

अत्रोत्तरमाह ।

जइ वि हु सव्वं चिय ना-णमक्खरं तह वि रूढिओ वण्णो ।
भण्णइ अक्खरमिहरा, न खरइ सव्वं सभावाओ ॥

यद्यप्यविशुद्धनयाभिप्रायेण सर्वमपि ज्ञानमक्षरं तथा सर्वेऽपि भावा अक्षरास्तथापि रूढिवशादकारादिवर्णा एवेहाक्षरं भण्यते इतरथा तु यथा त्वं भणसि तथैवाशुद्धनयमतेन सर्वमपि वस्तु स्वभावाद्धक्षरत्येवेति । इदमुक्तं भवति । यथा गच्छतीति गौः, पङ्के जातं पङ्कजम्, इत्यादिविशिष्टार्थप्रतिपादका अपि शब्दा रूढिवशाद्विशेषा एव वर्तन्ते, तथाऽक्षरशब्दो वर्ण एव वर्तते । वर्णं च श्रुतमेवाश्रित्यानक्षरश्रुतमुच्यत इति । विशे० । नं० ।

अत्थे य खरइ न य जेणक्खरं तेणं ।

अर्थानभिधेयान् क्षरति संशब्दयतीति निरुक्तिविधिनार्थकारलोपादक्षरम् । अथवा क्षीयत इति क्षरम् । अन्योन्यवर्णसंयोगे अनन्तानर्थान् प्रतिपादयति न च स्वयं क्षीयते तेनाक्षरमिति भावः । वर्णः, स च स्वरव्यञ्जनभेदेन द्विधा भवति । विशे० । तत्र रूढिवशादक्षरं वर्ण इत्युक्तम् ॥

तच्च त्रिविधं भवतीति दर्शयति ।

से किं तं अक्खरसुयं ? तिविहं पन्नत्तं । तं जहा सन्नक्खरं वंजणक्खरं लद्धिक्खरं । से किं तं सन्नक्खरं ? अक्खरस्स संठाणागिई । सेत्तं सन्नक्खरं । से किं तं वंजणक्खरं वंजणक्खरं अक्खरस्स वंजणाभिलावो सेत्तं वंजणक्खरं । से किं तं लद्धिअक्खरं लद्धिअक्खरं अक्खरलद्धियस्स लद्धिअक्खरं समुप्पज्जइ । तं जहा सोइंदियलद्धिक्खरं चक्खिंदियलद्धिक्खरं घाणिंदियलद्धिक्खरं रसणिंदियलद्धिक्खरं फासिंदियलद्धिक्खरं नोइंदियलद्धिक्खरं सेत्तं लद्धिअक्खरं सेत्तं अक्खरसुयं ।

(से किं तमित्यादि) अथ किं तदक्षरश्रुतं ? सूरिराह-अक्षरश्रुतं त्रिविधं प्रज्ञप्तं तद्यथा संज्ञाक्षरं व्यञ्जनाक्षरं लब्ध्यक्षरम् । तत्र ' क्षर संचलने ' न क्षरति न चलतीत्यक्षरं ज्ञानम् । तद्धि जीवस्वाभाव्यादनुपयोगेऽपि तत्त्वतो न प्रच्यवते । यद्यपि च सर्वज्ञानामेवमविशेषेणाक्षरं प्राप्नोति तथापीह श्रुतज्ञानस्य प्रस्तावादक्षरं श्रुतज्ञानमेव द्रष्टव्यं न शेषमित्थंभूतभावाक्षरकारणं चाकारादिवर्णजातम्, ततस्तदप्युपचारादक्षरमुच्यते, ततश्चाक्षरं च तच्छ्रुतं च श्रुतज्ञानं चाक्षरश्रुतं भावश्रुतमित्यर्थः । तच्च लब्ध्यक्षरश्रुतं वेदितव्यम् । तथा अक्षरात्मकमकारादिवर्णात्मकं श्रुतमक्षरश्रुतं द्रव्यश्रुतमित्यर्थः । तच्च संज्ञाक्षरं व्यञ्जनाक्षरं च द्रष्टव्यम् । अथ किं तत् संज्ञाक्षरम् । अक्षरस्याकारादेः संस्थानाकृतिः संस्थानाकारः । तथाहि-संज्ञायतेऽनयेति संज्ञा नाम तन्निबन्धनं तत्कारणमक्षरं संज्ञाक्षरम् । संज्ञा च नियतघनमाकृतिविशेषः । आकृतिविशेष एव नाम्नः करणात् व्यवहरणाच्च । ततोऽक्षरस्याकारादेः संस्थापितस्य संस्थानाकृतिः संज्ञाक्षरमुच्यते । तच्च ब्राह्म्यादिलिपिभेदतोऽनेकप्रकारम् । तत्र नागरीलिपिमधिकृत्य प्रदर्श्यते, मध्यस्थापितचुल्लीसन्निवेशसदृशो रेखासन्निवेशविशेषो णकारः । यकारपुनश्च सारमेयपुच्छसन्निवेशसदृशो ढकार इत्यादि तदेतत्संज्ञाक्षरम् । अथ किं तद् व्यञ्जनाक्षरम् । आचार्य आह-व्यञ्जनाक्षरमक्षरस्य व्यञ्जनाभिलापः । यथाहि-व्यज्यतेऽनेनार्थः प्रदीपेन घट इव व्यञ्जनाक्षरमकारादिवर्णजातं तस्य विवक्षितार्थाभिव्यञ्जकत्वात् । व्यञ्जनं च तदक्षरं च व्यञ्जनाक्षरं ततो युक्तमुक्तं व्यञ्जनाक्षरमक्षरस्य व्यञ्जनाभिलापः । अक्षरस्याकारादेर्वर्णजातस्य व्यञ्जनेन व्यक्तेन व्यञ्जनाभिलाप उच्चारणमर्थस्य व्यञ्जकत्वेनोक्तमकारादिवर्णजातमित्यर्थः (से किं तमित्यादि) अथ किं तत् लब्ध्यक्षरम् । लब्धिरुपयोगः, स चेह प्रस्तावात् शब्दार्थपर्यालोचनानुसारी गृह्यते, लब्धिरूपमक्षरं लब्ध्यक्षरं भावश्रुतमित्यर्थः । (अक्खरलद्धियस्सेत्यादि) अक्षरोऽक्षरलाभो यस्य स अक्षरलब्धिकस्तस्य लब्ध्यक्षराद्यक्षरानुविद्धश्रुतज्ञानरूपं समुत्पद्यते । इदमुक्तं भवति शब्दादिग्रहणसमनन्तरमिन्द्रियमनोनिमित्तं शब्दार्थपर्यालोचनानुसारि ' शङ्खोऽयम् ' इत्याद्यक्षरानुविद्धं विज्ञानमुत्पद्यत इत्यर्थः ।

नन्विदं लब्ध्यक्षरं संज्ञिनामेव पुरुषादीनामुपपद्यते न त्वेकेन्द्रियादीनां तेषामकारादिवर्णानामवगमे उच्चारणे वाऽसंभवात् । न हि तेषां परोपदेशे श्रवणं संभवति येनाक्षरवर्णानामवगमादि भवेत् । अथ चैकेन्द्रियादीनामपि भावश्रुतमिष्यते । तथाहि-पार्थिवादीनामपि भावश्रुतमुपवर्ण्यते "जह सुयाजावम्मि वि, भावसुयं पत्थिवाईणं " इति वचनप्रामाण्यात् । भावश्रुतं च शब्दार्थपर्यालोचनानुसारिविज्ञानं शब्दार्थपर्यालोचनं चाक्षरमन्तरेण न भवतीति सत्यमेतत् । किं तु यद्यपि तेषामेकेन्द्रियादीनां परोपदेशश्रवणासंभवस्तथापि तेषां तथाविधक्षयोपशमभावतः कश्चिदव्यक्तोऽक्षरलाभो भवति यदक्षरानुषक्तं श्रुतज्ञानमुपजायते इत्य चैतदङ्गीकर्तव्यम् । तथाहि-तेषामप्याहाराद्यभिलाष उपजायते, अभिलाषश्च प्रार्थनं यदीदमहं प्राप्नोमि ततो भव्यं भवतीत्याद्यक्षरानुविद्धं ततस्तेषामपि काचिदव्यक्ताक्षरलब्धिरवश्यं प्रतिपत्तव्या ततस्तेषामपि लब्ध्यक्षरं भवतीति न कश्चिद्दोषः । तच्च लब्ध्यक्षरं षोढा । तद्यथा (श्रोत्रेन्द्रियलब्ध्यक्षरमित्यादि) यत् श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दश्रवणे सति शङ्खोऽयमित्याद्यक्षरानुविद्धं शब्दार्थपर्यालोचनानुसारि विज्ञानं तत् श्रोत्रेन्द्रियलब्ध्यक्षरं तस्य श्रोत्रेन्द्रियनिमित्तत्वात् । यत्पुनश्चक्षुषा आम्रफलमुपलभ्याम्रफलमित्याद्यक्षरानुविद्धं शब्दार्थपर्यालोचनात्मकं विज्ञानं तच्चक्षुरिन्द्रियलब्ध्यक्षरमेव । शेषेन्द्रियलब्ध्यक्षरमपि भावनीयम् (सेत्तमित्यादि) तदेतत् लब्ध्यक्षरं तदेतदक्षरश्रुतम् । नं० सू० । कल्प० । आ० चू० । विशे० ॥

अत्थाभिवंजगं वं-जणक्खरं इच्छितेतरं वदतो ।
रूवं च पगासेणं, विज्जति अत्थो जओ तेणं ॥

इह यद्विवक्षितं तदेव यदि वदति यथा अश्वं मार्गयामीति तदेवं श्रुते तदा तदीप्सितमन्यद्विवक्षिताऽन्यच्चेदुच्चरति तद् तदितरादनीप्सितमीप्सितमितरं वा वदतो यदर्थाभिव्यञ्जकमभिधानं तद् व्यञ्जनाक्षरम् । अथ कस्माद् व्यञ्जनाक्षरमुच्यते नाभिधानाक्षरमत आह—रूपमिव घटादिकमिव प्रदीपादिना तमसि वर्तमानम् अर्थो घटादिर्यतो यस्मादनेन प्रकटीक्रियते तेन कारणेन व्यञ्जनाक्षरमित्युच्यते ॥

तं पुण जहत्थनियतं, अजहत्थं वा वि वंजणं दुविहं ।
एगमणेगपरियं, एमेव य अक्खरेसुं वि ॥

तत् पुनर्व्यञ्जनं द्विविधम् यथार्थनियतमयथार्थं च । यथार्थनियतं सामान्यर्थयुक्तं, यथा तपयतीति तपनः, तापयति तस्मादित्यादि । अयथार्थं यथा-नेन्द्रं गोपयति तथापीन्द्रगोपक इत्यादि । अथवा तद् यथा न पलमश्नाति तथापि पलाश इत्यादि । अथवा तद्व्यञ्जनं द्विधा एकपर्यायमनेकपर्यायं च । एकः पर्यायोऽभिधेयो यस्य तदेकपर्यायम् । यथा अलोकः स्थापितमित्यादि । अलोकशब्देन ह्यलोकत्वलक्षण एक एव पर्यायोऽभिधीयते । स्थापितशब्देन स्थापितत्वमेकमिति । अनेके पर्याया अभिधेया यस्य तदनेकपर्यायम् । यथा जीव इति जीवशब्देन हि जीवोऽपि सत्त्वोऽपि प्राण्यपि भूतोऽपि च । जीवादयश्च अभिधेयाः पर्यायाः । तथा चोक्तम् । "प्राणा द्वित्रिचतुः प्रोक्ता, भूतास्तु तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वा उदीरिताः" इति

भवति सामान्येन अंशयशब्दस्यानेकपर्यायाभिधायकत्वमिति । एवमेव एकानेकभेदेनाक्षरेष्वपि द्रष्टव्यम् । तद्यथा—द्विविधं व्यञ्जनभेदाक्षरमनेकाक्षरं च । एकाक्षरं धीः श्रीरित्यादि । अनेकाक्षरं वीणा लता माला इत्यादि ।

सक्कयपाययभासा-विणिजुत्तं देसतो अणेगविहं ।
अभिहाणं अभिधेया-ओ होइ भिन्नं अभिन्नं च ॥

अथवा द्विप्रकारं संस्कृतं प्राकृतभाषाविनियुक्तं च, यथा-वृक्षः रुक्खो इति । देशतो नानादेशानाश्रित्य अनेकविधम्, यथा-मागधानामोदनो लाटानां कूरो द्रमिलानां चोरोऽन्ध्राणामिडा-कुरिति, तथा तदभिधानं व्यञ्जनाक्षरमभिधेयात् भिन्नमभिन्नं च । तत्र भिन्नं प्रतीतं, तादात्म्याभावात् ।

तमेव तादात्म्याभावमाह-

खुरअग्गिमोयगुच्चा-रणम्मि जम्हाउ वयणसवणाणं ।
न वि छेओ न वि दाहो, न वि पूरणं तेण भिन्नं तु ॥

यस्मात् क्षुरशब्दोच्चारणे अग्निशब्दोच्चारणे मोदकशब्दोच्चारणे च यथाक्रमं वदतो वदनस्य शृण्वतः श्रवणस्य न छेदो नापि दाहो नापि पूरणमतो ज्ञायतेऽभिधेयादभिधानं भिन्नम्, अन्यथा तादात्म्यसम्बन्धनात् क्षुरादयोऽपि तत्र सन्तीति वदनस्य श्रवणस्य च छेदादिप्रसङ्गः । अभिन्नत्वं नाम संबद्धत्वम् । तथा च लोकेऽप्यभिन्नशब्दः संबद्धवाची व्यवहियते यथाऽयमस्माकं खादनपानेनाभिन्नः संबद्ध इत्यर्थः ।

ततस्तदेव संबद्धत्वं भावयति-

जम्हा य मोयगे अभि-हियम्मि तत्थेव पच्चओ होई ।
न य होइ सो अणत्थे, तेण अभिन्नं तदत्थाओ ॥

यस्मान्मोदके अभिहिते तत्रैव मोदके प्रत्ययो भवति नान्यत्र, न च स नियमेन तत्र प्रत्ययोऽन्यत्रेऽसंबद्धत्वे सति भवति संबन्धाभावतो नियामकाभावेनान्यत्रापि तत्प्रत्ययप्रसक्तेः, तेन कारणेन ज्ञायते तदभिधानमर्थादभिन्नमर्थेन सह वाच्यवाचकभावसंबद्धम् ।

एक्केक्कमक्खरस्स उ, सपज्जाया हवंति इयरे य ।
संबद्धमसंबद्धा, एक्केक्का ते भवे दुविहा ॥

व्यञ्जनस्य यान्यक्षराणि तस्याक्षरस्यैकैकस्य द्विविधाः पर्यायाः स्वपर्याया इतरे च परपर्यायाश्च । तत्र वर्णस्त्रिधा-ह्रस्वो दीर्घः प्लुतश्च । पुनरेकैकस्त्रिधा-उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्च । पुनरेकैको द्विधा-सानुनासिको निरनुनासिकश्च । एवमष्टादशप्रकारोऽवर्णः । उक्तं च-" ह्रस्वदीर्घप्लुतत्वाच्च, त्रैस्वर्योपनयेन च । अनुनासिकभेदाच्च, संख्यातोऽष्टादशात्मकः" एते अवर्णस्य स्वपर्यायाः, तथा ये एकैकाक्षरसंयोगतोऽक्षरसंयोगेन एवं यावन्तो भवन्ते संयोगास्तावत्संयोगवशतो येऽवस्थाविशेषा ये च तत्तदर्थाभिधायकत्वस्वभावास्तेऽपि तस्य स्वपर्याया इतरे तत्रान्यतः परपर्यायाः । एवमिवर्णादीनामपि स्वपर्यायाः परपर्यायाश्च वाच्याः । येऽपि परपर्यायास्तेऽपि तस्येति व्यपदिश्यन्ते । त्यज्यत्वेनतया तेषां तद्विशेषकत्वात्, यथाऽयं मे पर इति । ते च स्वपर्यायाः, परपर्यायाश्च एकैके द्विविधा भवन्ति । तद्यथा-संबद्धा असंबद्धाश्च ।

एतदेव भावयति-

अत्थित्ते संबद्धा, हुंति अकारस्स पज्जया जे उ ।
ते चेव असंबद्धा, नत्थित्ते णं तु सव्वे वि ॥

ये अकारस्य पर्यायाः स्वपर्यायास्ते तत्रास्तित्वेन संबद्धा भवन्ति, नास्तित्वेन पुनस्त एव सर्वेऽप्यसंबद्धाः, तत्र तेषां नास्तित्वाभावात् ।

एमेव असंता वि उ, नत्थित्ते णं तु होंति संबद्धा ।
ते चेव असंबद्धा, अत्थित्ते णं अभावत्ता ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेणासन्तः परपर्याया, अपि नास्तित्वेन भवन्ति संबद्धाः । ते चैवं परपर्याया अस्तित्वेनासंबद्धाः, तेषामस्तित्वस्य तत्राभावात् ।

अत्रैव निदर्शनमाह-

घडसद्दे घडकारा, हवंति संबद्धपज्जया एते ।
ते चेव असंबद्धा, हवंति रहसद्दमाईसु ॥

घटशब्दे ये घकारटकाराकारास्तेषां ये पर्यायास्ते एते भवन्ति । तथाऽस्तित्वेन संबद्धास्तेषां तत्र विद्यमानत्वात्, त एव घकारटकाराकारपर्यायाः रथशब्दादिषु भवन्ति अस्तित्वेनासंबद्धाः, तेषां तत्राभावात् । तदेवमस्तित्वेन स्वपर्यायास्तत्र संबद्धा अन्यत्र चासंबद्धा उपदर्शिताः । एतदुपदर्शनेनैतदर्थादागतम् । ते स्वपर्यायास्तत्र नास्तित्वेनासंबद्धा अन्यत्र तु संबद्धाः । तथा ये रथशब्दस्य स्वपर्यायास्ते तत्रास्तित्वेन संबद्धास्तेषां तत्र विद्यमानत्वात्, घटशब्दे न संबद्धास्तेषां तत्रासत्वात् त एव च रथशब्दे नास्तित्वे नासंबद्धा घटशब्दे तु संबद्धा इति । तदेवं स्वपर्यायाः परपर्यायाश्च प्रत्येकं संबद्धा असंबद्धाश्च निदर्शिताः ।

अधुना स्वपर्यायान् दर्शयति-

संजुत्तासंजुत्तं, इय लभते जेसु जेसु अत्थेसु ।
विणिओगमक्खरं ते-सिं होंति सभावपज्जाया ॥

इत्येवं घटशब्दरथशब्दादिगतेन प्रकारेण संयुक्तमसंयुक्तं वाऽक्षरमकारादिकं येषु येष्वर्थेषु विनियोगं लभते ते तेषां स्वभावपर्यायाः स्वपर्याया भवन्ति । अर्थादिदमायातम् अपरे परपर्याया इति । तदेवमभिहितं व्यञ्जनाक्षरम् । तदभिधानाच्चाभिहितं त्रिविधमप्यक्षरम् । बृ० १ उ० ।

लब्ध्यक्षरमाह-

जो अक्खरोवलंभो, सा लद्धी तं च होइ विन्नाणं ।
इंदियमणोनिमित्तं, जो आवरणक्खओवसमो ॥

योऽक्षरस्योपलम्भो लाभः सा लम्भनं लब्धिः, तल्लब्ध्यक्षरमित्यर्थः । तच्च किमित्याह-इन्द्रियमनोनिमित्तं श्रुतग्रन्थानुसारि विज्ञानं श्रुतज्ञानोपयोग इत्यर्थः । यश्च तज्ज्ञानोपयोगो यश्च तदावरणकर्मक्षयोपशम एतौ द्वावपि लब्ध्यक्षरमिति भावार्थः । उक्तं त्रिविधमक्षरम् ।

अथात्र किं द्रव्यश्रुतं किं वा भावश्रुतमित्याह-

दव्वसुयं सण्णक्ख-रवंजणक्खरं भावसुयमियरं तु ।
मइसुयविसेसणम्मि वि, मोत्तूणं दव्वसुत्तं ति ॥४॥

संज्ञाक्षरं व्यञ्जनाक्षरं चैते द्वे अपि भावश्रुतकारणत्वात् द्रव्यश्रुतम्, इतरत्तु लब्ध्यक्षरं भावश्रुतम् । अत्र विनेयः प्राह—ननु पूर्वं मतिश्रुतभेदविचारे येयं गाथा प्रोक्ता " सोइंदिओवलद्धी, होइ सुयं सेसयं तु मइनाणं । मोत्तूणं दव्वसुयं, अक्खरलंभो य सेसेसु वि" अस्यां किमस्य त्रिविधस्याक्षरस्य संग्रहोऽस्ति, श्रुताधिकारस्य तत्रापि प्रस्तुतत्वात्, यद्यस्ति तर्हि दर्शनीयं यथ-

[illegible] ! [illegible] नास्ति तदेभावे किमनेनाप्रस्तुतेन इति । सूरिः [illegible] दिदर्शयिषुस्तप्राप्यस्याक्षरत्रयस्य संग्रह- [illegible] (तत्सुर्येत्यादि) मतिश्रुतविशेषणेऽपि मतिश्रुतभे- [illegible] " सोइंदिओवलद्धी " इत्यादिगाथायां "भोत्तूणं [illegible]" इत्यनेन गाथावयवेन किमित्याह—

[illegible] [illegible]-[illegible]संभोत्ति भावसुयमुत्तं ।
[illegible], ण वंजणं भावसुत्तं च ॥

[illegible], कथंभूतमित्याह-द्रव्यश्रुतं भावकारणत्वात् [illegible] "[illegible]संभो य सेसेसु त्ति" अनेन त्ववयवेन [illegible] । कथंभूतमित्याह-भावश्रुतं विज्ञाना- [illegible] "सोइंदिओवलद्धी होइ सुयं" इत्य- [illegible] श्रोत्रेन्द्रियेणोपलब्धिर्यस्य शब्दस्येति षष्ठीबहि- [illegible], [illegible] [illegible]नाक्षरमुक्तम् । श्रोत्रेन्द्रिय- [illegible] षष्ठीसमासाङ्गीकरणेन तु पुनरपि [illegible] न पूर्वापरविसंवादः ।

[illegible] कथं [illegible] इत्याह—

[illegible] [illegible] जिणं [illegible] कोइ ।
[illegible], [illegible] पमाणंति ॥

[illegible] इत्याह-इन्द्रियमनो- [illegible] [illegible] । [illegible] लिङ्गेन धूमा- [illegible] । लिङ्गं [illegible] इत्याह-अनुमा- [illegible] । [illegible] लिङ्गेनानुमानमिति चेत्- [illegible]

[illegible]

तदित्याह-भणितं च यदर्थविज्ञानं श्रुतं तेषाम् [illegible] नाम् "एगिंदियाणं मइअन्नाणी सुयअन्नाणी य" इत्यागमात्, न हि श्रुतज्ञानमक्षरमन्तरेण संभवति [illegible] त्यमिति ? अत्रोत्तरमाह—

जह चेयणमकित्तिम-ममणीए तह होइ [illegible] ।
थोव त्ति नोवलक्खइ, जीवत्तमिव इंदियाईसु ॥

यथा चैतन्यं जीवत्वमकृत्रिम [illegible] संज्ञिनामवगम्यते तथा [illegible] अवगन्तव्यम्, स्तोकत्वात् स्थूलदर्शिभिस्तन्नोपलक्ष्यते [illegible] मिव पृथिव्याद्येकेन्द्रियाणाम् । [illegible] सत्यनामेत्यादिदर्शनादिति । यदपि [illegible] स्योच्यते तदपि संज्ञाव्यञ्जनाक्षरयोरेवावसेयम् । [illegible] तु क्षयोपशमेन्द्रियादिनिमित्तमसंज्ञिनां न [illegible] च मुख्यतयेह प्रस्तुतम् । तत्तु संज्ञाव्यञ्जनाक्षरे [illegible] कारादिति । दृष्टान्तान्तरमाह—

जह वा सण्णीणमण-क्खराणं [illegible] ।
लद्धक्खरं ति भण्णइ, किमपि त्ति तहा [illegible] ॥

यथा संज्ञिनामपि परोपदेशाभावे [illegible] [illegible] पुलिन्दबालगोपालगवादीनामसत्यपि [illegible] विशेषविज्ञाने [illegible] किमपीयते [illegible] निमुषनिरीक्षणदर्शनाच्च । गौरपि हि [illegible] नाम्नाकारिता सती स्वनाम जानीते [illegible] धेनी [illegible], न चैषां गवादीनां [illegible] [illegible] नरादिविज्ञानसद्भावात् । [illegible] किमपि तदेवमिति । तदेवं [illegible] [illegible] ॥

[illegible] [illegible]—

एगेक्कमक्खरं पुण, सपरपज्जायभेयओ [illegible] ।
तं सव्वदव्वपज्जा-यरासिमाणं मुणेयव्वं ॥

इह [illegible] पूर्वोक्तैकमपि [illegible] [illegible] यानि द्रव्याणि [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible]

पर्यायात् केवलोऽन्यवर्णेन संयुक्तोऽन्यवर्णसंयुक्तो वाऽकारो लभते अनुवर्तते तस्य स्वपर्यायाः प्रोच्यन्तेऽस्तित्वेन संबद्धत्वात् । ते- [illegible] ...नन्तत्वात् इह-
व्यप्रतिपादनसमर्थस्य निरुत्वात्, अन्यथा तत्प्रतिपाद्यस्य सर्वस्याप्येकत्वप्रसङ्गादेककार्यत्वापत्तेः । ये त्वाकारादिसंबन्धिनो घटादिपर्याया अस्य परपर्यायास्तेऽप्यो व्यावृत्तत्वेन नास्तित्वेन संबध्यन्ते, एवमिकारादीनामपि भावनीयम् । अकारस्य चेह प्रक्रान्तत्वादेकैकमक्षरं सर्वद्रव्यपर्यायराशिप्रमाणमुच्यते, अन्यथाऽन्येषामपि परमाणुद्व्यणुकघटादिद्रव्याणामिदमेव पर्यायमानं द्रष्टव्यमिति । एवमुक्ते सति परः प्राह—

जइ ते परपज्जाया, न तस्स अह तस्स न परपज्जाया ।
जं तम्मि असंबद्धा, तो परपज्जायववएसो ॥

इह स्वपर्यायाणामेव तत्पर्यायता युक्ता । ये त्वमी परपर्यायास्ते यदि घटादीनां तर्हि नाऽक्षरस्य, अक्षरस्य ते तर्हि न घटादीनाम्, ततश्च यदि पर्यायास्तर्हि तस्य कथं, तस्य चेत्परस्य कथमिति विरोधः तदयुक्तमभिप्रायापरिज्ञानात् । यस्मात्कारणात्तस्मिन्नकारे कारादावक्षरे घटादिपर्याया अस्तित्वेनासंबद्धाः, ततस्तेषां परपर्यायव्यपदेशोऽन्यथा व्यावृत्तत्वेन कथम् तेऽपि संबद्धा एवेत्यनन्तरमपि व्यावृत्तरूपतया पारमार्थिकं स्वपर्यायत्वं न विरुध्यते ।
अस्तित्वेन तु [illegible]
परपर्याया व्यप [illegible]
अस्तित्वं नास्ति [illegible] । ये यत्रास्तित्वेन प्रतिबद्धास्ते तस्य स्वपर्याया उच्यन्ते, ये तु यत्र नास्तित्वेन संबद्धास्ते तस्य परपर्यायाः प्रतिपाद्यन्ते इति निमित्तभेदख्यापनपरावेव स्वपरशब्दौ, न त्वेकत्र तत्र सर्वथा संबन्धनिषेधकारणपरौ, अतोऽक्षरे घटादिपर्यायाः अस्तित्वेनासंबद्धा इति परपर्याया उच्यन्ते न पुनः सर्वथा, ते तत्र संबद्धा नास्तित्वेन तथापि संबद्धाः न चैकस्योभयत्र संबन्धो न युक्तः एकस्यापि हिमवदादेरन्यद्रव्येण पूर्वापरसमुद्रादिसंबन्धात् । यदि हि तेनैव रूपेणैकस्योभयत्र संबन्ध इष्येत तदा स्याद्विरोधः, एतच्च नास्ति, रूपद्वयेन घटादिपर्यायाणां तत्रान्यत्र च संबन्धात् । नन्वेवं तत्र संबन्धाद्सत्त्वेन त्वक्षरादिषु । असदभावत्वाद्वस्तुनो रूपमेव न भवति खरविषाणवदिति चेदयुक्तम् खरविषाणवदस्यास्य चात्यभावेऽसिद्धत्वात् न हि प्रागभावप्रध्वंसाभावघटाभावपटाभावादिवस्वभावविशेषणवदन्यखरविषाणादिष्वपि विशेषणं संभवति, तेषां सर्वोऽप्यात्यन्तिकसदसत्त्वे निरभिलाप्ये यद्भूतधर्मरूपेऽत्यन्ताभावमात्र एव व्यवहारिभिः संकेतितत्वात् । न च यद्भूतवद्वस्तुनोऽप्यस्मानिर्निरूपोऽभ्युपगम्यते, नीरूपस्य निरभिलाप्यत्वेन प्रागभावादिविशेषणानुपपत्तेः, किं तु यथैव मृत्पिण्डादिपर्यायो भाव एव सन् घटाभावादिव्यावृत्तिमात्रात् प्रागभाव इति व्यपदिश्यते, तथाऽत्र कपालादिपर्यायो भाव एव सन् घटाकारः परममात्रात् प्रध्वंसाभावो [illegible]
धीयते [illegible]
अति [illegible]
नास्ति [illegible] खरविषाणादिशब्देन सोऽप्यभिलप्यत एवेति निरभिलाप्यख्यापनार्थमेव संकेतमात्रभाविनां खरविषाणादिशब्दानां व्यवहारिभिस्तत्र निवेशात् । किं च-यदि घटादिपर्यायाणामक्षरे नास्तित्वेन संबन्धो नेष्यते तर्हि अस्तित्वनास्तित्वयोरन्योन्यव्यवच्छेदरूपत्वादस्तित्वेन तेषां तत्र संबन्धः स्यात्तथा च सत्यक्षरस्यापि घटादिरूपतैव स्यात्, एवं च सति सर्वविश्वमेकरूपतामेवासादयेत् , ततश्च सहोत्पत्त्यादिप्रसङ्गः ।
न च वक्तव्यं घटादिपर्यायाणां घटादौ व्यवस्थितानां नास्तित्वलक्षणं कथं कथमक्षरे भाति, कथितमन्तरेण कथयोगात् । अथ नेऽपि तत्र सन्ति तर्हि विभक्तत्वमिति घटादिपर्यायाणां घटादीन् विहायान्यत्र नास्तित्वेन व्यतिरिक्तत्वात् अन्यथा स्वपरभावाभावानादत एव कथंचिद्भिन्नैकताऽप्यवाधितैव । इत्यादिरूपतया तदेकत्वस्याभ्युपगमादतो गम्भीरमिदं स्थिरबुद्धिभिः परिभावनीयम्, तस्मात् घटादिपर्याया नास्तित्वेनाक्षरेऽपि संबद्धा इति तत्पर्याया अप्येते अस्तित्वेन घटादावेव संबद्धा न त्वक्षरे इति परपर्यायताव्यपदेश इति स्थितमिति ।

यदि घटादिपर्यायास्तत्राक्षरे असंबद्धत्वेन परपर्याया व्यपदिश्यन्ते तर्हि ते तस्य कथमुच्यन्ते इत्याह—

चायसपज्जाया वि-सेसणा तस्स जमुवउज्जंति ।
सधणमिवासंबद्धं, भवंति तो पज्जया तस्स ॥

ततस्तस्मात् घटादिपर्याया अपि तस्याक्षरस्य पर्याया भवन्ति यतोऽक्षरस्यापि ते उपयुज्यन्ते उपयोगं यान्ति । केनेत्याह-त्यागस्वपर्यायविशेषणादिना त्यागेन स्वपर्यायविशेषणेन चोपयोगादित्यर्थः । इदमुक्तं भवति-घटादिपर्यायाः सत्त्वेनाक्षरे असंबद्धा अपि ते स्वपर्याया भवन्ति, त्यागेनानावेनोपयुज्यमानत्वात् । यदि हि तत्र तेषामभावो न स्यात्तर्हि तदक्षरं घटादिभ्यो व्यावृत्तं न सिध्येत्तथापि घटादिपर्यायाणामभावादिति । ततोऽक्षरस्य त्यागेनाभावेनोपयोगात् घटादिपर्यायास्तस्य भवन्ति तथा स्वपर्यायाणां विशेषणेन विशेष्यव्यवस्थापकत्वेन परपर्याया अपि तस्य भवन्ति, न हि परपर्यायेष्वसत्सु स्वपर्यायाः केचिद्भेदेन सिध्यन्ति, स्वपरशब्दयोरपेक्षिकत्वात्प्रयोगः । इत्थं यद्यस्योपयुज्यते तदेतद्यद्यपि तस्येति व्यपदिश्यते, यथा-देवदत्तादेः स्वधनम् । उपयुज्यते च त्यागस्वपर्यायविशेषणादिनाऽयेन घटादिपर्याया अक्षरस्यातस्ते तस्यापि भवन्तीति । एवमक्षरपर्याया अपि घटादेर्योज्या इति । एतदेव भावयति—

सधणमसंबद्धं पि हु, धेयणं पि व नरे जहा तस्स ।
उवउज्जइ त्ति सधणं, भण्णइ तह तस्स पज्जाया ॥

इह देवदत्तादिके नरे चैतन्यं यथाऽऽत्मनि संबद्धं तथा स्वधनम्, असंबद्धमपि स्वधनं तस्य लोके भण्यते । कुत उपयुज्यत इति कृत्वा तथाऽक्षरे असंबद्धा अपि घटादिपर्यायास्तस्याऽक्षरस्य पर्याया भवन्ति । अमुमेवार्थं दृष्टान्तान्तरेण साधयति—

जह दंसणनाणचरि-त्तोपया सव्वदव्वपज्जाया ।
सद्धेयनेयकिरिया-फलोवओगि त्ति भिन्ना वि ॥
जह णो सपज्जया इव, सकज्जलिप्पाइग त्ति सधणं च ।
आणाएचायपक्खा, तह सव्वे सव्ववण्णाणं ॥

इह यथा सर्वद्रव्यपर्याया भिन्ना अपि संयमेरेव भवन्ति यतः सर्वमिमो व्यपदिश्यन्ते । कुत इत्याह—स्वकार्यनिष्पादका इति हेतोरेतदपि कुत इत्याह—श्रद्धेयज्ञेयक्रियाफलोपयोगिनो यतेरिति कृत्वा श्रद्धेयत्वेनोपयोगात्, ज्ञेयत्वेनोपयोगात्, स्याद्वादादिक्रियाकर्म यद्वद्व्यानहावरणं तदुपयोगित्वादेवेति । कथंभूतास्ते सर्वद्रव्यपर्याया इत्याह-दर्शनज्ञानचारित्रगोचराः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रविषयभूताः, ते हि सम्यग्दर्शनेन श्रद्धीयन्ते ज्ञानेन तु ज्ञायन्ते चारित्रस्याप्याहारवस्त्रपात्रपुरस्करणेनोपजीवक्यादिद्वारेणोपकारहेतवो बहवो भवन्ति 'सव्वजहारी उमेरइया' इति वचनात् । अथवा 'पढमम्मि सव्वजीवा, बीए चरिमे

नसर्वद्रव्यपर्यायराशिप्रमाणं तदुच्यत इति कथं न विरोध ?
इति । अत्रोत्तरमाह-

घोर त्ति न निद्दिट्ठा, इहरा धम्मत्थिपाइपज्जाया ।
के सपरपज्जयाणं, हवंतु किं होतु वाऽभावो ? ॥

स्तोका आकाशपर्यायेभ्योऽनन्तभागवर्तिन इति कृत्वा नन्दिसूत्रे धर्मास्तिकायादीनां पञ्चद्रव्याणां पर्याया न निर्दिष्टा नाभिहिताः साक्षात् किन्तु य एवं तेभ्योऽतिबहवोऽनन्तगुणास्त एव सर्वाकाशपर्यायाः साक्षादुक्ताः अर्थतस्तु धर्मास्तिकायादिपर्याया अपि नन्दिसूत्रे प्रोक्ता द्रष्टव्याः । इतरथा यद्येतन्नाभ्युपगम्यते तदा ते धर्मास्तिकायादिपर्याया अकारस्वपरपर्यायाणां मध्ये के भवन्तु ?, किं स्वपर्याया भवन्तु परपर्याया वा ?, किं वाऽभावः खरविषाणरूपो भवतु ? इति त्रयी गतिः । त्रिभुवने हि ये पर्यायास्तैः सर्वैरप्यकारादेर्वस्तुनः स्वपर्यायैर्वा भवितव्यं, परपर्यायैर्वा, अन्यथाऽभावप्रसङ्गात् । तथाहि-ये केचन क्वचित्पर्यायाः सन्ति तेऽकारादिवस्तुनः स्वपरपर्यायाऽन्यतररूपा भवन्त्येव, यथा रूपादय । ये त्वकारादेः स्वपर्यायाः परपर्याया वा न भवन्ति ते न सन्त्येव, यथा खरविषाणतैक्ष्ण्यादयः तस्माद्धर्मास्तिकायादिपर्यायाः सूत्रे स्तोकत्वेनानुक्ता अपि 'जं एगं जाणइ' इत्यादिसूत्रप्रामाण्यादर्थतोऽक्षरस्य परपर्यायत्वेनोक्ता द्रष्टव्या इति ।

अथान्यत् प्रेरयति-

किमणंतगुणा भणिया, जमगुरुलहुपज्जया पएसम्मि ।
एक्केक्कम्मि अणंता, पण्णत्ता वीयरागेहिं ॥

ननु " सव्वागासपएसेहिं अणंतगुणियं " इत्यत्र किमित्याकाशप्रदेशाः सूत्रे अनन्तगुणा भणिताः । अत्रोत्तरमाह-(जमित्यादि) यद्यस्मात्कारणाद् एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे, अगुरुलघुपर्याया वीतरागैस्तीर्थकरगणधरैरनन्ताः प्रज्ञप्ताः प्ररूपिताः ततआयमभिप्रायः-इह निश्चयमतेन बादरं वस्तु सर्वमपि गुरु लघु सूक्ष्मं चाऽगुरुलघु, तत्राऽगुरुलघुवस्तुसंबन्धिनः पर्याया अप्यगुरुलघवः समयेऽभिधीयन्ते । आकाशप्रदेशाश्चागुरुलघवोऽतस्तं च, तत्पर्याया अप्यगुरुलघवो भण्यन्ते । तेषु प्रत्येकमनन्ताः सन्त्यतः सर्वाकाशप्रदेशाग्रं सर्वाकाशप्रदेशैरनन्तगुणमुक्तमिति भाव इति । न केवलमप्यक्षरं संज्ञाक्षरमुच्यते किन्तु ज्ञानमपि । तत्र शिष्यः प्रश्नयति- कियत्प्रमाणं तदक्षरमुच्यते, सर्वाकाशप्रदेशेभ्योऽनन्तगुणं कथमेतावत्प्रमाणमुच्यते ? । इहैकैक आकाशप्रदेशः खल्वनन्तैरगुरुलघुपर्यायैः संयुक्तः । ते च सर्वेऽप्यगुरुलघुपर्याया ज्ञाने ज्ञायन्ते । न च येन स्वभावेनैको ज्ञायते तेनापरोऽपि, तयोरेकत्वप्रसङ्गात्, किन्त्वन्येन स्वभावेन । ततो यावन्तो गुरुलघुपर्यायास्तावन्तो ज्ञानस्वभावाः । उक्तं च-" जावइय पज्जया ते, तावइया तेसु नाणभेया वि । " इति भवति सर्वाकाशप्रदेशेभ्योऽनन्तगुणः । आह च- बृहद्भाष्ये-" अक्खरमुच्चइ नाणं, पुण होज्जाहि किं पमाणं तु । भण्णइ अणंतगुणियं, सव्वागासप्पएसेहिं ॥ किह होइ अणंतगुणं, सव्वागासप्पएसरासीतो । भण्णइ जं एक्केको, आगासस्स प्पएसो उ ॥ संजुत्तो णं तेहिं, अगुरुलहुपज्जवेहिं नियमेण । तेण उ अणंतगुणियं, सव्वागासप्पएसेहिं ॥ " पुनरपि शिष्यः आह-कथमेतदवसीयत एकैक आकाशप्रदेशोऽनन्तैरगुरुलघुपर्यायैरुपेतः? । उच्यते-इह द्विविधं वस्तु-रूपिद्रव्यमरूपिद्रव्यं च । तत्र रूपिद्रव्यं चतुर्धा । तद्यथा-गुरुलघु अगुरुलघु च । एतदप्युच्यते-व्यवहारतो निश्चयतः पुनर्द्विविधमेव-गुरुलघु अगुरुलघु च । बृ० ।

संप्रति यथा ज्ञानं सर्वाकाशप्रदेशेभ्योऽनन्तगुणं भवति तथा दर्शयति-

उवलद्धी अगुरुलहु-संयोगसरादिणो य पज्जाया ।
एतेण हुंतणंता, सव्वागा सप्पएसेहिं ॥

चतुर्णामप्यस्तिकायानां पुद्गलास्तिकायस्य च ये अगुरुलघवः पर्यायाः, उपलक्षणमेतत् बादरस्कन्धानाम् । अगुरुलघुपर्यायाश्च यावन्तश्चाक्षरेषु स्वरूपतोऽभिलापभेदतो वा संयोगा ये चोदात्तादिभिः स्वरैरभिलप्यन्ते भावा, आदिशब्दाद् ये चान्ये शकुनरुतादिगताः स्वरविशेषा ये च जीवपुद्गलगताश्चेष्टाविशेषास्ते सर्वेऽपि गृह्यन्ते । एतेषां सर्वेषामप्युपलब्धिर्भवति । न च येन स्वभावेनैकस्य तेनैवान्यस्य, किन्तु भिन्नेन । तदेतेन प्रकारेण ज्ञानस्य स्वभावाः सर्वाकाशप्रदेशेभ्योऽनन्तगुणाः । बृ० १ उ० ।

प्रकारान्तरेण प्रेरयन्नाह—

तत्थाविसेसयं ना-णमक्खरं इह सुयक्खरं पगयं ।
तं किह केवलपज्जा-यमाणतुल्लं हविज्जाहि ॥

(तत्थेति) " सव्वागासपएसग्गं सव्वागासपएसेहिं अणंतगुणियं पज्जवक्खरं निप्फज्जइ " इत्यत्र सूत्रे नन्द्यध्ययने अविशेषितं सामान्येनैव (नाणमक्खरं ति) ज्ञानमक्षरं प्रतिपादितम्, अविशेषाऽभिधाने च केवलज्ञानस्य महत्त्वात्तदेव तत्राक्षरं गम्यते । इह तु श्रुतज्ञानविचाराधिकाराच्छ्रुताक्षरमकाराद्यक्षरशब्दवाच्यत्वेन प्रकृतं प्रस्तुतम् । ततः को दोष इत्याह-तथाकारादिश्रुताक्षरं कथं केवलपर्यायमानतुल्यं भवेन्न कथंचिदित्यर्थः । अयमभिप्रायः-केवलस्य सर्वद्रव्यपर्यायेभ्योऽप्यनुरूपतु सर्वद्रव्यपर्यायमानता, श्रुतस्य तु तदनन्तभागविषयत्वात्कथं तत्पर्यायमानतुल्यतेति ?। अत्रोच्यते-ननु तथापि " अक्खरस्सवीसम्मं साइयं खलु " इत्यादिप्रक्रमेऽपर्यवसितश्रुते विचार्यमाणे " सव्वागासपएसग्गं " इत्यादिसूत्रं पठ्यते, अतो यद्यपि तथा तत्रापि श्रुताधिकारादक्षरमकाराद्येव गम्यते, न तु केवलाक्षरम् । अथ ब्रूषे-तत्र द्वितीयमनन्तरं सूत्रं यत् पठ्यते " सव्वजीवाणं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडिओ चि" एतस्मात्केवलाक्षरं तत्र गम्यते न तु श्रुताक्षरं सकलद्वादशाङ्गविदां संपूर्णस्यापि श्रुताक्षरस्य सद्भावात्सर्वजीवानामक्षरस्यानन्तभागो नित्योद्घाट इत्यस्यार्थस्यानुपपत्तेः अहो ! असमीक्षिताभिधानं, यत एवं सति केवलिनां संपूर्णस्यापि केवलाक्षरसद्भावात्सर्वजीवानामक्षरस्यानन्तभागो नित्योद्घाट इत्यस्यार्थस्याऽनुपपत्तिरेव । अथ मनुषे तत्राविशेषेण सर्वजीवग्रहणे सत्यपि प्रकरणादपिशब्दाद्वा केवलिनो विहायाऽन्येषामेवाक्षरस्याऽनन्तभागो नित्योद्घाट इति केवलाक्षरग्रहणेऽविरोधः । हन्त ! तदेतच्छ्रुताक्षरग्रहणेऽपि समानम्, यतस्तत्राविशेषेण सर्वजीवग्रहणे सत्यपि प्रकरणादपिशब्दाद्वा समस्तद्वादशाङ्गविदो विहायाऽन्येषामेवाक्षरादीनामक्षरस्यानन्तभागो नित्योद्घाट इतीदापि शक्यत एव वक्तुम् । तस्मात्तत्रेह च श्रुताक्षरमकाराद्येव गम्यते । यदि चात्र श्रुताक्षरं, तत्र केवलाक्षरमपि भवतु, न च श्रुताक्षरस्य केवलपर्यायतुल्यमानता विरुध्यते । कथमित्याह-

सपरपज्जवेहिं तं के-वलेण तुल्लं न होज्ज न परेहिं ।
सपरपज्जाएहिं , तुल्लं तं केवलेणेव ॥

सदा स्वकीया अकारादेरकारादयोऽनुगताः पर्यायाः श्रुतज्ञान-

स्य स्वपर्याया इत्यर्थः । तैरनुगतैः स्वपर्यायैः, तच्छ्रुताक्षरं केवलेन केवलाक्षरेण तुल्यं न भवेत्, सर्वपर्यायानन्तभागवर्तित्वात् । तच्छ्रुतमानं स्वपर्यायाणां, केवलज्ञानं तु सर्वद्रव्यपर्यायराशिप्रमाणं, सर्वेष्वपि तेषु व्यापारात् । तथाहि-लोके समस्तद्रव्याणां [illegible] पर्यायराशिरनन्तानन्तस्वरूपोऽप्यसत्कल्पनया किल [illegible], एतन्मध्याच्छ्रुतज्ञानस्य स्वपर्यायाणां किल शतं, तदून[illegible] तु परपर्यायाः, केवलज्ञाने तु लक्षमपि पर्यायाणामुपलभ्यते, सर्वोपलब्धिस्वभावत्वात्तस्य । ते चोपलब्धिविशेषाः सर्वेऽपि केवलस्य पर्यायाः स्वभावाः, ज्ञेयोपलब्धिस्वभावत्वात् ज्ञानस्य । एवं च सति लक्षपर्यायं केवलं, श्रुतस्य तु शतं स्वपर्यायाणाम्, अतस्तैस्तत्केवलपर्यायराशितुल्यं न भवेदिति [illegible] । तर्हि परपर्यायैस्तत्तस्य तुल्यं भविष्यतीत्याह-न परैर[illegible] परपर्यायैस्तत् केवलेन तुल्यं भवेत् । तथाहि-घटादि[illegible] परपर्यायास्तस्य विद्यन्तेऽनन्तानन्ताः, कल्पनया तु [illegible] सर्वद्रव्यपर्यायराशितुल्या न भवन्ति, सर्वपर्यायानन्तभागेन कल्पनया शतरूपेण सद्भावत[illegible] स्वपर्यायराशिना न्यूनत्वात् केवलस्य तु संपूर्ण[illegible] । स्वपरपर्यायैस्तु तत्केवलपर्यायतु[illegible] । [illegible] सर्वद्रव्यपर्यायप्रमाणत्वादिति । आह-[illegible] विशेषः? उच्यते, अस्ति विशेषः यतः-

अविसेसियं [illegible] पुण, सपरपज्जाएहिं चेव तत्तुल्लं ।
[illegible] विणिउत्तं ॥

[illegible] सर्वद्रव्यपर्यायराशिप्रमाणत्वे तुल्येऽपि श्रुतकेवल[illegible] विशेषः [illegible] इति गाथार्थः । कः [illegible] पर्यायसामान्येन युक्तं [illegible] सामान्यत एवाऽनन्त[illegible] इत्यर्थः । तदेवं नूनं केवलं [illegible] सर्वद्रव्यपर्यायराशि[illegible] स्वपरपर्यायैस्तत्तुल्य[illegible] । कथं पुनः केवलज्ञानस्य तावत्[illegible] ([illegible]) यदस्मात्केवलज्ञान[illegible] सर्वेष्वपि निःशेषज्ञानपदार्थेषु [illegible] विनियुक्तं प्रतिसमयं [illegible] । [illegible] भवति । केवलज्ञानं सर्वानपि [illegible] । ते च तेन ज्ञायमाना ज्ञानवादिन[illegible]

[illegible]

केवलं ज्ञानमकाराद्यक्षरवत्स्वपरपर्यायभेदतो भिद्यते [illegible] यथोक्तनीत्या स्वपर्यायान्वितमेवेति भावः । [illegible] कारणेन तत्केवलज्ञानं जीवजातः प्रतिनियतो [illegible] घटादिस्वरूपं तथापि घटादयस्तत्स्वभावाः किंतु [illegible] इति, तेन ज्ञायमाना अपि ते कथं तस्य स्वपर्याया भवेयुः [illegible] संकरैकत्वादिप्रसङ्गात् । तस्मादमूर्तत्वाद्यनन्तसर्वज्ञ[illegible] पातित्वनिरावरणत्वादयः केवलज्ञानस्य स्वपर्यायाः । [illegible] र्यायास्तु व्यावृत्तिमाश्रित्य परपर्यायाः । अन्ये तु [illegible] द्रव्यगतान्सर्वानपि पर्यायान् केवलज्ञानं जानाति, [illegible] भावेनैकं पर्यायं जानाति न तेनैवापरमपि, किन्तु स्वभावेन [illegible] न्यथा सर्वद्रव्यपर्यायैकत्वप्रसङ्गात्, तस्मात्सर्वद्रव्य[illegible] तुल्याः स्वभावभेदलक्षणाः केवलज्ञानस्य स्वपर्यायाः, [illegible] पर्यायास्तु परपर्याया इत्येवं स्वपर्यायपरपर्याय[illegible] स्परं तुल्याः केवलस्येति । एवं च सति किं सिद्ध[illegible]

अविसेसयं पि सुत्ते, अक्खरपज्जायमाणमाई ।
सुयकेवलक्खराणं, एवं दोण्हं पि न विरुद्धं ॥

एवं सत्यविशिष्टमपि नन्दिसूत्रे यत्सर्वाकाश[illegible] गुणितमक्षरपर्यायप्रमाणमादिष्टं ततः श्रुतस्य केवलस्य [illegible] विरुद्धं, श्रुताक्षरस्य केवलस्य चोक्तन्यायेनार्थतो [illegible] मानपर्यायत्वात्, तथापि श्रुतस्य केवलस्य च स्वपर[illegible] पर्यायैर्वादं तुल्या एव । स्वपर्यायास्तु ' [illegible] ' इत्यादिनाऽऽगमेनानन्तरमेव केवलस्य भूयांसः [illegible] तेभ्यो व्यावृत्तत्ववन्तः श्रुतस्य परपर्याया वर्द्धन्त इति [illegible] द्वयोरपि सामान्यतः पर्यायसमानत्वमित्युभयोरपि [illegible] सूत्रे न किमपि दूषणम् इति । नन्वेतत्सर्वपर्याय[illegible] किं सर्वमपि ज्ञानावरणकर्मणाऽऽव्रियते न वेत्याह-

तस्स उ अणंतभागो, निच्चुग्घाडो य सव्वजीवाणं ।
भणिओ सुयम्मि केवलि-वज्जाणं तिविहभेओ वि ॥

तस्य च सामान्येनैव सर्वपर्यायपरिमाण[illegible] नित्योद्घाटितः सर्वदैवानावृतः [illegible] जघन्यमध्यमोत्कृष्टत्रिविधभेदोऽपि श्रुते भणितः [illegible]

तत्र सर्वजघन्यस्याऽक्षराऽनन्तभागस्य स्वरूपमाह-

सो पुण सव्वजहन्नो, चेयणं नाइरित्त [illegible] ।
[illegible] वि, सत्तयरङ्कजहन्नभाव[illegible] ॥

स पुनः सर्वजघन्योऽक्षरानन्तभागः [illegible] चैतन्यमात्रं, तच्च तावन्मात्रमुत्कृष्टावरणेऽपि [illegible] कदापि नाव्रियते न तिरस्क्रियते, अजीवत्वप्रसङ्गात् । [illegible] [illegible] निबन्धनं [illegible] कदापि [illegible] यथापि चैतन्यमात्रं कदाचिन्नाऽऽव्रियत इति [illegible] पुनरसौ सर्वजघन्योऽक्षरानन्तभागः [illegible]

[illegible]

[illegible]

होइ विभङ्गो मज्झे छट्ठाणगयाए पाएण ॥ ४७ ॥

स पयाक्षराऽनन्तभाग उत्कृष्टो भवत्युत्कृष्टश्रुतज्ञानविदः संपूर्णश्रुतज्ञानस्येत्यर्थः । अत्राह–ननु तस्य कथमक्षराऽनन्तभागो यावता श्रुतज्ञानाऽक्षरं संपूर्णमप्यस्य प्राप्यत एव ? । सत्यम् । किन्तु संवलितसामान्यश्रुतकेवलाक्षराऽपेक्षयैवास्याक्षरानन्तभागो विवक्षितः, " केवलिवज्जाणं तिविहमेओ वि " इत्यनन्तरवचनात् । अन्यथा हि यथा केवलिनः संपूर्णकेवलाऽक्षरयुक्तत्वेनाक्षराऽनन्तभागत्रिविधोऽपि न संभवतीति तद्वर्जनं कृतम् । एवं संपूर्णश्रुतज्ञानिनोऽपि समस्तश्रुताऽक्षरयुक्तत्वेनाक्षराऽनन्तभागत्रैविध्योऽपि न संभवतीति, तद्वर्जनमपि कृतं स्यात्, तस्मात्संमिलितसामान्याक्षरापेक्षयैवास्याक्षरानन्तभागः प्रोक्तः, सामान्ये चाऽक्षरे विवक्षिते केवलाक्षरापेक्षया श्रुतज्ञानाक्षरस्य संपूर्णस्याऽप्यनन्तभागवर्त्तित्वं युक्तमेव, केवलज्ञानस्वपर्यायेभ्यः श्रुतज्ञानस्वपर्यायाणामनन्तभागवर्त्तित्वात् तस्य परोक्षविषयत्वेनाऽस्पष्टत्वाच्चेति । यत्त समुदितस्वपरपर्यायाऽपेक्षया श्रुतकेवलाक्षरयोस्तुल्यत्वं तदिह न विवक्षितमेवेति । अन्ये तु " सो उण सव्वजहन्नो चेयण्णं " इत्यादिगाथायां स पुनरक्षरलाभ इति व्याचक्षते, इदं चाऽनेकदोषाऽन्वितत्वाज्जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यटीकायां चाऽदर्शनादसङ्गतमेव लक्षयामः । तथा हि–" तस्स उ अणंतभागो निच्चुग्घाडो " इत्याद्यनन्तरगाथायामक्षराऽनन्तभाग एव प्रकृतः, अक्षरलाभस्यानन्तरपरामर्शिना तच्छब्देन कुतो ग्रहणः ? किमाकाशात्पतितः ? । किं च, यद्यक्षरलाभ इतीह व्याख्यायते तर्हि " केवलिवज्जाणं तिविहमेओ वि " इत्यत्र किमिति केवलिनो वर्जनं कृतं ?, यथा हि श्रुताक्षरमाश्रित्याऽक्षराऽक्षरलाभः संपूर्णश्रुतज्ञानवतो लभ्यते तथा केवलाक्षरमङ्गीकृत्याऽक्षरोऽसौ केवलिनोऽपि लभ्यत एव, किं तद्वर्जनस्य फलम् ? । क्षमाश्रमणपूज्यैश्च " खीणम्मि " इत्यादिगाथायामित्थं व्याख्यानमस च किल जघन्योऽनन्तभाग इत्यादि । अथ सामान्यमक्षरमेव प्रक्रमे गृह्यते किन्तु श्रुताक्षरमेवेति । तदयुक्तम्, विरुद्धतट्टीकाद्वयेऽप्यस्तरस्य सामान्यस्यैव व्याख्यानात् । किं च–विशेषतोऽत्र श्रुताक्षरे गृह्यमाणे तस्य श्रुताक्षरस्याऽनन्तभागः सर्वजीवानां नित्योद्घाटः इति व्याख्यानमापद्यते । तच्चाऽयुक्तम्, संपूर्णश्रुतज्ञानिनां तदनन्तभागादिहीनश्रुतज्ञानवतां च श्रुताक्षरानन्तभागवत्त्वानुपपत्तेः । किं च, " सो उण केवलिवज्जाणं तिविहमेओ वि " इत्येतद्वचनमेव स्यात्, केवलिनः सर्वथैव श्रुताक्षरस्याऽसंभवेन तद्वर्जनस्याऽनवकाशप्रसक्तत्वाच्चेति, यस्मात्तु केवलिनो बहुश्रुता वा विरुद्धाऽऽवलं प्रसङ्गेन । विभङ्गमक्षरानन्तभागमाह–सकलस्मादुत्कृष्टश्रुतज्ञानविदोऽवरोधान्मध्ये निरवयसंपूर्णश्रुतज्ञानिनां मध्ये यथासंभवं षट्स्थानपतितानामनन्तभागादिहीनानां मध्येन विभङ्गो मध्यमोऽक्षरानन्तभागो भवति, एतस्मादुत्कृष्टश्रुतज्ञानिनोऽवरोधाः के [illegible] श्रुतमधिकृत्य तुल्या अपि भवन्त्यत उक्तम्प्रायेणेति व्याख्येयं [illegible] इति । अथ सर्वविपरीतत्वेन [illegible] श्रुतज्ञानिनोऽपि [illegible] केवलिनोऽनुत्कृष्टश्रुतज्ञानवतां तत्तुल्य एवाऽक्षरानन्तभागो भवति न तु विभङ्ग इत्यर्थः । इति समवायाङ्गिप्रसङ्गतः प्रासंगिकमुक्तम् । विशे० ॥

पत्तेयमक्खराइं, अक्खरसंजोग जत्तिया लोए ।

एवइया सुयनाणे, पयडीओ होंति नाय० ।

एवमेकं प्रति प्रत्येकमक्षराणाम्

अकारः सानुनासिको निरनुनासिकश्च । पुनरेकैकस्त्रिधा–ह्रस्वो दीर्घः प्लुतश्चेति । पुनरेकैकस्त्रिधा–उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्च । इत्येवमकारोऽष्टादशभेदः । एवमिकारादिष्वपि यथासम्भवं भेदजालमभिधानीयमिति । तथाऽक्षराणां मध्ये [illegible] द्व्यादयो यावन्तो लोके, यथा–घट पट इत्यादि, [illegible] । एवमेतेऽनन्ताः संयोगाः, तत्रापि चैकैकः स्वपरपर्यायभेदतोऽनन्तपर्यायः, अत एतावन्तः श्रुतज्ञाने प्रकृतयो भेदा ज्ञातव्या इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

अथ भाष्यम्–

संजुत्तासंजुत्ता–ण ताणमेक्कक्कसंजोगा ।

होंति अणंता तत्थ वि, एक्केक्को णंतपज्जाओ ॥

एवमक्षरमादिरेषां [illegible] । [illegible] द्व्यादिसंयोगाः, ते समस्ता अपि न । [illegible] इत्याह–[illegible] । इत्याह–संयुक्तासंयुक्तानाम् । तत्र [illegible] इत्यादि । [illegible] इत्यादि । एवं [illegible] परपर्यायैः पूर्वनिर्दिष्टस्वरूपैरनन्तपर्याय इति ॥

अथ [illegible]–

संखिज्जमक्खरज्झं, होंति सहस्सा बहू ण्डपेई ।

पयत्थियवाययाइ–[illegible] ॥

[illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] दिवम्, अभिधेय[illegible] ।

[illegible] आह–

अणुभो एएसुं–[illegible] ।

जे वयसो दव्वाई, हवंति [illegible] ।

[illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] ।

[illegible] ।

जे य सुयम्मि वि भणिए, [illegible] ।

[illegible] । [illegible] । [illegible]

[illegible] [illegible]रओ, अनक्खरं होज्ज वंजणक्खरओ ।
[illegible] सुयं पुण, उभयं पि अणक्खरं करउ ॥

[illegible] [illegible] माक्षरं च । तत्र [illegible]

[illegible]

अक्खलियचरित्त–अस्खलितचारित्र–पुं० [illegible] रहितं चारित्रं मूलगुणरूपं यस्यासौ [illegible] रतिचारचारित्रे, [illegible] [illegible] जे सुसंधिमो, अणाइस्सी [illegible] । [illegible] रागदोसविवज्जए " ग० १ अधि० ।

अक्खलियाइगुणजुत्त–अस्खलितादिगुणयुक्त–त्रि० [illegible] तममिलमव्यत्याम्रेडितमित्यादिगुणयुक्ते, " [illegible] तैः स्तोत्रैश्च महामतिग्रथितैः " पो० ९ विव० ।

अक्खवाडग–अक्षपाटक–पुं० [illegible] पदर्शनी–पयुस् । व्यवहारनिर्णेतरि धर्माध्यक्षे [illegible] कारे (आसने,) " तेसि णं [illegible] मया अक्खपाडगा पण्णत्ता " औ० १ प्रति० ।

अक्खसुत्तमाला–अक्षसूत्रमाला–स्त्री० [illegible] दोषास्तेषां सम्बन्धिनी सूत्रप्रतिबद्धा माला [illegible] रैव गण्यमानैर्निर्मासतयाऽतिव्यक्तत्वात् । [illegible] " अक्खसुत्तमाला विय गणिज्जमाणेहिं " अनु० १ [illegible]

अक्खसोय–अक्षस्रोतस्–न० [illegible] [illegible]

अक्खसोयप्पमाण–अक्षस्रोतःप्रमाण–त्रि० [illegible] प्रवेशरन्ध्रं, तदेव प्रमाणमक्षस्रोतःप्रमाणम् । [illegible] [illegible]भिन्निप्रमाणे, औ० ।

अक्खसोयप्पमाणमेत्त–अक्षस्रोतःप्रमाणमात्र–त्रि० [illegible] प्रमाणेन मात्रा परिमाणमवगाहतो [illegible] [illegible]प्रमिताऽवगाहे) " तेण कालेणं तेणं समएणं [illegible] महाणइओ रहपहवित्थराओ [illegible] वोज्झिहिं ति " भ० ७ श० ६ उ० ।

अक्खा–आख्या–स्त्री० आ–ख्या–भावेऽङ्, [illegible] वाच० । अभिधाने, " काओ य [illegible] " [illegible] [illegible] । [illegible] प्रतिपत्तव्याः । सू० ३ [illegible]

अक्खाइय–आख्यायिक–न० [illegible] [illegible]) [illegible], आ० म० द्वि० । विशे० । [illegible] [illegible], [illegible] । अनु० [illegible] [illegible] प्रश्न० आश्र० २ द्वा० ।

अक्खाइयट्ठाण–आख्यायिकास्थान–न० [illegible] आ० २ श्रु० ११ अ० ।

अक्खाइयणिस्सिय–आख्यायिकानिश्रित–[illegible]

[illegible]

अक्खाइया–आख्यायिका–स्त्री० [illegible]

[illegible]

[illegible]

अक्खाण-आख्यान-न० । आ-ख्या, चक्षिङ् वा, ल्युट् । आभिमुख्येनादरेण वा ख्यापने प्रकथनमभिधाने वा । " अक्खाणं धावणाभिहाणं वा " आभिमुख्येनाऽऽदरेण वा प्रकथनेऽभिधाने च, विशे० । निवेदने, पं० १ अधि० । अभिधाने, पञ्चा० २ विव० । आख्यानकानि धूर्ताऽऽख्यानकादीनि । बृ० २ उ० । नि० चू० ॥

अक्खाय-आख्यात-त्रि० आ-ख्या-क्त । पूर्वतीर्थकरगणधरादिभिः प्रतिपादिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । आव० । " संति मे य दुवे ठाणा, अक्खाया मारणंतिया " ॥ उत्त०५ अ० । समन्तात्कथिते, उत्त० २ अ० । " सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं " आ मर्यादया जीवाऽजीवलक्षणसंकीर्तनारूपया अभिविधिना वा समस्तवस्तुविस्ताररूपख्यापनलक्षणेन ख्यातं कथितमाख्यातमात्मादिवस्तुजातमिति गम्यते । स्था० १ ठा० । सूत्र० । द० । भणिते, संथा० । तिङन्ते प्रत्यये, भाव एव साध्यतया लिङादिरभिधीयते न कर्ता "पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातमाचष्टे " इतिवचनात् । सम्म० ।

अक्खायपव्वज्जा-आख्यातप्रव्रज्या-स्त्री० आख्यानेन धर्मदेशनेन आख्यातस्य वा प्रव्रजेत्यभिहितस्य गुरुभिर्या साऽऽख्यातप्रव्रज्या । प्रव्रज्याभेदे, स्था० ३ ठा० २ उ० । " अक्खायाए जंबू धम्मं अक्खाहिपमयस्स " पं० भा० । " अक्खायाए सुदंसणो सेट्ठी सामिणा संबोहिओ " पं० चू० ।

अक्खि-अक्षि-न० अश्नुते विषयान्, अश्-क्सि । नेत्रे, वाच० । "अक्खिहि य णासाहि य जिब्भाहि य ओट्ठेहि य " विपा० १ श्रु० २ अ० । " से अंजियक्खितिसए " नि० चू० १ उ० ।

अक्खितर-अक्ष्यन्तर-न० ६ त० । नेत्ररन्ध्रे, (विपा०) " अक्खितरेसु दुवे " (नाडी) विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अक्खित्त-आक्षिप्त-त्रि० आ-क्षिप्-क्त । कृताक्षेपे, यस्याक्षेपः कृतस्तस्मिन् । वाच० । आकृष्टे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । उपलोभिते, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । आवर्जिते, दशा० ३ अ० । उपन्यस्ते च, पंचा० १२ विव० ।

अक्खित्त (क्खेत्त)-अक्षेत्र-न० । न० त० । क्षेत्राभावे, "मग्गणा खेत्त अक्खेत्ते " एकक्षेत्रस्थितानां मार्गणा कार्तव्या, कस्य क्षेत्रं भवति कस्य वा न भवति इत्यभिप्रायः । व्य० ४ उ० । क्षेत्रभिन्ने बहिर्ये, " अक्खेत्तुवस्सए पुव्वमाले तृणवलिछेत्तभिन्ने बहिरेये " अक्षेत्रे स्थितानामुपाश्रये तथाश्रयविषया मार्गणा च मासो " अक्षेत्रे उपाश्रयस्य मार्गणा कर्तव्येत्युक्तं तत्र कर्तव्या । अक्षेत्रं तावदक्षेत्रमाह- " एगाणापुराणा अद्धा-वासोवए कुसलदे य खले य । गामायाणमंतर- मंहेय उज्जाणमाईसु । इंदकीलकमंतो आरवाया ओहि य पंच इमे । अमच्चपुरोहिया सेट्ठी, सेणावति सत्यवाहो य " व्य० ४ उ० । जं दिसं वाधातो तं दिसं अक्खेत्तं जाय खेत्तं भवति परओ अक्खेत्तं " नि० चू० १ उ० ।

अक्खित्तणिवसण-आक्षिप्तनिवसन-त्रि० ६ ब० । आकृष्टपरिधानवस्त्रे, " अक्खित्तणियंसणा मक्खिअदेहिसंवसणा " प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

अक्खिराग-अक्षिराग-पुं० अक्ष्णोरागो रक्तत्वम् । नेत्रयोरक्तत्वे, " आसुरुत्ता अक्खिरागं च, मिलक्खुपयखमणं । इत्थीणं च कर्कं च, तं विसं परियाणिया " ॥१५॥ सूत्र० १ श्रु० ९ अ० ।

अक्खिवण-आक्षेपण-न० चित्तव्यग्रतापादने, प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

अक्खिविउं-आक्षेप्तुम्-अव्य० आ-क्षिप्-तुमुन् । स्वीकर्तुमित्यर्थे, नि० ।

अक्खिविउकाम-आक्षेप्तुकाम-त्रि० स्वीकर्तुकामे, नि० चू० १ उ० ।

अक्खिवेयणा-अक्षिवेदना-स्त्री० नेत्रपीडात्मके रोगभेदे, विपा० १ श्रु० ४ अ० ।

अक्खीण-अक्षीण-त्रि०, न० त० । अत्रुटिते, औ० । अपरिपूर्णे, महा० २६ पद० । "अक्खीणा विग्गजवग हि सुहिए." प्रति० । "अमणोयस्स वा कम्मस्स अक्खीणस्स अवेइयस्स" अक्षीणस्य स्थितिक्षयेण । कल्प० । "अक्खीणदव्वसत्ता" प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

अक्खीणपडिभोइ (ण्) अक्षीणपरिभोगिन्-पुं० अक्षीणमक्षीणायुष्कमप्रासुकं परिभुङ्क्ते इत्येवंशीला अक्षीणपरिभोगिनः । अप्रासुकपरिभोगिषु, इत्यत्रपक्षस्य व्यावर्तकत्वात्, अकरणताहारत्यागिषु, " आजीवियसमयस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते अक्खीणपडिभोइणो सव्वसत्ता " भ० ८ श० ५ उ० ।

अक्खीणमहाणसिय-अक्षीणमहानसिक-पुं० महानसमन्नपाकस्थानं तदाश्रितत्वादन्नमपि महानसमुच्यते, ततश्चाक्षीणं पुरुषशतसहस्रेभ्योऽपि दीयमानं स्वयमभुक्तं सत् तथाविधलब्धिविशेषादत्रुटितं, तच्च तन्महानसं च निरुपमलब्ध्युपभोगमक्षीणमहानसं तदस्ति येषां ते तथा । औ० । अक्षीणमहानसी लब्धिमुपपन्नेषु, येषामसाधारणान्तरायक्षयोपशमात्पात्रपतितमन्नं गौतमादीनामिव पुरुषलक्षसहस्रेभ्योऽपि दीयमानं स्वयमेवाभुक्तं न क्षीयते ते अक्षीणमहानसाः । उक्तं च- " अक्खीणमहाणसिओ, भिक्खं जेणाणियं पुणो तेणं । परिभुत्तं चिय खिज्जइ, बहुएहि वि न पुण अन्नेहिं " ॥ १ ॥ ग० २ अधि० । अक्षीणमहानसिकस्य भिक्षा च अन्नेन भिक्खिज्जइ, तम्मि जिमिते णिट्ठाति । आ० चू० १ अ० । आ० म० द्वि० ।

अक्खीणमहाणसी-अक्षीणमहानसी-स्त्री० लब्धिभेदे, येनानीतं भैक्षं बहुभिरपि सहधर्मिकस्वजनादिभिरपि भुक्तं न क्षीयते यावदात्मना न भुक्तं किन्तु तेनैव भुक्तं निष्ठां याति, साऽक्षीणमहानसी लब्धिः । प्रव० २७० द्वा० । विशे० ।

अक्खीणमहालय-अक्षीणमहालय-पुं० अक्षीणमहालयलब्धिमत्सु, ते च यत्र परिमितभूप्रदेशेऽवतिष्ठन्ते तत्रासंख्याता अपि देवास्तिर्यञ्चो मनुष्याश्च सपरिवाराः परस्परबाधारहितास्तीर्थकरपर्षदीव सुखमासते इति । ग० २ अधि० ।

अक्खीरमहु (हु) सप्पिय-अक्षीरमधुसर्पिष्क-पुं० अक्षीरमधुसर्पिष्के अभिग्रहविशेषधारके, प्रव० ... द्वा० ।

अक्खुअ-अक्षुत-त्रि० ... । ... ग० ३ अधि० ।

अक्खुआआरचरित्त-अक्षुताचारचरित्र-पुं० अक्षुत अक्षतः ... अक्षतं यस्य ... तथा । विशेषणविशेष्य ... ग० ३ अधि० ।

अक्खुण्ण–अक्षुण्ण–त्रि० । न० त० । अमर्दिते, नि० चू० १० उ० ।
" अक्खुण्णेसु पहेसु पुढवी उदगंमि होइ पुहश्रो वि " बृ० १ उ० ।
अक्खुद्द–अक्षुद्र–पुं० । न० त० । अनुत्तानमतौ, ध० १ अधि० । ध० र० । अकृपणे, कृपणो ह्यौचित्येन द्रव्यव्ययकरणाशक्तत्वान्न तन्माधनाय शासनप्रभावनाय चाऽलमिति तद्भिन्नस्य प्रथमश्रावकगुणवत्त्वम् । पंचा० ७ विव० । अक्रूरे, क्रूरेण हि परोपतापित्वात्क्लिष्टद्वेषेण कृतं तदायतनं तन्मत्सरेण जनद्वेष्यं स्यादिति (तद्भिन्नस्य प्रथमश्रावकगुणवत्त्वम) पंचा० ९ विव० । तेन निरवादिनं सर्वानन्ददायितया हितं भवति । दर्श० ।

अस्य विस्तरेण प्रतिपादनम्—

खुद्दो त्ति अगंभीरो, उत्ताणमई न साहए धम्मं ।
सपरोवयारसत्तो, अक्खुद्दो तेण इह जुग्गो ॥ ८ ॥

यद्यपि क्षुद्रशब्दस्तुच्छक्रूरदरिद्रलघुप्रभृतिष्वर्थेषु वर्तते तथापीह क्षुद्र इत्यगम्भीर उच्यते, तुच्छ इति कृत्वा स पुनरुत्तानमतिर्निपुणधिषण इति हेतोर्न साधयति नाराधयति धर्मं, भीमवत्, तस्य सूक्ष्मबुद्धिसाध्यत्वात् । उक्तं च–" सूक्ष्मबुद्ध्या स विज्ञेयो, धर्मो धर्मार्थिभिर्नरैः । अन्यथा धर्मबुद्ध्यैव, तद्विघातः प्रसज्यते ॥ १ ॥ गृहीत्वा ग्लानभैषज्यं, प्रदानाभिग्रहं यथा । तदप्राप्तौ तदन्तेऽस्य, शोकं समुपगच्छतः ॥ २ ॥ गृहीतोऽभिग्रहः श्रेष्ठो, ग्लानो जातो न च क्वचित् । अहो ! मे धन्यता कष्टं, न सिद्धमभिवाञ्छितम् ॥ ३ ॥ एवमेतत्समादाने, ग्लानभावाभिसन्धिमत् । साधूनां तत्त्वतो यत्नाद् दुष्टं ज्ञेयं महात्मभिः" ॥ ४ ॥ इति, एतद्विपरीतः पुनः स्वपरोपकारकरणे शक्तः समर्थो भवतीति शेषः । अक्षुद्रः सूक्ष्मदर्शी सुपर्यालोचितकारी तेन कारणेनेह धर्मग्रहणेऽधिकारी योग्यः, सोमवत्, भीमवत् । तयोः कथा चैवम्—

[illegible] सुरम्–[illegible] कणयपुरपुरमत्थि ।
[illegible] वा–[illegible] विपरिवसिओ राया ॥ १ ॥
[illegible], गुणीयणा [illegible] तिथि तरुणीओ ।
[illegible], दुक्खरविरहदुहियाओ ॥ २ ॥
[illegible], [illegible] दयंतीओ ।
[illegible], [illegible] दिवसाई ॥ ३ ॥
[illegible] ॥ ४ ॥
[illegible], [illegible] विरहदुहियनवणीओ ।
[illegible] ॥ ५ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ६ ॥
[illegible] निव ! [illegible] ।
[illegible] ॥ ७ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ८ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ९ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ १० ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ११ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ १२ ॥
[illegible] ।

निद्दुरपहारविहुरं, पिआसियं महियले पडियं ॥ १३ ॥
तो सरवराउ सलिलं, गहित्तु उप्पन्नपुन्नसालो ।
तं पाइत्ता पवण–प्पयाणओ कुणइ पउणतणुं ॥ १४ ॥
पुच्छइ य भो महायस !, कोसि तुमं किं इमा दसा' ।
सो भणइ सुयणसिरस्य–ण ! सुणसु सिद्धु त्ति हं [illegible] ।
विज्जावलिएण विप–क्खजोइणा [illegible] ।
पयमवत्थं नीओ, तए पुणो पगुणिओ सगुणे ॥ १६ ॥
तो सो तोसेणं गरुल–मंतमप्पित्तु नरवरसुयस्स ।
सट्ठाणं संपत्तो, कुमरो पुण इत्थ नयरम्मि ॥ १७ ॥
निसि मयणगिहे सुत्तो, चिट्ठइ जा सुट्ठु जग्गिरो [illegible] ।
ता तत्थेगा तरुणी, समागया पूइउं मयणं ॥ १८ ॥
बहि नीहरिउं जप्पइ, अम्मो वणदेवया सुणइ [illegible] ।
इह वासवनरवइणो, सुहिया कमल त्ति हं दुहिया ॥ १९ ॥
मणिरहसुयस्स विक्कम–कुमरस्सुज्जलगुणाणुगस्स ।
दिन्ना पिउणा सो पुण, इत्थिह न नज्जइ कहिं वि गओ ॥ २० ॥
जइ मह इह नउ जाओ, सो भत्ता तो परत्थ वि [illegible] ।
इय पभणिअ वलंबइ, घराविरीविएि जाव सा [illegible] ॥ २१ ॥
मा कुणसु साहसं इय, भणिरो छुरियाइ छिंदिउं पासं ।
कमलं कमलसुकोमल–चयणेहिं संठवइ कुमरो ॥ २२ ॥
इत्तो तस्सुद्दिकए, मरुवइगरपरिवुडो तहिं पत्तो ।
वासवनिवो वि कुमरं, दट्ठुं हिट्ठो भणइ एवं ॥ २३ ॥
तिलयपुरे अम्मेहिं, गएहिं मणिरहसमिवसमिवस्स ।
तं बालत्ते दिट्ठो, दक्खिन्नसुपुन्नवर ! कुमर ! ॥ २४ ॥
निअपरत्ता एमा, एइ कमला कमलिणि व्व दिणयरे ।
तुह दाहिणकरमेलण–वसा सुहं लहउ मह उहिया ॥ २५ ॥
इय महुरगहिरभणिहिं, पत्थिओ वासवेण नरवइणा ।
विक्कमकुमरो कमलं, परिणइ तिविक्कमु व्व तओ ॥ २६ ॥
गोसे तोसेण पुरे, पवेसिओ निवइणा समग्गो सो ।
तीइ समं कीलंतो, चिट्ठइ निअदिअहाणमाए ॥ २७ ॥
तो किं अग्गे कमला–इ जंपिए भणिय रायसेवाए ।
समओ त्ति गओ गुज्झो, बीयदिणे कहइ पुण एवं ॥ २८ ॥
कइया वि सुणिय रयणीइ, कलुणसद्दं दयंतसत्तवि ।
तस्सद्दणुसारेण य, स गओ कुमरो मसाणम्मि ॥ २९ ॥
दिट्ठा वाहजलाविल–विलोललोयणजुया तहिं तरुणी ।
तीए पुरओ जोई, तह कुणइ जलिरजलणकुंडं ॥ ३० ॥
होउं मयंतरे पव–रत्तरिसो जाव चिट्ठए कुमरो ।
विसमसरसमरविहुरो, तो जोई भणइ तं बालं ॥ ३१ ॥
पमिय [illegible] मियसवयण–रत्तनयणे मम वरिय [illegible] ।
चूलामणि व्व तं हो–सु सयलरमणीयमेलाए ॥ ३२ ॥
सा [illegible] पभणइ, किं [illegible] ।
जइ [illegible] ॥ ३३ ॥
मह [illegible] जोई, [illegible] ।
ता [illegible], हहा ! [illegible] ॥ ३४ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ३५ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ३६ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ३७ ॥

गो यक्कमभिमो जोर्डे, भणइ परितोसपसंगभरणयो ।
निवइणो ह मरए, साहु मए रक्खिओ कुमर ! ॥ ३८ ॥
इयदारओ त्ति दाउं, कयपराविसिकाणिति विज्जं ।
पमणइ जोगी मंते, गुरुविक्कमसाहसगुणेहिं ॥ ३९ ॥
तुह पत्थ इमीइ दिट्ठी, पमेलणं तंमि विक्कमकुमारो ।
इयरो वि साहइ मइं, गुहिणिपागारकुसलस्स ॥ ४० ॥
तो जोगि पणिवओ तं, वाणे परिलिहु तं विसजेउं ।
तीए हओ कुमारो, नियमणुज्जाणमणुपत्तो ॥ ४१ ॥
ता किं जायं मक्कसगा-ओ त्ति पुट्ठम्मि कमलसेणाए ।
कोसमगए वेड ति, जंपिउं निग्गओ कुज्जो ॥ ४२ ॥
अय मज्झपायरम्मि, आगंतुं कहइ तस्स पुण एवं ।
कुमरो जाणुजाणो, कीलइ सह कमलसेणाए ॥ ४३ ॥
परकज्जमज्ज ! मह कज्ज-मज्ज कुणसु त्ति भाव तं कोइ ।
आइ कुमारो पि भणइ, करेमि जंवियफलं एमं ॥ ४४ ॥
तयणु विमाणारूढो, कुमरो वेयड्ढिकणयपुरपहुणो ।
विज्जवरियक्क समीवे, नीओ सो तेण इय भणिओ ॥ ४५ ॥
कुमर ! मह अत्थि सत्तु, महिसपुरसामिधूमकेउनियो ।
तं कक्कमिह मारा-दियाइ कुमदेववाइ मए ॥ ४६ ॥
तत्तिविजयकलमो तं, कुमर ! पभणिओ गिण्हता इमा विज्जा ।
आगासगामिणीमा-इयाउ तह वेग सो कुणइ ॥ ४७ ॥
अह साहियपहृषिझं, इयगयपइमुहकणोडिसंघाडियं ।
कुमरं इतं निसुणिय, संपुहो धूमकेउनिवो ॥ ४८ ॥
अणुच्छलच्छिविच्छड्ड-मंडियं जंडिउं गओ रज्जं ।
तं गाहिय महियसत्तू, पत्तो कुमरो वि सट्ठाणं ॥ ४९ ॥
हरिसुकरिसपरेणं, रन्ना वि सुलोयणं नियपधूयं ।
परिणाविओ कुमारो, चिट्ठइ तत्थेव कइ वि दिणे ॥ ५० ॥
इं पुव्वपियाओ, कया वि कुमरो सुलोयणासहिओ ।
त्थय पुणो नयरे, नियभयणुज्जाणमोइण्णो ॥ ५१ ॥
कज्ज गओ त्ति सुलो-यणाइ पुट्ठम्मि वामणो हसिरो ।
तुम्हे निय भत्तिं, खणिया इय धुणु नीहरिओ ॥ ५२ ॥
नियचरियसयणओ, नियनियतणुनिउणकुरणओ ताहिं ।
रूयपरावत्तो, नियमसा तक्किओ कुज्जो ॥ ५३ ॥
गयपहे कुज्जो, गच्छंतो सुणिय कम्मि वि गिहम्मि ।
सरं तो कं पि हु, पुच्छइ रोइज्जए किमिह ? ॥ ५४ ॥
णइ तिलयमंति-स्स पुत्तिया सरसइ त्ति नामेण ।
यरि कीलती, डक्का कसिणेण उरगेण ॥ ५५ ॥
रिंदविंदा-णपहि तो तीइ मायपियसयणा ।
टमुक्क-लयजिया इय रुयंति बहुं ॥ ५६ ॥
भणइ कुज्जो, गच्छामो मह मंतिगेहम्मि ।
सयं बालं, अहमवि उंजेमि तह किं पि ॥ ५७ ॥
मंतिभवण-म्मि वामणो तयणु तेण सह पत्तो ।
दमंत-प्पभायओ उसि तं बालं ॥ ५८ ॥
गं च कुमं, सकुयमाविद्दसु त्ति सचिवेण ।
खणेणं, मउव्व जाओ सहावत्थो ॥ ५९ ॥
रूवं, दट्ठुं अइविम्हिओ तिलयमंती ।
ता चिट्ठइ ता पढियं, मागहविंदेण पयकमिमं ॥ ६० ॥
णिरहनियकुलससहर !, हरहारकरेणुधवलजसप्पसर ! ।
सीयतिहुयणविक्कम !, विक्कमयर ! कुमर ! जय सुचिरं ॥ ६१ ॥
मंती थरकुलरु-यविक्कमं विक्कमं निएऊण ।
कुमरीइ पाणिगहणं, कारावइ हट्ठतुट्ठमणो ॥ ६२ ॥
तं सुणिय आणिउं निय-सुयाइ कमलाइ पियपमं ।
वासवराया कारइ, महूसवं सव्वनयरम्मि ॥ ६३ ॥
तत्तो मंतिगिहाओ, नीओ नियमंदिरे विनइेण ।
सो सव्वपियाहि जुओ, सुहेण चिट्ठइ सुरु व्व तहिं ॥ ६४ ॥
कइया वि जणयलेहेण पेरिओ पुच्छिउं ससुररायं ।
चउहि वि भज्जाहि समं, कुमरो पत्तो तिलयनयरे ॥ ६५ ॥
पणओ य अणणिजणए, इत्तो उज्जाणपालएण निवो ।
विन्नत्तो सिरिअकलं-कसूरिआगमणकहणेण ॥ ६६ ॥
तो भासुरभूरजुओ, स कुमारो मारसासणु व्व निवो ।
चलिओ गुरुनमणत्थं, रायपहे नियइ नरमेगं ॥ ६७ ॥
मइसलयलंतकिमिबहु-लजालमच्छियमच्छियाच्छन्नं ।
निकिट्ठकुट्ठसट्ठिर-सिरहरमइदीणहीणसरं ॥ ६८ ॥
तं दट्ठुमणिट्ठमरिट्ठ-मंडलम्मि व विसायमलिणमुहो ।
पत्तो गुरुपयपासे, नमिउं निसुणेइ धम्मकहं ॥ ६९ ॥
जीवो अणाइतणुक-म्मबंधसंजोगओ सया दुहिओ ।
भमइ अणाइयणस्सइ-मज्झगओ णतपरियट्टे ॥ ७० ॥
तो थावरेसु तत्तो, तसत्तणं कह वि पावए जीवो ।
लहुकम्मो य तओ अइ, पावइ पंचिंदियत्तं च ॥ ७१ ॥
पुन्नविहूणो य तओ, न अज्जखित्ते लहेइ मणुयत्तं ।
लद्धे वि अज्जखित्ते, न कुलं जाइं बलं रूवं ॥ ७२ ॥
एयं पि कहवि पावइ, अप्पाऊ वा हविज्ज वाहिल्लो ।
दीहाउओ निरोगो हविज्ज जइ पुन्नजोएण ॥ ७३ ॥
पत्ते नीरोगत्ते, दंसणनाणस्स आवरणओ य ।
न य पावइ जिणधम्मं, विवेयपरिवज्जिओ जीवो ॥ ७४ ॥
लद्धूण वि जिणधम्मं, दंसणमोहणियकम्मउदएणं ।
संकाइकलुसियमणो, गुरुवयणं नेव सद्दहइ ॥ ७५ ॥
अह निम्मलसंमत्तो, जहट्ठियं सद्दहेइ गुरुवयणं ।
नाणावरणस्सुदए, संसिज्जं तं न बुज्झेइ ॥ ७६ ॥
कह संसियं पि बुज्झइ, सय पि सद्दहइ बोहए अन्नं ।
चारित्तमोहदोसेण, संजमं न य सयं कुणइ ॥ ७७ ॥
खीणे चरित्तमोहे, विमलतवं संजमं च जो कुणइ ।
सो पावइ मुत्तिसुहं इय भणियं खीणरागेहिं ॥ ७८ ॥
चुल्लगपासगधन्ने, जूए रयणे य सुमिणचक्के य ।
चम्मजुगे परमाणू, दस दिट्ठंता सुयपसिद्धा ॥ ७९ ॥
एयाहिं इमं सव्वं, मणुयत्ताई कमेण दुल्लग्गं ।
लद्धुं करेह सहलं, काऊण जिणिंदवरधम्मं ॥ ८० ॥
अह समए भणइ निवो, भयवं ! किं दुकयं कयं तेण ? ।
उक्किट्ठदुट्ठिएणं, तो इह जंपेइ मुनिनाहो ॥ ८१ ॥
मणिसुंदरमंदिरे-हिरामि मणिमंदिरम्मि नयरम्मि ।
दो सोमभीमनामा, कुलपुत्ता निच्चमविरत्ता ॥ ८२ ॥
पढमो सुत्ताणमई, अक्खुद्दो भद्दओ विणीओ य ।
तव्विवरीओ बीओ, परपेसणजीविणो दो वि ॥ ८३ ॥
अन्नदिणे दिनमणिकिरणभासुरं सुरगिरिं व उत्तुंगं ।
कत्थ वि वच्चंतेहिं, तेहिं जिणमंदिरं दिट्ठं ॥ ८४ ॥
कुसुमभइ सोमो भणइ, भीम ! सुकयं कयं न किं पि पुरा ।
अम्हेहि तेण नूणं, परपेसत्तणमिणं पत्तं ॥ ८५ ॥
जं दुक्खे वि नरत्ते, एगे पहुणो पयाइणो अन्ने ।
तं सुकयदुकयफलं, अकारणं हवइ किं कज्जं ॥ ८६ ॥

तो पणमामो देवं, देमो य जलंजलिं दुहसयाणं ।
उत्ताणमई धाया-हमावमो भणइ अह भीमो ॥ ८७ ॥
न य अत्थि जूयपंचगपवं-चअहिओ जिअ च्चिय जयम्मि ।
हे सोम ! धोमकुसुमं, व तयणु देवाइणो किंदणु ॥ ८८ ॥
पासंडितुंडअइचंड-तंडवाडंबरेहिं किं मुरू ! ।
देवो देवु त्ति मुहा-कयत्थसे अप्पमप्पमई ॥ ८९ ॥
इय वारिओ वि तेणं, सोमो सोमु व्व सुरूमइजुणदो ।
गंतुं जिणभवणे भुव-ण बंधवं नमइ समियतमो ॥ ९० ॥
गाहिउं रुक्खकुसुमं, पुयइ जिणं पराइ भत्तीए ।
तप्पुण्णवसा अज्जइ, स बोहिबीयं नराउजुयं ॥ ९१ ॥
मरिउं स एस सोमो, जाओ मणिरहनरिंद ! तुह पुत्तो ।
परिपुन्नपुन्नसारो, मारो इव विक्कमकुमारो ॥ ९२ ॥
भीमो उण खुद्दमई, जिणाइनिंदणपरायणो मरिउं ।
जाओ एसो कुट्ठी, पुरओ भमिहि भवमणंतं च ॥ ९३ ॥
अह जायजाइसरणो, कुमरो हरिसुब्भसंतरोमंचो ।
नमिउं गुरुपयकमलं, गिण्हइ गिहिधम्ममइरम्मं ॥ ९४ ॥
मणिरहनिवो वि विक्कम-कुमरे संकमियरज्जपब्भारो ।
गहियवओ उप्पाडिय, केवलनाणो गओ सिद्धिं ॥ ९५ ॥
जिणमंदिरजिणपडिमा -जिणरहजत्ताकरावणुज्जुत्तो ।
मुणिजणसेवणसत्तो, दढसंमत्तो विमलचित्तो ॥ ९६ ॥
संपुन्नकलो परिपु-न्नमंडलो हणियदुरियतमपसरो ।
विक्कमराया रत्र-व्व कुवलयं कुणइ सुहकलियं ॥ ९७ ॥
अन्नम्मि दिणे निवई, नियपुत्तनिहित्तगरुयरज्जधुरो ।
भकलंकसूरिपासे, पव्वज्जं संपवज्जेइ ॥ ९८ ॥
अक्खुद्दो गंभीरो, सुहुममई सुयमहिज्जिउं बहुयं ।
विहिणा मरिउं पत्तो, दिवम्मि लहिही कमेण सिवं ॥ ९९ ॥

> श्रुत्वेति गंभीरगुणस्य वैभवं,
> महान्तमुत्तानमतेश्च वै भवं ।
> महाधनाः श्राद्धजनाः समाहिता-
> अक्षुद्रतां यत्र सदा समाहिताः ॥ १०० ॥ ध० र० ।

अक्खुपुरि-अक्षपुरि-स्त्री० नगरीभेदे, यत्र सूर्यप्रभो गृहपतिः, सूर्यश्रीस्तस्य भार्या, तस्याः सूर्यप्रभाद्या दारिकाः सूर्यस्य अग्रमहिषीत्वेन जाताः । ज्ञा० २ श्रु० ।

अक्खेव-आक्षेप-पुं० आक्षेपणमाक्षेपः, आशङ्कायाम्, आ० म० द्वि० । पूर्वपक्षे, विशे० । आ-क्षिप्, क्षिप प्रेरणे मर्यादोपदिष्टमर्थमाक्षिपति न सम्यगेतदिति । किमाक्षिपति ?, आह-द्विविधमेव सूत्रम् । सङ्क्षेपकं, यद्वा विस्तारकं । संक्षेपकं सामायिकम्, विस्तारकं चतुर्दशपूर्वाणि । तयोरेव नमस्कारः । नापि संक्षेपतोऽयमिदम्, नापि विस्तरतः । एतावती च परिकल्पना तृतीया नास्ति । "नमो सिद्धाणं ति लिहुया गहिया णमो साहूणं ति अस्सारत्था गहिया एवं संखेवो विज्जइ, णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरियाणं णमो चोद्दसपुव्वीणं २ जाव णमो [illegible] णमो आमोसहिपत्ताणं एवमादि यावंतरे जं काय-[illegible]" । आ० चू० १ अ० । "अक्खेवो [illegible]" आक्षेपो नाम [illegible] उत्प-[illegible], सू० १ श्रु० । [illegible] प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० । भर्त्सने, अपवादे, [illegible], [illegible], निवर्तने, [illegible], [illegible], तथा [illegible] इत्यादिनामार्थानाम् [illegible] । [illegible] ।

अक्खेवणी-आक्षेपणी-स्त्री० आक्षिप्यते मोहात्तत्त्वं प्रत्याकृष्यते श्रोताऽनयेत्याक्षेपणी, कथाभेदे, सा चतुर्विधा-"अक्खेवणी कहा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा-आयारक्खेवणी ववहारक्खेवणी पण्णत्तिक्खेवणी दिट्ठिवायक्खेवणी" स्था० ४ ठा० ।

> आयारे ववहारे, पन्नत्ती चेव दिट्ठिवाए य ।
> एसा चउव्विहा खलु, कहा उ अक्खेवणी होइ ॥ १ ॥

आचारो लोचास्नानादिः, व्यवहारः कथंचिदापन्नदोषव्यपोहाय प्रायश्चित्तलक्षणः, प्रज्ञप्तिश्चैव संशयापन्नस्य मधुरवचनैः प्रज्ञापना, दृष्टिवादश्च श्रोत्रपेक्षया सूक्ष्मजीवादिभावकथन । अन्ये त्वभिदधति-आचारादयो ग्रन्था एव परिगृह्यन्ते, आचाराद्यभिधानादिति । एषा ग्रन्थान्तरोदिता चतुर्विधा । खलुशब्दो विशेषणार्थः । श्रोत्रपेक्षयाऽऽचारादिभेदानाश्रित्यानेकप्रकारेति । कथा त्वाक्षेपणी भवति । तुरेवकारार्थः । कथैव प्रज्ञापकेनोच्यमानान्येन । आक्षिप्यन्ते मोहात्तत्त्वं प्रत्यनया भव्यप्राणिन इत्याक्षेपणी भवतीति गाथार्थः । इदानीमस्या रसमाह-

> विज्जा चरणं च तवो, य पुरिसकारो य समिइगुत्तीओ ।
> उवइस्सइ खलु जहियं, कहाइ अक्खेवणीइ रसो ॥ २ ॥

विद्या ज्ञानमत्यन्तोपकारि भावतमोभेदकं, चरणं चारित्रं समग्रविरतिरूपम्, तपोऽनशनादि, पुरुषकारश्च कर्मशत्रून् प्रति स्ववीर्योत्कर्षलक्षणः, समितिगुप्तयः पूर्वोक्ता एव । एतदुपदिश्यते खलु श्रोतृभावापेक्षया सामीप्येन कथ्यते । एवं यत्र क्वचिदसावुपदेशः कथाया आक्षेपण्या रसो निष्यन्दः सार इति गाथार्थः । दश० नि० ३ अ० । ध० । ग० । औ० । ठा० । (तं कस्मै कथयितव्येति 'धम्मकहा' शब्दे)

अक्खेवि (ण्)-आक्षेपिन्-त्रि० आक्षिपन्ति वशीकरणादिना ये ते ततो मुष्णन्ति ते आक्षेपिणः (वशीकरणादिना परद्रव्यमुषः) प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

अक्खोड-कृष्-धा० असेः कोशात्कर्षणे, "असावक्खोडः" ८ । ४ । १८७ । इति सूत्रेण असिविषयस्य कृषेरक्खोडादेशः । अक्खोडइ । असिं कोशात्कर्षतीत्यर्थः । प्रा० ।

अक्खोड (ग)-पुं० आ+अक्ष-ओट-ओड-शैलसंज्ञके, 'अखरोट' इतिलोके प्रसिद्धः । वाच० । तरुले, [illegible] । प्रज्ञा० १७ पद ।

अक्खोडभंग-अक्षोटभङ्ग-पुं० छोटभङ्गशब्दार्थे, "ओडंभंगे त्ति वा उक्कोडभंगो त्ति वा अक्खोडभंगो त्ति वा एगट्ठं" व्य० १ उ० । नि० चू० ।

अक्खोभ-अक्षोभ-त्रि० । न० ब० । सोमवर्जिते, "अक्खोभे सागरो व्व थिमिए" प्रश्न० सम्ब० ५ द्वा० । अचलितसरं । "परीसहुवसग्गो अक्खोभो होइ जिणबिंबो" पंचा० ४ विव० । "अक्खोहस्स भगवओ संघसमुद्दस्स" अक्षोभस्य परीषहोपसर्गसंभवेऽपि निष्प्रकम्पस्य, नं० । अन्धकवृष्णेर्धारिण्यां जाते पुत्रे, स च द्वारावत्यां नगर्यामन्धकवृष्णेर्धारिणी देव्यामुत्पन्नोऽरिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रजितः शत्रुञ्जये संलेखनां कृत्वा सिद्ध इत्यन्तकृद्दशासु सूचितम् । तद्वक्तव्यताप्रतिबद्धेऽन्तकृद्दशानां प्रथमवर्गस्य सप्तमेऽध्ययने च । अन्त० १ वर्ग० । स्था० ।

अक्खोवंजण-अक्षोपाञ्जन-न० शकटधूर्भ्रक्षणे, " [illegible]

जणवणाणुलेवणभूयं " अक्षोपाञ्जनमणानुलेपनभूतम् (आहारम्) अक्षोपाञ्जनं च शकटधूर्म्रक्षणं, व्रणानुलेपनं च क्षतस्योषधेन विलेपनम्, अक्षोपाञ्जनव्रणानुलेपने, ते इव विपत्तितार्थसिद्धिरमादिनिरभिष्वङ्गनामाधर्म्यात् सोऽक्षोपाञ्जनव्रणानुलेपनभूतस्तम्, क्रियाविशेषणं वा । भ० ७ श० १ उ० ।

अखंड–अखण्ड–त्रि० । न० त० । पौर्णमासीचन्द्रबिम्बवत् (स्था० ५ ठा० १ उ०) संपूर्णावयवे, आ० म० द्वि० । तं० । ज्ञा० । सर्वधर्मास्तिकायादिकं संपूर्णं देशदेशिककल्पनारहितमखण्डं वस्तु । विशे० । 'सुहगुरुजोगो तव्वय-णसेवणा आभवमखंडा' आभवमखण्डा आजन्माऽऽसंसारं वा । स० । पञ्चा० । "सं-घनगरमद्दं ते अक्खंडचरित्तपागारा " अखण्डमविराधितं चारित्रमेव प्राकारो यस्य तत्तथा । नं० ।

अखंडणाणरज्ज–अखण्डज्ञानराज्य–त्रि० अपूर्णितज्ञानराज्ये, " चित्ते परिणतं यस्य, चारित्रमकुतोभयम् । अखण्डज्ञानराज्यस्य, तस्य साधोः कुतो भयम् " । अष्ट० १७ अष्ट० ।

अखंडदंत–अखण्डदन्त–त्रि० अखण्डाः सकला दन्ता येषां ते अखण्डदन्ताः (जी० ३ प्रति०) परिपूर्णदशनेषु, जं० २ वक्ष० । औ० ।

अखंडिय–अखण्डित–त्रि० परिपूर्णे, पंचा० १८ विव० ।

अखंडियसील–अखण्डितशील–त्रि० अनघचारित्रे, पं० चू० ।

अखिन्न–अखिन्न–त्रि० न खिद्यते न कणश आदीयते, खिलक । न० त० । वाच० । समस्ते, अष्ट० ८ अष्ट० । " अखिन्ने अगिद्धे अणिए य चारी " अखिन्नो ज्ञानदर्शनचारित्रैः संपूर्णः । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । "अखिलगुणाधिकसद्यो-गसारसद्ध्यानपरः " । षो० १ विव० ।

अखिन्नसंपया–अखिन्नसंपद्–स्त्री० सर्वसंपत्तौ, "धार्मिकोंपरमौषध-मप्यादतमखिलसंपदां बीजम् " षो० १५ विव० ।

अखेद–अखेद–पुं० अव्याकुलतायाम्, " अखेदो देवकार्यादावन्यत्राद्वेष एव च " द्वा० २० द्वा० ।

अखेम–अक्षेम–त्रि० सोपद्रवे मार्गे, तद्वत् क्रोधादिपुरुषसहिते पुरुषजाते च । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

अखेमरूव–अक्षेमरूप–पुं० आकारेण सोपद्रवे मार्गे, तद्वत् ... लिङ्गवर्जिते, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

अखेयण्ण–अखेदज्ञ–त्रि० अनिपुणे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । अकुशले, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अग–अग–पुं० न गच्छतीत्यगः । वृक्षे, आ० म० द्वि० । नि० चू० । पर्वते, कल्प० । गमनाकर्तरि घटादौ, त्रि० । न गच्छति ... पथिममित्यगः । सूर्ये, तस्य हि चक्रगत्यभावः प्रसिद्धः । वाच० ।

अगअ–अगुर–पुं० "गौणाद्यः" । ८ । २ । ७४ । इति सूत्रेण अ... तस्य ' अगय ' इति निपातः । दैत्ये, प्रा० ।

अगइसमावण्ण–अगतिसमापन्न–पुं० अगति नरकादिं गच्छन्न ... विकादौ,

... णेरइया पण्णत्ता तं जहा–गइसमावण्णगा चेव ... विन्नगा चेव जाव वेमाणिया ।

... गतिसमापन्नका नरकं गच्छन्तः, इतरे तु तत्र ... गतिसमापन्ना नारकत्वं प्राप्ताः, इतरे तु ...

अथवा चलस्थिरत्वापेक्षया ते ज्ञेया इति । स्था० २ ठा० ...

अगंठिम–अग्रन्थिम–न० कदलीफलेषु, ... फलेषु, वृ० १ उ० । अल्पकल्ये, " मक्खणघयगुलमीसा ... अगंठिमा वसंमि" अगंठिमा नाम कयलया ... इहविसए फलाणि कयलकप्पमाणाओ पि मीओ ... बहुकिकओ भवताणि फलाणि ... नि० चू० १६ उ० ।

अगंडिगेहो–देशी–यौवनोन्मत्ते, दे० ना० १ वर्ग ।

अगंडूयग–अकण्डूयक–पुं० कण्डूयनाकारकेऽभिग्रहविशेषधारके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अगंथ–अग्रन्थ–पुं० न विद्यते ग्रन्थः सबाह्याभ्यन्तरोऽस्येत्यग्रन्थः । निर्ग्रन्थे, " पावं कम्मं अकुव्वमाणे एस महं अगंथे वियाहिए " आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ० ।

अगंध–अगन्ध–त्रि० नास्ति गन्धो यस्य ... सुगन्धाद्यभावात्–दुर्गन्धे, वृ० १ उ० ।

अगंधण–अगन्धन–पुं० नागजातिभेदे, नागानां भेदद्वय–गन्धनोऽगन्धनश्च । तत्र अगन्धना नागा मन्त्रादिनाकृष्टाः "अवि मरणं ... वसंति न य वंतमापिबन्ति" । "पक्खंदे जलियं जोइं धूमकेउं दुरासयं । नेच्छंति वंतयं भोत्तुं कुले जाया अगंधणे " दश० २ अ० ।

अगच्छमान–अगच्छत्–त्रि० । न गच्छन् अ० न० ... न गच्छन् । अव्रजति, प्रा० ।

अगड–अवट–पुं० कूपे, "अगडस्स मा वीणं, ... अगडे से" व्य० ६ उ० । गर्ते, वृ० १ उ० ।

अगडतड–अवटतट–पुं० कूपतटे, विशे० ।

अगडदत्त–अगडदत्त–पुं० शङ्खपुरे सुन्दरनृपस्य सुलसायां जातेऽगडदत्ते पुत्रे, अथ तत्कथा लिख्यते–शङ्खपुरे सुन्दरनृपः । तस्य सुलसा प्रिया । तत्सुतोऽगडदत्तः । स च सप्त व्यसनानि सेवते स्म । लोकानां गृहेषु ... करोति स्म । ... राज्ञे दत्ताः । राज्ञा स निर्वासितो गतो वाराणस्यां ... गृहोद्याने कलाभ्यासं कुर्वन् ... [illegible]

... [illegible] ...

[illegible] [illegible] न कथितम् । कुमारवृत्तान्तं श्रुत्वा [illegible] राज्ञः पुरो नगरलोकः [illegible] देव ! [illegible] कुबेरसदृशं किय- [illegible] । केनापि तस्करे- [illegible] । [illegible] आकारिता [illegible] ! किं क्रियते, कोऽपि प्र- [illegible] । ततः कुमारेणोक्तम्- [illegible] करोमि ततोऽसिमयेषां [illegible] कुमाराय दत्त- [illegible] विचारयति स्म । "येसाणं [illegible] अज्ञाण- [illegible]

[illegible]

दोषाः प्रायो निरूपिताः- " माया [illegible] असोयव्वं । [illegible] तथाविधचौरभगिन्या [illegible] विचिन्त्य कुमारः शय्यां मुक्त्वाऽन्यत्र [illegible] यन्त्रप्रयोगेण शय्योपरि शिलां मुक्त्वा [illegible] । ततः कुमारेण सा सद्यः [illegible] नीयमानीता । लोकः सर्वोऽपि [illegible] । [illegible] समस्तं वित्तमानाय्य लोकेभ्यो दत्तम् । [illegible] मोचिता । पश्चान्नृपाग्रहात् कुमारेण [illegible] परिणीता । नृपेण कुमाराय सहस्रं ग्रामा दत्ताः, [illegible] दत्ताः, दश सहस्राण्यश्वा दत्ताः, [illegible] तेन कुमारस्तत्र तिष्ठति स्म । अन्यदा [illegible] [illegible] तया सह प्रीतिर्जाताऽऽसीत्तया [illegible] दूती प्रेषिता । तया [illegible] गुणानुरक्ता [illegible] वाञ्छति । कुमारेणाप्युक्तम्-यदाऽहं [illegible] त्वां गृहीत्वा यास्यामीति तस्यै [illegible] । [illegible] तत्र पित्रा प्रेषिता नराः कुमाराकारणाय [illegible] वचनमाकर्ण्य पितुर्मिलनाय [illegible] [illegible] समं चलितः । [illegible] साऽपि कुमारेण समं चलिता । [illegible] कुमारः पथि [illegible] तदा कुमारेणैकेन समं युद्धं कृतम् । [illegible] [illegible] कुमारेण हतः । [illegible] कुमारेण हतः [illegible] [illegible] । कुमारस्तु [illegible] [illegible] कुमाराय [illegible] [illegible] ते । कुमारेणोक्तम्-किं [illegible] ?

[illegible]

ना। इदं कुमार!। हातस्तया प्रागृवृत्तान्तः। तदा कुमारोऽपि
गुरासार्थे भग्नारितः। तत्र मदनमञ्जरी पालिताऽ
र्थैव सुखेना कुमारोऽपि चलितः। विषमार्गे याचकेन कुमारेण
व्याघ्रकारादयो महान्तनरं दिलिपुष्टिविकृतः सर्वेषां संमुख-
मागच्छन् यम इव रौद्ररूपो गजो दृष्टः। ततः कुमारो रथा-
दुत्तीर्य गजाभिमुखं प्रचलितः। उत्तरीयवस्त्रवेष्टितं कृत्वा गजाग्रे
मुमोच। गजस्तत्प्रहारार्थं सुण्डादण्डमधः क्षिपन् यावद्वीक्ष-
ते तावत्कुमारस्तद्दन्तद्वये पादौ कृत्वा तस्य स्कन्धेऽधिरूढः वज्र-
मुष्टिभ्यां ग्रहस्थलद्वयं जघान। कुमारेण प्रका-
रैर्भ्रमितस्तं श्रामयित्वा स गजो वशीकृतः। पश्चात् स गजो
...रिव कार्पासिको मुमोच। तथैव पुनः कुमारो रथे निविष्टोऽग्रे
चलितः। विषमार्गे यदा गच्छति कुमारस्तावत् गुणकौतूहला-
न्वितः महाघोषेण गिरिप्रतिशब्दान् विस्तारयन् विपुलश्वासशोषितः
सर्पोपमां स्वकीयां पुच्छसंचालयन् सिंहः समायातः।
...पि स्वयं कुमारो युद्धं कृतवान्। कुमारेण कर्कशप्रहारैर्जर्जरितः
...दतत्रैव पतितः। कुमारस्ततोऽग्रे चलितः। तयोरप्युपद्रवो
मार्गे विषयेव निवारितः। कुमारेण कुमारः स्त्रीयुक्तसंयुतः शङ्ख-
पुरं प्राप्तः। सर्वदा सहोदरावयं विमुक्तौ कृतः। सर्वेषां चौरा-
णां परमानन्दः सम्पन्नः। तत्र सुखेन कुमारस्तिष्ठति स्म। अन्यदा
...ने मदनमञ्जर्या सह कुमार उद्यानस्य क्रीडार्थं गतः।
तत्र सा मदनमञ्जरी सर्पेण दष्टा मूर्च्छया सञ्जाता। कुमारस्तु
...मोहात्सौ प्रविशन् गगनमार्गेण गच्छता विद्याधरेण वारितः।
...प्रयोगेण सा जीविता। विद्याधरस्तु स्वस्थानं गतः। कुमार-
स्तया सह स्वं रात्रिवासार्थं कस्मिंश्चिद्देवकुले गतः। तत्र तां मुक्त्वा
...द्योतकरणाय अग्निमानेतुं कुमारो बहिर्गतः। तदानीं तत्र
...पुरुषाः पूर्वं कुमारहतदुर्योधनचौरस्य भ्रातरः कुमारवधाय
...आगताः। इतस्ततो भ्रान्ताः कुमारस्य समस्तसमानारम्भमाग-
...न्ति स्म। तेषु तत्र दीपको विहितः। मदनमञ्जर्या तेषां मध्ये
...पुरुषान् रूपं विलोकितम्। कृपाविशसया तस्यैव प्रार्थना विहि-
ता। त्वं मम भर्त्ता भव, अहं तव पत्नी भवामि। तेनोक्तम-
...पत्नी जीवति सति कथमेवं भवति?। सा प्राह-तमहं मार-
यिष्यामि। तदानीमग्निं गृहीत्वा कुमारस्तत्र प्राप्तः। आगच्छ-
न्तं कुमारं दृष्ट्वा तया तत्रस्थो दीपो विध्यापितः। पश्चाच्चेन
कुमारेण पृष्टम्-कथं दीपः कथमनृतम्?। तया उक्तम्-तव-
...स्त्यानेवोद्योतः। सरलेन तेन तथैवाङ्गीकृतम्।
मदनमञ्जर्याः हस्ते खड्गं गृहीतम्। कुमारोऽग्निप्रज्वालनार्थं
...याममधश्चकार। तावता तया कुमारवधार्थं खड्गः प्रति-
...र्यानिष्काशितः। तस्याश्चरित्रं दृष्ट्वा चौरलघुभ्रातुर्वै-
राग्यमुत्पन्नम्। पश्चादस्या हस्ताघातेन खड्गोऽन्यत्र पा-
तितः। पश्चापि भ्रातरस्ततः कुमारादलक्षिताः शनैः शनैर्नि-
र्गताः कस्मिंश्चिद्वने गताः। तत्र चैत्यमेकमुत्तुङ्गं दृष्टम्। तत्र
...तिशयज्ञानी साधुर्दृष्टः। तत्समीपे तैः पञ्चभिरपि दीक्षा
गृहीता। तदाज्ञां पालयन्तः संयमे रतास्तत्रैव तिष्ठन्ति स्म।
...मार्गेण नैतत्किमपि ज्ञातम्। अथ कुमारस्तत्र मदनमञ्जर्या
...भिर्मरकामुपित्वा प्रभाते स्वगृहे समायातः। कियद्दिनानन्तर-
...मपहृत एकः स्वयामडदत्तकुमारस्तस्मिन्नेव वने तत्रैव चैत्ये
...तः। तत्र देवान्नमस्कृत्य साधवो वन्दिताः। गुरुणा देशना
...ता। कुमारेण पृष्टम्-भगवन्! क एते पञ्चापि भ्रातर इव
साधवः,? कथमेषां वैराग्यमुत्पन्नम्?। कथमेभिर्यौवनभरेऽपि
व्रतं गृहीतम्?। एवं कुमारेण पृष्टे गुरुः प्राह सर्वं तदीयं वृ-
त्तान्तम्। कुमारस्तच्चरित्रं श्रुत्वा युवतीस्वरूपमेवं विचिन्त-
यति स्म "श्रणुरज्जंति खणेणं, जुवईश्रो खणेण पुणो विरज्जंति।
अन्नुन्नरागनिरया, हलिद्दरागु व्व चलपेमा"॥ १॥ इति वि-
चिन्त्य कुमारोऽपि वैराग्यात्प्रव्रजितः। यथाऽसौ अगडदत्तः
प्रतिबुद्धजीवी पूर्वं द्रव्यासुप्तः पश्चाद्भावासुप्तोऽपि इह लोके
परलोके च सुखी जातः। उत्त० ४ अ०। इयं कथोत्तराध्य-
यनस्य बृहद्वृत्तावपि दृश्यते। तत्रायं विशेषः (जितशत्रुनामा
राजा। तस्य सारथिरमोघरथनामा। अमोघरथस्य स्त्री यशो-
मतिः, पुत्रश्चागडदत्तः। तस्य पितरि मृते माता भृशं रुरोद।
तदाऽगडदत्तो मातरं नितान्तरोदनहेतुं पप्रच्छ। तदा माता
प्रत्युवाच—पुत्र! अयममोघप्रहारी सारथिस्त्वदीयपितृपद-
मनुभवति, यदि त्वं कलावित् स्यास्तदा कथमेवं भवेत्?।
पुत्रोऽप्ययुङ्क्त-को मां कलामध्यापयिष्यतीति?। माता प्रत्यगा-
दीत्-कौशाम्बीनगर्यां दृढप्रहारीत्याख्यः कलाचार्यो विद्यते,
तं त्वमुपतिष्ठस्वेति। स मातृवचनमभ्युपगम्य तत्र गत्वा क-
लामध्यगीष्ट। ततो राजसभां प्रविवेश। तं दृष्ट्वा सर्वे प्रसेदुः।
राजा तु प्रसन्नतायिरहित एव केवलमुचिताचारं परिपाल-
यन् तस्मै किमपि दातुमियेष। स तु राज्ञस्तदनादरदानमव-
गत्य नाहमीदृशं दानं जिघृक्षामि इत्यभिधाय न जग्राह।
तदानीमनेके नागरिकाः 'चौरोऽस्मान् बाधते' इति राज्ञः पुरो
व्यजिज्ञपन्। राजा तलारक्षम् [कोट्टपालम्] आहूय न्य-
गादीत्-भोस्तलारक्ष! भवता सप्तभिरहोरात्रैश्चौरो निग्रही-
तव्यः। इत्याकर्ण्यागडदत्तो राजानं प्रार्थयाञ्चक्रे-महाराज! अहं
सप्तभिर्दिनैस्तं चौरं निग्रहीतुं प्रभवामीति) अन्यत्सर्वं समा-
नम्। उत्त०।

अगडदद्दुर-अवटदर्दुर-पुं० कूपमण्डूके, ज्ञा० ८ अ०।

अगडमह-अवटमह-पुं० कूपप्रतिष्ठोत्सवे, आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ०।

अगढिय-अग्रथित-त्रि० अप्रतिबद्धे, आहारे वाऽगृद्धे, "अ-
णाए अगढीए अदुट्ठे अदीणे अविमणे" प्रश्न०१ संव० द्वा०।
मुत्कलैरेव वचनैरभिधीयमाने, वृ०३ उ०।

अगणि-अग्नि-पुं० अङ्गति ऊर्ध्वं गच्छति। अगि-नि, नलोपः।
वाच०। वन्हौ, प्रश्न० ५ संव० द्वा०। उत्त०। "चत्तारि
अगणिश्रो समारभित्ता जेहिं कूरकम्माभि तवेंति बालं" सूत्र०
१ श्रु० १ अ० १ उ०। "अंगारं अगणिं अच्चिं, अलायं वा सजो-
इयं। ण उंजिज्जा ण घट्टिज्जा, नो ण निव्वावए मुणी"। दश०
८ अ०। प्रदीपनके, व्य० १ उ०। (अग्नेः सर्वो विषयः 'ते-
उकाइय' शब्दे)

अगणिआहिय-अग्न्याहित-पुं० अग्निराहितो यैः। "वाऽऽ-
हिताग्न्यादिषु" ३।२।३७। इति वाऽऽहितशब्दस्य पूर्वनिपा-
तः। अग्न्याहिता आहिताग्नयः। कृतवन्ह्याधानेषु, श्रीऋषभजि-
नेशचितायामग्निं स्थापितवन्तस्तेन कारणेनाहिताग्नय इति
तत एव च प्रसिद्धः। आ०म० प्र०।

अगणिकंडयट्ठाण-अग्निकाण्डकस्थान-न० अग्निप्रवेशस्थाने,
"अगणिकंडयट्ठाणेसु अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि णो उ-
च्चारं पासवणं वोसिरेज्जा" आचा० २ श्रु० १० अ०।

अगणिकाय-अग्निकाय-पुं० तेजस्काये, भ० ७ श० १० उ०।

भ०। (अस्य विषयः सर्व एव 'तेउक्काइअ' शब्दे) नवरम्-

अगणिकाए णं भंते ! अहुणोज्जलिए समाणे महाकम्मतराए चेव महाकिरियतराए चेव महस्सवतराए चेव महावेयणतराए चेव भवइ, अह णं समए २ वोक्कसिज्जमाणे वोच्छिज्जमाणे चरिमकालसमयंसि इंगालब्भूए मुम्मुरब्भूए छारियब्भूए तओ पच्छा अप्पकम्मतराए चेव किरिया आसव अप्पवेयणतराए चेव भवइ ? । हंता, गोयमा ! अगणिकाए णं अहुणोज्जलिए समाणे तं चेव ।

(अगणीत्यादि अहुणोज्जलिए त्ति) अधुनोज्ज्वलितः सद्यः प्रदीप्तः (महाकम्मतराए त्ति) विध्याप्यमानानलापेक्षयाऽतिशयेन महान्ति [illegible] बन्धमाश्रित्य यस्यासौ महाकर्मतरः । एवमन्यान्यपि । नवरं, क्रिया दाहरूपा । आश्रवो नवकर्मोपादानहेतुः । वेदना पीडा । भावना तत्कर्मजन्या परस्परशरीरसम्बन्धजन्या वा (वोक्कसिज्जमाणे त्ति) व्यपकृष्यमाणोऽपकर्षं गच्छन् (अप्पकम्मतराए त्ति) [illegible] [illegible] । [illegible] । भ० ५ श० ६ उ० । [illegible] कतरो महाकर्मेति [illegible] । भ० ७ श० १० उ० ।

अगणिजीव-अग्निजीव-पुं० अग्नयश्च ते जीवाश्च अग्निजीवाः तेजस्कायिकेषु, विशे० (अग्निजीवानां परिमाणमवधिः '[illegible]' शब्दे वक्ष्यते) ।

अगणिजीवसरीर-अग्निजीवशरीर-न० तेजस्कायजीवबद्धशरीरे, [illegible] ।

[illegible] इंगाले कुम्माले गुगए एणं किंसरीराइ वत्तव्वं सिया ? । गोयमा ! इंगाले कुम्माले गुगए जे पणे दव्वे एए णं पुव्वभावपण्णवणं पडुच्च वणस्सइजीवसरीरा तओ पच्छा सत्थातीया सत्थपरिणामिया अगणिज्झामिया अगणिज्झुसिया अगणिसेविया अगणिपरिणामिया अगणिजीवसरीराइ त्ति वत्तव्वं सिया । [illegible] जे दव्वे एए णं पुव्वभावपण्णवणं पडुच्च [illegible] तओ पच्छा सत्थातीया जाव अगणिसरीराइ वत्तव्वं सिया । अह णं भंते ! अये तंबे तउए सीसए उवले कसट्टिया एए णं किंसरीराइ वत्तव्वं सिया ? गोयमा ! अये तंबे तउए [illegible] एए णं पुव्वभावपण्णवणं पडुच्च [illegible] तओ पच्छा सत्थातीया जाव अगणिसरीराइ वत्तव्वं सिया । अह भंते ! अट्ठी अट्ठिज्झामे चम्मे चम्मज्झामे रोमे रोमज्झामे सिंगे सिंगज्झामे खुरे खुरज्झामे णहे णहज्झामे एए णं किंसरीराइ वत्तव्वं सिया ? गोयमा ! अट्ठी चम्मे रोमे सिंगे खुरे नहे एए णं तसपाणजीवसरीरा, अट्ठिज्झामे चम्मज्झामे रोमज्झामे सिंगज्झामे खुरज्झामे नहज्झामे एए णं पुव्वभावपण्णवणं पडुच्च तसपाणजीवसरीरा तओ पच्छा सत्थातीया जाव अगणिजीवसरीराइ वत्तव्वं सिया । अह भंते ! इंगाले छारिए भुसे गोमए एए णं किंसरीराइ वत्तव्वं सिया ? । गोयमा ! इंगाले छारिए भुसे गोमए एए णं पुव्वभावपण्णवणं पडुच्च एगिंदियजीवसरीरप्पओगपरिणामिया वि जाव पंचिंदियजीवसरीरप्पयोगपरिणामिया वि तओ पच्छा सत्थातीया जाव अगणिजीव वत्तव्वं सिया ।

[अहेत्यादि एएणं ति] एतानि णमित्यलङ्कारे (किंसरीर त्ति) केषां शरीराणि किंशरीराणि (गुगए य जे दव्वे त्ति) सुगयोर्द्वे द्रव्ये स्याताम्-घनद्रव्यं द्रवद्रव्यं च । [illegible] म् । (पुव्वभावपण्णवणं पडुच्च त्ति) अतीतपर्यायप्ररूपणामङ्गीकृत्य वनस्पतिशरीराणि, पूर्वं हि ओदनादयो वनस्पतय एव (पच्छ त्ति) वनस्पतिजीवशरीरत्वाच्यवनानन्तरम् [illegible] ति, वक्तव्यं स्यादिति सम्बन्धः । किंभूतानि सन्ति ? (सत्थातीय त्ति) शस्त्रेणोदूखलमुशलयन्त्रकादिना [illegible] अतीतानि अतिक्रान्तानि पूर्वपर्यायमिति शस्त्रातीतानि (सत्थपरिणामिय त्ति) शस्त्रेण परिणामितानि कृतानि [illegible] शस्त्रपरिणामितानि । ततश्च (अगणिज्झामिय त्ति) वन्हिना ध्यामितानि ध्यामीकृतानि स्वकीयवर्णत्याजनात् [illegible] (अगणिज्झुसिय त्ति) अग्निना जोषितानि पूर्वस्वभावात् [illegible] अग्निसेवितानि वा जुषी प्रीतिसेवनयोः, इत्यस्य [illegible] गात् (अगणिपरिणामियाइ त्ति) संजाताग्निपरिणामानि [illegible] योगादिति । अथवा 'सत्थातीता' इत्यादौ [illegible], 'अगणिज्झामिया' इत्यादि तु तद्व्याख्यानमेवेति । ([illegible]) [illegible] दग्धपाषाणः (कसपट्टिय त्ति) कषपट्टः ([illegible]) [illegible] स्थिरयामं चाग्निना श्यामलीकृतमात्र [illegible] त्यर्थः । (इंगालेत्यादि) अङ्गारो निर्ज्वलितेन्धनम् ([illegible]) क्षारिकं भस्म (भुसे त्ति) बुसम् (गोमय त्ति) [illegible] इह बुसगोमयौ भूतपर्यायानुवृत्त्या दग्धावस्थौ ग्राह्यौ, [illegible] अग्निध्यामितादिवक्ष्यमाणविशेषणानामनुपपत्तेः [illegible] एते पूर्वभावप्रज्ञापनां प्रतीत्य एकेन्द्रियजीवैः शरीरतया [illegible] गेण स्वव्यापारेण परिणामिता ये ते तथा । एकेन्द्रियशरीर [illegible] त्यर्थः । अपिः समुच्चये । यावत्करणाद् द्वीन्द्रियजीवशरीर [illegible] परिणामिता अपीत्यादि दृश्यम् । [illegible] र्थं च यथा सम्भवमेव न तु सर्वपदेष्विति । [illegible] भस्म चैकेन्द्रियादिशरीररूपं भवति, एकेन्द्रियादि [illegible] मिन्धनत्वात् । बुसं तु यवगोधूमहरितावस्थायामेकेन्द्रिय [illegible] रम् । गोमयस्तु तृणाद्यवस्थायामेकेन्द्रियशरीरम् । [illegible] मां तु गवादिनिर्भक्षणे द्वीन्द्रियादिशरीराणि । भ० ५ श० [illegible]

अगणिज्झामिय-अग्निध्मात-त्रि० ३ त० । अग्निना दग्धे, [illegible]

अग्निध्यामित-त्रि० अग्निनेन्धने, अग्निना स्ववर्णत्याजनात् श्यामीकृते, भ० ५ श० २ उ० ।

अगणिज्झुसिय-अग्निजोषित-त्रि० अग्निसेविते, जुषी प्रीतिसेवनयोः, इत्यस्य धातोः प्रयोगात् । भ० ५ श० २ उ० ।

अग्निजोषित-त्रि० पूर्वस्वभावक्षपणात् (भ० ५ श० २ उ०) अग्निना क्षपिते, भ० १८ श० १ उ० ।

अगणिणिविसत्त-अग्निनिविष्ट-त्रि० [illegible] "अगणिणिविसत्तं [illegible]" [illegible] १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अगणिपरिणामिय-अग्निपरिणामित-त्रि० [illegible]

गाद् सञ्जाताग्निपरिणामे, भ० ५ श० २ उ० । पूर्वस्वभावत्याजनेनाऽऽग्नेनात्मनार्थं नीते, भ० १५ श० १ उ० ।

अग्गिमुह–अग्निमुख–पुं० अग्निर्मुखमिव यस्य । देवे, हुतद्रव्यं हि देवैरग्निरूपमुखद्वारेणैवाऽद्यते " हव्यं वहति देवानाम् " इति श्रुतेस्तत्रैव तात्पर्यात् । " अग्निमुखा वै देवाः " इति च श्रुतिः, इति वेदविदः । वाच० । ऋषभदेवचितायामग्निकुमारा देवैः खल्वग्निं प्रक्षिप्तवन्तः, तत एव नियन्धनाल्लोके " अग्निमुखा वै देवाः " इति प्रसिद्धम्, इति समयविदः । आ० म० प्र० । आ० चू० । अग्निर्मुखं प्रधानमुपास्यो यस्य । अग्निहोत्रिणि द्विजे, वाच० ।

अगत (द) अगद–पुं० नास्ति गदो रोगो यस्मात् ५ ब०, औषधे, नि० चू० ११ उ० । परमौषधे, पं० व० ३ द्वा० । नकुलाद्यौषधे, नि० चू० १ उ० । ६ ब० रोगशून्ये, त्रि० । " गद भाषणे " अच्, न० त० अकथके, त्रि० । वाच० ।

अगत्थि–अगस्ति–पुं० अगं विन्ध्याचलमस्यति । अस्–क्तिच् । शकन्ध्वादिः । अगस्त्यनामके मुनौ, " अगस्त्यस्यापत्यानि, बहुषु यञो लुक्, तद्गोत्रापत्येषु ब० व० । तत्सम्बन्धित्वात् दक्षिणस्यां दिशि, बृहत्संहितायामस्य गगनमण्डले दक्षिणस्यां तारारूपेण स्थितिरुक्ता । वकवृक्षे, वाच० । अष्टाशीतिमहाग्रहाणां पञ्चचत्वारिंशे महाग्रहे, " दो अगत्थी " स्था० २ ठा० ३ उ० । चं० प्र० । सू० प्र० । जं० । कल्प० ।

अगम–अगम–पुं० न गच्छतीति । गम–अच् । न० त० । वृक्षे, अगन्तरि, त्रि० । वाच० । आकाशे, न०, तद्धि गमनक्रियारहितत्वेनागमम् । भ० २० श० २ उ० ।

अगमिय–अगमिक–न० न गमिकमगमिकम् । प्रायो गाथाश्लोकवेष्टकाद्यसदृशपाठात्मके श्रुतभेदे, । तच्चैवंविधं प्रायः [विशे०] आचारादिकालिकश्रुतम्, असदृशपाठात्मकत्वात् । तथाचाह– " अगमियं कालियसुयं " नं० । आ० म० प्र० । कर्म० । वृ० ।

अगम्म–अगम्य–त्रि० न गन्तुमर्हति । गम–यत् । न० त० । गमनानर्हासु स्नुषादिषु, चाण्डाल्यादिकायां च, " फासेऊण अगम्मं, भणाइ सुमिणे गओ अगम्मं ति " स्पृष्ट्वा कायेनेति गम्यते । अगम्यां स्नुषां चाण्डाल्यादिकां वा स्त्रियमिति शेषः । व्य० १ उ० ।

अगम्मगामि (ण्) अगम्यगामिन्–त्रि० भगिन्याद्यभिगन्तरि, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अगरजा–अगर्भा–स्त्री० न ब०, सुविभक्ताक्षरतया अरहस्यायां वाण्याम्, औ० । " अगरलाए अमम्मणाए सव्वक्खरसन्निवाइयाए " (जिनवाण्या) तत्र, अगर्भया व्यक्तवर्णयोपेतयेत्यर्थः । उपा० २ अ० ।

अगरहिय–अगर्हित–त्रि० (आहारविषये) अकुत्सिते, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।

अगर्हा–त्रि० अनिन्द्ये, " से अगरहिए अचेले जे समाहिए " आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० ।

अगरु–अगरु–न० अगरुचन्दनाख्ये गन्धिकद्रव्ये " कुट्ठं तगरं अगरुं संपिट्ठं सम्ममुसिरेणं " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । प्रश्न० । नि–चू० । उपा० । आचा० । " संखतितिसागुरुचंदणाई " नि० चू० २ उ० ।

अगरुगंधिय–अगुरुगन्धित–त्रि० अगुरुगन्धो धूपनादिप्रकारेण जातोऽस्येति अगुरुगन्धितम् । अगुरुचन्दनेन धूपिते, तं० ।

अगरुपुड–अगरुपुट–पुं० ६ त० अगरुनामकगन्धद्रव्यस्य पुटे, " अगरुपुडाण वा तगरपुडाण वा वासपुडाण वा " । जं० १ वक्ष० ।

अगरुलहुय–अगुरुलघुक–न० न विद्येते गुरुलघुनी यस्मिंस्तदगुरुलघुकम्, परिणामोपेतमूर्त्तद्रव्यत्वादगुरुलघुकम् । परतत्त्वे, " नित्यं प्रकृतिवियुक्तं, लोकालोकावलोकनाभोगम् । स्तिमितरङ्गोदधिसम–मवर्णमस्पर्शमगुरुलघु " । षो० १५ विव० । न गुरुकमधोगमनस्वभावं न लघुकमूर्ध्वगमनस्वभावं यद् द्रव्यं तदगुरुलघुकम् । अत्यन्तसूक्ष्मे भाषामनःकर्मद्रव्यादौ, स्था० १० ठा० १ उ० ।

अथ ' किं गुरुलघु किं वा अगुरुलघु ' इति शङ्कायां तत्स्वरूपप्रतिपादनार्थमाह–

ओरालियवेउव्विय–आहारगतेय गुरुलहू दव्वा ।
कम्मणमणभासाई, एयाइं अगरुलहुयाइं ॥

इह द्वौ नयौ–व्यवहारनयो निश्चयनयश्च । तत्र व्यवहारनयः प्राह–चतुर्धा द्रव्यं , तद्यथा–किञ्चिद् गुरु , किञ्चिल्लघु , किञ्चिद् गुरुलघु, किञ्चिदगुरुलघु । तत्र यदूर्ध्वं तिर्यग्वा प्रक्षिप्तमपि पुनर्निसर्गादधो निपतति द्रव्यं तद् गुरु । तद्यथा–लेष्ट्वादि । यत्तु द्रव्यं निसर्गेण एवोर्ध्वगतिस्वभावं तल्लघु । यथा–दीपकलिकादि । यत्पुनर्नोर्ध्वगतिस्वभावं नाप्यधोगतिस्वभावं किन्तु स्वभावेनैव तिर्यग्गतिधर्मकं तद् गुरुलघु, यथा–वायुः । यत्पुनर्नोर्ध्वाधस्तिर्यग्गतिस्वभावानामेकतरस्वभावमपि न भवति सर्वत्र वा गच्छति तदगुरुलघु । यथा–व्योम परमाण्वादि । उक्तं च–

गुरुयं लहुयं उभयं त्ति, नोभयमिति वावहारियनयस्स ।
दव्वं लेट्ठुं दीवो, वाऊ वोमं जहासंखं ॥

निश्चयनयः पुनरेवमाह–न सर्वगुरु एकान्तेन किमपि वस्त्वस्ति, गुरोरपि लेष्ट्वादेः प्रयोगादूर्ध्वादिगमनदर्शनात् । नाप्येकान्तेन सर्वलघ्वप्यस्ति, अतिलघोरपि वाय्वादेः करतालनादिनाऽधोगमनादिदर्शनात् । तस्माद् द्विविधमेव वस्तु । तद्यथा–गुरुलघु, अगुरुलघु च । तत्र यद् बादरं भूभूधरादिकं तत्सर्वं गुरुलघु, शेषं तु भाषाप्राणापानमनोवर्गणादिकं परमाणुद्व्यणुकव्योमादिकं च सर्वमगुरुलघु । उक्तं च–

निच्छयतो सव्वगुरुं, सव्वलहुं वा न विज्जए दव्वं ।
बायरमिह गुरुलहुयं, अगुरुलहुं सेसयं दव्वं ॥

तदेवं गाथा निश्चयनयमतेन । पदार्थस्त्वयम्–औदारिकवैक्रियाहारकतैजसद्रव्याणि अपवादेऽपि तैजसद्रव्यप्रत्यासन्नानि तदाभासानि बादरत्वाद् गुरुलघूनि गुरुलघुस्वभावानि । कार्मणमनोभाषाद्रव्याणि तु आदिशब्दादानप्राणद्रव्याणि नाथद्रव्यायोग्यानीति भाषान्तराणि । अपराण्यपि च परमाणुद्व्यणुकादीनि, व्योमादीनि चैतानि अगुरुलघुस्वभावानि । वक्ष्यमाणगाथाद्वयसंबन्धः । एवं पूर्वं किल द्वयाद्वयसंबन्धिनोः देवद्वयोरद्भुताध्यात्मिकसंस्थानादिविभागवर्णनया व्याख्यापनिबन्ध उक्तः । आ० म० प्र० ।

इदमेव स्पष्टं पुनराह–

जा तेयगं सरीरं, गुरुलहुदव्वाणि कायजोगो य ।
मणभासा अगुरुलहु–अरूविदव्वाइ सव्वे वि ॥

औदारिकशरीरादारभ्य तैजसशरीरं यावत् यानि द्रव्याणि यथा तेषामेव संबन्धी काययोगः शरीरव्यापार:, एतान्यपि गुरुलघुकानीति निर्देशः । यानि तु मनोभाषावर्गणापुद्गलादिद्रव्याणि दानपानकार्मणयोगा अपि तदन्यान्यरूपद्रव्याणि च

नि च सर्वाण्यपि धर्माधर्माकाशजीवास्तिकायलक्षणान्यरूपि-द्रव्याणि, तदेतत्सर्वमगुरुलघुकम् ।

अहवा बायरबोंदी-कलेवरा गुरुलहू भवे सव्वो ।
सुहुमा णंतपदेसा, अगुरुलहू जाव परमाणू ॥

अथवेति प्रकारान्तरद्योतने । बादरा बोन्दिः शरीरं येषां ते बादर-बोन्दयो बादरनामकर्मोदयवर्त्तिनो जीवा इत्यर्थः, तेषां सम्बन्धी-नि यानि कलेवराणि यानि चाऽपराण्यपि बादरपरिणतानि स-कन्धादीनि भवनविमानपर्वतपुरप्रभृतीनि वा वस्तूनि तानि सर्वाण्यपि गुरुलघून्युच्यन्ते । यानि तु सूक्ष्मनामकर्मोदयवर्त्ति-नां जन्तूनां शरीराणि यानि च सूक्ष्मपरिणामपरिणतानि अ-नन्तप्रदेशिककादीनि परमाणुपुद्गलं यावत् द्रव्याणि तानि सर्वा-ण्यगुरुलघूनि ।

अथ व्यवहारनयमतमाह—

ववहारनयं पप्प उ, गुरुया लहुया य मीसगा चेव ।
लेट्ठुदीवगवाऊ, एवं जीवाण कम्माइं ॥

व्यवहारनयं प्राप्य इह त्रिविधानि द्रव्याणि भवन्ति । त-द्यथा-गुरुकाणि लघुकानि मिश्रकाणि च, गुरुलघुमिश्राणीत्य-र्थः । तत्र यानि तिर्यगूर्ध्वं वा प्रक्षिप्तान्यपि स्वभावादेवाधो निपतन्ति तानि गुरुकाणि, यथा-लेष्टुप्रभृतीनि । यानि मूर्ध्वग-तिस्वभावानि तानि लघुकानि, यथा-प्रदीपकादीनि । यानि तु नाऽधो नाप्यूर्ध्वं गतिस्वभावानि किं तर्हि तिर्यग्गतिस्वभावानि तानि गुरुलघूनि, यथा-मारुतो वायुर्वा [illegible] । एवं जीवानां कर्माण्यपि त्रिविधानि भवन्ति-गुरु-[illegible] । यैः [illegible] जीवा अधोगतिं नीयन्ते [illegible], [illegible] प्राप्यन्ते तानि लघुकानि, [illegible] मनुष्येषु वा यानि कार्यन्ते तानि गुरु-लघुकानि [illegible] । [illegible] व्यवहारनयाभिप्रायेण समर्थितः कर्मणो [illegible] । वृ० १ उ० ।

[illegible] सूत्रमाह-

[illegible] णं भंते ! उवासंतरे किं गुरुए लहुए गुरुयलहुए अगुरुयलहुए ? । गोयमा ! नो गुरुए नो लहुए नो गुरुयलहुए अगुरुयलहुए । सत्तमे णं भंते ! तणुवाए किं गुरुए लहुए ? । गोय-मा ! नो गुरुए नो लहुए गुरुयलहुए । [illegible] नो अगुरुयल-हुए । [illegible] । सत्तमा पुढवी उवा-[illegible] जहा सत्तमे उवासंतरे जहा तणुवाए एवं गु-[illegible] य सागरवासा । ने-[illegible] किं गुरुया जाव अगुरुयलहुया ? । गोयमा ! नो [illegible] गुरुयलहुया वि अगुरुयलहुया वि । से केण-[illegible] ? गोयमा ! [illegible] पडुच्च नो गुरुया नो लहुया [illegible] अगुरुयलहुया । [illegible] पडुच्च नो [illegible] नो लहुया नो गुरुयलहुया अगुरुयलहुया । [illegible] जाव वेमाणिया । [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] किं गुरुए लहुए गुरुयलहुए अगुरुयलहुए ? । गोयमा ! [illegible] गुरुयलहुए वि अ-[illegible] ! [illegible] ? । गोयमा ! गुरुयलहुय-

व्वाइं पडुच्च णो गुरुए णो लहुए गुरुयलहुए नो अगुरुयलहु-ए, अगुरुयलहुयदव्वाइं पडुच्च नो गुरुए नो लहुए नो गुरुय-लहुए अगुरुयलहुए, समया कम्माणि य चउत्थपएणं । कण्हलेस्साणं भंते ! किं गुरुया जाव अगुरुयलहुया ? । गोयमा ! नो गुरुया नो लहुया गुरुयलहुया वि अगुरुयलहुया वि । से केणट्ठेणं ? । गोयमा ! दव्वलेस्सं पडुच्च तइयपएणं भावलेस्सं पडुच्च चउत्थपएणं, एवं जाव सुक्कलेस्सा । दिट्ठीदंसण-णाणअण्णाणसण्णाओ चउत्थपएणं णेयव्वाइं हेट्ठिल्ला चत्तारि सरीरा नायव्वा, तइएणं कम्मयं चउत्थपएणं मणजोगे वइजोगे चउत्थएणं पदेणं कायजोगो तइएणं सागारोवओगो अणागारोवओगो चउत्थपएणं सव्वदव्वा सव्वपदेसा सव्वपज्जवा जहा पोग्गलत्थिकाओ । तीयद्धा अणागयद्धा सव्वद्धा चउत्थएणं पएणं ।

(सत्तमेणमित्यादि) इह चेयं गुरुलघुव्यवस्था—
"निच्छयओ सव्वगुरुं, सव्वलहुं वा न विज्जए दव्वं ।
ववहारओ उ जुज्जइ, बायरखंधेसु णण्णेसु ॥ १ ॥
अगुरुलहुं चउ फासा, अरूविदव्वा य होंति नायव्वा ।
सेसा उ अट्ठ फासा, गुरुलहुया निच्छयणयस्स" ॥ २ ॥

(चउफास त्ति) सूक्ष्मपरिणामानि (अट्ठफास त्ति) बादराणि गुरुलघुद्रव्यं रूपि अगुरुलघुद्रव्यं त्वरूपि रूपि चेति । व्यवहा-रतस्तु गुर्वादीनि चत्वार्यपि सन्ति । तत्र निदर्शनानि-गुरुर्लेष्टु-रधोगमनात्, लघुर्धूम ऊर्ध्वगमनात्, गुरुलघुर्वायुस्तिर्यग्गमनात्, अगुरुलघ्वाकाशं तत्स्वभावत्वादिति । एतानि चावकाशान्तरा-दिसूत्राण्येतद्गाथानुसारेणावगन्तव्यानि । तद्यथा-"ओवास-घणतणुवाए-पुढवीदीवा य सागरा वासा । नेरइया [illegible] भवा कम्माइं लेसाओ ॥ १ ॥ दिट्ठी दंसणणाणे, सण्णा [illegible] जोगउवओगे । दव्वपएसा पज्जव, तीया आगामि सव्वद्ध त्ति" ॥

(वेउव्वियतेयाइं पडुच्च त्ति) नारका वैक्रियतैजसशरीराण्याश्रित्य गुरुकलघुका एव । यतो वैक्रियतैजसवर्गणात्मकानि तानि ताश्च गुरुकलघुका एव । यदाह-" ओरालियवेउव्विय-आहार-गतेय गुरुलहू दव्वा त्ति" । (जीवं च कम्मं च पडुच्च त्ति) जीवं प्रतीत्य कार्मणशरीरं प्रतीत्य च नारका अगुरुलघुकाः, जीवस्यारूपित्वेन अगुरुलघुत्वात् । कार्मणशरीरस्य च कर्म-वर्गणात्मकत्वात्कार्मणवर्गणानां चागुरुलघुत्वात् । [illegible] "कम्मगमणभासाइं, एयाइं अगुरुलहुयाइं त्ति" (एवं [illegible] [illegible] त्ति) यस्य यानि शरीराणि सन्ति तानि [illegible] [illegible] अगुरुलघुप्रमाणदण्डकानीति [illegible] । [illegible] नारकवदाद्याः । पृथिव्यादयस्तु [illegible] [illegible] अपरः, [illegible] कार्मणं च प्रतीत्यागुरुलघवः [illegible] [illegible] शरीराणि प्रतीत्य गुरुलघवः । [illegible] [illegible] मनुष्याश्चौदारिकवैक्रियतैजसान्याश्रित्य [illegible] (धर्मास्तिकायेति) इह यावत्करणात्, " [illegible] " इति दृश्यम् ([illegible] त्ति) [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ([illegible])

कादीनि (समया कम्माणि य चउत्थपदेणं ति) समया अमूर्त्ताः कर्माणि च कार्मणवर्गणात्मकानीत्यगुरुलघुत्वमेषाम् । (कण्हलेसं पडुच्च तइयपदेणं ति)ऽयमः कृष्णलेश्या औदारिकादिशरीरवर्णः, औदारिकादिकं च गुरुलघ्विति कृत्वा गुरुलघुत्वेन तृतीयविकल्पेन व्यपदेश्यः। भावलेश्या तु जीवपरिणतिः,तस्याश्चामूर्त्त्वादगुरुलघुत्वेन व्यपदेश इत्यत आह (भावलेसं पडुच्च चउत्थपदेणं ति) (दिट्ठीदंसणेत्यादि) दृष्ट्यादीनि जीवपर्यायत्वेनागुरुलघुत्वादगुरुलघुलक्षणेन चतुर्थपदेन वाच्यानि । अज्ञानपदं त्विह ज्ञानविपक्षत्वाद्धीनम् , अन्यथा ज्ञानेषु ज्ञानपदमेव दृश्यते (हेट्ठिल्ले त्ति) औदारिकादीनि । (तइयपदेणं ति) गुरुलघुपदेन गुरुलघुवर्गणात्मकत्वात् । (कम्मणा चउत्थपदेणं ति) अगुरुलघुद्रव्यात्मकत्वात् कार्मणशरीराणां मनोयोगवाग्योगौ चतुर्थपदेन वाच्यौ, तद्द्रव्याणामगुरुलघुत्वात् , काययोगः कार्मणवर्जस्तृतीयेन गुरुलघुत्वात्तद्द्रव्याणामिति। (सव्वदव्वेत्यादि) सर्वद्रव्याणि धर्मास्तिकायादीनि सर्वप्रदेशास्तेषामेव निर्विभागा अंशाः सर्वपर्याया वर्णोपयोगादयो द्रव्यधर्माः, एते पुद्गलास्तिकायवद् व्यपदेश्याः, गुरुलघुत्वेनागुरुलघुत्वेन चेत्यर्थः । यतः सूक्ष्माण्यमूर्त्तानि च द्रव्याण्यगुरुलघूनि, इतराणि तु गुरुलघूनि । प्रदेशपर्यवास्तु तत्तद्द्रव्यसम्बन्धित्वेन तत्तत्स्वभावा इति । भ० १ श० ९ उ० ।

संप्रति गुरुलघुद्रव्याणामगुरुलघुद्रव्याणां चाल्पबहुत्वेन वर्णाचिन्त्यन्ते-तत्र बादरस्कन्धेषु जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नेषूत्कर्षतश्च प्रवर्द्धमाना वर्गणा अनन्ता भवन्ति । ताश्च तावद् द्रष्टव्या यावत्सर्वोत्कृष्टो बादरस्कन्धः ।

तत्तो य वग्गणाओ, सुहमाण भवंत णंतगुणियाओ ।
परमाणूण य एका, संखेरपदेसमंखाना ।

ताभ्यः समस्तबादरस्कन्धगताभ्यो वर्गणाभ्यः सूक्ष्माणां सूक्ष्मानन्तप्रदेशकस्कन्धानामनन्तगुणिता वर्गणास्तथा परमाणूनां समस्तानामेका वर्गणा। (संखेर त्ति) संख्येयप्रदेशेषु द्व्यणुकादिप्रभृत्युत्कृष्टं संख्यातं यावत् संख्याताः संख्यातस्य संख्यातभेदभावात् । इतरस्मिन्नसंख्येयप्रदेशे असंख्येया वर्गणाः, असंख्यातस्य संख्यातभेदभिन्नत्वात् ।

इय पोग्गलकायम्मि य, सव्वत्थोवा उ गुरुलहू दव्वा ।
उभयपडिसेहिया पुण, अणंतकप्पा बहुविकप्पा ॥

इति एवमुपदर्शितेन प्रकारेण पुद्गलकाये पुद्गलास्तिकाये गुरुलघुद्रव्याणि सर्वस्तोकानि उभयप्रतिषेधितानि संज्ञानगुरुलघुप्रतिषेधानि अगुरुलघूनीत्यर्थः । पुनर्द्रव्याणि अनन्तकल्पानि अनन्तभेदानि । तत्रानन्तभेदत्वं गुरुलघुद्रव्येष्वप्यस्ति, तत आह-बहुविकल्पानि विकल्पातिशयेन बहुभेदानि। संप्रति पर्यायपरिमाणमल्पबहुत्वेन चिन्त्यते-इह पञ्च राशयः क्रमेण स्थाप्यन्ते । तद्यथा-परमाणुराशिः, संख्यातप्रदेशकस्कन्धराशिः, असंख्यातप्रदेशकस्कन्धराशिः, सूक्ष्मानन्तप्रदेशकस्कन्धराशिः, बादरानन्तप्रदेशकस्कन्धराशिश्च । तत्र बादरानन्तप्रदेशकस्कन्धराशौ योऽन्तिमः सर्वोत्कृष्टो बादरस्कन्धस्तत्र बहवो गुरुलघुपर्यायाः, सर्वस्तोका अगुरुलघुपर्यायाः, इह बादरस्कन्धेष्वप्यगुरुलघवः पर्यायाः सन्ति परमुत्कलिता गुरुलघुपर्याया इति । त एव तत्र शेषकालं गण्यन्ते, संप्रति तु धर्मास्तिकायादिचिन्त्यन्ते । इत्यल्पबहुत्वचिन्तायां ते चिन्तिताः। तस्मात्सर्वोत्कृष्टाद् बादरस्कन्धाद् येऽधस्तना बादरस्कन्धास्तेषु गुरुलघुपर्यायाः क्रमेणानन्तगुणहान्या द्रष्टव्याः । अगुरुलघुपर्याया पुनरनन्तगुणवृद्ध्या। एवं च तावद् ज्ञातव्य यावत्सर्वजघन्यो बादरस्कन्धः । उक्तं च- " परमाणुसंखसंखा, सुहुमाण ताण बायराणं च । एएसिं रासीतो, कमेण सव्वे ठवेऊणं ॥ तेसिं जो अंतिमओ, सव्वुक्कोसो य बायरो खंधो । तस्स बहू गुरुलहुया, अगुरुलहू पज्जवा थोवा ॥ तत्तो हिट्ठा हुंता, अणंतहाणिए गुरुलहुवुड्ढी । एवं ता जाव जहन्नो त्ति " ॥

एतदेवाह-

ते गुरुलहुपज्जाया, पणाच्छेदेण वोगसित्ताणं ।
जा बायरो जहण्णो, अणंतहाणिए हायंता ॥

ते गुरुलघुपर्यायाः प्रज्ञाछेदनकेनागुरुलघुपर्यायेभ्यो व्युत्क्रम्य पृथक्कृत्वा सर्वोत्कृष्टाद् बादरस्कन्धादधस्तनेषु बादरस्कन्धेष्वनन्तगुणहान्या हीयमानास्तावद् द्रष्टव्या यावद् जघन्यो बादरस्कन्धः । अगुरुलघुपर्यायास्तु क्रमेणानन्तगुणवृद्ध्या प्रवर्द्धमानाः, ततः परं सूक्ष्मानन्तप्रदेशादिषु स्कन्धेषु केवला अगुरुलघुपर्याया एव क्रमेणानन्तगुणवृद्ध्या प्रवर्द्धमाना द्रष्टव्याः । ते च तावत् यावत्परमाणवः । उक्तं च- " तेण परं सुहुमाओ, अणंतवुड्ढिए नवर वड्ढंता। अगुरुलहु च्चिय केवल, जा परमाणू य तो नेया " तदेवं पर्यायपरिमाणमप्यल्पबहुत्वेन चिन्तितम् । सांप्रतमरूपि द्रव्यं चिन्त्यते- तच्चतुर्द्धा, तद्यथा- धर्मास्तिकायः, अधर्मास्तिकायः, आकाशास्तिकायः, जीवास्तिकायश्च ।

तेषां किमगुरुलघुपर्यायपरिमाणमत आह-

केण हविज्ज विरोहो, अगुरुलहुपज्जवाण उ अमुत्ते ।
अच्चंतमसंजोगो, जहियं पुण तव्विवक्खस्स ॥

यत्रामूर्त्ते धर्मास्तिकायादौ तद्विपक्षस्य गुरुलघुपर्यायजातस्यात्यन्तमेकान्तेनासंयोगोऽघटना तत्रागुरुलघुपर्यायाणां केन विरोधो विनाशनं भवेत्?, नैव केनचित् । ततः केनापि विनाशाभावात्सदैव प्रतिप्रदेशमनन्ता अगुरुलघुपर्यायाः ।

तथाचाह-

एवं तु अणंतेहिं, अगुरुलघुपज्जवेहिं संजुत्तं ।
होइ अमुत्तं दव्वं, अरूविकायाण चाउण्हं ॥

एवं तु सति चतुर्णामप्यरूपिकायानामरूपिणामस्तिकायानां धर्मास्तिकायप्रभृतीनामेकैकास्यं यदमूर्त्तं द्रव्यं तद् भवति प्रत्येकमनन्तैरगुरुलघुपर्यायैः संयुक्तम् । तदेवंभावितं एकैक आकाशप्रदेशोऽनन्तैरगुरुलघुपर्यवैरुपेतः । बृ० १ उ० ।

अगरुलहुचउक्क-अगुरुलघुचतुष्क- न० अगुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासलक्षणनामकर्मप्रकृतिचतुष्टये , कर्म० १ कर्म ।

अगरुलहुणाम-अगुरुलघुनामन्- न० नामकर्मभेदे , यदुदयादगुरुलघु स्वयं शरीरं जीवानां भवति । स० ।

अंगं न गुरु न लहुयं, जायइ जीवस्स अगरुलहुउदया ।

अगुरुलघूदयादगुरुलघुनामोदयेन जीवस्य अङ्गं शरीरं न गुरु न लघु जायते भवति, किन्तु अगुरुलघु, यत एकान्ते गुरुत्वे हि वोढुमशक्यं स्यात् , एकान्तलघुत्वे तु वायुनाऽपह्रियमाणं धारयितुं न पार्येत, यदुदयाज्जन्तुशरीरं न गुरु न लघु नापि गुरुलघु किन्तु अगुरुलघुपरिणामपरिणतं भवति, तदगुरुलघुनामेत्यर्थः । कर्म० १ कर्म० । प्रव० । स्था० । पं०सं० ।

अगरुलहुयपरिणाम–अगुरुलघुकपरिणाम–पुं० अगुरुलघुकर्मण परिणामः, परिणामपरिणामवतोरभेदादगुरुलघुकपरिणामः । अजीवपरिणामभेदे, स्था० १० ठा० । अगुरुलघुपरिणामस्तु परमाणोरारभ्य यावदनन्तानन्तप्रदेशिकाः स्कन्धाः सूक्ष्माः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अगरुलहुपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? । गोयमा ! एगागारे पण्णत्ते ।

अगुरुलघुपरिणामो भाषादिपुद्गलानां "कम्मगमणभासाई एयाई अगुरुलहुयाई" इतिवचनात् । तथा अमूर्तद्रव्याणां चाकाशादीनाम् । अगुरुलघुपरिणामग्रहणमुपलक्षणम्, तेन गुरुलघुपरिणामोऽपि द्रष्टव्यः । स चौदारिकादिद्रव्याणां तैजसद्रव्यपर्यन्तानामवसेयः । " ओरालियवेउव्विय–आहारगतेय गुरुलहू दव्वा । " इति वचनात् । प्रज्ञा० १३ पद ।

अगरुवर–अगुरुवर–पुं० कृष्णागरौ, ज्ञा० १७ अ० ।

अगलंत–अगलत्–त्रि० अस्राविणि, " असती मोयमहीए कयकज्ज अगलंत सत्तए णिसिरे " व्य० ७ उ० ।

अगलिय–अगलित–त्रि० अपतिते, " अगलिअणेहणिवट्टा–इं ओमाण सक्खु विज्जाउ । वरिससएण वि जो मिल–इ स हि सोक्खहं सो ठाउ य" । प्रा० १ पाद ।

अगविठ–अगवेषित–त्रि० गवेषणया अपरिभावित, "अगविठस्स उ गहणं, न होइ न य अगहियस्स परिभोगो । " पिं० । "अगविट्ठा य गविट्ठा, णिप्पण्णा धारणदिसासु" व्य० ४ उ० ।

अगहणवग्गणा–अग्रहणवर्गणा–स्त्री० अल्पपरमाणुरूपत्वेन स्थूलपरिणामतया च स्वभावाज्जीवानां ग्रहेऽसमागच्छन्तीषु वर्गणासु, कर्म० ५ कर्म० । पं० सं० । (आसां स्पष्टं स्वरूपं 'वग्गणा' शब्दे दर्शयिष्यते)

अगहिय–अगृहीत–त्रि० न० त० अस्वीकृते, पञ्चा० १७ विव० ।

अगहियगहण–अगृहीतग्रहण–न० साधुभिरस्वीकृतभक्तादिदानरूपे, "पडिबंधणिराकरणं, केइ अन्ने अग्गहियगहणस्स" पञ्चा० १७ विव० ।

अगहिलगराय–अग्रहिलकराज–पुं० राजभेदे, (ती०) तत्कथा चेयम्–केइ पुण अगहिलगरायअक्खाणगविहीए कालाइदोसो वि अप्पाणं निव्वाहइस्संति, तं च अक्खाणयमेयं पवदंति पुव्वायरिया–पुव्विं किर पुहवीपुरीए पुण्णो नाम राया । तस्स मंती सुबुद्धी नाम । अन्नया लोगदेवो नाम नेमित्तिओ आगओ । सो य सुबुद्धिमंतिणा आगमेसि कालं पुट्ठो । तेण भणियम्–मासाणंतरं इत्थ जलहरो वरिसिस्सइ । तस्स जलं जो पाहिइ सो सव्वो वि गहिलीभूओ भविस्सइ । कित्तिए वि काले गए सुवुट्ठी भविस्सइ । तज्जलपाणेण पुणो जणा सुत्थीभविस्संति । तओ मंतिणा तं रायणो विन्नत्तं । रण्णा वि पडहग्घोसेण वारिसंगहत्थं जणो भणिओ । जणेण वि जलसंगहो कओ । मासेण वुट्ठो मेहो । तं च मेहोदयं नीरं कालेण निट्ठियं लोगेहिं नवोदगं चेव पाउमाढत्तं । तओ गहिलीभूया सव्वलोया सामंताइ गाढं सव्वंपि निच्चिय वि चिंतंति । केवलं राया अमच्चो य संगहियं जलं न पिबंति । तं चेव दो वि सुत्था चिट्ठंति । तओ सामंताईहिं विसरिसे चिट्ठे रायअमच्चेहिं निरिक्खिऊण सम्मं मंतियं । जहा गहिलो राया मंती य । एए अम्हाहिंतो वि विसरिसा ताव । तओ एए अम्हसरिसा न भवंति अम्हे गुरुयावारे

गयाणं उयाविस्सामो । मंती एण तेसिं मंतं नाऊण एअं रन्नो कहेइ । रण्णा वुत्तं–कह मे वट्टंतो अप्पा रक्खियव्वो तेसिं दत्तुसं हवइ । मंतिणा भणियं–महाराय ! अम्हेहिं वि एएहिं गहिलीहोऊण ठायव्वं । न अन्नहा मुक्खो । तओ किंचि कालं होउं ते रायमच्चा तेसिं मज्झे निअमंतयं रक्खंता चिट्ठंति । तओ ते सामंताइ तुट्ठा, अहो ! रायमच्चा वि अम्हसरिसा हुय त्ति । उपायएण तेण तेहिं अप्पा रक्खिओ । तओ कालंतरेण सुवुट्ठी जाया । नवोदगे पीए सव्वे लोगा पगइमावन्ना सुत्था जाया । एवं दूसमकाले गीयत्था कुलिंगीहिं सह सरिसो हुंता वट्टंता अप्पणो समयं माविणं पडिवालिंतो अप्पाणं निव्वाहइस्संति । ती० २१ कल्प० ।

अगाढ–अगाढ–त्रि० अवगाढे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अगाढपण्ण–अगाढप्रज्ञ–त्रि० अगाढा तत्त्वनिष्ठा प्रज्ञा बुद्धिर्यस्य सोऽगाढप्रज्ञः । परमार्थपर्यवसितबुद्धौ, " अगाढपन्नेसु विचिन्तयित्ता, अन्नं जणं भवति परिहवेज्जा । " सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अ (आ) गार–अगार–न० गृहे, दश० १ अ० । अगैर्द्रुमैः पदादिभिर्निर्वृत्तमगारम् । दश० १० अ० । विशे० । स्था० । अनु० । सूत्र० । आचा० । प्रव० । पञ्चा० । नि० चू० । उत्त० । द्वि० । (अगारनिक्षेपः) अगारं द्विविधं द्रव्यभावभेदात् । तत्र द्रव्यागारमगैर्द्रुमैः पदादिभिर्निर्वृत्तम् । भावागारं पुनरगैरिव कालेऽपि जीवविपाकितया शरीरपुद्गलादिषु वर्तमानैरनन्तानुबन्ध्यादिभिर्निर्वृत्तं कषायमोहनीयम् । " सब्भागारेसु, संधीसु य महापहे " अगारेषु शून्यगृहेषु । उत्त० १ अ० । " अगारमावसंतस्स, सव्वो संविज्जए तहा " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । विशे० । अगारं द्विविधम्–खातमुच्छ्रितं च । तत्र खातं भूमिगृहादि, उच्छ्रितमुच्छ्रयेण कृतम्, उभयं भूमिगृहस्योपरि प्रासादः । पञ्चा० १ विव० । स्थाने च । " निरागारचारयेसा " औ० । अगारं गृहं तद्योगाद् । विशे० । अगारं गृहं तदेषां (वा) विद्यते इत्यर्शआदित्वादच्प्रत्ययः । गृहस्थे, पुं० । दश० १ अ० ।

अगारत्थ–अगारस्थ–पुं० अगारं गृहं, तत्र तिष्ठन्तीति अगारस्थाः । गृहस्थेषु, आचा० १ श्रु० ए अ० १ उ० ।

अ (आ) गारधम्म–अगारधर्म–पुं० न गच्छन्तीत्यगाः वृक्षाः, तैः कृतमा समन्ताद्राजत इत्यगारं गृहम् । तत्र स्थितानां धर्मोऽगारधर्मः । श्रावकधर्मे इत्यर्थः अल्पमपदेशविशेषस्य देशविरतौ, ध० अ० द्वि० ।

पंच य अणुव्वयाइं, गुणव्वयाइं च हौंति तिन्नेव ।
सिक्खावयाइ चउरो, गिहिधम्मो बारसविहो य ॥ ११ ॥

पञ्चाणुव्रतानि स्थूलप्राणातिपातविरत्यादीनि गुणव्रतानि च भवन्ति, त्रीण्येव दिग्व्रतादीनि शिक्षापदानि चत्वारि सामायिकादीनि, गृहिधर्मो द्वादशविधस्तु एष पञ्चाणुव्रतादिः भवति इति गाथार्थः । एषु विस्तरं चावश्यके चर्चितव्या लोकमिति गाथार्थः । ध० । तत्र सामान्यतो नाम सर्वविशिष्टजनसाधारणानुष्ठानरूपः, विशेषात् सम्यग्दर्शनाणुव्रतादिप्रतिपत्तिरूपः, इति । तत्राद्यं भेदं दशभिः श्लोकैर्दर्शयति–

" तत्र सामान्यतो गृह-धर्मो न्यायार्जितं धनम् ।
वैवाहमन्यगोत्रीयैः, कुलशीलसमैः समम् ॥ ५ ॥
शिष्टाचारप्रशंसाऽरि–षड्वर्गत्यजनं तथा ।
इन्द्रियाणां जय उपप्लुतस्थानविवर्जनम् ॥ ६ ॥

सुध्यानैर्धार्मिके स्थाने, मानिप्रकटगुप्तके ।
अनेकनिर्गमद्वार-गृहस्य विनिवेशनम् ॥ ७ ॥
पापभीरुकताख्याता, देशाचारप्रपालनम् ।
सर्वेष्वपवादित्वं, नृपादिषु विशेषतः ॥ ८ ॥
आयोचितव्ययो वेषो, विभवाद्यनुसारतः ।
मातृपित्रर्चनं सङ्गः, सदाचारैः कृतज्ञता ॥ ९ ॥
अजीर्णेऽभोजनं काले, भुक्तिः सात्म्यादलोलता ।
वृत्तस्थज्ञानवृद्धार्हा, गर्हितेष्वप्रवर्त्तनम् ॥ १० ॥
भर्त्तव्यभरणं दीर्घ-दर्शिधर्मश्रुतिर्दया ।
अष्टबुद्धिगुणैर्योगः, पक्षपातो गुणेषु च ॥ ११ ॥
सदाऽनभिनिवेशश्च, विशेषज्ञानमन्वहम् ।
यथार्हमतिथौ साधौ, दीने च प्रतिपन्नता ॥ १२ ॥
अन्योन्यानुपघातेन, त्रिवर्गस्यापि साधनम् ।
अदेशाकालाचरणं, बलाबलविचारणम् ॥ १३ ॥
यथार्हलोकयात्रा च, परोपकृतिपाटवम् ।
ह्रीः सौम्यता चेति जिनैः, प्रज्ञप्ता हितकारिभिः " ॥ १४ ॥

(दृष्टान्तः कुलकम्)

तत्र तयोः सामान्यविशेषरूपयोर्गृहस्थधर्मयोर्यथानुपक्रान्तयोर्मध्ये सामान्यतो गृहिधर्म इति अमुना प्रकारेण हितकारिभिः परोपकरणशीलैर्जिनैरर्हद्भिः प्रज्ञप्तः प्ररूपित इत्यनेन संबन्धः॥ ध० १ अधि०।

(न्यायार्जितधनादिपदानामर्थः 'णायज्जिय' शब्दे)

अगारबंधण–अगारबन्धन–न० कर्म०। पुत्रकलत्रधनधान्यादिरूपे गृहपाशे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ०। " एवं समुट्ठिए भिक्खू, वोसिज्जा गारबंधणं " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

अगारव–अगौरव–त्रि०। न० ब०। ऋद्ध्यादिगौरववर्जिते, प्रश्न० ५ संव० द्वा०।

अगारवास–अगारवास–पुं० गृहवासे, " अगारवासमज्झे व-सित्ता " प्र० १५ श० १ उ०।

इहलोग दुहावहं विऊ, परलोगे य दुहं दुहावहं ।
विद्धंसणधम्ममेव तं, इति विज्जं कोऽगारमावसे ?॥ १०॥

(इहलोग इत्यादि) इहाऽस्मिन्नेव लोके हिरण्यस्वजनादिकं दुःखमावहति. (विऊ त्ति) विद्वान् जानीहि । तथाहि– "अर्थानामर्जने दुःख-मर्जितानां च रक्षणे । आये दुःखं व्यये दुःखं, धिगर्थं दुःखभाजनम् "॥१॥ तथाहि–" रेवापयः किसलयानि च सल्लकीनां विन्ध्योपकण्ठविपिनं स्वकुलं च हित्वा । किं ताम्यसि द्विप ! गतोऽसि वशं करिण्याः स्नेहो निबन्धनमनर्थपरम्परायाः " ॥ १॥ परलोके च हिरण्यस्वजनादिममत्वापादितकर्मजं दुःखं ... तदुपादानकर्मोपादाना-

[illegible]

गृहवासमावसेत्, गृहवासं वाऽनुबध्नीयादिति ?। उक्तं च " दाराः परिभवकाराः बन्धुजनो बन्धनं विषं विषयाः। कोऽयं जनस्य मोहो ?, ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा "॥ १॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ०।

गारं पि अ आवसे नरे, अणुपुव्वं पाणेहि संजए।
समता सव्वत्थ सुव्वते, देवाणं गच्छे स लोगयं ॥ १३॥

अगारमपि गृहमप्यावसन् गृहवासमपि कुर्वन् नरो मनुष्यः (अणुपुव्वं ति) आनुपूर्व्या श्रवणधर्मप्रतिपत्त्यादिलक्षणया प्राणिषु यथाशक्त्या सम्यग् यतः संयतस्तदुपमर्दान्निवृत्तः, किमिति ?, यतः समता समभावः आत्मपरतुल्यता, सर्वत्र यतौ गृहस्थे च यदि वैकेन्द्रियादौ श्रूयतेऽभिधीयते आर्हते प्रवचने तां च कुर्वन् स गृहस्थोऽपि सुव्रतः सन् देवानां पुरन्दरादीनां लोकं स्थानं गच्छेत्, किं पुनर्यो महासत्त्वतया पञ्चमहाव्रतधारी यतिरिति । " से भो अगारवासो त्ति, इइ भिक्खू न चिंतए " उत्त० २ अ०।

अगारि (ण्) अगारिन्–पुं० गृहस्थे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। आचा०। क०। " अगारिणो वि समणा भवंतु, सेवंति उ ते वि तहप्पगारं " सूत्र० २ श्रु० ६ अ०।

अगारिकम्म–अगारिकर्मन्–न० अगारिणां कर्माऽनुष्ठानम्। गृहस्थानां सावद्य आरम्भे, जातिमदादिके च। " णिक्खम्म से सेवइ गारिकम्मं, ण पारए होइ विमोयणाए " सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

अगारियंग–अगार्यङ्ग–न० अगारिणां गृहस्थानामङ्गं कारणम् । जात्यादिके मदस्थाने, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

अगारी–अगारी–स्त्री० गृहस्थस्त्रियाम्, व्य० १ उ०।

अगारीपडिबंध–अगारीप्रतिबन्ध–पुं० अगार्याः प्रतिबन्धोऽगारिप्रतिबन्धः। यत्रागार्या विषये आत्मपरोभयसमुत्था दोषा इत्येवंरूपे गृहिणीविषयप्रतिबन्धे, व्य० ४ उ०।

अगाह–अगाध–त्रि० गम्भीरे, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

अगिज्झ–अग्राह्य–त्रि० हस्तादिना ग्रहीतुमशक्ये, " तओ अगिज्झा पन्नत्ता, तं जहा– समए पएसे परमाणू " स्था० ३ ठा० २ उ०। अनाश्लेष्ये, " अणेगणरज्झुयाऽगिज्झे " औ०। अप्रमेये, रा०।

अगिण्हियव्व–अग्रहीतव्य–त्रि०। न ग्रहीतव्योऽग्रहीतव्यः। हेये, उपेक्षणीये च। उभयोरपि कार्य्यासाधकत्वात्। " गज्झो जो कज्जसाहगो होइ" इति कार्य्यसाधकस्यैव ग्राह्यत्वोक्तेः " णायम्मि गेण्हियव्वम्मि, अगेण्हियव्वम्मि चेव अत्थम्मि" उत्त० १ अ०। आव०।

अगिद्ध–अगृद्ध–त्रि०। न० त०। अनध्युपपन्ने अमूर्छिते, "अगिद्धे सद्दफासेसु, आरंभेसु अणिस्सिए " सूत्र० १ श्रु० ६ अ० " उवहिम्मि अमुच्छिए अगिद्धे अण्णायउंछं पुलणिप्पुलाए " अगृद्धः प्रतिबन्धाभावेन। दश० १० अ०।

अगिलाइ–अग्लानि–स्त्री० अखेदे, स्था० ८ ठा०। भ०। " अगिलाइ अणाजीवी, णायव्वो वीरियायारो " पंचा० १५ विव०। अगिलाणाम णो मनोवाक्कायैः अजज्जरमाणेत्यर्थ." नि० चू० १ उ०।

अगिला–अग्लानि–स्त्री० निर्जरार्थमात्मोत्साहे, व्य० ४ उ०। गिलाव्याख्यानार्थमाह–"निययेट्ठिं व कुणंतो, जो कुणई एरिसा गिला होइ। पडिलेहुट्ठवणाई, वेयावच्चं तु पुच्वुत्तं" यो नाम नृपवेष्टिं राजवेष्टिमिव कुर्वन् वैयावृत्यं करोति एतादृशी भवति गिला ग्लानिस्तस्याः प्रतिषेधोऽगिला। तया करणीयं वैयावृत्यम्, किं तदित्यत आह–प्रतिलेखोत्थापनादिकं भाण्डस्य प्रत्युपेक्षणमुपविष्टस्योत्थापनमादिशब्दात् भिक्षानयनादिपरिग्रहः, एतत्पूर्वोक्तं वैयावृत्यम्। व्य० १ उ०। " अगिलाए णं भंतेणं पाणेणं विणएणं वेयावडियं करेइ " भ० ५ श० ४ उ०।

अगिलाय–अग्लान–पुं० अग्लाने, " कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए " भिक्षु ... स्वयमग्लानोऽपरिश्रान्तः कुर्यात्, सम्यक् समाधिना

धा समाधिमुत्पादयेदिति । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

अगीय-अगीत-पुं० अगीतार्थे, व्य० १ उ० ।

अगीयत्थ-अगीतार्थ-पुं० न० ब० । अनधिगताचारप्रकल्पादिनिशीथान्तसूत्रार्थे, जी० १ प्रति० (अगीतार्थो येन छेदश्रुतार्थो न गृहीतो गृहीतो, वा परं विस्मारितः । बृ० १ उ० ।

अथागीतार्थोपदेशः सर्वोऽपि दुःखावहो भवतीत्याह-

अगीअत्थस्स वयणेण, अमिअं पि न घुंटए ।
जेण नो तं भवे अमयं, जं अगीयत्थदेसिअं ॥४६॥
परमत्थओ न तं अमयं, विसं हालाहलं खु तं ।
न तेण अजरामरो हुज्जा, तक्खणा निहणं वए ॥४७॥

अनयोर्व्याख्या-अगीतार्थस्य (संविग्गए नाम एगे नो गीयत्था १, नो संविग्गा नाम एगे गीयत्था २, संविग्गा नाम एगे गीयत्था वि ३, नो संविग्गा नाम एगे नो गीयत्था वि ४) पूर्वोक्तप्रथमचतुर्थभङ्गतुल्यस्य वचनेन अमृतमपि (न घुंटए त्ति) न पिबेत् । अगीतार्थोपदेशेनामृतवद् दृश्यमानं सुन्दरमप्यनुष्ठानं न कुर्यादिति परमार्थः । येन कारणेन न तदमृतं भवेत् यदगीतार्थदेशितमगीतार्थोपदिष्टम् । एतदेव विशेषेणाह-परमार्थतः तत्त्वतस्तदमृतं न गुणकारीत्यर्थः । तद् विषं हालाहलं (खु त्ति) निश्चितं, न तेन अजरामरो मोक्षसुखभाग् भवेत् । तत्क्षणादेव निधनं विनाशमनन्तजन्ममरणलक्षणं व्रजेत् प्राप्नुयात्, अगीतार्थोपदेशेनामृतपानस्यापि अनन्तसंसारहेतुत्वात् । उक्तं च-" जं जयइ अगीयत्थो, जं च अगीयत्थनिस्सिओ होइ । वट्टावेइ य गच्छं, अणंतसंसारिओ होइ ॥ १ ॥ कह उ जयंतो साहू, वट्टावेइ य जो उ गच्छं तु । संजमजुत्तो होउं, अणंतसंसारिओ भणिओ ॥ २ ॥ दव्वं खित्तं कालं, भावं पुरिसपडिसेवणाओ य । न वि जाणइ अगीओ, [illegible] ॥ ३ ॥ जहट्ठियदव्वं न जाणइ, सचित्ता-[illegible] । [illegible] होइ" ॥४॥ इत्यादि उपदेशमालायामिति विषमावरेति गाथा-[illegible] । ग०२अधि० । महा० । "[illegible] अगीय-[illegible] [illegible] । [illegible] तस्स, मासा चत्तारि [illegible]" बृ०१ उ० । (इत्यगीतार्थस्य गच्छधारणनिषेधो '[illegible]' शब्दे) "अगीयत्थो [illegible] धारयन्तस्स वा [illegible]" [illegible] गाहा-"जह मंट्ठ जह न-[illegible] । [illegible] गिज्झमाणे, नट्ठ गाडिया [illegible]" [illegible] अगीयत्थो य न [illegible] [illegible] पं० चू० । [illegible]

[illegible]

जाए, पत्ता दुक्खपरंपरा । तम्हा तं [illegible] सव्वहा । गीयत्थेहिं भवित्ताणं, कायव्वं निउणं [illegible] (महा० ६ अ०)" [illegible] द्वितीयपदे ' बिइयपयकारणम्मि पुव्विं वसभा [illegible] णाए ' इत्याद्युक्त्वा, " अगीयत्थस्स न कप्प-इ [illegible] यणं तु सो न जाणइ । अणुण्णवणाए जयणाए, [illegible] परपक्खजयणं च " (बृ० २ उ०) इत्यगीतार्थस्य [illegible] यतनाज्ञानप्रदर्शनं ' वसइ ' शब्दे । अगीतार्थेन [illegible] न विहरेत् । " गीयत्थो य विहारो, बीओ गीयत्थनिस्सिओ होइ " इत्यनेन ' विहार ' शब्दे [illegible] न निषेत्स्यमानत्वात्)

अणहीयपरमत्था वि, गोयमा ! संजए भवे ।
तम्हा ते वि विवज्जिज्जा, दुग्गईपंथदायगे ॥ ४८ ॥

हे गौतम ! ये संयता अपि संयमवन्तोऽपि (अणहीयपरमत्थे त्ति) अनधीता अनभ्यस्ताः परमार्था आगमरहस्यानि [illegible] अनधीतपरमार्थाः, अगीतार्था इत्यर्थः । ते यस्मात् [illegible] क्षेत्रकालभावौचित्या भवन्तीति शेषः । तस्मात्तानगीतार्थान् [illegible] वर्जयेत् । विहारे एकत्र निवासे वा दूरतस्त्यजेत् । [illegible] भिन्नक्रमः, स च यथास्थानं योजित एव । किंभूतान् दुर्गति यदायकान् तिर्यङ्नारककुमानुषकुदेवरूपदुर्गतिमार्गप्रापक-[illegible] र्थः । ग० २ अधि० । अगीतार्थेन सह सङ्गो न करणीयः । "[illegible] यत्थस्स कुसीलेहिं, संगं तिविहेण वज्जए । [illegible] विग्घे, पहम्मी तेणगे जहा ॥ पज्जलियं हुयवहं [illegible] तत्थ पविसिओ । अत्ताणं पि डहिज्जासि, नो कुसीलं [illegible] ए ॥ वाससक्खं पि सूलीए, संभिन्नो अच्छियासुहं । [illegible] त्थेण समं एक्कं, खणद्धं पि न से वसे ॥ विणा वि तंत-[illegible] घोरदिट्ठीविसं अहिं । डसंतं पि समल्लीया, नागीयत्थं कुसी-[illegible] गं ॥ विसं खाएज्ज हालाहलं तं, किर मारेइ [illegible] ण करे गीयत्थसंसग्गिं, विढवे लक्खं जइ तहिं ॥ [illegible] पिसायं च, घोररूवं भयंकरं । ओगिलमाणं पि [illegible] समग्गं गीयत्थे । सत्तजम्मंतरं सत्तुं, [illegible] वयनियमं जो विराहेज्जा, अणयं पि कम्मयं निच्चो [illegible] ६ अ० । अगीतार्थस्य स्वातन्त्र्येण विहारेऽनन्तसंसारित्वं [illegible] कयगाथा पेति प्रश्नः १४ । अत्रोत्तरम्-अगीतार्थस्य [illegible] हारेऽनन्तसंसारिता प्रायिकीति ज्ञायते, कर्मपरिणते [illegible] ति । सेन० १ सद्वा० ।

अगुण-अगुण-पुं० दोषे, नं० । गुणविरोधिनि दोषे, [illegible] वि० । वाच० ।

अगुणगुण-अगुणगुण-पुं० अगुणे एव कस्यचित् गुणत्वेन परिणममाने, स च एकविषयः यथा [illegible] गणस्य मध्ये सुखेनैवास्ति । तथा च " [illegible] दृष्टि पुरुषो नियुज्यते । [illegible] द्धिः " ॥१॥ आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अगुणत्त-अगुणत्व-न० अविद्यमानगुणे [illegible] गुणातीते, " [illegible] भिक्खू, [illegible] " [illegible] हेऊ । [illegible]

अगुणपेहि (न्)-अगुणप्रेक्षिन्-त्रि० [illegible] दर्शन्त इत्यर्थः । अगुणदर्शनशीले, दश० ४ अ० ।

णवज्ज-अगुणवर्ज-त्रि० अगुणान् दोषान् वर्जयति सतोऽपि न गृह्णाति इत्यगुणवर्जकः । सतामप्यगुणानामग्राहके, नं० ।

गुत्त-अगुप्त-त्रि० गुप्तिरहिते, "केवलमेव अगुत्तो, सहसा अनोगपच्चयएहिं" व्य० १ उ० । "असमित्तो मित्ती कीम सहसा अगुत्तो वा" अगुप्तो गुप्तिप्रमत्तः । पञ्चा० १६ विव० ।

गुत्ति-अगुप्ति-स्त्री०। मनःप्रभृतीनां कुशलानां निवर्त्तनेऽकुशलानां प्रवर्त्तने, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

तओ अगुत्तीओ पण्णत्ताओ, तं जहा-मणअगुत्ती वयअगुत्ती कायअगुत्ती । एवं णेरइयाणं जाव थणियकुमाराणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं असंजयमणुस्साणं वाणमंतराणं जोइसियाणं वेमाणियाणं ।

तओ इत्यादि कण्ठ्यम् । विशेषतश्चतुर्विंशतिदण्डके एता अतिदेशयन्नाह-एवमित्यादि (एवमिति) सामान्यसूत्रवन्नारकादीनां तिस्रो गुप्तयो वाच्याः, शेषं कण्ठ्यम्, नवरम्, इहैकेन्द्रियविकलेन्द्रिया नोक्ताः, वाङ्मनसयोस्तेषां यथायोगमसम्भवात् । संयतमनुष्या अपि नोक्तास्तेषां गुप्तिप्रतिपादनादिति । स्था० ३ ठा० १ उ० । इच्छाया अगोपनरूपे अपरिग्रहे गौणपरिग्रहे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वा० । नि० चू० ।

गुरुलहुचउक्क-अगुरुलघुचतुष्क-न० । नामकर्मप्रकृतिचतुष्ये, कर्म० १ क० (व्याख्या चास्य 'कम्म' शब्दे)

गुरुलहुणाम-अगुरुलघुनामन्-न०। नामकर्मभेदे, कर्म० १ क० (निरूपणमस्य 'अगुरुलहुणाम' शब्दे) ।

गुरुलहुय-अगुरुलघुक-न० अत्यन्तसूक्ष्मे भाषामनःकर्मद्रव्यादौ, स्था० १० ठा० (स्पष्टमेतद् 'अगुरुलहुय' शब्दे) ।

गुरुलहुयपरिणाम-अगुरुलघुकपरिणाम-पुं० अजीवपरिणामभेदे, स्था० १० ठा० (प्ररूपणा चास्य 'अगुरुलहुयपरिणाम' शब्दे)

गुरुवर-अगुरुवर-पुं० कृष्णागरौ, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

गोविय-अगोपित-त्रि० अप्रकटे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

गोरसव्वय-अगोरसव्रत-पुं० गोरसमात्राऽभक्षके, 'पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रतः । अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम्' ॥१॥ आव० ४ अ० ।

ग्ग-अग्र-न० अङ्ग-रक्, नलोपः । उपरिभागे, शेषभागे, आलम्बने, पूर्वभागे, वाच० ।

इदाणिं अग्गे त्ति दारं दव्वनेहं भण्णति-

दव्वो० १ गाहण २ आए-
स ३ काल ४ कम ५ गणण ६ संचए ७ भावे ८ ।
अग्गं भावो ९ उ पहा-
एवदुय उपचारतो तिविहं १० ॥ ४९ ॥

नामठवणाओ गताओ । दव्वग्गं दुविहं-आगमओ णो आगमओ य । आगमओ जाणए अणुवउत्ते, णो आगमओ जाणगसरीरं भव्वसरीरं जाणगभव्वसरीरवइरित्तं तिविहं तं दिरसांति ।

तिविहं पुण दव्वग्गं, सचित्तं मीसगं च अचित्तं ।
रुक्खग्गं दम उवचित-अवचित तस्सेव कुंतग्गं ॥ ५० ॥

(तिविहं ति) तिविधं, पुनःशब्दो द्रव्याग्रविशेषणार्थः । सचित्तं मीसगं च अचित्तं । पच्छद्धेणं जहासंखं उदाहरणा-सचित्तं रुक्खग्गं । से मीसे देसो । उवचियं णाम देसो सचित्तो, अवचियं णाम देसो अचित्तो, जहा सीयली, एसि रुक्खमित्तं रुक्खग्गं च । अचित्तं कुंतग्गं गतं ॥ १ ॥

इदाणिं ओगाहणग्गं-

ओगाहणग्गं साम-पणगाण उस्सुअचउब्भागो णं ।
मंदरवित्तजिणाणं, जं ओगाढं तु जाणियं ॥ ५१ ॥
अंजणगदहिमुखाणं, कुंडलरुयगवरमंदराणं च ।
ओगाढो उ सहस्सं, सेसा पादं समो गाढा ॥ ५२ ॥

अवगाहनमवगाहः, अधस्तात्प्रवेश इत्यर्थः । तस्याग्रमवगाहणग्गं । शाश्वतत्वमीति शाश्वता-, नगा पर्वताः । ते य जे जंबुद्दीवे वेयड्ढाणो ते धायंति ण सेसदीवेसु, तेसिं उस्सुअमउब्भागो अवगाढो भवति । जहा वेयड्ढे पणुवीसं जोयणाणि उस्सुअं तेसिं चउब्भागेण छज्जोयणाणि सगलाणि । तस्स सेसाऽवगाढो भवति, सो अवगाढो वेयड्ढस्स भवति । एवं सेसाण वि नेयं । मंदरो मेरू तं वज्जेऊण एवं चउब्भागावगाहलक्खणं भणितं सव्वस्स सहस्समेवावगाढो । जं वा अण्णाऽऽदिस्सति वत्थुणो उच्चत्तियं ओगाढं तस्स अग्गं ओगाहणग्गं । गयं ओगाहणग्गं ॥ २ ॥

इदाणीं आएसग्गं-

आदेसग्गं पंच-गुलाइ जं पच्छिमं तु आदिस्सं ।
तं पुरिमाण य जाणय, भोयणकम्माइकज्जेसु ॥ ५३ ॥

(आदेसग्गं ति) आदेशो निर्देश इत्यर्थः । तेण आदेसेण अग्गं आदेसग्गं । तस्सुदाहरणं-पंचंगुलादि पच्छंदं अंगुलिरूपाणं कम्मट्ठियाणं जदि पच्छिमं आदिस्सति तं आदेसग्गं भवति । आदेसकारणं इम-भोयणकाले जहा तम्मुगामे बहुयाण कम्मट्ठियाण इमं चउत्थं भोजवेतु त्ति आदिस्सति । एवं कज्जन्तरे वि नेयं । गयं आदेसग्गं ॥ ३ ॥

कालग्ग-कालओ पुण भण्णति । से अवि य-

कालग्गं सव्वद्धा, कालग्गचउत्था उ दव्वमादीयं ।
खंधोगाहठितीसु य, भावेसु य अंतिमा जे ते ॥ ५४ ॥

कलनं कालः तस्स अग्गं कालग्गं, सव्वद्धा, कहं ! समओ आवलिया लवो मुहुत्तो पहरो दिवसो अहोरत्त पक्खो मासो उऊ अयणं संवच्छरो जुगपलिओवमं सागरोवमं ओसप्पिणी उस्सप्पिणी पुग्गलपरियट्टो तीतद्धा अणागतद्धा सव्वद्धा इच्चाइ इति अग्गं भवति । वृद्धस्वात् कालग्गं गतं ॥ ४ ॥ इदाणिं कमग्गं-कमो परिवाडी, परिवाडीए अग्गं कमग्गं, तं चउव्विहं दव्वकमो आदिसद्दाओ खेत्तकमाइ [illegible] । पच्छद्धेण जहासंखेण उदाहरणा-खंध इति दव्वग्गं । ओगाह इति खेत्तग्गं । ठितीसु य त्ति कालग्गं । भावेसु य त्ति भावग्गं । एतेसिं चउण्ह वि अंतिमा जे ते अग्गं भवंति । उदाहरणं जहा-दुपएसिओ खंधो [illegible] एवं जाव अणंतपएसिओ खंधो । ततो परं अण्णो वुड्ढतरो न भवति सो अग्गं दव्वग्गं । एवं एगपएसोगाढाई जाव असंखेज्जपएसोगाढे पुग्गले [illegible] दव्वग्गं ओगाहणग्गं भवति । [illegible] एवं एगसमयठितियं दव्वं दुसमयठितियं जाव असंखेज्जसमयठितियं ज तो परं अण्णं [illegible] न भवति तं कालग्गं । [illegible] [illegible] एवं सेसेसु वि नेयं । [illegible]

णुसु एगसमयादारब्भ जाव असंखकालट्ठिती जाता । परमाणु-ट्ठितीतो परं अण्णे परमाणू उक्कोसतरट्ठितीओ ण भवंति, तं परमाणुं जानीत कालग्गं । एवं जीवाजीवेसु सव्वउक्कं णेयं, एयं च-सद्दो अवक्खेति , भावग्गं एगगुणकालगा त्ति जाव अणंतगुणकालगा त्ति भावजुतं तं भावग्गं भवति । ततो परं भावो उक्कोस-सतरो ण भवति, एतं भावग्गं । गतं कमग्गं ॥ ५ ॥ इदाणिं गण-णग्गं-एगादी जाव सीसपहेलिया ततो परं गणणा ण पवट्टति तेण गणणा ते सीसपहेलिया अग्गं । गतं गणणग्गं ॥ ६ ॥

संचय-भावग्गा, दो वि भण्णंति—

तणसंचयमादीणं, जं उवरिं पहाण खाइगो भावो ।

जीवादिछक्कए पुण, बहुयग्गं पज्जवा होंति ॥ ५५ ॥

तणाणि दब्भादीणि तेसिं चउप्पिक्कनेत्यर्थः । तस्स वयस्स उ-वरिं जा पुली तं तणग्गं भण्णति, आदिसद्दातो कट्ठपलालाती दट्ठव्वो । गयं संचयग्गं ॥ ७ ॥ इदाणिं भावग्गं मूलदारगाहाए भणियं ॥ ८ ॥ (अग्गं भावो तु त्ति) तं एवं वत्तव्वं भावो अ-ग्गं । किमुक्तं भवति-भाव एव अग्गं भावग्गं बन्धानुलोम्यात् । (अग्गं भावो उ) तं भावग्गं दुविहं-आगमओ णो आगमओ य । आगमओ जाणए उवउत्ते, णो आगमओ । इमं तिविहं-पहाणभा-वग्गं बहुयभावग्गं उवचारभावग्गं, एवं तिविहं । तुशब्दोऽर्थज्ञाप-नार्थः । ज्ञापयति-जहा एतेण तिविहभावग्गेण सहितो दस-विहग्गणिक्खेवो भवति , तत्थ पहाणभावग्गं उदइयादीण भा-वाण समीवओ पहाणे खातिगो भावो पहाणो त्ति गयं । इदा-णिं बहुयग्गं भण्णति—

जीवा पोग्गलसमया, दव्वपदेसा य पज्जवा चेव ।

थोवा णंताणंता, विसेसमहिया दुवे णंता ॥ ५६ ॥

जीवो आदी जस्स छक्कस्स तं जीवादिछक्कं , तं चिमं पोग्गला जीवा समया दव्वा पदेसा पज्जया चेति । एयंमि छक्के सव्वत्थोवा जीवा जीवेहिंतो पोग्गला अणंतगुणा पोग्गलेहिंतो स-मया अनंतगुणा समएहिंतो दव्वा विसेसाहिता दव्वेहिंतो पदेसा अणंतगुणा । जहासंखेण तेण भण्णति-बहुयग्गं पज्जया होंति बहु-त्तेण अग्गं बहुयग्गं बहुत्वेनाग्रं पर्याया भवन्तीति वाक्यशेषः। पुण-सद्दो बहुत्तावधारणत्थो दट्ठव्वो । गतं बहुयग्गं । इयाणिं उवचा-रग्गं-उवचरणं उवचारो नामग्रहणम्, अधिगममित्यर्थः । स च जीवाजीवभावेसु संभवति । जीवाजीवेसु औदयिकादिषु अजी-वभावेसु वर्णादिषु । तत्थ जीवाजीवभावाणं पिट्ठिओ जो घेप्प-इ सो उवचारग्गं भावग्गं भवति । इह तु जीवसुत्तभावोवचा-रग्गं दुविहं-सगलसुत्तभावोवचारग्गं देससुत्तभावोवचारग्गं च । तत्थ सगलसुत्तभावोवचारग्गं दिट्ठिवातो दिट्ठिवातचूला वा देससुत्तभावोवचारग्गं पडुच्च भण्णति । तं चिमं चेव पक-प्पज्झयणं । कह ?, जओ भण्णति—

पंचण्ह वि अग्गा णं, उवयारेणिदं पंचमं अग्गं ।

जं उवचरित्तु नाई, तम्मुवयारो ण इहरा तु ॥ ५७ ॥

(पंचण्ह वि इति) पंच संख्या (अग्गाणं ति) आयारग्गाणं ते य पंच चूलाओ । अविसद्दो पंचमाऽऽयारग्गन्थे भण्णति । ण-कारो देसिवयणेण वायपूरणे । जहा-समणे णं भगवया णं गुच्छा णं ति । उवयारग्गं उवचारः, तेण उवयारेण करणभूतेण (इदमिति) अयमाचारप्रकल्पः । (पंचमं अग्गं ति) पंचमं अग्गं उपचारेण अग्गं भवति । एवं चिनिच्छनिदयकरणा त्ति भण्णति । पं-चमचूलागं उवयारेणं अग्गं भवति, तेण नवति त्ति च्छं शिष्य आह कथम् ? । आचार्य आह-(जमिति) यं यस्मा-त् (उवचरित्तु त्ति) उपचर्य गृहीत्वा (नाई ति) ता-न्यग्राणि (तम्मे त्ति) आचारप्रकल्पस्य उपचारो भवेत् । प्र-तिषेधे (इहरा तु) अन्यथा गृहीतेषु तेषु पूर्वोक्त-पञ्च-विधचूलाग्राणि कथमेव अग्गेणाऽधिकारो भवति ? ।

उवचारग्गं तु पगतं, उवचरितागीतमविगतसंदा ।

उवचारमेत्तमेयं, केसिंचि ण तं कमो जम्हा ॥ ५८ ॥

उवचारो वक्खाणो । पगतं अहिगारः, प्रयोजनमित्यर्थः । तु-सद्दो अवधारणे पादपूरणे वा, उवयारसद्दसंपत्थयत्थं एतेसिं भण्णंति । उवचारो त्ति वा अहितंति वा आगमियं ति वा इति वा एगट्ठं (उवचारमेत्तमेयं ति) जमेयं पंचमं अग्गं भण्णइ णोवचरिज्जति, एतं उपचारमात्रं । उवचारमेत्तं नाम कल्पनं । कहं ?, जेण पढमचूलाए वि अग्गसद्दो पवत्तइ, एवं बितिय-उसु वि अग्गसद्दो पवत्तइ त्ति, तम्हा सव्वाणि अग्गाणि । सव्व-पसंगे य एगगा कप्पणा जा सा उपचारमात्रं भवति । केसिंचि-दाचार्याणामेवमाद्यगुरुप्रणीतार्थानुसारी गुरुवाद-(ण तं क-मो जम्हा इति) ण त्ति पडिसेहे (तं ति) केइ सक-प्पणा ण घडतीति वक्कसेसं । कमो त्ति नाम परिवाडी, अनु-क्रम इत्यर्थः (जम्हे त्ति) चउसु वि चूलासहितासु परिइय पंच-चूला दिज्जति, तम्हा कमोवचारा पंचमी चूला अग्गं भवति उ-चारेण अग्गाए वि अग्गं वक्कसेसं दट्ठव्वामिति । गतं मूलदारं ॥ ६ ॥ १० ॥ नि० चू० १ उ० ।

अग्गं च मूलं च विगिंच धीरे ।

अग्रं भवोपग्राहिकर्मचतुष्टयम् । मूलं घातिकर्मचतुष्टयं, यदि वा मोहनीयं मूलम् । शेषाणि त्वग्रं, यदि वा मिथ्यात्वं मूलं, शेषं च अग्रम् । तदेवं सर्वमग्रं मूलं च (विगिंच इति) त्यज्ञापनय पृथक् । तदनेनेदमुक्तं भवति-न कर्मणः पौद्गलिकस्यात्यन्तिकक्षयोऽस्त्यात्मनः पृथक्करणम्, कथं मोहनीयस्य मिथ्यात्वस्य च मूलत्वमिति चेत्तद्वशाच्छेषप्रकृतिबन्धः । यत उक्तम्- " न मोहमुत्सृत्य बन्ध उदितस्त्वया कर्मणां , न चैकविधबन्धन प्रकृतिबन्धतो यो महान् । अनादिभवहेतुरेष न च बध्यते नासकृत्, त्वया-तिकुटिला गतिः कुशलकर्मणां दर्शिता" ॥ १ ॥ तथा चागमः-"कहं णं भंते ! जीवा अट्ठकम्मपगडीओ बंधंति ?, गोयमा ! णाणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं दरिसणावरणिज्जं कम्मं नियच्छइ । दरिसणावरणिज्जकम्मस्स उदएणं दंसणमोहणिज्जं कम्मं नियच्छइ । दंसणमोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएण मिच्छत्तं नियच्छइ । मिच्छत्तेणं उदिण्णेणं एवं खलु जीवे अट्ठकम्मपगडीओ बंधइ" । क्षयोऽपि मोहनीयक्षयाविनाभावी । उक्तञ्च-"णायगम्मि हए संते, जहा सेणा विणस्सति । एवं कम्मा विणस्संति, मोहणिज्जे खयं गए" ॥ १ ॥ इत्यादि । अथवा, मूलमसंयमः कर्म वा, अग्रं संयमतपसी मोक्षो वा, ते मूलाग्रे धीरोऽक्षोभ्यो धीविराजितो वा विवेकेन दुःखसुखकारणतयाऽवधारय । आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । परिमाणे, नं० । विशे० । सू० प्र० । ज्यो० । " अग्गं ति वा परिमाणं ति वा एगट्ठा " । आ० चू० १ अ० । उपस० । "अन्ते अग्गेय देसग्गे तेणेय वयागए । देसग्ग देसावयव" । कि० १५ अ० । उत्कर्षे, समूहे, प्रधाने, अधिके, प्रथमे च । वि० । अरविन्दे, पुं० । वाच० ।

च हारिम्मि । इत्तनपि ननु अदत्तवद् ग्रहणम्, स्वत्वत्वा-द् । गृहस्थो द्वितीयपादोत्तरमाह-जावतिएण भत्तेण इच्छो से जावतियं वा कालं तुम्भिच्छो, गिही पुणो भणति-किं बहुणा भणिएण, जं तुम्भं रोयते इत्थं जावतियं जत्तियं वा कालं, तमहं सव्वं दाहामि त्ति । णिमंतणो पीलणपरि-णामेसु वि मासलहुं पच्छित्तं । चोदग आह—

मासावित्ते च उचियं, चोदगपुच्छाए पच्छिमो को त्ति ।
दोग्गे चउत्थम्मि, णितियम्मि य अग्गपिंडम्मि ॥२१७॥

मासावि णिसिज्ज कप्पति, अणिमंतणा वीक्ख अपरिमाणे य ।
जं वा वि य मनुदाणी, संनिक्खं दिज्ज साहूणं ॥२१८॥

मासादियं जं अप्पणो इच्छाए उचियं दिणे दिणे जतियं [illegible] भणति । परिसेसा भाविए णिमंतणापीलणा-[illegible] कप्पं साभा-[illegible] णिमंतणादिएहिं इमे दोसा—

[illegible] वि सभट्ठा, उग्गमदोसा उ उत्तिगादीया ।
[illegible], [illegible] य [illegible] ॥२१९॥

[illegible] उग्गमादिदोसा भवन्ति । [illegible] तम्हा [illegible]

[illegible], [illegible] ।
[illegible] य, [illegible] य ॥२२०॥

[illegible] आहाकम्मं [illegible] इमे कारणा—

[illegible], [illegible] ।
[illegible] ॥२२१॥

[illegible]

[illegible]

तत्र भुवनपतीन्द्राणामग्रमहिष्यः—

चमरस्स णं भंते ! असुरिंदस्स [illegible] अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ ? । अज्जो ! [illegible] हिसीओ पण्णत्ताओ, तं जहा—काली रायी [illegible] मेहा । तत्थ णं एगमेगाए देवीए अट्ठट्ठदेवीसहस्सा [illegible] पण्णत्तो, पभू णं ताओ एगमेगाए देवीए अन्नाइं अट्ठट्ठदेवीसहस्साइं परिवारं विउव्वित्तए, एवामेव सपुव्वावरेणं चत्तालीसं देवीसहस्सा सेत्तं तुडिए । पभू णं [illegible] चमरे असुरिंदे असुरकुमारराया चमरचंचाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए चमरंसि सीहासणंसि तुडिएणं सद्धिं [illegible] भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरित्तए ? । [illegible] समट्ठे, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ, णो पभू चमरे असु-रिंदे असुरराया चमरचंचाए रायहाणीए जाव विह-रित्तए । अज्जो ! चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो चमरचंचाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए [illegible] खंभे वइरामएसु गोलवट्टसमुग्गएसु बहूओ जिणस-कहाओ सन्निखित्ताओ चिट्ठंति, जाओ णं चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो अण्णेसिं च बहूणं असुरकुमा-राणं देवाण य देवीण य अच्चणिज्जाओ वंदणिज्जाओ नमंस-णिज्जाओ पूयणिज्जाओ सक्कारणिज्जाओ सम्माणणिज्जाओ कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासणिज्जाओ भवंति, तेसिं पणिहाए णो पभू ! से तेणट्ठेणं अज्जो ! एवं वुच्चइ णो पभू चमरे असुरिंदे असुरराया चमरचंचाए रायहाणीए जाव विहरित्तए पभू णं ! अज्जो ! चमरे असुरिंदे असुरराया चमरचंचाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए चमरंसि सीहासणंसि चउसट्ठी सामाणियसाहस्सीहिं तायत्तीसाए जाव अण्णेहिं च बहूहिं असुरकुमारेहिं देवेहि य देवीहि य सद्धिं संपरिवुडे महयाहय जाव भुंजमाणे विहरित्तए केवलं परियारिड्ढीए णो चेव णं मेहुणवत्तियं ॥ भ० १० श० ५ उ० ।

अत्रार्थे पूर्वभवः—

तेणं कालेणं तेणं समए णं रायगिहे णामं णगरे [illegible] वण्णओ तस्स णं रायगिहस्स नगरस्स बहिया उत्तर-पुरच्छिमे दिसिभागे सन्थ णं गुणसिले णामं चेइए [illegible] होत्था । वण्णओ—तेणं कालेणं तेणं समए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी अज्जसुहम्मे णामं थेरे [illegible] जाइसंपन्ना कुलसंपन्ना जाव [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

गया। तेणं काले णं तेणं समए णं अज्जसुहम्मस्स अणगारस्स अंतेवासी अज्जजंबू नामं अणगारे जाव पज्जुवासमाणे एवं वयासी-जइ णं भंते ! समणे णं जाव संपत्ते णं छट्ठस्स अंगस्स पढमस्स सुयक्खन्धस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते, दोच्चस्स णं भंते ! सुयक्खन्धस्स धम्मकहाणं समणे णं जाव संपत्ते णं के अट्ठे पण्णत्ते, एवं खलु जंबू ! धम्मकहा णं दसवग्गा पण्णत्ता। तं जहा-चमरस्स अग्गमहिसीणं पढमवग्गे ॥ १ ॥ बलिस्स वइरोयणिंदस्स वइरोयणरन्नो अग्गमहिसीणं बीए वग्गे ॥ २ ॥ असुरिंदवज्जियाणं दाहिणिल्लाणं इंदाणं तइए वग्गे ॥ ३ ॥ उत्तरिल्लाणं असुरिंदवज्जियाणं भवणवासिइंदाणं अग्गमहिसीणं चउत्थे वग्गे ॥ ४ ॥ दाहिणिल्लाणं वाणमंतराणं इंदाणं अग्गमहिसीणं पंचमे वग्गे ॥ ५ ॥ उत्तरिल्लाणं वाणमंतराणं इंदाणं अग्गमहिसीणं छट्ठे वग्गे ॥ ६ ॥ चंदस्स अग्गमहिसीणं सत्तमे वग्गे ॥ ७ ॥ सूरस्स अग्गमहिसीणं अट्ठमे वग्गे ॥ ८ ॥ सक्कस्स अग्गमहिसीणं नवमे वग्गे ॥ ९ ॥ ईसाणस्स अग्गमहिसीणं दसमे वग्गे ॥ १० ॥ जइ णं भंते ! समणे णं जाव संपत्ते णं धम्मकहा णं दसवग्गा पन्नत्ता। पढमस्स णं भंते ! वग्गस्स समणे णं जाव संपत्ते णं के अट्ठे पण्णत्ते ?। एवं खलु जंबू ! समणे णं जाव संपत्ते णं पढमस्स वग्गस्स पंच अज्झयणा पन्नत्ता। तं जहा-काली १ राई २ रयणी ३ विज्जा ४ मेहा विज्जा ५। जइ णं भंते ! समणे णं जाव संपत्ते णं पढमस्स वग्गस्स पंच अज्झयणा पन्नत्ता। पढमस्स णं भंते ! अज्झयणं समणे णं जाव संपत्ते णं के अट्ठे पन्नत्ते ?। एवं खलु जंबू ! तेणं काले णं तेणं समए णं रायगिहे नगरे गुणसिलए चेइए, सेणिए राया, चिल्लणाए देवीए, सामी समोसरिए, परिसा निग्गया। जाव परिसा पज्जुवासति तेणं काले णं तेणं समए णं काली देवी चमरचंचाए रायहाणीए कालवडिंसगभवणे कालंसि सीहासणंसि चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं चउहिं महत्तरियाहिं सपरिवाराहिं तिहिं परिसाहिं सत्तहिं अणिएहिं सत्तहिं अणियाहिवईहिं सोलसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं अन्नेहिं य बहुएहिं कालवडिंसयभवणवासीहिं असुरकुमारेहिं देवेहि य देवीहि य सद्धिं संपरिवुडा महयाहय जाव विहरइ, इमं च णं केवलकप्पं जंबुद्दीवे दीवे विउलेणं ओहिणा आभोएमाणी पासइ। जत्थ समणं भगवं महावीरं जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे रायगिहे नगरे गुणसिले चेइए अहापडिरूवं ओग्गहं, ओगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणं पासइ, पासइत्ता हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिया पीइमण जाव हियया सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठेइत्ता पायपीढाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता करयल जाव कट्टु एवं वयासी-नमोऽत्थु णं अरिहंताणं जाव संपत्ताणं नमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव संपाविउकामस्स। वंदामि णं भगवं ! तं तत्थ गयं इह गया तिकट्टु वंदइ णमंसइ सीहासणवरगंसि पुरत्थाभिमुहे सुहनिसन्ने तए णं तीसे कालीए देवीए इमेयारूवे जाव समुप्पज्जित्था। सेयं खलु समणं भगवं महावीरं वंदित्ता जाव पज्जुवासित्तए तिकट्टु एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता आभिओगिअदेवे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया समणे भगवं महावीरे एवं जहा सूरियाभे तहेव आणत्तियं देइ जाव दिव्वं सुरवराभिगमणजोग्गं करेइ, करेइत्ता जाव पच्चुप्पिणह ते वि तहेव करेत्ता जाव पच्चुप्पिणंति, नवरं, जोयणसहस्सवित्थिन्नं जाणं, सेसं तहेव नाम गोयं साहेइ, तहेव नट्टविहिं उवदंसेइ, उवदंसेइत्ता जाव पडिगया (भंतेत्ति) भगवं गोयमे ! समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, एवं वयासी-कालीए णं भंते ! देवी सा दिव्वा देविड्ढीओ कहिं गया कूडागारसालादिट्ठंतो ?। अहो णं भंते ! काली देवी महिड्ढिया कालीए णं भंते ! देवीए सा दिव्वा देविड्ढीए किण्णा लद्धा किण्णा पत्ता किण्णा अभिसमन्नागया। एवं जहा सूरियाभस्स जाव एवं खलु गोयमा ! तेणं काले णं तेणं समए णं इहेव जंबुद्दीवे भारहे वासे आमलकप्पा नामं नयरी होत्था। वण्णओ-अंबसालवणे चेइए, जियसत्तू राया। तत्थ णं आमलकप्पाए नयरीए काले नामं गाहावई होत्था। अड्ढे जाव अपरिभूए तस्स णं कालस्स गाहावइस्स कालसिरी नामं भारिया होत्था सुकुमाला जाव सुरूवा। तस्स णं कालस्स गाहावतिस्स धूया कालसिरीए भारियाए अत्तया काली णामं दारिया होत्था। वड्ढा वड्ढकुमारी जुन्ना जुन्नकुमारी पडियपूयत्थणी निव्विन्नवरा वरगपरिवज्जिया वि होत्था। तेणं काले णं तेणं समए णं पासे अरहा पुरिसादाणिए आइगरे जहा वद्धमाणसामी, णवरं, णवुस्सेहे सोलसहिं समणसाहस्सीहिं अट्ठत्तीसाए अज्जियासाहस्सीहिं सद्धिं संपरिवुडे जाव अंबसालवणे समोसढे, परिसा णिग्गया जाव पज्जुवासति। तते णं सा काली दारिया इमीसे कहाए लद्धट्ठा समाणी हट्ठ तुट्ठ जाव हियया जेणेव अम्मापियरो तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता करयल जाव एवं वयासी-एवं खलु अम्मयाओ पासे अरहा पुरिसादाणीए आइगरे जाव विहरइ। तं इच्छामि णं अम्मयाओ तुब्भेहिं अब्भणुन्नाया समाणी पासस्स णं अरहओ पुरिसादाणीयस्स पायवंदिया गमित्तए। अहासुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंधं करेह। तए णं सा काली दारिया अम्मापिईहिं अब्भणुन्नाया समाणी हट्ठतुट्ठ जाव हियया एहाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगलपा...

सुद्धप्पावेसाति मंगल्लाति वत्थाति पवरपरिहिया अप्प-
महग्घाभरणालंकियसरीरा चेडिआ चक्कवालपरिकिन्ना
साओ गिहाओ पडिनिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता जेणेव
बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव धम्मियजाणपवरे तेणेव
उवागच्छति, उवागच्छित्ता धम्मियजाणपवरं दुरूढा।
तए णं सा काली दारिया धम्मियं जाणपवरं एवं जहा
देवाणंदाए जहापज्जुवासइ। तए णं पासे अरहा पुरिसा-
दाणीए कालीए दारियाए तीसे महइ, महइत्ता महालियाए
परिसाए धम्मकहाए तए णं सा काली दारिया पासस्स
णं अरहओ पुरिसादाणियस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णि-
सम्म हट्टतुट्ठ जाव हियया पासस्स णं अरहओ पुरिसा-
दाणीयस्स तिक्खुत्तो वंदइ नमंसइ, एवं वयासी-सद्दहामि
णं भंते ! निग्गंथं पावयणं जाव से जहेयं तुब्भे वयह जं
नवरं देवाणुप्पिया अम्मापियरो आपुच्छामि तए णं अहं
देवाणुप्पियाणं अंतिए जाव पव्वयामि। अहासुहं देवाणुप्पि-
या मा पडिबंधं करेह। तए णं सा कालिदारिया पासेणं अ-
रहा पुरिसादाणीए णं एवं वुत्ता समाणी हट्ठतुट्ठ जाव हि-
यया पासं अरहं वंदइ नमंसइ, नमंसइत्ता तमेव धम्मियं जा-
णपवरं दुरूहइ, दुरूहइत्ता पासस्स णं अरहो पुरसादाणीए
अंतियाओ अंबसालवणचेइयाओ पडिनिक्खमइ, पडिनि-
क्खमइत्ता जेणेव आमलकप्पा नयरी तेणेव उवागच्छइ,
उवागच्छइत्ता आमलकप्पं नयरिमज्झं मज्झेणं जेणेव बा-
हिरिआ उवट्ठाणसाला तेणेव उवागच्छति, उवागच्छि-
त्ता धम्मियं जाणपवरं ठवइ, ठवइत्ता धम्मियाओ जाण-
पवराओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता जेणेव अम्मापियरो तेणे-
व उवागच्छति, उवागच्छइत्ता करयलपरिग्गहियं एवं
वयासी-एवं खलु अम्मयाओ मए पासस्स णं अरहाओ
अंतिए धम्मं निसंते सेविय धम्मे इच्छिए पडिच्छिए अ-
भिरुइए। तए णं अहं अम्मयाओ संसारभउव्विग्गा जी-
या जम्मपरणाणं इच्छामि णं तुब्भेहिं अब्भणुन्नाया समाणी
पासस्स णं अरहओ अंतिए मुंडा भवित्ता आगाराओ अ-
णगारियं पव्वइत्तए। अहासुहं देवाणुप्पिया मा पडिबंधं करेह।
तए णं काले गाहावई विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं
उवक्खडावेति, उवक्खडावेत्ता मित्तनातिनियगसयणसंबं-
धीपरियणं आमंतेइ। आमंतइत्ता तओ पच्छा ण्हाए जाव विपु-
लेणं पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारेणं सक्कारित्ता संमाणित्ता तस्सेव
मित्तनातिनियगसयणसंबंधिपरियणस्स पुरओ कालीदा-
रियं सेयापीएहिं कलसेहिं ण्हवेइ, ण्हवेइत्ता सव्वालंकार-
विभूसियं करेइ, करेइत्ता पुरिससहस्सवाहिणीयं सीयं दुरूह-
इ, दुरूहइत्ता मित्तनाति जाव परियणसद्धिं संपरिवुडे स-
व्विड्ढीए जाव रवेणं आमलकप्पानयरिं मज्झं मज्झेणं नि-
ग्गच्छइ, निग्गच्छइत्ता जेणेव अंबसालवणे चेइए तेणेव उवा-
गच्छति, उवागच्छइत्ता छत्ताइए तित्थगराइसए पासइ, पासित्ता सी-
यं ठवेइ, ठवेइत्ता कालिया दारिया सीयाओ पच्चोरुहइ, प-
च्चोरुहइत्ता तते णं तं कालीयं दारियं अम्मापियरो पुरओ का-
उं जेणेव पासे अरहा पुरिसादाणीए तेणेव उवागच्छंति, उ-
वागच्छित्ता वंदंति, एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया का-
लियदारिया अम्हं धूया इट्ठा कंता जाव किमंग पुण पा-
सणयाए एस णं देवाणुप्पिया संसारभउव्विग्गा इच्छइ देवा-
णुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता, जाव पव्वइत्तए तं एयं
देवाणुप्पियाणं सिस्सिणि भिक्खं दलयामो पडिच्छंतु णं
देवाणुप्पिया सिस्सिणि भिक्खं। अहासुहं देवाणुप्पिया मा
पडिबंधं करेह। तए णं सा काली देवी कुमारी पासं अ-
रिहं वंदइ, वंदइत्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसिभागं अवक्कमइ,
अवक्कमइत्ता सयमेव आभरणमल्लालंकारं मुयति, मुयइ-
त्ता सयमेव लोयं करेति, जेणेव पासे अरहा पुरिसादाणीए
ए तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता पासं अरहं तिक्खुत्तो
वंदति नमंसंति, एवं वयासी-आलित्ते णं भंते ! लोए ए
जहा देवाणंदा जाव सयमेव पव्वाविओ तए णं पासे अरहा
पुरिसादाणीए कालीए सयमेव पुप्फचूलाए अज्जाए सि-
स्सिणियत्ताए दलयइ। तए णं सा पुप्फचूला अज्जा काली
कुमारिं सयमेव पव्वावेइ, जाव उवसंपज्जित्ताणं विहरइ।
तते णं सा काली अज्जया इरिया समिया जाव
गुत्तबंभचारिणी। तए णं सा काली अज्जा पुप्फचूलाए
अज्जाए अंतिए सामाइयमाइयाइं एगारस अंगाइं अहि-
अहिज्जइत्ता बहुहिं चउत्थं जाव विहरति। तए णं सा
काली अज्जा अन्नया कयाइं सरीरपाओसिया जाया या-
वि होत्था। अभिक्खणं अभिक्खणं हत्थं धोवइ, पाए धो-
वेइ, सीसं धोवेइ, मुहं धोवेइ, थणंतरा य धोवेइ, कक्खंतरा
धोवेइ, गुज्झंतरा य धोवेइ, जत्थ जत्थ वियणं ठाणं सेज्जं
वा निसीहियं वा चेएइ, तं पुव्वामेव अब्भुक्खित्ता तओ
पच्छा आसइ वा, सयइ वा तए णं सा पुप्फचूला अज्जा का-
लिं अज्जिं एवं वयासी-नो खलु कप्पइ देवाणुप्पिया समणी-
णं निग्गंथीणं सरीरपाउसीयाए होत्तए तुमं च णं देवा-
णुप्पिया सरीरपाउसिया जाया वि होत्था। अभिक्खणं
अभिक्खणं हत्था धोवसि, जाव आसयाहि वा सयाहि वा
तुमं देवाणुप्पिआ एयस्स ठाणस्स आलोएहिं जाव प-
च्छित्तं पडिवज्जाहि। तए णं सा काली अज्जा पुप्फचू-
लाए अज्जाए एयमट्ठं नो आढाइ जाव तुसिणीया संचिट्ठ,
एणं ताओ पुप्फचूलाओ अज्जाओ कालिं अज्जं अभिक्खणं
२ हीलंति, निंदंति, खिंसंति, गरहंति, अवमाणंति, अभिक्खणं
२ एयमट्ठं निवारेंति, तए णं तीसे कालीए अज्जाए समणी

कालोदाइ कालिकायो ७ ईसिसित्तिगाहए जाव वि- गत्तिकाणाइ देवाणंदे अब्भोलिए जाव महण्णाइकल्पा, तदा णं अहं कणगारवारावई घरिता तदा णं अहं सवं- ताए, अगलिनिया णं अहं कुंभा भविता अगारवाओ अणगारियं पव्वइया अणालिणि य णं अहं पउमा णामा । से एवं खलु सम चउ पाढ पवायाए गयोए जाव अंतेय पासेमयं दव्वसंपलिता णं वि- हरिसए लिवइ एवं संवेहेइ, संवेहेत्ता कल्लं जाव जलंते पासेमयं दव्वसंपेहइ, पेहत्ता तत्थ य अणा- गरिया अलोहिया कल्लेदमणी अभिवत्ता १ इच्चं एवं, जाव आगयाइ वा गयाइ वा तए णं सा काली पासत्था पासत्थविहारी कुसीला कुसीलविहारी अ- हाछंदा अहाछंदविहारी संसत्ता संसत्तविहारी बहूणि वा- साणि सामण्णपरियागं पाउणित्ता अद्धमासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसेइ, झूसेत्ता तीसं भत्ताइं अणसणाए छेदित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइय अपडिक्कंता कालमासे कालं कि- च्चा चमरचंचाए रायहाणीए कालि वडिसए भवणे उववाय- सभाए देवसयणिज्जंसि देवदूसंतरिआ अंगुलस्स असंखेज्ज- भागमेत्ताए ओगाहणाए काली देवी देवित्ताए उववन्ना । तए णं सा काली देवी अहुणोववन्ना समाणी पंचविहा- ए पज्जत्तीए जहा सूरियाभे जाव भासामणपज्जत्तीए । तए णं सा काली देवी चउण्हं सामाणियसाहस्सीणं जाव अन्नेसिं च बहूणं कालीवडिसगभवणवासीणं असुरकु- माराणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं जाव विहरइ, एवं खलु गोयमा ! कालीए देवीए सा दिव्वा देविड्ढी लद्धा पत्त- त्ता अभिसमन्नागया । कालीए णं भंते ! देवीए केवति- यं कालं ठिई पण्णत्ता ? । गोयमा ! अड्ढाइज्जा पलिओव- माइं ठिई पण्णत्ता, कालीए णं भंते ! देवी ताओ देवलो- गाओ अणंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छिहिति कहिं उववज्जि- हिति ? । गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ, एवं खलु जंबू ! समणेणं जाव संपत्तेणं पढमस्स वग्गस्स पढमज्झ- यणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि [पढमं अज्झयणं सम्मत्तं] ॥१॥ जति णं भंते ! समणेणं जाव संपत्तेणं धम्मकहाणं पढमस्स वग्गस्स पढमज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, बिइयस्स णं भंते ! अज्झयणस्स समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते ? । एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नगरे गुणसिलए चेइए सामी समोसढे परिसा निग्गया जाव पज्जु- वासइ । तेणं कालेणं तेणं समएणं राई देवी चमरचंचाए रा- यहाणीए, एवं जहा काली तहेव आगया नट्टविहिं उवदंसित्ता जाव पडिगया [भंते त्ति] भगवं गोयमे ! पुव्वभवपुच्छा । एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं आमलकप्पा नयरी अंबसालवणे चेइए जियसत्तू राया, राई गाहावई राइसिरी भारिया राई दारिया पासस्स समोसरणं राई दारिया जहेव काली तहेव णिक्खंता तहेव सरीरपाउसिया, तं चेव सव्वं जाव अंतं काहिति, एवं खलु जंबू ! बीयज्झयणस्स निक्खेवओ ॥२॥ जति णं भंते ! तइयस्स अज्झयणस्स उक्खेवओ, एवं खलु जंबू ! रायगिहे नयरे गुणसिले चेइए० एवं जहेव राई तहेव रयणी वि, नवरं, आमलकप्पा नयरी, रयणी गाहावती रयण- सिरी भारिया, रयणी दारिया, सेसं तहेव, जाव अंतं काहिति ॥३॥ एवं विज्जू वि, आमलकप्पा नयरी, विज्जू गाहावती विज्जुसिरी भारिआ विज्जू दारिया, सेसं तहेव ॥४॥ एवं मे- हा वि आमलकप्पा नयरी मेहा गाहावती मेहसिरी भारिआ मेहा दारिआ, सेसं तहेव । एवं खलु जंबू ! समणेणं जाव संपत्तेणं धम्मकहाणं पढमस्स वग्गस्स अयमट्ठे पण्णत्ते । ज्ञा०२श्रु०१वर्ग।

चमरस्स णं भंते ! असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो सोमस्स महारण्णो कइ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ ? । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा– कणगा कणगलया चित्तगुत्ता वसुंधरा । तत्थ णं एगमेगाए देवीए एगमेगं देवीसहस्सं परिवारो पण्णत्तो । पभू ! णं ताओ एगमे- गा देवी अण्णं एगमेगं देवीसहस्सपरिवारं विउव्वित्तए ? एवामेव सपुव्वावरेणं चत्तारि देवीसहस्सा सेत्तं तुडिए । पभू णं भंते ! चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो सोमे महाराया सोमाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए सोमंसि सीहासणंसि तुडिएणं अवसेसं जहा चमरस्स, णवरं, परि- वारो जहा सूरियाभस्स, सेसं तं चेव, जाव णो चेव णं मेहु- णवत्तियं । चमरस्स णं भंते ! जाव रण्णो जमस्स महारण्णो कइ अग्गमहिसीओ ? । एवं चेव, णवरं, जमाए रायहाणीए०, सेसं जहा सोमस्स । एवं वरुणस्स वि, णवरं, वरुणाए रायहा- णीए०, एवं वेसमणस्स वि, णवरं, वेसमणाए रायहाणीए०, सेसं तं चेव जाव मेहुणवत्तियं । बलिस्स णं भंते ! वइरोयणिं- दस्स पुच्छा । अज्जो ! पंच अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा– सुंभा णिसुंभा रंभा, निरंभा मदणा । तत्थ णं एग- मेगाए देवीए अट्ठट्ठ०, सेसं जहा चमरस्स, णवरं, बलिचंचाए रायहाणीए परिवारो जहा मोउद्देसए, सेसं तं चेव जाव मेहुणवत्तियं । बलिस्स णं भंते ! वइरोयणिंदस्स वइरोयण- रण्णो सोमस्स महारण्णो कइ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ ? । अ- ज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा- सुभद्दा विज्जुया असणी । तत्थ णं प[illegible] जहा चमरस्स । एवं जाव वेसमण[illegible] णामो पुं[illegible]

जइ णं भंते ! समणे णं जाव संपत्ते णं दोच्चस्स वग्गस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! समणे णं जाव संपत्ते णं दोच्चस्स वग्गस्स पंच अज्झयणा पण्णत्ता । तं जहा–सुंभा १ निसुंभा २ रंभा ३ निरंभा ४ मदणा ५ । जइ णं भंते ! समणे णं जाव संपत्ते णं धम्मकहा णं दोच्चस्स वग्गस्स पंच अज्झयणा पन्नत्ता । दोच्चस्स णं भंते ! वग्गस्स पढमज्झयणस्स केअट्ठे पन्नत्ते ? । एवं खलु जंबू ! तेणं काले णं तेणं समए णं रायगिहे गुणसिले चेइए, सामी समोसढे, परिसा० जाव पज्जुवासति, तेणं काले णं तेणं समए णं सुंभा देवी बलिचंचाए रायहाणीए सुंभवडिंसए भवणे सुंभंसि सिंहासणंसि कालिगमए णं जाव णट्टविहिं उवदंसेत्ता जाव पडिगया पुव्वभवपुच्छा । सावत्थी नयरी, कोट्ठए चेइए, जियसत्तू राया, सुंभे गाहावई, सुंभसिरी भारिआ, सुंभा दारिया, सेसं जहा कालीए, नवरं, अद्भुट्ठाति पलिओवमाइं ठिती, एवं खलु जंबू ! उक्खेवगो पढमस्स अज्झयणस्स, एवं सेसा वि चत्तारि अज्झयणा सावत्थीए, नवरं, माया पिया धूयसिरिरितिनामया । एवं खलु जंबू ! निक्खेवओ बीयस्स वग्गस्स । ज्ञा०२श्रु०२अ०

धरणस्य—

धरणस्स णं भंते ! णागकुमारिंदस्स णागकुमाररण्णो कइ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ ? । अज्जो ! छ पण्णत्ताओ । तं जहा-अला सक्का सतेरा सोदामिणी इंदा घणविज्जुया । तत्थ णं एगमेगाए देवीए छ छ देवीसहस्सपरिवारो पण्णत्तो । पभू ! णं ताओ एगमेगा देवी अण्णाइं छ छ देवीसहस्साइं परियारं विउव्वित्तए, एवामेव सपुव्वावरेणं छत्तीसं देविसहस्साइं, सेत्तं तुडिए । पभू ! णं भंते ! धरणे, सेसं तं चेव, णवरं, धरणाए रायहाणीए धरणंसि सीहासणंसि सओ परिवारो, सेसं तं चेव । धरणस्स णं भंते ! णागकुमारिंदस्स कालवालस्स लोगपालस्स महारण्णो कइ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ ? । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा–असोगा विमला सुप्पभा सुदंसणा । तत्थ णं एगमेगाए देवीए०, अवसेसं जहा चमरलोगपालाणं, सेसाणं तिण्हि वि ।

भूतानन्दस्य—

भूयाणंदस्स णं भंते ! पुच्छा । अज्जो ! छ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-रूया रूयंसा सुरूया रूयगावई रूयकांता रूयप्पभा । तत्थ णं एगमेगाए देवीए०, अवसेसं जहा धरणस्स । भूयाणंदस्स णं भंते ! णागकुमारस्स चित्तस्स पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा–सुणंदा सुभद्दा सुजाया सुमणा । तत्थ णं एगमेगाए देवीए०, अवसेसं जहा चमरलोगपालाणं । एवं सेसाण वि तिण्हि वि लोगपालाणं जहा, दाहिणिल्ला इंदा, तेसिं जहा धरणस्स । लोगपालाण वि, तेसिं जहा धरणलोगपालाणं । उत्तरिंदाणं जहा भूयाणंदस्स । लोगपालाणं वि, तेसिं जहा भूयाणंदस्स [illegible] णं, णवरं, इंदाणं सव्वेसिं रायहाणीओ सीहासणाणि य सरिसणामगाणि, परियारो जहा मोओद्देसए, [illegible] सव्वेसिं रायहाणीओ सीहासणाणि य [illegible] परियारो जहा चमरलोगपालाणं । भ० १० श० ५ उ० ।

भूतानन्दसूत्र-(एवमिति) यथा कालवालस्य [illegible] नवरं, तृतीयकपाले चतुर्थो वाच्यः । धारणस्य [illegible] रनिकायेन्द्रस्य लोकपालानामग्रमहिष्यो यथा [illegible] था २ तथाभिधा एव सर्वेषां [illegible] सुवेणुहरिकान्तानिशिग्नपूर्णजलकान्तामितगतिवेलम्ब [illegible] नामिन्द्राणां ये लोकपालाः तेषु दक्षिणात्येषां सर्वेषां [illegible] यथा च भूतानन्दस्यौदीच्यनागराजस्य [illegible] दीच्येन्द्राणां [illegible] हनवभञ्जनमहाघोषाख्यानां ये लोकपालास्तेषामपि [illegible] याह—जहा धरणस्सेत्यादि ।

आसां पूर्वभवः—

उक्खेवओ तइयवग्गस्स । एवं खलु जंबू ! समणे णं जाव संपत्ते णं तइयस्स वग्गस्स चउप्पन्ना अज्झयणा पन्नत्ता । तं जहा-पढमे अज्झयणे जाव चउप्पन्नतिमे अज्झयणे । जइ णं भंते ! समणे णं जाव संपत्ते णं धम्मकहा णं तइयस्स वग्गस्स चउप्पण्णा अज्झयणा पन्नत्ता । पढमस्स णं भंते ! अज्झयणस्स समणे णं जाव संपत्ते णं केअट्ठे पन्नत्ते ? । एवं खलु जंबू ! तेणं काले णं तेणं समए णं रायगिहे नगरे गुणसिले चेइए, सामी समोसढे, परिसा निग्गया जाव पज्जुवासति । तेणं काले णं तेणं समए णं अला देवी धरणा रायहाणीए अलावडिंसए भवणे अलंसि सिंहासणंसि, एवं कालीगमएणं जाव नट्टविहं उवदंसेत्ता पडिगया पुव्वभवपुच्छा । वाणारसी कामसहावणे चेइए अले गाहावती अलत्तसिरी भारिआ अला दारिया, सेसं जहा कालिए, नवरं, धरणस्स अग्गमहिसित्ताए उववाओ साइरेगं अद्धपलिओवमं ठिती, सेसं तं चेव । एवं खलु निक्खेवओ पढमज्झयणस्स । एवं कमा सक्का सतेरा सोदामिणी इंदा घणविज्जुया वि, सव्वाओ एयाओ धरणस्स अग्गमहिसीओ । एते छ अज्झयणा वेणुदेवस्स अविसेसा भाणियव्वा, एवं जाव घोसस्स वि एते चेव अज्झयणा । एए चेव दाहिणिल्लाणं इंदाणं चउप्पन्नं अज्झयणा भवंति । सव्वाओ वि वाणारसीए कामसहावणे चेइए [illegible] निक्खेवओ । चउत्थस्स वग्गस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! समणे णं जाव संपत्ते णं धम्मकहा णं चउत्थस्स वग्गस्स चउप्पण्णा अज्झयणा पन्नत्ता । तं जहा-पढमे अज्झयणे जाव चउप्पन्न इमे अज्झयणे, पढमस्स अज्झयणस्स उक्खेवओ । एवं खलु जंबू ! तेणं काले णं तेणं समए णं रायगिहे समोसरणं जाव परिसा पज्जुवासइ । तेणं काले णं तेणं समए णं रूया देवी रूयाणंदा रायहाणीए रूयगवडिंसए भवणे रूयगंसि [illegible]

सीहासणंसि जहा कालिए तहा, नवरं, पुव्वभवे चंपाए पुन्न-भद्दे चेइए रूए गाहावई रूयगसिरी भारिआ रूया दारिया. सेसं तहेव. नवरं, भूयाणंदा अग्गमहिसित्ताए उववाओ देसू-णं पलिओवमट्ठिती निक्खेवओ। एवं खलु जंबू ! सुरूवा वि रूयंसा वि रूयगावई वि रूयकंता वि रूयप्पभा वि, एयाए चेव उत्तरिल्लाणं इंदाणं भाणियव्वाओ जाव महा-घोसस्स। निक्खेवओ चउत्थस्स वग्गस्स । ज्ञा०२ श्रु०१ वर्ग ।

व्यन्तरेन्द्राणां कालस्य—

कालस्स णं भंते ! पिसायइंदस्स पिसायरण्णो कइ अग्ग-महिसीओ पण्णत्ताओ ? । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ। तं जहा-कमला कमलप्पभा उप्पला सुदंसणा। त-त्थ णं एगमेगाए देवीए एगमेगं देवीसहस्सं, सेसं जहा चम-रलोगपालाणं, परिवारो तहेव, णवरं, कालाए रायहाणीए कालंसि सीहासणंसि, सेसं तं चेव, एवं महाकालस्स वि।

सुरूपस्य—

सुरूवस्स णं भंते ! भूइंदस्स भूयरण्णो पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-रूयवई बहुरूवा सुरूवा सुभगा । तत्थ णं एगमेगा०, सेसं जहा कालस्स, एवं पडिरूवस्स वि ।

पूर्णभद्रस्य—

पुण्णभद्दस्स णं भंते ! जक्खिंदस्स पुच्छा। अज्जो ! च-त्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-पुण्णा बहुपु-त्तिया उत्तमा तारया । तत्थ णं एगमेगाए०, सेसं जहा कालस्स, एवं माणिभद्दस्स वि ।

भीममहाभीमयोः—

भीमस्स णं भंते! रक्खसिंदस्स पुच्छा। अज्जो ! चत्ता-रि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-पउमा पउमावई कणगा रयणप्पभा । तत्थ णं एगमेगा देवी०, सेसं जहा कालस्स, एवं महाभीमस्स वि ।

किन्नरस्य—

किण्णरस्स णं भंते ! पुच्छा। अज्जो ! चत्तारि अग्गम-हिसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-वडिंसा केउमई रइसेणा रइप्पिया । तत्थ णं०, सेसं तं चेव । एवं किंपुरिसस्स वि ।

सुपुरुषस्य—

सुपुरिसस्स णं पुच्छा । अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ। तं जहा-रोहिणी नवमिया हिरी पुप्फवई। तत्थ णं एगमेगा देवी०, सेसं तं चेव । एवं महापुरिसस्स वि ।

अतिकायस्य—

अइकायस्स णं पुच्छा। अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-भुयगा भुयगवई महाकच्छा फुडा । तत्थ णं०, सेसं तं चेव । एवं महाकायस्स वि ।

गीतरतेः—

गीयरइस्स णं भंते ! पुच्छा। अज्जो ! चत्तारि अग्गमहि-सीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-सुघोसा विमला सुस्सरा स-रस्सई। तत्थ णं०, सेसं तं चेव। एवं गीयजसस्स वि। सव्वे-सिं एएसिं जहा कालस्स, णवरं, सरिसनामगाओ रायहा-णीओ सीहासणाणि य, सेसं तं चेव। भ०१०श०५उ०।

आसां पूर्वभवः—

पंचमवग्गस्स उक्खेवओ। एवं खलु जंबू ! जाव बत्तीसं अज्झयणा पण्णत्ता । तं जहा–

कमला कमलप्पभा, उप्पला य सुदंसणा ।
रूववई बहुरूवा, सुरूवा सुभगा वि य ॥ १ ॥
पुन्ना बहुपुत्तिया च, उत्तमा तारया वि य।
पउमावती वसुमई, कणगा कणगप्पभा ॥ २ ॥
वडेंसा केउमई च, वइरसेणा रइप्पिया ।
रोहिणी नवमिआ वि, हिरी पुप्फवई इय ॥ ३ ॥
भुयगा भुयगावती, महाकच्छा फुडाइया।
सुघोसा विमला चेव, सुस्सराइ सरस्सई ॥ ४ ॥

उक्खेवओ पढमज्झयणस्स। एवं खलु जंबू! तेणं कालेणं तेणं समए णं रायगिहे णयरे समोसरणं जाव पज्जुवासइ। तेणं कालेणं तेणं समए णं कमला देवी कमलाए रायहाणीए कमलवर्डिसए भवणे कमलंसि सीहासणंसि०, सेसं जहा कालीए तहेव, नवरं, पुव्वभवे नागपुरे णगरे सहसंबवणे उज्जाणे कमलस्स गाहावइस्स कमलसिरी भारिया कमला दारिया पासस्स णं अंतिए निक्खंता, कालस्स पिसायकुमा-रिंदस्स अग्गमहिसीओ अद्धपलिओवमट्ठिती, एवं सेसा वि अज्झयणा। दाहिणिल्लाणं वाणमंतरिंदाणं भाणियव्वाओ स-व्वाओ,नागपुरे सहसंबवणे उज्जाणे मायापियरो धूयासरि-सनामया ठिती अद्धपलिओवमं। पंचमो वग्गो सम्मत्तो ॥५॥ छट्ठो वि वग्गो पंचमसरिसो, नवरं, महाकालिंदाणं उत्तरि-ल्लाणं इंदाणं अग्गमहिसीओ पुव्वभवे साएए णयरे उत्तरकु-रुउज्जाणे मायापियरो धूयसरिसणामया सेसं तं चेव। छट्ठो वग्गो सम्मत्तो । ज्ञा० २ श्रु० ६ व० ।

ज्योतिष्केन्द्राणाम्—

चंदस्स णं भंते ! जोतिसिंदस्स जोतिसरण्णो कति अग्ग-महिसीओ पण्णत्ताओ ?। चत्तारि अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ। तं जहा-चंदप्पभा दोसिणाभा अच्चिमाली पभंकरा। तत्थ णं एगमेगाए देवीए चत्तारि चत्तारि देवीसाहस्सीओ परिवारो पण्णत्तो। पभू ! णं ताओ एगमेगा देवी अन्नाइं चत्तारि चत्ता-रि देवसाहस्साइं परिवारं विउव्वित्तए, एवामेव सपुव्वाव-रेणं सोलसदेवीसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, सेत्तं [illegible]

(चंदस्स णं भंते ! इत्यादि) चन्द्रस्य ज्योतिष्कराजस्य कति [illegible] भगवानाह—गौतम ! चतस्रो. [illegible] ([illegible])

हावइस्स सूरसिरिए भारियाए सूरप्पभा दारिया सूर-
अग्गमहिसी ठिती अद्धपलिओवमं पंचहिं वाससएहिं
ब्भहियं, सेसं जहा कालिए। एवं सेसाओ वि सव्वाओ
रक्खुपुरीए नयरीए [सत्तमवग्गो सम्मत्तो]॥७॥ अट्ठमस्स
गस्स उक्खेवो। एवं खलु जंबू ! जाव चत्तारि अज्झयणा
त्ता। तं जहा–चंदप्पभा दोसिणाभा अच्चिमाली पभंकरा।
मस्स अज्झयणस्स उक्खेवओ। एवं खलु जंबू ! तेणं काले
तेणं समए णं रायगिहे समोसरणं जाव परिसा पज्जुवा-
। तेणं काले णं तेणं समए णं चंदप्पभा देवी चंदप्पभंसि
हासणंसि, सेसं जहा कालिए, नवरं, पुव्वभवे महुराए न-
ए भंडीवडिंसए उज्जाणे चंदप्पभे गाहावई चंदसि-
भारिया चंदप्पभा दारिया चंदस्स अग्गमहिसी ठिती
द्धपलिओवमं पन्नासं वाससहस्सेहिं अब्भहियं, सेसं जहा
लीए, एवं सेसाओ वि महुराए नयरीए मायापियरो
धूयसरिसनामया [अट्ठमो वग्गो सम्मत्तो] ज्ञा० २ श्रु० ।

वैमानिकानां शक्रस्य–

सक्कस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो पुच्छा। अज्जो ! अट्ठ
ग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ। तं जहा–पउमा सिवा सेया
जू अमला अच्छरा नवमिया रोहिणी। तत्थ णं एगमे-
ए देवीए सोलस २ देवीसहस्सपरिवारो पण्णत्तो। पभू !
ताओ एगमेगा देवी अन्नाइं सोलस २ देविसहस्सा-
परिवारं विउव्वित्तए। एवामेव सपुव्वावरेणं अट्ठावी-
सं देवीसयसहस्सं परिवारो विउव्वित्तए, सेत्तं तुडिए।
० १० श० ५ उ० ।

पासकदशाङ्गटीकायां कामदेववक्तव्यतायामभयदेवसूरिणा
ग्रमहिषीपरिवारः प्रत्येकं पञ्चसहस्राणि, सर्वमीलने चत्वा-
शत्सहस्राणीति लिखितम्, तच्चिन्त्यम्। उं०। स्था०।

भोगः–

पभू ! णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया सोहम्मे कप्पे सोह-
म्मवडिंसए विमाणे सभाए सुहम्माए सक्कंसि सीहासणंसि
देए णं सद्धिं, सेसं जहा चमरस्स, णवरं, परिवारो जहा
ओद्देसए।

शक्रलोकपालानाम्–

सक्कस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो
ति अग्गमहिसीओ ? पुच्छा। अज्जो ! चत्तारि अग्गमहिसी-
पण्णत्ताओ। तं जहा–रोहिणी मदणा चित्ता सोमा। तत्थ
एगं०, सेसं जहा चमरलोगपालाणं, णवरं, सयंपभे विमाणे
भाए सुहम्माए सोमंसि सीहासणंसि, सेसं तं चेव, एवं जाव
समणस्स, णवरं, विमाणाइं जहा तइयसए। भ० १० श०
उ०। सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो वरुणस्स महारण्णो
छ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ। स्था० ७ ठा०।

ईशानस्य–

ईसाणस्स णं भंते ! पुच्छा। अज्जो ! अट्ठ अग्गमहिसीओ
पण्णत्ताओ। तं जहा–कण्हा कण्हराती रामा रामरक्खिया
वसू वसुगुत्ता वसुमित्ता वसुंधरा। तत्थ णं एगमेगाए०, सेसं
जहा सक्कस्स। भ० १० श० ५ उ०। स्था०।

ईशानलोकपालानाम्–

ईसाणस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महार-
ण्णो कति अग्गमहिसीओ ? पुच्छा। अज्जो ! चत्तारि अग्गम-
हिसीओ पण्णत्ताओ। तं जहा–पुढवी राई रयणी विज्जू।
तत्थ णं०, सेसं जहा सक्कस्स लोगपालाणं। एवं जाव वरु-
णस्स, णवरं, विमाणा जहा चउत्थसए, सेसं तं चेव जाव णो
चेव णं मेहुणवत्तियं। भ० १० श० ५ उ०। सक्कस्स णं
देविंदस्स देवरन्नो सोमस्स महारण्णो छ अग्गमहिसीओ
पण्णत्ताओ। सक्कस्स णं देविंदस्स देवरन्नो जमस्स महार-
न्नो छ अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ। स्था० ६ ठा०। ईसा-
णस्स णं देविंदस्स देवरण्णो सोमस्स महारण्णो सत्त अग्गम-
हिसीओ पण्णत्ताओ। ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरण्णो जमस्स
महारण्णो सत्त अग्गमहिसीओ पण्णत्ताओ। स्था० ७ ठा०।
ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरण्णो वरुणस्स महारन्नो नव
अग्गमहिसीओ पन्नत्ताओ। स्था० ९ ठा०।

आसां पूर्वभवः–

नवमस्स० उक्खेवो। एवं खलु जंबू ! जाव अट्ठ अज्झयणा
पण्णत्ता। तं जहा–पउमा सिवा सुई अंजू रोहिणी नवमिया य
अचला अच्छरा। पढमज्झयणस्स उक्खेवओ। एवं खलु
जंबू ! तेणं काले णं तेणं समए णं रायगिहे समोसरणं परिसा
जाव पज्जुवासइ। तेणं काले णं तेणं समए णं पउमावई देवी
सोहम्मे कप्पे पउमवडिंसए विमाणे सभाए सुहम्माए पउ-
मंसि सीहासणंसि, जहा कालीए, एवं अट्ठ वि अज्झयणा
कालीगमए णं नेयव्वा, नवरं, सावत्थीए दो जणीओ हत्थि-
णाउरे दो जणीओ कंपिल्लपुरे दो जणीओ सागए दो जणी-
ओ पउमे पियरो विजया मायरो सव्वाओ वि पासस्स अं-
तिए पव्वइया सक्कस्स अग्गमहिसीओ ठिई सत्त पलिओव-
माइं महाविदेहे अंतं काहिति [नवमो वग्गो सम्मत्तो]॥९॥
दसमस्स० उक्खेवओ। एवं खलु जंबू ! जाव अट्ठ अज्झयणा
पण्णत्ता। तं जहा–कण्हा य कण्हराई रामा तह रामर-
क्खिया वसुया वसुगुत्ता वसुमित्ता वसुंधरा चेव। ईसाणे
पढमज्झयणस्स उक्खेवओ। एवं खलु जंबू ! तेणं काले णं
तेणं समए णं रायगिहे समोसरणं परिसा पज्जुवासइ। तेणं
काले णं तेणं समए णं कण्हा देवी ईसाणे कप्पे कण्हवडिं-
सए विमाणे सभाए सुहम्माए कण्हंसि सीहासणंसि,
सेसं जहा कालीए। एवं अट्ठ वि अज्झयणा काली–

गमए णं नेयव्वा, नवरं, पुव्वभवे वाणारसीए नयरीए दो जणीओ रायगिहे नगरे दो जणीओ सावत्थीए दो ज-णीओ कोसंबीए दो जणीओ रामेपिया धम्मा माया सव्वा-वि पासस्स अरहओ अंतिए पव्वइयाओ पुप्फचूलाए अ-ज्जाए सिस्सिणीयत्ता ईसाणस्स अग्गमहिसीओ ठिती नव-पलिओवमाइं महाविदेहे वासे सिज्झिहिंइ जाव सव्वदुक्खा-णं अंतं काहिंइ । एवं खलु जंबू ! निक्खेवओ [दसमो वग्गो सम्मत्तो] ज्ञा० २ श्रु० ।

कृष्णस्याग्रमहिष्यः—

कण्हस्स णं वासुदेवस्स अट्ठ अग्गमहिसीओ०, अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स अंतियं मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइया सिद्धाओ जाव सव्वदुक्खप्पहीणाओ । तं जहा—पउमावई य गोरी,गंधारी लक्खणा सुसीमा य । जंबू-वई सच्चभामा रुप्पिणी अग्गमहिसीओ ॥ १ ॥ स्था० ८ ठा० । [illegible] ([illegible] राजधान्यो ' रायहाणी ' शब्दे दर्शिताः)

अग्गरस—अग्र्यरस—पुं० अग्र्यः प्रधानो रसो येन्यस्ते अग्र्यरसाः । [illegible] शृङ्गाररसे च । उत्त० १४ अ० । [illegible]—न० [illegible] । प्राकृतत्वात् [illegible] पूर्व-[illegible] । [illegible], उत्त० १४ अ० ।

गुरुंभिया कामगुणा इमे ते, संपिंडिया अग्गरसप्पभूआ [illegible] कामगुणाः ? । [illegible] अग्र्यः प्रधानो रसो [illegible] शृङ्गाररसो [illegible] इत्यर्थः । यदुक्तम्-"र-[illegible] । [illegible] । [illegible] शृङ्गाररसः समुद्भवति " ॥ १ ॥ अग्रधरस्याथ ते प्रभू-[illegible] इत्यर्थ । अथवाऽन्यरसेन शृ-[illegible] ([illegible]) [illegible] अग्रप्रस्य [illegible] प्रभूता, प्रभु-[illegible] शृङ्गारा [illegible] । कामगुणविशेषणं वा, [illegible] तेषु ते तथा । [illegible] कामगुणाः । सूत्रे च प्राकृतत्वा-[illegible] । उत्त० १४ अ० ।

[illegible]

[illegible] ।

[illegible] ।

[illegible]

अग्गल—[illegible] । [illegible]

[illegible] ।

[illegible]

विष्कम्भमात्रे, रोधकमात्रे, स्त्री० न० । वाच० । "अग्गला [illegible] लपासाया य वइरामईतो " रा० ।

अग्गबीय—अग्रबीज—न० । अग्रे बीजं येषां ते तथा, को-रण्टकादयः । अग्रे वा बीजं येषां ते अग्रबीजाः । [illegible] स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अग्गवेओ—देशी—नदीपूरे, दे० ना० १ वर्ग ।

अग्गसिर—अग्रशिरस्—न० शिरोऽग्रे, "घणनिचियसुबद्ध[illegible] णुन्नयकूडागारणिभपिंडियग्गसिरा " तं० ।

अग्गसिहर—अग्रशिखर—न० वनस्पत्यादीनां शिखाग्रे, "सं [illegible] हियवरं कुरग्गसिहरा " । औ० । रा० ।

अग्गसुयक्खन्ध—अग्रश्रुतस्कन्ध—पुं० आचाराङ्गस्य द्वितीयश्रु-तस्कन्धे, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अग्गसोएडा—अग्रशुण्डा—स्त्री० शुण्डाग्रे, उपा० २ अ० ।

अग्गह-आग्रह—पुं० आ-ग्रह-अच् । ममताऽभिनिवेशे, प्रति० । मिथ्याभिनिवेशे, षो० १२ विव० । आवेशे, आसक्तौ, [illegible] अनुग्रहे, ग्रहणे च । वाच० ।

अग्गहच्छेयकारि (ण्)—आग्रहच्छेदकारिन्-त्रि० [illegible] च्छेदके, "समाधिराज एतच्च, तदेतत्तत्त्वदर्शनम् । आग्रह-कार्यैतत्, तदेतदमृतं परम" ॥ १ ॥ द्वा० २५ द्वा० ।

अग्गहण—अग्रहण—न० अनादरे, "अहा पुण अग्गहणं, [illegible] तो वा विपरिणमेज्जासो" बृ० ३ उ० । अनुपादाने, [illegible] अ० । "पसणमएसणिज्जं, तिएहं अग्गहणओसणयाए" । [illegible] नि० १ सं० ।

अग्गहणवग्गणा—अग्रहणवर्गणा—स्त्री० वर्गणाभेदे, [illegible]

अग्गहत्थ—अग्रहस्त—पुं० अग्रश्चासौ हस्तश्चेति गुणगुणि-भेदात् । क० स० । हस्तस्याग्रभागे, वाच० । हस्ताग्रे, अनु० ।

अग्गहि (ण्)—आग्रहिन्—त्रि० अभिनिवेशिनि, "आग्रही बत ! निनीषति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा । पक्षपात-रहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्" ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० अ० ३ उ० ।

अग्गाणीअ—अग्राणी (नी) क—न० [illegible] गुणिनोरभेदात् । क० स०, [illegible] । वाच० । [illegible] अरहस्स एणं [illegible] तस्स उवागच्छति' [illegible] ।

अग्गा (गे) णीअ—अग्रायणीय—न० अग्रं परिमाणं, तस्य अयनं गमनं परिच्छेद इत्यर्थः, तस्मै हितमग्रायणीयम् । [illegible] द्वि-[illegible] [illegible]परिच्छेदकारिणि द्वितीयपूर्वे, तत्र [illegible] ग्रायणीयम् । अग्रं परिमाणं तस्य अयनं गमनं, परिच्छेद इत्य-र्थः, तस्मै हितमग्रायणीयम् । सर्वद्रव्यादिपरिमाणपरिच्छेद-कारि इति भावार्थः । तथाहि-तत्र सर्वद्रव्याणां [illegible] सर्वजीवविशेषाणां च परिमाणमुपवर्ण्यते । [illegible] [illegible] पज्जवाण य अग्गं परिमाणं वण्णिज्जइ त्ति" । [illegible] [illegible] । [illegible] ।

अग्गि—अग्नि—पुं० [illegible] ।

[illegible]

ऽप्रकारः । अग्नि, अग्गी । प्रा० । वैश्वानरे, पुं० । निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां चोत्तरेषामपि परस्परदर्शनेन बहवो दोषा भवन्तीति दर्शनायामिदृष्टान्तप्ररूपणे अग्निनिक्षेप उक्तः । यथा-

दुविहो य होइ अग्गी, दव्वग्गी चेव तह य भावग्गी ।
दव्वग्गिम्मि अगारी, पुरिसो व घरं पलीवेंतो ॥

द्विविधश्च भवत्यग्निः, तद्यथा—द्रव्याग्निश्च भावाग्निश्च । द्रव्याग्नौ चिन्त्यमाने अगारी अविरतिकापुरुषो वा गृहं प्रदीपयन् यथा सर्वस्वं दहति, एवं साध्वी वा साधुर्वा सजीवगृहं सदनं मरुषाग्निना प्रदीपयन् चारित्रसर्वस्वं दहतीति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः । अथ विस्तरार्थमभिधित्सुर्द्रव्याग्निं विवृणोति-

तत्थ पुण होइ दव्वे, दहणादिगुणलक्खणो अग्गी ।
नामोदयपच्चइयं, दिप्पइ देहं समासज्ज ॥

तत्र तयोर्द्रव्याग्निभावाग्न्योर्मध्ये द्रव्याग्निः पुनरयं भवति—य एष दहनाद्यनेकलक्षणोऽग्निः, दहनं भस्मीकरणं तल्लक्षणः । आदिशब्दात् पचनप्रकाशनलक्षणश्च । देहमिन्धनकाष्ठादिकं समासाद्य प्राप्य नामोदयप्रत्ययमुष्णस्पर्शादिनामकर्मोदयाद् दीप्यते, स द्रव्याग्निरुच्यते ।

किमर्थं पुनरयं द्रव्याग्निरिति चेदत आह—

दव्वाइसन्निकरिसा, उप्पन्नो ताणि चेव डहमाणो ।
दव्वग्गि त्ति उ वुच्चइ, आदिमभावाइजुत्तो वि ॥

द्रव्यमरणिकाष्ठं, तस्य, आदिशब्दात् पुरुषप्रयत्नादेश्च यः सन्निकर्षः समायोगस्तस्मादुत्पन्न, तान्येव काष्ठादीनि द्रव्याणि दहन् यद्यप्यादिमेनौदयिकलक्षणेन भावेन युक्तोऽग्निनामकर्मोदयेनेत्यर्थः, आदिशब्दात्पारिणामिकादिभावेन च युक्तो वर्त्तते तथापि द्रव्याग्निः प्रोच्यते, द्रव्यादुत्पन्नो द्रव्याणां वा दाहकोऽग्निरिति व्युत्पत्तिसमाश्रयणात् ।

स पुनः कथं दीप्यत इत्याह—

सो पुणिधणमासज्ज, दिप्पति सीदती य तदभावा ।
नाणत्तं पि य लभए, इंधणपरिमाणतो चेव ॥

स पुनर्द्रव्याग्निरिन्धनं तृणकाष्ठादिकमासाद्य दीप्यते, सीदति च विनश्यति, तदभावादिन्धनाभावात् । नानात्वं विशेषस्तदपि च लभते, इन्धनतः परिमाणतश्च । तत्रेन्धनतो यथा-तृणाग्निः काष्ठाग्निरित्यादि । परिमाणतो यथा-महति तृणादाविन्धने महान् भवति, अल्पे चेन्धने स्वल्प इत्युक्तो द्रव्याग्निः ।

अथ भावाग्निं निर्युक्तिगाथापर्यन्तं व्याचष्टे-

भावम्मि होइ वेदो, इत्थी तिविहो नपुंसगादी उ ।
जइ तासि तहं अत्थि, किं पुण तासिं तयं नत्थि ? ॥

भावे भावाग्निर्विचार्यमाणे वेदो वक्तव्यो भवति । स च वेदस्त्रिविधो नपुंसकादिको ज्ञातव्यः । अत्र परः प्राह—यदि तासां संयतीनां तत्र मोहनीयं स्यात् तर्हि युष्मदुक्तोऽग्निदृष्टान्तोऽपि सफलः स्यात्, किं पुनः परं तासां तत्र मोहनीयं नास्ति, अतः कुतस्तासां भावाग्नेः संभवो भवेदिति भावः । एतदनुसरन् भावयिष्यते । अथानन्तरोक्तभावाग्निस्वरूपं स्पष्टयति-

उदयं पत्तो वेदो, भावग्गी होइ तदुवओगेणं ।
भावो चरित्तमादी, तं डहई तेण भावग्गी ॥

वेदः स्त्रीवेदादिरुदयं प्राप्तः सन्, तस्य स्त्रीवेदादिसंबन्धी य उपयोगः पुरुषाभिलाषादिलक्षणस्तेन हेतुभूतेन भावाग्निर्भवति । पुन इत्याह—भावश्चारित्रादिकः परिणामस्तं भावं येन कारणेन दहति तेन भावाग्निरुच्यते । भावस्य दाहकोऽग्निर्भावाग्निरिति व्युत्पत्तेः । कथं पुनर्दहतीति चेदुच्यते-

जह व माहीणरयणे, भवणे कस्सइ पमायदप्पेणं ।
डज्झंते समाहित्ते, अनिच्छमाणस्स वि वसूणि ॥
इय संदंसणसंभा-सणेहि संदीविओ मयणवन्ही ।
बम्भादीगुणरयणे, डहइ अनिच्छस्स वि पमाया ॥

यथा वा स्वाधीनरत्ने पद्मरागादिबहुरत्नकलिते भवने प्रमादेन दर्पेण वा समादीप्ते प्रज्वालिते सति कस्यचिदिभ्यादेरनिच्छतोऽपि वसूनि रत्नानि दह्यन्ते (इय त्ति) एवं संदर्शनमवलोकनं, संभाषणं मिथः कथा, ताभ्यां संदीपितः प्रज्वालितो मदनवह्निरनिच्छतोऽपि साधुसाध्वीजनस्य ब्रह्मादिगुणरत्नानि ब्रह्मचर्यतपःसंयमप्रभृतयो ये गुणास्त एव दौर्गत्यदुःखापहारितया रत्नानि प्रमादाद्दहति भस्मसात्करोति ।

अमुमेवार्थं द्रढयति-

सुक्खिंधणवातबला-भिदीवितो दिप्पते ऽहियं वन्ही ।
दिट्ठिंधणरागानिल-समीरितो वि इय भावग्गी ॥

शुष्केन्धनेन वायुबलेन वाऽभिदीपितो यथा वह्निरधिकं दीप्यते (इय त्ति) एवं दृष्टिरूपं यदिन्धनं यश्च रागरूपोऽनिलो वायुस्ताभ्यां समीरितः संदीपितो भृशं भावाग्निरपि दीप्यते । बृ० १ उ० । कल्प० । (अग्नेरेषणको 'धीर' शब्दे) (अग्नेः प्रथमोत्पादादयः 'उसह' शब्दे) वह्निनामके लोकान्तिकदेवे, आ० म० प्र० । कृत्तिकानक्षत्रस्य देवतायाम्, स्था० ४ ठा० २ उ० । "कत्तिया अग्गिदेवयाए" ज्यो० ६ पाहु० । सू० प्र० । "दो अग्गीओ" स्था० २ ठा० ३ उ० । "चत्तारि अग्गी जाव जमा" । अग्निरिति कृत्तिकानक्षत्रस्य देवता यावद्यम इति । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

अग्गि (अ) य–अग्निक–पुं० यमशिष्ये यमदग्निनामके तापसे, "यमाख्यस्तापसस्तत्र, स तत्पार्श्वेऽग्निकोऽगमत् । प्रपन्नस्तस्य शिष्यत्वं, स घोरं तप्यते तपः ॥ यमशिष्योऽग्निक इति यमदग्निरिति श्रुतः" आ० क० । आव० । आ० म० द्वि० । आ० चू० । (अस्य कथानकं 'कोह' शब्दे)

अग्गिओ–देशी–इन्द्रगोपकीटविशेषे, मन्दे च । दे० ना० १ वर्ग ।

अग्गिकज्ज–अग्निकार्य–न० यागादिविधौ, स्था० ।

अग्गिकारिया–अग्निकारिका–स्त्री० अग्निकर्मणि, साधूनां द्रव्याग्निकारिकाव्युदासेन भावाग्निकारिकैवानुज्ञाता । अष्ट० । ('अग्गिहोत्त' शब्दे चैतद् द्रष्टव्यम्)

अग्गिकुमार–अग्निकुमार–पुं० अग्निप्रधानाः कुमाराश्च कुमारवच्चेष्टमाना इति भुवनपतिदेवभेदे, प्रज्ञा० १ पद । (अल्पमहर्द्धिकत्वादयस्तच्छब्द एव द्रष्टव्याः) ('भवणवइ' शब्दे चाऽस्य वर्णादिकम्)

अग्गिकुमाराहवण–अग्निकुमाराह्वान–न० तैजसदेवसंकीर्तने, "अग्गिकुमाराहवणे धूवं पणे इहं वेति" पञ्चा० २ विव० ।

अग्गिच्च–आग्नेय–पुं० ब्रह्मलोके कृष्णराज्योर्मध्ये आग्नेयाभविमानवास्तव्ये ऽष्टमे लोकान्तिकदेवे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । प्रव० । भ० । ज्ञा० । ('लोगंतिग' शब्देऽस्य सर्वं वृत्तम्)

[illegible]

झानासिधो निउरणं, जाइजरामरणविप्पमुक्केणं ।
नामेण य गोत्तेण य, सव्वण्णू सव्वदरिसिणं ॥

आभाषितश्च संलपितश्च जातिजरामरणविप्रमुक्तेन सर्वज्ञेन सर्वदर्शिना च जिनेन । कथं ?, नाम्ना च हे अग्निभूते ! इति गोत्रेण च हे गौतमसगोत्र ! इति । इत्थं च नामगोत्राभ्यामामन्त्रितस्य तस्य चिन्ताऽभूत् । अहो ! नामापि मम विज्ञातं [illegible], जगत्प्रसिद्धोऽहं, कः किल मां न वेत्ति ? यदि हि मे हृद्गतं संशयं ज्ञास्यत्यपनेष्यति वा तदा भवेन्मम विस्मय इति चिन्तयति तस्मिन् भगवानाह–

किं मन्ने अत्थि कम्मं, उयाहु नत्थि त्ति संसओ तुज्झ ।
वेयपयाण य अत्थं, न याणसी तेसिमो अत्थो ॥

हे अग्निभूते गौतम ! त्वमेतन्मन्यसे [illegible] मिथ्यात्वादिहेतुसमन्वितेन जीवेन [illegible] ज्ञानावरणादिकं तदिकर्माऽस्ति न वेति ? [illegible] विरुद्धवेदपदनिबन्धनो वर्तते, तेषां च वेदपदानां त्वमर्थं न जानासि तेन संशयं करोषि । तेषां च [illegible] [illegible] इति । [illegible] 'कम्म' शब्दे तृतीये भागे [illegible]

[illegible]

तीरेवेन वायुमतो हर पव । वि च । कर्म विना यतः सुर्वो, भ- स्मां कृत्वो, यतः प्रभुः, कस्य: विद्र इत्यादि प्रश्नं जगदैमिर्गं कथं नाम संभवतीति पृष्ट्वा गतसंशयः प्रव्रजितः । इति द्वितीयो गणधरः । कल्प० । आ० म० प्र० (अस्य 'गणहर' शब्दे वक्तव्यम्) पादवर्णिपूर्त्वा, दीर्घे च । स्त्री० । ६ श० । पहिमस्मधे, त्रि० । वाच० ।

अग्गिमाणव–अग्निमानव–पुं० दाक्षिणात्यानामग्निकुमाराणा- मिन्द्रे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । प्र० । (अग्रमहिषीलोकपालादयश्चा- स्य 'अग्गमहिसी लोगपालादि' शब्देषु निरूपिताः)

अग्गिमाली–अग्निमाली–स्त्री० । स्वनिकरपर्वतपूर्वोत्तरेण विप- णायां शक्रस्याग्रमहिष्याम्, द्वी० ।

अग्गिमित्ता-अग्निमित्रा–स्त्री० । पोलासपुरवास्तव्यस्याजीविको- पासकस्य कुम्भकारस्य सद्दालपुत्रस्य भार्यायाम्, उ- पा० ७ अ० ('सद्दालपुत्त' शब्देऽस्या वक्तव्यता)

अग्गिमेह–अग्निमेघ–पुं० । अग्निवद्दाहकारिजले मेघे, प्र० ७ श० ६ उ० ।

अग्गिय-अग्निक–पुं० । प्रथमकालेऽभिधाने वायुविकारे, विपा० १ श्रु० १ अ० । इन्द्रदत्तेन राज्ञा स्वयमग्निकुमारामुत्पादितस्य सुरेन्द्रदत्त- स्य दास्यां जातं पुत्रे, ('सद्दुक्क' शब्दे वक्तव्यता) आ० चू० १ अ० । आ० क० । वासगोत्राचार्यस्य शिष्ये, स्था० ७ ठा० ।

अग्गिलिय–अग्रिय–पुं० । अग्रे भवः अग्र-डियच् । ज्येष्ठभ्रातरि, श्रेष्ठे, वाच० । "अग्गिलिया पच्छिलिया तेसं साहूण पाउग्ग" । दं० च० २ ठा० ।

अग्गिल्लय–अग्नि–पुं० । पञ्चमप्रश्नोत्तमे महाग्रहे, सू० प्र० २० पाहु० । चं० प्र० । " दो अग्गिल्ला " स्था० २ ठा० । ठा० ।

अग्गिवेस-अग्निवेश–पुं० । लोकप्रसिद्धे ऋषिभेदे, नं० ।

अग्निवेश्म–पुं० । पक्षस्य चतुर्दशे दिने, जं० १ वक्ष० । कल्प० । ज्यो० । दिवसस्य द्वाविंशतितमे मुहूर्ते, चं० प्र० । १० पाहु० ।

अग्गिवेसायण-अग्निवेश्यायन–पुं० । अग्निवेशस्यापत्यमग्निवे- श्यः । गर्गादित्वाद्यञ् । तस्यापत्यमग्निवेश्यायनः । अग्निवेशायनीये, नं० । तद्गोत्रजाते च । यथा-सुधर्मा गणधरः । आ० म० द्वि० । कल्प० । गोशालकस्य मङ्खलिपुत्रस्य पञ्चमे दि- क्चरे, भ० १५ श० १ उ० । द्वाविंशे दिवसमुहूर्ते, स० ३०सम० ।

अग्गिसक्कार–अग्निसंस्कार–पुं० । अग्निना संस्कारो मन्त्रपूर्वक- दाहः । विधानेन अग्निदत्तदाहे, वाच० । " ऊसवणा अग्गिस- क्कारो " स्थापना नामाग्निसंस्कारः, स च भगवत ऋषभस्य निर्वाणप्राप्त्यानन्तरं च साधूनामिक्ष्वाकूनामितरेषां च प्रथमं त्रिदशैः कृतः पश्चाल्लोकेऽपि संजातः । आ० म० द्वि० ।

अग्गिसणा–अग्निसमा–स्त्री० । अवसर्पिण्यां द्वादशतीर्थ- करस्य वासुपूज्यस्य दीक्षासमय उपयुक्तशिबिकायाम्, स० ।

अग्गिसम्म (ण्) अग्निशर्मन्–पुं० । तीव्रकोपान्विते ऋषि- भेदे, वाच० । वसुपदसमा गुणसेनेन नवभवानुपाति वैरं परि- तम् । स्वनामख्याते ब्राह्मणभेदे, आव० १ अ० ३ अ० २ उ० । (अस्य कथानकं ' सीओसणिज्ज ' शब्दे द्रष्टव्यम्)

अग्गिसाहिय-अग्निसाधित–त्रि० । अग्नेर्दायभाक्त्वेन साधा- रणे, यथा-" हिरण्णे य सुवण्णे य जाव सावएज्जे अग्गिसाहिय चोरसाहिय रायसाहिय मच्चुसाहिय " इत्यादि । भ० ९ श० ३३ उ० । ठा० ।

अग्गिसिह–अग्निशिख–पुं० । अग्नेरिव अग्निरिव वा शिखा यस्य । कुङ्कुमवृक्षे, कुसुम्भवृक्षे च । वाच० । अवसर्पिण्यां भरत- क्षेत्रनामकस्यायुर्देवनन्दननामकस्य देवयोः पितरि, ति० । त० । आव० । औत्तराणामग्निकुमाराणामिन्द्रे, स्था० २ ठा० । ज्वलनशिखनाम्नो राज्ञो मित्रे च । दश० १३ अ० । अग्नितुल्यजटायुते, त्रि० । अग्निशिखेव शिखाऽस्य लाङ्गलि- कावृक्षे, स्त्री० । अग्नितुल्याग्रभागे, त्रि० । स्वर्णे, कुसुम्भपुष्पे च । भ० । ६ श० । अग्निज्वालायाम्, स्त्री० । वाच० । स्था० ।

अग्गिसिहाचारण–अग्निशिखाचारण–पुं० । अग्निशिखामुपा- दाय तेजस्कायिकानविराधयत्सु स्वयमदह्यमानेषु पादविहा- रनिपुणेषु चारणभेदेषु, प्रव० ६८ द्वा० ।

अग्गिसेण–अग्निषेण–पुं० । वर्तमानायामवसर्पिण्यां भरतक्षेत्र- जस्य ऋषभजिनसमकालिकैरवतजे तीर्थकरे, " भरहे य संज- वजिणो, एरवए अग्गिसेणजिनचंदो " ति० । भारतजारिष्टने- मिसमकालिकैरवतजे तीर्थकरे च, " भरहे अरिट्ठणेमि, एर- वए अग्गिसेणजिणचंदो " ति० । प्रव० ।

अग्गिहोत्त–अग्निहोत्र–न० । अग्नये हूयतेऽत्र । हु-त्र । ४ त० । म- न्त्रकरणकवहिःस्थापनानन्तरं तदुद्देश्यकहोमे, वाच० । तत्स्वरूपं च समये वर्णितात् लौकिकप्रतिदिनहत्यादयगन्तव्यम् । यथा 'सिव' शब्दे शिवराजर्षिचरित्रोपाख्याने वर्णितम् । तच्च नित्यं काम्यं च यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति । वाच० । 'जरामर्यं वा एतत्सत्रं यदग्निहोत्रं, तज्जरामर्यमेव, यावज्जीवं कर्तव्यमिति' [आ० म० द्वि० । विशे०] श्रुत्या, 'नित्यस्य उपसद्भिश्चरित्वा मासमेकम- ग्निहोत्रं जुहोतीति' श्रुत्या च, काम्यस्य विधानमुक्तम् । वाच० । एतच्चाकिञ्चित्करमिति सिद्धान्ते दर्शितम्–

हुएण एगे पवयंति मोक्खं ॥ १२ ॥

एके तापसब्राह्मणादयो हुतेन मोक्षं प्रतिपादयन्ति । ये किल स्वर्गादिफलमनाशंस्य समिधा घृतादिभिर्द्रव्यविशेषैर्हुताशनं तर्पयन्ति ते मोक्षायाग्निहोत्रं जुह्वति, शेषास्त्वभ्युदयायेति । युक्तिं चात्र त आहुः–यथा ह्यग्निः सुवर्णादीनामलं दहत्येवं द- हनसामर्थ्यदर्शनादात्मनोऽप्यान्तरं पापमिति ।

इति पूर्वपक्षमुद्भाव्य–

हुतेण जे सिद्धिमुदाहरंति
सायं च पायं अगणिं फुसंता ।
एवं सिया सिद्धि हवेज्ज तम्हा
अगणिं फुसंताण कुकम्मिणं पि ॥ १८ ॥

"अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इत्यस्माद्वाक्याद् ये केचन मूढा हुतेनाग्नौ हव्यप्रक्षेपेण सिद्धिं सुगतिगमनादिकां स्व- र्गावाप्तिलक्षणामुदाहरन्ति प्रतिपादयन्ति । कथंभूताः, सायम- पराह्णे विकाले वा, प्रातः प्रत्यूषे वाऽग्निं स्पृशन्तो यथेष्ट- हव्यैरग्निं तर्पयन्तस्तत एव यथेष्टगतिमभिप्रयन्ति । आहुश्चैवं ते–यथा अग्निकार्यात्स्यादेव सिद्धिरिति । तत्र च यद्ययमग्नि- स्पर्शेन सिद्धिर्भवेत्, ततस्तस्मादग्निं स्पृशतां कुकर्मिणामङ्गा- रदाहककुम्भकारायस्कारादीनां सिद्धिः स्यात् । यदपि च मन्त्रपूतादिकं तैरुदाह्रियते तदपि च निरन्तराः सुहृदः प्रत्येष्य- न्ति, यतः कुकर्मिणामप्यग्निकार्ये भस्मापादनमग्निहोत्रिका- दीनामपि भस्मसात्करणमिति नातिरिच्यते कुकर्मिभ्योऽग्नि- होत्रादिकं कर्मेति । यदप्युच्यते–अग्निमुखा वै देवाः, एतदपि

पुरोहितवचनात् पाठमात्रमेव । विष्ठादिभक्षणेन चाग्नेस्तेषां [illegible]रितेति । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । यदप्यभिहितम्-देवताऽतिथिपितृप्रीतिसंपादकत्वाद् वेदविहिता हिंसा न दोषाय इति । तदपि विपक्षम् । यतो देवानां संकल्पमात्रोपनताभिमताहारपुद्गलास्वादसुहितानां वैक्रियशरीरत्वाद् युष्मदायर्जितमहुतिमसद्गुर्लग्रमाहुतिग्रहनिगृहीतावित्वैव दुःसंभवा, औदारिकशरीरिणामेव तदुपादानयोग्यत्वात् । प्रक्षेपाहारस्वीकारे च देवानां मन्त्रमयदेहत्वाभ्युपगमबाधः । न च तेषां मन्त्रमयदेहत्वं भवत्पक्षे न सिद्धम् । " चतुर्थ्यन्तं पदमेव देवता " इति [illegible] । तथा च मृगेन्द्रः- " शब्देतरत्वे युगपद्भिन्नदेशेषु यष्टृषु । न सा प्रयाति सांनिध्यं, मूर्त्तत्वादस्मदादिवत् " ॥ १ ॥ इति । मिति देवता । हूयमानस्य च वस्तुनो भस्मीभावमात्रोपलम्भात् तदुपभोगजनिता देवतानां प्रीतिः प्रलापमात्रम् । किं च । योऽयं त्रेताग्निः स त्रयस्त्रिंशत्कोटिदेवतानां मुखम्, " अग्निमुखा वै देवाः " इति श्रुतेः । ततश्चोत्तम-[illegible]मुखेन भुञ्जानानामन्योन्यो[illegible] [illegible]

[illegible]

चेद "कर्मेन्धनं समाश्रित्य, दृढा सद्भावनाऽऽहुतिः । धर्मध्यानाग्निना कार्या, दीक्षितेनाग्निकारिका" ॥ १ ॥ इत्यादिरूपः स एव मुख्यं प्रधानं येषां तेऽग्निहोत्रमुखा वेदाः । वेदानां हि वेदेषु नवनीतादि आरण्यकमेव प्रधानम् । उक्तं हि-"नवनीतं यथा दध्नश्चन्दनं मलयादिव । औषधेभ्योऽमृतं यद्वद्, वेदेष्वारण्यकं तथा" ॥ १ ॥ तत्र च दशप्रकार एव धर्मो व्याख्यायते । तथा चोक्तः-" सत्यं तपः संतोषः संयमश्चारित्रमार्जवं क्षमा धृतिः श्रद्धाऽहिंसेत्येतद्दशविधमिह धर्मेति " । तत्र च धर्मध्यानाग्निरेव विवक्षितः । एतदनुसारि चोक्तरूपमेवाग्निहोत्रम् । सू० २५ अ० ।

एतदेव प्रपञ्चितं हारिभद्राष्टके—

कर्मेन्धनं समाश्रित्य, दृढा सद्भावनाऽऽहुतिः ।
धर्मध्यानाग्निना कार्या, दीक्षितेनाग्निकारिका ॥ १ ॥

कर्म ज्ञानावरणादिकं मूलप्रकृत्यपेक्षयाऽष्टप्रकारं, तदेव [illegible] दहनीयत्वादिन्धनमिवेन्धनं कर्मेन्धनं तत्समाश्रित्याग्निकारिका कार्येति योगः । किंविधा ? , दृढा कर्मदहनसमर्था । तथा सद्भावना शुभरूपा या जीवस्य वासना सैवाहुतिर्घृतादिप्रक्षेपलक्षणा यस्यां सा तथा । केन कर्तव्येत्याह-धर्मध्यानाग्निना धर्मध्यानमुपलक्षणत्वाच्छुक्लध्यानं च तदेवाग्निर्धर्मध्यानं च तदग्निश्च धर्मध्यानाग्निस्तेन कार्या विधेया । केनेत्याह-दीक्षितेन प्रव्रजितेन । कासौ ? , अग्निकारिका अग्निकर्मेति । इयं चैतदङ्गीकर्त्तव्यम्—दीक्षितस्य द्रव्याग्निकारिका अनुचिता, तस्याः पृथ्वीकायोपमर्दरूपत्वात् , तस्य च तद्विषये तत्रानधिकारित्वात् । अधिकारिवशाच्च धर्मसाधनं [illegible] प्रागुक्तम् । गृहस्थस्य तु सर्वथा पृथ्वीकायोपमर्दानिवृत्तत्वेनाधिकारित्वात्तां करोत्यपि । अत एव धूपदहनदीपदानादिक[illegible] रेण द्रव्याग्निकारिकामपि कुर्वन्त्यार्हतगृहस्थाः [illegible] । अ[illegible]केनेदमुक्तं भवति-यदि हे कुतीर्थिकाः ! यूयं [illegible] कर्मलक्षणा[illegible] समिधः कृत्वा धर्मध्यानलक्षणमग्नि [illegible] सद्भावनाहुतिप्रक्षेपतोऽग्निकारिका कार्या, [illegible] दीक्षितानामनुचितत्वात् । यदि तु हन्त ! गृहस्थास्तु [illegible] ततः कुरुध्वं द्रव्याग्निकारिकामिति ॥ १ ॥

अथ ध्यानाग्निकारिकैव कार्या दीक्षितेनेति [illegible] द्रान्तेनैव समाधयन्नाह—

दीक्षा मोक्षार्थमाख्याता, ज्ञानध्यानफलं स च ।
शास्त्र उक्तो यतः सूत्रं, शिवधर्मोत्तरे ह्यदः ॥ २ ॥

दीक्षा प्रव्रज्या, मोक्षार्थं सकलकर्मनिर्मुक्तिनिमित्तम् [illegible] [illegible] । यत एवं ततस्तां प्रतिपन्नेन [illegible] [illegible] (ज्ञानध्यानफलं स चेति) स पुनर्मोक्षः [illegible] [illegible]

[illegible]

...र्जित द्रव्यपूजा-यतो धर्मात्यागात् पूज-
कार्यसूत्र ... निरवद्यो ... धर्माभिधाने धर्मनिमित्ते
... ... । अत एतदृद्वयमाण-
... ... मोक्षस्य ज्ञानादित्रयमयोप-
... दीक्षितेनाभिहिता द्रव्याग्निकारिका का-
... इति ॥ ३ ॥

अथैव पूर्व पक्षोपचार—

पूजया विपुलं राज्य-मग्निकार्येण संपदः ।
तपः पापविशुद्ध्यर्थं, ज्ञानं ध्यानं च मुक्तिदम् ॥ ३ ॥

पूजया देवतादेः पुष्पादिरूपया न तु ... , तदन्य-
... पापविशुद्धिमात्रमोक्षपापाद्वस्यात् । वि-
पुलं विस्तीर्णं राज्यं राजभावो भवति, न ... गम्यते ।
तथा अग्निकार्येण ... वा कार्यं ... , तेन
... दयर्थं ... , तथा ध्यानरूप-
... । संपदः समृद्धयो भवन्ति ... ।
तथा ... , ध्यानं च शुभचित्तैकाग्रतालक्षणम्, च
... , मुक्तिदं मोक्षप्रदं भवन्तीति त्रिपथमोक्षमन्य-
पूर्वार्थं इति ॥ ३ ॥

एव तावत् परोक्तपूर्वपक्षमेव द्रव्याग्निकारिकाकरणं दीक्षितस्य
विषय , अथ तस्यैव पूजां पुनरग्निकारिकां च प्रकारान्तरेण
... —

पापं च राज्यसंपत्सु, संभवत्यनघं ततः ।
न तद्धेत्वोरुपादान-मिति सम्यग् विचिन्त्यताम् ॥४॥

न चैवं मुमुक्षोरग्निकारिकाकरणमपार्थकम्, पापं चाशुभं कर्म
च, राज्यसंपत्सु ... पूजाग्निकारिकाकरणाम-
... , न भवति तज्जायते । तत एव तस्य
... भवति, तद्योः राज्यसंपत्कारणयोः
पूजाग्निकारिकारूपयोरुपादानमसाधकमिति । एतदनन्तरं पु-
... ग्निकारिकयोरुपादानस्य सपापत्वं ... स्वनिकान्तावि-
... विचिन्त्यतां पर्यालोच्यतामिति । सुपर्यालोचितकारिणो
... भवन्ति मुमुक्षव इति ॥ ४ ॥

राज्यसंपत्सु पापं भवतीत्युक्तं तदेवाभिव्याक्षेप क्रियते,
ननु राज्यसंपद्भावे भवतु नाम पापम्, दानादिना तु
तस्य शुद्धिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह—

विशुद्धिश्चास्य तपसा, न तु दानादिनैव यत् ।
...दियं नान्यथा युक्ता, तथा चोक्तं महात्मना ॥५॥

...शोधनं विशुद्धिः, सा पुनरस्य राज्यादिजन्यपापस्य तपसा,
... संवरपालनपरेण अनशनादिनेव, तपः पापवि-
...र्जमिति वचनात्, न तु दानादिना न पुनर्दानहोमादिना,
... मोगानामिति वचनात् । तत् कथं दीक्षितस्य पूजाग्नि-
... पुक्तं इति । इह च द्रव्याग्निकारिकाया एव मुख्यं दूषणं,
...तु प्रासङ्गिकमित्यग्निकारिकाया एव निगमनमाह-(त-
...यथा मुञ्चति) यस्मात् मुमुक्षोरपि तेव पापसाधनसंप-
...च, तस्मादियमग्निकारिका, नैव, अन्यथा धर्मध्याना-
...पाः प्रकारान्तरापन्ना, द्रव्याग्निकारिकेत्यर्थः, युक्ता सं-
...पशोधनार्थ पापसंपादकसंपन्निमित्तत्वेन द्रव्याग्निका-
...कारणीयार्थ स्यात्तस्यापि न्यायतः संमतमिति दर्शय-
...चोक्तं महात्मनेति । तथा च यथाऽस्मदुक्तार्थसंवादो
... उपगतनिर्दिष्टम्, महात्मना परमस्वभावेन, व्यासेनेति

...दोषः । इह च परमश्रमादेरपि व्यासस्य महात्म...
...माध्यस्थेन हतं, तत्परमसंमतानुकरणमात्मनो ...
...निष्करणार्थमिति न दुष्टम् । संमतश्च परस्य माहात्म्य...
...तः अत एव च तद्वचनं स्वपक्षे परमाभिज्ञतमार्थपर्यस्ता...

तदेवाह—

धर्मार्थं यस्य वित्तेहा, तस्यानीहा गरीयसी ।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य, दूरादस्पर्शनं वरम् ॥ ६ ॥

धर्मार्थं धर्मनिमित्तं, यस्य पुंसः, वित्तेहा द्रव्योपार्जनचेष्टा ...
... निस्तारिका, तस्य पुरुषस्य, अनीहा अचेष्टा वित्तानुपार्जनं...
...यसी धर्मसिनरा, महत्तरेत्यर्थः । अयमभिप्रायः-वित्तार्थं ...
...यामवश्य पाप भवति, तथोपार्जितवित्तवितरणेनावश्यं ...
...र्थं तयाति । एवं च वित्तार्थमचेष्टैव परतरा, वित्तवितरणावि...
...स्यापापानावात्. गरिमहारकनवर्जनात्मकत्वेन चेष्टाया एव च ध...
...स्यादिति । अत्रार्थे दृष्टान्तमाह-प्रक्षालनात् धावनात् सकाशाद् हि ...
...स्मात्, पङ्कस्याशुचिरूपकर्दमस्य दूराद् विप्रकर्षादस्पर्शनमसंश्ले...
...मेव, वरं प्रधानमिति । इदमुक्तं भवति-यदि पङ्के करचरणादिरवय...
...यः क्षिप्त्वा अपि प्रक्षालनीयस्तदा वरमक्षित एव, एवं यद्यग्निकारि-
...कां विधाय संपद उपार्जनीयास्ततः अन्यपातकं च पुनर्दानेन शोधनी-
...यं, तदा सैवाग्निकारिका वरमकृतेति । प्रयोगश्चेह-न विधेया मुमु-
...क्षुणा द्रव्याग्निकारिका, तत्संपाद्यस्य कर्मपङ्कस्य पुनः शो-
...धनीयत्वात्, पादादेः पङ्कक्षेपवदिति । एवं तर्हि गृहस्थेनापि पु-
...आदि न कार्यं स्यात्, नैवम्, यतो जैनगृहस्था न राज्यादिनिमित्तं
...पूजां कुर्वन्ति । न च राज्याद्यायार्जितमघं दानेन शोधयिष्याम
...इति मन्यन्ते, मोक्षार्थमेव तेषां पूजादौ प्रवृत्तेः । मोक्षार्थितया च
...विहितस्यागमानुसारिणो वीतरागपूजादेर्मोक्ष एव मुख्यं फलम्,
...राज्यादि तु प्रासङ्गिकम् । ततो गृहिणः पूजादिकं नावि-
...धेयम्, दीक्षितेनत्योक्षः चानुष्ठानस्यानन्तर्यपारंपर्यकृत एव फले
...विशेष इति ॥ ६ ॥

दीक्षितस्यापि संपदर्थित्वे सति युक्ता द्रव्याग्निका-
रिकेत्याशङ्कानिराकरणायाह—

मोक्षाध्वसेवया चैताः, प्रायः शुभतरा भुवि ।
जायन्ते ह्यनपायिन्य-इयं सच्छास्त्रसंस्थितिः ॥ ७ ॥

मोक्षो निर्वाणम्, तस्याध्वा मार्गः सम्यग्दर्शनज्ञानचरणलक्षण-
...स्तस्य सेवाऽनुष्ठानं मोक्षाध्वसेवा, तया, चशब्दः पुनःशब्दार्थः ।
...ततश्चाग्निकारिकायाः कार्यभूताः संपदः पापहेतुतया अशुभाः,
...मोक्षाध्वसेवया पुनः शुभतरा भवन्तीत्यर्थो लभ्यते । अथवाव-
...धारणार्थो वा चशब्दः, तेन मोक्षाध्वसेवयैव, नाग्निकारिकाकर-
...णेन एता अनन्तरोदिता अग्निकारिकाफलभूताः संपदः, प्रायो
...बाहुल्येन । प्रायोग्रहणं च कस्यापि मोक्षाध्वसेवानव एव नि-
...र्वाणभावात् जायन्त एवेति ज्ञापनार्थम् । शुभतरा अग्निकारि-
...काकरणेभ्यः सकाशात्प्रशस्ततराः भुवि पृथिव्यां, जायन्ते भव-
...न्ति । हिशब्दो यस्मादर्थः, अनपायिन्यः पापवर्जिताः । यस्मा-
...न्मोक्षाध्वसेवया प्रशस्ततराः, अनपायिन्यश्च संपदो जायन्ते, त-
...स्मादियमग्निक्रिया नान्यथा युक्तेति प्रक्रमः । मोक्षाध्वसेवया
...शुभतरा एता भवन्तीति कथमिदमवसितमित्याशङ्कायामाह-
...इदं यमनन्तरोदिता सच्छास्त्रसंस्थितिरविसंवादकागमव्यवस्था;
...यदाह-"मोक्षमार्गप्रवृत्तस्य, महाभ्युदयसञ्चयः । संजायतेऽनु-
...षङ्गेण, पलालं सत्कृषाविव" ॥१॥ मुमुक्षूणां च शास्त्रं प्रमाण-
...मेव । यदाऽऽह-" न मानमागमादन्यद्... ...
...मोक्षमार्गे ततस्तत्र ...

अथ परसमयसमाश्रयणेनैव द्रव्याग्निकारिकाकरणं निराकुर्वन्नाह-

इष्टापूर्त्तं न मोक्षाङ्गं, सकामस्योपवर्णितम् ।

अकामस्य पुनर्योक्ता, सैव न्याय्याऽग्निकारिका ॥ ८ ॥

इज्यते दीयते स्मेतीष्टम्, पूर्यते स्मेति पूर्त्तम्, इष्टं च पूर्त्तं चेष्टापूर्त्तमिति समाहारद्वन्द्वः छान्दसत्वाद्विष्टापूर्त्तम् । तत्स्वरूपं चेदम्-"अन्तर्वेद्यां तु यद्दत्तं, ब्राह्मणानां समक्षतः । ऋत्विग्भिर्मन्त्रसंस्कारैरिष्टं तदभिधीयते ॥ वापीकूपतडागानि, देवतायतनानि च । अन्नप्रदानमारामाः, पूर्त्तं तदभिधीयते ॥२॥" तदेवमुक्तस्वरूपमिष्टापूर्त्तम्, न नैव, मोक्षाङ्गं मुक्तिकारणम् । इहायमभिप्रायः-अग्निकारिका न मोक्षाङ्गमिष्टकर्मरूपत्वात् । तस्या यतोऽन्तर्वेद्यामाहुतिप्राधान्येन कर्माण्युच्यन्त इति । कुतस्तन्न मोक्षाङ्गमित्याह-सकामस्याभ्युदयाभिलाषिणः, यस्मात्तदित्येव वाक्यशेषो द्रष्टव्यः । उपवर्णितमुपदिष्टम्, भवदीयसिद्धान्त एव यतः श्रूयते-"स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि श्रुतिवचनम् । तथा "इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं, नान्यच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढाः । नाकस्य पृष्ठे सुकृतेन भूत्वा, इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति" इति । [illegible] सकामस्य स्वर्गपुत्राद्यनाशंसावतो मुमुक्षोः, पुनःशब्दः पूर्ववाक्यार्थस्य विशेषाभिधायकः । [illegible] सैव, नान्या परान्युपगता [illegible] । अग्निकारिकाऽ[illegible] इति अष्टकविवरणम् ॥ हा० ४ अष्ट० । [illegible], वह्नौ च । पुं० । वाच० ।

अग्गिहोत्तवाइ (ण्) अग्निहोत्रवादिन्-पुं० । अग्निहोत्रादेव [illegible], [illegible] मुक्तिमाहुरिति, "जे अग्गिहोत्तवाई [illegible]" इत्यग्निहोत्रवादिनां कुशील[illegible] । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

[illegible]-[illegible]-न० । [illegible] प्रधानोद्याने, "[illegible] [illegible] " । [illegible] १ [illegible] । [illegible] । [illegible] ।

[illegible]-[illegible] [illegible] वा [illegible] । [illegible] [illegible], [illegible] । [illegible] च । न० । सूत्र० १ [illegible] ।

[illegible] (यी) आग्नेयी-स्त्री० अग्निर्देवता यस्याः सा आग्नेयी । [illegible] विदिशि, ('दिसा' शब्दे वक्तव्यता) न० [illegible] । [illegible] ।

[illegible]-[illegible]-न० । [illegible] मध्ये द्वितीयपूर्वे, ([illegible] शब्दे) [illegible] ।

[illegible] (ए) [illegible]-त्रि० । [illegible], [illegible] । [illegible] ।

[illegible]-[illegible]-पुं० [illegible], "[illegible]" [illegible] ।

[illegible]-[illegible] [illegible] । [illegible] ।

[illegible] ।

आव० । मत्स्यभेदे, "लवणसमुद्दे अत्थिवेलं धरंति वा रूराया अग्घसिहा विज्जाइ वा" अर्घाद्यो मत्स्य[illegible] । जी० ३ प्रति० ।

अर्घ-करणे घञ्, न्यङ्क्वादित्वात् कुत्वम् । पूजोपचारे [illegible] तादौ, वाच० । पुष्पादिषु पूजाद्रव्येषु, ज्ञा० १६ अ० ।

अर्घ्य-त्रि० अर्घाय देयं यत्तदर्घ्यम् । पूजार्थे देये उदके, [illegible] धद्रव्याणि च "आपः क्षीरं कुशाग्रं च, दधि सर्पिः सतण्डुल यवः सिद्धार्थकश्चैव अष्टाङ्गोऽर्घः प्रकीर्त्तितः" ॥१॥ [illegible]

अग्घाअ-पूर-धा० पूर्त्तौ, प्रीणने च । दिवा०, आत्म०, सक०, सेट् । चुरा०, उभ०, सक०, सेट् । वाच० । प्राकृते "पूरेरग्घाडोऽग्घवोद्धुमाङ्गुमाहिरेमाः" ८ । ४ । १६८ । इति पूरेरग्घाडादेशः । [illegible] पूर्यते, पूरयति वा । प्रा० ।

अग्घाडग-आघातक-पुं० । गुच्छवनस्पतिकायभेदे, प्रज्ञा० १ प०

अग्घाडो-देशी, अपामार्गे, दे० ना० १ वर्ग० ।

अग्घाण-देशी, तृप्तवर्थे, दे० ना० १ वर्ग० ।

अग्घाय-आघ्राय-अव्य० । नासिकया गन्धं गृहीत्वेत्यर्थे । "[illegible] जिगंधाणि वा अग्घाय से तत्थ आसाय वत्तियाए मुच्छिए" आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० । आ० म० प्र० ।

अग्घायमाण-आजिघ्रत्-त्रि० । वस्तिष्ठति गन्धं नासिकया [illegible] ह्याति, "महया गंधद्धणिं मुयंते अग्घायमाणीओ दोहलं विणेति" ज्ञा० ८ अ० । आ० म० द्वि० ।

अग्घिय-अर्घित-त्रि० । अर्घ-क्त, अर्घः संजातोऽस्य [illegible] बहुमूल्ये, "अग्घियं नाम बहुमोल्लं" नि० चू० २ उ० ।

अघ-अघ-न० । अघ-भावेऽच् । पापे, वाच० । "[illegible] प्यते नाघ-नियागप्रतिपत्तिमान्" अष्ट०२८ अष्ट० । [illegible] पापकारके, त्रि० । व्यसने, दुःखे च । न० । [illegible] भ्रातरि असुरभेदे, पुं० । वाच० ।

अघण-अघन-त्रि० । न० त० । अदृढे, ओ० । विरले, नि० [illegible]

अघाइणी-अघातिनी-स्त्री० ज्ञानदर्शनादिगुणानां मध्ये [illegible] चिद् गुणं प्रन्तीत्येवंशीला अघातिन्यः ज्ञानादिगुणान[illegible] करणशीलासु कर्मप्रकृतिषु, अघातिन्यः प्रकृतयो ज्ञानादि[illegible] घ्नन्ति, केवलं यथा स्वयमतस्करस्य भावेऽपि तस्करैः स[illegible] मानस्तस्कर इव दृश्यते, एवमेता अपि घातिनीभिः स[illegible] नास्तद्दोषा इव भवन्ति । यदाहुः [illegible] सा वयमीओ, अघाइयाइं पत्तियमाणा "[illegible] घातित्वं च प्रकृतीनां रसविशेषाद् विशेषम् [illegible] वधाका अभिधीयन्ते, इत्यादि 'कम्म' शब्दे [illegible] न्ते प्रतिपादितम्)

अघाइरस-अघातिरस-पुं० ज्ञानादिगुणस्य [illegible] [illegible] सामर्थ्याकारके रसस्पर्द्धकसङ्घाते, प० [illegible] ।

अघातिरसस्वरूपमाह-

[illegible] न विमओ पाइ-[illegible] [illegible] ॥१॥

[illegible] पाडगगावे-न [illegible] ।

[illegible] प्रकृतीनां [illegible] ज्ञानादिगुणं [illegible] सर्वघातिनः । [illegible]

अघुणित (य)-अघुणित-त्रि० घुणैरविद्धे, पृ० १८० ।

अचं (धं) कारियभट्टा-अचङ्कारितभट्टा-स्त्री० धन्यश्रेष्ठिनो भद्रायां भार्यायामुत्पादितायामुपायसहस्रप्रार्थ्यादतिस्नेहेन न केनचिद्पा चङ्कारयितव्येति स्वनामख्यातायां सुतायाम्, ग०२ अधि० । अभिमानफले अचंकारितभट्टोदाहरणम् । यथा-खितिपतिट्ठिये नगरे । जियसत्तू राया धारिणी देवी । सुबुद्धी सचिवो । तत्थ य नगरे धणो नाम सेट्ठी । तस्स भद्दा णाम भारिया । तस्स य धूया भद्दा । सा य माउपियभाउयाण य वल्लहा । मायपिताहि य सव्वपरिजणं भणति-एसा ण य केण वि किंचि वक्कारियव्व त्ति । ताहे लोगेण से कयं णामं अचंकारियभट्ट त्ति । सा य अतीव रूववती बहुसु वणियकुलेसु वरिज्जति । धणो य सेट्ठी भणइ-जो एयं ण चंकारेहिति तस्सेसा दिज्जिहिति त्ति, एव वरगे पडिसेहति । अण्णया सचिवेण वरिया । धणेण भणिय-जइ ण किंचि वि अवराहे चंकारेहिसि तो ते पयच्छामो । तेण य पडिसुयं । तस्स दिण्णा भारिया । सो तं न चक्कारेति । सो य अमच्चो रातीए आमे गए रायकज्जाणि समाणेउ आगच्छति । सा त दिणं खिंसति-सवेलाए गच्छामि त्ति । ततो सवेलाए पडुमसत्तो । अण्णया रण्णा चिंतियं-किमेसो मंती सवेलाए गच्छति ? । राणो अण्णेहिं कहियं-भारियाए आणाभंगं ण करेति त्ति । अण्णया रण्णा भणिय-इमं तारिसं च कज्जं सवेलाए तुमे ण गंतव्वं । सो वि रायाणुवत्तीए ठिओ । सा य कवाडं दारं बंधेउं ठिआ । अमच्चो आगओ । उग्घाडेहि दारमुग्घाडेहि त्ति बहुवारा वि जाहे उघाडेति, ताहे तेण चिरं अच्छिऊण भणिया-तुमं ण घेत्तव्वा सामिणी होज्जासि त्ति । अहो ! मे आलो अगीकओ, ताहे सा दारमुग्घाडिउ पिउघरं गया, अंतरा चोरेहिं गहिया । तेहिं सव्वालंकारेणावतिस्स उवणीया । तेण सा भणिया-मम महिला होहि त्ति । सो तं बलेण ण भुंजति । सा वि तं णेच्छति । ताहे तेण वि सा अल्लगवेज्जस्स हत्थे विक्किया । तेण वि सा भणिया मम भज्जा भवाहि त्ति । तं पि अणिच्छंती तेणावि रूसिएण भणिया-पाणीयाओ अलूगा गेण्हाहि त्ति । सा अप्पाणं णवणीएण मक्खिउं जलमवगाहइ ; एवं जलूगाओ गेण्हति । सा स अणरूवं कम्म करेति, ण य सीलभंगं इच्छति । सा तेण रुहिरस्सावेण विरूवलावण्णा जाया । इतो य तस्स भाया दूयकिच्चेण तत्थागओ । तेण सा अणुसरिसि त्ति काउ पुच्छिया । तीए कहियं । तेण दव्वेण मोयाविया । आणिया य भमणपियरेहिं पुण णवसरीरा जाया । अमच्चेण पच्छा णियघरमाणिया, सव्वसामिणी ठविया । अहि कोहफलस्सरस माणस्स दोसं दट्ठु अभिग्गहो गहिओ । मए कोहो माणो वा कायव्वो । तस्स घरे सयसहस्सपागं तेल्लमत्थि । तं च साहुणा वणसंरोहणत्थं ओसहं मग्गिय । तीए चेडी आणत्ता-आणेहि त्ति । तीए आणंतीए सह तेल्लेणं भायणं भिन्नं । एवं तिन्नि भायणाणि भिन्नाणि, ण य सा रुट्ठा । सयसहस्सेसु विणट्ठेसु चउत्थवाराए अप्पणा उट्ठेऊण । जइ तीए कोहफलस्सरसं मेरुसरिसो माणो निज्जिओ । हि सुदुत्तरं णिग्गओ त्ति । ग० २ अधि० ।

[illegible]-अचक्षुष्क-त्रि० । चक्षुरिन्द्रिये, प्रश्न० १४ द्वा० । च-[illegible] प्रतिपादयिष्यमाणे चक्षुर्विपरीते अनुपलम्भ-[illegible] ० १ ठ० ।

[illegible]-त्रि० । न० त० । चक्षुःस्त्रोते, सं० । निष्कार-

[illegible] बलकोपरहिते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० । स० अचंडालियं कामी " उत्त० १ अ० ।

अचक्कि (ण्)-अचक्रिन्-पुं० न चक्री । नञः चक्रत्वेन महत्प्रमाहकत्वात् सामान्यपार्थिवे, सू० [illegible]

अचक्किय-अचक्रित-त्रि० अशक्ति, " समुद्दगंभी[illegible] रासया, अचक्किया केणइ दुप्पहंसया " उत्त० ११ [illegible]

अचक्ख-दृश्-धा० चाक्षुषज्ञाने, भ्वादि०, पर०, [illegible] निट् । वाच० । " दृशो निअच्छ-पेच्छावयच्छावय[illegible] सच्चवदेक्खौ अक्खाअवक्खा " ॥ ४ । १८१ । इत्यादिना [illegible] क्खादेशः । अचक्खइ, पश्यति । प्रा० ।

अचक्खु-अचक्षुष्-न० । न० त० । चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रिय[illegible] मनसि च । कर्म० १ कर्म० । औ० । उत्त० । न० व० । [illegible] र्शनवर्जिते, कर्म० ४ कर्म० ।

अचक्खुदंसण-अचक्षुर्दर्शन-न० । अचक्षुषा चक्षुर्वर्जेन्द्रि[illegible] तुष्टयेन मनसा वा दर्शनं यत्तदचक्षुर्दर्शनम् । स्था० [illegible] चक्षुर्वर्जशेषेन्द्रियमनोभिः स्वस्वविषयस्य सामान्यग्रहणम[illegible] दर्शनभेदे, प० स० १ द्वा० । कर्म० । स्था० । (" दंसण " [illegible] वक्ष्यते सर्वम्)

अचक्खुदंसणावरण-अचक्षुर्दर्शनावरण-न० । अचक्षुर्दर्शन[illegible] स्यावरणम् । दर्शनावरणकर्मभेदे, स्था० ६ ठा० ।

अचक्खुफास-अचक्षुःस्पर्श-पुं० । अन्धकारे, " पुरओ अचक्ख[illegible] पिट्ठओ हत्थिभयदुट्ठेओ अचक्खुफासो मज्झे सराइ[illegible] ति " ज्ञा० १ श्रु० १४ अ० ।

अचक्खुय-अचक्षुष्क-त्रि० । अन्धे, " अचक्खुयं वेदनाए, बुद्धि[illegible] अंतिमए गिरा " व्य० १ उ० ।

अचक्खुविसय-अचक्षुर्विषय-पुं० । ६ त० । चक्षुरगोचरे, " अ[illegible] चक्खू विसओ जत्थ, पाणा दुप्पडिलेहगा " अचक्खुविसओ यत्र न चक्षुषो व्यापारः प्रवर्तते । दश० ६ अ० । ४ उ० ।

अचक्खुस-अचाक्षुष-त्रि० । चक्षुषाऽदृश्ये, द्वा० । [illegible] ।

अचक्खुस्स-अचक्षुष्य-त्रि० । चक्षुरनिष्टे, द० ३ उ० ।

अचयंत-अशक्नुवत्-त्रि० । असमर्थे, " बोरुदा [illegible] अचयंता जवित्तए " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

अचर-अचर-पुं० । न० त० । पृथिव्यादिषु स्थावरेषु, हरि० । चलनशून्ये, त्रि० । ज्योतिर्विद [illegible] स्थिरराशिषु, वाच० ।

अचरम-अचरम-त्रि० । [illegible] " [illegible] " पो० ११ विव० ।

अचर (रि) म-अचरम-त्रि० । न० त० । [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] । [illegible] ([illegible]) [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] " [illegible] " [illegible]

अचरिमे सुविहे पणत्ते । तं जहा–अणादिए वा अपज्जवसिए, सादिए वा अपज्जवसिए ।

अचरमो द्विविधः–अनाद्यपर्य्यवसितः साद्यपर्य्यवसितश्च । तत्राऽनाद्यपर्य्यवसितोऽभव्यः, साद्यपर्य्यवसितः सिद्धः । प्रज्ञा० १६ पद ।

अचर(रि)मंतपएस–अचरमान्तप्रदेश–पुं० अचरमशब्दस्याप्यपेक्षयाऽनन्तवर्त्तित्वादन्ते, प्रज्ञा० ए पद । ('चरम' शब्देऽचरमान्तप्रदेशत्वपृच्छा करिष्यते) ।

अचर(रि)मसमय–अचरमसमय–पुं० चरमसमयादन्यस्मिन् यावच्छैलेश्यवस्थाचरमसमये, नं० ।

अचर(रि)मावट्ट–अचरमावर्त्त–चरमपुद्गलपरावर्त्तादर्वाक् समये, अष्ट० १८ अष्ट० ।

अच(य)ल–अचल–त्रि० । न० त० । निष्प्रकम्पे, "अयले भयभेरवाणं" कल्प० । "अणिहे अचले चले अबहिल्लेस्से परिव्वए" । न चलतीत्यचलः परीषहोपसर्गवातेरितोऽपि । आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० । "अचले जे समाहिए" यद्यप्यसावच्छिन्नप्रदेशत्वतः शरीरमात्रेण चलति तथाप्यभ्युद्यतमरणान्न चलतीत्यचलः । आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० । "अचले भगवं ! रीइत्था" आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० । 'अचले जह मंदरे गिरिवरे' अचलो निश्चलः परीषहादिभिः । प्रश्न० ५ संव० द्वा० । "सिवमयलमरुयमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्ति सिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं" अचलम्, स्वाभाविकप्रायोगिकचलनक्रियाव्यपोहात् । जी० ३ प्रति० । स० । ल० भ० । औ० । स्पन्दनादिवर्जितत्वात् । प्रश्न० ४ संव० द्वा० । रा० । ध० । दशार्हाणां षष्ठे दशार्हपुरुषे, अन्त० १ वर्ग । पूर्वभवे मल्लिनाथजीवस्य महाबलनाम्नो बालवयस्ये, स च तेन सह प्रव्रजितो विपुलं तपः कृत्वाऽनशनेन मृत्वा जयन्तविमाने उपपन्नो देशोनानि ३२ सागरोपमाणि स्थितिं परिपाल्य च्युतः प्रतिबुद्धो नामेक्ष्वाकुराजो जातः । मल्लिनाथेन च सह प्रव्रज्यां गृहीत्वा सिद्धः । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । ('मल्ली' शब्दे चैतद् विस्तरेण) अवसर्पिण्यां प्रथमे बलदेवे, प्रव० २०९ द्वा० । आव० । स० । (स च प्रजापतेर्भद्रानाम्न्यां भार्यायां जातः, तस्य भगिनी मृगावती । तां तस्य पिता प्रजापतिश्चकमे, इति आचार्येण कल्पयित्वा तस्यां त्रिपृष्ठनामानं दशमं वासुदेवं जनयामास । अचलश्च माहिष्मतीं नाम पुरीं सह भद्राऽऽख्यया मात्रा गतः । इति 'वीर' शब्दे स्पष्टेन दर्शयिष्यते) ग्रहे, दे० ना० १ वर्ग । तद्वक्तव्यता समासेन–

पुत्तो पयावइस्स, जहा अयलो वि कुच्छिसंभूओ ।
गेण्हइ पडिवक्खमहणं, तिविट्ठु अयलो त्ति दो वि जणा ॥७२॥
अयलं तिविट्ठ दोन्न वि, संगामे आसि दोन्नि रायाणं ।
हंतूण सव्वदाहि ए, दाहिणभरहं अहजणं ति ॥ ७३ ॥
छप्पण्णरयणविहवा, कोडिसिलाए बलं तुलेऊणं ।
अद्धभरहाहिवियं, अह अयल तिविट्ठुणो पत्ता ॥ ७४ ॥
चउ गुट्ठिमणं मे, संगो वि य एव पंचजणनामो त्ति ।
नंदयनामो असी, सिंगो णियसंभिन्नो आसी ॥ ७५ ॥
माला य वेजयंती, विचित्तरयणावभासियाऽऽरज्जा ।
मारिग्गा जा जणियं, वणमसए इंदगयस्स ॥ ७६ ॥

मणुजणस्स नयरं, जा सीयसीयवंतरक्खा ।
मीरामिसीयेणं, सव्व महणा पयड जस्स ॥ ७७ ॥
कोमुइपसन्ना य हिओ, वज्जलसइमा सिरम्म ।
सच्चीए परिग्गहिओ, रयणुत्तमगारसंगहिओ ॥ ७८ ॥
अमग्गपरिग्गहियाई, संत वि रयणाइं अह तिविट्ठस्स ।
असेसु जगलेसु य, एयाइं अजिअसुत्ताइं ॥ ७९ ॥
वइर हली वि हलं वा, पयमसियं व निवलत्तं ।
पवरं ससग्गहाभिय–विरुलावियसीतल भीमट्टं ॥ ८० ॥
साणंदं वा णंदिय, अामं पि य मसुमुहमरवटं ।
मुसलं से जं पहरण–कज्जणबहुमलं वज्जमायं ॥ ८१ ॥
सव्वो उ पंचमासं, कुमसामलोलकणयं विज्ञं ।
मणिकुंभं च थामं, कुंजरमग्रामगामं ॥ ८२ ॥
अयलस्स वि अमरपरि–गहाइं एयाइं पवररयणाइं ।
सगुणं अजियाइं, सयरगुणपहाणगेयाइं ॥ ८३ ॥
बद्धमउडाण निच्चं, रज्जमणुव्वहणयोरसमजाणं ।
जोऽनरिंदाजाणं, सोलसराजीसहस्साइं ॥ ८४ ॥
बायालीसं लक्खा, हयाण रहगयवराण पडिपुन्ना ।
अट्ठयदेवसहस्सा, अभिउग्गा सव्वकज्जेसु ॥ ८५ ॥
अडयाला कोडीओ, पाइक्कसयाण रणसमत्थाणं ।
सोलसहस्सा उ तहा, सजणवयाणं पुरवराणं ॥ ८६ ॥
पण्णासं विज्जाहर–नगराण सजणवयाइं रम्माणं ।
पव्वंतरालवासी, नगो य फणगवरमउडो ॥ ८७ ॥
नगाइँ सहस्साइं, गामागरनगरपट्टणादीणं ।
वेयड्ढदाहिणेण उ, पुव्वावरअंतरालियाणं ॥ ८८ ॥
हरियानुमाणसहणं, अवसं वसमाणउ नरवइणो ।
दाहिणभरहं सयलं, भुंजंति तिआण परिवसत्ता ॥ ८९ ॥
सोलससाहस्सीतो नरवइतणयाए रूवकलियाणं ।
तत्तो य चिय जणवइ–कल्लाणीतो तिविट्ठस्स ॥ ९० ॥
इय बत्तीससहस्सा, चाउत्तीला ता तिविट्ठस्स ।
धारिणिपामोक्खाण य, अट्ठसहस्साइ अयलस्स ॥ ९१ ॥
कमियमगरवयाणं, विदिएणवरच्छत्तवालवियणाणं ।
सोलसगणियसहस्सा, वसंतसेणापहाणाणं ॥ ९२ ॥
एवं तु मए चरियं, अयलतिविट्ठाण दोण्हवि जणाणं । ति० ।

"अयले बलदेवे, असीइं धणूइं उड्ढं उच्चत्तेण होत्था" स० ।
स० । मनोहरीपुत्रे, (स चापरविदेहे शलिलावतीविजये वीतशोकायां नगर्यां जितशत्रोः राज्ञो मनोहरीभार्यायामुत्पन्नो बलदेवो जातः । पितर्युपरते मातरि प्रव्रज्यां गृहीत्वा मृत्वा लान्तके कल्पे देवत्वेनोपपन्नायामटव्यां गत्वा सार्धं विभीषणनाम्नि भ्रातरि मृते तत्रैवागत्य तद्रूपं विकुर्व्य देवः पया माया मिलित उत्क्षान्तिस्यां मनुजादि ज्ञात्वा परलोकार्थं कुर्वीति । ततः प्रव्रजितो मृत्वा ललिताङ्गको देवो जात इति, एतत्सर्वं व्यासेनाऽस्मतोऽग्रतस्सम्बन्धं प्राकृपत श्रेयांस,

इति 'अचल' शब्दे द्वि० भा० ११३३ पृष्ठे वक्ष्यति) आ० चू० १ अ० । आ० म० प्र० । निर्भयपुराधीश्वरस्य रामचन्द्रस्य सामन्ते, स च श्मशाने पिशाचग्रस्तयोगिनो वधं दृष्ट्वा संवेगमापन्न प्रव्रजितो मुनीश्वरो जातः । तच्चरितं चैवम्—

भयरहिए निभयपुर-म्मि पुराजणविहियगरुयहरिसो वि ।
रायासि रामचंदो, सलक्खणो रामचंदु व्व ॥ १ ॥
तस्स गुणगउरवपयं, अयलो नामेण अत्थि सामंतो ।
सयलधम्मोवयारी-रयाइगुणरयणरयणनिही ॥ २ ॥
अन्नया वि सो नरिंदो, समागओ पुरिसारपरियारो ।
दुक्खत्तनगरलोगाए, गिराइ पउरेहिं इय भणिओ ॥ ३ ॥
देव ! न दीसइ चोरो, न य गत्तो न वि य चरणसंचारो ।
केण वि तह वि मुसिज्जइ, अदिट्ठरूवेण पुरमेयं ॥ ४ ॥
तं सोउं कुवियमणं, भणियं रन्ना अहो सुहडसंघा ! ।
किं को वि सक्करं तं, निग्गहिउं मे समत्थु त्ति ? ॥ ५ ॥
जा किं पि न विंति भडा, ता अयलो आह देव ! मह देसु ।
आएसं सत्तु किलिय—मित्तं एसो धराओ त्ति ॥ ६ ॥
रन्ना लद्धपसंसो-अदापपुव्वं पयंपिओ स इमं ।
सह कुणसु भद्द ! सिग्घं, जह लब्भइ तक्करो एसो ॥ ७ ॥
अह पक्खंतो घोरं, न लहेमि अहं विसामि तो जलणं ।
इय काउं पइन्न सो, विणिग्गओ रायनयणाओ ॥ ८ ॥
परिभमिओ पुरमज्झे, सिंघाडगतिगचउक्कमग्गेसु ।
लद्धो न को वि चोरो, नीहरिओ नयणु नयराओ ॥ ९ ॥
करकलियखग्गदंडो, निविडीकयपरियरो दढपइन्नो ।
सो रयणिपढमपहरे, पत्तो कुंडाभिहमसाणे ॥ १० ॥
तत्थ घक्कउयकम्म-फरकंसघयरकुंडथंडिलच्छेहे ।
भल्लुक्कचक्कपरिफ-पिक्कपिक्कारवे य रद्दे ॥ ११ ॥
एगत्थ कायसेया-अज्झासंजणियकिलकिलारावे ।
अन्नत्थ मुक्कअट्ट-ट्टहासपरिजमियभूयउले ॥ १२ ॥
जा अणुदिओ अयलो, अयसो इव जाइ किं पि भूभागं ।
ता माहणमहणपरं, पिसायमेगं स पिच्छेइ ॥ १३ ॥
तं पइ भणइ महायस ! माहणपुरिसं हणेसि किं एवं ? ।
आह पिसाओ इमिणा, पसाइओ हं दिणे सत्त ॥ १४ ॥
संपइ घरकुहियमणं, मए इमो मग्गिओ महामंसं ।
न तरइ दाउं लुद्धो, ता एय लहु हणिस्सामि ॥ १५ ॥
परउवयारपहाणो, अयलो पच्चाह मुंच नरमेयं ।
तुह देमि महामंसं, अहमिदं मन्नइ पिसाओ वि ॥ १६ ॥
तो छुरियाए छित्तुं, नियमंसं स तस्स वियरेइ ।
असइ पिसाओ वि अहो ! , अभुत्तपुव्वं ति जंपंतो ॥ १७ ॥
उक्खिविऊण जह जह, अयलो से देइ मंसखंडाइं ।
तह तह दिव्वोसहिविहि-कयं व्व वुड्ढिं वहइ जाइ ॥ १८ ॥
नीसेसमंसविगमं, निए वि सयलं कलेवरं अयलो ।
अह जीवियनिरविक्खो, सासं पि हु भित्तुमारद्धो ॥ १९ ॥
धरिऊण पिसाएणं, दाहिणहत्थेण सत्ततुट्ठेण ।
भणिओ सो धम्मेण-णं माहणेणं घरेसु वरं ॥ २० ॥
अयलो भणेइ माहण-इट्ठं पकरेसु जइ सि तुट्ठो मे ।
एवं कयं चिय मए, भणसु अन्न पि आह सुरो ॥ २१ ॥
अयलो जंपइ तुज्झ वि, किं सीसइ अमरमुणियकज्जस्स ।
माउ ओहियलेणं, तं कज्जं आह इय अमरो ॥ २२ ॥
तं अयल ! गच्छ सगिहे, वीसत्थो होसु मुंचसु विसायं ।
एसो चोरपबंधो, गोसे सयलो फुडो होही ॥ २३ ॥
इय भणिय गओ अमरो, अयलो वि विसिट्ठदेहलावन्नो ।
नियआवासे पत्तो, निच्चिंतो लहइ निद्दं च ॥ २४ ॥
पयगयनिद्दो अयलो, पए पिसाएण पभणिओ भद्द ! ।
तं तक्करवुत्ततं, निसुणसु सो आह कहसु फुडं ॥ २५ ॥
एयस्स पुरस्स बहिं पुव्वदिसाआसमे वसइ जोगी ।
पव्वयओ से सिद्धो, काविलक्खो चेव्वओ अत्थि ॥ २६ ॥
तेणं हरेइ नयरे, सो सारं रमइ निसि अदिस्साए ।
काऊण जोगिरूवं, दिवसे पुण कहइ धम्मकहं ॥ २७ ॥
तस्सासमभूमिहरे, चिट्ठइ अवहारियदव्वसव्वासं ।
मा काहिसि इह संसय-मिय भणिय तिरोहिओ देवो ॥२८॥
अह काउ गोसकिच्चं, अयलो कइवयजणाणुगो पत्तो ।
सुरकहियआसमे त-त्थ तेण दिट्ठो कयडजोगी ॥ २९ ॥
गहिऊण य तत्थ धणं, अयलो पत्तो नरिंदपयमूले ।
नियपुट्ठो वत्ते, कहेइ तं चोरवुत्ततं ॥ ३० ॥
को इत्थ पच्चओ इय, नरवरपुट्ठो पयंपए अयलो ।
तस्सासमभूमिगिह-म्मि मोसजायं सयलमत्थि ॥ ३१ ॥
तो सिरवियणामिसवस-विसज्जियासेसपरियणो राया ।
सुत्तो तयणु जणेणं, पारद्धा विविहउवयारा ॥ ३२ ॥
जाओ न य को वि गुणो, आहूया मंतवाइपमुहजणा ।
ते वि अकयपडियारा, गया विलक्खा सठाणेसु ॥ ३३ ॥
तो सुवियत्तमणेण य, सो जोगी वाहराविओ रन्ना ।
संभासिऊणमारद्धो, सायरदिन्नासणो य तयं ॥ ३४ ॥
पुरिसे य पेसिऊणं, खणाविओ तस्स आसमो झत्ति ।
निस्सेसमोसं, आणीयं रायनयणम्मि ॥ ३५ ॥
आहूओ तब्भेत्तं, महायणो दंसियं तयं मोसं ।
उवलक्खिऊण जं जं-स्स आसि तं तस्स उवणीयं ॥ ३६ ॥
अह वुत्तो सो जोगी, रे रे पासंडियाहम ! अणज्ज ! ।
को एसो वुत्तंतो, सो भीओ जंपइ न किं पि ॥ ३७ ॥
चेत्ते दूरीहूओ, सिरूवलम्मि डुज्जणु व्व लहुं ।
सुचइं विडंबिउं सो, जोगी माराविओ रन्ना ॥ ३८ ॥
इय दट्ठु तस्स मरणं, अयलो चिंतेइ फुरियवेरग्गो ।
हा ! कह जीवा धणलव-विमोहिया जंति इह निहणं ॥३९॥
धणलोभेणं जीवो, हणेइ जीवे सया मुसं वयइ ।
पियपुत्तमित्तसुकल-त्तपमुहलोयं पि वंचेइ ॥ ४० ॥
इह लोयतुच्छसुक्खे-पयत्थमित्थं अकिच्चकम्मं पि ।
काउं कंखइ जीवो, न य पिच्छइ तक्कडं दुक्खं ॥ ४१ ॥
अइगरुयलोहमुग्गर-पहारभरगाढविहुरियसरीरा ।
हा ! किह णु दुग्गदुग्गाइ अवसे निवडंतिमे जीवा ? ॥ ४२ ॥
ता सयललोहसंखोह-निविडसरघोरणीरखणदक्खं ।
कवयं पिव पव्वज्जं, संपइ गिण्हामि दढसत्तो ॥ ४३ ॥
इय जा अचलो अचलिय-संवेगभरो विचिंतए चित्ते ।
ता तत्थ समोसरिओ, सूरी गुणसुंदरो नाम ॥ ४४ ॥
सुच्चा गुरुणो तक्खण, स आगमो आगओ गुरुसगासे ।
पणमियतप्पयपउमं, आसीणो उचियदेसम्मि ॥ ४५ ॥
तयणु भवपरमनिव्वेय-कारिणी लोहमोहनिम्महिणी ।
विसयाणुरागपावय-करिणी संवेयसंजणणी ॥ ४६ ॥
संसारसमुत्थसमत्थ-वत्थुविगुणत्तपयडणपहाणा ।
सुरसुहकरेहिं वयणे-हिं देसणा सूरिणा विहिया ॥ ४७ ॥
तं सोउं पडिबुद्धो, अयलो पुच्छे वि कह वि सन्नाइं ।
गुरुणो तस्स समीवे, संविग्गो गिण्हए दिक्खं ॥ ४८ ॥

परियगहुविहसिक्खो, गुरुणा सह विहरए महीवलए ।
अरहंते अरिहंते, आराहइ सम्ममरुहंते ॥ ४९ ॥
पवयणवच्छलपरो, जायइ सिद्धे सया सुहसमिद्धे ।
नियकुलतरुणो गुरुणो, सेवइ दंसणविणयजुत्तो ॥ ५० ॥
सुयपयपरआयधरे, थेरे सुबहुस्सुए तवस्सी य ।
जइ उचियं आराहइ, अभिक्खनाणोवओगपरो ॥ ५१ ॥
मोलग्गएसु आव-स्सएसु परिहरइ दूरमइयारे ।
अपुव्वनाणगहणं, सुयभत्तिपरायणो कुणइ ॥ ५२ ॥
तस्सा निकाइयाणं, कम्माण खउ त्ति कुणइ गरुयतवं ।
सम्मत्तधम्मरयणजुत्तो, मुणीण भत्ताइ वियरेइ ॥ ५३ ॥
पडिकमणस्स सयस्स य, नाणइ चरणं सुयं अगुणणाए ।
न हु वेयावच्चियं, सुहोदयं नासए कम्मं ॥ ५४ ॥
इय चिंतंतो वेया-वच्चं पकुणइ अतिप्पमाणमणो ।
पवयणपभावणपरो, कुणइ समाहिं च संघस्स ॥ ५५ ॥
पवयणरुइसद्दंसण-नाणचरित्ते अतिप्पमाणस्स ।
[illegible] मुज्झमाणसुपसत्थलेसस्स ॥ ५६ ॥
[illegible] तस्स अचलसाहुस्स ।
[illegible], आयाओ विविहलद्धीओ ॥ ५७ ॥
[illegible] विसिद्धविज्जेहिं ।
[illegible] महपओगेसु ॥ ५८ ॥
[illegible] कारमाणासु थयि सुकिरियासु ।
[illegible] नियो जाओ ॥ ५९ ॥
[illegible], अचलमुणी तस्थ आगओ तइया ।
[illegible] अमिय [illegible] उचियपदेसे ॥ ६० ॥
[illegible] पुलमूलपरिकलिओ ।
[illegible] ॥ ६१ ॥
[illegible], [illegible]कुसुमसंकिन्नो ।
[illegible] धम्मकप्पतरू ॥ ६२ ॥
[illegible] ! धम्ममिमं समीहिमो काउं ।
[illegible] मरमाणं ॥ ६३ ॥
[illegible] न य दिणे न रयणीए ।
[illegible] मुणिवरा ! ॥ ६४ ॥
[illegible] करेमि धम्ममिमं ।
[illegible] ॥ ६५ ॥
[illegible] मणइ ।
[illegible] निवो मुणी ॥ ६६ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ६७ ॥
[illegible] ।
[illegible] निक्कमुणी ॥ ६८ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ६९ ॥
[illegible] इमं भणइ राया ।
[illegible] ! ॥ ७० ॥
[illegible] ! [illegible] सुमए ।
[illegible] जाओ ॥ ७१ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ७२ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ७३ ॥
[illegible] ।

तुट्ठो राया पवयण-पभावगो सावओ जाओ ॥ ७४ ॥
अयलो वि अतिप्पंतो, चरणाइसु काउ अणसणं सुमणो ।
सोहम्मे उववन्नो, तत्तो य चुओ विदेहम्मि ॥ ७५ ॥
कच्छाविजए, सिरिजय-पुरीइरन्नो पुरंदरजसस्स ।
देवी सुदंसणाए, चउदसवरसुमिणकयसूओ ॥ ७६ ॥
गब्भे पाउब्भूओ, समुचियसमए य जम्ममणुपत्तो ।
अहिसित्तो स सुरासुर-वग्गेण सुमेरुसिहरम्मि ॥ ७७ ॥
कयजयमित्तभिहाणो, उचिए समयम्मि पव्वइउकामो ।
लोगंतियतियसेहिं, सविसेसबुद्धिउच्छाहो ॥ ७८ ॥
लोगाणं संवच्छर-मच्छिन्नमविद्दिन्नविहवसंभारो ।
चउसट्ठिसुरेसरविहिय-गरुयनिक्खमणवरमहिमा ॥ ७९ ॥
तिजयं एगजयं पि व, एगत्थागयसुरासुरनरेहिं ।
कुणमाणो पडिवन्नो, निस्सामन्नं ससामन्नं ॥ ८० ॥
तो सुक्कज्झाणानल-समूलनिद्दड्ढघाइकम्मदुमो ।
उप्पन्नकेवलालोय-लोइयासेसतइलुक्को ॥ ८१ ॥
सीहासणोवविट्ठो, सिरउवरिं धरिय सेयछत्ततिगो ।
नियदेहदुवालसगुण-महल्लकंकिल्लिकयसोहो ॥ ८२ ॥
चालियसियवरचमरो, पुरओ पक्खित्तकुसुमगपगणो ।
निज्जियदिणयरमंडल-भामंडलसंकियनमोहो ॥ ८३ ॥
सुरपहयदुंदुहिस्सर-पयडियदुज्जेयभावरिउविजओ ।
सव्वसत्तासाणुगामि-सवाणिहयतिजयसंदेहो ॥ ८४ ॥
पायडियसुगइमग्गो, पडिबोहियभूरिभावभवियजणो ।
विहरित्ता चिरकालं, अणंतसुहमक्खयं पत्तो ॥ ८५ ॥
श्रीजैनशासननभोनभसोऽरदस्य
श्रुत्वेति वृत्तमचलस्य मुनीश्वरस्य ।
सज्ज्ञानदर्शनतपश्चरणादिकेषु
श्रद्धामतृप्तमनसो मुनयो विधत्त ॥ ८६ ॥ ध० र० ॥

अच (य) लट्ठाण–अचलस्थान–न० । अचलो निष्कम्प एज-नादिर्भवति, तस्य स्थानमचलस्थानम् । नि० चू० ३ उ० । अचलं तत्स्थानं चावस्थानमचलस्थानमिति व्युत्पत्त्या । नि० चू० परमाण्वादीनामयम्–" परमाणुपोग्गले णं भंते ! निरेए का-ओ केव चिरं होइ ? । गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसे-णं असंखेज्जं कालं असंखेज्जाओ उस्सप्पिणी ओसप्पिणीओ " । नि० चू० १ उ० । नि० चू० । अचलस्थानं तु चतुर्धा, सादिसपर्यवसान [illegible] दात् । तद्यथा–सादिसपर्यवसानं परमाण्वादेर्द्व्यणुकादे-[illegible] दायवस्थानं जघन्यत एकं समयमुत्कृष्टतोऽसंख्येयं कालं, साद्यपर्यवसानं सिद्धानां भविष्यदद्धारूपम्, अनादिसपर्यव-सानमतीताद्धारूपस्य शैलेश्यवस्थाचरमसमये कार्मणतैजसश-रीरस्थानां चेति; अनाद्यपर्यवसानं धर्माधर्माकाशानामिति । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अच (य) लपुर–अचलपुर–न० । आभीरदेशान्तर्वर्तिनि [illegible] पाण्डे पुरवरे, कल्प० । ('बंभदीविया' शब्दे [illegible]) । [illegible] "अयलपुरा णिक्खंते, कालियसुयआणुओगिए धीरे " । [illegible]

अच (य) लभाया–अचलभ्राता–पुं० । [illegible] गणधरे, विशे० । आ० म० द्वि० । कल्प० । ([illegible] 'गणहर' शब्दे वक्ष्यते)

अच (य) ला–अचला–स्त्री० । [illegible]

अच (य) लिय–अचलित–त्रि० । [illegible]

[illegible] ।

अचक्खुविसय-अचक्षुर्विषय-त्रि० । चक्षुषोऽविषयभूते, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । "अणुयाइ अचक्खुविसयं [illegible]" । ध० ३ अधि० ।

अचक्खुस-अचाक्षुष-त्रि० । [illegible] ... (चक्खुक्खं दिट्ठा) "अचक्खुविसयं, अबाहं अणुत्तरं" उत्त० १० अ० । [illegible] ... ।

अचाइय-अशक्नुत्-त्रि० । असमर्थे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । "जहा दियापोतमपत्तजातं, सावासगा पविउं मणमाणं । तमचाइयं तरुणमपत्तजातं ढंकाइ अव्वत्तगमं हरेज्जा" ॥१४॥ सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अचाएंत-अशक्नुवत्-त्रि० । असमर्थे, "अचाएमाणे अचाएंतो ले-च्छइ अण्णंवत्थं वए" व्य० ३ उ० । सूत्र० ।

अचाग-अत्याग-पुं० । त्यागपरिहारे, ध० २ अधि० ।

अचाउणा-अचातुर्या-स्त्री० । अचतुरत्वे, "कुर्याविशेषं त्यथाद-नया" पो० १ विव० ।

अचाउलिज्ज-अचातुलनीय-त्रि० । ऐश्वर्यादसंतुलनीये, "अभि-गयबोधार्थयोः, अचाउलिज्जाउ पयपणाओ" दर्श० ।

अचिंत-अचिन्त्य-त्रि० । चिन्तयितुमनुमातुमशक्यत्वेन तर्क-वितर्कविषये, सूक्ष्मार्थे कर्मणि वचन । भ० म० । पाच० । अनि-र्वचनीये, द्वा० ११ द्वा० ।

अचिंतगुणसमुदय-अचिन्त्यगुणसमुदय-न० । अचिन्त्यो गुण-समुदयो ज्ञानादिसमुदयो यस्य तदचिन्त्यगुणसमुदयम । पर-मात्मे, "तनुकरणादिविरहितं, तथाचिन्त्यगुणसमुदयं सूक्ष्मम" पो० १४ विव० ।

अचिंतचिंतामणि-अचिन्त्यचिन्तामणि-पुं० । चिन्तातिक्रान्ता-र्थप्रदायकत्वेन चिन्तामणिरत्नकल्पे तीर्थंकरे, संस्तू० स्तू० ।

अचिंतण-अचिन्तन-न० । न० त० चिन्तनाभावे, यस्कदाचित्

स्यादिकं दृष्टं तस्य चेतसि न स्मरणमपरिभावनमित्यर्थः । "अचिंतणं चेव अकित्तणं च" उत्त० ३२ अ० ।

अचिंतसत्ति-अचिन्त्यशक्ति-स्त्री० । अनिर्वचनीयसामर्थ्ये, "अचिन्त्यशक्तियोगेन, चतुर्थो यम उच्यते" द्वा० १६ द्वा० ।

अचिट्ठ-अचेष्ट-त्रि० । अविद्यमानचेष्टे, आव० ३ अ० ।

अचित्त-अचित्त-त्रि० । न विद्यते चित्तं संज्ञिज्ञानं चित्तमचेतनं यस्य । जीवरहिते, आचा० १ श्रु० १ अ० ८ उ० । आव० । अनु० । नि० चू० । सूत्र० । सचित्ताचित्तमिश्रव्यक्तिः-प्रायः सर्वाणि धान्यानि । धानकजीरकअजमकविरहालीसू-मालीराजगरमभृतिसर्वकणाः सर्वाणि फलपत्राणि लवणखारिकारकः क्षारमृत्तिकाशुष्कलावणादिर्वाग्निमः क्षारः मृत्-खदिरखेलिकादि आर्द्रदन्तकाष्ठादि च व्यवहारे सचित्ता-नि । ज्ञेयं निश्चयदिनाप्रभृति गोधूमादिकणाश्चणकमुद्गादिशाल-यश्च छिन्ना अपि कणिकालिकाःसम्यगसिद्धाः, यथा पूर्वं लव-णादिप्रदान पानादिप्रदान पानुकादिक्षेपं वा विना संचिता-श्रमुक्त गोधूमयुग्मचर्यादिधानाः पानादिप्रदानं विना लोलि-तभिन्ना धान्यकर्णिकाः पृथुकर्णपिकाणिकाः पर्पटकादयो मरिचराजिकाचणादिमात्रसंस्कृतधिर्भटिकादीनि सचित्ता-नदीजानि सर्षपफलानि च मिश्राणि । यद्दिने तिलकुट्टिः कृता तद्दिने मिश्रा, मध्येऽन्नरोटिकादिक्षेपे तु मुहूर्तादनुप्रासु-का, दक्षिणमालवादौ प्रभूतगुडक्षेपेण तद्दिनेऽपि तस्याः प्रा-सुकत्वव्यवहारः । तत्कालगृहीतं गुडलाभाद्रास्यादि, ता-त्कालिको नालिकेरनिम्बूकनिम्बाम्रेक्षुवाद्येनां रसस्तात्कालिकं तिलादितैलं, तत्कालमर्दितं निर्बीजीकृतं नालिकेरशृङ्गाटकपूगी-फलादि, निर्बीजीकृतानि पक्वफलानि, गाढमर्दितं निष्कणं जी-रकाजमकादि च मुहूर्तं यावन्मिश्राणि, मुहूर्तादूर्ध्वं तु प्रासुका-नीति व्यवहारः । अन्यदपि प्रबलाग्नियोगं विना यत्प्रासुकी-कृतं स्यात्तन्मुहूर्तावधि मिश्रं, तदनु प्रासुकं व्यवह्रियते । यथा प्रासुकं नीरादि, तथा कर्पूरफलानि, पक्वधान्यानि, गाढं मर्दि-तमपि लवणादि च प्रायोऽन्यादिप्रबलशस्त्रं विना न प्रासुका-नि । योजनशतात्परत आगतानि हरीतकीखारिकीकिसमि-सिद्राक्षाखर्जूरमरिचपिप्पलीजातिफलबदाममवावमाखोटकन-मिजरांस्तक्तावली कषायस्फटिकानुकारिसैन्धवादीनिसाजिका-विडलवणादिः कृत्रिमः क्षारः कुम्भकारादिपरिकर्मितमृदादि-कम, एलालवङ्गजातिशुष्कमुस्ताकोङ्कणादिपक्वकदलीफ-लान्युत्कलितशृङ्गाटकपूगादीनि च प्रासुकानीति व्यवहारो दृश्यते । उक्तमपि थीकल्पे—

जोयणसयं तु गंतुं, अणहारेणं तु भंडसंकंती ।
वायागणिधूमेण य, विद्धत्थं होइ लोणाई ॥ १ ॥

लवणादिकं तु स्वस्थानात् गच्छत् प्रत्यहं बहुबहुतरादिक्र-मेण विध्वस्यमानं योजनशतात्परतो गत्वा सर्वथैव विध्वस्तम-चित्तं भवति । शस्त्राभावे योजनशतगमनमात्रेणैव कथमचित्ती-भवनमित्याह—अनाहारेण यदुत्पत्तिदेशादिकं साधारणं तत् ततो व्यवच्छिन्नं तत्पोषकाहारविच्छेदात् विध्वस्यते । तथा ल-वणादिकं भाण्डसंक्रान्त्या पूर्वस्मात् २ भाजनादपरभाजनेषु । यद्वा । पूर्वस्या भाण्डशालाया अपरस्यां भाण्डशालायां संक्र-म्यमाणं विध्वस्यते तथा वातेन वा अग्निना वा महानसादौ धूमेन वा लवणादिकं विध्वस्तं भवति ' लोणाई ' इति । अत्रादि-शब्दादमी द्रष्टव्याः—

हरियालमणोसिलपि-प्पली अ खज्जूर मुद्दिआ अभया ।
आइन्नमणाइन्ना, ते वि हु एमेव नायव्वा ॥ २ ॥

हरितालं मनःशिला पिप्पली च खर्जूर एते प्रसिद्धाः, मृद्वीका द्राक्षा, अभया हरीतकी, एतेऽप्येवमेव लवणमिव योजनशतगमनादिभिः कारणैरचित्तीभवन्तो ज्ञातव्याः । परमेकेऽनाचीर्णा अपरेऽनाचीर्णाः । तत्र पिप्पलीहरीतकीप्रभृतय आचीर्णा इति गृह्यन्ते । खर्जूरमृद्वीकादयः पुनरनाचीर्णा इति न गृह्यन्ते ।२।

अथ सर्वेषां सामान्येन परिणमनकारणमाह–

आरुहणे ओरुहणे, णिसिअण गोणाइणं च गाउम्हा ।
भोमाहारच्छेए, उवक्कमेणं च परिणामो ॥ ३ ॥

शकटादिषु लवणादीनां यदि भूयो भूय आरोहणमवरोहणं च तथा यत् तस्मिन् शकटादौ लवणादिभारोपरि मनुष्या निषीदन्ति तेषां गवादीनां च यः कोऽपि विग्रादिगात्रोष्मा, तेन वा परिणामो भवति । तथा यो यस्य भौमादिकः पृथिव्यादिक आहारस्तद्व्यवच्छेदे तस्य परिणाम ,उपक्रमः-शस्त्रम् , तच्च त्रिधा-स्वकायपरकायतदुभयरूपम् । तत्र स्वकायशस्त्रं यथा-लवणोदकं मधुरोदकस्य, कृष्णभूमं पाण्डुभूमस्य । परकायशस्त्रं यथा-अग्निरुदकस्य, उदकं चाग्नेरिति । तदुभयशस्त्रं यथा-उदकं शुद्धोदकस्येत्यादि । एवमादीनि सचित्तवस्तूनां परिणमनकारणानि मन्तव्यानि ॥ ३ ॥

उप्पलपउमाइं पुण, उण्हे दिन्नाइं जाम न धरिंति ।
मोग्गरगजूहिआओ, उण्हे छूढा चिरं हुंति ॥ ४ ॥
मगदंतिअपुप्फाइं, उदकच्छूढाइं जाम न धरिंति ।
उप्पलपउमाइं पुण, उदए छूढा चिरं हुंति ॥ ५ ॥

उत्पलानि पद्मानि च उदकयोनिकत्वादुष्णे आतपे दत्तानि यामं प्रहरमात्रं कालं न ध्रियन्ते नावतिष्ठन्ते, किन्तु प्रहरादर्वागेवाचित्तीभवन्ति । मुद्गरकानि-मगदन्तिकापुष्पाणि यूथिकापुष्पाणि च उष्णयोनिकत्वादुष्णे क्षिप्तानि चिरमपि कालं भवन्ति, सचित्तान्येव तिष्ठन्तीति भावः । मगदन्तिकापुष्पाणि उदके क्षिप्तानि याममपि न ध्रियन्ते, उत्पलपद्मानि पुनरुदके क्षिप्तानि चिरमपि भवन्ति ॥ ४ । ५ ॥

पत्ताणं पुप्फाणं, सरडुफलाणं तहेव हरिआणं ।
विंटंमि मिलाणम्मि य, णायव्वं जीवविप्पजढं ॥ ६ ॥

पत्राणां पुष्पाणां शरडुफलानामबद्धास्थिकफलानां वास्तुलादीनां सामान्यतस्तृणवनस्पतीनां वृन्ते मूलनाले म्लाने सति ज्ञातव्यं जीवविप्रमुक्तमेतत्पत्रादिकमिति (श्रीकल्पवृत्तौ शाल्यादिधान्यानां तु योनिप्रमाणे पदृशनकमतमोदयकं सचित्ताचित्तत्वविभागपयमुक्तः, स च 'जोणि' शब्दे दर्शयिष्यते) कर्पासस्याचित्तता त्रिवर्षानन्तरं स्यात् । यदुक्तं श्रीकल्पबृहद्भाष्ये-

सेडुगं तिवरिसाइ गिण्हंति ।

सेडुकं त्रिवर्षातीतं विध्वस्तयोनिकमेव कल्पते । सेडुकः कर्पास इति । तद्वृत्तौ विध्वस्य तु मिश्रत्वेनमुक्तं पूर्वसूरिभिः- " एवाइयम्मि सुद्दे, भक्खाविओ मासणं च मइयव । नड आसंदन कलिद-मगमिस्सोतिसु निति दिणा ॥ १ ॥ पणगहर माह पम्मुल. पहरा चत्तारि खमयंनाइ । उिहमाइ तिपहर, मेण दर हाउ कालिअं " ॥ २ ॥ चालितमनु मुहूर्तादूर्ध्वमचित्तः, कालिभीभूतात परं चिरगुणतश्चमाने तु शास्त्रे न दृश्यते, परं उष्णादित्रिदण्डेन वर्णादिविपरिणामसमर्थं यावत् इष्यते । उष्णनीरं तु त्रिदण्डोत्कालितमपि मिश्रम । यदुक्तं पिण्डनिर्युक्तौ-

उसिणोदगमणुवत्ते, दंडे वासे य पडिअमित्तम्मि ।
मोत्तूणादेसतिगं, चाउलउदगं बहुपसन्नं ॥

अनुवृत्तेषु त्रिदण्डेषूत्कालेषु जलमुष्णं मिश्रं, ततः परमचित्तम । तथा वर्षे वृष्टे पतितमात्रायां ग्रामादिषु मनुष्यसङ्कुलभूमौ यज्जलं तद् यावन्न परिणमति तावन्मिश्रम, अरण्ये तु यत् प्रथमं पतति तत्पतितमात्रं मिश्रं, पश्चात्पतत् सचित्तमुदकं देशत्रिकं मुक्त्वा तन्दुलोदकमबहुप्रसन्नं मिश्रम, अतिस्वच्छं तु सचित्तम । अत्र त्रय आदेशाः । यथा केचिद्वदन्ति तन्दुलोदकं तण्डुलप्रक्षालनभाजनादन्यत्र भाजने क्षिप्यमाणे त्रुटित्वा भाण्डपार्श्वे लग्ना बिन्दवो यावन्न शाम्यन्ति तावन्मिश्रम । अन्ये तथैव याता यावद् बुद्बुदा न शाम्यन्ति तावत । अन्ये तु यावत् तण्डुला न सिद्ध्यन्ति तावत् । एते त्रयोऽप्यादेशा अनादेशाः पचनाग्निसम्भवादिभिः, एषु कालनियमस्याभावात्, ततोऽतिस्वच्छीभूतमेवाचित्तम ।

निव्वोदगस्स गहणं, केइ भाणेसु असुइ पडिसेहो ।
गिहिभायणेसु गहणं, ठिअवासे मीसगं छारो ॥ ७ ॥

तीव्रोदकं हि धूमधूम्रीकृतदिनकरकरसम्पर्कमोपलम्भादचित्तम, अतस्तद्ग्रहणे न काचिद्विराधना । केचिदाहुर्भाजनेषु तद् ग्राह्यम । अत्राचार्यः प्राह-अशुचित्वात्तस्य ग्रहणप्रतिषेधः, ततो गृहभाजने कुण्डिकादौ ग्राह्यम । वर्षति मेघे च तन्मिश्रम, ततः स्थिते वर्षेऽन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वं ग्रहणम । तद् हि केवलं प्रासुकीभूतमपि प्रहरत्रयादूर्ध्वं भूयः सचित्तं स्यादतस्तन्मध्ये क्षारः क्षेप्यः, एवं स्वच्छताऽपि स्यादिति । पिण्डनिर्युक्तिवृत्तौ तन्दुलधावनोदकानि प्रथमद्वितीयतृतीयान्यनेकवृतानि मिश्राणि, चिरं तिष्ठन्ति त्वचित्तानि, चतुर्थादिधावनानि तु चिरं स्थितान्यपि सचित्तानि । प्रासुकजलादिकालमानं चोक्तं प्रवचनसारोद्धारादौ-"उसिणोदगं तिदंडु-क्कालिअं फासुअ जलं जइ कप्पं । नवरि गिलाणाइकए, पहरतिगोवरि विधरिअव्वं ॥१॥ जायइ सचित्तपासे, गिम्हासु उ पहरपंचगस्सुवरिं । चउपहरुवरिं सिसिरे, वासासु जलं तिपहरुवरिं " ॥२॥ तथा-ऽचेतनस्यापि कडुक्कमुक्कहरीतकीकुलिकादेरविनष्टयोनिरक्षणार्थं निःशूकतादिपरिहारार्थं च न दन्तादिभिर्भज्यते । यदुक्तं श्रीओघनिर्युक्तिपञ्चसप्ततितमगाथावृत्तौ-अचित्तानामपि केषाञ्चिद्वनस्पतीनामविनष्टा योनिः स्याद् गुडूचीमुद्गादीनाम । तथा हि—गुडूची शुष्काऽपि जलसेकात्तादात्म्यं भजतीति दृश्यते, एवं कडुक्कमुद्गादिरपि, अतो योनिरक्षणार्थमचेतनयतना कर्तव्येति । ध० २ अधि० । वृ० । नि० चू० । पि० ।

एतदेवाऽन्यत्र सङ्ग्रहेण—

अह एगाणं जं जं, कालपमाणं भणामि सव्वेसिं ।
भत्तं सिद्धं पियइं, कट्टुदलं हिंगुमहियं अ ॥ ६२ ॥
पुप्फफलपत्तसायं, धीयच्छाली विणा य आमगडं ।
मंडपुवाइयं जल-लप्पसीयडीयपणरूया ॥ ६३ ॥
चउपहरमाणमेसिं, ओयणमंडचारआमजगराए ।
सह तक्करबहुभिए, आहियं परिमाणमवि वुत्तं ॥ ६४ ॥
दहिनक्करराईणं, कयसागाए मोलजामं च ।
वासासु पक्खहेमं-त मासुसिएगु वीसदिणमाणं ॥ ६५ ॥
पक्कन्नयकालो पिउ, विण्णेओ कुलिकोए पढमो ।

कम्मासु पलंडियं वा, भावियमेयं जहा उ जाउ ॥ ६६ ॥
निच्छिण्ण रुक्खं, अमणुन्नयं मज्झिमेण परिमाणं ।
उच्छूविगरणयाणं, मंडियरमेतं तहा जाण ॥ ६७ ॥
घयतेल्लगुलाईणं, दव्वगमगंधरसुदयजाणे ।
चाउलखोमुड्डं, उण्हिउजा सो तहा य.यं ॥ ६८ ॥
इच्छ य कडिवम्मम्मि, जंधा वेडिया मणुच्चंति ।
पुच्छिल्ल पडिदेमा, वड्ढंति दुवे वि ममणं वा ॥ ६९ ॥
पडिमट्टे भाविणो-नरगे पक्खिडिया मणुच्चंति ।
सरणं सुक्कयमित्तिय, पंडिदी मणुच्छिला हुंति ॥ ७० ॥
सिरमुणालमूलचकमय-कामकूलयवक्कमायसुवगांध ।
वत्थस्स सद्दूलगपाय, पंचगलगिमस्तमार्ग च ॥ ७१ ॥
माहिंयगिहि उत्सुगंधीग-भोदूलतिलयफ्फलितकपामागं ।
दग्मालियं परिमाणं, नत्तो विदेसए जोणी ॥ ७२ ॥
ए्हा थेनू श्रवणी, मणकोडुम्मणवहामिकणा ।
पत्तयकूडयनेडी, मूलगवीया च्चयट्ठ य ॥ ७३ ॥
पडिहायं खगायं, उडोमाहिं मलयामाइं ।
होइ अहवेण पुणो, अंतमुहुत्तं ममणाणं ॥ ७४ ॥
तिलपिल्लगजूलिया-मुद्दिय अमया वदाल चारिका ।
पत्ता जायरडं पुण, कंटाउं चाउ कुसिया य ॥ ७५ ॥
विउमिस्सइ जोणी, पढमि उवगहावलोगेहिं ।
मंथाइयजलकलाउ, घाणं जोणी तहा चिन्ता ॥ ७६ ॥
जोयणमयं तु गंतुं, अणहारेणं तु भंडसंकंती ।
वायागणिधूमेहिं, विद्धत्यं होइ लोणादि ॥ ७७ ॥
हरियाहडवणमयमिय-भूयमेवालमाढेकंप य ।
पंचेय अणुगया, सिरुत्या अपि मुणेयव्वा ॥ ७८ ॥
मीयामिथघणमन्ध-रमीयपाहिदुवयाइयमिगनागाइं ।
अच्चित्तइ.मिया कं-नामसोइयनिदलमाकिया ॥ ७९ ॥
पिट्ठं मिस्समसुद्धं, पणुवजलियहिमगनालगायरस्सं ।
मायगामोयरामे-सु दायव्वम्मि घए अणुओगो ॥ ८० ॥
पढवडतियजाणाग, माहुंग चित्तहुवलक्खिट्ठगे ।
तह नझियघाणं, हालाण विरज्जए पायं ॥ ८१ ॥
चालियवणियनुमरहिय, सुकं जा ताव मिस्सियं नेयं ।
योणहुयं जं मागं, मज्झियरक्खिएण तं सुद्धं ॥ ८२ ॥
एके नचंति भज्जिय-घणाणं पडलाइपमिव जाहो ।
मलयाइमइमहिणं, यामाइसु मिस्सहोणस्स ॥ ८३ ॥
अंतमुहुत्तं मीद-स्स चोक्खीमहाम घाउपत्तगयं ।
गोमुत्तं जह केवड-महिमा इमं रमाचियजामे ॥ ८४ ॥
सहमितले विच्चामं, निव्वडरमडामसुमिणनीरस्स ।
धामाइसु यमाणं, फासुअइम्माथि एमेव ॥ ८५ ॥

उस्सेइम १ संसेइम, २
तंदुलनीरं ३ तिलोदगं ४ वा वि ।
तुस ५ जव ६ आयामं ७ वा
सोवीरं ८ सुद्धवियडं च ९ ॥ ८६ ॥
अंव १० कविट्ठ ११ मनगं १२,
अंबाडग १३ माउलिंग १४ खज्जूरं १५ ।
दक्खा १६ दालिम १७ केरं १८,
चिंचा १९ नालिअर २० कोलजलं २१ ॥८७॥

पुव्वाणियं सकडे, जंह तिलतुसजवोदगं भणियं ।
या जाम सोवीरं, अट्ठमे उसिणं नीरं च ॥ ८८ ॥
मच्छसरिणं गलियं, तियदंडुक्लियपरिमियमलयं ।
परक्कडजाइं ण कप्पइ, ण कप्पइ अप्पमक्कंमि ॥ ८९ ॥
उस्सेइम संसेइम, तंडुलतिलतुसजवाण नीरं च ।
वा जामं सोवीरं,सुद्धं वियडं जलं तयहा ॥ ९० ॥
तिहडा तमामयत्तं, मुच्यपहुट्टं च मयगमाईहिं ।
फासुकयं सडाइहिं, कारणओ कप्पणिज्जं तु ॥ ९१ ॥
जिह तयं मग्गट्ठं, पडिमुबहासु अभिग्गहायामे ।
मट्ठाण जिणकप्पाइ, उपइजडे अणमणे वि तहा ॥ ९२ ॥
फलंबिलोदगमिगडा-ममाजामं धफलीरमुदुसतिगं ।
उच्चरमे सोवीरे जामदुगं घोसणं निमुट्ठं ॥ ९३ ॥
यव्वमगंधपजव-भेयविनिस्सं तु हवइ फासुजलं ।
मइगुलसंडाइं, धन्नुविनेएहिं परिणमियं ॥ ९४ ॥
गोप्पगमहिमाणं, खीरं पण अट्ठमदिणाणुवरि सुद्धं ।
तिदिणाणुवरि बलद्धी, नवस्सूयाए एमेव ॥ ९५ ॥
चउपहरोवरि जायं, दहि सुद्ध हवइ कप्पणिज्जं च ॥
तक्करजुयघोरेयी, बीयदिणे होइ वा कप्पा ॥ ९६ ॥
निग्गीरं तिलतिस्सं, मंथाणं तह वियारियफलाणं ।
आचित्तजोएणो पुण, कप्पइ तक्कम्महुमालियं ॥ ९७ ॥
निव्वडिनिच्छियकडं, जामगनामुहुत्तमुवरि कयं ।
वियलं तक्करमिस्सं, न कप्पमुसिणाकयण विणा ॥ ९८ ॥
मोयाफलं पक्कोलं, घोमाकोलं च कक्कमुंडाइं ।
तणगिसुरुं जं तो, हवइ तं देवडीचिही ॥ ९९ ॥
वक्खिडजहन्नमज्झिम-नेएहिं होइ निविहमनसहं ।
चउहा मचित्तपरि-णामयणाकिट्ठनेपग ॥ १०० ॥
तिविहम्मि अभिग्गहे मसु, न कप्पइ मचित्तयाधारे ।
तस्थाणाहारस्सवसू, कप्पइ मव्वादि वयणीए ॥ १०१ ॥
आयंबिलमवि तिविहं, वक्खिडजहन्नमज्झिमवप्पेहिं ।
तिविहं जं वियलं पुव्वाइं पकप्पए वि तत्थ ॥ १०२ ॥
सियमिघवमंढिमिधी, सेही मोवच्चलं च विडलवणं ।
हिंगुमुगंधिमुयाइ य, पकप्पए माइमं यत्थ ॥ १०३ ॥
कारणजाएण जइ पा, असणे मिर्इ हविज्ज तिमियं वा ।
पिट्ठं जवेण रद्दं, घुणेरिट्ठाइ सिद्धं ॥ १०४ ॥
पण्णइयरया रक्खा, सिद्धा तिगयाकया हवइ कप्पा ।
मज्जियचणं तिणयाण, कट्टइं सिवेइवियलं जं ॥ १०५ ॥
मच्छाणं धन्नाणं, पि हु या कुडेण सिच्चिमाइमयं ।
वेसघण्याए इह, छिट्टया नीइ अकप्पं च ॥ १०६ ॥ प्र० प्र० ।
अचित्त–त्रि० अकर्तुरे, पृ०५ उ० ।

अचित्तदव्वियकप्प–अचित्तद्रव्यकल्प–पुं० । अचित्तद्रव्याणामाहारादीनामुपयोगादिविधिविशेषे, " अच्चित्तदव्वियकप्पं, पत्तो वोच्छं समासेणं । आहारे उवहिम्मि य, ओवसणे तह य पत्तवणे ॥ १ ॥ पयमं तिमजगाणे, दंरू वंमे चिउमिछिली अवत्रहणिया घनाणं सो-च्चये दंतसोहणे चेव ॥ २ ॥ पिप्पलगणुत्तिनकम्मा -च्छेदगे चेव सोलमं मज्जा । हारो खलु दुविहो हो-इ एलोवणंर णायव्वो ॥३॥ तिविहो तु लोइओ खलु, तत्थ इमो होति णायव्वो" । पं० भा० । पं० चू० ('आहार' प्रभृतिशब्देषु विवृतिः)

अचित्तदव्वखंध–अचित्तद्रव्यस्कन्ध–पुं० । अविद्यमानचित्तोऽचित्तः, स चासौ द्रव्यस्कन्धश्च । द्विप्रदेशिकादिपुद्गलस्कन्धरूपे अचेतने द्रव्यस्कन्धभेदे, अनु० ।

[illegible]

अचित्तमंत-अचित्तवत्-त्रि० । न विद्यते चित्तमुपयोगो ज्ञानं [illegible] । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । 'चि-[illegible] [illegible] निहेज्जा' । दशा० ४ अ० । [illegible]

अचित्तमहास्कन्ध-अचित्तमहास्कन्ध-पुं० । उत्कृष्टावगाहनेऽ[illegible] (अस्यार्थः 'महा' शब्दे वक्ष्यते) विशे० ।

अचित्तमोय (ग) -अचित्तमोदन् (क)-न० । जीवरहित-[illegible] दर्शनाति प्रवेश्य [illegible] ('अ[illegible]' शब्देऽस्ति) । नि० चू० १ उ० ।

अचित्त[illegible]-त्रि० [illegible] 'अचित्तं वा अचित्तमिति वा [illegible] [illegible] । [illegible] उ० । नि० [illegible] । [illegible] उ० । [illegible] । [illegible] उ० । [illegible] अतीतिमित्याम, [illegible]

अचित्त[illegible]-अचित्त[illegible]— पुं० [illegible]

[illegible]

आह-यद्येवं ततः कथममी अचेला भवन्ते ?, [illegible] च चेलेऽचेलकत्वस्यागमे लोके च [illegible] ।

एतदेवाह-

सदसंतचेलगोऽचे-लगो य जं लोगसमयसंसिद्धो ।
तेणाचेला मुणिओ, संतेहि जिणा असंतेहिं ॥

सच्चासच्च सदसती चेले यस्यासौ [illegible] लोके समये चाऽचेलकः संसिद्धः प्रसिद्धः [illegible] यतनायाम् , सा च कृतैव । तेन तस्मादिह [illegible] यतः सद्भिरपि चेलैरुपचारतोऽचेला भवन्ति । [illegible] थंकरा असद्भिश्चेलैर्मुख्यवृत्त्या अचेला [illegible] भवति-इहाचेलत्वं द्विविधम्-मुख्यमुपचरितं च । [illegible] मुख्यमचेलत्वं संयमोपकारि न भवत्य[illegible] मुख्यं तु जिनानामेवासीदिति ।

इदमेवौपचारिकमचेलत्वं भावयति-

परिसुद्ध जुन्नकुच्छी-य थोवाऽनिययन्नभोगभोगेहिं ।
मुणिओ मुच्छारहिया, संतेहिं अचेलया होंति ॥

मुनयः साधवो मूर्च्छारहिताः सद्भिरपि [illegible] लका भवन्ति । कथम्भूतैश्चेलैरित्याह-परिशुद्धैः [illegible] कत्वंगात् परिशुद्धैरेषणीयैः,तथा [illegible] [illegible] गणनाप्रमाणतो हीनैस्तुच्छैर्वा, [illegible] अनियतभोगेन कादाचित्कमेवतेन भोग [illegible] तथा तैरेवंभूतैश्चेलैः सद्भिरप्युपचारतोऽचेलका [illegible] [illegible] । तथा 'अन्नतोगजोगेहि' [illegible] [illegible] प्रकारेण भोग [illegible] [illegible] भोगः,तेनान्यभोगेन भोगः [illegible] तथा तैरप्येवंभूतैश्चेलैः [illegible] लोके प्रसिद्धमेव, [illegible] [illegible] अप्राप्त[illegible] [illegible] प्रमाण, [illegible] [illegible] भोगो [illegible] । [illegible] 'परिसुद्धजुन्न[illegible]' [illegible] [illegible] सद्भिरपि [illegible]

[illegible]

आह-ननु [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

एवं जीर्णैः पुराणैः, खण्डितैश्छिद्रैः, असर्वतनुप्रावृतैः स्वल्पप्रमाणतया सर्वस्मिन् शरीरे अप्रावृतैः, प्रमाणैः हीनैरित्यर्थः। न च नित्यं सदैव प्रावृतैः किन्तु शीतादिकारणसद्भावे पर्यायपरिभोगैः, सद्भिरपि विद्यमानैरपि, निर्ग्रन्था अचेला भवन्ति।

अत्र पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरति—

एवं दुग्गतपहिया, अचेलगा होंति ते भवे बुद्धी।
ते खलु असंतत्तीए, धारिंति ण धम्मबुद्धीए॥

यदि जीर्णखण्डितादिभिर्वस्त्रैः प्रावृतैः साधवोऽचेलकास्तत एवं दुर्गताश्च दरिद्राः पथिकाश्च पान्था दुर्गतपथिकास्तेऽप्यचेलका भवन्तीति ते भवेद् बुद्धिः स्यात्। तत्रोच्यते-ते खलु दुर्गतपथिका असत्तया नवव्यूतमहाधनादीनां वस्त्राणामसत्तया परिजीर्णादीनि वासांसि धारयन्ति, न पुनर्धर्मबुद्ध्या। यतो साधवः समस्तविषयमूर्च्छापरिणामस्य निवृत्तत्वान्नैतेऽचेलकाः। साधवस्तु सति लाभे महाधनादीनि परिहृत्य जीर्णखण्डितादीनि धर्मबुद्ध्या धारयन्तीत्यचेला उच्यन्ते।

यद्येवमचेलास्ततः किमित्याह—

आचेलक्को धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमगाण जिणाणं, होति अचेलो सचेलो वा॥

अचेलकस्य भाव आचेलक्यम्, तदस्यास्तीत्याचेलक्यः। अभ्रादेराकृतिगणत्वादप्रत्ययः। एवंविधो धर्मः पूर्वस्य च पश्चिमस्य च जिनस्य तीर्थे भवति। मध्यमकानां तु जिनानामचेलः सचेलो वा भवति।

इदमेव भावयति—

पडिमाए पाउया, णातिक्कमंते उ मज्झिमा समणा।
पुरिमचरिमाण अमहद्धणाइं जिणाइँ भोत्तुं॥

मध्यमा मध्यतीर्थकरसत्काः साधवः प्रतिमया वा प्रमाणेन प्रावृता वा प्रमाणातिरिक्तमहामूल्यादिनिर्वाससोभिराच्छादितवपुषो नातिक्रामन्ति, आचेलक्यमाचारमिति गम्यते। पूर्वचरमाणां तु प्रथमपश्चिमतीर्थकरसाधूनाममहाधनानि स्वल्पमूल्यानि, भिन्नानि वा कृत्स्नानि प्रमाणोपेतान्यदशाकानि चेत्यर्थः। पर-मिमानि कारणानि मुक्त्वा नान्यथाह–

आगमन गेलन्नं, वासावासे अणाविलो अमह।
काले अद्धाणम्मि य, सागरि तेणो व पाउरणं॥

हेमन्तं देशविशेषाचारमाश्रित्यापि प्राप्यते, यथा सिन्धुविषये नाहशानि प्रावृत्य हिण्डन्ते। वर्षावासे वा वर्षाकल्पं प्रावृत्य हिण्डन्ते। अनाविला रोगा [illegible] प्रावृत्य हिण्डन्ते यावदनाविलो भवति। [illegible] हीनमूल्यं वा [illegible] ततः शुक्लं प्रावृणुयात्। काले वा प्रत्यूषे भिक्षायै प्रविशन् प्रावृत्य निर्गच्छेत्। अध्वनि वा प्रावृता गच्छन्ति। [illegible] प्रावृता [illegible] प्रावृणुयात् [illegible]। एतेषु कारणेषु [illegible] सत्सु [illegible]।

निरवहसलिंगभेदे, गुरुगा कप्पंति कारणज्जाए।
गेलन्नलोयरोगे, सरीरवेयावडियमाई॥

निरवहलो नाम [illegible] लिङ्गभेदं कुर्वन् [illegible]। अथवा निरवहलो नाम [illegible] भेदं कुर्वन्, तस्य च लिङ्गभेदस्येमे भेदाः—

थेरे दुब्बल गेलन्ने, गच्छंमि य पडलिगहुवे।
लहुगो लहुगा य भिन्नु वि, चउगुरुगा होंति वुड्ढे उ॥

[illegible] करोति, प्रायश्चित्तं [illegible] करोति, चतुर्लघु [illegible] करोति, कटीपट्टकं बध्नाति, एतेषु [illegible] लिङ्गं वा करोति, [illegible] मूलम्। [illegible] लिङ्गभेदोऽपि कर्त्तुं कल्पते। [illegible] ते। [illegible] कुर्वन् कटीपट्टकं बध्नीयात्। [illegible] (गि-गि [illegible]) [illegible] कटीपट्टकं बध्नीयात्। [illegible]—

अणिवि ओमोदरिए, गच्छुहे व पलिउड्डे वा।
आगाढ अग्गिभए, काउस्सग्गे व [illegible] वा॥

[illegible] कुर्वन्ति, [illegible]। [illegible] वा विभाषा। बृ० १ उ०। पं० भा०। [illegible]। पञ्चा०। पं० व०। [illegible]। [illegible]। [illegible]। दर्श०। ([illegible]) [illegible] एवं [illegible]। [illegible] भवति। [illegible]।

एतानि अचेलकस्य [illegible]—

पंचहिं ठाणेहिं अचेलए पसत्थे भवइ। तं जहा-अप्पा पडिलेहा, लाघविए पसत्थे, रूवे वेसासिए, तवे अणुन्नाए, विउले इंदियनिग्गहे॥

(पंचहिं ठाणेहिं) [illegible]

द्वारभूमिं यावदुद्गत तत्र व्युत्सृज्य पश्चादागतो यति-पुत्र ! च महानुपसर्गो जातः । आहुराचार्याः-आनीयतां धौतिकं, परिधाप्यताम् । ततः स यतिः अथाऽलं धौतिकेन, यद् द्रष्टव्यं तद् दृष्टमेव । अथ चोलपट्ट एवास्तु । पूर्वं तेनाऽचेलपरीषहो न सोढः, पश्चात् सोढः । उत्त० २ अ० ।

एतदेवाचेलतास्वदनं प्रत्यपादि यथा—

एवं खु मुणी आयाणं सया सुअक्खायधम्मे विधूतकप्पे णिज्झोसइत्ता, जे अचेले परिवुसिते तस्स णं भिक्खुस्स णो एवं जवति, परिजुण्णे मे वत्थे वत्थं जाइस्सामि सुत्तं जाइस्सामि सूइं जाइस्सामि संधिस्सामि सीविस्सामि उक्कसिस्सामि वोक्कसिस्सामि परिहिस्सामि पाउणिस्सामि, अदुवा तत्थ परिक्कमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति सीयफासा फुसंति तेउफासा फुसंति दंसमसगफासा फुसंति एगयरे अण्णयरे विरूवरूवे फासे अहियासेति अचेले लाघवं आगममाणा, तवे से अभिसमण्णागए जवति, जहेयं भगवता पवेदितं, तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो, सव्वत्ताए सम्मत्तमेव समभिजाणिया, एवं तेसिं महावीराणं चिरराइं पुव्वाइं वासाणि रीयमाणाणं दवियाणं पास अहियासियं आगयपण्णाणाणं किसा बाहा भवंति । पयणुए मंससोणिए विस्सेणिं कट्टु परिण्णाए एस तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए त्ति बेमि ।

एतद्यत् पूर्वोक्तं वक्ष्यमाणं वा, खुर्वाक्यालङ्कारे, आदीयत इत्यादानं कर्म, आदीयत इति धाऽनेन कर्मोत्पादनं कर्मोपादानम् । तच धर्मोपकरणातिरिक्तं वक्ष्यमाणं वस्त्रादि तन्मुनिर्झोषयितेति संबन्धः । किंभूतः ? सदा सर्वकालं सुष्ठ्वाख्यातो धर्मोऽस्येति स्वाख्यातधर्मा संसारोत्तारत्वाद्यथारोपितभारवाहीत्यर्थः, तथा विधूतः क्षुण्णः सम्यक् स्पृष्टः कल्प आचारो येन स तथा, स एवंभूतो मुनिरादानं झोषयित्वा आदानमपनेष्यति । कथं पुनस्तदादानं वस्त्रादि स्याद् येन तद् झोषयितव्यं भवेदित्याह-(जे अचेले इत्यादि) अल्पार्थे नञ्, यथा-अयं पुमानज्ञः स्वल्पज्ञान इत्यर्थः । यः साधुर्नास्य चेलं वस्त्रमस्तीत्यचेलोऽल्पचेल इत्यर्थः । संयमे पर्युषितो व्यवस्थित इति तस्य भिक्षोर्नैतद्भवति नैतत्कल्पते । यथा परिजीर्णं मे वस्त्रमचेलकोऽहं भविष्यामि, न मेऽत्र त्वक्त्राणं भविष्यति, ततश्च शीताद्यर्दितस्य किं शरणं मे स्याद् वस्त्रं विनेत्यतोऽहं कञ्चन श्रावकादिकं प्रत्येत्य वस्त्रं याचिष्ये, तस्य वा जीर्णस्य वस्त्रस्य संधानाय सूत्रं याचिष्ये, सूचीं याचिष्ये वा, आसाभ्यां सूचीसूत्राभ्यां जीर्णवस्त्ररन्ध्रं संधास्यामि, पाटितं सीविष्यामि, लघु वा सदपरशकललगनत उत्कर्षयिष्यामि, दीर्घं वा सत् खण्डापनयनतो व्युत्कर्षयिष्यामि । एवं च कृतं सत्परिधास्यामि, तथा प्रावरिष्यामीत्याद्यार्त्तध्यानोपहतः सत्यपि जीर्णादिवस्त्रसद्भावे यद्भविष्यत्यध्यवसायिनो धर्मकथनस्य तु भवत्यन्तःकरणवृत्तिरिति । यदि वा जिनकल्पिकाभिः प्रायेणैतत् सूत्रं व्याख्येयम् । तद्यथा-(जे अचेले इत्यादि) नास्याचेलं वस्त्रमस्तीत्यचेलः छिद्रपाणित्वात्पाणिपात्रः । पाणिपात्रत्वात्पात्रादिसप्तविधनिर्योगरहितोऽभिग्रहविशेषात् त्यक्तकल्पत्रयः । केवल रजोहरणमुखवस्त्रिकासमन्वितस्तस्याचेलस्य भिक्षोर्नैतद् भवति, यथा परिजीर्णं मे वस्त्रं सच्छिद्रं पाटितं चेत्येवमादिवस्तुगतमपध्यानं न भवति, धर्मिणोऽभावाद्धर्माभावः । सति च धर्मिणि धर्मान्वेषणं न्याय्यमिति सत्यं वचस्तथेदमपि तस्य न भवत्येव । यथा परं वस्त्रमहं याचिष्य इत्यादि पूर्ववन्नेयम् । योऽपि छिद्रपाणित्वात्पात्रनिर्योगसमन्वितः कल्पत्रयान्यतरयुक्तोऽसावपि परिजीर्णादिसद्भावे तद्गतमपध्यानं न विधत्ते, यथा कृतस्याल्पपरिकर्मणो ग्रहणात् सूचिसूत्रान्वेषणं न करोति । तस्य चाचेलस्याल्पचेलस्य वा तृणादिस्पर्शसद्भावे यद्विधेयं तदाह-(अदुवा इत्यादि) तस्य ह्यचेलतया परिवसतो जीर्णवस्त्रादिकृतमपध्यानं न भवति, अथवैतत् स्यात्तत्राचेलत्वे पराक्रममाणं (भुज्जो) पुनस्तं साधुमचेलं कचिद् ग्रामादौ स्वकृत्राणाभावात् तृणशय्याशायिनं तृणानां स्पर्शाः परुषास्तृणेषां जनिताः स्पर्शा दुःखविशेषास्तृणस्पर्शास्ते कदाचित् स्पृशन्ति, तांश्च सम्यग्दीनमनसाऽतिसहत इति संबन्धः । तथा शीतस्पर्शाः स्पृशन्त्युपतापयन्ति, तेजउष्णस्पर्शाः स्पृशन्ति, तथा दंशमशकस्पर्शाः स्पृशन्ति । तेषां च परीषहाणामेकतरे विरुद्धा दंशमशकतृणस्पर्शादयः प्रादुर्भवेयुः, शीतोष्णादिपरीषहाणां वा परस्परविरुद्धानामन्यतरे प्रादुःष्युः । प्रत्येकं बहुवचननिर्देशश्च तीव्रमन्दमध्यमावस्थासंसूचक इति । एतदेव दर्शयति-विरूपं बीभत्सं मनोनयनानाह्लादि विविधं वा मन्दादिभेदाद्रूपं येषां ते विरूपरूपाः । के ते ?, स्पर्शा दुःखविशेषास्तश्रपादकास्तृणादिस्पर्शा वा, तान् सम्यक्करणेनापध्यानरहितोऽधिसहते, कोऽसौ ?, अचेलोऽपगतचेलोऽल्पचेलो वा ऽचेलस्वरूपो वा सम्यक् तितिक्षते । किमभिसमय परीषहानधिसहत इत्यत आह-(लाघवमित्यादि) लघोर्भावो लाघवं, द्रव्यतो भावतश्च, द्रव्यतो ह्युपकरणलाघवं, भावतः कर्मलाघवम् । आगमयन्नवगमयन्नबुध्यमान इति यावदधिसहते परीषहोपसर्गानिति । नागार्जुनीयास्तु पठन्ति-" एवं खलु से उवगरणलाघवियं तवं कम्मक्खयकारणं करेति " एवमुक्तक्रमेण भावलाघवार्थमुपकरणलाघवं तपश्च करोतीति भावार्थः । किञ्च (तवे इत्यादि) (से) तस्योपकरणलाघवेन कर्मलाघवमागमयन्तं कर्मलाघवेन चोपकरणलाघवमागमयतस्तृणादिस्पर्शानधिसहमानस्य तपः कायक्लेशरूपतया बाह्यमभिसमन्वागतं भवति । सम्यगाभिमुख्येन सोढुं भवति । एतच्च न मयोच्यत इत्येतद्दर्शयितुमाह-(जहेयं इत्यादि) यथा येन प्रकारेणेदमिति यदुक्तं वक्ष्यमाणं चैतद्, भगवता वीरवर्धमानस्वामिना, प्रकर्षेणाऽऽदौ वा वेदितं प्रवेदितमिति । यदि नाम भगवता प्रवेदितं ततः किमित्याह-(तमेव इत्यादि) तदुपकरणलाघवमाहारलाघवं वाऽभिसमेत्य ज्ञात्वा, एवकारोऽवधारणे, तदेव लाघवं ज्ञात्वेत्यर्थः । कथमिति चेदुच्यते-सर्वत इति द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च । तत्र द्रव्यत आहारोपकरणादौ, क्षेत्रतः सर्वत्र ग्रामादौ, कालतोऽहनि रात्रौ वा, दुर्भिक्षादौ वा । सर्वात्मनेति । भावतः कृत्रिमकल्काद्यभावेन, तथा सम्यक्त्वमिति । प्रशस्तं शोभनमेकं सङ्गतं वा तत्त्वं सम्यक्त्वम् । तदुक्तम्-"प्रशस्तः शोभनश्चैव, एकः सङ्गत एव च । इत्येतैरुपसृष्टस्तु, भावः सम्यक्त्वमुच्यते" ॥ १ ॥ तदेवंभूतं सम्यक्त्वमेव वा समभिजानीयात् सम्यगाभिमुख्येन जानीयात् परिच्छिन्द्यात् तथा ह्यचेलोऽप्येकचेलादिकं नावमन्येत, यत उक्तम्-"जो वि दुवत्थ तिवत्थो, एगेण अचेलगो व संथरइ । ण हु ते हीलेंति परं, सव्वे वि हु ते जिणाणाए ॥ १ ॥ तथा-"जे खलु विसरिसकप्पा, संघयणधियादिकारणं पप्प । णवमन्नइ ण य हीणं, अप्पाणं मन्नई तेहिं ॥ १ ॥ सव्वे वि जिणाणाए, जहाविहिं कम्म-

[illegible] । [illegible] , [illegible] पदं [illegible] । [illegible] सर्वतो [illegible] तीर्थकर- [illegible] । एतच्च नाग- [illegible] । [illegible] भवतः [illegible] ([illegible]) [illegible] पर्युषितानां [illegible] । तदेव [illegible] संयमानुष्ठाने ग- [illegible]

[illegible]

मंडलजोगनिमित्तं, परिहरिअर्द्धति [illegible] ।

एइ न परीसहसहणं, जइ तो मा [illegible] ।

आचेलक्यमुत्सर्गतः तावदीपकारेहं [illegible] सेवनं परीषहसहननिमित्तं [illegible] दि मात्रकं [illegible] यत्राहारमपि [illegible] न सम्यक् [illegible] उत्पादेन सर्वथा आहार [illegible] एवं च सति भगवानप्यर्हन् [illegible] दि भगवान् [illegible] पतड्वे । न च स तथा कर्तुं [illegible] सुन्दरीपरिग्रहेणा नेदः, ततो [illegible] रित्यागतः सुन्दरीपरिहसहननिर्द, तथा [illegible] दानीयवस्त्रपरित्यागेन आचेलक्य [illegible] परस्यम्-एवं तर्हि कमनीयकामिनी [illegible] [illegible] इति, [illegible] कल्यात् ; न चैवं परिभोगी [illegible] प्रतिविरुद्ध, ततो मानिप्रमङ्गापत्ति, [illegible] धर्मसंग्रहणीटीकायामस्माद्वादः [illegible] पं० सं० ४ द्वा० ।

अचेलिआ-अचेलिका-स्त्री० । [illegible] अचेलिकया न भावितव्यम् । बृ० ५ उ० ।

नो कप्पइ निग्गंथीए अचेलिआए हुंत्तए ।

नो कल्पते निर्ग्रन्थ्या अचेलिकया [illegible] सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यम्—

दुविहो अचेलधम्मो, [illegible] अचेलगत्तं [illegible]

जिनकप्पे [illegible], निग्गंथी होइ [illegible] ॥

[illegible]

होइ परपत्थणिज्जा, विइयं अच्चाणमाईसु ॥
अत एव यथार्थिका अचेलिका न भवन्ति, यतस्तासां चतुर्गुरुका आज्ञादयश्च दोषाः। तथा चेलरहितां संयतीं समग्रां मग्नादिग्वदेहां दृष्ट्वा लोको जुगुप्सितं जुगुप्सां कुर्यात्। अतः कष्टमिहलोक एतादृश्यवस्था, परलोके तु पापतरा भविष्यति। गर्हितं च गर्हां प्रवचनस्य कुर्यात्-असारं सर्वमेतद्दर्शनमिति । अचेलिका च परस्य प्रार्थनीया भवति। अत्र द्वितीयपदमध्वादिषु विविक्तानां मन्तव्यम्। अपि च-

पुणरावित्तिनिवारण-उड्डाहो व दहु पेल्लेज्जा ।
पडिबंधो समणाई, मिंमिपदोसा य नगिणाए ॥

अचेलामार्यां दृष्ट्वा प्रव्रज्याभिमुखानामपि कुलस्त्रीणां पुनरावृत्तिर्भवति, प्रव्रज्यां न प्रह्वायुरित्यर्थः। अन्यो वा कश्चिन्निवारणं कुर्यात्, किमेतासां कापालिनीनां समीपे प्रव्रजितेनेति। यद्वा-कश्चिदुदीर्णमोहस्तामप्रावृतां दृष्ट्वा कर्मगुरुकतया प्रेरयेत्, साऽपि तत्रैव प्रतिबन्धं कुर्यात्, प्रतिगमनादीनि वा विदध्यात्। मिमिमदोषाश्च भवेयुः, यत एते नग्नाया दोषा अतोऽचेलया न भवितव्यम्। द्वितीयपदे संयत्या अध्वनि स्तेनैर्विविक्तायास्ततो न किमपि वस्त्रं भवेत्। आदिशब्दात् क्षिप्तचित्ता यक्षाविष्टा वा वस्त्राणि परित्यजेत्, एवमचेलापि भवतीति। बृ०५ उ०। नि०चू०।

अचोइय-अचोदित-त्रि०। अप्रेरिते, "वित्तो अचोइओ णिच्चं, खिप्पं हवइ सुचोइए" उत्त० १ अ०।

अचोप्पडा-अचोपडा-स्त्री०। तिस्तुपाख्ये अलेपकृते पेयद्रव्ये, ध० ३ अधि०।

अचोरिय-अचौर्य-न०। अव्य०। चोरताभावे, "अचोरियं करेंतं" अचौर्यं कुर्वन्तं, चौरतामकुर्वाणमित्यर्थः। प्रश्न०२ आश्र०द्वा०।

अच्च-अर्च-धा० पूजायाम, उभ०,भ्वादि०,सक०, सेट्। अर्चति, अर्चते, आनर्च, आनर्चे, आर्चीत, आर्चिष्ट। चुरा०, उभ०, सक०, सेट्। अर्चयति, अर्चयते। वाच०। "अच्चे मुत्ते महाभागा, एति किंचिए अच्चिमो" उत्त० १२ अ०।

अच्च-त्रि०। अर्चति यः सः। अर्च-अच्। "कगचजतदपयवां प्रायो लुक्" ८। १। ७७। इत्यसंयुक्तस्यैव लुग्विधायकत्वेन न लुक्। पूजके, प्रा०। कालविशेषात्मकवत्सरभेदे च, यस्मिन् हि श्रमणो भगवान् महावीरो निर्वृतः। कल्प०।

अच्च-त्रि०। पूज्ये, स्था० ३ ठा० १ उ०।

अच्चंग-अत्यङ्ग-न०। अतिशायिषु कारणेषु, "वज्जणमणंतगुंबरि, अच्चंगाणं च भोगओ माणं"। अत्यङ्गानीत्यतिशायीनि भोगस्य कारणान्यथवा मधुमद्यमांसादीनि रात्रिभोजनस्रक्चन्दनाङ्गनादीनि च। पञ्चा० १ विव०।

अच्चंतकाल-अत्यन्तकाल-त्रि०। अन्तमतिक्रान्तोऽत्यन्तः, अत्यन्तः कालो यत्र सोऽत्यन्तकालः। असीमकालिके, "अच्चंतकालस्स समूलयस्स, सव्वस्स दुक्खस्स उ जो पमोक्खो" उत्त० ३२ अ०।

अच्चंतथावर-अत्यन्तस्थावर-पुं० स्त्री०। अनादिस्थावरे, "मरुदेवा अच्चंतथावरा सिद्धा" मरुदेवा अत्यन्तस्थावरा अनादिवनस्पतिराशेरुद्वृत्य सिद्धाः। आ० म० द्वि०।

अच्चंतपरम-अत्यन्तपरम-त्रि०। अधिकोत्कृष्टे, "अच्चंतपरमो आसी, अउलो रूवविम्हिओ" उत्त० २० अ०।

अच्चंतभावसार-अत्यन्तभावसार-त्रि०। अतीवप्रशस्ताध्यवसायप्रधाने, पञ्चा० १४ विव०।

अच्चंतविसुद्ध-अत्यन्तविशुद्ध-त्रि०। सर्वथा निर्दोषे, स्था० ९ ठा०। "अच्चंतविसुद्धदीहरायकुलवंससुप्पसूए" अत्यन्तविशुद्धः सर्वथा निर्दोषो दीर्घश्च पुरुषपरम्परापेक्षया यो राज्ञां भूपालानां कुललक्षणो वंशः सन्तानस्तत्र प्रसूतो जातो यः स तथा। स्था० ९ ठा०।

अच्चंतसंकिलेस-अत्यन्तसंक्लेश-पुं०। अतिनिविडतया रागद्वेषपरिणामे, ध० १ अधि०।

अच्चंतसुपरिसुद्ध-अत्यन्तसुपरिशुद्ध-त्रि०। अतिनिर्मलतरे, पञ्चा० १४ विव०।

अच्चंतसुहि (ण्)-अत्यन्तसुखिन्-त्रि०। निरतिशयसुखाऽऽप्लुते, "तो होइ अच्चंतसुही कयत्थो" उत्त० ३२ अ०।

अच्चंताभाव-अत्यन्ताभाव-पुं०। अत्यन्तोऽन्तमतिक्रान्तो नित्योऽभावः। क० स०। नास्तीति वाक्याभिलप्यमाने प्रागभावभिन्ने संसर्गाभावे, वाच०। अत्यन्ताभावमुपादिशन्ति- कालत्रयापेक्षिणी तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरत्यन्ताभाव इति। अतीतानागतवर्त्तमानरूपकालत्रयेऽपि याऽसौ तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरेकत्वपरिणतिव्यावृत्तिः सोऽत्यन्ताभावोऽभिधीयते। निदर्शयन्ति-यथा चेतनाचेतनयोरिति, न खलु चेतनमात्मतत्त्वमचेतनपुद्गलात्मकतामकलत्कलयति कलयिष्यति वा, तद्वत्त्यविरोधात्। नाप्यचेतनं पुद्गलतत्त्वं, चेतनस्वरूपमचेतनत्वविरोधात्। रत्ना० ३ परि०।

अच्चंतिय-आत्यन्तिक-त्रि०। अत्यन्त-भवार्थे ठञ्। अतिशयेन जाते, वाच०। सर्वकालभाविनि, "णेगंतणच्चंतिय ऊदए य, वयंति ते दोवि गुणोदयम्मि" सूत्र०२ श्रु०६ अ०। सोऽप्यात्यन्तिको दुःखविगमः सोऽपवर्गः। अत्यन्तं सकलदुःखक्षयविनिर्मुक्तेन भवतीत्यात्यन्तिको दुःखविगमः। ध० १ अधि०।

अच्चंतोसण्ण-अत्यन्तावसन्न-पुं०। प्रथमप्रव्रजितेषु प्रव्राजितेषु,संविग्नैः प्रव्राजितमात्रैर्व्यवायसन्नतया विहृतेषु च। "अच्चंतोसन्नेसु य, परलिंगदुगे य मूलकम्मे य। भिक्खुम्मि य विहियतवो-ऽणवट्ठपारंचियं पत्तं ॥" जीत०।

अच्चक्खर-अत्यक्षर-त्रि०। एकादिनिरक्षरैरधिके, "अनन्याक्षरत्वं हि सूत्रगुणः" इत्ययं दोषः। अनु०। विशे०। आव० । आ० म० प्र०। आ० चू०। ध०।

अच्चण-अर्चन-न०। पुष्पादिभिः सत्करणे, "अच्चणं रयणं चेव, मणसा वि ण पत्थए"। उत्त० ३५ अ०।

अच्चणा-अर्चना-स्त्री०। अर्च-युच्। पूजायाम, वाच०। "गन्धैर्माल्यैर्विनिर्यद्बहुलपरिमलैरक्षतैर्धूपदीपैः, सान्नाय्यैः प्राज्यभेदैः कृतजिनपदैः पाकपूतैः फलैश्च। अम्भःसम्पूर्णपात्रैरिति हि जिनपतेरर्चनामष्टभेदां, कुर्वाणा वेश्मभाजः परमपदसुखस्तोममारादभजन्ते" ॥ १ ॥ ध० ३ अधि०।

अच्चणिज्ज–अर्चनीय–त्रि० । अर्च–अनीयर् । चन्दनादिभिः साकरणीये, " अच्चणिज्जे वंदणिज्जे कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं । " औ० । उपा० । जी० । भ० । ज्ञा० ।

अच्चणिआ–अर्चनिका–स्त्री० । गिरिचन्दनं जिनप्रतिमाद्यर्चने, भ० ४ श० १ उ० ।

अच्चत्थ–अत्यर्थ–न० । अतिक्रान्तमर्थमनुक्रम्यकरम । अतिशये, तद्वति च । त्रि० । अत्यर्थे, अव्य० स० । अर्थाभावे, अव्य० स० । वाच० । " अंगारपलित्तकक्कसमचत्थमम्मपविधंसणा " प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अच्चत्यत्त–अत्यर्थत्व–न० । महार्थस्याऽल्पपर्याये परिपुष्टार्थाभिधायितारूपेऽष्टमे सत्यवचनातिशये, रा० ।

अच्चय–अत्यय–पुं० । अति–इण्–अच् । अतिक्रमे, समाप्ते, विनाशे, दोषे, कृच्छ्रे, अतिक्रम्य गमने, कार्यस्याऽवश्यंभावाभावे, वाच० । अन्यथाभावे, बृ० ३ उ० । आत्यन्तिके विनाशे च । बृ० ४ उ० ।

अच्चल्लीण–अत्यालीन–त्रि० । अतीवात्यर्थमासीने आमत्ते, आ० ।

अच्चसण–अत्यशन–न० । अतिशयितमशनम । अतिभोजने, वाच० । प्रतिपदादीनां पञ्चदशदिवसानां (तिथीनां) लोकोत्तरसंज्ञया द्वादशे दिवसे, पुं० । चं० प्र० १० पाहु० ।

अच्चा–अर्चा–स्त्री० । अर्च्यतेऽसावाहारालङ्कारादिभिरित्यर्चा । देहे, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० । सूत्र० । स्था० । "दुविहया पडिमेयरसन्निहितेतर अचित्तमचित्ते" अर्चा द्विविधा । तद्यथा-सचित्ता अचित्ता च । तत्राचित्ता द्विविधा-प्रतिमा इतरा च । इतरा नाम स्त्रीशरीरं निर्जीवम् । एकैकं पुनर्द्विधा–सन्निहिता, असन्निहिता च । व्य० ६ उ० । " एगच्चाए पुण एगे भयंतारो भवंति " एके पुनरेकयाऽर्चयैकेन शरीरेणैकस्माद् भवात् सिद्धिगतिं गन्तारो भवन्ति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । क्रोधाद्यध्यवसायात्मिकायां ज्वालायाम्, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० । स्था० । लेश्यायाम्, " इओ विद्धंसमाणस्स, पुणो संबोहिदुल्लहा । दुल्लभाओ तहच्चाओ, जे धम्मट्ठं वियागरे " अर्चा लेश्याऽन्तःपरिणतिः, अर्चा मनुष्यशरीरम् । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । पूजायां च, " मध्यान्हेऽर्चा सत्पात्र–दानपूर्वन्तु भोजनम् " ध० ३ अधि० ।

अच्चाइण्ण–अत्याकीर्ण–त्रि० । जनसंकुलत्वादतीवाकीर्णे, " अच्चाइण्णा वित्ती णो पण्णस्स णिक्खमणपवेसाए " आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अच्चाउर–अत्यातुर–त्रि० । भृशं ग्लाने, " अच्चाउरं वा वि समिक्खिऊणं, खिप्पं तओ घेत्तु दलित्तु तस्स " बृ० १ उ० ।

अच्चागाढ–अत्यागाढ–न० । अत्यन्तम्लेच्छादिभये, "अच्चागाढे वसिया, णिक्खित्तो अह य होज्ज जयणाए" बृ० २ उ० ।

अच्चावेढण–अत्यावेष्टन–न० । अतीवाऽऽवेष्टनेन परितापने, नि० चू० १२ उ० ।

अच्चासणया–अत्यासनता–स्त्री० । अत्यन्तं सततमासनमुपवेशनं यस्य सोऽत्यासनस्तद्भावस्तत्ता । सततमुपवेशने, स्था० ९ ठा० ।

अत्यशनता–स्त्री० । अतिमात्रमशनमत्यशनं तद्भावोऽत्यशनता । [illegible] । [illegible] । [illegible] ।

अच्चासायणा–अत्याशातना–स्त्री० । [illegible], " [illegible] " प्र० १ [illegible] । [illegible] ।

अच्चासाएमाण–अत्याशातयत्–त्रि० । [illegible] " [illegible] " भ० ३ श० २ उ० ।

अच्चासाएत्ता–अत्याशातयितृ–त्रि० । उपघातिन, " [illegible] समाणं परिकुविय " स्था० १० ठा० ।

अच्चासाएमाण–अत्याशातयत्–त्रि० । उपघातं कुर्वति, स्था० १० ठा० ।

अच्चासायणा–अत्याशातना–स्त्री० । [illegible] पादस्पर्शादिरूपायाम्, कर्म० १ कर्म० । [illegible] तनायाम्, स्था० १० ठा० ।

जे भिक्खू भदंत ! आगाढवयणं, अच्चासायणं [illegible] एए अच्चासायणं वा साइज्जइ । नि० चू० १० उ० (अ० रा० २ भा० ४७८ पृष्ठे 'आसायणा' शब्दे दर्शनं)

अच्चाहार–अत्याहार–पुं० । प्रभूताऽऽहारे, " अच्चाहारो न सहे अइनिद्धेण विसया उइज्जंति " । आव० ४ अ० ।

अच्चि–अर्चि–स्त्री० । अर्च–इन् । अर्चिस्–न० । अर्च–इसि । वाच० । किरणे, रा० । ज्ञा० । शरीरस्थरत्नादितेजोज्वाला, " अच्चीए तेणं समाए दसदिसाए उज्जोवेमाणे " ज्ञा० २ श्रु० ५ उ० । प्रश्न० । जी० । उपा० । औ० । शरीरस्थैतेजे ज्वालायाम्, स्था० ८ ठा० । लेश्यायाम्, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । दाहप्रतिबद्धे ज्वालाविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । [illegible] स्था० । अनलाप्रतिबद्धायां ज्वालायाम्, जी० ३ प्रति० । " [illegible] बादरतेजसो भेदः " प्रज्ञा० १ पद । दशा० । [illegible] सम० ३ अ० । प्रथमकृष्णराज्योरभ्यन्तरपूर्वयोरवकाशान्तरे स्थिते लोकान्तिकविमाने, भ० ६ श० ५ उ० ।

अच्चिमालि (ण्)–अर्चिर्मालिन्–त्रि० । अर्चींषि किरणास्तेषां माला, सा अस्यास्तीति अर्चिर्माली । सर्वतः किरणमालापरिवृते, " अच्चिमालिभासरासिवण्णाभे " ([illegible] मेरुरूपः) जी० ४ प्रति० । रा० । प्रज्ञा० । आदित्ये, पुं० । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । स० । पूर्वयोः कृष्णराज्योरवकाशान्तरे (स्थिते) लोकान्तिकविमानभेदे, भ० ६ श० ५ उ० ।

अच्चिमालिप्पभ–अर्चिर्मालिप्रभ–त्रि० । अर्चिर्माली आदित्यस्तद्वत्प्रभान्ति शोभन्ते यानि तानि अर्चिर्मालिप्रभाणि सूर्यवत् किरणैः शोभमानेषु, स० ।

अच्चिमालिणी–अर्चिर्मालिनी–स्त्री० । सूर्याचन्द्रमसोस्तृतीयायामग्रमहिष्याम्, भ० १० श० ५ उ० । सू० प्र० । जं० । जी० । स्था० । (अनयोर्भवत्रयकथाऽत्रैव १७२ पृष्ठे 'अग्गमहिसी ' शब्दे प्रोक्ता) दक्षिणपौरस्त्यरतिकरपर्वतस्य [illegible] श्चिमदिशि, शक्रस्य देवानाम्न्यास्तृतीयाया अग्रमहिष्या [illegible] योजनप्रमाणायां राजधान्यां च । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अच्चिय–अर्चित–त्रि० । चन्दनादिना चर्चिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । महार्घ्ये, बृ० ३ उ० । प्रमाणीकृते, नि० चू० २ उ० । [illegible] " जं जस्स अच्चियं तस्स पूयणिज्जं तमारिसया लिंग " । [illegible]

पे कमन्यय इति चिन्त्यम, भावप्रत्यये लिङ्गविशेषणानुपपत्तेः। दश० १ अ० । "अर्चितं यत् तत् पूर्वं निपतति। यथा-मातापितरौ, वासुदेवार्जुनाविति "। नि० चू० १ उ० ।

अच्चिसहस्समालणिज्ज-अर्चिःसहस्रमालनीय-त्रि०। अर्चिषां किरणानां सहस्रैर्मालनीयं परिवारणीयम् । ज्ञा० १ अ० । रा० । मणिरत्नप्रभाज्वालानां सहस्रैः परिवारणीये, किमुक्तं भवति। एवं नाम अत्यद्भुतैर्मणिरत्नप्रभाजालैराकलितमवभाति, यथा-नूनमिदं न स्वाभाविकं किन्तु विशिष्टविद्याशक्तिमत्पुरुषप्रदत्तप्रभावितमिति। "अच्चिसहस्समालणिज्जं रूवगसहस्सकलियं भिसमाण भिब्भिसमाणं चक्खुल्लोयणलेस्सं " आ० म० प्र० । रा० । जी० ।

अच्चिसहस्समाला-अर्चिःसहस्रमाला-स्त्री०। दीप्तिसहस्राणामावलीषु, भ० १० श० ५ उ० ।

अच्चिसहस्समालिणीया-अर्चिःसहस्रमालिनिका-स्त्री०।अर्चिःसहस्रमाला दीप्तिसहस्राणामावलयः सन्ति यस्यां सा तथा। स्वार्थिककप्रत्यये च अर्चिःसहस्रमालिनिका।दीप्तिसहस्रपरिवृतायाम, भ० १० श० ५ उ० ।

अच्चीकरण-अर्चीकरण-न०। अकर्तव्या अर्चा अनर्चा, अनर्चायाअर्चाकरणमर्चीकरणम् । अभूततद्भावे च्विः । राजादीनां गुणवर्णने, नि चू० ५ उ० ।

जे भिक्खू रायरक्खियं अच्चीकरेइ अच्चीकरंतं वा साइज्जइ।३। जे भिक्खू णगररक्खियं अच्चीकरेइ अच्चीकरंतं वा साइज्जइ।४। जे भिक्खू णिगमरक्खियं अच्चीकरेइ अच्चीकरंतं वा साइज्जइ।५। जे भिक्खू सव्वारक्खियं अच्चीकरेइ अच्चीकरंतं वा साइज्जइ।६। (नि०चू०) जे भिक्खू गामरक्खियं अच्चीकरेइ अच्चीकरंतं वा साइज्जइ। जे भिक्खू देसरक्खियं अच्चीकरेइ अच्चीकरंतं वा साइज्जइ। जे भिक्खू सीमरक्खियं अच्चीकरेइ अच्चीकरंतं वा साइज्जइ। जे भिक्खू रण्णो रक्खियं अच्चीकरेइ अच्चीकरंतं वा साइज्जइ । जे भिक्खू रण्णो रक्खियं अत्थीकरेइ अत्थीकरंतं वा साइज्जइ। नि० चू० ५ उ० ।

अच्चीकरणं रण्णो, गुणवयणं तं समासओ दुविधं ।
संतमसंतं च तहा, पच्चक्खपरोक्खमेक्केक्कं ॥ १५ ॥

रण्णो अच्चीकरणं किं गुणवक्खणं सौन्दर्यादि तं दुविधं सतं असंतं च एक्केक्कं पच्चक्खं परोक्खं ।

एत्तो एगतरेणं, अच्चीकरणेण जो तु रायाणं ।
अच्चीकरेति भिक्खू, सो पावति आणमादीणि ॥१६॥

इमं गुणवयणं-

एकत्तो हिमवंतो, अण्णतमो मालवाहणो राया ।
समभारतरोकंता, तेण ण वहइत्थए पुहई ॥ १७ ॥
राया रायमुही वा, रायामित्ता अमित्तमुहिणो वा ।
भिक्खुस्स व संबंधी, सबंधे मुही तत्थ सोच्चा ॥ १८ ॥
संजमविग्घकरे वा, सरीरबाधाकरे व भिक्खुस्स ।
अणुलोमे पडिलोमे, कुज्जा दुविधे व उवसग्गे ॥ १९ ॥
गच्छधरायदुट्ठो, वेरज्जविरुद्धरोहमद्धाणे ।
उवभुज्जावणणिक्खम-णुवएसकज्जमत्थेसु त्ति य ॥२०॥
एतेहिं कारणेहिं, अच्चीकरणं तु होति कातव्वं ।
रायारक्खियणागर-णेगमसव्वे त्ति एस गमा ॥ २१ ॥
नि० चू० ५ उ० ।

अच्चुक्कड-अत्युत्कट-त्रि०। अत्यन्त उत्कटः। अत्यन्तोग्रे, वाच०। अत्युन्नते, आ० म० प्र० ।

अच्चुग्गकम्म-अत्युग्रकर्मन्-न०। कर्कशवेदनीये कर्मणि, प्रव० २२४ द्वा० ।

अच्चुग्गकम्मडहण-अत्युग्रकर्मदहन-त्रि०। अत्युग्रं कर्कशवेदनीयं यत्कर्म तस्य दहनोऽपनायकः। कर्कशवेदनीयस्य कर्मणोऽपनायके, " संक्लेशान्निरपेक्षाणां, यतीनां धर्म ईरितः । अत्युग्रकर्मदहनो, गहनोग्रविहारतः " ॥ १ ॥ ध० ४ अधि० ।

अच्चुचिय-अत्युचित-त्रि०। लोकानामतिश्लाघनीये, "गर्भयोगेऽपि मातृणां, श्रूयतेऽत्युचिता क्रिया " द्वा० १४ द्वा० ।

अच्चुट्ठिय-अत्युत्थित-त्रि० । अतीवाकार्यकरणं प्रत्युत्थिते, "दासीत्वेनाऽत्यन्तमुत्थिता" इति। दास्या अपि दास्याम, स्त्री०। "अच्चुट्ठियाए घडदासिए वा अगारिणं वा समयाणुसिट्ठे" सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अच्चुण्ह-अत्युष्ण-त्रि०। अतीवोष्ण उष्णधर्मो यत्र सोऽत्युष्णः। अतिशायितोष्णस्वभावे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

अच्चुदय-अत्युदक-न०। महामहति वर्षे, "सभए वा सत्ताणं, अच्चुदये सुक्खतरं ण वा णेइ " ओ०। प्रभूतजले, जी०३ प्रति०।

अच्चुय-अच्युत-पुं०। सौधर्मावतंसकादिसकलविमानप्रधानाच्युतावतंसकाभिधानविमानविशेषोपलक्षिते द्वादशे देवलोके, अनु० । दर्श० । नि० चू० । प्रव० । स० । आरणाच्युतयोरेकादशद्वादशयोः कल्पयोरिन्द्रे च । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

अच्चुया-अच्युता-स्त्री०। श्रीपद्मप्रभस्य शासनदेव्याम् , सा च मतान्तरेण श्यामा (नाम्नी) देवी श्यामवर्णा नरवाहना चतुर्भुजा वरदबाणान्वितदक्षिणकरद्वया कार्मुकाभययुतवामपाणिद्वया च । श्रीकुन्थोः शासनदेव्यां च, सा च मतान्तरेण बलाभिधाना कनकच्छविर्मयूरवाहना चतुर्भुजा बीजपूरकशूलान्वितदक्षिणपाणिद्वया भुशुण्डिपद्मान्वितवामपाणिद्वया च । प्रव० २७ द्वा० ।

अच्चुव्वाय-अत्युद्वात-त्रि० । अतीवोद्वातः परिश्रान्तः । पृष्ठ धान्ते, "अच्चुव्वाया वसुवेंसि" वृ० ३ उ० । नि० चू० ।

अच्चुसिण-अत्युष्ण-त्रि०। अतीव तप्ते ओदनादिके, "अच्चुसिणं सुप्पेण वा जाव फुमाहि वा" आचा० २ श्रु०१ अ०३ उ० ।

अच्छ-आस्-धा० उपवेशने । अदादि०, आ०, अक०, सेट् । प्राकृते "गमिष्यमासां छः" ८।४।२१५। इति प्राकृतसूत्रेण अन्त्यस्य छः । अच्छइ, आस्ते। प्रा०। " अच्छंति भवस्रोपंति य लहुगा"। (अच्छंति त्ति) प्रतीक्षन्ते। व्य०१ उ०। "अच्छेज्ज वा चिट्ठेज्ज वा" ।आसीत सामान्यतः। तं० । भ०। अधिपूर्वः अधिरोहणे, सक० । गगनमध्यमध्यास्ते, वाच० ।

अच्छ-अच्छ-अ० न छ्यति दृष्टिं, सम्मुखगत्याम् । छो-क । न० त०। अभिमुखे, "अच्छ गत्यर्थवदेषु " १।४।६९।इति पाणिनिसूत्रे

अच्छगाय, अच्छोय दस्युराहरय, अभिमुख गत्या अभिमुखमुपयेति व्याकृतम् । सि० कौ० त० स०।

अच्छ-त्रि० । न छ्यति दृष्टिम् । छो-क । न० त०। आकाशस्फटिकरत्नवन्नितरस्वच्छे, प्रज्ञा० २ पद। जी० । आ० म० प्र०। भ०। औ० । स्था० । रा० । जं०। निर्मले, ज्ञा० १ श्रु० १२ अ०। पञ्चा० । भ० । प्रसादिते, जी० ३ प्रति० । स्फटिकवद्वहिर्निर्मलप्रदेशे, जी०३ प्रति०। "अच्छा सण्हा लट्टा णीरया णिप्पंका" मेरौ, पुं० । मुनिभिर्बजाम्बूनदरत्नबहुलत्वात्तस्य " तो अच्छंसि णं पव्वयंसि" चं० प्र०५ पाहु०। सू० प्र०। जी० । आर्यदेशभेदे, स्फटिके च । पुं०। प्रव० २७५ द्वा०।न च्छ्यति भक्षयति नाशितनयम । छो—भक्षणे—क । न० त०। वाच० । ऋक्षे, आचा० २ श्रु० १ अ० ५ उ० । प्रति० । जं० । प्रज्ञा० । ज० । पद स्तनपदभेदः । प्रज्ञा० १ पद ।

अप्स-त्रि०। अपः सनोति । सन-ड । प्राकृते "ह्रस्वात् थ्यश्चत्सप्सामनिश्चले ८ । २ । २१ । इति प्सभागस्य च्छः । प्रा० । अपां विशेषगुणीभूते रसे, वाच० ।

अच्छं-देशी-अत्यर्थे, शीघ्रे च । दे० ना० १ वर्ग ।

अच्छंद-अच्छन्द-त्रि० । नास्ति छन्दो यस्याः । अस्ववशे । " अच्छंदा जे ण भुंजंति ण से चाइत्ति वुच्चई" दश० २ अ० । अनिप्रायानुगे च । वाच० ।

अच्छंदग-अच्छन्दक-पुं०। मोराकग्रामसन्निवेशस्थे पाखण्डिनि, " मोराए सकारं सक्को अच्छिदए कुविओ " आ० क०। (स मोराके ग्रामसन्निवेशे लोकपूजितस्तत्र समागतस्तत्र समागतस्य वीरस्य पुरतः सिद्धार्थव्यन्तरेणाऽच्छेद्यमिदमिति प्रतिज्ञाय गृहीतं तृणं छिन्दन् शक्रेण वज्रं प्रक्षिप्य छिन्नदशाङ्गुलीकृतो जनैरपहसित इति ' वीर ' शब्दे वक्ष्यते) आ० चू० । आ० म० द्वि० ।

अच्छण-आसन-न०। अवस्थाने, न०२ अधि० । ज्ञा०। पर्युपासने, सू० १ श्रु०। प्रतिधारणे, "अच्छण भगद्योगणे वा" व्य०१ उ०। अच्छणु-पुं०। अहिंसायाम, दश० ८ अ०।

अच्छणघरग-आसनगृहक-न०। अवस्थानगृहकेषु, येषु यदा यदा वाऽऽगत्य बहवः सुखासिकयाऽवतिष्ठन्ते। जी०३प्रति०।जं०।

अच्छणजोग-आसनयोग-पुं०। अहिंसाव्यापारे, "तेसिं अच्छणजोएणं निच्चं होयव्वं " तेषां पृथिव्यादीनामक्षणयोगेनाहिंसाव्यापारेण नित्यं भवितव्यम् । दश० ८ अ० ।

[illegible]-अच्छसत्य-त्रि०। अच्छप्रदेशे स्थिते,पृ०३ उ०।

अच्छाति (दि) न-आच्छादित-त्रि०। निरुद्धे, "संवरयवदादर्शनवत्" प्रश्न० ४ सव० द्वा०।

[illegible]-त्रि० [illegible] छत्ररहिते,वीरमहापद्मयोरछत्रयोः [illegible] " [illegible] " स्था०९ठा०।

[illegible]-पुं०। [illegible], पं० व० ३ द्वा० ।

[illegible]-त्रि० । १ व० । विमलबुद्धौ, " विष्णुः [illegible] " वा० क० ।

[illegible]-पुं० [illegible] १० अ० । [illegible] [illegible] ।

[illegible]-आच्छादित-त्रि० [illegible] "[illegible]" [illegible]

अच्छरगणसंघसंविइण्णा-अप्सरोगणसंघसंविकीर्णा-त्रि० । अप्सरोगणानां संघः समुदायस्तेन सम्यक् रमणीयतया विकीर्णा व्याप्ता अप्सरोगणसंघसंविकीर्णा । अप्सरोगणसंघसंगिने, "अच्छरगणसंघसंविकिणा दिव्वतुडियसद्दसंपत्ता" । जी० ३ प्रति०। प्रज्ञा० । रा० ।

अच्छरस-अच्छरस-त्रि०। अच्छो रसो येषां ते अच्छरसाः प्रत्यासन्नवस्तुप्रतिबिम्बाधारभूतेष्वियाऽतिनिर्मलेषु, जी०३प्रति०।

अच्छरसा-अप्सरस्-स्त्री० । ब० व० । अद्भ्यः सरन्ति गच्छन्ति । सृ-असुन् । अप्सरसः " ह्रस्वात् थ्यश्चत्सप्सामनिश्चले" ८। २ ।२१। इति सूत्रेण प्राकृते 'प्स' भागस्य 'छ' आदेशः । प्रा० । "आयुरप्सरसोर्वा" ८ । १ । २०। इति सूत्रेण अन्त्यव्यञ्जनस्य वा सः।प्रा० । देवीमात्रे, रूपेण देवीतुल्यां स्त्रियां च।"चंदाणणाविपरचारिणीओ अच्छराओ [illegible] कुव्वमाणसच्छराओ अच्छरगपेच्छणियाओ निच्चपलियं [illegible] हं परमाउं पालयित्ता ताओ वि उयणमंति मरणधम्मं" आ० आ० अ० । औ०। (आसां वर्णकम् 'उत्तरकुरु' शब्दे वक्ष्यते')

अच्छरसातंदुल-अच्छरसतण्डुल-न०। अच्छो रसो येषु ते अच्छरसाः प्रत्यासन्नवस्तुप्रतिबिम्बाधारभूता इवातिनिर्मलास्तण्डुलाः । अच्छरसाश्च ते तण्डुला अच्छरसतण्डुलाः । पूर्वपदस्य दीर्घत्वं प्राकृतत्वात् । श्वेतेषु दिव्यतण्डुलेषु, रा० । "अच्छेहिं सेएहिं रयणामएहिं अच्छरसतंदुलेहिं अट्ठट्ठमंगले आलिहइ" रा० । जी० । आ० म० प्र०।

अच्छरा-अप्सरा-स्त्री०। शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य पद्मनामाग्रमहिष्याम, स्था० ८ ठा० । भ० । ती० । (तस्याः पूर्वभवकथा एतस्मिन्नेव भागे१७३ पृष्ठे 'अग्गमहिसी' शब्दे ०)

अच्छराणिवाय-अप्सरोनिपात-पुं०। चप्पुटिकायाम्, तावति काले च । यावता कालेन चप्पुटिका क्रियते तावान् कालोऽप्सरोनिपातशब्देनाभिधीयते " अच्छरानिवाएहिं तिसत्तखुत्तो अणुपरियट्टित्ताणं हव्वमागच्छेज्जा " जी० ३ प्रति । सूत्र० । प्र० ।

अच्छवि-अच्छवि-पुं० । न० ब०। योगनिरोधेनाविद्यमानछविः स्नातकाख्यनिर्ग्रन्थभेदे, अत्र चत्वारोऽनुयायार्थाः- 'अच्छविक' इत्येके । छवियोगाच्छविः शरीरं तद्योगनिरोधेन यस्य असौ 'अच्छविक' इत्यन्ये । क्षपा सखेदो व्यापारस्तदस्तित्वात् क्षपी, तन्निषेधात् 'अक्षपी' इत्यन्ये । घातिकर्मचतुष्कक्षपणानन्तरं वा तत्क्षपणाभावादक्षपीत्युच्यते । भ० श० ६ उ० ।

अच्छविकर-अक्षपिकर पुं० । न क्षपिः सपरयोगयोः कर्मकरणशीलो न भवति सोऽक्षपिकरः। भ० २५ श० ६ उ० । व्यापारविशेषस्याऽकारके प्रशस्तमनोविनयभेदे, स्था० ७ ठा० ।

अच्छविमलसलिलपुण्ण-अच्छविमलसलिलपूर्ण-त्रि० । अच्छेन स्वरूपतः स्फटिकवद्बहुलेन विमलेनाऽऽगन्तुकमलरहितेन सलिलेन पूर्णं। स्फटिकवदच्छनिर्मलजलपूर्णे,

अच्छा-अच्छा-स्त्री०। वरणदेशप्रतिबद्धे पुरीभेदे, अर्द्धषड्विंशतिजनपदानां मध्ये वरणा जनपदः । वरणा नगरी, अच्छा देशः । यद्वा वरणा देशः, अच्छा पुरी स्यात् । प्रव० २७५ द्वा० । सूत्र० । अच्छा-त्रि०। अपो आप्नोति स्नाति व्याप्नोति । [illegible] दर्शने, वाच० ।

अच्छादणा-आच्छादना-स्त्री०। स्थगने,"संतस्स अच्छायणाए मग्गस्स"। व्य० ३ उ०।

अच्छि-अक्षि-न०। अश्नुते विषयान्। अश्-क्सि। "क्षोऽक्ष्यादौ" ८।२।२१७। इति सूत्रेण संयुक्तस्य क्षभागस्य छः। प्रा०। "द्वितीयतुर्ययोरुपरिपूर्वः" ।८।२।९०। इति द्वितीयस्योपरि प्रथमः। प्रा०। लोचने, तं०। दशा०। "वाऽक्ष्यर्थवचनाद्याः" ८।१।३३। इति वा पुंस्त्वम् "अज्ज वि सा सवइ ते अच्छी नच्चा वि आइ तेणम्ह अच्छीइं" अञ्जल्यादिपाठादक्षिशब्दः स्त्रीलिङ्गेऽपि। प्रा०। "एसा अच्छी" उपा० २ अ०। (अक्ष्णोऽप्राप्यकारित्वम् 'इंदिय' शब्दे द्वि० भा० ५५७ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

अच्छायणा-आच्छादना-स्त्री०। स्थगने, ('अच्छादणा' शब्दसमानार्थः)

अ (आ) च्छिंदण-आच्छेदन-न०। एकवारमीषद् वा छेदने, "एककालिं ईषद् वा आच्छिंदण" नि० चू० ३ उ०। "पायपुच्छणमाच्छिंदइ वा" आच्छिनत्ति बलादुद्दालयतीति। स्था० ५ ठा० १ उ०। "आच्छिंदिहि त्ति-ईषच्छेत्स्यतीति। भ० १५ श० १ उ०।

अ (आ) च्छिंदित्ता (य)-आच्छिद्य-अव्य०। आ-छिद्-ल्यप्। हस्ताद्वद्दालनेनापहृत्येत्यर्थे, उपा० ७ अ०। "अच्छिंदिय जं मियसामिमादीणं" पञ्चा० १३ विव०। आचा०।

अ (आ) च्छिंदमाण-आच्छिन्दत्-त्रि०। ईषत्सकृद् वा छिन्दति ("सत्थजाए णं आच्छिंदमाणे" भ० ८ श० ३ उ०।

अच्छिक्क-देशी-अस्पृष्टे, "अच्छिक्कोवहिपेहे" व्य० १ उ०।

अच्छिचमढण-अक्षिचमढन-न०। चक्षुर्विमर्दने, वृ० २ उ०।

अच्छिज्ज-अच्छेद्य-न०। न० त०। छेत्तुमशक्ये, (स्था०)

तओ अच्छेज्जा पण्णत्ता। तं जहा-समए पएसे परमाणू। एवमभेज्जा अडज्झा अगिज्झा अणद्धा अमज्झा अपएसा तओ अविभाइमा।

छेत्तुमशक्या बुद्ध्या क्षुरिकादिशस्त्रेण वेत्यच्छेद्या, अच्छेद्यत्वे समयादित्रयोऽपीति। समयः कालविशेषः, प्रदेशो धर्माधर्माकाशजीवपुद्गलानां निरवयवोंऽशः परमाणुरस्कन्धः पुद्गल इति। उक्तं च- "सत्थेण सुतिक्खेण वि, छेत्तुं भेत्तुं च जं किर न सक्कं। तं परमाणुं सिद्धा, वयंति आइं पमाणाणं" ॥१॥ एवमिति। पूर्वसूत्राभिलापसूचनार्थ इति, अभेद्याः सूच्यादिना, अदाह्या अग्न्यादिना, अग्राह्या हस्तादिना, न विद्यते अर्द्धं येषामित्यनर्द्धाः, विभागद्वयाभावात्, अमध्या विभागत्रयाभावात्। अत एवाह-अप्रदेशा निरवयवाः, अत एवाविभाज्या विभक्तुमशक्याः। अथवा विभागेन निर्वृत्ता विभागिमाः, तन्निषेधादविभागिमाः। स्था० ३ ठा० २ उ०। "संते अच्छिज्जअभेज्जे" छेद्यः शस्त्रादिना, तन्निषेधादच्छेद्यः। द्रव्यपरमाणौ, भ० २० श० ६ उ०।

आच्छेद्य-न०। आच्छिद्यते अनिच्छतोऽपि भृत्यपुत्रादेः सकाशात् साधुदानाय परिगृह्यते यत्तदाच्छेद्यम्। पिं०। "अच्छेज्जं वा किंचिय, जं सामी भिच्चमाईणं"। आच्छेद्यं वाऽऽच्छेद्याख्यः पुनर्दोषः। आच्छिद्यापहृत्य यद् भक्तादिकं स्वामी प्रभुः भृत्यादीनां कर्मकरादीनां सत्कं ददाति तदिति। पञ्चा० १३ विव०। चतुर्दशोद्गमदोषयुते, तद्भेदोपचारात् चतुर्दशे उद्गमदोषे च। ग० १ अधि०।

तद्भेदाः—

अच्छेज्जं पि य तिविहं, पभू य सामी य तेणए चेव।
अच्छेज्जं पडिकुटुं, समणाण न कप्पए घेत्तुं ॥

आच्छेद्यमपि प्रागुक्तशब्दार्थं त्रिविधं त्रिप्रकारम्। तद्यथा-प्रभौ प्रभुविषयं प्रभुरूपकर्त्राश्रितमित्यर्थः। एवं स्वामिनि स्वामिविषयं, स्तेनकविषयं च। एतच्च त्रिविधमप्याच्छेद्यं तीर्थकरगणधरैः प्रतिकुष्टं निराकृतमतः श्रमणानां तद् गृहीतुं न कल्पते।

तत्र प्रथमतः प्रभुविषयं भावयति—

गोवालए य भयए-ऽक्खए पुत्ते य धूय सुण्हाए।
अचियत्तसंखडाई, केइ पओसं जहा गोवो ॥

प्रभुकर्तृकमाच्छेद्यं गोपालकं गोपालविषयं, तथा भृतकः कर्मकरस्तद्विषयम्। अक्खरको ख्यरको ख्यरकोऽभिधानः दास इत्यर्थः, तद्विषयम्। पुत्रविषयं, दुहितृविषयं, स्नुषाविषयम्। उपलक्षणमेतद् भार्यादिविषयं च। अत्र दोषमाह-(अचियत्ते-त्यादि) अचियत्तमप्रीतिः, संखडं कलहः, आदिशब्दात्- तत्पोतादिपरिग्रहः। केचित् पुनः प्रद्वेषमपि साधौ गच्छेयुः। यथा—गोपो गोपालकः।

एतमेव दृष्टान्तं गाथाद्वयेनाह—

गोवपयं अच्छेत्तुं, दिन्नं तु जइस्स भइ दिणे पडुणा।
पयत्ता पुणं दट्ठुं, खिंसइ कोई इंदं येमा ॥
पडियरण पओसे णं, जावं नाउं जइस्स आलावो।
तस्संबंधा गहियं, इंदि उ मुक्कोसि मा बीयं ॥

वसन्तपुरं नगरम्। तत्र जिनदासो नाम श्रावकः। तस्य भार्या रुक्मिणी। जिनदासस्य गृहे वत्सराजो नाम गोपालः। स चाष्टमेऽष्टमे दिने सर्वासामपि गोमहिषीणां दुग्धमादत्ते, गोपाल तस्य प्रथमतो भृतत्वात्। अन्यदा च साधुसंघाटको भिक्षायै तत्रागमत्। इतश्च तस्मिन् दिने गोपालस्य सर्वदुग्धग्रहणकालः, ततस्तेन सर्वा अपि गोमहिष्यो दुग्ध्वा सर्वाणि भाण्डान्येनाऽऽपूर्णानि। जिनदासश्च जिनवचनभावितान्तःकरणतया साधुसंघाटकं परमपात्रभूतमायान्तमवलोक्य भक्तितो भक्तपानादिकं तस्मै दत्तवान्। तथा दुग्धमपि [illegible] परिज्ञाय भक्तिनिर्भरतया गोपालकस्य दुग्धं बलादाच्छिद्य कतिपयं ददौ। ततः स गोपालो मनसि [illegible] प्रद्वेषं ययौ, परं प्रभुभयात् न किमपि वक्तुं शक्तः। [illegible] कतिपयन्यूनं स्वगृहं नीतवान्। तत्र तद्न्यूनं [illegible] भार्या सरोषं पृष्टवती-किमिति न्यूनमिदं [illegible]। ततो गोपेन यथावस्थिते कथिते भार्याऽपि [illegible]। [illegible] तानि च दुग्धं [illegible] ति रोदितुं प्रवृत्तानि। तत इत्थं [illegible] स्य स गोपः [illegible] साधून् [illegible] वासितवान्। इतश्च निशायां [illegible] प्रभाविकी [illegible] । [illegible] गोपं [illegible] बभाषे-[illegible] तेन [illegible] पुनरेव [illegible] ते स। [illegible] च—[illegible] ! [illegible] न [illegible] , [illegible] तु [illegible]। एवं [illegible] [illegible] —[illegible] !

सुविहित! तव मारणार्थमहमिदानीमागतः, परं संप्रति त्वद्वचनामृतपरिषेकत उपशशाम मे सर्वोऽपि कोपानलः। ततो गृहाण त्वमेवेदं दुग्धम, मुक्तश्चाकृतप्रापणो मया, परं भूयोऽप्येवमाच्छेद्यं न गृहीतव्यमिति निवृत्तो गोपः स्वस्थानं च गतः साधुरिति। सूत्रं सुगमं, नवरं (पयसा ऊणं ति) विभक्तिलोपात् पयोभाजनं न्यूनं दृष्ट्वा (भोई इति) भोग्या जाया इत्यर्थः (रुवे त्ति) रुदन्ति । हंदीत्यामन्त्रणे। तन्निर्बन्धात तदीयजिनदासाख्यप्रभुनिर्बन्धाद् गृहीतम। ततः प्रत्याह-मुक्तोऽसि संप्रति मा द्वितीयं वारमेवं गृह्णीथाः।

संप्रति गोपालविषय एव 'अचियत्तसंखडाइ' इत्येतद्याचिख्यासुराह—

नानिच्छिट्टं लब्भइ, दासी वि न भुज्जए रिते भत्ता ।
दोसेगयर पओसं, जं काही अंतरायं च ॥

प्रभुणा बलादाच्छिद्यमाने दुग्धे कोऽपि गोपो रुष्टः प्रभोः संमुखमेवमपि ब्रुवाणः संभाव्यते। यथा-किमिति मदीयं दुग्धं बलादागृह्णासि न खल्वनिर्विष्टमनुपार्जितमिह किमपि लभ्यते, ततो मया स्वशरीरायासबलेनेदं दुग्धमुपार्जितम, अतः कथमत्र प्रभवसि ?। न हि दास्यपि, आस्तामुत्तमवेश्यादिकमित्यपिशब्दार्थः। भक्तभृते भक्तदानभृते भरणपोषणभृत इत्यर्थः। भुज्यते भोक्तुं लभ्यते। ततो मदीयं भोजनमिदमतो न ते तत्र प्रभुत्वावकाशः। एवं चोक्ते सति कदाचित् द्वयोरपि प्रभुगोपालकयोः परस्परमेकस्य द्वितीयस्योपरि प्रद्वेषो वर्तते। प्रद्वेषे प्रवर्धमाने एष करिष्यति धनहरणमारणादिकं तत्स्वयमेव आच्छेद्यादाने दोषत्वेन विज्ञेयम। तथा यदन्तरायं गोपालकस्य तत्कुटुम्बस्य च, तदपि दोषत्वेन विज्ञेयमिति। तदेवं 'गोवालए' इत्यादि व्याख्यातम्। एतदनुसारेण च भृतकादावपि यथायोगमप्रीत्यादिकं संभावनीयमिति।

संप्रति स्वामिविषयमाच्छेद्यं विभावयिषुराह—

सामी चारभडा वा, संजय दट्ठूण तेसि अट्ठाए ।
कलुणाणं अच्छेज्जं, साहूण न कप्पए घेत्तुं ॥

इह स्वगृहकुटुम्बनायकः प्रभुः, ग्रामादिनायकः स्वामी। चारभटा वा स्वामिनश्चरा वा, तेऽपि स्वामिग्रहणेन गृह्यन्ते। संयतान् दृष्ट्वा तेषां संयतानामर्थाय करुणानां कृपास्थानानां दरिद्रकौटुम्बिकादीनां सकाशादाच्छिद्य यद्दाति तत्साधूनां न कल्पते। एतदेव स्पष्टं भावयति—

आहारोवहिमाई, जइ अट्ठाए उ केइ अच्छिज्जे ।
संखडिअसंखडीए, तं गेण्हंते इमे दोसा ॥

यदि कोऽपि स्वामी प्रभुर्वा यतीनामर्थाय केषांचिदसंबन्धि आहारोपध्यादिकं [illegible] कलहकरणेन, असंखड्या अकलहप्रकारेण। कोऽपि हि तत्संबन्धिनि बलादाच्छिद्यमाने कलहं करोति, कोऽपि स्वामिभयादिना न किमपि वक्ति। तत उक्तं संखड्या असंखड्या वेति। बलादाच्छिद्य यतिभ्यो यद् ददाति तद्यतीनां न कल्पते। [illegible]

तानेवाह—

अचियत्तसंखडाई, केवाइयं एगएगओच्छेओ ।
निग्गमणाई दोसा, तस्स अलंभे य जं पावे ॥

[illegible] बलात् [illegible] दीयते [illegible] ([illegible]) दीयमानवस्तु-

परिभोगहानिः कृता भवति। तथा द्रव्यं साधूनामुपकरणं स्तेनाहृतं भवति, दीयमानवस्तुनायकेनाननुज्ञातत्वात्। इह येषां संबन्धि स्वामिना बलादाच्छिद्य दीयते ते कदाचिद् रुष्टाः सन्तोऽपि तस्यैकस्य साधोर्भक्तपानव्यवच्छेदं कुर्युः, यथा-अनेन संप्रति बलादस्माकं भक्तादि गृहीतं तत इतः परमस्मै न किमपि दातव्यमस्माभिरिति। अथवा सकलसंयतेषु प्रद्वेषमुपयान्ति, यथा-अनेन संयतेन बलादस्माकं भक्तादि गृहीतं तस्मात् कालान्तरे न कस्मायपि संयताय दातव्यमित्येवं सर्वसाधूनां भक्तादिव्यवच्छेदः। तथा ते रुष्टाः सन्तो यः प्रभुः [illegible] वसतिदाता यैर्वा दत्तः तस्मान्निष्काशयन्ति। आदिशब्दात् [illegible] भाषन्ते इति परिगृह्यते। तथा तस्योपाश्रयस्याऽभावे यत्किंचिदपि कष्टं प्राप्नुवन्ति तदप्याच्छेद्यादाननिमित्तमिति दोषः।

संप्रति स्तेनाच्छेद्यं भावयति—

तेणा य संजयट्ठा, कलुणाणं अप्पणो य अट्ठाए ।
ते य पओसं जं वा, न कप्पए कप्प णुन्नायं ॥

इह स्तेना अपि केचित् संयतान् प्रति भद्रका भवन्ति। संयता अपि क्वापि दरिद्रसार्थेन सह व्रजन्ति। ततस्तान् भिक्षावेलायां भिक्षामप्राप्नुवतो दृष्ट्वा संयतार्थाय संयतानामर्थाय यद्वा-स्वस्यात्मनोऽर्थाय तेषां करुणानां कृपणस्थानानां दरिद्रसार्थमानुषाणां सकाशादाच्छिद्य यद्ददाति स्तेनास्तत्संबन्धि [illegible] द्रव्यम। तच्च साधूनां न कल्पते, यतस्तस्मिन् गृह्यमाणे तेषां संबन्धि तद् द्रव्यं ते पूर्वोक्तप्रकारेण एकानेकसाधूनां भक्तादिव्यवच्छेदं कुर्वन्ति। यद्वा-प्रद्वेषं रोषमुपयान्ति। तथा च सति [illegible] निष्काशनम, कालान्तरेऽपि तेषां पार्श्वे उपाश्रयादिदान इत्यादयो दोषाः। यदि पुनस्तेऽपि सार्थिका [illegible] अनुजानते तर्हि कल्पते।

एतदेव गाथाद्वयेन स्पष्टं भावयति—

संजयभद्दा तेणा, आयंते वा असंथरे जइणं ।
जइ दिंति न घेत्तव्वं, निच्छुभ वोच्छेय मा होज्जा ॥
घयसत्तुयदिट्ठंतो, समणुन्नाया व घेत्तुणं पच्छा ।
दिंति जइ गतेसि वि य, समणुन्नाया य भुंजंति ॥

इह स्तेना अपि केचित् संयतभद्रका भवन्ति, [illegible] कदाचित् दरिद्रसार्थेन सह क्वापि व्रजन्ति। ततस्तेषां [illegible] भिक्षावेलायामसंस्तरे अनिर्वाहे ते स्तेना [illegible] आगच्छन्तः, ग्रामाद्वा स्वग्रामादन्यत्र गच्छन्तो वा, [illegible] पां दरिद्रसार्थमानुषाणां बलादाच्छिद्य भक्तादि [illegible] तर्हि न ग्राह्यं, यद् मा भूत निष्काशनः सार्थात्, [illegible] साधूनां तेभ्यो भक्तादिव्यवच्छेदो वा। यदि पुनस्तेऽपि [illegible] काः स्तेनैर्बलाद्दाप्यमाना एवं ब्रुवते-यथाऽस्माकमपि [illegible] स्थान्न उपातिष्ठत। घृतं हि सक्तुमध्ये [illegible] जायते, एवमस्माकमप्येतद्यं चौरैर्गृहीतमेव, ततो [illegible] अपि युष्मभ्यं दापयन्ति ततो भवतामस्माकं समाधिरिति। [illegible] एवं सार्थिकैरनुज्ञाताः साधवो दीयमानं गृह्णन्ति। [illegible] गतेषु भूयोऽपि तद् द्रव्य गृहीतं ते [illegible] चौरप्रतिभयादस्माभिर्गृहीतं संप्रति ते [illegible] एवं यूयं गृह्णीथ इति। एवं चोक्ते सति यदि तेऽपि समनुज्ञां [illegible] यथा-युष्मभ्यमेवदस्माभिरत्तमिति तर्हि भुञ्जते, [illegible] दिति। अनेन कप्प णुन्नायमित्यवयवो व्याख्यातः। पिं०। नि०।

चू॰। आच्छेदे प्रायश्चित्तम्-'अच्छिज्जे अणिसिट्ठे य चउलहुं' पं॰ चू॰। सर्वमिन्नाच्छेदे आचामाम्लम्। जीत॰। दशा॰। ध॰। प्र॰। दर्श॰। बृ॰। पं॰व॰। व्य॰। पंचा॰। स्था॰। सूत्र॰। उत्त॰। आचा॰। (आच्छेद्याहारग्रहणनिषेधः 'एसणा' शब्दे, आच्छेद्यपात्रग्रहणनिषेधः 'पत्त' शब्दे, आच्छेद्यवसतौ स्थाननिषेधो 'गमइ' शब्दे द्रष्टव्यः)

अच्छिज्जंती-आच्छिद्यमाना-स्त्री॰। तुम्बवीणादिवादनप्रकारेण वाद्यमानायाम्,"तुन्लकाणं तुंबवीणाणं वाइज्जंताणं" आव॰१अ॰।

अच्छिणिमीलिय-अक्षिनिमीलित-न॰। अक्षिनिकोचे, जी॰ ३ प्रति॰।

अच्छिणिमीलियमेत्त-अक्षिनिमीलितमात्र-न॰। अक्षिनिकोचकालमात्रे, "अच्छिणिमीलियमेत्तं, नत्थि सुहे दुक्खमेव अणुबद्धं। णरए णेरइयाणं, अहोणिसं पच्चमाणाणं" ॥ १ ॥ जी॰ ३ प्रति॰।

अच्छिण्ण-अच्छिन्न-त्रि॰। छिद्-कर्मणि क्त। अपृथग्भूते, स्था॰ १० ठा॰। अस्खलिते, अनवरते च। पं॰ व॰ १ द्वा॰। (छिन्नमच्छिन्नं चेत्योद्देशिकस्य भेदद्वयं कृत्वाऽच्छिन्नस्य व्याख्यानम् 'उद्देसिय' शब्दे द्वि॰ भा॰ ८११ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

आच्छिन्न-त्रि॰। आ-छिद्-क्त। बलेन गृहीते, सम्यक् छिन्ने च। वाच॰। प्रतिनियतकालविवक्षारहिते, बृ॰ १ उ॰।

अच्छिण्णच्छेदणय-अच्छिन्नच्छेदनय-पुं॰। सूत्रमच्छिन्नच्छेदेनेच्छति। नयभेदे, यथा 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं' इति श्लोकोऽर्थतो द्वितीयादिश्लोकमपेक्षमाणः। स॰ २२ सम॰।

अच्छिण्णच्छेदणइय-अच्छिन्नच्छेदनयिक-न॰। अच्छिन्नच्छेदनयमति सूत्रे, "अच्छिण्णच्छेयणइयाइं आजीवियसुत्तपरिवाडीए" स॰ २२ सम॰।

अच्छिण्णणय-अच्छिन्ननय-पुं॰। नित्यवादिनि द्रव्यास्तिके, विशे॰। प्रव॰।

अच्छिद्द-अच्छिद्र-त्रि॰। न छिद्रं तत्तत्कार्येषु प्रमादादिना स्खलनं रन्ध्रं वा यत्र। प्रमादादिना स्खलनरहिते, "अच्छिद्रं च भवत्येतत्स्तवैर्या च शिवाय नः" रन्ध्ररहिते, वाच॰। अविरले, जं॰ २ वक्ष॰ " गोशालस्य मङ्खलिपुत्रस्य षण्णां दिक्चराणां चतुर्थे दिक्चरे, पुं॰। भ॰ १५ श॰ १ उ॰।

अच्छिद्दजाल-अच्छिद्रजाल-न॰। अविवरे, यत्किञ्चिद्वस्तुसमूहे, प्रश्न॰ ४ आश्र॰ द्वा॰।

अच्छिद्दजालपाणि-अच्छिद्रजालपाणि-पुं॰। अच्छिद्रजालौ विवरितांगुल्यन्तरालसमूहरहितौ पाणी हस्तौ यस्य स तथा। अविवराङ्गुलिसमुदयदृहस्तके, " अच्छिद्दजालपाणी पीवरकोमलवरंगुली " इति करयोः सुलक्षणम्। औ॰। प्रश्न॰।

अच्छिद्दपत्त-अच्छिद्रपत्र-त्रि॰। अच्छिद्राणि पत्राणि यस्य सः। नोरन्ध्रपर्णे, ज्ञा॰१ श्रु॰१ अ॰। औ॰ "अच्छिद्दपत्ता अविरलपत्ता अवाईणपत्ता अणईइपत्ता णिद्धुयजरढपंडुपत्ता" (इति पत्रवर्णनाद् वृक्षवर्णकः) अच्छिद्राणि पत्राणि येषां ते अच्छिद्रपत्राः किमुक्तं भवति। न तेषां पत्रेषु वातदोषतः कालदोषतो वा गड्डरिकादिरीतिरुपजायते, येन तेषु पत्रेषु छिद्राण्यभविष्यन्, इत्यच्छिद्रपत्राः। अथवा एवं नामान्योन्यशाखाप्रशाखानुप्रवेशात्पत्राणि पत्राणामुपरि जातानि येन मनागप्यपान्तरालरूपं छिद्रं नोपलक्ष्यत इति। तथा चाह-" अविरलपत्ताइ ति " रा॰। जी॰। जं॰।

अच्छिद्दपसिणवागरण-अच्छिद्रप्रश्नव्याकरण-पुं॰। अच्छिद्राण्यविरलानि निर्दूषणानि वा प्रश्नव्याकरणानि येषां ते तथा। अविरलप्रश्नोत्तरेषु, निर्दुष्टप्रश्नोत्तरेषु च। भ॰२श॰५उ॰। औ॰।

अच्छिद्दविमलदसण-अच्छिद्रविमलदशन-पुं॰स्त्री॰। अच्छिद्रा विमला दशना यासां तास्तथा। अविरलस्वच्छरदनायाम्, जं॰ २ वक्ष॰।

अच्छिपत्त-अक्षिपत्र-न॰। अक्षिपदमणि, भ॰ १४ श॰ ८ उ॰।

अच्छिवेहग-अक्षिवेधक-पुं॰। चतुरिन्द्रियजीवभेदे, उत्त॰ ३६ अ॰। जीवा॰।

अच्छिमल-अक्षिमल-पुं॰। दूषिकादौ, तं॰। नेत्रमले,"अच्छिमलो दूसिकादि" नि॰ चू॰ ३ उ॰।

अच्छिरोडय-अक्षिरोडक-पुं॰। चतुरिन्द्रियजीवभेदे, उत्त॰ ३६ अ॰। जी॰।

अच्छिल-अक्षिल-पुं॰। चतुरिन्द्रियजीवभेदे, उत्त॰ ३६ अ॰।

अच्छिवडण-देशी-निमीलने, दे॰ ना॰ १ वर्ग।

अच्छिविअच्छि-देशी-परस्परमाकर्षणे, दे॰ ना॰ १ वर्ग।

अच्छिवेयणा-अक्षिवेदना-स्त्री॰। ७ त॰। लोचनयोर्दुःखानुभवने, उत्त॰ २ अ॰।"षोडशानां रोगानां द्वादशोऽयम्"उपा॰ ४ अ॰। ज्ञा॰।

अच्छिहरुल्ल-देशी-द्वेष्ये, वेषे च। दे॰ ना॰ १ वर्ग।

अच्छी-आच्छी-स्त्री॰। अच्छनामकदेशोद्भवायां स्त्रियाम्, प्रज्ञा॰ ११ पद।

अच्छुय-अप्सुज-त्रि॰। अप्सु जले तद्धेतौ अन्तरिक्षे वा जायते। जन-ड, अलुक् स॰। जलजाते, वाच॰।

आस्तृत-त्रि॰-आच्छादिते, ज्ञा॰ १ श्रु॰ ८ अ॰।

अच्छुरण-आस्तरण-न॰। प्रस्तरणे, नि॰ चू॰१५ उ॰। दावानलादिभये, यद् भूमावास्तीर्यते प्रलम्बादिवितरणाय वा यस्तदास्तरणम्। एतत्प्रायश्चर्ममयं भवति। साधूनामौपग्रहिकोपधावन्तर्भवति। बृ॰ ३ उ॰।

अच्छुरिय-आच्छुरित-न॰। आ-छुर-क्त। सशब्दहासे, नखाघाते, नखवाद्ये च। आस्तीर्णे, बृ॰ १ उ॰।

अच्छुल्लूढ-अच्छोल्लूढ-त्रि॰। स्वस्थानं त्याजिते, बृ॰ १ उ॰।

अच्छेज्ज-अच्छेद्य-न॰। छेत्तुमशक्ये, स्था॰ ३ ठा॰ २ उ॰।

अच्छेद-अच्छेद-न॰। "जम्हा तु अणोच्छित्ती, सो कुणती णाणचरणमादीणं। तम्हा खलु अच्छेदं, गुणप्पसिद्धं दवंति णामं" ॥ १७ ॥ गौणानुज्ञायाम्, पं॰ भा॰।

अच्छेर (ग)-आश्चर्य-न॰। आ विस्मयतश्चर्यन्तेऽवगम्यन्ते इत्याश्चर्याणि। आ-चर-यत्; सकारः पारस्करादित्वात्। स्था॰१०ठा॰। प्राकृते "ह्रस्वात् थ्यश्चत्सप्सामनिश्चले" ८।२।२१। इति श्चभागस्य छः, तुक् च। प्रा॰। "र्यशय्योत्कर्षे वा" पत्यम। तत "आश्चर्ये" ८।२।६६। इति एतः परस्य र्यस्य रः, अच्छेरं। पक्षान्तरे "अतो रिआररिज्जरीअं" ॥८। २।६७॥ इति अकारात् परस्य र्यस्य रिअ अर रिज्ज रीअ इत्येत आदेशाः। अच्छरिअं, अच्छअरं, अच्छरिज्जं, अच्छरीअं। प्रा॰। अद्भुतेषु, "रिद्धत्थमियसमिद्धं, भारहवासं ञिणिंदकालम्मि। बहुअच्छेरयपुण्णं,उसमाओ जाव वीरजिणो" ।१। इसमु विवासे सेयं, दस

दस अच्छेरगा आयाई । उस्सप्पिणिए एयं, तिगुणालीइ कालिगाई " ॥ १ ॥ त्रि० ॥

दस अच्छेरगा पन्नत्ता । तं जहा–" उवसग्ग गब्भहरणं, इत्थी तित्थं अभाविया परिसा । कण्हस्स अवरकंका, उत्तरणं चंदसूराणं ॥ १ ॥ हरिवंसकुलुप्पत्ती, चमरुप्पाओ य अट्ठसयसिद्धा । अस्संजएसु पूया, दस वि अणंतेण कालेणं " ॥ ७ ॥

तत्सूत्रे हि उच्यते अस्मिन्ने प्राणी धर्मादेरिन्द्युपसर्गाः, देवादि-कृत [illegible] भगवतो महावीरस्य छद्मस्थकाले कथञ्चित्का-ले च [illegible] अद्भुत । इदं च किल न कदाचिद्भू-तपूर्व । तीर्थकरा हि अनुत्तरपुण्यसंभारतया नोपसर्गभाजनम्, [illegible] सत्कारादिस्थानमेवेत्यनन्तकाल-[illegible] लोके [illegible] ॥१॥ तथा गर्भस्य उदरसत्त्वस्य [illegible] । एतदपि तीर्थकरापेक्षया ऽ-[illegible] पुरन्दरादिष्टेन हरिनैगमे-[illegible] पुत्रत्वेनाऽभिधानाया राज्ञ-[illegible] राज्यमेवेति २ [illegible] तीर्थं प्रवर्त्यन्ते, [illegible] पुरुषसिंहाः पुरुषवरगन्धहस्तिनस्त्रिजग-[illegible] । इह त्ववसर्पिण्यां मिथिला-[illegible]

[illegible]

पुण्यानुभावाद्राज्यं प्राप्तम्, ततो हरिवंशजातहरिवंशकुलं [illegible] वंशः स तथेति ॥ ७ ॥ तथा चमरस्यासुरकुमारराजस्य ऊर्ध्वंगमनं चमरोत्पातः, सोऽप्याश्चर्यमिति [illegible] श्रूयते हि-चमरचञ्चाराजधानीनिवासी चमरेन्द्रो [illegible] सन्नूर्ध्वमवधिनाऽऽलोकयामास । ततः स्वशीर्षोपरि [illegible] स्थितशक्रं ददर्श । ततो मत्सराध्मातः [illegible] रिहागत्य भगवन्तं महावीरं छद्मस्थावस्थमेकरात्रिकीं प्र-तिपन्नं सुसुमारनगरोद्यानवर्त्तिनं सबहुमानं [illegible] त्पादपङ्कजयुगं मे शरणमपराजितस्येति [illegible] रूपो लक्षयोजनमानशरीरः परिघरत्नप्रहरणं [illegible] गर्जन्नास्फोटयन् देवांस्त्रासयन्नुत्पपात । सौधर्मावतंसके [illegible] वेदिकायां पादन्यासं कृत्वा शक्रमाक्रोशयामास । [illegible] कोपाज्ज्वलज्ज्वालास्फारस्फुलिङ्गशतसमाकुलं [illegible] मुमोच । स च भयात्प्रतिनिवृत्य भगवत्पादौ शरणं [illegible] सोऽप्यवधिज्ञानावगतवृत्तान्तस्तीर्थकराशातनाभयात् [illegible] मागत्य वज्रमुपसंजहार । बभाण च-मुक्तोऽसि [illegible] प्रसादान्नास्ति मत्तस्ते भयमिति ॥ ८ ॥ तथा [illegible] शतमष्टशतम्, अष्टशतं च ते सिद्धा [illegible] सिद्धाः । इदमप्यनन्तकालजातमित्याश्चर्यमिति [illegible] यतो असंयतश्च आरम्भपरिग्रहप्रसक्ता [illegible] स्तेषु पूजा सत्कारोऽसंयतपूजा । सर्वदा हि [illegible] पूजार्हाः, अस्यां त्ववसर्पिण्यां विपरीतं [illegible] मत एवाद दशाप्येतानि अनन्तेन कालेनानन्त [illegible] न्यस्यामवसर्पिण्यामिति । स्था० १० ठा० ।

से भयवं ! अत्थि केई जेण पिणमो परमगुरूणं [illegible] णिलं परममरणाफुरुं पवरं पवरपरं परमपाणं [illegible] णरूमहदुक्खनिट्ठवणं पवयणं [illegible] वा [illegible] संरिज्ज वा विराहिज्ज वा आसाइज्ज वा [illegible] यमा वा कायमा वा जाव णं वयसि गोयमा [illegible] से णं परिभमाणे णं सयं दस अच्छेरगे [illegible] अणंतेणं अभव्वे असंखेज्जे मिच्छादिट्ठी [illegible] पणट्ठज्झणिगं मामो य सहुणाए । [illegible] त्थए धम्मे गत्ति कालगं वरं अड्डिकसाणं [illegible] णयच्छू सवंति । अच्चुत्तमविणं पणओतुणाए [illegible] ए दुईणिपरहोणिणं अणुदिवीए माहिणं [illegible] ति । अम्माणं य ऊगणिपणि [illegible] वावगुरुणं ति अणेगाणेगाणे पवयणं [illegible] से भयवं ! केवतीणं तेणं कालेणं दस अच्छेरगे [illegible] यमा ! णं इमे तेणं कालेणं दस अच्छेरगे [illegible] तित्थयराणं उवसग्गा, गब्भसंहरणं, [illegible] वासुदेवाणं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] अट्ठसयसिद्धा [illegible]

पुपा कारणे त्ति । महा० ५ अ० । कल्प० । प्रव० । पं० व० । धणो णाम सत्थवाहो, तस्स य दुवे अच्छेरगाणि चउसमुद्दसारभूया मुत्तावली, धूया । आ० म० द्वि० ।

अच्छेरपेच्छणिज्ज–आश्चर्यप्रेक्षणीय–त्रि० । अहो ! किमिदमिति कौतुकेन सौधप्रासादर्शनीये, जी० २ प्रति० ।

अच्छेरवंत–आश्चर्यवत्–त्रि० । चमत्कारयति, " वसुमाश्चर्यवान् भवेत " अष्ट० ४ अष्ट० ।

अच्छोडण–आस्फोटन–न० । आ–स्फुट्–स्फुट्–णिच्–पृ० । अङ्गुलिमोटने, वाच० । वस्त्राणां रजकैरिव शिलायामास्फालने, पिं० ।

अच्छोडणं–देशी–मृगयायाम्, दे० ना० १ वर्ग ।

अच्छोदग–अच्छोदक–न० । स्वच्छपानीये, रा० ।

अच्छोदगपडिहत्थ–अच्छोदकप्रतिहस्त–त्रि० । स्वच्छपानीयपरिपूर्णे, " ताउ णं पाइओ अच्छोदगपडिहत्थाओ " रा० ।

अजंगम–अजङ्गम–त्रि० । गमनशक्तिविकले, व्य० १ उ० । जङ्घाबलपरिहीने, " वुड्ढो खलु समधिगतो, अजंगमो सो य जगमविसेसो " व्य० ८ उ० ।

अजज्जर–अजर्जर–त्रि० । जरारहिते, जी० ३ प्रति० ।

अजणियकण्णिया–अजनितकन्यिका–स्त्री० । केनचिदजनितस्य प्रव्रज्यायाम्, "उद्दायणसंबोही, पउमावती देवसएहत्ति; वच्छ मघुसंघी मणको; कआए अजणिओ तु केणइ वि पुत्तो जाय त्ति; जो तुमो होति अजणियकथी तु णिवातिमुता त्ति दोण्हि वि निक्खंताई तु मातुभंडाई । अण्णदा रायसुओ तु पिसाए झायप्पणो कुणति बइदामि पभाते चलणाहो कातुं कालपडिचरत्तो पोग्गलभेदागमण । अह णिवतिपसु वासेसु पोसारिया, ते तस्स य सिरोदहा तंमि चेव ठाणंमि । तत्थ य पव्वत्तिणीए य अहागता गामं गंतुमणा । अह तीए रायडुहिया न घेत्तुं सपदेसे । अह तम्मि सवचिट्ठणवरितीए पमोत्तुग सह समोगाढं तहाए सह स घेत्तुं तेसिं रज्जे सुकपोगलाइएहि तुज्झम्मि सन्निवेसे । अह सुक्कं जोणिमोगाढंतो गब्भो आहूतो । अह पोट्टं वंदिउं पयत्तं च सुणिया य सुविहिया हि पुट्ठा चेती तु न वि जाणे अतिसयणाणी थेरा य पुच्छिता तेहिं सिट्ठा जहावुत्तं होही । जुगप्पहाणो एक्कइ णं अप्पमादेणं जं मं सङ्ककुलेसु संवड्ढितो गोसणामकलकेसीए । सा तु अजणकथी पव्वज्जा होति णायव्वा " पं० भा० । पं० चू० ।

अजमेरु–अजमेरु–पुं० । प्रियग्रन्थसूरिप्रतिष्ठाधिष्ठानसुभटपालनृपालपालितहर्षपुरनिकटस्थे ' अजमेर ' इतीदानीं प्रसिद्धे नगरभेदे, कल्प० ।

अजय–अयत–पुं० । न विद्यते यतं यतिर्यस्येति सर्वसावद्यविरतिहीने, कर्म० ४ कर्म । गृहस्थकल्पे साधौ, ग० १ अधि० । अविरतसम्यग्दृष्टौ, कल्प० । कर्म० । द० । अयत्नवति च, ध० । यतनाऽभावे, नं० । " अजयं चरमाणो य पाणभूयाइ हिंसइ " अयतमनुपदेशं न सूत्राज्ञयेति क्रियाविशेषणमेतत्, चरन् गच्छन् । दश० ४ अ० ।

अजयचउ–अयतचतुर–पुं० अविरतसम्यग्दृष्टिनोपलक्षितेषु अविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्ताख्येषु चतुर्षु तृतीयादिगुणस्थानवर्त्तिषु, " मिच्छ अजयचउआऊ " कर्म० ५ कर्म ।

अजयणकारि (ण्)–अयतनकारिन्–पुं० । अयतनया कार्यकारिणि, " अजयणकारिस्सेवं, कज्जे परदव्वलिंगकारिस्स " अजयणं जो करेत्ति सो भण्णति अजयणकारी " णिक्कारणपडिसेवी, अजयणकारी य कारणे साहू " । नि० चू० १ उ० ।

अजयणा–अयतना–स्त्री० । यतनाऽभावे ईर्याद्यशोधने, " अजयणाए पकुव्वंति, पाहुणगाणं अवच्छला " ग० ३ अधि० ।

अजयदेव–अजयदेव–पुं० । दाउलताबादनामकाद् म्लेच्छनगरादागच्छतां जिनप्रभसूरीणां भट्टारके राज इति प्रतिष्ठितनामदातरि त्रयोदशशतनवाशीतितमवर्षकालिके नरेश्वरभेदे, ती० ४६ कल्प० ।

अजयभाव–अयतभाव–त्रि० । ६ ब० । असंयताध्यवसाये, " वरस्स तं देइ सवगं होइ अहिगरणमजयभावस्स " अयतभावस्य अयतोऽशुद्धाऽऽहारापरिहारकत्वेन जीवरक्षणरहितो भावोऽध्यवसायो यस्य स तथा । पिं० ।

अजयसेवि (ण्)–अयतसेविन्–त्रि० । अयतनया प्रतिसेवके, " थोयं गामियंमि य अजयसेविम्मि " व्य० १ उ० ।

अजर–अजर–पुं० । नास्ति जरा यस्य । देवे, जराशून्ये, त्रि० । वाच० । " उम्मुक्ककम्मकवया अजरा अमरा असंगया " सिद्धा अजराः, वयसोऽभावात् । औ० । नास्ति जराऽस्याः, घृतकुमारीवृक्षे, तस्य जराऽभावात्तत्त्वम् । वाच० । वृन्दारकवृक्षे, पु० । गृहगोधिकायाम्, स्त्री० । न विद्यते जरा यस्य तदजरम् । आ० म० प्र० ।

अजरामर–अजरामर–न० । जरा वयोहानिः, मरणं मरः, स्वरान्तत्वादच्प्रत्ययः । न विद्येते जरामरौ यत्र तदजरामरम् । मोक्षे, विशे० । जं० । तं० । ६ ब० । वार्धक्यमृत्युरहिते, त्रि० " अहोयराओ परितप्पमाणे, अट्ठ सुमूढे अजरामरे व्व " अजरामरवद्बालः, क्लिश्यते धनकाम्यया" सूत्र० १ श्रु० १० अ० । " णत्थि कोइ जगम्मि अजरामरो " । महा० ७ अ० । मम्मणाख्ये वणिग्भेदे, पुं० । (तत्कथा 'मम्मण' शब्दे द्रष्टव्या)

अजस–अयशस्–न० । विरोधे, म० त० । अश्लाघायाम्, असद्वृत्ततया निन्दायाम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । ग० । सर्वदिग्गामिन्याः प्रसिद्धेरभावे, भ० ९ श० ३३ उ० । अपराक्रमकृते, न्यूनत्वे च । " इहेव धम्मो अजसो अकित्ती " । दश० १ चूलि० । अवर्णवादभाषायाम्, नि० चू० ११ उ० ।

अजसकारग–अयशःकारक–त्रि० । सर्वदिग्गामिन्याः प्रसिद्धेः प्रतिषेधके, भ० ९ श० ३३ उ० ।

अजसकित्तिणाम–अयशःकीर्तिनामन्–न० । नामकर्मभेदे, यदुदयादयशःकीर्ती न भवतस्तदयशःकीर्तिनाम । कर्म० १ कर्म० । यदुदयवशान्मध्यस्थजनस्याप्यप्रशस्यो भवति तदयशःकीर्तिनाम । कर्म० ६ कर्म० । प्रव० । धा० ।

अजसजणग–अयशोजनक–त्रि० । निन्दनीयतादिकारके, ग० २ अधि० ।

अजसबहुल–अयशोबहुल–त्रि० । अयशोऽश्लाघाऽसद्वृत्ततया निन्दा तद्बहुलः, यानि यानि परापकारभूतानि कर्मानुष्ठानानि विधत्ते तेषु तेषु कर्मसु करचरणच्छेदनादिषु अयशोभाजि, " णियडिबहुले माइबहुले अजसबहुले, उस्सन्नतसपाणघाती " सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अजससयविसप्पमाणहियय–अयशःशतविसर्पद्धृदय–त्रि० । न यशःशतानि अयशःशतानि, तेषु विसर्पद् विस्तारं गच्छद्

हृदयं मानसं यस्य स तथा, प्रभूताऽऽशाविस्तृतमनस्के, " अ-जमसयविसप्पमाणहिययाणं कइयवपसत्तीणं" (स्त्रीणां) तं०।

अजम्म-अजन्म्-न० । न० त० । जन्-र । अनवरते, "आमरणतम-जम्मं, संजमपरिपालणं विहिणा " पञ्चा० ८ विव० । त्रिका-लावस्थायिनि वस्तुमात्रे, त्रि० । वाच० ।

अजहण्णुक्कोस-अजघन्योत्कृष्ट-त्रि० । न जघन्योत्कृष्टा स्थितिर्यस्य सः, एवं स्थितिशब्दलोपात् तथा । मध्यमायां स्थितौ वर्तमाने, स्था० ४ ठा० ।

अजहण्णुक्कोसपएसिय-अजघन्योत्कर्षप्रदेशिक-पुं० । जघन्या-श्चोत्कर्षाश्च जघन्योत्कर्षाः, न तथा ये तेऽजघन्योत्कर्षाः, मध्यमा इत्यर्थः, ते प्रदेशाः सन्ति येषां ते अजघन्योत्कर्षप्रदेशिकाः । म-ध्यमप्रदेशनिष्पन्नेषु, स्था० १ ठा० १ उ० ।

अजहत्थ-अयथार्थ-न० । पलाशादावयथावदर्थके नामभेदे, स्था० १ ठा० १ उ० ।

अजाइय-अयाचित-त्रि० । अयाच्यया लब्धे, अदत्तादाने च । "मुसावायं बहिद्धं च, उग्गहं च अजाइयं । सत्था दाणाइ लो-गंसि, तं विज्जं परिजाणिया" ॥१॥ अयाचितमित्यनेनादत्तादानं गृहीतम् । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अजाणंत-अजानत्-अजानान-त्रि० । अनवबुध्यमाने, " अ-जाणंता [illegible] " सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । कल्पाऽकल्पम-जानाने [illegible], पुं० । [illegible] ३ उ० ।

अजाणुअ-अज्ञ-त्रि० । न जानाति । ज्ञा-क । न० त० । स्वल्प-ज्ञे, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । " एवं विप्पडिवन्नेगे, [illegible] " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । ज्ञानशून्ये, मूर्खे, [illegible] च । वाच० ।

अजाणिय-अज्ञात्वा-अव्य० । अविज्ञायेत्यर्थे, नि० चू० १ उ० ।

अजाणिया-अज्ञिका-स्त्री० । न ज्ञिका, ज्ञिकाविलक्षणायां म-[illegible] पर्षदि, " अजाणिया जहा [illegible] [illegible] मृगशावक [illegible] अमंग-लिया [illegible] " [illegible] गु-[illegible] । त-[illegible] ॥१॥ नं० ।

अजा-[illegible] । [illegible] ४ ठ० ।

अजा[illegible] । [illegible] । पुं० । "[illegible]" [illegible] । [illegible] ।

[illegible] - [illegible] , "[illegible]" [illegible] १ [illegible] ।

[illegible] , "[illegible]" [illegible] ।

श्रात्रायैव । तथा च 'गौणे कर्मणि दुह्यादेः' इत्युक्ते, [illegible] प्रधाननिधाननियमात् तस्यैव जयकर्मतायां तेनाऽजितत्वम्, न च नास्त्येषामजितो देश इत्यादौ गौणकर्मण्ये-यैव जयप्राप्तदेशादौ जिनशब्दप्रयोगात् ततो [illegible] इति भेदः । रागादिभिर्जितत्वाभावात् शिवे, विष्णौ, बुद्धे च । वाच० । परीषहादिभिरनिर्जितो गर्भस्थे भगवति अस्मिन् राज्ञा न जित इत्यजितः । ध० २ अधि० । अवसर्पिण्या द्वितीयतीर्थंकरे, "अक्खेसु जेण अजिया, जणणी अजिओ जिणो तम्हा" [illegible] पु अक्षविषयेण कारणेन भगवतो जननी अजिता गर्भस्थे अ-[illegible] भूत्तस्मादजितो जिनः । अत्र वृद्धसंप्रदायः- "जयरो [illegible] अम्मापियरो जूयं रमंति, पढमं राया जिणियाइओ जइ गब्भो आयाओ ताहे देवी जिणाइ, नो राया ततो अक्खेसु कुमारस्स देवी अजिय त्ति, अजिओ से नामं कयं" । आ० म० द्वि० । आ० चू० । ध० । स० । कल्प० । (अन्तरायुरादिकमस्य [illegible] वक्ष्यते) भाविनि द्वितीये बलदेवे, ती० २१ कल्प० । [illegible] धिजिनस्य यक्षे च । स च श्वेतवर्णः कूर्मवाहनश्चतुर्भुजो [illegible] शिद्भाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणपाणिद्वयो नकुलकुन्तकलितवाम-द्वयश्च । प्रव० २७ द्वा० ।

अजिअदेव-अजितदेव-पुं० । मुनिचन्द्रसूरेः शिष्ये, विजयसिंह-गुरौ, "जातौ तस्य (गुरुचन्द्रस्य) विनयो, सूरिवर्यौ [illegible] चन्द्राह्वौ । तादृशौ मुनीन्द्रचन्द्रः श्रीमुनिचन्द्रो गुरु [illegible] पूत ॥ १ ॥ श्रीअजितदेवसूरिः प्राच्यस्तस्मादभूत्र [illegible] वरः । वादीति देवसूरिर्द्वितीयशिष्यस्तयोरभूत् ॥ [illegible] तथाऽप्यदमाद् प्रभासे गुरुर्विजयसिंह इति मुनिपसिंह" [illegible] अधि० । अन्योऽप्येतन्नामा (वि० सं० १२७३ वर्षे) धर्म० [illegible] भानुप्रभसूरेः शिष्यः, योगविधिनाम्नो ग्रन्थस्य कर्ता । जै० [illegible]

अजिअप्पभ-अजितप्रभ-पुं० । स्वनामख्याते गणिनि । स च (वि० सं० १३०७ वर्षे) गुर्जरधरित्र्यां विद्यापुर (वीजापुर) ग्रामे [illegible] न्, धर्मरत्नश्रावकाचारनामानं ग्रन्थं च व्यरीरचत् । जै० [illegible]

अजिअबला-अजितबला-स्त्री० । श्रीअजितस्य शासनदेव-ता । सा च गौरवर्णा लोहासनाधिरूढा चतुर्भुजा वरदपाश-[illegible] ष्ठितदक्षिणकरद्वया बीजपूरकाङ्कुशालङ्कृतवामपाणिद्वया च । प्रव० २७ द्वा० ।

अजिअसीह-अजितसिंह-पुं० । स्वनामख्याते [illegible] सूरौ, स च (वि० सं० १२८३ वर्षे) जिनदेव [illegible] नाम मातरि जन्म लब्ध्वा सिंहप्रभसूरि [illegible] सूरि[illegible] सिंहनामानं च शिष्यं प्रावाजयत् । जै० इ० ।

अजिअसेण-अजितसेन-पुं० । जम्बूद्वीपे भारतवर्षे [illegible] [illegible] अवसर्पिण्यां जाते चतुर्थे कुलकरे, स्था० १० ठा० । [illegible] भद्दिलपुरे धारणीवल्लभे नृपतिभेदे, " [illegible] जितसेनो महीपतिः । धारणीत्यभिधा देवी, [illegible] ॥१॥ आ० क० । आव० । आ० चू० । ([illegible] वक्ष्यते) श्रावस्त्यां नगर्यां [illegible] [illegible] प्रवाजके आचार्यभेदे, ('[illegible]' [illegible]) आ० चू० । आव० । [illegible] शिष्यः [illegible] (वि० सं० १३१६ वर्षे) [illegible] आ० क० । भद्दिलपुरवास्तव्य [illegible] [illegible] पुत्रे, स [illegible] सिद्धः । अ० व० ४ वर्ग ।

अजिश्रा–अजिता–स्त्री० । अवसर्पिण्याश्चतुर्थस्याभिनन्दनजि- नस्य प्रवर्तिन्याम्, " अजिणंदणस्स अजिआ, कासवी सुमती- जिणिदस्स " ति०।

अजिइंदिय–अजितेन्द्रिय–त्रि० । न जितानि श्रोत्रादीनीन्द्रि- याणि येन स तथा । इन्द्रियावशे, " अजिइंदियसोवहिया, व- हगा जइ ते णाम पुब्भंति " दश० नि० १ अ० । असयंमवन्धे, स्था० ५ ठा० ।

अजिण–अजिन–न० । अजति क्षिपति रज आदि आवरणेन । अज-इनच्, न व्यादेशः । वाच० । मृगादिचर्मणि, उत्त० ४ अ० । आचा० । सूत्र० । चर्मधारित्वे, " चीराजिणं नगिणिणं, जडीसंघाडिमुंडिणं" उत्त०५ अ०। न जिनोऽजिनः । न० त०। अवीतरागे, भ० १५ श० १ उ० । असर्वज्ञे, पुं० । "अजिणा जिणसंकासा जिणाइव अवितहं वागरमाणा " । औ० । कल्प० । स्था० ।

अजिण्ण–अजीर्ण–न० । अजरणे परिपाकमनागते, त्रि० । अ- जीर्णेऽभोजनम् । एतदपि गृहिभिर्धर्मोऽयमस्माकमिति बु- द्ध्या कार्यम् । तथाऽजीर्णेऽजरणे पूर्वभोजने, अथवाऽजीर्णे प- रिपाकमनागते पूर्वभोजनेऽर्धजीर्णे इत्यर्थः । अभोजनं भोज- नत्यागः । अजीर्णभोजने हि सर्वरोगमूलस्य वृद्धिरेव कृता भवति । यदाह–" अजीर्णप्रभवा रोगाः " इति । तत्राजीर्णं चतुर्विधम्-" आमं विदग्धं विष्टब्धं, रसशेषं तथा परम् । आ- मे तु द्रवगन्धित्वं, विदग्धे धूमगन्धिता ॥१॥ विष्टब्धे गात्रभ- ङ्गो ऽत्र, रसशेषे तु जाड्यता" द्रवगन्धित्वमिति । द्रवस्य कुथितघृतादेरिव गन्धो यस्यास्ति तत्तथा, तद्भावस्तत्त्व- मिति। "मलवातयोर्विगन्धो, विड्भेदो गात्रगौरवमरोच्यम् । अविशुद्धश्चोद्गारः, षडजीर्णव्यक्तिलिङ्गानि"॥१॥"मूर्च्छा प्रलापो वमथुः, प्रसेकः सदनं भ्रमः । उपद्रवा भवन्त्येते, मरणं वाऽ- प्यजीर्णतः"॥१॥प्रसेक इत्यधिकनिष्ठीवनप्रवृत्तिः,सदनमित्यङ्ग- ग्लानिरिति । ध० १ अधि० । "जिआजिणे अभोयण बहुसो" अजीर्णे च भोजने बहुशः; एव आयुष उपक्रम । अस्माद् अपि प्राणिन इत्यर्थः । व्याय० १ अ० । औ० । एतस्मी- यथा–" मयेदजीर्णं प्रति यस्य शङ्का, स्निग्धस्य जन्तो- र्बहुभुक्तकाले । पूर्वं स शुण्ठीमभयामशङ्कः, सम्प्राश्य भु- ञ्जीत हितं हि पथ्यम्"॥१॥ इति वाक्यः। "अजीर्णे भोजनं वारि, जीर्णे वारि बलप्रदम् " इति वैद्यके । कर्त्तरि क्तः । जीर्णो- भिन्ने, त्रि० । वाच० ।

[illegible]णयणा–अजिह्मकान्तनयना–स्त्री० । अजिह्मेऽमन्दे या निर्विकारचपल इत्यर्थः, कान्ते नयने यासां । सुभगत्वचपलत्वसहजचपलत्वभाजनलोचनासु, [illegible]णयणा पत्तलधवलायतआयतलच्छालोभा " । [illegible]

[illegible]त–त्रि० । अपराजिते, ('अजिअ' शब्देऽस्य विस्तरः)

[illegible]जितदेव–पुं० । मुनिचन्द्रसूरेः शिष्ये, ([illegible]) [illegible] शब्दे)

[illegible]जितनन्द–पुं० । स्वनामख्याते नरेन्द्र, ([illegible] [illegible]पभ ' शब्दे)

[illegible]जितबला–स्त्री० । श्रीअजितस्य शासनदेवतायाम्, [illegible] शब्देऽस्य विस्तरः)

अजियसीह–अजितसिंह–पुं० । स्वनामख्यातेऽञ्चल[illegible] सूरौ, ('अजिअसीह ' शब्दोऽत्र द्रष्टव्यः)

अजियसेण–अजितसेन–पुं० । जम्बूद्वीपस्य चतुर्थे कुल[illegible] (वक्ष्यतेऽयं ' अजिअसेण ' शब्दे)

अजिया–अजिता–स्त्री० । अवसर्पिण्याश्चतुर्थस्याभिनन्द[illegible] जिनस्य प्रवर्तिन्याम्,(अभिनन्दनजिनं 'अजिआ' शब्दे द्रष्टव्य[illegible])

अजीर-अजीर्ण-न० । आहारस्याऽजरणे, तत्कार्ये च रोगान्तरे[illegible] व्य० १ उ० । जं० । ज्ञा० । वि० । उपा० ।

अजीव–अजीव–पुं० । न जीवा अजीवाः । जीवविपर्ययलक्ष[illegible] पेषु धर्माधर्माकाशपुद्गलास्तिकायाद्धासमयेषु, प्रज्ञा० १ पद । ते च चतुर्धा, नामस्थापनाद्रव्यभावभेदात् । द्रव्याजीवाः, यदा पुद्गलद्रव्यमजीवत्वं [illegible] व्यते, तदा तदाश्रितम् । द्रव्याजीवः, अथ [illegible] पुद्गलस्कन्धस्य वर्णादिपर्यायोऽजीव इति [illegible] । [illegible] शब्दादय [illegible] शुभाशुभतया भेदेन [illegible] । [illegible] प्रदायः-शब्दरूपरसगन्धाः शुभाशुभाः [illegible] । उत्त० ३४ अ० ।

एतेषां [illegible] —

रूविणो य अरूवी य, अजीवा दुविहा भवे ।
अरूवी दसहा वुत्ता, रूविणो वि चउव्विहा ॥ ४ ॥

अजीवा द्विविधा भवेयुः, [illegible] पुनरन्ये अजीवा [illegible] । [illegible] तथाऽऽपरोऽजीवा [illegible] [illegible] ॥ ४ ॥

पूर्वं दशविधमाह —

धम्मत्थिकाए तद्देसे, तप्पएसे य आहिए ।
अहम्मे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ॥ ५ ॥
आगासे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ।
अद्धासमए चेव, अरूवी दसहा भवे ॥ ६ ॥

अरूपी अजीव [illegible] दशधा भवेदिति [illegible] । प्रथम धर्मास्तिकाय–[illegible] धर्मास्तिकाय [illegible] [illegible] सर्वेषां [illegible] ॥ १ ॥ [illegible] ॥ २ ॥ [illegible] ॥ ३ ॥ [illegible] ॥ ४ ॥ [illegible] ॥ ५ ॥ [illegible] ॥ ६ ॥ [illegible] ॥ ७ ॥ [illegible] ॥ ८ ॥ [illegible]

स्य निरंशो देशस्तत्प्रदेश आकाशास्तिकायप्रदेशः ॥ ६ ॥ दशमो भेदश्चाद्धासमयः; अद्धा कालो वर्त्तमानलक्षणस्तद्रूपः समयोऽद्धासमयः अस्यैक एव भेदो निर्विभागत्वात्। देशप्रदेशावपि कालस्य न सम्भवतः ॥ १० ॥ एवं दशभेदा अरूपिणो ज्ञेयाः ॥ ६ ॥

एतान् अरूपिणः क्षेत्रत आह—

धम्माधम्मे य दो एए, लोगमित्ता वियाहिया ।
लोगालोगे य आगासे, समए समयखित्तिए ॥ ७ ॥

धर्माधर्मौ धर्मास्तिकायाधर्मास्तिकायौ, एतौ द्वावपि लोकमात्रौ व्याख्यातौ । यावत्परिमाणो लोकस्तावत्परिमाणौ धर्मास्तिकायाधर्मास्तिकायौ। चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकं व्याप्ताविंत्यनेनालोके धर्माधर्मौ न स्तः। आकाशं लोकालोके वर्त्तते इत्यनेनाऽऽकाशास्तिकायः चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोकं व्याप्य स्थितः, ततो बहिरलोकमपि व्याप्याऽऽकाशास्तिकायः स्थित इत्यर्थः । समयः समयादिकः कालः समयक्षेत्रिको व्याख्यातः । समयोपलक्षितं क्षेत्रं सार्द्धद्वयद्वीपसमुद्रात्मकं समयक्षेत्रं, तत्र भवः समयक्षेत्रिकः। सार्द्धद्वयद्वीपेभ्यो बहिस्तु समय आवलिकादिसमयमार्गादिककालभेदो मनुष्यलोकाभावाद्य [illegible] ॥ ७ ॥

पुनरेतानेव कालत आह—

धम्माधम्मागासा तिन्नि वि एए अणाइया ।
अपज्जवसिया चेव, सव्वद्धं तु वियाहिया ॥ ८ ॥

धर्माधर्माकाशानि एतानि त्रीण्यपि सर्वाद्धं इति सर्वकालं [illegible] नित्यानि [illegible] च पुनरपर्यवसितानि [illegible] व्याख्यातानि ॥ ८ ॥

अथ कालस्वरूपमाह—

समए वि संतइं पप्प, एवमेव वियाहिए ।
आएसं पप्प साईए, सपज्जवसिए वि य ॥

[illegible] कालोऽपि, एवमेव, यथा धर्माधर्माकाशानि अनादीन्यनन्तानि, तथा कालोऽपि अनाद्यनन्त इत्यर्थः । किंकृत्वा ? [illegible] कालस्याऽऽ[illegible] । पुनरादेशं प्राप्य का[illegible] सादिः सान्तः, तथा सपर्यवसितोऽपि व्याख्यातः। यदा च यत् किञ्चित् कार्यं [illegible] तदा तत्कार्यारम्भवशात् कालस्या[illegible] कालस्याऽऽ[illegible] ॥ ६ ॥

अथ [illegible] रूपिणो [illegible] —

खंधा य खंधदेसा य, तप्पएसा तहेव य ।
परमाणुणो य बोद्धव्वा, रूविणो वि चउव्विहा ॥ १० ॥

[illegible] । ते [illegible] भेदा [illegible] परमाणवः [illegible] १, [illegible] २, [illegible] ३, [illegible] पुनः परमाणवो [illegible] ॥ १० ॥ [illegible] व्यवृत्त्या परमाणुद्रव्यस्य द्वौ भेदौ-परमाणवः [illegible] प्रदेशयोः स्कन्धेष्वेवान्तर्भावः ॥ १० ॥

अथ स्कन्धानां परमाणूनां लक्षणमाह-

एगत्तेण पहुत्तेण, खंधा य परमाणुओ ।
लोएगदेसे लोए य, भइयव्वा ते उ खित्तओ ॥
इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वोच्छं चउव्विहं ॥ ११ ॥

एते स्कन्धाश्च पुनः परमाणवः, एकत्वेन पुनः [illegible] लोकैकदेशे च पुनर्लोके क्षेत्रतो भक्तव्याः। तत्र [illegible] परमाणवश्च एकत्वेन समानपरिणतिरूपेण लक्ष्यन्ते [illegible] स्कन्धाः परमाणवश्च पृथक्त्वेन परमाणव[illegible] लक्ष्यन्त इत्यध्याहारः । इति द्रव्यतो लक्षणमुक्तम् । [illegible] क्षेत्रत आह-ते स्कन्धाः परमाणवश्चेति [illegible] ग्रहणेऽपि परमाणूनामेवैकप्रदेशावस्थानत्वात् ते [illegible] स्कन्धेषु लोकैकदेशे लोके सर्वत्र भक्तव्या [illegible] इति यावत् । ते हि विचित्रत्वात्परिणतेर्बहुप्रदेशे [illegible] इतः क्षेत्रप्ररूपणातोऽनन्तरं तेषां स्कन्धानां परमाणूनां [illegible] विधं कालभेदं वक्ष्ये, साद्यनादिसपर्यवसितापर्यवसितभेदा[illegible] कथयिष्यामि । इदं च सूत्रं षट्पादं गाथेत्युच्यते ॥ ११ ॥

संतइं पप्प तेऽणाई, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य ॥ १२ ॥

ते स्कन्धाः परमाणवश्च सन्ततिमपरापरोत्पत्तिप्रवाहं प्राप्याऽनादयः आदिरहितास्तथाऽपर्यवसिता [illegible] स्थितिं प्रतीत्य क्षेत्रावस्थानरूपां स्थितिमङ्गीकृत्य [illegible] सपर्यवसिताश्च वर्तन्ते ॥ १२ ॥

सादिसपर्यवसितत्वेऽपि कियत्कालमेषां स्थिति[illegible]

असंखकालमुक्कोसं, इक्कं समयं जहन्नयं ।
अजीवाण य रूवीणं, ठिई एसा वियाहिया ॥ १३ ॥

स्कन्धानां परमाणूनां चोत्कृष्टाऽसंख्यकालं स्थिति[illegible] न्यिका एकसमया स्थितिः । एषाऽजीवानां रूपिणां पुद्गलानां स्थितिर्व्याख्याता ॥ १४ ॥

अथ कालतः स्थितिमुक्त्वा तदन्तर[illegible]

अणंतकालमुक्कोसं, इक्कं समयं जहन्नयं ।
अजीवाण य रूवीणं, अंतरे यं वियाहिया ॥ १५ ॥

अजीवानां रूपिणां पुद्गलानां [illegible] स्तरं विवक्षितक्षेत्रावस्थिते प्रच्युतानां पुनस्त[illegible] [illegible] कालं भवति । [illegible] भवति । इदमन्तरं तीर्थंकरैर्व्याख्यातम्-पुद्गलानां हि [illegible] [illegible] क्षेत्रावस्थितिः प्रच्युतानां [illegible] संख्यातकालतो वा पल्योपमादिना [illegible] स्थावस्थितिः सम्भवतीति भावः ॥ १५ ॥

अथ भावतः पुद्गलानाह—

वण्णओ गंधओ चेव, रसओ फासओ तहा ।
संठाणओ य विन्नेओ, परिणामो तेसि पंचहा ॥ १६ ॥

तेषां पुद्गलानां परिणामो वर्णतो [illegible] [illegible] पञ्चधा [illegible] पुद्गलानामेव [illegible] वर्णादिरूपतानां पुद्गलानां [illegible] वर्णपरिणामः । ते पुद्गला [illegible]

पुद्गलानां वर्णगन्धरसस्पर्शसंस्थानानां भेदात् पञ्चधा। अथ तेषां [illegible] … [illegible] … [illegible] … कृष्णनीललोहित-पीतशुक्लानां पञ्चवर्णानां प्रत्येकं २ विंशतिभेदमीलनात् शतं भेदा वर्णपुद्गलस्य। अथ गन्धयोर्द्वयोः षट्चत्वारिंशद्भेदाः भवन्ति। तद्यथा-वर्णाः पञ्च, रसाः पञ्च, स्पर्शा अष्टौ, संस्थानानि पञ्च। एवं सर्वे त्रयोविंशतिसंख्याकाः। ते च सुगन्धदुर्गन्धलक्षणयोर्द्वाभ्यां त्रयोविंशतिमीलिताः। एतयोर्मीलने षट्चत्वारिंशद्भवन्ति। अथ रसपुद्गलानां शतं भेदा भवन्ति। तद्यथा-वर्णाः पञ्च, गन्धौ द्वौ, स्पर्शा अष्टौ, संस्थानानि पञ्च। एवं विंशतिर्भेदाः। प्रत्येकं २ तिक्तकटुकषायाम्लमधुरादिपञ्चभिर्मिलिताः सन्तः शतं भेदा भवन्ति। अथ स्पर्शभेदाः षट्त्रिंशदधिकशतम्। तद्यथा-वर्णाः पञ्च, गन्धौ द्वौ, रसाः पञ्च, संस्थानानि पञ्च। एवं सप्तदश भेदाः। ते च खरमृदुगुरुलघुस्निग्धरूक्षशीतोष्णपुद्गलैरष्टाभिर्गुणिताः षट्त्रिंशदधिकं शतं भेदा भवन्ति। प्रज्ञापनायां स्पर्शपुद्गलानां चतुरशीत्यधिकशतं भेदा इत्थं सन्ति। तद्यथा-वर्णाः पञ्च, रसाः पञ्च, गन्धौ द्वौ, स्पर्शाः षट्, एवं गृह्यन्ते। यतो हि यत्र खरस्पर्शः पुद्गलो लभ्यते, तत्र तदा मृदुः पुद्गलो न लभ्यते। यत्र स्निग्धो लभ्यते, तदा तत्र रूक्षो न लभ्यते। परस्परविरोधिनौ हि एकत्र न तिष्ठतः, तस्मात् स्पर्शाः षट्, संस्थानानि पञ्च, एवं सर्वे मिलितास्त्रयोविंशतिर्भवन्ति। ते त्रयोविंशतिभेदाः प्रत्येकं खरमृदुगुरुलघुस्निग्धरूक्षशीतोष्णाद्यष्टाभिः पुद्गलैर्गुणिताः चतुरशीत्यधिकशतं भेदा भवन्ति। वीतरागोक्तं वचः प्रमाणम्, येन यादृशं ज्ञातं तेन तादृशं व्याख्यातम्, तत्त्वं केवली वेद।

अथोपसंहारेणोत्तरग्रन्थसम्बन्धमाह—

एसा अजीवविभत्ती, समासेण वियाहिया ।

एषाऽजीवविभक्तिः समासेन संक्षेपेण व्याख्याता। उत्त० ३६ अ०। उत्त० ठाण० ठा०। प्रज्ञा०। जी०। भ०। आ० चू०। नं०। सूत्र०। दशै०। स्था०। ("अत्थि जीवा अजीवा वा, णेवं सन्नं निवेसए" सूत्र०।) ('अस्तिवाद' शब्दे व्याख्यास्यामः)

अजीवआणवणिया-अजीवाज्ञापनिका-स्त्री०। आज्ञापनिका-नयः कर्मबन्धोऽस्यामाज्ञापनिकायाम्। अजीवविषयाऽऽज्ञापनिका अजीवाज्ञापनिका। 'अजीवमाणवयत' इत्यादिरूपया आज्ञापनिकया क्रियाया भेदे, स्था० २ ठा० १ उ०।

अजीवाणवणी-स्त्री०। अजीवविषया आनयनी, "अजीवमाण-यनम्। आनयनरूपायाः क्रियाया भेदे, स्था० २ ठा० १ उ०।

अजीवआरंभिया-अजीवारम्भिका-स्त्री०। या अजीवान् जीवकलेवराणि पिष्टादिमयजीवाकृतींश्च वस्त्रादीन् वा आरभमाणस्य सा अजीवारम्भिका। आरम्भिक्याः क्रियाया भेदे, स्था० २ ठा० १ उ०।

अजीवकाय-अजीवकाय-पुं०। अजीवाश्च ते कायाश्च प्रदेशराशयोऽजीवकायाः। जीवविरहितेषु धर्माधर्माकाशपुद्गलेषु, भ० ७ श० १० उ०।

अजीवकायआरंभ-अजीवकायारम्भ-पुं०। पुस्तकादि-अजीवकायानां महामूल्यवस्त्रपात्रादीनामुपमर्दने, स्था० ७ ठा०।

अजीवकायअसमारंभ-अजीवकायासमारम्भ-पुं०। पुस्तकादीनामजीवानां [illegible] परिहारे, स्था० ७ ठा०।

अजीवकायआरंभ-अजीवकायारम्भ-पुं०। पुस्तकादीनां [illegible] उपमर्दने, स्था० ७ ठा०।

अजीवकायसंजम-अजीवकायसंयम-पुं०। पुस्तकादिरूपाजीवकायानां [illegible], स्था० ७ ठा०। [illegible]

अजीवकिरिया-अजीवक्रिया-स्त्री०। अजीवस्य पुद्गलसमुदायस्य यत्कर्मतया परिणमनं सा अजीवक्रिया। "अजीवकिरिया दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-इरियावहिया चेव, संपराइया चेव" स्था० २ ठा० १ उ०।

अजीवणिस्सिय-अजीवनिःसृत-त्रि०। [illegible]

अजीवणिस्सिय-त्रि०। अजीवेभ्यो निर्गते, स्था० ७ ठा०।

अजीवदव्वविभत्ति-अजीवद्रव्यविभक्ति-स्त्री०। [illegible]

अजीवदिट्ठिया-अजीवदृष्टिका-स्त्री०। [illegible] स्था० २ ठा० १ उ०।

अजीवदेस-अजीवदेश-पुं०। [illegible] १६ श० ८ उ०।

अजीवपएस-अजीवप्रदेश-पुं०। [illegible]

अजीवपज्जव-अजीवपर्यव-पुं०। [illegible]

अजीवपज्जवा णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-रूविअजीवपज्जवा य अरूविअजीवपज्जवा य। अरूविअजीवपज्जवा णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! दसविहा पण्णत्ता। तं जहा-धम्मत्थिकाए, धम्मत्थिकायस्स देसे, धम्मत्थिकायस्स पदेसा। अधम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकायस्स देसे, अधम्मत्थिकायस्स पदेसा। आगासत्थिकाए, आगासत्थिकायस्स देसे, आगासत्थिकायस्स पदेसा। अद्धासमए। रूविअजीवपज्जवा णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता ? गोयमा ! चउव्विहा पण्णत्ता। तं जहा-खंधा, खंधदेसा, खंधपदेसा, परमाणुपोग्गला, ते णं भंते ! किं संखेज्जा, असंखेज्जा,

प्रतिपित्सुर्योगनिरोधार्थमुपक्रमते । तत्र पूर्वं बादरकाययोगेन बादरमनोयोगं निरुणद्धि, ततो वाग्योगम् । ततः सूक्ष्मकाययोगेन बादरकाययोगं, तेनैव सूक्ष्ममनोयोगं सूक्ष्मवाग्योगं च । सूक्ष्मकाययोगं तु सूक्ष्मक्रियमनिवर्त्ति शुक्लध्यानं ध्यायन् स्वावष्टम्भेनैव निरुणद्धि , अन्यस्यावष्टम्भनीयस्य योगान्तरस्य तदाऽसत्त्वात् । तद्ध्यानसामर्थ्याच्च वदनोदरादिविवरपूरणेन संकुचितदेहत्रिभागवर्तिप्रदेशो भवति । तदनन्तरं समुत्सन्नक्रियमप्रतिपाति शुक्लध्यानं ध्यायन् मध्यमप्रतिपत्त्या ह्रस्वपञ्चाक्षरोद्गिरणमात्रकालं शैलेशीकरणं प्रविशति । कर्म० २ कर्म० ।

अजोगिकेवलि (ण्)–अयोगिकेवलिन्–पुं० । अयोगी चाऽसौ केवली च अयोगिकेवली । निरुद्धमनःप्रभृतियोगे शैलेशीगते, स० १४ सम० । विगतक्रियानिवर्त्ति शुक्लध्यानं ध्यातवांश्चायोगिकेवली निःशेषितमलकलङ्कोऽवाप्तशुद्धनिजस्वभाव ऊर्ध्वगतिपरिणामः स्वाभाव्यादविघातप्रदेशप्रदीप्तशिखावदूर्ध्वं गच्छत्येकसमयेनाऽऽलोकान्तात् । सम्म० ५ खं० । कर्म० । अयं च शैलेशीकरणं चरमसमयानन्तरमुच्छिन्नचतुर्विधकर्मबन्धनत्वादेरण्डफलवत् मृत्तिकालेपलिप्ताधोनिमग्नक्रमापनीतमृत्तिकालेपजलतलमर्यादोर्ध्वगामि तथाविधाऽलाबुवदूर्ध्वं लोकान्ते गच्छति, नापरतोऽपि, मत्स्यस्य जलकल्पं गत्युपष्टम्भकधर्मास्तिकायाभावात् । स चोर्ध्वं गच्छन् ऋजुश्रेण्या यावत् स्वाकाशप्रदेशेष्ववगाढस्तावदेव प्रदेशानूर्ध्वमवगाहमानो विवक्षितसमयाच्च समयान्तरमसंस्पृशन् गच्छति । तदुक्तमावश्यकचूर्णौ-"जत्तिए जीवो अवगाढो तावइयाए ओगाहणाए उड्ढं उज्जुगं गच्छइ न वंकं बियं च समयं न फुसइ त्ति" । दुःषमान्धकारनिमग्नजिनप्रवचनप्रदीपप्रतिमाः श्रीजिनभद्रगणिपूज्या अप्याहुः-"उज्जुसेढीपडिवन्नो, समये समयंतरं अफुसमाणो । एगसमएण सिज्झइ, अह सागारोवउत्तो सो" ॥ १ ॥ कर्म० २ कर्म० । प्रव० ।

अजोगिकेवलिगुणट्ठाण–अयोगिकेवलिगुणस्थान–न० । ६ त० । चतुर्दशे गुणस्थाने, कर्म० १ कर्म० । न योगी अयोगी, अयोगी चासौ केवली च अयोगिकेवली । तस्य गुणस्थानमयोगिकेवलिगुणस्थानम् , तस्मिंश्च वर्तमानः कर्मक्षपणाय व्युपरतक्रियमनिवृत्ति ध्यानमारोहति । आह च- " स ततो देहत्रयमोक्षार्थमनिवृत्त्यर्थवस्तुगतम् । उपयाति समुच्छिन्नक्रियमनमस्कं परं ध्यानम् ॥ १ ॥ एवमसावयोगिकेवली स्थितिघातादिरहितो यान्युदयवन्ति कर्माणि तानि स्थितिक्षयेणानुभवन् क्षपयति । यानि पुनरुदयवन्ति तदानीं न संभवन्ति तानि वेद्यमानासु प्रकृतिषु स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयन् वेद्यमानप्रकृतिरूपतया वा वेदयमानस्तावद् याति यावदयोग्यवस्थाद्विचरमसमयः , तस्मिंश्च द्विचरमसमये देवगतिदेवानुपूर्वीशरीरपञ्चकबन्धनपञ्चकसंघातनपञ्चकसंस्थानषट्कोपाङ्गत्रयसंहननषट्कवर्णादिविंशतिनिर्माणोपघातागुरुलघुप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिस्थिराद्युच्छ्वासदुःस्वरापर्याप्तप्रत्येकानादेयायशःकीर्तिनिर्माणनामसद्वेद्यनीचैर्गोत्ररूपाणां [illegible] स्वरूपमस्तित्वं चरमसमये [illegible] । [illegible] स्तिबुकसंक्रमेणोदयवतीषु प्रकृतिषु मध्ये संक्रम्यमाणत्वात् । [illegible] मूलप्रकृत्यभिप्रायेण [illegible] "मूलप्रकृत्यभिप्राय", [illegible] गुणत सत्ताः प्रकृ- [illegible]

शः कीर्तिपर्याप्तबादरत्रसतीर्थकरोच्चैर्गोत्ररूपाणां [illegible] सत्ताव्यवच्छेदः । अन्ये पुनराहुः-मनुष्यानुपूर्व्या द्वि[illegible] व्यवच्छेदः, उदयाभावात् । उदयवतीनां हि स्तिबु[illegible] भावात् स्वस्वरूपेण चरमसमये दलिकं दृश्यत [illegible] स्तासां चरमसमये सत्ताव्यवच्छेदः । आनुपूर्वीनाम्नां [illegible] र्णामपि क्षेत्रविपाकतया भवापान्तरालगतावेवोदय[illegible] वस्थस्य तदुदयसंभवः, तदसंभवाच्चायोग्यवस्थ [illegible] समये एव, मनुष्यानुपूर्व्याः सत्ताव्यवच्छेद इति तन्मते [illegible] रमसमये त्रिसप्ततिप्रकृतीनां सत्ताव्यवच्छेदः, [illegible] शानामिति । ततोऽनन्तरसमये कोशबन्धमोक्षनरण्ड[illegible] समुत्थस्वतावविशेषादेरण्डफलमिव भगवानपि [illegible] मोक्षप्रकणसहकारिसमुत्थस्वभावविशेषादूर्ध्वं लोकान्ते [illegible] ति । स चोर्ध्वं गच्छन् ऋजुश्रेण्या यावत्स्वाकाशप्रदेशेष्व[illegible] गाढस्तावदेव प्रदेशानूर्ध्वमप्यवगाहमानो विवक्षितसम[illegible] न्यत्समयान्तरमस्पृशन् गच्छति । उक्तं चावश्यकचूर्णौ [illegible] ए जीवो अवगाढो तावइयाए ओगाहणाए उड्ढं उज्जुगं [illegible] न वंकं बीयं च समयं न फुसइ त्ति " तत्र च गतः सन् [illegible] शाश्वतं कालमवतिष्ठते । पं० सं० १ द्वा० ।

अजोगिभवत्थ–अयोगिभवस्थ–पुं० । अयोगी चासौ [illegible] श्चायोगिभवस्थः । शैलेश्यवस्थामुपगते, नं० ।

अजोगिभवत्थकेवलणाण–अयोगिभवस्थकेवलज्ञान–[illegible] त० । शैलेशीकरणव्यवस्थितस्य केवलज्ञाने, नं० । (केवल[illegible] शब्दे व्याख्याऽस्य द्रष्टव्या)

अजोगिसंतिगा–अयोगिसत्ताका–स्त्री० । अयोगिकेवलि[illegible] सत्ता यासां ता अयोगिसत्ताकाः । चतुर्दशगुणस्थानेऽव[illegible] सत्ताकासु प्रकृतिषु, पं० सं० १ द्वा० ।

अजोग्ग–अयोग्य–त्रि० । अनुचिते, पञ्चा० १० विव० ।

अजोणिज्जूय–अयोनिजूत–न० । विध्वस्तयोनौ प्ररोह[illegible] दश० ।

अजोणिय–अयोनिक–पुं० । न० ब० । सिद्धे, स्था० २ ठा० [illegible]

अजोसिय–अजुष्ट–त्रि० । असेविते, "जे विण्णवणा अजो[illegible] सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अज्ज–अर्ज–धा० प्रतियत्ने । भ्वादि०, पर०, सक०, सेट् "[illegible] विढवः " ८ । ४ । १०८ । इति प्राकृतसूत्रेण विढवादेश[illegible] अज्जइ , अर्जति । आनर्ज । आर्जीत । प्रा० । अर्जिता[illegible] र्ज्यते । प्रा० । अर्ज संस्कारे, चुरा०, उभ०, सक०, सेट् । अर्ज[illegible] ति–ते । आर्जिजत्–त । " अनुपघ्नन् पितृद्रव्यं, श्रमेण य[illegible] र्जयेत्" स्मृतिः । वाच० ।

अज्ज–त्रि० । न० त० । " ज्ञो ञः " ८ । २ । ८३ । इति [illegible] ज्ञिणं जस्य । ज्ञानरहिते मूर्खे, प्रा० ।

अज्ज–अद्य–अव्य० । अस्मिन्नहनि इदंशब्दस्य निपातः [illegible] उत्त० ३ अ० । सूत्र० । वर्तमानदिने, नि० चू० ११ उ० । "अज्ज[illegible] उज्जमह सफलं जीअं" प्रा० । अद्यतया वाऽधुनातनतया [illegible] काल इत्यर्थः । भ० १४ श० ९ उ० । वैताढ्यपर्वत[illegible] इन्द्रे, पुं० । भ० २ श० ५ उ० ।

निचुमनृक्षे, तस्य जलप्रायजनत्वात् तथात्वम् । चन्द्रे, धन्वन्तरौ च (पुं०) तयोः समुद्रजातत्वात् तथात्वम् । चन्दनामके कर्पूरे, पुं० । जलजातमात्रे, (त्रि०) वाच० । दशार्बुदसंख्यायां, शतको-टिसंख्यायां, तत्संख्येये च (न०,) कल्प० ।

अर्य-त्रि० । ऋ-यत् । "अर्यः स्वामिवैश्ययोः" ३। १। १०३। इति पाणिनिसूत्रात् स्वामिनि वैश्ये च वाच्ये यतोऽपवादो यत् । स्वामिनि, भ०३ श० २ उ० ।

आर्य-त्रि०। आराद् सर्वहेयधर्मेभ्यो यातः प्राप्तो गुणैरित्यार्यः। प्रज्ञा० १पद । नं०। आव० । पापकर्मबहिर्भूतत्वेनापापे, स्था० ४ ठा०२ उ०। नं०। साधौ, कल्प०। वृ०। "अणायरियमज्जाणं, आस-इसु सइसु वा " दश० ६अ० । चारित्राढ्ये, आचा०१ श्रु०५ अ०२ उ०। आर्यकर्मकारिणि अजुगुप्सितकारिणि, स्थ०१उ०। सुजने, सू०१उ०। आमन्त्रणे आर्यशब्दप्रयोगः "अज्जो! सामाइयं जाणा-ओ"हे आर्य !, ओकारान्तता सम्बोधने प्राकृतत्वात्। भ०१श० ९ उ० । "एस णं अज्जो कण्हे वासुदेवे" अज्जो त्ति आमन्त्रण-वचनम् । भगवान् महावीरः किल साधूनामन्त्रयति-हे आर्याः !, स्था० ६ठा०। "अज्जो ति समणे भगवं महावीरे गोयमाइसम-णे निग्गंथे आमंतित्ता एवं वयासी "। स्था० ३ ठा० २ उ० । पितामहे , नि० । पितामहे , आ० ८ अ० । गोतमप्र-भृतिभेदे, पुं० । यद्गोत्रे जीतधरः, " वंदे संडिल्ल अ-ज्जजीयधरं " शाण्डिल्यस्यापि शिष्य आर्यगोत्रो जीतधरना-मा सूरिरासीत् । नं० ।

अज्जइसिवालिय-आर्यर्षिपालित-पुं० स्त्री०। आर्यशान्तिश्रेणि-कस्य माठरसगोत्रस्य चतुर्थे यथापत्ये अन्तेवासिनि, कल्प०। आ-र्यर्षिपालितान्निःसृतायां शाखायाम्, स्त्री०। "थेरेहिंतो अज्जइसि-वालिएहिंतो इत्थ णं अज्जइसिवालिया साहा णिग्गया"। कल्प०।

अज्जउत्त-आर्यपुत्र-पुं० । ६ त० । अपापकर्मवतोर्मातापित्रोः पुत्रे, ... ८ ठा० ।

अज्जउड्डा-देशी- सुरसगुरेदयोस्तृणनेदयोः, दे० ना० १ वर्ग।

अज्जकण्ह-आर्यकृष्ण-पुं०। दिगम्बरमतप्रवर्तकस्य शिवभूतेर्गु-रौ, ... द्वि० । उत्त० । विशे० । आ० चू० । ('बोडिय ' शब्दे ... विशेषं वक्ष्यामः)

अज्जकम्म-आर्यकर्मन्-न०। आर्यं हेयधर्मेभ्यो नृशंसतादिभ्यो ... शिष्टजनोचिते अनुष्ठाने, " जइ तंसि भोए चइउं ... कम्माइं करेह रायं" उत्त० १३ अ० ।

अज्जकालग-आर्यकालक-पुं०। स्वातिशिष्ये हारीतगोत्रे श्या-... माचार्ये, नं० । ('सम्मवाय' शब्देऽस्य वक्त-...) आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

अज्जखउड-आर्यखपुट-पुं० । विद्यासिद्धे आचार्यभेदे, आ० चू० । ('विज्जासिद्ध' शब्देऽस्य वक्तव्यता) ... पुं०। पितामहे, स्थ० १ उ० । हा० । आ० म० ... "... ए या वि वप्पवुड्ढ पिउ त्ति य। माउला भा-... त्ति पइत्तिय " ॥ १ ॥ दश० ७ अ० । ... अयाए य बहुहिरण्णे य सुवण्णे य ', ... । नि० चू० ११ उ० ।

अज्जगंग-आर्यगङ्ग-पुं०। द्वैक्रियनिह्नवमतप्रवर्तके निह्नवाऽऽचार्य-भेदे, "उल्लुकातीरक्षेत्रे महागिरिशिष्यो धनगुप्तो नाम । अस्यापि शिष्य आर्यगङ्गो नामाऽऽचार्यः । अयं च नद्याः पूर्वतटे, तदा-ऽऽचार्यास्त्वपरतटे । ततोऽन्यदा शरत्समये सूरिवन्दनार्थं गच्छन् गङ्गानदीमुत्तरति स्म । स च खल्वाटः । ततस्तस्योप-रिष्टादुष्णेन दह्यते स्म स्थली, अधस्तात्तु नद्याः शीतजलेन शैत्यमुत्पद्यते स्म । ततोऽत्रान्तरे कथमपि मिथ्यात्वमोहनीयोद-यादसौ चिन्तितवान्-अहो! सिद्धान्ते युगपत्क्रियाद्वयानुभवः किल निषिद्धः । अहं त्वेकस्मिन्नेव समये शैत्यमौष्ण्यं च वे-द्मि । अतोऽनुभवविरुद्धत्वान्नेदमागमोक्तं शोभनमाभातीति वि-चिन्त्य गुरुभ्यो निवेदयामास । ततस्तैर्वक्ष्यमाणयुक्तिभिः प्रज्ञा-पितोऽसौ यदा स्वाग्रहग्रस्तबुद्धित्वान्न किञ्चित्प्रतिपद्यते स्म, तदा उद्घाट्य बाह्यः कृतः। स विहरन् राजगृहनगरमागतः । तत्र च महातपस्तीरप्रभवनाम्नि प्रस्रवणे मणिनागनाम्नो नागस्य चैत्यमस्ति । तत्समीपे च स्थितो गङ्गः पर्षत्पुरःसरं युगपत्क्रि-याद्वयवेदनं प्ररूपयति स्म । तच्च श्रुत्वा प्रकुपितो मणिनागस्तम-वादीत्--अरे दुष्ट शिष्यक ! किमेवं प्रज्ञापयसि, यतोऽत्रैव प्रदे-शे समवसृतेन श्रीमद्वर्द्धमानस्वामिना एकस्मिन् समये एकस्या एव क्रियाया वेदनं प्ररूपितम्, मयेह स्थितेन मयाऽपि श्रुतम्। तत् किं ततोऽपि लष्टतरः प्ररूपको भवान् येनैवं युगपत्क्रियाद्वयवेदनं प्ररूपयसि ?; तत्परित्यजैनां कूटप्ररूपणाम्; अन्यथा नाशयिष्या-मीत्यादि । ततस्तद्वचनयुक्तियुक्तिवचनैश्च प्रबुद्धोऽसौ । मिथ्यादुष्कृतं दत्त्वा गुरुमूलं गत्वा प्रतिक्रान्त इति । अत्र भाष्यम्—"अट्ठावीसा दो वाससया, तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स। दो किरियाणं दिट्ठी, उल्लुगतीरे समुप्पन्ना ॥१॥ (म) नइखेडजणव उल्लुग, महगिरि धणगुत्त अज्जगंगे य। किरिया दो रायगिहे, महातवो तीर मणिनाए ॥२॥" गतार्थैव । विशे० । ('दोकिरिय' शब्दे वक्ष्यते)

अज्जघोस-आर्यघोष-पुं०। पार्श्वनाथस्य द्वितीये गणधरे, स्था० ८ ठा० । कल्प० ।

अज्जचंदणा-आर्यचन्दना-स्त्री०। भगवतो महावीरस्य प्रथम-शिष्यायाम् , कल्प० । आ० चू० । आ० म० प्र० । अन्त० ।

तद्वक्तव्यता चैवम्—

" इतश्च नगरी चम्पा तत्रेन्द्रो दधिवाहनः ।
शतानीको, नौसैन्येन स्म गच्छति ॥ २४ ॥
निशैकया गतश्चम्पा-मवेष्टयद्दधिविक्रमः ।
...
... स्वेच्छया मुमुचुस्ततः ॥ २६ ॥
औष्ट्रिकः कोऽपि जग्राह, दधिवाहनवल्लभाम् ।
वसुमत्या समं पुत्र्या, नश्यन्तीं धारिणीं तदा ॥ २७ ॥
कृतकृत्यः शतानीको, निजं नगरमागमत् ।
औष्ट्रिकोऽप्याह लोकानां, पत्नीयं मे भविष्यति ॥ २८ ॥
विक्रेष्ये कन्यकां चैनां, राज्ञी श्रुत्वेति दुःखिता ।
मृता हृदयसंघट्टात्, स्वशीलभयभीरुता ॥ २९ ॥
दधिवाहनौष्ट्रिकोऽथा-स्तपुंसः कोपमिदं मया ।
सुताऽस्य वसती तेन, भीता संबोध्य चाटुभिः ॥ ३० ॥
चतुष्पथेऽथ विक्रेतुं, दत्त्वा मूर्ध्नि तृणं तृणम् ।
कन्यामनन्यसामान्यां, दृष्ट्वा श्रेष्ठी धनावहः ॥ ३१ ॥
दध्यौ यदेषा सुता कस्या-पीश्वरस्यापदा गता ।

[illegible]समर्मा, क्वापि हीनकुलं गता ॥ ३२ ॥
[illegible] मिलितस्तद्गृहे स्थिता ।
[illegible], दत्त्वा तान्प्रहर्षितः ॥ ३३ ॥
[illegible] पृष्टा, कन्ये ! काऽसीति नावदत् ।
[illegible] मा, श्रेष्ठिना मुक्ताऽपि च ॥ ३४ ॥
[illegible] श्रेष्ठिनोऽह स्वं चन्दनेव सा ।
[illegible]मोक्षे यशीकृतः ॥ ३५ ॥
[illegible] तैर्गुणैश्चन्दनेत्यसौ ।
[illegible] ॥ ३६ ॥
[illegible], श्रेष्ठी मन्दिरमागमत् ।
[illegible], तदाऽदर्शिप चन्दना ॥ ३७ ॥
[illegible] पट्टे ।
[illegible] केशपक्षरी ॥ ३८ ॥
[illegible], कृतः श्रेष्ठी बचन्ध नाम ।
[illegible] गयकृता ॥ ३९ ॥
[illegible] ॥ ४० ॥
[illegible] ॥ ४१ ॥
[illegible] ॥ ४२ ॥
[illegible] ॥ ४३ ॥
[illegible] ॥ ४४ ॥
[illegible] ॥ ४५ ॥
[illegible] ॥ ४६ ॥
[illegible]

चेलोत्क्षेपः पुष्पगन्ध-वृष्टयो दुन्दुभिध्वनिः ॥४॥
केशपाशस्तथैवाभू-न्निगडानि च पादयोः ।
स्वर्णनूपुरतां भेजु-र्वपुःकान्तिर्नवाऽभवत् ॥८॥
तत्क्षणाचन्दना चक्रे, सुरैः सर्वाङ्गभूषिता ।
आययौ देवराट् शक्रः, प्रमोदभरनिर्भरः ॥४॥
दुन्दुभिध्वनिमाकर्ण्य, ज्ञात्वा पारणकं प्रभोः ।
शतानीकः सपत्नीको-ऽप्यागमद्धनवेश्मनि ॥५॥
धात्र्यानीतः संपुलोऽभूद्, दधिवाहनकञ्चुकी ।
सोऽप्यागात् तत्र तां वीक्ष्य, तत्पदयोः [illegible] ॥६॥
मुक्तकण्ठं रुदन् सोऽथ, कैवल्यप्राप्तेषु भूभुजा ।
सोऽवक् चम्पेशपुत्रीयं, वसुमत्यभिधानतः ॥११॥
तादृश्यपि कथं प्रेष्य-भावं प्राप्नोति रोदिमि ।
मृगावती तदाकर्ण्या-ब्रवीन्मेऽसौ स्वसुः सुता ॥११॥
अमात्योऽपि सपत्नीक-स्तत्रैत्यावन्दत प्रभुम् ।
पञ्चाहन्यूनषण्मास्याः, कृत्वा पारणकं प्रभुः ॥१४॥
निर्ययौ कनकं गृह्णन्, भूपः शक्रेण वारितः ।
यस्मै दास्यत्यसौ स्वर्ण-मेतमस्य भविष्यति ॥१२॥
सा पृष्टा मत्पितुः स्वर्णं, ततः श्रेष्ठी तदाददे ।
शक्रेणाऽभाणि राजाऽथ, स गोप्या चन्दना त्वया ॥१॥
आद्यामिह ज्ञानमेषा यत्, शिष्याऽऽद्या भाविनी प्रभोः ।
चन्दनाऽस्थात्कुहे राज्ञः, शक्राद्याः स्वाश्रयं ययुः ॥१॥
लोकनिन्द्याऽनर्थमूला, स्तुता चन्दनया पुनः ।
दुर्दशेयं न चेन्मे स्यात्, कथं स्यात्पारणा प्रभोः ॥१८॥
धन्याऽहं कृतपुण्याऽहं, पारणाकारणात् प्रभोः ।
बभूव दुर्दशाऽपीयं, मम सर्वोत्तमा दशा ॥११॥ [illegible]
कथा० । अनयैव काली-(अन्त० ८ वर्ग) [illegible]
ज्ञिताः । भ० ९ श० ३३ उ० । उपासके, दशा० [illegible]

अज्जजंबू-आर्यजम्बू-पुं० । सुधर्मस्वामिन शिष्ये, "[illegible] इमम अंतेवासी अज्जजंबू जाव पज्जुवासमाणे" [illegible]

अज्जणक्खित्ती-आर्यनक्षित्री-स्त्री० । [illegible] व्यापाम, कल्प० ।

अज्जनयंत-आर्यनयन्त-पुं० । [illegible] ध्ये, कल्प० ।

अज्जनयंती-आर्यनयन्ती-स्त्री० । [illegible] मायां शाखायाम्, "थेरेहिंतो [illegible] ज्जनयन्ती साहा निग्गया" कल्प० । [illegible] शाखायां च । "[illegible]" निग्गया" । कल्प० ।

अज्जजीयधर(इ)र-आर्यजीतधर-पुं० [illegible]

[illegible]

कल्प० । आयसङ्गमे, स्वामिनःसंबन्धे स्वाम्यभेदे च । वाच० ।

अज्जणाइल-आर्यनागिल-पुं० आर्यवज्रस्य शिष्ये, कल्प० ।

अज्जणंदिल-आर्यनन्दिल-पुं० आर्यमङ्गोः शिष्ये आर्यनागहस्तिसूरौ,

भाणांमि दंसणंमि य, तवविणयणिच्चकालमुज्जुत्तं ।
अज्जाणंदिलखमणं, सिरसा वंदे पसन्नमणं ॥

आर्यमङ्गुं पति शिष्यमार्यनन्दिलक्षपणं प्रसन्नमनसं शिरसा वन्दे । कथंभूतमित्याह-ज्ञाने श्रुतज्ञाने, दर्शने, तपसि विनये च, तथा तदपि यथायोग्यमुज्ज्वलं, नित्यं ज्ञानदर्शनादिषु, नित्यकालमुद्युक्तमप्रमादिनम् । नं० । आर्यनन्दिलक्षपणेन वैरोट्यदेव्या नमस्काराय 'नमिऊण जिण' इत्यादि स्तोत्रं कृतम् । जै० इ० ।

अज्जणाइल-आर्यनागिल-पुं० । आर्यवज्रसेनस्य प्रथमेऽन्तेवासिनि, कल्प० ।

अज्जणाइला-आर्यनागिला-स्त्री० आर्यनागिलात्स्थविरान्निर्गतायां शाखायाम्, "थेराओ अज्जणाइलाओ अज्जणाइला सा-हा निग्गया" कल्प० ।

अज्जणाइली-आर्यनागिली-स्त्री० । आर्यवज्रसेनान्निर्गतायां शाखायाम्, "थेरेहिंतो अज्जवइरसेणिएहिंतो इत्थ णं अज्ज-णाइला साहा निग्गया" कल्प० ।

अज्जणिज्जा-अर्जयित्वा-अव्य० उपार्ज्येत्यर्थे, "धणं दुक्खं अघमज्जणिया, वेद्दंति दुक्खी तमणंतदुक्खं" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

अज्जतावस-आर्यतापस-पुं० । आर्यवज्रसेनस्य चतुर्थेऽन्तेवासिनि, कल्प० ।

अज्जतावसी-आर्यतापसी-स्त्री० । आर्यतापसाद्विनिर्गतायां शाखायाम्, "थेराओ अज्जतावसाओ अज्जतावसी साहा नि-ग्गया" कल्प० ।

अज्जता-आद्यता-स्त्री० । वर्तमानकालतायाम्, "अज्जता-लिया अज्जत्ता वा" कल्प० ।

आर्यता-स्त्री० । पापकर्मबहिर्भूततायाम्, "जे इमे अज्जत्ताए समणा निग्गंथा विहरंति" भग० ९ श० । कल्प० । भ० ।

अज्जदिण्णभद्द-आर्यदत्तभद्र-पुं० । आर्यसंभूतविजयस्य शिष्ये महागिरिसुहस्तिसूरौ, कल्प० । आव० ।

अज्जदिण्ण-आर्यदत्त-पुं० । पार्श्वनाथस्य प्रथमगणधरे, स० । "पासस्स अज्जदिण्णो पढमो अहेय गणहरो" ति० । इन्द्र-दत्तस्य काश्यपगोत्रस्य शिष्ये च । तस्य शान्तिश्रेणिकः सिंह-गिरिश्च । कल्प० ।

अज्जद्दय-आर्यार्द्रक-पुं० आर्यार्द्रकनाम्नि वीरशिष्ये, ('अद्दय' शब्दे कथा वाच्या) सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

अज्जधम्म-आर्यधर्म-पुं० । आर्यमङ्गोः शिष्ये भद्रगुप्तगुरौ, "वं-दामि अज्जधम्मं, तत्तो वंदे य भद्दगुत्तं च" । न० । आर्यसिंहस्य शिष्ये आर्यशाण्डिल्यस्य गुरौ, कल्प० ।

अज्जपउम-आर्यपद्म-पुं० । आर्यवज्रस्य शिष्ये द्वितीये, कल्प० ।

अज्जपउमा-आर्यपद्मा-स्त्री० । आर्यपद्माद्विनिर्गतायां शा-खायाम्, "थेरेहिंतो अज्जपउमेहिंतो इत्थ णं अज्जपउमा साहा निग्गया" कल्प० ।

अज्जपुंगव-आर्यपुङ्गव-पुं० । वैशेषिकपरिभाषितेषु बाह्यार्थानाम् ऐकस्वरूपाख्येषु पदेषु, अने० ४ अधि० ।

अज्जपूसगिरि-आर्यपुष्यगिरि-पुं० आर्यरथस्य शिष्ये, कल्प० ।

अज्जपोमिल-आर्यपोमिल-पुं० । आर्यवज्रसेनस्य द्वितीये शि-ष्ये, कल्प० ।

अज्जपोमिला-आर्यपोमिला-स्त्री० । आर्यपोमिलान्निर्गतायां शाखायाम्, "थेराओ अज्जपोमिलाओ अज्जपोमिला साहा नि-ग्गया" कल्प० ।

अज्जप्पभव-आर्यप्रभव-पुं० । आर्यजम्बूनाम्नः काश्यपगोत्र-स्य शिष्ये, कल्प० । ('पभव' शब्दे वक्तव्यता वाच्या)

अज्जप्पभिइ-अद्यप्रभृति-अव्य० । इतो वर्तमानदिनादार-भ्येत्यर्थे, "णो खलु भंते ! कप्पइ, अज्जप्पभिइ अण्णउत्थियं वा" उपा० १ अ० । प्रति० ।

अज्जफग्गुमित्त-आर्यफल्गुमित्र-पुं० । आर्यपुष्यगिरेः शिष्ये आर्यधनगिरेर्गुरौ, कल्प० ।

अज्जम (ण्)-अर्यमन्-पुं० । अर्यं श्रेष्ठं मिमीते । मा-कनिन् । सूर्ये, आदित्यभेदे, पितॄणां राजनि, वाच० । अर्यमनामके देव-विशेषे, जं० ७ वक्ष० । अनु० । उत्तरफाल्गुनीनक्षत्रस्यार्यमा दे-वतेति । ज्यो० ६ पाहु० । अर्यमदेवोपलक्षिते उत्तरफाल्गुनीन-क्षत्रे, ज्यो० १५ पाहु० । च० प्र० । सू० प्र० । गं० । "दो अज्ज-मा" स्था० २ ठा० ३ उ० ।

अज्जमंगु-आर्यमङ्गु-पुं० । आर्यसमुद्रस्य शिष्ये,

भणगं करगं झरगं, पभावगं णाणदंसणगुणाणं ।
वंदामि अज्जमंगुं, सुयसागरपारगं धीरं ॥ ३० ॥

भणगमित्यादि । आर्यसमुद्रस्यापि शिष्यमार्यमङ्गुं वन्दे । किंभू-तमित्याह-भणकं कालिकादिसूत्रार्थमनवरतं भणति प्रतिपाद-यतीति भणः, भण एव भणकः । "कश्च" इति प्राकृतलक्षणसू-त्रात् स्वार्थे कप्रत्ययः, तम् । तथा कारकं कालिकादिसूत्रोक्तमेवो-पधिप्रत्युपेक्षणादिक्रियाकलापं करोति कारयतीति वा कार-कः, तम् । तथा धर्मध्यानं ध्यायतीति ध्याता, तं ध्यातारम् । इह यद्यपि सामान्यतः कारकमितिवचनेन ध्यातारमिति वि-शेषणं गतार्थम्, तथापि तस्य विशेषतोऽभिधानं ध्यानस्य प्रधा-नपरलोकाङ्गताख्यापनार्थमिति । अत एव भणकं कारकं ध्यातारं वा, अत एव प्रभावकम् । ज्ञानदर्शनगुणानाम्, एकग्रहणे तज्जाती-यग्रहणमिति न्यायात् चरणगुणानामपि परिग्रहः । तथा धिया राजते इति धीरः, तम् । तथा श्रुतसागरपारगम् । नं० । "तेन प्र-मोदनातिलोभतो यक्षत्वं गतानाम" ध० र० ।

इह अज्जमंगुसूरी, ससमयपरसमयकणयकसवट्टो ।
बहुभत्तिजुत्तसुस्सू-समिद्धसमुत्तत्थदाणपरो ॥ १ ॥
सद्धम्मदेसणाए, पडिबोहियभवियलोयसंदोहो ।
कइया वि विहरंतो, पत्तो महुराइ नयरीए ॥ २ ॥
सो गारवमायपिसाय-गहियहियओ विमुक्कतवचरणो ।
गारवतिगपडिबद्धो, संवुत्तु ममत्तसंजुत्तो ॥ ३ ॥
अणवरयभत्तजणदि-ज्जमाणरसरमवत्थलोभेण ।
मुत्तो तहिं चिय चिरं, दुलज्झियउज्जयविहारो ॥ ४ ॥

[illegible], निस्सामन्नं पमायमच्चत्ता ।
[illegible] आसी, अज्जो तत्थेव निद्धमणे ॥ ५ ॥
[illegible] निवसांगेणं, पुच्छनयं तो विचिंतए एवं ।
हा हा पवेण मए, पमायमयमत्तचित्तेण ॥ ६ ॥
[illegible], डोगयदइं महानिहाणं व ।
कह वि जिणमयमिणं, कहं नु विहलत्तमुवणीयं ? ॥ ७ ॥
[illegible] अहं पि धम्मसामग्गिं ।
हा हा पमायनडं, एत्तो कत्तो लहिस्सामि ? ॥ ८ ॥
हा जीव ! [illegible] मुहुरिसगारवाण विरसत्तं ।
[illegible], हयासन डु लक्खियं तइया ॥ ९ ॥
[illegible] पमायओ जंति पंतकायसु ।
[illegible] हा हा पावं जीवनतए तया सरियं ॥ १० ॥
धिद्धी [illegible], धिद्धी [illegible] ।
[illegible] ॥ ११ ॥
[illegible] निवं जायपरमनिव्वेओ ।
[illegible], मो मुणिणो [illegible] ॥ १२ ॥
[illegible], विम्हयमीइ पच्छमाणा ते ।
[illegible] ॥ १३ ॥
[illegible] जिमो जीहं ।
[illegible] ॥ १४ ॥
[illegible], अज्जो [illegible] वा वि ।
[illegible] ॥ १५ ॥
[illegible] मो मो तवस्सिणो ! सोऽहं ।
[illegible] ॥ १६ ॥
[illegible] हा गुणनिहाण ! ।
[illegible] अहो ! [illegible] ॥ १७ ॥
[illegible] महामाणा ! ।
[illegible] ॥ १८ ॥
[illegible]
[illegible] ॥ १९ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ २० ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ २१ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ २२ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ २३ ॥
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥ १७ ॥
[illegible]

मूतः, समाधिना शुभलेश्याध्यानयोगेनेति [illegible] । [illegible] धूरूवादः-यथा तेनैतावता श्रुतेनाराधितम्, [illegible] राधनानुष्ठानत आराधका भवन्तीति ।

आणंदअंसुपायं, कासी सिज्जंभवा तहिं थेरा ।
जसभद्दस्स य पुच्छा, कहणा अ वियालणा संघे ? ॥

आनन्दाश्रुपातमहो ! आराधितमनेनेति [illegible] कृतवन्तः, शय्यम्भवा प्राग्व्यावर्णितस्वरूपाः तत्र [illegible] गते स्थविराः श्रुतपर्यायवृद्धाः प्रवचनगुरवः । [illegible] नमिति । यशोभद्रस्य च [illegible] गुरो-हीनेन किमेतदाश्चर्यमिति [illegible] किमेतदकृतपूर्वमित्येवंभूता । कथना च भगवता-[illegible] श्रः सुनो ममायमित्येवंरूपा । चशब्दादनुतापश्च [illegible] म-अहो ! गुराविव गुरुपुत्रके वर्तितव्यमिति, [illegible] भिरित्युक्तप्रतिबन्धदोषपरिहारार्थं मया न कथितं, [illegible] दोषो गुरुपरिसंस्थापनं च विचारणा [illegible] ध्यायुषमेनमवेत्य मयेदं शास्त्रं निर्यूढं किमत्र युक्तमिति [illegible] विचारणासङ्घे कालहासदोषात् प्रभूतसत्त्वानामिदं [illegible] मतस्तिष्ठत्वेतदित्येवंभूता स्थापना चेति गाथार्थः ।

अज्जमहागिरि-आर्यमहागिरि-पुं० । आर्यस्थूलभद्रस्य [illegible] पत्यसगोत्रे शिष्ये, मं० । अयञ्च जिनकल्पिकातुल्य [illegible] अपिण्डोपभोजिन आर्यसुहस्तिनः स्वगुरुशिष्यात् [illegible] संभोगमुत्पाद्य पृथग्गच्छं कृत्वा विजहार । [illegible] पृथक्त्वमासीत् । ('संभोग' शब्दे चैतद् वक्ष्यते)

अज्जरक्ख-आर्यरक्ष-पुं० । आर्यवज्रस्य शिष्ये, "थेरस्स अज्जवइरस्स कासवगुत्तस्स अज्जरक्खे थेरे [illegible] गोत्ते" अयं रक्षितार्याद् भिन्नोऽस्ति [illegible] टीकाकृतो विप्रतिपत्तयः-' थेर [illegible] किरणावलीकारस्य बहुश्रुतप्रसिद्धि [illegible] यतो येन श्रीसोमतिलकाचार्यशिष्या [illegible] साधिकसप्तपूर्वा माथा च श्रीश्री आर्यरक्षिताभिधाः [illegible] श्रीवज्रस्वामिनः शिष्यप्रशिष्यादिगणनया [illegible] नाम्ना आर्यरक्षा इत्येवमतोऽयं [illegible] विस्मृत्य [illegible] आर्यरक्षिता [illegible]

अज्जरक्खिय-आर्यरक्षित-पुं० । सोमदेवद्विजस्य [illegible] आर्यायाः [illegible] तोसलिपुत्राचार्यशिष्ये [illegible] सार्धनवपूर्वे [illegible], " [illegible] " ॥१॥ [illegible] । तद्वृत्तान्तश्चैवम्-

" [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥
[illegible]
([illegible])
[illegible]
[illegible] ॥

चतुर्दशापि तत्रासौ, विद्यास्थानान्यधीतवान् ।
अथागच्छद्दशपुरं, राज्ञाऽऽगात्तस्य संमुखम् ॥ ७७ ॥
उत्तम्भितपताकश्च, सत्रोणि प्रापणैः स्तुतः ।
अधिरूढः करिस्कन्धे, प्रविवेशोत्सवेन सः ॥ ७८ ॥
स्वगृहे बाह्यशालायां, स्थितो लोकार्घमग्रहीत् ।
पुरोपमः स्तुतिरिति, न वा कैः कैरपूज्यत ? ॥ ७९ ॥
सुवर्णरत्नवस्त्रादि-स्तद्गृहं प्राभृतैर्भृतम् ।
अथान्तर्भवनं गत्वा, जननीमभ्यवादयत् ॥ ८० ॥
वत्स ! स्वागतमित्युक्त्वा, माध्यस्थ्येन स्थिता प्रसूः ।
सोऽवदत् किं न ते मात- स्तुष्टिर्मद्विद्ययाऽनया ? ॥ ८१ ॥
सावादीद्धत्स ! हिंसाया-ऽधीतं बह्वपि पाप्मने ।
तुष्याम्यहं दृष्टिवादं, पठित्वा चेत्त्वमागमः ॥ ८२ ॥
स दध्यौ तमधीत्वाऽस्यां, तोषये किं ममापरैः ? ।
दृष्टिवादस्य नामापि, नायशब्दादयावहम् ॥ ८३ ॥
अस्य काध्यापका मातः !, साऽऽख्यदिक्षुगृहे निजे ।
सन्ति तोसलिपुत्राख्याः, आचार्याः श्वेतवाससः ॥ ८४ ॥
तं प्रगेऽध्येतुमाप्स्यसे, मातर्मैवाधृतिं कृथाः ।
उपोत्थाय प्रभातेऽपि, नत्वाऽम्बां प्रस्थितः सुधीः ॥ ८५ ॥
रक्षितं द्रष्टुमागच्छन्, ग्रामात्पितृसुहृत्पितुः ।
नवेक्षुयष्टिकाः सार्धाः, बिभ्रत्त्वागात्तदैव ॥ ८६ ॥
पुरस्तं प्रेक्ष्य सोऽप्राक्षीत्, कस्त्वं भोः ! रक्षितोऽस्म्यहम् ।
समालिङ्ग्य सस्नेह-मूचे त्वां द्रष्टुमागमम् ॥ ८७ ॥
सोऽवदद्यास्यहं कार्या-ऽऽयास्यंश्च मद्गृहे पुनः ।
तेन प्रेक्षकादौ मा-मिति मातुर्निवेदयेः ॥ ८८ ॥
स तत्कथितं गत्वा, माता दध्याविदं ततः ।
नव पूर्वाणि सार्धानि, मत्पुत्रोऽध्येष्यते स्फुटम् ॥ ८८ ॥
सोऽपि दध्यौ नवाध्यायान्, शकलं दशमस्य तु ।
अध्येष्ये दृष्टिवादस्य, ज्ञायते शकुनादतः ॥ ९० ॥
ततः सेक्षुगृहे यातो, दध्यौ यामि किमज्ञवत् ? ।
पतङ्गेन केनापि, समं गत्वा नमामि तान् ॥ ९१ ॥
इति यावद् बहिः सोऽस्थात्, तावद्रागाड्डुपाश्रयम् ।
ढड्ढरश्रावको गाढं, व्यधान्नैषेधिकीत्रयम् ॥ ९२ ॥
ईर्यादिकं सर्वं, स चकार स्वरस्वरम् ।
अनुगतस्तस्य तत्सर्वं, मेधावी सोऽपि निर्ममे ॥ ९३ ॥
श्राद्धेनावन्दि तेनेति, ज्ञातो नव्यः स सूरिभिः ।
पृष्टोऽथ भोः ! कुतो धर्मा-ऽऽप्तिस्ते सोऽब्रवीदिति ॥ ९४ ॥
साधुभिः कथितं पूज्याः !, रक्षितः श्राविकासुतः ।
हाः प्रवेशोऽभवद्यस्य, विमर्देन महीयसा ॥ ९५ ॥
आचार्याः साधुरस्माकं, दीक्षयाऽधीयते हि सः ।
परिपाट्या च सोऽप्यादी-दस्त्वेवं नाहमुत्सुकः ॥ ९६ ॥
किं त्वत्र स्थाप्य मे पूज्याः !, प्रव्रज्या यन्नृपादयः ।
बलान्मां मोचयेयुस्तां, यामो देशान्तरं ततः ॥ ९७ ॥
अथाऽऽस्यद्दीक्षितस्तेषां, जनन्या प्रेषितः प्रभो ! ।
युष्माकं संनिधौ दृष्टि-वादमध्येतुमागमम् ॥ ९८ ॥
सोऽदीक्ष्यत तथा कृत्वा, पाठ्याऽसौ शिष्यचौरिका ।
तेनाधिकादशाङ्गानि, पठितान्यचिरादपि ॥ ९९ ॥
दृष्टिवादं गुरोः पार्श्वे, योऽऽनूत्तमपि सोऽपठत् ।
सोऽप्यध्येतु दशपूर्वी, वज्रस्यान्तिकेऽचलत् ॥ १०० ॥
यान्तं तेनान्तराले च, श्रीभद्रगुप्तसूरयः ।
अवन्त्यां वन्दितास्तैः स, धन्य इत्युपबृंहितः ॥ १०१ ॥
तैरुक्तं मम निर्यामो, नास्त्यन्यस्त्वं ततो भव ।

स तत्प्रतिशृणोति स्म, नोल्लङ्घ्यं गुरुशासनम् ॥ १०२ ॥
कालं कुर्वन्निरूचे तैः मां वात्सीर्वज्रसंनिधौ ।
वसेद्यस्तैः सहैकाम-प्युषां तैः सह तन्मृतिः ॥ १०३ ॥
पर्वभिप्रायमस्यस्त-थेति स्वीचकार सः ।
तेषां स्वर्गमने सोऽगात्, श्रीवज्रस्वामिसंनिधौ ॥ १०४ ॥
दृष्टश्च तैरपि स्वप्नः, किंचित् किन्तूद्धृतं पयः ।
सावशेषश्रुतग्राही, तत्प्रतीच्छ समेष्यति ॥ १०५ ॥
इति यावद्विमृष्टं तैः, रक्षितस्तावदागतः ।
पृष्टस्तोसलिपुत्राणां, किं शिष्योऽस्यार्यरक्षितः ॥ १०६ ॥
एवमुक्तेऽवदद्वज्रः, स्वागतं तव वत्स ! किम् ? ।
क स्थितोऽसि बहिः स्वामिन् !, बहिः स्थोऽध्येष्यसे कथम् ? १०७
स ऊचे भगवन् ! भद्र-गुप्ताऽऽदेशाद्बहिः स्थितः ।
वज्रस्वाम्युपयुज्योचे, गुरूक्तं युक्तमाचर ॥ १०८ ॥
ततोऽध्येतुं प्रवृत्तो द्राक्, नव पूर्वाण्यधीतवान् ।
प्रारेभे दशमं पूर्व-मार्यवज्रस्ततोऽभणत् ॥ १०९ ॥
यविकानि त्रिशत्युक्त-परिकर्मसमान्यहो ! ।
पठाऽऽदौ जिनसंख्यानि, कष्टात्तान्यथ सोऽपठत् ॥ ११० ॥
इतस्तन्मातापितरौ, शोकार्त्तावपि दध्यतुः ।
उद्द्योते कर्तुमिष्टे चे-दन्धकारान्तरं हृदः ॥ १११ ॥
यद्यत्यापि नः पुत्रोऽ-थाहूतोऽप्यागमत्तु सः ।
अथानुजं तमाह्वातुं, प्राहैषीत् फल्गुरक्षितम् ॥ ११२ ॥
सोऽभ्यधाद्भ्रातरागच्छ, व्रतार्थी ते जनोऽखिलः ।
स ऊचे सत्यमेतच्चे-त्त्वमादौ परिव्रज ॥ ११३ ॥
ततः प्रव्रज्य सोऽध्येतु-मधीयन् रक्षितोऽग्रतः ।
यविकैर्घूर्णितोऽप्राक्षीत्, शेषमस्य कियत्प्रभो ! ? ॥ ११४ ॥
स्वाम्यूचे सर्षपं मेरो-र्बिन्दुमब्धेस्त्वमग्रहीः ।
ततो दध्यौ विषण्णात्मा, कुतः प्राप्यं पारमस्य मे ॥ ११५ ॥
अथापृच्छत्प्रभो ! यामि, भ्राता मामाह्वयत्यलम् ।
आहूतस्तेऽधीष्व तस्याथ, पौनःपुन्येन पृच्छतः ॥ ११६ ॥
उपयुज्य गुरुर्जज्ञे, पूर्वं स्यात्स्वस्त्यदो मयि ।
व्यसृजत्स दशपुर, सानुजः सोऽथ जग्मिवान् ॥ ११७ ॥
वज्रस्वामी तु याति स्म, विहरन् दक्षिणापथम् ।
श्लेष्मार्त्तोऽऽनायितां शुण्ठी-मेकदा श्रवणे न्यधात् ॥ ११८ ॥
मुखे क्षेप्स्यामि भुक्त्वेति, भोजनान्ते स्मृता न सा ।
विकाले च प्रतिक्रान्तौ, मुखपोतीहताऽपतत् ॥ ११९ ॥
उपयोगादथ ज्ञात-मा ! प्रमादोऽन्तिके मृतिः ॥
प्रमादे संयमो नास्ति, युज्यतेऽनशनं ततः ॥ १२० ॥
द्वादशाब्दं च दुर्भिक्षं, तदा सञ्चयहाः पथाः ।
विद्यापिण्डं तदानीय, वज्रः साधूनभोजयत् ॥ १२१ ॥
अथोचे तान् भिक्षाऽस्ति, विद्यापिण्डेन वर्त्तनम् ।
ऊचुस्ते मतदान्या किं, क्रियतेऽनशनं न भोः ! ? ॥ १२२ ॥
वज्रसेनोऽन्तिषद् ज्ञात्वा, प्राक् प्रैषीत्यनुशिष्य तु ।
यत्र त्वं लभसे भिक्षां, अक्रजाभ्रास्तरा मुने ! ॥ १२३ ॥
गतं दुर्भिक्षमित्येत-द्विज्ञाय स्थानमाचरेः ।
वज्रस्वामी पुनर्भक्तं, विमोक्तुं सपरिच्छदः ॥ १२४ ॥
लघुः क्षुल्लक एकस्तु, तिष्ठन्नुक्तोऽपि साधुभिः ।
नाम्यादाख्याय भव्याना-मथ व्यामोह्य तं गतः ॥ १२५ ॥
शैलमेकमथारुक्षत्, क्षुल्लकोऽप्यनु तत्पदैः ।
नितम्बे तद्गिरेः स्थित्वा, पादपोपगमं व्यधात् ॥ १२६ ॥
तापेन तु क्षणमिव, विलीय द्यां स जग्मिवान् ।

[illegible]ऽपि वपुः सिद्धि-मेवं कर्त्तव्यमार्जवम् । आ० क० । आ० चू० । आव० ।

अज्जवइर-आर्यवज्र-(वैर)-पुं०। आरात्सर्वहेयधर्मेभ्यो यातः प्राप्तः सर्वैरुपादेयगुणैरित्यर्थः, स चासौ वज्रश्च । आ० म० द्वि० । धनगिरेः सुनन्दायां भार्यायामुत्पादिते पुत्रे आर्यसिंहगिरेः शिष्ये। [illegible] आर्यवैरा इति स्तवद्वारेण तदुत्पत्तिमाह—

तुंबवणसंनिवेसा-उ निग्गयं पिउसगासमल्लीणं ।

[illegible] छम्मासियं छसु जुअं, माऊ अ समन्निअं वंदे ॥ १ ॥

तुम्बवनसंनिवेशान्निर्गतं पितृसकाशमालीनं पाण्मासिकं षट्सु [illegible]निकायेषु युतं प्रयत्नवन्तं मात्रा च समन्वितं वन्दे । एव[illegible]ऽक्षरार्थः । भावार्थस्तु कथानकादवगन्तव्यः ।

कथा चेयम्—

[illegible] मोक्षः वीर-स्तस्य मामन्तिकः पुनः ।
[illegible]र्षमोऽर्थ, [illegible] कुम्भकामरः ॥ २ ॥
[illegible] पृष्ठचम्पायां, [illegible] समवासरत् ।
[illegible] [illegible] [illegible] नृपः पुरि ॥ ३ ॥
[illegible] महाराज-[illegible]
[illegible] [illegible], [illegible]तनयः पुनः ॥ ४ ॥
[illegible] [illegible], [illegible]
[illegible] [illegible], न मेऽभ्यासिम ते नु किम् ? ॥ ५ ॥
[illegible] [illegible], [illegible] स्वस्वसुः सुतम् ।
[illegible] [illegible] मे मौ द्वौ, पार्श्वे [illegible] प्रभोः ॥ ६ ॥
[illegible] [illegible], [illegible] ततः ।
[illegible] [illegible] महाश्रमी ॥ ७ ॥
[illegible] [illegible], [illegible] राजगृहे पुरे ।
[illegible] [illegible], [illegible] प्रभुः ॥ ८ ॥
[illegible] [illegible], [illegible] ।
[illegible] [illegible], [illegible] धर्मवान् ॥ ९ ॥
[illegible] [illegible], [illegible] ।
[illegible] [illegible], [illegible] गौतमः ॥ १० ॥
[illegible] [illegible], [illegible] ।
[illegible] [illegible], [illegible] ॥ ११ ॥
[illegible] [illegible], [illegible] ।
[illegible] [illegible], [illegible] केवलम् ॥ १२ ॥
[illegible] [illegible], [illegible] केवलम् ।
[illegible] [illegible], [illegible] ॥ १३ ॥
[illegible] [illegible], [illegible] ।
[illegible] [illegible], [illegible] ॥ १४ ॥
[illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥ १५ ॥
[illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥ १६ ॥
[illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥ १७ ॥
[illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥ १८ ॥
[illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥ १९ ॥
[illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] ॥ २० ॥

तपःकृशा अपि वयं, न शक्नुम इतः परम् ।
गौतमस्तावदर्कांशु-मिश्रां कृत्वाऽऽरुरोह तम् ॥ २[illegible] ॥
तद्वृत्तविस्मितास्तेऽथ, दध्युर्यद्येष एष्यति ।
ततोऽमुष्य वयं शिष्याः, भविष्यामो महात्मनः ॥ २[illegible] ॥
नत्वाऽर्हतः प्रभुश्चैश्यां, दिश्यशोकतरोस्तले ।
तत्र पृथ्वीशिलापट्टे, तामवात्सीद्विभावरीम् ॥ २[illegible] ॥
आगादष्टापदं नन्तुं, तत्र वैश्रवणस्तदा ।
जृम्भकैः समं सख्या, नत्वा सर्वान् जिनानथ ॥ २[illegible] ॥
स्वाध्यायध्वनिना ज्ञात्वा-ऽभ्येत्य गौतममानमत् ।
कुर्वाणः स्वाम्यपि व्याख्यां, सुधामधुरगीर्भवान् ॥ २[illegible] ॥
अन्ताहारपन्ताहारे-त्यादिकं साधुवर्णनम् ।
तच्छ्रुत्वा मुखमालोक्य, मिथस्तौ हसितौ सुरौ ॥ २[illegible] ॥
एवं साधुगुणानाह, स्वयमीदृक् पुनः प्रभुः ।
ज्ञात्वाऽर्थं स्तन्मनः पुण्ड-रीकाध्ययनमूचिवान् ॥ २[illegible] ॥
न दौर्बल्यं बलित्वं वा, सत्कार्ये किं तु भावना ।
श्रीदोऽथ ध्यानविज्ञानात्, प्रीतो नत्वा प्रतीयवान् ॥ २[illegible] ॥
जृम्भकस्तु प्रतिबुद्धः, गुरूं सम्यक्त्वमाददे ।
संघं च प्रज्ञया पुण्ड-रीकाध्ययनमग्रहीत् ॥ २[illegible] ॥
गौतमस्तु द्वितीयेऽह्न्य-ष्टापदादुत्ततार ।
भीमास्ते प्रभुमाहुस्तैः, शिष्यं कुरु गुरुर्भव ॥ ३० ॥
स्वाम्यथादाद् व्रतं तेषां, वेषान् शासनदेवता ।
पारणे वोऽस्तु किं वस्तु, पृष्टास्ते प्रभुमभ्यधुः ॥ ३१ ॥
इष्टासिद्धेस्तदस्त्वद्य, पायसं घृतशर्करायुतम् ।
तदेवानीय तत्स्वामी, तानूचे भोजुमासत ॥ ३२ ॥
दध्युस्ते नो भविष्यन्ति, नैवतां तिलकान्यपि ।
परं गुरुवचः कार्यं, न विचार्यं नृणां तथा ॥ ३३ ॥
आसीनास्तेऽथ सर्वेऽपि, स्वाम्यक्षीणमहानसः ।
आतृप्ति भोजयित्वा ता-नभुङ्क्त स स्वयं ततः ॥ ३४ ॥
शतानां तेषु पञ्चानां, भुञ्जानानां महाशिवम् ।
ध्यायतां गौतमी लब्धि, [illegible] केवलमुज्ज्वलम् ॥ ३५ ॥
गच्छतां च प्रभुपार्श्वे, विलोक्य प्राभवीं श्रियम् ।
पञ्चशत्या प्रपद्भुजां, समजायत केवलम् ॥ ३६ ॥
पञ्चानामनुजां चासीत्, श्रीवीरजिनदर्शने ।
गौतमस्तैः समं भर्तु-र्ददौ त्रिश्च प्रदक्षिणाः ॥ ३७ ॥
नर्तनाः साधवस्तेऽथ, जग्मुः केवलिपर्षदम् ।
गौतमः स्माह तानेवं, नमत त्रिजगत्पतिम् ॥ ३८ ॥
स्वाम्याहाशातनामित्र-भूते ! केवलिनां [illegible] ।
नत्वा प्रभुं ददौ मिथ्या-दुष्कृतं तेषु गौतमः ॥ ३९ ॥
गौतमेऽधावृतिं [illegible], प्रभवे स्वाभ्यधात्पुनः ।
अन्ते तुल्या भविष्यामो, मा कार्षीः [illegible] ॥ ४० ॥
[illegible]
[illegible] ॥ ४१ ॥
[illegible]
[illegible] ॥ ४२ ॥
[illegible]
[illegible] ॥ ४३ ॥
[illegible]
[illegible] ॥ ४४ ॥
[illegible]
[illegible] ॥ ४५ ॥

स्वपरस्परागाद्य तस्मात्तन्, सुनन्दा धनपालभूः ।
विवाहिताऽथ सा तेन, तया रक्तोऽथ स मनाक् ॥ ४६ ॥
अथान्यदा स्वतः स्थानात्, स च्युत्वा जृम्भकामरः ।
सुनन्दाकुक्षिकासारे-ऽवातरत्कलहंसवत् ॥ ४७ ॥
तदाधारोऽभवद्भार्या-मुक्त्वा धनगिरिः प्रियाम् ।
अनुसिंहगिरेः शिष्यः, शालकात्समितादनु ॥ ४८ ॥
जाते च तनये जन्मो-त्सवे स्फूर्जति काऽप्यवक् ।
पिता चेन् प्राव्रजिष्यन्ना-स्याभविष्यच्चरं तदा ॥ ४९ ॥
स संज्ञां तद्वचः श्रुत्वा-ऽहासीन्मे मत्सुपिता ।
एवं विमृशतस्तस्य, जाता जातिस्मृतिः शिशोः ॥ ५० ॥
अहर्निशं ततोऽरोदीत्, माता निर्विद्यते यथा ।
प्रव्रज्याभिमुखं पश्चा-देवं षण्मासिकाऽगमत् ॥ ५१ ॥
अन्यदा समवासार्षीत्, तत्र सिंहगिरिर्गुरुः ।
समितो धनगिरिश्च, पश्यायः स्वजनानिति ॥ ५२ ॥
यावद्यातौ गुरुं पृष्ट्वा, शकुनस्तावदूचिवान् ।
तनस्थौ सूरयोऽप्योचन्, प्राप्ती लाभोऽद्य वां महान् ॥ ५३ ॥
सचित्तं वाऽप्यचित्तं वा, ग्राह्यं तत् तौ ततो गतौ ।
सुनन्दा ससखीवृन्दा, दृष्ट्वा तावित्यवोचत ॥ ५४ ॥
कान्तेयन्ति दिनान्यर्भः, पाल्यते स्म मया तव ।
स्वमेन गोपयेदानीं, रुदतोऽवादिनाऽमुना ॥ ५५ ॥
तेनोचे माऽस्तु ते पश्चा-त्तापः सोचेऽत्र निःस्पृहा ।
कृत्वाऽथ साक्षिणोऽग्राहि, सोऽर्भ्यार्द्रः पात्रबन्धने ॥ ५६ ॥
प्रतमासं च तत्कालं, रोदनाद्विरराम सः ।
अथायातो मुनेर्दोष्णा—ऽनाम्नीतोऽधः करं गुरुः ॥ ५७ ॥
अतिभारात्तथाऽऽहैवं, साधो ! वज्रं किमानयः ? ।
आकृष्यालोक्य तं बालं, बाल्यमात्तमिव स्मरम् ॥ ५८ ॥
भाव्येष शासनाधारो, वज्रस्वामी गुरुस्ततः ।
साध्वीशय्यातरीणां तं, नीतिविज्ञानुमार्पयत् ॥ ५९ ॥
प्रहृष्यन्प्रासुकाहार-स्नानमण्डनखेलनैः ।
तत्राववृधे वज्रः स, सार्द्धं गुरुमनोरथैः ॥ ६० ॥
बहिर्व्याहार्षुराचार्याः, सुनन्दाऽमार्गयत्सुतम् ।
ऊचुस्ता एष निक्षेपो, गुरूणां नार्प्यते परैः ॥ ६१ ॥
आगमन्गुरवस्तत्र, वज्रे जाते त्रिवार्षिके ।
सुनन्दा याचते सूनुं, गुरवस्त्वर्पयन्ति न ॥ ६२ ॥
विवादोऽथाभवद्राज-कुले जातश्च निर्णयः ।
यदग्रतः सुतस्तस्याऽऽहूतो याति यदन्तिके ॥ ६३ ॥
ससंघो गुरुरेकत्र, नन्दाऽप्यत्र सनागरा ।
अथविद्दभितो भूपं, वज्रस्तु नृपतेः पुरः ॥ ६४ ॥
राज्ञोचे शम्यत्वादौ, पिता स्त्रीपाक्षिका जगुः ।
स्वामिन्नम्बाऽऽह्वयत्वादौ, दयास्थानमियं यतः ॥ ६५ ॥
अथ राज्ञोक्ताऽह्वयन्माता, खाद्यखेलनचाटुभिः ।
वीक्ष्यात्यम्बां परं सोऽस्थात्, नाचालीत्किन्त्वचिन्तयत् ॥ ६६ ॥
पालनस्थोऽप्युपश्रुत्या, योऽधीतैकादशाङ्गकः ।
सोऽहं मोहं जनन्याः किं, यामि सङ्घं विहाय तत् ? ॥ ६७ ॥
मत्तश्च मयि माताऽपि, व्रतमङ्गीकरिष्यति ।
राज्ञा प्रोक्तः पिताऽवोचत्, वचस्तं प्रति तद्यथा ॥ ६८ ॥
" जइसि कयज्झवसाओ, धम्मज्झयमूसिअं इमं वइरं ।
गिन्ह लहुं रयहरणं, कम्मरयपमज्जणं धीर ! " ॥ ६९ ॥
तच्छ्रुत्वा तत्क्षणादेत्य, स रजोहृतिमाददे ।
वंदेवार्द्दाक्षि गुरुणा, सर्वोऽप्यतुष्यन्नृपः ॥ ७० ॥

दृष्ट्वाऽथ सुनन्दाऽपि, भ्राता भर्ता सुतश्च मे ।
प्राव्रजन्किं ममान्येन, साऽपि प्रव्रजिता ततः ॥ ७१ ॥
वज्रं तत्रैव संस्थाप्य, साधुभिः पञ्चषैर्वृतम् ।
व्यहार्षुर्गुरवोऽन्यत्र, यत्रैकत्र यतिस्थितिः ॥ ७२ ॥
अथाष्टवर्षो वज्रर्षि-र्व्यहरद्गुरुभिः समम् ।
जग्मुश्च गुरवोऽवन्त्यां, वृष्टिश्च प्रावृतत्तदा ॥ ७३ ॥
तस्य प्राग्जन्ममित्राणि, भजन्तो जृम्भकामराः ।
दृष्ट्वा तं तत्र तैः सार्द्धं, कृत्वा तस्थुः परीक्षितुम् ॥ ७४ ॥
राज्ञा न्यमन्त्रयद्वज्रं, विप्रुषो वीक्ष्य संस्थिताः ।
पुनराहूत् स्थिते वर्षे, गतस्तत्रोपयुक्तवान् ॥ ७५ ॥
द्रव्यतः पक्वकूष्माण्डं, क्षेत्रतस्तूज्जयन्यसौ ।
कालतः प्रथमं वर्षा, भावतो दायकाः पुनः ॥ ७६ ॥
अभूस्पृशो निर्निमेषा, देवा इत्याददे न तत् ।
तेऽथ तुष्टा निवेद्य स्वं, विद्यां वैकुर्विकीं ददुः ॥ ७७ ॥
भूयोऽवन्त्यां पुरि ज्येष्ठे, वज्रे बाह्यभुवं गते ।
प्राग्वद्विधाय सार्द्धं ते, घृतपूर्णैर्न्यमन्त्रयन् ॥ ७८ ॥
द्रव्यादिकोपयोगेन, ज्ञात्वा नात्तेषु तेष्वपि ।
तस्याकाशगमां विद्यां, दत्त्वाऽगुः स्वं निरूप्य ते ॥ ७९ ॥

निर्युक्तिकारोऽप्येतदेवाह-

" जो गुज्झगेहिं बालो, निमंतिओ भोअणेण वासंते ।
नेच्छइ विणीअविणओ , तं वयररिसिं नमंसामि " ॥ १ ॥

गुह्यकैर्देवैः वासंते वर्षति नेच्छति विनीतविनयोऽभ्यस्तविनयः ।

तथा—

" उज्जेणीए जो जं-भगेहिं आणक्खिऊण थुअमहिओ ।
अक्खीणमहानसिअं, सीहगिरिपसंसिअं वंदे " ॥ १ ॥

आणक्खिऊण परीक्ष्य, स्तुतो वचनैः, महितो विद्यादानेन ।
तच्छिष्यान् पठतः श्रुत्वै-कादशाङ्गी स्थिराऽभवत् ।
श्रुतं पूर्वगमप्यात्तं, यत्किञ्चित्पठता श्रुतम् ॥ ८० ॥
पठेत्युक्तोऽपठन् नित्यं, तमेवालापकं मुहुः ।
अपरान्पठतः शृण्वन्, गृह्णंश्च ततः श्रुतम् ॥ ८१ ॥
भिक्षार्थमन्यदा साधु-माते याते हि मध्यमे ।
बहिर्भूमौ गुरौ प्राप्ते, तस्थौ वज्रः प्रतिश्रये ॥ ८२ ॥
अथान्विश्य स मण्डल्या, मध्ये वियतिवेष्टिकाः ।
मध्ये स्थितः स्वयमदात्, क्रमेणाङ्गादिवाचनाम् ॥ ८३ ॥
आयाताः सूरयो दध्यु-र्मुनयो द्राक् किमाययुः ? ।
स्वरमाकर्ण्य गम्भीरं, ज्ञातं वज्रविजृम्भितम् ॥ ८४ ॥
अपसृत्य क्षणं स्थित्वा, व्यधुर्नैषेधिकीं ध्वनिम् ।
यथास्थानेऽपि मुक्त्वा ताः, प्रामार्क्षीत्स गुरोः पदौ ॥ ८५ ॥
ज्ञातं त्वमुं श्रुतधरं, माऽवजानन्तु साधवः ।
इत्याचार्या विहारार्थं, चलिताः पञ्चषान् दिनान् ॥ ८६ ॥
योगिनः स्माहुरस्माकं, भावी को वाचनागुरुः ? ।
गुरवो वज्रमादिक्ष-न्ते तथेति प्रपेदिरे ॥ ८७ ॥
साधवोऽपि गुरुं वज्र-मासयित्वाऽऽसने प्रगे ।
योगाऽनुष्ठानमाधाय, वाचनार्थमुपाविशन् ॥ ८८ ॥
वाचनां स तथाऽऽदत्त, मन्दा अप्यपठन् यथा ।
अधीतमपि तैः स्पष्टी-कर्तुं पृष्टं स शिश्रियत् ॥ ८९ ॥
अथ ते साधवो दध्यु-र्गुरूणां बहवो दिनाः ।
चेल्लगन्ति तदाऽस्माकं, श्रुतस्कन्धः
गुरोरधीयतेऽप्याय,
न्यैवं सर्वसाधूनां,

ज्ञापितास्ते वज्रगुणा-नित्याचार्याः समाययुः ।
आप्राक्षुर्यतिनो जज्ञे, स्वाध्यायो वस्त ऊचिरे ॥ ९२ ॥
जज्ञे किं त्वेष एवास्तु, स्वामिन्! नो वाचनागुरुः ।
गुरुरूचेऽमुनोपात्तं, कर्णाघातात् श्रुतं ततः ॥ ९३ ॥
युज्यते वाचनां दातुं, नास्य स्वयमतद्ग्रहे ।
ज्ञातुं यो वज्रमाहात्म्यं, याचनाऽदाप्यथायती ॥ ९४ ॥
यस्वयस्याऽऽसीद् गुरुः सर्वं, श्रुतं वज्रस्य तद्ददौ ।
विहरन्नन्यदाऽऽयासीत्, पुरं दशपुराह्वयम् ॥ ९५ ॥
वृद्धावासे सन्त्यवन्त्यां, श्रीभद्रगुप्तसूरयः ।
तेभ्योऽप्यश्रुतमादातुं, वज्रः प्रैषि द्विसाधुयुक् ॥ ९६ ॥
तदा च भद्रगुप्तार्याः, स्वप्नमऽपश्यन् यथा मम ।
पतद्ग्रहं क्षीरभृतं, पीत्वाऽऽगन्तुः समाश्वसीत् ॥ ९७ ॥
साधूनां प्रातराचख्यु-स्तेऽन्योन्यफलमूचिरे ।
गुरुरूचे प्रतीच्छो मे, ह्यास्यत्येत्याखिलं श्रुतम् ॥ ९८ ॥
वज्रोऽप्यस्याद्बहिर्नैक-मदद्‌र्शयात एव हि ।
ज्ञात्वेड्याद्गुरुर्वज्रं, माहात्म्ये तव गृद्धवान् ॥ ९९ ॥
तेषां पार्श्वेऽथ वज्रर्षि-र्दशपूर्वीमधीतवान् ।
यत्रोद्देशस्तत्रानुज्ञे-त्यागाद्दशपुरेऽनु सः ॥ १०० ॥
तत्रानुयोगानुज्ञायां, वयस्यैस्तस्य जृम्भकैः ।
दृष्टाधैर्गौतमादीना-मिव चक्रे महामहः ॥ १०१ ॥

अमुमेवार्थं ग्रन्थदाह—

" जस्स अणुण्णाए वा-यगत्तणे दसपुरम्मि नयरम्मि ।
देवेहिं कया महिमा, पयाणुसारिं नमंसामि " ॥ १ ॥

यस्याऽनुज्ञाते वाचकत्वे आचार्यत्वे, शेषं स्पष्टम् ।
अथान्यदा सिंहगिरि-र्दत्त्वा वज्रमुनेर्गणम् ।
विधायानशनं धीमान्, ययौ स्वर्गं समाधिना ॥ १०२ ॥
वज्रस्वाम्यथ संयुतः, साधूनां पञ्चभिः शतैः ।
सर्वतः प्रसरत्कीर्ति-र्विहरन् बोधयन् जनम् ॥ १०३ ॥
इतश्च पाटलीपुत्रे, श्रेष्ठः श्रेष्ठी धनी धनः ।
तत्पुत्री रुक्मिणी नाम्नी, रूपापास्तपुलोमजा ॥ १०४ ॥
[illegible]-श्रवणाद्वज्रगुणस्तुतिम् ।
वज्रमेव पतीयन्ती, श्रुत्वा तं रुक्मिणी स्थिता ॥ १०५ ॥
आगच्छतोऽप्यनेकान् सा, वरकान् प्रत्यषेधयत् ।
साध्व्योऽप्यूचुर्न हे भद्रे !, व्रती परिणयत्यसौ ॥ १०६ ॥
साऽवदत् मां न वज्रर्षिः, परिणेष्यति चेत्ततः ।
प्रव्रजिष्याम्यहमपि, स्त्रियो हि पतिवर्त्मगाः ॥ १०७ ॥
विहरन् पाटलीपुत्रं, वज्रोऽप्यन्येद्युरागमत् ।
निर्ययौ संमुखस्तस्य, नगरेशः सनागरः ॥ १०८ ॥
[illegible] वृन्दवृन्दै-र्दिव्यरूपान् बहून्मुनीन् ।
[illegible] नैव वज्रस्ते-ऽत्यपृच्छन्नाथ [illegible]शिष्यकः ॥ १०९ ॥
[illegible], इति [illegible] ।
[illegible]-मागच्छन्नभिशान्तधीः ॥ ११० ॥
[illegible] दृष्ट्वा, वज्रः स्वल्पपरिच्छदः ।
[illegible] राजा, मम [illegible] ॥ १११ ॥
[illegible] श्रीमा-[illegible] दिनम् ।
[illegible], [illegible] तथा ॥ ११२ ॥
[illegible], [illegible] ।
[illegible], [illegible] ययौ ॥ ११३ ॥
[illegible], तात ! [illegible] प्रदेहि माम् ।
[illegible], [illegible] ॥ ११४ ॥
भगवान् धर्ममाचख्यौ, लोकः सर्वोऽपि रञ्जितः ।
दध्यौ चास्य यथाऽनेके, गुणा रूपं न तादृशम् ॥ ११५ ॥
ज्ञात्वा तदाशयं स्वामी, सहस्रदलमम्बुजम् ।
कृत्वाऽन्येद्युः स्वरूपस्थः, केवलीवोपाविक्षत ॥ ११६ ॥
तं वीक्ष्योवाच लोकोऽस्य, सहजं रूपमीदृशम् ।
प्रार्थ्योऽङ्गनानां मा भूव-मित्यास्ते मत्यरूपनाक् ॥ ११७ ॥
नृपोऽपि विस्मितः स्माह, शक्तिरेषाऽपि वोऽस्ति किम् ? ।
लब्धीरनेकाः साधूनां, तदाख्यन्नृपतेर्गुरुः ॥ ११८ ॥
श्रेष्ठिना मन्त्रिपुत्र्यार्थे-स्तानुपास्थयज्जगौ च सः ।
मदुक्ता चेद्व्रतिन्यस्तु, जगृहे साऽपि तद्व्रतम् ॥ ११९ ॥

अमुमेवार्थमाह—

" जो कन्नाइ धणेण य, निमंतिओ जुव्वणम्मि गिहवइणा ।
नयरम्मि कुसुमनामे, तं वयरारिसिं नमंसामि " ॥ १२० ॥
पदानुसारिणा तेन, स्वामिना प्रस्मृता सती ।
महापरिज्ञाध्ययना-द्विद्योद्दध्रे नभोगमा ॥ १२१ ॥
" जेणुद्धरिआ विज्ञा, आगासगमा महापरिन्नाओ ।
वंदामि अज्जवइरं, अपच्छिमो जो सुअहराणं ॥ १२२ ॥
भणइ अ आहिंडिज्जा, जंबुद्दीवं इमाइ विज्जाए ।
गंतूण माणुसनगं, विज्जाए एस मे विसओ ॥ १२३ ॥
भणइ अ धारेअव्वा, न हु दायव्वा मए इमा विज्जा ।
अप्पड्ढिआ य मणुआ, होहिंति अओ परं अन्ने " ॥ १२४ ॥
वज्रोऽथाऽगात् पूर्वदेशा-द्विहरन्नुत्तरापथम् ।
अभूच्च तत्र दुर्भिक्षं, पन्थानोऽपथिकाः स्थिताः ॥ १२५ ॥
ततः सङ्घ उपागत्याऽ-वादीन्निस्तारयेति तम् ।
पटेऽथ विद्यया सङ्घ-मारोप्य प्रस्थितः प्रभुः ॥ १२६ ॥
शय्यातरस्तु चार्थं, गतोऽन्यायाद्विलोक्य तान् ।
शिखां छित्वाऽवदद्वज्रं, प्रभो ! साधर्मिकोऽस्मि वः ॥ १२७ ॥
अथेदं स्मरता सूत्रं, सोऽप्यध्यारोपितः पटे ।
(" साहम्मिअवच्छल्लम्मि उज्जुया य सज्झाए ।
चरणकरणम्मि अ तहा, तित्थस्स पभावणाए य " ॥ १ ॥)
पश्चादुत्पतितः स्वामी, प्राप्तो नाम्ना पुरीं पुरीम् ॥ १२८ ॥
सुभिक्षं वर्तते तत्र, श्रावकास्तत्र भूरयः ।
तत्र ताथागतः श्राद्धो, राजा तेऽहं यवस्ततः ॥ १२९ ॥
आर्हतानां च तेषां च, चैत्येषु स्पर्धया पुनः ।
कुर्वतां स्नात्रपूजादि, जैनेभ्यस्तत्पराभवः ॥ १३० ॥
न्यवार्यन्ताथ तैः पुष्पा-ण्यर्हतां राजपर्षदा ।
श्राद्धाः पर्युषणायां च, पुष्पाभावे गुरुं जगुः ॥ १३१ ॥
प्रभो ! जैनेषु युष्मासु, शासनं योऽभिभूयते ।
अथोत्पत्य ययौ वज्रः, क्षणान्माहेश्वरीं पुरीम् ॥ १३२ ॥
हुताशनवने तत्र, पुष्पकुम्भः प्रजायते ।
भगवत्पितृमित्रं च, तडित्तस्तस्य चिन्तकः ॥ १३३ ॥
प्रभुं दृष्ट्वाऽवदत्सोऽपि-किं वोऽत्रागमकारणम् ? ।
स्वाम्यूचे पुष्पसम्प्राप्तिः, स साहानुग्रहो मम ॥ १३४ ॥
स्वाम्यूचे सुमनसोऽभि-मन्त्रयेयावदेम्यहम् ।
गुप्ते हिमवति स्वामी, ययौ श्रीमालिधीं तत्र ॥ १३५ ॥
देवार्चार्थोपात्तपद्मा, पद्मा पद्मद्रहात्तदा ।
प्रेक्ष्य प्रभुं प्रमोदेन, प्रणुत्य प्रणमन्त्यधीः ॥ १३६ ॥
तत्रोऽथादिश्यतां स्वामी, सोऽप्यरण्यमवर्य ।
साऽर्पयत्तं गृहीत्वा स, हुताशनगृहेऽगमत् ॥ १३७ ॥
विमानं तत्र निर्माय, पुष्पकुम्भं निधाय च ।

[illegible]

अज्जरविखय-आर्यरक्षित-पुं० । आर्यवज्रस्वामिशिष्ये, कल्प० ।

अज्जवइरी-आर्यवज्री-स्त्री० । आर्यवज्रात् निर्गतायां शाखायाम्, " [illegible] " । कल्प० ।

अज्जवदाण-आर्यवदान-न० । आर्यवस्तुविषयकदाने [illegible]

एवं अज्जवदाणं चलणा । तं जहा-साहुअज्जवं साहुमद्दवं साहुलाघवं साहुखंती साहुमुत्ती ।

[illegible] आचा० ३ श्रु० १ अ० ।

अज्जवसमदाण-आर्यवसमदान-त्रि० । आर्यवसमप्रधाने, स्था० ।

अज्जवभाव-आर्यवभाव-पुं० । ऋजुभावे, " आर्यं धर्मं [illegible] " सू० ८ अ० ।

अज्जवया-आर्जवता-स्त्री० । मायाप्रत्याख्याने श्रमणभेदे, पा० [illegible] —

अज्जवयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । अज्जवयाए णं काउज्जुययं भावुज्जुययं भासुज्जुययं अविसंवायणं जणयइ । अवि-संवायणसंपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ ॥ ४७ ॥

[illegible] आर्जवतया [illegible] कायर्जुकता [illegible] भावर्जुकता, [illegible] भाषर्जुकता, [illegible] अविसंवादनम् [illegible] उत्तर० २९ अ० ।

अज्जविय-आर्जविक-न० । मायापरित्यागाय (आचा०) [illegible] सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अज्जवेदय-आर्यवेदक-न० । [illegible] कल्प० ।

अज्जसमिय-आर्यसमित-पुं० । आर्यवज्रस्वामिमातुः सुनन्दाया भ्रातरि आर्यसिंहगिरिशिष्ये, कल्प० । आ० म० द्वि० । आ० चू० । [illegible] ब्रह्मद्वीपिका [illegible] निर्गमिता । कल्प० । (' बंभदीविया ' शब्दे वक्ष्यति)

अज्जसमुद्द-आर्यसमुद्र-पुं० । उदधिनामनि आचार्यभेदे, [illegible] आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

अज्जसाम-आर्यश्याम-पुं० । आरात् सर्वहेयधर्मेभ्यो यातः प्राप्तो गुणैरित्यार्यः, स चासौ श्यामश्च आर्यश्यामः । प्रज्ञापनाकर्तृत्वेन प्रसिद्धे कालिकाचार्यनामके आचार्ये, प्रज्ञापनासूत्रकर्तृत्वे [illegible] " वायगवरवंसाओ, ते-वीसइमेण धीरपुरिसेण । दुद्धरधरेण मुणिणा, पुव्वसुयसमि-द्धबुद्धीणं ॥ ३ ॥ सुयसागरा विणेऊण जेण सुयरयणमु-त्तमं दिन्नं । सीसगणस्स भगवओ, तस्स णमो अज्जसा-मस्स " ॥ ४ ॥ (' पन्नवणा ' शब्दे चैतद् व्याख्यास्यते)

अज्जसुहत्थि (ण्)-आर्यसुहस्तिन्-पुं० । आर्यस्थूलभद्रस्य शिष्ये स्थविरे, आव० ४ अ० । स्थविरार्यसुहस्तिभिर्दीक्षितो द्रमकः मृत्वा सम्प्रति नामा राजाऽभूत् । कल्प० । (' संपइ ' शब्देऽस्य कथानकम्)

अज्जसुहम्म (ण्)-आर्यसुधर्मन्-पुं० । श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य पञ्चमे गणधरे, तत्स्वरूपं चेदम्-कुल्लागसन्निवेशे धम्मिलविप्रस्य भार्यायां भद्दिला, तयोः सुतश्चतुर्दशविद्यापात्रम् । पञ्चाशद्वर्षान्ते प्रव्रजितः । त्रिंशद्वर्षाणि वीरसेवा कृता वीरनिर्वाणाद् द्वादशवर्षान्ते जन्मतो द्विनवतिवर्षान्ते च केवलम् । ततोऽष्टौ वर्षाणि केवलित्वं परिपाल्य शतवर्षायुर्जम्बूस्वामिनं स्वपदे संस्थाप्य शिवं गतः । अन्त० १ वर्ग । अनु० । स० ।

अज्जसेणिय-आर्यसैनिक-पुं० । आर्यशान्तिसैनिकस्य द्वितीये शिष्ये, कल्प० ।

[illegible]–[illegible]–स्त्री० [illegible]निकाभिर्गतायां [illegible], " [illegible]हितो [illegible] [illegible]हितो [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] " [illegible]० ।

[illegible]–[illegible]–स्त्री० । [illegible] भवा, [illegible] यत् । वाच० ' [illegible] ' [illegible] । [illegible]याम, दे० ना० १ वर्ग० ।

[illegible] [illegible] । [illegible] दुर्गायाम, [illegible], [illegible] । [illegible] मात्राछन्दसि, जं० २ [illegible] । [illegible] गाथाभेदे । ग० १ अधि० । [illegible] कलायां गम्यते (तत्र 'कला' [illegible] [illegible]) [illegible] १ [illegible] । साध्व्याम, [illegible] १ [illegible] । [illegible] [illegible] दृश्यते [illegible] ('[illegible]' शब्दे [illegible] वक्ष्यते)

[illegible] [illegible] दोषमाह–

[illegible], [illegible] गिहत्थ[illegible] ।
[illegible], [illegible] [illegible] ॥ ११० ॥

[illegible] ([illegible]) [illegible] अकार- [illegible] [illegible] जल्प- [illegible] [illegible] सा- [illegible] ॥ ११० ॥ ('[illegible]' शब्दे [illegible] [illegible].)

[illegible] [illegible] दोषमाह–

[illegible] [illegible], [illegible] [illegible] ।
[illegible], [illegible] [illegible]हिआ ॥ ११२ ॥

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] सेवते, [illegible] सेवते, सा आर्या न [illegible] [illegible] ॥ ११२ ॥

[illegible] [illegible] दोषमाह–

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] [illegible] [illegible] ॥ ११३ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ ११४ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ११५ ॥

[illegible]

गतिर्गच्छति तथा शयनीयं तूलिकां च ([illegible]) [illegible]सहितां सेवते । शेषं तथैव । तथा [illegible] उपलक्षणत्वात् उपाश्रयेऽपि स्थिता [illegible] [illegible] [illegible]लक्षणोपेता आर्या कथा [illegible] [illegible] सा कथयति, तथा या [illegible] [illegible]

मनं विधेयम्, कार्यं [illegible]मित्यादिप्रकारेण [illegible] ८।४।२१७। इति प्राकृतसूत्रेण [illegible] [illegible] [illegible]तुल्या स्यात्, [illegible] ॥ [illegible]

वुड्ढाणं तरुणाणं, रत्ति अज्जा कहे([illegible] [illegible] ।
सा गणिणी गुणसायर ! पडिणीया होइ [illegible] ॥

वृद्धानां स्थविराणां, तरुणानां [illegible] ([illegible]) "सप्तम्या द्वितीया" ८।३।१३७। इति प्राकृतसूत्रेण [illegible] द्वितीयाविधानात् । रात्रौ या आर्या [illegible] ([illegible]) धर्मकथां कथयति, उपलक्षणाद् [illegible] पुरुषाणां धर्मकथां कथयति, हे गुणसागर ! [illegible] गणिनी गच्छस्य प्रत्यनीका भवति । [illegible] [illegible] साध्वीनामपि तथाविधाने प्रत्यनीकत्व[illegible] ॥ [illegible]

अथ यथा श्रमणीभिर्गच्छस्य प्रधान[illegible] स्यात् तथा दर्शयति–

जत्थ य समणीणमसं-खडाईं गच्छम्मि नो [illegible] ।
तं गच्छं गच्छवरं, गिहत्थभासाउ नो [illegible] ॥ [illegible]

यत्र च गणे श्रमणीनां परस्परम ([illegible]) [illegible] आपन्ते नैवोत्पद्यन्ते, तथा यत्र गणे गृहस्थानां [illegible] [illegible] [illegible]' इत्यादिका अथवा [illegible] [illegible] गृहस्थ[illegible] नोत्पद्यन्ते, स गच्छ गच्छवरः [illegible] मः स्यादिति ॥ ११७ ॥

अथ [illegible]: श्रमण्यो [illegible] [illegible] [illegible] प्रकटयति–

जो जत्तो वा जाओ, नाऽऽलोअइ [illegible] [illegible] ।
सच्छन्दा समणीओ, मयहरिआए न [illegible] ॥ [illegible]

[illegible] यावान् वा अतिचार इति [illegible] । [illegible]

दैवसिकं पाक्षिकं वा [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] ॥ ११८ ॥

[illegible] [illegible], [illegible] ॥ [illegible]
[illegible] [illegible], [illegible] [illegible] ॥ [illegible]

[illegible]

र्थः । अथवा अनागाढयोगानुष्ठाने वर्तमाने आगाढयोगानुष्ठानं कुर्वन्ति, तथा आगाढयोगानुष्ठानेऽनागाढयोगानुष्ठानं कुर्वन्ति, स्वच्छन्दाः श्रमण्य इति चतुर्थपदं पूर्वगाथात आकर्षणीयम् । एवमेतद्गाथाद्विकेऽपीति ॥ ११९ ॥

अमयाए पच्चंति, पाहुणगाए अवच्छला ।
चित्तलयाणि अ सेवंति, चित्ता रयहरणे तहा ॥१२०॥

अयतनया ईर्यासमित्यभावेन प्रवर्तन्ते गमनादिकमिति शेषः । तथा प्राघूर्णकानां ग्रामान्तरादागतसाध्वीनामवत्सला निर्दोषभक्तपानादिना भक्तिं न कुर्वन्तीत्यर्थः । तथा चित्रलानि, सूत्रे ककारस्य स्वार्थिकः, प्राकृतत्वाद्वा पञ्चवर्णानि वस्त्राणीति शेषः । सेवन्ते परिदधति, तथा चित्रा-णि पञ्चवर्णसूत्रादिरचनाविशेषाणि रजोहरणानि सेवन्ते धारयन्ति । स्वच्छन्दाः श्रमण्य इति, विषमाक्षरेति गाथाच्छन्दः ॥ १२० ॥

गइविब्भमाइएहिं अगार-विगार तह पयासंति ।
जह वुड्ढाण मोहो, समुईरइ किं नु तरुणाणं ! ॥१२१॥

स्वच्छन्दाः श्रमण्यो गतिविभ्रमादि (अगारविगार त्ति) अत्र वि-भक्तिलोपः प्राकृतत्वात् । तत आकारं मुखनयनस्तनादिविकृतिं, विकारं च मुखनयनादिविकृतिं, यद्वा-आकारस्य स्वाभाविकाङ्गस्य विकारो विकृतिस्तं तथा प्रकाशयन्ति प्रकटयन्ति यथा वृद्धानाम्, अपेर्गम्यमानत्वात् स्थविराणामपि, मोहः कामानुरागः, समुदीर्येत समुत्पद्यते, किं पुनस्तरुणानाम् !, तेषां तु सुतरां समुत्पद्यत एवेत्यर्थः । नु पुनरर्थे ॥ १२१ ॥

बहुसो उच्छोलिंती, मुहनयणे हत्थपायकक्खाओ ।
गिण्हेइ रागमंडल, सोइंदिय तह य कव्वट्ठे ॥ १२२ ॥

मुखनयनानि हस्तपादकक्षाश्च बहुशो वारं वारं उच्छालयन्ति स्वच्छन्दाः श्रमण्यः, तथा रागमण्डलं वसन्तादिरागसमूहं अ-नन्तरं 'तह य त्ति' पदस्य 'गिण्हेइ' इतिपदेन सह संबन्धात् (तह य गिण्हेइ त्ति) तथैव गृह्णन्ति तथैव कुर्वन्तीत्यर्थः । यथा (कव्वट्ठे त्ति) कल्पस्थाः समयपरिभाषया बालकास्तेषामपि श्रोत्रे-न्द्रियं श्रवणेन्द्रियम्, 'गिण्हेइ' इति क्रियाया अत्रापि संबन्धा-द् गृह्णन्ति हरन्तीत्यर्थः । अथवा कारणे कार्योपचारात् रागो-त्पत्तिहेतुवस्तु, यथा-मुखे शृङ्गारगीतादि, नयनेऽञ्जनादि, म-स्तके सीमन्तादि, ललाटे तिलकादि, कण्ठे कुङ्कुममालादि, अधरे ताम्बूलरागादि, शरीरे चन्दनलेपादि, तस्य मण्डलं समूहं तथा गृह्णन्ति यथा बालानामपि श्रोत्रेन्द्रियमुपलक्षणत्वादन्यदि-न्द्रियचतुष्कं मनश्च गृह्णन्ति हरन्ति । अत्रोत्तरार्द्धे पाठान्तरम् । यथा-"गेण्हइ रामए मंडण, भोयंति य तह य कव्वट्ठे" । अस्यार्थः-गृहस्थबालकानां ग्रहणं कुर्वन्ति, रामणं मञ्जात्रीकरणं, मण्डनं वा प्रसाधनम्, यदि वा ताः कल्पस्थान् गृहस्थबालकान् भोजयन्ति । अत्रापि गाथायां चिन्तिकालोपविभक्तिव्यत्ययवचनव्यत्ययाः प्राकृतत्वादेवेति ॥ १२२ ॥

अथ साध्वीनां शयनविधिं दर्शयन्नाह-

जत्थ य थेरी तरुणी, थेरी तरुणी य अंतरे सुयइ ।
गोअम ! तं गच्छवरं, वरनाणचरित्तआहारं ॥ १२३ ॥

यत्र च गणे स्थविरा, ततस्तरुणी, पुनः स्थविरा, ततस्तरुणीत्ये-वमन्तरिताः साध्व्यः स्वपन्तीति भावार्थः । तरुणीनां निरन्तरश-यने हि परस्परजङ्घाकरस्तनादिस्पर्शेन पूर्वक्रीडितस्मरणादि-दोषः स्यादतः स्थविरान्तरिता यत्र ताः शेरते । हे गौतम ! वर-ज्ञानचारित्राधारं तं गच्छवरं जानीहीति ॥ १२३ ॥

अथ या आर्या न भवन्ति ता गाथात्रयेण दर्शयति-

धोअंति कंठिआओ, पोअंती तह य दिंति पोत्ताणि ।
गिहिकज्जचिंतगाओ, न हु अज्जा गोअमा ! ताओ ॥१२४॥

कण्ठिका गलप्रदेशान् धावन्ति नीरेण क्षालयन्ति, तथा (पोअंति त्ति) मुक्ताफलविद्रुमादीनि प्रोतयन्ति, गृहस्थानामि-ति गम्यते । तथा च (पोत्ताणि त्ति) बालकार्थं वस्त्राणि दद-ति, चकारादीदृग् घर्घरिकादिकमपि ददति । अथवा 'पोत्ता-णि त्ति' जलार्द्रीकृतवस्त्राणि ददति, मलस्फोटनाय शरीरे घर्ष-यन्तीत्यर्थः । तथा गृहिकार्यचिन्तिका अगारस्थत्यकारणतत्प-राः, हे इन्द्रभूते ! ता आर्या 'न हु' नैव भवन्तीति गाथार्थः ॥१२४॥

खरघोडाइट्ठाणे, वयंति ते ना वि तत्थ वचंति ।
वेसत्थीसंसग्गी, उवस्सयाओ समीवम्मि ॥१२५॥

खरा गर्दभाः, घोटकास्तुरङ्गमाः आदिशब्दाद् हस्त्यादयः, तेषां स्थाने या व्रजन्ति । उक्तं च व्यवहारभाष्यसप्तमोद्देशके-"तह चेव हत्थिसाला, घोडगसाला न चेव आसन्ना । जंतिसाला, कोट्ठीयसं च कुव्वन्ति" ॥ अथवा [खर त्ति] खरका दासाः, घोटा भट्टाः, अयं चानयोः शब्दयोरर्थः, आदिशब्दात् छत्रकारादयः, तेषां स्थाने व्रजन्ति, ते वा गर्दभाश्वादयो दासभ-ट्टादयो वा, तत्राऽऽर्यिकोपाश्रये व्रजन्ति समायान्तीत्यर्थः । श्री-व्यवहारभाष्यसप्तमोद्देशके त्विदं प्रथमपदस्य पाठान्तरम्-'थ-लिघोडाइट्ठाणे त्ति' तत्र स्थाल्या देवद्रोण्यः, तत्र घोटा किङ्कराः, अत्रादिशब्दस्तेषामेव देवद्रिकराणामनेकभेदख्यापनार्थः, तेषां स्थाने व्रजन्ति । तथा स्थलीघोटादेवडिङ्करापरपर्यायास्तत्रा-र्यिकोपाश्रये व्रजन्ति । तथा वेश्यास्त्रीसंसर्गी पुमान् सदैव यासां समीपे वसति, यदि वा वेश्यागृहसमीपे यासामुपा-श्रयः, ता आर्यिका न भवन्तीति शेषः ॥ १२५ ॥

सज्झायमुक्कजोगा, धम्मकहाविकहपेसण गिहीणं ।
गिहिनिस्सिज्जं वाहिं-ति संथवं तह करंतीओ ॥१२६॥

स्वाध्यायेन मुक्तो योगो व्यापारो यासां ताः स्वाध्यायमुक्तयो-गाः । 'छक्कायजोग त्ति' पाठे तु षट्कायेषु मुक्तो योगो यतनाल-क्षणो व्यापारो याभिस्ताः षट्कायमुक्तयोगास्तथाभूताः सत्यो गृहिणां धर्मकथानामाख्याने, विकथानां च स्त्रीकथादीनां क-रणे, प्रेषणे प्रेरणे च नानारूपे गृहिणामुद्यताः, तथा या गृहिनि-षद्यां वाहन्ते गृहे निषद्यामुपविशन्तीत्यर्थः । तथा याः संस्तवं परिचयं गृहस्थैः सह कुर्वन्त्यो वर्तन्ते, ताः साध्व्यो न भव-न्तीति ॥ १२६ ॥ ग० ३ अधि० ।

अथ गाथाद्वयेन वचनगुप्तिमाश्रित्य साध्व्याचारं दर्शयति-

जत्थुत्तरपडिउत्तर, वुड्डिआ अज्जा उ साहुणा सद्धिं ।
पलवंति सुरुट्ठा वा, गोयम ! किं तेण गच्छेण ? ॥१२७॥

यत्र गणे आर्या साधुना सार्द्धमुत्तरं प्रत्युत्तरं वा (वुड्डिअ त्ति) वृद्धा अपि ताः, अप्यर्थस्यात्र योजनात्, तथा सुरुष्टा अपि भृशं सरोषा अपि प्रजल्पन्ति प्रकर्षेण वदन्ति । हे गौतम ! तेन गच्छेन किम् ?, न किमपीत्यर्थः ॥ १२७ ॥

जत्थ य गच्छे गोयम !, उप्पन्ने कारणम्मि अज्जाओ ।
गणिणीपिट्ठिठिआओ, भासंती मउअसद्देण ॥१३०॥

हे गौतम ! यत्र च गच्छे ज्ञानादिकारणे उत्पन्ने (अज्जाओ त्ति) आर्याः साध्व्यो गणिनीपृष्ठस्थिता मृदुकशब्देन भाषन्ते स गच्छः स्यादिति शेषः ॥ १३० ॥

होज्ज वावारियाओ, इत्थीरज्जं न तं गच्छं ॥
-पवत्तणा सुपदेवी, ते च लच्छीइ सुराहि अणया वि ।
जत्थ एरिसए कुज्जा, इत्थीरज्जं न तं गच्छं ॥
गोयम ! पंचमहव्वय-गुत्तीणं दसविहस्स धम्मस्स ।
एवं कह वि खलिज्जइ, इत्थी रज्जं न तं गच्छं ॥
-दिणदिक्खियस्स दमग-स्स अभिमुहा अज्जवंदणा अज्जा ।
निच्छइ आसणगहणं, सो विणओ सव्वअज्जाणं ॥
वाससयदिक्खियाए, अज्जाए अज्जदिक्खिओ साहू ।
भत्तिभरनिब्भराए, वंदणविणएण सो पुज्जो ॥ महा० ए अ० ।
(उपाध्यादिकम् ' उवहि ' आदिशब्देषु दि० भा० १०६०
पृष्ठे द्रष्टव्यम्) नि० चू० । ग० ।

अज्जाकप्प-आर्याकल्प-पुं० । आर्याणामेव साध्वीनामेव क-
ल्पते इत्यार्याकल्पः । साध्व्यानीताऽऽहारे, ग० ।
अथार्याव्यतिकरेण गच्छस्वरूपमेव गाथाद्वयेनाह-
जत्थ य अज्जाकप्पो, पाणच्चाए वि रोरदुब्भिक्खे ।
न य परिभुज्जइ सहसा, गोयम ! गच्छं तयं भणियं ॥ ६१ ॥
यत्र च गणे आर्याणामेव साध्वीनामेव कल्पते इत्यार्याक-
ल्पः, साध्व्यानीताहार इत्यर्थः । प्राणत्यागेऽपि मरणागमने-
ऽपि, रोरदुर्भिक्षे दारुणदुष्काले, नच नैव, परिभुज्यते साधुभि-
रिति शेषः । कथम् ?, सहसेति । अविमृश्य संयमस्य विराधना-
राधने, यतः सर्वत्र संयममेव रक्षेत्, संयमे च तिष्ठति आ-
त्मानमेव रक्षेत्, आत्मानं च रक्षन् हिंसादिदोषाद् मुच्यते ।
तस्य च प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या विशुद्धिः स्यात् । तेन च हिंसा-
दिप्रतिसेवनकालेऽप्यविरतिः, तस्याशये विशुद्धतया
शुद्धपरिणामत्वात् । उक्तं चौघनिर्युक्तौ गाथायाम्-"सव्वत्थ
संजमं सं-जमाउ अप्पाणमेव रक्खंता । मुच्चइ अयाओ
पुणो विसोही न याविरई" ॥ १ ॥ ततो विमृश्य परिभुज्यतेऽपि
अर्णिकापुत्राचार्यैरिव । यदाह-'अणियपुत्तायरिओ, भत्तं पाणं
च चूलाए । उवणीयं भुंजंतो, वंभचेरण सो अलंगओ' ॥ १ ॥
हे गौतम ! स गच्छो भणित । सूत्रे नपुंसकत्वं प्राकृतत्वादि-
ति ॥ ६१ ॥ ग० २ अधि० । (अर्णिकापुत्राचार्यसंबन्धः ' अ-
णियाउत्त ' शब्दे वक्ष्यते)

अज्जाणंदिल-आर्यनन्दिल-पुं० । आर्यमङ्गोः शिष्ये आर्यनाग-
हस्तिगुरौ, नं० । (व्याख्याऽस्य ' अज्जणंदिल ' शब्दे द्रष्टव्या)

अज्जालद्ध-आर्यालब्ध-त्रि० । साध्वीं प्राप्ते, ग० २ अधि० ।
जत्थ य अज्जालद्धं, पडिगहमाई वि विविहउवगरणं ।
परिभुज्जइ साहूहिं, तं गोयम ! केरिसं गच्छं ? ॥ ६२ ॥
यत्र च गणे आर्यालब्धं साध्वीभ्यः पतद्ग्रहादिकं विविध-
मुपकरणमपि किं पुनराहारादिकमित्यपिशब्दार्थः । कारणं विना
साधुभिः परिभुज्यते, हे गौतम ! स कीदृशो गच्छ ?, न कीदृशो-
ऽपीत्यर्थः । आर्यालब्धानां पतद्ग्रहाद्युपकरणानां कथं संभवति ?,
साध्वीनां गृहस्थसकाशात् स्वयं वस्त्रपात्रस्यैव ग्रहणे भवेयात्,
तत्र च प्रायश्चित्तम्, अनेके दोषाश्च । उक्तं च निशीथभाष्य-
[illegible]-"गुरुउवहिम पडिसेहे, उप्पायणमेसहिं[illegible]
गुरुणाम्नां, सयमेव [illegible]" ॥ १ ॥ [illegible]
तत्पश्चार्द्धवृत्तिलेशो यथा-आर्याणां संयतीनां गृहस्थ-
तः स्वयमेव वस्त्रपात्रग्रहणे चतुर्गुरुकाः । यतः संय-
तीनां गृहस्थेभ्यः स्वयमेव वस्त्रादिग्रहणेऽनेके दोषाः संभवन्ति ।
तथाहि-संयती गृहस्थाद्वस्त्राणि गृह्णन्ती, दृष्ट्वा कोऽप्यनिरवद्याशो
भव्यो वा वस्त्राणि दत्त्वा मैथुनमवभाषेत, प्रतिषिद्धे [illegible]
वस्त्राणि गृहीत्वा च न करोतीत्युड्डाहं कुर्यात् । स्त्री च स्वभावे-
नाल्पसत्त्वा, ततो येन तेन वा वस्त्रादिनाऽल्पेनापि लोभेन आ-
त्मना वाकार्यमपि करोति, बहुमोहा च स्त्री, ततः पुरुषैः सह
संलापं कुर्वन्त्या वस्त्राणि गृह्णन्त्याश्च तस्याः पुरुषसंपर्कतो मोहो
दीप्यते, तदारक्षकौ वा संयतीं दृष्ट्वा कार्मणादिना वशीकुर्-
र्यात् । वशीकृता च चारित्रविराधनां करोति, तस्मान्निर्ग्रन्थीभि-
र्गृहस्थेभ्यः स्वयं वस्त्राणि न ग्राह्याणि, किन्तु तानि [illegible]
दातव्यानि । तत्राय विधिः-संयती प्रायोग्यमुपधिमुत्पाद्य गम-
दिनानि स्थापयति, ततः कल्पं कृत्वा स्थविरं स्थविरां वा परि-
धापयति, यदि नास्ति विचारकस्ततः गुरुत्वम् । एष परीक्षाम-
ध्यौ गणिन्याः प्रयच्छति, गणिनी च संयतीनां विधिना दद्या-
ति । अथाचार्यः स्वय न तासां ददाति तदा चतुर्गुरुकम्, तत-
[illegible] प्रवर्तिन्याधीनतरं [illegible]
च एषमस्थाने स्थापयति । तस्मादाचार्येण प्रवर्तिन्या एव दद्या-
दातव्यमित्यादि । एतच्च निशीथप्रथमोद्देशकचूर्ण्यादिषु सवि-
स्तरमस्तीति । अत्रोच्यते-यदुक्तं भवता, तत्सत्यं, परं [illegible],
श्रमणानाबाधे आर्याप्रभृत्युपकरणं [illegible]
निर्ग्रन्थीनामपि स्थविरादिक्रमेण स्वयमेव [illegible]
मात् । उक्तं च निशीथप्रथमोद्देशकचूर्णौ-यथा [illegible]
आह-यद्येवं, एतस्य नैर्ग्रन्थ्य प्रसज्यते । आचार्य आह-
'भगवं समणाण ? , आयते निग्गंथे सह [illegible] ।
जायति [illegible], व [illegible] ॥ १ ॥
हे गौतम ! समणाणं [illegible] ।
वत्थं वा गेण्हति, जदा [illegible] तदा [illegible] वि, [illegible]
तरुणी य ति [illegible] आयति इमे [illegible] । अत्र
वस्त्रग्रहणपात्रग्रहणमनुज्ञातमपि [illegible] अ-
भाष्यते ॥ १ ॥

[illegible]-भेसज्जं, [illegible] वि [illegible] ।
अज्जालद्धं भुंजइ, का मेरा तत्थ गच्छम्मि ! ॥ ६२ ॥
यत्र गणे, [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] हे गौतम ! (का मेरा) का मर्यादा [illegible] ?,
[illegible] ॥ ६० ॥
एगो एगित्थिए सद्धिं, जत्थ चिट्ठिज्ज गोयमा ! ।
संजइए विसेसेण, निरं तं तु भासिमो ॥ ६३ ॥
एक [illegible] हे गौतम ! [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] । दि-

[illegible] छुडिपाए, सुण्हाए अहव जइणिमाईणं ।
जत्थ न अज्जा अक्खइ, गुत्तिविभेयं तयं गच्छं ॥१३१॥

यत्र गच्छे आर्या मातुः दुहितुः स्नुषायाः अथवा भगिन्यादीनां [illegible] (गुत्तिविभेयं ति) गुप्तेर्वचनगुप्तेर्भेदो भङ्गो यस्मात्तद् गुप्तिविभेदम्, [illegible] वचनमिति शेषः । [illegible] । इदमुक्तं भवति-हे मातः ! हे स्नुषे ! हे भगिनि ! इत्यादि [illegible] वचनेन मात्रादीनालापयति । यदुक्तं श्रीदशवैकालिके [illegible]-" अज्जिए पज्जिए वा वि, अम्मो माउसिय त्ति अ । [illegible] भाइणिज्ज त्ति, धूए नत्तुणियत्ति य" ॥१५॥ [illegible]-" [illegible] वा वि, [illegible] त्ति अ । [illegible] त्ति, धुवे नत्तुणियत्ति य" ॥१७॥ अथवा ममेयं [illegible] इत्यादि, मदमस्ता वा माता अहमस्या वा [illegible] वा वधूटीत्यादि वा [illegible] वचनं [illegible] । अथवा मात्रादीनामपि ' गुत्तिविभेयं ' [illegible] न कथयति; स गच्छः स्यादिति ॥१३१॥

[illegible] माह-
[illegible], [illegible] जणेइ मिच्छत्तं ।
[illegible], विहारभेयं करेमाणा ॥१३२॥

[illegible], मिथ्यात्वं च जनयति, [illegible], मार्यादि कुर्वाणा ?, विहार-[illegible] भेदो मर्यादाभङ्गनम्, तं [illegible] ॥१३२॥ [illegible] ।

[illegible]—
[illegible] गोयमा ! नूणं ।
[illegible], [illegible] न भासिज्जा ॥ १३३ ॥

[illegible] मैथुनजनने [illegible] गौतम ! [illegible] मुनिः [illegible], तस्मात् इति शेषः । तस्मा-[illegible] ॥१३३॥

[illegible] पाए कलहे ।
[illegible] निच्चयं ॥ १३४ ॥

[illegible]

[illegible]—

[illegible]

तं निच्छयओ गोयम ! जाणिज्जा
मूलगुणेहि उ खलियं, बहुगुणकलियं [illegible]
उत्तमकुले वि जायं, निद्धाडिज्जइ [illegible]
जत्थ हिरण्णसुवण्णे, जणधणे कंसदोस [illegible]
सयणाण आसणाण य, नयपरिभोगो [illegible]
जत्थ हिरण्णसुवण्णं, हत्येण पराणयं ति [illegible]
कारणसमप्पियं पि हु, खणनिमिसद्धं ति [illegible]
उद्धरवंजवयपाल-णह अज्जाए [illegible]
सतसहस्सं परिहरे-ज्ज ण वी [illegible]
जत्युत्तरचलपडिउ-त्तरेहि अज्जा उ साहुणा [illegible]
पलवंति सकुद्धा वि य, गोयम ! किं तेण [illegible]
जत्थ य गोयम ! बहुवि-पक्कओ [illegible]
अज्जाणमणुट्ठिज्जइ, जाणियं तं केरिसं [illegible]
जत्थ वखंगसरीरो, साहू अणमाइ [illegible]
उड्ढं गच्छेज्ज बहिं, गोयम ! गच्छम्मि [illegible]
जत्थ य अज्जाहि समं, संलावुल्लावमा [illegible]
मोत्तुं धम्मुवएसं, गोयम ! तं केरिसं गच्छं ॥
भवपणियत्थविहारं, णियपविहारं [illegible]
कारणनीयावासं, जो सेवे तस्स का [illegible]
निम्मम निरहंकारे, उज्जुत्ते नाणदंसण [illegible]
सपलारंभविमुक्के, अणक्किच्छं मदं ति ॥
आयारमायरंते, एगखेत्ते ति गोयमा ! [illegible]
वासमयं पि वसंते, गीयत्थाराहगे [illegible]
जत्थ समुद्देसकाले, साहूणं मंडलीइ [illegible]
गोयम ! ठवंति पादे, इत्थीरज्जं न तं गच्छं ॥
जत्थ य हत्यसए वि य, रयणीचारं [illegible]
उड्ढं दसण्हसमई, करेंति अज्जाउ [illegible]
अववाएण वि कारण-वसेण अज्जा [illegible]
गोयम ! थेरपरिमद्दे-मि जत्थ तं केरिसं गच्छं ॥
जत्थ य गोयम ! साहू, अज्जाहि [illegible]
अववाएण वि गच्छे-ज्ज तत्थ [illegible]
जत्थ य निसाइभेयं, [illegible]
अज्जाओ निज्जिणेज्जा, तं गोयम ! केरिसं [illegible]
जत्थ य [illegible], पडिग्गहमाइ [illegible]
परिभुंजइ साहूहिं, तं गोयम ! केरिसं गच्छं ॥
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

होज्ज वायारियाओ, इत्थीरज्जं न तं गच्छं ॥
पच्चक्खा सुयदेवी, ते य हवीइ सुराहि अज्जा वि ।
जत्थ वारिसए कुज्जा, इत्थीरज्जं न तं गच्छं ॥
गोयम ! पंचमहव्वय-गुत्तीणं दसविहस्स धम्मस्स ।
एवं कह वि खलिज्जइ, इत्थी रज्जं न तं गच्छं ॥
दिणदिक्खियस्स दमग-स्स अभिमुहा अज्जचंदणा अज्जा ।
निच्छइ आसणगहणं, सो विणओ सव्वअज्जाणं ॥
वाससयदिक्खियाए, अज्जाए अज्जदिक्खिओ साहू ।
भत्तिभरनिब्भराए, वंदणविणएण सो पुज्जो ॥ पहा० ५ अ० ।
(उपर्यादिकम ' वयहि ' आदिशब्देषु द्वि० भा० १०६०
पृष्ठे द्रष्टव्यम) नि० चू० । ग० ।

अज्जाकप्प–आर्याकल्प–पुं० । आर्याणामेव साध्वीनामेव कल्पते इत्यार्याकल्पः । साध्व्यानीताऽऽहारे, ग० ।

अथार्याव्यतिकरेण गच्छस्वरूपमेव गाथादशकेनाह–
जत्थ य अज्जाकप्पो, पाणच्चाए वि रोरदुब्भिक्खे ।
न य परिभुज्जइ सहसा, गोयम ! गच्छं तयं भणियं ॥ ६१ ॥
यत्र च गणे आर्याणामेव साध्वीनामेव कल्पते इत्यार्याकल्पः, साध्व्यानीताहार इत्यर्थः । प्राणत्यागेऽपि मरणागमनेऽपि, रोरदुर्भिक्षे दारुणदुष्काले, नव नैव, परिभुज्यते साधुभिरिति शेषः । कथम् ?, सहसेति । अविमृश्य संयमस्य विराधनाविराधने, यतः सर्वत्र संयममेव रक्षेत्, संयमे च तिष्ठति आत्मानमेव रक्षेत, आत्मानं च रक्षन् हिंसादिदोषात् मुच्यते । मुक्तस्य च प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या विशुद्धिः स्यात् । तेन च हिंसादिदोषप्रतिसेवनकालेऽप्यविरतिः, तस्याशये विशुद्धतया विशुद्धपरिणामत्वात् । उक्तं चौघनिर्युक्तौ गाथायाम्–"सव्वत्थ संजमं सं-जमाउ अप्पाणमेव रक्खेता । मुच्चइ वायाओ पुणो विसोही न याविरई" ॥ १ ॥ ततो विमृश्य परिभुज्यतेऽपि अर्णिकापुत्राचार्यैरिव । यदाह–'अणियपुत्तायरिओ, भत्तं पाणं च पुप्फचूलाए । उवणीयं भुंजंतो, वंभवयेण सो अलंगओ' ॥ १ ॥ हे गौतम ! स गच्छो भणितः । सूत्रे नपुंसकत्वं प्राकृतत्वादिति ॥ ६१ ॥ ग० २ अधि० । (अर्णिकापुत्राचार्यसंबन्धश्च ' अणियाउत्त ' शब्दे वक्ष्यते)

अज्जाणंदिल–आर्यनन्दिल–पुं० । आर्यमङ्गोः शिष्ये आर्यनागहस्तिगुरौ, नं० । (व्याख्याऽस्य 'अज्जणंदिल ' शब्दे द्रष्टव्या)

अज्जालद्ध–आर्यालब्ध–त्रि० । साध्वीं प्राप्ते, ग० २ अधि० ।

जत्थ य अज्जालद्धं, पडिगहमाई वि विविहउवगरणं ।
परिभुज्जइ साहूहिं, तं गोयम ! केरिसं गच्छं ? ॥ ६१ ॥
यत्र च गणे आर्यालब्धं साध्वीप्राप्तं पतद्ग्रहादिकं विविधमुपकरणमपि किं पुनराहारादिकमित्यपिशब्दार्थः । कारणं विना साधुभिः परिभुज्यते, हे गौतम ! स कीदृशो गच्छः ?, न कीदृशोऽपि । नन्वथाऽऽर्यालब्धस्य पतद्ग्रहाद्युपकरणस्य कथं संभवति ?, आर्याणां गृहस्थसकाशात् स्वयं वस्त्रपात्रस्यैव ग्रहणनिषेधात्, ग्रहणे च प्रायश्चित्तस्य, अनेके दोषाश्च । उक्तं च यतिजीतकल्पप्रकरणे–"गुरुउवहिअ पडिसेहे, उप्पइयअसोहिकामिनतगाहणे । लहुगा गुरुगाऽऽणं, सयमेव वत्थपायगिहे " ॥ १ ॥ अस्याः श्रीतिलकसूरिकृतपश्चार्द्धवृत्तिलेशो यथा–आर्याणां संयतीनां गृहस्थसकाशात् स्वयमेव वस्त्रपात्रग्रहणे चतुर्गुरुकाः । यतः संयतीनां गृहस्थेभ्यः स्वयमेव वस्त्रादिग्रहणेऽनेके दोषाः संभवन्ति । तथाहि–संयतीं गृहस्थाद्वस्त्राणि गृह्णन्तीं दृष्ट्वा कोऽप्यजिनवचनभावितो मिथ्यात्वं गच्छेत्, निर्ग्रन्थोऽपि भार्टी गृह्णातीति शङ्केत वा । गृहस्थो वा वस्त्राणि दत्त्वा मैथुनमवभाषेत, प्रतिषिद्धे चैवमेव वस्त्राणि गृहीत्वोक्तं न करोतीत्युड्डाहं कुर्यात् । स्त्री च स्वभावेनाल्पसत्त्वा, ततो येन तेन वा वस्त्रादिनाऽल्पेनापि लोभेन आजिता चाकार्यमपि करोति, बहुमोहा च स्त्री, ततः पुरुषैः सह संलापं कुर्वन्त्या वस्त्राणि गृह्णन्त्याश्च तस्याः पुरुषसंपर्कतो मोहो दीप्यते, उदाररूपां वा संयतीं दृष्ट्वा कार्मणादिना कश्चिद्वशीकुर्यात् । वशीकृता च चारित्रविराधनां करोति, तस्मान्निर्ग्रन्थीभिर्गृहस्थेभ्यः स्वयं वस्त्राणि न ग्राह्याणि, किन्तु तानि गणधरेण दातव्यानि । तत्राय विधिः–संयती प्रायोग्यमुपधिमुत्पाद्य सप्त दिनानि स्थापयति, ततः कल्पे कृत्वा स्थविरं स्थविरां वा परिधापयति, यदि नास्ति विकारस्ततः सुन्दरम् । एवं परीक्षां कृत्वा यदि ददाति, तदा चतुर्गुरुकम् । तं च परीक्षितमुपधिमाचार्यो गणिन्याः प्रयच्छति, गणिनी च संयतीनां विधिना ददाति । अथाचार्यः स्वयं न तासां ददाति तदा चतुर्गुरुकम्, यतः काचिन्मन्दधर्मा प्रणेदस्याऽशोभनं दत्तं तेनैवाऽस्येष्टा यौवनस्था च प्रथमस्थाने स्थापयति । तस्मादाचार्येण प्रवर्त्तिन्या एव हस्ते दातव्यमित्यादि । एतच्च निशीथपञ्चदशोद्देशकचूर्णावपि सविस्तरमस्तीति । अत्रोच्यते–यदुक्तं भवता, तत् सत्यं, परं संप्रत्येव, श्रमणाद्यभावादौ आर्यालब्धत्वमुपकरणस्य श्रमणाद्यभावादौ निर्ग्रन्थीनामपि स्थविरादिक्रमेण स्वयमेव वस्त्रग्रहणस्यानुज्ञानात् । उक्तं च निशीथपञ्चदशोद्देशकचूर्णावेव–यथा चोयग आह–एवमेव, सूत्रस्य नैरर्थक्यं प्रसज्यते । आयरिओ आह–
'असइ समणाण चोअग !, जायंते निमंतणे तह चेव ।
जायति थेरिय सती, य मीसगा मोत्तुमे ठाणो' ॥ १ ॥
हे चोदग ! समणाणं असति थेरियाओ वत्थं जायंते, निमंतणे वत्थं वा गेण्हंति, जहा साहू तहा ताओ वि, थेरीणं असति तरुणी य ति मिस्साउ जायंति इमे ठाणे मोत्तुमित्यादि । अत्र वस्त्रग्रहणवत्पात्रग्रहणमनुक्तमपि श्रमणाभावादावनुज्ञातं संभाव्यते ॥ ६१ ॥

अइदुल्लह-भेसज्जं, बलबुद्धिविवड्ढणं पि पुट्ठिकरं ।
अज्जालद्धं भुंजइ, का मेरा तत्थ गच्छम्मि ? ॥ ६२ ॥
यत्र गणे, अपिशब्दस्य प्रतिविशेषणं संबन्धात् अतिदुर्लभमपि अतिशयेन दुष्प्राप्यमपि । अत्र विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात् । समासो वा भैषज्यशब्देन सह । तथा बलबुद्धिविवर्धनमपि, तत्र बलं शरीरसामर्थ्यं, बुद्धिर्मेधा, तथा पुष्टिकरमपि शरीरोपचयकार्यपि, भैषज्यमौषधमार्यालब्धं साध्व्यानीतं भुज्यते, साधुभिरिति शेषः । हे गौतम ! (का मेरा) का मर्यादा तत्र गच्छे ?, न काचिदपीत्यर्थः । मेरेति मर्यादावाची देशीशब्दः ॥ ६२ ॥
एगो एगित्थिए सद्धिं, जत्थ चिट्ठिज्ज गोयमा ! ।
संजईए विसेसेण, निमेरं तं तु भासिमो ॥ ६३ ॥
एक एकाकी साधुरेकाकिन्या स्त्रिया सार्धं हे गौतम ! यत्र तिष्ठेत् तं गच्छं निर्मेरं निर्मर्यादं भाषामहे वयम् । संयत्या च एकाकिन्या एकाकी यत्र साधुस्तिष्ठेत् तं तु गच्छं विशेषेण निर्मेरं भाषामहे इति । अत्र एकाकिन्या स्त्रिया साध्व्या च सार्धमेकाकिनः साधोर्यत्रैकत्र स्थानवर्जनं तत्तयोरेकान्ते परस्परमङ्गप्रत्यङ्गादिदर्शनाऽऽलापादिकरणतो दोषोत्पत्तेः संभवात् । किं-

च-दर्शनेनैकान्तेऽपि श्रेणिकचेल्लणयोः रूपादिदर्शनेन श्रीमन्महावीरस्य साधुसाध्वीनां निदानकरणादिदोषोत्पत्तिः संजातेति श्रीदशाश्रुतस्कन्धे तथोपलम्भादिति। अनुष्टुप्छन्दः ॥९३॥ ग० २ अधि०। महा०। आव०। ('अग्नित्रावत्त' शब्दे तत्कथा वक्ष्यते)

अज्जावेयव्व-आज्ञापयितव्य-त्रि०। आज्ञाप्ये समाज्ञापयितव्ये, "सव्वे पाणा ... अज्जावेयव्वा" सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

अज्जासंसग्गी-आर्यासंसर्गी-स्त्री०। साध्वीपरिचये, ग०।

आर्यासंसर्गवर्जने कारणमाह—

वज्जेह अप्पमत्ता, अज्जासंसग्गि अग्गिविससरिसी ।
अज्जाणुचरो साहू, लहइ अकित्तिं खु अचिरेण ॥६३॥

[illegible] अप्रमत्ताः प्रमादवर्जिताः सन्तो भोः साधवः ! [illegible], आर्यासंसर्गीः साध्वीपरिचयान्। अत्र शसो लोपः प्राकृतत्वात्। उपसर्गभिन्नविषसदृशी [illegible] दहनात्। ततोऽयमर्थः—यस्मात्कारणात् आर्यानुचरः साधुर्मुनिः [illegible] प्राप्नोति अकीर्तिमसाधुवादमचिरेण [illegible] ॥ ६३ ॥

थेरस्स तवस्सिस्स, बहुस्सुअस्स य पमाणभूयस्स ।
अज्जासंसग्गीए, जणजंपणयं हविज्जाहि ॥ ६४ ॥

[illegible] वृद्धस्य तपस्विनो वा तपोयुक्तस्य बहुश्रुतस्य वा [illegible] सर्वजनमान्यस्य एवंविध[illegible] साध्वीपरिचयेन (जणजंपणयं [illegible]) [illegible] भवेदिति ॥ ६४ ॥

[illegible] जनापवादः स्यात्तर्हि—

[illegible] कथमित्याह—

किं पुण तरुणो अबहु-स्सुओ न य विगिट्ठतवचरणो ।
अज्जासंसग्गीए, जणजंपणयं न पाविज्जा ? ॥ ६५ ॥

[illegible], न चापि बहुवि[illegible] एवंविधो मुनिरार्यासंसर्ग्या [illegible] किं पुनः [illegible] प्राप्नुयात् ?, अपि तु प्राप्नुयादेवेत्यर्थः ॥ ६५ ॥ ग० २ अधि० ।

[illegible]-पुं०। [illegible] चतुर्दशाधिक[illegible] गुणि, ते आर्यादा[illegible] समवसृत्य तत्रैव [illegible] पुनः [illegible] कश्चिन्न[illegible] अन्य[illegible]। [illegible] ('[illegible]' शब्देऽस्य विस्तरः)

[illegible]-त्रि०। [illegible] १ अ० । [illegible],
" [illegible] " [illegible] १ अ० ।
[illegible] " [illegible] "
[illegible]

[illegible]-पुं०। [illegible]
[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ ११७ ॥

[illegible]

द्योऽयं तपस्विनामिति अग्निकापुत्रमाचार्यं [illegible] इत्यर्थेनेति गाथार्थः ॥ ११७ ॥

कथम् ?—

अन्नियपुत्तायरिओ, भत्तं पाणं च पुप्फचूलाए ।
उवणीयं भुंजंतो, तेणेव भवेण अंतगडो ॥ ११८ ॥

अक्षरार्थो निगदसिद्धः । भावार्थस्तु कथानकादवसेयः (' अन्नियाउत्त ' शब्दे वक्ष्यते) तेन मन्दमतय [illegible] धन्तः सन्तः , इदमपरं नेक्षन्ते । किमत आह—

गयसीसगणा ओमे, भिक्खायरिआ अपच्चलो थेरो ।
निगमंति सड्ढो विसड्ढो, अज्जिअलाभं गवेसंता ॥ ११९ ॥

गतः शिष्यगणोऽस्येति समासस्तम, (ओमे) दुर्भिक्षे [illegible] चर्यायाम्, (अपच्चलो) असमर्थः, भिक्षाचर्यायाम् [illegible] मर्थस्तं स्थविरं वृद्धं [illegible] गुणयुक्तं न गणयन्ति [illegible] हा विसड्ढाः समर्थाः, अपिशब्दात् सहायादिगुण[illegible] मायाविन आर्यिकालाभं येयं गवेषयन्ति [illegible] र्थः ॥ ११९ ॥ आव० ३ अ० ।

अज्जिआ-आर्यिका-स्त्री०। मातुर्मातरि, [illegible] महाम, वृ० १ उ० । ग० । साध्व्यां च। "आर्यानि [illegible] चार्यिकासकलम् । नास्यास्त्यसम्मयोऽन्या-[illegible] घगतिरस्ति" ॥ १ ॥ ध० २ अधि० ।

अज्जु-अद्य-अव्य०। अपभ्रंशे उकारान्तत्वम् । [illegible]
"विप्पियआरउ जइवि, पिउ तो वि तं आणहि अज्जु" [illegible]

अज्जुण-अर्जुन-पुं०। अर्ज-उनन् । ककुभपर्याये, [illegible] वीजकवृक्षभेदे, प्रज्ञा० १ पद० । ज्ञा० । रा० । तत्पुष्पे, [illegible] यन्ति मयन्ति । ज्ञा० १ श्रु० ९ अ०। तृणविशेषे, प्रज्ञा० १ [illegible] । स्वनामख्याते पाण्डुरस्वर्णे, जं० ३ वक्ष० । [illegible] मल्लसिपुत्रस्य पष्ठे गौतमपुत्रे दिक्चरे, भ० १५ श० १ [illegible] "[illegible] गोयमपुत्तस्स सरीरगं विप्पजहामि" भ० १५ [illegible] उ० । हैहयवंश्ये कृतवीर्यापत्ये नृपभेदे, [illegible] र्जुनः । ध० १ अधि० । पाण्डुराजस्य तृतीये आत्मजे, [illegible] श्रु० १६ अ० । (विपाकादि चास्य 'दोवई' शब्दे [illegible])
" अज्जुणगउडं व तस्स जाणइ " उपा० ३ अ० ।

अज्जुणग-अर्जुनक-पुं०। मालाकारभेदे, अन्त० । [illegible]

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णयरे गुणसिलए [illegible] ए, सेणिए राया, चेल्लणा देवी, तत्थ णं रायगिहे [illegible] अज्जुणए नामा मालागारे परिवसति । [illegible] अपरिभूते तस्स णं अज्जुणयस्स मालागारस्स बंधु[illegible] नामं भारिया होत्था । गुणालस्स [illegible] मालागारस्स रायगिहस्स नगरस्स बहिया। [illegible] पुप्फारामे होत्था, किण्हे जाव निउरंबभूए [illegible] दसद्ध [illegible] तस्स णं पुप्फारामस्स [illegible] अज्जुणयस्स मालागारस्स [illegible] [illegible] पुव्वपुरिसपज्जागए [illegible] [illegible], दिव्वे सच्चे [illegible]

मोग्गरपाणिस्स एगं महं पलसहस्सनिप्फण्णं अओमयं मो-
ग्गरं गहाय चिट्ठति. तस्सेव अज्जुणए मालागारे बालप्पभि-
ई चेव मोग्गरपाणिजक्खस्स भत्ते या वि होत्था, कल्ला-
कल्लिं पच्छियपडिया ति गेण्हेति, गेण्हेत्तिा रायगि-
हातो णगराओ पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमइत्ता जेणेव पु-
प्फारामे उज्जाणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता पु-
प्फच्चयं करेति, करेत्तिा अग्गाइं वराइं पुप्फाइं गहाय जे-
णेव मोग्गरपाणिस्स जक्खस्स जक्खायतणे तेणेव उवा-
गच्छति, उवागच्छतित्ता मोग्गरपाणिजक्खस्स महरिहं पुप्फ-
च्चणं करेति, करेतित्ता जाणुपात पडिते पणामं करेति,
करेतित्ता ततो पच्छा रायमग्गंसि वित्ति कप्पेमाणे विहरति,
तत्थ णं रायगिहे नगरे ललितनामं गोट्ठी परिवसति, अड्ढा
जाव अपरिभूया जंकयसुकया या वि होत्था, तं रायगिहे
णयरे अण्णया कयाइं पमोदे घुट्ठे या वि होत्था, तस्सेव अज्जु-
णए मालागारे कल्लपभुयतराएहिं पुप्फेहिं कज्जंमि निकट्टु
पच्चूसकालसमयंसि बंधुमतीए भारियाए सद्धिं पच्छिय प-
डियाइं गेण्हति, गेण्हतित्ता सयाउ गिहातो पडिनिक्खमति,
पडिनिक्खमित्ता रायगिहं णयरं मज्झंमज्झेणं निगच्छइ,
निगच्छइत्ता जेणेव पुप्फारामे उज्जाणे तेणेव उवाग-
च्छति, उवागच्छतित्ता बंधुमतीए भारियाए सद्धिं पुप्फुच्चयं
करेति, तीसे ललियाए गोट्ठी; तत्थ गोट्ठिल्ला पुरिसा जेणेव
मोग्गरपाणिस्स जक्खायतणे तेणेव उवागया अभिर-
ममाणा चिट्ठंति, तस्सेव अज्जुणए मालागारे बंधुमतीए
भारियाए सद्धिं पुप्फुच्चयं करेति, करेतित्ता पच्छियं भरेति
अग्गाइं पुप्फाइं गिहाइं जेणेव मोग्गरपाणिस्स जक्खस्स
जक्खायतणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता ते छ गो-
ट्ठिल्ला पुरिसा अज्जुणए मालागारे बंधुमतीभारियाए सद्धिं
एज्जमाणं पासंति, पासंतित्ता अण्णमण्णं एवं वयासी-एस
णं देवाणुप्पिया! अज्जुणमालागारे बंधुमतीए भारियाए स-
द्धिं इहव्वमागच्छति, इहव्वमागच्छतित्ता तं सेयं खलु देवा-
णुप्पिया! अम्हं अज्जुणयं मालागारं अवउडबंधणयं क-
रेत्ति, करेत्तिा बंधुमतीए भारियाए सद्धिं विपुलाइं भोग-
भोगाइं भुंजमाणाणं विहरित्तए तिकट्टु एयमट्ठं अण्ण-
मण्णस्स पडिसुणंति, पडिसुणंतित्ता कवाडंतरेसु निलुक्कंति,
निच्चला निप्फंदा तुसिणीया पच्छन्ना चिट्ठंति. तस्से अज्जु-
णए मालागारे बंधुमतीए भारियाए सद्धिं जेणेव मोग्गर-
जक्खायतणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता आलोए
पणामं करेति, करेतित्ता महारिहं पुप्फच्चणं करेति, जाणुपाय
पणामं करेति, तते णं ते छ गोट्ठिल्ला पुरिसा दवदवस्स
कवाडंतरेहिंतो निगच्छंति, निगच्छंतित्ता अज्जुणयं मा-
लागारं गेण्हंति, गेण्हंतित्ता अवउडं बंधणं करेंति. बंधुमती-

मालागारीए सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहर-
ति, तस्स अज्जुणयस्स मालागारस्स अयं अज्झत्थिए। एवं
खलु अहं बालप्पभिति चेव मोग्गरपाणिस्स भगवओ कल्ला-
कल्लिं जाव कप्पेमाणे विहरामि, तं जदि णं इह सन्निहिते हुन्त-
ते णं एस कहं ममेयं मे मोग्गरपाणिजक्खे अज्जुणयस्स
मालागारस्स अयमेयारूवं अज्झत्थियं जाव वियाणित्ता
अज्जुणयस्स मालागारस्स सरीरयं अणुपविसति, अणुप-
विसित्ता तडतडस्स बंधाइं छिंदति, छिंदित्ता तं पलस-
हस्सनिप्फण्णं अयोमयं मोग्गरं गेण्हति, ते इत्थी सत्तमे छ
पुरिसे घाएइ तते अज्जुणए मालागारे मोग्गरपाणिणा अ-
न्नाइट्ठे समाणे रायगिहस्स नगरस्स परिपेरंतेणं
कल्लाकल्लिं छ इत्थिसत्तमे पुरिसे घाएमाणे विहरति. तए णं
रायगिहे णयरे सिंघाडग जाव महापहेसु बहुजणो अन्नम-
न्नस्स एवमाइक्खति०४। एवं खलु देवाणुप्पिया! अज्जुणए
मालागारे मोग्गरपाणिणा अण्णाइट्ठे समाणे रायगिहे नयरे
बहिया छ इत्थिसत्तमे पुरिसे घाएमाणे २ विहरति. तए णं
से सेणिए राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे कोडुंबिय पु-
रिसे सद्दावेति, सद्दावेत्तिा एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया! अ-
ज्जुणमालागारे जाव घाएमाणे विहरति. तं मा णं तुब्भे के-
इ कट्ठस्स वा तणस्स वा पाणियस्स वा पुप्फफलाणं वा अट्ठाए
सइरं निग्गच्छउमाणं मा तस्स सरीरयस्स वावत्ती भविस्सति.
तिकट्टु दोच्चंपि तच्चंपि घोसणयं घोसेह, घोसणयं घोसेत्ता
खिप्पामेव एयं माणत्तियं पच्चप्पिणह, तए णं कोडुं-
बिय जाव पच्चप्पिणंति, तत्थ णं रायगिहे णयरे सुदंसणे
नामं सेट्ठी परिवसति, अड्ढे तस्से सुदंसणे समणोवासए या
वि होत्था, अभिगयजीवाजीवे जाव विहरति। तेणं कालेणं
तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे जाव समोसढे जाव वि-
हरति, तं रायगिहे णयरे सिंघाडग बहुजणो अन्नमन्नस्स एव-
माइक्खति जाव किमंग! पुण विपुलस्स अट्ठस्स गहणयाए,
तं तस्स सुदंसणस्स बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म
अयमेयारूवे० ४। एवं खलु समणे णं जाव विहरति, तं गच्छा-
मि, णं वंदामि, एवं संपेहेति, संपेहेत्तिा जेणेव अम्मापियरो
तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता करयल० एवं वयासी-
एवं खलु अम्मयाओ समणे जाव विहरति, तं गच्छामि णं
समणं भगवं महावीरं वंदामि, जाव पज्जुवासामि. तते णं
सुदंसणं सेट्ठिं अम्मापियरो एवं वयासी—एवं खलु पुत्ता
अज्जुणए मालागारे जाव घाएमाणे विहरति, तं मा णं तुमं
पुत्ता समणं भगवं महावीरं वंदए णिग्गच्छाहि, [illegible]
माणं तव सरीरयस्स वावत्ती भविस्सइ, तुमं णं इह गए चेव स-
मणं भगवं महावीरं वंदाहि, तए णं से सुदंसणे सेट्ठी अम्मा[illegible]

[illegible] एवं वयासी-किं णं अम्मयातो समणं भगवं महावीरं इह-मागते इह पत्ते इह समोसढे इह गते चेव वंदिस्सामि, तं गच्छा-मि णं अहं अम्मयाउ तुज्झेहिं अब्भणुन्नाते समाणे समणं भगवं महावीरं वंदति, तं सुदंसणं सेट्ठी अम्मापियरो जा से नो संचाएंति, बहूहिं आघवणेहिय ४ जाव परूवेहिं संता तंता [illegible] एवं वयासी-अहासुहं तते णं से सुदंसणे अ-म्मापिईहिं अब्भणुन्नाते समाणे एहाति, सुद्धप्पा वेसाइं जाव सरीरे सयातो गिहातो पडिनिक्खमति, पडिणिक्खमतित्ता [illegible] रायगिहं णयरं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छति, [illegible] [illegible] जक्खस्स जक्खायतणे अदूर-[illegible] गुणसिलए चेतिए जेणेव समणे भगवं तेणेव [illegible] तते णं से मोग्गरपाणी जक्खे सुदंसणं स-[illegible] [illegible] पासति, पासतित्ता [illegible] [illegible] मोग्गरं उल्लालेमाणे [illegible] सुदंसणे समणो वासए तेणेव उवागच्छति, तते [illegible] सुदंसणे समणो वासए मोग्गरपाणि जक्खे एज्जमाणे पासति, पासित्ता [illegible] अणुव्विग्गे अक्खुभिते [illegible] [illegible] भूमी पमज्जति, पमज्जतित्ता [illegible] वयासी-[illegible] अरहंताणं जाव संपत्ताणं; [illegible] जाव [illegible] पुव्वं पि [illegible] [illegible] महावीरस्स अंतिए थूलए [illegible] [illegible] थूलए मुसावाए [illegible] [illegible] जावज्जीवाए तं [illegible] [illegible] सव्वं पाणातिवायं पच्च-[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] मिच्छादंसणस-[illegible] [illegible] [illegible] पाणं खाइमं [illegible] [illegible] जावज्जीवाए, जति [illegible] [illegible] कप्पइ पारेत्तए । [illegible] [illegible] [illegible] पारेत्तए । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] [illegible] [illegible]

[illegible] दिसिं पाउब्भूते तामेव [illegible] [illegible] मालागारे मोग्गरपाणिणा जक्खेणं विप्पमुक्के [illegible] सति धरणीयलंसि, सव्वं गेहं निवारिए [illegible] [illegible] वासए निरुवसग्गम्मि तिकट्टु पडिमं पारेति, [illegible] अज्जुणए मालागारे ततो मुहुत्तंतरेण आसत्थे [illegible] उट्ठेतित्ता सुदंसणं समणो वासयं एवं वयासी-[illegible] देवाणुप्पिया ! कहिं वा संपत्थिया ?। तते णं [illegible] [illegible] वासए अज्जुणयं मालागारं एवं वयासी-एवं खलु [illegible] [illegible] प्पिया ! अहं सुदंसणे नाम समणो [illegible] [illegible] गुणसिले चेइए समणं भगवं महावीरस्स वंदिउं [illegible] तते अज्जुणए मालागारे सुदंसणं समणो [illegible] [illegible] सी-तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया [illegible] [illegible] भगवं महावीरस्स वंदिए जाव पज्जुवासिए। [illegible] प्पिया ! तते णं से सुदंसणे समणो वासए अज्जुणएणं [illegible] गारेणं सद्धिं जेणेव गुणसिलए चेतिए जेणेव समणे [illegible] महावीरे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छितित्ता अज्जुण [illegible] मालागारेणं सद्धिं समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो [illegible] वासति । तते णं से समणे भगवं महावीरे सुदंसण [illegible] सए अज्जुणयस्स मालागारस्स [illegible] [illegible] णोवासए पडिगते तते अज्जुणए मालागारे समणस्स [illegible] महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा हट्ठतुट्ठा [illegible] [illegible] निग्गंथं पावयणं जाव अब्भुट्ठेमि, [illegible] [illegible] उत्तरपुरच्छिमं य सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेति, [illegible] जाव अणगारे जाते जाव विहरति, तते णं से अज्जुणए अ-णगारे जं चेव दिवसं मुंडे जाव पव्वइए तं चेव दिवसं [illegible] णं भगवं महावीरं महावीरस्स वंदति, [illegible] [illegible] [illegible] उग्गहं उग्गिण्हेति, कप्पति, मे जावज्जीवाए [illegible] अनिक्खित्तेण तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणस्स [illegible] तिकट्टु अयमेयारूवं उग्गहं उगिण्हति, [illegible] [illegible] [illegible], तते णं अज्जुणए अणगारे [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible], तते णं से अज्जुणयं अणगारं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

सस्समाणे समं सहाति, समं पक्खवति, निक्खिवइ, आहिज्जमाणे आहियासेइ, समं सहमाणे पक्खवतो निक्खिवति, आहियासेति, रायगिहे णयरे उच्चणीयमज्झिमकुलाइं अडमाणे जइ भत्तं लभति, तो पाणं न लभति, जइ पाणं लभइ, तो भत्तं न लभइ, तत्त णं से अज्झुणए अणगारे अदीणे अविमणे अकलुसे अणाइले अविसादी अपरितंतजोगी अडति, अडित्ता रायगिहाओ नगराओ पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमित्ता, जेणेव गुणसिलए चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे जहेव गोयमसामी जाव पडिदंसेते २ समणं भगवं महावीरं अब्भणुण्णाते समाणे अमुच्छिते ४ बिलमिव पण्णगभूतेण अप्पाणेण तमाहारं आहारेति, आहारेत्ता तते णं समणे भगवं महावीरे अण्णया कयाति, कयातिता रायगिहाओ पडिणिक्खमति, पडिणिक्खमतित्ता बहिया जणविहं विहारं विहरति, तते णं से अज्झुणए अणगारे तेणं उरालेणं विपुलेणं पयत्तेणं पग्गहिएणं महाणुभागेणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणे बहुपडिपुण्णे छम्मासे सामण्णपरियागं पाउणति, अद्धमासियाए संलेहणाए अप्पाणं झुसेति, तीसं भत्ताइं अणसणाए छेदेति, छेदित्ता जमट्ठाते कीरति, कीरतित्ता जाव सिद्धे ॥ अंत० ६ वर्ग० ३ अ० ।

स्वनामख्याते तस्करभेदे, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । (तस्य ग्रन्थान्तरस्थात् ' मद ' शब्दे कथा वक्ष्यते)

अज्जुणसुवण्ण–अर्जुनसुवर्ण–न० । श्वेतकाञ्चने, औ० ।

अज्झोग–अध्यंग–पुं० । "मेथादौ वा" ॥ ८ । २ । ४४ ॥ इति प्राकृतलक्षणात्प्रस्य वा [illegible] । योगवर्जिते, पं० सं० १ द्वा० ।

अज्झोगि (ण्)–अयोगिन्–पुं० । मेथादित्वात् [illegible] । अयोगिकेवलिनि, " अझे.गो अज्झोगो, समयसजोगोमि होति जोगाउ " पं० सं० १ द्वा० ।

अज्झप्पो–देशी–प्रातिवेश्मिके, दे० ना० १ वर्ग० ।

अज्झप्प–अध्यात्म–न० । अधि आत्मनि वर्तते इत्यध्यात्मम् । चेतसि, दशा० १ अ० । आचा० । प्रव० । दशा० । ध्याने, आव० ३ अ० । आत्मधर्मध्यानादिभावनायाम, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । आत्मानमधिकृत्य यद्वर्तते तदध्यात्मम् । सुखदुःखादौ, "जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ, जे बहिया जाणइ से अज्झत्थं जाणइ" आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । (आत्मनि इति अध्यात्मम्,'अव्ययं विभ०' इत्यादि इति पाणिनिसूत्रेण समासः) आत्मनीत्यर्थे, उत्त० १ अ० ।

अज्झप्पमय–न० । [illegible] निस्त्रिंशध्यात्मस्थ, [illegible] अन्ते सु-धर्मादौ, उत्त० । "अज्झत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्सपाणे पियायए " उत्त० ६ अ० ।

अज्झप्पजोग–अध्यात्मयोग–पुं० । सुप्रणिहितान्तःकरणत्वम्, धर्मध्याने च । सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । योगभेदे च, [illegible] औचित्यादिभावनार्थाच्चो धर्मेण [illegible] हेतुं क्रियां कुर्वन् अध्यात्मं धर्मध्यानं [illegible] [illegible] इति योगवृत्युपाध्यायमतम् । अष्ट० ८ अष्ट० ।

औचित्याद् वृत्तयुक्तस्य, वचनात्तत्त्वचिन्तनम् ।
मैत्र्यादिभावसंयुक्त-मध्यात्मं तद्विदो विदुः ॥ २ ॥

(औचित्यादिति) औचित्यादुचितवृत्तियुक्तस्य [illegible] जीवादिपदार्थसार्थविषयं [illegible] मैत्र्यादिभावैर्ब्रह्म [illegible] समन्वितं [illegible] विदुरिति । द्वा० १८ द्वा० । " अज्झप्पजोग [illegible] " आचा० १ श्रु० ।

अज्झप्पजोगसाहणजुत्त–अध्यात्मयोगसाधनयुक्त–पुं० । अध्यात्मं मनस्तस्य योगाः व्यापाराः धर्मध्यानादयस्तैर्यत् साधनं मात्मैकाग्रतादीनि तैर्युक्तो ऽध्यात्मयोगसाधनयुक्तः । विशेषात् सत्यसंयमादिषु । प्रश्न० २१ अ० । " [illegible] गुणे अज्झप्पजोगसाहणजुत्ते या वि भवइ" प्रश्न० ३ अ० ।

अज्झप्पजोगसुद्धादाण–अध्यात्मयोगशुद्धादान–त्रि० । [illegible] समाधिना सुप्रणिहितान्तःकरणतया धर्मध्यानेन शुद्धमादानं चारित्रं यस्य स तथा । शुद्धध्यानेन विशुद्धचारित्रे, " अज्झप्पजोगसुद्धादाणे उवट्ठिए ठिअप्पा [illegible] संखाए भिक्खु त्ति वच्चं " सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

अज्झप्पविसोधिया–अध्यात्मविशोधिका–स्त्री० । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] अ० ४ उ० । [illegible] [illegible] [illegible] अ० १ अधि० ।

अज्झप्पसंवुडजुत्त–अध्यात्मसंवृतयुक्त–त्रि० । [illegible] [illegible] प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

अज्झप्पदोस–अध्यात्मदोष–पुं० । [illegible] प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

अज्झप्पदोस–अध्यात्मदोष–पुं० । कषाये, सूत्र० ।

कोहं च माणं च तहेव मायं,
लोभं चउत्थं अज्झप्पदोसा ।
एयाणि वंता अरहा महेसी,
ण कुव्वई पाव ण कारवेइ ॥ २६ ॥

(कोह मित्यादि) [illegible] [illegible] सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अज्झप्पवत्तिया–अध्यात्मवर्तिका–स्त्री० । [illegible] [illegible] १० अ० ।

अज्झत्थवत्तिय–अध्यात्मवर्तित–पुं० । [illegible]

एडस्तत्प्रत्ययिकम् । अष्टमे क्रियास्थाने, तद्यथा-निर्निमित्तमे-व दुर्मना उपहतमनःसंकल्पो हृदयेन ह्रियमाणश्चिन्तासागरा-वगाढः संतिष्ठते । सूत्र० २ श्रु० १२ अ० ।

एतदेव सूत्रकारो व्यक्तमाह—

अहावरे अट्ठमे किरियाठाणे अज्झत्तवत्तिए त्ति आहि-ज्जइ से जहा णामए केइ पुरिसे णत्थि णं केइ किं विसं-वादेति सयमेव हीणे दीणे दुट्ठे दुम्मणे ओहयमणसंकप्पे चिंतासोगसागरसंपविट्ठे करतलपल्हत्थमुहे अट्टज्झाणोव-गए भूमिगयदिट्ठिए झियाइ तस्स णं अज्झत्थया आसं-सइया चत्तारि ठाणा एवमाहिज्जइ, तं कोहे माणे माया लोहे अज्झत्थमेव कोहमाणमायालोहे एवं खलु तस्स त-प्पत्तियं सावज्जंति आहिज्जइ अट्ठमे किरियाठाणे अज्झ-त्थवत्तिए त्ति आहिए ॥ १६ ॥

अथापरमष्टमं क्रियास्थानमाध्यात्मिकमित्यन्तःकरणोद्भवमा-ख्यायते । तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषश्चित्तोपेक्षाप्रधानस्तस्य च नास्ति कश्चिद्विसंवादयिता न तस्य कश्चिद्विसंवादेन परिभावे-न वा सद्भूतोद्भावनेन वा चित्तदुःखमुत्पादयति, तथाप्यसौ स्वयमेव वर्णापसदवद् हीनो दुर्गतवद्दीनो दुश्चित्ततया दुष्टो दुर्म नास्तथोपहतोऽस्वच्छतया मनःसंकल्पो यस्य स तथा । चिन्तै-व शोक इति सागरश्चिन्ताप्रधानो वा शोकश्चिन्ताशोकः सागर इव चिन्ताशोकसागरः । तथाभूतश्च यदवस्थो भवति तद्दर्शय-ति-करतले पर्यस्तं मुखं यस्य स तथा अहर्निशं भवति, तथाऽऽ-र्त्तध्यानोपगतोऽपगतसद्विवेकतया धर्मध्यानदूरवर्ती निर्निमित्त-मेव द्वन्द्वोपहतवद्ध्यायति । तस्यैवं चिन्ताशोकसागरावगाढस्य सत आध्यात्मिकान्यन्तःकरणोद्भवानि मनःसंसृतान्यसंशयि-तानि वा निःसंशयितानि वा चत्वारि वक्ष्यमाणानि स्थानानि भवन्ति, तानि चैवं समाख्यायन्ते; तद्यथा-क्रोधस्थानम्, मान-स्थानम्, मायास्थानम्, लोभस्थानमिति । ते चावश्यं क्रोधमान-मायालोभा आत्मनोऽधि भवन्त्याध्यात्मिकाः, एभिरेव सद्भिर्दुष्टं मनो भवति । तदेवं तस्य दुर्मनसः क्रोधमानमायालोभवत एव-मेवोपहतमनःसङ्कल्पस्य तत्प्रत्ययिकमध्यात्मनिमित्तं सावद्यं क-र्माऽऽधीयते संबध्यते । तदेवमेतत्क्रियास्थानमाध्यात्मिकाख्यमा-ख्यातमिति ॥१६॥ सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अज्झत्तवयण-अध्यात्मवचन-न० । आत्मन्यधि अध्यात्मम्, तच्च तद्वचनम् । हृदयगते वचनभेदे, षोडशवचनानां सप्तममि-दम् । आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ० । आत्मन्यधि अध्यात्मं हृद-यं तं तमन्यद्व्याहारेणान्यद् भणिष्यतस्तदेव । सहसा पतिते वचने, विशे० । आचा० ।

अज्झत्थविंदु-अध्यात्मबिन्दु-पुं० । यथार्थनामधेये ग्रन्थभेदे, "ये यान्तोऽध्यात्मकथा अनुवन्, भेदज्ञानाभ्यास एवात्र मुख्यम् । ये बद्धाः खलु बद्धा भवन्ति, भेदज्ञानाभाव एवात्र बीजम्" ॥१॥ इति तद्वचनम् । अष्ट० १४ अष्ट० ।

अज्झत्थविसीयण-अध्यात्मविषीदन-न० । संयमकष्टमनुभूय मनसि विषीदनरूपे, सूत्र० ।

जया संगामकालम्मि, पिट्ठओ भीरु वेहइ ।
वलयं गहणं णूमं, को जाणइ पराजयं ? ॥ १ ॥

(जयेत्यादि) दृष्टान्तेन हि मन्दमतीनां सुखेनैवार्थावगतिर्भव-त्यत आदावेव दृष्टान्तमाह-यथा कश्चिद्भीरुः पुरुषः संग्रामकाले परानीकयुद्धाऽवसरे [illegible] पेक्षाऽऽपत्प्रतीकारहेतुभूतं दुर्गादिकं स्थानमवलोकय-य दर्शयति-(वलयमिति) यत्रोदकं मुदकरहिता वा गर्ता दुःखनिर्गमप्रवेशास्तथा गहनं धैः कटिसंस्थानीयम् (णूमं ति) प्रच्छन्नं गि[illegible] व्यवसायेवमवलोकयति । यत एवं सुभटसङ्कुले को जानाति [illegible] दैवायत्ताः कार्यसिद्धयः स्तोकैरपि बहवो जीयन्ते ॥१॥

किञ्च-

मुहुत्ताणं मुहुत्तस्स, मुहुत्तो होइ तारिसो ।
पराजिया वसप्पामो, इति भीरू उवेहई ॥२॥

मुहूर्तानामेकस्य वा मुहूर्तस्यापरो मुहूर्तः कालविशेषः णोऽवसरस्तादृग्भवति यत्र जयः पराजयो वा संभाव्यते तत्रैवं व्यवस्थिते पराजिता वयमपसर्पामो नश्यामः इत्येतत् संभाव्यते, अस्मद्विधानामिति भीरुः पृष्ठत आपत्प्रतीकारं शरणमपेक्षते ॥२॥

श्लोकद्वयेन दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह-

एवं तु समणा एगे, अबलं नच्चा ण अप्पगं ।
अणागयं भयं दिस्स, अ विकप्पंति मे सुयं ॥३॥

यथा संग्रामं प्रवेष्टुमिच्छुः पृष्ठतोऽवलोकयति [illegible] पराभग्नस्य वलयादिकं शरणं त्राणाय स्यादिति, एवं श्रमणाः प्रव्रजिता एके केचनाऽदृढमतयोऽल्पसत्त्वा इ-नमबलं यावज्जीवं संयममारयितुमक्षम ज्ञात्वा अनागतं भयं दृष्ट्वोत्प्रेक्ष्य । तद्यथा-निष्किञ्चनोऽहं किं मम वृद्धावस्थायां ग्लानावस्थायां दुर्भिक्षे वा त्राणाय स्यादित्येवमाजीविका-यमुत्प्रेक्ष्य विकल्पयन्ति परिकल्पयन्ति मन्यन्ते, इदं व्याकरणं गणितं, ज्यौतिष्कं, वैद्यकं, होराशास्त्रं, मन्त्रादिकं वा श्रु-तमधीतं ममाऽयमादौ त्राणाय स्यादिति ॥३॥

एतच्चैते विकल्पयन्तीत्याह-

को जाणइ विउवातं, इत्थीओ उदगाउ वा ।
चोइज्जंता पवक्खामो, ण णो अत्थि पकप्पियं ॥४॥

अल्पसत्त्वाः प्राणिनः, विचित्रा च कर्मणां गतिः, बहूनि प्रमाद-स्थानानि विद्यन्ते, अतः को जानाति कः परिच्छिनत्ति व्यापातं संयमजीविताद् भ्रंशयन्तम् । केन पराजितस्य मम संयमाद् भ्रंशः स्यादिति । किं स्त्रीतः स्त्रीपरीषहाद् उतोदकात् स्नानाद्यर्थमुद-सेवनाभिलाषादित्येवं ते वराकाः प्रकल्पयन्ति, न तोऽस्माकं किं-चन प्रकल्पितं पूर्वोपार्जितद्रव्यजातमस्ति, अतस्तस्यावसरे म-मुपयोगं समेष्यति यास्यति, अतश्चोद्यमानाः परेण [illegible] हस्तिशिक्षाधनुर्वेदादिकं कुटिलविण्टलादिकं वा प्रयुञ्जमानाः प्रवक्ष्यामः प्रयोक्ष्याम इत्येवं ते हीनसत्त्वाः संप्रधार्य व्याक-रणादौ श्रुते प्रयतन्त इति । न च तथापि मन्दभाग्यानामभिलषि-तार्थावाप्तिर्भवतीति । तथा चोक्तम्—" उपशमफलाद्विद्याबीजात् फलं धनमिच्छताम्, भवति विफलो यद्यायासस्तदत्र किमद्भुतम् ? न नियतफलाः कर्तुर्भावाः फलान्तरमीशते, जनयति खलु व्री-हिबीजं न जातु यवाङ्कुरम् " ॥१॥

उपसंहारार्थमाह—

इच्चेवं पडिलेहंति, वलया पडिलेहिणो ।

वितिगिच्छसमावन्ना, पंथाणं च अकोविया ॥ ५ ॥

इत्येवमिति पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शार्थः। यथा भीरवः संग्रामे प्रविविक्षवो वलयादिकं प्रत्यपेक्षिणो भवन्तीत्येवं तेऽपि प्रव्रजिता मन्दभाग्यतया अल्पसत्त्वा आजीविकाभयाद्याकरणादिकं जीवनोपायत्वेन प्रत्युपक्रान्ते परिकल्पयन्ति । किंभूताः विचिकित्सा चित्तविप्लुतिः, किमेनं संयमभारमुत्क्षिप्तमन्तं नेतुं वयं समर्था:, उत नेतीत्येवंभूताः । तथा चोक्तम्-" लुक्खमणुण्हमणिययं, कालाइक्कंत भोयणं विरसं । भूमीसयणं लोओ, असिणाणं बंभचेरं च " ॥ १ ॥ तां समापन्नाः समागताः । यथा पन्थानं प्रत्यकोविदा अनिपुणाः-किमयं पन्था विवक्षितं भूभागं यास्यत्युत नेति!, इत्येवं कृतचित्तविप्लुतयो भवन्ति, तथा तेऽपि संयमभारवहनं प्रति विचिकित्सां समापन्ना निमित्तगणितादिकं जीविकार्थं प्रत्युपक्रान्त इति ॥ ५ ॥

साम्प्रतं महापुरुषचेष्टिते दृष्टान्तमाह—

जे उ संगामकालम्मि, नाया सूरपुरंगमा ।
णो ते पिट्ठमुवेहिंति, किं परं मरणं सिया ? ॥ ६ ॥

ये पुनर्महासत्त्वाः, तुशब्दो विशेषणार्थः, संग्रामकाले परानीकयुद्धावसरे ज्ञातारो लोकविदिताः, कथम् ?, शूराणामग्रगामिनो युद्धावसरे सैन्याग्रस्कन्धवर्तिन इति, एवंभूताः संग्रामं प्रविशन्तो न पृष्ठमुत्प्रेक्षन्ते न दुर्गादिकमापत्त्राणाय पर्यालोचयन्ति, ते चाभङ्गकृतबुद्धयोऽपि त्वेवं मन्यन्ते-किमपरमस्माकं भविष्यति,यदि परं मरणं स्यात,तच्च शाश्वतम,यशःप्रवाहमिच्छतामस्माकं स्तोकं वर्तते इति । तथा चोक्तम्—" विशरारुभिरविनश्वर-मपि चपलैः स्थास्नु वाञ्छतां विशदम् । प्राणैर्यदि च सुराणां, भवति यशः किं न पर्याप्तम् ? " ॥ ६ ॥

तदेवं सुभटदृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकमाह—

एवं समुट्टिए भिक्खू, वोसिज्जाऽगारबंधणं ।
आरंभं तिरियं कट्टु, आतत्ताए परिव्वए ॥ ७ ॥

एवमित्यादि । यथा-सुभटा ज्ञातारो नामतः कुलतः शौर्यतः शिक्षातश्च, तथा सन्निबद्धपरिकराः करगृहीतहेतयः प्रतिभटसमितिभेदिनो न पृष्ठतोऽवलोकयन्ति । एवं भिक्षुरपि साधुरपि महासत्त्वः परलोकप्रतिस्पर्द्धिनमिन्द्रियकषायादिकमरिवर्गं जेतुं सम्यक् संयमोत्थानेनोत्थितः समुत्थितः। तथा चोक्तम्-
"कोहं माणं च मायं च, लोहं पंचेंदियाणि य । दुज्जयं चेवमप्पाणं, सव्वमप्पे जिए जियं" ॥१॥ किं कृत्वा समुत्थितः?इति दर्शयति-व्युत्सृज्य त्यक्त्वा,अगारबन्धनं गृहपाशम तथा आरम्भं सावद्यानुष्ठानरूपं तिर्यक् कृत्वाऽपहस्तयित्वाऽऽत्मनो भाव आत्मत्वमशेषकर्मकलङ्करहितत्वं तस्मै आत्मत्वाय । यदि वा आत्मा मोक्षः, संयमो वा,तद्भावस्तस्मै तदर्थं, परि समन्तात् व्रजेत् संयमानुष्ठानक्रियायां दत्तावधानो भवेदित्यर्थः ॥७॥ सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अज्झत्तविसुद्ध-अध्यात्मविशुद्ध-त्रि० । सुविशुद्धान्तःकरणे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

अज्झत्तविसोहिजुत्त-अध्यात्मविशोधियुक्त-त्रि० । दे तं० । विशुद्धभावे,"आ जयमाणस्स भवे,विराहणा सुत्तविहिसमग्गस्स । सा होइ णिज्जरफला, अज्झत्तविसोहिजुत्तस्स"॥१॥ ओ०।

अज्झत्तवेइ (ण्) -अध्यात्मवेदिन्-त्रि०। सुखदुःखादेः स्वरूपतोऽवगन्तरि, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ०।

अज्झत्तसंवुड-अध्यात्मसंवृत-त्रि०। अध्यात्मं मनस्तेन संवृतः स्त्रीभोगादिष्वमनसि, सूत्रार्थोपयुक्तनिरुद्धमनोयोगे च। "वइगुत्ते अज्झत्तसंवुडे परिवज्जए सया पावं" आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । सूत्र० ।

अज्झत्तसम-अध्यात्मसम-त्रि० । अध्यात्मानुरूपे परिणामानुसारिणि, व्य० २ उ० ।

अज्झत्तसुइ-अध्यात्मश्रुति-स्त्री० । चित्तजयोपायप्रतिपादनशास्त्रे, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।

अज्झत्तसुद्धि-अध्यात्मशुद्धि-स्त्री० चेतःशुद्धौ, अध्यात्मशुद्धिरेव फलदा न बाह्यशुद्धिः,भरतचक्रवर्तिनः बाह्यकरणस्य रजोहरणादेरभावेऽपि अध्यात्मशुद्ध्यैव केवलोत्पत्तेः । प्रसन्नचन्द्रस्य च बाह्यकरणवतोऽपि आभ्यन्तरकरणविकलस्य सप्तमपृथिवीप्रायोग्यकर्मबन्धात् पश्चाद्वर्तिन्या अध्यात्मशुद्ध्यैव मोक्षगमनात् । आ० चू० १ अ० ।

अज्झत्तसोहि-अध्यात्मशोधि-त्रि० चेतःशुद्धौ, आ० चू० १ अ० । (वर्णनमस्य 'अज्झत्तसुद्धि' शब्दे कृतम्)

अज्झत्तिय-आध्यात्मिक-त्रि० । आत्मनि अधि-अध्यात्मम, तत्र भव आध्यात्मिकः । आत्मविषये, भ० म० प्र० । भ० । वि० । ज्ञा० । नि० । " अज्झत्थिए चिंतिए " आत्मनि क्रियमाणे, " परकिरियं अज्झत्थियं संसइयं णो तं सातिए " आचा० २ श्रु० १३ अ० । आन्तरोपायसाध्ये दुःखदुःखादौ, आध्यात्मिकं दुःखं द्विविधम्-शारीरं मानसं च । शारीरं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तम्, मानसं कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याविषयादर्शननिबन्धनम् । सर्वं चैतदान्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखमिति साङ्ख्याः । स्या० । अध्यात्मनि मनसि भव आध्यात्मिकः । बाह्यनिमित्तानपेक्षे शोकादिभये; " सप्तमं क्रियास्थानमेतत् " स० ।

अज्झत्थियवीरिय-आध्यात्मिकवीर्य-न० । आत्मन्यधि इति अध्यात्मम, तत्र भवमाध्यात्मिकम् । आन्तरशक्तिजनितं सात्त्विकमित्यर्थः । तच्च वीर्यं चेति । " उज्जमधितिधीरत्तं, सोंडीरत्तं खमा य गंभीरं । उवओगजोगतव से-ज्जमादि य होइ अज्झप्पे " ॥१॥ इत्युक्तेः उद्यमधृत्यादौ, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

अज्झत्थ-अध्यात्म-न० । अधि आत्मनि वर्तत इत्यध्यात्मम् । सम्यग्धर्मध्यानादिभावनायाम्, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

अज्झत्थजोग-अध्यात्मयोग-पुं० । सुप्रणिहितान्तःकरणतायाम्, धर्मध्याने च । सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । (निरूपणमस्य ' अज्झत्थजोग ' शब्दे कृतम्)

अज्झत्थजोगसाहणजुत्त-अध्यात्मयोगसाधनयुक्त-पुं० । विदंकामतादिभाजि, उत्त० २१ अ० ।

अज्झत्थजोगसुद्धादाण-अध्यात्मयोगशुद्धादान-त्रि० । दुःमचेतसा विशुद्धचारित्रे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

अज्झत्थजोग-अध्यात्मयोग-पुं० । योगभेदे, षो० ६ षो० । (व्याख्यातोऽस्य 'अज्झत्थजोग' शब्दे)

अज्झत्थजोगसाहणजुत्त-अध्यात्मयोगसाधनयुक्त-पुं० । विदंकामतादिभाजि, उत्त० २१ अ० ।

अज्झत्थजोगसुद्धादाण-अध्यात्मयोगशुद्धादान-त्रि० । दुःमचेतसा विशुद्धचारित्रे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

अज्झत्थज्झाणजुत्त-अध्यात्मध्यानयुक्त-त्रि० । प्रशस्तध्यानोपयुक्ते, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अज्झत्थदंड-अध्यात्मदण्ड-पुं० । अष्टमे क्रियास्थाने, प्रश्न० ५ सम्व० द्वा० ।

अज्झत्थदोस-अध्यात्मदोष-पुं० । कषाये, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अज्झत्थबिंदु-अध्यात्मबिन्दु-पुं० । स्वनामख्याते ग्रन्थभेदे, अष्ट० १४ अष्ट० ।

अज्झत्थमयपरिक्खा-अध्यात्ममतपरीक्षा-स्त्री० । यशोविजयवाचकेन कृते ग्रन्थविशेषे, प्रति० ।

अज्झत्थरय-अध्यात्मरत-त्रि० । प्रशस्तध्यानासक्ते, दश० १० अ० ।

अज्झत्थवत्तिय-अध्यात्मप्रत्ययिक-पुं० । अष्टमे क्रियास्थाने, सूत्र० २ श्रु० १२ अ० ।

अज्झत्थवयण-अध्यात्मवचन-न० । षोडशवचनानां सप्तमे वचने, आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अज्झत्थविसीयण-अध्यात्मविषीदन-न० । संयमकष्टमनुभूय मनसि विपक्षीभवने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । (विवृतिरस्य 'अज्झत्थविसीयण' शब्दे निरूपिता)

अज्झत्थविसुद्ध-अध्यात्मविशुद्ध-त्रि० । सुविशुद्धान्तःकरणे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

अज्झत्थविसोहिजुत्त-अध्यात्मविशोधियुक्त-त्रि० । विशुद्धप्राये, ओघ० ।

अज्झत्थवेइ (ण्)-अध्यात्मवेदिन्-त्रि० । सुखदुःखादेः स्वरूपतोऽवगन्तरि, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

अज्झत्थसंवुड-अध्यात्मसंवृत-त्रि० । स्त्रीभोगाऽऽदत्तमनसि, सूत्रार्थोपयुक्तनिरुद्धमनोयोगे च । आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

अज्झत्थसम-अध्यात्मसम-त्रि० । अध्यात्मानुरूपे परिणामानुसारिणि, व्य० २ उ० ।

अज्झत्थसुइ-अध्यात्मश्रुति-स्त्री० । चित्तजयोपायप्रतिपादनशास्त्रे, प्रश्न० १ सम्व० द्वा० ।

अज्झत्थसुद्धि-अध्यात्मशुद्धि-स्त्री० । चेतःशुद्धौ, आ० चू० १ अ० ।

अज्झत्थसोहि-अध्यात्मशोधिन्-स्त्री० । चेतःशुद्धौ, आ० चू० १ अ० ।

अज्झत्थिय-आध्यात्मिक-त्रि० । आत्मविषये, आ० म० प्र० । आन्तरोपायसाध्ये सुखदुःखादौ, स्था० ।

अज्झत्थियवीरिय-आध्यात्मिकवीर्य-न० । उद्यमधृत्यादौ, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

अज्झत्थोवाहिसंबन्ध-अध्यस्तोपाधिसम्बन्ध-पुं० । आत्मनि ज्ञानकुशलसंसर्गकर्मोपाधिसम्बन्धे, "निर्मलस्फटिकस्येव, सहजं रूपमात्मनः । अध्यस्तोपाधिसम्बन्धो, जडस्तत्र विमुह्यति" ॥१॥ अष्ट० ४ अष्ट० ।

अज्झप्प-अध्यात्म-न० । चेतसि, दश० १ अ० । ध्याने, आव० ४ अ० ।

अज्झप्पओग-अध्यात्मयोग-पुं० । अन्तःकरणशुद्धे धर्मध्याने, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

अज्झप्पओगसाहणजुत्त-अध्यात्मयोगसाधनयुक्त-पुं० । शुभचेतसा विशुद्धचारित्रे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

अज्झप्पजोगसुद्धादाण-अध्यात्मयोगशुद्धादान-त्रि० । स्वचेतसा विशुद्धान्तःकरणे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

अज्झप्पकिरिया-अध्यात्मक्रिया-स्त्री० । अष्टमे क्रि... स्था० ५ ठा० २ उ० ।

अज्झप्पजोग-अध्यात्मयोग-पुं० । सुप्रणिहितान्तःकरण धर्मध्याने, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

अज्झप्पजोगसाहणजुत्त-अध्यात्मयोगसाधनयुक्त-पुं० । कामनादि प्राज्ञि, उत्त० २९ अ० ।

अज्झप्पजोगसुद्धादाण-अध्यात्मयोगशुद्धादान-त्रि० । प्रायेन विशुद्धचारित्रे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

अज्झप्पझाणजुत्त-अध्यात्मध्यानयुक्त-त्रि० । प्रशस्तध्यानोपयुक्ते, प्रश्न० ५ सम्व० द्वा० ।

अज्झप्पदंड-अध्यात्मदण्ड-पुं० । शोकचिन्तनरूपे अष्टमे क्रियास्थाने, प्रश्न० ५ सम्व० द्वा० ।

अज्झप्पदोस-अध्यात्मदोष-पुं० । कषाये, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अज्झप्पबिंदु-अध्यात्मबिन्दु-पुं० । यथार्थनामाभिधेये स्वनामख्याते ग्रन्थे, अष्ट० १४ अष्ट० ।

अज्झप्पमयपरिक्खा-अध्यात्ममतपरीक्षा-स्त्री० । यशोविजयकृते ग्रन्थविशेषे, प्रति० ।

अज्झप्परय-अध्यात्मरत-त्रि० । प्रशस्तध्यानासक्ते, दश० १० अ० ।

अज्झप्पवत्तिय-अध्यात्मप्रत्ययिक-पुं० । अष्टमे क्रियास्थाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अज्झप्पवयण-अध्यात्मवचन-न० । हृदयगते वचने, षोडशवचनानां सप्तममिदम् । आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अज्झप्पविसीयण-अध्यात्मविषीदन-न० । संयमकष्टमनुभूय मनसि विपक्षीभवने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अज्झप्पविसुद्ध-अध्यात्मविशुद्ध-त्रि० । सुविशुद्धान्तःकरणे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अज्झप्पविसोहिजुत्त-अध्यात्मविशोधियुक्त-त्रि० । विशुद्धप्राये, ओघ० ।

अज्झप्पवेइ (ण्)-अध्यात्मवेदिन्-त्रि० । सुखदुःखादेः स्वरूपतोऽवगन्तरि, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

अज्झप्पसंवुड-अध्यात्मसंवृत-त्रि० । स्त्रीभोगादत्तमनसि, सूत्रार्थोपयुक्तनिरुद्धमनोयोगे च । आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

अज्झप्पसम-अध्यात्मसम-त्रि० । अध्यात्मानुरूपे परिणामानुसारिणि, व्य० २ उ० ।

अज्झप्पसुइ-अध्यात्मश्रुति-त्रि० । चित्तजयोपायप्रतिपादनशास्त्रे, प्रश्न० १ सम्व० द्वा० ।

अज्झप्पसुद्धि-अध्यात्मशुद्धि-स्त्री० । चेतःशुद्धौ, आ० चू० १ अ० ।

अज्झप्पसोहि-अध्यात्मशोधि-त्रि० । भावशुद्धौ, आ० चू० १ अ० ।

अज्झप्पिय-आध्यात्मिक-त्रि० । आत्मनि क्रियमाणे आन्तरोपायसाध्ये सुखदुःखादौ, आचा० २ श्रु० १३ अ० ।

अज्झप्पियवीरिय-आध्यात्मिकवीर्य-न० । उद्यमधृत्यादौ, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

अज्झयण-अध्ययन-न० । अधीयते ज्ञायन्ते याभिरित्यध्ययनानि । शास्त्रेषु (वाचकशब्देषु), "ता कधं देवताणं अज्झयणं आहितातिवदेज्जा" चं० प्र० १ पाहु० । सू० प्र० । अधीयते विनेयादिकमेण समीप इत्यध्ययनम् । विशिष्टार्थध्वनिसंदर्भरूपे श्रुतभेदे, औ० । प्रति० । "अज्झयणं पिय तिविहं, सुत्ते अत्थे य तदुभए चेव" पंचा० । तन्निक्षेपो यथा-

से किं तं अज्झयणे? । अज्झयणे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-णामज्झयणे, ठवणज्झयणे, दव्वज्झयणे, भावज्झयणे । णामठवणाओ पुव्ववण्णिआओ । से किं तं दव्वज्झयणे? । दव्वज्झयणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-आगमओ अ, णोआगमओ अ । से किं तं आगमओ दव्वज्झयणे? । आगमओ दव्वज्झयणे जस्स णं अज्झयणे त्ति पदं सिक्खितं ठितं जितं मितं परिजितं जाव जावइआ अणुवउत्ता आगमओ तावइआइं दव्वज्झयणाइं । एवमेव ववहारस्स वि । संगहस्स णं एगो वा अणेगो वा जाव सेत्तं आगमओ दव्वज्झयणे । से किं तं णो आगमओ दव्वज्झयणे? । णो आगमओ दव्वज्झयणे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-जाणगसरीरदव्वज्झयणे, भविअसरीरदव्वज्झयणे, जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वज्झयणे । से किं तं जाणगसरीरदव्वज्झयणे? । जाणगसरीरदव्वज्झयणे अज्झयणपदत्थाहिगारजाणयस्स जं सरीरं ववगयचुअचाविअचत्तदेहं जीवविप्पजढं जाव अहोणं इमेणं सरीरसमुस्सएणं जिणदिट्ठेणं भावेणं अज्झयणे त्ति पदं आघवितं जाव उवदंसितं जहा-को दिट्ठंतो-अयं घयकुंभे आसी, अयं महुकुंभे आसी, सेत्तं जाणगसरीरदव्वज्झयणे । से किं तं भविअसरीरदव्वज्झयणे? । भविअसरीरदव्वज्झयणे जे जीवे जोणिजम्मणणिक्खंते इमेणं चेव आदत्तएणं सरीरसमुस्सएणं जिणदिट्ठेणं भावेणं अज्झयणे त्ति पदं सेअकाले सिक्खिस्सति, न ताव सिक्खति, जहा-को दिट्ठंतो-अयं महुकुंभे भविस्सइ, अयं घयकुंभे भविस्सइ, सेत्तं भविअसरीरदव्वज्झयणे । से किं तं जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वज्झयणे? । जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वज्झयणे पत्तयपोत्थयलिहिअं, सेत्तं जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वज्झयणे, सेत्तं णो आगमओ दव्वज्झयणे । से किं तं भावज्झयणे? । भावज्झयणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-आगमओ अ णो आगमओ अ । से किं तं णो आगमओ भावज्झयणे? । अज्झप्पस्साणयणं, कम्माणं अवचओ उवचियाणं । अणुवचओ य नवाणं, तम्हा अज्झयणमिच्छंति ॥ १ ॥ सेत्तं णो आगमओ भावज्झयणे, सेत्तं भावज्झयणे, सेत्तं अज्झयणे ।

(से किं तं अज्झयणे इत्यादि) नामस्थापना, द्रव्यभावभेदात् चतुर्विधोऽध्ययनशब्दस्य निक्षेपः, तत्र नामादिविचारः सर्वोऽपि पूर्वोक्तावश्यकानुसारेण वाच्यः, यावन्नो आगमतो भावाध्ययने । अज्झप्पस्साणयणमित्यादिगाथाव्याख्या-इदं च समस्तस्य भावाध्ययनं, इह निरुक्तविधिना प्राकृतत्वाभाष्याच्च प्रकारस्य-कारऽऽकारणकारककारमध्यगतवर्णचतुष्टयलोपे अज्झयणमिति भवति, अध्यात्मं चेतस्तस्यानयनमध्ययनमुच्यते इति भावः । आनीयते च सामायिकाद्यध्ययने शोभनं चेतोऽस्मिन् सत्यगुक्त-कर्मबन्धनात् । अत्र पश्चाद्-कर्मणामुपचितानां प्राक्तनचितानां यतोऽपचयो ह्रासोऽस्मिन् सति विहिते नवानां चानुपचयो बन्धो यस्तस्मादिदं यथोक्तशब्दार्थान्वितत्वात् 'अज्झयणं' प्राकृतभाषायामिच्छन्ति सूरयः, संस्कृते त्विदमध्ययनमुच्यते इति । सामायिकादिकं चाध्ययनं ज्ञानक्रियासमुदायात्मकम् । तत्रागमस्यैकदेशवृत्तित्वान्नो आगमतोऽध्ययनमिदमुक्तमिति गाथार्थः । अनु० । "जेण सुहप्पज्झयणं, अज्झप्पाणयण अहियणयणं वा । बोहस्स संजमस्स य, मोक्खस्स य जं तमज्झयणं" ॥१॥ इह मैकेन विधिना प्राकृतत्वान्नाम्नो सिद्धम् । विशे० । आ० म० द्वि० ।

निरुक्तान्तरेणैतदेव व्याख्यातुमाह-

अधिगम्मंति व अत्था, अणेण अहियं व णयणमिच्छंति ।
अहियं व साहु गच्छति, तम्हा अज्झयणमिच्छंति । उत्त० नि० ।

अधिगम्यन्ते वा परिच्छिद्यन्ते वाऽर्था जीवादयोऽनेनाधिकं वा नयनं प्रापणं मर्यादात्मनि ज्ञानादीनामनेनेतीच्छन्ति, विद्वांस इति शेषः । अधिकमनर्गलं शीघ्रमपरिमितं गमनं वा सर्वत्र विकल्पार्थः । (साहु त्ति) साधयति पौरुषीभिर्विशिष्टक्रियानिरुपमामिति साधुर्गच्छति यान्त्यनेन मुक्तिम्, अनेनैवार्थेन चोच्यते, यस्मादेवमेव च अतः किमित्याह-तस्मादध्ययनमिच्छन्ति, निरुक्तविधिनाऽर्थानिर्देशाद् वा । अध्यायनेनैतदधिपूर्वस्यायनमिच्छन्तीति वाऽभिप्रायम् । सर्वत्र सूत्रार्थौ व्याख्याविकल्पानो पूर्वोक्तार्थसम्बन्धेनाद्य व्यवधानार्थमिति गाथार्थः । उत्त० १ अ० । अनु० । आ० म० । दश० । स्था० । सूत्र० । अधीयत इत्यध्ययनम् । कर्मणि ल्युट् । पञ्चमानि, आव० ४ अ० । पञ्चदशमी, दशा० ४ अ० । "अध्ययनानि सुलोकाध्ययनानि"

चोयालीसं अज्झयणा इसिभासिया दियालोगचुया भासिया ।

चतुश्चत्वारिंशत् (इसिभासिय त्ति) ऋषिभाषितान्यध्ययनानि कालिकश्रुतविशेषभूतानि (दियालोयचुयाभासिय त्ति) देवलोकच्युतैः ऋषीभूतैराभाषितानि देवलोकच्युताभाषितानि । क्वचित्पाठस्तु-" देवलोयचुयाणं चोयालीसं इसिभासियज्झयणा पण्णत्ता " । सम० ४४ सम० । अधि-इङ्-ल्युट् । गुरुमुखान्न्यासे, विशे० । व्याख्याने, वाच० । पठने, गुरुमुखोच्चारणानुसारेण उच्चारणे च । वाच० । (तत्रत्यवक्तव्यता उद्देस' 'वायणा' 'वयसंपदा' इत्यादिशब्देषु द्रष्टव्या ।

अज्झयणकप्प-अध्ययनकल्प-पुं० । योगवाहानुसारेण उपधानादिसामाचार्याम्, पं० भा० ।

वक्खाओ सुयकप्पो, एत्तो वोच्छामि अज्झयणकप्पं ।
ठायव्वं जेण विहिणा, अणुओगधरस्स वा तं तु ॥
जेए परियाए अण-रिट्ठ अइं व विणयसिक्खे ।
सुत्तस्स अट्ठमट्ठं, जे अज्झयणेसु अणुभागा ॥
असमाणारो जोगो, तं आगाढं च चेव णायव्वं ।
आगाढं अणागाढं, एत्तो वोच्छामि परिहारं ॥
जं संवच्छरियाइं, पढियं सुत्तम्मि सिद्धिमाईसं ।

[illegible], हरिनियन्नं जवे मुत्तं ॥
[illegible]-चिन्ताइ दीहे य भूयणाए ।
[illegible] अवरहिते तु इमो होंति ॥
[illegible], [illegible] य डुम्बलचारिंधे ।
[illegible]. [illegible] य पिसुण य ॥
[illegible]. [illegible] तरुणधम्मे ।
[illegible], [illegible] अंगमहरो ॥
[illegible] दमो मंदबुद्धि त्ति ।
[illegible], [illegible] परिनवइ आयरिए ॥
[illegible]. [illegible] य निक्खवउ चेव ।
[illegible]. [illegible] य तनुजयणे ॥
[illegible]. [illegible] होंति मव्वेसिं ।
[illegible]. [illegible] होंति णायव्वा ॥
[illegible]. [illegible] य भणिया थेरा ।
[illegible]. [illegible] दसा ॥ पं० ना० ।

([illegible])

[illegible]-[illegible]-त्रि० । [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

अज्झवसाणणिव्वत्तिय-अध्यवसाननिर्वर्तित-त्रि० । [illegible] रिणतिसाध्ये, "अज्झवसाणणिव्वत्तिएणं [illegible] काले सं ठाणं विणउदिसा" अध्यवसानेन [illegible] तव्यं मयेत्येवंरूपाध्यवसायनिर्वर्तितेन । भ० १२ श० ।

अज्झवसाणावरणिज्ज-अध्यवसानावरणीय-न० । अध्यवसानस्याऽऽवरणरूपे कर्मभेदे, भ० ९ श० ३१ उ० ।

अज्झवसाय-अध्यवसाय-पुं० । अधि-अव-सो-घञ् । [illegible] विषयपरिच्छेदे निश्चये, स चात्मधर्म इति [illegible] इति वेदान्तिनः । उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां [illegible] रजस्तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः [illegible] वृत्तिरिति ज्ञानमिति चाऽऽख्यायत इति [illegible] । [illegible] वाच० । संकल्पे, आव० ३ अ० । सूक्ष्मेषु [illegible] आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० । अनुभागबन्धस्थाने, [illegible] बंधगाणं, अज्झवसाया य पगहा" पं० सं० ५ द्वा० । [illegible]

अज्झवसायट्ठाण-अध्यवसायस्थान-न० । [illegible] कारणभूयेऽसंख्यानि । प्रव० ५ प्रव० । ('करण' शब्दे [illegible] २११ पृष्ठे द्रष्टव्यानि चैतानि)

अज्झवसिअं-निघ्रातिते, मुखे च । दे० ना० १ वर्ग ।

अज्झवसिय-अध्यवसित-त्रि० । अध्यवसाये, बृ० ।

अज्झसं-देशी-आकुष्टे, दे० ना० १ वर्ग ।

अज्झहिय-आत्महित-त्रि० । आत्मनो [illegible] स्वहिते, प्रश्न० १ संव० द्वा० ।

अज्झा-देशी-असत्याम, कुलायाम, [illegible], [illegible] ततम्यां च । दे० ना० १ वर्ग ।

अज्झाय-अध्याय-पुं० । [illegible] पठनमध्यायः । अध्यायकरणे, प्रश्न० । [illegible] करा० । कर्मणि घञ् । वेदादिग्रन्थ[illegible] पांचके विश्रामस्थानके ग्रन्थविभागे, वाच० ।

अज्झारुह-अध्यारुह-पुं० । [illegible] वृक्षोपरिजातेषु वृक्षाविशेषेषु [illegible] सूत्र० [illegible] २ श्रु० ३ अ० । प्रज्ञा० । आचा० ([illegible]) [illegible]

अज्झारोव-अध्यारोप-पुं० । अधि-आ-रुह-णिच्-घञ् । [illegible] [illegible] । [illegible] अर्णवी, पी० ४ विव० ।

अज्झारोवण-अध्यारोपण-न० । [illegible] [illegible], [illegible] । [illegible]

अज्झारोवियदंसण-अध्यारोपितदर्शन-[illegible] [illegible] [illegible] पं० ४ विव० ।

अज्झारोह-अध्यारोह-पुं० । [illegible] सू० ३ अ० ।

अज्झारोह-अध्यारोह-पुं० । [illegible]

नृ । अध्ययनकारिणि, वाच० । उपाध्याये च, "अज्झा-वयाणं पडिकूलभासी " उत्त० १२ अ० । आ० म० । आ० चू० ।

अज्झावसण-अध्यावसत्-त्रि० । मध्ये वसमाने, "गिहमज्झा-वसन्ता " गृहमध्यावसतः गृहे वर्त्तमानस्य । उपा० १ अ० ।

अज्झाहिणा-अध्युष्य-अव्य० । मध्ये वर्षित्वेत्यर्थे, " पंच-वरिसाणि कुमारवासमज्झावसित्ता " आ० ५ ठा० ३ उ० । अधिष्ठायेत्यर्थे च । वाच० ।

अज्झावसणा-अध्यासना-स्त्री० । सहने, उत्त० २ अ० । (परी-षहाणामध्यासनता ' परीसह ' शब्दे द्रष्टव्या)

अज्झाहार-अध्याहार-पुं० । अध्याहरणे आकाङ्क्षानुबन्धी-ति । अधि-आ-हृ-घञ् । आकाङ्क्षाविषयपदानुसन्धाने, ऊहे, तर्के, अपूर्वोत्प्रेक्षणे च । वाच० । व्याख्याङ्गभेदः । आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अज्झीण-अक्षीण-न० । अर्पितेभ्योऽनवरतं दीयमानमपि यदीत स्य, न तु क्षीयते इत्यक्षीणम् । अथवा व्यवच्छित्तिनयमतेन सर्वदैव व्यवच्छेदादर्शनादक्षीणम् । विशे० । आ० म० । सामायिकचतुर्विंशतिस्तवाद्यात्मके अध्ययने, अनु० ।

अस्य निक्षेपः-

से किं तं अज्झीणे ? । अज्झीणे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-णामज्झीणे, ठवणज्झीणे, दव्वज्झीणे, भावज्झीणे । नामज्झ-वणाओ पुव्वं वण्णिआओ । से किं तं दव्वज्झीणे ? । दव्वज्झीणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-आगमओ अ, णोआगमओ अ । से किं तं आगमओ दव्वज्झीणे ? । दव्वज्झीणे जस्स णं अज्झीणे त्ति पयं सिक्खितं ठितं जितं मितं परिजितं जाव सेत्तं आगमओ दव्व-ज्झीणे । से किं तं नोआगमओ दव्वज्झीणे ? । नोआ० दव्व-ज्झीणे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-जाणगसरीरदव्वज्झीणे, भवि-असरीरदव्वज्झीणे, जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्व-ज्झीणे । से किं तं जाणगसरीरदव्वज्झीणे ? । जाणगसरीरदव्व-ज्झीणे अज्झीणपयत्थाहिगारजाणयस्स जं सरीरयं ववगय-चुअचाविअचत्तदेहं जहा दव्वज्झयणे तहा भाणिअव्वं जाव सेत्तं जाणगसरीरदव्वज्झीणे । से किं तं भविअसरीरदव्वज्झी-णे ? । भविअसरीरदव्वज्झीणे जे जीवे जोणिजम्मणनिक्खं-ते जहा दव्वज्झीणे जाव सेत्तं भविअसरीरदव्वज्झीणे । से किं तं जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वज्झीणे ? । दव्वज्झीणे सव्वागाससेढी सेत्तं जाणगसरीरभविअसरी-रवइरित्ते दव्वज्झीणे, सेत्तं नोआगमओ दव्वज्झीणे, सेत्तं दव्वज्झीणे । से किं तं भावज्झीणे ? । भावज्झीणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-आगमओ अ, नोआगमओ अ । से किं तं आ-गमओ भावज्झीणे ? । भावज्झीणे जाणए उवउत्ते । सेत्तं आ-गमओ भावज्झीणे । से किं तं नोआगमओ भावज्झीणे ? । जह दीवा दीवसयं, पइप्पए दिप्पए अ सो दीवो । दीवसमा आयरिआ, दिप्पंति परं च दीवेंति ॥ १ ॥ सेत्तं नोआ-गमओ भावज्झीणे, सेत्तं भावज्झीणे, सेत्तं अज्झीणे ॥

अत्रापि तथैव विचारः, या तु (सव्वागाससेढी त्ति) सर्वाकाशं लोकालोकनभःस्वरूपम्, अस्य संबन्धिश्रेणिः प्रदे-शापहारतोऽपह्रियमाणाऽपि न कदाचित् क्षीयते, अतो ज्ञ-शरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्याक्षीणतया प्रोच्यते, द्रव्य-ता चास्याऽऽकाशद्रव्यान्तर्गतत्वादिति । अत्र वृद्धा व्याचक्षते-यस्माच्चतुर्दशपूर्वविद आगमोपयुक्तस्यान्तर्मुहूर्तमात्रोपयोग-काले येऽर्थोपलम्भोपयोगपर्यायास्ते प्रतिसमयमेकैकापहारे-णानन्ताभिरप्युत्सर्पिणीभिर्नापह्रियन्ते, अतो भावाक्षीणतेहा-परंपरा । नो आगमतस्तु भावाक्षीणता-शिष्येभ्यः सामायिका-दिश्रुतप्रदानेऽपि स्वात्मन्यनाशादर्शयन्नेवाह- (जह दीवा) यथा दीपाच्छतसंख्याकाद्दीपशतं प्रदीप्यते प्रवर्तते, स च मूलभूतो दीपस्तथापि तेनैव रूपेण प्रवर्तते, न तु स्वयं क्षयमुपयाति । प्र-कृते संबन्धयन्नाह-एवं दीपसमा आचार्या दीप्यन्ते स्वयं वि-वक्षितश्रुतग्रन्थेन तथैवावतिष्ठन्ते, परं च शिष्यवर्गं दीपयन्ति-श्रुत-सम्पदं लम्भयन्ति । अत्र नोआगमतो भावाक्षीणता श्रुतदायका-चार्योपयोगस्यागमत्वाद्, वाक्काययोगयोस्त्वनागमत्वाद्भावनीयेति वृद्धा व्याचक्षते इति गाथार्थः । अनु० । यथा दीपाद् दीपशतं प्रदी-प्यते ज्वलति, सोऽपि च दीप्यते दीपः, न पुनरन्यान्यदीपोत्पत्ता-वपि क्षीयते । तथा किमित्याह-दीपसमा आचार्या दीप्यन्ते सम-स्तशास्त्रार्थविनिश्चयेन स्वयं प्रकाशन्ते, परञ्च शिष्यं दीपय-न्ति शास्त्रार्थप्रकाशनशक्तियुक्तं कुर्वन्ति । इह च तात्स्थ्यात्तद्व्य-पदेश इत्याचार्यशब्देन श्रुतज्ञानमेव चोक्तम्, भावाक्षीणस्य प्रस्तुत-त्वात्, तस्यैव चाक्षयत्वसंभवादिति गाथार्थः । उत्त० १ अ० ।

अज्झीणज्झंझय-अक्षीणझञ्झाक-त्रि० । अक्षीणकलहे, व्य० ४ उ० ।

अज्झुववण्ण-अध्युपपन्न-त्रि० । अधिकमत्यर्थमुपपन्नस्तच्चित्त-स्तदात्मकः । विषयपरिभोगायत्तजीविते, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । स्था० । भ० । अधिकं तदेकाग्रतां गते, ज्ञा० २ अ० । वि० । भ० । ज्ञानानुरागे, व्य० २ उ० । मूर्च्छिते, आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० । गृद्धे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । "मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झु-ववन्ने य " इति एकार्थाः । वि० । " अज्झोववण्णा कामेहिं, चो-इज्जंता गया गिहं " अभ्युपपन्नाः कामगतचित्ताः । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । अज्झोववन्ना कामेहिं मुच्छिया " अभ्युप-पन्ना गृद्धाः । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । पौनःपुन्येनाभिलषमाणे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । आधिक्येन भोगेषु लग्ने, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । स्था० ।

अज्झुसिर-अशुषिर-त्रि० । न० त० । स्वल्पशुषिररहिते, स्था० । " अज्झुसिरं जत्थ कोट्टरं नत्थि " नि० चू० २ उ० । तृणाद्य-सम्बद्धे, ध० ३ अधि० । कुशादितृणादौ, संस्तारकभेदे च । नि० चू० २ उ० ।

अज्झुसिरतण-अशुषिरतृण-न० । दर्भादौ, शुषिररहिते तृणे च । जीत० ।

अज्झेसणा-अध्येषणा-स्त्री० । अधि-इष-युच्-टाप् । सत्कारपूर्व-कनियोगे, सम्म० । अधिका एषणा प्रार्थना । अधिकमर्थने, स्त्री० । वाच० ।

अज्झोयरय-अध्यवपूरक-पुं० । अधि आधिक्येनाध्यवपूरणं स्वार्थदत्ताधिश्रयणादेः साध्वागमनमवगम्य तद्योग्यभक्तसि-द्ध्यर्थं प्राचुर्येण भरणमध्यवपूरः । स एव स्वार्थिककप्रत्ययवि-धानादध्यवपूरकः, तद्योगाद्भक्ताद्यप्यध्यवपूरकः । प्रव० ६७

द्वा०। स्वार्थमूलाद्ग्रहणे कृते साध्वाद्यर्थमधिकतरकणप्रक्षेपणेन भक्तादौ संपादिते सति, तत्र सम्भवति षोडशे उद्गमदोषे, भ०१ श० ३३ उ०। "सट्ठाएण मूलमाहणे, अज्झोयर होइ पक्खेवो" स्था० ६ ठा०। द०। ध०। आचा०। पं०व०। पंचा०।

अधुनाऽध्यवपूरकद्वारमाह-

अज्झोयरओ तिविहो, जावंतिय सघरमीस पासंडे ।
मूलम्मि य पुव्वकए, ओयरई तिण्ह अट्ठाए ॥

अध्यवपूरकस्त्रिप्रकारः। तद्यथा-(जावंतिय इति) स्वगृहमिश्रयोः शब्दयोरत्रापि संबन्धनात् स्वगृहयावदर्थिकमिश्रः (सघरमीस त्ति) अत्र साधुशब्दोऽध्याह्रियते, स्वगृहसाधुमिश्रः। (पासंडे इति) अत्रापि यथायोगं स्वगृहमिश्रशब्दसंबन्धः। स्वगृहपाषण्डमिश्रः। स्वगृहश्रमणमिश्रः स्वगृहपाषण्डमिश्रेऽन्तर्भावितः पृथग् नोक्तः। त्रिविधस्यापि सामान्यतो लक्षणमाह-(मूलम्मीत्यादि) मूले आरम्भेऽग्निसंधुक्षणस्थालीजलप्रक्षेपादिरूपे, पूर्वं यावदर्थिकाद्यागमनात् प्रथममेव स्वार्थं निष्पादिते पश्चात् यथासंभवं त्रयाणां यावदर्थिकादीनामर्थायावतारयति, अधिकतरान् तण्डुलादीन् प्रक्षिपति, एषोऽध्यवपूरकः। अत एव चास्य मिश्रजाताद्भेदः। यतो मिश्रजातं तदुच्यते-यत् प्रथमत एव यावदर्थिकाद्यर्थमात्मार्थं च मिश्रं निष्पाद्यते, यत् पुनरारभ्यते स्वार्थं, पश्चात्प्रभूतानर्थिनः पाषण्डिनः साधून् वा समागतानवगम्य तेषामर्थायाधिकतरतण्डुलादि प्रक्षिप्यते, सोऽध्यवपूरकः, इति मिश्रजातादस्य भेदः।

अमुमेव भेदं दर्शयति-

तंदुल जल आयाणे, पुप्फफले सागवेसणे लोणे ।
परिमाणे नाणत्तं, अज्झोयर मीसजाए य ॥

इह 'स्वरयोरव्यवधाने' इति वचनात् सप्तमी यथायोगं षष्ठ्यर्थे तृतीयार्थे वेदितव्या। ततोऽयमर्थः-अध्यवपूरकस्य मिश्रजातस्य च परस्परं नानात्वं हि तण्डुलपुष्पफलशाकवेशनलवणादानकाले यद् विचित्रं परिमाणं तेन द्रष्टव्यम्। तथाहि-मिश्रजाते प्रथमत एव स्थाल्यां प्रभूतं जलमारोप्यते, अधिकतराश्च तण्डुलाः कण्डनादिनिराकम्यन्ते, फलादिकमपि च प्रथमत एव प्रभूततरं संगृह्यते। अध्यवपूरके तु प्रथमतः स्वार्थं स्तोकतरं तण्डुलादि गृह्यते, पश्चाद् यावदर्थिकादिनिमित्तमधिकतरं तण्डुलादि प्रक्षिप्यते, तस्मात्तण्डुलादीनामादानकाले यद् विचित्रं परिमाणं तन्मिश्राध्यवपूरके। विशोधिकादौ नानात्वमवसेयम्।

संप्रत्यध्यवपूरकस्य कल्पविधिमाह-

जावंतिए विसोही, सघरपासंडमीसए पूई ।
छिन्ने विसोहि दिन्न-म्मि कप्पइ न कप्पई सेसं ॥

यावदर्थिके स्वगृहयावदर्थिकमिश्रेऽध्यवपूरके सूक्ष्मकल्पस्य... यदि तावन्मात्रमपनीयते ततो विशोधिर्भवति। अत्र स्वगृहयावदर्थिकमिश्रोऽध्यवपूरको विशोधिकोटौ पठ्यते। स्वगृहपाषण्डिमिश्रे, ... स्वगृहसाधुमिश्रे च सूक्ष्म... पूतिर्भवति, न कल्पते तद्भक्तम्, पूतिदोषदुष्टं सर्वमित्यर्थः। तथा विशोधौ विशोधिकोटिरूपे यावदर्थिकाध्यवपूरके छिन्ने यावन्तः कणाः कार्पटिकाद्यर्थं पश्चात् ... पृथक्कृते, कार्पटिकादिभ्यो वा दत्ते सति, ... यदुक्तं तस्मात्पूर्वं कल्पते। शेषं पुनः स्वगृहपाषण्डिमिश्रं स्वगृहसाधुमिश्राध्यवपूरकं न कल्पते। किमुक्तं भवति ?।

गृहीतं तावन्मात्रं स्थाल्याः पृथक्कृतं, दत्तं ... यस्यापि यत् शेषं, तत्र कल्पत इति।

' जावंतिए विसोही ' इत्यवयवं विशेषतो व्याख्यानं-

छिन्नम्मि तओ उक्क-ड्डियम्मि पुडकए कप्पइ सेसं।
आइवणाए दिन्नं, व तत्तियं कप्पए सेसं ॥

विशोधिकोटिरूपे यावदर्थिकेऽध्यवपूरके यावदर्थिक-प्रक्षिप्तं तावन्मात्रे छिन्ने पृथक्कृते, तत्र भेदो ... तत आह-(तओ उक्कड्डियम्मि) ... इहोत्कर्षितं स्वस्थानादुत्पाट्य ... एयते, ततो विशेषणान्तरमाह-पृथक्कृते स्थाल्या ... शिते, शेषं यदुक्तं तस्माद्भूतं कल्पते। अथवा आवपनं ... शेन, न ... दत्तं स्यात् ततः शेषं कल्पते। पि०। तत्र प्रायश्चित्तम् ... मासगुरु। बृ० १ उ०। " यावन्तियअज्झोयरए मासगुरु ... रपासंडअज्झोयरए मासगुरु" । पं० चू०। अध्यवपूरकादीनां प्रकाशनकम्। जीत०। पंचा०।

अज्झोल्लिआ-देशी-क्रोडाभरणे. दे० ना० १ वर्ग।

अज्झोववज्जणा-अध्युपपादना-स्त्री०। इन्द्रियविषयेषु ... पत्तौ, अभिष्वङ्गे च। "तिविहा अज्झोववज्जणा-जाणू, अजाणू, वितिगिच्छा" तत्र जानतो विषयजन्यमर्थं या तदध्युपपत्तिः सा जाणू। या त्वजानतः सा अजाणू। या तु संशयवतः सा विचिकित्सा। स्था० ३ ठा० ४ उ०।

अज्झोववन्न-अध्युपपन्न-त्रि०। विषयपरिज्ञानाय ... आचा०।

अज्झोववाय-अध्युपपात-पुं०। अहर्निशं काम्यचिन्तनायाम्, "इमं अज्झोववायलोभजणणाइं" पाणाणि परस्परं ... ध्युपपातं च अहर्निशकाम्यचिन्तनां लोभं मूर्च्छां जनयन्ति यानि तानि अध्युपपातलोभजननानि। प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा०।

अञ्च-कृप्-धा० आकर्षणे, विलेखने च। तुदा०, आत्म०, सक०, अनिट्। "कृपेः कड्डसाअड्ढाञ्चाणच्छायञ्छाइञ्छाः" ।८।४।१८७। इति कृपेरञ्चादेशः। अञ्चइ, कृपते। प्रा०।

अञ्चिअ-अञ्चित-त्रि०। अञ्च्-क्त। वर्गेऽन्त्यो वा ।८।१। ३०। इत्यनुस्वारस्य वा परसवर्णः। पूजिते, प्रा०। ... ।८।४।२६३। ...

अञ्ञ-अज्ञ-त्रि०। "न्यण्यज्ञां ञ्ञः" ।८।४।२९३। मागध्यां ज्ञस्य ञ्ञः, द्विरुक्तो ञकार इत्यर्थः। मूर्खे, प्रा०।

अन्य-त्रि०। न्यस्य स्थाने द्विरुक्तो ञकारः। ... यमेतद्घटिता अप्युदाहार्याः। प्रा०।

अञ्ञलि-अञ्जलि-पुं०। अञ्ज्-अलि, "न्यण्यज्ञां ञ्ञः" ।८। ४।२९३। इति मागध्यां ञ्ञ इति भागस्य ञ्ञ। संपुटे, प्रा०।

अट्ट-अट्ट-धा० भक्षे। भ्वा०, सक०, पर०, सेट्। "अट्टेः ... छिन्यम्" ।८।४।२२१। इति छछिन्यम्। परिअट्टइ, ...

अट्ट-क्वथ-धा० निष्पाके। भ्वा०, पर०, सक०, सेट्। ... ।८।४।११९। इति क्वथेरट्ट इत्यादेशः। अट्टइ, क्वथति। प्रा०।

अट्ट-अट्ट-पुं०। अट्टयति नाद्रियतेऽन्यद् यत्र। अट्ट-घञ्। प्रासादस्योपरि गृहे, प्राकारोपरिस्थगृहे ... ता हि नरा अन्यान् हीनतया नाद्रियन्ते। ...

" योत्कर्षैस्मादृक्षः । आव० । " अट्टाणि वा अट्टालयाणि वा " आचा० २ श्रु० ११ अ० । अत्यर्थेऽतिकम्पनेऽनेनाऽट्टः । आचा० टी० प्र० २० शु० २ उ० ।

आर्त्त–त्रि० । अर्तिः शारीरमानसी पीडा, तत्र भव आर्त्तः । आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । पीडिते, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । दुःखिते, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । मोहोदयेन आर्त्ते, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । शरीरतो दुःखिते, औ० । मोहोदयात्स्वगणितकार्याकार्यविवेके च । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । अत्र निक्षेपः–" अट्टे लोए परिजुण्णे दुस्संबोहे अविजाणए" । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । ('पुढविकाय' शब्दे एतत्सूत्रव्याख्यानं वक्ष्यते)

अट्टे चउव्विहे खलु, दव्वे नाहिमादि जत्थ तणकट्ठा ।
आवत्तंते पडिया, से व सुवण्णादि आवट्टे ॥

आर्त्तः खलु चतुर्विधः । तद्यथा–नामार्त्तः, स्थापनार्त्तः, द्रव्यार्त्तः, भावार्त्तश्च । तत्र नामस्थापने सुगमे । द्रव्यार्त्तोऽपि नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो यत्र नद्यादेः प्रदेशे तृणकाष्ठानि पतितानि आवर्त्तन्ते, यश्च वा सुवर्णाद्यावर्त्तते, स द्रव्यतः आ सर्वतः परिभ्रमणेन ऋतानि गतानि यत्र यो वा स आर्त्त इति व्युत्पत्तेः ।

अहवा अट्टीभूतो, सचित्तादीहि होइ दव्वम्मि ।
भावे कोहादीहिं, उ अभिभूतो होति अट्टो उ ॥

अथवा सचित्तादिभिर्द्रव्यैरसंप्राप्तैः प्राप्तविमुक्तैर्वा य आर्त्तः स द्रव्यार्त्तः, द्रव्यैरार्त्तो द्रव्यार्त्त इति व्युत्पत्तेः । क्रोधादिभिरभिभूतो नोआगमतो भावार्त्तः । तदेवमार्त्तशब्दार्थ उक्तः । स्था० ४ ठा० । आचा० । ऋतस्य पीडितस्येदं वचनमिति कृत्वा पोरुषी गोपालीकं, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । ऋतं दुःखं, तत्र भवमार्त्तम् । यदि वा आर्त्तिः पीडा, यातनं च, तत्र भवमार्त्तम्" ध० २ अधि० । प्रश्न० । क्लिष्टे, आव० ४ अ० । विषयानुरञ्जिते, ध० २ अधि० । इष्टविषयसंयोगाभिलाषे, प्रश्न० ४ संव० द्वा० । एतद्रागमके शोकाक्रन्दविक्षेपनादिलक्षणे वा ध्यानभेदे, आव० ४ अ० । द्वा० ।

अट्ट–देशी–कृशे, दुर्बले, गुर्वी, महति, शुकपक्षिणि, सुखे, मौने, घृष्टे, विपाते, अलसे, शीतके, शब्दे, ध्वनौ, असत्ये च । दे० ना० १ वर्ग ।

अट्टट्ट–देशी–कथने, दे० ना० १ वर्ग ।

अट्टक–अट्टक–पुं० (आटको) कुट्टितसेवकनकरे पात्रविशूपूर्वके द्रव्ये, बृ० १, उ० ।

अट्टज्झाण–आर्त्तध्यान–न० । ऋतं दुःखम् । ऋतं द्वि–ऋतशब्दो दुःखपर्यायवाच्याधीयते । ऋते भवमार्त्तम्, उत्त० ३० अ० । ऋते दुःखं, तस्य निमित्तं, तत्र वा भवम् । ऋते वा पीडिते भवमार्त्तम् । स्था० ४ ठा० १ उ० । आव० । तच्च तद् ध्यानं च । आर्त्तभावं गत आर्त्तः, आर्त्तस्य वा ध्यानमार्त्तध्यानम् । आ० चू० ४ अ० । मनोज्ञामनोज्ञवस्तुवियोगसंयोगादिनिबन्धनचित्तविक्लवलक्षणे ध्यानभेदे, स० १ सम० । " राज्योपभोगशयनासनवाहनेषु, स्त्रीगन्धमाल्यमणिरत्नविभूषणेषु । इच्छाभिलाषमतिमात्रमुपैति मोहाद्–ध्यानं तदार्त्तमिति संप्रवदन्ति तज्ज्ञाः " ॥१॥ दश० १ अ० । " भयकारणमट्टमहार्ह " । आर्त्तध्यानं स्वाधिपयहृदयाभेदचतुर्धा । उक्तं च भगवता वाचकमुख्येन–आर्त्तममनोज्ञानां संप्रयोगे, तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः, वेदनायाश्च विपर्ययम्, मनोज्ञानां निदाने चेत्यादि । आव० ४ अ० ।

"अट्टज्झाणे चउव्विहे पण्णत्ते" चतस्रो विधा भेदा यस्य तत्तथा ।

अमणुन्नसंपओगसंपउत्ते तस्स विप्पओगसतिसमण्णागए यावि भवइ ॥

अमनोज्ञस्यानिष्टस्य 'असमणुन्नस्स त्ति' पाठान्तरे अस्वमनोज्ञस्यानात्मप्रियस्य शब्दादिविषयस्य, तत्साधनवस्तुनो वा संप्रयोगः संबन्धस्तेन संप्रयुक्तः संबद्धोऽमनोज्ञसंप्रयोगसंप्रयुक्तोऽस्वमनोज्ञसंप्रयोगसंप्रयुक्तो वा, य इति गम्यते । तस्येति अमनोज्ञस्य शब्दादेर्विप्रयोगाय वियोगार्थं स्मृतिश्चिन्ता, तां समन्वागतः समनुप्राप्तो भवति यः प्राणी, सोऽभेदोपचारादार्त्तमिति । चाऽपीतिशब्दः विकल्पापेक्षया समुच्चयार्थः । अथवा मनोज्ञसंप्रयोगसंप्रयुक्तो यः प्राणी, तस्य प्राणिनः विप्रयोगे प्रक्रमादमनोज्ञशब्दादिवस्तुनो वियोजने, स्मृतिश्चिन्तनम्, तस्याः समन्वागतः समागमनं समन्वाहारो विप्रयोगस्मृतिसमन्वागमं चाऽपीति तथैव भवति, आर्त्तध्यानमिति प्रक्रमः । अथवाऽमनोज्ञसंप्रयोगसंप्रयुक्ते प्राणिनि, तस्येति अमनोज्ञशब्दादेर्विप्रयोगस्मृतिसमन्वागतमार्त्तध्यानमिति ।

अमणुन्नाणं सद्दा–इविसयवत्थूण दोसमइलस्स ।
धणियं विओगचिंतण–मसंपओगाणुसरणं च ॥६॥

अमनोज्ञानामिति । मनसोऽनुकूलानि मनोज्ञानि, इष्टानीत्यर्थः । न मनोज्ञानि अमनोज्ञानि, तेषाम्, केषामित्यत आह–शब्दादिविषयवस्तूनामिति । शब्दादयश्चैते विषयाश्च, आदिशब्दाद्रूपादिपरिग्रहः । विषीदन्त्येतेषु सक्ताः प्राणिन इति विषयाः–इन्द्रियगोचराः, वस्तूनि तु तदाधारभूतानि रासभादीनि । ततश्च शब्दादिविषयाश्च, वस्तूनि चेति विग्रहः । तेषाम्, किंभूतानां सताम् ? धणियमत्यर्थम्, वियोगचिन्तनं विप्रयोगचिन्तेति योगः । कथं नु नाभिर्वियोगः स्यादिति भावः । अनेन वर्त्तमानकालग्रहः । तथा सति च वियोगेऽसंप्रयोगानुस्मरणं, कथमेभिः सहैवं संप्रयोगाभाव इत्यनेन चानागतकालग्रहः । चशब्दात्पूर्वमपि वियुक्तासंप्रयुक्तयोर्बहुमतत्वेनातीतकालग्रह इति । किंविशिष्टस्य सत इदं वियोगचिन्तनादि ? अत आह–द्वेषमलिनस्य, जन्तोरिति गम्यते । तत्राप्रीतिलक्षणो द्वेषः, तेन मलिनस्य, तदाक्रान्तमूर्त्तेरिति गाथार्थः । इति प्रथमो भेदः ।

सांप्रतं द्वितीयमभिधित्सुराह–

तह सूलसीसरोगा–इवेयणाए विओगपणिहाणं ।
तयसंपओगचिंता, तप्पडिआराउलमणस्स ॥७॥

तथेति धणियमत्यर्थमेव । शूलशिरोरोगादिवेदनाया इत्यत्र शूलशिरोरोगौ प्रसिद्धौ । आदिशब्दाच्छेषरोगातङ्कपरिग्रहः । ततश्च शूलशिरोरोगादिभ्यो वेदना । वेदन इति वेदना । तस्याः किम् ?, वियोगप्रणिधानम्, वियोगे दृढाध्यवसाय इत्यर्थः । अनेन वर्त्तमानकालग्रहः । अनागतमधिकृत्याह–तदसंप्रयोगचिन्तेति, तस्या वेदनायाः कथंचिदभावे सति असंप्रयोगचिन्ता, कथं पुनर्ममानयाऽऽयत्या संप्रयोगो न स्यादिति चिन्ता आर्त्तध्यानमेव गृह्यते । अनेन वर्त्तमानानागतकालग्रहणेनातीतकालग्रहोऽपि कृत एव वेदितव्यः । तत्र भावनाऽनन्तरगाथायां कृतैव । किंविशिष्टस्य सत इदं वियोगप्रणिधानादि ? अत आह–तत्प्रतीकारे वेदनाप्रतीकारे चिकित्सायामाकुलं व्यग्रं मनोऽन्तःकरणं यस्य स तथाविधस्तस्य वियोगप्रणिधानाद्यार्त्तध्यानमिति वा । उक्तो द्वितीयो भेदः । आव० ४ अ० ।

अधुना तृतीयमुपदर्शयन्नाह–

आरंभे भोगमंडले वस्स विषभोगसितिसमपाग– [illegible] भवइ ॥

[illegible] रोगः इति । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

[illegible] विषयाः-ए वेमणाए अ रागरयस्स ।

[illegible] रमाणं, तह संभोगाभिलासो अ ॥८॥

[illegible] विषयादीनामिति । विषयाः पूर्वोक्ताः । आदि- [illegible] वेदनायाश्च इष्टाया इति वर्तते । किम्?, [illegible] इति योगः । अविप्रयोगाध्यवसाय इति [illegible] तथा संयोगाभिलाष- [illegible] प्रकारोपदर्शनार्थः । [illegible] भिरायन्यां संबन्धः ?, इ- [illegible] इति सूत्रं व्याख्यातं । यथा- [illegible] इति । किंविशिष्टस्य सत इदमविप्रयो- [illegible] जन्तोरिति गम्यते । [illegible] समाधिनमूर्तेरिति गा- [illegible]

[illegible] चतुर्थमभिधित्सुराह–

[illegible] भोगसंपउत्ते तस्स अविप्पओ– [illegible] भवइ ॥

[illegible] ये कामाः कमनीया भोगाः [illegible] भोगा [illegible] [illegible] संप्रयोगेन संयुक्तो [illegible] आदिना, स [illegible]

[illegible]

एयं चउव्विहं रा-गदोसमोहंकियस्स जीवस्स ।
अट्टज्झाणं संसा-रवद्धणं तिरियगइमूलं ॥१०॥

एतदनन्तरोदितं चतुर्विधं चतुःप्रकारं रागद्वेषमोह [illegible] रागादिग्रस्तस्येत्यर्थः । कस्य?, जीवस्य [illegible] ध्यानमिति । तथा चतुष्टयमपि किं विशिष्टम्?, [illegible] संसारवर्द्धनम्, ओघतस्तिर्यग्गतिमूलं [illegible] आह-साधोरपि शूलवेदनाभिभूतस्यासमाधानवत [illegible] स्तिरित्याशङ्क्यते, रागादिवशवर्तिनो भवत्येव, [illegible] ति । आह च ग्रन्थकारः–

मज्झत्थस्स उ मुणिणो, सकम्मपरिणामजणियमेयं ति ।
वत्थुस्सहावचिंतण–परस्स सम्मं सहंतस्स ॥११॥

मध्ये तिष्ठतीति मध्यस्थः, रागद्वेषयोरिति गम्यते । [illegible] स्थस्य, तुशब्द एवकारार्थः, स चावधारणे । [illegible] स्य । मनुते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः, [illegible] त्यर्थः । स्वकर्मपरिणामजनितमेतत् [illegible] मिदैवाद्यशुभमापतति न तत्र परितापो [illegible] परममुनिभिः–" पुव्विं च खलु भो कडाणं कम्माणं दुच्चि- न्नाणं दुप्पडिकंताणं वेइत्ता मोक्खो नत्थि, अवेइत्ता तवसा [illegible] सइत्ता" इत्यादि । इत्येवं वस्तुस्वभाव [illegible] माध्यस्थ्यमाश्रित्य [illegible] मेवमिदानमिति वदतीति गाथार्थः ॥ ११ ॥ [illegible] गतः प्रथमपक्षः ।

द्वितीयमूर्तीयाभिधित्स्याह–

कुणओ व पसत्थालं–बणस्स पडिआरमप्पसावज्जं ।
तवसंजमपडिआरं, च सेवओ धम्ममणिआणं ॥१२॥

[illegible]

द्वेषा यथानुपपत्तेरिति । आह-उक्तं भवता आर्तध्यानं संसारवर्द्धनमिति, तत्कथमुच्यते ?, बीजत्वात् ।

बीजत्वमेव दर्शयन्नाह-

रागो दोसो मोहो, जेण संसारहेअवो भणिआ ।
अट्टंमि अ ते तिन्नि वि, तो तं संसारतरुबीअं ॥ १३ ॥

रागो द्वेषो मोहश्च येन कारणेन संसारहेतवः संसारकारणानि भणिता उक्ताः, परममुनिभिरिति गम्यते । आर्ते चार्तध्याने च संभवन्ति ते त्रयोऽपि रागादयः संभवन्ति यत एवं, ततस्तत्संसारतरुबीजं भवतरुकारणमित्यर्थः । आह—यद्येवमोघत एव संसारतरुबीजं ततश्च तिर्यग्गतिमूलमिति किमर्थमभिधीयते ?। उच्यते-तिर्यग्गतिगमननिबन्धनत्वेनैव संसारतरुबीजमिति। अन्ये तु व्याचक्षते-तिर्यग्गतावेव प्रभूतसत्त्वसंभवात्स्थितिबहुत्वाच्च संसारोपचार इति गाथार्थः ॥१३॥

इदानीमार्तध्यायिनो लेश्याः प्रतिपाद्यन्ते-

कावोअनीलकाला, लेसाओ णाइसंकिलिट्ठाओ ।
अट्टज्झाणोवगय-स्स कम्मपरिणामजणिआओ ॥१४॥

कापोतनीलकृष्णा लेश्याः किंभूताः ?, नातिसंक्लिष्टा रौद्रध्यानलेश्यापेक्षया नातीवाशुभानुभावाः, भवन्तीति क्रिया । कस्येत्यत आह-आर्तध्यानोपगतस्य, जन्तोरिति गम्यते । किंनिबन्धना एताः ?, इत्यत आह-कर्मपरिणामजनिताः । तत्र-"कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्, परिणामो य आत्मनः । स्फटिकस्येव तत्रायं, लेश्याशब्दः प्रयुज्यते" ॥१॥ एताश्च कर्मोदयायत्ता इति गाथार्थः ॥ १४ ॥ आव० ४ अ० ।

आह-कथं पुनरोघत एवार्त्तं ध्यायन् ज्ञायत इत्युच्यते, लिङ्गेभ्यः; तान्युपदर्शयन्नाह-

अट्टस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पन्नत्ता । तं जहा-कंदणया, सोयणया, तिप्पणया, परिदेवणया ।

लक्ष्यते निर्णीयते परोक्षमपि चित्तवृत्तिरूपत्वात् आर्त्तध्यानमेभिरिति लक्षणानि । तत्र क्रन्दनता-महता शब्देन विरवणम्, शोचनता-दीनता, तेपनता-तिपेः क्षरणार्थत्वादश्रुविमोचनम्, परिदेवनता-पुनः पुनः क्लिष्टभाषणमिति । एतानि चेष्टवियोगानिष्टसंयोगरोगवेदनाजनितशोकरूपस्यैवार्त्तस्य लक्षणानि । (स्था० ४ ठा० १ उ०) यत आह-

तस्स क्कंदणसोअणपरिदेवणताडणाइं लिंगाइं ।
इट्ठाणिट्ठविओगा-विओगविअणानिमित्ताइं ॥ १५ ॥

तस्यार्तध्यायिनः, आक्रन्दनादीनि लिङ्गानि । तत्राक्रन्दनं महता शब्देन विरवणम्, शोचनं स्वश्रुपरिपूर्णनयनस्य दैन्यम्, परिदेवनं पुनः २ क्लिष्टभाषणम्, ताडनमुरःशिरःकुट्टनकेशलुञ्चनादि, एतानि लिङ्गानि चिह्नानि, अमूनि च इष्टानिष्टवियोगावियोगवेदनानिमित्तानि । तत्रेष्टवियोगनिमित्तानि, तथाऽनिष्टावियोगनिमित्तानि, वेदनानिमित्तानि चेति गाथार्थः ॥ १५ ॥

किं चान्यत्-

निंदइ निअयकयाइं, पसंसई विम्हिओ विभूईओ ।
पत्थेइ तासु रज्जइ, तयज्जणपरायणो होई ॥ १६ ॥

निन्दति च कुत्सति च निजकृतानि आत्मकृतानि अल्पफलविफलानि, कर्मशिल्पकलावाणिज्यादीन्येतत्क्रियते । तथा प्रशंसति स्तौति बहु मन्यते सविस्मयः साश्चर्यः विभूतीः परसंपद इत्यर्थः । तथा प्रार्थयते अभिलषति, परविभूतीरिति । तथा तासु रज्यते-तास्विति प्राप्तासु विभूतीषु रागं गच्छति, तथा तदर्जनपरायणो भवति-तासां विभूतीनामर्जन उपादाने परायण उद्युक्तस्तदर्जनपरायण इति । ततश्चैवंभूतो भवत्यसावप्यार्त्तं ध्यायतीति गाथार्थः ॥ १६ ॥

किं च—

सद्दाइविसयगिद्धो, सद्धम्मपरम्मुहो पमायपरो ।
जिणमयमणविक्खंतो, वट्टइ अट्टम्मि झाणम्मि ॥ १७ ॥

शब्दादयश्च ते विषयाश्च शब्दादिविषयास्तेषु गृद्धो मूर्च्छितः, काङ्क्षावानित्यर्थः । तथा सद्धर्मपराङ्मुखः प्रमादपरः । तत्र दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः, संश्चासौ धर्मश्च सद्धर्मः, क्षान्त्यादिकश्चरणकरणधर्मो गृह्यते, तत्पराङ्मुखः । प्रमादपरो मद्यादिप्रमादासक्तः, जिनमतमनपेक्षमाणो वर्तते आर्त्ते ध्यान इति । तत्र जिनास्तीर्थकरास्तेषां मतमागमरूपम्, प्रवचनमित्यर्थः । तदनपेक्षमाणस्तन्निरपेक्ष इत्यर्थः । किम् ?, वर्त्तते, आर्त्तध्याने । इति गाथार्थः ॥ १७ ॥

साम्प्रतमिदमार्त्तध्यानसंभवमधिकृत्य यदनुगतं यदर्हं च वर्त्तते तदेतदभिधित्सुराह—

तदविरयदेसविरय—प्पमायपरसंजयाणुगज्झाणं ।
सव्वं पमायमूलं, वज्जेअव्वं जइजणेणं ॥ १८ ॥

तदार्त्तध्यानमिति योगः । अविरतदेशविरतप्रमादपरसंयतानुगतमिति । तत्राविरता मिथ्यादृष्टयः सम्यग्दृष्टयश्च, देशविरता एकव्याद्यणुव्रतधरभेदाः श्रावकाः, प्रमादपराः प्रमादनिष्ठाश्च, ते संयताश्च, ताननुगच्छतीति विग्रहः । नैवाप्रमत्तः संयतानामिति भावः । इदं च स्वरूपतः सर्वं प्रमादमूलं वर्तते, यतश्चैवमतो वर्जयितव्यं परित्यजनीयम्, केन ?, यतिजनेन साधुलोकेन, उपलक्षणत्वात् श्रावकजनेन च । परित्यागार्हत्वादेवास्येति गाथार्थः ॥ १८ ॥ आव० ४ अ० । ध० । प्रव० । ग० । द्वा० ।

अट्टज्झाणवियप्प-आर्त्तध्यानविकल्प- पुं० । अशुभध्यानभेदे, " जो एत्थ अभिस्संगो, संतासंतेसु पावहेउ त्ति । अट्टज्झाणवियप्पो, स इमीए लगओ रुवं " ॥१॥ पं० १ द्वा० ।

अट्टज्झाणवेरग्ग-आर्त्तध्यानवैराग्य-न० । आर्त्तध्यानं च तद्वैराग्यम् । वैराग्यभेदे, द्वा० । तल्लक्षणम्-

इष्टेतरवियोगादि—निमित्तं प्रायशो हि यत् ।
यथाशक्त्यपि हेयादा—वप्रवृत्त्यादिवर्जितम् ॥१॥
उद्वेगकृद्विषादाढ्य—मात्मघातादिकारणम् ।
आर्त्तध्यानं ह्यदो मुख्यं, वैराग्यं लोकतो मतम् ॥ २ ॥

इष्टश्च प्रियः, इतरश्चानिष्टः, इष्टेतरौ विषयाविति गम्यते । तयोर्यथासङ्ख्येन यो वियोगादिर्विरहसंप्रयोगौ, स निमित्तं कारणं यस्य तदिष्टेतरवियोगादिनिमित्तम्, प्रायशो बाहुल्येन न पुनरिष्टेतरवियोगादिनिमित्तमेव, क्वचित्कल्पनिमित्तस्यापि तस्य संभवात् । हिशब्दो यस्मादर्थे । तत्प्रयोगं च दर्शयिष्यामः । यदिति वैराग्यमद एतदार्त्तध्यानमेवेति संबन्धः । कुतस्तदार्त्तध्यानमेव न पुनर्यथार्थवैराग्यमित्याह—यस्माद्यथाशक्त्यपि सामर्थ्यानुरूपमप्यास्तां श्रद्धाऽतिशयाच्छक्त्यतिक्रमतः हेयादौ हेयोपादेयवस्तुविषये क्रमेणाप्रवृत्त्यादिवर्जितं निवर्तनविरहितं यत्किल यथावद्वैराग्यं भवति तदिन्द्रियार्थोपादेयेषु च तपोध्या-

नादिषु यथाशक्ति निवृत्तिप्रवृत्तियुक्तं भवति, तत्स्वरूपत्वात्। इदं तु तेजोऽर्जनं यस्मात् तस्मादार्त्तध्यानमेवेति भावः। तथा उद्वेगं

तस्य घातादि हिंसनताडनादि, तस्य कारणं हेतुरात्मघातादिकारणम, आर्त्तध्यानम्। हिशब्दस्यैवकारार्थत्वादार्त्तध्यानमेव अद इति संबन्धितमेव। किंमूलमित्याह-मुखे प्रथं मुख्यं प्रधानम, निदानवर्त्तिमित्यर्थः। ननु यद्यार्त्तध्यानमेतत्तदा कस्माद्वैराग्यतयोक्तमित्याह-वैराग्यमुक्तनिर्वचनं लोकतो, लोकं पृथग्जनमाश्रित्य तद्वदेतत्यर्थो न पुनस्तत्त्वतो मतं संमतं तत्त्वविदुषामिति। हा० १० अष्ट०।

अट्टज्झाणोवगय–आर्त्तध्यानोपगत–त्रि०। अपगतसद्विवेकतया धर्मध्यानदुर्वर्तिनि आर्त्तध्यानध्यायिनि, "अट्टज्झाणोवगए, भूमिगयदिट्ठिए झियाइ" सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

अट्टहास–अट्टहास–पुं०। उच्चैर्हसनरूपे हासविशेषे, उपा० २ अ०। "भीमं अट्टहासं मुयंतो वीहावेइ" आ०म०द्वि०। आव०।

अट्टी–देशी–धाते, दे० ना० १ वर्ग।

अट्टण–अट्टन–न०। अट्यते परिभूयते रिपुरनेन। अट्ट–करणे ल्युट्। चक्राकारफलकाख्ये, शस्त्रे ल्युट्। अनादरे, न०। वाच०। स्वनामख्याते मल्ले, पुं०। उत्त० ४ अ०। तत्कथा चैवम्-उज्जयिन्यां जितशत्रुनृपस्य अट्टनमल्लो वर्त्तते स्म। स च प्रतिवर्षं सोपारके गत्वा सिंहगिरि राज्ञः सभायां मल्लान् विजित्य जयपताकां लाति स्म। अन्यदा राज्ञा एवं चिन्तितम्—परदेशीयोऽयमट्टनमल्लो मत्सभायां जित्वा बहु द्रव्यं प्राप्नोति, मदीयः कोऽपि मल्लो न जयति, नैतद्वरम, एवं हि ममैव महत्यकीर्तिर्जायते। इति मत्वा कश्चिद्बलवन्तं मत्स्यीनरं दृष्ट्वा स्वमल्लं चकार। तस्य त्वरितमेव मल्लविद्या समायाता। 'मत्स्यी मल्ल' इति नाम तस्य कृतम। अन्यदा अट्टनमल्लः सोपारके समायातस्तेन समं राज्ञा मत्स्यीमल्लस्य युद्धं कारितम, जितो मत्स्यीमल्लः। अट्टनः पराजितः स्वनगरे गत एवं चिन्तयति स्म मत्स्यीमल्लस्य तारुण्येन बलवृद्धिः, मम तु वार्द्धक्येन बलहानिः, ततोऽन्यं स्वपक्षपातिनं मल्लं करोमि। ततोऽसौ बलवन्तं पुरुषं विलोकयन् भृगुकच्छदेशे समागतः। तत्र हरिणीग्रामे एकः कर्षक एकेन करेण हलं वाहयन् द्वितीयेन कर्पासमुत्पाटयन् दृष्टः। स भोजनाय स्वस्थानके सार्द्धं नीतः। तस्य बहु भोजनं दत्तम्। उत्सर्गसमये च सुरद्रमद्रं पुरीषं दृष्ट्वा मल्लविद्या पाठिता। 'फलहीमल्ल' इति तस्य नाम कृतम। अट्टनः सोपारके फलहीमल्लं गृहीत्वा गतः। राज्ञा मत्स्यीमल्लेन समं फलहीमल्लस्य युद्धं कारितम्। प्रथमे दिवसे द्वयोः समतैव जाता। अट्टनेन सोपारके फलहीमल्लः पृष्टः—पुत्र! तवाङ्गे क्व प्रहारा लग्नाः? तेन स्वाङ्गप्रहारस्थानानि दर्शितानि। अट्टनेनौषधिरसेन तानि स्थानानि तथा मर्दितानि यथाऽसौ पुनर्नवीभूतः। मत्स्यीमल्लस्यापि राज्ञा पृष्टम्-तव तवाङ्गे प्रहारा लग्नास्तथा तान् दर्शय?, फलहीमल्लः पुनर्नवीभूतः श्रूयते। मत्स्यीमल्लोऽभिमानात् स्वस्थानम न दर्शयति स्म, वक्ति स्म च-अहं पुनर्नवीभूतः फलहीमल्लं जेष्यामि। द्वितीयदिवसे पुनर्युद्धमभूत् द्वयोरपि समत्वमेव जातम। तृतीयदिवसे मत्स्यीमल्लो जितः फलहीमल्लेन। अट्टनस्य सत्कारः कृतः। ततो मत्स्यीमल्लो ... लाभस्य [illegible] [illegible] ... अट्टनमल्लो गत उज्ज-

यिनीम। तत्र विपुलं द्रव्यं ... गृहं विशति स्म इति न कस्मैचित् कार्याय क्षम इति स्वजनै

मेकं यावत्प्रमापयन्ति मत्तिनयात्। ततोऽट्टनमल्लस्तत्र ... न्यां राजपर्षदि मल्लमहे ...
समागत्य राज्ञे नीरङ्गणनामा महामल्लो जितः ...
आगन्तुकेनानेन जित इति कृत्वा न प्रशंसितः ...
शंसामन्तेरण मौननाम्ना जातः। अट्टनस्तु ...
पक्षिणः प्रत्याह-नो भोः पक्षिणः?, भूत-अट्टनेन ...
तनो ...
बहु द्रव्यं वार्स राज्ञा दत्तम्। स्वजनस्तं तथाभूतं ...
समागत्य मिलितः सत्कारादि चकार। ...
व्यतीमादेते मम साम्प्रतं सत्कारं कुर्वन्ति, पश्चादिदं ...
मानयिष्यन्ति, जरापरिगतस्य मे न कश्चित् ...
यावदहं सावधानस्तावदस्मि ... इति विचार्य ...
समीपेऽट्टनेन दीक्षा गृहीतेति। "उवरुद्धमल्ले ... तारां" उत्त० ४ अ०। आ० चू०। आव०।

अट्टन–न०। गमने, ध० ३ अधि०। व्यायामे, औ०।

अट्टणसाला–अट्टनशाला–स्त्री०। व्यायामशालायाम, ज्ञा०।

तद्वर्णकः—

जेणेव अट्टणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता अट्टणसालं अणुप्पविसति, अणेगवायामजोग्गवग्गणवामद्दणमल्लजुद्धकरणेहिं संते परिस्संते सयपागसहस्सपागेहिं सुगंधवरतेल्लमाईएहिं पीणणिज्जेहिं दीवणिज्जेहिं दप्पणिज्जेहिं मदणिज्जेहिं विहणिज्जेहिं सव्विंदियगायपल्हायणिज्जेहिं अब्भिंगेहिं अब्भिंगिए समाणे तेल्लचम्मंसि पडिपुण्णपाणिपायसुकुमालकोमलतलेहिं पुरिसेहिं छेएहिं दक्खेहिं पत्तट्ठेहिं कुसलेहिं मेहावीहिं निउणेहिं निउणसिप्पोवगएहिं जियपरिस्समेहिं अब्भिंगणपरिमद्दणुव्वलणकरणगुणनिम्माएहिं अट्ठिसुहाए मंससुहाए तयासुहाए रोमसुहाए चउव्विहाए संवाहणाए संवाहिए समाणे अवगयपरिस्समे नरिंदे अट्टणसालातो पडिनिक्खमेति। ज्ञा० १ अ०। आ० चू०। औ०।

अट्टणियट्टियचित्त–आर्त्तनिवर्तितचित्त–त्रि०। आर्त्तं निवर्तितं चित्तं यैस्त आर्त्तनिवर्तितचित्ताः आर्ताद्वा निवर्तितं चित्तं येषां ते आर्त्तनिवर्तितचित्ताः। क्रियाध्यवसायिषु, औ०। "अट्टदुहट्टवसट्टियचित्ता, जह जीवा दुक्खसागरमुवेंति" भ० २ श० १ उ०।

आर्त्तनिरर्दितचित्त–त्रि०। क्लिष्टपरिणामे, आर्त्तेन निरर्दितमनुगतं चित्तं येषां ते तथा। औ०।

अट्टतर–आर्त्ततर–न०। अतिशयिते आर्त्तध्याने, "पाणा अट्टतरं रसंति" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

अट्टदुहट्ट–आर्त्तदुर्घट–त्रि०। ६ त०। आर्त्तनाम्ना ध्यानविशेषेण दुर्घट, उपा० २ अ०।

आर्त्तदुःखार्त्त–त्रि०। ३ त०। आर्त्तेन दुःखार्दिते, उपा० २ अ०। आर्त्तध्यासी दुःखार्त्तः। मनसा देहेन च दुःखिते, विपा० १ श्रु० ...

अट्टदुहट्टवसट्ट–आर्त्तदुर्घटवशार्त्त–त्रि०। आर्त्तस्य ध्यानविशेषस्य ...

-त्थ थे दुर्घटो दु ध्यानं दुर्निरोधो यतः पारमन्थं, तेनार्तः पी-डित मार्त्तं दुर्घटसमार्त्तः । समाधिभावे, ब्रा० ८ अ० ।

अट्टदुहट्टवसट्ट-आर्त्तदुःखार्त्तवशार्त्त-त्रि० । आर्त्तेन दुःखार्त्तं आर्त्तदुःखार्तेन-न वशेन च विषयपरतन्त्रतया ऋतः पीडितो वशार्त्तः । ततः कर्मधारयः । विषयपारतन्त्र्येण दिवसपक्षतया च -पीडिते, उपा० ७ अ० । आर्त्तो मनसा दुःखितः, दुःखार्त्तो देहेन, वशार्त्तस्तु इन्द्रियवशेन पीडितः । ततः कर्मधारयः । -शा० १ श्रु० १ अ० । मनसा, देहेनेन्द्रियवशेन च पीडिते, "अहा णं तुमं अट्टदुहट्टवसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरो-विज्जसि " उपा० ७ अ० ।

अट्टदुहट्टियचित्त-आर्त्तदुःखार्दितचित्त-त्रि० । आर्त्तेन दुःखार्दितं चित्तं यस्य स तथा । विषयपरवशतया दुःखितमनस्केषु, औ० ।

अट्टदुहट्टोवगय-आर्त्तदुःखार्त्तोपगत-त्रि० । आर्त्तमार्त्तध्यानं, दुर्घटं दुःखवशार्त्तं दुःखार्त्तमित्यर्थः, उपगतः प्राप्तो यः स तथा । दुःखितार्त्तध्यानगते, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

अट्टमइय-आर्त्तमतिक-पुं० । आर्त्ते आर्त्तध्याने मतिर्येषां ते आर्त्त-मतिकाः । आर्त्तध्यानोपयुक्ते, आतु० ।

अट्टवसा-आर्त्तवशा-पुं० । आर्त्तध्यानवशतायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

अट्टवसट्टदुहट्ट-आर्त्तवशार्त्तदुःखार्त्त-त्रि० । आर्त्तवशमार्त्तध्यान-वशतामृतो गतो, दुःखार्त्तश्च यः स तथा । आर्त्तध्यानविवशी-भूतदुःखिते, " अट्टवसट्टदुहट्टे काले मासे कालं किच्चा " ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

अट्टवसट्टोवगय-आर्त्तवशार्त्तोपगत-त्रि० । आर्त्तवशार्त्तश्च स उ-पगतश्चेति समासः । आर्त्तध्यानसामर्थ्यमार्त्ते, धा० ।

अट्टस्सर-आर्त्तस्वर-त्रि० । दुःखेन शब्दायमाने, " अट्टस्सरे ते करुणं रसंते " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अट्टहास-अट्टहास-पुं० । अट्टेनातिशयेन हासः । ३ त० । हस-घञ् । उच्चहासे, वाच० " अट्टहासनीसणो " आव० ४ अ० ।

अट्टालग-अट्टालक-पुं० न० । अट्ट इव प्रासादस्याट्टमिव अलति पर्याप्नोति भवति । अल-अच् । वाच० । प्राकारोपरिवर्त्याश्रयवि-शेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । अं० । रा० । औ० । ज्ञा० । नि० चू० । भ० । महा० । आचा० । रा० । अनु० । प्राकारकोष्ठकोप-र्यवर्त्तिनि मन्दिरे, " पागारं कारयित्ता णं, गोपुरट्टालगाणि य " उत्त० ९ अ० ।

अट्टि-आर्त्ति-स्त्री० । शारीरमानस्यां पीडायाम्, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० । धामनायास, ध० २ अधि० ।

अट्टियचित्त-आर्त्तितचित्त-त्रि० । आर्त्तिना आर्त्तं दुःखं वा ध्यान-यहोपगतं चित्तं येषां ते आर्त्तितचित्ताः । शोकादिपीडिते, ' अट्टा अट्टियचित्ता " उपा० ७ अ० ।

अट्ठ-अर्थ-पुं० । आवकर्मादौ यथायथमह् । " स्थानचतुर्थार्थे ॥ " ८ । २ । ३३ । इति संयुक्तस्य था ठः । प्रा० । प्रयोजने, नं० चू० । १ श्रु० । ज्ञा० । सूत्र० । उत्त० । आचा० । स्था० । ज्ञा० । सूत्र० । " अहं अप्पणो अट्ठाए चेइयाइं नयंति " आचा० ७ सूत्र० २ अ० २ उ० । प्रयोजन एव ठः, यदा तु धनमुच्यते तदा सूत्र० २ श्रु० । ण स्यात् । अत्थो धनम् । पार्थे तु भवति-" अट्ठा वयं च अस्थिलाभ, बेहाय च णं थप " इत्यत्र अर्थ्यत इत्यर्थो धनधा-न्यहिरण्यादिक इति व्याख्यानात् । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

मात्रिप्रयोजने, " अट्ठं वा हेउं वा समणस्सत्त विरहिए कहेमो " दश० २ अ० । धर्मविषयेऽर्थित्वे, उत्त० ३ अ० । कार्ये, स्था० ५ ठा० ३ उ० । मोक्षे, तत्कारणभूते संयमे च । " अहे परिहायमी वहु, अहिगरणं न करेज्ज पंडिए " सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । निवृत्तौ, ज्ञा० १ अ० । सूत्राभिधेये, प्राकृतत्वाद् नपुंसकत्वमस्यार्थशब्दस्य । पा० । अनिधेये (वाच्ये), सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । स्था० । वस्तुनि, " से नूणं कामदेवा अट्ठे समट्ठे हंता ! अत्थि " अस्त्ययमर्थः इत्य-र्थः । अथवा मर्यादितं वस्तु समर्थः संगतः । उपा० २ अ० । " ठाविदे अट्ठे पन्नत्ते । तं जहा-संसयअट्ठे, दुग्गहअट्ठे, अणुजोगी, अणुमोमे, तहणाणे, अतहणाणे " स्था० ६ ठा० । (टीकाऽस्य 'पट्ठ' शब्दे वक्ष्यते) अर्थ्यते गम्यत इत्यर्थः । आर्त्तरीणादिकः थन् । हेये उपादेये वा वस्तुनि, तत्रयस्याप्यर्थ्यमानत्वात् । उत्त० १ अ० । आ० चू० । नि० । विषयभोगादिके, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । सूत्र० । (अहस्वरूपतामप्राप्तस्यार्थशब्दस्य अर्थाः 'अ-त्थ' शब्दे वक्ष्यन्ते)

अट्ठन्-त्रि० । ब० व० । अश्-व्याप्तौ कनिन्, तुट् च । संख्या-भेदे, तत्संख्यान्विते च । वाच० । महा० ।

अट्ठंग-अष्टाङ्ग-त्रि० । अष्टावङ्गानि यस्य तदष्टाङ्गम् । यमनियमा-द्यष्टाङ्गयोगे, वाच० ।

अट्ठंगणिमित्त-अष्टाङ्गनिमित्त-न० । भौमम् १, उत्पातम् २, स्वप्नः ३, आन्तरिक्षम् ४, आङ्गं ५, स्वरं ६, लक्षणं ७, व्यञ्जनम् ८; इत्येवं नवमपूर्वतृतीयाचारवस्तुनिर्गतं सुखदुःखादिसूचके निमित्ते, सूत्र० ।

> संवच्छरं सुविणं लक्खणं च,
> निमित्त देहं च उप्पाइयं च ।
> अट्ठंगमेयं बहवे अहित्ता,
> लोगंसि जाणंति अणागताइं ॥ ९ ॥

सांवत्सरमिति ज्योतिषम्, स्वप्नप्रतिपादको ग्रन्थः स्वप्नः, तम-धीत्य । लक्षणं श्रीवत्सादिकम् । चशब्दादान्तरबाह्यभेदभि-न्नम् । निमित्तं वाक्प्रशस्तशकुनादिकम् । देहे भवं दैहम्, मषक-तिलकादि । उत्पाते भवमौत्पातिकमुल्कापातदिग्दाहनिर्घातभू-मिकम्पादिकम् । तथाऽष्टाङ्गं च निमित्तमधीत्य । तद्यथा-भौम-मुत्पातमान्तरिक्षमाङ्गं स्वर लक्षणं व्यञ्जनमित्येवंरूपम् । नवमपू-र्वतृतीयाचारवस्तुविनिर्गतं सुखदुःखजीवितमरणलाभाऽलाभा-दिसंसूचकं निमित्तमधीत्य लोकेऽस्मिन्नतीतानि वस्तूनि अना-गतानि च जानन्ति परिच्छिन्दन्ति । न च शून्यादिवादिभ्येतद् घ-टते, तस्मादप्रमाणिकमेव तैरभिधीयत इति । एवं व्याख्याते सति आह परः-ननु व्यभिचार्यपि श्रुतमुपलभ्यते । तथाहि-चतुर्दशपूर्वविदामपि षट्स्थानपतितत्वमागमे उद्घुष्यते, किं पुनरष्टाङ्गनिमित्तशास्त्रविदाम् । अत्र चाङ्गवर्जितानां निमित्तशा-स्त्राणामानुपूर्व्येन छन्दसा अर्धत्रयोदशशतानि सूत्रम्, तावत्येव सह-स्राणि वृत्तिः, तावत्प्रमाणलक्षणा परिभाषेति । अङ्गस्य त्र-योदशसहस्राणि सूत्रम्, तत्परिमाणलक्षणा वृत्तिः, अपरिमितं वार्तिकमिति ॥

तदेवमष्टाङ्गनिमित्तवेदिनामपि परस्परतः षट्स्थानपतितत्वेन व्यभिचारित्वमत इदमाह—

> केई निमित्ता तहिया भवंति,
> केसिं च तं विप्पडिएति णाणं ।

दूराभोग गवेसण, पंथे जयणा य जा जत्थ ॥
पूर्वमनुशासनं तस्य कर्त्तव्यम्, ततो धर्मकथाप्रसङ्गेन कथनं स्थापत्यापुत्रादेः करणीयम् । एवमप्यतिष्ठति यन्निष्कामता स्थापितं द्रव्यं तद् गृहीत्वा समर्पणीयम्, तस्याभावे निजकानां तस्य वा भीषणमुत्पादनीयम्, यदि वा राजकुले गत्वा व्यवहारः कार्यः । एवमप्यतिष्ठति यतो यत्र लिङ्गं पूज्यते, ततस्तत्र परिगृह्य स मोचनीयः । एतस्यापि प्रयोगस्याभावे दूरेणाच्छिन्नस्वामिकतया, दूरदेशाद्यवधानेन वा यन्निधानं तस्याभोगः कर्त्तव्यः, तदनन्तरं तस्य गवेषणया च गमने पथि मार्गे यतना यथोक्तनिर्युक्त्युक्ता तथा कर्त्तव्या । या च यत्र यतना साऽपि तत्र विधेया यथासूत्रमिति द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतोऽनुशासनकथनद्वारं प्राह–

निच्छिण्णो तुज्झघरे, रिसिपुत्तो मुंच होहिई धम्मो ।
धम्मकहापसंगेण, कहणं थावच्चपुत्तस्स ॥

एष ऋषिपुत्रस्तव गृहेऽवमादिकं समस्तमपि निस्तीर्णोऽधुना मनप्रहणार्थमुद्यत इत्यमुं मुञ्च, तथापि प्रभूतो धर्मो भविष्यतीति । एतावता गतमनुशासनद्वारम् । तदनन्तरं धर्मकथाप्रसङ्गेन च कथनं स्थापत्यापुत्रस्य करणीयम्, यथा स स्थापत्यापुत्रो व्रतं जिघृक्षुर्वासुदेवेन महता निष्क्रमणमहिम्ना निष्काश्य पार्श्वस्थितेन व्रतग्रहणे कारितः, एवं युष्माभिरपि कर्त्तव्यम् ।

तह वि य अठंते ठवियं, भीसण ववहार निक्खमंतेण ।
तं पगुणं देमह, तस्सासइए इमं कुज्जा ।

तथापि च, अनुशासने कथने च कृते इत्यर्थः । अतिष्ठति स्थापितं द्रव्यम्, भीषणं वा करणीयम्, व्यवहारे वा समाकर्षणीयः । तत्र स्थापितं भावयति–तेन विप्रा निष्कामता यत्किमपि स्थापितं द्रव्यमस्ति तद् गृहीत्वा तस्मै दातव्यम् । उपलक्षणमेतत् । तेनेदमपि द्रष्टव्यम्–अविनयः कोऽपि शिष्यक उपस्थितस्तस्य यत्किमप्यर्थजातं स्थापितमस्ति, यदि वा गच्छान्तरे यः कोऽपि शैक्षक उपस्थितस्तस्य हस्ते यद् द्रव्यमवतिष्ठते, तद् गृहीत्वा तस्मै दीयते, तस्य द्रव्यस्यासत्यभावे इदं वक्ष्यमाणं कुर्यात् ।

तदेवाह–

नीयल्लगाण तस्स व, भीसणं रायउले सयं वावि ।
अविरिक्को अम्हे, कहं व अम्हा न तुज्झ त्ति ।
ववहारेणं अहयं, जाणं पेच्छामि बहुतरागं मे ।
अविलिंगं च करे, पण्णवणा दावणट्ठाए ॥

[illegible] तस्य वा भीषणं कर्त्तव्यम् । [illegible] वयं [illegible] [illegible] भोजयन्ती मत्री [illegible] [illegible] बन्धूनां [illegible] पुत्रो [illegible] [illegible] इह । अथैवमुक्ते [illegible] [illegible] व्यवहारेणाप्यहं [illegible] प्रार्थयिष्यामि (भ) [illegible] [illegible] कर्त्तव्यम् । यदि वा [illegible] विधेयम्, यथा यदि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] मुञ्चति, [illegible] राजकुले [illegible] व्यवहारं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

व्यवहारेणाकृष्यते; तत्र च गत्वा [illegible] व्रतं जिघृक्षुः केनापि कपटेन धृतस्तं न बध्नीते, [illegible] पारलौकिकमात्मनो यथाऽयं धर्ममाचरति, यथा समाधिरुपजायते तथा यतध्वमिति । अस्यापि [illegible] यद्यत्र लिङ्गमर्चितं तत्परिगृह्य दापनार्थम्, मार्थमित्यर्थः । तल्लिङ्गधारिणां मध्ये [illegible] कर्त्तव्या, येन ते मोचयन्ति ।

सम्प्रति दूराभोगेत्यादि व्याख्यानार्थमाह–

पुट्ठा व अपुट्ठा वा, चुयसामिनिहिं कहिंति ओहाई ।
घेत्तूण जावदट्ठा, पुणरवि सा रक्खणा जयणा ॥

यदि वा अवध्यादयोऽवधिज्ञानिनः । आदिशब्दात् [illegible] तज्ज्ञानिपरिग्रहः । पृष्टा वा अपृष्टा वा तथाविधं तस्य [illegible] ज्ञात्वा च्युतस्वामिकं निधिमुत्सन्नस्वामिकं निधिं [illegible] तदानीं तस्य तेषां तत्कथनकस्योचितत्वात् । ततो [illegible] यावता प्रयोजनं तद् गृहीत्वा पुनरपि तस्य निधिमार्गं [illegible] व्यम् । प्रत्यागच्छता च यतनाविधिर्या, सा यावत् [illegible] दयते ।

सोऊण अट्ठजायं, अट्ठं पडिजग्गए य आयरिओ ।
संघाडयं वि देंति य, पडिजग्गइ णं गिलाणं ति ॥

निधिग्रहणार्थं मार्गे गच्छन्तमर्थजातं साधुं श्रुत्वा [illegible] को वाऽऽचार्योऽर्थं प्रतिजागर्ति तत्पादयति । यदि [illegible] द्वितीयः संघाटको न विद्यते, ततः संघाटकमपि ददाति । [illegible] कथमपि ग्लानो जायते ततो ग्लानमपि जागर्ति [illegible] नाज्ञाविराधनप्रसक्तेः ॥

यदुक्तमनन्तरं यतना प्रत्यागच्छता कर्त्तव्या, [illegible]

काउं निसीहियं जा–इजायमावेयणं च गुरुहत्थे ।
दाऊण पडिक्कमणं, मा पेहंता मिगा पेसा ॥

यदान्यगणे स प्राघूर्णक आयाति, तत्र नैषेधिकीं कृत्वा [illegible] क्षमाश्रमणेभ्यः' इत्यादित्वा च मध्ये प्रविशति । प्रविश्य [illegible] र्थजातं तद्गुरुभ्य आवेदयति कथयति । आवेद्य च [illegible] गुरुहस्ते दत्वा प्रतिक्रामति । न स्वपार्श्वे एव स्थापयति [illegible] त आह–मा प्रेक्षमाणा मृगा इव मृगा अगीतार्थाः [illegible] पश्येयुर्गुरुहस्तेऽवस्थितं तद् निरीक्षन्ते, [illegible] मिति विरूपसंकल्पेऽप्रवृत्तेः ॥

सम्प्रति 'जयणा य जा जत्थेति' तद्व्याख्यानार्थमाह–

सण्णी व सावओ वा, निरूविए देंत अट्ठजायम्मि ।
पच्चुप्पण्णनिहाणे, कारणजाए गहणसोही ॥

यत्र संज्ञी सिद्धपुत्रः श्रावको वा वर्त्तते तत्र गत्वा [illegible] रूपं निवेदनीयं, महापना च कर्त्तव्या । ततो [illegible] [illegible] तत्र निधानं गृहीतं वर्त्तते तदर्थं [illegible] यान् नानान् दद्यात् । स्वयं तदानीं [illegible] स्यात् । अस्य प्रकारस्याभावे यन्निधानं [illegible] स्तेन उत्खन्य दीयमानमधिकृते कारणजाते [illegible] मतग्राह्यवर्तनात् । गतमर्थजातम् ।

इदानीमापन्नजातमाह–

थेरं पि धरेमाणो, कप्पइ दाणजाइ [illegible] ।
परदेसम्मि वि लब्भति, वाणियधम्मो ममेस त्ति ॥

स्तोकमपि ऋणं शेषं धारयन् क्वचिद्देशे कोऽपि पुरुषः, ततः (अदसंते त्ति) अददानः कालक्रमेण प्रवृद्ध्या, दासत्वमेव प्रतिपद्यते । तस्यैव दासत्वमापन्नस्य, स्वदेशे दीक्षा न दातव्या । स एव कदाचित्परदेशे गतः सम्यग्विदितस्वरूपोऽशिवादिकारणतो वा दीक्षितो भवेत् । तत्र च वणिज्जा वाणिज्यार्थं गतेन दृष्टो भवेत् । तत्रायं किल न्याय –परदेशमपि गता वणिज आत्मीयं लभन्ते, तत एवं वणिग्धर्मे व्यवस्थिते स एवं ब्रूयात् ' मम एष दास ' इति न मुञ्चाम्येऽमुमिति ।

तत्र यत्कर्त्तव्यं तत्प्रतिपादनार्थं द्वारगाथामाह—

नाहं विदेसआहर–णमाइ विज्जा य मंत जोगा य ।
नेमित्त राय धम्मे, पासंड गणे धणे चेव ॥

यस्त्वं दासत्वमापन्नो वर्त्तते,न सोऽहं, किं त्वहमन्यस्मिन्विदेशे जातः,त्वं तु सदृक्षतया विप्रलब्धोऽसि, अथ सम्भूतजनविदितो वर्तते तत एवं न वक्तव्यं, किं तु स्थापत्यापुत्राद्याहरणं कथनीयम्, यद्यपि कदाचित् तच्छ्रवणतः प्रतिबुद्धो मुत्कलयति । आदिशब्दात् गुटिकाप्रयोगतः स्वरभेदादि कर्त्तव्यमिति भावः। एतेषां प्रयोगाणामभावे विद्या मन्त्रो योगो वा, ते प्रयोक्तव्याः; यैः परिगृहीतः सन् मुत्कलयति । तेषामप्यभावे निमित्ते- [illegible]

[illegible]

तस्यापि प्रयोगस्याभावे पाषण्डान् सहायान् कुर्यात् । यद्वा यो गणः सारस्वतादिको बलीयान् तं सहायं कुर्यात् । तदभावे दूराभोगादिना प्रकारेण धनमुत्पाद्य तेन मोचयेत । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव गाथां विवरीषुराह—

सारक्खएण जंपसि, जातो अन्नत्थ ते वि आमंति ।
बहुजणविणायम्मि उ, थावच्चसुयादिआहरणं ॥

यदि प्रभूतजनविदितो न भवति, यथा-अयं तद्देशे जात इति, तत एवं ब्रूयात् । अहमन्यत्र विदेशे जातस्त्वं तु सादृश्येण विप्रलब्ध एवमसमञ्जसं जल्पसि । एवमुक्ते तेऽपि तत्रत्या आमेवमेतद् यथाऽयं वदतीति साक्षिणो जायन्ते, अथ तद्देशजाततया प्रभूतजनविदितो वर्त्तते, ततस्तस्मिन्बहुजनविज्ञाते पूर्वोक्तं न वक्तव्यम्, किन्तु प्रबोधनाय स्थापत्यापुत्राद्याहरणं कथनीयम् ।

विज्जा मंता जोगा, अंतद्धाणं विरेयणं वा वि ।
वरधणु य पुस्सभूती, गुलिया सुहुमे य झाणम्मि ॥

विद्यादयो विद्यामन्त्रयोगाः प्रयोक्तव्याः, येन तैरभियोजितः सन् मुत्कलयति । आहरणमादीत्यादिशब्दव्याख्यानार्थमाह-गुटिकाप्रयोगतः स्वरभेदेन । उपलक्षणमेतत् । यद्वा नेदं कारयेत, यदि वा अन्तर्धानं ग्रामान्तरप्रेषणेन व्यवधानम्, विरेचनं वा ग्लानतोपदर्शनाय कारयितव्यो यत्कृच्छ्रेणैव जीवतीति ज्ञात्वा विमुच्यते । यदि वा वरधनुरिव गुटिकाप्रयोगतः, पुष्पभूतिराचार्य इव सूक्ष्मध्यानवशतो निश्चलो निरुच्छ्वासः तथा स्याद् येन मृत इति ज्ञात्वा परित्यज्यते ।

असतीए विलवेंती, रायाणं सो व होज्ज उ भिक्खू ।
तो से कहिज्ज धम्मो, अणिच्छमाणा इमं कुज्जा ॥

एतेषां प्रयोगाणामसति अभावे राजानं विज्ञपयन्ति । यथा-तपस्विनमिह परलोकानि स्पृहमेनं प्रताडयतीति; अथासौ राजा तेन भिक्षो व्युद्ग्राहितो वर्तते । ततः स तस्य राज्ञः प्रतिबोधनाय, धर्मः कथ्यते, अथ स धर्मं नेच्छति, ततस्तस्मिन् धर्ममनिच्छति, उपलक्षणमेतत्, निमित्तेन वाऽतीतानागतरूपेणावार्यमाणे इदं वक्ष्यमाणं कुर्यात् ।

तदेवाह–

पासंडे व सहाए, गेण्हइ तुब्भं पि एरिसं हुज्जा ।
होहामोह सहाया, तुज्झ वि जो वा गणो बलिओ ॥

पाषण्डान् वा सहायान् गृह्णाति । अथ ते सहाया न भवन्ति, तत इदं तान् प्रति वक्तव्यम्-युष्माकमपीदृशं प्रयोजनं भवेद् भविष्यति तदा युष्माकमपि वयं सहाया भविष्यामः । एवं तान्सहायान् कृत्वा तद्बलतः स प्रेरणीयः, यदि वा यो गणो बलीयान् तं सहायं परिगृह्णीते ।

एएसिं असतीए, संता वि जया न होंति उ सहाया ।
ठवणा दूराभोगे, लिंगेण व एसिउं देंति ॥

एतेषां पाषण्डानां गणानां वा असति अभावे, ये सन्तः शिष्टास्ते सहायाः कर्त्तव्याः । यदा तु सन्तो वा सहाया न भवन्ति, तदा (ठवण त्ति) निष्कामता या द्रव्यस्य स्थापना कृता तद्दानतः स मोचयितव्यः । यदि वा दूराभोगेन प्रासुकप्रकारेण, अथवा यद्यत्र लिङ्गमर्चितं, तेन धनमेषित्वा उत्पाद्य ददाति, तस्मै दातव्याः । गतमापन्नद्वारम् ।

इदानीमनात्तद्वारमाह—

एमेव अणत्तस्स वि, तवतुलणा नवरि एत्थ नाणत्तं ।
जं जस्स होइ भंडं, सो देति समं निगे धम्मो ॥

एवमेव अनेनैव दासत्वापन्नगतेन प्रकारेण अनात्तस्यापि प्रायु- [illegible]

[illegible]

इव प्राप्तं भवति, स तस्मै उत्तमर्णाय ददाति । अस्माकं च पार्श्वे धर्मस्ततस्त्वमपि धर्मं गृहाण ।

एवमुक्ते स प्राह–

जोऽणेण कतो धम्मो, तं देउ न एत्तियं समं तुलइ ।
हीणं भावेनाहिं, नातइयं विज्जयंमएणया ॥

योऽनेन कृतो धर्मः सर्वं मम ददातु, एवमुक्ते साधुर्निर्वक्तव्यम्, नैतावद्द्रुमः, यतो नैतावत्समं तुलति । स प्राह-एकेन संवत्सरेण हीनं प्रयच्छत, तदपि प्रतिषेधनीयं यद् द्वाभ्यां संवत्सराभ्यां हीनं दत्त । एवं तावत् विभाषा कर्त्तव्या—यावदेकेन दिवसेन हीनो योऽनेन धर्मस्तं प्रयच्छत । ततो वक्तव्यम्-नास्त्यधिकं दद्मः किन्तु यावत्तद् गृहीतं मुहूर्तादिकृतेन धर्मेण तोल्यमानं समं तुलति तावत्प्रयच्छामः । एवमुक्ते यदि तोलनाय ढौकते, तदा विद्यादिभिस्तुला स्तम्भनीया, येन कृत्स्नाकृतेनापि धर्मेण न समं तोलयतीति । धर्मतोलनं च धर्माधिकरणिकनीतिशास्त्रप्रसिद्धमस्ति, ततोऽवसातव्यम् ।

जइ पुण नेच्छेज्ज तवं, वाणियधम्मेण ताहे सुद्धो उ ।
को पुण वाणियधम्मो, सामुद्दे संजमे इणमो ॥
वत्थाणाभरणाणि य, सव्वं छड्डेउ एगवत्थेण ।
पोयम्मि विवन्नम्मि उ, वाणियधम्मे हवइ सुद्धो ॥

एवं इमो वि साहू, तुज्झं नियगं च सासुत्तूणं ।
निरवेक्खो तुज्झ घरे, करेइ इण्हिं तु वाणिज्जं ॥

यदि पुनरन्यप्रकारेण धर्मस्यालाभेन नेच्छेदितरस्यापि धर्मस्यालाभेन नेच्छे- [illegible] न नतो मईानुम । ततो वक्तव्यम्-वणिग्धर्मेण वणिग्न्यायेन एष [illegible]। स आह-कः पुनर्वणिग्धर्मो येनैव शुद्धः क्रियते ? । साध- [illegible] वदन्ति-समुद्रे संभ्रमे गमनेऽयं वक्ष्यमाणः । तमेवाह-(वत्था- [illegible]) यथा वणिक् ऋणं कृत्वा प्रवहणेन समुद्रमव- [illegible], तत्र तेन प्रवहणे विपन्ने आत्मीयानि परकीयानि च प्रभू- [illegible] वस्त्राण्याभरणानि, चशब्दाल्लेख्यमपि च नानाविधं क्रया- [illegible] सर्वं [illegible] परित्यज्य, एकवृन्देन, भावप्रधान एकशब्दः [illegible] वृन्दं, तेनैकाकी उत्तीर्णो, वणिग्धर्मे वणिग्न्याये शुद्धो [illegible], न ऋणं दाप्यते । एवमयमपि साधुस्तव सत्कमात्मीयं [illegible] सर्वं तत्र गृहे मुक्त्वा निष्क्रान्तः संसारसमुद्रादुत्तीर्ण [illegible], न धनिका ऋणमात्मीयं याचितुं प्रभवन्ते, तस्मात् [illegible] इदानीमिव स्वेच्छया त- [illegible] निर्जरो वाणिज्यमिति । गतम- [illegible] ।

[illegible]

[illegible] ॥

[illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible] ।

[illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

उपलक्षणमेतत् । तेनैवमपि व्युत्पत्तिः कर्तव्या । [illegible] जातमस्या इत्यर्थजाता । कथं पुनरस्या [illegible] त्याह-तां पुनः प्रथमव्युत्पत्तिसूचितां, संयम [illegible] द्वितीयतृतीयव्युत्पत्तिपक्षे तु द्रव्याभावेन [illegible] सीदन्तीं समवलम्बेत-साहाय्यकरणेन सम्यग् [illegible] लक्षणत्वाद् गृहीयादपि । बृ० ६ उ० । (संयम [illegible] अर्थजातवक्तव्यता निरवशेषा निर्ग्रन्थस्येव [illegible] स्त्यभिलापः कार्यो भवतीति बृहत्कल्पोक्त [illegible])

अट्ठजुत्त–अर्थयुक्त–त्रि० । अर्थेन हेयोपादेयाभिधेयेन [illegible] तानि अर्थयुक्तानि । हेयोपादेयाभिधायकेषु [illegible] अर्थो मोक्षस्तत्र युक्तान्यन्वितानि अर्थयुक्तानि । [illegible] तथा सङ्गतेषु वचनादिषु, " अट्ठजुत्ताणि सिक्खेज्जा, [illegible] उ वज्जए " उत्त० १ अ० ।

अट्ठट्ठमिका–अष्टाष्टमिका–स्त्री० । [illegible] साऽष्टाष्टमिका । यस्यां हि मध्ये दिनाष्टकानि [illegible] ष्टौ अष्टमानि भवन्त्येवेति । चतुःषष्टिदिनप्रमाणायां [illegible] मायाम्, स० ।

अट्ठट्ठमियाणं भिक्खुपडिमा चउसट्ठीए राइंदिएहिं य अट्ठासीएहिं, भिक्खासएहिं अहासुत्तं [illegible]

भिक्षुप्रतिमाऽभिग्रहविशेषः । [illegible] राइंदियैः सा पालिता भवति, तथा [illegible] प्रतिदिनमेकैका भिक्षा, एका दत्तिः [illegible] द्वितीये द्वे द्वे यावदष्टमे [illegible] णामष्टाशीत्यधिके भवतः । अत उक्तं [illegible] " अहाकप्पं अहामग्गं फासिया पालिया [illegible] किट्टिया सम्मं आणाए आराहिया वि भवइ " [illegible] स० ६४ सम० । स्था० । [illegible]

[illegible]

अट्ठट्ठाण–अष्टस्थानक–न० । [illegible] " जहा अट्ठट्ठाणे " स्था० १० ठा० ।

अट्ठणाम–अष्टनामन्–न० । [illegible] अट्ठणामे [illegible])

अट्ठदंसिण–अर्थदर्शिन्–त्रि० । [illegible] " समाहिजोगा पडिपुण्णभासी, [illegible] " सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अट्ठदुग्ग–अर्थदुर्ग–त्रि० । [illegible] सूत्र० १ श्रु० १० अ० । [illegible] सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । [illegible] " सूत्र० १ श्रु० १० अ० १ उ० ।

अट्ठदेसिय–अष्टदेशित–त्रि० । [illegible]

अट्ठपय (य) चिंतण-अर्थपदचिन्तन-न० । अर्थ्यमानं विचार्यमाणं यत्पदं वाक्यादि, तदेव गमकत्वेनार्थोऽनेनेति व्युत्पत्तेः। तस्य चिन्तनं भावनं विचारणं, स्वविषये स्थापनमिति यावत् । विचारणीयस्य वस्त्वादेरर्थस्याऽऽलोचने, ध० अयं भावः-सूत्रोक्तिकथा प्रायः समाश्रयणेन समाऽर्थपदं विचारणीयं, विचार्य च बहुश्रुतसकाशात् स्थिरं स्थापनीयम् । अर्थपदचिन्तनं विना तत्त्वधर्मश्रद्धानमेव न घटते । यथा च पठ्यते " सुच्चा य धम्मं अरहंतभासियं, समाहियं अट्ठपओवसुद्धं " इत्यादि । तस्मादर्थपदं विचार्यं स्वविषये स्थापयितव्यम् । तद्यथा-यदि सूक्ष्मोऽप्यतिचारो प्राणातिपातादीनामिव स्त्रीमात्रहेतुकस्तदा श्रमणानां साधूनां कथं चारित्रं मोहहेतुत्वेन घटते?, प्रभूतातिचारवत्त्वात् । अत्रैवं समाधानभावना-यः प्रव्रजितः सूक्ष्ममप्यतिचारं करोति, तस्य चित्ते विरतिपरिणामो न स्थितः । पुनरपि मतिः प्रतिपक्षाध्यवसायः प्रायस्तस्य कारणे हेतुस्त्रीसंसर्गादिमात्रम् । अष्टवादिनामपि तद्भावात् । प्रतिपक्षाध्यवसायश्च-क्रोधादिषु क्षमादिः संवरमात्रेऽतः । एवं च श्रमणानामपि प्रत्यतिचारं तुल्यगुणाधिकगुणप्रतिपक्षाध्यवसायवतां धर्मस्थावभिहितत्वम्, सततं कृतप्रतीकारस्य विपर्ययातिचारस्य स्वल्पत्वात् । नन्वेवं प्रतिपक्षाध्यवसायस्यैवातिचारप्रतीकारत्वे प्रायश्चित्तादिव्यवहार उच्छिद्येतेति चेन्न । प्रायश्चित्तादिव्यवहारे गुरुतरप्रायश्चित्तानुष्ठानं प्रतिपक्षाध्यवसायस्य विशेषणम्, सोऽप्यस्य तदुत्कर्षस्यैव च विशेष्यस्य सापेक्षत्वात् । विशेष्य विशेषणतायां विनिगमनाविरहस्तु नयभेदाऽऽयत्तो दुष्परिहर एव । तथाऽप्यतिसूक्ष्मप्रायश्चित्तप्रमितिसमुदायां प्रतिपक्षाध्यवसायेन कथं परिहियेत?, अतदूर्ध्वस्य मिथ्यादुष्कृतस्याप्यविषयत्वादिति चेन्न, एवम् । अत एव तुल्यगुणाधिकगुणाध्यवसायस्यैव प्रवृत्तेः । एकेनापि ह्यनया प्रतिपक्षेण परिह्रियते बहुलमप्यनर्थजालं, कर्मजननस्वाभाव्याद्रागस्य भावस्तु धर्मकलोपकस्यापि प्रतिपक्षाध्यवसायस्य बलवत्त्वमुपदेशपदादिग्रन्थिष्वमेव । इत्यादेतत् । अतएव विचारः प्रतिपक्षाध्यवसायनिवर्त्यां प्रथम्, चारित्रप्रतिबन्धकत्वा अतिचारास्तु कथं तेन निवर्त्येरन्?। इति चेन्नैवम्, संज्वलनोदयजनितत्वेनातिचाराणामपि मानसविकारत्वात्, द्रव्यरूपकायिकप्रतिसेवनादीनां तु अदृष्टविप्रकर्षेणैव निवृत्तिरिति दिक् । ध० ३ अधि० ।

अट्ठपय (य) परूवणया-अर्थपदप्ररूपणता-स्त्री० । अर्थरूपपदकस्कन्धादि, तदुक्तं तद्विषयं वा पदमानुपूर्व्यादिकं, तस्य प्ररूपणं कथनं, तद्भावोऽर्थपदप्ररूपणता । इयमानुपूर्व्यादिका संज्ञा, अयञ्च तन्नियोजकस्त्र्यणुकादिरर्थः संज्ञी, इत्येवं संज्ञासंज्ञिसंबन्धकथने " से किं तं णेगमववहाराणं अणोवणिहिया दव्वाणुपुव्वी ?। पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा-अट्ठपदपरूवणया " (इत्यादि सर्वं द्वितीयभागे १२१ पृष्ठे 'आणुपुव्वी' शब्दे वक्ष्यामः) अनु० ।

अट्ठपदोवसुद्ध-अर्थपदोपशुद्ध-त्रि० । अर्थपदानि युक्तयो हेतवो वा तैरुपशुद्धमवदातम् । सयुक्तिकं, सहेतुके च । अर्थैरभिधेयैः पदैश्च वाचकैरुप सामस्त्येन शुद्धं निर्दोषम् । निर्दोषवाच्यवाचके, " सोच्चा य धम्मं अरहंतभासियं, समाहियं अट्ठपदोवसुद्धं " सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अट्ठपिट्ठणिट्ठिया-अष्टपिष्टनिष्ठिता-स्त्री० । अष्टभिः शास्त्रप्रसिद्धैः पिष्टैर्निष्ठिताऽष्टपिष्टनिष्ठिता । प्रश्न० १७ पद० । अष्टवारपिष्टप्रदानतिष्पन्ने सुराभेदे, जी० ३ प्रति० ।

अट्ठपुप्फी-अष्टपुष्पी-स्त्री० । अष्टौ पुष्पाणि पूजात्वेन समाहृतान्यष्टपुष्पी । पूजार्थके पुष्पाष्टके, पुष्पाष्टकनिष्पाद्यायां पूजायां च । हा० ।

अष्टपुष्पी समाख्याता, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी ।

अशुद्धेतरभेदेन, द्विधा तत्त्वार्थदर्शिभिः ॥ १ ॥

अष्टौ पुष्पाणि कुसुमानि यस्यां पूजायां साऽष्टपुष्पी । नद्यादिदर्शनाच्च ङीप्रत्ययः । इयं च जघन्यपदमाश्रित्योच्यते, न त्वित्थं चतुःपुष्पाण्यारोपणीयानि । वक्ष्यति-" स्तोकैर्वा बहुभिर्वाऽपि " इति । अष्टपुष्प्याश्च देवपूजने कारणत्वं वक्ष्यति । द्विधेत्यस्येह संबन्धात् द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां द्विधा द्विप्रकारा समाख्याता सम्यगभिहिता, तत्त्वार्थदर्शिभिरितीह संबध्यते । तत्त्वभूता अर्था जीवादयस्तान्, तत्त्वेन वा परमार्थवृत्त्याऽर्थान् पश्यन्तीत्येवंशीलास्तत्त्वार्थदर्शिनस्तैः । कथं द्विधेत्याह-अशुद्धेतरभेदेन, अशुद्धा च सावद्यतया, इतरा च निरवद्यतया, अशुद्धेतरे, तास्यां कृत्वा तयोर्वा भेदो विलक्षणता अशुद्धेतरभेदस्तेन, इह चेतरशब्दस्य पुम्भावः, " वृत्तिमात्रे सर्वादीनां पुंवद्भाव " इति वचनात् । फलतस्तां निरूपयन्नाह—स्वर्गमोक्षप्रसाधनी; आद्या देवलोकसाधनी, द्वितीया तु निर्वाणसाधनीत्यर्थः । पाठान्तरं तु-स्वर्गमोक्षप्रसाधनाद्धेतोर्द्विधा । एतदेव कथम्?, अशुद्धेतरभेदेन इत्येवं पदयोजना कार्येति ॥ १ ॥

अशुद्धां श्लोकद्वयेन तावदाह—

शुद्धागमैर्यथालाभं, प्रत्यग्रैः शुचिभाजनैः ।

स्तोकैर्वा बहुभिर्वाऽपि, पुष्पैर्जात्यादिसंभवैः ॥ २ ॥

अष्टापायविनिर्मुक्त-तदुत्थगुणभूतये ।

दीयते देवदेवाय, या सा शुद्धेत्युदाहृता ॥ ३ ॥

शुद्धो निर्दोष आगमः प्राप्त्युपायो येषां तानि शुद्धागमानि, न्यायोपात्तवित्तेनाचौर्येण वा गृहीतानीत्यर्थः । पुष्पैर्दीयते देवदेवाय या सा शुद्धेत्युदाहृतेति संबन्धः । कथं दीयत इत्याह—लाभस्थाननिक्रमेण यथालाभं, प्रवचनप्रभावनार्थमुदारभावेन मालिकाद्यथालाभगृहीतैर्देशकालापेक्षया चोत्तममध्यमजघन्येषु यानि लब्धानि तैः पुष्पैरिति भावना । प्रत्यग्रैरपरिम्लानैः, शुचिभाजनैः पवित्रपटलकाद्याधारैः, इतरथा स्नानादिशौचमपि न मनोनिवृत्तिमापादयेदिति; स्तोकैरल्पैः, प्रत्यपायापगमं पुष्पदानादृष्णीत्यर्थः । बहुभिर्भूरिभिरनुद्देशेनादानात् । वाशब्दौ स्तोकबहुपुष्पपूजयोर्बहुमानप्रधानस्य फलं प्रत्यविशेषप्रतिपादनार्थौ । अपिशब्दस्तु समुच्चयार्थ इति । पुष्पैः कुसुमैः, जात्यादिसंभवैर्मालतीप्रभृतिप्रभवैः, आदिशब्दाद्विचकिलादिपरिग्रहः । इह कश्चिदाह-जात्यादिग्रहणं सुवर्णादिसुमनसां निषेधार्थम् । जात्यादिकुसुमानि हि सकृदारोपितानि निर्माल्यमिति कृत्वा न पुनः पुनरारोप्यन्ते, सौवर्णादीनि तु पुनः पुनरारोपणीयानि भवन्ति, निर्माल्यारोपणदोषश्चैवं प्रसज्यत इति । एतच्चायुक्तम्-" कंचणमोत्तियरयणा-इदामएहिं च विविहेहिं " इत्यनेन तेषामनुज्ञातत्वात् । पुनरारोपणनिषेधे तु कः किमाह ? । किन्तु यदा नोत्तार्यन्ते तदा निर्माल्यारोपणदोषोऽपि न स्यात् । जात्यादिकुसुमानि हि कालातिक्रमेण विगन्धानि भवन्तीत्यवश्यमुत्तारणीयानि स्युः । सौवर्णादीनि तु न तथेति नावश्यमुत्तारणीयानि, तथाविधविगन्धत्वाभावादेव । तेषां पुनरारोपणेऽपि न तथाविधो दोष इति मन्यते । यदपि कैश्चिदुच्यते—असङ्गारोपणमयुक्तं, वीतरागाकारत्वाभावप्रसङ्गात् । तदपि न युक्तम् । पुष्पारोपणेऽपि तथाप्रसङ्गात् । यथा हि आभरणानि

एयं इमो वि साहू, तुज्झं नियगं च सारमुत्तूणं ।
निक्खंतो तुज्झ घरे, करेइ इण्हिं तु वाणिज्जं ॥

यदि पुनरुक्तप्रकारेण ऋणमाश्रितस्यापि धर्मस्यालाभेन नेच्छेत् तपो ग्रहीतुम् । ततो वक्तव्यम्-वणिग्धर्मेण वणिग्न्यायेन एष शुद्धः। स प्राह-कः पुनर्वणिग्धर्मो येनैष शुद्धः क्रियते ?। साधवो वदन्ति-समुद्रसंभ्रमे गमनेऽयं वक्ष्यमाणः। तमेवाह-(वत्थाणाभरणेत्यादि) यथा वणिक् ऋणं कृत्वा प्रवहणेन समुद्रमवगाढः, तत्र पोते प्रवहणे विपन्ने आत्मीयानि परकीयानि च प्रभूतानि वस्त्राण्याभरणानि, चशब्दाच्छेषमपि च नानाविधं क्रयाणकं सर्वं छर्दयित्वा परित्यज्य,एकवृन्देन, भावप्रधान एकशब्दः-एकतैव वृन्दं, तेनैकाकी उत्तीर्णो, वणिग्धर्मे वणिग्न्याये शुद्धो भवति, न ऋणं दाप्यते । एवमयमपि साधुस्तव सत्कमात्मीयं च सारं सर्वं तव गृहे मुक्त्वा निष्क्रान्तः संसारसमुद्रादुत्तीर्ण इति ब्रूमः, न धनिका ऋणमात्मीयं याचितुं लभन्ते, तस्मान्न किञ्चिदत्र तवाऽऽदेयमस्तीति । करोत्विदानीमेष स्वेच्छया तपोवाणिज्यम्, पोतभ्रष्टवणिगिव निर्ऋणो वाणिज्यमिति । गतमृणार्त्तद्वारम् ।

अधुना बोधिकस्तेनद्वारप्रतिपादनार्थमाह—

बोहियतेणेहि हिए, विमग्गणा साहुणो नियमसो य ।
अणुसासणमादीतो, एमेव कमो निरवसेसो ॥

बोधिकाः स्तेनाश्च प्रागुक्तस्वरूपाः, तैर्हृते साधौ नियमशो नियमेन साधोर्विमार्गणं कर्त्तव्यम्, तस्मिंश्च विमार्गणे कर्त्तव्येऽनुशासनादिकोऽनुशिष्टिप्रदानादिको धनप्रदानपर्यन्त एष एवानन्तरोदितः क्रमो निरवशेषो वेदितव्यः ।

संप्रत्युपसंहारव्याजेन शिक्षामपवादं चाह—

तम्हा अपरायत्ते, दिक्खिज्जाऽणारिएण वज्जेज्जा ।
अद्धाण अणाजोगा, विदेस असिवादिसुं दो वि ॥

यस्मात्परायत्तदीक्षणेऽनार्यदेशगमने चैते दोषास्तस्मादपरायत्तान् दीक्षयेत, अनार्यांश्च देशान् वर्जयेत् । अत्रैवापवादमाह-(अद्धाण त्ति) अध्वानं प्रतिपन्नस्य ममोपग्रहमेते करिष्यन्तीति हेतोः परायत्तानपि दीक्षयेत। यदिवाऽनाभोगतः प्रव्राजयेत् । विदेशस्थान् वा स्वरूपमजानतो दीक्षयेत ।पुनरशिवादिषु कारणेषु (दो वि त्ति) द्वे अपि परायत्तदीक्षणानार्यदेशगमनेऽपि कुर्वीत। किमुक्तं भवति-अशिवादिषु कारणेषु समुपस्थितेषु परायत्तानपि गच्छोपग्रहनिमित्तं दीक्षयेत, अनार्यानपि देशान् विहरेदिति । व्य० २ उ०। एतत्पुरुषस्यार्थजातत्वमुपदर्शितम् ।

अथ संयत्याऽर्थजातत्वमुच्यते-

अट्ठजायं णिग्गंथं णिग्गंथि गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ ॥

अर्थः कार्यमुत्पन्नमस्याः स्वकीयपरिणेत्रादेर्जातं यया साऽर्थजाता वनिधौरादिना संयमाच्चाव्यमानेत्यर्थः । व्य० ५ उ० २ उ० ।

इह गाथा-

अट्ठेण जायकसं, संजायं एस अट्ठजाया उ ।
तं पुण संजमभावा, चालिज्जंती समवलंबे ॥ १ ॥

अर्थेनार्थेनया संजातं कार्यं यया। यद्वा-अर्थेन द्रव्येण जातमुत्पन्नं कार्यं यस्याः सा अर्थजाता । गमकत्वादेवमपि समासः । उपलक्षणमेतत् । नैनैयमपि व्युत्पत्तिः कर्तव्या । जातमस्या इत्यर्थजाता । कथं पुनरस्याः स्यादर्थजाता पुनः प्रथमव्युत्पत्तिसूचिता, द्वितीयतृतीयव्युत्पत्तिपक्षे तु द्रव्याभावेन सीदन्ती संयमलभ्येन-साहाय्यकरणेन संयमादस्मात् लक्षणत्वाद् गृहीयादिति । बृ० ६ उ०।(संयमअर्थं ज्ञानमनल्पयता निरवशेषा निर्ग्रन्थस्येव साध्व्या अप्यभिलापः कार्यो भवतीति बृहत्कल्पोक्ता भाष्यगाथा)

अट्ठजुत्त-अर्थयुक्त-त्रि०। अर्थेन हेयोपादेयात्मकेन युक्तानि तानि अर्थयुक्तानि । हेयोपादेयाभिधायकेषु आगमवचनेषु अर्थो मोक्षस्तत्र युक्तान्यन्वितानि अर्थयुक्तानि । मोक्षप्रापके तथा सज्जनेषु वचनादिषु, " अट्ठजुत्ताणि सिक्खेज्जा,निरट्ठाणि उ वज्जए " उत्त० १ अ० ।

अट्ठट्ठमिका-अष्टाष्टमिका-स्त्री० । अष्टावष्टमानि दिनानि यस्यां साऽष्टाष्टमिका । यस्यां हि अष्टौ दिनाष्टकानि भवन्ति तस्यां ह्यष्टौ अष्टमानि भवन्त्येवेति । चतुष्षष्टिदिननिष्पन्नायां भिक्षुप्रतिमायाम्, स० ।

अट्ठट्ठमियाणं भिक्खुपडिमा चउसट्ठीए राइंदिएहिं दोहि य अट्ठासीएहिं, भिक्खासएहिं अहासुत्तं जाव भवइ।

भिक्षुप्रतिमाऽभिग्रहविशेषः। अष्टावष्टकानि यस्यां भवन्ति सा चतुष्षष्ट्या रात्रिंदिवैः सा पालिता भवति, तथा प्रथमेऽष्टके प्रतिदिनमेकैका भिक्षा, एका दत्तिर्भोजनस्य पानकस्य च, एवं द्वितीये द्वे द्वे यावदष्टमे अष्टावष्टाविति संकलनया द्वे शते भिक्षाणामष्टाशीत्यधिके भवतः। अत उक्तं द्वाभ्यां चेत्यादि यावत्करणात् । " अहाकप्पं अहामग्गं फासिया पालिया सोहिया तीरिया किट्टिया सम्मं आणाए आराहिया वि भवइ " इति दृश्यम्। स० ६४ सम० । स्था० । अष्टाष्टकिकायामष्टक आदिरष्टकोत्तरमष्टको गच्छः । तत्राष्टलक्षणो गच्छ उत्तरेणाष्टकेन गुण्यते, जाता चतुष्षष्टिः, सा उत्तरहीना आदियुता क्रियते, तथापि सैव चतुष्षष्टिः। एतदष्टमेऽष्टके भिक्षापरिमाणम्, एतदादिनाऽष्टकेन युतं क्रियते, जाता द्वासप्ततिः ७२। सा गच्छार्द्धेन चतुष्केण गुण्यते, जाते द्वे शते अष्टाशीत्यधिके। व्य०९ उ०। प्रव०। अन्त०।

अट्ठट्ठाण-अष्टस्थानक-न०। प्रज्ञापनाया अष्टमे स्थाने, " तं जहा अट्ठट्ठाणे " स्था० १० ठा० ।

अट्ठणाम-अष्टनामन्-न० । अष्टविधपदार्थनामनि, " से किं तं अट्ठणामे ?। अट्ठणामे अट्ठविहा वयणविभत्ती" अनु०('वयणविभत्ति' शब्दे निरूपितमेतत्)

अट्ठदंसिण-अर्थदर्शिन्-त्रि० । यथावस्थितमर्थं यथा गुरुसकाशादवधारितमर्थं प्रतिपाद्यं द्रष्टुं शीलमस्य स भवत्यर्थदर्शी । विज्ञातसत्पदार्थवेत्तरि, " समालवेज्जा पडिपुण्णभासी, निसामिया समिय अट्ठदंसी। " सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अट्ठदुग्ग-अर्थदुर्ग-त्रि० । अर्थतः परमार्थतो दुर्गं विषमम्। सूत्र० १ श्रु० १० अ० । परमार्थतो विचार्यमाणे गहने दुर्गमे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । परमार्थतो दुस्तरे, " इमं दुग्गं उदमट्ठदुग्गं " सूत्र० १ श्रु० १० अ० ९ उ० ।

अट्ठपएसिय-अष्टप्रदेशिक-त्रि० । अष्टौ प्रदेशा यस्मिन् सोऽष्टप्रदेशिकः । स्वार्थिककप्रत्ययविधानादिति । प्रदेशाष्टकनिष्पन्ने, " एत्थ णं अट्ठपएसिए खंधे " स्था० १० ठा०

अट्ठपद (य) चिंतण–अर्थपदचिन्तन–न० । अर्थ्यमाणं विचार्यमाणं यत्पदं वाक्यादि, यत्र सूत्रसेऽर्थोऽनेनेति व्युत्पत्तेः। तस्य चिन्तनं भावनं विचारणं, स्वविषये स्थापनमिति यावत् । विचारणीयस्य वाक्यादेरर्थस्यानुगमने, ध० । अयं भावः-सूत्रस्य यथा ना प्रधानभावेन यत्नाऽर्थपदं विचारणीयं, विचार्ये च बहुश्रुतसकाशा-त्स्वविषये स्थापनीयम् । अर्थपदचिन्तनं विना सूत्रार्थाऽऽवबोधात्मेव न भवेत् । यथा च दशमाध्ययने "सुद्धा य धम्मं अरहंतभासियं, समादियं अट्ठपदोवसुद्धं " इत्यादि । तस्मादर्थपदं विचार्य स्वविषये स्थापयितव्यम् । तद्यथा–यदि सूक्ष्मोऽप्यतिचारो म-हीसुन्दर्यादीनामिव स्त्रीभावहेतुस्तदा प्रमत्तानां साधूनां कथं चारित्रं मोहहेतुर्न भवेत्?, प्रचुरातिचारत्वात् । अत्रैवं समाधानतायथा–यः प्रतिज्ञातः सूक्ष्ममप्यतिचारं करोति, तस्य विपाकोऽतिरौद्र एव, यतः प्रतिपक्षाध्यवसायः प्राबल्यस्य कारणं हेतुर्मोहमात्रमात्रम्, न तु चारित्रमपि तदावात । प्रतिपक्षाध्यवसाय-कोपादिषु कर्मादिः संवरभावेनोक्तः, एवं च प्रमत्तानामपि प्रत्यतिचारं तुल्यगुणाधिकगुणप्रतिपक्षाध्यवसायवतां धर्मचरणमविरुद्धम्, अतएवाऽध्यवसायस्य विपक्षस्यैवाभिधानस्य स्वार्थत्वात् । अन्यत्र प्रतिपक्षाध्यवसायस्यैवाभिधानम-तीचारस्य प्राधान्यादित्यवदाह कश्चिदेतेति चेन्न । प्राधान्यादित्यनवरत्वसद्भावे तुल्यत्वमप्रत्युक्तानि प्रतिपक्षाध्यवसायस्य विशेषणस्य वैयर्थ्यात् । तद्व्यवच्छेद्यस्य च विशेष्यस्य साफल्यात् । विशेष्यविशेषणभावे विनिगमनाविरहस्तु नयभेदाऽऽश्रयो द्रष्टव्य एव । तथाप्यसत्त्वसमाधारणत्वमतिक्रमजातं प्रतिपक्षाध्यवसायेन कथं परिहियेत?, इत्यत्र तस्य मिथ्यादुष्कृतस्याध्यवसायादिति चेन्नैवम् । अत एव तुल्यगुणाधिकगुणाध्यवसायस्यैव ग्रहणात् । एकेनापि महता प्रतिपक्षेण परिभूयते बहुलमप्यनर्थजालं, वर्षजनितानामतिचाराणामभावस्वरूपस्य स्तोकस्यापि प्रतिपक्षाध्यवसायस्य वलवत्त्वमुपदेशपदादिप्रसिद्धमेव । इत्यादितत्व । ननु विपाकः प्रतिपक्षाध्यवसायनिवर्त्यो भवतु, कायिकप्रतिसेवनारूपा अतिचारास्तु कथं तेन निवर्तेरन्?, इति चेन्नैवम्, संज्वलनोदयजनितस्यातिचाराणामपि मानसविकारत्वात्, द्रव्यरूपकायिकप्रतिसेवनादीनां तु अदृष्टविपाकत्वेनैव निवृत्तिरिति दिक् । ध० ३ अधि० ।

अट्ठपद (य) परूवणया–अर्थपदप्ररूपणता–स्त्री० । अर्थपदम्-शुक्लस्कन्धादि, तद्युक्तं तद्विषयं वा पदमानुपूर्व्यादिकं, तस्य प्ररूपणं कथनं, तद्भावोऽर्थपदप्ररूपणता । इयमानुपूर्व्यादिका संज्ञा, अयञ्च तदभिधेयरूपत्र्यणुकादिरर्थः संज्ञी, इत्येवं संज्ञा-संज्ञिसंबन्धकथनं " से किं तं णेगमववहाराणं अणोवणिहिया दव्वाणुपुव्वी ?। पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा–अट्ठपदपरूवणया " (इत्यादि सर्वं द्वितीयभागे १२१ पृष्ठे ' आणुपुव्वी ' शब्दे द्रष्टव्यम्) अनु० ।

अट्ठपदोवसुद्ध–अर्थपदोपशुद्ध–त्रि० । अर्थपदानि युक्तयो हेतवो वा तैरुपशुद्धमवदातम् । सयुक्तिके, सहेतुके च । अर्थैरभिधेयैः पदैश्च वाचकैरुप सामीप्येन शुद्धं निर्दोषम् । निर्दोषवाच्यवाचके, " सोच्चा य धम्मं अरहंतभासियं, समाहितं अट्ठपदोवसुद्धं " सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अट्ठपिट्ठणिट्ठिया–अष्टपिष्टनिष्ठिता–स्त्री० । अष्टभिः शाल्यादिभिः पिष्टैर्निष्ठिताऽष्टपिष्टनिष्ठिता । प्रश्न० १७ पद० । अष्टवारपिष्टप्रदानेनिष्पन्ने सुराभेदे, जी० ३ प्रति० ।

अट्ठपुप्फी–अष्टपुष्पी–स्त्री० । अष्टौ पुष्पाणि पूजात्वेन समाहृतान्यष्टपुष्पी । पूजार्थके पुष्पाष्टके, पुष्पाष्टकनिष्पाद्यायां पूजायां च । हा० ।

अष्टपुष्पी समाख्याता, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी ।
अशुद्धेतरभेदेन, द्विधा तत्त्वार्थदर्शिभिः ॥ १ ॥

अष्टौ पुष्पाणि कुसुमानि यस्यां पूजायां साऽष्टपुष्पी । तदादिदर्शनार्थ इत्ययः । इयं च जघन्यपदमाश्रित्योच्यते, न हि त्रिचतुःपुष्पाण्यारोपणीयानि । वक्ष्यति–" स्तोकैर्वा बहुभिर्वाऽपि " इति । अष्टपुष्प्याश्च देवपूजने कारणत्वं वक्ष्यति । द्विधेत्यस्येह संबन्धात् द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां द्विधा द्विप्रकारा समाख्याता सम्यगभिहिता, तत्त्वार्थदर्शिभिरितीह संबध्यते । तत्त्वतः सता अर्था जीवादयस्तान्, तत्त्वेन वा परमार्थवृत्त्याऽर्थान् पश्यन्तीत्येवंशीलास्तत्त्वार्थदर्शिनस्तैः । कथं द्विधेत्याह–अशुद्धेतरभेदेन, अशुद्धा च सावद्यतया, इतरा च निरवद्यतया, अशुद्धेतरे, ताभ्यां कृत्वा तयोर्वा भेदो विलक्षणता अशुद्धेतरभेदस्तेन, इह चेतराशब्दस्य शुद्धत्वावः, " वृत्तिमात्रे सर्वादीनां पुंवद्भावः " इति वचनात् । फलतस्तां निरूपयन्नाह–स्वर्गमोक्षप्रसाधनी; आद्या देवलोकसाधनी, द्वितीया तु निर्वाणसाधनीत्यर्थः । पाठान्तरं तु–स्वर्गमोक्षप्रसाधनाऽकृतो द्विधा । एतदेव कथम्?, अशुद्धेतरभेदेन इत्येवं पदयोजना कार्येति ॥ १ ॥

अशुद्धां श्लोकद्वयेन तावदाह—

शुद्धागमैर्यथालाभं, प्रत्ययैः शुचिभाजनैः ।
स्तोकैर्वा बहुभिर्वाऽपि, पुष्पैर्जात्यादिसंभवैः ॥ २ ॥
अष्टापायविनिर्मुक्त–तदुत्थगुणभूतये ।
दीयते देवदेवाय, या साऽशुद्धेत्युदाहृता ॥ ३ ॥

शुद्धो निर्दोष आगमः प्राप्त्युपायो येषां तानि शुद्धागमानि, न्यायोपात्तवित्तेनाचौर्येण वा गृहीतानीत्यर्थः । पुष्पैर्दीयते देवदेवाय या साऽशुद्धेत्युदाहृतेति संबन्धः । कथं दीयत इत्याह—लाभस्यानतिक्रमेण यथालाभं, प्रवचनप्रभावनार्थमुदारभावेन मालिकाद्यथालाभगृहीतनिर्देशकालापेक्षया चोत्तममध्यमजघन्येषु यानि लब्धानि तैः पुष्पैरिति भावना । प्रत्यग्रैरपरिम्लानैः, शुचिभाजनैः पवित्रपटलकाद्याधारैः, इतरथा स्नानादिशौचमपि न मनोनिर्वृत्तिमापादयेदिति, स्तोकैरल्पैः, प्रत्यपायापगमं पुष्पदानादल्पैरित्यर्थः । बहुभिर्भूयिष्ठैस्तदुद्देशेनादानात् । वाशब्दौ स्तोकबहुपुष्पपूजयोर्बहुमानप्रधानस्य फलं प्रत्यविशेषप्रतिपादनार्थौ । अपिशब्दस्तु समुच्चयार्थ इति । पुष्पैः कुसुमैः, जात्यादिसंभवैर्मालतीप्रभृतिप्रभवैः, आदिशब्दाद्विचकिलादिपरिग्रहः । इह कश्चिदाह–जात्यादिग्रहणं सुवर्णादिसुमनसां निषेधार्थम् । जात्यादिकुसुमानि हि सकृदारोपितानि निर्माल्यानि कृत्वा न पुनः पुनरारोप्यन्ते, सौवर्णादीनि तु पुनः पुनरारोपणीयानि भवन्ति, निर्माल्यारोपणदोषश्च प्रसज्यत इति । एतच्चायुक्तम्–" कंचणमोत्तियरयणा–इदामएहिं च विविहेहिं " इत्यनेन तेषामनुज्ञातत्वात् । पुनरारोपणनिषेधे तु कः किमाह ? । किन्तु यदा नोत्तार्यन्ते तदा निर्माल्यारोपणदोषोऽपि न स्यात् । जात्यादिकुसुमानि हि कालातिक्रमेण विगन्धानि भवन्तीत्यवश्यमुत्तारणीयानि स्युः । सौवर्णादीनि तु न तथेति नावश्यमुत्तारणीयानि, तथाविधनिर्गन्धत्वाभावादेव । तेषां पुनरारोपणेऽपि न तथाविधो दोष इति मन्यते । यदपि कश्चिदुच्यते—असद्भावारोपणमयुक्तं, वीतरागाकारस्थापनाप्रमेः । तदपि न युक्तम् । पुष्पारोपणेऽपि तथाप्रसङ्गात् । यथा हि आभरणानि

[illegible] मोपपद्यन्ते, एवं पुण्याण्यपि, अनयेषामपि सरागे[illegible]दिति । अष्टपुष्पीविधाने कारणमाह-अपायोऽनर्थ[illegible]हेतुस्ते यया ज्ञानावरणादयः, अष्टावपायाः समाहृताः [illegible], तन्माहात्म्येण प्रकारान्तरेणैव, दग्धरज्जुकल्पक[illegible] भवोपग्राहिकर्मचतुष्कत्वं इत्यर्थः । नितरां निःसत्ताकतया [illegible] एव घातिकर्मभ्यो मुक्तः भवेत् । धात्वर्थमात्रवृत्तौ वा [illegible]विति । विनिर्मुक्त इव विनिर्मुक्तः, अष्टापायवि[illegible]निर्मुक्तस्तया, तत्तदष्टापायविनिर्मोक्षणाद्धेतया उत्थानं यस्याः सा [illegible], गुणा अनन्तज्ञानदर्शनादयस्तेषां भूतिः प्रादुर्भावः, [illegible] गुणभूतिः, तद्रूपा गुणभूतिर्यस्य स तथा। [illegible]निर्मुक्त[illegible]गुणभूतिश्च यः स तथा, तस्मै । यद्यपीह [illegible] विनिर्मोचनं, [illegible] प्रधानत्वात्, तथापि [illegible] परामृश्यते, [illegible] तथैव विवक्षितत्वात् । इष्ट[illegible]। यथा-[illegible]पूर्विका सर्वपुरुषार्थसिद्धिरिति [illegible] । दीयते वितीर्यते, देवदेवाय स्तु[illegible], साऽष्टपुष्पी सा शुभाऽऽभावचा, उदाहृता सर्वज्ञैर[illegible] । [illegible]निर्मुक्तया । [illegible]विनिर्मोक्षणात्तथा [illegible]पुष्पी [illegible] । [illegible], अष्टापायविनिर्मुक्ताय दीयते इत्यनेना[illegible] । [illegible]गुण[illegible] इत्यनेन च पुष्पिकाया [illegible]अष्टपुष्पी [illegible]विनिर्मुक्तिप्रत्य[illegible] [illegible]मिति चेत्, [illegible] ज्ञानाभाव, शरी[illegible], [illegible] गुणानाणां प्राप्ते, [illegible], तदाऽऽपात्तत्वे हि तेषां [illegible] । [illegible]

[illegible]

कुर्वन्ति, तथा स्थापनाचार्यसमीपेऽपि न कुर्वन्[illegible] तिर्नी स्थापयन्तीति वाच्यम् । प्रतिक्रमणादावे[illegible] घसरे महावीरादेरवश्यं कल्पनीयत्वेन तदीयस्य [illegible] त, नह्याचार्य एव पुरुषो न भगवान् । [illegible] भगवत्समीपे आर्यचन्दनाद्यार्यिका रात्रौ तस्थुः । [illegible] पादिकालेऽर्हत्स्थापनां कृत्वा चैत्यवन्दने क्रियमाण[illegible] पप्रसङ्ग इति । नियम । जिनायतनेऽपि चैत्यान्तरानुज्ञा[illegible] यदाह-" निस्सकममनिस्सकडे वा, वि चेइए सव्वहिं [illegible] चेइयाणि य, नाउं पक्केक्किया वा वि " ॥ १ ॥ [illegible] सङ्गेनेति ॥ ३ ॥

अशुद्धाऽष्टपुष्पी स्वरूपत उक्ता, सैव स्वर्गप्रसाधनी यदुक्तं तदधुना प्रदर्शयन्नाह-

संकीर्णैषा स्वरूपेण, द्रव्याद्भावप्रसक्तितः ।
पुण्यबन्धनिमित्तत्वा-द्विज्ञेया स्वर्गसाधनी ॥ ४ ॥

संकीर्णा उभयेन व्यामिश्रा, एषाऽनन्तरोक्ताऽष्टपुष्पी, [illegible] स्वभावेन । कथमित्याह-द्रव्यात् पुष्पादेः सकाशात् [illegible] सो भगवति चित्तप्रसादोत्पत्तेः । इदमुक्तं भवति-पुष्पादि[illegible] पयोगादवद्यं, शुभभावश्च स्यातामिति संकीर्णत्वम् । [illegible] संक्षपणनिमित्तमपि तु पुण्यबन्धनिमित्तमेवेत्यत [illegible] शुभकर्मणो बन्धो बन्धनं तस्य निमित्तं कारणं पुण्य[illegible] तद्भावस्तत्त्वं; तस्मात्पुण्यबन्धनिमित्तत्वादेतोर्विज्ञेया स्वर्ग[illegible] गसाधनी देवलोकप्राप्तिहेतुः । [illegible] धनी, पारम्पर्येण भावपूजानिबन्धनतां प्रतिपद्य मोक्षसाधन[illegible] रूपत्वमिति ॥ ४ ॥

अथ शुद्धामष्टपुष्पीमभिधातुमाह-

या पुनर्भावजैः पुष्पैः, शास्त्रोक्तिगुणसङ्गतैः ।
परिपूर्णत्वतोऽम्लानै-रत एव सुगन्धिभिः ॥ ५ ॥

याऽष्टपुष्पी, पुनःशब्द [illegible] भावजैरात्मपरिणतिसम्भवैः, पुष्पैरिव पुष्पैः [illegible] धर्मविशेषैः, किंभूतैः, शास्त्रोक्तिगुणसङ्गतैः, [illegible] [illegible]हेत्यर्थः । [illegible] शास्त्रोक्तिरिव गुणः [illegible] [illegible]ते, तथा च [illegible] [illegible] दर्शितम् । [illegible] तु-शास्त्रोक्तगुणसङ्गतैरिति, [illegible] [illegible]गुणोपेतैरित्यर्थः । पुनः किंभूतैः [illegible] [illegible] परिपूर्णतया [illegible] [illegible] सुगन्धिभिः [illegible], परिपूर्णत्वाद्यं [illegible] [illegible] पुष्पवत् [illegible]र्थः । [illegible]

[illegible]-

अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमसङ्गता ।
गुरुभक्तिस्तपो ज्ञानं, सत्पुष्पाणि प्रचक्षते ॥ ६ ॥

[illegible]

ऽमत्कृता, धर्मोपकरणातिरिक्तपरिग्रहपरिवर्जनम्, धर्मोपकरणस्यापरिग्रहत्वात् । यदाह- " जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं । तं पि संजमलज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य ॥१॥ न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा । मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ॥२॥ " इत्यथा शरीराहारादावपि परिग्रहः स्यादिति पञ्चमम् । तथा गृणाति शास्त्रार्थमिति गुरुः । आह च-" धर्मज्ञो धर्मकर्त्ता च, सदा धर्मपरायणः । सत्त्वेभ्यो धर्मशास्त्रार्थ-देशको गुरुरुच्यते " ॥१॥ तस्य भक्तिः सेवा, बहुमानश्च, गुरुभक्तिरिति षष्ठम् । तथा तापयतीति तपोऽनशनादि । आह च-" रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राण्यनेन तप्यन्ते । कर्माणि वाऽशुभानीत्यतस्तपो नाम नैरुक्तम् " ॥१॥ इति सप्तमम् । तथा ज्ञायन्तेऽर्था अनेनेति ज्ञानम्, सम्यक्प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुस्तो बोध इत्यष्टमम् । इह समुच्चयाभिधायी चशब्दो द्रष्टव्यः । सतपुष्पाणि अत्यन्तमेकान्तेन च विवक्षितार्थसाधकतया द्रव्यपुष्पापेक्षया सन्ति शोभनानि पुष्पाणीव पुष्पाणि, भावपुष्पाणीत्यर्थः । प्रचक्षते शुद्धाष्टपुष्पीस्वरूपज्ञाः प्रतिपादयन्तीति ॥६॥

उक्तमेवार्थं वाक्यान्तरेणाह-

एभिर्देवाधिदेवाय, बहुमानपुरस्सरा ।
दीयते पालनाद् या तु, सा वै शुद्धेत्युदाहृता ॥ ७ ॥

एभिरनन्तरोदितैर्भावपुष्पैः, देवानां पुरन्दरादीनामधिको देवः पूज्यत्वाद् देवाधिदेवः प्रागुक्तो महादेवस्तस्मै, बहुमानः प्रीतियोगः पुरस्सरः प्रधानो यत्र सा बहुमानपुरस्सरा, दीयते वितीर्यते । कथमित्याह-पालनादहिंसादिपुष्पाणां परिरक्षणद्वारेण, तत्पालने हि देवाधिदेवाज्ञा कृता भवति । आज्ञाकरणमेव च सर्वथा कृतकृत्यस्य तस्य पूजाकरणम्; तदाज्ञां विराधयता दोषपुञ्जोपचितेनाप्यसावाराधितो भवति, शाक्यैश्वरमहाराजवदिति । या तु वैवाष्टपुष्पी, सा वै सैव, शुद्धा निरवद्या, इतिरेवंप्रकारार्थः, उदाहृता तत्त्ववेदिभिरभिहितेति ॥ ७ ॥

अथ शुद्धाया एव मोक्षसाधनीयत्वं दर्शयन् विशेषेण
सत्संमतत्वं प्रतिपादयन्नाह-

प्रशस्तो ह्यनया भाव-स्ततः कर्मक्षयो ध्रुवः ।
कर्मक्षयाच्च निर्वाण-मत एषा सतां मता ॥ ८ ॥

प्रशस्तः प्रशस्यः शुद्धः, हिशब्दो यस्मादर्थे, ततश्च यस्मात्प्रशस्तोऽनयाऽनन्तरोदितत्वेन प्रत्यक्षासन्नया शुद्धाष्टपुष्प्या, भाव आत्मपरिणामो भवतीति गम्यते, न पुनर्द्रव्याष्टपुष्प्या जीवोपमर्दाविनाभावात्तस्याः । ततः प्रशस्तभावात्, कर्मक्षयो ज्ञानावरणादिकर्मविलयो भवति, ध्रुवोऽवश्यंभावी, कर्मक्षयाशंकस्वरूपात् । चशब्दः पुनरर्थः । निर्वाणं मोक्षो भवतीति मोक्षसाधनीयमतः प्रशस्तभावजन्यकर्मक्षयसाध्यनिर्वाणसाधनत्वादेषा शुद्धाष्टपुष्पी, सतां विदुषां, यतीनामित्यर्थः, मता विधेयत्वेनेष्टा, न पुनर्द्रव्याष्टपुष्पी । ततो हे कर्त्तार्थिकाः ! यदि यूयं यतयस्तदा भावपूजामेव कुरुतेत्युक्तं भवति । अथवा यतो ऽनया निर्वाणमतः सतां विदुषामेषा संमतेति ॥ ८ ॥ इति तृतीयाष्टकविवरणम् । हा० ३ अष्ट० ।

अट्टबुद्धिगुण-अष्टबुद्धिगुण-पुं० । क० स० । शुश्रूषादिषु अष्टसु बुद्धिगुणेषु, तैरष्टबुद्धिगुणैर्योगः समागमः कर्त्तव्यः । (एष सामान्यगृहिधर्मः) बुद्धिगुणाः शुश्रूषादयः, ते त्वमी-" शुश्रूषा श्रवणं चैव, ग्रहणं धारणं तथा । ऊहोऽपोहोऽर्थविज्ञानं, तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः " ॥ १ ॥ शुश्रूषादिभिर्हि उपहितप्रकर्षः पुमान्न कदाचिदकल्याणमाप्नोति, एते च बुद्धिगुणा यथासम्भवं माह्याः । ध० १ अधि० ।

अट्ठजाइया-अष्टभागिका-स्त्री० । अष्टमे भागे वर्त्तते इत्यष्टभागिका । षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयपलमानायां माणिकायाम्, माणिकाया (षट्कपर्यायायाः) अष्टमभागवर्तित्वात्, द्वात्रिंशत्पलप्रमाणे रसमानविशेषे, अनु० । भ० ।

अट्ठमइय-अष्टमदिक-त्रि० । अष्टौ मदस्थानानि येषां तेऽष्टमदिकाः । अष्टसु मदस्थानेषु प्रसक्तेषु, " जे पुण अट्ठमईओ, पत्तियपसत्थाऽपसत्था य " आतु० ।

अट्ठमंगल-अष्टमङ्गल-न० । अष्टगुणितानि अष्ट वा मङ्गलानि । स्वनामख्यातेषु श्रीवत्सादिषु, " तस्स णं असोगवरपायवस्स उवरिं बहवे अट्ठट्ठमंगलगा पण्णत्ता । तं जहा-सोवत्थिय १ सिरिवत्थ २ णंदियावत्त ३ वद्धमाणग ४ भद्दासण ५ कलस ६ मच्छ ७ दप्पण ८ ।" तत्र अष्टावष्टाविति वीप्साकरणात् प्रत्येकं तेऽष्टाविति वृद्धाः । अन्ये त्वष्टाविति संख्या, अष्टमङ्गलानीति च संज्ञा । औ० । ज्ञा० । आ० चू० । आ० म० प्र० । भ० । जं० । रा० । लोकेऽपि च-" मृगराजो वृषो नागः, कलशो व्यजनं तथा । वैजयन्ती तथा भेरी, दीप इत्यष्टमङ्गलम् ॥१॥ लोकेऽस्मिन् मङ्गलान्यष्टौ, ब्राह्मणो गौर्हुताशनः । हिरण्यं सर्पिरादित्य आपो राजा तथाऽष्टमः " ॥ २ ॥ वाच० ।

अट्ठमभत्त-अष्टमभक्त-न० । एकैकस्मिन् दिने द्विवारं भोजनौचित्येन दिनत्रयस्य षण्णां भक्तानामुत्तरपारणकदिनयोरेकैकस्य भक्तस्य च त्यागेनाष्टमभक्तं त्याज्यं यत्र तत्तथा, इति व्युत्पत्त्या समयपरिभाषया वा उपवासत्रये, " तए णं से भरहे राया अट्ठमभत्तंसि परिणममाणंसि पोसहसालाओ पडिणिक्खमइ " जं० ३ वक्ष० । पंचा० ।

अट्ठमभत्तिय-अष्टमभक्तिक-त्रि० । दिनत्रयमनाहारिणि, जं० ३ वक्ष० ।

अट्ठमयमहण-अष्टमदमथन-त्रि० । अष्टमदस्थाननाशके, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० ।

अट्ठमहापाडिहेर-अष्टमहाप्रातिहार्य-न० । अर्हतां पूजोपयिकेषु अशोकवृक्षादिषु, " अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टि-र्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च । भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् " ॥१॥ नं० ।

अट्ठमिपोसहिय-अष्टमीपौषधिक-त्रि० । अष्टम्याः पौषध उपवासादिकोऽष्टमीपौषधः, स विद्यते येषां तेऽष्टमीपौषधिकाः । अष्टम्याः पौषधव्रते क्रियमाणेषूत्सवेषु, आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अट्ठमी-अष्टमी-स्त्री० । अष्टानां पूरणी षोडशकलात्मकचन्द्रस्याष्टमकला । क्रियारूपायां स्वनामख्यातायां तिथौ, वाच० । " चाउद्दसि पन्नरसिं, वज्जेज्जा अट्ठमिं च नवमिं च । छट्ठिं च चउत्थिं वारसिं च सेसासु देज्जाहि ॥१॥ " विशे० । वृद्धवैयाकरणसंमते विभक्तिभेदे, " अट्ठमी आमंतणी भवे " अष्टमी संबुद्धिरामन्त्रणी भवेत्, आमन्त्रणार्थे विधीयत इत्यर्थः । अनु० । " अष्टम्यामन्त्रणी भवेत् " इति । सु औ जसिति प्रथमाऽपीयं विभक्तिरामन्त्रणाक्षस्यार्थस्य [illegible]
पादकत्वेनाष्टम्युक्ता । स्था० ८ ठा० ।
हे जुवाण ! त्ति " आमन्त्रणे भावे [illegible] सु-

न्वैयाकरणदर्शनेन चेयमष्टमी गण्यते, ऐदंयुगीनानां त्वसौ प्रथमैवेति मन्तव्यमिति । अनु० । अष्टसंख्यापूरणायां च, अष्-त्त । अष्टं संघातं व्याप्तिं वा माति, मा-क, गौरा०-ङीष् । कोटाष्टतायाम, वाच० ।

अट्ठमुत्ति-अष्टमूर्ति-पुं० । अष्टौ भूम्यादयो मूर्त्तयोऽस्य । शिवे, " क्षितिजलपवनहुताशन--यजमानाऽऽकाशचन्द्रसूर्याख्याः । इति मूर्त्तयो महेश्वर-सम्बन्धिन्यो भवन्त्यष्टौ " ॥१॥ स्था०८ ठा० ।

अट्ठरससंपउत्त-अष्टरससंप्रयुक्त-त्रि० । ३ त० । अष्टभिः शृङ्गारादिभी रसैः सम्यक् प्रकर्षेण युक्ते, जी० ३ प्रति० ।

अट्ठविह—अष्टविध—त्रि० । अष्ट विधाः प्रकारा यस्य । अष्टप्रकारे, भ० १५ श० १ उ० । ध० । पञ्चा० । " अट्ठविहकम्मतमपडलपडिच्छन्ने " अष्टविधकर्मैव तमःपटलमन्धकारसमूहस्तेन प्रत्यवच्छिन्नानि तथा " विशे० ।

अट्ठसइया-अर्थशतिका- त्रि० । अर्थशतानि यासु सन्ति ता अर्थशतिकाः । अथवा-अर्थानामिष्टकार्याणां शतानि याभ्यस्ता अर्थशतास्ता एवार्थशतिकाः । स्वार्थे कप्रत्ययः । अर्थशतोत्पादिकासु वागादिषु, " अपुणरुत्ताहिं अट्ठसइयाहिं वग्गूहिं अणवरयं अभिणंदंता य " जं० २ वक्ष० । भ० ।

अट्ठसंघाड-अष्टसङ्घाट-पुं० । क० स० । अष्टसु प्रायश्चित्तव्रतासु, " संघाडो त्ति वा लयत्ति वा पगारो त्ति वा एगट्ठं " इति वचनात् । वृ० १ उ० ।

अट्ठसय-अष्टशत-न० । अष्टाभिरधिकं शतम् । अष्टोत्तरशते, स्था० १० ठा० ।

अट्ठसयसिद्ध-अष्टशतसिद्ध-पुं० । अष्टशतं च ते सिद्धाश्च निर्वृत्ता अष्टशतसिद्धाः । एकस्मिन् समये ऋषभस्वामिना सह निर्वृत्तिं गतेष्वष्टोत्तरशतेषु सिद्धेषु । इदश्चाऽनन्तकालजातमिति नवममाश्चर्यमुच्यत इति । स्था० १० ठा० । कल्प० । अत्र गुणविजयगणिना कृतस्य प्रश्नस्य हीरविजयसूरिदत्तमुत्तरम् । ऋषभस्वामी अष्टाष्टशतेनैकस्मिन्नेव समये सिद्धः । इदं चाश्चर्यम्-तत्र बाहुबल्याद्यायुराश्रिता का गतिः ? । इदं च सम्प्रतिपादकग्रन्थानामभ्यसाधनपूर्वं निर्णयकारि प्रसाद्यमिति ॥ ५ ॥ उत्तरम्-अत्र 'अट्ठसयसिद्धा' इत्यस्मिन्नाश्चर्ये बाहुबल्याद्यायुषोऽपवर्त्तनमन्तर्भवति । यथा-'हरिवंसकुलुप्पत्ति'' त्ति, आश्चर्ये हरिवर्षक्षेत्रानीतस्य युगलस्यायुरपवर्तनं शरीरलघुकरणं नरकगमनादि चान्तर्भवतीति ॥ ५ ॥ ही० ।

अट्ठसहस्स-अष्टसहस्र-न० । अष्टोत्तरसहस्रसङ्ख्येषु, "वरदामपवाधाणिउणओइयमट्ठसहस्सं वरकंचणं सलाणिमिएण" औ० ।

अट्ठसामइय-अष्टसामयिक-त्रि० । अष्टौ समया यस्मिंस्तोऽष्टसमयः, स एवाष्टसामयिकः । समयाष्टकोद्भवे, स्था० ८ ठा० । " केवलिसमुग्घाए अट्ठसामइये पन्नत्ते " औ० ।

अट्ठसेण-अष्टसेन-पुं० । वत्सगोत्रजे पुरुषभेदे, तदपत्येषु च । स्था० ७ ठा० ।

अर्दसेन-पुं० । पुरुषविशेषे, स्था० ७ ठा० ।

अट्ठगोवलिय-अष्टगौवलिक-त्रि० । षोडशवर्षमात्रपक्षसुवर्णमात्रकमिते, " एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स अट्ठगोवल्लिए काकिणिरयणे " स्था० ८ ठा० ।

अट्ठट्ठभि-अष्ट (ष्टा) ष्टमि-त्रि० । दशाधिकायां समाभि-

संख्यायाम, " अट्ठहत्तरीए सुवण्णकुमारदीवकुमारावाससयसहस्साणं " स० ।

अट्ठा--अष्टा-स्त्री० । मयमत्रियोः श्लोकैकत्रप्रदेशे, " गिह्न गुरुयउत्तो, अट्ठा मे निम्मि अच्छिन्ना " । पं० व० १ द्वा० । मुष्टौ " चउहिं अट्ठाहिं लोयं करेइ " जं० २ वक्ष० ।

आस्था-स्त्री० । आस्थानमास्था । प्रतिष्ठायाम, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आ-स्था-अङ् । आलम्बने, अपेक्षायां, पदार्थस्थितौ, यत्ने, आदरे, सभायाम्, आस्थाने च । वाच० ।

अट्ठाण-अस्थान-न० । अनुचिते स्थाने, स्था० ६ ठा० । वेश्यापाटकादौ कुस्थाने, व्य० २ उ० । प्र० । अयुक्ते, " अट्ठाणमेयं कुसला वयंति, दगेण जे सिद्धिमुदाहरंति " सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

अट्ठाणठवणा-अस्थानस्थापना-स्त्री० । गुर्वंवमहादिकेऽस्थाने प्रत्युपेक्षितोपधेः स्थापनं निक्षेपोऽस्थानस्थापना । प्रमादप्रत्युपेक्षणाभेदे, स्था० ७ ठा० ।

अट्ठाणमंडव-आस्थानमण्डप-पुं० । उपस्थानगृहे, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अट्ठाणिय-अस्थान (नि) क-न० । अभाजने, अनाधारे " अट्ठाणिए होइ बहू गुणाणं, जेणाण संकाइ मुसं वएज्जा " सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अट्ठादंड-अर्थदण्ड-पुं० । अर्थेन स्वपरोपकारलक्षणेन प्रयोजनेन दण्डो हिंसा अर्थदण्डः । स० ५ सम० । त्रसानां स्थावराणां वाऽऽत्मनः परस्य वोपकाराय हिंसायाम्, स्था० ५ ठा० २ उ० ।

अट्ठादंडवत्तिय-अर्थदण्डप्रत्यय-पुं० न० । आत्मार्थाय स्वप्रयोजनकृते दण्डोऽर्थदण्डः पापोपादानम्, तत्प्रत्ययः । प्रथमे क्रियास्थाने, सूत्र० । तत्स्वरूपं च--

पढमे दंडसमादाणे अट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे आयहेउं वा णाइहेउं वा आगारहेउं वा परिवारहेउं वा मित्तहेउं वा णागहेउं वा भूतहेउं वा जक्खहेउं वा तं दंडं तसथावरेहिं पाणेहिं सयमेव णिसिरिंति, अन्नेण वि णिसिरावेंति, अन्नेण वि णिसिरितं समणुजाणइ, एवं खलु तस्स तप्पत्तियं सावज्जंति, आहिज्जइ, पढमे दंडसमादाणे अट्ठा अट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिज्जइ ॥५॥

यत्प्रथममुपात्तं दण्डसमादानमर्थाय दण्ड इत्येवमाख्यायते, तस्यायमर्थः—तद्यथा नाम कश्चित्पुरुषः ; पुरुषग्रहणमनुपलक्षणार्थम् । सर्वोऽपि चातुर्गतिकः प्राण्यात्मनिमित्तमात्मार्थं तथाऽनिज्ञातिनिमित्तं स्वजनाद्यर्थं तथाऽगारं गृहं तन्निमित्तं, तथा परिवारो दासकर्मकरादिकः परिकरो वा गृहादेर्भूत्यादिकस्तन्निमित्तं, तथा मित्रनागभूतयक्षाद्यर्थं, तथाभूतं स्वपरोपघातरूपं दण्डं त्रसस्थावरेषु स्वयमेव निसृजति निक्षिपति, दण्डमिव दण्डमुपरि पातयति, प्राण्युपमर्दकारिणीं क्रियां करोतीत्यर्थः । तथाऽन्येनापि कारयत्यपरं दण्डं निसृजति, निसृजन्तमनुजानाति । एवं कृतकारितानुमतिभिरेव तस्याऽनात्मसत्यत्प्रत्ययिकं सावद्यक्रियोपात्तं कर्माधीयते संबध्यत इति । एतत्प्रथमदण्डसमादानमर्थदण्डप्रत्ययिकमित्याख्यातमिति ॥१॥ सूत्र० २, श्रु० २ अ० । आ० चू० । आव० ।

अट्ठायमाण-आतिष्ठत्-त्रि० । स्थितिमकुर्वति, " तह वि य अट्ठायमाणं गोणं " पञ्चा० १६ विव० ।

अट्ठार-अष्टादशन्-त्रि० । प्राकृतत्वाद्दस्य लोपः । अष्टाधिकेषु दशसु, " एए भावे वि अट्ठारए " पञ्चा० ३ विव० ।

अट्ठारस-अष्टादशन्-त्रि० । अष्टौ च दश च, अष्टाधिका वा दश अष्टादश । (अठारह) संख्यायां, तत्संख्येये च । वाच० । "पढमे वम्मंमि जावि अट्ठारसमुहुत्ताराती" सू० प्र० १ पाहु० ।

अट्ठारसकम्मकारण-अष्टादशकर्मकारण-न० । अष्टादशधौ-वस्थानिर्देशौ, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अट्ठारसट्ठाण-अष्टादशस्थान-न० । क० स० । प्रतिसेवनीयेषु अष्टादशसु स्थानेषु, दश० ।

इह खलु भो पव्वइएणं उप्पण्णदुक्खेणं संजमे अरइसमावन्नचित्तेणं ओहाणुप्पेहिणा अणोहाइएणं चेव हयरस्सि-गयंकुसपोयपडागाभूआइं इमाइं अट्ठारसठाणाइं सम्मं संपडिलेहिअव्वाइं हवंति । तं जहा-हंभो दुस्समाए दुप्पजीवी । १ ।

इह खलु भोः प्रव्रजितेन, इहेति जिनप्रवचने, खलुशब्दोऽवधारणे । स च भिन्नक्रम इति दर्शयिष्यामः । भो इत्यामन्त्रणे । प्रव्रजितेन साधुना, किंविशिष्टेनेत्याह—उत्पन्नदुःखेन संजातशीतादिशारीरस्त्रीनिषद्यादिमानसदुःखेन, संयमे व्यावर्णितस्वरूपे, अरतिसमापन्नचित्तेनोद्वेगगताभिप्रायेण, संयमनिर्विण्णभावेनेत्यर्थः । स एव विशेष्यते—अवधावनोत्प्रेक्षिणा—अवधावनमपसरणं, संयमादुन्मादवेन प्रेक्षितुं शीलं यस्य स तथाविधस्तेन, उत्प्रव्रजितुकामेनेति भावः । अनवधावितेनैवानुत्प्रव्रजितेनैव, अमूनि वक्ष्यमाणलक्षणान्यष्टादशस्थानानि, सम्यग्भावसारं संप्रत्युपेक्षितव्यानि सुष्ठुप्रेक्षणीयानि, भवन्तीति योगः । अवधावितस्य तु प्रत्युपेक्षणं प्रायोऽनर्थकमिति । तान्येव विशेष्यन्ते—हयरश्मिगजाङ्कुशपोतपताकाभूतानि अश्वखलीनगजाङ्कुशबोहित्थसितपटतुल्यानि । एतदुक्तं भवति—यथा हयादीनामुन्मार्गप्रवृत्तिकामानां रश्म्यादयो नियमनहेतवस्तथैतान्यपि संयमादुन्मार्गप्रवृत्तिकामानां भावसत्त्वानामिति । यतश्चैवमतः सम्यक् सम्प्रत्युपेक्षितव्यानि भवन्ति । खलुशब्दावधारणयोगात् सम्यगेव सम्प्रत्युपेक्षितव्यान्येवेत्यर्थः । (तं जहेत्यादि) तद्यथेत्युपन्यासार्थः । हंभो दुःषमायां दुष्प्रजीविन इति, 'हंभो' शिष्यामन्त्रणे । दुःषमायामधमकालाख्यायां कालदोषादेव दुःखेन कृच्छ्रेण प्रकर्षेणोदाररत्नोपभोगापेक्षया जीवितुं शीलं येषां ते, दुष्प्रजीविनः प्राणिन इति गम्यते, मोकद्वारिनामप्यनेकदुःखप्रयोगदर्शनात् । उदारभोगरहितेन च विडम्बनाप्रायेण दुर्गतिहेतुना किं गृहाश्रमेणेति, सम्प्रत्युपेक्षितव्यमिति प्रथमं स्थानम् । १ ।

लहुसगा इत्तरिआ गिहीणं कामभोगा । २ । भुज्जो अ सायबहुला मणुस्सा । ३ । इमे अ मे दुक्खे न चिरकालोवट्ठाई भविस्सई । ४ । ओमजणपुरक्कारे । ५ । वंतस्स य पडिआयणं । ६ । अहरगइवासोवसंपया । ७ । दुल्लहे खलु भो गिहीणं धम्मे गिहिपासमज्झे वसंताणं । ८ । आयंके से वहाय होइ । ९ । संकप्पे से वहाय होइ । १० । सोवक्केसे गिहवासे । ११ । निरुवक्केसे परिआए । १२ । बंधे गिहवासे । १३ । मुक्खे परिआए । १४ । सावज्जे गिहवासे । १५ । अणवज्जे परिआए । १६ । बहुसाहारणा गिहीणं कामभोगा । १७ । पत्तेअं पुण्णपावं । [illegible] अणिच्चे खलु भो मणुस्साणं जीविए कुसग्गजल[illegible] बहुं च खलु भो पावं कम्मं पगडं, पावाणं च [illegible] कडाणं कम्माणं पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताण[illegible] मुक्खो नत्थि अवेइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता अट्ठा[illegible] भवइ । भवइ अ इत्थ सिलोगो—

तथा-लघव इत्वरा गृहिणां कामभोगाः, दुःषमायामि[illegible] हे । सन्तोऽपि लघवस्तुच्छाः प्रकृत्यैव तुषमुष्टिवदसाराः [illegible] रा अल्पकालाः गृहिणां गृहस्थानां कामभोगा मदनकामप्र[illegible] शब्दादयो विषयाः विपाककटवश्च न देवानामिव विप[illegible] अतः किं गृहाश्रमेणेति सम्प्रत्युपेक्षितव्यमिति द्वितीयं [illegible] नम् । २ । तथा-भूयश्च स्वातिबहुला मनुष्याः दुःषमाया[illegible] वर्तन्त एव । पुनश्च स्वातिबहुला मायाप्रचुराः, मनुष्या [illegible] प्राणिनः, न कदाचिद्विश्रम्भहेतवोऽमी, तद्रहितानां च की[illegible] सुखम् ?, तथा मायाबन्धहेतुत्वेन च दारुणतरो बन्ध इति [illegible] गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति तृतीयं स्थानम् । ३ । तथ[illegible] इदं च मे दुःखं न चिरकालोपस्थायि भविष्यति, इदं चा[illegible] श्रूयमाणं, मम श्रामण्यमनुपालयतो, दुःखं शारीरमानसं कर्म[illegible] फल परीषहजनितं, न चिरकालमुपस्थातुं शीलं भविष्यति, श्रा[illegible] मण्यपालनेन परीषहनिराकृतेः, कर्मनिर्जरणात्संयमराज्यप्राप्तेः, इतरथा महानरकादौ विपर्ययः, अतः किं गृहाश्रमेणेति ?, संप्रत्युपेक्षितव्यमिति चतुर्थं स्थानम् । ४ । तथा-(ओमजण त्ति) न्यूनजनपूजा, प्रव्रजितो हि धर्मप्रभावाद्राजामात्यादिभिरभ्युत्थानासनाञ्जलिप्रग्रहादिभिः पूज्यते । उत्प्रव्रजितेन तु न्यूनजनस्यापि स्वल्पमनगुनयेऽभ्युत्थानादि कार्यम्, अधार्मिकराजविषये वा धर्मप्रयोक्तुः परकर्मणो नियम्यत एव, इहैवेदमधर्मफलमतः किं गृहाश्रमेणेति सम्प्रत्युपेक्षितव्यमिति पञ्चमं स्थानम् । ५ । एवं सर्वत्र क्रिया योजनीया । तथा वान्तस्य प्रत्यापानम्, भुक्तोज्झितपरिभोग इत्यर्थः । अयं च श्वशृगालादिक्षुद्रसत्त्वाचरितः सतां निन्द्यो व्यापादजनकः । वान्ताश्च भोगाः; प्रव्रज्याङ्गीकरणेनैतत्प्रत्यापानमप्येवं चिन्तनीयमिति षष्ठं स्थानम् । ६ । तथाऽधरगतिवासोपसंपत्, अधोगतिर्नरकतिर्यग्गतिस्तस्यां वसनमधोगतिवासः, एतन्निमित्तभूतं कर्म गृह्यते, तस्योपसंपत्सामीप्येनाङ्गीकरणं यदेतदुत्प्रव्रजनमेवं चिन्तनीयमिति सप्तमं स्थानम् । ७ । तथा दुर्लभः खलु भोः गृहिणां धर्म इति प्रमादबहुलत्वाद् दुर्लभ एव, 'भो' इत्यामन्त्रणे । गृहस्थानां परमनिर्वृतिजनको धर्मः । किंविशिष्टानामित्याह— गृहपाशमध्ये वसतामिस्त्र गृहपाशशब्देन पाशकल्पाः पुत्रकलत्रादयो गृह्यन्ते, तन्मध्ये वसतामनादिभवाभ्याससारकारणं स्नेहबन्धनमेतच्चिन्तनीयमित्यष्टमं स्थानम् । ८ । तथाऽऽतङ्कस्य वधाय भवति; आतङ्कः सद्योघाती विषूचिकादिरोगः, तस्य गृहिणो धर्मबन्धुरहितस्य, वधाय विनाशाय भवति । तथा वधस्थानेकवधहेतुरेवं चिन्तनीयमिति नवमं स्थानम् । ९ । तथा संकल्पस्तस्य वधाय भवति, संकल्प इष्टानिष्टवियोगप्राप्तिजो मानस आतङ्कः, तस्य गृहिणः, तथाचेष्टायोगाद् मिथ्याविकल्पाभ्यासेन ग्रहादिप्राप्तेर्वधाय [illegible]

दशमं स्थानम् । १० । तथा-सोपक्लेशो गृहवास इति; सहोपक्लेशैः सोपक्लेशो गृहवासो गृहाश्रमः । उपक्लेशाः-कृषिपाशुपाल्यवाणिज्याद्यनुष्ठानानुगताः पण्डितजनगर्हिताः शीतोष्णश्रमादयो घृतलवणचिन्तादयश्चेत्येवं चिन्तनीयमित्येकादशं स्थानम् । ११ । तथा-निरुपक्लेशः पर्याय इति; एभिरेवोपक्लेशैः रहितः प्रव्रज्यापर्यायोऽनारम्भी कुचिन्तापरिवर्जितः श्लाघनीयो विदुषामित्येवं चिन्तनीयमिति द्वादशं स्थानम् । १२ । तथा-बन्धो गृहवासः, सदा तद्धेत्वनुष्ठानात् कोशकारकीटवदित्येतच्चिन्तनीयमिति त्रयोदशं स्थानम् ।१३। तथा-मोक्षः पर्यायोऽनवरतकर्मनिगडविगमनाद् मुक्तवदित्येवं चिन्तनीयमिति चतुर्दशं स्थानम् । १४ । अत एव सावद्यो गृहवास इति; सावद्यः सपापः, प्राणातिपातमृषावादादिप्रवृत्तेरेतच्चिन्तनीयमिति पञ्चदशं स्थानम् ।१५। एवमनवद्यः पर्याय इति;अपाप इत्यर्थः;अहिंसादिपालनात्मकत्वादेतच्चिन्तनीयमिति षोडशं स्थानम् ।१६। तथा-बहुसाधरणा गृहिणां कामभोगा इति; बहुसाधरणाश्चौरजारराजकुलादिसामान्याः, गृहिणां गृहस्थानां, कामभोगाः पूर्ववदित्येतच्चिन्तनीयमिति सप्तदशं स्थानम् ।१७। तथा प्रत्येकं पुण्यपापमिति; मातापितृकलत्रादिनिमित्तमप्यनुष्ठितं पुण्यपापं प्रत्येकं पृथग् २, येनानुष्ठितं तस्य कर्तुरेव तदिति भावार्थः एवमष्टादशं स्थानम् ।१८। एतदन्तर्गतो वृद्धाभिप्रायेण शेषग्रन्थः समस्तोऽपि ॥ अन्ये तु व्याचक्षते-सोपक्लेशो गृहवास इत्यादिषु षट्सु स्थानेषु सप्रतिपक्षेषु स्थानत्रयं गृह्यते । एवं च बहुसाधारणा गृहिणां कामभोगा इति चतुर्दशं स्थानम् । प्रत्येकं पुण्यपापमिति पञ्चदशं स्थानम् । शेषाण्यभिधीयन्ते-तथाऽनित्यं खल्वनित्यमेव नियमतः, 'भो' इत्यामन्त्रणे, मनुष्याणां पुंसां, जीवितमायुः। एतदेव विशेष्यते-कुशाग्रजलबिन्दुचञ्चलं सोपक्रमत्वादनेकोपद्रवविषयत्वादत्यन्तासारम्, तदलं गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति षोडशं स्थानम्।तथा-बहु च खलु भोः पापं कर्म प्रकृतं; बहु चेत्यत्र चशब्दात् क्लिष्टं, 'खलु' शब्दोऽवधारणे, बह्वेव, पापं कर्म चारित्रमोहनीयादि, प्रकृतं निर्वर्तितं, मयेति गम्यते। श्रामण्यप्राप्त्यन्यथानुपपत्तेः, नहि प्रभूतक्लिष्टकर्मरहितानामेवमकुशला बुद्धिर्भवति, अतो न किंचिद् गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमिति सप्तदशं स्थानम्। तथा-पापानां चेत्यादि, पापानां चापुण्यरूपाणां चशब्दात् पुण्यरूपाणां च, खलु भोः कृतानां कर्मणाम्; चशब्दः कारितानुमतविशेषणार्थः;' भो ' इति शिष्यामन्त्रणे, कृतानां मनोवाक्कायैर्योगैर्निर्वर्तितानां कर्मणां ज्ञानावरणीयादीनां वेदनीयादीनां, प्राक् पूर्वम्, अन्यजन्मसु दुश्चरितानां प्रमादकषायजदुश्चरितजनितानि दुश्चरितानि, कारणे कार्योपचारात्। दुश्चरितहेतूनि वा दुश्चरितानि, कार्ये कारणोपचारात् । एवं दुष्पराक्रान्तानां मिथ्यादर्शनाविरतिजदुष्पराक्रान्तजनितानि दुष्पराक्रान्तानि, हेतौ फलोपचारात् । दुष्पराक्रान्तहेतूनि वा दुष्पराक्रान्तानि, फले हेतूपचारात्। इह च दुश्चरितानि-मृषावादप्रभृतीनि, दुष्पराक्रान्तानि-वधबन्धनादीनि । तद्भावसंभूतानां कर्मणां वेदयित्वाऽनुभूय, फलमिति वाक्यशेषः। किं मोक्षो भवति, प्रधानपुरुषार्थो भवति ?, नास्त्यवेदयित्वा न प्रकाशमननुभूय, अनेन सकलकर्मक्षयस्येदमाह । इत्यत्र च स्वकृतकर्मणां कोऽपि न अहकारिताविधिस्तन्मात्रा-[illegible] ...नतरं त्वं [illegible] कर्म-[illegible], [illegible] वा [illegible], अनशः-

प्रपायविष्कम्भादिना वा विशिष्टक्षायोपशमिकशुभभावेन तपसा प्रसह्य भीत्या, इह च वेदनमुदयप्रासस्य कर्मविपाकस्य उपक्रमस्य क्रमशोऽन्यनिबन्धनपरिक्षयेन, तप इत्थं तु मत्वा गुणकर्मणामुदीर्णोपक्षीणशेषस्य एतद्धर्मत्वं निमित्तम्, अतोऽन्य रिक्तमिदमित्यनल्पानुष्ठानमेव श्रेय इति, न किंचिद् गृहाश्रमेणेति संप्रत्युपेक्षितव्यमित्यष्टादशं पदं भवति-अष्टादशं स्थानं भवति। भवति चात्र श्लोकः, अस्मिन्नष्टादशस्थानार्थव्यतिकरे वस्तुसार्थसंग्रहपर इत्यर्थः । श्लोक इति च जातिपरो निर्देशः। तत्र श्लोकजातिरनेकभेदा भवतीति प्रकृतश्लोकलक्षणसंग्रह विरोधः ।

जया य चयइ धम्मं, अणज्जो भोगकारणा ।

से तत्थ मुच्छिए बाले, आयई नावबुज्झइ ॥ १ ॥

यदा चैवमष्टादशसु व्यावर्तनकारणेषु सत्स्वपि त्यजति जहाति, धर्मं चारित्रलक्षणम्, अनार्य इत्यनार्य इवानार्यो म्लेच्छचेष्टितः। किमर्थमित्याह-भोगकारणात् शब्दादिभोगनिमित्तं स धर्मत्यागी, तत्र तेषु भोगेषु, मूर्च्छितो गृद्धो, बालोऽज्ञः, आयतिमागामिकालं, नावबुध्यते न सम्यगवगच्छतीति सूत्रार्थः ॥ १॥

एतदेव दर्शयति-

जया ओहाविओ होइ, इंदो वा पडिओ छमं ।

सव्वधम्मपरिब्भट्ठो, स पच्छा परितप्पइ ॥ २ ॥

यदा चावधावितोऽपसृतो भवति संयमसुखविमुखः उत्प्रव्रजित इत्यर्थः । इन्द्रो वेति देवराज इव, पतितः क्ष्मां गतः, स्वविमानभ्रंशेन भूमौ पतित इति भावः । क्ष्मा भूमिः । सर्वधर्मपरिभ्रष्टः सर्वधर्मेभ्यः क्षान्त्यादिभ्यः आसेवितेभ्योऽपि यावत् प्रतिज्ञाननुपालनात्, लौकिकेभ्योऽपि वा गौरवादिभ्यः, परिभ्रष्टः सर्वतश्च्युतः, स पतितो भूत्वा पश्चान्मनाग् मोहावसाने परितप्यते, किमिदमकार्यं मयाऽनुष्ठितमित्यनुतापं करोतीति सूत्रार्थः। दश० १ चूलि०।(अग्रेतनगाथा तृ०भा०१३५पृष्ठे'ओहाविय'शब्दे विवृता)

समणेणं भगवया महावीरेणं समणाणं निग्गंथाणं सखुड्डयवियत्ताणं अट्ठारसट्ठाणा पण्णत्ता। तं जहा-"वयछक्कं कायछक्कं, अकप्पो गिहिभायणं। पलियंकनिसेज्जा य, सिणाणं सोभवज्जणं" ॥ १ ॥ स० १८ सम० ।

(व्रतषट्कादीनि विस्तरतोऽन्यत्र स्वस्वस्थाने लिखितानि) एतद्व्रतषट्कं, शोभावर्जनं चेति विधेयं, शेषं प्रतिषेधनीयम् । व्य० १० उ० ।

अट्ठारसहिं ठाणेहिं जो होति अपतिट्ठितो नमस्तो तारिसो होइ ववहारं ववहरित्तए । अट्ठारसहिं ठाणेहिं जो होति पतिट्ठितो अलमत्थो तारिसो होइ ववहारं वहरित्तए । "व्य० १० उ० । (इति व्यवहारिलक्षण 'ववहार' शब्दे वक्ष्यते)

अट्ठारसपावट्ठाण-अष्टादशपापस्थान (क)-न०। पापहेतूनि स्थानकानि पापस्थानकानि, अष्टादश च तानि स्थानकानि। प्राणातिपातादिषु अष्टादशसु पापोपादानहेतुषु स्थानेषु, प्रव० ।

सव्वं पाणाइवायं, अलियमदत्तं च मेहुणं सव्वं ।

सव्वं परिग्गहं तह, राईभत्तं च वोसिरिमो ॥ १ ॥

सव्वं कोहं माणं, मायं लोभं च रागदोसे य ।

कलहं अब्भक्खाणं पेसुन्नं परपरीवायं ॥ २ ॥
मायामोसं मिच्छा-दंसणसल्लं तहेव वोसिरिमो ।
अंतिमऊसासम्मि य, देहं पि जिणाइपच्चक्खं ॥ ३ ॥

सर्वं समस्तं प्राणातिपातं, तथा-सर्वमलीकं मृषावादं, तथा-सर्वमदत्तमदत्तादानं, तथा-सर्वं मैथुनं, तथा-सर्वं परिग्रहं, तथा-सर्वं रात्रिभक्तं रजनिभोजनं, व्युत्सृजामः परिहरामः । तथा—सर्वं क्रोधं, मानं, मायां, लोभं च, रागद्वेषौ च, तथा—कलहं, अभ्याख्यानं, पैशुन्यं, परपरिवादं, मायां, मृषा, मिथ्यादर्शनशल्यं च, तथैव समस्तं व्युत्सृजामः । एतान्यष्टादशपापहेतूनि स्थानकानि पापस्थानकानि, न केवलमेतान्येव किन्तु अन्तिमे उच्छ्वासे, परलोकगमनसमय इत्यर्थः, देहमपि निजशरीरमपि, व्युत्सृजामः, तथापि ममत्वमोचनाद् जिनादिप्रत्यक्षं तीर्थंकरसिद्धानां समक्षमिति । प्रव० २३७ द्वा० ।

अट्ठारसवंजणाउल-अष्टादशव्यञ्जनाकुल-त्रि० । अष्टादशभिर्लोकमतीतैर्व्यञ्जनैः शालनकादिभिराकुलं सङ्कीर्णं यत्तथा । अथवा अष्टादशभेदं च तद् व्यञ्जनाकुलम्, शाकपार्थिवादिदर्शनान्मध्यपदलोपः । सूपाद्यष्टादशव्यञ्जनसङ्कीर्णे, वं०प्र० । अष्टादश च भेदा इमे-"सूओ १ दणो २ जवन्नं, ३ तिन्नि य मंसाइ ६ गोरसो ७ जूसो ८ । भक्खा ९ गुललावणिया, १० मूलफला ११ हरियगं १२ डागो १३ ॥ १ ॥ होइ रसालू य १४ तहा, पाणं १५ पाणीय १६ पाणगं चेव १७ । अट्ठारसमो सागो १८, निरुवहओ लोइओ पिंडो" ॥ २ ॥ वं० प्र० २० पाहु० । स्था० । भ० ।

अट्ठारसविहिप्पयारदेसीभासाविसारय-अष्टादशविधिप्रकारदेशीभाषाविशारद-पुं०स्त्री० । अष्टादशविधिप्रकाराः, अष्टादशभिर्वा विधिभिर्भेदैः प्रचारः प्रवृत्तिर्यस्याः सा तथा, तस्यां देशीभाषायां देशभेदेन वर्णावलीरूपायां विशारदः पण्डितो यः स तथा । अष्टादशधाभिन्नदेशीभाषापण्डिते, "अट्ठारसविहिप्पयारदेसीभासाविसारए गीयरइगंधव्वणट्टकुसले हयजोही," ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

अट्ठारससीलंगसहस्स-अष्टादशशीलाङ्गसहस्र-न० । शीलभेदानामष्टादशसहस्रेषु, पञ्चा० ।

तानि चैवम्-

...पिऊण वद्धमाणं, सीलंगाइं समासओ वोच्छं ।
...मणाण सुविहियाणं, गुरूवएसाणुसारेण ॥ १ ॥

...प्रणम्य, वर्द्धमानं महावीरं, शीलाङ्गानि चारित्रांशरू-..., तत्कारणानि वा, समासतः संक्षेपेण, वक्ष्ये भणिष्यामि । ...संबन्धीनि इत्याह-श्रमणानां यतीनां, सुविहितानां सदनु-...नां, गुरूपदेशानुसारेण जिनादिवचनानुवृत्त्येति गा-...॥ १ ॥

शीलाङ्गानां तावत्परिमाणमाह-

...णाण सहस्सा, अट्ठारस एत्थ होंति नियमेणं ।
...ं समणाणं, अखंडचारित्तजुत्ताणं ॥ २ ॥

...नां चारित्रांशानां, सहस्राण्यष्टादश, अत्र-श्रमणधर्मे, ... भवन्ति स्युः । नियमेनावश्यतया, न न्यूनान्यधिकानि ... कथमित्याह-भावेन परिणामेन, बहिर्वृत्त्या तु कस्य-...न्यूनान्यपि स्युरिति भावः । केषामित्याह-श्रमणा-...न तु श्रावकाणां, सर्वविरतानां चैव तेषामुक्तसंख्या-

यतां संभवात् । अथवा भावेन श्रमणानां न तु द्रव्यश्रमणानां तेषामपि किंविधानामित्याह-अखण्डचारित्रयुक्तानां सकलचरणोपेतानां, न तु दर्पप्रतिसेवया खण्डितचरणांशानाम् । नन्वखण्डचरणा एव सर्वविरता भवन्ति, तत्खण्डनेऽसर्वविरतत्वप्रसंगात्, तथा 'पढियम्मि अइक्कमइ पंच' इत्यागमप्रामाण्यात् सर्वविरतः पञ्चापि महाव्रतानि प्रतिपद्यतेऽतिक्रामति च पञ्चाप्येव, नैककादिकमिति कथं सर्वविरतेर्देशखण्डनमिति? । अत्रोच्यते-सत्यमेतत्, किं तु प्रतिपत्त्यपेक्षं सर्वविरतत्वं, परिपालनापेक्षया त्वन्यथापि संज्वलनकषायोदयात्स्यात् । अत एवोक्तम्-"सव्वे वि य अइयारा, संजलणाणं तु उदयओ होंति" इति । अतिचारा हि चरणदेशखण्डनरूपा एवेति । तथैकव्रतातिक्रमे सर्वातिक्रम इति यदुक्तं, तदपि वैचारिकम् । विवक्षा चेयम्-"जेयस्स जाव दाणं, ता व अइक्कमइ नेव एगं पि । एगं अइक्कमंतो, अइक्कमे पंचमूलेणं" ॥ १ ॥ एवमेव हि दशविधप्रायश्चित्तविधानं सफलं स्यात् । अन्यथा मूलाद्येव, तस्मादवग्रहारमयतआतिचारसंभवः, निश्चयतस्तु सर्वविरतितया न एवेत्यसं प्रसंगेनेति गाथार्थः ॥ २ ॥

कथं पुनरेकविधस्य शीलस्याङ्गानामष्टादशसहस्राणि भवन्तीत्याह—

जोए करणे सन्ना-इंदियभूमादि समणधम्मे य ।
सीलंगसहस्साणं, अट्ठारसगस्स णिप्पत्ती ॥ ३ ॥

योगे व्यापारे विषयभूते, करणे योगस्यैव साधकतमे, संज्ञासु, इन्द्रियेष्वक्षेषु, भूम्यादिषु पृथिव्यादिजीवकायेष्वजीवकाये च, श्रमणधर्मे च क्षान्त्यादौ, शीलाङ्गसहस्राणां प्रस्तुतानाम्, अष्टादशपरिमाणमस्य वृन्दस्येत्यष्टादशकं, तस्य, निष्पत्तिः सि-...नि चत्वारि पदानि द्वन्द्वैकत्ववन्ति । तत्र संज्ञासु चेतनाविशेषरूपासु, ...द्धिर्भवतीति गाथार्थः ॥ ३ ॥

योगादीनेव व्याख्यातुमाह—

करणादि तिन्नि जोगा, मणमादीणि उ हवंति करणाइं ।
आहारादी सन्ना, चउ सन्ना इंदिया पंच ॥ ४ ॥
भोमादी णव जीवा, अजीवकाओ य समणधम्मो उ ।
खंतादि दसपगारो, एवं ठिए भावणा एसा ॥ ५ ॥

(करणाइ त्ति) सूत्रत्वात्करणादयः, करणकारणानुमतयस्त्रयो योगा भवन्ति । तथा मन आदीनि तु मनोवचनकायरूपाणि, पुनर्भवन्ति स्युः, करणानि त्रीण्येव, तथा आहारादयः आहारभयमैथुनपरिग्रहविषयाः वेदनीयभयमोहवेदमोहलोभकषायोदयसंपाद्याध्यवसायविशेषरूपाः संज्ञाः, (चउ त्ति) चतस्रः संज्ञा भवन्ति । तथा-श्रोत्रादीनि श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनानीन्द्रियाणि पञ्च भवन्तीति । तथा-भूम्यादयः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रिया नव जीवा जीवकायाः, अजीवकायस्तु अजीवराशिः पुनर्दशमो यः परिहार्यतयोक्तः । स च महाधनानि वस्त्रपात्राणि विकटहिरण्यादीनि च, तथा-पुस्तकानि दूष्यादपत्युपेक्षितानि प्रावारादिदुष्प्रत्युपेक्षितानि, कोद्रवादितृणान्यजादिचर्माणि चागमप्रसिद्धानीति । तथा-श्रमणधर्मस्तु यतिधर्मः । पुनः क्षान्त्यादिः क्षान्तिमार्दवार्जवमुक्तितपःसंयमसत्यशौचाकिञ्चन्यब्रह्मचर्यरूपो दशप्रकारो दशविध इति । (एवं ति) एवमुक्तन्यायेन, स्थिते शीलधर्मे च पदकादौ व्यवस्थिते, त्रिविधचतुष्प्रकारसंकरेयमूलपदकलापभावना भङ्गकप्रकारणा, एषा अनन्तरवक्ष्यमाणलक्षणेति गाथाद्वयार्थः ॥ ५ ॥

तामेवाह-

ण करति मणेण आहा-रसण्णाविप्पजढगो उ णियमेण ।
सोइंदियसंवुडो पु-ढविकायारंभ खंतिजुओ ॥ ६ ॥

न करोतीति करणलक्षणः प्रथमयोग उपात्तः । मनसेति प्रथमकरणम् । (आहारसण्णाविप्पजढगो उ त्ति) आहारसंज्ञाविप्रहीणः अनेन च प्रथमसंज्ञा । तथा-नियमेनावश्यंतया श्रोत्रेन्द्रियसंवृतो निरुद्धरागादिमच्छ्रोत्रेन्द्रियप्रवृत्तिः, अनेन च प्रथमेन्द्रियम् । एवंविधः सन् किं करोतीत्याह-पृथिवीकायारम्भं पृथ्वीजीवहिंसाम्, अनेन च प्रथमजीवस्थानम् । क्षान्तियुतः क्षान्तिसंपन्नः, अनेन प्रथमश्रमणधर्मभेद इति । तदेवमेकं शीलाङ्गमाविर्भावितमिति गाथार्थः ॥ ६ ॥

अथ शेषाणि तान्यतिदेशतो दर्शयन्नाह-

इय मद्दवादिजोगा, पुढवीकाए हवंति दस भेया ।
आउक्कायादीसु वि, इय एते पिंडियं तु सयं ॥ ७ ॥
सोइंदिएण एयं, सेसेहिं वि जं इमं तओ पंचो ।
आहारसण्णजोगा, इय सेसाहिं सहस्सदुगं ॥ ८ ॥
एयं मणेण वइमा-दिएसु एयं ति छस्सहस्साइं ।
ण करइ सेसेहिं पि य, एए सव्वे वि अट्ठारा ॥ ९ ॥

इत्यनेनैव च पूर्वोक्ताभिलापेन, मार्दवादियोगान् मार्दवार्जवादिपदसंयोगेन, पृथिवीकाये पृथिवीकायमाश्रित्य, पृथिवीकायसमारम्भमित्यभिलापेनेत्यर्थः भवन्ति स्युः, दश भेदा दश शीलविकल्पाः, अप्कायादिष्वपि नवसु स्थानेषु, अपिशब्दो दशेत्यस्येह संबन्धनार्थ इति । अनेन क्रमेण एते सर्वेऽपि भेदाः । (पिंडियं तु त्ति) प्राकृतत्वात्पिण्डिताः पुनः सन्तः, अथवा पिण्डितं पिण्डमाश्रित्य, शतं शतसंख्याः स्युरिति, श्रोत्रेन्द्रियेणैतच्छतं लब्धम्, शेषैरपि चक्षुरिन्द्रियादिभिः, यद्यस्मादिदं शतं प्रत्येकं लभ्यते, ततो मीलितानि पञ्चशतानि स्युः । एतानि चाहारसंज्ञायोगाल्लब्धानि इति । एवं शेषाभिरितराभिः पञ्च पञ्चशतानि स्युः, एवं च सर्वमीलने सहस्रद्वयं स्यादिति । एतत् सहस्रद्वितयं मनसा लब्धं (वइमाइएसु त्ति) वागादौ वचनकाययोः प्रत्येकमेतत् सहस्रद्वयम्, इति एवं, षट् सहस्राणि न करोतीति अत्र करणे स्युः । शेषयोरपि च कारणानुमत्योरित्यर्थः । षट् षट् सहस्राणि स्युः । एते अनन्तरोक्ताः, सर्वेऽपि शीलभेदाः पिण्डिताः सन्तः, (अट्ठार त्ति) प्राकृतत्वादष्टादशसहस्राणि भवन्तीति गाथात्रयार्थः ॥९॥ नन्वेकयोग एवाष्टादशसहस्राणि स्युर्यदा तु द्व्यादिसंयोगजन्या इह लिप्यन्ते तदा बहुतराः स्युः । तथाहि-एकद्व्यादिसंयोगेन योगेषु सप्त विकल्पाः, एवं करणेषु, संज्ञासु पञ्चदश, इन्द्रियेष्वेकत्रिंशद्, भौम्यादिषु त्र्युत्तरसहस्रमेकविंशत्यधिकं सहस्रम्, एवं क्षमादिष्वपि । एतेषां च राशीनां परस्पराभ्यासे द्वे कोटिसहस्रे, त्रीणि कोटीशतानि, चतुरशीतिकोटीलक्षाः एकनवतिलक्षाणि, त्रिषष्टिसहस्राणि, द्वे शते, पञ्चषष्टिश्चेति { २३०८४११६३२६५ }, ततः किमष्टादशैव सहस्राण्युक्तानि ? । उच्यते-यदि श्रावकधर्मवदन्यतरभङ्गकेन सर्वविरतिः प्रतिपत्तिः स्यात्, तदा द्व्यादिजन्या भङ्गका उच्यन्ते, सर्वविरतिश्च सर्वथैकरूपैवेति, एकस्याप्यभावे न स्यादिति सर्वविरतिश्च न भवतीत्येतदाह-

एत्थ इमं विण्णेयं, अइदंपज्जं तु बुद्धिमंतेहिं ।
इक्कं पि सुपरिसुद्धं, सीलंगं सेससब्भावे ॥ १० ॥

अत्र एषु शीलाङ्गेषु, इदं वक्ष्यमाणं, विज्ञेयं ज्ञातव्यम् (अइदंपज्जं ति) इदं परं प्रधानमैदंपरं, तद्भाव ऐदंपर्यं तात्पर्यमित्यर्थः तुः पुनःशब्दार्थः । तद्भावना चैवम्-शीलाङ्गसहस्राण्यष्टादश सन्ति । ऐदंपर्यं पुनरेवमिदं ज्ञेयं, बुद्धिमद्भिर्बुधैः । किं तदित्याह एकमपि । अपिशब्दाद् बहून्यपि, सुपरिशुद्धं निरतिचारं, शीलाङ्गं चारित्रांशः, शेषसद्भावे तदन्यशीलाङ्गसत्तायामेव, तदेवं समुदितान्येतानि भवन्तीति न द्व्यादिसंयोगभङ्गकोपादानमपि तु सर्वसंख्याऽष्टादशसहस्राणीति । यथा त्रिविधं त्रिविधेनेत्यस्य भङ्गस्येयमष्टादशसहस्रात्मकतेति । इह च सुपरिशुद्धमिति विशेषणादन्यतरस्याभावेऽपि स्युरिति दर्शितम् । एवं हि संज्वलनोदयश्चरित्रायाँ भवेदिति; चारित्रैकदेशभङ्गत्वात् तस्य । अत एव यो मन्यते श्रमणं मन्ययामीति तत्र (पुढवि) मनसा न करोत्याहारसंज्ञाविहीनो रसनेन्द्रियसंवृतः पृथिवीकायसमारम्भमुक्तिसंपन्न इत्येतदेकं तदङ्गम् । तद्भङ्गे च प्रतिक्रमणादिप्रायश्चित्तेन शुद्धिः स्यात्, अन्यथा मूलेनैव स्यादिति गाथार्थः ॥१०॥

अनन्तरगाथार्थं समर्थयन्नाह-

एक्को वाऽऽयपएसोऽसंखेयपएससंगओ जह उ ।
एतं पि तहा णेयं, सततच्चाओ इहरहा उ ॥ ११ ॥

एकोऽपि, आस्तामनेकः, आत्मप्रदेशो जीवांशः, असंख्येयप्रदेशसंगत एव संख्यातीतांशसमन्वित एव भवति, तस्य तथारूपत्वात् । यथा यद्वत्, तुशब्द एवकारार्थः तत्प्रयोगश्च दर्शित एव । एतद् अपि शीलाङ्गमपि, तथा तद्वच्छेषशीलाङ्गसमन्वितमेव, ज्ञेयं ज्ञातव्यम्, शेषानपेक्षत्वे तस्य को दोष इत्याह-सततत्यागः सर्वविरतिलक्षणशीलाङ्गहानिः स्यात् । इतरथा तु एकतरायां पुनरितरत्रेति । समुदितान्येतानि सर्वविरतिशीलाङ्गतामापद्यन्ते । अन्यथा पुनः सर्वविरतिशीलाङ्गानां त्यजन्तीति भावनेति गाथार्थः ॥११॥

इदमेव समर्थयन्नाह-

जम्हा समग्गमेयं, पि सव्वसावज्जजोगविरई उ ।
तत्तेणेगसरूवं, ण खंडरूवत्तणमुवेइ ॥ १२ ॥

यस्मात् कारणात्समग्रं परिपूर्णमेव, सदा दैशिकमित्यर्थः । एतदपि शीलं, न केवलमात्मा समग्रः सर्वात्मा स्यात् । सर्वसावद्ययोगविरतिः समस्तपापव्यापारनिवृत्तिर्भवति, तत्स्वभावमित्यर्थः । तुशब्द एवकारार्थः । योजितश्च-तथा च तत्त्वेन सर्वनिवृत्तिरूपत्वेन हेतुना एकस्वरूपमष्टादशसहस्रात्मकमेव । अन्यथा सर्वविरतित्वायोगाद्, न खण्डरूपत्वमेकाद्यङ्गविकलत्वम्, उपैत्युपयाति । प्रयोगोऽत्र-यदपेक्षया स्वतत्त्वं लभते तत् तन्न्यूनतायां तन्न भवति । यथा-प्रदेशहीन आत्मा, यथा वा दानमेकादिविकलं, तथा च सर्वस्यापेक्षया सर्वविरतिः स्वतत्त्वम्, अत एकादीनां साङ्गविकलोऽसौ न भवतीति गाथार्थः ॥ १२ ॥

उक्तार्थ एव विशेषाभिधानायाह-

एयं च एत्थ एवं, विरतीभावं पडुच्च दट्ठव्वं ।
ण उ बज्झं पि पवित्तिं, जं सा भावं विणावि भवे ॥१३॥

एतच्च एतत् पुनः शीलम्, अत्र शीलाङ्गप्रक्रमे, एवमखण्डरूपं, विरतिभावं सावद्ययोगविरमणपरिणामं, प्रतीत्याश्रित्य, द्रष्टव्यं ज्ञेयम् । न तु न पुनः, बाह्यामपि कायवाक्संबन्धिनीमपि, अपिशब्दः समुच्चये, प्रवृत्तिं चेष्टाम्; पुनः कस्मादित्याह-यद् यस्मात्, सा बाह्या प्रवृत्तिः, भावमध्यवसायं, विनापि अन्तरेणापि । अपिशब्दाद्भावेन सहापि, भवेत् स्यादिति गाथार्थः ॥१३॥ पञ्चा० १४ विव०। आव०। ध०। पं० व०। १।

अट्ठारससेणि–अष्टादशश्रेणि–स्त्री०। कुम्भकारादिषु अष्टादशसु राज्ञः प्रजासु, जं०। अष्टादशश्रेणयश्चेमाः–"कुंभार १ पट्टइल्लाइ सुवण्णकारा य ३ सूवकारा य ४ । गंधव्वा ५ कासवगा ६, मालाकारा य ७ कच्छकरा ८ ॥१॥ तंबोलिया ९ य एए, नवप्पयारा य णारुश्चा भणिश्चा । अह णं णायण्याईं, कारुश्रवणि पवक्खामि ॥ २ ॥ चम्मयर १ जंतपीलग २, गंछिय ३ छिंपय ४ कंसकारा य ५ । सीवग ६ गुआर ७ भिल्ला ८, धीवर ९ वण्णाइ अट्ठदस " ॥३॥ चित्रकारादयस्तु एतेष्वेवान्तर्भवन्ति । "तए णं ताश्रो अट्ठारससेणिप्पसेणीश्रो भरहेण रन्ना एव वुत्ता समाणीश्रो हट्ठाश्रो " जं० ३ वक्ष० ।

अट्ठारसय–अष्टादशक–त्रि० । अष्टादशवर्षप्रमाणे, "ते परिस्सा होइ णया, अट्ठारसिया उ हरिया होइ " अष्टादशिका अष्टादशवर्षप्रमाणा । व्य० ४ उ० ।

अट्ठालोभि (ण्)–अर्थलोभिन्–त्रि० । अर्थोऽत्र द्रव्यादिस्तत्र वा समन्तालोभः अर्थलोभः स विद्यते यस्येति समन्ततो धनलुब्धे, "अहोयराश्रो परियप्पमाणे कालाकालसमुट्ठाई संजोगट्ठी अट्ठालोभी " आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अट्ठावण्ण–अष्ट (ष्टा) पञ्चाशत्–स्त्री० । अष्टाधिका पञ्चाशत् अष्टपञ्चाशत् । अष्ट च पञ्चाशच्च अष्टपञ्चाशदिति वा । ' अष्टापञ्चाशत् ' इति प्रसिद्धायां संख्यायां, तत्संख्येये च । " पढमदोच्चपंचमासु तिसु पुढवीसु अट्ठावण्णं णिरयावाससयसहस्सा" स० ५८ सम० ।

अट्ठावय–अर्थपद–न० । अर्थेन द्रव्यार्थो धनधान्यहिरण्यादिकः, पद्यते गम्यते येनार्थस्तत्पदं शास्त्रम्, अर्थार्थं पदमर्थपदम् । चाणक्यादिकेऽर्थशास्त्रे, सूत्र० १ श्रु० ९ अ० ।

अट्ठावद–न० । द्यूतक्रीडाविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ९ अ० । द्यूतफलके, ज्ञा० २ वक्ष० । प्रश्न० । द्वासप्ततिकलासु षष्ठ अर्थापदी कला । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स० । द्यूतसामान्ये, जं० २ वक्ष० । नि० चू० । "अट्ठावयं ण सिक्खिज्जा" सूत्र० १ श्रु० ९ अ० । अथवा–अर्थो पदानि यस्यासौ अट्ठापदः । [illegible] संख्यापदस्य दीर्घत्वादेरिति । [illegible] अष्टसु धातुषु पदं प्रतिष्ठा यस्य, स्वर्णे; तथापि स्वर्णमयेऽपि, शरभे, सुमाले च । (पुं०) मयोरपदत्वात् । अष्ट यथा अष्टासु पद्यते, इति अष्टसु दिक्षु आपद्यते, कीर्त्यते अष्टाभिः सिद्धिभिरापद्यते । [illegible] पद्–अप् । ३ त०) अणिमाद्यष्टसिद्धिपुरुषे, कैलासे च । पुं० । [illegible] स्वनामख्याते पर्वतविशेषे, यत्र ऋषभदेवः सिद्धः । [illegible] विश० । आ० म० प्र० । कल्प० । "अट्ठावयम्मि सेले, चउदसभत्तेण सो महरिसीणं । दसहिं सहस्सेहिं समं, निव्वाणमणुत्तरं पत्तो" ॥ १ ॥ आ० क० । जं० । तथा० । कं० । [illegible] ([illegible] भागे २१६ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) आ० क० । आ० म० । आ० क० । [illegible] माहात्म्यं [illegible] तीर्थकल्पः–

[illegible] विमान–राशिभिः [illegible] । [illegible] स अष्टापदपर्वतोऽस्तु नः ॥ १ ॥ [illegible] प्रभुः । [illegible] स अष्टापदपर्वतोऽस्तु नः ॥ २ ॥ [illegible] इव [illegible] । [illegible] स अष्टापदपर्वतोऽस्तु नः ॥ ३ ॥ [illegible]

[illegible] स अष्टापदपर्वतोऽस्तु नः ॥ ४ ॥ [illegible] स अष्टापदपर्वतोऽस्तु नः ॥ ५ ॥ [illegible] स अष्टापदपर्वतोऽस्तु नः ॥ ६ ॥ [illegible] स अष्टापदपर्वतोऽस्तु नः ॥ ७ ॥ [illegible] स अष्टापदपर्वतोऽस्तु नः ॥ ८ ॥ [illegible] स अष्टापदपर्वतोऽस्तु नः ॥ ९ ॥ [illegible] स अष्टापदपर्वतोऽस्तु नः ॥ १० ॥

('भरत' शब्दे [illegible])

[illegible] स अष्टापदपर्वतोऽस्तु नः ॥ ११ ॥ [illegible] स अष्टापदपर्वतोऽस्तु नः ॥ १२ ॥

[illegible] स अष्टापदपर्वतोऽस्तु नः ॥ १३ ॥ [illegible] स अष्टापदपर्वतोऽस्तु नः ॥ १४ ॥ [illegible] ॥ १५ ॥

[illegible] ॥ १६ ॥ [illegible] ॥ १७ ॥

[illegible] ॥ १८ ॥

[illegible] ॥ १९ ॥ [illegible] ॥ २० ॥ [illegible] ॥ २१ ॥

[illegible]

नि ?। यतस्तत्राऽसंख्याता उद्धारा जाताः श्रूयन्ते, तेनाऽष्टापदे कस्य सांनिध्यं, शत्रुञ्जये च कस्य न ?, यद्तावान् भेद इति व्यक्त्या प्रसाध्यमिति । उत्तरम्-अष्टापदपर्वते भरतचक्रवर्तिकारितप्रासादादीनां स्थानस्य निरपायत्वाद्, देवादिसांनिध्यात् च "केवइयं पुण कालं आययणं अवसिज्झिस्सइ ?। ततो तेण अमेघण भणिअं-जाव इमाओ ओसप्पिणि त्ति मे केवलिजिणाण अंतिए सुयं" इत्यादि वसुदेवहिण्डय ग्रन्थसङ्घदासवाचकयावदवस्थानं युक्तिमदेव । शत्रुञ्जये तु स्थानस्य सापायत्वात्, तथाविधदेवादिसांनिध्याभावाच्च, भरतकारितप्रासादादीनामथ्यायवदवस्थानाभाव इति संभाव्यते । तत्त्वं तु तत्त्वविद्वेद्यमिति । ही० ४ प्रका० । किञ्च-अष्टापदपर्वते प्रतिमाप्रतिष्ठा केन कृता ?, कुत्र वा सा कथिताऽस्तीति ?, विष्णुऋषिगणिप्रश्नः तदुत्तरम्-अथ अष्टापदपर्वते प्रतिमाप्रतिष्ठा श्रीऋषभदेवशिष्येण कृतेति श्रीशत्रुञ्जयमाहात्म्यमध्ये कथितमस्तीति । (ही०) अष्टापदगिरौ स्वकीयलब्ध्या ये जिनप्रतिमां वन्दन्ते ते तद्भवसिद्धिगामिन इत्यक्षराणि सन्ति, तथा च सन्ति ये विद्याधरयमिनस्तथा राक्षसवानरचारणभेदभिन्ना अनेके ये तपस्विनस्तत्र गन्तुं शक्तास्तेषां सर्वेषामपि तद्भवसिद्धिगामित्वमापद्यते, ततः सा का लब्धिः ?, यया तत्र गम्यते, तथा गौतमादिवत्तद्भवसिद्धिगामिनो भवन्तीति । तथाऽष्टापदगिरौ ये तपःसंयमोत्थलब्ध्या यात्रां कुर्वन्ति ते तद्भवसिद्धिगामिन इति संभाव्यते, व्यक्ताक्षरानुपलम्भात् । ही० १ प्रका० ।

अट्ठावयवाइ (ण्)-अष्टापदवादिन्-पुं० । इन्द्रभूतिना सह वीरजिनसमीपं समागते विप्रभेदे, कल्प० ।

अट्ठावीस-अष्टाविंशति-स्त्री० । अष्टाऽधिका विंशतिः । अष्ट च विंशतिश्चाऽष्टाविंशतिः । ' अट्ठावीस ' अष्टाधिकविंशतिसंख्यायाम्, "तिण्णि य कोसे अट्ठावीसं धणुसयं" जं० १ वक्ष० ।

अट्ठाह-अष्टाह-न० । अष्टानामह्नां समाहारे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

अट्ठाहिया-अष्टाह्निका-स्त्री० । अष्टानामह्नां समाहारोऽष्टाहम्, तदस्ति यस्यां महिमायां साऽष्टाह्निका । महिमामात्रे, व्युत्पत्तेः प्रदर्शनमात्रफलत्वेन महिमामात्रस्यैव प्रवृत्तिनिमित्तत्वात् । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । पर्युषणस्य च । "अट्ठाहिया य महिमा, सम्मं अणुबंधसाहिगा केइ" पञ्चा० ८ विव० । आ० म० प्र० । (अष्टाह्निकाया रथयात्रायाः स्वरूपम् 'अणुजाण' शब्दे वक्ष्यते)

अट्ठि-अस्थि-न० । अस्यते । अस-क्थिन् । "ष्ठोऽस्थिविसंस्थुले" ॥ ८ । २ । ३२ ॥ इति संयुक्तस्य थस्य ठः । प्रा० । कीकशे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । औ० । कुलके, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० । फलस्य मध्यभागे, नं० । स्था० । मास्थिके, सरजस्के कापालिके, "अट्टी विज्ञा कुच्चियगामिकत्" सू० १ उ० ।

अट्ठि (न्)-अर्थिन्-त्रि० । अर्थोऽस्याऽस्तीत्यर्थी । प्रयोजनवति, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अट्ठिअगाम-अस्थिकग्राम-पुं० । स्वनामख्याते ग्रामभेदे, तत्र वीरजिनः समवसरत् । तदेतदर्थमुक्तम्—

'अस्थिकग्राम' इत्याख्या, कथं जातेति कथ्यते ।
ग्रामोऽयं वर्धमानोऽस्ति, वेगवत्यत्र नद्यभूत् ॥ १२ ॥
सार्थाधिपस्य धनदेवस्य-समसां पञ्चभिः शतैः ।
धनदेवो वणिक् तत्र-यानः प्रेरय महानदीम् ॥ १३ ॥
मार्गेऽत्रैव गर्वेषु, भ्रमन् निर्गत्य भवः ।
ततो श्रीदत्तस्वस्तो-ऽग्रे नदीमुत्तारयन् ॥ १४ ॥
अतिभारस्य कर्षणेन, सोऽवान्तः मूर्छितो वृषः ।
तस्य छायां विधायाथ, ग्राम्यानाकार्य तत्पुरः ॥ १५ ॥
चारिचारिकृते तस्य, तेषां द्रविणमार्पयन् ।
पाल्योऽयमिति चोक्त्वा तान्, सार्थवाहो स वणिग् ययौ ॥ १६ ॥
ग्राम्या विभज्य तद् द्रव्यं, सर्वे जगृहिरे स्वयम् ।
तस्यासौ निर्दयो ग्राम-श्चारिं वारि न कोऽप्यदात् ॥ १७ ॥
आस्तां किंचित्करिष्यन्ति, दयया मे प्रतिक्रियाम् ।
मत्स्वामिदत्तद्रव्येणा-प्येते किंचिन्न कुर्वते ॥ १८ ॥
ततः प्रद्वेषमापन्न-स्तद्ग्रामोपरि सत्वरः ।
सोऽकामनिर्जरायोगात्, क्षुत्तृषाबाधितो मृतः ॥ १९ ॥
यक्षोऽभूत् शूलपाण्याख्यो, ग्रामेऽत्रैव पुरे वने ।
उपयुक्तोऽथ सोऽज्ञासीत्, तद्वपुः स्वं ददर्श च ॥ २० ॥
मारिं तद्ग्रामलोकस्य, स विचक्रे ततः क्रुधा ।
तल्लोको मर्तुमारेभे-ऽभूवंस्तैरस्थिसंचयाः ॥ २१ ॥
कारितैरपि रक्षाद्यै-र्मारिर्नोपशशाम सा ।
ग्रामान्तरेष्वगुर्लोकाः, स तांस्तत्राप्यमारयत् ॥ २२ ॥
अचिन्तयंस्ते तत्रस्थैः, कोऽप्यस्माभिर्विराधितः ।
यामस्तत्रैव तद्ग्रामे, तत्प्रसादनहेतवे ॥ २३ ॥
अथागतास्तदर्थं ते, प्रचक्रुर्विपुलां बलिम् ।
समन्ततः क्षिपन्तोऽथ, ग्रामस्यान्तर्धुखमुखाः ॥ २४ ॥
देवो वा दानवो वाऽपि, यः कश्चित्कुपितोऽस्ति नः ।
शरणं नः स एवास्तु, क्षाम्यत्वागः प्रसीदतु ॥ २५ ॥
यक्षोऽन्तरिक्षे सोऽवादीत्, क्षामणां कुरुताधुना ।
वणिग्दत्तधनेनापि, तदा मोतं तृणादिकं ॥ २६ ॥
बलीवर्दः स मृत्वाऽहं, शूलपाणिः सुरोऽभवम् ।
तेन वैरेण वः सर्वान्, मारयामि ततोऽधुना ॥ २७ ॥
तेऽथ तं भक्तिनम्राङ्गाः, दैन्यात् प्रजल्पयन्ददः ।
कृतोऽस्माभिरयं मन्तु-, शान्त्यै कर्तव्यमादिश ॥ २८ ॥
तद्दैन्यात् सोऽपि शान्तस्ता-नूचे मन्मारितास्थिभिः ।
कृत्वा कूटं तदुपरि, कुरुतायतनं मम ॥ २९ ॥
मध्ये विधाय मे मूर्त्तिं, बलीवर्दस्य चैकतः ।
पूजयेयुर्नमस्येयु-स्ततो मारिः शमिष्यति ॥ ३० ॥
तथैव विदधुस्ते च, मारिश्चापि न्यवर्तत ।
इन्द्रशर्मा भृतिं दत्त्वा, प्राग्यैस्तस्यार्चकः कृतः ॥ ३१ ॥
योऽस्थ्यास्थिकूटं ददृशे-रस्थिग्राम इतीरितः ।
' अस्थिकग्राम ' इत्याख्या ग्रामस्यास्य तदाऽभूत ॥ ३२ ॥

आ० क० । कल्प० । आ० चू० । आ० म० द्वि० । स्था० ।

अट्ठिकच्छभ-अस्थिकच्छप-पुं० । अस्थिबहुले कच्छपभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

अट्ठिकठिण-अस्थिकठिन-त्रि० । अस्थिभिः कठिनम् । कीशरवृक्षनि, तं० ।

कठिनास्थिक-त्रि० । कठिनानि अस्थिकानि यत्र तत्तथा अमृद्वीकशके, " अट्ठियकठिणे सिरण्हारुबंधणे " तं० ।

अट्ठिग-अस्थिक-न० । हड्डके, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । कापालिके, पुं० । स्था० २ उ० । अबद्धास्थिके अनिष्पन्ने फले, न० । सू० १ श्रु० ।

अ (अ) ट्ठिक-न० । अर्थ्यते इत्यर्थो मोक्षः, स प्रयोजनमस्येत्यार्थिकम् "तदस्य प्रयोजनम्" इति ठक् । अथवाऽर्थ एव प्रयोजनमर्थोऽस्यास्तीति आर्थिकम् "अत इनिठनौ" ५।२।११५ । इति ठन् । दश० १ अ० । मोक्षोपायके, " धम्मा अ-

प्रारम्भेति, जिनपतिं अट्ठिंयं सुय " उत्त० १ अ० । अभिप्रायविधि,
सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ३ उ० ।

अट्ठि(य) (ग) कट्टिय–अस्थिककाष्ठोद्गिन–त्रि० । अस्थि कष्ठेषु कष्ठानि, कर्मेन्धनायस्थानि, तेभ्यो ऽप्युत्थितं तथा । कर्मेन्धन दग्धुं अस्मि समुत्थितो देहे, प्र० ६ श० ३३ उ० ।

अट्ठियपरिसपरिगा–अस्थिपर्यन्तपरिगता–स्त्री० । अस्थीनि च अर्थं च मिञ्जा च तस्यां विधाने यस्य स तथा, तद्भावस्तत्ता । अस्थिचर्ममिञ्जामात्रशरीरे, (धर्मानुरागरक्त) "अट्ठिमिंज-पेमाणुरागरत्ते" इत्यादौ स्वं प्रवचनमनुरागं अस्थिषु मिञ्जा तस्य प्रभावेन मज्जा पादार्थेनाविति, न पुनर्मायोपचारेण, यथा: बौद्धाद्यादिनि । कल्पु० ६ पत्र० ।

अट्ठिमिंजपेमाणुरागरत्त–अस्थिमज्जाप्रेमानुरागरक्त–त्रि० । अस्थीनि चामीषु ... "अट्ठिमिंजपेमाणुरागरत्ते" इत्यादि ... धर्मानुरागरक्त पावि ध्येया " भ० ७ श० १ उ० ।

अट्ठिजुद्ध–अस्थियुद्ध–न० । अस्थिप्रतिघातनयोऽस्थिभिः संग्राम, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अट्ठिज्झाण–अस्थिध्यान–न० । अस्थि च तद् ध्यानं चामिना ध्यानमिहत्वम् । आर्तादिध्यानध्यायिनि, भ० ४ श० ७ उ० ।

अट्ठिदामग–अस्थिदामक–न० । दृढमालादाम, न० ।

अट्ठिपविष्ठसंमाणसंमय–अस्थिपविष्टसम्मानसम्मत–त्रि० । अस्थिमध्य सम्मानेन सम्यक्त्वं सम्मतं स्थापयति धर्मानुरागरक्तत्वाद् अस्थिमज्जावत् अवस्थितं । "अट्ठिमिंजपेमाणुरागरत्ते" न० ।

अट्ठिलेसण–अस्थिसजन–न० । अस्थिशल्पकहृदयस्य ... प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अट्ठिमिंजा–अस्थिमिञ्जा–स्त्री० । अस्थिमध्यगते, स्था० ३ ठा० ४ उ० । सं० ।

अट्ठिमिंजाणुसारि (ण्)–अस्थिमिञ्जानुसारिन्–त्रि० । अस्थिमिञ्जापर्यन्तानुगामिनि, स्था० ६ ठा० ।

अट्ठिमिंजापेमाणुरागरत्त–अस्थिमिञ्जाप्रेमानुरागरक्त–त्रि० । अस्थीनि च कीकसानि मिञ्जा च तन्मध्यवर्तिधातुरस्थिमिञ्जा ताः प्रेमानुरागेण सार्वज्ञप्रवचनप्रीतिरूपकुसुम्भादिरागेण रक्ता इव रक्ता येषां ते तथा । अथवा अस्थिमिञ्जासु जिनशासनगतप्रेमानुरागेण रक्ता ये ते तथा । भ० २ श० ५ उ० । सम्यक्त्वपर्यायिणा ... सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । "अयमाउसो ! णिग्गंथे पावयणे अट्ठे अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे" इत्येवमुक्तेन सम्यक्त्वेषु, ज्ञा० ५ अ० । दशा० । दर्श० । ना० ।

अट्ठिय–अस्थिक–त्रि० । पाक्षिके, उत्त० १ अ० ।

अट्ठियप्प–अस्थित–त्रि० । अनवस्थिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अट्ठियकप्प–अस्थितकल्प–पुं० । क० स० । अनवस्थितसमाचार, पञ्चा० ।

अस्थितकल्पाभिधानायाह-

सेसेसु अट्ठिओ उ कप्पो, एसो मज्झिमजिणाण विण्णेओ ।
... मयपनवणिओ, अणिच्चधम्मसरूवो त्ति ॥ ७ ॥

... शेषेषु वक्ष्यमाणकेषु पदेषु, अस्थितस्तु अनवस्थितः पुनः समाचारः, (एसो त्ति) एतेभ्य एव दशभ्यः पदेभ्यो, मध्यमानां मध्यमजिनानां, तत्साधूनामित्यर्थः, विज्ञेयो ज्ञातव्यः । अस्थितो ऽयमित्याह–नो नैव, सततसंयमनीयः सदा दशस्थानकापेक्षया । एतदपि कुत इत्याह–अनित्यमर्यादोऽनियतत्वव्यवस्थास्वभाव इति कृत्वा । ते हि दशानामपि मध्यात् कानिचित् स्थानानि कदाचिदेव पालयन्ति, भाव इति गाथार्थः ॥ ७ ॥

पदस्याव्यवस्थितः कल्प इत्युक्तमथ तानि दर्शयन्नाह–

आचेलकुद्देसिय-पडिक्कमणरायपिंडमासेसु ।
पज्जुसणाकप्पम्मि य, अट्ठियकप्पो मुणेयव्वो ॥ ८ ॥

आचेलक्योद्देशिकप्रतिक्रमणराजपिण्डमासेषु प्रतीतेषु चि... पर्युषणाकल्पे च वर्षाकालसमाचारे, चः समुच्चये, अस्थितकल्पोऽनिर्दिष्टार्थो (मुणेयव्वो त्ति) ज्ञातव्य इति गाथार्थः ॥ ८ ॥

एतामपि शेषपदापेक्षया स्थितकल्प एवेति दर्शयन्नाह–

सेसेसु ठियकप्पो, मज्झिमगाणं पि होइ विण्णेओ ।
चउसु ठिता छसु अठिता, एत्तो च्चिय भणियमेयं तु ॥ ९ ॥

शेषेषु तु प्रागुक्तेभ्यः षड्भ्योऽन्येषु पुनः शय्यातरपिण्डादिषु, स्थितकल्प इत्यर्थः, मध्यमकानामपि द्वाविंशतिजिनसाधूनामपि न केवलमाद्यचरमाणां, भवति स्यात्, विज्ञेयो ज्ञातव्यः । उक्तमेवार्थमागमेन समर्थयन्नाह-चतुर्षु स्थानकेषु शय्यातरपिण्डादिषु, स्थिताः परिहारादितोऽवस्थिताः, षट्सु आचेलक्यादिषु अस्थिता अनवस्थिताः कादाचित्कपरिहारादितो मध्यमजिनसाधवः, अत एव पूर्वोक्तार्थवशादेव, भणितमुक्तमागमे, एतत् इदम्, अनन्तरोक्तम् । तुशब्दः पूरणे, इति गाथार्थः ॥ ९ ॥

शेषेषु स्थितः कल्प इत्युक्तमथैतदेव स्पष्टयन्नाह-

सिज्जायरपिंडम्मि य, चाउज्जामे य पुरिसजेट्ठे य ।
कितिकम्मस्स य करणे, ठियकप्पो मज्झिमाणं पि ॥ १० ॥

शय्यातरपिण्डे च प्रसिद्धे, तथा चतुर्णां परिग्रहविरत्यन्तर्गततयाऽब्रह्मविरत्येन चतुःसंख्यानां यामानां व्रतानां समाहारश्चतुर्यामम्, तत्र च, पुरुष एव ज्येष्ठः पुरुषज्येष्ठस्तत्र च, कृतिकर्मणश्च वन्दनकस्य, चशब्दाः समुच्चयार्थाः । करणे विधाने, स्थितकल्पः प्रतीतः, मध्यमानामपि द्वाविंशतिजिनसाधूनामपि न केवलमाद्यचरमाणामिति गाथार्थः ॥ १० ॥ पंचा० १७ विव० । पं० भा० । पं० चू० । ('अचेल' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८८ पृष्ठे अस्थितकल्पो व्यक्तविस्तरः)

. . . "अहुणा वोच्छामि अट्ठितं कप्पं ।
संखेवपिंडियत्थं, जह जणियमणंतणाणीहिं ॥
वत्थे पाए गहणे, उक्कोसजहण्णगम्मि ञतिओ तु ।
ठियमट्ठिते विसेसो, परूविता सत्त कप्पम्मि ॥
वत्थाणि य पाताणि य, मज्झिमतित्थंकराण कप्पम्मि ।
वत्थप्पमाण वेगे, अट्ठियकप्पो समक्खाओ ॥
मोल्लगरूवं पि वत्थं, अट्ठारसपभतं रूवगजहण्णं ।
एत्तो य सतसहस्सं, उक्कोसमोल्लं तु णायव्वं ॥
जहण्णग अट्ठारसगं, वत्थं पुण साहुणो अणुण्णातं ।
एत्तो अतिरित्तं पुण, णाणुण्णातं ॥
जिणथेराणं कप्पं, अहुणा

[illegible] मणुस्सु ॥
[illegible] अडिए चेव ।
[illegible] एवे ॥
[illegible] पवरि वक्खामि ।
[illegible] वोच्छं ॥
[illegible] अक्खफलगढेणं ।
[illegible] य तेसिं ॥
[illegible] पतोमना उ गलेत ।
[illegible] होति ॥
[illegible]

[illegible]

नागरणं परमपयत्तेणं मयमाणो, पदमे संदरमाणे [illegible] परहिया कंदमूलरहिए गेण्हइ, अंतरंतो पुण [illegible] कंदमूलसहिए वा गेण्हइ, किं कारणं?, [illegible] होज्जा, तम्माणो सुहं गेण्हेज्ज, [illegible] 'मत्त दुय तिणि पिंडेसणपाणेसणाओ' [illegible] दोसा। 'अणेगट्ठाणे त्ति' [illegible] नाम [illegible] तं गेण्हेज्जा [illegible] भणिते नामकारणे [illegible] पं०चू०। (अस्थिकल्पप्रसङ्गात् [illegible])

अट्ठियप्प (ए) अस्थितात्मन्–त्रि०। [illegible] "अट्ठियप्पा भविस्ससि" [illegible]

अट्ठिसरक्खल–अस्थिसरजस्क–पुं० कापालिके, [illegible]

अट्ठिसुहा–अस्थिसुखा–स्त्री० अस्थ्नां सुखहेतुः [illegible] औ०। अस्थ्नां सुखकारिण्यां संवाहनायाम्, कल्प०।

अट्ठुत्तर–अष्टोत्तर–त्रि०। ६ ब०। अष्टाभिरधिके, "अट्ठुत्तरसय [illegible] पीहराणं बलयति" अष्टोत्तरं शतगाथं [illegible] दिशाति इमेति। औ०।

अट्ठुत्तरसयकूड–अष्टोत्तरशतकूट–पुं० [illegible] नाममाणकूटानाम्। ती० १ कल्प०।

अट्ठुत्तरिया–अष्टोत्तरिका–स्त्री० [illegible] अष्टौ [illegible] इति [illegible]

अट्ठुस्साण–अष्टोत्सान–पुं० [illegible] "अट्ठुस्सान [illegible]" [illegible]

अट्ठुवेल–अष्टोपेत–त्रि० [illegible]

अड–अट–धा० गतौ। [illegible]
'अडति भिक्खाइ' प्रश्न० १ आश्र० [illegible]

अड–पुं० [illegible]

अड–पुं० [illegible] "[illegible]"

[illegible]

अडण–अटन–न०। चरणे, गमने च। स्था० ६ ठा०। श्राम०। ध०।

अडणी–देशी–मार्गे, दे० ना० १ वर्ग।

अडपल्लाण–देशी–न०। लाटेषु स्वनामप्रसिद्धेऽन्यत्र थिल्लिरिति ख्याते वाहनभेदे, जी० ३ प्रति०।

अडमाण–अटत्–त्रि०। गच्छति, "अणाढ्ढो संवच्छरमणांसि अडमाणे" आ० म० प्र०।

अडया–देशी–असत्याम्, दे० ना० १ वर्ग।

अडयणा–देशी–असत्याम्, दे० ना० १ वर्ग।

अडयाल–अष्ट (ष्टा) चत्वारिंशत्–त्रि०। अष्ट च चत्वारिंशच्च, अष्टाधिका वा चत्वारिंशत्। (अडतालिस) द्व्यूनपञ्चाशति, आव०।

अडयाल–देशी–प्रशंसायाम्, प्रज्ञा० २ पद। जं०। स०। जी०। प्रश्न०।

अडयालकयवणमाल–अष्ट (ष्टा) चत्वारिंशत्कृतवनमाल–त्रि०। अष्टचत्वारिंशद्भेदभिन्ना विच्छित्तयः कृता वनमाला येषु तानि अष्टचत्वारिंशत्कृतवनमालानि। अष्टचत्वारिंशद्विधविच्छेदवद्वनमालायुतेषु, जी० ३ प्रति०।

अडयालकृतवनमाल–देशी–'अडयाल' शब्दो देशीवचनत्वात् प्रशंसावाचीत्यनुपदमेव निरूपितम्। तेन कृता वनमाला येषु तानि। प्रशस्तकृतवनमालेषु, जी० ३ प्रति०। प्रज्ञा०।

अडयालकोट्ठगरइय–अष्टचत्वारिंशत्कोष्ठकरचित–त्रि०। अष्टचत्वारिंशद्भेदभिन्नविच्छित्तिकलिताः कोष्ठका अपवरका रचिताः स्वयमेव रचनां प्राप्ता येषु तानि अष्टचत्वारिंशत्कोष्ठकरचितानि। सुखादिगणे दर्शनात् पाक्षिको निष्ठान्तस्य परनिपातः। "अडयाल" शब्दो देशीवचनत्वात् प्रशंसावाची वा। प्रज्ञा० २ पद। अष्टचत्वारिंशद्भेदाभिन्नविचित्रच्छन्दोगोपुररचितेषु, "अडयालकोट्ठरइया अडयालकयवणमाला" स०। जं०। जी०।

अडवि–अटवि (वी)–स्त्री०। अटन्ति मृगयार्थिनो यत्र। अट्–अवि, वा ङीप्। कान्तारे. स्था० ४ ठा० २ उ०। अरण्ये, तं०।

तद्भेदाः सव्याख्याकाः–

" अडविं सपच्चवायं, वोलेउं देसिओवएसेणं।
पाविंति जहिट्ठपुरं, भवाडविं पि तहा जीवा ॥ १ ॥
पाविंति निव्वुइपुरं, जिणोवइट्ठेण चेव मग्गेणं।
अडवीइ देसियत्तं, एवं नेअं जिणिंदाणं" ॥ २ ॥

महाटवी द्विधा–द्रव्याटवी, भावाटवी च। तयोः कथा—

इहास्ति हास्तिकाश्वीय-रथपादातिसंकुलम्।
वसन्तपुरमुर्वीस्थ-मन्यथाःकारि यद्दिवः ॥ १ ॥
सार्थवाहो धनस्तत्र, गन्तुं देशान्तरं प्रति।
प्रष्ठितः कारयामास, घोषणां पुरि सर्वतः ॥ २ ॥
यः कोऽप्यस्ति यियासुः स, सर्वोऽप्येतु मया सह।
मिलितानां च सर्वेषा–माख्यन्मार्गगुणागुणान् ॥ ३ ॥
तत्रैकः सरलोऽध्वाऽन्यो, वक्रोऽस्ति गम्यते।
मनाक् सुखेन किं त्विष्ट-पुरावाप्तिश्चिरादयम् ॥ ४ ॥
यः पुनः सरलः पन्था, अन्ते मिलति सोऽपि च।
गम्यते सत्वरं तेन, कष्टेन महता परम् ॥ ५ ॥
तत्रादिमोऽपि मार्गे स्तः, सिंहव्याघ्रौ विनीपरौ।
भीतानां स्वनमार्गाणां, तावनर्थाय नान्यथा ॥ ६ ॥
दृष्टपूर्वदर्शनं यावत्, तावत्तौ चानुधावतः।
तत्रैके तरवः सन्ति, पत्रपुष्पफलाकुलाः ॥ ७ ॥
तच्छायास्वपि विश्रान्ति–र्न कार्या मृत्यवे हि ताः।
ये जीर्णशीर्णपर्णाढ्याः, स्थेयमीषत्तदाश्रये ॥ ८ ॥
मनोज्ञरूपलावण्या, मनोहरगिरो नराः।
भूयांसो मार्गपार्श्वस्था–स्तत्राऽऽह्वयन्ति धत्मगाः ॥ ९ ॥
श्रव्यं न तद्वचो मोच्या, न सच्छिद्रा कदाचन।
दावाग्निः प्रज्वलन् मार्गे, विध्याप्यः सततोद्यतैः ॥ १० ॥
अविध्यातः पुनः सर्वं, नियमाद्विदहत्यमी।
अग्रेऽतिदुर्गः शैलोऽस्ति, सोपयोगैः स लङ्घ्यते ॥ ११ ॥
अन्यथा लङ्घने तु स्यात्, स्खलनाद्यैर्मृतिः क्वचित्।
पुरस्तादस्ति शुषिल–गह्वरा वंशजालिका ॥ १२ ॥
सा विलङ्घ्या झगित्येव, तत्रस्थानां महापदः।
अल्पीयानस्ति गर्तोऽग्रे, सर्वदा तत्समीपगः ॥ १३ ॥
द्विजो मनोरथाभिख्यो, वक्त्येन पूरयेति सः।
वचस्तस्यावमन्तव्यं, पूर्यः स्तोकोऽपि नैव सः ॥ १४ ॥
वर्द्धते पूर्यमाणः स, स्वनितैः खन्यमानवत्।
तथा पञ्चप्रकाराणि, स्निग्धमुग्धानि वर्णतः ॥ १५ ॥
न प्रेक्ष्याणि न भक्ष्याणि, किंपाकानां फलानि च।
द्वाविंशतिः करालास्तु, वेतालाः विड्यन्ति च ॥ १६ ॥
न गण्यास्ते तथाऽऽहारा, आहारास्तत्र दुर्लभाः।
द्वौ यामौ निश्यपि स्वापः, सर्वदाऽपि प्रयाणकम् ॥ १७ ॥
गच्छद्भिरेवमश्रान्त–मटवी लङ्घ्यते लघु।
प्राप्यते पुरमिष्टं च, तत्र वाऽऽसाद्यते सुखम् ॥ १८ ॥
तत्र केचित् समं तेन, प्रवृत्ताः सरलाध्वना।
अन्तरेण पुनः केचित्, स प्रशस्तेऽह्नि निर्ययौ ॥ १९ ॥
पृष्ठानुगामिलोकानां, शिलादौ वर्त्म वेदितुम्।
गतागताध्वमानं च, लिखन् वर्णान् जगाम सः ॥ २० ॥
तन्निर्देशकृतो येऽत्र, लिखितानुसृताश्च ये।
ते सर्वेऽपि समं तेन, संप्राप्ताः पुरमीप्सितम् ॥ २१ ॥
निषिद्धकारिणो ये च, प्राप्ता प्राप्स्यन्ति वा न ते।
जिनेन्द्रः सार्थवाहोऽत्र, घोषणा धर्मदेशना ॥ २२ ॥
पान्थाः संसारिणो जीवा, भवो भावाटवी पुनः।
ऋजुमार्गः साधुधर्मो, गृहिधर्मस्ततोऽपरः।
सिंहव्याघ्रौ रागद्वेषौ, वामनार्थानुगामिनौ ॥ २३ ॥
वराश्चः स्त्र्यादिसंसक्ताः, सद्वृक्षच्छायया समाः।
जगद्रूहोपमानास्तु, निरयद्याः प्रतिश्रयाः ॥ २४ ॥
पार्श्वस्थाद्याः पुनः पार्श्वे–स्थाह्वातृपुरुषोपमाः।
ज्वलद्दावानलः क्रोधो, मानो दुर्गमहीधरः ॥ २५ ॥
वंशजालिः पुनर्माया, लोभो गर्तस्तु दुर्भरः।
फलप्रायाश्च विषया, वेतालास्तु परीषहाः ॥ २६ ॥
दुर्लभं चैषणीयान्नं, ध्यानं द्वौ प्रहरौ निशि।
प्रयाणे नूद्यमो नित्यं, मोक्षश्चेप्सितपत्तनम् ॥ २७ ॥
शिलादौ वर्णलिखनं, सिद्धान्तग्रन्थनिर्मितिः।
पश्चाज्जातमुनीन्द्राणां, गतागम्याध्ववित्तये ॥ २८ ॥
इष्टं प्राप्तिमाहात्म्या–श्रयने सार्थपो यथा।
एवं मोक्षपुराप्त्यु–पकारी मतः जिनः ॥ २९ ॥ दर्श० ४०।

अडविजम्मण–अटविजन्मन्–न०। कान्ताराजन्मरूपे दुःखे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा०।

अडविदेसदुग्गवासि(ण्)-अटविदेशदुर्गवासिन्-पुं०। अटवीदेशे जलस्थलदुर्गकेषु दुर्गेषु वसति चौरादौ, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा०।

अडवि (वी) वास-अटवि (वी) वास-पुं०। अरण्यवसने, " उग्गिमाइएग्गया असरणा अडवीवासं उवेंति " प्रश्न० ३ आश्र० द्वा०।

अडसट्ठि-अष्ट (ष्टा) षष्टि-स्त्री०। अष्ट च षष्टिश्च, अष्टाधिका वा षष्टिः। (अडसठ) अष्टाधिकषष्टिसंख्यायाम्, " विमलस्स णं अरहओ अडसट्ठिं समणसाहस्सीओ" स०६८ सम०।

अडाडा-देशी-बलात्कारे, दे० ना० १ वर्ग।

अडिल्ल-अटिल-पुं०। चर्मपक्षिभेदे, प्रज्ञा० १ पद। जी०।

अडी-देशी-कूपे, दे० ना० १ वर्ग।

अडोलिका-अडोलिका-स्त्री०। यवनाम्नो राज्ञः पुत्र्यां गर्दभराजस्य भगिन्याम्, बृ० १ उ०।

अडुक्ख-क्षिप-धा० प्रेरणे, तुदा०, उभ०, सक०, अनिट् "क्षिपेर्गलत्थाड्डक्ख"०॥ ८। ४। १४३॥ इति सूत्रेण अड्डक्खादेशः। अड्डक्खइ, क्षिपति। प्रा०।

अड्डिया-अड्डिका-स्त्री०। उपदेशमात्ररूपे शास्त्रानिबद्धे मल्लानां करणविशेषे, विशे०। आ० म०।

अड्ढ-अर्ध-न०। अर्ध-यत्। "श्रद्धर्द्धिमूर्धार्धेऽन्ते वा" ॥ ८। २। ४१॥ इति सूत्रेण संयुक्तस्य वा ढः। प्रा०।

आढ्य-त्रि०। आ+ध्यै-क पृषो०। युक्ते, विशिष्टे च। वाच०। अत्यन्तं परिपूर्णे, नि०। औ०। धनधान्यादिभिः परिपूर्णे, भ० २ श० ५ उ०। समृद्धे, प्र० ए श० ३३ उ०। स्था०। धनपति, स्था० ए ठा०। महति च। संथा०।

अड्ढअक्खरी-देशी-कट्यां हस्त (पाणि) निवेशे, दे०ना०१ वर्ग।

अड्ढखेत्त-अर्धक्षेत्र-न०। अहोरात्रप्रमितस्य क्षेत्रस्य अर्धेन सह योगमनुयान्तु नक्षत्रेषु, चं०प्र०। अर्धक्षेत्राणि नक्षत्राणि षट्। शतभिषग् भरणी आर्द्रा, उत्तराफाल्गुनी, अश्लेषा स्वाती, ज्येष्ठा, रोहिणी, पुनर्वसु, विशाखा चेति। चं०प्र० १० पाहु०।

अड्ढग-आढ्यक-त्रि०। युक्ते, परिपूर्णे च। पंचा०१२ विव०। "संजमजहणस्स उ, अविधोणेते तदट्ठाए" आ० म० द्वि०।

अड्ढजाम-अर्धयाम-पुं०। अर्धं यामः, अस्य समा०। निशीथे, "अड्ढजामे आगओ दार समाइ" आ० म० द्वि०।

अड्ढाइज्ज-अर्धतृतीय-त्रि०। त० स०। अर्धं तृतीयं येषां तेऽर्धतृतीयाः। बहुव्रीहिः समासः, समुदायः समासार्थः। (अढाई) सार्धद्वये, ठ० २ उ० । प्रज्ञा०। " अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु " भ०। स०। आ० म०।

अड्ढाइज्जदीव-अर्धतृतीयद्वीप-पुं०। अर्धं तृतीयं येषां तेऽर्धतृतीयाः, ते च ते द्वीपाश्च अर्धतृतीयद्वीपाः। अर्धतृतीयद्वीपाः ... अर्धतृतीयेषु द्वीपेषु, भ० ९ श० ३ उ०।

अड्ढाइज्जदीवसमुद्दसमाण-अर्धतृतीयद्वीपसमुद्रसमान- ... [illegible] ... भ० ... उ०।

अड्ढाइ ... [illegible]

पदस्य एकदेशस्य वा एकादिपदात्मकस्थापकमणसंख्यं, के पदस्य तु द्व्यादिपदसंघातकपदस्यैकदेशस्योद्धृ समर्थं यत्रां ... नायां सा समयपरिभाषयाऽर्धापक्रान्तिरुच्यते। इत्युक्तविधेः स्यां तपोरचनायाम्, विशे०।

अड्ढेज्ज-आढ्यत्व-न०। धनपतित्वे, तस्य सुखकारणत्वात् सुखभेदे च। स्था० १० ठा०।

आढ्येज्या-स्त्री०। आढ्यैः क्रियमाणा इज्या पूजा प्र०लोप्य, कृतत्वात् 'अड्ढेज्जं' ति। धनिकृतसत्कारे, स्था० १० ठा०।

अड्ढोरुग-अर्धोरुक-पुं०। अर्धं ऊरुकात् विभजन्तीति निरुक्तात् अर्धोरुकः साध्वीनामौपग्रहिकोपधिविशेषः, ध० ३ अधि० "अड्ढोरुगो उ दोविहि वि गिहिउ छायए कडीभागं " अर्धोरुकोऽपि तौ द्वावपि अवग्रहानन्तकपट्टावुपरिष्टाद् गृहीत्वा सर्वं कटीभागमासादयति। स च मल्लचलनाकृतिः केवलमुपरि ऊर्वो च कशावद्धः। बृ० ३ उ०। नि० चू०। पं० व०।

अण-अव्य०। नञर्थे, "अण णाई नञर्थे"। ८। २। १९०। नञर्थे प्रयोक्तव्यौ। "अण चिंतियमणुवंति" प्रा०।

अण-अण-न०। कुत्सिते, कुत्सितत्वाद्यणन्ति कुत्सितानि ... णानि शब्दयन्ति; अणन्त्यनेनेति व्युत्पत्तेः। पापे, विशे० आ० म०। अण वदतीति दण्डकधातुः। अणन्ति गच्छन्ति तासु तासु ये नितु जीवोऽनेनेति। पापे, आ० म० द्वि०। भ०। शब्दकरणा द्यादिप्रदाने, तं०। अणत्यनेन जन्तुश्चतुर्गतिकं संसारमित्यवर्थं कर्मणि, आचा०१ श्रु०२ अ०१ उ०। शब्दे, गतौ च। स्थि०। अण रणेत्यादि दण्डकधातुः। अणन्तीवाप्रविकलहेतुत्वेनासातवेदं नरकाद्यायुष्कं शब्दयन्तीत्यणाः। क्रोधादिषु चतुर्षु कषायेषु, विशे०।

अन-न०। एकदेशेन समुदायस्य गम्यमानत्वादनन्तानुबन्धिषु क्रोधादिषु चतुर्षु कषायेषु, विशे०। "अण दंस नपुंसित्थीवेदं ... डक्कं च पुरिसवेयं च " विशे०। आ० म० प्र०।

अनस्-न०। शकटे, अन इव अनःशरीरं, तस्यान्तरात्मसारथिना प्रवर्तनीयत्वात्। जै० गा०।

ऋण-न०। व्यवहारकदेयद्रव्ये, झा० १ श्रु० १८ अ०। अन्यद्वारे कर्मणि, उत्त० १ अ०। वाच०।

अणइ-अनति-अव्य०। अनतीति अत्ययमतिक्रमार्थे, न अति अनति। अनतिक्रान्ते, तं०।

अणइक्कमणिज्ज-अनतिक्रमणीय-त्रि०। त्वनतिक्रमार्हे ... "अणइक्कमणिज्जाई वागरणाई " भ० १५ श० १ उ०।

अणइप्पगम-अनतिप्रकट-त्रि०। अनतिप्रकाशे, ध० १ अधि०।

अणइवत्तिय-अनतिपात्य-अव्य०। अनतिपात्यर्थे, "अणइवत्तिय सव्वेसिं पाणाणं " आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

अणइवर-अनतिवर-न०। प्रधाने, न विद्यतेऽतिवरं यस्मात् तदनतिवरम्। सर्वश्रेष्ठे, औ०।

अणइवरसोमचारुरूव-अनतिवरसौम्यचारुरूप-त्रि०। ... अतिशयेन वरं सौम्यं ... येषां ते तथा। ... न अति ... सौम्यवाह, सौम्यवाह ... [illegible]

रूपचारुरूपं च वरसौम्यचारुरूपम् । अनतीति अनतिक्रान्तं वरसौम्यचारुरूपं येषां ते अनतिवरसौम्यचारुरूपाः । देवमनुष्यादिभिः रूपलावण्यगुणादिभिरजितरूपेषु, तं० । "तेणं मणुया अणइवरसोमचारुरूवा भोगुत्तमा" तं० औ० ।

अणइवाएमाण–अनतिपातयत्–त्रि० । प्राणातिपातमकुर्वति, "अणवकंखमाणा अणइवाएमाणा" आचा०१श्रु०८अ०३उ० ।

अणइविलंबियत्त–अनतिविलम्बितत्व–न० । सत्यवचनातिशये, रा० ।

अणइसंधाण–अनतिसन्धान–न० । न अतिसन्धानमनतिसन्धानम् । दर्श० । अवञ्चने, "मिउगा ऽणइसंधाणं सासयबुद्धी य जयणा य" पञ्चा० ७ विव० ।

अणं–देशी–ऋणे, दे० ना० १ वर्ग ।

अणंग–अनङ्ग–न० । नास्ति अङ्गमाकारो यस्य । आकाशे, चित्ते च । वाच० । अङ्गानि मैथुनापेक्षया योनिर्मेहनं च, तद् व्यतिरिक्तान्यनङ्गानि । कुचकक्षोरुवदनादिषु, पञ्चा० १ विव० । आहार्ये लिङ्गादौ, स्था० ४ ठा० २ उ० । मोहोदयोद्भूततीव्रमैथुनाध्यवसायाख्ये कामे, आव० ६ अ० । स च पुंसः स्त्रीपुंनपुंसकसेवनेच्छा, हस्तकर्मादीच्छा वा, वेदोदयात् । तथा स्त्रियोऽपि पुरुषनपुंसकस्त्रीसेवनेच्छा, हस्तकर्मादीच्छा वा । नपुंसकस्यापि नपुंसकपुरुषस्त्रीसेवनेच्छा, हस्तकर्मादीच्छा वा । प्रव०६द्वा० । ध० । कामदेवे, पुं० । एका० कोश । आनन्दपुरे नगरे जितारिराजस्य विभ्रमवत्यां भार्यायां जाते पुत्रे, ग० २ अधि० । वृ० ।

अणंगकिड्डा (क्रीडा) –अनङ्गक्रीडा–स्त्री० । अनङ्गानि कुचकक्षोरुवदनादीनि तेषु क्रीडनमनङ्गक्रीडा । योनिमेहनयोरन्यत्र रमणे, पञ्चा० ३ विव० । आव० । अनङ्गो मोहोदयोद्भूततीव्रो मैथुनाध्यवसायाख्यः कामो भण्यते, तेन तस्मिन् वा क्रीडा अनङ्गक्रीडा । समाप्तप्रयोजनस्यापि स्वलिङ्गेनाऽऽहार्यैः काष्ठपुस्तफलमृत्तिकाचर्मादिघटितप्रयोजनैर्योषिद्वाच्यप्रदेशासेवने, आव० ६ अ० । पञ्चा० । स्वलिङ्गेन कृतकृत्योऽपि योषितामवाच्यदेशं भूयो भूयः कुश्नाति । केशाकर्षणप्रहारदानदन्तनखकदर्थनादिप्रकारैश्च मोहनीयकर्मवशात्तथा क्रीडति यथा प्रबलो रागः समुज्जृम्भते इति तात्पर्यम् । प्रव० ६ द्वा० । ध० । अनङ्गः कामस्तत्प्रधाना क्रीडा, परदारेषु अधरदशनाऽऽलिङ्गनादिकरणे, वात्स्यायनाद्युक्तचतुरशीतिकरणासेवने च । ध० २ अधि० । अनङ्गक्रीडामप्यत्र । पञ्चा०१ विव० । अयं च स्वदारसंतुष्टस्य तृतीयश्चतुर्थो वाऽतिचारः श्रावकेण न समाचरितव्यः । अतिचारताऽस्य स्वदारेभ्योऽन्यत्र मैथुनपरिहारेणानुरागादालिङ्गनादि प्रवर्तमानत्वादिति । उपा० १ अ० । ध० र० । श्रा० । अरयादार्थक्रियालक्षणे सम्प्राप्तकामभेदे, प्रव० १६९ द्वा० । 'अपगते वा द्वयस्ता यस्याः साऽनङ्गक्रीडा' इत्युक्तलक्षणे मात्रावृत्तभेदे, वाच० ।

अणंगपडिसेविणी–अनङ्गप्रतिसेविनी–स्त्री० । मैथुने प्रधानमङ्गं मेहनं भगश्च, तद्व्यतिरेकोऽनङ्गः, तेनानङ्गेनाहार्यलिङ्गादिना, अनङ्गे वा मुखादौ, प्रतिसेवाऽस्ति यस्याः अनङ्गं वा कामं, मपरापरपुरुषसम्पर्कतोऽतिशयेन प्रतिसेवत इत्येवंशीला अनङ्गप्रतिसेविनी तथाविधवेश्यावत् आहार्यलिङ्गादिना, मुखादौ वा, बहुपुरुषैर्वा मैथुनप्रतिसेवमानायाम्; एतादृशी स्त्री गर्भं न धारयति । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

अणंगपविट्ठ–अनङ्गप्रविष्ट–न० । न० स० । स्थविरैर्भद्रबाहुस्वामिप्रभृतिभिराचार्यैरुपनिबद्धे आवश्यकनिर्युक्त्यादौ श्रुतविशेषे, आ० म० प्र० । नं० । वृ० । विशे० । ('अंगपविट्ठ' शब्देऽस्य प्राग् ३७ पृष्ठेऽस्य विशेषस्वरूपमुक्तम्)

अणंगमंजरी–अनङ्गमञ्जरी–स्त्री० । पृथिवीचन्द्रनराधिपस्य रेवायां सुतायाम्, दर्श० ।

अणंगसेण–अनङ्गसेन–पुं० । सुवर्णकारभेदे, 'कुमारनन्दी' इति तस्य नामान्तरम् । वृ० ४ उ० । (तत्कथा 'दसउर' शब्दे दर्शयिष्यते) ग० २ अधि० । नि० । तं० ।

अणंगसेणा–अनङ्गसेना–स्त्री० । कृष्णवासुदेवसमये द्वारवतीजातायां प्रधानगणिकायाम्, आ०चू० । नि० । अन्त० । आ० म० ।

अणंत–अनन्त–त्रि० । नाऽस्यान्तोऽस्तीत्यनन्तः । निरन्वयनाशेनानश्यमाने, अपरिमिते, निरवधिके च । "अणंते निइए लोए सासए ण विणस्सति" नास्यान्तोऽस्तीत्यनन्तः । न निरन्वयनाशेन नश्यतीत्युक्तं भवतीति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । स० । अक्षये, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । अपर्यवसाने, दर्श० । सूत्र० । नाऽस्यान्तो विद्यत इत्यनन्तम् । केवलात्मनोऽनन्तत्वात् । ल० । रा० । प्रश्न० । अनन्तार्थविषयत्वाद् वाऽनन्तमन्तरहितम्, अपर्यवसितत्वात् । दशा० १० अ० । स्था० । अनन्तार्थविषयज्ञानस्वरूपत्वात् । स० १ समु० । अविनाशित्वात् । औ० । २ पत्र० । केवलज्ञाने, आ० १ श्रु० ८ अ० । आकाशे च । (न०) तस्यान्तवर्जितत्वात् । भ० १२ श० १० उ० । भरतक्षेत्रे अवसर्पिण्यां चतुर्दशे तीर्थकरे, अनन्तकर्मांशजयादनन्तः । अनन्तानि वा ज्ञानादीनि यस्येति । "सव्वेहिं वि अणंता कम्मंसा जिया तस्सेसिं च अणंताणि णाणादीणि वि रयणविचित्तमणंतं दामं सुमिणे ततो अणंतो" रत्नविचित्रं रत्नखचितमनन्तमति महाप्रमाणं दाम स्वप्ने जनन्या दृष्टमतो मातेनानन्त इति । आ० म० द्वि० । अनन्तान् कर्मांशान् जयति, अनन्तैर्वा ज्ञानादिभिर्जयति अनन्तजित् । तथा गर्भस्थे जनन्याऽनन्तरत्नदामस्वप्ने दृष्टे जयति च त्रिभुवनेऽप्यनन्तजित्, भीमो भीमसेन इतिवदनन्त इति । ध० २ अधि० । (अनन्तक्रियाऽन्तरादि 'तित्थयर' शब्दे वक्ष्यते) साधारणजीवे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणंतइ–अनन्तजित्–पुं० । अवसर्पिण्याश्चतुर्दशे तीर्थकरे, ध० २ अधि० ।

अणंतंस–अनन्तांश–पुं० । अनन्ततमोंऽशो भागोऽनन्तांशः । अनन्ततमे भागे, विशे० ।

अणंतकर–अनन्तकर–त्रि० । संसारपारगमनाऽसमर्थे, "णेयाणि संजोगमविप्पहाय, कायोवगा णंतकरा भवंति" । कायोपगाः जन्तूपमर्दारम्भप्रवृत्ताः संसारस्यानन्तकरा भवन्ति, संसारस्यान्तकरा न भवन्तीत्यर्थः । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

अणंतकाइय–अनन्तकायिक–पुं० । अनन्ताः कायिका जीवा यत्र तदनन्तकायिकम् । अनन्तजीवे वनस्पतिभेदे, ध० २ अधि० । पं० व० । (लक्षणादि अस्य 'अणंतकाय' शब्दे वक्ष्यते)

अणंतकाय–अनन्तकाय–पुं० । अनन्तजीवे वनस्पतौ, पं० व० २ द्वा० ।

अणंतकाल–अनन्तकाल–पुं० । अपर्यवसितकाले, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अणंतकित्ति–अनन्तकीर्त्ति–पुं० । धर्मदासगणिपट्टस्थापके इन्द्रदासाभिधे आचार्ये, ग्रं० १० ।

अणंतखुत्तो-अनन्तकृत्वस्-अव्य० । अनन्तवारानित्यर्थः । "अ-इ णं भंते ! जीवे णेरइयत्ताए उववण्णपुव्वे हंता गोयमा ! असतिं अदुवा अणंतखुत्तो " भ० १२ श० ६ उ० ।

अणंतग (य) अनन्तक-न० । गणनासंख्याभेदे, स्था० ।

तच्च पञ्चधा—

पंचविहे अणंतए पण्णत्ते । तं जहा-णामाणंतए, ठवणाणं-तए, दव्वाणंतए, गणणाणंतए, पएसाणंतए ॥ अहवा पंच-विहे अणंतए पण्णत्ते । तं जहा-एगओणंतए, दुहओणंतए, देसवित्थाराणंतए, सव्ववित्थाराणंतए, सासयाणंतए ॥

पंचविहेत्यादिसूत्रद्वयं प्रतीतार्थम्, नवरं, नाम्ना अनन्तकं नामा-नन्तकम्, अनन्तकमिति यस्य नाम यथा समयभाषया ऽवस्थ-मिति । स्थापनैव स्थापनया वा अनन्तकं स्थापनानन्तकम्, अनन्तकमिति कल्पनयाऽक्षादिन्यासः शरीरादिव्यतिरिक्तम्, द्रव्याणामणुप्रभृतीनां गणनीयानामनन्तकं द्रव्यानन्तकं, गणना संख्यानं तल्लक्षणमनन्तकमविवक्षिताऽण्वादिसंख्येयविषयः सं-ख्याविशेषो गणनानन्तकम्, प्रदेशानां संख्येयानामनन्तकं प्रदेशा-नन्तकमिति । एकत एकेनांशेनायामलक्षणेनानन्तकमेकतोऽनन्त-कम्-एकश्रेणीकं क्षेत्रम्, द्विधा आयामविस्ताराभ्यामनन्तकं द्विधा-ऽनन्तकं-प्रतरक्षेत्रम्, क्षेत्रस्य यो रुचकापेक्षया पूर्वाद्यन्यतरदिग्ल-क्षणो देशस्तस्य विस्तारो विष्कम्भस्तस्य प्रदेशापेक्षयाऽनन्तकं देशविस्तारानन्तकम्, सर्वाकाशस्य तु चतुर्थम्, शाश्वतं च त-दनन्तकं च शाश्वतानन्तकमनाद्यपर्यवसितं यज्जीवादिद्रव्यम्, अनन्तसमयस्थितिकत्वादिति । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

दसविहे अणंतए पण्णत्ते । तं जहा-णामाणंतए, ठवणाणं-तए, दव्वाणंतए, गणणाणंतए, पएसाणंतए, एगओ-णंतए, दुहओणंतए, देसवित्थाराणंतए, सव्ववित्थारा-णंतए, सासयाणंतए ।

नामानन्तकम्-अनन्तकमित्येषां नामभूता वर्णानुपूर्वी यस्य, वा सचेतनादेर्वस्तुनोऽनन्तकमिति नाम तन्नामानन्तकम् । स्थाप-नानन्तकं-यदक्षादावनन्तकमिति स्थाप्यते । द्रव्यानन्तकं-जीवद्र-व्याणां पुद्गलद्रव्याणां वा यदनन्तकम्, गणनानन्तकं-यदेको द्वौ [illegible] संख्याता असंख्याता अनन्ता इति संख्यामात्रत्व-[illegible] संख्यामात्रतया संख्यानमात्रं व्यपदिश्यत इति । प्रदेशानन्त-कम्-आकाशप्रदेशानां यदानन्त्यमिति । एकतोऽनन्तकम्, अती-[illegible] द्विधाऽनन्तकम्, सर्वाद्धा देशविस्तारा-[illegible] एक आकाशप्रतरः । सर्वविस्तारानन्तकं सर्वाकाशा-[illegible] । शाश्वतानन्तकमक्षयं जीवादि द्रव्यमिति । स्था० १० ठा० ।

से किं तं अणंतए ? । अणंतए तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-परित्ताणंतए, जुत्ताणंतए, अणंताणंतए । से किं तं परित्ता-णंतए ? । परित्ताणंतए तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-जहण्ण-ए, उक्कोसए, अजहण्णमणुक्कोसए । से किं तं जुत्ताणं-तए ? । जुत्ताणंतए तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-जहण्णए, उक्कोसए, अजहण्णमणुक्कोसए । से किं तं अणंताणंतए ? । अणंताणंतए दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-जहण्णए, अजहण्णमणुक्कोसए ।

अनन्तकमपि-परीत्तानन्तकं, युक्तानन्तकम्, अनन्तानन्तकम् । अत्राद्यनन्तभेदद्वये जघन्यादिभेदात् प्रत्येकं त्रैविध्यम् । अनन्ता-नन्तकं तु-जघन्यमजघन्योत्कृष्टमेव भवतीति । उत्कृष्टानन्ताऽन-न्तकस्य क्वाप्यसंभवादिति सर्वमपीदमष्टविधम् । अनु० ।

जहण्णयं परित्ताणंतयं केवइयं होइ ? । जहण्णयं असंखे-ज्जासंखेज्जयमेत्ताणं रासीणं अण्णमण्णब्भासो पडिपुण्णो जहण्णयं परित्ताणंतयं होइ, अहवा उक्कोसए असंखेज्जा-संखेज्जए रूवं पक्खित्तं जहण्णयं परित्ताणंतयं होइ, तेण परं अजहण्णमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं प-रित्ताणंतयं ण पावइ । उक्कोसयं परित्ताणंतयं केवइयं होइ ? । जहण्णयं परित्ताणंतयमेत्ताणं रासीणं अण्णमण्णब्भासो रूवूणो उक्कोसयं परित्ताणंतयं होइ, अहवा जहण्णयं जुत्ताणंतयं रूवूणं उक्कोसयं परित्ताणंतयं होइ । जहण्णयं जुत्ताणंतयं केवइयं होइ ? । जहण्णयं परित्ताणंतयमेत्ताणं रा-सीणं अण्णमण्णब्भासो पडिपुण्णो जहण्णयं जुत्ताणंतयं होइ, अहवा उक्कोसए परित्ताणंतए रूवं पक्खित्तं जहण्णयं जुत्ता-णंतयं होइ, अभवसिद्धिआ वि तत्तिआ होइ, तेण परं अज-हण्णमणुक्कोसयाइं जाव उक्कोसयं जुत्ताणंतयं ण पावइ । उक्कोसयं जुत्ताणंतयं केवइयं होइ ? । जहण्णएणं जुत्ताणंतएणं अभवसिद्धिआ गुणिता अण्णमण्णब्भासो रूवूणो उक्कोसयं जुत्ताणंतयं होइ, अहवा जहण्णयं अणंताणंतयं रूवूणं उक्कोसयं जुत्ताणंतयं होइ । जहण्णयं अणंताणंतयं केवइयं होइ ? । जहण्णएणं जुत्ताणंतएणं अभवसिद्धिआ गुणिआ अण्णमण्णब्भासो पडिपुण्णो जहण्णयं अणंताणंतयं होइ, अ-हवा उक्कोसए जुत्ताणंतए रूवं पक्खित्तं जहण्णयं अणंता-णंतयं होइ, तेण परं अजहण्णमणुक्कोसयाइं ठाणाइं ।

जघन्यपरीत्तानन्तके यावन्ति रूपाणि भवन्ति तावत्संख्यानां राशीनां प्रत्येकं जघन्यपरीत्तानन्तकप्रमाणानां पूर्ववदभ्या-[illegible] रूपोनमुत्कृष्टं परीत्तानन्तकं भवति । 'अहवा जहण्णयं जु-त्ताणंतयमित्यादि' स्पष्टम् । 'जहण्णयं जुत्ताणंतयं केवइयमि-त्यादि' व्याख्यानार्थमेव । 'अहवा उक्कोसयं परित्ताणंतयं' इत्या-दि सुबोधम् । जघन्ये च युक्तानन्तके यावन्ति रूपाणि [illegible] सिद्धिका अपि जीवाः केवलिना तावन्त एव दृष्टाः । 'तेण परं' [illegible] इत्यादि' स्पष्टम् । 'उक्कोसयं जुत्ताणंतयं केवइयमि-[illegible] जघन्येन युक्तानन्तकेनाभव्यराशिर्गुणितो रूपोनं सदुत्कृष्टयु-क्तानन्तकं भवति, तेन युक्तेन सह जघन्यमनन्तानन्तकं [illegible] एवाह-'अहवा जहण्णयं अणंताणंतयमित्यादि' [illegible] 'जहण्णयं अणंताणंतयं केवइयमित्यादि' [illegible] उक्कोसए जुत्ताणंतए इत्यादि' प्रतीतमेव । 'तेण परं अजहण्णमणु-क्कोसयाइं इत्यादि' [illegible] [illegible] स्थानानि भवन्ति, उत्कृष्टं तु [illegible] नास्त्येवेत्यभिप्रायः । [illegible] [illegible] भेदा प्रविश्यन्ते । तद्यथा—

"सिद्धा निगोयजीवा, वणस्सई काल पुग्गला चेव ।
सव्वमलोगागासं, छप्पेतेऽणंत पक्खेवा" ॥ १ ॥

अयमर्थः-सर्वे सूक्ष्मबादरनिगोदजीवाः प्रत्येकानन्ताः, सर्वे वनस्पतिजन्तवः, सर्वोऽप्यतीतानागतवर्तमानकालसमयराशिः, सर्वपुद्गलद्रव्यसमूहः, सर्वाऽलोकाकाशप्रदेशराशिः। एते च प्रत्येकमनन्तस्वरूपाः षट् प्रक्षेप्याः, एतैश्च प्रक्षिप्तैर्यो राशिर्जायते, स पुनरपि वारत्रयं पूर्ववद्वर्ग्यते, तथाऽप्युत्कृष्टमनन्तानन्तकं न प्राप्यते; ततश्च केवलज्ञानकेवलदर्शनपर्यायाः प्रक्षिप्यन्ते । एवं च सत्युत्कृष्टमनन्तानन्तकं संपद्यते, सर्वस्यैव वस्तुजातस्य संगृहीतत्वात् । अतः परं वस्तु सर्वस्यैव संख्याविषयस्याभावादिति भावः । सूत्राभिप्रायस्तु-उत्कृष्टमनन्तानन्तकमुत्कृष्टं न प्राप्यते; अजघन्योत्कृष्टस्थानानामेव तत्र प्रतिपादितत्वात् इति । तत्त्वं तु केवलिनो विदन्तीति भावः । सूत्रे च यत्र कुत्राऽपि अनन्तानन्तकं पृच्छ्यते तत्र सर्वत्राऽजघन्योत्कृष्टं द्रष्टव्यम्, तदेवं प्ररूपितमनन्तकम् । अनु० ।

इदानीं नवविधमसंख्येयकं नवविधमेव चानन्तकं
निरूपयितुमिच्छुर्गाथायुगमाह—

रूवजुयं तु परित्ता-संखं लहु अस्स रासि अब्भासे ।
जुत्तासंखिज्जं लहु, आवलियासमयपरिमाणं ॥ ७८ ॥

पूर्वोक्तमेवोत्कृष्टं संख्येयकं, रूपयुतं तु रूपेणैकेन सर्षपेण युतं, लघु जघन्यं परीत्तासंख्यं परीत्तासंख्येयकं भवति । इदमत्र हृदयम्-इह येनैकेन सर्षपरूपेण रहितोऽनन्तरोद्दिष्टो राशिरुत्कृष्टसंख्यातकमुक्तं तत्र राशौ तस्यैव रूपस्य निक्षेपो यदा क्रियते तदा तदेवोत्कृष्टं संख्यातकं जघन्यं परीत्तासंख्यातकं भवतीति । इह च जघन्यपरीत्तासंख्येयकेऽभिहिते यद्यपि तस्यैव मध्यमोत्कृष्टभेदप्ररूपणावसरस्तथापि परीत्तयुक्तनिजपदभेदतस्त्रिभेदानामसंख्येयकानां मध्यमोत्कृष्टभेदौ पश्चाल्लाघवार्थं प्ररूपयिष्येते । अतोऽधुना जघन्ययुक्तासंख्यातकं तावदाह- (अस्स रासि अब्भासे इत्यादि) अस्य राशेर्जघन्यपरीत्तासंख्येयकगतराशेः, अभ्यासे परस्परगुणने सति, लघु जघन्यं, युक्तासंख्येयकं भवति, तच्चावलिकासमयपरिमाणम् । आवलिका-"असंखिज्जाणं समयाणं समुदयसमिइसमागमेणं" इत्यादिसिद्धान्तप्रसिद्धा, तस्याः समया निर्विभागाः कालविभागाः, तत्परिमाणमावलिकासमयपरिमाणम्; जघन्ययुक्तासंख्येयकतुल्यसमयराशिप्रमाणा आवलिका इत्यर्थः । एतदुक्तं भवति-जघन्यपरीत्तासंख्येयकसंबन्धीनि यावन्ति सर्षपलक्षणानि रूपाणि तान्येकैकशः पृथक् पृथक् संस्थाप्य तत एकैकस्मिन् रूपे जघन्यपरीत्तासंख्यातकप्रमाणो राशिर्व्यवस्थाप्यते । तेषां च राशीनां परस्परमभ्यासो विधीयते । इहेयं भावना-असत्कल्पनया किल जघन्यपरीत्तासंख्येयकराशिस्थाने पञ्च रूपाणि कल्प्यन्ते, तानि विरच्यन्ते-जाताः पञ्च रूपाः १११११ एककानामधः प्रत्येकं पञ्चैव वाराः पञ्च व्यवस्थाप्यन्ते । तद्यथा- $\frac{1\ 1\ 1\ 1\ 1}{5\ 5\ 5\ 5\ 5}$ अत्र पञ्चभिः पञ्च गुणिता जाता पञ्चविंशतिः । साऽपि पञ्चभिरभ्यासे जातं पञ्चविंशं शतम् । इत्यादिक्रमेणामीषां राशीनां परस्पराभ्यासे जातानि पञ्चविंशत्यधिकान्येकत्रिंशच्छतानि ३१२५ । एवं कल्पनया तावदेतावन्मात्रो राशिर्भवति, सद्भावतस्त्वसंख्येयरूपो जघन्ययुक्तासंख्यातकतया मन्तव्य इति ॥ ७८ ॥

सम्प्रति शेषजघन्यासंख्यातासंख्यातकभेदस्य जघन्यपरीत्तानन्तकादिस्वरूपाणां त्रयाणां जघन्यानन्तकभेदानां च स्वरूपमतिदेशतः प्रतिपिपादयिषुराह-

बि ति चउ पंचम गुणणे, कमा सगासंख पढमचउसत्ता-
ऽणंता ते रूवजुया, मज्झा रूवूण गुरु पच्छा ॥ ७९ ॥

इह 'संखिज्जेगमसंखमित्यादि' गाथोपन्यस्तमुत्कृष्टं संख्यातकम् १ उत्कृष्टसंख्यातकादिभीसप्तपदापेक्षया संख्यातकाद्यभेदविकल्पानि

परी०सं० २	युक्तासं० ३	असंख्यासं० ४
परी०अ० ५	युक्तानं० ६	अनन्तानन्त० ७

तानि यानि परीत्तासंख्यातकादीनि षट्पदानि तानि परीत्तासंख्यातकानन्तानन्तकभेदद्वयविकलानि द्वित्रिचतुःपञ्चसंख्यत्वेन प्रोक्तानि, ततो द्वित्रिचतुःपञ्चमगुणने द्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमपदवाच्यराशेरन्योन्याभ्यासे सति, क्रमात् क्रमेण, (सगासंख त्ति) प्राकृतत्वात् सप्तमासंख्यातम् । स्थापनापेक्षया जघन्यासंख्यातासंख्यातकम् । (पढमचउसत्ताऽणंत त्ति) प्राकृतत्वात् प्रथमचतुर्थसप्तमान्यनन्तकानि, तत्र प्रथमानन्तकं जघन्यपरीत्तानन्तकं चतुर्थानन्तकं जघन्ययुक्तानन्तकं सप्तमानन्तकं जघन्यानन्तानन्तकं भवतीति । इह जघन्य

जघ० स० १	मध्य० स० २	उत्कृ० स० ३
परी०अ०ज० १	परी०अ०म० २	प०अ०उ० ३
यु० अ० ज० ४	यु०अ० म० ५	यु० अ० उ० ६
अ०अ०ज० ७	अ०अ० म० ८	अ०अ० उ० ९
प०अ०ज० १	प०अ० म० २	प०अ०उ० ३
यु० अ० ज० ४	यु०अ० म० ५	यु० अ० उ० ६
अ०अ०ज० ७	अ०अ०म० ८	अ०अ०उ० ९

मध्यमोत्कृष्टभेदतोऽसंख्येयानन्तकयोः प्रत्येकं नवविधत्वात् प्रदर्शितभेदानां सप्तमप्रथमादिसंख्यानं संगन्तव्यम् । इदमत्रैदंपर्यम्-द्वितीये युक्तासंख्यातकपदवाच्ये जघन्ययुक्तासंख्यातकलक्षणे राशौ विरचिते सति यावन्ति रूपाणि तावन्तु प्रत्येकं जघन्ययुक्तासंख्यातकमाना राशयोऽप्यसनीयास्ततस्तेषां राशीनां परस्परताडने यो राशिर्भवति, तत् सप्तमासंख्येयकं मन्तव्यम् । तृतीये त्वसंख्येयकासंख्येयकपदवाच्ये जघन्यासंख्येयकासंख्येयकरूपे राशौ यावन्ति रूपाणि तावतामेव जघन्यासंख्येयकासंख्येयकराशीनामन्योन्यगुणने सति यो राशिः संपद्यते तत्प्रथमानन्तकं जघन्यपरीत्तानन्तकमवसेयम् । चतुर्थे तु परीत्तानन्तकपदवाच्ये जघन्यपरीत्तानन्तकरूपे राशौ यावन्ति रूपाणि तावत्संख्यानां जघन्यपरीत्तानन्तकराशीनां परस्परमभ्यासे यावान् राशिर्भवति तच्चतुर्थमनन्तकं जघन्ययुक्तानन्तकं भवति । पञ्चमे युक्तानन्तकपदवाच्ये जघन्ययुक्तानन्तकरूपे राशौ यावन्ति रूपाणि तत्प्रमाणानामेव जघन्ययुक्तानन्तकराशीनां परस्परगुणने यावान् राशिः संपद्यते तत्सप्तमानन्तकं जघन्यानन्तानन्तकं भवति । आह—परीत्तासंख्यातक १ युक्तासंख्यातक २ असंख्यातासंख्यातक ३ परीत्तानन्तक ४ युक्तानन्तक ५ अनन्तानन्तक ६ लक्षणाः षडपि राशयो जघन्यास्तावन्निर्दिष्टाः, मध्यमा उत्कृष्टाश्च ते कथं मन्तव्या इत्याह-(ते रूवजुया इत्यादि) ते अनन्तरोद्दिष्टा जघन्याः षडपि राशयो रूपैकैकलक्षणेन युताः समन्विताः । रूपयुताः सन्तः किं भवन्तीत्याह—मध्या मध्यमाः, जघन्योत्कृष्टा इति यावत् । तत्र यः प्राग्निर्दिष्टो जघन्यपरीत्तासंख्यातकराशिः स एकस्मिन् रूपे प्रक्षिप्ते मध्यमो भवति । उपलक्षणं चैतत्—नैकरूपप्रक्षेप एव [illegible] [illegible]न्स्वेकैकरूपनिक्षेपेऽयं [illegible] [illegible]येयकराशिर्न भवतीत्येवमनया दिशा जघन्ययु

[illegible] निश्चिमे मध्यमाः संपद्यन्ते, तदनु [illegible] यावत् सत्यमुत्कृष्टपदं [illegible] । [illegible] किंस्वरूपाः सन्त उत्कृष्टा भवन्ति [illegible] (इत्येव गुरुतम इति) [illegible] न्यूना रूपोनाः [illegible] जघन्या [illegible], तेषाम्‍ [illegible] । किं भवतीत्याह-गुरु उत्कृष्टः, पाश्चात्याः [illegible] । इयमत्र भावना-जघन्ययुक्तासंख्यात [illegible] न्यूनः, स एव पाश्चात्य उत्कृष्टपरीत्तासंख्येय [illegible] भवति । जघन्यासंख्यातासंख्यातकराशिस्तु एकेन [illegible] न्यूनः सन् पाश्चात्य उत्कृष्टयुक्तासंख्यातकस्वरूपो भवति । [illegible] पाश्चात्य उत्कृष्ट [illegible] भवति । जघन्ययुक्तानन्तकराशिरेकेन [illegible] भवति । जघन्यान [illegible] उत्कृष्टयुक्तानन्तकस्वरूपो [illegible]

[illegible]

[illegible]

जस्स मूलस्स भग्गस्स, समो भंगो प दीसए।
अणंतजीवे उ से मूले, जे यावन्ने तहाविहा ॥ १ ॥
जस्स कंदस्स भग्गस्स, समो भंगो प दीसई।
अणंतजीवे उ से कंदे, जे यावन्ने तहाविहा ॥ २ ॥
जस्स खंदस्स भग्गस्स, समो भंगो प दीसई।
अणंतजीवे उ से खंधे, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ३ ॥
जस्स तयाए भग्गाए, समो भंगो प दीसई।
अणंतजीवा तया सा उ, जे यावन्ना तहाविहा ॥ ४ ॥
जस्स सालस्स भग्गस्स, समो भंगो प दीसई।
अणंतजीवे उ से साले, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ५ ॥
जस्स पवालस्स भग्गस्स, समो भंगो प दीसई।
अणंतजीवे पवाले से, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ६ ॥
जस्स पत्तस्स भग्गस्स, समो भंगो प दीसई।
अणंतजीवे उ से पत्ते, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ७ ॥
जस्स पुप्फस्स भग्गस्स, समो भंगो प दीसई।
अणंतजीवे उ से पुप्फे, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ८ ॥
जस्स फलस्स भग्गस्स, समो भंगो प दीसई।
अणंतजीवे फले से उ, जे यावन्ने तहाविहा ॥ ९ ॥
जस्स बीयस्स भग्गस्स, समो भंगो प दीसई।
अणंतजीवे उ से बीए, जे यावन्ने तहाविहा ॥ १० ॥

[illegible]

[illegible]

भवति, सा अनन्तजीवा ज्ञातव्या। (जा यावऽवया भवइ इति) यावन्ति कान्यपि, यथोक्तस्य कन्दस्तम्भत्वगेन निबिडतया समानरूपा भङ्गी, साऽपि तथाविधा अनन्तजीवात्मका, ज्ञातव्या। एवं कन्दस्कन्ध-शाखादिविषया अपि तिस्रो गाथाः परिभावनीयाः। प्रज्ञा० १ पद।

यदुक्तं 'जस्स मूलस्स भग्गस्स समो भंगो य दीसइ' इत्यादि तदेव लक्षणं स्पष्टं प्रतिपिपादयिषुरिदमाह–

चक्कागं भज्जमाणस्स, गंठी चुण्णघणो भवे।
पुढवीसरिसभेदेण, अणंतजीवं वियाणाहि ॥ १ ॥

चक्रकं चक्राकारमेवाऽऽकारेण समं भङ्गस्थाने यस्य भज्यमानस्य मूलकन्दस्कन्धत्वक्शाखापत्रपुष्पादेर्भवति, तन्मूलादिकमनन्तजीवं विजानीहि इति सम्बन्धः। तथा 'गंठी चुण्णघणो भवे' इति। ग्रन्थिः पर्व स्थानमथवा भङ्गस्थानं वा स यस्य भज्यमानस्य चूर्णेन रजसा घनो व्याप्तो भवति, यदा यस्य पत्रादेर्भज्यमानस्य ह्यधस्तात् मध्यभागः प्रतिस्थाने व्याप्ति च विना पृथिवीसदृशेन भेदेन भङ्गस्थाने भवति, पुटकरविकारसमकेदारतटरेखाप्रतरस्य रेखयैव समो भङ्गो भवतीति भावः, तमनन्तकायं विजानीहि ॥१॥

पुनरपि लक्षणान्तरमाह–

गूढसिरागं पत्तं, सच्छीरं जं च होइ निच्छीरं।
जं पि य पणट्ठसंधिं, अणंतजीवं वियाणाहि ॥ २ ॥

पत्रं सक्षीरं निःक्षीरं वा गूढशिराकमलक्ष्यमाणशिराविशेषं, यदपि च प्रणष्टसन्धिः सर्वथाऽनुपलक्ष्यमाणपत्रार्द्धद्वयसन्धिः, तदनन्तजीवं विजानीहि ॥ २ ॥

सम्प्रति पुष्पादिगतं विशेषमभिधित्सुराह–

पुप्फा जलया थलया, विंटबद्धा य णालिबद्धा य।
संखिज्जमसंखिज्जा, बोधव्वा णंतजीवा य ॥ ३ ॥

पुष्पाणि चतुर्विधानि, तद्यथा–जलजानि सहस्रपत्रादीनि, स्थलजानि कोरण्टकादीनि, एतान्यपि च प्रत्येकं द्विधा। तद्यथा–कानिचिद् वृन्तबद्धानि–अतिमुक्तकप्रभृतीनि, कानिचिन्नालबद्धानि–जातिपुष्पप्रभृतीनि, अथैतेषां मध्ये कानिचित्पत्रादिगतजीवापेक्षया सङ्ख्येयजीवानि, कानिचिदसङ्ख्येयजीवानि, कानिचिदनन्तजीवानि यथागमं बोधव्यानि ॥ ३ ॥

अत्रैव किञ्चिद्विशेषमाह–

जे केइ नालिया बद्धा, पुप्फा संखेज्जजीविया।
णिहूया अणंतजीवा, जे यावऽण्णे तहाविहा ॥४॥
पउमुप्पलिणी कंदे, अंतरकंदे तहेव झिल्ली य।
एते अणंतजीवा, एगो जीवो भिस मुणाले ॥ ५ ॥

यानि कानिचिद् नालिकाबद्धानि पुष्पाणि जात्यादिगतानि तानि सर्वाण्यपि सङ्ख्यातजीवकानि प्रणीतानि तीर्थकरगणधरैः। स्निहू स्निहुपुष्पं पुनरनन्तजीवम, यान्यपि चान्यानि स्निहुपुष्पकल्पानि तान्यपि तथाविधानि अनन्तजीवात्मकानि ज्ञातव्यानि। (पउमुप्पलिणी कंदेत्यादि) पद्मिनीकन्द, उत्पलिनीकन्दः, अन्तरकन्दो जलजवनस्पतिविशेषः कन्दः, झिल्लिका वनस्पतिविशेषरूपा, एते सर्वेऽप्यनन्तजीवाः, नवरं पद्मिन्यादीनां बिसे, मृणाले च, एकजीवात्मके बिसमृणाले इति भावः ॥५॥ प्रज्ञा० १ पद।

सप्फाए सज्झाए, उव्वेहलिया य कुहणकुंडुक्के।
एए अणंतजीवा, कुंडुक्के होइ भयणाओ ॥ १३ ॥

एते कुहनादिवनस्पतिविशेषा लोकतः प्रत्येतव्याः। एते च अनन्तजीवात्मकाः, नवरं कण्डुके भजना; स हि कोऽपि देशविशेषवशादनन्तोऽनन्तजीवो भवति, कोऽप्यसंख्येयजीवात्मक इति ॥ १३ ॥

किं बीजजीव एव मूलादिजीवो भवति, उतान्यस्तस्मिन्नपक्रान्ते उत्पद्यते इति परप्रश्नमाशङ्क्याह–

जोणिब्भूए बीए, जीवो वक्कमइ सो व अण्णो वा।
जो वि य मूले जीवो, सो वि हु पत्ते पढमयाए ॥१४॥

बीजे योनिभूते योन्यवस्थां प्राप्ते, योनिपरिणाममजहतीति भावः। बीजस्य हि द्विविधाऽवस्था। तद्यथा–योन्यवस्था, अयोन्यवस्था च। तत्र यदा बीजं योन्यवस्थां जहाति, अथ चोज्झितं जन्तुना तदा तत् योनिभूतमित्यभिधीयते। उज्झितं च जन्तुना निश्चयतो नावगन्तुं शक्यते, ततोऽनतिशायिना सम्प्रति सचेतनमचेतनं वा अविध्वस्तयोनि योनिभूतमिति व्यवह्रियते। विध्वस्तयोनि तु नियमादचेतनत्वादयोनिभूतमिति। अथ योनिरिति किमभिधीयते?। उच्यते–जन्तोरुत्पत्तिस्थानमविध्वस्तशक्तिकं तत्रस्थजीवपरिणमनशक्तिसम्पन्नमिति भावः। तस्मिन् बीजे योनिभूते जीवो व्युत्क्रामति उत्पद्यते, स एव पूर्वको बीजजीवोऽन्यो वा आगत्य तत्रोत्पद्यते। किमुक्तं भवति–तदा बीजनिर्वर्त्तकेन जीवेन स्वायुःक्षयाद् बीजपरित्यागः कृतो भवति। तस्य च बीजस्य पुनरम्बुकालाऽवनिसंयोगरूपसामग्रीसम्भवस्तदा कदाचित् स एव प्राक्तनो बीजजीवो मूलादिनामगोत्रं निबद्ध्य तत्रागत्य परिणमति; कदाचिदन्यः पृथिवीकायिकादिजीवः। 'योऽपि च मूले जीव इति' य एव मूलतया परिणमते जीवः 'सोऽपि पत्रे प्रथमतयेति' स एव प्रथमपत्रतयाऽपि च परिणमते, इत्येकजीवकर्तृके मूलप्रथमपत्रे इति। आह–यद्येवं "सव्वो वि किसलओ खलु, उग्गममाणो अणंतओ भणिओ" इत्यादि वक्ष्यमाणं कथं न विरुध्यते?। उच्यते–इह बीजजीवोऽन्यो वा बीजमूलत्वेनोत्पद्य तदुच्छूनावस्थां करोति, ततस्तदनन्तरं भाविनीं किसलयावस्थां नियमतो ऽनन्ता जीवाः कुर्वन्ति। पुनश्च तेषु स्थितिक्षयात्परिणतेषु अ-सावेव मूलजीवोऽनन्तजीवतनुं स्वशरीरतया परिणमय्य तावद्वर्द्धते यावत्प्रथमपत्रमिति न विरोधः। अन्ये तु व्याचक्षते–प्रथमपत्रमिह याऽसौ बीजस्य समुच्छूनावस्था, तेन एकजीवकर्तृके मूलप्रथमपत्रे इति। किमुक्तं भवति–मूलसमुच्छूनावस्थे एकजीवकर्तृके, एतच्च नियमप्रदर्शनार्थमुक्तम्। मूलसमुच्छूनावस्थे एकजीवपरिणामिते एव। शेषं तु किसलयादिनाऽवश्यं मूलजीवपरिणामाविर्भावितमिति। ततः'सव्वो वि किसलओ खलु, उग्गममाणो अणंतओ भणिओ' इत्यादि वक्ष्यमाणमविरुद्धम्। मूलसमुच्छूनावस्थानिर्वर्त्तनारम्भकाले किसलयत्वाभावादिति। आह–प्रत्येकशरीरे वनस्पतिकायिकानां सर्वकालशरीरावस्थामधिकृत्य किं प्रत्येकशरीरत्वमुत कस्मिंश्चिदवस्थाविशेषेऽनन्तजीवत्वमपि सम्भवति?। तथा साधारणवनस्पतिकायिकानामपि किं सर्वकालमनन्तजीवत्वमुत कदाचित्प्रत्येकशरीरत्वमपि भवति?।

तत्र आह–

सव्वो वि किसलओ खलु, उग्गममाणो अणंतओ भणिओ।
सो चेव विवड्ढंतो, होइ परित्तो अणंतो वा ॥ १५ ॥

इह सर्वशब्दः परिशेषवाची। सर्वोऽपि वनस्पतिकायः प्रत्येकशरीरः साधारण एव किसलयावस्थामुपगतः सन् अनन्त

कायस्तीर्थकरगणधरैर्भणितः । स एव किसलयरूपः अनन्तकायिकः प्रवृद्धिं गच्छन् अनन्तो वा भवति परीत्तो वा । कथम् ? । उच्यते-यदि साधारणं शरीरं निर्वर्त्तयेत् तदसाधारण एव भवति, अथ प्रत्येकशरीरं ततः प्रत्येक इति । कियतः कालादूर्ध्वं प्रत्येको भवति इति चेदुच्यते-अन्तर्मुहूर्त्तात् । तथाहि-निगोदानामुत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत् स्थितिरुक्ता, ततोऽन्तर्मुहूर्त्तात्परतो विवर्त्तमानः प्रत्येको भवतीति । प्रज्ञा० १ पद ।

निगोदादिशब्दैः सहास्य साविषयत्वादनन्तजीवस्य च अनन्तजन्तुसन्ताननिपातननिमित्तत्वाद् भक्षणं वर्ज्यम् । यतः-"नृभ्यो नैरयिकाः सुराश्च निखिलाः पञ्चाक्षतिर्यग्गणो, द्व्यक्षाद्या ज्वलनो यथोत्तरममी संख्यातिगा भाषिताः । तेभ्यो भूजलवायवः समधिकाः प्रोक्ता यथाऽनुक्रमं, सर्वेभ्यः शिवगा अनन्तगुणितास्तेभ्योऽप्यनन्ता नगाः" ॥ १ ॥ तानि आर्यदेशप्रसिद्धानि द्वात्रिंशत् । तदाहुः-

> सव्वा य कंदजाई, सूरणकंदो अ वज्जकंदो अ ।
> अल्ल हलिद्दा य तहा, अल्लं तह अल्लकच्चूरो ॥ १ ॥
> सत्तावरी विराली, कुँआरि तह थोहरी गलोई अ ।
> लसुणं वंसकरिल्ला, गज्जर लूणो अ तह लोढा ॥ २ ॥
> गिरिकण्णि किसलिपत्ता, खरिंसुआ थेग अल्ल मुत्था य ।
> तह लूणरुक्खछल्ली, खिल्लहडो अमयवल्ली य ॥ ३ ॥
> मूला तह भूमिरुहा, विरुहा तह ढक्कवत्थुलो पढमो ।
> सूअरवल्लो अ तहा, पल्लंको कोमलंबिलिआ ॥ ४ ॥
> आलू तह पिंडालू, हवंति एए अणंतनामेणं ।
> अन्नमणंतं नेअं, लक्खणजुत्तीइ समयाओ ॥ ५ ॥

सर्वैव कन्दजातिरनन्तकायिका इति सम्बन्धः । कन्दो नाम भूमध्यगो वृक्षावयवः । ते चात्र कन्दा अशुष्का एव ग्राह्याः, शुष्काणां तु निर्जीवत्वादनन्तकायिकत्वं न सम्भवति । श्रीहेमसूरिरप्येवमेव 'आर्द्रः कन्दः समग्रोऽपि, आर्द्रोऽशुष्कः कन्दः । शुष्कस्य तु निर्जीवत्वादनन्तकायित्वं न सम्भवति' इति योगशास्त्रवृत्तावाह । अथ तानेव कांश्चित्कन्दान् व्याप्रियमाणत्वान्नामत आह-सूरणकन्दोऽर्शोघ्नः कन्दविशेषः १, वज्रकन्दोऽपि कन्दविशेष एव २, आर्द्रा अशुष्का, हरिद्रा प्रतीतैव ३, आर्द्रकं शृङ्गबेरम् ४, आर्द्रकच्चूरिति कच्चूरविशेषः प्रतीत एव ५, शतावरी ६ विराली ७ वल्लीभेदौ । कुमारी मांसलप्रणालाकारपत्रा प्रतीतैव ८, थोहरी स्नुहीतरुः ९, गुडूची वल्लीविशेषः प्रतीत एव १०, लशुनं कन्दविशेषः ११, वंशकरिल्लानि कोमलनववंशावयवविशेषाः प्रसिद्धा एव १२, गर्जरकाणि सर्वजनविदितान्येव १३, लवणको वनस्पतिविशेषः-येन दग्धेन सर्जिका निष्पद्यते १४, लोढकः पद्मिनीकन्दः १५, गिरिकर्णिका वल्लीविशेषः १६, किसलयरूपाणि पत्राणि प्रौढपत्रादर्वाक् बीजस्योच्छूनावस्थारूपाणि सर्वाण्यप्यनन्तकायिकानि, न तु कानिचिदेव १७, खरिंसुकाः कन्दभेदाः १८, थेगोऽपि कन्दविशेष एव १९, आर्द्रा मुस्ता प्रतीता २०, लवणापरपर्यायस्य भ्रमरनाम्नो वृक्षस्य त्वक्छल्ली, न त्वन्येऽवयवाः २१, खिल्लहडो लोकप्रसिद्धः कन्दः २२, अमृतवल्ली वल्लीविशेषः २३, मूलको लोकप्रतीतः २४, भूमिरुहाणि छत्राकाराणि वर्षाकालभवानि भूमिस्फोटकानीति प्रसिद्धानि २५, विरुढान्यङ्कुरितानि द्विदलधान्यानि २६, ढक्कवत्थुल शाकविशेषः, स च प्रथमोद्गत एवानन्तकायिको न तु छिन्नप्ररूढः २७, शूकरसंज्ञको वल्लः, स एवानन्तकायिको न तु धान्यवल्लः २८, पल्यङ्कः शाकभेदः २९, कोमलाम्लिका अबद्धास्थिका चिञ्चिणिका ३०, आलुक ३१, पिण्डालुकौ ३२ कन्दभेदौ । एते पूर्वोक्ताः पदार्थाः हरितस्याका अनन्तकायनामभिर्भवन्तीत्यर्थः । न चैतान्येवानन्तकायिकानि किन्त्वन्येऽपि, तथाऽऽह-'अन्यदपि एवं' निर्दिष्टमनन्तकायिकम्, लक्षणयुक्त्या वक्ष्यमाणलक्षणविचारणया, समयात् सिद्धान्ततः ज्ञेयम् ।

तान्येवानन्तकायानि यथा-

> घोसकरीरंकुर ति-दुयं अइकोमलंबगाईणि ।
> वरुणवडनिंबयाई-ण अंकुराई अणंताई ॥ १ ॥

घोषातकीकरीरयोरङ्कुराः, तथाऽतिकोमलान्यबद्धास्थीनि तिन्दुकाम्रफलादीनि, तथा वरुणवटनिम्बादीनामङ्कुरा अनन्तकायिकाः । अनन्तकायलक्षणं चेदम्-"गूढसिरसंधिपव्वं, समभंगमहीरुहं च छिन्नरुहं । साहारणं सरीरं, तव्विवरीअं च पत्तेअं" ॥ १ ॥ एवं लक्षणयुक्ता अन्येऽपि अनन्तकायाः [illegible] याः । यतश्च-"चत्वारो नरकद्वाराः, प्रथमं रात्रिभोजनम् । परस्त्रीसंगमश्चैव, संधानानन्तकायिके" ॥ १ ॥ उक्तमनन्तकायिकम् । ध० २ अधि० । (अनन्तकायिकस्यादाने प्रायश्चित्तं 'पलंब' शब्दे प्रदर्शयिष्यते) ।

अह भंते ! आलुए मूलए सिंगबेरे हिरिली सिरिली सिस्सिरिली किट्टिया छिरिया छीरविरालिया कण्हकंदे वज्जकंदे सूरणकंदे खेलूडे अद्दमुत्था पिंडहलिद्दा लोहीणीहू थिहू थिरुगा मुग्गकण्णी अस्सकण्णी सीहकण्णी सीउंढी मुसुंढी जे यावन्नए तहप्पगारा सव्वे ते अणंतजीवा विविहसत्ता ? । हंता गोयमा ! आलुए मूलए० जाव अणंतजीवा विविहसत्ता ॥ भ० ७ श० ३ उ० । प्रज्ञा० ।

जे भिक्खू अणंतकायसंमिस्सं जुत्तं आहारं आहारेइ आहारंतं वा साइज्जइ ५ ।

जे भिक्खू अणंतिकातो मूलकंदो अल्लगफलादि वा [illegible] संमिस्सं जो भुंजति तस्स चउगुरु ॥

> जे भिक्खू असणादी, भुंजेज्ज अणंतकायसंजुत्तं ।
> सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥

आणादिया दोसा हवंति, इमे दोसा-

> तं कायपरिच्चयओ, तेण य वत्तेण समं वयाति ।
> अतिखद्धे अणुचित्ते, ण य विमूतिकादीणि आय [illegible]

इमा आयविराहणा-तेण रसालेण अतिखद्धेण अणुचित्तेण विसूतिकादी भवे मरेज्ज वा अजीरंतो वा अण्णतरो रोगो [illegible] अ, एवं आयविराहणा, जम्हा एते दोसा तम्हा [illegible] कारणे पुण भुंजेज्जा ।

> असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
> अद्धाण रोहए वा, जयणा इमा तत्थ काय [illegible]

पूर्ववत् इमं वक्ष्यमाणजयणा-

> ओयं निभागमेवं, निभाग आयंबिले चउत्थादि [illegible]
> निम्मिस्से मिस्सेयरा, परित्ताणं ने य जा अणंत [illegible]

अह जत्थ पुणो वक्खमाणो जहा वायंदे अणित्थ [illegible]

इमे णं सव्वलहुस्सो-भोमं पमाणिज्जं हुंजति, निजाणेण वा कणं पमाणिज्जं हुंजति, अद्दं वा पमाणिज्जं, निभागं वा पमाणिज्जं, भागंवलेण वा बन्धति । भत्तट्ठं वा करेति, ण य अणंतकायं सम्मिस्सं भुंजति जाहे जिम्मिसं लभति, जाहे णिम्मिस्सं ण लभति ताहे परित्तकायमिस्सं गेण्हति, जाहे तं पि न लब्भति ताहे अणंतकायमिस्सं गेण्हति, आ य पणगादिजयणा सा दट्ठव्वा । नि० चू० १० उ० ।

अणंतजीविअ-अनन्तजीविक-पुं० । अनन्तकायिकवनस्पतौ, भ० ८ श० ३ उ० ।

अणंतणाण-अनन्तज्ञान-न० । अनन्तं ज्ञेयपर्यायापेक्षया यस्तु ज्ञायते येन तदनन्तज्ञानम् । केवलज्ञाने, दश० ४ अ० ।

अणंतणाणदंसि-(ण्)अनन्तज्ञानदर्शिन्-पुं० । अनन्तं ज्ञानं दर्शनं च यस्यासावनन्तज्ञानदर्शी । केवलज्ञानिनि, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अणंतणाणि (ण्) अनन्तज्ञानिन्-पुं० । अनन्तमविनाश्यनन्तपदार्थपरिच्छेदकं वा ज्ञानं विशेषग्राहकं यस्यासावनन्तज्ञानी । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । उत्पन्नकेवलज्ञाने तीर्थकरे, ज्यो० ६ पाहु० । स० ।

अणंतदंसि (ण्) अनन्तदर्शिन्-पुं० । अनन्तमविनाश्यनन्तपदार्थपरिच्छेदकं दर्शनं सामान्यार्थपरिच्छेदकं यस्य स अनन्तदर्शी । समुत्पन्नकेवलदर्शने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अणंतपएसिय-अनन्तप्रदेशिक-पुं० । अनन्तपरमाण्वात्मके स्कन्धे, भ० ८ श० २ उ० ।

अणंतपार-अनन्तपार-त्रि० । अनन्तः पारः पर्यन्तो यस्य कालस्य स अनन्तपारः । अनादिरहितपर्यन्ते, "केण अणंतं पारं संसारं हिंडई जीवो?" आतु० । "से पन्नया अक्खयसागरे वा, महोदही वा वि अणंतपारे" सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अणंतपासि (ण्) अनन्तदर्शिन्-पुं० । केवले भविष्यति विज्ञानिनि तीर्थङ्करे, नि० ।

अणंतमिस्सिया-अनन्तमिश्रिता-स्त्री० । मूलकादिकमनन्तकायं, तस्यैव सत्कैः परिपाण्डुपत्रैरन्येन वा केनचित् प्रत्येकवनस्पतिना मिश्रमवलोक्य सर्वोऽप्येषोऽनन्तकायिक इति वदतः सत्यमृषाभाषाभेदे, प्रज्ञा० ११ पद । ध० ।

अणंतमीसय-अनन्तमिश्रक-न० । अनन्तविषयकं मिश्रकमनन्तमिश्रकम् । सत्यमृषाभेदे, यथा मूलकन्दादौ परीतपत्रादिमत्यनन्तकायोऽयमित्यभिदधतः । स्था० १० ठा० ।

अणंतमोह-अनन्तमोह-त्रि० । अनन्तोऽपर्यवसितस्तदभावापेक्षया प्रायस्तस्याऽनपगमाद् मुह्यते येनाऽसौ मोहो ज्ञानावरणदर्शनमोहनीयात्मकः । तत्रश्चानन्तो मोहोऽस्येत्यनन्तमोहः । सूत्र० ४ अ० । अविनाशिदर्शनावरणमोहनीयकर्मणि, 'जीवपण्णट्ठे व अणंतमोहे, नेया ऽयं दट्ठुमदट्ठुमेव' सूत्र० ४ अ० ।

अणंतर-अनन्तर-त्रि० । न विद्यतेऽन्तरं व्यवधानं यस्य । ६ ब० । अभ्यर्हिते, सं० । पञ्चा० । निर्व्यवधाने, "अणंतरं देवलोए अणंतरं मणुस्सए भवे किं परं" । भ० १४ श० ७ उ० । कल्प० । "अणंतरं चयं चइत्ता" अव्यवहितं च्यवनं कृत्वेत्यर्थः । (आ० ८ अ०) देवत्वसम्बन्धिनं देहं त्यक्त्वेत्यर्थः । अथवाऽनन्तरम्-आयुःक्षयानन्तरं (चयं ति) च्यवनं (चइत्त त्ति) च्युत्वा, महाविदेहे अनन्तरं शरीरं त्यक्त्वा, च्यवनं वा कृत्वा । विपा० १ श्रु० १ अ० । न विद्यतेऽन्तरं व्यवधानमस्येत्यनन्तरः । वर्त्तमानसमये, स्था० १० ठा० ।

अणंतरखेत्तोगाढ-अनन्तरक्षेत्रावगाढ-त्रि० । आत्मशरीरावगाढक्षेत्रापेक्षया यदनन्तरं क्षेत्रं तत्रावगाढे, 'नो अणंतरखेत्तोगाढे पोग्गले अत्तमायाए आहारेति' । भ० ६ श० १० उ० ।

अणंतरखेदोववण्णग-अनन्तरखेदोपपन्नक-त्रि० । अनन्तरं समयाद्यव्यवहितं खेदेन दुःखेनोपपन्नमुत्पादक्षेत्रप्राप्तिलक्षणं येषां तेऽनन्तरखेदोपपन्नकाः । खेदप्रधानोत्पत्तिप्रथमसमयवर्तिषु नैरयिकादिषु, भ० १४ श० १ उ० । (अत्र दण्डकस्तेषामायुर्बन्धश्च 'आउ' शब्दे द्वि० भा० १४ पृष्ठे वक्ष्यते)

अणंतरगंठिय-अनन्तरग्रन्थित-त्रि० । ३ त० । प्रथमग्रन्थीनामनन्तरव्यवस्थितैर्ग्रन्थिभिः सह ग्रथिते, भ० ५ श० ३ उ० ।

अणंतरच्छेय-अनन्तरच्छेद-पुं० । स्वाङ्गेनैव द्वैधीकरणे, "णहदंतादि अणंतरं णहेहिं दंतेहिं वा जं छिंदति तं अणंतरच्छेयो भण्णति" नि० चू० १ उ० ।

अणंतरणिग्गय-अनन्तरनिर्गत-त्रि० । निश्चितं स्थानान्तरप्राप्त्या गतं गमनं निर्गतम् । अनन्तरं समयादिना निर्व्यवधानं निर्गतं येषां तेऽनन्तरनिर्गताः प्रथमसमये नरकादेरुद्वृत्तेषु स्थानान्तरप्राप्तेषु, भ० १४ श० १ उ० । (अत्र दण्डकस्तेषामायुर्बन्धश्च 'आउ' शब्दे द्वि० भा० १४ पृष्ठे वक्ष्यते)

अणंतरदिट्ठंतय-अनन्तरदृष्टान्तक-पुं० । यः खल्वनन्तरप्रयुक्तोऽपि परोक्षत्वादागमगम्यत्वाद् दार्ष्टान्तिकार्थसाधनायालं न भवति तस्मिन् दृष्टान्तभेदे, दश० १ अ० ।

अणंतरपज्जत्त-अनन्तरपर्याप्त-पुं० । न विद्यते पर्याप्तत्वेऽन्तरं येषां तेऽनन्तराः, ते च ते पर्याप्तकाश्चेत्यनन्तरपर्याप्तकाः । प्रथमसमयपर्याप्तकेषु नैरयिकादिषु, स्था० १० ठा० ।

अणंतरपच्छाकड-अनन्तरपश्चात्कृत-त्रि० । अनन्तरं व्यवधानेन पश्चात्कृतोऽनन्तरपश्चात्कृतः । व्यवधानेन पश्चात्कृते, चं० प्र० ८ पाहु० ।

अणंतरपरंपरअणिग्गय-अनन्तरपरम्परानिर्गत-पुं० । प्रथमसम- [illegible] विग्रहगतौ वर्तन्ते ते ताव- [illegible]

दण्डकस्तेषामायुर्बन्धश्च 'आउ' शब्दे (द्वि०भा० १४ पृष्ठे वक्ष्यते)

अणंतरपरंपरअणुववण्णग-अनन्तरपरम्परानुपपन्नक-पुं० । अनन्तरमव्यवधानं परम्परं च द्विव्यादिसमयरूपमविद्यमानमुपपन्नमुत्पादो येषां ते तथा । विग्रहगतिकेषु, विग्रहगतौ हि द्विविधस्याप्युत्पादस्याविद्यमानत्वादिति । भ० १४ श० १ उ० ।

अणंतरपरंपरखेदाणुववण्णग-अनन्तरपरम्परखेदानुपपन्नक-पुं० । अनन्तरं परम्परं खेदेन नास्ति उपपन्नकं येषां ते तथा । विग्रहगतिवर्तिषु, भ० १४ श० १ उ० ।

अणंतरपुरक्खड-अनन्तरपुरस्कृत-त्रि० । स्वाव्यवहितोत्तरवर्तिनि, "अणंतरपुरक्खडे कालसमयंसि" अनन्तरमव्यवधानेन पुरस्कृतोऽग्रे कृतो यः सोऽनन्तरपुरस्कृतः । अनन्तरं द्वितीय इत्यर्थः । सू० प्र० ८ पाहु० । चं० प्र० ।

अणंतरसमुदाणकिरिया-अनन्तरसमुदानक्रिया-स्त्री० । नास्त्यन्तरं व्यवधानं यस्याः सा अनन्तरा, अव्यवहिता । सा च

इदाऽऽद्येष्वनन्तानुबन्धिव्यपदेशः । शेषकषाया हादयं मिथ्यात्वोदयमात्रेणानन्तानुबन्धीनाम् सत्यपि नाव्यपदेश इत्यवश्यकमेवेत्यामि । कर्म० १ कर्म० । ('कसाय' शब्देऽपि तृ०भा० ३६७पृष्ठे भावितमेतत् विस्तरतः)

अणंताणुबंधिविसंजोयणा-अनन्तानुबन्धिविसंयोजना-स्त्री० । अनन्तानुबन्धिनां कषायाणां विसंयोजनायाम, (विनाशे)। अनन्तानुबन्धिनां कषायाणामुपशमनास्थाने विसंयोजना भवति । क० प्र० । (तत्प्रकार 'उवसम' शब्दे द्वि०भा० १०२० पृष्ठे वक्ष्यते)

अणंतिय-अनन्तिक-न० । अन्तिकमासन्नं तन्निषेधादनन्तिकम्, मनोऽस्वास्थ्यात् । अनासन्ने, भ० ५ श० ४ उ० ।

अणंदमाण-अनन्दमत्-त्रि० । नन्दमनुभवति, नं० ।

अणंद्विय-अनन्दित-त्रि० । अपर्याप्तकत्वादिलक्षणमनन्दितं द्विकुमारत्वं, का० क० ।

अणंध-अनन्ध-पुं० । अन्धपुरनगरेश्वरे राज्ञि, "अंधपुरं नगरं तत्थ अणंधो राया" वृ० ४ उ० । नि० चू० ।

अणंबिल-अनाम्ल-त्रि० । न० त० । स्वस्वादादच्युते, आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० । अनाम्लीभूते ओदनविप्रमुक्ते पानकादौ, नि० चू० १९ उ० ।

अणंसुवाइ [ण्]-अनश्रुपातिन्-पुं० । न अश्रु पातयतीति मार्गादिखेदेऽपि अनश्रुपातनशीले हस्त्यादौ, " जं अणंसुपा-ति भद्दरूपाति अणंसुपाइ " जं० ३ वक्ष० ।

अणकम्म-अनःकर्मन्-न० । अनः शकटम्, तत्कर्म अनः कर्म । शकटशकटाङ्गघटनखेटनविक्रयादौ, ध० । एतच्च पापप्रकृतीनां कारणमिति कृत्वा श्रावकेण त्याज्यम् । यदाह-"शकटानां तदङ्गानां, घटनं खेटनं तथा । विक्रयश्चेति शकटा-जीविका परिकीर्तिता" ॥१॥ तत्र शकटान्यपि चतुष्पदवाह्यानां वाहनानां, तदङ्गानां चक्रादीनां घटनं स्वयं परेण वा निष्पादनं, खेटनं वाहनं च शकटानामेव स्वयं परेण वा विक्रयश्च । शकटादीनां तदङ्गानां चेदं कर्मापि सकलभूतोपमर्दजनकं गवादीनां च वधबन्धादिहेतुः । ध० २ अधि० ।

अणकर-ऋणकर-पुं० । ऋणं पापं करोतीति ऋणकरः । चतुर्विधे गौणप्राणातिपाते, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणक्क [क्ख] अनक्ष-पुं० । म्लेच्छभेदे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणक्खिण्ण-अनाम्नाभिन्न-त्रि० । अनासिते वर्णादिदोषे, " अणिसृट्ठिएहिं अणक्खिण्णेहिं गाणेहिं तस्सपाणविधज्जिएहिं चित्तेहिं चिलि कण्णमाणा विहरंति " भ० ७ श० ५ उ० ।

अणक्खरसुय-अनक्षरश्रुत-न० । इङ्गितद्विरःकम्पनादिनिमित्त मत्माह्वयति वारयति वेत्यादिरूपे अभिप्रायपरिज्ञानरूपकेऽनक्षरश्रुतनिषयभूते श्रुतभेदे, कर्म० १ कर्म० ।

से किं तं अणक्खरसुयं ? । अणक्खरसुयं अणेगविहं पण्णत्तं । तं जहा-"ऊससियं नीससियं, निच्छूढं खासियं च छीयं च । निस्सिंघियमणुसारं, अणक्खरं छेलियाईयं" ॥१॥ सेत्तं अणक्खरसुयं ॥

अथ किं तदनक्षरश्रुतम्-अनक्षरात्मकं श्रुतमनक्षरश्रुतम् । आचार्य आह-अनक्षरश्रुतमनेकविधम्-अनेकप्रकारं प्रज्ञप्तम् । तद्यथा-(ऊर्ध्वश्वासोच्छ्वासादि) उच्छ्वसनमुच्छ्वसितम, भावे निष्ठाप्रत्ययः । तथा निःश्वसनं निःश्वसितम, निष्ठीवनं निष्ठ्यूतम, काशनं काशितम । चशब्दः समुच्चयार्थः । क्षिका क्षुतम् , एवोऽपि । चशब्दः समुच्चयार्थः, परमस्य व्यवहितः प्रयोगः । सिङ्घिकादिकं चेत्येव द्रष्टव्यम । तथा निःसिङ्घितम । अनुस्वारवत्-अनुस्वारमित्यर्थ. । तथा सेंटितादिकं चालङ्कारं श्रुतम् । नं० ।

अथ भाष्यम्-

ऊससियाई दव्वसु-यमेत्तमहवा सुओवउत्तस्स ।
सव्वो चि य वावारो, सुयमिह तो किं न चेट्ठा वि ? ॥

इहोच्छ्वसितादि अनक्षरश्रुतं, द्रव्यश्रुतमात्रमेवावगन्तव्यम; शब्दमात्रत्वात् । शब्दश्च भावश्रुतस्य कारणमेव; यच्च कारणं तद्द्रव्यमेव भवतीति भावः । भवति च तथाविधोच्छ्वसितनिःश्वसितादिश्रवणे शशकोऽयमित्यादि ज्ञानम् । एवं विशिष्टाभिसन्धिपूर्वकनिष्ठ्यूतकासितक्षुतादिश्रवणेऽप्यात्मज्ञानादि ज्ञानं वाच्यमिति । अथवा श्रुतज्ञानोपयुक्तस्यात्मनः सर्वात्मनैवोपयोगात्सर्वोऽप्युच्छ्वसितादिको व्यापारः श्रुतमेवेह प्रतिपत्तव्यमित्युच्छ्वसितादयः श्रुतं भवन्त्येवेति । आह-यद्येवं ततो गमनागमनचक्रमणस्पन्दनादिरूपाऽपि चेष्टा व्यापार एव, ततः श्रुतोपयुक्तसंबन्धिनी सैवाऽपि किं श्रुतं न भवति ? । उच्यते-कः किमाह ? । प्राप्नोत्यनेन न्यायेन साऽपि श्रुतं, किन्तु-

रूढी य तं सुयं सु-व्वइ त्ति चेट्ठा न सुव्वइ कयाइ ।
अहिगमया वण्णा इव, जमणुस्साराइओ तेणं ॥

उक्तन्यायेन श्रुतत्वप्राप्तौ समानायामपि रूढ्योच्छ्वसितादि श्रुतं, न शिरोधूननकरचलनादिचेष्टा ; यतः शास्त्रलोकप्रसिद्धा रूढिरियं तत उच्छ्वसिताद्येव श्रुतं रूढं, न चेष्टेत्यर्थः । श्रूयते इति श्रुतमिति चान्वर्थवशात् । तदेवोच्छ्वसितादि श्रुतम्, न चेष्टेत्येवं चशब्दः पक्षान्तरसूचको भिन्नक्रमश्च । करादिचेष्टा तु दृश्यत्वात्कदापि न श्रूयत इति कथमसौ श्रुतं स्यात् ?, इत्यर्थः । अनुस्वारादयस्त्वकारादिवर्णा इवार्थस्याधिगमका, यदिति तेन कारणेन ते निर्विवादमेव श्रुतमिति गाथार्थः । इत्यनक्षरश्रुतमिति । विशे० ।

छिट्टि त्ति नंदगोव-स्स बालि वच्छे निवारेइ ।
छिट्टि त्ति य मुद्धहए, सेसा लट्ठीनिवाएण ॥

नन्दगोपस्य बालिका क्रीडादिकं रक्षन्ती वत्सकान् वातगोरूपान् छिट्टि इत्यनुकरणानुरूपमनुकार्यमुच्चरन्ती निवारयति । तथा ये मुग्धा हरिणादयस्तानपि छिट्टि इत्येवं निवारयति । शेषास्तु सारङ्गप्रभृतीन् यष्टिनिपातेन निवारयति । अत्र छिट्टि इत्येतदनक्षरमपि वत्सादीनां प्रतिषेधलक्षणार्थप्रतिपत्तिहेतुरूपं जायते, इत्यनक्षरश्रुतम् । वृ० १ उ० । कर्म० । विशे० ।

अणगाराहिय-अगर्हित-त्रि० । परममुनिभिरपि महापुरुषैः सेवितत्वात् सामायिके, आ० म० द्वि० ।

अणगार-अनगार-पुं० । अनगारशब्दो व्युत्पन्नोऽव्युत्पन्नश्च । अव्युत्पन्नः सार्थो, " अनगारो मुनिर्मौनी, साधुः प्रव्रजितो व्रती । श्रमणः क्षपणश्चैव, यतिश्चैकार्थवाचकाः" ॥१॥ इति । सूत्र० । व्युत्पन्नोऽगारशब्दो द्विधा-द्रव्यभावभेदात् । तत्र द्रव्यागारमगेहमृत्स्नादिनिर्वृत्तम, भावागारं पुनरगविधाककालेऽपि जीवविपाकितया शरीरपुद्गलादिषु बहिःप्रवृत्तिर्यदि तदनन्तानुबन्ध्यादिनिर्वृत्तं कषायमोहनीयम । तत्र द्रव्यागारपक्षे नञ् तु निषेधे । अविद्यमानगृहे, भावागारपक्षे त्वल्पकषायमोहनीये;

इह हेके कुतीर्थिका यतिवेषमास्थाय वयञ्च प्रवदन्ति-वयमनगाराः प्रव्रजिताः। न च तेषु गुणेषु निरवद्यानुष्ठानरूपेषु वर्तन्ते येऽनगाराः। यथा चानगारगुणेषु न वर्तन्ते तद्दर्शयति-यतस्तेऽहर्निशं पृथिवीजन्तुविपत्तिकारिणो दृश्यन्ते शुद्धपाणिपादप्रक्षालनार्थम्, अन्यथाऽपि निर्लेपनिर्गन्धत्वं कर्तुं शक्यम्। अतश्च ते गुणकथापरिभ्रष्टाः, न वाक्यमात्रेण युक्तिनिरपेक्षेणानगारता भवतीत्यनेन प्रयोगः सूचितः। तत्र गाथापूर्वार्धेन प्रतिज्ञा, पश्चार्धेन हेतुः, उत्तरगाथार्धेन साधर्म्यदृष्टान्तः। स चायं प्रयोगः-तीर्थिका यत्याभिधानवादिनोऽपि यतिगुणेषु न वर्तन्ते, पृथिवीहिंसाप्रवृत्तत्वात्, इह ये ये पृथिवीहिंसाप्रवृत्तास्ते ते यतिगुणेषु न वर्तन्ते, गृहस्थवत्। साम्प्रतं दृष्टान्तगर्भं निगमनमाह-[अणेत्यादि] अनगारवादिनः-वयं यतय इति वदनशीलाः पृथिवीकायविहिंसकाः सन्तो निर्गुणाः, यतोऽगारिसमा गृहस्थतुल्या भवन्ति। अभ्युपगममाह-'अचेतना पृथिवी' इत्येवं ज्ञानरहितत्वेन तत्समारम्भवर्तिनः सदोषा अपि सन्तो वयं निर्दोषा इत्येवं मन्यमानाः स्वदोषप्रेक्षाविमुखत्वान्मलिनाः कलुषितहृदयाः, पुनरभिनिवेशगृहीततया साधुजनाभिमताया निरवद्यानुष्ठानात्मिकाया विरतेः जुगुप्सया निन्दया मलिनतरा भवन्ति। अनया च साधुनिन्दयाऽनन्तसंसारित्वं प्रदर्शितं भवतीति। आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ०। "अणगारे पासंडी, चरगे तह बंभणे चेव" इति। दश० १० अ०। "युक्तः प्रव्रजितो मुक्तो-ऽनगारश्चरकस्तपा" । हा० २७ हा०।

(४) किमसंवृतोऽनगारो न सिध्यति, किन्तु संवृत इति दर्शयन्नाह-ननु यद्यपि ज्ञानादिमोक्षहेतुत्वे दर्शन एव यतितव्यम्, सर्वेषां मोक्षहेतुत्वात्। यदाह-"भट्ठेण चरित्ताओ, सुट्ठुयरं दंसणं गहेयव्वं। सिज्झंति चरणरहिया, दंसणरहिया ण सिज्झंति" ॥१॥ इति यो मन्येत तं शिक्षयितुं प्रश्नयन्नाह—

असंवुडे णं भंते ! अणगारे सिज्झति बुज्झति मुच्चति परिणिव्वाति सव्वदुक्खाणमंतं करेति ? ।

प्रश्नसूत्रं सुगमम्। उत्तरमाह—

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं भंते ! जाव अंतं न करेति ?। गोयमा ! असंवुडे अणगारे आउयवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ सिढिलबंधणबद्धाओ धणियबंधणबद्धाओ पकरेइ, हस्सकालट्ठितीयाओ दीहकालट्ठितीयाओ पकरेइ, मंदाणुभावाओ तिव्वाणुभावाओ पकरेइ, अप्पपदेसग्गाओ बहुप्पदेसग्गाओ पकरेइ। आउयं च णं कम्मं सिय बंधइ, सिय नो बंधइ, असायावेयणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणइ, अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरियट्टति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! असंवुडे अणगारे णो सिज्झइ ॥

[illegible] । नवरं (णो इणट्ठे समट्ठे त्ति) नो नैव, [illegible] अर्थः, समर्थो बलवान्, [illegible] । [आउयवज्जाओ त्ति] [illegible] [सिढिलबंधणबद्धाओ त्ति] [illegible] वा, [illegible] वा, तेन बद्धा [illegible]

कथञ्चिदभावादिति शिथिलबन्धनबद्धाः। एताश्चाशुभा द्रष्टव्याः, असंवृतभावस्य निन्दाप्रस्तावात्। ताः किम्भूताः [धणियबंधणबद्धाओ पकरेइ त्ति] गाढतरबन्धनबद्धा बद्ध-निधत्तावस्था वा, निकाचितावस्था वा प्रकरोति। प्रशब्दादि-कर्मार्थत्वात्कर्तुमारभ्यते, असंवृतत्वस्य शुभयोगरूपत्वेन गाढतरप्रकृतिबन्धहेतुत्वात्। आह च-'जो गायपडिपक्खमिति' पुन्यनाद्ये त्वसंवृतत्वस्य ताः करोतीत्येवेति। तथा-ह्रस्वकालस्थितिका दीर्घकालस्थितिकाः प्रकरोति, तत्र स्थितिर्बद्धस्य कर्मणोऽवस्थानं, तामल्पकालां महतीं करोतीत्यर्थः, असंवृतत्वस्य कषायरूपत्वेन स्थितिबन्धहेतुत्वात्। आह च-'ठिइअणुभागं कसायओ कुणइ त्ति'। तथा [मंदाणुभावेत्यादि] अनुभावो विपाकः, रसविशेष इत्यर्थः; ततश्च मन्दानुभावाः परिमन्दरसाः सतीर्गाढरसाः प्रकरोति। असंवृतत्वस्य कषायरूपत्वेन अनुभागबन्धस्य च कषायप्रत्ययत्वादिति। [अप्पपएसग्गाओ इत्यादि] अल्पं स्तोकं प्रदेशाग्रं कर्मदलिकपरिमाणं यासां तास्तथा, ताः बहुप्रदेशाग्राः प्रकरोति प्रदेशबन्धस्यापि योगप्रत्ययत्वादसंवृतत्वस्य च योगरूपत्वादिति। [आउयं चेत्यादि] आयुः पुनः, कर्म, स्यात् कदाचिद्, बध्नाति, स्यान्न बध्नाति। यस्मात् त्रिभागाद्यवशेषायुषः परभवायुः प्रकुर्वन्ति, तेन यदा त्रिभागादिस्तदा बध्नाति, अन्यदा न बध्नातीति तथा। [असायवेयणिज्जं] असातवेदनीयं च दुःखवेदनीयं कर्म पुनर्भूयोभूयः पुनःपुनरुपचिनोति उपचितं करोति। ननु कर्मसप्तकान्तर्वर्तित्वादसातवेदनीयस्य पूर्वोक्तविशेषणेभ्य एव तदुपचयप्रतिपत्तेः किमर्थं भेदेन ग्रहणेन ?। इत्यत्रोच्यते—असंवृतोऽत्यन्तदुःखितो भवतीत्यस्यार्थस्य प्रतिपादनेन भयजननादसंवृतत्वपरिहारार्थमिदमित्यपुनरुक्तिः। [अणाइयं ति] अनादिकं अविद्यमानादिकम्, अनादिकं वा विद्यमानस्वजनम्, ऋणं वा अतीतम्, ऋणमल्पमप्यस्य दुःखकारणत्वादुःखनानिमित्ततयेति ऋणातीतम्। अणं वा इदं पापमतिशयेनेतं गतम्—अणातीतम् [अणवयग्गं ति] 'अणवयग्गं ति' देशीवचनोऽन्तवाचकस्ततश्चाविद्यमानः 'अणवयग्गं' अनन्तमित्यर्थः। अथवा अवनतमासन्नमग्रमन्तो यस्य तदवनताग्रम्, तन्निषेधादनवनताग्रमेतदेवर्णनाच्चादनवताग्रमिति। अनवताग्रम् [दीहमद्धं ति] दीर्घाद्धं दीर्घकालं, दीर्घाध्वं वा दीर्घमार्गम्। [चाउरंत त्ति] चतुरन्तं देवादिगतिभेदाच्चतुर्विभागं तदेवार्थिकापत्ययोपादानाच्चातुरन्तम्। [संसारकंतारं ति] भवारण्यम् [अणुपरियट्टइ त्ति] पुनः पुनर्भ्रमतीति ॥

असंवृतस्य तावदिदं फलं, संवृतस्य तु यत्स्यात्तदाह-

संवुडे णं भंते ! अणगारे सिज्झइ ? । हंता सिज्झइ जाव अंतं करेइ। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?। गोयमा ! संवुडे णं अणगारे आउयवज्जाओ सत्तकम्मपगडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेइ, दीहकालट्ठितीयाओ हस्सकालट्ठितीयाओ पकरेइ, तिव्वाणुभावाओ मंदाणुभावाओ पकरेइ, बहुपदेसग्गाओ अप्पपदेसग्गाओ पकरेइ, आउयं च णं कम्मं न बंधइ, असायावेयणिज्जं च णं कम्मं णो भुज्जो भुज्जो उवचिणइ, अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं वीईवयइ। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं संवुडे अणगारे सिज्झइ जाव अंतं करेइ।

(संवुडे णमित्यादि) व्यक्तम्, नवरं, संवृतोऽनगारः प्रमत्तसंयतादिः, स च चरमशरीरः स्यादचरमशरीरो वा, तत्र यश्चरमशरीरस्तदपेक्षयेदं सूत्रम्, यस्त्वचरमशरीरस्तदपेक्षया पारम्पर्येण सूत्रार्थोऽवसेयः । ननु पारम्पर्येणासंवृतस्यापि सूत्रोक्तार्थस्याऽवश्यंभावः, यतः शुक्लपाक्षिकस्यापि मोक्षोऽवश्यंभावी, तदेवं संवृतासंवृतयोः फलतो भेदाभाव एवेति । अत्रोच्यते-सत्यम्, किन्तु संवृतस्य पारम्पर्यं तदुत्कर्षतः सप्ताष्टभवप्रमाणम् । यतो वक्ष्यति-"जहन्नियं चारित्ताराहणं आराहित्ता सत्तट्ठभवग्गहणेहिं सिज्झइ त्ति" । यच्चाऽसंवृतस्य पारम्पर्यं तदुत्कर्षतोऽपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तमानमपि स्यात्, विराधनाफलत्वात् तस्येति । (वीईवयइ त्ति) व्यतिव्रजति, व्यतिक्रामतीत्यर्थः । भ० १ श० १ उ० ।

(५) अनगारस्य भावितात्मनोऽसिधारादिष्ववगाहना—

रायगिहे जाव एवं वयासी-अणगारे णं भंते ! भावियप्पा असिधारं वा खुरधारं वा ओगाहेज्जा ? । हंता ओगाहेज्जा । से णं तत्थ छिज्जेज्ज वा भिज्जेज्ज वा ? । णो इणट्ठे समट्ठे, णो खलु तत्थ सत्थं कमइ । एवं जहा पंचमसए परमाणुपोग्गले वत्तव्वया जाव । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा उदावत्तं वा जाव । णो खलु तत्थ सत्थं कमइ ।

[रायगिहे इत्यादि] इह चानगारस्य क्षुरधारादिषु प्रवेशो वैक्रियलब्धिसामर्थ्यादवसेयः । [एवं जहा पंचमसए इत्यादि] अनेन च यत्सूचितं तदिदम्-"अणगारे णं भंते ! भावियप्पा अगणिकायस्स मज्झं मज्झेणं वीईवएज्जा ?, हंता वीईवएज्जा, से णं तत्थ झियाएज्जा ? । नो इणट्ठे समट्ठे, नो खलु तत्थ सत्थं कमइ " इत्यादि । भ० १८ श० १० उ० ।

[६] अनगारस्य भक्तप्रत्याख्यातुराहारः—

भत्तपच्चक्खायए णं भंते ! अणगारे मुच्छिए अज्झोववण्णे आहारमाहारेइ, अहे णं वीससाए कालं करेइ, तओ पच्छा अमुच्छिए अगिद्धे जाव अणज्झोववण्णे आहारमाहारेति ? । हंता गोयमा ! भत्तपच्चक्खायए णं अणगारे तं चेव । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ भत्तपच्चक्खायए णं तं चेव ? । गोयमा ! भत्तपच्चक्खायए णं अणगारे मुच्छिए जाव अज्झोववण्णे आहारे भवइ, अहे णं वीससाए कालं करेइ, तओ पच्छा अमुच्छिए जाव आहारे भवइ, से तेणट्ठेणं जाव आहारमाहारेइ ॥

(भत्तेत्यादि) तत्र (भत्तपच्चक्खायए णं ति) अनशनी मूर्च्छितः संजातमूर्च्छः जाताहारसंरक्षणानुबन्धस्तद्दोषविषये वा मूढः 'मुर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः' इति वचनात्, यावत्करणादिदं दृश्यम्-(गढिए) ग्रथित आहारविषयस्नेहतन्तुभिः सन्दर्भितः, 'ग्रन्थ ग्रन्थ सन्दर्भे' इति वचनात् । (गिद्धे) गृद्धः प्राप्ताहारे आसक्तः, अतृप्तत्वेन वा तदाकाङ्क्षावान्, 'गृधु अभिकाङ्क्षायाम्' इति वचनात् । (अज्झोववण्णे ति) अध्युपपन्नोऽप्राप्ताहारचिन्तायामाधिक्येनोपपन्नः । आहारं वायुतैलाभ्यङ्गादिकम्, ओदनादिकं वाऽन्यथादार्यं तीव्रक्षुद्वेदनीयकर्मोदयादसमाधौ सति तदुपशमनाय प्रयुक्तमाहारयत्युपभुङ्क्ते । (अहे णं ति) अथाहारानन्तरं विस्रसया स्वभावत एव, (कालं ति) कालो मरणं, काल इव कालो मारणान्तिकसमुद्घातः, तं करोति याति । (तओ पच्छ त्ति) ततो मारणान्तिकसमुद्घातादनन्तरं तस्मादिवृत्त इत्यर्थः । अमूर्च्छितादिविशेषणविशिष्ट आहारमाहारयति, प्रशान्तपरिणामसद्भावादिति प्रश्नः । अथोत्तरम् [हंता गोयमेत्यादि] अनेन तु प्रश्नार्थ एवाभ्युपगतः, कस्यापि भक्तप्रत्याख्यातुरेवंविधभावस्य सद्भावादिति । भ० १४ श० ७ उ० ।

[७] शैलेशीप्रतिपन्नस्यानगारस्य एजना—

सेलेसिपडिवन्नए णं भंते ! अणगारे सया समियं एयति वेयति जाव तं तं भावं परिणमइ ? । णो इणट्ठे समट्ठे, णण्णत्थेगेणं परप्पओगेणं ॥

(नो इणट्ठे समट्ठे ति) योऽयं निषेधः सोऽन्यत्रैकस्मात्परप्रयोगादेजनादिकारणेषु मध्ये परप्रयोगलक्षणेन शैलेश्यामेजनादि भवति, न कारणान्तरेणेति भावः । भ० १७ श० ३ उ० ।

[८] अनगारो भावितात्माऽऽत्मनः कर्मलेश्याशरीरं जानाति—

अणगारे णं भंते ! भावियप्पा अप्पणो कम्मलेस्सं ण जाणइ, ण पासइ, तं पुण जीवं सरूविं सकम्मलेस्सं जाणइ, पासइ ? । हंता गोयमा ! अणगारे णं भावियप्पा अप्पणो जाव पासइ ।

(अणगारे णमित्यादि) अनगारो भावितात्मा संयमभावनया वासितान्तःकरणः, आत्मन सम्बन्धिनीं कर्मणो योग्या लेश्या कृष्णादिका, कर्मणो वा लेश्या, " लिश श्लेषणे " इति वचनात् । सम्बन्धः कर्मलेश्या, तां न जानाति विशेषतो न पश्यति च, सामान्यतः कृष्णादिलेश्याया, कर्मद्रव्यलेश्यात्वेन चाक्षुषत्वेन छद्मस्थज्ञानागोचरत्वात् । (तं पुण जीवं ति) यो जीवः कर्मलेश्यावानात्मा पुनर्जीवमात्मानं (सरूविं ति) सह रूपेण रूपरूपवतोरभेदोपचाराच्छरीरेण वर्णेन योऽसौ [सरूपसम्बन्धिः] सरूपी, तं सशरीरमित्यर्थः । अत एव सकर्मलेश्यं कर्मलेश्यया सह वर्तमानं जानाति शरीरस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वात् जीवस्य च कथंचिच्छरीराव्यतिरेकादिति "सरूविं सकम्मलेसं ति" । भ० १४ श० ९ उ० । (अनगारस्य अनायुक्तं गच्छतः क्रियाः ' किरिया ' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यते)

(९) अनगारस्य भावितात्मनः क्रिया—

रायगिहे जाव एवं वयासी—अणगारस्स णं भंते ! भावियप्पणो पुरओ दुहओ जुगमायाए पेहाए रीयं रीयमाणस्स पायस्स अहे कुक्कुडपोते वा वट्टापोते वा कुलिंगच्छाए वा परियावज्जेज्जा, तस्स णं भंते ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ ? । गोयमा ! अणगारस्स णं भावियप्पणो जाव तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ, णो संपराइया किरिया कज्जइ । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? । जहा सत्तमसए संवुडुद्देसए जाव अट्ठो णिक्खित्तो सेवं भंते ! भंते त्ति जाव विहरइ । तए णं समणे भगवं महावीरे जाव विहरइ ॥

(पुरओ त्ति) अग्रतः (दुहओ त्ति) द्विधाऽन्तराऽन्तरा पार्श्वतः पृष्ठतश्चेत्यर्थः (जुगमायाए त्ति) युगमात्रया दृष्ट्या (पेहाए त्ति) प्रेक्ष्य (रीयं ति) गतं गमनं, (रीयमाणस्स त्ति) कुर्वतः इत्यर्थः । (कुक्कुडपोते त्ति) कुक्कुटडिम्भः (वट्टापोते त्ति) इह वर्त्तका पक्षिविशेषः । (कुलिंगच्छाए व त्ति) पिपीलिकादिसदृशः । (परियावज्जेज्ज त्ति) पर्यापद्येत म्रियेत, एवं जहा सत्तमसए इत्या-

[illegible] सन्ति [illegible] केनापीन म[illegible] ! [illegible] भवन्ति [illegible] । [जाव अहो निक्खित्तो [illegible]] इति [illegible] निर्वचनः स प्रयोच्यते- [illegible]] श० १८ उ० ८ उ० ।

[illegible] णं भंते ! [illegible] कई उदेणं अणि- [illegible] णं पुरच्छिमेणं अ- [illegible] वा पर्दं वा जाव [illegible] वा आकं- [illegible] वा पमारेसए [illegible] जे [illegible] णो तस्स [illegible] ! हंता [illegible] भंते ! भंते त्ति ।

[illegible]

पमा ! जस्स णं कोहमाणमायालोभा [illegible] पउमुद्देसए जाव से णं उस्सुत्तमेव रीयइ । [illegible] संपराइया किरिया कज्जइ । संवुडस्स णं [illegible] रस्स अवीइपंथे ठिच्चा पुरओ रूवाइं [illegible] जाव तस्स णं भंते ! किं इरियावहिया [illegible] पुच्छा । गोयमा ! संवुड० जाव तस्स णं [illegible] रिया कज्जइ, णो संपराइया किरिया कज्जइ । [illegible] भंते ! जहा सत्तमसए सत्तमुद्देसए जाव से णं [illegible] रीयइ, से तेणट्ठेणं जाव णो संपराइया किरिया [illegible]

(रायगिहे इत्यादि) तत्र (संवुडस्स त्ति) संवृतस्य [illegible] प्राणातिपातायाश्रवद्वारसंवरोपेतस्य [illegible] वीचिशब्दः सम्प्रयोगे । [illegible] कषायाणां जीवस्य च [illegible] वीचिमतः कषायवतः, [illegible] " विचिर पृथग्भावे " इति वचनात् [illegible] यथाख्यातसंयमात् [illegible] [illegible] । [illegible] पश्चिमयस्थाने [illegible] (पंथे त्ति) मार्गे ([illegible] त्ति) [illegible] [illegible] ([illegible] त्ति) [illegible] [illegible] इरियावहिया किरिया कज्जइ [illegible]

[illegible]

तेएठे एं गोयमा ! जाव णो संपराइया किरिया कज्जइ । भ० ३ श० ३ उ० ।

(११) अनगारस्य गत्युपपातौ-

रायगिहे जाव एवं वयासी-अणगारे णं भंते ! भावियप्पा चरमं देवावासं वीइक्कंते परमं देवावासं असंपत्ते एत्थ णं अंतरा कालं करेज्जा, तस्स णं भंते ! कहिं गई कहिं उववाए पप्पत्ते ?। गोयमा ! जे से तत्थ परिस्सओ तल्लेस्सा देवावासा तहिं तस्स गई, तहिं तस्स उववाए पएणत्ते। से य तत्थ गए विराहेज्जा, कम्मलेस्सामेव पडिवडइ, से य तत्थ गए णो विराहेज्जा, तामेव लेस्सं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ।

[चरमं देवावासं वीइक्कंते परमं देवावासं असंपत्ते त्ति] च-रमं-अर्वाग्भागवर्तिनं स्थित्यादिभिर्देवावासं सौधर्मादिदेवलोकं व्यतिक्रान्तः उपपातहेतुभूतलेश्यापरिणामापेक्षया ...मं परभागवर्तिनं स्थित्यादिभिरेव देवावासं सनत्कुमारादिकं तथाविधलेश्यापरिणामाभावादसंप्राप्तः, इदमुक्तं भवति-प्रशस्तेष्वध्यवसायस्थानेषूत्तरोत्तरेषु वर्तमानः आराधकत्वेन सौधर्मादिगतदेवस्थित्यादिबन्धयोग्यतामतिक्रान्तः परभागवर्तिसनत्कुमारादिगतदेवस्थित्यादिबन्धयोग्यतां चाप्राप्तः । [एत्थ णं अंतर त्ति] इहावसरे [कालं करेज्ज त्ति] म्रियेत यदा तदा क्वोत्पाद इति प्रश्नः। उत्तरं तु-[जे से तत्थ त्ति] अथ ये तस्येति तयोश्चरमदेवावासपरमदेवावासयोः परिपार्श्वतः समीपे सौधर्मादेरासन्नाः सनत्कुमारादेर्वा आसन्नास्तयोर्मध्यभागे ईशानादौ । इत्यर्थः । [तल्लेस्सा देवावास त्ति] यस्यां लेश्यायां वर्तमानः साधुर्मृतः सा लेश्या येषु ते तल्लेश्या देवावासाः [तहिं ति] तेषु देवावासेषु तस्यानगारस्य गति-र्भवतीति, यत उच्यते-'जल्लेसे मरइ जिए, तल्लेसे चेव उववज्जे' इति । [से य त्ति] स पुनरनगारस्तत्र मध्यमभागवर्तिनि देवा-वासे गतः [विराहेज्ज त्ति] येन लेश्यापरिणामेन तत्रोत्पन्नस्तं परिणामं यदि विराधयेत् तदा [कम्मलेस्सामेव त्ति] कर्मणः सकाशाद्या लेश्या जीवपरिणतिः सा कर्मलेश्या, भावलेश्येत्यर्थः । तामेव प्रतिपतति-तस्या एव प्रतिपतति अशुभतरां यातीत्यर्थः, न तु द्रव्यलेश्यायाः प्रतिपतति । सा हि प्राक्तन्येवास्ते ...ऽवस्थितलेश्यात्वाद्देवानामिति पक्षान्तरमाह--[से य ...विराधयेत्] सोऽनगारस्तत्र मध्यमदेवावासे गतः सन् यदि ...विराधयेत् तं परिणामं, तदा तामेव लेश्यां यथोत्पन्न उपसं-...पद्य विहरत्यास्त इति । इदं सामान्यदेवावासमाश्रित्यो...

अथ विशेषितं तमेवाश्रित्याह--

...णगारे णं भंते ! भावियप्पा चरमं असुरकुमारावासं ...ते, परमं असुर० एवं चेव० एवं जाव थणियकुमारा-...सं, ...इसियावासं एवं वेमाणियावासं जाव विहरति ॥ ...भावितात्माऽनगारः स कथमसुरकुमारेषूत्पत्स्यते, ...संयमवतां तत्रोत्पादाभावादिति ?। उच्यते-पूर्वकालापेक्षया ...संयमकाले च संयमविराधनासद्भावादसुरकुमा-...पाद इति न दोषः । बालतपस्वी वाऽयं भावितात्मा ...ति । भ० १४ श० १ उ० ।

(१२) असंवृतस्यानगारस्य विकुर्वणा-

असंवुडे णं भंते ! अणगारे बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू एगवर्ण एगरूवं विउव्वित्तए ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । असंवुडे णं भंते ! अणगारे बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता पभू ! एगवएणं एगरूवं जाव । हंता । पभू ! से भंते ! किं इह गए पोग्गले परियाइत्ता विउव्वइ, तत्थ गए पोग्गले परियाइत्ता विउव्वइ, अएणत्थ गए पोग्गले परियाइत्ता विउव्वइ ?। गोयमा ! इह गए पोग्गले परियाइत्ता विउव्वइ, नो तत्थ गए पोग्गले परियाइत्ता विउव्वइ, नो अएणत्थ गए पोग्गले जाव विउव्वइ, एवं एगवएणं अणेगरूवं चउभंगो जहा छट्ठसए नवमे उद्देसए तहा इहावि भाणियव्वं, नवरं अणगारं इह गए य पोग्गले परियाइत्ता विउव्वइ, सेसं तं चेव जाव लुक्खपोग्गलं णिद्ध-पोग्गलत्ताए परिणामेत्तए ?। हंता । पभू ! से भंते ! किं इह गए पोग्गले परियाइत्ता जाव नो अएणत्थ गए पोग्गले परियाइत्ता विउव्वइ ।

असंवृतः प्रमत्तः (इह गए त्ति) इह पृच्छको गौतमः, तदपेक्षया इहशब्दवाच्यो मनुष्यलोकस्ततश्च इहगतान् नरलोकव्यवस्थितान् (तत्थ गए त्ति) वैक्रियं कृत्वा तत्र यास्यति तत्र व्यवस्थितानित्यर्थः। (अएणत्थ गए त्ति) उक्तस्थानद्वयव्यतिरिक्तस्थानाश्रितानित्यर्थः। (नवरं ति) अयं विशेषः-(इह इति) इह स्थाने, अनगार इति, इहगतान् पुद्गलानिति च वाच्यम् । तत्र तु देवरति, तत्र गतानिति चोक्तमिति । भ० ७ श० ६ उ० ।

[१३] केयाघटिकालक्षणकृत्यादिविकुर्वणा—

रायगिहे जाव एवं वयासी-से जहाणामए केइ पुरिसे केयाघडियं गहाय गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि भावियप्पा केयाघडिया किच्चहत्थगएणं अप्पाणेणं उड्ढं वेहासं उप्पएज्जा ?। हंता गोयमा ! जाव समुप्पएज्जा । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा केवइयाइं पभू ! केयाघडियं किच्चहत्थगयाइं रूवाइं विउव्वित्तए ?। गोयमा ! से जहाणामए जुवतिं जुवाणे हत्थेणं हत्थं एवं जहा तइयसए पंचमोद्देसए जाव णो चेव णं संपत्तीए विउव्विंसु वा विउव्विंति वा विउव्विस्संति वा से जहाणामए केइ पुरिसे हिरएणपेलं गहाय गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि भावियप्पा हिरएणपेलहत्थकिच्चगएणं अप्पाणेणं सेसं तं चेव । एवं सुवएणपेलं एवं रयणपेलं वयरपेलं वत्थपेलं आभरणपेलं, एवं वियलकिडं सुंबकिडं चम्मकिडं कंबलकिडं, एवं अयभारं तंबभारं तउयभारं सीसगभारं हिरएणभारं सुवएणभारं वइरभारं से जहाणामए वग्गुली सिया दोवि पाए उलंबिय उलंबिय उड्ढं पाया अहो सिरा चिट्ठेज्जा, एवामेव अणगारे वि भावियप्पा वग्गुली किच्चगएणं अप्पाणेणं उड्ढं वेहासं । एवं जएणो वइयवत्तव्वया भाणियव्वा जाव विउव्विस्संति वा से जहाणामए जलोया सिया

वा विउव्वित्तए ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता पभू ! एगं महं इत्थिरूवं वा जाव संदमाणियरूवं वा विउव्वित्तए ?। हंता ! पभू ! अणगारे णं भंते ! भावियप्पा केवइयाइं पभू ! इत्थिरूवाइं विउव्वित्तए ?। गोयमा ! से जहानामए जुवइं जुवाणे हत्थेण हत्थं गेण्हेज्जा, चक्कस्स वा नाभी अरगा उत्ता सिया, एवामेव अणगारे वि भावियप्पा वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ जाव पभू णं ?। गोयमा ! अणगारे णं भावियप्पा केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं बहूहिं इत्थिरूवेहिं आइण्णं वितिकिण्णं जाव एस णं गोयमा ! अणगारस्स भावियप्पणो अयमेयारूवे विसए विसयमेत्ते बुइए नो चेव णं संपत्तीए विउव्विंसु वा ३, एवं परिवाडीए नेयव्वं जाव संदमाणिया । से जहानामए केइ पुरिसे असिचम्मपायं गहाय गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे वि भावियप्पा असिचम्मपायहत्थकिच्चगएणं अप्पाणेणं उड्ढं वेहासं उप्पएज्जा ?। हंता उप्पएज्जा । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा केवइयाइं पभू ! असिचम्मपायहत्थकिच्चगयाइं रूवाइं विउव्वित्तए ?। गोयमा ! से जहानामए जुवइं जुवाणे हत्थेणं हत्थं गेण्हेज्जा तं चेव जाव विउव्विंसु वा ३, से जहानामए केइ पुरिसे एगओ पडागं काउं गच्छेज्जा, एवामेव अणगारे भावियप्पा एगओ पडागा हत्थकिच्चगएणं अप्पाणेणं उड्ढं वेहासं उप्पएज्जा ?। हंता गोयमा ! । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा केवइयाइं पभू ! एगओ पडागा हत्थकिच्चगयाइं रूवाइं विउव्वित्तए, एवं जाव विउव्विंसु वा ३, एवं दुहओ पडागं पि से जहानामए केइ पुरिसे एगओ जण्णोवइयं काउं गच्छेज्जा । एवामेव अणगारे वि भावियप्पा एगओ जण्णोवइय किच्चगएणं अप्पाणेणं उड्ढं वेहासं उप्पएज्जा ?। हंता उप्पएज्जा । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा केवइयाइं पभू ! एगओ जण्णोवइयं किच्चगयाइं रूवाइं विउव्वित्तए, तं चेव जाव विउव्विंसु वा ३ । एवं दुहओ जण्णोवइयं पि । से जहानामए केइ पुरिसे एगओ पल्हत्थियं काउं चिट्ठेज्जा, एवामेव अणगारे भावियप्पा तं चेव जाव विउव्विंसु वा ३ । एवं दुहओ पल्हत्थियं पि, से जहानामए केइ पुरिसे एगओ पलियंकं काउं चिट्ठेज्जा, तं चेव विउव्विंसु वा ३ । एवं दुहओ पलियंकं पि । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू ! एगं महं आसरूवं वा हत्थिरूवं वा सीहरूवं वा वग्घवगदीविय अच्छतरच्छपरासररूवं वा अभिजुंजित्तए ?। णो इणट्ठे समट्ठे । अणगारे णं एवं बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता पभू ! अणगारे णं भंते ! भावियप्पा एगं महं आसरूवं वा अभिजुंजित्ता अणेगाइं जोयणाइं गमित्तए ?। हंता ! पभू ! से भंते ! किं आयड्ढीए गच्छइ, परिड्ढीए गच्छइ ?। गोयमा ! आयड्ढीए गच्छइ नो परिड्ढीए । एवं आयकम्मुणा परकम्मुणा आयप्पओगेणं परप्पओगेणं उस्सिओदयं वा गच्छइ, पयोदयं वा गच्छइ । से णं भंते ! किं अणगारे आसे ?। गोयमा ! अणगारे णं से नो खलु से आसे, एवं जाव परासररूवे वा । से भंते ! किं मायी विकुव्वइ, अमायी विकुव्वइ ?। गोयमा ! मायी विकुव्वइ, नो अमायी विकुव्वइ । मायी णं भंते ! तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेइ कहिं उववज्जइ ?। गोयमा ! अण्णयरेसु आभियोगेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववज्जइ । अमायी णं तस्स ठाणस्स आलोइय पडिक्कंते कालं करेइ, कहिं उववज्जइ ?। गोयमा ! अण्णयरेसु अणाभियोगिएसु देवलोएसु देवत्ताए उववज्जइ, सेवं भंते ! भंते त्ति । गाहा –" इत्थी असीपडागा, जण्णोवइए य होइ बोधव्वो । पल्हत्थिय पलियंके, अभियोगविकुव्वणा मायी ॥१॥" तइयसए पंचमोद्देसो सम्मत्तो । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा मायी मिच्छद्दिट्ठी वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए विभंगनाणलद्धीए वाणारसिं नगरिं समोहए समोहणित्ता रायगिहे नगरे रूवाइं जाणइ पासइ ?। हंता जाणइ पासइ । से भंते ! किं तहाभावं जाणइ पासइ, अण्णहाभावं जाणइ पासइ ?। गोयमा ! णो तहाभावं जाणइ पासइ, अण्णहाभावं जाणइ पासइ । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–नो तहाभावं जाणइ पासइ, अण्णहाभावं जाणइ पासइ ?। गोयमा ! तस्स णं एवं भवइ, एवं खलु अहं रायगिहे नगरे समोहए समोहणित्ता वाणारसीए नयरीए रूवाइं जाणामि पासामि, से से दंसणे विवच्चासे भवइ, से तेणट्ठेणं जाव पासइ, अणगारे णं भंते ! मायी मिच्छद्दिट्ठी जाव रायगिहे नगरे समोहए समोहणित्ता वाणारसीए नयरीए रूवाइं जाणइ पासइ ?। हंता जाणइ पासइ, तं चेव जाव तस्स णं एवं होइ, एवं खलु अहं वाणारसीए नयरीए समोहए समोहणित्ता रायगिहे नगरे रूवाइं जाणामि पासामि, से से दंसणे विवच्चासे भवइ, से तेणट्ठेणं जाव अण्णहाभावं जाणइ पासइ, अणगारे णं भंते ! भावियप्पा मायी मिच्छद्दिट्ठी वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए विभंगलद्धीए वाणारसिं नगरिं रायगिहं च नगरं अंतराए एगं महं जणवयवग्गं समोहए समोहणित्ता वाणारसिं नगरिं रायगिहं च अंतरा एगं महं जणवयवग्गं जाणइ पासइ ?। हंता जाणइ पासइ । से भंते ! किं तहाभावं जाणइ पासइ, अण्णहाभावं जाणइ पासइ ?। गोयमा ! णो तहाभावं जाणइ पासइ, अण्णहाभावं जाणइ पासइ । से केणट्ठेणं जाव पासइ ?। गोयमा ! तस्स खलु एवं भवइ, एस खलु वाणारसीए नयरीए एस खलु रायगिहे नगरे एस खलु अंतरा एगे महं

[illegible] नो खलु एस मई वीरियलद्धी वेउव्वियलद्धी [illegible] इड्ढी जुत्ती जसे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे [illegible] अभिसमन्नागए, से मे दंसणे विवच्चासे भवइ, [illegible] जाव पासइ । अणगारे णं भंते ! मायी मिच्छदिट्ठी वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए ओहिनाणलद्धीए रायगिहे नगरे समोहए समोहणित्ता वाणारसीए नयरीए रूवाइं जाणइ पासइ ? हंता जाणइ पासइ । से भंते ! किं तहाभावं जाणइ पासइ, अन्नहाभावं जाणइ पासइ ? । गोयमा ! णो तहाभावं जाणइ पासइ, अन्नहाभावं जाणइ पासइ । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? । गोयमा ! तस्स णं एवं भवइ, एवं खलु अहं रायगिहे नगरे समोहए समोहणित्ता [illegible] नयरीए रूवाइं जाणामि पासामि । [illegible] से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ । [illegible] एवं चेव, णवरं वाणारसीए [illegible] । रायगिहे नगरे रूवाइं जा[illegible] अणगारे णं भंते ! मायी अमायी स[illegible] ओहिनाणलद्धी[illegible] [illegible] एगं महं गामरू[illegible] [illegible] रायगिहं नगरं वाणारसिं च न[illegible] [illegible] अहाभावं जाणइ पासइ ? । [illegible]

[illegible]

गयरं अप्पाणेणं त्ति] असिचम्मपायं हत्थे यस्य स [illegible] कृत्यं संघादिप्रयोजनं गत आश्रितः [illegible] धारयः । अतस्तेन आत्मना । अथवा [illegible] हस्ते कृतं येनासौ असिचर्मपात्रहस्तकृत्यकृत, तेन [illegible] तस्यायं समासः । अथवा असिचर्मपात्रस्य [illegible] करणं गतः प्राप्तो यः स तथा, तेन । [पलियंक त्ति] [illegible] विशेषः प्रतीतश्च [विग त्ति] वृकः । [दीविय त्ति, [illegible] विशेषः । [अच्छ त्ति] । ऋक्षः । [तरच्छ त्ति] [illegible] [परासर त्ति] शरभः । तथाऽन्यान्यपि [illegible] वाचनान्तरे दृश्यन्ते । [अभिजुंजित्तए त्ति] [illegible] दिसामर्थ्यतस्तदनुप्रवेशेन व्यापारयितुं यच्च [illegible] माभियोजनं तद्विद्यादिसामर्थ्योपात्त[illegible] [illegible]ति इत्योच्यते [णो बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता [illegible] एगारूवं से त्ति] अनगार एवासौ तस्यानगारस्य [illegible] पनुप्रवेशेन व्याप्रियमाणत्वात् [मायी अभिजुंजइ त्ति] [illegible] धानभियुक्तं इत्यर्थः । अभियोगभावनायां [illegible] दयते । तत्र चाभियोगोऽपि विकुर्वणेति [illegible] पन्यासस्येति । [अन्नयरेसु त्ति] आभियोगिकदेवेषु [illegible] मपन्नीति कृत्वा अन्यतरेष्वित्युक्तम्, [illegible] यते चाभियोगभावनायुक्तः साधुराभियोगिकदेवेषु [illegible] विद्यादिलब्ध्युपजीवकोऽभियोगभावनाम् । यदाह [illegible] काउं, भूईकम्मं तु जे पउंजंति । सायरसइड्ढिहेउं, [illegible] भावणं कुणइ ॥ १ ॥" इत्यादि [illegible] [illegible] पञ्चमः) विकुर्वणाधिकारमाह [illegible]

[illegible]

[१५] अनगारस्य भावितात्मनो वृक्षमूलस्कन्धादिदर्शनम्—

अणगारे णं भंते ! भावियप्पा रुक्खस्स किं अंतो पासइ, बाहिं पासइ चउभंगो ?, एवं किं मूलं पासइ, कंदं पासइ च-उभंगो, मूलं पासइ, खंधं पासइ चउभंगो । एवं मूलेणं बी-जं संजोएयव्वं । एवं कंदेण वि समं जोएयव्वं जाव बीयं । एवं जाव पुप्फेण समं बीयं संजोएयव्वं । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा रुक्खस्स किं फलं पासइ, बीयं पासइ चउभंगो ॥

[अंतो त्ति] मध्यं काष्ठसारादि, [बाहिं ति] बहिर्वर्तित्वक्प-त्रसञ्चयादि । [एवं मूलेणमित्यादि] एवमिति शुक्रकन्दसूत्राभि-लापेन मूलेन सह कन्दादिपदानि वाच्यानि, यावद् बीजपदम् । तत्र च मूलं १, कन्दः २, स्कन्धः ३, त्वक् ४, शाखा ५, प्रवालं ६, पत्रं ७, पुष्पं ८, फलं ९, बीजं १० चेति दश पदानि । एषां च प-ञ्चचत्वारिंशद् द्विकसंयोगाः । एतावन्त्येवेह चतुर्भङ्गीसूत्राण्य-ध्येयानीति । एतदेव दर्शयितुमाह-[एवं कंदेण बीत्यादि] भ० ३ श० ४ उ० ।

[१६] अनगारस्य भावितात्मनो बाह्यपुद्गलादानपूर्वके उल्लङ्घनप्रलङ्घने—

अणगारे णं भंते ! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले अप-रियाइत्ता पभू ! वेभारपव्वयं उल्लंघेत्तए वा पलंघेत्तए वा ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता पभू ! वेभारपव्वयं उल्लंघेत्तए वा पलंघेत्तए वा ?। हंता । पभू ! अणगारे णं भंते ! भावियप्पा बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता जावइयाइं रायगिहे नगरे रूवाइं एवइयाइं विउव्वित्ता वेभारपव्वयं अंतो अणुप्प-विसित्ता पभू ! समं वा विसमं करेत्तए, विसमं वा समं करेत्तए ?। गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे, एवं चेव बितिओ वि अलावगो, णवरं परियाइत्ता । पभू ! से भंते ! किं मायी विकुव्वइ, अमायी विकुव्वइ ?। गोयमा ! मायी विकुव्वइ, णो अमायी विकुव्वइ । से केणट्ठे णं भंते ! एवं वुच्चइ जाव नो अमायी विकुव्वइ ?। गोयमा ! मायी णं पणीयं पाणभोयणं भोच्चा भोच्चा वामेइ, तस्स णं तेणं पणीएणं पाणभोयणेणं अट्ठि अट्ठि मिंजा बहली भवंति, पयणुए मंससोणिए भवइ, जे वि य से अहा बायरा पोग्गला ते वि य से परिणमंति । सोइंदियत्ताए जाव फा-सिंदियत्ताए अट्ठि अट्ठि मिंजकेसमंसुरोमनहत्ताए सुक्कत्ताए सोणियत्ताए अमायी णं लूहं पाणभोयणं भोच्चा भोच्चा णो वामेइ, तस्स णं तेणं लूहेणं पाणभोयणेणं अट्ठिअट्ठि-मिंजा पयणुभवंति बहले मंससोणिए जे वि य से अहा बादरा पोग्गला ते वि य से परिणमंति । तं जहा—उच्चारत्ताए जाव सोणियत्ताए से तेणट्ठेणं जाव नो अमायी विकुव्वइ । मायी णं तस्स ठाणस्स अणालोइय पडिक्कंते कालं करेइ, नत्थि तस्स आराहणा, अमायी णं तस्स ठाणस्स आ-लोइय पडिक्कंते कालं करेइ, अत्थि तस्स आराहणा, सेवं भंते ! भंते त्ति ।

[बाहिरए त्ति] औदारिकशरीरव्यतिरिक्तान् वैक्रियानित्य-र्थः [वेभार त्ति] वैभाराभिधानं राजगृहक्रीडापर्वतं [उल्लंघि-त्तए इत्यादि] तत्रोल्लङ्घनं सकृत्, प्रलङ्घनं पुनःपुनरिति [नो इ-णट्ठे समट्ठे त्ति] वैक्रियपुद्गलपर्यादानं विना वैक्रियकरणस्यैवाभा-वात् । बाह्यपुद्गलपर्यादाने तु सति पर्वतस्योल्लङ्घनादौ प्र-भुः स्यात्, महतः पर्वतातिक्रमिणः शरीरस्य सम्भवादिति । [जावइयाइं इत्यादि] यावन्ति रूपाणि पशुपुरुषादिरूपाणि [एवइयाइं ति] एतावन्ति [विउव्वित्त त्ति] वैक्रियाणि कृत्वा वैभारं पर्वतं समं सन्तं विषमं, विषमं तु समं, कर्तुमिति सम्बन्ध । किं कृत्वेत्याह-अन्तर्मध्ये वैभारस्यैवानुप्रविश्य [मायी त्ति] मायाशब्दस्य अनुपलक्षणत्वात् सकषायप्रमत्त इति यावत्, प्रमत्तो हि न वैक्रियं कुरुत इति । [पणीयं ति] प्रणीतं गलत्स्नेह-बिन्दुकम् [भोच्चा २ वामेइ त्ति] वमनं करोति विरेचनं वा करो-ति, वर्णबलाद्यर्थं यथा प्रणीतभोजनं तद्वमनं च विक्रियास्वभावं मायित्वाद् भवति, एवं वैक्रियकरणमपीति तात्पर्यम् । [बहली-भवंति त्ति] घनीभवन्ति, प्रणीतसामर्थ्यात् [पयणुए त्ति] अप-घनम् [अहाबायर त्ति] यथोचितबादरा आहारपुद्गला इत्यर्थः । 'परिणमंति' श्रोत्रेन्द्रियादित्वेन, अन्यथा शरीरदार्ढ्यासंभवा-त् । [लूह ति] रूक्षमप्रणीतम् [णो वामेइ त्ति] अकषायितया विक्रियायामनर्थित्वात् 'पासवणत्ताए' इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-"खेलत्ताए सिंघाणत्ताए वंतत्ताए पित्तत्ताए पूयत्ताए त्ति" रूक्षभोजिन उच्चारादितयैवाहारादिपुद्गलाः परिणमन्ति, अन्यथा शरीरस्यासारताऽनापत्तेरिति । माय्यमायिनोः फलमाह-[मायीणमित्यादि][तस्स ठाण त्ति] तस्मात् स्थानात् विकुर्वणा-करणात्, प्रणीतभोजनलक्षणाद् वा [अमायीणमित्यादि] पूर्व-मायित्वाद्वैक्रियं प्रणीतभोजनं वा कृतवान्, पश्चाद् जातानु-तापोऽमायी सन् तस्मात् स्थानात् यथोचितप्रतिक्रान्तः सन् कालं करोति यस्तस्यास्त्याराधनेति । भ० ३ श० ४ उ० ।

[१७] वैक्रियसमुद्घातेन कृतरूपमनगारो जानाति न वेति—

अणगारे णं भंते ! भावियप्पा देवं वेउव्विय समुग्घाएणं समोहयं जाणरूवेणं जायमाणं जाणइ पासइ ?। गोयमा ! अत्थेगइए देवं पासइ, नो जाणं पासइ ?। अत्थेगइए जाणं पासइ, नो देवं पासइ २। अत्थेगइए देवं पि जाणं पि पासइ ३। अत्थेगइए नो देवं पासइ नो जाणं पासइ ४। अणगारे णं भंते ! भावियप्पा देविं विउव्विय समुग्घाएणं समोहयं जाणरूवेणं जायमाणिं जाणइ पासइ ?। गोयमा ! एवं चेव । अणगारे णं भंते ! भावियप्पा देवं सदेवियं वेउव्विय समुग्घाएणं समोहयं जाणरूवेणं जायमाणं जा-णइ पासइ ?। गोयमा ! अत्थेगइए देवं सदेवियं पासइ, नो जाणं पासइ । एएणं अभिलावेणं चत्तारि भंगा ॥

तत्र भावितात्मा संयमतपोभ्यामेवंविधानामनगाराणां हि प्रा-योऽवधिज्ञानादिलब्धयो भवन्तीति कृत्वा भावितात्मेत्युक्तः विहितोत्तरवैक्रियशरीरमित्यर्थः । येन प्रकारेण शिविकाद्या-

[illegible], [illegible] । [illegible] , [illegible] दर्शनेन । [illegible] म० ३ श० ३ उ० । [[illegible] केवलीसमुद्घातसमयद्वयस्य, [illegible] या परमेतुक्ताः सर्वप्रोक्तं [illegible] शब्दे मूर्तापनाणे पश्यते]

(१) [illegible] ।
(२) [illegible] ।
(३) [illegible] न भवति ।
(४) [illegible] न सिद्ध्यति ।
(५) [illegible] ।
(६) [illegible] ।
(७) [illegible] ।
(८) [illegible] जानाति ।
(९) [illegible] ।
(१०) [illegible] ।
(११) [illegible] ।
(१२) [illegible] ।
(१३) [illegible] ।
(१४) [illegible] [illegible] ।
(१५) [illegible] ।
(१६) [illegible] ।
(१७) [illegible] न वेति ।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

कयम्प्राभ्यां मूत्रयमासयोस्तयोर्निरोध [illegible] न पुनरुक्ततेति (२२) मनोवाक्कायानां समाहरण [illegible] 'समस्याहरणता' अकुशलानां निरोधकः (२३) [illegible] नादिसंपन्नताश्रिताः (२४) [illegible] सहनम (२६) मारणान्तिकातिसहनता [illegible] रणान्तिकोपसर्गसहनमिति (२७) स० २१ सम० [illegible] प्रश्न० । औप० । आ० चू० । संथा० ।

पुनरन्येन प्रकारेण साधुगुणान् [illegible]

से जहाणामए अणगारा भगवंतो इरियासमिया भासासमिया एसणासमिया आयाणभंडमत्तणिक्खेवणासमिया उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमिया मणसमिया वयसमिया कायसमिया मणगुत्ता वयगुत्ता गुत्ता गुत्ता गुत्तिंदिया गुत्तबंभचारी अकोहा [illegible] माया अलोभा संता पसंता उवसंता परिणिव्वुडा [illegible] सवा अग्गंथा छिन्नसोया निरुवलेवा कंसपाई [illegible] संख इव निरंजणा जीव इव अप्पडिहयगई [illegible] वि व निरालंबणा वाउरिव अपडिबद्धा [illegible] सुद्धहियया पुक्खरपत्तं इव निरुवलेवा कुम्मो [illegible] या विहग इव विप्पमुक्का खग्गिविसाणं व एगजाया [illegible] पक्खी व अप्पमत्ता कुंजरो इव सोंडीरा वसभो इव [illegible] सीहो इव दुद्धरिसा मंदरो इव अप्पकंपा [illegible] गंभीरा चंदो इव सोमलेसा सूरो इव दित्ततेया [illegible] गगणं इव [illegible] वसुंधरा इव सव्वफासविसहा [illegible] सुहुयहुयासणो इव तेयसा जलंता णत्थि णं [illegible] भगवंताणं कत्थइ पडिबंधे भवइ, से य पडिबंधे [illegible] पण्णत्ते । तं जहा- अंडए इ वा (पोयए इ वा) [illegible] उग्गहे इ वा पग्गहे इ वा जं णं जं णं दिसं [illegible] तं णं तं णं दिसं अपडिबद्धा सुइभूया लहुभूया अणप्पगंथा [illegible] संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति [illegible] तेसि णं भगवंताणं इमा एयारूवा जायामायावित्ती [illegible] तं जहा- चउत्थे भत्ते छट्ठे भत्ते अट्ठमे भत्ते [illegible] [illegible] अद्धमासिए भत्ते [illegible] मासिए [illegible] [illegible]

[illegible]

णिया णेसज्जिया वीरासणिया दंडायतिया लगंडसाइणो अप्पाउडा अगत्तया अकंडुया अणिट्ठुहा धुतकेसमंसरोमनहा सव्वगा य पडिकम्मविप्पमुक्का चिट्ठंति ॥ ७१ ॥ तेणं एतेणं विहारेणं विहरमाणा बहूइं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणंति बहु बहु आबाहंसि उप्पन्नंसि वा अणुप्पन्नंसि वा बहूइं भत्ताइं पच्चक्खाइं, पच्चक्खाइत्ता बहूइं भत्ताइं अणसणाइं छेदिंति, अणसणाइं छेदित्ता जस्सट्ठाए कीरति नग्गभावे मुंडभावे अण्हाणभावे अदंतवणगे अछत्तए अणोवाहणए भूमिसेज्जा फलगसेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोए बंभचेरवासे परघरपवेसे लद्धा अलद्धमाणा अमाणणाओ हीलणाओ निंदणाओ खिंसणाओ गरहणाओ तज्जणाओ तालणाओ उच्चावया गामकंटगा बावीसं परीसहोवसग्गं अहियासिज्जंति, तमट्ठं आराहंति, तमट्ठं आराहित्ता चरमेहिं उस्सासनिस्सासेहिं अणंतं अणुत्तरं निव्वाघातं निरावरणं कसिणं पडिपुण्णं केवलवरणाणदंसणसमुप्पाडेंति, समुप्पाडेंतित्ता ततो पच्छा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति ॥ ७३ ॥

तद्यथा नाम केचनोत्तमसंहननधृतिबलोपेता अनगारा भगवन्तो भवन्तीति। ते पञ्चभिः समितिभिः समिताः, एवमित्युपदर्शने। औपपातिकमाचाराङ्गसंबन्धिप्रथममुपाङ्गं तत्र साधुगुणाः प्रबन्धेन व्यावर्ण्यन्ते, तदिहापि तेनैव क्रमेण द्रष्टव्यमित्यतिदेशः। यावद्धूतमपनीतं केशश्मश्रुरोमनखादिकं यैस्ते, तथा सर्वगात्रपरिकर्मविप्रमुक्ता निष्प्रतिकर्मशरीरास्तिष्ठन्तीति ॥७०॥ ॥ ७१ ॥ ७२ ॥ ते चोग्रविहारिणः प्रव्रज्यामनुपाल्य बाधाकल्पे रोगातङ्के समुत्पन्नेऽनुत्पन्ने वा भक्तप्रत्याख्यानं विदधति, किं बहुनोक्तेन-यत्कृतेऽयमयोगोलकवन्निरास्वादः करवालधारामार्गवद् दुरध्यवसायः श्रमणभावोऽनुपाल्यते, तमर्थं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राख्यमाराध्य, अव्याहतमनन्तं मोक्षकारणं केवलज्ञानमाप्नुवन्ति, केवलज्ञानावाप्तेरूर्ध्वं सर्वदुःखविमोक्षलक्षणं मोक्षमवाप्नुवन्तीति। सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

अणगारचरित्तधम्म-अनगारचरित्रधर्म-पुं०। अगारं नास्ति येषां तेऽनगाराः साधवः, तेषां चारित्रधर्मः। महाव्रतादिपालनरूपे चारित्रधर्मभेदे, "अणगारचरित्तधम्मे दुविहे पन्नत्ते। तं जहा-सरागसंजमे, वीयरागसंजमे" स्था० २ ठा० १ उ०। [व्याख्या चास्य स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या]

अणगारधम्म-अनगारधर्म-पुं०। ६ त०। सर्वविरतिचारित्रे यतिधर्मे, औ०।

अणगारधम्मो ताव इह खलु सव्वओ सव्वत्ताए मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइस्सं सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं मुसावायअदिन्नादाणमेहुणपरिग्गहराईभोअणाओ वेरमणं अयमाउसो! अणगारसामइए धम्मे पण्णत्ते। एअस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए निग्गंथे वा निग्गंथी वा विहरमाणे आणाए आराहए भवति ॥

अयाधिकृतवाचना-इह खलु-इहैव, मर्त्यलोके, [सव्वओ सव्वत्ताए त्ति] सर्वतः-द्रव्यतो भावतश्चेत्यर्थः। सर्वात्मना सर्वान् क्रोधादीनात्मपरिणामानाश्रित्येत्यर्थः। एते च मुण्डीभूयेत्यस्य विशेषणे, अनगारिता प्रव्रजितस्येत्यन्तस्य वा। [अयमाउसो त्ति] अयमायुष्मन्! [अणगारसामइए त्ति] अनगाराणां समये समाचारे, सिद्धान्ते वा भवोऽनगारसामयिको, अनगारसामयिकं वा [सिक्खाए त्ति] शिक्षायामभ्यासे [आणाए त्ति] आज्ञया विहरन् आराधको भवति ज्ञानादीनाम्। अथवा आज्ञया जिनोपदेशस्याराधको भवतीति। औ०।

साधुधर्ममाह—

खंती य मद्दवज्जव, मुत्ती तवसंजमे अ बोधव्वे।
सच्चं सोयं आकिं-चणं च बंभं च जइधम्मो ॥ १४ ॥

क्षान्तिश्च, मार्दवम, आर्जवम, मुक्तिः, तपःसंयमौ च बोद्धव्यौ; सत्यं, शौचम, आकिञ्चन्यं, ब्रह्मचर्यं च यतिधर्म इति गाथाक्षरार्थः॥ १४ ॥ दश० नि० ६ अ०।

सापेक्षो निरपेक्षश्च, यतिधर्मो द्विधा मतः।
सापेक्षस्तत्र शिक्षायै, गुर्वन्तेवासिताऽन्वहम् ॥

यतिधर्म उक्तलक्षणः मुनिसंबन्ध्यनुष्ठानविशेषः, द्विधा द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां, मतः प्ररूपितः, जिनैरिति शेषः। द्वैविध्यमेवाह-सापेक्षो निरपेक्षश्चेति। तत्र गुरुगच्छादिसाहाय्यमपेक्षमाणो यः प्रव्रज्यां परिपालयति स सापेक्षः। इतरस्तु निरपेक्षो यतिः, गच्छाद्यपेक्षारहित इत्यर्थः। तयोर्धर्मोऽपि क्रमेण गच्छवासलक्षणो जिनकल्पादिलक्षणश्च सापेक्षो निरपेक्षश्चोच्यते, धर्मधर्मिणोरभेदोपचारात्। तत्र तयोः सापेक्षनिरपेक्षयतिधर्मयोर्मध्यात् अयं सापेक्षयतिधर्मो भवतीति क्रियासंबन्धः। एवमग्रेऽपि योज्यम्। स च यथा शिक्षाया इत्यादि। तत्र शिक्षा अभ्यासः। सा च द्विधा—ग्रहणशिक्षाऽऽसेवनाशिक्षा चेति। तत्र ग्रहणशिक्षा—प्रतिदिनसूत्रार्थग्रहणाभ्यासः। आसेवनाशिक्षा-प्रतिदिनक्रियाऽभ्यासः। तस्यैतदर्थं न तूदरपूर्त्याद्यर्थमिति भावः। ध० ३ अधि०।

अणगारमग्गगइ-अनगारमार्गगति-स्त्री०। ६ त०। सम्यग्देहस्तत्प्रतिबन्धपरित्यागरूपेण निर्मुक्तस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेषु, सिद्धिगतौ च। उत्त०।

यथा चोत्तराध्ययनानां पञ्चत्रिंशेऽध्ययने दर्शितानि सूत्राणि-

सुणेह मेगग्गमणे, मग्गं बुद्धेहि देसियं।
जमायरंतो भिक्खू य, दुक्खाणंतकरो भवे ॥ १ ॥

शृणुत आकर्णयत, मे मम, कथयत इति शेषः। एकाग्रमनसः [illegible]

रीरमानसानामन्तः पर्यन्तः तत्करणशीलोऽन्तकरो, भवेत् स्यात्, सकलकर्मनिर्मूलनत इति भावः। तदनेनासेव्यमेवकसंयमेनाऽनगारसंबन्धिमार्गं, तत्फलं च मुक्तिमभिगमिति दर्शितम्। ततश्चानगारमार्गं, तद्गतिं च शृणुत इत्यर्थं उक्तं भवतीति सूत्रार्थः ॥ १ ॥

यथाप्रतिज्ञातमाह—

गिहवासं परिच्चज्ज, पव्वज्जामस्सिओ मुणी।

। उक्तं हि-"णो वामातो हणुयाओ, दाहिणं काहिणाव वा। संचालए" एवंविधश्च सन् नैव [रसट्ठाए त्ति] रसार्थं मिदमहमास्वादयामीति, धातुविशेषो वा रसः। स च शे- पलक्षणं, ततस्तदुपचयः स्यादित्येतदर्थं न भुञ्जीत नाभ्य- । किमर्थं तर्हि ?, यापना-निर्वाहः, स चायं संय- , तदर्थं महामुनिः प्रधानतपस्वी । अनेन पिण्डविशुद्धि- । तदेवमादौ मूलगुणान् विधेयतयाऽभिधाय तत्प्रतिपा- र्थमाप्यपाहारचिन्ताद्वारेण उत्तरगुणाश्च उक्ताः ॥ १७ ॥ ति तदर्चानस्तत एवासन्युत्पन्नबहुमानः कश्चिदर्चना- दि प्रार्थयेदिति तन्निषेधार्थमाह—

अर्चणं सेवणं चेव, वंदणं पूयणं तहा ।
इड्ढीसक्कारसम्माणं, मणसा वि न पत्थए ॥ १८ ॥

र्नां पुष्पादिभिः पूजाम, सेवनां निषद्यादिविषयां, स्वस्ति- ध्यात्मिकां वा । चः समुच्चये; एवोऽवधारणे, नेत्यनेन ते । वन्दनं वन्दनमित्यादि वाच्याऽभिष्टवचनम, पू- विशिष्टवस्त्रादिभिः प्रतिमाननम । तथेति समुच्चये । ऋ- श्रावकोपकरणादि संपद्वाऽमर्षौषध्यादिरूपा वा ,सत्कार- र्थप्रदानादि, संमानश्च अभ्युत्थानादि , ऋद्धिसत्कार- नम्, मनो मनसाऽपि, आस्तां वाचा, नैव प्रार्थयेत्-अभिवं दिर्घ्यनिषेधम् ॥ १८ ॥

किं पुनः कुर्यादित्याह—

सुक्कज्झाणं झियाएज्जा, अनियाणे अकिंचणे ।
वोसट्ठकाए विहरेज्जा, जाव कालस्स पज्जओ ॥ १९ ॥

[illegible] । अनिदानो- [illegible], अकिञ्चनः, [illegible] का- [illegible], विहरेत्, धर्मानुष्ठानपरतयेति गम्य- । [illegible], कालस्येति मृत्योः, [पज्जओ त्ति] [illegible], प्रस्ताव इति यावत् । यावन्मरणसमयः सम- [illegible] भावः ॥ १९ ॥

[illegible] मृत्युसमये [illegible] तदाह—

निज्जूहिऊण आहारं, कालधम्मे उवट्ठिए ।
[illegible] माणुसं बोंदिं, पहू दुक्खे विमुच्चइ ॥ २० ॥

(निज्जूहिऊण त्ति) [illegible], आहारमशनादि, [illegible] [illegible], बहुतरदोषसंभवात् । [illegible] कर्मक्षयाय, सहसा बालादिनिग्रहमा- [illegible]; [illegible] मृत्युसमये, उपस्थिते प्रत्यासन्नीभूते [illegible], [माणुसं ति] मानुषीं मनुष्यसम्बन्धिनीम्, [illegible], प्रभुः-वीर्यान्तरायक्षयतो विशिष्टसामर्थ्यवान्, [illegible] [ति] [illegible], विमुच्यते-निःशेषेण मुच्यते, [illegible] ॥ २० ॥

[illegible] आह—

[illegible], [illegible] ।
[illegible] ॥ २१ ॥ -त्ति बेमि ॥

[illegible]

सज्ञानम्-उक्तरूपम । शाश्वतम्, कदाचिदप्यपगमाऽ[illegible] धृतोऽस्वास्थ्यहेतुकर्माभावतः सर्वथा स्वस्थीभूत, [illegible] तिसूत्रभावार्थः ॥ २१ ॥ उत्त० ३५ अ० । स० ।

अणगारमहेसि-अनगारमहर्षि-पुं० । अनगाराश्च ते महर्षय- श्चेति । अनगारगुणविशिष्टेषु महर्षिषु , म० ।

अणगारवाइ(ण्)अनगारवादिन्-पुं० । यतिवेषमात्रेणा- नगारगुणरहितेषु अनगारंमन्येषु शाक्यादिषु, आचा० १ श्रु० अ०१ उ०। ['अनगार' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २७० पृष्ठे महतीं चर्चां यत्र शाक्यादयो नानगाराः]

अणगारसामाइय-अनगारसामायिक-त्रि० । अनगाराणां स- मये भव इति । अनगाराणां समाचारे सिद्धान्ते वा [illegible] औ० । स्था० ।

अनगारसीह-अनगारसिंह-पुं० । मुनिसिंहे, "एवं थुणित्ता स रायसीहं परमाइ भत्तीए " उत्त० २० अ० ।

अनगारसुय-अनगारश्रुत-न० । आचारश्रुतापरनामके सूत्र- कृतस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धे पञ्चमाऽध्ययने, सूत्र० । ('आयारसुय' शब्दे द्वि० भा० ३६१ पृष्ठेऽस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्) ।

अणगारि (ण्)-अनगारिन्-पुं० । अगारी गृही असंयतस्त- न्निषेधादनगारी । संयते, प्रश्न० ।

अणगारिय-अनगारिक-त्रि० । न विद्यते अगारं यस्यासावना- गारः साधुस्तस्येदमिति । अनगारसम्बन्धिनि सर्वविरतिसामायिके, दो० , विशे० ।

अणगारिया-अनगारिता-स्त्री० । अगारी गृही असंयतः, तन्नि- षेधादनगारी संयतः, तद्भावस्तत्ता । साधुतायाम्, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अणगाल-अनगाल-पुं० । दुष्काले, बृ० ३ उ० ।

अणगिण-अनग्न-पुं० । सुषमसुषमायां भरतवर्षे कल्पवृक्ष- भेदे, यैः सदा भवति [illegible], ति० । अनग्नेषु [illegible] अत्यर्थं बहुप्रकाराणि वस्त्राणि विधिना तु [illegible] रम्याणि मनोहराणि निर्मलानि [illegible] । जी० । वस्त्रदायके, आच्छादनविशेषे च । वाच० ।

अणग्घ-अनर्घ-स्त्री० । सर्वोत्तममूल्यविषयातीते, [illegible] ४ अ० । अर्घगोचरातीते, संथा० । " सव्वे वि य [illegible] [illegible] सेतलोका । [illegible] [illegible] मणग्घेयं" ॥१॥ यथाऽनर्घ्यस्य [illegible] [illegible] अविद्यमानमूल्यमनर्घम । अथवा [illegible] तत्र ऋणं पूर्वतनपरकारोपार्जितमप्युपचारात् कर्म, तद् [illegible] अनृणम । दर्श० ।

अणग्घरयणभूस-अनर्घरत्नभूष-पुं० । गुणवति [illegible] देवे, गुणरत्नैः अनर्घ्यरत्नभूषः श्रीजिनपुङ्गवः । [illegible]

अणघ-अनघ-त्रि० । नास्ति अघं पापं [illegible] वा यस्य । पापशून्ये, मलशून्ये, स्वच्छे, [illegible] १ ठा० । दर्श० । [illegible] "अनिम्नधवलप्रवेशं, [illegible] " ध० १ अधि० ।

अणघयन-अनघयन-त्रि० । [illegible] ।

अणणुबद्ध-अननुबन्धिपुद्गल-न० । [illegible] कर्म० १ कर्म० ।

अणसंतिय-अनात्यन्तिक-पुं० । सहायिनं मुक्त्वाऽप्रतिनिवर्तिष्यति सहायभेदे, बृ० ४ उ० ।

अणक्खर-अनत्यक्षर-न० । एकादिभिरक्षरैरधिकमत्यक्षरं, न तथा अनत्यक्षरम् । अनु० । एकेनाप्यक्षरेणानाधिके, आ०म०प्र० ।

अणच्चाविय-अनर्तित-न० । घरममात्मानं वा न नर्तितं न नृत्यवदिव कृतं यत्र तदनर्तितं प्रत्युपेक्षणम् । अप्रमादप्रत्युपेक्षणाभेदे, स्था० । घरमं मर्तयत्यात्मानं चेत्येवमिह चत्वारो भङ्गाः-" वत्थे अप्पाणम्मि य चउहं अणच्चावियं " स्था०६ ठा०१ उ० । पं० व० औ० । "वत्थयं सरीरे वत्थे वा, सरीरे उक्करणं, वत्थे वि विकारा करेति, ण एवच्चावियं अणच्चावियं" नि० चू० ८ उ० ।

अणच्चासायणासील-अनत्याशातनाशील-पुं० । अतीवायं सम्यक्त्वादिलाभं शातयति विनाशयति इत्याशातना, तस्याः शीलं तत्करणस्वभावात्मकमस्येत्याशातनाशीलः, न तथाऽनत्याशातनाशीलः गुरुपरिवारादिकृतिः । आचार्यादीनामभक्तिनिन्दाहीलावर्णवादाद्याशातनानिवारके, उत्त० २९ अ० ।

अणच्चासायणाविणय-अनत्याशातनाविनय-पुं० । अत्याशातनं शातना, तन्निषेधरूपो विनयोऽनत्याशातनाविनयः भ० २५ श० ७ उ० । दर्शनविनयभेदे, औ० ।

से किं तं अणच्चासायणाविणए ? । अणच्चासायणाविणए पणयालीसविहे पण्णत्ते । तं जहा-अरहंताणं अणच्चासायणया अरहंतपण्णत्तस्स धम्मस्स अणच्चासायणया आयरियाणं अणच्चासायणया उवज्झायाणं अणच्चासायणया थेराणं अणच्चासायणया कुलस्स अणच्चासायणया गणस्स अणच्चासायणया संघस्स अणच्चासायणया किरियाए अणच्चासायणया संभोगस्स अणच्चासायणया आभिणिबोहियणाणस्स अणच्चासायणया जाव केवलणाणस्स अणच्चासायणया एएसिं चेव भत्तिबहुमाणे णं एएसिं चेव वण्णसंजलणया, सेत्तं अणच्चासायणया विणए, सेत्तं दंसणविणए ॥

(किरियाए अणच्चासायणय त्ति) इह क्रिया-अस्ति परलोकोऽस्त्यात्माऽस्ति च सकलक्लेशाकलङ्कितं मुक्तिपदमित्यादिप्ररूपणात्मिका गृह्यते । (संभोगस्स अणच्चासायणय त्ति) सम्भोगस्य समानधार्मिकाणां परस्परेण भक्त्यादिदानग्रहणरूपस्यानत्याशातनाविपर्यासवत्करणपरिवर्जनम् (भत्तिबहुमाणे णं ति) इह णंकारो वाक्यालङ्कारे, भक्त्या सह बहुमानो भक्तिबहुमानः , भक्तिश्चेह बाह्या परिशुश्रुषा; बहुमानश्चान्तरः प्रीतियोगः (वण्णसंजलणय त्ति) सद्भूतगुणवर्णनेन यशोदीपनम् । भ० २५ श० ७ उ० ।

[illegible]-कृष्-धा० । आकर्षणे, विलेखने च । तुदा०, आत्म०, अनिट् । भ्वादि०, पर०, सक०, अनिट् । "कृषेः कड्डसाणच्छायञ्छाइञ्छाः" ॥ ८ । ४ । १८७ ॥ इति कृषेरणच्छ-आदेशः । अणच्छइ-कृषते, कर्षति वा । प्रा० ।

अणच्छआरं-देशी-अच्छिन्ने, दे० ना० १ वर्ग ।

[illegible]-ऋणच्छेद-पुं० । उत्तमर्णाद् गृहीतद्रव्यस्योच्छेदे, ऋणच्छेदे च न विलम्बनीयम् । तदुक्तम्-"धर्मारम्भे ऋणच्छेदे, कन्यादाने धनागमे । शत्रुघातेऽग्निरोगे च, कालक्षेपं न कारयेत्" ॥१॥ स्वनिर्वाहासमतया ऋणदानाशक्तो ऋणदानाय उत्तमर्णगृहे कर्मकरणादिनाऽपि ऋणमुच्छेद्यम्, अन्यथा तद्गृहे कर्मकरमहिषवृषभकरभरासभादित्वस्यापि संभवात् । उत्तमर्णेनाऽपि सर्वथा ऋणदानाशक्तो न वाच्यः,मुधाऽनर्थक्लेशपापवृद्ध्यादिप्रादुर्भावात्, किन्तु यदा शक्तोऽसि तदा दद्याः नो चेदिदं मे धर्मपदे भूयादिति वाच्यः, न तु ऋणसंबन्धं चिरं स्थाप्यः, तथा सत्यायुःसमाप्तौ भवान्तरे द्वयोरपि संबन्धवैरवृद्ध्याद्यापत्तेः । ध० २ अधि० ।

अणज्ज-अनार्य-पुं० । आराद्यातं सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्यः, न आर्य्यमनार्य्यम । आव० ४ अ० । आर्येतरे, क्रूरे च । आचा० ४ अध्य० ३ उ० । पापकर्मणि, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । म्लेच्छचेष्टिते, दश०१ चू० । अनार्य्यलोककरणात् अनार्यः । प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । अनार्यप्रयुक्ते, प्रश्न० २ संव० द्वा० । अन्याय्य-त्रि० । अन्यायोपेते, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणज्जधम्म-अनार्यधर्म-पुं० । अनार्य्याणामिव धर्मः समाचारो येषां ते तथा, अनार्यकर्मकारित्वात् । सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । क्रूरकर्मकारिषु, " इच्चेवमाहंसु अणज्जधम्मं, अणारिया बालरसेसु गिद्धा " सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

अणज्जजाय-अनार्यजात-पुं० । क्रोधादिमति पुरुषजाते, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

अणज्झवसाय-अनध्यवसाय-पुं० । आलोचनमात्रे अध्यवसायाभावे, रत्ना० ।

अथानध्यवसायस्वरूपं प्ररूपयन्ति-

किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः ॥ १३ ॥

अस्पष्टविशिष्टविशेषं किमित्युल्लेखेनोत्पद्यमानं ज्ञानमात्रमनध्यवसायः । प्रोच्यते-समारोपरूपत्वं चास्यौपचारिकम्, अतस्मिंस्तदध्यवसायस्य तल्लक्षणस्याभावात् । समारोपनिमित्तं तु यथार्थापरिच्छेदकत्वम् । उदाहरन्ति-

यथा-गच्छतस्तृणस्पर्शज्ञानम् ॥ १४ ॥

गच्छतः प्रमातुस्तृणस्पर्शविषयं ज्ञानमन्यत्रासक्तचित्तत्वादेवंजातीयकमेवंनामकमिदं वस्त्वित्यादिविशेषानुल्लेखि किमपि मया स्पृष्टमित्यालोचनमात्रमित्यर्थः । प्रत्यक्षयोग्यविषयमनध्यवसायः । एतदुदाहरणदिशा च परोक्षयोग्यविषयोऽप्यनध्यवसायोऽवसेयः । यथा-कस्यचिदपरिज्ञातगोजातीयस्य पुंसः क्वचन वननिकुञ्जे सास्नामात्रदर्शनात् पिण्डमात्रमनुमाय को नु खलु अत्र प्रदेशे प्राणी स्यादित्यादि । रत्ना० १ परि० ।

अणज्झोववण्ण-अनध्युपपन्न-त्रि० । अमूर्च्छिते, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणट्टाकित्ति-अनार्तकीर्ति-त्रि० । अनार्ता कीर्तिर्यस्य । सकलदोषविगमतोऽबाधितकीर्तिके, " तहेव विजओ राया, अणट्टाकित्तिपव्वए " आर्त्तध्यानार्तं आर्त्तस्याविकलः । कीर्त्यादिनाऽनापादितानोच्छ्रया प्रसिद्धरूपपलक्षितः । उत्त० १८ अ० ।

अणट्ठ-अनर्थ-पुं० । अनर्थोऽप्रयोजनमनुपयोगो निष्कारणतेति पर्यायाः । अर्थस्याभावोऽनर्थः । अ० । अप्रयोजने, आव० ६ अ० । निष्प्रयोजने, नि० चू० १ उ० । सूत्र० । गुणहानौ, ठा० ६ अ० । उपघाते, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । स्था० ।

अणट्ठग-अनर्थक-पुं० । अर्थाविरोधे मोक्षपरिपन्थे, तस्य परमार्थभूत्या निरर्थकत्वात् । प्रश्न० १ संव० द्वा० ।

अणट्टकारग-अनर्थकारक-त्रि० । पुरुषार्थोपघातके, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । अनार्ते, पुं० आर्तध्यानरहिते, बृ० २ अ० ।

अणट्टपगड-अन्यार्थप्रकृत-त्रि० । साधुनिमित्ते निर्वर्तिते, "अ नहं पगडं लेणं, भइज्जसयणासणं " दश० ८ अ० ।

अणट्टादंड-अनर्थदण्ड-पुं० । अर्थः प्रयोजनं गृहस्थस्य क्षेत्र-वास्तुधनधान्यं शरीरपरिपालनादिविषयं तदर्थं आरम्भो भू-तोपमर्दोऽर्थदण्डः दण्डो निग्रहो यातना विनाश इति पर्यायाः अर्थेन प्रयोजनेन दण्डोऽर्थदण्डः, स चैवंभूत उपमर्दनलक्षणो दण्डः क्षेत्रादिप्रयोजनमपेक्षमाणोऽर्थदण्ड उच्यते, तद्विपरीतोऽ-नर्थदण्डः । आव० ४ अ० । निष्प्रयोजने हिंसादिकरणे, आतु० । इहलोकप्रयोजनमङ्गीकृत्य निष्प्रयोजनभूतोपमर्देनात्मनो निग्रहे, पंचा० १ विव० । स च व्यतः-यत्कारणे राजकुले दण्ड्यते । भावतस्तु-निष्कारणं ज्ञानादीनां हानिः । वृ० १ उ० । आव० । " जो पुण सरडाईणं, थावरकायं च वणलयाईसुं । मारेइ छिं-दिऊ ण य, छंडे एसो अणट्टाए " ॥ १ ॥ प्रव० २५४ द्वा० ।

अहावरे दोच्चे दंडसमादाणे अणट्टादंडवत्तिए त्ति आ-हिज्जइ, से जहाणामए केइ पुरिसे जे इमे तसा पाणा भ-वंति, ते णो अच्चाए णो अजिणाए णो मंसाए णो सो-णियाए एवं हिययाए पित्ताए वसाए पिच्छाए पुच्छाए वालाए सिंगाए विसाणाए दंताए दाढाए णहाए ण्हा-रुणिए अट्टीए अट्टिमिंजाए णो हिंसिंसुमेत्ति णो हिंसिंति-मेत्ति णो हिंसिस्संतिमेत्ति णो पुत्तपोसणाए णो पसुपोस-णयाए णो अगारपरिवूहणताए णो समणमाहणवत्तणा-हेउं णो तस्स सरीरगस्स किंचिविप्परिया दित्ता भवंति, से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता उज्झिउं बाले वेरस्स आभागी भवंति अणट्टादंडे ॥६॥ से जहा-णामए केइ पुरिसे जे इमे थावरा पाणा भवंति, तं जहा-इक्कडाइ वा कढिणाइ वा जंतुगाइ वा परगाइ वा मोक्खाइ वा तणाइ वा कुसाइ वा कुच्चगाइ वा पप्पगाइ वा पलालाइ वा ते णो पुत्तपोसणाए णो पसुपोसणाए णो आगारप-डिवूहणयाए णो समणमाहणपोसणयाए णो तस्स सरीर-गस्स किंचि विपरियाइत्ता भवंति, से हंता छेत्ता भेत्ता लुं-पइत्ता विलुंपइत्ता उद्दविइत्ता उज्झिउं बाले वेरस्स आ-भागी अणट्टादंडे ॥७॥ से जहाणामए केइ पुरिसे क-च्छंसि वा दहंसि वा उदगंसि वा दविएंसि वा वलयंसि वा णूमंसि वा गहणंसि वा गहणविदुग्गंसि वा वणंसि वा वणविदुग्गंसि वा पव्वयंसि वा पव्वयविदुग्गंसि वा तणाइं ऊसविय सयमेव अगणिकायं णिसिरिंति, अण्णे-ण वि अगणिकायं णिसिरावेंति, अण्णं पि अगणिकायं णि-सिरिंतं समणुजाणइ अणट्टादंडे, एवं खलु तस्स तप्प-त्तियं सावज्जेत्ति आहिज्जइ, दोच्चे दंडसमादाणे अणट्टादं-डवत्तिए त्ति आहिए ॥८॥

अथ द्वितीयं दण्डसमादानमनर्थदण्डप्रत्ययिकमभिधी-यते । तदधुना व्याख्यायते । तद्यथा नाम-कश्चित्पुरुषो नि-मित्तमेव निर्विवेकतया प्राणिनो हिनस्ति । तदेव दर्शयितुमाह-[जे इमे इत्यादि] ये केचनामी संसारान्तर्वर्तिनः प्रत्यक्षाः त्रसाः प्राणिनस्तांस्तानसौ हिंसन्न अर्चायै शरीरं, नो नैव, अजिनाय तथाऽजिनं चर्म, नापि तदर्थमेव, नैव मांसशोणितहृदय-पित्तवसापिच्छपुच्छवालशृङ्गविषाणदन्तदंष्ट्रानखस्नाय्वस्थ्यस्थिमज्जा-दिकं कारणमुद्दिश्य, नैव हिंसितवान् मे, हिंसयिष्यति मे इत्यादिकं कारणमुद्दिश्य, तथा नो पुत्रपोषणायेति-पुत्रादिकं पोषयिष्यामीत्ये-तदपि कारणमुद्दिश्य न व्यापादयति, तथा नापि पशूनां पोषणाय, तथाऽगारं गृहं तस्य परिबृंहणमुपचयस्तदर्थं वा न हिनस्ति, तथा न श्रमणब्राह्मणवर्तनाहेतु, तथा यत्नेन पालयितुं तदर्थं नो तस्य शरीरस्य किमपि परित्राणाय तत्प्राणव्यपरोपणं भवति, इत्ये-वमादिकं कारणमनपेक्ष्य एवासौ क्रीडया तच्छीलतया, व्यस-नाद्वा प्राणिनां हन्ता भवति दण्डादिभिः । तथा छेत्ता भवति कर्णनासिकादिकर्तनतः, तथा भेत्ता शूलादिना, तथा लुम्पयिता-ऽक्ष्युत्पाटनतः, तथा विलुम्पयिता अङ्गुष्ठाङ्गुल्याद्यवयवविकर्तनतः, परमाधार्मिकवत्प्राणिनां किं-चिद्विकर्तनकरपादादिच्छेदनतः, तथा अनि-मित्तमेव नानाविधोपायैः पीडोत्पादको भवति, तथा जीवितादपि व्यपरोपयिता भवति । स च सद्विवेकमुज्झित्वा, आत्मानं परित्यज्य, बालवद्बालोऽज्ञोऽसमीक्षितकारितया जन्मान्तरानुब-न्धिनो वैरस्य भागी भवति ॥ ६ ॥ तदेवं निर्निमित्तं पञ्चे-न्द्रियप्राणिपीडनतो यथाऽनर्थदण्डो भवति, तथा प्रतिपादित-। अधुना स्थावरानधिकृत्योच्यते-(से जहेत्यादि) यथा कश्चि-त्पुरुषो निर्विवेकः पथि गच्छन् वृक्षादेः पल्लवादिकं दण्डादि-ना ध्वंसयन् फलनिरपेक्षस्तच्छीलतया व्रजति । एतदेव दर्शयि-तुमाह-(जे इमे इत्यादि) ये केचनामी प्रत्यक्षाः स्थावरा वनस्पतिविशेषा उद-याः प्राणिनो भवन्ति । तद्यथा-इक्कडादयो वनस्पतिविशेषा अभि-धानार्थाः; तानिहैकका समानया प्रयोजनमिच्छन् अभिसंधाय वि-नत्ति, केवलं तत्पत्रपुष्पादिनिरपेक्षस्तच्छीलतया छिनत्तीत्येतत्स-र्वत्र योजनीयमिति । तथा न पुत्रपोषणाय, नो पशुपोषणाय, नागारप्रतिबृंहणाय, न श्रमणब्राह्मणप्रवृत्तये, नापि शरीरस्य किं-चित् त्राणं भविष्यतीति केवलमेवासौ वनस्पतिहन्ता छेत्ता यावद् जन्मान्तरानुबन्धिनो वैरस्य भागी भवति । अयं वन-स्पत्याश्रयोऽनर्थदण्डोऽभिहितः ॥ ७ ॥ सांप्रतमग्न्याश्रितमर्थ-(से जहेत्यादि) तद्यथा नाम-कश्चित्पुरुषः सद्विवेकरहि-ततया कच्छादिकेषु दशसु स्थानेषु वनदुर्गपर्यन्तेषु तृणानि दर्भकादीनि पौनःपुन्येनोर्ध्वाध.स्थाने कृत्वाऽग्निकायं स्व-निसृजति प्रक्षेपयति, अन्येन वाऽग्निकायं बहुमत्वा परक्षेपं निसर्जयति प्रक्षेपयति, अन्यं च निसृजन्तं समनुजानीते, एवं योगत्रिकेण कृतकारितानुमतिभिस्तस्य यत्किंचनकारि-त्वात्प्रत्ययिकं क्षयदाननिमित्तं सावद्यं कर्म महापातकमा-ख्यातमिति द्वितीयमनर्थदण्डसमादानमाख्यातमिति ॥ ८ ॥ सूत्र० २ श्रु० २ अ० । आ० चू० ।

अणट्टादंडवेरमण-अनर्थदण्डविरमण-न० । अर्थः प्रयो-जनम्, तत्प्रतिषेधोऽनर्थः, दण्ड्यते आत्माऽनेनेति दण्डो निग्रहः, स चासौ दण्डोऽनर्थदण्डः इह लोकप्रयोजनमङ्गीकृत्य निष्प्रयो-जनभूतोपमर्देनात्मनो निग्रह इत्यर्थः । तस्मात्तस्य वा विरमणं निवृत्तिः । तृतीये गुणव्रते, पंचा० १ विव० । उपा० । "तयाणंतरं च णं अणट्टादंडे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-अवज्झाणायरिए पमायायरिए हिंसप्पयाणे पावकम्मोवएसे । तस्स णं अण-"

दंडवेरमणस्स समणोवासगस्स पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा । तं जहा-"एहाणावट्टणवन्नग-विलेवणे सद्द-रूवरसगंधे । वत्थासणआभरणे, पडिक्कमणे देवसिय सव्वं ॥१॥ कंदप्पे १ कुक्कुइए २, मोहरिए असंजुत्ताहिकरणे ४ य । उवभोगपरिभोगातिरित्ते-"। उपा०१ अ०। अस्यानर्थदण्डविरमणस्य श्रमणोपासकेन अमी पञ्चातीचारा ज्ञातव्या न समाचरितव्याः । आव०६ अ०। (व्याख्या 'कंदप्प' आदिशब्देषु द्रष्टव्या)

अणट्ठाबंधि-अनर्थबन्धिन्-पुं०। पक्षमध्ये अनर्थकं निष्प्रयोजनमेकवारोपरि द्वौ त्रीन् चतुरो वा वारान् कम्बासु बन्धान् ददाति, चतुरुपरि बहूनि अट्टकानि वा बध्नाति, तथा च स्वाध्यायविघ्नपलिमन्थादयो दोषाः, यदि चैकाह्निकं चम्पकादिपदे लभ्यते तदा तदेव ग्राह्यम्, बन्धनादिपलिमन्थपरिहारात् । कल्प०।

अणडण-अनटन-न०। अभ्रमणे, पंचा० १३ विव०।

अणक्को-देशी । आरे, दे० ना० १ वर्ग।

अणणिप्पित्तु-अनर्प्य-अव्य० । प्रतीपमनर्प्येत्यर्थे, "अपरिहट्टुमणणिप्पित्तु संपव्वए" 'अणणिप्पित्तु'-न प्रतीपं अर्पयतीत्यर्थः । नि० चू० २ उ०।

अणणुओग-अननुयोग-पुं० । अनुयोगविपर्यस्ते अननुरूपे योगे, विशे०।

नामादिभेदात्सप्तविधमनुयोगं व्याख्याय तद्विपक्षभूतमननुयोगं विभणिषुरुक्तोपसंहार प्रस्तावनां चाह-

एसोऽणुरूवजोगो, गओऽणुओगो उओ विवज्जत्थं ।
जो सो अणणुओगो, तत्थे-मे होंति दिट्ठंता ॥१॥

तदेवं गतो भणित एषोऽनुरूपयोगोऽनुयोगः सप्तविधोऽपि । अथ निर्गतस्तमेतद्विपर्ययेण योऽयमननुयोगः, स उच्यते, तत्र चैते वक्ष्यमाणदृष्टान्ता भवन्तीति ॥ १ ॥

के पुनस्तेऽननुयोगदृष्टान्ता इत्याह-

वच्छगगोणी खुज्जा, सज्झाए चेव वहिरउल्लावे ।
गामिल्लए य वयणे, सत्ते य होंति भावम्मि ॥ २ ॥
सावगभज्जा सत्तव-इए य कोंकणगदारए नउले ।
कमलामेला संब-स्स साहसं सेणिए कोवा ॥ ३ ॥

यथाऽनुयोगो नामादिभेदात्सप्तविधस्तथाऽननुयोगो यथासंभवं वक्तव्यः। तत्र नामस्थापने सुगमे, द्रव्यानुयोगस्त्वप्रस्तुतः। द्रव्यानुयोगे च वत्सगोरुदाहरणम् । क्षेत्रे त्वननुयोगानुयोगयोः कुब्जा उदाहरणम् । काले स्वाध्यायः। वचने पुनरुदाहरणद्वयम्, तद्यथा बधिरोल्लापः, ग्रामेयकश्च । भावे तु सप्तोदाहरणानि भवन्ति, तद्यथा-श्रावकभार्या १ साप्तपदिक पुरुषः २ कोङ्कणकदारकः ३ नकुलः ४, कमलामेला ५, शाम्बस्य साहसम्, ६ श्रेणिककोपः ७ श्चेति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ॥ ३ ॥

अथ विस्तरतो वत्सगोएयुदाहरणं भाष्यकारः प्राह-

खीरं न देइ सम्मं, परवच्छनिओयओ जहा गावी ।
दोहिज्ज व परदुद्धं, करेज्ज देहोवरोहं वा ॥

यथा काचिच्छबलादिका गौरन्यस्या बहुलादिकायाः संबन्धिनि गोदोहकेन वत्से नियुक्ते सत्यननुयोगोऽयमिति कृत्वा तस्मिन्नागतः क्षीरं दुग्धं सम्यग् न ददाति। अथवा न तावता तिष्ठति, किन्तु परदुग्धम्-अन्यस्या अपि गोः सत्कं दुग्धमग्रेऽपि गोदोहनकाद्यां व्यवस्थितमुच्छलन्ती मर्दयेत् त्याजयेत, यदि वा देहोपरोधं लत्ताप्रहारादिभिर्गोनुतन्नादिना देहबाधामपि कुर्यादित्यर्थः।

तथा किमित्याशङ्क्य प्रस्तुते योजयन्नाह-

तह न चरणं पसूते, परपज्जायविणिओगओ दव्वं ।
पुव्वचरणोवघायं, करेइ देहोवरोहं वा ॥
जिणवयणसायणाओ, उम्मायातंकमरणवसणाइं ।
पावेज्ज सव्वलोवं, स बोहिलाभोवघायं वा ॥
दव्वविवज्जासाओ, साहणभेओ तओ चरणभेओ ।
तत्तो मोक्खाभावो, मोक्खाभावेऽफला दिक्खा ॥

तथाऽत्रापि व्याख्या-यदा जीवादिद्रव्यमजीवादिधर्मैः प्ररूपयति, अजीवादिद्रव्यं वा जीवादिधर्मैः प्ररूपयति, तदित्थं प्ररूप्यमाणं तद् द्रव्यमनुयोगतो दुग्धस्थानीयं चरणं चारित्रं न प्रसूते । परपर्यायविनियोगतो विपर्यासात्तदेतुः, तत्र भवतीत्यर्थः । न चैतावता तिष्ठति, किन्तित्थमननुयोगं कुर्वतः पूर्वप्राप्तचरणोपघातं च करोति, तथेत्थमवधिप्ररूपणप्रवृत्तस्य योगानुरक्तेर्देहस्याप्युपरोध बाधां विदधाति । किञ्चेत्थं जिनवचनाशातनोत्पत्तेरुन्मादातङ्कमरणव्यसनान्यपि प्राप्नुयात्, तथा सर्वव्रतलोप, बोधिलाभोपघातं च प्राप्नुयादिति । ननु कथञ्चित्पर्यायप्ररूपणामात्रादेवैतावन्तो दोषाः स्युरित्याह-"(दव्वविवज्जासाओ इत्यादि) विपरीतप्ररूपणे हि द्रव्यस्य विपर्यासो भवति, तथा च सति साधनस्य सम्यग्ज्ञानादेर्भेदोऽन्यथाभावो जायते, ततः साधनभेदाच्चरणभेदस्तद्भेदात् सामाप्यस्य मोक्षस्याभावप्रसङ्गः, उपायाभावे उपेयासिद्धेः । ततो मोक्षाभावे निष्फलैव दीक्षा, मोक्षार्थमेव तत्प्रतिपत्तिस्तदभावे निरर्थकैव सेति । तदेवं द्रव्याननुयोगे निर्दिष्टा दोषाः ।

अथ द्रव्यस्य सम्यगनुयोगे गुणानाह-

सम्मं पयं पयच्छइ, सवच्छविणिओगओ जहा धेणू ।
तह सपज्जवजोया, दव्वं चरणं तओ मोक्खो ॥

यथा परवत्सपरिहारेण स्ववत्सविनियोगतो गौः सम्यक् पयः प्रयच्छति तथा स्वपर्यायनियोगाद् द्रव्यं, ततश्चरणं, ततो मोक्षः प्राप्यत इति। तदेवं द्रव्याननुयोगे च दोषगुणयोर्वत्सगोदृष्टान्त उक्तः।

अथ क्षेत्राद्यननुयोगे दोषांस्तदनुयोगे तु गुणान्सोदाहरणानतिदिशन्नाह-

एवं खेत्ताईसु वि, सधम्मविणिओगओऽणुओग त्ति ।
विवरीए विवरीओ, सोदाहरणोऽणुगंतव्वो ॥

एवमुक्तानुसारेण, क्षेत्रकालवचनभावेष्वपि स्वधर्मविनियोगतः आत्मोचितधर्मयोजनात्, अनुयोगः । विपरीते तु-विपरीतधर्मयोजने तु, विपरीतोऽननुयोगः सोदाहरणः स्वबुद्ध्या, ग्रन्थान्तराद्वाऽनुगन्तव्यो ज्ञातव्यः ।

तथेत्थमतिदिष्टेऽपि मुग्धविनेयानुग्रहार्थं किञ्चिदुच्यते-तत्र क्षेत्रतोऽननुयोगेऽनुयोगे च कुब्जोदाहरणमभिधीयते-प्रतिष्ठाननगरे शालिवाहनो नाम राजा । स च प्रतिवर्षं समागत्य भृगुकच्छे नरवाहनमनुरं रुणद्धि स्म । प्रावृट्काले च वाले तत्र स्थित्वा वर्षासु स्वनगरं गच्छति स्म । अन्यदा च शरत्कालसमागते तेन राज्ञा स्वनगरं जिगमिषुणा आस्थानसभामण्डपिकायां पतद्ग्रहकमन्तरेणापि भूमौ निष्ठ्यूतम् । तच्च राज्ञः पतद्ग्रहधारिण्या कुब्जया समाहितं स्म। तया चाभीरभावज्ञया लक्षितम्-नूनं प्रतिहारादिदं स्थानं मण्डलस्यापि प्रसादे स्वनगरं, तेनेत्थमिह निष्ठीवनमिति संचिन्त्य निर्गादेन कथ-

भ्यात्मपरिच्छिन्नस्य यानशालिकस्य । तस्मैन प्रगुणीकृत्य यानान्यगच्छन् एव राज्ञः पुरतोऽपि प्रवर्तितानि, तत्पृष्ठतश्च सर्वोऽपि स्कन्धावारः प्रवृत्तो गन्तुम् । स्थितं च तन्नामगरूपं कटकपृष्ठिनिकरेण । ततश्चिन्तितं विस्मितमनसा नराधिपेन-ननु कस्यापि प्रयाणकं न कथितं, धूर्तीभयात्किमाहं स्वरूपपरिच्छेदो भूत्वा सैन्यस्य पुरत एव यास्याम्येतच्च विपरीतमापन्नम्, तत्कथमिदं कटकलोकेन विज्ञातमिति । परम्परया शोधयता विज्ञाता कुब्जा । पृष्टया च तया कथितं सर्वमपि यथावृत्तम् । तदत्र मनाग्एरूपिकादिक्रमेण निष्ठीवनस्य अननुयोग, निष्ठीवनादिक्रमप्रमार्जनोपेक्षणादिकस्त्वनुयोग । एवमेकान्तनित्यमेकमप्रदेशं चाकाशं प्ररूपयतोऽननुयोग, स्याद्वादलाञ्छितं तु तदेव प्ररूपयतोऽनुयोग इति ।

कालाननुयोगानुयोगयोः स्वाध्यायदृष्टान्तः-तद्यथा-एकः साधुः प्रादोषिककालग्रहणानन्तरं कालिकश्रुतमतीतामपि तद्गुणनेऽप्रमजानानः परावर्तयते स्म । ततः सम्यग्दृष्टिदेवतया चिन्तितम्-बोधयाम्यमुं, मा क्षुद्रमिथ्यादृष्टिदेवताच्छलमस्य, ततो मथितकारूपेण मथितभृतमेव घटं मस्तके निधाय तस्यैव साधोरन्तिके गतागतानि कुर्वतो 'मथितं क्रय्यते' इति महता शब्देन पुनः पुनर्घोषयन्ती परिभ्रमति स्म । ततोऽत्युद्वेजितेन साधुना प्रोक्तम्-अहो ! तवत्यास्तक्रविक्रयवेला ? । ततो मथितकारिकयाऽप्युक्तम्-अहो ! तवापि स्वाध्यायवेला ? । ततो विस्मितः साधुरुपयुज्य मिथ्यादुष्कृतं ददाति स्म । ततोऽकालस्वाध्यायविधानेन मिथ्यादृष्टिदेवताविहितच्छलानि भवन्त्यतः पुनरप्येवं मा कार्षीस्त्वमित्यादि साधुर्देवतयाऽनुशासितः । इत्येष स्वाध्यायस्य कालाननुयोगः, कालेऽनुपतनस्तदनुयोगः, प्रस्तुतेऽपि कालधर्माणो वैपरीत्याविपरीत्यप्ररूपणे अननुयोगाऽनुयोगौ वाच्याविति ।

अथ वचनविषयमनुयोगाननुयोगयोरुदाहरणद्वयमुच्यते-तत्र प्रथमं बधिरोल्लापः । तत्र चैकस्मिन् ग्रामे बधिरकुटुम्बं परिवसति स्म । स्थविरः, स्थविरा, पुत्रो, वधूश्च । अन्यदा च पुत्रः क्षेत्रे हलं वाहयन् पथिकैर्मार्गं पृष्टो बधिरतया ब्रवीति-गृहजातौ मम बलीवर्दाविमौ, न पुनरन्यस्य सत्कौ । ततो बधिरोऽयमिति विज्ञाय गताः पथिकाः ततो भक्तं गृहीत्वा वधूः समायाता । शृङ्गिणौ पार्थिकैर्बलीवर्दावित्यादि निवेदितं तेन तस्याः तया च प्रोक्तम्-क्षारमलवणं वेति न जानाम्यहम्, एतत्त्वदीयजनन्यैव हि संस्कृतम् । ततो गृहं गतया तयाऽपि क्षारादिमणलवणव्यतिकरो निवेदितः स्थविरायाः । कर्तयन्त्या प्रोक्तम्-स्थूलं सूक्ष्मं वा भवत्विदं, स्थविरस्य परिधानं भविष्यतीति । निवेदितं चैतत्सानुशयचित्तया स्थविरया गृहमागतस्य स्थविरस्य । तेनाऽपि चिन्तयता प्रोक्तम्-तव जीवितं पिबामि, यद्येकमपि तिलमहं भक्षयामीति । एवमेकवचनादिकमप्युक्तम् । द्विवचनादितया यः शृणोति तदेव यान्यस्य प्ररूपयति, तस्याननुयोग, यथावच्छ्रवणनिरूपणे त्वनुयोग इति ॥ वचनानुयोगस्येह प्राधान्यख्यापनार्थं वचनविषयमेव द्वितीयं ग्रामेयकोदाहरणमुच्यते-तत्र चैकस्मिन्नगरे कस्याश्चिन्महिलाया भर्त्ता मृतः, सा च निर्धनत्वेन बाधिता निर्वहन्ती सपुत्रा निजमण्डेन सह ग्रामं गताऽसौ । ततो वृद्धिं गतेन पुत्रेण सा पृष्टा-मदीयः पिता कां वृत्तिं कृत्वा जीवति स्म ? । तया प्रोक्तम्-राजसेवया । तेनोक्तम्-अहमपि तां करोमि ? । तया प्रोक्तम्-पुत्र ! दुष्कराऽसौ, महता विनयेन क्रियते । कीदृशः पुनरसौ विनयः ? । तया प्रोक्तम्-सर्वस्यापीष्टस्य प्रणामः कर्तव्यः, नीचैर्वृत्त्या सर्वस्यापि प्रवर्तितव्यम्, परच्छन्दानुवर्तिना चैव सर्वत्र भवितव्यम् । एवं करिष्यामीत्यभ्युपगम्य चलितोऽयं राजधानीम् । सन्मुखं मार्गे च हरिणग्रहणाय व्याधा वृक्षमूलेष्वाकृष्टधनुष्का निलीना व्याधा दृष्टास्तेन च तेन महता शब्देन योत्कारः कृतः, ततस्त्रस्ताः प्रपलाय्य गताः मृगाः । ततो व्याधैः कुट्टयित्वा बद्धोऽसौ । ततस्तेनोक्तम्-अहं शिक्षितः-इदृशस्य सर्वस्यापि योत्कारः कर्तव्यः इत्यादि । ततश्च ऋजुरयमिति ज्ञात्वा मुक्तस्तैः, शिक्षितश्च-यथा-इदृशे दृष्टे निलीयमानैः शब्दमकुर्वद्भिः शनैः शनैरल्पद्भिर्निभृतमागम्यते । ततो गतोऽयं पुरतो गन्तुं प्रवृत्तोऽसौ । दृष्टाश्च वस्त्राणि क्षालयन्तः कालेऽपि च वस्त्राणि तस्करैर्नित्यमपह्रियन्ते इति, तस्मात् लगुडादिहस्तप्रमाणयो रजकाः प्रच्छन्नोपविष्टा ईक्षमाणा स्म । आगतश्चासौ तत्र निलीयमानः शनैः शनैः स एव चौर इति कृत्वा कुट्टयित्वा बद्धोऽसौ रजकैः । सद्भावे च कथिते मुक्तस्तैः शिक्षितश्च-यथेदृशे कस्मिंश्चिद् दृष्टे एवमुच्यते, यथा-क्षारोऽत्र पततु, शुद्धं च भवत्विति । इदं वाक्यं गच्छन् प्रवृत्तः पुरतो गन्तुम् । ततो दृष्टं कस्मिंश्चिद् ग्रामे बहुभिर्मङ्गलैः प्रथमं हलवाहनस्य दिवसकरणं क्रियमाणम् । तत उक्तम्-क्षारोऽत्र पततु इत्यादि । ततस्तैरपि कृषीवलैः पिट्टितो बद्धश्च, सद्भावे ज्ञाते मुक्तः, शिक्षितश्च-यथेदृशे क्वापि दृष्टे प्रोच्यते, यथा-गन्त्र्योऽत्र प्रभूता भवन्तु, सदैव चेदमस्त्विति । अभ्युपगतं च तेन । अन्यत्र च मृतके बहिर्नीयमाने प्रोक्तमिदम् । तत्रापि कुट्टितो बद्धश्च, सद्भावकथने च मुक्तः, शिक्षितश्च-यथेदृशं मा भूदेवं कदाचिदपि, वियोगश्चेदृशो माऽस्त्विति । एतच्चान्यत्र विवाहे प्रोक्तम्, तत्रापि तथैव बद्धः, सद्भावे परिज्ञाते मुक्तः, शिक्षितश्च-यदीदृशे प्रोच्यते-सदैवं पश्यन्त्वीदृशानि भवन्तः, शाश्वतश्च भवत्वेतेषां सम्बन्धः, मा कदाचिदिह वियोग इति । इदं चान्यत्र कस्मिंश्चिद् राजानमवलोक्य प्रचारणस्तथैव कदर्थयित्वा मुक्तः, शिक्षितश्च-यदीदृशो वियोगः शीघ्रं भवत्वनेन, एवं च मा कदाचिदपीदं अभिधीयते । एतच्चान्यत्र क्वचिद् राज्ञां सन्धौ जल्प्यमाने प्रोक्तं, ततस्तत्रापि तथैव कदर्थितः । एवं स्थाने २ कदर्थ्यमानोऽन्यदा कस्यापि विभवतः प्रमुक्तस्य ठक्कुरस्य सेवां विधातुमारब्धः, तत्र चान्यदा गृहे आम्लखलिकायां सिद्धायां ग्रामसभाजनमध्ये उपविष्टस्य ठक्कुरस्य शीतलीभूता एषा भोक्तुमयोग्या भविष्यतीति भार्यया तदाकारणाय प्रेषितो ग्रामेयकः । तेनापि तस्य जनसमूहस्य शृण्वतो महता शब्देन प्रोक्तम्-भगवन् ठक्कुर ! शीघ्रमेव गृहं, भुङ्क्ष्व, आम्लखलिका शीतलीभवति स्थितोऽसौ, ततो लज्जितठक्कुरो गृहं गतस्ततो बाढं ताडयित्वा शिक्षितोऽसौ, यथा नेत्थं कुर्वाणो गृहप्रयोजनानि भण्यन्ते, किन्तु वस्त्रेण मुखं स्थगयित्वा कर्णाभ्यर्णे च स्थित्वा शनैः कथ्यते । ततोऽन्यदा वह्निदीप्ते गृहे गतो ग्रामसभायां, शनैःशनैः स्थित्वा वस्त्रं च मुखद्वारे दत्त्वा कथितं ठक्कुरस्य कर्णे । ततः संभ्रमाद् धावितो गृहाभिमुखः ठक्कुरः, दग्धं च सर्वं सर्वमपि गृहं, तत कुपितेन बाढं ताडितोऽसौ ठक्कुरेण, भणितश्च विरे ब्राह्मण ! प्रथममेव धूमं निर्गतं जलाद्यारब्धं भस्मादिकं किं न क्षिप्तम्, त्वया न क्षिप्तम्, महता च शब्देन किमिति त्वया न पूत्कृतम् ? तेनोक्तम्-अन्यदा इत्थं करिष्यामीति । ततः कदाचिद्विकालवेलायां स्नात्वा धूपनायोपविष्टः ठक्कुरः, निर्गतां च प्रच्छादनपटस्योपरि धूपधूमशिखां दृष्ट्वा ग्रामेयकेन क्षिप्तं जलाद्युपरि तथा च पूत्कृतं महाशब्देन । ततोऽयोग्योऽयमिति निष्कासितो गृहात् । एवं शिष्योऽपि यावन्मात्रं वचनं गुरुः कथयति तावन्मात्रमेव

केवलवचनाभिप्रायो निश्चयविज्ञानशून्यो यो वक्ति, तस्य वचना-ननुयोगः, यस्तु पुनस्तैरेवार्थैरन्वितं वक्ति तस्य तदनुयोग इति ।

भावानुयोगाननुयोगयोः सप्तोदाहरणानि—

तत्र श्रावकभार्योदाहरणमाह—एकेन गृहीताणुव्रतेन तरुण-श्रावकेण श्रावकजायोऽतीवरूपवती कृतोत्कृष्टशृङ्गारा निजप-त्न्याः सखी कदाचिद् दृष्टा । गाढमध्युपपन्नश्च तस्यां, परं ल-ज्जादिना किमपि वक्तुमशक्नुवंस्तत्प्राप्तिचिन्तया च प्रतिदिनम-तीव दुर्बलो भवन्निर्बन्धेन पृष्टं कारणं स्वभार्यया, कथितं च कथ-ञ्चिदपि तेन । तया श्राविकत्वात् प्रोक्तम्-एतावन्मात्रेऽप्यर्थे किं खिद्यसे? प्रथममेव ममैतत्किं न कथितम्? स्वाधीना हि मम सा, आनयामि तत्सकाशमेवेति । ततोऽन्यदिने भणितो भर्ता-तया अभ्यु-पगतं सहर्षया मया युष्मत्समीहितं, प्रदोषे च आगमिष्यति, परं ल-ज्जालुतया वासभवनप्रविष्टमात्राऽपि प्रदीपं विध्यापयिष्यतीति तेनो-क्तम्-एवं भवतु, किमिदं विलम्बयति, ततो यथास्थाया सकाशात्कि-विधिमानमुपानीय याचितानि तथा तदीयानि स्वनेपथ्यरूपाणि प्रधानवस्त्राणि आभरणानि च, ततो गुटिकाप्रयोगतो विहितस्व-र्णाभरणस्याम्बरादिस्वरूपा तथैव कृतशृङ्गारा तत्सदापलितेन विज्ञाताऽन्विता तस्यैव श्रावकस्य भार्या सन्निहितपरकुसुमता-म्बूलार्थावगाढगुरुकर्पूरकस्तूरिकादिसमस्तभोगाङ्ग विहितासम्र-प्रदीपालोके रमणीये वासभवने सविलासमभ्यन्तरे प्रविशत । ततो दृष्टा-ऽतेन तरुणोत्कृष्टरूपलावण्या त्रिदशवधूविभ्रमपुलिनप्रतिस्पर्धिय-स्यरूपातिशयेन तरुणमन्यत मदनमनमन्मनोऽमृतवृष्टिमिवादधाना तेने-षा । तया च दृष्टमात्रया विध्यापितः प्रदीपः । क्रीडितं विविधभो-गोपभोगपूर्वकं तया सह निर्भरं तेन । गतायां च तस्यां प्रत्युषसि चिन्तितमनेन-"सयलसुरासुरपणमिय-चलणेहिं जिणेहिं जं दि-ण भणियं । तं पच्चक्खवयंतस्य, अहह ! मए हारियं सीलं" ॥ १ ॥ इ-त्यादिसंवेगपश्चात्तापमहानलप्लुष्यमाणान्तःकरणः प्र-तिदिनमधिकतरं दुर्बलो भवत्यसौ । ततो निर्बन्धेन भार्यया पृष्टो निः-श्वस्य सखेदं भर्तीति स्म-प्रिये! यतश्चिरकालानुपार्जितस्वर्गाप-वर्गनिबन्धनव्रतधनमनेनामुना हृतं मया तदकर्तव्यं यद् वाञ्छितं सामर्थ्यविधेयम । ततः कृशीभवाम्यहमनया चिन्तया । ततो भार्य-या संवेगवती मूलवृत्तान्तं तस्यै निवेद्य कथित-सर्वोऽपि यथा वृत्तः । मत्कथनात्तिष्ठेत्कथनादिनिश्च समुत्पादिता प्रतीतिस्त-स्य, ततः स्वस्थीभूतोऽयमिति । तदेव स्वकलत्रमपि परकलत्रा-भिप्रायेण भुञ्जानस्य तस्य भावाननुयोगः, यथाऽवस्थितावगमे भावानुयोगः । एवमौदयिकादिभावान् स्वरूपवैपरीत्येन प्ररूपय-तो भावाननुयोगः, यथावस्थितत्प्ररूपणं तु भावानुयोग इति ।

सप्तभिः पदैर्ग्रहतीति सप्तपदिकस्तदुदाहरणमुच्यते—

एकस्मिन्प्रत्यन्तग्रामे कोऽपि सेवकपुरुषो वसति स्म । स च साध्वादिदर्शनं सद्धर्मं कदाचिदपि न शृणोति स्म । न च तदन्तिके कदाचिदपि व्रजति स्म, न च कस्याप्युपाश्रयं ददा-ति स्म । यतो दयालुतां परधनपरकलत्रनिवृत्त्यादिगुणप्रतिपत्ति-मेते उपदिशन्ति, न च पालयितुमहं शक्नोमीति । अन्यदा च वर्षा-सु समयात्तास्तत्र कथमपि साधवः, तेषां च तत्र वसतिम-वेक्ष्य-मार्गानुसारिदृष्टिभिः सेवकनरमित्रैरभिहितम्-अत्रैव यूनो भ-वतामगीव भक्तोऽत्रकगृहे श्रावकास्तिष्ठन्ति, वसत्यादिना न किञ्चि-न्तापं करिष्यति, तदत्रैव तिष्ठन्ति; कृतं तत्तथैव तैः । स च तेषां पुर-तोऽपि स्थितानां संमुखमपि नावलोकयति स्म । तत एकेन सा-धुना प्रोक्तम्-स्वामान्निमुक्तम्-स एव न भवति, प्रव्रजिता चा-नेऽप्यस्मिन्वर्षायम । ततस्तेन सञ्जातेनोक्तम्-किं किं भणथ यूयम्? ।

ततस्तैः कथितं सर्वमपि भाषितम्, ततस्तेन चिन्तितम्-अहो ! मत्तोऽपि ते निकृष्टा यैरेतेऽपि प्रव्रजिताः, तस्मात् मा भूवमहं च तदुपहासपात्रम् । अतोऽनिष्टमपि करोम्येतदिति विचिन्त्योक्तम्-तिष्ठत मम निराकुलशालायामेतस्याम्, परं मम धर्माक्षरं न क-थनीयम् । प्रतिपन्नमेतत्तैः, स्थिताश्च सुखेन तत्र चतुर्मासकाल्ययं यावत् । ततो विजिहीर्षुभिस्तैस्तदनुव्रजनार्थमागतस्य शय्यातरस्य कल्पोऽयमिति दत्ताऽनुशास्तिः । ततो मद्यमांसजीववधादिवि-रतिं कर्तुमशक्नुवतस्तस्यातिशयज्ञानिनाऽपि प्रतिबोधगुणं प-श्यद्भिर्गुरुभिः साप्तपदिकं व्रतं दत्तम् । किञ्चित्पञ्चेन्द्रियप्राणिनं जिघांसुना यावता कालेन सप्तपदान्यपसर्प्यन्ते, तावन्तं कालं प्रतीक्ष्य हन्तव्योऽसाविति । प्रतिपन्नमेतत्तेन । गताश्च साधवोऽन्य-त्र । अन्यदा चासौ सेवकनरश्चौर्यार्थं गतः क्वापि, ततोऽपशकु-नादिकारणेन स्वल्पेनैव कालेन प्रतिनिवृत्तः, कीदृशो मत्परोक्षे मदीयगृहे समाचार इति जिज्ञासुर्निशीथे प्रच्छन्न एव प्रविष्टो निजगृहे, तस्मिंश्च दिने तदीयभगिनी ग्रामान्तरादागता, तथा च केनचिद् हेतुना विहितपुरुषनेपथ्यया तया नृत्यन्ती निरीक्षि-ता । ततोऽसौ प्रचलनिद्रावशीकृतपुरुषवेषैव भ्रातृजायायाः स-मीपे प्रदीपालोकादिरम्यवासभवनगतपल्यङ्क एव निर्भरं प्रसुप्ता । तेनाऽपि च तद्बन्धुना अकस्मादेव गृहप्रविष्टेन दृष्टं तत्तादृशम् । ततश्चिन्तितमनेन-अहो! विनष्टं मद्गृहम् । विटः कोऽप्ययं मद्भा-र्यामपि प्रसुप्तस्तिष्ठतीति कोपावेशादात्तकृपाणः, ततः स्मृतं व्रत, विलम्बितं च सप्तपदापसरणकालम् । अत्रान्तरे तद्भगिनी-बाहुलतिका निद्रावशेन तद्भार्यया मस्तकेनाक्रान्ता, ततः पी-ड्यमानया तद्भगिन्या प्रोक्तम्-हले! मुञ्च मम बाहुं, दूयेऽत्यर्थ-महम् । ततः स्वरविशेषेण ज्ञाताऽनेन स्वभगिनी । अहो! निकृष्टोऽहं, मनागेव मया न कृतमिदमकार्यम । तत उत्थिते ससंभ्रमं भ-गिनीभार्ये । कथितश्च सर्वः स्वव्यतिकरः परस्परम् । ततो य-थोक्तातिप्रहमात्रस्याप्येवंभूतं फलमुद्वीक्ष्य संविग्नः प्रव्रजितोऽ-साविति । तदत्र स्वभगिनीमपि परपुरुषाभिप्रायेण जिघांसोस्तस्य भावाननुयोगः; यथाऽवस्थितावगमे तु भावानुयोगः । प्रस्तुत-योजना तु श्रावकभार्योदाहरणवदिति ।

कोङ्कणकदारकोदाहरणम्-

यथा कोङ्कणकविषये एकस्य पुरुषस्य लघुदारकोऽस्ति स्म । भार्या तु मृता, अन्यां च परिणेतुमिच्छतोऽपि सपत्नीपुत्रोऽस्यास्तीति न कोऽपि ददाति स्म । अन्यदा च सहैव तेन दारकेणासावरण्ये का-ष्ठार्थं गतः, तत्र च कस्यापि पित्रा काण्डं मुक्तं, तदानयनाय च दारकः प्रेषितः, गतश्चायम, अत्रान्तरे दुष्पितुस्तस्य चाशुभं चित्तं, यदस्य दारकस्य सत्कारणेनान्यां भार्यां मम न कोऽपि ददाति । ततोऽन्यत्काण्डं क्षिप्त्वा विद्धोऽसौ दारकः, ततो महता स्वरे-णोक्तं बालकेन-तात ! किमेतत्काण्डं त्वया मुक्तम्, विद्धो हतो-ऽहम । ततो निर्घृणेन पित्राऽन्यत् काण्डं मुक्तम । ततो ज्ञातं दा-रकेण-हन्त ! बुद्ध्या मारयत्येव मामिति विस्वरं रटन्निष्ठुरेण तेन मारितोऽसाविति । पूर्वमन्यदृश्य बाणं मुञ्चतोऽपि ज्ञानोपगतपदार्थ-विरुद्ध इत्येवमवबुध्यमानस्य भावाननुयोगः, पश्चाद्यथावस्थिता-वगमे तस्य भावानुयोगः । अथवा संस्काराहमपि न बालकं मारया-मीत्यध्यवस्यतः पितुर्भावाननुयोगः, तदृक्षाध्यवसाये तु भावानु-योगः । एवं विपरीततत्त्वप्ररूपणे भावाननुयोग, अविपरीतभाव-प्ररूपणे तु भावानुयोग इति ।

अथ नकुलोदाहरणम्-

यथा पद्मानेः कस्यचिद् नार्या गुर्विणी जाता, नकुलिका च

कस्मिंश्चित् गृहस्थस्यापाथिना गुर्विणी, पदातिभार्यया सह एकस्यां रजन्यां प्रसूता। तस्या नकुलो जातः, इतरस्यास्तु पुत्रः, ततोऽस्य समीपे नकुलः सदैव तिष्ठति स्म। अन्यदा च पदातिभार्यया द्वारे कण्डयन्त्या मध्ये मञ्चिकायां स्थापितो बालकः सर्पेण दष्टो मृतश्च। ततो मञ्चिकाया अधस्तात् नकुलेन दृष्टो विषधरः खण्डखण्डः कृत्वा मारितश्च; ततो द्वारे पदातिभार्यायाः समीपं गत्वा शोणितलेपलिप्तवक्त्रपादद्वयोऽसौ चाटूनि कर्तुमारब्धः, दृष्टश्च तया। ततो नूनं मदीयपुत्रं मारयित्वा भक्षितोऽनेनेति विचिन्त्य [illegible] हत्वा मारितो नकुलः। गता च पुत्रसमीपं; दृष्टश्च पुत्रेण सह विनष्टः सर्पः, ज्ञातं च तया सर्पो निहतस्ततो हन्त निरपराधोऽप्युपकार्यपि मया निर्दयया हतो वराको नकुलः, इति विचिन्त्य द्विगुणतरं शोकमापन्ना। पूर्वमपराधिनं विधाय नकुलं प्रत्यासन्नत्या भावाननुयोग इति; यथार्थज्ञानेनात्वनुयोगः। प्रस्तुतयोजना त्वनन्तरोक्तवदिति।

अथ कमलामेलोदाहरणम्–

तत्र द्वारावत्यां नगर्यां बलदेवपुत्रो निषधः, तस्यापि सूनुः सागरचन्द्रः, स च रूपेणातीवोत्कृष्टः, शाम्बादीनां च कुमाराणां सर्वेषामपि [illegible] प्रिय, तस्यामेव च द्वारावत्यां नगर्यामन्यस्य राज्ञो दुहिता कमलामेला नाम्ना [illegible] स्म। सा चोग्रसेननप्तुर्नभःसेनकुमारस्य दत्ता पूर्वा [illegible] स्म। अन्यदा च तत्र नारदः सागरचन्द्रस्य समीपं गतः। तेनाभ्युत्थाय उपवेश्य प्रणम्य च पृष्टः– भगवन्! आश्चर्यं [illegible] दृष्टम्? नारदेनोक्तम्–दृष्टं कमलामेलायां [illegible] न खलु सम [illegible] किन्तु भुवनत्रयस्या- [illegible] सागरचन्द्रेणोक्तम्–किं दत्ता कस्यचित्सा? [illegible] कथं पुनर्मम सा संप- [illegible]? इति सागरचन्द्रेणोक्ते, न जानामीत्यभिधाय गतो नारदः। [illegible]

[illegible]

ने पितृश्वसुरपार्श्वेकेऽश्वान्वेषयद्भिर्दृष्टा कृतविवाहस्य [illegible] गृहीतवेषधारिणी च कुर्वन्ती कमलामेला। विवाहितस्त्वगरेणीता कमलामेलेति कथितं तथाऽनुद्वेगस्येति। [illegible] धरोपरि कुपितः सबलवाहनोऽसौ, युद्धं च महत्सैन्येन [illegible] ज्ञातस्पष्टास्त्वेनस्य: परिहृतवैक्रियरूप. पतितो [illegible] ततश्चोपसंहृतः सङ्ग्रामः; दत्ता च कृष्णेन कमलामेला [illegible] स्वस्थैव। गताश्च सर्वे स्वस्वस्थानम्। तत्र सागरचन्द्रस्य [illegible] कमलामेलां मन्यमानस्य भावाननुयोगः, यथावस्थितार्थे [illegible] भावानुयोगः। विपरीतादिप्ररूपणयोजना तु प्रस्तुता पूर्ववत्।

शाम्बसाहसोदाहरणमिति वचनान्तरे [illegible] देवाच्छेपजातश्च सदैव शृणोति जाम्बवती-[illegible] मन्दिरं स्वपुत्रः शाम्ब याति। ततो जाम्बवत्या [illegible] मया पुत्रस्तव एकोऽप्याविनीतो दृष्टः। विष्णुना प्रोक्तम् [illegible] येनाद्य दर्शयामि। ततो जाम्बवती [illegible] कारिता, स्वयं पुनराभीररूपं कृत्वा दण्डहस्तः [illegible] स्थितः। अथ तस्तु मस्तकन्यस्तदधिहण्डिका [illegible] प्रविष्टोऽथ दधिविक्रयार्थं नगरीमध्ये। दृष्टा च [illegible] तद्रूपरूपा आभीरीति विज्ञाय प्रोक्ता शाम्बेन [illegible] सर्वस्यापि त्वदीयदध्नो यावन्मात्रं मूल्यं याचसे तावत् [illegible] मीत्यनतः स्वयं पृष्ठतस्त्वाभीरी पश्चादाभीरः [illegible] कुलिकायामेकस्यां गत्वा प्रोक्ता शाम्बेनाभीरी–प्रविश [illegible] मध्ये, मुञ्च दधि। तया च विरूपाभिप्रायं तं विज्ञाय [illegible] प्रविशामि, द्वारस्थिताया एव गृहाण दधि, [illegible] बलादपि प्रवेशयिष्यामीत्यभिधाय गृहीता शाम्बेन सा [illegible] ततो धावित्वा द्वितीयबाहौ ग्रस्त आभीरः। [illegible] निरूपणं कुर्वतोऽनेन भागकम्। ततः कृतं स्वरूप [illegible] जाम्बवत्याश्च विष्णुना। तच्च दृष्ट्वा लज्जितो [illegible] प्रच्छन्नं चायमरेऽपि लज्जया राजकुले। ततोऽन्यस्मिन् दिन- [illegible] त्रिपुरुषपुरुषैः कष्टेनानीयमानः कुलिकया [illegible] गच्छायमी। प्रणामे च कृते पृष्टो वासुदेवेन [illegible] कुलिकया घटते। ततो कृष्णपीठकोऽयम्। [illegible] पर्युषितानीतमद्यापि दृश्यतेऽतस्तमुत्तेन [illegible] शाम्बस्य मातरमाभीरीं मन्यमानस्य भावाननुयोगः, य- [illegible] यथावस्थितार्थमे तु भावानुयोगः। प्रस्तुतयोजना तु पूर्ववत्।

अथ श्रेणिककोपोदाहरणम्–

राजगृहे नगरे समवसृतस्य भगवतः श्रीमन्महावीरस्य [illegible] नराधिपो राज्या चेल्लणया सह माघमासे [illegible] महार्घीतं पतति वन्दनार्थं गतः। ततः [illegible] राज्या चेल्लणया [illegible] [illegible] स्थितः [illegible] [illegible] सुप्ता पादौ, निर्गतश्च प्रावरणाद् बहिः [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

करिष्यतीति तस्याभिप्रायमाभिप्रायः, अयं चेर्ष्यालुतया श्रेणिकनृपस्यान्यथापरिणतः-नूनमनया कस्मापि संकेतो दत्तस्तदन्तिके च मयि सन्निहिते गन्तुमशक्ता, ततस्तद्विषयं चेतसि निधाय पतदुक्तम्। ततो महता खेदेन तस्य विभाता रजनी। प्रभाते श्रीमन्महावीरस्यान्तिकम्। गच्छता चातिकोपावेशाभिरूपितोऽभयकुमारः-सर्वाभिरपि पुरिकाभिः सह प्रदीपय सर्वान्तःपुरमपि। ततोऽभयकुमारेण चिन्तितम्-केनाप्यभिनयोत्पन्नकोपावेशेनैवमयं वक्ति, प्रथमकोपे च यदुच्यते तत्क्रियमाणं न खलु परिणती सुखयति। अथवाऽनुवर्त्तनीयं गुरूणां वचनमतः शून्यां हस्तिशालामेकां प्रदीप्य प्रस्थितः सोऽपि भगवद्वन्दनार्थम्। इतश्च भगवान्पृष्टः श्रेणिकराजेन-भगवन्! चेल्लणा किमेकपत्नी, अनेकपत्नी वा?। भगवता प्रोक्तम्-एकपत्नीति। ततो निवृत्तः सत्वरमेव पुराभिमुखमभयकुमारनिवारणाय। मार्गे चागच्छन्नभिहितोऽसौ पृष्टश्च-किं दग्धमन्तःपुरम्?। तेनोक्तम्-दग्धम्। राज्ञा प्रकुपितेनाऽभ्यधायि-त्वमपि तत्रैव प्रविश्य किं न दग्धोऽसि?। कुमारेणोक्तम्-किं ममाग्निप्रवेशेन?, व्रतमेव ग्रहीष्याम्यहम्, ततो मा भूदस्य महान् खेद इति कथितं यथावस्थमेवेति। तदत्र सुशीलामपि चेल्लणां दुःशीलां मन्यमानस्य राज्ञो भावाननुयोगः, यथावस्थगमने च तदनुयोगः। एवमौदयिकादिभावान् विपरीतस्वरूपान् प्ररूपयतो भावाननुयोगः, यथाऽवस्थितस्वरूपांस्तु तान् प्ररूपयतो भावानुयोग इति। विशे०। विपा०।

अणणुचीइय-अननुचित-त्रि०। शास्त्राननुज्ञाते, " जो तु अकारणसेवा सा भण्णा अणणुचीयातो होति, जा अकारणतो पडिसेवा गुणदोसे अचिंतिकण सा अणणुचीति" नि० चू० १ उ०।

अणणुपालण-अननुपालन-न०। न० त०। अनासेवने, आव० ६ अ०। पंचा०। " पोसहोववासस्स सम्ममणणुपालणया " पोषधोपवासातिचारः। उपा० १ अ०।

अणणुवाइ (न्)-अननुपातिन्-त्रि०। सिद्धान्तेन सहाऽघटमानके, स्था० १ ठा०।

अणणुवाय-अननुपात-पुं०। अनागमने, पंचा० ७ विव०।

अणणुसासणा-अननुशासना-स्त्री०। शिक्षाया अभावे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०।

अणण्ण-अनन्य-त्रि०। अभिन्ने, विशे०। " अणण्णं अभिन्नं " मपृथगित्यर्थः। नि० चू० १ उ०। मोक्षमार्गादन्योऽसंयमः, नान्योऽनन्यः। ज्ञानादौ, " अणण्णं चरमाणे से ण छणे ण छणावए " आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०।

अणण्णणेय-अनन्यनेय-त्रि०। अन्येन नेतुमशक्ये, "णेतारो अण्णेसिं अणण्णणेया बुद्धा हु ते अंतकरा हवंति" न च स्वयं बुद्धत्वादन्येन नीयन्ते तत्त्वावबोधं कार्यन्ते इत्यनन्यनेयाः, हिताहितप्राप्तिपरिहारं प्रति नान्यस्तेषां नेता विद्यत इति भावः। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

अणण्णदंसि (न्) अनन्यदर्शिन्-पुं०। अन्यद् द्रष्टुं शीलमस्येत्यन्यदर्शी यस्तथा, नासावनन्यदर्शी। यथावस्थितपदार्थद्रष्टरि, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ०।

अणण्णपरम-अनन्यपरम-पुं०। न विद्यतेऽन्यः परमः प्रधानो यस्मादित्यनन्यपरमः। संयमे, " अणण्णपरमं णाणी, णो पमाए कयाइ वि "। आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

अणण्णमण-अनन्यमनस्-त्रि०। न विद्यते अन्यद् धर्मध्यानादन्यत्र मनो यस्य सोऽनन्यमनाः। एकाग्रचित्ते, संथा०। अनन्यमनसि, औ०।

अणण्णहावाइ (न्) अनन्यथावादिन्-पुं०। सत्यवक्तरि, "अणुवकयपराणुग्गह-परायणा जं जिणा जगप्पवरा। जियराग-दोसमोहा, अणन्नहावाइणो तेण " ॥ १ ॥ आव० ४ अ०।

अणण्णाराम-अनन्याराम-त्रि०। मोक्षमार्गादन्यत्रारममाणे, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ०।

अणण्हय-अनाश्रव-पुं०। न० त०। नवकर्माऽनादाने, प्रश्न० १ आश्र० द्वा०। स्था०।

अणण्हयकर-अनाश्रवकर-पुं०। प्राणातिपाताद्याश्रवकरणरहिते पञ्चमे प्रशस्तमनोविनयभेदे, भ० २५ श० ७ उ०। स्था०।

अणण्हयत्त-अनंहस्कत्व-न०। न विद्यते अंहः पापं यस्मिन् तत् अनंहस्कम्, तस्य भावोऽनंहस्कत्वम्। अविद्यमानकर्मत्वे, "संजमेणं अणण्हयत्तं जणयइ " उत्त० १ अ०।

अणतिक्कमणिज्ज-अनतिक्रमणीय-त्रि०। न० त०। अचालनीये, भ० २ श० ५ उ०। दशा०।

अणतिक्कमणिज्जवयण-अनतिक्रमणीयवचन-त्रि०। अनतिक्रमणीयं वचनं येषां ते। वचनानतिक्रामकेषु, "अम्मापिऊणं अणइक्कमणिज्जवयणा " अम्बापित्रोः सत्कमनतिक्रमणीयं वचनं येषां ते तथा। औ०।

अणतियार-अनतिचार-त्रि०। न विद्यन्ते अतिचारा यस्मिन्। अतिचाररहिते, ध० ३ अधि०।

अणतिवाइ(न्)-अनतिपातिन्-पुं०। अतिपतनमतिपातः प्राण्युपमर्दनं, तद्विद्यते यस्यासावतिपातिकस्तत्प्रतिषेधादनतिपातिकः। अहिंसके, सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

अणतिविलंबियत्त-अनतिविलम्बितत्व-न०। अतिविलम्बरहितरूपे वचनातिशये, औ०।

अणत्त-ऋणार्त्त-पुं० स्त्री०। राजादीनां हिरण्यादिकधारके, ग० १ अधि०। ऋणपीडिते, स्था० ३ ठा० ४ उ०। स न दीक्षणीयः। ध० ३ अधि०। पं० भा०। प० चू०।

अनात्त-अपरिगृहीते, ध० २ अधि०। स्था०।

इयाणिं भण्णइ—

सच्चित्तं अच्चित्तं, वा मीसगजायणं तु धारेंति।
समणाण व समणीण व, न कप्पती तारिसं दिक्खा ४११

कंठा। इमे दोसा—

अध सो य अकित्ती वा, तम्मूला गंतहिं पवयणस्स।
अणपोत्थकम्मकादिया, सव्वे एयारिसा समणा ॥४१२॥

अणं रिणं. पोत्थकं भवलं, अक्खरायपरिनयं अणणाणुपोत्थको, (उंउरिय त्ति) कंउरिया रिणे आइंशोणि धणियहिं अणेगप्पगारे रोड कुम्मयणेहिं उद्दयाकंउरियालसकमादियदि वा उरिसा सव्वे एयारिसा। एवं गेण्हणकड्डणादिया दोसा।

इमं वितियपद गाहा—

दाणेण से तोसितो, अहवा वीसज्जितो पहू णं।
अद्धाणपरविदेसे, दिक्खा से उवमाऽववदो ॥४१३॥

अद्धपहुं राजेण तोसियत्त धणियण विसज्जितो (पभु त्ति)

भणितो सत्थमिम अदिंये तेण विसज्जितो पत्थाविज्जति, सेसं कंठं। अणसे गतामिति । नि० चू० ११ उ० ।

अणसं-देशी । निर्मात्ये, दे० ना० १ वर्ग ।

अणत्तट्ठिय-अनात्मार्थिक-त्रि० । आत्मार्थं यत्र यस्यास्त्यसावनात्मार्थिकः । परमार्थकारिणि, प्रश्न० १ संव० द्वा० ।

अणत्तपण्ण-अनात्मप्रज्ञ-त्रि० । नात्मने हिताय प्रज्ञा येषां ते अनात्मप्रज्ञाः । स्वधर्मबुद्धिषु, " एते विसीयमाणे अणत्तपण्णे " आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

अणत्तव-अनात्मवत्-त्रि० । अकषायो ह्यात्मा भवति, स्वस्वरूपावस्थितत्वात्, तदात्र भवति यः सोऽनात्मवान् । सकषाये, स्था० ६ ठा० ।

अणत्तागमण-अनात्तागमन-न० । अनात्ता अपरिगृहीता वेश्या, स्वैरिणी, प्रोषितभर्तृका, कुलाङ्गना वाऽनाथा, तस्यां गमनम् । अपरिगृहीतागमने स्वदारसन्तोषातिचारे, ध० २ अधि० ।

अणत्थ-अनर्थ-पुं० । अनर्थहेतुत्वाद् गौणे पञ्चविंशे परिग्रहे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वा० ।

अणत्थक-अनर्थक-पुं० । परमार्थवृत्त्या निरर्थके अष्टाविंशे गौणपरिग्रहे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वा० । निष्प्रयोजने, पंचा० ८ विव० ।

अणत्थकारग-अनर्थकारक- त्रि० । पुरुषार्थोपघातकारके, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अणत्थंतर-अनर्थान्तर-न० । अन्योऽर्थोऽर्थान्तरम्, न विद्यतेऽर्थान्तरं यस्य पर्याये । एकार्थे शब्दे, "योग्यमर्हमित्यनर्थान्तरम्" आ० म० द्वि० ।

अणत्थगंथ-अनर्थग्रन्थ-पुं० । न० त० । भावधनयुक्ते, औ० ।

अणत्थचूल-अनर्थचूर-पुं० । निजगुणोपार्जितनामके रत्नत्रयाः सुते, दर्श० ।

अणत्थदंडज्झाण-अनर्थदण्डध्यान-न० । अनर्थदण्डो निष्प्रयोजनं हिंसादिकरणं तस्य ध्यानम् । दुर्दान्तमत्ततया ग्रीवायने दर्शितुर्थनां शास्त्रार्दानामिव, यत्र मण्डली सर्पविशेषरूपा ततो गरुडस्येव, विष्णुभीर्दयी स्वर्गसंदेशकथननिपुणस्य वा बालस्येव, ध्याने, आतु० ।

अणत्थफलद-अनर्थफलद-त्रि० । स्वपरयोरपकाररूपफलदायके, पञ्चा० ३ विव० ।

अणत्थमियसंकप्प-अनस्तमितसंकल्प-पुं० । अनस्तमितेः सूर्ये संकल्पो भोजनाभिलाषो यस्य । अनिष्टरात्रिभोजने दिवाभोजिनि, सू० १ उ० ।

अणत्थवाय-अनर्थवाद-पुं० । निष्प्रयोजने जल्पे, प्रश्न० २ संव० द्वा० ।

अणत्थादंड-अनर्थदण्ड-पुं० । निष्प्रयोजनहिंसाकरणे, आतु० । (' अणट्ठादंड ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३८७ पृष्ठे अस्य विवृतिः)

अणत्थादंडवेरमण-अनर्थदण्डविरमण-न० । तृतीये गुणव्रते, पंचा० १ विव० (' अणट्ठादंडवेरमण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३८५ पृष्ठेऽस्य विस्तरः)

अणधारग-ऋणधारक-पुं० । ऋणं व्यवहारकदेयं द्रव्यं, तद्धारयति । अधमर्णे, ज्ञा० १७ अ० ।

अणन्नवाद-अनन्यवाद-पुं० । अन्यः शङ्करे प्रवोदयति प्रेरयति । विष्णौ, शङ्करे हि विष्णुना यत्नेन शङ्करः संप्रेरितः । " विष्णोः वोऽनः प्रवोदयात् " जै० गा० ।

अणप (प्प) ज्ज-अनात्मज्ञ-त्रि० । अनात्मज्ञः स्वस्वरूपं क्षिप्तचित्तादौ च । नि० चू० १ उ० ।

अणधिकारि(ण्)-अनधिकारिन्-पुं० । अधिकारिविरुद्धे

अणद्ध-अनर्द्ध-त्रि० । न विद्यतेऽर्द्धं येषामित्यनर्धाः । निर्विभागेषु, " समयः प्रदेशः परमाणुश्च एते अनर्धाः " स्था० ठा० २ उ० ।

अणपन्निय-अणपन्निक-पुं० । व्यन्तरनिकायोपरिवर्तिव्यन्तरभेदे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । स्था० । औ० । ते च रत्नमायाः उपरितने रत्नकाण्डरूपे योजनसहस्र अध उपरि च दशयोजनशतरहिते वसन्ति । प्रज्ञ० १९४ द्वा० ।

अणप्पगंथ-अनर्घ्यग्रन्थ-त्रि० । अनर्घ्योऽनर्घणीयोऽर्घ्यः परेषामाध्यात्मिकत्वात् ग्रन्थवद् द्रव्यवत् ग्रन्थो ज्ञानादिर्यस्य सोऽनर्घ्यग्रन्थ इति । परेभ्योऽज्ञानव्यज्ञानादिके, स्था० ।

अनल्पग्रन्थ-त्रि० । न० ब० । बह्वागमे, औ० ।

अनात्मग्रन्थ-त्रि० । अविद्यमानो वा आत्मनः सम्बन्धी ग्रन्थो हिरण्यादिर्यस्य । अपरिग्रहे, औ० । सूत्र० ।

अणप्पिय-अनर्पित-न० । अविशेषिते , यथा जीवद्रव्यं संसारी, संसार्यपि त्रसरूपं, त्रसरूपमपि पञ्चेन्द्रियं, नरोऽमर इत्यादि तु अर्पितं विशेषितं विशेषः । स्था० १० ठा० ।

अणप्पियणय-अनर्पितनय-पुं० । अनर्पितमविशेषितं सामान्यमुच्यते, तद्वादी नयोऽनर्पितनयः । सामान्यमेवास्ति न विशेष इत्येवं वादिनि आगमप्रसिद्धे नयभेदे, विशे० । आ० म० ।

अणबल-ऋणबल-पुं० । ऋणे ग्रहीतव्ये बलं यस्येति । उत्तमर्णे, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अणबलभणिय-ऋणबलभणित-पुं० । उत्तमर्णेनास्मद् द्रव्यं देहीत्येवमभिहिते अधमर्णे, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अणब्भ-अनभ्र-त्रि० । अभ्ररहिते, ज्ञा० २४ द्वा० ।

अणब्भय-अनभ्रक-त्रि० । अभ्रकरहिते, तं० ।

अणब्भुवगय-अनभ्युपगत-त्रि० । श्रुतसंपदानुपगते यान्येन्द्रियात्मनि, आ० म० प्र० ।

अणभंजग-ऋणभञ्जक-पुं० । ऋणं देय द्रव्यं भञ्जन्ति न ददति ये ते । उत्तमर्णेभ्य ऋणं गृहीत्वाऽदायकेषु, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अणभिओग-अनभियोग-पुं० । न अभियोगोऽनभियोगः । अनभियोक्तव्ये, औ० ।

अणभिक्कंत-अनभिक्रान्त-त्रि० । न अभिक्रान्तो जीवितादनभिक्रान्त इति । सचेतने, आचा० २ श्रु० १ अ० ३ उ० । अनतिक्रान्ते, आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० । अन्यैरनभिक्रान्तायामनधिष्ठितायां दोषविशेषविशिष्टायां वसतौ, स्था० । आचा० २ अधि० ।

अणभिक्कंतकिरिया-अनभिक्रान्तक्रिया-स्त्री० । चरकादिभिरनध्यासितपूर्वायां वसतौ , सा चानभिक्रान्तक्रिया वसतिर्भवति । आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अणभिक्कंतसंजोग-अनभिक्रान्तसंयोग-पुं० । अनभिक्रान्तोऽनतिक्रान्तः संयोगो धनधान्यहिरण्यपुत्रकलत्रादिकृतो संबन्ध-

संयोगो वा येनाऽसावनभिक्रान्तसंयोगः । परिग्रहप्रसंगेऽसंयते, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अणभिगम-अनभिगम-पुं० । न० त० । विस्तरबोधाभावे, भ० २ श० १ उ० । सम्यगप्रतिपत्तौ, ध० ३ अधि० । पा० ।

अणभिग्गहिय-अनभिग्रहिक-न० । अभिग्रहः कुमतपरिग्रहः स यत्रास्ति तदभिग्राहिकं, तद्विपरीतमनभिग्राहिकम् । मिथ्यात्व-भेदे, स्था० २ ठा० १ उ० । तत्र प्राकृतजनानां सर्वे देवा वन्द्या न निन्दनीयाः, एवं सर्वे गुरवः, सर्वे धर्मा इत्याद्यनेकविधम् । ध० २ अधि० । "अणभिग्गहियमिच्छादंसणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-सप-ज्जवसिए चेव अपज्जवसिए चेव" अनभिग्रहिकं भव्यस्य सपर्य-वसितमितरस्यापर्यवसितमिति । स्था० २ ठा० १ उ० ।

अनभिग्रहित-पुं० । अभिग्रहिकमिथ्यात्वरहिते, सू० १ उ० ।

अणभिग्गहियकुदिट्ठि-अनभिगृहीतकुदृष्टि-पुं० । अनभिगृहीता अनङ्गीकृता कुदृष्टिः सुगतादिरूपा येन सोऽनभिगृहीतकुदृष्टिः । मतेऽपरस्मिं , येन मिथ्यात्विनां कुमतमङ्गीकृतं नास्तीत्यर्थः । उत्त० २८ अ० ।

अणभिग्गहियसिज्जासणिय-अनभिगृहीतशय्यासनिक-पुं० । न अभिगृहीते शय्यासने येन सोऽनभिगृहीतशय्यासनिकः । स्वार्थे इकप्रत्ययः । शय्यासनविषयकाभिग्रहरहिते, "नो क-प्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अणभिग्गहियसिज्जासणिए णं हुत्तए " कल्प० ।

अणभिगहीयपुण्णपाव-अनभिगृहीतपुण्यपाप-त्रि० । अनभिग-तपुण्यपापे, अविदितपुण्यपापकर्महेतौ च । प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अणाभिग्गहिया-अनाभिगृहीता-स्त्री० । अर्थानभिग्रहेण डि-त्थादिवदुच्यमानायां भाषायाम्, " अणभिग्गहिया भासा, भासा य अभिग्गहं मि बोधव्वा " । भ० १० श० ३ उ० ।

अणभिणिवेस-अनभिनिवेश-पुं० । अनात्मेऽभिनिवेशाभावे, अ-नाभोगे च । पंचा० ११ विव० । अभिनिवेशरहिते, अभिनिवेश-श्च नीतिपथमनागतस्यापि पराभिभवपरिणामेन कार्यस्यार-म्भ. । ध० १ अधि० ।

अणभिप्पेय-अनभिप्रेत-पुं० । अनभिप्रेतार्थविषये संयोगे, उ-त्त० १ अ० । पं० व० ।

अणभिभूय-अनभिभूत-त्रि० । नाभिभूतोऽनभिभूतः । अनुकू-लप्रतिकूलोपसर्गैः परीषहैर्वाऽजातानभिभवे, आचा० १ श्रु० २ अ० ।

अणभिलप्प-अनभिलाप्य-त्रि० । प्रज्ञापनायोग्ये, आ० म० प्र० । " पण्णवणिज्जा भावा, अणंतभागो उ अणभिलप्पाणं " सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । आ० चू० ।

अणभिस्संग-अनभिष्वङ्ग-पुं० । निष्प्रतिबन्धे, पञ्चा० १ विव० ।

अणभिय-अनभीत-पुं० । [illegible] , [illegible] गच्छति तासु तासु योनिषु जीवोऽनेनेत्यन्तं पाप, [illegible] । अनाभवयोगे, आ० म० द्वि० ।

अणभिस्संगत्तो-अनभिष्वङ्गतस्-अव्य० । [illegible] त्वेन, पंचा० ४ विव० ।

अणभिहिय-अनभिहित-त्रि० । [illegible] सू० १ उ० । [illegible] [illegible] पदार्थौ [illegible]

अथ, [illegible] समुदायमार्गनिरोधकत्वं, [illegible] र्थं वा यौद्धकर्मत्यादि । अनु० । आ० म० द्वि० । विशे० ।

अणराय-अराजक-न० । राज्ञोऽभावे, [illegible] मंत्रीत्वे मति यावदद्यापि राजा युवराजो [illegible] तावदराजकं भण्यते, वृ० १ उ० । ([illegible])

अणरिक्ख-देशी-न० । [illegible] , नि० चू० ११ उ० ।

अणल-अनल-पुं० । [illegible] । अ० म० । [illegible] , [illegible] , [illegible] , पुं० । [illegible] । [illegible] । आव० । [illegible] । [illegible] , नि० चू० ११ उ० । [illegible] , आ० म० द्वि० ।

[illegible]

[illegible] अणलो [illegible] ।
[illegible] [illegible]

[illegible]

अणवकंखवत्तिया किरिया दुविहा पत्तता। आयशरीरअणवकंखवत्तिया चेव, परसरीरअणवकंखवत्तिया चेव । तत्रात्मशरीरानवकाङ्क्षप्रत्यया सा स्वशरीरक्षतिकारिकर्माणि कुर्वतः, तथा परशरीरक्षतिकराणि तु कुर्वतो द्वितीयेति । स्था० २ ठा० १ उ० । "अणवकंखवत्तिया इहलोगे परलोगे य । इहलोगे अणवकंखवत्तिया लोगविरुद्धाणि चिचोरिकादीणि करेति जेण वहबंधादीणि इहेव पावति, परलोगे अणवकंखवत्तिया [illegible] इंदियपराभूतो हिंसादिकम्माणि करेमाणो परलोगं नावकंखति " आ० चू० ४ अ० ।

अणवकंखा-अनवकाङ्क्षा-स्त्री० । अनाकाङ्क्षायां स्वशरीराद्यनपेक्षत्वे, स्था० १ ठा० १ उ० ।

अणवगय-अनवगत-त्रि० । अपरिज्ञाते, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अणवगल्ल-अनवकल्प-पुं० । अरसा पीडिते, अनु० । अत्यक्लृप्ते, पं० व० १ द्वा० । घ० ।

अणवग्गुय-अनवगुन-त्रि० । न० त० । अपृथग्भूते, स्था० ७ उ० ।

अणवज्ज-अनवद्य(अणवग्र्य)-न० । अवद्यं पापं, नास्मिन्नवद्यमस्तीत्यनवद्यम् । सामायिके, विशे० । आ० चू० । सावद्ययोगप्रत्याख्यानात्मकत्वादस्य । आ० म० द्वि० ।

पावमवज्जं भाणा-इयं अपावं ति तो तदणवज्जं ।

पावपरिवज्ज अहवा, वज्जिज्जइ तेण तदमंसं ॥

[illegible] दुर्गतगमनहेतुत्वात् [illegible] करणानि [illegible], [illegible], अणं पापमुच्यते । तदशेषं [illegible] वर्जयते [illegible] सामायिकेन अणं वर्जयति वा, ततः सामायिकमनवज्ञमुच्यते इति शेषः ।

विशे० ।

[illegible]

[illegible]

मम जह [illegible] अरहंतो [illegible] ।

[illegible]

[illegible]

रम । आ० म० द्वि० । निर्दोषे, म० ५ अ० १ उ० । पापाभावे कर्मोपचयाभावे, "अणवज्जमतहं तेसिं" इति हेतोः केवलमनसः प्रद्वेषेऽपि अनवद्यं पापाभावः, कर्मोपचयाभावो वा भवतीति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । पापव्यापाररूपके, विशे० । गुणविशेषविशिष्टे [illegible] अगर्ह्यमहिंसाप्रतिपादकम् । यतः "षट्शतानि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि । अश्वमेधस्य वचनान्न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः" ॥ इत्यादिवचनमिव न हिंसाप्रतिपादकम् । आ० म० द्वि० । [illegible] पीडानुत्पादके, अपापे वाक्ये " सव्वेसु वा अणवज्जं वा" [illegible] सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । ('सव्व' शब्देऽस्य निरुक्तिः)

अणवज्जंगी-अनवद्याङ्गी-स्त्री० । [illegible] महावीरस्य दुहितरि जमालिगृहिण्याम्, विशे० । [illegible]

अणवज्जजोग-अनवद्ययोग-पुं० । कुशलानुष्ठाने, "[illegible] गमेगं" अनवद्यं योगं कुशलानुष्ठानमेकं सकल[illegible] नवद्ययोगात्यात्यभिचारात् । पा० ।

अणवज्जया-अणवर्ज्यता-स्त्री० । अणस्य पापस्य [illegible] ज्यस्तद्भावोऽणवर्ज्यता । संवरे, आ० म० द्वि० ।

अणवट्ठ-अनवस्थ-पुं० । अनवस्थाप्ये, स्था० १ उ० ।

अणवट्ठप्प-अनवस्थाप्य-न० । [illegible] वेषादनवस्थाप्यम् । दुष्टपरिणामत्वाऽकृतपोविशेषस्य व्रतेषु [illegible] नामनारोपणं, ध० ३ अधि० । ग० । औ० । [illegible] तिचारविशेषः सम्यगनाचरिततपोविशेषः, तदापन्नो [illegible] तेषु नावस्थाप्यते नाधिक्रियते इति; तद्विशिष्टे [illegible] रूपे, नवमे प्रायश्चित्ते च । स्था० ३ ठा० ४ उ० । [illegible] संयते उत्थापनायामप्ययोग्यत्वेन यावत् [illegible] ब्रतपाः पुनर्महाव्रतेषु स्थाप्यते तत् । जीत० । व्य० ।

अनवस्थाप्यनीयाः—

ततो अणवट्ठप्पा पत्तत्ता तं जहा-साहम्मियाणं तेणं करेमाणे ।

असधम्मियाणं तेणं करेमाणे, हत्थादालं दलेमाणे ॥

त्रयोऽनवस्थाप्यास्तत्करणादेव [illegible] तद्यथा-साधर्मिकाः साधवस्तेषां [illegible] द्रव्यं स्तैन्यं चौर्यं कुर्वाणः । अन्यधार्मिकाः [illegible] वा, तेषां सत्कस्योपध्यादेः स्तैन्यं कुर्वन् । तथा [illegible] हस्तातालं, सूत्रे च मकारस्य दकारश्रुतिः [illegible] [illegible] अथवा हस्तालम्बं [illegible] प्रशमनार्थमभिचारकमन्त्रादिप्रयोगात्मकं [illegible] हस्तादानं ददमाणे त्ति [illegible] सूत्राणि [illegible] कृतिमिति [illegible] अथ विस्तरार्थं [illegible]—

आसायणपडिसेवी, अणवट्ठप्पो वि होति दुविहो उ ।

एक्केक्को वि य दुविहो, सचरित्तो चेव अचरित्तो ॥

[illegible] द्विविधो भवति । [illegible] मेदौ [illegible] ।

[illegible]—

तित्थगरपवयणसुए, आयरिय गणहरे महिड्ढीए ।

एवं आगाढे, पारंचियं मग्गणा होइ ॥

तीर्थकरप्रवचनं श्रुतम्, आचार्यः, गणधरः, महर्द्धिकश्चेति । एतत्काशातनतः प्रायश्चित्तमार्गणा भवति । अमीषां चाशातनाः पाराञ्चिकपदप्रस्तावेऽभिधास्यन्ते ।

प्रायश्चित्तमार्गणा पुनरियम्-

पढमवितिएसु नवमं, सेसे एक्केक्क चउगुरू होंति ।

सव्वे आसायंतो, अणवट्ठप्पो उ सो होइ ॥

प्रथमद्वितीययोस्तीर्थकरप्रवचनयोराशातनायामुपाध्यायस्य नवम-मनवस्थाप्यं भवति, शेषेषु श्रुतादिषु प्रत्येकमेकैकस्मिन्नाशा-तने चतुर्गुरवो भवन्ति । अथ सर्वानपि चतुर्णामपि श्रुतादी-नि आशातयति, ततोऽसावनवस्थाप्यो भवति । उक्त आशातना-तोऽनवस्थाप्यः ।

अथ प्रतिसेवनातोऽनवस्थाप्यमाह-

पडिसेवणअणवट्ठो, तिविहो सो होइ आणुपुव्वीए ।

साहम्मियऽन्नधम्मिय, हत्थादालं च दलमाणे ॥

यः प्रतिसेवनातोऽनवस्थाप्यः सूत्रे प्रागुक्तः स आनुपूर्व्या त्रि-विधो भवति-साधर्मिकस्तैन्यकारी, अन्यधार्मिकस्तैन्यकारी, हस्तातालं ददत् ।

तत्र साधर्मिकस्तैन्यं तावदाह-

साहम्मि तेण उवधि-वावारणझामणा य पट्ठवणा ।

सेहे आहारविही, सा सहि आरोवणा भणिता ॥

साधर्मिकाणामुपधेर्वस्त्रपात्रादिलक्षणस्य स्तैन्यं करोति [वा-वारण त्ति] गुरुभिरुपधेरुत्पादनाय व्यापारणा प्रेषणा कृता, तत-स्तमुत्पाद्य गुरूणामनिवेद्यान्तराले स्वयमेवाधितिष्ठति [झामणा य त्ति] उपकरणं सङ्खडिकाऽऽक्रान्तेन वा ध्यामिते दग्धे स-ति, तदुत्पादित श्रावकभक्त्यर्थे वस्त्रादिकं गृहीत्वा स्वयमेव भुङ्क्ते [पट्ठवण त्ति] केनाप्याचार्येण कस्यापि संयतस्य हस्ते अपराचार्यस्य शैक्षकाय प्रतिग्रहः प्रेषितस्तमसावन्तरा स्वयमेव स्वीकरोति [सेह त्ति] शैक्षविषयं स्तैन्यं करोति [आहारवि-हि त्ति] दानश्राद्धादिषु स्थापनाकुलेषु गुरुभिरननुज्ञात आहार-विधिमशनादिकमाहारप्रकारं गृह्णाति । एतेषु स्थानेषु साधर्मि-कस्तैन्यं भवति । अत्र च या यत्र स्थाने आरोपणा प्रायश्चित्ताप-रपर्याया भणिता, सा तत्र वक्तव्या । एष निर्युक्तिगाथासङ्क्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुराह-

उवहिस्स आसियावण सेहमसेहे य दिट्ठदिट्ठे य ।

सेहे मूलं भणितं, अणवट्ठप्पा य पारंची ॥

इहोपधेः, 'आसियावणं' स्तैन्यमित्येकार्थः । तच्च शैक्षः साधुर्वा-ऽशैक्षो वा । स तावदिष्टं वा स्तैन्यं कुर्यात्, अदृष्टं वा । तत्र शैक्षे मूलं यावत्प्रायश्चित्तं भणितम् ; उपाध्यायस्यानवस्थाप्यपर्यन्त-म् ; आचार्यस्य पाराञ्चिकान्तम् ।

एतदेव भावयति-

सेहो त्ति अगीयत्थो, जो वा गीतो अणिड्ढिसंपन्नो ।

उवही पुण वत्थादी, सपरिग्गह एतरो तिविहो ॥

शैक्ष इत्यपदेनागीतार्थो भण्यते । यो वा गीतार्थोऽपि अनृ-द्धिमानत्र आचार्यपदादिसमृद्धिप्राप्तः, सोऽपि शैक्ष इहोच्यते । उपधिः पुनर्वस्त्रादिकः, आदिशब्दात्पात्रपरिग्रहस्तत्परिगृहीतः स्यात्, इतरो वाऽपरिगृहीतः स्यात् । पुनरेकैकस्त्रिविधः-जघन्यो मध्यम उत्कृष्टश्च ।

अथ 'सेहे मूल' इत्यादि पश्चार्धं व्याख्यानयति-

अंतो बहिं निवेसण-वाडगसुज्जाणसीमतिक्कंते ।

मास चउ छ लहु गुरू, छेदो मूलं तह दुगं वा ॥

अन्तः प्रतिश्रयाभ्यन्तरे साधर्मिकाणामुपधिमदृष्टं शैक्षः स्तेन-यति तदा मासलघु, यदि पुनर्बहिरदृष्टमेव स्तेनयति तदा मास-गुरु, निवेशनस्यान्तर्मासगुरुकं, बहिश्चतुर्लघुकं, वाटकस्यान्तश्च-तुर्लघुकम्, बहिश्चतुर्गुरुकम्, उद्यानस्यान्तः षड्लघु, बहिः षड्-गुरु, सीमायाः अन्तः षड्गुरु, अतिक्रान्तायां तु तस्यां बहिः छेदः (मूलं तह दुगं व त्ति) मूलं, तथा द्विकं वा-अनवस्थाप्य-पाराञ्चिकयुगम् ।

एतदेव भावयति-

एवं ताव अदिट्ठे, दिट्ठे पढमं पदं परिहवेत्ता ।

तं चेव असेहे वी, अदिट्ठ दिट्ठे पुणो एक्कं ॥

एष तावददृष्टे स्तैन्ये क्रियमाणे शैक्षस्य प्रायश्चित्तमुक्तम् । दृष्टे तु प्रथमं मासलघुलक्षणं पदं परिहाप्य परिहृत्य मासगुरुका-दारब्धं मूलं यावद्वक्तव्यम् । अशैक्ष उपाध्यायस्तस्यापि अदृष्टे तान्येव मासगुरुकादीनि मूलान्तानि प्रायश्चित्तस्थानानि भव-न्ति । दृष्टे पुनरेकं मासगुरुलक्षणं पदं ह्रसति, चतुर्लघुकादार-भ्यानवस्थाप्ये निष्ठां यातीत्यर्थः । आचार्यस्याप्यदृष्टेऽनवस्था-प्यान्तमेव । दृष्टे तु चतुर्गुरुकादारब्धं पाराञ्चिके तिष्ठति । गतं साधर्मिकोपधिस्तैन्यद्वारम् ।

अथ व्यापारणाद्वारमाह-

वावारिय आणेहा, वहिं घेत्तूण उवहिं गिण्हंति ।

लहुगो आदात लहुगा, अणवट्ठप्पो य आदेसा ॥

व्यापारिता नाम गुरुभिः प्रेषिताः, यथा-[आणेह त्ति] उप-धिमुत्पाद्यानयत । ते चैवमुक्ता अनेकविधमुपधिं गृहिभ्यो गृही-त्वोत्पाद्य बहिरेवाचार्यसमीपमप्राप्ता उपधिं गृह्णन्ति-इदं तव, इदं ममेति विभज्य स्वयमेव स्वीकुर्वन्तीत्यर्थः । एवं गृह्णतां मासल-घु, आगता आचार्यस्य न ददति, तदा चतुर्लघव । प्रस्तुतसूत्रा-देशाद्वा स स्वच्छन्दवस्तुग्राहकः साधुवर्गोऽनवस्थाप्यो भव-ति । गतं व्यापारणाद्वारम् ।

अथ ध्यामनाद्वारम्-सा च ध्यामना द्विविधा-सती, असती च । तत्र सतीं तावदाह-

दट्ठु निमंतण लुद्धो-ऽणापुच्छा तत्थ गंतु तं भणति ।

झामिय उवधी अह्मं, तेहिं पेसितो गहित णातो य ॥

आचार्याः केनापि विरूपरूपैर्वस्त्रैर्निमन्त्रितास्तैश्च तानि प्रति-षिद्धानि, एकश्च साधुस्तां निमन्त्रणां श्रुत्वा तानि च सुन्द-राणि वस्त्राणि दृष्ट्वा लुब्धो लोभं गतः । तत आचार्यमना-पृच्छ्य (तमिति) तं श्रावकं तत्र गत्वा भणति-अस्माक-मुपधिर्ध्यामितो दग्धः, ततोऽहं तैराचार्यैर्युष्माकं सकाशे वस्त्रार्थं प्रेषितः, एवमुक्ते दत्तस्तेनोपधिः, स च गृहीत्वा गतः, अन्ये च साधव आगताः । श्राद्धेन भणितम्-युष्माकमुपधि-र्दग्ध इति कृत्वा यो भवद्भिः साधुः प्रेषितस्तस्य नूतनोपधि-र्दत्तो विद्यते, यदि न पर्याप्तं ततो भूयोऽपि ददामीति । सा-धवो ब्रुवते-नास्माकमुपधिर्दग्धः, नापि वयं कमपि प्रेषयामः, एवं स लोभाभिभूतः साधुस्तेन श्रावकेण ज्ञातः यथा-गुरुणा-पृच्छामन्तरेणायं गृहीतवान् ।

ततश्च किं भवतीत्याह-

लहुगा अणुग्गहम्मी, गुरुगा अप्पित्तियम्मि कायव्वा ।

मूलं वा जणमज्झे, वोच्छेद पमज्जणा सेसे ॥

एवं तेन साधुना स्तैन्येन परेषु गृहीतेषु यद्यप्यसौ श्राद्धोऽनुग्रहं मन्यते-यद्यपि तथापि ददामीति साधव इति, तथापि चतुर्लघवः । अथवाऽप्रीतिकं करोति, ततश्चतुर्गुरवः प्रायश्चित्तं कर्तव्याः । अथासौ स्तेनोऽयमिति शब्दं जनमध्ये विस्तारयति, तदा मूलम् । यच्च शेषद्रव्याणां शेषसाधूनां वा व्यवच्छेदं (पमज्जण त्ति) प्रसंगतः करोति; तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

अथ सर्ती ध्यामनां दर्शयति-

पुव्वगहियोऽवधि-पेसण गहिते य अंतरा लुद्धो ।
लहुगो अदेंत गुरुगा, अणवट्ठप्पो य आदेसे ॥

अथ पूर्वगृहीतमेव ध्यामितोपधिर्गुरुभिस्तथैव प्रेषणं कृतम्, प्रेषितश्च सन् येनाचार्या निमन्त्रितास्तस्मादन्यस्माद्वा श्रावकाद् वस्त्रादिकमुपधिं गृहीत्वा अन्तरा लुब्धो लोभाभिभूतो यदि गृह्णाति, तदा लघुको मासः । आगते यदि गुरूणां न प्रयच्छति, तदा चतुर्गुरवः । तेऽत्रादेशा अनवस्थाप्या भवन्ति । गतं ध्यामनाद्वारम् ।

अथ प्रस्थापनाद्वारमाह-

उक्कोस सनिज्जोगो, पडिग्गहो अंतरा गहण लुद्धो ।
लहुगा अदेंति गुरुगा, अणवट्ठप्पो व आदेसा ॥

केनाप्याचार्येण कस्यापि संयतस्य हस्ते अपराचार्यस्य ढौकनहेतोः प्रतिग्रहः प्रेषितः । स चोत्कृष्ट उत्कृष्टोपधिरूप, यद्वा-वृत्तसमचतुरस्रवर्णाढ्यतादिगुणोपेतः, तथा सह निर्योगेन पात्रकबन्धादिना यः स सनिर्योगः । एवंविधस्य प्रतिग्रहस्यान्तराले एवासौ लुब्धो ग्रहणं स्वीकरणं करोति, तत्र चतुर्लघु । तत्र गतस्तेषां सूरीणां तं प्रतिग्रहं न प्रयच्छति, तदा चतुर्गुरवः । तथादेशेन वा अनवस्थाप्योऽसौ द्रष्टव्यः । गतं प्रस्थापनाद्वारम् ।

अथ शैक्षद्वारमाह-

पव्वावणिज्ज बाहिं, ठवेत्तु भिक्खुस्स अतिगते संते ।
सेहस्स आसियावण, अभिधारेंते य पावयणी ॥

कोऽपि साधुः प्रव्राजनीयं सशिखाकं शैक्षं गृहीत्वा प्रस्थितः, तं भिक्षाकाले क्वापि ग्रामे बहिः स्थापयित्वा भैक्षार्थमतिगतः-प्रविष्टः, प्रविष्टे च सति तस्मिन् परः साधुस्तं शैक्षं दृष्ट्वा विप्रतार्य च तस्य 'आसियावणं' अपहरणं करोति, साधुविरहितो वा एकाकी कमपि साधुमभिधारयन् शैक्षो व्रजेत्, तमपरः साधुर्विप्रतार्य प्रव्राजयेत्, एतौ द्वावपि यदा प्रावचनिकौ जातौ, तदा द्वावपि शैक्षाः स्वयमेवात्मनो दिक्परिच्छेदं कुरुत इति समुदायार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति-

भत्तादिसंकिलेसा-भिद्धो व वंचणाए पुच्छ से होति ।
सो कत्थ वच्चति त्ति, आयरियाणमितो वा अइति ॥

भक्तार्थं गतेन साधुना शैक्षं स्थापयित्वा भैक्षार्थं निर्गतः कश्चित् साधुः शैक्षं दृष्टवान्, अथवा अन्यत्र पथिकोऽसौ साधुरन्यत्र क्वापि गच्छन् शैक्षं दृष्टवान् । तेन च वञ्चनार्थं कृते सति, साधु पृष्टवान्-कोऽसि त्वं, कुत आगतः, क्व वा प्रस्थितः ?। शैक्ष आह-अमुकेन साधुना सार्द्धं प्रस्थितः प्रव्रजितुकामः, शैक्षोऽहम् । साधु पृष्टवान् स साधुः संप्रति क्व गतः ?।

शैक्षो भणति-स मम कार्ये बुभुक्षितस्य पिपासितस्य वा भक्तपानार्थं पर्यटति ।

मज्झ भिक्खमाणयाणं, उवजीवऽणुकंपणा य सुद्धो उ ।
पुट्ठमपुट्ठे कहणा, एमेव य इहरहा दोसो ॥

ततः स साधुर्मदीयमिदमन्नपानमुपजीव भुङ्क्ष्वेति ब्रुवंश्च यदि साधर्मिकोऽयमित्यनुकम्पया ददाति, तदा शुद्ध । शैक्षेण पृष्टो अपृष्टो वा यद्ययमेवानुकम्पया धर्मकथां करोति, तदा शुद्धः । इतरथा अपहरणार्थं भक्तपाने ददतो धर्मं च कथयतो दोषः, चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तम् ।

अपहरणप्रयोगानेव दर्शयति-

भत्ते पण्णवण निगू-हणा य वावार कंपणा चेव ।
पत्थावण सयहरणा, सेहे अव्वत्त वत्ते य ॥

अपहरणार्थं भक्तपानं ददाति, धर्मं वा तस्य पुरतः प्रज्ञापयति, तत्र स शैक्ष आवर्जितः सन् भणति-भवत एव सकाशेऽहं प्रव्रजामीति किन्तु न शक्नोमि येनानीतस्तत्पुरतः स्थातुं ततोऽहं गुपिले प्रदेशे निगूहनु । ततोऽसौ तं व्यापारयति-अमुकत्र तिष्ठेति । ततस्तं तत्र निलीनं साधुः पलालादिना छादयति, स तिष्ठति । तत्र स्वयं वा शायतीत्यर्थः । अन्यैः साधुभिरन्यं ग्रामं प्रस्थापयति, एवं च प्रेषयति, अमुकत्र ग्रामादौ व्रज, अहमप्यमुष्मिन्दिवसे तत्र मिलिष्यामि । अथवा स्वयमेव गृहीत्वा तमपहरति, एतानि षट् पदानि भवन्ति । तद्यथा-भक्तप्रदानं १, धर्मकथा २, निगूहनवचनं ३, व्यापारणं ४, कम्पनं ५, प्रस्थानं स्वयंहरणं ६ चेति । एतेषु षट्सु शैक्षे व्यक्तेऽव्यक्ते च प्रायश्चित्तमिदं भवति-

गुरु चउलहु चउगुरु छलहु छगुरुगमेव छेदो य ।
भिक्खुगणायरियाणं, मूलं अणवट्ठ पारंची ॥

भिक्षुर्यद्यव्यक्तशैक्षस्यापहरणार्थं भक्तं ददाति, तदा मासगुरु, धर्मप्रज्ञापनायां चतुर्लघु; निगूहनवचने चतुर्गुरु, व्यापारणे षड्लघु, कम्पने षड्गुरु, प्रस्थापने स्वयं हरणे वा छेदः । एवमव्यक्तशैक्षे भणितम् । अव्यक्तो नाम-यस्याद्यापि श्मश्रु न संजातम् । यस्तु व्यक्तः सञ्जातश्मश्रुः, तस्य चतुर्लघुकादारब्धं मूलं यावत् भिक्षोः प्रायश्चित्तम्, गणिन उपाध्यायस्य चतुर्गुरुकादारब्धमनवस्थाप्यं तिष्ठति । आचार्यस्य षड्लघुकादारब्धं पाराञ्चिकं पर्यवस्यति । एवं ससहाये शैक्षे भणितम् ।

यः पुनरसहायोऽभिधारयन् व्रजति तत्र विधिमाह-

अभिधारं वच्चंतो, पुच्छा वच्चामहं अमुगकुलं ।
पण्णवणभत्तदाणे, तहेव सेसा पदा णत्थी ॥

कोऽपि शैक्ष एकाकी कमप्याचार्यमभिधारयन् प्रव्रज्याभिमुखो व्रजति, तेन कश्चिद् ग्रामे पथि वा साधु दृष्टा वन्दनं कृत्वा साधुना पृष्टः-क्व गच्छसि ?। स प्राह-अमुकस्याचार्यस्य पार्श्वे प्रव्रजनार्थं व्रजामि । एवमुक्ते यदि भिक्षुरव्यक्तशैक्षस्य भक्तदानं करोति, तदा मासगुरु, धर्मप्रज्ञापनायां चतुर्लघु, व्यक्तशैक्षस्य भक्तदाने चतुर्लघु, धर्मकथायां चतुर्गुरु, उपाध्यायाचार्ययोरेवमेव षड्गुरुकं च भवति । अथ एतमेकैकं पदं न्यसनीति प्राप्तं शेषाणां तु निगूहनव्यापारणकम्पनादीनि पदानि न सन्ति । असहायत्वात् । तदत्रापि प्रायश्चित्तमपि नास्तीति ।

एवं नाऽपरे दोषाः-

आणादणंतसंसा-रियत्तं बोहिदुल्लभत्तं वा ।
साहम्मियतेणत्ती, पमत्त छलणाऽहिकरणं च ॥

शैक्षमपहरत आज्ञाभङ्गादयो दोषा भवन्ति, अनन्तसंसारिकत्वं च भगवतामाज्ञाभङ्गाद्भवति । बोधेश्च दुर्लभत्वं जायते, साधर्मिकस्तैन्यं च कुर्वाणः प्रमत्तो भवति; प्रमत्तस्य च प्रान्तदेवतया छलना भवति । यस्य च संबन्धी सोऽपहियते, तेन सममधिकरणं कलह उपजायते । एवं साधर्मिकस्तैन्यविषया दोषा उक्ताः ।

अथ स्त्रीविषयांस्तानेवातिदिशति—

एमेव य इत्थीए, अभिधारंतीए तह वयंतीए ।

वत्तव्वत्ताए गम, जहेव पुरिसस्स नायव्वा ॥

एवमेव स्त्रिया अपि शैक्षिकाया अभिधारयन्त्या, तथा (वयंतीए त्ति) समागतायाः प्रव्रजितुं व्रजन्त्याः, व्यक्ताया अव्यक्तायाश्च गमः स एव ज्ञातव्यो यथा पुरुषस्योक्तः ।

अथ प्रावचनिकपदं व्याचष्टे—

एवं तु नो अवट्ठिओ, जाहे जाओ सयं तु पावयणी ।

निक्कारणे य गहिओ, पच्चपति ताहे पुरिल्लाणं ॥

एवमनन्तरोक्तैः प्रकारैः स शैक्षोऽपहृतः सन् यदा स्वयमेव प्रावचनिको जातः, अन्यो वा निष्कारणं यः केनापि गृहीतः, स आत्मनो दिक्परिच्छेदं कृत्वा भूयोऽपि बोधिलाभभयात् पूर्वेषामेवाचार्याणामन्तिके प्रयच्छति ।

असहस्स व असतीए, गुरुम्मि अब्भुज्जएगविहारी ।

धारेंति तमेव गणं, जाव इमो कारणज्जाते ॥

येन स शैक्षो निष्कारणमपहृतस्तस्याचार्यस्यापरः कोऽप्याचार्यः पदयोग्यो न विद्यते, ततोऽन्यस्याभावे, यद्वा-गुरावाचार्येऽभ्युद्यतैकतरेण युक्तः अभ्युद्यतमरणमभ्युद्यतविहारं वा प्रतिपन्न इत्यर्थः । ततो यदि कोऽपि शिष्यस्तेषां निष्पन्नो नास्ति तदा तमेव गणमसौ धारयति, यावत्कोऽपि तत्र निष्पन्न इति । यश्च कारणजाते केनाप्याचार्येण हृतः, सोऽपि तमेव गणं धारयति ।

किं पुनस्तत्कारणमित्याह-

नाणं व बोच्छेदं, पुव्वगते कालियाणुओगे वा ।

अन्ना कारणजाते, कप्पति सेहावहारो उ ॥

कोऽप्याचार्यो बहुश्रुतः, तस्य पूर्वगतं किञ्चिद्वस्तु प्राभृतं वा, कालिकानुयोगेऽपि श्रुतस्कन्धोऽध्ययनं वा, विद्यते, तथान्यस्य नास्ति, ततो यद्यन्यस्य न संक्राम्यते, तदा तद् व्यवच्छिद्यते । एवं पूर्वगते कालिकानुयोगे च व्यवच्छेदं ज्ञात्वा तं च समर्थितं शैक्षं ग्रहणधारणसमर्थं विज्ञाय मत्वा दानधर्मकथादिभिर्विपरिणामयन्नादीन्यपि कुर्वाणः शुद्धः । यद्वा-तस्याचार्यस्य नास्ति कोऽप्याचार्यो प्रवर्तकस्ततस्तासामपि कारणजाते शैक्षमपहरेत, एवं कल्प्यते शैक्षापहारः कर्तुम् ।

तस्य च कारणे ऽपहृतस्य को विधिरित्याह-

कारणजाए अवहिअ, गणं धारेंतो तु अवहरंतस्स ।

जा एगो निप्फण्णो, पच्छा से अप्पणो इच्छा ॥

यः कारणजातेऽपहृतः स तदीयं गणं धारयन् अपहरत एव विनेयो भवति । अथ येन कारणेनापहृतस्तत्कार्यं न पूरयति तदा पूर्वेषामेव भवति, नापहरतः । स च कारणापहृतस्तस्मिन् गणे तावद्धारयेत् यावदेकोऽन्यो निष्पन्नः, पश्चात्स्वाम्यस्य इच्छा-तत्र वा तिष्ठति पूर्वेषां वा सकाशे गच्छति । यस्तु निष्कारणं अपहृतः स एकस्मिन्निष्पन्ने नियमात्पूर्वेषामन्तिके गच्छति । स तस्यात्मीयेच्छेति भावः । गतं शैक्षद्वारम् ।

अथाहारविधिद्वारमाह-

ठवणाघरम्मि लहुगो, मायी गुरुगो अणुग्गहे लहुगा ।

अप्पित्तियम्मि गुरुगा, वोच्छेद पसज्जणा सेसे ॥

दानश्राद्धादिकुलं स्थापनागृहं भण्यते, तस्मिन् य आचार्यैरसंदिष्टोऽननुज्ञातो वा प्रविशति, तस्य मासलघु । अथवा प्राघूर्णकग्लानार्थमहमिहायात इति तेषां श्राद्धानां पुरतो मायां करोति, ततो मायिनो मासगुरुकम्, एवमुक्ते यदि ते श्राद्धा अनुग्रहोऽयमिति मन्यन्ते, तदा चतुर्लघु । अथाप्रीतिकं कुर्वन्ति, ततश्चतुर्गुरवः, यच्च तद्द्रव्यव्यवच्छेदादि दोषदोषाणां प्रसञ्जनात् तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

इदमेव व्याचष्टे—

अज्ज अहं निद्दिट्ठो, पुट्ठोऽपुट्ठो व साहई एवं । ॰

पाहुणगगिलाणट्ठा, तं च पडोजेति सो विति ॥

कश्चिदाचार्यैरसंदिष्टः स्थापनाकुलेषु प्रविश्य पृष्टोऽपृष्टो वा इदं भणति-अद्याहं गुरुभिः संदिष्टः प्रेषित इति, ततो मासलघु । यदि च पूर्वं संदिष्टमप्रायोग्यं प्रविष्ट आसीत्, श्राद्धैश्च तस्यासंदिष्टस्याग्रे इदं भणितं भवेत्-संदिष्टसंघाटकस्य दत्तमिति । ततो यदि ब्रूयात्-प्राघूर्णकार्थं ग्लानार्थं वा सोऽयमहमागत इति, एवं स श्राद्धजनं मायया यदि प्रतारयति, ततो द्वितीयं मासगुरु । ते च श्राद्धा विपरिणमेयुः, विपरिणताश्चाचार्यादीनां प्रायोग्यं न दद्युः, ततः गुरुं गुरुकमाप्येत प्रायश्चित्तं भवत्यम ।

आयरियगिलाणे गुरुगा, लहुगा य हवंति खमगपाहुणए ।

गुरुगो य बालवुड्ढे, सेसे सव्वेसु मासलहू ॥

आचार्यस्य ग्लानस्य च प्रायोग्यमददानेषु श्राद्धेषु चतुर्गुरवः । क्षपकस्य प्राघूर्णकस्य च प्रायोग्यमददानेषु चतुर्लघवः । बालवृद्धानां प्रायोग्ये अलभ्यमाने गुरुमासः । शेषाणां तदव्यतिरिक्तानां सर्वेषामपि प्रायोग्ये अलभ्यमाने मासलघु । गतं साधर्मिकस्तैन्यम् ।

अथान्यधार्मिकस्तैन्यमाह—

परधम्मिया वि दुविहा, लिंगपविट्ठा तहा गिहत्था य ।

तेसिं तेणं तिविहं, आहारे उवधि सच्चित्ते ॥

परधार्मिका अन्यधार्मिका इत्येकोऽर्थः, ते च द्विविधा-लिङ्गप्रविष्टाः, गृहस्थाश्च । लिङ्गप्रविष्टाः शाक्यादयः, गृहस्थाः प्रतीताः, तेषामुभयेषामपि स्तैन्यं त्रिविधम्-आहारविषयमुपधिविषयं सचित्तविषयं चेति ।

तत्रादिविषयं तावदाह—

भिक्खुग संखडीए, विवरमणेण ठुंभइ सुंठे ।

आभोगणमुवंसग-पवयणहीला दुरप्पाओ ॥

भिक्षुको बौद्धास्तेषां संखड्यां भक्ते विवत्युदये विवरमनेन भिक्षुवेषेण भुङ्क्ते, तदीयं लिङ्गं कृत्वेति भावः । एवं कुर्वाणं यदि कोऽप्याभोगयति उपलक्षयति, तदा अनुमेयः । तदुपासकस्य दर्शनानुरूपं कोऽपि निर्भर्त्सनं करोति तदनुगुणरवाः प्रवचनहीलां वा ते कुर्युः- यथा दुरात्मानोऽमी श्वेतपटा इति प्रवचनहीला इति ।

अपि च-

गिहवासे वि वराणा, धुवं खु एते अदिट्ठकल्लाणा ।
गच्छए णवरि ण चलितो, एएसिं सत्थुणा चेव ॥

गृहवासेऽप्येते वराका ध्रुवं निश्चितमेवादृष्टकल्याणाः, एतेषां च यां तीर्थकृता दुश्चरितामाहारशुध्यादिचर्यामुपदिशता गच्छः एव नवरं न चलितः,शेषं तु सर्वमपि कृतमिति भावः । गतमाहारविषयं स्तैन्यम् ।

अथोपधिविषयमाह-

उवस्सए उवहिं ठवे-त्तुं गतभिक्खुम्मि गिण्हती लहुगा ।
गेण्हणकड्ढणववहा-रपच्छकड्डुड्डहणणिव्विसए ॥

उपाश्रये नघ, उपधिमुपकरणं, स्थापयित्वा कश्चिद्भिक्षुको यौऽसौ भिक्षां गतस्तस्मिन् गते यदि तदीयमुपधिं गृह्णाति,तदा चतुर्लघवः । स भिक्षुकः समायातः स्वकीयमुपकरणं स्तेनितं मत्वा तस्य संयतस्य ग्रहणं करोति, तदा चतुर्गुरवः । राजकुलाभिमुखमाकर्षणे षड् गुरवः । व्यवहारं कारयितुमारब्धे छेदः । पश्चात्कृते सति मूलम् । उड्डहनेऽनवस्थाप्यम् । निर्विषयाज्ञापने पाराञ्चिकम् ।

अथ सचित्तविषयं स्तैन्यमाह-

सच्चित्ते खुड्डादी, चउरो गुरुगा य दोस आणादी ।
गेण्हणकड्ढणववहा-रपच्छकड्डुड्डाहनिव्विसए ॥

सचित्ते स्तैन्यं चिन्त्यमाने भिक्षुकादेः सम्बन्धिनं क्षुल्लकम्,आदिशब्दात् क्षुल्लिकां वा यद्यपहरति, तदा चत्वारो गुरुकाः,आज्ञादयश्च दोषाः । ग्रहणकर्षणव्यवहारपश्चात्कृतोड्डाहनिर्विषयाज्ञापनादयश्च दोषाः प्रागुक्तक्रमेण ।

अथ तेष्वेव प्रायश्चित्तमाह-

गहणे गुरुगा छम्मास, कड्ढणे छेओ होइ ववहारे ।
पच्छा कडम्मि मूलं, उड्डहणविरंगणे नवमं ॥ १ ॥
उद्दावणनिव्विसए, एगमणेगे य दोस पारंची ।
अणवट्ठप्पो दोसु य, दोसु उ पारंचिओ होइ ॥ २ ॥

गाथाद्वयं गतार्थम् ।

खुड्डं व खुड्डियं वा, णेति अवत्तं अपुच्छियं तेसिं ।
[illegible] पुच्छा, सेसाणं च नालबद्धाणं ॥

क्षुल्लको वा क्षुल्लिका वा योऽव्यक्तः, स यस्य शाक्यादेः [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible]

पु आहारादिकं स्तेनयतां ग्रहणादयो दोषाः [illegible] युः । ते हि राजकुले करादिकं प्रयच्छन्ति, [illegible] कतरान् ग्रहणाकर्षणादीन् कारयेयुः ।

कथं पुनरमीषामाहारादिकं स्तेनयतीत्युच्यते-

आहारं पिंडादी, तंतुण खुड्डादियं भणियमुवं ।
पिंडम्मि य कप्पट्ठो, संडभए परिणाए दुम्मा ॥

आहारे, पिण्डादिकं यतिर्विरहितं दृष्ट्वा क्षुधः संखंडे [illegible] धौ,[तंतु त्ति] सूत्राष्टिकास्,उपलक्षणत्वाद्दशा [illegible] ति, सचित्ते, क्षुल्लकं वा स्तेनयति । एवं यदेव पूर्वं [illegible] भणितं, तदेवात्रापि मन्तव्यम् । कथं पुनः [illegible] म्मीत्यादि)काचित्क्षुल्लिका भिक्षामटन्त्यः किञ्चिद् [illegible] स च बहिः पिष्टं विसारितमास्ते, तच्च दृष्ट्वा [illegible] स्थिका पिष्टपिण्डिकां गृहीत्वा पतद्ग्रहे प्रक्षिप्तवती । [illegible] विरतिकया दृष्टा । ततो भणितम्-एतो [illegible] स्थापय, ततस्तया क्षुल्लिकया कुशलत्वेनान्यस्याः [illegible] अन्तरे प्रक्षिप्ता । एवं सूत्राष्टिकामपि [illegible] ।

अथ सचित्तविषयं विधिमाह-

नीएहिं अविदिन्नं, अप्पत्तवयं पुमं ण दिक्खंतो ।
अपरिग्गहो उ कप्पति, विजढो जो सेसदोसेहिं ॥

निजकैर्मातृपितृप्रभृतिभिः स्वजनैरवितीर्णमथ [illegible] मव्यक्तं पुमांसं न दीक्षयति । यदि पुनरपरिगृहीतोऽव्यक्त [illegible] षडोषैर्बालजडव्याधितादिभिर्विमुक्तस्तर्हि प्रव्राजयितुं [illegible]

अपरिग्गहा उ नारी, ण भवति तो सा ए कप्पति [illegible]
सा वि य हु काचि कप्पति, जह पउमा [illegible] ॥

नारी स्त्री सा प्रायेणापरिग्रहा न भवति; [illegible] व्यतरेण परिगृहीता भवतीति भावः । ततः [illegible] कल्पते प्रव्राजयितुम् । साऽपि च काचिद् [illegible] पद्मावती देवी-करकण्डुमाता प्रव्राजिता, यथा [illegible] मारमाता योगसंग्रहाभिहिता यशोभद्रा [illegible]

अथ द्वितीयपदमाह-

बिइयपयं आहारे, अच्छाणे ओमगादिएसु तहा ।
उवहम्मि [illegible] पुव्विं, होहिंति जुगप्पहाण त्ति ॥

द्वितीयपदमाहारादिषु त्रिष्वप्यभिधीयते । [illegible] प्रद्वेषुकामास्ततो वा सर्वेषां [illegible] [illegible]

[illegible]

इदमेव भावयति-

[illegible]

[illegible]

स्तस्ते, हारणप्रहानयो वा, ततोऽन्यतीर्थिकानामपि स्थलीषु रक्ष्यते, यदि न प्रयच्छन्ति ततः स्वयमेव प्रकटं, प्रच्छन्नं वा ह्रीयुः । एवं गृहस्थेष्वपि याचितमलभमानाः स्वयमपि गृह्णन्ति । असंस्तरणे उपधिरप्येवमेव स्तैन्यप्रयोगेण ग्रहीतव्यः ।

नाऊण य वोच्छेदं, पुव्वगए कालियाणुओगे य ।
गिहि अण्णतित्थियं वा, हरेज्ज एतेहिँ हेतूहिं ॥

पूर्वगते कालिकानुयोगे वा व्यवच्छेदं ज्ञात्वा यो गृहस्थक्षुल्लकोऽन्यतीर्थिकक्षुल्लको वा ग्रहणधारणमेधावी, स याचितो यदा न लभ्यते तदा स्वयमपि गृह्णीयात् । एतैरेवमादिभिर्हेतुभिः कारणैर्गृहस्थमन्यतीर्थिकं वा हरेत् । गतमन्यधार्मिकस्तैन्यम् ।

अथ 'हत्थादालं दलमाणे' इत्यादिपदत्रयं विवरीषुराह–

हत्थाताले हत्था–लंबेऽत्थादाणे य बोधव्वा उ ।
एतेसिं णाणत्तं, वोच्छामी आणुपुव्वीए ॥

हस्तातालो हस्तालम्बोऽर्थादानं चेति त्रिधा पाठोऽत्र बोद्धव्यः । एतेषां त्रयाणामपि नानात्वं वक्ष्यामि यथानुपूर्व्याऽहम् ।

तत्र हस्तातालं तावद्विवृणोति–

उक्खिणम्मि य गुरुगो, दंडो पडियम्मि होइ जयणा उ ।
एवं खु लोइयाणं, लोउत्तरियाण वोच्छामि ॥

इह हस्तेन, उपलक्षणत्वात् खड्गादिभिश्च यदा ताडनं, स हस्तातालः । स च द्विधा–लौकिको लोकोत्तरिकश्च । तत्र लौकिके हस्तताले पुरुषवधाय खड्गादावुत्क्षिप्ते गुरुको रूपकाणामशीतिसहस्रलक्षणो दण्डो भवति । पतिते तु प्रहारे यदि कथमपि न मृतस्तदा भजना देशे देशे अपरापरदण्डलक्षणा भवति । अथ मृतस्तदेवाशीतिसहस्रं दण्डः । एवं खुरधारणे लौकिकानां दण्डो भवति । लोकोत्तरिकानां तु दण्डमतः परं वक्ष्यामि ।

हत्थेण व पादेण व, अणवट्ठप्पो उ होति उग्गिण्णे ।
पडियम्मि होति जयणा, उद्दवणे होति चरिमपदं ॥

हस्तेन वा पादेन वा उपलक्षणत्वाद् यष्टिमुष्ट्यादिभिर्वा यः साधुः स्वपक्षस्य परपक्षस्य च प्रहारमुत्क्षिपति सोऽनवस्थाप्यो भवति, पतिते तु प्रहारे भजना, यदि न मृतस्ततोऽनवस्थाप्य एव । अथापद्रावणे मृतस्तदा चरमपदं पाराञ्चिकं भवति ।

अत्रेदं द्वितीयपदम्–

आयरिय विणयगाहण, कारणजाते य बोधिकादीसु ।
करणं वा पडिमाए, तस्स तु भेदोपसमण वा ॥

आचार्यः क्षुल्लकस्य विनयग्राहणं कुर्वन् हस्तातालमपि दद्यात् । कारणजाते वा गुरुगच्छप्रभृतीनामात्यन्तिके विनाशे प्राप्ते, बोधिकस्तेनादिष्वपि हस्तातालं प्रयुञ्जीत । पश्चार्द्धेन हस्तालम्बमाह–(करणं वा इत्यादि) अशिवपुरावरोधादौ तत्प्रशमनार्थं प्रतिमां पुत्तलिकां करोति, तत्र आभिचारिकमन्त्रं परिजपन् तत्रैव प्रतिमाया भेदं करोति; ततस्तस्योपद्रवस्य प्रशमनं भवति । एषा निर्युक्तिगाथा ।

अत एनां विवृणोति–

विणयस्स उ गाहणया, कण्णामोडगखड्डगचवेडाहिँ ।
मारेवव हत्थतालं, दलाति मम्माणि फेडंतो ॥

इह विनयशब्दः शिक्षायामपि वर्तते । यत उक्तम्–'विनयः शिक्षाप्रणत्योरिति' । ततोऽयमर्थः–विनयस्य ग्रहणशिक्षायां आसेवनाशिक्षायां वा कर्णामोटकेन खड्डुकाभिश्चपेटाभिर्वा सापेक्षो जीवनापेक्षां कुर्वन्, अत एव मर्माणि स्फेटयन्–येषु प्रदेशेष्वाहताः सन्तो म्रियन्ते तानि परिहरन् आचार्यः क्षुल्लकस्य हस्तातालं ददाति । अत्र परः प्राह–ननु परस्य परितापे क्रियमाणे असातवेदनीयकर्मबन्धो भवति तत्कथमसावनुज्ञायते ? । उच्यते–

कामं परपरितावो, असायहेतू जिणेहिँ पण्णत्तो ।
आत-परहितकरो पुण, इच्छिज्जइ दुस्सले खलु उ ॥

काममनुमतमस्माकं परपरितापो जिनैरसातहेतुः प्रज्ञप्तः, परं परपरितापो दुःशीले मारुयके शिक्षया दुर्मेहे दुर्विनीते शिष्ये खलु निश्चितमिष्यत एव । कुत इत्याह–(आतपरहियकरो त्ति) हेतौ प्रथमा, भावप्रधानश्च निर्देशः । ततोऽयमर्थः–आत्मनः परस्य च हितकरत्वात्, तत्रात्मनः शिष्यशिक्षां ग्राहयतः कर्मनिर्जरालाभः । परस्य तु सम्यग्गृहीतशिक्षस्य यथावच्चरणकरणानुपालनादयो भूयांसो गुणाः । पुनःशब्दो विशेषणम् । स चैतद्विशिनष्टि–यो दुष्टाध्यवसायतया परपरितापः क्रियते स एवासातहेतुः प्रज्ञप्तः, यस्तु शुद्धाध्यवसायेन आत्मपरहितकरः क्रियते स नैवासातहेतुरिति ।

अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन द्रढयति–

सिप्पं णेउणियट्ठा, घाते वि सहंति लोइया गुरुणो ।
ण य मधुरणिच्छया ते, ण होंति एमेविहं उवमा ॥

शिल्पानि रथकारकर्मप्रभृतीनि, नैपुण्यानि च लिपिगणितादिकलाकौशलानि, तदर्थं लौकिकाः शिक्षका गुरोराचार्यस्य घातान् परिसहन्ते, न च तथा ते, तदानीं दारुणा अपि मधुरनिश्चयाः, तैः सुन्दरा क्रियन्ते, नैवापरिणामा न जायन्ते, किन्तु शिल्पादिपरिज्ञाने वृत्तिलाभजनपूजनीयत्वादिना परिणामसुन्दरा जायन्त इति भावः । एवमेषोपमा इह प्रस्तुतार्थे मन्तव्या, यथा तेषां ते घाता हितास्तथा प्रस्तुतस्यापि दुर्विनीतस्य शिष्यस्येति भावः ।

अत्रायं बृहद्भाष्ये उक्तः सोपमेयोऽपरो दृष्टान्तः—

अहवा वि रोगियस्सा, ओसह विज्जेहिँ दिज्जए पुव्विं ।
पच्छा ताहेतुमधो, देहहियट्ठा पडिज्जइ से ॥
इय नवरोगिणस्स वि, अणुकूलं ण तु सारणा पुव्विं ।
पच्छा पडिकूलेण वि, परलोगहियट्ठ कायव्वा ॥

(ओसह त्ति) विभक्तिलोपादौषधमिति मन्तव्यम् । अत एव साधुरेवंविधो जयेत–

संविग्गो मद्दविओ, अमुई अणुवत्तओ विसेसन्नू ।
उज्जुत्त अपरितंतो, इच्छियमत्थं लहइ साहू ॥

संविग्नो मोक्षाभिलाषी, मार्दविकः स्वभावकोमलः, अमोची गुरूणाममोचनशीलः, अनुवर्तकश्छन्दोऽनुवर्ती, विशेषज्ञो वस्त्ववस्तुविभागवेदी, उद्युक्तः स्वाध्यायादौ, अपरितान्तो वैयावृत्त्यादौ, एवंविधः साधुरीप्सितमर्थमिह परत्र च लभते ।

अथ कारणजाते ' बोहिगाइसु त्ति ' पदं व्याख्याति—

बोहियतेणजयादिसु, गच्छस्स गणिस्स वा अट्ठए एते ।
इच्छंति हत्थतालं, कालातिचरं च मज्जं वा ॥

बोधिकस्तेनभये, आदिशब्दात् आपदादिभयेषु वा यदि

[illegible] अज्झाविय [illegible] मादन्निको [illegible] काष्ठनिबन्धेन, यथो वा [illegible] इति गम्यते ।

[illegible]—

[illegible] एत्थ [illegible] अनिज्जुता ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

द्वितीयेऽपि च तद्वत्-[illegible]।
कीलोऽपि शुल्ककाष्ठानि, [illegible] ॥१॥
द्वितीयकस्तु तकतः कीला [illegible]।
यस्य कार्पासकाष्ठादीन्, [illegible] ॥२॥
[illegible] समरसेषु, [illegible]।
दग्धं सर्वं पुरं [illegible] ॥८॥
प्रायं [illegible], गुरुजामेवनिना।
दग्धं सर्वं द्वितीयकस्य, सोऽप्यात्मेयानार्[illegible] ॥
किं न ज्ञातमिदं पूज्या, [illegible]
निमित्तं निमित्तं न [illegible]
तथाऽप्यनाऽपि वा किञ्चित्, [illegible]
ततो कर्तुं गुरु [illegible] ॥१०॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

रकारिणो लिङ्गकरणं द्रव्यलिङ्गस्य भावलिङ्गस्य वा तत्र क्षेत्रे प्रदानम्, कारणे तु गतःप्रत्यागतप्रतिपत्तिलक्षणे अन्यत्र वा तत्र वा अनुज्ञातमेव । यथा पुरातनी गाथा ॥

अत एनां विवरीपुराह—

हत्थातालो भणिओ, तस्स उ दो आइमे पदे मोत्तुं ।
अत्थायाणे लिंगं न दिंति तत्थेव विसयम्मि ॥

हस्तातालसूत्रक्रमप्रामाण्यात् तृतीयम्, अर्थात् तस्य द्वे आदिमे हस्तातालहस्तालम्बलक्षणे पदे मुक्त्वा यदर्थादानाख्यं पदं तत्र वर्तमानस्य तत्रैव विषये देशे लिङ्गं न ददति । स च अर्थादानकारी गृही लिङ्गी वा । तत्र—

गिहिलिंगस्स उ दोण्ह वि, आसन्ने न दिंति जावलिंगं तु ।
दिज्जंति दो वि लिंगा, ओसरिय य उत्तमट्ठस्स ॥

यो गृहिलिङ्गी प्रव्रज्यार्थमभ्युत्तिष्ठति तस्य द्वे अपि-द्रव्यभावलिङ्गे तस्मिन्देशे न दीयेते । यः पुनरवसन्नस्तस्य द्रव्यलिङ्गं विद्यत एव, परं भावलिङ्गं तत्र तत्रैव ददाति । यदा पुनरसावुत्तमार्थस्य प्रतिपत्त्यर्थमुपतिष्ठते तदा तस्मिन्नपि देशे द्वयोरपि गृहस्थावसन्नयोर्द्वे अपि लिङ्गे दीयेते ।

अथवेदं कारणम्—

ओमासिवमाईहि व, सम्पिस्सति तेण तस्स तत्थेव ।
न य असहाओ मुच्चइ, पुट्ठो य भणिज्ज वीसरियं ॥

अवमाशिवराजद्विष्टादिषु वा समुपस्थितेषु गच्छस्य प्रतिसर्पिष्यति उपग्रहं करिष्यति, तेन कारणेन तत्रैव क्षेत्रे तस्य लिङ्गं प्रयच्छन्ति । तत्र चेयं यतना-[न य असहाओ इत्यादि] स तत्रारोपितमहाव्रतः सन्नसहाय एकाकी न मुच्यते, लोकेन च निमित्तं पृष्टो भणति-विस्मृतं मम सांप्रतं तन्निमित्तमिति ।

अथ साधर्मिकादिस्तैन्येषु प्रायश्चित्तमुपदर्शयति—

साहम्मिय अण्णधम्मिय-तेणेसु उ तत्थ होंति (इ)मा भयणा ।
चउलहुगा चउ गुरुगा, अणवट्ठप्पो य आएसा ॥

साधर्मिकस्तैन्यान्यधार्मिकस्तैन्ययोस्तावदियं भजना प्रायश्चित्तरचना भवति-आहारं स्तेनयतश्चतुर्लघु, सचित्तं स्तेनयतश्चतुर्गुरव, आदेशेन वा अनवस्थाप्यम् ।

अहवा अणुवज्झाओ, एएसु पएसु पावती तिविहं ।
तेसुं चेव पएसुं, गणिआयरियाण णवमं तु ॥

अथवा अनुपाध्यायो य उपाध्यायो न भवति किं तु सामान्यभिक्षुः स एतेषु आहारोपधिसचित्तरूपेषु यथाक्रमं त्रिविधं लघुमासचतुर्लघुचतुर्गुरुलक्षणं प्रायश्चित्तं प्राप्नोति । तेष्वेव चाहारादिषु पदेषु गणिन उपाध्यायस्याचार्यस्य च नवममनवस्थाप्यं भवति । अत्र परः प्राह-ननु सूत्रे सामान्येनानवस्थाप्य एव भणितो न पुनर्लघुमासादिकं त्रिविधं प्रायश्चित्तं, तत्कथमिदमर्थेनाभिधीयते ? । उच्यते-आर्हतानामेकान्तवादः क्वापि न भवति । तथाहि—

तुल्लम्मि वि अवराहे, तुल्लमतुल्लं व दिज्जए दोण्हं ।
पारंचिके वि नवमं, गणिस्स गुरुणो उ तं चेव ॥

तुल्यः सदृशोऽपराधो द्वाभ्यामपि आचार्योपाध्यायाभ्यां सेवितः, तत्र द्वयोरपि तुल्यमतुल्यं वा प्रायश्चित्तं दीयते, तत्र तुल्यदानं प्रतीतमेव । अतुल्यदानं पुनरिदम्-पाराञ्चिके पाराञ्चिकापत्तियोग्येऽप्यपराधपदे सेविते गणिन उपाध्यायस्य नवममनवस्थाप्यमेव दीयते, न पाराञ्चिकम्, गुरोराचार्यस्य पुनस्तदेव पाराञ्चिकं दीयते, ततो यद्यपि सूत्रे सामान्येनानवस्थाप्यमुक्तं तथापि तत् पुरुषविशेषापेक्षं प्रतिपत्तव्यम्, यद्वा-अभीक्ष्णसेवानिष्पन्नम् । तथा चाह-

अहवा अभिक्खसेवी, अणुवरयं पावई गणी नवमं ।
पावंति मूलमेव उ, अभिक्खपडिसेविणो सेसा ॥

अथवा साधर्मिकस्तैन्यादेरभीक्ष्णसेवी पुनः २ प्रतिसेवां यः करोति स ततः स्थानादनुपरमन् अनिवर्तमानो गणी उपाध्यायो नवमं प्राप्नोति । शेषास्तु ये उपाध्यायत्वमाचार्यत्वं वा न प्राप्तास्ते अभीक्ष्णप्रतिसेविनोऽपि मूलमेव प्राप्नुवन्ति, नानवस्थाप्यम् ।

अत्थादाणो ततिओ, अणवट्ठो खेत्तओ समक्खाओ ।
गच्छे चेव वसंतो, निज्जूहिज्जंति सेसाओ ॥

अष्टाङ्गनिमित्तप्रयोगेणार्थं द्रव्यमादत्ते इति अर्थादानाख्यो यस्तृतीयोऽनवस्थाप्यः, स क्षेत्रतः समाख्यातः, तत्र क्षेत्रे नोपस्थाप्यत इत्यर्थः । शेषास्तु हस्तातालकारिप्रभृतयो गच्छ एव वसन्तो निर्यूह्यन्ते आलोचनादिभिः पदैर्बहिः क्रियन्ते इत्यर्थः । बृ०४उ० ।

उक्कोसं बहुसो वा, पउट्ठचित्तो व तेणियं कुणइ ।
पहरइ जो य सपक्खे, निरवेक्खो घोरपरिणामो ॥
आयरियाइसु तीसु वि, बहुसो पारंचियाऽवराहेसु ।
अणवट्ठप्पावत्तिसु, पसज्जमाणो अणेगासु ॥

उत्कृष्टं वस्तुविषयं बहुशो वा पौनःपुन्येन प्रदुष्टचित्तो वा संक्लिष्टमनाः क्रोधलोभादिकलुषितमनसो यत् स्तैन्यं साधर्मिकस्तैन्यमन्यधार्मिकस्तैन्यं वा करोति । जी०। एवंविधार्थादानकारी आचार्य. स्वस्य महाव्रतान्यारोपयितुमभ्यर्थयमानो महोपकरणनिवृत्तोऽपि तत्र क्षेत्रे न महाव्रतेषु स्थाप्यते, तथा हस्तालम्ब इव हस्तालम्बस्तं ददानः, अशिवे पुररोधादौ तत्प्रशमनार्थमभिचारमन्त्रादीन्प्रयुञ्जान इत्यर्थः । तथा हस्तेन ताडनं हस्ततालस्तं ददानः यष्टिमुष्टिलगुडादिभिरात्मनः परस्य च मरणभयनिरपेक्षः, स्वपक्षे, चशब्दात् परपक्षे च, घोरपरिणामो निर्दयो यः प्रहरति । एते त्रयोऽप्यनवस्थाप्याः क्रियन्ते । यदि वाऽऽचार्यादीन् कोऽपि हिनस्ति ततस्तन्मारणेनापि तान् रक्षेत् । यदाह-"आयरियस्स विणासे, गच्छे अहवा वि कुलगणे संघे । पंचिंदियवरमणं, काउं नित्थारणं कुज्जा ॥ १ ॥ एवं तु करितेणं, अव्वुच्छित्ती कया उ तित्थंमि । जइ वि सरीरावाओ, तह वि य आराहओ सो उ ॥ २ ॥" यस्तु समर्थोऽप्यागाढेऽपि प्रयोजने न प्रगल्भते स विराधकः । इहानिपेक उपाध्यायः स येषु येष्वपराधेषु पाराञ्चिकमापद्यते तेषु बहुशः पाराञ्चिकापराधेषु सर्वेष्वपि शुद्धिनिमित्तमनवस्थाप्यः क्रियते । यथा भिक्षोरनवस्थाप्यपाराञ्चिकेऽपि प्राप्तस्य मूलमेव चरमं प्रायश्चित्तं भवति, एवमुपाध्यायस्याप्यनवस्थाप्यमेव परमं, तथा अनवस्थाप्यापत्तिषु उपचारादनवस्थाप्याख्यप्रायश्चित्तापत्तिकारिणीष्वतिचारप्रतिसेवास्वनेकासु प्रसज्जनं प्रसक्तिं कुर्वाणोऽनवस्थाप्यः क्रियते ।

स चानवस्थाप्यः क्रियमाणः कस्मिन्क—
स्मिन्विषये क्रियते इत्याह—

कीरइ अणवट्ठप्पो, सो लिंगखित्तकालओ तवओ ।
लिंगेण दव्वभावो, भणिओ पव्वावणाऽणरिहो ॥

क्रियते तथाविधापराधकारित्वान्महाव्रतेषु लिङ्गे वा नाऽवस्थाप्य इत्यनवस्थाप्यः । स चतुर्धा-लिङ्गतः, क्षेत्रतः, कालतः, तपोविशेषतश्चेति । लिङ्गं द्विधा-द्रव्ये च भावे च । तत्र द्रव्यलिङ्गं रजोहरणादि, भावलिङ्गं महाव्रतादि । अत्र चतुर्भङ्गी-द्रव्यलिङ्गेन भावलिङ्गेन चानवस्थाप्य इत्येको भङ्गः। द्रव्यलिङ्गेनावस्थाप्यो न भावलिङ्गेनेति द्वितीयः । भावलिङ्गेनानवस्थाप्यो न द्रव्यलिङ्गेनेति तृतीयः। उभाभ्यामप्यनवस्थाप्य इति चतुर्थः। इह द्रव्यलिङ्गेन भावलिङ्गेन चाऽनवस्थाप्यः प्रथमभङ्गस्थः प्रव्राजनाऽनर्हो भणितः ।

लिङ्गानवस्थाप्यादिचातुर्विध्यमेव विवृण्वन्नाह-

अप्पडिविरतोसन्नो, न भावलिंगारिहोऽणवट्ठप्पो ।

जो जत्थ जेण दूसइ, पडिसिद्धो तत्थ सो खित्ते ॥

अप्रतिविरतः साधर्मिकान्यधार्मिकस्तैन्यात्प्रहरणाद्वा चित्तत्येनानिवृत्तः स्वपक्षपरपक्षप्रहरणोद्यतश्च निरपेक्षानुपशान्तवैरो यः स द्रव्यभावलिङ्गाभ्यामनवस्थाप्योऽनवस्थाप्यप्रथमभङ्गवर्ती क्रियते । हस्तालम्बदायी अर्थादानकरो वाऽवसन्नादिकश्च तद्दोषानिवृत्तो न भावलिङ्गार्हः । अयं भावः-स द्रव्यलिङ्गी भवति न भावलिङ्गमर्हति, भावलिङ्गमपेक्षानवस्थाप्यतृतीयभङ्गवर्ती भवतीत्यर्थः। द्वितीयचतुर्थभङ्गौ पुनर्न संभवतः, क्षेत्रतोऽनवस्थाप्यो यो यत्र क्षेत्रे येन कर्मणा दूष्यते स तद्दोषकरणान्निवृत्तोऽपि क्षेत्र प्रतिषिद्धो महाव्रतेषु स्थापने निराकृतो यथार्थादानकारी तत्रैव क्षेत्रे न महाव्रतेषु स्थाप्यते, यतः पूर्वाभ्यासात् तं लोको निमित्तं पृच्छेत्, स च तं निमित्तदानजमृद्धिगौरवं सोढुमक्षमः कदाचित् कथयेत्, ततोऽन्यत्र नीत्वोपस्थाप्य उपशमार्थं प्रतिपन्नस्य पुनस्तत्रापि स्वस्थानेऽपि स्थितस्य महाव्रतारोपः कार्य इति । उक्तो लिङ्गक्षेत्राऽनवस्थाप्यौ । जीत० ।

जत्तियमित्तं कालं, तवसा उ जहन्नएण छम्मासा ।

संवच्छरमुक्कोसं, आसायइ जो जिणाईणं ॥ ९१ ॥

यो यावन्तं कालं दोषादोपरमते तावन्तं कालमनवस्थाप्यः क्रियते । तपसा त्वनवस्थाप्यो द्विधा-आशातनाऽनवस्थाप्यः, प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यश्च । तत्र जिनादीनां तीर्थकरसङ्घश्रुताचार्यमहर्द्धिकगणधराणामाशातनां यः कुर्यात् । यथा-तीर्थकरैः सर्वोपायकुशलैरपि गृहवासस्यागारिकाऽऽतिककष्टा देशना कृता; यदि च गृहवासो न श्रेयान् ततः किमिति स्वयं गृहवासे वसन्ति स्म, भोगांश्च भुक्तवन्त इत्येवं रूपोऽधिक्षेपः । सङ्घं च बहुधा ऽपवदेत्-बहुश्रुता अपि महाः शृगालश्वानवृकचित्रकादीनामिति । श्रुतं चैवमधिक्षिपति यथा-"कायाव्वयाय तिच्चिय, पुणो वि तिच्चिय पमायपया । मुक्खस्स देसणाए, जोइसजोणीहिं किं कज्जं ॥१॥" आचार्यं च जात्यादिभिरधिक्षिपति। महर्द्धिकाश्च गणधरा गौतमादयः, येषां यस्मिन् युगे प्रधानभूताः, तान् ऋद्धिरससातगौरवप्रसक्ताः कथका इव लोकावर्जनपरा इत्यादिवाक्यैरधिक्षिपति। स आशातनाकारिणाशातनयाऽनवस्थाप्यः । स जघन्येन षण्मासान् उत्कर्षतः संवत्सरं यावत् यतः कुर्वन् कर्तव्यः, तावता च तपसा कृतेनाऽऽशातनानिवृत्तस्तत्पूर्वं महाव्रतेषु स्थाप्यते, प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यस्त्वधोवक्ष्यमाणो वक्ष्यते ।

स चैवम्—

बारसे बारसवासा, पडिसेवी कारणाउ सत्यो वि ।

थोवं थोवतरं वा, वहिज्ज मुञ्चिज्ज वा सव्वं ॥ ९२ ॥

प्रतिसेवी प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यः साधर्मिकान्यधार्मिकस्तैन्ये हस्तातालादिना भवति, स च जघन्यतो वर्ष, उत्कृष्टतो द्वादश वर्षाणि, तदनन्तरं व्रतेषु स्थाप्यते । स चानवस्थाप्यः संहननादिगुणयुक्त एव क्रियते, अन्यस्य तु मूलमेव देयम् ।

अथ कीदृग्गुणयुक्तस्यानवस्थाप्यं दीयते इत्याह-

"संहणणविरियआगम-सुत्तत्थविहीइ जो समग्गो उ ।

तवसी निग्गहजुत्तो, पवयणसारे य गहियत्थो ॥१॥

तिलतुसमत्तिभागमित्तं, वि जस्स असुभो न विज्जइ भावो ।

निज्जूहणारिहो सो, सेसे निज्जूहणा नत्थि ॥२॥

एयगुणसंपउत्तो, पावइ अणवट्ठमुत्तमगुणोहो ।

एयगुणविप्पहूणे, तारिसगम्मि भवे मूलं ॥३॥"

[तवस्सी] तपश्चरणवान् [निग्गहजुत्तो] जितेन्द्रियः [निज्जूहणारिहो] गच्छात् पृथक्करणार्हः अपवादेनानवस्थाप्यस्तु गणस्य हितकार्यकारी, यदुक्तमसाध्यं च कार्यं गुरुभिरनुज्ञाते, तत्साधकश्चायमित्यतः कारणात्सर्वोऽपि क्रियतेऽपि च ज्ञातमेनाऽनवस्थाप्यते । प्रतिसेवनाऽनवस्थाप्यश्च गुरुवचनादेशात् स्तोकं स्तोकतरं वा, मासद्वयं मासिकमात्रं वा अनवस्थाप्यतपो वहेत् । सङ्घो वा सर्वोऽपि गुरुप्रसादितं मतिमान् अनवस्थाप्यश्चोऽयमतश्चास्मत्कालविषयमिति सर्वं मुञ्चेत्, अनवस्थाप्यतपो न कारयेदित्यर्थः । जीत० । वृ० ।

यस्त्वनवस्थाप्यतपः प्रतिपद्यते तद्विधिमाह-

आसायणा जहन्ने, छम्मासुक्कोस बारस उ मासा ।

वासं बारसवासे, पडिसेवओ कारणे भणिओ ॥

इत्तिरियं निक्खेवं, काउं अन्नं गणं गमित्ताणं ।

दव्वाइ सुहे वियडण, निरुवसग्गट्ठ उस्सग्गो ॥

अप्पच्छंद निब्भयया, आणाभंगो य जेणइ सगंहि ।

परगणे न होंति एए, आणा थिरया भयं चेव ॥

गाथाषट्कं, यथा पाराञ्चिके व्याख्यातं तथैवात्र मन्तव्यम्, नवरं [दव्याइसुहे वियडण त्ति] द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु शुभेषु प्रशस्तेषु द्रव्यतो वटवृक्षादौ क्षीरवृक्षे, क्षेत्रत इक्षुक्षेत्रादौ, कालतः पूर्वाह्णे, भावतः प्रशस्तेषु चन्द्रतारादिबलेषु, गुरूणां विकटनामालोचनां ददाति । तत आचार्या भणन्ति-" एय साहुस्स अणवट्ठप्पस्स निरुवसग्गनिमित्तं ठामि काउस्सग्गं ति । अन्नत्थूससिएणं" इत्यादि वोसिरामीति यावत् । ततश्चतुर्विंशतिस्तवं ध्यात्वा आचार्या भणन्ति-एष तपः प्रतिपद्यते, ततो न भवद्भिः सार्धमालापादिकं विधास्यति, स्वयमप्यनेन सार्धमालापादिकं परिहरणीयमिति । बृ० ४ उ० ।

वंदइ न य वंदिज्जइ, परिहारतवं सुदुच्चरं चरइ ।

संवासो से कप्पइ, नालवणाईणि सेसाणि ॥ ९३ ॥

अनवस्थाप्यतपश्चरणकरणकालं यावत् स्वगणं परित्यज्य परगणे गत्वा तत्राचार्यं उपाध्यायो वा प्रशस्तेषु द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु, तत्र द्रव्यतो वटादौ क्षीरवृक्षे, क्षेत्रतः इक्षुशालिक्षेत्रचैत्यगृहादिषु, कालतः पूर्वाह्णे, भावतः प्रशस्तेषु चन्द्रताराबलेषु, सद्याऽऽगतार्थमनुवर्ज्यमालोचनां प्रयुङ्क्ते स्वातिचारं प्रकाशयति । तदनन्तरं जघन्येन मासमुत्कर्षतः षण्मासादिकमनवस्थाप्यतपःप्रपद्यमाने आलोचनादायकः कायोत्सर्गं करोति । एव यस्य साधर्मिकस्यानवस्थाप्यस्य निरुपसर्गनिमित्तं ठामि

ऽऽउस्सग्गं अन्नत्थ उस्ससिएणं, इत्यादि 'वोसिरामि' इति यावत् चतुर्विंशतिस्तवमनुचिन्त्य पारयित्वा चतुर्विंशतिस्तवमुच्चार्याऽऽचार्यो वक्ति-"एस तवं पडिवज्जइ, न किंचि आलवइ मा य आलवह । अत्तट्ठचिंतगस्स उ, वाघाओ भे न कायव्वो ।" एष युष्मानालपिष्यति, युष्माभिरपि नालप्यः, एष सूत्रार्थौ शरीरवार्तां वा न प्रक्ष्यति, युष्माभिरपि न प्रष्टव्यः । तिष्ठमानकमादिको वा नास्य प्रातिमर्पणीयं वा, उपकरणं परस्परं न प्रतिलेख्यं, भक्तपानं परस्परं न ग्राह्यम् । संघाटकोऽस्य न मेलनीयः। अनेन संहैकमाण्डल्यां न भोक्तव्यम्, किमप्यनेन सार्धं न कार्यं कार्यमिति । अधुना गाथाऽक्षरार्थः-प्रतिपन्नाऽनवस्थाप्यतपः शैक्षादीनपि वन्दते, न चासौ वन्द्यते । परिहारतपश्च पारिहारिकसाधूनां तपः ग्रीष्मे चतुर्थषष्ठाष्टमानि, शिशिरे षष्ठाष्टमदशमानि, वर्षास्वष्टमदशमद्वादशानि जघन्यमध्यमोत्कृष्टानि, पारणके च निर्लेपं, भक्तमित्येवं रूपं सुदुश्चरं चरति । संवासः सहवासो गच्छेनास्य एकक्षेत्रे एकोपाश्रये एकस्मिन् पार्श्वे शेषसाधुपरिभोगप्रदेशे कल्पते, नालपनादीनि शेषाणि, इत्येष संक्षेपतोऽनवस्थाप्यविधिः । तत्कमनवस्थाप्यार्हम् । जीत० ।

एवंविधं तपः प्रतिपद्य यदसौ विदधाति तदुपदर्शयति—

सेहाई वंदंतो, पग्गहियमहातवो जिणो चेव ।
विहरइ बारसवासे, अणवट्ठप्पो गणे चेव ॥

शैक्षादीनपि वन्दमानो जिनकल्पिक इव प्रगृहीतमहातपाः पारणके निर्लेपे भक्तपाने प्रहीनस्वमित्याद्यनेकाभिग्रहयुक्त चतुर्थषष्ठादिकं विपुलं परिहारतपः कुर्वन्निति भावः । एवंविधोऽनवस्थाप्यो गण एव गच्छान्तर्गत एवोत्कर्षतो द्वादश वर्षाणि विहरति ।

इदमेव भावयति—

अणवट्ठं वहमाणो, वंदइ सो सेहमाइणो सव्वे ।
संवासो से कप्पइ, सेसा उ पया न कप्पंति ॥

परगणेऽनवस्थाप्यं वहमानः स उपाध्यायादिः शैक्षादीनपि सर्वान् साधून् वन्दते, तस्य च गच्छेन सार्धमेकत्रोपाश्रये एकस्मिन् पार्श्वे शेषसाधुजनापरिभोग्ये प्रदेशे संवासं कर्तुं कल्पते । शेषाणि तु पदानि न कल्प्यन्ते ।

कानि पुनस्तानीत्याह—

[illegible] ॥
[illegible] १०७ ॥
[illegible] न करोति, तस्य पुन साधवो न कुर्वन्ति, (मत्ते त्ति) तिष्ठमानादिसमर्पणं तस्य न क्रियते, सोऽपि तेषां न करोति । उपकरणपरस्परं न प्रत्युपेक्षन्ते, संघाटकेन परस्परं न भवन्ति । भक्तदानमन्योऽन्यं न कुर्वन्ति । एकत्र मण्डल्यां न समुञ्जते । यच्चान्यत् किञ्चित्करणीयम्, तत्तेन सार्धं न कुर्वन्ति । 'तवो न लब्भइ वत्थ' इत्यादिगाथा पाराञ्चिकप्रस्तावे वक्ष्यमाणा (अनवस्थाप्यस्य मुहिभूतस्याशुद्धिभूतस्य चोपस्थापना 'उवट्ठावणा' शब्दे द्वि० भा० ९९९ पृष्ठे वक्ष्यते) तपोऽनवस्थाप्यस्य चतुर्दशपूर्वधरे श्रीभद्रबाहुस्वामिनि व्युच्छिन्नः । "अणवट्ठप्पो तवसा, तव पारंचिए दो वि वुच्छिन्ना । चउदसपुव्वधरम्मि, धरंति सेसा उ जा तित्थं" ॥ १ ॥ जीत० ।

अणवट्ठप्पया-अनवस्थाप्यता-स्त्री० । तेन दुष्टचित्तेन साधर्मिकाणां अन्योऽन्यस्य करं कर्तुकामं न मंतु वदन्ते तदनवस्थाप्यताऽर्हत्वात्तदनवस्थाप्यता प्रायश्चित्तम् । यत्र-यदीयं तपो यावत् कृतं तावत् क्षेत्रेषु लिङ्गे वाऽनवस्थाप्यत इत्यनवस्थाप्यस्तस्य भावोऽनवस्थाप्यता । तदनन्तरोक्तमे, प्रश्न० १ द्वा० । आव० । पंचा० ।

अणवट्ठप्पारिह-अनवस्थाप्यार्ह-न० । नवमप्रायश्चित्ते, स्था० । यस्मिन् प्रतिसेविते व्रत कालं यावदनवस्थाप्य कृत्वा पश्चाद् [illegible] तदनवस्थाप्यार्हम् । स्था० १० ठा० ।

अणवट्ठप्पावत्ति-अनवस्थाप्यापत्ति-स्त्री० । ([illegible]) अनवस्थाप्यप्रायश्चित्तापत्तिकारिणीषु प्रतिसेवनासु [illegible] ।

अणवट्ठाण-अनवस्थान-न० । अ० त० । [illegible] पूरणं यथा [illegible] एष सामाचार्याः पञ्चमोऽतिचारः । उपा० १ अ० । धर्म० ।

अणवट्ठिय-अनवस्थित-त्रि० । [illegible] " [illegible] " [illegible] कल्पानुयोगाधिकारमर्हमेदे, बृ० ।

[illegible]

दुविहो लिंगविहारो, एवेगो चेव होइ दुविहो उ ।
[illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible] लज्जते, यथाकथञ्चिद् वा करोतीति भावः । उपा० १ अ० । पंचा० । प्रा० । भाव० ।

[illegible]–अनवस्थितचित्त–त्रि० । एकत्र स्थापिता– [illegible], नि० चू० १ उ० ।

[illegible] (य) संठाण–अनवस्थितसंस्थान–न० । सतत- [illegible], जी० ३ प्रति० ।

[illegible]–अनन्तनीतत्व–न० । कारककालवचनलिङ्गादि- [illegible] पञ्चविंशो सत्यवचनातिशये, स० ३५ सम० । रा० । औ० ।

[illegible]–अनवस्थाप्यता–स्त्री० । अपनापयितुं लङ्घयि- [illegible] मदुर्नीयः, न तथा [illegible] । हीनमर्यादत्वे, उत्त० १ अ० । अल- [illegible], स्था० ८ ठा० ।

[illegible]–अनवसानु–न० । न० त० । अनुपस्थापने, [illegible] ।

[illegible]–अनवस्था–स्त्री० । अन–स्था–अङ् । अपरिस्थितिः । [illegible], [illegible] च । उपपादस्य समर्थ- [illegible] तर्के, तत्र तर्के उपपाद्योपपादक- [illegible] । तत्र स तर्को [illegible] पुनः पुनः [illegible] [illegible] [illegible] एव [illegible] [illegible] [illegible] पुनः [illegible] [illegible] । [illegible]

[illegible]

निरन्तरे, कल्प० । सतते, भ० १ श० ३३ उ० । [illegible] आचा० । जं० । सकलकाले, आ० म० द्वि० ।

अणववाइत्त–अनपवादित्व–न० । सर्वेषु अपवादेषु जन्तुषु अपवादमश्लाघां करोतीत्येवंशीलोऽनपवा- दी अनपवादीति । न० त० । तस्य भावस्तत्त्व । [illegible] ण, परापवादे हि बहुदोषः । यदाह वाचकमुख्यः– "पर- परिवादः–[illegible] कर्म । [illegible] नेकनयकोटिदुर्मोचम्" ॥१॥ इति । सदेवं सकल [illegible] वर्णवादो न श्रेयान्, किं पुनर्नृपामात्य [illegible] [illegible] । नृपादिवर्णवादस्तु प्राणनाशादि [illegible]

अणवाय–अनपाय–त्रि० । अपायरहिते निर्दोषे, "[illegible] परिणति–भवरोगसदौषधं यदनपायम्" षो० १ विव० ।

अणविक्खया–अनपेक्षता–स्त्री० । [illegible]

अणवेक्खमाण–अनपेक्षमाण–त्रि० । शरीरनिरपेक्षे, "[illegible] रालं अणुपेहमाणे, चिच्चा ण सोयं अणवेक्खमाणे" सू० १० अ० ।

अणवे (वि) क्खा–अनपेक्षा–स्त्री० । [illegible] स्था० ३ उ० ।

अणसण–अनशन–न० । अश्यते भुज्यते [illegible] [illegible] आहारत्यागे, उत्त० । [illegible] पर्यन्ते, उत्त० ३० अ० । पा० । [illegible] स्था० ६ ठा० । ग० ।

से किं तं अणसणे ? । अणसणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा– इत्तरिए य, आवकहिए य । से किं तं इत्तरिए ? । इत्तरिए अणेगविहे पण्णत्ते । तं जहा–चउत्थे भत्ते, छट्ठे भत्ते, अट्ठमे भत्ते, दसमे भत्ते, दुवालसमे भत्ते, चउद्दसमे भत्ते, [illegible] भत्ते, मासिए भत्ते, दोमासिए भत्ते, [illegible] जाव छम्मासिए भत्ते, से त्तं इत्तरिए । से किं तं आवकहिए ? । आवकहिए दुविहे पण्णत्ते । तं जहा– पाओवगमणे य [illegible] भत्तपच्चक्खाणे य । भ० २५ श० ७ उ० ।

[illegible]

इत्तरिय मरणकाला य, अणसणा दुविहा भवे । इत्तरिया सावकंखा, निरवकंखा उ बिइज्जिया ॥ ९ ॥

[illegible]

ऽत्यसये यस्य तन्मरणकालम् । चः समुच्चये । प्रवचने हि श्रूयत इत्वरकम्, अथोत्कालाभिधानमेतत् । उक्तं हि-"मरणे वि य आहारो, अमरणं साभो वि हुवए पाणं । साभो वि आहारं चिय, सम्मो वि य साहमं होइ" ॥ (॥ तत्र आद्यमित्वरं देशतः सर्वतो वाऽशनप्रत्याख्यानरूपं, द्विविधं द्विप्रकारं भवेत्, तत्र [इत्तरिय त्ति] इत्वरकं सहावकाङ्क्षया घटिकाद्वयाद्युत्तरकालं भोजनाभिलाषरूपया वर्तत इति सावकाङ्क्षम्, निष्क्रान्तमवकाङ्क्षातो निरवकाङ्क्षम्, तज्जन्मनि भोजनाशंसाभावात्, तुशब्दस्य भिन्नक्रमत्वात् । द्वितीयं पुनर्मरणकालम् । यावज्जीविकं तत्तु निरवकाङ्क्षं द्वितीयम् ।

जो सो इत्तरियतवो, सो समासेण छव्विहो ।

सेढितवो पयरतवो, घणो य तह होइ वग्गो य ॥ १० ॥

तत्तो य वग्गवग्गो, पंचम छट्ठओ पइण्णतवो ।

मणइच्छियचित्तत्थो, नायव्वो होइ इत्तरिओ ॥ ११ ॥

यथोद्देशं निर्देश इति न्यायतः इत्वरकानशनस्य भेदानाह— यदित्वरकं तपः इत्वरकानशनरूपमनन्तरमुक्तं तत्समासेन संक्षेपेण षड्विधं विस्तरेण तु बहुतरभेदमिति भावः । षड्विधत्वमेवाह-(सेढितवो इत्यादि) अत्र च श्रेणिः पङ्क्तिस्तदुपलक्षितं तपः श्रेणितपस्तच्चतुर्थादिक्रमेण क्रियमाणमिह षण्मासान्तं परिगृह्यते, तथा श्रेणिरेव श्रेण्या गुणिता प्रतर उच्यते, तदुपलक्षितं तपः प्रतरतपः, इह चायामोदाहार्थं चतुर्थषष्ठाष्टमदशमाख्यपदचतुष्टयात्मिका श्रेणिर्विवक्ष्यते । सा च चतुर्भिर्गुणिता षोडशपदात्मकः प्रतरो भवति । अयं च आयामतो विस्तरतश्च तुल्य इति । अस्य स्थापनोपाय उच्यते-

" एकाद्याद्या व्यवस्थाप्याः, पङ्क्त्योऽत्र यथाक्रमम् ।

एकादींश्च निवेश्यान्ते, क्रमात्पङ्क्तिं प्रपूरयेत्" ॥

अस्यार्थः-एक आदिर्येषां ते एकादयः एककद्विकत्रिकचतुष्कास्ते आद्या यासु ता एकाद्याद्याः, व्यवस्थाप्या न्यसनीयाः, पङ्क्तयः श्रेणयो, यथाक्रमं क्रमानतिक्रमेण. कोऽर्थः-प्रथमा एकाद्या एककादारभ्य संस्थाप्यते, द्वितीया द्विकाद्या द्विकादारभ्य,तृतीया त्रिकाद्या,त्रिकादारभ्य, चतुर्थी चतुष्काद्या चतुष्कादारभ्य । आह-एवं सति प्रथमपङ्क्तिरेव परिपूर्णा भवति,द्वितीयाद्यास्तु न पूर्यन्त एव,तत्कथं पूर्णताः ? । उच्यते-एकादींश्च निवेश्य व्यवस्थाप्य,अन्ते इत्यपि,क्रमादिति क्रममाश्रित्य,पङ्क्तिमपूर्यमाणां श्रेणीं, पूरयेत् परिपूर्णां कुर्यात् । तत्र च द्वितीयपङ्क्तौ द्विकत्रिकचतुष्कानामग्रे एककः; तृतीयपङ्क्तौ त्रिकचतुष्कयोः पर्यन्ते एकको द्विकश्च, चतुर्थपङ्क्तौ चतुष्कावसाने एकद्वित्रिकाः स्थाप्यन्ते । स्थापना चेयम्—

चतुर्थ०	षष्ठ०	अ०	द०
१	२	३	४
२	३	४	१
३	४	१	२
४	१	२	३

प्रथमाद् घन इति घनतपः, चः पूरणे,तथेति समुच्चये,भवतीति क्रिया प्रतितपोभेदं योजनीया । अत्र च षोडशपदात्मकः प्रतरः पदचतुष्टयात्मिकया श्रेण्या गुणितो घनो भवति जातं चतुःषष्टि ६४, स्थापना तु पूर्ववदेव,नवरं, बाहुल्यतोऽपि पदचतुष्टयात्मकत्वं विशेष एतदुपलक्षितं तपो घनतप उच्यते । चः समुच्चये । तथा भवति वर्गोऽपीहापि प्रक्रमाद्गणं इति वर्गतपः, तत्र च घन एव घनेन गुणितो वर्गो भवति, ततश्चतुःषष्टिश्चतुःषष्ट्यैव गुणिता जातानि षण्णवत्यधिकानि चत्वारि सहस्राणि ; एतदु-

पलक्षितं तपो वर्गतपः, ततश्च वर्गतपसोऽनन्तरं वर्गे २ इति वर्ग २ तपः, तुः समुच्चये । पञ्चमं पञ्चसंख्यापूरणम्, अत्र वर्ग एव यदा वर्गेण गुण्यते तदा वर्गे वर्गो भवति, तथा च चत्वारि सहस्राणि षण्णवत्यधिकानि तावतैव गुणितानि जातैककोटिः, सप्तषष्टिलक्षाः, सप्तसप्ततिसहस्राणि, द्वे शते षोडशाधिके । अङ्कतोऽपि १६७७७२१६ । एतदुपलक्षितं तपः वर्गवर्गतप इत्युच्यते । एवं पदचतुष्टयमाश्रित्य श्रेण्यादितपो दर्शितम् । एतदनुसारेण पञ्चादिपदेष्वप्येतत्परिभावना कार्या । षष्ठकं प्रकीर्णकतपो यत् श्रेण्यादिनियतरचनाविरहितं स्वशक्त्यपेक्षं यथा कथंचिद्विधीयते, तच्च नमस्कारसहितादि पूर्वपुरुषचरितं यवमध्यवज्रप्रतिमादि च । इत्थं भेदानभिधाय उपसंहारमाह-(मणइच्छियचित्तत्थो त्ति) मनस ईप्सितं इष्टश्चित्रोऽनेकप्रकारोऽर्थः स्वर्गापवर्गादिस्तेजोलेश्यादिर्वा यस्मात् तन्मनईप्सितचित्रार्थं ज्ञातव्यं भवतीत्वरकं प्रक्रमादनशनाख्यं तपः । उत्त० ३ अ० । (कियत्कालिकेनाऽनशनेन कियती निर्जरा भवतीति ' अणुकसाय' शब्दे वक्ष्यते)

संप्रति मरणकालमनशनं वक्तुमाह—

जा सा अणसणा मरणे, दुविहा सा वियाहिया ।

सवियारमवीयारा, कायचेट्ठं पई भवे ॥ १२ ॥

(जा सा अणसणाइ त्ति) प्राकृतत्वाद्यत् स्त्रीत्वम्, यदनशनं मरणे मरणावसरे द्विविधं, तद्विशेषेणाख्यातं कथितं व्याख्यातं, तीर्थकृदादिभिरिति गम्यते । द्वैविध्यमेवाह—सह विचारेण चेष्टात्मकेन वर्तते यत्तत्सविचारं, तद्विपरीतमविचारम् । विचारश्च कायवाङ्मनोभेदात् त्रिविधमिति तद्विशेषपरिज्ञानार्थमाह-कायचेष्टाम्, उद्वर्तनपरिवर्तनादिकं कायप्रविचारं प्रतीतिमाश्रित्य, भवेत् स्यात् । तत्र सविचारं भक्तप्रत्याख्यानमिङ्गिनीमरणं च । तथाहि—भक्तप्रत्याख्याने गच्छमध्यवर्ती गुरुदत्तालोचनो मरणायोद्यतो विधिना संलेखनां विधाय ततस्त्रिविधं चतुर्विधं वाऽऽहारं प्रत्याचष्टे; स च समास्तृतमृदुसंस्तारकः समुत्सृष्टशरीराद्युपकरणममत्वः स्वयमेवोद्ग्राहितनमस्कारः समीपवर्तिसाधुदत्तनमस्कारो वा सत्यां शक्तौ स्वयमुद्वर्तते, परिवर्तते च, शक्तिविकलतायां चापरैरपि किंचित्कारयति । यत उक्तम "चिरपरिणमब्भुट्ठाणं, इच्छियं संलेहणं च काऊणं । पच्चक्खाति आहारं, तिविहं च चउव्विहं वा वि ॥ उव्वत्तइ परियत्तइ, सयमन्नेणावि कारए किंचि । जत्थ समत्थो नवरं, समाहिजणयं अपडिबद्धो ॥" इङ्गिनीमरणमप्युक्तन्यायतः प्रतिपद्य शुद्धस्थण्डिलस्थानामेकाक्येव कृतचतुर्विधाहारप्रत्याख्यानस्तत्स्थण्डिलस्थानच्छायात उष्णमुष्णाच्छायायां स्वयं संक्रामति । तथा चाह- "इंगिणिमरणविहाणं, आपव्वज्जं तु वियरणं दाउं । संलेहणं च काउं,जहासमाही महाकालं ॥१॥ पच्चक्खति आहारं, चउव्विहं नियमओ गुरुसमासे । इंगियदेसम्मि तहा, चिट्ठंपि हु इंगियं कुणइ ॥ उव्वत्तइ परियत्तइ, काइयमाईसु होइ उ विभासो । किच्चं पि अप्पणच्चिय, जुंजइ नियमेण धीयबलिओ " ॥ अविचारं तु पादपोपगमनं तत्र हि सव्याघाताव्याघातभेदतो द्विभेदेऽपि पादपवन्निश्चेष्टतयैव स्थीयते । तथा च तद्विधिः— "अभिवंदिऊण देवे, जहाविहिं सेसए य गुरुमाई । पच्चक्खाइत्तु तओ, तयंतिए सव्वमाहारं ॥ समभावम्मि ठियप्पा, सम्मं सिद्धंतभणियमग्गेणं । गिरिकंदरं तु गंतुं, पायवगमणं अह करेति ॥ सव्वत्थापडिबद्धो, दंडो व्व पमायठाणमिह माइं ।

[illegible]

[illegible] , [illegible] च [illegible] ।

[illegible] च [illegible] ॥ १३ ॥

[illegible]

[illegible] संख्यावदर्थे [illegible]

अणाहूया-देशी-[illegible]

अणाहूण-[illegible]

[illegible]

अणाहरणायं-देशी-[illegible]

अणाहरीण-[illegible]

अणाहूयगा-[illegible]

[illegible]

परमार्था आगमरहस्यानि यैस्तेऽनधीतपरमार्थाः । अगी- तार्थे, " जे अणहीयपरमत्थे गोयमा ! संजए भवे " ०० १ अधि० ।

अणाइ–अनादि–त्रि० । न विद्यते आदिः प्राथम्यमस्येत्यनादिः । उत्त० १ अ० । अप्राथम्ये, हा० ३० अष्ट० । पं० सं० । आदि- विकले, उत्त० १ अ० । ऽव्या० । आ० म० । नास्याऽऽदिरस्त्यना- दिः । संसारे, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । आदिरहिते, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अणाइज्जणाम[ण्]–अनादेयनामन्–न० । नामकर्मभेदे, कर्म० १ कर्म० । प्रव० । आ० । यदुदयवशादुपपन्नमपि ब्रुवाणो नोपादेयव- चनो भवति, नाप्युपक्रियमाणोऽपि जनस्तस्याभ्युत्थानादि समा- चरति । पं० सं० ३ द्वा० ।

अणाइ (ए) ज्जवयणपच्चायाय–अनादेयवचनप्रत्याजात– त्रि० । अनादेये वचनप्रत्याजाते येषां ते तथा । अनुपादेयवचन- जन्मसु, भ० ७ श० ६ उ० ।

अणाइणिहण–अनादिनिधन–त्रि० । आदिः प्रथमं निधनं प- र्यन्तः, ततश्च ते आदिनिधने, न विद्येते आदिनिधने यस्य स अनादिनिधनः । दर्श० । सम्म० । अनाद्यपर्यवसिते, अनुत्पन्न- शाश्वते च । आव० ४ अ० ।

अणाइण्ण–अनाचीर्ण–त्रि० । अनासेविते, महापुरुषैरनाचीर्णम [नाऽऽचरणीयम्] बृ० १ उ० । तदेवाशङ्कय परः प्राह–यदि यद्यत्प्राचीनगुरुभिराचीर्णं तत्पाश्चात्यैरप्याचरितव्यं, तर्हि ती- र्थकरैः प्राकारत्रयछत्रत्रयप्रभृतिकाप्राभृतिका तेषामेवार्थाय सु- रैर्विरचिता यथा समुपजीविता, तद् वयमपि अस्मन्निमित्तकृतं किं नोपजीवामः ? । सूरिराह–

कामं खलु अणुगुरुणो, धम्मा तह वि हु न सव्वसाहम्मा ।
गुरुणो जं तु अइसए, पाहुडियाई समुपजीवे ॥

काममनुमतं खल्वस्माकं यदनुगुरवो धर्माः, तथापि न सर्वथा- साधर्म्याच्चिन्त्यन्ते किन्तु देशसाधर्म्यादेव । तथाहि–गुरव- स्तीर्थकराः, यत्तु यत्पुनरतिशयान् प्राभृतिकादीन् कोऽर्थः प्रा- भृतिका सुरेन्द्रादिकृता समवसरणरचना, आदिशब्दादशोक- तरुप्रभृतिप्रातिहार्यादिसुरकृतातिशयपरिग्रहः, तान्, समु- पजीवति, स तीर्थकरो जीतकल्प इति कृत्वा न तत्रानुधर्म- ता चिन्तनीया, यत्र पुनस्तीर्थकृताऽन्येषां च साधूनां सामा- न्यधर्मत्वं तत्रैवानुधर्मता चिन्त्यते, सा चेयमनाचीर्णेति दृश्यते ।

सगडद्दहसमभोमे, अवि अ विसेसेण विरहियतरं से ।
तह वि खलु अणाइण्णं, एसऽणुधम्मो पवयणस्स ॥

यदा स भगवान् श्रीमन्महावीरस्वामी राजगृहनगरादुदा- यननरेन्द्रप्रव्राजनार्थं सिन्धुसौवीरदेशावतंसं वीतभयं नगरं प्र- स्थितस्तदा किलापान्तराले बहवः साधवः क्षुधार्तास्तृषार्दिताः संज्ञाबाधिताश्च बभूवुः, यत्र च भगवानावासितस्तत्र तिलभृता- नि शकटानि, पानीयपूर्णश्च ह्रदः, समभौमं च गर्ताबिलादिवर्जि- तं स्थण्डिलमभवत् । अपि च–विशेषेण तत्तिलोदकस्थण्डिलजा- तं विरहिततरम्, अतिशयेनाऽऽगन्तुकैश्च जीवैर्वर्जितमित्यर्थः । तथापि खलु भगवताऽनाचीर्णं, नानुज्ञातं च, एषोऽनुधर्मः प्रवच- नस्य तीर्थस्य, सर्वैरपि प्रवचनमध्यमध्यासीनैः शास्त्रोपदेशपरिहार- लक्षण एव च धर्मोऽनुगन्तव्य इति भावः ।

अथैतदेव विवृणोति–

ववगयजोणि यतिल–अतसा दिन्ना ठिई अवि छुहाई ।
तह वि न गेण्हंसु जिणो, माहु पसंगो असत्थहए ॥

यत्र भगवानावासितस्तत्र बहूनि तिलशकटान्यावासितान्या- सन्, तेषु च तिला व्युत्क्रान्तयोनिका अशस्त्रोपहता अप्यायुःक्ष- येणाचित्तीभूतास्ते च यद्यस्थण्डिले स्थिता भवेयुस्ततो न कल्पे- रन्नित्यत आह–स्थण्डिले स्थिताः । एवंविधा अपि अमी संस- क्ता भविष्यन्तीत्याह–अत्रसास्त्रसजन्तुकत्रसविरहिताः, ति- लशकटस्वामिभिश्च गृहस्थैर्दत्ताः । एतेन चाऽदत्तादानदोषोऽपि तेषु नास्तीत्युक्तं भवति । अपि च–ते साधवः क्षुधार्दिता आयुषः स्थितिक्षयमप्रापुः तथापि जिनो वर्द्धमानस्वामी नाग्रहीत्, मा भूदशस्त्रहते प्रसङ्गः तीर्थकरेणापि गृहीतमिति मर्यादामालम्बनं कृत्वा मत्सन्तानवर्तिनः शिष्या अशस्त्रोपहतमग्रहीषुरिति भावः । युक्तियुक्तं चैतत् प्रमाणस्थपुरुषाणाम् । यत उक्तम्– "प्रमाणानि प्रमाणस्थैः, रक्षणीयानि यत्नतः । विषीदन्ति प्रमा- णानि प्रमाणस्थैर्विसंस्थुलैः " ॥ १ ॥

एमेव य निज्जीवे, दहम्मि तसवज्जिए दए दिन्ने ।
समभोमे अ अवि ठिती, निमित्ताऽऽगन्ना न याणुन्ना ॥

एवमेव च ह्रदे निर्जीवे यथाऽऽयुष्कक्षयादचित्तीभूते सचित्त- पृथिव्यां च स्थिते त्रसवर्जिते च उदके पानीये दृष्टस्वामिना च दत्ते तृषार्दितानां स्थितिक्षयकालेऽपि भगवताऽनुज्ञातमिति, मा भूत्प्रसंग इति, तथा स्वामी तृषार्दितैस्तत्र स्थितैस्तत्र सा- धुभिः सार्द्धमेकामटवीं प्रपन्नः सन्निविष्टस्तत्र संज्ञाबाधा, बहुा- [आसन्न ति] बाधासम्पन्नाः साधवो समजनि । तत्र समभौमं गर्त- गोष्पदबिलादिवर्जितं यथा स्थण्डिलरूपं व्युत्क्रान्तयोनिकपृथिवीक- त्रसप्राणविरहितं स्थण्डिलं वर्तते, अपर च शस्त्रोपहतं स्थण्डि- लं नास्ति न प्राप्यते, अपि च ते साधवः संज्ञाबाधिता स्थिति- क्षयं कुर्वन्ति, तथापि भगवान्नानुज्ञां करोति, यदात्र व्युत्सृज- तेति, मा भूदशस्त्रहते प्रसङ्ग, इत्येषोऽनुधर्मः प्रवचनस्यैव स- र्वत्र योज्यम् । बृ० १ उ० । नि० चू० । [पक्षविषयाऽनाचीर्णताऽ- नाचीर्णता च 'पक्ख' शब्दे वक्ष्यते]

अणाइबन्ध–अनादिबन्ध–पुं० । बन्धस्यादित्वाभावात् सन्तानभा- वेन प्रवृत्तो न कदाचिद् व्यवच्छिन्नः सोऽनादिबन्धः । कर्मब- न्धभेदे, कर्म० ५ कर्म० ।

अणाइभव–अनादिभव–पुं० । मिथ्यादृष्टिसंसारे, पंचा० ३ विव० ।

अणाइभवदव्वलिंग–अनादिभवद्रव्यलिङ्ग–न० । अनादिभवे नि- ष्प्राथम्यसंसारे यानि द्रव्यलिङ्गानि भावविकलानि प्रव्रज्या- जितादिनेपथ्यधरणरूपाणि तानि तथा । संसारे पर्यटन- प्रवर्तिषु, " एसो उ विभागओ अणाइभवदव्वलिंगओ चेव " पंचा० ३ विव० ।

अणाइय–अज्ञातिक–त्रि० । अविद्यमानस्वजने, भ० १ श० १ उ० ।

अनातीत–त्रि० । अत्यन्तमलं पापमतिक्रान्तेन अनतिक्रान्तम् । पापे प्राप्ते, भ० १ श० १ उ० ।

अनादिक–त्रि० । अविद्यमानादिके, भ० १ श० १ उ० । अन्य० । नास्त्यादिः प्रथमोऽस्येति विद्यते इत्यनादिकः । चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके, धर्माऽधर्मादिके वा द्रव्ये, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० ।

अनातीत त्रि० । अज्ञातमतीतम्, अनन्तमनुगतमनादिकमनन्तसंसारे, भ० १ श० १ उ० ।

ायपाऽन्यवदिति । विदिशा ह्यत्र निर्मेत्रस्यान्यो पृथिव्यां स्यनि-
वर्तते, अतः प्रतिपदैव तत्र निपुणेन भाव्यमिति । अनु० ।
णागम-अनागम-पुं० अनागमने, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । अपौ-
रुषेयादौ आगमे, आगमलक्षणविहीनत्वात्तस्य । स्था० १० ठा० ।
णागमणधम्म-अनागमनधर्मन्-त्रि० । अनागमनं धर्मो येषां
ते यथाऽऽरोपितप्रतिज्ञाभारवाहित्वात् । न पुनर्गृहमत्यागमने-
च्छुषु, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।
णागयपच्चक्खाण-अनागतप्रत्याख्यान-न० । प्रत्याख्यान-
भेदे भविष्यति प्रत्याख्याने, आव० । अनागतकरणादनागतपर्यु-
षणादावाचार्यादिवैयावृत्त्यकरणान्तरायसद्भावादारत एव त-
त्तपःकरणं, स्था० ।

उक्तं च—

होही पज्जोसवणा, ममयतया अंतराइयं होज्जा ।
गुरुवेयावच्चेणं, तवस्सिगेलण्णया एव ॥ ५ ॥
सो दाइ तवोकम्मं, पडिवज्जइ तं अणागए काले ।
एवं पच्चक्खाणं, अणागयं होइ नायव्वं ॥ ६ ॥

भविष्यति पर्युषणा मम च तदाऽन्तरायं भवेत् । केन हेतुनेत्यत
आह-गुरुवैयावृत्त्येन तपस्विग्लानतया चेत्युपलक्षणमिति गाथा-
समासार्थः ।(सो दाइ त्ति) स इदानीं तपःकर्म प्रतिपद्यते तदनागते
काले एतत्प्रत्याख्यानमेवंभूतमनागतकरणादनागतं ज्ञातव्यं भव-
तीति गाथासमासार्थः ॥ ६ ॥ "इमो पुण एत्थ भावत्थो-अणा-
गयं पच्चक्खाणं , जहा अणागयं तवं करेज्जा पज्जोसवणा
गहणेण एत्थ विसिट्ठं कीरइ, सव्वजहण्णो अट्ठमं, जहा पज्जोसव-
णाए तहा चाउम्मासिए छट्ठं पक्खिए चउत्थं अण्णेसु य
एहाणाणुजाणादिसु तहिं ममं अंतराइयं होज्जा, गुरुआयरिया
तेसिं कायव्वं, ते किं च करेंति असहू होज्जा अहवा अण्णा काइ
आणत्तिया होज्जा कायव्विया गामंतरादि सेहस्स वा आणे-
यव्वं मरं।गेलाणकरिया वा ताहे सो उववासं करेइ, गुरुवेया-
वच्चं न सक्केइ जो अण्णो होएहवि समत्थो सो करेउ, जो वा
अण्णो समत्थो उववासस्स सो करेउ नत्थि न वा लभेज्जा ण-
यणि० जाव विधि ताहे सो चेव पुव्वं उववासं काऊणं पच्छा त-
द्दिवसं भुंजेज्जा तवस्सी नाम खमओ तस्स कायव्वं होज्जा
सो किं तदा न करेइ सो तीरं पत्तो पज्जोसवणा ऊसारिया
(असहु त्ति) वा सयं पारावित्तो ताहे य सयं हिंडिउमसमत्थो
जाणि चउमासे ताणि वच्चओ नत्थि समइ सेसं जहा गुरुम्मि
विभासा गेलन्नं जाणइ जहा तहिं दिवसे असहू होइ विज्जेण
वा भणियं अमुगं दिवसं (काहइ त्ति) अहवा सयं चेव जाणाति
सगंदरोगादिहिं तेहिं दिवसेहिं असहू होइ (सामित्ति) सेसे वि-
भासा जहा गुरुम्मि कारणकुलगणसंघआयरियगच्छे वा तहेव
विभासा पच्छा सो अणागते काले काऊण पच्छा भुंजेज्जा
पज्जोसवणादिसु तस्स जा किर निज्जरा पज्जोसवणादिहिं त-
हेव सा अणागते काले भवति ॥ गतमनागतद्वारम् । आव०
६ अ० । आतु० । ध० । ल० प्र० ।

अणागलिय-अनर्गलित-त्रि० । अनिवारिते, भ० १५ श० १ उ० ।
अनाकलित-त्रि० । अप्रमेये, भ० १५ श० १ उ० । उपा० ।

अणागलियचंडतिव्वरोस-अनर्गलितचण्डतीव्ररोष-त्रि० ।
अनिवारितचण्डतीव्रक्रोधे, भ० १५ श० १ उ० ।
अनाकलितचण्डतीव्ररोष-त्रि० । अनाकलिताप्रमेयचण्डती-
व्रक्रोधे, " अनागलियचंडतिव्वरोसं समुहसुरियं च बलं धम्मं
तं दिट्ठिविसं सप्पं संघट्टेति" । भ० १५ श० १ उ० । उपा० । ज्ञा० ।

अणागाढ-अनागाढ-त्रि० । अनभिगृहीतदर्शनविशेषे, सू० १
श्रु० । आगाढभिन्ने कारणे, व्य० ३ उ० । ['आगाढ' शब्दे द्विती-
यभागे ८६ पृष्ठे व्याख्यास्यते] अथ किमिदमागाढं किं वा अ-
नागाढम् ? । उच्यते-"अहिदट्ठविससविसुइय-सज्जक्खयसूलमा-
गाढं । " अहिना सर्पेण दष्टः कश्चित्, विषं वा केनचिद् भक्ता-
दिमिश्रं दत्तं, विसूचिका वा कस्यापि जाता, सद्यः क्षयकारि
वा कस्यापि शूलमुत्पन्नम्, एवमादिकमाशुघाति सर्वमप्यागा-
ढम् । एतद्विपरीतं तु चिरघाति कुष्ठादिरोगात्मकमनागाढम् ।
बृ० १ उ० । नि० चू० । अनागाढे योगे भवे उत्तराध्ययनादौ
श्रुते, नि० चू० ४ उ० ।

अणागार-अनाकार-न० । अविद्यमाना आकारा महत्तराका-
रादयो विच्छिन्नप्रयोजनत्वात् प्रतिपत्तुर्यस्मिंस्तदनाकारम् ।
स्था० १० ठा० । अविद्यमानमहत्तराद्याकारे, प्रव० ४३ द्वा० ।
अविद्यमानाकारे प्रत्याख्यानभेदे, यद्विशिष्टप्रयोजनसम्भवा-
भावे कान्तारदुर्भिक्षादौ महत्तराद्याकारमनुच्चारयद्भिर्विधी-
यते तदनाकारमिति केवलमनाकारेऽपि अनाभोगसहसाकारा-
वुच्चारयितव्यावेव काष्ठाङ्गुल्यादेर्मुखे प्रक्षेपणतो भङ्गो मा भूदि-
ति । अतोऽनाभोगसहसाकारापेक्षया सर्वदा साकारमेव । भ०
७ श० २ उ० । ध० प्र० । अनाकारं नाम तत् किन्तु केवलमि-
हानाकारेऽपि अनाभोगः सहसाकारश्च द्वावाकारौ भणितव्यौ,
येन कदाचिदनाभोगतोऽङ्गगतः सहसा वा रभसेन तृणादि
मुखे क्षिपेत्क्षिपेद्वा कुतोऽपि इति कृताकारद्विकमपि शेषैर्महत्त-
राकारादिभिराकारैः रहितमनाकारमभिधीयते । इदं चानाकारं
कदा विधीयते? । अत्राह-"दुब्भिक्खवित्तिकंता-रगाढरोगाइए
कुज्जा " दुर्भिक्षे सुदुष्प्रापे हिण्डमानैरपि भिक्षा न लभ्यते,
तत इदं प्रत्याख्यानं कृत्वा म्रियते । वृत्तिकान्तारे वा, वर्त्तते
शरीरं यया सा वृत्तिर्भिक्षादिका तद्विषये कान्तारमिव कान्तारं
तत्र यथाऽटव्यां भिक्षा न लभ्यते तथा सिणवल्ल्यादिषु स्वजा-
त्याऽऽदातृद्विजाकीर्णेषु शासनद्विष्टैर्वाऽधिष्ठितेषु भिक्षादि नाऽऽ-
साद्यते, तदेदं प्रत्याख्यानम् । तथा वैद्यादप्रतिविधेये गाढतर-
रोगे सति गृह्यते । आदिशब्दात् कान्तारे केशरिकिशोरादिज-
न्यमानायामापदि कुर्यादिति । प्रव० ४ द्वा० । अविद्यमान आ-
कारो भेदो ग्राह्यस्यास्येत्यनाकारम् । सम्म० । अतिक्रान्तविशेष
सामान्यालम्बिनि दर्शने, " साकारे सेणाणे अणागारे दंसणे"
सम्म० । " मइसुयवहिमणकेवल-विहंगमइसुयणाणसागारा ".
सह आकारेण जातिवस्तुप्रतिनियतग्रहणपरिणामरूपेण " आ-
गारो उ विसेसा " इति वचनाद् विशेषेण वर्तन्त इति साका-
राणि । अयमर्थः-वक्ष्यमाणानि चत्वारि दर्शनानि अनाका-
राणि, अमूनि च पञ्च ज्ञानानि साकाराणि । तथाहि-सामान्यवि-
शेषात्मकं हि सकलं ज्ञेयं वस्तु । कथमिति चेदुच्यते-दूरादेव
हि शाखतमालबकुलाशोकचम्पककदम्बजम्बूनिम्बादिविशिष्टव्य-
क्तिरूपतयाऽवधारितं तदनिकरमवलोकयतः सामान्येन वृत्त-
क्तिरूपतयाऽवधारितं तदनिकरमवलोकयतः सामान्येन वृत्त-
मात्रप्रतीतिजनकं यदपरिस्फुटं किमपि रूपं चकास्ति, तत्सामा-
न्यरूपमनाकारं दर्शनमुच्यते, 'निर्विशेषं विशेषाणामग्रहो दर्शन-
मुच्यते ' इति वचनप्रामाण्यात् । यत्पुनस्तस्यैव निकटीभूतस्य
तालतमालशालादिव्यक्तिरूपतयाऽवधारितं, तमेव महीरुहमुत्प-
श्यतो विशिष्टव्यक्तिप्रतीतिजनकं परिस्फुटं रूपमाभाति, तद्विशे-
षरूपं साकारं ज्ञानमभिधेयम् । प्रमा च पारमेश्वरप्रवचन-
प्रवीणचेतसः प्रतिपादयन्ति, सह विशिष्टाकारेण वर्तत इति

इत्वा । तदेवं प्रतिप्राणिप्रसिद्धप्रमाणाबाधितप्रतीतिवशात्सर्वम-पि वस्तुजातं सामान्यविशेषरूपद्वयात्मकं भावनीयमिति। कर्म० ४ कर्म० । "चक्खु अचक्खू ओही केवलदंसणअणागारा" दर्श-नशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धाच्चक्षुर्दर्शनम् १ अचक्षुर्दर्शनम् २ अवधिद-र्शनं ३ केवलदर्शनरूपाणि चत्वारि दर्शनानि । तत्र चक्षुषा व-स्तुसामान्यांशात्मकं ग्रहणं चक्षुर्दर्शनम् १, अचक्षुषा चक्षुर्वर्ज्यशे-षेन्द्रियचतुष्टयेन मनसा च यद्दर्शनं सामान्यांशात्मकं ग्रहणं तद-चक्षुर्दर्शनम् २, अवधिना रूपिद्रव्यमर्यादया दर्शनं सामान्यांशा-त्मकमवधिदर्शनम् ३, केवलेन संपूर्णवस्तुतत्त्वग्राहकबोधविशेष-रूपेण यद्दर्शनं सामान्यांशग्रहणं तत्केवलदर्शनमिति । किंरूपा-ण्येतानि दर्शनानीत्यत आह—अनाकाराणि सामान्याकारयुक्त-त्वे सत्यपि न विद्यते विशिष्टव्यक्त आकारो येषु तान्यनाकारा-णि इति । कर्म० ४ कर्म० ।

अणाजीव-अनाजीव-त्रि०-पुं०। निःस्पृहे, दशा० ३ अ० । "अणि-स्सा अणाजीवे नायव्वो सो तहायारो" ग० १ अधि० ।

अणाजीवि (न्)-अनाजीविन्-त्रि० । न आजीवी अनाजीवी। अनाजीविनि, नि० चू० १ उ० ।

अणाडी-देशी-जारे, दे० ना० १ वर्ग ।

अणाढायमाण-अनाद्रियमाण-त्रि० । अनाद्रियमाणे, आचा० २ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

अणाढिय-अनादृत-न० । [illegible] अनादरे सं-[illegible] "[illegible]" । [illegible] । [illegible] प्रथमे दोषे, पृ० ३ [illegible] । आदरः संभ्रमः, [illegible] । [illegible] । प्रव० २ द्वा० । [illegible] प्रथमदोषः । आ० चू० ३ अ० । [illegible]

[illegible]

एवं ते मा होउ एयं कुसलस्स दंसणं ।

इह तीर्थङ्करगणधरादिनोपदेशगोचरीभूते [illegible] यदि वा सर्वभावसंभवित्वाद् भावस्य [illegible] नाज्ञाऽनुपदेशः स्वमनीषिकाचरितोऽनाचारः [illegible] वा एकेन्द्रियवशगा दुर्गतिं जिगमिषवः [illegible] सह उपस्थानेन धर्मचरणोद्यमेन [illegible] किल वयमपि प्रव्रजिताः सदसद्धर्मविवेक[illegible] धारम्भतया वर्तन्ते । एके तु न कुमार्गवासिता[illegible] आज्ञस्यावर्णस्तन्नानुपबृंहितयुक्त आज्ञायां [illegible] णीते सदाचारे निर्गतमुपस्थानमुद्यमो येषां ते निरुपस्थानाः सर्वज्ञप्रणीतसदाचारानुष्ठानविकलाः। [illegible] गौरवसीदनं च द्वयमपि ते तव गुरुविनेयगणस्य [illegible] त्वन्मा भूदिति सुधर्मस्वामी स्वमनीषिकापरिहार[illegible] मित्यादि) । एतत्पूर्वोक्तं यदि वा अनाज्ञायां [illegible] ज्ञायां च सोपस्थानत्वमित्येतत्कुशलस्य तीर्थकृतो [illegible] प्रायः, यदि वैतद् वक्ष्यमाणं कुशलस्य दर्शनम् । आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

अणाणत्त-अनानात्व-न० । भेदवर्जिते, स्था० १ ठा० ।

अणाणाय-अनाज्ञाक-तीर्थकरोपदेशशून्ये [illegible] श्रु० २ अ० ६ उ० ।

अणाणुगामिय-अनानुगामिक-त्रि० । न अनुगच्छति [illegible] कालान्तरमुपकारित्वेनानुपातरि, स्था० ३ ठा० १ उ० । [illegible] मानुबन्धे, स्था० ६ ठा० । न आनुगामिकमनानुगामिकम् [illegible] श्रममितिवद्प्रदीपसदृशे गच्छन्तमनुगच्छति [illegible] पे, नं० । तत्र—

से किं तं अणाणुगामियं ओहिनाणं ? । अणाणुगामियं ओहिनाणं से जहानामए केइ पुरिसे एगं महं जोइट्ठाणं काउं तस्सेव जोइट्ठाणस्स परिपेरंतेहिं २ परिघोलेमाणे तमेव जोइट्ठाणं पासइ, अन्नत्थ गए ण पासइ, एवामेव अणाणुगामियं ओहिनाणं जत्थेव समुप्पज्जइ तत्थेव संखिज्जाणि वा असंखिज्जाणि वा संबद्धाणि वा असंबद्धाणि वा जोयणाइं जाणइ पासइ, अन्नत्थ गए ण पासइ, सेत्तं अणाणुगामियं ओहिनाणं ।

अथ किं तदनानुगामिकमवधिज्ञानम् ? सूरिराह-[illegible] [illegible]

[illegible]

तन्मध्यवर्तीनि यानि ज्ञानानि विशेषाकारेण परिच्छिन्दन्ति, तद् वै सामन्तस्थानकाण्यानुगृहेन, अन्यत्र देशान्तरगतो नैव पश्य-ति, सर्वथा तदावरणक्षयोपशमस्य तदेशापेक्षत्वात् । नंदी० । कर्म० ।

अणाणुगिद्ध-अननुगृद्ध-त्रि० । अनासक्ते, "से पवरं आय म-हारम च, अन्नस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे" सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अणाणुतावि (ण्)-अननुतापिन्-पुं० । अपरापदर्शने कायवा-ङ्मनोभिः पश्चादनुतापवर्जिते, व्य० २ उ० । दृ० । दुग्ध दल-स्विन्नादि पश्चात्तापमकुर्वति निर्मायिनि, निर्दये च प्रयतमाने, बृ० १ उ० ।

अणाणुतावित्ति द्वारम्—

बितियपदे सो तु पुरं, सावेत्ता णाणुतप्पते पच्छा ।

सो होति अणणुतावी, किं पुण दप्पेण सेवित्ता ? ॥४९२॥

द्वितीयं अपवादपदं, तेन अपवादपदेन यो साधुः पुनः पृथिवीकायादीनामेकतरं सेवित्वा, पश्चात् नानुत-प्यते, अहो ! दुष्टु कृतं, स होति अननुतापी-अपश्चात्तापी । अय-मर्थः : अपवादपदेन अयतनया प्रतिसेव्य पश्चात्तापी । अणाणुतावी प्रतिसेवका भवति, किं पुन: यो दर्पेण प्रतिसेवित्वा नानुतप्यते इत्यर्थः । अणाणुतावि त्ति गतम् । जी० चू० १ उ० ।

अणाणुपुव्वी-अनानुपूर्वी-स्त्री० । न आनुपूर्वी अनानुपूर्वी, आनुपू-र्व्यनानुपूर्वीव्यतिरिक्तक्रमानियतव्यवस्थापरिपाटी, अनु० । (अनानुपूर्व्या आनुपूर्व्या सह सामग्रीतो विचारः 'आणुपुव्वी' शब्दे द्वितीयभागे १३१ पृष्ठे वक्ष्यते, लोकालोकादीनां पूर्वपश्चा-द्भावोऽनानुपूर्व्यादि च 'लोग' शब्दे वक्ष्यते)

अणाणुबंधि (ण्)-अननुबन्धिन्-त्रि० । नानुबन्धोऽननुबन्धः, सो-ऽस्यास्तीत्यननुबन्धि । न विद्यतेऽनुबन्धः सातत्यं प्रत्याख्यानादीनां यत्र तदननुबन्धि, इन् समासान्तोऽत्र द्रष्टव्यः । सानुबन्धि अननुब-न्धि । स्था० ६ ठा० । अप्रमादप्रत्युपेक्षणाविधिभेदे, प्रत्युपेक्षणं च न निरन्तरमाखोटादि, किं तर्हि, सान्तरं सविच्छेदमिति तत्त्वम् । धर्म० ३ अधि० । ओघ० । नि० चू० । उत्त० ।

अणाणुवत्ति [ण्]-अननुवर्तिन्-त्रि० । मन्दरैव निष्ठुरे, बृ० १ उ० ।

अणाणुवाइ [ण्]-अननुवादिन्-पुं० । वादिनोक्तं साधनमनु-वदितुं शीलमस्येत्यनुवादी, तन्निषेधादननुवादी । व्याकुलम-नस्केनानुवादमपि कर्तुमशक्ते, " से मुम्मुई होइ अणाणुवाई " सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अणाणुवीइत्तु-अननुविचिन्त्य-अव्य० । पश्चाद्विचार्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अणातावय-अनातापक-त्रि० । संस्तारकपात्रादीनामातपे-ऽदातरि, [सार्धा] कल्प० ।

अणातीय-अनातीत-पुं० । आ समन्तादतीव इतो गतोऽनातिगत-स्तमेवंभूतो यातीतः, न यातीतोऽयातीतः । संसारार्णवपारगामि-नि, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० ।

अणादि-अनादि-त्रि० । प्रवाहापेक्षयाऽऽदिरहिते, उत्त० ४ अ० । धा० म० द्वि० । प्र० ।

अणादिय-अनादृत-पुं० । जम्बूद्वीपाधिपती व्यन्तरसुरे, उत्त० १० अ० ।

अनादिक-पुं० । नास्त्यादिः प्रथमोत्पत्तिर्विद्यते इत्यनादिकः। चतु-र्दशरज्ज्वात्मके धर्माधर्मादिके वा द्रव्ये, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । दोषविशेषे, बृ० ३ उ० [व्युत्पत्तिस्तु 'अणादिय' शब्दे निरूपिता] प्रवाहापेक्षयाऽऽदिरहिते, । त्रि० । म० अ० । प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणादिक-त्रि० । अर्णं पापकर्म आदिकारणं यस्य सोऽणादि-कः । पापकार्ये , प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणादीन-त्रि० । प्रथमर्णेन देयद्रव्यमतिक्रान्ते, "पंचविहो पन्नत्तो जिणेहिं इह अण्हओ अणादियो " प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणापुच्छियचारि (ण्)-अनापृच्छ्यचारिन्-पुं० । गणमनापृ-च्छ्य चरति देशान्तरसंक्रमादि करोतीत्येवंशीलोऽनापृच्छ्यचा-री । सो आपुच्छय चारिणि पञ्चमं विग्रहस्थानं प्राप्ते, स्था० ६ ठा० १ उ० ।

अणाबाह—अनाबाध-पुं० । अपकारे, बृ० ३ उ० । बाधाव-र्जिते, दशा० ६ अ० । न विद्यते आबाधा जन्मजरामरणक्षुत्पिपा-सादिका यत्र तदनाबाधम् । स्वाभाविकबाधापगमतो मोक्षसुखे, स्था०१० ठा० । स्वाध्यायाद्यन्तरायकारणरहिते, उत्त० ३५अ० । "होइ अणाबाहणिमित्त-मवेयणमणाउलो निद्दओ" अनाबाधा-निमित्तमनाबाधाकार्यम, निमित्तशब्दः कार्यवाचकः। तथा लो-के वक्तारो भवन्ति-अनेन निमित्तेन अनेन कारणेन ममेदं कार्यं-मारब्धमनेन कार्येणेत्यर्थः । आ० म० द्वि० ।

अणाबाहसुहाभिकंखि (ण्)-अनाबाधसुखाभिकाङ्क्षिन्-पुं० । मोक्षसुखाभिलाषिणि, दशा० १ अ० ।

अणाभिग्गह-अनभिग्रह-न० । न विद्यते अभिग्रह इदमेव दर्शनं शोभनं नान्यदित्येवंरूपो यत्र तदनभिग्रहम् । मिथ्या-त्वभेदे, यद्वशात्सर्वाण्यपि दर्शनानि शोभनानीत्येवमीषत्सा-धर्म्यमवलम्बते । पं० सं० १ द्वा० ।

अणाभोग-अनाभोग-पुं० । आभोगनमाभोगः, न आभोगोऽ-नाभोगः । पं० व० २ द्वा० । अत्यन्तविस्मृतौ, आतु० । पंचा० । जीत० । नि० चू० । ध्य० । एकान्तविस्मृतौ, आ० चू० ६ अ० । अज्ञाने, नि० चू० २ अ० । आभोगनमाभोगः, उपयो-गविशेष इत्यर्थः । अनुपयोगे, आव० ४ अ० । असावधान-तायाम, ध० २ अधि० । न विद्यते आभोगः परिभावनं यत्र तदनाभोगम् । तच्चैकेन्द्रियादीनामिति । पं० सं० ३ द्वा० । विचारशून्यस्यैकेन्द्रियादेर्वा विशेषज्ञानविकलस्य भवति । इदं सर्वाशविषयाव्यक्तबोधस्वरूपं विवक्षितं किञ्चिदंशाव्यक्त-बोधस्वरूपं चेत्यनेकविधम् । ध० २ अधि० । दर्श० । कर्म० ।

अणाभोगज्झाण-अनाभोगध्यान-न० । अनाभोगोऽत्यन्त-विस्मृतिः, तस्य ध्यानम् । विस्मृतप्रसन्नप्रसन्नचन्द्रस्येव ध्याने, आतु० । ['पसण्णचंद' शब्दे चैतत् कथानकम्]

अणाभोगकय-अनाभोगकृत-न० । अनाभोगेन कृतं अनि-तम् । अज्ञानकृते, कर्म० ५ कर्म० ।

अणाभोगकिरिया-अनाभोगक्रिया-स्त्री० । अनाभोगप्रत्यये क्रियाभेदे, अनाभोगक्रिया द्विविधा-आदाननिक्षेपणाऽनाभोग-क्रिया, उत्क्रमणानाभोगक्रिया च । तथाऽऽदानं रजोहरणपात्र-चीवरादिकानामप्रत्युपेक्षिता , अप्रमार्जितानामनाभोगनाऽऽ-दाननिक्षेपः। उत्क्रमणानाभोगक्रिया-लङ्घनप्लवनधावनासमी-क्षागमनागमनादि । आ० चू० ४ अ० ।

अणाभोगणिव्वत्तिय-अनाभोगनिर्वर्तित-पुं० । अज्ञाननिर्वर्तित, स्था० ।

अणाभोगपडिसेवणा-अनाभोगप्रतिसेवना-स्त्री० । अनाभोगो विस्मृतिस्तत्र प्रतिसेवना । प्रतिसेवनाभेदे, स्था० १० ठा० । (अनाभोगप्रतिसेवनायाः स्वरूपं ' पडिसेवणा ' शब्दे दर्शयिष्यते)

अणाभोगभव-अनाभोगभव-पुं० । विस्मरणसद्भावे, " इय [illegible] ठियाणं, होइ अणाभोगभावओ खलणा " पंचा० १७ विव० ।

अणाभोगया-अनाभोगता-स्त्री० । आभोगरहिततायाम्, कर्म० ४ कर्म० ।

अणाभोगव-अनाभोगवत्-त्रि० । अनाभोगोऽपरिज्ञानमात्रमेव केवलं [illegible]र्थादिषु सूक्ष्मबुद्धिगम्येषु, स विद्यते यस्य स तथा । [illegible], " सा निरनुबन्धदोषाच्छादोऽनाभोगवतः [illegible] " षो० १२ विव० । संमूर्च्छनजप्राये [illegible], ठा० १० ठा० ।

अणाभोगवत्तिया-अनाभोगप्रत्यया-स्त्री० । अनाभोगोऽज्ञानं [illegible] प्रत्ययो निमित्तं यस्याः सा तथा । स्था० २ ठा० १ उ० । [illegible] निक्षिपतो या सम्भवति क्रियाभेदे, स्था० ५ ठा० २ उ० । " अणाभोगवत्तिया किरिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-अणाउत्तआयणया चेव, अणाउत्तपमज्जणया चेव " स्था० ५ ठा० २ उ० । भा० चू० । आव० ।

अणाणुपुव्व-अनानुपूर्व्य-अव्य० । अनानुपूर्व्यर्थे, आचा० १ श्रु० १ अ० ८ उ० ।

अणादियसंसारी-अनादिकसंसारिन्-पुं० । आमरहिते [illegible], [illegible] । सं० ।

अणादीण-अनादीनक-त्रि० । आयामाद्यर्थरहिते, [illegible] ९ अ० ।

अणादेय-अनादेय-पुं० । न विद्यतेऽन्यो नायकोऽस्येत्यनादेयः । [illegible], सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

[illegible]-त्रि० । [illegible], नि० चू० ८ उ० । [illegible], नि० चू० ११ उ० ।

[illegible] -अनायतन-न० । न आयतनमनायतनम् । अयथा-[illegible] । [illegible], प्रश्न० [illegible], [illegible], आव० ३ अ० । [illegible] ।

[illegible]प्रतिपादयन्नाह—

[illegible], [illegible] ।

[illegible] ॥ १०८६ ॥

[illegible]

[illegible] —

[illegible] ।

[illegible] ॥ १०८७ ॥

वर्जयित्वा अनायतनमायतनस्य गवेषणं [illegible] । तत्पुनरनायतनं द्रव्यतो भावतश्च द्विविधम् ।

तत्र द्रव्यानायतनं प्रतिपादयन्नाह—

दव्वे रुद्दाइघरा, अणाययणं भावओ दुविहं ।

लोइय लोउत्तरियं, तत्थ पुण लोइयं इणमो ॥ १०८८ ॥

द्रव्ये द्रव्यविषयमनायतनं रुद्रादिगृहम् । [illegible] यतनमुच्यते । तत्र भावतो द्विविधमेव-लौकिकं, लोकोत्तरं । तत्रापि लौकिकमनायतनमिदं वर्तते—

खरिया तिरिक्खजोणी, तालायर समण माहण सुसाणे ।

वागुरिय वाह गुम्मिय-हरिएस पुलिंद मच्छिया ॥ १०८९ ॥

खरिकेति द्व्यक्षरिका यत्राऽऽस्ते तदनायतनम्, [illegible] यत्र तदप्यनायतनम्, तालाचरा [illegible] श्रमणाः शाक्यादयस्ते यत्र, तथा ब्राह्मणा यत्र तदनायतनं, [illegible] नं चानायतनम्, तथा वागुरिका व्याधा गुल्मिका [illegible] हरिएसा पुलिन्दा मत्स्यबन्धाश्च यत्र तदनायतनमिति ।

एतेष्वनायतनेषु क्षणमपि न गन्तव्यम्, तथा चाह—

खणमवि न खमं गंतुं, अणाययणसेवणा सुविहियाणं ।

जं गंधं होइ वणं, तं गंधं मारुओ वाइ ॥ १०९० ॥

क्षणमपि न क्षमं न योग्यमनायतनं गन्तुं, तथा सेवना अनायतनस्य सुविहितानां कर्तुं न क्षमा न युक्ता । [illegible] भवति-" जं गंधं होइ वणं तं गंधं मारुओ वाइ " । [illegible]

जे अन्न एवमाई, लोगम्मि दुगुंछिया गरहिया य ।

समणाण व समणीण व, न कप्पई तारिसो वासो ॥ १०९१ ॥

येऽन्ये एवमादयः लोके जुगुप्सिता गर्हिताश्च [illegible] ततविशेषाः, तत्र श्रमणानां श्रमणीनां वा न कल्पते वासो [illegible] इति । उक्तं लौकिकं भावानायतनम् ।

इदानीं लोकोत्तरं भावानायतनं प्रतिपादयन्नाह—

अह लोगुत्तरियं पुण, अणाययणं भावओ मुणेयव्वं ।

जे संजमजोगाणं, करिंति हाणिं समत्था वि ॥ १०९२ ॥

अथ लोकोत्तरं पुनरनायतनं भावतः [illegible] । [illegible] जिनाः संयमयोगानां कुर्वन्ति हानिं समर्था अपि सन्तः, [illegible] तदनायतनम् । नैश्च पर्यायिकः [illegible] । [illegible] सर्वे दोषाः ' किइकम्म ' शब्दे [illegible]

नाणस्स दंसणस्स य, चरणस्स य जत्थ होइ उवघाओ ।

वज्जिज्जऽवज्जभीरू, अणाययणवज्जओ खिप्पं ॥ १०९३ ॥

ज्ञानस्य दर्शनस्य चारित्रस्य च यत्र [illegible] वर्जयेदवद्यभीरुः साधुः, [illegible] अनायतनवर्जकः । [illegible] वर्जयेदिति ।

इदानीं विशेषतोऽनायतनमुपदर्शयन्नाह—

जत्थ साहम्मिया बहवे, भिन्नचित्ता अणारिया ।

मूलगुणप्पडिसेवी, अणाययणं तं वियाणाहि ॥ १०९४ ॥

[illegible]

[illegible] ।

जत्थ साहम्मिया बहवे, भिन्नचित्ता अणारिया ।

उत्तरगुणपडिसेवी, अणाययणं तं वियाणाहि ॥ १०९५ ॥

सुगमा, नवरं, उत्तरगुणाः 'पिंडस्स जा विसोही' इत्यादि तत्प्रतिसेविनो ये ।

जत्थ साधम्मिया बहवे, भिन्नचित्ता अणारिया ।
लिंगवेसपडिच्छन्ना, अणायपणं तं वियाणाहि ॥ ११०३ ॥

सुगमा, नवरं, लिङ्गवेषमात्रेण प्रतिच्छन्ना आहतः, आन्यन्तरतः पुनर्मूलगुणसेविन उत्तरगुणसेविनश्च, ते यत्र तदनायतनमिति । उक्तं लोकोत्तरं भावानायतनं तत्प्रतिपादनायोक्तमनायतनस्वरूपम् । ओ० ।

अणाययणे चरंतस्स, संसग्गीए अभिक्खणं ।
होज्ज वयाणं पीला, सामन्नम्मि य संसओ ॥ १० ॥

अनायतने अस्थाने वेश्यासामन्तादौ, चरतो गच्छतः, संसर्गेण सम्बन्धेन, अभीक्ष्णं पुनः पुनः किमित्याह-भवेद् व्रतानां प्राणातिपातविरत्यादीनां पीडा, तदाक्षिप्तचेतसो भावविराधना, श्रामण्ये च श्रमणभावे च द्रव्यतो रजोहरणादिधारणरूपे भूयो भावमतप्रधानहेतौ संशयः कदाचिदुन्निष्क्रामत्येवेत्यर्थः । तथा च वृद्धव्याख्या-"वेसादिगयभावस्स, मेहुणं पीडिज्जइ, अणुवओगेणं एसणाकरणे हिंसा, पडुप्पायणे अन्नपुच्छणअवलवणाऽसच्चवयणं, अणणुन्नायवेसाइदंसणे अदत्तादाणं, ममत्तकरणे परिग्गहो, एवं सव्ववयपीडा । दव्वसामन्ने पुण संसओ उण्णि-क्खमणेण त्ति" सूत्रार्थः । दश० ५ अ० १ उ० ।

अणाययणपरिहार-अनायतनपरिहार-पु० । आयतनं पार्श्वस्थादिकुतीर्थिवेश्याविट्स्कन्दादिकुस्थानवर्जने, दर्श० ।

अणाययणसेवण-अनायतनसेवन-न० । पार्श्वस्थाद्यायतनवर्जने, आव० ३ अ० ।

अणायर-अनादर-पुं० । तिरस्कारे, को० । अनुत्साहादिके सामायिकस्यातिचारभेदे, स च प्रतिनियतवेलायां सामायिकस्याकरणं, यथाकथंचिद्वा करणानन्तरमेव पारणं च । यदाहुः-"काऊण तक्खणं चिय, पारेइ करेइ वा जहिच्छाए । अणवट्ठिअसामाइअ-अणायराओ न तं सुद्धं" ॥१॥ धर्म० २ अधि० । प्रव० ।

अणायरंत-अनाचरत्-त्रि० । विवर्जयति, "पावमणायरंते" पापमागमनिषिद्धं कर्म, अनाचरत् विवर्जयत् । पंचा० ११ विव० ।

अणायरणजोग्ग-अनाचरणयोग्य-त्रि० । आसेवनाऽनर्हे, "सिक्खावेउ अणायरणजोग्गो" पञ्चा० १० विव० ।

अणायरणया-अनाचरणता-स्त्री० । गीतमोहनीयकर्मणि, स्थ्य० ।

अणायरिय-अनार्य-पुं० । आराद्र याताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्याः, तद्विपर्ययादनार्याः । क्रूरकर्मसु, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । शकयवनादिदेशोत्पन्नेषु, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अणायस-अनायस-त्रि० । अलोहमये, नि० चू० १ उ० ।

अणाया-अनात्मन्-पुं० । न आत्मा अनात्मा । घटादिपदार्थे, 'एगे अणाया' सप्रदेशार्थतयाऽसंख्येयात्मप्रदेशोऽपि तथाविधैकपरिणामरूपद्रव्यार्थविवक्षया एक एव, तस्मात्माप्येकोऽपि, तुल्यरूपेक्षया तु अनुपयोगलक्षणैकत्वभावयुक्तत्वात्तथाविधैकस्वरूपावायादि धर्मास्तिकायादीनामनात्मनामेकत्वमवसेयमिति । स्था० १ ठा० १ उ० । समा० । यदसिंतथ "अणायार अयहम्म" अ० १ ठा० ४ उ० ।

अणायाण-अनादान-न० । अग्रहणे, "अणायाणमेयं अभिग्गहियमिच्छासणियस्स" कल्प० ।

अणायार-अनाचार-पुं० । आचरणमाचारः, आधाकर्मादिपरिहरणपरिष्ठापनरूपोऽनाचारोऽनाचारः । आधाकर्मादिग्रहणे, आतु० । आध्याचारस्य परिभोगतो ध्वंसे, व्य० १ उ० । आव० । ध० । (अनाचारव्याख्याऽऽधाकर्माऽभिधेय 'आहम्म' शब्दे अस्मैव भागे २ पृष्ठे कृता) आचरणीयः श्रावकाणामाचारः, न आचारोऽनाचारः । अनाचरणीये "अणायारं अपिडिच्छियच्वे" ध० २ अधि० । शास्त्रविहितस्य व्यवहारस्याभावे, ग० २ अधि० ।

अथ साधूनां यदनाचरितं तदल्पमात्रेण व्यासेन च प्रदर्शयामः । तत्र दशवैकालिके द्वितीयाध्ययने—

संजमे सुट्ठि अप्पाणं, विप्पमुक्काण ताइणं ।
तेसिमेयमणाइण्णं, निग्गंथाण महेसिणं ॥ १ ॥

इह संहितादिक्रमः सुगमः । व्याख्यार्थस्तु संयमे पृथिव्यादिरक्षणरूपे शोभनेन प्रकारेणाऽऽगमनीत्या स्थित आत्मा येषां ते सुस्थितात्मानः, तेषाम् । त एव विशेष्यन्ते विविधमनेकैः प्रकारैः प्रकर्षेण भावसारेण मुक्ताः परित्यक्ता बाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेनेति विप्रमुक्ताः, तेषाम् । त एव विशेष्यन्ते-त्रायन्ते आत्मानं परमुभयं चेति त्रातारः, आत्मानं प्रत्येकबुद्धाः, परं तीर्थकराः, उभयं स्थविरा इति । तेषामिदं यदनाचरितं सम्यग्... । केषामित्याह-निर्ग्रन्थानां साधूनां... महान्तश्च ते ऋषयश्च महर्षयः... इह च पूर्वं पूर्वं प्रति उत्तरोत्तरभावो नियतो हेतुहेतुमद्भावेन वेदितव्यः । यत एव संयमे सुस्थितात्मानः अत एव विप्रमुक्ताः... एवं शेषेष्वपि भावनीयम् । अन्ये तु पश्चानुपूर्व्या हेतुहेतुमद्भावमित्थं वर्णयन्ति-यत एव महर्षयः अत एव निर्ग्रन्थाः । एवं शेषेष्वपि... सूत्रार्थः ।

साम्प्रतं यदनाचरितं तदाह—

उद्देसियं कीयगडं, नियागमभिहडाणि य ।
राइभत्ते सिणाणे य, गंधमल्ले य वीयणे ॥ २ ॥

(उद्देसियं ति) उद्देशनं साध्वाद्याश्रित्य दानारम्भस्येत्युद्देशः, तत्र भवमौद्देशिकम् (१), क्रयणं क्रीतं, क्रीतं कृतम्... साध्वादिनिमित्तमिति क्रयेण । तेन कृतं निर्वर्तितं क्रीतकृतम् (२), नियागमित्यामन्त्रितस्य पिण्डस्य ग्रहणं नित्यं... (३), (अभिहडाणि य त्ति) स्वग्रामादेः साधुनिमित्तमभिमुखमानीतमभ्याहृतम्, बहुवचनं स्वग्रामपरग्रामादि... भेदख्यापनार्थम् (४), तथा रात्रिभक्तं रात्रिभोजनम्... (५), स्नानं च... (६), तथा गन्धं कोष्ठपुटादि माल्यं च... (७), वीजनं... (८), ... सूत्रार्थः । १२ ।

संनिही गिहिमत्ते य, रायपिंडे किमिच्छए ।
संबाहणं दंतपहोयणा य, संपुच्छणा देहपलोयणा य ॥ ३ ॥

इदं चानाचरितमित्याह-(संनिहि त्ति) संनिधीयतेऽनेनाऽऽत्मा दुर्गतावितिसंनिधिः । घृतगुडादीनां संचयक्रिया (९), गृहमत्रं गृहस्थभाजनं च (१०), तथा राजपिण्डो नृपाहारः (११), किमिच्छतीत्येवं यो दीयते स किमिच्छकः राजपिण्डोऽन्यो वा सामान्येन (१२), तथा संबाधनमस्थिमांसत्वग्रोमसुखतया चतुर्विधं मर्दनम् (१३), दन्तप्रधावनं चाङ्गुल्यादिना क्षालनम् (१४), तथा संप्रश्नः सावद्यो गृहस्थविषयः, राढार्थं कीदृशो वाऽहमित्यादिरूपः (१५), देहप्रलोकनं चादर्शादौ (१६), अनाचरितम्। शेषाश्च संनिधिप्रभृतिषु परिग्रहप्राणातिपातादयः स्वधियैव वाच्या इतिसूत्रार्थः ॥३॥

अट्ठावए य नालीए, छत्तस्स य धारणट्ठाए ।
तेगिच्छं पाहणा पाए, समारंभं च जोइणो ॥ ४ ॥

अष्टापदं द्यूतम्, अर्थपदं वा गृहस्थमधिकृत्य निमित्तादिविषयम् (१७), अनाचरितम्। तथा नालिका चेति द्यूतविशेषलक्षणा, यत्र माऽभूत्कलयाऽन्यथापाशकपातनमिति नालिकया पात्यन्त इति। इयं चानाचरिता अष्टापदेन सामान्यतो द्यूतग्रहणे सत्यभिनिवेशनिबन्धनत्वेन नालिकायाः प्राधान्यख्यापनार्थं भेदेन उपादानम्; अर्थपदमेवोक्तार्थं तदित्यन्ये अभिदधते। अस्मिन् पक्षे सकलद्यूतोपलक्षणार्थं नालिकाग्रहणमष्टापदद्यूतविशेषपक्षे चोभयोरिति (१८), तथा छत्रस्य च लोकप्रसिद्धस्य धारणमात्मानं परं प्रति वाऽनर्थायेत्यागाढग्लानाद्यालम्बनं मुक्त्वाऽनाचरितम्। प्राकृतशैल्या चात्रानुस्वारलोपोऽकारलकारलोपौ च द्रष्टव्यौ, तथा धुनिमामाण्यादिति (१९), तथा (तेगिच्छं ति) । चिकित्साया भावश्चैकित्स्यं व्याधिप्रतिक्रियारूपम् [२०], तथोपानहौ पादयोरनाचरिते । पादयोरिति साभिप्रायकम् । न त्वापत्कल्पपरिहारार्थमुपग्रहधारणेन [२१], तथा समारम्भश्च समारम्भणं च ज्योतिषोऽग्नेः [२२], तदनाचरितम्। शेषा अष्टापदादीनां क्षुण्णा यथेति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥

सिज्जायरपिंडं च, आसंदी पलिअंकए ।
गिहंतरनिसिज्जा य, गायस्सुव्वट्टणाणि य ॥ ५ ॥

किञ्च—शय्यातरपिण्डोऽप्यनाचरितः । शय्या वसतिस्तया तरति संसारमिति शय्यातरः साधुवसतिदाता, तत्पिण्डः [२३], तथा आसंदकपर्यङ्कौ अनाचरितौ । एतौ च लोकप्रसिद्धावेव [२४], तथा गृहान्तरनिषद्याऽनाचरिता । गृहमेव गृहान्तरं गृहयोर्वा अपान्तरालं, तत्रोपवेशनं, चशब्दात्पाटकादिपरिग्रहः [२५] तथा गात्रस्य कायस्योद्वर्तनानि चानाचरितानि । उद्वर्तनानि पद्मादिना इति। चशब्दादन्यसंस्कारपरिग्रहः [२६], इति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥

गिहिणो वेआवडियं, जा य आजीववत्तिया ।
तत्तानिव्वुडभोइत्तं, आउरस्सरणाणि य ॥ ६ ॥

तथा (गिहिणो त्ति) गृहिणो गृहस्थस्य वैयावृत्त्यं व्यावृत्तस्य भावो वैयावृत्त्यं, गृहस्थं प्रत्यन्नादिसंपादनमित्यर्थः [२७], एतदनाचरितमिति। तथा आजीववृत्तिता जातिकुलगणकर्मशिल्पानामाजीवनेन वृत्तिर्जीविका आजीववृत्तिता । आत्मार्थं ... [२८], इयं चानाचरिता। तथा तप्ता... निर्वृतं वा ... ... [२९] इदं चानाचरितम्। तथाऽऽतुरस्मरणानि च क्षुधाद्यातुराणां पूर्वभुक्तस्मरणानि च अनाचरितानि । आतुरशरणानि वा दोषातुराणामाश्रयदानानि (३०), इति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥

मूलए सिंगबेरे य, उच्छुखंडे अनिव्वुडे ।
कंदे मूले य सच्चित्ते, फले बीए य आमए ॥ ७ ॥

किञ्च (मूलए त्ति) मूलकः लोकप्रतीतः (३१), शृङ्गबेरं चार्द्रकम् (३२), तथेक्षुखण्डं च लोकप्रतीतम् (३३), एतेषां सर्वथाऽनिर्वृतग्रहणं ... । अनिर्वृतमपरिणतं ... इक्षुखण्डं चापरिणतं द्विपर्वान्तं यद्वर्तते; तथा कन्दो वज्रकन्दादिः (३४), मूलं च महामूलादि सचित्तमनाचरितम् (३५), तथा फलं त्रपुष्यादि (३६), बीजं च तिलादि [३७] इत्येतत् सचित्तमनाचरितमिति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥

सोवच्चले सिंधवे लोणे, रोमालोणे य आमए ।
सामुद्दे पंसुखारे य, कालालोणे य आमए ॥ ८ ॥

किञ्च (सोवच्चले त्ति) सौवर्चलम् (३८), सैन्धवं (३९) लवणं च सांभरलवणम् (४०), रुमालवणं च ... (४१), आमकमिति सचित्तमनाचरितम् । सामुद्रं समुद्रमेव (४२), पांसुक्षारश्चोषरलवणम् (४३), कृष्णलवणं (४४), सैन्धवलवणं पर्वतैकदेशजम्, आमकमनाचरितमिति सूत्रार्थः ॥ ८ ॥

धूवणे त्ति वमणे य, वत्थीकम्म विरेयणे ।
अंजणे दंतवणे य, गायाभंग विभूसणे ॥ ९ ॥

किञ्च (धूवणे त्ति) धूपनमित्यात्मवस्त्रादेरनाचरितम्। प्राकृतशैल्या अनागतव्याधिनिवृत्तये धूमपानमित्यन्ये व्याचक्षते (४५), वमनं मदनफलादिना (४६), वस्तिकर्म पुटकेनाधिष्ठाने स्नेहदानम् (४७), विरेचनं दन्त्यादिना (४८), तथा अञ्जनं रसाञ्जनादिना (४९), दन्तकाष्ठं च प्रतीतम् (५०) तथा गात्राभ्यङ्गस्तैलादिना (५१), विभूषणं गात्राणाम् (५२), सूत्रार्थः ॥ ९ ॥

क्रियासूत्रमाह—

सव्वमेयमणाइन्नं, निग्गंथाण महेसिणं ।
संजमम्मि अ जुत्ताणं, लहुभूयविहारिणं ॥ १० ॥

(सव्वमेयं ति) सर्वमेतदौद्देशिकादि यदनन्तरमुक्तं तदनाचरितम् । केषामित्याह-निर्ग्रन्थानां महर्षीणां साधूनामित्यर्थः, त एव विशेष्यन्ते-संयमे चशब्दात्तपसि युक्तानामभियुक्तानां, लघुभूतविहारिणां-लघुभूतो वायुः, ततश्च वायुभूतोऽप्रतिबद्धतया विहारो येषां ते लघुभूतविहारिणस्तेषाम् । निर्ग्रन्थानामयमनाचरितमिति सूत्रार्थः ॥ १० ॥

किमित्यनाचरितं यतस्त एवंभूता भवन्तीत्याह—

पंचासव परिन्नाया, तिगुत्ता छसु संजया ।
पंचनिग्गहणा धीरा, निग्गंथा उज्जुदंसिणो ॥ ११ ॥

(पंचासव त्ति) पञ्चाश्रवा हिंसादयः परिज्ञाता द्विविधया परिज्ञया-ज्ञपरिज्ञया, प्रत्याख्यानपरिज्ञया च। परि समन्तात् ज्ञाता येषां ते पञ्चाश्रवपरिज्ञाताः । आहिताग्न्यादिदर्शनान्निष्ठायाः पूर्वनिपात इति समासः, पुनः एव । परिज्ञाताः पञ्चाश्रवा यैरिति वा । यत एव एवंभूता अत एव त्रिगुप्ता मनोवाक्कायगुप्तिभिः । षट्संयताः षट्सु जीवनिकायेषु पृथिव्यादिषु सम-

स्थेन यताः [पंच निग्गहणा इति] निगृह्णन्तीति निग्रहणाः, कर्तरि ल्युट्। पञ्चानां निग्रहणाः, पञ्चानामपीन्द्रियाणाम्। धीरा बुद्धिमन्तः स्थिरा वा। निर्ग्रन्थाः साधवः। ऋजुदर्शिन इति। ऋजुर्मोक्षं प्रति ऋजुत्वात् संयमः, तं पश्यन्त्युपादेयतयेति ऋजुदर्शिनः संयमप्रतिपत्तार इति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥

ते च ऋजुदर्शिनः कालमधिकृत्य यथाशक्त्येतत्कुर्वन्ति—

आयावयंति गिम्हेसु, हेमंतेसु अवाउडा ।
वासासु पडिसंलीणा, संजया सुसमाहिया ॥ १२ ॥

(आयावयंति त्ति) आतापयन्त्यूर्ध्वस्थानादिना आतापनां कुर्वन्ति, ग्रीष्मेषूष्णकालेषु, तथा हेमन्तेषु शीतकालेष्वप्रावृता इति प्रावरणरहितास्तिष्ठन्ति। तथा वर्षासु वर्षाकालेषु प्रतिसंलीना इत्येकाश्रयस्था भवन्ति। संयताः साधवः, सुसमाहिता ज्ञानादिषु यत्नपराः। ग्रीष्मादिषु बहुवचनं प्रतिवर्षकरणज्ञापनार्थमिति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥

परीसहरिऊ दंता, धूअमोहा जिइंदिया ।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो ॥ १३ ॥

(परीसह त्ति) मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः क्षुत्पिपासादयः, त एव रिपवस्तुल्यधर्मत्वात्परीषहरिपवः, ते, दान्ता उपशमं नीता यैस्ते परीषहरिपुदान्ताः। समासः पूर्ववत्। तथा धूतमोहा विक्षिप्तमोहा इत्यर्थः, मोहोऽज्ञानम्। तथा जितेन्द्रियाः शब्दादिषु रागद्वेषरहिता इत्यर्थः। त एवंभूताः सर्वदुःखप्रक्षयार्थं शारीरमानसाशेषदुःखप्रक्षयनिमित्तं, प्रक्रामन्ति प्रवर्तन्ते। किंभूताः ? ; महर्षयः साधव इति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥

इदानीमेतेषां फलमाह—

दुक्कराइं करित्ताणं, दुस्सहाइं सहित्तु य ।
केइ त्थ देवलोएसु, केइ सिज्झंति नीरया ॥ १४ ॥

(दुक्कराइं ति) एवं दुष्कराणि कृत्वौद्देशिकादित्यागादीनि, तथा दुःसहानि सहित्वा आतपनादीनि, केचन तत्र देवलोकेषु सौधर्मादिषु गच्छन्तीति वाक्यशेषः। तथा केचन सिध्यन्ति तेनैव भवेन सिद्धिं प्राप्नुवन्ति। वर्तमाननिर्देशः सूत्रस्य त्रिकालविषयत्वज्ञापनार्थः। नीरजस्का इत्यष्टविधकर्मविप्रमुक्ता न त्वेकेन्द्रिया इव कर्मयुक्ता एवेति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥

येऽपि चैवंविधानुष्ठानतो देवलोकेषु गच्छन्ति, तेऽपि ततश्च्युता आर्यदेशेषु सुकुले जन्मावाप्य शीघ्रं सिध्यन्त्येवेत्याह—

खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य ।
सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता, ताइणो परिनिव्वुडे ॥ १५ त्ति बेमि ।

(खवित्त त्ति) ते देवलोकच्युताः, क्षपयित्वा पूर्वकर्माणि सावशेषाणि। केनेत्याह—संयमेनोक्तलक्षणेन, तपसा च, एवं प्रवाहेण सिद्धिमार्गं सम्यग्दर्शनादिलक्षणमनुप्राप्ताः सन्तस्त्रातारः आत्मादीनां परिनिर्वान्ति सर्वथा सिद्धिं प्राप्नुवन्ति। अन्ये तु पठन्ति (परिनिव्वुड त्ति) तत्रापि प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाच्चायमेव पाठो ज्यायानिति। ब्रवीमीति पूर्ववदिति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥ दश० ३ अ०। उक्तं समासतोऽनाचरितम्। अथ विशेषतस्तदुच्यते-

" आसूणि अक्खिरागं च, गिद्धुवघायकम्मगं। उच्छोलणं च कक्कं च, तं विज्जं परिजाणिया " ॥ १५ ॥ सूत्र० १ श्रु० ९ अ०।

(अस्या व्याख्या ' धम्म ' शब्दे द्रष्टव्या)

आदर्शादौ मुखदर्शनादि करोति—

जे भिक्खू मत्तए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ २९ ॥
जे भिक्खू अद्दाए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥
जे भिक्खू असाए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥
जे भिक्खू मणीए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥
जे भिक्खू उडुपाणाए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३३ ॥
जे भिक्खू तेल्ले अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥
जे भिक्खू फाणिए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥
जे भिक्खू वसाए अप्पाणं देहइ, देहंतं वा साइज्जइ ॥ ३६ ॥

मत्तगो दप्पणस्स सरिसो तत्थ अप्पणो मुहं पलोएति जो, एतस्स आणादिया दोसा। चउलहुं च से पच्छित्तं। एवं पडिग्गहादिसु विसेसपदाणं इमा संगहणी गाहा—

दप्पण मणि आभरणे, सत्थु दए भायणऽन्नतरए य ।
तेल्ल महु सप्पि फाणित-मज्ज वसा सुत्तमादीसु ॥ ५९ ॥

दर्पणमादर्शः, स्फटिकादि मणिः, स्थासकादि आभरणं, खड्गादि शस्त्रं, दकं पानीयं, तच्चान्यतरे कुण्डादिभाजने स्थितं, तिलादिजं तैलं, मधु प्रसिद्धं, सर्पिर्घृतं, फाणितं निद्रुगुडो, मज्जं मत्स्यादीनं, वसा, सुत्तं, मज्जे कज्जलं इक्खुरसे वा गुडिया सुत्तं सव्वे सुवेसु जहासंभवं अप्पणो अच्छिकतुविसयत्था णयणादिया देहावयवा पलोएइ कोऽर्थः-तत्थ रूवं पस्सति। चोदक आह-किं तत् पश्यति ?। आचार्य आह-आत्मच्छायां पश्यति। पुनरप्याह चोदकः-कथमादित्यादिप्रकाशरहितजलच्छायाभोगं प्रमुक्त्वा अन्यतोऽपि दृश्यते ?। आचार्य आह-अत्रोच्यते यथा पद्मरागेन्द्रनीलप्रदीपशिखानामात्मस्वरूपानुरूपा प्रभा छाया इतश्च सर्वतो भवति, तथा सर्वपुद्गलद्रव्याणामात्मप्रभानुरूपा छाया सर्वतो भवत्यनुपलक्ष्या या इत्यतोऽन्यतोऽपि दृश्यते। पुनरपि चोदक आह-जति अप्पणो छायं देहति, तो कहं अप्पणो सरीरसरिस वण्णरूवं पिच्छति ?।

अत्रोच्यते—

सामा तु दिवा छाया, अभासुरगता णिसिं तु कालाभा ।
सा चेव भासुरगता, सदेहवण्णा मुणेयव्वा ॥ ६० ॥

आदित्येनावभासितो दिवा अभास्वरे द्रव्ये भित्त्यादिके पृथ्व्यादिके द्रव्ये वृक्षादीनां निपतिता छाया छायैव दृश्यते। अनिर्भासितरूपा वर्णतः श्यामाऽऽसा तस्मिंस्तथाऽऽस्वरे द्रव्ये भूम्यादिके रात्रौ निपतिता छाया वर्णतः कृष्णा भवति। सा पुनः सव्वे च छाया दीप्तिमति दर्पणादिके द्रव्ये निपतिता दिवा रात्रौ वा तदा वर्णतः शरीरवर्णतः शरीरवर्णप्रतिबिम्बवत्या च दृश्यते। सा च छाया सदृशी न भवति। चोदक आह—यदि छाया सदृशी न भवति सा कथं न भवति, किं वा तत्प्रदर्शितं ?।

अत्रोच्यते—

उज्जोयफुडम्मि तु दप्पणम्मि संजुज्जते जथा देहो ।
होंति तथा पडिबिंबं, छाया जइ जामपंजोगो ॥ ६१ ॥

उद्द्योतस्फुटो दर्पणः निर्मलः श्यामादिविरहितः तस्मिन् यदा शरीरं अर्थ्यं वा किंचि घटादि संयुज्यते तदा स्पष्टं प्रतिबिम्बं प्रतिबिम्बं भवति घटादिनाम, यदा पुनः स दर्पणः सामय आवरितो, गगणं वा अन्नगादिहि आवरितं तदा, तम्मि चेव आवरिते पागासट्ठिते देहादिसंजुत्ते छायामात्रं दिस्सइ। इदाणीं सोधी पुच्छति—ते पडिबिंबं छायं वा को पासति ?। तत्थ भण्णति—

समरूपपरमयपडलगदाय—

भत्ता मासे लेवे, कारण णिक्कारणे य विवरीयं ।
मणिबंधादि करेसुं, जत्तियमित्तं ति लेवेणं ॥ ८२ ॥
तत्थ भत्ता मासे मणिबंधाओ करेसु ति असणाइणा लेवाडेण हत्था लेवाडिया ते मणिबंधातो जाव धोवति, एसा भत्ता, मासे इमा, लेवे-जत्तियमेत्तं तु लेवेणं तिमसज्झ लिय मुत्तपुरीसादिणा जति सरीराऽवलेवणादि गातं लेवाडितं तस्स तत्तियमेत्तं धोवे, एसा कारणओ भणिता । णिक्कारणे तव्विवरीय त्ति ।
एतं खलु आइन्नं, तव्विवरीतं भवे अणाइण्णं ।
चलणादी जाव सिरं, सव्वं चिय धोवतिऽणाइण्णं ॥८३॥
भत्ता मासे लेवे य इमं आइएणं, तव्विवरीयं देसे सव्वे वा सव्वं अणाइण्णं ।
मुहणयणचलणदंता-णक्खसिरा बाहुवत्थिदेसो य ।
परिपट्ठाइ दुगुंछो, एसय उच्छोलणा देसे ॥ ८४ ॥
मुहणयणादिया ण केसिं वि दुगुंछमत्थयं वा देसे सव्वे वा उच्छोलणं करोतीत्यर्थः । वक्ष्यमाणषोडशभङ्गमध्यादमी अष्टौ घटमानाः, शेषा अघटमानाः ।
आइण्ण लहुसएणं, कारण णिक्कारणे वऽणाइण्णे ।
देसे सव्वे य तहा, बहुएणेमेव अट्ठ पदा ॥ ८५ ॥
आइण्णलहुसएणं देसे एव प्रथमः । एष एव णिक्कारण-सहितो द्वितीयः, अनाचीर्णग्रहणात् तृतीयचतुर्थौ गृहीतौ, लहुसणिक्कारणदेसेत्यनुवर्तते । चतुर्थे विशेषः सर्वमिति वक्तव्यम्; जहा लहुस पदे चतुरो भंगा तहा बहुएण वि चउरो सव्वे अट्ठ । एवशब्दग्रहणात् तृतीयचतुर्थपञ्चमषष्ठभङ्गविपर्यासः प्रदर्शितः । वक्ष्यमाणषोडशभङ्गक्रमेण घटमानाघटमान-भङ्गप्रदर्शनार्थं लक्षणम् ।
जत्थाऽऽइण्णं सव्वं, जत्थ व कारणे अणाइएणं ।
भंगाण सोलसण्हं, ते वज्जा सेसगा गेज्झा ॥ ८६ ॥
यस्मिन् भङ्गे आचीर्णग्रहणं दृश्यते तत्रैव यदि सर्वत्र ग्रहणं दृश्यते ततः पूर्वापरविरोधान्न दृश्यते घटते असौ भङ्गः । यत्र वा कारणग्रहणे दृष्टे अनाचीर्णं दृश्यते असावपि न घटते । एतान् वर्जयित्वा शेषा ग्राह्याः ।
सोलसभंगरयणा गाहा इमा-
आइण्ण लहुस कारण, देसेतरे भंग सोलस हवंति ।
एत्थं पुण जे गेज्झा, ते पुण वोच्छं समासेणं ॥८७॥
इतरग्रहणात् आइण्णबहुसणिक्कारणसव्वमिति-एते पदा द्रष्टव्या अमी ग्राह्याः ।
पढमे तति एक्कारो, बारो तह पंचमो य सत्तमओ ।
पन्नर सोलसमो वि य, परिवाडी होति अट्ठण्हं ॥८८॥
पढमो ततिओ एक्कारसो बारसो पंचमो सत्तमो य दो चरिमा य यथोद्दिष्टक्रमेण स्थापयित्वा इमं ग्रन्थमनुसरेज्जा ।
आइण्णलहुसएणं, कारण णिक्कारणे व तत्थेव ।
आइण्ण देससव्वे, लहुसे तहिँ कारणं णत्थि ॥८९॥
आइण्णलहुसएण कारणे इति प्रथमः । निक्कारणे तत्थेवेति आइण्णलहुसे अनुवर्तमाने निक्कारणं द्रष्टव्यं द्वितीयो भङ्गः । पढमबितीएसु देसम्मि अर्थो द्रष्टव्यः । पश्चार्धेन तृतीयचतुर्थ-भङ्गौ गृहीतौ । अणाइएणं तृतीये देसे, चतुर्थे सर्वं लहुसमित्यनुवर्तते, ततियचउत्थेसु कारणं णत्थि ।

इदाणीं पञ्चमादिभङ्गप्रदर्शनार्थं गाथा—
आइण्णं बहुएणं, कारण णिक्कारणे वि तत्थेव ।
अणाइण्ण देससव्वे, बहुणा तहिँ कारणं णत्थि ॥९०॥
पंचमे बहुएणं आइण्णं कारणं तत्थेव त्ति आइण्ण बहु एस अणुवट्टमाणेसु छट्ठे निक्कारणं द्रष्टव्यमिति । पंचमछट्ठेसु देसमिति अर्थाद् द्रष्टव्यमिति । सत्तमाट्ठमेसु अणाइण्णं सत्तमे देशम, अष्टमे सर्वं बहुसमित्यनुवर्तते, कारणं नास्त्येवेत्यर्थः ।
प्रथमभङ्गानुज्ञानार्थं शेषभङ्गप्रतिषेधार्थं चेदमाह-
आइण्ण लहुसएणं, कारणतो देसतो अणुण्णातं ।
सेसाणाणुण्णाया, उवरिल्ला सत्त वि अदातुं ॥९१॥
आइण्णलहुसएणं कारणे देसे एस भङ्गो अणुण्णातो उवरिमा सत्त वि पडिसिद्धा भंगा ।
द्वितीयादिभङ्गप्रदर्शनार्थमिदमाह—
आइण्णलहुसएणं, णिक्कारणदेसओ भवे बितितं ।
णाइण्णलहुसएणं, णिक्कारणदेसओ तइओ ॥९२॥
णाइण्णलहुसएणं, णिक्कारणसव्वतो चउत्थो उ ।
एवं बहुणा वि भवे, भंगा चत्तारि णायव्वा ॥ ९३॥
पढमं सुद्धो लहुगा, तिसु लहु उवलहु य अट्ठमए ।
णत्थियं परिवाडी, अट्ठसु भंगेसु एएसु ॥९४॥
दुगं आइण्णलहुसे णिक्कारणे सव्वतो चउत्थभंगो, एवं बहुणा वि भवे चउरो भंगा णायव्वा । पढमभंगो सुद्धो, सेसेसु इमं पच्छित्तं—
सुत्तणिवातो बितिए, ततियपदम्मि पंचमे चेव ।
छट्ठे य सत्तमे वि य, तं सेवंताणमादीणि ॥
बितियततियपंचमछट्ठसत्तमेसु भंगेसु सुत्तणिवातो मासलहुं, चउत्थट्ठमेसु चउलहुं तमिति । नि० चू० २ उ० । "पर-मत्ते अन्नपाणं, ण भुंजिज्ज कयाइ वि । परवत्थमचेलो वि, तं विज्जं परिजाणिआ" ॥२०॥ सूत्र० १ श्रु० ९ अ० । (अस्या व्याख्या ' धम्म ' शब्दे द्रष्टव्या)
मद्यमांसादिसेवनम्—
अमज्जमंसासि अमच्छरी य,
अभिक्खणं निव्विगयं गया य ।
अभिक्खणं काउस्सग्गकारी,
सिज्झायजोगे पयओ हविज्जा ॥ ७ ॥
अमद्यमांसाशी भवेदिति योगः, अमद्यपोऽमांसाशी च स्यात् । एते च मद्यमांसे लोकागमप्रतीते एव । ततश्च यत् केचनाभिदधत्यारनालाऽरिष्टाद्यपि संधानाद्योदनाद्यपि प्राण्यङ्गत्वात् त्याज्यमिति । तदसत् । अमीषां मद्यमांसत्वायोगात् । लोकशास्त्रयोरप्रसिद्धत्वात्, संधानप्राण्यङ्गतुल्यत्ववोदना त्वसाम्यात्, अतिप्रसङ्गदोषात्, द्रवत्वधर्मास्थितुल्यतया मूत्रपानमातृगमनादिप्रसङ्गात्, इत्यलं प्रसङ्गेन । अक्षरगमनिकामात्रप्रक्रमात् । तथा अमत्सरी च न परसंपद्द्वेषी च स्यात् । तथा अभीक्ष्णं पुनः पुनः पुष्टकारणाभावे, निर्विकृतिकश्च निर्गतविकृतिपरिभोगश्च भवेत् । अनेन परिभोगोचितविकृतीनामप्यकारणे प्रतिषेधमाह-तथा अभीक्ष्णं गमनागमनादिषु विकृतिपरिभोगेऽपि चान्ये । किमित्याह-कायोत्सर्गकारी भवेत् । ईर्यापथ-

[illegible] न किञ्चिदन्यत्कुर्यात्, तदशुद्धतापत्तेरिति । तथा स्वाध्यायादौ यावनागुरुव्यापारे आचामाम्लादौ [illegible] भवेत्, तथैव तस्य फलवत्त्वाद्विपर्यय- [illegible] सूत्रार्थः ॥ ७ ॥

किञ्च—

[illegible] सयणासणाइं,
[illegible] निमित्तं तह भत्तपाणं ।
गामे कुले वा नगरे व देसे,
ममत्तभावं न कहिं वि कुज्जा ॥ ८ ॥

[illegible] न प्रतिमापर्यन्तमासादिकल्पपरिसमाप्तौ [illegible] दातव्यानीति न प्रतिज्ञां का- [illegible] । किमाश्रित्येत्याह-शयनासने शय्यां निषद्यां तथा [illegible] । तत्र शयनं संस्तारकादि, आसनं पीठकादि, श- [illegible] स्वाध्यायादिभूमिः, तथा तेन प्रकारेण तत्- [illegible] भक्तपानं [illegible] । प्रामे शालिग्रा- [illegible], कुले वा श्रावककुलादौ, नगरे साकेतादौ, देशे वा म- [illegible] ममत्वभावं ममेदमिति स्नेहं मोहं न क्वचित्कुर्यात् [illegible] सूत्रार्थः ॥ ८ ॥

[illegible]

[illegible]

रिदं सामायिकं छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिसूक्ष्म- सांपराययथाऽऽख्यातरूपं पञ्चधैव । मूलोत्तरगुणभेदेन [illegible] स्थेवं व्यवस्थिते मौनीन्द्रप्रवचने न कदाचित् [illegible] कृत्वाऽनाद्यपर्यवसाने लोके सति दर्शनाचार [illegible] चारं दर्शयितुकाम आचार्यो यथावस्थित [illegible] पूर्वकमाह—

अणादियं परिन्नाय, अणवदग्गेति वा पुणो ।
सासयमसासते वा, इति दिट्ठिं न धारए ॥ २ ॥

(अणादियमित्यादि) नास्य चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य धर्माधर्मादिकस्य वा द्रव्यस्यादिः प्रथम [illegible] नादिकस्तमेवंभूतं परिज्ञाय प्रमाणतः परिच्छिद्य, [illegible] पर्यवसानं च परिज्ञाय [illegible] दर्शयति-शाश्वत [illegible] सांख्याभिप्रायेणाप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभाव [illegible] सामान्यांशमवलम्ब्य धर्माधर्मा [illegible] पर्यवसानत्वं चोपलभ्य, सर्वमिदं शाश्वत [illegible] धारयेदिति । एवं पक्षं न समाश्रयेत् । तथा [illegible] वर्तमाननारकाः [illegible] मित्यमित्येवंभूतां [illegible] दर्शनाभिप्रायेण च [illegible] नित्यमित्येवंभूतां च दृष्टिं न धारयेदिति । [illegible] शाश्वतमशाश्वतं [illegible] दृष्टिं न धारयेदि [illegible]

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जति ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ३ ॥

(एतेहिं दोहिमित्यादि) सर्वं नित्यमनित्यमेव [illegible] [illegible] व्यवहारो लोकस्यैहिकामुष्मिकयोः कार्ययोः [illegible] न विद्यते । तथाहि [illegible] निरन्वयमेवं न व्यवह्रियते । [illegible] [illegible]

[illegible]

[समुच्छिज्जिहिंतीत्यादि] सर्वथा निरवशेषतयोच्छेत्स्यन्त्युच्छेदं यास्यन्ति क्षयं प्राप्स्यन्ति, सामस्त्येनोच्छेदं यास्यन्ति वा सिद्धिं यास्यन्ति। के ते?, शास्तारस्तीर्थकृतः सर्वज्ञाः, तच्छासनप्रतिपन्ना वा, सर्वे निरवशेषाः सिद्धिगमनयोग्याः, ततश्चोत्सन्नभव्यं जगत्स्यादिति शुष्कतर्काभिमानग्रहग्रस्तां युक्तिमाभिदधति। जीवसद्भावे सत्यप्यपूर्वोत्पादाभावादभव्यस्य च सिद्धिगमनासम्भवात्, कालस्य चाऽऽनन्त्यादनारतं सिद्धिगमनसंभवेन तद्व्ययोपपत्तेरपूर्वाभावाद्भव्यानामुच्छेद इत्येवं नो वदेत्। तथा सर्वेऽपि प्राणिनो जन्तवोऽनीदृशा विसदृशाः सदा परस्परविसदृशा एव, न कथञ्चित्तेषां सादृश्यमस्तीत्येवमप्येकान्तेन नो वदेत्। यदि वा सर्वेषां भव्यानां सिद्धिसद्भावे विशिष्टाः संसारेऽनीदृशा अभव्या एव भवेयुरित्येवं च नो वदेत्। युक्तिश्चोत्तरत्र वक्ष्यति। तथा कर्मात्मको ग्रन्थो येषां विद्यते ते ग्रन्थिका इति, ग्रन्थिकाः सर्वे प्राणिनः कर्मग्रन्थोपेता एव भविष्यन्तीत्येवमपि नो वदेत्। इदमुक्तं भवति--सर्वेऽपि प्राणिनः सेत्स्यन्त्येव, कर्मावृता वा सर्वे भविष्यन्तीत्येवमेकमपि पक्षमैकान्तिकं नो वदेत्। यदि वा ग्रन्थिका इति। ग्रन्थिकसत्त्वा भविष्यन्तीति ग्रन्थिभेदं कर्तुमसमर्था भविष्यन्तीत्येवं च नो वदेत्। तथा शाश्वता इति। शास्तारः सदा सर्वकालं स्थायिनस्तीर्थकरा भविष्यन्ति, न समुच्छेत्स्यन्ति नोच्छेदं यास्यन्तीत्येवं नो वदेदिति।

तदेवं दर्शनाचारवादनिषेधं वाङ्मात्रेण प्रदर्श्याधुना युक्तिं दर्शयितुकाम आह—

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जति।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ५ ॥

(एएहिमित्यादि) एतयोरनन्तरोक्तयोर्द्वयोः स्थानयोस्तद्यथा शास्तारः क्षयं यास्यन्तीति शाश्वता वा भविष्यन्तीति। यदि वा सर्वे शास्तारस्तद्दर्शनप्रतिपन्ना वा सेत्स्यन्ति शाश्वता वा भविष्यन्ति। यदि वा सर्वे प्राणिनोऽनीदृशा विसदृशाः सदृशा वा, तथा ग्रन्थिकसत्त्वास्तद्रहिता वा भविष्यन्तीत्येतयोः स्थानयोर्व्यवहरणं व्यवहारस्तदस्तित्वे युक्तेरभावान्न विद्यते। तथाहि-यत्तावदुक्तं, सर्वे शास्तारः क्षयं यास्यन्त्येव इति। एतदयुक्तम्। क्षयनिबन्धनस्य कर्मणोऽभावात्सिद्धानां क्षयाभावो न, भवस्थकेवल्यपेक्षयेदमभिधीयते। तदप्यनुपपन्नम्। यतोऽनाद्यनन्तानां केवलिनां सद्भावात् प्रवाहापेक्षया तदभावाभावः। यदप्युक्तम्-भव्यानां भावे सिद्धिगमनसद्भावेन च व्ययसद्भावाद्भव्यशून्यं जगत् स्यात्, इत्येतदपि सिद्धान्तपरमार्थावेदिनो वचनम्। यतो भव्यराशेरनन्तत्वाद् भविष्यत्कालस्य चाऽऽनन्त्यमुक्तम्, तच्चैवमुपपद्यते-यदि क्षयो न भवति, सति च तस्मिन्नानन्त्यं न स्यात्, नापि चावश्यं सर्वस्यापि भव्यस्य सिद्धिगमनेन भाव्यमित्यानन्त्याद्भव्यानां तत्सामग्र्यभावाद् योग्यदलिकप्रतिमावत्तदनुपपत्तिरिति। तथा नाऽपि शाश्वता एव, भवस्थकेवलिनां शास्तॄणां सिद्धिगमनसद्भावात्, प्रवाहापेक्षया शाश्वतत्वमेव। अतः कथञ्चित् शाश्वताः कथञ्चिदशाश्वता इति। तथा सर्वेऽपि प्राणिनो विचित्रकर्मसद्भावान्नानागतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गादिसमन्वितत्वादनीदृशा विसदृशाः, तथोपयोगासंख्येयप्रदेशत्वामूर्तत्वादिभिर्धर्मैः कथञ्चित्सदृशा इति। तथोल्लसितसद्वीर्यतया केचिद्भिन्नग्रन्थयोऽपरे च तथाविधपरिणामाभावाद् ग्रन्थिकसत्त्वा एव भवन्तीत्येवं व्यवस्थिते नैकान्तेनैकान्तपक्षो भवतीति प्रतिषिद्धः। तदेवमेतयोरेव द्वयोः स्थानयोरेकान्तेनाऽऽश्रीयमाणयोरनाचारं विजानीयादिति स्थितम्। अपि च। आगमेऽनन्तानन्तास्वप्युत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु भव्यानामनन्तभाग एव सिध्यतीत्ययमर्थः प्रतिपाद्यते। यदा चैवंभूतं तदाऽऽनन्त्यं, तत्कथं तेषां क्षयः?। मुक्तिरप्यत्र संबन्धिशब्दत्वात्-मुक्तिः संसारं विना न भवति, संसारोऽपि न मुक्तिमन्तरेण, ततश्च भव्योच्छेदे संसारस्याप्यभावः स्यादतोऽभिधीयते-नानयोर्व्यवहारो युज्यत इति।

अधुना चारित्राचारमङ्गीकृत्याह—

जे केइ खुद्दगा पाणा, अदुवा संति महालया।
सरिसं तेहिं ति वेरंति, असरिसं ती य णो वदे ॥ ६ ॥

(जे केइ इत्यादि) ये केचन क्षुद्रकाः सत्त्वाः प्राणिन एकेन्द्रियद्वीन्द्रियादयोऽल्पकाया वा पञ्चेन्द्रियाः। अथवा महालया महाकायाः सन्ति विद्यन्ते, तेषां क्षुद्रकाणामल्पकायानां कुन्थ्वादीनां, महानालयः शरीरं येषां ते महालयाः हस्त्यादयः तेषां च, व्यापादने सदृशं वैरमिति वज्रं कर्म, विरोधलक्षणं वा वैरं, सदृशं समानं तुल्यप्रदेशत्वात्सर्वजन्तूनामित्येवमेकान्तेन नो वदेत्। तथा विसदृशमसदृशं तद्व्यापत्तौ वैरं कर्मबन्धो वा इन्द्रियविज्ञानकायानां विसदृशत्वात्सत्यपि प्रदेशतुल्यत्वे न सदृशं वैरमित्येवमपि नो वदेत्। यदि हि वध्यापेक्ष एव कर्मबन्धः स्यात्ततः तत्सदृशात्कर्मणोऽपि सादृश्यमसादृश्यं वा वक्तुं युज्यते, न च तद्वशादेव बन्धः, अपि त्वध्यवसायवशादपि। ततश्च तीव्राध्यवसायिनोऽल्पकायसत्त्वव्यापादनेऽपि महद्वैरम्, अकामस्य तु महाकायसत्त्वव्यापादनेऽपि स्वल्पमिति।

एतदेव सूत्रेण दर्शयति—

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जइ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ७ ॥

(एएहिं इत्यादि) आभ्यामनन्तरोक्ताभ्यां स्थानाभ्यामनयोर्वा स्थानयोरल्पकायमहाकायसत्त्वव्यापादनापादितकर्मबन्धसदृशत्वासदृशत्वयोर्व्यवहरणं व्यवहारो निर्युक्तिकत्वान्न युज्यते। तथाहि-न वध्यस्य सदृशत्वमसदृशत्वं चैकमेव कर्मबन्धस्य कारणम्, अपि तु वधकस्य तीव्रभावो मन्दभावो ज्ञानभावोऽज्ञानभावो महावीर्यत्वमल्पवीर्यत्वं चेत्येतदपि। तदेवं वध्यवधकयोर्विशेषात् कर्मबन्धविशेष इत्येवं व्यवस्थिते वध्यमेवाश्रित्य सदृशत्वासदृशत्वव्यवहारो न विद्यते इति। तथा तयोरेव स्थानयोः प्रवृत्तस्यानाचारं जानीयादिति। तथाहि-यज्जीवसाम्यात्कर्मबन्धसदृशत्वमुच्यते। तदयुक्तम्। यतो नहि जीवव्यापत्त्या हिंसोच्यते, तस्य शाश्वतत्वेन व्यापादयितुमशक्यत्वात्, अपि त्विन्द्रियादिव्यापत्त्या। तथा चोक्तम्-"पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः। प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोगीकरणं तु हिंसा ॥" इत्यादि। अपि च-भावसव्यपेक्षस्यैव कर्मबन्धोऽभ्युपेतुं युक्तः। तथाहि-वैद्यस्यागमसव्यपेक्षस्य क्रियां कुर्वतो यद्यप्यातुरविपत्तिर्भवति, तथापि न वैरानुषङ्गो भवेद्, दोषाभावात्। अपरस्य तु सर्पबुद्ध्या रज्जुमपि घ्नतो भावदोषात्कर्मबन्धः, तद्रहितस्य तु न बन्ध इति। उक्तं चागमे-"उच्चालियम्मि पाए" इत्यादि। तण्डुलमत्स्याख्यानकं तु सुप्रसिद्धमेव। तदेवंविधवध्यवधकभावापेक्षया स्यात् सदृशत्वं, स्यादसदृशत्वमिति, अन्यथाऽनाचार इति।

पुनरपि चारित्रमङ्गीकृत्याऽऽहारविषयाचारानाचारौ प्रतिपाद-

[illegible] आह—

आहाकम्माणि भुंजंति, अण्णमण्णे सकम्मुणा ।
उवलित्ते त्ति जाणिज्जा, अणुवलित्ते त्ति वा पुणो ॥ ८ ॥

[illegible] कर्माण्याधाकर्माणि, तानि तु य- [illegible] । एतान्याधाकर्माणि ये भुञ्जते एतैः [illegible] परस्परं तान् स्वकीयेन कर्मणोपलिप्तान् [illegible] नो वदेत्, तथाऽनुपलिप्तानिति वा नो वदेत् । [illegible] आधाकर्माणि श्रुतोपदेशेन शुद्धमिति कृत्वा [illegible], तदाऽऽधाकर्मोपभोगेनावश्यतया कर्मबन्धो [illegible] नो वदेत् । तथा श्रुतोपदेशमन्तरेणाहार- [illegible] निमित्तकर्मबन्धसद्भावात् [illegible] व्यवहारो निर्युक्तिकत्वात् युज्यते । तथाहि— [illegible] व्यवहारो निर्युक्ति- [illegible], कर्मानुपलिप्तानपि नो वदेत् । यथाऽव- [illegible] आधाकर्मोपभोगेन [illegible] । उक्तम्—“ किञ्चिच्छुद्धं कल्प- [illegible] । शिरः शय्या वस्त्रं, पात्रं वा [illegible] ” [illegible] “ उत्पद्येत हि [illegible] । [illegible] कार्यं स्यात् । [illegible] ॥ ८ ॥

[illegible] आह—

एएहिं दोहिं ठाणेहिं, ववहारो ण विज्जई ।
एएहिं दोहिं ठाणेहिं, अणायारं तु जाणए ॥ ९ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] ॥ १० ॥

[illegible]

दारिकवैक्रियाहारकाणां प्रत्येकं तैजस [illegible] डुपलब्धेः कस्यचिदेकत्वाशङ्का स्यात् [illegible] प्रायमाह—तदेव तदेवौदारिकं शरीरं, त [illegible] शरीरे । एवं वैक्रियाहारकयोरपि [illegible] । [illegible] निवेशयेदित्युत्तरश्लोके क्रिया । तथे [illegible] यंत्नुतामपि संज्ञां नो निवेशयेत् । [illegible] एव, मत इदमौदारिकमुदारपुद्गलनिष्पन्नं, तदेतद्वि [illegible] तिं कार्मणं, सर्वस्यैतस्य संसारस्य [illegible] भूतं तेजोद्रव्यैर्निष्पन्नं तेज एव तैजसम्, [illegible] जसशरीरनिमित्तं येष्येवं भेदेन संज्ञाभिदं [illegible] प्रत्यासत्तिको भेद एव, ततो यदन्यश्रीरेष्वभे [illegible] प्रविः स्यात् । न नियता युगपदुपलब्धिः [illegible] कथञ्चिदेकोपलब्धेरभेदः, कथञ्चित्तु [illegible] तदेवमौदारिकादीनां शरीराणां भेदाभेदौ [illegible] स्यैव द्रव्यस्य भेदाभेदौ प्रदर्शयितुकामः [illegible] देन दर्शयितुमाह—(सव्वत्थ वीरियं अत्थि [illegible]) [illegible] एव इति कृत्वा साङ्ख्याभिप्रायेण [illegible] स्यैकत्वात्तस्य च सर्वस्यैव कारणत्वात्, [illegible] मित्येवं व्यवस्थिते [illegible] ते । सर्वस्यैव हि वस्तुनः प्रधान [illegible] कृतः सर्वस्य सर्वत्र वीर्यमस्तीत्येवं [illegible] [illegible] भावे प्रवृत्तौ [illegible] वर्धते) सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । (“ [illegible] जियेसया ” इत्यादि सूत्राणि ‘ [illegible] ’ [illegible])

[illegible] आह—

से य [illegible] वा, कट्टु [illegible] ।
मंथुं [illegible], बीयं तं न समायरे ॥ ११ ॥

[illegible] साधुस्तं [illegible] वा [illegible] अधार्मिक [illegible], कथं [illegible] ति [illegible] देन, तथा [illegible]

[illegible] आह—

अणायारं परक्कम्म नेव गूढे न निण्हवे ।
सुई सया वियडभावे, असंसत्ते [illegible] ॥ १२ ॥

[illegible]

[illegible]

अणायावि (ण्)-अनातापिन्-पुं०। न आतापयति । आतापनां शीतादिसहनरूपां करोतीत्यनातापी। मन्दश्रद्धत्वात्परीषहासहिष्णौ, स्था० ५ ठा० २ उ०।

अणारंभ-अनारम्भ-पुं०। जीवानुपघाते, भ० ८ श० १ उ०। पृथिवीकायजीवानुपद्रवे,"सत्तविहे अणारंभे पण्णत्ते। तं जहा-पुढविकायअणारंभे जाव अजीवकायअणारंभे " स्था० ७ ठा०। न विद्यते सावद्य आरम्भो येषां ते तथा। सावद्ययोगरहितेषु, "अपरिग्गहा अणारंभा, भिक्खू ताणं परिव्वए " सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०।

अणारंभजीवि (ण्)-अनारम्भजीविन्-पुं०। आरम्भः सावद्यानुष्ठानं प्रमत्तयोगो वा, तद्विपर्ययेण त्वनारम्भः, तेन जीवितुं शीलं येषां ते अनारम्भजीविनः। समस्तारम्भनिवृत्तेषु संयतेषु, आचा०।

आवंतिए आवंतिलोयंसि अणारंभजीविए तेसु चेव।
मणारंभजीवी एत्थोवरए तं झोसमाणे ॥

यावन्तः केचन लोके मनुष्यलोकेऽनारम्भजीविनः, आरम्भः सावद्यानुष्ठानं प्रमत्तयोगो वा। उक्तं च-" आयाणे णिक्खेवे, भासुस्सग्गे य ठाणगमणादि। सव्वो पमत्तजोगो, समणस्स वि होइ आरंभो " ॥ १ ॥ तद्विपर्ययेण त्वनारम्भस्तेन जीवितुं शीलमेषामित्यनारम्भजीविनो यतयः। समस्तारम्भनिवृत्तास्तेष्वेव गृहिषु पुत्रकलत्रस्वशरीरार्थमारम्भप्रवृत्तेष्वनारम्भजीविनो भवन्ति। एतदुक्तं भवति-सावद्यानुष्ठानप्रवृत्तेषु गृहस्थेषु देहसाधनार्थमनवद्यारम्भजीविनः साधवः पङ्काधारपङ्कजवल्लेपा एव भवन्ति। यद्येवं ततः किमित्याह-(एत्थोवरए इत्यादि) अत्राऽस्मिन्सावद्यारम्भे कर्त्तव्ये उपरतः संकोचितगात्रः। अत्र वाऽर्हते धर्मे व्यवस्थितः उपरतः पापारम्भात् किं कुर्यात् ?, स तत्सावद्यानुष्ठानायान्तकर्म जोषयन् क्षपयन् मुनिभावं भजन इति। आचा०।

अणारंभट्ठाण-अनारम्भस्थान-न०। असावद्यारम्भस्थाने, " एगंतमिच्छे असाहू तस्स णं जा सा सव्वतो विरई एसट्ठाणे अणारंभट्ठाणे आरिए " सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

अणारद्ध-अनारब्ध-त्रि०। केवलिभिर्निर्ग्रन्थमुनिभिर्योऽनाचीर्णे, " आरंभं जं चऽणारंभे अणारद्धं च ण आरभे" आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

अणाराहय-अनाराधक- त्रि०। विराधके, " अणाराहए अस्स्सिमिए धम्मस्स अणाराहए भवइ" । स्था०४ ठा० ३ उ०।

अणारिय-अनार्य-पुं०। न आर्योऽनार्य्यः। महानावृतत्वाद-सदनुष्ठायिनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०। पापात्मके, भ० ३ श० ६ उ०। सूत्र०। अकार्य्यकर्मकारिणि, नि० चू० १७ उ०। धर्मसंज्ञारहिते, शिष्टसंमतनिखिलव्यवहारे वा क्षेत्रे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। तथा—

सग जवण सबर बब्बर-कायमुरुंडुड्डगोड्डपक्कणया।
अरवागहूणरोमय-पारसखसखासिया चेव ॥ १ ॥
डुंबिलयलउसबोक्कस-भिल्लंधपुलिंदकोंचभमररुआ।
कावोयचीणचुंचुय-मालवदमिला कुलत्था य ।
केकयकिरायहयमुह-खरमुहगयतुरगमिंढयमुहा य।
हयकन्ना गयकन्ना, अन्ने वि अणारिया बहवे ॥ २ ॥

शकाः, यवनाः, शबराः, बर्बराः, कायाः,मुरुण्डाः, उड्डाः, गोड्डाः, पक्कणकाः, अरवागाः, हूणाः, रोमकाः, पारसाः, खसाः, खासिकाः, डुम्बिलकाः, लकुशाः, बोक्कसाः, भिल्लाः, आन्ध्राः, पुलिन्द्राः, क्रौञ्चाः, भ्रमररुताः, कापोतकाः, चीनाः, चुञ्चुकाः, मालवाः, द्रविडाः, कुलार्घाः, केकयाः, किराताः, हयमुखाः, खरमुखाः, गजमुखाः, तुरङ्गमुखाः, मिण्ढकमुखाः, हयकर्णाः, गजकर्णाश्चेत्येते देशा अनार्याः। अन्येऽपि देशा अनार्याः। प्रव० २७४ द्वा०। न केवलमेत एव किन्त्वपरेऽप्येवं प्रकारा बहवोऽनार्या देशाः प्रश्नव्याकरणादिग्रन्थोक्ता विज्ञेयाः।

तथाच सूत्रम्—

बहवे मिलिक्खुजाई, किं ते ?, सका जवणा सबरबब्बरगा य मुरुंडोड्डजडगभित्तिय पक्कणिया कुलक्खा गोडसिंहल-पारसकोंचअंधदविलचिल्ललपुलिंदआरोसडोवपोक्काणगंध-हारगवहलीयजल्ला रोसा मासा बउसमलया य चुंचुया य चूलियकोंकणगामेयपल्हवमालवमहुरआभासिया अण-कचीणलासियखसखासियनेट्ठरमरहट्ठमुट्ठियआरबडोंबिल-गकुहणकेकयहूणरोमगरुरुमरुगचिलायविसयवासी य पाव मइणो ।

(इमे बहवे मिलिक्खुजाइ त्ति) म्लेच्छजातीयाः। किं ते इति ?। तद्यथा-शकाः १, यवनाः २, शबराः ३, बर्बराः ४, कायाः ५, मुरुण्डाः ६, उड्डाः ७, भडकाः ८, नित्तिकाः ९, पक्कणिकाः १०, कुलाक्षाः ११, गौडाः १२, सिंहलाः १३, पारसाः १४, क्रौञ्चाः १५, अन्ध्राः १६, द्रविडाः १७, चिल्वलाः १८, पुलिन्द्राः १९, आरोषाः २०, डोंबाः २१, पोक्काणा २२, गन्धहारकाः २३, बहलीकाः २४, जल्लाः २५, रोसाः २६, मासाः २७, बकुशाः २८, मलयाश्च २९, चुञ्चुकाश्च ३०, चूलिकाः ३१, कोङ्कणगाः ३२, मेदाः ३३, पह्लवाः ३४, मालवाः ३५, महुरा० ३६, आभाषिकाः ३७, अणक्काः ३८, चीनाः ३९, लासिकाः ४०, खसाः ४१, खासिकाः ४२, नेष्टराः ४३, (मरहट्ठ त्ति) महाराष्ट्राः ४४, (पाठान्तरे पामुट्ठा ४५,) मौष्टिकाः ४६, आरबाः ४७, डोम्बिलिकाः ४८, कुहणाः ४९, केकयाः ५०, हूणाः ५१, रोमकाः ५२, रुरवः ५३, मरुकाः ५४, इति। एतानि च प्रायो सुमप्रथमाबहुवचनानि पदानि, तथा चिलातविषयवासिनश्च म्लेच्छदेशवासिनः। एते च पापमतयः। प्रश्न० १ आश्र० द्वा०।

अथ सामान्यतोऽनार्यदेशस्वरूपमाह-

पावा य चंडकम्मा, अणारिया निग्घिणा णिरणुतावी।
धम्मो त्ति अक्खराई, सुइणे वि न नज्जए जेसु ॥

एते सर्वेऽप्यनार्यदेशाः पापाः। पापमपुण्यप्रकृतिरूपम्, तद्बहुलत्वात् पापाः। तथा चण्डं कोपोत्कटतया रौद्राभिधानविशेषप्रवर्तितत्वादतिरौद्रं कर्म समाचरणं येषां ते चण्डकर्माणः, तथा न विद्यते घृणा पापजुगुप्सालक्षणा येषां ते निर्घृणाः, तथा निरनुतापिनः सेवितेऽप्यकृत्ये मनागपि न पश्चात्तापभाज इति भावः। किञ्च-येषु ' धर्मः ' इत्यक्षराणि स्वप्नेऽपि सर्वथा न ज्ञायन्ते केवलमगेयगानामस्वमज्ञाला[illegible] मनादिनिरताः शास्त्राप्रवर्तितचरमार्यादिसमाचाराः स[illegible] अनार्यदेशा इति। प्रव० २७४ द्वा०।

व्यमी अनार्या अनार्यदेशा इति । प्रव० २७४ द्वा०।

आर्यानार्यक्षेत्रव्यवस्था चोच्यम्-

उत्पत्ति जिणाणं, चक्कीणं रामकण्हाणं।

[illegible] ! [illegible] नमस्कृत्य, च पुनर्नायको [illegible] सर्वसाधून् नमस्कृ[illegible] [illegible] !। [illegible] । अर्थेन प्रार्थ्यते [illegible] धर्मश्च अर्थधर्मस्तस्य ग[illegible] [illegible], धर्म[illegible] [illegible], यथा मम त्रिकया दुर्लभधर्मस्य [illegible] । पुनः [illegible] ?, [illegible] [illegible] सहानुशिष्टिरभिधेया, [illegible] [illegible] परस्परमुपायोपेयभावलक्षणः [illegible] इति सूत्रार्थः ॥ १ ॥

[illegible] धर्मकथाकथनव्याजेन [illegible] —

पभूयरयणो राया, सेणिओ मगहाहिवो ।

विहारजत्तं निज्जाओ, मंडिकुच्छिम्मि चेइए ॥ २ ॥

[illegible]

[illegible] —

[illegible] ॥ ३ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ ४ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ ५ ॥

[illegible]

[illegible]

अस्य शरीरस्य वर्णो गौरत्वादिः अहो ! [illegible] रूपं लावण्यसहितम् । अहो ! [illegible] सौम्यता चन्द्रवदप्रियता । अहो ! [illegible] क्षमा । अहो ! आश्चर्यकारिणी अस्य [illegible] आश्चर्यकारिणी अस्य [illegible] ॥

तस्स पाए उ वंदित्ता, काऊण य पयाहिणं ।

नाइदूरमणासन्ने, पंजली पडिपुच्छइ ॥ ७ ॥

तस्य साधोः पादौ वन्दित्वा, पुनः [illegible] नातिदूरं नात्यासन्नः, कोऽर्थः ?, नातिदूरवर्ती [illegible] सन्, प्राञ्जलिपुटो बद्धाञ्जलिः पृच्छति प्रश्नं करोति ॥ ७ ॥

तरुणोऽसि अज्जो ! पव्वइओ, भोगकालम्मि संजया ।

उवट्ठिओसि सामन्ने, एयमट्ठं सुणामि ते ॥ ८ ॥

तदा श्रेणिकः किं पृच्छति-हे आर्य ! हे साधो ! [illegible] ऽसि । हे संयत ! हे साधो ! तस्मात् भोगकाले [illegible] गृहीतदीक्षः, तारुण्यं हि भोगस्य समयोऽस्ति [illegible] मयः । हे संयत ! तारुण्ये भोगयोग्यकाले त्वं [illegible] मुपस्थितोऽसि, आदरसहितोऽसि । [illegible] शृणोमि, किं तव दीक्षायाः कारणम् ?, [illegible] त्वया गृहीता ?, तत्कारणं त्वन्मुखात् [illegible]

([illegible])

[illegible] । [illegible] एव प्रव्रजितो भोगकाले [illegible] [illegible] [illegible] । सोऽपि [illegible] [illegible] (उवट्ठिओसि ति) [illegible] [illegible], शृणोमि, [illegible] [illegible] ॥ ८ ॥

[illegible] —

अणाहोमि महाराय !, नाहो मज्झ न विज्जइ ।

अणुकंपगं सुहिं वा वि, कंची नाहि तुमं महं ॥ ९ ॥

[illegible] महाराज ! [illegible] (अणुकंपगं ति) [illegible] (सुहिं ति) [illegible] (वावि ति) [illegible] [नाहि ति] [illegible] [तुमं ति] [illegible]

[illegible]

तओ सो पहसिओ राया, सेणिओ मगहाहिवो ।

एवं ते इड्ढिमंतस्स, कहं नाहो न विज्जइ ॥ १० ॥

[illegible]

[[illegible]]

[illegible]

कल्पवृक्षकल्पोऽसि संयतः, कथमसि केन प्रकारेण, नाथो न विद्यते ?, अत्रानाथत्वेनैव प्रव्रज्याप्रतिपत्तिः । "यत्राहमिहागत्य कृतवानसि व्रतम्, ततः धीः, धीमत्त्वात्, ततो प्रव्रज्या" इति हि लोकप्रवादः तथा च मत्पार्श्वादनाथत्वं प्रव्रजतः संजातमिति ज्ञायते यदि नाथाभावेनैव प्रव्रज्याप्रतिपत्तिहेतुः, तत हे पूज्याः ! अहं (भयंताणं इति) भदन्तानां पूज्यानां युष्माकं नाथो भवामि, यदा भवतां कोऽपि स्वामी नास्ति तदा अहं भवतां स्वामी भवामि, यदा भवत्स्वामी युष्माभिर्दृष्टो नास्ति तदाऽहं नाथोऽस्मीति भावः । हे संयत ! हे साधो ! भोगान् भुङ्क्ष्व । कीदृशः सन् ?, मित्रज्ञातिभिः परिवृतः सन्, हे साधो ! मनु इति निश्चयेन, मानुष्यं दुर्लभं वर्त्तते, तस्मान्मनुष्यत्वं दुर्लभं प्राप्य भोगान् भुक्त्वा सफलीकुरु । ॥ १० ॥ ११ ॥

मुनिराह—

अप्पणा वि अणाहोसि, सेणिया ! मगहाहिवा ! ।

अप्पणा अणाहो संतो, कस्स णाहो भविस्ससि ? ॥१२॥

हे राजन् ! श्रेणिक ! मगधदेशाधिपते त्वमात्मनाऽपि अनाथोऽसि, आत्मना अनाथस्य वर्त्तमानस्यापि अनाथता, तदा त्वमपरस्य कथं नाथो भविष्यसीति ? ॥ १२ ॥

एवं च मुनिनोक्ते—

एवं वुत्तो नरिंदो सो, सुसंभंतो सुविम्हिओ ।

वयणं अस्सुयपुव्वं, साहुणा विम्हयं निओ ॥ १३ ॥

स नरेन्द्रः साधुना एवमुक्तः सन् विस्मयं नीत आश्चर्यं प्रापितः । कीदृशो नरेन्द्रः ?, सुसंभ्रान्तोऽत्यन्तं व्याकुलतां प्राप्तः पुनः कीदृशः ?, सुविस्मितः पूर्वमेव तद्दर्शनात् संजाताश्चर्यः पुनरपि तद्वचनश्रवणात् विस्मयवान् जातः, यतो हि तद्वचनमश्रुतपूर्वं, केनचिदपि अनाथोऽसि त्वमिति वचनं पूर्वं केनापि नो भाषितम् ॥ १३ ॥

ससंभ्रान्तस्त्वाह—

अस्सा हत्थी मणुस्सा मे, पुरं अंतेउरं च मे ।

भुंजामि माणुसे भोए, आणा इस्सरियं च मे ॥ १४ ॥

एरिसे संपयग्गम्मि, सव्वकामसमप्पिए ।

कहं अणाहो भवइ, मा हु भंते ! मुसं वए ? ॥१५॥

द्वाभ्यां गाथाभ्यां श्रेणिको राजा वदति-हे भदन्त ! पूज्य ! हु इति निश्चयेन, मृषा मा ब्रूहि असत्यं मा वद । एतादृशे संपदग्र्ये सति सम्पत्प्रकर्षे सति, अहं कथमनाथो भवामि ?, कीदृशोऽहम् ? , सर्वकामसमर्पितः-सर्वे च ते कामाश्च सर्वकामाः, तेभ्यः सर्वकामेभ्यः समर्पितः शुभकर्मणा ढौकितः । अथ राजा स्वसंपत्स्वरूपं वर्णयति-अश्वा घोटकाः बहवो मम सन्ति, पुनर्हस्तिनोऽपि प्रचुराः सन्ति, तथा पुनर्मनुष्याः सुभटाः सेवका बहवो विद्यन्ते, तथा मम पुरं नगरमप्यस्ति, च पुनर्मे मम अन्तःपुरं राज्ञीवृन्दं वर्त्तते । पुनरहं मानुष्यान् भोगान् मनुष्यसम्बन्धिनो विषयान् भुनज्मि । च पुनरैश्वर्यं वर्त्तते आज्ञा अप्रतिहतशासनस्वरूपं प्रभुत्वं वर्त्तते, यतो मम राज्ये कोऽपि मदीयामाज्ञां न लङ्घयतीत्यर्थः ।

यतिस्तमुवाच-

न तुमं जाणे अणाहस्स, अत्थं पोत्थं च पत्थिवा ! ।

जहा अणाहो हवइ, सणाहो वा नराहिवा ! ॥१६॥

हे पार्थिव ! हे राजन् ! त्वम् 'अणाहस्स' अनाथस्य अर्थम् अभिधेयम्, चशब्दः पुनरर्थे, च पुनरनाथस्य प्रोत्थां न जानासि, अनाथशब्दस्योत्थानं मूलोत्पत्तिः प्रोत्था, तां प्रोत्थाम, केनाभिप्रायेणायमनाथशब्दः प्रोक्त इत्येवंरूपां न जानासि । हे राजन् ! यथाऽनाथोऽथवा सनाथो भवति तथा न जानासि, कथमनाथो भवति, कथं वा सनाथो भवति ? ॥ १६ ॥

सुणेह मे महाराय !, अव्वक्खित्तेण चेयसा ।

जहा अणाहो भवइ, जहा मेय पवत्तियं ॥१७॥

हे महाराज ! मे मम कथयतः सतः त्वमव्याक्षिप्तेन स्थिरेण चेतसा शृणु । यथाऽनाथो नाथरहितो भवति, तथा मे ममानाथत्वं प्रवर्त्तितम् । अथवा (मे य इति) मे एतदनाथत्वं प्रवर्तितं तथा त्वं शृणु इत्यनेन स्वकथाया उपक्षेपः कृतः ॥ १७ ॥

कोसंबी नाम नयरी, पुराणपुरभेयणी ।

तत्थ आसी पिया मज्झं, पभूयधणसंचओ ॥१८॥

हे राजन् ! कौशाम्बी नगरी आसीत् । कीदृशी कौशाम्बी ?, पुराणपुरभेदिनी जीर्णनगरभेदिनी, यादृशानि जीर्णनगराणि भवन्ति तेभ्योऽधिकशोभायती । कौशाम्बी हि जीर्णपुरी वर्त्तते जीर्णपुरस्था हि लोकाः प्रायशश्चतुरा धनवन्तश्च बहुशा विवेकवन्तश्च भवन्तीति हार्दम् । तत्र तस्यां कौशाम्ब्यां मम पिताऽऽसीत् । कीदृशो मम पिता ?, प्रभूतधनसञ्चयः नाम्नाऽपि धनसंचयः, गुणेनाऽपि बहुलधनसंचय इतिवृद्धसंप्रदायः ॥१८॥

पढमे वए महाराय !, अउला मे अच्छिवेयणा ।

अहोत्था विउलो दाहो, सव्वगत्तेसु पत्थिवा ! ॥ १९ ॥

हे महाराज ! प्रथमे वयसि यौवने एकदा अतुलोत्कृष्टा, अक्षिवेदना अक्षिपीडा, (अहोत्था इति) अभूत । अथवा "अच्छिवेयणा" इतिपाठे अक्षिवेदना नेत्रपीडा अभूत । ततश्च हे पार्थिव ! हे राजन् ! सर्वगात्रेषु विपुलो दाहोऽभूत ॥ १९ ॥

सत्थं जहा परमतिक्खं, सरीरविवरंतरे ।

पविसिज्ज अरी कुद्धो, एवं मे अच्छिवेयणा ॥ २० ॥

हे राजन् ! यथा कश्चिदरिः कुप्यन् क्रुद्धः सन्, शरीरविवरान्तरे नासाकर्णवक्त्रप्रमुखरन्ध्राणां मध्ये परमतीक्ष्णं शस्त्रं प्रपीडयेद् गाढमवगाहयेत्, एवं मे ममाक्षिवेदनाऽभूत् । (शरीरविवरंतरे ति)

(पाईटीका)

शरीरविवराणि कर्णरन्ध्रादीनि, तेषामन्तरं मध्यं शरीरविवरान्तरं तस्मिन् (पविसिज्ज त्ति) प्रवेशयेत् प्रक्षिपेत् । शरीरविवरमद्धमतितुकुमारत्वाद्गन्तरत्वं चाशादवेदनोपलक्षणम् । पठ्यते च-शरीरवीर्योन्तरेण "आविलिज्ज त्ति" पाठान्तरे शरीरवीर्ये सति धातवस्तदन्तरे तन्मध्य आपीडयेद् गाढमवगाहयेत् । एवमित्यापीड्यमानस्य शल्यवद् मे ममाक्षिवेदना, कोऽर्थः ?, यथा तदत्यन्तबाधाविधायि तथैवाऽपीति ॥ २० ॥

तियं मे अंतरिच्छं च, उत्तमंगं च पीडई ।

इंदासणिसमा घोरा, वेयणा परमदारुणा ॥ २१ ॥

हे राजन् ! सा परमदारुणा वेदना मे मम त्रिकं कटिपृष्ठविभागम् । च पुनरन्तरिच्छाम्-अन्तर्मध्य इच्छा अन्तरिच्छा, तामन्तरिच्छाम् । भोजनपानरमणाभिलाषरूपाम् । च पुनरुत्तमाङ्गं मस्तकं पीडयति । कीदृशी वेदना ?, इन्द्राशनिसमा घोरा, इन्द्रस्य शनिर्वज्रं तत्समाऽतिदाहोत्पादकत्वात् तुल्या, घोरा भयदा ॥२१॥

किं न कश्चित्तां प्रतिकृतवानित्याह—

उवट्ठिया मे आयरिया, विज्जामंततिगिच्छगा ।

अधीया सत्थकुसला, मंतमूलविसारया ॥ २२ ॥
हे राजन् ! तदेत्यध्याहारः । आचार्या वैद्यानां शास्त्रान्याससकारकाः मे उपस्थिताश्चिकित्सां कर्तुं लग्नाः, कीदृशा आचार्याः ?, विद्यामन्त्रचिकित्सकाः विद्यया मन्त्रेण च चिकित्सन्ति चिकित्सां कुर्वन्तीति विद्यामन्त्रचिकित्सकाः, प्रतिक्रियाकर्त्तारः। पुनः कीदृशा आचार्याः ?, अधीताः सम्यक् पठिताः । ' अधीया ' इति पाठे न विद्यते अन्यो द्वितीयो येभ्यस्तेऽद्वितीया असाधारणाः। पुनः कीदृशास्ते ?, शास्त्रकुशलाः शास्त्रेषु विचक्षणाः। पुनः कीदृशास्ते ?, मन्त्रमूलविशारदाः, मन्त्रास्तु देवाधिष्ठितानि, मूलानि जटिकारूपाणि, तत्र विचक्षणाः मन्त्रमूलिकानां गुणज्ञाः ॥ २२ ॥

ते मे तिगिच्छं कुव्वंति, चाउप्पायं जहाहियं ।
न य दुक्खा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ॥ २३ ॥
ते वैद्याचार्या मम चिकित्सां रोगप्रतिक्रियां यथा हितं भवेत्तथा कुर्वन्ति । कीदृशं चैकित्स्यम् ?, चातुष्पादं चत्वारः पादाः प्रकारा यस्य तच्चतुष्पदम्, तस्य भावः चातुष्पादम्, चातुर्विध्यमित्यर्थः । वैद्य १ औषध २ रोगि ३ प्रतिचारक ४ रूपम् । अथवा-वमन १ विरेचन २ मर्दन ३ स्वेदन ४ रूपम् । अथवा-अञ्जन १ बन्धन २ लेपन ३ मर्दनरूपम् । शास्त्रोक्तं गुरुपारंपर्यागतम्। चकारोऽपि स्थाने प्राकृतत्वात्कुर्वन्तीत्युक्तम्, ते वैद्या मां दुःखान्न विमोचयन्ति स्म । प्राकृतत्वाद्भूतार्थे वर्त्तमानार्थः प्रत्ययः, एषा ममानाथता वर्त्तते ॥ २३ ॥

अन्यच्च—

पिया मे सव्वसारं पि, देज्जाहि मम कारणा ।
न य दुक्खा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ॥ २४ ॥
हे राजन् ! मम पिता मम कारणे सर्वमपि सारं गृहे सत्सारं सारवस्तु तत्सर्वमपि वैद्येभ्योऽदात्, तथापि वैद्या मां दुःखान्न विमोचयन्ति स्म । एषा मम अनाथता ज्ञेयेति शेषः ॥ २४ ॥

माया वि मे महाराय !, पुत्तसोगदुहट्टिया ।
न य दुक्खा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ॥ २५ ॥

[पाईटीका]

तथा माताऽपि पुत्रविषयः शोकः पुत्रशोकः, हा कथमित्थं दुःखी मत्सुतो जात इत्यादिरूपः, ततो दुःखम्, तेन [अट्टिय त्ति] आर्त्ता। अथवा [अट्टिय त्ति] अर्दिता, तभपत्र पीडितेत्यर्थः । ततः पुत्रशोकदुःखार्त्ता पुत्रशोकदुःखार्दिता वा ज्ञेया ॥ २५ ॥

भायरा मे महाराय !, सगा जिट्ठ कणिट्ठगा ।
न य दुक्खा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ॥ २६ ॥
हे महाराज ! मे मम भ्रातरोऽपि स्वका आत्मीयाः, ज्येष्ठकनिष्ठाश्च वृद्धा लघवश्च मां न च दुःखाद्विमोचयन्ति स्म । एषा ममानाथता ज्ञेया ।

(पाईटीका)

[सग त्ति] सोदर्याः स्वका वा आत्मीयाः ॥ २६ ॥

भइणीओ मे महाराय !, सगा जिट्ठ कणिट्ठगा ।
न य दुक्खा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ॥ २७ ॥
हे महाराज ! मे मम भगिन्योऽपि स्वका एकमातृजाः । ज्येष्ठाश्च कनिष्ठाश्च मां दुःखान्न विमोचयन्ति स्म, एषा मम अनाथता ज्ञेया ॥ २७ ॥

भारिया मे महाराय !, अणुरत्ता अणुव्वया ।
अंसुपुण्णेहिं नयणेहिं, उरं मे परिसिंचइ ॥ २८ ॥
अन्नं पाणं च ण्हाणं च, गंधमल्लविलेवणं ।
मए नायमनायं वा, सा बाला नोवभुंजइ ॥ २९ ॥
खणं पि मे महाराय !, पासाओ वि न फिट्टइ ।
न य दुक्खा विमोयंति, एसा मज्झ अणाहया ॥ ३० ॥
हे महाराज ! मे मम भार्या कामिन्यपि दुःखान्नामोचयति स्म । कथम्भूता भार्या ?, अनुरक्ता अनुरागवती। पुनः कथम्भूता ?, अनुव्रता पतिव्रता पतिमनुलक्ष्य व्रतं यस्याः सा अनुव्रता । एतादृशी भार्या मे ममोरो हृदयमश्रुपूर्णाभ्यां लोचनाभ्यां सिञ्चति स्म ।

(पाईटीका)

अपरञ्च भार्या पत्नी अनुरक्ताऽनुरागवती [अणुव्वय त्ति] इति कुलानुरूपं व्रतमाचारोऽस्या अनुव्रता, पतिव्रतेति यावत्, वयोऽनुरूपा वा । पठ्यते च-(अणुत्तरमणुव्वय त्ति) तत्र च मकारोऽलाक्षणिकः । अनुत्तरा अति प्रधाना (उरं ति) वक्षः, परिषिञ्चति समन्तात् प्लावयति ॥ २८ ॥

पुनः सा बाला मत्कामिनी अन्नमशनं मोदकादिकं भक्ष्यं, पानं शर्करोदकादिकं, पुनः स्नानं कुङ्कुमादिपानीयैर्विलेपनं चकमेदजवाधिप्रमुखैर्गात्रार्चनं मया ज्ञातं वा अज्ञातं स्वस्वदेव एतत्सर्वं भोगाङ्गं नोपभुङ्क्ते नानुभवति । मम दुःखात्सर्वाण्यपि भोगाङ्गानि त्यक्तानि ।

(पाईटीका)

स्नानं स्नात्यनेनेति स्नानम्-गन्धोदकादि, मया ज्ञातमज्ञातं वेत्यनेन सद्भावसारतामाह। पठ्यते च-"तारिसं रोगमावन्ने त्ति" तादृशमुक्तरूपं रोगमक्षिरोगादिकम्, 'आवन्न' प्राप्ते मयीति गम्यते । (से त्ति) भार्या बालेव बालाऽभिनवयौवना नोपभुङ्क्ते नासेवते ॥ २९ ॥

(खणं पि त्ति) पुनर्हे महाराज ! सा बाला मम पार्श्वात्कक्ष्यात् (न विफिट्टति) न अपयातीत्यर्थः । एवं दुःखान्न मोचयति, एषा ममानाथता ज्ञेया ।

[पाईटीका]

[पासाओ वि ण फिट्टइ त्ति] अपिशब्दार्थः, तत पार्श्वान्नापयाति सदा सन्निहितैवाऽऽस्ते ॥ ३० ॥

अनेन तस्या अपि वत्सलत्वमाह-

तओ हं एवमाहंसु, दुक्खमा हु पुणो पुणो ।
वेयणा अणुभविउं जे, संसारम्मि अणंतए ॥ ३१ ॥
ततोऽनन्तरं प्रतीकारेषु विफलेषु जातेषु अहमेवमवोचम। एवमिति किम् ?, हु इति निश्चयेन या वेदना अनुभवितुं दुःक्षमा भोक्तुमसमर्थास्ता वेदनाः संसारे पुनः पुनर्भवन्तीति शेषः । वेद्यते दुःखमनयेति वेदना । दुःखेन क्षम्यते सह्यते इति दुःक्षमा दुस्सहा, कीदृशे संसारे ?, अनन्तकेऽपारे ।

[पाईटीका]

तत इति रोगाप्रतिकार्यतानन्तरमहमेवं वक्ष्यमाणप्रकारेण [आहंसु त्ति] उक्तवान्, यथा [दुक्खमा हु त्ति] दुःक्षमा दुःसहैव पुनः पुनर्वेदना उक्तरूपार्थः । ततो दुःक्षमैव दुःसहैव पुनःपुनर्वेदना उक्तरूपा रोगव्यथा अनुभवितुम्, 'जे' इति निपातः पूरणे ॥ ३१ ॥

सइं च जइ मुच्चेज्जा, वेयणा विउला इओ ।
खंतो दंतो निरारंभो, पव्वइए अणगारियं ॥ ३२ ॥
अहं किमवादिषम् ?, तदाह-यदि सकृदप्येकवारमप्यहं वे

गया विमुच्ये, तदाऽहं क्षान्तो भूत्वा, पुनर्दान्तो जितेन्द्रियो भूत्वा निरारम्भः सन् अनगारत्वं साधुत्वं,प्रव्रजामि दीक्षां गृह्णामीति भावः। कथम्भूताया वेदनायाः?, विपुलाया विस्तीर्णायाः।

[पाईटीका]

यतश्चैवमतः [सइं च त्ति] चशब्दोऽपिशब्दार्थः । ततः सकृदप्येकदाऽपि यदि मुच्येयाहमिति गम्यते। कुतः?,[विउल त्ति] वेदनाया [विउल त्ति] विपुलाया विस्तीर्णायाः। इत्यनुभूयमानायाः। ततः किमित्याह-क्षान्तः क्षमावान्, दान्त इन्द्रियनोइन्द्रियदमेन [पव्वए अणगारियं ति] प्रव्रजेयं गृहाभिष्क्रामेयम्। ततश्चाऽनगारितां भावभिक्षुतामङ्गीकुर्यामिति शेषः। यद्वा-प्रव्रजेयं प्रतिपद्येयानगारिताम्, येन संसारोच्छित्तितो मूलत एव न वेदनासंभवः स्यादिति भावः ॥ ३२ ॥

एवं च चिंतइत्ताणं, पसुत्तोमि नराहिवा ! ।
परियट्टंति य राईए, वेयणा मे खयं गया ॥ ३३ ॥

एवं पूर्वोक्तं चिन्तनं चिन्तयित्वा हे नराधिप ! यावदहं सुप्तोऽस्मि तावत्तस्यामेव रात्रौ प्रवर्त्तमानायाम्-अतिक्रामन्त्यां, मे मम, वेदना क्षयं गता ; वेदना उपशान्ता इत्यर्थः ॥

(पाईटीका)

एवं च चिन्तयित्वा प्रणन्ति न केवलमुक्त्वा चिन्तयित्वा चैवं (पसुत्तोमि त्ति) प्रसुप्तोऽस्मि (परियट्टंति य त्ति) परिवर्त्तमानायामतिक्रामन्त्याम् ॥ ३३ ॥

तओ कल्ले पभायम्मि, आपुच्छित्ताण बंधवे ।
खंतो दंतो निरारंभो, पव्वइओ अणगारियं ॥ ३४ ॥

(पाईटीका)

ततो वेदनोपशमनानन्तरं (कल्लु त्ति) कल्यो नीरोगः सन् प्रभाते प्रातः। यद्वा-[कल्लु त्ति] चिन्ताऽऽदिनाऽपेक्षया द्वितीयदिने प्रकर्षेण व्रजितो गत. प्रव्रजितः, कोऽर्थः?,प्रतिपन्नवाननगारितामिति। ततो वेदनाया उपशान्तेरनन्तरं (कल्ये इति) नीरोगे जाते सति प्रभातसमये बान्धवान् स्वज्ञातीनापृच्छ्याहमनगारित्वं साधुत्वं प्रव्रजितः, साधुधर्ममङ्गीकृतवान्। कीदृशोऽहम्?, क्षान्तः पुनर्दान्तः, पुनरहं निरारम्भः ॥ ३४ ॥

तओ हं नाहो जाओ, अप्पणो य परस्स य ।
सव्वेसिं चेव भूयाणं, तसाणं थावराण य ॥ ३५ ॥

हे राजन् ! ततो दीक्षाग्रहणानन्तरमात्मनश्च पुनः परस्य नाथो योगक्षेमकरत्वेन स्वामी जातः। आत्मनो हि नाथः, शुद्धप्रवर्त्तनात्। अपरस्य च, हितचिन्तनात्। एवं निश्चयेन सर्वेषां भूतानाम्, त्रसानां च पुनः स्थावराणां नाथो जातः ॥ ३५ ॥ किमिति प्रव्रज्याप्रतिपत्त्यनन्तरं नाथत्वं जात, इत्याशङ्क्याह—

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदणं वणं ॥ ३६ ॥

(आत्मेति) स्वयमेवात्मा दुःखहेतुत्वाद्वैतरण्यादिरूप इत्याह—नदी सरित्। वैतरणीति नरकनदी नाम। ततो महानर्थहेतुतया नरकनदी वा। अत्र एव आत्मैव कूटमिव तत्तुल्यात्यन्तबाधाहेतुत्वाच्छाल्मली कूटशाल्मली नरकोद्भवा। तथा आत्मैव कामानभिलाषान् दोग्धि प्रापकतया प्रपूरयति कामदुघा, धेनुरिव धेनुः इयं रूढित उक्ता। एवं कुप्रमादत्वमभिलषितवस्तुप्रापकतया सकलाभिलषितहेतुतया आत्मैव मे मम, नन्दनं नन्दननामकं वनमुद्यानम्। एतदौपम्यं चास्य चित्तप्रह्लत्तिहेतुतया ॥ ३६ ॥

यथा चैतदेवं तथाऽऽह—

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ॥ ३७ ॥

आत्मैव कर्त्ता विधायको दुःखानां सुखानां चेति योगः। तथा आत्मन एव विकर्त्ता च विक्षेपकश्चात्मैव तेषामेव। अतश्च आत्मैव मित्रमुपकारितया सुहृत्, (अमित्तं चेति) अमित्रश्चापकारितया दुर्हृत्। कीदृक्? (दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ त्ति) दुष्टु प्रस्थितः सकलदुःखहेतुरिति वितथादिकल्पः, सुष्ठु प्रस्थितश्च सकलसुखहेतुरिति कामधेन्वादिकल्पः। तथा च प्रव्रज्याऽवस्थायामेवमुपस्थितत्वेन आत्मनोऽन्येषां च योगक्षेमकरणे समर्थत्वान्नाथत्वमिति सूत्रगमार्थः ॥ ३७ ॥

पुनरन्यथा नाथत्वमाह—

इमा हु अन्ना वि अणाहया निवा !,
तमेगचित्तो निहुओ सुणेहि ।
नियंठधम्मं लहियाण वी जहा,
सीदंति एगे बहुकायरा नरा ॥ ३८ ॥

(पाईटीका)

इयमनन्तरमेव वक्ष्यमाणा । हु पूरणे, अन्या अपरा, अपिः समुच्चये। अनाथताऽस्वामिता, यद्भावेनाहं नाथो न इत्याशयः । निशृणु तमेकचित्तो निभृतः स्थिरः, शृणु । का पुनरसावित्याह-निर्ग्रन्थानां धर्म आचारो निर्ग्रन्थधर्मस्तम [लहियाण वि त्ति] लब्ध्वाऽपि । यथेत्युपदर्शने। सीदन्ति तदनुष्ठानं प्रति शिथिलीभवन्ति। एके केचन,ईषद्परिणामाः कातरा नि:सत्त्वा बहुकातरा "विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु" ॥ पाणि-५।३।६८ ॥ इत्यनेन ईषदसमाप्तौ बहुच्प्रत्यये हि लब्धेऽपि निःसत्त्वा, ते सूत्रे एव न निर्ग्रन्थधर्मं प्रतिपद्यन्त इत्येवमुच्यते। यदि वा कातरा एव बहवः संभवन्तीति, बहुशब्दो विशेषणम्। ततः पुरुषाः। इत्यर्थस्तावत्। इयमेव चानाथता, यतः सीदन्त्यात्मानं रक्षयितुं न क्षमाः। इतीयं अनाथता इति भावः ॥ ३८ ॥

जो पव्वइत्ताण महव्वयाइं,
सम्मं च नो फासयई पमाया ।
अणिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे,
न मूलओ छिंदइ बंधणं से ॥ ३९ ॥

हे राजन् ! यो मनुष्यः प्रव्रज्य दीक्षां गृहीत्वा, महाव्रतानि प्रमादात् सम्यग्विधिना न स्पृशति न सेवते, [से इति] स प्रमादवशवर्त्ती बन्धनं कर्मबन्धनं रागद्वेषरूपं संसारकारणं मूलतो मूलात् न छिनत्ति मूलतो नोत्पाटयति । अनेन रागद्वेषौ न निवारयतीत्यर्थः ।

[पाईटीका]

नो स्पृशतीति नाऽऽसेवते प्रमादतो निद्रादिप्रमादेन । अत एव अनिग्रहात्मा अनिगृहीतात्मा। अत एव रसेषु मधुरादिषु गृद्धो गृद्धिमान्। नाशयति बन्धनं रागद्वेषात्मकं। [से इति] सः ॥ ३९ ॥

आउत्तया जस्स य नत्थि काई,
इरियाए भासाए तहेसणाए,
आयाण-निक्खेव-दुगुंछणाए,

न धीरजाय अणुजाइ मग्गं ॥ ४० ॥

हे राजन् ! स साधुर्धीरयातं मार्गं नानुयाति, धीरैर्महापुरुषैस्तीर्थकरगणधरैश्च यातं प्राप्तम्, अर्थान्मोक्षमार्गं न प्राप्नोति । स कः?, यस्य साधोरीर्यायां गमनागमनसमितौ, तथा भाषायां, तथा एषणायामाहारग्रहणसमितौ, पुनरादाननिक्षेपणसमितौ, वस्तूनां ग्रहणमोचनविधौ, तथा [दुगुंछणाए इति] उच्चारप्रश्रवणश्लेष्मजल्लसिंघाणादीनां परिष्ठापनसमितावाऽऽयुक्तता का [illegible]स्तीति ॥ ४० ॥

तथा च—

चिरं पि से मुंडरुई भवित्ता,
अथिरव्वए तवनियमेहिं भट्ठे ।
चिरं पि अप्पाण किलेसइत्ता,
न पारए होइ हु संपराए ॥ ४१ ॥

स पूर्वोक्तः पञ्चसमितिरहितो मुन्याभासश्चिरं मुण्डरुचिर्भूत्वाऽऽत्मानमपि चिरं क्लेशे पातयित्वा, हु इति निश्चयेन, संपराये संसारे पारगो न भवति । कीदृशः सः? अस्थिरव्रतोऽस्थिराणि व्रतानि यस्य सोऽस्थिरव्रतः । पुनः कीदृशः सः?, तपोनियमभ्रष्टः । यः कदापि तपो न करोति, तथा पुनर्नियममभिग्रहादिकं च न करोति, केवलं द्रव्यमुण्डो भवति, स संसारस्य पारं न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

स कीदृशः—

पोल्ले व मुट्ठी जह से असारे,
अयंतिए कूडकहावणे वा ।
राढामणी वेरुलियप्पगासे,
अमहग्घए होइ हु जाणएसु ॥ ४२ ॥

स पूर्वोक्तो मुण्डरुचिरसारो भवति । अन्तःकरणे धर्माभावात् [illegible] भवति । स क इव ?, पोल्ले मुष्टिरिव । यथा [illegible] मुष्टिरसारो भवेत् सुषिर इव, तथा स मुण्डरुचिः कूटकार्षापण इव । [illegible] अयन्त्रितो भवति, न यन्त्रितोऽयन्त्रितो[illegible] इत्यर्थः । [illegible] राढामणिः काचमणिः [illegible] वैडूर्यप्रकाशोऽ[illegible] भवति । वैडूर्यमणिवत् प्रकाशो य[illegible] वैडूर्यसमप्रकाशः । [illegible] महार्घ [illegible] न महार्घकोऽम[illegible] । यथा—मणिषु वैडूर्यमणि[illegible] काचमणिर्वैडूर्यवत् न [illegible] साधुवेषं [illegible] इति भावः ॥

(पाईटीका)

[illegible] ॥ ४२ ॥

कुसीललिंगं इह धारइत्ता,
इसिज्झयं जीविय वूहइत्ता ।
असंजए संजयलप्पमाणे,
विणिघायमागच्छइ से चिरं पि ॥ ४३ ॥

(से इति) स साध्वाचाररहितः, इह संसारे चिरं [illegible] विनिघातमागच्छति पीडां प्राप्नोति । किं कृत्वा?, कुशीलानां पार्श्वस्थादीनां चिह्नं धारयित्वा । पुनर्जीविकार्थं ऋषिध्वजं रजोहरणमुखपोत्तिकादिकं बृंहयित्वा [illegible] विशेषेण निघातं विनिघातं विविधपीडाम् । स किंभूतः? असंयतः सन् अहं संयत इति लालप्यमानः [illegible] साधुरहमिति ब्रुवाणः ॥ ४३ ॥

अत्रैव हेतुमाह—

विसं तु पीयं जह कालकूडं,
हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं ।
एसेव धम्मो विसओववन्नो,
हणाइ वेयाल इवाविवन्नो ॥ ४४ ॥

हे राजन् ! यथा कालकूटो महाविषः पीतः सन् [illegible] हन्ति । पुनर्यथा कुगृहीतं विपरीतवृत्त्या गृहीतं शस्त्रं [illegible] एवमेव अनेनैव दृष्टान्तेन विषयैरिन्द्रियसुखै[illegible] [illegible]वाभिलाषयुक्तो धर्मोऽपि हन्ति । पुनः स विषयो[illegible] वेताल इव हन्ति । मन्त्रादिभिरकीलितः । यथा [illegible] मन्त्रयन्त्रैरनिवारितप्रसरो वेतालो महापिशाचो मारयेत्, तथा विषयसहितो धर्मोऽपि मारयतीत्यर्थः ॥

[पाईटीका]

[वेयाल इवाविवन्नो त्ति] [illegible] विपन्नोऽप्राप्तविपत्, मन्त्रादिनिरनियन्त्रित इत्यर्थः । [illegible] [वेयाल इवाविवन्नो त्ति] इह वा [illegible] दिनियन्त्रणः । उभयत्र साधकमिति गम्यते ॥ ४४ ॥

जे लक्खणं सुविणं पउंजमाणे,
निमित्तकोऊहलसंपगाढे ।
कुहेडविज्जासवदारजीवी,
न गच्छई सरणं तम्मि काले ॥ ४५ ॥

यः साधुर्लक्षणं प्रयुञ्जानः सामुद्रोक्तं स्त्रीपुरुषशरीर[illegible] [illegible]शुभसूचकं प्रयुङ्क्ते, गृहस्थानां पुरतो वक्ति । यः पुनः [illegible] [illegible] स्वप्नविद्यां प्रयुञ्जानो भवति—स्वप्नानां [illegible] पुनर्यः साधुर्निमित्तकौतूहलसंप्रगाढो भवति—निमित्तं च कौतूहलं च निमित्तकौतूहले तयोः [illegible] स्यात् । तत्र निमित्तं भूकम्पोल्कापात[illegible] [illegible] पुत्रादिप्राप्त्यर्थं स्नानौषध्यादिप्रकाशनम् । [illegible] [illegible] भवति । पुनर्यः साधुः कुहेटविद्याऽऽस्रवद्वारजीवी [illegible] [illegible] विद्याः कुहेटकविद्याः । अलीकाऽऽश्चर्यविधायि[illegible] मन्त्रतन्त्रज्ञानात्मिकाः, आस्रवद्वाराणि, तैर्जीवितुं [illegible] शीलं यस्य स कुहेटविद्याऽऽस्रवद्वारजीवी, [illegible] [illegible]ति । हे राजन् ! स तस्मिन् काले [illegible] कुहेटकविद्याऽऽस्रवद्वारोपार्जितपाप[illegible] शरणं न गच्छति, न प्राप्नोति । [illegible] [illegible] न भवन्तीत्यर्थः ॥ ४५ ॥

[illegible]माह—

तमंतमेणेव उ से असीले,
सया दुही विप्परियासुवेइ ।
संधावई नरगतिरिक्खजोणिं,

मोणं विराहित्तु असाहुरूवे ॥ ४६ ॥

न पुनः स द्रव्यमुण्डः साधुरूपो मौनं विराध्य साधुधर्मं दूषयित्वा, नरकतिर्यग्योनिं सन्धावति सततं गच्छति। पुनः अतीवः कुशीलो विपर्यासमुपैति-तत्त्वेषु वैपरीत्यं प्राप्नोति, मिथ्यात्वमूढो भवतीति भावः। कीदृशः सः?, तमस्तमसैव सदा दुःखी अतिशयेन तमस्तमस्तम, तेन तमस्तमसैव अज्ञानमहान्धकारेणैव संयमविराधनाजनितदुःखसहितः ॥ ४६ ॥

कथं पुनर्मौनं विराध्य कथं वा नरकतिर्यग्गती सन्धावतीत्याह-

उद्देसियं कीयगडं नियागं,
न मुञ्चई किंचि अणेसणिज्जं ।
अग्गीविवा सव्वभक्खी भवित्ता,
इओ चुओ गच्छइ कट्टुपावं ॥ ४७ ॥

पुनर्यः साधुपादाः उद्देशिकं दर्शनेन उद्दिश्य कृतं उद्देशिकमाहारम् । पुनः साधुनिमित्तं क्रीतं मौल्येन गृहीतम् । पुनराहृतं साधुमनुपमानीतं साधुस्थान एव गृहस्थेन आनीतं तदाहृतम्। पुनर्यद्वाहारं नित्यकं नित्यपिण्डं गृहस्थगृहे नियतपिण्डमतादृशं सदोषमाहारमनेषणीयं साधुना अग्राह्यं न मुञ्चति । जिह्वालाम्पट्येन किमपि न त्यजति, सर्वमेव गृह्णाति । सोऽग्निरिव सर्वभक्षीभूय हरितशुष्कसर्वभक्षको वैश्वानर इव भूत्वा प्रासुकाहारं मुक्त्वा इतश्च्युतो मनुष्यभवाच्च्युतः कुगतिं व्रजति। किं कृत्वा?, पापं कृत्वा संयमविराधां विधाय ॥ ४७ ॥

न तं अरी कंठछेत्ता करेइ,
जं से करे अप्पणिया दुरप्पया ।
से नाहई मच्चुमुहं तु पत्ते,
पच्छाऽणुतावेण दयाविहूणो ॥ ४८ ॥

(पाईटीका)

यतश्चैवं सुदुश्चरितैरेव दुर्गतिप्राप्तिः, अतोऽनेनैव (तमिति) प्रस्तावादनर्थकारकं कृत्वा प्राणहर्ता (से) तस्य (दुरप्पयेति) प्राकृतत्वाद् दुरात्मतां दुष्टाचारप्रवृत्तिरूपां न चैनामाचरन्नपि जन्तुरत्यन्तमूढतया वेत्ति । तत्किमुत्तरकालमपि न वेत्स्यतीत्याह- स दुरात्मा कर्त्ता ज्ञास्यति। अकस्माद् दुरात्मतां मृत्युमुखं तु मरणसमयम् , पुनः प्राप्तः पश्चादनुतापेन हा दुष्टं मयाऽनुष्ठितमिति, एवंरूपेण दया संयमस्तस्याप्युपलक्षणमहिंसा वा तद्विहीनः सन्। मरणसमये हि प्रायोऽतिमन्दधर्मस्यापि धर्माभिप्रायोत्पत्तिरेवमभिधानम्। यतश्चैवं महानर्थहेतुः पश्चात्तापहेतुश्च दुरात्मता तदादित एव मूढतामपहाय परिहर्तव्येयमिति भाव ॥४८॥

यस्तु मृत्युमुखं प्राप्तोऽपि न तं वेत्स्यतीति
तस्य का वार्त्तेत्याह-

निरट्ठिया निप्पस्ई उ तस्स,
जे उत्तमट्ठे विवज्जासमेइ ।
इमे वि से नत्थि परे वि लोए,
दुहओ वि से झिज्झइ तत्थ लोगे ॥ ४९ ॥

(पाईटीका)

निरर्थिका तुशब्दस्यैवकारार्थस्येह सम्बन्धान्निरर्थिकैव निष्फलैव। नाग्न्ये श्रामण्ये रुचिरिच्छा नाग्न्यरुचिस्तस्य [जे उत्तमट्ठे ति] सुव्यत्ययादुपेक्ष्य गम्यमानत्वादुत्तमार्थेऽपि पर्यन्तसमयाराधनारूपे आस्तां पूर्वमित्यपिशब्दार्थः । विपर्यासं दुरात्मतायामपि सुन्दरात्मतापरिज्ञानरूपमेति गच्छति , इतरस्य तु कथञ्चित्स्यादपि किञ्चित्फलमिति भावः । किमेवमुच्यते?, यतः [इमे वि त्ति]अयमपि प्रत्यक्षो लोकइति सम्बन्धः । [से इति] तस्य नास्ति न विद्यते । न केवलमयमेव परोऽपि लोको जन्मान्तरलक्षणः। तत्रेह लोकाऽभावः शरीरक्लेशहेतुलोचनादिसेवनात्, परलोकाभावश्च कुगतिगमनतः शारीरमानसदुःखसम्भवात्। तथाच [दुहओ वि त्ति] द्विधाऽप्यैहिकपारत्रिकार्थे भावेन [झिज्झइ त्ति] स ऐहिकपारत्रिकार्थसंपत्तिमतो जनानवलोक्य धिग्मामपुण्यभाजनमुभयभ्रष्टतयेति चिन्तया क्षीयते । तत्रेत्युभयलोकाभावे सति लोके जगति ॥ ४९ ॥

यदुक्तं स ज्ञास्यति पश्चादनुतापेनेति तत्र यथाऽसौ परितप्यते तथा दर्शयन्नुपसंहारमाह-

एमेव हा छंदकुसीलरूवे,
मग्गं विराहित्तु जिणुत्तमाणं ।
कुररीविवा भोगरसाणुगिद्धा,
निरट्ठसोया परितावमेइ ॥ ५० ॥

(पाईटीका)

एवमेवोक्तरूपेणैव महाव्रतस्पर्शादिना प्रकारेण यथाछन्दाः स्वरुचिविरचिताचाराः कुशीलाः कुत्सितशीलास्तद्रूपास्तत्स्वभावाः,कुररीव पक्षिणीव[निरट्ठसोय त्ति] निरर्थो निष्प्रयोजनः शोको यस्याः सा निरर्थशोका,परितापं पश्चात्तापरूपम्,एति गच्छति। यथा चेयाऽऽमिषगृद्धा पक्षान्तरेभ्यो विपत्प्राप्ता शोचनेन च ततः कश्चिद्विपत्प्रतीकार इत्येवमसावपि भोगरसगृद्ध ऐहिकामुष्मिकानर्थप्राप्तौ ततोऽस्य स्वपरपरित्राणासमर्थत्वेऽनाथत्वमिति भावः ॥ ५० ॥

एतच्छ्रुत्वा यत्कृत्यं तदुपदेष्टुमाह—

सोचाण मेहावि ! सुभासियं इमं,
अणुसासणं नाणगुणोववेयं ।
मग्गं कुसीलाण जहाय सव्वं,
महानियंठाण वए पहेणं ॥ ५१ ॥

हे मेधाविन् ! हे पण्डित! हे राजन् ! इदं सुभाषितं सुष्ठु भाषितं सुभाषितम, अनुशासनम्-उपदेशवचनं,श्रुत्वा सर्वं कुशीलानां मार्गम। [जहाय इति] त्यक्त्वा महानिर्ग्रन्थानां महासाधूनां पथि मार्गे, चरेत् व्रजेत । कीदृशमनुशासनम् ?, ज्ञानगुणोपपेतं ज्ञानस्य गुणाः ज्ञानगुणाः तैरुपेतं ज्ञानगुणोपपेतम् ॥ ५१ ॥

ततः किं फलमित्याह—

चरित्तमायारगुणन्निए तओ,
अणुत्तरं संजमपालियाणं ।
निरासवे संखवियाण कम्मं,
उवेइ ठाणं विउलुत्तमं धुवं ॥ ५२ ॥

ततस्तस्मात्कारणान्महानिर्ग्रन्थमार्गगमाश्रितश्च मुनिर्महातपोधनः साधुर्विपुलमनन्तसिद्धानामवस्थानादसंकीर्णमुत्तमं सर्वोत्कृष्टं पुनर्ध्रुवं निश्चलं शाश्वतमेतादृशं मोक्षस्थानमुपैति प्राप्नोति । कीदृशः साधुः?, चारित्राचारगुणान्वितः चारित्रस्याचारश्चारित्राचारश्चारित्रसेवनं, गुणा ज्ञानदर्शनादयः, चारित्राचारश्च गुणाश्च चारित्राचारगुणास्तैरन्वितः चारित्राचारगुणान्वितः। अत

मकारः प्राकृतत्वात् । किं कृत्वा साधुर्मोक्षं प्राप्नोति ?; अनुत्तरं प्रधानं जगच्छारणरूपं संयमं सप्तदशविधं पालयित्वा । पुनः किं कृत्वा ?, कर्मोपचयमपि संक्षेप्य क्षयं नीत्वैतावता चारित्राचरणादिगुणयुक्तः, अत एव निरुद्धाश्रवः प्रधानसंयमं प्रपान्य, सर्वकर्माणि संक्षयं नीत्वा मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ५२ ॥

अथोपसंहारमाह-

एवुग्गदंते वि महातवोहणे,
महामुणी महापइण्णे महायसे ।
महानियंठिज्जमिणं महासुयं,
से कहिए महया वित्थरेणं ॥ ५३ ॥

एवममुना प्रकारेण, श्रेणिकेन राज्ञा, पृष्टः सन् स महामुनिर्महा- [illegible] महता विस्तरेण बृहता व्याख्यानेन, महानिर्ग्रन्थीयं म- [illegible], महान्तश्च ते निर्ग्रन्थाश्च महानिर्ग्रन्थास्तेभ्यो हितं महानिर्ग्रन्थीयं, महामुनीनां हितमित्यर्थः । कीदृशः सः ?, [illegible] । पुनः कीदृशः सः ?, दान्तो जितेन्द्रियः । पुनः कीदृशः ?, महातपोधनः महच्च तत्तपश्च महातपः [illegible] । पुनः कीदृशः ?, महाप्रतिज्ञः [illegible] । पुनः कीदृशः ?, महायशाः महा- [illegible] ॥ ५३ ॥

ततश्च-

तुट्ठो य सेणिओ राया, इणमुदाहु कयंजली ।
अणाहत्तं जहा भूयं, सुट्ठु मे उवदंसियं ॥ ५४ ॥

श्रेणिको राजा तुष्टः [illegible] । इदम्, 'उदाहु' इदमवादीत् [illegible] इति किम् ?, हे मुने ! [illegible], मे मम, सुष्ठु यथार्थं [illegible] ॥ ५४ ॥

किं च [illegible] आह-

तुज्झं सुलद्धं खु मणुस्सजम्मं,
लाभा सुलद्धा य तुमे महेसी ।
तुब्भे सणाहा य सबंधवा य,
जं भे ठिया मग्गि जिणुत्तमाणं ॥ ५५ ॥

हे महर्षे ! [illegible] मानुषं ज- [illegible] । हे महर्षे ! [illegible] [illegible] [illegible] ॥ ५५ ॥

तं सि णाहो अणाहाणं, सव्वभूयाण संजया ! ।
खामेमि ते महाभागा !, इच्छामि अणुसासिउं ॥ ५६ ॥

[illegible]

([illegible])

[illegible]

अनुशासयितुं शिक्षयितुमात्मानं त्वयेति शेषः ॥ [illegible]

पुनः क्षमणामेव विशेषत आह-

पुच्छिऊणं मए तुब्भं, झाणविग्घो य जो कओ ।
निमंतिओ य भोएहिं, तं सव्वं मरिसेहि मे ॥ [illegible]

हे महर्षिन् ! मया तुभ्यं पृष्ट्वा प्रश्नं कृत्वा [illegible] कृतः च पुनर्भोगैः कृत्वा निमन्त्रितः [illegible] भुङ्क्ष्वेत्यादिप्रार्थना तव कृता तं सर्वं मे [illegible] र्हसि, सर्वं ममापराधं क्षमस्वेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

सकलाध्ययनार्थोपसंहारमाह-

एवं थुणित्ताण स रायसीहो,
अणगारसीहं परमाइ भत्तिए ।
साओरोहो सपरियणो सबंधो,
धम्माणुरत्तो विमलेण चेयसा ॥ [illegible]

राजसिंहः श्रेणिको राजा । एवममुना प्रकारेण, [illegible] गारसिंहं मुनिसिंहं परमया उत्कृष्टया भक्त्या स्तुत्वा, निर्मलेन चेतसा धर्मानुरक्तोऽभूदिति शेषः । कीदृशः [illegible] सावरोधः अन्तःपुरेण सहितः । पुनः कीदृशः ?, [illegible] परिजनैर्वर्तते इति सपरिजनो भृत्यादिवर्गसहित [illegible] शः ?, सबान्धवः सह बान्धवैर्भ्रातृप्रमुखैर्वर्तते [illegible] पुराऽपि वनवाटिकायां सर्वान्तःपुरपरिजनबान्धव [illegible] एव क्रीडां कर्तुमागात्, ततः मुनेर्वन्दनार्थ [illegible] सो धर्मानुरक्तोऽभूदित्यर्थः ॥ ५८ ॥

ऊससियरोमकूवो, काऊण य पयाहिणं ।
अभिवंदिऊण सिरसा, अइयाओ नराहिवो ॥ [illegible]

नराधिपः श्रेणिकोऽतियातो गृहं गतः । किं कृत्वा ?, [illegible] मस्तकेन, अभिवन्द्य मुनिं नमस्कृत्य । पुनः किं कृत्वा ?, [illegible] कृत्वा प्रदक्षिणां दत्वा । कथंभूतो नराधिपः ?, ([illegible] सहृयो त्ति) उच्छ्वसितरोमकूपः [illegible] सितरोमकूपः ॥

(पाईटीका)

उच्छ्वसिता इवोच्छ्वसिता ऊर्ध्वा रोमकूपा [illegible] स उच्छ्वसितरोमकूपः । (अइयाओ त्ति) [illegible] स्थानमिति गम्यते ॥ ५९ ॥

इयरो वि गुणसमिद्धो,
तिगुत्तिगुत्तो तिदंडविरओ य ।
विहग इव विप्पमुक्को,
विहरइ वसुहं विगयमोहो ॥ ६० ॥ [illegible]

[illegible]

अणाहपव्वज्जा–अनाथप्रव्रज्या–स्त्री० । विंशतितमे उत्तराध्ययने, स० ३६ सम० । तच्च महानिर्ग्रन्थीयमिति नाम्ना प्रसिद्धम् । उत्त० २० अ० ।

अणाहरण–अनाधरण–न० । आध्रियतेऽनेनेत्याधरणमाधारः । तन्निषेधोऽनाधरणम् । आधर्तुमक्षमे, भ० १८ श० ३ उ० ।

अणाहसाला–अनाथशाला–स्त्री० । आरोग्यशालायाम्, व्य० ४ उ० ।

अणाहार–अनाहार–पुं० । न० त० । आहारविपरीतेऽन्यवहार्ये, तल्लक्षणं चाऽऽहारनिरूपणमित्याहारानाहारयोः स्वरूपमत्रैव प्रदर्श्यते–

परिवासिअआहार–स्स मग्गणा को भवे अणाहारो ? ।
एगंगिओ चउविहो, जं वा अणाहमइजाइ तहिं ॥

परिवासितस्याहारस्य मार्गणा विचारणा कर्तव्या । तत्र शिष्यः प्राह–वयं तावत् एतदेव न जानीमः को नाम आहारः को वा अनाहारः ? इति । सूरिराह–एकाङ्गिकः शुद्ध एव यः क्षुधां शमयति स आहारो मन्तव्यः । स च अशनादिकश्चतुर्विधः । यद्वा–तत्राहारेऽन्यद् लवणादिकमतियाति प्रविशति, तदप्याहारो मन्तव्यः ।

अथैकाङ्गिकं चतुर्विधमाहारं व्याचष्टे–

कूरो नासेइ छुहं, एगंगि तक्कउदगमज्जाइ ।
खाइम फलमंसाइ, साइम महुफाणियाईणि ॥

अशने कूर एकाङ्गिकः शुद्ध एव क्षुधं नाशयति । पाने तक्रोदमद्यादिकमेकाङ्गिकमपि क्षुधं नाशयति, आहारकार्यं च करोति, खादिमे फलमांसादिकं, स्वादिमे मधुफाणितादीनि केवलान्यप्याऽऽहारकार्यं कुर्वन्ति ।

'जं वा अईइ तहिं ति' [मूलसूत्रस्थं] पदं व्याख्यानयति–

जं पुण खुहापसमणे, असमत्थेगंगि होइ लोणाई ।
तं पि होइ आहारो, आहारजुयं व विज्जुत्तं वा ॥

यत्पुनरेकाङ्गिकं क्षुधाप्रशमनेऽसमर्थं परमाहारे उपयुज्यते तदप्याहारेण संयुक्तमसंयुक्तं वाऽऽहारो भवति, तच्च लवणादिकम् । तथाऽशने लवणहिङ्गुजीरकादिकमुपयुज्यते ।

उदए कप्पूराई, फलसुत्ताईणि सिंगवेर गुले ।
न य ताणि खविंति खुहं, उवगारित्ता उ आहारो ॥

उदके कर्पूरादिकमुपयुज्यते, आम्रादिफलेषु सुक्तादीनि द्रव्याणि, शृङ्गवेरं च शुण्ठ्यां गुड उपयुज्यते । न चैतानि कर्पूरादीनि क्षुधां क्षपयन्ति, परमुपकारित्वादाहार उच्यते, शेषः सर्वोऽप्यनाहारः ।

अहवा जं भुक्खत्तो, कद्दमउवमाइ पक्खिवइ कोट्ठे ।
सव्वो सो आहारो, ओसहमाई पुणो भइओ ॥

अथवा बुभुक्षया आर्त्तः कर्दमोपमया मृदादिकं कोष्ठे प्रक्षिपति । कर्दमोपमानामपि कर्दमपिण्डानां कुर्यात् कुक्षिं निरन्तरं स सर्वोऽप्याहार उच्यते । औषधादिकं पुनर्भक्तं विकल्पितं किञ्चिदाहारः किञ्चिच्चानाहार इत्यर्थः । तत्र शर्करादिकमौषधमाहारः, सर्पदष्टस्य मृत्तिकादि औषधमनाहारः ।

जं वा भुक्खत्तस्स उ, संकममाणस्स देइ अस्सादं ।
सव्वो सो आहारो, अकामऽणिट्ठं चऽणाहारो ॥

यद्वा–बुभुक्षाऽऽर्तस्य संक्रमतो ग्रसमानस्य कवलप्रक्षेपं कुर्वत इत्यर्थः; आस्वादं रसनाह्लादकं स्वादं प्रयच्छति स सर्व आहारः । यत्पुनरकाममन्यवहरतामीप्सितमनभिलषणीयम्, अनिष्टं च जिह्वाया अरुच्या, ईदृशं सर्वमनाहारो भण्यते ।

तथाऽनाहारिममिदम्–

अणहार मोय छल्ली, मूलं च फलं च होति ऽणाहारो ।
सेस तयन्नूइतोयं, बिंदुम्मि व चउगुरू आणा ॥

मोकं कायिकी, छल्ली निम्बादित्वक्, मूलं च पञ्चमूलादिकं, फलं चाऽऽमलकहरीतकबिभीतकादिकमेतत्सर्वमनाहारो भवतीति चूर्णिः । निशीथचूर्णौ तु या निम्बादीनां छल्ली त्वक् तथा, तेषामेव निम्बोलिकादिकं फलं, यच्च तेषां मूलम्, एवमादिकं सर्वमप्यनाहार इति व्याख्यातम् । बृ० ५ उ० । नि० चू० ।

चउव्वहारे वयणाए, कप्पिज्जइ जाणि माणि बत्थूणि ।
समभागकया तिहला, मूलिपंसीरखंडणयं ॥ ४६ ॥
गोमुत्तं कडु रोहिणि, पंचो अभया य रोहिणी गुम्मा ।
मुग्गाइ वया करीरय, लिंबं पंचंगमासगणो ॥ ४७ ॥
नह आसगंधि बंभी, चीड हलिद्दा य कुंदरु कुट्ठा ।
विसनाई य धमासो, बोलयचीया भट्ठी य ॥ ५८ ॥
गिम्हलमं जिछकंदे–छिउमाडिके बोर बेर कुट्ठा य ।
कप्पास चीय पत्तय, अणुपुन्नक्का य तंगुचडा ॥ ५९ ॥
धवखयरपलासाई, पंचखयखाण वहिया साणा ।
जं कडुयरसपरिगयं, आहारं पि हु अणाहारं ॥ ६० ॥
इचाइ जं भणियं, पंचुयमं तं भवे अणाहारं ।
जं इच्छाए भुंजइ, तं सव्वं हवइ आहारं ॥ ६१ ॥ " स० प्र० ।

यथा पञ्चाङ्गनिम्बगुडूचीकटु 'किरियातुं' 'अतिविसकांति'–'सुखडि'–रक्ता–हरिद्रा– रोहिणी 'उपलेट' वज–त्रिफला–धाउसमङ्गीत्यन्ये धमासो–नाहि–आसंधिरिंगणी–एलीयो–गुग्गुल–हरडां–दल–बहुणि–बदरी–कंथेरि–करीर–मूल–पुंवाड–मंजीठ बोलविसो–कुंआरि–चित्रक–कुन्दरुभूमिकोऽहिविधानि रोगाद्यापदि चतुर्विधाहारेऽप्येतानि कल्प्यानीति । ध० २ अधि० ।

त्रिफलाद्यनाहारवस्तु द्रव्यमध्ये गण्यते, न वा ? । तथैवं अनिनि-यदनाहारवस्तु प्रायो द्रव्यमध्ये गण्यते, यदि च प्रत्याख्यानावसरे तद्गणनमेव विवक्षितम्, तदा न गण्यतेऽपि । यथा सचित्तविकृत्योर्द्रव्यमध्ये गण्येऽप्यमनेऽमिहितेऽपि संमिलित गणयेत् अतः प्रायस्तयोर्द्रव्यमध्ये गणना कुर्वाणा उपलभ्यन्ते इति । ही० ३ प्रका० । न विद्यते आहारो यस्येत्यनाहारः । आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० । अविद्यमानाहारे, दशा० १ अ० ।

अणाधार–पुं० । अनाधारके, विशे० १ श्रु० १ अ० ।

अणाहारग–अनाहारक–पुं० । न० त० । आहारमकुर्वति विग्रहगत्यापन्ने समुद्घातगतकेवलिनि, अयोगिसिद्धे च । भ० ६ श० ३ उ० । " एगसमया दुविहा पन्नत्ता । तं जहा–आहारगा चेव अणाहारगा चेव, एवं जाव वेमाणिया " स्था० २ ठा० ३ उ० । भ० ।

अनाहारकाश्चत्वारः—

विग्गहगइमावन्ना, केवलिणो समुहया अजोगी य ।
सिद्धा य अणाहारा, सेसा आहारगा जीवा ॥

विग्रहगतिमेवाद् भवान्तरे विभिन्नदेशकमसम्, तापन्ना अनेऽपि जीवाः, तथा केवलिनः समुद्घाता इत्यसमुद्घातान्, अयो-

[illegible] केवलिनः [illegible] तथा सिद्धाः क्षीणकर्माष्टकाः । [illegible], एतद्व्यतिरिक्ताः शेषाः सर्वेऽप्याहारकाः । इह परभवे गच्छतां जन्तूनां गतिर्द्वेधा-ऋजुगतिः, विग्रहगतिश्च । तत्र यदा जीवस्य मरणस्थानादुत्पत्तिस्थानं समश्रेण्यां [illegible] भवति तदा ऋजुगतिः सा चैकसमया समश्रेणिव्यव- [illegible] समये एव असौ नियमादाहारकः [illegible] परभवायुषःप्रथमसमयेनाहारापच्छेदात् । यदा तु [illegible] उत्पत्तिस्थानं वक्रं भवति तदा विग्रहगतिः, [illegible] विग्रहेणोपलक्षिता गतिर्विग्रहगति- [illegible] तत्र विग्रहगत्यासौ [illegible] समयान् याव- [illegible] वक्रगतौ स्थितो जन्तुरेकेन द्वाभ्यां त्रि- [illegible], तत्रैकवक्रायां द्वौ समयौ [illegible] समये पूर्वशरीरमोक्षसमि- [illegible] जीवप्रदेशयोगाख्योमाहा- [illegible] [illegible]

[illegible]

केवलिपरिवर्जिताः संसारस्था जीवा एते [illegible] भवन्ति । ते च द्विविधत्रिविधविग्रहोत्पत्तौ [illegible] द्रष्टव्याः । चतुर्विग्रहपञ्चसमयोत्पत्तिस्तु [illegible] साक्षादुक्ता । तथाऽन्यत्राप्यभिहितम्-एको द्वौ [illegible] कः । यावज्जीवान् वा आनुपूर्व्या भवान्तरे [illegible] चत्वारः समया नाऽऽगमेऽभिहिताः ते च [illegible] भ्यन्ते,नान्यत्रेति । भवस्थकेवलिनस्तु समुद्घात [illegible] संहारावसरे तृतीयपञ्चमसमयौ द्वौ [illegible] सहितास्त्रयः समया भवन्तीति ॥ ७ ॥

पुनरपि निर्युक्तिकारः सादिकमपर्यवसानं [illegible] दर्शयितुमाह—

अंतो मुहुत्तमद्धं, सेलेसीए भवे अणाहारा ।
सादीयमनिहणं पुण, सिद्धा यणाहारगा होंति ॥ ८ ॥

शैलेश्यवस्थाया आरभ्य सर्वथाऽनाहारकः [illegible] यनन्तमपि कालं यावदिति पूर्वं तु [illegible] समयमाहारकः । [illegible] सू० २ श्रु० । नि० । श्रा० । कर्म० । [कं समयमणा[illegible] णं भंते ! कं समयमणाहारए भवइ त्ति " 'आहार' शब्दे [illegible] तीयभागे ५०० पृष्ठे वक्ष्यते]

अणाहारिम-अनाहारिम-न० । अनाहार्ये, नि० चू० ११ उ० ।

अणाहारिय-अनाहृत-त्रि० । अनीताहारकविरहितं [illegible] मिते, भ० १ श० १ उ० ।

अणाहिट्ठ-अनाधृष्ट-पुं० । वसुदेवस्य धारण्यां भार्यायां [illegible] दृश्यमानः गजसुकुमारस्येवाध्ययनमाहृत्यानां [illegible] शाध्ययने सूचिता । अन्त० ३ वर्ग० ।

अणिइय-अनिति[illegible]-पुं० । [illegible] तत्र न विद्यते इतिर्यत्रासावनिति[illegible] । [illegible] ईश्वरादेरपि दारिद्र्यादिभावात् संसारे, भ० ९ श० ११ उ० ।

अणिइयत्त-अनीतिकत्व-त्रि० । [illegible] भ० १ श० ।

अणिउं (उं) तय-अनिवृत्तक-न० । [illegible] [illegible] [illegible]

अणिउण-अनिपुण-त्रि० । न निपुणोऽनिपुणः । [illegible] आव० ४ अ० । नि० चू० । दर्श० ।

अणिउत्तवाइ (न्)-अनियतवादिन् पुं० । [illegible]

अणिउत्तवास-अनियतवास-पुं० । [illegible]

-मं, दयलाय कप्पइ पए निरिक्खिय य " दशा० २ चू० ।

अणिओग-अनियोग-पुं० । नियोगादन्योऽनियोगः । विपर्ये-ऽनियोगे, पं० चू० ४ कल्प० ।

अणिंगाल-अनङ्गार-त्रि० । रागपरिहारेणाङ्गारदोषरहिते, प्र० श्रु० १ संव० द्वा० ।

अणिंद-अनिन्द्र-त्रि० । नास्तीन्द्रो यस्मिन् सोऽनिन्द्रः । इन्द्रविरहिते प्रजास्वामिके, भ० ३ श० १ उ० ।

अनिन्द्य-त्रि० । अजुगुप्सिते, सामायिके च । आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

अणिंदणिज्ज-अनिन्दनीय-त्रि० । शीलाद्यौदार्यमाश्रित्ये, जी० १ प्रति० ।

अणिंदिय-अनिन्दित-त्रि० । शुभानुबन्धितयाऽगर्हणीये, ध० १ अधि० । सम्यक्क्रियासु, प्रश्न० १ पद ।

अनिन्द्रिय-पुं० । सिद्धे, अपर्याप्तके, उपयोगतः केवलिनि, स्था० १० ठा० । " णेरइया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-सइंदिया चेव, अणिंदिया चेव जाव वेमाणिया " स्था० २ ठा०३उ० ।

अणिंदिया-अनिन्दिता-स्त्री० । षट्पञ्चाशत्दिक्कुमारीणां मध्ये ऊर्ध्वलोकवास्तव्यायां दिक्कुमारीमहत्तरिकायाम्, स्था० ८ ठा० । आ० चू० । आ० म० प्र० । ति० ।

अणिक्खित्त-अनिक्षिप्त-न० । अविश्रान्ते, औ० । भ० ।

अणिकंप-अनिष्कम्प-त्रि० । अनिभृते, आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अणिकाम-अनिकाम-न० । परिमिते, पृ० १ उ० ।

अणिकाय-अनिकाय-पुं० । लघुमृषावादे, नि० चू० १ उ० । (' मुसावाय ' शब्देऽस्य विवृतिः) ।

अणिकेय-अनिकेत-पुं० । न विद्यते निकेतो गृहं यस्य । उत्त० २ अ० । अविद्यमानगृहे, अनेकत्र वस्तव्ये, उत्त० १ अ० ।

अणिक्कट्ठ-अनिष्कृष्ट-त्रि० । न० त० । कृशतोऽकृशशरीरे, मा-यतोऽप्रतीकृतकषाये, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अणिक्कावाइ (ण्)-अनेककवादिन्-पुं० । सत्यपि कथञ्चिदेकत्वे भावानां सर्वथाऽनेकत्वं वदतीत्यनेकवादी । परस्परविलक्षणा एव भावाः, तथैव प्रतीयमानत्वात् । यथा रूपं रूपतयैव । अभेदे तु भावानां जीवाजीवबद्धमुक्तसुखितदुःखितादीनामेकत्वप्रसङ्गात् दीक्षादिवैयर्थ्यमिति । किञ्च-सामान्यमङ्गीकृत्यैकत्वं विवक्षितं परैः । सामान्यं च भेदेभ्यो भिन्नाभिन्नतया चिन्त्यमानं न युज्यते । एवमवयवेभ्योऽवयवी धर्मेभ्यश्च धर्मी इत्येवमनेकवादी । इत्युपदर्शितस्वरूपे अक्रियावादिनि, स्था० ८ ठा० ।

अणिक्खित्त-अनिक्षिप्त-त्रि० । अनुज्झितेऽप्रत्याख्याते, भ० १७ श० २ उ० । अविश्रान्ते, औ० ।

अणिगाममोक्ख-अनिकाममौख्य-त्रि० । अपकृष्टसुखे तुच्छसुखे, उत्त० १४ अ० ।

अणिगण-अनग्न-पुं० । न विद्यन्ते नग्ना अस्तत्कालीना जना येभ्यस्तेऽनग्नाः । जं० २ वक्ष० । सकलत्वहेतुषु कल्पवृक्षेषु, स० १० सम० ।

अणिगूहण-अनिगूहन-न० । अगोपने, पंचा० १५ विव० ।

अणिगूहियबलवीरिय-अनिगूहितबलवीर्य-पुं० । अनिगूहितेऽगोपिते बलवीर्ये देहप्राणचित्तोत्साहरूपे येन स तथा । पंचा० १५ विव० । अनिह्नुतबाह्याभ्यन्तरसामर्थ्ये, ग० १ अधि० । दश० । आचा० । पं० चू० । " अणिगूहियबलवीरिए, परिक्कमइ जो जहुत्तमाउत्तो । जुंजइ य जहा थामं, नायव्वो वीरियायारो " दश० ३ अ० । पं० चू० । पञ्चा० ।

अणिग्गह-अनिग्रह-पुं० । अविद्यमानो निग्रह इन्द्रियनोइन्द्रियनियन्त्रणात्मको यस्येति । उत्त०१७ अ० । अवशीकृतेन्द्रिये, उत्त० ११ अ० । स्वैरे, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । उच्छृङ्खले, दश० ८ अ० । एकादशे गौणाऽब्रह्मणि, तथाऽनिग्रहोऽनिरोधो मनसो विषयेषु प्रवर्त्तमानस्येति गम्यते । एतत्प्रभवत्वाच्चास्याऽनिग्रह इत्युक्तम् । प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

अणिच्च-अनित्य-त्रि०न०त० । नियमिते सर्वदा स्थायिनि, आचा. १ श्रु० १ अ० ५ उ० । अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावतया कूटस्थं नित्यत्वेन व्यवस्थितं सत्यं तेन यत्तदनित्यम् । अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावं हि नित्यमतोऽन्यत्प्रतिक्षणविशराऽनित्यम् । आचा० १ श्रु०२अ०३उ० । अनु० । उत्त० । अशाश्वते, उत्त० २ अ० । अनित्यमस्थिरत्वात् । प्रश्न० ५ आश्र० द्वा० ।

अणिच्चजागरिया-अनित्यजागरिका-स्त्री० । अनित्यचिन्तायाम्, " अणिच्चजागरियं जागरेति " भ० १५ श० १ उ० ।

अणिच्चभावणा-अनित्यभावना-स्त्री० । अनित्यत्वचिन्तनात्मके प्रथमभावनाभेदे, प्रव० । तत्स्वरूपं च—

" ग्रस्यन्ते वज्रसाराङ्गा-स्तेऽप्यनित्यत्वरक्षसा ।
किं पुनः कदलीगर्भ-निःसारा नेह देहिनः ! ॥ १ ॥
विषयसुखं दुग्धमिव, स्वादयति जनो बिडाल इव मुदितः ।
नोत्पाटितलगुडमिवो-त्पश्यति यममहह ! किं कुर्मः ? ॥ २ ॥
धराधरधुनीनीर-पूरपारिप्लवं वपुः ।
जन्तूनां जीवितं वात-धूतध्वजपटोपमम् ॥ ३ ॥
लावण्यं ललनालोक-लोचनाञ्चलचञ्चलम् ।
यौवनं मत्तमातङ्ग-कर्णतालचलाचलम् ॥ ४ ॥
स्वाम्यं स्वप्नावलीसाम्यं, चपलाचपला श्रियः ।
प्रेम द्वित्रक्षणस्थेम, स्थिरत्वविमुखं सुखम् ॥ ५ ॥
सर्वेषामपि भावानां, भावयन्नित्यनित्यताम् ।
प्राणप्रियेऽपि पुत्रादौ, विपन्नेऽपि न शोचति ॥ ६ ॥
सर्ववस्तुषु नित्यत्व-ग्रहग्रस्तस्तु मूढधीः ।
जीर्णतृणकुटीरेऽपि, भग्ने रोदित्यहर्निशम् ॥ ७ ॥
ततस्तृष्णाविनाशेन, निर्ममत्वविधायिनीम् ।
शुद्धधीर्भावयेन्नित्यमित्यनित्यत्वभावनाम् " ॥८॥ प्रव०६७द्वा० ।

तथाऽनित्यत्वभावनैवम्—

" यत्प्रातस्तन्न मध्याह्ने, यन्मध्याह्ने न तन्निशि ।
निरीक्ष्यते भवेऽस्मिन् हि, पदार्थानामनित्यता ॥ १ ॥
शरीरं देहिनां सर्व-पुरुषार्थनिबन्धनम् ।
प्रचण्डपवनोद्धूत-घनाघनविनश्वरम् ॥ २ ॥
कल्लोलचपला लक्ष्मीः, संगमाः स्वप्नसंनिभाः ।
वात्याव्यतिकरोत्क्षिप्त-तूलतुल्यं च यौवनम् ॥ ३ ॥
तथा ध्यायन्ननित्यत्वं, मृतं पुत्रं न शोचति ।
नित्यतां गृहमूढस्तु, कुड्यभङ्गेऽपि रोदिति ॥ ४ ॥
एतच्छरीरधनयौवनबान्धवादि,
तावन्न केवलमनित्यमिहाऽसुभाजाम् ।

हर मुक्तविहारी भव। एतदेव दर्शयति-योगवानिति-संयमयोगवान्, गुप्तः समितिगुप्त इत्यर्थः । किमित्येवम् ?, यतोऽणवः सूक्ष्माः प्राणाः प्राणिनो येषु ते । तथा चैवंभूताः पथि अनुपयुक्तैर्जीवानुपमर्दैन दुस्तरा दुर्गमा इत्यनेन ईर्यासमितिरूपा क्रिया प्रस्थासोपलक्षणार्थत्वात् अन्यास्वपि समितिषु सततोपयुक्तेन यतितव्यम् । अपि च-अनुशासनमेव यथाऽऽगममेव सूत्रानुसारेण संयमं प्रक्रमेत् । एतच्च सर्वैरेव वीरैरर्हद्भिः सम्यक् प्रवेदितं प्रकर्षेणाऽऽख्यातमिति ॥ ११ ॥

अथ क एते वीरा इत्याह—

विरया वीरा समुट्ठिया कोहकायरियाइपीसणा ।
पाणे ण हणंति सव्वसो, पावाओ विरिया अभिनिव्वुडा १२

हिंसाऽनृताऽऽदिपापेभ्यो ये विरताः विशेषेण कर्म प्रेरयन्तीति वीराः, सम्यगारम्भपरित्यागेनोत्थिताः समुत्थिताः, ते, एवंभूताश्च क्रोधकातरिकादिपीषणाः, तत्र क्रोधग्रहणाद् मानो गृहीतः, कातरिका माया, तद्ग्रहणाल्लोभो गृहीतः । आदिग्रहणात् शेषमोहनीयपरिग्रहः । तत्पीषणास्तदपनेतारः, तथा प्राणिनः जन्तून् सूक्ष्मेतरभेदभिन्नान् सर्वशो मनोवाक्कायकर्मभिर्न घ्नन्ति न व्यापादयन्ति । पापाच्च सर्वतः सावद्यानुष्ठानरूपाद्विरता निवृत्ताः, ततश्चाऽभिनिर्वृत्ताः क्रोधाद्युपशमेन शान्तीभूताः । यदि वाऽभिनिर्वृत्ता मुक्ता इव द्रष्टव्या इति ॥ १२ ॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अणिच्चाणुप्पेहा-अनित्यानुप्रेक्षा-स्त्री० । " वायः सन्धिदिनापायः, सम्पदः पदमापदाम् । समागमाः सापगमाः, सर्वमुत्पादि भङ्गुरम् " ॥१॥ इत्येवं जीवितादेरनित्यत्वानुप्रेक्षा । धर्मरूपे धर्मध्यानस्यानुप्रेक्षाभेदे, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अणिच्छा-अनिच्छा-स्त्री० । इच्छाभावलक्षणायामात्मपरिणतौ, " अनिच्छा ह्यत्र संसारे, स्वेष्टालाभादनुत्कटा । " द्वा० ६ द्वा० । पं० सू० ।

अणिच्छियता-अनीप्सितता-स्त्री० । प्राप्तुमवाञ्छितत्वे, भ० ६ श० ३ उ० ।

अणिच्छियव्व-अनेष्टव्य-त्रि० । मनागपि मनसाऽपि अप्रार्थनीये, आव० ४ अ० । ध० । " दुच्चरितो अणायारो अणिच्छियव्वो " आव० ४ अ० ।

अणिज्जिण्ण-अनिर्जीर्ण-त्रि० । जीवप्रदेशेभ्यः परिशटितप्रदेशे, औ० । कर्म० ।

अणि (णि) ज्जमाण-अन्वीयमान-त्रि० । अनुगम्यमाने, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अणि (णि) ज्जमाणमग्ग-अन्वीयमानमार्ग-त्रि० । अनुगम्यमानमार्गे, " भडिया चडगरपहकरेणं अणिज्जमाणमग्गे मियापुत्ते गच्छेइ " इत्यादि । विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अणिज्जूहित्ता-अपोह्य-अव्य० । अदत्त्वेत्यर्थे, " वायं अणिज्जूहित्ता " अपोह्य दत्त्वा इत्याद्यागमसूत्रस्य । प्रश्न० । म० ।

अणिज्जाएत्ता-अनिर्याप्य-अव्य० । अनुपयोज्येत्यर्थे, भ० ७ श० ३ उ० ।

अणिज्जावणासिया-अनिर्यापणासिका-स्त्री० । वाचनासंपद्भेदे, दश० १ अ० ।

अणिज्जूढ-अनिर्यूढ-त्रि० । महतो ग्रन्थात् सुगमदर्शनाय

[illegible] विनिमित्तमनुग्रहपरगुरुभिरनुद्धृते, भ० १ श० ७ उ० ।

अणिट्ठ-अनिष्ट-त्रि० । इष्यते प्रेमेति प्रयोजनवशात् इष्टम्, न इष्टमनिष्टम् । भ० १ श० ५ उ० । ' इस्यानुष्ट्रेष्टासंदष्टे ' ॥ ८ । २ । ३४ ॥ इति सूत्रेण ष्टस्य ठः । प्रा० । सदा इष्टमनभिप्रेते, औ० । प्रश्न० । उपा० । स्था० । भ० । अवाञ्छिते, भ० ७ श० ३३ उ० । सदामनभिलषणीये, " सदा इष्टमनभिप्रेत-धन संरक्षणपरायणमणिट्ठं " आव० ४ अ० । " अणिट्ठा, अकंता, अप्पिया, अमणुण्णा, अमणामा, एते एकार्थाः । विपा० १ श्रु० १ अ० । " अणिट्ठा सव्वंति दाद्दिक्खे दुल्लिवणीया " अनिष्टा इत्याकेति गम्यते । प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । इष्टस्य सुखादेर्विपरीतम् प्रतिकूलवेदनीये दुःखे, तत्साधने पापे, विपत्ती, अपकारे च । नागबलायाम्, स्त्री० । वाच० । म० म० । यज्ञभागे देवादौ, वाच० । स्था० ।

अणिट्ठयर-अनिष्टतर-त्रि० । अतिशयेन अनभिप्रेते, औ० । प्रश्न० । विपा० ।

अणिट्ठफल-अनिष्टफल-न० । अशुभे कर्मणि, दशा० ६ अ० । अनभिमतफले दुर्गतिप्रयोजने, पञ्चा० ११ विव० । अनभिमतप्रयोजनेऽनर्थफले, पञ्चा० ३ विव० ।

अणिट्ठवयण-अनिष्टवचन-न० । आक्रोशादौ, " अणिट्ठवयणेहिं लप्पमाणा " प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अणिट्ठाविय-अनिष्ठापित-त्रि० । असमापिते, " अणिट्ठावियसव्वत्थसंकप्पं " अनिष्ठापितानाऽसमापिता सर्वार्था [illegible] संकल्पा यस्य तत्तथा । भ० ७ श० ३३ उ० ।

अणिट्ठस्सर-अनिष्टस्वर-पुं० । अप्रयोजकस्वरे [illegible], स्था० ८ ठा० ।

अणिट्ठिण्णुच्छाह-अनिष्टोत्साह-पुं० । [illegible] " न च सर्वथाऽनुष्ठानेषु यथाशक्त्यालम्बनं करोति " [illegible] ।

अणिट्ठुर-अनिष्ठुर-त्रि० । [illegible], प्र० ३ आश्र० ।

अणिट्ठीह-अनिष्टीवक-त्रि० । [illegible], प्रश्न० संव० द्वा० । सूत्र० ।

अणिड्ढिमंत-अनृद्धिमान्-पुं० । [illegible] मासे, सं० । प्रश्न० ।

अणिड्ढिमंत-अनृद्धिमत्-त्रि० । [illegible] " [illegible] सिद्धिमंता मणुस्सा पण्णत्ता । तं जहा-हेमवतगा हिरण्णवयगा हरिवंसगा रम्मगवंसगा कुरुवासिणो अंतरदीवगा " स्था० ६ ठा० ।

अणिद्दिय-अनीहित-पुं० । [illegible], स्था० ८० [illegible] ।

अणि[illegible]य-अनिन्द्रिय-पुं० । [illegible], स्था० [illegible] ([illegible]) [illegible] दिने, सू० १ अ० ।

अणिपहुवण-अनिद्रवन-न० । [illegible] अणोऽर्थाने [illegible] [illegible] ८ [illegible] [illegible] [illegible] दाऽऽह [illegible] । प्रश्न० ३ [illegible] । [illegible] । [illegible] ।

[illegible]हवणं भरतावो,
[illegible] मगाने अथिनमग [illegible] ।
[illegible] विन्नुस्याए,
[illegible] निर्दि [illegible] ॥ १६ ॥

[illegible] पइनो पवन्तो [illegible] भगाम अहीये !, मागारहि- [illegible] आगनो सम्भानि, ननो अहीनं भवति, [illegible] मो पुन [illegible] मनो नेण लज्जति । [illegible] सम्भति, [illegible] भवति । एवं [illegible] भवति । [illegible] उदाहरणं " नि० चू० १ उ० ।

[illegible]

अह [illegible] —

[illegible]

एसा " पि० । अनिर्धारणायाम्, "[illegible] अणिदाए येयणं वेदेंति " भ० [illegible] विकलायां सम्यग्विवेकविकलायाम्, [illegible] भोगयत्यां हिंसायाम्, भ० ११ श० २ उ० ।

अणिदा (या) ण-अनिदान-त्रि० । [illegible] द्विनिदानमस्तीत्यनिदानम् । सूत्र० १ श्रु० [illegible] विद्यते निदानमस्येत्यनिदानः, [illegible] सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । निदानरहिते, [illegible] जिते, आतु० । प्रार्थनारहिते, भ० २ श० [illegible] आचा० । भाविफलाशंसारहिते, " [illegible] जे स भिक्खू " दश० १० अ० । [illegible] गोधात्यादिलक्षणनिदानरहिते, सूत्र० १ श्रु० [illegible] न विद्यते निदानमारम्भरूपं भूतेषु [illegible] दानः । सावद्यानुष्ठानरहिते अनाश्रवे, सूत्र० [illegible] भोगर्द्धिप्रार्थनासमायमार्गध्यानम् । [illegible] स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अणिदा (या) णभूय-अनिदानभूत-त्रि० । [illegible] स्थानरहितेऽनाश्रयभूते कर्मोपादानरहिते [illegible] नादौ, सूत्र० ।

अप्पपिंडासि पाणासि अप्पं भासेज्ज सुव्वए । [illegible]
न विद्यते निदानमारम्भरूपं भूतेषु [illegible] स तथाभूतः सावद्यानुष्ठानरहितः [illegible] यतेतेत्येवमिति । यदि वा अनिदानभूतो [illegible] रहितः सुष्ठु परिव्रजेत् सुपरिव्रजेत् । [illegible] निदानकल्पानि ज्ञानादीनि तेषु परिव्रजेत् । [illegible] हेतु कारणं [illegible] निदानरूप [illegible] पादयन् संयमे पराक्रमेतेति । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

अणिदा (या) णया-अनिदानता-स्त्री० । [illegible] ज्ञानादाराधना [illegible] [illegible]

[illegible]

अणिदिट्ठ-अनिर्दिष्ट-त्रि० । [illegible]

अणिद्देस-अनिर्देश-पुं० । [illegible]

[illegible]

अणिमिस-अनिमिष-पुं० । न० ब० । मत्स्ये, "बहु अट्ठियं पोग्गलं, अणिमिसं वा बहुकंटयं" दश० १ अ० । निश्चयनये, आव० ४ अ० ।

अणिमिसणयण-अनिमिषनयन-पुं० । न विद्यते निमेषो येषां तानि अनिमेषाणि, अनिमेषाणि नयनानि येषां तेऽनिमेषनयनाः । देवेषु, "अमिलायमल्लदामा, अणिमिसणयणा य नीरजसरीरा । चउरंगुलेण भूमिं, न छिवंति सुरा जिणो कहइ" ध० र० १ उ० । आ० म० द्वि० । निर्निमेषलोचने, पञ्चा० १७ विव० ।

अणिय-अनीक-न० । सैन्ये, कल्प० ।

देवेन्द्राणां सानीका अनीकाधिपतयः—

चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो सत्त अणिया, सत्त अणियाहिवई पण्णत्ता । तं जहा-पायत्ताणिए, पीढाणिए, कुंजराणिए, महिसाणिए, रहाणिए, नट्टाणिए, गंधव्वाणिए, दुमे पायत्ताणियाहिवई । एवं जहा पंचट्ठाणे जाव किन्नरे रहाणियाहिवई रिट्ठे नट्टाणियाहिवई गीयरई गंधव्वाणियाहिवई । बलिस्स णं वइरोयणिंदस्स वइरोयणरण्णो सत्त अणिया, सत्त अणियाहिवई पण्णत्ता । तं जहा-पायत्ताणियं जाव गंधव्वाणियं । महद्दुमे पायत्ताणियाहिवई जाव किंपुरिसे रहाणियाहिवई महारिट्ठे णट्टाणियाहिवई गीयजसे गंधव्वाणियाहिवई । धरणस्स णं नागकुमारिंदस्स नागकुमाररण्णो सत्त अणिया, सत्त अणियाहिवई पण्णत्ता । तं जहा-पायत्ताणिए जाव गंधव्वाणिए । रुद्दसेणे पायत्ताणियाहिवई जाव आणंदे रहाणियाहिवई णंदणे णट्टाणियाहिवई तेतली गंधव्वाणियाहिवई । भूयाणंदस्स सत्त अणिया, सत्त अणियाहिवई पण्णत्ता । तं जहा-पायत्ताणिए जाव गंधव्वाणिए दक्खे पायत्ताणियाहिवई जाव णंदुत्तरे रहाणियाहिवई रई णट्टाणियाहिवई माणसे गंधव्वाणियाहिवई । एवं जाव घोसमहाघोसाणं णेयव्वं । सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो सत्त अणिया, सत्त अणियाहिवई पण्णत्ता । तं जहा-पायत्ताणिए जाव गंधव्वाणिए । हरिणेगमेसी पायत्ताणियाहिवई जाव माढरे रहाणियाहिवई सेए णट्टाणियाहिवई तुंबरो गंधव्वाणियाहिवई । ईसाणस्स णं देविंदस्स देवरण्णो सत्त अणिया, सत्त अणियाहिवई पण्णत्ता । तं जहा-पायत्ताणिए जाव गंधव्वाणिए लहुपरक्कमे पायत्ताणियाहिवई जाव महासेए णट्टाणियाहिवई णारए गंधव्वाणियाहिवई । सेसं जहा-पंचट्ठाणे एवं जाव अच्चुअस्सेति नेयव्वं । स्था० ७ ठा० ।

अनृत-न० । वितथे, मिथ्यावितथमनृतमिति पर्यायाः । स्था० १० ठा० । आ० म० द्वि० । विशे० । आव० ।

अणियट्ट-अनिवर्त्त-पुं० । मोक्षे, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अणियट्टगामिन्-अनिवर्त्तगामिन्-पुं० । अनिवर्त्तो मोक्षस्तद् गन्तुं शीलं यस्य स तथा । निर्वाणयायिनि, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

अणियट्टि(ण्)-अनिवर्त्तिन्-न० । न निवर्त्तते न व्यावर्त्तते इत्येवंशीलमनिवर्त्ति । प्रवर्धमानतरपरिणामाद् व्यावर्त्तनशीले, "सुहुमकिरिए अणियट्टी" इति शुक्लध्यानस्य तृतीये भेदे, स्था० ४ ठा० १ उ० । सूत्र० । [illegible] महामहे, ध० म० २० पाहु० । आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यां भविष्यति विंशतितमे तीर्थकरे, प्र० ।

अणियट्टिकरण-अनिवृत्तिकरण-न० । निवर्त्तनशीलं निवर्त्ति, न निवर्त्ति अनिवर्त्ति, आ सम्यग्दर्शनलाभान्न निवर्त्तत इत्यर्थः । न निवर्त्तते नापैति मोक्षतरुबीजकल्पसम्यक्त्वमनवाप्यैवेत्येवंशीलमनिवर्त्ति । पञ्चा० ३ विव० । [illegible] नानिवर्त्तन्ते परिणामा अस्मिन्नित्यनिवृत्तिकरणम् । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । तच्च करणं च अनिवृत्तिकरणं [illegible] भव्यानां करणभेदे, "अनियट्टीकरणं पुण, सम्मत्तपुरक्खडे जीवे" आ० म० द्वि० ।

अणियट्टिबायर-अनिवृत्तिबादर-पुं० । न विद्यते अन्योऽन्यमध्यवसायस्थानस्य व्यावृत्तिर्यस्यासावनिवृत्तिः । स चासौ बादरश्चेति । कर्म० २ कर्म० । नवमगुणस्थाने वर्त्तमाने जीवे, स च कषायाधिक [illegible] अनिवृत्तिबादर [illegible] बादरः । आव० ४ अ० । [illegible]

अणियट्टिबायरसंपरायगुणट्ठाण-अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थान-न० । नवमगुणस्थाने, [illegible] प्रतिपन्नानां बहूनामपि [illegible] व्यावृत्तिर्नास्तीति अनिवृत्तिः, [illegible] संपरायः [illegible] बादरः [illegible] अनिवृत्तिबादरः [illegible] गुणस्थानमनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानम् । [illegible] मुहूर्त्तप्रमाणमेव । [illegible] उपशमकः [illegible] कर्म० २ कर्म० । प्रव० । पं० सं० ।

अणियत्त-[illegible]-पुं० । [illegible]

अणियत(य)-अनियत-त्रि० । [illegible] कर्म० १ [illegible] । [illegible]

थेर य । देवासुरमनुष्याणा-मृद्धयश्च सुखानि च । " सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । इदं शरीरमनियतं सुरूपादेरपि कुरूपादिदर्शनाद् हरितिलकयजसुनाथिकमकुमारशरीरवत् । तं० । " अणियओ वासो " अनियतो वासो नानादेशपरिभ्रमणम् । व्य० १ उ० ।

अणियय (य) चारय्-अनियतचारिन्-पुं० । अनियतमप्रतिबद्धं च ३ उद्योगाचरितुं शीलमस्यासावनियतचारी । अप्रतिबद्धविहारिणि, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अणियत (य) प्प (प्प)-अनियतात्मन्-पुं० । असंयते, अनिश्चितस्वरूपे च । सू० ८ अष्ट० ।

अणियत (य) वट्टि-अनियतवृत्ति-पुं० । अनियतविहारे, उत्त० १ अ० ।

अणियत (य) वास-अनियतवास-पुं० । मासकल्पादिना-ऽनिकेतवासे गृहे, उद्यानादौ वासे, दश०२ चूलि० । "अणियओ वासो निव्वाणविहारो " अस्य गृहीतसूत्रार्थस्य शिष्यस्यानियतो वासः क्रियते । ग्रामनगरसन्निवेशादिष्वनियतवासेन । विशे० । देशदर्शनं कार्यते ततः स आचार्यपदं स्थाप्यते । द० १ अ० ।

अणियत (य) वित्ति-अनियतवृत्ति-पुं० । अनियतचारिणि अनियतविहारे, दशा० ८ अ० । व्य० । अनियताऽनिश्चिता वृत्तिर्वर्तनं विहारो वा यस्य सोऽनियतवृत्तिः । "गामे एगराइं नगरे पंच राई " इत्यादिप्रकारेण । दशा० ४ अ० ।

अणियत्त-अनिवृत्त-त्रि० । अनिवृत्ते, उत्त० २ अ० ।

अणियत्तकाम-अनिवृत्तकाम-त्रि० । अनुपरतेच्छौ, उत्त०१४ अ० ।

अणियाद्दिवा-अनीकाधिपति-पुं० । ६ त० । गजादिसैन्यप्रधाने सेनानायके, स्था० ३ ठा० १ उ० । रा० । (यस्य यावन्तोऽनीकानि अनीकाधिपतयश्च ते सर्वे 'अणिय' शब्दे उक्ताः)

अणिरिक्ख-अनिरीक्ष्य-अव्य० । चक्षुषाऽप्रत्युपेक्ष्येत्यर्थे, आ० ।

अणिरुद्ध-अनिरुद्ध-त्रि० । अविद्यमानस्खलिते, सूत्र० १ श्रु०१२ अ० । [illegible] प्रद्युम्नस्य वैदर्भ्यामुत्पन्ने पुत्रे, स च [illegible] सिद्धः अन्त० ४ वर्ग । प्रश्न० ।

अणिरुद्धपण्ण-अनिरुद्धप्रज्ञ-पुं० । अनिरुद्धा अविद्यमानस्खलिता प्रज्ञा, [illegible] ज्ञानं, येषां तीर्थकृतां तेऽनिरुद्धप्रज्ञाः । अविद्यमानस्खलितप्रज्ञेषु तीर्थकृत्सु, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अणिल-अनिल-पुं० । वायौ, सूत्र० १ श्रु० [illegible] ठा० । कर्म० । [illegible] आवश्यके [illegible] भारतवर्षीयाभिधेये, [illegible] च । कल्प० । प्रव० । ठा० । नि० ।

अणिलाह (य)-अनिलाहतिन्- त्रि० । [illegible] , [illegible]

[illegible] द० १ अ० १ वर्ग ।

[illegible] विशेषरहिते, विशे० १ [illegible]

[illegible] [illegible] सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

अणिव्वत-अनिर्वृत-त्रि० । न०त० । कषायैरनुपशान्ते "पिव्वते घातमुवेति बाले " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । अपरिणते, दश० १ अ० ।

अणिव्वाणमादि-अनिर्वाणादि-त्रि० । अनिर्वृत्तदेहादिसिद्धिप्रभृतिषु दोषेषु, पञ्चा० ७ विव० ।

अणिव्वाणि-अनिर्वाणि-पुं० । असुखे, व्य० १ उ० ।

अणिव्वुइ-अनिर्वृति-स्त्री० । पीडायाम्, आ० म० द्वि० ।

अणिव्वुड-अनिर्वृत-त्रि० । अपरिणते, दश० १ अ० ।

अणिव्वेय-अनिर्वेद-पुं० । उद्योगाननुपरमे, दश० ३ अ० । (तद्विषया अर्थकथा ' अत्थकहा ' शब्देऽत्रैव भागे वक्ष्यते)

अणिसिट्ठ-अनिसृष्ट-त्रि० । न निसृष्टं सर्वैः स्वामिभिर्दानार्थमनुज्ञातं यत् तदनिसृष्टम् । पिं० । एकस्यैव देयं बहुसाधारणे, "अणिसिट्ठं सामन्नं गोट्ठियभत्ताइ दाउं " प्रश्न० ५ संव० द्वा० । पञ्चा० । दशा० । ध० । अनिसृष्टं स्वामिनाऽननुसंकलितं निष्पन्नमेवान्यतः समानीतम् । आचा० २ श्रु० २ अ० १ उ० । यदा त्रिप्रभृतीनां पुरुषाणां साधारणं वस्तु एकोऽन्याननापृच्छ्य साधवे ददाति तदा पञ्चदशोऽनिसृष्टदोष उद्गमस्य । उत्त० २४ अ० ।

अथानिसृष्टद्वारमाह-

अणिसिट्ठं पडिकुट्ठं, ऽणुन्नायं कप्पए सुविहियाणं ।
लड्डुग चोल्लग जंते, संखडि खीराऽऽवणाईसु ॥

निसृष्टमुक्तमनुज्ञाते, तद्विपरीतमनिसृष्टमननुज्ञातमित्यर्थः । तत् प्रतिकुष्टं निराकृतं तीर्थकरगणधरैरनुज्ञातं पुनः कल्पते सुविहितानाम् । तच्चानिसृष्टमनेकधा । तद्यथा-लड्डुकविषयं [illegible] विषयं, तथा क्षुल्लकविभोजनविषयम् । (यन्त्र इति) इक्षुयन्त्राणि विषयं, तथा संखडिविषयं विवाहादिविषयं, तथा क्षीरविषयं दुग्धविषयं, तथा आपणादिविषयम् । आदिशब्दाद् गृहादिविषयमवसेयम् । इयमत्र भावना-इह [illegible] सृष्टं द्विधा । तद्यथा-साधारणानिसृष्टं, भोजनानिसृष्टं च । तत्र भोजनानिसृष्टं क्षुल्लकभोजनम्, साधारणानिसृष्टं तु [illegible] इति ।

तत्र मोदकविषयं साधारणानिसृष्टद्वारमधिकृत्य गाथाचतुष्टयं दर्शयति—

बत्तीसा सामन्ने, ते कहि घडाउं गय त्ति [illegible] ।
पासाधिपण पुन्ने, न तरसि काउं ति [illegible] ॥
अवि य हु बत्तीसाए, दिन्ने हि तवेगो मोयगो न [illegible] ।
अप्पवयं बहुआयं, जइ जाणसि देहि तो [illegible] ॥
मानिय नितो पुट्ठो, किं लद्धं देवह भंडार ।
इयरो वि अहो नाई, देवि ति [illegible] ॥
गेण्हणकड्ढणववहार-पच्छकडुड्डाह [illegible] ।
आयम्मि भवे दोसा, पडुप्पि [illegible] ॥

[illegible]

ष्टो धर्मं श्रावयित्वा तं पुरुषं मोदकान् याचितवान् । स प्राह-भगवन् ! न ममैकाकिनोऽधीना एते मोदकाः किन्त्वन्येषामप्येकात्रिंशज्जनानां, ततः कथमहं प्रयच्छामि ?। एवमुक्ते साधुराह-ते (कहिं ति) कुत्र गताः ?। स प्राह-नद्यां स्नातुमिति । तत एवमुक्ते भूयोऽपि साधुस्तं प्रत्याह-परसत्केन मोदकसमूहेन त्वं पुण्यं कर्तुं न शक्नोषि ?, यदेवं याचितोऽपि न ददासि । महामूढस्त्वं यः परसत्कानपि मोदकान् मह्यं दत्त्वा पुण्यं नोपार्जयसि । अपि च-द्वात्रिंशतमपि मोदकान् यदि मे प्रयच्छसि तथापि तव भागे एक एव मोदको याचितः । एवमलाभ्ययं वचनं यदि जानासि सम्यग् हृदयेन तर्हि देहि मे सर्वानपि मोदकानिति । एवमुक्ते दत्तास्तेन सर्वेऽपि मोदकाः, भृतं साधुभाजनम्, ततः संजातहर्षः साधुस्तस्मात् स्थानाद् विनिर्गन्तुं प्रवृत्तः । अत्रान्तरे च सर्वे समागच्छन्ति स्म माणिभद्रादयः । पृष्टश्च तैः साधुः-भगवन् ! किमत्र त्वया लब्धम् ?। ततः साधुना चिन्तितम्-यथा एते मोदकस्वामिनस्ततो यदि मोदका लब्धा इति वक्ष्ये तर्हि भूयोऽपि ग्रहीष्यन्ति । तस्मान्न किमपि लब्धमिति प्रवीमीति । तथैवोक्तवान् । ततस्तैर्माणिभद्रप्रमुखैर्भाराक्रान्तं साधुमवलोक्य संजाताशङ्कैरभाणि-दर्शय निजभाजनं साधो ! येन प्रेक्षामहे । साधुश्च न दर्शयति । ततो बलात्प्रलोकितम् । दृष्टा मोदकाः । ततः कोपारुणलोचनैः साधिक्षेपं स कपुरुषः पृष्टः-यथा किं भोः त्वयाऽस्मै सर्वेऽपि मोदका दत्ताः ?। स तेन कम्पमानोऽवदत्-न मया दत्ताः । एवं चोक्ते माणिभद्रादिभिः साधुरुचे-चौरस्त्वं पापः साधुवेषविडम्बक ! स्वहोढ इति इदानीं प्राप्तोऽसि, कुतस्ते मोक्ष इति गृहीतो वस्त्राञ्चले कर्षितो बाहुना । ततः पश्चात् कुट्टित इति गृहीत्वा सकलमपि पात्ररजोहरणादिकमुपकरणं गृहस्थीकृतः, तत उद्दाह इति । नीतो राजकुलम्, कथितो धर्माधिकरणिकानाम् । पृष्टश्च तैः साधुश्च न किमपि लज्जया वक्तुं शक्तवान् ?। ततः परिभावितम्-नूनमेष चौर इति, परं साधुवेषधारीति कृत्वा प्राणैर्मुक्तो भिक्षुविषयश्चाऽऽज्ञापितः । एवमप्रज्ञापनायके दातरि एनेऽनन्तरोक्ता ग्रहणकर्षणादयो दोषा भवन्ति । (पहुम्मि त्ति) तृतीयार्थे सप्तमी । यथा-" तिसु अलंकियपुहवी । " इत्यत्र । ततोऽयमर्थः-तस्मात्प्रभुणा नायकेन दत्ते सति साधुना ग्रहणं प्रकाशं कर्तव्यम् ; नः आख्याछेद्यादिकं सम्यक् परिहर्तव्यमिति । उक्तं सोदाहरणं मोदकद्वारम् ।

अधुना शेषाण्यपि द्वाराण्यतिदेशेन व्याख्यानयति—

एमेव य जंतम्मि वि, संखडि खीरआवणाईसु ।
सामन्नं पडिकुट्ठं, कप्पइ घेत्तुं अणुन्नायं ॥

एवमेव मोदकोदाहरणप्रकारेण यन्त्रेऽपि संखड्यामपि क्षीरे च आपणादिषु च यत् सामान्यं साधारणं तत् स्वामिभिः सर्वैरप्यनिसृष्टं,तत् प्रतिकुष्टं तीर्थकरगणधरैः अनुज्ञातम्, पुनः सर्वैरप्यस्वामिभिः कल्पते ग्रहीतुम्, तत्र दोषाभावात् ।

संप्रति चुल्लकद्वारस्य प्रस्तावना चुल्लकस्य भेदं च प्रतिपादयति-

चुल्ल त्ति दारमहुणा, बहुवत्तव्वं ति तं कयं पच्छा ।
चुल्लेऽइ गुरू सो पुण, सामिय हत्थाण विण्णेओ ॥

अधुना चुल्लकद्वारं व्याख्येयम् । अथोच्यते सूत्रगाथायां द्वितीये स्थाने निर्दिष्टमपि कस्माद् व्याख्यायते नाधुना ?। तत आह-बहुवक्तव्यमिदं द्वारम्, अतः व्याख्यावसरो पश्चा-स्कृतम् । तत्र चुल्लकस्तीर्थकरादिभिर्द्वैविध्येन प्ररूपयति यथा स चुल्लको द्विधा । तद्यथा-स्वामिनो हस्तिनश्च ।

तत्र प्रथमतः स्वाम्यनिर्दिष्टं चुल्लकमाह—

छिन्नमछिन्नो दुविहो, होइ अछिन्नो निसिट्ठ अनिसिट्ठो ।
छिन्नम्मि चुल्लगम्मि य, कप्पइ घेत्तुं निसिट्ठम्मि ॥

इह द्विधा चुल्लकः । तद्यथा-छिन्नोऽछिन्नश्च । इयमत्र भावना-इह कोऽपि कौटुम्बिकः क्षेत्रगतहालिकानां कस्यापि पार्श्वे कृत्वा भोजनं प्रस्थापयति । स यदा एकैकहालिकयोग्यं पृथक् पृथक् भाजने कृत्वा प्रस्थापयति, तदा स चुल्लकश्छिन्नः, यदा तु सर्वेषामपि हालिकानां योग्यमेकस्मिन्नेव स्थाल्यां कृत्वा प्रस्थापयति, तदा सोऽछिन्नः । एवमन्यत्राप्युत्सवादिषु छिन्नाछिन्नत्वं चुल्लकस्य भावनीयम् । अछिन्नोऽपि द्विधा । तद्यथा-निसृष्टोऽनिसृष्टश्च । तत्र निसृष्टः कौटुम्बिकेन येषां च हालिकानां योग्यः स चुल्लकस्तैश्च साधुभ्यो दानाय मुत्कलितः । इतरस्तु मुत्कलितोऽनिसृष्टः । तत्र यस्य निमित्तं छिन्न स एव येन स्वामीयस्य छिन्नस्य दाता तर्हि कल्प्यम् [illegible] स्वामिना दीयमाने साधूनां ग्रहीतुं कल्पते, दोषाभावात् , [illegible] छिन्नेऽपि सर्वैरपि [illegible] अनुज्ञाते तं ग्रहीतुं कल्पते, तत्रापि दोषाभावात् ।

एतमेवार्थं सविशेषमाह—

छिन्नो दिट्ठमदिट्ठो, जाय निसिट्ठो य [illegible] य ।
सो कप्पइ इयरो उ ण, अदिट्ठदिट्ठो [illegible] ॥

यत्पुनर्यो यस्य निमित्तं छिन्नः स तेन [illegible] स्वामिना कुटुम्बिकेनादृष्टो दृष्टो वा कल्पते । तथा [illegible] योऽपि च यस्य निमित्तं छिन्नः स [illegible] दीयमानः स्वस्वामिभिरदृष्टो दृष्टो वा कल्पते । [illegible] त्ति) इतर एतद्व्यतिरिक्तः, तुः पुनरर्थे । [illegible] स्वस्वामिभिरननुज्ञातोऽदृष्टो दृष्टो वा न कल्पते, [illegible] दिदोषप्रसङ्गात् । [illegible] विधिः [illegible] वेदितव्यः ।

तथा चैतदेव गाथार्द्धेन [illegible]-

अणुसिट्ठमणुन्नायं, कप्पइ घेत्तुं [illegible] ॥
गजयस्स य [illegible], न कप्पइ [illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

निरविरो गजहरं, [illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible]

[illegible] प्रशंसति, [illegible] इति साधोरान्तरापि- [illegible] [illegible] (अणि- [illegible] -ति) [illegible] [illegible] मृह्णाति, तदा [illegible] कदाचित [illegible] तं [illegible] तस्मात [illegible]

[illegible]

तत्थेति क्रियाविशेषणम्। [illegible] [illegible] [illegible] आहाराई, [illegible]
म० ८ अ० ७ उ० ।

अणिस्सिओवहाण-अनिश्रितोपधान-न० । [illegible] उपधानम्-उपधानकर्म, [illegible] आ० चू० । [illegible] ३२ सम० । [illegible] योगसङ्ग्रहः ।

इह पत्ते [illegible]

" पाडलिपुत्त महागिरि, [illegible]
[illegible]
[illegible] महागिरि [illegible]
महागिरिमहासत्तो, [illegible]
जिनकप्पे [illegible]
[illegible]
तत्र [illegible]
[illegible]
ततः [illegible]
महागिरि [illegible] तथा- [illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]

" गजेन्द्राऽऽरूढ एवाय, त्रिः प्राग्द्विणायन् प्रहम् ।
ततो दशार्णकूटाख्ये, तत्पदान्युत्थितान्यथ ॥ १९ ॥
देवानुभावात् ख्यातोऽथ , गजेन्द्रपद इत्यसौ ।
तस्मिन् महागिरिर्भक्तं, प्रत्याख्याय दिवं ययौ ॥ २० ॥
सुहस्तिसूरयोऽप्येयुरुज्जयिनी पुरीम् ।
सुभद्रा यानशालायां, विशालायां च ते स्थिताः ॥ २१ ॥
एकदा नलिनीगुल्माध्ययनं पर्यवर्तयन् ।
सुभद्रासुतस्तदाऽवन्तिसुकुमालो महर्द्धिकः ॥ २२ ॥
त्नीद्वात्रिंशता सार्द्धं, सौधे सप्ततलेऽललत् ।
सुमधुरः स तच्छ्रुत्वा, जातजातिस्मृतिः क्षणात् ॥ २३ ॥
आगत्याऽथोचताचार्यान्-सुकुमालोऽस्म्यहं प्रभो ! ।
अभूवं नलिनीगुल्मे, देवः प्राच्यतने भवे ॥ २४ ॥
कथं तद्भिव पूर्य किं, यूयमभ्यागतास्ततः ? ।
गुरवोऽप्यवन्तिसुनेन्द्र ! तद्विदो वयमागमात् ॥ २५ ॥
कथं लभ्यते इत्यस्मिन्नुत्सुते भद्र ! संयमात् ।
ोऽवक् न भवमं कर्तुं, चिरं शक्तोऽस्मि किं पुनः ? ॥ २६ ॥
दर्यां मनमादाय, कारिष्यामीङ्गिनीमृतिम् ।
पृष्टजननीं, नैच्छ-त्रोचं सोऽथाकृत स्वयम् ॥ २७ ॥
ई गुरुदत्तो सोऽगात्, ततः कन्थारिकावने ।
यां प्रतिमया तत्र, श्मशानेऽनशनी मुनिः ॥ २८ ॥
त्पादासृग्गन्धेना-ऽऽगत्य तत्र शिवाऽभ्यगात् ।
कनः सा शिवाऽखादत्, तदपत्यानि चान्यतः ॥ २९ ॥
प्रथमे प्रहरे जानू, ऊरुस्तम्भौ द्वितीयके ।
तृतीये जठरं तुर्ये, मृत्वा स्थानेऽजनीप्सिते ॥ ३० ॥
न्धाम्बुपुष्पवर्षाणि, तस्योपरि सुरा व्यधुः ।
चार्यास्तज्जनैः पृष्टास्तमिष्टगतिं जगुः ॥ ३१ ॥
सुभद्रा सस्नुषा तत्र, वीक्ष्य तं कृतदुष्करम् ।
प्रव्राज स्थितैका तु, गुर्विणी तत्सुता ततः ॥ ३२ ॥
अचीकरद्देवकुलं श्मशानेऽहत्सुतोच्छ्रितम् ।
तदिदानीं महाकालं , जातं लोकपरिग्रहात् ॥ ३३ ॥
आर्यमहागिरीणामनिश्रितं तपः । आ० क० ।

अणिस्सिय-अनिश्रित-त्रि० । निश्चयेनाऽऽधिक्येन च श्रितो-निश्रितः न निश्रितोऽनिश्रितः । कचिच्छरीरादावप्रतिबद्धे, "एस वि समणे अणिस्सिए अणियाणे " सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । " अगिद्धे सद्दफासेसु, आरंभेसु अणिस्सिए " आरम्भेषु सावद्यानुष्ठानरूपेष्वनिश्रितोऽसम्बद्धोऽप्रवृत्त इत्यर्थः । सूत्र० १ श्रु०९ अ० । आचा० । कुलादिष्वप्रतिबद्धे, दश०१ अ० इह परलोकाऽऽशंसाविप्रमुक्ते, " जाव जीवाए अणिस्सिओ-हं नेव सयं पावं कम्मं पावएज्जा " पा० । ध० । प्र० । द्रव्यभाव-निश्रया रहिते प्रतिबन्धविप्रमुक्ते, दश० ९ अ०१ उ० । कीर्त्यादिनिरपेक्षे वैयावृत्त्यादौ , प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० । अलिङ्गे अवग्रहे, " अणिस्सियमोगिण्हइ " निश्रितो लिङ्गमितोऽभिधीयते-यथा यूथिकाकुसुमानामत्यन्तशीतमृदु-स्निग्धादिरूपः प्राक् स्पर्शोऽनुभूतस्तेनाऽनुमानेन लिङ्गेन तं यमपरिच्छिन्दत् यदा ज्ञानं प्रवर्तते तदाऽनिश्रितमलिङ्गमवगृह्णातीत्यभिधीयते । स्था० ६ ठा० । अनिश्रितं नाम पुस्तकादिनिरपेक्षमेवावगृह्णाति च । अथवा-एकवारं श्रुतं पुनर्यदा कश्चिदनूद्य वदति तदैव वक्तुं समर्थो नाऽन्यदा । एवं विधाने किन्तु स्वरस्थानिरपेक्ष एव भवतीति । दशा० ५ अ० ।

निश्रारहिते, कस्याऽपि साहाय्यमवाञ्छति, उत्त० १९ अ० ।

अणिस्सियकर-अनिश्रितकर-त्रि० । रागद्वेषपरिहारतो यथाऽवस्थितव्यवहारकारिणि, व्य० ३ उ० ।

अणिस्सियप्प (ण्)-अनिश्रितात्मन्-पुं० । अनिदाने, "अणिस्सियप्पा अपडिबद्धा " आव० ६ अ० ।

अणिस्सियवयण-अनिश्रितवचन-त्रि० । रागादिना वाक्यकालुष्यवर्जिते, दशा० ४ अ० ।

अणिस्सियवयणया-अनिश्रितवचनता-स्त्री० । निश्रितं क्रोधादीनाम्, अथवा रागद्वेषाणां निश्रामुपगतम् । न निश्रितमनिश्रितम् । व्य० ३ उ० । मध्यस्थ वचनतायाम् , स्था० ८ ठा० । रागाद्यकलुषवचनतायाम्, उत्त० १ अ० ।

अणिस्सियववहारि (ण्)-अनिश्रितव्यवहारिन्-पुं० । निश्रा रागः, निश्रा संजाता यस्येति निश्रितः । न निश्रितोऽनिश्रितः । स चाऽसौ व्यवहारश्चाऽनिश्रितव्यवहारः, तत्करणशीला अनिश्रितव्यवहारिणः । अरागेण व्यवहारकारिणि, व्य० १ उ० ।

अणिह-अनिह-पुं० । निहन्यत इति निहः । न निहोऽनिहः । क्रोधादिभिरपीडिते, तपःसंयमसहने वा, निगूहितबलवीर्ये च । "अणिहे से पुट्ठे अहियासए" सूत्र० १ श्रु० २ अ०१ उ० । परीसहोपसर्गैः निहन्यत इति निहः । न निहोऽनिहः । उपसर्गैरपराजिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । " अणिए सहिए सुसंवुडे, धम्मट्ठी उवहाणवीरिए " सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । निहन्यन्ते प्राणिनः संसारे यया सा निहा माया । न विद्यते सा यस्याऽसावनिहः । मायाप्रपञ्चरहिते, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । दश० । " अर्सि सुठिच्चा अणिहे चरेज्जा " सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

अनिहत-पुं० । निश्चयेन निहन्यत इति निहतः । न निहितोऽनिहतः । भावरिपुभिरिन्द्रियकषायकर्मभिरनिहते, " अणिहे एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरं " आचा० १ श्रु० ४ अ०४ उ० । सर्वत्र ममत्वरहिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अणिहण-अनिधन-त्रि० । अन्तरहिते, अष्ट० ७ अष्ट० ।

अणिहतय-अनिहतक-त्रि० । निरुपक्रमायुष्कत्वात् उरो युद्धे च, भूम्यामपातित्वाद् घातमप्रापिते, स० ।

अणिहयरिउ-अनिहतरिपु-पुं० । भद्दिलपुर... [illegible]

१४, ५४ [illegible]

शत्रुञ्जये [illegible]

३ वर्ग० ६ । [illegible]

अणिहुत (य)-अनिभृत-त्रि० । अनुपशान्ते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । औ० । निरर्गलमनि, सू० ३ उ० । " अणिहुया य संलावा " अतिरूनाथ संलापा गुर्वादिनाऽपि निष्ठुरपरुषोक्त्यादयः । पं० व० ४ द्वा० । प्रश्न० । सू० ।

अणिहुत (य) परिणाम-अनिभृतपरिणाम-त्रि० । अनिभृतोऽनुपशान्तपरः परिणामो येषां ते, अनुपशमपरपरिणामेषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

(१०) एवां चानुयोगविषयाणां द्रव्यादीनां परस्परं यस्य यत्र समावेशो भजना वा तन्निरूपणम् ।
(११) एकार्थिकानां वक्तव्यता ।
(१२) अनुयोगशब्दार्थनिर्वचनम् ।
(१३) अनुयोगविधिः ।
(१४) प्रवृत्तिद्वारम् ।
(१५) गुरुशिष्ययोश्चतुर्भङ्गीनिरूपणम् ।
(१६) केनानुयोगः कर्तव्यः ।
(१७) कस्य शास्त्रस्यानुयोगः कर्तव्यः ।
(१८) पञ्चज्ञानेषु श्रुतज्ञानस्यानुयोगः ।
(१९) तद्द्वारे ऽनुयोगलक्षणम् ।
(२०) यथोक्तगुणयुक्तस्य कोऽर्ह इत्यनेन संबन्धेन तदर्हद्वारम् ।
(२१) कथाधिकारः ।
(२२) चरणकरणाद्यनुयोगचातुर्विध्यनिरूपणम् ।
(२३) अनुयोगानां पृथक्त्वमार्यरक्षितात् ।

(१) अथाऽनुयोगाधिकारः, स चैतैर्द्वारैरनुगन्तव्यः—

निक्खेवेगट्ठ णिरुत्त–विहि पवित्ती य केण वा कस्स ? ।
तद्दारभेयलक्खण–तदरिह परिसा य सुत्तत्थो ॥

अनुयोगस्य निक्षेपो नामादिन्यासो वक्तव्यः, तदनन्तरं तस्यैकार्थिकानि, तदनु निरुक्तं वक्तव्यम् । ततः को विधिरनुयोगे कर्तव्य इति विधिर्वक्तव्यः । तथा प्रवृत्तिः प्रसवोऽनुयोगस्य वक्तव्य. । तदनन्तरं केनानुयोगः कर्तव्य इति वक्तव्यम् । ततः परं कस्य शास्त्रस्य कर्तव्य इति । तदनन्तरं तस्यानुयोगस्य द्वारा-ण्युपक्रमादीनि वक्तव्यानि । तत्र तेषामेव भेदः, ततः पर सूत्रस्य लक्षणम् , तदनन्तरं सूत्रस्यार्हा योग्याः , ततः परं परिषत् , तत. सूत्रार्थः । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः । व्यासार्थस्तु प्रति द्वारं वक्ष्यते । वृ० १ उ० । स्था० । अनु० । आ० म० प्र० । आ० चू० ।

(२) तत्र प्रथमतो निक्षेपद्वारमाह—

निक्खेवो नामो त्ति य, एगट्ठं सो उ कस्स निक्खेवो ? ।
अणुओगस्स भगवओ, तस्स इमे वन्निया भेया ॥

निक्षेपो न्यास इत्येकार्थः । पर आह –स निक्षेप. कस्य कर्तव्यः ? । सूरिराह–अनुयोगस्य भगवतः, तस्य च निक्षेपस्य इमे वक्ष्यमाणा वर्णिता भेदाः । वृ० १ उ० ।

अथानुयोगस्यैव संभवन्तं नामादिनिक्षेपमाह–

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य वयणभावे य ।
एसो अणुओगस्स उ, निक्खेवो होइ सत्तविहो ॥१८०॥

नामानुयोगः, स्थापनानुयोगः, द्रव्यानुयोगः, क्षेत्रानुयोगः, कालानुयोगः , वचनानुयोग. , भावानुयोगः । एषोऽनुयोगस्य सप्तविधो निक्षेपः । इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

(३) विस्तरार्थं त्वभिधित्सुर्भाष्यकारो नामस्थापनानुयोग-स्वरूपं तावदाह–

नामस्स जोऽणुओगो, अहवा जस्साभिहाणमणुओगो ।
नामेण व जो जोओ, जोगो नामाणुओगो सो ॥
ठवणाए जोऽणुओगो-ऽणुओग इति वा ठविज्जए जं च ।
जावेह जस्स ठवणा, जोग ठवणाणुओगो सो ॥

नाम्न इन्द्रादेर्योऽनुयोगो व्याख्यानमसौ नामानुयोगः । अथवा यस्य वस्तुनोऽनुयोग इति नाम क्रियते तन्नाममात्रेणानुयोगो नामानुयोग इत्युच्यते । यदि वा नाम्ना सह यः कश्चिद्योगोऽनुरूपो योगः संबन्धः स नामानुयोगः, नाम्ना सहानुरूपोऽनुकूलो योगो नामानुयोग इति व्युत्पत्तेः । यथा–दीपस्य दीपनाम्ना सह, तपनस्य तपननाम्ना सह, ज्वलनस्य ज्वलननाम्ना सह इत्यादि । एवं स्थापनाया अनुयोगो व्याख्यानं स्थापनानुयोगः । अथवा अनुयोगं कुर्वन्नाचार्यादिर्यत्र काष्ठादौ स्थाप्यते तत्स्थापनानुयोगः । यावदिहानुयोगकर्तुराचार्यादेस्तदाकारवति क्षेप्यकर्मादौ योग्याऽनुरूपा स्थापना क्रियते, स स्थापनानुयोगः । स्थापनाया अनुरूपोऽनुकूलो योगः संबन्धः स्थापनानुयोग इति व्युत्पत्तेः । इति निक्षेपद्वारम् । विशे० ।

(४) अथ द्रव्यानुयोगमाह–

सामित्त करण अहिगरण, एहिँ एगत्ते य बहुत्ते य ।
नामं ठवणा मोत्तुं, इति दव्वादीण छब्भेया ॥

स्वामित्वं संबन्धः, करणं साधकतमम्, अधिकृतम, अधिकरणमाधार , एतैः प्रत्येकमेकत्वेन बहुत्वेन च पञ्चानां द्रव्यादीनामनुयोगो वक्तव्य इति । एवं नामस्थापने मुक्त्वा द्रव्यादीनामनुयोगस्य प्रत्येकं षड्भेदा भवन्ति । वृ० १ उ० ।

तथाहि–

दव्वस्स जोऽणुओगो, दव्वे दव्वेण दव्वहेउस्स ।
दव्वस्स पज्जवेण व, जोगो दव्वेण वा जोगो ॥
बहुवयणओ वि एवं, नेओ जो वा कहेइ अणुवउत्तो ।
दव्वाणुओग एसो, एवं खेत्ताइयाणं पि ॥

द्रव्यस्य योगो व्याख्यानमेव द्रव्यानुयोग इति द्वितीयगाथायां संबन्धः । तथा द्रव्ये निषद्यादावधिकरणभूते स्थितस्यानुयोगो द्रव्यानुयोगः । द्रव्येण वा खटिकापाषाणशकलादिना करणभूतेनानुयोगो द्रव्यानुयोगः । द्रव्यहेतोर्वा शिष्यद्रव्यप्रतिबोधनादिनिमित्तमनुयोगो द्रव्यानुयोगः । अथवा द्रव्यस्य वस्त्रादेः कुसुम्भरागादिना पर्यायेण सह य इह योगोऽनुरूपो योगः संबन्धः,स द्रव्यानुयोगः । अथवा द्रव्येणाङ्गुलीकादिना कृत्वा यस्यैव वस्त्रादेस्तेनैव कुसुम्भरागादिना पर्यायेण सह योगोऽनुरूपो योगः संबन्धः स द्रव्यानुयोगः । एवं बहुवचनतोऽपि ज्ञेयो द्रव्यानुयोगः। तद्यथा–द्रव्याणां द्रव्येषु द्रव्यैर्वाऽनुयोगो द्रव्यानुयोगः, तथा द्रव्याणां हेतोरनुयोगो द्रव्यानुयोगः, द्रव्याणां पर्यायैः सह द्रव्यैर्वा करणभूतैरनुरूपो योगो द्रव्यानुयोग इति ॥ यो वाऽनुपयुक्तः कथयत्यनुपयुक्तोऽनुयोग करोति, स द्रव्यानुयोगः। एवं क्षेत्रादीनामपि क्षेत्रकालवचनभावेष्वपि यथासंभवमित्थमेवायोज्य इत्यर्थः । तद्यथा–क्षेत्रस्य क्षेत्रेण क्षेत्रे क्षेत्राणां क्षेत्रै क्षेत्रेष्वनुयोगः क्षेत्रानुयोग, तथा क्षेत्रस्य क्षेत्राणां वा हेतोरनुयोगः क्षेत्रानुज्ञापनाय देवेन्द्रचक्रवर्त्यादीनामनुयोगो व्याख्यानं यत्क्रियत इत्यर्थः । तथा क्षेत्रस्य क्षेत्राणां वा क्षेत्रेण क्षेत्रैर्वा करणभूतैः पर्यायेण पर्यायैर्वा सहानुरूपोऽनुकूलो योगः क्षेत्रानुयोगः। एवं कालवचनभावविषयेऽप्येकवचनबहुवचनाभ्यां सुधिया यथासंभवं वाच्यम्, नवरं, कालादिष्वभिलापः कार्य इति द्रव्यस्यानुयोगो व्याख्यानं द्रव्यानुयोग इत्यादावभिहितम् । विशे० ।

(५) तत्र कतिभेदं तद्द्रव्यं किंस्वरूपश्च तस्यानुयोग इत्याशङ्क्याह–

दव्वस्स उ अणुओगो, जीवदव्वस्स वा अजीवदव्वस्स ।
एक्केक्कम्मि य भेया, हवंति दव्वाइया चउरो ॥

द्रव्यस्यानुयोगो द्विधा-जीवद्रव्यस्य वा अजीवद्रव्यस्य वा, एकैकस्मिन् योगे द्रव्यादिकाश्चत्वारो भेदा भवन्ति । किमुक्तं भवति ?-जीवद्रव्यानुयोगोऽजीवद्रव्यानुयोगो वा प्रत्येकं द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च भवति ।

तत्र जीवद्रव्यानुयोगं द्रव्यादिना आह-

दव्वेणेक्कं खेत्ते, संखातीतप्पदेसमोगाढं ।
कालम्मि अनादिऽनिहणं, भावे णाणाइया ऽणंता ॥

द्रव्यतो जीवद्रव्यमेकं, क्षेत्रतोऽसंख्येयप्रदेशावगाढं, कालतोऽनाद्यनिधनं, भावतो ज्ञानादिकाः पर्याया अनन्ताः । तथा अनन्ता ज्ञानपर्याया अनन्ताश्चारित्रपर्याया अनन्ता दर्शनपर्याया अनन्ता अगुरुलघुपर्यायाः ।

अधुना द्रव्यादिभिरजीवद्रव्यस्यानुयोगमाह-

एमेव अजीवस्स वि, परमाणू दव्वमेगदव्वं तु ।
खेत्ते एगपएसे, ओगाढो सो भवे नियमा ॥
समयाइ ठिति असंखा, ओसप्पिणिओ हवंति कालम्मि ।
वण्णादि भावऽणंता, एवं दुपदेसमादी वि ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण,अजीवद्रव्यस्याप्यनुयोगो वक्तव्यः, तद्यथा-परमाणुर्द्रव्यत एकं द्रव्यम्, क्षेत्रतः एकप्रदेशावगाढम् कालतो जघन्यतः स्थितिः समयादिरेको द्वौ त्रयो वा । समयानुक्रमेणाऽसंख्येयावगाढम् । असंख्येया उत्सर्पिण्योऽवसर्पिण्यश्च भवन्ति । भावतो अनन्ता वर्णादिपर्यायाः तद्यथा-अनन्ता वर्णपर्यायाः, अनन्ता गन्धपर्यायाः, यावदनन्ताः स्पर्शपर्याया इति । एवं द्विप्रदेशादेरपि । द्विप्रदेशकस्य यावदनन्तप्रदेशिकस्याप्यनुयोग वक्तव्यम् । तद्यथा-द्विप्रदेशकः स्कन्धो द्रव्यतः एकं द्रव्यं, क्षेत्रतः एकप्रदेशावगाढः, द्विप्रदेशावगाढो वा । कालतो जघन्यतः स्थितिः, समयादिरुत्कर्षेण असंख्या उत्सर्पिण्योऽवसर्पिण्य एव इत्यादि ।

अथ द्रव्याणामनुयोग इत्येतद् व्याचिख्यासुराह-

दव्वाणं अणुओगो, जीवमजीवाण पज्जवा नेया ।
तत्थ वि य मग्गणाओ, ऽणेगा सट्ठाणपरठाणे ।

द्रव्याणामनुयोगो द्विधा-जीवद्रव्याणामजीवद्रव्याणां च । किमेषोऽभिधित्साह ?-पर्यायाः प्ररूप्यमाणा ज्ञेयाः । तथाहि-[illegible] भदन्त ! पर्यायाः प्रज्ञप्ताः ? । गौतम ! द्विविधाः । तद्यथा-जीवद्रव्याणामजीवद्रव्याणां च । तत्राप्यनेकाः [illegible] मार्गणाः । [illegible] असुरकुमाराणां च कति पर्यायाः प्रज्ञप्ताः ? । गौतम ! अनन्ताः । [illegible] गौतम ! [illegible] [illegible] द्रव्यार्थतया [illegible] प्रत्येकं [illegible] प्रत्येकं [illegible] पर्याया इति, एवं [illegible] भंते ! [illegible] प्रति-[illegible] बहूनां [illegible]

[illegible]

[illegible]

अवलोहिं तु दव्वेहिं, अहिगरणे बहुसु [illegible]

वर्तिर्नाम खटिका, तत्र या कृता अक्षरा [illegible] राङ्गुल्या वा, आदिशब्दात्प्रक्षेपकादिना वा [illegible] द्रव्येणानुयोगः । द्रव्यैरनुयोगो यद् बहुभिरक्षैः [illegible] अधिकरणे एकस्मिन् द्रव्येऽनुयोगो यदा [illegible] तोऽनुयोगं करोति, यदा तु बहुषु फलकेषु [illegible] अनुयोगः । उक्तो द्रव्यानुयोगः पञ्चभेदः । बृ० १ उ० [illegible] स्था० । ('दसविहे दवियाणुओगे' इति 'दवियाणुओग' शब्दे व्याख्यासहितं सूत्रम्)

(६) सम्प्रति क्षेत्रस्य क्षेत्राणां वाऽनुयोगमाह-

पएणत्ति-जंबुद्दीवे, खेत्तस्सेमाइ होइ अणुओगो ।
खेत्ताणं अणुओगो, दीवसमुद्दाण पन्नत्ती ॥

क्षेत्रस्यानुयोगः क्षेत्रानुयोगः एवमादिको भवति [illegible] [पएणत्तिजम्बूदीवे त्ति] जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिरियं [illegible] [illegible] तस्याः । बहूनां तु क्षेत्राणामनुयोगो द्वीपसागरप्रज्ञप्तिर्भवति । बहूनां द्वीपसमुद्राणां [illegible] ख्यानादिति । तदेवं क्षेत्रस्य क्षेत्राणामनुयोग उक्तः ।

अथ क्षेत्रेण क्षेत्रैरनुयोग इत्येतदाह-

जंबूदीवपमाणं, पुढविजियाणं तु पत्थयं काउं ।
एवमसंखिज्जमाणा, हवंति लोगा असंखेज्जा ॥
खेत्तेहिं बहुदीवे, पुढविजियाणं तु पत्थयं काउं ।
एवमसंखिज्जमाणा, हवंति लोगा असंखेज्जा ॥

इह जम्बूद्वीपप्रमाणं प्रस्थकं पल्यं कृत्वा पुनरपृथ्वीकाय[illegible] मेय यदा सर्वेऽपि सूक्ष्मबादरपृथ्वीकायिका जीवा [illegible] असंख्येयलोकाकाशप्रदेशासंख्योपेता जम्बूद्वीप[illegible] भवन्तीत्येव क्षेत्रेण जम्बूद्वीपरूपेणानुयोगोऽभिधीयते [illegible] त्रैरप्यनुयोगोऽयं द्रष्टव्यः । तद्यथा-बहुद्वीपप्रस्थकं [illegible] [illegible] निरेचनक्रमेण समस्तपृथ्वीकायिकजीवा [illegible] ख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणा बहुद्वीपमान[illegible] न्ति । एतदसंख्येयकं पूर्वस्माल्लघुतरं द्रष्टव्यम् । [illegible] इत्येतत्यादेव बहुद्वीपप्रस्थकैः क्षेत्रैरनुयोग इति ।

अथ क्षेत्रे क्षेत्रेषु चानुयोगमाह-

खेत्तम्मि उ अणुओगो, तिरियं लोगम्मि जम्मि वा खेत्ते ।
अड्डाइयदीवेसुं, अड्ढवीसाइ खेत्तेसु ॥

क्षेत्रे पुनरयमनुयोगः, तथा तिर्यग्लोके [illegible] यत्र वा ग्रामनगरादौ व्याख्यानसभादौ वा [illegible] [illegible] नुयोगं करोत्येष क्षेत्रेऽनुयोग [illegible] [illegible] क इत्याह-योऽर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्र[illegible] सार्द्धपञ्चविंशतिजनपदेषु वा [illegible] क्षेत्रानुयोगः ।

(७) अधुना कालस्य कालानां चानुयोगमाह-

कालस्स समयरूवण, कालाण [illegible]
कालेण अनिलऽहरो, कालेहिं [illegible] ॥

[illegible] कालस्यानुयोगः, क इत्याह ?-([illegible]) [illegible] कालानामनुयोगः-([illegible]) [illegible]

रा अर्धपल्योपमस्यासंख्येयभागेनापह्रियन्त इत्येव प्ररूपणा, ...न कालेनानुयोग इति कोट्याचार्यटीकायां विवृतम्। अन्यत्र त्व-नुयोगद्वारादिषु वैक्रियशरीरिणो वायवः क्षेत्रपल्योपमासंख्येय-भागप्रदेशपरिमाणा दृश्यन्ते। सत्यं तु केवलिनो विदन्ति। शेषा-णां तु पृथिव्यादिकायानां यथासंभवं कालैरनुयोग। तद्यथा—

" पज्जत्तबायरानल-असंखया होंति आवलियवग्गा त्ति "।

आवलिकायां यावन्तः समयास्तेषां वर्गः क्रियते-तथाविधेषु चासंख्यातेषु वर्गेषु यावन्तः समयास्तत्प्रमाणाः बादरपर्याप्ततेज-स्कायिका भवन्ति, तथा प्रत्युत्पन्नत्रसकायिका असंख्येयाभिरु-त्सर्पिण्यवसर्पिणीभिरपह्रियन्ते। एवं पृथिव्यादिष्वपि यथासं-भवं वाच्यमिति।

अथ काले कालेषु चानुयोगमाह—

कालम्मि बीयपोरिसि, समासु तिसु दोसु वा वि कालेसु।

प्रथमपौरुष्यां किल सूत्रमध्येतव्यम्, द्वितीयपौरुष्यां तु तस्यानु-योगः प्रवर्त्तते, अत इह कालस्य प्राधान्येन विवक्षणात्काले द्वितीयपौरुषीलक्षणेऽनुयोगः कालानुयोग इत्युच्यते। तथाऽ-वसर्पिण्यां सुषमदुःषमादुःषमसुषमादुःषमारूपासु तिसृषु (समासु त्ति) त्रिष्वरकेषु अनुयोगः प्रवर्तते नान्यत्र। उत्सर्पिण्यां तु दुःषमसुषमासुषमदुःषमारूपयोर्द्वयोः समययोर्द्वयोरेकयोर-नुयोगः प्रवर्तते नान्यत्र। अयं च कालेष्वनुयोगः कालानुयोगो-ऽभिधीयते। तदेवं भणितः षड्विधः कालानुयोगः।

(८) संप्रति वचनस्य वचनानां चाऽनुयोगमाह—

वयणस्सेगवयाई, वयणाणं सोलसण्हं तु ।

(वयणस्सेत्यादि) इत्थं नूनमेकवचनं भवत्येवंभूतं वा द्विव-चनमीदृशं वा बहुवचनमेवंस्वरूपं एकवचनाद्यन्यतरवचनस्य योऽनुयोगः, स च वचनस्यानुयोग उच्यते। वचनानां त्वनुयोगः षोडशवचनानुयोगः [षोडशवचनानि 'वयण' शब्दे वक्ष्यन्ते] वचनानामनुयोगः-प्रथमैकवचनादीनामेकविंशतिवचनानां व्या-ख्येति वचनानामित्युक्तम् ।

अथ वचनेन वचनैर्वचनेऽनुयोग इत्येतदाह—

वयणेणापरियाई, एक्केणुत्तो बहूहिँ वयणेहिं ।

वयणे खओवसमिए, वयणे पुण नत्थि अणुओगो ॥

वचनेनानुयोगो यथा-कश्चिदाचार्यादिः साध्वादिना सकृदेके-नापि वचनेनाभ्यर्थितोऽनुयोगं करोति। वचनैस्त्वनुयोगो-यदा स एवासकृद् बहुभिर्वचनैरभ्यर्थितस्तं करोति। क्षायोपशमिके व-चने स्थितस्यानुयोगो वचनानुयोगः। वचनेषु पुनर्नास्त्यनुयोगः, वचनस्य क्षायोपशमिकत्वेनैकत्वासंभवात्। अन्ये तु मन्यन्ते-वच-नविवक्षया तस्यैव क्षायोपशमिकेषु बहुषु वचनेष्वनुयोग इत्य-प्यविरुद्धमेवेति। तदेवं पञ्चविधः षड्विधो वा निर्दिष्टो वचनानु-योगः। बृ० । १ उ०

शुद्धवागनुयोगः—

दसविहे सुद्धावायाणुजोगे पण्णत्ते । तं जहा-चंकारे मं-कारे पिंकारे सेयंकारे सायंकारे एगत्ते पहुत्ते संजूहे सं-कामिए भिन्ने ॥

शुद्धा अनपेक्षितवाक्यार्था,या वाक् वचनं, शुद्धावागित्यर्थः, तस्या अ-नुयोगो विचारः शुद्धवागनुयोगः। सूत्रे चाऽनुस्वारः प्राकृतत्वा-त्, तत्र चकारादिकायाः शुद्धवाचो योऽनुयोगः स चकारादिरेव व्यपदेश्यः (तत्र चकारादीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने वक्ष्यते।) भि-न्नमिति) क्रमकालभेदादिभिर्भिन्नं विसदृशम्। तदनुयोगो यथा-

'तिविहं तिविहेणमिति' संग्रहमुक्त्वा पुनर्मणेणमित्यादिना तिवि-हेण त्ति विवृतमिति क्रमेणैव, क्रमेण हि तिविहमित्येतत्र करो-मीत्यादिना विवृत्य मनःप्रभृतिभिरिति विवरणीयं भवतीति। अस्य च क्रमभिन्नस्यानुयोगोऽयम्, यथा क्रमाविवरणे हि यथासंख्यं दोष इत्यादिति तत्परिहारार्थं क्रमो भेदः। तथाहि-न करोमि मन-सा न कारयामि वाचा कुर्वन्तं नानुजानामि. कायेनेति प्रसज्यते, अनिष्टं चैतत्, प्रत्येकपक्षस्यैवेष्टत्वात्। तथाहि-मनःप्रभृतिभिर्न क-रोमि, तैरेव न कारयामि, तैरेव नानुजानामीति। तथा कालतो भेदोऽतीतादिनिर्देशे प्राप्ते वर्तमानादिनिर्देशः। यथा-जम्बूद्वी-पप्रज्ञप्त्यादिषु ऋषभस्वामिनमाश्रित्य ' सक्के देविंदे देवराया वंदइ नमंसइ त्ति ' सूत्रं। तदनुयोगश्चायं वर्तमाननिर्देशः, त्रि-कालवर्तिष्वपि तीर्थकरेष्वेतन्न्यायप्रदर्शनार्थं इति। इदं च दोषादिसूत्रमन्यथापि विमर्शनीयं, गम्भीरत्वादस्येति वाग-नुयोगतस्तद्विर्यानुयोगः प्रवर्तत इति। स्था० १० ठा०।

[९] सम्प्रति भावानुयोगं वक्तुकाम आह—

भावेण संगहाई-ण उवयोगं दुगाइभावेहिं ।

भावे खओवसमिए, भावेसु उ नत्थि अणुओगो ॥

अहवा आयाराणं, भावेसु वि एस होइ अणुओगो ।

सामित्तं आसज्ज व, परिणामेसुं बहुविहेसु वा ॥

संग्रहादीनां पञ्चानामप्यन्यतमस्याभ्यर्थनेन [illegible] येन योऽनुयोगः क्रियते स भावेनानुयोगः। ते चामी पञ्च जि-ज्ञासा। यदाह स्थानाङ्गे-

"पंचहिं ठाणेहिं सुयं वाएज्जा। तं जहा-संगहट्ठयाए उवग्ग-हट्ठयाए निज्जरट्ठयाए सुयपज्जवजाएणं अवोच्छित्तिनयट्ठयाए "॥

अयमर्थः-कथं नु नामैते शिष्याः सूत्रार्थसंग्रहवन्तः भविष्य-न्ति ?, तथा कथं नु नाम मीनार्थीनामात्मा वस्त्रपात्रादिभिः उ-पग्रहोपग्रहकरा भविष्यन्ति, समस्तेषां वाचना कर्मनिर्जरा भविष्यति, तथा श्रुतपर्यवजातं प्रवर्धते, तथा सूत्रार्थयोः व्युच्छित्तिः न भविष्यति ?, [illegible] ध्रुवं सूत्रार्थतो वाचयेदिति। [illegible] द्विकादिभिर्भावैः [illegible] योऽनुयोगः [illegible]। क्षायो-पशमिके भावे स्थितस्य [illegible]। भावेषु पुनर्नास्त्यनुयोगः, [illegible] वाऽपि क्षायोपशमिको [illegible] क्रियते, [illegible] क्षायोपशमिकेषु [illegible] प्रवर्तते [illegible] स्वामित्वमासाद्यानुयोगकर्तुः [illegible] मिकपरिणामेषु बहुष्वनुयोगप्रवृत्तेः [illegible]। [illegible] षड्विधो भावानुयोग इति।

[१०] एवं चाऽनुयोगविवक्षायां द्रव्यादीनां परस्परं [illegible] अत्र सन्निवेशो [illegible]—

दव्वे नियमा भावो, न विणा ते यावि खेत्तकालेहिं ।

खेत्ते तिण्ह वि भयणा, कालो भयणाइ तीसु वि ॥

[illegible]

[illegible] । इदं तु [illegible] कथ्यमानमपि [illegible] [illegible], [illegible] मन्यते [illegible] ; [illegible] अनेकदेशेऽभावादिति । [illegible] पर्यायादिकवस्तु [illegible] पर्यायाः सम्येव, तत्कथं तत्र [illegible] ? । [illegible] द्रव्यं यत्र [illegible] [illegible] [illegible] कायत्यापी- [illegible] [illegible] तत्र तस्य [illegible] [illegible]

[illegible]

योग इत्यर्थः । अथवा-योऽनुकूलोऽनुरूपे [illegible] मानो व्यापारः प्रतिपादनलक्षणः [illegible] योगः । अथवा-[illegible] काव्यामित्याह । [illegible] इत्यर्थास्तोकत्वम् । तथा [illegible] [illegible] चेतसि [illegible] [illegible] सूत्रस्य यः [illegible] भिधेये [illegible] थेन सह यः सम्बन्धो योगोऽणुयोगः [illegible]

तत्र सामान्येन [illegible]

अणुणा योगोऽणुयोगो, अणु [illegible]

जम्हा पच्छाऽभिहियं, सुत्तं थोवं च [illegible] ।

इह अणुयोग इति [illegible] न योगोऽनुयोगः, अथवा अणुना [illegible]

[illegible]

त्वस्याप्यमेव। यदप्युक्तम्-न च महत्त्वमेकान्तेनार्थस्येत्यादि, तदप्यपरिभावितपरिभाषितम् । यद्वाक्कित्रमहातादिषु सत्त्वानुकपादिकोऽर्थस्तावन्मात्रस्य सूत्रस्य, अशेषस्य तु ज्ञेयोऽर्थः । उक्तोऽनुयोग । सू०१ उ० स्वाभिधायकसूत्रेण सहार्थस्यानुगीयते-ऽनुरूपो वा योगोऽस्येदमभिधेयमित्येव संयोज्य शिष्येभ्यः प्रतिपादनमनुयोगः, सूत्रार्थकथनमित्यर्थः । अथवा एकस्याऽपि सूत्रस्यानन्तोऽर्थ इत्यर्थो महान्, सूत्रं त्वणु, ततश्चाणुना सूत्रेण सहार्थस्य योगोऽणुयोगः । तदुक्तम्-" नियया णुकूलजोगो, सुत्तस्सऽत्थेण जो य अणुओगो । सुत्तं च अणु तेन, जोगो अत्थस्स अणुओगो " अनु० । दश० । नं० । आ० म० प्र० । अं० । आचा० ।

(१३) अधुना विधिद्वारावसरः; तत्र येन विधिना-ऽनुयोगः कर्तव्यस्तमाह-

सुत्तत्थो खलु पढमो, बिइओ निज्जुत्तिमीसिओ भणिओ।
तइओ य निरवसेसो, एस विही भणिय अणुओगे ॥

प्रथमस्य श्रोतुः प्रथमं तावत् सूत्रार्थः कथनीयः—

यथा नो कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा आमे
तालपलंबे अभिन्ने, पडिगाहित्तए ॥

अस्यार्थः—नो नैव आमे भिन्ने, न कल्पते न वर्तत इत्यर्थः । नैषां ग्रन्थो विद्यते इति निर्ग्रन्थाः, तेषां, वा विभाषायाम्, निर्ग्रन्थीनां वा, आममपक्वं, तालो वृक्षस्तालनयं तालं, तालफलमित्यर्थः । प्रलम्बं मूलं, तदपि तस्यैव तालवृक्षस्य प्रतिपत्तव्यम् । ततः समाहारः। अभिन्नमव्यपगतजीवं, प्रतिग्रहीतुमिति । एवं तावत् कथयितव्यं यावदध्ययनपरिसमाप्तिस्ततो द्वितीयस्यां परिपाट्यां निर्युक्तिमिश्रितः पीठिकया सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्या च समन्वित', तृतीयस्यां सोऽपि यावदध्ययनपरिसमाप्तिस्तावत्कथनीयः । तृतीयस्यां परिपाट्यामनुयोगो निरवशेषो वक्तव्यः, पदपदार्थचालनाप्रत्यवस्थानादिभिः सप्रपञ्चं समस्तं कथयितव्यमिति भावः । एष विधिरनुयोगे ग्रहणधारणादिसमर्थान् शिष्यान् प्रति वेदितव्यः ।

मन्दमतीन्प्रति प्रकारान्तरेणानुयोगविधिमाह-

मूयं हुंकारं वा, बाढक्कार पडिपुच्छ मीमंसा ।
ततो पसंग पारा-यणं च परिणिट्ठ सत्तमए ॥

प्रथमतः श्रृणुयात् । किमुक्तं भवति-प्रथमश्रवणे संयतगात्रस्तूष्णीमासीत, ततो द्वितीये श्रवणे हुंकारं दद्यात, वन्दनं कुर्यादित्यर्थः। तृतीये बाढङ्कारं कुर्यात्, बाढमेवमेतद् नान्यथेति प्रशंसेदित्यर्थः । चतुर्थे गृहीतपूर्वापरसूत्राभिप्रायो मनाक् प्रतिपृच्छां कुर्यात्, यथा कथमेतदिति ?। पञ्चमे मीमांसां प्रमाणजिज्ञासां कुर्यात् । षष्ठे तदुत्तरोत्तरगुणं प्रसङ्गः, पारगमनं चाऽस्य भवति । ततः सप्तमे परिनिष्ठां गुरुवदनुभाषत इत्यर्थः । यत एवं मन्दमेधसां श्रवणपरिपाट्या विवक्षिताऽध्ययनार्थावगमः, ततस्तान् प्रति सप्त वारान् अनुयोगो यथाप्रतिपत्ति कर्तव्यः ।

अत्र परायकाशमाह-

चोएइ रागदोसा, समत्थ परिणामगं परूवणया ।
एएसिं नाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥

एवमि नाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥

शिष्यो नोदयति प्रश्रयति समर्थे ग्रहणधारणासमर्थे, तथा परिणामके । उपलक्षणमेतत्—ग्रहणधारणासमर्थेऽतिपरिणामके च या प्ररूपणा तथा युष्माकं रागद्वेषौ प्रसज्यतः । तथाहि-तिसृभिः परिपाटीभिरेकान् ग्राहयतो रागोऽपरान् सप्तभिः परिपाटीभिर्ग्राहयतो द्वेषः तथा परिणामकान् ग्राहयतो राग , इतरानतिपरिणामकान् परिहरतश्च द्वेषः । एतेषां ग्रहणधारणासमर्थासमर्थानां परिणामकादीनां च यथानुपूर्व्या क्रमेण नानात्वं वक्ष्ये, तत्र प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयेत ।

प्रथमतो ग्रहणधारणासमर्थासमर्थान्प्रति रागद्वेषावाह-

मच्छरया अविमुत्ती, पूया सक्कार गच्छइ अ खिन्नो ।
दोसा गहणसमत्थे, इयर रागो उ वुच्छेयो ॥

ग्रहणधारणासमर्थं शिष्यं तिसृभिः परिपाटीभिर्ग्राहयत एतावन्ति कारणानि स्युः-एष बहुशिक्षितो मम प्रसत्तो भविष्यति ततो मत्सरतया परिवारत्वेन वर्तेत इत्यविमुक्तिकारणम् । अथवा-गृहीतसूत्रार्थस्यास्य पूजा सत्कारो भविष्यति। खिन्नो वा परिश्रान्तोऽन्यगणं गमिष्यति। (वुच्छेय त्ति) मद्वसतौ वाऽनुयोगस्य व्यवच्छेदो भविष्यति, अन्यस्य तथाविधशिष्यस्याभावात् । एवं कारणानि संभाव्य ग्रहणधारणासमर्थे तिसृभिः परिपाटीभिरनुयोगं ददतो द्वेषः । इतरस्मिन् जडे रागः, यथा-तद्वचोऽवमनुयोगस्य प्रवर्तनात् । अत्राचार्य आह—

निरवयवो नहु सक्को, सयं पयासो उ संपयंसेउं ।
कुंजमले विहु तुरि उ-ज्झियम्मि नहु तिण्ण पज्जिछू ॥

नहु नैव सूत्रस्य प्रकाशोऽर्थः सकृदेकया परिपाट्या निरवयवः समस्त. सम्प्रदर्शयितुं शक्यः, तस्य ग्रहणधारणासमर्थो नैकया परिपाट्याऽवधारयितुमीश इति तिसृभिः परिपाटीभिरनुयोगकथनमित्यदोषः ।

सांप्रतमतिपरिणामकानपरिणामकान् परिहरतो द्वेषाभावमाह-

सुत्तत्थे कहयंतो, पारोक्खी सिस्सभावमुवलब्भई ।
अणुकंपाइ अपत्ते, निज्जूहइ मा विणिस्सिज्जा ॥

पारोक्षी परोक्षज्ञानोपेतः शिष्येभ्यः सूत्रार्थौ कथयन् विनयाविनयकरणादिना तेषां शिष्याणां भावमभिप्रायमुपलभ्य, अपात्राणि अपात्रभूतान् शिष्यान् अनुकम्पया निर्यूहयति अपवदति । न तेभ्यः सूत्रार्थौ कथयति । श्रुताशातनादिना मा विनश्येयुरिति कृत्वा ।

अत्रैवार्थे दृष्टान्तमाह--

दारुं धाउं वाही-वीए कंकडुय लक्खणं सुविणं ।
एगंतेण अजोगे, एवमाई उ उदाहरणा ॥

एकान्तेनायोग्ये अपरिणामके च दारु धातुव्याधिबीजानि काङ्कटुको लक्षणं स्वप्न इत्येवमादीनि उदाहरणानि दृष्टान्ताः ।

तत्र दारुदृष्टान्तमाह-

को दोसो एरंडे, जं रहदारुं न कीरए तत्तो ।
को वा तिणिसे रागो, उवजुज्जइ जं रहंगेसु ॥

एरण्डे एरण्डद्रुमे को द्वेषः ?, यत्तस्मात् रथयोग्यं दारु न क्रियते ?, को वा तिनिशे रागो यदुपयुज्यते स रथाङ्गेषु ?।

जं पि य दारुं जोग्गं, जस्स उ वत्थुस्स तं पि हु न सक्का ।
जोएउमणिम्मवित्तं, तच्छणदलवेहकुस्सेहिं ॥

यदपि वस्तुनोऽक्षादेर्योग्यं दारु तदपि तक्षणदलवेधकुशैरिव निर्माप्य योजयितुमशक्यम्, किंतु निर्माप्य, एवमिहापि योग्योऽपि यावदर्थकैः सूत्रैः न परिकर्मितस्तावत् कल्पं व्यवहारं वाऽस्थापयितुं योग्यः । तत्र तक्षणं प्रतीतम्, दलानि द्विधा त्रिधा वा काष्ठस्य पाटनं, वेध. प्रतीतः, कुश्यो यो वेधे प्रोतः प्रवेश्यते ।

संप्रति धातुदृष्टान्तमाह-

एमेव अधाउं उ-ज्झिऊण कुणइ धाउग आयाणं ।

न य अक्कमेण सक्का, धाउम्मि वि इच्छियं काउं ॥

एवमेव रागद्वेषौ विना अधातुं त्यक्त्वा धातूनामादानं करोति। न च धातोरप्यक्रमेणेप्सितं कर्तुं शक्यम्, किन्तु क्रमेण । एवमिहाप्ययोग्यानपि क्रमेण ग्राहयतो न द्वेषः ।

अधुना व्याधिदृष्टान्तमाह-

सुहसज्झो जत्तेणं, जज्झासज्झो असज्झवाही उ ।
जइ रोगे पारिच्छा, सिस्समजावाए वि तहेव ॥

यथा रोगे वैद्येन परीक्षा क्रियते, यथा-एष सुखसाध्यः, एष यत्नेन साध्यः, एष असाध्यः-व्याधिर्यत्नेनाप्यसाध्यः। परीक्षानन्तरं च रागद्वेषौ विना तदनुरूपा प्रवृत्तिः। एवं शिष्यस्वभावानामपि तथैव रागद्वेषाभावेन परीक्षा क्रियते, तदनुरूपा च प्रवृत्तिः।

अधुना बीजदृष्टान्तमाह-

बीयमबीयं नाउं, मोत्तुमबीए उ करिसओ सालिं ।
ववइ विरोहणजोग्गो, न यावि से पक्खवाओ उ ॥

यथा कर्षको बीजमबीजं च ज्ञात्वा अबीजानि मुक्त्वा शालिबीजानि वपति, न च तस्मिन् विरोहणयोग्ये बीजे (से) तस्य कर्षकस्य पक्षपातो रागः। एवमत्रापि भावनीयम्।

संप्रति काकंडुकदृष्टान्तमाह-

को कंकडुए दोसो, जं अग्गी तं न पायए दित्तो ।
को वा इयरे रागो, एमेव य अत्थ जाविज्जा ॥

को द्वेषोऽग्नेः कांकडुके ('कोरडू' इति ख्याते) यदग्निर्दीप्तोऽपि तं न पचति, को वा इतरस्मिन् रागो यत्पाचयति?, नैव कश्चित्। एवमत्रापि भावनीयम्।

अधुना [illegible]दृष्टान्तमाह-

जे उ [illegible], कुमारगा ते निमिहिउं इयरे ।
[illegible] अणुमयइ, गामुधो नेव विसमो उ ॥

यथा [illegible] तस्य ये कुमारा [illegible] राज्यादीन-[illegible] । न च स तथाऽनुमन्यमानो विषमो रागद्वेषवान् । एवमत्रापि [illegible]।

[illegible]दृष्टान्तमाह-

जे जह [illegible] सुमिणं, तस्स तह फलं कहेइ तन्नाणी ।
[illegible] वा दुट्ठो वा, नया वि [illegible] ॥

[illegible] यथा स्वप्नं कथयति तस्य तथा तज्ज्ञानी स्वप्नफलं कथयति, न [illegible] तथा कथयन् [illegible] इति वा द्विष्ट इति वा [illegible]। एवमत्रापि [illegible] ये शिष्याः तेषां [illegible] रागद्वेषाभावे दृष्टान्ता [illegible]।

[illegible] क्रमेण परिणामयतो-

[illegible]दृष्टान्तमाह-

[illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible]

[illegible]दृष्टान्तमाह-

[illegible] ।

सक्कइ सो पज्जलिओ, सव्वस्स वि पच्चलो [illegible]

यथा अरणिनिर्मापितः स्तोको वह्निर्विपुलमिन्धनं [illegible] करोति, स एव पश्चात्प्रज्वलितः सर्वस्यापि [illegible] प्रत्यलः समर्थः ।

एवं खु थूलबुद्धी, निउणं अत्थं असहमाणो [illegible]।
सो चेव जणियबुद्धी, सव्वस्स वि पच्चलो [illegible]

एवमग्निदृष्टान्तेन प्रथमतः शिष्यः स्थूलबुद्धिः सन् [illegible] ग्रहीतुमप्रत्यलः ; पश्चात् स एव शास्त्रान्तरैर्जनितबुद्धिः सर्वस्यापि शास्त्रस्य ग्रहणे प्रत्यलो भवति।

बालदृष्टान्तमाह-

देहे अभिवड्ढंते, बालस्स उ पीहगस्स अभिवुड्ढी।
अइबहुएण विणस्सइ, एमेव हु छड्डियमिलाउ ॥

बालस्य देहे अभिवर्द्धमाने तदनुसारेण [illegible] स्याहारस्यापि वृद्धिर्भवति । देहवृद्ध्यनुसारतः [illegible] क्रमशो वर्द्धमानं दीयत इति भावः । यदि पुनरतिबहु [illegible] तदा स विनश्यति । ग्लानदृष्टान्तमाह-एवमेव [illegible] अधुनोत्थितेऽपि ग्लाने वक्तव्यम्, यथा-ग्लानोऽप्युत्थितः क्रमेणाभिवर्द्धमानमाहारं गृह्णाति, [illegible] शुभसङ्घातः। एवं शिष्योऽपि क्रमेण योग्यतानुरूपं [illegible] प्रथमत एवातिनिपुणार्थशास्त्रग्रहणे बुद्धिनाशः [illegible] ।

सिंहादिदृष्टान्तानाह-

खीरमिउपोग्गलेहिं, सीहो पुट्ठो उ साइ मंसाइं।
रुक्खो दुपत्तओ खलु, वंसकरिल्लो य नहछिज्जो ॥
तं चेव विवड्ढंता, हुंति अछेज्जा कुहाडमाईहिं ।
तह कोमलाणि बुद्धी, जायइ गहणेसु अत्थेसु ॥

सिंहः प्रथमतः क्षीरमृदुपुद्गलैः क्रमशः पोष्यते, ततः पुनः [illegible] अस्थीन्यपि स खादति। तथा वृक्षो द्विपर्णः, वंशकरीरः, [illegible] द्वावपि प्रथमतो नखच्छेद्यौ, ततः पश्चादभिवर्द्धमानौ [illegible] कुठारादिभिरच्छेद्यौ भवतः। प्रथमतः कोमला बुद्धिः [illegible] सा गहने प्वर्थेषु [illegible] ; क्रमेण तु [illegible] शनैः शनैरभिवर्द्धमाना कठोरा [illegible] भङ्गमुपयाति ।

एतद्दोषोपदिश्याह-

निउणे निउणं अत्थं, थूलत्थं थूलबुद्धिणो कहए ।
बुद्धीविवड्ढणकरं, होहिइ कालेण सो निउणो।

निपुणे निपुणमर्थं कथयेत, कथंभूतमित्याह बुद्धिविवर्द्धन[illegible] एवं सति स कालेन निपुणो भवति । अन्यथा [illegible] भग्नो न स्यात् ।

सांप्रतमादितामप्राधिकार [illegible] दृष्टान्तमाह-

सिच्छस्स वि गिण्हइ, हत्थी थूलगहणे [illegible]
सरेहपत्तच्छोज्ज-एवं [illegible] तह एवं ॥

[illegible]

चित्रकरः प्रथमं रूपं स्पष्टुं शिक्षते, पश्चात् तथाविधबहुस्पष्टसुनिपुणमतिः कर्तव्येऽपि क्षिपति । तथा पटकारोऽपि धर्मार्थिभिः प्रथमं शिक्ष्यते, ततो यदा निर्मातो भवति तदा विचित्रं पटरूपं कार्यते, तथा सूपकारोऽपि प्रथमं यद्भोजनं नायाति, ततः पश्चाद्व्यवस्थाऽऽकारेऽपि तानि तानि करणानि करोति । घटकारोऽपि प्रथमतः शरावादीनि कार्यते, पश्चाद्विशिष्टानि घटादीनि करोति । पटकारोऽपि प्रथमतः स्थूलानि चीवराणि शिक्ष्यते, ततः सुशिक्षितः सोऽनल्पान्यपि पटान् वयति । चित्रकारोऽपि प्रथमं मुखकं चित्रयितुं शिक्ष्यते, ततः शेषावयवादि, पश्चात् सुशिक्षितः सर्वं चित्रकर्म सम्यक् करोति । धमकोऽपि पूर्वं शङ्खादीन् धमयेत्, पश्चात् शङ्खम् ।

अर्थोपनयमाह—

जत्थ मई ओगाहइ, जोग्गं जं जस्स तस्स तं कहए ।
परिणामागमसरिसं, संवेगकरं सनिव्वेयं ॥

यथैते दृष्टान्ताः क्रमेण निर्माप्यन्ते, एवं शिष्यस्यापि यत्र मतिरवगाहते, यस्य च यद्योग्यं शास्त्रं तस्य तत्कथयति । कथंभूतमित्याह—परिणामागमसदृशं यस्य यादृशः परिणामो यस्य च यथाऽऽगमस्तत्सदृशं यथेदृशपरिणामस्येदमेतावदागमस्य पुंसो योग्यमिति । पुनः किंविशिष्टं कथयितव्यमत आह—संवेगकरं निर्वेदं च । लोकः सुकुलोत्पत्तिरित्यादेरभिलाषः संवेगः, तत्करणशीलं संवेगकरं, तथा नरकतिर्यग्योनिः कुमानुषत्वमित्यादेर्विज्ञानेन निर्वेदः, तत्करणशीलं निर्वेदकरम् । तदेव योग्येऽपि क्रमेण दाने रागद्वेषाभाव उक्तः । संप्रति शिष्यस्याचार्येण परिणामकत्व परीक्षयाऽनुयोगः कर्तव्यः, शिष्येणाप्याचार्यं परीक्ष्य तस्य सकाशे श्रोतव्यमिति ।

शिष्याचार्ययोः परस्परविधिमतिदेशत आह—

सेसं जहा गाहगाणं, आइसुत्तेसु विहि समक्खाओ ।
सो चेव य होइ इयं, उज्जोगो वन्निओ नवरं ॥

शेषो शिष्याणां ग्राहकस्याचार्यस्य आदिसूत्रेषु सामायिकादिषु यो विधिः समाख्यातो गोणीचन्दनेत्यादिलक्षणः स एवेह निरवशेषो वक्तव्यः । यस्तु—शिष्याणामनुयोगकथने उद्योग उद्यमो यथा—त्रिभिः परिपाटीभिरथवा सप्तभिः कर्तव्यः सः, नवरं, नमस्कारपूर्वमुपवर्णितः । बृ० १ उ० ।

इदानीमनुयोगविधिरुच्यते—तत्रानुयोगो वक्ष्यमाणशब्दार्थः, स तदाऽधीतसूत्रस्याचार्यप्रस्थापनयोग्यस्य शिष्यस्यानुज्ञायते, तत्रायं विधिः, प्रशस्तेषु तिथिनक्षत्रकरणमुहूर्तेषु, प्रशस्ते च जिनायतनादौ क्षेत्रे स्थाने प्रमार्जिते एका गुरूणामेका शिष्याणामिति निषद्याद्वयं क्रियते, ततः प्राभातिककाले प्रवेदिते निषद्यानिषण्णस्य गुरोश्चोलपट्टकरजोहरणमुखवस्त्रिकामात्रोपकरणो विनेयः पुरतोऽवतिष्ठते, ततो द्वावपि गुरुशिष्यौ मुखवस्त्रिकां प्रत्युपेक्षयतः, तस्या च समग्रं शरीरं प्रत्युपेक्षयतः, ततो विनेयो गुरुणा सह द्वादशावर्तवन्दनकं दत्वा वदति—इच्छाकारेण संदिशत स्वाध्यायं प्रस्थापयामि । ततश्च द्वावपि स्वाध्यायं प्रस्थापयतः, ततः प्रस्थापिते स्वाध्याये गुरुर्निषीदति । ततः शिष्यो द्वादशावर्तवन्दनकं ददाति । ततो गुरुरुत्थाय शिष्येण सहानुयोगप्रस्थापननिमित्तं कायोत्सर्गं करोति, ततो गुरुर्निषीदति, ततः स शिष्यो द्वादशावर्तवन्दनकेन वन्दते, ततो गुरुरक्षानभिमन्त्र्योत्थाय च निषद्यां पुरतः कृत्वा वामपार्श्वीकृतशिष्यश्चैत्यवन्दनं करोति, ततः समाप्ते चैत्यवन्दने त्रिगुणकर्द्धस्थित एव नमस्कारपूर्वं नन्दिमुच्चारयति, तदन्ते चाभिधत्ते—मां साधोरनुयोगमनुजानीत, क्षमाश्रमणानां हस्तेन द्रव्यगुणपर्यायैरनुज्ञातस्ततो विनयस्थो वन्दनकेन वन्दते । उत्थितश्च भणति—संदिशत किं भणामि ? ततो गुरुराह—वन्दित्वा प्रवेदय । ततो वन्दते शिष्यः उत्थितस्तु भणति—भवद्भिर्ममानुयोगोऽनुज्ञात इच्छाम्यनुशास्तिम् । ततो गुरुर्वदति—सम्यगवधारय, अन्येषां च प्रवेदय; अन्येषामपि व्याख्यानं कुर्यादित्यर्थः । ततो वन्दते असौ, वन्दित्वा च गुरुं प्रदक्षिणयति, प्रदक्षिणान्ते च भवद्भिर्ममानुयोगोऽनुज्ञात इत्याद्युक्तिप्रत्युक्तीः करोति । द्वितीयप्रदक्षिणा च तथैव, पुनस्तृतीयाऽपि तथैव, ततस्तृतीयप्रदक्षिणान्ते गुरुर्निषीदति । ततो गुरोः स्थितश्च विनेयो वदति—युष्माकं प्रवेदितं संदिशत, साधूनां प्रवेदयामीत्यादिशेषमुद्देशविधिवद्वक्तव्यम्, यावदनुयोगानुज्ञानिमित्तं कायोत्सर्गं करोति । तदन्ते च सनिषद्यः शिष्यो गुरुं प्रदक्षिणयति । तदन्ते च वन्दते, पुनः प्रदक्षिणयति, एवं त्रीन् वारान्, ततो गुरोर्दक्षिणपार्श्वेऽऽसन्ने निषीदति । ततो गुरुपारंपर्य एतानि मन्त्रपदानि गुरुः त्रीन् वारान् शिष्यस्य कथयति, तदनन्तरं प्रवर्द्धमानाः प्रवरसुगन्धमिश्रास्तिस्रोऽक्षमुष्टीस्तस्मै ददाति । ततो निषद्याया गुरुरुत्थाय शिष्यं तत्रोपवेश्य यथासन्निहितसाधुभिः सह तस्मै वन्दनकं ददाति । ततो विनेयो निषद्यास्थित एव "नाणं पंचविहं पण्णत्तं" इत्यादि सूत्रमुच्चार्य यथाशक्ति व्याख्यानं करोति । तदन्ते च साधुभ्यो वन्दनकं ददाति, ततः शिष्यो निषद्यात उत्तिष्ठति । गुरुरेव पुनस्तत्र निषीदति । ततो द्वावप्यनुयोगविसर्गार्थं कालप्रतिक्रमणार्थं च प्रत्येकं कायोत्सर्गं कुरुतः । ततः शिष्यो निरुद्धं प्रवेदयति, निरुद्धं करोतीत्यर्थः । अनु० ।

शिष्यं प्रति आचार्येण—

एवं वएसु ठवणा, समणाणं वन्निआ समासेणं ।
अणुओगगणाणुन्ने, अओ परं संपवक्खामि ॥ ३१ ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण व्रतेषु स्थापना श्रमणानां साधूनां वर्णिता समासेन संक्षेपेण अनुयोगगणानुज्ञां प्रागुद्दिष्टामतः परम्; किमित्याह—संप्रवक्ष्यामि सूत्रानुसारतो भणामीति गाथार्थः ॥३१॥

किमित्ययं प्रस्ताव इत्याह—

जम्हा वयसंपन्ना, कालोचिअगहिअसयलसुत्तत्था ।
अणुओगाणुन्नाए, जोगा भणिआ जिणिंदेहिं ॥ ३२ ॥

यस्माद् व्रतसंपन्नाः साधवः कालोचितगृहीतसकलसूत्रार्थास्तदनुयोगयन्त इत्यर्थः । अनुयोगानुज्ञाया आचार्यस्थापनारूपाया योग्या भणिता जिनेन्द्रैर्नान्य इति गाथार्थः ॥३२॥

कस्मादित्याह—

इहराओ मुसावाओ, पवयणखिसा य होइ लोगम्मि ।
सिस्साण वि गुणहाणी, तित्थुच्छेओ अ भावेण ॥३३॥

इतरथा अनीदृशानुयोगानुज्ञायां मृषावादः, गुरोस्तमनुजानतः प्रवचनखिसा च भवति लोके, तथाविधप्ररूपणात्, ततः शिष्याणामपि गुणहानिः, सम्यगुपदेशकाभावात् । तीर्थोच्छेदश्च भवेत् ततः, सम्यग्ज्ञानाद्यप्रवृत्तेरिति द्वारगाथार्थः ॥३३॥

व्यासार्थं त्वाह—

अणुओगो वक्खाणं, जिणवरवयणस्स तस्सऽणुण्णा उ ।
कायव्वमिणं तुमए, विहिणा सह अप्पवयणेणं ॥३४॥

अनुयोगो व्याख्यानमुच्यते जिनवरवचनस्यागमस्य, तस्यानु-

तथा-

ए संमं, उस्सग्गाववायजाणओ होइ ।
अविसयपओगओ सिं, सो सपरविणासओ नियमा ॥४६॥

अविनिश्चितः समये न सम्यगुत्सर्गापवादज्ञो भवति सर्वत्रैव, तदभावे विषयप्रयोगतोऽनयोरुत्सर्गापवादयोः, तथाविधः स्वपरविनाशको नियमात्, कुटवैद्यवदिति गाथार्थः ॥४७॥

सा तस्सेव हिअट्ठा, तस्सीसाणमणुमोअगाणं च ।
इह अप्पणो अ धीरो, जोगस्सऽणुजाणई एवं ॥ ५० ॥

तत्तस्मात् तस्यैवाधिकृतानुयोगधारिणः हितार्थं परलोके, तथा शिष्याणां भाविनामनुमोदकानां च तथाविधाऽभ्यासिनां, पाऽऽत्मनश्च हितार्थमाज्ञाराधनेन धीरो गुरुर्योग्याय विनेयाय नुजानाति एवं वक्ष्यमाणेन विधिनाऽनुयोगमिति गाथार्थः ॥५०॥

विहिजोगम्मि पसत्थे, गहिए काले निवेइए चेव ।
ओसरणमह णिसिज्जा-रयणं संघट्टणं चेव ॥ ५१॥

तद्वियोगे प्रशस्ते संक्रान्तिपूर्णिमादौ, गृहीते काले, विधिना निवेदिते चैव गुरोः समवसरणम् अथ निषद्यारचनमुचितभूमावपि गुरुनिषद्याकरणमित्यर्थः। संघट्टनं चैषाऽनिक्षेप इति गाथार्थः ॥ ५१॥

तत्तो पवेइआए, उवविसइ गुरुओ णिअनिसिज्जाए ।
पुरओ चिट्ठइ सीसो, सम्म जहाजायउवकरणो ॥ ५२ ॥

ततस्तदनन्तरं स्वकेन साधुना प्रवेदितायां कथितायां सत्यामुपविशति गुरुराचार्य एव, न शेषसाधवः। केत्याह?-निजनिषद्यायां यावदर्थमेव रचितेति। पुरतश्च शिष्यस्तिष्ठति प्रशान्तः, सम्यगसंभ्रान्तः, यथाजातोपकरणो रजोहरणमुखवस्त्रिकादिधरः, इति गाथार्थः ॥ ५२ ॥

पेहिंति तओ पोत्तिं, तीए अ स सीसगं पुणो कायं ।
बारसवंदण संदिस, सज्झायं पट्ठवामो त्ति ॥ ५३ ॥

प्रत्युपेक्षेते तदनन्तरं मुखवस्त्रिकां द्वावपि, तया च मुखवस्त्रिकया स शिरः पुनः कायं प्रत्युपेक्षेते इति । ततः शिष्यो द्वादशावर्त्तवन्दनपुरस्सरमाह-संदिशत यूयं स्वाध्यायं प्रस्थापयामः, प्रकर्षेण वर्त्तयाम इति गाथार्थः ॥ ५३ ॥

वणाऽणुण्णाए, तत्तो दुअगा वि पट्ठवेइ त्ति ।
गुरू निसीअइ, इअरो वि णिवेअई तं ति ॥ ५४॥

स्थापयेत्यनुज्ञाते सति गुरुणा, ततो द्वावपि गुरुशिष्यौ प्रस्थापयतः। ततस्तदनन्तरं गुरुर्निषीदति स्वनिषद्यायाम्, इतरोऽपि निवेदयति तं स्वाध्यायमिति गाथार्थः ॥५४॥

वि दोवि विहिणा, अणुओगं पट्ठवि त्ति उवउत्ता ।
तओ सीसो, अणुजाणावेइ अणुओगं ॥ ५५ ॥

द्वावपि गुरुशिष्यौ विधिना प्रवचनोक्तेनाऽनुयोगं प्रस्थाप्य उपयुक्तौ सन्तौ वन्दित्वा ततस्तदनन्तरं शिष्यः किमित्यनुज्ञापयत्यनुयोगं, गुरुणेति गाथार्थः ॥ ५५ ॥

तिऊण अक्खे, वंदइ देवे तओ गुरू विहिणा ।
व नमोक्कारं, कड्ढइ नंदिं च संपुण्णं ॥ ५६ ॥

आचार्यमन्त्रेणाक्षांश्चान्दनकान् वन्दते देवांश्चैत्यानि विधिना प्रवचनोक्तेन । ततः किमित्याह-स्थित एवो नमस्कारं पञ्चमङ्गलकमाकर्षयति, त्रिः पठति नन्दीं च संपूर्णमन्थपद्धतिमिति गाथार्थः ॥ ५६ ॥

इअरो वि ठिओ संतो, सुणेइ पोत्तीइ ठइअमुहकमलो ।
संविग्गे उवउत्तो, अचंतं सुद्धपरिणामो ॥ ५७ ॥

इतरोऽपि शिष्यः स्थितः सन्नूर्ध्वस्थानेन शृणोति मुखवस्त्रिकया विधिगृहीतया स्थगितमुखकमलः सन्निति। स एव विशेष्यते-संविग्नो मोक्षार्थी उपयुक्तः सूत्रैकाग्रतया, अनेन प्रकारेणात्यन्तं शुद्धपरिणामः शुद्धाशय इति गाथार्थः ॥ ५७ ॥

तो कड्ढिऊण नंदिं, भणइ गुरू अहमिमस्स साहुस्स ।
अणुओगं अणुजाणे, खमासमणाण हत्थेणं ॥ ५८ ॥

तत आकृष्य पठित्वा नन्दीं भणति गुरुराचार्यः—अहमस्य साधोरुपस्थितस्यानुयोगमुक्तलक्षणमनुजानामि क्षमाश्रमणानां प्राकृतऋषीणां हस्तेन, न स्वमनीषिकयेति गाथार्थः ॥ ५८ ॥

कथमित्याह—

दव्वगुणपज्जवेहिँ अ, एअ अणुण्णाउ वंदिउं सीसो ।
संदिसह किं भणामो, वंदणमिह जहेव सामइए ॥ ५९ ॥

द्रव्यगुणपर्यायैश्चास्याक्षरूपैरेषोऽनुज्ञात इत्यत्रान्तरे वन्दित्वा शिष्यः-संदिशत यूयं किं भणामीत्यादि वन्दनं ज्ञातं यथैव सामायिके तथैव द्रष्टव्यमिति गाथार्थः ॥ ५९ ॥

यदत्र नानात्वं तदभिधातुमाह-

नवरं सम्मं धारय, अन्नेसिं तह पवेयह भणइ ।
इच्छामणुसट्ठीए, सीसेण कयाइ आयरिओ ॥ ६० ॥

नवरम्, अत्र सम्यग्धारय, आचारेयनेनेत्यर्थः। अन्येभ्यस्तथा प्रवेदय सम्यगेवेति भणति । कदेत्याह-इच्छामनुशास्तौ शिष्येण कृतायां सत्यामाचार्य इति गाथार्थः ॥ ६० ॥

तिपयक्खिणीकए वा, उववीसए गुरु कए अनुस्सग्गे ।
सणिसज्जे तियपक्खिण, वंदण सीसस्स वावारो ॥ ६१ ॥

त्रिः प्रदक्षिणीकृते सति शिष्येण तत उपविशति गुरुः, अत्रान्तरे ऽनुज्ञाकायोत्सर्गः, कृते च कायोत्सर्गे तदनु सनिषद्ये गुरौ त्रिप्रदक्षिण वन्दनं नायसारं शिष्यस्य व्यापारोऽयमिति गाथार्थः॥६१॥

उववीसइ गुरुसमीवे, सो साहइ तस्स तिन्नि वायाओ ।
आयरियपरंपरए-ण आगए तत्थ मंतपए ॥ ६२ ॥

उपविशति गुरुसमीपे तन्निषद्यायामेव दक्षिणपार्श्वे शिष्यः स गुरुं कथयति। तस्य त्रीन् वारान्। किमित्याह-आचार्यपारम्पर्येणागतानि पुस्तकादिष्वलिखितानि तत्र मन्त्रपदानि विधिना सर्वार्थसाधकानीति गाथार्थः ॥६२॥

तथा—

देइ तओ मुट्ठीओ, अक्खाणं सुरभिगंधसहिआणं ।
वड्ढंत सो वि सीसो, उवउत्तो गिण्हई विहिणा ॥ ६३ ॥

ददाति ततः त्रीन् मुष्टीनाऽऽचार्योऽक्षाणां चन्दनकानां सुरभिगन्धसहितानां, वर्द्धमानान् प्रतिमुष्टि सोऽपि च शिष्य उपयुक्तः सन् गृह्णाति विधिनेति गाथार्थः ॥ ६३ ॥

एवं व्याख्याक्षरूपानदान दत्वा—

उट्ठेति निसिज्जाओ, आयरिओ तत्थ उववीसइ सीसो ।
सो वंदई गुरू तं, सहिओ सेसेहिँ साहूहिं ॥ ६४ ॥

उत्तिष्ठति निषद्याया आचार्योऽत्रान्तरे तत्रोपविशति शिष्योऽ

हुयोगी, ततो वन्दते गुरुस्तं शिष्यसहितैः शेषसाधुभिः सन्निहितैरिति गाथार्थः ॥ ६४ ॥

भणइ अ कुरु वक्खाणं, तत्थ ठिओ चेव सो तओ कुणइ ।
णंदाइ जहासत्ती, परिसं नाऊण वा जोग्गं ॥ ६५ ॥

भणति च-कुरु व्याख्यानमिति तमभिनवाचार्यं, तत्र स्थित एव ततोऽसौ करोति तद्व्याख्यानमिति नन्द्यादि यथाशक्त्येति तद्विषयमित्यर्थः । पर्षदं च ज्ञात्वा योग्यमन्यदपीति गाथार्थः ।

आयरिअनिसज्जाए, उवविसणं वंदणं च तह गुरुणो ।
तुल्लगुणखावणट्ठा, न तया उट्ठं दुविण्हं पि ॥ ६६ ॥

आचार्यनिषद्यायामुपवेशनम्, अभिनवाचार्यस्य वन्दनं च तथा गुरोः, प्रथममेवाचार्यस्य तुल्यगुणख्यापनार्थं श्रोतॄणां, न तदा दुष्टं द्वयोरपि शिष्याचार्ययोर्ययोर्यातमेतदिति गाथार्थः ॥ ६६ ॥

वंदंति तओ साहू, उट्ठिइ अ तओ पुणो णिसिज्जाओ ।
तत्थ निसीअइ अ गुरू, उववूहण पढमयं उ ॥ ६७ ॥

वन्दन्ते ततः साधवः, व्याख्यानसमनन्तरमुत्तिष्ठति च ततः पुनर्निषद्याया अभिनवाचार्यः, तत्र निषद्यायां निषीदति च गुरुर्मौलः, उपबृंहणमत्रान्तरे प्रथमम् । अन्ये तु व्याख्यानादिति गाथार्थः ॥ ६७ ॥

धण्णोऽसि तुमं णायं, जिणवयणं जेण सव्वदुक्खहरं ।
तं सम्ममियं भवया, पओजिअव्वं सयाकालं ॥ ६८ ॥

धन्योऽसि त्वं सम्यग् ज्ञातं जिनवचनं येन भवता सर्वदुःखहरं मोक्षहेतुत्वात्सम्यगिदं भवता प्रवचननीत्या प्रयोक्तव्यं सदा सर्वकालमनवरतमिति गाथार्थः ॥ ६८ ॥

इहरा उ रिणं परमं, असंमजोगे अजोगओ अवरो ।
ता तह इह जइअव्वं, जह एत्तो केवलं होइ ॥ ६९ ॥

[illegible]
[illegible]
[illegible], परमहानामिति गाथार्थः ॥ ६९ ॥

परमो अ एस हेऊ, केवलनाणस्स अन्नपाणीणं ।
मोहावणयणओ तह, संवेगाइसयभावेणं ॥ ७० ॥

परमश्चैष जिनवचनप्रयोगः हेतुः केवलज्ञानस्य, अन्येषां प्राणिनां इत्यर्थः । कुत इत्याह-अन्यप्राणिनां मोहापनयनात्मोहापसरणकारणात्, तथा संवेगातिशयभावेनेति गाथार्थः ॥ ७० ॥

एवं उवबूहेउं, अणुओगविसज्जणट्ठमुस्सग्गो ।
कालस्स पडिक्कमणं, पवेअणं संघविहिदाणं ॥ ७१ ॥

एवमुपबृंह्य तमाचार्यमनुयोगविसर्जनार्थमुत्सर्गः क्रियते । कालस्य प्रतिक्रमणं, तदा च प्रवेदनं, निरुद्धस्य संघविधिदानं यथाशक्तीति गाथार्थः ॥ ७१ ॥

[illegible] सो अणुओगी, पवयणकज्जम्मि निच्चमुज्जुत्तो ।
[illegible], जम्हा निच्छंतविहिणा उ ॥ ७२ ॥

[illegible] आचार्यः प्रवचनकार्ये नित्योद्युक्तः सन् [illegible] गुर्वादेशात्[illegible] ॥ ७२ ॥

[illegible]-

[illegible], [illegible] ।
[illegible] ॥ ७३ ॥

मध्यस्थाः सर्वत्रारक्तद्विष्टाः, बुद्धियुताः प्राज्ञाः, धर्मे परलोककाङ्क्षिणः, ओघतः सामान्येनैते योग्याः [illegible] तथैव प्रशस्तादयो योग्याः आदिशब्दात्[illegible] सूत्रविशेषमहाचूडादिरूपं समाश्रित्येति गाथार्थः ॥ ७३ ॥

मध्यस्थादिपदानां गुणानाह-

मज्झत्था ऽसग्गाहं, पत्तो वि अ करंइ न कुत्थी ।
सुद्धासया य पायं, होंति तहाऽऽसन्नभव्वा य ॥ ७४ ॥

मध्यस्थाः प्राणिनः असद्ग्राहं तत्त्वावबोधबाधकं क्वचिद् वस्तुनि न कुर्वन्ति, अपि तु मार्गानुसारिण एव [illegible] तथा शुद्धाशयाश्च मायादिदोषरहिताः प्रायो भवन्ति [illegible] तथाऽऽसन्नभव्याश्च, तेषु सफलः परिश्रमः, इति गाथार्थः ॥

बुद्धिजुआ गुणदोसे, सुहुमे तह बायरे य सव्वत्थ ।
संमत्तकोडिसुद्धे, तत्तद्दिट्ठीए पवज्जंति ॥ ७५ ॥

बुद्धियुक्ताः प्राज्ञा गुणदोषान् वस्तुगतान् सूक्ष्मांस्तथा बादरांश्च सर्वत्र विषये सम्यक्त्वकोटिशुद्धान् [illegible] स्थित्याऽतिगम्भीरतया प्रपद्यन्ते साध्विति गाथार्थः ॥ ७५ ॥

धम्मत्थी दिट्ठत्थे, दहा व पंकम्मि अपरिसेसाओ ।
उत्तारिज्जंति सुहं, धन्ना अन्नाणसलिलाओ ॥ ७६ ॥

धर्मार्थिनः प्राणिनः दृष्टार्थे ऐहिके ह्रद इव पङ्के [illegible] कारणादुत्तार्यन्ते पृथक् क्रियन्ते सुखं, धन्याः पुण्य[illegible]कुलः ?, अज्ञानसलिलान्मोहादिति गाथार्थः ॥ ७६ ॥

एत्तो अ कप्पिओ इह, सो पुण आवस्सगाइसुत्त[illegible]
जा सूअगडं ता जं, जेणा ऽहीअं ति तस्सेव ॥ ७७ ॥

मातश्च कल्पिकोऽत्र भण्यते, स पुनरावश्यकादिसूत्र[illegible] सूत्रकृतं द्वितीयमङ्गं तावद्येनाधीतमिति पठितमित्यर्थः । तस्यैव तावत्तस्येति गाथार्थः ॥ ७७ ॥

छेअसुआईएसु अ, ससमयपज्जवे वि भावजुत्तो सो ।
पिअधम्मऽवज्जभीरू, सो पुण परिणामगो णेओ ॥ ७८ ॥

छेदसूत्रादिषु च निशीथादिषु स्वसमयभावेऽपि [illegible] ऽपि भावयुक्तो यः विशिष्टान्तःकरणयुक्त प्रियधर्मा [illegible] वद्यभीरुः पापभीरुः स पुनरेवंभूतः परिणामको ज्ञेयः [illegible] उत्सर्गापवादविषयप्रतिपत्तेरिति गाथार्थः ॥ ७८ ॥

एतदेवाह—

सो उस्सग्गाईणं, विसयविभागं जहट्ठियं चेव ।
परिणामेइ हियं ता, तस्स इमं होइ वक्खाणं ॥ ७९ ॥

स परिणामकः, उत्सर्गापवादयोर्विषयविभागमौचित्येन [illegible] यथास्थितमेव सम्यक् परिणमयत्येव हित [illegible] स्येदं भवति व्याख्यानं सम्यग्बोधादिहेतुत्वेनेति गाथार्थः ॥ ७९ ॥

अइपरिणामगऽपरिणा-मगाण पुण विसयमपरिणे[illegible]
उदियं विसेसे दो-सुइए ओगहणयाणं उ ॥ ८० ॥

अतिपरिणामकापरिणामकयोः पुनः शिष्ययोः [illegible] हेतुनोदितमेव विशेषं व्याख्यानं, [illegible] पकारीति गाथार्थः ॥ ८० ॥

नेति तमिय भागइ, सप्पो अणप्पो तओ न मरे ।
नेति पेत हियट्ठा, करिज्ज पुच्छा महा पाइ ॥ ८१ ॥

मयोरतिपरिणामकापरिणामकयोः [illegible]

घनोऽनर्थो विपर्ययोगात्, ततो न तद्व्याख्यानं मतिमान् गुरुस्त-योरेवातिपरिणामकापरिणामकयोर्हितायानर्थप्रतिघातेन कुर्यात्। मिति वर्तते, पूज्याः पूर्वगुरवः तथा चाहुरिति गाथार्थः ॥ ८१ ॥

आमे घडे निहित्तं, जहा जलं तं घडं विणासेइ ।
इअ सिद्धंतरहस्सं, अप्पाहारं विणासेइ ॥ ८२ ॥

आमे घटे निक्षिप्तं सद् यथा जलं तं घटमामं विनाशयति,इत्येवं सिद्धान्तरहस्यमप्यल्पाहारं प्राणिनं विनाशयतीति गाथार्थः ॥

न परंपरया वि तओ, मिच्छाभिनिवेसजाविअमईओ ।
अन्नेसिं पि अ जायइ, पुरिसत्थो सुद्धरूओ अ ॥ ८३ ॥

न परम्परयापि ततोऽतिपरिणामकादेर्मिथ्याभिनिवेशजाविनतमतेः सकाशादन्येषामपि श्रोतृणां जायते पुरुषार्थः, शुद्धरूपो वा, मिथ्याप्ररूपणादिति गाथार्थः ॥८३॥

एतदेवाह—

अविवत्तओ वि पायं, तन्नावोऽणाइमं ति जीवाणं ।
इअ मुणिऊण तयत्थं, जोगाए करिज्ज वक्खाणं ॥८४॥

अविवर्तक एव अतिपरिणामादिक एव,प्रायो मिथ्याऽभिनिवेशबाधितमतेः सकाशात् तस्य च भावः तद्भावो मिथ्याऽभिनिवेशभावोऽनादिमानिति कृत्वा जीवानां भावनासहकारिविशेषादियमेवं मत्वा तदर्थं तद्विनाशायैव योगेभ्यो विनेयेभ्यः कुर्याद् व्याख्यानं विधिनेति गाथार्थः ॥८४॥

उवसंपएणाए जहा-विहाणओ एव गुणजुआणं पि ।
सुत्तत्थाइकमेणं, सुविणिच्छिअमप्पणा सम्मं ॥८५॥

उपसंपन्नानां सतां यथाविधानतः सूत्रनीत्या,एवं गुणयुक्तानामपि नान्यथा तदपरिणत्यादिदोषात्। कथं कर्तव्यमित्याह—सूत्रार्थादिक्रमेण यथायोग्यं सुविनिश्चितमात्मना सम्यक्,न शुकप्रलापप्रायमिति गाथार्थः ॥८५॥ पं० व० ४ द्वा० । (अङ्गाद्यनुयोगविधिः ' जोगविहि ' शब्दे वक्ष्यते)

(१४) अधुना प्रवृत्तिद्वारं वक्तव्यम्—

प्रवृत्तिः,प्रवाहः,प्रसृतिरित्येकार्थाः। प्रथममनुयोग.प्रवर्त्तते इति। सा च प्रवृत्तिर्द्विधा-द्रव्यतो भावतश्च। तत्र द्रव्यतः प्रवृत्तिमाह—

अणिउत्तो अणिउत्ता, अणिउत्तो चेव होइ उ निउत्ता ।
नीउत्तो अणिउत्ता, निउत्तो चेव उ निउत्ता ॥
निउत्तोऽणिउत्ताणं, पवत्तइ अहव ते वि उ निउत्तो ।
दव्वम्मि होइ गोणी, भावम्मि जिणादयो हुंति ॥

द्रव्यतः प्रसवे गौर्दृष्टान्तो भवति, भावे जिनादयः, तत्र गवि गोदोहकेन सह चत्वारो भङ्गाः, तद्यथा—दोहकोऽनियुक्तो गौरप्यनियुक्ता १। दोहकोऽनियुक्तो गौर्नियुक्ता २। दोहको नियुक्तो गौरनियुक्ता ३। दोहको नियुक्तो गौरपि नियुक्ता ४। एवमाचार्यशिष्येष्वपि भङ्गचतुष्टयं योजनीयं, तच्चाग्रे वक्ष्यते। तत्र तृतीये भङ्गे नियुक्त आचार्यो बलादप्यनियुक्तानां शिष्याणामनुयोगं प्रवर्त्तयति। अथवा द्वितीये भङ्गे तेऽपि शिष्या नियुक्ता अनियुक्तमाचार्यमनुयोगं प्रवर्त्तयन्ति; एवं हि तृतीये द्वितीये च भङ्गेऽनुयोगस्य प्रवृत्तिः। प्रथमे तु सर्वथा न भवति। चतुर्थे प्रवृत्तिर्निष्प्रतिपक्षैव।

तत्र गोदृष्टान्तविषयं भङ्गचतुष्टयं व्याख्यानयति—

अण्णुहुया य गोणी, नेव य दोद्धा समुज्जओ दोद्धुं ।
खीरस्स कुओ पसवो, जइ वि य सा खीरदा धेणू ॥
बीए वि नत्थि खीरं, थोवं च हविज्ज एव तइए वि ।
अत्थि चउत्थे खीरं, एसुवमा आयरियसीसे ॥

गौरप्रस्नुता नैव च दोग्धा वा दोग्धुं समुद्यतः, ततो यद्यपि सा क्षीरदा धेनुस्तथाऽप्यस्मिन् प्रथमभङ्गे कुतः क्षीरस्य प्रसवः?, नैव कुतश्चित्। द्वितीयेऽपि भङ्गे दोहकोऽनियुक्तो गौर्नियुक्तेत्येवं रूपे नास्ति क्षीरम्, दोहकस्यानियुक्तत्वात्; अथवा गौः प्रस्नुतेति स्तनेषु गलत्सु स्तोकं क्षीरं भवेत्। एवं तृतीयेऽपि भङ्गे दोहको नियुक्तो गौरनियुक्तेत्येवं लक्षणे नास्ति क्षीरप्रसवः, स्तोकं वा स्याद्दोहकगुणेन। चतुर्थे पुनर्भङ्गे गौरपि प्रस्नुता दोहकोऽपि नियुक्त इत्यस्ति क्षीरप्रसवः। एषा उपमा भङ्गचतुष्टयात्मिका भावार्थशिष्ययोरप्यनुयोगस्य प्रसवे योजितव्या । तथाहि—आचार्योऽप्यनियुक्तः, शिष्या अपि अनियुक्ता इति प्रथमभङ्गे नास्त्यनुयोगस्य प्रवृत्तिः। अनियुक्त आचार्यः शिष्या नियुक्ता इति द्वितीयेऽपि भङ्गे नानुयोगः, आचार्यस्यानियुक्तत्वात् ।

अहवा अणिच्छमाणं, अवि किंचि उज्जोगिणो पवत्तंति ।
तइए सारिंते वा, होज्ज पवित्ती गुणिंते वा ॥

अथवा अनियुक्तमाचार्यमनिच्छन्तमपि उद्योगिनः शिष्याः किञ्चित्प्रवृत्तिपृच्छादिभिरनुयोगं कर्तुं प्रवर्तयन्ति, ततो भवति द्वितीयेऽपि भङ्गेऽनुयोगस्य प्रवृत्तिः। तृतीये-आचार्यो नियुक्तः, शिष्या अनियुक्ता इत्येवंरूपे नास्त्यनुयोगस्य संभवः, अथवा पुनःपुनः सारयत्याचार्ये, अथवा श्रोतुमनिच्छन्तमपि शैलसमानं किञ्चित् श्रोतारं पुरतो विन्यस्यमानस्य त्वनुयोग इति गुणयति गुणननिमित्तमनुयोगं कुर्वति भवेदनुयोगः।

अत्र दृष्टान्तः कालिकाचार्यः,तमेवाह—

सागारियमप्पाहण-सुवन्नसुयसिस्सखंतलक्खेण ।
कहणा सिस्सागमणं, धूलीपुंजोवमाणं च ॥ १ ॥

उज्जयणीए नयरीए अज्जकालगा नामं आयरिया सुत्तत्थोववेया बहुपरिवारा विहरंति, तेसिं अज्जकालगाणं सीसस्स सीसो सुत्तत्थोववेओ सागरो नामं सुवन्नभूमीए विहरइ, ताहे अज्जकालया चिंतेंति-एए मम सीसा अणुओगं न सुणंति, तओ किमेएसिं मज्झे चिट्ठामि, तत्थ जामि जत्थ अणुओगं पवत्तेमि, अवि य एए वि सिस्सा पच्छा लज्जिआ सोहिहिंति, एवं चिंतिऊण सेज्जायरमापुच्छंति-कहं अन्नत्थ जामि, तओ मे सिस्सा सुणेहिंति, तुमं पुण मा तेसिं कहेज्जा, जइ पुण गाढतरं निब्बंधं करिज्जा, तो खरंटेउं साहेज्जा,जहा सुवन्नभूमीए सागराणं सगासं गया, एवं अप्पाहित्ता (संदिश्य) रत्तिं चेव पसुत्ताणं गया सुवण्णभूमिं, तत्थ गंतुं खंतअवक्खेण पविट्ठा सागराणं गच्छं, तओ सागरायरिया खंत त्ति काउं न नाढाइया अब्भुट्ठाईणि,तओ अत्थ पोरिसीवेलाए सागरायरिएणं भणियाखंता तुब्भं एयं गमइ ?। आयरिया भणंति-आमं तो खाइं सुणेह त्ति एकहिया गब्बायंता य काहिंति। इयरे वि सीसाए पहाए संते संभंता आयरियं अपस्संता सव्वत्थ मग्गिओ, सिज्जायरं पुच्छंति, न कहेइ, भणइ य तुब्भं अप्पणो आयरिओ न कहेइ, मम कहं कहेइ ?, तओ आउरीभूए-

हिं गाढनिब्बंधकए कहियं-जहा-तुब्भ निव्वेएण सुवन्नभूमीए सागराणं सगासं गया, एवं काहित्ता ते खरिंटिया। तओ ते तह चेव उच्चलिया सुवन्नभूमिं गंतुं, पंथे लोगो पुच्छइ-एस कयरो आयरिओ जाइ। ते कहिंति-अज्जकालगा, तओ सुवन्नभूमीए सागराणं लोगेण कहियं-जहा अज्जकालगा नाम आयरिया बहुस्सुया बहुपरिवारा इहागंतुकामा पंथे वट्टंति- ताहे सागरो सिस्साणं पुरओ भणति-मए अज्जया इंति, तेसिं सगासे पयत्थे पुच्छीहामि त्ति। अचिरेणं ते सीसा आगया, तत्थ अग्गिल्लेहिं पुच्छिज्जाति-किं इत्थ आयरिया आगया चिट्ठंति, नत्थि, नवरं अन्ने खंता आगया, केरिसा वंदिए नायं एए आयरिया!, ताहे सागरो लज्जिओ बहुं, मए इत्थे पल्लावियं-खमासमणा य वंदाविया, ताहे अवरएहवेल्लाए मिच्छादुक्कडं करेइ, आसाइय त्ति। भणियं चाणेण-केरिसं खमासमणो अहं वागरेमि?। आयरिया भणंति-सुंदरं, मा पुण गव्वं करिज्जासि। ताहे धूलीपुंजदिट्ठंतं करेंति, धूली हत्थेण घेत्तुं तिसट्ठाणेसु उयारिंति, जहा-एस धूली ठविज्जमाणी ओखिप्पमाणी २ सव्वत्थ परिसडइ एवं अत्थो वि तित्थगरेहिंतो गणहराणं गणहरेहिंतो जाव अम्हं आयरियं उवज्झायाणं परंपरएण आगयं, को जाणइ कस्स केइ पज्जाया गलिया?, तो मा गव्वं काहिसि, ताहे मिच्छादुक्कडं करित्ता आढत्ता अज्जकालिया सीसपसीसाणं अणुओगं कहेउं।

[illegible]-सागरिका शय्यातरस्तस्य 'अप्पाहणं' संदेशकथनं, स्वयमाचार्याणां सुवर्णभूमौ श्रुतशिष्यस्यापि शिष्यस्य सागराभिधानस्य 'खंतखरंटेण' वृद्धव्याजेन गमनं, पश्चात् शिष्याणां सागारिकेण कथना-यथाऽऽचार्याः सुवर्णभूमौ सागरपार्श्वे गताः, ततः शिष्याणां तत्राऽऽगमनं, सागरं गर्वमु[illegible] प्रति धूलीपुञ्जोपमानमिति।

अनुयोगमहर्द्धिकस्याह-

निउणो खलु सुत्तत्थो, ससमयपरसमयभावणाजुत्तो।
[illegible] विमला, सोयव्वे हुंति उ निउणा ॥ १ ॥

निपुणः [illegible] करोति, निपुणा [illegible] । अत्र [illegible] दृष्टान्तो—भगवान् वर्द्धमानस्वामी, [illegible] निपुणा दृष्टान्ता भवन्ति गौतमादयः। ('[illegible]' शब्दे [illegible] वक्ष्यते) [illegible]। वृ० १ उ०। अनु०।

(१८) [illegible] शिष्याः, [illegible] शिष्याः, [illegible] शिष्याः, [illegible] शिष्याः, इति [illegible]।

[illegible] भवति, [illegible] तु न भवति, [illegible]। अनु०।

[illegible], [illegible] सुत्तं तु।
[illegible] ॥
[illegible]

सो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो पवत्तइ [illegible] समुद्दिष्टस्य समनुज्ञातस्य च ततोऽनुयोगो भवतीति। [illegible] निर्युक्तिकारेणान्यथापि श्रुतज्ञाने अनुयोगेनाधिकृतमिति।

(१९) इदानीं केनाऽनुयोगः कर्त्तव्य इति [illegible]-

देसकुलजाइरूवी, संहणणी धिइजुओ अणासंसी।
अविकत्थणो अमाई, थिरपरिवाडी गहियवक्को ॥
जियपरिसो जियनिद्दो, मज्झत्थो देसकालभावन्नू।
आसन्नलद्धपइभो, नाणाविहदेसभासन्नू ॥
पंचविहे आयारे, जुत्तो सुत्तत्थ-तदुभयविहिन्नू।
आहरण हेउ उवणय-नयनिउणो गाहणाकुसलो ॥
ससमयपरसमयविऊ गंभीरो दित्तिमं सिवो सोमो।
गुणसयकलिओ जुत्तो, पवयणसारं परिकहेउं ॥

युतशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। देशयुतः कुलयुतः [illegible]। यो मध्यदेशे जातो यावदर्द्धषड्विंशतिषु जनपदेषु स देशयुतः, स ह्यार्यदेशजनितं जानाति, ततः सुखेन तस्य [illegible] अधीयते इति। तदुपादानम्, कुलं पैतृकं, तथा च लोके [illegible] इक्ष्वाकुकुलजोऽयं, नाग (ज्ञात) कुलजोऽयमित्यादि [illegible] तिपन्नार्थनिर्वाहको भवति। जातिर्मातृकी तया युतो [illegible] णवान् भवति। रूपयुतो लोकानां गुणविषयबहुमान[illegible] "यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति" इति प्रवादात्। संहननयुतो व्याख्यायां न श्राम्यति। धृतियुतो [illegible] ति, अनाशंसी श्रोतृभ्यो वस्त्रादनाकाङ्क्षी। अविकत्थनो [illegible] बहुभाषी। स्थिरोऽतिशयेन निरन्तराभ्यासतः [illegible]

[illegible] वचन, [illegible]

[illegible] रूपमपि वचनं महार्थमिव [illegible] पर्षदि न क्षोभमुपयाति। जितनिद्रो रात्रौ सूत्रार्थं [illegible] रिनावचयन् वा न निद्रया बाध्यते। मध्यस्थः सर्वेषु शिष्येषु [illegible] चित्तः। देशं कालं भावं च जानातीति देशकालभावज्ञः। स हि देशं कालं भावं च लोकानां ज्ञात्वा सुखेन विहरति, शि[illegible] ष्याणां वाऽभिप्रायान् ज्ञात्वा तान् सुखमनुवर्तयति। आसन्नलब्धप्रतिभः परवादिना समाक्षिप्तः शीघ्रमुत्तरदायी। नाना[illegible] विधानां देशानां भाषां जानातीति नानाविधदेशभाषाज्ञः, स हि नानादेशीयान् शिष्यान् सुखेन शास्त्राणि ग्राहयति। [illegible] ध आचारो ज्ञानाचारादिकस्तस्मिन् युक्तः स्वयमाचरन् [illegible] तद्व्याख्यानाचारेषु प्रवर्तयितुमशक्यत्वात्। सूत्रार्थ[illegible] भङ्गी सूचिता। एकस्य सूत्र मार्थः १। द्वितीयस्यार्थः [illegible] २। तृतीयस्य सूत्रमर्थश्चापि ३। चतुर्थस्य न सूत्रं नार्थः [illegible] ४। तत्र तृतीयभङ्गग्रहणार्थं तदुभयग्रहणं [illegible] जानातीति सूत्रार्थतदुभयविधिज्ञः। आहरणं दृष्टान्तः। [illegible] चतुर्विधो ज्ञापकादिर्यथा-दशवैकालिकनिर्युक्तौ, यदि [illegible] हेतुः कारको ज्ञापकश्च। तत्र कारको-घटस्य कर्त्ता कुलालः, [illegible] ज्ञापको यथा—तमसि घटादीनामभिव्यञ्जकः [illegible] उपनय उपसंहारः, नया नैगमादयः, एतेषु निपुणः [illegible] तत्रनयनिपुणः, स हि श्रोतारमपेक्ष्य [illegible] करोति। [illegible] विन् दृष्टान्तोपन्यासं [illegible] [illegible] उपसंहारमिति। नयनिपुणतया [illegible] [illegible] प्रत्यर्थं विकल्पेन नयानभिधत्ते। [illegible]

दीर्घपर्यायकत्र्नुत्वेन', कदाचिदपि पर्यायं वेत्ति स्वयमप्य-
'श्रुतमर्थाविदः ; स च येनाऽऽस्मिनः सुत्रेण स्वयं परपक्षं च
विदंश्चनीय । मर्यादेऽनुन्ददशनावः शीतिमान् परवादिनाम-
नुमनेयीयः । शिष्यैरपि यदि वा यत्र तत्र वा विहरन् क-
दाचन वरः । तीनः आगमशर्म' । गुणा मूलगुणा उत्तरगुणाश्च,
तेषां मध्ये कतिमे गुणाः वर्जिताः । मुनः सर्मीचीनमवग-
मात् ज्ञातव्यम् स्वरूपं कथयितुम् ।

कस्मात् गुणसमन्वितेन इत्युक्ते इति वेदन आह--

गुणसुट्ठियस्स वयणं, घयपरिसित्तु व्व पावओ भाइ ।
गुणहीणस्स न सोहइ, नेहविहूणो जह पईवो ॥

यः मूलगुणादिषु गुणेषु सुस्थितस्तस्य वचनं घृतपरिषिक्तपा-
वक इव भाति दीप्यते । गुणहीनस्य तु न शोभते वचनम् ,
यथा स्नेहेन विहीनः प्रदीपः । उक्तं च- "आयारे वट्टंतो, आया-
रपरूवणा असंकिओ होइ । आयारपरिभट्ठो, सुद्धचरणदेसणे भइ-
ओ ॥ " गतं येन वेति द्वारम् ।

(१७) अधुना कस्येति द्वारमाह-

जइ पवयणस्स सारो, अत्थो सो तेण कस्स कायव्वो ।
एवं गुणन्निएणं, सव्वसुयस्सा उ देसस्सा ? ॥

यदि प्रवचनस्य सारोऽर्थस्ततोऽसौ तेनैवगुणान्वितेन कस्य क-
र्त्तव्यः ? । किं सर्वश्रुतस्य, उत देशस्य श्रुतस्कन्धादेरिति ।

अत्र सूरिराह-

सो कड्ढाणं नेच्छइ, सव्वस्स वि परिसेण वत्तव्वो ।
कप्पव्ववहारेण उ, पगयं सिस्साण हियत्थं ॥

यो नाम जानाति सकलार्थं तेषामपि । ततः सर्वस्यापि श्रुतस्या-
नुयोग एतेन वक्तव्यः, केवलं कल्पो व्यवहारश्चापवादबहुल-
त्वेन तयोरनुयोगे विशेषतः एतादृशेन प्रकृतमधिकारः, एव गुण-
युक्तेन कल्पव्यवहारयोरनुयोगः कर्त्तव्य इत्यर्थः । कस्मादेवमु-
च्यते ?-शिष्याणां स्थिरीकरणार्थम् ।

तदेव स्थिरीकरणं भावयति-

पडुप्पन्नगाढियप्पा, जयणाऽणुन्ना वा दरिसंयतो वि ।
तासु न वट्टइ नूणं, निच्छयओ ता वि अकरिज्जा ॥

यदा नाम यथोक्तगुणगणकलितः कल्पव्यवहारयोरनुयोगं क-
रोति तदा शिष्या एवमेव बुध्यन्ते-एष स्वयमुत्सर्गस्थितात्मा ,
अथ च कल्पे व्यवहारे च यतनया पञ्चकादिपरिहाणिरूपया
प्रतिसेवनाः अनुज्ञाताः प्रदर्शयति । ततः प्रतिसेवनायतनया अनु-
ज्ञाता अपि प्रदर्शयन् स्वयं तासु न वर्त्तते, किंतु केवलमुत्सर्ग-
माचरति, तदेवं ज्ञायते नूनम्, निश्चयेनैता यतनया अनुज्ञाता अपि
प्रतिसेवना अकरणीया न समाचरितव्याः ।

किञ्च--

जो उभयेहिं पइओ, मग्गो सो दुग्गमो न सेसाणं ।
आयरियम्मि जयंते, तदणुचरा केण सीइज्जा ? ॥

य उत्सर्गमुखेन प्रहतः क्षुण्णो मार्गः पन्थाः स शेषाणां दुर्गमो
न भवति, किं तु सुगमः, तत्र आचार्ये यतमाने यथोक्तसूत्रनीत्या
प्रयतमाने,तदनुचरास्तदाश्रिताः शिष्याः केन हेतुना सीदेयुः ? ,
नैव सीदेयुरिति भावः । तत एतेन कारणेन कल्पव्यवहारयोर-
नुयोगे विशेषतः एतादृशेन प्रकृतम् ।

अणुओगम्मि य पुच्छा, अंगाइ अ कप्पछक्कनिक्खेवो ।

सुयखंधे निक्खेवो, इक्किक्के चउविहो होई ॥

अनुयोगे अङ्गादेः पृच्छा वक्तव्या, तदनन्तरं कल्पस्य षट्के निक्षे-
पः, ततः श्रुतस्कन्धे च एकैकस्मिन् निक्षेपश्चतुर्विधो भवतीति
वक्तव्यः । एष द्वारगाथासमासार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतोऽनुयोगे अङ्गादेः पृच्छामाह-

जइ कप्पाइऽणुओगो, किं सो अंगं उयाहु सुयखंधो ।
अज्झयणं उद्देसो, पडिवक्खंगादिणो बहवो ॥

यदि कल्पादेरादिशब्दाद् व्यवहारस्य ग्रहणमनुयोगस्ततः
किं सोऽङ्गमुताहो श्रुतस्कन्धोऽध्ययनमुद्देशो वा । अमीषां चाङ्गा-
नां प्रतिपक्षा बहवोऽनङ्गादयो द्रष्टव्याः । इयमत्र भावना-यदि
नामैतावतोनाऽऽचार्येणानुयोगः कल्पस्य व्यवहारस्य च कर्त्त-
व्यः , स कल्पो व्यवहारो वा किमङ्गमङ्गानि, श्रुतस्कन्धः श्रुत-
स्कन्धाः , अध्ययनमध्ययनानि , उद्देश उद्देशाः ।

अत्र सूरिराह-

सुयखंधो अज्झयणा, उद्देसा चेव हुंति निक्खिप्पा ।
सेसाणं पडिसेहो, पंचण्ह वि अंगमाईणं ॥

श्रुतस्कन्धोऽध्ययनानि उद्देशा एते अत्र. त्रयो भवन्ति निक्षेप्याः
स्थाप्या आदरणीया इत्यर्थः । शेषाणां पञ्चानामप्यङ्गादीनां प्र-
तिषेधः । तद्यथा-कल्पो व्यवहारो वा-नाङ्गं नाङ्गानि , श्रुतस्क-
न्धो नो श्रुतस्कन्धाः, अध्ययनं नाध्ययनानि, नो उद्देश उद्देशाः।

तम्हा उ निक्खिविस्सं, कप्प व्ववहार सो सुयक्खंधं ।
अज्झयणं उद्देसं, निक्खिवियव्वं तु जं जत्थ ॥

यस्मादेवं तस्मात्कल्पं निक्षेप्स्यामि,व्यवहारं निक्षेप्स्यामि,स्क-
न्धं निक्षेप्स्यामि, अध्ययनं निक्षेप्स्यामि,उद्देशं निक्षेप्स्यामि, यत्र
यत्र निक्षेप्तव्यं नामादिचतुःप्रकारं षट्प्रकारं च तत्र वक्ष्यामि,तत्र
कल्पस्य षड्विधो नामादिको निक्षेप । यत उक्तं प्राग्द्वारगाथायाम्-
'कप्पछक्कनिक्खेवो' व्यवहारस्य चतुर्विधो नामादिनिक्षेपः ।

एतयोः स्वस्थानमाह-

आइल्लाणं दुण्ह वि, सट्ठाणं होइ नामनिप्फन्ने ।
अज्झयणस्स चउव्विहे, उद्देसस्सऽणुगमे भणिओ ॥

आद्ययोर्द्वयोः कल्पव्यवहारयोर्यथाक्रमं षट्कस्य चतुष्कस्य नि-
क्षेपस्य स्थानं भवति नामनिष्पन्ने निक्षेपे , ततः स तत्र वक्तव्यः
तत्र कल्पस्य पञ्चकल्पे , व्यवहारस्य पीठिकायां अध्ययनस्य
चतुष्प्रकारो निक्षेप ओघनिष्पन्ने निक्षेपेऽभिधास्यते । उद्दे-
शस्य चानुगमे उपोद्घाते निर्युक्त्यनुगमे भणितः ।

संप्रति 'सुयखंधे निक्खेवो' इत्यादिव्याख्यानार्थमाह--

नामसुयं ठवणसुयं, दव्वसुयं चेव होइ भावसुयं ।
एमेव होइ खंधं, पन्नवणा तेसिँ पुव्वुत्ता ॥

श्रुतस्य चतुष्प्रकारो नामादिको निक्षेपः । तद्यथा-नामश्रुतं
स्थापनाश्रुतं द्रव्यश्रुतं भावश्रुतं च । एवमेव अनेनैव प्रकारेण,
स्कन्धेऽपि चतुष्प्रकारो निक्षेपः तद्यथा-नामस्कन्धः,स्थापनास्क-
न्धः, द्रव्यस्कन्धः, भावस्कन्धश्च । एतेषां प्रज्ञापना पूर्वमाव-
श्यके उक्ताऽवधारणीया ॥ गतं कस्येति द्वारम् ॥ बृ० १ उ० ।

(१८) इदमेव सप्तमं द्वारं चेतसि निधाय सूत्रकृदाह--

नाणं पंचविहं पण्णत्तं । तं जहा-आभिणिबोहियनाणं,
सुयनाणं, ओहिनाणं, मणपज्जवनाणं, केवलनाणं ॥

यदि नाम ज्ञानं पञ्चविधं प्रकृतं ततः किमित्याह-

तत्थ चत्तारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइं णो उद्दिसंति, णो समुद्दिसंति, णो अणुणविज्जंति । सुयनाणस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो य पवत्तइ ॥

(तत्थेत्यादि) तत्र तस्मिन् ज्ञानपञ्चके आभिनिबोधिकावधिमनःपर्यायकेवलाख्यानि चत्वारि ज्ञानानि (ठप्पाइं ति) स्थाप्यान्यसंव्यवहार्याणि । व्यवहारनये हि यदेव लोकस्योपकारे वर्त्तते तदेव संव्यवहार्यं मन्यते । लोकस्य च हेयोपादेयेष्वर्थेषु निवृत्तिप्रवृत्तिद्वारेण प्रायः श्रुतमेव साक्षादत्यन्तोपकारि । यद्यपि केवलादिदृष्टमर्थं श्रुतमभिधत्ते तथापि गौणवृत्त्या तानि लोकोपकारीणीति भावः । यदुक्तन्यायेनासंव्यवहार्याणि तानि ततः किमित्याह-(ठवणिज्जाइं ति) ततः स्थापनीयानि एतानि तथाविधोपकाराभावतोऽसंव्यवहार्यत्वात्तिष्ठन्ति, न तैरिहोद्देशसमुद्देशाद्यवसरेऽधिकार इत्यर्थः। अथवा स्थाप्यान्यमुखराणि स्वस्वरूपप्रतिपादनेऽप्यसमर्थानि,नहि शब्दमन्तरेण स्वस्वरूपमपि केवलादीनि प्रतिपादयितुं समर्थानि । शब्दज्ञानान्तरमेव श्रुतत्वेनोक्तं इति स्वपरस्वरूपप्रतिपादने श्रुतमेव समर्थम्, स्वरूपकथनं चेदम्, अतः स्थाप्यानि अमुखराणि यानि चत्वारि ज्ञानानि तानीहानुयोगद्वारविचारप्रक्रमे । किमित्याह—अनुपयोगित्वात्स्थापनीयान्यनधिकृतानि;यत्रैव ह्युद्देशसमुद्देशानुज्ञादयः क्रियन्ते तत्रैवाऽनुयोगस्तद्द्वाराणि चोपक्रमादीनि प्रवर्तन्ते । एवंभूतं त्वाचारादिश्रुतज्ञानमेवेत्यत उद्देशाद्यविषयत्वादनुपयोगीनि शेषज्ञानानि इत्यतोऽत्रानधिकृतानि । अत्राह—अनुयोगो व्याख्यानम्, तच्च शेषज्ञानचतुष्टयस्यापि प्रवर्त्तत एवेति कथमनुपयोगित्वम्?। ननु समयचर्याऽनभिज्ञतासूचकमेवेदं वचः, यतस्तत्राऽपि तज्ज्ञानप्रतिपादकसूत्रसंदर्भ एव व्याख्यायते, स च श्रुतमेवेति, श्रुतस्यैवानुयोगप्रवृत्तिरिति । अथवा स्थाप्यानि गुर्वर्न्वयातत्वेनोद्देशाद्यविषयभूतानि । एतदेव विवृणोति-स्थापनीयानीत्येकार्थौ ह्यपि । इदमुक्तं भवति-अनेकार्थत्वादतिगम्भीरत्वाद् विविधमन्त्राद्यतिशयसम्पन्नत्वाच्च प्रायो गुरूपदेशापेक्षं श्रुतज्ञानम्, तच्च गुरोरन्तिके गृह्यमाणं परमकल्याणकोशत्वादुद्देशादिविधिना गृह्यत इति । तस्योद्देशादयः प्रवर्तन्ते,शेषाणि तु चत्वारि ज्ञानानि तदावरणकर्मक्षयोपशमाभ्यां स्वत एव जायमानानि नोद्देशादिक्रममपेक्षन्ते । एतदेवमत आह-'नो उद्दिसिज्जंतीत्यादि' । नो उद्दिश्यन्ते नो समुद्दिश्यन्ते नो अनुज्ञायन्ते । अनु० एवं श्रुतस्यैव उद्देशादयः प्रवर्त्तन्ते न शेषज्ञानानाम्। अत्र चाऽनुयोगेनैवाधिकारो न शेषैः, अनुयोगद्वारविचारस्यैवेह प्रक्रान्तत्वात् । अत्र यथाऽभिहितमुपजीव्याह शिष्यः—

जइ सुयनाणस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो य पवत्तइ, किं अंगपविट्ठस्स उद्देसो अणुण्णा अणुओगो य पवत्तइ,किं अंगबाहिरस्स उद्देसो समुद्देसो अणुण्णा अणुओगो य पवत्तइ ?। अंगपविट्ठस्स वि उद्देसो जाव पवत्तइ, अणंगपविट्ठस्स वि उद्देसो जाव पवत्तइ । इमं पुण पट्ठवणं पडुच्च अणंगपविट्ठस्स अणुओगो । जइ अणंगपविट्ठस्स अणुओगो, किं कालियस्स अणुओगो, उक्कालियस्स अणुओगो?। कालियस्स वि अणुओगो, उक्कालियस्स वि अणुओगो । इमं पुण पट्ठवणं पडुच्च उक्कालियस्स अणुओगो। जइ उक्कालियस्स अणुओगो, किं आवस्सगस्स अणुओगो, आवस्सगवइरित्तस्स अणुओगो ?। आवस्सगस्स वि अणुओगो, आवस्सगवइरित्तस्स वि अणुओगो ॥

(यदीत्यादि) यद्युक्तक्रमेण श्रुतज्ञानस्योद्देशः समुद्देशोऽनुज्ञा अनुयोगश्च प्रवर्त्तते तर्हि किमङ्गप्रविष्टस्य प्रवर्त्तते, उताङ्गबाह्यस्येति?। तत्राङ्गेषु प्रविष्टमङ्गप्रविष्टमङ्गप्रविष्टं श्रुतमाचारादि, तद्व्यतिरिक्तमनङ्गप्रविष्टमङ्गबाह्यमुत्तराध्ययनादि । अत्र गुरुर्निर्वचनमाह-(अंगपविट्ठस्स वीत्यादि) अपिशब्दौ परस्परसमुच्चयार्थौ । अङ्गप्रविष्टस्याप्युद्देशादि प्रवर्त्तते, तद्बाह्यस्यापि । इदं पुनः प्रस्तुतं प्रारब्धं प्रस्थापनं प्रतीत्याश्रित्याङ्गबाह्यस्य प्रवर्तते येनास्य, आवश्यकस्य व्याख्या आरभ्यते तच्चाङ्गबाह्यमेवेति भावः । अङ्गबाह्यस्येति सामान्योक्तौ सत्यां संशयानो विनेय आह-[जइ अंगबाहिरस्सेत्यादि] यद्यङ्गबाह्यस्योद्देशादिः, किमसौ कालिकस्य प्रवर्त्तते उत्कालिकस्य वा ?; द्विधा ह्यङ्गबाह्यस्य संभवादिति भावः । तत्र दिवसनिशाप्रथमचरमपौरुषीद्वय एव काले पठ्यते यत्तत् कालिकमुत्तराध्ययनादि । यत्तु कालवेलावर्जं सर्वासु वेलासु पठ्यते तदुत्कालिकमावश्यकादि । अत्र गुरुः प्रतिवचनमाह-(कालियस्स वीत्यादि) कालिकस्याप्यसौ प्रवर्त्तते, उत्कालिकस्यापि । इदं पुनः प्रस्तुतं प्रस्थापनं प्रारब्धं प्रतीत्य उत्कालिकस्य मन्तव्यम् । आवश्यकमेव ह्यत्र व्याख्यास्यते, तच्चोत्कालिकमेवेति हृदयम् । उत्कालिकस्येति सामान्यवचने विशेषजिज्ञासुः पृच्छति-[जइ उक्कालियस्सेत्यादि] यद्युत्कालिकस्योद्देशादिस्तत्किमावश्यकस्यायं प्रवर्तते?, अथवाऽऽवश्यकव्यतिरिक्तस्य?; उभयथाऽप्युत्कालिकस्य संभवादिति । तत्र सामायिकादि षडध्ययनकलापः अवश्यकरणादावश्यकं श्रमणैः श्रावकैश्चोभयसन्ध्यमवश्यंकरणादावश्यकं सामायिकादिषडध्ययनकलापः । तस्मात्तु व्यतिरिक्तं नित्यं दशवैकालिकादि । गुरुराह-[आवस्सगस्स वीत्यादि] द्वयोरप्येतयोः सामान्येनोद्देशादिः प्रवर्त्तते किन्त्विदं प्रस्तुतं प्रस्थापनं प्रतीत्यावश्यकस्यानुयोगो नेतरस्य, सकलसामाचारीमूलत्वात् ईर्यादिश्रुतस्यैवेह शेषपरिहारेण व्याख्यानादिति भावनीयम् । उद्देशसमुद्देशानुज्ञास्त्वावश्यके प्रवर्तमाना अप्यत्र नाधिकृताः, अनुयोगावसरत्वात् । अतस्तत्परिहारेणोक्तम्-(अणुओगो त्ति) अनु॰।

इमं पुण पट्ठवणं पडुच्च आवस्सगस्स अणुओगो। जइ आवस्सगस्स अणुओगो, किं अंगं अंगाइं सुअखंधो सुअखंधा अज्झयणं अज्झयणाइं उद्देसो उद्देसा? आवस्सयस्स णं नो अंगं नो अंगाइं नो सुअखंधो नो सुअखंधा नो अज्झयणं नो अज्झयणाइं नो उद्देसो नो उद्देसा ।

इदं पुनः प्रस्थापनं प्रतीत्यावश्यकस्यानुयोग इति पुनरपि प्रारब्धम् (जइ आवस्सगस्सेत्यादि) यद्यावश्यकस्य प्रस्तुतोऽनुयोगस्ततः किम्?। णमिति वाक्यालङ्कारे, किमिति परिप्रश्ने, किमेकं ज्ञानान्तर्गतमङ्गमिदमुत बहून्यङ्गानि । अथैकः श्रुतस्कन्धो बहवो वा श्रुतस्कन्धाः, अध्ययनं चैकं बहूनि वाऽध्ययनानि, उद्देशो वा एको बहवो वा उद्देशकाः?, इत्यष्टौ प्रश्नाः । तत्र श्रुतस्कन्धोऽध्ययनानि चेदमिति प्रतिपत्तव्यम् । एकाध्ययनात्मकश्रुतस्कन्धत्वाद्, आदिप्रश्नान्निषेधात् । शेषास्तु षट् प्रश्ना अनादेयाः, अत एवाह-(आवस्सयस्स णमित्यादि) अत्राह-नन्वावश्यक उत्कालिकमहानीत्येतत् प्रश्नद्वयमत्रानवकाशमेव,नन्वावश्यक यथाङ्गप्रविष्टत्वेन निर्णीतत्वात् । तथाऽप्यङ्गबाह्यकालिकाङ्गप्रविष्टत्वेन निर्णीतत्वात् । अथोच्यते-यथायुक्तं मन्दमतेर्व्युत्पत्त्यर्थं सर्वं प्रश्नयोगकल्प्यादिति ।

भारि । तदयुक्तम् । यतो नावश्यकमन्यथ्ययनं व्याख्याय तदिदं व्याख्येयमिति नियमोऽस्ति , कदाचिदनुयोगद्वारव्याख्यानस्यैव प्रथमं प्रवृत्तेः । अनियमज्ञापकत्वायमेव सूत्रोपन्यासः, अन्यथा प्रकृतावसरेऽस्य तत्रैव निक्षिप्तः, किमिहाद्याध्ययनमाशिष्टचिन्तायुपन्यासेनेति ? ।

अधुना तद्द्वारं वक्तव्यम् । यदाह—

"तस्स णं इमे चत्तारि अणुओगदारा भवंति । तं जहा उवक्कमे १ णिक्खेवे २ अणुगमे ३ णए ४ ॥ अनु० । इदानीं भेदद्वारं तेषामेव द्वाराणामानुपूर्वी नाम प्रमाणादिकोऽनेकस्वरूपो भेदो वक्तव्यः ।

(११) तथाऽनुयोगस्य लक्षणं वाच्यम्-

यदाह-

"संहियापपदं चेव, पयत्थो पयविग्गहो ।
चालणा य पसिद्धी य, छव्विहं विद्धि लक्खणं" ॥

...ने हते सति (पसिद्धि त्ति) चालनायां सत्यां प्रसिद्धिः ...धानम्,(विद्धि त्ति) जानीहि । व्याख्येयसूत्रस्य च "अलि- ...यायत्थपमित्यादि " द्वात्रिंशद्दोषरहितत्यादिकं लक्षण च- ...म । अनु० ।

(...) यथोक्तगुणयुक्तस्य सूत्रस्य कोऽर्हः इत्यनेन संबन्धेन ...दर्हद्वारमापतितम् । तत्र सोऽर्हः वणिक्कादिदृष्टान्त— स्योपनयभूतस्तत आह-

...ोहिय भूमी पेढिय, पुरिसग्गहणं तु पढमओ काउं ।
एवं परिक्खियम्मी, दायव्वं वा न वा पुरिसे ॥

...नवे नगरे निवेश्यमाने प्रथमत वणिक्प्रपातस्य योग्या भूमि- ...तस्य तत्प्रदानार्थमुक्ता पात्यते, ततो भूमिशोधनं,तदनन्तरं पी- ...ठिका, एवमत्रापि प्रथमतः पुरुषग्रहणं कृत्वा तदनन्तरं परीक्षा ...सेव्या-किमयमपरिणामकोऽतिपरिणामकः,परिणामको वेति ?। ...वं पुरुषे परीक्षिते दातव्यं, न वा अपरिणामके अतिपरिणाम- ...का न दातव्यम्, परिणामके दातव्यमिति गाथासंक्षेपार्थः ।

सांप्रतमेनामेव विवरीषुराह-

...जिनवनगरनिवेसे, सगनूमिविरेयणऽक्खरविहिन्नू ।
...दिइ ठंदियाओ, जा जस्स पायसोहणया ॥
...णं कुट्टण ठवणं, पीढं पासाय रयण दढवासो ।
... संभमनगरंकिय-लिंगं मिच्छत्तसोहणयं ॥
...इहगठवणनिजा, पेढं पुण होइ जाव सूयगडं ।
...य जहिं पगयं, रयणनिजा हुंति अत्थपया ॥

...वे नगरे निवेश्यमाने प्रथमतो भूमिः परीक्ष्यते, परीक्ष्य ...ः समभूमिविरेचनं विधीयते । तदनन्तरमक्षरविधिज्ञो ... योग्या भूमिस्तस्य तस्याः प्रदानार्थमुक्ता अक्षरसं- ...छिकाः पातयति । तत. स्वस्थानस्य शोधनता-शोधनम् । ...याः ४. भूमेः खननं, तदनन्तरं सुधर्णेष्टिकाद्यकलानि ...र्णं कुट्टनं, ततस्तस्योपरि इष्टकानां स्थापन, तदनन्तरं ... तावत् पीठं,ततस्तस्य पीठकस्योपरि प्रासादकरणं, ...र्वा प्रासादानां रत्नैरापूरणं,ततः सुखेन वासः परि- ... दृष्टान्तः। अयमर्थोपनय-धर्मग्रहणस्थानीयं पुरुष- ...पुरुषं परीक्ष्य तस्य प्रव्रज्यादानमित्यर्थः। तत 'इति' ...रण नगरस्थानीये संयमे स्थाप्यते, तत उपरिका-

स्थानीयं रजोहरणादि लिङ्गं दीयते , तदनन्तरं मिथ्यात्व- ...ज्ञानस्य च कचवरस्थानीयस्य शोधनं, ततः शोधयित्वा ... ...थ्यात्वं समूलमुन्मूल्य स्थिरीकरणनिमित्तं सम्यक्त्वसुधर्णेष्ट- ...यमवतिष्ठते मिथ्यात्वपुरुषात्मकयत् कुट्टयित्वा भस्मच्छन्ना- ...मिव कृत्वा । तत उपरि इष्टकास्थापननिभानि व्रतानि दीयन्ते,त- ...आवश्यकमादि कृत्वा यावत् सूत्रकृतं तावत्पीठं भवति, ततो ...यकाभ्यां प्रवर्त्तो कल्पव्यवहारौ प्रासादस्थानीयो दीयेते,तत्रा- ...र्थपदानि यानि तानि रत्ननिभानि । गतं तदर्हद्वारम् । वृ० १ उ० । तथा तस्यैवानुयोगस्य परिषद् वक्तव्या । (सा च 'सेलघणकुड- ग' इत्यादिदृष्टान्तैः परीक्षितव्येति 'सीस' शब्दे , ज्ञापिकादिका च त्रिविधा पर्षत् 'परिसा' शब्दे वक्ष्यते)

(२१) सम्प्रति कथाऽधिकार इति प्रतिपादयति—

उत्तंतिआए पगयं, जइ पुण सा होज्जिमेहिँ उववेया ।
तो देंति जेहिँ पगयं, तदभावे ठाणमादीणि ॥

अत्र उत्कान्तिकया पर्षदा प्रकृतमधिकारः, शेषाः पर्षद् अवरि- तसदृशा इति प्ररूपिताः । तत्र यदि सा उत्कान्तिका पर्षद् वक्ष्यमाणैर्गुणैरुपेता भवति तदा यकाभ्यामत्र प्रकृतं तकौ व्यवहारी सूरयो ददति, तदभावे वक्ष्यमाणगुणाभावे स्थानादी- नि, आदिग्रहणेन प्रकीर्णकानां परिग्रहः ।

अथ के ते गुणा इत्यत आह-

बहुस्सुए चिरपव्वइए, कप्पिए य अचंचले ।
अवट्ठिए य मेहावी, अपरिजाविओ विऊ ॥
पत्ते य अणुन्नाए, भावओ परिणामगे ।
एयारिसे महाभागे, अणुओगं सोउमरिहइ ॥

बहुश्रुतश्चिरप्रव्रजितः, कल्पिकोऽचञ्चलः, अवस्थितो, मेधावी, अपरिस्रावी, यश्च विद् विद्वान् प्रभूताद्यपराऽपरिमलितबुद्धिः, (पत्ते य त्ति) पात्रं प्राप्तो वा तथाऽनुज्ञातः सन् भावतश्च परि- णामकः , एतादृशो महाभागोऽनुयोगं श्रोतुमर्हति, सामर्थ्यात् कल्पव्यवहारयोः । एष द्वारगाथाद्वयसंक्षेपार्थः । वृ० १ उ० । (बहुश्रुतादीनां तिन्तिणिकादीनां च व्याख्या स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या) एतत्सर्वमभिधाय ततः सूत्रार्थो वक्तव्यः ।

(२२) सोऽनुयोगश्चतुर्विधो भवति-

सुयनाणे अणुओगे-णऽहिगयं सो चउव्विहो होइ ।
चरणकरणाणुयोगे, धम्मे काले य दविए य ॥

कथम्?,चरणकरणानुयोगः, चर्यत इति चरणं व्रतादि, यदोक्तम्— "वय समणधम्म संजम, वेयावच्चं च बंभ गुत्तीओ । णाणाइ- तिय तवको-हनिग्गहाई चरणमेयं" ॥१॥ क्रियत इति करणं— पिण्डविशुद्ध्यादि । उक्तं च-"पिंडविसोही समिई, भावणपडि- माइ इंदियनिरोहो ॥ पडिलेहणगुत्तीओ, अभिग्गहा चेव करणं तु" ॥ १ ॥ चरणकरणयोरनुयोगश्चरणकरणानुयोगः । अनुरूपो योगोऽनुयोगः-सूत्रस्यार्थेन सार्द्धमनुरूपः संबन्धो व्याख्यान- मित्यर्थः । एकारान्तः शब्दः प्राकृतशैल्या प्रथमाद्वितीयान्तोऽपि द्रष्टव्यः । यथा "कयरे आगच्छइ दित्तरूवे" इत्यादि । धर्म इति धर्मकथानुयोगः । काले चेति कालाऽनुयोगश्च गणितानुयोग इत्यर्थः । द्रव्यं चेति द्रव्यानुयोगश्च । तत्र कालिकश्रुतं चरणकर- णानुयोगः, ऋषिभाषितानि उत्तराध्ययनादीनि धर्मकथानु- योगः, सूर्यप्रज्ञप्त्यादिर्गणितानुयोगः, दृष्टिवादस्तु द्रव्यानुयोगः

इति । उक्तं च-"कालियसुयं च इसिभा-सियाइँ तइयो य सूरपन्न-त्ती । सव्वो य दिट्ठिवाओ, चउत्थओ होइ अणुओगो " इति गाथार्थः । इह चौघतोऽनुयोगो द्विधा-अपृथक्त्वानुयोगः पृथक्त्वानुयोगश्च । तत्रापृथक्त्वानुयोगो यत्रैकस्मिन्नेव सूत्रे सर्व एव चरणादयः प्ररूप्यन्ते, अनन्तागमपर्यायत्वात्सूत्रस्य । पृथक्त्वानुयोगश्च यत्र क्वचित् सूत्रे चरणकरणमेव, क्वचित्पुनर्धर्मकथा चेत्यादि । दश० १ अ० । चरणकरणाद्यनुयोगाः "ओहेण उ णिज्जुत्तिं, वोच्छं चरणकरणाणुओगाओ " इति निर्युक्तिगाथाया-चरणकरणस्येति वक्तव्ये दोषो त्यक्त्वा पञ्चम्या निर्देशं कुर्वन्ना-चार्यः [illegible]-सन्त्यन्येऽप्यनुयोगा इति। तदत्राह-'चरणकरणानुयोगाद्द्वये नान्यानुयोगेभ्यः' इति । तथा षष्ठी द्विविधा दृष्टा-भेदषष्ठी , अभेदषष्ठी च । तत्र भेदषष्ठी यथा-देवदत्तस्य गृहम् । अभेदषष्ठी यथा-तैलस्य धारा, शिलापुत्रकस्य शरीरकमिति । तद् यदि षष्ठ्या उपन्यासः क्रियते ततो न ज्ञायते, किं चरणकरणानुयोगस्य भिन्नामोघनिर्युक्तिं वक्ष्ये, यथा-देवदत्तस्य गृहमिति, आहोस्विदभिन्नां वक्ष्ये, यथा तैलस्य धारेत्यस्य संमोहस्य निवृत्त्यर्थं पञ्चम्या उपन्यासः कृत इति । एवं व्याख्याते सत्याह-[illegible] , अनुयोगा बहवश्च , तत्कथं बहुत्वं प्रतिपादयति ? । उच्यते-अर्त्तीति निक्षिप्तप्रतिरूपकमव्ययम् । [illegible]-" [illegible] , [illegible] " । ततो बहुत्वं प्रतिपादयन्ति । [illegible] कथमिदम् ?, [illegible] । [illegible] विभक्तिः ? । [illegible] । पुनरप्याह-[illegible] । आचार्य आह-अत्र्येऽप्यनुयोगा आद्यत्वात्, [illegible] भावना पूर्ववत् ।

[illegible] अनुयोगाः सम्भाव्यन्ते, न च ज्ञायन्ते [illegible] प्रतिपादयन्नाह—

[illegible] अणुओगा, चरणे धम्मगणियाणुओगे य ।
दविअणुओगे य तहा, अहक्कमं ते महड्ढीया ॥ ७ ॥

[illegible] शब्दः, अनुकूला अनुरूपा वा योगा अनुयोगाः । [illegible] । अन्ये तु [illegible] । [illegible] । कथं [illegible] (चरणे धम्मगणियाणुओगे य) [illegible] चरणानुयोगे । अत्र [illegible] । (धम्मे त्ति) [illegible] । (गणियाणुओ-[illegible] । (दवियाणुओ-[illegible]

तथा चरणपदं भिन्नया विभक्त्या किमर्थमुपन्यस्तम् ?, [illegible] तानुयोगौ तु एकयैव विभक्त्या, पुनर्द्रव्यानुयोगे [illegible] क्त्येति, तथाऽनुयोगशब्दश्च एक एवोपन्यस्तोऽत्र, [illegible] नुयोग इति भेदेनोपन्यस्त इति ?। अत्रोच्यते-[illegible] ग्रहणं न कर्तव्यं, विशिष्टपदोपन्यासात् । तदसत् । [illegible] ष्टपदोपन्यासे विशिष्टसम्बन्धाधिगमो भवति, [illegible] ऽपि कुतश्चरणधर्मगणितद्रव्यपदानि सन्तीति, [illegible] न्तीति संशयो मा भूत्कस्यचिदित्यतस्तदनुग्रहणं [illegible] यथोक्तम्-भिन्नया विभक्त्या चरणपदं [illegible] तत्रैतत् प्रयोजनम्, चरणकरणानुयोग [illegible] न्यख्यापनार्थं भिन्नया विभक्त्या उपन्यास इति । [illegible] णितानुयोगौ एकविभक्त्योपन्यस्तौ, [illegible] तावेवेति । तथा द्रव्यानुयोगे च भिन्नविभक्त्युपन्यासे [illegible] अयं हि पृथक्कानुयोग मीलनीयः, न पुनर्लौकिक [illegible] विचारणीय इति । तथाऽनुयोगे शब्दद्वयोपन्यासे [illegible] ते । एवं त्रयाणां पदानामन्तेऽनुयोगपदमुपन्यस्तं [illegible] योगप्रतिपादनार्थम् ; यश्च द्रव्यानुयोग इति [illegible] प्रतिपादनार्थमिति । एवं व्याख्याते सत्याह पर: [illegible] पर्यायत इदमुक्तम्-'यथाक्रमं ते महर्द्धिकाः' इति । [illegible] करणानुयोगस्य लघुत्वं, तत्किमर्थं तस्य निर्युक्तिः [illegible] तु द्रव्यानुयोगस्य युज्यते कर्तुम् , सर्वोत्तम प्रधानत्वा [illegible] चोदकेनाक्षेपे कृते सत्युच्यते—

सविसयबलवत्तं पुण, जुज्जइ तह वि य महड्ढियं चरणं ।
चारित्तरक्खणट्ठा, जेणियरे तिन्नि अणुओगा ॥ ८ ॥

स्वश्चासौ विषयश्च स्वविषयः, तस्मिन् स्वविषये, [illegible] युज्यते घटते । एतदुक्तं भवति-आत्माऽऽत्मीयविषये [illegible] बलवन्तो वर्तन्त इति । एवं व्याख्याते सत्याह-[illegible] मेव निर्युक्तिकरणं प्राप्तम्, आत्मात्मीयविषये सर्वेषामेव [illegible] त; तथापि चरणकरणानुयोगस्य न कर्तव्येति । एवं [illegible] शङ्किते सत्याह गुरुः-(तह वि य महड्ढियं चरणं) [illegible] मपि स्वविषये बलवत्त्वेऽपि सति महर्द्धिकं चरणमेव [illegible] णानां चरणकरणानुयोगार्थमेवोपादानम् । [illegible] र्थं पूर्वप्रतिपादितं वा । शेषानुयोगा अप्येवं [illegible] कर्पूरक्षेत्ररक्षार्थं वृत्तिकरणादीवेन, तत्र हि [illegible] वृत्तिः । एवमत्रापि चारित्ररक्षणार्थं शेषानुयोग [illegible] तथा चाह—[चारित्तरक्खणट्ठा जेणियरे तिन्नि अणुओगा] [illegible] चरित्रमेव चारित्रं, तस्य रक्षणं, तदर्थं [illegible] कारणेन इत्यादि इति धर्मानुयोगादयस्त्रयोऽनुयोगाः [illegible] एवं व्याख्याते सत्याह-कथं चारित्ररक्षणार्थं [illegible]

चरणपडिवत्तिहेउं, धम्मकहा कालदिक्खमाईया ।
दविए दंसणसुद्धी, दंसणसुद्धस्स चरणं तु ॥ ९ ॥

[illegible] इति चरणं भवति, तस्य प्रतिपत्तिः [illegible] [illegible]

योगादौ प्रयत्नमाश्रयणं कर्तव्यम् । अतः कालानुयोगोऽप्यस्यैव चारित्ररूप इति (दविय ति) द्रव्ये द्रव्यानुयोगे किं भवती- त्यत आह-(दंसणसुद्धि त्ति) दर्शनं सम्यग्दर्शनमभिधीयते, तस्य शुद्धिर्निर्मलता दर्शनशुद्धिः। एतदुक्तं भवति-द्रव्यानुयोगे सति दर्शनशुद्धिर्भवति, युक्तिभिर्यथावस्थितार्थपरिच्छेदात् । तदत्र चरणमपि शुद्ध्यनुगतमेव प्रहीतव्यं न पुनरागमादेव केव- लादित्याह-दर्शनशुद्धस्यैव । किं तदाह ?-दर्शनशुद्धस्य-दर्शन शुद्धं एवासौ दर्शनशुद्धस्तस्य, चरणं चारित्रं भवतीत्यर्थः । तु- शब्दो विशेषणे । चारित्रशुद्धस्य दर्शनमिति । अथवा-प्रकारान्त- रेण चरणकरणानुयोगस्यैव प्राधान्यं प्रतिपद्यते । आदिष्टत- स्याऽपीति ।

तच दृष्टान्तबलेनाचलं भवति नान्यथेत्यतो दृष्टान्तद्वारेणाह-

जह रन्नो विसएसुं, वइरकणगरययलोहे य ।
चत्तारि आगरा खलु, चउएह पुत्ताण ते दिन्ना ॥ १० ॥

यथेत्युदाहरणोपन्यासे, राज्ञो विषयेषु जनपदेषु (वइर त्ति) व- आकरो भवति, यत्राणि रत्नानि तेषामाकरः खनिर्वज्राकरः। 'चि- तासोहागरिए' इत्यतः सिंहावलोकितन्यायेनाऽऽकरग्रहणं सं- बध्यते । एतेन कारणेन 'दोइ हुंति' स्याद् भवति क्रिया सर्वत्र मीलनीयेति । कनकं सुवर्ण तस्याऽऽकरो भवति तथा द्वितीयः। रजतं रूप्यं तद्विषयश्च तृतीय आकरो भवति । चशब्दः स- मुच्चये। अनेकभेदभिन्नरूपानाकरान् समुच्चिनोति (लोहे य त्ति) लोहम्-मय', तस्मिन् लोहे, लोहविषयश्चतुर्थ आकरो भवति। च- शब्दो मृदुकठिनमध्यलोहसमुच्चायकः 'चत्तारि' इति संख्या। आक्षिप्यन्त एतेष्विन्त्याकरा:, तथा च मर्यादया अभिविधिना वा यन्ते धर्मादीनि येष्विति । खलुशब्दो विशेषणे । किं विशिन- ष्टि-सचिवयाः महत्त्वादयथान' पुत्रेभ्यो दत्तश्चतुर्णां पुत्राणां नां त इत्याकराः, दत्ता वितीर्णा इत्यर्थः ॥ १० ॥

अधुना प्रधानोत्तरकाल यत्तेषां तदुच्यते—

ना लोहागरिए, पडिसेहं कुणइ सो उ लोहस्स ।
रादीहिँ य गहणं, करेंति लोहस्स ते इतरे ॥ ११ ॥

ऽऽकरोऽस्यास्तीति लोहाकरिकः तस्मिन् लोहाकरिके भवति-'राज्ञा परिभूतोऽहं येन ममाप्रधान आकरो दत्त,। न्तायां सत्यां सुबुद्ध्यभिधानेन मन्त्रिणाऽभिहितः-देव! त्वां कुरु , भवदीय एव प्रधान आकरो न शेषा आकरा यनदवसीयते?। यदि प्रयत्संबन्धिलोहाकरो न भवति पाकराप्रवृत्तिः-लोहोपकरणाभावाच प्रवृत्तिरिति। ततो यान् कारयतु कतिचिद्दिनानि , यावदुपकयं प्रतिपद्यते आनं, पुनः समहार्घमपि ते लोहं प्रहीष्यन्ते इत्यत केसेहमित्यादि] प्रतिषेधोदाहरणाच प्रतिषेधं करो- हं प्रतीनमेव, तस्य लोहस्य । तुशब्दो विशेषणम हं करोति, अपूर्वोत्पादानिरोधं च । ततश्चेयंस्ते स्करः कयं प्रतिप्रश्नः, ततस्तेऽश्वादिभिः ग्रहणं स्येत्यत आह-लोहस्य। के कुर्वन्ति?। इतरे वज्रा- चशब्दात् केवलं वज्रादिभिर्हस्त्यादिभिश्च । अत्र त्याच क्षिप्तम। अयं दृष्टान्तः। सांप्रतं दार्ष्टान्तिक- न-यथाऽसौ लोहाकर आधारत्वनः शेषाकराणाम, णामपि प्रवृत्ते. । एवमन्यत्रापि, चरणकरणानु- षानुयोगसद्भावः । तथाहि-चरणेऽव्यवस्थितः समर्थो भवति, नान्यथेतस्यार्थस्य प्रतिपाद-

नार्थं गाथामाह-

एवं चरणम्मि ठिओ, करेइ गहणं विहिय इयरेसिं ।
एएण कारणेणं, चरणाणुओगो महड्ढीओ ॥ १२ ॥

एवमित्युपनयग्रन्थः (चरणम्मि ति) चर्यत इति चरणं,तस्मिन्, व्यवस्थितः करोति विधिना ग्रहणमितिरेषामिति द्रव्यानुयो- गादीनां, तदनेन कारणेन भवति चरणं महर्द्धिकम, तुशब्दादन्ये- षां च गुणानां समर्थो भवतीति । ओ० । दश० ।

(२३) कियन्तं कालं यावत्पुनरिदमपृथक्त्वमासीत, कुतो वा पुरुषविशेषादारभ्य पृथक्त्वमनुदित्याह-

जावंति अज्जवइरा, अपुहत्तं कालियाणुओगस्स ।
तेणारेण पुहत्तं, कालियसुयदिट्ठिवाए य ॥ २७७ ॥

यावदार्यवैरा गुरवो महामतयस्तावत्कालिकश्रुतानुयोगस्यापृ- थक्त्वमासीत, तदा व्याख्यातॄणां श्रोतॄणां च तीक्ष्णप्रज्ञत्वात् । कालिकग्रहणं च प्राधान्यख्यापनार्थम,अन्यथोत्कालिकेऽपि सर्वत्र प्रतिसूत्रं चत्वारोऽपि अनुयोगास्तदानीमासन्न येति तदाऽऽरत- स्त्वार्यरक्षितेभ्यः समारभ्य कालिकश्रुते दृष्टिवादे चाऽनुयोगानां पृथक्त्वमनूदिति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ २७७ ॥

भाष्यम्—

अपुहत्तमासि वइरा, जावंति पुहत्तमारओऽभिहिए ।
के ते आसि कया वा, पसंगओ तेसिमुप्पत्ती ॥ २७८ ॥

आर्यवैरायावदपृथक्त्वमासीत, तदाऽऽरतस्तु पृथक्त्वमुक्तम्। एतस्मिंश्चाभिहिते क एते आर्यवैराः कदा च ते आसन्निति विनेयपृच्छायां प्रसङ्गेन आर्यवैराणामुत्पत्तिरुच्यते। इति गाथा- र्थः ॥ २७८ ॥ (एतच्चरितं तु ' अज्जवइर ' शब्देऽत्रैव भागे २१६ पृष्ठे द्रष्टव्यम)

सविशेषमाह-

अपुहत्ते अणुओगो, चत्तारि दुवार भासई एगो ।
पुहत्तऽणुओगकरणे, ते य तओ यावि वोच्छिन्ना ॥ २७९ ॥

आर्यवैरायावदपृथक्त्वे सति सूत्रव्याख्याकर एकोऽप्यनुयोगः क्रियमाणः प्रतिसूत्रं चत्वारि द्वाराणि भाषते; चरणकरणादीन- नुगेऽप्यर्थान् प्रतिपादयतीत्यर्थः । पृथक्त्वानुयोगकरणे तु ते चरणकरणादयोऽर्थाः ततोऽपि पृथक्त्वानुयोगकरणादेव, व्यव- च्छिन्नाः, तत्प्रभृत्येक एव चरणकरणादीनामन्यतरोऽर्थः प्रतिसूत्रं व्याख्यायते, न तु चत्वारोऽपीत्यर्थः। इति निर्युक्ति[illegible]
[illegible]

किं [illegible] तदनंतरेहिं भणियम्मि ।
तदणंतरेहिँ तदभिहि-यगहियसुत्तत्थसारेहिं ॥ २८० ॥

विनेयः पृच्छति-नन्वार्यवैरा यावदपृथक्त्वमित्युक्तं ततः किमार्य- वैरैरेव कृतं तत, किं वा तदनन्तरैरार्यरक्षितसूरिभिरित्येवमुनय- थाऽपि यावच्चेदार्योपात्तं। इति शिष्येण भणिते गुरुराह-तदन- न्तैरार्यरक्षितसूरिभिरनुयोगानां पृथक्त्वमकारि। कथंभूतैस्तैः ? आर्यवैरेणाऽभिहितं प्रतिपादितो गृहीतः सूत्रार्थसारो यैस्ते त- था, तैरार्यवैरसमीपेऽधीतसूत्रार्थैरित्यर्थः। इति गाथार्थः ॥ २८० ॥

पुनरपि कथंभूतैः किंनामभिश्च तैरित्याह-

देविंदवंदिएहिं,महाणुभावेहिँ रक्खियज्जेहिं ।
जुगमासज्ज विभत्तो, अणुओगो तो कओ चउहा ॥ २८१ ॥

[illegible] दुर्बलकपुष्पमित्रं प्राप्य [illegible] विच्छिन्नसूत्रार्थमवलोक्य वर्तमानका- [illegible] पृथक् २ [illegible] निपु- [illegible] ॥ ७८ ॥

[illegible] (अत्र ' अज्जरक्खिय ' शब्दे- [illegible] पृष्ठे [illegible] द्रष्टव्यम्)

[illegible] गाथामथार्थमाह-

[illegible] ति ।
[illegible] ति ॥
[illegible] हीणो ।
[illegible] य ॥
[illegible] कालो य गुणविभागेण ।
[illegible] जिणाणो ॥

[illegible]

अणुओगगणाणुणा—अनुयोगगणानुज्ञा—स्त्री० [illegible] व्याख्यानम्, गणो गच्छः, तयोरनुज्ञा [illegible] नुयोगगणयोः प्रवचने [illegible]

अणुओगतत्ति—अनुयोगतृप्ति—स्त्री० । [illegible] सू० १ श० ।

अणुओगत्थ—अनुयोगार्थ—पुं० । [illegible] सू० १ श्रु० १ उ० ।

अणुओगदायय—अनुयोगदायक—पुं० स्त्री० । [illegible] प्रभूतानुयोगदायिनि, " [illegible] गदायए सव्वे । आयारस्स [illegible] ॥ १ ॥ आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणुओगदार—अनुयोगद्वार—न० । [illegible] [illegible] द्वाराणि, [illegible] अनुयोगार्थं व्याख्यानार्थं द्वारमनुयोगद्वार [illegible] [illegible] । यथा हि [illegible] [illegible] जायते; [illegible] [illegible] भवति, [illegible] [illegible] उक्तं च—

"अणुओगद्दाराइं, [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥"

([illegible] 'अणुओग' शब्दे [illegible])

[illegible]

कर्म० । सत्पदप्ररूपणतादिषु, विशे० । ' संतपयपरूवणया दव्वपमाणं च ' इत्याद्यनुयोगद्वाराणामन्यतरदेकमनुयोगद्वारमुच्यते । कर्म० १ कर्म० । तत्स्वरूपप्रतिपादकाध्ययनविशेषेऽभेदोपचारादनुयोगद्वाराण्युच्यते । पा० । उत्कालिकश्रुतविशेषे, नं० ।

अस्याद्यायेन्टीकाकृत्—

" सम्यक्सुरेन्द्रकृतसंस्तुतिपादपद्म—
मुद्दामकामकरिराजकठोरसिंहम् ।
सद्धर्मदेशकवरं वरदं नतोऽस्मि,
वीरं विशुद्धतरबोधनिधिं सुधीरम् ॥ १ ॥
अनुयोगभृतां पादान्, वन्दे श्रीगौतमादिसूरीणाम् ।
निष्कारणबन्धूनां, विशेषतो धर्मदातॄणाम् ॥ २ ॥
यस्याः प्रसादमतुलं, संप्राप्य भवन्ति भव्यजननिवहाः ।
अनुयोगवेदिनस्तां, प्रयतः श्रुतदेवतां वन्दे ॥ ३ ॥ "

इहातिगम्भीरमहानीरधिमध्यनिपतितानर्घ्यरत्नमिवातिदुर्लभं प्राप्य मानुषं जन्म ततोऽपि लब्ध्वा त्रिभुवनैकहितश्रीजिनप्रणीतबोधिलाभं समासाद्य विरत्यनुगुणपरिणाम प्रतिपद्य चरणधर्ममधीत्य विधिवत् सूत्रं समधिगम्य तत्परमार्थं विज्ञाय स्वपरसमयरहस्यं तथाविधकर्मक्षयोपशमसंभाविनीं चावाप्य विशदप्रज्ञां जिनवचनानुयोगकरणे यतितव्यम्; तस्यैव सकलमनोऽभिलषितार्थसार्थसमाधकत्वेन यथोक्तसमस्तसामग्रीफलत्वात् । स चानुयोगो यद्यप्यनेकग्रन्थविषयः संभवति, तथाऽपि प्रतिशास्त्रं प्रत्यध्ययनं प्रत्युद्देशकं प्रतिवाक्यं प्रतिपदं चोपकारित्वात्प्रथममनुयोगद्वाराणामसौ विधेयः। जिनवचने ह्याचारादिश्रुतं प्रायः सर्वमप्युपक्रमनिक्षेपानुगमनयद्वारैर्विचार्यते । प्रस्तुतशास्त्रे च तान्येवोपक्रमादिद्वाराण्यभिधास्यन्ते, अतोऽस्यानुयोगकरणे वस्तुतो जिनवचनस्य सर्वस्याप्यसौ कृतो भवतीत्यतिशयोपकारि[illegible]
तथाऽस्यैव प्रथममनुयोगे [illegible]
काद्वारेण ।
दुरधिगम [illegible]
निर्नीतसूक्ष्मभावतानविचारितस्वशक्तित्वादल्पधियामनुग्रहार्थ[illegible]
स्याथ कर्तुमारभ्यते । अनु० ।

" सोलससयाणि चउरु-त्तराणि होंति उ इमम्मि गाहाणं ।
दुसहस्समणुट्ठभछं-दवित्तपमाणओ भणिओ ॥ १ ॥
णगरमहादाराइं, चउउवक्कमाणुओगवरदारा ।
अक्खरबिंदूमत्ता, लिहिया दुक्खक्खयट्ठाए ॥ २ ॥
गाहा १६०४; अनुष्टुप्छन्दसा ग्रन्थसंख्या २००५ ।

ग्रन्थान्ते च टीकाकृत्—

योऽन्यशास्त्रकृते, सर्वोऽप्यर्थो मयाऽत्र सङ्कलितः ।
पुनः स्वमनीषिकया, तथापि यत्किञ्चिदिह वितथम् ॥ १ ॥
मतिलङ्घ्य लिखितं, तच्छोध्य मय्यनुग्रहं कृत्वा ।
ीयदोषगुणयो-स्त्यागोपादानविधिकुशलैः ॥ २ ॥
यस्य हि शुद्धिः, स्पृशति न कस्येह कर्मवशगस्य ? ।
ज्ञाविरहितानां, विशेषतो मद्विधासुमताम् ॥ ३ ॥
यद्वृत्तिमिमां, पुण्यं समुपार्जितं मया तेन ।
चिरेण लभतां, क्षपितरजाः सर्वभव्यजनः ॥ ४ ॥
वाहनकुलाम्बुनिधिप्रसूतः,
प्रथितकीर्तिरदीर्णशाखः ।
श्रितविकस्वितवस्तुरुच्चै-
ज्छायाशतप्रचुरनिर्वृतभव्यजन्तुः ॥ ५ ॥
ज्ञानादिकुसुमनिचितः, फलितः श्रीमन्मुनीन्द्रफलवृन्दैः
कल्पद्रुम इव गच्छः, श्रीहर्षपुरीयनामाऽस्ति ॥ ६ ॥
एतस्मिन् गुणरत्नरोहणगिरिर्गाम्भीर्यपाथोनिधि—
स्तुङ्गत्वानुकृतक्षमाधरपतिः सौम्यत्वतारापतिः ।
सम्यग्ज्ञानविशुद्धसंयमतपःस्वाचारचर्यानिधिः
शान्तः श्रीजयसिंहसूरिरभवन्निःसङ्गचूडामणिः ॥ ७ ॥
रत्नाकरादिवैतस्मा-च्छिष्यरत्नं बभूव तत् ।
स वागीशोऽपि नाऽलम्, यद्गुणग्रहणे प्रभुः ॥ ८ ॥
श्रीवीरदेवविबुधैः, सन्मन्त्राद्यातिशयप्रवरतोयैः ।
द्रुम इव यः संसिक्तः, कस्तद्गुणवर्णने विबुधः ? ॥ ९ ॥
तथाहि—आज्ञा यस्य नरेश्वरैरपि शिरस्यारोप्यते सादरं,
यं दृष्ट्वाऽपि मुदं प्रयान्ति परमां प्रायोऽपि दुष्टा अपि ।
यद्वक्त्राम्बुधिनिर्यदुज्ज्वलवचःपीयूषपानोद्यतै-
र्गीर्वाणैरिव दुग्धसिन्धुमथने दर्शितं क्षेमे जनैः ॥ १० ॥
कृत्वा येन तपः सुदुष्करतरं विश्वं प्रबोध्य प्रभो-
स्तीर्थं सर्वविदः प्रभावितमिदं, तैस्तैः स्वकीयैर्गुणैः ।
शुक्लीकुर्वदशेषविश्वकुहरं भव्यैर्निबद्धस्पृहै-
र्यस्याऽऽशास्वनिवारितं विचरते श्वेतांशुगौरं यशः ॥ ११ ॥
यमुनाप्रवाहविमल-श्रीमन्मुनिचन्द्रसूरिसंपर्कात् ।
अमरसरितेव सकलं, पवित्रितं येन भुवनतलम् ॥ १२ ॥
विस्फूर्जत्कलिकालदुस्तरतमःसंतानलुप्तस्थितिः,
सूर्येणेव विवेकभूधरशिरस्यासाद्य येनोदयम् ।
सम्यग्ज्ञानकरैश्चिरन्तनमुनिक्षुण्णः समुद्योतितो,
मार्गः सोऽभयदेवसूरिरजनि प्रज्ञानिधिः प्रसिद्धो भुवि ॥ १३ ॥
तच्छिष्यलवप्रायै-रगीतार्थैरपि शिष्यजनतुष्ट्यै ।
श्रीहेमचन्द्रसूरिभि-रियमनुरचिता प्रशस्तवृत्तिः ॥ १४ ॥ अनु० ।

अणुओगदारसमास—अनुयोगद्वारसमास-पुं० । अनुयोगद्वाराणां द्व्यादिसमुदाये, कर्म० १ कर्म० ।

अणुओगधर—अनुयोगधर-पुं० । अनुयोगि[illegible]
[illegible]
[illegible] सिद्धान्तव्याख्याननिष्ठे, औ० १ मात० ।

अणुओगाणुण्णा—अनुयोगानुज्ञा-स्त्री० । आचार्यपदस्थापनायाम, पं० व० ४ द्वा० । (' अणुओग ' शब्देऽस्य भागे ३४७ पृष्ठे चैतद्रूपं व्याख्यातम)

अणुओगि (ण्)—अनुयोगिन्-पुं० । अनुयोगो व्याख्यानं प्ररूपणेति यावत्, स यत्राऽस्ति । व्याख्यानार्थं क्रियमाणे प्रश्नभेदे, यथा—" चउहिं समएहिं लोगो " इत्यादिप्ररूपणाय ' कइहिं समएहिं ' इत्यादि । स्था० ६ ठा० । आचार्ये, " अणुओगी लोगाणं, किल संसयणासओ दढं होइ " पं० व० ४ द्वा० ।

अणुओगिय—अनुयोगिक-त्रि० । प्रमाणिते, नं० । " अणुओगियवरवसभे, नाइलकुलवंसनंदिकरे " नं० ।

अणुंधरी—अणुन्धरी-स्त्री० । द्वारवतीवास्तव्यस्याऽर्हन्मित्रस्य भार्यायाम, यस्याः पुत्रस्य जिनदेवस्य आत्मदोषसंहारे कथा । आव० ४ अ० । आ० चू० ।

अणुकंप—अनुकम्प-त्रि० । अनुशब्दोऽनुरूपार्थे, ततश्चानुरूपं

[illegible] इत्यनुकम्पः। अनुरूपक्रियाप्रवृत्तौ, उत्त० १२ अ०।

अनुकम्प्य–त्रि०। अनुकम्पनीये, धृ० ६ उ०।

अणुकंपण–अनुकम्पन–न०। दुःखार्तानां बालवृद्धाऽसहायानां [illegible]नमनुकम्पाकरणे, व्य० ३ उ०।

अणुकंपधम्मसवणादिया–अनुकम्पाधर्मश्रवणादिका–स्त्री०। [illegible]प्रभृतिकायाम्, पञ्चा० १० विव०।

अणुकंपय–अनुकम्पक–त्रि०। भगवतो भक्ते, अनुकम्पायाश्च [illegible], "आयरियअणुकंपाए, गच्छो अणुकंपिओ महाभागो" इति वचनात्। कल्प०। आत्महिते प्रवृत्ते, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

अणुकंपा–अनुकम्पा–स्त्री०। अनुकम्पनमनुकम्पा। दयायाम्, [illegible] १ उ०। अनुकम्पा, कृपा, दयेत्येकार्थाः। ओघ०। अनुकम्पा कृपा। दया–सर्वे एव सत्त्वाः सुखार्थिनो दुःखप्रहा[illegible] पीडा मया कार्येति। ध० २ [illegible]। अनुकम्पा [illegible] दुःखप्रहाणेच्छा स[illegible] [illegible]। सा चानुकम्पा द्र[illegible] द्विधा। [illegible]

[illegible]

[illegible]

अणुकंपादाण–अनुकम्पादान–न०। अनुकम्पया कृपया दान[illegible]

[illegible]

[illegible]

स्वेष्टोद्धारमतियोगिदुःखाश्रयत्वरूपमनुकम्प्यत्वं [illegible] कमेवेति न दोषः। अपरे त्वाहुः–तत्र [illegible] मनुकम्प्यत्वं प्रतीयमानं साहचर्यविशेषेण [illegible] जनयति तदेवातिचारापादकं नान्यदा, [illegible] [illegible]दोषत्वात्। [illegible] स्मादानं साधुषु न संभवति। "आयरियअणुकंपाए, गच्छो अणुकंपिओ महाभागो" इति वचनादित्य[illegible] [illegible]। सुपात्रदानमपि [illegible] नमेव, साक्षात्स्वेष्टोपायत्वेनेष्यमाणं [illegible]॥

तत्राद्या दुःखिनां दुःखो–द्दिधीर्षाऽस्यानुकम्पनम्।
पृथिव्यादौ जिनार्चादौ, यथा तदनुकम्पितम्॥१॥

(तत्रेति) तत्र भक्त्यनुकम्पयोर्मध्ये [illegible] दुःखार्तानां पुंसां दुःखोद्दिधीर्षा दुःखोद्धार[illegible] सुखं यस्मादेतादृशो यः श्रमस्तस्मात्। [illegible] यदनिष्टाननुबन्धी यो दुःखिदुःखोद्धार[illegible] नुकम्पेति फलितम्। उदाहरति, यथा–जिनार्चादौ [illegible] व्यादौ विषये तदनुकम्पितम्[illegible] प्रतियुक्ताः सन्तः षड्जीवान् [illegible] यद्यपि जिनार्चादिकं भक्त्यनुष्ठानमेव, तथापि [illegible] [illegible]

[illegible]

लोकानामुपकारः स्या–दारम्भाद्यत्र [illegible]।
तत्रानुकम्पा न मता, यथेष्टापूर्तकर्मसु॥४॥

(लोकानामिति) [illegible]

[illegible] ॥१॥ [illegible] ॥२॥

[illegible]

आह–

[illegible] दानशालादि कर्म च।
[illegible]॥५॥

[illegible]

बहूनामुपकारेण, नानुकम्पा निमित्तताम्।
[illegible]॥६॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

कालाभ्यनस्य पुष्टत्वं स्पष्टयितुमाह—

कालेऽल्पमपि लाभाय, नाकाले कर्म बह्वपि ।
दृष्टा वृद्धिः कणस्यापि, कणकोटिर्वृथाऽन्यथा ॥ ८ ॥

(काल इति) स्पष्टम् ॥ ८ ॥

अथपरानुग्रहेणानुकम्पादानस्य प्राधान्यं भगवद्दृष्टान्तेन समर्थयितुमाह—

धर्माङ्गत्वं स्फुटीकर्तुं, दानस्य भगवानपि ।
अत एव व्रतं गृह्णन्, ददौ संवत्सरं वसु ॥ ९ ॥

(धर्माङ्गत्वमिति) अत एव कालेऽल्पस्यापि लाभार्थत्वादेव, दानस्यानुकम्पादानस्य, धर्माङ्गत्वं स्फुटीकर्तुं भगवानपि व्रतं गृह्णन् संवत्सरं वसु ददौ । ततश्च महता धर्मावसरे पुष्टिं सर्वस्यापत्रस्यौचित्ययोगेन धर्माङ्गमिति स्पष्टीभवतीति भावः । तदाह-" धर्माङ्गख्यापनार्थं च, दानस्यापि महामतिः । अवस्थौचित्ययोगेन, सर्वस्यैवानुकम्पया " इति ॥ ९ ॥

नन्वेवं साधोरप्येतद्दापत्तिरित्यत आह—

साधुनाऽपि दशाभेदं, प्राप्यैतदनुकम्पया ।
दत्तं ज्ञानाद्भगवतो, रङ्कस्येव सुहस्तिना ॥ १० ॥

साधुनाऽपि महाव्रतधारिणाऽपि दशाभेदं प्राप्य पुष्टालम्बनसमाश्रयेतद्दानमनुकम्पया दत्तं सुहस्तिनेव रङ्कस्य तदाऽऽह । श्रूयते ह्यागमे-आर्यसुहस्त्याचार्यस्य रङ्कदानमिति । कुत इत्याह-भगवतः श्रीवर्द्धमानस्वामिनो ज्ञानात् । तदुक्तम्-"ज्ञापकं चात्र भगवान्, निष्क्रान्तोऽपि द्विजन्मने । देवदूष्यं ददद्धीमा-ननुकम्पाविशेषतः" ॥१॥ इति । प्रयोगश्चात्र-दशाविशेषे यतेरसंयताय दानमदुष्टम्, अनुकम्पानिमित्तत्वाद्, भगवद्द्विजन्मदानवदित्याहुः ॥ १० ॥

न चाधिकरणं ह्येत-द्विशुद्धाशयतो मतम् ।
अपि त्वन्यद् गुणस्थानं, गुणान्तरनिबन्धनम् ॥ ११ ॥

(न चेति) न चैतत्कारणिकं यतिदानमधिकरणं मतम् । अधिक्रियते आत्माऽनेनासंयतसामर्थ्यपोषणेन इत्यधिकरणम् । कुत इत्याह-विशुद्धाशयतोऽवस्थौचित्येनाऽऽशयविशुद्धेः, भावभेदेन कर्मभेदात् । अनर्थासंभवमुक्त्वार्थप्राप्तिमप्याह-अपि त्विति अभ्युच्चये । अन्यदधिकृतगुणस्थानकाद् मिथ्यादृष्ट्यादेरपरमविरतसम्यग्दृष्ट्यादिकं गुणानां ज्ञानादीनां स्थानं मतं, गुणान्तरस्य सर्वविरत्यादेर्निबन्धनम् ॥ ११ ॥ द्वा० १ द्वा० ।

नेव दारं पिहावेइ, भुंजमाणो सुसावओ ।
अणुकंपा जिणिंदेहिं, सड्ढाणं न निवारिआ ॥ १ ॥
दट्ठूण पाणिनिवहं, भीमे भवसायरम्मि दुक्खत्तं ।
अविसेसओऽणुकंपं, दुहा वि सामत्थओ कुणई ॥ २ ॥

(दुहा वि त्ति) द्रव्यभावाभ्यां द्विधा । द्रव्यतो यथा-अन्नादिदानेन, भावतस्तु धर्ममार्गप्रवर्त्तनेन, श्रीपञ्चमाङ्गादावपि श्राद्धवर्णनाधिकारे 'अवंगुदुवारा' इत्युक्तम् । श्रीजिनेनापि सांवत्सरिकदानेन दीनोद्धारः कृत एव, न तु केनापि प्रतिषिद्धः ॥२॥

सव्वेहि पि जिणेहिं, दुज्जयतियरागदोसमोहेहिं ।
अणुकंपादाणं स-ड्ढयाण न कहिं वि पडिसिद्धं ॥ ३ ॥

न कस्मिन् सूत्रे प्रतिषिद्धं, प्रत्युत देशनावसरे राजप्रश्नीयोपाङ्गे केशिगणधरोपदेशितम् । तथाहि- " माणं तुमं पएसी पुव्विं रमणिज्जे भवित्ता पच्छा अरमणिज्जे भविज्जासि" इत्यादि । ध० अधि० ।

दाणं अणुकंपाए, दीणाणाहाण सत्तिओ णेयं ।
तित्थंकरणातेणं, साहूण य पत्तबुद्धीए ॥ ६ ॥

दानं वितरणमन्नादेरनुकम्पया दयया दीनानाथेभ्यः, तत्र दीनाः क्षीणविभवत्वाद् दैन्यप्राप्ता एव सानाथ्यकारिरहिता अनाथाः, अतस्तेभ्यः शक्तितो वित्तगतं सामर्थ्यमाश्रित्येत्यर्थः, ज्ञेयं ज्ञातव्यम् । अथ दीनादीनामसंयतत्वात् तद्दानस्य दोषपोषकत्वादसंगतं तद्दानमित्याशङ्क्याह-तीर्थंकरज्ञातेन जिनोदाहरणेन । तथाहि-संगतं दीनादिदानं, प्रभावनाङ्गत्वाद् जिनस्येव । अथवा तीर्थंकरस्यापि न निषिद्धमेतदित्यर्थः, तीर्थंकरप्रमाणेनो वा । तथाहि-न दीनादिदानमविधेयं, जिनाचरितत्वाद्, महाव्रतानुपालनवदिति । दीनादीनामनुकम्पया तावद्दानम् । अथ साधूनामपि किं तथैवेत्याशङ्कायामाह-साधूनां च संयतेभ्यः पुनः पात्रबुद्ध्या ज्ञानादिगुणरत्नभाजनमेतदिति धिया भक्त्येति गाथार्थः ॥ ६ ॥ पञ्चा० ६ विव० ।

अणुकंपासय-अनुकम्पाशय-पुं० । अनुकम्पाप्रधान आशयोऽनुकम्पाशयः । अनुक्रोशप्रधाने चित्ते, स० । "अणुकंपासयप्पओगतिकालमइविसुद्धभत्तपाणाइं" अनुकम्पा अनुक्रोशस्तत्प्रधान आशयश्चित्तं तस्य प्रयोगो व्यापृतिरनुकम्पाशयप्रयोगस्तेन स० ॥

अणुकंपि (न्)-अनुकम्पिन्-त्रि० । अनुकम्पयमाने सच्छीले, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । दयावति, प्रति० ।

अणुकड्डि-अनुकृष्टि-स्त्री० । अनुकर्षणमनुकृष्टिः । अनुवर्त्तने, पं० सं० ५ द्वा० । (अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानां तीव्रमन्दतापरिज्ञानार्थमनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानामनुकृष्टिः 'बन्ध' शब्दे वक्ष्यते)

अणुकड्ढेमाण-अनुकर्षत्-त्रि० । अनु पश्चात् कर्षन् अनुकर्षन् । पृष्ठतः पश्चात् कृत्वा समाकर्षति, तं० ।

अणुकप्प-अनुकल्प-पुं० । ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवृद्धानां पूर्वाचार्याणां ज्ञानग्रहणेन च तपोविधानेषु च अनुवृत्तिकरणे, पं० चू० ।

.......................एत्तो वोच्छं अणुकप्पं ।
अणुसद्दो चूलहियं, पच्छाभावे मुणेयव्वो ।
णाणचरणड्ढगाणं, पुव्वायरियाण अणुकिचिं ॥
कुणई अणुगच्छइ गुण-धारी अणुकप्पं तं वियाणाहि ।
गुणसयसहस्सकलियं, गुणंतरं च अजिलमंताणं ॥
जे खेत्तकालजाया, आसन्ना जोगहाणिजवे ।
गुणमतकालिअसंजमो, मोक्खो य गुणंतरो मुणेयव्वो ।
नाणाइसु परिहाणी, तु जोगहाणी मुणेयव्वो ॥
खेत्ताण मंति अच्छा-ण उच्चरखेत्तम्मि काल दुब्भिक्खे ।
भावे गेलण्णादी, मुच्छानावे उ गदसुद्धं ॥
गेलण्णाऽऽहारादी, णाणादिसु उज्जमए कुज्जा ।
अणुमणपादो य तवं, अकरेमाणस्स साहुस्स ॥
एगंतणिज्जरा से, जह भणिता सासणे जिणवराणं ।
जोगनिजुत्तमतीणं, सुहसीलाणं तवोच्छेदो ॥
सुहसीलसुहसीला, तंमि अपफास गेण्हमाणाणं ।
जं आवज्जे तहियं, तवं च छेदं च तं पावे ॥ पं० भा० ।

[illegible] अणुकम्पो-(गाहा) (नाणचरणहु त्ति) जो नाणदं- [illegible] पुव्वायरियाणं नाणमाहणेण य त- [illegible] य मणुकिं करेइ, सो मणुकम्पो। (गाहा) (गु- [illegible]) जा पुण गुणमयसहस्सकालियाणं, भलंकृतानाभि- [illegible] । गुणंतरं [illegible] मभिप्पसंतावं नाणाइसु परिहाणी होज्जा, [illegible], काले मोमाइसु, भावे गिलाणाइसु। (गाहा) [illegible] तेसिं [illegible] निज्जरा [illegible] । यथा- [illegible] । जो पुण संजमजोगनियतमई चंदसाति- [illegible] त्ति भणइ तेसिं सधोच्छेओ या । [illegible] ॥

अणुकरण-अनुकरण-न०। [illegible] कुर्वन्तं दृष्ट्वा [illegible] करिष्यामीत्युक्त्वा तथाकरणे, व्य० १ उ०।

अणुकरणकारावणानिसग्ग-अनुकरणकारापणानिसर्ग-पुं० । [illegible] कुर्वन्तं दृष्ट्वा [illegible]-इच्छाकारेण त- [illegible], कुर्वन् च, कारापणं तद् मन्यं करणे कु- [illegible] कारापयति, तस्मिन् निसर्गः स्व- [illegible] , [illegible] स्व- [illegible] करोति कारयतीति भावः [illegible] । [illegible] विशेषे, व्य० ३ उ०।

अणुकहण-अनुकथन-न० । [illegible] पश्चात् कथ- [illegible] १ [illegible] ११ अ० ।

अणुकारि [न्]-अनुकारिन्-त्रि० । अनुकरोति । अनु+कृ- [illegible] । [illegible] कारके, वाच० । [illegible] ।

अणुकिण्ण-अनुकीर्ण-[illegible] । [illegible] नि० चू० [illegible] उ० ।

अणुकूल-अनुकूल-[illegible] । अनुगच्छन् समीपार्थे [illegible] [illegible]

[illegible]

अणुकपायिन्-त्रि० । अणवः स्वल्पाः संज्वलनत्वे [illegible] यावत् । कषायाः क्रोधादयोऽस्येति सर्वधनर्ध्ये [illegible] कषायी । प्राकृतत्वात् ककारस्य द्वित्वम् । संज्वलने [illegible] शिष्टे, उत्त० १५ अ० ।

अनुत्कषायिन्-त्रि० । उत्कषायी प्रबलकषायी, न तथा अनु- त्कषायी । अप्रबलकषाये, उत्त० १५ अ० । [illegible] रहिते, "अणुक्कसाई अप्पिच्छे अन्नाए सीझंजुरे [illegible]"

अणुक्कस्स-अनुत्कर्षवत्-पुं० । [illegible] कमकुर्वति, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । "अणुक्कसे [illegible] मज्झेण मुणिजायय" सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अणुक्कोस-अनुत्कर्ष-पुं० । आत्मनः परेभ्यः सकाशात् [illegible] त्कर्षणमुत्कृष्टतानिधानम् । गौणमोहनीयकर्मणि, म० १२ [illegible] उ० । स० । आत्मगुणाभिमाने, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अनुक्रोश-पुं० । दयायाम, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अणुक्खित्त-अनुत्क्षिप्त-त्रि० । पश्चात्पुरस्कृते, "[illegible] धुरंसि" ज्ञा० ८ अ० ।

अणुगंतव्व-अनुगन्तव्य-त्रि० । अनुगन्तव्ये, [illegible] उ० ।

अणुगच्छण-अनुगमन-न० । आगच्छतः प्रत्युद्गमने [illegible] विनयभेदे, दश० १ अ० ।

अणुगच्छमाण-अनुगच्छत्-त्रि० । अनुगच्छमाने, "अणुग- माणे वि तहं वियाणे, तहा तहा साहु [illegible]" सूत्र० [illegible] श्रु० १४ अ० । आचा० ।

अणुगम-अनु (णु) गम-पुं० । अनुगमनमनुगमः, अनुग- [illegible] सेऽनेनास्मिन्नस्मादिति वाऽनुगमः । सूत्रानुकूलं [illegible] स्था० १ ठा० । निक्षिप्तसूत्रस्य अनुकूले परिच्छेदे, [illegible] जं० १ वक्ष० । सूत्रस्यानुकूलोऽर्थाख्यानं, व्य० १ उ० । [illegible] अ० । आचा० । संहितादिव्याख्यानप्रकारात्मके, [illegible] मादिद्वारकलापके वा । स० । अनुयोगद्वारे, अनु० ।

अथाऽनुगमनिरुक्तिमाह-

अनुगम्मइ तेण तहिं, तओ व अणुगमणमेव वाऽणुगमो ।
अणुणोऽणुरूपओ वा, जं सुत्तत्थाणमणुसरणं ॥

अनुगम्यते व्याख्यायते सूत्रमनेनाऽस्मिन्नस्मादिति वाऽनुगमः । [illegible] व्याख्यानमनुगमः । अथवा अनुगमनमनुगमः । [illegible] सूत्रस्य गमो व्याख्यानमित्यनुगमः । यद्वा अनुरूपं [illegible] मात्मव्याख्यानं गमनं व्याख्यानमनुगमः । [illegible] [illegible]-अनुरूपार्थेनानुगमः [illegible] विशे० ।

अनुगमभेदाः-

से किं तं अणुगमे ? । अणुगमे दुविहे पण्णत्ते ।
तं जहा-सुत्ताणुगमे य निज्जुत्तिअणुगमे य ॥

(से किं तं अणुगमे इत्यादि) [illegible]

[illegible]

चिरोमस्थापनादिप्रकारैः सूत्रविभजनेत्यर्थः । तद्रूपोऽनुगमस्तस्या वा अनुगमो व्याख्यानं निर्युक्त्यनुगमः । अनु० । (सूत्रानुगमनिर्युक्त्यनुगमयोर्व्याख्या स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या) व्याख्याने, संगृहीते, सर्वव्यक्तिषु अनुगतस्य सामान्यस्य प्रतिपादने च । विशे० । यत्र साधनं तत्र साध्यमित्येवंलक्षणे साध्यस्य साधनेन सहान्वये, विशे० । पश्चाद्गमने , सहायीभवने च । वाच० ।

अणुगम्म–अनुगम्य–अव्य० । बुद्ध्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अणुगय–अनुगत–त्रि० । पूर्वमवगते , विशे० । अव्यवच्छिन्ने पाऽनुवृत्ते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । 'मतिसहितं ति वा मतिमणुगतं ति वा एगट्ठा' । आ० चू० १ अ० । पितृविनूत्याऽनुयाते पितृसमे पुत्रे , पुं० । स्था० ८ ठा० ३ उ० । आनुकूल्ये , न० । स० ।

अणुगवेसेमाण–अनुगवेषयत्–त्रि० । सामायिकपरिसमाप्त्यनन्तरं गवेषयति, " तं भंते अणुगवेसेमाणे किं सयं भंडं अणुगवेसइ ? " भ० ८ श० ५ उ० ।

अणुगा (ग्गा) म–अनुग्राम–पुं० । अनुकूलो ग्रामोऽनुग्रामः । व्य० २ उ० । विवक्षितग्राममार्गानुकूले ग्रामे लघुग्रामे, एकस्माद् ग्रामादन्यस्मिन् ग्रामे, उत्त० ३ अ० । एकग्रामाल्लघुपथाद्मायाभ्यां स्थिते ग्रामे, स्था० ५ ठा० २ उ० । विवक्षितग्रामादनन्तरे ग्रामे , " गामाणुगा (ग्गा) मं दूइज्जमाणे " औ० । ध० ।

अणुगामि (ण्)–अनुगामिन्–त्रि० । साध्यमसाध्यमन्यादिकमनुगच्छति, साध्याभावे न भवति यो धूमादिहेतुः सोऽनुगामी । अनुवृहेतौ, स्था० ३ ठा० २ उ० । अनुयातरि, आव० ५ अ० । मोक्षायाऽनुगच्छति, व्य० १० उ० ।

अणुगामिय–अनुगामिक–त्रि० । उपकारित्वात्कालान्तरमनुगाति तदनुगामिकम् । स्था० ५ ठा० १ उ० । अनुगमनशीले भवपरम्परानुबन्धिसुखजनके, पा० । स्था० । अनुगमनशीले विज्ञाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० २ उ० । गच्छन्तमनुगच्छतीति अनुगामिकः । अनुचरे , सूत्र० २ श्रु० २ अ० २ उ० । अकर्तव्यहेतुभूतेषु चतुर्दशस्वसदनुष्ठानेषु, सूत्र० २ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अणुगामियत्त–अनुगामित्व–न० । भवपरम्परासु सानुबन्धसुखे, औ० ।

अणुगिद्ध–अनुगृद्ध–त्रि० । अत्यासक्ते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अणुगिद्धि–अनुगृद्धि–स्त्री० । अभिकाङ्क्षायाम, उत्त० ३ अ० ।

अणुगिलइत्ता–अनुगीर्य–अव्य० । भक्षयित्वेत्यर्थे, ज्ञा० ७ अ० ।

अणुगीय–अनुगीत–त्रि० । मूलाचार्योपाध्यायशिष्यैः कृते थे, " महत्थरूवा वयणप्पभूया, गाहाणुगीया नरसंघमज्झे " न्यति तीर्थकृद्गणधरादिभ्यः पश्चाद् गीता अनुगीता । र्थः । तीर्थकरादिभ्यः श्रुत्वा प्रतिपादिता , स्थविरैरिति । अनुलोमं वा गीताऽनेन श्रोत्रानुकूल्येन देशना क्रियते ख्यापितं भवति । उत्त० १३ अ० ।

[illegible]–अनुगुरु–त्रि० । यद्यथा पूर्वगुरुभिराचरितं तत्तथैव भिरपि आचरणीयमिति गुरुपारम्पर्ये व्यवस्थया व्यव- , बृ० १ उ० ।

[illegible]–अनुग्रह–पुं० उपकारे, औ० । ज्ञानाद्युपकारे, स्था०

तिविहे अणुग्गहे पण्णत्ते । तं जहा–आयाणुग्गहे, [illegible] ग्गहे, तदुभयाणुग्गहे य ॥

तत्र आत्मानुग्रहोऽध्ययनादिप्रवृत्तस्य, परानुग्रहो वाच[illegible] प्रवृत्तस्य, तदुभयानुग्रहः शास्त्रव्याख्यानशिष्यसङ्ग्रहा[illegible] त्तस्येति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । पञ्चा० । ",सर्वज्ञोक्तोप[illegible] यः सत्त्वानामनुग्रहम् । करोति दुःखतप्तानां, स प्राप्नोत[illegible] राच्छिवम् " आ० म० प्र० । प्रज्ञा० । यो० वि० । अनुग्र[illegible] उज्ज्वालने, नि० चू० १ उ० । देहस्य स्रक्चन्दनाङ्गनायस[illegible] दिभिर्भोगैरुपष्टम्भे, ध० १ अधि० ।

अणुग्गहट्ठ–अनुग्रहार्थ–पुं० । अनुग्रह उपकारस्तल्लक्षणो [illegible] ऽर्थः पदार्थः प्रयोजनं वा । अनुग्रहप्रयोजने, " सपरेसिम[illegible] ग्गहट्ठाए " स्वपरयोरात्मतदन्ययोरनुग्रह उपकारस्तल्लक्ष[illegible] योऽर्थः पदार्थः प्रयोजनं वा सोऽनुग्रहार्थः, तस्मै अनुग्रहा[illegible] र्थाय । तत्र स्वानुग्रहः प्रावचनिकार्थानुवादे निर्मलबोधभा[illegible] परोपकारद्वारा पीनकर्मक्षयायासेश्च । परानुग्रहस्तु परेषा[illegible] निर्मलबोधतत्पूर्वकक्रियासंपादनात्परम्परया निर्वाणसंपाद[illegible] नात् । पञ्चा० ६ विव० ।

अणुग्गहया–अनुग्रहता–स्त्री० । अनुगृह्णात इति अनुग्रहः । कर्मण्यनट् । तस्य भावोऽनुग्रहता । अनुग्रहणे, व्य० १ उ० ।

अणुग्गहतापरिहार–अनुग्रहतापरिहार–पुं० । अनुग्रहतया परिहारोऽनुग्रहतापरिहारः । क्षोटादिमनरूपे परिहारभेदे, व्य० १ उ० ।

अणुग्घाइम–अनुद्घातिम–न० । उद्घातो भागपातस्तेन निर्वृत्तमुद्घातिमं लघ्वित्यर्थः । यत उक्तम्–" अद्धेण छिन्नसेसं, पुव्वद्धेणं तु संजुयं काउं । दिज्जाइ लहुयदाणं, गुरुदाणं तत्तियं चेव " इति । ('उग्घाइम' शब्देऽस्या व्याख्या द्वि० भा० ७३० पृष्ठे द्रष्टव्या) तन्निषेधादनुद्घातिमम् । तपोगुरुणि प्रायश्चित्ते, तद्योगात् तद्वत्सु साधुषु च । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

अणुग्घाइय–अनुद्घातिक–पुं० । न विद्यते उद्घातो लघुकरणलक्षणो यस्य तपोविशेषस्य तदनुद्घातम्, यथाश्रुतदानमित्यर्थः, तदेषां प्रतिसेवाविशेषतो ऽस्ति तेऽनुद्घातिकाः । स्था० ५ ठा० २ उ० । उद्घातो नाम भागपातः, सान्तरदानं वा, स विद्यते येषु ते उद्घातिकाः, तद्विपरीता अनुद्घातिकाः । तपोगुरुप्रायश्चित्तार्हेषु, बृ० ४ उ० ।

त्रयोऽनुद्घातिकाः–

तओ अणुग्घाइया (मा) पण्णत्ता । तं जहा–हत्थकम्मं करेमाणे, मेहुणं सेवमाणे, राइभोयणं भुंजमाणे । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

त्रयस्त्रिसंख्याका अनुद्घातिकाः । उद्घातो नाम–' अद्धेण छिन्नसेसं ' इत्यादिविधिना भागपातः, सान्तरदानं वा, स विद्यते येषु ते उद्घातिकाः, तद्विपरीता अनुद्घातिकाः, प्रशस्तार्थपदावदिभिः प्ररूपिताः, तदर्थोपदर्शनार्थः । हन्ति हसति वा मुखमाव्यानेनेति हस्तः शारीरकदेशो निक्षेपादानादिसमर्थः, तेन यत्कर्म क्रियते तद्धस्तकर्म, तत् कुर्वन्, तथा स्त्रीपुंसयुग्मं मिथुनमुच्यते, तस्य भावः कर्म वा मैथुनं, तत्प्रतिसेवमानः तथा रात्रौ भोजनमशनादिकं भुञ्जानः । एष सूत्रार्थः । बृ० ४ उ० । विस्तरं विशेषव्याख्यानम् । बृ० ४ उ० । विस्तरपुर-

अथानुद्घातिपदं व्याख्यातुमाह—

उग्घातमणुग्घाते, निक्खेवो छव्विहो उ कायव्वो ।
नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य भावे य ॥

इह ह्रस्वत्वदीर्घत्वमहत्त्वादिकादनुद्घातिकस्य प्रसिद्धिरिति कृत्वा द्वयोरुद्घातिकानुद्घातिकयोः षड्विधो निक्षेपः कर्त्तव्यः । तद्यथा-नामनि स्थापनायां द्रव्ये क्षेत्रे काले भावे चेति । तत्र नामस्थापने गतार्थे ।

द्रव्यादिविषयमुद्घातिकमनुद्घातिकं च दर्शयति-

उग्घायमणुग्घाया, दव्वम्मि हलिद्दराग किमिरागा ।
खेत्तम्मि कण्हभूमी, पत्थरभूमी य हलमादी ॥

द्रव्ये द्रव्यत उद्घातिको हरिद्रारागः, सुखेनैवापनेतुं शक्यत्वात् । अनुद्घातिकः कृमिरागः, अपनेतुमशक्यत्वात् । क्षेत्रत उद्घातिका कृष्णभूमिः अनुद्घातिका प्रस्तरभूमिः । कुत इत्याह-(हलमादि त्ति) हलकुलिकादिभिः कृष्णभूमिरुद्घातयितुं क्षोदयितुं शक्या, प्रस्तरभूमिरशक्या ।

तथा—

कालम्मि संतर णिरं-तरं तु समयो व होतऽणुग्घातो ।
भावस्स अट्ठ पयडी, उग्घाति पएतरा इयरे ॥

कालत उद्घातिकं सान्तरप्रायश्चित्तस्य दानम्, अनुद्घातिकं निरन्तरदानं, तुशब्दात् लघुमासादिकमुद्घातिकं, गुरुमासादिकमनुद्घातिकम् । अथवा-कालतः समयोऽनुद्घातिको भवति, खण्डशः कर्तुमशक्यत्वात् । आवलिकादय उद्घातिकाः, खण्डितुं शक्यत्वात् । भावत उद्घातिका अष्टस्वष्टौ कर्मप्रकृतयः, उद्घातयितुं शक्यत्वात्, इतरस्याऽभव्यस्य प्रकारेण पदेतरा अनुद्घातिकाः ।

कुत ? इति चेदुच्यते-

जेण खवणं करिस्सति, कम्माणं तारिसो अभव्वस्स ।
ण य उप्पज्जइ भावो, इति भावो तस्सऽणुग्घातो ॥

येन शुभाध्यवसायेन कर्मणां ज्ञानावरणादीनां क्षपणमसौ करिष्यति स तादृशो भावोऽभव्यस्य कदाचिदपि नोत्पद्यते, इत्यतस्तस्य भावोऽनुद्घातः कर्मणाऽनुद्घातं कर्तुमसमर्थः । अत एव तस्य कर्माणि अनुद्घातिकानि भण्यन्ते ।

अत्र च प्रायश्चित्तानुद्घातिकेनाधिकारः । तच्च कुत्र भवतीत्याह-

हत्थे य कम्म मेहुण, रत्तीभत्ते य होतऽणुग्घाता ।
एतेसिं तु पदाणं, पत्तेय परूवणं वोच्छं ॥

हस्ते हस्तकर्मकरणे, मैथुनसेवने, रात्रिभक्ते एतेषु त्रिषु सूत्रोक्तस्थानेषु अनुद्घातिकानि गुरुकाणि प्रायश्चित्तानि भवन्ति । तत्र हस्तकर्मणि मासगुरुकं, मैथुनरात्रिभक्तयोश्चतुर्गुरुकाः । एतच्च प्रायश्चित्तं यत्र यत्र स्थाने भवति तत्पुरस्ताद् व्यक्तीकरिष्यते । वृ० ४ उ० । (अथैतेषां हस्तकर्ममैथुनरात्रिभोजनानां व्याख्याप्रबन्धः स्वस्वस्थान एव द्रष्टव्यः) ।

उपसंहरन्नाह-

सव्वं पुण कप्पिदाणी-ऽणुग्घाता जेसु जेसु ठाणेसु ।
उग्घातियमासिमाइं, सेसाइ विसोवणट्ठाए ॥

अत्र पुनः प्रस्तुतसूत्रे हस्तकर्ममैथुनरात्रिभक्तविषयैः स्थानैरधिकारः प्रयोजनम् । केचिदाह-येषु येषु स्थानेषु अनुद्घातानि गुरुकाणि प्रायश्चित्तानि भणितानि तैरधिकारः । शेषपुनरुद्घातिकानि उद्घातार्थमनुद्घातानि शिष्याणां विकोपनार्थमुक्तानि । नि० चू० १० उ० । अनुद्घातिके अनुद्घातिकमनुद्घातिकं वा प्रदानं यत्र तद् उद्घातिकाः । "पंच अणुग्घाइमा पण्णत्ता । तं जहा-हत्थकम्मं करेमाणे मेहुणं पडिसेवमाणे राइभोयणं भुंजमाणे सागारियपिंडं भुंजमाणे रायपिंडं भुंजमाणे" स्था० ५ ठा० २ उ० । अनुद्घातिकमनुद्घातिके उद्घातिकं ददतः प्रायश्चित्तम् ।

जे भिक्खू उग्घाइयं सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा ... —हेउं संका एवं

संकप्पं सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥ जे भिक्खू उग्घाइयं वा उग्घाइयहेउं वा उग्घाइयसंकप्पं वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥ जे भिक्खू अणुग्घाइयं सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥ जे भिक्खू अणुग्घातियहेउं सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥ जे भिक्खू अणुग्घाइयसंकप्पं सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥ जे भिक्खू उग्घातियं वा अणुग्घाइयं वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥ जे भिक्खू उग्घातियहेउं अणुग्घाइयहेउं वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥ जे भिक्खू उग्घातियसंकप्पं वा अणुग्घाइयसंकप्पं वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥ जे भिक्खू उग्घाइयं वा अणुग्घाइयं वा उग्घाइयहेउं वा अणुग्घाइयहेउं वा उग्घाइयसंकप्पं वा अणुग्घाइयसंकप्पं वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥ जे भिक्खू अणुग्घाइयं वा उग्घाइयं वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ २९ ॥ जे भिक्खू अणुग्घाइयहेउं वा उग्घाइयहेउं वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥ जे भिक्खू अणुग्घाइयसंकप्पं वा उग्घाइयसंकप्पं वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥ जे भिक्खू अणुग्घाइयं वा अणुग्घाइयहेउं वा अणुग्घाइयसंकप्पं वा उग्घाइयं वा उग्घाइयहेउं वा उग्घाइयसंकप्पं वा सोच्चा णच्चा संभुंजइ संभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥

एवं अणुग्घातिए वि सुत्तं । उग्घाताणुग्घायहेउए वि ... सुत्ता । उग्घायाणुग्घायसंकप्पे वि दो सुत्ता ।

एते छ सुत्ता—

उग्घातियं वहंते, आवणुग्घायपदेहणे होति ।
उग्घातियसंकप्पिय-सुद्धे परिहारियं तहेव ॥ २१० ॥

उग्घातियं णाम जं संतरं वहति, लघुमित्यर्थः । अणुग्घा... णाम जं णिरंतरं वहति, गुरुमित्यर्थः । सोच्चं ति कहम

साओ, एवं ति सयमेव आलित्ता, संभुंजंति एगओ भोजनम्। उग्घाएहेउ संकप्पाए अणुग्घातियाए तितिह वि इमं वक्खाणं। उग्घातियं पायच्छित्तं वहंतस्स पायच्छित्तमावण्णस्स आव मणालोइयं ताव हेउं भण्णति, आलोइए य सुद्धतवेण तुज्झे य पच्छित्तं विच्छिद्दिति त्ति संकप्पियं भण्णति, एय पुण दुविध पि दुविहं वहति-सुद्धतवेण वा परिहारतवेण वा इत्तविसुद्ध-हम तवस्स वा परिहारतवस्स वा संकप्पिय पि सुद्धतवेण वा परिहारतवेण अणुग्घायहेयहेउं संकप्पाए अणुग्घातियाए तिएह इमं वक्खाणं।

अणुग्घातियं वहंते, आवणुग्घातहेउगे होति ।
अणुग्घातियसंकप्पिय-सुद्धे परिहारियं तहेव ॥२६१॥

पूर्ववत्, णवरं, अणुग्घातिय त्ति वत्तव्वं, जे सगच्छे सुद्धपरिहारतवा ण अदह ते एज्जंति चेव। जे परगच्छाओ आगता ते पुच्छिज्जंति।

को भंते ! परियाओ, सुत्तत्थअभिगहो तवो कम्मा ।
कक्खडमकक्खडएसु य, सुद्धतवे मंडवादो वि ॥२६२॥

इमा पढमा पुच्छा ।

गीयमगीओ गीओ, अहत्ति किं वत्थु कस्स वति जोग्गो ? ।
अगीउ त्ति य भणिते, थिरमथिरतवे य कयजोग्गो ॥२६३॥

सो पुच्छिज्जति-किं तुमं गीयत्थो अगीयत्थो ? । जदि सो भणति-गीतोऽहमिति, तो पुणो पुच्छिज्जति-किं आयरिओ ? उवज्झाओ ? पवत्ती ? थेरो ? गणावच्छेइओ ? भिक्खू ? वसभो ?। एतेसिं एगतरे अक्खाए पुच्छिज्जति-कयमस्स तवजोग्गा सुद्धस्स परिहारस्स, अह सो अगीतोऽहमिति भणिज्जति, तओ पुच्छिज्जति-थिरो अथिरो त्ति। थिरो दढो तवकरणे बलवानित्यर्थः। अथिरो अन्तर एव भज्जते, नास्ते नयतीत्यर्थः। पुण थिरो अथिरो वा पुच्छिज्जति-ताव कयजोग्गो तवकारणेनाभ्यस्ततवो।

सगणम्मि नत्थि पुच्छा, अण्णगणादागयं च जं जाणे ।
परियायजम्मदिक्खा, उणतीसा वीसकोडी वा ॥२६४॥

सगणे एवा उ नत्थि पुच्छा उ, जओ सगणवासिणो सव्वे णज्जंति। जो जारिसो अण्णगणागत वि ज जाणे तं नो पुच्छेभ भंते ! आमंतणवयणं परियाए त्ति। परियाओ दुविहो जम्मपरियाओ,पव्वज्जापरियाओ य। जम्मपरियाओ जहण्णेण जस्स एगूणतीस वासा कहं ? जम्मचपरिसो पव्वति। तो णवमय-रिसो पव्वति, तो णवमवरिसे पव्वति, तो ते णवमवरिसे पव्वतीओ वीसतिवरिसस्स परिसेण सम्मत्तो। एवं वरिसेण समत्तो। एवं वरिसेण समत्तो। एते अ उणतीसं वासो उक्कोसेण देसूणा पुव्वकोडी पव्वज्जा उणवीसस्स दिट्ठियातो उहिट्टो वरिसेण सम्मत्तो। एते वीसं उक्कोसेण देसूणा पुव्वकोडी।

इदाणि सुत्तत्थमिति—

नवमस्स ततियवत्थु, जहण्णुक्कोसनूणग दसमं ।
सुत्तत्थअभिगहे पुण, दव्वादितवो रयणमाई ॥२६५॥

णवमस्स पुव्वजहण्णं ततियायारवत्थूकाले णायं पतिज्जति, जाहे सं अत्थतं उक्कोसेण जाहे ऊणगा दसपुव्वा अहीता संमसदसपुव्विणो परिहारतवो ण दिज्जति, सुत्तत्थस्स एवं एमाणं (अभिग्गहे ति) अभिग्गहा दव्वादओ से कालभावे हि सवो तवोकम्मं पुण (रयणमादि त्ति) रयणावली आदिसहातो कणगावली,'सीहविक्कीलियं जवमज्झं वइरमज्झं चंदाणयं' कक्खडेसु य पच्छद्धं। अस्य व्याख्या-सुद्धपरिहारतवाए कतमो कक्खडो, कयमो वा अकक्खडो ?, एत्थ सेलए मंडवादि दिट्टंतो कज्जति।

जं मायति तं छुब्भति, सेलमए मंडवे ण एरंडे ।
उभयबलियम्मि एवं, परिहारो दुब्बले सुद्धो ॥२६६॥

सेलमंडवे जं मायइ तं छुब्भति ण सो भज्जति, एरंडमए पुण आयतियं छुब्भति, एवं उभयवलिए तितिधे संघयं धीपहुत्ते ज आवज्जति इमेरिसाणं सव्वकालं सुद्धतवो तं परिहारतवेण दिज्जति, सो पुण विसिसंघयणे हि दुब्बलो अतिहीणो तस्स सुद्धतवो वा हीणतरं पि दिज्जति। सीसो पुच्छति-किं सुद्धपरिहारतवाण एगावली उत भिण्णा ? ।

उच्यते—

अविसिट्ठा आवत्ती, सुद्धतवे चेव परिहारे ।
वत्थुं पुण आसज्जा, दिज्जते तत्थ एगतरो ॥२६७॥

सुद्धपरिहारतवाए अविसेसो आवत्ती आरिवादिवत्ती। संघयणोवजुत्तं जाणिऊणं परिहारतवो दिज्जति, इयरो वा सुद्धतवो एगं एगतरा दिज्जति, इमेरिसाणं सव्वकालं सुद्धतवो दिज्जति।

सुद्धतवो अज्जाणं, अगियत्थे दुब्बले असंघयणे ।
धितिबलिए समत्ता-गए य सव्वेसि परिहारो ॥२६८॥

अज्जाणं गीयत्थस्स धितिएदुब्बलस्स संघयणहीणे एतेसिं सुद्धतवो दिज्जति, धितबलजुत्तो संघयणसमन्निए य पुरिसे परिहारे तव पडिवज्जते। इमो विही-

विउसग्गो जाणणट्ठा, ठवणा जीए य दोसु वी तेसु ।
आगत य दोसरा, दिट्ठंतो जीए आमत्थे ॥२६९॥

परिहारतवं पडिवज्जंते दव्वादि अप्पसत्थवज्जेत्ता पसत्थेसु दव्वादिसु काउस्सग्गो कीरइ, सेसमाइ जाणणट्ठा आलावणादिपदाणं पट्ठवणा ठविज्जति, तेसु अ ठविएसु जदि भीता सो आसासो कीरइ ति, इमेहिं से वीहे पायच्छित्तं छुब्भति महंतो य णिज्जरा भवति, कप्पट्ठियअणुपरिहारिया य दो सहाया ठविज्जा इमेहिं अगडतिरादिट्ठंतेहिं भीतस्स आसासो कीरइ, अगडे पडियस्स आसासो कीरति, एस जणो धावति, रज्जआ णिज्जति अधिरा उत्तारिज्जति, मा विसादं गेण्हसु, एवं जतिणा त्ति तारिज्जति, सो कयाचिन्मापल तत्थ चेव मारेज्ज, णईपूरेण हीरमाणो भणति-भई अवलंबाहिए सत्तारो इणिमादि बेणुमत्तरिं मुत्तारेहिति, मा विसादं गेण्हसु। रायगहितो वि भणति-एस धाया जइ वि दुट्ठो तहवि विण्णविज्जंतो पुरिमादिएसु आयारं दस्सति, अड्डं न करेति, एवं आसासिज्जंतो आसासति; इदवेचो च भवति।

काउस्सग्गो य किं कारणं कीरइ ?, उच्यते—

नीरुवसग्गणिमित्तं, भयजणणट्ठा य सेसगाणं तु ।
तस्सऽप्पणो य तुरणो, पमाहए होति पडिवत्ती २७०

साहुस्स गिलाणसमाणिमित्तं सेससाहूण य भयाजणणट्ठा काउस्सग्गो कीरइ, सो य दव्वओ घडमादि खीरहरेत्तओ जिणघरादिसु कालओ पुव्वसूरे पसत्थादिदिणेसु य भावओ चंदताराबलेसु तस्सऽप्पणो य गुरुणो य साहएसु पडिवत्ती भवति। सो य जहन्नेण मासो, उक्कोसेण छम्मासा, तम्मि परिहारतवं पडिवज्जंति। आयरिओ भणति-एय साहुस्स णिरुवसग्गणिमित्तं ठामि काउस्सग्गं जाव वोसिरामि, लोगस्सुज्जोयगरं अणुपेहेत्ता णमो अरिहंताणं ति पारेत्ता लोगुस्सयं कट्टं कड्डित्ता आयरियो भणति—

कप्पट्ठिओ अहं ते, अणुपरिहारी य एस ते गीओ।
पुव्विं कयपरिहारो, तस्स य सयणो विदढदेहो ॥२९१॥

आयरिओ आयरिया णिउत्तो वा णियमगीयत्थो तस्स आलोयणापडिच्छणगो कप्पट्ठितो भवति। सो भणति-अहं ते कप्पट्ठितो परिहारियं गच्छंतं मग्गओ अणुगच्छति जो सो अणुपरिहारिओ सो वि णियमा गीयत्थो। सो से दिज्जति एस ते अणुपरिहारी, सो पुण पुव्वकयपरिहारियस्स असति अण्णो वि अकयपरिहारो वि संघयणजुत्तो दढदेहो गीयत्थो अणुपरिहारिओ ठविज्जति। एवं दोसु ठविएसु इमं भणति—

एस गई पडिवज्जति, ण किंचि आलवति मा हु आलवह।
अत्तट्ठचिंतगस्सा, वाघाओ मे न कायव्वो ॥ २९२ ॥

एस अम्हं पडिकप्पणट्ठो परिहारतवं पडिवज्जति। एस तुज्झे ण किंचि आलवति, तुज्झे वि एयं मा आलवह। एस तुज्झे [illegible] वा ण पुच्छति, तुज्झे वि एयं मा पुच्छह। एवं परिवट्टणा [illegible] भाणियव्वा। एवं आलवणादिपदे [illegible] अप्पणो [illegible] ॥ इमो ते [illegible]-

[illegible] ॥ २९३ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ २९४ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ २९५ ॥

[illegible]

कप्पट्ठियं अणुचिट्ठति अब्भुट्ठाणाति किरियं कुव्वं ते। सयमादिगच्छंतो अच्छेइ पुच्छितो कप्पट्ठियमाणेय [illegible] इमाणी कहेति-

उट्ठिज्ज णिसीएज्जा, भिक्खं गेण्हेज्ज भंडगं पेहे।
कुविए पियबंधवस्स व, करेति इतरो वि तुसिणीओ ॥ २९६ ॥

परिहारितो तवकिलामितो जइ [illegible] ताहे अणुपरिहारियस्स अंगातो लग्गति। [illegible] मि निक्खं हिंडिउं ण सक्केमि, तोऽणुपरिहारिओ [illegible] ओहिं हिंडिउं देति। जइ ण सक्केइ [illegible] परिहारितो से पडिलेहणियं करेइ, जइ ण सक्केति [illegible] उच्चारभूमिं गंतुं, तत्थ परिहारिओ भणति-[illegible] ओच्छामि, ताहे अंसे अणुपरिहारिओ करेति।

सुत्तणिवाओ इत्थं, परिहारतवम्मि होति दुविधम्मि।
सोधी वा पच्छा वा, संभुंजंतस्स आणादी ॥ २९८ ॥

एत्थ सुत्तं निवाओ, जो परिहारतवं दुविधं [illegible] इह तं सोधी पच्छा वा जो संभुंजति तस्स आणादिदोसा [illegible]।

वितियपदे साहुवंद-ण उभओ गेलण्णे य भत्ती य।
आलोयणादि तु पए, जयणाए समायरे भिक्खु ॥ २९९ ॥

साधुवंदणत्ति भणत्थं साधुसंविग्ना अप्पणो साहू ते [illegible] णति-अमुगसाहुस्स वंदणं करेज्ज, सो परिहारतवं [illegible] अस्स परिनाति यं हत्थो ते आयरणंतो वंदिउं वंदणं [illegible] तस्स णं दोसो, उभओ गेलण्णे वि कप्पट्ठिय अणुपरिहारिय [illegible] हारिओ य एते जदि तिण्णि वि गिलाणा, ताहे गच्छेज्जा [illegible] जयणाए करेंति। का जयणा भण्णति ? [illegible]

[illegible]

अणुग्घाय-अनुद्घात-पुं० । न विद्यते उद्घातो लघूकरणमिलनं यस्य तदनुद्घातम् । यथाश्रुतदाने, स्था० ५ ठा० २ उ० । आचारप्रकल्पभेदे, आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० ।

अणुग्घायण-अनोद्घातन-न० । अनात्मनेन अनुगतमनुमितिकं संसारभिगमं कर्म, तस्योत्पाटनेन घातनमपनयनमनोद्घातनम् । कर्मणां उद्घातने, " से मेहावी जे अणुग्घायणस्स खेयन्ने जे य बंधप्पमोक्खमन्नेसी कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्के " आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

अणुग्घासंत-अनुग्रासयत्-त्रि० । ग्रासमग्रासम् गृहीत्वा पश्चाद् मासं ददाति, " जे भिक्खू मा उग्गामस्स मेहुणवडियाए अणुग्घासेज्ज वा अणुग्घासंतं वा अणुपाएज्ज वा अणुपायंतं वा साइज्जइ " नि० चू० ७ उ० । ('मेहुण' शब्देऽस्य व्याख्या)

अणुच (य) र-अनुचर-त्रि० । अनुचरति । अनु-चर-ट । चिन्हि डीप् । सहचरे, पश्चाद्गामिनि च । वाच० । अनुपारिहारिकपर्यन्तनामा यावत् पालमासकल्पस्थितानां सेवाकारके, व्य० १७ उ० ।

अणुचरिया-अनुचर्य-त्रि० । आसेव्ये, स० ।

अणुचिंतण-अनुचिन्तन-न० । पर्यालोचने, आव० ४ अ० ।

अणुचिंता-अनुचिन्ता-स्त्री० । अनुचिन्तनमनुचिन्ता, मनसैवाक्षरस्पर्शेन सूत्रानुस्मरणे, आव० ४ अ० ।

अणुचिंतिऊण-अनुचिन्त्य-अव्य० । पश्चादनुचिन्त्येत्यर्थे, " अणुचिंतिऊण तासं पिरियपचवडा " महा० ६ अ० ।

अणुचिण्णवं-अनुचीर्णवत्-त्रि० । अनुष्ठितवति, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० ।

अणुचिय-अनुचित-त्रि० । अनाचिताधिवे, सू० १ उ० । अयोग्ये, पं० ७ विव० ।

अणुचीइ-अनुचिन्त्य-अव्य० । औत्पत्तिक्यादिनेदभिन्नया बुद्ध्या पर्यालोच्येत्यर्थे, आव० ४ अ० । जी० । सूत्र० । " अणुचीइ भासए सयाणमज्झे लहइ पसंसणं " अनुचिन्त्य पर्यालोच्य भाषमाणः सतां साधूनां मध्ये लभते प्रशंसनम् । दश० ७ अ० । सूत्र० ।

अणुचीइभासि (ण्)-अनुविचिन्त्यभाषिन्-त्रि० । अनुविचिन्त्य पर्यालोच्य भाषते इत्येवं शीलोऽनुविचिन्त्यभाषी । स्था० ७ ठा० । आलोचितवक्तरि, दश० ६ अ० ।

अणुचरिय-अनुचरित-त्रि० । अनाश्रिते, महा० १ चू० ।

अणुच्चार्य-अव्य० । निष्ठत्वादुच्चारयितुमयोग्ये, " अभिग्गाहियमिच्छदिट्ठी अणुच्चारियणामधेज्जे गुज्झसिवे " महा० १ चू० ।

अणुच्चसद्द-अनुच्चशब्द पुं० । अनुच्चस्वरे, " तं पुण अणुच्चसद्दं अव्विक्खित्तं पमाणेइ " न विद्यते उच्चः शब्दः स्वरो यस्य तदनुच्चशब्दं, मद्व्यविच्छिन्नं शब्दं विविक्तमभिन्नाक्षरमित्यर्थः; तस्मिन् । व्य० १ उ० ।

अणुच्चाकुइय-अनुच्चाकुचिक पुं० । यथा हस्तादि यावत् येन नियीलिकादेर्बन्धो न स्यात् सर्पादेर्वा दंशो न स्यात्; अकुचापरिस्पन्द इति वचनात् । परिस्पन्दरहिता निश्चलेति यावत्, ततः कर्मधारये उच्चा कुचा शय्या कम्बादिमयी सा नो विद्यते यस्य स अनुच्चाकुचिकः । नीचमपरिस्पन्दशय्या कल्प० ।

अणुजाइ (ण्)-अनुयायिन् पुं० । सेवके, को० ।

अणुजाण-अनुयान-न० । रथयात्रायाम्, षृ० १ उ० ।

तद्विधिश्चैवम्—

नमिऊण वद्धमाणं, सम्मं संखेवओ पवक्खामि ।
जिणजत्ताए विहाणं, सिद्धिफलं सुत्तणीतीए ॥ १ ॥

नत्वा प्रणम्य, वर्धमानं महावीरं, सम्यग्भावतः, संक्षेपतः समासेन, प्रवक्ष्यामि भणिष्यामि, जिनयात्राया अर्हदुत्सवस्य विधानं विधिं, सिद्धिफलं मोक्षप्रयोजनं, सूत्रनीत्या आगमन्यायेनेति गाथार्थः ॥१॥

जिनयात्राविधिं प्रवक्ष्यामीत्युक्तम्, अथ तत्प्रस्तावनायैवाह—

दंसणमिह मोक्खंगं, परमं एयस्स अट्ठहाऽऽयारे ।
णिस्संकादी भणितो, पभावणंतो जिणिंदेहिं ॥ २ ॥

दर्शनं सम्यक्त्वम्, इह प्रवचने, मोक्षाङ्गं सिद्धिकारणं, परमं प्रधानम्, आदिकारणत्वात्, तदपानन्तरकारणतया तु परमं चारित्रमेव, 'सारो चरणस्स निव्वाणमिति' वचनादिति । एतस्य दर्शनस्य, पुनरष्टधाऽष्टाभिः प्रकारैः, आचारे व्यवहारे यः सम्यग्दर्शनिनामाचारः स दर्शनस्याचार उच्यते, गुणगुणिनोरभेदात् । तमेवाह-शङ्का संशयः, तदभावो निःशङ्को निःशङ्कितत्वं, तदादिर्यस्य स निःशङ्कादिः, भणितोऽभिहितः, प्रभावनान्तो जिनशासनोद्भावनाऽवसानः, जिनेन्द्रैस्तीर्थकरैः । तथाहि-"निस्संकियनिक्कंखिय, निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य । उववूहथिरीकरणे वच्छल्लपभावणा अट्ठ" इति गाथार्थः ॥२॥

तत. किम् ?, अत आह—

पवरा पभावणा इह, असेसभावम्मि तीऍ सब्भावा ।
जिणजत्ता य तयंगं, जं पवरं ता पयासोऽयं ॥ ३ ॥

प्रवरा प्रधाना, प्रभावना जिनशासनोद्भावना, इहाष्टप्रकारे सम्यग्दर्शनाचारे । कुत एतदित्याह- अशेषाणां समस्तानां निःशङ्कितादिसम्यग्दर्शनाचाराणां भावः सत्ता अशेषभावस्तस्मिन् सति, तस्याः प्रभावनायाः, सद्भावात् संभवात् शङ्कितादिगुणयुक्त एव हि प्रभावको भवतीति । ततोऽपि किमित्याह- जिनयात्रा च जिनोद्देशमहः, पुनस्तदङ्गं जिनप्रवचनप्रभावनाकारणं, यद्यस्माद्धेतोः, प्रवरं प्रधानं, तत्तस्माद्धेतोः, प्रयास. प्रयत्नोऽयमेव वक्ष्यमाणस्वरूपो जिनयात्राविषय इति गाथार्थः ॥३॥

अथ जिनयात्रेति कोऽर्थ इत्यस्यां जिज्ञासायामाह—

जत्ता महूसवो खलु, उद्दिस्स जिणे स कीरई जो उ ।
सो जिणजत्ता भण्णई, निए विहाणं तु दाणाइ ॥ ४ ॥

यात्रा केत्याह-महोत्सवः खलु महामह एव, ननु देशान्तरगमनम् । तत. किमत आह-उद्दिश्याश्रित्य जिनानर्हत. स इति महोत्सवः 'जिणे स' इत्यत्र तु पाठान्तरे जिनांस्तु जिनानेवेति व्याख्येयम्, क्रियते विधीयते । यस्तु य एव स इत्यसावेव महोत्सवो जिनयात्रेति भण्यते अभिधीयते, तस्या जिनयात्राया विधानं तु कल्पः पुनर्दानादिवितरणप्रवृत्तिः । आदिशब्दात्तप:प्रवृत्तिरिह इति गाथार्थः ॥४॥

एतदेवाह-

दाणं तवोवहाणं, सरीरसक्कारमो जहासत्ति ।
उचितं च गीतवाइय, थुतियोत्ता पेच्छणादीय ॥ ५ ॥

दानं वितरणं, तथा तपउपधानं तपःकर्म, तथा शरीरसत्कारो देहभूषा, मशब्दः प्राकृतशैलीप्रभवः, यथाशक्ति सामर्थ्यानतिक्रमेण, इदं च क्रियाविशेषणम्, प्रत्येकं दानादिषु संयोज्यते। उचितं योग्यम् । चशब्दः समुच्चये । गीतं च गेयं, वादितं च पटहादिनादितं, गीतवादितम् । अनुस्वारलोपश्चाऽत्र द्रष्टव्यः, प्राकृतत्वात् । तथा स्तुतिस्तोत्राणि एकानेकश्लोकरूपाणि, प्रेक्षणादि च प्रेक्षणकप्रभृति च । आदिशब्दात्काव्यकथारथभ्रमणादिपरिग्रहो जिनयात्राविधानं च भवतीति प्रक्रमः; इति द्वारगाथासंक्षेपार्थः ॥ ५ ॥ पञ्चा० ९ विव० । (यात्राविषयं दानद्वारम् 'अणुकंपा' शब्देऽत्रैव भागे ३६० पृष्ठे उक्तम्) ।

अथ तपोद्वारमाह—

एकासणाइ णियमा, तवोवहाणं पि एत्थ कायव्वं ।
तत्तो भावविसुद्धी, णियमा विहिसेवणा चेव ॥ ७ ॥

एकाशनादि एकभक्तप्रभृति, आदिशब्दाच्चतुर्थादिपरिग्रहः, नियमादवश्यंतया, उपधीयते अनेनेत्युपधानं चरित्रोपष्टम्भहेतुः, तप एवोपधानं तपउपधानं, तदपि न केवलं दानमेव । अत्र जिनयात्रायां कर्त्तव्यं विधेयं भवति । कस्मादिदं कर्त्तव्यमित्याह-ततस्तपउपधानाद् भावविशुद्धिरध्यवसायनैर्मल्यं नियमादवश्यंतया भवति, भावविशुद्धिरेव धर्मार्थिनामुपादेयेति, तथा विधिसेवना जिनयात्रा नीत्यनुपालना चैवेति समुच्चयार्थः । इति गाथार्थः ॥ ७ ॥ उक्तं तपोद्वारम् ।

अथ शरीरसत्कारद्वारमाह-

वत्थविलेवणमल्ला-दिएहिँ विविहो सरीरसक्कारो ।
कायव्वो जहसत्ती, पवरो देविंदणाएण ॥ ८ ॥

वस्त्रविलेपनमाल्यादिभिर्वासोऽनुलेपनपुष्पप्रभृतिभिरादिशब्दादलङ्कारपरिग्रहः । विविधो बहुविधः, शरीरसत्कारो देहभूषा, कर्त्तव्यो विधेयो, यथाशक्ति शक्त्यनतिक्रमेण, प्रवरः सर्वोत्तमः । कथम् ?। देवेन्द्रज्ञातेन सुरराजोदाहरणेन, यथाहि-भगवतामर्हतां जन्ममहादिषु सुरेन्द्रः सर्वविभूत्या सर्वादरेण च शरीरसत्कारं विधत्ते, तद्वदन्यैरप्यसौ विधेय इति गाथार्थः ॥ ८ ॥ उक्तः शरीरसत्कारः ।

अथोचितं गीताद्याह-

उचियमिह गीयवाइय-मुचियाण वयाइएहिँ जं रम्मं ।
जिणगुणविसयं सद्द-म्मवुड्ढिजणगं अणुवहासं ॥ ९ ॥

उचितं योग्यमिह जिनयात्रायां, गीतवादितं गेयवाद्यम् । किंविधमित्याह-उचितानां योग्यानां स्वभूमिकापेक्षया वय आदिकैः कालकृतावस्थाप्रभृतिभिर्वयोविशेषरूपैर्नाट्यादिवर्ण्यादिभिर्वा यदम्यं रमणीयं जिनगुणविषयं वीतरागत्वादितीर्थकरगुणगोचरं न राजादिगुणविषयं, तदपि सद्धर्मवृद्धिजनकं शुभतरधर्मभावोत्पादकं, तदप्यनुपहासमविद्यमानोपहासमनुपहासमिति गाथार्थः ॥ ९ ॥

स्तुतिस्तोत्रद्वाराभिधानायाह-

थुइथोत्ता पुण उचिया, गंभीरपयत्थविरइया जे उ ।
संवेगवुड्ढिजणगा, समा य पाएण सव्वेसि ॥ १० ॥

स्तुतिस्तोत्राणि प्रतीतानि, पुनःशब्दो विशेषणार्थः । उचितानि योग्यानि । किंविधानीत्याह-गम्भीरैरनुत्तानैः सूक्ष्मैः पदार्थैः शब्दाभिधेयैर्विरचितानि विहितानि, यानि तु यान्येव संवेगवृद्धिजनकानि मोक्षाभिलाषातिशयकारीणि, समानि च तुल्यानि च प्रायेण बाहुल्येन सर्वेषां मनुष्यादिश्रोतॄणां हि कोलाहलपदानि न तुल्यानि, भावोत्कर्षं इति गाथार्थः ॥ १० ॥ उक्तं स्तुत्यादिद्वारम् ।

अथ प्रेक्षणकादिद्वारमाह—

पेच्छणगा वि णडादी, धम्मियणाडयजुआ इहं उचिया ।
पत्थावो पुण णेओ, इमेसिमारंभमादीओ ॥ ११ ॥

प्रेक्षणकान्यपि प्रेक्षाविषयः । अपिशब्दः स्तुत्याद्यपेक्षया समुच्चये । किं स्वरूपाणि; 'नट' इति नटः शैलूषः नटानामिदं प्रेक्षणकं तथा यथोच्यते-नटप्रेक्षणकमित्यर्थः; तदादि येषां प्रेक्षणकानां तानि नटादीनि । आदिशब्दाद्वादित्रपरिग्रहः । तानि चेह किंविधान्युचितानीत्याह—धार्मिकनाटकयुतानि जिनजन्माभ्युदयभरतनिष्क्रमणादिधर्मसंबद्धनाटकोपेतानि, इह जिनयात्रायामुचितानि योग्यानि, सत्यश्रोतॄणां संवेगोत्पादकत्वात् । प्रस्तावोऽवसरः । पुनःशब्दो विशेषणार्थः । ज्ञेयो ज्ञातव्यः, एषां प्रेक्षणकानामारम्भादिरारम्भादिरादिशब्दात्समाप्तिपरिग्रहः इति गाथार्थः ॥ ११ ॥ प्रेक्षणकानामारम्भादिप्रस्ताव उक्तः ।

अथ दानस्य कः प्रस्ताव इत्याशङ्क्याह—

आरंभे चिय दाणं, दीणादीणमणुकंपजणगत्थं ।
रण्णाऽमाघायकारण-मणहं गुरुणा स सत्तीए ॥ १२ ॥

(आरंभे चिय) यात्रारम्भकाल एव, दानं वितरणं विधेयं भवति । किमर्थमित्याह-दीनादीनां बहुप्रकृतीनां मनस्तुष्ट्यादिनानाथचित्ततोषविधानाय तथा राज्ञा नृपेण मा इत्यनीः मा च द्वेधा-धनलक्ष्मीः प्राणलक्ष्मीश्च; अतस्तस्या घातो हननं तस्य च प्राणोऽमाघातोऽमारिरद्रव्यापहारश्चेत्यर्थः । तस्य कारणं विधानममाघातकरणमनघं निर्दोषं यथा कृतमोजनवृत्तिमाधनं गुरुणा प्रावचनिकेन स्वशक्त्या दनेन, अन्यथा तद्भूस्युच्छेदापत्तेर्गुरुणा प्रावचनिकेन स्वशक्त्या स्वसामर्थ्येनेति गाथार्थः ॥ १२ ॥

प्रस्तुतविधिसमर्थनायागमविधिमाह-

विसयपवेसे रण्णो, उ दंसणमोग्गहादिकहणा य ।
अणुजाणावणविहिणा, तेणाणुण्णाए संवासो ॥ १३ ॥

विषयप्रवेशे मण्डलप्रवेशने, राज्ञो नृपतेः, तुशब्दः समुच्चयार्थः, दर्शनं मीलनं तेन तदभावे तस्मान्ययुवराजमहामात्यादेश्च दर्शनं कार्यः, दर्शने च सति 'किमागमनकारणम् ?' इति च तेन पृष्टे अवग्रहस्य 'देविंदरायगहवइ-सागरसाहम्मिओ भगवानी'त्येवंविधस्य, आदिशब्दाद्राजरक्षितास्तपस्विनो भवन्तीत्यादेश्च । यदाह-"क्षुद्रलोकाकुले लोके, धर्मं कुर्युः कथं हि ते । दान्ताऽरिहन्तारस्तांश्च राजा न रक्षतीति" कथना प्रज्ञापना ग्रहादिकथना, चशब्दः समुच्चये, कार्येति शेषः । तथा अनुज्ञापनं मुक्तलनं कार्यम्, अवग्रहस्य विधिनाऽऽगमनीत्या, ततः राज्ञा राजसंमतेन वा अनुज्ञाते मुक्तलितेऽवग्रहे संवासो निवासः तद्देशे विधेय इति गाथार्थः ॥ १३ ॥

कस्मादेवं विधीयत इत्याह-

एवं पवयणणीती, पवसंताण जिणा विउला ।
इहलोयम्मि वि दोसा, ण होंति णियमा गुणा होंति ॥

[illegible] अधर्माभिलाषाख्यो धर्मः । [illegible]
[illegible] शुण इत्याह-[illegible] धर्मो नरेो [illegible]
[illegible], [illegible] बहु, [illegible] निर्विषा-
[illegible] । [illegible] [illegible]
[illegible], आत्मा धर्मार्थ, [illegible]
[illegible] । [illegible] गुणाः
[illegible], [illegible] आत्मा । [illegible]
[illegible] " ॥ १ ॥ इति गाथार्थः ॥१५॥

[illegible] शुणा भवन्ति [illegible]-

[illegible] धर्मजुत्रा राया, अणुसासित्रो य विहिणा उ ।
[illegible] ण चिंतए, किं चिय [illegible] आमयाओ त्ति ॥१७॥

[illegible], [illegible] प्रधानाचार्येण, राजा नृपतिः, अ-
[illegible], [illegible] । [illegible] "[illegible] । [illegible] गुरु-
[illegible] " ॥१॥ एव चार्थी
[illegible] न [illegible], [illegible] न ददाति,
[illegible] । [illegible] अमाघात प्राणिघातनिवारण-
[illegible] । इति गाथार्थः ॥ १६ ॥

[illegible] अनुशासनविधि [illegible]-

[illegible] विहं, भणिओ सामगणगुणपसंसाए ।
[illegible], [illegible] य सावगाणहि ॥ १६ ॥

[illegible], अनुशासनविधिस्तु [illegible] भणित
[illegible], [illegible] लोकोत्तर-
[illegible], तथा गम्भीरोदा-
[illegible], महापुरुष [illegible], भाव-
[illegible] गाथार्थः ॥ १६॥

अनुशासनविधिमेवाह-

[illegible] मणुश्रत्ते, धम्माओ नरीसराणं रज्जं ।
इय मुणिऊणं सुंदर !, जत्तो एयम्मि कायव्वो ॥ १७ ॥

[illegible] मानिनां [illegible] मनुजत्वे [illegible] धर्माद्
[illegible] भवन्तीति [illegible] । इति
[illegible], सुन्दर ! [illegible] ! [illegible] धर्मे
[illegible] विधेयो भवतीति गाथार्थः ॥ १७ ॥

[illegible] सुम्मइ, सव्वाणि जणमणोहराणं ति ।
[illegible] य मावहं, इमाओ संसारजलहिम्मि ॥ १८ ॥

[illegible] संपदां [illegible] मूलं कारणम् , एष धर्मः सर्वासां
[illegible] जनमनोहराणां [illegible]नाम । इति
[illegible] संपदां जनमनोहरत्वोपदर्शनार्थः ।
[illegible] सांसारिक [illegible]पदर्शितम् । अथ निर्वाण-
[illegible]-एष [illegible] यानपात्रं बोधित्थ इव सं-
[illegible], संसारजलधी समुद्रधी तरीतव्य इति गाथार्थः।

कथं पुनरेष भवतीत्याह—

[illegible] य सुद्धो एसो, उचियत्थायाणेण सव्वस्स ।
[illegible] वीयरागा-ण विसयसारत्तओ पवरो ॥१९॥

[illegible], चशब्दः पुनरर्थे , शुद्धः [illegible], शुभ-
निमित्तत्वादेव धर्मः, उचितार्थापादनेनानुरूपवस्तुसंपाद[illegible]
[illegible] समस्तप्रमस्य । इदंय विशेषमाह-'जगाए' इत्यादि
[illegible]-यात्रोत्सवेन, पुनर्यात्रायां या उचितार्थ[illegible]
[illegible] । केषाम् ?, वीतरागाणां जिनानां, विषयसार[illegible]
प्रधानगोचरत्वात् । वीतरागा एव हि निखिलभुवनजनाति[illegible]
[illegible]अनुपचरितो प्रवर्तते प्रवरः प्रधान[illegible]
[illegible] एव जायत इति प्र[illegible]
[illegible]मिति गाथार्थः ॥ १९ ॥

अधिकृतराजानुशासनविधौ यो न्यायस्तं प्रकटयन्नाह-

एवं च [illegible], सुहिया तु अहिंसा तम्मि कालम्मि
[illegible] वि आमघाए-ण कुणसु तं चेव एतेसिं ॥ २० ॥

[illegible] वीतरागयात्रया एतस्या वा, सर्वसत्त्वाः समस्तदेहिनः
[illegible] यथानन्वयस्त एव, 'तु' शब्दोऽवधारणार्थः । (अहि-
[illegible] त्ति) अनुव , तस्मिन् काले तदा यदा, जिनानां जन्माद्य-
[illegible] । [illegible]पि, यथाऽतीतकाल इत्यपिशब्दार्थः।
[आमघाएणं ति] प्राकृतत्वादमाघातेन, अमारिप्रदानेन, कुरुष्व
[illegible], त्वं महाराज ! देव ! सुखितत्वमेव । एतेषां सर्वसत्त्वाना-
[illegible]मिति गाथार्थः ॥ २० ॥

यथाचार्यो न भवेत्तत्र तदा को विधिरित्याह-

तम्मि असंते राया, दट्ठव्वा सावगेहिँ वि कमेण ।
कारेयव्वो य तहा, दाणेण वि आमघाओ त्ति ॥ २१॥

तस्मिन् प्रवचनगुरावसत्यविद्यमाने, उपलक्षणत्वाद्राजदर्शना-
सामर्थ्ये वा , राजा नरपतिर्द्रष्टव्यो दर्शनीय, श्रावकैरपि
श्रमणोपासकैरपि, न तु न द्रष्टव्य इत्येतदर्थसंसूचनार्थोऽपि-
शब्दः । क्रमेण नीत्या तद्राजकुलप्रसिद्धया, कारयितव्यो विधा-
पयितव्यो राज्ञा । चशब्दः समुच्चये । तथेति वाक्योपक्षेपमा-
त्रार्थः । तथा कारयितव्यश्चेत्येवं चास्य प्रयोग । इति नेच्छति
[illegible] तं कारयितुं तदा दानेनापि द्रव्यवितरणेनाऽपि न केवलं
वचनेनेत्यपिशब्दार्थः। (आमघाओ त्ति) अमाघातः प्राणिनाम-
मारिः, इतिशब्दः समाप्त्यर्थ इति गाथार्थः ॥ २१ ॥

किं चान्यत्-

तेसिं पि घायगाणं, दायव्वं सामपुव्वगं दाणं ।
तत्तियदिणाण उचियं, कायव्वा देसणा य सुहा ॥२२॥

तेषामपि न केवलममाघात एव कारयितव्य इत्यपिशब्दार्थः ।
घातकानां प्राणिवधोपजीविनां मत्स्यबन्धादीनां, दातव्यं देयं,
सामपूर्वकं प्रेमोत्पादकवचनपुरस्सरं, दानमन्नादिवितरणं, ताव-
द्दिनानां यात्रापरिणामदिवसानामुचितं योग्यम्; कर्तव्या विधेया,
देशना च धर्मदेशना च शुभाऽनवद्या । यथा-भवतामप्येवं धर्मा-
[illegible] इत्यनेन च परोपतापपरिहारो धर्मा-
र्थिनां श्रेयानित्युक्तमिति गाथार्थः ॥ २२ ॥

एवं क्रियमाणे को गुण इत्याह—

तित्थस्स वण्णवाओ, एवं लोगम्मि बोहिलाभो य ।
केसिं चि होइ परमो, अण्णेसिं बीयलाभो त्ति ॥ २३ ॥

तीर्थस्य जिनप्रवचनस्य, वर्णवादः श्लाघा, एवममुना प्रकारेण
दानपूर्वकाऽमाघातकारणलक्षणेन, लोके जने, भवति । ततश्च
किमित्याह-बोधिलाभः सम्यग्दर्शनप्राप्तिः, चशब्दः पुनरर्थो
भिन्नक्रमश्च । केषाञ्चिल्लघुकर्मणां प्राणिनां, भवति जायते, परमः
प्रधानोऽङ्करूपेण मोक्षसाधकत्वादन्येषां पुनरपरेषां, पुनर्बीजलाभः
सम्यग्दर्शनबीजस्य जिनशासनपक्षपातरूपशुभाध्यवसायलक्ष-

[illegible] । चशब्दः समासार्थः । इति गाथार्थः ॥ २३ ॥

कथं तीर्थोन्नत्यादय बोधिबीजं भवत्येत आह–

जत्तिय गुणपडिवत्ती, सव्वण्णुमयम्मि होइ परिसुद्धा ।
सा चिय जायति बोही–ए तेण णाएण चोराणं ॥ २४ ॥

चियशब्द एवकारार्थः, स चापिशब्दार्थः। ततश्च याऽपि काचि- दल्पाऽपीत्यर्थः । गुणप्रतिपत्तिर्गुणाभ्युपगतिः, सर्वज्ञमते जिन- शासनविषये, भवति जायते, परिशुद्धा भावगर्भा, साऽपि गुण- प्रतिपत्तिः, जायते संपद्यते, बीजहेतुर्बोधये, सम्यग्दर्शनप्रतिप- त्त्यै, तेन ज्ञातेन, चौरोदाहरणेन तच्च प्रागुक्तमिति गाथार्थः ॥ २४ ॥

यदि सामर्थ्य अपि राजदर्शनासमर्थास्तदा को विधिरित्याह–

इय सामत्थाभावे, दोहि वि वग्गेहिँ पुव्वपुरिसाणं ।
इयमामन्चणुसारं, बहुमाणो होति कायव्वो ॥ २५ ॥

[illegible] राजदर्शनादिगुणामाघातकारणं यत्सामर्थ्यं बलं तस्य योऽभावः स तथा तस्मिन् , द्वाभ्यामपि , आस्तामेकेन, वर्गाभ्यां समुदायाभ्यां, प्रवचनगुरुश्रावकलक्षणाभ्यां पूर्वपुरुषा- णामतीतमहापुरुषाणाम् , [illegible] [illegible] बहुमानः प्रीतिविशेषो, भवति वर्तते, कर्त्तव्यो विधेय इति गाथार्थः ॥ २५ ॥

बहुमानमेव दर्शयन्नाह–

ते धन्ना सप्पुरिसा, जे एयं एवमेव णीसेसं ।
पुव्विं करिंसु किच्चं, जिणजत्ताए विहाणेणं ॥ २६ ॥

ते पूर्वपुरुषाः, धन्याः [illegible], सत्पुरुषा महापुरुषाः, वर्त्तन्ते ये, [illegible] [illegible] । एवमेवानन्तरोक्तेनैव, निःशेषं सर्वं, पूर्वकाले (करिंसु त्ति) अकार्षुः, कृत्यं करणीयं, राजपूर्वामाघात- [illegible], जिनयात्रायां जिनोत्सवे, विधानेन विधिनेति गाथार्थः ॥ २६ ॥

अम्हे उ तह अधन्ना, धन्ना उण एत्तिएण जं तेसिं ।
बहुमण्णामो चरियं, सुहावहं पुव्वपुरिसाणं ॥ २७ ॥

वयं तु पुनरद्य तेन प्रकारेण जिनयात्रादिसमयविधान- [illegible] अधन्याः, धन्याः पुनः [illegible], यदेषां पूर्वपुरुषाणां, बहु मन्यामहे [illegible] [illegible] [illegible] पूर्वपुरुषाणामिति [illegible] गाथार्थः ॥ २७ ॥

[illegible]–

इय बहुमाणा तेसिं, गुणाणमणुमोयणा णिओगेणं ।
[illegible] [illegible] ॥ २८ ॥

[illegible] पूर्वपुरुषाणां [illegible]

[illegible]

'आरंभेऽचिय दाणं' इत्यादि यदुक्तं तदुपसंहरन्–

कयमेत्थ पसंगेणं, तवोविहाणादिया वि णिययम्मि ।
अणुरूवं कायव्वा, जिणाण कल्लाणदिवसेसु ॥ ९ ॥

कृतमलमत्र दानामाघातप्रसङ्गेन प्रसक्त्या [illegible] अपि तपःकर्मशरीरसत्कारप्रभृतिका अपि [illegible] मित्यपिशब्दार्थः । निजसमये स्वकीयावसरे [illegible] औचित्येन कर्त्तव्या विधेया । क्वेत्याह–जिनानामर्हतां कल्याणदिवसेषु पञ्चमहाकल्याणीप्रतिबद्धदिनेष्विति गाथार्थः ॥ ९ ॥

कल्याणान्येव स्वरूपतः फलतश्चाह–

पंच महाकल्लाणा, सव्वेसिं जिणाण होंति णियमेण ।
भुवणच्छेरयभूया, कल्लाणफला य जीवाणं ॥ १० ॥

गब्भे जम्मे य तहा, णिक्खमणे चेव णाणनिव्वाणे ।
भुवणगुरूण जिणाणं, कल्लाणा होंति णायव्वा ॥ ११ ॥

पञ्चेति पञ्चैव महाकल्याणानि परमश्रेयांसि सर्वेषां समस्त- निखिलनरलोकभाविनां जिनानामर्हतां भवन्ति [illegible] येन, तथावस्तुस्वभावत्वात् । भुवनाश्चर्यभूतानि [illegible] [illegible] त्रिभुवनजनानन्दहेतुत्वात् । तथा [illegible] निःश्रेयससाधनानि । च समुच्चये । जीवानां प्राणिनाम् [illegible] गर्भाधाने, जन्मन्युत्पत्तौ । चशब्दः समुच्चये । तथेति [illegible] [illegible] । निष्क्रमणे अगारवासान्निर्गमे, चेवेति समुच्चय [illegible] [illegible] संजल्प्येते । ज्ञाननिर्वाणे [illegible] ज्ञाननिर्वाणयोरेव च । केषां गर्भादिष्वित्याह–भुवनगुरूणां [illegible] [illegible] जिनानामर्हताम् । किमित्याह–कल्याणानि [illegible] भवन्ति वर्त्तन्ते, ज्ञातव्यानि ज्ञेयानीति गाथाद्वयार्थः ॥ १०-११ ॥

ततश्च–

तेसु य दिणेसु धण्णा, देविंदाई करेंति भत्तिणया ।
जिणजत्तादि विहाणा, कल्लाणं अप्पणो चेव ॥ १२ ॥

(तेसु य त्ति) तेषु च दिनेषु दिवसेषु, येषु गर्भादयो [illegible] [illegible] धर्मधनं [illegible], पुण्यभाज इत्यर्थः । देवेन्द्रादयः [illegible] प्रभृतयः, कुर्वन्ति विदधति, भक्तिनता बहुमानप्रह्वाः [illegible] [illegible]–जिनयात्राऽऽदि–महोत्सवप्रभृतिकं [illegible] [illegible] विधानाद्विधिना । अथवा जिनयात्रादिविधानानि [illegible] [illegible] [illegible]–कल्याणं श्रेयः [illegible] । [illegible] [illegible] समुच्चयार्थश्चेत्येवं चेति गाथार्थः ॥ १२ ॥

यत एवम्–

इय ते दिणा पसत्था, ता सेसेहिँ पि तेसु कायव्वं ।
जिणजत्तादि सहरिसं, ते य इमे वद्धमाणस्स ॥ १३ ॥

[illegible]

[illegible]

माणानि वर्द्धमानस्य महावीरजिनस्य भवन्तीति गाथार्थः ॥३३॥

तान्येवाह-

आसाढसुद्धछट्ठी, चेत्ते तह सुद्धतेरसी चेव ।
मग्गसिरकिण्हदसमी, वइसाहे सुद्धदसमी य ॥ ३४ ॥
कत्तियकिण्हे चरिमा, गब्भाइदिणा जहक्कमं एते ।
हत्थुत्तरजोएणं, चउरो तह सातिणा चरमो ॥ ३५ ॥

आषाढशुक्लषष्ठी आषाढमासे शुक्लपक्षस्य षष्ठी तिथिरित्येकं दिनम् । एवं चैत्रमासे । तथेति समुच्चये । शुक्लत्रयोदश्येवेति द्वितीयम् । चैवेत्यवधारणे । तथा मार्गशीर्षकृष्णदशमीति तृतीयम् । वैशाखे शुक्लदशमीति चतुर्थम् । चशब्दः समुच्चयार्थः । कार्त्तिककृष्णे चरमा पञ्चदशीति पञ्चमम् । एतानि किमित्याह- गर्भादिदिनानि गर्भजन्मनिष्क्रमणज्ञाननिर्वाणदिवसाः, यथाक्रमं क्रमेणैव, एतान्यनन्तरोक्तानि, एषां च मध्ये हस्तोत्तरयोगेन हस्त उत्तरो यासां हस्तोपलक्षिता या उत्तरा हस्तोत्तरा उत्तराफा- ल्गुन्यः ताभियोगः संबन्धश्चन्द्रस्येति हस्तोत्तरायोगः, तेन कर- णभूतेन, चत्वार्याद्यानि दिनानि भवन्ति । तथेति समुच्चये । स्वातिना स्वातिनक्षत्रेण युक्तः । (चरमो त्ति) चरमकल्याणक- दिनमिति, महत्त्वादिति गाथाद्वयार्थः ॥ ३४—३५ ॥

अथ किमिति महावीरस्यैवैतानि दर्शितानीत्याह—

अहिगयतित्थविहाया, भगवं ति णिदंसिया इमे तस्स ।
सेसाण वि एवं चिय, णियणियतित्थेसु विण्णेया ॥ ३६ ॥

अधिकृततीर्थविधाता वर्त्तमानप्रवचनकर्ता, भगवान्महावीर इति, हेतोर्निदर्शितान्युक्तानि, इमानि कल्याणकदिनानि, तस्य वर्द्धमानजिनस्य, अथ शेषाणां तान्यतिदिशन्नाह-शेषाणामपि, व- र्द्धमानस्यैव । ऋषभादीनामपि, वर्त्तमानावसर्पिणीभरतक्षेत्रा- पेक्षया एवमेवेह तीर्थे वर्द्धमानस्यैव, निजनिजतीर्थेषु स्वकी- यप्रवचनावसरेषु, विज्ञेयानि ज्ञातव्यानि, मुख्यवृत्त्या विधेयतयेति । इह च यान्येव गर्भादिदिनानि जम्बूद्वीपभरतानामृषभादिजिनानां तान्येव सर्वभरतानां सर्वैरावतानां च, यान्येव एतेषामस्यामवस- र्पिण्यां तान्येव च व्यत्ययेनोत्सर्पिण्यामपीति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

अथ किमेवं कल्याणकेषु जिनयात्रा विधीयत इत्याह-

तित्थगरे बहुमाणो, अब्भासो तह य जीतकप्पस्स ।
देविंदाइयणुकित्ती, गंभीरपरूवणा लोए ॥ ३७ ॥
वण्णो य पवयणस्सा, इय जत्ताए जिणाण णियमेण ।
मग्गाणुसारिभावो, जायइ एत्तो च्चिय विसुद्धो ॥ ३८ ॥

तीर्थकरे जिनविषये, बहुमानः पक्षपातः तदिदं दिनं यत्र भग- वान् गर्भादि विकाशितः कृतो भवतीति मतेन ...... मिति । व्यवच्छेद ...... वः । अभ्यासोऽ ...... पूर्वपुरुषाचरितलक्ष ...... चाधिपदेवदानव ...... ष्टानुकरणम् । तथा गम्भीरप्ररूपणा गम्भीरं साभिप्रायमिदं यात्राविधानं न यादृच्छिकमित्येवं प्ररू- पणा प्रकाशना गाम्भीर्यप्ररूपणा कृता भवतीति, तथा लोके जनमध्ये; वर्णः प्रतिष्ठिजायते इति योगः । चशब्दः समुच्चये । कस्य ?, प्रवचनस्य जिनशासनस्य, दीर्घत्वं प्राहमन्यादिति । या- त्रया अनन्तरोक्तविधानोत्सवेन, क्रियमाणयेति गम्यम् । केषाम् ? जिनानां वीतरागाणां, नियमेन नियोगेन, (एत्तो च्चिय त्ति) एत

एव कल्याणकयात्रया तीर्थकरबहुमानादिकं कृतं भवत्यत एव हेतोर्मार्गानुसारिभावो मोक्षपथानुकूलाध्यवसाय आगमानुसारी वा, जायते भवति । असौ किंभूतः ? विशुद्धोऽनवद्यः । अतो विशु- द्धोऽसौ जायते, विशुद्धभवतीत्यर्थ इति गाथाद्वयार्थः ॥ ३७—३८ ॥

यद्यसौ जायते ततः किमित्याह-

तत्तो सयलसमीहिय-सिद्धी णियमेण अविकलं जं से ।
कारणमिनोएँ भणिओ, जिणेहिँ जियरागदोसेहिँ ॥ ३९ ॥

ततो विशुद्धमार्गानुसारभावात्सकलसमीहितानि सर्वाभिल- षितार्थनिष्पत्तिर्नियमेन नियोगेन, कुतः पुनरेतदित्याह-अ- विकलमखण्डं यद् यस्मात्कारणं हेतुः, अस्याः सकल- समीहितसिद्धेर्भणितोऽभिहितो, जिनैरर्हद्भिः । जिनाश्च साम- जिनादयोऽपि भवन्तीत्यत आह-जितरागद्वेषैर्विगतरागद्वेषा- दकारणैरित्यर्थ इति गाथार्थः ॥ ३९ ॥

अथ कथमसौ मार्गानुसारभावः सकलसमीहितसिद्धेः का- रणं भणित इत्यत्रोच्यते, शुभचेष्टानिमित्तत्वेन; एतदेव दर्श- यन्नाह-

मग्गाणुसारिणो खलु, तयाभिणिवेसओ सुहा चेव ।
होइ समत्ता चेट्ठा, असुभा वि य णिरणुबंधा ......

मार्गा ......
लइ ......
एतं ......
चैवशब्दोऽवधारणार्थः । भवति जायते, समस्ता निःशेषा, चे- ष्टा क्रियाऽशुभा । किं सर्वथा न भवतीत्यत्राह-अशुभाऽपि अशुभाऽपि चाप्रशस्ताऽपि च । चेष्टेति वर्त्तते । चकार एव समुच्चये । भवति केवलं निरनुबन्धा अनुबन्धरहिता-पुनः पुनरभाविनीत्यर्थः । इतिशब्दः समाप्तावेव गाथार्थः ॥ ४० ॥

कुतो निरनुबन्धा सेत्याह—

सो कम्मपारतंता, वट्टइ तीए ण भावओ जम्हा ।
इय जत्ता इय वीयं, एवंभूयस्स भावस्स ॥ ४१ ॥

स मार्गानुसारी जीवः कर्मपारतन्त्र्यात्कर्मोदयव- शवशादेव, वर्त्तते प्रवर्त्तते, तस्यामशुभचेष्टायां, न भावतो न पुनर्भावेनान्तःकरणेन तत्राभिनिवेशादेव यस्मात्कारणात्त- स्मात् निरनुबन्धेति प्रकृतमिति । कल्याणकयात्राफलविशेष- मुपाह-इति यात्राऽनन्तरोक्तकल्याणकजिनोत्सव इत्युक्तस्वा- येन शुभचेष्टाहेतुमार्गानुसारणेन बीजं कारणम्, एवंभूतस्यानन्तरो- क्तस्य सकलसमीहितसिद्धिकारणस्य, भावस्य मार्गानुसारि- परिणामस्य, पूर्वोक्तस्येति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

उत्सवविशेषस्यास्यैव कल्याणकदिनेष्वेव वि- धेयतां दर्शयन्नाह-

ता रहणिक्खमणादि वि, एतेसु दिणेसु पहुच कायव्वं ।
जं एसो च्चिय विसओ, पहाणमो तीएँ किरियाए ॥ ४२ ॥

तदिति यस्मात्तीर्थकरबहुमानादयोऽनन्तरोक्ताः ...... कल्याणकदिनेषु जिनयात्रायां भवन्ति, तस्मादेतस्य ...... स्याधिष्ठितस्य स्वयम्भुवः जिनप्रतिमायुक्तस्य ...... रिभ्रमार्थं रथनिष्क्रमणं तदादि ...... ।

यक्षिरिति गाथार्थः ॥ ४७ ॥ इति यात्राविधिप्रकरणं विवरणतः समाप्तम् । पञ्चा० ६ विव० । (अथानुयाने यथा साधवोऽकल्प्यं परिहरन्ति तथा 'एसणा' शब्दे तृतीयभागे ७० पृष्ठे दर्शयिष्यते)

अथानुयानविषयो विधिरुच्यते—

आणाइणो य दोसा, विराहणा होइ संजमप्पाए ।
एवं ता वच्चंते, दोसा पत्ते अणेगविहा ॥

निष्कारणेऽनुयानं गच्छत आज्ञादयश्च दोषाः, विराधना च संयमात्मनो भवति । एवं तावद् व्रजतो मार्गे दोषाः, तत्र प्राप्तानां पुनरनेकविधा दोषाः ।

तत्र संयमात्मविराधनां भावयति—

महिमा उस्सुयभूए, इरियादी न य विसोहए तत्थ ।
अप्पा वा काया वा, न सुत्तं नेव पडिलेहणा ॥

महिमा नाम भगवतः प्रतिमायाः पुष्पारोपणादिपूजात्मकः सातिशय उत्सवः, तस्य दर्शनार्थमुत्सुकभूत ईर्यादिसमितिर्न विशोधयति । आदिशब्दादेषणादिपरिग्रहः । तत्र ईर्यादिनामशोधने आत्मा च कायाश्च विराध्यन्ते । आत्मविराधना कण्टकस्थाण्वाद्युपघातेन, संयमविराधना षण्णां कायानामुपमर्दादिना, तथा त्वरमाणत्वादेव न सूत्रं गुणयति, उपलक्षणत्वादर्थं च नानुप्रेक्षते, नैव प्रतिलेखनां वस्त्रपात्रादेः करोति, अथवा अकालेऽविधिना च करोति । एवमेव मार्गे गच्छतां दोषा अभिहिताः ।

अथ न तत्र प्राप्तानां ये दोषास्तानभिधित्सुर्द्वारगाथामाह—

चेइय आहाकम्मं, उग्गमदोसा य सेह इत्थीओ ।
नाडगसंफासणतं—पुत्थड्ढनिद्धम्मकज्जा य ॥

चैत्यानां स्वरूपं प्रथमतो वक्तव्यं, तत आधाकर्म, तत उद्गमदोषाः, ततः शैक्षाणां पार्श्वस्थेषु गमने, ततः स्त्रीदर्शनसमुत्था दोषाः, ततो नाटकप्रेक्षणप्रभवाः, ततः संस्पर्शनसमुत्थाः, तदनन्तरं सततः कोलिकजालं तद्विषयाः, तदनु (पुट्ठ त्ति) पार्श्वस्थादिपुस्तकदर्शनसमुत्थाः, ततो निर्धर्मणां लिङ्गिनां यानि कार्याणि तदुत्थिताश्च दोषा वक्तव्याः । इति द्वारगाथासमासार्थः । बृ० १ उ० । (चैत्यव्याख्या 'चेइय' शब्दे द्रष्टव्या । यतिनिमित्तकमाधाकर्म 'आधाकम्म' शब्दे द्वि० भागे ३३० पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

अथोद्गमदोषशैक्षद्वारद्वयमाह—

ठविए संखडिजादी, दुल्लोहया होंति उग्गमे दोसा ।
पंडिगंते दट्ठुं, इयरे सेहा तहिं गच्छे ।

बहवः संयताः समायाता इति कृत्वा धर्मश्रद्धावान् श्रोताः संयतार्थं स्थापितं भक्तपानादेः स्थापनां कुर्यात् । द्रव्यमागताममेतेऽपि च वास्याम इति कृत्वा (संखडि त्ति) यानि गृहाणि साधुनिरन्वेषणीयदाने प्रवृत्तानि तेषु शाल्योदनमनद्गुलधावनादिकं भक्तपानं, मोदकशोककर्वलिप्रभृतीनि वा खादकविधानानि निक्षिपेयुः, साधूनामागतानां दास्यामीति । आदिशब्दात् क्रीतकृतप्रामित्यादिपरिग्रहः । एते उद्गमदोषाः, तत्र दुर्लोहया दुष्परिहार्या भवन्ति; तथा इतरान् पार्श्वस्थादीन् बहुजनेन वन्द्यमानान् पूज्यमानांश्च दृष्ट्वा शैक्षास्तेषु पार्श्वस्थादिषु गच्छेयुः ।

स्त्रीनाटकद्वारद्वयमाह—

इत्थी विउव्विया वि हु, पुत्ताणं दट्ठु दोसाओ ।

एमेव नाडइया, सविब्भमा नाडिगीयाए ।

स्त्रीः विकुर्विता [illegible] ॥

इत्थिपुरिसाण फासे, पुरिसा सद्दुगा सई य संतरे ।
अप्पाणं नगरोसा—उप्पादगं [illegible] ।

[illegible]

अथ [illegible]—

सुयाओ [illegible] ॥

[illegible]

अथ [illegible]

पट्ठाए इयरगुं, [illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible]

तत्र नैमित्तिकसाधूनां सकाशात्प्रच्छ्यते । यदि वा यत्र देशे स्वयं गमिष्यति तत्र तानि क्षेमादीनि भविष्यन्ति नवेति साधर्मिकादीन् पृच्छति ।

कार्योद्भावद्वारव्ययमाह-

कुलमाई कज्जाई, साहिस्सं भिगिणो य मासिस्सं ।
जे लोगविरुद्धाइं, करिंति लोगुत्तराइं च ॥

कुलादीनि कुलगणसंघसत्कानि, कार्याणि तत्र गतः शाधयिष्यामि लिङ्गिनश्च तत्र गतः शासिष्यामि हितोपदेशदानादिना शिक्षयिष्यामि । ये लिङ्गिनो लोकविरुद्धानि लोकोत्तरविरुद्धानि च प्रवचनोड्डाहकराणि कार्याणि कुर्वन्तीति ।

आह-यद्येतानि कारणानि भवन्ति,ततः किं कर्तव्यमित्याह-

एएहिँ कारणेहिं, पुव्वं पडिलेहिऊण अइगमणं ।
अद्धाणनिग्गयादी, लग्गा मुक्का जहा खवओ ॥

एतैश्चैत्यपूजादिभिः कारणैरनुयानं प्रवेष्टव्यमिति निश्चित्य पूर्वं प्रत्युपेक्ष्य ततोऽतिगमनं कार्यम् । अथाध्वनिर्गतास्ते ध्वानमतिलङ्घ्य सहसैव तत्र प्राप्ताः । आदिशब्दादपूर्वोत्सवादिकृद्यमाणकारणपरिग्रहः । एवंविधैः कारणैः प्रत्युपेक्षितेऽपि क्षेत्रे गताः सन्तो यथोक्तां यतनां कुर्वाणा अपि यदि लग्ना अशुद्धभक्तादिग्रहणदोषमापन्नास्तथापि शुद्धाः, यथा क्षपकः पिण्डनिर्युक्तौ प्रतिपादितचरितः शुद्धं गवेषयन्नपि निगूढबाह्याकारया तथाविधश्राद्धिकया छलितः सन्नाधाकर्मण्यपि गृहीते शुद्धोऽशठपरिणामत्वादिति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथैतदेव भाष्यते-

नाऊण य अइगमणं, गीए पेसिंति पेहिउं कज्जे ।
असमय जिनत्वाचरिया, वाहिं उब्भामगादीया ॥
संभाविक इयरे वि य, जाणंती मंडवाइणो गीया ।
सेहादीण य थेरा, वंदणजुत्तिं वहिं कहए ॥

चैत्यपूजादिके कार्ये समुत्पन्ने अनुयानक्षेत्रं प्रत्युपेक्षितुं गीतार्थान् प्रेरयति,ततो ज्ञात्वा सम्यग् क्षेत्रस्वरूपमतिगमनं कर्तव्यम् । किं पुनस्तत्र प्रत्युपेक्ष्यमित्याह—मौलग्रामे उपाश्रयो बहिर्वाह्यग्रामेषु च उद्भ्रामकाख्या भिक्षाचर्या । आदिशब्दात्तस्यां गच्छतामपान्तराले विश्रामस्थानं, मौलग्रामे च भिक्षाविचारभूमिप्रभृतिकं प्रत्युपेक्ष्यम्, तथा सद्भाविका इतरांश्च मण्डपादीन् गीतार्था जानन्ति । यथा अमी सद्भावतः स्वार्थं मण्डपाः कृताः, अमी तु संयतार्थं परं कैतवप्रयोगेणात्मार्थमानीतं प्रत्याययन्ति , आदिग्रहणात् पीठिकादिपरिग्रहः । इत्थं तैः प्रत्युपेक्षिते सूरयः सबालवृद्धगच्छसहिता अनुयानक्षेत्रं प्रविशन्ति । स्थविराश्च बहिरेव वर्तमाना. शैक्षादीनां वन्दनयुक्तिं पार्श्वस्थादिवन्दनविधिं कथयन्ति, मा भूदन्यथा तद्वन्दने तेषां विपरिणाम इति ।

अथ चैत्यवन्दनाविधिमाह-

निस्सकडमनिस्सकडे, वि चेइए सव्वेहिँ थुई तिन्नि ।
वेलं व चेइयाणि य, नाउं इक्किक्किया वा वि ॥

निश्राकृते गच्छप्रतिबद्धे, अनिश्राकृते च तद्विपरीते, चैत्ये सर्वत्र तिस्रः स्तुतयो दीयन्ते । अथ प्रतिचैत्यं स्तुतित्रये दीयमाने वेलाया अतिक्रमो भवति प्रचुराणि वा तत्र चैत्यानि, ततो वेलां चैत्यानि वा ज्ञात्वा प्रतिचैत्यमेकैकाऽपि स्तुतिर्दातव्येति ।

अथ समवसरणविषयं विधिमाह-

निस्सकडे थेइए गुरु, कइवयसहिए य इयरावसहिं ।
जत्थ पुण अनिस्सकडं, पूरिंति तहिं समोसरणं ॥

निश्राकृते चैत्ये गुरुराचार्यः कतिपयैः परिणतसाधुभिः सहितश्चैत्यमहिमावलोकनाय तिष्ठति । इतरे शैक्षादयस्ते मा पार्श्वस्थादीन् भूयसा लोकेन पूज्यमानान् दृष्ट्वा तत्र गमनं कार्षुरिति कृत्वा गुरुभिरनुज्ञाता वसतिं व्रजेयुः । यत्र पुनः क्षेत्रे अनिश्राकृतं चैत्य तत्राऽऽचार्यः समवसरणं पूरयन्ति, सजामापूर्य धर्मकथां कुर्वन्तीत्यर्थः ।

आह-किं संविग्नैस्तत्र धर्मकथा , आहो-
स्विदसंविग्नैरपि ?, उच्यते—

संविग्गेहिँ य कहणा, इयरेहि अपच्चओ न ओवसमो ।
पव्वज्जाभिमुहा वि य, तेसु वए सेहमादीया ॥

संविग्नैरुद्यतविहारिभिः कथना धर्मस्य कर्तव्या । कुत इत्याह-इतरे असंविग्नास्तैर्धर्मकथायां क्रियमाणायां श्रोतॄणामप्रत्ययो भवति, नैते यथा वादिनस्तथा कारिण इति । न च तेषामुपशमः सम्यग्दर्शनादिप्रतिपत्तिर्भवति । अपि च । प्रव्रज्याभिमुखाः शैक्षादयो वा अद्याप्यपरिणतजिनवचनाः तेऽपि तेषु व्रजेयुः ; शोभनं खल्वेतेऽपि धर्मं कथयन्तीति ।

आह-निश्राकृतचैत्ये यदि तदानीमसंविग्ना न भवन्ति ततः को-
विधिरित्याह—

पूरिंति समोसरणं, अन्नासइ निस्सचेइएसुं पि ।
इहरा लोगविरुद्धं, सद्धाभंगो य सड्ढाणं ॥

अन्येषामसंविग्नानामसति निश्राकृतेष्वपि चैत्येषु समवसरणं पूरयन्ति, इतरथा लोकविरुद्धं लोकापवादो भवति—अहो ! अमी मत्सरिणो यदेवमन्यदीयं चैत्यमिति कृत्वा नात्रोपविश्य धर्मकथां कुर्वन्ति, श्रद्धाभङ्गश्च श्राद्धानां भवति, तेषामन्यार्थमुत्पद्यमानानामपि तत्र धर्मकथाया अकरणात् ।

अथ भिक्षाचर्यायां यतनामाह—

पुव्वपविट्ठेहिँ समं, हिंडंती तत्थ ते पमाणं तु ।
साभाविकनिवत्ताओ, विदंतऽपुव्वा य ठवियादी ॥

पूर्वप्रविष्टानामपूर्वं ये क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थं प्रहितास्तैः सम भिक्षां हिण्डन्ते, तत्र च भिक्षाटनं त एव प्रमाणं यन्तुं क्षेत्रत्र शुद्धाशुद्धगवेषणा कर्तव्या, ते च पूर्वप्रविष्टा इदं विदन्ति-यदेताः स्वाभाविकभिक्षाः स्वार्थनिष्पादिताः, एतास्तु अपूर्वाः संयतार्थं स्थापिता भिक्षादयः ।

स्त्रीसंकुलनाटकदर्शनवर्जनमाह-

वंदे ण इंति तंति य, जुवमज्झे थेर इत्थिओ तेणं ।
चिट्ठंति न नाडएसुं, अह तंति न पेह रागादी ॥

स्त्रीसंकुलवृन्दे आयान्ति निर्गच्छन्ति च, ये च युवानस्ते ह्रियन्ते, यतः स्थविरत्वेन वार्द्धकेन स्थविरा वृद्धा भवन्ति, मा भवन् कृतभुक्तसमुत्था दोषा इति । यत्र नाटकानि निरीक्ष्यन्ते तत्र न तिष्ठन्ति । अथ कारणतस्तिष्ठन्ति, ततो (न पेहन्ति) नर्तकयादिरूपाणि न प्रेक्षन्ते , सहसा दृष्टिगोचरागतेषु रागादीन् न कुर्वन्ति, तेनाक्ष प्राप्य दृष्टिं निवर्तयन्ति ।

तत्कुत्राहारादिषु विधिमाह—

सीलेइ मंखफलए, इयरे चोयंति तंतुमादीसु ।
अभिजोगयंति निगु य, आणिच्छि पेहंतऽदीमंता ॥

इतरे असंविग्ना देवकुलिका इत्यर्थः, तान् तन्तुजालमूनाकोलिकादिषु सत्सु, ते साधवो नोदयन्ति-यथा शीलयत परिकर्मयत मङ्खफलकानीव मङ्खफलकानि । मङ्खो नाम चित्रफलकव्यग्रहस्तस्तस्य च यदि फलकमुज्ज्वलं भवति, ततो लोकः सर्वोऽपि तं पूजयति । एवं यदि यूयमपि देवकुलानि भूयो भूयः संमार्जनादिना सम्यगुज्ज्वालयत, ततो भूयान् लोको भवतां पूजासत्कारं कुर्यात् । अथ ते देवकुलिकाः ससूचिकाधिकप्रभितिवद्गृहकोकिलादिपूतिनोमिमन्तस्तान्नियोजयन्ति निर्भर्त्सयन्ति-यथा एकं तावद्देवकुलानां वृत्तिमुपजीवथ द्वितीयमेतेषां संमार्जनादिसारामपि न कुरुथ । इत्थं युष्मा अपि यदि तन्तुजालादीन्यपनेतुं नेच्छन्ति ततो अदृश्यमानाः स्वयमेव स्फेटयन्ति, अपनयन्तीत्यर्थः ।

क्षुल्लकविपरिणामसंभवे यतनामाह-

उज्जलवेसे खुड्डे, करिंति उव्वट्टणाइ चोक्खे य ।
नो मुयंतऽसहाए, दिंति मणुन्ने य आहारं ॥

क्षुल्लकान् कान्तवेषवान् पाण्डुरपट्टचोलपट्टधारिणः उद्वर्त्तनप्रक्षालनादिना च चोक्षान् शुचिशरीरान् कुर्वन्ति । न च ते क्षुल्लका असहाया एकाकिनो मुच्यन्ते, सुबहवश्च तेषां मनोज्ञान् स्निग्धमधुरानाहारानानीय ददति । उरभ्रदृष्टान्तेन च प्रज्ञापयन्ति । बृ० १ उ० । (स च दृष्टान्तः 'उरब्भ' शब्दे द्वि० भा० ७५१ पृष्ठे वक्ष्यते)

अथ निर्द्धर्मकार्येषु यतनामाह—

न पियंति लिंगफन्ने, अरयंति च पेल्लिया उदासीणा ।
चिंति य निव्वंधम्मि, करेह तिव्वं सु जे दंसं ॥

यत्र लिङ्गिनामाहारगृहधनादिकार्याण्युपदीपन्ते तत्र प्रथमत एव न मिलन्ति । अथ तैर्बलात् मोटिकया नीयन्ते ततो मेलिता अप्युदासीना आसते । अथ ते भूयोऽपि कुत्साहमदीयस्य व्यवहारस्य परिच्छेदम् । तत एवं निर्बन्धे तैः क्रियमाणे साधवो ब्रुवते-यदस्माकं पार्श्वे व्यवहारपरिच्छेदं कारयिष्यथ तत समयेनापि भवतां तीव्रदण्डमागमोक्तप्रायश्चित्तलक्षणं कुर्मः करिष्याम इति ।

'ठाणाणिगायादी' इति पदं व्याख्यानयति-

अद्धाणणिगयादी, ठाणुव्वाणमहं सयो कुणयो ।
गेलन्नमन्धयारा, पयाणई तत्थिया वा वि ॥

अध्वनिर्गता अध्वानमतिलङ्घ्य तद्देवकुलं प्राप्ताः । आदिशब्दादन्यदप्येवंविधं कारणं गृह्यते, यथा मोण्णा निक्रमहोत्सवं नाम तत्र पूर्वः कोऽप्युत्सवविशेषः, तद्दिवस आर्द्रं कर्तुमारब्धः तं वा श्रुत्वा, यदि वा द्वेषं अपूर्वमिति वा द्रष्टुं प्रेष्यन्ते, तदानीं स्थाना स्थानमनिषण्णव्यापृता वा । अथवा सार्थवशागतास्तत्र सार्थसमरेण गन्तुं न शक्यन्ते । महानदी वा काचिदपान्तराले, नामधीरुत्पन्नुलन्तो बहवो दोषाः, तावन्मात्रा एव वा ते साधवो यावन्तो मार्गादेकस्मादन्यत्र प्रेषणे न संगच्छन्ते, अत एतैः कारणैरभ्युत्थितेऽपि प्रतिवसतां न दोषः ।

अथ यतनामाह-

मयरुक्खा गाइ अन्ने, ति हिंडिं ठाणमाइ वज्जंति ।
दव्वाइं देहा, मः सगंती वहंति मुद्धा ॥

यदि मनोज्ञाः सांभोगिकाः पूर्वप्रविष्टाः सन्ति ततस्तैः सह तिष्ठन्ति । अथ न सन्ति मनोज्ञास्ततोऽन्यसांभोगिकैः संविग्नैः इतरैर्वा सह तिष्ठन्ति यद्देवकुलादिषु स्थानानि वर्जयन्ति ते, आधाकर्मा-

दिदोषवर्जनयात । शेषेषु कुलेषु पर्यटन्तो (इत्यादि पर्यन्ते) प्रत्यनः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च शुद्धमन्वेषयन्तो, यदि किमपि स्थापनादिकं दोषं प्राप्नुवन्ति, तथा इदानीं कालदत्तदत्तपरिणामतया कृतदानोपयोगसमृद्धत्वादिति । सर्वथा भक्तहरणानुपालनाकारम । बृ० १ उ० ।

अणुजाणण-अनुज्ञापन-न० । अनुमोदने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० । स्था० ।

अणुजाणावणा-अनुज्ञापना-स्त्री० । मुक्तावने, पञ्चा० विव० ।

अणुजाणाहिगार-अनुयानाधिकार-पुं० । रथस्य पृष्ठतोऽनुयानेन प्रतिष्ठाधिकारे, जी० १ प्रति० ।

अणुजाणित्तए-अनुज्ञातुम्-अव्य० । तथैव सम्यक्पदार्थान् स्वेषां च प्रयच्छेदयेवमनिधातुमित्यर्थे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

अणुजात (य)-अनुयात-त्रि० । अनुगते, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । " सरिसे वसभाणुजाए " अनुजातशब्दः सदृशवचनः । वृषभस्य अनुजातः सदृशो वृषभानुजातः । सू० प्र० १२ पाहु० । अनुरूपः सन्ददा पितुस्तुल्यो जातोऽनुजातः, अनुगतो वा अनुसृत्य पितृविभूत्याऽनुयातः पितृसमे सुतभेदे, यथा महायशा, आदित्ययशसा पिता तुल्यत्वात् । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अणुजुत्ति-अनुयुक्ति-स्त्री० । अनुगतयुक्तौ, "सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, अचयंता जविताए" सर्वाभिरर्थानुगताभिर्युक्तिभिः संबंधिरेव हेतुदृष्टान्तैः प्रमाणभूतैरर्थानुगतैः । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । "सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, मतिमं पडिलेहिया" सर्वाभिः कायनानुरूपाः पृथिव्यादिजीवनिकायसाधनत्वेनानुसर्वाः या युक्तयः साधनानि, यदि वा सिद्धव्यभिचारादिकानि दूषणानि कृत्वा युक्तयः साधनानि, यदि वा सिद्धयिष्यन्त्याश्रितत्वेन युक्तिसंगता एव पक्षधर्मत्वसपक्षसत्वविपक्षव्यावृत्तिरूपतया युक्तिसंगतैरेव युक्तयस्ताभिर्मतिमान् । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अणुजेट्ठ-अनुज्येष्ठ-त्रि० । अनुगतो ज्येष्ठम् । प्रा० । स० । ज्येष्ठानुक्रमे ज्येष्ठानतिक्रमे च । वाच० । पञ्चा० । ज्येष्ठमनुवर्तमाने यथा एको द्विकस्य ज्येष्ठः त्रिकस्यानुज्येष्ठः अनुपूर्वीणां तु ज्येष्ठानुज्येष्ठः । आ० म० प्र० । अनु० ।

अणुण्णया-अनुन्नता-स्त्री० । संदेहवताऽत्र विषयतावेशेष, ध० १ अधि० ।

अणुज्जियत्त-अनूर्जितत्व-न० । पराक्रमे, पृ० ३ उ० ।

अणुज्जुय-अनृजुक-त्रि० । असरले कथञ्चित् मायया कर्तुम-शक्ते, उत्त० ३४ अ० । वक्रे, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अणुज्झाण-अनुध्यान-न० । चिन्तने, अष्ट० २४ अष्ट० ।

अणुज्झाइत्ता-अनुध्याय-अव्य० । चिन्तयित्वेत्यर्थे, "इमं गरमालाए अणुज्झाइत्ता पडिभज्जिसो" आ० म० द्वि० ।

अणुट्ठाण-अनुष्ठान-न० । आचारे, स्था० ७ ठा० । देवपूजादिके आचरणे, पञ्चा० ३ विव० । आव० । क्रियायाम्, बृहदा-दिके आचरणे, पञ्चा० ३ विव० । अष्ट० । क्रियायाम्, वसुनन्दि-ध्यानं, ११ विव० । क्रियाकलापे, ग० १ अधि० । सामाचार्याम्, ग० २ अ० १ उ० ।

कल्पद्रुमसद्वीज-प्ररोहसदृशं तथा ।
साध्वनुष्ठानमित्युक्तं, सानुबन्धं महर्षिभिः ॥ २४१ ॥

कल्पतरुः कल्पवाञ्छितप्रदायी द्रुमस्य स्वर्गापवर्गादेः तस्य बीजं, तस्य यः प्ररोहोऽङ्कुरोद्भवस्तेन सदृशं यत्

तथा, तथेति वचनान्तरसमुच्चये, एतेषां योगाधिकारिणां, सानु सुन्दरमनुष्ठानं यमनियमादिरूपमित्यनेन प्रकारेणोक्तं, शा- स्त्रेषु सानुबन्धमुत्तरोत्तरानुबन्धवद् महर्षिभिः परममुनिभि- र्मुख्याधिकारिसमारब्धत्वात्तस्य ॥ २४३ ॥

अत एव—

अन्तर्विवेकसंभूतं, शान्तदान्तमविप्लुतम् ।
नाग्रोत्क्षिप्तलताभावं, बहिश्चेष्टाधिमुक्तिकम् ॥ २४४ ॥

अन्तर्विवेकसंभूतम्, अन्तर्विवेकेन तत्त्वसंवेदननाम्ना संभूत प्रवृत्तं, शान्तदान्तं, शान्तदान्तपुरुषारब्धत्वाद्, अत एवाविप्लुतं सर्वथा विप्लवरहितम् । व्यवच्छेद्यमाह—न नैव, अग्रोत्क्षिप्तलताभा- वम्-अग्रादुत्क्षेपात्तादुत्क्षेपो यस्याः, सा चासौ लता च तद्भावम् । मा हि लता अग्रोत्क्षेपत्वेन न लतान्तरमनुबन्धुं क्षमा इदं चानुष्ठान- मनुत्तरोत्तरानुबन्धप्रधान मित्यत उक्तं नाग्रोत्क्षिप्तलताभावमिति । तथा बहिश्चेष्टायां चैत्यवन्दनादिरूपायामधिमुक्तिः इच्छा यत्र तत्तथा ॥ २४४ ॥

इत्थं विषयस्वरूपानुबन्धशुद्धिप्रधानमनुष्ठानत्रयमभिधाय मात्रतो ग्रयस्याप्यवस्थाभेदेन संगतत्वमाविर्विकीर्षुराह—

इष्यते चैतदप्यत्र, विषयोपाधि संगतम् ।
निदर्शितमिदं तावत्, पूर्वमत्र लेशतः ॥ २४५ ॥

इष्यते मन्यते मतिमद्भिः । चः समुच्चये । एतदपि प्राग्नक्तम् दोषाचिन्तायां, विषयोपाधिविषयशुद्धमनुष्ठानं, किंपुनः स्वरू- पशुद्धानुबन्धशुद्धे इत्यपिशब्दार्थः । [illegible]-संगतं युक्त- मेव, निदर्शितं निरूपितमिदं संगतत्वम, तावच्छब्दः क्रमार्थः, पूर्व मत्रैव शास्त्रे लेशतः संक्षेपेण " मुख्यविच्छेदेऽपि या श्रद्धया, [illegible] मता " इत्यादिना ग्रन्थेन । विस्तरतस्तु विशेषम- न्यादवमेयमिति ॥ २४५ ॥

अथ प्रस्तुतमनुष्ठानं यस्य भवति तमभिधित्याह—

अपुनर्बन्धकस्यैवं, सम्यग्नीत्योपपद्यते ।
तत्तत्तन्त्रोक्तमखिल-मवस्थाभेदसंश्रयात् ॥ २४६ ॥

कापिलसौगतादिशास्त्रप्रणीतं मुमुक्षुजनयोग्यमनुष्ठानमखिलं समस्तम् । कुत इत्याह—अवस्थाभेदसंश्रयात् । अपुनर्बन्धक- स्यानेकस्वरूपाङ्गीकरणात् । अनेकस्वरूपाभ्युपगमे हि अपु- नर्बन्धकस्य किमप्यनुष्ठानं कस्यामप्यवस्थायामवतरतीति ॥२४६॥ यो० बि० ।

प्रीतिभक्त्यनुष्ठानादिभेदाः—

सूक्ष्माश्च विरलाश्चैवा-तिचारा वचनोदये ।
स्थूलाश्चैव घनाश्चैव, ततः पूर्वभवी पुनः ॥ ए ॥

(सूक्ष्माश्चेति) सूक्ष्माश्च लघवः, [illegible]। विर- लाश्चैव सन्तानाभावात् । अतिचारा अपराधा वचनोदये भवन्ति ततो वचनोदयात् । पूर्वभवी अतिचाराः पुनः स्थूलाश्च बादराश्च, घनाश्च निरन्तराश्च भवन्ति । तदुक्तम्-" [illegible] सूक्ष्म- अतिचाराः प्रायशोऽतिविरलाश्च । [illegible] स्थु- लाश्च तथा घनाश्च " ॥ ६ ॥ द्वा० २८ द्वा० ।

सदनुष्ठानमतः खलु, बीजन्यासात् प्रशान्तवाहितया ।
संजायते नियोगात्, पुंसां पुण्योदयसहायम् ॥ १ ॥
[illegible]तभक्तिवचना-संगोपपदं चतुर्विधं गीतम् ।
तत्त्वाभिज्ञैः परमं, पदसाधनं सर्वमेवैतत् ॥ २ ॥
यत्रादरोऽस्ति परमः, प्रीतिश्च हितोदया भवति कर्तुः ।
शेषत्यागेन करो-ति यच्च तत् प्रीत्यनुष्ठानम् ॥ ३ ॥
गौरवविशेषयोगाद्, बुद्धिमतो यद्विशुद्धतरयोगम् ।
क्रिययेतरतुल्यमपि, ज्ञेयं तद् भक्त्यनुष्ठानम् ॥ ४ ॥

(सदनुष्ठानमित्यादि) सदनुष्ठानं [illegible] पुण्यानुबन्धिपुण्यनिर्वर्तकत्वात् [illegible] प्रशान्तवाहिता [illegible] संजायते नियोगात् । नियोगेनावश्यंतया, पुंसां मनुष्याणां, पु- ण्योदयसहायं पुण्यानुबन्धमित्यर्थः ॥ १ ॥ [illegible] (प्रीतीत्यादि) तत् सदनुष्ठानं प्रीतिश्च भक्तिश्च वचनं [illegible] [illegible] तत्त्वाभिज्ञैः [illegible] च- तुर्विधं चतुर्भेदं गीतं कथितं, [illegible] ॥ २ ॥ [illegible] विशेषोऽस्ति परमः, प्रीतिश्च [illegible] हितोदया [illegible] यस्याः सा तथा भवति । कर्तुरनुष्ठातुः [illegible] [illegible] प्रीत्यनुष्ठानं विज्ञेयम् ॥ ३ ॥ [illegible] गौरवविशेषयोगात् [illegible] बुद्धिमतः पुंसो यदनुष्ठानं विशुद्धतरयोगं विशुद्धतरव्यापारं, क्रियया बाह्येन, [illegible] अतुल्यमपि, ज्ञेयं तद्भक्त्यनुष्ठानम् ॥ ४ ॥

आह—[illegible]—

अत्यन्तवल्लभा खलु, पत्नी तद्वद्धिता च जननीति ।
तुल्यमपि कृत्यमनयो-र्ज्ञातं स्यात् प्रीतिभक्तिगतम् ॥ ५ ॥

[अत्यन्तेत्यादि] अत्यन्तवल्लभा खलु [illegible] पत्नी [illegible] हिता च [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] भवति [illegible] [illegible] प्रीतिभक्त्योर्विशेष ॥ ५ ॥

[illegible]—

वचनात्मिका प्रवृत्तिः, सर्वत्रौचित्ययोगतो या तु ।
वचनानुष्ठानमिदं, चारित्रवतो नियोगेन ॥ ६ ॥

(वचनेत्यादि) [illegible] [illegible] [illegible] वचनानुष्ठानं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ॥ ६ ॥

[illegible]—

यत्त्वभ्यासातिशयात्, सात्मीभूतमिव चेष्ट्यते सद्भिः ।
तदसङ्गानुष्ठानं, भवति त्वेतत् तदावेधात् ॥ ७ ॥

(यत्त्वित्यादि) [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

वचनासङ्गानुष्ठानयोर्विशेषमाह—

चक्रभ्रमणं दण्डा-त्तदभावे चैव यत् परं भवति ।
वचनासङ्गानुष्ठा-नयोस्तु तद्ज्ञापकं ज्ञेयम् ॥ ८ ॥

(चक्रेत्यादि) चक्रभ्रमणं कुम्भकारचक्रपरावर्त्तनं, दण्डाद् दण्डसंयोगात्, तदभावे चैव दण्डसंयोगाभावे चैव, यत्परमन्यद्भवति, वचनासङ्गानुष्ठानयोस्तु तयोस्तु, ज्ञापकमुदाहरणं ज्ञेयम् । यथा चक्रभ्रमणमेकं दण्डसंयोगाज्जायते प्रयत्नपूर्वकमेवं वचनानुष्ठानमप्यागमसङ्गात् प्रवर्त्तते । तथा ऽन्यच्चक्रभ्रमणं दण्डसंयोगाभावे केवलादेव संस्कारापरिक्षयात् संभवति । एवमागमसंस्कारमात्रेण वस्तुतो वचननिरपेक्षमेव ध्यानादिरूपेण यत्प्रवर्त्तते तदसङ्गानुष्ठानमितीयान् भेद इति भावः ॥ ८ ॥

एषामेव चतुर्णामनुष्ठानानां फलविभागमाह—

अभ्युदयफले चाद्ये, निःश्रेयससाधने तथा चरमे ।
एतदनुष्ठानानां, विज्ञेये इह गतापाये ॥ ९ ॥

अभ्युदयफले चाभ्युदयनिर्वर्त्तके च, आद्ये प्रीतिभक्त्यनुष्ठाने, निःश्रेयससाधने मोक्षसाधने, तथा चरमे वचनासङ्गानुष्ठाने, एतेषामनुष्ठानानां मध्ये, विज्ञेये, इह प्रक्रमे, गतापाये अपायरहिते निरपाये ॥ ९ ॥

एतेष्वेव चतुर्ष्वनुष्ठानेषु पञ्चविधक्षान्तियोजनमाह—

उपकार्यपकारिविपा-कवचनधर्मोत्तरा मता क्षान्तिः ।
आद्यद्वये त्रिभेदा, चरमद्वितये द्विभेदेति ॥ १० ॥

(उपेत्यादि) उपकारी उपकारवान्, अपकारी अपकारप्रवृत्तिः। विपाकः कर्मफलानुभवनमनर्थपरम्परा वा, वचनमागमः, धर्मः प्रशमादिरूपः, तदुत्तरा तत्प्रधाना मता संमता पञ्चविधा, क्षान्तिः क्षमा, आद्यद्वये आद्यानुष्ठानद्वये, त्रिभेदा त्रिप्रकारा । चरमद्वितये चरमानुष्ठानद्वितये, द्विभेदेति द्विविधा, तत्रोपकारिणि क्षान्तिरुपकारिक्षान्तिः,तदुक्तदुर्वचनाद्यपि सहमानस्य, तथा अपकारिणि क्षान्तिरपकारिक्षान्तिः, मर्मदुर्वचनाद्यसहमानस्यायमपकारी भविष्यति इत्यभिप्रायेण क्षमां कुर्वतः । तथा विपाके क्षान्तिः विपाकक्षान्तिः, कर्मफलविपाकं नरकादिगतमनुपश्यतो दुःखभीरुतया मनुष्यजन्मैव वा अनर्थपरम्परामालोचयतो विपाकदर्शनपुरःसरा संभवति । तथा वचनक्षान्तिरागममेवावलम्बनीकृत्य या प्रवर्त्तते न पुनरुपकारित्वापकारित्वविपाकालम्बनमाश्रयतः सा वचनपूर्वकत्वादन्यनिरपेक्षत्वात्तथोच्यते । धर्मोत्तरा तु क्षान्तिश्चन्दनस्येव शरीरस्य छेददाहादिषु सौरभादिस्वधर्मकल्पा परोपकारिणी न क्रियते, सहजत्वेनावस्थिता सा तथोच्यते॥ १० ॥ षो० १० विव० । अष्ट० । देवपूजनादिके, द्वा० १३ द्वा० । कर्मणि, आ० म० द्वि० ।

अणुट्ठिय–अनुष्ठित–त्रि० । अनुक्रान्ते, आचा० १ श्रु० ९ अ० ४ उ० । द्वा० प्र० प्र० । आसेविते, पञ्चा० ६ विव० । "अहवा अवि तहं णो अणुट्ठियं" सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अनुत्थित–त्रि० । द्रव्यतो निषण्णे, भावतो ज्ञानदर्शनचारित्रोद्योगरहिते, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अणुणंत–अनुनयत्–त्रि० । स्वाभिप्रायेण शनैः २ प्रज्ञापयति, "पुरोहियं तं कमसोऽणुणंतं, णिमंतयंतं च सुए धणेणं" उत्त० १४ अ० ।

अणुणाइ(ण्)–अनुनादिन्–त्रि० । अनुनदति । अनु-नद्-णिनि । प्रतिशब्दायमाने, "गज्जिर्याणुणाइणा" ज्ञा० । "गंभीरमहुरसद्देणं अणुणाएणा" अनुनादिना मधुरेण । कल्प० ।

अणुणाइत्त–अनुनादित्व–न० । प्रतिशब्दोपेततायां सत्यवचनातिशये, स० ३५ सम० । रा० ।

अणुणाय–अनुनाद–पुं० । प्रतिध्वनौ, "अणुणायं वा दिश्ये त्रिणयरं वा" आ० म० द्वि० ।

अणुणाय–अनुनाय–पुं० । अनु-नय-घञ् । अनुनये, प्रणतावाचार्ये । संकामादिभ्याण्णः । वाच० ।

अनुनासिक–त्रि० । तद्दूरदेशादौ, वाच० । अनुनासिके चन्द्रस्वरे, स्था० ७ ठा० । नासा विनिर्गतस्वरानुगते स्वरविशेषे, जं० ७ वक्ष० । अनु० । जी० ।

अणुणिज्जमाण–अनुनीयमान–त्रि० । प्रार्थ्यमाने, "इह सं णि अणुणिज्जमाणे गेच्छति" नि० चू० १ उ० ।

अणुण्णय(य)–अनुन्नत–त्रि० । अनुच्छ्रिते मदरहिते, "एव णि भिक्खू अणुण्णए णिगीए" न उन्नतोऽनुन्नतः शरीरेणोच्छ्रितमदरहितमभिमानग्रहग्रस्तः, तथाविधस्य वर्णोनिर्जरामदस्यैर्वविघ्ने । सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । "अणुण्णए नावणए महेसी" अनुन्नतो द्रव्यतो भावतश्च । द्रव्यतो अकामोद्दि भणावह" अनुन्नतो द्रव्यतो भावतश्च । द्रव्यतो अकार्यादौ, भावतो न जात्याद्यभिमानवान् । दश० ५ अ० १ उ० ।

अणुण्णवणा–अनुज्ञापना–स्त्री० । अनुमोदने, "आरभ्य माए अ सो, चउहिंसि होइ उमाहो गुरुणो । अणुण्णायस्स सया, न कप्पई तस्स पविसेउ" इदानीमनुज्ञापना, साऽपि नामादिभेदात् षोढैव । नामस्थापने सुगमे । द्रव्याऽनुज्ञापना त्रिधा-लौकिकी, लोकोत्तरा, कुप्रावचनिकी च । तत्र लौकिकी सचित्ताचित्तमिश्रभेदैस्त्रिधा-अश्वाद्यनुज्ञापना प्रथमा । मुक्ताफलवैडूर्याद्यनुज्ञापना द्वितीया । विविधाभरणविभूषितवनिताद्यनुज्ञापना तृतीया । लोकोत्तराऽपि सचित्तादिभेदात् त्रिधा—शिष्याद्यनुज्ञा प्रथमा । वस्त्राद्यनुज्ञा द्वितीया । परिहितवस्त्रादिशिष्याद्यनुज्ञा तृतीया । एवं कुप्रावचनिक्यपि त्रेधाऽवगन्तव्या । क्षेत्रानुज्ञापना यावतो क्षेत्रस्यानुज्ञापनं विधीयते,यस्मिन्वा क्षेत्रेऽनुज्ञा व्याख्यायते वा । एवं कालानुज्ञाऽपि । भावानुज्ञा आचाराद्यनुज्ञा, एषा वा ग्राह्या । प्रव० २ द्वा० । (अवग्रहविषयाऽनुज्ञापना 'उग्गह' शब्दे द्वि० भा० ६६८ पृष्ठे; वसतिविषया च 'वसह' शब्दे द्रष्टव्या)

अणुण्णवणी–अनुज्ञापनी–स्त्री० । अवग्रहस्यानुज्ञापनीयायां भाषायाम, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

अणुण्णवित्ता–अनुज्ञाप्य–अव्य० । अनुमोद्येत्यर्थे, "जिणव मणुण्णवित्ता, अंजणघणरुयगविमलसंकासा" आ० म० द्वि० ।

अणुण्णविपाणभोयणभोइ(ण्)–अनुज्ञाप्यपानभोजनभोजिन्–पुं० । आचार्यादीननुज्ञाप्य पानभोजनादिविधातरि, अदत्तादानविरतेर्द्वितीयां भावनां प्रतिपन्ने, आचा० २ श्रु० २ अ० ६ उ० । आव० ।

अणुण्णवेमाण–अनुज्ञापयत्–त्रि० । अनुज्ञां ददति, स्वप्रमाद— तत्कालगतसाधर्मिकपरिष्ठापनायामनुज्ञापयतो नातिक्रा— न्ति" स्था० ६ ठा० ।

अणुण्णा–अनुज्ञा–स्त्री० । अनुज्ञानमनुज्ञा । अधिकार—

स्था० १ ठा० १ उ० । अनुमोदने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । इ॥० ।

निक्षेपोऽस्य—

से किं तं अणुष्मा ? । अणुष्मा छव्विहा पष्मत्ता । तं जहा- नामाणुष्मा १, ठवणाणुष्मा २, दव्वाणुष्मा ३, खेत्ताणुष्मा ४, कालाणुष्मा ५, भावाणुष्मा ६ । से किं तं नामाणुष्मा ? । नामाणुष्मा जस्स णं जीवस्स वा अजीवस्स वा जीवाणं वा अजीवाणं वा तदुभयस्स वा तदुभयाणं वा अणुष्म त्ति नामं कीरइ, सेत्तं नामाणुष्मा । से किं तं ठवणाणुष्मा ? । ठवणाणुष्मा जेणं कट्ठकम्मे वा पोत्थकम्मे वा चित्तकम्मे वा गंथिमे वा वेढिमे वा पूरिमे वा संघाइमे वा अक्खए वा वराडए वा एगओ वा अणेगओ वा, सब्भावट्ठवणाए वा असब्भावट्ठवणाए वा अणुण्णत्ति ठवणा ठविज्जइ, सेत्तं ठवणाणुण्णा । नामट्ठवणाणं को पइविसेसो ? । नामं आवकहियं, ठवणा इत्तिरिया वा हुज्जा आवकहिया वा, सेत्तं ठवणाणुण्णा । से किं तं दव्वाणुण्णा ? । दव्वाणुण्णा दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-आगमओ य, नोआगमओ य । से किं तं आगमओ य दव्वाणुण्णा ? । आगमओ दव्वाणुण्णा जस्स णं अणुण्ण त्ति पयं सिक्खियं ठियं जियं मियं परिजियं नामसमं घोससमं अहीणक्खरं अणच्चक्खरं अव्वाइद्धक्खरं अक्खलियं अमिलियं अविच्चामेलियं पडिपुण्णं पडिपुण्णघोसं कंठोट्ठविप्पमुक्कं गुरुवायणोवगयं से णं तत्थ वायणाए पुच्छणाए परियट्टणाए धम्मकहाए नो अणुप्पेहाए कम्हाए अणुवओगो दव्वमिति कट्टु नेगमस्स एगे अणुवउत्ते आगमओ य इक्का दव्वाणुण्णा दुन्नि अणुवउत्ता आगमओ दुन्नि दव्वाणुण्णाओ तिन्नि अणुवउत्ता आगमओ तिन्नि दव्वाणुण्णाओ, एवं जावइया अणुवउत्ताओ तावइयाओ दव्वाणुण्णाओ । एवामेव ववहारस्स वि संगहस्स एगो वा अणेगो वा उवउत्तो वा अणुवउत्तो वा दव्वाणुण्णा वा सा एगा दव्वाणुण्णा उज्जुसुयस्स एगे अणुवउत्ते आगमओ एगा दव्वाणुण्णा पुहत्तं नत्थि इतिण्हं सद्दनयाणं जाणए अणुवउत्ते अवत्थयकम्हा जइ जाणए अणुवउत्ते न भवइ, जइ अणुवउत्ते जाणए ण भवइ, सेत्तं आगमओ दव्वाणुन्ना । से किं तं नोआगमओ दव्वाणुण्णा ? । नोआगमओ दव्वाणुण्णा तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-जाणगसरीरदव्वाणुण्णा, भवियसरीरदव्वाणुण्णा, जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्ता दव्वाणुण्णा । से किं तं जाणगसरीरदव्वाणुण्णा ? । जाणगसरीरदव्वाणुन्ना अणुण्ण त्ति पयत्थाहिगारं जाणगस्स जं सरीरं ववगयचुयचावियचत्तदेहं जीवविप्पजढं सिज्जागयं वा संथारगयं वा निसीहियागयं वा सिद्धसिलागयं वा अहो णं इमेणं सरीरसमुस्सएणं अणुण्ण त्ति पयं आघवियं पन्नवियं परूवियं दंसियं निदंसियं उवदंसियं जहा । को दिट्ठंतो ? । अयं घयकुंभे आसी, अयं महुकुंभे आसी, सेत्तं जाणगसरीरदव्वाणुण्णा । से किं तं भवियसरीरदव्वाणुन्ना ? । जे जीवे जोणीजम्मणनिक्खंते इमेणं चेव सरीरसमुस्सएणं आइत्तेणं जिणदिट्ठेणं भावेणं अणुण्ण त्ति पयं सेयकाले सिक्खिस्सइ, न ताव सिक्खइ जहा । को दिट्ठंतो ? । अयं घयकुंभे भविस्सइ, अयं महुकुंभे भविस्सइ, सेत्तं भवियसरीरदव्वाणुण्णा । से किं तं जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्ता दव्वाणुण्णा ? । जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्ता दव्वाणुण्णा तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-लोइया, कुप्पावणिया य, लोउत्तरिया । से किं तं लोइया दव्वाणुण्णा ? । लोइया दव्वाणुण्णा तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-सचित्ता अचित्ता मीसिया । से किं तं सचित्ता ? । सचित्ता से जहा णामए रायाइ वा जुवरायाइ वा ईसरे वा तलवरे वा माडंबिएइ वा कोडुंबिएइ वा सेट्ठीइ वा इब्भेइ वा सेणावई वा सत्थवाहेइ वा कस्सइ कम्मि कारणे तुट्ठे समाणे आसं वा हत्थिं वा उट्टं वा गोणं वा खरं वा घोडयं वा एलयं वा अयं वा दासं वा दासिं वा अणुजाणिज्जा, सेत्तं सचित्ता । से किं तं अचित्ता ? । से जहा नामए रायाइ वा जुवरायाइ वा ईसरेइ वा तलवरेइ वा कोडुंबिएइ वा माडंबिएइ वा इब्भेइ वा सेट्ठीइ वा सेणावई वा सत्थवाहेइ वा कस्सइ कम्मि कारणे तुट्ठे समाणे आसणं वा सयणं वा छत्तं वा चामरं वा पट्टं वा मउडं वा हिरण्णं वा सुवण्णं वा कंसं वा मणिमुत्तियसंखसिलप्पवालरत्तरयणमाइयं संतसारसावज्जं अणुजाणिज्जा, सेत्तं अचित्ता दव्वाणुण्णा । से किं तं मीसिया दव्वाणुण्णा ? । मीसिया दव्वाणुण्णा से जहा नामए रायाइ वा जुवरायाइ वा ईसरेइ वा तलवरेइ वा माडंबिएइ वा कोडुंबिएइ वा इब्भेइ वा सेट्ठीइ वा सेणावई वा सत्थवाहेइ वा कस्सइ कम्मि कारणे तुट्ठे समाणे हत्थिं वा मुहभंडगमंडियं आसं वा थासगं वा मरमंडियं सकंडियं दासं वा दासिं वा सव्वालंकारविभूसियं अणुजाणिज्जा, सेत्तं मीसिया दव्वाणुण्णा । सेत्तं लोइया दव्वाऽणुण्णा । से किं तं कुप्पावणिया दव्वाणुण्णा ? । कुप्पावणिया दव्वाणुण्णा तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-सचित्ता अचित्ता मीसिया । से किं तं सचित्ता ? । से जहा नामए आयरियाए वा उवज्झाएइ वा कस्सइ कम्मि कारणे तुट्ठे समाणे आसं वा हत्थिं वा उट्टं वा गोणं वा खरं वा घोडं वा अयं वा एलगं वा चलयं वा दासं वा दासिं वा अणुजाणिज्जा, सेत्तं सचित्ता कुप्पावणिया दव्वाणुण्णा । से किं तं अचित्ता ? । अचित्ता से जहा नामए आयरिएइ वा उवज्झाएइ वा कस्सइ कम्मि कारणे तुट्ठे समाणे आसणं वा सयणं वा

: पहाणमेयं, मज्जेमि रायदेवाणं ॥
अणुण्णाकप्पो, जहाविही वणिओ समासेणं । पं०भा०।

तिविहाऽणुण्णा पण्णत्ता । तं जहा-आयरियत्ताए, उवज्झायत्ताए, गणित्ताए । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

भांति सूत्रार्थदानानुमतौ, जी० १ प्रति० । सूत्रार्थयोरन्यप्रत्यनुगमने, स्था०१ ठा०। गुरोर्निवेदिते, सम्यगिदं धारयाऽन्यांश्चाध्यापयेति गुरुवचनविशेषे, अनु०। भ०१०। अनुज्ञाविधिस्तु योगोद्देशकायोत्सर्गवर्जः सर्वोऽप्युद्देशविधिवद्द्रष्टव्यः, नवरं, प्रवेदिते गुरुर्वदति-सम्यग् धारयान्येषां च प्रवेदय, अन्यानपि पाठयेत्यर्थः । आवश्यकादिषु तण्डुलविचारणादिप्रकीर्णकेष्वपि चैव एव विधिः, नवरं, स्वाध्यायप्रस्थापन योगोत्क्षेपकायोत्सर्गौ न क्रियेते । एवं सामायिकाद्यध्ययनेषूद्देशकेषु च चैत्यवन्दनप्रदक्षिणात्रयादिविशेषक्रियारहितसमवन्दनकप्रदानादिकः स एव विधिरिति तावदियं चूर्णिकारलिखिता सामाचारी । सांप्रतं पुनरन्यथाऽपि ताः समुपलभ्यन्ते, न च तथोपलभ्य संमोहः कर्त्तव्यः, विचित्रत्वात्सामाचारीणामिति । अनु० । अन्त० । भा० म० द्वि० । (व्यतिकृष्टदेशकालादौ उद्देशनिषेधः द्वि० भा० ७११ पृष्ठे ' उद्देस ' शब्दे; पञ्चानां ज्ञानानां मध्ये श्रुतस्यैवानुज्ञा प्रवर्तत इति 'श्रणुओग' शब्दे ऽत्रैव भागे ३४३ पृष्ठे समुक्तम्) धनिष्ठाशतभिषक्स्वातीश्रवणपुनर्वसुषु अनुज्ञा कार्या । ग० प० ।

अणुण्णाय-अनुज्ञात-त्रि० । जिनानुमते, स्था० ३ ठा० ४ उ० । दत्ताज्ञे, उत्त० २३ अ० । आ० क० ।

अणुण्णाकप्प-अनुज्ञाकल्प-पुं० । कस्मिन् काले यत्राद्यनुज्ञातमित्येवंविधौ, पं० भा० ।

………………अहुणा वोच्छं अणुण्णकप्पं तु ।
कम्हि काले गहणं, वत्थाईणं अणुणातं ॥
वत्थप्पायग्गहणे, वासावासासु णिग्गमो सरदे ।
णिग्गयाण सत्त तदुगा, उग्गम्मि कप्पोदगं जाणो ॥
वत्थाईणं गहणं, णऽणुण्णातं होति वासासु ।
पाभाईएँ परेणं, दुमास अणंसु गिण्हंति ॥
तेसिं पुण खेत्ताणं, सरदे जदि दोणइगा उपाणंतो ।
दगसंघट्टनहणे, ण निसिद्ध थं चेव मज्झिमगा ॥
सत्ते चउ छक्कोमा, गिम्हम्मि तिण्णि पंच इयरे ॥
वासासु य सत्त भवे, परेण खेत्तं णऽणुण्णातं ।
अप्पोदग त्ति मग्गा, जं तीरियासु वण्णितं पुव्विं ॥
तं अच्छउजोयणे, दगघट्टा जाव सत्त वा ।
वत्थप्पायग्गहणे, ण य संथरणम्मि पढमठाणम्मि ॥
एत्तोऽतिक्कमम्मि तु, सट्ठाणा सेवणा सुद्धी ।
पढमं वाऽणुस्सग्गो, तेणं तु णवम होति खेत्तेसु ॥
वत्थादीणं गहणं, तत्थेव य होति ठ विहारो ।
णवठाणातिक्कमे पुण, हवई सट्ठाणतो विसुद्धो तु ॥
किं पुण ते सट्ठाणं, अववादो अमति ते होति ।
अधवा एणं गहणं, उस्सग्गो चेव होइ सो ताहे ॥
गेण्हंतस्स तु करणे, सुद्धी तह चेव बोधव्वा ।
जह गेण्हंतुवसग्गे, सुद्धीओ वहिस्स एव वितिएणं ।
गेण्हंतस्स विसुद्धी, सट्ठाणे एवमक्खायं ।
अहवा वि इमे अण्णे, णव तु ठाणा वियाहिया ॥
दव्वादीया इणमो, वोच्छामी आणुपुव्वी सो ।
दव्वे खेत्ते काले, वसही भिक्खमंतरे णेयं॥
सेज्झाई गुरुजोगी, एवं ठाणा णिबोहित्ता ।
दव्वाणाहारादी-णि जाति सुलत्ताइँ तम्मि खेत्तम्मि ॥
खेत्तं तिविधएहं खलु, वच्चंत सुणंत गगणस्स ।
वत्तणपरियट्टंतो, सुणेति अत्थं गणो तु बालादी ॥
तस्स पहुचति खेत्तं, आहारादीहिँ संथरणं ।
तत्तियकाले चेलो, वसही जोग्गा तु निक्खुसु लभेंति ।
न निसिट्ठमंतरंती, सज्झाउ सुज्झ जहिँ य दुलभं च ।
आयरिआण जोग्गं, विएणेयं चेव णियमेणं ।
एते ते णव ठाणा, जहिँ उस्सग्गेण गहणं तु ॥
उस्सग्गेण विहारो, संथरमाणेण णवसु खेत्तेसु ।
ते सं वुधदुवहीणं, विपच्छिया वि दगघट्टे य ॥
णवि दूरं गच्छंती, णवमस्स असंभवे वितियठाणं ।
दगघट्ट बहुए वी, पेढे दूरं पि गच्छेज्जा ॥
दुलहम्मि वत्थपादे, छस्स वि एसुं वि णवसु गच्छेज्जा ।
एमेव विहारो वि हु, खेत्ताण सती मुणेयव्वो ॥
आलंबणे विसुद्धे, दुगुणं तिगुणं चउग्गुणं वा वि ।
खेत्तं कालातीयं, समणुण्णातं पकप्पम्मि ॥
एस अणुण्णाकप्पो ॥ पं० भा० ॥

इयाणिं अणुण्णाकप्पो (गाहा)(वत्थे पाए)अणुण्णायम्मि काले वत्थपायाणि घेत्तव्वाणि वासरत्ते गयं तेसु घेत्तव्वाणि, एवकाऽवयाणं नाणुनायाणि निग्गयाणं पुण सरए अत्तेसु खेत्तेसु, जत्थ सीवत्थसंविग्गेसु वासो न कओ तत्थ गेण्हंति, जत्थ वा सीयत्येहिं संविग्गेहिं कओ तेहिं गएहिं पीरे पच्छा गेण्हंति, तेसिं पुण निगच्छमाण जइ अद्धं जोयणस्स अंतो निविद्द पंच सत्त दगसंघट्टा, दगसंघट्टो नाम जाणुहेट्ठा तहवि अणुण्णाये परेण माणुमायं जाति अप्पोदगा मग्गाणिव्याए अणियं जाव सत्तसंघट्टा, एवं अद्धे जोयणे (गाहा)(वत्थे पाए) एवं वत्थपायग्गहणे वा सगसंथारए य पढमठाणं तु अस्सग्गेण गहणं नवसु खेत्तेसु पढमट्ठाणाति उस्सग्गेण सुद्धं होइ नवठाणवरकमे पुण सट्ठाणविसोही भवइ इयाहिमाइ । किंच । ते सट्ठाणं आयाए ताए उस्सग्गो ताहे अववायओ गहणं । काणि पुण ताणि नव ठाणाणि ?-जत्थ (गाहा)(दव्वे खेत्ते) दव्वाणि जइ आहारोवकरणाणि लब्भंति तम्मि खेत्ते उग्गमाइ सुद्धाणि (खेत्त त्ति) खेत्तं तिविहं महाजणपाउग्गं अद्धं च तारिसं नत्थि खेत्तं (काले त्ति) तइयाए पोरिसीए भिक्खवेला (वसहि त्ति) वसहियो अणाहारसंतणिदुवासपाउग्गा नत्थि अणुमगाइ दोसरहिया भिक्खा सुल-

अनुत्तरपराक्रमा एव, तमन्तरेण विवक्षितभगासंभवात्, ततोऽनुत्तरपराक्रमामित्येतदनिरिच्यते । नैष दोषः- अस्य अनादिसिद्धैश्वर्यादिसमन्वितपरमपुरुषप्रतिपादनपरनयपादनिषेधपरत्वात् । तथाहि- कैश्चिदनुत्तरपराक्रमत्वमन्तरेणैव हिरण्यगर्भादीनामनादिविवक्षितभगयोगोऽभ्युपगम्यते । उक्तं च-"ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जगत्पतेः । ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च, सहसिद्धं चतुष्टयम्" ॥ १ ॥ इत्यादि । अ० म० प्र० ।

अणुत्तरपुण्णसंभार-अनुत्तरपुण्यसंभार-पुं० । अनुत्तरः सर्वोत्तमहेतुत्वात् तत्कार्यात्पुण्यसंभारः तीर्थकरनामकर्मलक्षणो येषां ते तथा । तीर्थकृत्सु, पं० सू० ४ सूत्र ।

अणुत्तरविमाण-अनुत्तरविमान-न० । नैतान्यन्यान्युत्तराणि विमानानि सन्तीत्यनुत्तरविमानानि । चतुर्दशदेवलोकवास्तव्यानुत्तरोपपातिकदेवविमानेषु, अनु० । (अत्र वक्तव्यं 'विमान' शब्दे वक्ष्यते) "कइ णं भंते ! अणुत्तरविमाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! पंच अणुत्तरविमाणा पण्णत्ता । ते णं भंते ! किं संखेज्जवित्थडा असंखेज्जवित्थडा य ? । गोयमा ! संखेज्जवित्थडा य असंखेज्जवित्थडा य" । भ० १३ श० २ उ० । "कइ णं भंते ! अणुत्तरविमाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! पंच अणुत्तरविमाणा पण्णत्ता । तं जहा- विजए, वेजयंते, जयंते, अपराजिए, सव्वट्ठसिद्धे य" । भ० ६ श० ६ उ० ।

अणुत्तरोववाइय-अनुत्तरोपपातिक-पुं० । अनुत्तरेषु सर्वोत्तमेषु विमानविशेषेषु उपपातो जन्मानुत्तरोपपातः; स विद्यते येषां तेऽनुत्तरोपपातिकाः । अ० । उत्तरः प्रधानः । नास्योत्तरो विद्यते इत्यनुत्तरः । उपपतनमुपपातो जन्मेत्यर्थः, अनुत्तरश्चासावुपपातश्चेत्यनुत्तरोपपातः; सोऽस्ति येषां तेऽनुत्तरोपपातिकाः । सर्वार्थसिद्धादिविमानपञ्चकोपपातिषु, । स्था० १० ठा० । विजयाद्यनुत्तरविमानवासिनि, स० १ सम० ।

अनुत्तरोपपातिकानामनुत्तरोपपातिकत्वम्-

अत्थि णं भंते ! अणुत्तरोववाइया देवा । हंता ! अत्थि । से केणट्ठे णं भंते ! एवं वुच्चइ अणुत्तरोववाइया देवा ? । गोयमा ! अणुत्तरोववाइयाणं अणुत्तरा सद्दा अणुत्तरा जाव अणुत्तरा फासा, से तेणट्ठे णं गोयमा ! एवं वुच्चइ जाव अणुत्तरोववाइया देवा ॥

(अत्थि णमित्यादि) (अणुत्तरोववाइय त्ति) अनुत्तरः सर्वप्रधानोऽनुत्तरशब्दादिविषययोगादुपपातो जन्मानुत्तरोपपातः; सोऽस्ति येषां ते अनुत्तरोपपातिकाः । भ० १४ श० ७ उ० ।

भेदा अनुत्तरोपपातिकस्य-

से किं तं अणुत्तरोववाइया ? । अणुत्तरोववाइया पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा- विजया, वेजयंता, जयंता, अपराजिया, सव्वट्ठसिद्धा । ते समासओ दुविहा पण्णत्ता । तं जहा- पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य । प्रज्ञा० १ पद ।

(व्याख्या त्वस्य स्वस्थान एव द्रष्टव्या)

तदवगाहनम्-

अणुत्तरोववाइयाणं देवाणं एगा रयणी उड्ढं उच्चत्तेणं ।

(... त्ति) इदं यावत्, कोशं कौटिल्येन नदी इतिवत् । (उड्ढं उच्चत्तेणं त्ति) वस्तुनो ह्यनेकोऽप्यूर्ध्व-

...स्थितस्यैकत्, अपरं तिर्यक्स्थितस्य, अन्यद्गुणोपातिरूपम् । स्था० १ ठा० । विजयादिविमानेषूपपातिमत्सु साधुषु, स्था० ...

अणुत्तरोववाइया णं भंते ! देवा केवइएणं कम्मावसेसेणं अणुत्तरोववाइयदेवत्ताए उववण्णा ? । गोयमा ! जावइयं छट्ठभत्तिए समणे णिग्गंथे कम्मं णिज्जरेइ, एवइएणं कम्मावसेसेणं अणुत्तरोववाइयदेवत्ताए उववण्णा ॥

(जावइय छट्ठभत्तिए इत्यादि) किल षष्ठभक्तिकः सुसाधुर्यावत्कर्म क्षपयति, एतावता कर्मावशेषेणानिर्जीर्णेनाऽनुत्तरोपपातिका देवा उत्पन्ना इति । भ० १४ श० ७ उ० ।

अणुत्तरोववाइयदसा-अनुत्तरोपपातिकदशा-स्त्री० । ब० व० । अनुत्तरोपपातिकवक्तव्यताप्रतिबद्धा दशा दशाऽध्ययनोपलक्षिता दशाध्ययनप्रतिबद्धप्रथमवर्गयोगाद्दशा ग्रन्थविशेषोऽनुत्तरोपपातिकदशा । स्था० १० ठा० । अनु० । नवमेऽङ्गे, नं० पा० । स० ।

से किं तं अणुत्तरोववाइयदसाओ ? । अणुत्तरोववाइयदसासु णं अणुत्तरोववाइयाणं नगराइं उज्जाणाइं चेइयाइं वणखंडाइं रायाणो अम्मापियरो समोसरणाइं धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोगपरलोइया इड्ढिविसेसा भोगपरिच्चाया पव्वज्जाओ सुयपरिग्गहा तवोवहाणाइं परियागो पडिमाओ संलेहणाओ भत्तपाणपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं अणुत्तरोववाओ सुकुलपच्चायाई पुण बोहिलाहो अंतकिरियाओ आघविज्जंति अणुत्तरोववाइयदसासु णं तित्थकरसमोसरणाइं परममंगल्लजगहियाइं जिणातिसेसा य बहुविसेसा जिणसीसाणं चेव समणगणपवरगंधहत्थीणं थिरजसाणं परिसहसेण्णरिउबलपमद्दणाणं तवदित्तचरित्तणाणसम्मत्तसारविविहप्पगारपसत्थगुणसंजुयाणं अणगारमहरिसीणं अणगारगुणाण वण्णओ उत्तमवरतववििसिट्ठणाणजोगजुत्ताणं जह य जगहियं भगवओ जारिसा इड्ढिविसेसा देवासुरमाणुसाणं परिसाणं पाउब्भावो य जिणसमीवं जह य उवासंति जिणवरं, जह य परिकहंति धम्मं, लोगगुरू अमरनरसुरगणाणं सोऊण य तस्स भासियं अवसेसकम्मविसयविरत्ता नरा जहा अब्भुवेंति, धम्ममुरालं संजमं तवं वा वि बहुविहप्पगारं जह बहूणि वासाणि अणुचरित्ता आराहियनाणदंसणचारित्तजोगा जिणवयणमणुगयमहियसुभासियत्ता जिणवराण हियएण मणुण्णेत्ता जे य जहिं जत्तियाणि भत्ताणि छेयइत्ता लद्धूण य समाहिमुत्तमज्झाणजोगजुत्ता उववण्णा मुणिवरोत्तमा, जह अणुत्तरेसु पावंति जह अणुत्तरं तत्थ विसयसोक्खं तओ य चुआ कमेण काहिंति संजया जहा य अंतकिरियं एए अन्ने य एवमाइअत्था वित्थरेण ॥

अनुत्तरोपपातिकदशासु तीर्थकरसमवसरणानि । किंभूतानि ? परममाङ्गल्यजगद्धितानि, जिनातिशयाश्च बहुविशेषाश्च "देहं विमलसुगंधं" इत्यादयश्चतुस्त्रिंशदधिकतरा वा, तथा जिनशि-

ष्याणां चैव गणधरादीनाम् । किंभूतानामत आह-श्रमणगणप्रव-रगन्धहस्तिनां, श्रमणोत्तमानामित्यर्थः । तथा स्थिरयशसां, तथा परीषहसैन्यमेव परीषहवृन्दमेव, रिपुबलं परचक्रं, तत्प्रमर्दनानां, तथा दवदग्धानामिव, दीप्तान्युज्ज्वलानि, पाठान्तरेण 'तपोदीप्तानि' यानि चारित्रज्ञानसम्यक्त्वानि, तैः साराः सफलाः, विविधप्रकारविस्तारा अनेकविधप्रपञ्चाः । प्रशस्ताश्च ये क्षमादयो गुणास्तैः संयुतानाम् । क्वचिद् 'गुणध्वजानामिति' पाठः । तथा अनगाराश्च ते महर्षयश्चेत्यनगारमहर्षयः, तेषामनगारगुणानां वर्णकः श्लाघा, आख्यायत इति योगः । पुनः किंभूतानां जिनशिष्याणाम् ?, उत्तमाश्च ते जात्यादिभिर्वरतपसश्च ते च ते विशिष्टज्ञानयोगयुक्ताश्च्चेत्यनस्तेषामुत्तमवरतपोविशिष्टज्ञानयोगयुक्तानाम् । किञ्च । अपरे यथा च जगद्धितं भगवत इत्यत्र जिनस्य शासनमिति गम्यते । यादृशाश्च ऋद्धिविशेषा देवासुरमानुषाणां, [illegible] विमानरचनं सामानिकाद्यनेकदेवदेवी-[illegible] मणिरत्नमणिकनकरूपचलत्पताकिकाशा-[illegible], [illegible] गगनाभोगपूर्णं, [illegible] धारोहणं [illegible] महाध्वजादिमहाराजचिह्नप्रकाशनं, [illegible] समवसरणगमनप्रवृ-त्ती, [illegible] राजादि-मनुष्याणां च । यथा अनुत्तरोपपातिकसाधूनाम्, ऋद्धिविशेषा [illegible] 'आख्यायन्ते' इति क्रियायोगः । तथा यथेह [illegible] पविमिश्रो [illegible] आगमनानि, [illegible] (जिणसमीव ति) जिनसमीपे, यथा च येन प्रकारेण पञ्च-[illegible] (उपासन्ती ति) उपासते सेवन्ते राजादय, जिनवरं तथा 'कथ्यते' इति योगः । यथा च परिकथय-ति धर्म, लोकगुरुरिति जिनवरः, [illegible] 'अरहे' [illegible], [illegible] कर्माणि [illegible] । [illegible] यथा [illegible] धर्ममुदारम् । [illegible] यह [illegible] (बहुयाणि ति) बहुनि [illegible] (अणुत्तराइं ति) अनुत्तरं [illegible] । तत्र [illegible] ज्ञानदर्शनचा-[illegible] (जिणवरसमग्गधम्मदिसमासिय ति) जिनव-[illegible] [illegible] । [illegible] जिनवरा [illegible] इत्यर्थः । यदा [illegible] जिनवचनानुगा-[illegible] ([illegible]) इति [illegible] । [illegible] जिनवराद् [illegible] मनसा अनुकीर्ण [illegible] [illegible] मुनिवरोत्तमाः [illegible] 'कथ्यते' इति [illegible] । तथा [illegible] [illegible] विविधम्, तथा [illegible] [illegible] ।

[illegible] ॥ [illegible]

या धम्मकहाओ इहलोइयपरलोइया इड्डिविसेसा भोग-परिच्चाया पव्वज्जाओ परियागा सुयपरिग्गहा तवोवहाणाइं पडिमाओ उवसग्गा संलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं अणुत्तरोववाइ त्ति उववत्ती सुकुलपच्चायाई पुण बोहिलाभो अंतकिरियाओ य आघविज्जंति अणुत्तरोववाइयदसाणं परित्ता वायणा संखिज्जा अणुओगदारा संखिज्जा वेढा संखिज्जा सिलोगा संखिज्जाओ निज्जुत्तीओ संखिज्जाओ संगहणीओ संखिज्जाओ पडिवत्तीओ से णं अंगट्ठयाए नवमे अंगे एगे सुयक्खंधे तिन्नि वग्गा तिन्नि उद्देसणकाला तिन्नि समुद्देसणकाला संखिज्जाइं पयसहस्साइं पयग्गेणं संखिज्जा अक्खरा अणंताऽऽगमा अणंता पज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाइया जिणपण्णत्ता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति, से एवं आया एवं नाया एवं विन्नाया एवं चरणकरणपरूवणा आघविज्जइ, सेत्तं अणुत्तरोववाइयदसाओ ॥

(अणुत्तरोववाइयदसासु णमित्यादि) पाठसिद्धं यावत् [illegible], नवरम्, अध्ययनसमूहो वर्गः । वर्गे वर्गे च दश दशाध्ययनानि, वर्गश्च युगपदेवोद्दिश्यते इति । अत एव उद्देशनकाला, [illegible] समुद्देशनकालाः, संख्येयानि च पदसहस्राणि, [illegible] पदचत्वारिंशच्छतप्रमाणानि वेदितव्यानि ॥ नं० ।

अणुदत्त-अनुदात्त-पुं० । न उदात्तः, विरोधे नञ् । 'नीचैरनुदात्तः' पा० ॥ १।२।३० ॥ इति लक्षिते ताल्वादिषु स्थानेषु अधोभागे निष्पन्ने स्वरभेदे, यथा सां०चे०सा० 'उ० निपद्' इत्यादि करेइ' इत्यादि । सू० १ श्रु० ।

अणुदय-अनुदय-पुं० । वेलाप्राक्काले, स्था० ७ ठा० ।

अणुदयबंधुक्किट्ठा-अनुदयबन्धोत्कृष्टा-स्त्री० । यासां स्थितीनामुदयाभावे बन्धादुत्कृष्टस्थितिलाभः कर्मप्रकृतीनां [illegible] । [illegible] पृ, पं० सं० ३ द्वा० । तास्तु 'नरयतिरि उरलदुगं' [illegible] गाथया 'कम्म' शब्दे तृ० भा० २७६ पृष्ठे दर्शिताः)

अणुदयवई-अनुदयवती-स्त्री० । " चरिमसमयम्मि दलियं जासिं अन्नत्थ संकमे ताओ । अणुदयवई " यासां प्रकृतीनां दलिकं चरमसमयेऽन्यत्र, [illegible] प्रकृतिषु, [illegible] [illegible] संक्रमयेत्, संक्रमय्य [illegible] [illegible] अनुदयवती [illegible] । [illegible] कर्मप्रकृतिषु, पं० सं० ३ द्वा० ।

अणुदयसंकमुक्किट्ठा-अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा-स्त्री० । [illegible] [illegible] कर्मप्रकृतिषु, [illegible] द्वा० । ('कम्म' शब्दे तृ० भा० ३३० पृष्ठे [illegible]) [illegible]

अणुदंसि-अनुदर्शिन्-पुं० । [illegible], [illegible] ।

अणुदहि-[illegible] । [illegible] ।

अणुद्दरमाण-अनुद्दरत्-त्रि० । [illegible] [illegible] १० उ० ।

अणुदिएण-अनुदीर्ण-न०। भ० श० । अनागतकाले उदीरणारहिते चिरेण भविष्यदुदीरणेऽभविष्यदुदीरणे वा कर्मणि, भ० १ श० ३ उ० ।

अणुदिसा-अनुदिक्-स्त्री० । आग्नेयादिकायां विदिशि, कल्प० । आचा० । "पाइणपडिणियं वा वि, उड्ढं अणुदिसामवि " दश० ६ अ० । आचार्योपाध्यायपदद्वितीयस्थानवर्तिन्ये, व्य० २ उ० । ('उद्देस' शब्दे द्वि० भा० ८०८ पृष्ठे तदुद्देशो वक्ष्यते)

अणुदिट्ठ-अनुदिष्ट-त्रि० । यावन्तिकादिदोषवर्जिते, प्रश्न० १ संव० द्वा० ।

अणुद्धरिकुंथु-अनुद्धरिकुन्थु-पुं०-स्त्री० । अनुद्धरिनामके कुन्थुजीवे, बृ० १ उ० । स्था० । स हि चलन्नेव विभाव्यते न स्थितः, सूक्ष्मत्वादिति । स्था० ७ ठा० । "जं रयणि च णं समणे भगवं महावीरे जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तं रयणि च णं कुंथुअणुद्धरीनामं समुप्पन्ना, जा ठिया अचलमाणा छिउमत्थाणं निग्गंथाण य निग्गंथीण य नो चक्खुफासं हव्वमागच्छइ, जा ठिया चलमाणा छउमत्थाणं निग्गंथाण य निग्गंथीण य चक्खुफासं हव्वमागच्छइ" । कल्प० । ('वीर' शब्दे व्याख्यास्यते चैतत्)

अणुद्धूय-अनुद्धूत-त्रि० । अनुरूपेण वादनार्थमुत्क्षिप्तोऽनुद्धूतः । वादनार्थमेव वादकैरत्यक्ते मृदङ्गादौ, ज्ञा० १ अ० । विपा० । जं० । " अणुद्धुअमुइंगा " अनुद्धूताऽनुरूपेण वादनार्थमुत्क्षिप्ता, अनुद्धूता वादनार्थमेव वादकैरत्यक्ता, मृदङ्गा मर्दला यस्यां सा तथा । ज्ञा० १ अ० । विपा० । भ० । कल्प० । यत्र आनुरूप्येण यथामार्दङ्गिकविधिरुद्धूता वादनार्थमुत्क्षिप्ता मृदङ्गा मर्दलाः सन्ति । जं० ३ वक्ष० ।

अणुधम्म-अणुधर्म-पुं० । बृहत्साधुधर्मापेक्षयाऽणुरल्पो धर्मोऽणुधर्मः । देशविरतौ, विशे० । आ० म० द्वि० ।

अनुधर्म-पुं० । अनुगतो मोक्षं प्रत्यनुकूलो धर्मोऽनुधर्मः अहिंसालक्षणे, परीषहोपसर्गसहनलक्षणे वा धर्मे, "एसो ऽणुधम्मो मुणिणा पवेदिओ " सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । अनु पश्चाद् धर्मोऽनुधर्मः । तीर्थकरानुष्ठानादनन्तरं चर्यमाणे धर्मे, "एसो ऽणुधम्मो इह संजयाणं " सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । नि० चू० । (स यथा पूर्वैराचीर्णं तथाऽनुचरणीयमिति ' अणाइण्ण ' शब्देऽत्रैव भागे ३०४ पृष्ठे उक्तम्)

अणुधम्मचारि (ण्)-अनुधर्मचारिन्-पुं० । तीर्थकरप्रणीतधर्मानुष्ठायिनि, "जंसी विरता समुट्ठिया, कासवस्स अणुधम्मचारिणो" काश्यपस्य ऋषभस्वामिनो वर्द्धमानस्वामिनो वा सम्बन्धी यो धर्मः, तदनुचारिणस्तीर्थकरप्रणीतधर्मानुष्ठायिन इत्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अणुपंथ-अनुपथ-पुं० । मार्गानुसरणे, बृ० २ उ० ।

अणुपत्त-अनुप्राप्त-त्रि० । पश्चात्प्राप्ते, उत्त० ३ अ० ।

अणुपयाहिणीकरेमाण-अनुप्रदक्षिणीकुर्वाण-त्रि० । आनुपूर्व्येण प्रदक्षिणीकुर्वाणे, रा० ।

अणुपरियट्टण-अनुपरिवर्त्तन-न० । पौनःपुन्येन भ्रमणे, भ० १ श० ९ उ० । पार्श्वतो भ्रमणे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । घटीयन्त्रन्यायेन भ्रमणे, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । नं० । " दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टइ त्ति " । दुःखानां शारीरमानसानामावर्त्तः पौनःपुन्यभवनमनुपरिवर्त्तते, दुःखावर्त्तायमग्नो बम्भ्रमीते । आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अनुपर्यटन-न० । भूयोभूयस्तत्रैवागमने, "संसारपारकंखी संसारं अणुपट्टंति" । संसारमेव चतुर्गतिकसंसरणरूपम, अनुपर्यटन्ति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

देवे णं भंते ! महिड्डिए जाव महेसक्खे पभू ! लवणसमुद्दं अणुपरियट्टित्ताणं हव्वमागच्छित्तए ? । हंता । पभू ! देवे णं भंते ! महिड्डिए एवं धायइ संडदीवं जाव हंता पभू ! एवं जाव रुयगवरं दीवं जाव हंता पभू ! तेण परं वीईवएज्जा, णो चेव णं अणुपरियट्टिज्जा ॥

(वीईवएज्ज त्ति) एकया दिशा व्यतिक्रामेत (नो चेव णं अणुपरियट्टिज्ज त्ति) नैव सर्वतः परिभ्रमेत्, तथाविधप्रयोजनाभावादिति संभाव्यते । भ० १८ श० ७ उ० ।

अणुपरियट्टमाण-अनुपरिवर्त्तमान-त्रि० । एकेन्द्रियादिषु पर्यटति, जन्मजरामरणानि वा बहुशोऽनुभवति । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । अरघट्टघटीन्यायेन वर्त्तमाने, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । जी० ।

अणुपरियट्टित्ता-अनुपरिवर्त्य-अव्य० । सामस्त्येन परिभ्रम्येति प्रादक्षिण्येन परिभ्रम्येति वार्थे, जी० ३ प्रति० ।

अणु (नु) पारिहारि (ण्)-अ (णु) नुपारिहारिन्-पुं० । पारिहारिणः अणु स्तोकं प्रतिलेखनादिषु आदाय वर्त्तते इत्यनुपरिहारी । यत्र यत्र भिक्षादिनिमित्तं परिहारी गच्छति तत्र तत्र अनु पश्चात् पृष्ठतो लग्नः सन् गच्छतीत्यनुपरिहारी । व्य० १ उ० । पारिहारिकाणामनुचरे, विशे० । (यथा च अनुपारिहारिकाणां पारिहारिकसेवा कर्त्तव्या तथा ' परिहार ' शब्दे वक्ष्यते) निर्दिष्टे, आसेवितनिर्विष्टकायिके च । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

अणुपविसंत-अनुप्रविशत्-त्रि० । अनु पश्चाद्यार्थे आगारिषु निवृत्तेषु पश्चात्पाककरणकालतो वा पश्चात् भिक्षार्थं प्रवेशं कुर्वति, नि० चू० २ उ० ।

अणुपविसित्ता-अनु(णु)प्रविश्य-अव्य० । अनुकूलं स्तोकं वा प्रविश्येत्यर्थे, नि० चू० ७ उ० ।

अणुपवेस-अनु(णु)प्रवेश-पुं० । अनुकूले स्तोके वा प्रवेशे, नि० चू० ७ उ० ।

अणुपस्सि (ण्)-अनुदर्शिन्-पुं० । अनु द्रष्टुं शीलमस्येत्यनुदर्शी । पर्यालोचके, " यथाऽणुपस्सी निक्खोगपासा " एतदनुदर्शी भवति, अतीतानागतसुखाभिलाषी न भवतीति यावत् । आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

अणुपस्सिय-अनुदृश्य-अव्य० । पर्यालोच्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अणुपाण-अणुप्राण-त्रि० । अणवः सूक्ष्माः प्राणाः प्राणिनो येषु ते अणुप्राणाः । सूक्ष्मजन्तुयुक्ते, "अयं विरुप्पहिउ ऽणपत्रं, अणुपाणा पंथा दुरुत्तरा " सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अणुपा (वा) यकिरिया-अनुपातक्रिया-स्त्री० । प्रमत्तसंयतानामापन्नपानं प्रत्येकं गुणसंपातिमसत्त्वानां विनाशात्मके क्रियाभेदे, आ० चू० ४ अ० ।

अणुपा (वा) यए-अनुपातन-न० । अनु-पत-णिच्-ल्युट् । अवतारणे, ध० २ अधि० ।

अणुपालेंत-अनुपालयत्-त्रि० । अनुभवति, " साया सोक्खमणुपालेंतेणं " सातं सुखमनुपालयताऽनुभवता । सुखासक्तमनसेत्यर्थः । पा० । प्रतिपालयति, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

अणुपा (वा) लण-अनुपालन-न० । शिष्यगणरक्षणे, तथाकुर्वतो दोषः । ध० ३ अधि० । अननुपालने तु शासनभत्यनीकत्यादिदोषा एव । यतः पञ्चवस्तुप्रकरणे-" इयं पमायखलिया, पुव्वन्भासेण कस्स व ण होति । जो तेण ठवेइ सम्मं, गुरुत्तणं तस्स सफलं ति ॥ १ ॥ को णाम सारहीणं, सहोज्ज जो भद्दवाइणो दमए । दुट्ठे वि य जे आसे, दमेइ तं आसियं विंति ॥ २ ॥ जो सायंग पदयं, पुव्वा वेऊण नाणुपालेइ । सेहे सुत्तविहीए, [illegible] ॥ ३ ॥ अवि को वि अपरमत्या, चिरदोसिह [illegible] वा । जं पाविति अणत्थं, सो खलु तप्पभवो सव्वो " त्ति [illegible] ध० ३ अधि० ।

अणुपा (वा) लणाकप्प-अनुपालनाकल्प-पुं० । आचार्ये कालगते [illegible] गणपालनाविधौ, पं० भा० ।

स चैवम्-

[illegible] अहुणा अणुपालणाकप्पं ।
[illegible], [illegible] समासेणं ॥
[illegible] [illegible] आइ व कालगते ।
[illegible], [illegible] ॥
[illegible], [illegible] कोवि सीसो उ ।
[illegible], [illegible] ॥
[illegible], [illegible] उ ।
[illegible], [illegible] ॥
[illegible], [illegible] सीसो तु ।
[illegible], [illegible] होंति [illegible] ॥
[illegible], [illegible] ।
[illegible], [illegible] ॥
[illegible], [illegible] ।
[illegible], [illegible] नत्थि ॥
[illegible], [illegible] ।
[illegible], [illegible] ॥
[illegible], [illegible] ।
[illegible], [illegible] ॥
[illegible], [illegible] ।
[illegible], [illegible] होंति [illegible] ॥
[illegible], [illegible] ।
[illegible], [illegible] ॥
[illegible], [illegible] ।
[illegible], [illegible] होंति [illegible] ॥
[illegible], [illegible] ।

पुव्वुद्दिट्ठं गच्छे, पच्छुद्दिट्ठं पवाइयंतस्स ॥
संवच्छरम्मि पढमे, सिरिसमणिए जं तु सच्चित्तं ।
संवच्छरम्मि बितिए, तं सव्वपवाइयंतस्स ॥
पुव्वं पच्छुद्दिट्ठे, पाडिच्छियाए उ जं तु सचित्तं ।
संवच्छरम्मि पढमे, तं सव्वपवाइयंतस्स ॥
सेज्जुवसंपापरिओ, सुहदुक्खी चेव जति तु सोउविओ ।
कुलगणसंघियो वा, तस्स वि सइ होंति उ सिसे ॥
संवच्छराणि तिण्णि उ, सीसम्मि पडिच्छियम्मि [illegible]
एक्कुलगणसंघे, संवच्छर संघ उम्मासो ॥
तत्थेव य णिम्माए, अणिग्गए णिग्गए इमा मेरा ।
सकुले तिण्हि तियाई, गणे दुगं वच्छरं संघे ॥
ओमादिकारणेहिं, दुम्मेहत्तेण वा ण णिम्मातो ।
काऊण कुलसमायं, कुलथेरे वा उवट्ठेति ॥
एव हायणाई ताहे, कुलं तु भिक्खावए परतेणं ।
ण य किंचि तेसिं गेण्हति, गणो दुगं एगसंघे तु ॥
एवं तु दुवालससहिं, समाहिं जदि तत्थ कोवि णिम्मा
तो णिति अणिम्माए, पुण वि कुलादी उवट्ठाए ॥
तेणेव कमेणं तु, पुणो समाओ हवंति बारस तु ।
णिम्माए विहरंतो, इहरकुलादी पुणरावी ॥
तह वि य बारसमाओ, सीसस्स वि गणधरो हवइ ।
तेण परमणिम्माए, इमा विही होइ तेसिं तु ॥
छत्तीसातिक्कंते, पंचविहुक्क संगह पत्तो ।
पच्छा पत्तं मुवसं-पदं पवज्जए एगतरयम्मि ॥
पव्वज्जाएगु तेण य, चउभंगो होति एगतरमम्मि ।
पुव्वाहित वीसरिए, पढमा णाति [illegible] ॥
गच्छस्स [illegible] कायव्वं, [illegible] व [illegible] ॥
काइमसाववयणे, गावेसणाए काहिंति ॥
एसऽणुपालणकप्पो । पं० भा० ।

आयरिया कालगए, आयरिए [illegible] वा, [illegible] विवत्तमि वा, कालगए वा, [illegible] [illegible]

भो आयरिया कालगया सो तं गच्छं न मुयइ, एत्था भयंतं वसे इ, तत्थ जे ताव आयरियस्स पडिच्छया तेसिं तद्दिवसमेव ने- एइ, सचित्ताइ जे आयरियसीसा ते न सउझायंति तस्स सका- वे तेण चोइयव्वा तेसु अणहिज्जंते सुयं तत्थ लभइ सचित्ता- तं सामण्णं पढमवरिसे, बिइय खेत्तोवसंपयाओ जं लब्भइ ते न लभंति । खेत्तोवसंपयाए नाइयवं दुविह मेत्तए स य मति । तइए वरिसे जं सुहदुक्खोवसंपन्नओ लभइ तं तेसिं मं सुहदुक्खियस्स लाभो पुव्वसंथवो पच्छा संथवो य च- ०थं वरिसे सव्वं गेण्हइ । एवं अणहिज्जंते पुण इमे पकारस वि- भागा-तस्मायरियस्स सीसा सीसियाओ पडिच्छियाओ जं जीवं तेणायरियत्तणस्स उद्दिट्ठं अज्झायं तस्स पढमवरिसे स- चित्तमचित्तं वा लभइ, तं सव्वं गुरुणो कालगयस्स वि पगो विभागो अह इमेण उद्दिट्ठं पढमवरिसे, तो पवाइयंतस्स जं स- चित्ताइ विनिओ विभाओ विइए वरिसे पुव्वं उद्दिट्ठं, पच्छोच- दिट्ठं वा, सव्वं पवाइयंतस्स तइओ विभाओ, एवं पडिच्छए एण उद्दिट्ठं तं सव्वं गुरुणो विभाओ, विइए वरिसे आयरिएण उद्दिट्ठं पढंतस्स सचित्तचित्तं लब्भइ । तं सव्वं गुरुणो वि- भाओ पंचमो इमेण उद्दिट्ठं पवाइयंतस्स छट्ठो विभाओ, तइए वरिसे आयरिएण वा उद्दिट्ठं इमेण वा सव्वं पवाइयंतो गेण्हइ वा पयंतो एइविभागो सत्तमो, सीसणीयाए जहा पडि- च्छयस्स निविह गमा एए दस गमा, पडिच्छयाए । आयरिएण वा उद्दिट्ठं इमेण वा पढमवरिसे चेव गेण्हइ वाययंतो, एए ए- कारस विभागा । एवं तम्हाहे भणियं । पं० चू० ।

संयतिपालनं विस्तरम्—

……………………वोच्छं अणुवालणाए कप्पं तु ।

अणुपालंति सुविहिगा, गच्छं विहिणा उ जेणं तु ॥

परिकड्ढी परिकड्ढं, तओ य दुविहो पुणो वि एक्केक्को ॥

उवसग्गखेत्तकाल—ब्बसेण अज्जाण परिवट्टी ॥

परियट्टियव्वयं खलु, परियट्टी चेव होति एगट्ठं ।

समणा समणीओ वा, दुविहं परियट्टिव्वं तु ॥

समणपरियट्ट दुविहो, आयरिओ वीयओ उवज्झाओ ।

संजतिपरियट्टो पुण, तिविहो तु पवत्तणी तइया ॥

समणिपरियट्टि दुविहा, विहिपरियट्टी य आविहिते चेव ।

…निणि परियट्टियव्वा, नियमेण य कारणा णियमेणा ॥

…ओ बहूवसग्गा, तेणादिदुसंचराणि खेत्ताणि ।

…लत्तेण य संजति, भायाति लोगस्स जं तत्तं ॥

…हा सव्वपयत्ते—ण रक्खियव्वा उ ताउ णियमेणं ॥

…वि सत्ती संतव्वा, मा होज्ज तासि तु विणासो य ।

…गनिपरिणतो, तासिं परियट्टओ अणुमातो ॥

…पुण अणरिहो खलु, परिकड्ढी तू इमो तासिं ।

…स्सुए अगीय—त्थे तरुणे य मंदधम्मिए ॥

…सीलणट्ठा, अविही दोसे य गहणे य ॥

…गीतमहएणो, आवासगमादि जाव आयारो ।

…य बहुस्सुय—निन्हुसमाणा रतो तरुणे ॥

जो उज्जोगं न कुणति, चरणे सो होति मंदधम्मो

अणिहुयउल्लावादी , सरीरकिरिआ य कंदप्पी ॥

णिक्कारणे अणद्धा, मंजारे वसही तु वच्चए जो तु

णिक्कारणमाविद्दीए, जो देती गिण्हती वा वि ॥

एयारिसे तु अज्जा–ण परिकड्ढी तु ण कप्पत्ति ।

कारणेहि इमेहि तु, गम्मत ऽन्नाणवस्सयं ॥

उवस्सए य गेलण्णे , उवही संघपाहुणे ।

सेहट्ठवणुद्देसे, अणुनाजंटणे गाणे ॥

अणपज्झअगालियाओ, वीयारे पुवसंगमे ।

संलेहणवोसिरणे, वोसट्ठाणिट्ठिए तेहिं ॥

अरिहो ऽणरिहो वा वी, परिगही एवमाहिओ । पं०भा०

इयाणिं अणुपालणाकप्पो (गाहा) (परियट्टियव्वयं) परि- यट्टंतव्वओ भाणियव्वो परियट्टंतओ नाव आयरियउवज्झाओ साहुण संजइणं आयरियउवज्झाओ पवत्तिणी परियट्टियाव दुविहं साहू साहुणीओ जणीणं पुण एक्केक्को दुविहो विहि- परियट्टिओ अविहिपरियट्टिओ य तत्थ समणीओ नियमा परियट्टियव्वाओ , किं कारणं बहुपच्चवायं शरीरं तेयाणि सुखेत्ताणि य दुसंचाराणि कालवसेण सव्वं पडुच्च भोगतो जाओ, पयाओ परद्धाओ वि पुव्वपरियाणियाओ ते दुद्धु निवारेति । तम्हा नियमा परिपालेयव्वाओ। साहू मयणा केरिसो पुण परि- यट्टंतओ ? (गाहा) (अबहुस्सुए अबहुस्सुएण) अबहुस्सुए अगीयत्थे ण वा गीयत्थो जो तरुणो मंदधम्मो वा मायुणओ धम्मसहि- ओ वि जो कंदप्पसीलो सो वि णाणुण्णाओ [illegible] दंसण वसहिं अविहिदायगो नाम निक्कारणे देइ, गिण्हइ वा, एरिसो न कप्पइ गणधरो कारियाणं [गाहा] [उवस्सए] अप- वादगमओ नाम जो इमाइं कारणाइं … पुण नाइं कारणाइं उवस्सए य गेलण्णे उवस्सओ संजइयं … पडिलेहेतु दायव्वो तमुवस्सयं गणधरो … गिलाणाए अज्जाए ओसहो … वा दाउं … सयंदिसिउं वा , जहा वा … निल्लोहे … निद्दोसो तत्थ … संजइयं गणधरो … य दाउं पच्चेआ … [illegible]

[illegible]

मित्तं ओमहं वा दाउं वच्चेज्जा, अगणिकाए वा उद्विओ मंजरीए उवस्सओ मा उज्झिहिइ, उज्झे वा अग्ग— उवस्सयं कातुं वच्चेज्जा, आउक्काए वा नईपूरिए उट्ठिएसु जय- णे उवकरणं संजइओ वा मा वुज्झेज्जा, आउक्काएण वालमाए धम्मादि संठवेउं अन्नं वा दाउं वच्चेज्जा, वियारभूमिं वा पण- मग्गा उट्ठा वा संठवेउं अन्नं वा दाउं वच्चेज्जा, सुतो भाया वा अज्जाए पव्वइओ, सो य अण्णदेसं गंतूण पुव्वगए कालि- यापुओगे य निम्मामो आगओ तं गणधरो घेत्तुं वच्चेज्जा, सं- सेहं वा करेउकामो तत्थेव एसं दाउं संलीढाए वा वोसिरणे वोमदाए वा अणुसहिं दाउं वच्चेज्जा, एसा विही, तव्विव- रीया अविही । पं० चू० ।

अणुपा (वा) लणासुद्ध—अनुपालनाशुद्ध—न० । प्रत्याख्या- नभेदे, आव० ।

कंतारे दुब्भिक्खे, आयंके वा महइ समुप्पन्ने ।
जं पालिअं न भग्गं, तं जाणऽणुपालणासुद्धं ॥ ३१ ॥

कान्तारे अरण्ये, दुर्भिक्षे काळविभ्रमे, आतङ्के महति समुत्पन्ने यत् पालितं न भग्नं तज्जानीह्यनुपालनाशुद्धमिति । " एत्थ उग्गमदोसा सोलस, उप्पायणाए वि दोसा सोलस, एसणाए दोसा दस, एए सव्वे बायाला [illegible] दोसा निच्चपडिसिद्धा; एए य [illegible] न भंजंति " इति गाथार्थः ॥३२॥ आव० ६ अ० । स्था० । पा० चू० ।

अणुपालित्ता—अनुपाल्य—अव्य० । यथा पूर्वैः पालितं तथा पश्चात्पालयित्वेत्यर्थे, कल्प० ।

अणुपालिय—अनुपालित—त्रि० । [illegible]संयमानुकूलतया पा- लिते, स्था० ७ ठा० । दशा० ।

अणुपासमाण—अनुपश्यत्—त्रि० । भूयः पश्यति, " किं मे परो पासइ किं च अप्पा, किं वा हं खलियं न विवज्जयामि । [illegible] अणुपासमाणो, अणागयं नो पडिबंध कुज्जा " दश० २ चू० ।

अणुपिट्ठ—अनुपृष्ठ—न० । आनुपूर्व्याम, 'अणुपिट्ठामिद्धाइं' सम० ।

अणुपुव्व—अनुपूर्व—न० । क्रमे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० । स्था० ।

अणुपुव्व—न० । [illegible] । "अणुपुव्वसुजा- [illegible] " अनुपूर्वेण परिपाट्या सुष्ठु जाता [illegible] [illegible] । [illegible] हि [illegible] [illegible] दीर्घबाहवो दीर्घपुच्छा इति [illegible] [illegible] दीर्घा- [illegible] । " [illegible], अणुपुव्वसुजाय- [illegible] " [illegible] । " अणुपुव्वसुजायवट्ट- [illegible] " आनुपूर्व्या मूलादिपरिपाट्या सुष्ठु जाता, [illegible] [illegible] [illegible] । किमुक्तं भवति—एवं [illegible] [illegible] [illegible] संजाता इति । [illegible] [illegible] । [illegible] । " अणुपुव्वसुजायवप- [illegible] " आनुपूर्व्या क्रमेण [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । " अणुपुव्वसु-

संहयंगुलीए " आनुपूर्व्येण क्रमेण वर्द्धमाना हीयमाना वा इति गम्यते । औ० । जी० । पूर्वस्या अनु, लघव इति गम्यते, अनुपूर्वाः । किमुक्तं भवति-पूर्वस्या उत्तरोत्तरा नखं प्रमेन हीनाः, ' णह एहिय हीणाउ ' इति सामुद्रिकशास्त्रवचनात् । अथवा--आनुपूर्व्येण परिपाट्या वर्द्धमाना हीयमाना वा इति गम्यते, सुसंहता अविरला अङ्गुल्यः पादाग्रावयवा येषां ते तथा । अत्रानुपूर्व्येति विशेषणात्पादाङ्गुलिग्रहणं, तत्रतेव मत्तं, नखेन हीनत्वात् । जं० २ वक्ष० ।

अणुपुव्वसो—अनुपूर्वशस्—अव्य० । अनुक्रमेणेत्यर्थे, आचा० । श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अणुप्पइय—अनुत्पतित—त्रि० । उड्डीने, " आगासेऽणुप्पइओ ललियचवलकुंडलतिरीडी " उत्त० ६ अ० ।

अणुप्पगंथ—अनु (णु) प्रग्रन्थ—पुं० । अनुरूपतयैवविरतेः न त्वपुण्योदयाद्, अणुरपि वा सूक्ष्मोऽप्यल्पोऽपि प्रगतो ग्रन्थो धनादिर्यस्य यस्माद् वाऽसावनुप्रग्रन्थः । रूपैर्लन्तदं तत्वादणुप्रग्रन्थो वा । परिग्रहविरते, स्था० ६ ठा० ।

अणुप्पण्ण—अनुत्पन्न—त्रि० । वर्त्तमानसमयेऽविद्यमाने, नि० चू० ५ उ० । अलब्धे, ग० १ अधि० । (' नमोक्कार ' शब्दे तदुत्पन्नानुत्पन्नत्वं दर्शयिष्यते)

अणुप्पदाउं—अनुप्रदातुम्—अव्य० । पुनःपुनर्दातुमित्यर्थे, प्र- ति० । उपा० ।

अणुप्पदा (या) ण—अनुप्रदान—न० । पुनःपुनर्दाने, आव० ६ अ० । आचा० । परस्परकेण प्रदाने, व्य० २ उ० । गृ- हस्थानां परतीर्थिकानां स्वयूथ्यानां वा संयमोपघातके दाने

जेणेह णिव्वहे भिक्खू, अन्नपाणं तहाविहं ।
अणुप्पयाणमन्नेसिं, तं विज्जं परिजाणिया ॥ आचा० । श्रु० ९ अ० ।

(' धम्म ' शब्दे अस्या व्याख्या)

अणुप्पभु—अनुप्रभु—पुं० । युवराजे, सेनापत्यादौ च । नि० चू० २ उ० ।

अणुप्पवाएत्ता—अनुप्रवाचयितृ—त्रि० । पाठयितरि, ग० १ अधि० । स्था० । "आयरियउवज्झाए गणंसि सम्मं अणुप्प- वाएत्ता भवइ" तृतीयं संग्रहस्थानम् । ग० १ अधि० ।

अणुप्पवाएमाण—अनुप्रवाचयत्—त्रि० । वर्णानुपूर्वीक्रमेण पा- ति, जं० ३ वक्ष० ।

अणुप्पवाय—अनुप्रवाद—पुं० । अनुप्रवदति साधनानुकूल्येन सिद्धिमनेनेति प्रवदतीति । नं० । नवमपूर्वे, स्था० ७ ठा० । [illegible] । आ० म० द्वि० । 'विद्याऽनुप्रवादम्' इत्यपर नाम । [illegible]

अणुप्पवेसण—अनुप्रवेशन—न० । मनसि [illegible] दशा० ३ अ० ।

अणुप्पवेसित्ता—अनुप्रवेश्य—अव्य० । "[illegible] [illegible] [illegible] अणुप्पवेसित्ता" नि० चू० १ उ० ।

अणुप्पसूय—अनुप्रसूत—त्रि० । [illegible], आचा० १ श्रु० १ अ० ८ उ० ।

अणुप्पाइ (ण्)—अनुप्रासिन—पुं० । [illegible] । [illegible] सुभाषते, नि० चू० १ उ० ।

अणुप्पिय-अनुप्रिय-त्रि० । प्रियानुकूले, "अप्पस्स पाणहिस-इलोइयस्स, अणुप्पियं भासति सेवमाणे" अनुप्रियं भाषते अज्ञस्य प्रियं भणतः यद्वाऽनु पश्चाद् भाषते अनुलापेन । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

अणुप्पेहा-अनुप्रेक्षा-स्त्री० । अनुप्रेक्षणमनुप्रेक्षा । चिन्तनिकायाम्, स्था० ५ ठा० ३ उ० । अर्थचिन्तने, ध० ३ अधि० । ग्रन्थार्थानुचिन्तने, ग० २ अधि० । सूत्रार्थचिन्तनिकायाम् दश० १ अ० । द्वा० । अनुप्रेक्षा स्वाध्यायविशेषः । स तु मनसस्तत्रैव नियोजनाद् भवति । उत्त० २९ अ० । प्रव० । अवधाने, प्रति० । तद् विधिरसौ-"जिणवरवयणपायड-पयइस्स सुत्तपयत्थो सुत्तियपुव्वे । एगग्गमणो धणियं, चित्ते चिंतेइ सुयविचारं" ॥ १ ॥ ध० र० ।

एतस्याः फलम्-

अणुप्पेहाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । अणुप्पेहाए णं आउयवज्जाओ सत्त कम्मप्पगडीओ धणियबंधणबद्धाओ सिढिलबंधणबद्धाओ पकरेइ, दीहकालट्ठिइयाओ हस्सकालट्ठिइयाओ पकरेइ, तिव्वाणुभावाओ मंदाणुभावाओ पकरेइ बहुपएसग्गाओ अप्पपएसग्गाओ पकरेइ, आउयं च णं कम्मं सिय बंधइ, सिय नो बंधइ, असायावेयणिज्जं च णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ, अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं खिप्पामेव वीईवयइ ॥

हे भदन्त ! स्वामिन् ! अनुप्रेक्षया सूत्रार्थचिन्तनिकया, जीवः किं जनयति ? । गुरुराह-हे शिष्य ! अनुप्रेक्षया कृत्वा जीवः सप्त कर्मप्रकृतीर्ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयनामगोत्रान्तरायरूपाणां सप्तानां कर्मणां प्रकृतयः एकशतचतुःपञ्चाशत्प्रमाणाः सप्तकर्मप्रकृतयस्ताः सप्तकर्मप्रकृतीर्धनितबन्धनबद्धाः गाढबन्धनबद्धाः, निकाचितबद्धाः, शिथिलबन्धनबद्धाः प्रकरोति । यतो हि अनुप्रेक्षा स्वाध्यायविशेषः, स तु मनसस्तत्रैव नियोजनाद्भवति, स चानुप्रेक्षा । स्वाध्यायो हि आभ्यन्तरं तपः, तपस्तु निकाचितकर्माण्यपि शिथिलीकर्तुं समर्थं भवत्येव । कथंभूताः सप्त कर्मप्रकृतीः ?, आयुर्वर्जाः, प्रकृष्टभावहेतुत्वेन आयुर्वर्जयन्तीत्यायुर्वर्जाः । पुनर्हे शिष्य ! अनुप्रेक्षया कृत्वा, जीवस्ता एव कर्मप्रकृतीर्दीर्घकालस्थितिकाः शुभाध्यवसाययोगात् स्थितिखण्डनापहारेण ह्रस्वकालस्थितिकाः प्रकरोति । प्रचुरकालभोग्यानि कर्माणि स्वल्पकालभोग्यानि करोतीत्यर्थः । पुनस्तीव्रानुभावाः कर्मप्रकृतीर्मन्दानुभावाः प्रकरोति, तीव्रः उत्कटोऽनुभावो रसो यासां तास्तीव्रानुभावाः, ईदृशीः कर्मप्रकृतीर्मन्दो निर्बलोऽनुभावो यासां ता मन्दानुभावाः प्रकरोति, तादृशीः प्रकर्षेण विदधाति, पुनर्बहुप्रदेशाग्रा अल्पप्रदेशाग्राः प्रकरोति । बहुप्रदेशाग्रं कर्मपुद्गलदलप्रमाणं यासां ताः बहुप्रदेशाग्राः, एतादृशीः कर्मप्रकृतीरल्पप्रदेशाग्राः प्रकरोति । इत्यनेन अनुप्रेक्षयाऽशुभश्चतुर्विधोऽपि बन्धः-प्रकृतिबन्धः स्थितिबन्धोऽनुभागबन्धः प्रदेशबन्धः, शुभत्वेन परिणमतीत्यर्थः । अत्र च आयुर्वर्जमित्युक्तम् । तत्तु-एकस्मिन् भवे सकृदेव अन्तर्मुहूर्त्तकाले एव आयुर्जीवो बध्नाति । च पुनः आयुःकर्माऽपि स्याद् बध्नाति, स्यान्न बध्नाति, संसारमध्ये तिष्ठति चेत्तर्हि शुभमायुर्बध्नाति । जीवितं तृतीयभागादिशेषायुष्केन आयुःकर्म बध्यते, अन्यथा न बध्यते । तेन आयुःकर्मबन्धे निश्चयो नोक्तः, यद्यनेन मुक्तिं व्रजति तदा आयुर्न बध्नातीत्युक्तम् । पुनरनुप्रेक्षया कृत्वा जीवोऽसातावेदनीयं कर्म शारीरादिदुःखहेतु च कर्म । चशब्दादन्याश्चाऽशुभप्रकृतीर्नो भूयो भूय उपचिनोति । अत्र भूयोभूयोग्रहणेन एवं ज्ञेयम्-कश्चिद्यतिः प्रमादस्थानके प्रमादं भजेत् तदा बध्नात्यपि इति हार्दम् । पुनरनुप्रेक्षया कृत्वा जीवश्चातुरन्तसंसारकान्तारं क्षिप्रमेव (वीईवयइ इति) व्यतिव्रजति । चत्वारश्चतुर्गतिलक्षणा अन्ता अवयवा यस्य तत् चातुरन्तं, तदेव संसारकान्तारं संसारारण्यं, तत् शीघ्रमुल्लङ्घयति । कीदृशं संसारारण्यम् ?, अनादिकम्-आदेरभावाद् आदिरहितम् । पुनः कीदृशं संसारकान्तारम् ?, अनवदग्रम्-अवाग्गतम् अग्रं परिमाणं यस्य तद् अनवदग्रम्, अनन्तमित्यर्थः । प्रवाहापेक्षया अनाद्यनन्तम् । पुनः कीदृशम् ?, दीर्घाध्वं दीर्घकालं, 'दीहमद्धम्' इत्यत्र मकारो लाक्षणिकः, प्राकृतत्वात् ॥ उत्त० २९ अ० । तत्रानुप्रेक्षा चिन्तनिका, तया प्रकृष्टशुभभावोत्पत्तिनिबन्धनतया आयुष्कवर्जाः सप्त कर्मप्रकृतीः, (धणियं ति) गाढं बन्धनं श्लेषणं, तेन बद्धाः, निकाचिता इत्यर्थः । शिथिलबन्धनबद्धाः किञ्चिन्मुक्ताः । कोऽर्थः ?, अपवर्त्तनादिकरणयोग्याः प्रकरोति, तपोरूपत्वादस्याः तपसश्च निकाचितकर्मक्षपणेऽपि क्षमत्वात् । उक्तं हि-"तवसा उ निकाइयाणं पि त्ति" दीर्घकालस्थितिका ह्रस्वकालस्थितिकाः प्रकरोति, शुभाध्यवसायवशात् । स्थितिखण्डकापहारेणेति भावः । यत्तदर्थं, सर्वकर्मणामपि स्थितेरशुभत्वात् । यत उक्तम्-"सव्वासिं पि ठिईओ, सुभासुभाणं पि होंति असुभाओ । माणुसतेरिच्छदेवा-उयं च मोत्तूण सेसाओ" ॥१॥ तीव्रानुभावाश्चतुःस्थानिकरसत्वेन, मन्दानुभावास्त्रिस्थानिकरसत्वाद्यापादनेन प्रकरोति । इह चाशुभप्रकृतय एव गृह्यन्ते । शुभभावस्य शुभासु तीव्रानुभावहेतुत्वात् । उक्तं हि-"सुभपयडीण विसोहिए तिव्वमसुभाण संकिलेसं ति" अत्र हि-'विसोहिए त्ति' शुभभावेन तीव्रमित्यनुभागं बध्नातीति प्रक्रमः । क्वचिदिदमपि दृश्यते-'बहुप्पएसग्गाओ पकरेति' ननु केनाभिप्रायेणायुष्कवर्जाः सप्तेत्यभिधानम्, शुभायुष्क एव संयतस्य संभवात् तस्यैव चानुप्रेक्षाधिकारी । न च शुभभावेन शुभप्रकृतीनां शिथिलतादिकरणं, संक्लेशहेतुकत्वात् तस्य । आह-शुभायुर्बन्धोऽप्यस्याः किं न फलमुक्तम् । उच्यते-आयुष्कं च कर्म स्याद्बध्नाति, स्यान्न बध्नाति । तस्य त्रिभागादिशेषायुष्कतायामेव बन्धसंभवात् । उक्तं हि-"सिय तिभागतिभागे" इत्यादि । ततस्तस्य कादाचित्कत्वेन विवक्षितत्वात् । तद्भवे च कस्यचिद् मुक्तिप्राप्तेः तद्बन्धाभिधानमिति भावः । अपरं चाऽसातावेदनीयं शारीरादिदुःखहेतु कर्म । चशब्दादन्याश्चाशुभप्रकृतीर्नैव भूयोभूय उपचिनोति । भूयोभूयोग्रहणं त्वन्यतमप्रमादतः, प्रमत्तसंयतगुणस्थानवर्त्तिनायां तद्बन्धस्याऽपि संभवात् । अन्ये त्वेवं पठन्ति-"सायावेयणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणाति" इह च शुभप्रकृतिसमुच्चयार्थश्चशब्दः, शेषं स्पष्टम् । अनादिकमादेरसंभवात् । चः समुच्चयार्थो योज्यते । (अणवदग्गं त्ति) अनवदग्रं परिमाणं यस्य सदाऽवस्थितानन्तपरिमाणवत्त्वात् ... इत्यर्थः, तथ । प्रवाहापेक्षं चैतत् ।

[illegible]

तथा । चत्वारश्चतुर्गतिलक्षणा अन्ता अवयवा यस्मिन् स चतुरन्तम्, संसारकान्तारं क्षिप्रमेव (वीईवयइ त्ति) व्यतिव्रजति,

कनयाऽनुयायिनो वेलन्धरा अनुवेलन्धराः । स्वनामख्यातेषु नागराजेषु, जी० ३ प्रति० ।

तद्वक्तव्यता, तदावासपर्वताश्च यथा—

कति णं भंते ! अणुवेलंधरणागरायाणो पण्णत्ता ? । गोयमा ! चत्तारि अणुवेलंधरणागरायाणो पण्णत्ता । तं जहा— कक्कोडए, कद्दमए, कइलासे, अरुणप्पभे । एतेसि णं भंते ! चउण्हं अणुवेलंधरणागरराईणं कति आवासपव्वया पण्णत्ता ? । गोयमा ! चत्तारि आवासपव्वया पण्णत्ता । तं जहा—कक्कोडए, कद्दमए, कइलासे, अरुणप्पभे । कहि णं भंते ! कक्कोडगस्स अणुवेलंधरराइस्स कक्कोडए णामं आवासपव्वते पण्णत्ते ? । गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमेणं लवणसमुद्दं बायालीसं जोयणसयाई उग्गाहित्ता एत्थ णं कक्कोडयस्स णागरायस्स कक्कोडए णाम आवासे पण्णत्ते, सत्तरसएक्कवीसाइं जोयणसयाइं, तं चेव पमाणं गोथूभस्स, णवरिं सव्वरयणामए अच्छे जाव निरवसेसं जाव सीहासणं सपरिवारं अट्ठो स बहूइं उप्पलाइं कक्कोडगप्पभाइं, सेसं तं चेव, णवरिं कक्कोडगपव्वतस्स उत्तरपुरच्छिमेणं, एवं चेव सव्वं कद्दमगस्स वि सो चेव गमओ अपरिसेसिओ, णवरिं दाहिणपुरच्छिमेणं आवासो विज्जुजिब्भा रायहाणी, दाहिणपुरच्छिमेणं कति जा से वि एवं चेव, णवरिं दाहिणपच्चत्थिमेणं कइलासा वि रायहाणी, ताए चेव दिसाए अरुणप्पभे वि उत्तरपुरच्छिमेणं रायहाणी वि, ताए चेव दिसाए चत्तारि वि एगपमाणा सव्वरयणामया य ॥

(कहि णमित्यादि) कति भदन्त ! अनुवेलन्धरराजाः प्रज्ञप्ताः ? । भगवानाह-गौतम ! चत्वारोऽनुवेलन्धरराजाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-कर्कोटकः, कर्दमकः, कैलासः, अरुणप्रभश्च । (एएसि णमित्यादि) एतेषां भदन्त ! चतुर्णामनुवेलन्धरराजानां कति आवासपर्वताः प्रज्ञप्ताः ? । भगवानाह-गौतम ! एकैकस्य एकैकभावेन चत्वारोऽनुवेलन्धरराजानामावासपर्वताः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-कर्कोटकः, विद्युत्प्रभः, कैलासः, अरुणप्रभश्च । कर्कोटकस्य कर्कोटकः, कर्दमस्य विद्युत्प्रभः, कैलासस्य कैलासः, अरुणप्रभस्यारुणप्रभ इत्यर्थः । ' कहि णं भंते ! ' इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्योत्तरपूर्वस्यां दिशि लवणसमुद्रं द्विचत्वारिंशतं योजनसहस्राण्यवगाह्य, अत्र एतस्मिन्नवकाशे कर्कोटकस्य भुजगेन्द्रस्य भुजगराजस्य कर्कोटको नाम आवासपर्वतः प्रज्ञप्तः । (सत्तरसएक्कवीसाइं जोयणसयाइं) इत्यादिका गोस्तूपस्यावासपर्वतस्य या वक्तव्यता, सैवेहापि अहीनातिरिक्ता भणितव्या । नवरं सर्वरत्नमय इति वक्तव्यं नामनिमित्तचिन्तायामपि , यस्माच्च क्षुल्लासु क्षुल्लिकासु वापीषु, यावद् बिलपङ्क्तिषु, बहूनि उत्पलानि यावत् शतसहस्रपत्राणि कर्कोटप्रभाणि कर्कोटकाकाराणि ततस्तानि कर्कोटकानीति व्यवह्रियन्ते । तद्योगात्पर्वतोऽपि कर्कोटकः । तथा कर्कोटकनामा देवस्तत्र पल्योपमस्थितिकः परिवसति । ततः कर्कोटकस्वामित्वात् कर्कोटकः राजधान्यपि । कर्कोटकस्यावासपर्वतस्य उत्तरपूर्वस्यां दिशि तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् लवणसमुद्रे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य कर्कोटकाभिधाना राजधानी, विजया राजधानीव प्रतिपत्तव्या । एवं कर्दमककैलासारुणप्रभवक्तव्यताऽपि भावनीया, नवरं जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य लवणसमुद्रे दक्षिणपूर्वस्यां कर्दमकः , दक्षिणापरस्यां कैलासः , अपरोत्तरस्यामरुणप्रभः । नामनिमित्तचिन्तायामपि यस्मात् कर्दमके आवासपर्वते उत्पलादीनि कर्दमप्रभाणि ततः कर्दमकः । भावना प्रागिव । अन्यच्च कर्दमके विद्युत्प्रभो नाम देवः पल्योपमस्थितिकः परिवसति, स च स्वभावाद् यक्षकर्दमप्रियः । यक्षकर्दमो नाम कुङ्कुमागुरुकर्पूरकस्तूरिकाचन्दनमेलापकः । उक्तं च-" कुङ्कुमागुरुकर्पूर कस्तूरीचन्दनानि च । महासुगन्धमित्युक्त-नामको यक्षकर्दमः " ॥ १ ॥ ततः प्राचुर्येण यक्षकर्दमसंभवाद्देवो पूर्वपदलोपे सत्यभामेतिवत् कर्दम इत्युच्यते । कैलासे कैलासप्रभाणि उत्पलादीनि, कैलासनामा च तत्र देवः पल्योपमस्थितिकः परिवसति, ततः कैलासः । एवमरुणप्रभेऽपि वक्तव्यम् । कर्दमका राजधानी कर्दमकस्याऽऽवासपर्वतस्य दक्षिणपूर्वया कैलासा, कैलासस्यावासपर्वतस्य दक्षिणाऽपरया अरुणप्रभा , अरुणप्रभस्यावासपर्वतस्यापरोत्तरायां तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् लवणसमुद्रे विजया राजधानीव वक्तव्या । जी० ३ प्रति० ।

अणुज्जड—अनुद्भट-त्रि० । अनुल्बणे, जी० ३ प्रति० । अभिमानरहिते, वृ० २ अ० ।

अणुज्जडपसत्थकुच्छि—अनुद्भटप्रशस्तकुक्षि—त्रि० । अनुद्भटोऽनुल्बणः प्रशस्तः प्रशस्तलक्षणः पीनः कुक्षिर्यासां ताः अनुद्भटप्रशस्तपीनकुक्षयः । जी० ३ प्रति० ।

अणुज्जडवेस—अनुद्भटवेष-पुं० । विजनोचितनेपथ्यधारिणि, स च तृतीयश्रावकगुणविशिष्ट इति ।

संप्रत्यनुद्भटवेष इति तृतीयं भेदं प्रविकटयिषुर्गाथापूर्वार्द्धमाह—

सहइ पसंतो धम्मी, उब्भडवेसो न सुंदरो तस्स ।

(सहइ त्ति) राजते शोभते, प्रशान्तः प्रशान्तवेषो, धर्मी धर्मवान् धार्मिको, श्रावक इत्यर्थः । अतः कारणादुद्भटवेषः विजनोचितनेपथ्यः । " लंघरम य परिहाणं, गमणं य अंग लहणियाए ढाहा । सिरवेढो दमोणं, वेसो एसो विडंगाणं ॥ १ ॥ सिहिणेण मणादेसो, कयासे नाहिमंडलं तह य । गाढाय मट्टिहियाए, कंचुयओ एस वेसाणं " ॥ २ ॥ इत्यादिकरूपो न सुन्दरो नैव शोभाकारी तस्य धार्मिकस्य । स हि तेन सुतरामुपहासस्थानं स्यात् । "नाकामी मण्डनप्रियः" इति लोकोक्तेरिह लोकेऽपि कदाचिदनर्थं प्राप्नुयाद्, बन्धुमतीवत् । अन्ये पुनराहुः— "संतलयं परिहाणं, अलं च वोसट्टं च मज्झिमयं । सुंगलिंछमुत्तरीयं, धम्मं लच्छिं जसं कुणइ ॥ १ ॥ परिहाणमणुभरचल-एक्कोडिमज्झाय मणुमंतं तु । परिहाणमइमंतो, कंचुयओ होइ सुसिलिट्ठो" ॥ २ ॥ इत्यादि । एतदपि संगतमेव । किन्तु क्वचिदेव देशे कुले वा घटते, प्रावकास्तु नानादेशेषु च संभवन्ति, तस्माद्देशकुलाविरुद्धो वेषोऽनुद्भट इति व्याख्यानं व्यापकमिह सङ्गतमिति ।

बन्धुमतीज्ञातं त्वेवम्—

अत्थि इह तामलित्ती, नयरी न अणीहिं कयावि परिभूया ।

अइगरुयविहवभारो, सिट्ठी तत्थासि रइसारो ॥ १ ॥
सारयससिनिम्मलसी-लबंधुला बंधुला पिया तस्स ।
ताणं धूया रूवा-इगुणजुया बंधुमइ नाम ॥ २ ॥
सा पुण कंचणभूसण-मंडियबाहा अलंकियसरीरा ।
पगईए उब्भडवे-सपरिगया चिट्ठइ सया वि ॥ ३ ॥
अन्नदिणे सा पिउणा, भणिया वयणेहिँ पणयपवणेहिं ।
एवं उब्भडवेसो, वच्छे ! पच्छो न सच्चाए ॥ ४ ॥

यदुक्तम्—

"कुलदेसाण विरुद्धो, वेसो रम्मो वि कुणइ नहु सोहं ।
वणियाण विसेसेणं, विसेसओ ताण इत्थीणं ॥ ५ ॥
अइरोसो अइतोसो, अइहासो दुज्जणेहिँ संवासो ।
अइउब्भडो य वेसो, पंच वि गरुयं पि लहुयंति" ॥ ६ ॥
इच्चाइजुत्तिजुत्तं, वुत्ता वि न मन्नए इमा किंपि ।
चिट्ठइ तहेव निच्चं, पिउपायपसायदुल्ललिया ॥ ७ ॥
भरुयच्छवासिणा वि-मलसिट्ठिपुत्तेण बंधुदत्तेण ।
सा गंतु तामलित्तिं, महाविभूईइ परिणीया ॥ ८ ॥
मुणिऊण जणयनयरे, बंधुमइं बंधुपरियणसमेओ ।
जलहिम्मि बंधुदत्तो, संचलिओ जाणवत्तेण ॥ ९ ॥
जा किंचि भूमिभागं, गच्छइ ता असुहकम्मउदएणं ।
पडिकूलपवणलहरी-पडिहयं जलहिमज्झम्मि ॥ १० ॥
सत्थं व विणयहीणे, वियलियसीले विसुद्धदाणं व ।
तं पवहणं विणट्ठं, धणधण्णहिरण्णपडिपुण्णं ॥ ११ ॥
सो कहकहमवि फलहे-ण दुत्तरं उत्तरित्तु नीरनिहिं ।
जा पिच्छइ दिसिचक्कं, ता तं निच्छेइ ससुरपुरं ॥ १२ ॥
तो अप्पं जाणावइ, केण वि पुरिसेण नियससुरस्स ।
तं सुणिय हा, किमेयं ति, जंपिरो उट्ठिओ सो वि ॥ १३ ॥
मरगयनइंदपसयविसे-सरयणझंकारसारभूसाए ।
बंधुमईए सहिओ, जा से पासे स सहिएइ ॥ १४ ॥
वररयणकणयभूसण-विभूसियं ताव इहरकरजुयलं ।
बंधुमईए छिन्नं, केण वि जूयारचोरेण ॥ १५ ॥
तत्तो सो भयकिंपिय-नीओ नासित्तु झत्ति संपत्तो ।
परपरिसमगमसुत्त-स्स बंधुदत्तस्स पासम्मि ॥ १६ ॥
तेणं च पुच्छियाए, चिंतिय मिणमेय पत्तकालं मे ।
इय मुत्तु तस्स पासे, करजुयलं तक्करो नट्ठो ॥ १७ ॥
पच्छा गयनगरतुमु-लसवणजुद्धो सलुदओ पत्तो ।
चोर त्ति काउ तेहिं, सूलाए झत्ति पक्खित्तो ॥ १८ ॥
अह रइसारो सिट्ठी, नियपुत्तिए निइत्तु तमवत्थं ।
बहु दुक्खित्त पत्तो, जा आमाउयमसीयं पि ॥ १९ ॥
ता तं सूलानिहियं, सहसा पिच्छित्ति बहु य पलवित्ता ।
अंसुजलपुण्णनयणो, दुहिओ से कुणइ मयकिच्चं ॥ २० ॥
इत्तो य सुगमनामा, चउनाणी तत्थ आगओ तं च ।
अभिनंदइ पत्तो सिट्ठी, गुरु वि इय कहइ से धम्मं ॥ २१ ॥
भो भविया ! उम्मत्ते-सघाउणं कुणइ वयइ पयमागारं ।
विसह नवकम्म कयं, जेन न पावइ दुक्खाइं ॥ २२ ॥
तो सोहं संविग्गो, सिट्ठी पभणेइ पुच्छए भयवं ! ।
मह उब्भडपुत्तिहाणिहिं किं कयं दुक्कयं पुव्विं ? ॥ २३ ॥
भणइ गुरु संखेवेणं, भणियं पि इमिणा पुत्ता ।
[illegible] अइवि इय बहुभव-[illegible] कुमाया विहिया ॥ २४ ॥
[illegible] निवसिया [illegible] ।
[illegible] पुत्तो, [illegible] ॥ २५ ॥

सा ठविय भोयणं सि-क्कगम्मि पउट्ठमणया पत्ता ।
कस्सइ गेहे कम्म-स्समागओ तम्मि जामाऊ ॥ २६ ॥
सा तस्स तप्पणगहा-गमाइकम्मसु निउत्तया पढमं ।
पच्छा मंडणपीसण-रंधणदलणाइ कारविया ॥ २७ ॥
जाया महई वेला, तेण गिहत्थेण वाउलत्तणओ ।
नहु सा जिमाविया तो, पुक्खिवनिमिया गया सगिहं ॥ २८ ॥
तं दट्ठु सुएण छुहा-इएण भणिया सनिट्ठुरं एवं ।
किं तत्थ तुमं सिक्का-सूलाए जं न बहु पत्ता ॥ २९ ॥
तीइ वि अणत्थभरिया-इ जंपियं किंकरा तुहं किन्ना ।
जं सिक्कगाउ गहिऊ-ण भोयणं नेव भुत्तोसि ॥ ३० ॥
इय फरुसवयणजणियं, कम्मं दोहिँ वि निकाइयं तेहिं ।
अइनिविडजडिमभावे-ण नेव आलोइयं तं च ॥ ३१ ॥
तेसिं दाणरयाणं, संजमरहियाण मज्झिमगुणाणं ।
किंचि सुहभावणाए, वट्टंताणं गलियमाउं ॥ ३२ ॥
तो सो चालो जाओ, जामाऊ तुज्झ बंधुदत्त त्ति ।
सा पुण दुग्गयनारी, बंधुमई तुह सुया जाया ॥ ३३ ॥
भवियव्वया निओगा, विचित्तयाए य कम्मपरिणईए ।
माया जाया जाया, पुत्तो भत्ता य संजाओ ॥ ३४ ॥
तक्कम्मविवागेणं, बंधुमई पाविया करच्छेयं ।
पत्तो य बंधुदत्तो, सूलापक्खिवणवसणमिणं ॥ ३५ ॥
इय सोउं रइसारो, सिट्ठी संजायगरुयसंवेओ ।
गिण्हिय गुरूण पासे, दिक्खं सुहभायणं जाओ ॥ ३६ ॥

इत्युद्भटं वेषमनिश्रयन्त्याः,
श्रुत्वा विपाकं खलु बन्धुमत्याः ।
भव्या जना निर्मलशीलभाज-
स्तद्धत्त देशाद्यविरुद्धमेनम् ॥ ३७ ॥ ध० र० ।

अणुब्भामग–अनुद्भ्रामक–पुं० । मौलग्रामे भिक्षापरिभ्रमणशीले, वृ० १ उ० ।

अणुभव–अनुभव–पुं० । अनु–भू–अप् । स्मृतिभिन्ने ज्ञाने, वि-षयानुरूपभवनाच्च बुद्धिवृत्तेरनुभवत्वम् । अनुभवश्च प्रत्यक्षानु-मानोपमानशाब्दभेदेन चतुर्विध इति नैयायिकादयः । वेदान्ति-नो मीमांसकाश्च अर्थापत्त्युपलब्धिरूपमधिकं भेदद्वयमुरीच-क्रुः । वैशेषिकाः सौगताश्च प्रत्यक्षानुमानरूपमेवानुभवद्वयं स्वी-चक्रुः, अन्येषां सर्वेषामनयोरन्तर्भावात् । सांख्यादयः प्रत्यक्षा-नुमानशाब्दा एवेति भेदत्रयमङ्गीचक्रुः । चार्वाकाः प्रत्यक्षमा-मिति भेदः । वाच० । स्वसंवेदने, पञ्चा० ५ विव० । ध० । भाव० । प्रश्न० ।

अनुभवलक्षणं च योगदृष्टिसमुच्चयानुसारेण लिख्यते-यथार्थवस्तुस्वरूपोपलब्धिपरभावारमणस्वरूपरमणतदास्वा-दनैकत्वमनुभवः ।

तदुक्तम्—

संध्येव दिनरात्रिभ्यां, केवलश्रुतयोः पृथक् ।
बुधैरनुभवो दृष्टः, केवलार्कारुणोदयः ॥ १ ॥
व्यापारः सर्वशास्त्राणां, दिक्प्रदर्शनमेव हि ।
पारं तु प्रापयत्येको-ऽनुभवो भववारिधेः ॥ २ ॥
अतीन्द्रियं परं ब्रह्म, विशुद्धानुभवं विना ।
शास्त्रयुक्तिशतेनापि, न गम्यं यद् बुधा जगुः ॥ ३ ॥
ज्ञायेरन् हेतुवादेन, पदार्था यद्यतीन्द्रियाः ।

कालेनैतावता मार्द्गः, कुतः स्यात्तेषु निश्चयः ॥ ४ ॥
तेषां न कल्पनादर्व्वी, शास्त्रक्षीराब्धगाहिनी ।
विलासत्ककसास्वाद-विदोऽनुभवजिह्वया ॥ ५ ॥
पश्यन्तु ब्रह्म निर्द्वन्द्वं, निर्द्वन्द्वानुभवं विना ।
कथं लिपिमयी दृष्टि-र्वाङ्मयी वा मनोमयी ॥ ६ ॥
न सुषुप्तिरमोहत्वा-न्नापि च स्वापजागरौ ।
कल्पनाशिल्पविश्रान्ते-स्तुर्यो वाऽनुभवो दशा ॥ ७ ॥
अधिगत्याखिलं शब्द-ब्रह्म शास्त्रदृशा मुनिः ।
स्वसंवेद्यं परं ब्रह्माऽनुभवेनाधिगच्छति ॥ ८ ॥
अष्ट० २६ अष्ट० ।

स्वेन स्वेन रूपेण प्रकृतीनां विपाकतो वेदने, विशे० ।

अणुभवण-अनुभवन-न० । कर्मविपाकवेदनेऽनुभावे, आव० ४ अ० ।

अणुभविउं-अनुभवितुम्-अव्य० । भोक्तुमित्यर्थे, " वेयणा अणुभविउं जे संसारम्मि अणंतए" उत्त० १७ अ० ।

अणुभविया-अनुभूय-अव्य० । अनुभवं कृत्वेत्यर्थे, प्रश्न १ आश्र० द्वा० ।

अणुभाग (व)-अनुभाग(व)-पुं० । वैक्रियकरणादिकायामचिन्त्यशक्तौ, स्था० २ ठा० ३ उ० । ज्ञा० । आव० । चं०प्र० । माहात्म्ये, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । वर्णगन्धादिगुणे, विशे० । शापाद्यनुग्रहविषये सामर्थ्ये, प्रज्ञा० २ पद । अनु पश्चाद् बन्धोत्तरकालं भजनं सेवनमनुभजनम्, अनुभागः कर्म० ६ कर्म० । कर्मणां विपाके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । उदये, रसे च । स्था० ७ ठा० । दर्श० । तीव्रादिभेदे रसे, स० । "अनुभागो रसः प्रोक्तः, प्रदेशो दलसंचयः" कर्म० ५ कर्म० । अनुभागः, रसः, अनुभाव इति पर्यायाः ।

अनुभागस्य किञ्चित्तावत् स्वरूपमुच्यते-

इह गम्भीरापारसंसारसरित्पतिमध्यविपरिवर्ती, रागादिसचिवो जन्तुः पृथक्सिद्धानामनन्तभागवर्तिभिरभव्येभ्योऽनन्तगुणैः परमाणुभिर्निष्पन्नान् कर्मस्कन्धान् प्रतिसमयं गृह्णाति । तत्र च प्रतिपरमाणुकषायविशेषात् सर्वजीवानन्तगुणान् अनुभागस्याविभागपलि(रि)च्छेदान् करोति । केवलिप्रज्ञया छिद्यमानो यः परमनिकृष्टोऽनुभागांशोऽतिसूक्ष्मतयाऽर्द्धं न ददाति सोऽविभागपरिच्छेद उच्यते । उक्तं च-"बुद्धीइ छिज्जमाणो, अणुभागो जो न देइ ओ अद्धं । अविभागपलिच्छेओ, सो इह अणुभागबंधम्मि" । तत्र चैकैककर्मस्कन्धे यः सर्वजघन्यरसः परमाणुः सोऽपि केवलिप्रज्ञया छिद्यमानः किल सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणान् रसभागान् प्रयच्छति ; अन्यस्तु परमाणुस्तानविभागपरिच्छेदानेकाधिकान् प्रयच्छति, अपरस्तु तानपि द्व्यधिकान् ; अन्यस्तु तानपि चतुराधिकानित्यादिवृद्ध्या तावन्नेयं यावदन्य उत्कृष्टरसः परमाणुर्मीलितानन्तगुणानपि रसभागान् प्रयच्छति । अत्र च जघन्यरसा ये केवन परमाणवस्तेषु सर्वजीवानन्तगुणरसभागयुक्तेष्वन्यतमानया असत्कल्पनया शतरसांशानां परिकल्प्यते । एतेषां च समुदायः समानजातीयत्वादेका वर्गणेत्यभिधीयते । अन्येषां त्वेकोत्तरशतरसभागयुक्तानामणूनां समुदायो द्वितीया व[illegible]
तु द्व्युत्तरशतरससांशयुक्तानामणूनां समुदा[illegible]

अन्येषां तु त्र्युत्तरशतरसभागयुक्तानामणूनां समु[illegible] वर्गणा । एवमनया दिशा एकैकरसभागवृद्धानामणू[illegible] यरूपा वर्गणाः सिद्धानामनन्तभागेऽभव्येभ्योऽनन्त[illegible] च्याः । एतासां चैतावतीनां वर्गणानां समुदायः स्प[illegible] भिधीयते । स्पर्द्धन्त इवोत्तरोत्तररसवृद्ध्या परमाणुवर्ग[illegible] णेति कृत्वा एताश्चानन्तरोक्तानन्तकप्रमाणाः । अथ स्था[illegible]

वद् स्थाप्यन्ते- | १०५ | इदमेकं स्पर्द्धकम् । इत ऊर्द्ध्वमे[illegible]
निरन्तररस- | १०४ | वृद्ध्या, वृद्धो रसो न लभ्यते,
सर्वजीवानन्त- | १०३ | गुणैरेव रसभागैर्वृद्धो लभ्यते । इ[illegible]
क्रमेणारभ्यते । | १०२ | ततस्तेनैव क्रमेण तृतीयमित्यादि
नन्तानि रस- | १०१ | स्पर्द्धकानि वक्तव्यानि ।
| १०० |

तीव्रमन्दतया द्विविधोऽनुभाग-

अयं चानुभागः शुभाशुभभेदेन द्विविधानामपि प्रकृतीनां तीव्रमन्दरूपतया द्विविधो भवति ।

अतोऽशुभशुभप्रकृतीनां येन प्रत्ययेनासौ तीव्रो बध्यते, येन च मन्दः तन्निरूपणार्थमाह-

तिव्वो असुहसुहाणं, संकेसविसोहिओ विवज्जयओ ।
मंदरसो गिरिमहिरय-जलरेहासरिसकसाएहिं ॥६३॥

तत्र प्रथमं तावत्तीव्रमन्दस्वरूपमुच्यते पश्चादक्षरार्थः । इह घोषातकीपिचुमन्दाद्यशुभवनस्पतीनां सम्बन्धी सहजोऽर्द्धावर्त्तो त्रिभागावर्त्तो भागत्रयावर्त्तश्च यथाक्रमं कटुकः कटुकतरः कटुकतमोऽतिशयकटुकतमश्च ; तथेक्षुक्षीरादिद्रव्याणां सम्बन्धी सहजोऽर्द्धावर्त्तो त्रिभागावर्त्तो भागत्रयावर्त्तश्च यथासंख्यं मधुरो मधुरतरो मधुरतमोऽतिमधुरतमश्च रसो जायते । यथा तीव्रो भवति तथैतेषामेव पिचुमन्दादीनां क्षीरादीनां च द्रव्याणां सम्बन्धी सहजो रसो जललवबिन्दुचुलुकप्रसृत्यञ्जलिकरककुम्भद्रोणादिसम्बन्धात् यथा बहुमन्दमन्दतरादिरूप प्रतिपद्यते तथा प्रकृतिप्रदेशयोऽपि रसः । यथा जलादिसम्बन्धान्मन्दमन्दतरमन्दतमादित्वं प्रतिपद्यते तथाशुभप्रकृतीनां शुभप्रकृतीनां च रसात्मकस्य[illegible] तीव्रत्वं मन्दत्वं चानुविद्धातीति । अक्षरार्थोऽधुना विविच्यते । तीव्रो रसो भवति । कासामित्याह-(असुहसुहाणं ति) अशु[illegible]
शुभाशुभ[illegible]
प्रकृतीनां [illegible]
अविशुद्धि[illegible]
प्राकृतिगणत्वात् तस्प्रत्ययः । यथासंख्यमशुभप्रकृतीनां संक्लेशेन शुभप्रकृतीनां विशुद्धेरित्यर्थः । इदमत्र हृदयम्-अशुभप्रकृतीनां उत्कर्षातिशयानां संक्लेशेन तीव्रकषायोदयेन तीव्र एव रसो भवति । सर्वाशुभप्रकृतीनां तद्बन्धप्रायोग्यानां जन्तूनां मध्ये यो य उत्कृष्टसंक्लेशो जन्तुः स स तीव्ररसं बध्नातीत्यर्थः । शुभप्रकृतीनां विशुद्ध्या कषायविशुद्ध्या तीव्रोऽनुभागो भवति । शुभप्रकृतिबन्धकानां मध्ये यो यो विशुद्धतमपरिणामः स स तासां तीव्रमनुभागं बध्नातीत्यर्थः । उक्तस्तीव्ररसस्य बन्धप्रत्ययः । सम्प्रति स एव मन्दरसस्याभिधी[illegible] [illegible] प्रकृतौ । (विवज्जयओ त्ति) विपर्ययेण विपर्ययेन च[illegible] मन्दोऽनुभागो रसो भवति । भावार्थः-संक्लेशप्रकृतीनां [illegible] विशुद्ध्या मन्दो रसो जायते, शुभानां तु मन्दः [illegible] रसः संक्लेशाविशुद्धि- पदादशुभशुभप्रकृतीनां [illegible] अनुभागः । (गिरिमहि- कर्मादिकमनुविधो [illegible] रयजलरेहासरिसकसाएहिं)

[illegible] दैः [illegible]दीनां प्रकृती- [illegible]) [illegible] पर्यन्तः, महा [illegible], [illegible] मरीरजोअसा- [illegible] समो भवतीति प्रथमः ।६३।

[illegible]

[illegible] आवरणा ।
[illegible] मेमदुगमाउ ॥ ६४ ॥

[illegible] (प्रशुभ [illegible] ।

[illegible]

पपचे, न तु शेषासु, यतोऽशुभप्रकृतीनां [illegible] यदि सत्यपि [illegible] न सततया प्रकृतीनां [illegible] नान्यतः शेषाणामशुभानामेकस्थानिको [illegible] ऽपि केवलज्ञानकेवलदर्शनावरणयोः [illegible] सर्वघातित्वाद् द्विस्थानिक एव [illegible] नैकस्थानिक इति । शुभानां तु [illegible] न भवति, यत [illegible] शस्थानानि लभन्ति । विशुद्धिस्थानान्यपि [illegible] च संक्लेशस्थानान्यारोहति [illegible] तत्र यथा प्रासादमारोहतो यावन्ति [illegible] तान्यपि तावन्त्येव तथाऽत्रापीति [illegible] निविशेषाधिकानि । कथमिति [illegible] स्थानकेषु क्षपकश्रेणिकामारोहति न तेषु [illegible] संक्लेशाभावात्, ततस्तानि विशुद्धिस्थानान्येव [illegible] शस्थानानीति, [illegible] एवं च स्थितेऽत्र [illegible] स्थानिकं रसमभिनिर्वर्तयति । [illegible] तस्य शुभप्रकृतयो [illegible] सत्कामेणां [illegible] शुभा [illegible] नामानि [illegible] स्थानि । येषु तु [illegible] तेषु नामानि द्विस्थानिकरसेन एव [illegible] [illegible]

[illegible] शुभाऽशुभरसस्यैव [illegible]

[illegible]

[illegible]

यप्रमाणः पृथग्भाजने क्वथितोऽर्द्धावर्त्तितो मधुरतरो द्विस्थानिकः, स एव भागत्रयप्रमाणः पृथक्स्थाल्यां क्वथितांशभागान्तो मधुरतमस्त्रिस्थानिकः, स एव भागचतुष्कप्रमाणो विभिन्नस्थाने क्वथितश्चतुर्थभागान्तोऽतिमधुरतमश्चतुःस्थानिकः । एवमशुभानां प्रकृतीनां तादृशतादृशकषायनिष्पाद्यः कटुकः कटुकतरः कटुकतमोऽतिकटुकतमश्च । शुभप्रकृतीनां मधुरो मधुरतरो मधुरतमोऽतिमधुरतमश्च रसो यथासंख्यमेकद्वित्रिचतुःस्थानिको भवति। एवं च रसोऽशुभप्रकृतीनामशुभः, शुभप्रकृतीनां शुभ इति । तुशब्दो विशेषणे । स चैव विशिनष्टि-यथा सर्वदशाऽशुभप्रकृतीनामेकस्थानिकरसस्पर्द्धकान्यनन्तेयत्वाद्व्यक्तत्वादसंख्येयानि भवन्ति । तत्र च सर्वजघन्यस्पर्द्धकरसस्येयं निम्बाद्युपमा । तदनु चानन्तेषु रसपलिच्छेदेष्वतिक्रान्तेषु तदुत्तरं द्वितीयस्पर्द्धकं भवति । एवमुत्तरक्रमेण प्रवृद्धवृद्धतररसोपेतानि शेषस्पर्द्धकान्यपि भवन्ति । एवं शेषाः शुभप्रकृतीनामपि द्वित्रिचतुःस्थानिकरसस्पर्द्धकान्यसंख्येयव्यक्तत्वात् प्रत्येकमसंख्येयानि भवन्ति। यपि यथोत्तरमनन्तरसपलिच्छेदनिष्पन्नत्वात् परस्परमनन्तगुणरसानि । अत उत्तरोत्तरस्पर्द्धकान्यप्यनन्तगुणरसानि, किं पुनरशुभानां द्वित्रिचतुःस्थानिका रसा इति । तथाहि-अशुभानां निम्बोपमवीर्यो य एकस्थानिको रसस्तस्मादनन्तगुणवीर्यो द्विस्थानिकस्ततोऽप्यनन्तगुणवीर्यस्त्रिस्थानिकस्तस्मादप्यनन्तगुणवीर्यश्चतुःस्थानिक इति परस्परं सुप्रतीतमेवानन्तगुणरसत्वमिति । शुभप्रकृतीनां पुनरेकस्थानिको रस एव नास्ति। यश्च शुभानामिक्षूपमो रसोऽभिहितः स द्विस्थानिकरसस्य सर्वजघन्यस्पर्द्धक एव द्रष्टव्यः। तदुत्तरस्पर्द्धकेषु चानन्तगुणा रसा भवन्ति । एतत्सर्वं पञ्चसंग्रहाभिप्रायतो व्याख्यातम्। किञ्च-केवलज्ञानावरणादिरूपाणां सर्वघातिनीनां विंशतिसंख्यानां प्रकृतीनां सर्वाण्यपि रसस्पर्द्धकानि सर्वघातीन्येव । देशघातिनीनां पुनर्मतिज्ञानावरणप्रभृतिपञ्चविंशतिप्रकृतीनां रसस्पर्द्धकानि कानिचित्सर्वघातीनि कानिचिद्देशघातीनि । तत्र यानि चतुःस्थानिकरसानि त्रिस्थानिकरसानि वा रसस्पर्द्धकानि तानि नियमतः सर्वघातीनि, द्विस्थानिकरसानि पुनः कानिचिद्देशघातीनि कानिचित्सर्वघातीनि, एकस्थानिकानि तु सर्वाण्यपि देशघातीन्येव उक्तं च-रसस्पर्द्धकानि सकलमपि स्वघात्यं ज्ञानादिगुणं घ्नन्ति । तानि च स्वरूपेण ताम्रभाजनवच्छिद्राणि घृतमिवातिशयेन स्निग्धानि, द्राक्षावत् तनुप्रदेशोपचितानि, स्फटिकाभ्रगृहवच्चातीव निर्मलानि । उक्तं च"-जो घाएइ नियगुणं, सयलं सो होइ सव्वघाइरसो। सो निच्छिड्डो निद्धो, तणुओ फलिहब्भहरविमलो " ॥ १ ॥ यानि च देशघातीनि रसस्पर्द्धकानि तानि स्वघात्यं ज्ञानादिगुणं देशतो घ्नन्ति, तदुदयेऽप्यवश्यं क्षायोपशमिकसंभवात् । तानि च स्वरूपेणानेकविधविवरसंकुलानि । तथाहि-कानिचित्कटवत्स्थूरच्छिद्रशतसंकुलानि, कानिचित्कम्बल इव मध्यमविवरशतसंकुलानि, कानिचित्पुनरतिसूक्ष्मविवरनिकरसंकुलानि, यथा वासांसि । तथा तानि देशघातीनि रसस्पर्द्धकानि स्तोकस्नेहानि भवन्ति, वैमल्यरहितानि च । उक्तं च-"देसविघाइगुणओ, इयरो कडकंबलं सुमंकासो । विविहबहुछिद्दभरिओ, अप्पसिणेहो अ विमलो य " ॥ १ ॥ इति प्ररूपितः सप्रपञ्चमनुभागबन्ध इति । कर्म० ५ कर्म० । (अघातिरसस्वरूपमत्रैव भागे १८० पृष्ठे ' अघाइरस ' शब्देऽभिहितम्)

इदानीं तु अनुभागः कस्य कर्मणः कतिविध इत्यभिधित्सुराह—तत्रादौ ज्ञानावरणीयस्य—

नाणावरणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स पुट्ठस्स बद्धफासपुट्ठस्स संचियस्स चियस्स उवचियस्स आवागपत्तस्स विवागपत्तस्स फलपत्तस्स उदयपत्तस्स जीवेणं कडस्स जीवेणं निव्वत्तियस्स जीवेणं परिणामियस्स सयं वा उदिन्नस्स परेण वा उदीरियस्स तदुभएण वा उदीरिज्जमाणस्स गतिं पप्प ठिइं पप्प भवं पप्प पोग्गलपरिणामं पप्प कतिविहे अणुभावे पण्णत्ते ?। गोयमा ! नाणावरणिज्जस्स णं कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पोग्गलपरिणामं पप्प दसविहे अणुभावे पण्णत्ते। तं जहा-सोतावरणे सोयविन्नाणावरणे नेत्तावरणे नेत्तविन्नाणावरणे घाणावरणे घाणविन्नाणावरणे रसावरणे रसविन्नाणावरणे फासावरणे फासविन्नाणावरणे जं वेदेति पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा वीससा पोग्गलाणं परिणामं तेसिं वा उदएणं जाणियव्वं न जाणइ, जाणिउ कामे न जाणइ, जाणित्ता वि न जाणइ, उच्छन्नणाणी यावि भवति नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं, एस णं गोयमा ! नाणावरणिज्जे कम्मे, एस णं गोयमा ! नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पोग्गलपरिणामं पप्प दसविहे अणुभावे पण्णत्ते ॥

ज्ञानावरणीयस्य । णमिति वाक्यालङ्कारे । भदन्त ! जीवेन बद्धस्य रागद्वे[illegible]

[illegible]

घात-[illegible]

[illegible] सद्बुद्ध्याऽवस्थापितस्य उपचितस्य समानजातीयप्रकृत्यन्तरदलिककर्मणोपचयं नीतस्य आपाकप्राप्तस्य ईषत्पाकाभिमुखीभूतस्य विपाकप्राप्तस्य विशिष्टपाकमुपगतस्य, अत एव फलप्राप्तस्य फलं दातुमभिमुखीभूतस्य । [illegible]

[illegible]) जीवेन कर्मबन्धनबद्धेनेति गम्यते । कृतस्य निष्पादितस्य जीवो हि उपयोगस्वभावस्ततोऽसौ रागादिपरिणतो भवति, स चैवं रागादिपरिणतश्च सन् कर्म करोति। सा च रागादिपरिणतिः कर्मबन्धबद्धस्य भवति, न मुक्तस्य; अन्यथा मुक्तानामप्यवर्ग[illegible]केऽतः कर्मबन्धनबद्धेन सता जीवेन कृतस्येति द्रष्टव्यम् । उक्तं च-"जीवस्तु कर्मबन्धन-बद्धो वीरस्य भगवतः कर्ता । संतत्यानाद्यं च, तदिष्टकर्मात्मनः कर्तुः" ॥१॥ तथा जीवेन निर्वर्तितस्य इह बन्धसमये जीवः प्रथमतो विशिष्टान् कर्मवर्गणान्तःपातिन-

पुद्गलान् गृह्णन् अनाभोगिकेन वीर्येण तस्मिन्नेव बन्धसमये ज्ञानावरणीयादितया व्यवस्थापनं निर्वर्त्तनमित्युच्यते । तथा जीवेन परिणामितस्य विशेषप्रत्ययैः प्रद्वेषनिह्नवादिभिस्तत्तदुत्तरोत्तरं परिणामं प्रापितस्य स्वयं वा विपाकप्राप्ततया परनिरपेक्षमुदीर्णस्य उदयप्राप्तस्य, परेण वा उदीरितस्य उदयमुपनीतस्य, तदुभयेन स्वपरकर्मोपनयेन उदीर्यमाणस्य उदयमुपनीयमानस्य गतिं प्राप्य किञ्चिद्धि कर्म काञ्चिद् गतिं प्राप्य तीव्रानुभावं भवति । यथा नरकगतिं प्राप्याऽसातवेदनीयम् । असातोदयो हि यथा नारकाणां तीव्रो भवति, न तथा तिर्यगादीनामिति । तथा स्थितिं प्राप्य सर्वोत्कृष्टानुभावमिति शेषः । सर्वोत्कृष्टां हि स्थितिमनुगच्छन्नशुभं कर्म तीव्रानुभावं भवति । यथा मिथ्यात्वं भवं प्राप्य इह किमपि किञ्चित्कर्माश्रित्य स्वविपाकप्रदर्शनसमर्थम् । यथा निद्रा मनुष्यतिर्यग्भवं प्राप्येत्युक्तम् । एतावता स्वत एव उदयस्य कारणानि दर्शितानि । कर्म हि तां तां गतिं स्थितिं भवं वा प्राप्य स्वयमुदयमागच्छतीति । सम्प्रति परत उदयमाह-पुद्गलं काष्ठलेष्टुखड्गादिलक्षणं प्राप्य । तथाहि-परेण क्षिप्तं काष्ठलेष्टुखड्गादिकमासाद्य असातवेदनीयम् । [illegible] पुद्गलपरिणामं प्राप्य इह किञ्चित्कर्म पुद्गलमाश्रित्य विपाकमायाति । यथाऽभ्यवहृतस्याऽऽहारस्य [illegible] समाश्रित्य असातवेदनीयम् । ज्ञानावरणीयं तु [illegible] । ततः पुद्गलपरिणामं प्राप्येत्युक्तम् । [illegible] प्रश्नः, उत्तरं प्रश्न । अत्र निर्वचनम्-दशविधः [illegible] । तदेव दशविधमनुभावं दर्शयति-(सोयावरणे इत्यादि) । [illegible] श्रोत्रेन्द्रियविषयः क्षयोपशमः परिणते । (सोयविण्णाणावरणे इति) श्रोत्रविज्ञानशब्देन श्रोत्रेन्द्रियोपयोग, [illegible] नाम नामकर्म [illegible] , न श्रोत्रशब्देन गृह्यते । एवं [illegible] । [illegible] स्पर्शनप्राणच- [illegible] आवरणम् । आवरणं [illegible] । [illegible] पञ्चमा- [illegible] । आगमे [illegible] [illegible] " ॥ १ ॥ [illegible] इति । ततः [illegible] [illegible]

[illegible]

यदा तदा तत्रेन्द्रियोपघातजननद्वारेण ज्ञानपरिणतमपि [illegible] ज्ञातव्यम् । एकेन्द्रियः किमपि सद्वस्तु न जानाति, [illegible] तेषामावृततरत्वात् । अयं सापेक्ष उदय उक्तः । निरपेक्षस्तु [illegible] सूत्रमिदम्-(तेसिं वा उदएणं ति) ज्ञानावरणीयकर्मपुद्गलानां विपाकप्राप्तानामुदयेन ज्ञातव्यं न जानाति । (जाणिउकामे वि न जाणइ त्ति) ज्ञानपरिणामेन परिणमितुमिच्छन्नपि [illegible] स्त्युपघाताच्च जानाति । (जाणित्ता वि न जाणइ त्ति) [illegible] ज्ञात्वाऽपि पश्चान्न जानीते, तेषामेव ज्ञानावरणीयकर्मपुद्गलानामुदयात् (उच्छन्ननाणीया वि भवइ इत्यादि) ज्ञानावरणीय कर्मण उदयेन जीव उच्छन्नज्ञान्यपि भवति । उच्छन्नं च [illegible] च उच्छन्नज्ञानं, तदस्यास्तीति उच्छन्नज्ञानी, सर्वघाति [illegible] अभ्युपगमादिभिः यावत् [illegible] भवति । " एस णं गोयमा ! नाणावरणिज्जे कम्मे " इत्युपसंहार [illegible] कण्ठ्यम् । प्रज्ञा० । प्र० ।

दर्शनावरणीयस्य—

दरिसणावरणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स [illegible] बद्धस्स जाव पोग्गलपरिणामं पप्प कतिविहे अ[णुभावे] पण्णत्ते ?। गोयमा ! नवविहे अणुभावे पण्णत्ते । तं [जहा-] निद्दा निद्दानिद्दा पयला पयलापयला थीणद्धी चक्खुदंसणावरणे अचक्खुदंसणावरणे ओहिदंसणावरणे केवलदंसणावरणे जं वेदेइ पोग्गलं वा पोग्गले वा पुग्गलपरिणामं [illegible] वीससा वा पोग्गलपरिणामं तेसिं वा उदएणं पासियव्वं वा न पासइ, पासिउकामे न पासइ, पासित्ता वि [न पासइ] उच्छन्नदंसणीया वि भवइ दरिसणावरणिज्जस्स [कम्मस्स] उदए णं, एस णं गोयमा ! दरिसणावरणिज्जे कम्मे । [एस] णं गोयमा ! दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स [illegible] बद्धस्स जाव पोग्गलपरिणामं पप्प नवविहे अणुभावे [पण्णत्ते] ।

प्रश्नसूत्रं पूर्ववत् । निर्वचनमाह-गौतम ! नवविधः प्र[illegible] नवविधत्वं दर्शयति-'निद्दा' इत्यादि । निद्रादय [illegible] स्वरूपाः । तदर्थसङ्ग्रहम्-"सुहपडिबोहा निद्दा, दुह[पडिबोहा] निद्दानिद्दा य । पयला होइ ठियस्सा, पयलापयला [illegible] ॥ १ ॥ थीणद्धी पुण अइसंकिलिट्ठकम्माण वेयणे [illegible] " ॥ २ ॥ निद्रादि पञ्चकमिति-[illegible] । [illegible] चक्षुःसामान्योपयोगावरणम् । [illegible] (जं वेयइ इत्यादि) यं वेदयति पुद्गलं मृदुतूलिकादि [illegible] वा इति) यान् पुद्गलान् बहून् मृदुतूलिकादीन् [illegible] पुद्गलपरिणामं [illegible] वीससा वा पोग्गलपरिणामं परिणामयति । [illegible] [illegible]

सातासातावेदनीयस्य—

सातावेयणिज्जस्स णं भंते! कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पोग्गलपरिणामं पप्प कतिविहे अणुभावे पण्णत्ते ? । गोयमा ! सायावेयणिज्जस्स कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव अट्ठविहे अणुभावे पण्णत्ते । तं जहा-मणुन्ना सद्दा, मणुन्ना रूवा, मणुन्ना गंधा, मणुन्ना रसा, मणुन्ना फासा, मणोसुहया, वयसुहया, कायसुहया । जं वेएइ पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा वीससा वा पोग्गलाणं परिणामं तेसिं वा उदएणं सातावेदणिज्जं कम्मं वेदेइ । एस णं गोयमा ! सातावेयणिज्जे कम्मे, एस णं गोयमा ! सायावेयणिज्जस्स जाव अट्ठविहे अणुभावे पण्णत्ते । असायावेयणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स जीवेणं तहेव पुच्छा, उत्तरं च, नवरं अमणुन्ना सद्दा जाव वयदुहिया एस णं गोयमा ! असातावेयणिज्जस्स जाव अट्ठविहे अणुभावे ॥

प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनमाह—गौतम ! अष्टविधोऽनुभावः प्रज्ञप्तः । अष्टविधत्वमेव दर्शयति—(मणुन्ना सद्दा इत्यादि) मनोज्ञाः शब्दा आगन्तुका वेणुवीणादिसंबन्धिनः । अन्ये 'आत्मीया' इत्याहुः । तदयुक्तम् । आत्मीयशब्दानां वाक्सुखेनैव गृहीतत्वात् । मनोज्ञा रसा इक्षुरसप्रभृतयः, मनोज्ञा गन्धाः कर्पूरादिसम्बन्धिनः, मनोज्ञानि रूपाणि स्वगतस्पर्शचित्रादिगतानि, मनोज्ञाः स्पर्शाः हंसतूल्यादिगताः, (मणोसुहया इति) मनसि सुखं यस्यासौ मनःसुखितस्तस्य भावो मनःसुखिता, सुखितं मन इत्यर्थः । वाचि सुखं यस्यासौ वाक्सुखितस्तस्य भावो वाक्सुखिता । सर्वेषां श्रोत्रमनःप्रह्लादकारिणी वागिति भावार्थः । काये सुखं यस्यासौ कायसुखितस्तद्भावः कायसुखिता, सुखितः काय इत्यर्थः । एते अष्टौ पदार्थाः सातावेदनीयस्योदयेन प्राणिनामुपतिष्ठन्ते ।

मोहनीयस्य—

मोहणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव कतिविहे अणुभावे पण्णत्ते ? । गोयमा ! मोहणिज्जस्स कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पंचविहे अणुभावे पण्णत्ते । तं जहा-सम्मत्तवेयणिज्जे मिच्छत्तवेयणिज्जे सम्मामिच्छत्तवेयणिज्जे कसायवेयणिज्जे नोकसायवेयणिज्जे जं वेदेइ पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा वीससा वा पोग्गलाणं परिणामं तेसिं वा उदएणं मोहणिज्जं कम्मं वेदेइ, एस णं गोयमा ! मोहणिज्जे कम्मे, एस णं गोयमा ! मोहणिज्जस्स जाव पंचविहे अणुभावे पण्णत्ते ।

प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनम्-पञ्चविधोऽनुभावः प्रज्ञप्तः । तदेव पञ्चविधत्वं दर्शयति—सम्यक्त्ववेदनीयमित्यादि । सम्यक्त्वरूपेण यद्वेद्यं तत्सम्यक्त्ववेदनीयम् । [illegible] प्रशमादिपरिणामकारणम् । [illegible] मिथ्यात्ववेदनीयं [illegible] । कषायवेदनीयं [illegible] परिणामकारणम् । नोकषायवेदनीयम् । (जं वेदेइ पुग्गलं इ- त्यादि) यं वेदयते पुद्गलं विषयादिकं [illegible] वेदयते बहून् प्रतिमादीन् [illegible] परिणामं [illegible] ।

[illegible]

आउयस्स णं भंते ! कम्मस्स जीवेणं [illegible] पुच्छा । गोयमा ! आउयस्स णं कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव चउ- विहे अणुभावे पण्णत्ते । तं जहा-[illegible] [illegible] परिणामं वा वीससा वा [illegible] उदएणं आउयं कम्मं वेदेइ, एस णं गोयमा ! [illegible] आउयस्स जाव चउव्विहे अणुभावे पण्णत्ते ।

प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । [illegible]

[illegible]

सुभणामस्स णं भंते ! कम्मस्स जीवेणं पुच्छा । गोयमा ! सुभनामस्स णं कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव चउद्दसविहे अणुभावे पण्णत्ते । तं जहा-इट्ठा सद्दा इट्ठा रूवा इट्ठा गंधा इट्ठा रसा इट्ठा फासा [illegible] [illegible] वेदेइ [illegible] वेदेइ, एस णं गोयमा ! [illegible] सुभणामस्स कम्मस्स जाव चउद्दसविहे अणुभावे पण्णत्ते ।

[illegible]

नीचैर्गोत्रस्य—

ीयागोयस्स णं भंते! पुच्छा। गोयमा! एवं चेव, नवरं तिविहीणता जाव इस्सरियविहीणता जं वेदेइ पोग्गलं वा पोग्गले वा पोग्गलपरिणामं वा वीससा वा पोग्गलाणं परिणामं तेसिं वा उदएणं जाव अट्ठविहे अणुभावे पण्णत्ते ॥

अस्य सूत्रं प्राग्वत्। निर्वचनम्-अष्टविधोऽनुभावः। तमेवाष्टविधमनुभावं दर्शयति-[जाइविहीणया इत्यादि] सुप्रतीतम्। [जं वेदेइ पुग्गलमिति] यं वेदयते पुद्गलं नीचकर्मासेवनरूपं, नीचपुरुषसम्बन्धलक्षणं वा। तथाहि—उत्तमजातिसम्पन्नोऽपि उत्तमकुलोत्पन्नोऽपि यदि नीचैः कर्मवशाद् यथा जीविकारूपमासेवते, चाण्डालीं वा गच्छति तदा भवति चाण्डालादिरिव जनन्य निन्द्यः। बलहीनता, सुखशयनीयादिसम्बन्धात्। तपोविहीनता पार्श्वस्थादिसंसर्गात्, श्रुतविहीनता विकथाऽपरमार्थशास्त्रादिसंसर्गात्, लाभविहीनता देशकालानुचितकुक्रियाणां सम्पर्केण, ऐश्वर्यविहीनता कुगृहकुकलत्रादिसम्पर्कत इति। [पुग्गले वा इति] यान् बहून् पुद्गलान् वेदयते, यथा-पुद्गलपरिणाम वृन्ताकीफलं हत्त्वघट्टतकण्डूत्पादनेन रूपविहीनतामापादयतीत्यादि। विस्रसया वा पुद्गलानां परिणाममभिद्रजलदागमविसंवादलक्षणं वेदयते, तत्प्रभावाद् नीचैःकर्म वेदयते, नीचैर्गोत्रकर्मफलं जात्यादिविहीनतारूपं वेदयते इत्यर्थः। एतावता परत उदय उक्तः। सम्प्रति स्वत उदयमाह-(तेसिं वा उदएणं ति) तेषां वा नीचैर्गोत्रकर्मपुद्गलानामुदयेन जात्यादिविहीनतामनुभवति। "एस णं गोयमा!" इत्याद्युपसंहारवाक्यम्।

अन्तरायस्य-

अंतराइयस्स णं भंते! कम्मस्स जीवेणं पुच्छा। गोयमा! अंतराइयस्स कम्मस्स जीवेणं बद्धस्स जाव पंचविहे अणुभावे पण्णत्ते। तं जहा-दाणंतराए लाभंतराए भोगंतराए उवभोगंतराए वीरियंतराए जं वेदेति पोग्गलं वा जाव वीससा वा तेसिं वा उदएणं अंतराइयं कम्मं वेदेइ, एस णं गोयमा! अंतराइए कम्मे, एस णं गोयमा! जाव पंचविहे अणुभावे पण्णत्ते।

अस्य सूत्रं प्राग्वत्। निर्वचनम्-पञ्चविधोऽनुभावः प्रज्ञप्तः। तमेव पञ्चविधत्वं दर्शयति—(दाणंतराए इत्यादि) दानस्यान्तरायो विघ्नः दानान्तरायः। एवं सर्वत्र भावनीयम्। तत्र दानान्तरायो दानान्तरायस्य कर्मणः फलम्। लाभान्तरायो लाभान्तरायस्य कर्मणः फलम्। (जं वेदेइ पुग्गलं वा इत्यादि) यं वेदयते पुद्गलं विशिष्टविधिविशिष्टरत्नादिसम्बन्धाद् दृश्यते तद्विषय एव दानान्तरायोदयः सन्धिच्छेदनाद्युपकरणसम्बन्धाल्लाभान्तरायकर्मोदयः, प्रतिविशिष्टाहारस्य पादसम्बन्धाल्लाभान्तरायोदयः। एवमुपभोगान्तरायकर्मोदयोऽपि भावनीयः। तथा लगुडाद्यभिघाताद् वीर्यान्तरायकर्मोदय इति। [illegible] यान् बहून् तथाविधान् वा पुद्गलान् वेदयते यं वा पुद्गलपरिणामं तथाविधाहारौषध्यादिपरिणामरूपम्। तथाहि—[illegible] तथाविधाऽऽहारौषधपरिणामाद्वीर्यान्तरायकर्मोदयः। [illegible] [illegible] भोगान्तरायोदयः। [illegible] विस्रसया वा पुद्गलानां परिणाम [illegible] दृष्टिलक्षणम्। तथाहि—[illegible]

दीनादिनिगदन्तमालोक्य दानान्तरायोदयात् [illegible] इति तत्प्रभावात् एव परत उदय उक्तः। स्वतस्तमाह—(तेसिं वा उदएणं ति) तेषां वा अन्तरायकर्मपुद्गलानामुदयेन अन्तरायकर्मफलं दानान्तरायादिकं वेदयते। "एस णं" इत्याद्युपसंहारवाक्यम्। प्रज्ञा० २३ पद। "तहा पच्चंमि [illegible] विवाहेय। पच्चंमि सव्वे चेव, [illegible]" ३२ अ०। कर्मणः स्वभावे, तदुक्तं कर्मप्रकृतिचूर्णौ-"[illegible] ति महाभो" क० प्र०। (कर्मणां बन्धानां बन्धसंक्रम [illegible])। [illegible] नुभागबन्धादिभेदाः बन्धादिशब्देषु द्रष्टव्याः)।

अणुभागअप्पाबहुय-अनुभागाल्पबहुत्व-न०। अनुभागं [illegible] ल्पबहुत्वे, यथा "[illegible] अणंतगुणाइं [illegible] णाणि [illegible] अणंतगुणाइं जाव [illegible] णंतगुणाणि" प्रदेशाल्पबहुत्वं यथा-"[illegible] सव्वत्थोवा [illegible] आउयस्स [illegible]" [illegible] ४ [illegible]।

अणुभागउदीरणाविसय-अनुभागोदीरणाविषय-[illegible]

[illegible] दर्शन [illegible]

अणुभागकम्म-अनुभागकर्मन्-न०। [illegible] १ ठा० ४ उ०।

[illegible] कर्मभेदे, स्था० १ ठा० ४ उ०।

अणुभागणामणिहत्ताउय-अनुभागनामनिधत्तायुष्-न०। [illegible] अनुभाग आयुष्कर्मद्रव्याणां [illegible] नाम परिणामोऽनुभागनाम, [illegible] अनुभागबन्धरूपो भेदः अनुभागनाम, [illegible] स्था० ६ ठा०। [illegible] नामनिधत्तायुरिति। आयुर्भेदे, स्था० ६ ठा०।

अणुभाग (ग) बंध-अनुभाग (ग) बन्ध-पुं०। [illegible] विपाकस्यं बन्धभेदे [illegible] स्था० ४ ठा० २ उ०। ([illegible])

अणुभागबंधज्झवसायट्ठाण-अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान-न०। [illegible] न०। [illegible] योदया [illegible] निबन्धनाथ। क० प्र०।

अणुभाग (ग) बंधट्ठाण-अनुभाग (ग) बन्धस्थान-न०। [illegible]

[illegible]

येषु सूक्ष्मनामककर्मोदयवर्तिषु तेजस्कायिकजीवेषु प्रविशन्ति उ-त्पद्यन्ते । संक्लेशस्थानमेवाह—असंख्यलोक प्रदेशतुल्या असं-ख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः । इह च विजातीयजीवानां तेजस्कायिकेषु प्रवेशः प्रवेश उच्यते । इत्यमेव प्रकृतौ प्रवेशनक-[illegible]। ततस्ते जीवाः पृथिव्यादिभ्योऽप्का-[illegible] सूक्ष्मतेजस्कायतयोत्पद्यन्ते, इह सूक्ष्म-[illegible], ये पुनः पूर्वमुत्पन्नाः तेजस्कायिकाः पुनर्मृत्वा तेनैव पर्यायेणो-त्पद्यन्ते न गृह्यन्ते, तेषां पूर्वमेव प्रविष्टत्वात् । ततः सर्वस्तोका [illegible] सूक्ष्माग्निकायिकाः । (तत्तो त्ति) ततस्तेभ्य [illegible] सूक्ष्माग्निकायिकेभ्योऽसंख्येयगुणिता असंख्ये-[illegible] पूर्वोक्ताः सर्वेऽपि सूक्ष्माग्निकायिकजी-[illegible] । उच्यते—एकः सूक्ष्माग्निकायिको जीवः स-[illegible] जीवति, एतावन्मात्रायुष्कत्वात् । तेषां तस्मि-[illegible] प्रत्येकमसंख्येयलोकाकाशप्रमा-[illegible]

[illegible]

सं० ।(' उईरणा ' शब्दे द्वि० भा० ६११ पृष्ठेऽस्य व्याख्या)

अणुभागोदय-अनुभागोदय-पुं० । अनुभागविपाके [illegible] दये, पं० सं० ५ द्वा० । क० प्र० । (' उदय ' शब्दे द्वि० भा० ७७६ पृष्ठेऽस्य व्याख्या)

अणुभाव-अनुभाव-पुं० । शुभानां कर्मप्रकृतीनां [illegible] पात्तानां प्रकृतिस्थितिप्रदेशरूपाणां तीव्रमन्दानुभाव[illegible] यते, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । स० । अचिन्त्यायां [illegible] दिकायां शक्तौ च । स्था० ३ ठा० ३ उ० । प्रभावे च । [illegible]

अणुभावकम्म-अनुभागकर्मन्-न० । अनुभागो वेदनं [illegible] मेणि, यस्य हि अनुभावो यथा यद्रसो वेदनं । स्था० १ ठा० ३ उ० ।

अणुभावग-अनुभावक-त्रि० । चिन्तापके, [illegible]

अणुभासण-अनुभाषण-न० । आचार्यभाषणानन्तरं [illegible] षणे, आचार्येण भाषिते पश्चात् भाषणं न पुनः प्रथमं [illegible] चार्यभाषणादग्रे भाषते । " साहूणं अणुभासए, आयरियं पु [illegible] भासिए संते । " स्था० २ उ० । आ० चू० ।

अणुभासण (णा) सुद्ध-अनुभाषण (णा) शुद्ध-न० । गुरूच्चारितस्य शनैः गुरूच्चारणकरं [illegible] चू० ६ अ० । अनुभाषणाशुद्धं यथा-

" अणुभासइ गुरुवयणं, अक्खरपयवंजणेहिं परिसुद्धं ।
पंजलिउडो अभिमुहो, तं जाणऽणुभासणासुद्धं " ॥ १ ॥

[illegible] गुरुभणति-(वोसिरत्त त्ति) [illegible] रामि त्ति) स्था० ५ ठा० ३ उ० । [illegible] कुर्वन् अनुभाषते गुरुवचन [illegible] । कथमनुभाषते ?, [illegible] गुरुर्भणति-(वोसिरइ त्ति) [illegible] णति-(वोसिरामि त्ति) [illegible] सन् ? [illegible] ति । आव० ६ अ० ।

अणुणइ-अनुनति-स्त्री० । [illegible] । दशा० ।

अणुमइ-अनुमति-स्त्री० । अनुमोदने, आव० ४ अ० । [illegible]

[illegible]

अनुमत–त्रि० । अभीष्टे, आ० म० द्वि० । ज्ञानमनुज्ञाते, व्य० । अनु पश्चादपि मतोऽनुमतः। ज्ञा० १ अ०। विप्रियकरणस्यापि (ज्ञा० १ अ०) वैगुण्यदर्शनस्यापि (भौ०) कार्यविधास्यापि (ज्ञा० १ अ०) पश्चादपि मते, भ० २ श० १ उ० । अतस्य (ज्ञा० १ अ०) पश्चादपि मते, भ० २ श० १ उ० । अनिरूपिते, पश्यें च । औ० । आनुकूल्येन मिश्रेते, सू० १ उ० । अनिरूपिते, पश्ये च । औ० । आनुकूल्येन सम्मते, जी० १ प्रति० । बहुमते, पञ्चा० ६ विव० ।

अणुमहत्तर–अनुमहत्तर–पुं० । मूलमहत्तराभावे तत्कार्यकारिणि, "मूलमहत्तरे असंणिहिते जो पुच्छणिज्जो धुरे ठायति सो अणुमहत्तरः । नि० चू० ६ उ० । मूलमहत्तरे असंनिहिते सर्वत्र सर्वत्रपि प्रच्छनीयः, धुरि च प्रथमं तिष्ठति सोऽनुमहत्तरः । बृ० २ उ० ।

अणुमाण–अणुमान–पुं० । अणुह्यासौ मानः । स्तोकाहङ्कारे, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । "अणुमाणं च मायं च तं परिणाय पंडिए" चक्रवर्त्यादिना सत्कारादिना पूज्यमानेनाणुरपि स्तोकोऽपि मानोऽहङ्कारो न विधेयः, किमुत महान्? । यदि वा सम्मर्दोपस्थितेनोग्रतपोनिष्टप्तदेहेन वा, 'अहो ! अहमित्यंभूतः' स्तोकोऽपि गर्वो न विधेयः । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

अनुमान–न० । अनु इति लिङ्गदर्शनसंबन्धानुस्मरणयोः पश्चान्मानं ज्ञानमनुमानम् । स्था० ४ ठा० ३ उ० । अविनाभावनिश्चयात्लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञाने, आ० चू० १ अ० । न० । अनु पश्चाद् लिङ्गलिङ्गिसंबन्धग्रहणस्मरणानन्तरं मीयते परिच्छिद्यते देशकालस्वभावविप्रकृष्टोऽर्थोऽनेन ज्ञानविशेषेणेत्यनुमानम् । स्था० । प्र०। अनु० । "साध्याविनाभुनो लिङ्गात्, साध्यनिश्चायकं स्मृतम् । अनुमानं तदभ्रान्तं, प्रमाणत्वात् समक्षवत्" ॥१॥ इति ... अनुमानस्य ग्रहणप्रवृत्तिरिति प्रमाणभेदे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । ... प्रामाण्यम्-(अनुमानं न प्रमाणमिति निराधविषया प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणम् ... इति 'आता' शब्दे द्वितीय भागे १८१ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

... शास्त्रसमयिनां मतं ... प्रत्यक्षप्रमाणस्यानुमानादिप्रमाणान्तरापेक्षित्वात् ... प्रमाणान्तरानङ्गीकारे ... प्रमाददर्शयति–

तेषां महत्याः प्रमादमाह–

विनाऽनुमानेन पराभिसंधि-
मसंविदानस्य तु नास्तिकस्य ।
न साम्प्रतं वक्तुमपि क्व चेष्टा,
क्व दृष्टमात्रं च हहा ! प्रमादः ॥ २० ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]पेक्षयाऽभ्योक्तमतिव्युत्पन्नम्। अतिप्रतिपाद्यापेक्षया तु धूमोऽत्र दृश्यते इत्यादि हेतुवचनमात्रात्मकमपि तद्भवति। बाहुल्येन त-[illegible]प्रयोगाभावात् तु नैतस्मात्सूत्रे सूत्रितम्, उपलक्षितं तु द्र-[illegible]व्यम्, मन्दमतिप्रतिपाद्यापेक्षया तु दृष्टान्तादिवचनात्मकमपि तद्भवति। यद्वक्ष्यन्ति-" मन्दमतींस्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तोपनयनिगमनान्यपि प्रयोज्यानि " इति । पक्षहेतुवचनस्य च [illegible]रूपतया मुख्यतः प्रामाण्यायोगे सत्युपचारादित्युक्तम्, कारणे कार्योपचारादित्यर्थः। प्रतिपाद्यगतं हि यत् ज्ञानं तस्य कारणं पक्षादिवचनम्, कार्ये कारणोपचाराद्वा । प्रतिपादकगतं हि यत्स्वार्थानुमानं तस्य कार्यं तद्वचनमिति ॥ २३ ॥

[illegible]म्प्रति व्याप्तिपुरस्सरं पक्षधर्मतोपसंहारं तत्पूर्विकां वा [illegible]याभिमायत्ताणान् सिद्धपक्षप्रयोगमङ्गीकारयितुमाहुः-

साध्यस्य प्रतिनियतधर्मिसंबन्धितासिद्धये हेतोरुपसं-[हा]रवचनवत्पक्षप्रयोगोऽप्यवश्यमाश्रयितव्यः ॥ २४ ॥

यथा यत्र धूमस्तत्र धूमध्वज इति हेतोः सामान्येनाऽभ्यस्त-[illegible]व्याप्तावपि, पर्वतादिविशिष्टधर्मिधर्मताऽधिगतये धूमश्चात्रे-[illegible]त्युपसंहारवचनमवश्यमाश्रीयते सौगतैः। तथा साध्य-[ध]र्मस्य नियतधर्मिधर्मतासिद्धये पक्षप्रयोगोऽप्यवश्यमाश्र-[यि]तव्य इति ॥ २४ ॥

अमुमेवार्थं सोपालम्भं समर्थयन्ते—

मन्तुमोऽयम्, अनन्यसाधारणत्वादिलक्षणविशिष्टलिङ्गोपलम्भे', इति साधर्म्यवैधर्म्यदृष्टान्तयोः सत्त्वेतराभावादयमहेतुरिति चेत्। नैवम्। हेतोः परमार्थैकलक्षणत्वात्तद्भावेनैव गमकत्वोपलम्भेः। उक्तं च न्यायवादिना पुरुषचन्द्रेण-अन्यथाऽनुपपन्नत्वमात्रं हेतोः स्वलक्षणम्, सत्त्वाऽसत्त्वे हि तद्धर्मौ। दृष्टान्तद्वयलक्षणे। न च धर्मिसत्तायां धर्माः सर्वेऽपि सर्वदा भवन्त्येव, पक्षादिदृ[illegible] स्वादिधर्मैर्व्यभिचारात्। ततो दृष्टान्तयोः सत्त्वाऽसत्त्वधर्मौ य[illegible]पि क्वचिद् हेतौ न दृश्यते तथापि धर्मिस्वरूपमन्यथाऽनुप[illegible] भविष्यतीति न कश्चिद्विरोध इति भावः। यथाऽपि दृ[illegible] दृष्टान्तयोः सत्त्वाऽसत्त्वं हेतोर्दृश्यते, तथापि साध्या[illegible] [illegible]न्वयस्यैव प्राधान्यात्, नहि तत्त्वैकस्य हेतुलक्षणताऽस्त्येव [illegible] चाह—"धूमादेर्यद्यपि स्यातां, सत्त्वाऽसत्त्वे च लक्षणे [illegible] ऽनुपपन्नत्व-प्राधान्याल्लक्षणैकता " ॥ १ ॥ किं च [illegible] सत्त्वाऽसत्त्वदर्शनाद्धेतुर्गमक इष्यते, तदा लोहलेख्य [illegible] पार्थिवत्वात्काष्ठादिवदित्यादेरपि गमकत्वं स्यात् [illegible]
"दृष्टान्ते सदसत्त्वाभ्यां, हेतुः सम्यग[illegible] प्रवेदन, पार्थिवत्वाद् द्रुमादिवत् " ॥ २ ॥ इत्ये[illegible] मित्यसपक्षसत्त्वविपक्षाऽसत्त्वलक्षणं हेतो[illegible] यथोक्तदोषतयाऽसाध्येन सहान्यथाऽनुप[illegible] तदेवैकं लक्षणतया पक्षमुचितम्। किं च [illegible]
"अन्यथाऽनुपपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम्[illegible]

तच्छुद्धीनामधिकृतवाक्यार्थोपकारकत्वेन प्रतिज्ञादीनामिव मा-धनीयमित्यत्र बहु वक्तव्यं, तत्तु नोच्यते, गमनिकामात्रमारम्भ-स्त्यस्येति । दश० १ अ० । (प्रतिज्ञादीनां स्वरूपं सोदाहरणं स्वस्वस्थाने द्रष्टव्यम्)

इदानीं भूयोऽपि भङ्ग्यन्तरेणाऽऽज्ञा दशावयवेनैव वाक्येन सर्वमध्ययनं व्याचष्टे निर्युक्तिकारः—

ते उ पइन्नविभत्ती, हेउविभत्ती विवक्ख पडिसेहो ।
दिट्ठंतो आसंका, तप्पडिसेहो निगमणं च ॥ ४२ ॥

(त इति) अवयवाः । तु पुनःशब्दार्थः । ते पुनरमी प्रतिज्ञादयः । तत्र प्रतिज्ञानं प्रतिज्ञा, वक्ष्यमाणस्वरूपस्यैकोऽवयवः । तथा विभजनं विभक्तिः, तस्या एव विषयविभागकथनमिति द्वितीयः । तथा हिनोति गमयति जिज्ञासितधर्मविशिष्टानर्थानिति हेतुस्तृतीयः । तथा विभजनं विभक्तिरिति पूर्ववच्चतुर्थकः । तथा विप्रतिपक्षो विपक्षः, साध्यादिविपर्यय इति पञ्चमः । तथा प्रतिषेधनं प्रतिषेधः, विपक्षस्येति गम्यत इत्ययं षष्ठः । तथा दृष्टमर्थमन्तं नयतीति दृष्टान्त इति सप्तमः । तथा आशङ्कनमाशङ्का, प्रक्रमाद् दृष्टान्तस्यैव इत्यष्टमः । तथा तत्प्रतिषेधः, अधिकृताशङ्काप्रतिषेध इति नवमः । तथा निश्चितं गमनं निगमनम्, निश्चितोऽवसाय इति दशमः । चशब्द उक्तसमुच्चयार्थ इति गाथासमासार्थः । व्यासार्थं तु प्रत्यवयवं वक्ष्यति ग्रन्थकार एव ॥ १४२ ॥

तथा चाह—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठ-त्ति पइन्ना अत्तवयणनिद्देसो ।
सो य इहेव जिणमए, नऽन्नत्थ पइन्न पविभत्ती ॥ १४३ ॥

धर्मो मङ्गलमुत्कृष्टमिति पूर्ववदियं प्रतिज्ञा । आह-केयं प्रतिज्ञेत्युच्यते ?, आप्तवचननिर्देश इति । तत्राप्त अप्रतारकः । अप्रतारकश्चारीपरागादिकयाद्भवतीति । उक्तं च—" आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद्विदुः । वीतरागोऽनृतं वाक्यं, न ब्रूयाद्धेत्वसंभवात् " ॥ १ ॥ तस्य वचनमाप्तवचनम्, तस्य निर्देश आप्तवचननिर्देशः । आह-'अयमागम' इति । उच्यते-विप्रतिपन्नसंप्रतिपत्तिनिबन्धनत्वेनैव एव प्रतिज्ञेति नैष दोषः । पाठान्तरं वा-'साध्यवचननिर्देश', इति । साध्यत इति साध्यम्, उच्यते इति वचनमर्थः यस्मात्स एवोच्यते । साध्यं च तद्वचनं च साध्यवचनम्, साध्यार्थं इत्यर्थः । तस्य निर्देशः प्रतिज्ञेत्युक्तः प्रथमोऽवयवः । अधुना द्वितीय उच्यते-स चाधिकृतो धर्मः किमिहैव जिनशासने अस्मिन्नेव मौनीन्द्रे प्रवचने नान्यत्र कपिलादिमतेषु ? । तथाहि-प्रत्यक्षत एवोपलभ्यन्ते यज्ञाद्यपूतप्रसुतोदकाद्युपभोगेषु परिव्राट्प्रभृतयः प्राण्युपमर्दं कुर्वाणाः, ततश्च कुतस्तेषु धर्म ?, इत्यत्र बहु वक्तव्यम्, तत्तु नोच्यते, ग्रन्थविस्तरभयाद्गाविनम्याच्चेति । प्रतिज्ञा प्रविभक्तिरियम्-प्रतिज्ञाविषयविभागकथनेति गाथार्थः । उक्तो द्वितीयोऽवयवः ॥ १४३ ॥

अधुना तृतीय उच्यते । तत्र—

सुरपूइओ त्ति हेऊ, धम्मट्ठाणे ठिया उ जं परमे ।
हेउविभत्ती निरुवहि-जियाण अवहेण य जियंति ॥ १४४ ॥

सुरा देवास्तैः पूजितः सुरपूजितः । सुरग्रहणमिन्द्राद्युपलक्षणम् । इति शब्द उपदर्शने । कोऽयम् ?, हेतुः पूर्ववद् हेत्वर्थसूचकं चेदं वाक्यम् । हेतुस्तु सुरेन्द्रादिपूजितत्वादिति द्रष्टव्यः । अस्यैव निदर्शनं दर्शयति-धर्मः पूर्ववत् । तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थानं, धर्मस्य स्थानं च धर्मस्थानम्, स्थानमालयः, अस्मिन् स्थिता । तु शब्दो गरार्थः, स चावधारणे, अयं योजयिष्यति क्रियया सह योत्स्यते । यद् यस्मात्, किंभूते धर्मस्थाने?, परमे प्रधाने, किम्?, सुरादिभिः पूज्यन्त एवेति वाक्यशेषः । इति तृतीयोऽवयवः । अधुना चतुर्थ उच्यते-हेतुविभक्तिरियं हेतुविषयविभागकथनम् । अथ क एते धर्मस्थाने स्थिता इत्यत्राह-निरुपधय उपधिश्छद्म माया इत्यनर्थान्तरम् । अयं च क्रोधाद्युपलक्षणम् । ततश्च निर्गता उपध्यादय सर्व एव कषाया येभ्यस्ते निरुपधयो निष्कषायाः, जीवानां पृथिवीकायिकादीनामवधेनापीडया, चशब्दात्तपश्चरणादिना च हेतुभूतेन जीवन्ति प्राणान् धारयन्ति ये त एव धर्मस्थाने स्थिता नान्य इति गाथार्थः ॥ १४४ ॥

उक्तश्चतुर्थोऽवयवः । अधुना पञ्चममभिधित्सुराह—

जिणवयणपदुट्ठे वि हु, ससुराईए अधम्मरुइणो वि ।
मंगलबुद्धीइ जणो, पणमइ आइदुयविवक्खो ॥ १४५ ॥

इह विपक्षः पञ्चम इत्युक्तम् । स चायम्-प्रतिज्ञाविषयोरिति । जिनास्तीर्थकरास्तेषां वचनमागमलक्षणं तस्मिन् प्रद्विष्टा अप्रीता इति समासः, तान् । अपिशब्दादप्रद्विष्टानपि । हु इत्ययं निपातोऽवधारणार्थः । अस्थानप्रयुक्तश्च स्थानं च दर्शयिष्यामः । श्वशुरादीन् । श्वशुरो लोकप्रसिद्धः-आदिशब्दात्पित्रादिपरिग्रहः । न विद्यते धर्मे रुचिर्येषां ते अधर्मरुचयस्तान् । अपिशब्दाद्धर्मरुचीनपि । किम् ?, मङ्गलबुद्ध्या मङ्गलप्रधानया धिया । मङ्गलबुद्ध्यैव नाम मङ्गलबुद्ध्येत्येवकारोऽवधारणार्थः किम्? जनो लोकः । प्रकर्षेण नमति प्रणमति । आद्यद्वयविपक्ष इति । आद्यद्वयं प्रतिज्ञा तच्छुद्धिश्च । तस्य विपक्षः साध्यादिविपर्यय इत्याद्यद्वयविपक्षः । तत्राधर्मरुचीनपि मङ्गलबुद्ध्या जन प्रणमतीत्यनेन प्रतिज्ञाविपक्षमाह-तेषामधर्मान्व्यतिरेकाद्, जिनवचनप्रद्विष्टानपीत्यनेन तु तच्छुद्धेस्तत्राऽपि हेतुप्रयोगप्रवृत्त्या धर्मसिद्धेरिति गाथार्थः ॥ १४५ ॥

विइयदुयस्स विवक्खो, सुरेहिँ पुज्जंति जण्णजाई वि ।
बुद्धाई वि सुरनया, वुच्चंते णायपडिवक्खो ॥ १४६ ॥

द्वयोः पूरणं द्वितीयम्, द्वितीयं च तद्द्वयं च द्वितीयद्वयम्-हेतुस्तच्छुद्धिः, इदं च प्रागुक्तद्वयापेक्षया द्वितीयमुच्यते । तस्यायं विपक्षः इह सुरैः पूज्यन्ते यज्ञयाजिनोऽपि । इयमत्र भावना-यज्ञयाजिनो हि मङ्गलरूपा न भवन्ति, अथ च सुरैः पूज्यन्ते, ततश्च सुरपूजितत्वमकारणमित्येष हेतुविपक्षः । तथा-अजितेन्द्रियाः सोपधयश्च यतस्ते वर्तन्ते, अतोऽनेनैव ग्रन्थेन धर्मस्थाने स्थिताः परम इत्यादिकाया हेतुविभक्तेरपि विपक्ष उक्तो वेदितव्य इति । तदाहरणे विपक्षमधिकृत्याह-बुद्धादयोऽप्यादिशब्दात् कपिलादिपरिग्रहः । ते किम्?, सुरनता देवपूजिता उच्यन्ते तत्त्यन्ते, तच्छासनप्रतिपन्नैरिति ज्ञातप्रतिपक्ष इति गाथार्थः । आह-ननु [illegible] तच्छुद्धेस्तत्र [illegible] वक्के च तत्रैव विपक्ष [illegible]

[illegible]

[illegible]

यथार्थमभिधीयते, अन्यथेदमपि पृथग्द्वार स्या[illegible] । तथ [illegible] प्रतिषेधोऽपि द्वारान्तरं प्राप्नोति, तथा च सति प्रन्थगौरवं जायते । तस्माद्यथायथमेवोक्तत इत्यदोषः । आह-"दिट्ठंतो आसंका, तप्पडिसेहो" त्ति वचनात् उत्तरत्र दृष्टान्तमभिधाय पुनराशङ्कां तत्प्रतिषेधं च वक्ष्यत्येव । तदाशङ्का च तद्विपक्ष एव । तत्किमर्थमिह पुनर्विपक्षप्रतिषेधावभिधीयेते ? । उच्यते-अनन्तरपरम्परगतेर

न दृष्टान्तद्वैविध्यख्यापनार्थम्, यः खल्वनन्तरमुक्तोऽपि पक्षः स्वाद्यागमगम्यत्वाद्धार्दैकार्थसाधनायाऽलं न भवति, तत्प्रसिद्धये विपक्षमिदं योऽन्य उच्यते, स परम्परादृष्टान्तः। तथा च तीर्थकरास्तथा साधवश्च द्वावपि भिन्नावेनायुक्तत्र दृष्टान्ताव-भिधास्येते। तत्र तीर्थकृल्लक्षणं दृष्टान्तमङ्गीकृत्येह विपक्षप्रतिषेधावुक्तौ। साधूंस्त्वधिकृत्य तथैवाऽऽशङ्कातत्प्रतिषेधौ दर्शयिष्येते इत्यदोषः। दृष्टान्तं प्रागुक्तेन विधिना साध्यार्थमनुक्त एव दृष्टान्तः, तच्यगां काममिहैव दृष्टान्तविपक्षतत्प्रतिषेधकः स एव दृष्टान्तः, किमित्युत्तरत्रोपदिश्यते, येन हेतुविपक्षतत्प्रतिषेधाभ्यामिव न भण्यते। यथाऽत्र दृष्टान्ते भण्यमाने प्रतिज्ञादीनामिव द्विकस्या-पि दृष्टान्तस्याऽऽदिस्याद्युक्तलक्षणस्यैनादेव विपक्षतत्प्रतिषेधावुपदर्श्येते। तत्र साधुलक्षणस्य दृष्टान्तस्याऽऽशङ्का तत्प्रतिषेधावुक्ता न पृथग्वक्तव्यौ भवतः। तथा च सति ग्रन्थलाघवं जायते। तथा प्रतिज्ञादेरुदाहरणरूपाः प्रतिज्ञाशुद्धिकारूपयोऽवयवाः क्रमेणोक्ता भवन्तीत्यभिप्रायः। इहाऽभिधीयमाने दृष्टान्तस्यैव प्रतिज्ञादीनामपि प्रत्येकमाशङ्कातत्प्रतिषेधौ वक्तव्यौ स्तः। तथा च सत्यवयवबहुत्वं दृष्टान्तस्य वा प्रतिज्ञादीनामिव विपक्षतत्प्रतिषेधाभ्यां पृथगाशङ्कातत्प्रतिषेधौ न वक्तव्यौ स्याताम्। एवं सति दशावयवता न प्राप्नुवन्ति। दशावयवं चेदं वाक्यं प्रकारान्तरेण प्रतिपिपादयिषितमस्याऽपि न्यायस्य प्रदर्शनार्थमत एव यदुक्तं साधुलक्षणदृष्टान्तस्याऽऽशङ्कातत्प्रतिषेधावुक्तावेव न पृथग्वक्तव्यौ दृष्टान्तमित्यादि, तदपाकृतं वेदितव्यमित्यलं प्रसङ्गेन। एवं प्रतिज्ञादीनां प्रत्येकं विपक्षोऽभिहितः ॥१४६॥

अधुनाऽयमेव प्रतिज्ञादिविपक्षः पञ्चमोऽवयवो वर्तत इत्येतद्दर्शयन्निदमाह—

एवं तु अवयवाणं, चउण्ह पडिवक्खु पंचमोऽवयवो ।
एत्तो छट्ठोऽवयवो, विपक्खपडिसेह तं वोच्छं ॥ १४७ ॥

एवमित्ययमेवकारः उपप्रदर्शने। तुरवधारणे। अयमेवाऽवयवानां प्रमाणाऽङ्गलक्षणानां चतुर्णां प्रतिज्ञादीनां प्रतिपक्षो विपक्षः पञ्चमोऽवयव इति। आह-दृष्टान्तस्याप्यत्र विपक्ष उक्त एव, न तु समर्थं चतुर्णामित्युक्तम्? उच्यते। हेतोः सपक्षविपक्षाभ्यामनुवृत्तिव्यावृत्तिरूपत्वेन दृष्टान्तधर्मत्वात्तद्विपक्ष एव चास्याऽन्तर्भावाददोष इत्युक्तः पञ्चमोऽवयवः। अधुना षष्ठ उच्यते-तथा चाह-इत ऊर्ध्वं षष्ठोऽवयवो विपक्षप्रतिषेधस्तं वक्ष्येऽभिधास्य इति गाथार्थः ॥ १४७ ॥

इह सामान्येनाभिधायेदानीमाद्यविपक्षप्रतिषेधमभि-धातुकाम आह—

सायं सम्मत्त पुमं, हासरई आउनामगोयसुहं ।
धम्मफलं आरुग्गे, विवक्खपडिसेह सो एसो ॥१४८॥

(सायं ति) सातवेदनीयं कर्म (सम्मत्तं ति) सम्यक्त्वं सम्यग्भावः सम्यक्त्वं मोहनीयं कर्मैव, पुमं ति) पुवेदमोहनीयम्। (हासं ति) हस्यतेऽनेनेति हास्यकर्मावो हास्यम्, हास्यमोहनीयम्। रमणमनेनेति रतिः, क्रीडादेर्नृ रतिमोहनीयं कर्मैव। (आउ-नामगोयसुहं ति) अत्र शुभशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, वचनव्यत्यात्। ततश्च आयुः शुभम्, नामशुभम्, गोत्रशुभम् तत्र शुभं तीर्थकरादिसम्बन्धि, नामापि कर्म शुभं तीर्थकरादिसम्बन्धि, प्रकृति-तत्रैव-यशोनामादि शुभं तीर्थकरादिसम्बन्धि मर्त्यानाम्। तथा गोत्रं तत्रैव शुभं तेषामेवेति। (धम्मफलं ति) धर्मस्य फलं

धर्मफलम्; धर्मेण वा फलं धर्मफलम्, [illegible] धर्मस्य फलम्। [illegible] मयाख्येते। [illegible] न एव धर्मो महत्, न [illegible] महत्त्वम्। [illegible] आह-[illegible] प्रतिषेध। [illegible] (आरुग्गे ति) [illegible] प्रतिषेध [illegible] इति गाथार्थः। [illegible]

[illegible]

[illegible]

न [illegible]

[illegible]

[illegible] ॥१५०॥

[illegible] दृष्टान्तमभिधातु-
कामस्ताह—

अरहंत भगवंतो, दिट्ठंतो साहुणो वि समचित्ता ।

एत्थं पि हेउ [illegible], एवंते [illegible] ॥ १५१ ॥

[illegible] किम् ?, दृष्टा-
[illegible] हेतुरित्येन
[illegible] आह—
[illegible] साधवः, ते-
[illegible] रागद्वेषरहित-
[illegible] दृष्टान्त इति [illegible]
[illegible]

[illegible] ॥ १५२ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ १५३ ॥

[illegible]

पक्षहेतुवचनमेवोपयोगाम् ॥ २८ ॥

पक्षप्रयोगं प्रतिष्ठाप्य हेतुप्रयोगप्रकारं दर्शयन्ति—

हेतुप्रयोगस्तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां द्विप्रकारः ॥२९॥

तथैव साध्यसंभवप्रकारेणैवोपपत्तिस्तथोपपत्तिः । [illegible] साध्याभावप्रकारेणानुपपत्तिरन्यथाऽनुपपत्तिः ॥२९॥

अमू एव स्वरूपतो निरूपयन्ति—

सत्येव साध्ये हेतोरुपपत्तिस्तथोपपत्तिः, असति साध्ये हेतोरनुपपत्तिरेवान्यथाऽनुपपत्तिः ॥ ३० ॥

निगदव्याख्यानम् ॥३०॥

प्रयोगतोऽपि प्रकटयन्ति—

यथा कृशानुमानयं पाकप्रदेशः, सत्येव कृशानुमत्त्वे धूमस्योपपत्तेः, असत्यनुपपत्तेर्वा ॥ ३१ ॥

एतदपि तथैव ॥३१॥

अमुयोः प्रयोगौ नियमयन्ति—

अनयोरन्यतरप्रयोगेणैव साध्यप्रतिपत्तौ द्वितीयप्रयोगस्यैकत्राऽनुपयोगः ॥ ३२ ॥

[illegible]

अथ यदुक्तं "न दृष्टान्तादिवचनं परप्रतिपत्तये" [illegible] किं परप्रतिपत्तये [illegible], किं वा हेतोरन्यथाऽनुपपत्तिनिर्णीतये ?, [illegible] इति विकल्पेषु प्रथमं विकल्पं [illegible]

न दृष्टान्तवचनं परप्रतिपत्तये प्रभवति, तस्यां पक्षहेतुवचनयोरेव व्यापारोपलब्धेः ॥ ३३ ॥

[illegible]

द्वितीयं विकल्पं [illegible]

न च हेतोरन्यथाऽनुपपत्तिनिर्णीतये, यथोक्ततर्कप्रमाणादेव तदुपपत्तेः ॥ ३४ ॥

[illegible] ॥३४॥

[illegible]

नियतैकविशेषस्वभावे च दृष्टान्ते साकल्येन व्याप्तेरयोगतो विप्रतिपत्तौ तदन्तरापेक्षायामनवस्थितेर्दुर्निवारः समवतारः ॥ ३५ ॥

[illegible]

[illegible]

नाप्यविनाभावस्मृतये, प्रतिपन्नप्रतिबन्धस्य व्युत्पन्नमतेः पक्षहेतुप्रदर्शनेनैव तत्प्रसिद्धेः ॥ ३६ ॥

[illegible] ॥३६॥

[illegible]

[illegible] ॥ ३७ ॥

[illegible]

न्यमेव । अन्तर्व्याप्तेः साध्यसंसिद्धिशक्तौ, बाह्यव्याप्तिवर्णनं वन्ध्यमेव ॥१॥ मत्पुत्रोऽयं बहिर्व्याप्ति,-एवंरूपस्वरान्यथानुपपत्तेः, इत्यत्र बहिर्व्याप्त्यभावेऽपि गमकत्वस्य 'स श्यामः, तत्पुत्रत्वात्, इतरतत्पुत्रवत्, इत्यत्र तु तद्भावेऽप्यगमकत्वस्योपलब्धेरिति ॥ ३७॥ रत्ना० ३ परि०। (धर्मिणं साधयत्येकान्तवादी साधर्म्यतो वैधर्म्यतश्च न शक्नोतीति 'अणेगंतवाय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे वक्ष्यते) अनुमितिः साध्याविनाभूतहेतुजन्यत्वेनाऽप्युपचारात् हेतुविशेषे, स्था. ४ ठा० ३ उ०। ननु लिङ्गग्रहणं संबन्धस्मरणाच्चानन्तरं पश्चान्मानमनुमानम्, लिङ्गजं ज्ञानमुच्यते । कथं लिङ्गमेवानुमानमिति चेत् ?, सत्यम्, किन्तु कारणे कार्योपचारादप्यनुमानम् । यथा-प्रत्यक्षज्ञानजनको घटोऽपि प्रत्यक्ष इति । विशे०। दृष्टान्ते, आकाशवदनुमानादत्राऽनुमानशब्दो दृष्टान्तवचनः । दशा० १ अ० ।

अणुमाणइत्ता-अनुमान्य-अव्य० । अनुमानं कृत्वेत्यर्थे, व्य० १ उ० । लघुतरापराधनिवेदनेन मृदुदण्डादित्वमाचार्यस्याकलय्येत्यर्थे, ध० २ अधि० । भ० ।

अणुमाणणिराकिय-अनुमाननिराकृत-त्रि० । अनुमानबाह्ये, यथा नित्यः शब्दः । वस्तुदोषविषये विशेषे, स्था० १० ठा० ।

अणुमाणाभास-अनुमानाभास-पुं० । पक्षाभासादिसमुत्थे ज्ञानेऽयथार्थाऽनुमाने, रत्ना० ६ परि० ।

अणुमाय-अणुमात्र-त्रि० । स्तोकमात्रे, दश० ५ अ० २ उ० ।

अणुमिइ-अनुमिति-स्त्री०। अनु-मा-क्तिन् । अनुमाने व्याप्तिविशिष्टस्य पक्षधर्मताज्ञानाधीनेऽनुभवभेदे, अनुमोदने च । प्रति०।

अणुमु (म्मु) क्क-अनुमुक्त-त्रि०। अविमुक्ते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा०।

अणुमोइय-अनुमोदित-त्रि०। अनु-मुद्-णिच् । कर्मणि क्तः। कृताऽनुमोदने स्वानुमतत्वज्ञापनेन प्रोत्साहिते, "भवता यद् व्यवसितं तस्मै साध्वनुमोदितम् । प्रार्थ्यमानोऽर्थिना यत्र, दाता नैव विधानितः ॥१॥ दानकालेऽथवा तूष्णीं, स्थितः सोऽर्थानुमोदितः" इति । तप्तेऽर्थे च, वाच०। यत् त्वया शत्रुहननादि कार्यं भव्यं कृतमित्यादिवदने, आतु० ।

अणुमोयग-अणुमोदक-त्रि० । दानस्य ग्रहणपरिभोगाभ्यां प्रशंसके संप्रदाने, विशे० ।

अणुमोयण (णा)-अनुमोदन (ना)-न०-स्त्री० । अनुमतौ, पञ्चा० ७ विव० । आव० । अनुज्ञाने, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । प्रश्न० । आधाकर्मप्रभृतिकर्तृप्रशंसायाम्, अप्रतिषेधने च । अप्रतिषिद्धमनुमतमिति विद्वत्प्रवादात् । पिं० । "दाणं ण य णुजाणइ" स्तनं नानुजानाति । अनुमोदनेन तस्य वा दीयमानस्याप्रतिषेधेनाप्रतिषिद्धमनुमतमिति वचनात्तत्प्रसङ्गजननाय । आह च-"कामं सयं न कुव्वइ, जाणंतो पुण तहा वि तग्गाही । वड्ढेइ तप्पसंगं, अगिण्हमाणो उ वारेइ" ॥१॥ स्था० ९ ठा०। जिनपूजादिदर्शनजनितप्रमोदप्रशंसादिलक्षणायामनुमतौ, पञ्चा० ६ विव० ।

अणुमोयणकम्मजोयगप्पसंसा-अनुमोदनकर्मजोगकप्रशंसा-स्त्री० । अनुमोदनादाधाकर्मभोजकप्रशंसायाम्, अकृतपुण्याः सुलब्धिका एते, ये इत्थं सदैव लभन्ते यतेतस्यैवरूपा । पिं० ।

अणुयत्तणा-अनुवर्तना-स्त्री० । आनुकूल्याऽनुपघाते, जी० १ प्रति० । ग्लानोपचारे, बृ० १ उ० । (ग्लानस्याऽनुवर्तना 'गिलाण' शब्दे रूपाऽया)

अणुयत्तणाइजुत्त-अनुवर्तनादियुक्त-त्रि० । आनुकूल्याऽनुपघातसहिते, " अणुयत्तणाइजुत्तो, पासत्थाईसु ता विसे" जी० १ प्रति० ।

अणुयत्तमाण-अनुवर्तमान-त्रि० । अनुगच्छति, विशे०। "सइ इइ समत्थेऽ य, कुणइ करावेइ गुरुजणाभिमयं । छंदमणुयत्तमाणो, गुरुजणाराहणं कुणई ॥ १ ॥ आ० म० प्र० ।

अणुयरिय-अनुचरित-न० । आसेविते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

अणुया-अनुज्ञा-स्त्री० । अनुमोदने, सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

अणुयास-अनुकाश-पुं० । विकाशप्रसरे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

अणुरंगा-अनुरङ्गा-स्त्री० । गन्त्र्याम्, घंसिकायां च । "अणुरंगाइ जाणे " बृ० १ उ० ।

अणुरंजिएल्लय-अनुरञ्जित-त्रि० । अनु-रञ्ज-क्त । प्राकृते स्वार्थिक इल्लकप्रत्ययः । सम्प्रदायक्रमरञ्जिते, जं० ३ वक्ष० ।

अणुरत्त-अनुरक्त-त्रि० । अनुरज्ये, औ० । आतु० । अत्यन्तस्नेहभाजि, उत्त० १४ अ० । ज्ञा० । अनुरागवत्याम्, भ० १२ श० ६ उ० । पतिरक्तायां भर्तारं प्रति रागवत्याम्, ज्ञा० १६ अ० । स्त्रियाम्, " अणुरत्ता अविरत्ता, इट्ठे सद्दफरिसरसरूवगन्धे पंचविहे माणुस्सए कामभोए पच्चणुब्भवमाणी विहरति " अनुरक्ताऽविरक्ता अनुरज्या भर्तरि प्रतिकूले सत्यपि, विप्रियेऽपि विरक्ततां गतेत्यर्थः । औ० । वर्णवादिनि प्रत्यनीके, " ... अणुयत्ततो विसेसएहिं उज्जुत्तमपरितंतो, इच्छित मत्थं लभति साधू । जो तु अवाइल्लो, ण रुमतो जइ ममण्णा पत्तिसो होति अणूरत्तो ... ." पं० भा० ।

अणुरत्तलोयणा-अनुरक्तलोचना-स्त्री० । उज्जयिनीपुरीश्वरस्य देवश्वासुतस्य राज्ञोऽग्रमहिष्याम्, आ० क० । आव० ।

अणुरसिय-अनुरसित-न० । शब्दायिते, ज्ञा० ६ अ० ।

अणुराग-अनुराग-पुं० । अनु-रञ्ज-घञ् । प्रीतिविशेषे, ध०। परस्परस्यात्यन्तिक्यां प्रीतिमत्याम्, बृ० १ उ० । (त्रिविधोऽभिष्वङ्गरूपः, तद्यथा-दृष्ट्यनुरागो, विषयाऽनुरागः, स्नेहानुरागश्चेति 'राग' शब्दे वक्ष्यते) विशे० । यथार्थस्थितगुणोत्कीर्तने तदनुरूपोपचारलक्षणे तीर्थकरनामकर्मबन्धकारणे, प्रव० १० द्वा० ।

अणुरागय-अन्वागत-त्रि० । अनु आ-गम-क्त । रेफ आगमिकः । अनुरूपे आगमने, भ० २ श० १ उ० ।

अणुराहा-अनुराधा-स्त्री० । अनुगता राधां विशाखाम् । वाच० । मित्रदेवताके नक्षत्रभेदे, अनु० । जं० । स्था० । " अणुराहाणक्खत्ते चउतारे " पं० सं० । सू० प्र० । ज्यो० । ('णक्खत्त' शब्देऽस्यान्वयं व्याख्यास्यामः)

अणुरुज्झंत-अनुरुध्यमान-त्रि० । अनु-रुध्-यक्-शानच् । प्राकृते " समनुपाद् रुधेः " ॥८।४।२४८॥ इति कर्मणि परस्य रुधेः कर्मभावे ज्झो वा । अपेक्ष्यमाणे, प्रा० ।

अणुरुंधिज्जंत-अनुरुध्यमान-त्रि० । अनु-रुध्-यक् शानच् । अपेक्ष्यमाणे, प्रा० ।

अणुरूव-अनुरूप-त्रि० । अविषमे, स्था० ६ ठा० । अनुकूले, आ० म० प्र० । घटमानेऽर्थे , विशे० । सदृशे , उत्त० १ अ० । उचिते, ज्ञा० १६ अ० । अनुरिति सादृश्यरूपमिति अव्ययीभावः । स्वभावसदृशे , सम्म० ।

अणुलाव-अनुलाप-पुं० । पौनःपुन्यभाषणे, " अनुलापो मुहुर्भाषा " इति वचनात् । स्था० ७ ठा० । ज्ञा० ।

अणुलिंपण-अनुलेपन-न० । सकृल्लिप्ताया भूमेः पुनर्लेपने, प्रश्न० ३ संव० द्वा० ।

अणुलित्त-अनुलिप्त-त्रि० । चन्दनादिना कृतानुलेपे, औ० ।

अणुलित्तगत्त-अनुलिप्तगात्र-त्रि० । अन्विति अतिशयेन लिप्तं विलेपनरूपकृतं गात्रं शरीरं यस्य स तथा । कृतानुरूपशरीरे, तं० ।

अणुलिहंत-अनुलिखत्-त्रि० । अभिलङ्घयति, " गगणतलमणुलिहंतसिहरे" सू० प्र० १८ पाहु० । रा० । तं० । स० । जी० । चं० प्र० ।

अणुलेवण-अनुलेपन-न० । श्रीखण्डादिविलेपने, स्था० ८ ठा० । ज्ञा० । प्रव० । सकृल्लिप्तस्य पुनः पुनरुपलेपने, प्रश्ना० २ पद ।

अणुलेवणतल-अनुलेपनतल-न० । अनुलेपनप्रधाने तले, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । पुनरुपलिप्तभूमिकायाम् , " मेयवसापूयरुधिरमंसचिक्खिल्ललित्ताणुलेवणतला " प्रश्ना० २ पद ।

अणुलोम-अनुलोम-त्रि० । अविपरीते, पं० चू० । अनुकूले, औ० । सूत्र० । आचा० । ज्ञा० । अनुकूलतया वेद्यमाने, जं० २ वक्ष० । मनोहारिणि, दश० १ अ० । अनुलोमनार्थद्रव्यानुयोगोऽनुलोमः । अनुलोमे, अनुकूलकरणाय परस्य यो विधीयते यथा क्षेमं भवतामित्यादिरूपे द्रव्यानुयोगभेदे, स्था० १० ठा० ।

अणुलोमइत्ता-अनुलोम्य-अव्य० । विवादाऽध्यक्षान् सामन्यानुलोमान् कृत्वा प्रतिपन्थिनमेव या पूर्वं तत्पक्षाभ्युपगमेन अनुलोमं कृत्वेत्यर्थे, " अणुलोमइत्ता पढे " स्था० ६ ठा० ।

अणुलोमवाउवेग-अनुलोमवायुवेग-त्रि० । अनुलोमोऽनुकूलो वायुवेगः शरीरान्तर्वर्ती वातजयो येषां तेऽनुलोमवायुवेगाः । वायुगुल्मरहितोदरमध्यप्रदेशेषु, तं० । जी० । युगलमनुष्यादिषु । आह च टीकाकारः- उदरमध्यप्रदेशे वायुगुल्मो येषां ते तथा , तदभावाच्च तेषामनुलोमो भवति, वायुवेगो मिथुनाभास इति । जी० ३ प्रति० ।

अणुलोमविलोम-अनुलोमविलोम-पुं० । गतप्रत्यागतौ, पञ्चा० ११ विव० ।

अणुल्लग-अनुल्लक-पुं० । कन्दविशेषे, द्वीन्द्रियजीवभेदे च । उत्त० ३ अ० ।

अणुल्लण-अनुल्लग्न-त्रि० । अगर्विते, वृ० ३ उ० ।

अणुल्लाव-अनुल्लाप-पुं० । कुत्सिते काकावर्णने, स्था० ३ ठा० ।

अणुल्लय-अनुल्लक-पुं० । द्वीन्द्रियजीवविशेषे, उत्त० ३६ अ० ।

अणुवइट्ठ-अनुपदिष्ट-त्रि० । आचार्यपरम्परयाऽनागते, " उवएसमणुवइट्ठं भणइ जं सो आयरियपरंपरागयं मुत्तत्थाकरुणम् " । नि० चू० ११ उ० । व्य० ।

अणुवउत्त-अनुपयुक्त-त्रि० । हेयोपादेयपरीक्षाविकले, अष्ट० १४ अष्ट० । उपयोगशून्ये, नि० ।

अणुवएस-अनुपदेश-पुं० । स्वभावे, निसर्गः स्वभावोऽनुपदेश इत्यनर्थान्तरम् । स्था० २ ठा० १ उ० । नञः कुत्सार्थत्वात् कुत्सितोपदेशे, आगमवाधितार्थानुशासने, पञ्चा० १२ विव० ।

अणुवओग-अनुपयोग-पुं० । अनर्थे, अनर्थोऽप्रयोजनमनुपयोगो निष्कारणतेति पर्यायाः । आव० ६ अ० । शक्तेरनुपयोजने अव्यापारणे, पञ्चा० १४ विव० । उपयोजनमुपयोगो जीवस्य बोधरूपो व्यापारः । स चेह विवक्षिताऽर्थे चित्तस्य विनियोगरूपो गृह्यते , न विद्यते स यत्र सोऽनुपयोगः पदार्थः । उपयोगाविषये, " अणुवओगो दव्वं " भावशून्यतायां च । अनु० ।

अणुवकय-अनुपकृत-त्रि० । उपकृतमुपकारो न विद्यते उपकृतं येषां ते । अकृतोपकारिषु, षो० ९ विव० । परैरवर्तितेषु, आव० ४ अ० ।

अणुवकयपराहिय-अनुपकृतपरहित-त्रि० । उपकृतमुपकारः, न विद्यते उपकृतं येषां ते इमेऽनुपकृताः , अकृतोपकारा इत्यर्थः । ते च ते पराश्च, तेभ्यो हितं तस्मिन् रतोऽभिरतः प्रवृत्तोऽनुपकृतपरहितरतः । निष्कारणवत्सले, षो० ६ विव० ।

अणुवक्कंत-अनुपक्रान्त-त्रि० । अनिराकृते, औ० ।

अणुवक्खा-अनुपाख्य-त्रि० । गताऽऽख्यातिके, वृ० १ उ० ।

अणुवक्खड-अनुपस्कृत-त्रि० । अकृतोपस्कारे, "उवक्खडाय-खीरदहिमादि ; अणुवक्खडा सव्वेसु परिविंटसु " नि० चू० १ उ० ।

अणुवगरण-अनुपकरण-न० । उपधेरभावे, व्य० ७ उ० ।

अणुवचय-अनुपचय-पुं० । अनुपचीयमानतायाम्, अनुपादाने च । उत्त० १ अ० ।

अणुवच्चंत-अनुव्रजत्-त्रि० । अनु-व्रज-शतृ । अनुगच्छति, प्रा० ।

अणुवजीवि (ण्)—अनुपजीविन्—त्रि० । अनाजीविके, पञ्चा० १५ विव० ।

अणुवज्ज-गम्-धा० । गतौ, भ्वा० प० अनिट् । " गमेरई अइच्छाऽणुवज्जावज्जसोक्क-॥ ८ । ४ । १६२ ॥ इत्यादिसूत्रेण गमधातोरणुवज्जादेशः । अणुवज्जइ-गच्छति । प्रा० ।

अणुवज्जिअं-देशी-प्रतिजागरिते, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुवत्त-अनुवृत्त-त्रि० । द्वितीयवारं प्रवृत्ते जीतव्यवहारादौ, " अणुवत्तो सो पुणो वितीयवारं " व्य० २ उ० ।

अणुवत्तय-अनुवर्तक-त्रि० । सर्वमनोऽनुवृत्तिकर्तरि, ध० ३ अधि० । भावानुवृत्त्येन सम्यक्परिपालके, पं० व० १ द्वा० । विचित्रस्वभावानां प्राणिनां शिष्याणां छन्दोऽनुवर्तिनि, वृ० ४ उ० । शिष्याणामनुवर्तनया प्रवाजगुणान्तराधानधियाऽनुवृत्तिशीले, शिष्याणामनुवर्तनया प्रव्राजयितुं योग्ये गुरौ, ध० ३ अधि० । "आगारइंगिएहिं , णाउं चित्तं उवचिट्ठेति । गुरुवयणं अनुलोमे, एसो अणुवत्तओ नाम " पं० चू० । पं० व० २ द्वा० । अनुलोममविपरीतमित्यर्थः । (अनुवर्तकस्य व्याख्या द्वि० भा० ३०४ पृष्ठे 'आयरिय' शब्दे गता) ।

अणुवत्तणा-अनुवर्तना-स्त्री० । शिष्यानुपालनायाम्, पं० व० १ द्वा० ।

अणुवत्ति-अनुवृत्ति-स्त्री० । इङ्गिताादिना गुरुचित्तं विज्ञाय तदाऽनुकूल्येन प्रवृत्तौ, विशे० । भा० म० द्वि० ।

अणुवभोज्ज-अनुपभोग्य-त्रि० । साधूनामुपभोक्तुमयोग्ये, बृ० ३ उ० ।

अणुवम-अनुपम-त्रि० । उपमारहिते, आव० ५ अ० । न विद्यते उपमा शरीरसन्निवेशसौन्दर्यादिनिर्गुणैर्यस्य तदनुपमम् । पो० १२ विव० ।

अणुवमसिरिय-अनुपमश्रीक-त्रि० । निरुपमदेहकान्तिकलिते, का० म० प्र० ।

अणुवमा-अनुपमा-स्त्री० । खाद्यविशेषे, जी० ३ प्रति० ।

अणुवयमाण-अनुवदत्-त्रि० । पश्चाद् वदति, " आरंभट्ठी अणुवयमाणे हणपाणे घायमाणे " (आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ०) " धम्मीण अणुवयमाणस्स वितिया " अनुवदतोऽनुपश्चाद्वदतः पृष्टेनापृष्टेनापवदतोऽन्येन वा मिथ्यादृष्ट्यादिना कुशीला इत्येवमुक्तेऽनुवदतः पार्श्वस्थादेः । आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

अणुवरय-अनुपरत-त्रि० । अविरते, स्था० २ ठा० १ उ० । पापानुष्ठानेभ्योऽनिवृत्ते, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । अविच्छिन्ने, सू० ।

अणुवरयकायकिरिया-अनुपरतकायक्रिया-स्त्री० । अनुपरतस्याविरतस्य कायाद् मिथ्यादृष्टेः सम्यग्दृष्टेर्वा कायक्रियोत्क्षेपादिलक्षणा कर्मबन्धनमनुपरतकायक्रिया । कायिक्याः क्रियाया भेदे, भ० ३ श० ३ उ० ।

अणुवरयदंड-अनुपरतदण्ड-पुं० । मनोवाक्कायलक्षणदण्डादविरते, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अणुवरोह-अनुपरोध-पुं० । अव्यापादने, "मार्गोऽस्याऽनुपरोधेन इत्यस्मान्नेदुच्यते " । धर्मबिन्दु घ, ध० २ अधि० ।

अणुवलद्धि-अनुपलब्धि-स्त्री० । उप-लभ्-क्तिन् । न० त० । आभाऽभावे, अप्रज्ञानाभावे च । वाच० ।

सा च—

दुविहा अणुवलद्धीओ, मओ असओ य ।
असंगस्स वितीया, सओ वि दूराऽऽणवओऽभिहिया ।
सुहुमा सुललणओ, कम्माणुगयस्स जीवस्स ॥ १ ॥

सा च अनुपलब्धिरेका असतो भवति , यथा—खरशृङ्गस्य । द्वितीया तु सतोऽप्यर्थस्य भवति । कुत इत्याह—(दूरादिभावादिति) दूरात् सन्नप्यर्थो न दृश्यते, यथा-स्वर्गादिः १ । अतिसामीप्यादतिसन्निकर्षादिनिर्दिष्टात्सतोऽनवस्थानादिन्द्रियापाटवात्सतिमान्द्याद्शक्यत्वादावरणादभिभवात्सामान्यादनुपयोगादनुपायाद्विस्मृतेर्दुरागमान्मोहाद् विदर्शनाद्विकारादक्रियातोऽनधिगमात्कालविप्रकर्षात्स्वभावविप्रकर्षाच्चेति । तत्राऽतिसन्निकर्षात्सन्नप्यर्थो नोपलभ्यते । यथा-नेत्रदूषिकापक्ष्मादिः २ । अतिसौक्ष्म्यात्परमाण्वादिः ३ । मनोऽनवस्थानात्सतोऽप्यनुपलब्धिः, यथा नष्टचेतसाम् ४ । इन्द्रियापाटवात् किञ्चिद् बधिरादीनाम् ५ । मतिमान्द्यादनुपलब्धिः , सतामपि सूक्ष्मशास्त्रार्थविशेषाणाम्

६ । अशक्यत्वात्स्वकर्णमूर्धपृष्ठादिकामस्तकपृष्ठादीनाम् ७ । आवरणाद् यवनिकादिस्थगितलोचनायाः, कुड्यादिव्यवहितानां च ८ । अभिभवात्सूर्यतेजसि दिवसे तारकाणाम् ९ । सामान्यात्सूपलक्षितस्यापि माषादेः समानजातीयमाषादिराशिपतितस्याप्रत्यभिज्ञानात्सतोऽप्यनुपलब्धिः १० । अनुपयोगाद्रूपोपयुक्तस्य शेषविषयाणाम् ११ । अनुपायाच्छाम्यादिर्यो गोमहिष्यादिपयःपरिमाणजिज्ञासोः १२ । विस्मृतेः पूर्वोपलब्धस्य १३ । दुरागमाद् कुरूपदेशात्सत्प्रतिरूपकरीतिकादिविप्रलम्भितमतेः कनकादीनां सतामप्यनुपलब्धिः १४ । मोहात्सतामपि जीवादितत्त्वानाम् १५ । विदर्शनात्सर्वथाऽन्धादीनाम् १६ । वार्द्धक्यादिविकाराद्यद्दुष्टः पूर्वोपलब्धस्य सतोऽप्यनुपलब्धिः १७ अक्रियातो भूखननादिक्रियाऽभावाद् वृक्षमूलादीनामनुपलब्धिः १८ । अनधिगमाच्छास्त्राश्रवणात्तदर्थस्य सतोऽप्यनुपलब्धिः १९ । कालविप्रकर्षाद् भूतभविष्यत्पद्मनाभतीर्थकरादीनामनुपलब्धिः २० । स्वभावविप्रकर्षेण पिशाचादीनामनुपलम्भः २१ । तदेवं सतामप्यर्थानामेकविंशतिविधाऽनुपलब्धिः । विशे० । आ० चू० ।

त्रिविधा वा, अत्यन्तात् सामान्याद्विस्मृतेश्च—

अच्चंता सामन्ना, य विस्सुत्ती होइ अणुवलद्धी उ ।

अनुपलब्धिरेव त्रिधा भवति । तद्यथा-अत्यन्तादेकान्तेनानुपलब्धिः । सामान्याद्विस्मृतेश्च ।

तत्र प्रथमतोऽत्यन्तानुपलब्धिमाह—

अत्थस्स दरिसणम्मि वि, लद्धी एगंततो न संभवइ ।
दट्ठुं पि न जाणंतो, बोहियपंडा फणसमत्तू ॥

अर्थस्य दर्शनेऽपि कस्यचित्तदर्थविषया लब्धिरेकान्ततो न संभवति । तथा च बोधिकाः पश्चिमदिग्वर्तिनो म्लेच्छाः पनसं दृष्ट्वाऽपि ' पनस ' इत्येवं न जानते ; तेषां पनसस्याऽत्यन्तपरोक्षत्वात् । न हि तद्देशे पनसः संभवति । तथा पण्डाः मधुरावासिनः सक्तून् दृष्ट्वाऽपि 'सक्तवोऽमी' इति न जानते, तेषां हि सक्तवोऽत्यन्तपरोक्षाः । ततो न तद्दर्शनेऽपि तद्विज्ञानम् ॥

सम्प्रति सामान्यतदनुपलब्धिमाह—

अत्थस्सुवग्गहम्मि वि, लद्धी एगंततो न संभवइ ।
सामन्ना बहुमज्झे, मासं पडियं जहा दट्ठुं ॥

अर्थस्यावग्रहेऽपि तदन्यतमार्थेन सामान्यात् सादृश्यादेकान्ततो लब्धिरक्षरलब्धिर्न संभवति । यथा बहुमध्ये पतितं माषं दृष्ट्वाऽपि तदन्येन सामान्यात् तदक्षरं लभेत ।

विस्मृतेरनुपलब्धिमाह—

अत्थम्मऽवि उवलंभे, अक्खरलद्धी न होइ सव्वस्स ।
पुव्वोवलद्धमत्थे, जस्स उ नामं न संभरइ ॥

अर्थस्य पूर्वं पश्चाच्चोपलम्भेऽपि सर्वस्याऽक्षरलब्धिरक्षरविषयाऽक्षरलब्धिर्न संभवति । कस्य न भवतीत्यत आह यस्यार्थं विवक्षितार्थविषयं पूर्वोपलब्धं नाम न संस्मरति । तदेवमुक्ता त्रिविधाऽप्यनुपलब्धिः । बृ० १ उ० । विशे० ।

सम्प्रत्यनुपलब्धिं प्रकारतः प्राह—

अनुपलब्धेरपि द्वैरूप्यम्, अविरुद्धानुपलब्धिर्विरुद्धानुपलब्धिश्च ॥ ६३ ॥

अविरुद्धस्य प्रतिषेध्येनार्थेन सह विरोधमप्राप्तस्यानुपलब्धिरविरुद्धानुपलब्धिः । एवं विरुद्धानुपलब्धिरपि । ६३ ।

[illegible] प्रकारसंख्यामाख्यान्ति–

तत्राऽविरुद्धाऽनुपलब्धिर्निषेधेऽवबोधे सप्त प्रकाराः ॥९४॥

अमूनेव प्रकारान् प्रकटयन्ति–

प्रतिषेध्येनाऽविरुद्धानां स्वभावव्यापककार्यकारणपूर्वचरोत्तरचरसहचराणामनुपलब्धिः ॥९५॥

तत्र च स्वभावानुपलब्धिः, व्यापकानुपलब्धिः, कार्यानुपलब्धिः, कारणानुपलब्धिः, पूर्वचरानुपलब्धिः, उत्तरचरानुपलब्धिः, सहचरानुपलब्धिश्चेति ॥ ९५ ॥

क्रमेणामूनुदाहरन्ति–

स्वभावाऽनुपलब्धिर्यथा–नास्त्यत्र भूतले कुम्भ उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तत्स्वभावस्याऽनुपलम्भात् ॥९६॥

([illegible]) उपलब्धिर्ज्ञानम्, तस्य लक्षणानि [illegible], तैः [illegible] जन्यत इति यावत् । [illegible] कारणान्तर्भावात्स तथा [illegible] ॥ ९६ ॥

व्यापकाऽनुपलब्धिर्यथा–नास्त्यत्र प्रदेशे पनसः, पादपाऽनुपलब्धेः ॥९७। कार्यानुपलब्धिर्यथा–नास्त्यत्राऽप्रतिहतशक्तिकं बीजम्, अङ्कुरानवलोकनात् ॥९८॥

[illegible] हि कार्यं [illegible] सामर्थ्यं [illegible] व्यभिचारः ॥ ९८ ॥

कारणानुपलब्धिर्यथा–न सन्त्यस्य प्रशमप्रभृतयो भावास्तत्त्वार्थश्रद्धानाऽभावात् ॥९९॥

([illegible]) [illegible] ॥

पूर्वचराऽनुपलब्धिर्यथा–नोद्गमिष्यति मुहूर्तान्ते स्वातिनक्षत्रम्, चित्रोदयाऽदर्शनात् ॥ १०० ॥ उत्तरचराऽनुपलब्धिर्यथा–[illegible] मुहूर्तात्प्राक् [illegible] ॥ १०१ ॥ सहचराऽनुपलब्धिर्यथा–नास्त्यस्य सम्यग्ज्ञानं सम्यग्दर्शनाऽनुपलब्धेः ॥ १०२ ॥

[illegible] ॥१०२॥

[illegible] ॥ १०३ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]रुद्धकार्यानुपलब्धिः, विरुद्धकारणानुपलब्धिः, विरुद्धस्वभावानुपलब्धिः, विरुद्धव्यापकाऽनुपलब्धिः, विरुद्धसहचरानुपलब्धिश्चेति ॥१०४॥

क्रमेणैतासामुदाहरणान्याहुः–

विरुद्धकार्यानुपलब्धिर्यथाऽत्र शरीरिणि रोगातिशयः समस्ति, नीरोगव्यापाराऽनुपलब्धेः ॥ १०५ ॥

विधेयस्य हि रोगातिशयस्य विरुद्धमारोग्यम्, तस्य कार्यं विशिष्टो व्यापारः । तस्यानुपलब्धिरियम् ॥१०५॥

विरुद्धकारणानुपलब्धिर्यथा–विद्यतेऽत्र प्राणिनि कष्टम्, इष्टसंयोगाऽभावात् ॥ १०६ ॥

अत्र विधेयं कष्टम्, तद्विरुद्धं सुखम्, तस्य कारणमिष्टसंयोगः, तस्यानुपलब्धिरेषा ॥१०६॥

विरुद्धस्वभावाऽनुपलब्धिर्यथा–वस्तुजातमनेकान्तात्मकम्, एकान्तस्वभावाऽनुपलम्भात् ॥ १०७ ॥

वस्तुजातमन्तरङ्गं बहिरङ्गं च विधिवर्तिपदार्थसार्थः । [illegible] गम्यते निश्चीयते इत्यन्तो धर्मः, न एकोऽनेकः [illegible] एकान्तः; स आत्मा स्वभावो यस्य वस्तुजातस्य तदेकान्तात्मकम्; सदसदाद्यनेकधर्मात्मकमित्यर्थः । अत्र हेतुः एकान्तस्वभावस्य सदसदाद्यन्यतरधर्मावधारण[illegible]नुपलम्भादिति । अत्र विधेयेनानेकान्तात्मकत्वेन सह विरुद्धः [illegible] एकान्तस्वभावः, तस्यानुपलब्धिरसौ ॥१०७॥

विरुद्धव्यापकाऽनुपलब्धिर्यथा–अस्त्यत्र छाया, औष्ण्याऽनुपलब्धेः ॥ १०८ ॥

विधेयया छायया विरुद्धस्तापः तद्व्यापकमौष्ण्यम्, तस्याऽनुपलब्धिरियम् ॥ १०८ ॥

विरुद्धसहचरानुपलब्धिर्यथा–अस्त्यस्य मिथ्याज्ञानम्, सम्यग्दर्शनाऽनुपलब्धेः ॥ १०९ ॥

विधेयेन मिथ्याज्ञानेन विरुद्धं सम्यग्ज्ञानम्, तत्सहचरं सम्यग्दर्शनम्, तस्याऽनुपलब्धिरेषा ॥१०९॥ रत्ना० ३ परि० ।

अथाऽनुपलब्धेः प्रामाण्यविचारः–

यदपि– " प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः, प्रमाणाभाव उच्यते । साऽऽत्मनोऽपरिणामो वा, विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि " ॥ १ ॥ (इति) प्रत्यक्षाद्यनुत्पत्तिः आत्मनो घटाद्याकारेण परिणामाभाव [illegible] । [illegible] प्रमाणमभिधीयते । तदपि यथा [illegible] । तथाहि– " गृहीत्वा वस्तुसद्भावं, स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् । मानसं नास्तिताज्ञानं, जायतेऽक्षानपेक्षया ॥ १ ॥ " [illegible] सामग्री । तत्र च भूतलादिक [illegible] घटादिभिः प्रतियोगिभिः [illegible] प्रतियोगिसमूहस्य [illegible] । [illegible] वा न प्रामाण्यम्, प्रतियोगि[illegible] [illegible] । [illegible] । [illegible] ॥ [illegible]

स्यादिति । सद्सद्रूपवस्तुग्रहणप्रवणेन प्रत्यक्षेणैवाभावो गृह्यते । क्वचित्तु तदघटं भूतलमिति स्मरणेन, तदेवेदमघटं भूतलमिति प्रत्यभिज्ञानेन, योऽग्निमान् न भवति नासौ धूमवानिति तर्केण, नात्र धूमोऽनग्नेरित्यनुमानेन, गृहे गर्गो नास्ति इत्यागमेनाभावस्य प्रतीतेः, क्वाऽभावप्रमाणं प्रवर्तताम् ?। रत्ना० २ परि० । अर्थस्यासंभविनोऽस्य सिद्ध्यर्थं प्रमाणान्तरमभावाख्यं वर्णयन्ति । तथाऽपरे-प्रमाभावोऽपि प्रमाणाऽभावो नास्तीति, अर्थस्यासंनिकृष्टस्येति वचनात् । अन्ये-पुनरभावाख्यं प्रमाणं त्रिधा वर्णयन्ति । प्रमाणपञ्चकाऽभावलक्षणोऽनन्तरोक्तो भावः । प्रतिषिध्यमानाद्वा, तदन्यज्ञानमात्मा वा, विषयरूपेण तन्निवृत्तस्वभाव इत्यनेन च भावप्रमाणेन, प्रदेशादौ घटादीनामभावो गम्यते । तदुक्तम्-

"प्रमाणपञ्चकं यत्र, वस्तुरूपेण जायते ।
वस्तुसत्ताऽवबोधार्थं, तत्राऽभावप्रमाणता ॥ १ ॥

प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः, प्रमाणाभाव उच्यते ।
साऽऽत्मनोऽपरिणामो वा, विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि" ॥ २ ॥

न च प्रत्यक्षेणैवाभावोऽवसीयते, तस्याभावविषयत्वविरोधात् । भावांशेनैवेन्द्रियाणां संयोगात् । तदुक्तम्-"न तावदिन्द्रियैरेषा, नास्तीत्युत्पद्यते मतिः । भावांशेनैव संबन्धो, योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि" ॥ १ ॥ नाप्यनुमानेनासौ साध्यते, हेत्वभावात् । न च प्रदेश एव हेतुः, तस्य साध्यधर्मित्वेनाभ्युपगमात् । न चैवमपि हेतुः प्रतिज्ञार्थैकदेशतापत्तेः । न च प्रदेशविशेषो धर्मस्तत्राभावः, तस्य घटाऽभावव्यभिचारात् । न हि सर्वत्र प्रदेशो घटाभावः शक्यः साधयितुम्, सघटस्यापि प्रदेशस्य संभवात् । अथ घटानुपलब्ध्या प्रदेशे धर्मिणि घटाऽभावः साध्यते । असदेतत् । साध्यसाधनयोः कस्यचित् संबन्धस्याभावात्, तस्मादभावोऽपि प्रमाणान्तरमेव । न चाऽभावस्य तद्विषयस्याभावादभावप्रमाणानर्थक्यम्, प्रागभावादिभेदेन चतुर्विधस्य वस्तुरूपस्याऽभावस्य भावात् । अन्यथा कारणादिविभागतो व्यवहारस्य लोकप्रतीतस्याभावप्रसङ्गात् । "न च स्याद् व्यवहारोऽयं, कारणादिविभागतः । प्रागभावादिभेदेन, नाऽभावो यदि भिद्यते" ॥ १ ॥ अभावस्य च प्रागभावादिभेदाऽन्यथानुपपत्त्या वस्तुरूपताऽवसीयते । तदुक्तम्-"न चावस्तुन एते स्युः, सदा तेनाऽस्य वस्तुता । कार्यादीनामभावः स्याद्-दिरयेवं कारणं विना" ॥ १ ॥ इति । अनुमानप्रमाणावसेया वाऽभावस्य वस्तुरूपता । यदाह "यद्वाऽनुवृत्तिव्यावृत्ति-बुद्धिग्राह्यो यतस्त्वयम् । तस्माद् गवादिवद् वस्तु, प्रमेयत्वाच्च गृह्यताम्" ॥ १ ॥ अभावस्य चतुर्धा व्यवस्था-प्रागभावः, प्रध्वंसाभावः, इतरेतराभावः, अत्यन्ताभावश्चेति । तत्र-

"क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति, प्रागभावः स उच्यते ।
नास्तिता पयसो दध्नि, प्रध्वंसाभावलक्षणम् ॥ १ ॥
गवि योऽश्वाद्यभावस्तु, सोऽन्योऽन्याभाव उच्यते ।
शिरसोऽवयवा निम्नाः, वृद्धिकाठिन्यवर्जिताः ॥ २ ॥
शशशृङ्गादिरूपेण, सोऽत्यन्ताभाव उच्यते " ।
यदि चैतद् व्यवस्थापकमभावाख्यं प्रमाणं न भवेत्, तदा प्रतिनियतवस्तुव्यवस्था दुरोत्सारितैव स्यात् । तदुक्तम्-
" क्षीरे दधि भवेदेवं, दध्नि क्षीरं घटे पटः ।
शशे शृङ्गं पृथिव्यादौ, चैतन्यं मूर्तिरात्मनि ॥ १ ॥
अप्सु गन्धो रसश्चाग्नौ, वायौ रूपेण तौ सह ।
व्योम्नि तु स्पर्शता ते च, न चेदस्य प्रमाणता " ॥ २ ॥

निरंशमर्थस्वरूपावग्रहमनुलक्ष्य [illegible] सर्वात्मना ग्रहणादगृहीतस्य [illegible] कथं तदग्रहणस्य [illegible] प्रवर्तमानस्य [illegible] श्रुतमस्तु इति वक्तव्यम्, यतः सदसदात्मके वस्तुनि [illegible] तत्र सदंशग्रहणेऽप्यगृहीतस्यासदंशस्य [illegible] णाभावस्य प्रवर्तमानस्य न प्रामाण्यम् [illegible] । तदुक्तम्-

" स्वरूपपररूपाभ्यां, नित्यं सदसदात्मके ।
वस्तुनि ज्ञायते किञ्चित्, रूपं कैश्चित् कदाचन ॥ १ ॥
यस्य यत्र यदोद्भूतिर्जिघृक्षा चोपजायते ।
वेद्यतेऽनुभवस्तस्य, तेन च व्यपदिश्यते ॥ २ ॥
तस्योपकारकत्वेन, [illegible] ।
उभयोरपि संवित्त्योः [illegible] तु ॥ ३ ॥
प्रत्यक्षाद्यवतारस्तु, भावांशो गृह्यते यदा ।
व्यापारस्तदनुत्पत्तिरभावांशे जिघृक्षिते " ॥ ४ ॥

न च [illegible] इति; सदसदात्मकवस्तु [illegible] । तथा च-

" न तु भावाद्यभिन्नत्वम्, [illegible] ।
[illegible] ॥ १ ॥
धर्मयोर्भेद इष्टोऽपि, धर्म्यभेदे [illegible] ।
उद्भवाभिभवात्मत्वात्, [illegible] ॥ २ ॥
तदेवमगृहीतांश [illegible] णत्वम्, प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तर्भावात् । [illegible] विस्तरः । सम्म० । ([illegible] वोऽन्वेषणीयः)

अणुवलब्भमाण-अनुपलभ्यमान-त्रि० । [illegible] बध्यमाणो वि सुहदुक्खमाइ [illegible] ।

अणुववायकारग-अनुपपातकारक-त्रि० [illegible] अनुपपातः [illegible] गुर्वादेशादिभीत्या [illegible] विचारकः, [illegible] ।

अणुवसंत-अनुपशान्त-त्रि० । [illegible] कषायोऽनुपशान्तः । [illegible] स्था०, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । [illegible] ।

अणुवसमेत-अनुपशमयत्-त्रि० । [illegible] ।

अणुवसु-अनुवसु-पुं० । वसु [illegible] हिंसादिपापाद् [illegible] वसु सम्यु, अनुवसु [illegible] "वसु वा अनुवसु [illegible] " आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

अणुवहियदृहराग [illegible] - [illegible] त्रि० । [illegible] , [illegible] हि० , स्था० १ ठा० ।

अणुवह-अनुवह- [illegible] बलदे प्रवर्तनं [illegible] आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ० ।

अनुपथ–त्रि० । मार्ग तपथाऽनुयुक्ते, पं० सं० २ द्वा० ।

अणुवहय–अनुपहत–त्रि० । न० त० । अग्न्यादिभिरविध्व-स्ते, पिं० ।

अणुवहयविहि–अनुपहतविधि–पुं० । अनुपहतमुत्पाद्य दाने, गुरुभिर्दत्तस्य अन्यस्य गुरूननुज्ञाप्य दाने वा । अनुपहतविधि-र्यदनुपहतमुत्पाद्य ददाति । अन्ये तु व्याचक्षते-यत्पुनस्तस्य गुरुभि-र्दत्तं तस्मोऽन्यस्य गुरूननुज्ञाप्य ददाति "अणुवहियं जं तस्स उ, दिग्नं तं देइ सो उ अन्नस्स" यत्तस्य दत्तं सोऽन्यस्मै गुरून-नुज्ञाप्य ददाति । इमाधमर्मस्तुन्त्यमिदं दत्तमित्येषोऽनुपहतवि-धिः । व्य० १ उ० ।

अणुवहास–अनुपहास–त्रि० । अविद्यमानोपहासे, पञ्चा० १ विव० ।

अणुवहूआ–देशी०–नववध्वाम् , दे० ना० १ वर्ग ।

अणुवाइ(ण्)–अनुपातिन्–त्रि० । अनुपततत्यनुसरतीत्येवंशीलः । स्था० ६ ठा० । योगे, " अणुवाइ सम्मसुत्तस्स" पं० व० २ द्वा० । अनुपतितुं शीलमस्येत्यनुपाती । अनुपादर्शाले, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० ।

अणुवाएय–अनुपादेय–त्रि० । हेये अग्रहीतव्ये, आ०म०द्वि० ।

अणुवाणहय–अनुपानत्क–त्रि० । न विद्येते उपानहौ यस्य सोऽयमनुपानत्कः । उपानद्वारधारके, पो० १ विव० ।

अणुवाय–अनुपात–पुं० । संयोगे, भ० १२ श० ४ उ० ।

अनुपात–पुं० । अनुगमने, प्रज्ञा० १७ पद । अनुपतनमनु-पातः । [illegible]नुदर्शनादौ , उपा० १ अ० ।

अनुवात–पुं० । [illegible]मनुकूले वाते, जं० १ वक्ष० । [illegible] । अनुकूलो वातो यत्र देशे सोऽनुवातः । [illegible] तत्र, भ० १६ श० ६ उ० ।

अनुवाद–पुं० । विधिविहितस्य वाक्यान्तरेण कथने , वाच० । "[illegible]" इत्या-दौ [illegible]वाद[illegible]नि, लोकप्रसिद्धस्यैवार्थ-[illegible]नुवादात् । [illegible] ।

अणुवायवाय–अनुपातवाद–पुं० । षष्ठे मिथ्यात्ववादे, नयो० ।

अणुवायरह–अनुपातरथ–पुं० । [illegible]भेदे, भ० २४ श० २० उ० ।

अणुवास–अनुवास–पुं० । वर्षावासे ऋतुबद्धे वा उषित्वा पुन-[illegible] , [illegible]वासे वा [illegible]—

[illegible] अणुवासकप्पं तु ।

[illegible] ॥

[illegible] ।

[illegible] ॥

[illegible] ।

[illegible] ॥

[illegible] ।

तीयपडिगारो एत्थं, सा होज्जा सुद्धऽसुद्धो वा ॥

पट्टीवंसादीहिं, वंसगकरणादिएहिँ तह चेव ।

होति असुद्धा वसही, मूलगुण उत्तरगुणे य तहा ॥

कालक्कंताातिरित्तं, अविसुद्धासु च तासु वसमाणो ।

पावाति पायच्छित्तं, मोत्तूणं कारणमिमेहिं ॥

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व आगाढे ।

गेलण्ण उत्तमट्ठे, चरित्तसज्झाविए असती ॥

वाहिं सव्वत्थ सिवं, तेण सया कालदुगम्मि ।

पुणो वि य णाहु णिगुच्छे, अणुपच्छा जाव अणुवासी ।

आलंबणे विसुद्धे, सुद्धत्तं परिहरे पयत्तेणं ।

आसज्ज तु परिभोगं, जयणा पडिसेवसंकमणे ॥

असिवादीहिँ वसंतो, सुद्धाए वसहीएँ वसे साहू ।

सुद्धासतीएँ जतनी, विसोहिकोडीएँ पुव्वं ति ॥

जयणत्ती जं जणितं, पुव्वताए तु जेतु जे दोसा ।

ते ते पुव्वं सेवे, कम्मएऍ वी इमा जयणा ॥

अप्पावहं तु खेत्तं, जत्थ गुणा तू भवेज्ज बहुतरगा ।

गच्छं गच्छंताए व, तं चेव तहिं करेज्जा तु ॥

असिवादिनिद्दिए पुण, अप्पसंवेण संकमे तत्तो ।

सत्थं तु परिच्छेतो, जड अत्थे तत्थ सुद्धो तु ॥

एतं णयरविहूणं, अणुवासियं जेतु अणिवसे कप्पं ।

कालच्छ्वावराहे, संवहितमोऽवराहाणं ॥

संवहितावराहे, तवोच्छेदो तहेव मूलं वा ।

आयारपकप्पे जं–पमाणणेमाण चरणम्मि ॥

अणुवासियाएँ कप्पो,एमे मो वण्णितो समासेणं । पं० भा० [illegible]

इयाणि अणुवासकप्पो–तत्थ(गाहा)[अणुवासम्मि उ]अणुव[illegible] नाम वासावासओ उयद्धे वा वसित्ता तत्थेव अणुवसइ, [illegible] मासलहु,वासे चउलहु । तत्थ पुण चउव्विहा गुणाया । [illegible] य कप्पो जिए मासकप्पसुत्ते तत्थ पुण अहिगारो अणुवासि[illegible] तीति । अणुवासिया का पुण सा?, वसही सुद्धा व,असुद्धा [illegible] असुद्धा पट्टीवं सोवंसमाकप्पो वंठणादि (गाहा) [अतीत] [illegible] सियाइसु कारणेसु अणुवाए । वि वसंति रायदुट्ठे वा [illegible] सोयाणि वा तत्थ नत्थि जाणि वाहिरयाहिं वसंतिं संज[illegible] दोसकारणाणि भए य बोहिगादिसु तेसु [illegible] दोसपमत्ता दोसा अप्पाउए वा असइ वा गुणाणं जं [illegible] वसहीए (गाहा) [आलंवणे]त्ति आलंवणविसुद्धे असहुप[illegible] हेरज्जा सुत्तेण परिभोगं पुण [illegible] [illegible] पडिसेवसंकमणे [illegible] [illegible] वसहिं [illegible] कारणेसु [illegible] [illegible] वावराहे, [illegible]

पं० चू० ।

..................असुद्धा वोचत्थे अणुवासकप्पं ।

अणुवासमासकप्पो, वासावासो ठवेइ तु ॥

[illegible] परिहारि[illegible] तु ।

खेत्ते कालमुवस्सय-पिंडग्गहणे य णाणत्तं ॥
एएसिं पंचण्ह वि, अण्णोण्णस्स चउप्पदेहिं तु ।
खेत्ताईहि विसेसो, जह तह वोच्छं समासेणं ॥
णत्थि उ खेत्तं जिणक--प्पियाण उउवद्धमासकालो तु ।
वासासुं चउमासो, वसही अममत्त अपरिकम्मा ॥
पिंडो तु अलेवकडो, गहणं तु एसणा उवरिमादि ।
तत्थ वि काउमभिग्गह, पंचण्हं अण्णतरियाए ॥
थेराण अत्थि खेत्तं, तु उग्गहो जाव जोयणसकोसं ।
णगरं पुण वसहीए, विकालउउवद्धमासो तु ॥
उस्सग्गेणं जाणिओ, अववाएणं तु होज्ज अहिओ वि ।
एमेव य वासासु वि, चउमासो होज्ज अहिओ वि ॥
ममत्त अपरिकम्मो, उवस्सओ एत्थ भंगचउरो तु ।
उस्सग्गेणं पढमो, तिण्हि उ सेसाऽववादेणं ॥
जत्तं लेवकडं वा, अलेवकडं वा वि ते तु गेण्हंति ।
सव्वेहिँ वि एसणाहिं, सावेक्खो गच्छवासो त्ति ॥
अहालंदियाण गच्छे, अप्पडिबद्धाण जह जिणाणं तु ।
णवरं कालविसेसो, उउवासे पणगचउमासो ॥
गच्छे पडिवद्धाणं, अहलंदिणं तु अह पुण विसेसो ।
उग्गहो जो तेसिं तू, सो आयरियाण आभवति ॥
एगवसहीऍ पणगं, छव्वीउ ववगाम कुव्वंति ।
दिवसे दिवसे अन्नं, अडंति विही य णियमेणं ॥
पारिहारविसुद्धीणं, जहेव जिणकप्पियाण णवरं तु ।
आयंविलं तु भत्तं, गेण्हंति य वासकप्पं च ॥
अज्जाण परिग्गहियाण, उग्गहो होतु सो तु आयरिए ।
कालो दो दो मासा, उउवद्धे तासि कप्पो तु ॥
सेसं जह थेराणं, पिंडो य उवस्सओ य तह तासिं ।
सो सव्वो वि य दुविहो, जिणकप्पो थेरकप्पो य ॥
जिणकप्पि अहालंदी, पारिहारविसुद्धियाण जिणकप्पो ।
थेराणं अज्जाण य, बोधव्वो थेरकप्पो तु ॥
दुविहो य मासकप्पो, जिणकप्पो चेव थेरकप्पो य ।
णिरणुग्गहो जिणाणं, थेराण अणुग्गहपवत्तो ।
उउवासकालऽतीते, जिणकप्पीणं तु गुरुगा य ॥
होंति दिणम्मि दिणम्मि वि, थेराणं तेचिय लहू तु ।
तीसं पदाऽवराहे, पुट्ठो अणुवासियं अणुवसंतो ॥
जे तत्थ पदे दोसा, ते तत्थ तगो समावण्णो ।
उग्गमउग्गमदोसा, दस एसणा एवं पुण वीसं ॥
संजोयणादि पंचय, एते तीसं तु अवराहा ॥
एतेहिं दोसेहिं, जदि अणंपत्ति लग्गती तह वि ।
दिवसे दिवसे सो खलु, कालातीतं वसंतो तु ॥
मासातीतपमाणं, आयारे उप्पमाणितं कप्पं ।
एवं अणुमोयंतो, जाणसु अणुवासकप्पं तु ॥
आयारपकप्पम्मी, जह भणियं तीत संवसंतो वि ।
होति अणुवासकप्पो, तह संवसमाणदोसा तु ॥
दुविहे विहारकाले, वासावासे तहेव उउवद्धे ।
मासातीते अणुवादि, वासातीते चत्ते उवही ॥
उउवद्धिएसु अट्ठसु, वीतिसुं थाम तत्थ ण तु कप्पो ।
घेत्तूणं उवही खलु, वासातीतेसु कप्पति तु ॥
वास उउ अहालंदे, इत्तिरिसाहारणे पुहत्ते य ।
उग्गहसंकमणं वा, अण्णोण्णस्सासाहिज्जंतो ॥
वासासु चउम्मासो, उउवद्धे मासलंद पंचदिणा ।
इत्तिरिउ रुक्खमूले, वीसमणट्ठा वि गाते तु ॥
साहारणा तु एते, समपट्टिताणं बहुण गच्छाणं ।
एक्केण परिग्गहिता, सव्वे पोहाणिया होति ॥
संकमणमप्पमाण-स्स सकासे [illegible] तु ते [illegible] ।
सुत्तत्थ तदुभयाइं, घेत्तुं अहवा वि पडिपुच्छे ॥
ते पुण संगलियाए, आवलियाए [illegible] ।
संपसियमहिज्जंते, सच्चित्तादी तु [illegible] ॥
सो तु परंपरएणं, संकमती [illegible] ।
जहियं पुण आवलिया, [illegible] ॥
तं पुण ठितपत्ताए, वसहीए [illegible] ।
अहवा वि तु संकमणं, [illegible] ॥
सुत्तत्थ तदुभयविगा-रयाण [illegible] ।
संकमणदव्वसंकलि-आवलियासु [illegible] ॥
पुव्वट्ठिताण खेत्ते, जदि [illegible] ।
बहुसु य बहु आगमिओ, [illegible] ॥
किंचि अहिज्जमाही, [illegible] ।
ता ते असंपरंता, दोण्हि वि [illegible] ॥
अण्णोण्णस्स सगासे, [illegible] ।
आभवणा तह चेव य, [illegible] ॥
एवं तिण्णापाते, मासचउमासतो [illegible] ।
कप्पो कारणतो पुण, अणुवासो [illegible] ॥

एसऽणुवासणकप्पो .... । पं० भा० ।

[illegible]

यामासु पणग चउम्मासो एवं परिहारियाण वि जहा जिणाणं भवइ मासियत्तेण मासो सव्वो वि दुविहो जिणकप्पो थेरकप्पो य, जिणमहालंदिपरिहारविसुद्धियाणं जिणकप्पो अज्जाणं थेराण य थेरकप्पो गच्छपडिबद्धमहालंदियाणं आयरियाणं चेव सो किंचिउग्गहो संजयपरिग्गहियाणं अस्थि खेत्तं सो आयरियाणं चेव जिणकप्पो निरणुग्गहो अभिग्गहिओ कारणा नत्थि थेरकप्पो साणुग्गहो असिवाइसु कारणेसु कालाइए उउम्मि जिणाण गुरुओ मासो दिणे दिणे थेराण लहुओ मासो दिणे दिणे तम्मि खेत्ते अच्छंताणं चउम्मासाईए जिणाणं तम्मि चेव खेत्ते दिणे दिणे चउगुरुं थेराणं दिणे दिणे चउलहुं (गाहा) [तीसपयाऽवराहे ति] सोलस उग्गमदोसा, एगारसणाई पंचदस एसणा दोसा, धाईपरिवाडीए पढमा उग्गमदोसा पंच संजोयणमाइ तत्थ हुंडा एसा वीसा [illegible] दोसा एए तीसपयावराहेहिं तेसिं महया दिवसं दिवसं अवराहे तीस दिणा मासो अहिम आयज्जइ अयमाणो वि [illegible] निक्कारणे गेव्ह अणाइ (गाहा) [वासावासपमाणं] वासावासमाणं च एवं आयारकप्पे भणियं तम्मि अइक्कंते उग्गहकाले [illegible] अणुवासिया जयइ (गाहा) [दुविहे विहारकाले] [illegible] मासेहिं अण्णहिं पामं पडिवज्जइ तत्थेवही न [illegible] (गाहा) [पाम छउ] पण्णत्ति वियाणं जइ [illegible] दोज्झा पामासु अहम्मि वा अहासं- दिं [illegible] पुहवे वा इरिसिए वा [illegible] एगो [illegible] उत्तुयाविइ तस्स पुण [illegible] उत्तराज्झयणाणि [illegible] तं दसवे- [illegible] अणुपारेइ तस्स [illegible] जाव वियाहसुयं अहो- [illegible] दसवेयालियस्स अत्थेपुण एगो [illegible] पुण [illegible] वट्टिओ वा एगो दसवेयालियस्स सुत्ते [illegible] वट्टिओ एगो उत्तरज्झयणा [illegible] वट्टिओ एवं जाव वियाग- [illegible] एगो दसवेया- [illegible] वट्टिओ- [illegible] दिट्ठिवायसु- [illegible] वट्टिओ जाव [illegible] सच्चित्तमाइ से पुण [illegible] वा (गाहा) [सुत्तत्थ] अहवा [illegible] सुत्तत्थ [illegible] तस्स [illegible] भगवंते हो वि [illegible] माहे तेसिं [illegible] सच्चि- [illegible] (गाहा) [एगो उ] [illegible] [illegible] समणं [illegible] सुत्ता, एव अणुवास- वास । नि० चू० ।

[illegible]

घा । "अणुवासगो वि नायगमनायगो य" एतस्य द्विविध- ऽपि प्रवाजने चतुर्गुरु, आज्ञादयश्च दोषाः । नि० चू० ११ उ० । उपासकः श्रावक इतरोऽनुपासकः । अश्रावके, नि० चू० ८ उ० ।

अणुवासणा–अनुवासना–स्त्री० । चर्मयन्त्रप्रयोगेणापानेन जठरे तैलविशेषप्रवेशने, ज्ञा० १३ अ० । विपा० । व्यवस्थापन [illegible] याम, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अणुवि(व्वि)ग्ग–अनुद्विग्न–त्रि० । न० त० । प्रशान्ते, "चरे संजमे अणुव्विग्गे, अविक्खित्तेण चेयसा" दश० ५ अ० १ उ० । अनुद्विग्नः क्षुधादिजयात् प्रशान्त इति । वृ० १ उ० ।

अणुविरइ–अनुविरति–स्त्री० । देशविरतौ, कर्म० १ कर्म० ।

अणुवीइ–अनुविचिन्त्य–अव्य० । अनु-वि-चिति-ल्यप् । पर्यालोच्येत्यर्थे, प्रश्न० २ संव० द्वा० । आलोच्येत्यर्थे, दश० ७ अ० । केवलज्ञानेन ज्ञात्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

अनुवाच्य–अव्य० । आनुकूल्यं याचयित्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अणुवीइभासि(ण्)–अनुविचिन्त्यभाषिन्–पुं० । अनुविचिन्त्य पर्यालोच्य भाषते इत्येवंशीलोऽनुविचिन्त्यभाषी । स्था० [illegible] उ० । स्वालोचितवक्तृरूपे वाचिकविनयभेदे, दश० १ अ० ।

अणुवीइसमिइजोग–अनुविचिन्त्यसमितियोग–पुं० । अनुविचिन्त्य पर्यालोच्य भाषणरूपा या समितिः सम्यक्प्रवृत्तिः साऽनुविचिन्त्यसमितिस्तया योगः संबन्धस्तद्रूपो वा व्यापारो वाऽनुविचिन्त्य समितियोगः । भाषासमितियोगे, प्रश्न० २ संव० द्वा० ।

अणुवूहण–अनुव्यूहन–न० । प्रशंसने, पञ्चा० ।

अणुवेदयंत–अनुवेदयत्–त्रि० । अनुभवति, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अनुवेहमाण–अनुप्रेक्षमाण–त्रि० । अनुप्रेक्षां कुर्वति, "पुत्ते [illegible] रालं अणुवेहमाणे, विण्णाय सोयं अणवेक्खमाणे" सूत्र० १ [illegible]

अणुवो–देशी–तपस्यर्थे, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुव्वय(अ)–अणुव्रत–न० । अणूनि लघूनि व्रतानि अणुव्रतानि । लघुत्वं च महाव्रतापेक्षयाऽल्पविषयत्वादिति प्रतिमेयेति । उक्तं च– "सव्वगयं सम्मत्तं, सुए चरित्ते न पज्जवा सव्वे । देसविरइं पडुच्च, दोण्ह वि पडिसेहणं कुज्जा" ॥१॥ इति । अथवा सर्वविरताऽपेक्षयाऽणोर्लघोर्गुणिनो व्रतान्यणुव्रतानि । स्था० ५ ठा० १ उ० ।

अणुव्रत–न० । अनु महाव्रतस्य पश्चात्प्रतिपत्तौ यानि व्रतानि तान्यणुव्रतानि इति । उक्तं च– "जइ धम्मस्स समत्थं, [illegible] महव्वयं पि साहूणं । तदसमत्थस्स [illegible] साहुकेणहुं" ॥१॥ इति । स्था० ५ ठा० १ उ० । ध० । श्रावकयोग्येषु देशविरतिरूपेषु स्थूलप्राणातिपातविरमणादिषु ;

तानि च–

पंचाणुव्वया पण्णत्ता । तं जहा–थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं, थूलाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, सदारसंतोसे इच्छापरिमाणे ।

स्थूला द्वीन्द्रियादयः त्रसास्तदपेक्षया स्थूलत्वे चैतेषां सकललौकिकानां जीवत्वप्रसिद्धेः; स्थूलविषयत्वात् स्थूलं, तस्मात् प्राणातिपाताद् । तथा स्थूलः परिस्थूलवस्तुविषयोऽतिदुष्टविवक्षासमुद्भवः, तस्मात् मृषावादात् । तथा परिस्थूलवस्तुविषयं चौर्यारोपणहेतुत्वेन प्रसिद्धमतिदुष्टाध्यवसायपूर्वकं स्थूलं, तस्माददत्तादानात् । तथा स्वदारसन्तोषः, कार्मीयकप्रकाराद्यस्वेच्छानिवृत्तिरित्युपलक्षणात्परदारवर्जनमपि ग्राह्यम् । तथा इच्छाया धनादिविषयस्याभिलाषस्य परिमाणं नियमनमिच्छापरिमाणम्, देशतः परिग्रहविरतिरित्यर्थः । ध्या० ४ अ० १ ल० । आव० । उपा० ।

(प्राणिवधादीनां प्राणातिपातादीनां व्याख्या स्वस्थाने)

अथ ग्रहणविधिः—

सम्यक्त्वप्राप्त्यनन्तरं परिणामवृद्धौ यथाशक्ति द्वादशव्रतस्वीकारः, तथाऽपि सर्वाङ्गीकारेऽपि संभवाद्विरतेश्च महाफलत्वात्, कश्चिदपि च नियमाः सम्यक्त्वयुक्तद्वादशान्यतरव्रतसम्पन्ना एव देशविरतिश्रावकत्वप्रदाः। अन्यथा तु प्रत्युत पार्श्वस्थादिसमाधिनीयकाः, यत् 'उपदेशरत्नाकरे' सम्यक्त्वाऽणुव्रतादिधर्मरहिता नमस्कारगुणनजिनार्चनवन्दनाद्यभिरतः श्रावकाभासः श्राद्धधर्मस्य चार्थ्यं इति ।

इदं च विधिग्रहणस्यैव फलवत्त्वात् संक्षेपेऽस्य प्रवर्तत इत्थं धर्मस्य सम्यग्विधिना प्रतिपत्तौ प्रवर्तत इत्येवं पूर्वं प्रतिज्ञातत्वात्तद्ग्रहणविधिमेव दर्शयति—

योगवन्दननिमित्त–दिगाकारविशुद्धयः ।
योग्योपचर्येति विधि–रणुव्रतमुखग्रहे ॥ २३ ॥

इह विशुद्धिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् । ततो योगशुद्धिर्वन्दनशुद्धिर्निमित्तशुद्धिर्दिक्शुद्धिराकारशुद्धिश्चेत्यर्थः। तत्र योगाः कायवाङ्मनोव्यापारलक्षणाः, तेषां शुद्धिः संयोगानामुपयुक्तगमनागमनप्रत्युपेक्षितत्वादिरूपा; वन्दनशुद्धिस्त्वस्खलितप्रणिपातादिदण्डकस्योच्चारणासंभ्रान्तकायोत्सर्गादिकरणलक्षणा, निमित्तशुद्धिस्तत्कालोच्छलितशङ्खपणवादिनादश्रवणपूर्णकलशभृङ्गारच्छत्रध्वजचामराद्युपलोकनशुभगन्धाघ्राणादिरूपा, दिक्शुद्धिः प्राच्युदीचीजिनचैत्याद्यधिष्ठिताऽऽशासमाश्रयणरूपा, आकारशुद्धिस्तु राजाभियोगादिप्रत्याख्यानापवादमुत्कलीकरणात्मिकेति । तथा योग्यानां देवगुरुसाधर्मिकस्वजनदीनानाथादीनामुचिता उपचर्या धूपपुष्पवस्त्रविलेपनाऽऽसनदानादिगौरवात्मिका चेति विधिः । स च क्व भवतीत्याह–(अणुव्रतेति) अणुव्रतानि मुखे आदौ येषां तानि अणुव्रतमुखानि साधुधर्मकाविशेषधर्माचरणानि, तेषां ग्रहे प्रतिपत्तौ भवतीति सद्धर्मग्रहणविधिः । विशेषविधिस्तु सामाचारीतोऽवसेयः। तत्पाठश्चायम्–"पसत्थे खित्ते जिणभवणाइए पसत्थेसु तिहिकरणनक्खत्तमुहुत्तचंदबलेसु परिक्खियगुणं सीसं सूरी अग्गओ काउं समासमणदाणपुव्वं भणावेइ–इच्छाकारि भगवन् ! तुम्हे अहं सम्यक्त्वसामायिकं श्रुतसामायिकं देशविरतिसामायिकम् आरोवावणीयं नंदिकरावणीयं देवे वंदावेह। तओ सूरी सेहं वामपासे ठविता वड्ढंतियाहिं थुईहिं संघेण समं देवे वंदेइ जाव सम दिसतु । ततः श्रीशान्तिनाथाराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं, 'वंदणवत्तियाए' इत्यादि सप्तविंशत्युच्छ्वास काउस्सग्गं करेइ, 'श्रीशान्ति' इत्यादिस्तुतिं च भणति । ततो द्वादशाङ्गधाराधनार्थं करेमि काउस्सग्गं वंदणवत्तियाए

नमस्कारचिन्तनम्, ततः स्तुतिं, तओ सुयदेवयाए

काउस्सग्गं, अन्नत्थ ऊससिएणमिच्चाइ, ततः स्तुतिः, एवं शासनदेवयाए करेमि काउस्सग्गं, अन्नत्थ० "या पाति शासनं जैनं, सद्यः प्रत्यूहनाशिनी । साऽभिप्रेतसमृद्ध्यर्थं, भूयाच्छासनदेवता" ॥१॥ इति स्तुतिः। समस्तवैयावृत्त्यकराणां कायोत्सर्गः, ततः स्तुतिः; नमस्कारं पठित्वोपविश्य शक्रस्तवपाठः। परमेष्ठिस्तवः 'जय वीयराय' इत्यादि । इयं प्रक्रिया सर्वविधिषु तुल्या, सम्यक्त्वारोपे तु विशेषः । ततो वंदणपुव्वं सीसो भणइ–इच्छाकारि भगवन्! तुम्हे अम्ह सम्यक्त्वसामायिकं श्रुतसामायिकं देशविरतिसामायिकम्, आरोवावणीयं नंदिकरावणीयं काउस्सग्गं करेह। तओ सीससहिओ गुरू सम्यक्त्वसामायिकं श्रुतसामायिकं देशविरतिसामायिक आरोवावणीयं नंदिकरावणीयं करेमि काउस्सग्गमिच्चाइ भणइ। सप्तविंशत्युच्छ्वासचिंतणं चउवीसत्थयभणनं क्षमा० नमस्कारत्रयरूपनन्दिश्रावणं, ततः पृथक् नमस्कारपूर्वकं वारत्रयं सम्यक्त्वदण्डकपाठः । स चायम्—

"अहण्णं भंते ! तुम्हाणं समीवे मिच्छत्ताओ पडिक्कमामि संमत्तं उवसंपज्जामि । तं जहा–दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ। दव्वओ णं मिच्छत्तकारणाइं पच्चक्खामि, सम्मत्तकारणाइं उवसंपज्जामि, नो मे कप्पइ अज्जप्पभिइं अन्नउत्थिए वा अन्नउत्थियदेवयाणि वा अन्नउत्थियपरिग्गहियाणि वा अरिहंतचेइयाणि वंदित्तए वा नमंसित्तए वा पुव्विं अणालत्तएणं आलवित्तए वा संलवित्तए वा तेसिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पयाउं वा। खित्तओ णं इत्थ वा अन्नत्थ वा कालओ णं जावज्जीवाए भावओ णं जाव गहेणं न गहिज्जामि, जाव छलेणं न छलिज्जामि, जाव संनिवाएणं नाभिभविज्जामि, जाव अन्नेण वा केणइ रोगायंकाइणा एस परिणामो न परिवडइ, ताव मे एयं सम्मद्दंसणं, नन्नत्थ रायाभिओगेणं गणाभिओगेणं बलाभिओगेणं देवयाभिओगेणं गुरुनिग्गहेणं वित्तिकंतारेणं वोसिरामि, ततश्च "अरिहंतो महदेवो जाव" इत्यादिगाथाया वारत्रयं पाठः। यस्तु सम्यक्त्वप्रतिपत्त्यनन्तरं देशविरतिं प्रतिपद्यते, तस्यायं समाचारः । तओ वंदित्ता सीसो भणइ–इच्छाकारि भगवन्! तुम्हे अम्हं सम्यक्त्वसामायिकं श्रुतसामायिकं, देशविरतिसामायिकम्, आरोवेह। गुरू आह–आरोवेमि। पुणो वंदित्ता भणइ–संदिसह किं भणामि? गुरू भणइ–वंदित्ता पवेयह। पुणो वंदित्ता भणइ तुम्हे अम्हं सम्मत्तसमाइयं सुयसामाइयं देसविरइसामाइयं आरोवियं इच्छामि अणुसट्ठिं गुरू भणइ आरोवियं खमासमणाणं हत्थेणं सुत्तेणं अत्थेणं तदुभएणं सम्मं धारिज्जाहि गुरुगुणेहिं वुड्ढाहि नित्थारगपारगा होह। सीसो भणइ–इच्छं ३। तओ वंदित्ता भणइ–तुम्हाणं पवेइयं संदिसह साहूणं पवेएमि। गुरू भणइ–पवेयह ४। तओ वंदित्ता एगनमुक्कारमुच्चरंतो समोसरणं गुरुं च पयाहिणंतो, एवं तिन्नि वेला। तओ गुरू निसिज्जाए उवविसइ। खमासमणं पुव्विं सीसो भणइ–तुम्हाणं पवेइयं साहूणं पवेइयं संदिसह काउस्सग्गं करेमि। गुरू भणइ–करेह। तओ वंदित्ता भणइ–सम्यक्त्वसामायिकं ३ स्थिरीकरणार्थं करेमि काउस्सग्गमित्यादि, सप्तविंशत्युच्छ्वासचिंतणं चउवीसत्थयभणनं । ततः स्वयादि, ... यथायोग्यमभिग्रहान् ददाति । सदरिसणस्य ... तुम्हाणं समीवे इमे अभिग्गहे गिबहकद्ध्ययम– ... । दव्वओ एहामि । तं ... म, खित्तओ णं इत्थ वा अन्नत्थ वा काएं इमे ... लओ णं अहागहियभंगएणं अरिहंतसाहुंदेव० आ०

ण्णागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं वोसिरामि " तत एकाशनादिविशेषतपः कारयति, सम्यक्त्वादिदुर्लभतादिविषयां च देशनां विधत्ते। देशविरत्यारोपणविधिरप्येवमेव। नवरमालापस्त्वेवम्-"अहण्णं भंते! तुम्हाणं समीवे थूलगं पाणाइवायं संकप्पओ निरवराहं पच्चक्खामि जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि, तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि १। अहण्णं भंते! तुम्हाणं समीवे थूलगं मुसावायं जीहाछेयाइहेउं कन्नालीयाइं पंचविहं पच्चक्खामि दक्खिन्नाइ अविसए आवज्जीवाए दुविहमित्यादि २। अहण्णं भंते! तुम्हाणं समीवे थूलगं अदत्तादाणं खत्तखणणाइ चोरंकारकरं रायनिग्गहकरं सचित्ताचित्तवत्थुविसयं पच्चक्खामि जावज्जीवाए दुविहमित्यादि ३। अहण्णं भंते! तुम्हाणं समीवे ओरालियवेउव्वियभेयं थूलगं मेहुणं पच्चक्खामि, तत्थ दिव्वं दुविहं तिविहेणं तेरिच्छं एगविहं तिविहेणं मणुयं अहागहियभंगएणं, तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामीत्यादि ४। अहण्णं भंते! तुम्हाणं समीवे अपरिमियपरिग्गहं पच्चक्खामि धणधन्नाइनवविहवत्थुविसयं इच्छापरिमाणं उवसंपज्जामि आवज्जीवाए अहागहियभंगएणं, तस्स भंते! पडिक्कमामीत्यादि "५। एतानि प्रत्येकं नमस्कारपूर्वं वा रमुच्चारणीयानि।

" अहण्णं भंते! तुम्हाणं समीवे गुणव्वयतिए उड्ढाहो तिरियगमणविसयं दिसिपरिमाणं पडिवज्जामि। उवभोगपरिभोगवए भोयणओ अणंतकायबहुबीयराईभोयणाइ परिहरामि। कम्मओ णं पण्णरसकम्मादाणाइं इंगालकम्माइयाइं बहुसावज्जाइं खरकम्माइं रायनियोगं च परिहरामि। अणत्थदंडे अवज्झाणाइयं चउव्विहं अणत्थदंडं जहासत्तीए परिहरामि। जावज्जीवाए अहागहियभंगएणं तस्स भंते इत्यादि " ८ त्रीण्यपि समुच्चारितानि वाच्यम्।

" अहण्णं भंते! तुम्हाणं समीवे सामाइयं देसावगासियं पोसहोववासं अतिहिसंविभागवयं विभागवयं च जहासत्तीए पडिवज्जामि आवज्जीवाए अहागहियभंगएणं, तस्स भंते! इत्यादि " १२ चत्वार्यपि समुच्चारितानि वाच्यम्।

"इच्चेयं सम्मत्तमूलं पंचाणुव्वयं सत्तसिक्खावयं दुवालसविहं सावगधम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरामि " यावद्वदति।

अथाऽणुव्रतान्येव क्रमेण दर्शयन्नाह-

स्थूलहिंसादिविरति-व्रतभङ्गेन केनचित्।
अणुव्रतानि पञ्चाहु-रहिंसादीनि संवराः ॥२४॥

इह हिंसा प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणरूपा। सा च-स्थूला सूक्ष्मा च। तत्र सूक्ष्मा-पृथिव्यादिविषया। स्थूला-मिथ्यादृष्टीनामपि हिंसात्वेन प्रसिद्धा या सा। स्थूलानां वा त्रसानां हिंसा स्थूलहिंसा। [illegible] स्थूलमृषावादादत्तादानाब्रह्मपरिग्रहाणां [illegible] स्थूलहिंसादिभ्यो या विरतिर्निवृत्तिः [illegible] [illegible] अणुव्रतानि, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] महाव्रतानि [illegible] [illegible] अणुव्रतानि। यदाह- " अ-

धम्मे असमत्थो, जुज्जइ तद्देसणं पि साहूं ति "। तानि कियन्तीत्याह-(पञ्चेति) पञ्चसंख्यानि, पञ्चाणुव्रतानीति बहुवचननिर्देशेऽपि यद्विरतिमित्येकवचननिर्देशः स सर्वत्र विरतिसामान्यापेक्षयेति। शान्तवस्तीर्थकराः, आहुः प्रतिपादितवन्तः। किंविशिष्टा विरतिः?, इत्याह-व्रतभङ्गेनेत्यादि। केनचिद् द्विविधत्रिविधादीनामन्यतमेन व्रतभङ्गेन व्रतप्रकारेण बाहुल्येन हि श्रावकाणां द्विविधत्रिविधादयः षडेव भङ्गाः संभवन्तीति तदादिभङ्गकग्रहणमुचितमिति भावः। ते च श्राद्धा एवम्-श्राद्धा विरता, अविरताश्च। ते सामान्येन द्विविधा अपि विशेषतोऽष्टविधा भवन्ति। यत आवश्यके-"साभिग्गहा य निरभि-ग्गहा य ओहेण सावया दुविहा। ते पुण विभज्जमाणा, अट्ठविहा हुंति नायव्वा" ॥१॥ साभिग्रहा विरता आनन्दादयः, अनभिग्रहा अविरताः कृष्णसत्यकिश्रेणिकादय इति। अष्टविधास्तु द्विविधत्रिविधादिभङ्गभेदेन भवन्ति। तथाहि—

" दुविह तिविहेण पढमो, दुविहं दुविहेण बीयओ होइ।
दुविहं एगविहेणं, एगविहं चेव तिविहेणं ॥ १ ॥
एगविहं दुविहेणं, एगेगविहेण छट्ठओ होइ।
उत्तरगुणसत्तमओ, अविरओ वि चेव अट्ठमओ " ॥२॥

द्विविधम्-कृतं कारितं च। त्रिविधेन-मनसा वचसा कायेन, यथा स्थूलहिंसादिकं न करोत्यात्मना, न कारयत्यन्यैर्मनसा वचसा कायेनेत्यभिग्रहवान् प्रथमः। अस्य चानुमतिः प्रतिषिद्धा, अपत्यादिपरिग्रहसद्भावात्, तैर्हिंसादिकरणे तस्यानुमतिप्राप्तेः। अन्यथा परिग्रहापरिग्रहयोरविशेषेण प्रव्रजिताऽप्रव्रजितयोरभेदापत्तेः। यत्तु त्रिविधत्रिविधादयस्तु भङ्गा गृहिणामाश्रित्य भगवत्युक्ताः, ते [illegible] कादाचित्कत्वान्नेह विवक्षिताः, बाहुल्येन [illegible] व्याख्यानग्रहणात्, बाहुल्यापेक्षया चास्य सूत्रस्य प्रवृत्तेः। [illegible] स्करत्वं तु तेषां विशेषविषयत्वात्। तथाहि-यः किल प्रव्रजितुकामः पुत्रादिसंततिपालनाय प्रतिमाः प्रतिपद्यते, यो वा विशेषं स्वयंभूरमणादिगतं मत्स्यादिमांसं दन्तिदन्तादिकं वा स्थूलहिंसादिकं वा क्वचिदवस्थाविशेषे प्रत्याख्याति, स एवं त्रिविधत्रिविधादिना करोतीत्यल्पविषयत्वान्नोक्तम्। तथा द्विविधं द्विविधेनेति द्वितीयो भङ्गः। अत्र चोत्तरभङ्गत्रयम्, तत्र द्विविधं स्थूलहिंसादिकं न करोति न कारयति द्विविधेन मनसा वचसा १, यद्वा मनसा कायेन २, यद्वा वाचा कायेन ३। तत्र यदा मनसा वचसा न करोति न कारयति तदा मनसाऽभिसन्धिरहित एव वाचाऽपि हिंसादिकमनुच्चरन् कायेन दुश्चेष्टितादि असंज्ञिवत्करोति १। यदा तु मनसा कायेन न करोति न कारयति तदा मनसाऽभिसन्धिरहित एव कायेन दुश्चेष्टितं परिहरन्ननाभोगाद्वाचैव हन्मि घातयामि वेति ब्रूते २। यदा तु वाचा कायेन न करोति न कारयति तदा मनसैवाभिसन्धिमधिकृत्य करोति कारयति ३। अनुमतिस्तु त्रिविधापि सर्वत्रैवास्ति। एवं शेषविकल्पा अपि भावनीयाः। द्विविधमेकविधेनेति तृतीयः। अत्राप्युत्तरभङ्गत्रयम्। द्विविधं कृतं कारितं च, एकविधेन मनसा, यद्वा-वचसा, यद्वा-कायेन। एकविधं त्रिविधेनेति चतुर्थः। अत्र च द्वौ भङ्गौ, एकविधं कृतं, त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन। एकविधम्, यद्वा-कारितं, त्रिविधेन मनसा वाचा कायेन। एकविधं द्विविधेनेति पञ्चमः। अत्रोत्तरभङ्गाः षट्, एकविधं कृतं, द्विविधेन मनसा वाचा, यद्वा मनसा कायेन, यद्वा वाचा कायेन, एवं कारितम्, द्विविधेन मनसा वाचा, यद्वा मनसा कायेन, यद्वा वाचा कायेन। एकविधमेकविधेनेति षष्ठः। अत्रापि भङ्गाः षट्, [illegible]

कायेन कारितं, पञ्चमः कारणे, पञ्च त्रिधेन मनसा, षष्ठः वाचा, षष्ठ-कायेन । इत्थं मूलभङ्गाः षट् । एषामपि च मूलभङ्गानामुत्तरभङ्गाः सर्वसंख्यया एकविंशतिः। तथा चोक्तम्-" दुविह तिविहा य छ च्चेय, तेसि भेया कमेणिमे हुंति । पढमिक्को दुन्नि तिआ, दुगेग दो इक्क इगवीसं " ॥१॥ स्थापना चेयम्—

३	२	३	१	१
३	१	१	३	२
१	३	२	२	६

एवं च षड्भिर्भेदैः कृतास्त्रिविधत्रिविधादयः षड् भङ्गाः, सम-न्तोत्तरगुण- प्रतिपन्नगुणव्रतशिक्षाव्रतधारिणः अत्र च सामान्येनोत्तरगुणानाश्रित्य एव भेदो विवक्षितः अविरतश्रावकः । तथा पञ्चस्वप्यणुव्रतेषु प्रत्येकं षड्भङ्गीभावेन उत्तरगुणाऽविरतसम्यक्त्वेन च द्वात्रिंशद्विधा श्रावका भवन्ति । यदुक्तम्-"दुविहा विरयाऽविरया, दुविहतिविहाइ-णऽट्ठहा हुंति । वयमेगं एक्विक्कं, गुणियं दुगमाइ बत्तीसं " इति ॥१॥ अत्र च द्विविधत्रिविधादिना भङ्गनिकुरम्बेन श्रावका-णां पञ्चाणुव्रतादिषु पदेषु प्रतिभङ्गं देवकुलिकाः सूचिताः । तासु चैकैकस्मिन् प्रत्यणुव्रतं षड्भङ्ग्या निष्पद्यन्ते, तासु च प्रत्येकं त्रयो राशयो भवन्ति । तद्यथा-आदौ गुणकराशिर्मध्ये गुणकराशिरन्ते आगतराशिरिति । तत्र पूर्वमेताभ्यामेव देवकुलिकानां पञ्चकृत्वा त्रिंशिकप्रमाणभङ्गकसंख्याकथनायां पर्यन्तराशयश्चेत्थम्-

" पणयय उसंगा, निद्दिट्टा सावयाण जे सुत्ते । तिविहस्य पयजुट्ठीए, सत्त गुणा छज्जुया कमसो " ॥ १ ॥ सर्वभङ्गाग्रम् जनयन्तीति शेषः । कथं पुनः षड् भङ्गाः सप्तभिर्गुण्यन्ते इत्याह-षड्भूत्वा मृषावादादावेकैकव्रतभङ्गा एकव्रतभङ्गपरिमाणे षट्स्वपि वन्द्यादिषु द्विकसंयोगेभ्यः पृथक् द्वात्रिंशत्वार्थम्। तथाहि-एकव्रते षड्भङ्गाः सप्तभिर्गुणिता जाता द्विचत्वारिंशत्,तत्र षट् क्षिप्यन्ते, जाता अष्टचत्वारिंशत् । एषोऽपि सप्तभिर्गुण्यते, षट् च क्षिप्यन्ते, जाताः ३४२। एवं सप्तगुणनषट्प्रक्षेपक्रमेण तावद् यावदेकादश्यां वेलायामागतम् १३८४१२०७२०२ एते च षट्चत्वारिंशदादयो द्वादशाप्यागतराशयोऽधोभागेन स्थाप्यमाना अर्द्धदेवकुलिकाकारां भूमिमापूरयन्तीति स-पदेवकुलिकेत्युच्यते । स्थापना-

१२	१	६
६६	३६	४८
२२०	२१६	३४२
४९५	१२९६	२४००
७९२	७७७६	१६८०६
९२४	४६६५६	११७६४७
७९२	२७९९३६	८२३५४२
४९५	१६७९६१६	५७६४८००
२२०	१००७७६९६	४०३५३६०६
६६	६०४६६१७६	२८२४७५२४०
१२	३६२७९७०५६	१९७७३२६७४२
१	२१७६७८२३३६	१३८४१२८७२०२

संपूर्णदेवकुलिकास्तु प्रतिव्रतमेकैकदेवकुलिकासद्भावेन पञ्चकृत्वां द्वादश देवकुलिकाः सम्भवन्ति । तत्र द्वादश्यां देवकुलिकायामेकद्विकादिसंयोगा गुणकराशिश्च । तत्र गुणकराशयस्त्वमी । एतेषां च पूर्वस्य पूर्वस्य षड्गुणनेऽन्तिमे गुणकराशिरायाति स्थापने बीजम् । एते च षट्-षट्त्रिंशदादयो द्वादशापि गुणकराशयः क्रमशो द्वादश-षट्पञ्चप्रभृतिभिर्गुणकराशिभिर्गुणिता आगतराशयः ७२ आदयो भवन्ति, ते देवकुलिकागतभूतप्रकाशिता ज्ञेयाः । स्थापना चाग्रे (षड्भङ्ग्यां द्वादशसंख्यदेवकुलिकायाः) अत्राप्युत्तरगुणाः अविरतसंयुक्ताः १३८४१२८७२०२ भवन्ति । उत्तरगुणाश्चात्र प्रतिमादयोऽभिग्रहविशेषा ज्ञेयाः । यदुक्तम्-"तेरसकोडिसयाइं, चुलसीइजुयाइं बारस य लक्खा । सत्तासीइ य सहस्सा, दो य सया तह दुरग्ग य" ॥ १ ॥ (दुरग्ग त्ति) प्रतिमाद्युत्तरगुणाऽविरतकस्मेदद्वयाधिका एतावन्तश्च द्वादश व्रतान्याश्रित्य प्रोक्ताः । पञ्चाणुव्रतान्याश्रित्य तु १६८०६ भवन्ति । तत्राप्युत्तरगुणाऽविरतभेदाभ्यां तेन १६८०८ भवन्ति । अत्र चैकद्विकादिसंयोगा गुणकाः षट् षट्त्रिंशदादयो गुण्याश्च त्रिंशदादयश्चागतराशयो यन्त्रकादवसेयाः । इयमत्र भावना—कश्चित्पञ्चाप्यणुव्रतानि प्रतिपद्यते । तथा चित्र पञ्चैककसंयोगाः एकैकस्मिंश्च संयोगे द्विविधत्रिविधादयः षड् भङ्गाः स्युः । तेन षट् पञ्चभिर्गुण्यन्ते, जाताः ३० । एतावन्तः पञ्चानां व्रतानामेककसंयोगे भङ्गाः । तथा एकैकस्मिन् द्विकसंयोगे ३६ भङ्गाः । तथाहि—आद्यव्रतसंबन्धाद्यो भङ्गकोऽवस्थितो मृषावादव्रतात् षड् भङ्गान् लभते । एवमाद्यव्रतसंबन्धी द्वितीयोऽपि यावत्षष्ठोऽपि भङ्गोऽवस्थित एव मृषावादव्रतात् षड् भङ्गान् लभते । ततश्च षट्, षड्भिर्गुणिताः ३६, दश चात्र द्विकसंयोगाः अतः ३६ दशगुणिताः ३६० एतावन्तः पञ्चानां व्रतानां द्विकसंयोगे भङ्गाः एवं त्रिकसंयोगादिष्वपि भङ्गसंख्याभावना कार्या । पञ्चमदेवकुलिकास्थापना—

६	५	३०
३६	१०	३६०
२१६	१०	२१६०
१२९६	५	६४८०
७७७६	१	७७७६

एवं सर्वासामपि (पूर्वोत्तराणां) देवकुलिकानां निष्पत्तिः स्वयमवसेया । इयं च प्ररूपणाऽऽवश्यकनिर्युक्त्यभिप्रायेण कृता, भगवत्यभिप्रायेण तु नवभङ्गी । साऽपि प्रसङ्गतः प्रदर्श्यते । तथाहि-हिंसां न करोति-मनसा १, वाचा २, कायेन ३, मनसा वाचा ४, मनसा कायेन ५, वाचा कायेन ६, मनसा वाचा कायेन ७, एतत्करणेन सप्त भङ्गाः । एवं कारणेन २ अनुमत्या ३ करणकारणाभ्यां ४ करणानुमतिभ्यां ५ कारणानुमतिभ्यां ६ करणकारणानुमतिभिः ७ । एवं सर्वमीलिता एकोनपञ्चाशद्भवन्ति । एते च त्रिकालविषयत्वात् प्रत्याख्यानस्य कालत्रयेण गुणिताः सप्तचत्वारिंशदधिकं शतं भवन्ति । यदाह—

" मणवयकायजोगे, करणे कारावणे अणुमई य ।
इक्कगदुगतिगजोगे, सत्तासत्ता य गुणवन्ना ॥ १ ॥
पढमिक्को तिन्नि तिआ, दुन्नि नवा तिन्नि दो नवा चेव ।
कालतिगेण य सहिआ, सीआलं होइ भंगसयं ॥ २ ॥
सीआलं भंगसयं, पच्चक्खाणम्मि जस्स उवलद्धं ।
सो खलु पच्चक्खाणं, कुसलो सेसा अकुसलाओ " ॥ ३ ॥ त्ति ।

अतीतस्य निन्दया, सांप्रतिकस्य संवरणेन, [illegible]

३	३	३	२	२	२	१	१	१
३	२	१	३	२	१	३	२	१
१	२	३	१	१	३	३	१	१

स्य प्रदर्शिताः अपि ज्ञेयाः । गुणव्रतेषु प्रत्येकं नवभङ्ग्यां नवभङ्गाद् एकभङ्गकभावाद् १४८ भ- ७३५ भ- दा. श्रावकाणां भवन्ति । उक्तं च-"दुविहा अट्ठविहा वा, बत्तीसविहा सावयाणं भवन्ति । सोल सय सहस्स पंच, अट्ठसयऽट्ठुत्तरा य सत्त पणतीसा । सोल सय सहस्स पंच, अट्ठसयऽट्ठुत्तरा हा य सत्त पणतीसा । सोलसयसहस्स पंच, अट्ठसयऽट्ठुत्तराइं वरणे" ॥१॥ इदं तु ज्ञेयम्-षड्भङ्ग्यपेक्षया नवभङ्ग्या एकभङ्गकभावाद्भङ्ग्या ५, द्वादश द्वया, तथा नवभङ्ग्या ३, तथैकोनपञ्चाशद्भङ्ग्या ५, द्वादश देवकुलिका निष्पद्यन्ते । यदुक्तम्—

" इगवीसं खलु भंगा, निद्दिट्ठा सावयाण जे सुत्ते ।
ते चिय बावीसगुणा, इगवीसं पक्खवेयव्वा ॥ १ ॥
नव भंगा, निद्दिट्ठा सावयाण जे सुत्ते ।
ते दसगुण काउं, नव पक्खेयव्वा कायव्वा ॥ २ ॥

❀ ४२०–पृष्ठे द्वादशव्रतदेवकुलिकानां भङ्गस्थाप

॥ षड्भङ्ग्यां द्वादशव्रतदेवकुलिकाः ॥

६	१	६	६
६	२	१२	४८
३६	१	३६	
६	३	१८	३४२
३६	३	१०८	
२१६	१	२१६	
६	४	२४	२४००
३६	६	२१६	
२१६	४	८६४	
१२९६	१	१२९६	
६	५	३०	१६८०६
३६	१०	३६०	
२१६	१०	२१६०	
१२९६	५	६४८०	
७७७६	१	७७७६	
६	६	३६	११७६४८
३६	१५	५४०	
२१६	२०	४३२०	
१२९६	१५	१९४४०	
७७७६	६	४६६५६	
४६६५६	१		
६	७	४२	८२३५४२
३६	२१	७५६	
२१६	३५	७५६०	
१२९६	३५	४५३६०	
७७७६	२१	१६३२९६	
४६६५६	७	३२६५९२	
२७९९३६	१	२७९९३६	
६	८	४८	१६७७७२१५
३६	२८	१००८	
२१६	५६	१२०९६	
१२९६	७०	९०७२०	
७७७६	५६	४३५४५६	
४६६५६	२८	१३०६३६८	

॥ नवभङ्ग्यां द्वादशव्रतदेवकुलिकाः ॥

९	१	९	९
९	२	१८	९९
८१	१	८१	
९	३	२७	९९९
८१	३	२४३	
७२९	१	७२९	
९	४	३६	९९९९
८१	६	४८६	
७२९	४	२९१६	
६५६१	१	६५६१	
९	५	४५	९९९९९
८१	१०	८१०	
७२९	१०	७२९०	
६५६१	५	३२८०५	
५९०४९	१	५९०४९	
९	६	५४	९९९९९९
८१	१५	१२१५	
७२९	२०	१४५८०	
६५६१	१५	९८४१५	
५९०४९	६	३५४२९४	
५३१४४१	१	५३१४४१	
९	७	६३	९९९९९९९
८१	२१	१७०१	
७२९	३५	२५५१५	
६५६१	३५	२२९६३५	
५९०४९	२१	१२४००२९	
५३१४४१	७	३७२००८७	
४७८२९६९	१	४७८२९६९	
९	८	७२	९९९९
८१	२८	२२६८	
७२९	५६	४०८२४	
६५६१	७०	४५९२७०	
५९०४९	५६	३३०६७४४	
५३१४४१	२८	१४८८०३४८	

॥ दशविकल्पि

[illegible] मनु [illegible] ले सुखं ।
[illegible] पंकमहुला, [illegible] ॥ ३ ॥
[illegible], मे वि [illegible] काउं ।
[illegible] ॥ ४ ॥

[illegible] संख्यायामागतं क्रमेण [illegible] ।[illegible] -(० द्वादशानन्त [illegible]) एवं संपूर्णा देवकुलि- [illegible] द्वादश [illegible] -(० द्वादशानन्तदेवकुलिकायामेकाविंशत्येकोन- [illegible]) इति प्रसङ्गतः [illegible] । [illegible] विस्तरेण । धर्म० २ [illegible]

[illegible]

अणुसट्ठी–अनुशिष्टि–स्त्री० । अनुशासनमनुशिष्टिः । [illegible] दानरूपे स्तुतिकरणे , सद्गुणे वा वैयावृत्त्यतेर, व्य० १ [illegible] नि० चू० । पं० व० । शिक्षणे, दर्श० । [illegible] सू० १ उ० । ' तिविहा अणुसट्ठी पन्नत्ता । तं जहा-अत्ता [illegible] परागुसट्ठी तदुभयाणुसट्ठी ' स्था० ३ ठा० ३ उ० । [illegible] आत्मानमात्मना अनुशास्ति सा आत्मानुशिष्टिः, [illegible] परस्य वाऽनुशासनं सा पराऽनुशिष्टिः, [illegible] विषयानुशिष्टिः व्य० १ उ० । तत्राऽऽत्मनो यथा-" [illegible] मणुमं, कम्मम्मि गहणम्मि जीव [illegible] । [illegible] गमिज्जसि, भुंजंतो रागमेदिति " ॥ १ ॥ तथा [illegible] इति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । व्य० ।

दंसणकुलजम्मि लोए, मा अमति कुणह दंरिसो [illegible]
एस दुसहो उ दंसो, भवदंसनिवारओ जीव ! ॥
अवि य हु विसोहिओ ते, अप्पाणापारमइलिओ [illegible]
अप्पपरे उभए अनु-सट्ठी य थुइ त्ति एगट्ठा ॥

दारुः सुलभो यथासौ [illegible] लोके , हे [illegible] मा एवं रूपाममति कुमति कुर्याः । यथाऽहमाकारेण [illegible] मतो वधितोऽस्मीति, यत एव प्रायश्चित्तदानरूपो [illegible] दैनः कस्माद् दुर्लभः?, इत्याह-भवदण्ड [illegible] "[illegible] सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनम् " इति [illegible] न देशो प्रथमा । ततोऽयमर्थः-यत एव दण्डो [illegible] एव दुःसहदुःखात्मकत्वाद् दण्डस्य निवारको भवदण्ड [illegible] निवारकस्तस्माद् दुर्लभः । अपि च हु निश्चितं [illegible] अनाचारमलिनः प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या विशोधितो भवति, [illegible] न दण्डितोऽस्मीति बुद्धिरात्मनि परिभावयितव्या । [illegible] यतोऽहमनुग्रहमतः [illegible] ति । एवमनुना उल्लेखेन आत्मनि परस्मिन् [illegible] शिष्टिर्गन्तव्या । [illegible] [illegible] स्तुतिरित्येकार्थी । [illegible]

[illegible]

...कानां भङ्गस्थापनायन्त्रम् ।

॥ १४७ [illegible] ॥

१४७	१	१४७	[illegible]
१४७	२	[illegible]	[illegible]
[illegible]	१	[illegible]	
१४७	३	[illegible]	[illegible]
[illegible]	३	[illegible]	
[illegible]	१	[illegible]	
१४७	४	[illegible]	[illegible]
[illegible]	६	[illegible]	
[illegible]	४	[illegible]	
[illegible]	१	[illegible]	
१४७	५	[illegible]	[illegible]
[illegible]	१०	[illegible]	
[illegible]	१०	[illegible]	
[illegible]	५	[illegible]	
[illegible]	१	[illegible]	
१४७	६	[illegible]	[illegible]
[illegible]	१५	[illegible]	
[illegible]	२०	[illegible]	
[illegible]	१५	[illegible]	
[illegible]	६	[illegible]	
[illegible]	१	[illegible]	
१४७	७	[illegible]	[illegible]
[illegible]	२१	[illegible]	
[illegible]	३५	[illegible]	
[illegible]	३५	[illegible]	
[illegible]	२१	[illegible]	
[illegible]	७	[illegible]	
[illegible]	१	[illegible]	
१४७	८	[illegible]	[illegible]
[illegible]	२८	[illegible]	
[illegible]	५६	[illegible]	
[illegible]	७०	[illegible]	
[illegible]	५६	[illegible]	
[illegible]	२८	[illegible]	

॥ …द्वादशघातदेयकुलिकाः ॥

…२१	१	२१
…२१	२	४२
…४१	१	४४१
…२१	३	६३
…४१	३	१३२३
…६१	१	९२६१
…२१	४	८४
…४१	६	२६४६
…६१	४	३७०४४
…८१	१	१९४४८१
…२१	५	१०५
…४१	१०	४४१०
…६१	१०	९२६१०
…८१	५	९७२४०५
…०१	१	४०८४१०१
…२१	६	१२६
…४१	१५	६६१५
…६१	२०	१८५२२०
…८१	१५	२९१७२१५
…०१	६	२४५०४६०६
…२१	१	८५७६६१२१
…२१	७	१४७
…४१	२१	९२६१
…६१	३५	३२४१३५
…८१	३५	६८०६८३५
…०१	२१	८५७६६१२१
…२१	७	६००३६२८४७
…४१	१	१८०१०८८५४१
…२१	८	१६८
…४१	२८	१२३४८
…६१	५६	५१८६१६
…८१	७०	१३६१३६७०
…०१	५६	२२८७०९६५६
…२१	२८	२४०१४५१३८८

॥ ४९ अङ्कस्य द्वादश घातकुलिकाः ॥

४९	१	४९
४९	२	९८
२४०१	१	२४०१
४९	३	१४७
२४०१	३	७२०३
११७६४९	१	११७६४९
४९	४	१९६
२४०१	६	१४४०६
११७६४९	४	४७०५९६
५७६४८०१	१	५७६४८०१
४९	५	२४५
२४०१	१०	२४०१०
११७६४९	१०	११७६४९०
५७६४८०१	५	२८८२४००५
२८२४७५२४९	१	२८२४७५२४९
४९	६	२९४
२४०१	१५	३६०१५
११७६४९	२०	२३५२९८०
५७६४८०१	१५	८६४७२०१५
२८२४७५२४९	६	१६९४८५१४९४
१३८४१२८७२०१	१	१३८४१२८७२०१
४९	७	३४३
२४०१	२१	५०४२१
११७६४९	३५	४११७७१५
५७६४८०१	३५	२०१७६८०३५
२८२४७५२४९	२१	५९३१९८०२२९
१३८४१२८७२०१	७	९६८८९०१०४०७
६७८२२३०७२८४९	१	६७८२२३०७२८४९
४९	८	३९२
२४०१	२८	६७२२८
११७६४९	५६	६५८८३४४
५७६४८०१	७०	४०३५३६०७०
२८२४७५२४९	५६	१५८१८६१३९४४
१३८४१२८७२०१	२८	३८७५५६०४१६२८

...मूलकानां मूलस्थापनायन्त्रम् ।

[illegible]

[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	
[illegible]	[illegible]	[illegible]	
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	
[illegible]	[illegible]	[illegible]	
[illegible]	[illegible]	[illegible]	
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	
[illegible]	[illegible]	[illegible]	
[illegible]	[illegible]	[illegible]	
[illegible]	[illegible]	[illegible]	
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	
[illegible]	[illegible]	[illegible]	
[illegible]	[illegible]	[illegible]	
[illegible]	[illegible]	[illegible]	
[illegible]	[illegible]	[illegible]	
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	
[illegible]	[illegible]	[illegible]	
[illegible]	[illegible]	[illegible]	
[illegible]	[illegible]	[illegible]	
[illegible]	[illegible]	[illegible]	
[illegible]	[illegible]	[illegible]	
[illegible]	[illegible]	[illegible]	[illegible]
[illegible]	[illegible]	[illegible]	
[illegible]	[illegible]	[illegible]	
[illegible]	[illegible]	[illegible]	
[illegible]	[illegible]	[illegible]	
[illegible]	[illegible]	[illegible]	

[illegible]

धर्मिति । स्था० ४ ठा० ३ उ० । ' धर्मकथां कुर्वन्ति ' इत्यर्थे, वृ० १ उ० ।

अणुसमय-अनुसमय-अव्य० । समयं समयमनुलक्षीकृत्येत्यनुसमयम् । वीप्सायामव्ययीभावः । कर्म० ५ कर्म० । सततमित्यर्थे, उत्त० ५ अ० । प्रतिसमयमित्यर्थे, क० प्र० । प्रति० । प्रत्यर्थे, उत्त० ५ अ० । प्रतिसमयमित्यर्थे, क० प्र० । प्रति० । प्रतिक्षणमित्यर्थे, धं० अ० ६ पाहु० । "अणुसमयं अविरहियं णिरंतरं उववज्जंति" । अनुसमयमित्यादिपदत्रयमेकार्थम् । भ० ४१ श० १ उ० ।

अणुसमववयणोववत्तिअ-अनुसमवदनोपपातिक-त्रि० । अनुरूपा समाऽविषमा वदनोपपत्तिर्द्वारघटना येषां ते तथा । अनुलोमार्थवदनद्वारघटनाके, " ससिसूरचक्कलक्खण-अणुसमवयणोववत्तिआ " जं० ३ वक्ष० ।

अणुसय-अनुशय-पुं० । गर्वे, पश्चात्तापे च । अनु० । प्रश्न० ।

अणुसरण-अनुस्मरण-न० । सदसत्कर्तव्यप्रवृत्तिहेतुतोऽनुचिन्तने, पञ्चा० १ विव० । " णाणानयाणुस्सरणं, पुव्वगयमणुसारेणं" आव० ४ अ० । स्मृतौ, विशे० ।

अणुसरियव्व-अनुसर्तव्य-त्रि० । अनुगन्तव्ये, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अणुस्सरियव्व-अनुस्मर्तव्य-त्रि० । अनुचिन्तनीये, " अणुस्सरियव्वो सुहेण चित्तेण एसेव नमोक्कारो कयन्नुयं मन्नमाणेणं " आ० म० द्वि० ।

अणुसरिस-अनुसदृश-त्रि० । अनुरूपे, "अणुसरिसो तस्स होउमाओ" व्य० २ उ० ।

अणुसार-अनुसार-पुं० । अनु-सृ-भावे घञ् । अनुगमने, सदृशाकरणे च । वाच० । " विसमासु अ लक्खणाणुसारेण " इत्यादि । प्रा० । पारतन्त्र्ये, विशे० ।

अणुस्सार-अनुस्वार-पुं० । स्वराश्रयेण उच्चार्यमाणे बिन्दुरूपतया व्यज्यमाने अनुनासिके वर्णभेदे, वाच० । अनुस्वारो विद्यतेऽस्येति अनुस्वारादिभ्य इति मत्वर्थीयोऽच् प्रत्ययः । अनुस्वारवत्त्वेनोच्चार्यमाणेऽक्षरश्रुतविशेषे, आ० म० द्वि० । नं० । " अणुस्सारं णाम जं कद्दुः वत्तं सत्तं वा संसरिते अत्थेण वा संसारिते जं अक्खरविरहितं सद्दकरणं तमणुस्सारं भन्नति" । आ० चू० १ अ० ।

अणुसासंत-अनुशासत्-त्रि० । शिक्षयति-शिक्षां प्रयच्छति, उत्त० ४ अ० ।

अणुसासण-अनुशासन-न० । अनुशास्यन्ते सन्मार्गेऽवतार्यन्ते सदसद्विवेकतः प्राणिनो येन तदनुशासनम् । धर्मदेशनया सन्मार्गावतारणे, " अणुसासणं पुढो पाणी, वसुमं पूयणासु ते" सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । भगवदाहारूपे-आगमे च । " सोच्चा भगवाणुसासणं, सच्चे तत्थ करेज्जुवक्कमं " सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । शासनमनु-अव्ययीभाव । यथागममित्यर्थे । सूत्रानुसारेणेति यावत् । "अणुसासणमेव पक्कमे, वीरेहिं सम्मं पवेइयं" सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । शिक्षायाम्, हा० १२ अ० । पञ्चा० ६ विव० । जं० । राजाद्विपराद्वोऽनुशासन वक्ष्यामि । पञ्चा० ६ विव० । दुःस्थस्य सुस्थतासंपादने, स० । अनुकम्पायाम्, "अणुसासणं ति वा अणुसासणं ति वा एगट्ठा " पं० चू० । अनुशासनं प्रतिवर्तमाने वा दृष्टे वा, किमुक्तं भवति ?-सामाचारीतः प्रतिभज्यमानान् कथञ्चिद् यदस्मादनुशास्ति तदनुशासनम् । यदि वा यथोक्तकार्येऽपि सन् कथञ्चिन्न करोते, तत्करयचित्तिकरणम्, 'एतत्तत्र कृत्यमिति' कथनादनुशास्ति एतदनुशासनम् । संभेदे, व्य० ३ उ० । ' अणुसासइ '- अनुशास्ते । वृ० १ उ० ।

अणुसासणविहि-अनुशासनविधि-पुं० । अनुशास्तिविधाने, पञ्चा० ६ विव० ।

अणुसासिज्जंत-अनुशास्यमान-त्रि० । तत्र तत्र चोद्यमाने, " अणुसासिज्जंतो सुस्सूसइ " । दश० १ अ० ४ उ० । सूत्र० ।

अणुसासिय-अनुशासित-त्रि० । युक्तानि शिक्ष्यमाणे कथञ्चित् स्खलितादिषु गुरुभिः परुषोक्त्या शिक्षिते-गुरुभिः कठोरवचनैस्तर्जिते, उत्त० १ अ० । अभिहिते, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अणुसिट्ठ-अनुशिष्ट-त्रि० । शिक्षां गृहीते, " तत्तेण अणुसिट्ठा ते, अपडिन्नेण जाणया " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अणुसिट्ठी-अनुशिष्टि-स्त्री० । तद्भावकथनपुरस्सरं प्रज्ञापनायाम्, वृ० १ उ० । ('अणुसट्ठी' शब्दप्रकरणे दर्शितार्थ,) शिक्षायाम्, उत्त० १० अ० ।

अणुसुत्ती-देशी-अनुकूले, दे० ना० १ वर्ग ।

अणुसूयग-अनुसूचक-पुं० । नगराभ्यन्तरे वार्त्तामुपलभमाने, सूचककथितं श्रुतं दृष्टं वा, स्वयमुपलब्धं च प्रतिसूचकेभ्यः कथयति, सामन्तराज्येषु वसतिकृतवृत्तिके अमात्यपुरुषे, तादृश्यां कृतवृत्तिकायां चैव महिलायाम्, "सूयग तहाऽणुसूयग-पडिसूयग सव्वसूयगा चेव । पुरिसा कयवित्तीया, वसंति सामंतरायसामंतनगरेसु ॥१॥ महिला कयवित्तीया वसंति सामंतणगरेसु " व्य० १ उ० ।

अणुसू (स्सु) यत्ता-अनुस्यूतत्व-न० । अपरशरीराधिगतायां परनिश्रायाम्, " अचित्तसु वा अणुसूयत्ताए वि उट्टंति " सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

अणुसोय-अनुश्रोतस्-न० । प्रवाहे, "अणुसोयपट्टिए बहु, जणम्मि पडिसोयलद्धलक्खेण । पडिसोयमेव अप्पा, दायव्वो होउ कामेणं ॥१॥ अणुसोयसुहो लोगो, पडिसोओ आसमो सुविहियाणं । अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो " ॥२॥ अष्ट० २३ अष्ट० । पं० सू० ।

अणुसोयचारि (ण्)-अनुश्रोतश्चारिन्-त्रि० । अनुश्रोतसा नद्यादिप्रवाहगामिनि मत्स्ये, एवं [illegible]

[illegible]

अणुसोयपट्ठिय-अनुश्रोतःप्रस्थित-त्रि० । [illegible] काष्ठवद् विषयकुमार्गव्यभिचारानुकूल्येन प्रवृत्ते, " अणुसोयपट्ठिय बहु, जणम्मि पडिसोयलद्धलक्खेणं । पडिसोयमेव अप्पा, दायव्वो होउ कामेणं " ॥१॥ दश० २ चू० ।

अणुसोयसुह-अनुश्रोतःसुख-त्रि० । उदकस्येवाभिसर्पणवत् प्रवृत्त्याऽनुकूलविषयादिसुखे, दश० १ अ० । "अणुसोयसुहो लोगो " दश० २ चू० ।

अणुस्सग्ग-अनुत्सर्ग-पुं० । अपरित्यागे, दर्श० ।

[illegible] इत्यर्थे, "[illegible]

अणुस्सरित्ता-अनुसृत्य

गेयारमणुस्सरित्ता, पाणाणि चेयं विणिहंति मंदा " सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

अणुस्सव–अनुश्रव–पुं० । अनुश्रूयते गुरुमुखादित्यनुश्रवः । वेदे, द्वा० ८ द्वा० ।

अणुस्सुय–अनुश्रुत–त्रि० । अवधारिते गुरुनिगद्यमाने, उत्त०५ अ० । श्रवणपथमायाते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । भारतादौ पुराणे श्रुते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । न उत्सुकोऽनुत्सुकः । सूत्र० १ श्रु० ९ अ० । औत्सुक्यरहिते, पं० सू० ४ सू० ।

अणुस्सुयत्त–अनुत्सुकत्व–न० । विषयसुखेऽनुत्तालत्वे, "सुहसायणं अणुस्सुयत्तं जणयइ । उत्त० २९ अ० ।

अणुहवसिद्ध–अनुभवसिद्ध–त्रि० । स्वसंवेदनप्रतीते, पञ्चा० ३ विव० ।

अणुहविउं–अनुभूय–अव्य० । संवेद्येत्यर्थे, पञ्चा० २ विव० ।

अणुहियासण–अन्वध्यासन–न० । अविचलकायतया सहने, जं० २ वक्ष० ।

अणुहूअ–अनुभूत–त्रि० । अनु-भू-क्त । प्राकृते " क्ते हूः " ॥ ८ । ४ । ६४ ॥ भुवः क्तप्रत्यये हू इत्यादेशः । अनुभवविषयीकृते, प्रा० ।

अणू–देशी–शालिभेदे, दे० ना० १ वर्ग ।

अणूव–अनूप–त्रि० । अनुगता आपो यत्र । ब० स० । अच् समा० । अत उत्वम् । जलप्राये स्थाने, वाच० । नद्यादिपानीयबहुले, बृ० १ उ० । विशे० । स्था० ।

अणूवदेस–अनूपदेश–पुं० । जलदेशे, स्था० ४ उ० ।

अणेग(य)–अनेक–त्रि० । बहुत्वे, सूत्र०१ श्रु० १२ अ० । अनेकशब्दघटितप्रयोगा यथा– " अणेगगणनायगदंडनायगराईसरतलवरमाडंबियकोडुंबियमंतिमहामंतिगणगदोवारियअमच्चचेडपीढमद्दनगरनिगमसेट्ठिसेणावइसत्थवाहदूयसंधिवालसद्धिं संपरिवुडे " अनेके ये गणनायकादयस्तेषां द्वन्द्वस्ततस्तैरिह तृतीयाबहुवचनलोपो द्रष्टव्यः (सद्धिं ति) सार्द्धं सहेत्यर्थः । न केवलं तत्सहितत्वमेव, अपि तु तैः समिति समन्तात् परिवृतः परिवारित इति । औ० । " अणेगजाइजरामरणजोणिवेयणं " अनेकजातिजरामरणप्रधानयोनिषु वेदना यत्र स तथा । (संसार इति विशेष्यम्) औ० । "अणेगजाइजरामरणजोणिसंसारकलंकलीभावपुणब्भवगब्भवासवसहीपवंचसमइक्कंता–सासयमणागयमिद्धं " अनेकजातिजरामरणैर्जन्मजरामृत्युनिबंधनासु योनिषु संसारः संसरणं तेन च यः कलङ्कलीभावः कलुषीभावस्तथा [illegible] दिव्यसुखमनुभवतामपि पुनर्भवे संसारे गर्भवासवसतयः, तां समतिक्रान्तौ, अत एव शाश्वतमनागतं कालं तिष्ठन्ति । (सिद्धा इति विशेष्यम्) प्रश्न० २ पद्म० । अनेकशब्दनिबंधनात् [illegible] । सर्वभावानुयायित्वमित्यत्र [illegible] । रा० । इह [illegible] । रा० । " अणेगखंभसयसंनिविट्ठ [illegible] " अनेकानि शतानि स्तम्भानां [illegible] यत्र स तथा । [illegible], [illegible] भृशं [illegible], [illegible] कूटानि, [illegible] यत्र स तथा । [illegible] ([illegible] इति विशेष्यम्) ज्ञा० ४ अ० ।

" अणेगणरवामसुप्पसारियअगिज्झघणविपुलवट्टखंधी " अनेकैर्नरव्यामैः पुरुषव्यामैः सुप्रसारितैरग्राह्योऽप्रमेयो घनो निबिडो विपुलो विस्तीर्णो वृत्तः स्कन्धो येषां ते-अनेकनरव्यामसुप्रसारिताग्राह्यघनविपुलवृत्तस्कन्धाः । रा० । प्रा० । " अणेगभूयभावभविपविअहं" अनेके भूता अतीता भावाः सत्ताः परिणामा वा भव्याश्च भाविनो यस्य स तथा । इति सूत्रं प्रतिस्थापत्यापुत्रः । स्था० १ ठा० १ उ० । " अणेगमणिरयणविविहणिज्जुत्तविचित्तचिंधगया" अनेकानि बहूनि मणिरत्नानि प्रतीतानि विविधानि बहुप्रकाराणि नियुक्तानि नियोजितानि येषु तानि तथा, तानि विचित्राणि चिह्नानि गताः प्राप्ताः ये ते तथा । (सुपुरुषवर्णकः) औ० । प्रश्न० । " अणेगमणिरयणविविहसुविरइयनामचिंधं " अनेकैर्मणिरत्नैर्विविधं नानाप्रकारं सुविरचितं नाम चिह्नं निजनामवर्णं पङ्क्तिरूपं यत्र स तथा । जं० ३ वक्ष० । " अणेगमणिकणगरयणपहकरपरिमंडियभागमत्तिचित्तविणिउत्तगमणगुणजणियपंचोलमाणवरललियकुंडलुज्जलियअहियआभरणजणियसोभे " अनेकमणिरत्नकनकनिकरपरिमण्डितभागे भक्तिचित्रे विच्छित्तिविचित्रे विनियुक्ते कर्णयोर्निवेशिते गमनगुणेन गतिसामर्थ्येन जनिते कृते प्रेङ्खमाने चञ्चले ये वरललितकुण्डले ताभ्यामुज्ज्वलितेनोद्दीप्तेनाधिकाभ्यामाभरणाभ्यामुज्ज्वलिताधिकैर्वाऽऽभरणैश्च कुण्डलव्यतिरिक्तैर्जनिता शोभा यस्य स तथा । ज्ञा०१अ० । "अणेगरहसगडजाणजुग्गगिल्लिथिल्लिसिवियपडिमोयणा " अनेकेषां रथशकटादीनामपि विस्तीर्णत्वात् प्रतिमोचनं येषु ते तथा । रा० । "अणेगरायवरसहस्साणुजायमग्गे" अनेकैर्राजवराणां वरमुकुटधारी सहस्रैरनुयातोऽनुगतो मार्गः पृष्ठं यस्य स तथा । जं०३ वक्ष० । " अणेगवंद्राप " अनेकानि वृन्दानि परीवारो यस्याः सा तथा तस्याः(परिषदः)रा० । 'अणेगवरतुरगमत्तकुंजररहपहकर(सहकर)सीयसंदमाणीयाइण्णजाणजुग्गा' अनेकैर्वरतुरगैर्मत्तकुञ्जरै:(रहपहकरेत्ति)रथनिकरैः(रहसहकरेत्ति वा)रथानां सहकारैः सङ्घातैः शिबिकाभिः स्यन्दमानीभिराकीर्णा व्याप्ता यानैर्युग्यैश्च या सा तथा । आकीर्णशब्दस्य मध्यनिपातः प्राकृतत्वात् । अथवा अनेके वरतुरगादयो यस्यामाकीर्णानि च गुणवन्ति यानादीनि यस्यां सा । औ० ।"अणेगवररयणविउलवरतरणसंठाणसुंदररयणसेढीहिं" अनेकैर्वरलक्षणैरुत्तमाः प्रशस्ताः शुचयो रतिदाश्च रत्याः पालिका यस्य स तथा । औ० । "अणेगवायामजोग्गवग्गणवामद्दणमल्लजुद्धकरणेहिं " अनेकानि यानि व्यायामनिमित्तं योग्यादीनि तानि तथा तैः तत्र योग्या गुणनिका वल्गनमुत्प्लवनं व्यामर्दनं परस्परस्याङ्गमोटनं मल्लयुद्धं प्रतीतं करणानि चाङ्गभङ्गविशेषा मल्लशास्त्रप्रसिद्धाः । औ० । ज्ञा० । " अणेगवासनयसमाउयंता " अनेकवर्षशतायुष्मन्तः । प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० । " अणेगसिरामिहूणपविभत्ति " अनेकशकुनिमिथुनकानां प्रविचारितमित्यतो गमनं यत्र स तथा (प्रपातहृदः) जं० ४ वक्ष० । रा० । " अणेगसंकुकीलगसहस्सवितते " अनेकैः शङ्कुप्रमाणैः कीलकसहस्रैर्महद्भिः कीलकैर्व्याप्तमिति भावः सर्वतः संततमि । तथाहि [illegible] महत्, विततं विस्तीर्णमिति भावः । रा० । औ० । " अणेगगणनाप " अनेकानि गुणानां शतानि संख्यया यस्याः सा अनेकशता, तस्याः । रा० । "अणेगगणाहप्पणाहदंडिमा" अनेकशतान्यनेकविस्तरणानि स्थानानि गृहविस्तारो वा येषां ते (गृहा:) । औ० । रा० ।

अणेकाणंतरसिद्धकेवलनाण-अनेकानन्तरसिद्धकेवलज्ञान- न०। आभिनिबोधिकज्ञानभेदे, स्था० २ ठा० १ उ०।

अणेगंगिय-अनेकाङ्गिक- पुं०। अनेकपदरूपे, नि० चू० १ उ०। कायिकाप्रस्तारात्मके संस्तारभेदे च। व्य० ४ उ०।

अणेगंत-अनेकान्त- त्रि०। न एकान्तो नियमोऽव्यभिचारी यत्र। अनियमे, अनिश्चितफलके च। वाच०। अनिश्चये, विशे०। एकान्ये, प्रश्न० ३८ द्वा०।

अणेगंतजयपडागा-अनेकान्तजयपताका- स्त्री०। हरिभद्रसूरिविरचिते स्वनामख्याते ग्रन्थभेदे, यद्वृत्तिविवरणं मुनिचन्द्रेण कारि। तदुपक्रमे "श्रीपमतानिशायां, यस्यानेकान्तजयपताकेह। हतमशक्या केनाऽपि वादिना नौमि तं वीरम्॥१॥ कतिपयविषमपदानां, मध्येऽनेकान्तजयपताकायाः। वृत्तेर्विवरणमहमल्पबुद्धिबुद्ध्यै समासेन" ॥२॥ अनेकान्तजयपताकावृत्तिविव०।

अणेगंतप्पग-अनेकान्तात्मक- त्रि०। अम्यते गम्यते निश्चीयते इत्यन्तो धर्मः। न एकोऽनेकः। अनेकश्चासावन्तश्चानेकान्तः। स आत्मा स्वभावो यस्य वस्तुजातस्य तदनेकान्तात्मकम्। सदसदाद्यनेकधर्माऽऽत्मके, रत्ना० ३ परि०।

अणेगंतवाय-अनेकान्तवाद- पुं०। स्याद्वादे, स च यथा युक्तिक्षमस्तथा स्याद्वादमञ्जर्यादिग्रन्थेभ्यः संगृह्यते।

(१) एकान्तवाददूषणपुरस्सरमनेकान्तवादिमतम्।
(२) प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणमप्यनेकान्तवादं येऽवमन्यन्ते तेषामुन्मत्तताऽऽविर्भावनम्।
(३) उत्पादविनाशयोरैकान्तिकताऽभ्युपगमनिषेधः।
(४) वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वम्।
(५) वस्तुन एकान्तसद्रूपत्वं स्वीकुर्वतः सांख्यमतस्य पराभवे युक्तिः।
(६) काश्चिदेकान्तवादोऽपि मिथ्यात्वमेव।
(७) साधर्म्यतो वैधर्म्यतश्च साध्यसिद्धिः।
(८) अनेकान्तवाद एव सन्मार्गः।
(९) एकान्तवादिनोऽज्ञाः।
(१०) अनेकान्तवादस्वीकाराऽस्वीकारयोः सम्यक्त्वमिथ्यात्वम्।

(१) तत्रैकान्तवाददूषणपुरस्सरमनेकान्तवादमाह—

आदीपमाव्योम समस्वभावं,
स्याद्वादमुद्राऽनतिभेदि वस्तु।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्य-
दिति त्वदाऽऽज्ञाद्विषतां प्रलापाः ॥ ५ ॥

आदीपं दीपादारभ्य, आव्योम व्योममर्यादीकृत्य, सर्वं वस्तु पदार्थस्वरूपं, समस्वभावम्-समस्तुल्यः स्वभावः स्वरूपं यस्य तत् तथा। किञ्च-वस्तुनः स्वरूपं द्रव्यपर्यायात्मकत्वमिति ब्रूमः। तथा च वाचकमुख्यः-" उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् " इति। समस्वभावत्वं कुतः?, इति विशेषणद्वारेण हेतुमाह-(स्याद्वादमुद्रानतिभेदि) स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम्। ततः स्याद्वादोऽनेकान्तवादो नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगम इति यावत्। तस्य मुद्रा मर्यादा तां नातिभिनत्ति नातिक्रामतीति स्याद्वादमुद्राऽनतिभेदि। यथाहि-न्यायैकनिष्ठे राजनि राज्यश्रियं शासति सति सर्वाः प्रजास्तन्मुद्रां नातिवर्तितुमीशते, तदतिक्रमे तासां सर्वार्थहानिभावात्। एवं विजयिनि निष्कण्टके स्याद्वादमहानरेन्द्रे तदीयमुद्रां सर्वेऽपि पदार्था नातिक्रामन्ति; तदुल्लङ्घने तेषां स्वरूपव्यवस्थाहानिप्रसक्तेः। सर्ववस्तूनां समस्वभावत्वकथनं च परामृष्टस्यैकं वस्तु व्योमादि नित्यमेव, अन्यच्च प्रदीपादि अनित्यमेवेति वादस्य प्रतिक्षेपबीजम्। सर्वे हि भावा द्रव्यार्थिकनयापेक्षया नित्याः, पर्यायार्थिकनयादेशात् पुनरनित्याः। तत्रैकान्ताऽनित्यतया परैरङ्गीकृतस्य प्रदीपस्य तावन्नित्याऽनित्यत्वव्यवस्थापने दिङ्मात्रमुच्यते। तथाहि-प्रदीपपर्यायाऽऽपन्नास्तैजसाः परमाणवः स्वरसतस्तैलक्षयाद्वाताभिघाताद्वा, ज्योतिःपर्यायं परित्यज्य तमोरूपं पर्यायान्तरमासादयन्तोऽपि नैकान्तेनानित्याः, पुद्गलद्रव्यरूपतयाऽवस्थितत्वात् तेषाम्। न ह्येतावतैवाऽनित्यत्वं यावता पूर्वपर्यायस्य विनाशः, उत्तरपर्यायस्य चोत्पादः। न खलु मृद्द्रव्यं स्थासककोशकुशूलशिवकघटाद्यवस्थान्तराण्यापद्यमानमप्येकान्ततो विनष्टम्, तेषु मृद्द्रव्यानुगमस्याऽऽबालगोपालं प्रतीतत्वात्। न च तमसः पौद्गलिकत्वमसिद्धम्; चाक्षुषत्वाऽन्यथाऽनुपपत्तेः, प्रदीपालोकवत्। अथ यच्चाक्षुषं तत् सर्वं स्वप्रतिभासे आलोकमपेक्षते, न चैवं तमः, तत् कथं चाक्षुषम्?। नैवम्। उलूकादीनामालोकमन्तरेणापि तत्प्रतिभासात्। यैस्त्वस्मदादिभिरन्यच्चाक्षुषं घटादिकमालोकं विना नोपलभ्यते, तैरपि तिमिरमालोकयिष्यते, विचित्रत्वाद्भावानाम्। कथमन्यथा पीतश्वेतादयोऽपि स्वर्णमुक्ताफलाद्या आलोकापेक्षदर्शनाः। प्रदीपचन्द्रादयस्तु प्रकाशान्तरनिरपेक्षाः। इति सिद्धं तमश्चाक्षुषं, रूपवत्त्वाच्च स्पर्शवत्त्वमपि प्रतीयते, शीतस्पर्शप्रत्ययजनकत्वात्। यानि त्वनिबिडावयवत्वमप्रतिघातित्वमनुद्भूतस्पर्शविशेषत्वमप्रतीयमानखण्डावयविद्रव्यप्रविभागत्वमित्यादीनि तमसः पौद्गलिकत्वनिषेधाय परैः साधनान्युपन्यस्तानि, तानि प्रदीपप्रभादृष्टान्तेनैव प्रतिषेध्यानि, तुल्ययोगक्षेमत्वात्। न च वाच्यं तैजसाः परमाणवः कथं तमस्त्वेन परिणमन्त इति?; पुद्गलानां तत्तत्सामग्रीसहकृतानां विसदृशकार्योत्पादकत्वस्यापि दर्शनात्। दृष्टो ह्यार्द्रेन्धनसंयोगवशाद्भास्वररूपस्यापि वह्नेरभास्वररूपधूमरूपकार्योत्पादः इति सिद्धो नित्याऽनित्यः प्रदीपः। यदाऽपि निर्वाणादर्वाग् देदीप्यमानो दीपस्तदाऽपि नवनवपर्यायोत्पादविनाशभाक्त्वात् प्रदीपत्वान्वयाच्च नित्याऽनित्य एव। एवं व्योमापि उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वान्नित्याऽनित्यमेव। तथाहि-अवगाहकानां जीवपुद्गलानामवगाहदानोपग्रह एव तल्लक्षणम्, " अवकाशदमाकाशमिति " वचनात्। यदा च तस्य अवगाहका जीवपुद्गलाः प्रयोगतो विस्रसातो वा एकस्मान्नभःप्रदेशात्प्रदेशान्तरमुपसर्पन्ति, तदा तस्य व्योम्नस्तैरवगाहकैः सममेकस्मिन् प्रदेशे विभागः, उत्तरस्मिंश्च प्रदेशे संयोगः। संयोगविभागौ च परस्परं विरुद्धौ धर्मौ। तद्भेदे चावश्यं धर्मिणो भेदः। तथा चाहुः-"अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा, यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्चेति"। ततश्च तदाकाशं पूर्वसंयोगविनाशलक्षणपरिणामापत्त्या विनष्टम्, उत्तरसंयोगोत्पादाख्यपरिणामानुभवाच्चोत्पन्नम्। उभयत्राऽऽकाशद्रव्यस्यानुगतत्वाच्चोत्पादव्यययोरेकाधिकरणत्वम्। तथा च "यत्प्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपं नित्यम्" इति नित्यलक्षणमाचक्षते। तदपास्तम्। एवंविधस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽभावात्। "तद्भावाव्ययं नित्यम्" इति तु सत्यं नित्यलक्षणम्। उत्पादविनाशयोः सद्भावेऽपि तद्भावादन्वयिरूपाद्यन्न व्येति तन्नित्यम्, इति तदर्थस्य घटमानत्वात्। यदि हि अप्रच्युतादिलक्षणं नित्यमिष्यते, तदोत्पादव्यययोर्निराधारत्व-

[illegible]

स्यादक्रमम्, अक्रमाच्च क्रमिणां नानाकार्याणां कथमुत्पत्तिः ? इति चेत्; अहो ! स्वपक्षपाती देवानां प्रिय, यः खलु स्वयमेकस्मान्निरंशाद्रूपादिक्षणात्कारणाद्युगपदनेककारणसाध्यान्यनेककार्याण्यङ्गीकुर्वाणोऽपि परपक्षे नित्येऽपि वस्तुनि क्रमेण नानाकार्यकरणेऽपि विरोधमुद्भावयति । तस्मात् क्षणिकस्यापि भावस्याक्रमेणार्थक्रिया दुर्घटा । इत्यनित्यैकान्तादपि क्रमाक्रमयोर्व्यापकयोर्निवृत्त्यैव व्याप्यार्थक्रियाऽपि व्यावर्तते । तद्व्यावृत्तौ च सत्त्वमपि व्यापकाऽनुपलब्धिबलेनैव निवर्तते, इत्येकान्तानित्यवादोऽपि न रमणीयः । स्याद्वादे तु-पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थितिलक्षणपरिणामेन भावानामर्थक्रियोपपत्तिरविरुद्धा । न चैकत्र वस्तुनि परस्परविरुद्धधर्माध्यासायोगादसन् स्याद्वाद इति वाच्यम् ? । नित्यानित्यपक्षविलक्षणस्य पक्षान्तरस्याङ्गीक्रियमाणत्वात्, तथैव च सर्वैरनुभवात् । तथा च पठन्ति-" भागे सिंहो नरो भागे, योऽर्थो भागद्वयात्मकः । तमभागं विभागेन, नरसिंहं प्रचक्षते " ॥ १ ॥ इति । वैशेषिकैरपि चित्ररूपस्यैकस्याऽवयविनोऽभ्युपगमात् । एकस्यैव पटादेश्चलाचलरक्ताऽरक्ताऽऽवृताऽनावृतत्वादिविरुद्धधर्माणामुपलब्धेः, सौगतैरप्येकत्र चित्रपटीज्ञाने नीलानीलयोर्विरोधानङ्गीकारात् । अत्र च यद्यप्यधिकृतवादिनः प्रदीपादिकं कालान्तराऽवस्थायित्वात् क्षणिकं न मन्यन्ते, तन्मते पूर्वापरान्तावच्छिन्नायाः सत्ताया एवाऽनित्यतालक्षणात् । तथाऽपि बुद्धिसुखादिकं तेऽपि क्षणिकतयैव प्रतिपन्नाः । इति तदधिकारेऽपि क्षणिकवादचर्चा नाऽनुपपन्ना । यदाऽपि च कालान्तरावस्थायि वस्तु, तदाऽपि नित्यानित्यमेव । क्षणोऽपि न खलु सोऽस्ति, यत्र वस्तूत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं नास्तीति काव्यार्थः ॥ ५ ॥ स्या० । (अनेकान्तज्ञानस्य यथार्थत्वं ' मोक्ख ' शब्दे वक्ष्यते)

(२) साम्प्रतमनादिविद्यावासनावासितमनसः प्रत्यक्षोपलक्ष्यमाणमप्यनेकान्तवादं येऽवमन्यन्ते तेषामुन्मत्ततामाविर्भावयन्नाह—

प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगि ,
स्थिरैकमध्यक्षमपीक्षमाणः ।
जिन ! त्वदाज्ञामवमन्यते यः ,
स वातकी नाथ ! पिशाचकी वा ? ॥ २१ ॥

प्रतिक्षणं प्रतिसमयमुत्पादेनोत्तराकारस्वीकाररूपेण, विनाशेन च पूर्वाऽऽकारपरिहारलक्षणेन, युज्यत इत्येवंशीलं प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगि । किं तत् ? स्थिरैकं कर्मताऽऽपन्नम् । स्थिरमुत्पादविनाशयोरनुयायित्वात् त्रिकालवर्ति यदेकं द्रव्यं स्थिरैकम् । एकशब्दोऽत्र साधारणवाची । उत्पादे विनाशे च तत्साधारणमन्वयिद्रव्यत्वात् । यथा चैत्रमैत्रयोरेका जननी साधारणेत्यर्थः । इत्थमेव हि तयोरेकाऽधिकरणता, पर्याययोः कथञ्चिदनेकत्वेऽपि तस्य कथञ्चिदेकत्वात् । एवं त्रयात्मकं वस्तु अध्यक्षमपीक्षमाणः प्रत्यक्षमवलोकयन्नपि, हे जिन ! रागादिजेतः ! त्वदाज्ञाम्, आ सामस्त्येनाऽनन्तधर्मविशिष्टतया ज्ञायन्तेऽवबुध्यन्ते जीवादयः पदार्था यया सा आज्ञा, आगमः, शासनम्; तामाज्ञां त्वदाज्ञां त्वत्प्रणीतस्याद्वादमुद्राम्, यः कश्चिदविवेकी अवमन्यते अवजानाति । जात्यपेक्षमेकवचनम्, अवज्ञया वा । स पुरुषपशुर्वातकी, पिशाचकी वा । वातो रोगविशेषोऽस्यास्तीति वातकी, वातकीव वातकी, वातूल इत्यर्थः । एवं पिशाचकीव पिशाचकी, भूताविष्ट इत्यर्थः । अत्र वाशब्दः समुच्चयार्थ उपमानार्थो वा । स पुरुषापसदो वातकिपिशाचकिनामधिरोहति; सुत्रातिमिस्रार्थः । " वातातीसारपिशाचात् कश्चान्तः " (७। २।६१) इत्यनेन [हैमसूत्रेण] मत्वर्थीयः कश्चान्तः । एवं पिशाचकीत्यपि । यथा किल वातेन पिशाचेन वाऽऽक्रान्तवपुः पुरुषस्तत्त्वं साक्षात् कुर्वन्नपि तदावेशवशादन्यथा प्रतिपद्यते , एवमयमप्येकान्तवादापस्मारपरवश इति । अत्र च जिनेति साभिप्रायम्, रागादिजेतृत्वाद्धि जिनः । ततश्च यः किल विगलितदोषकालुष्यतयाऽवधेयवचनस्यापि तव भवतः शासनमवमन्यते तस्य कथं नोन्मत्ततेति भावः । नाथ ! हे स्वामिन् ! अलब्धस्य सम्यग्दर्शनादेर्लम्भकतया लब्धस्य च तस्यैव निरतिचारपरिपालनोपदेशदायितया च योगक्षेमकरत्वोपपत्तेर्नाथः, तस्यामन्त्रणम् । वस्तुतत्त्वं चोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकम् । तथाहि-सर्वं वस्तु द्रव्यात्मना नोत्पद्यते, विपद्यते वा, परिस्फुटमन्वयदर्शनात् । लूनपुनर्जातनखादिष्वन्वयदर्शनेन व्यभिचार इति न वाच्यम्, प्रमाणेन बाध्यमानस्यान्वयस्यापरिस्फुटत्वात् । न च प्रस्तुतोऽन्वयः प्रमाणविरुद्धः, सत्यप्रत्यभिज्ञानसिद्धत्वात् । सर्वव्यक्तिषु नियतं क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः । " सत्योश्चित्यपचित्योराकृतिजातिव्यवस्थानात् " इति वचनात् । ततो द्रव्यात्मना स्थितिरेव सर्वस्य वस्तुनः, पर्यायात्मना तु सर्वं वस्तूत्पद्यते, विपद्यते च; अस्खलितपर्यायानुभवसद्भावात् । न चैवं शुक्ले शङ्खे पीतादिपर्यायानुभवेन व्यभिचारः, तस्य स्खलद्रूपत्वात् । न खलु सोऽस्खलद्रूपो येन पूर्वाऽऽकारविनाशाजहद्वृत्तोत्तराकारोत्पादाविनाभावी भवेत् । न च जीवादौ वस्तुनि हर्षामर्षौदासीन्यादिपर्यायपरम्पराऽनुभवः स्खलद्रूपः, कस्यचिद्बाधकस्याभावात् । ननूत्पादादयः परस्परं भिद्यन्ते ?, न वा ? । यदि भिद्यन्ते, कथमेकं वस्तु त्र्यात्मकम् ? । न भिद्यन्ते चेत्, तथापि कथमेकं त्र्यात्मकम् ? । तथा च-" यद्युत्पत्त्यादयो भिन्नाः, कथमेकं त्रयात्मकम् ? । अथोत्पादादयोऽभिन्नाः, कथमेकं त्रयात्मकम् ? " ॥१॥ इति चेत् । तदयुक्तम् । कथञ्चिद्भिन्नलक्षणत्वेन तेषां कथञ्चिद् भेदाऽभ्युपगमात् । तथाहि-उत्पादविनाशध्रौव्याणि स्याद् भिन्नानि, भिन्नलक्षणत्वाद् रूपादिवदिति । न च भिन्नलक्षणत्वमसिद्धम्, असत आत्मलाभः, सतः सत्तावियोगः, द्रव्यरूपतयाऽनुवर्तनं च खलूत्पादादीनां परस्परमसङ्कीर्णानि लक्षणानि सकललोकसाक्षिकाण्येव । न चामी भिन्नलक्षणा अपि परस्परानपेक्षाः, खपुष्पवदसत्त्वापत्तेः । तथा हि-उत्पादः केवलो नास्ति, स्थितिविगमरहितत्वात्, कूर्मरोमवत् । तथा विनाशः केवलो नास्ति, स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात्, तद्वत् । एवं स्थितिः केवला नास्ति, विनाशोत्पादशून्यत्वात्, तद्वदेव । इत्यन्योन्यापेक्षाणामुत्पादादीनां वस्तुनि सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम् । तथा चोक्तम्-" घटमौलिसुवर्णार्थी, नाशोत्पादस्थितिष्वयम् । शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं, जनो याति सहेतुकम् ॥ १ ॥ पयोव्रतो न दध्यत्ति, न पयोऽत्ति दधिव्रतः । अगोरसव्रतो नोभे, तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम् " ॥ २ ॥ इति काव्यार्थः ॥ २१ ॥

यथाऽन्ययोगव्यवच्छेदस्य प्रस्तुतत्वात्, [illegible] ज्ञत्वात्; तदर्थमपि [illegible] [illegible] मुपलम्भयन्नाह स्तुतिकारः—

अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्व-मतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम् ।
इति प्रमाणान्यपि ते कुवादि-कुरङ्गसन्त्रासनसिंहनादाः ॥ २२ ॥

तत्त्वं परमार्थभूतं वस्तु जीवाजीवलक्षणम्, अनन्तधर्मात्मकमेव, अनन्ता त्रिकालविषयत्वादपरिमिता ये धर्माः सहभाविनः क्र-

भाविनश्च पर्यायास्त एवात्मा स्वरूपं यस्य तदनन्तधर्मात्मकम् । एवकारः प्रकारान्तरव्यवच्छेदार्थः। अत एवाह-[अतोऽन्यथेत्यादि]अतोऽन्यथा उक्तप्रकारवैपरीत्येन, सत्त्वं वस्तुतत्त्वमसूपपादम्-सुखेनोपपाद्यते घटनाकोटिसंटङ्कमारोप्यत इति सूपपादम्, न तथाऽसूपपादम्, दुर्घटमित्यर्थः। अनेन साधनं दर्शितम्। तथाहि-तत्त्वमिति धर्मी, अनन्तधर्मात्मकत्वं साध्यो धर्मः, सत्त्वाऽन्यथाऽनुपपत्तेरिति हेतुः, अन्यथाऽनुपपत्त्येकलक्षणत्वाद्धेतोः। अन्तर्व्याप्त्यैव साध्यस्य सिद्धत्वाद् दृष्टान्तादिभिर्न प्रयोजनम्। यदनन्तधर्मात्मकं न भवति, तत्सदपि न भवति। यथा-वियदिन्दीवरम्। इति केवलव्यतिरेकी हेतुः, साधर्म्यदृष्टान्तानां पक्षकुक्षिनिक्षिप्तत्वेनान्वयायोगात्। अनन्तधर्मात्मकत्वं चाऽऽत्मनि तावत्-साकारानाकारोपयोगिता, कर्तृत्वं, भोक्तृत्वं, प्रदेशाष्टकनिश्चलता, अमूर्तत्वमसङ्ख्यातप्रदेशात्मकता, जीवत्वमित्यादयः सहभाविनो धर्माः। हर्षविषादशोकसुखदुःखदेवनरनारकतिर्यक्त्वादयस्तु क्रमभाविनः। धर्मास्तिकायादिष्वप्यसंख्येयप्रदेशात्मकत्वं गत्याद्युपग्रहकारित्वं मत्यादिज्ञानविषयत्वं तत्तदवच्छेदकावच्छेद्यत्वमवस्थितत्वमरूपित्वमेकद्रव्यत्वं निष्क्रियत्वमित्यादयः। घटे पुनरामत्वं, पाकजरूपादिमत्त्वं, पृथुबुध्नोदरत्वं, कम्बुग्रीवत्वं, जलादिधारणाऽऽहरणादिसामर्थ्यं, मत्यादिज्ञानज्ञेयत्वं, नवत्वं, पुराणत्वमित्यादयः। एवं सर्वपदार्थेष्वपि नानानयमताभिज्ञेन शाब्दानार्थांश्च पर्यायान् प्रतीत्य वाच्यम्। अत्र चाऽऽत्मशब्देनानन्तेष्वपि धर्मेष्वनुवर्तिरूपमन्वयि द्रव्यं ध्वनितम्। तच्च 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इति व्यवस्थितम्। एवं भावदर्थेषु शब्देष्वपि उदात्तानुदात्तस्वरितविवृतसंवृतघोषवदघोषताऽल्पप्राणमहाप्राणतादयस्तत्तदर्थप्रत्यायनशक्त्यादयश्चावसेयाः। अस्य हेतोरसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वादिकण्टकोद्धारः स्वयमभ्यूह्यः। इत्येवमुक्तस्वरूपाणि ते तव, प्रमाणान्यपि न्यायोपपन्नसाधनवाक्यान्यपि। आस्तां तावत्साक्षाद्भवदुपज्ञपर्यायनिकायो भवान्, यावदेतान्यपि कुवादिकुरङ्गसंत्रासनसिंहनादाः-कुवादिनः कुत्सितवादिन एकांशग्राहकनयानुयायिनोऽन्यतीर्थिकाः, त एव संसारवनगहनवसनव्यसनितया कुरङ्गा मृगाः, तेषां संत्रासने सिंहनादा इव सिंहनादाः। यथा सिंहस्य नादमात्रमप्याकर्ण्य कुरङ्गास्त्रासमासूत्रयन्ति, तथा भवत्प्रणीतैवंप्रकारप्रमाणवचनान्यपि श्रुत्वा कुवादिनस्त्रासमश्नुवते, प्रतिवचनप्रदानकातरतां बिभ्रतीति यावत् । [illegible] त्वदुपज्ञं प्रमाणमन्ययोगव्यवच्छेदकमित्यर्थः। अत्र प्रमाणानीति बहुवचनमेवंजातीयानां प्रमाणानां भगवच्छासने [illegible]र्थम्; एकैकस्य सूत्रस्य सर्वोदधिमग्नसमर्थ[illegible]गुणाविष्कारत्वात्, तेषां च सर्वेषामपि सर्वविन्मूलतया प्रमाणत्वात्। अथवा इत्यादि बहुवचनान्ता गणस्य संसूचका भवन्तीति न्यायात्, इतिशब्देन प्रमाणबाहुल्यसूचनात्पूर्वोक्तं [illegible] प्रमाणे [illegible] उचितमेव बहुवचनमिति [illegible]र्थः ॥ २२ ॥ (सप्तभङ्गीनिरूपणं 'सप्तभंगी' शब्दे वक्ष्यते)

([illegible] स्वस्थाने)

(२) [illegible]

[illegible] ! , [illegible] ।

[illegible]—

[illegible], [illegible] य [illegible] य ।
[illegible] ॥ १३१ ॥

[illegible]

न पटादेरुत्पादसमय एव विनाशः, तस्यानुत्पत्तिप्रसक्तेः। नापि तद्विनाशसमये तस्यैवोत्पत्तिः, अविनाशोत्पत्तेः। न च तत्प्रादुर्भावसमय एव तत्स्थितिः, सद्रूपेणैवाऽवस्थितस्याऽनवस्थाप्रसक्तेः प्रादुर्भावायोगात्। न च रूपघटरूपमृत्स्थितिकाले तस्य विनाशः, तद्रूपेणावस्थितस्य विनाशस्य एव ध्वंसोऽनुत्पत्तिप्रसङ्ग एव युक्तः। ततस्त्रयाणामपि भिन्नकालत्वात्, तद्द्रव्यमर्थान्तरम्। नानास्वभावादनेकान्तानावप्रसक्तिः। यतोऽभिन्नकालाश्चोत्पादादयः, न हि कुशूलविनाशघटोत्पादयोर्भिन्नकालता, अन्यथा विनाशात्कार्योत्पत्तिः स्यातः। घटाद्युत्तरपर्यायानुत्पत्तावपि प्राक्तनपर्यायध्वंसप्रसक्तिश्च स्यात्। पूर्वोत्तरपर्यायविनाशोत्पादक्रियाया निर्धारायोगात्। तदाधारभूतद्रव्यास्थितिरपि तदाऽभ्युपगन्तव्या। न च क्रियाफलमेव क्रियाः, तस्य प्रागसत्त्वात्, सत्त्वे वा क्रियावैफल्यात्। ततस्त्रयाणामपि भिन्नकालत्वाद् तद्व्यतिरिक्तं द्रव्यमभिन्नं तत्रानावघटोत्पादविनाशापेक्षया भिन्नकालतयाऽर्थान्तरत्वम्, कुशूलघटविनाशोत्पादापेक्षया ऽभिन्नकालत्वेनार्थान्तरत्वादेकान्तर इति वक्तव्यं द्रव्यम्। द्रव्यस्य पूर्वावस्थायां भिन्नाभिन्नतया प्रतीयमानस्योत्तरावस्थायामपि भिन्नाभिन्नतयैव प्रतीतेरनेकान्तोऽव्याहतः। न चाबाधिताध्यक्षादिप्रतिपत्तिविषयस्य तस्य विरोधोद्भावनं युक्तिसंगतम्, सर्वप्रमाणप्रमेयव्यवहारविलोपप्रसङ्गात्। अत एवार्थान्तरमनर्थान्तरं चोत्पादादयो द्रव्यात्तद्वापो वा तेऽप्यस्तथेति ज्ञेयम्। द्रव्यात् तथाभूततद्ग्राहकत्वपरिणतताद्रूप्यलक्षणात्प्रमाणादित्यपि ज्ञातव्यम्। न हि तथाभूतप्रमाणप्रवृत्तिः तथाभूतार्थमन्तरेणोपपन्ना, धूमध्वजमन्तरेण स घटते च। तथाभूतग्राह्यग्राहकरूपतयाऽनेकान्तात्मकं स्वसंवेदनतः प्रमाणमिति न तदपलापः कर्तुं शक्यः, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। यद्वा-देशादिविप्रकृष्टा उत्पत्तिविनाशस्थितयः स्वभावाः भिन्नाभिन्नकाला अर्थान्तरानर्थान्तररूपा द्रव्यत्वाद्, इष्टद्रव्यातिरिक्तत्वादित्यर्थः। अन्यथोत्पादादीनामभावप्रसक्तेः तेभ्यो वा द्रव्यमर्थान्तरमनर्थान्तरम्, द्रव्यत्वात्। प्रतिज्ञार्थैकदेशता च हेतोर्नाशङ्कनीया, द्रव्यविशेषे साध्ये द्रव्यसामान्यस्य हेतुत्वेनोपन्यासात् ॥ १३२ ॥

अमेवार्थं प्रत्यक्षप्रतीतमुदाहरणमाह—

जो आउंचणकालो, चेव पसारिस्स विणिजुत्तो ।
तेसिं पुण पडिवत्ती-विगमे कालंतरं नत्थि ॥ १३३ ॥

य आकुञ्चनकालोऽङ्गुल्यादेर्द्रव्यस्य, स एव तत्प्रसारणस्य न पृथक्, भिन्नकालतया ऽऽकुञ्चनप्रसारणयोः प्रतीयमानयोर्भेदः। [illegible] या तयोः [illegible], तत्पर्यायाभिन्नत्वाद्द्रव्यस्यापि तथाविधत्वात्, तदपि भिन्नमभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा तदनुपलम्भात्। अभिन्नं च, तदवस्थयोस्तस्यैव प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्। तयोः पुनरुत्पादविनाशयोः प्रतिपत्तिश्च प्रादुर्भावविगमयोर्विनाशः[illegible] [illegible] भिन्नकालत्वमङ्गुलिद्रव्यस्य न भाति पूर्वपर्यायविनाशोत्तरपर्यायोत्पादयोः [illegible] प्रतीयते। [illegible] तथाविधतामनुभूयमानत्वात् प्रतीतेः। अथवा [illegible] [illegible] प्रतिबन्धेन प्रकार[illegible] [illegible] कालान्तरं [illegible] [illegible] भेद इत्यर्थः। [illegible] [illegible] [illegible] वाक्यार्थः। [illegible]

स्तुनत्वात्मकत्वाऽनभ्युपगमात्, तत्र नाशागतकालयोरपि तद्रूपेण स्वाद्युत्पादविनाशयोरनाशेन कथं स्यात्मकत्वं तस्य?, अतीतानागतकालयोरनाशे कथं नित्यत्वमिति वाच्यम्। कथञ्चित्तस्याऽभ्युपगमात्, न चैकान्तेनोत्पादादिव्ययमात्मपूर्वोक्तस्वरूपावस्थानाभावेऽप्यपरित्यागोत्पादानिकान्तपुत्पादव्ययधौव्यात्मकत्वात्, सर्वथाऽनित्यत्वे पूर्वोक्तव्यपदेशाभावप्रसक्तेः। सर्वथा नित्यत्वेऽप्युभयोरप्यनित्यव्यपदेशादिव्यवहाराभावश्च स्यात्। नचैकत्वप्रतिभासो मिथ्या, यतो यदेव पिण्डं शिवककत्वतया तदेवोत्पन्नं मृद्रूपं घटादिरूपतया, अवस्थितं च मृत्त्वेनेति स्यात्मकं तत् सर्वदा द्रव्यमवस्थितं यथोत्पादव्ययवस्थितम्। यथोत्पादव्ययावस्थितीनां प्रत्येकमेवं स्वरूपं त्र्यात्मकं, तथा भूतवर्तमानभविष्यद्भिरप्येकैकं रूपं त्रिकालतामाप्नोतीति।

इत्येतदेवाह—

उप्पज्जमाण कालं, उप्पण्णं ति विगयं विगच्छंतं।
दवियं पण्णवयंतो, तिकालविसयं विसेसेइ ॥ १३४ ॥

उत्पद्यमानसमय एव किञ्चित्पटद्रव्यं तावदुत्पन्नं यदेकतन्तुप्रवेशक्रियासमये न तद्रूपं तेन रूपेणोत्पन्नं तदुत्तरस्यापि तन्तोरुत्पन्नमित्यत्यन्तानुत्पत्तिप्रसक्तिस्तस्य स्यात्। न चोत्पत्तिप्रसक्तिः, कस्यचित्क्रियायाश्च तस्य तावन्मात्रफलोत्पादन एव प्रवृत्ताया उत्तरस्य फलान्तरस्याप्युत्पत्तिप्रसक्तेः। यदि च विद्यमाना एकतन्तुप्रवेशक्रिया न फलोत्पादिका, विनष्टा पुनरासौ न भवेत्, असत्त्वात्, सर्वत्र अवस्थानात्। तदनुत्पन्नविनष्टयोरसत्त्वे कश्चिद्विशेष इति प्रथमक्रियाक्षणः केनचिद् रूपेण तमनुत्पादयति, द्वितीयस्त्वसौ तदेवांशान्तरेणोत्पादयति। अन्यथा क्रियाक्षणान्तरस्य वैफल्यप्रसक्तेः। एकैकांशेनोत्पन्नं तदुत्तरक्रियाक्षणफलांशेन यथापूर्वमपूर्वं तदुत्पद्यते तदोत्पन्नं भवेद्, नाऽन्यथेति। प्रथमतन्तुप्रवेशादारभ्यान्त्यतन्तुसंयोगावधि यावदुत्पद्यमानं प्रबन्धेन तद्रूपतयोत्पन्नमभिप्रेतानिष्टरूपतया चोत्पत्स्यत इत्युत्पद्यमानमुत्पत्स्यमानं च भवति। एवमुत्पन्नमप्युत्पद्यमानमुत्पत्स्यमानं च भवति। तथोत्पत्स्यमानमप्युत्पद्यमानमुत्पन्नं चेत्येकैकमुत्पन्नादिकालत्रयेण यथा त्रैकाल्यं प्रतिपद्यते, तथा विगच्छदादिकालत्रयेणाप्युत्पादादिरेकैकः त्रैकाल्यं प्रतिपद्यते। तथाहि—यथा यदैवोत्पद्यते न तत्तदैवोत्पन्नमुत्पत्स्यते। यद्यदैवोत्पन्नं न तत्तदैवोत्पद्यते उत्पत्स्यते च। यद्यदैवोत्पत्स्यते तत्तदैवोत्पद्यते उत्पन्नं च। तथा तदेव तदैव यदुत्पद्यते तत्तदैव विगतं विगच्छद्विगमिष्यच्च। तथा यदेव यदैवोत्पन्नं तदेव तदैव विगतं विगच्छद्विगमिष्यच्च। तथा यदेव यदैवोत्पत्स्यते तदेव तदैव विगतं विगच्छद्विगमिष्यच्च। एवं विगमोऽपि त्रिकालमुत्पादादिना दर्शनीयः। तथा स्थित्यापि त्रिकाल एव सप्रपञ्चं दर्शनीयः। एवं स्थितिरप्युत्पादविनाशाभ्यां प्रपञ्चाभ्यामेककाभ्यां त्रिकालदर्शनीयेति। द्रव्यमन्योन्यात्मकतथाभूतकालत्रयात्मकोत्पादविनाशस्थित्यात्मकं प्रज्ञापयँस्त्रिकालविषयप्रादुर्भावधर्मावधानतया तद्विशिनष्टि। अनेन प्रकारेण त्रिकालविषयं द्रव्यस्वरूपं प्रतिपादितं भवति। अन्यथा द्रव्यस्याऽभावात् त्रैकाल्यं दूरोत्सारितमेवेति; तद्वचनस्य मिथ्यात्वप्रसक्तिरिति भावः। सर्वथाऽन्तर्गतलक्षणस्य विनाशस्यासंभवाद् विनाशजस्य चोत्पादस्य तथाद्वयाभावे स्थितेरप्यभावात्।

तत्र त्रैकाल्यं दूरोत्सारितमेवेति मन्यमानत्वाद्वादिनः प्रति तदभ्युपगमदर्शनपूर्वकमाह—

दव्वंतरसंजोगा-हिँ केऽवि दवियस्स विंति उप्पायं।
उप्पायत्था कुशला, विभागजायं न इच्छंति ॥ १३५ ॥

समानजातीयद्रव्यान्तरादेव समवायिकारणात् तत्संयोगासमवायिकारणात्, तत्संयोगासमवायिकारणनिमित्तकारणादिसव्यपेक्षादवयवि कार्यद्रव्यं भिन्नं कारणद्रव्येभ्य उत्पद्यत इति द्रव्यस्योत्पादं केचन ब्रुवते। ते चोत्पादार्थानभिज्ञा विभागजोत्पादं नेच्छन्ति।

कुतः पुनर्विभागजोत्पादानभ्युपगमवादिन उत्पादार्थानभिज्ञाः?। यतः—

अणु अणुएहिँ दव्वे, आरद्धे ति अणुयं ति ववएसो।
तत्तो य पुण विभत्तो, अणु त्ति जाओ अणू होई ॥ १३६ ॥

द्वाभ्यां परमाणुभ्यां कार्यद्रव्ये आरब्धेऽणुरिति व्यपदेशः, परमाणुद्वयारब्धस्य द्व्यणुकस्याणुपरिमाणत्वात्। त्रिभिर्द्व्यणुकैश्चतुर्भिर्वाऽऽरब्धे त्र्यणुकमिति व्यपदेशः। अन्यथोत्पन्नानुपलब्धिनिमित्तस्य महत्त्वस्याभावप्रसक्तेः। अत्र किल त्रिभिश्चतुर्भिर्वा प्रत्येकं परमाणुभिरारब्धमणुपरिमाणमेव कार्यमिति। आदिपरमाणुनाऽऽरब्धत्वे आरम्भवैयर्थ्यप्रसक्तिरिति द्वाभ्यां तु परमाणुभ्यां द्व्यणुकमारभ्यते। त्र्यणुकमपि न द्वाभ्यामणुभ्यामारभ्यते, कारणविशेषपरिमाणतोऽनुपलभ्यत्वप्रसक्तेः, यतो महत्त्वपरिमाणयुक्तं तदुपलब्धियोग्यं स्यात्। तथा चोपलभ्यकारणबहुत्वमहत्त्वप्रचयजन्यं च महत्त्वमात्रं च द्वित्रिपरमाण्वारब्धे कार्ये महत्त्वं, तत्र महत्परिमाणाभावात्तेषामणुपरिमाणात्तदुपलब्धियोग्यं स्यात्, तथा चोपभोग्यकारणत्वात् प्रचयोऽप्यवयवानावाश्च संभवति, तेषामपि द्वाभ्यामणुभ्यां कारणबहुत्वाभावात्। न च त्रयोऽपि, प्रशिथिलावयवसंयोगाभावात्। उपलभ्यते च समानपरिमाणैस्त्रिभिः पिण्डैरारब्धे कार्ये महत्त्वं, न द्वाभ्यामिति महत्परिमाणाभ्यां ताभ्यामेवारब्धं महत्त्वं, न त्रिभिरल्पपरिमाणैरारब्ध इति। समानसंख्यातुल्यपरिमाणाभ्यां तन्तुपिण्डाभ्यामारब्धे घटादिकार्ये प्रशिथिलावयवतन्तुसंयोगकृतं महत्त्वमुपलभ्यते, न तदितरत्रेति। नन्वेवं यदि कार्यारम्भकास्तदा द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते, द्वियन्ति वा समानजातीयानीत्यभ्युपगमः परित्यज्यताम्; यतो न परमाणुद्व्यणुकादीनामपि त्यक्तजनकावस्थानामनङ्गीकृतस्वकार्यजननस्वभावानां च द्व्यणुकत्र्यणुकादिकार्यनिर्वर्त्तकत्वम्; अन्यथा प्रागपि तत्कार्यप्रसङ्गात्। अथ न तेषामजनकावस्थात्यागतो जनकस्वभावान्तरोत्पत्तौ कार्यजनकत्वम्, किन्तु पूर्वस्वभावाव्यवस्थितानामेव संयोगलक्षणसहकारिशक्तिसद्भावात् तदा कार्यनिवर्तकत्वं प्राक्तनतदभावाच्च कार्यानुत्पत्तिः। कारणानामविचलितस्वरूपत्वेऽपि नच संयोगेन तेषामनतिशयो व्यावर्त्तते, अतिशयो वा कश्चिदुत्पाद्यते, भिन्नोऽभिन्नो वा, संयोगस्यैवातिशयत्वात्। न च कथमन्यः संयोगस्तेषामतिशय इति, वाच्यस्याप्यतिशयत्वायोगात्। न हि स एव तस्यातिशय इत्युपलभ्यम्, तस्मात्तत्संयोगे सति कार्यमुपलभ्यते, तदभावे तु नोपलभ्यत इति संयोग एव कार्योत्पादने तेषामतिशय इति, न तदुत्पत्तौ तेषां स्वभावान्तरोत्पत्तिः, संयोगातिशयस्य तेभ्यो भिन्नत्वादिति। असदेतत्। यतः कार्योत्पत्तौ तेषां संयोगोऽतिशयो भवतु, संयोगोत्पत्तौ तु तेषां कोऽतिशयः? इति वाच्यम्। न तावत्स एव संयोगः, तस्याद्याप्यनुत्पत्तेः। नापि संयोगान्तरं तदनभ्युपगमात्। अभ्युपगमेऽपि तदुत्पत्तावप्यपरसंयोगातिशयप्रकल्पनायामनवस्थाप्रसक्तेः। न च क्रियातिशयः, तदुत्पत्तावपि पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात्। किं चाद्यापेक्षादण्डादिसंयोगान्तर-

माणुषु विशेषोत्पद्यत इति अभ्युपगमाद्वा परमाणुसंयोगान्नाय- ऽप्यपरोऽतिशयो वाच्यः । तदेव च तत्र दूषणम् । किञ्चासौ संयोगो द्व्यणुकादिनिवर्त्तकः किं परमाण्वाद्याश्रितः,उत तदन्याश्रितः,आहोस्विदनाश्रित इति । यद्याद्य पक्षः,तदा तदुत्पत्तावाश्रय उत्पद्यते,न वेति? यद्युत्पद्यते,तदा परमाणूनामपि कार्यत्वप्रसक्तिः, तत्संयोगवत् । अथ नोत्पद्यते, तदा संयोगस्तदाश्रितो न स्यात्, समवायस्याभावात् । तेषां च तं प्रत्यकारकत्वात् । तदकारकत्वे तु तत्र तस्य प्रागभावानिवृत्तेः,तदन्यगुणान्तरवत् । ततस्तेषां कार्यरूपतया परिणतिरभ्युपगन्तव्या । अन्यथा तदाश्रितत्वं संयोगस्य तस्मादन्याश्रितत्वेऽपि पूर्वोक्तप्रसङ्गः । अनाश्रितत्वपक्षे तु निर्हेतुकोत्पत्तिप्रसक्तिः । अथ संयोगो नोत्पद्यत इत्यभ्युपगमः,तदा वक्तव्यं किमसौ सन् वाऽसन्? । यदि सँस्तदा तन्नित्यत्वप्रसक्तिः, सदकारणवन्नित्यमिति भवतोऽभ्युपगमात् । तथा चासौ गुणो न भवेद् नित्यत्वेनानाश्रितत्वात्,अनाश्रितस्य पारतन्त्र्यायोगात्,अपरतन्त्रस्य चागुणत्वात् । अथासन्निति पक्षः,तदा कार्यानुत्पत्तिप्रसङ्गः ; तदभावे प्राग्वद्विशिष्टपरिमाणोपेतकार्यद्रव्योत्पत्त्यभावात् । तथा च जगतोऽदृश्यताप्रसक्तिरिति संयोगैकत्वसंख्यापरिमाणमहत्त्वाद्यनेकगुणानां तत्रोत्पत्तिरभ्युपेया, कारणगुणपूर्वप्रक्रमेण कार्योत्पत्त्यभ्युगमादिष्टमेवैतदिति चेत् , ननु तेषां क आश्रयः? इति वक्तव्यम् । न तावत् कार्यम्, तदुत्पत्तेः प्राकस्यासत्त्वात्, सत्त्वे चोत्पत्तिविरोधात् । न च प्रथमक्षणे निर्गुणमेव कार्यं गुणोत्पत्तेः प्रागस्तीति वक्तव्यम् । गुणसंबद्धवत् सत्तासंबन्धस्याद्यक्षणे अभावः; तत्सत्त्वासंभवात् । न चोत्पत्तिसत्तासंबन्धयोरेककालतयाऽऽद्यक्षण एव सत्त्वम्, तदा रूपादिगुणसमवायाभावतोऽनुपलम्भे ततस्तत्सत्तासंबन्धव्यवस्थापनासंभवात्, न हि सदित्युपलम्भमन्तरेण तदा तस्य सत्तासंबन्धः, सत्त्वं वा व्यवस्थापयितुं शक्यम् । न च महत्त्वादेर्गुणद्रव्येण सहोत्पादतद् द्रव्याधेयता,तद्द्रव्यस्य वा तदाऽऽधारता; अकारणस्याश्रयत्वायोगात् । न चैककालयोः कार्यकारणभावः सव्येतरगोविषाणयोरिव भवत्पक्षे युक्तः, सन् न कार्यं तदाश्रय । अथाणवस्तदाश्रयाः,तर्हि कार्यद्रव्यस्यापि त एवाश्रय इत्येकाश्रयौ कार्यगुणौ प्राप्तौ । तदभ्युपगमेऽपि तावदयुतसिद्धयोस्तयोः कुण्डवदरवदाश्रयाश्रयिभावः, अकार्यकारणप्रसङ्गात् । नायुतसिद्धयोः, अयुतसिद्धाश्रयाश्रयिभावविरोधात् । तथा ह्यपृथक्सिद्ध इत्यनेन भेदनिषेधः प्रतिपाद्यते, समवायाभावेऽन्यस्यार्थस्यात्रासंभवात् । आधाराधेयभाव इत्यनेन चैकत्वनिषेधः क्रियत इति कथमनयोरेकत्र सद्भावः । अथान्यत्राधाराधेयभावः,तर्हि तेषां सत्त्वगुणाभावमिति वक्तव्यम्? । यद्याद्यः पक्षः,तदा संयोगादिगुणाकारपरमाणव एव तथाभूतकार्यमिति जैनपक्ष एव समाश्रितः स्यात् । द्वितीयपक्षे तु, सर्वानुपलब्धिप्रसक्तिः । यदि च परमाणवः स्वरूपापरित्यागतः कार्यद्रव्यमारभन्ते स्वात्मनो व्यतिरिक्तम्, तदा कार्यद्रव्यानुत्पत्तिप्रसक्तिः न हि कार्यद्रव्यपरमाणुस्वरूपापरित्यागे स्थूलत्वस्य सद्भावः, तस्य तद्भावात्मकत्वात् । तस्मात्परमाणुरूपतापरित्यागेन मृद्द्रव्यं स्थूलकार्यस्वरूपतामादधातीति वक्तव्यम् पुद्गलद्रव्यपरिणतः आदिरन्तो वा न विद्यते,इति न कार्यद्रव्यं कारणेभ्यो भिन्नम् । न चार्थान्तरतागमनं विनाशोऽयुक्तः, इति तद्रूपपरित्यागोपादानात्मकस्थितिलक्षणस्य द्रव्यस्य त्रैकाल्यं नानुपपन्नम् । यथा च पदार्थस्य विनाशात्परिमाणस्यारम्भकत्वेन प्रादुर्भावात्परमाणवः कार्यद्रव्यवत्, तथोत्पत्त्यात्मकत्वाभ्युपगन्तव्याः । कारणान्यव्यतिरेकानुविधानोपलम्भात् कार्यस्यान्वयव्यतिरेकस्याविभावात्;अयमर्थः(नत्तो य)इत्यादिना गाथापश्चार्द्धेन प्रदर्शितः, तस्मादेकपरिमाणाद् द्व्याद्यभावः विनाशात्मकत्वेनोत्पत्तः (अणुरिति) अणुर्जातो भवति; एतदवस्थायाः प्राक् दसत्त्वात् । सत्त्वे वा इदानीमिव प्रागपि स्थूलरूपकार्याभावप्रसङ्गात् । इदानीं वा तद्रूपाऽविशेषात् प्राक्तनावस्थानमिव स्यात् । एवं चतुर्विधकार्यद्रव्याभ्युपगमे संगतः । न च य एव कार्यद्रव्यारम्भकाः, पौरुषत्वविरोधात्; घटद्रव्यप्रागभावप्रध्वंसाभावमृत्पिण्डकपालवत् । न च प्रागभावप्रध्वंसाभावोऽर्थरूपतया मृत्पिण्डकपालरूपत्वमसिद्धम् , तुच्छरूपस्याभावस्याप्रमाणत्वात्तज्ज्ञानकत्वेन तद्विषयत्वतो व्यवस्थापयितुमशक्यत्वादिति प्रतिपादनात् । न च कपालसंयोगाद् घटद्रव्यमुपजायते , तद्विभागाच्च विनश्यतीति मृत्पिण्डस्य घटद्रव्यसमवायिकारणत्वानुमानमध्यक्षबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तत्वेन कालात्ययापदिष्टम् । न चाल्पपरिमाणतन्तुप्रभवं महत्परिमाणं पटकार्यमुपलभ्यामिति घटादिकमपि । तदल्पपरिमाणानेककारणप्रभवं कल्पयितुं युक्तम् ; विपर्ययेणापि कल्पनायाः प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । अध्यक्षबाधस्तु तदितरत्रापि समानः । किञ्च । परमाणूनां सर्वदैकं रूपमभ्युपगच्छतामभावमेव तेषामभ्युपगच्छेत् ; अकारकत्वप्रसङ्गात् । तच्च प्रागभावप्रध्वंसाभावविकल्पत्वेनानाधेयातिशयत्वात्, वियत्कुसुमवत् । तदसत्त्वे च कार्यद्रव्यस्याप्यभावः, तस्यासत्त्वात् । तदभावे च परापरत्वादिप्रत्ययादेरयोगात् कालादेरप्यमूर्त्तद्रव्यस्याभाव इति सर्वाभावप्रसक्तिः । तथाहि-न तावदध्यक्षं तत् प्रतिपादने व्याप्रियते, कपालपर्यन्तघटविनाशोपलम्भे तस्य व्यापारोपलब्धेः । नानुमानमपि; प्रत्यक्षाप्रवृत्तौ तत्र तस्याप्यप्रवृत्तेः ; अध्यक्षपूर्वकत्वेन तस्य व्यावर्णनात् । आगमस्य चात्रार्थे अनुपयोगात् । परमाणुपर्यन्ते च विनाशे घटादिध्वंसे न किञ्चिदप्युपलभ्येत, परमाणूनामदृश्यत्वेनाभ्युपगमात् । छिद्रघटेन पाकनिक्षिप्तेन वा तेनानैकान्त इति चेत् । न । सर्वस्य पक्षीकृतत्वात् । अवयविनि च छिद्रस्योत्पन्नत्वात् तस्य च निरवयवत्वाद्यावयवतदुत्पत्तिः; परमाणुषु तदसंभवात् । पाकान्यथाऽनुपपत्त्या परमाणुपर्यन्तो विनाशः परिकल्प्यत इति चेत् । न । विशिष्टसामग्रीवशाद्विशिष्टवर्णस्य घटादेर्द्रव्यस्य कथञ्चिद् विनाशेऽप्युत्पत्तिसंभवात् । परमाणुपर्यन्तविनाशाऽभ्युपगमे च तद्देशान्तरसंख्यात्वेनतत्परिमाणत्वोपर्यवस्थापितकर्परावयवप्रत्यभिज्ञानव्यत्यादीनि पच्यमाने घटे न स्युः । सूच्यग्रविद्धघटेनानैकान्तः परिहृत एव ।

न च कपालार्थी घटं भिन्द्यादापरमाण्वन्ते विनाशे ततः
प्रतीतिविरुद्धत्वादाशासावभ्युपगन्तव्य इति प्रस्तुत-
मेवाक्षेपद्वारेणोपसंहरत्याचार्यः-

बहुयाण एगसद्दे, जइ संयोगाहिँ होइ उप्पाओ ।
णणु एगविभागम्मि वि, जुज्जइ बहुयाण उप्पाओ ॥ १३ ॥

द्व्यणुकादीनां सति संयोगे यथैकस्य द्व्यणुकादेः कार्यद्रव्यस्योत्पादो भवति,अन्यथैकाभिधानप्रत्ययव्यवहारायोगात् । नहि बहुष्वेको घट उत्पन्न इत्यादिव्यवहारो युक्तः । नन्वित्थं समायामेकस्य कार्यद्रव्यस्य विनाशेऽपि युज्यत एव बहूनां समानजातीयानां तत्कार्यद्रव्यविनाशात्मकानां प्रभूततया विभक्तात्मनामुत्पाद इति । तथाहि-घटविनाशाद बहूनि कपालानि उत्प-

कार्योत्पत्तिकालेऽपि प्रधानप्रत्ययव्यपेक्षयाऽपि गुणः, अन्यथा सदसम-वात् । ततः प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धस्वकार्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां व्यवस्थिता स्यात्सर्वपर्यायात्मकमेकं द्रव्यम्; तस्मात्ते काले भवत्यनन्तप-र्यायात्मकमेकं द्रव्यम् । एकस्मिन्नेव तु काले सत्त्वादयः सर्वपर्यायात्मकं ते । प्रदर्शितदिशा तदात्मकं तद्द्रव्यमेव इत्यादि—

एगसमयम्मि एगद-वियस्स बहुया वि होंति उप्पाया ।

उप्पायसमा विगमा, ठिई उ उस्सग्गओ णियमा ॥ १३८ ॥

एकस्मिन्समये एकद्रव्यस्य बहव उत्पादा भवन्ति, उत्पादस-मानसंख्या विगमा अपि तस्यैव तदैवोपपद्यन्ते, विनाशमन्तरे-णोत्पादस्याभावात् । न हि पूर्वपर्यायाविनाशे उत्तरपर्यायः प्रादुर्भवितुमर्हति । प्रादुर्भावे वा सर्वस्य सर्वकार्यतापत्तिः, सदकार्यत्वं वा कार्यान्तरस्य न स्यात् । स्थितिरपि सामान्य-रूपतया तथैव नियमाः; स्थितिरहितस्योत्पादस्याभावात् । भावे वा शशशृङ्गादेरप्युत्पत्तिप्रसङ्गात् ॥ १३८ ॥

एतदेव दृष्टान्तद्वारेण समर्थयन्नाह—

कायमणवयणकिरिया-रूवाइ गई विसेसओ वा वि ।

संजोगभेयओ जा-णणा य दवियस्स उप्पाओ ॥ १३९ ॥

यदैवानन्तानन्तप्रदेशिका आयमायपरिणतपुद्गलोपयोगोप-आत्मनादिपरिणतपरिणततया विभूतशिरोऽङ्गुल्याद्यङ्गोपाङ्ग-भावपरिणतस्थूलसूक्ष्मतरादिभेदभिन्नाद्ययात्मकस्य कार्योत्प-त्तिः,तदैवानन्तानन्तपरमाणूपचितमनोवर्गणापरिणतिलभ्यमा-न उत्पादोऽपि, तदैव वचनस्यापि कायोत्कृष्टवचनवर्गणोत्पत्ति-प्रतिलब्धप्रवृत्तिरुत्पादः, तदैव च कायात्मनोरन्योन्यानुप्रवे-शात्क्रियमाणानामसंख्यातात्मप्रदेशे कायक्रियोत्पत्तिः, तदैव च रूपादीनामपि प्रतिक्षणोत्पत्तिविनश्वराणामुत्पत्ति , तदैव च मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायादिपरिणतिसमुत्पादितकर्मबन्ध-निमित्तानामविरतिविशेषाणामप्युत्पत्तिः, तदैव चोत्सृज्यमानोपा-दीयमानानन्तपरमाणवादनन्तपरमाणुसंयोगविनाशानामुत्पत्ति। यद्वा-तदैव तदाऽऽदिदेशस्योत्पत्तिः, तदैव तत्कालगतसमस्त-द्रव्यैः सह साक्षात् पारम्पर्येण वा संबन्धानामुत्पत्तिः, सर्वस्या-स्तिकायस्थितावगाहं धर्माधर्मादिद्रव्यसंबन्धात, तदैव च भा-विस्वपर्यायपरिणतविषयत्वादीनां चोत्पादनशक्तीनामप्युत्पादः, शिरोग्रीवाबाह्वङ्गुलिप्रविभागादुरश्चरणाद्यनेकावयवान्तर्गतगुरा-एककरणशक्तीनामिव, अन्यथा तत्र तेषामुत्तरकालमप्यनुत्पत्ति-प्रसङ्गात् । उत्पादविनाशस्थित्यात्मकाश्च प्रतिक्षणं भावाः शी-तोष्णसंपर्कादिभेदेन । न च पुराणतया प्रत्यक्षोपलब्धिः प्रतिक्षणं तथोत्पत्तिमन्तरेण संगच्छति । न चात्मप्रत्यक्षं निरवशेष-धर्मात्मकवस्तुग्राहकं, येनानन्तधर्माणामेकदा वस्तुन्यप्रतिपत्ते-रभाव इत्युच्येत; अनुमानतः प्रतिक्षणमनन्तधर्मात्मकस्य तस्य प्रदर्शितन्यायेन प्रतिपत्तेः । सकलप्रत्यक्षव्याप्तस्य वस्तुनो-ऽध्यक्षेण ग्रहणं तच्छायावृत्तीनां पारमार्थिकतत्स्वरूपतया । अन्य-था तस्य तद्व्याप्त्ययोगात् , कथं नानन्तधर्माणां वस्तुन्यध्य-क्षेण ग्रहणम् ? । (सम्म०)

अन्योऽन्यनिरपेक्षतयाऽऽश्रितस्य मिथ्यात्वा—

विनाभूतमेव दर्शयन्नाह—

जे संतवाए दोसे, सक्कोलूया वयंति संखाणं ।

संखा य असव्वाए, तेसिं सव्वेऽपि ते सच्चा ॥ १४९ ॥

येऽनेकान्तसद्वादपक्षे द्रव्यास्तिकायाऽभ्युपगमपदार्थाभ्युपगमे शाक्यौलूक्यादयो दोषान् वदन्ति, सांख्यानां क्रियागुणव्यपदेशोपल-ब्ध्यादिप्रसङ्गादिलक्षणाः, ते सर्वेऽपि तेषां सत्या इत्येव संबन्धः कार्यः । ते च दोषा एवं सत्याः स्युः यद्यन्यनिरपेक्षतयाऽ-भ्युपगतपदार्थप्रतिपादकं तच्छास्त्रं न मिथ्या स्यात्, नाऽन्य-था । प्रागपि कार्याद्यवस्थात एकान्तेन तत्सत्त्वनिबन्धनत्वात्तेषा-म् । अन्यथा कथञ्चित्सर्वेऽनेकान्तवादापत्तेर्दोषाभाव एव स्यात् । सम्म० ।

(४) वस्तुनोऽनन्तधर्मात्मकत्वम्—

अनन्तरं नयदर्शितस्यानेकान्तात्मना वस्तुनो बुधरूपैर्वेद्यत्व-मुक्तम् । अनेकान्तात्मकत्वं च सप्तभङ्गीप्ररूपणेन सुखोन्नेयं स्यादि-ति साऽपि निरूपिता, तस्यां च विरुद्धधर्माध्यासितं वस्तु पश्य-न्त एकान्तवादिनोऽबुधरूपा विरोधमुद्भावयन्ति । तेषां प्रमाण-मार्गाच्च्यवनमाह—

उपाधिभेदोपहितं विरुद्धं,

नार्थेष्वसत्त्वं सदवाच्यते च ।

इत्यप्रबुध्यैव विरोधभीताः,

जडास्तदेकान्तहताः पतन्ति ॥ २४ ॥

अर्थेषु पदार्थेषु चेतनाऽचेतनेष्वसत्त्वं नास्तित्वं न विरुद्धं न विरोधावरुद्धम्, अस्तित्वेन सह विरोधं नानुभवतीत्यर्थः । न केवलमसत्त्वं न विरुद्धम्, किन्तु सदवाच्यते च । सच्चाऽवाच्यं च सदवाच्ये, तयोर्भावौ सदवाच्यते, अस्तित्वावक्तव्यत्वे इत्यर्थः । ते अपि न विरुद्धे । तथाहि—अस्तित्वं नास्तित्वेन सह न विरुध्यते । अवक्तव्यत्वमपि विधिनिषेधात्मकमन्योन्यं न विरुध्यते । अथवाऽ-वक्तव्यत्वं वक्तव्यत्वेन सार्कं न विरोधमुद्वहति । अनेन च नास्तित्वा-ऽस्तित्वावक्तव्यत्वलक्षणभङ्गत्रयेण सकलसप्तभङ्ग्या निर्विरोध-तोपलक्षिता; अमीषामेव त्रयाणां मुख्यत्वाच्छेषभङ्गानां च संयो-गजत्वेनामीष्वेवान्तर्भावादिति । नन्वेते धर्माः परस्परं विरुद्धाः, तत्कथमेकत्र वस्तुन्येषां समावेशः संभवति ?, इति विशेषणद्वा-रेण हेतुमाह—(उपाधिभेदोपहितमिति) उपाधयोऽवच्छे-दका अंशप्रकाराः, तेषां भेदो नानात्वं, तेनोपहितमर्पितम् । अस-त्त्वस्य विशेषणमेतत् । उपाधिभेदोपहितं सदर्थेष्वसत्त्वं न वि-रुद्धम् । सदवाच्यतयोश्च वचनभेदं कृत्वा योजनीयम् । उपाधिभे-दोपहिते सती सदवाच्यते अपि न विरुद्धे । अयमभिप्राय:-परस्परपरिहारेण ये वर्त्तेते, तयोः शीतोष्णवत्सहाऽनवस्थानल-क्षणो विरोधः । न चात्रैवम्, सत्त्वासत्त्वयोरितरेतरमविष्वग्भावेन वर्तनात् । न हि घटादौ सत्त्वमसत्त्वं परिहृत्य वर्तते, पररूपेणाऽ-पि सत्त्वप्रसङ्गात् । तथा च तद्व्यतिरिक्तार्थान्तराणां नैरर्थक्यम्, ते-नैव त्रिभुवनार्थसाध्यार्थक्रियाणां सिद्धेः । न चासत्त्वं सत्त्वं प-रिहृत्य वर्तते स्वरूपेणाप्यसत्त्वप्राप्तेः । तथा च निरुपाख्यत्वात्स-र्वशून्यतेति; तदा हि विरोधः स्याद्यद्येकोपाधिकं सत्त्वमसत्त्वं च स्यात् । न चैवम्; यतो न हि येनैवांशेन सत्त्वं तेनैवासत्त्वमपि । किं त्वन्योपाधिकं सत्त्वम्, अन्योपाधिकं पुनरसत्त्वम् । स्वरूपेण हि स-त्त्वं, पररूपेण चासत्त्वम् । दृष्टं हि एकस्मिन्नेव चित्रपटावयविनि अ-न्योपाधिकं तु नीलत्वमन्योपाधिकाश्चेतरे वर्णाः । नीलत्वं हि नी-लीरागाद्युपाधिकम्, वर्णान्तराणि च तत्तद्रञ्जनद्रव्योपाधिकानि । एवं मेचकरत्नेऽपि तत्तद्वर्णपुद्गलोपाधिकं वैचित्र्यमवसेयम् । न चै-तद् दृष्टान्ते. सत्त्वासत्त्वयोर्भिन्नदेशत्वप्राप्तिः, चित्रपटावयविन

दृष्टत्वात् तथापि भिन्नदेशत्वासिद्धेः । कथञ्चित्पक्षस्तु दृष्टान्ते दार्ष्टान्तिके च स्याद्वादिनां न दुर्लभः। एवमन्यत्रापि तोयश्चेदायुष्मतः, तर्हि कस्यचित्पुंसस्तत्र तत्तदुपाधिभेदात्पितृत्वपुत्रत्वमातुलत्वभागिनेयत्वपितृव्यत्वभ्रातृत्वादिधर्माणां परस्परविरुद्धानामपि प्रसिद्धिदर्शनात् किं वाच्यम्? । एवमवक्तव्यतादयोऽपि वाच्याः । उक्तप्रकारेणोपाधिभेदेन वास्तवं विरोधाभावमप्रबुध्यैवाज्ञत्वेन, परत्र वेऽपवादे । स च तेषां सम्यग्ज्ञानस्याभाव एव, न पुनर्लेशतोऽपि भाव इति व्यनक्ति । ततस्ते विरोधभीताः-सत्त्वासत्त्वादिधर्माणां बहिर्मुखशेमुष्या संभावितो यो विरोधः महानवस्थानादिः, तस्माद्भीतास्त्रस्तमानसाः। अत एव जडाः तात्त्विकभयहेतोरभावेऽपि तथाविधपशुवदज्ञत्वान्मूर्खाः परवादिनस्तदेकान्तहताः, तेषां सत्त्वादिधर्माणां य एकान्त इतरधर्मनिषेधेन स्वाभिमतधर्मव्यवस्थापनाभिप्रायः, तेन हता इव हताः पतन्ति स्खलन्ति । पतिताश्च सन्तस्ते न्यायमार्गाक्रमणेनासमर्था न्यायमार्गाध्वनीनानां च सर्वेषामप्याक्रमणीयतां यान्तीति भावः । यद्वा-पतन्तीति प्रमाणमार्गतश्च्यवन्ते । लोके हि सन्मार्गच्युतः पतित इति परिभाष्यते । अथवा-यथा वज्रादिप्रहारेण हतः पतितो मूर्च्छामनुच्छामापन्नो निरुद्धवाक्प्रसरो भवति; एवं तेऽपि वादिनः स्वाभिमतैकान्तवादेन युक्तिसरणिमननुसरता वज्राभिघातेन निहताः सन्तः स्याद्वादिनां पुरतोऽकिञ्चित्करा वाङ्मात्रमपि नोच्चारयितुमीशत इति । अत्र च विरोधस्योपलक्षणत्वाद्वैयधिकरण्यमनवस्था सङ्करो व्यतिकरः संशयोऽप्रतिपत्तिर्विषयव्यवस्थाहानिरित्येतेऽपि परोद्भाविता दोषा अभ्यूह्याः । तथाहि-सामान्यविशेषात्मकं वस्त्वित्युपन्यस्ते परे उपालम्भयन्ति भवन्ति । यथा सामान्यविशेषयोर्विधिप्रतिषेधरूपयोर्विरुद्धधर्मयोरेकत्राभिन्ने वस्तुन्यसंभवाच्छीतोष्णवदिति विरोधः । न हि यदेव विधेरधिकरणं तदेव प्रतिषेधस्याधिकरणं भवितुमर्हति,एकरूपतापत्तेः। ततो वैयधिकरण्यमपि भवति । अपरं च-येनात्मना सामान्यस्याधिकरणं येन च विशेषस्य, तावप्यात्मानौ एकेनैव स्वभावेनाधिकरोति, द्वाभ्यां वा स्वभावाभ्याम्? । एकेनैव चेत्, तत्र पूर्ववद्विरोधः । द्वाभ्यां वा स्वभावाभ्यां सामान्यविशेषाख्यं स्वभावद्वयमधिकरोति, तदाऽनवस्था—तावपि स्वभावान्तराभ्यां, तावपि स्वभावान्तराभ्यामिति । येनाऽऽत्मना सामान्यस्याधिकरणं तेन सामान्यस्य विशेषस्य च, येन च विशेषस्याधिकरणं तेन विशेषस्य सामान्यस्य चेति सङ्करदोषः । येन स्वभावेन सामान्यं तेन विशेषः, येन विशेषस्तेन सामान्यमिति व्यतिकरः। ततश्च वस्तुनोऽसाधारणाकारेण निश्चेतुमशक्तेः संशयः । ततश्चाप्रतिपत्तिः, ततश्च प्रमाणविषयव्यवस्थाहानिरिति । एते च दोषाः स्याद्वादस्य जात्यन्तरत्वादिभिरुक्ता एव । अतः स्याद्वादकण्टकोद्धारे ... दुरवलोकिता इति, स्वयमन्यतया विरोधादीनां सामान्यविशेषयोर्विधिप्रतिषेधरूपयोर्नैरात्म्यवत्कथञ्चित् ... । अथवा विरोधमात्रोऽत्र उद्भावितो । यथा ... । तथा विरोधिन्यो विरोधभेदाः ... इति व्याख्येयम् । एवं च ... सिद्धाः भवन्तीति काव्यार्थः ॥२४॥

... मुक्तिमार्ग-... परम्परा-

सौहित्यमुपवर्णयन्नाह-

स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं, वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेव ।
विपश्चितां नाथ ! निपीततत्त्व-सुधोद्गतोद्गारपरम्परेयम् ॥२५॥

स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकमष्टास्वपि पदेषु योज्यम्, तदेवाधिकृतमेकं वस्तु स्यात्कथञ्चिन्नाशि, विनशनशीलमनित्यमित्यर्थः। स्यान्नित्यमविनाशधर्मीत्यर्थः । एतावता नित्यानित्यलक्षणमेकं विधानम्। तथा स्यात्सदृशमनुवृत्तिहेतुसामान्यरूपम्।स्याद्विरूपं विविधरूपं विसदृशपरिणामात्मकं, व्यावृत्तिहेतुविशेषरूपमित्यर्थः। अनेन सामान्यविशेषरूपो द्वितीयः प्रकारः । तथा स्याद्वाच्यं वक्तव्यम्। स्याद् न वाच्यमवक्तव्यमित्यर्थः। अत्र च समासेऽवाच्यमिति युक्तम्, तथाप्यवाच्यपदं योन्यादौ रूढमित्यसभ्यतापरिहारार्थं न वाच्यमित्यसमस्तं चकार स्तुतिकारः । एतेनाभिलाप्यानभिलाप्यस्वरूपस्तृतीयो भेदः । तथा स्यात्सद्विद्यमानमस्तिरूपमित्यर्थः । स्यादसत्तद्विलक्षणमिति । अनेन सदसदाख्या चतुर्थी विधा। हे विपश्चितां नाथ! संख्यावतां मुख्य! इयमनन्तरोक्ता निपीततत्त्वसुधोद्गतोद्गारपरम्परा,तवेति प्रकरणात्सामर्थ्याद्वा गम्यते । तत्त्वं यथावस्थितवस्तुस्वरूपपरिच्छेदः, तदेव जरामरणापहारित्वाद्विबुधोपभोग्यत्वान्मिथ्यात्वविषोर्मिनिराकारित्वादान्तराह्लादकारित्वाच्च पीयूषं तत्त्वसुधा। नितरामनन्यसामान्यतया पीता आस्वादिता या तत्त्वसुधा तस्या उद्गता प्रादुर्भूता तत्कारणिका उद्गारपरम्परा उद्गारश्रेणिरित्यर्थः । यथा हि-कश्चिदाकण्ठं पीयूषरसमापीय तदनुविधायिनीमुद्गारपरम्परां मुञ्चति, तथा भगवानपि जरामरणापहारि तत्त्वामृतं स्वैरमास्वाद्य तद्रसानुविधायिनीं प्रस्तुतानेकान्तवादभेदचतुष्टयीलक्षणामुद्गारपरम्परां देशनामुखेनोदीर्णवानित्याशयः । अथवा-यैरेकान्तवादिभिः मिथ्यात्वगरलभोजनमाकृति प्राशितं, तेषां तत्तद्वचनरूपा उद्गारप्रकाराः प्राक् प्रदर्शिताः। यैस्तु पर्यन्तिसमार्चीनपुण्यप्राग्भारानुगृहीतैभगवद्वदनेन्दुनिःस्यन्दि तत्त्वामृतं मनोहत्य पीतं तेषां विपश्चितां यथार्थवादविदुषां हे नाथ! इयं पूर्वदर्शितोद्गारश्रेणिरूपा उद्गारपरम्परेति व्याख्येयम्। एते च चत्वारोऽपि वादास्तेषु तेषु स्थानेषु प्रागेव चर्चिताः। तथाहि-'आदीपमाव्योमेति' वृत्ते नित्यानित्यवादः। 'अनेकमेकात्मकमिति' काव्ये सामान्यविशेषवादः। सप्तभङ्ग्यामभिलाप्यानभिलाप्यवादः, सदसद्वादश्च; इति न भूयः प्रयासः। इति काव्यार्थः ॥२५॥

इदानीं नित्यानित्यपक्षयोः परस्परदूषणप्रकाशनबद्धलक्षयोः वैरायमाणयोरितरेतरोदीरितविविधहेतुहेतिसन्निपातसञ्जातविनिपातयोरयत्नसिद्धप्रतिपक्षप्रतिक्षेपस्य भगवच्छासनसाम्राज्यस्य सर्वोत्कर्षमाह-

य एव दोषाः किल नित्यवादे,
विनाशवादेऽपि समास्त एव ।
परस्परध्वंसिषु कण्टकेषु,
जयत्यधृष्यं जिन ! शासनं ते ॥ २६ ॥

किलेति निश्चये । य एव नित्यवादे नित्यैकान्तवादे दोषा अनित्यैकान्तवादिभिः प्रसञ्जिताः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियानुपपत्त्यादयः त एव विनाशवादेऽपि क्षणिकैकान्तवादेऽपि तत्पक्षानुरूप्या नित्यैकान्तवादिभिः प्रसज्यमाना समाः तुल्याः ... नित्यवादः प्रमाणपतितः, ... । इति ... ।

निवर्त्तमानत्वेन गमकत्वाभावात् नित्यत्वेऽप्यनित्यत्वे । यथाहि-क्षणिको-ऽर्थः सन् वा कार्यं कुर्यादसन् वा?,गत्यन्तराभावात् ।न तावदसन्; पक्षः, समसमयवर्त्तिनि व्यापारायोगात्, सकलानामपि पर-स्परं कार्यकारणभावप्रसङ्गाऽनिष्टप्रसङ्गाच्च । नापि द्वितीयः पक्षः क्षोदं क्षमते । असतः कार्यकरणशक्तिविकलत्वात् । अन्यथा शश-विषाणादयोऽपि कार्यकरणायोत्सहेरन्, विशेषाभावादिति । अ-नित्यवादी नित्यवादिनं प्रति पुनरेवं प्रमाणयति-'सर्वं क्षणिकं, सत्त्वात्,अक्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्,अर्थक्रि-याकारित्वस्य च सत्त्वलक्षणत्वात्' । ततोऽर्थक्रिया व्यावर्त्तमाना स्वव्याप्यौ क्रमयौगपद्ये व्यावर्त्तयतीति क्षणिकसिद्धिः । न हि नि-त्योऽर्थोऽर्थक्रियां क्रमेण प्रवर्त्तयितुमुत्सहते, पूर्वार्थक्रियाकरण-स्वभावोपमर्दद्वारेणोत्तरक्रियायां क्रमेण प्रवृत्तेः, अन्यथा पूर्वक्रि-याकरणाविरामप्रसङ्गात् । तत्स्वभावप्रच्यवे च नित्यता प्रयाति, अतादवस्थ्यस्यानित्यतालक्षणत्वात् । अथ नित्योऽपि क्रमवर्त्ति-नं सहकारिकारणमर्थमुदीक्षमाणस्तावदासीत, पश्चात्तमासाद्य क्रमेण कार्यं कुर्यादिति चेत् । न । सहकारिकारणस्य नित्ये-ऽकिञ्चित्करत्वात्; अकिञ्चित्करस्याऽपि प्रतीक्षणेऽनवस्थाप्रस-ङ्गात् । नापि यौगपद्येन नित्योऽर्थोऽर्थक्रियां कुरुते, अध्यक्षवि-रोधात् । नह्येककाले सकलाः क्रियाः प्रारभमाणः कश्चि-दुपलभ्यते , करोतु वा, तथाऽप्याद्यक्षण एव सकलक्रियाप-रिसमाप्तेर्द्वितीयादिक्षणेष्वकुर्वाणस्यानित्यता बलादाढौकते; करणाकरणयोरेकस्मिन् विरोधात् इति । तदेवमेकान्तद्वये-ऽपि ये हेतवस्ते युक्तिमात्रात् विरुद्धं न व्यभिचरन्तीत्यविचा-रितरमणीयतया सुखजनकत्वात् स्वान्तं चोत्पादयन्तीति विरुद्धा-व्यभिचारिणो भेदान्तरा इति । अत्र च नित्यानित्यैकान्तपक्ष-प्रतिक्षेप एवोक्तः । उपलक्षणत्वाच्च सामान्यविशेषाद्येकान्तवादाः अपि मिथस्तुल्यदोषतया विरुद्धा व्यभिचारिण एव हेतूनुपस्पृ-शन्तीति परिभावनीयम् । अथोत्तरार्द्धं व्याख्यायते-(परस्परे-त्यादि) एवं च कण्टकेषु क्षुद्रशत्रुषु एकान्तवादिषु परस्परध्वं-सिषु सत्सु परस्परस्मात् ध्वंसन्ते, विनाशमुपयान्तीत्येवंशीलाः, सुन्दोपसुन्दवदिति परस्परध्वंसिनः,तेषु,हे जिन!ते तव,शासनं स्याद्वादप्ररूपणनिरूपणं द्वादशाङ्गीरूपं प्रवचनं पराभिभावुकानां कण्टकानां स्वयमुच्छिन्नत्वेनाभावादधृष्यमपराभवनीयम् । 'श-क्तार्हे कृत्याश्च'(५।४।३५)इति(हैमसू०)कृत्यविधानात् धर्षितुमश-क्यं धर्षितुमनर्हं वा,जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते। यथा कश्चिन्महा-राजः पीवरपुण्यपरिपाकः परस्परं विगृह्य स्वयमेव क्षयमुपेयिवत्-सु द्विषत्सु अयत्नसिद्धनिष्कण्टकत्वे समृद्धं राज्यमुपभुञ्जानः सर्वोत्कृष्टो भवत्येवं त्वच्छासनमपीति काव्यार्थः ॥ २६ ॥

अनन्तरकाव्ये नित्यानित्याद्येकान्तवादे दोषसामान्यमभिहित-म् । इदानीं कतिपयतद्विशेषानामग्राहं दर्शयंस्तत्प्ररूपका-णामसद्भूतोद्भावकतयोन्मत्ततामविधायि पुनर्जनितोपद्रवामिव परित्रातुरेरित्रोपलक्षितजगत्पतेः पुरतो भुवनत्रयं प्रत्युपकारका-रितामाविष्करोति—

> एकान्तवादे सुखदुःखभोगौ ,
> न पुण्यपापे न च बन्धमोक्षौ ।
> दुर्नीतिवादव्यसनासिनैवं ,
> परैर्विलुप्तं जगदप्यशेषम् ॥ २७ ॥

एकान्तवादे नित्याऽनित्यैकान्तपक्षाभ्युपगमे, न सुखदुःखभो-गौ घटेते, न च पुण्यपापे घटेते, न च बन्धमोक्षौ घटेते । पुनः पुनर्नञः प्रयोगोऽत्यन्ताघटमानतादर्शनार्थः । तथाहि-एकान्त-नित्ये आत्मनि तावत् सुखदुःखभोगौ नोपपद्येते । नित्यस्य हि लक्ष-णम्-'अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपत्वम्' । ततो यदाऽऽत्मा सुखम-नुभूय स्वकारणकलापसामग्रीवशाद् दुःखमुपभुङ्क्ते, तदा स्वभा-वभेदादनित्यत्वापत्त्या स्थिरैकरूपताहानिप्रसङ्गः; एवं दुःखम-नुभूय सुखमुपभुञ्जानस्यापि वक्तव्यम् । अथावस्थाभेदादयं व्यवहारः । न चावस्थासु भिद्यमानास्वपि तद्वतो भेदः ; सर्पस्येव कुण्डलार्जवाद्यवस्थासु इति चेत् । ननु तास्ततो व्यतिरिक्ता अव्यतिरिक्ता वा ?। व्यतिरेके तास्तस्येति सम्बन्धा-भावः, अतिप्रसङ्गात् । अव्यतिरेके तु तद्वानेवेति तदवस्थितैव स्थिरैकरूपताहानिः । कथं च तदेकान्तैकरूपत्वेऽवस्थाने-दोऽपि भवेदिति । किञ्च । सुखदुःखभोगौ पुण्यपापनिर्वर्त्यौ, तन्निर्वर्त्तनं चार्थक्रिया , सा च कूटस्थनित्यस्य क्रमेणाक्र-मेण वा नोपपद्यत इत्युक्तप्रायम् । अत एवोक्तम्-(न पुण्य-पापे इति) पुण्यं दानादिक्रियोपार्जनीयं शुभं कर्म । पापं हिंसा-दिक्रियासाध्यमशुभं कर्म । ते अपि न घटेते, प्रागुक्तनीतेः । तथा न बन्धमोक्षौ । बन्धः कर्मपुद्गलैः सह प्रतिप्रदेशमात्मनो वह्न्य-यःपिण्डवदन्योन्यसंश्लेषः । मोक्षः कृत्स्नकर्मक्षयः । तावप्येकान्त-नित्ये न स्याताम् । बन्धो हि संयोगविशेषः,स चाप्राप्तानां प्राप्ति-रिति लक्षणः । प्राक्कालभाविनी अप्राप्तिरन्याऽवस्था । उत्तरका-लभाविनी प्राप्तिश्चान्या । तदनयोरप्यवस्थाभेददोषो दुस्तरः । कथं चैकरूपत्वे सति तस्याकस्मिको बन्धनसंयोगः?, बन्धनसंयो-गाच्च प्राक् किं नायं मुक्तोऽभवत्?। किञ्च । तेन बन्धनेनासौ वि-कृतिमनुभवति, न वा?। अनुभवति चेच्चर्मादिवदनित्यः । नानु-भवति चेन्निर्विकारत्वे सता असता वा तेन गगनस्येव न को-ऽप्यस्य विशेषः । इति बन्धवैफल्यान्नित्यमुक्त एव स्यात् । त-तश्च विशीर्णा जगति बन्धमोक्षव्यवस्था । तथा च पठन्ति-"व-र्षातपाभ्यां किं व्योम्न-श्चर्मण्यस्ति तयोः फलम् । चर्मोपमश्चे-त्सोऽनित्यः, खतुल्यश्चेदसत्फलः " ॥ १ ॥ बन्धानुपपत्तौ मोक्ष-स्याऽप्यनुपपत्तिर्बन्धनविच्छेदपर्यायत्वान्मुक्तिशब्दस्येति । एव-मनित्यैकान्तवादेऽपि सुखदुःखाद्यनुपपत्तिः । अनित्यं हि अत्य-न्तोच्छेदधर्मकम् । तथाभूते चात्मनि पुण्योपादानक्रियाकारि-णो निरन्वयं विनष्टत्वात् कस्य नाम तत्फलभूतसुखानुभवः ?। एवं पापोपादानक्रियाकारिणोऽपि निरवयवनाशे कस्य दुःख-संवेदनमस्तु ?। एवं चान्यः क्रियाकारी,अन्यश्च तत्फलभोक्ते-त्यसमञ्जसमापद्यते । अथ " यस्मिन्नेव हि सन्ताने, आहिता कर्मवासना । फलं तत्रैव संधत्ते, कर्पासे रक्तता यथा " ॥ १ ॥ इति वचनान्नासमञ्जसमित्यपि वाङ्मात्रम्, सन्तानवासनयोरवास्त-वत्वेन प्रागेव निर्लोठितत्वात् । तथा पुण्यपापे अपि न घटेते । त-योरर्थक्रिया सुखदुःखोपभोगः । तदनुपपत्तिश्चानन्तरमेवोक्ता, ततोऽर्थक्रियाकारित्वाऽभावात्तयोरप्यघटमानत्वम् । किञ्च । अनित्यः क्षणमात्रस्थायी,तस्मिंश्च क्षणे उत्पत्तिमात्रव्यग्रत्वात् तस्य कुतः पुण्यपापोपादानक्रियाऽर्जनम् ? । द्वितीयादिक्षणेषु चावस्थातुमेव न लभते, पुण्यपापोपादानक्रियाभावे च पुण्यपापे कुतः ?, निर्मूलत्वात्; तदसत्त्वे च कुतस्तनः सुख-दुःखभोगः । आस्तां वा कथञ्चिदेतत्, तथाऽपि पूर्वक्षणस-दृशेनोत्तरक्षणेन भवितव्यम्, उपादानाऽनुरूपत्वादुपादेयस्य । ततः पूर्वक्षणाद् दुःखितादुत्तरक्षणः कथं सुखित उत्पद्यते?, कथं च सुखितात्ततः स दुःखितः स्यात्?; विसदृशभागताऽऽपत्तेः ।

एवं पुण्यपापादावपि। तस्माद् यत्किञ्चिदेतत् । एवं बन्धमोक्षयो-रप्यसंभवः । लोकेऽपि हि य एव बद्धः स एव मुच्यते। निरन्वयनाशाभ्युपगमे चैकाधिकरणत्वाभावात्सन्तानस्य चावास्तवत्वात् कुतस्तयोः संभावनामात्रमपीति ?। परिणामिनि त्वात्मनि स्वीक्रियमाणे सर्वं निर्बाधमुपपद्यते । "परिणामोऽवस्थान्तर-गमनं न च सर्वथा ह्यवस्थानम् । न च सर्वथा विनाशः, परिणामस्तद्विदामिष्टः" ॥१॥ इति वचनात् । पातञ्जलटीकाकारोऽप्याह- "अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः" इति । एवं सामान्यविशेषसदसदभिलाप्यानभिलाप्यैकान्तवादेष्वपि सुखदुःखाद्यभावः स्वयमभियुक्तैरभ्यूह्यः । अथोत्तरार्द्धव्याख्या—एवमनुपपद्यमानेऽपि सुखदुःखभोगादिव्यवहारे परैः परतीर्थिकैः, अथ च परमार्थतः शत्रुभिः; परशब्दो हि शत्रुपर्यायोऽप्यस्ति (दुर्नीतिवादव्यसनासिना) नीयते एकदेशविशिष्टोऽर्थः प्रतीतिविषयमाभिरिति नीतयो नयाः, दुष्टा नीतयो दुर्नीतयो दुर्नयाः; तेषां वदनं परेभ्यः प्रतिपादनं दुर्नीतिवादः । तत्र यद् व्यसनमत्यासक्तिरौचित्यनिरपेक्षा प्रवृत्तिरिति यावत्; दुर्नीतिवादव्यसनम् । तदेव सद्बोधशरीरोच्छेदनशक्तियुक्तत्वादसिरिवासिः कृपाणः, दुर्नीतिवादव्यसनासिः तेन दुर्नीतिवादव्यसनासिना करणभूतेन दुर्नयप्ररूपणहेवाकखड्गेन। एवमित्यनुभवसिद्धं प्रकारमाह । अपि शब्दस्य भिन्नक्रमत्वादशेषमपि जगन्निखिलमपि त्रैलोक्यम्, तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति । त्रैलोक्यगतजन्तुजातं विलुप्तम्; सम्यग्ज्ञानादिभावप्राणव्यपरोपेण व्यापादितम् । तत् त्रायस्वेत्याशयः । सम्यग्ज्ञानादयो हि भावप्राणाः प्रावचनिकैर्गीयन्ते । अत एव सिद्धेष्वपि जीवव्यपदेशः । अन्यथा हि जीवधातुः प्राणधारणार्थेऽभिधीयते । तेषां च दशविधप्राणधारणाऽभावादजीवत्वप्राप्तिः । सा च विरुद्धा । तस्मात्संसारिणो दशविधद्रव्यप्राणधारणाज्जीवाः, सिद्धाश्च ज्ञानादिभावप्राणधारणादिति सिद्धम् । दुर्नयस्वरूपं चोत्तरकाव्ये व्याख्यास्यामः । इति काव्यार्थः ॥ २७ ॥ स्या० ।

वस्तुनोऽनियतसदसद्रूपत्वमनेकान्तजयपताकायां न्यक्षेण प्रत्यपादि परं नात्रोपख्यातिसंक्षिप्तत्वेन दुरवबोधत्वात्सम्मतिप्रभृतिग्रन्थगतार्थत्वाच्चास्माभिरत्रोपेक्षितम् । अनेकान्तजयपताका० वृत्तिवि० ।

(५) एकान्तेन सर्वं वस्तु सदिति साङ्ख्यमतं तु न युक्तम् । युक्तिश्चात्र यत्तावदुच्यते सांख्याभिप्रायेण-सर्वं सर्वात्मकम्; देशकालाकारप्रतिबन्धात्तु न समानकालोपलब्धिरिति। तदयुक्तम्। यतो भेदेन सुखदुःखजीवितमरणदूरासन्नसूक्ष्मबादरसुरूपकुरूपादिकं संसारवैचित्र्यमध्यक्षेणाऽनुभूयते । न च दृष्टेऽनुपपन्नं नाम। न च सर्वं मिथ्येत्यप्युपपन्नं युज्यते, यतो दृष्टहानिरदृष्टकल्पना च पापीयसी । किञ्च। सर्वैकत्वेऽभ्युपगम्यमाने संसारमोक्षाभावस्तथा कृतनाशोऽकृताभ्यागमश्च बलादापतति । यच्चैतत्सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रधानमित्येतत्सर्वस्य जगतः कारणम्, तदिदमपरे सुहृदः प्रत्येष्यन्ति, निर्युक्तिकत्वात् । अपि च । सर्वथा सर्वस्य वस्तुन एकत्वेऽभ्युपगम्यमाने सत्त्वरजस्तमसामप्येकत्वं स्यात् । तद्भेदे वा सर्वस्य भेद इति । तथा यदप्युच्यते-असदकरणाद् उपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्। कारणे वस्तुपिण्डादीनां सत एवोत्पादात्पुरुषार्थमादानदर्शनाच्च आकारजातीनामनुपलम्भमात्रमित्येतदव्याख्यानम्। तथाहि-यदि सर्वथा कारणे कार्यमस्ति न तर्ह्युत्पादः, निष्पन्नघटस्येव; अपि

च। मृत्पिण्डावस्थायामेव घटगताः कर्मगुणव्यपदेशा भवेयुः। न च भवन्ति, ततो नास्ति कारणे कार्यम् । अथाऽनभिव्यक्तमस्तीति चेत्। न। तर्हि सर्वात्मना विद्यते नाऽप्येकान्तेनासत्कार्यवाद एव । तद्भावे हि व्योमारविन्दानामप्येकान्तेनासतो मृत्पिण्डादेर्घटादेरिवोत्पत्तिः स्यात् । न चैतद् दृष्टमिष्टं वा । अपि चैवं सर्वस्य सर्वस्मादुत्पत्तेः कार्यकारणभावानियमः स्यात् । एवं च न शाल्यङ्कुरार्थी शालिबीजमेवाऽऽदद्यादपि तु यत्किञ्चिदेवेति नियमेन च प्रेक्षापूर्वकारिणामुपादानकारणादौ प्रवृत्तिरतो नासत्कार्यवाद इति । तदेवं सर्वपदार्थानां सर्वज्ञेयत्वप्रमेयत्वादिभिर्धर्मैः कथञ्चिदेकत्वम् , तथा प्रतिनियतार्थकार्यतया यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थतः सदिति कृत्वा कथञ्चिद्भेद इति सामान्यविशेषात्मकं वस्त्विति स्थितम् । अनेन च स्यादस्ति,स्यान्नास्तीति भङ्गकद्वयेन शेषभङ्गका अपि द्रष्टव्याः । ततश्च सर्वं वस्तु सप्तभङ्गीस्वभावम् । ते चामी-स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया स्यादस्ति, परद्रव्यापेक्षया स्यान्नास्ति। अनयोरेव धर्मयोर्यौगपद्येनाभिधातुमशक्यत्वात् स्यादवक्तव्यम्। तथा कस्यचिदंशस्य स्वद्रव्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वात् ,कस्यचिच्चांशस्य परद्रव्याद्यपेक्षया स्याद्वा,नास्ति वा,वक्तव्यं चेति। तथैकस्यांशस्य स्वद्रव्याद्यपेक्षया परस्य तु सामस्त्येन स्वद्रव्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वात् । स्यादस्ति चावक्तव्यं चेति । तथैकांशस्य परद्रव्याद्यपेक्षया स्यान्नास्ति चावक्तव्यं चेति । तथैकस्यांशस्य स्वद्रव्याद्यपेक्षया,परस्य तु परद्रव्याद्यपेक्षया, अन्यस्य तु यौगपद्येन स्वपरद्रव्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वात् स्यादस्ति च नास्ति चाऽवक्तव्यम् । इयं च सप्तभङ्गी यथायोगमुत्तरत्राऽपि योजनीयेति । सूत्र० २ श्रु० ५ अ० ।

(६) कालाद्येकान्तवादोऽपि मिथ्यात्वमेवेत्याह—

कालो सहाव णियई, पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता ।
मिच्छत्तं ते चेवा, समासओ होंति सम्मत्तं ॥ १४६ ॥

कालस्वभावनियतिपूर्वकृतपुरुषकारणरूपा एकान्ताः सर्वेऽपि एकका मिथ्यात्वम् ; त एव समुदिताः परस्पराजहद्वृत्तयः सम्यक्त्वरूपतां प्रतिपद्यन्त इति तात्पर्यार्थः॥१४९॥ (सम्म) ३ का०।

तत्र कालाद्येकान्ताः प्रमाणतः संभवन्तीति तद्वादो मिथ्यावाद इति स्थिते तथाऽन्योन्यसव्यपेक्षा नित्याद्येकान्तव्यपोहेनैकानेकस्वभावाः कार्यनिर्वर्तनपटव. प्रमाणविषयतया परमार्थतः सन्त इति तत्प्रतिपादकस्य शास्त्रस्यापि सम्यक्त्वमिति तद्वादः सम्यग्वादतया व्यवस्थितः। यथैते कालाद्येकान्ताः मिथ्यात्वमनुभवन्ति, स्याद्वादोपग्रहात्तु त एव सम्यक्त्वं प्रतिपद्यन्ते, तथाऽऽत्माऽप्येकान्तनित्यानित्यत्वादिधर्माध्यासितो मिथ्यात्वम्, अनेकान्तरूपतया त्वभ्युपगम्यमानः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यत इत्याह—

णत्थि ण णिच्चो ण कुणइ,
कयं ण वेएइ णत्थि णिव्वाणं ।
णत्थि य मोक्खोवाओ,
छं मिच्छत्तस्स ठाणाइं ॥ १५० ॥

नास्त्यात्मा एकान्त इति सांख्याः । अत एव प्राहुः-न कर्ता, न भोक्ता, प्रकृतिवत् , कर्तृभोक्तृत्वानुपपत्तेः । यथा-येन कृतं कर्म, नाऽसौ तद् भुङ्क्ते, क्षणिकत्वात् , भिन्नसन्तानवदिति बौद्धाः। क्षणिकत्वाच्च तत्सन्तानः कृतं न वेदयत इति बौद्धपक्षाह-कर्ता

भोक्ता चात्मा किन्तु न मुच्यते, सचेतनत्वात्, अभव्यवत्, रागादीनामात्मस्वरूपाव्यतिरेकात्, तत्क्षये तेषामप्यक्षयादिति ज्ञापितः। निर्हेतुक एवासौ मुच्यते, तत्स्वभावताव्यतिरेकेण परस्य तदुपायस्यासत्त्वादिति मण्डलीप्राह। एतानि षट् मिथ्यात्वस्य स्थानानि, षण्णामप्येषां पक्षाणां मिथ्यात्वाधारतया व्यवस्थितेः। तथाहि-एतानि नास्तित्वादिविशेषणादीनि साध्यधर्मिविशेषणतयोपादीयमानानि किं प्रतिपक्षव्युदासेनोपादीयन्ते ?, आहोस्वित् कथंचित्तत्संग्रहणेनेति कल्पनाद्वयम्। प्रथमपक्षे-प्रत्यक्षविरोधः, स्वसंवेदनाध्यक्षतश्चैतन्यस्यात्मरूपस्य प्रतीतिः,कथञ्चित्तस्य परिणामनित्यताप्रतीतेश्च,शरीरादिव्यापारतः कर्तृत्वोपलब्धेश्च, स्वव्यापारनिर्वर्तितभक्तरूपादिभोक्तृत्वसंवेदनाच्च, पुद्गललक्षणतया, रागादिव्यक्ततया च,शमसुखस्यावस्थायां कथञ्चित्तस्योपलब्धेश्च। स्वोत्कर्षतरतमादिभावतो रागाद्युपचयतरतमभावविधायिसम्यग्ज्ञानदर्शनाद्युपलम्भाच्चानुमानतोऽपि विरोधः। तथाभूतज्ञानकार्यान्यथाऽनुपपत्तिश्चैतन्यलक्षणस्यात्मनः सिद्धिर्घटादिवत् रूपादिगुणतः ज्ञानस्वरूपगुणोपलम्भात् कथञ्चित्तदभिन्नस्याऽऽत्मलक्षणस्य गुणिनः सिद्धिरिति नानुमानविरोधः, इतरधर्मनिरपेक्षधर्मलक्षणस्य विशेषणस्य तदाधारभूतस्य च विशेष्यस्याप्रसिद्धेः। अप्रसिद्धविशेषणविशेष्योभयदोषैर्दुष्टश्च पक्ष आत्मेति वचनेन, तत्सत्ताऽभिधानं नास्तीत्यनेन च,तत्प्रतिषेधाभिधानपदयोः प्रतिज्ञावाक्यव्याघातो लोकविरोधश्च। तथाभूतविशेषणविशिष्टतया धर्मिणो लोके तद्व्यवह्रियमाणत्वात् स्ववचनविरोधश्च। तत्प्रतिपादकवचनस्येतरधर्मसापेक्षतया प्रवृत्तेर्हेतुरपीतरनिरपेक्षैकधर्मरूपोऽसिद्धः, तथाभूतस्य तस्य क्वचिदनुपलब्धेः सर्वत्र तद्विपरीत एवाभावात्। विरुद्धश्च दृष्टान्तः, साधनधर्माधिकरणतया कस्यचिद्धर्मिणोऽप्रसिद्धेः। तन्न प्रथमः पक्षः। नापि द्वितीयः, स्वाभ्युपगमविरोधप्रसङ्गात्, साधनवैफल्यापत्तेश्च। तथाभूतस्यानेकान्तरूपतयाऽस्माभिरप्यभ्युपगमात्। तस्माद्व्यवस्थितमेतदेकान्तरूपतया षडप्येतानि। तद्विपर्ययेणाप्येकान्तवादे तथैव सन्तीति दर्शयन्नाह-

अत्थि अविणासधम्मी, करेइ वेएइ अत्थि णिव्वाणं।
अत्थि अ मोक्खोवाओ, छं मिच्छत्तस्स ठाणाइं ॥१५१॥

अस्त्यात्मेति पक्षः पूरणादेर्वादिनः। स चाविनाशधर्मी, एषा प्रतिज्ञा कलमतानुसारिणः। कर्तृभोक्तृस्वभावोऽसाविति मतं जैमिनेः। तथाभूत एवासौ जडस्वरूप इत्यक्षपादकणभुङ्मतानुसारिणः। अस्ति निर्वाणमस्ति च मोक्षोपाय इत्याप्तमतन्ति नास्तिककथाह्निकव्यतिरिक्ताः। प्रामाणिकत्वे एते चाभ्युपगमाः प्रत्यक्षेण तदस्तित्वादेरप्रत्यक्षानुमानाभ्यामप्रतीतेः। तथाऽभ्युपगमे च स्यात्तित्वेनेवान्यभावाविनाशेनापि तस्य भावात् सर्वसावयसंबन्धिसामप्रसक्तेः, स्वस्वरूपाव्यवस्थितेः खपुष्पवदसत्त्वमेव स्यात्, इत्यादि दूषणमसकृत् प्रतिपादितम्। हेतुदृष्टान्तदोषाश्च पूर्ववदत्रापि वाच्याः। चतुर्थपादं तु गाथायाः केचिदन्यथा पठन्ति-'छस्सम्मत्तस्स ठाणाइं ति'। अत्र तु पाठे इतरधर्मा उदयवृत्त्या प्रवर्तमाना एते षट् पक्षाः सम्यक्त्वस्याधारतां प्रतिपद्यन्त इति व्याख्येयम्। न च स्याद्वादात्मा नित्यादिप्रतिज्ञावाक्यप्रत्यक्षादिना प्रमाणेन बाध्यते, स्वपरनाशाभावस्यात्यक्षादिप्रमाणव्यतिरेकेणान्यथाभूतस्याऽप्रत्यक्षादेरप्रतीतेः। तेनानुमानानभ्युपगमात् स्ववचने लोकस्य व्यवहारविरोधोऽपि न, प्रतिज्ञाया प्रत्यक्षादिप्रमाणावसेये सदसदात्मके वस्तुनि कस्यचिद्विरोधस्यासंभवात्। न चाप्रसिद्धविशेषणः पक्षः; लौकिकपरीक्षकैस्तथाभूतविशेषणस्यापि प्रतिपत्त्या सर्वत्र प्रतीतेरन्यस्य वा विशेषणव्यवहारस्योच्छेदप्रसङ्गात्। अन्यथाभूतस्य क्वचिदप्यसंभवात्तथाभूतविशेषणात्मकस्य धर्मिणः सर्वप्रतीतेर्नाप्रसिद्धविशेष्यतादोषः। नाप्यप्रसिद्धोभयता दूषणम्; तथाभूतद्वयस्यातिरेकेणान्यस्यासत्त्वतः प्रमाणाविषयत्वहेतुरपि नाप्रसिद्धः; तत्र तस्य सत्त्वप्रतीतेः। विपक्षे सत्त्वासत्त्वेनाप्यपि विरुद्धः। अनैकान्तिकताऽप्यत एवायुक्ता। दृष्टान्तदोषा अपि साध्यादिविकलत्वादयो नात्र संभविनः, असिद्धत्वादिदोषवर्ज्येव साधने तेषां जातात्। नानुमानतोऽनेकात्मकं वस्तु लक्षादिभिः प्रतीयते। प्रत्यक्षसिद्धत्वाद्वस्तुप्रतिपत्तेरपि तत्तस्मिन् विप्रतिपद्यते। तं प्रति तत्प्रसिद्धेनैव न्यायेनानुमानोपन्यासेन विप्रतिपत्तिनिराकरणमात्रमेव विधीयत इति नाप्रसिद्धविशेषणत्वादिदोषस्यावकाशः। प्रतिक्षणपरिणामपरमाणादीनां सूक्ष्मविकाराणामागदर्शनाऽन्यथाऽनुपपद्यमानेनाप्यक्षादिबाधादुत्पत्तिस्य सर्वात्मना वस्तुग्रहणासामर्थ्यात् स्फटिकादौ सर्वाकारतापत्तनाशपर्यन्तस्य न पत्रैकदा प्रतिपत्तिरमयसंधेयमाहात्म्यतः प्रतिक्षणपरिणामानुमानेन विरुध्यते; अस्य तदनुग्राहकत्वात्, कथञ्चित्प्रतिक्षणपरिणामस्य तत्प्रतीतस्यैवानुमानतो विनिश्चयात्।

अनेकान्तव्यवच्छेदेनैकान्ताऽवधारितधर्माधिकरणेन
धर्मिणं साधयन्नेकान्तवादी न साधर्म्येण
साधयितुं प्रभुर्नापि वैधर्म्येण इति
प्रतिपादयन्नाह—

[७] साधर्म्यतो वैधर्म्यतश्च साध्यसिद्धिः।

साहम्मओ व्व अत्थं, साहिज्ज परो विहम्मओ वा वि।
अण्णोण्णं पडिकुट्ठा, दोण्णि वि एए असव्वाया ॥१५२॥

समानस्तुल्यः साध्यसामान्यान्वितसाधनधर्मो यस्यासौ सधर्मा, साधर्म्यदृष्टान्तापेक्षया साधर्मी, तस्य भावः साधर्म्यं, ततो वाऽर्थं साध्यधर्मादिकरणतया धर्मिणं साधयेत्, अन्वयैरनुप्रदर्शनात्। साध्यधर्मिणि विवक्षितं सत्यं यदि वैशेषिकादि साधयेत, तदा तत्पुत्रत्वादेरपि गमकत्वं स्यात्; अन्वयमात्रस्य तत्रापि भावात्। अथ वैधर्म्याद् विगतस्तदाभूतसाधनधर्मो दृष्टान्तो विधर्मा, तस्य भावो वैधर्म्यं, ततो वा व्यतिरेकिणो हेतोः प्रकृतं साध्यं साधयेत्, उभाभ्यां वा; तावन्मात्रस्य समुच्चयार्थत्वात्। तथापि पुत्रत्वादेरेव गमकत्वप्रसक्तिः [illegible] तत्पुत्रत्वादेः, अन्यत्र गौरपुत्रे दर्शनात् [illegible]। अत एव साध्यासिद्धिप्रसक्तिः स्यात्। [illegible] त्वादिदोषसद्भावाच्च साध्यसाधकत्वाभावः; [illegible] कान्तिकहेत्वाभासमन्तरेणान्यहेत्वाभासानामभावात्। [illegible] त्वासाधने संभवति। [illegible] कुतो हेत्वाभासता ?। [illegible] पादितम्; [illegible] भाव [illegible] 'एकान्तवादिना न [illegible]' इति प्रकरणसमस्य [illegible] येन [illegible]।

तु प्रवृत्त्यानिश्चयादालोचनस्वभावतो भवति। स एव तन्निश्चयार्थं प्रयुक्तः प्रकरणसमः, पक्षद्वयेऽपि तस्य समानत्वात्। उभयत्रान्वयादिसद्भावात्। तथाहि तस्योदाहरणम्-अनित्यः शब्दः, नित्यधर्मानुपलब्धेः, अनुपलभ्यमाननित्यधर्मकं घटाद्यनित्यं दृष्टम्, यत्पुनर्नानित्यं न तदनुपलभ्यमाननित्यधर्मकं यथाऽऽत्मादि। एवं चिन्तासंबन्धिपुरुषेण तत्राऽनुपलब्धेरेकदेशभूताया अन्यतरानुपलब्धेरनित्यत्वसिद्धौ साधनत्वेनोपन्यासे सति द्वितीयश्चिन्तासंबन्धिपुरुष आह-यद्यनेन प्रकारेणानित्यत्वं साध्यते तर्हि नित्यतासिद्धिरपि, अन्यतरानुपलब्धेस्तत्रापि सद्भावात्। तथाहि-नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेः, अनुपलभ्यमानानित्यधर्मकं नित्यं दृष्टमात्मादि। पुनर्यत् न नित्यं तन्नानुपलभ्यमानानित्यधर्मकं, यथा घटादि। एवमन्यतरानुपलब्धेरुभयत्र साधारणत्वात् प्रकरणानतिवृत्तेर्हेत्वाभासत्वम्। न च निश्चितयोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेऽधिकारात् कथं चिन्तायुक्त एवं साधनोपन्यासं विदध्यादिति वक्तव्यम्, यतोऽन्यदा संदेहेऽपि चिन्तासंबन्धिपुरुषोऽन्यतराऽनुपलब्धेः पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकानवगच्छंस्तदुपलब्धस्वभावं यदा निश्चिनोति, तदा द्वितीयस्तामेव स्वसाध्यसाधनाय हेतुत्वेनाभिधत्ते। एवमस्त्वन्यतरपक्षासिद्धिरेव मत्पक्षसिद्धिः किं न भवेत्?; त्रैरूप्यस्य पक्षद्वयेऽप्यत्र तुल्यत्वात्। अथ नित्यस्यानित्यस्य चान्यतरविपर्ययेणाऽप्यस्याः प्रवृत्तेरनैकान्तिकता। अनयवृत्तिर्हि नैकान्तिको न प्रकरणसमः। न यत्र पक्षसपक्षविपक्षाणां तुल्यो धर्मो हेतुत्वेनोपादीयते तत्र संशयहेतुना; साधारणत्वेन तस्य विपक्षविशेषानुस्मारकत्वात्। ननु प्रकृत एवंविधः, यतो नित्यधर्मानुपलब्धेरनित्य एव भावो न नित्ये, एवमनित्यधर्मानुपलब्धेर्नित्य एव नाऽनित्ये। एवं चात्र साध्ये विपक्षव्यावृत्तिः प्रकरणसमता, नानैकान्तिकता पक्षत्रयवृत्तित्वेन तस्या भावात्। न चायं पक्षद्वये सदा साधारणोऽनैकान्तिकः। अथ न वर्तते कथमयं पक्षद्वयसाधकः स्यात्, धर्मवृत्तेस्तत्साधकत्वात्। न पक्षद्वये प्रकृतस्य वृत्त्यभ्युपगमात्। तथाहि-कथं साधनकालेऽनित्यधर्मानुपलब्धिर्वर्तते न नित्ये। यदाऽपि नित्यत्वं साध्यं तदाऽपि नित्यपक्ष एवानित्यधर्मानुपलब्धिर्वर्तते नाऽनित्ये। तत्र सपक्ष एव प्रकरणसमस्य वृत्तिः, सपक्षविपक्षयोश्चानैकान्तिकस्य साध्यापेक्षया सपक्षविपक्षव्यवहारः, नाऽन्यथा, तेन साध्यद्वयवृत्तिरन्यतरसाध्यसपक्षवृत्तिश्च प्रकरणसमो, न तु कदाचित्साध्यापेक्षया विपक्षवृत्तिः। अनैकान्तिकस्तु-विपक्षवृत्तिरपि। इत्यस्मादस्य भेदः। न च रूपत्रयदोषेऽप्यस्य हेतुत्वम्, सप्रतिपक्षत्वात्। यस्य तु कदाचित्साध्यापेक्षया विपक्षवृत्तिरनेकान्तनियमपरिसमाप्तिरूपत्र- [illegible] पयोगे, तेन प्रकरणसमस्य नाहेतुत्वमुपदर्शयितुं शक्यम्। न चाऽस्य कालात्ययापदिष्टत्वमबाधितविषयत्वात्। यतोऽर्हि प्रकरणचिन्ता सदोषोऽयं हेतुः। न च तत् संदिग्धत्वात् बाधामप्युपदर्शयितुं क्षमः। न च हेतुद्वयसंनिधानादेकत्र धर्मिणि संशयोत्पत्तेरस्याप्यनैकान्तिकतया तेन संशयहेतुनाऽनैकान्तिकत्वम्, इन्द्रियसन्निकर्षादेरपि तथात्वप्रसक्तेः। न च त- [illegible] संशयकारणम् न च तस्य [illegible] हेतुत्वम् [illegible] एव [illegible]। न च [illegible] प्रकाराः [illegible]। [illegible] समानः, अयं तु [illegible] प्रकरणसमः। न चासंभवः, [illegible] सद्भावात्। [illegible]

रन्तर्भावः। अनित्यशब्दादिनो नित्यधर्मानुपलब्धेरितरस्य चेतरधर्मानुपलब्धेरसिद्धत्वात्। असदेतत्। यतश्चिन्तासंबन्धिपुरुषेण समस्य हेतुत्वेनोपन्यासस्तस्य च तत्संबन्धिनो वा कथमितरेणासिद्धतोद्भावनं विधातुं शक्यम्। यस्य ह्यनुपलब्धिनिमित्तसंशयोत्पत्तौ शब्दे नित्यत्वजिज्ञासा, स कथमन्यतरानुपलब्धे हेतुप्रयोगेऽसिद्धतां ब्रूयात्? अत एव सूत्रकारेण 'यस्मात्प्रकरणचिन्ता' इत्यसिद्धतादोषपरिहारार्थमुपात्तम्। एवमनित्यः शब्दः सपक्षपक्षयोरन्यतरत्वाद् घटवदिति चिन्तासंबन्धिना पुरुषेणोक्तेऽपरस्तत्संबन्धी नित्यः शब्दः, पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वादाकाशवत् यदाह। तथा प्रकरणसम एव अत्र प्रेरयन्ति-पक्षसपक्षयोरन्यतरः पक्षः?, सपक्षो वा?। यदि पक्षः, तदा न हेतोः सपक्षवृत्तिता न हि शब्दस्य धर्मान्तरे वृत्तिः संभवतीत्यसाधारणतैवास्य हेतोः स्यात्। अथ पक्षोऽन्यतरशब्दवाच्यस्तदा हेतोरसिद्धता। सपक्षयोर्घटाकाशयोः शब्दादिधर्मिण्यप्रवृत्तिरसिद्धेऽन्तर्भूतस्यास्य न प्रकरणसमता नच पक्षसपक्षयोर्व्यतिरिक्तः कश्चिदन्यतरशब्दवाच्यः, यस्य पक्षधर्मताऽन्वयश्च भवेत्, तन्नायं हेतु। अत्र प्रतिविदधति-भवेदेष दोषो यदि पक्षयोर्विशेषशब्दवाच्ययोर्हेतुत्वं विवक्षितं भवेत्, तच्च न; अन्यतरशब्दाभिधेयस्यैव हेतुत्वेन विवक्षितत्वात्। स च पक्षसपक्षयोः साधारणः, तस्यैव साधारणशब्दाभिधेयत्वात्। यदि चाऽनुगतो द्वयोर्धर्मः कश्चिच्छब्दवाच्यो न भवेत्तदा विशेषशब्दवदन्यतरशब्दोऽपि न तत्र प्रवर्तेत; नाऽपि तच्छब्दादुभयत्र प्रतीतिर्भवेत्। दृश्यते, तस्मात्पक्षतां सपक्षतां चासाधारणरूपत्वेन कल्पितां परित्यज्यान्यतरशब्दो द्वयोरपि वाचकत्वेन योग्यः। ततो या विशेषप्रतीतिः सा पुरुषविवक्षानिबन्धना। यदा हि साधनप्रयोक्ता पक्षधर्मत्वमस्य विवक्षति तदाऽन्यतरशब्दवाच्यः पक्षः सपक्षेऽनुगमविशेषाभिधायी स्यात्। यतोऽन्योऽन्यव्यवहाराच्छब्दार्थसंबन्धव्युत्पत्तिस्तत्र च पक्षशब्दस्य न सपक्षे प्रवृत्तिः। नाऽपि सपक्षशब्दस्य पक्षे। यथा चाऽनयोः सङ्केतादपि नान्यत्र प्रवृत्तिरेवमन्यतरशब्दस्य सामान्ये सङ्केतितस्य न विशेष एव वृत्तिः। उभयाभिधायकत्वे तु विवक्षावशादन्यतरनियमः। न चैवमपि विशेषे तस्य वृत्तौ दूषणम्, तद्व्यवस्थायामेव दोषोद्भावनं कस्यचित् सम्यगुत्तरत्वे। कृतकत्वादेरपि पक्षधर्मत्वविवक्षायां विशेषकत्वादननुगमात्। सपक्षाविशेषितस्य पक्षधर्मत्वायोगात्। अथ कृतकत्वमात्रस्य हेतुत्वेन विवक्षातो न दोषः, तर्हि तत्प्रकृतेऽपि तुल्यम्; अन्यतरशब्दस्याप्यनङ्गीकृतविशेषस्य तथाऽभिधाने सामर्थ्योपपत्तेः। एतेन यदुक्तं न्यायविद् अनर्थः कल्पमानमप्रसिद्धो न लिङ्गात् तथा पक्ष एवायं पक्षसपक्षयोरन्यतर इत्यादि। तदपि निरस्तम्। त्रैरूप्यसद्भावेऽपि प्रकरणसमस्येवागमबाधात्। प्रत्यक्षागमबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तः कालात्ययापदिष्टः। हेत्वाभासोऽपरोऽभ्युपगतः यथा-पक्षाग्नेयोऽनुष्णः कृतकत्वात्, घटवत्, शास्त्रान्तरपाठात् उपयुक्तकालवत्। अस्य हि रूपत्रययोगेऽपि प्रत्यक्षबाधितकर्मानन्तरप्रयोगात्। [illegible] निबन्धन हेतोः कालात्ययकर्मानन्तरं प्रयोगः। [illegible] मानन्तरं प्रयोगाद्धेतुकालात्ययक्रमेण प्रयोगः। तस्माच्च [illegible] त्ययापदिष्टशब्दाभिधेयता हेत्वाभासता च। तदुक्तं न्यायभाष्यटीकाकृता-"यस्तु नानुमानं प्रत्यक्षागमविरुद्धं न्यायाभासः सः" इति। [illegible] पञ्चप्रकारयोगिनि हेत्वाभासे [illegible] समस्तानि [illegible] कालात्ययापदिष्टाख्य [illegible] कः। असदेतत्। [illegible]

[illegible] । अत एव [illegible] शब्दोऽनुपलभ्य- [illegible] प्रदर्शितम् । तदसङ्गतम् । यतो- [illegible] नहि [illegible] सिद्धं तदा पक्षवृत्तित्वा- भावादेव [illegible] । अथ न सिद्धं तदा किं साध्यधर्मि- [illegible] इति [illegible] हि [illegible] धर्मिणः [illegible] हेतोर्विनाभावित्वं [illegible] अविनाभावनिबन्धनत्वात् [illegible] । अथ नहि [illegible] तदा तत्र वर्तमानो हेतुः कथं न विरुद्धः ?, विपक्ष एव वर्तमानस्य विरुद्धत्वात् । तथापि च धर्मिविशेष एव धर्मिणि वर्तमानो विपक्षवृत्तिः । अथ सन्दिग्धसाध्यधर्मवति तत्र वर्तते तदा सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिकः । अथ साध्यधर्मातिरिक्ते धर्मान्तरे तत्र साध्याभाव एव दर्शने च विरुद्धः । यत्र च तद्भावेऽप्यसाधनका- [illegible] । न धर्मिण एव विपक्षता, तस्य हि विपक्षत्वे सर्वस्य हेतोरहेतुत्वप्रसक्तेः । यतः साध्यधर्मो [illegible] सर्वदा संदिग्ध एव साध्यसिद्धेः प्राक्, तथा साध्याभावे निश्चिते साध्याभावनिश्चायकेन प्रमाणेन बाधितत्वात्तदेतदनुत्थितं स्यात् । प्रत्यक्षादिप्रमाणेन च साध्यधर्मयुक्ततया धर्मिणो निश्चये हेतोर्वैयर्थ्यप्रसक्तिः, प्रत्यक्षादिन एव हेतुसाध्यस्य सिद्धेः, तस्मात्सन्दिग्धसाध्यधर्मा धर्मी हेतोराश्रयत्वमेव प्रत्येय इति । यथैवानैकान्तिके वर्तमानो हेतुः, धूमादिरपि तर्हि तथाविध एव स्यात् । तथापि च सन्दिग्धधर्मानित्य स्यात् । यदि हि विपक्षवृत्तित्वेन निश्चितो यथा गमकस्तथा सन्दिग्धव्यतिरेकोऽप्यनुमानप्रामाण्यं परित्यक्तमेव भवेत् । ततोऽनुमेयधर्मिणि साध्यधर्मवति वर्तमानः साध्याभावे व्यभिचारितो हेतुः, साध्याभाववत्ये वानुवर्तमानः पक्षधर्मत्वे सति विरुद्ध इत्यप्युपपन्नमेव । यस्य विपक्षाद्व्यावृत्तः, यद्वा योऽनुमानः पक्षधर्मो निश्चितः स स्वसाध्यं गमयति । प्रकृतस्तु यद्यपि विपक्षाद्व्यावृत्तस्तथाऽपि न स्वसाध्यसाधकः, प्रतिबन्धस्य स्वसाध्येनानिश्चयात् । तदनिश्चयश्च न विपक्षवृत्तित्वेन, किन्तु प्रकरणसमत्वेन, पक्षधर्माता- प्रभवत्वादेवस्तु कालात्ययापदिष्टत्वमेवेति । असदेतत् । यतो यदि धर्मिव्यतिरिक्ते धर्म्यन्तरे हेतोः स्वसाध्येन प्रतिबन्धोऽभ्युपगम्यते, तदा धर्मिण्युपादीयमानोऽपि हेतुः साध्यस्योपस्थापको न स्यात् । साध्यधर्मिणि साध्यधर्ममन्तरेणापि हेतोः सद्भावाभ्युपगमात्; तद्व्यतिरिक्त एव धर्म्यन्तरे तस्य साध्येन प्रतिबन्धग्रहणात् । यथाऽन्यत्र स्वसाध्याविनाभावित्वेन निश्चितोऽन्यत्र साध्यं गमयेत । अतिप्रसङ्गात् । अथ यदि साध्यधर्म्यन्वितत्वेन साध्यधर्मिण्यपि हेतुरन्वयप्रदर्शनकाल एव निश्चितस्तदा पूर्वमेव साध्यधर्मस्य धर्मिणो निश्चयात् पक्षधर्मताग्रहणस्य वैयर्थ्यम् । असदेतत् । यतः प्रतिबन्धप्रसाधकेन प्रमाणेन सर्वोपसंहारेण साधनधर्मस्य साध्यधर्माभावे क्वचिदपि न भवतीति सामान्येन प्रतिबन्धनिश्चये पक्षधर्मताग्रहणकाले यत्रैव धर्मिण्युपलभ्यते हेतुः, तत्रैव स्वसाध्यं निश्चाययतीति पक्षधर्मताग्रहणस्य विशेषविषयप्रतिपत्तिनिबन्धनत्वान्नानुमानस्य वैयर्थ्यम् । नहि विशिष्टधर्मिण्युपलभ्यमानो हेतुस्तद्गतसाध्यमन्तरेणोपपत्तिमान् अस्य । अन्यथा तस्य स्वसाध्यव्याप्त्ययोगात् । ततश्च तत्र हेतुप्रसङ्गेऽपि साध्यविषयसन्देहानिश्चयः, येन सन्दिग्धव्यतिरेकिता हेतोः सर्वत्र भवेत्, निश्चितस्वसाध्याविनाभूतहेतूपलम्भतएव साध्यधर्मिणि साध्यप्रतिपत्तिरूपत्वात् । नहि तत्र तथाभूतहेतुनिश्चयादपरस्य स्वसाध्यप्रतिपादनव्यापारः । अत एव निश्चितप्रतिबन्धैकहेतुसद्भावे धर्मिणि न विपरीतसाध्योपस्थापकस्य तद्रूपयोगिनो हेत्वन्तरस्य सद्भावः । तयोर्द्वयोरपि स्वसाध्याविनाभूतत्वान्नित्यानित्यत्वयोर्विकल्पैकात्मादिमतेन विरोधादसंभवात्, तद्व्यवस्थापकहेत्वोरप्यसंभवस्य न्यायप्राप्तत्वात् । संभवे वा तयोः स्वसाध्याविनानित्यधर्मयुक्तत्वं धर्मतः स्यादिति पुनः प्रकरणसमस्याऽगमकता । अथ परस्यात्र स्वसाध्याविनाभावविकलता तर्हि तत एव तस्याऽगमकत्वेति किमसत्प्रतिपक्षतारूपप्रतिपादनप्रयासेन ?। किञ्च नित्यधर्मानुपलब्धिः प्रसज्यप्रतिषेधरूपा, पर्युदासरूपा वा शब्दानित्यत्वे हेतुः ?। न तावदाद्यः पक्षः। अनुपलब्धिमात्रस्य तुच्छस्य साध्यासाधकत्वात् । अथ द्वितीयः, तदाऽपि स धर्मोपलब्धिरेव हेतुरिति। यद्यसौ शब्दे सिद्धा, कथं नानित्यता सिद्धिः? अथ नित्यानित्यधर्मवत्या पुरुषेणार्थं प्रयुज्यत इति न तत्र निश्चिता, तर्हि कथं संदिग्धासिद्धो हेतुर्वादिनं प्रति प्रतिवादिनस्त्वसौ स्वरूपासिद्ध एव ?, नित्यधर्मोपलब्धः ?, तत्र तस्य सिद्धेः । यद्प्युभयानुपलब्धिनिबन्धना यदा द्वयोरपि चिन्ता, तदेकदेशोपलब्धेरन्यतरेण हेतुत्वेनोपादने कथं चिन्तासंबन्धस्येव द्वितीयः तस्यासिद्धतां वक्तुं पारयतीत्याद्यभिधानम् । तदप्यसङ्गतम् । यतो यदि द्वितीयः संशयापन्नत्वात्तत्रासिद्धतां नोद्भावयितुं समर्थः प्रथमोऽपि तर्हि कथं संशयितत्वादेव तस्य हेतुतामभिधातुं संशयितोऽपि तत्र हेतुतामभिदध्यात्, तदसिद्धतामप्यभिदध्यात्; भ्रान्तेरुभयत्राविशेषात् । यदपि साधनकाले नित्यधर्मानुपलब्धिरनित्यपक्ष एव वर्तते न विपक्ष इत्याद्यभिधानम्, तदसङ्गतम् । विपक्षादेकान्ततोऽस्य व्यावृत्तौ पक्षधर्मत्वे च स्वसाध्यसाधकत्वेन अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकव्यवच्छेदेनापरत्र वृत्तिनिश्चये गत्यन्तराभावात् । नहि योऽनित्यपक्ष एव वर्तमानो निश्चितो वस्तुधर्मः स तत्र साधयतीति वक्तुं युक्तम् । अथ द्वितीयोऽपि वस्तुधर्मस्तत्र तथाविधो न; परस्परविरुद्धधर्मद्वयोस्तदविनाभूतयोर्वा एकत्र धर्मिण्ययोगात् । योगे वा नित्यत्वयोः शब्दाख्ये धर्मिण्येकदा सद्भावादनेकान्तरूपवस्तुसद्भावोऽभ्युपगतः स्यात् । तमन्तरेण तद्धेत्वोः स्वसाध्याविनाभूतयोस्तत्रायोगात् । धर्मिणि तयोरुपलब्धिरेव स्वसाध्यसाधकत्वमिति कुतस्तत्सद्भावे परस्परविषयप्रतिबन्धः ?। तत्र प्रतिबन्धो हि तयोस्तथाभूतयोस्तत्राप्रवृत्तिः सा च त्रैरूप्याभ्युपगमे विरोधादयुक्ता; भावाभावयोः परस्परपरिहारस्थितलक्षणतया एकत्रायोगात् । अथ द्वयोरन्योन्यव्यवच्छेदरूपयोरेकत्रायोगादनित्यधर्मानुपलब्धेर्नित्यधर्मानुपलब्धेर्वा बाधा । न । अनुमानस्याऽनुमानान्तरेण बाधायोगात् । तथाहि-तुल्यबलयोर्वा तयोर्बाधकभावोऽतुल्यबलयोर्वा ?। न तावदाद्यः पक्षः । द्वयोस्तुल्यत्वे एकस्य बाधकत्वमपरस्य च बाध्यत्वमिति विशेषानुपपत्तेः । न च पक्षधर्मत्वाद्यभावादेकस्य विशेषः, तस्यानभ्युपगमात् । अभ्युपगमे वा तत एवैकस्य दुष्टत्वात् किञ्चिदनुमानबाधया । तत्र पूर्वः पक्षः । नापि द्वितीयः । यतोऽतुल्यबलत्वं तयोः पक्षधर्मत्वादिभावकृतम्, अनुमानबाधाजनितं वा ?। न तावदाद्यः पक्षः। तस्यानभ्युपगमात् । अभ्युपगमे वाऽनुमानबाधावैयर्थ्यप्रसक्तेः । नापि द्वितीयः । तस्याद्यापि विचाराऽऽस्पदत्वात् । न हि द्वयोस्त्रैरूप्याऽतुल्यत्वे एकस्य बाध्यत्वमपरस्य च बाधकत्वमिति व्यवस्थापयितुं शक्यम् । तत्रानुमानबाधाकृतमप्यतुल्यबलत्वम्; इतरेतराश्रयदोषापत्तेः परिस्फुटत्वात् । एतेन प-

पक्षसपक्षान्यतरत्वादेरपि प्रकरणसमस्य व्युदासः कृतो द्रष्टव्यः; न्यायस्य समानत्वात्। यदप्यत्रासाधारणत्वासिद्धत्वदोषद्वयनिरासार्थमन्यतरशब्दाभिधेयत्वं पक्षसपक्षयोः साधारणं हेतुत्वेन विवक्षितम्, अन्यतरशब्दात् तथाविधार्थप्रतिपत्तेस्तस्य तत्र योग्यत्वादित्यभिधानम्। तदप्यसङ्गतम्। यतो यथानियमेन फलसंबन्धो विवक्षितो भवति तथैव लोकेऽन्यतरशब्दप्रयोगो दृष्टः। यथा-देवदत्तयज्ञदत्तयोरन्यतरं भोजयेत्यत्रानियमेन देवदत्तो यज्ञदत्तो वा भोजनक्रियया संबध्यते, इत्यन्यतरशब्दप्रयोगः। नचैवं शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरः; तस्य पक्षत्वेनान्यतरशब्दवाच्यत्वायोगात्। यदपि यदा पक्षधर्मत्वं प्रयोक्ता विवक्षति, तदाऽन्यतरशब्दवाच्यः पक्ष इत्याद्यभिधानम्। तदप्यसङ्गतम्। एवं विवक्षायामस्य कल्पनासमारोपितत्वेन धर्मतया लिङ्गत्वानुपपत्तेः। नहि कल्पनाविरचितस्यार्थत्वं, त्रैरूप्यं वोपपत्तिमत्; अतिप्रसङ्गात्। तत्त्वे वाऽन्यस्य गमकतानिबन्धनस्याऽभावात् असमर्थतुल्यं स्यादित्युक्तं प्राक् कालात्ययापदिष्टस्य तुल्यलक्षणमसङ्गतमेव। नहि प्रमाणप्रसिद्धत्रैरूप्यसद्भावे हेतोर्विषयबाधा संभाविनी, तयोर्विरोधात्। साध्यसद्भाव एव हेतोर्धर्मिणि सद्भावस्त्रैरूप्यम्, तदभाव एव च तत्र तत्सद्भावो बाधा, भावाभावयोश्चैकत्रैकस्य विरोधः। किं च बाध्यबाधकयोः पुनो हेतुविषयबाधकत्वमिति वक्तव्यम्। साधारणे सर्वामांसादिति चेत्-हेतावपि सति त्रैरूप्ये तत्समानमित्यप्राप्ति तयोर्विषयो बाधकः स्यात्। दृश्यते हि चन्द्रार्कादिधर्मस्य [illegible] देशान्तरप्राप्तिलिङ्गप्रभवतस्त्वनुमानेन बाध्यमानम्। अथ तत्र [illegible] प्रत्यक्षस्य तदाभासत्वाद् बाध्यत्वं नहि [illegible] अनुमानस्यापि तदाभासत्वाद् बाध्यत्वमित्यभ्युपगन्तव्यम्। तथैवमपि इति वक्तव्यम्, यतस्तस्य तदाभासत्वं [illegible] त्रैरूप्यवैकल्यात्। न तावदाद्यः पक्षः। [illegible] सद्भावात्। तदाभासत्वेऽप्यत्र बाध्यत्वम्, ततश्च तदाभासत्वादिविशेषाभिधानान्यतराप्रसिद्धेः। नापि द्वितीयः, त्रैरूप्यसद्भावस्य तत्र परेणाभ्युपगमात्। अनभ्युपगमे वा तत एव तदाभासत्वोपपत्तेः [illegible] अभ्युपगमवैयर्थ्यात्। नचाबाधितविषयत्वं हेतुलक्षणमुपपन्नम्, त्रैरूप्यवन्निश्चितस्यैव तस्य गमकाङ्गत्वोपपत्तेः। न च तस्य निश्चयः संभवति; स्वसंबन्धिनोऽबाधितत्वनिश्चयस्य तत्कालभाविनोऽसम्यगनुमानेऽपि स[illegible] तस्य गमकाङ्गत्वोपपत्तेः। न च तस्य निश्चयः संभवति, [illegible] तत्कालभाविनोऽसत्त्वात् [illegible] ऽसिद्धत्वात्। सर्वमेव [illegible]
[illegible]

त्वलिङ्गजनितानुमानबाधितविषयत्वमन्तरेणान्यदस्याबाधितविषयत्वं वा गमकतानिबन्धनमस्यास्ति। न चानुमानस्य तुल्यबलत्वादनुमानं प्रति बाधकता संभाविनीति वक्तव्यम्; निश्चितप्रतिबन्धलिङ्गसमुत्थस्यानुमानस्यानिश्चितप्रतिबन्धलिङ्गसमुत्थेनातुल्यबलत्वात्। अत एव न साधर्म्यमात्राद्धेतुर्गमकः, अपि त्वक्तिसव्यतिरेकात् साधर्म्यविशेषात्। नापि व्यतिरेकमात्रात् किन्त्वङ्गीकृतान्वयात् तद्विशेषान्वये च परस्परानुविद्धोभयमात्रात् अपि तु परस्परस्वरूपाजहद्वृत्तसाधर्म्यवैधर्म्यरूपत्वात्। न च प्रकृतहेतौ प्रतिबन्धनिश्चायकप्रमाणनिबन्धनं त्रैरूप्यं निश्चितमिति। तद्भावादेवास्य हेत्वाभासत्वं, न पुनरसत्प्रतिपक्षत्वाबाधितविषयत्वापररूपविरहात्। यदा च पक्षधर्मत्वाद्यनेकधर्मस्वरूपात्मकमेकं लिङ्गमभ्युपगमविषयः, तदा तत्तथाभूतमेव वस्तु प्रसाधयतीति कथं न विपर्ययसिद्धिः? नतु साध्यसाधनयोः परस्परतो धर्मिणश्चैकान्तभेदे पक्षधर्मयोगो लिङ्गस्योपपत्तिमान्, संबन्धासिद्धेः। नच समवायादेः संबन्धस्य निषेधप्रस्ताव समवायादिः साध्यसाधनयोर्धर्मिणश्च संबन्धः संभवी। एकान्तपक्षे तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणोऽप्यसावयुक्त एवेति पक्षधर्मस्य सपक्ष एव सत्त्वम्, तदेव विपक्षात् सर्वतो व्यावृत्तत्वमिति वाच्यम् ?; अन्वयव्यतिरेकयोर्भावाभावरूपयोः सर्वथा तादात्म्यायोगात्। तत्त्वे वा केवलान्वयी केवलव्यतिरेकी वा सर्वो हेतुः स्यात्, न त्रिरूपवान्। व्यतिरेकस्य चाभावात्मकरूपत्वाद्धेतोस्तद्रूपत्वेऽभावरूपो हेतुः स्यात्। न चाभावस्य तुच्छरूपत्वात् स्वसाध्येन धर्मिणा वा संबन्ध उपपत्तिमान्। एवं विपक्षे सर्वत्रासत्त्वमेव हेतोः स्वकीयव्यतिरेकेण प्रतिनियतस्य तत्रासंभवात्। अतस्तदन्यधर्मान्तरं तदेकरूपत्वे न तुच्छाभावमात्रमिति वक्तव्यम्, यतो यदि सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षाद्व्यावृत्तत्वं न ततो भिन्नमस्ति, तदा तस्य तदेव साधारणं [illegible]तमत्; यस्तु तान्वयाभावमन्तरेण प्रतिनियतस्य तत्रासंभवात्। अथ ततस्तदन्यद्धर्मान्तरं, तदैकरूपस्यानेकधर्मात्मकस्य हेतोस्तथाभूतस्य साध्याविनाभूतत्वेन निश्चितस्यानेकान्तात्मकवस्तुप्रतिपादनात् कथं न परोपन्यस्तहेतुना सर्वेषां विरुद्धानैकान्तिकत्वापत्तिः। किञ्च। हेतुः सामान्यरूपो वाऽभ्युपगम्यते परैः, विशेषरूपो वा ?। यदि सामान्यरूपः, तदा तद्वृत्तिनियमाभिधानं वा ?। न तावद्भिन्नम्। इदं सामान्यम्, अयं विशेषः इति तद्व्यतिरिक्तस्वरूपस्यानुपलक्षणात्। तथा च सामान्यस्य भेदेनानुपलभ्यमानत्वात्। न च समवायवशात् परस्परं तेषां भेदेनानुपलक्षणम्, यतः समवायस्येदं बुद्धिहेतुत्वमुपनीयते। न च भेदग्रहणमन्तरेणेहेदमवच्छिन्नमिति बुद्ध्युत्पत्तिसंभवः। किञ्च। नापृथक्सिद्धिविषयाविशेष्ये बुद्धिरिति कारणादावात्मनिरासः। न च सामान्यनिश्चयः संख्याभेदादावसाधनमन्तरेणोपपद्यते यतो द्वे पदार्थ-
[illegible]

देनागताथ्यानाच्च । ततः सर्वगतमभ्युपगन्तव्यम् , एवं च कर्कादिभिरिव शाबलेयादिभिरपि तदभिव्यज्येत । न च कर्कादीनामेव तदभिव्यक्तिसामर्थ्यं, न शाबलेयादीनामिति वाच्यम् । यतो यथा व्यक्त्यन्तरया ता एव तदात्मन्यवस्थापयन्ति तथैव ता एवाश्वोऽश्व इत्येकाकारपरामर्शप्रत्ययमुपजनयिष्यन्तीति किमपरतद्भिन्नसामान्यप्रकल्पनया ?। नन्व स्वाश्रयेन्द्रियसंयोगात् प्राक् स्वज्ञानजनने असमर्थं सामर्थ्यं तदा परैरनाधेयातिशयं तमपेक्ष्य स्वावभासिज्ञानं जनयति, प्राक्तनासमर्थस्वभावापरित्यागस्वभावान्तरानुत्पादे च तदयोगात् । तथाऽभ्युपगमे च क्षणिकताप्रसक्तेः न च स्वभावेनस्योपजायमानस्य ततो भेदः, सम्बन्धासिद्धितस्तद्भावेऽपि प्राग्वत्तस्य स्वावभासिज्ञानजननायोगाच्च प्रतिभासः स्यात् । तथा च सामान्यस्य व्यक्तिभ्यो भेदेनाप्रतिभासमानस्यासिद्धत्वार्थहेतुत्वम् । किञ्च । प्रतिव्यक्तिसामान्यस्य सर्वात्मना परिसमाप्तत्वाभ्युपगमात् एकस्यां व्यक्ताविव, शनस्वरूपस्य तस्यैव व्यक्त्यन्तरे वृत्त्यनुपपत्तेस्तदनुरूपप्रत्ययस्य तत्रासंभवाद् असाधारणता हेतोः स्यात् । यदि चासाधारणरूपा व्यक्तयः स्वरूपतस्तदा परसामान्ययोगादपि न साधारणतां प्रतिपद्यन्त इति व्यर्था सामान्यप्रकल्पना, स्वतोऽसाधारणस्यान्ययोगादपि साधारणरूपत्वाद् व्यक्तयः, स्वरूपतस्तदा परसामान्ययोगादपि न साधारणता, अनुपपत्तेः । स्वतस्तद्रूपत्वेऽपि निष्फला सामान्यप्रकल्पनेति व्यक्तिव्यतिरिक्तस्य सामान्यस्याभावादसिद्धस्तल्लक्षणो हेतुरिति कथं ततः साध्यसिद्धिः ?। अथ व्यक्तिव्यतिरिक्तं सामान्यं हेतुः । तदप्यसङ्गतमेव । व्यक्तिव्यतिरिक्तस्य व्यक्तिस्वरूपवद्व्यक्त्यन्तराननुगमात् सामान्यरूपताऽनुपपत्तेः । व्यक्त्यन्तरे साधारणस्यैव वस्तुनः सामान्यमित्यभिधानात् । तस्यासाधारणत्वे वा न तस्य व्यक्तिस्वरूपाद्व्यतिरिच्यमानमूर्तिता, सामान्यरूपतया भेदाद्व्यतिरिच्यमानस्वरूपस्य विरोधात् । तन्न व्यतिरिक्तमपि सामान्यं हेतुः, व्यक्तिस्वरूपवदसाधारणत्वेन गमकत्वायोगात् । अत एव न व्यक्तिरूपमपि हेतुः । नचोभयं परस्पराननुविद्धं हेतुः, उभयदोषप्रसंगात् । नाप्यनुभयम्, अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकाभावे द्वितीयविधानादनुभयस्यासत्त्वेन हेतुत्वायोगात् । बुद्धिप्रकल्पितं च सामान्यं वस्तुरूपत्वात् साध्येनाप्रतिबद्धत्वादसिद्धत्वाच्च, न हेतुः । तस्मात्पदार्थान्तरानुवृत्तव्यावृत्तरूपमात्मानं बिभ्रदेकमेव पदार्थस्वरूपं प्रतिपत्तुर्भेदाभेदप्रत्ययप्रसूतिनिबन्धनं हेतुत्वेनोपादीयमानं तथाभूतसाध्यसिद्धिनिबन्धनमभ्युपगन्तव्यम् । न च यदेव रूपं रूपान्तराद्व्यावर्तते तदेव कथमनुवृत्तिमासादयति ?, तच्चानुवर्तते, तत्कथं व्यावृत्तिरूपतामात्मसात्करोतीति वक्तव्यम् ?, भेदाभेदरूपतयाऽध्यक्षतः प्रतीयमाने वस्तुस्वरूपे विरोधासिद्धेरित्यसकृदावेदितत्वात् । किञ्च । एकान्तवाद्युपन्यस्तहेतोः किं सामान्यं साध्यम् ?, आहोस्विद्विशेषः, उताभयं परस्परविविक्तम्, उतस्विदनुभयमिति विकल्पाः ?। तत्र न तावत्सामान्यम्, केवलस्यासत्त्वात् , अर्थक्रियाकारित्वाविकलत्वाच्च । नापि विशेषः, तस्याननुयायित्वेन साधयितुमशक्यत्वात् । नाप्युभयम्, उभयदोषानतिवृत्तेः । नाप्यनुभयम्, तस्यासतो हेतव्यापकत्वेन साध्यत्वायोगात् । एतदेवाह गाथापश्चार्द्धेन; अन्योन्यप्रतिकृष्टौ प्रतिक्षिप्तौ द्वावप्येतौ सामान्यविशेषैकान्तावसद्वादावेति, इतरविनिर्मुक्तस्यैकस्य शशशृङ्गादेरिव साधयितुमशक्यत्वात् ।

सामान्यविशेषयोः स्वरूपं परस्परविविक्तमनूद्य निराकुर्वन्नाह–

दव्वट्ठिय-वत्तव्वं, सामन्नं पज्जवस्स य विसेसो ।
एए समोवणीया, विभज्जवायं विसेसेंति ॥ १५३ ॥

द्रव्यास्तिकस्य वक्तव्यं वाच्यं विशेषं निरपेक्ष्य सामान्यमात्रम्; पर्यायास्तिकस्य पुनरनुस्यूताकारविविक्तो विशेष एव वाच्यः । एतौ च सामान्यविशेषावन्योन्यनिरपेक्षौ, एकैकरूपतया परस्परप्रधानेन एकत्रोपनीतौ प्रदर्शितौ, विभज्यवादमनेकान्तवादं सत्यवादस्वरूपमतिशयाने, असत्यरूपतया ततस्तावतिशयं लभेते इति यावत् । विशेषे साध्येऽनुगमाभावतः, सामान्ये साध्ये सिद्धसाधनतत्कल्पनः, प्रधानोभयरूपे साध्ये उभयदोषापत्तेः, अनुभयरूपे साध्ये उभयाभावतः, साध्यत्वायोगात् । तस्माद्विवादास्पदीभूतसामान्यविशेषोभयात्मकसाध्यधर्माधारसाध्यधर्मिण्यन्योन्यानुविद्धसाधर्म्यवैधर्म्यस्वभावरूपात्मकैकहेतुप्रदर्शनतो नैकान्तवादपक्षोक्तदोषावकाशः संभवति । अत एव गाथापश्चार्धेनैतौ सामान्यविशेषौ समुपनीतौ परस्परसव्यपेक्षतया स्याद्वादप्रयोगतो धर्मिण्यवस्थापितौ विभज्यवादमेकान्तवादं विशेषयतो निराकृतः, अत एव तयोरात्मलाभात् । अन्यथाऽनुमानविषयस्योक्तन्यायेनासत्त्वादित्यपि दर्शयति ।

यथाऽनुमाने विषयतयाऽभ्युपगन्तव्यमिति दर्शयन्नाह–

हेउविसओवणीयं, जह वयणिज्जं परो नियत्तेइ ।
जइ तं जहा पुरिल्लो, दाई तो केण जिप्पंति ? ॥१५३॥

हेतुविषयतयोपनीतमुपदर्शितं साध्यधर्मिलक्षणं वस्तु पूर्वपक्षवादिना ' अनित्यः शब्दः ' इत्येव यथा वचनीयं परो दूषणवादी निवर्तयति, सिद्धसाधनताऽननुगमदोषाभ्यामनैकान्तवचनीयस्य तद्धितधर्माऽननुगतत्वानैकदोषदुष्टतया निवर्तयितुं शक्यत्वात् । यदि तत्तथा द्विधर्मात्मकं स्यात् शब्दयोजनेन 'पुरिल्लः' पूर्ववादी अदर्शयिष्यत्, ततोऽसौ नैव केनचिदजेष्यत । ततश्चासौ तथाभूतस्य साध्यधर्मिणः प्रदर्शनात् प्रदर्शितस्य चैकान्तरूपस्याभावात्, तत्प्रदर्शने असत्त्वादिना निग्राह्य इति ।

एतदेव दर्शयन्नाह–

एगंतासब्भूयं, सब्भूयमणिच्छियं च वयमाणो ।
लोइयपरिच्छियाणं, वयणिज्जपहे पडइ वाई ॥१५४॥

आहतो तावदेकान्तेनासद्भूतमसत्यं, सद्भूतमप्यनिश्चितं वदन् वादी लौकिकानां परीक्षकाणां वचनीयमार्गे पतति । तथाऽनेकान्तवादिनोः तथाभूतमेव साध्यधर्मिणं साधयन् वादी, तद्वादी स्याद्विति तथैव साध्याविनाभूतो हेतुर्धर्मिणि तेन प्रदर्शनीयः । तत्प्रदर्शने हेतोः पक्षविपक्षयोः सदसत्त्वप्रदर्शनं प्रदर्शनीयमिति यदुच्यते परैः तदपास्तं भवति । साध्याभावे साधननिवृत्तेः न च तत्सत्त्वनिश्चयार्थं विद्यमानत्वात् व्याप्तावपि तत्राप्रदर्शनीयम्, ज्ञानत्वादेरपि तत्र प्रदर्शनप्रसक्तेः । अथ साध्यधर्मान्वयीयत इति न वचनेन प्रदर्श्यते तदन्वयव्यतिरेकावपि तत एव प्रदर्शनीयौ; अत एव दृष्टान्तोऽपि नावश्यं वक्तव्यः साध्यधर्मधर्मिप्रदर्शनतस्तत्रान्योन्यनियमस्य प्रतीतेस्तु दृष्टान्ता, तदन्तरेणापि साध्याविनाभूतहेतुप्रदर्शनमात्रात् साध्यप्रतिपत्तेरन्यथा तदयोगात् । विपक्षेऽप्यनुपदर्शनादिनानुनिश्चितस्याप्युपगमविरोधेन निरस्तं बलात् दर्शयन्नाह । यदि-

[illegible]

रत्नोचरता संबन्धिनीति तदनेकात्मकं तदभ्युपगन्तव्यम्। एकान्ततोऽनेकात्मकं द्रव्यादिभेदभिन्नं व्यतिरिक्तं च समवायं तन्निरूपयितुं शक्यम्, द्रव्यादिभ्यतिरिक्तस्य तस्याभ्युपगन्तुं भिन्नप्रमाणाप्रतीतेः। नहि ततो द्रव्यादीनां भेदेऽपि समवायसंबन्धवशात् तत्संबद्धताप्रसङ्गः। संबन्धभेदेन तद्भेदानेकत्वाद्रव्यानतिवृत्तेः। प्रथमविकल्पे समवायानेकत्वप्रसक्तिः। संबन्धिभेदतो भेदात् संयोगवदनित्यत्वप्रसक्तिश्च। द्वितीयकल्पनायामपि संबन्धिसङ्करप्रसक्तिः। नचैवं घटपटकुटकटादिसंबन्धिविशेषविशिष्टदेवदत्तादेरिव समवायिनो जातिगुणादिभेदोपलब्धेः। नहि च यथा दण्डदेवदत्तयोः संबन्धः स एव छत्रादिभिरपि, तत्संबन्धविशेषणविशेष्यभावप्रसक्तेः। न विशेषणं विशेष्यं धर्मान्तराद्व्यवच्छिद्यान्यतरस्वभावं विशेषरूपतां प्रतिपद्यते। एवं समवायसंबन्धस्याविशेषे द्रव्यादीनामपि विशेषणानामविशेषात् जीवाजीवादिद्रव्यव्यवहारः स्यादिति समवायिसङ्करप्रसक्तिः कथं नासज्येत। न च समवायस्तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् संभवति, तदभावे च वस्तुव्यवस्थानमपि स्यादिति तदनेकान्तात्मकत्वमभ्युपगन्तव्यम्। न चैकानेकात्मकत्वं वस्तुनो विरुद्धम्, प्रमाणप्रसिद्धे वस्तुनि विरोधायोगात्। तथाहि–एकानेकात्मकमात्मादि वस्तु, प्रत्यक्षात् चित्रपटरूपवत्, ग्राह्यग्राहकाकारसंवलितैकसंविद्वत्, समसंवेदनीयत्वात्। न च वैशेषिकं प्रति चित्रपटरूपवैकानेकात्मसिद्धम्, प्राक् प्रसाधितत्वात्। नापि ग्राह्यग्राहकसंवलितकसंविदात्मकमेकं विज्ञानं बौद्धं प्रत्यसिद्धम्; तथाभ्युपगमस्य प्रागात्मसंवेदनीयस्य प्रतिक्षेपप्रसक्तेः। [illegible]ज्ञानमभिन्नस्वरूपम्, विज्ञानस्य च वेद्यवेदकाकारौ भिन्नावपि, कथंचिदनुगतावेव प्रत्यक्षतः प्रतिपत्तेः। एतच्च प्रतिक्षणमनाद्यनेकम[illegible]…

[illegible]

[illegible] च [illegible] पूर्व-[illegible] इति न [illegible] स्यात्, तदा तादात्म्यविरोधात्। न [illegible] कार्यान्तरेण [illegible] प्रतिबन्धाभावात् [illegible]। [illegible] विरुद्धम्। [illegible] यदि प्रति [illegible] प्रसङ्गेन, सर्व-[illegible] विशेषणस्वार्थं प्रति प्रतिबन्धाभावात्। तथा च-[illegible] स्यात्। न च [illegible] कारणस्वभावतः [illegible] प्रसङ्गेन। [illegible]प्रसक्तेः। न च [illegible] सर्वथैव [illegible] प्रयोगात्। अन्यथा [illegible] स्वलक्षणं स्यात् क्षणिकं यथा [illegible] प्रवृत्तिः कथं न भवेत्?; अज्ञातस्य च प्रमाणाविषयत्वम-[illegible] दूरोत्सारितत्वात्। "नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं विषयः" इति वचनमनुमानोऽप्युत्कृष्टत्वं [illegible] सिद्धम्, प्रामाण्यमपि [illegible] कल्पना [illegible] प्रतिहन्ति। [illegible] ग्रहणलक्षणम्। अन्यथा कथं स्वसंवेदनात्मकता तस्य भवेत्?। तदभावे च कथं तत्त्वाभावसिद्धिरुक्ता?। कथं च ग्राह्यग्राहक[illegible]कल्पनया [illegible]। यतो ज्ञानैकान्तवादेऽनुपपन्नमेतत् भवेत्, कथं च ग्राह्यविकल्पनयोः [illegible] वाऽप्युपपन्नं ज्ञानं नाऽप्युपपद्येत?। [illegible] विकल्पमिदं स्वरूपेणैवासंवेदयन् स विकल्पो वाऽनुभवन् कथं क्रमभाविनो विकल्पान्तरस्य अनुभवसंवेदनादीनामननुभवग्राहिकं प्रतिक्षिपेत्। ततः क्रमभाविनः परस्परविलक्षणाः स्वाभावा अन्यथाऽक्षिप्तकल्पनया व्यावृत्ताः अवकलितमनीनं स्वसंवेदनम्, अनेकान्तवाद[illegible]प्रसिद्धेऽपि प्रतिष्ठितमिति। निरंशक्षणिकस्वलक्षणमन्तर्भूत[illegible] संविदितविषयीकारोऽपि कल्पनाऽयुक्तिकल्पिता; अप्रमाणप्रसिद्धिकल्पनायाः सर्वत्र निरङ्कुशत्वात्। सकलसर्वज्ञत्वाकल्पनप्रसक्तेर्नैकस्य संविदितः परस्याभिविष्टि। नहि वास्तवसंबन्धाभावे परिकल्पितस्य नियामकत्वं युक्तम्, अतिप्रसङ्गात्। न च वास्तवः संबन्धस्तस्य सिद्ध इति तादात्म्यतदुत्पत्त्योरभावात् साध्यसाधनयोः प्रतिबन्धनियमाभावेऽनुमानप्रवृत्तिर्दूरोत्सारितैव। अथ क्षणिकाद् विवर्तमानमन्यधीक्षणलक्षणं स्वयमक्षणिके च व्यावर्तते ति [illegible] अक्षणिकेऽपि, क्रमयौगपद्याभ्यां तस्य विरोधात्। तथाहि-न तावदक्षणिकस्य क्रमवत्कार्यकारणं प्रागकारणसमर्थस्याभिमतकारणम् तदकारणविरोधात् तद्सामर्थ्ये पश्चादपि न तत्सामर्थ्यमपरिणामिनोऽनाधेयातिशयत्वात्। स्वभावान्तरोत्पत्तिविनाशाभ्युपगमेऽपि नित्यैकान्तवादविरोधात्। ततो व्यतिरिक्तस्यातिशयस्य करणेऽनतिशयस्य प्राग्विव पश्चादपि तत्कारणासंभवात्। सहकारिणोऽपेक्षाऽपि तस्याऽयुक्तैव, यतोऽसहायस्य प्रागकरणस्वभावस्य पुनः सधीसहायस्य कार्यकरणं भवेत्, नहि सहकारिकृतमतिशयमनङ्गीकुर्वन्तस्तदापेक्षापरिणामिनमत्र क्रमेणापरिणामी भावः कार्यं नियच्छति, नापि यौगपद्येन कालान्तरे, तस्याकिञ्चित्करत्वेनावस्तुत्वापत्तेः। लक्षणमात्राधस्तादिसम्प्रसक्तेः। न च क्रमयौगपद्यव्यतिरिक्तं प्रकारान्तरं संभवतीत्यर्थक्रिया व्यापिका निवर्तमाना व्याप्यां सत्तां नित्याद्व्यावृत्ताय निवर्तेत इति। यत् सत्तत् सर्वमनेकान्तात्मकं सिद्धम्, अन्यथा प्रसक्तादिविरोधप्रसक्तेः। न हि भेदमन्तरेण कदाचित् कस्यचिद्भेदोपलब्धिः, दर्शनादावनेकाकारविवर्तात्मकस्यान्तर्भेदस्य संवेदनात्पृथक्तौ वर्णसम्स्थानसंघातानेककारस्य स्थूलस्य पूर्वापरस्वभावपरित्यागोपादान स्वकस्य घटादेर्बहिरेकस्येन्द्रियप्रत्यक्षतः संवेदनात्। गुणादिरूपादिभेदविकल्पनया भेदस्य पदार्थः कदाचिदप्युपलम्भागोचरत्वात्म-द्रव्यसामान्यस्याथान्तरसामान्यस्य वा सर्वगतासर्वगतधर्मात्मकता समवायस्य चानवस्थादोषतः संबन्धेतराभावात् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणामन्योऽन्यं तादात्म्यानिष्टौ तेष्ववृत्तेः सर्वपदार्थस्वरूपाप्रसिद्धिः स्यात्। स्वत एव समवायस्य द्रव्यादिषु वृत्तौ समवायमन्तरेणापि द्रव्यादयोऽपि स्वाधारेषु वृत्ति स्वत एव तस्मात्करिष्यन्तीति समवायकल्पनावैयर्थ्यप्रसक्तिर्यत्र्देशसत्तिरंशाप्रतिपत्तेः। अगृहीतस्वभावाद् गृहीतस्यांशस्य च भावस्य चाद्भुतां सामस्त्येन ग्रहणासत्त्वात् कथं तदग्रहे तद्ग्रहणं भवेत्?, अधाराप्रतिपत्तौ तदाधेयस्य तत्त्वेनाप्रतिपत्तेः। सामान्यादिषु गृहीतेष्वपि सामान्यादेः वृत्तिविकल्पादिदोषस्तेष्वपि पूर्ववत् समानः, तदाधेयस्य तत्त्वेनाप्रतिपत्तेः। तदंशग्रहणेऽपि च सामान्यस्य व्यापितः कदाचिदप्यप्रतिपत्तेः सद् द्रव्यमित्यादिप्रतिपत्तिस्तद्वस्तु न कदाचिद्भवेत्, तदंशानां सामान्यादेरत्यन्तभेदात्। एवं द्रव्यादिषट्पदार्थव्यवस्थाऽप्यनुपपन्ना भवेत्, प्रतिभासगोचरचारिणां सामान्यादंशानां पदार्थान्तरताप्रसक्तेः। अथ निरंशं सामान्यमभ्युपगम्यते इति नायं दोषः, तर्हि सकलस्वाश्रयप्रतिपत्त्यभावतो मनागपि न सामान्यप्रतिपत्तिरिति सद् द्रव्यं पृथिवीत्यादिप्रतिपत्तेर्निरालम्बनायः स्यात्। तदंशानां सामान्याद् भेदाभेदकल्पनायां द्रव्यादय एव भेदाभेदात्मकाः किं नाभ्युपगम्यन्ते? इति सामान्यादिकल्पना दूरोत्सारितैवेति कुतस्तद्भेदैकान्तकल्पना?। ततः सामान्यविशेषात्मकं सर्वं वस्तु, सत्त्वात्। नहि विशेषरहितं सामान्यमात्रं सामान्यरहितं वा विशेषमात्रं संभवति तादृशः कश्चिदपि, वृत्तिविरोधात्। वृत्त्या हि सत्त्वं व्याप्तं स्वलक्षणात्सामान्यलक्षणाद् वा तादृशात्प्रवृत्तिनिवृत्त्या निवर्तेत एव, यतः कश्चिद् वृत्तिमतोऽपि स्वलक्षणस्य न देशान्तरवृत्तिः,नान्येन संयोगः, तत्संसर्गव्यवच्छिन्नस्वभावान्तरविरहाद्विशेषविकलः, सामान्यवत्। एकस्य प्रतिसम्बन्धस्वभावविशेषाभ्युपगमाद्विशेषाणां तत्स्वलक्षण सामान्यलक्षणमेव स्यात्। न च विशेषैरन्यदेशस्थितैः असंयुक्तस्यैकत्र तस्य वृत्तिः, अव्यवधानाविशेषात्। एवं च स्वभावविशेषाणां सामान्यरूपाः सर्वे एव भावाः विशेषरूपाश्च तत्र देशकालावस्थाविशेषनियतानां सर्वेषामपि सत्त्वं सामान्यमेकरूपम्, अव्यवधानात्। तस्य च ते विशेषा एव,अनेकं रूपम्,यतस्तदेव सत्त्वं परिणामविशेषापेक्षया गोत्वब्राह्मणत्वादिलक्षणा जातिः, परिणामविशेषाश्च तदात्मका व्यक्तय इति। परस्परव्यावृत्तानेकपरिणामयोगादेकस्यैकानेकपरिणतिरूपता संशयज्ञानस्येवाविरुद्धा व्यक्तिव्यतिरिक्तस्य सामान्यस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धिः, शशशृङ्गवदसत्त्वात्। सदृशरूपादिप्रत्ययः सामान्यविशेषात्मकवस्तुस्वभावेऽबाधितरूपो न स्यात्। न च चक्षुरादिः बुद्धौ वर्णाकृत्यक्षराकारशून्यं सामान्यपर-

अणेगपासंडपरिग्गहिय–अनेकपाखण्डपरिगृहीत–त्रि० । ३ त० । नानाविधव्रतिभिरङ्गीकृते, प्रश्न० २ संव० द्वा० ।

अणेगबहुविविहवीससापरिणय–अनेकबहुविविधविश्रसापरिणत–त्रि० । न एकोऽनेकः; अनेक एकजातीयोऽपि व्यक्तिभेदाद् भवति । तत आह–बहु प्रभूतं विविधो जातिभेदान्नानाप्रकारः बहुविधः, प्रभूतजातिभेदतो नानाविध इति भावः । स च केनाऽपि निष्पादितोऽपि संभाव्येत । तत आह–विश्रसया स्वभावेन तथाविधक्षेत्रादिसामग्रीविशेषजनितेन परिणतो न पुनरीश्वरादिना निष्पादितो विश्रसापरिणतः । ततः पदत्रयस्य पदद्वयमीलनेन कर्मधारयः । नानाविधस्वभावोद्भूते, जी० ३ प्रति० ।

अणेगजागरय–अनेकजागरथ–त्रि० । द्विप्रभृतिजागरथे, नि० चू० २० उ० ।

अणेगभाव–अनेकभाव–त्रि० । बहुपर्यायपुक्ते, भ० १४ श० ४ उ० ।

अणेगभूय–अनेकभूत–त्रि० । अनेकरूपे, भ० १४ श० ४ उ० ।

अणेगभेद–अनेकभेद–पुं० । अनेकपर्याये, "अणेगपरियं ति वा अणेगपज्जयं ति वा अणेग [णाम] भेदं ति वा एगट्ठा" । आ० चू० १ अ० ।

अणेगरूव–अनेकरूप–त्रि० । ६ ब० । नानाप्रकारे, "इह सोरयाइं भीमाइं अणेगरूवाइं अवि सुब्भिदुब्भिगंधाइं सद्दाइं अणेगरूवाइं" । आचा० १ श्रु० ९ अ० २ उ० । "मुहुं मुहुं मोहगुणे जयंतं, अणेगरूवा समणं चरंतं । फासा फुसंती असमंजसं च, न तेसु भिक्खू मणसा पउस्से" ॥१॥ उत्त० ४ अ० । अनेकमित्यनेकविधं चतुरस्रविषमसंस्थानादिभेदं रूपं स्वरूपमेषामिति अनेकरूपाः । त्रयोविंशतिविधाः । उत्त० ४ अ० ।

अणेगरूवधुणा–अनेकरूपधुना–स्त्री० । अनेकरूपा संख्यात्रयाद् अधिका धुना कम्पना यस्यां सा अनेकरूपधुना । उत्त० २६ अ० ।

अनेकरूपधूनना–अनेकरूपा चासौ संख्यात्रयातिक्रमणतो युगपदनेकवस्त्रग्रहणतो वा धूनना कम्पनात्मिका या साऽनेकरूपधूनना । उत्त० २६ अ० ।

अनेकरूपधूना–अत्र च धूनं कम्पनमन्यत् प्राग्वत् । उत्त० २६ अ० । अनेकप्रकारं त्रयाणां पुरिमाणामुपरिष्टाद्धूननात्मके, अनेकवस्त्रमेकत्र गृहीत्वा युगपद् धूननात्मके वा प्रमादप्रत्युपेक्षणाभेदे, ध० ३ अधि० । "एगा मोसा अणेगरूवधुणा" उत्त० २६ अ० । "अणेगप्पगारं कंपति, अथवा अणेगाणि वत्थाणि घेत्तूण घुणइ एगाओ एगायंति" पुरिमेषु खोटकेषु च अप्रमाणं भवति तत्र पुरिमादीन् न्यूनानधिकान् वा करोति । ओ० ।

अणेगवयणप्पहाण–अनेकवचनप्रधान–पुं० । नानाविधवाग्व्यवहाराभेदे, अनेकेषु विविधप्रकारेषु वचनेषु वचनभेदेषु प्रधानो मुख्यः । अनेकधा वचनप्रकाराणां निजरसानप्रवर्तनादौ–"कान्दीर्ण मधुरं, मध्ये कटुं ततः परं कटुकम् । मानवनिर्विधिमिव सि हृया, वचनसंनिर्देशं वदन्ति बुधाः" ॥ १ ॥ अथवा–"सत्यं हितैः प्रियं च मितं–म्लोकमधुरं द्विधा । असत्यं च सत्यं च, वचनं अनुकमित सह" ॥ २ ॥ इति । अं० ३ वक्ष० ।

अणेगवायामजोग्ग–अनेकव्यायामयोग्य–पुं० । परिश्रमविशेषे, "अणेगवायामजोग्गवग्गणवामद्दणमल्लजुद्धकरणेहिं संते परिस्संते" अनेकानि यानि व्यायामयोग्यानि परिश्रमयोग्यानि वल्गनव्यामर्दनमल्लयुद्धकरणानि, तत्र वल्गनं उल्लङ्घनं, व्यामर्दनं परस्परेण बाह्वाद्यङ्गमोटनम्, मल्लयुद्धानि प्रतीतानि । एतैः कृत्वा शान्तः सामान्येन श्रममुपगतः परिश्रान्तः सर्वाङ्गीणं श्रमं प्राप्त, एवंविधः सन् । कल्प० ।

अणेगवालसयसंकणिज्ज–अनेकव्यालशतशङ्कनीय–त्रि० । ३ त० । अनेकैः श्वापदशतैर्भयजनके, "अणेगवालसयसंकणिज्जे या वि होत्था" ज्ञा० २ अ० ।

अणेगविसय–अनेकविषय–त्रि० । अनेके भूयांसो विषया गोचरा अर्था वा येषां ते अनेकविषयाः । प्रभूतविषयतानिरूपितप्रकारतावत्सु, द्रव्या० ए अध्या० ।

अणेगविहारि (ण्)–अनेकविहारिन्–त्रि० । स्थविरकल्पिके, वृ० ५ उ० ।

अणेगसाहुपूइय–अनेकसाधुपूजित–त्रि० । अनेकसाध्वाचरिते, दश० ५ अ० २ उ० ।

अणेगसिद्ध–अनेकसिद्ध–पुं० । एकस्मिन् समये अनेके सिद्धाः अनेकसिद्धाः । प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । एकसमये द्व्यादिष्वष्टशतान्तेषु, स्था० १ ठा० १ उ० । नं० । अनेके च एकस्मिन् समये सिद्ध्यन्त उत्कर्षतोऽष्टोत्तरशतसंख्या वेदितव्याः ।

यस्मादुक्तम्—

बत्तीसा अडयाला, सट्ठी बावत्तरी य बोधव्वा ।
चुलसीई छन्नउई, दुरहियमट्ठुत्तरसयं च ॥ १ ॥

अस्या विनेयजनानुग्रहाय व्याख्या–अष्टौ समयान् यावन्निरन्तरमेकादयो द्वात्रिंशत्पर्यन्ताः सिद्ध्यन्तः प्राप्यन्ते । किमुक्तं भवति ?–प्रथमे समये जघन्यत एको द्वौ वा, उत्कर्षतो द्वात्रिंशत्सिद्ध्यन्तः प्राप्यन्ते, द्वितीयेऽपि समये जघन्यत एको द्वौ वा, उत्कर्षतो द्वात्रिंशत्, एवं यावदष्टमेऽपि समये एको द्वावुत्कर्षतो द्वात्रिंशत्, ततः परमवश्यमन्तरम्, तथा त्रयस्त्रिंशदादयोऽष्टचत्वारिंशत्पर्यन्ता निरन्तरं सिद्ध्यन्तः सप्त समयान् यावत्प्राप्यन्ते परतो नियमादन्तरम्, तथा एकोनपञ्चाशदादयः षष्टिपर्यन्ता निरन्तरं सिद्ध्यन्तः षट् समयान् यावदवाप्यन्ते, परतोऽवश्यमन्तरम्, तथा एकषष्ट्यादयो द्विसप्ततिपर्यन्ता निरन्तरं सिद्ध्यन्त उत्कर्षतः पञ्च समयान् यावदवाप्यन्ते, ततः परमन्तरम्, त्रिसप्तत्यादयश्चतुरशीतिपर्यन्ता निरन्तरं सिद्ध्यन्त उत्कर्षतश्चतुरः समयान् यावत्, तत ऊर्ध्वमन्तरम् । प्रज्ञा० १ पद । अन्ये तु व्याचक्षते–अष्टौ समयान् यदा नैरन्तर्येण सिद्ध्यन्तदा प्रथमसमये जघन्येनैकः सिद्ध्यति, उत्कृष्टतो द्वात्रिंशदिति । द्वितीयसमये जघन्येनैकः, उत्कृष्टतोऽष्टचत्वारिंशत् । तदेवं सर्वत्र जघन्येनैकः समयः, उत्कृष्टतो गाथार्थोऽयं भावनीयः 'बत्तीसायादि' । स्था० १ ठा० १ उ० । पा० । आ० । न० । ध० ।

अणेगाहगमणिज्ज–अनेकाहगमनीय–न० । अनेकैरहोभिः अनेकाहैर्यत् गम्यत इति अनेकाहगमनीयम् । बहुदिवसैर्गम्यमानेऽध्वनि, नि० चू० १६ उ० । आचा० ।

अणेज–अनेज–त्रि० । निष्कम्पे, "अणेजमप्पुरये" आ० क० ।

कल्पितस्वरूपैस्तैरभ्युपगमोऽप्यसंगतः। परिकल्पितस्य परमार्थसत्त्वे तद्दोषानतिक्रमात्,अपरमार्थसत्त्वे तल्लक्षणत्वायोगादमनःसल्लक्षणत्वविरोधात्। न च कल्पनाव्यवस्थापितलक्षणभेदाल्लिङ्गभेद उपपत्तिमानिति लिङ्गस्य निरंशस्वभावस्य किञ्चिद्रूपं वाच्यम्। न च साधर्म्यादिव्यतिरेकेण तस्य स्वरूपं प्रदर्शयितुं शक्यत इति तस्य निःस्वभावताप्रसक्तिः। न चैकलक्षणहेतुवादिनोऽप्यनेकान्तात्मकवस्त्वभ्युपगमाद् दर्शनव्याघात इति वाच्यम्। प्रयोगनैगम एवैकलक्षणो हेतुरिति व्यवस्थापितत्वात्। नचैकान्तवादिनां प्रतिबन्धग्रहणमपि युक्तिसङ्गतम्। अविचलितरूपे आत्मनि ज्ञानपौर्वापर्याभावात् प्रतिक्षणध्वंसिन्यप्युभयग्रहणानुवृत्त्यैकचैतन्याभावात्। कारणस्वरूपग्राहिणा ज्ञानेन कार्यस्य तत्स्वरूपग्राहिणा कार्यकारणभावादेर्भेदः,एकसंबन्धिस्वरूपग्रहणेऽपि तद्ग्रहणप्रसक्तेः। न च तद्ग्रहेऽपि निश्चयाऽनुत्पत्तेरदोषः, सविकल्पकत्वेन प्रथमाक्षसंनिपातजस्याध्यक्षस्य व्यवस्थापनात्। न च कार्यानुभवानन्तरभाविना स्मरणेन कार्यकारणभावोऽनुसंधीयत इति वक्तव्यम्; अननुभूत एव स्मरणप्रादुर्भावात्। न च प्रतिबन्धः केनचिदनुभूतः; तस्योभयनिष्ठत्वात्; उभयस्य च पूर्वापरकालभाविन एकेनाग्रहणात्। न च कार्यानुभवानन्तरभाविनः स्मरणस्य कार्यानुभवो जनकः,तदनन्तरं स्मरणस्याभावात्। न च क्षणिकैकान्तवादे कार्यकारणभाव उपपत्तिमानित्युक्तम्। न च सन्तानादिकल्पनाऽप्यत्रोपयोगिनी। न च स्मरणकालेऽतीततद्विषयमात्रं प्रतीयते,अपि तु तदाऽनुभविताऽपि अहमेवेदमनुभूतवानित्यनुभवितृधाराऽनुभूतविषयस्मृत्यध्यवसायादिकाधारे अनुभवस्मरणे अभ्युपगन्तव्ये; तदभावे तथाऽध्यवसायानुपपत्तेः। नचानुभवस्मरणयोरनुगतचैतन्याभावे तद्धर्मतया अनुभवस्मरणयोस्तदा प्रतिपत्तिर्युक्ता। नहि यत्प्रतिपत्तिकाले यन्नास्ति,तत्तद्धर्मतया प्रतिपत्तुं युक्तम्, बोधाभावे ग्राह्यग्राहकसंवित्तित्रितयप्रतिपत्तिवत्; अस्ति च तद्धर्मतया अनुभवस्मरणयोस्तदा प्रतिपत्तिरिति कथं क्षणिकैकान्तवादे:,तत्र वा प्रतिबन्धनिश्चय इति?। नचैकान्तवादिनः सामान्यादिकं साध्यं संभवतीति प्रतिपादितम्; तस्मादनेकान्तात्मकं वस्त्वभ्युपगन्तव्यम्,अध्यक्षादेः प्रमाणस्य तत्प्रतिपादकत्वेन प्रवृत्तेः॥

(८) स एव च सन्मार्गः (अनेकान्त एव सन्मार्गः)

इत्युपसंहरन्नाह—

दव्वं खित्तं कालं, भावं पज्जायदेससंजोगे ।
भेदं च पडुच्च समा, भावाणं पण्णवणपज्जा ॥ १५५ ॥

द्रव्यक्षेत्रकालभावपर्यायदेशसंयोगान् भेदं चेत्यष्टौ भावानाश्रित्य वस्तुनो भेदे सति समा सर्ववस्तुविषयायाः प्रतिज्ञाप्यरूपायाः स्याद्वादरूपायाः पर्याः पन्था मार्ग इति यावत्। तत्र द्रव्यं पृथिव्यादि, क्षेत्रं तदवयवरूपं तदाश्रयं वा आकाशं, कालं युगपदयुगपत्पर्यायलक्षणं वर्तनात्मकं वा, नवपुराणादिलक्षणं भावम्, मृदङ्कुरादिलक्षणं पर्यायम्, रूपादिस्वभावं देशम्, मृदङ्कुरादिकार्यप्रादिकमनादि विभागं संयोगं भूम्यादि प्रत्येकं समुदाये द्रव्यपर्यायलक्षणं भेदं,प्रतिक्षणध्वंसनात्मकं वा; जीवाजीवादिभावानां प्रतीत्य समानतया तदतदात्मकत्वेन प्रज्ञापनानिरूपणा या सा सम्यग् इति नहि तदतदात्मकद्रव्यत्वादिभेदाभावे सर्वविषयादेर्जीवादिद्रव्यस्य विशेषः, यतो न द्रव्यक्षेत्रकालभावपर्यायदेशसंयोगभेदरहितं वस्तु केनचित् प्रत्यक्षाद्यन्यतमप्रमाणेनावगन्तुं शक्यम्। न च प्रमाणागोचरस्य सद्व्यवहारगोचरता संभविनीति तदतदात्मकं तदभ्युपगन्तव्यम्। नहि एकान्ततोऽतदात्मकं द्रव्यादिभेदभिन्नं व्यतिरिक्तरूपं च प्रमाणमभिरूपयितुं शक्यम्, द्रव्यादिव्यतिरिक्तस्य शशशृङ्गवत् कुतश्चित्प्रमाणाप्रतीतेः। नहि ततो द्रव्यादीनां भेदेऽपि समवायसंबन्धवशात् तत्संबद्धताप्रसङ्गः। संबन्धभेदेन तदतदात्मकत्वानतिवृत्तेः। प्रथमविकल्पे समवायानन्त्यप्रसक्तिः। संबन्धिभेदतो भेदात् संयोगवदनित्यत्वप्रसक्तिश्च। द्वितीयकल्पनायामपि संबन्धिसङ्करप्रसक्तिः। नचैवं दण्डदण्डिकुण्डबदरादिसंबन्धविशेषविशिष्टदेवदत्तादेरिव समवायिनो जातिगुणत्वादिभेदेनोपलब्धेः। नहि य एव दण्डदेवदत्तयोः संबन्धः स एव कुण्डादिभिरपि, तत्संबन्धविशेषणविशेष्यकत्वप्रसक्तेः। न विशेषणं विशेष्यं धर्मान्तराद्व्यवच्छिन्द्यादसंभवदनवस्थापत्तेः विशेषणरूपतां प्रतिपद्यते। एवं समवायसंबन्धस्याविशेषे द्रव्यत्वादीनामपि विशेषणानामविशेषाच्च जीवाजीवादिद्रव्यव्यवच्छेदकता स्यादिति समवायिसङ्करप्रसक्तिः कथं नासज्येत?। न च समवायस्तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् संभवति,तदभावे न वस्तुनो वस्तुत्वयोगो भवेदिति तदनेकान्तात्मकैकरूपमभ्युपगन्तव्यम्। नचैकानेकात्मकत्वं वस्तुनो विरुद्धम्, प्रमाणप्रतिपन्ने वस्तुनि विरोधायोगात्। तथाहि-एकानेकात्मकमात्मादि वस्तु, प्रमेयत्वात्, चित्रपटरूपवत्,ग्राह्यग्राहकाकारसंवित्तिरूपैकविज्ञानस्य प्रत्यात्मसंवेदनीयत्वात्। न च वैशेषिकं प्रति चित्रपटरूपस्यैकानेकत्वमसिद्धम्, प्राक् प्रसाधितत्वात्। नापि ग्राह्यग्राहकसंवित्तिलक्षणरूपत्रयात्मकमेकं विज्ञानं बौद्धं प्रत्यसिद्धम्; तथाभूतविज्ञानस्य प्रत्यात्मसंवेदनीयस्य प्रतिक्षेपप्रसक्तेः। स्वार्थाकारयोर्विज्ञानमभिन्नस्वरूपम्,विज्ञानस्य च वेद्यवेदकाकारौ भिन्नात्मानौ, कथञ्चिदनुभवगोचरापन्नौ। एतच्च प्रतिक्षणस्वभावभेदमनुभवदपि न सर्वथा भेदवत् संवेद्यत इति संविदात्मनः स्वयमेकस्य क्रमवर्त्यनेकात्मकत्वं न विरोधमनुभवतीति कथमध्यक्षादिविरुद्धं निरन्वयविनाशित्वमभ्युपगन्तुं युक्तम्?। नहि कदाचित् क्वचित् क्षणिकत्वमन्तर्बहिर्वाऽध्यक्षतोऽनुभूयते; तथैव निर्णयानुपपत्तेः। भेदात्मन एवान्तर्विज्ञानस्य बहिर्घटादेश्चाभिन्नस्य निश्चयात्। तथाभूतस्यानुभवस्य भ्रान्तिकल्पनायां न किञ्चिदध्यक्षमभ्रान्तलक्षणभाग् भवेत्। न हि ज्ञानं वेद्यवेदकाकारशून्यं स्थूलाकारशून्यं परमाणुरूपं वा घटादिकमेकं निरीक्षामहे, यतो बाह्याध्यात्मिकभेदाभेदरूपतयाऽनुभूयमानं भ्रान्तविज्ञानविषयतया व्यवस्थाप्येत। अतो यथादर्शनमेवेयमनुमेयव्यवस्थितिः न पुनर्यथातत्त्वमित्येतदनिश्चितार्थाभिधानम्। नहि क्वचित् केनचित् प्रमाणेनैकान्तरूपं वस्तु तत्त्वमयं प्रतिपन्नवान्, यत एवं वदन् शोभेत; यदा वाऽध्यक्षविरुद्धो निरंशक्षणिकैकान्तस्तदा नानुमानमप्यत्र प्रवर्तितुमुत्सहते, अध्यक्षबाधितविषयत्वात्। तस्य तेन निरन्वयविनश्वरं वस्तु प्रतिक्षणमवेक्षमाणोऽपि नावधारयतीति। एतदप्यसदभिधानम्। प्रतिक्षणं विशरारुतया कुतश्चिदप्यनीक्षणात्। अत एव क्षणिकत्वैकान्ते च सत्त्वादिहेतुरुपादीयमानः सर्व एव विरुद्धः,अनेकान्त एव तस्य संभवात्। तथाहि-अर्थक्रियालक्षणं सत्त्वम्। न चासौ तदेकान्ते क्रमयौगपद्याभ्यां संभवति, यतो यस्मिन् सत्येव यद्भवति तत्तस्य कारणमितरच्च कार्यमिति कार्यकारणलक्षणम्। क्षणिके च कारणे सति यदि कार्योत्पत्तिर्भवेत् तदा कार्यकारणयोः सहोत्पत्तेः किं कस्य कारणं किं वा कस्य कार्यं व्यवस्थाप्येत?। त्रैलोक्यस्य चैकक्षणवर्तिता प्रसज्येत। यदनन्तरं यद्भवति तत्तस्य कार्यम्,इतरत् कारणमिति व्यवस्था-

यां कारणाभिमते वस्तुन्यसति च भवतस्तदनन्तरभावित्वस्य दुर्घटत्वादिति तदभिप्रायेऽपि च तस्य प्राप्तो भवेत्, तदभावाविरोधात्। न चानन्तर्यापि कार्योत्पत्तिकालमप्राप्य विनाशमनुभवतश्चिरातीतस्येव कारणता। यतोऽर्थक्रिया क्षणद्वये न विरुध्यते। प्राक्कालभाविन्येव कारणत्वे सर्वं प्रति सर्वस्य कारणता प्रसज्येत, सर्वेषामनुत्पन्नानां विवक्षितकार्यं प्रति भावित्वाविशेषात्। तथा च स्वपरसन्तानव्यवस्थाऽप्यनुपपन्नैव स्यात्। न च सादृश्यात्तद्व्यवस्था, सर्वथा सादृश्ये कार्यस्य कारणरूपताप्रसक्तेरेकक्षणमात्रसन्तानः प्रसज्येत। कथञ्चित्सादृश्ये त्वनेकान्तवादप्रसक्तिः। न च सादृश्यं भवदभिप्रायेणास्ति, सर्वत्र वैलक्षण्याभिधानात्। अन्यथा स्वलक्षणस्य क्षणिकैकान्तवादिनोऽभ्युपगमविरोधः। किं प्रतिपत्तिः संततमिति साध्यसाधनयोस्त्रिकालविषयया साकल्येन व्याप्तेरनिर्देशः यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं यथा शब्दशब्द इत्याद्यनुमानप्रवृत्तिः कथं न भवेत्?; अकारणस्य च प्रमाणविषयत्वानभ्युपगमात्साध्यसाधनयोस्त्रिकालविषयव्याप्तिग्रहणस्य दुरोत्सारितत्वात्। "नाननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं विषयः" इति वचनमनुमानोच्छेदकप्रसक्तं ग्राह्यग्राहकाकारानैकान्त्यवत्, ग्राह्याकारस्यापि युगपदनेकार्थावभासिनस्त्वेकरूपता एकान्तवादं प्रतिक्षिपति। एवं भ्रान्ताऽऽभ्रान्त्व सदृशेनस्यान्तर्बहिश्च भ्रान्तात्मकत्वं कथञ्चिदभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा कथं स्वसंवेदनाध्यक्षता तस्य भवेत्?। तदभावे च कथं तस्याभावसिद्धिर्युक्ता?। कथं च भ्रान्तज्ञानं भ्रान्तिरूपतयाऽऽत्मानमसंविदत् ज्ञानरूपतया चावगच्छदन्तर्बहिस्तथा नावगच्छेत्। यतो भ्रान्तैकान्तरूपताऽभ्युपगन्तुमशक्या भवेत्, कथं च भ्रान्तविकल्पज्ञानयोः स्वसंवेदनमभ्रान्तमविकल्पकं चाऽभ्युपगच्छन्नेकान्तं नाभ्युपगच्छेत्?। ग्राह्यग्राहकसंवित्त्याकारविवेकसंविदं स्वसंवेदनेनासंवेदयन् सं वेद्यतां वाऽनुभवन् कथं क्रमभाविनो विकल्पेतरात्मनो युगपत्संवेदनात्मानमनुभवशालिनं प्रतिक्षिपेत्। ततः क्रमसहभाविनः परस्परविलक्षणस्यानाद्यन्त्याऽन्यथानुपपत्तिरूपतया व्याप्नुवतः सकललोकप्रतीतं स्वसंवेदनम्, अनेकान्तस्यैव व्यवस्थापकमेकान्तवादप्रतिक्षेपेऽपि प्रतिष्ठितमिति। निरंशक्षणिकस्वलक्षणमन्तर्बहिश्चाखिलमपि संवित्तिविषयीकरोतीति कल्पनाऽयुक्तिसंगतैव; अप्रमाणप्रसिद्धिकल्पनायाः सर्वत्र निरङ्कुशत्वात्। सकलसर्वज्ञताज्ञप्त्यनप्रसक्तेर्नैकस्य संवित्तिः परस्यासंवित्तिः। नहि वास्तवसंबन्धाभावे परिकल्पितस्य नियामकत्वं युक्तम्, अतिप्रसङ्गात्। न च वास्तवः संबन्धः परस्य सिद्ध इति तादात्म्यतदुत्पत्त्योरभावात् साध्यसाधनयोः प्रतिबन्धनियमाभावेऽनुमानप्रवृत्तिर्दूरोत्सारितैव। अथ क्षणिकाद् निवर्तमानमप्यर्थक्रियालक्षणं सत्त्वमक्षणिके च व्यावर्तते इति न ततोऽनेकान्तात्मकवस्तुसिद्धिः। नाक्षणिकेऽपि, क्रमयौगपद्याभ्यां तस्य विरोधात्। तथाहि-न तावदक्षणिकस्य क्रमवत्कार्यकारणे प्राक्तत्करणसमर्थस्याभिमतक्षणवत् तत्करणविरोधात्प्राक्तदसामर्थ्ये पश्चादपि न तत्सामर्थ्यमपरिणामिनोऽनाधेयातिशयत्वात्। स्वभावोत्पत्तिविनाशाभ्युपगमेऽपि नित्यैकान्तवादविरोधात्। ततो व्यतिरिक्तस्यातिशयस्य करणेऽनतिशयस्य प्रागिव पश्चादपि तत्करणासंभवात्। सहकारिणोऽपेक्षाऽपि तस्याऽयुक्तैव, यतोऽसहायस्य प्रागकरणस्वभावस्य पुनः ससहायस्य कार्यकरणं भवेत्, नहि सहकारिकृतमतिशयमनङ्गीकुर्वतस्तदपेक्षोपपत्तिमतिमत्र क्रमेणापरिणामी भावः कार्यं निवर्तयति, नापि यौगपद्येन कालान्तरे, तस्याकिञ्चित्करत्वेनावस्तुत्वापत्तेः क्षणमात्रावस्थायित्वप्रसक्तेः। न च क्रमयौगपद्यव्यतिरिक्तं प्रकारान्तरं संभवतीत्यर्थक्रिया व्यापिका निवर्तमाना व्याप्यां सत्तां नित्याद्व्यावर्तयन्निवर्तत इति। यत् सत्तत् सर्वमनेकान्तात्मकं सिद्धम्, अन्यथा प्रसक्तादिविरोधप्रसक्तेः। न हि भेदमन्तरेण कदाचित्कस्यचिद्भेदोपलब्धिः, इदंविधाद्यनेकाकारविवर्तात्मकस्यान्तर्बहिश्च वस्तुनः संवेदनाध्यक्षतो वर्णसंस्थानसद्भावेनेकाकारस्य स्थूलस्य पूर्वापरस्वभावपरित्यागोपादानात्मकस्य घटादेर्बहिरिन्द्रियजाध्यक्षतः संवेदनात्। सुखादिरूपादिनेदविकल्पतया चैतन्यघटादेः कदाचिदप्युपलम्भनागोचरत्वान्महासामान्यस्यावान्तरसामान्यस्य वा सर्वगतासर्वगतधर्मात्मकता समवायस्य चानवस्थादोषतः संबन्धेतराभावात् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणामन्योन्यं तादात्म्यानिष्टौ तेष्ववृत्तेः सर्वपदार्थस्वरूपाप्रसिद्धिः स्यात्। स्वत एव समवायस्य द्रव्यादिषु वृत्तौ समवायमन्तरेणापि द्रव्यादयोऽपि स्वाधारेषु वृत्तिं स्वत एव तस्मात्करिष्यन्तीति समवायकल्पनावैयर्थ्यप्रसक्तिवद्भेदप्रसक्तिरंशप्रतिपत्तेः। अगृहीतस्वभावाद् गृहीतस्वभावस्य द्रव्यस्य चातद्वत्तां सामस्त्येन ग्रहणासंभवात् कथं तद्ग्रहे तद्ग्रहणं भवेत्?, अधाराप्रतिपत्तौ तदाधेयस्य तत्त्वेनाप्रतिपत्तेः। सामान्याधारेषु गृहीतेष्वपि सामान्यादेः वृत्तिविकल्पादिदोषस्तेष्वपि पूर्ववत् समानः, तदपेक्षस्य तत्त्वेनाप्रतिपत्तेः। तदग्रहणेऽपि च सामान्यस्य व्यापितः कदाचिदप्यप्रतिपत्तेः सद् द्रव्यमित्यादिप्रतिपत्तिस्तद्वत्सु न कदाचिद्भवेत्, तदंशानां सामान्यादेरत्यन्तभेदात्। एवं द्रव्यादिषट्पदार्थव्यवस्थाऽप्यनुपपन्ना भवेत्, प्रतिभासगोचरचारिणां सामान्यादंशानां पदार्थान्तरताप्रसक्तेः। अथ निरंशं सामान्यमभ्युपगम्यते इति नायं दोषः, नहि सकलस्याश्रयप्रतिपत्त्यभावे मनागपि न सामान्यप्रतिपत्तिरिति सद् द्रव्यं पृथिवीत्यादिप्रतिपत्तेर्निरालम्बनत्वं स्यात्। तदंशानां सामान्याद् भेदाभेदकल्पनायां द्रव्यादय एव भेदाभेदात्मकाः किं नाभ्युपगम्यन्ते? इति सामान्यादिकल्पना दूरोत्सारितैवेति कुतस्तदेकान्तकल्पना?। ततः सामान्यविशेषात्मकं सर्वं वस्तु, सत्त्वात्। नहि विशेषरहितं सामान्यमात्रं सामान्यरहितं वा विशेषमात्रं संभवति तादृशः क्वचिदपि, वृत्तिविरोधात्। वृत्त्या हि सत्त्वं व्याप्तं स्वलक्षणात्सामान्यलक्षणाद् वा तादृशाद्वृत्तिनिवृत्त्या निवर्तत एव, यतः क्वचिद् वृत्तिमतोऽपि स्वलक्षणस्य न देशान्तरवृत्तिः, नान्येन संयोगः, तत्संसर्गव्यवच्छिन्नस्वभावान्तरविरहाद्विशेषविकलः, सामान्यवत्। एकस्य प्रतिसंबन्धस्वभावविशेषाभ्युपगमे विशेषाणां तल्लक्षणं सामान्यलक्षणमेव स्यात्। न च विशेषैरन्यदेशस्थितैः असंयुक्तस्यैकत्र तस्य वृत्तिः, अव्यवधानाविशेषात्। एवं च स्वभावविशेषाणां सामान्यरूपाः सर्व एव भावाः विशेषरूपाश्च तत्र देशकालावस्थाविशेषनियतानां सर्वेषामपि सत्त्वं सामान्यमेकरूपम्, अव्यवधानात्। तस्य च ते विशेषा एव, अनेकरूपम्, एतस्यैव सत्त्वं परिणामविशेषास्तथा गोत्वब्राह्मणत्वादिलक्षणा जातिः, परिणामविशेषाश्च तदात्मका व्यक्तय इति। परस्परव्यावृत्तानेकपरिणामयोगादेकस्यैवानेकपरिणतिरूपता संयवज्ञानस्येवाविरुद्धा व्यक्तिव्यतिरिक्तस्य सामान्यस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धिः, शशशृङ्गवदसत्त्वात्। सास्नादिप्रत्ययः सामान्यविशेषात्मकवस्त्वभावे स्वाधिनिकरो न स्यात्। न च चक्षुरादिः बुद्धौ वर्णाकृत्यक्षराकारशून्य सामान्यर-

[illegible] प्रतिभासभेदप्रसङ्गात्। यदि च [illegible] सिद्धान्तगतेऽप्युक्तत्वेन, स्वभावविशेषादाभ- [illegible] ऽभिन्नत्वरूपभेदात् सामान्य- [illegible] न स्यात्। [illegible] व्यक्ति- [illegible] सामान्यस्य युज्येते, तद्रूपयोगिनोऽप्येवं [illegible]। [illegible] सर्वत्र [illegible] सकृद्रूपनाऽप्रसंगो न वा [illegible] प्रकारान्तरेण प्रतीत्य- [illegible], अनेकान्तवाद एव स्वतः सतां विशेषाणां सत्तासं- [illegible] प्रसक्तेः क्रियासा- [illegible] स्यात्। व्यक्ति- [illegible] सामान्यमेव न भवेत्। व्यक्तीनां [illegible] सामान्यस्य तद्रूपता [illegible], उभयपक्षदो- [illegible] दोषप्रसङ्गात्। सर्वथा तदभा- [illegible]। प्रतीयमानेऽपि [illegible] प्रकारान्तरेण प्रतिभासमं- [illegible]। [illegible] प्रमाणिकायाः [illegible] [illegible]। [illegible] तथा [illegible] तथा [illegible] तथा हिंसा- [illegible] अनि- [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible]। तथाहि- [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।

(१४) [illegible] [illegible]—

[illegible], [illegible] ।
[illegible] ॥१०८॥

[illegible]

शब्दमात्रसंतुष्टा गर्वंयन्तोऽविकोविदसामर्थ्याः-अविकोविदमकं सामर्थ्यं येषां ते तथा, अविदितसूत्रव्यापारविषया इति यावत्। किमित्येवं त इत्याह-यथाश्रुतमेवाविरुद्धा अविवेकेन प्रति- पत्तिरेषामिति हृत्वा सूत्राभिधायित्वतिरिक्तविषयविप्रतिपत्ति- त्वात् इतरजनवद्धा इत्यभिप्रायः। अथवा स्वरूप्या एव [illegible] यद्दर्शने कतिचित्सूत्राण्यधीत्य केचित् सूत्रधरा वयमिति गर्वेण यथाऽवस्थितान्यनयसव्यपेक्षसूत्रार्थापरिज्ञानादविपरीतार्थ- रूपा इति गाथाऽभिप्रायः ॥ १५६ ॥

अथैवमेव नयदर्शनेन प्रवृत्तानां यो दोषस्तमुपदर्शयितुमाह-

सम्मदंसणमिणमो, सयलसमत्तवयणिज्जणिदोसं ।
अप्फुक्कोसविणट्ठा, सलाहमाणा विणासेंति ॥ १५७ ॥

सम्यग्दर्शनमेतत्परस्परविषयापरित्यागप्रवृत्तानेकनयात्मकम्, तच स्याद्वस्त्व इत्यादि सकलधर्मपरिसमाप्तवचनीयतया निर्दो- षम्, एकनयवादिनः स्वविषयैस्तत्र [illegible] [illegible] स्याद्वादाभिमतं प्रयत्नाद्विद्यमाना वयं सूत्रधरा इत्या- त्मानं श्लाघ्यमानाः सम्यग्दर्शनं विनाशयन्ति, तद्धर्मस्थितं न स्थापयन्तीति यावत्। अथ न ते आगमप्रत्यनीकाः, तद्व- त्वात्, तद्देशपरिज्ञानयुक्तोऽपि ॥ १५७ ॥

कथं तद्विनाशयन्त्यथाह—

ण हु सासणभत्ती मे-त्तएण सिद्धंतजाणओ होइ ।
ण वि जाणओ वि णियमा, पण्णवणा णिच्छिओ णाम १५८

न च शासनभक्तिमात्रेण सिद्धान्तज्ञाता भवति। न च तज्ज्ञ- त्वात् [illegible] भवति, अज्ञानस्यार्थस्य [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] मार्गानुसारि, अथबोधमात्रानुबन्धविभ्रमात् [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] वाच्यम्।

तथा तु-" [illegible]

[illegible]

वा 'पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि' इति न वक्तव्यम् । तत्प्रभेदरूपतयाऽभिधानेऽपि न दोषः, आत्यन्तिककल्पनाया घटमानत्वात् , राशिद्वयेन सकलस्य जगतो व्याप्तत्वात् , तद्रूपाभस्य शशशृङ्गतुल्यत्वात् , शब्दब्रह्मादिकान्तस्य च प्राक् प्रतिक्षिप्तत्वात् । अबाधितरूपोभयप्रतिभासस्य तथाभूतवस्तुव्यवस्थापकस्य प्रबाधितत्वाद्विद्याऽविद्योभयभेदाद्वैतकल्पनायामपि त्रित्वप्रसक्तेः । बाह्यालम्बनभूतभावापेक्षया विद्यात्वोपपत्तेः । अन्यथा निर्विषयत्वेनोभयोरविशेषात् तत्प्रतिभासस्याघटमानत्वात् । न हि द्वयोर्निरालम्बनत्वे विपर्यस्ताविपर्यस्तज्ञानयोरिव विद्याऽविद्यात्वभेदः । ततो नाद्वयं वस्तु; नापि तद्व्यतिरिक्तमस्ति । प्रधानवादीनामप्यनुपपत्तिः, राशिद्वयेन सकलस्य व्याप्तत्वात् । न । ततस्तेषां कथञ्चिद्भेदप्रतिपादनार्थत्वात् । अनयोरेव तथापरिणतयोः सकारणसंसारमुक्तिप्रतिपादनपरत्वात् । तथाऽभिधानस्यानेन वा क्रमेण तज्ज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वप्रदर्शनार्थत्वात्, विप्रतिपत्तिनिरासार्थत्वात्, तद्दर्शनाभिधानस्याऽदुष्टत्वात् । तथाहि-आश्रयति कर्म यतः स आश्रवः, कायवाङ्मनोव्यापारः । स च जीवाजीवाभ्यां कथञ्चिद्भिन्नः, तथैव प्रतीतिविषयत्वात् । अथ बन्धाभावे कथं तस्योपपत्तिः?; प्राक्तत्सद्भावे वा न तस्य बन्धहेतुता । न हि यद्यद्धेतुकं, तत्तदभावेऽपि भवति, अतिप्रसङ्गात् । असदेतत् । पूर्वोत्तरापेक्षयाऽन्योन्यकार्यकारणभावनियमात् । न चेतरेतराश्रयदोषः, प्रवाहापेक्षयाऽनादित्वात् । पुण्यापुण्यहेतुबन्धहेतुतया चासौ द्विविधः । उत्कर्षापकर्षभेदेनानेकप्रकारोऽपि । दण्डगुप्त्यादित्रित्वादिसंख्याभेदमासादयन् फलानुबन्ध्यननुबन्धिभेदतोऽनेकशब्दविशेषवाच्यतामनुभवति । एकान्तवादिना त्वयं नासम्भवतीति ; " कम्मजोगनिमित्तं " गाथार्थं प्रदर्शयद्भिः प्राक् प्रतिपादितत्वात् । सम्म० ।

(१०) अनेकान्तवादस्वीकाराऽस्वीकारयोः सम्यक्त्वमिथ्यात्वे-
" दव्वं पज्जवविउयं, दव्ववियुत्ता य पज्जवा नत्थि ।
......
" इच्छेयं गणिपिडगं, निच्चं दव्वट्ठियाए णायव्वं ।
पज्जाएण अणिच्चं, निच्चानिच्चं च सियवाओ ॥ ६२ ॥
जो सियवायं भासति, पमाणनयपेसलं गुणाधारं ।
भावेइ से ण णसयं, सो हि पमाणं पवयणस्स ॥ ६३ ॥
जो सियवायं निंदति, पमाणनयपेसलं गुणाधारं ।
भावेण दुट्ठभावो, न सो पमाणं पवयणस्स" ६४॥ ति०।औ०ज्ञा०।

अणेगकोडि-अनेककोटि-त्रि० । अनेकाः कोटयो द्रव्यसङ्ख्यायां, स्वस्वरूपपरिमाणे वा येषां तेऽनेककोटयः। कोटिसङ्ख्याकेषु कौटुम्ब्यादिषु, ज्ञा० । "अणेगकोडीकुटुंबियाइण्णणिव्वुयसुहा" अनेकाः कोटयो द्रव्यसङ्ख्यायां, स्वस्वरूपपरिमाणे वा येषां तेऽनेककोटयः, तैः कौटुम्बिकैः कुटुम्बिभिः, आकीर्णा संकुला या सा तथा, सा चासौ निर्वृता च सन्तुष्टजनयोगात्संतोषवतीति कर्मधारयः। अत एव सा चासौ सुखा च शुभा च येति कर्मधारयः ॥ ज्ञा० १ अ० । औ० । रा० ।

अणेगक्खरिय-अनेकाक्षरिक-न० । अनेकानि च तानि अक्षराणि तैर्निर्वृत्तमनेकाक्षरिकम् । अक्षरादिनिर्वृत्ते द्विनामभेदे, अनु० । "से किं तं अणेगक्खरिए ? । अणेगक्खरिए कन्ना वीणा लता माला । सेत्तं अणेगक्खरिए" । अनु० ।

अणेगखंडी-अनेकखण्डी-स्त्री० । अनेकेषां नश्यतां नराणां मार्गभूताः खण्डयोऽपद्वाराणि यस्यां साऽनेकखण्डी । विपा० १ श्रु० ३ अ० । अनेकजनचरनिर्गमापद्वारायां पुर्याम्, ज्ञा० १ ८ अ० ।

अणेगखंभसयसण्णिविट्ठ-अनेकस्तम्भशतसन्निविष्ट-त्रि० । उत्त० । अनेकेषु स्तम्भशतेषु सन्निविष्टे । ७ अ० । यत्र वा अनेकानि स्तम्भशतानि सन्निविष्टानि । भ० ६ श० ३३ उ० । रा० । विपा० । " एगं च णं महं भवणं करेंति अणेगखंभसयसन्निविट्ठं लीलट्ठियसालभंजियागं" ज्ञा० १ अ० । आ० म० ।

अणेगगुणजाणय-अनेकगुणज्ञायक-त्रि० । अनेकेषां गुणानामुपलक्षणत्वाद् दोषाणां च ज्ञायकः । बहुदोषाणां ज्ञायके, "अणेगगुणजाणए पंडिए विहिण्णू " जं० ३ वक्ष० ।

अणेगचित्त-अनेकचित्त-त्रि० । अनेकानि चित्तानि कृषिवाणिज्यावलगनादीनि यस्य सोऽनेकचित्तः । कृष्यादिषु व्यापृतचित्ते , आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

अणेगजम्म-अनेकजन्मन्-न० । अनन्तभवे, पञ्चा० ८ विव० ।

अणेगजीव अनेकजीव-त्रि० । अनेके जीवा यस्येति । बहुजीवाजीवात्मके क्षित्यादौ, "पुढवीचित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढोसत्ता" दश० ४ अ० ।

अणेगजोगधर-अनेकयोगधर-पुं० । योगः क्षीराश्रवादिलब्धिकलापसंबन्धः, तं धारयन्तीति अनेकयोगधराः । लब्धिसंपन्नेषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अणेगझस-अनेकझष-त्रि० । विविधमत्स्येषु सूक्ष्ममत्स्यस्थलमत्स्यादिषु, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अणेगणरपवरभुयअगेज्झ-अनेकनरप्रवरभुजाग्राह्य-त्रि० । अनेकस्य मनुष्यस्य ये प्रवराः प्रलम्बा भुजा बाहवस्तैरग्राह्योऽपरिमेयोऽनेकनरप्रवरभुजाऽग्राह्यः । अनेकपुरुषव्यामैरप्रतिमेयस्थौल्ये वृक्षादौ , रा० ।

अणेगणाम-अनेकनामन्-न० । अनेकपर्यायेषु, "अणेगपरिवंति वा अणेगपज्जायंति वा अणेगणामनेइंति वा एगट्ठा" आ० चू० १ अ० ।

अणेगणिग्गमदुवार-अनेकनिर्गमद्वार-त्रि० । न विद्यन्ते नैकानि बहूनि निर्गमद्वाराणि निःसरणमार्गाः यत्र, ध० १ अधि० ।

अणेगतालायराणुचरिय-अनेकतालाचरानुचरित-त्रि० । अनेके च ये तालाचराः तालादानेन प्रेक्षाकारिणः तैरनुचरित आसेवितो यः स तथा । औ० । नानाविधप्रेक्षाकारिसेविते, भ० ११ श० ४ उ० । विपा० । पुरादौ, ज्ञा० १ अ० । जं० ।

अणेगदन्त-अनेकदन्त-त्रि० । अनेके दन्ता येषां ते अनेकदन्ताः । द्वात्रिंशद्दन्तेषु, तं० । प्रश्न० । अनेके दन्ता येषां ते अनेकदन्ताः । अनेकदन्तयुक्तेषु , तं० ।

अणेगदव्वखंध-अनेकद्रव्यस्कन्ध-पुं० । अनेकैः सचित्ताऽचित्तलक्षणैर्द्रव्यैर्निष्पन्नः स्कन्धः अनेकद्रव्यस्कन्धः । विशिष्टैकपरिणामपरिणतसचेतनाऽचेतनदेशसमुदायात्मके हयादिस्कन्धे, विशे० ।

अणेगपएसता-अनेकप्रदेशता-स्त्री० । भिन्नप्रदेशतायाम्, "भिन्नदेशता सैवा-ऽनेकप्रदेशता हि या" । भिन्नदेशता सैव अनेकप्रदेशस्य ताचना भिन्नप्रदेशयोगेन तथा भिन्नदेशकल्पनयाऽनेकप्रदेशयोग्यत्वमुच्यते, द्रव्या० १३ अध्या० ।

अणेगपासंडपरिग्गहिय-अनेकपाषण्डपरिगृहीत-त्रि० । ३ त० । नानाविधव्रतिभिरङ्गीकृते, प्रश्न० २ संव० द्वा० ।

अणेगबहुविविहवीससापरिणय-अनेकबहुविविधविस्रसापरिणत-त्रि० । न एकोऽनेकः, अनेक एकजातीयोऽपि व्यक्तिभेदाद् भवति । तत आह-बहु प्रभूतं विविधो जातिभेदाश्रयानामनेकः बहुविधः, प्रभूतजातिभेदतो नानाविध इति भावः । स च केनाऽपि निमित्तेनाऽपि संभाव्येत । तत आह-विस्रसया स्वभावेन तथाविधक्षेत्रादिसामग्रीविशेषजनितेन परिणतो न पुनः प्रयोगादिना निमित्तेन विस्रसापरिणतः । ततः पदत्रयस्य पदद्वयमीलनेन कर्मधारयः । नानाविधस्वभावोद्भूते, जी० ३ प्रति० ।

अणेगजागरिय-अनेकजागरित-त्रि० । द्विवारादिजागरणे, नि० चू० १० उ० ।

अणेगभाव-अनेकभाव-त्रि० । बहुपर्यायपुके, भ० १४ श० ४ उ० ।

अणेगरूव-अनेकरूप-त्रि० । अनेकरूपे, भ० १४ श० ४ उ० ।

अणेगभेद-अनेकभेद-पुं० । अनेकपर्याये, "अणेगपरिएये ति वा अणेगरूवे ति वा अणेग [भाव] भेदं ति वा एगट्ठा" । आ० चू० १ अ० ।

अणेगरूव-अनेकरूप-त्रि० । ६ ब० । अनेकप्रकारे, " बहु मोहिया [illegible] अणेगरूवं [illegible] महारं अणेगरूवाइं " । [illegible] "बहुं बहुं मोहणेण अयंतं, [illegible] [illegible] अनेकं वा, न ते [illegible]" [illegible] अनेकविधानेकविधं [illegible] अनेकरूपाः । [illegible] ४ उ० ।

अणेगरूवधुणा-अनेकरूपधूना-स्त्री० । अनेकरूपा संख्यानयाद् [illegible] अनेकरूपधुणा । उत्त० २६ अ० ।

अणेगरूवधुणण-अनेकरूप[illegible] संख्याप्रत्यानिकमनेकां यु[illegible] [illegible] वा माऽनेकरूपधुणनम् । उत्त० २६ अ० ।

अणेगरूवधुन-[illegible] उत्त० २६ अ० । अनेकप्रकारं [illegible], अनेक[illegible] [illegible] " एसा सेसा अणेगरूवधुणा " उत्त० २६ अ० । " [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

अणेगवदणकपाल-अनेकवदन[illegible]-पुं० । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

अणेगवायामजोग्ग-अनेकव्यायामयोग्य-पुं० । परिश्रमविशेषे, " अणेगवायामजोग्गवग्गणवामद्दणमल्लजुद्धकरणेहिं संते परिस्संते" अनेकानि यानि व्यायामयोग्यानि परिश्रमयोग्यानि वल्गनव्यामर्दनमल्लयुद्धकरणानि, तत्र वल्गनं उल्ललनं, व्यामर्दनं परस्परेण बाह्वाद्यङ्गमोटनम्, मल्लयुद्धानि प्रतीतानि । एतैः कृत्वा श्रान्तः सामान्येन श्रममुपगतः परिश्रान्तः सर्वाङ्गीणं श्रमं प्राप्त, एवंविधः सन् । कल्प० ।

अणेगवालसयसंकणिज्ज-अनेकव्यालशतशङ्कनीय-त्रि० । ३ त० । अनेकैः श्वापदशतैर्भयजनके, " अणेगवालसयसंकणिज्जा यावि होत्था " ज्ञा० २ अ० ।

अणेगविसय-अनेकविषय-त्रि० । अनेके भूयांसो विषया गोचरा अर्था वा येषां ते अनेकविषयाः । प्रभूतविषयतानिरूपितप्रकारतावत्सु, द्रव्या० ए अध्या० ।

अणेगविहारि (ण्)-अनेकविहारिन्-त्रि० । स्थविरकल्पिके, बृ० ५ उ० ।

अणेगसाहुपूइय-अनेकसाधुपूजित-त्रि० । अनेकसाध्वाचरिते, दश० ५ अ० २ उ० ।

अणेगसिद्ध-अनेकसिद्ध-पुं० । एकस्मिन् समये अनेके सिद्धाः अनेकसिद्धाः । प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । एकसमये द्व्यादिव्यवस्थितेषु, ध्या० १ गा० १ उ० । नं० । अनेके च एकस्मिन् समये सिद्ध्यन्त उत्कर्षतोऽष्टोत्तरशतसंख्या वेदितव्याः ।

यस्मादुक्तम्—

बत्तीसा अडयाला, सट्ठी बावत्तरी य बोधव्वा ।
चुलसीई छन्नउई, दुरहियमट्ठुत्तरसयं च ॥ १ ॥

अस्या विनेयजनानुग्रहाय व्याख्या-यावी समयान् यावदष्टमं समयं यावदेकादयो द्वात्रिंशत्पर्यन्ताः सिद्ध्यन्तः प्राप्यन्ते । किमुक्तं भवति ?-प्रथमे समये जघन्यत एको द्वौ वा, उत्कर्षतो द्वात्रिंशदन्ताः प्राप्यन्ते, द्वितीयेऽपि समये जघन्यत एको द्वौ वा, उत्कर्षतो द्वात्रिंशत्, एवं यावदष्टमेऽपि समये एको द्वावुत्कर्षतो द्वात्रिंशत्, तत ऊर्ध्वमवश्यमन्तरम्, तथा त्रयस्त्रिंशदादयोऽष्टचत्वारिंशत्पर्यन्ता निरन्तरं सिद्ध्यन्तः सप्त समयान् यावत्प्राप्यन्ते परतो नियमादन्तरम्, तथा एकोनपञ्चाशदादयः षष्टिपर्यन्ता निरन्तरं सिद्ध्यन्तः षट् समयान् यावत्प्राप्यन्ते, परतोऽवश्यमन्तरम् तथा एकषष्ट्यादयो द्विसप्ततिपर्यन्ता निरन्तरं सिद्ध्यन्तः [illegible] पञ्च समयान् यावत्प्राप्यन्ते, ततः परमन्तरम्, त्रिसप्तत्यादयः चतुरशीतिपर्यन्ता निरन्तरं सिद्ध्यन्तः चत्वारः समयान् यावत्, तत ऊर्ध्वमन्तरम् । प्रज्ञा० १ पद । [illegible] — द्वौ समयौ यदा नैरन्तर्येण सिद्ध्यन्तः प्राप्यन्ते [illegible] सिद्ध्यन्ति, उत्कर्षतो द्वात्रिंशदिति । [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] १ उ० १ उ० । पा० । ध० । स० । ध० ।

अणेगाहगमणिज्ज-अनेकाहगमनीय-त्रि० । अनेकैर्दिनै[illegible] [illegible] बहुदिवसै[illegible], नि० चू० १६ उ० । आचा० ।

अणेज-अनेज-त्रि० । [illegible] " [illegible] " [illegible] ।

अणेयाउय–अनैयायिक–त्रि०। न्यायेन चरति नैयायिकः, न नैयायिकः अनैयायिकः। असन्यायवृत्तिके, "अपडिपुण्णं अणेयाउय असंसुद्धं"। सूत्र० १ श्रु० २ अ०।

अणेलिस–अनीदृश–त्रि०। नाऽन्यत्र ईदृशमस्तीति अनीदृशम्। आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०। अनन्यसदृशे अद्वितीये, सूत्र०। "जे धम्मं सुद्धमक्खाति, पडिपुण्णमणेलिसं"। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। अतुले, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

अणेवंभूय–अनेवंभूत–त्रि०। एवम्प्रकारमनापन्ने, "अणेवंभूयं पि वेयणं वेदेंति" यथा बद्धं कर्म नैवंभूताऽनेवंभूता अतस्ताम्, श्रूयन्ते ह्यागमे–कर्मणः स्थितिघातादय इति। भ० ५ श० ५ उ०।

अणेसणा–अनेषणा–स्त्री०। ईषदर्थे नञ्। न एषणा अनेषणा। प्रमादादेषणायाम्, ध० ३ अधि०। "अणेसणाए पाणेसणाए पाणभोयणाए बीयभोयणाए अणेसणाए"। इदमुक्तं भवति–"अणेसणाए अणन्तरेण दोसेण संकिता अणेसणाए तुट्टा महइस सद्धारेण गहिता" आ०चू० ४ अ०। "से एसणं जाणमणेसणं च" एषणां गवेषणग्रहणैषणादिकां जानन् सम्यगवगच्छन्ननेषणां चोद्गमदोषादिकां तत्परिहारं विपाकं च सम्यगवगच्छन्। सूत्र० १ श्रु० १३ अ०।

अणेसणिज्ज–अनेषणीय–त्रि०। एष्यत इत्येषणीयं कल्प्यम्, तन्निषेधादनेषणीयम्। भ० ५ श० ५ उ०। केनचिद्दोषेणाऽशुद्धे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। आचा०। उत्त०। साधुनाऽग्राह्ये, उत्त० २० अ०। एष्यते गवेष्यते उद्गमादिदोषविकलतया साधुभिर्यत् तदेषणीयं कल्प्यं, तन्निषेधादनेषणीयम्। स्था० ३ ठा० १ उ०। पिं०। "पूयं अणेसणिज्जं च, तं विज्ज परिजाणिया"। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

अनेषणीयपरिहारमधिकृत्याह–

भूयाइं च समारब्भ, तमुद्दिस्सा य जं कडं।
तारिसं तु ण गिण्हेज्जा, अन्नपाणं सुसंजए॥ १॥

अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति च प्राणिनस्तानि भूतानि प्राणिनः समारभ्य संरम्भसमारम्भारम्भैरुपतापयित्वा तं साधुमुद्दिश्य साध्वर्थं यत्कृतं तदुपकल्पितमाहारोपकरणादिकं तादृशमाधाकर्मदोषदुष्टं सुसंयतः सुतपस्वी तदन्नं पानकं वा न भुञ्जीत। तुशब्दस्यैवकारार्थत्वान्नैवाभ्यवहरेदेवं तेन मार्गोऽनुपालितो भवति। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

अणेह–अनेहस्–पुं०। कालद्रव्ये, द्रव्या० १२ अध्या०।

अणोउया–अनृतुका–स्त्री०। न विद्यते ऋतुः रक्तरूपः, शास्त्रप्रसिद्धो वा यस्याः सा अनृतुका। अरजस्कायां स्त्रियाम्, यस्या ऋतुकाले मासि मासि रक्तं न प्रस्रवति एतादृशी स्त्री पुरुषेण सार्द्धं गर्भं न धत्ते। स्था० ५ ठा०।

अणोकंत–अनुपक्रान्त–त्रि०। अनिराकृते, औ०।

अणोघसिय–अनवघर्षित–न०। कल्प० स०। अवघर्षणमवघर्षितं, भावे क्तप्रत्ययः; तस्याऽभावोऽनवघर्षितम्। भृत्यादिनाऽनिर्माञ्जने, जी० ३ प्रति०। रा०। "अणोघ (इ) सियणिम्मलाए छायाए स ततो चेव समणुबद्धा"। अनवघर्षितेन निर्मला तया छायया समनुबद्धा युक्ता। (आदर्शकाः) जी० ३ प्रति०।

अणोज्ज–अनवद्य–त्रि०। निर्दोषे, दश० ७ अ०।

अणोज्जंगी–अनवद्याङ्गी–स्त्री०। भगवतो महावीरस्वामिनो दुहितरि जमालिगृहिण्याम्, आ० म० द्वि०। आ० चू०।

अणोज्जा–अनवद्या–स्त्री०। महावीरस्य दुहितरि, कल्प०। आ० क०। आचा०।

अणोत्तप्प–अनवत्राप्य–त्रि०। अविद्यमानमवत्राप्यमवत्रपणं लज्जनं यस्य सोऽयमनवत्राप्योऽलज्जनीयः। अहीनसर्वाङ्गत्वेनालज्जाकरे, प्रव० ६४ द्वा०। दशा०।

अणोत्तप्पया–अनवत्रप्यता–स्त्री०। अलज्जनीयशरीरतायाम्, व्य० ६ उ०। (विशेषार्थस्तु 'अणवतप्पया' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३०२ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

अणोद्धंसिज्जमाण–अनुपध्वस्यमान–त्रि०। माहात्म्यादपास्यमाने, औ०।

अणोम–अनवम–त्रि०। मिथ्यादर्शनाऽविरत्यादिविपर्यस्ते, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०।

अणोमाणतर–अनवमानतर–त्रि०। अतिशयेनासङ्कीर्णे, भ० १३ श० ४ उ०।

अणोरपार–अनर्वाक्पार–त्रि०। अर्वाग्भागपरभागवर्जिते, पञ्चा० १५ विव०। अलब्धाऽपरपर्यन्ते, संथा०। विस्तीर्णस्वरूपे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा०। "अणोरपारं आगासं चेव निरालंबं" महत्त्वादनर्वाक्पारम्। प्रश्न० ३ आश्र० द्वा०। "जह सामि! नायमहा, सागरसलिले अणोरपारम्मि त्ति" अणोरपारमिति देशीयवचनं प्रचुरार्थं, उपचारात् मार्गात् भागपरभागरहिते, आ० म० द्वि०।

अणोल्लय–देशी–क्षणरहिते, निरवसरे च। दे० ना० १ वर्ग।

अणोवणिहिया–अनौपनिधिकी–स्त्री०। न विद्यते वक्ष्यमाणपूर्वानुपूर्व्यानुपूर्व्यादिक्रमेण विरचनं प्रयोजनं यस्य इत्यनौपनिधिकी। द्रव्यानुपूर्वीभेदे, यस्यां वक्ष्यमाणपूर्वानुपूर्व्यादिक्रमेण विरचना न क्रियते साऽव्यादिपरमाणुनिष्पन्नस्कन्धविषया आनुपूर्व्यनौपनिधिकीत्युच्यते। अनु०।

अणोवम–अनुपम–त्रि०। न विद्यते उपमा यस्यासावनुपमः। अतुले, "अतुलसुहसागरगया अव्वाबाहं अणोवमं पत्ता" औ०। स०।

अणोवमदंसि (ण्)–अनवमदर्शिन्–पुं०। अवमं हीनं मिथ्यादर्शनाऽविरत्यादि, तद्विपर्ययस्त्वनवमं तद् द्रष्टुं शीलमस्येत्यनवमदर्शी। सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रवति, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। "अनेलिसासु अणोवमदंसी निसन्नो पावेहिं कम्मेहिं कोहाइमाणं हणिया य वीरे" आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ०।

अणोवमसरीअ–अनुपमश्रीक–त्रि०। भ० श०। निरुपमशोभे, "अणोवमसरीआ दासीदासपरिवुडा" दश० ८ अ०।

अणोवमसुह–अनुपमसुख–न०। न विद्यते उपमा ऐकान्तिकात्यन्तिकत्वेन सकलाव्याबाधारहितत्वेन सर्वसुखातिशायित्वाद् यस्य तदनुपमानन्दस्वरूपं यस्मिन्स्तत्। मोक्षसुखे, "उपमणोवमसुहमुवगयाणं" इति। सम्म० १ काण्ड।

अणोवयमाण–अनवनमत्–त्रि०। अनवनमति, "अणोवयमा-

[illegible]

" अस्माद्विगुरेभ्यम् " इति । [illegible] वाक्यालङ्कारे हेतः, २ [illegible] । अनुमीय [illegible]-औ० ना० ।

[illegible]-देशी-नुगमर्थे. दे० ना० १ वर्ग ।

अग (ग्ग) इ (गि) लाय-अन्नग्लायक-पुं० । अन्नं भो-ज्जनं विना ग्लायतीति अन्नग्लायकः । [illegible]

गायमेहि जाव एवं वयासी-जावइयं णं भंते ! अन्नगि-लायए समणे निग्गंथे कम्मं णिज्जरेति एवइयं कम्मं णर-एसु णेरइयाणं वासेणं वासेहिं वा वाससएण वा खवेंति? णो इणट्ठे समट्ठे । जावइयं णं भंते ! चउत्थभत्तिए समणे णिग्गंथे कम्मं णिज्जरेति, एवइयं कम्मं णरएसु णे-रइया वाससएण वा वाससएहिं वा वाससहस्सेण वा ख-वयंति ? णो इणट्ठे समट्ठे । जावइयं णं भंते ! छट्ठभत्तिए समणे णिग्गंथे कम्मं णिज्जरेति, एवइयं कम्मं णरएसु णेरइया वाससहस्सेण वा वाससहस्सेहिं वा वाससयसह-स्सेण वा खवयंति ? णो इणट्ठे समट्ठे । जावतियं णं भंते ! अट्ठमभत्तिए समणे णिग्गंथे कम्मं णिज्जरेइ, एवइयं कम्मं णरएसु णेरइया वाससयसहस्सेण वा वाससयसहस्सेहिं वा वासकोडीए वा खवयंति ? णो इणट्ठे समट्ठे । जावइयं णं भंते ! दसमभत्तिए समणे णिग्गंथे कम्मं णिज्जरेइ, एव-इयं कम्मं णरएसु णेरइया वासकोडीए वा वासकोडीहिं वा वासकोडाकोडीए वा खवयंति ? णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? जावइयं अन्नगिलायए समणे णिग्गंथे कम्मं णिज्जरेइ, एवइयं कम्मं णरएसु णेरइया [illegible]

[illegible]

महाइं करेइ, महंताइं महंताइं दलाइं अवदालेइ, एवामेव गोयमा ! समणाणं णिग्गंथाणं अहाबादराइं कम्माइं सिढिलीकयाइं णिट्ठ जाव खिप्पामेव परिविद्धत्थाइं भवंति, जावइयं तावइयं जाव पज्जवमाणा भवंति । से जहा वा केइ पुरिसे सुक्कं तणहत्थगं जाव तेयंसि पक्खिवेज्जा, एवं जहा उद्दसए तहा अयोकवल्ले वि जाव पज्जवमाणा भवंति, से तेणट्ठे णं गोयमा ! एवं वुच्चइ जावइयं अण्णगिलायए समणे णिग्गंथे कम्मं णिज्जरेइ, तं चेव जाव कोडाकोडीए वा णो खवयंति ॥

(अण्णगिलायने त्ति) अन्नं विना ग्लायति ग्लानो भवतीति अन्नग्लायकः । प्रत्यग्रकूरादिनिष्पत्तिं यावद् बुभुक्षातुरतया प्रतीक्षितुमशक्नुवन् यः पर्युषितकूरादि प्रातरेव भुङ्क्ते, कूरगडुकप्राय इत्यर्थः । चूर्णिकारेण तु-निस्पृहत्वात् " सीयकूरभोई अंतपंताहारे त्ति " व्याख्यातम् । अथ कथमिदं प्रत्येयम्, यदुत नारको महाकष्टापन्नो महताऽपि कालेन तावत्कर्म न क्षपयति यावत्साधुरल्पकष्टापन्नोऽल्पकालेनेति ? । उच्यते दृष्टान्ततः स चायम्-[से जहा नामए केइ पुरिसे त्ति] यथेति दृष्टान्ते, नामेति संभावने, 'ए' इत्यलङ्कारे । [से त्ति] स कश्चित्पुरुषः । [जुण्णे त्ति] जीर्णो हानिगतदेहः । स च कारणवशादवृद्धत्वेऽपि स्यादत आह-(जराजज्जरियदेहे त्ति) व्यक्तम् । अत एव (सिढिलतया वलितरंगसंपिणद्धगत्ते त्ति) शिथिलया त्वचा वलितरङ्गैश्च संपिनद्धं परिगतं गात्रं देहो यस्य स तथा । (पविरलपरिसडियदंतसेढि त्ति) प्रविरलाः केचित्केचिच्च परिशटिता दन्ता यस्यां सा तथाविधा श्रेणिर्दन्तानामेव यस्य स तथा । (आउरे त्ति) आतुरो दुःस्थः [झुंझिए त्ति] बुभुक्षितः क्षुधितक इति टीकाकारः । (दुब्बले त्ति) बलहीनः [किलंते त्ति] मनःक्लमं गतः एवंरूपो हि पुरुषश्छेदने असमर्थो भवतीत्येवं विशेषितः (कोसंबगंडियं ति) 'कोसंब त्ति' वृक्षविशेषः, तस्य गण्डिका खण्डविशेषस्ताम् । (जडिलं ति) जटावतीं वलितोद्वलितामिति वृद्धाः । (गंठिल्लं ति) ग्रन्थिमतीम् । (चिक्कणं ति) श्लक्ष्णस्कन्धनिष्पन्नां (वाइद्धं ति) व्यादिग्धां विशिष्टद्रव्योपदिग्धाम्, वक्रामिति वृद्धाः । (अपत्तियं ति) अपात्रिकां अविद्यमानाधाराम्, एवंभूता च गण्डिका दुश्छेद्या भवतीत्येवं विशेषिता, तथा परशुरपि मुण्डोऽच्छेदको भवतीति मुण्ड इति विशेषितः । शेषं तूद्देशकान्तं यावत्सुगमत्वान्न व्याख्येयमिति । भ० १६ श० ३ उ० ।

अण्णउत्त-अन्योक्त-त्रि० । अन्यैः अविवेकिभिः कथिते, औ० ।

अण्णउत्थिय-अन्ययूथिक-पुं० । जैनयूथादन्यद् यूथं सङ्घान्तरं, तीर्थान्तरमित्यर्थः; तदस्ति येषां तेऽन्ययूथिकाः । उपा० १ अ० । अर्हत्सङ्घापेक्षयाऽन्येषु, औ० । चरकपरिव्राजकशाक्याऽऽजीवकवृद्धश्रावकप्रभृतिषु, नि० चू० २ उ० । परतीर्थिकेषु, औ० । हा० । नि० चू० । आचा० । सरजस्कादिषु, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । तीर्थान्तरीयेषु कपिलादिषु, हा० १० अ० ।

(१) अन्ययूथिकाः कालोदायिप्रभृतयः ।
(२) अन्ययूथिकैः सह विप्रतिपत्तिषु ऐहभविकस्य परभविकस्य वाऽऽयुषो विप्रतिपत्तिः ।
(३) एको जीव एकस्मिन् समये द्वे आयुषी प्रकरोतीत्यत्र अन्ययूथिकैः सह विवादः ।
(४) चलच्चलितमित्यादिकर्मादिषु कुतीर्थिकैः सह विप्रतिपत्तिः ।
(५) एकस्य जीवस्यैकस्मिन् समये क्रियाद्वयकरणेऽन्ययूथिकैः सह विप्रतिपत्तिः ।
(६) अदत्तादानादिक्रियाविषयेऽन्ययूथिकैः सह विप्रतिपत्तिः ।
(७) श्रमणानां कृता क्रिया क्रियेत नवेत्यत्र विवादः ।
(८) प्राणातिपातादौ तद्विरमणादौ च वर्तमानस्य जीवस्यान्यो जीवोऽन्यो जीवात्मेति विप्रतिपत्तयः ।
(९) परिचारणा कालगतस्य निर्ग्रन्थस्य भवति न वेति विवादः ।
(१०) बालबालपण्डितते अन्ययूथिकमतोक्तिः ये तयोर्विवादः ।
(११) भाषाविषयेऽन्ययूथिकानां मतोपन्यासः ।
(१२) पञ्चयोजनशतानि मनुष्यलोको मनुष्यैर्बहुसमाकीर्णः ।
(१३) सर्वे जीवाः अनेवंभूतां वेदनां वेदयन्ते इत्यत्र विवादः ।
(१४) शीलं श्रेयः, श्रुतं श्रेय इत्यत्रान्ययूथिकैः सह विवादः ।
(१५) सर्वजीवानां सुखविषये विप्रतिपत्तयः ।
(१६) राजगृहनगरस्य बहिर्वैभारपर्वतस्याधःस्थस्य ह्रदस्य विषये विप्रतिपत्तयः ।
(१७) संसर्गस्तु कापिलादिभि सह न समाचरणीय इत्यत्रागाढवचनम् ।
(१८) उदकद्रोणिकाऽन्ययूथिकैः सह न समाचरणीया ।
(१९) तथाऽन्ययूथिकैरुपकरणरचना ।
(२०) तथा सूचीप्रभृत्युपकरणान्यन्ययूथिकेन न कारयितव्यानि
(२१) तथा शिक्यकादिकोपकरणकारणम् ।
(२२) अन्ययूथिकादिभिः सह गोचरचर्यायै न प्रविशेत् ।
(२३) (दानम्) अन्ययूथिकेभ्योऽशनादि न देयम् ।
(२४) तथा धातुप्रवेदनम् ।
(२५) तथा पादानामामर्दनप्रमार्जनम् ।
(२६) तथा पदमार्गादि ।
(२७) तथा भूतिकर्मादि मार्गप्रवेदनं च ।
(२८) (याचना) अन्ययूथिकाः पार्श्वस्थो गृहिणः कुशीला वा न प्रव्राजनीयाः ।
(२९) विचारभूमेर्विहारभूमेर्वा निष्क्रमणम् ।
(३०) विहारः ।
(३१) (शिक्षा) अन्ययूथिकस्य वा गृहस्थस्य शिल्पादिशिक्षणम् ।
(३२) अन्ययूथिकादिभिः संघाटीसीवनम् ।
(३३) अन्ययूथिकादिभिः सह संभोगः ।
(३४) अन्ययूथिकैः सूच्युपकरणम् ।

(१) तत्र अन्ययूथिकाः कालोदायिप्रभृतयः—

ते णं काले णं ते णं समए णं रायगिहे नामं नयरे होत्था । वण्णओ । गुणसिलए चेइए वण्णओ जाव पुढविसिलापट्टओ । तस्स णं गुणसिलयस्स चेइयस्स अदूरसामंते बहवे अण्णउत्थिया परिवसंति । तं जहा-कालोदाई, सेलोदाई, सेवालोदाई, उदए, नामुदए, नम्मुदए, अण्णवालए, सेलवाए, संखवालए, सुहत्थी, गाहावई, तए णं तेसिं अण्णउत्थियाणं अण्णया कयाइं एगओ सहियाणं समु-

रागयाणं सन्निविट्ठाणं संनिसएणाणं अयमेयारूवे मिहो-कहासमुल्लावे समुप्पज्जित्था । एवं खलु समणे नायपुत्ते पंच अत्थिकाए पएणवेइ, धम्मत्थिकायं जाव आगासत्थिकायं । तत्थ णं समणे नायपुत्ते चत्तारि अत्थिकाए अजीवकाए पएणवेइ । तं जहा-धम्मत्थिकायं अहम्मत्थिकायं आगासत्थिकायं पोग्गलत्थिकायं एगं च णं समणे नायपुत्ते जीवत्थिकायं अरूविकायं जीवकायं पएणवेइ । तत्थ णं समणे नायपुत्ते चत्तारि अत्थिकाए अरूविकाए पएणवेइ । तं जहा-धम्मत्थिकायं अधम्मत्थिकायं आगासत्थिकायं जीवत्थिकायं एगं च णं समणे नायपुत्ते पोग्गलत्थिकायं रूविकायं अजीवकायं पएणवेइ । से कहमेयं ?, मन्ने एवं ? तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे जाव० गुणसिलए चेइए समोसढे जाव परिसा पडिगया । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूई णामं अणगारे गोयमगोत्तेणं एवं जहा बितिए सए नियंठुद्देसए जाव भिक्खायरियाए अडमाणे अहापज्जत्तं भत्तपाणं पडिग्गहित्ता रायगिहाओ जाव अतुरियमचवलमसंभंते जाव रियं सोहेमाणे २ तेसिं अन्नउत्थियाणं अदूरसामंतेणं वीइवयइ । तए णं ते अन्नउत्थिया भगवं गोयमं अदूरसामंतेणं वीइवयमाणं पासंति, पासित्ता अन्नमन्नं सद्दावेंति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं इमा कहा अविप्पकडा, अयं च णं गोयमे अम्हं अदूरसामंतेणं वीइवयइ, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं गोयमं एयमट्ठं पुच्छित्तए त्ति कट्टु अन्नमन्नस्स अंतियं एयमट्ठं पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता भगवं गोयमं एवं वयासी-एवं खलु गोयमा ! तव धम्मायरिए धम्मोवएसए समणे नायपुत्ते पंच अत्थिकाए पएणवेइ । तं जहा-धम्मत्थिकायं जाव आगासत्थिकायं, तं चेव जाव रूविकायं अजीवकायं पएणवेइ । से कहमेयं गोयमा ! एवं ? तए णं से भगवं गोयमे ते अन्नउत्थिए एवं वयासी-नो खलु देवाणुप्पिया ! अत्थिभावं नत्थि त्ति वयामो, नत्थिभावं अत्थि त्ति वयामो, अम्हे णं देवाणुप्पिया ! सव्वं अत्थिभावं अत्थि त्ति वयामो, सव्वं नत्थिभावं नत्थि त्ति वयामो, तं चेयसा खलु तुब्भे देवाणुप्पिया ! एयमट्ठं सयमेव पच्चुवेक्खह त्ति कट्टु ते अन्नउत्थिए एवं वयासी-जेणेव गुणसिलए चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे एवं जहा नियंठुद्देसए जाव भत्तपाणं पडिदंसेइ, पडिदंसेत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, नमंसित्ता नच्चासन्ने जाव पज्जुवासइ ।

[illegible]

स्थाने समागतानामागत्य च (सन्निविट्ठाणं ति) । उपविष्टानाम्, उपवेशनं चोत्कुटुकत्वादिनाऽपि स्यादत आह-(संनिसएणाणं ति) सङ्गततया निषएणानां सुखासीनानामिति यावत् । (अत्थिकाए त्ति) प्रदेशराशीन् (अजीवकाए त्ति) अजीवाश्च तेऽचेतनाः, कायाश्च राशयो अजीवकायास्तान् । 'जीवत्थिकायं' इत्येतस्य स्वरूपविशेषणायाह-(अरूविकायं ति) अमूर्तमित्यर्थः । (जीवकायं ति) जीवनं जीवो ज्ञानाद्युपयोगः, तत्प्रधानः कायो जीवकायोऽतस्तं कैश्चिज्जीवास्तिकायो जडतयाऽभ्युपगम्यते, अतस्तन्मतव्युदासायेदमुक्तमिति । (से कहमेयं मन्ने एवं ति) अथ कथमेतदस्तिकायवस्तु, मन्ये इति वितर्कार्थः । एवममुनाऽचेतनादिविभागेन भवतीति तेषां समुल्लापः (इमा कहा अविप्पकडा त्ति) इयं कथा एषाऽस्तिकायवक्तव्यताऽस्यानुकूल्येन प्रकृता प्रक्रान्ता । अथवा न विशेषेण प्रकटा प्रतीता अविप्रकटा । "अविउप्पकडा त्ति" पाठान्तरम् । तत्र अविद्वत्प्रकृता अविद्वत्प्रकृता, अथवा न विशेषत उत्प्राबल्यतश्च प्रकटा अव्युत्प्रकटा । (अयं च त्ति) अयं पुनः (तं चेयसा इ त्ति) यस्मादयं सर्वमस्तिभावमेवास्तीति वदामः, तथाविधसंवाददर्शनेन भवतामपि प्रसिद्धमिदं तत्तस्माच्चेतसा मनसा "वेदस त्ति" पाठान्तरे-ज्ञानेन प्रमाणाबाधितत्वप्रकर्षेण (पच्चुवेक्खह त्ति) अमुमस्तिकायस्वरूपलक्षणमर्थं स्वयमेव प्रत्युपेक्षध्वं पर्यालोचयतेति ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे महाकहापडिवन्ने या वि होत्था । कालोदाई य तं देसं हव्वमागए कालोदाइ त्ति समणे भगवं महावीरे कालोदाइं एवं वयासी-से नूणं ते कालोदाई ! अन्नया कयाइं एगयओ सहियाणं समुवागयाणं तहेव जाव से कहमेयं मन्ने एवं से नूणं कालोदाई ! अट्ठे समट्ठे ? हंता ! अत्थि । तं सच्चे णं एसमट्ठे कालोदाई ! अहं पंच अत्थिकाए पएणवेमि, तं जहा-धम्मत्थिकायं जाव पोग्गलत्थिकायं तत्थ णं अहं चत्तारि अत्थिकाए अजीवकाए अजीवत्ताए पएणवेमि, तहेव जाव एगं च णं अहं पोग्गलत्थिकायं रूविकायं पएणवेमि, तए णं से कालोदाई समणं भगवं महावीरं एवं वयासी-एयंसि णं भंते ! धम्मत्थिकायंसि अधम्मत्थिकायंसि आगासत्थिकायंसि अरूविकायंसि अजीवकायंसि चक्किया केइ आसइत्तए वा सइत्तए वा चिट्ठित्तए वा निसीइत्तए वा तुयट्टित्तए वा ? । णो इणट्ठे समट्ठे । कालोदाई ! एगंसि णं पोग्गलत्थिकायंसि रूविकायंसि अजीवकायंसि चक्किया केइ आसइत्तए वा जाव तुयट्टित्तए वा । एयंसि णं भंते ! पोग्गलत्थिकायंसि रूविकायंसि अजीवकायंसि जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ? । णो इणट्ठे समट्ठे । कालोदाई ! एयंसि णं जीवत्थिकायंसि अरूविकायंसि जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ? । हंता ! कज्जंति । एत्थ णं से कालोदाई संबुद्धे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ । नमंसित्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अंतियं धम्मं निसामेत्तए एवं जहा

खंदए तहेव पव्वइए तहेव एक्कारस अंगाणि० जाव विहरइ, तए णं समणे भगवं महावीरे अण्णया कयाइं रायगिहाओ णयराओ गुणसिलाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ । पडिनिक्खमइत्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ। ते णं काले णं ते णं समए णं रायगिहे नामं नगरे गुणसिलए नामं चेइए होत्था । तए णं समणे भगवं महावीरे अण्णया कयाइं जाव समोसढे जाव परिसा पडिगया, तए णं से कालोदाई अणगारे अण्णया कयाइं जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ। नमंसइत्ता एवं वयासी—

(महाकहापडिवन्ने त्ति) महाकथाप्रबन्धेन महाजनस्य तत्त्वदेशना (एयंसि णं ति) एतस्मिन्नुक्तस्वरूपे (चक्किया केइ त्ति) शक्नुयात्कश्चित् । (एयंसि णं भंते ! पोग्गलत्थिकायंसीत्यादि) अयमस्य भावार्थः—जीवसंबन्धीनि पापकर्माणि अशुभस्वरूपफललक्षणविपाकदायीनि पुद्गलास्तिकायेन भवन्ति, अचेतनत्वेनानुभववर्जितत्वात्तस्य, जीवास्तिकाये एव च तानि तथा भवन्ति । अनुभवयुक्तत्वात्तस्येति प्राक्कालोदायिप्रश्नद्वारेण कर्मबन्धस्तोक्ता । अधुना तु तत्प्रश्नद्वारेणैव तान्येव यथा पापफलविपाकादीनि भवन्ति । तथोपदर्शयिषु—

अत्थि णं भंते ! जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ? । हंता ! अत्थि । कहं णं भंते ! जीवाणं पावा कम्मा पावफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ?। कालोदाई ! से जहा नामए केइ पुरिसे मणुण्णं थालीपागसुद्धं अट्ठारसवंजणाउलं विसमिस्सं भोयणं भुंजेज्जा, तस्स भोयणस्स आवाए भद्दए भवइ, तओ पच्छा परिणममाणे २ दुरूवत्ताए दुग्गंधत्ताए जहा महव्वए जाव भुज्जो भुज्जो परिणमइ, एवामेव कालोदाई ! जीवाणं पाणाइवाए जाव मिच्छादंसणसल्ले तस्स णं आवाए भद्दए भवइ, तओ पच्छा परिणममाणे २ दुरूवत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ, एवं खलु कालोदाई ! जीवाणं पावा कम्मा जाव कज्जंति । अत्थि णं भंते ! जीवाणं कल्लाणकम्मा कल्लाणफलविवागसंजुत्ता कज्जंति ? । हंता अत्थि । कहं णं भंते ! जीवाणं कल्लाणकम्मा० जाव कज्जंति ?। कालोदाई ! से जहा नामए केइ पुरिसे मणुण्णं थालीपागसुद्धं अट्ठारसवंजणाउलं ओसहमिस्सं भोयणं भुंजेज्जा, तस्स णं भोयणस्स आवाए नो भद्दए भवइ, तओ पच्छा परिणममाणे परिणममाणे सुरूवत्ताए सुवण्णत्ताए जाव सुहत्ताए नो दुक्खत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ, एवामेव कालोदाई! जीवाणं पाणाइवायवेरमणे जाव परिग्गहवेरमणे कोहविवेगे जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे तस्स णं आवाए नो भद्दए भवइ, तओ पच्छा परिणममाणे परिणममाणे सुरूवत्ताए० जाव नो दुक्खत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमइ । एवं खलु कालोदाई ! जीवाणं कल्लाणकम्मा० जाव कज्जंति । दो भंते ! पुरिसा सरिसया जाव सरिसभंडमत्तोवगरणा अण्णमण्णेणं सद्धिं अगणिकायं समारंभंति, तत्थ णं एगे पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, एगे पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ । एएसि णं भंते ! दोण्हं पुरिसाणं कयरे पुरिसे महाकम्मतराए चेव महाकिरियतराए चेव महासवतराए चेव महावेयणतराए चेव?, कयरे वा पुरिसे अप्पकम्मतराए चेव जाव अप्पवेयणतराए चेव, जे वा से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, जे वा से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ ?। कालोदाई ! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, से णं पुरिसे महाकम्मतराए चेव जाव महावेयणतराए चेव, तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ, से णं पुरिसे अप्पकम्मतराए चेव० जाव अप्पवेयणतराए चेव । से केणट्ठे णं भंते ! एवं वुच्चइ; तत्थ णं जे से पुरिसे जाव अप्पवेयणतराए चेव ? । कालोदाई ! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, से णं पुरिसे बहुतरायं पुढवीकायं समारंभइ, बहुतरायं आउकायं समारंभइ, अप्पतरायं तेउकायं समारंभइ, बहुतरायं वाउकायं समारंभइ, बहुतरायं वणस्सइकायं समारंभइ, बहुतरायं तसकायं समारंभइ, तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ, से णं पुरिसे अप्पतरायं पुढविकायं समारंभइ, अप्पतरायं आउकायं समारंभइ, बहुतरायं तेउकायं समारंभइ, अप्पतरायं वाउकायं समारंभइ, अप्पतरायं वणस्सइकायं समारंभइ, अप्पतरायं तसकायं समारंभइ, से तेणट्ठे णं कालोदाई ! जाव अप्पवेयणतराए चेव ॥

(अत्थि णमित्यादि) अस्तीदं वस्तु यदुत जीवानां पापानि कर्माणि, पापो यः फलरूपो विपाकः, तत्संयुक्तानि भवन्तीत्यर्थः । (थालीपागसुद्धं ति) स्थाल्याम्-उखायां,पाको यस्य तत् स्थालीपाकम्, अन्यत्र हि पक्वमपक्वं वा; न तथाविधं स्यादितीदं विशेषणं शुद्धं भक्तदोषवर्जितं ततः, कर्मधारयः। स्थालीपाकेन वा शुद्धमिति विग्रहः। (अट्ठारसवंजणाउलं त्ति) अष्टादशभिर्लोकप्रतीतैर्व्यञ्जनैः शालनकैः तक्रादिभिर्वा; आकुलं सङ्कीर्णं यत्तत्तथा । अथवाऽष्टादशभेदं च तद् व्यञ्जनाकुलं चेति। अत्र भेदपदलोपेन समासः। अष्टादश भेदाश्चैते—"सूओ १ दणो २ जवण्णं ३, तिन्नि य मंसाइँ ६ गोरसो ७ जूसो ८। भक्खा ९ गुल लावणिया १०, मूलफल ११ हरियगं १२ डागो १३ ॥ १ ॥ होय रसालू य १४ तहा, पाणं १५ पाणीय १६ पाणगं चेव १७। अट्ठारसमो सागो १८, निरुवहओ लोइओ पिंडो" ॥ २ ॥ तत्र मांसत्रयं जलचरादिसत्कं, जूषो मुद्गतन्दुलजीरककटुभाण्डादिरसः, भक्ष्याणि खण्डखाद्यादीनि, गुललावणिया गुडपर्पटिका लोकप्रसिद्धा, गुडधाना वा । मूलफलान्येकमेव पदं, हरितकं जीरकादि, डाको वास्तुकादिभर्जिका, रसालू मज्जिका,

[४] [कर्म] चलदचलितमित्यादिकर्मादिषु कुतीर्थिकैः सह विप्रतिपत्तिः-

अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति०, जाव परूवेंति । एवं खलु चलमाणे अचलिए० जाव निज्जरिज्जमाणे अनिज्जिण्णे दो परमाणुपोग्गला एगयओ न साहण्णंति, कम्हा दो परमाणुपोग्गलाणं णत्थि सिणेहकाए०, दो परमाणुपोग्गला एगयओ न साहण्णंति, तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति, कम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति ? तिण्णि परमाणुपोग्गलाणं अत्थि सिणेहकाए, तम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति । ते भिज्जमाणा दुहा वि तिहा वि कज्जंति, दुहा किज्जमाणा एगयओ दिवड्ढे परमाणुपोग्गले भवइ, एगयओ दिवड्ढे परमाणुपोग्गले भवइ, तिहा कज्जमाणा तिण्णि परमाणुपोग्गला हवंति, एवं जाव चत्तारि पंच परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति, एगयओ साहणित्ता दुक्खत्ताए कज्जंति, दुक्खे वि य णं से नासए सया समियं उवचिज्जइ य अवचिज्जइ य पुव्विं भासा भासा भासिज्जमाणी भासा अभासा भासा समयं विइक्कंतं च णं भासिया भासा अभासा, जा सा पुव्विं भासा भासा भासिज्जमाणी भासा अभासा भासासमयं विइक्कंतं च णं भासिया भासा अभासा सा किं भासओ भासा अभासओ भासा ? अभासओ णं सा भासा, णो खलु सा भासओ भासा, पुव्विं किरिया दुक्खा कज्जमाणी किरिया अदुक्खा किरिया समयं विइक्कंतं च णं कडा किरिया दुक्खा जा सा पुव्विं किरिया दुक्खा कज्जमाणा किरिया अदुक्खा किरिया समयं विइक्कंतं च णं कडा किरिया दुक्खा सा किं करणओ दुक्खा अकरणओ दुक्खा, अकरणओ णं सा दुक्खा, णो खलु सा करणओ दुक्खा, सेवं वत्तव्वं सिया, अकिच्चं दुक्खं अफुसं दुक्खं अकज्जमाणकडं दुक्खं अकट्टु अकट्टु पाणभूयजीवसत्ता वेयणं वेदेंति त्ति वत्तव्वं सिया, से कहमेयं भंते ! एवं ? । गोयमा ! जं णं ते अण्णउत्थिया एवमाइक्खंति० जाव वेयणं वेदेंति वत्तव्वं सिया, जे ते एवमाहंसु मिच्छं ते एवं आहंसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि० ४, एवं खलु चलमाणे चलिए जाव णिज्जरिज्जमाणे णिज्जिण्णे दो परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति, कम्हा दो परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति ?, दोण्हं परमाणुपोग्गलाणं अत्थि सिणेहकाए, तम्हा दो परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति, ते भिज्जमाणा दुहा कज्जंति, दुहा कज्जमाणा एगयओ वि परमाणुपोग्गले एगयओ परमाणुपोग्गले भवइ । तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति, कम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति ?, तिण्हं परमाणुपोग्गलाणं अत्थि सिणेहकाए, तम्हा तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति, ते भिज्जमाणा दुहा वि तिहा वि कज्जंति, दुहा कज्जमाणा एगयओ परमाणुपोग्गले एगयओ दुपएसिए खंधे भवइ, तिहा कज्जमाणा तिण्णि परमाणुपोग्गला भवंति, एवं जाव चत्तारि पंच परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति, साहणित्ता खंधत्ताए कज्जंति, खंधे वि य णं से असासए सया समियं उवचिज्जइ य अवचिज्जइ य पुव्विं भासा अभासा भासिज्जमाणी भासा भासा भासासमयं विइक्कंतं च णं भासिया भासा अभासा, जा सा पुव्विं भासा अभासा भासिज्जमाणी भासा भासा भासासमयं विइक्कंतं च णं भासिया भासा अभासा, सा किं भासओ भासा, अभासओ भासा ?। भासओ णं भासा सा, णो खलु सा अभासओ भासा । पुव्विं किरिया अदुक्खा जहा भासा तहा भाणियव्वा, किरिया वि जाव करणओ णं सा दुक्खा, णो खलु सा अकरणओ दुक्खा सेवं वत्तव्वं सिया, किच्चं दुक्खं फुसं दुक्खं कज्जमाणकडं दुक्खं कट्टु कट्टु पाणभूयजीवसत्ता वेदणं वेदेंति त्ति वत्तव्वं सिया ।

(चलमाणे अचलिय त्ति) चलत्कर्माचलितं, चलता तेन चा... कार्यकरणाद् वर्तमानस्य चातीततया व्यपदेष्टुमशक्यत्वा... न्यथापि वाच्यमिति । (एगयओ न साहण्णंति त्ति) एकत ए... एकस्कन्धतयेत्यर्थः । न संहन्येते न संहतौ मिलितौ स्या... (नत्थि सिणेहकाए त्ति) स्नेहपर्यवराशिर्नास्ति सूक्ष्मत्वात्, ... दिषां तु स्थूलत्वात्सोऽस्ति । (दुक्खत्ताए कज्जंति त्ति) ... स्पृष्टाः संहत्य दुःखतया कर्मतया क्रियन्ते भवन्तीत्यर्थः । ... दुक्खे वि य णं ति) कर्मापि च (से त्ति) तत् शाश्वतमना... त । (सया त्ति) सर्वदा (समियं ति) सम्यक्सपरिमाणं ... चीयते चयं याति, अपचीयते अपचयं याति, तथा [पुव्विं ... भाषणात्प्राग् भासेति वाग्द्रव्यसंहतिः । [भास त्ति] सत्... भाषा स्यात्तत्कारणत्वात् विभङ्गज्ञानित्वेन वा; तेषां मतम... तन्निदर्शनं चिकमुन्मत्तवचनवत् । अतो नेहोपपत्तिरत्यर्थं गवे... या । एवं सर्वत्रापीति । तथा [भासिज्जमाणी भासा अभास... निसृज्यमानवाग्द्रव्याण्यभाषा, वर्तमानसमयस्यातिसूक्ष्मत्वे... व्यवहारानङ्गत्वादिति । [भासासमयविइक्कंतं च णं ति] इ... प्रत्ययस्य भावार्थत्वात् विनाकि विपरिणामाच भाषासमय... कमे च । [भासिय त्ति] निसृष्टा सती भाषा भवति, प्रति... स्याभिधेये प्रत्ययोत्पादकत्वादिति । [अभासओ णं भास... अभाषमाणस्य भाषा, भाषणात्पूर्वं पश्चाच्च तदभ्युपगमात् ... खलु भासओ त्ति] भाष्यमाणायास्तस्या अनभ्युपगमाद्... तथा [पुव्विं किरियेत्यादि] क्रिया कायिक्यादिका सा... यावन्न क्रियते तावत् [दुक्ख त्ति] दुःखहेतुः [कज्जमाणी ... क्रियमाणा क्रिया न दुःखा न दुःखहेतुः क्रियासमयव्य... क्रमे च क्रियायाः क्रियमाणता, व्यतिक्रमे च कृता ... क्रिया दुःखेति । इदमपि तन्मतमात्रमेव निरुपपत्तिकम् । ... पूर्वं क्रिया दुःखानभ्यासात् क्रियमाणा क्रिया न दुःखा ... स्याभावात् कृता क्रिया दुःखानुपतापश्रमादेः [करणओ ... क्ख त्ति] करणमाश्रित्य करणकाले कुर्वत इत्यर्थः । [...

रणओ दुक्ख त्ति] अकरणमाश्रित्य अकुर्वत इति यावत [नो खलु सा करणओ दुक्ख त्ति] आक्रियमाणत्वे दुःखतया तस्या अभ्युपगमात । [सेवं वत्तव्वं सिया] अथ एवं पूर्वोक्तं वस्तु वक्तव्यं स्यादुपपन्नत्वादस्येति । अथान्ययूथिकान्तरमतमाह- अकृत्यमनागतकालापेक्षया अनिर्वर्तनीयं जीवैरिति गम्यं, दुःखमसातं तत्कारणं वा कर्म, तथा अकृत्यस्त्वादेवास्पृश्यमबन्धनीयं तथा क्रियमाणं वर्तमानकाले कृतं, चातीतकाले तन्निषेधादक्रियमाणकृतं कालत्रयेऽपि कर्मणो बन्धनिषेधादकृताऽकृता। आभीक्ष्ण्ये द्विर्वचनं , दुःखमिति प्रकृतमेव । के इत्याह-प्राणभूतजीवसत्त्वाः । प्राणादिलक्षणं चेदम्-" प्राणा द्वित्रिचतुः प्रोक्ताः, भूतास्तु तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वा इतीरिताः" ॥१॥ [वेयणं ति] शुभाशुभकर्मवेदनां पीडां वा वेदयन्त्यनुभवन्ति । इत्येतद्वक्तव्यं स्यादर्थावबोधेऽपपद्यमानत्वात् । यादृच्छिकं हि सर्वलोके सुखदुःखमिति। यदाह-" अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं, चित्रं जनानां सुखदुःखजातम् । काकस्य तालेन यथाऽभिघातो, न बुद्धिपूर्वोऽत्र वृथाऽभिमानः " ॥१॥ [से कहमेयं ति] अथ कथमेतत् भदन्त ! एवमन्ययूथिकोक्तन्यायेनेति प्रश्नः ? । [जण्णं ते अण्णउत्थिय] इत्याद्युत्तरम् । व्याख्या चास्य प्राग्वत् । मिथ्या चैवमिदं यदि चलदेव प्रथमसमये चलितं न भवेत्तदा द्वितीयादिष्वपि तदचलितमेवेति न कदाचनापि चलेदत एव वर्तमानस्यापि विवक्षया अतीतत्वं न विरुद्धम । एतच्च प्रागेव निर्णीतमिति न पुनरुच्यते । यच्चोच्यते-चलितकार्याकरणादचलितमेवेति । तदयुक्तम् । यतः प्रतिक्षणमुत्पद्यमानेषु स्थासकोशादिवस्तुष्वन्यक्षणभाविवस्तु आद्यक्षणे स्वकार्यं न करोत्येव, असत्त्वात्, अतो यदन्त्यक्षणचलितकार्यं विवक्षितं परेण तदाद्यसमयचलितं यदि न करोति तदा क इव दोषोऽत्र कारणानां स्वस्वकार्यकरणस्वभावत्वादिति । यच्चोक्तम्-द्वौ परमाणू न संहन्येते, सूक्ष्मतया स्नेहाभावात् । तदयुक्तम् । एकस्यापि परमाणोः स्नेहसंभवात् । सार्द्धपुद्गलस्य तदतत्त्वेन तैरेवाभ्युपगमाच्च । यत उक्तम्-[तिण्णि परमाणुपोग्गला एगयओ साहण्णंति, ते भिज्जमाणा दुहा वि तिहा वि कज्जंति, दुहा कज्जमाणा एगयओ दिवड्ढे त्ति] अनेन हि सार्द्धपुद्गलस्य तदतत्त्वाभ्युपगमेन तस्य स्नेहोऽभ्युपगत एवेत्यतः कथं परमाण्वोः स्नेहाभावेन संघाताभाव इति । यच्चोक्तम्-एकतः सार्द्धं एकतः सार्द्धं इति । एतदप्यसाधु । परमाणोरर्द्धीकरणे परमाणुत्वाभावप्रसङ्गात् । तथा यदुक्तम्-पञ्च पुद्गलाः संहताः कर्मतया भवन्ति । तदप्यसङ्गतम् । कर्मणोऽनन्तपरमाणुतयाऽनन्तस्कन्धरूपत्वात्, पञ्चाणुकस्य च स्कन्धमात्रत्वात् । तथा कर्मजीवावरणस्वभावमिष्यते, तच्च कथं पञ्चपरमाणुस्कन्धमात्ररूपं सदसंख्यातप्रदेशात्मकं जीवमावृणुयादिति । तथा यदुक्तम्-कर्म च शाश्वतम् । तदप्यसमीचीनम । कर्मणः शाश्वतत्वे क्षयोपशमाद्यभावेन ज्ञानादीनां हानेरुत्कर्षस्य चाभावप्रसङ्गात् । दृश्यते च ज्ञानादिहानिवृद्धी । तथा यदुक्तम्-कर्म सदा चीयते अपचीयते चेति । तदप्येकान्तशाश्वतत्वे नोपपद्यत इति । यच्चोक्तम्-प्राक् भाषणाद् भाषा, सत्यादिनिमित्तत्वात् । तदयुक्तमेव । औपचारिकत्वात् । उपचारस्य च तत्त्वतोऽवस्तुत्वात् । किञ्च । उपचारस्तात्त्विके वस्तुनि सति भवतीति तात्त्विकी भाषाऽस्तीति सिद्धम् । यच्चोक्तम्-भाष्यमाणा अभाषा, वर्तमानसमयस्याव्यवहारिकत्वात । तदप्यसत् । वर्तमानसमयस्यैवास्तित्वेन व्यवहारत्वाद्तीतानागतयोश्च विनष्टानुत्पन्नतया सत्त्वेन व्यवहाराङ्गत्वादिति । यच्चोक्तम्-भाषासमयेत्यादि । तदप्यसाधु । भाष्यमाणतायाः प्रभावे भाषासमय इत्यस्यानिष्टत्वाभावप्रसङ्गात । यच्च प्रतिपाद्यस्याभिधेयं प्रत्यायनाद्भाष्यमाणादिति हेतुः । सोऽनैकान्तिकः । करादिचेष्टानामभिधेयप्रत्यायकत्वे सत्यपि भाषात्वासिद्धेः । तथा यदुक्तम्-अभाषकस्य भाषेति । तदसङ्गततरम् । एवं हि सिद्धस्याचेतनस्य वा भाषाप्रसङ्ग इति । एवं क्रियाऽपि वर्तमानकाल एव युक्ता, तत्रैव सत्त्वादिति । यच्चानन्त्यासमयस्यास्तित्वादिकं कारणमुक्तम् । तच्चानैकान्तिकम् । अनन्त्यासमयादावपि यतः कान्तिन्नुभाादिकरणे । तथा यदुक्तम्-अकरणतः क्रिया दुःखेति । तदपि प्रतिनिषाधितम् । यतः करणकाल एव क्रिया दुःखा वा सुखा वा दृश्यते, न पुनः पूर्वं पश्चाद्वा; तदसत्त्वादिति । तथा यदुक्तम्-'अकिच' मित्यादि, तदप्यसत्त्वादिमतावग्रहणात् । तदप्यसाधीय । यतो यद्यकृतमेव कर्म दुःखं सुखं वा स्यात्तदा विविधैहिकपारलौकिकानुष्ठानवैयर्थ्यप्रसङ्गः स्यात् । अनुपगतं च विविधपारलौकिकानुष्ठाननैतिकेति । एवमेतत्सर्वमसमञ्जसमिति । तत्र च वृद्धाः- " दरिसिज्जइ एएण य, पढमसमए इमम्मि कज्जे । निज्जीणा देसा, सहेवा वा वि ता सव्वा ॥ १ ॥ तत्तुल्लयभावेण, सेसा कज्जाइ होंति विसरिसा । दसमण्णसम्मविसिं, सो अन्नाणं ति निद्दिट्ठं ॥ २ ॥" अङ्केन परमाणोरन्यङ्कनमस्तोदि, अनङ्केन सर्वतोऽपि अङ्कं चेतत्यं, अङ्केन परमाणो राङ्कं निष्प्रदेशत्वं, अनङ्केन सर्वतोऽपि स्यादङ्गत्वमेवं ज्ञेयमिति । [अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि] इत्यादि तु प्रतीतार्थमेवेति, नवरं [दोण्ह परमाणुपोग्गलाणं अत्थि सिणेहकाए त्ति] एकस्यापि परमाणोः स्नेहसद्भावात् द्वयोः स्नेहकायः स्वेद इति । इत्यर्थं प्रपञ्चयन्ति । तथा द्वयोरपि भावे स्निग्धत्वेऽपि स्नेहभावोऽस्त्येव । ततश्च तौ विषमस्नेहत्वात्संहन्येते । इह च परमाणुपुद्गलो च । अन्यथा स्नेहवति समस्नेहत्वे संहत्येते । एवं यदाह-"समनिद्धयाए बंधो, न होइ समलुक्खयाए वि न होइ । वेमायनिद्धलुक्ख-त्तणेण बंधो उ खंधाणं " ॥ १ ॥ ति । [खंधे वि य णं से असासए त्ति] उपचयापचयिकत्वात् । अत एवाह-[सया समियमित्यादि] [पुव्वि भासा अभास त्ति] सत्यत्वाद् इति भाषा, आश्रवात पूर्वं न भाष्यत इति न भवतीति । [भासिज्जमाणी भास त्ति] शब्दार्थप्रत्यायकत्वात् [भासासमयवीइक्कंतं च णं भासिया अभास त्ति] शब्दार्थविनाशात् । [पुव्वि किरिया अदुक्खा त्ति] करणात्पूर्वं क्रियैव नास्तीत्यसत्त्वादेव न दुःखा, सुखा इति मात्राभावत्वादेव, केवलं परमार्थतः कृता दुःखा दुःखमुक्तम् 'कज्जमाणी किरिय' त्ति वचनात् । [कज्जमाणी किरिया दुक्खा] करणसमयवर्तमाना क्रिया दुःखमुक्तम्, तद्वचनानुरूपेण । अन्यथा सुखाऽपि क्रियासमयेऽपि क्रिया । तथा [किरियासमयवीइक्कंतं च णमित्यादि] द्रष्टव्यम् । [किच्चं दुक्खमित्यादि] कृत्वा च करणं चान्वेति, प्राणादिभिः कर्मवेदकत्वादुक्तम् । तथा " इह दुक्खं ति तत्र दुःखहेतुत्वात्कर्म... न तु बिभिन्नधर्मसंवेदनम् , प्रकृतम् । कारणं विशिष्टहेतुः स्वकर्मेति । उक्तं च-"कम्मं दुक्खं च सहं , पावं निम्मले य सा किया होइ । कज्जमाणं कम्मं दुक्खं च से कम्मं " ॥ १ ॥ भ० १ श० १० उ० ।

[४][बिहा]

पुनरप्यन्ययूथिकान्तरमतमुपदर्शयन्नाह-

अएणउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति० जाव एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-इरियावहियं च, संपराइयं च । जं समयं इरियावहियं पकरेइ तं समयं संपराइयं पकरेइ. जं समयं संपराइयं पकरेइ तं समयं इरियावहियं पकरेइ । इरियावहियपकरणयाए संपराइयं पकरेइ, संपराइयपकरणयाए इरियावहियं पकरेइ, एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-इरियावहियं च, संपराइयं च । से कहमेयं भंते ! एवं ? । गोयमा ! जएणं ते अएणउत्थिया एवमाइक्खंति तं चेव जाव० । जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि ४-एवं खलु एगे जीवे एगसमए एक्कं किरियं पकरेइ, ससमयवत्तव्वयाए नेयव्वं० जाव इरियावहियं संपराइयं वा ॥

[अएणउत्थिया णमित्यादि] तत्र च [इरियावहियं ति] ईर्या गमनं, तद्विषयः पन्था मार्ग ईर्यापथस्तत्र भवा ऐर्यापथिकी, केवलकाययोगप्रत्ययः कर्मबन्ध इत्यर्थः । [संपराइं च त्ति] संपरैति परिभ्रमति प्राणी भवे एभिरिति संपरायाः कषायाः, तत्प्रत्यया या सा साम्परायिकी, कषायहेतुकः कर्मबन्ध इत्यर्थः । [परउत्थियवत्तव्वं णेयव्वं ति] इह सूत्रेऽन्ययूथिकवक्तव्यं स्वयमुच्चारणीयं, ग्रन्थगौरवभयेनालिखितत्वात्तस्य । तच्चेदम्-"जं समयं संपराइयं पकरेइ, तं समयं इरियावहियं पकरेइ, इरियावहिया-पकरणयाए संपराइयं पकरेइ, संपराइयपकरणयाए इरिया-वहियं पकरेइ, एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-इरियावहियं च संपराइयं चेति ससमयवत्त-व्वयाए णेयव्वं" सूत्रमिति गम्यम् । तच्चैवम्-"से कहमेयं भंते ! एवं ? । गोयमा ! जएणं ते अएणउत्थिया एवमाइक्खंति ४ जाव संपराइयं च जे ते एवमाहंसु, मिच्छा ते एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि ४-एवं खलु एगे जीवे एगेणं सम-एणं एगं किरियं पकरेइ । तं जहा"-इत्यादि पूर्वोक्तानुसारेणा-ध्येयमिति । मिथ्यात्वं चास्येदम्-ऐर्यापथिकी क्रिया अकषायो-दयप्रभवा, इतरा तु कषायोदयप्रभवेति, कथमेकस्यैकदा तयोः संभवः ? । विरोधादिति । भ० १ श० १० उ० ।

अएणउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खइ. एवं भासेइ, एवं पएणवेइ, एवं परूवेइ-एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-सम्मत्तकिरियं च, मि-च्छत्तकिरियं च । जं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ तं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, जं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, तं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ । सम्मत्तकिरियापकरण-याए मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, मिच्छत्तकिरियापकरणयाए सम्मत्तकिरियं पकरेइ । एवं खलु एगे जीवे एगेणं स-मएणं दो किरियाओ पकरेइ । तं जहा-सम्मत्तकिरियं, मिच्छत्तकिरियं च । से कहमेयं भंते ! एवं ? । गोयमा ! जएणं ते अएणउत्थिया एवमाइक्खंति, एवं भासंति. एवं पएणवें-ति, एवं परूवेंति-एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं दो किरियाओ पकरेइ, तहेव जाव सम्मत्तकिरियं च, मिच्छत्तकिरियं च । जे ते एवमहंसु तएणं मिच्छा । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खा-मि० जाव परूवेमि-एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं किरियं पकरेइ । तं जहा-सम्मत्तकिरियं वा, मिच्छ-त्तकिरियं वा । जं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ णो तं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, जं समयं मिच्छत्तकिरियं पकरेइ नो तं समयं सम्मत्तकिरियं पकरेइ । सम्मत्तकिरियाप-करणयाए नो मिच्छत्तकिरियं पकरेइ, मिच्छत्तकिरियापक-रणयाए नो सम्मत्तकिरियं पकरेइ । एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं किरियं पकरेइ । तं जहा-सम्मत्तकिरियं वा मि-च्छत्तकिरियं वा । सेत्तं तिरिक्खजोणीय उद्देसओ बीओ ॥

[अएणउत्थिया णं भंते! इत्यादि] अन्ययूथिका अन्यतीर्थिकाः, भदन्त ! चरकादय एवमाचक्षते सामान्येन एवं भाषन्ते, स्वशिष्यान् श्रवणं प्रत्यभिमुखानवबुध्य विस्तरेण व्यक्तं कथयन्ति, एवं प्रज्ञापयन्ति प्रकर्षेण ज्ञापयन्ति । यथा स्वात्मनि व्यवस्थितं ज्ञानं तथा परेष्वप्युत्पादयन्तीति, एवं प्ररूपयन्ति तत्त्वचिन्तायाममुं धर्ममेतदिति निरूपयन्ति-इह खल्वेको जीव एकेन समयेन युगपद् द्वे क्रिये प्रकरोति । तद्यथा-सम्यक्त्वक्रियां च सुन्दराध्यवसायात्मिकाम्, मिथ्यात्वक्रियां चासुन्दराध्यवसायात्मिकाम् । [जं समयमिति] प्राकृतत्वात् सप्तम्यर्थे द्वितीया, यस्मिन् समये सम्यक्त्वक्रियां प्रकरोति [तं समयमिति] तस्मिन् समये सम्यक्त्वक्रियां प्रकरोति । अन्योऽन्यसंवलनोभयनियमप्रदर्शनार्थमाह- सम्यक्त्वप्रकरणेन मिथ्यात्वक्रियां प्रकरोति, मिथ्यात्वक्रियाप्रकरणेन सम्यक्त्व-क्रियां प्रकरोति । तद्भवकरणस्वभावस्य तत्क्रियाकरणात्, सर्वात्मना प्रवृत्तेः । अन्यथा अक्रियायोगादिति । एव स्थितेऽपि निगमनं प्रतीतार्थम् । [से कहमेयं भंते ! इत्यादि] तत्कथमेतद्भदन्त ! एवम् ? । इदं च गौतमेन प्रश्ने कृते सति भगवानाह-गौतम ! यत् 'णं इति' वाक्यालङ्कारे । ते अन्ययूथिका अन्यतीर्थिका एवमाचक्षते इत्यादि प्राग्वद् यावत् । मिथ्या ते एवमाख्यातव-न्तः । अहं पुनर्गौतम ! एवमाचक्षे, एवं भाषे, एवं प्रज्ञापयामि, एवं प्ररूपयामि-इह खल्वेको जीव एकेन समयेन एकां क्रियां प्रकरोति । तद्यथा-सम्यक्त्वक्रियां वा, मिथ्यात्वक्रियां वा । अत एव यस्मिन् समये सम्यक्त्वक्रियां प्रकरोति न तस्मिन् समये मिथ्यात्वक्रियां प्रकरोति, यस्मिन् समये मिथ्यात्वक्रियां प्रकरोति न तस्मिन् समये सम्यक्त्वक्रियां प्रकरोति । परस्परवै-विक्तनियमप्रदर्शनार्थमाह-सम्यक्त्वक्रियाप्रकरणेन मिथ्या-त्वक्रियां प्रकरोति, मिथ्यात्वक्रियाप्रकरणेन सम्यक्त्वक्रियां प्रकरोति; सम्यक्त्वमिथ्यात्वक्रिययोः परस्परपरिहारावस्थाना-त्मकतया जीवस्य तदुभयकरणस्वभावायोगात् । अन्यथा सर्वथा मोक्षाभावप्रसक्तेः कदाचिदपि मिथ्यात्वानिवर्त्तनात् । जी० ३ प्रति० ।

(६) अदत्तादानादिक्रियाविषयेऽन्ययूथिकैः

सह विप्रतिपत्ति:-

ते णं काले णं ते णं समए णं रायगिहे नयरे जाव गुणसिलए चेइए वएणओ ।

गुणसिलए चेइए वणओ० जाव पुढवीसिलावट्टओ तस्स णं गुणसिलयस्स णं चेइयस्स अदूरसामंते बहवे अणउत्थिया परिवसंति । ते णं समये णं समणे भगवं महावीरे आदिगरे जाव समवसढे जाव परिसा पडिगया । ते णं काले णं ते णं समए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स बहवे अंतेवासी थेरा भगवंतो जाइसंपन्ना कुलसंपन्ना जहा बिइयसए० जाव जीवियासा मरणभयविप्पमुक्का समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते उड्डंजाणू अहो सिरा झाणकोट्ठोवगया संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा जाव विहरंति । तए णं ते अण्णउत्थिया जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छंति । उवागच्छित्ता ते थेरे भगवंते एवं वयासी-तुज्झे णं अज्जो ! तिविहं तिविहेणं असंजयअविरयअप्पडिहय जहा सत्तमसए बिइओ उद्देसओ० जाव एगंतबालाया वि भवह । तए णं ते थेरा भगवंतो ते अण्णउत्थिए एवं वयासी-केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे तिविहं तिविहेणं असंजय अविरय० जाव एगंतबालाया वि भवामो । तए णं ते अण्णउत्थिया ते थेरे भगवंते एवं वयासी-तुज्झे णं अज्जो ! अदिण्णं गिण्हह , अदिण्णं भुंजह, अदिण्णं साइज्जह, तए णं ते तुज्झे अदिण्णं गेण्हमाणा, अदिण्णं भुंजमाणा, अदिण्णं साइज्जमाणा, तिविहं तिविहेणं असंजय अविरय० जाव एगंतबालाया वि भवह । तए णं ते थेरा भगवंतो ते अण्णउत्थिए एवं वयासी-केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे अदिण्णं गेण्हामो , अदिण्णं भुंजामो, अदिण्णं साइज्जामो, तए णं अम्हे अदिण्णं गेण्हमाणा० जाव अदिण्णं साइज्जमाणा, तिविहं तिविहेणं असंजय०जाव एगंतबालाया वि भवामो ? । तए णं ते अण्णउत्थिया ते थेरे भगवंते एवं वयासी-तुज्झे णं अज्जो ! दिज्जमाणे अदिण्णे पडिग्गहिज्जमाणे अपडिग्गहिए निसिरिज्जमाणे अणिसिट्ठे, तुज्झे णं अज्जो ! दिज्जमाणं पडिग्गहगं असंपत्तं एत्थ णं अंतरा केइ अवहरिज्जा गाहावइस्स णं तं भंते ! णो खलु तं तुज्झे तए णं तुज्झे अदिण्णं गिण्हह० जाव अदिण्णं साइज्जह, तए णं तुज्झे अदिण्णं गिण्हमाणा० जाव एगंतबालाया वि भवह । तए णं ते थेरा भगवंतो ते अण्णउत्थिए एवं वयासी-नो खलु अज्जो ! अम्हे अदिण्णं गिण्हामो, अदिण्णं भुंजामो , अदिण्णं साइज्जामो । अम्हे णं अज्जो ! दिण्णं गिण्हामो, दिण्णं भुंजामो, दिण्णं साइज्जामो । तए णं अम्हे दिण्णं गिण्हमाणा, दिण्णं भुंजमाणा, दिण्णं साइज्जमाणा तिविहं तिविहेणं संजयविरयपडिहय जहा सत्तमसए० जाव एगंतपंडियाया वि भवामो । तए णं ते अण्णउत्थिया ते थेरे भगवंते एवं वयासी-केणं कारणेणं अज्जो ! तुज्झे दिण्णं गिण्हह० जाव दिण्णं साइज्जह । तए णं तुज्झे दिण्णं गिण्हमाणा० जाव दिण्णं साइज्जमाणा, एगंतपंडियाया वि भवह । तए णं ते थेरा भगवंतो ते अण्णउत्थिए एवं वयासी-अम्हे णं अज्जो ! दिज्जमाणे दिण्णे पडिग्गहिज्जमाणे पडिग्गहिए निसिरिज्जमाणे निसिट्ठे अम्हे णं अज्जो ! दिज्जमाणं पडिग्गहगं असंपत्तं , एत्थ णं अंतरा केइ अवहरिज्जा अम्हे णं तं नो खलु गाहावइस्स तए णं अम्हे दिण्णं गिण्हामो , दिण्णं भुंजामो , दिण्णं साइज्जामो । तए णं अम्हे दिण्णं गिण्हमाणा० जाव दिण्णं साइज्जमाणा तिविहं तिविहेणं संजय० जाव एगंतपंडियाया वि भवामो; तुज्झे णं अज्जो ! अप्पणा चेव तिविहं तिविहेणं असंजय० जाव एगंतबालाया वि भवह । तए णं ते अण्णउत्थिया ते थेरे भगवंते एवं वयासी-केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे तिविहं० जाव एगंतबालाया वि भवामो ? । तए णं ते थेरा भगवंतो ते अण्णउत्थिए एवं वयासी-तुज्झे णं अज्जो ! अदिण्णं गिण्हह २ , तए णं तुज्झे अदिण्णं गेण्हमाणा० जाव एगंतबालाया वि भवह । तए णं ते अण्णउत्थिया ते थेरे भगवंते एवं वयासी-केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे अदिण्णं गिण्हामो० जाव एगंतबालाया वि भवामो ? । तए णं ते थेरा भगवंतो ते अण्णउत्थिए एवं वयासी-तुज्झे णं अज्जो ! दिज्जमाणे अदिण्णे तं चेव० जाव गाहावइस्स णं तं नो खलु तं तुज्झे तए णं तुज्झे अदिण्णं गिण्हह । तं चेव० जाव एगंतबालाया वि भवह । तए णं ते अण्णउत्थिया थेरे भगवंते एवं वयासी-तुज्झे णं अज्जो ! तिविहं तिविहेणं असंजय० जाव एगंतबालाया वि भवह । तए णं ते थेरा भगवंतो ते अण्णउत्थिए एवं वयासी-केणं कारणेणं अम्हे तिविहं तिविहेणं० जाव एगंतबालाया वि भवामो ? । तए णं ते अण्णउत्थिया ते थेरे भगवंते एवं वयासी-तुज्झे णं अज्जो ! रीयं रीयमाणा पुढवीं पेच्चेह, अभिहणह, वत्तेह, लेसेह, संघाएह, संघट्टेह, परितावेह, किलामेह, उवद्दवेह, तए णं तुज्झे पुढवीं पेच्चेमाणा अभिहणमाणा० जाव उवद्दवेमाणा तिविहं तिविहेणं असंजयअविरय० जाव एगंतबालाया वि भवह । तए णं ते थेरा भगवंतो ! ते अण्णउत्थिए एवं वयासी-नो खलु अज्जो ! अम्हे रीयं रीयमाणा पुढवीं पेच्चेमो अभिहणामो० जाव उवद्दवेमो ; अम्हे णं अज्जो ! रीयं रीयमाणा कायं वा जोगं वा रीयं वा पडुच्च देसं देसेणं वयामो, पदेसं पदेसेणं वयामो, तेणं अम्हे देसं देसेणं वयमाणा पदेसं पदेसेणं वयमाणा, नो पुढवीं पेच्चेमो अभिहणामो० जाव उवद्दवेमो, तए णं

अम्हे पुढवीं अपेच्चेमाणा अणभिहणमाणा० जाव अणो-
दवेमाणा, तिविहं तिविहेणं संजय० जाव एगंतपंडिया यावि
भवामो ?, तुज्झे णं अज्जो ! अप्पणा चेव तिविहं तिविहेणं
असंजय० जाव बाला यावि भवह। तए णं ते अस्सउत्थिया
ते थेरे भगवंते एवं वयासी-केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे ति-
विहं तिविहेणं एगंतबाला यावि भवामो ?। तए णं ते थेरा
भगवंतो अस्सउत्थिए एवं वयासी-तुज्झे णं अज्जो ! रीयं
रीयमाणा पुढवीं पेच्चेह० जाव उवद्दवेह। तए णं तुज्झे पुढवीं
पेच्चेमाणा० जाव उवद्दवेमाणा तिविहं तिविहेणं० जाव एगं-
तबाला यावि भवह। तए णं ते अस्सउत्थिया थेरे भगवंते एवं
वयासी-तुज्झे णं अज्जो ! गम्ममाणे अगए, वीइक्कमिज्जमाणे
अवीइक्कंते, रायगिहं नगरं संपाविउकामे असंपत्ते, तए णं ते
थेरा भगवंतो ते अस्सउत्थिए एवं वयासी-नो खलु अज्जो !
अम्हं गम्ममाणे अगए, वीइक्कमिज्जमाणे अवीइक्कंते राय-
गिहं नगरं० जाव असंपत्ते, अम्हे णं अज्जो ! गम्ममाणे गए,
वीइक्कमिज्जमाणे वीइक्कंते रायगिहं नगरं संपाविउकामे संप-
त्ते, तुज्झे णं अप्पणा चेव गम्ममाणे अगए, वीइक्कमिज्ज-
माणे अवीइक्कंते रायगिहं नगरं० जाव असंपत्ते, तए णं ते थेरा
भगवंतो अस्सउत्थिए एवं पडिहणंति। पडिहणित्ता गइ-
प्पवायनामं अज्झयणं पण्णवइंसु ।

(केण कारणेणं) केन [कारणेणं ति] हे कारणेन ? [तिविहं तिविहेणं
ति] [illegible]

[illegible]

[कायं च त्ति] कायं शरीरं मलोत्सर्गप्रस्रवणादिकायकार्यमित्यर्थः।
[योगं च त्ति] योगं ग्लानवैयावृत्त्यादिव्यापारं प्रतीत्य [रीयं वा
पडुच्च त्ति] ऋतं सत्यं गमनागमनादिजीवसंरक्षणलक्षणं सं-
यममाश्रित्येत्यर्थः। [दिसं देसेणं वयामो त्ति] प्रभूतायाः पृथिव्या
ये विवक्षिता देशास्तैर्गमनं नाविशेषेणेत्यर्थः समितिपरायणत्वेन
सचेतनदेशपरिहारतोऽचेतनदेशैर्गमनं इत्यर्थः। एवं (पदेसं प-
देसेणं वयामो) इत्यपि, नवरं देशो भूमेर्महत्खण्डम्, प्रदेशस्तु ल-
घुतरमिति । अथोक्तप्रकारेण नास्माकमिवैवं गमनमस्तीत्य-
भिप्रायतः स्थविरा यूयमेव पृथिव्याक्रमणादितोऽसंयतत्वा-
दिगुणा इति प्रतिपादनायाऽन्ययूथिकान् प्रत्याहुः-[तुज्झे-
णं अज्जो ! इत्यादि] भ० ८ श० ७ उ० ।

गमनमाश्रित्य विचारः कृतोऽथ तदेवाश्रित्याऽन्ययूथि-
कमतनिषेधतः स प्रोच्यते—

ते णं काले णं ते णं समए णं रायगिहे० जाव पुढवीसि-
लापट्टए, तस्स णं गुणसिलस्स चेइयस्स अदूरसामंते बहवे
अस्सउत्थिया परिवसंति। तए णं समणे भगवं महावीरे० जाव
समोसढे० जाव परिसा पडिगया। ते णं काले णं ते णं समए
णं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूई
णामं अणगारे जाव उड्ढं जाणू० जाव विहरइ। तए णं ते
अस्सउत्थिया जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छइ। उवाग-
च्छइत्ता भगवं गोयमं एवं वयासी-तुज्झे णं अज्जो ! तिविहं
तिविहेणं असंजय० जाव एगंतबाला यावि भवह। तए णं
भगवं गोयमे ते अस्सउत्थिए एवं वयासी-से केणं कारणे-
णं अज्जो ! अम्हे तिविहं तिविहेणं असंजय० जाव एगंत-
बाला यावि भवामो ?। तए णं ते अस्सउत्थिया भगवं गोयमं
एवं वयासी-तुज्झे णं अज्जो ! रीयं रीयमाणा पाणे पेच्चेह,
अभिहणह० जाव उवद्दवेह। तए णं तुज्झे पाणे पेच्चेमाणा
जाव उवद्दवेमाणा तिविहं० जाव एगंतबाला यावि भवह। तए
णं भगवं गोयमे ते अस्सउत्थिए एवं वयासी-नो खलु
अज्जो ! अम्हे रीयं रीयमाणा पाणा पेच्चेमो० जाव उव-
द्दवेमो, अम्हे णं अज्जो ! रीयं रीयमाणा कायं च जोयं च
रीयं च पडुच्च दिस्सा दिस्सा पदिस्सा पदिस्सा वयामो, तए णं अम्हे दि-
स्सा २ वयमाणा पदिस्सा २ वयमाणा णो पाणे पेच्चेमो०
जाव णो उवद्दवेमो, तए णं अम्हे पाणे अपेच्चेमाणा० जाव
अणोद्दवेमाणा तिविहं तिविहेणं० जाव एगंतपंडिया यावि० जाव
भवामो, तुज्झे णं अज्जो ! अप्पणा चेव तिविहं तिविहेणं० जाव
एगंतबाला यावि भवह। तए णं ते अस्सउत्थिया भगवं
गोयमं एवं वयासी-केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे
तिविहं० जाव भवामो ?। तए णं भगवं गोयमे ते
अस्सउत्थिए एवं वयासी-तुज्झे णं अज्जो ! रीयं रीयमाणा
पाणे पेच्चेह० जाव उवद्दवेह, तए णं तुज्झे पाणे पेच्चेमाणा०
जाव उवद्दवेमाणा तिविहं० जाव एगंतबाला यावि भवह।
तए णं भगवं गोयमे ते अस्सउत्थिए एवं पडिहणइ। पडि-

इणइत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ पच्चासण्णे जाव पज्जुवासइ गोयमादि समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी-सुट्ठु णं तुमं गोयमा ! ते अण्णउत्थिए एवं वयासी—साहु णं तुमं गोयमा ! ते अण्णउत्थिए एवं वयासी-अत्थि णं गोयमा ! ममं बहवे अंतेवासी समणा णिग्गंथा छउमत्था जे णं णो पभू एय वागरणं वागरेत्तए जहा णं तुमं तं सुट्ठु णं तुमं गोयमा ! ते अण्णउत्थिए एवं वयासी-साहु णं तुमं गोयमा ! ते अण्णउत्थिए एवं वयासी ॥

[पेयेइ त्ति] आकामथ (चायं च त्ति) देहं प्रतीत्य प्रज्ञाम इति योगाः देहकर्मकमनुष्यो भवति, तदा प्रज्ञामं माण्यया, अ-भ्युदकल्यादिनेत्यर्थः । योगं च संयमव्यापारं ज्ञानानुपष्टम्भम, प्रयोजनं निद्राऽटनादि न तं विनेत्यर्थः [वीयं च त्ति] गमनं च आयरितादिकं गमनविशेषं प्रतीत्यार्थिष कथमित्याह-[दिस्सा दिस्स त्ति] दृष्ट्वा दृष्ट्वा । [पडिस्सा पडिस्स त्ति] प्रकर्षेण दृष्ट्वा दृष्ट्वा । भ० १८ श० ८ उ० ।

(७) श्रमणानां कृता क्रिया क्रियेत—
न वा ? इत्यत्र विचार –

अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खइ, एवं भासेइ, एवं परूवेइ-कहमं समणा णं निग्गंथा णं किरिया कज्जंत ? , तत्थ जा सा कडा कज्जइ णो तं पुच्छंति १ । तत्थ जा सा कडा णो कज्जइ णो तं पुच्छंति २ । तत्थ जा सा अकडा कज्जइ तं पुच्छंति ३ । तत्थ जा सा अकडा णो कज्जइ णो तं पुच्छंति ४ । से एवं वत्तव्वं सिया अकिच्चं दुक्खं अफुसं दुक्खं अकज्जमाणकडं दुक्खं अकट्टु अकट्टु पाणा भूया जीवा सत्ता वेयणं वेयंति, वत्तव्वं जे ते एवमाहंसु । ते मिच्छा । अहं पुण एवमाइक्खामि, एवं भासामि, एवं पण्णवेमि, एवं परूवेमि-किच्चं दुक्खं किज्जमाणकडं दुक्खं कट्टु कट्टु पाणा भूया जीवा सत्ता वेयणं वेयंति त्ति वत्तव्वं सिया ॥

"अण्णउत्थियेत्यादि" आया कण्हम, वि.न्यपदर्शाधिका इह ताप-सा विज्ञङ्गज्ञानवन्त एवं वक्ष्यमाणप्रकारस्यास्यानि सामान्यतो भाषन्ते, विशेषतः ... [illegible]

पयत्नया तत्पूर्वमकृतं ... [illegible]

[illegible]

[illegible]

अन्नउत्थिया णं भंते! एवमाइक्खंति, पन्नवेंति, परूवेंति- एवं खलु नियंठे कालगए समाणे देवब्भूएणं अप्पाणेणं से णं तत्थ नो अन्ने देवे नो अन्नेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेइ, णो अप्पणिच्चियाओ देवीओ अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेइ, अप्पणामेव अप्पाणं विउव्विय २ परियारेइ; एगे वि य णं जीवे एगेणं समएणं दो वेदे वेदेइ। तं जहा-इत्थिवेयं च पुरिसवेयं च। एवं अन्नउत्थियवत्तव्वया णेयव्वा० जाव इत्थिवेयं च पुरिसवेयं च से कहमेयं भंते! एवं? गोयमा! जं णं ते अन्नउत्थिया एवमाइक्खंति० जाव इत्थीवेयं च पुरिसवेयं च। जे ते एवमाहंसु, मिच्छा ते एवमाहंसु। अहं पुण गोयमा! एवमाइक्खामि० जाव परूवेमि-एवं खलु नियंठे कालगए समाणे अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, महिड्ढिएसु० जाव महाणुभागेसु दूरंगईसु चिरट्ठिईसु से णं तत्थ देवे भवइ महिड्ढिए० जाव दस दिसाओ उज्जोवेमाणे पभासेमाणे० जाव पडिरूवे, से णं तत्थ अन्ने देवे अन्नेसिं देवाणं देवीओ अभिजुंजिय २ परियारेइ, अप्पणिच्चियाओ देवीओ अभिजुंजिय अभिजुंजिय परियारेइ, नो अप्पणामेव अप्पाणं विउव्विय परियारेइ, एगे वि य णं जीवे एगेणं समएणं एगं वेदं वेदेइ। तं जहा-इत्थिवेदं वा पुरिसवेदं वा। जं समयं इत्थिवेदं वेदेइ णो तं समयं पुरिसवेदं वेदेइ, जं समयं पुरिसवेदं वेदेइ णो तं समयं इत्थिवेदं वेदेइ। इत्थिवेयस्स उदएणं नो पुरिसवेदं वेदेइ, पुरिसवेयस्स उदएणं नो इत्थिवेयं वेएइ। एवं खलु एगे जीवे एगेणं समएणं एगं वेदं वेदेइ। तं जहा-इत्थिवेदं वा पुरिसवेदं वा। इत्थी इत्थिवेएणं उदिण्णेणं पुरिसं पत्थेइ, पुरिसो पुरिसवेएणं उदिण्णेणं इत्थिं पत्थेइ। [illegible] पत्थेइ। तं जहा-इत्थी वा पुरिसं, पुरिसे वा इत्थिं॥

[illegible]

माणे [उववत्तारो भवंति त्ति] प्राकृतशैल्या उपपत्ता भवन्ती- ति दृश्यम्। "महिड्ढिए" इत्यत्र यावत् करणादिदं दृश्यम्-"मह- ज्जुईए महाबले महाजसे महासोक्खे महाणुभागे हारविराइ- यवच्छे कडयतुडियथंभियभूए "। त्रुटिका बाहुरक्षिका [अंग- यकुंडलमट्ठगंडकन्नपीढधारी] अङ्गदानि बाह्वाभरणविशेषान्, कुण्डलानि कर्णाभरणविशेषान्, मृष्टगण्डानि चोल्लिखितकपो- लानि, कर्णपीठानि कर्णाभरणविशेषान्, धारयतीत्येवं शीलो यः स तथा । [विचित्तहत्थाभरणे विचित्तमालामउलिमउडे] वि- चित्रमाला च कुसुमस्रक् मौली मस्तके मुकुटं च यस्य स त- था, इत्यादि यावत् । [रिद्धीए जुईए पभाए छायाए अचीए ते- एणं लेस्साए दस दिसाओ उज्जोएमाणे त्ति] तत्र ऋद्धिः परि- वारादिका, द्युतिरिष्टार्थसंयोगः, प्रभा यानादिदीप्तिः, छाया शोभा, अर्चिः शरीरस्थरत्नादितेजोज्वाला, तेजः शरीरस्थैव, लेश्या दे- हवर्णः, एकार्थावेते । उद्द्योतयन् प्रकाशकरणेन [पभासेमाणे त्ति] प्रभासयन् शोभयन् इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-[पा- साइए] द्रष्टॄणां चित्तप्रसादजनकः [दरिसणिज्जे य] पश्यच्चक्षु- र्न श्राम्यति [अभिरूवे] मनोज्ञरूपः [पडिरूवे त्ति] द्रष्टारं द्र- ष्टारं प्रति रूपं यस्य स तथेति । एकनैकदा एक एव वेदो वेद्यते। इह कारणमाह-[इत्थी इत्थीवेयणमित्यादि] भ० २ श० ५ उ० ।

(१०) बालपण्डितः—

अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति० जाव परूवें- ति-एवं खलु समणा पंडिया समणोवासगा बालपंडिया । जस्स णं एगपाणाए वि दंडे अणिक्खित्ते, से णं एगंतबा- ले त्ति वत्तव्वं सिया, से कहमेयं भंते ! एवं ?। गोयमा ! जं णं ते अण्णउत्थिया एवमाइक्खंति० जाव वत्तव्वं सिया, जे ते एवमाहंसु, मिच्छं ते एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा !० जाव परूवेमि-एवं खलु समणा पंडिया समणोवासगा बाल- पंडिया, जस्स णं एगपाणे वि दंडे णिक्खित्ते, से णं णो एगंतबाले त्ति वत्तव्वं सिया ॥

...किल पक्षद्वयं जिनाभिमतमेवानुवादपरतयोक्त्वा द्वितीयप- ...यन्तस्ते इदं प्रज्ञापयन्ति-(जस्स णं एगपाणाए वि दंड- ...इ)[जस्स त्ति] येन देहिना एकप्राणिन्यप्येकस्मिन्नपि जीवे ...धादौ, पृथिवीकायिकादौ वा किं पुनर्बहुषु दण्डो वधः । ...क्खित्ते त्ति] अनिक्षिप्तोऽनुज्झितोऽप्रत्याख्यातो भवति । ...न्तबाल इति वक्तव्यः स्यात् । एवं च श्रमणोपासका एका- ...यं न बालपण्डिता, एकान्तबालव्यपदेशनिबन्धनस्यासर्व- ...प्रत्याख्यानस्य भावादिति परमतम् । स्वमतं तु-एकप्राणिन्य- ...रूपरिहारः एतोऽसौ नैकान्तेन बालः, किं तर्हि ?, बाल- ...विरत्यंशसद्भावेन मिश्रत्वात्तस्य । एतदेवाह-(जस्स ण- ...एतदेव बालत्वादि जीवादिषु निरूपयन्नाह-(जीवाण- ...मानुक्तानां संयतादीनामिहोक्तानां च पण्डितादीनां ...त एव भेदो नार्थतस्तथापि संयतत्वादिव्यपदेशः ...पण्डितत्वादिव्यपदेशस्तु बोधविशेषापेक्ष इति । ...२ उ० ।

(११) भाषा—

...जाव एवं वयासी-अण्णउत्थिया णं भंते ! एव- ...जाव परूवेंति-एवं खलु केवली जक्खाएसेणं

आइस्सति । एवं खलु केवली जक्खाएसेणं आइट्ठे सम- ... आहच्च दो भासाओ भासइ । तं जहा-मोसं वा, सच्चामो- सं वा, से कहमेयं भंते ! एवं ?। गोयमा ! जं णं ते अण्णउ- त्थिया० जाव जं णं एवमाहंसु, मिच्छं ते एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि ४-णो खलु केवली जक्खाएसेणं आदिस्सइ, णो खलु केवली जक्खाएसेणं आइट्ठे समाणे आहच्च दो भासाओ भासइ । तं जहा-मोसं वा, सच्चामोसं वा; केवली णं असावज्जाओ अपरोवघाइयाओ आहच्च दो भासाओ भासइ । तं जहा-सच्चं वा असच्चामोसं वा ॥

(जक्खाएसेणं आइस्सइ त्ति) देवावेशेनाविश्यतेऽधिष्ठीयत इति [नो खलु इत्यादि] नो खलु केवली यक्षावेशेनाविश्यते ऽनन्तवीर्यत्वात्तस्य । (अण्णाहटि त्ति) अन्याविष्टः परवशीकृतः स- त्यादिभाषाद्वयं च भाषमाणः केवली उपधिप्रमहमाणिधानादिकं विचित्रं वस्तु भाषत इति । भ० १८ श० ७ उ० ।

(१२) [मनुष्यलोकः] पञ्चयोजनशतानि मनुष्यलोको मनुष्यैर्बहुसमाकीर्णः-

अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति० जाव परूवेंति-से जहा नामए जुवई जुवाणे हत्थेणं हत्थं गेण्हिज्जा, चक्कस्स वा नाभी अरगाउत्तासिया, एवामेव चत्तारि पंच जोयणसयाई बहुसमाइण्णे मणुयलोए मणुस्सेहिं, से कहमेयं भंते ! एवं ?। गोयमा ! जं णं ते अण्णउत्थिया जाव माणुस्सेहिं जे एवमाहंसु, मिच्छा ते एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि० जाव- एवामेव चत्तारि पंच जोयणसयाइं बहुसमाइण्णे निरयलोए नेरइएहिं ।

(अण्णउत्थियेत्यादि) (बहुसमाइण्णे ति) अत्यन्तमाकीर्णम्, मिथ्यात्वं च तद्वचनस्य विभङ्गज्ञानपूर्वकत्वादवसेयमिति ॥ भ० ५ श० ६ उ० ।

(१३) [वेदना] सर्वे जीवा अनेवंभूतां वेदनां वेदयन्ते इत्यत्र विवादः—

अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति० जाव परूवेंति-सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता एवंभूयं वेयणं वेदेंति, से कहमेयं भंते ! एवं ?। गोयमा ! जं णं ते अण्णउ- त्थिया एवमाइक्खंति० जाव वेदेंति; जे ते एवमाहंसु, मिच्छा ते एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि० जाव परू- वेमि-अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता एवंभूयं वेयणं वेदेंति, अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता अणेवंभूयं वेय- णं वेदेंति । से केणट्ठेणं अत्थेगइया तं चेव उच्चारेयव्वं ?। गोयमा ! जे णं पाणा भूया जीवा सत्ता जहा कडा कम्मा तहा वेयणं वेदेंति, ते णं पाणा भूया जीवा सत्ता एवंभूयं वेयणं वेदेंति, जे णं पाणा भूया जीवा सत्ता जहा कडा कम्मा नो तहा वेयणं वेदेंति, ते णं पाणा ... अणेवंभूयं वेयणं ...

(एवंभूयं वेयणं ति) यथाविधं कर्म्म नियद्धमेवंभूतामेवंप्रकारतयोत्पन्नां वेदनामसातादिकर्मोदयं वेदयन्त्यनुभवन्ति । मिथ्यात्वं चैतद्वादिनामेवम्-न हि यथा बद्धं तथैव सर्वं कर्माऽनुभूयते, आयुःकर्मणो व्यभिचारात् । तथाहि-दीर्घकालानुभवनीयस्याप्यायुःकर्म्मणोऽल्पीयसाऽपि कालेनानुभवो भवति,कथमन्यथाऽपमृत्युव्यपदेशः सर्वजनप्रसिद्धः स्यात् । कथं वा महासंयुगादौ जीवलक्षाणामप्येकदैव मृत्युरुपपद्येतेति । [अणेवंभूयं पि त्ति] यथा बद्धं कर्म्म नैवम्भूताऽनेवम्भूता, अतस्ताम् । श्रूयन्ते ह्यागमे-कर्म्मणः स्थितिघातरसघातादय इति ॥ भ०५ श०५ उ०।

अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति० जाव परूवेंति-एवं खलु सव्वे पाणा भूया जीवा सत्ता एगंतदुक्खं वेयणं वेयंति, से कहमेयं भंते ! एवं ?। गोयमा ! जएणं ते अण्णउत्थिया०जाव मिच्छं ते एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा! एवमाइक्खामि० जाव परूवेमि-अत्थेगइया पाणाभूया जीवा सत्ता एगंतदुक्खं वेयणं वेयंति । आहच्च सायं अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता एगंतं सायं वेयणं वेयंति, आहच्च असायं वेयणं वेयंति, अत्थेगइया पाणा ४ वेमायाए वेयणं वेयंति, आहच्च सायमसायं से केणट्ठे णं ?। गोयमा ! नेरइया णं एगंतदुक्खं वेयणं वेयंति,आहच्च सायं भवणवइवाणमंतरजोइसवेमाणिया एगंतं सायं वेयंति, आहच्च असायं पुढविकाइया० जाव मणुस्सा वेमायाए वेयंति, आहच्च सायमसायं , से तेणट्ठे णं ॥

(अण्णउत्थियेत्यादि) (आहच्च सायं ति) कदाचित्सातां वेदनाम् । कथमिति?, उच्यते-"उववाएण व सायं,नेरइओ देवकम्मुणा वा वि"।(आहच्च असायं ति) देवा आहननप्रियविप्रयोगादिष्वसातां वेदनां वेदयन्तीति ।(वेमायाए त्ति) विविधया मात्रया कदाचित्सातां, कदाचिदसातामित्यर्थः । भ० ६ श० १० उ० ।

(१४) [शीलम्] शीलं श्रेयः , श्रुतं श्रेय इत्यन्यतीर्थिकैः सह विवादः—

रायगिहे०जाव एवं वयासी-अण्णउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति० जाव परूवेंति-एवं खलु सीलं सेयं, सुयं सेयं, सुयं सीलं सेयं, से कहमेयं भंते! एवं ?। गोयमा ! जं णं ते अण्णउत्थिया एवमाइक्खंति०जाव-जे ते एवमाहंसु, मिच्छा ते एवमाहंसु । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि० जाव परूवेमि-एवं खलु मए चत्तारि पुरिसजाया पन्नत्ता । तं जहा-सीलसंपन्ने नामं एगे नो सुयसंपन्ने १। सुयसंपन्ने नामं एगे नो सीलसंपन्ने २। एगे सीलसंपन्ने वि सुयसंपन्ने वि ३। एगे नो सीलसंपन्ने नो सुयसंपन्ने ४। तत्थ णं जे से पढमे पुरिसजाए, से णं पुरिसे सीलवं असुयवं उवरए अविण्णायधम्मे । एस णं गोयमा ! मए पुरिसे देसाराहए पन्नत्ते १। तत्थ णं जे से दोच्चे पुरिसजाए,से णं पुरिसे असीलवं सुतवं अणुवरए विण्णायधम्मे, एस णं गोयमा ! मए पुरिसे देसविराहए पण्णत्ते २। तत्थ णं जे से तच्चे पुरिसजाए से णं पुरिसे सीलवं सुतवं उवरए विण्णायधम्मे,एस णं गोयमा ! मए पुरिसे सव्वाराहए पण्णत्ते ३ । तत्थ णं जे से चउत्थे पुरिसजाए, से णं पुरिसे असीलवं असुतवं अणुवरए अविण्णायधम्मे, एस णं गोयमा ! मए पुरिसे सव्वविराहए पण्णत्ते ।

अस्य चूर्ण्यनुसारेण व्याख्या-एवं लोकसिद्धन्यायेन खलु निश्चयेन इहाऽन्ययूथिकाः केचित्क्रियामात्रादेवाऽभीष्टाऽर्थसिद्धिमिच्छन्ति । न च किञ्चिदपि ज्ञानेन प्रयोजनं, निश्चेष्टत्वात् ; घटादिकरणप्रवृत्तावाकाशादिपदार्थवत् । पठ्यते च- "क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम् । यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात्सुखितो भवेत् " । १। तथा-"जहा खरो चंदणभारवाही, भारस्स भागी न हु चंदणस्स । एवं खु नाणी चरणेण हीणो, नाणस्स भागी न हु सग्गइए" ।१। अतस्ते प्ररूपयन्ति-शीलं श्रेयः प्राणातिपातादिविरमणध्यानाध्ययनादिरूपा क्रियैव श्रेयोऽतिशयेन प्रशस्यं , श्लाघ्यपुरुषार्थसाधकत्वाच्छ्रेयं वा समाश्रयणीयं पुरुषार्थविशेषार्थिना । अन्ये तु ज्ञानादेवेष्टार्थसिद्धिमिच्छन्ति, न क्रियातः, ज्ञानविकलस्य क्रियावतोऽपि फलसिद्ध्यदर्शनात् । अधीयते च-"विज्ञप्तिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता । मिथ्याज्ञानात्प्रवृत्तस्य, फलासंवाददर्शनात् " ॥१॥ तथा-"पढमं नाणं तओ दया,एवं चिट्ठइ सव्वसंजए । अन्नाणी किं काही किं वा,नाही छेयपावयं " ॥ १ ॥ अतस्ते प्ररूपयन्ति-श्रुतं श्रेयः, श्रुतं श्रुतज्ञानं तदेव श्रेयोऽतिप्रशस्यमाश्रयणीयं वा; पुरुषार्थसिद्धिहेतुत्वात् ; न तु शीलमिति । अन्ये तु ज्ञानक्रियाभ्यामन्योन्यनिरपेक्षाभ्यां फलमिच्छन्ति । ज्ञानं क्रियाविकलमेवोपसर्जनीभूतक्रियं वा फलदम् । क्रियाऽपि ज्ञानविकला उपसर्जनीभूतज्ञाना वा फलदेति भावः । भणन्ति च-"किंचिद्वेदमयं पात्रं, किंचित्पात्रं तपोमयम् । आगमिष्यति यत्पात्रं, तत्पात्रं तारयिष्यति " ॥ १ ॥ अतस्ते प्ररूपयन्ति-श्रुतं श्रेयः,तथा शीलं श्रेयः, द्वयोरपि प्रत्येकं पुरुषस्य पवित्रतानिबन्धनत्वादिति । अन्ये तु व्याचक्षते-शीलं श्रेयस्तावन्मुख्यवृत्त्या, तथा श्रुतं श्रेयः, श्रुतमपि श्रेयो, गौणवृत्त्या तदुपकारित्वादित्यर्थः, इत्येकीयं मतम् । अन्यदीयमतं तु श्रुतं श्रेयस्तावत् । तथा शीलमपि श्रेयो, गौणवृत्त्या तदुपकारित्वादित्यर्थः । अयं चार्थ इह सूत्रे काकुपाठाल्लभ्यते । एतस्य च प्रथमव्याख्यानेऽन्ययूथिकमतस्य मिथ्यात्वं, पूर्वोक्तपक्षत्रयस्यापि फलसिद्धावनङ्गत्वात्, समुदायपक्षस्यैव च फलसिद्धिकारणत्वात् । आह च-" नाणं पयासयं सो, हओ तवो संजमो य गुत्तिकरो । तिण्हं पि समाओगे, मोक्खो जिणसासणे भणिओ " ॥ १ ॥ तत्र संयमो च शीलमेव । तथा-" संजोगसिद्धीए फलं वयंति, न हु एगचक्केण रहो पयाइ । अंधो य पंगू य वणे समिच्चा, ते संपउत्ता नगरं पविट्ठा " ॥१॥ त्ति । द्वितीयव्याख्यानपक्षेऽपि मिथ्यात्वं, संयोगतः फलसिद्धेरेकस्यादिकस्य प्रधानगौणत्वभावाया असङ्गतत्वादिति । अहं पुनर्गौतम ! एवमाख्यामि, यावत्प्ररूपयामि-एवं श्रुतयुक्तं शीलं श्रेय इत्येतावान् वाक्यशेषो दृश्यः । अथ कस्मादेवमत्रोच्यते-[एवमित्यादि] एवं वक्ष्यमाणन्यायेन [पुरिसजायं त्ति]पुरुषप्रकाराः [सीलवं असुयवं ति] शीलवान् ! [उवरए अविण्णायधम्मे त्ति] उपरतो निवृत्तः स्वबुद्ध्या

पापात् अविज्ञातधर्म्माभावतोऽनधिगतश्रुतज्ञानो बालतपस्वी-त्यर्थः । गीतार्थानिश्रितनपश्चरणनिरतो गीतार्थ इत्यन्ये । [देसाराहए त्ति] देशं स्तोकमंशं मोक्षमार्गस्याराधयतीत्यर्थः । सम्यग्बोधरहितत्वात्क्रियापरत्वाच्चेति । [असीलवं सुयवं ति] कोऽर्थ ? [उवरए विएणायधम्मे त्ति] पापादनिवृत्तो ज्ञातधर्म्मा च अविरतसम्यग्दृष्टिरिति भावः । [देसविराहए त्ति] देशं स्तोकमंशं ज्ञानादित्रयरूपस्य मोक्षमार्गस्य तृतीयभागरूपं, चारित्रं विराधयतीत्यर्थः, प्राप्तस्य तस्यापालनादप्राप्तेर्वा [सव्वाराहए त्ति] सर्वं त्रिप्रकारमपि मोक्षमार्गमाराधयतीत्यर्थः; श्रुतशब्देन ज्ञानदर्शनयोः संगृहीतत्वात् । नहि मिथ्यादृष्टिर्विज्ञातधर्म्मा तत्त्वतो भवतीति । एतेन समुदितयोः शीलश्रुतयोः श्रेयस्त्वमुक्तमिति (सव्वाराहए) इत्युक्तम् । भ० ८ श० १० उ० ।

(१५) [सुखम्] सर्वजीवानां सुखविषये विप्रतिपत्तयः-

अमउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति० जाव परूवेंति-जावइया रायगिहे णगरे जीवा, एवइयाणं जीवाणं नो चक्किया केइ सुहं वा दुहं वा० जाव कोलट्ठिगमायमवि निप्फावमायमवि कलममायमवि मासमायमवि मुग्गमायमवि जूयमायमवि लिक्खमायमवि अभिनिव्वट्टेत्ता उवदंसित्तए से कहमेयं भंते ! एवं ? । गोयमा ! जएणं ते अमउत्थिया एवमाइक्खंति० जाव मिच्छं ते एवमाहंसु, अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि० जाव परूवेमि-सव्वलोए वि य णं सव्वजीवाणं नो चक्किया केइ सुहं वा तं चेव० जाव उवदंसित्तए से केणट्ठेणं ? । गोयमा ! अयएणं जंबुद्दीवे दीवे० जाव विसेसाहिए परिक्खेवेणं पएणत्ते । देवे णं महिड्ढिए० जाव महाणुभागे एगं महं सविलेवणं गंधसमुग्गगं गहाय तं अवदालेइ । अवदालेत्ता० जाव इणामेव कट्टु केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं तिहिं अच्छरानिवाएहिं तिसत्तखुत्तो अणुपरियट्टित्ता णं हव्वमागच्छेज्जा, से नूणं गोयमा ! से केवलकप्पे जंबुद्दीवे दीवे तेहिं घाणपोग्गलेहिं फुडे ? । हंता ! फुडे, चक्किया णं गोयमा ! केइ तेसिं घाणपोग्गलाणं कोलट्ठिमायमवि० जाव उवदंसित्तए णो इणट्ठे समट्ठे । से तेणट्ठेणं जाव उवदंसित्तए जीवेणं भंते ! जीवे जीवे ? । गोयमा ! जीवे ताव नियमा, जीवे जीवे वि नियमा जीवे ।

(अमउत्थीत्यादि) (नो चक्किय त्ति) न शक्नुयात् । (जाव कोलट्ठियमायमवि त्ति) यावन्तं बहुबहुतरं वा यावत्, कुवलास्थिकमात्रमपि, तत्र कुवलास्थिकं बदरकुलकः, (निप्फाव त्ति) वल्लः, (कल त्ति) कलायः, (जूय त्ति) यूका; " अयएणमित्यादि " दृष्टान्तोपनयः । एवं यथा गन्धपुद्गलानामतिसूक्ष्मत्वेनामूर्त्तकल्पत्वात्कुवलास्थिकमात्रादिकं न दर्शयितुं शक्यते । एवं सर्वजीवानां सुखस्य दुःखस्य चेति । भ० ६ श० १० उ० ।

(१६) [हदः] राजगृहनगरस्य बहिर्वैभारपर्वतस्याऽधःस्थस्य ह्रदस्य विषये विप्रतिपत्तयः-

अएणउत्थिया णं भंते ! एवमाइक्खंति, भासंति, पएणवेंति, परूवेंति-एवं खलु रायगिहस्स नयरस्स बहिया वेभारस्स पव्वयस्स अहे एत्थ णं महं एगे हरए अघे पएणत्ते । अणेगाइं जोयणाइं आयामविक्खंभेणं नाणादुमखंडमंडिउद्देसे सस्सिरीए० जाव पडिरूवे, तत्थ णं बहवे उदारा बलाहया संसेयंति, समुच्छियंति, वासंति, तव्वतिरित्ते वि य णं सया समियं उसिणे आउकाए अभिनिस्सवइ, से कहमेयं भंते ! एवं ? । गोयमा ! जएणं ते अमउत्थिया एवमाइक्खंति० जाव जे ते एवमाइक्खंति, मिच्छं ते एवमाइक्खंति । अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि, भासेमि, पएणवेमि, परूवेमि-एवं खलु रायगिहस्स णयरस्स बहिया वेभारपव्वयस्स अदूरसामंते एत्थ णं महातवोवतीरप्पभवे नामं पासवणे पएणत्ते । पंच धणुसयाइं आयामविक्खंभेणं नाणादुमखंडमंडिउद्देसे सस्सिरीए पासादीए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे, तत्थ णं बहवे उसिणजोणिया जीवा य पोग्गला य उदगत्ताए वक्कमंति, विउक्कमंति, चयंति, उववज्जंति, तव्वतिरित्ते वि य णं सया समियं उसिणे उसिणे आउआए अभिनिस्सवइ, एस णं गोयमा ! महातवोवतीरप्पभवे पासवणे, एस णं गोयमा ! महातवोवतीरप्पभवस्स पासवणस्स अट्ठे पएणत्ते । सेवं भंते ! भंते त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ ॥

(अमउत्थियेत्यादि) [पव्वयस्स अहे त्ति] वैभाराभिधानस्य पर्वतस्याधस्तादित्यर्थः । (हरए त्ति) ह्रदः [अघे त्ति] अघाभिधानः । क्वचित्तु (हरए त्ति) न दृश्यते, अघे इत्येतदेव च पठ्यते, तत्र च आप्य॰ अपां प्रभवः, ह्रद एव चेति (ओराल त्ति) विस्तीर्णाः, (बलाहय त्ति) मेघाः, (संसेयंति त्ति) संस्विद्यन्ति, उत्पादाभिमुखीभवन्ति (संमुच्छंति त्ति) संमूर्च्छन्त्युत्पद्यन्ते (तव्वतिरित्ते य त्ति) ह्रदपूरणादतिरिक्तश्च उष्णोदकमिति शेषः, स्रवतीत्यर्थः । (आउयाए त्ति) अप्कायः [अभिनिस्सवइ त्ति] अभिनिःस्रवति क्षरति [मिच्छं ते एवमाइक्खंति त्ति) मिथ्यात्वं चैतदाख्यानस्य विभङ्गज्ञानपूर्वकत्वादाप्तवचनाबाधितत्वाद् व्यवहारादिना च इत्यर्थः, प्रमाणाबाधितत्वादिति भावः । [अदूरसामंते त्ति] नातिदूरे नात्यासन्ने समीप इत्यर्थः । (एत्थ णं ति) अत्रान्तरे वैभारस्याधस्तादित्यर्थः (महातवोवतीरप्पभवे नामं पासवणे त्ति) आतप इव आतपः उष्णता, महांश्चासावातपश्चेति महातपः, महातपस्योपतीरं तीरस्य समीपे प्रभवः उत्पादो यस्यासौ महातपोपतीरप्रभवः । प्रस्रवन्तीति प्रस्रवणः, प्रस्यन्दन इत्यर्थः । (वक्कम त्ति) उत्पद्यन्ते, (विउक्कमंति) विनश्यन्ति । एतदेव व्याख्यान्तरेण-च्यवन्ते उत्पद्यन्ते चेति । तथैवार्थं निगमयन्नाह-एस णमित्यादि)

एषोऽनन्तरोक्तस्वरूपः, एष वा अन्ययूथिकपरिकल्पितह्रदः सो महातपोपतीरप्रभवः प्रस्रवण उच्यते । तथा एष इति, उष्णत्वादेः (उसिणेऽभिउसिणे इत्यादि) स महातपोपतीरप्रभवस्य प्रस्रवणस्यार्थोऽभिधानान्वर्थः प्रज्ञप्तः । भ० २ श० ५ उ० ।

इति दर्शिता अन्ययूथिकैः सह विप्रतिपत्तयः । (अन्ययूथिकतीर्थिकैः वादिभिर्वादिभिः सह विवादास्तु तत्तद्वादेषु ' समोसरण ' शब्दे च दर्शयिष्यन्ते)

एतेहिं कारणेहिं, कप्पति ताहे सयं करणं ॥१४० ॥

पणगो वही समुच्छइ, आदिग्गहणाओ बेंदियादि समुच्छंति, हत्थिकाओ छट्टेति, एसा संजमविराहणा । आयविराहणा सीतसमयम्मि भत्तं ण जीरति, ततो गेलण्णं आवति, एते वसहिसंबद्धाए दगधीणियाए अकज्जमाणीए दोसा, वसहिअसंबद्धाए बहिया एते दोसा-उदगागमे ठाणे अनादरे किलिच्छसे लूतिआयविराहणा संजमे पणगा हरिता बेंदिया वा उवहिविणासो कद्दमेण मइलिणवासा दुगुंछिज्जति । कारणे गिहिअ-ण्णतित्थिएहिं वि कारविज्जति ।

बितियपदमणिउणे वा, णिउणे वा केणई भवे असहू ।

वाघातो व साहुस्स, परिकरणं कप्पती ताहे ॥ १४१ ॥

पच्छाकडसाभिग्गह-णिरभिग्गहभद्दए य असण्णी वा ।

गिहिअण्णतित्थिए वा, गिहिपुव्वं एतरे पच्छा ॥१४२॥

दो वि पुव्ववत् कण्ठ्यौ । नि० चू० १ उ० ।

(१९) [उपकरणरचना] अन्यतीर्थिकैः चिलि-

मिलिकादि कारयति-

जे भिक्खू सोत्तियं वा रज्जुयं वा चिलिमिलिं वा अण्णउत्थि-एण वा गारत्थिएण वा कारेति, कारंतं वा साइज्जइ॥१४॥

सुत्ते सुत्ते भवा सोत्तिया, वल्कंबरयादिका इत्यर्थः । रज्जुए भवा रज्जुमा, दोरकि त्ति वुत्तं भवति ।

जाणतहाणुस्सरणे, वासे उज्जवखणी जओ एति ।

उल्लवइहिं विरद्धोति य, अंतो बहि कासिया इतरं वा ।१६२।

जाव संजओ ण पविट्ठविज्जति ताव पच्छाणे धरिज्जति, अन्नाणे वा जाव संणिहं ण जाणति ताव जाहितो गतो मुज्जति -, अभी उज्जवखणी एति, ततो करुणाचिलिमिली दिज्जति, वासासु वा उल्लवहिं विरद्धोति दोरं उड्डावेत्तं अंतो बहि कासिण इतरं वा ।

पंचविधचिलिमिलीए, जो पुव्वं कप्पती गहणं ।

असती पुव्वकडाए, कप्पति ताहे सयं करणं ॥१६३॥

बितियपदमणिउणे वा, निउणे वा होज्ज केणई असहू ।

वाघातो व साहुस्स, परिकरणं कप्पती ताहे ॥ १६५ ॥

गाहा पुव्ववत् कण्ठ्या । नि० चू० १ उ० ।

(२०) सूचीप्रभृत्युपकरणान्यन्ययूथिकेन वा गृहस्थेन

वा कारयति-

जे भिक्खू सूचियस्स उत्तरकरणं अण्णउत्थिएण वा गार-त्थिएण वा कारेति, कारंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

सूयीमादीयाणं, उत्तरकरणं तु जो तु कारेज्जा ।

गिहिअण्णतित्थिएण व, सो पावति आणमादीणि ।१६६।

उव्वग्गाहिता सूया-दिया तु एक्केक्कए गुरुस्सेव ।

गच्छं व समासज्जा, अण्णायसेक्केक्क सेसेसु ॥ १६७ ॥

सूची पिप्पलओ णहच्छेयणं कण्णसोहणं उवग्गाहितोव-करणं, एते य एक्केक्का गुरुस्स भवंति । सेसा तेहिं चेव कज्जं कारेंति, महल्लगच्छे वा समासज्ज अणायसा अलोहमया सयंस-सिगमयी वा सिसलाहुणं एक्केक्का भवति । किं पुण उत्तर-करणं ? । इमं-

पासग मट्टिणिसीयण-पज्जण रिउकरणा उत्तरणं ।

सुहुमं पि जं तु कीरति, तदुत्तरं मूलणिव्वत्ते १६८ ॥

पासगं विंधं किज्जति, अण्णहकरणं मट्टिणिसीयणं णिसाणे पज्ज-णं लोहकारागारे रिजु वज्जुकरणं एयं सव्वं उत्तरकरणं । अहवा मूलनिव्वत्ते उवरिं सुहममवि जं कज्जति तं सव्वं उत्तरकरणं ॥

सूयीमादीयाणं, णिप्फायकरणं तु कप्पती गहणं ।

असती णिप्फायकम्मे, कप्पति ताहे सयं करणं ॥ १६९ ॥

नि० चू० १ उ० ॥

(२१) शिक्यादिकोपकरणकारणम्-

जे भिक्खू सिक्कगं वा सिक्कगणंतगं वा अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेति,कारंतं वा साइज्जइ ॥१३॥

जे भिक्खू सिक्कगोप्पादि सिक्कगं पसि जारिसं वा परिव्वायगस्स भिक्खं अणंतओ उपाणओ उच्छारूणं भण्णति,जारिसं कापलिस्स भोयगचुलियाणं, एस सुत्तत्थो । इदाणिं निज्जुत्ति-वित्थरो-

सिक्कगकरणं दुविधं, तसथावरजीवदेहणिप्फण्णं ।

अंडगवालग कीडज-हारूवज्जादिगतेरस ॥ १४३ ॥

जे भिक्खू पिप्पलगस्स उत्तरकरणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिए वा कारेइ, कारंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

पिप्पलगणहच्छेदण-सोधणए चेव होंति एवं तु ।

णवरं पुण णाणत्तं, परिभोगे होंति णायव्वं ॥ १७३॥

एवं पिप्पलगणहच्छेयणसोहणे य एक्केक्के चउरो सुत्ता, अत्थो पुव्ववत् । परिभोगे विसेसो इमो-

वत्थं छिंदिस्सामिति, जाइ उ पादछिंदणं कुणति ।

अधवा वि पादछिंदण, काहिंतो छिंदती वत्थं ॥१७४॥

णक्खं छिंदिस्सामिति, जाइ उ कुणंति सल्लमुद्धरणं ॥

अहवा सल्लुद्धरणं, काहिंतो छिंदती णक्खे ॥ १७५ ॥

पिप्पलगणहच्छेयणाणं अप्पणे इमा विधी-

मज्झे वा गेण्हित्ता, हत्थे उत्ताणयम्मि वा काउं ।

भूमीए व ठवेत्तुं, एस विधी होति अप्पणे ॥१७६॥

उभयतो धारणसंभवा मज्झे गेण्हिऊण अप्पेति । सेसं कंठं ॥

कण्णं सोधिस्सामि त्ति, जाइं तु दंतसोधणं कुणति ।

अहवा वि दंतसोधण, काहिंतो सोहती कण्णे ॥ १७७ ॥

लाउयदारुयमट्टिय-पाएसु परिघट्टणाइयं जं तु ।

बारसमु वि सुत्तेसु अ, अवरपदा होंति णायव्वा ।१७८।

जे भिक्खू लाउयपायं वा दारुपायं वा मट्टियापायं वा अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिघट्टावेति वा, संठवेइ वा, जमावेति वा, अलमप्पणो कारणयाए सुहुममवि णो कप्पइ, जाणमाणे सरमाणे अण्णमण्णस्स वि सरमाणे वियरति, वियरंतं वा साइज्जइ ॥ ३९ ॥

(जे भिक्खू लाउयपायं वा इत्यादि) लाउयदारुयमट्टियापात्रे मृन्मयं कपालकादि परिघट्टणं णिम्मोक्खणं संठवणं मुहादीणं जमावणं विसमाण समीकरणं अलं पज्जत्तं सक्कति, अप्पणो काउं ति वुत्तं भवति, जाणइ जहा ण वट्टति, अण्णउत्थियगारत्थि-एहिं कारावेउं जाणति वा, सुत्तं सरति, एस अन्नमोयदेसो य-

(१७) संसर्गस्तु तैः [कापिलादिभिः] सह न समाचरणीय एव [आगाढवचनम्] यथा-

अन्ययूथिकं वा गृहस्थं वा आगाढं वा वदति-

जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा आगाढं वदइ, वदंतं वा साइज्जइ । ९ ।

आगाढ इत्यादि ।

जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा फरुसं वदइ, वदंतं वा साइज्जइ ।१०। जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा आगाढं फरुसं वदइ, वदंतं वा साइज्जइ ।११। जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा अण्णयरीए अच्चासायणाए अच्चासादइ, अच्चासायंतं वा साइज्जइ । १२ ।

आगाढगाहासुत्तं-

आगाढफरुसमीसग-दसमुद्देसम्मि वण्णितं पुव्वं ।

गिहिअण्णतित्थिएहिं, ते चेव य होंति तेरसमे ॥२५॥

जहा दसमुद्देसे भदंतं प्रति आगाढफरुसमीसगसुत्ता भणिता, तहा इह गिहत्थअण्णउत्थियं प्रति वत्तव्या । इमेहिं जातिमातिएहिं गिहत्थं अण्णतित्थियं वा आगाढं फरुसं वा भणति-

जातिकुलरूवभासा-धणबलपाहण्णदाणपरिभोगे ।

सत्तवयबुद्धिनागर-तक्करभयकेयकम्मकरे ॥ २६ ॥

जइ ताव सम्मचरिय-हितस्स मुणिणो वि जायते मण्णुं ।

किं पुण गिहीण मण्णुं, न जविस्सति सम्मदिट्ठी णं ।२७।

जातिकुलरूवभासा [illegible] पाहण्णेण य एतेहिं दाणं प्रति [illegible] हीनस- [illegible] मंदबुद्धिः [illegible] परि- [illegible] । जं वा गिहत्थं अण्णतित्थियं वा तक्करमभूतकम्मकरा- [illegible] परिभवति । जइ ताव [illegible] जातिकासितमेत्तेण [illegible] , किं पुण गिहीणं [illegible] ।

सो य उप्पज्जंत इमं कुज्जा—

[illegible] हरि [illegible] दाणि ।

[illegible] संवरे, [illegible] परिभिसे ॥२८॥

[illegible] दुविलो वा [illegible] , [illegible] एवं कुर्वीत । नि० चू० १३ उ० ।

(१८) [illegible]—

जे भिक्खू [illegible] अण्णउत्थिएहिं वा गारत्थिएहिं [illegible] , [illegible] वा साइज्जइ ॥ १७ ॥

[illegible]

[illegible] ।

[illegible] ॥३३॥

वासासु दगवीणिया कज्जति । सा दुविहा-वसहीए संबद्धा इतरा असंबद्धा । वसहीसंबद्धा तिविहा विहिता-वहिया, अंतो उवरि च । इमं तिविहाए वि विक्खाणं भिच-

परिगल्ल विहिता छम्मि-ज्जए अंतो व ओदए वा वि ।

हम्मियतलमाले वा, पणालछिड्डं व उवरिल्ले ॥ १३४ ।

जा सा वसहीसंबद्धा सा भिच परिगालो , जा सा अंते संबद्धा सा भूमी उभिज्जति , सिरा वा वण्णिगा वासोदगं वा छिड्डेहिं पविट्ठं, जा सा उवरि संबद्धा सा हम्मियतले हम्मतले भाया ओ वा संजविगाच्छादितमाले वा वासोदगं पविट्ठं काले वा पणाळच्छिड्डं ।

वसही य असंबद्धा, उदगागमताण कद्दमे चेव ।

पढमा वसहिणिमित्तं, मग्गणिमित्तं दुवे इतरा ॥ १३५ ॥

वसही असंबद्धा तिविहा-उदगस्स आगमो तदगागमो, यसहिं तेण आगच्छति पविसति त्ति , अंगणे वा जत्थ साहूणो अच्छंति तं ताण उदगं एति , णिग्गमणपहे वा उदगं एति, तत्थ कद्दमो भवति, तत्थ पढमा जा वसही तेण पविसति त्ति,तेअ ण्णतो दगवाहो कज्जति , सा वसहीविसयो भविस्सति. इयरासु दुसु जा मग्गं एति,जा य णिग्गमपहे, एता अण्णतो दगवीणिया कज्जति, मा उदगं ठाहि त्ति,तं च संसज्जति,तत्थ अंति तणं ताणं तस्स पाणविराहणा कज्जमो वा होहि त्ति मग्गणिमित्तं णाम सा मग्गो रुज्झिहि त्ति, उदगेण कद्दमेण वा वसहिसंबद्धासु वि दगवीणिया कज्जति ।

एते सामण्णतरं, दगवीणिय जो उ कारवे भिक्खू ।

गिहि अण्णतित्थिएण व, अयगोलसमेण आणादी ।१३६।

अयं गोलः, तस्स गोलो पिंडो , सो तत्तो समंता दहति । एवं गिहिअण्णतित्थिओ वा समंततो जीवोवघाती, तम्हा एतेहिं ण कारवे ।

दगवीणियपडिया इमे-

दगवीणिय दगवाहो, दगपरिगालो य होंति एगट्ठा ।

विणयंति जम्हा तु दगं, दगवीणिय भण्णते तम्हा । १३७।

पुव्वद्धं एगट्ठिया, पच्छद्धं दगवीणिय णिरुत्तं ॥ १३७ ॥

गिहिअण्णतित्थिएहिं दगवीणिय कारवेंतस्स इमे दोसा-

आया य हत्थपादं, इंदियजायं च पच्छकम्मं वा ।

फासुगमफासुगे से, मच्चिणिणे य लहुगा य ॥ १३८ ॥

[आय इति] आयविराहणा-तत्थ हत्थं पादं वा लूसेज्जा, इंदियजायं वा लूसेज्जा, अहवा इंदियजायमिति मेंढियादिया, ते विराहेज्जा, पच्छाकम्मं वा करेज्जा, तत्थ फासुएणं देसे मासलहुं, सव्वे चउलहुं, अफासुएणं देसे, सव्वे वा चउलहुं, अप्पणो करेंतस्स एते चेव दोसा ।

दगवीणियाए अकाले इमे दोसा-

पत्ते अहिकरणिबुड्डण-संजम आताय अत्तगेहाणे ।

कडिया वि अत्थमंजण-दरपाणिय दुग्गंधा य ॥१३९॥

कालेण करेज्ज वि दगवीणियं । किं कारणं ?, इमं-

वसहीं वि दुक्खाए, संपातरक्खाए अहव गुत्ताए ।

एतेहिँ कारणेहिं, कप्पति ताहे सयं करणं ॥१४० ॥

पत्तगो उद्दी समुच्छइ, आदिग्गहणतो चेदियादि समुच्छंति, हरियकाओ उट्ठेति, एमा संजमविराहणा । आयविराहणा सीतमयमहीए सत्ते य जीरति, ततो गेलण्णं जायति, एते संबद्धिसंघडाए दगवीणियाए अकज्जमाणीए दोसा, संजमसंघडाए वाहिया एवं दोसा-उद्गागमे दाणे अनादेज्जे विद्धिय-मे लूतिमायविराहणा संजमे पत्तगा हरिता चेदिया वा उवरि-पिसावो कद्दमेण अभिलिण्णाभा दुगुंछिज्जंति । कारणे गिहिम-त्तादिएहिँ वि कारविज्जंति ।

विसियपहुमणिज्जणे वा, गिहणे वा कंमाई सेवे असमद्द ।

बाघातो व सहुस्स, परिकरणं कप्पती ताहे ॥ १४१ ॥

पच्छाकडमादिजुत्त-गिहिजिणाइजणद्द्ए य असती वा ।

गिहिमणाणिस्सिए वा, गिहिपुव्वं एवं पच्छा ॥१४२॥

दो वि पुव्ववत् कण्ठ्यो । नि० चू० १ उ० ।

(१९) [उपकारणायना] अन्यतीर्थिकैः सिक्कि-

मिलिकादि कारयति-

जे भिक्खू सोत्तियं वा रज्जुयं वा चिलिमिलिं वा अण्णउत्थि-एण वा गारत्थिएण वा कारेति, कारेंतं वा साइज्जइ ॥१४॥

सुत्ते सुत्ते भवा सोत्तिया, एवमेव वस्त्रादिष्वपि द्रष्टव्यः । रज्जुय भवा रज्जुया, दोरकि त्ति वुत्तं भवति ।

उणवण्णाइयसरणे, वासे उवनयणो जत्थो एति ।

उन्नववहिँ विग्घेति य, अंतो बहि कासिए इतरं वा ।१४३।

जाव संजमो य परिट्ठविज्जति ताव पच्छाए परिक्खति, अहवा जाव पविसं न सक्कति ताव गाहिता गता पुच्छंति , अहो उणवण्णा पति, ततो कडाहिसिमिली विज्जंति, वासासु वा बहुपहि विग्घेति दोरे अहवासवं अंत बहि कासिय इतरं वा ।

पंचविधचिलिमिलीए, जो पुव्वं कप्पती गहणं ।

असती पुव्वकडाए, कप्पति ताहे सयं करणं ॥१४४॥

विसियपहुमणिज्जणे वा, गिहणे वा होज्ज कंमई असमद्द ।

वाघातो व सहुस्स, परिकरणं कप्पती ताहे ॥ १४५ ॥

गाहा पुव्ववत् कण्ठ्या । नि० चू० १ उ० ।

(२०) सूचीप्रभृत्युपकरणान्यन्यतीर्थिकेन वा गृहस्थेन वा कारयति-

जे भिक्खू सूचियस्स उत्तरकरणं अण्णउत्थिएण वा गार-त्थिएण वा कारेति, कारेंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

सूयीमादीयाणं, उत्तरकरणं तु जो तु कारेज्जा ।

गिहिअण्णतित्थिएण व, सो पावति

आणमादीणि दोसा-।

पाससंधिहिणिमीयण-पज्जण पिक्कणउ ओवयणं ।

सुहुमं पि जं तु कीरति, तहुत्तरं मूलणिव्वत्ते १४६ ॥

पासगं विसेइ छिज्जति, उत्तरकरणे सहिसिणीयणं तिक्खाणं पज्ज-णं लोहकारादिणा सिप्पु कज्जकरणं एवं सव्वं उत्तरकरणं । अहवा मूलनिव्वत्तेण उवरिं सुहुममवि जं कज्जति तं सव्वं उत्तरकरणं ॥

सूयीमादीयाणं, गिण्हादिकरणं तु कप्पती गहणं ।

असती गिण्हादिकम्मे, कप्पति ताहे सयं करणं ॥ १४७ ॥

नि० चू० १ उ० ।

(२१) भिक्षादिकं विकारयकारयन्-

जे भिक्खू भिक्खंगं वा भिक्खलंडगं वा अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेति, कारेंतं वा साइज्जइ ॥१३॥

जे भिक्खू भिक्खंगपादि भिक्खं करेति अहिरे वा परिभायण-स्स भिक्खं कवेल्लगो उवकरणो कप्पइ पुण्णं भवति, कारेति का-योपकरणसोधणमुद्धिवत्थं, एस सुत्तत्थो । इदाणिं निज्जुत्ति-वित्थरो-

भिक्खगकरणं दुविहं, सवन्ताववदावडेहिं णिव्वत्तणं ।

संतायाणा वीयण-सोयणावदिगनेसणा ॥ १४८ ॥

जे भिक्खू भिक्खगस्स उत्तरकरणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कारेइ, कारेंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

भिक्खगणहुच्छेयण-सोधणय वेह होति एवं तु ।

एवं पुण सामण्णं, परिकम्मं होति नायव्वं ॥ १८० ॥

एवं भिक्खगसहच्छेयणसोधणं य बहेति कारेति पुण्णं, अन्नो पुव्ववत् । परिकम्मेण विसेसो इमो-

अन्नं भिक्खस्सावि, अह उ पडहिज्जं कुणति ।

अहवा वि पडहिज्जा, पडहिज्जे भिन्नी पायं ॥१८१॥

एवमवि भिक्खमादिस्स, अह उ कुणति सहुकारणं ॥

अहवा सहुकारणं, पाडियो भिन्नो सव्वं ॥ १८२ ॥

भिक्खगवहुच्छेयणगं करेति तथा विहे-

साडे वा गंठियता, हवेइ उच्चायमादि वा कोई ।

पूरीए व उवेणं, एस विही होति कायव्वं ॥१८३॥

जमवत्ता पावकमवत्ता सायं तेहिं तत्थ करेति । जेण होई

कायं भिक्खमादि वि, अह उ देसकीरई कुणति ।

अहवा वि देसच्छेयण, पडिहिते भिन्नी कप्पे ॥ १८४ ॥

सालाणायरपरिक्खा, सुहुमकोवयणसहक्खणसहे ।

वारमस्स वि पुवेसु च, उवयारा होति कायव्वा ॥१८५॥

जे भिक्खू अइक्कमरं वा ...

[illegible] वा, [illegible] वा, [illegible] वा नि-[illegible] ॥

[illegible]

[illegible] ॥१००॥

[illegible]

विसियम्मे, विसियपदेसु कारणे पविसेज्जा वि। जतो विसिय-पदगाहा। आविसं दुभिक्खं, एतेसु अंधियादिसु एतेहिं गिह-[illegible] समं भिक्खा लभंति, अहवा न लभंति; [illegible] समाणं [illegible], सो य जदि अहा भद्दो [illegible] वा, अहा भ-[illegible] पुण समाणं दो तिण्णि वारा, अहवा ते [illegible] सह [illegible] सरीरं तेण [illegible] ति। [illegible] पुण इमा विही पुव्वगतो गाहा। [illegible] दुगपविट्ठ [illegible] पुव्वपविट्ठो अप्पभावे ति, [illegible] समाणं [illegible], तओ [illegible], तओ महाभद्दमण्णिं-[illegible] वि, एस सेव कमो। नि० चू० २ उ०।

जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकु-लेसु वा परियावसहेसु वा अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय जायइ, जायंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥ जे भिक्खू आ-गंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियाव-सहेसु वा अण्णउत्थिं वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय जायति, जायंतं वा सा-इज्जइ ॥ २ ॥ जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णउत्थियाणि वा गारत्थियाणि वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥

'जे भिक्खू' इत्यादि [illegible]

[illegible] ॥ २ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ ३ ॥

[illegible]

[illegible]

अट्ठाणट्ठितो ओभासिते पंतभद्ददोसा। पंतस्स अचियत्तं भवति, ओभासणता-अहो! इमे भद्ददोसा।

जइ आगतोसि दीसइ, जइ य विमग्गंति मं अट्ठाणम्मि।
दंतेंदिया तवस्सी, तं देमि ण भारितं कज्जं ॥५॥

जहा एवं साहुस्सागतो दीसति, जहा-अयं अट्ठाणट्ठियं विमग्गंति-दंतेंदिया तवस्सी तो देमि अहं एतेसिं एणं से भारितं कज्जं, आत्मकल्पमित्यर्थः ॥५॥

सड्ढिगिहिं अणउत्थियो, करिज्ज ओभासिए तु सो असते।
उग्गमदोसेगतरं, खिप्पं से संजतट्ठाए ॥६॥

श्रद्धाऽस्यास्तीति श्राद्धी, सो य गिही, अणउत्थिओ वा, ओभासिए समाणसे इति। स गिही अणउत्थिओ वा खिप्पं तुरियं सघह उग्गमदोसाणं अण्णतरं करेज्जा संजयट्ठाए ॥६॥

एवं खलु जिणकप्पे, गच्छो णिक्कारणम्मि तह चेव।
कप्पति य कारणम्मी, जतणा ओभासितुं गच्छे ॥७॥

एवं ता जिणकप्पे भणियं गच्छवासिणो वि णिक्कारणे एवं चेव कारणजाते पुण कप्पति। थेरकप्पियाणं ओभासितुं किं च्चिकारणं इमं-

गेलण्ण रायदुट्ठे, रोहग अद्धाण अंचिते ओमे॥
एतेहिं कारणेहिं, असती लंभंति ओभासे ॥८॥

गिलाणऽद्धाण य दुट्ठे वा रोहगे वा अंतो अपधंता अंचिते वा, अंचियणं णाम दोवसंधी, तत्थ भत्तणी उ संधिओ त ण वा णिप्फण्णं, णिप्फण्णे वा ण लब्भति, ओमं दुब्भिक्खं, एवं अचिए ओमे, दीर्घं दुर्भिक्षमित्यर्थः। एतेहिं कारणेहिं अलब्भंते ओभासेज्जा-

तिण्णं समतिक्कंतो, पुव्वं जतिऊण पणगपणगेहिं॥
तो मासिएसु पच्छ त्ति, ओभासणमादिसु असढो ॥९॥

इमा जयणा-पढमं पणगदोसेणं गेण्हति पच्छा दस पण्णरस वीस भिण्णमासदोसेण य एवं पणगभेदहिं जाहे तिण्णि समतिक्कंतो ताहे मासि अट्ठाणेसु ओभासणादिसु जतति, असढो। तत्थ तु ओभासणे इमा जयणा-

तिगुणगतेहिं ण दिट्ठो, णीया वुत्ता तु तस्स उ कहेइ।
पुट्ठापुट्ठा व ततो, करेंति जं सुत्तपडिकुट्ठं ॥१०॥

पढमं घरे ओभासिज्जति अदिट्ठे, एवं तयो वा रायघरे गवेसियव्वो, तत्थ भज्जा ति णीया वत्तव्वा, तस्स आगयस्स कहेज्जइ साधू तव सगासं आगया, कज्जेणं घरे अदिट्ठे पच्छा आगंताराइसु दिट्ठस्स घरगमणाइ सव्व कहेतु, तेण वंदिते अवंदिते वा तेणेव पुट्ठ अपुट्ठा वा जं सुत्ते पडिसिद्धं तं कुव्वंति, ओभासंति इत्यर्थः।

जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अन्नउत्थियं वा गारत्थियं वा कोउहल्लपडियाए पडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥४॥

एवं अण्णउत्थिया वा गारत्थिया वा, एवं अण्णउत्थिणीओ वा गारत्थिणीओ वा।

पढमम्मी जो तु गमो, सुत्ते वितिए वि होति सो चेव।
ततिय चउत्थे वि तहा, एगत्तपुहत्तसंजुत्ते ॥११॥

पढमे सुत्ते जो गमो, वितिए वि पुरिसपोहत्तियसुत्ते सो चेव गमो। ततियचउत्थेसु वि इत्थिसुत्तेसु सो चेव गमो ॥४॥

जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णउत्थियाउ वा गारत्थियाउ वा कोउहल्लपडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥५॥ जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णउत्थियाउणी वा गारत्थियाउणी वा कोउहल्लपडियाए पडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥६॥ जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णउत्थियाउणी वा गारत्थियाउणी वा कोउहल्लपडियाए पडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासिय ओभासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥७॥

जे भिक्खू आगंतारेसु वा इत्यादि कोऊहलं ति यावत, कौतुकेनेत्यर्थः।

गाहासूत्राणि—

आगंतागारेसुं, आरामगारे तह गिहा वसही।
पुव्वट्ठिताण पच्छा, एज्ज गिही अणुतित्थि वा केई ॥१२॥

समागतं जे असणातीतो भासति, तस्स मासलहुं, धम्मं सावगधम्मं वा पेच्छामो। एसो गाहा-

अहच्चावेणं कोऊ-हल केई वंदगणिमित्तं।
पुच्छिउ रामो केई, धम्मं दुविधं व पेच्छामो ॥१३॥
एगो एगतरेणं, कारणजातेण आगंतं संतं॥
जो भिक्खू ओभासति, असणादी तस्सिमा दोसा ॥१४॥

तस्सिमे भद्दपंतदोसा-

आतपरोभासणता, अदिण्णदिण्णे व तस्स अचियत्तं।
पुरिसो भासणदोसा, सविसेसतरा य इत्थीसु ॥१४॥

अलद्धे अप्पणो ओभासणा सुद्धा लभति तिण्णि अदिण्णे परस्स ओभासणा किंवणे त्ति, अदिण्णे वा अचियत्तं भवति, महाजणमज्झे वा पणइ, ते देमि त्ति, पच्छा अचियत्तं भवति, दाओ पुरिसे ओभासणदोसा एव केवला, इत्थियासु ओभासणदोसा, संकादोसा य, आयपरसमुत्था य दोसा।

भद्दो उग्गमदोसे, करेज्ज पच्छण्ण अभिहडादीणि।
पंता पेलवगहणं, पुणगवत्ति तहा दुविधं ॥१५॥

भद्दओ उग्गमेगतरदोसं कुज्जा, पच्छण्णाभिहडं पागडाभिहडं वा अंतप्पंता साहुसु पेलवगहणं करेज्ज-अहो इमे अदिण्णदाणा, जो आगच्छति तमोभासंति, साहूसावगधम्मं

या पडिवज्जामि त्ति, ओभासिओ उद्दुरुद्धो पडिणियत्तो जाहे मायगो होहामि ताहे ण सुरहिति, जइ पव्वज्जं घेप्पामो त्ति एगो विप्परिणमति, तो मूलं दोसु णवमं तिसु चरिमं, जं च ते विप्परिणया असंजमं काहिंति तमावज्जंति, अथवा णिप्पहणसु पडंति जम्हा एते दोसा तम्हा ण ओभासियव्वो आगमो, एवं वि पच्छित्तं परिहरियं आणा अणुपालिया, अणवत्था, मिच्छत्तं च परिहरियं, दुविहा विराहणा परिहरियव्वा कारणे पुण ओभासति । इमे य कारणा-

असिवे ओमोदरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाण रोहए वा, जतणा ओभासिउं कप्पे ॥१६॥
निगुणगतेहिं पा दिट्ठा, णीया वुत्ता तु तस्स तु कहेइ ।
पुट्ठापुट्ठा व ततो, करेंति तं तुलपडिकुट्ठं ॥ १७ ॥
एगंते जो तु गमो, णियमा पोहत्ति पम्मि सो चेव ।
एगंता तो दोसा, मासिमसतरा पुहत्तम्मि ॥ १८ ॥

असिवे जहा मासं पत्तो ताहे घरं गंतुं ओभासिज्जति, अदिट्ठे सीदता ते भणंति-अच्छामि मायगम्म सागुणो दट्ठुमा-णसा, ते आसिमो अविरं च समीवे मोडं महमायग या आगतो सच्चं ते पहरणमत्तं काहिजति, कारणं च से ईति इच्छति, ततो अवणए ओभासिज्जति, जइ सो भणति, घरं पच्छह, ताहे तेणेव समं गंतव्वं, मा अभिहडं काहिति, अणुट्ठ पाएणं राय-दुट्ठादिसु वि वक्तिपसुत्ता तो पीहतिएसु मासिमसतरा दोसा ॥

पुरिसाणं जो तु गमो, णियमा सो चेव होइ इत्थीसु ।
आहारे जो तु गमो, णियमा सो चेव उवधिम्मि ॥ १९ ॥

जो पुरिसाणं गमो दोसु गुणेसु इत्थीसु वि सो चेव दोसु गुणेसु वत्तव्वो,जो आहारे गमो सो चेव उवधिम्मि वि वत्तव्वो ॥ १९ ॥

सुत्ताणि चत्तारि-

जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अभिहडं आहट्टु दि-ज्जमाणं पडिसेहित्ता तमेव अणुवत्तिय २ परिवेढिय २ परि-जविय २ ओभासिय २ जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥ जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णउत्थियाइं वा गारत्थियाइं वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडिसेहित्ता तमेव अणु-वत्तिय २ परिवेढिय २ परिजविय २ ओभासिय २ जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥ जे भिक्खू आगंतारेसु वा आ-रामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्ण-उत्थिणीं वा गारत्थिणीं वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडि-सेहित्ता तमेव अणुवत्तिय २ परिवेढिय २ परिजविय २ ओभासिय २ जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥ जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णउत्थियपाउणीं वा गारत्थियपाउणीं वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडिसेहित्ता तमेव अणुवत्तिय २ परिवेढिय २ परि-जविय २ ओभासिय २ जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥

आगंतागारादिसु ठियाणं साहूणं अण्णतित्थिओ गारत्थिओ वा अभिहडं-आभिमुख्येन हृतं अभिहृतं, पारणादिसु कोइ सड्ढो सयमेव आहट्टु दलएज्जति, पडिसेहेत्ता तमेव त्ति, तं दायारं अ-णुवत्तिय त्ति, सत्त पदाइं गंता परियेट्टिय त्ति, पुरतो पिट्ठतो पा-सतो ठिच्चा परिजविय त्ति परिजल्प्य २ तुज्झेहिं रायं अ-म्हट्ठा आणियं मा तुज्झं अफलो परिस्समो भवतु, मा वा अधितिं करेस्सह, तो गेण्हामो। एवं ओभासंतस्स मासलहुं । सुद्धे वि असुद्धे पुण जेण असुद्धं तमावज्जो ॥

अगंतागारेसुं, आरामऽगारे तह गिहा वसही ।
गिहिअण्णतित्थिए वा, आणिज्जा अभिहडं असणियमा२०।
ओलग्गणमणुवयणं, परिवेढण पासि पुरउ ठातुं वा ।
परिजवणं पुण जंपइ, गेण्हामो मा तुमं रुस्स ॥२१॥

अणुवइय त्ति ओलग्गिउं अट्ठपलित्तुं परियेढणं पुरतो पास-ओ वाउ परिजवणं परिजल्पः ; इमं जंपइ-गेण्हामो, मा तुमं रुसिहिसि ॥ २१ ॥

तं पडिसेवे णूणं, दोसं अणुवतिय गेण्हती जो उ ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥ २२ ॥

एतेण उ या तमापहडमेव पडिसेहेउं एकप्रतिषेधः, द्वितीयो महा जो एवं गेण्हति, तस्स आणादी दोसा, भद्दपन्तदोसा य । आणाए भङ्गो अणवत्था कता, अग्गहाकारं तेण मिच्छत्तं जणि-यं, इमे संजमविराहणा दोसा, भद्दपन्तदोसा य ।

तेणं गेण्हति भद्दउ, करे पसंगं अहासियाऽजिरता ।
माई कवडायारा, घेत्तव्वं जाणती पंता ॥२३॥

भद्दो चिन्तइ-एतेण उवायेण गेण्हति, माइके पुणो पसंग करेति, पंतो चिन्तइ-गहण करे, मणोज्ञ वा भाणिय भणुं, तम्मि अति अतिरया ओभयानिरया ण गेण्हमो त्ति भणित्ता पच्छा गेण्हं-ति मायाविणो, तम्हा पसहीए ण गेण्हंति, इह पडिणियत्तसम गेण्हंति, कवडं कूटकायारो कवडेण सयं गहणं आयरंति, ण एते मे कोइ सव्भावो भणति, सव्भावेण माई किरियाजुत्तो कव-डायारमाई मन्नति। एवं पंतो वदति-जम्हा एते दोसा तम्हा ण एवं घेत्तव्वं, कारणे पुण गेण्हणं कुर्यात् ॥ २३ ॥

असिवे ओमोयरिए रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाण रोहए वा, जतणा पडिसेवणा गहणं । २४ ।

पडिसेहे उ जतणाए गेण्हंति । का य जयणा?, इमा—

जदि सच्चं भणित्था, गहणं तम्मि य होति तु भणंतो वि ।
दीसे पुण वाउलणं, मा य पुणो तत्थ आणेइ ॥ २५ ॥

जदि पडिसेहणकाले मायसद्दं भणो, ताहे जइ भणंति सच्चं दाया, ताहे तत्थेव वसहीए गेण्हंति, एवं भणिवायकाले वा अह ति-अहुं घरगयाणं चेव दिज्जति, तत्थ तिरुत्तिं, णत्थि तत्थ- ति-अट्ठिहं गिण्हह, अ पुणो य तेणो ताहे पत्तेति, पडिसेहिति, अण्णा-

पंता अगारीपसीसे पुण अगारीपच्चपुरतो पडिसेधेउं पच्छओ भ-
ण्णा अणुव्वतिऊण भणति-मा पुण जाणेह, तम्मय अहे दिरंता
पडामो, णिमंतेज्जा । अहवा जइ अण्णदोसवज्जितं तहप्पंतदोसा
वा ण जयंति, ताहे गेण्हंति, इमं च भणंति—

तुमे दूराहडं एवं, आदरेण सुसंभियं ।
सुहवण्णो य ते आसी, विवण्णो तेण गेण्हिमो ॥२६॥

तुमे दूराओ आणियं वेसवारादयाण सुसंभियं कयं तुज्झ
पडिसेधिते सुहवण्णो विवण्णो वि आसी, तेण गेण्हामो, एवं
जयणाए गेण्हंति, एतंगो णियाणिसो अगारीया य संखिया आदह प्र-
तिनिवृत्तनाथार्थीकृतत्वात्, एवं इत्थियासु वि, एवं पुरुषसुत्ते
वि २६ ॥ नि० चू० ३ उ० ॥

(२४) धातुप्रवेदनम्-

जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा गारत्थि-
याणिहिं वा धाउं पवेदइ, पवेदयंतं वा साइज्जइ ॥२७ ।
जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा गार-
त्थियाणिहिं वा धाउं पवेदइ, पवेदयंतं वा साइज्जइ ॥२८ ।

यस्मिन् धम्यमाने सुवर्णं पतति, स धातुः ।

अण्णयराणं धाउं, गिहि व आइक्खते तु जे भिक्खू ।
गिहिअण्णतित्थियाण य, सो पावति आणमादीणि ॥५४॥

अण्णयरग्गहणाओ बहुभेदा धातुणिधाणणिधी णिहितं बाणितं,
धनिनाशनमित्यर्थः । तं जो महाकालमतादिणा धाउं पवेदाति,
तस्स आणादिया दोसा । इमे धातुभेदा-

तिविहो य होति धातू, पासाण रसो य मट्टिया चेव ।
सो पुण सुवण्णसुप्प, वरतरकालायसादीणं ॥ ५५ ॥
सपरिग्गहेतरो वि य, होइ निही जलगओ य थलगो य ।
कयाऽकय होति मच्चो, अहिकरणं कायवहो धातुम्मि ॥५६॥

जत्थ पासाणे झुसिणो सुत्ते वा धममाणे सुवण्णादि पडति,
सो पासाणधातु, जेण धातुपाणिएण तंबगादि आसत्त सुवण्णा-
दि भवति, सो रसो भण्णति। जा मट्टिया जोगजुत्ता अजुत्ता वा
धममाणा सुवण्णादि भवति, सो धातुमट्टिया, कालायसं लोहं
आदिग्गहणाओ मणिरयणमोत्तियपवालगादिणिहाणे इमो
विकप्पो।(सपरि)गाहा। सो णिही मणुयदेवेहिं परिग्गहितो वा
दिज्ज, अपरे जले वा थेरा जले वा होज्ज, थले वा, जो स थले,
सो दुविधो-णिक्खत्तो वा अणिक्खओ वा, अतो चेव णिमी-
दकोण्णु दुविधो-कयरूवो अकयरूवो वा, कयगाभरणादि कय-
रूवो,थल्लअविद्दहुतो अकयरूवो। अं परिमाहे अधिकतरा दोसा,
कहेतस्स णिहाणगसामिसमीवाओ धातुणिहिं वा साधुं धा-
तुवायं कारवेति, एसो धातुदेसणे दोसा । इमो णिधाणे अणु-
यंकदिहंतो-

अहिकरणं जा कारणं, णिहिम्मि मवोसिणहुणादी ।
घोसणिवंऽकिरहीणा-णवीरेवणिहिजालएण ते वहिया।
दिहा वयहग्गमाणा, कज्जो तए पवंपगहणं ॥ ५७ ॥

मयूरंको णाम राया, तेण मयूरंकेण अंकिया दीणारा,अण्णया-
दिया , तेहिं दीणारेहिं णिहाणं उवियं, तम्मि उविते पहुत्तो

गओ, तं चेण्हइ णेमित्तिया णिमित्तबलेण णायं, तं तेहिं उक्खा-
यं,ते दीणारा ववहरंता रायपुरिसेहिं दिट्ठा। सो गहिओ, तेहिं
रायपुरिसेहिं रायसमीवं णीओ। रण्णा पुच्छिओ-कओ एते तुज्झ
दीणारा ?।तेण कहियं-अमुगसमीवाओ। एवं परंपरेण तत्थ गं य,
जाव जेहिं उक्खयं,तेहिं सो गहिओ, दंडिओ य, असंजयपडिग्गहणे
अधिकरणं णिद्दिट्ठो, कम्मेण य तिसि आगरसु कायव्वं, अहवा
णिद्दिट्ठम्मि अधिकरणे आगरणं णाम दवदवणं उत्तासण-
धूमकुम्भावझिमादिकरणे अधिकरणमित्यर्थः । णिहिम्मि य
विसीणिया-महोरगादि वि मतुंसा भवति, तत्थ आयविराह-
णादि रायपुरिसेहिं य गहणं, तत्थ गेण्हणकड्ढणादिया दोसा,
एत्थ इमं दिट्ठंतं-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलन्ने ।
अद्धाण रोहगम्मि-इच्चाइयादी पलावणादीसु ॥५८॥

असिवे वेज्जो भणिज्जो, तस्स [illegible], [illegible] वा.
ओमे अण्णपरमा णिहिआणि [illegible] [illegible] [illegible]
हि वा गेण्हति, रायदुट्ठे [illegible] [illegible] [illegible], जो वा स
उवसमेति, तस्स वा धाउं णिधाणं वा देंसेति, [illegible]
जो भावेति, तस्स दंसेति, गिलाणकज्जे सव्वं णिहिं [illegible], [illegible]
वा दंसेति, अद्धाणे जो णिव्वाहेति, रोहगे [illegible] [illegible]
दिया गेण्हंति, अहवा जो रोहगे [illegible], तस्स दंसेति [illegible]
[illegible] वा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
वाहिओ णिहिअणिधाई धाउं [illegible] [illegible] ।
नि० चू० १३ उ० ।

(२५) पादामार्जनादिकरणम्-

जे भिक्खू अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा पाए आ-
मज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ
॥११४॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा पाए
संबाहेज्ज वा , पलिमद्देज्ज वा , संबाहंतं वा पलिमद्दंतं वा
साइज्जइ ॥११५॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियस्स वा गार-
त्थियस्स वा पाए तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणी-
एण वा मक्खेज्ज वा,भिलिंगेज्ज वा,मक्खंतं वा भिलिंगंतं वा
साइज्जइ ॥११६॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियस्स वा गारत्थि-
यस्स वा पाए लोद्धेण वा कक्केण वा चुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोले-
ज्ज वा,उव्वट्टेज्ज वा,उल्लोलंतं वा उव्वट्टंतं वा साइज्जइ ॥११७॥
जे भिक्खू अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा पाए सी-
ओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा,
पधोवेज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ ॥११८॥
जे भिक्खू अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं आ-
मज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइ-
ज्जइ ॥ ११९ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियस्स वा गारत्थि-
यस्स वा कायं फुमेज्ज वा रएज्ज वा, फुमंतं वा रएंतं वा साइज्जइ
॥ १२० ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स
वा कायं संबाहेज्ज वा, पलिमद्देज्ज वा, संबाहंतं वा पलिमद्दंतं

वा साइज्जइ ॥ १२१ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा मंखेज्ज वा, भिलिंगेज्ज वा, मंखेंतं वा भिलिंगेंतं वा साइज्जइ ॥ १२२ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं लोद्धेण वा कक्केण वा पोल्लमचुण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा, उव्वट्टेज्ज वा उल्लोलेंतं वा उव्वट्टेंतं वा साइज्जइ ॥ १२३ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधोएज्ज वा, उच्छोलेंतं वा पधोवेंतं वा साइज्जइ ॥ १२४ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं फूमेज्ज वा, रएज्ज वा, मंखेज्ज वा, फूमेंतं वा रयंतं वा मंखेंतं वा साइज्जइ ॥ १२५ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कायं भिक्खुणं आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ॥ १२६ ॥

एवं जाव तइयो उद्देसो गमो णेयव्वो, णवरं अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा अभिलावो जाव ।

जे भिक्खू गामाणुगामं दूइज्जमाणे अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा सीसदुवारियं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ १६६

[illegible] जे भिक्खू अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा सीसदुवारियं कारवेत्यादि ॥

पायए मलणादी, सीसदुवारादि जे करेज्जाहि ।

गिहिअण्णतित्थियाण व, सो पावति आणमादीणि ॥ ७४ ॥

[illegible] पायच्छित्तं, आणादिया य दोसा भवंति । [illegible] [illegible] तम्हा एते दोसा [illegible] । कारणे पुण [illegible]-

[illegible] [illegible] ॥ ७६ ॥

[illegible] मुद्दो [illegible]

नि० चू० ११ उ० ।

(२६) [illegible]—

जे भिक्खू [illegible] वा [illegible] वा अण्णउत्थियस्स वा गारत्थियस्स वा कारेति, कारेंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥

[illegible]

[illegible] [illegible] [illegible] इमं [illegible] -

[illegible]

विसमे कद्दमओ दए, हरिते तसपाणजातिसु वा ॥ १२२ ॥

अस्य व्याख्या-

पदमग्गो सोवाणा, ते ते तज्जा व होज्ज इतरे वा ।

तज्जाता पुढवीए, इट्टगमादी अतज्जा य ॥ १२३ ॥

पदानां मार्गः पदमार्गः, सो पुण मग्गो सोवाणा । ते दुविहा-तज्जाया, इतरे अतज्जाया । तम्मि जाता तज्जाता, पुढविं चेव खणिऊण कता, न तम्मि अजाया अतज्जाया, इट्टगपासाणादिहिं कता, एक्केक्का घसहीए संबद्धा, एतरा असंबद्धा, घसहीए लग्गा हिता, असंबद्धा अंगणए मग्गपवेसदारे वा, तं पुण विसमे कद्दमे वा उदए वा हरिएसु वा जातेसु तसपाणेसु वा घणासंसत्तेसु करेति । इदाणीं संकमो त्ति ॥ १२२ ॥ १२३ ॥

अस्य व्याख्या-

दुविधो य संकमो खलु, अणंतरपइट्ठितो य वेहासो ।

दव्वे एगमणेगो, चलाचलो चेव णायव्वो ॥ १२४ ॥

संकमिज्जति, जेण सो संकमो, सो दुविहो । खलु अवधारणे । अणंतरपइट्ठितो-जो भूमीए चेव पइट्ठितो, वेहासो-जो खंभासु वा थेलीसु वा पइट्ठितो । एक्केको दुविहो-एगंगिओ य अणेगंगिओ य, एकानेकपट्टकेत्यर्थः । पुनरप्येकैको चलाऽस्थिरविकल्पेन भेदः, तदपि विषमकर्दमादिषु कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ १२४ ॥

अस्य व्याख्या-

आलंबणं तु दुविहं, भूमीए संकमे य णायव्वं ।

दुहतो व एगतो वा, वि वेदिया सा तु णायव्वा ॥ १२५ ॥

एतस्स चेव संकमस्स अवलंबणं कज्जति, तं अवलंबणं दुविहं भूमीए वा संकमे वा भवति । भूमिए विसमे लग्गणणिमित्तं कज्जति, संकमे वि लग्गणणिमित्तं कज्जति, सो पुण दुहओ एगओ वा भवति, सा पुण वेइय त्ति भण्णति, मत्तावलंबो वा ॥ १२५ ॥

एतेसामण्णतरं, पदमग्गं जो तु कारए भिक्खू ।

गिहिअण्णतित्थिएण व, सो पावति आणमादीणि ॥ १२६ ॥

एतेसिं पयमग्गसंकमावलंबणाणमण्णयरं जो भिक्खू गिहत्थेण वा अण्णतित्थिएण वा कारवेति, सो आणादीणि पावेति, इमे दोसा ॥ १२६ ॥

[illegible] कायवधो, अविरत [illegible] ।

[illegible] आदिदरमादि [illegible] ॥ १२७ ॥

[illegible] वा, [illegible] जीवनिकायाणं विराहणा भवति, [illegible] आयविराहणा भवति, तहा वि [illegible] विराहणा । अहवा [illegible] दहुरु वा [illegible], [illegible] वा पाएज्जा, एसा संजमविराहणा, आयाए हत्थं वा पायं वा भंजेज्जा, परितावणा वा [illegible], [illegible] एते दोसा तम्हा ण [illegible], [illegible] त्ति ॥ १२७ ॥

[illegible], [illegible] आसत्त [illegible] ।

[illegible] ॥ १२८ ॥

[illegible], [illegible] भण्णति, अहवा [illegible]

वसही, किं तु पापानहुणा लब्भति, ते य पापायःस्थपडिबद्धा, भावपडिबद्धा, जोतिपडिबद्धा इत्यादि । पच्छद्धं कंठं ।

अयं करणे ताय इमेरिसो भाइ करति—

जिइंदिओ धिणी दक्खे, पुव्व सक्कम्मभाविओ ।
उवहसो जती कुज्जा, गीयत्थो वा अगारं ॥१०९॥

इंद्रियजयमाणो जिइंदिओ, जीवदयालु धिणी, अणेगहाकारियाकरणे दक्खो,(पुव्वमिति) गिहत्थकाले सकम्मभाविओ णाम सकम्मभिक्खः स च गहकारधम्मणिपुणेत्यादि, यती प्रव्रजितः, स च उपयुक्तः कुर्यात्,मा जीवोपघातो भविष्यति,एवं गायन सकम्मभाविओ गीयत्थो, तस्स अभावे अगीयत्थो, सकम्मभाविओ तस्स भावे, सकम्मासभाविओ तस्य अभावे गीयत्थो अगीयत्थो य अपणे सव्वे वि अगारे करेति । जहा गेहिं पदमगसंकमालंबणेहिं कज्जं तस्सयं तदा इमा सामायारी—

कतकज्जे तु मा होज्जा, तम्मी जीवविराधणा ।
मोत्तुं तज्जायमाणे, तेसिं वि करणं करे ॥ ११० ॥

कति परिसंयमते कज्जे मा जीवविराहणा भवेत्, तयो तस्मात् साधुप्रयोगात अतः तज्जातो सामाणं मोत्तुं तेसिं वि करण विणासणं कुज्जा, तज्जायए विणासेति, मा पुढविकायविराहणा भविस्सति अयथायं । कस्सगं पव अयथायो भाणति—

तिविधपदमणिउणे वा, णिउणे वा केणई भवे असइ ।
वायाओ ववहिस्सा, पच्चवणे कप्पती ताहे ॥ १११ ॥

विविधपदं सवधाणो, तेण सयं करेति,णिउणा कारवेति, वहेि, जाणति-सयं अणिउणो णिउणो वा केणइय कोगानेकेण असइ सहुणो वा वायातो विधंते च कारवेति णिउणो ति पच्चवणे पढे णिहत्थो जतो अप्पणा पुव्वाणिहियकारणाणो असमत्थो, ताहे तेण कारावेइ करणे, तेसिं णिहित्थाण कारावणे इमो कमो—

पच्छाकड साभिगह, णिरभिग्गह भद्दए व असणी ।
गिहिअण्णतित्थिए वा, गिहिपुव्वं एतरे पच्छा ॥ ११२॥

पच्छाकडो पुराणो पढम ताव तेण कारवेज्जति, तस्स अभावे साभिग्गहो णिहियाणुव्वतो सावगो, तओ णिरभिग्गहो दंसणसावगो , तओ कम्मा भद्दए असणिणगिहत्थ णिच्चपण्हिता पच्छाव माहि परतित्थिया वि कारवेयव्वा । एतेसि पुव्व पुव्व गिहिया कारवेयव्वं, पच्छा परतित्थिया अप्पतरपच्छकम्मदोसाओ ॥ ११३ ॥ नि० चू० १ उ० ।

जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो पाए आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ॥१३॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो पाए संवाहेज्ज वा, पलिमद्देज्ज वा, संवाहेंतं वा पलिमद्देंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो पाए तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा मक्खेज्ज वा,भिलिंगेज्ज वा,मक्खेंतं वा भिलिंगेंतं वा साइज्जइ ॥१५॥

जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो पाए लोद्धेण वा कक्केण वा ण्हाणेण वा पोमचुण्णेण वा सिणाणेण वा उल्लोलेज्ज वा, उव्वट्टेज्ज वा, उल्लोलेंतं वा उव्वट्टेंतं वा साइज्जइ ॥१६॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो पाए सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधोवेज्ज वा, उच्छोलेंतं वा पधोवेंतं वा साइज्जइ ॥१७॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो पाए फूमेज्ज वा, रएज्ज वा, मंखेज्ज वा, फूमेंतं वा रएंतं वा मंखेंतं वा साइज्जइ ॥१८॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायं आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ॥१९॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायं संवाहेज्ज वा, पलिमद्देज्ज वा, संवाहेंतं वा पलिमद्देंतं वा साइज्जइ ॥२०॥ [illegible]

कप्पेज्ज वा, उव्वलेतं वा उव्वट्टेंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥ जे भिक्खू अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायंसि वणं फुमेज्ज वा, रएज्ज वा, मंखेज्ज वा, फुमंतं वा रएंतं वा मंखेंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥ जे भिक्खू अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अभिक्खणं वा अप्पणो कायंसि गंडं वा पिलगं वा अरइयं वा असियं वा भगंदलं वा अन्नयरेणं वा तिक्खेणं वा सत्थजाएणं अच्छिंदेज्ज वा, विच्छिंदेज्ज वा, अच्छिंदंतं वा विच्छिंदंतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥ [illegible]

जे भिक्खू अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाओ णहसिहाओ कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावेंतं वा संठावेंतं वा साइज्जइ ।३८। जे भिक्खू अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं वत्थीरोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावेंतं वा संठावेंतं वा साइज्जइ ।३९। जे भिक्खू अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं जंघारोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावेंतं वा संठावेंतं वा साइज्जइ ॥४०॥ जे भिक्खू अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं मीसकेसाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावेंतं वा संठावेंतं वा साइज्जइ ।४१। जे भिक्खू अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं कक्खरोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावेंतं वा संठावेंतं वा साइज्जइ ॥४२॥ जे भिक्खू अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं चूरोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावेंतं वा संठावेंतं वा साइज्जइ ॥४३॥ जे भिक्खू अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं पसूरोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावेंतं वा संठावेंतं वा साइज्जइ ।४४। जे भिक्खू अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं णक्करोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावेंतं वा संठावेंतं वा साइज्जइ ।४५। जे भिक्खू अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं मंसुरोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावेंतं वा संठावेंतं वा साइज्जइ ।४६। जे भिक्खू अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं कण्णरोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावेंतं वा संठावेंतं वा साइज्जइ ।४७। जे भिक्खू अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं णासारोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावेंतं वा संठावेंतं वा साइज्जइ ।४८। जे भिक्खू अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं उत्तरोट्ठाइं रोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावेंतं वा, संठावेंतं वा साइज्जइ ।४९। जे भिक्खू अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दंते [illegible] वा [illegible] वा उच्छोलेंतं वा पधोवेंतं वा साइज्जइ ।५०। जे भिक्खू अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दंते फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावेंतं वा रयावेंतं वा मंखावेंतं वा साइज्जइ ।५१। जे भिक्खू अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो ओट्ठे [illegible]

पलिमद्दावेज्ज वा, संवाहावेंतं वा पलिमद्दावेंतं वा साइज्जइ ।५३। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो ओट्ठे तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा मंखावेज्ज वा, भिलिंगावेज्ज वा, मंखावेंतं वा भिलिंगावेंतं वा साइज्जइ ।५४। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो ओट्ठे लोद्धेण वा कक्केण वा पहाणेण वा पउमचुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोलावेज्ज वा, उव्वट्टावेज्ज वा, उल्लोलावेंतं वा उव्वट्टावेंतं वा साइज्जइ ।५५। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो ओट्ठे सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावेंतं वा पधोवावेंतं वा साइज्जइ ।५६। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो ओट्ठे फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावेंतं वा रयावेंतं वा मंखावेंतं वा साइज्जइ ।५७। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो अच्छीणि आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावेंतं वा पमज्जावेंतं वा साइज्जइ ।५८। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो अच्छीणि संवाहावेज्ज वा, पलिमद्दावेज्ज वा, संवाहावेंतं वा पलिमद्दावेंतं वा साइज्जइ ।५९। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो अच्छीणि तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखावेज्ज वा, भिलिंगावेज्ज वा, मंखावेंतं वा भिलिंगावेंतं वा साइज्जइ । ६० । जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो अच्छीणि लोद्धेण वा कक्केण वा पहाणेण वा पउमचुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोलावेज्ज वा, उव्वट्टावेज्ज वा, उल्लोलावेंतं वा उव्वट्टावेंतं वा साइज्जइ ।६१। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो अच्छीणि सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावेंतं वा पधोवावेंतं वा साइज्जइ ।६२। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो अच्छीणि फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावेंतं वा रयावेंतं वा मंखावेंतं वा साइज्जइ । ६३ । जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो अच्छिमलं वा कण्णमलं वा दंतमलं वा णहमलं वा णीहरावेज्ज, णीहरावेंतं वा साइज्जइ ।६४। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायाओ सेयं वा जल्लं वा पंकं वा मलं वा णीहरावेज्ज वा, विसोहावेज्ज वा, णीहरावेंतं वा विसोहावेंतं वा साइज्जइ ।६५। जे भिक्खू गामाणुगामं दूइज्जमाणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो सीसदुवारियं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ । ६६ ।

सुत्तत्थो जहा ततिउद्देसगे,तहा भणियव्वं,णवरं अण्णउत्थिएण कारवेइ त्ति वत्तव्वं । एवं प्रलम्बाधिकारः समाप्तः ।

पादप्पमज्जणादी, सीसदुवारादि जो कारेज्जाहि ।
गिहिअण्णतित्थिएहिँ व, सो पावति आणमादीणि ।५८।

तेहिं अण्णउत्थिएहिं गारत्थिएण वा कारवेंतस्स तु किं कज्जं ?, उच्यते-

कुज्जा व पच्छकम्मे,ते य मलादीहिँ होज्ज व अवण्णो ।
संपातमेव होज्जा, उच्छोलणजावणे कुज्जा । २५६ ।

ते साहुस्स पादे पमज्जित्ता पच्छाकम्मं करेइ,साहुस्स मलेणं मलं वा दट्ठुं घाणं वा तेसिं अधारउत्त अणुइ इति अवण्णं भासेज्ज, अजयणाए वा पमज्जंता संपातमेव होज्ज, बहुणा वा दगेण अजयणाए धोवंता उच्छोलणदोसं करेज्जा, भूमिं छिप वा पाणी भावेज्ज, इमो अववादो ।२५६।

बितियपदमणप्पज्झो, कारेज्जऽवि कोवि ते वि अप्पज्झे ।
जाणंते वा वि पुणो, परलिंगे मेहुणादीसु ॥ २६० ॥

अणप्पज्झो कारवेज्जा,सेहो वा अजाणंतो कारवेज्जा, कारवेज्ज वा परलिंगे ठिते परलिंगेअणुट्ठिओ कारवेज्जा, सेहो वा अवछिन्नो जाव ण दिक्खिज्जति तेण कारवेज्जा ।२६०। किं कारणं-

पच्छाकम्मादीहिं, विप्पामावेज्ज पादि वत्तारो ।
पणविज्ज भाविताणं, मणि देइ इयवत्तं तु ॥ २६१ ॥

साहूण अभावे पच्छाकम्मेण, आदिग्गहणाओ गिहीसाहुस्स दंसणं,सावगेण वा पच्छा विप्पामए,को विप्पामावेज्जा?,वादी वा सदाणगतो वा उज्झायो धारमः । जे भाविता ते पणविज्जंति । साधूणं पादरजो धेतुमाइच्च सिरसि धारेंति वदंत । जे पुण अभाविता तेसिमति अपुव्वकवविज्झमेवं इयवत्तं तेसिं दिज्जति, मा पच्छकम्म वदिस्सा । नि० चू० ११ उ० ।

('अण्णमण्णकिरिया' शब्दे संवाधनपरिमर्दनमनुचरित वक्ष्यते)

(२३) भूतिकर्मादि-

जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा भूइकम्मं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा पसिणं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा पसिणापसिणं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा पसिणं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा पसिणापसिणं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा तीयनिमित्तं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ॥१९॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा पडुप्पन्नं निमित्तं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं

पधोवेज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ ॥ २९ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायंसि वणं फूमेज्ज वा, रएज्ज वा, मंखेज्ज वा, फूमंतं वा रयंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अमियव्वं वा अप्पणो कायंसि गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण अच्छिंदिज्ज वा, विच्छिंदिज्ज वा, अच्छिंदंतं वा विच्छिंदंतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायंसि गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण अच्छिंदित्ता वा, विच्छिंदित्ता वा, पूयं वा सोणियं वा णीहरेज्ज वा, विसोहिज्ज वा, णीहरंतं वा विसोहंतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायंसि गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण वा अच्छिंदावेज्ज वा, विच्छिंदावेज्ज वा, पूयं वा सोणियं वा णीहरावेज्ज वा, विसोहावेज्ज वा, सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ ॥ ३३ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायंसि गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण अच्छिंदावेत्ता वा, विच्छिंदावेत्ता वा, पूयं वा सोणियं वा णीहरावेत्ता वा, विसोहावेत्ता वा, [illegible] लिंपावेज्ज वा, विलिंपावेज्ज वा, लिंपावंतं वा विलिंपावंतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायंसि गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण अच्छिंदावेत्ता वा, विच्छिंदावेत्ता वा, पूयं वा सोणियं वा णीहरावेत्ता वा, विसोहावेत्ता वा, [illegible] वा, [illegible] साइज्जइ ॥ ३५ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायंसि गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण अच्छिंदित्ता वा, विच्छिंदित्ता वा, पूयं वा सोणियं वा [illegible] वा, [illegible] साइज्जइ ॥ ३६ ॥ जे भिक्खू अप्पणो [illegible]

जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाओ णहसिहाओ कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥३८॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं वत्थीरोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥३९॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं जंघारोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४०॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं सीसकेसाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४१॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं क[illegible]रोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४२॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं णूरोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४३॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं पसूरो[illegible]इं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४४॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं णक्करोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४५॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं प[illegible]रोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठा[illegible] वा साइज्जइ ॥४६॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं कक्खरोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४७॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं पासरोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४८॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दीहाइं उत्तरोट्ठाइं रोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा, संठावंतं वा साइज्जइ ॥४९॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दंते सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ ॥५०॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो दंते फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ ॥५१॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो ओट्ठे आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जा[illegible] वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ ॥५२॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो ओट्ठे संबाहावेज्ज वा [illegible]

पलिमद्दावेज्ज वा, संवाहावंतं वा पलिमद्दावंतं वा साइज्जइ । ५३ । जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायं तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा मक्खावेज्ज वा, भिलिंगावेज्ज वा, मक्खावंतं वा भिलिंगावंतं वा साइज्जइ ।५४। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायं लोद्धेण वा कक्केण वा ण्हाणेण वा पउमचुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोलावेज्ज वा, उव्वट्टावेज्ज वा, उल्लोलावंतं वा उव्वट्टावंतं वा साइज्जइ ।५५। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायं सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ ।५६। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायं फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ ।५७। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो अच्छिणि आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ ।५८। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो अच्छिणि संवाहावेज्ज वा, पलिमद्दावेज्ज वा, संवाहावंतं वा पलिमद्दावंतं वा साइज्जइ ।५९। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो अच्छिणि तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा मक्खावेज्ज वा, भिलिंगावेज्ज वा, मक्खावंतं वा भिलिंगावंतं वा साइज्जइ । ६० । जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो अच्छिणि लोद्धेण वा कक्केण वा ण्हाणेण वा पउमचुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोलावेज्ज वा, उव्वट्टावेज्ज वा, उल्लोलावंतं वा उव्वट्टावंतं वा साइज्जइ ।६१। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो अच्छिणि सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ । ६२। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो अच्छिणि फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ । ६३ । जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो अच्छिमलं वा कण्णमलं वा दंतमलं वा णहमलं वा णीहरावेज्ज, णीहरावंतं वा साइज्जइ ।६४। जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो कायाओ सेयं वा जल्लं वा पंकं वा मल्लं वा णीहरावेज्ज वा, विसोहावेज्ज वा, णीहरावंतं वा विसोहावंतं वा साइज्जइ ।६५। जे भिक्खू गामाणुगामं दुइज्जमाणे अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अप्पणो सीसदुवारियं करेइ, करंतं वा साइज्जइ । ६६ ।

सुत्तत्थो जहा ततिउद्देसगे,णवरं णाणत्तं,णवरं अण्णउत्थिएण कारवेइ त्ति वत्तव्वं । एवं प्रलम्बाधिकारः समाप्तः ।

पादप्पमज्जणादी, सीसदुवाराति जो करेज्जाहि ।
गिहिअण्णतित्थिएहिँ व, सो पावति आणमादीणि ।२५८।

तेहिं अण्णउत्थिएहिं गारत्थिएण वा कारवेंतस्स इमे किं कारणं ?, उच्यते–

कुज्जा व पच्छकम्मं,से य मलादीहिँ होज्ज व अवण्णो।
संपातमेव होज्जा, उच्छोलणदोसं कुज्जा । २५९ ।

जे साहुस्स पादे पमज्जित्ता पच्छाकम्मं करेइ,साहुस्स प्रस्वेदं मलं वा दट्ठुं णाणं वा तेसिं अयाइत्तण अमुइ इति अयसं आसेज्ज, अजयणाए वा पमज्जंतो संपातमेव होज्ज, बहुणा वा दव्वेण अजयणाए धोवंतो उच्छोलणदोसं करेज्जा , भूमिं ठिए वा पाणी भावेज्ज, इमो अववादो ॥ २५९ ॥

बितियपदमणप्पज्झो, कारेज्जऽवि कोवि ते वि अप्पज्झे ।
जाणंते वा वि पुणो, परलिंगे मेहुमादीसु ॥ २६० ॥

अणप्पज्झो कारवेज्जा,सेहो वा अजाणंतो कारवेज्जा, कारणेण वा परलिंगे गहिते परलिंगिमज्झट्ठिओ कारवेज्जा, सेहो वा उवट्ठितो जाव ण दिक्खिज्जति तेण कारवेज्जा ।२६०। किंचान्यत्–

पच्छाकम्मादीहिं, विस्सामावेउ वादि उज्झातो ।
पणविज्ज भाविताणं, सति देइ हत्थकप्पं तु ॥ २६१ ॥

साहूण असमाये पच्छाकम्मेण, आदिसद्दातो गिहीअण्णत्थिएण इंसणं, साधणं वा परेहिं विस्सामए,को विस्सामाविज्जा ?,वादी वा वक्खाणगतो वा उज्झातो भाण्यः । जे भाविता ते पणविज्जंति । साधूणं पादरजः श्रेष्ठमाङ्गल्यं शिरसि धार्यंते न दोषः। जे पुण अभाविता तेसिं सति मधुरवयणविज्जमानेन हत्थकप्पं तेसिं दिज्जति, मा पच्छाकम्मं करिस्सं । नि० चू० १५ उ० ॥
('अण्णमण्णकिरिया' शब्दे संवाधनपरिमर्दनसूत्राणि वक्ष्यन्ते)

(२७) भूतिकर्मादि–

जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा भूइकम्मं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा पसिणं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा पसिणापसिणं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा पसिणं कहेइ, कहंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा पसिणापसिणं कहेइ, कहंतं वा साइज्जइ ॥ १८ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा तीतनिमित्तं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥१९ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा पडिपुण्णं निमित्तं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं

वा गारत्थियाणं वा अण्णउत्थियाणं [illegible] करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ॥२१॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा [illegible] करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ॥ २२ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा मुच्छिं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा सिप्पं पढेइ, पढेंतं वा साइज्जइ ॥२४॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा [illegible] पढेइ, पढेंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा [illegible] पढेइ, पढेंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥ नि० चू० १३ उ०।

[illegible]—

जे भिक्खू अण्णउत्थियाणं वा गारत्थियाणं वा [illegible]

[illegible]

अणो या ते अप्पिडिदिट्ठतो रूवं पावंति, तमो ते तस्स पयवि- हंगस्स साधुस्स सगस्स वा साधुस्स पदोसमागच्छंति, मरंद पडिविपत्तणेण परिसपंथं हुदा, इमेणं पंतावणादि करेज्ज। अधवा इतो विधेज्ज ॥

वितियपदमणप्पज्झे, पावे अवि को विते व अप्पज्झे।
अन्धाण अभिव अविमो-गमातुरादीसु जाणमवि ५३॥

. वितियपदेणो अणप्पज्झो सेहो वा, मवि कोवि तो विधेज्ज, अ- प्पज्झो वि अजाणे वा सण्णस्स पई अजाणंतस्स विधेज्ज। अ- भिवे गिलाणकज्जे वा वेज्जस्स कप्पियाविस्स वा जाणिज्जं- तस्स पंथमुवदिसति। अभियोगो त्ति बलाभिओगेण देसितो पडि- ते एवमादिकारणेहिं जाणंतो वि कहितो सुद्धो ॥ नि० चू० १३ उ० ॥

(२८) [वाचना] अन्ययूथिकाः पार्श्वस्थादयो गृहिणः गुहस्था वा न वाचनीयाः—

जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा वाएइ, वाएंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥ जे भिक्खू पासत्थं वाएइ, वाएंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥ जे भिक्खू पासत्थं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ २८॥ जे भिक्खू ओसण्णं वाएइ, वाएंतं वा साइज्जइ । २९ । जे भिक्खू ओसण्णं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ । ३० । जे भिक्खू कुसीलं वाएइ, वाएंतं वा साइज्जइ । ३१ । जे भिक्खू कुसीलं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ । ३२ । जे भिक्खू णितियं वाएइ, वाएंतं वा साइज्जइ । ३३ । जे भिक्खू णितियं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ, । ३४ । जे भिक्खू संसत्तं वाएइ, वाएंतं वा साइज्जइ । ३५ । जे भिक्खू संसत्तं पडिच्छइ, पडिच्छंतं वा साइज्जइ । ३६ ।

[illegible]

[illegible] ॥२२४॥

[illegible]

[illegible] ॥ २२५ ॥

[illegible]

वा सत्तदिवसे, ततो चउगुरु, ततो सत्तदिवसे, ततो छल्लहु सत्तदिवसे, ततो छग्गुरु सत्तदिवसे, ततो एते चेव, छेदो सत्त सत्त दिवसे, ततो मूलउणवट्ठप्पपारंचिया एक्कंक्कदिणं, अहवा ते चेव चउलहुगादिगा सत्तसत्तदिवसिगा, ततो छेदो, छल्लहुपणगादिगा सत्तसत्तदिवसिगा सत्तसत्तदिवसे णेयव्वा, जाव छग्गुरु, ततो मूलगुणउणवट्ठप्पपारंचिया एक्केक्कदिवसं; गिहिअण्णतित्थिएसु इमे दोसा ।

मिच्छत्तथिरीकरणं, तित्थस्सोभावणा य गेएहं तु ।
देंति पवंचणकरणं, तेणोवक्खेवकरणं च ॥ २६ ॥

कहं मिच्छत्तं थिरतरं ? उच्यते-तं दट्ठुं तेसिं समीवे गच्छं मिच्छद्दिट्ठी चिंतेति-इमे चेव पहाणतरा जाता, एते वि एतेसिं समीवे सिक्खंति, लोगो दट्ठुं भणाति, एतेसिं अप्पणो आगमो णत्थि, परे सेंति, ताण सिक्खंति, णिस्सारं पवयणं ति ओभावणा, अह तेसिं देंति, ता ते सद्दहत्थादिजाविता महाजणमज्झे चट्टं चोरं खुड्डा विलियासणए करीमए विलुअए त्ति । एवमादि पवंचणं करेति उड्डाहं च, अहवा तेणोवासिक्खिकएण सक्खेंवेति, चोयणं करेज्जा, इमेण वा २२६ ॥

गिहिअण्णतित्थियाणं, एए दोसा उ देंत गेएहंते ।
गहणपडिच्छण दोसा, पासत्थादीणि वुच्छत्ता ॥ २७ ॥

कंठा, णवरं पासत्थादिसु गहणपडिच्छणदोसा जे ते पएणरसमे उद्देसगे वुत्ता, ते दट्ठव्वा, वंदणपसंसणादिया वा तेरसमे जहा एते दोसा तम्हा गिहिअण्णतित्थिया वा ण वायएज्जा, परपासंडिलक्खणं जो अप्पणो मिच्छित्तं वुच्चतो कुतित्थिए वा एति, जिणवयणं वा णाभिगच्छति, सो परपासंडी, जो पुण गिही अण्णतित्थिओ वा इमेरिसो-

णाणचरणे परूवण, कुणति गिही अहव अएण पासंडी ।
पयएहिँ संपउत्तो, जिणवयमएणामग्गती जाति ॥ २२८ ॥

णाणदंसणचरित्ताणि परूवेति । जिणवयणचोरो एति सो संपासंडी चेव सो वाइज्जइ, जं तस्स जोग्गं ॥ २२८ ॥

एते उ विप्पमुक्को, गच्छति गति अएणतित्थीणं ।
पव्वज्जाए अभिमुहं, एति गिही अहव अन्नपासंडी ॥
उज्जयविहारं वा, पासत्था ओवगंतुकामं वा ॥ २२६ ॥

जो अण्णतित्थियाणुरूया गती, तं गच्छति, सेसं कंठं, जेव कारणं वा पज्जा वि(पव्वज्जाए) गाहा । गिही अण्णपासंडी वा पव्वज्जाभिमुहं सावगं वा उज्जोयणियसि जाव सुत्तत्थो, अत्थतो जाव पिंडेसणा, एस गिहत्थादिसु अववादो, इमो पासत्थादिसु अववादो त्ति उवसमपदा उज्जयविहारीणं उवसमपओ जो पासत्थादी सो उवसायविहारट्ठितो तं वा वाएज्ज, अहवा पासत्था दिसाण जो संविग्गविहारं उवगंतुकामो, अब्भुट्ठितुकाम इत्यर्थः । तं वा पासत्थादिभावट्ठितं चेव वाएज्जा जाव अब्भुट्ठेति, एवं वायणा दिट्ठा, तेसिं समीवातो गहणं कहं होज्जा ? । उच्यते-

बितियपदसमुच्छेदो, दसाहि ते तहा पकप्पंति ।
आणुस्स व असतीए, पडिक्कमंते व जयणाए ॥ २३० ॥

जस्स जिणकप्पस्स णिरूपरिया उवट्ठिति, णिरूपरिया णाम जस्स तिणि वरिसाणि परियायस्स संपुराणि, तस्स य आयारपगप्पो अधिज्जियव्वो, आयरियाय कालगते एमेव समुच्छेदो । अहवा कस्सइ साहुस्स आयारपगप्पस्स देसेण अणधीते समुच्छेदो य जाओ, एतेसिं सव्वो आयारपगप्पो पढमस्स वितियस्स य देसो य अवस्सं अहिज्जियव्वो, सो कस्स पासे अहिज्जियव्वो । उच्यते-

संविग्गपच्छाकडमि-च्छपुत्तसारूविं पडिक्कंते ।
अब्भुट्ठिते अ असती, अणिच्छेसु तस्स वति देमा वीति ॥ ३१ ॥

सगच्छे चेव जो गीयत्था, तेसिं असति परगच्छे संविग्गमणुण्णसगासे, तस्स असति परगच्छे संविग्गमणुण्णस्स, ताहे असण्णस्स वि असति एत्ति पत्ति, अण्णसंभोइयस्स वि असति एति, अण्णसंभोइयस्स वि असायणिआदि उक्कमेणं असंविग्गेसु तेसु वि णितियादिजाणाओ आवकहाए पडिक्कमाविता, अणिच्छे जाव अहिज्जइ, ताव पडिक्कमाविता, तहा वि अणिच्छे तस्सेव सगासे अहिज्जइ, सव्वत्थ वंदणादीनि न हावेइ । एसेव जयणा तेसिं असतीए पच्छाकडादिसु पच्छाकडो त्ति, जेण चारित्त पच्छाकडं अभिक्खंतो भिक्खं हिंडइ वा, न वा साहविगो पुण मुक्किलवत्थपरिहिओ मुंडमसिहं धरेइ । अभज्जगो अपत्तादिसु भिक्खं हिंडइ । अएणे भणंति-पच्छाकडाभिरूवुत्ता चेव जे असिहा ते सारूविगा, एएसिं सगासे सारूविगाइ पच्छाणुलोमेणं अधिज्जति, तेसु सारूविगादिसु पडिक्कंते अब्भुट्ठिए त्ति सामातियपडिक्कंता सनागोविसो अब्भुट्ठिओ, अहवा पच्छाकडादिएसु पडिक्कंतेसु एते सव्वे पासत्थादि पच्छाकडादिया य अप्पं सत्तं णेउं पडिक्कमाविज्जंति, (अणिच्छेसु तत्थ वतिदेसा वीति त्ति) । अस्य व्याख्या-

देसो सुत्तमहीयं, न तु अत्या अरियतो व असमत्ती ।
असति सणुण्णमणुण्णे, इयरेत्तरपरखीयमपत्तीयं ॥ ३२ ॥

पुव्वद्धं कंठं । (असति सणुण्णमणुण्णे त्ति) एवं गच्छति । इतरेतर त्ति) असति णितियाण इतरा संसत्ता, तेसिं असति इतरा कुसीला एवं णायव्वं, एसो वि अत्थो गहो चेव तेसु वि पुव्वं जेसि विम्भपरिकप्पसु इमेरिसा, जे पच्छाकडादिया मुंडं वा गा ते पच्छाकडादिया । जावज्जीवाए पडिक्कमाविज्जंति जावज्जीवमणिच्छेसु जाव अहिज्जंति, तह वि अणिच्छेसु जदि ।

मुंडं व धरेमाणे, सिहं च फाडित्तणित्यमिस्साह ।
लिंगेण मसागारिए, ण वंदणादीणि होवेति ॥ ३३ ॥

(मुंडं धरे त्ति) तारयोहरणादि दव्वलिंग दिज्जंति, जाव उद्देसादी करेइ, सा सहदसायसिहं फेडेतु । एमेव दव्वलिंगं दिज्जति, अणिच्छेसु दव्वलिंगं वा णो इच्छति फेडेतुं, तो स सिहस्सेव पासे अधिज्जति असंविग्गे विभो चेव असागारिए पएसेसु य पुव्वसिक्काओ वंदणाइ सव्वं ण हावेइ, तेण वि वाणयणं पच्छाकडस्स पासत्थादिसु एस वा जस्स पासे अधिज्जति, तस्स येयावच्चं ण करे । इमो विही-

आहार उवहि सेज्जा-एसणमादीसु होति जतियव्वं ।
अणुमोयणकारावण, सिक्खति य पदम्मि सो सुद्धो ॥ ३४ ॥

जदि तस्स आहारादिया अत्थितो, पराचं सह णत्थि, ताहे सयं अप्पणा एसणिज्जं आहारादि उप्पाएयव्वं, अप्पणा असमत्थो-

चोदेति से परिवारं, अकरेमाणे भणादि वासट्ठे ।
अव्वोच्छित्तिकरस्स उ, सुयभत्तीए कुणह पूयं ॥३५॥

दुविहाऽसति एतेसिं, आहारादी करेति सव्वं तो ।
पणिहाणी व जयंते, अत्तट्ठा एवमेव गेण्हंतो ॥ ३६ ॥

जो तस्स परिवारो पासत्थादियाण वाओ स परिवारो सड्ढावि संताए करेंति, असंता वा णत्थि सड्ढा, एवं असती एसो सिस्सगो आहारादि सव्वं एवं परिहाणीते जयणा, ते तस्स णिमित्ताहिकोडीहिं सयं करेंतो सुज्झति, अप्पणो वि एमेव पुव्वं सुद्धं गेण्हति। असति सुद्धस्स पच्छा विसोहिकोडीहिं गेण्हंतो सिज्झति, अववादपदेण विसुज्झइ । नि० चू० १९ उ० ।

(९) विचारभूमेर्विहारभूमेर्वा निष्क्रमणम्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा णिक्खममाणे वा पविसमाणे वा णो अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिओ वा अपरिहारिएणं सद्धिं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा णिक्खमेज्ज वा, पविसेज्ज वा ॥

(से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्षुर्बहिर्विचारभूमिं संज्ञाव्युत्सर्गभूमिं तथा विहारभूमिं स्वाध्यायभूमिं नैरन्यतीर्थिकादिभिः सह दोषप्रसङ्गात् प्रविशेदिति संबन्धः । तथाहि-विचारभूमौ प्रासुकोदकस्वच्छाच्छस्वल्पबहुत्वेन ... [illegible] ... विहारभूमौ वा सिद्धान्तालापकविकल्पनभयात्, विहारभूमौ ... [illegible] ... अतो न ताभिः सह प्रविशेत्, नापि ततो निष्क्रामेदिति । आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिएण वा अपरिहारिएण वा सद्धिं बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा णिक्खमइ वा, पविसइ वा, णिक्खमंतं वा पविसंतं वा साइज्जइ ॥ ४० ॥

(जे भिक्खू अण्णउत्थिएण्वेत्यादि) ... [illegible] ... विचारभूमी ... [illegible] ... विहारभूमी, ... [illegible] ... " एसो वक्खेयं " गाहा कंठा ।

[illegible] दोसा - [illegible] ॥३०२॥

[illegible] ॥ ३०३ ॥

[illegible]

तत्थ वा थंडिले गतस्स, अतो गिहत्थेहिं समं गच्छे, ते निवारेंति, रायदुट्ठे रायवल्लभेण समाणं गम्मइ, गाहएगा चेव सण्णाभूमी परिसेहिं कारणेहिं जयणाए गम्मति, सा य इमा जयणा-

पच्छाकडत्तदंसण, असण्णिगिहिए तओ कुलिंगीसु ।
पुव्वमसोयवादिसु, पउरदवेमट्टिया य कुरुया य ॥ ३०४ ॥

पुव्वं पच्छाकडेसु गिहीयाणुव्वएसु तेसु चेव दंसणसावएसु ततो एसु चेव कुतित्थिएसु ततो असण्णिगिहत्थेसु ततो कुलिंगिएसु असण्णीसु सच्चासु सव्वेसु पुव्वं असोयवादिसु पच्छा सोयवादिसु दूरं दूरेण परं मुद्दो दुवे लंबवज्जितो पउरदवेणं मट्टियाए य कुरुयं करेंतो अ दोसो ।

एमेव विहारम्मी, दोसा उड्डुंचगादिया बहुधा ।
असती पडिणीयादिसु, वितियं आगाढजोगिस्स ॥३०५॥

विहारभूमीए वि प्रायशः एत एव दोषाः । उड्डुंचकादयश्च अधिकतरा बहवः । अन्ये उड्डुंचका कुट्टिदा उड्डेति वा वंदनादिसु प्रत्यनीकादिद्वितीयपदं पूर्ववत् । चोदको भणाति-अन्येसिया दोसा तत्थ तेहिं सामणं गंतुं बितियपदेण विसज्जाओ मा कीरउ । आयरिओ भणति-आगाढजोगिस्स उद्देससमुद्देसादयो सयस्सं कायव्वा, वयस्सए य असम्भावेहि पडिणीयादि, अतो तेण समाणं गंतुं करेंतो सुद्धो । नि० चू० २ उ० ।

(१०) विहारः-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे णो अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिए अपरिहारिएण वा सद्धिं गामाणुगामं दूइज्जेज्जा ॥ ४ ॥

तथा (से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्षुर्ग्रामाद् ग्रामान्तरम्, उपलक्षणार्थत्वान्नगरादिकमपि (दूइज्जमाणे त्ति) गच्छन्नभिरन्यतीर्थिकादिभिः सह दोषसम्भवान्न गच्छेत् । तथाहि-कायिकादिनिरोधे संयमात्मविराधना, व्युत्सर्गे च प्रासुकाप्रासुकग्रहणादानुग्रहानवस्थाविराधने भवतः । एवं भोजनेऽपि दानमप्यत्र नावबोधः, सहायविविक्तानादिदोषाः भवन्ति । आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिए वा अपरिहारिएहिं सद्धिं गामाणुगामं दूइज्जइ, दूइज्जंतं वा साइज्जइ ॥ ४१ ॥

अन्यद् ग्रामो ग्रामः ग्रामानुग्रामम् । शेषः पूर्ववत् ॥ ४१ ॥

णो कप्पति भिक्खुस्सा, परिहारस्सा उ अपरिहारीणं ।
गिहिअण्णतित्थिएण व, गामणुगामं तु विहरित्ता ॥३०६॥

एसो एगतरेणं, सहिओ दूइज्जती तु जे भिक्खू ।
सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ ३०७ ॥

"दूइज्जती" दूइज्जइ त्ति रीयति, गच्छतीत्यर्थः । रीयमाणो भिक्खुणाय आणं आण त्ति जे सयपंथं करेंति, मिच्छत्तं अभिंति उच्चरति, आयरयसंजमविराहणं पावति । इमं च पुरिसविभागेण पच्छित्तं-

सामाइया गुरुगा, समणो अविसेसियं भवणइं ति ।
एई दुवे दसा-उ हुंति महाए परिहमं ॥ ३०८ ॥

[illegible]

इम एतेसि चउण्ह वि मासादी चउगुरु मत, अहवा मासलहुं चेय तवकालविसेसियं। अहवा अविसेसियं चेव मासलहुं। चोदग-आह-किं णिमित्तमिह सुत्ते पुरिसविभागेण पच्छित्तं दिण्णं ?। आचार्य आह-सर्वसूत्रप्रदर्शनार्थम। एवं सुत्ते २ पत्थाण सट्ठाण पच्छित्तं दट्ठव्वं। इमा संजमविराहणा-

संजतगतीएँ गमणं, ठाणणिसीयण उ अट्टणं वा वि ।
बीसमणादि पमिस्सुय-उच्चारादी असीसत्था ॥ ३०९ ॥
मासादीया गुरुगा, भिक्खू व सपाजिसेगआयरिए ।
मासो विसेसिओ वा, चउण्हवी चउसु सुत्तेसु ॥ ३१० ॥

जदा संजओ सिग्घगतीए वा वच्चति, तदा गिहत्थो वितितो अधिकरणं भवति, तण्हा छुहाए व परिताविज्जति, तस्सिप्पवसं वीसमंतो य सचित्तपुढविकाए उद्धठाणं निसीयणे तु अट्टणं वा करेति, भत्तपाणादियाए उच्चारपासवणेसु य सागारिओ भिक्खाउं अवीसत्थो साहुणिस्साए वा गच्छंति। सो फलादि खाएज्जा, अहिकरणं साहू वा तस्स पुरओ वितियपदेण गेण्हेज्जा। परितावणाणिप्फण्णं पादपमज्जणादि वा ण करेज्जा, तत्थ वि सट्ठाणं अह करेति, उड्डाहो।

भाष्यकारेणैवायमर्थ उच्यते-

अत्थंमिलभेगतरे, ठाणादी खड्डवहि उड्डाहो ।
धरणणिसग्गे वा तो-जयस्स दोसा पमज्जणए ॥ ३११ ॥

साहुणिस्साए वा साहू अथंडिले ठाएज्ज, खद्धोवहिणा भारं दुंदुअंति उड्डाहं करेति, धरणणिसग्गे वा वायकायसग्गाण उभयहा दोसो पमज्जंतस्स उड्डाहो, अपमज्जणे य विराहणा जम्हा ण गच्छे ॥ ३११ ॥

बितियपदं अद्धाणे, मूढमयाणंत दुट्ठणट्ठे वा ।
उवहीसरीरतेणग-सावयनयदुल्लभप्पवेसे य ॥ ३१२ ॥

अद्धाणे सत्थियाहिं समं वच्चति पंथाउ वा मूढो दिसातो वा मूढो, साहू जाव पथे उत्तरेंति पंथमयाणंतो वा जाणा गिहिं समं गच्छेज्ज, रायदुट्ठे वा रायपुरिसेहिं समं गच्छे, बोधिगादिभया णट्ठो वा तेहिं समाणं णिद्दोसो हवेज्ज, तेणगभए वा गच्छे, सावयभए वा अण्णम्मि वा णगरदेसरज्जे दुल्लभपवेसे तेहिं समं पविसेज्ज। अण्णहा ण लब्भति। तत्थ पुण णगरादिसु विहरंतो तत्थ अत्थंतो णितिनो भवति, तेहिं समाणं गच्छंतो इमा जयणा-

णिन्तए पिट्ठउ गमणं, वीसमणादी पदा तु आपत्थ ।
सावयसरीरतेणग-जएगुलिट्ठाए जयणा तु ॥ ३१३ ॥

णिन्तए पिट्ठओ गच्छति, पिट्ठतो ठिता सव्वपमज्जणादि सामायारिं पउंजति, वीसमणे वि पदा जदि असंजतो थंडिले करेति, तो संजया अप्पणथंडिले ठायंति, तेण सावयभयं जइ पिट्ठतो, तो मज्झतो पुरतो वा गच्छंति, मज्झे तए पुरतो पिट्ठओ वा गच्छंति ॥ ३१३ ॥ नि० चू० २ उ० ।

(२१) [शिक्षा] अन्ययूथिकं वा गृहस्थं वा शिल्पादि शिक्षयति-

जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा सिप्पं वा सिलोगं वा अट्ठापदं वा कक्कडगं वा वुग्गहं वा सलाहं वा सलाहहत्थयं वा सिक्खावेइ, सिक्खावंतं वा साइज्जइ । ८ ।

(जे भिक्खू अण्णउत्थियं वा इत्यादि) सिप्पं तुण्णगादि, सिलोगो वण्णणा, अट्ठापदं जूतं, कक्कडगहेउ वुग्गहो कलहो, सलाहा कव्वकरणप्पओगो। एस सुत्तत्थो। इमा णिज्जुत्ती-

सिप्पसिलोगादीहिं, सेसकलाओ वि सूइया होति ।
गिहिअण्णतित्थियं वा, सिक्खावेंते तमाणादी ॥ २० ॥

सेसा उ गणियलक्खणसउणरुयादिसूचिया ण गिही अण्णतित्थी वा सिक्खावेयव्वा। जो सिक्खावेति, तस्स आणादिया य दोसा, चउलहुं च से पच्छित्तं ॥ २० ॥

सिप्पसिलोगे अट्ठा-वए य कक्कडगवुग्गहसलाहा ।
तुंनाग वण्ण जूतो, हेतू कलहुत्तरा कव्वो ॥ २१ ॥

पुव्वद्धेण सुपसिद्धा गाहा, पच्छद्धेण जहासंखं तत्थ उदाहरणं। सिप्पं ज आयरिओवदेसेण सिक्खिज्जति, जहा तुण्णागं तुण्णादि, सिलोगो गुणवयणेहिं वण्णणा, अट्ठापदं चउरंगेहिं जूत, अहवा इमं अट्ठापदं—

अम्हेण वि जाणामो, पुट्ठो अट्ठापयं इमं बेति ।
सुणगाविमालकूरं, णेच्छति पच्चूसकालम्मि । २२ ।

पुच्छितो अपुच्छितो वा भणति-अम्हे णिमित्तं ण सुट्ठु जाणामो, पत्तियं पुण जाणामो, पच्चूसकाले दधि कूरं सुणगादिना वो ण भवति, अणिघो वा भणितो विणासो। एवमत्र कृतविप्रणाशादयश्च दोषा भवन्ति। अथवा कर्कटहेतुरर्थनाथिकप्रतिपत्तिः। यथाह-यथा दोषो मूर्तिमदमूर्तसद्दुःखभेदतो ज्ञानकालभेदाच्च कारकभूतविशेषाच्च विरुद्धं सर्वमाथिकयम। अथ नैवं, तत प्रतिज्ञाहानिः। वुग्गहो रायादीणं अमुककाले कलहो भविस्सति। रण्णो वा जुद्धं सगकमादिएण कलहे जयमादिसति। दोण्हं वा कलहं ताणं उ कस्स उत्तरं कहेति ?, सलाह त्ति, कथासम्भावं कहेति। कव्वेहिं वा वारितो कयं करेति ?, सलाहकरणं ति, सव्वकालो तो सूचितातो भवति, ताणि अण्णतित्थियादी। ण सिक्खावेति, चउलहुं, आणादी य संजमे दोसा। अधिकरणं उस्सग्गावदेसे य इम बितियपदं-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाण रोहए वा, सिक्खावणया उ जयणाए ॥ २३ ॥

रायादिभयं वा इसरं सिक्खावेंतो अभिपवाहेंतो तस्समोवाओ ओट्ठागादि सनति, भोमे वा पुच्छति सोच्चा रायदुट्ठे तालं करेति। बोहिगादिभये ताणं करेति। गिलाणस्स वा उवहारिएहिं उवग्गहं करिस्सति। अद्धाण रोहगेसु वा उवगारकारी भविस्सति। एवमादिकारणे अवेक्खिऊण इमाए जयणाए सिक्खावेति । २३ ।

संविग्गमसंविग्गो, धाविय तु सादिज्ज पदमनागीयं ।
विवरीयमगीए पुण, अणभिग्गहमाइ तेण परं ॥ २४ ॥

पणगपरिहाणीए जाहे चउलहुं पत्ता तेसु जतितं ते से वि असंतरंतो ताहे संविग्गो धाविया गीयत्थ सिक्खावेति, पच्छा असंविग्गो धावितं गीयत्थं, एगीयत्थु विवरीयं कारवेति, ततो असंविग्गो धाविनं अगीतं, ततो संविग्ग अगीयं, सव्वविवरीयं अकरणात् हेतुमज्ञापनो कारितानि संविग्ग अगीतार्थः। पच्छा गहियाणुव्वयं, ततो पच्छा दंसणसावगं, ततो पच्छा अहाभद्दगं,

गुज्झेगदी निसि कप्पा चउरो संघाडीओ पाणं पायच्छित्तओ य, एवं गणहरं परिक्खिमिणं देति, जेणो गुज्झेगदी ण गणिणं। मग्गि-ज्जमाणं मिलिय मिलंति, कारणे गिहि अन्नतित्थीण वा सिव्वा-वेति ॥ ५४ ॥

विणिपपदमणिठपे वा, णिडणे वा होज्ज केणई असहू।
गणिगणहर गच्छे वा, परकरणं कप्पती ताहे ॥ ५५ ॥

गणी उवज्झाओ, गणहरो आयरिओ, अन्नो वा गच्छे बुड्ढो गहणं वा बुढुण्णीओ, ते णिपुंसगा, अह ते असहू होज्जा, गच्छे वा णत्थि कुसलो, ताहे गिहिअन्नतित्थिणा वा सिव्वावेति।

तत्थ इमो कमो—

पच्छाकडसाभिग्गह-णिरभिग्गह भद्दए य अस्सण्णी।
गिहिअण्णतित्थिएण य, गिहि पुव्वं एतरे पच्छा ॥ ५६ ॥

पूर्ववत् सिव्वावणे इमो विही—

आगंतुं अगतो, संठाणं गंतु सिव्वावे।
पाणाहिए अपच्छिचो, तो होंते चेगणा ण आयंति ॥ ५७ ॥

सो गिहत्थो अण्णतित्थिओ वा साहुसमीवं आए यवणीए आ-गतो सिव्वाविज्जति। अहि आगंतुं णो इच्छति, तो तस्स जं संठाणं तं गंतुं सिव्वाविज्जति, जयणाए उवगरणं पुव्व ठवेज्ज सिव्वाविज्जति, तस्स पासेण अपच्छिचो चिट्ठति णियगो य णो विट्ठति, जाव णिट्ठियं, एवं पुव्वुत्ता दोसा ण भवंति।

(११) संभोगः—

जे भिक्खू असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अ-ण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सद्धिं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ७८ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सद्धिं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ७९ ॥ जे भिक्खू अण्णउत्थिएहिं वा गारत्थिएहिं वा सद्धिं आवेढिय परिवेढिय भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ८० ॥

अण्णउत्थिया गारत्थिया हि भोयणा खेत्ति या वास्था, तेहिं सद्धिं एगभायणे भोयणं एगपुत्तिहिं आवेढिओ, अहवा तेसिं मज्झे परिवेढिओ। अहवा अत्र मर्यादया वेढितः, तिसि दिसासु विदिसासु परिवेढितः। अहवा एगपंतीएसु आवेढितः, दुगादिसु पंतीसु समंता परिवेढितः।

गिहिअण्णतित्थिएहिं य, सद्धिं परिवेढिओ व जे भुंजे।
जे भिक्खू अण्णपाणादी, सो पावति आणमादीणि ॥ ६७१ ॥

अण्णतित्थिएहिं सद्धिं भुंजति, अण्णतित्थियपासे वा मज्झे णिवेढिओ वा भुंजति, तस्स आणादिया दोसा। कोऽयं अत्र दोषः। विभाषेयं यथा—

पुव्वं पच्छा सेएव, असोयवोसणा य हत्था वा।
पच्छो वा अणरणय, वासिपदे होंति ते गुरुगा ॥ ६७२ ॥

पुव्वं संजता [illegible] [illegible] तेषु [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

पुव्वं एव पाण [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] ।

पच्छिमे [illegible] [illegible], [illegible] ॥ ६५८ ॥

[illegible]

अहवा वि [illegible], [illegible] ।
एसु वि य दोसु इच्छी—मुणालवइ [illegible] ॥ ६५९ ॥

[illegible]

अण्णाउत्थिएहिं [illegible], [illegible] ।
[illegible] ॥ ६६० ॥

[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ ६६१ ॥

[illegible]

पुव्वं [illegible] ।
[illegible] ॥ ६६२ ॥

[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ ६६३ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ६६४ ॥

[illegible]

[illegible] गच्छइ य ।
[illegible] ॥ ६८२ ॥

[illegible]

अण्णग (य) [illegible]–अन्यग्रहण–न० । [illegible]
कारे [illegible], । " [illegible]
[illegible] सरणीओ [illegible] सुवाससंगहीयासु य
[illegible] एवं [illegible]
नि० चू० १७ उ० ।

अण्णजोग–अन्ययोग–पुं० । कार्यान्तरजनकसंबन्धे, [illegible]
[illegible] अभि० ।

अण्णजोगववच्छेद–अन्ययोगव्यवच्छेद–पुं० । [illegible]
कार्यान्तरजनकसंबन्धप्रकृतत्वाभावे, अनेकान्तजय[illegible]
वृत्तिटि० ४ अधि० ।

अण्णजोगववच्छेदबत्तीसिया–अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिं[illegible]
स्त्री० । श्रीमद्विजयेन्द्रविरचितस्याद्वादमञ्जर्याख्यटी[illegible]
सिते श्रीहेमचन्द्रसूरिविहिते [illegible]
[illegible] ग्रन्थे, श्रीहेमचन्द्रसूरिणा [illegible]
श्रीसिद्धसेनदिवाकरविरचितद्वात्रिंशिकानुकारि श्रीवर्द्ध[illegible]
[illegible]
द्वात्रिंशिकाद्वितयं [illegible]
[illegible] । ([illegible])
[illegible]
[illegible]) [[illegible]]

अण्णजोणिय–अन्ययोनिक–स्त्री० । [illegible]
[illegible]
[illegible] ।

अण्णण्ण (य) [illegible]–अन्योन्य–त्रि० । [illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

अण्णत्तभावणा-अन्यत्वभावना-स्त्री०। देहादेरात्मनो भेदबुद्धौ, "जीवः कायमपि व्यपास्य यदहो ! लोकान्तरं याति तद् भिन्नोऽसौ वपुषोऽपि कैव हि कथा द्रव्यादि वस्तु व्रजेत् । तस्मात्खिलमाति यत्नं मलयजैर्यो हन्ति दण्डादिभि- र्यं पुष्णाति धनादि यश्च हरते तत्रा न साम्यं भवेत् ॥ १ ॥ अन्यत्वभावनामेवं, यः करोति महामतिः । तस्य सर्वस्वनाशेऽपि, न शोकांशोऽपि जायते" ॥२॥ प्रव० ६७ द्वा० । ध० ।

अण्णत्थ-अन्यत्र-अव्य० । परिवर्जने, यथा "अन्यत्र भीष्मद्रोणाभ्यां,सर्वे योधाः पराङ्मुखाः" । "अन्नत्थऽणाभोगेणं सहसा गारेणं" इत्यत्र अन्यत्र अनाभोगात्सहसाकाराच्च,एतौ वर्जयित्वेत्यर्थः। ध०२ अधि० । "अणत्थ कायइ" अन्यत्र कुत्रचिद् स्थानान्तरे, विपा० १ श्रु० २ अ० । आ० चू० । "अण्णत्थ कत्थइ मणे अकुव्वमाणे" अन्यत्र कुत्रचिन्मनोऽकुर्वन् । अनु० ।

अन्यार्थ-पुं० । वा दुगभावः । भिन्नार्थे, अन्योऽर्थः अभिधेयं प्रयोजनं वाऽस्य । भिन्नाभिधेयवाचके शब्दे , भिन्नप्रयोजनके पदार्थे च । त्रि० । वाच० ।

अन्वर्थ-पुं० । अनुगतोऽर्थम् । अत्या० स० । अर्थानुगते व्युत्पत्तियुक्ते शब्दे, वाच०। "नियमश्चान्वर्थे तदर्थनिरपेक्षत्वं" विवक्षितात् मृतकदारकादिरूपादन्यथाऽसावर्थोऽन्यार्थो देवादिगादिः सद्भावतस्तत्र वास्थितं मृतकदारकादौ तर्हि कथं वर्तते ?, इत्याह-तदर्थनिरपेक्षं तस्येन्द्रादिनाम्नोऽर्थस्तदर्थः , परमैश्वर्यादि , तस्य निरपेक्षं संकेतमात्रेणैव तदर्थशून्ये मृतकदारकादौ वर्तत इति पर्यायानाभिधेयं भिन्नमन्यार्थं अन्वर्थं वा तदर्थनिरपेक्षं यत् क्वचिद् मृतकदारकादौ इन्द्राद्यभिधानं क्रियते तन्नामेतीह तात्पर्यार्थः । विशे० ।

अण्णत्थगय-अन्यत्रगत-त्रि० । उक्तस्थानद्वयव्यतिरिक्तस्थानाश्रिते , भ० ७ श० १ उ० । प्रज्ञापकक्षेत्रादेवस्थापनाव्यपरत्र स्थिते, भ० ६ श० ९ उ० ।

अण्णत्थजोग-अन्वर्थयोग-पुं० । अनुगतशब्दशब्दार्थसंबन्धे , षड्डा० १२ विव० ।

अण्णत्था-अन्वर्था-स्त्री० । अर्थमनुगता या संज्ञा सा अन्वर्था । अर्थमङ्गीकृत्य प्रवर्तमानायां संज्ञायाम्, कथम् ?, इह यथा भास्करसंज्ञा अन्वर्था । कथमन्वर्था ?। भासं करोतीति भास्कर इति या प्रासनार्थत्वमङ्गीकृत्य प्रवर्तत इत्यन्वर्था । आ० चू० १ अ० ।

अण्णदंसि (ण्)-अन्यदर्शिन्-त्रि०। अन्यद् द्रष्टुं शीलमस्यान्यदर्शी । अयथावस्थितपदार्थद्रष्टरि , आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

अण्णदत्तहर-अन्यदत्तहर-पुं० । अन्येन दत्तं हरतीति राजादिनाऽन्येभ्यो वितीर्णस्यापान्तराल एव भेदके, "अण्णदत्तहरे तेणे, माई कण्णु हरे सढे" उत्त० ७ अ० ।

अण्णदाण-अन्यदान-न० । अशनादेरन्यस्मै दाने, "नो तिविहं तिविहेणं, पच्चक्खाइ अण्णदाणकारवणं" पं०व०२ द्वा०।

अण्णधम्मिय-अन्यधार्मिक-पुं०। जैनधर्मादन्यस्मिन् धर्मे वर्तते इति, मिथ्यादृष्टौ, आव० । परधार्मिके, बृ० ४ उ० । पार्श्वस्थादौ, बृ० १ उ० । शाक्यादौ, गृहस्थे च । स्था० ३ ठा०४ उ०।

अण्णपर-अन्यपर-त्रि० । अन्यरूपतया परस्मिन् अन्यस्मिन्, यथा एकाणुकाद् द्व्यणुकत्र्यणुकादि, एवं द्व्यणुकादेकाणुकत्र्यणुकादि । आचा० २ श्रु० १२ अ० ।

अण्णपरिभोग- अन्यपरिभोग-पुं० । खाद्यादिसेवने , पं० व० २ द्वा० ।

अण्णपुण्ण-अन्नपुण्य-न०। अन्नात्पुण्यमन्नपुण्यम् । पात्रायान्नदानाद्यत्तीर्थकरनामादिपुण्यप्रकृतिबन्धरूपे पुण्यभेदे, स्था०९ ठा०।

अण्णपमत्त-अन्नप्रमत्त-त्रि० । अन्नार्थं प्रमत्तः । भोजनकरणासक्ते, उत्त० १४ अ० ।

अन्यप्रमत्त-त्रि०। अन्ये सुहृत्स्वजनादयस्तदर्थं प्रमत्तः । उत्त० १४ अ०। सुहृत्स्वजनमातृपितृपुत्रकलत्रभ्रात्रादीनां कार्यकरणासक्तं , "अण्णप्पमत्ते धणमेसमाणे , पप्पोति मच्चुं पुरिसो जरं च" उत्त० १४ अ० ।

अण्णवेलचरक-अन्यवेलाचरक-पुं० । अन्यस्यां भोजनकालापेक्षया आद्यावसानरूपायां वेलायां समये चरतीत्यादिकालाभिग्रहविशेषविशिष्टे भिक्षौ , स्था० ५ ठा० १ उ० ।

अण्णभोग-अन्नभोग-पुं० । खाद्यादिरूपे भोग्यपदार्थे , "अण्णभोगेहिं देणभोगेहिं" औ० ।

अण्णमण्ण-अन्योन्य-त्रि०। अन्यशब्दात् कर्मव्यतिहारे द्वित्वं, सुश्च "अतो डोऽन्योन्यप्रकोष्ठातोद्यशिरोवेदनामनोहरसरोरुहे क्तोश्च वः" ८।१।१५६॥ इति सूत्रेण ओतः अत्वम् । मकार आगमिकः। परस्परशब्दार्थे, ज्ञा० १ अ० । रा० । आ० म० प्र० । भ० । आचा० । उत्त० । चं० प्र०। अनु० । स्था० । सूत्र० । "अण्णमण्णमणुरत्तया अण्णमण्णमणुव्वया अण्णमण्णछंदाणुवत्तया अण्णमण्णहियइच्छियकारया अण्णमण्णेसु गिहेसु किच्चाई करणिज्जाइं पच्चणुभवमाणा विहरंति ।" (जिनदत्तसागरदत्तपुत्रयोर्मिथोऽनुरागवर्णकः)अन्योऽन्यमनुरक्तौ स्नेहवन्तौ,अतएवाऽन्योऽन्यमनुव्रजतः इत्यनुव्रजन्तौ, एवं छन्दानुवर्तकौ अभिप्रायानुवर्तिनौ,एवं हृदयेप्सितकारकौ । (किच्चाइं करणीयाइं ति) कर्तव्यानि प्रयोजनानीत्यर्थः। अथवा कृत्यानि नैत्यिकानि, करणीयानि कादाचित्कानि, प्रत्यनुभवन्तौ विदधानौ । ज्ञा० २ अ० । "अण्णमण्णं खिज्जमाणीओ विव" । परस्परं चक्षुषाऽऽलोकनेनाऽवलोकनेन ये श्लेषाः संश्लेषास्तैः खिद्यमाना इव । रा० । स्था० ॥ "अण्णमण्णं सेवमाणा" अन्योऽन्यस्य परस्परस्यासेवनया;अभ्याश्रितभोगेन क्वचित्पाठः । प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० । "अण्णमण्णं करेमाणे पारंचिए" अन्योऽन्यं परस्परं मुखपायुप्रयोगतो मैथुनं कुर्वन् पुरुषयुगमिति शेषः । उच्यते-"आसप्पपोसयसेवी, के वि मणुस्सा दुवेयगा होंति । तेसिं लिंगविवेगो त्ति"। स्था०३ ठा०४ उ०। बृ०। जीत०। ('पारंचिय' शब्देऽस्य व्याख्या)

अण्णमण्णकिरिया-अन्योन्यक्रिया-स्त्री० । परस्परतः साधुना कृतप्रतिक्रियया विधेयायां रजःप्रमार्जनादिकायां क्रियायाम्, अन्योऽन्यं क्रियाश्च अन्योऽन्यक्रियाः । सप्तके दर्शिता यथा-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अण्णमण्णकिरियं अज्झत्थियं संसेइयं णो तं सातिए णो तं णियमे, से

पाये आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, णो तं सातिए णो तं णियमे, सेसं तं चेव, एवं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं सत्तमओ सत्तिक्कओ सम्मत्तो ॥

क्रिया रजःप्रमार्जनादिकास्ता अन्योन्यं परस्परतः साधुना कृतप्रतिक्रियया न विधेया इत्येवं नेतव्योऽन्योन्यक्रियास-प्तैकक इति । आचा० २ श्रु० १३ अ० ।

जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जेज्ज वा, पमज्जेज्ज वा, आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ॥१६॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा संवाहेज्ज वा, पलिमद्देज्ज वा, संवाहंतं वा पलिमद्दंतं वा साइज्जइ ॥१७॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा मंखेज्ज वा, भिलिंगेज्ज वा, मंखंतं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ ॥१८॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लोद्धेण वा कक्केण वा पउमचुण्णेण वा ण्हाणेण वा वण्णेण वा उल्लोलेज्ज वा, उव्वट्टेज्ज वा, उल्लोलंतं वा उव्वट्टंतं वा साइज्जइ ॥१९॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधोएज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ ॥२०॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमेज्ज वा, रएज्ज वा, मंखेज्ज वा, फूमंतं वा रयंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ ॥२१॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ ॥२२॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा संवाहावेज्ज वा, पलिमद्दावेज्ज वा, संवाहावंतं वा पलिमद्दावंतं वा साइज्जइ ॥२३॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा मंखावेज्ज वा, भिलिंगावेज्ज वा, मंखावंतं वा भिलिंगावंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लोद्धेण वा कक्केण वा ण्हाणेण वा पउमचुण्णेण वा वण्णेण वा सिणाणेण वा उल्लोलावेज्ज वा, उव्वट्टावेज्ज वा, उल्लोलावंतं वा उव्वट्टावंतं वा साइज्जइ ॥२५॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ ॥२६॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ ॥२७॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि वणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ ॥२८॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि वणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा संवाहिज्जावेज्ज वा, पलिमद्दावेज्ज वा संवाहिज्जावंतं वा पलिमद्दावंतं वा साइज्जइ ॥२९॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि वणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा मंखावेज्ज वा, भिलिंगावेज्ज वा, मंखावंतं वा भिलिंगावंतं वा साइज्जइ ॥३०॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि वणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लोद्धेण वा कक्केण वा ण्हाणेण वा पउमचुण्णेण वा वण्णेण वा सिणाणेण वा उल्लोलावेज्ज वा, उव्वट्टावेज्ज वा, उल्लोलावंतं वा उव्वट्टावंतं वा साइज्जइ ॥३१॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स वा कायंसि वणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ ॥३२॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि वणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ ॥३३॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण वा अच्छिंदावेज्ज वा, विच्छिंदावेज्ज वा अच्छिंदावंतं वा विच्छिंदावंतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण अच्छिंदावेज्ज वा, विच्छिंदावेज्ज वा, पूयं वा सोणियं वा णीहरावेज्ज वा, विसोहियावेज्ज वा, णीहरावंतं वा विसोहियावंतं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भगंदलं वा अण्णयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण अच्छिंदावेज्ज वा, विच्छिंदावेज्ज वा, पूयं वा सोणियं वा णीहरावेज्ज वा, विसोहियावेज्ज वा, सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवा-

वंतं वा साइज्जइ ॥३६॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंडं वा पलियं वा अरियं वा हासं वा भगंदलं वा अएणयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण वा अच्छिंदावेज्ज वा, विच्छिंदावेज्ज वा, पूयं वा सोणियं वा णीहरावेज्ज वा, विसोहियावेज्ज वा, अएणयरेण वा आलेवणजाएण वा विलिंपावेज्ज वा आलिंपावंतं वा विलिंपावंतं वा साइज्जइ ॥३७॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंडं वा० जाव अएणयरेण वा आलेवणजाएण तेल्लेण वा० जाव साइज्जइ ॥३८॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भगंदलं वा अएणयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण अच्छिंदावेज्ज वा विच्छिंदावेज्ज वा पूयं वा सोणियं वा णीहरावेज्ज वा, विसोहियावेज्ज वा, अएणयरेण वा धूवेण जाएण धूवावेज्ज वा, पधूवावेज्ज वा, धूवावंतं वा पधूवावंतं वा साइज्जइ ॥३९॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स पालुकिमियं वा कुच्छिकिमियं वा अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अंगुलीयाए निवेसिय २ णीहरावेज्ज वा, णीहरावंतं वा साइज्जइ ॥ ४० ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइं णहसिहाइं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४१॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइं वत्थिरोमाइं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥ ४२ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइं जंघारोमाइं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४३॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइं मंसुकेसाइं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥ ४४ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइं कएणरोमाइं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४५॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइं चूरोमाइं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४६॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइं अच्छिपत्ताइं अएणउत्थिएण वा, गारत्थिएण वा, कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४७॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइं चक्खुरोमाइं अएणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा,

संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४८॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइं णक्करोमाइं अएणउ० गारत्थि० कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥४९॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइं मंसुरोमाइं अएणउत्थि० गारत्थि० कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥ ५० ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइं कक्खरोमाइं अएणउ० गारत्थि० कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ । ५१ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइं पासरोमाइं अएणउ० गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ।५२। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दीहाइं उत्तरउट्ठाइं अएणउ० गारत्थि० कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावंतं वा संठावंतं वा साइज्जइ ॥५३॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दंते अएणउ० गारत्थि० आघंसेज्ज वा, पघंसेज्ज वा, आघंसंतं वा पघंसंतं वा साइज्जइ ॥५४॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दंते वा अएणउ० गारत्थि० सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ । ५५ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स दंते अएणउत्थिए० गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ ॥५६॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स उट्ठे अएणउ० गारत्थि० आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ ॥५७॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स उट्ठे अएणउ० गारत्थि० संबाहियावेज्ज वा, पलिमद्दावेज्ज वा, संबाहियावंतं वा पलिमद्दावंतं वा साइज्जइ ।५८। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स उट्ठे अएणउ० गारत्थि० तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा मंखावेज्ज वा, भिलिंगावेज्ज वा, मंखावंतं वा भिलिंगावंतं वा साइज्जइ ।५९। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स उट्ठे अएणउ० गारत्थि० लोद्धेण वा कक्केण वा एहाणेण वा पउमचुएणेण वा वएणेण वा उल्लोलावेज्ज वा, उव्वट्टावेज्ज वा, उल्लोलावंतं वा उव्वट्टावंतं वा साइज्जइ ॥६०॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स उट्ठे अएणउ० गारत्थि० सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ ।६१। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स उट्ठे अएणउ० गारत्थि० फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ । ६२ । जे

[illegible]

एयाओ वा कालेन भावसंबंधे हवेज्ज, ताहे पडिगमणं पच्चक्खाणं होज्जा, पच्चा काम हज्जा पुत्त नेगं सा दुवयणाहि संजया, अहवा [illegible] मम भोगयाए कामो [illegible] वा मम भोगया आसी, अणुगमभोगेण इच्छियासेव कोडं कत्ति [illegible]–

होहं व मोहमेरजा, पुच्छा कहिं पारिभेज कहि एवं।
मम जाया एरिसी, मा या पलाणे बहुं एवं ॥ ११ ॥

[illegible] ॥ ११ ॥

एवे पेय न होमा, अणंकरीपाहिं पच्छकम्मं च।
[illegible] ॥ १२ ॥

[illegible]

जयणा पवरेज्ज, अण्णयो अण्णयो संजएहिं कारवेज्जा ॥ १८ ॥

असती य संजयाणं, पच्छाकडमादिएहिं कारेज्जा ।

गिहिअण्णतित्थिएहिं, गिहत्थि-परतित्थि-तिविहाहिं ॥१९॥

असती संजयाण पच्छाकडेहिं कारवेंति, ततो साभिग्गहेहिं, ततो णिरभिग्गहेहिं, ततो अहाभद्दएहिं, ततो णियल्लएहिं मिच्छद्दिट्ठीहिं, ततो अभिग्गहिएहिं मिच्छद्दिट्ठीहिं, ततो अण्णतित्थिएहिं मिच्छद्दिट्ठिमाईएहिं, पुव्वं असोयवाईहिं, पच्छा सोयवाईहिं, ततो पच्छा गिहत्थि-अण्णतित्थिणितिविहाहिं ति, ततो गिहत्थीहिं कालवयत्थाहिं अणालवत्ताहिं तिविधाहिं थेरमज्झिमतरुणीहिं, एवं परतित्थिणीहिं वि, गठत्थीहिं वि, एवं चेव, एतो चेव अण्णो विगप्पो भण्णति, ततो पच्छा गिहत्थिपरतित्थिणितिविहाहिं ति । गिहत्थी दुविहा-कालवदा अणालवदा । ततो इमेहिं गिहत्थीहिं कालवयाहिं-

माताभगिणीधूया-अज्जियणत्ती सयिहियास असमणीए ।

अणिवद्धेय थेरेहिं, पडिअसमणीहिं अणाभित्थीहिं ॥२०॥

माता भगिणी धूया अज्जियाणत्तुणी य, एतेसि असमणीए, एताहिं चेव असण्णातित्थिणीहिं, एतेसि असमणीए अणालवदाहिं गिहत्थीहिं तिविधाहिं कमेण थेरमज्झिमतरुणीहिं, ततो एयाहिं चेव असण्णातित्थियाहिं ति ॥ २० ॥

तिविहाण वि एयाणं, असमणीएं संजतिमादिजाणिणीहिं ।

अण्णि य जाणिणी य सती, तप्पच्छा अणेगतिविहाहिं ॥२१॥

मातानाभिणीधूया-अज्जियाण वि य सेसतिविहा तु ।

एतासि असमणीए, तिविहा वि करेंति जयणा तु ॥२२॥

असणालवदाणं थेरमज्झिमतरुणीहिं असति संजतीतो माता भगिणी धूया य अज्जियाण पयमादि ततो करेंति, ततो पच्छा असमिणाओ अणालवदाओ तिविहाओ थेरमज्झिमतरुणीओ करावेंति वा, एयरिस चेव अत्थे अण्णापरिवक इमा गाथा-(माताभगिणी) । (एतासि असमणीए ति) मायभगिणिमादियाण ति, सेसं तिविहाउ ति अणालवदाओ संजातिओ तिविधाओ थेरमज्झिमतरुणी य जयणा जहा फासेवणादि ण भवति, तहा कारवेंति, करेंति वा ॥ २१ ॥ २२ ॥

जे भिक्खु णिग्गंथे णिग्गंथीए पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ ।७२। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा संवाहावेज्ज वा, पलिमद्दावेज्ज वा, संवाहावंतं वा पलिमद्दावंतं वा साइज्जइ ॥७३ ॥ जे भिक्खु णिग्गंथे णिग्गंथीए पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखेज्ज वा, भिलिंगेज्ज वा, मंखंतं वा भिलिंगंतं वा साइज्जइ । ७४ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लोद्धेण वा कक्केण वा ण्हाणेण वा पउमचुण्णेण वा वण्णेण वा सिणाहाणेण वा उव्वट्टेज्ज वा, परिवट्टेज्ज वा, उव्वट्टंतं वा परिवट्टंतं वा साइज्जइ ।७५।जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधोवेज्ज वा, उच्छोलंतं वा पधोवंतं वा साइज्जइ ।७६। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमेज्ज वा, रएज्ज वा, मंखेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखंतं वा साइज्जइ।७७।जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए काये अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ ।७८। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा संवाहावेज्ज वा, पलिमद्दावेज्ज वा, संवाहावंतं वा पलिमद्दावंतं वा साइज्जइ।७९। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा णवणीएण वा मंखावेज्ज वा, भिलिंगावेज्ज वा, मंखावंतं वा भिलिंगावंतं वा साइज्जइ।८०। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लोद्धेण वा कक्केण वा ण्हाणेण वा पउमचुण्णेण वा वण्णेण वा सिणाहाणेण वा उव्वट्टावेज्ज वा, परिवट्टावेज्ज वा, उव्वट्टावंतं वा परिवट्टावंतं वा साइज्जइ।८१। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ। ८२ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायं फूमावेज्ज वा, रयाएज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ । ८३ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायंसि वणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइज्जइ । ८४ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायंसि वणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेल्लेण वा घएण वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखावेज्ज वा, भिलिंगावेज्ज वा, मंखावंतं वा भिलिंगावंतं वा साइज्जइ ॥८५॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स कायंसि वणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लोद्धेण वा कक्केण वा ण्हाणेण वा पउमचुण्णेण वा सिणाहाणेण वा उव्वट्टावेज्ज वा, परिवट्टावेज्ज वा, उव्वट्टावंतं वा परिवट्टावंतं वा साइज्जइ ॥८६॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायंसि वणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ ॥ ८७ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायंसि वणं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा

साइज्जइ ॥ ८८ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायंसि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भंगदलं वा अण्णयरेण वा सत्थजाएण अच्छिंदावेज्ज वा, विच्छिंदावेज्ज वा, अच्छिंदावेंतं वा विच्छिंदावेंतं वा साइज्जइ ॥ ८९ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायंसि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भंगदलं वा अण्णयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण वा अच्छिंदावेज्ज वा, विच्छिंदावेज्ज वा, पूयं वा सोणियं वा णीहराएज्ज वा, विसोहियावेज्ज वा, णीहरावेंतं वा विसोहियावेंतं वा साइज्जइ ॥ ९० ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायंसि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भंगदलं वा अण्णयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण अच्छिंदावेज्ज वा, विच्छिंदावेज्ज वा, पूयं वा सोणियं वा णीहराएज्ज वा, विसोहियावेज्ज वा, सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा, उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावेंतं वा पधोवावेंतं वा साइज्जइ ॥ ९१ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायंसि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भंगदलं वा अण्णयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण अच्छिंदावेज्ज वा, विच्छिंदावेज्ज वा, पूयं वा सोणियं वा णीहरावेज्ज वा, विसोहियावेज्ज वा, अण्णयरेण वा आलेवणजाएण आलिंपावेज्ज वा, विलिंपावेज्ज वा, आलिंपावेंतं वा विलिंपावेंतं वा साइज्जइ ।९२। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायंसि अण्ण० गारत्थि० गंडं वा० जाव अण्णयरेण वा आलेवणजाएण मेढेण वा० जाव साइज्जइ ।९३। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायंसि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा गंडं वा पलियं वा अरियं वा असियं वा भंगदलं वा अण्णयरेण वा तिक्खेण वा सत्थजाएण अच्छिंदावेज्ज वा, विच्छिंदावेज्ज वा, पूयं वा सोणियं वा णीहरावेज्ज वा, विसोहियावेज्ज वा, अण्णयरेण वा धूवेण वा पधूवेण वा धूवावेज्ज वा, पधूवावेज्ज वा, धूवावेंतं वा पधूवावेंतं वा साइज्जइ ।९४। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए पालुकिमियं वा कुच्छिकिमियं वा अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अंगुलीयाए निवेसिय २ णीहरावेइ, णीहरावेंतं वा साइज्जइ ।९५। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाओ णहसिहाओ अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावेंतं वा संठावेंतं वा साइज्जइ ।९६। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं वत्थि-रोमाइं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावेंतं वा संठावेंतं वा साइज्जइ ।९७। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं जंघारोमाइं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावेंतं वा संठावेंतं वा साइज्जइ ।९८। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं सीसकेसाइं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पवेज्ज वा, संठवेइ वा, कप्पावेंतं वा संठावेंतं वा साइज्जइ ।९९। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं कक्खरोमाइं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावेंतं वा संठावेंतं वा साइज्जइ ।१००। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं मंसुरोमाइं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावेंतं वा संठावेंतं वा साइज्जइ ।१०१। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं चक्खुरोमाइं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावेंतं वा संठावेंतं वा साइज्जइ ।१०२। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं अच्छिपत्ताइं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावेंतं वा संठावेंतं वा साइज्जइ ।१०३। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं णक्करोमाइं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावेंतं वा संठावेंतं वा साइज्जइ ॥१०४॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं कक्खरोमाइं कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावेंतं वा संठावेंतं वा साइज्जइ ।१०५। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं पासरोमाइं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावेंतं वा संठावेंतं वा साइज्जइ ॥१०६॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दीहाइं उत्तरोट्ठाइं अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा कप्पावेज्ज वा, संठावेज्ज वा, कप्पावेंतं वा संठावेंतं वा साइज्जइ ।१०७। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दंते अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आघसावेज्ज वा, पघसावेज्ज वा, आघसावेंतं वा पघसावेंतं वा साइज्जइ । १०८ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए दंते अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावेंतं वा पधोवावेंतं वा साइज्जइ ॥ १०९ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए अण्ण० गारत्थि० दंते फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा० जाव साइज्जइ ।११०। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए उट्ठे अण्णउत्थिए० गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावेंतं वा पमज्जावेंतं वा साइज्जइ ।१११। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए उट्ठे अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा संबाहावेज्ज वा, पलिमद्दावेज्ज वा, संबाहावेंतं वा पलिमद्दावेंतं वा साइज्जइ ।११२।

जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए उड्डे अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेल्लेण वा घएण वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखावेज्ज वा, भिलिंगावेज्ज वा, मंखावंतं वा भिलिंगावंतं वा साइज्जइ ।११३। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए उड्डे अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लोद्धेण वा कक्केण वा एहाणेण वा पउमचुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोलावेज्ज वा, उव्वट्टावेज्ज वा, उल्लोलावंतं वा उव्वट्टावंतं वा साइज्जइ ।११४। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए उड्डे अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ ॥ ।११५। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए उड्डे अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ ॥ ।११६। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए अच्छिणि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमावेज्ज वा, पमावेज्ज वा, आमावेज्जंतं वा पमावेज्जंतं वा साइज्जइ ।११७। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए अच्छिणि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा संवाहावेज्ज वा, पलिमद्दावेज्ज वा, संवाहावंतं वा पलिमद्दावंतं वा साइज्जइ ।११८। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए अच्छिणि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा तेल्लेण वा घएण वा वसाएण वा णवणीएण वा मंखावेज्ज वा, भिलिंगावेज्ज वा, मंखावंतं वा भिलिंगावंतं वा साइज्जइ ।११९। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए अच्छिणि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा लोद्धेण वा कक्केण वा एहाणेण वा पउमचुण्णेण वा वण्णेण वा उल्लोलावेज्ज वा, उव्वट्टावेज्ज वा, उल्लोलावंतं वा उव्वट्टावंतं वा साइज्जइ ।१२०। जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए अच्छिणि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलावेज्ज वा, पधोवावेज्ज वा, उच्छोलावंतं वा पधोवावंतं वा साइज्जइ ॥ १२१॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए अच्छिणि अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा फूमावेज्ज वा, रयावेज्ज वा, मंखावेज्ज वा, फूमावंतं वा रयावंतं वा मंखावंतं वा साइज्जइ । १२२ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए कायाउ अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सेयं वा जल्लं वा पंकं वा मल्लं वा णीहरावेज्ज वा, विसोहावेज्ज वा, णीहरावंतं वा विसोहावंतं वा साइज्जइ । १२३ । जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए गामाणुगामं दुइज्जमाणे अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीसदुवारियं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ॥ १२४ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथस्स पाए अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमावेज्ज वा, पमावेज्ज वा, आमावेज्जंतं वा पमावेज्जंतं वा साइज्जइ ॥ १२५ ॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गंथीए वा- याउ अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा अच्छिमलं वा कण्णमलं वा दंतमलं वा णहमलं वा णीहरावेज्ज वा० जाव साइज्जइ ॥१२६॥ एवं सव्वं णिग्गंथगमणिग्गंथगमप्पमरिसं णे- यव्वं जाव जे णिग्गंथीए णिग्गंथस्स गामाणुगामं दुइज्जमाणे अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीसदुवारियं करावेइ, करावंतं वा साइज्जइ ॥१८३॥ जे भिक्खू णिग्गंथे णिग्गं- थीए पाए अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जावेज्ज वा, पमज्जावेज्ज वा, आमज्जावंतं वा पमज्जावंतं वा साइ- ज्जइ ॥ १८४ ॥ एवं ते एतेण वा मएण सरिसा णेयव्वा जाव जे णिग्गंथी णिग्गंथस्स गामाणुगामं दुइज्जमाणे अणउत्थिएण वा गारत्थिएण वा सीसदुवारियं करावेइ, करावंतं वा साइज्जइ ॥ २४५ ॥

सुत्ता एकस्सवालीसं तत्तिईहसगमा जाव सीसदुवारे त्ति सुत्तं; अर्थो पूर्ववत् ।

एमेव गमो नियमा, णिग्गंथीणं पि होइ णायव्वो ।
कारवण संजतेहिं, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मी तु ॥१३०॥

संजमो गारत्थमादिएहिं संजतीणं वा पमज्जणादि कारवेति, उस्सग्गेण तु ण कारयंति, अववायाए वा समयंति । नि० चू० १७ उ० ।

अणमणगंठिय-अन्योन्यग्रथित-त्रि० । परस्परेणैकेन ग्रन्थिना सहाऽन्यो ग्रन्थिरन्येन च सहाऽन्य इत्येवं ग्रथिते, भ० ५ श० ३ उ० ।

अणमणगुरुयत्ता-अन्योन्यगुरुकता-स्त्री० । अन्योन्येन ग्रन्थ- नाद् विस्तीर्णतायाम्, भ० ५ श० ३ उ० ।

अणमणगुरुयसंभारियत्ता-अन्योन्यगुरुकसंभारिकता-स्त्री० । अन्योन्येन गुरुकं सम्भारिकं च तत्तथा, तद्भावस्तत्ता । अन्यो- न्येन ग्रन्थनाद् विस्तारसंभारवत्त्वे, भ० ५ श० ३ उ० ।

अणमणघडता-अन्योन्यघटता-स्त्री० । अन्योन्य घटने स- म्बन्धेनेति अन्योन्यघटाः । जी० ३ प्रति० । अन्योन्यं घटाः समुदायरचना यत्र तदन्योन्यघटम् । अन्योन्य घटा: समु- दायो येषां तेऽन्योन्यघटाः । परस्परसंघटनायाम्, प्र० १ श० ३ उ० ।

अणमणपुट्ट-अन्योन्यस्पृष्ट-त्रि० । परस्परमन्येन स्पि- स्पृष्टे, भ० १ श० ६ उ० । जी० ।

अणमणबद्ध-अन्योन्यबद्ध-त्रि० । अन्योन्यं जीवाः पु- द्गलाश्च, पुद्गलाश्च जीवाश्चान्योन्यमर्थादिरूपेण गाढतया बद्धं, भ० १ श० ६ उ० ।

अणमणवेद-अन्योन्यवेद-पुं० । अन्यदन्यत्कर्म संवेदे, नि० चू० २० उ० । "अणमणवेदं णो आणि त्ति" अन्योन्यकर्म वेद स-

अण्णा (ण्णा) इस-अन्यादृश-त्रि० । अन्यादृशशब्दस्य "अन्या दृशोऽन्नाइसावराइसौ" । ८ । ४ । ४१३ । इति अपभ्रंशे अन्नाइसे-त्यादेशः । प्रकारान्तरतामापन्ने, प्रा० ।

अण्णाएसि (ण्)-अज्ञातैषिन्-पुं० । जातिकुलमदघ्यात्नि-र्वचनादिनाऽपरिज्ञितोऽज्ञातः, तादृशं गृहस्थमाहारार्थमे-षयतीत्येवंशीलोऽज्ञातैषी । उत्त० २ अ० । अज्ञातो जातिश्रुता-दिभिरेषत्युञ्छति अर्थात् पिण्डादीनि इत्यज्ञातैषी । उत्त० ३ अ० । अज्ञातस्तपस्वितादिभिर्गुणैरनवगत एषयते ग्रासादिकं गवेषय-तीत्येवंशीलोऽज्ञातैषी । उत्त० २१ अ० । यत्र कुले तस्य माघो-स्तपोनियमादिगुणो न ज्ञातस्तत्र एषयते ग्रासादिकं गृहीतुं वाञ्छत इत्येवंशीलोऽज्ञातैषी । उत्त० १५ अ० । विशिष्टगुणैर-ज्ञात एव भिक्षणरते, "अकाममकामी अण्णा (ण्णा) एसी परि-व्वए स भिक्खू" उत्त० १५ अ० ।

अण्णाण-अज्ञान-न० । न ज्ञानमज्ञानम् । मत्यज्ञानादिनर-स्मिन् ज्ञाने, आव० ।

अण्णाणं परियाणामि, नाणं उवसंपज्जामि । आव० ४ अ० ।

(नाणे त्ति) ज्ञानिनः सम्यग्दृष्टयः, अज्ञानिनो मिथ्यादृष्टयः । आह च-"अविसेसिया मइच्चिय, सम्मद्दिट्ठिस्स सा मइन्नाणं । मइअन्नाणं मिच्छा-दिट्ठिस्स सुयं पि एमेव" ॥ १ ॥ इति । अज्ञानता च मिथ्यादृष्टिबोधस्य, सदसतोरविशेषणात् । तथा-हि-सम्यग्दृष्टिः घटं, तत्सर्वं कथंचिदिति विशेषितमेव भवति, स्वरूपेणेत्यर्थः । मिथ्यादृष्टिस्तु मन्यते-सन्नेवेति, तत्परा-पररूपेणापि तेषां सत्त्वप्रसङ्गः । तथा न सन् घटः, तद्रू-पं कथञ्चिदिति विशेषितमेव भवति, पररूपेणेत्यर्थः । स तु-न सन्नेवेति मन्यते, तथा च तत्प्रतिषेधकत्वात् तत्स्वरूपाद-प्यसज्ञानीति । अथवा शशविषाणादयो न सन्तीत्यत्र कथ-ञ्चिदिति विशेषणीयम्, यतस्ते शशसत्त्वादिसद्भावेनैव न सन्ति; न तु शशश्च विषाणं च, शशस्य वा विषाणं, बुद्धि-पूर्वकग्रहणापेक्षया शशविषाणम्, तद्रूपतयाऽपि न सन्तीति, तदेव सदसतोः कथञ्चिद्रूपेणास्य विशेषणाभावात्तदुपगमात् । तस्य ज्ञानमप्ययथार्थत्वेन कुत्सितत्वादज्ञानमेव । आह च-"जह दुव्वयणमवयणं, कुच्छियसीलमसीलमसईए । भण्णइ त-माणं पि हु, मिच्छादिट्ठिस्स अन्नाणं" ॥ १ ॥ इति । तथा मिथ्यादृष्टे-रुपयोगो न ज्ञानम्, भवहेतुत्वात्, मिथ्यात्वादिवत् । तथा यदृच्छोपलम्भान्मत्तवत्, ज्ञानफलस्य सत्क्रियालक्षणाभावा-दुन्मत्तवदसत्कार्यप्रवृत्तिवदिति । आह च-"सदसद-विसेसणाओ, भवहेउ जदिच्छिओवलम्भाओ । नाणफलाभा-वाओ, मिच्छादिट्ठिस्स अन्नाणं" ॥ १ ॥ इति । स्था० २ ठा० ४ उ० । ध० । आव० । "अज्ञानजमेतमप्युपरि स्थितिर्यस्य... [illegible] ...श्रुतमूढं" अज्ञानमेव ध्वान्तं यस्य (परिहस्य त्ति) इहा यत्र स तथा । ... [illegible] ... मोहसमूहो अज्ञानसमूहो यत्र स तथा तं, संसारमिति भावः । औ० । तत्र कुत्सार्थत्वात् कुत्सितं ज्ञानमज्ञानमिति । अनु० । ज्ञाना-वरणकर्मोदयजनिते, आचा० ४ अ० । ... [illegible] ..., दर्श० ।

मिथ्यात्वतिमिरोपप्लुतदृष्टेर्जीवस्य विपर्यस्ते बोधे, विशे० । उत्त० । अज्ञानमनवबोधः । उत्त० ३ अ० । मूढतायाम्, आतु० । ज्ञान-मात्रे मिथ्यादृष्टिकुतीर्थिकप्रणीतकुग्रन्थादिसंकलितशास्त्रावगाहना-त्मके, दर्श० । उत्त० । म० । संशयविपर्ययादिरूपे मिथ्याज्ञाने, द्वा० २१ द्वा० । जीवाजीवविवेकरहिते, अष्ट० ३२ अष्ट० । सद्बोधा-भावे, दर्श० । कुत्सितसंस्कारे, औ० । कुत्सितत्वं च मिथ्यात्व-संवलितत्वात् । उक्तं च-"अविसेसिया मइच्चिय, सम्मद्दिट्ठिस्स सा मइन्नाणं । मइअन्नाणं मिच्छा-दिट्ठिस्स सुयं पि एमेव" न० ८ श० २ उ० ।

तच्च अज्ञानं त्रिविधमिति उच्यते-

अण्णाणे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-देसऽण्णाणे, सव्वऽ-ण्णाणे, भावऽण्णाणे ।

(अज्ञानेत्यादि) ज्ञानं हि द्रव्यपर्यायविषयो बोधः, तन्निषेधोऽ-ज्ञानं, तत्र विवक्षितद्रव्यं देशतो यदा न जानाति तदा देशाज्ञा-नम्, अवाचप्रवेशत्वात् । यदा च सर्वतो न जानाति तदा सर्वा-ज्ञानम् । यदा विवक्षितपर्यायतो न जानाति तदा भावाज्ञान-मिति । अथवा देशादिज्ञानमपि मिथ्यात्वविशिष्टमज्ञानमेवेति । ... [illegible] ... न दोष इति । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

अण्णाणे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? । गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-मइअण्णाणे सुयअण्णाणे विभंगनाणे । से किं तं मइअण्णाणे ? । मइअण्णाणे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-उग्गहे० जाव धारणा । से किं तं उग्गहे ? । उग्गहे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-अत्थोग्गहे य वंजणोग्गहे य । एवं जहेव आभिणिबोहियनाणं तहेव, नवरं एगट्ठियवज्जं जाव नोइंदियधारणा, सेत्तं धारणा । सेत्तं मइअण्णाणे । से किं तं सुयअण्णाणे ? । सुयअण्णाणे जं इमं अण्णाणिएहिं मिच्छादि-ट्ठिएहिं जहा नंदीए जाव चत्तारि य वेदा संगोवंगा । सेत्तं सुयअण्णाणे । से किं तं विभंगनाणे ? । विभंगनाणे अणे-गविहे पण्णत्ते । तं जहा-गामसंठिए नगरसंठिए जाव सन्नि-वेससंठिए दीवसंठिए समुद्दसंठिए वाससंठिए वासहरसं-ठिए पव्वयसंठिए रुक्खसंठिए थूभसंठिए हयसंठिए गय-संठिए नरसंठिए किन्नरसंठिए किंपुरिससंठिए महोरग-संठिए गंधव्वसंठिए उसभसंठिए पसुपसयविहगवानर-णाणासंठाणसंठिए पण्णत्ते । भ० ८ श० २ उ० ।

... [illegible] ... सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । ... [illegible] ...

... [illegible] ...

ति दर्शनं हि०

तद्भार्या पृष्ठवान्-क्व ते पतिर्गतः? । सा प्राह-परदेशे धनार्जनार्थं गतोऽस्ति । ततः स्वामी तद्गृहस्तम्भमूलस्थितं निधिं पश्यन् स्तम्भाभिमुखं हस्तं कृत्वा "इदमीदृशम्, स च तादृशः" इति भणित्वा गतः । ततः कालान्तरे गृहागतस्य विप्रस्य तद्भार्यया स्थूलभद्रस्वामिवचो ज्ञापितम् । तेन पण्डितेन ज्ञातम्-अत्रावश्यं किञ्चिदस्ति । ततः खानितः स्तम्भः, लब्धो निधिः । एवं स्थूलभद्रेण ज्ञानपरीषहो न सोढः । शेषसाधुभिरपीदृशं न कार्यम् । उत्त० २ अ० । (विषयान्तरं 'परीसह' शब्दे वक्ष्यते) भारतकाव्यनाटकादिलौकिकश्रुतरूपे पापश्रुतप्रसङ्गे, स्था० ८ ठा० । भावशुद्धमतिसेवाविशेषे, व्य० । तत्त्वं च-

अन्नयरपमाएणं, असंपउत्तस्स नो पउत्तस्स ।
इरियाइसु भूयत्थे, अवट्टंते एयमण्णाणं ॥

पञ्चानां प्रमादानामन्यतरेणापि प्रमादेनासंप्रयुक्तस्याऽऽसेवीकृतस्यात एव ईर्यादिषु समितिषु भूतार्थे न तत्त्वतो वर्तमानस्य यद्व्यवनमेतदज्ञानम् । व्य० १० उ० । कुशास्त्रसंस्कारे च, औ० । निर्ज्ञाने (ज्ञानरहिते), त्रि० । भ० १ श० ६ उ० ।

अण्णाणओ-अज्ञानतस्-अव्य० । ज्ञानावरणोत्कटतयेत्यर्थे, दश० १ चू० ।

अण्णाणकिरिया-अज्ञानक्रिया-स्त्री० । ५ त० । अज्ञानात् क्रियमाणयोश्चेष्टाकर्मणोः, स्था० ३ ठा० ३ उ० । (अण्णाणकिरिया तिविहा 'किरिया' शब्दे वक्ष्यते)

अण्णाणणिव्वत्ति-अज्ञाननिर्वृत्ति-स्त्री० । अज्ञानस्य निर्वृत्तौ, भ० । "कइविहा णं भंते ! अण्णाणणिव्वत्ती पण्णत्ता ? । गोयमा ! तिविहा अण्णाणणिव्वत्ती पण्णत्ता । तं जहा-मइअण्णाणणिव्वत्ती, सुयअण्णाणणिव्वत्ती, विभंगणाणणिव्वत्ती । एवं जस्स जइ जाव वेमाणिया" । भ० १९ श० ८ उ० ।

अण्णाणतिग-अज्ञानत्रिक-न० । नञ्शब्दः कुत्सायां, मिथ्या-

अण्णाणया-अज्ञानता-स्त्री० । अज्ञानो निर्ज्ञानस्तस्य भावोऽज्ञानता । स्वरूपेणानुपलम्भे, भ० १ श० ६ उ० ।

अण्णाणलद्धि-अज्ञानलब्धि-स्त्री० । आत्मनोऽज्ञानस्य ज्ञानाऽऽवरणीयोदयतो लाभे, "अण्णाणलद्धी णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ? । गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-मइअण्णाणलद्धी, सुयअण्णाणलद्धी, विभंगणाणलद्धी" भ० ८ श० २ उ० ।

अण्णाणवाइ (ण्)-अज्ञानवादिन्-त्रि० । सति मत्यादिके हेयोपादेयप्रदर्शके ज्ञानपञ्चके अज्ञानमेव श्रेय इत्येवं वदति अज्ञानिके, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अण्णाणसत्थ-अज्ञानशास्त्र-न० । भारतकाव्यनाटकादौ लौकिकश्रुते, स्था० ९ ठा० ।

अण्णाणि (ण्)-अज्ञानिन्-त्रि० । न ज्ञानमज्ञानं, तद्विद्यते येषां तेऽज्ञानिनः । अज्ञानमेव श्रेय इति वदत्सु वादिभेदेषु, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । ज्ञाननिह्नववादिषु, "अण्णाणी अण्णाणं वि-णइत्ता वेणइयवादी" । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । न ज्ञानिनोऽज्ञानिनः । नञ्शब्दः कुत्सायाम् । मिथ्याज्ञानेषु, पं० व० १ द्वा० । "अण्णाणी कम्मं खवेति बहुयाहिं वासकोडीहिं, तण्णाणी तिहिं गुत्तो खवेइ ऊसासमित्तेण" उत्त० १ अ० । अण्णाणी किं काही, किंवा णाही छेयपावगं" इत्यादि । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

अण्णा(ण्णा)णिय-अज्ञानिन्-पुं० । न ज्ञानमज्ञानं तद्विद्यते येषां तेऽज्ञानिन । अज्ञानशब्दस्यो[illegible] वा [illegible] [illegible]मिति । प्राकृते स्वार्थिकः कः । सूत्र० १ श्रु० [illegible]

आज्ञानिक-पुं० । अज्ञानेन चरन्तीति आज्ञानिका[illegible] वा प्रयोजनं येषां ते आज्ञानिकाः । आव० १ [illegible] रहितेषु अज्ञानमेव श्रेय इत्येवं वादिषु, सूत्र० [illegible]

तन्मतं चेत्थमुपन्यस्यते [illegible]

यपरिज्ञानम्, उपायमन्तरेण न चोपेयस्य विशिष्टपरिज्ञानस्यावाप्तिरिति । न च ज्ञानं ज्ञेयस्य स्वरूपं परिच्छेत्तुमलम् । तथाहि-यत्किमप्युपलभ्यते, तस्यार्वाग्मध्यपरभागैर्भाव्यम् । तत्रार्वाग्भागस्य चोपलब्धेर्नेतरयोः, तेनैव व्यवहितत्वात् । अर्वाग्भागस्यापि भागत्रयकल्पनात् तत्सर्वारातीयभागपरिकल्पनया परमाणुपर्यवसानता, परमाणोश्च स्वभावविप्रकृष्टत्वादर्वाग्दर्शिनां नोपलब्धिरिति । तदेवं सर्वज्ञस्याभावादसर्वज्ञस्य च यथावस्थितवस्तुस्वरूपापरिच्छेदात् सर्ववादिनां च परस्परविरोधेन पदार्थस्वरूपाभ्युपगमात् यथोत्तरपरिज्ञानिनां प्रमादवतां बहुतरदोषसंभवादज्ञानमेव श्रेयः । तथाहि-यद्यज्ञानवान् कथञ्चित्पादेन शिरसि हन्यात्, तथापि चित्तशुद्धेर्न तथाविधदोषानुषङ्गः स्यादित्येवमज्ञानिन एवंवादिनः सन्तोऽसंबद्धा नचैवंविधां चित्तविप्लुतिं विनीता इति । तदेवंवादिनस्ते ह्यज्ञानिका अकोविदा अनिपुणाः सम्यक्परिज्ञानविकला इत्यवगन्तव्याः । तथाहि-यत्तैरभिहितम्-ज्ञानवादिनः परस्परविरुद्धार्थवादितया न यथार्थवादिन इति, तद्युक्तं असर्वज्ञप्रणीतागमाभ्युपगमवादिनामयथार्थवादित्वम् । ते ह्यभ्युपगमवादा एव यथार्थे प्रकल्प्यन्ते, सर्वज्ञप्रणीतागमाभ्युपगमवादिनां तु न कश्चित्परस्परतो विरोधः, सर्वज्ञस्याभ्युपगम्यत इति । तथाहि-प्रक्षीणाशेषाऽऽवरणतया रागद्वेषमोहानामनृतकारणानामभावात् तद्वाक्यमयथार्थमित्येवं तत्प्रणीतागमवतां न विरोधवादित्वमिति । ननु च स्यादेतत्, यदि सर्वज्ञः कश्चित्स्यात्, तत्रासौ संभवतीत्युक्तं प्राक् । तदयुक्तम्, अयुक्तं युक्तम् । तथाहि-यत्तावदुक्तम्-न चासौ विद्यमानोऽप्युपलक्ष्यतेऽर्वाग्दर्शिभिः तदयुक्तम् । यतो यद्यपि परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वात्सरागा वीतरागा इव चेष्टन्ते, वीतरागाः सरागा इव, इत्यतः प्रत्यक्षेणानुपलब्धिः, तथापि संभवानुमानस्य सद्भावात् तद्बाधकप्रमाणाभावाच्च तदस्तित्वमविरुद्धमेव । संभवानुमानं त्विदम्-व्याकरणादिना शास्त्राभ्यासेन संस्कृतमाध्याया प्रज्ञाया ज्ञानातिशयो दृश्यमानः प्रत्युपलभ्यः, तदत्र कश्चिदभ्यासान्मात्म्यतया सर्वज्ञोऽपि स्यादिति । न च तदभावसाधकं प्रमाणमस्ति । तथाहि-न तावदर्वाग्दर्शिभिः प्रत्यक्षेण सर्वज्ञाभावः साधयितुं शक्य । तस्य हि तज्ज्ञानाविषयत्वात् । तदन्यथानुपगमे च सर्वज्ञत्वाऽऽपत्तिरिति । नाप्यनुमानेन, तदव्यभिचारिलिङ्गाभावादिति । नाप्युपमानेन सर्वज्ञाभावः साध्यते, तस्य सादृश्यबलेन प्रवृत्तेः । न च सर्वज्ञाभावे साध्ये सादृश्यं साधकमस्ति, येनासौ निषिध्यतीति । नाप्यर्थापत्त्या, तस्याः प्रत्यक्षादिप्रमाणपूर्विकाया एव प्रवृत्तेः । प्रत्यक्षादीनां च तत्साधकत्वेनाप्रवर्तमानत्वात् तदवस्थाप्रवृत्तिः । नाप्यागमेन, तस्य सर्वज्ञसाधकत्वेनापि दर्शनात् । न प्रमाणपञ्चकाभावरूपेणाभावेन सर्वज्ञाभावः [illegible] । तथाहि-सर्वत्र सर्वदा न संभवन्ति, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ... [illegible] । तथाहि-[illegible]

पगमवादिनामेकवाक्यतया शरीरमात्रव्यापी संसार्यात्मा[illegible] तत्रैव तद्गुणोपलब्धेः । इति इतरेतराश्रयदोषश्चात्र नावतरत्येव यतोऽभ्यस्यमानायाः प्रज्ञाया ज्ञानातिशयः स्वात्मन्यपि दृष्टो, च दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति । यदप्यभिहितम्-तद्यथा न च ज्ञानं ज्ञेयस्य स्वरूपं परिच्छेत्तुमलम्, सर्वत्रार्वाग्भागेनैव व्यवधानात्सर्वाऽऽरातीयभागस्य च परमाणुरूपतयाऽतीन्द्रियत्वादित्येतदपि वाङ्मात्रमेव । यतः सर्वज्ञज्ञानस्य देशकालस्वभावव्यवहितानामपि ग्रहणान्नास्ति व्यवधानसंभवः । अर्वाग्दर्शिज्ञानस्याप्यवयवद्वारेणाऽवयविनि प्रवृत्तेर्नास्ति व्यवधानम् । न ह्यवयवी स्वावयवैर्व्यवधीयत इति युक्तिसंगतम् । अपि च-अज्ञानमेव श्रेय इत्यत्राऽज्ञानमिति किमयं पर्युदासः?, आहोस्वित्प्रसज्यप्रतिषेधः? । तत्र यदि ज्ञानादन्यदज्ञानमिति, तत्पर्युदासवृत्त्या ज्ञानान्तरमेव समाश्रितं स्यात्, नाज्ञानवाद इति । अथ ज्ञानं न भवतीत्यज्ञानं, तुच्छो नीरूपो ज्ञानाभावः स च सर्वसामर्थ्यरहित इति कथं श्रेयानिति?। अपि च-अज्ञानं श्रेय इति प्रसज्यप्रतिषेधे न ज्ञानं श्रेयो भवतीति क्रियाप्रतिषेध एव कृतः स्यात् । एतच्चाप्यनुपाश्रितम्, यतः सम्यग्ज्ञानादर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोऽर्थक्रियार्थी न विसंवाद्यत इति । किञ्च-अज्ञानप्रमादवद्भिः पादेन शिरःस्पर्शनेऽपि स्वल्पदोषवत्तां परिज्ञायैवाज्ञानं श्रेय इत्यभ्युपगम्यते । एवं च सति प्रत्यक्ष एव स्यादभ्युपगमविरोधो नानुमानं प्रमाणमिति । तथा तदेवं सर्वथा तेऽज्ञानवादिनोऽकोविदा धर्मोपदेशं प्रत्यनिपुणाः, स्वतोऽकोविदेभ्य एव स्वशिष्येभ्यः, आहुः कथितवन्तः । छान्दसत्वाद्वैकवचनं सूत्रे कृतमिति । शाक्या अपि प्रायशोऽज्ञानिकाः अविज्ञोपचितं कर्म बन्धं न यातीत्येवं यतस्तेऽभ्युपगमयन्ति । तथा ये च बाह्मणसमुदायोऽस्पष्टविज्ञाना अबन्धका इत्येवमभ्युपगमं कुर्वन्ति, ते सर्वेऽप्यकोविदा द्रष्टव्या इति । तथाऽज्ञानपक्षसमाश्रयणाच्चाननुविचिन्त्य भाषणान्मृषा ते सदा वदन्ति, अनुविचिन्त्य भाषणं यतो ज्ञाने सति भवति, तत्पूर्वकत्वाच्च सत्यवादित्वस्य ज्ञानानभ्युपगमादनुविचिन्त्य भाषणाभावः, तदभावाच्च तेषां मृषावादित्वमिति ॥ २ ॥ सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । इति दर्शितं संक्षेपमज्ञानिनां मतम् । अथ कियन्तस्ते इति दर्शयति निर्युक्तिकृत्-

अण्णाणिय सत्तट्ठी

साम्प्रतमज्ञानिकानामज्ञानादेव विपरीतकार्यसिद्धिमिच्छतां ज्ञानं तु सदपि निष्फलम्, बहुदोषवच्चेत्येवमभ्युपगमवतां सप्तषष्टिर्भेदा यथा भवन्त्यस्याः-जीवाजीवादीन् नव पदार्थान् परिपाट्या व्यवस्थाप्य तदधोऽमी सप्त भङ्गकाः संस्थाप्याः-सत्, असत्, सदसत्, अवक्तव्यम्, सदवक्तव्यम्, असदवक्तव्यम्, सदसदवक्तव्यमिति । चालनाप्रकारश्चायम्-सन् जीवः, को वेत्ति?, किं वा तेन ज्ञातेन? ॥१॥ असन् जीवः, को वेत्ति?, किं वा तेन ज्ञातेन? ॥२॥ सदसन् जीवः, को वेत्ति?, किं वा तेन ज्ञातेन? ॥३॥ अवक्तव्यो जीवः, को वेत्ति?, किं वा तेन ज्ञातेन? ॥४॥ सदवक्तव्यो जीवः, को वेत्ति?, किं वा तेन ज्ञातेन? ॥५॥ असदवक्तव्यो जीवः, को वेत्ति, किं वा तेन ज्ञातेन? ॥६॥ सदसदवक्तव्यो जीवः, को वेत्ति?, किं वा तेन ज्ञातेन? ॥७॥ एवमजीवादिष्वपि सप्त भङ्गकाः । सर्वेऽपि त्रिषष्टिरिति । तथाऽपरेऽमी चत्वारो भङ्गकाः तद्यथा-सती भावोत्पत्तिः, को वेत्ति, किं वा तया ज्ञातया? ॥१॥ असती भावोत्पत्तिः, को वेत्ति?, किं वा तया ज्ञातया? ॥२॥ सदसती भावोत्पत्तिः, को वेत्ति, किं वा तया ज्ञातया? ॥३॥ अवक्तव्या

भावोत्पत्तिः, को वेत्ति ?, किं वा तया ज्ञातया ? ।४। सर्वेऽपि सप्तपदार्थेरन्त्युत्तरं भङ्गकत्रयमुत्पन्नभावावयवापेक्षमिह भावोत्पत्तौ न संभवतीति नोपन्यस्तम् । उक्तं च-"अज्ञानिकवादिमतं , नव जीवादीन् सदादिसप्तविधान् ॥ भावोत्पत्तिः सदसद्, द्वेधा वाच्या च को वेत्ति ?" ॥१॥ सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । एतच्चतुष्टयप्रक्षेपात्सप्तषष्टिर्भवति । तत्र सन् जीव इति को वेत्तीत्यस्यायमर्थः-न कस्यचिद्विशिष्टं ज्ञानमस्ति, योऽतीन्द्रियान् जीवादीनवभोत्स्यते । न च तैर्ज्ञातैः किञ्चित्फलमस्ति । तथाहि-यदि नित्यः सर्वगतोऽमूर्त्तो ज्ञानादिगुणोपेतः, एतद्गुणव्यतिरिक्तो वा, ततः कतमस्य पुरुषार्थस्य सिद्धिरिति , तस्मादज्ञानमेव श्रेय इति । सू० १ श्रु० १ अ० २ उ० । प्रव० । आचा० । स्था० । आव० । नं० ।

साम्प्रतमज्ञानिमतं दूषयितुं दृष्टान्तमाह—

जविणो मिगा जहा संता, परित्ताणेण वज्जिआ ।
असंकियाइं संकंति, संकिआइं असंकिणो ॥ ६ ॥
परियाणिआणि संकंता, पासिताणि असंकिणो ।
अएणाणभयसंविग्गा, संपलिंति तहिं तहिं ॥७॥
अह तं पवेज्ज वज्झं, अहे वज्झस्स वा वए ।
मुच्चेज्ज पयपासाओ, तं तु मंदे ण देहई ॥ ८ ॥

(जविणो इत्यादि) यथा जविनो वेगवन्तः सन्तो मृगा आरण्याः पशवः, परि समन्तात् त्रायते रक्षतीति परित्राणं, तेन वर्जिता रहिताः, परित्राणविकला इत्यर्थः । यदि वा परित्राणं वागुरादिबन्धनं, तेन तर्जिता भयं ग्रहीताः सन्तो भयोद्भ्रान्तलोचनाः समाकुलीभूतान्तःकरणाः सम्यक् विवेकविकलाः, अशङ्कनीयानि कूटपाशादिरहितानि स्थानान्यशङ्कार्हाणि, तान्येव शङ्कन्ते, अनर्थोत्पादकत्वेन गृह्णन्ति । यानि पुनः शङ्काऽर्हाणि, शङ्का संजाता येषु योग्यत्वात्तानि शङ्कितानि, शङ्कायोग्यानि वागुरादीनि, तान्यशङ्किनस्तेषु शङ्कामकुर्वाणास्तत्र तत्र पाशादिके सपर्ययन्त इत्युत्तरेण संबन्धः ॥ ६ ॥

पुनरप्येतदेवाऽतिमोहाविष्करणायाह- [परियाणीत्यादि] परित्रायते इति परित्राणं तज्जालं येषु तानि, यथा परित्राणयुक्तान्येव शङ्कमाना अतिमूढत्वाद्विपर्यस्तबुद्धयस्तातयेपि भयमुत्प्रेक्षमाणाः, पाशितानि पाशोपेतान्यनर्थोत्पादकानि, अशङ्किनः, तेषु शङ्कामकुर्वाणाः सन्तोऽज्ञानेन भयेन च [संविग्गं ति] सम्यक् व्याप्ता वशीभूताः शङ्कनीयमशङ्कनीयं वा तत्राऽपरित्राणोपेतं, पाशावनर्थोपेतं वा, सम्यक्विवेकेनाऽजानानाः, तत्र तत्राऽनर्थबहुले पाशवागुरादिके बन्धने, संपर्ययन्ते समेकीभावेन, परि समन्तात्, अयन्ते यान्ति वा, गच्छन्तीत्युक्तं भवति । तदेवं दृष्टान्तं प्रसाध्य नियतिवादाद्येकान्ताऽज्ञानवादिनो दार्ष्टान्तिकत्वेनाऽऽयोज्याः। यतस्तेऽप्येकान्तवादिनोऽज्ञानकारणभूतानेकान्तवादवर्जिताः सर्वदोषविनिर्मुक्तं कालेश्वरादिकारणवादाभ्युपगमेनाऽनाशङ्कनीयमनेकान्तवादमाशङ्कन्ते । शङ्कनीयं च नियत्यज्ञानवादमेकान्तं न शङ्कन्ते । ते एवंभूताः परित्राणार्हेऽप्यनेकान्तवादे शङ्कां कुर्वाणा युक्त्या घटमानकमनर्थबहुलमेकान्तवादमशङ्कनीयत्वेन गृह्णन्तोऽज्ञानावृतास्तेषु तेषु कर्मबन्धस्थानेषु संपर्ययन्त इति ॥ ७ ॥

पूर्वदोषेरतुष्यन्नाचार्यो दोषान्तरदित्सया पुनरपि प्राक्तनदृष्टान्तमधिकृत्याह-[अह तं पवेज्ज इत्यादि] अथानन्तरमसौ मृगस्तत् [वज्झमिति] बद्धं बन्धनाकारेण व्यवस्थितम् वागुरादिकं वा बन्धनं, बन्धकत्वाद्बन्धमित्युच्यते । तदेवंभूतं कूटपाशादिकं बन्धनं यद्यसावुपरि प्लवेत्-तदधस्तादतिक्रम्योपरि गच्छेत , तस्य वध्यादेर्बन्धनस्याधो गच्छेत्तत एवं क्रियमाणेऽसौ मृगः , पदे पाशः पदपाशो वागुरादिबन्धनं, तस्मान्मुच्यते । यदि वा पदं कूटं, पाशः प्रतीतः, ताभ्यां मुच्यते । क्वचित् पदपाशादीति पठ्यते । आदिग्रहणाद्बन्धनाडनमारणादिकाः क्रिया गृह्यन्ते । एवं सन्तमपि तमनर्थोत्पादकं परिहरणोपायं मन्दो जडोऽज्ञानावृतो न देहतीति न पश्यतीति ॥

कूटपाशादिकं चापश्यन् यामवस्थामाप्नोति, तां दर्शयितुमाह-

अहिअप्पाऽहियपएणाणे, विसमंतेणुवागते ।
स बद्धे पयपासेणं, तत्थ घायं नियच्छइ ॥ ६ ॥
एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिआ ।
असंकिआइं संकंति, संकिआइं असंकिणो ॥ १० ॥
धम्मपएणवणा जा सा, तं तु संकंति मूढगा ।
आरंभाइं न संकंति, अविअत्ता अकोविआ ॥ ११ ॥
सव्वप्पगं विउक्कस्सं, सव्वं णूमं विहूणिआ ।
अप्पत्तिअं अकम्मंसे , एयमट्ठं मिगे चुए ॥ १२ ॥

(अहीत्यादि) स मृगोऽहितात्मा । तथाऽहितं प्रज्ञानं बोधो यस्य सोऽहितप्रज्ञानः । स चाहितप्रज्ञानः सन् विषमान्तेन कूटपाशादियुक्तप्रदेशेनोपागतः । यदि वा विषमान्ते कूटपाशादिके आत्मानमनुपातयेत् । तत्र चासौ पतितो बद्धश्च तेन कूटादिना पदपाशादोनर्थबहुलामवस्थाविशेषान् प्राप्तः, तत्र बन्धने, घातं विनाशं, नियच्छति प्राप्नोतीति ॥ ६ ॥

एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य सूत्रकार एवं दार्ष्टान्तिकमज्ञानविपाकं दर्शयितुमाह- (एवं तु इत्यादि) एवमिति यथा मृगा अज्ञानावृता अनर्थमनेकशः प्राप्नुवन्ति । तुरवधारणे । एवमेव , श्रमणाः केचित् , पाखण्डविशेषाश्रिताः । एके, न सर्वे । किं भूतास्ते इति दर्शयति-मिथ्या विपरीता दृष्टिर्येषामज्ञानवादिनां , *नियतिवादिनां वा ते मिथ्यादृष्टयः* । तथा *अनार्याः* आराज्जाताः सर्वहेयधर्मेभ्य इति आर्याः , न आर्या अनार्या अज्ञानावृतत्वादसदनुष्ठायिन इति यावत् । अज्ञानावृतत्वं च दर्शयति-अशङ्कितान्यशङ्कनीयानि सुधर्मानुष्ठानादीनि , शङ्कमानाः , तथा शङ्कनीयान्यपायबहुलान्येकान्तपक्षसमाश्रयणानि, अशङ्किनो मृगा इव मूढचेतसस्तत्तदारभन्ते , यदनर्थाय संपद्यन्त इति ॥ १० ॥

शङ्कनीयाशङ्कनीयविपर्यासमाह-(धम्मपएणवणेत्यादि) धर्मस्य क्षान्त्यादिदशलक्षणोपेतस्य या प्रज्ञापना प्ररूपणा । तं त्विति । तामेव शङ्कन्ते । असद्धर्मप्ररूपणेयमित्येवमध्यवस्यन्ति । ये पुनः पापोपादानभूताः समारम्भास्तानाशङ्कन्ते किमिति । यतोऽव्यक्ता मुग्धाः सहजसद्विवेकविकलाः , तथा अकोविदा अपण्डिताः सच्छास्त्रावबोधरहिता इति ॥ ११ ॥

ते च अज्ञानावृता यन्नाप्नुवन्ति, तद्दर्शनायाह—(सव्वप्पगमित्यादि) सर्वत्राप्यात्मा यस्यासौ सर्वात्मको लोभः, तं विधूयेति संबन्धः । तथा विविध उत्कर्षो गर्वो व्युत्कर्षो मान इत्यर्थः । तथा (णूमं ति) माया, तां विधूय । तथा (अप्पत्तिअं ति) क्रोधं विधूय । कषायविधूनने च मोहनीयविधूननमावेदितं भवति ।

तदपगमाच्च शेषकर्माभावः प्रतिपादितो भवतीत्याह-[अकर्मांश इति] न विद्यते कर्मांशोऽस्येत्यकर्मांशः । स च कर्मांशो विशिष्टज्ञानाद् भवति, नाज्ञानादित्येव दर्शयति । एतमर्थं कर्माभावलक्षणं, मृगः अज्ञानी (चुए त्ति) त्यजेत् । विभक्तिविपरिणामेन वा अस्मादेवंभूतादर्थात् च्यवेद् भ्रश्येदिति ॥ १२ ॥

भूयोऽप्यज्ञानवादिनां दोषाभिधित्सयाऽऽह-

जे एयं नाभिजाणंति, मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
मिगा वा पासबद्धा ते, घायमेसंतिऽणंतसो ॥ १३ ॥
माहणा समणा एगे, सव्वे नाणं सयं वए ।
सव्वलोगे वि जे पाणा, न ते जाणंति किंचण ॥ १४ ॥
मिलक्खू अमिलक्खुस्स, जहा वुत्ताऽणुभासए ।
ण हेउं से विजाणाइ, भासिअं अणुभासए ॥ १५ ॥
एवमन्नाणिया नाणं, वयंता वि सयं सयं ।
निच्छयत्थं न जाणंति, मिलक्खु व्व अबोहिया ॥ १६ ॥

(जे एयमित्यादि) ये अज्ञानपक्षं समाश्रिता एनं कर्मक्षपणोपायं न जानन्ति । आत्मीयाऽसद्ग्राहाऽऽग्रहग्रस्ता मिथ्यादृष्टयोऽनार्याश्च मृगा इव पाशबद्धा घातं विनाशमेष्यन्ति यास्यन्त्यन्वेषयन्ति वा, तदेकान्तक्रियाऽनुष्ठानात् । अनन्तशो विच्छेदेनेत्यज्ञानवादिनो गताः ॥ १३ ॥ इदानीमज्ञानवादिनां दूषणोद्भिभावयिषया स्ववाग्यन्त्रिता वादिनो न चलिष्यन्तीति तन्मताविष्करणायाऽऽह-(माहणा इत्यादि) एके केचन, ब्राह्मणविशेषाः, तथा श्रमणाः परिव्राजकविशेषाः, सर्वेऽप्येते, ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम् । हेयोपादेयार्थाविर्भावकं परस्परविरोधेन स्वयमपि, स्वकमात्मीयं, वदन्ति । न च तानि ज्ञानानि परस्परविरोधेन प्रवृत्तत्वात्सत्यानि । तस्मादज्ञानमेव श्रेयः, किं ज्ञानपरिकल्पनया इत्येतद्दर्शयति-सर्वस्मिन्नपि लोके, ये प्राणाः प्राणिनः, न ते किंचनापि सम्यगुपेतवाच्यं जानन्तीति विदन्तीति ॥ १४ ॥ यद्यपि तेषां गुरुपारम्पर्येण ज्ञानमागतं, तदपि छिन्नमूलत्वादविकल्पं न भवतीति दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह-(मिलक्खू अमिलक्खुस्सेत्यादि) यथा म्लेच्छ आर्यभाषाऽनभिज्ञः, [illegible] म्लेच्छभाषाऽनभिज्ञस्य, यदभिहितं तदनुवादेनानुवदति, केवलं न सम्यक् तदभिप्रायं वेत्ति यथा [illegible] भाषितमिति । न च हेतुं निमित्तं, [illegible] जानाति, केवलं परमार्थशून्यं [illegible] इति ॥ १५ ॥ एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकं दर्शयितुमाह-(एवमित्यादि) यथा म्लेच्छः, अम्लेच्छस्य [illegible] केवलं तद्भाषितमनुभाषते, तथा अज्ञानिकाः [illegible] श्रमणा ब्राह्मणा यद्यपि स्वीयं स्वीयं ज्ञानं [illegible] निश्चयार्थं न जानन्ति । [illegible] तीर्थंकर [illegible] निश्चयं तदुपदेशं [illegible] सर्वज्ञ [illegible] "[illegible]" न्यायात् । तथाचोक्तम्-" [illegible] सुहृन्मुनिः । [illegible] " ॥ १६ ॥ एवं परचेतोवृत्तीनां [illegible] यथाविध[illegible] । यथाविधा [illegible] इति । एवं [illegible] । तथाहि-योऽज्ञान[illegible] [illegible] तस्य महानवद्यो भवति । य-

[illegible]स्यनाभोगेन स्पृशति तस्मै न कश्चिद्[illegible]
प्रधानमावमनुभवति, न तु ज्ञानमिति ॥ [illegible]

एवमज्ञानवादिमतमनूद्येदानीं तद्[illegible]

अन्नाणियाणं वीमंसा, नाणे ण वि[illegible]
अप्पणो य परं नालं, कुतो अन्नाणुम[illegible]
वणे मूढे जहा जंतू, मूढे णेयाणुगा[illegible]
दो वि एए अकोविया, तिव्वं सोयं [illegible]
अंधो अंधं पहं णिंतो, दूरमद्धाणु ग[illegible]
आवज्जे उप्पहं जंतू, अदुवा पंथाणुग[illegible]
एवमेगे णियायट्ठी, धम्ममाराहगा व[illegible]
अदुवा अहम्ममावज्जे, ण ते सव्वज्ज[illegible]

(अन्नाणियाणमित्यादि) न ज्ञानमज्ञानं,[illegible]
निनः । अज्ञानशब्दस्योत्तरपदत्वाद् वा म[illegible]
खरवद्दरण्यमिति । यथा तेषामज्ञानिनामज्ञ[illegible]
वंशादिनां योऽयं विमर्शः पर्यालोचनात्म[illegible]
मातुं परिच्छेत्तुमिच्छा सा, अज्ञानेऽज्ञानवि[illegible]
न निश्चयेन यच्छति नावतरति, न युज्[illegible]
तथाहि—येवंभूता मीमांसा, विमर्शो वा, [illegible]
मुनाऽसत्यमिति ? । यथा अज्ञानमेव श्रेयः[illegible]
नातिशयस्तथा तथा च दोषातिरेक [illegible]
विमर्शस्तेषां न युज्यते । एवंभूतस्य पर्याल[illegible]
स्यादिति । अपि च-तेऽज्ञानवादिन आत्मनो[illegible]
नवादमिति, शासितुमुपदेष्टुं, नालं न समर्था[illegible]
माश्रयणेनाऽज्ञत्वादिति, कुतः पुनस्ते स्वय[illegible]
शिष्यत्वेनोपगतानामज्ञानवादमुपदेष्टुमलं [illegible]
यदप्युक्तम्-छिन्नमूलत्वात् म्लेच्छानुभाषण[illegible]
कम् । तदप्ययुक्तम् । यतोऽनुभाषणमपि न ज्ञा[illegible]
तथा यदप्युक्तम्-परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्व[illegible]
ति । तदप्यसत् । यतो भवतैवाज्ञानमेव श्रेय [illegible]
नाभ्युपगमेन परचेतोवृत्तिज्ञानस्याभ्युपगमः [illegible]
न्यैरप्यभ्यधायि—"आकारैरिङ्गितैर्गत्या, चे[illegible]
नेत्रवक्त्रविकारैश्च, गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः" ॥ [illegible]
पश्चिनोऽज्ञानिन आत्मनः परेषां च शास[illegible]
न समर्थास्तथा दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमा[illegible]
दि) । वनेऽटव्यां, यथा कश्चिन्मूढो जन्तुः [illegible]
कर्तुमसमर्थः, स एवंभूतो यदा परं मूढमे[illegible]
तदा द्वावप्यकोविदौ सम्यग्ज्ञाननिपुणौ [illegible]
स्रोतो गहनं, शोकं वा, नियच्छतो निश्चयेन[illegible]
अज्ञानावृतत्वात् । एवं तेऽप्यज्ञानवादिन आ[illegible]
रेण निर्धारयन्तः परकीयं वाऽश्रीनन[illegible]
मूढाः सन्तः परानपि मोहयन्तीति ॥ १८ [illegible]
दृष्टान्तान्तरमाह—(अंधो अंधमित्यादि
यथापरमन्धं पन्थानं नयन्, दूरमध्वानं
तरं गच्छति, तथोत्पथ[illegible]
न्थानमनुगच्छेत् [illegible]
दृष्टान्तं प्रसाध्य [illegible]
दि त्ति) । एवमिति
याथार्थ्येन आर्ज[illegible]

धर्मो वा, तदर्थिनस्ते किल वयं सम्यगाराधका इत्येवं संश्रय प्रव्रज्यायामुत्थिताः सन्तः पृथिव्यम्बुवनस्पत्यादिकायोपमर्देन । पचनपाचनादिक्रियासु प्रवृत्ताः सन्तस्तत्तत् स्वयमनुतिष्ठन्ति, अन्येषां चोपदिशन्ति, येनाभिप्रेतावाप्तिं मोक्षं संभ्रंशयन्ति । अथवा तावन्मोक्षाभावस्तमेवं प्रवर्तमाना अधर्मं पापमापधेरन् ।

पुनरपि तद्दूषणाभिधित्सयाऽऽह–

एवमेगे वियक्काहिं, नो अन्नं पज्जुवासिया ।
अप्पणो य वियक्काहिं, अयमंजू हि दुम्मई ॥ २१ ॥
एवं तक्काइ साहिंता, धम्माधम्मे अकोविया ।
दुक्खं ते नाइतुट्टंति, सउणी पंजरं जहा ॥ २२ ॥
सयं सयं पसंसंता, गरहंता परं वयं ।
जे उ तत्थ विउस्संति, संसारं ते विउस्सिया ॥ २३ ॥

(एवमित्यादि) एवमनन्तरोक्तया नीत्या एके केचनाऽज्ञानिका वितर्काभिर्मीमांसाभिः स्वोत्प्रेक्षिताभिरसत्कल्पनाभिः, परमन्यमार्हतादिकं ज्ञानवादिनं न पर्युपासते न सेवन्ते । स्वावलेपग्रहग्रस्ता वयमेव तत्त्वज्ञानाभिज्ञानपराः केचिदित्येवं नान्यं पर्युपासते इति । तथाऽऽत्मीयैर्वितर्कैरेवमभ्युपगतवन्तो यथाऽयमेवास्मदीयोऽज्ञानमेव श्रेय इत्येवमात्मको मार्गः । (अंजू त्ति) निर्दोषत्वाद् व्यक्तः स्पष्टः परैस्तिरस्कर्तुमशक्यः; ऋजुर्वा प्रगुणोऽकुटिलः, यथावस्थितार्थाभिधायित्वात् । किमिति एवमभिदधति ?–इत्येतदाह । यस्मात्ते दुर्मतयो विपर्यस्तबुद्धय इत्यर्थः ॥ २१ ॥

सांप्रतमज्ञानवादिनां स्पष्टमेवाऽनर्थाभिधित्सयाऽऽह–(एवं तक्काइ इत्यादि) एवं पूर्वोक्तन्यायेन तर्कया स्वकीयविकल्पनया साधयन्तः प्रतिपादयन्तो धर्मे क्षान्त्यादिकेऽधर्मे च जीवोपमर्दापादिते पापेऽकोविदा अनिपुणा दुःखमसातोदयलक्षणं तद्धेतुं वा, मिथ्यात्वाद्युपचितकर्मबन्धनं नातित्रोटयन्ति, अतिशयेनैतदद्यवच्छिन्नम् । तथा ते न त्रोटयन्त्यपनयन्तीति । अत्र दृष्टान्तमाह–यथा पञ्जरस्थः शकुनिः पञ्जरं त्रोटयितुं पञ्जरबन्धनादात्मानं मोचयितुं नालम्, एवमसावपि संसारपञ्जरादात्मानं मोचयितुं नालमिति ॥ २२ ॥

अधुना सामान्येनैकान्तवादिमतदूषणार्थमाह–(सयं सयमित्यादि) स्वकं स्वकमात्मीयं च दर्शनमभ्युपगतं प्रशंसन्तो वर्णयन्तः समर्थयन्तो वा, तथा गर्हमाणा निन्दन्तः परकीयां वाचम् । तथाहि–सांख्याः सर्वस्याविर्भावतिरोभाववादिनः सर्वं वस्तु क्षणिकं निरन्वयं निरीश्वरं चेत्यादिवादिनो बौद्धान् दूषयन्ति । तेऽपि नित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरहात् सांख्यान् । एवमन्येऽपि द्रष्टव्या इति । तदेवं य एकान्तवादिनः । गुरवधारणे निश्चयार्थम् । तत्रैव तेष्वेवाऽऽत्मीयात्मीयेषु दर्शनेषु प्रशंसां कुर्वाणाः परवाचं च विगर्हमाणा विद्वस्यन्ति विद्वांस इवाऽऽचरन्ति । तेषु वा विशेषेणोशन्ति स्वशास्त्रविषये विशिष्टं युक्तिव्रातं वदन्ति । ते चैव वादिनः संसारं चतुर्गतिभेदेन संसृतिरूपं विविधमनेकप्रकारमुत्प्राबल्येन श्रिताः संबद्धाः तत्र वा संसारे उषिताः संसारान्तर्वर्तिनः सर्वदा भवन्तीत्यर्थः ॥ २३ ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ॥

अएणाणियवाइ (ण्)–अज्ञानिकवादिन्–पुं० । अज्ञानमभ्युपगमद्वारेण येषामस्ति तेऽज्ञानिकास्त एव वादिनोऽज्ञानिकवादिनः । अज्ञानमेव श्रेय इत्येवं प्रतिज्ञेषु, स्था० ४ ठा० ४ उ० । सूत्र० । १५५

अएणात (य)–अज्ञात–त्रि० । अनधिगते सम्यगनवधारिते, ध० ३ अधि० । अनुमानेनाऽविषयीकृते, । प्र० ३ श० ६ उ० । स्वयं स्वजनादिसंबन्धाऽकथनेन गृहस्थैरपरिज्ञातस्वभावादिभावे भिक्षौ, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० । यत्र ग्रामादौ प्रतिमा प्रतिपन्ना, तत्राऽविदिते, प्रव० ६७ द्वा० । जातिकुलसम्बन्ध्यादिनाऽपरीक्षिते, उत्त० २ अ० । राजादिप्रव्रजितत्वेनाविदितस्य भैक्ष्ये, पञ्चा० १७ विव० । "अणाय णाम जहा, अचित्तकरो चित्तं काऊण ण जाणति" अज्ञत्वात् अल्पविज्ञानत्वादित्यर्थः । नि० चू० १५ उ० ।

अणात (य) उञ्छ–अज्ञातोञ्छ–न० । विशुद्धोपकरणग्रहणे, दश० २ चू० । परिचयाकरणे, दश० ९ अ० ३ उ० ।

अएणाओंछं दुविहं, दव्वे भावे य होइ नायव्वं ।
दव्वुंछे तावसाइं, भावम्मि मुणेयव्वं ॥

अज्ञातोञ्छं द्विविधम् । तद्यथा–द्रव्ये भावे च । तत्र द्रव्योञ्छमनेकविधं लोकमूर्त्तीणां तापसानां ज्ञातव्यम् ।

तदेवानेकविधं द्रव्योञ्छमाह–

उक्खल खलए दव्वी, दंडे संखासए य पोत्ती य ।
आमे पक्के य तहा, दव्वोंछे होइ निक्खेवो ॥

तापसा उञ्छवृत्तयः, उदूखले खण्डितेषु तन्दुलेषु ये परिशाटिताः शालितन्दुलादयस्तान् उच्चित्य रन्धयन्ति । (खलए त्ति) खले धान्ये मर्दिते संव्यूढे च यत् परिशाटितं तत् उच्चिन्वन्ति । (दव्वी त्ति) धान्यराशेर्यैकया दर्व्या उत्पाट्यते तद् गृह्णन्ति । एवमन्यत्रापि प्रतिदिवसं (दंडे त्ति) स्वामिनमनुज्ञाप्य यद् धान्यराशेरेकया यष्ट्या उत्पाट्यते तद् गृह्णन्ति, एतदेवमन्यत्रापि प्रतिदिवसं (संखासए त्ति) अङ्गुष्ठप्रदेशिनीभ्यां यद् गृह्यते शाल्यादिकं तावन्मात्रं प्रतिगृहं गृह्णन्ति । यद्यपि बहुकं पश्यन्ति शाल्यादि, तथापि न मुष्टिं भृत्वा गृह्णन्ति [पोत्ती य त्ति] स्वामिनमनुज्ञाप्य धान्यराशौ पोतिं क्षिपन्ति, तत्र यत् पोत्यां लगति तद् गृह्णन्ति । एवमन्यत्रापि । तथा आमं, पक्वं वा चरकादयो भिक्षाप्रविष्टा मृगयन्ते, एष भवति द्रव्योञ्छे निक्षेपः ।

संप्रति भावोञ्छमाह–

पडिमापडिवन्न ए–स जयवमज्ज किर एत्तिया दत्ती ।
आदियति त्ति न नज्जइ, अन्नाओंछे तवो भणितो ॥

प्रतिमाप्रतिपन्न एष भगवान् अद्य किल एतावद् दत्तीरादत्ते इति न ज्ञायते, तेन तस्य भगवतस्तपोऽज्ञातोञ्छं भवति । व्य० १० उ० ।

अएणात (य) चरय–अज्ञातचरक–पुं० । अज्ञातोऽनुपदर्शितसौजन्यादिभावः संचरति यः स तथा । औ० । अज्ञातेषु वा गृहेषु चरतीति अज्ञात । अज्ञातगृहे वा चरामीत्यभिग्रहवति, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अएणातपिंड–अज्ञातपिण्ड–पुं० । अज्ञातश्चासौ पिण्डश्चाज्ञातपिण्डः । अन्तप्रान्तरूपे पिण्डे, अज्ञातेभ्यः पिण्डोऽज्ञातपिण्डः । अज्ञातेभ्यः पूर्वाऽपरसंस्तुतेभ्य उञ्छवृत्त्या लब्धे पिण्डे, "अन्नातपिंडेण हि यासएज्जा, णो पूयणं तवसा आवहेज्जा" सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अएणादत्तहर–अन्यादत्तहर–त्रि० । अन्यैरदत्तमाभिगृह्य हरत्या-

[illegible]

गृहीत्वाऽऽत्महृदयया, [illegible] सुतं जघान् ॥ १३ ॥
दृष्ट्वा [illegible], मुनेऽज्ञत्युज्झितस्ततः ।
पट्टराज्ञ्या सत्वे [illegible], साऽथ सत्वं गताऽऽगतैः ॥ १४ ॥
[illegible]
[illegible] राजा [illegible] ॥ १५ ॥
मृताऽमारि न साऽप्यऽभूत्, पश्चात्तापेन पीडितः ।
[illegible] मम ॥ १६ ॥
सा कौशाम्ब्यां नृपस्य [illegible] ।
[illegible] ॥ १७ ॥
[illegible]
[illegible] कौशाम्बी-[illegible] गिरौ ॥ १८ ॥
[illegible]
[illegible] कौशाम्बी, [illegible] ॥ १९ ॥
[illegible]
[illegible] ॥ २० ॥
[illegible]

[illegible]

अएणावएस–अन्यापदेश–पुं० । अन्यस्य परस्य संबन्धीदं गुरुग्वानादीत्यपदेशो व्याजोऽन्यापदेशः । परकीयमेतत्तेन साधुभ्यो न दीयते इति साधुसमक्षं भणने जानन्तु साधवो यद्यस्मै तद् भक्तादिकं नवेत्तदा कथमस्मत्यं न दद्यादिति साधुसंप्रत्ययार्थम् । अथ वा अस्माद्दानात् ममात्रादेः पुण्यमस्त्विति भणने च , एष अतिथिसंविभागस्य पञ्चमोऽतिचारः । ध० २ अधि० ।

अएिणय–अन्वित–त्रि० । युक्ते, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । स्थ० । उत्त० ।

अएिणयाउत्त–अन्निकापुत्र–पुं० । जयसिंहनाम्नो वणिक्पुत्रस्य जामेः अन्निकायाः पुत्रे , ती० । कतमः स महामुनिः ? । तदनु जगाद नैमित्तिकः -श्रूयतां,देव ! उत्तरमथुरायां वास्तव्यो देवदत्ताख्यो वणिक्पुत्रो दिग्यात्रार्थं दक्षिणमथुरामगमत् , तत्र तस्य जयसिंहनाम्ना वणिक्पुत्रेण सह सौहार्दमभवत् । अन्यदा तद्गृहे भुञ्जानोऽन्निकानाम्नीं तज्जामिं स्वाने भोजनं परिवेष्य वातव्यजनं कुर्वतीं रूपवतीमालोक्य तस्यामनुरक्तः । द्वितीयेऽह्नि यथावत् प्रोष्य जयसिंहो देवदत्तमनयाऽयाचदेपौ । तदनन्तरमवदत् -अहं तस्मा एव ददे स्वसारम्,यो मद्गृहाद् दूरे न भवति, प्रत्यहं तां यथा पश्यामि, यावदपत्यजन्म तावद्यदि मद्गृहे स्थाता, तस्मै जामिं दास्यामीति । देवदत्तोऽप्यामिरत्युक्त्वा शुभेऽह्नि तां पर्यणैषीत् । तया सह भोगान् भुञ्जंस्तस्यान्यदा पितृभ्यां लेखः प्रेषितः, वाचयतस्तस्य नेत्रे वर्षितुमश्रु प्रवृत्ते , ततस्तया हेतुः पृष्टे यावन्नार्पयत् तावत्तयाऽऽदाय लेखः स्वयं वाचितः । पत्रे चेदं लिखितमासीद् गुरुभ्याम्-"वद् वत्स ! आवां वृद्धौ निकटान्तौ, यदि नौ जीवन्तौ दिदृक्षसे तदा द्रागागन्तव्यमिति" तदनु सा पतिमाश्वास्य भ्रातरं कथमप्यनुज्ञाप्य पत्या सह प्रतस्थे चोत्तरमथुरां प्रति । सगर्भा च मार्गे सुतमसूत, नामास्य पितरौ करिष्यत इति देवदत्तोऽपि तमपराजितमन्निकापुत्र इत्युल्लापितवान् । क्रमेण देवदत्तोऽपि स्वपुरीं प्राप्य पितरौ प्रणम्य च शिशुं तयोरार्पयत् । संधीरणीयास्य तौ सन्तुष्टौ । तथा ऽन्निकापुत्र इत्येव प्रथे । असौ वर्धमानश्च प्राप्ततारुण्योऽपि भोगांस्तृणवद्विधूय जयसिंहाचार्यपार्श्वे दीक्षामग्रहीत् । गीतार्थीभूतः प्राप्ताचार्यकम । अन्यदा विहरन् सगच्छोऽन्निकः पुष्पभद्रपुरं गङ्गातटस्थं प्राप । तत्र पुष्पकेतुर्नृपः । तद्देवी पुष्पवती । तयोर्युग्मजौ पुष्पचूलः पुष्पचूला चेति पुत्रः पुत्री चाभूताम् । तौ च सह वर्द्धमानौ क्रीडन्तौ परस्परं प्रीतिमन्तौ जातौ । राजा दध्यौ-यद्येतौ वियुज्येते,तदा नूनं न जीवतः । अहमप्यनयोर्विरहं सोढुमनीशः,तस्मादनयोरेव विवाहं करोमीति ध्यात्वा मन्त्रिमित्रपौराणामपृच्छत्-भो ! यद्रत्नमन्तःपुर उत्पद्यते,तस्य कः प्रभुः ? । तैरभिहितम् -देव ! अन्तःपुरोत्पन्नस्य किं वाच्यम्, यद्देशमध्येऽपि रत्नमुत्पद्यते, तद्राजा यथेच्छं विनियुङ्क्ते, कोऽत्र बाधः ? । ततश्छलयित्वा स्वाभिप्रायं निवेद्य देव्यां वारयन्त्यामपि तयोरेव सम्बन्धमघटयन्नृप । तौ दम्पती भोगान् बुभुजाते । राज्ञी तु पत्युरपमानवैराग्याद् व्रतमादाय स्वर्गे देवोऽभूत् । अन्यदा पुष्पकेतौ पञ्चत्वं गते पुष्पचूलो राजाऽभूत् । स च देवः प्रयुक्तावधिस्तयोरकृत्यं ज्ञात्वा स्वप्नेषु पुष्पचूलायै नरकानदर्शयत्, तद्दुःखानि च । सा च प्रबुद्धा भीता च पत्युः सर्वमावेदयत् । सोऽपि शान्तिकर्माण्यकारयत् । स च देवः प्रतिनिशं नरकांस्तथैव अदर्शयत् । राजा तु सर्वानपि पाषण्डिन आकार्य पप्रच्छ-कीदृशा नरका स्युरिति ? । तैः कैश्चिद्गर्भवासम्, कैश्चिद् दारिद्र्यम्, अपरैः पारतन्त्र्यमिति नैरकाः प्रकाशिताः ।

राज्ञी तु मुखं मोटयित्वा तान् विसंवादिवचसो व्यसर्जयत् । अथ नृपोऽन्निकापुत्राचार्यमाकार्य तद्वार्तामप्राक्षीत् । तेन तु यथास्थान् देव्यपश्यत् नरकाः प्रोक्ता नरकाः । राज्ञी प्रोचे-भगवन् ! भवद्भिरपि किं स्वप्ने दृष्टाः ? । कथमन्यथेत्थं वित्थ । सूरिरवदद्-भद्रे ! जिनागमात्सर्वमवगम्यते । पुष्पचूलाऽप्यवदद्-भगवन् ! केन कर्मणा ते प्राप्यन्ते ? । गुरुर्गृणाद्-भद्रे ! महारम्भपरिग्रहैर्गुरुप्रत्यनीकतया पञ्चेन्द्रियवधान्मांसाहाराच्च जन्तवो नरकेषु पतन्ति । कालेन स सुरस्तस्यै स्वर्गानदर्शयत् स्वप्ने । राज्ञ्या तथैव पाखण्डिकाः पृष्टाः, ते यथेच्छं व्याचख्युः । राज्ञ्या विमृश्य नृपस्तमेवाचार्यं स्वर्गस्वरूपमप्राक्षीत् । तेनापि यथावत्प्रोदिते स्वर्गावाप्तिकारणमपृच्छद् राज्ञी । ततः सम्यक्त्वमूलो गृहियतिधर्मो वाचिकत्वद् मुनीशः । प्रतिबुद्धा च सा प्रव्रज्यार्थं नृपमनुज्ञापयति स्म । सोऽप्यूचे-यदि मद्गृह एव भिक्षामादत्से तदा प्रव्रज । तयोरीकृते प्रव्रजिता सा अन्निकापुत्राचार्यस्य शिष्या, गीतार्था च । अन्यदा च दुर्भिक्षं श्रुतोपयोगाद् ज्ञात्वा सूरिर्गच्छं देशान्तरे प्रैषीत् । स्वयं तु क्षीणजङ्घाबलत्वात्तत्रैवास्थात्, भक्तपानं च पुष्पचूलाऽन्तःपुरादानीय गुरवेऽदात् । क्रमात्तस्या गुरुशुश्रूषामनुतिष्ठन्त्याः शुभभावेन केवलज्ञानमुत्पेदे । तथाऽपि गुरवे भक्तपानाद्यानीय प्रयच्छति, यावद् गुरुणा न ज्ञायते केवलीति तावत्पूर्वप्रवृत्तं विनयं केवल्यपि नातिक्रामति । साऽपि यद् यद् गुरोरिष्टं, तत्तदेवानीय प्रयच्छति । अन्यदा तु वर्षत्यब्दे सा [illegible] गुरुणाऽभिहितम्-वत्से ! श्रुतज्ञाऽपि किमिति वृष्टौ त्वमानीतवत्यसि ? । साऽभाणीद्-भगवन् ! यत्राध्वनि अचित्तोऽप्कायः पतति तेनैवागताऽस्मि । गुरुः प्राह-छद्मस्थः कथं [illegible] ? । तयोक्तं-केवलं ममास्ति । ततः [illegible] केवल्याशातनेति [illegible] मिथ्यादुष्कृतम् [illegible] भविष्यति ? । केवल्यूचे-मा [illegible] गङ्गा उत्तरतां [illegible] केवलम् । ततो गङ्गामुत्तरीतुं [illegible] यत्र यत्र स [illegible] , ततस्तत्र [illegible] मुनी सर्वाऽपि नौर्मङ्क्तुं [illegible] । ततो [illegible] । पूर्वभवापमानितया [illegible] विहितः । [illegible] पीडां, [illegible] क्षमाशील [illegible] ध्यायन् [illegible] केवलज्ञानं [illegible] । सुरैः [illegible] महिमा कृतः । [illegible] प्रयाग इति तीर्थम् [illegible] । ती० ३१ कल्प० । आव० । ग० ।

अएणी–देशी–देवरजायायाम् , ननान्दरि , पितृष्वसरि च । दे० ना० १ वर्ग ।

अएणु–अज्ञ–त्रि० । [illegible] , " अज्ञास्तु त्रिकालं , [illegible] सूत्र० १ श्रु० १२ अ० [illegible] " । सू० १ अ० १६ विव० ।

अएणु(न्नु)ण्ण(न्न)–अन्योन्य–त्रि० । [illegible] पूर्वपदे सुश्च । "[illegible]" । ८ । ४ । १२ । [illegible] । प्रा० । [illegible] "अन्योन्यं" । [illegible]

अएगेसाण–अन्वेषण–न० , [illegible] , [illegible] अन्वेषणे च, आव० १ अ० [illegible]

मांसाशनसुरापान-जन्तुघातनचौरिकाः ।
पारदार्यादि कुर्वाण-मशुभं कुरुते वपुः ॥८॥
एतामाश्रवभावनामविरतं यो भावयेद्धावत-
स्तस्यानर्थपरम्परैकजनकाद् दुराऽश्रवौघात्मनः ।
व्यावृत्याऽखिलदुःखदावजलदे निःश्रेयसांभोवलो-
निर्माणप्रवणे शुभाश्रवगणे नित्यं रतिः पुष्यति ॥ १४ ॥
प्रव० ६७ द्वा० ।

अण्हाणग-अस्नानक-न० । शरीरमज्जनाकरणे, भ० १ श०१ उ० । औ० । स्था० ।

अत-अत्-पुं० । अत्ति भक्षते जगदिति सृष्टिसंहारकृत्त्वात्। अक्षपादसम्मते शिवे, उक्तं च-"अक्षपादमते देवः, सृष्टिसंहारकृच्छिवः । विभुर्नित्यैकसर्वज्ञो, नित्यबुद्धिसमाश्रयः" ॥ १ ॥ "धियो यो नः प्रचोदयाऽत" अतति सातत्येन गच्छति 'गत्यर्था ज्ञानार्थाः ' इति वचनात् अवगच्छतीति अत् सर्वज्ञः; धियो यो नः प्रचोदयाऽत्-इत्यत्र यौद्वैस्तथा व्याख्यानात् । जै० गा० । (परमेतादृक् शब्दः प्राकृते न प्रयोक्तव्यः)

अतंत-अतन्त्र-त्रि० । न तन्त्रं कारणं, तदधीना विवक्षा वा यस्य । कारणानधीने अनायत्ते, अने० वृत्ति० विव० ।

अतक्कणिज्ज-अतर्कणीय-त्रि० । अनभिलपणीये, वृ० १ उ० ।

अतक्कियोवट्ठिय-अतर्कितोपस्थित-न० । अनभिसन्धिपूर्विकायामर्थप्राप्तौ यदृच्छायाम्, यथा-काकतालीयम्, अजाकृपाणीयम्, आतुरभेपजीयम्, अन्धकण्टकीयमित्यादि । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

"अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं, चित्रं जनानां सुखदुःखजातकम्। काकस्य तालेन यथाऽभिघातो, न बुद्धिपूर्वोऽत्र वृथाऽभिमानः ॥ १ ॥" भ० १ श० १० उ० ।

अतक्कियोवहि-अतर्कितोपधि-पुं० । अतर्कणीये उपधौ, यमुपधिं न कोऽपि तर्कयति विशेषतः परिभावयति । व्य० ८ उ० ।

अतज्जाय-अतज्जात-त्रि० । अतुल्यजातीये, आव० ४ अ० ।

अतज्जाया-अतज्जाता-स्त्री० । अतुल्यजातीये क्रियमाणायां परिष्ठापनिकायाम्, आव ४ अ० ।

अतड-अतट-पुं० । अदीर्घे तटे, "अतडुपवातो सो चेव मग्गो"। वृ० १ उ० ।

अतणु-अतनु-त्रि० । न विद्यते तनुः शरीरं येषां तेऽतनवः । सिद्धेषु, प्रव० २१४ द्वा० ।

अतत्तवेइत्त-अतत्त्ववेदित्व-न० । साक्षादेव वस्तुतत्त्वमज्ञातुं शीलमस्य पुरुषविशेषस्य । सर्वार्थदर्शिनि, ध० १ अधि० ।

अतत्तवेइवाय-अतत्त्ववेदिवाद-पुं० । अतत्त्ववेदिनः साक्षादेव वस्तुतत्त्वमज्ञातुं शीलमस्य पुरुषविशेषस्यार्वाग्दर्शिन इत्यर्थः । वादो वस्तुप्रणयनमतत्त्ववेदिवादः । साक्षादवीक्षमाणेन हि प्रमात्रा प्रोक्तं वस्तुप्रणयनेनातत्त्ववेदिवादः सम्यग्वाद इति । ध० १ अधि० ।

अतात्तिय-अतात्त्विक-त्रि० । अवास्तवे तात्त्विकाभावे, द्वा० १६ द्वा० ।

अतत्तुचुक-पुं० । अणहिल्लपाटनदुर्गभञ्जके हरिवल्लीग्रामचैत्यशोटके चौलुक्यवंशीयभीमदेवनरेन्द्रसमकालीने तुरुष्कमल्लारे राज्ञि, ती० ४१ कल्प ।

अतर-अतर-पुं० । न तरीतुं शक्यते इत्यतरः। रत्नाकरे, सू० १ श्रु० । सागरे, प्रव० १ द्वा० । अतिमहत्त्वाद्दुदधिवत्तरीतुमचिरात्पारं नेतुं न शक्यत इत्यतराणि । सागरोपमकालेषु, कर्म० ५ कर्म० । असमर्थे, नि० चू० १ उ० । ग्लाने, वृ० १ उ० ।

अतरंत-अतरत्-त्रि० । असहे, नि० चू० १ उ० । व्य० । ग्लाने, ध० ३ अधि० ।

अतव-अतपस्-त्रि० । ६ ब० । तपसा विहीने, "अतवो न होति भोगो" वृ० ४ उ० । न० त० । तपसामभावे, उत्त० २३ अ० ।

अतसी-अतसी-स्त्री० । (अलसी-नीसी) क्षुमायाम्, ग० २ अधि० । अतसी वल्कलप्रधानो वनस्पतिः, यत्सूत्रं मालवादिदेशे प्रसिद्धम् । अनु० । नि० चू० । प्रज्ञा० ।

अतह-अतथ-नञ्-तत्-कथ च । मिथ्याभूतेऽर्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अतथ्य-न० । असदर्थाभिधायित्वे, "अणवज्जमतहं तेसिं, ण ते संवुडचारिणो" सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । अविद्यमाने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । वितथेऽसद्भूते, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

अतहणाण-अतथाज्ञान-न० । न विद्यते यथा वस्तु तथा ज्ञानं यस्य तत्तथा । मिथ्यादृष्टिजीवद्रव्ये, तस्य वितथज्ञानत्वात् । नास्ति यथैव ज्ञानमवबोधः प्रतीतिर्यस्मिंस्तत्तथा । असत्यद्रव्ये वा, एकतयाऽवभासमाने एकान्तवाद्यभ्युपगते वा वस्तुनि, तथाहि-एकान्तेन नित्यमनित्यं वा वस्तु नैरभ्युपगतं,प्रतिभाति च तत् परिणामितयेति तदतथाज्ञानमिति । एष दशमो द्रव्यानुयोगः । स्था० १० ठा० । यथा प्रच्छनीयार्थे प्रष्टव्यस्य ज्ञानं तथैव प्रच्छकस्यापि ज्ञानं यत्र प्रश्ने स तथाज्ञानो जानत्प्रश्न इत्यर्थः । एतद्विपरीतस्त्वतथाज्ञानः । अजानत्प्रश्ने, भ० ६ श० ८ उ० ।

अतार-अतार-त्रि० । ६ ब० । तरीतुमशक्ये, नदीप्रवाहादौ यस्य हि तरणं नास्ति । "अत्थाहमतारमपोरिसीयं सोओद्गम्मि अप्पाणं मुयंति" । ज्ञा० १४ अ० ।

अतारिम-अतारिम-त्रि० । अनतिलङ्घनीये, सूत्र० १ श्रु ३ अ० २ उ० ।

अतारि(लि)स-अतादृश-त्रि० । न० स० । अतत्सदृशे, "अतारिसे मुणी ओहंतरे" । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । उत्त० ।

अतिउट्ट-अतिवृत्त-त्रि० । अतिक्रान्तो वृत्तादतिवृत्तः । वृत्तमजानन्,सूत्र०"जंसी गुहाए जलणेऽतिउट्टे,अविजाणओ डज्झइ, लुत्तपण्णो" ज्वलनेऽत्यावृत्तो वेदनाभिभूतत्वात् स्वकृतदुश्चरितमजानन् सुप्तप्रज्ञो गतप्रज्ञाविवेको दन्दह्यते । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अतिंतिण-अतिन्तिन-त्रि० । न० त० । अलाभेऽपि ईषदत्र किञ्चनाभाषिणि, दश० ६ अ० । सकृत्किञ्चिदुक्ते, भूयोभूयोऽसूययाऽवक्तरि च । दश० ६ अ० ।

अतिक्खतुंड-अतीक्ष्णतुण्ड-त्रि० । अनत्यन्तभेदकमुखे, प्रश्न० १६ विव० ।

ते तीरङ्गमनायोद्यता अपि तीरं गन्तुमक्षम, सर्वज्ञोपदिष्टसन्मार्गा-भावादिति भावः तथा (अपारंगमा इत्यादि) पारस्तटः, परकूलं, तद्गच्छन्तीति पारंगमाः, न पारङ्गमा अपारङ्गमाः (एत इति) पूर्वोक्ताः, पारगतोपदेशाभावादपारंगता इति भावनीयम् । न च ते पारगतोपदेशमृते पारङ्गमनायोद्यता अपि पारं गन्तुमक्षम । अथवा गमनं गमः, पारस्य पारे वा गमः पारगमः । सूत्रे त्वनुस्वारोऽलाक्षणिकः । न पारगमोऽपारगमस्तस्मा अपारगमनाय । असमर्थसमासोऽयम् । तेनायमर्थः-पारगमनाय ते न भवन्तीत्युक्तं भवति । तथाऽनन्तमपि संसारं संसारान्तर्वर्तिन एवासते, यद्यपि पारगमनायोद्यमयन्ति तथापि ते सर्वज्ञोपदेशविकलाः स्वरुचिविरचितशास्त्रवृत्तयो नैव संसारपारं गन्तुमक्षम । आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अतुच्छणाव–अतुच्छज्ञात्–त्रि० । अकार्पण्ये, पं० व० ४ द्वा० । उदाराशये, पञ्चा० ६ विव० ।

अतुरिय–अत्वरित–त्रि० । स्तिमिते, ध० ३ अधि० । उत्त० । विपा० । "अतुरियमचपलमसंभंताए अविलंबियाए रायहंससरिसीए गईए" । अत्वरितया मानसौत्सुक्यरहितया । कल्प० । देहमध्यापल्यरहितं यथाभवत्येवम् । भ० ११ श० ११ उ० । रा० ।

अतुरियगइ–अत्वरितगति–त्रि० । मायया शोकाद्यभावाय मन्दगामिनि, वृ० १ उ० ।

अतुरियभासि [ण्]–अत्वरितभाषिन्–त्रि० । विवेकभाषिणि, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

अतुल–अतुल–त्रि० । तुलामतिक्रान्ते, संथा० । असाधारणे, स० ३० सम० । निरुपमे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अत्त–आत्त–त्रि० । आ-दा-क्त । गृहीते, उत्त० १७ अ० । करतलपरिगृहीते, द्वा० १ अ० । भीमो भीमसेन इति न्यायात् आत्तो गृहीतः सूत्रार्थो यस्ते आत्ताः । गीतार्थेषु, वृ० १ उ० । स्था० ।

आत्मन्–पुं० । स्वस्मिन्, उत्त० १२ अ० । जीवे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । पञ्चा० । स्वभावे, सं० ।

आप्त–त्रि० । आ समन्ताद्विधिना शक्यते दुःखात्संरक्षति सुख चोत्पादयतीति आप्तः । दुःखात्पे सुखसाधके, "नेरइयाणं भंते ! किं अत्ताऽपोग्गला अणत्तापोग्गला वा ?" भ० १४ श० ९ उ० । स्था० ।

आप्त–त्रि० । आप्ते, उत्त० १२ अ० । अतीव सुष्टुपरिकर्मिते, सू० प्र० २० पाहु० । चं० प्र० । स्था० । आप्तिर्हि रागद्वेषमोहानामैकान्तिक आत्यन्तिकश्च क्षयः, सा यस्याऽस्ति स आप्तः । अष्टादिसवाम्यथवीचोऽस्यधः । स्था० । यथार्थदर्शनादिगुणयुक्ते पुरुषे, सं० । दश० । रागादिविप्रमुक्ते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । आ० । अप्रतारके, अप्रतारकश्च (प्रक्षीणदोषः सर्वज्ञः) क्षीणदोषत्वात् भवतीति । उक्तं च–"आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद् विदुः । वीतरागोऽनृतं वाक्यं, न ब्रूयाद्धेत्वसंभवात्" ॥ १ ॥ दश० १ अ० । स्या० ।

नाणमादीणि रूपाणि, जेण रूपो ठ सो जवे ।
रागदोसपहीणो वा, जे व इट्ठा व सोऽविए ॥ ५ ॥

ज्ञानादीनि ज्ञानदर्शनचारित्राणि येनाप्तानि स आप्तः । ज्ञानादिः आत्मनेव स आप्तः तेन ज्ञानात्मत्वात् । यो वा रागद्वेषप्रहीणः स आप्तः । यदि वा (इट्ठा) इष्टाः, शोधी शोधिविषये आप्ताः ॥ ५ ॥ स्था० १० उ० ।

आप्तस्वरूपं प्ररूपयन्ति–

अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानीते, यथाज्ञानं चाभिधत्ते स आप्तः ॥ ४ ॥

आप्यते प्राप्यते अर्थोऽस्मादित्याप्तः यद्वा–आप्तिः रागादिदोषक्षयः, सा विद्यते यस्येत्यर्शआदित्वादचि आप्तः । जानन्नपि हि रागादिमान् पुमानन्यथाऽपि पदार्थान् कथयेत्, तद्व्यवच्छित्त्यर्थं यथाज्ञानमिति । तदुक्तम्–"आगमो ह्याप्तवचन-माप्तं दोषक्षयं विदुः । क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं, न ब्रूयाद्धेत्वसंभवात्" ॥ १ ॥ अभिधानं च स्वतः परप्रत्ययोऽप्यत्र रूपम् । तेनाक्षरविलेखनद्वारेण, अङ्गुलीप्रदर्शनमुखेन, कपट्टप्रस्तारादिकेन्द्रियविशेषवशेन वा शब्दमसहायः परोक्षार्थविषयं विज्ञानं परस्योत्पादयति, सोऽप्याप्त इत्युक्तं भवति । स च समर्थमानः शब्दः आगम इति ॥ ४ ॥

कस्मादमूदशस्यैवाप्तत्वमित्याहुः–

तस्य हि वचनमविसंवादि भवति ॥ ५ ॥

यो हि यथार्थज्ञानाभिधेयवादी परिज्ञानानुसारेण तदुपदेशप्रवृत्तश्च भवति, तस्यैव वस्तुवचनं विसंवादरहितं तत्त्वेन । मृदुपक्षपातवचने विसंवादसंदर्शनात् । ततो यो वचनाप्रतारकः स तथाऽऽप्त इति सूत्रार्थसंवादसाधारणं प्रदानमनस्य तदनुरूपं भवति ॥ ५ ॥

आप्तभेदौ दर्शयन्ति–

स च द्वेधा–लौकिको, लोकोत्तरश्च ॥ ६ ॥

लोके सामान्यजनरूपे भवः लौकिकः । लोकोत्तरस्तु मोक्षमार्गोपदेशकत्वाल्लोकोत्तर ॥ ६ ॥

तावेव वदन्ति–

लौकिको जनकादिर्लोकोत्तरस्तु तीर्थङ्करादिः ॥ ७ ॥

प्रथमाऽऽदिशब्देन जनन्यादिग्रहः । द्वितीयेऽऽदिशब्देन गुणधरादिग्रहणम् ॥ ७ ॥ रत्ना० ४ परि० ।

न च वाच्यमाप्तः क्षीणसर्वदोषः, सर्वविच्च [illegible] नास्तीति । यतो रागादयः कस्यचिदत्यन्तमुच्छिद्यन्ते, [illegible] दिषु तदुच्छेदप्रकर्षोपलम्भात्, [illegible] । तथा चाहुः–"देशतो नाशिनो भावा, दृष्टा निखिलनश्वराः । मेघपङ्क्त्यादयो यद्वत्, एवं रागादयो मताः" ॥ १ ॥ इति । [illegible] निरवयवनाशेन विनाशितः स एवाप्तो भगवान् सर्वज्ञः । कथं ज्ञायते इति चेत् ? [illegible] न्, सर्वाङ्गीणपि सुवर्णमलस्य [illegible] कस्मात् । तद्वदेवात्मनोऽपि रागादिदोषाणां [illegible] । [illegible] । आ० [illegible] सूत्र० १ श्रु० १० अ० । [illegible] ।

आर्त–त्रि० । म्लानीभूते, भ० ३५ श० १ उ० । दुःखार्त्ते, स्था० ७ ठा० । " कम्मुणा दुम्मगा चेव, इच्चाहं सुपुट्टो जणा" पूर्वाचरितैः कर्मभिरार्त्ताः पूर्वस्वकृतकर्मणः फलमनुभवन्ति, यदि वा कर्मभिः दुःखादिभिरार्त्तास्तत्कर्तुमसमर्थाः । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अत्तउवणास–आत्मोपन्यास–पुं० । आत्मन एव उपन्यासो निवेदनं यस्मिन्नसावात्मोपन्यासम् । उदाहरणे, दृष्टान्ते, उपन्यासभेदे च । दश० ।

इदानीमात्मोपन्यासमधिकृत्य विवृण्वन्नाह–

अत्तउवणासम्मि य, तलागभेयम्मि पिंगलो थवई ।

[illegible]

अत्तकम्म–[illegible]

[illegible]

[illegible]

...मेति प्रतिपादनं, तस्य पुरुषस्य (दव्वम्मि अत्तकम्मं ति) शरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तम । द्रव्ये द्रव्यविषये, आत्मकर्म भवति । आत्मसंबन्धित्वेन कर्मकरणमात्मकर्म, इति व्युत्पत्तिसमाश्रयणात् । भावात्मकर्म च द्विधा । तद्यथा–आगमतः, नोआगमतश्च । तत्रागमत आत्मकर्मशब्दार्थज्ञाता चोपयुक्तः । नोआगमतः पुनराह—

भावे असुहपरिणओ, परकम्म अत्तणो कुणइ ।

अशुभपरिणतोऽशुभेन प्रस्तावादाधाकर्मग्रहणरूपेण भावेन परिणतः परस्परपाचकादेः संबन्धि यत्कर्म पचनपाचनादिरूपं ज्ञानावरणीयादि, तदात्मनः संबन्धि करोति । तच्च परसंबन्धिकर्मण आत्मीयत्वेन करणं, नोआगमतो भावत आत्मकर्म, नोआगमतो भावात्मकर्मेत्यर्थः । भावेन परिणामविशेषेण परकीयस्यात्मसंबन्धित्वेन कर्मकरणं भावात्मकर्मेति व्युत्पत्तेः ।

एतदेव सार्द्धया गाथया भावयति–

आहाकम्मपरिणओ, फासुयमवि संकिलिट्ठपरिणामो ।
आययमाणो बज्झइ, तं जाणसु अत्तकम्मं ति ॥१॥
परकम्म अत्तकम्मी, करेइ तं जो गिण्हिउं भुंजे ॥

प्रासुकमचेतनमपि एषणीयं च स्वरूपेण भक्तादिकमास्तामाधाकर्मेत्यपिशब्दार्थः । संक्लिष्टपरिणामः सन्नाधाकर्मग्रहणपरिणतः सन्नाददानो गृह्णन्, यथाऽहमभिप्रायेण व्याख्यालब्धिमान्, मद्गुणाश्चासाधारणवक्त्रादिरूपाः, सर्वेऽपि आर्हन्ति... [illegible]

[illegible]

पाक्रामति संक्रमो विनाशो वा, तस्मात् सत्त्वानां कर्म यस्य संपन्नं तेन तद्बध्यते । तत्कथमुच्यते परकर्म आत्मकर्मीकरोतीति ?, इदं च वाक्यं पूर्वास्तर्गतम् । अन्यथाऽपि केचित्परमार्थमजानाना व्याख्यानयन्ति । ततस्तन्मतमपाकर्तुमुपन्यस्यन्नाह-

कूडउवमाएँ केई, परप्पउत्ते वि बिंति बंधो त्ति ।

केचित् स्वबुद्ध्या एव प्रवचनरहस्यमजानानाः कूटोपमायाः कूटदृष्टान्तेन, ब्रुवते-परप्रयुक्तेऽपि परेण पाचकादिना निष्पादितेऽप्योदनादौ साधोस्तद्ग्राहकस्य भवति बन्धः । एतदुक्तं भवति-यथा व्याधेन कूटे स्थापिते मृगस्यैव बन्धो, न व्याधस्य, तथा गृहस्थेन पाकादौ कृते तद्ग्राहकस्य साधोर्बन्धः, न पाककर्तुः । ततः परस्य यत्कर्म ज्ञानावरणीयादि संजायते, तदाधाकर्मग्राही स्वस्यैव संबन्धि करोतीत्युच्यते । तदेतदसङ्गतम् । जिनवचनविरुद्धत्वात् । तथाहि-परस्यापि साक्षादारम्भकर्तृत्वेन नियमतः कर्मबन्धसंभवस्ततः कथमुच्यते तद्ग्राहकस्य साधोर्बन्धो, न पाककर्तुः ?। न च मृगस्यापि परप्रयुक्तिमात्राद्बन्धः, किन्तु स्वस्मादेव प्रमादादिदोषात्; एवं साधोरपि ।

तथा चैतदेव निर्युक्तिकृदाह-

भणइ य गुरू पमत्तो, बज्झइ कूडे अदक्खो य ।
एमेव भावकूडे, बज्झइ जो असुभभावपरिणामो ॥१॥
तम्हा उ असुहभावो, वज्जेयव्वो .... ।

भणति प्रतिपादयति, चः पुनरर्थे। पुनरयमर्थः-एवं केचन सम्यग् गुरुचरणपर्युपासनाविकलतया यथाऽवस्थितं तत्त्वमवेदितारोऽनन्तरोक्तं ब्रुवते-गुरुः पुनर्भगवान् श्रीयशोभद्रसूरिरेवमाह। एतेनैतद्दर्शयति-जिनवचनमवितथं, जिज्ञासुना नियमतः प्रज्ञावताऽपि सम्यग्गुरुचरणकमलपर्युपासनमासेवनीयम्, अन्यथा प्रज्ञाया अवैकल्यानुपपत्तेः । तदुक्तं च-"तत्तदुत्प्रेक्ष्यमाणानां, पुराणैरागमैर्विना । अनुपासितवृद्धानां, प्रज्ञा नातिप्रसीदति" ॥१॥ गुरुवचनमेव दर्शयति-मृगोऽपि खलु कूटेः स बध्यते यः प्रमत्तोऽदक्षश्च भवति । यस्त्वप्रमत्तो दक्षश्च स कदाचनापि न बध्यते। तथाहि-अप्रमत्तो मृगः प्रथमत एव कूटदेशं परिहरति। अथ कथमपि प्रमादवशात् कूटदेशमपि प्राप्तो भवति तथाऽपि यावदद्यापि बन्धं पतति,तावद्दक्षतया जागर्ति तद्विषयादपसर्पति। यस्तु प्रमत्तो दक्षतारहितश्च,स बध्यत एव। तस्मात् मृगोऽपि बध्यते। परमार्थतः स्वप्रमादक्रियावशतो, न परप्रयुक्तिमात्रात्। (एवमेव) अनेनैव मृगदृष्टान्तोक्तप्रकारेण (भावकूटे) संयमरूपभावबन्धनाय कूटमिव कूटमाधाकर्म, तत्र स बध्यते, ज्ञानावरणीयादिकर्मणा युज्यते, योऽशुभभावपरिणाम आहारमादत्ते, आधाकर्मग्रहणात्मकाशुभभावपरिणामो, न दोषः। न त्वाधाकर्मणि कृतेऽपि यो न तद् गृह्णाति, नापि भुङ्क्ते, स ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधेन पापेन बध्यते । नहि कूटे स्थापिते यो मृगस्तद्देश एव नायाति, आयातोऽपि यत्नतस्तद्देशं परिहरति,स कूटे बन्धमाप्नोति। तत्र परयुक्तिमात्राद् बन्धो येन परोक्तनीत्या परकृतकर्मैव आत्मकर्मीकरणमुपपद्येत, किन्त्वशुभाध्यवसायभावतः। तस्मादशुभो भाव आधाकर्मग्रहणरूपः साधुना प्रयत्नेन वर्जयितव्यः। परकर्म करोतीत्यत्र वाक्ये भावार्थः प्रागेव दर्शितः । यथा-परस्य पाचकादेर्यत्कर्म तदात्मकर्मीकरोति, किमुक्तं भवति ?-तदात्मन्यपि कर्म करोतीति, ततो न कश्चिद्दोषः । पाक-

कर्मण्यात्मकर्मीकरणमाधाकर्मणो ग्रहणे भोजने वा सति भवति यथा, तत उपचारादाधाकर्म आत्मकर्मेत्युच्यते। ननु तदाऽऽधाकर्म,यदा स्वयं करोति, अन्येन वा कारयति,कृतं वाऽनुमोदते, तदा भवेद् दोषः। यदा तु स्वयं न करोति, नापि कारयति, नाप्यनुमोदते, तदा कस्तस्य ग्रहणे दोष इति ?।

अत्राह-

कामं सयं न कुव्वइ, जाणंतो पुण तहा वि तग्गाही ।
वड्ढेइ तप्पसंगं, अगिण्हमाणो उ वारेइ ॥ १ ॥

कामं सम्मतमेतत्,यद्यपि स्वयं न करोत्याधाकर्म, उपलक्षणमेतत्, न कारयति,तथापि मदर्थमेतन्निष्पादितमिति जानानो यदि आधाकर्म गृह्णाति तर्हि तद्ग्राही तत्प्रसंगम्-आधाकर्मग्रहणप्रसङ्गं वर्धयति। तथाहि-यदा स साधुराधाकर्म जानानो गृह्णाति, तदाऽन्येषां साधूनां दायकानां च एवंबुद्धिरुपजायते-आधाकर्मभोजने कश्चनापि दोषः; कथमन्यथा स साधुर्जानानोऽपि गृहीतवान् ? इति। तत एवं तेषां बुद्ध्युत्पादे संतत्या साधूनामाधाकर्मभोजनं दीर्घकालं षड्जीवनिकायविघातः, स परमार्थतस्तेन प्रवर्त्तितः । यस्तु न गृह्णाति स तथाभूतप्रसङ्गवृद्धिं निवारयति; प्रवृत्तेरभावात्। तथा चाह-(अगिण्हमाणो उ वारेइ) ततोऽतिप्रसङ्गदोषमपाकर्तुकामेन तदीदृशमपि नाधाकर्म भुञ्जीत। अन्यच्च तदाधाकर्म जानानोऽपि भुञ्जानो नियमतोऽनुमोदते। अनुमोदना हि नाम-अप्रतिषेधनम् । अप्रतिषिद्धमनुमतमिति विद्वत्प्रवादात् । तत आधाकर्मभोजने नियमतोऽनुमोदनदोषोऽनिवारितप्रसरः। अपि च-एवमाधाकर्मभोजने कदाचित् अनेन प्रकारेण भोजनाभिलाषतया स्वयमपि पचेत् पाचयेद्वा । तस्मात् सर्वथा आधाकर्म न भोक्तव्यमिति स्थितम् । तदेवमुक्तमात्मकर्मेति नाम ॥ पिं० । नि० चू० ।

अत्तग-आत्मग-त्रि० । आत्मनि गच्छतीति आत्मगः । आत्मनि, "किच्चा ण अत्तग सोयं" सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

अत्तगवेसण-आत्मगवेषण-न० । कथमयमात्मा, मोक्षेऽस्य, उपलक्षणमेतत् । अनात्मनस्य वा, गवेषणं कुलसमुद्रस्य संसारस्य निःसरणोपायान्वेषणम् । कौत्कुचिकविनयभेदे, व्य० १ उ० ।

अत्तगवेसणया-आत्मगवेषणता-स्त्री० । मा मे कश्चित् पूर्व संचरति भैक्षचर्यादिना योऽसावात्मगवेषणकः तद्भाव आत्मगवेषणता । भ० २५ श० ७ उ० । आत्मन एव दुःखादेव गवेषणमिति चर्यादिग्विभागगवेषणमतः तद्भावात्मगवेषणतेति । पौलिकपेयालवाद इत्यर्थः । स्था० ७ ठा० ।

अत्त(त्र)गवेसणया-स्त्री० । आत्मनः, अन्येन वा पूर्णा गवेषणं गुरुवदुस्वप्नयोरन्वेषणं कार्यमिति । लोकोपचारविनयभेदे, स्था० ७ ठा० । औ० ।

आत्मनस्तु गवेषणतया दिग्विभागमेतदाह —

दव्वाइएसुं, अत्तगवेसणं गवेसणं कुणइ ।

द्रव्यादिषु दुर्लभद्रव्यगवेषणां च । तथा च द्रव्ये देशपर्वतादिषु दुर्लभे पूर्वादिद्रव्यवर्षति । कालतो भावतोऽर्थः । तत्र हेमन्तादि कालादिदेशकाले, कालतो दुर्भिक्षे, भावतो ग्लानादौ । अहितमुपलपता, अनात्मीयं वा यदात्मीयं तद् गवेषयति, न आत्मगवेषणादिमतः । व्य० १, उ० ।

अप्पगवेसय-आत्मगवेषक-पुं० । आत्मानं चारित्रात्मानं गवेषयतीति आत्मगवेषकः । कथमयं मम स्यादिति संयमश्रीसमार्थिनि, " तिगिच्छं नाभिनंदेज्जा, संचिक्खेऽत्तगवेसए । एवं खु तस्स सामण्णं, जं न कुज्जा न कारवे " ॥१॥ उत्त० २ अ० ।

नो णाहिं विप्पजहा, चरेज्जऽत्तगवेसए ।

आत्मानं गवेषयेत्, कथं ममाऽऽत्मा भवाग्निरस्तारणीय इत्य[illegible] । " आत्मगवेषकोऽयं [illegible] " इति वचनात् । [illegible] । कथं ममात्मा स्यादित्यन्वेषक आत्म[illegible] आत्मानमेव गवेषयन् [illegible] आत्मगवेषकः । [illegible] [illegible] उपसंहारेण आत्मा[illegible] । उत्त० ३ अ० ।

अप्पगामि (ण्)-आत्म (प्त) गामिन्-पुं० । आत्मं(मोक्ष) गच्छति [illegible] । [illegible] आत्महितगामिनि, [illegible] " सुयं च एवं सुणि अत्तगामी " सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

अप्पगुत्त-आत्मगुप्त-पुं० । [illegible] सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अप्पछिद्द-[illegible]

[illegible]

पदार्थाः(उत्पन्न इति)निर्हेतुकसहेतुकविनाशद्वयेन नश्यन्ति । यथा बौद्धानां स्वत एव निर्हेतुको विनाशः । तथा चोक्तुः—" जातिरेव हि भावानां, विनाशे हेतुरिष्यते । यो जातश्च न च ध्वस्तो, नश्येत्पश्चात्स केन च? " ॥१॥ तथा वैशेषिकाणां लकुटादिकारणसान्निध्ये विनाशः सहेतुकः । तेनरूपेणापि विनाशेन लोकात्मनोर्न विनाश इति तात्पर्यम् । यदि वा (दुहउ त्ति)द्विरूपादात्मनः स्वभावाद्येननाचेनन विनश्यतीति । तथाहि—पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानि कृत्स्नतया नित्यानि । न कदाचिदनीदृशं जगदिति कृत्वा आत्माऽपि नित्य एव, कृतकत्वादिभ्यो हेतुभ्यः । तथा चोक्तम्—" नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः । न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः ॥१॥ अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽयमुच्यते । नित्यः सर्वगतः स्थाणु-रचलोऽयं सनातनः ॥ २ ॥ एवं च इत्वा नासदुत्पद्यते, सर्वस्य सर्वत्र सदा असति च कारकव्यापाराभावात् सत्कार्यवादः । यदि वा [illegible]दुत्पद्येत, खरविषाणादेरप्युत्पत्तिः स्यादिति । तथा चोक्तम्— असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावात् । शक्तस्य शक्यकरणात्, कारणभावाच्च सत्कार्यम् " ॥१॥ एवं च इत्वा मुक्ति[illegible] [illegible] मुक्तिपददोषादानात् । यदि वा असदुत्पद्यते [illegible] स्यात्[illegible] मुक्तिगतोऽपि [illegible] इत्यतः सदेव कारणे कार्यमुत्पद्यत इति । [illegible] सर्वेऽपि भावाः पृथिव्यादय आत्मषष्ठा नियतिभावं [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] तथा [illegible] " [illegible] जायते [illegible], [illegible] जायते [illegible] " इत्यादि । [illegible] " इत्यादि [illegible] गाथा । [illegible]

[illegible]

[illegible]

अत्तट्ठकरणजुत्त-आत्मार्थकरणयुक्त-त्रि० । आत्महितार्थकरणयुक्ते, पं० चू० ।

अत्तट्ठगुरु-आत्मार्थगुरु-त्रि० । आत्मनः स्वस्य अर्थः प्रयोजनं गुरुर्यस्य स आत्मार्थगुरुः । उत्त० १४ अ० । आत्मार्थ एव जघन्यो गुरु पापप्रधानो यस्य स आत्मार्थगुरुः । दश० १ अ० । स्वप्रयोजननिष्ठे, " खिंसेहिं से परितावेइ बाले, पीसेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे " उत्त० ३२ अ० ।

अत्तट्ठचिंतग-आत्मार्थचिन्तक-पुं० । आत्मन एव केवलस्यार्थं भक्तादिलक्षणं चिन्तयति, न बालादीनाम्, तथाकल्पसामाचार्यादिष्वात्मार्थचिन्तकः । यद्वा-आत्मार्थो नाम अतीचारमलिनस्यात्मनो यथोक्तेन प्रायश्चित्तविधिना निरतिचारकरणं विशोधनमित्यर्थः । चिन्तयतीत्यात्मार्थचिन्तकः । पारिहारतपः प्रतिपन्नत्वेनाऽऽत्मार्थमात्रचिन्तके, व्य० १ उ० ।

अत्तट्ठिय-आत्मार्थिक-त्रि० । आत्मार्थं भवमात्मार्थिकम् । आत्मनोऽर्थं आत्मार्थस्तस्मिन् भवमात्मार्थिकम् । आत्मन एवार्थे, "तवस्सियं कोयण माहणाणं, अत्तट्ठियं सिद्धमिहेगपक्खं " ॥ ब्राह्मणानामात्मनोऽर्थं आत्मार्थस्तस्मिन् भवमात्मार्थिकम्, ब्राह्मणैरप्यात्मनैव भोज्यम्, नत्वन्यस्मै देयम् । उत्त० १२ अ० ।

अत्तता-आत्मता-स्त्री० । आत्मनो भाव आत्मता । जीवास्तितायाम्, स्वकृतकर्मपरिणतौ च । " इह खलु अत्तताए तेहिं तेहिं कुलेहिं अभिसेएण संभूता " आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अत्तत्ताण-आत्मत्राण-न० । ६ त० । आत्मरक्षायाम्, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

अत्तत्तासंवुड-आत्मात्मसंवृत-त्रि० । आत्मन्यात्मना संवृतस्य प्रतिसंलीने, प्र० ३ श० १ उ० ।

अत्तदुक्कडकारि(ण्)-आत्मदुष्कृतकारिन्-त्रि० । स्वपापविधायिनि, "संरंभए णियच्छंति, अत्तदुक्कडकारिणो " सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

अत्तदोस-आत्मदोष-पुं० । ६ त० । आत्मापराधे, व्या० ८ उ० ।

अत्तदोसोवसंहार-आत्मदोषोपसंहार-पुं० । ६ त० । स्वकीयदोषस्य निरोधप्रकरणे एकविंशे योगसंग्रहे, स० ३२ सम० ।

अत्रोदाहरणम्-

> बारवइ अरिहमित्ते, अणुद्धरी चेव तह य जिणदेवे ।
> रोगस्स य उप्पत्ती, पडिसेहो अप्पसंहारे ॥१॥

> द्वारवत्यां महापुर्या-महन्मित्रो वणिग्वरः ।
> अनुद्धरी प्रिया तस्य, जिनदेवश्च तत्सुतः ॥ १ ॥
> रोगास्तस्यान्यदोत्पन्नाः, शक्यन्ते न चिकित्सितुम् ।
> आहुर्वैद्या रुजोऽमुष्य, निवृत्तिर्मांसभक्षणात् ॥ २ ॥
> स्वजनाः पितरौ चाथ, सर्वे प्रेम्णा भणन्ति तम् ।
> सोऽप्यवक् नैव मोक्ष्येऽहं, सुचिरं रक्षितं व्रतम् ॥ ३ ॥
> मृत्युं स्वीकृत्य साधयं, प्रत्याचख्यौ विचक्षणः ।
> शुभेनाध्यवसायेन, स्यात्मदोषोपसंहृतेः ॥ ४ ॥
> अवाप्य केवलज्ञानं, सिद्धिसौधं जगाम सः ।

आ० क० । आव० । आ० चू० ।

अत्तपण्णह(ण्)-आत(प्त)प्रज्ञाहन्-पुं० । आत्मा नित्यास्त्यादिधर्मतो गृहीतात्मानो वा इहलोकपरलोकयोः सद्बोधकरतया हिता प्रज्ञामात्मनोऽन्येषां वा कुहेतुकुतर्कैर्व्याकुलीकरणतो हन्ति यः स आत्मप्रज्ञाहा, आप्तप्रज्ञाहा वा । स्वस्य परेषां च सदसद्बुद्धिहन्तरि पापश्रमणे, उत्त० १७ अ० ।

अत्तपण्णेसि(ण्)-आत्मप्रज्ञान्वेषिन्-पुं० । आत्मनः प्रज्ञा ज्ञानमात्मप्रज्ञा, तामन्वेष्टुं शीलं यस्य स आत्मप्रज्ञान्वेषी । आत्मज्ञानाऽन्वेषिणि आत्महितान्वेषिणि, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

आप्तप्रज्ञान्वेषिन्-पुं० । आप्तो रागादिदोषविप्रमुक्तः, तस्य प्रज्ञा केवलज्ञानाख्या, तामन्वेष्टुं शीलं यस्य स आप्तप्रज्ञान्वेषी । सर्वज्ञोक्तान्वेषिणि, " धीराजे अत्तपण्णेसी, धितिमंता जिइंदिआ " । सूत्र० १ श्रु० ९ अ० ।

अत्तपण्हह(ण्)-आत्मप्रश्नहन्-पुं० । आत्मनि प्रश्न आत्मप्रश्नस्तं हन्त्यात्मप्रश्नहा । केनचित्कृतस्य प्रश्नस्य वञ्चके पापश्रमणे, यथा-यदि कश्चित्परः पृच्छेत्, किं भवान्तरयायी अयमात्मा, उत नेति ? । ततस्तमेव प्रश्नमतिवाचालतया हन्ति, यथा-नास्त्यात्मा, प्रत्यक्षादिप्रमाणैरनुपलभ्यत्वात्; ततोऽयुक्तोऽयं प्रश्नः; सति हि धर्मिणि धर्माश्चिन्त्यन्त इति । उत्त० १७ अ० ।

अत्तपसण्णलेस्स-आत्मप्रसन्नलेश्य-त्रि० । आत्मनो जीवस्य प्रसन्ना मनागप्यकलुषा पीताद्यन्यतरा लेश्या यस्मिंस्तदात्मप्रसन्नलेश्यम् । उत्त० १२ अ० ।

आप्तप्रसन्नलेश्य-त्रि० । आप्ता प्राणिनामिह परत्र च हिता प्राप्ता वा तैरेव प्रसन्ना लेश्येकरूपा यस्मिंस्तदाप्तप्रसन्नलेश्यम् । आत्मनिर्मलत्वकारणेन तेजःपद्मशुक्लादिलेश्यात्रयेण सहिते, " धम्मे हरए बंभे, संति तित्थे अणाविले । अत्तप्पसण्णलेस्से, " उत्त० १२ अ० ।

अत्तजाव-आत्मजात्र-पुं० । स्वाभिप्राये, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अत्तमइ-आर्त्तमति-त्रि० । आर्त्ते आर्त्तध्याने मतिर्येषां ते आर्त्तमतयः । आर्त्तध्यानोपयुक्तेषु, आतु० ।

अत्तमाण-आवर्त्तमान-त्रि० । आ-वृत-शानच् । " यावत्तावज्जीवितावर्त्तमानावटप्रावारकदेवकुलैवमेवे वः " ॥ ८।१।२७१ ॥ इति वस्य लुक् । संयोगादित्वाद् ह्रस्वः । अभ्यस्यमाने, प्रा० ।

अत्तमुक्ख-आप्तमुख्य-पुं० । आप्तेषु मध्ये मुखमिव सर्वाङ्गताप्रधानत्वेन मुख्यं " शाखादेर्यः " ॥ ७।१।११४ ॥ इति [हैमसूत्रेण] तुल्ये यः प्रत्ययः । आप्तप्रधाने केवलज्ञानिनि, तं० ।

अत्तय-आत्मज-पुं०-स्त्री० । आत्मनः पितृशरीराज्जात इत्यात्मजः । अङ्गजे पुत्रे, तादृश्यां पुत्र्यां च । यथा भरतस्याऽऽदित्ययशाः । स्था० १० ठा० । ज्ञा० । विपा० ।

अत्तलद्धिय-आत्मलब्धिक-पुं० । यः आत्मन एव संस्का लब्धिर्भक्तादिलाभो यस्याऽऽसावात्मलब्धिकः । स्वलब्धिके, पंचा० १२ विव० ।

अत्तव-आर्त्तव-त्रि० । ऋतुरस्य प्राप्त, अण् । ऋतुभवे पुष्पादौ, " आर्त्तवान्युपजुञ्जाना, पुष्पाणि च फलाणि च " रजसि च, आव० । नि० चू० । (अस्य व्याख्या 'गब्भ' शब्दे वक्ष्यते)

अत्तवयणणिद्देस-आप्तवचननिर्देश-पुं० । आप्तस्य प्रमतार-

मनस्येव दुष्टत्वोपनायके ज्ञाने, यथा पिङ्गलेनाऽऽत्मा । तथाहि-कथमिदं तडागमभेद्यं भविष्यतीति राज्ञा पृष्टे । पिङ्गलाभिधानः स्थपतिरवोचत्-भेद्यस्थाने कपिलादिगुणे पुरुषे निखाते सतीति । सम्मत्येन तु स एव तत्र तद्गुणत्वादित्यात इति । तेन आत्मैव लिङ्गुरूपस्य स्ववचनदोषात् । तदेवंविध आत्मोपनीतमिति । अत्रोदाहरणं यथा-" सर्वे सत्त्वा न हन्तव्याः " इत्यस्य पक्षस्य दूषणाय कश्चिदाह-अन्यधर्मस्थिता हन्तव्या विष्णुनेव दानवाः । इत्येवं वादिनस्तस्य हन्तव्यत्वोपनीतो धर्मान्तरस्थितपुरुषाणामिति, तद्वाक्ये नु प्रतीतैवास्येति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अत्थ-अर्थ-पुं० । अर्ध्यतेऽर्थः । अदृष्टेऽपि बलवादी श्रुत्वा तदभिप्रायमात्रे, दश० १ अ० । विद्यापूर्वे धनार्जने, आ० म० द्वि० । [illegible] शुभाशुभनिरपेक्षः । व्याख्याने, "ॐ सुत्ताभिलावो, सो अत्थो अज्झप्प जम्हा त्ति" । व्या०२ [illegible] । "अत्थस्स इमे अणुओगो त्ति वा विओगो त्ति वा भासति वा विभासति वा वत्तियंति वा एगट्ठा" [illegible] । अर्थस्त्रिविधः-सुखाधिगमः, दुरधिगमः, अनधिगमश्च [illegible] । तत्र सुखाधिगमो यथा-चक्षुष्मतां [illegible] । दुरधिगमस्तु-[illegible] । अनधिगमस्तु-[illegible] । सुखाधिगमस्तु-[illegible]

[illegible]

सव्वेसिं पि इमेसिं, विभागमट्ठयं पवक्खामि ॥

(चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतीति) चतुर्विंशतिविधो धान्य[illegible]त्नार्थश्च (त्रिद्विदशधेति) त्रिविधः स्थावरार्थः, द्विपदार्थः, दशविधश्चतुष्पदार्थः । अनेकविध एव[illegible] कुप्यार्थः । सर्वेषामप्यमीषां चतुर्विंशतिचतुर्विंशत्यादि[illegible] हितानां धान्यादीनां विभागं विशेषम्, अथानन्तरं प्र[illegible] स्यर्थः ॥ १७ ॥ दश० ६ अ० । (धान्यादीनां व्याख्या[illegible] ने दर्शयिष्यते) " अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां च [illegible] आये दुःखं व्यये दुःखं, धिगर्थं दुःखकारणम् " ॥ [illegible] ३ ठा० ३ उ० । 'धिगर्थं दुःखवर्द्धनम्' । दश० १ अ० । [illegible] ऽनर्थभाजनम्' इति वा पाठान्तरम् । ध० ३ अधि० ।

इदानीमर्थ इति तृतीयं भेदं प्रकटयितुमाह—

सपन्नाणत्थाणिमित्तं, आयामाकिलेसकारणमसारं ।

नाऊण धणं धीमं नहु लुब्भइ तम्मि तणुयम्मि [illegible]

[illegible] धनं ज्ञात्वा तत्र न लुभ्यतीति योगः । किं विशि[illegible] सकलानर्थनिमित्तं समस्तदुःखनिस्यन्दनम् । आयामा[illegible]

यथा—

"राजा रोत्स्यति किं नु मे हुतवहो दग्धा किमेतद्धनं [illegible] किं चाऽमी प्रतिपिण्णयः छलमितं लास्यन्त्यहो गोत्रि[illegible] मोषिष्यन्ति च दस्यवः किमु तथा नंष्टा निखातं भुवि [illegible] ध्यायन्नेवमहर्दिवं धनयुतोऽप्यस्त्येतरां दुःखितः" ॥ [illegible]

तथा क्लेशः शारीरपरिश्रमस्तयोः कारणं निबन्धनम् । [illegible] " अपार्थं सकलसत्कुलजलनिधयं केचिदुत्क्षिपन्ति, [illegible] प्रोत्खड्गव्यात्रिघातोदधिसलिलविकटाकं अन्यमध्ये विश[illegible] शीतोष्णाम्बुसमीरणदिनमनुगताः केचित् कुर्वन्त्य[illegible] शिल्पं धान्यल्पतेरं विदधति च परे नाटकाद्यं च केचि[illegible] तथा असारं, सारत्वाभावात् । यदाह-

" प्रायोऽमी निकणिहि मृत्युजननान्यानि-[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] " ॥ [illegible]

[illegible]

"[illegible]
[illegible]" ॥ १ ॥

[illegible]

साम्प्रतं धर्मादीनामेव संपत्नासंपत्नते अभिधित्सुराह-

धम्मो अत्थो कामो, भिन्ने ते पिंडिया पडिसवत्ता ।
जिणवयणं उत्तिन्ना, असवत्ता होंति नायव्वा ॥२९॥

धर्मोऽर्थः कामः, त्रय एते पिण्डता युगपत्संपातेन प्रतिसपत्नाः परस्परविरोधिनः, लोके, कुप्रवचनेषु च । यथोक्तम्-"अर्थस्य मूलं निकृतिः क्षमा च, कामस्य वित्तं च वपुर्वयश्च । धर्मस्य दानं च दया दमश्च, मोक्षस्य सर्वोपरमः क्रियासु" ॥ १ ॥ इत्यादि । एते च परस्परविरोधिनोऽपि सन्तो जिनप्रवचनमवतीर्णाः, ततः कुशलाशययोगतो व्यवहारेण धर्मादितत्त्वस्वरूपतो वा निश्चयेन असपत्नाः परस्परविरोधिनो न भवन्ति, ज्ञातव्या इति गाथार्थः ॥ २९ ॥

तत्र व्यवहारेणाविरोधमाह-

जिणवयणम्मि परिणए, अवत्थविहिआणुट्ठाणओ धम्मो ।
सच्छाऽऽसयप्पयोगा, अत्थो वीसंभओ कामो ॥ ३० ॥

जिनवचने यथावत् परिणते सति अवस्थोचितविहितानुष्ठानात् स्वयोग्यतामपेक्ष्य दर्शनादिश्रावकप्रतिमाङ्गीकरणे निरतिचारपालनाद्भवति धर्मः । स्वच्छाऽऽशयप्रयोगाद्विशिष्टलोकतः पुण्यबलाच्चार्थः विश्रम्भत उचितकलत्राङ्गीकरणाऽपेक्षो विश्रम्भेण काम इति गाथार्थः ॥ ३० ॥

अधुना निश्चयेनाविरोधमाह-

धम्मस्स फलं मोक्खो, सासयमउलं सिवं अणाबाहं ।
तमभिप्पेया साहू, तम्हा धम्मऽत्थकाम त्ति ॥ ३१ ॥

धर्मस्य निरतिचारस्य, फलं मोक्षो निर्वाणम्, किं विशिष्टम् ? इत्याह-शाश्वतं नित्यम्, अतुलमनन्यतुलम्, शिवं पवित्रम्, अनाबाधं बाधावर्जितमेतदेवार्थः । तं धर्मार्थं मोक्षमभिप्रेताः कामयन्तः साधवो यस्मात्तस्माद्धर्मार्थकामा इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

एतदेव दृढयन्नाह-

परलोगमुत्तिमग्गो, नत्थि हु मोक्खो त्ति बिंति अविहिन्नू ।
सो अत्थि अवितहो जिण-मयम्मि पवरो न अन्नत्थ ॥ ३२ ॥

परलोको जन्मान्तरलक्षणो, मुक्तिमार्गो, ज्ञानदर्शनचारित्राणि नास्त्येव मोक्षः सर्वकर्मक्षयलक्षण इत्येवं ब्रुवते अविधिज्ञा न्यायमार्गानवेदिनः । अत्रोत्तरम्-स परलोकादिः अस्त्येवाऽवितथः सत्यो, जिनमते वीतरागवचने प्रवरः पूर्वापराविरोधेन, नान्यत्रैकान्तनित्यादौ, हिंसादिविरोधादिति गाथार्थः ॥ ३२ ॥ दश० ६ अ० ।

अस्त -पुं० । मेरौ, यतस्तेनान्तरितो रविरस्तं गत इति व्यपदिश्यते । स० १० सम० । निरस्ते अविद्यमाने, विश० ज्ञा० १६ अ० ।
अस्त्र-न० । अस्यते क्षिप्यते । अस्-ष्ट्रन् । क्षेप्ये शरादौ, वाच० । धनुरादिषु, ध० २ अधि० । रिपुक्षेपणमात्रे साधने, प्रहरणमात्रे खड्गादावपि, वाच० ।

अत्थअवगम-अर्थावगम-पुं० । ६ त० । अर्थपरिच्छेदे, दश० १ अ० ।

अत्थंगय-अस्तंगत-त्रि० । अस्तपर्वत प्राप्ते, दशा० ७ अ० ।

अत्थंतर-अर्थान्तर-न० । वस्त्व-तरे, पो० १६ विव० । पृथग्भूते, दर्श० । गामश्चमभिद्धतोऽसम्बद्धे, ध० ३ अधि० । न्यायमते छद्दिष्टसिद्धवर्थं प्रयुक्तशब्दसामर्थ्यादनुद्दिष्टसिद्धप्रयुक्ते दुष्टसाधनवाक्ये, वाच० ।

अत्थंतरब्भावणा-अर्थान्तरोद्भावना-स्त्री० । अलीकवचनभेदे, यथेश्वरादिः कर्त्ता समस्तस्यास्य जगतः क्रोधादिकषायाऽऽध्मातचेतसः प्रच्छन्नपापस्य । दर्श० ।

अत्थकंखिय-अर्थकाङ्क्षित-त्रि० । काङ्क्षा गृद्धिः, आसक्तिरित्यर्थः । अर्थे द्रव्ये काङ्क्षा अर्थकाङ्क्षा, सा संजाता अस्येति अर्थकाङ्क्षितः । भ० १ श० ७ उ० । प्राप्तेऽप्यर्थे अविच्छिन्नेच्छे, भ० १२ श० ६ उ० ।

अत्थकप्पिय अर्थकल्पिक-पुं० । आवश्यकादिश्रुतमधीतवति, वृ०

अर्थकल्पिकमाह—

अत्थस्स कप्पिओ खलु, आवस्सगमादि जाव सूयगडं ।
मोत्तूणं छेयसुयं, जेण अहीयं तदत्थस्स ॥

आवश्यकमादिं कृत्वा यावत् सूत्रकृतमङ्गं तावत्, यद् येनाधीतं स तस्यार्थस्य कल्पिको भवति । सूत्रकृताङ्गस्योपर्यपि छेदश्रुतं मुक्त्वा यद् येनाधीतं सूत्रं स तस्य सूत्रस्य समस्तस्याऽर्थस्य कल्पिको भवति । छेदसूत्राणि पुनः पठितान्यपि यावदपरिणतं, तावत्त्र श्राव्यते, यदा तु परिणतं भवति तदा कल्पिकः ॥ ७ ॥ बृ० १ उ० ।

अत्थकय-अर्थकृत्-स्त्री० । अर्थायें, " आगमदारं च अत्थकय" दशा० ६ अ० ।

अत्थकर-अर्थकर-पुं० । अर्थस्य कार्यकरणार्थं ऽर्थकरः । प्रशस्तविविधकर्मकृद्योपपदमाधिमंत्रिणो विद्यापूर्ण धर्मार्थकरणशीले, आ० म० द्वि० ।

अत्थकहा-अर्थकथा-स्त्री० । अर्थस्य कथा लक्ष्म्या उपायप्रतिपादनपरे वाक्यप्रबन्धात्मके, कथाभेदे, उक्तं च-" सामादिधातुवादादि-कृष्यादिप्रतिपादिका । अर्थोपादानपरमा, कथाऽर्थस्य प्रकीर्तिता" ॥ १ ॥ तथा-" अर्थाख्य पुरुषार्थोऽयं, प्रधानः प्रतिभासते । तृणादपि लघुं लोके, धिगर्थरहितं नरम्" ॥ १ ॥ इति एतदेव विस्तरतः उक्तम् ।

अधुनाऽर्थकथामाह—

विज्जासिप्पमुवाओ, अणिवेओ संचओ य दक्खत्तं ।
सामं दंडो भेओ, उवप्पयाणं च अत्थकहा ॥ १८५ ॥

विद्या शिल्पमुपायोऽनिर्वेदः संचयश्च दक्षत्वं साम दण्डो भेद उपप्रदानं चार्थकथा, अर्थप्रधानत्वादित्यक्षरार्थः । भावार्थस्तु वृद्धविवरणादवसेयः । तच्चेदम्-" विज्जं पडुच्च अत्थकहा, जो विज्जाए कार्यं उवज्जणति, जहा-एगेण विज्जा साहिया, सा तस्स पंचयं पच्चूसाए देइ । जहा च-सच्चइस्स विज्जाहरचक्कवट्टिस्स विज्जापभावेण भोगा उवणया । अमच्चस्स वत्ता जहा य सद्दए वण्णिओ, जहा य मूलदेवो कम्मकाय । एवं निरवसेसं उदाहरणं....तहा सो एव । विज्ञ त्ति गयं । इयाणि सिप्पे त्ति । सिप्पेणऽत्थो उवज्जइ त्ति । एत्थ उदाहरणं कोक्कासो जहाऽऽवस्सए । सिप्पे त्ति गयं । इयाणि उवाए त्ति । एत्थ दिट्ठंतो चाणक्को । जहा-चाणक्केण बहुविहेहिं उवाएहिं अत्थो उवज्जिओ । कहं ? दो मज्झ धाउरत्ताओ । एवं पि जहा आवस्सए तहा भाणियव्वं । उवाए त्ति गयं । इयाणि अणिव्वेओ त्ति मम्मणेण अणिव्वेएण उवज्जिओ । सो वि जहाऽऽवस्सए तहा भाणियव्वो" (अत्र च तु 'दक्ख' शब्दे वक्ष्यते) दश० ३ अ० । [illegible] कथा अर्थकथा । [illegible] संबन्धिन्यां कथायाम्, स्था० ॥

रोमन्थायते, रोमन्थायमानश्च तदास्वादमुपलभते। ततोऽसौ नीरसं कचवरं परित्यजति। एवमयमपि गृहवासारकगर्त्तान्मुक्तः प्रथमं पल्लिकामपि सूत्रं चारिकल्पं गुरुसकाशादधिगच्छति, तस्मर्थमर्थास्वादनविरहितं गृह्णाति, ततः सूत्रे गृहीते ऽर्थग्रहणं करोति। यदि पुनरर्थं न गृह्णीयात् तदा तत्सूत्रं निरास्वादमेव संजायते; अर्थे तु श्रुते सम्यक् तदर्थमवबुध्यमानः सप्तसौ यथावदवधारयत्युपदेशं, परिहरति चिन्दुमात्राभेदादिदोषदुष्टान् कचवरकल्पनानिष्पापानिति। शालिकरणदृष्टान्तः पुनरयम्। यथा कर्षकः शालीन् महता परिश्रमेण निष्पाद्य ततो लवनमलनपवनादिप्रक्रियापुरस्सरं कोष्ठागारे प्रक्षिप्य यदि तैः शालिभिः खादनपानादीनामुपभोगं न करोति, ततः शालिसंग्रहः तस्याफलः संपद्यते। अथासौ करोति तैः शालिभिर्यथायोगमुपभोगं ततः शालिसंग्रहः सफलो जायते। एवं द्वादशवार्षिके सूत्राध्ययने परिश्रमे कृतेऽपि यदि तदीयमर्थं न शृणुयात्तदा स सर्वोऽपि परिश्रमो निष्फल एव भवेत्। अर्थे तु श्रुते सम्यगवधारिते च सफलः स्यात्। अत एवाह-उपभोगफलाः शालयः, सूत्रं पुनरर्थकरणफलम्। चरणकरणादिरूपसूत्रार्थाचरणादिरूपस्तदर्थाचरणफलं, तच्च सूत्रोक्तार्थाचरणं श्रुत एवार्थे भवति, नान्यथा।

अतः-

जइ वारसवासाइं, सुत्तं गहियं सुणाहि से अट्टणो।
वारस चेव समाओ, अत्थं तो नाहिसि नवा णं ॥१॥

यदि द्वादशवर्षाणि त्वया सूत्रं गृहीतम्, अतस्तस्य सूत्रार्थमधुना द्वादशैव समा वर्षाणि शृणु। ततोऽर्थं शृण्वन् स्वज्ञानावारककर्मक्षयोपशमानुसारेण ज्ञास्यसि वा, न वा (णमिति) तं विवक्षितमर्थम् (वृ०) किंच-सन्ना(?)सूत्रादीन्यनेकविधानि सन्ति। इत्थमनेकधा सूत्राणां संभवे तदर्थश्रवणमन्तरेण न शक्यते कीदृशमिति विवेकं कर्तुम्, इति कर्तव्यमर्थग्रहणम्। अथ ते शिष्या ब्रूयुः-यः कण्ठतः सूत्रे निबद्धोऽर्थस्तेनैव वयं तुष्टाः, किमस्माकं दुरधिगमत्वाद्बहुपरिक्लेशेन "मङ्गल णिसण्ण अक्खा" इत्यादिप्रक्रियापुरस्सरमर्थग्रहणप्रयासेनेति। एते इत्थं ब्रुवाणाः प्रज्ञापयितव्याः। कथमित्याह-

जे सुत्तगुणा खलु ल-क्खणम्मि कहिया उ सुत्तमाई य।
अत्थग्गहणमराला, तेहिं चिय पण्णविज्जंति ॥

पीठिकायां लक्षणद्वारे ये सूत्रस्य गुणाः 'निद्दोसं सारवंतं च' इत्यादिना कथिताः। यद्वा-(सुत्तमाई य त्ति) "सुत्त तु सुत्तमेव उ" इत्यादिना प्रतिपादिताः, तैरेव हेतुभिरर्थग्रहणे मराला अलसाः शिष्याः प्रज्ञाप्यन्ते। यथा-भो भद्राः! निर्दोषसारवद्विभक्तोमुखादयः सूत्रस्य गुणा भवन्ति, ते च यथाविधि गुरुमुखादर्थे श्रूयमाण एव प्रकटीभवन्ति। किंच-यथा-द्वासप्ततिकलापण्डितो मनुष्यः प्रसुप्तः सन् किञ्चित्तासां कलानां जानीते। एवं सूत्रमप्यर्थेनाबोधितं सुप्तमिव द्रष्टव्यम्। विचित्रार्थनिबद्धानि सोपस्काराणि च सूत्राणि भवन्ति। अतो गुरुसंप्रदायादेव यथावदवसीयन्ते न यतस्तत इत्थं युक्तियुक्तैर्वचोभिः प्रज्ञापितास्ते विनेयाः प्रतिपद्यन्ते-गुरूणामुपदेशं गृह्णन्ति द्वादशवर्षाणि विधिवदर्थम्। इति गतमर्थग्रहणद्वारम् ॥ वृ० १ उ०।

अत्थजाय-अर्थजात-न०। द्रव्यप्रकारे, पञ्चा० १० विव०।

अत्थजुत्ति-अर्थयुक्ति-स्त्री०। हेयेतररूपार्थयोजनायाम्, द० ५ अ० १ उ०।

अत्थजोणि-अर्थयोनि-स्त्री०। अर्थस्य योनिरर्थयोनिः। जलद्रम्यादेरुपाये, "तिविहा अत्थजोणी पन्नत्ता। तं जहा-सामे, दंडे, भेए" सामदण्डादीनामन्यत्र स्वरूपम्। स्था० ठा० ३ उ०।

अत्थण-अर्थन-न०। ज्ञानाद्यर्थं परस्याऽऽचार्यस्य पार्श्वेऽवस्थाय ज्ञानादिगुणार्जने, उत्त० २६ अ०।

अत्थणय-अर्थनय-पुं०। अर्थनिरूपणप्रवणत्वादर्थनयः। स्या रत्ना०। मुख्यवृत्त्या जीवाद्यर्थसमाश्रयणात्। आ० म० द्वि० यथाकथञ्चिच्छब्दा एव प्रधानमित्यभ्युपगमपरत्वादर्थनयः। अनु०। यो ह्यर्थमाश्रित्य वस्तुस्थसंग्रहव्यवहारसूत्राख्यप्र[...]यः प्रादुर्भवति सोऽर्थनयः; अर्थवशेन तदुत्पत्तेः। अर्थप्रधा[न]नतयाऽसौ व्यवस्थापयतीति। सम्म०। अर्थमेव प्राधान्ये[न] शब्दोपसर्जनमिच्छति। सूत्र० २ श्रु० ७ अ०।

अत्थप्पवरं सद्दो, सद्दाणं वरगुमुज्जुसुत्तंता ॥

ऋजुसूत्रान्ताश्चत्वारो नया वस्तु ब्रुवते प्रतिपादयन्ति। कथम्भूतम्? इत्याह-अर्थप्रवरशब्दोपसर्जनम्। अथवा अर्थप्रवरं प्रधानभूतो मुख्योऽर्थो यत्र तदर्थप्रवरम्। शब्द उपसर्जनमप्रधानभूतो गौणो यत्र तच्छब्दोपसर्जनम्। शेषास्तु शब्दादयस्त्रय[ः] व्यत्ययमिच्छन्ति। विशे०।

अत्थणाण-अर्थज्ञान-पुं०। अभिधेयावबोधे, पञ्चा० १ विव० ॥

अत्थणिऊर-अर्थनि(कुर)पूर-न०। चतुरशीतिलक्षगुणितेऽर्थनिपूराङ्गे, अनु०।

अत्थणिऊरंग-अर्थनिपूराङ्ग(निकुराङ्ग)-न०। चतुरशीतिलक्षगुणिते नलिने, अनु०। स्था०। जी०।

अत्थणिज्जावणा-अर्थनिर्यापणा-स्त्री०। अर्थः सूत्राभिधेयं वस्तु, तस्य निरिति भृशं, यापना निर्वाहणा, पूर्वापरसाङ्गत्येन स्वयं ज्ञानतोऽन्येषां च कथनतो निर्गमतो निर्यापणा। वाचनासपद्भेदे, उत्त० १ अ०।

अर्थस्य निर्यापणामाह-

निज्जवगो अत्थस्स य, जो उ वियाणाइ अत्थ सुत्तस्स।
अत्थेण वि निव्वहति, अत्थं पि कहेइ जं भणियं ॥

अर्थस्य निर्यापक इति यद्भणितं तस्यायमर्थः-यो नाम सूत्रस्यार्थं कथ्यमानं विजानाति। यदि वा-अर्थेन निर्वहति-अर्थावधारणबलेन सूत्रपाठे निर्वहमुपयाति, तस्यार्थमपि कथयति, आस्तां सूत्रं ददातीत्यपिशब्दार्थः। व्य० १० उ०।

अत्थणियय-अर्थनियत-त्रि०। अर्थनियन्धने, सम्म० ॥

अत्थत्थिअ-अर्थार्थिन्-त्रि०। अर्थमर्थयते इति अर्थार्थी। द्रव्यप्रयोजने, भ० १५ श० १ उ०। औ०। ज्ञा०। जं०।

अत्थदंड-अर्थदण्ड-पुं०। शरीराद्यर्थदण्डे, प्रश्न० ... द्वा०।

अत्थदायि (ण्)-अर्थदायि[न्]-त्रि०। ...नादि,

" काउं पणामं च अत्थदायिस्स पज्जुण्णखमासमणस्स " नि० चू० १ उ० ।

अत्थधम्मब्भासाणवेयत्त–अर्थधर्माभ्यासानपेतत्व–न० । अर्थधर्मप्रतिबद्धतारूपे सत्यवचनातिशये, औ० । रा० ।

अत्थधर–अर्थधर–पुं० । अर्थधारकरि, स्था० ४ ठा० १ उ० । " सुत्तधरा अत्थधरो, अत्थधराओ होइ तदुभयधरो " व्य० प्र० प्र० ।

अत्थपज्जव-अर्थपर्याय–पुं० । अर्थैकदेशप्रतिपादकेषु पर्यायेषु, अर्थरूपेषु पर्यायेषु च । विशे० । अर्थविषयं पर्येत्यवगच्छति यः सोऽर्थपर्यायः । ईहानुमार्थपाहकत्वे, सम्म० ।

अत्थपडिवत्ति–अर्थप्रतिपत्ति–स्त्री० । अर्थावबोधे, " नियमाभावे नयणं, सम्मगुणमाहम्मि अत्थपडिवत्ती " । विशे० ।

अत्थपय–अर्थपद–न० । उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदित्यादिपदर्थप्रधाने पदे, विशे० ।

अत्थपिवासिय–अर्थपिपासित–त्रि० । पिपासेव पिपासा-प्राप्तेऽप्यर्थेऽतृप्तिः । अर्थे अर्थस्य वा पिपासा संजाता अस्येति अर्थपिपासितः । तं० । प्राप्तार्थविषयसञ्जाततृष्णे, भ० १५ श० १ उ० ।

अत्थपुरिस–अर्थपुरुष–पुं० । सर्वार्जनव्यापारपरे पुरुषभेदे, यथा-मम्मणवणिक् । आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

अत्थपुहत्त-अर्थपृथक्त्व–न० । " जत्थ एक्कस्स विभासो, तत्थ [illegible] " अर्थः किमुच्यते ?, इत्याह-भवस्य विषयो विशेषः, [illegible] पृथगुच्यते । [illegible] पृथक्त्वम । [illegible] अर्थपृथक्त्वमंऽभिधानात् । " [illegible] " अर्थपृथक्त्वं [illegible] अर्थपृथक्त्वम् । [illegible] अर्थपृथक्त्वम् । अत्राह, " [illegible] अत्थपुहत्तस्स [illegible] । [illegible] " विशे० । आ० म० ।

अत्थपुहुत्त–अर्थपृथक्त्व–न० । " [illegible] " अर्थपृथक्त्वम् । [illegible] अर्थपृथक्त्वम् । [illegible] " [illegible] " [illegible] अर्थपृथक्त्वम्: [illegible] । अत्राह, " अत्थपुहुत्तस्स [illegible] " । विशे० ।

अत्थपोरिसी–अर्थपौरुषी–स्त्री० । अर्थपौरुष्यां [illegible] । " [illegible] " नि० चू० १ उ० ।

अत्थबहुल–अर्थबहुल–[illegible] । [illegible]

[illegible]

अत्थबोहि–[illegible] । [illegible]

लम् " क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः,क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव । विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य,चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति"॥। " अत्थबहुलं महत्थं, हेउनिवाओवसग्गगंभीरं " दश० १ अ० ।

अत्थभेय–अर्थभेद–पुं० । आगमपदार्थस्यान्यथापरिकल्पने, जीत० । " आवंतीके यावंती लोगंसि विप्परामुसंति " इत्यत्र आचारसूत्रे यावन्तः केचन लोकेऽस्मिन् पाषण्डिलोके विपरामृशन्तीत्येवंविधार्थाभिधाने, अवन्तीजनपदे केयां रज्जुं घातात् कूपे पतितां लोकाः स्पृशन्तीत्यन्यथयित्वाऽऽह । व्य० १ उ० । पं० । दश० । ग० ।

अत्थेति दारं–

वंजणमभिंदमाणे, अवंतिमाईण अत्थगुरुगा उ ।
जो अण्णोऽणणुवाई, णाणादिविराहणा णवरिं ॥१६॥

वंजणं सुत्तं, अगणहाकरणं भेदो, ण भिंदमाणो अभिंदमाणे अविणासंतो त्ति भणितं होति । तेसु चेव वंजणेसु अभिधेयं अण्णं अत्थं विकप्पयति । कहं ?, जहा-(अवंतिमाईणं ति) अवंति यावंती लोगं,समणा य माहणा य (विप्परामुसंति त्ति) अवंति णामं जणवओ,केय त्ति रज्जुयं ति णाम, पडिया कूवे लोयंमि णाया । जहा-कूवे केया पडिता, ततो धावंति समणा भिक्खुणो माहणा धिज्जाईया । ते समणमाहणा कूवे उयरिउं पाणियमाणि विविधं परामुसंति । आदिसद्दातो अण्णं पि सुत्तं एवं कप्पेति अण्णंति अण्णहा अत्थं कप्पयति, एवं अत्थं अण्णहा काणिए सो अत्थे गुरुगा उ । अत्थस्स अण्णाणि वंजणाणि करेंतस्स मास गुरु । अह अण्णं अत्थं करेति,तो चउगुरुगा । (जो अण्णो त्ति) सो तो अभणितो अण्णो सो य आणिद्दिट्ठसरूवो, (अणणुपाति त्ति) अनुपततीत्यनुपाती, घटमानो युज्यमान इत्यर्थः, न अनुपाती अननुपाती, अघटमान इत्यर्थः । तमघडमाणमत्थं सुत्तं जोयंतो (णाणादिविराहण त्ति) णाणं आदी जेसिं ताणिमाणि णाणादीणि । आदिसद्दातो दंसणचरित्ता; ते य विराहेति, विराहणा खंडणा भंजणा य एगट्ठा । (णवरिं ति) इह णवरिं सहगुणवाचणसद्दासमत्थे णवरिसद्दो णवलो, विराहणाए केवलेत्यर्थः । अत्थेति दारं गयम् । नि० चू० १ उ० ।

अत्थभोगपरिवज्जिय–अर्थभोगपरिवर्जित–स्त्री० । [illegible] संगिव्यर्थरहित, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अत्थमंडली–अर्थमण्डली–स्त्री० । द्वितीयायां पौरुष्याम्,[illegible] सूत्रार्थे प्रदायकाय,शिष्याश्च सूत्रस्यार्थेकवाचनायामर्थ[illegible] ध्यायम, ध० ३ अधि० ६० । ([illegible] 'अत्थमंडली' [illegible] द्वितीयभागे ९०४ पृष्ठे गतार्था द्रष्टव्याः)

अत्थमय–अस्तमय–न० । सूर्यादेरस्तगमने [illegible] भ० ६ श० १० उ० ।

अत्थमहण्णवाणि–अर्थमहार्णवानि–पुं० । नानाविधेया[illegible] (विनाश–वा[illegible]) अनेकधा महान्तो , तेनार्णवमहार्णवानि[illegible] अर्थमहार्णवानि । [illegible] " [illegible] " [illegible]

अत्थमहुर–अर्थमधुर–त्रि० । धर्मानानुगुणार्थे, " अत्थ[illegible] अत्थमहुराइं " प० म० ४ द्वा० ।

अत्थमाण–आसीन–त्रि० । उपविष्टे[illegible], " अत्थ[illegible] [illegible] " आचा० १ श्रु० ।

अत्थमिअ-अस्तमित-त्रि० । अत्यन्तास्तंगते, शा० ४ अ० ।

अत्थमिओदिय-अस्तमितोदित-त्रि० । अस्तमितश्चासौ हीनकुलोत्पत्तिदुर्भगत्वदुर्गतत्वादिना, उदितश्च समृद्धिकीर्तिसुगतिप्राप्त्यादिनेति अस्तमितोदितः । प्रथमावस्थायां हीने पश्चात् निर्वृद्धिप्राप्ते पुरुषजाते, स्था० । यथा हरिकेशबलाभिधानोऽनगारः। स हि जन्मान्तरोपपत्ते(?)र्नीचैर्गोत्रकर्मवशाद्धामहरिकेशाभिधानचाण्डालकुलतया, दुर्भगतया दरिद्रतया च पूर्वमस्तमितादित्य इवाभ्युदयवन्त्वादस्तमितः, पश्चात्तु तपश्चरणस्य निष्कलङ्कचरणगुणावर्जितदेवसान्निध्यतया प्राप्तसिद्धितया सुगतिगमनतया च उदित इति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अत्थमियत्थमिय-अस्तमितास्तमित-पुं० । अस्तमितश्चासौ सूर्य इव दुष्कुलतया, दुष्कर्मकारितया च कीर्तिसमृद्धिलक्षणतेजोविवर्जितत्वात्, अस्तमितश्च दुर्गतिगमनादित्यस्तमितास्तमितः। पौर्वापर्येण दुर्गते, स्था०। यथा कालशौकरिकाभिधानः सौकरिकः। स हि सूकरैश्चरति मृगयां करोतीति यथार्थः सौकरिक एव दुष्कुलोत्पन्नः प्रतिदिनं महिषपञ्चशतीव्यापादक इति पूर्वमस्तमितः, पश्चादपि मृत्वा सप्तमनरकपृथिवीं गत इति अस्तमित एवेति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अत्थयारिया-देशी-सख्यायाम्, दे० ना० १ वर्ग ।

अत्थरय-आस्तरक-न०। आच्छादके, आ०म० प्र०। जी०। रा०।

अस्तरजस्-त्रि० । निर्मले, " अत्थरयमिउमसूरगोत्थयं " आस्तरकेण प्रतीतेन मृदुमसूरकेण वा, अथवाऽस्तरजसा निर्मलेन मृदुमसूरकेण अवस्तृतमाच्छादितं यत्तथा । भ० ११ श० ११ उ० ।

अत्थलुद्ध-अर्थलुब्ध-त्रि० । द्रव्यसारम्भे, भ० १५ श० १ उ० ।

अत्थवं-अर्थवत्-त्रि० । पञ्चविंशे मुहूर्ते, कल्प० ।

अत्थवति-अर्थपति-पुं० । धनपतौ, व्य० ७ उ० ।

अत्थवाय-अर्थवाद-पुं० । अर्थस्य लक्षणया स्तुत्यर्थस्य निन्दार्थस्य वा वादः । वद्-करणे घञ् । प्रशंसनीयगुणवाचके, निन्दनीयदोषवाचके च शब्दविशेषे । भावे घञि तत्कथने, वाच० । अर्थवादस्तु द्विधा-स्तुत्यर्थवादो निन्दार्थवादश्च। तत्र "पुरुष एवेदं सर्वम्" इत्यादिकस्तुत्यर्थवादः। तथा तत्र "स सर्वोपरस्यैष महिमा तु दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा सुप्रतिष्ठितस्तमक्षरं वेदयतेऽथ यस्तु स सर्वज्ञः सर्ववित्सर्वमेवाविवेश" इति । तथा-"एकया पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति" इत्यादिकश्च सर्वोऽपि स्तुत्यर्थवादः। "एकया पूर्णया" इत्यादि विधिवादोऽपि कस्मान्न भवतीति चेत्। उच्यते। शेषस्याग्निहोत्राद्यनुष्ठानस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गादिति। "एष वाव प्रथमो यज्ञो योऽग्निष्टोमः योऽनेनानिष्ट्वाऽन्येन यजते स गर्त्तमभ्यपतत्" अत्र पशुमेधादीनां प्रथमकरणं निन्द्यत इत्ययं निन्दार्थवादः । " द्वादश मासाः संवत्सरोऽग्निरुष्णोऽग्निर्हिमस्य भेषजम् " इत्यादीनि तु लोकवाक्यान्यनुवादप्रधानानि, लोकप्रसिद्धस्यैवार्थस्यैतैरनुवादादिति । विशे० । आ० म० ।

अत्थविगप्पणा-अर्थविकल्पना-स्त्री० । अर्थभेदोपदर्शने, आ० म० द्वि० ।

अत्थविणय-अर्थविनय-पुं० । विनयशब्दे वक्ष्यमाणार्थके विनयभेदे, दश० ७ अ० ।

अत्थविणिच्छय-अर्थविनिश्चय-पुं० । अपायरक्षके कल्याणावहे च अर्थावितथभावे, "बुद्धिअत्थविणिच्छयं" । दश० ८ अ० ।

अत्थविण्णाण-अर्थविज्ञान-न० । ६ त० । ऊहापोहयोगान्मोहसन्देहविपर्यासव्युदासेन ज्ञानरूपे बुद्धिगुणे, ध० १ अधि० ।

अत्थविहूण-अर्थविहीन-त्रि० । अगीतार्थे, व्य० ३ उ० ।

अत्थसंपयाण-अर्थसंप्रदान-न० । अर्थदाने, " अत्थसपयाणं दलयइत्ति" । अर्थदानं करोतीत्यर्थः । विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अत्थसत्थ-अर्थशास्त्र-न० । अर्थोपगमनिमित्तं शास्त्रमर्थशास्त्रम् । आ० म० प्र० । अर्थोपायव्युत्पादनग्रन्थे कौटिल्यराजनीत्यादौ, ज्ञा० १ अ० । प्रश्न० । नं० । "अत्थसत्थकोसल्लयसाही तहा उववया" आ० चू० १ अ० । आ० म० द्वि० । (उदाहरणमस्य "वेणइया " शब्दे वक्ष्यते)

अत्थसत्थकुसल-अर्थशास्त्रकुशल-त्रि० । ७ त० । नीतिशास्त्रादिषु कुशले, अं ३ वक्ष० ।

अत्थसार-अर्थसार-पुं० । द्रव्यतत्त्वे, आ० म० द्वि० ।

अत्थसिद्ध-अर्थसिद्ध-पुं० । अर्थो धनं स इतराऽसाधारणो यस्य सोऽर्थसिद्धः । मम्मणवणिग्वत् सिद्धभेदे, ध० २ अधि० । "पउरत्थो अत्थपरो-व्व मम्मणो अत्थसिद्धो व " प्रचुरार्थः प्रभूतार्थः, अर्थपरोऽर्थनिष्ठ , अर्थसिद्धोऽतिशययोगान्मम्मणवणिग्वदिति गाथादलार्थः । आ० म० द्वि० । भावार्थस्तु कथानकादवसेयः(स च 'मम्मण' शब्दे वक्ष्यते) सांवत्सरीये दशमे अर्थसिद्धे, जं० ७ वक्ष० । ऐरवते भविष्यति पञ्चमे तीर्थकरे, ति० ।

अत्थसुण्ण-अर्थशून्य-न० । डित्थादिकेऽर्थहीने पदे, स्था० १ ठा० १ उ० ।

अत्था-आस्था-स्त्री० । स्वपक्षाणामर्हत्प्रणीते तीर्थे बहुमानत्वे, जीवा० १ अधि० ।

अत्थाण-अस्थान-न० । अविषये, द्वा० १४ द्वा० ।

अत्थादा(या)ण-अर्थादान-न० । द्रव्योपादानकारणे अष्टाङ्गनिमित्ते, स्था० ३ ठा० ४ उ० । (अस्मिन्नेव भागे २६८ पृष्ठे 'अणवट्ठप्प' शब्दे व्याख्यातमेतत्)

अत्थाम-अस्थामन्-त्रि० । सामान्यतः शक्तिविकले, प्र० ७ श० ९ उ० । शारीरिकबलविकले, ज्ञा० १ अ० । विपा० ।

अत्थारिय-आस्तारिक-पुं० । मूल्यप्रदानेन शालिलवनाय क्षेत्रे क्रियमाणे कर्मकरे, व्य० ६ उ० ।

अत्थारी-देशी-साहाय्ये, दे० ना० १ वर्ग ।

अत्थालंबण-अर्थालम्बन-न०-पुं० । अर्थो वाक्यस्य भावार्थः । आलम्बनं बाह्ये पदार्थे अर्हत्स्वरूपे समयोगस्यैकत्वम् । अर्थश्च आलम्बनं चार्थालम्बने । अर्थे, आलम्बने च । अर्थालम्बनयोश्चैत्यवन्दनादौ विभावनम् । अष्ट० ९३ अष्ट० ।

अत्थालिय-अर्थालीक-न० । द्रव्यार्थमसत्ये, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अत्थालोयण-अर्थालोचन-न० । अर्थस्य सामान्येन ग्रहणे, आ० चू० १ अ० ।

अत्थावग्गह-अर्थावग्रह-पुं० । अवग्रहणमवग्रहः, अर्थस्यावग्रहोऽर्थावग्रहः । अनिर्देश्यसामान्यमात्ररूपार्थग्रहणे, आह च नन्द्यध्ययनचूर्णिकृत्-" सामन्नरूवाइविसेसणरहियस्स अवग्गह त्ति" । प्रज्ञा० ५ पद । आचा० ।

अत्थावत्ति-अर्थापत्ति-स्त्री० । अर्थस्य अनुक्तार्थस्य, आपत्तिः सिद्धिः । वाच० । "प्रमाणषट्कविज्ञातो, यत्रार्थो नान्यथा भवेत् । अदृष्टं कल्पयेदन्यं, साऽर्थापत्तिरुदाहृता" ॥१॥ इत्युक्तलक्षणे प्रमाणभेदे, रत्ना० २ परि० । सूत्र० । दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत इति अदृष्टार्थकल्पने, सम्म० । तां प्रमाणचतुष्कवादिनोऽनुमानेऽन्तर्भावयन्ति, न स्याः प्रमाणान्तरत्वमनुमानेऽन्तर्भूतत्वात् । तथाहि-दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यदृष्टार्थकल्पनाऽर्थापत्तिः । न चासावर्थोऽन्यथाऽनुपपद्यमानत्वानवगमे अदृष्टार्थपरिकल्पनानिमित्तम् । अन्यथा स येन विनोपपद्यमानत्वेन निश्चितस्तमपि परिकल्पयेत्, येन विना नोपपद्यते तमपि वा न कल्पयेत्; अनवगतस्यान्यथाऽनुपपन्नत्वेनार्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वे सत्यप्यदृष्टार्थपरिकल्पकत्वासंभवात् । संभवे वा लिङ्गस्याप्यनिश्चितनियमस्य परोक्षार्थानुमापकत्वं स्यादिति, तदपि नार्थापत्त्युत्थापकादर्थाद्भिद्येत । स चान्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमः, तस्यार्थस्य न भूयोदर्शननिमित्तः सपक्षे । अन्यथा लोहलेख्यं वज्रं, पार्थिवत्वात्, काष्ठवदित्यत्रापि साध्यसिद्धिः स्यात् । नापि विपक्षे तस्यानुपलम्भनिमित्तोऽसौ । व्यतिरेकनिश्चायकत्वेनानुपलम्भस्य पूर्वमेव निषिद्धत्वात्; किं तु विपर्यये तद्बाधकप्रमाणनिमित्तः । तच्च बाधकं प्रमाणमर्थापत्तिप्रवृत्तेः प्रागेवानुपपद्यमानस्यार्थस्य तत्र प्रवृत्तिमदभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथाऽर्थापत्त्या तस्याऽन्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमेऽभ्युपगम्यमाने यावत्तस्याऽन्यथाऽनुपपद्यमानत्वं नावगतम्, न तावदर्थापत्तिप्रवृत्तिः; यावच्च न तत्प्रवृत्तिः, न तावदर्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्याऽन्यथानुपपद्यमानत्वावगम इतीतरेतराश्रयत्वान्नार्थापत्तिप्रवृत्तिः ।

अत एव यदुक्तम्-

" अविनाभाविता चात्र, तदैव परिगृह्यते ।
न प्रागवगतेत्येवं, सत्यप्येषा न कारणम् ॥ १ ॥
तेन संबन्धवेलायां, संबन्ध्यन्यतरो ध्रुवम् ।
अर्थापत्त्यैव मन्तव्यः, पश्चादस्त्वनुमानता " ॥ २ ॥ इत्यादि ।

तन्निरस्तम् । एवमभ्युपगमे अर्थापत्तेरनुत्थानस्य प्रतिपादितत्वात् । स च तस्य पूर्वमन्यथाऽनुपपद्यमानत्वावगमः किं दृष्टान्तधर्मिप्रवृत्तप्रमाणसंपाद्यः ?, आहोस्वित्साध्यधर्मिप्रवृत्तप्रमाणसंपाद्यः ?, इति । तत्र यद्याद्यः पक्षः । तदाऽत्रापि वक्तव्यम् । किं तद् दृष्टान्तधर्मिणि प्रवृत्तं प्रमाणं साध्यधर्मिण्यपि साध्यान्यथाऽनुपपन्नत्वं तस्यार्थस्य निश्चाययति, आहोस्विद् दृष्टान्तधर्मिण्येव । तत्र यद्याद्यः पक्षः तदाऽर्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्य, लिङ्गस्य वा व्याप्तिग्रहणनिबन्धनस्याकारं प्रति न कश्चिद्विशेषः । अथ द्वितीयः, स न युक्तः । न हि दृष्टान्तधर्मिणि निश्चितस्वसाध्यान्यथाऽनुपपद्यमानत्वोऽर्थोऽन्यत्र साध्यधर्मिणि तथा भवति । न च तथाभूतोऽनियतः स साध्यधर्मिणि स्वसाध्ये परिकल्पकत्वेन युक्तम्, अतिप्रसङ्गात् । अथ लिङ्गस्य दृष्टान्तधर्मिप्रवृत्तप्रमाणवशात् सर्वोपसंहारेण स्वसाध्यनियतत्वनिश्चयः, अर्थापत्त्युत्थापकस्य त्वर्थस्य स्वसाध्यधर्मिण्येव प्रवृत्ता-
प्रमाणात्सर्वोपसंहारेणाऽदृष्टार्थान्यथाऽनुपपद्यमानत्व
ति लिङ्गार्थापत्त्युत्थापकयोर्भेदः । साध्याद्यर्थान्त
भेदमात्रादुपलि । अनुमानेऽपि स्वसाध्यधर्मिण्येव
हेतुस्वसाध्यसंबन्धग्राहकत्वेन प्रवृत्तं प्रमाणं सर्वोपसंहारेण स्वस
तत्त्वनिश्चायकमभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा सर्वमनेकान्ता
त्मादित्यस्य हेतोः पक्षीकृतवस्तुव्यतिरेकेण दृष्टान्तधर्मि
ण्यभावात् कथं तत्र प्रवर्त्तमानं बाधकं प्रमाणमनेकान्तात्मक
त्वमवगमयेत् सत्त्वस्य ? । न च साध्यधर्मिणि दृष्टान्तध
प्रवर्त्तमानेन प्रमाणेनार्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्य लिङ्गस्य
क्रम प्रतिबन्धो गृह्यत इत्येतावन्मात्रेणार्थापत्त्यनुमान
भ्युपगन्तुं युक्तः । अन्यथा पक्षधर्मत्वसहितहेतुसमुत्थ
नात्तद्रहितहेतुसमुत्थमनुमानं प्रमाणान्तरं स्यादिति
दृकथादौ विशीर्येत । नियमवतो लिङ्गात्परोक्षार्थप्रति
शेषात्तु तत्त्वच्छिन्नमित्यभ्युपगमे, स्वसाध्याविनाभूता
प्रतिपत्तेरविशेषादनुमानादर्थापत्तेः कथं नातिदः ? । स
अर्थापत्तिरपि प्रमाणान्तरम्, यतस्तस्या लक्षणम्-
वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यदृष्टार्थकल्पनम् ।

कुमारिलोऽप्येतदेव भाष्यवचनं विभजन्नाह-

"प्रमाणषट्कविज्ञातो, यत्रार्थो नान्यथा भवेत् ।
अदृष्टं कल्पयेदन्यं, साऽर्थापत्तिरुदाहृता ॥ १ ॥
दृष्टा पञ्चभिरप्यस्माद्, भेदेनोक्ता श्रुतोद्भवा ।
प्रमाणग्राहिणीत्वेन, यस्मात्पूर्वविलक्षणा " ॥ २ ॥

प्रत्यक्षादिभिः षड्भिः प्रमाणैः प्रसिद्धो योऽर्थः स ये
नोत्पद्यते तस्यार्थस्य प्रकल्पनमर्थापत्तिः । यथाऽग्नेर्दा
तत्र प्रत्यक्षपूर्विकाऽर्थापत्तिः । यथाऽग्नेः प्रत्यक्षेणोष्णस्प
र्श्य दाहकशक्तियोगोऽर्थापत्त्या प्रकल्प्यते । न हि शक्तिः
न्द्रेया, नाप्यनुमानादिप्रमाणाधिगम्या, प्रत्यक्षेणार्थेन शक्ति
कस्यचिदर्थस्य संबन्धासिद्धेः । अनुमानपूर्विका त्वर्था
थाऽऽदित्यस्य देशान्तरप्राप्त्या देवदत्तस्येव गत्यनुमान
गमनशक्तियोगोऽर्थापत्त्याऽवसीयते । उपमानपूर्विका त्वर्था
था-गवयवद् गौरित्युक्तेरर्थाद्वाहदोहादिशक्तियोगस्तस्य
यते, अन्यथा गोत्वस्यैवायोगात् । शब्दपूर्विकाऽर्थापत्ति
ब्दादर्थप्रतीतेः शब्दस्यार्थेन संबन्धसिद्धिः । अर्थापत्ति
र्थापत्तिर्यथोक्तप्रकारेण शब्दस्यार्थेन संबन्धसिद्धावर्था
सिद्धिः, पौरुषेयत्वे शब्दस्य संबन्धायोगात् । अभावपू
र्थापत्तिर्यथा-जीवतो देवदत्तस्य गृहेऽदर्शनादर्थाद् बहि
अत्र चतसृभिरर्थापत्तिभिः शक्तिः साध्यते । पञ्चम्य
त्वत्ता । पञ्चम्या गृहाद् बहिर्भूतो देवदत्त एव साध्यते
षट्प्रकाराऽर्थापत्तिः । अन्ये तु-श्रुतार्थापत्तिमन्यथोद
' पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते ' इति वाक्यश्रवणाद् र
जनवाक्यप्रतिपत्तिः श्रुतार्थापत्तिः । गवयोपमितायां गोः
सम्प्रापनाशक्तिरुपमानपूर्विकाऽर्थापत्तिः ।

तदुक्तम्-

तत्र प्रत्यक्षतो ज्ञातात्, तदा दहनशक्तिता ।
वह्नेरनुमिता सूर्ये, यानात्तच्छक्तियोगिता ॥ १ ॥
पीनो दिवा न भुङ्क्ते चे-त्येवं प्रतिवचःश्रुतौ ।
रात्रिभोजनविज्ञानं, श्रुतार्थापत्तिरुच्यते ॥ २ ॥
गवयोपमिताया गो-स्तज्ज्ञानग्राह्यशक्तिता ।
अभिधानप्रसिद्ध्यर्थ-मर्थापत्त्याऽवबोधिता ॥३॥

शब्दे चाक्षुषसामर्थ्यात्, लिङ्गिन्यनुमेयता ।
प्रमाणाभावनिर्णीत-चैत्राभावविशेषितात् ॥ ४ ॥
गेहाच्चैत्रबहिर्भावसिद्धिर्या त्विह दर्शिता ।
तामप्यन्ये प्रमाणस्य-मर्थापत्तिमुदाहरेत्" ॥ ५ ॥ इत्यादि ।

इयं च षट्प्रकाराऽप्यर्थापत्तिर्नोपपद्यते, अतीन्द्रियशक्त्यादिविषयत्वात् । अत एव नानुमानम् । प्रत्यक्षाद्यगम्यत्वेनाऽवगतत्वात् ... तत्प्रतिबन्धेन तत्संबन्धनात् । अर्थापत्तिगोचरस्यार्थस्य कदाचिदप्यनुपलम्भात् । तेन सहार्थापत्त्युत्थापकस्यार्थस्य संबन्धाग्रहणे; तदेवार्थापत्त्या नतत्त्वस्य प्रकल्पना । सम्म० ।

अत्थावत्तिदोस-अर्थापत्तिदोष-पुं० । सूत्रदोषभेदे, यत्रार्थापत्त्याऽनिष्टमापतति तत्राऽर्थापत्तिदोषः । यथा-'गृहकुक्कुटो न हन्तव्यः' इत्युक्ते अर्थापत्त्या शेषघातोऽदुष्ट इत्यापतति । विशे० । अनु० । यथा-'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यर्थादब्राह्मणघातस्य । आ० म० द्वि० । बृ० ।

अत्थाह-अस्ताघ-(घ) त्रि० । अगाधे, अस्तं निरस्तमविद्यमानमधस्तात् प्रतिष्ठानं यस्य तदस्ताघः । स्ताघो वा प्रतिष्ठानं, तदभावादस्ताघम् । ज्ञा० १४ अ० । वि० । यत्र नासिका न ब्रुडति तत् स्ताघम्, यत्र तु नासिका ब्रुडति तदस्ताघम् । बृ० ४ उ० । पश्चादेवो भारतार्गलजने, प्रश्न० ६ द्वा० ।

अत्थाहिगम-अर्थाधिगम-पुं० । अभिधेयावगमे, पञ्चा० ४ विव० ।

अत्थाहिगार-अर्थाधिकार-पुं० । ६ त० । यो यस्य सामायिकाद्यध्ययनस्यार्थो योऽधिकृतदुर्कीर्तनविषयके व्यवच्छेदे, "से किं तं अत्थाहिगारे ? अत्थाहिगारे जो जस्स अज्झयणस्स अत्थाहिगारो । तं जहा-"सावज्जजोगविरई, उक्कित्तणगुणवओ य पडिवत्ती । खलियस्स निंदणा वण-तिगिच्छगुणधारणा चेव" ॥ १ ॥ सेत्तं अत्थाहिगारे" । अनु० । आचा० ।

अत्थि-अस्ति-अव्य० । "स्तस्य थोऽसमस्तस्तम्बे" ॥८।२।४५॥ इति सूत्रेण स्तस्य थः । प्रा० । अस्तीति तिङन्तक्रियावचनप्रतिरूपको निपातः । औ० । जीवा० । बह्वर्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । निपातस्याऽव्ययत्वेन, अव्ययस्य च "सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु, सर्वासु च विभक्तिषु । वचनेषु च सर्वेषु, यन्न व्येति तदव्ययम्" ॥ १ ॥ बहुत्वप्रतिपादनात् । औ० । "अत्थेगइया दुपएसा" सन्त्येकका द्विप्रदेशिनः । जी० ३ प्रति० । अस्तिशब्दश्चायं निपातस्त्रिकालविषयः । आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० । त्रिकालवर्तिषु विद्यमानेषु अर्थेषु, अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति च इति प्रत्ययवत्सु, स्था० ३ ठा० १ उ० । "अत्थि णं भंते ! जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ" । भ० १ श० १ उ० । आव० । "अत्थि य १ निच्चो २ कुणई, ३ कयं च वेएइ ४ अत्थि निव्वाणं ५ । अत्थि य मोक्खोवाओ, ६ छः सम्मत्तस्स ठाणाई" ॥ १८ ॥ प्रव० १४८ द्वा० । येन येन यदा यदा प्रयोजनं तत् तत्तदा तदाऽस्ति भवति जायते इति । अस्य चानन्दहेतुत्वात् सुखभेदे च, स्था० १० ठा० । प्रदेशे, स्था० १० ठा० । अनु० । उत्त० । अस्तीति निपातः सर्वलिङ्गवचनः । यदाह शाकटायनन्यासकृत्-अस्तीति निपातः सर्वलिङ्गवचनेष्विति । अनु० ।

अत्थि(ण्)-अर्थिन्-त्रि० । अर्थशब्दात् अस्त्यर्थे 'अर्थाच्चाऽसन्निहिते' इति वार्त्तिकेन इनिः । याचके, वाच० । यः परस्मान्ममेदं स्यादिति याचते । स्था० १ उ० । अर्थयति ईश्वरे, पञ्चा० १० विव० । स्वामिनि, विशे० ।

अत्थिअ-अस्थिक-पुं० । बहुबीजकवृक्षविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । तत्फले, न० । आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

अर्थिन्-त्रि० । याचके, स्वामिनि च । "धणी अत्थिओ" प्रा० ।

आस्तिक-पुं० । अस्तीति मतिरस्येति आस्तिकः । तस्यान्तरश्रवणेऽपि जिनोक्ततत्त्वविषये निराकाङ्क्षप्रतिपत्तिमति, ध० ।

यदाह-

"मण्णइ तमेव सच्चं, निस्संकं जं जिणेहिँ पण्णत्तं ।
सुहपरिणामो सम्मं, कंखाइ विसुत्तियारहिओ" ॥ ५ ॥

यद्यप्यस्य मोहवशात्क्वचन संशयो भवति, तथाप्यप्रतिहतैवमर्यादा श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणादिना-

"कत्थ य मइदुब्बलेणं, तव्विहआयरियविरहओ वा वि ।
णेयगहणत्तणेण य, नाणावरणोदएणं च ॥ १ ॥
हेऊदाहरणासं-भवे य सइ सुट्ठु जं न बुज्झेज्जा ।
सव्वण्णुमयमवितहं, तहा वि तं चिंतए मइमं ॥ २ ॥
अणुवकयपराणुग्गह-परायणा जं जिणा जगप्पवरा ।
जियरागदोसमोहा, यऽनन्नहा वाइणो तेणं" ॥ ३ ॥

यथा वा सूत्रोक्तस्यैकस्याप्यरोचनादक्षरस्य भवति नरो मिथ्यादृष्टिः । सूत्रं हि नः प्रमाणं जिनाभिहितमिति । ध० २ अधि० । "आस्तिकमतमात्माद्याः, नित्यानित्यात्मका नव पदार्थाः । कालनियतिस्वभावे-श्वरात्मकृतकाः स्वपरसंस्थाः ॥ १ ॥ कालयदृच्छानियतीश्वरस्वभावात्मनश्चतुरशीतिः" ॥ स्था० ४ ठा० ४ उ० । आव० । जीवा० । चार्वाकादिभिन्नदर्शनस्वीकर्तरि च । नं० । तं० ॥

अत्थिकाय-अस्तिकाय-पुं० । अस्तीत्ययं त्रिकालवचनो निपातः; अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति चेति भावना । अतोऽस्ति च ते प्रदेशानां कायाश्च राशय इति अस्तिशब्देन प्रदेशप्रदेशाः क्वचिदुच्यन्ते, ततश्च तेषां वा कायाः अस्तिकायाः । स्था० ४ ठा० १ उ० । अवयविद्रव्येषु धर्मास्तिकायादिषु, भ० २ श० १० उ० । दर्श० । आ० चू० ।

ते च-

चत्तारि अत्थिकाया अजीवकाया पन्नत्ता । तं जहा-धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए आगासत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए । चत्तारि अत्थिकाया अरूविकाया पन्नत्ता । तं जहा-धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए ।

अजीवकाया अचेतनत्वादिति अस्तिकाया मूर्त्ताऽमूर्त्ता भवन्तीत्यमूर्त्तप्रतिपादनाय अरूप्यस्तिकायसूत्रम् । रूपं मूर्त्तिर्वर्णादिमत्त्वं, तदस्ति येषां ते रूपिणः, तत्पर्युदासादरूपिणोऽमूर्त्ता इति । स्था० ४ ठा० ४ उ० । जी० । द्रव्या० ।

एते प्रदेशाग्रेण तुल्याः-

चत्तारि पएसग्गेणं तुल्ला पण्णत्ता । तं जहा-धम्मत्थिकाए, अधम्मत्थिकाए, लोगागासे, एगे जीवे ।

प्रदेशाग्रेण प्रदेशप्रमाणेनेति तुल्याः सर्वेषामेषामसंख्यातप्रदेशत्वात् । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

ज्ञानगुणस्य प्रतिप्राणिस्वसंवेदनसिद्धत्वात् जीवस्यास्तित्वमवगन्तव्यम्। न च गुणिनमन्तरेण गुणसत्ता युक्ता, अतिप्रसङ्गात्। न च देह एवास्य गुणी युज्यते,यतो ज्ञानममूर्त्तं चिद्रूपं सदैव, इन्द्रियगोचरातीतत्वादिधर्मोपेतम,अतः तस्यानुरूप एव कश्चिद् गुणी समन्वेषणीयः। स च जीव एव,न तु देहः,विपरीतत्वात्। यदि पुनरननुरूपोऽपि गुणानां गुणी कल्प्यते,तर्ह्यनवस्था। रूपादिगुणानामप्याकाशादेर्गुणित्वकल्पनाप्रसङ्गादिति। पुद्गलास्तिकायस्य तु घटादिकार्यान्यथाऽनुपपत्तेः , प्रत्यक्षत्वाच्च सत्त्वं प्रतीतमेवेति। अनु०।

अस्तिकायानामस्तिकायत्वम्–

एगे भंते ! धम्मत्थिकायप्पदेसे धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे,एवं दोन्नि वि तिन्नि वि चत्तारि पंच छ सत्त अट्ठ नव दस संखेज्जा असंखेज्जा भंते ! धम्मत्थिकायप्पदेसा धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, एगपदेसूणे वि य णं धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया ? । णो इणट्ठे समट्ठे, से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ, एगे धम्मत्थिकायप्पदेसे नो धम्मत्थिकाये त्ति वत्तव्वं सिया, जाव एगपदेसूणे वि य णं धम्मत्थिकाए नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया। से णूणं गोयमा ! खंडे चक्के सगले चक्के ?। भगवं ! नो खंडे चक्के सगले चक्के। एवं छत्ते चम्मे दंडे दूसे आउहे मोयए । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ, एगे धम्मत्थिकायप्पदेसे णो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया० जाव एगपदेसूणे वि य णं धम्मत्थिकाए नो धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया। से किं खाइए णं भंते ! धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया। गोयमा ! असंखेज्जा धम्मत्थिकायप्पएसा, ते सव्वे कसिणा पडिपुण्णा निरवसेसा एगगहणगहिया । एस णं गोयमा ! धम्मत्थिकाए त्ति वत्तव्वं सिया। एवं अहम्मत्थिकाए वि। आगासत्थिकायजीवत्थिकायपोग्गलत्थिकाए वि एवं चेव, नवरं तिण्हं पि पएसा अणंता भाणियव्वा, सेसं तं चेव।

(खंडे चक्के इत्यादि) यथा खण्डं चक्रं चक्रं न भवति, सकलचक्रमित्येवं तस्य व्यपदेशाभावात् , अपि तु सकलमेव चक्रं चक्रं भवति। एवं धर्मास्तिकायः प्रदेशेनाप्यूनो न धर्मास्तिकाय इति वक्तव्यः स्यात्। एतच्च निश्चयनयदर्शनम्। व्यवहारनयमते तु एकदेशोनमपि वस्तु वस्त्वेव। यथा खण्डोऽपि घटो घट एव, छिन्नकर्णोऽपि श्वा श्वैव। भवति च-"एकदेशविकृतमनन्यवदिति"। (से किं खाइए त्ति) अथ किं पुनरित्यर्थः। (सव्वे त्ति) समस्तास्ते च देशापेक्षयाऽपि भवन्ति, अकारकार्त्स्न्येऽपि सर्वशब्दप्रवृत्तेः। अत आह-(कसिण त्ति) कृत्स्ना न तु तद्देशापेक्षया सर्वे इत्यर्थः। ते च स्वस्वभावरहिता अपि भवन्तीत्यत आह-(पडिपुण्ण त्ति) आत्मस्वरूपेणाविकलाः, ते च प्रदेशान्तरापेक्षया स्वस्वरूपेण अपि भवन्तीत्यत आह-(निरवसेस त्ति) प्रदेशान्तरेणाप्यवशेषिताः स्वरूपमात्रेणैवाऽन्यूनाः तथा-(एगगहणगहिय त्ति) एकग्रहणेनैकशब्देन धर्मास्तिकाय इत्येवं रूपेण गृहीता ये ते तथा, एकशब्दाभिधेया इत्यर्थः। एकार्थानि-

ते शब्दाः। (पएसा अणंता भाणियव्व त्ति) धर्माधर्मयोरसंख्येयाः प्रदेशा उक्ताः। आकाशादीनां पुनः प्रदेशा अनन्ता वाच्याः; अनन्तप्रदेशकत्वात्त्रयाणामपीति । उपयोगगुणो जीवास्तिकायः प्राग्दर्शितः। भ० २ श० १० उ०।

प्रदेशनिषदनम्–

एयंसि णं भंते ! धम्मत्थिकायअहम्मत्थिकायआगासत्थिकायंसि चक्किया केइ आसइत्तए वा सुइत्तए वा चिट्ठित्तए वा णिसीयत्तए वा, तुयट्टित्तए वा ?। णो इणट्ठे समट्ठे, अणंता पुण तत्थ जीवा ओगाढा। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-एयंसि णं धम्मत्थि०जाव आगासत्थिकायंसि नो चक्किया केइ आसइत्तए वा०जाव ओगाढा। गोयमा ! से जहा णामए कूडागारसाला सिया दुहओ लित्ता गुत्ता गुत्तदुवारा जहा रायप्पसेणइज्जे०जाव दुवारवयाणाइं पिहेंति। दुवार० तीसे य कूडागारसालाए बहुमज्झदेसभाए जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा। उक्कोसेणं पदीवसहस्सं पलीवेज्जा, से णूणं गोयमा ! ताओ पदीवलेस्साओ अण्णमण्णसंबद्धाओ अण्णमण्णपुट्ठाओ० जाव अण्णमण्णघडत्ताए चिट्ठंति, हंता चक्किया णं गोयमा ! केइ तासु पदीवलेस्सासु आसइत्तए वा० जाव तुयट्टित्तए वा। भगवं ! णो इणट्ठे समट्ठे। अणंता पुण तत्थ जीवा ओगाढा। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ० जाव ओगाढा ॥

एतस्मिन् णमिति वाक्यालङ्कारे (चक्किय त्ति) शक्नुयात्। कश्चित्पुरुषः। भ० १३ श० ४ उ०।

प्रमाणम्–

धम्मत्थिकाए णं भंते ! केमहालए पण्णत्ते ?। गोयमा ! लोए लोयमेत्ते लोयप्पमाणे लोयफुडे लोयं चेव फुसित्ता णं चिट्ठइ। एवं अहम्मत्थिकाए लोयाकासे जीवत्थिकाए पोग्गलत्थिकाए पंचाभिलावा ॥

(केमहालए त्ति) सुत्तनाथप्रत्ययाभिनिर्देशस्य, किं महत्त्वं यस्यासौ किंमहत्त्वः । (लोए त्ति) लोको लोकप्रमितत्वात्, लोकव्यपदेशाद्वा, उच्यते च-"पञ्चास्तिकायमइयं लोयमित्यादि" लोके व्यासौ वर्त्तते। इदं चाप्रश्नितमप्युक्तम, शिष्यहितत्वाद्वाचार्यस्येति। लोकमात्रो लोकपरिमाणः, स च किञ्चिन्न्यूनोऽपि व्यवहारतः स्यादित्यत आह-(लोयप्पमाणे त्ति) लोकप्रमाणो लोकप्रदेशप्रमाणप्रदेश इत्यर्थः। स चान्योन्यानुबन्धेन स्थित इत्येतदेवाह-(लोयफुडे त्ति) लोकेन लोकाकाशेन सकलस्वप्रदेशैः स्पृष्टो लोकस्पृष्टः। तथा लोकमेव च सकलस्वप्रदेशैः स्पृष्ट्वा तिष्ठतीति पुद्गलास्तिकायो लोकं स्पृष्ट्वा तिष्ठतीत्यनन्तरमुक्तमिति। भ० २ श० १० उ०।

वर्णगन्धरसादिः–

धम्मत्थिकाए णं कति वण्णे, कति गंधे, कति रसे, कति फासे ?। गोयमा ! अवण्णे अगंधे अरसे अफासे अरूवी अजीवे सासए अवट्ठिए लोगदव्वे, से समासओ पंचविहे पण्णत्ते। तं जहा-दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ गु-

पओ। दव्वओ णं धम्मत्थिकाए एगे दव्वे, खेत्तओ लोगप्पमाणमेत्ते, कालओ न कयाइ न आसि न कयाइ नत्थि जाव निच्चे, भावओ अवन्ने अगंधे अरसे अफासे, गुणओ गमणगुणे। अधम्मत्थिकाए वि एवं चेव, नवरं गुणओ ठाणगुणे। आगासत्थिकाए वि एवं चेव, नवरं खेत्तओ णं आगासत्थिकाए लोयालोयप्पमाणमेत्ते अणंते चेव जाव गुणओ अवगाहगुणे। जीवत्थिकाए णं भंते! कइ वण्णे, कइ गंधे, कइ रसे, कइ फासे ?। गोयमा! अवन्ने जाव अरूवी जीवे सासए अवट्ठिए लोगदव्वे, से समासओ पंचविहे पएणत्ते। तं जहा–दव्वओ० जाव गुणओ। दव्वओ णं जीवत्थिकाए अणंताइं जीवदव्वाइं, खेत्तओ लोगप्पमाणमेत्ते, कालओ न कयाइ न आसि० जाव निच्चे, भावओ पुण अवन्ने अगंधे अरसफासे, गुणओ उवओगगुणे। पोग्गलत्थिकाए णं भंते! कइ वएणे, कइ गंधरसफासे ?। गोयमा! पंचवन्ने पंचरसे दुगंधे अट्ठफासे रूवी अजीवे सासए अवट्ठिए लोगदव्वे। से समासओ पंचविहे पएणत्ते। तं जहा–दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ गुणओ। दव्वओ णं पोग्गलत्थिकाए अणंताइं दव्वाइं, खेत्तओ लोयप्पमाणमेत्ते, कालओ न कयाइ न आसि० जाव निच्चे, भावओ वण्णमंते गंधरसफासमंते, गुणओ गहणगुणे ॥

(अवन्ने इत्यादि) यत एवावर्णादिरत एवारूपी अमूर्त्तः, न तु निःस्वभावः, नञः पर्युदासवृत्तित्वात्। शाश्वतो द्रव्यतोऽवस्थितः प्रदेशतः (लोगदव्वे त्ति) लोकस्य पञ्चास्तिकायात्मकस्यांशभूतं द्रव्यं लोकद्रव्यम्। भावत इति पर्यायतः (गुणओ त्ति) कार्यतः [गमणगुणे त्ति] जीवपुद्गलानां गतिपरिणतानां गत्युपष्टम्भहेतुः,मत्स्यानां जलमिवेति।[ठाणगुणे त्ति]जीवपुद्गलानां स्थितिपरिणतानां स्थित्युपष्टम्भहेतुः,मत्स्यानां स्थलमिवेति।[अवगाहणागुणे त्ति]जीवादीनामवकाशहेतुः,बदराणां कुण्डमिव।[उवओगगुणे त्ति] उपयोगश्चैतन्यं साकारानाकारभेदम्। [गहणगुणे त्ति] ग्रहणं परस्परेण सम्बन्धनं जीवेन वा, औदारिकादिभिः प्रकारैरिति। भ० २ श० १० उ०।

अवगाहनादयः–

धम्मत्थिकाए णं भंते! केमहालए पएणत्ते ?। गोयमा! लोए लोयमेत्ते लोयप्पमाणे लोयफुडे लोयं चेव उग्गाहित्ताणं चिट्ठति, एवं जाव पोग्गलत्थिकाए। अहे लोए णं भंते! धम्मत्थिकायस्स केवइयं ओगाढे ?। गोयमा! सातिरेगं अद्धं ओगाढे, एवं एएणं अभिलावेणं जहा बितियसए० जाव ईसिप्पब्भाराणं। भंते! पुढवीओवासासस्स किं संखेज्जइभागं ओगाढा पुच्छा ?। गोयमा! णो संखेज्जइभागं ओगाढा, असंखेज्जइभागं ओगाढा, णो संखेज्जइभागे ओगाढा, णो असंखेज्जइभागे ओगाढा, णो सव्वं लोयं ओगाढा, सेसं तं चेव।

"धम्मत्थिकाएणं भंते!" इत्यादिरालापकः, तत्र च नवरं केवलं "लोयं चेव फुसित्ताणं चिट्ठइ त्ति"। एतस्य स्थाने–"लोयं चेव ओगाहित्ताणं चिट्ठइ" इत्ययमभिलापो दृश्य इति। भ० २० श० २ उ०।

(अस्तिकायानां विषयेऽन्यतीर्थिकैः सह विप्रतिपत्तयः 'अण्णउत्थिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४४६ पृष्ठे दर्शिताः)

मध्यप्रदेशाः–

कइ णं भंते! धम्मत्थिकायस्स मज्झपदेसा पएणत्ता ?। गोयमा! अट्ठ धम्मत्थिकायस्स मज्झपदेसा पएणत्ता। कइ णं भंते! अहम्मत्थिकायस्स मज्झपदेसा पएणत्ता ?। गोयमा! एवं चेव। कइ णं भंते! आगासत्थिकायस्स मज्झप्पदेसा पएणत्ता ?। गोयमा! एवं चेव। कइ णं भंते! जीवत्थिकायस्स मज्झप्पदेसा पएणत्ता ?। गोयमा! अट्ठ जीवत्थिकायस्स मज्झप्पदेसा पएणत्ता। एएसि णं भंते! अट्ठ जीवत्थिकायस्स मज्झप्पदेसा कइसु आगासपदेसेसु ओगाहंति ?। गोयमा! जहन्नेणं एक्कंसि वा दोहिं वा तिहिं वा चउहिं वा पंचहिं वा छहिं वा उक्कोसेणं अट्ठसु णो चेव णं सत्तसु। सेवं भंते! भंते! त्ति ॥

प्रत्येकं जीवानामित्यर्थः। ते च सर्वस्यामवगाहनायां मध्यभाग एव भवन्तीति मध्यप्रदेशा इत्युच्यन्ते। (एक्केणं वा दोहिं वेत्यादि) सङ्कोचविकासधर्मत्वात्तेषाम्। (उक्कोसेणं अट्ठसु त्ति) एकैकस्मिन् तेषामवगाहनात्। (णो चेव णं सत्तसु त्ति) वस्तुस्वभावादिति। भ० २५ श० ४ उ०। स्था०। (अन्यतीर्थिकैः सहास्तिकायविवादः 'अण्णउत्थिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४४६ पृष्ठे दर्शितः)

अत्थिकायधम्म–अस्तिकायधर्म–पुं०। अस्तयः प्रदेशास्तेषां कायो राशिरस्तिकायः। स एव (संज्ञया) धर्मो गतिपर्याये जीवपुद्गलयोर्धारणादित्यस्तिकायधर्मः। स्था० १० ठा०। गत्युपष्टम्भलक्षणधर्मास्तिकायनामके द्रव्यधर्मे, स्था० ३ ठा० ३ उ०।

अत्थिक–आस्तिक्य–न०। अस्तीति मतिरस्यास्तीत्यास्तिकः। तस्य भावः कर्म वा आस्तिक्यम्। तत्त्वान्तरश्रवणेऽपि जिनोक्ततत्त्वविषये निराकाङ्क्षायां प्रतिपत्तौ, ध० २ अधि० ४ सम्यक्त्वादिविषयास्तिक्यभूषायाम्, दर्श०। सन्ति खलु जिनप्रदिष्टा अतीन्द्रिया जीवपरलोकादयो भावा इति। पञ्चा०, ध० २ अधि०। संथा०।

अत्थिण (त्त) त्थिप्पवाय–अस्तिनास्तिप्रवाद–न०। यद्वस्तु लोके यथाऽस्ति यथा वा नास्ति, अथवा स्याद्वादाभिप्रायत इदमेवास्ति, नदेव नास्तीत्येवं प्रवदतीति। नं०। यद्वस्तु लोकेऽस्ति धर्मास्तिकायादि, यच्च नास्ति खरशृङ्गादि, तत्प्रवदति। अथवा सर्वं वस्तु स्वरूपेणास्ति, पररूपेण नास्तीति प्रवदतीति, अस्तिनास्तिप्रवादम्। चतुर्थे पूर्वे। स०। तस्य पदपरिमाणं षष्टिपदशतसहस्राणि। स०। "अत्थिणत्थिप्पवायपुव्वस्स णं अट्ठारस वत्थू दस चूलियावत्थू पएणत्ता"। नं०।

अत्थित्त–अस्तित्व–न०। अस्ति–भावे त्व। विद्यमानत्वे, द्रव्य० १ अ०। अर्थक्रियाकारित्वे, "अर्थक्रियाकारित्वं सदेव वस्तुत्वं"

सत्" इति वचनात् । आ०म० द्वि० । ['खणियवाइ' शब्देऽस्य उपपत्तिर्द्रष्टव्या] गुणभेदे, "तत्राऽस्तित्वं परिज्ञेयं, सद्भूतत्वगुणः पुनः"। तत्र इदं परिज्ञेयम्-सत्तया यो भवति यस्मात्सद्भूततया व्यवहारो जायते, स चास्तित्वगुणः । द्रव्या०११ अध्या० । धर्मधर्मिणोरभेदात् सद्वस्तुनि, भ० ।

यस्य वस्तुनो यथैवास्तित्वं तथैव भगवता तीर्थकरेण प्रज्ञप्तमिति दिदर्शयिषुर्यथावद् वस्तुपरिणामं दर्शयन्नाह—

से णूणं भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ, णत्थित्तं णत्थित्ते परिणमइ ?। हंता गोयमा !० जाव परिणमइ ॥

(से णूणमित्यादि) [अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ त्ति] अस्तित्वमङ्गुल्यादेरङ्गुल्यादिभावेन सत्त्वम् । उक्तं च- " सर्वमस्ति स्वरूपेण, पररूपेण नास्ति च । अन्यथा सर्वभावानामेकत्वं संप्रसज्यते " ॥ १ ॥ तच्चेह ऋजुत्वादिपर्यायरूपमवसेयम्; यदङ्गुल्यादिद्रव्यास्तित्वस्य कथं चिदङ्गुल्यादिपर्यायाव्यतिरिक्तत्वात् । अस्तित्वेऽङ्गुल्यादेरेवाङ्गुल्यादिभावेन सत्त्वे वक्रत्वादिपर्याय इत्यर्थः । परिणमति-तथा भवति । इदमुक्तं भवति-द्रव्यस्य प्रकारान्तरेण सत्ता प्रकारान्तरसत्तायां वर्तते । यथा-मृद्द्रव्यस्य पिण्डप्रकारेण सत्ता घटप्रकारसत्तायामिति । (नत्थित्तं नत्थित्ते परिणमइ त्ति) नास्तित्वमङ्गुल्यादेरङ्गुष्ठादिभावेनासत्त्वम्, तच्चाङ्गुष्ठादिभाव एव । ततश्चाङ्गुल्यादेर्नास्तित्वमङ्गुष्ठास्तित्वरूपमङ्गुल्यादेर्नास्तित्वेऽङ्गुष्ठादेः पर्यायान्तरेणास्तित्वरूपे परिणमति । यथा-मृदो नास्तित्वं तन्त्वादिरूपं मृदास्तित्वरूपे पटे इति, अथवा अस्तित्वमिति धर्मधर्मिणोरभेदात्सद्वस्त्वस्तित्वे सत्त्वे परिणमति । सत्सदेव भवति, नात्यन्तं विनाशि स्यात् । विनाशस्य पर्यायान्तरगमनमात्ररूपत्वात् । दीपादिविनाशस्यापि तमिस्रादिरूपतया परिणामात् । तथा नास्तित्वमत्यन्ताभावरूपं यत् खरविषाणादि, तन्नास्तित्वेऽत्यन्ताभाव एव वर्तते । नात्यन्तमसत् सद्भवति, खरविषाणवदेवेति । उक्तं च- " नासतो जायते भावो, नाभावो जायते सतः " । अथवा अस्तित्वमिति धर्मधर्मिणोरभेदात्सदस्तित्वे सत्त्वे वर्तते। यथा-पटः पटत्व एव । नास्तित्वं चाह-नास्तित्वे सत्त्वे वर्तते, यथाऽपटोऽपटत्व एवेति ।

अथ परिणामहेतुदर्शनायाह—

जं णं भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ,णत्थित्तं णत्थित्ते परिणमइ, तं किं पओगसा,वीससा ?। गोयमा ! पओगसा वि तं वीससा वि तं ॥

(जं णमित्यादि) (अत्थित्तं अत्थित्ते परिणमइ त्ति) [illegible]

या मृत्पिण्डादेरस्तित्वस्य नास्तित्वात् । सत्सदेव स्यादिति व्याख्यानान्तरेऽप्येतान्येवोदाहरणानि, पूर्वोत्तरावस्थयोः सद्रूपत्वादिति । यद्वत्यन्ताभावो नाश एव स्यादिति व्याख्यानम्, तत्रापि प्रयोगेणापि तथा विस्रसयाऽपि अभावो भाव एव स्यात्, तत्र योगादेः साफल्यमिति व्याख्येयमिति । भ० ।

अथोक्तस्वरूपवस्तुपर्यायार्थस्य सत्यत्वेन प्रज्ञापनीयतां दर्शयितुमाह-

से णूणं भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं जहा परिणमइ दो आलावगा, तहा गमणिज्जेण वि दो आलावगा भाणियव्वा,जाव तहा मे अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं,जहा ते भंते ! एत्थं गमणिज्जं, तहा ते इह गमणिज्जं, जहा ते इह गमणिज्जं तहा ते इत्थं गमणिज्जं ?। हंता गोयमा ! जहा मे इत्थं गमणिज्जं तहा मे इह गमणिज्जं ॥

अस्तित्वमस्तित्वे गमनीयं सद्वस्तुसत्त्वेनैव प्रज्ञापनीयमित्यर्थः। (दो आलावग त्ति) (से णूणं भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जमित्यादि) 'पओगसा वि तं वीससा वि तं' इत्येतदन्त एकः परिणामभेदाभिधानात् । 'जहा ते भंते ! अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जमित्यादि ' तहा ' मे अत्थित्तं अत्थित्ते गमणिज्जं इत्येतदन्तस्तु द्वितीयोऽस्तित्वनास्तित्वपरिणामयोः समताभिधायीति । एवं वस्तुप्रज्ञापनाविषयां समभावनां भगवतोऽभिधायाथ शिष्यविषयां तां दर्शयन्नाह-'जहा ते इत्यादि' यथा स्वकीयपरकीयताऽनपेक्षतया समत्वेन विहितमिति प्रवृत्त्या उपकारबुद्ध्या वा ते तव भदन्त ! [एत्थं त्ति] एतस्मिन्नपि सन्निहिते स्वशिष्ये गमनीयं वस्तुप्रज्ञापनीयम । तथा तेनैव समताद्वयप्रकारेण उपकारधिया वा [इहं ति] इहास्मिन् गृहिपाखण्डिकादौ जने गमनीयं वस्तुप्रकाशनीयमिति प्रश्नः। अथवा [एत्थं ति] स्वात्मनि यथा गमनीयं सुखप्रियत्वादि,तथा इह परात्मनि । अथवा यथा प्रत्यक्षाधिकरणार्थतया एत्थमित्येतच्छब्दरूपमिति गमनीयम् , तथा इह इत्यमित्येतच्छब्दरूपमिति, समानार्थत्वाद्द्वयोरपीति । भ० १ श० ३ उ० ॥

अत्थिभाव-अस्तिभाव-पुं० । विद्यमानभावे, "अत्थिभावो त्ति वा विज्जमाणभावो त्ति वा एगट्ठ" आ० चू० १ अ० ।

अथिर (वि) र-अस्थिर-त्रि० । न० त० । प्राकृते-" स्तपथ[illegible] भाम् " ८ । १ । ८३ । इति यस्य मात्रमपि ह्रस्वं प्रायिकस्याच्च भवति । प्रा० । चले, पाषा० प्रश्ने, नि० चू० १० उ० । भूमिसंहननविरहेण चलहीने, व्य० २ उ० । धर्मे च, उत्त० २० अ० । अपरिचिते, " अथिरस्स पुव्वगहियस्स वत्तणा जं इह थिरीकरणं " पञ्चा०१२ विव० । जीर्णे, आचा०२ श्रु०२ अ०२ उ० । अस्थायिनि, प्र० ।

अस्थिरं प्रलोटति स्थिरं वा प्रलोटति इति विस्मयन्नाह-

से णूणं भंते ! अथिरे पलोट्टइ, नो थिरे पलोट्टइ, अथिरे भज्जइ, नो थिरे भज्जइ, सासए बालए बालियत्तं असासयं पंडिए पंडियत्तं असासयं ?। हंता गोयमा ! अथिरे पलोट्टइ० जाव पंडियत्तं असासयं, सेवं भंते भंते ! त्ति० जाव विहरइ ।

(अथिरे त्ति) अस्थिरं द्रव्यं लोष्टादि, प्रलोटति परिवर्तते, अ[illegible]

ध्यात्मचिन्तायामस्थिरं कर्म तस्य जीवप्रदेशेभ्यः प्रतिसमयच-लनेनास्थिरत्वात् प्रलोटयति, बन्धोदयनिर्जरणादिपरिणामैः प-रिवर्तते, स्थिरं शिलादि न प्रलोटति । अध्यात्मचिन्तायां तु स्थिरो जीवः, कर्मक्षयेऽपि तस्य स्वरूपस्थितत्वान्नासौ प्रलोटति, उपयोगलक्षणस्वभावान्न परिवर्तते । तथा अस्थिरं भङ्गुरस्वभावं तृणादि भज्यते विदलयति । अध्यात्मचिन्तायामस्थिरं कर्म त-द्भज्यते व्यपैति, तथा स्थिरमभङ्गुरमयःशलाकादि न भज्यते, अध्यात्मचिन्तायां स्थिरो जीवः, स च न भज्यते, शाश्वतत्वादि-ति । जीवप्रस्तावादिदमाह-(सासए बालए त्ति) बालको व्यवहारतः शिशुः,निश्चयतोऽसंयतो जीवः, स च शाश्वतः, द्रव्य-त्वात् । (बालियत्तं ति) इह कप्रत्ययस्य स्वार्थिकत्वाद्बालत्वम्, व्यवहारतः शिशुत्वम्, निश्चयतस्त्वसंयतत्वम् । तच्चाशाश्वतम्, पर्यायत्वादिति । एवं पण्डितसूत्रमपि, नवरं पण्डितो व्यवहारेण शास्त्रज्ञो जीवः, निश्चयतस्तु संयत इति । भ० १ श० ९ उ० । अनन्ते च, स्थिरा नाम येषां तत्रैव गृहाणि , अस्थिरा येषाम-न्यत्र गृहाणि । बृ० १ उ० ।

अथि (थि) रछक्क-अस्थिरषट्क-न० । अस्थिराशुभदुर्भग-दुःस्वराऽनादेयाऽयशःकीर्तिरूपे नामकर्मभेदषट्के , कर्म० १ कर्म० ।

अथि (थि) रणाम (ण्)-अस्थिरनामन्-न० । यदुदया-त्कर्णभ्रूजिह्वाद्यवयवा अस्थिराश्चपला भवन्ति, तस्मिन् नाम-कर्मभेदे, कर्म० १ कर्म० ।

अथि (थि) रतिग-अस्थिरत्रिक-न० । अस्थिराऽशुभाऽ-यशःकीर्तिसंज्ञे कर्मत्रिके, कर्म० ४ कर्म० ।

अथि (थि) रदुग-अस्थिरद्विक-न० । अस्थिराशुभाख्ये कर्मद्विके, कर्म० २ कर्म० ।

अथि (थि) रव्वय-अस्थिरव्रत-त्रि० । अस्थिराणि गृहीत-मुक्ततया चलानि व्रतान्यस्येत्यस्थिरव्रतः । कदाचिद् व्रतं पु-नरादत्ते कदाचिद् मुञ्चति । उत्त० २० अ० ।

अथि (थि) वाय-अस्तिवाद-पुं० । सर्वां वस्तूनां सत्ता-भ्युपगमे, यथा-" अत्थि य णिच्चो कुणई, कयं च वेएइ अत्थि णिव्वाणं । अत्थि य मोक्खोवाओ, छः सम्मत्तस्स ठाणाई" ॥१८॥ प्रव० १४८ द्वा० । एतमेवास्तिवादं समवसरणे भगवांस्तीर्थंकर आख्याति । औ० । लोकादीनां वस्तुतः सत्तामस्तित्वमर्हत्कार्द-भेदाभ्यथा स्वनाधार इति ।

सर्वशून्यवादिमतनिरासेन लोकालोकयोः प्रविभागेनास्तित्वं
प्रतिपादयितुकाम आह-

णत्थि लोए अलोए वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि लोए अलोए वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १२ ॥

यदि वा सर्वत्र वीर्यमस्ति, नास्ति सर्वत्र वीर्यम्, इत्यनेन सा-मान्येन वस्त्वस्तित्वमुक्तम् । तथाहि-सर्वत्र वस्तुनो वीर्यं शक्ति-रर्थक्रियासामर्थ्यं सतः स्वविषयज्ञानोत्पादनम्, तदेवान्नेता-स्वन्ताभावाच्छून्यविषयादेरत्यन्तमिदेव संज्ञां न निवेशयेत्, स-र्वत्र वीर्यं नास्तीति नो एव संज्ञां निवेशयेदिति । अनेकान्तरूपं वस्त्वस्तित्वं प्रसाधितम् । इदानीं तस्यैव वस्तुन एकदेश-विशेषेण लोकालोकरूपतयाऽस्तित्वं प्रसाधयन्नाह-(णत्थि लोए

अलोए इत्यादि) लोकश्चतुर्दशरज्ज्वात्मको धर्माधर्माकाशादिप-ञ्चास्तिकायात्मको वा स नास्तीत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत् । तथाऽऽकाशास्तिकायात्मकस्त्वेकः, स च न विद्यत एवेत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत् । तद्भावप्रतिपत्तिनिबन्धनं त्विदम् । त-थथा-प्रतिभासमानं वस्त्ववयवद्वारेण वा प्रतिभासेत,अवय-विद्वारेण वा? तत्र न तावदवयवद्वारेण प्रतिभासनमुत्पद्यते,निर-ंशपरमाणूनां प्रतिभासमानानामर्वाग्दर्शिनां ग्रहणस्य परमा-णवात्मकत्वात्,तेषां च छद्मस्थविज्ञानेन दुर्लक्ष्यत्वात् । तथा चोक्तम्-"यावद् दृश्यं परस्ताव-द्भागः स च न दृश्यते । निरंशस्य च भागस्य,नास्ति छद्मस्थदर्शनम्" ॥१॥ इत्यादि । नाप्यवयविद्वारेण विकल्प्यमानस्यावयविन एवाभावात् । तथाहि असौ स्वावयवेषु प्रत्येकं सामस्त्येन वा वर्तेत, एकांशेमात्रेण वा? सामस्त्येनाव-यविबहुत्वप्रसङ्गात् । नाप्यंशेन,पूर्वविकल्पानतिक्रमेणानवस्थाप्र-सङ्गात् । तस्माद्विचार्यमाणं न कथञ्चिद्वस्त्वात्मकं भाव सम्भवे । त-तस्तत्स्वरूपमेवैतन्मायास्वप्नेन्द्रजालमरुमरीचिकादिविज्ञानवदाभाति । तथा चोक्तम्-"यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते,विविच्यन्ते तथा तथा । यदीदं स्वयमर्थेभ्यो, रोचते तत्र के वयम् ?" ॥१॥ इत्यादि । त-देवं वस्त्वभावे सति लोकालोकाभाव सिद्ध एवेत्यतो नो अतः निवेशयेत्, किन्त्वस्ति लोकः सर्वाबाधितप्रतीत्या वेताम्बरपरिक-[illegible] । तथाहि-[illegible] प्रतिषेधोऽपि नास्ति, [illegible] सति परमार्थभूते वस्तुनि मायास्वप्न [illegible] । अन्य-था निरधिष्ठान, [illegible] इति । उक्तं च-"सर्वोऽयं यथाभीष्टो, [illegible] ॥१॥ इत्यादि । [illegible] । तत्सिद्धं लोकः [illegible] ॥१२॥

तदेवं लोकालोकास्तित्वं प्रतिपाद्याधुना [illegible] जीवाजीवयोरस्तित्वप्रतिपादनायाह-

णत्थि जीवा अजीवा वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि जीवा अजीवा वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १३ ॥

(णत्थि जीवा अजीवा इत्यादि) जीवा [illegible] संसारिणो मुक्ता वा,ते न विद्यन्ते तथा अजीवाश्च, धर्माधर्मा-काशपुद्गलकालात्मका [illegible] न विद्यन्त इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्, अ-[illegible] ।

[illegible]

[illegible]स्वभावस्याश्च कायाकारपरिणतेऽभ्युपगमः। नापि प्रागविद्यमानस्य चैतन्यमुत्पद्यते, आहोस्विद्विद्यमानं ताव-दविद्यमानम्, अतिप्रसङ्गात्, अभ्युपेतागमलोपाच्च। अथ विद्य-मानमेव सिद्धं नाद्वैतं [illegible] तथाऽप्यद्वैतवादापि वाच्यः। यदि [illegible]मेवेदं सर्वम्, कथं घटपटादिषु चैतन्यं नोपलभ्यते ?। तथा [illegible]निबन्धनानां पक्षहेतुदृष्टान्तानामभावात्साध्यसा-[illegible] जीवाजीवयोरन्यायः, अपि तु सर्वपदा-र्थानां स्याद्वादाश्रयणाज्जीवः स्यादजीवः, अजीवोऽपि च स्याज्जी-वः। [illegible] स्याद्वादाश्रयणं जीवपुद्गलयोरन्योन्यानुगतयोः [illegible]मिति ॥ १३ ॥

जीवाजीवयोः च सिद्धे तन्निबन्धनयोः सदसत्क्रियाद्वारा [illegible]प्रतिपादनायाह—

णत्थि धम्मे अधम्मे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि धम्मे अधम्मे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १४ ॥

(णत्थि धम्मे अधम्मे वेत्यादि) धर्मः श्रुतचारित्रात्मको [illegible] कर्मक्षयकारण[illegible], तथाऽध-[illegible] कर्मबन्धकारण-[illegible]। नैवं तौ धर्माऽधर्मौ [illegible] न विद्येते इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्। [illegible] धर्माधर्माव्यतिरेकेण [illegible], यतः न [illegible] न कारणम्, अपि तु [illegible]। तथा चोक्तम्—"न हि कालादीहिंतो, [illegible] विचि। [illegible] ता सव्वे [illegible]" इत्यादि। [illegible] धर्माधर्मावन्तरेण संसार-[illegible] धर्मः [illegible], [illegible] संज्ञां नो निवेशयेदिति ॥१४॥

[illegible]

णत्थि बंधे व मोक्खे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि बंधे व मोक्खे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १५ ॥

[illegible]

[illegible]

णत्थि पुण्णे व पावे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि पुण्णे व पावे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ १६ ॥

नास्ति न विद्यते पुण्यं शुभकर्मप्रकृतिलक्षणम्, तथा पापं तद्वि-पर्ययलक्षणं नास्ति न विद्यते इत्येवं नो संज्ञां निवेशयेत्। तदभा-वप्रतिपत्तिनिबन्धनं त्विदम्-तत्र केषां चिन्नास्ति पुण्यं, पापमेव [illegible] सत्सुखदुःखनिबन्धनम्। तथा-परेषां पापं नास्ति, पुण्यमेव ह्यपचीयमानं पापं कार्यं कुर्यादिति। अन्येषां तूभयमपि नास्ति। संसारवैचित्र्यं तु नियतिस्वभावादिकृतम्। तदेतदयुक्त-म्। यतः पुण्यपापशब्दौ संबन्धिशब्दौ, संबन्धिशब्दानामेकस्य सत्ता परस्यावश्यम्भावी, नैतस्य सत्तेति। नाप्युभयाभावः शक्यते वक्तुम्, निबन्धनस्य जगद्वैचित्र्यस्याभावात्। न हि कारणमन्तरेण काचित्कार्यस्योत्पत्तिर्दृष्टा। नियतिस्वभावादिय-दस्तु [illegible]। अपि च-तद्वादेऽभ्युपगम्यमाने सकलक्रियावैयर्थ्यम्, सत एव सकल कार्योत्पत्तिः। इत्यतोऽस्ति पुण्यं पापं चेत्येवं संज्ञां निवेशयेत्। पुण्यपापे चैवं रूपे; तद्यथा-"पुद्गलकर्म शुभं य-त्तत्पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम्। यदशुभमथ तत्पाप-मिति भवति सर्वज्ञ-निर्दिष्टम्" इति ॥ १६ ॥

न कारणमन्तरेण कार्यस्योत्पत्तिरतः पुण्यपापयोः प्राग्-क्तयोः कारणभूतावाश्रवसंवरौ तत्प्रतिषेधद्वारेण दर्शयितु-काम आह—

णत्थि आसवे संवरे वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि आसवे संवरे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥१७॥

(णत्थि आसवे संवरे वेत्यादि) आश्रवति प्रविशति कर्म येन स प्राणातिपातादिरूप आश्रवः कर्मोपादानकारणम्। तन्नि-रोधः संवरः। एतौ द्वावपि न स्त इत्येवं संज्ञां नो निवेश-येत्। [illegible] कायवाङ्मनःकर्म-[illegible] आश्रव इति यदेतदुक्तं तदेतदयुक्तमेव-" [illegible] पाए इत्यादि" [illegible] कर्मबन्धो न भवतीति। [illegible] आत्मनो भिन्नः, उताभि-न्नः ?। यदि भिन्नो [illegible] घटादिवदेवेऽपि नाश्र-[illegible], सिद्धात्मनामपि आश्रवप्रसङ्गात्। [illegible] [illegible] न कुर्यात्। [illegible] "[illegible] पाए" इत्यादिनोक्तं, [illegible] [illegible] [illegible] संवर इति। [illegible] "[illegible]" इति [illegible] संज्ञां निवेशयेदिति ॥१७॥

[illegible] [illegible] प्रतिषेधद्वारेणाह—

णत्थि वेयणा णिज्जरा वा, णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि वेयणा णिज्जरा वा, एवं सन्नं निवेसए ॥१८॥

(णत्थि वेयणेत्यादि) वेदना कर्मानुभवलक्षणा, तथा निर्जरा क-[illegible]। [illegible] इत्येवं संज्ञां नि-[illegible]। [illegible] "[illegible]" इत्य-[illegible]। [illegible]-"[illegible]

कोडीहिं । तथाणी तिहि गुत्तो, खवेइ ऊसासमित्तेणं "॥ १ ॥ इत्यादि । तथा क्षपकश्रेण्यां च झटित्येव कर्मणो भस्मीकरणात्, यथाक्रमबद्धस्य चानुभवनाभावे वेदनाया अभावस्तदभावाच्च निर्जराया अपीत्येवं नो संज्ञां निवेशयेत्। किमिति?। यतः कस्यचिदेव कर्मण एवमनन्तोक्तया नीत्या क्षपणात्तपसा प्रदेशानुभवेन चापरस्य तूदयोदीरणाभ्यामनुभवनमित्यतोऽस्ति वेदना। यत आगमोऽप्येवंभूत एव। तद्यथा-" पुव्विं दुच्चिन्नाणं, दुप्पडिकंताण कम्माणं। वेइत्ता मोक्खो णत्थि अवेइत्ता " इत्यादि वेदनासिद्धौ च निर्जराऽपि सिद्धैवेत्यतोऽस्ति वेदना निर्जरा चेत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति ॥ १८ ॥

वेदनानिर्जरे च क्रियाऽक्रियत्वे ततस्तद्भावप्रतिषेधनिषेधपूर्वकं दर्शयितुमाह—

णत्थि किरिया अकिरिया वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि किरिया अकिरिया वा, एवं सन्नं निवेसए ॥१९॥

(णत्थि किरिया अकिरिया वा इत्यादि) क्रिया परिस्पन्दलक्षणा , तद्विपर्यस्ता त्वक्रिया , ते द्वे अपि न स्तो न विद्येते। तथाहि-सांख्यानां सर्वव्यापित्वादात्मन आकाशस्येव परिनिस्पन्दिका क्रिया न विद्यते । शाक्यानां तु क्षणिकत्वात्सर्वपदार्थानां प्रतिसमयमन्यथा चाऽन्यथोत्पत्तेः पदार्थसत्तैव, न तद्व्यतिरिक्ता काचित्क्रियाऽस्ति । तथा चोक्तम्-"भूतिर्येषां क्रिया सैव, कारकस्यैव चोच्यते । " इत्यादि । तथा सर्वपदार्थानां प्रतिक्षणमवस्थान्तरगमनात्मक्रियात्वम, अतो न क्रिया विद्यते इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्। किं तर्हि-अस्ति क्रिया अक्रिया चेत्येवं संज्ञां निवेशयेत्।तथाहि-शरीरात्मनोर्देशाद्देशान्तरावाप्तिनिमित्ता परिस्पन्दात्मिका क्रिया प्रत्यक्षेणैवोपलभ्यते, सर्वथा निष्क्रियत्वे चात्मनोऽभ्युपगम्यमाने गगनस्येव बन्धमोक्षाभावः ; स च दृष्टेष्टबाधितः । तथा शाक्यानामपि प्रत्यक्षेणोत्पत्तिरेव क्रियेत्यतः कथं क्रियाया अभावः । अपिच-एकान्तेन क्रियाऽभावे संसारमोक्षाभावः स्यात् । इत्यतोऽस्ति क्रिया , तद्विपक्षभूता चाक्रिया , इत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति ॥ १९ ॥

तदेव सक्रियात्मनि सति क्रोधादिसद्भाव इत्येतद्दर्शयितुमाह-

णत्थि कोहे व माणे वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि कोहे व माणे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २० ॥

स्वपरात्मनोरप्रीतिलक्षणः क्रोधः, स चानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनभेदेन चतुर्धाऽऽगमे पठ्यते । तथैतावद्भेद एव मानो गर्वः। एतौ द्वावपि, न स्तो न विद्येते। तथाहि-क्रोधः केषांचिन्मतेन मानांश एव, अभिमानग्रहगृहीतस्य तत्कृतावत्यन्तक्रोधोदयदर्शनात् । क्षपकश्रेण्यां च भेदेन क्षपणानभ्युपगमात्। तथा किमयमात्मधर्मः, आहोस्वित्कर्मणः, उतान्यस्येति?।तत्रात्मधर्मत्वे सिद्धानामपि क्रोधोदयप्रसङ्गः। अथ कर्मणः, ततस्तदन्यकषायोदयेऽपि तदुदयप्रसङ्गात्। मूर्तत्वाच्च कर्मणो हि घटस्येव तदाकारोपलब्धिः स्यात्। अन्यधर्मत्वे त्वकिञ्चित्करत्वम्। अतो नास्ति क्रोध इत्येवं मानाभावोऽपि वाच्य इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत् । यतः कषायःकर्मोदयवर्ती दृष्टस्फुरद्भ्रुकुटीनक्षिरक्तवदनो गलत्स्वेदबिन्दुसमाकुलः क्रोधाध्मातः समुपलभ्यते । न चासौ मानांशः,तत्कार्याकरणात् ,तथा परनिमित्तोत्थापितत्वाच्चेति । तथा जीवधर्मकर्मणोरुभयोरप्ययं धर्मस्तद्धर्मत्वेन च प्रत्येकपक्षदोषानुपपत्तिः , अनभ्युपगमात् । संसार्यात्मनां कर्मणा सार्द्धं पृथग्भवनाभावात्तदुभयस्य च न नरसिंहवद्वस्त्वन्तरत्वात् । इत्यतोऽस्ति क्रोधो मानश्चेत्येवं संज्ञां निवेशयेत् ॥२० ॥

साम्प्रतं मायालोभयोरस्तित्वं दर्शयितुमाह-

णत्थि माया व लोभे वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि माया व लोभे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २१ ॥

(णत्थि माया व लोभेत्यादि) अत्रापि प्राग्वन्मायालोभयोरभावादीनां निराकृत्यास्तित्वं प्रतिपादनीयमिति ॥ २१ ॥

साम्प्रतं तेषां च क्रोधादीनां समासेनास्तित्वं प्रतिपादयन्नाह-

णत्थि पेज्जे व दोसे वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि पेज्जे व दोसे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २२ ॥

(णत्थि पेज्जेत्यादि) प्रीतिलक्षणं प्रेम पुत्रकलत्रधनधान्यादात्मीयेषु रागः, तद्विपरीतस्त्वात्मीयोपघातकारिणि द्वेषः, तावेतौ द्वावपि न विद्येते । तथाहि-केषांचिदभिप्रायः । यदुत—मायालोभावेवावयवौ विद्येते , न तत्समुदायरूपोऽवयव्यस्ति । तथा क्रोधमानावेव स्तः , न तत्समुदायरूपोऽवयवी द्वेष इति। तथा ह्यवयवेभ्यो यद्यभिन्नोऽवयवी तर्हि तदभेदात्त एव नासौ । अथ भिन्नः , पृथगुपलम्भः स्यात् , घटपटवत् । इत्येवमसिद्धिकल्पमूढतया नो संज्ञां निवेशयेत्। यतोऽवयवावयविनोः कथंचिद्भेद इत्येवं भेदाभेदाख्यतृतीयपक्षसमाश्रयणात्प्रत्येकपक्षाश्रितदोषानुपपत्तिः । इत्येवं चास्ति प्रीतिलक्षणं प्रेम, अप्रीतिलक्षणश्च द्वेष इत्येवं संज्ञां निवेशयेत् ॥ २२ ॥

साम्प्रतं कषायसद्भावे सिद्धे सति तत्कार्यभूतोऽवश्यंभावी संसारसद्भाव इत्येतत्प्रतिषेधनिषेधद्वारेण प्रतिपादयितुमाह—

णत्थि चाउरंते संसारे, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि चाउरंते संसारे, एवं सन्नं निवेसए ॥ २३ ॥
णत्थि देवो व देवी वा, णेवं सन्नं निवेसए ।
अत्थि देवो व देवी वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २४ ॥

(णत्थि चाउरंते इत्यादि) चत्वारोऽन्ता गतिभेदा नरकतिर्यङ्नरामरलक्षणा यस्य संसारस्यासौ चतुरन्तः संसार एव कान्तारः, भयैकहेतुत्वात्। स च चतुर्विधोऽपि न विद्यते; अपि तु सर्वेषां संसृतिरूपत्वात्कर्मबन्धात्मकतया च दुःखैकहेतुत्वात् । अथवा नारकदेवयोरनुपलभ्यमानत्वात्तिर्यङ्मनुष्ययोरेव सुखदुःखोत्कर्षतया तद्व्यवस्थानाद् द्विविधः संसारः, पर्यायनयाश्रयणात् स्वनेकविधः, अतश्चातुर्विध्यं न कथंचिद् घटत इत्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्। अपि त्वस्ति चतुरन्तः संसार इत्येवं संज्ञां निवेशयेत्। यत्तूक्तम्-एकविधः संसारः, तन्नोपपद्यते। यतोऽध्यक्षेण तिर्यङ्मनुष्ययोर्भेदः समुपलभ्यते। न चासावेकविधत्वे संसारस्य घटते । तथा संभवानुमानेन नारकदेवानामप्यस्तित्वाभ्युपगमाद् द्वैविध्यमपि न विद्यते। संभवानुमानं तु पुण्यपापयोः प्रकृष्टफलभुजः तन्मध्यफलभुजां तिर्यङ्मनुष्याणां दर्शनात्। अतः समाप्यते प्रकृष्टफलभुजो ज्योतिषां च प्रत्यक्षेणैव दर्शनात्। अथ तद्विमानानामुपलम्भः, एवमपि तदधिष्ठातृभिः कैश्चिद्भवितव्यमित्यनुमानेन गम्यते। ग्रहगृहीतवरप्रदानादिना च तदस्तित्वानुमानमिति । तदस्तित्वे तु प्रकृष्टपुण्यफलभुज इव प्रकृष्टपापफलभुग्भिरपि भाव्यमित्यतोऽस्ति चातुर्विध्यम । संसारस्य पर्यायनयाश्रयणे तु यदनेकविधत्वमुच्यते। तदयुक्तम् । यतः सम

पृथिव्याश्रिता अपि नारकाः समानजातीयाश्रयणादेकप्रकारा एव । तथा तिर्यञ्चोऽपि पृथिव्यादयः स्थावराः, तथा द्वित्रिचतु-पञ्चेन्द्रियाश्च द्विपदित्रिपदचतुष्पदादिभिर्भिद्यमानाः सर्वेऽप्येकविधा एव । तथा मनुष्या अपि कर्मभूमिजाऽकर्मभूमिजान्तरद्वीपकसंमूर्च्छनजात्मकभेदमनादृत्यैकविधत्वेनैवाश्रिताः । तथा देवा अपि भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकभेदेन भिन्ना एकविधत्वेनैव गृहीताः । तदेवं सामान्यविशेषाश्रयणाच्चातुर्विध्यं संसारस्य व्यवस्थितम्; नैकविधत्वम्, संसारवैचित्र्यदर्शनात् । नाप्यनेकविधत्वम्, सर्वेषां नारकादीनां स्वजात्यनतिक्रमादिति ॥ २३ ॥ २४ ॥

सर्वभावानां सप्रतिपक्षत्वात्संसारसद्भावे सति अवश्यं तद्विमुक्तिलक्षणया सिद्ध्याऽपि भवितव्यमित्यतोऽधुना सप्रतिपक्षां सिद्धिं दर्शयितुमाह—

णत्थि सिद्धी असिद्धी वा, णेवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि सिद्धी असिद्धी वा, एवं सन्नं निवेसए ॥२५॥

(णत्थि सिद्धीत्यादि) सिद्धिरशेषकर्मच्युतिलक्षणा, तद्विपर्यस्ता चासिद्धिर्नास्तीत्येवं नो संज्ञां निवेशयेत्, अपि त्वसिद्धेः संसारविलक्षणायाश्चातुर्विध्येनानन्तरमेव प्रसाधिताया अविगाने नास्तित्वं प्रसिद्धम्, तद्विपर्ययेण सिद्धेरप्यस्तित्वमनिवारितमित्यतोऽस्तिसिद्धिरसिद्धिर्वेत्येवं संज्ञां निवेशयेदिति स्थितम् । इदमुक्तं भवति—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकस्य मोक्षमार्गस्य सद्भावोऽक्षयस्य च, पीडोपशमादिनाऽभ्यन्तरेण दर्शनात् । अतः कस्यचिदात्यन्तिककर्महानिसिद्धेरस्ति सिद्धिरिति । तथा चोक्तम्—"दोषावरणयोर्हानि-र्निःशेषाऽस्त्यतिशायिनी । क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो, बहिरन्तर्मलक्षयः" ॥१॥ इत्यादि । सर्वज्ञसद्भावोऽपि संभवानुमानाद् द्रष्टव्यः । तथा हि—अभ्यस्यमानायाः प्रज्ञाया व्याकरणादिना शास्त्रसंस्कारेणोत्तरोत्तरवृद्ध्या प्रज्ञातिशयो दृष्टव्यः । तत्र कस्यचिदत्यन्तातिशयप्राप्तौ सर्वज्ञत्वं स्यादिति संभवानुमानेन चैतदुपपादनीयम् । न चैवं वाच्यम्—तप्यमानमुदकमत्यन्ततोष्णतामियादग्नितां याति [illegible] । "दशहस्तान्तरं व्योम्नि, यो नामोत्प्लुत्य गच्छति । न योजनमसौ गन्तुं, शक्तोऽभ्यासशतैरपि" ॥१॥ इति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरसाम्यात् । तथाहि—ताप्यमानं जलं प्रतिक्षणं क्षयं गच्छेत्, प्रज्ञा तु विवर्द्धते । यदि वा प्लोषोपलम्भेऽप्याहतमग्निस्थम् । तथा प्लवनविषयेऽपि पूर्वमर्यादाया अनतिक्रमाद्योजनयोजनशतमपि गच्छेत्, इत्यतो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरसाम्यादेव [illegible] इति स्थितम् । प्रज्ञावृद्धेश्च बाधकप्रमाणाभावादस्ति सर्वज्ञत्वसिद्धिरिति । यदि वाऽनन्तानामुत्कर्षः [illegible] । तथा चोक्तम्—"अमी जीवाः स्वयं जीवाः, आकाशे जीवमालिनि । जीवमालाकुले लोके, कथं भिक्षुरहिंसकः ?" ॥१॥ इत्यादि । तदेवं सर्वस्य [illegible] इति । तदेतदयुक्तम् । तथाहि—[illegible] दर्शनकर्मणः [illegible] सर्वदा [illegible] । तथा चोक्तम्—"[illegible]" इत्यपि प्रतीतम्, तदेवं कर्मक्षयरूपा सिद्धिः [illegible] ॥ २५ ॥

साम्प्रतं सिद्धेः स्थानं [illegible]—

णत्थि सिद्धी नियं ठाणं, णेवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि सिद्धी नियं ठाणं, एवं सन्नं निवेसए ॥२६॥

सिद्धिरशेषकर्मच्युतिलक्षणा या निजं स्थानमीषत्प्राग्भारा[illegible] यहारतः, निश्चयतस्तु तदुपरि योजनक्रोशस्य षड्भागस्तत्र[illegible] कल्प्यमाणा नास्त्येवं संज्ञां नो निवेशयेत्, यतो बाध[illegible] प्रमाणाभावात्साधकस्य चागमस्य सद्भावात् तत्सत्ता दुर्निवा[illegible]ति । अपि च—अपगताशेषकल्मषाणां सिद्धानां केनचिद्दे[illegible] स्थानेन भाव्यम्, तच्चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य लोकस्याग्रभूतं द्र[illegible] व्यम् । न च शक्यते वक्तुमाकाशवत्सर्वव्यापिनः सिद्धा इति । यतो लोकालोकव्याप्याकाशम् । न चालोके परद्रव्यास्याकाश[illegible] स्वरूपत्वात् लोकमात्रव्यापित्वमपि नास्ति, विकल्पानुपपत्तेः । त[illegible]थाहि—सिद्धावस्थायां तेषां व्यापित्वमभ्युपगतम्; उत प्रागपि? तावत्सिद्धावस्थायाम्, तद्व्यापित्वभवने निमित्ताभावात् । न[illegible]पि प्रागवस्थायाम्, तद्भावे सर्वसंसारिणं प्रति नियतसुखदुःखप्र[illegible] सङ्गो न स्यात् । न च शरीराद्बहिरवस्थितमवस्थानमस्ति, तन्[illegible] स्वानिबन्धनप्रमाणस्याभावात् । अतः सर्वव्यापित्वं विचार्यमाणं न कथञ्चिद् घटते । तदभावे च लोकाग्रमेव सिद्धानां स्थानम् । त[illegible]दतिश्च कर्मविमुक्तस्योर्ध्वं गतिरिति । तथा चोक्तम्—"लाउ एरंडफले, अग्गी धूमे उसू धणुविमुक्के । गइ पुव्वपओगेणं, एवं सिद्धाण वि गईओ" ॥ १ ॥ इत्यादि । तदेवमस्ति सिद्धिः, तस्याश्च निजं स्थानमित्येवं संज्ञां निवेशयेदिति ॥ २६ ॥

साम्प्रतं सिद्धेः साधकानां तत्प्रतिपक्षभूतानामसाधूनां चास्तित्वं प्रतिपिपादयिषुः पूर्वपक्षमाह—

णत्थि साहू असाहू वा, णेवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि साहू असाहू वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २७

नास्ति न विद्यते ज्ञानदर्शनचारित्रक्रियोपेतो मोक्षमार्गव्यव[illegible] तः साधुः, संपूर्णस्य रत्नत्रयानुष्ठानस्याभावात्, तदभावाच्च त[illegible] तिपक्षभूतस्यासाधोरप्यभावः, परस्परापेक्षित्वात् । एतच्च[illegible] स्थानस्यैकतराभावे द्वितीयस्याप्यभाव इत्येवं संज्ञां नो निवेश[illegible] त, अपि त्वस्ति साधुः, सिद्धेः प्राक्प्रसाधितत्वात् । सिद्धिसत्ता च[illegible] साधुमन्तरेण । अतः साधुसिद्धेस्तत्प्रतिपक्षभूतस्य चासाधोरि[illegible] ति । यश्च संपूर्णरत्नत्रयानुष्ठानाभावः प्राक्छङ्कितः, स सिद्धान्ता[illegible] भिप्रायमबुद्ध्वैव । तथाहि—सम्यग्दृष्टेरुपयुक्तस्यारक्तद्विष्टस्य सत्संयमवतः श्रुतानुसारेणाऽऽहारादिकं शुद्धबुद्ध्या गृह्णतः क[illegible] चिदज्ञानादनेषणीयग्रहणसंभवेऽपि सततोपयुक्ततया संपूर्णमेव रत्नत्रयानुष्ठानमिति । यश्च भक्ष्यमिदं चाभक्ष्यम्, गम्यमिदं चागम्यम्, प्रासुकमेषणीयमिदमिदं च विपरीतमित्येवं रागद्वेषसंभवेन समभावरूपस्य सामायिकस्याभावः कैश्चिच्चोद्यते, तदपि चोदनमज्ञानविजृम्भणात् । तथाहि—न तेषां सामायिकवतां साधूनां रागद्वेषतया भक्ष्याभक्ष्यादिविवेकोऽपि तु प्रधानमोक्षाङ्गस्य सच्चारित्रस्य साधनार्थमपि चोपकारापकारयोः समभावतया सामायिकम्, न पुनर्भक्ष्याभक्ष्ययोः समभावप्रवृत्तेरि-ति ॥ २७ ॥

तदेवं मुक्तिमार्गप्रवृत्तस्य साधुत्वम्, इतरस्य चासाधुत्वं, प्रदर्श्याधुना च सामान्येन कल्याणपापयोः सद्भावं प्रतिषेधयितुं पूर्वपक्षमाह—

णत्थि कल्लाणपावे वा, णेवं सन्नं निवेसए ।

अत्थि कल्लाणपावे वा, एवं सन्नं निवेसए ॥ २८ ॥

(णत्थि कल्लाणपावे वेत्यादि) यथैषामभ्युपगमान्नास्ति कल्याणः विद्यते, सर्वाशुचित्वया निरात्मकत्वात् । सर्वपदार्थानां चा-भिप्रायेण, तथा तदभावे कल्याणवांश्च न कश्चिद्विद्यते, तथाऽऽ-त्माद्यभिप्रायेण पुरुष एवेदं सर्वमिति कृत्वा पापं पाप-वा न कश्चिद्विद्यते, तदेवमुभयोरप्यभावः । तथा चोक्तम्-"विद्याविनयसंपन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि । शुनि चैव श्व-पाके च, पण्डिताः समदर्शिनः" ॥ १ ॥ इत्येवमेव कल्याणपाप-योरभावरूपां संज्ञां नो निवेशयेत् । अपि त्वस्ति कल्याणं,कल्याण-वांश्च विद्यते , तद्विपर्ययस्तं पापं तद्वांश्च विद्यते , इत्येवं संज्ञां निवेशयेत् । तथाहि-नैकान्तेन कल्याणाभावो यो बौद्धैरभि-हितः, सर्वपदार्थानामशुचित्वासंभवात्, सर्वाऽशुचित्वे च बुद्ध-स्याप्यशुचित्वप्रसक्तेः । नापि निरात्मकः स्वद्रव्य क्षेत्र काल भावापेक्षया सर्वपदार्थानां विद्यमानत्वात्परद्रव्यादिभिस्तु न विद्यन्ते,तदस-त्त्वमेकस्थाप्यस्तुतः । तदुक्तम्-स्यादस्ति स्याद्वावस्तु परद्रव्यादिभ्य-[illegible] वस्तुनो वस्तुत्वमिति । तथाऽऽत्माद्वैतमपि नास्ति तथा नास्त्या-त्मनोऽपि नास्ति, यदि तदभावे हि सुखी दुःखी सरोगो नीरोग-रूपः कुरूपो दुर्भगः सुभगोऽर्थवान् दरिद्रः,तथाऽयमन्तिकोऽय-द्दूरवर्ती इत्येवमादिको जगद्वैचित्र्यभावोऽध्यक्षसिद्धोऽपि न स्यात् । यच्च समदर्शित्वमुच्यते ब्राह्मणश्वपाकादिषु,तदपि समानपीडोत्पादकत्वे द्रष्टव्यम्;न पुनः कर्मापादितवैचित्र्याभा-वेऽपि तेषां ब्राह्मणश्वपाकादीनामस्तीति तदेव कथंचित्कल्या-णमस्ति, तद्विपर्ययस्तं तु पापमस्तीति । न चैकान्तेन कल्याणमेव, यतः केवलिनां प्रक्षीणघनघातिकर्मचतुष्टयानां सातासातोदय-सद्भावात् । तथा नारकाणामपि पञ्चेन्द्रियत्वविशिष्टज्ञानादिस-द्भावान्नैकान्तेन तेऽपि पापवन्त इति । तस्मात्कथंचित्कल्याणं कथं-चित्पापमिति स्थितम् ॥ २८ ॥

तदेवं कल्याणपापयोरनेकान्तरूपत्वं प्रसाध्यैकान्तं दूषयितुमाह—

कल्लाणे पावए वा वि, ववहारो ण विज्जइ ।
जं वेरं तं न जाणंति, समणा बालपंडिया ॥२९॥

(कल्लाणे पावए इत्यादि) कल्यं सुखमारोग्यं शोभनत्वं वा, तदणतीति कल्याणम् , तदस्यास्तीति कल्याणः "अर्श आ-दिभ्योऽच्" ५ । २ । १२७ ॥ इत्यनेन पाणिनीयसूत्रेण मत्वर्थी-योऽच्प्रत्ययान्तः; कल्याणवानिति यावत् । पापकशब्दोऽपि मत्वर्थीयाऽच्प्रत्ययान्तो द्रष्टव्यः , तदेवं सर्वथा कल्याणवा-न्पापम् , तथा पापवानेवायमित्येवंभूतो व्यवहारो न विद्यते । एकान्तेनैकस्यार्थस्यैवाभावात् । तदभावस्य च सर्ववस्तूनामने-कान्ताश्रयणेन प्रागुक्तत्वादिति । एतच्च व्यवहाराभावा-भ्युपगमं सर्वत्र प्रागपि योजनीयम् । तद्यथा-सर्वत्र वीर्यमस्ति नास्ति वा सर्वत्र वीर्यमित्येवंभूत एकान्तिको व्यवहारो न विद्यते । तथा नास्ति लोकोऽलोको वा,तथा सन्ति जीवा अजीवा इति वेत्येवंभूतो व्यवहारो न विद्यत इति सर्वत्र संबन्धनी-यम् । तथा यदि वैरं वज्रं तदात्मकं वैरं, विरोधो वा वैरम् , तदेन परोपतापादिनैकान्तपक्षसमाश्रयणेन वा भवति , तत्र श्रमणाः [illegible] बाला इव बाला रागद्वेषकलिताः [illegible] न जानन्ति, [illegible] तदैकान्तिकपक्षसमाश्रयणेन वाऽनाचरणमिति । [illegible] [illegible] न जानन्ति [illegible] न विद्यते [illegible] । [illegible] न विद्यते ! [illegible]

[illegible] । अपि च-तेषां [illegible] वाच्यम् । यत उक्तम्-"अप्पत्तियं जेण सिया, आसु कुप्पिज्ज वा परो । सव्वसो तं न भासेज्जा, भासं अहियगामिणिं" ॥ १ ॥ इत्यादि ॥ २९ ॥

अन्यदपि वाक्संयममधिकृत्याऽऽह—

असेसं अक्खयं वा वि , सव्वदुक्खे त्ति वा पुणो ।
वज्झा पाणा न वज्झन्ति, इति वायं न नीसरे ॥३०॥

(असेसमित्यादि) अशेषं कृत्स्नं तत्साङ्ख्याभिप्रायेण सर्वं नित्यमित्येवं न ब्रूयात् , प्रत्यक्षेणैव प्रतिक्षणं [illegible] । [illegible] [illegible] अपि [illegible] । [illegible] क्षणिकमित्येवमपि वाचं न निसृजेत्, सर्वथा [illegible] सर्वथा विनष्टस्योत्पत्त्यभावात् [illegible] । [illegible] "नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोरन्यानपेक्षणात्" इति । तथा सर्वं जगद् दुःखात्मकमित्येवमपि न ब्रूयात् , [illegible] दर्शनात् । तथा चोक्तम्-"[illegible] [illegible] । [illegible] ॥ १ ॥ तथा [illegible] , [illegible] । [illegible] । [illegible] । तथा चोक्तम्-"[illegible] " इति । [illegible] । तद्यथा-[illegible] ॥ ३० ॥

[illegible]—

दीसंति समियायारा, भिक्खुणो साहुजीविणो ।
एए मिच्छोवजीवंति, इति दिट्ठिं न धारए ॥ ३१ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ ३१ ॥

किञ्चाऽन्यत्-

दक्खिणाए पमीलंभो, अत्थि वा णत्थि वा पुणो ॥
ण वियागरेज्ज मेहावी, संति मग्गं च वूहए ॥ ३२ ॥

(दक्खिणाए इत्यादि) दानं दक्षिणा, तस्याः प्रतिलम्भः प्राप्तिः, स दानलाभोऽस्मात्स्वयूथ्यादेः सकाशादस्ति नास्ति वेत्येवं न व्यागृणीयात्, मेधावी मर्यादाव्यवस्थितः। यदि वा स्वयूथ्यस्य तीर्थान्तरीयस्य वा दानं ग्रहणं वा प्रतिलाभः स एकान्तेनास्ति संभवति, नास्ति वेत्येवं न ब्रूयात्, एकान्तेन तद्दानग्रहणनिषेधे दोषोत्पादसंभवात्। तथाहि-तद्दाननिषेधेऽन्तरायसंभवः, तद्विधेश्च तद्दानानुमनात्यधिकरणोद्भव इत्यतोऽस्ति दानं न वेत्येवमेकान्तेन न ब्रूयात्। कथं तर्हि ब्रूयात्?, इति दर्शयति-शान्तिर्मोक्षः, तस्य मार्गः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकः, तमुपबृंहयेद्वर्धयेत्। यथा मोक्षमार्गाभिवृद्धिर्भवति तथा ब्रूयादित्यर्थः। एतदुक्तं भवति-पृष्टः केनचिद्विधिप्रतिषेधमन्तरेण देयप्रतिग्राहकविषयं निरवद्यमेव ब्रूयादित्येवमादिकमन्यदपि ॥ ३२ ॥

साम्प्रतमध्ययनार्थमुपसंजिघृक्षुराह—

इच्चेएहिँ ठाणेहिँ, जिणदिट्ठेहिँ संजए।
धारयंते उ अप्पाणं, आमोक्खाए परिव्वएज्ज ॥ ३३ ॥ त्ति बेमि।

इत्येतैरेकान्तनिषेधद्वारेणानेकान्तविधायिभिः स्थानैर्वाक्संयमप्रधानैः समस्ताध्ययनोक्तैः रागद्वेषरहितैर्जिनैर्दृष्टैरुपलब्धैर्न स्वमतिविकल्पोत्थापितैः, संयतः सन् सत्यमयात्मानं धारयन्नेभिर्विधिधर्मैर्दर्शनाचारैर् वर्तयेत्। तथा चोक्तम्-"साव्वज्जऽणवज्जाणं, वयणाणं जो न जाणइ विसेसं" इत्यादिस्थानैरात्मानं वर्तयन्नामोक्षाय अशेषकर्मक्षयाख्यं मोक्षं यावत्परि समन्तात्संयमानुष्ठाने व्रजेः, गच्छेस्त्वमिति विधेयस्योपदेशः। इतिः परिसमाप्त्यर्थे। ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ ३३ ॥

अत्थीकरण—अर्थीकरण—न०। अर्थयते अर्थी वा करोति अर्थं जनयते इत्यर्थीकरणम्। राजादीनां प्रार्थने, तैर्वाऽऽत्मनः प्रार्थनाकारणे, नि० चू०।

जे भिक्खू रायं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥ जे भिक्खू रायरक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥ जे भिक्खू णगररक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥ जे भिक्खू णिगमरक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥ जे भिक्खू देसरक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥ जे भिक्खू सीमारक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥ जे भिक्खू सिमरक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥ जे भिक्खू सव्वारक्खियं अत्थीकरेइ, अत्थीकरंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥

अत्थरते अत्थी वा, करेइ अत्थं व अप्पणं जम्हा।
अत्थीकरणं तम्हा, [illegible] ॥ २२ ॥

अत्थू रायाणं अत्थेति अत्थरेते, अत्थू [illegible] करेति जम्हा [illegible] तस्स अत्थं जणेति, [illegible]। तस्य राज्ञः अर्थं जनयति। जम्हा एवं करेति तम्हा अत्थीकरणं भण्णति। साधू रायाणं भणति-मम अत्थि विज्जा, णिमित्तं वा तीताणागतं। ताहे सो राया अत्थीभवति। आदिग्गहणे रसायणादिजोगा। इमं अत्थीकरणं।

धातुनिधाणदरिसणे, जणयंते तस्स होति सट्टाणं।
अत्ती अत्थी अत्थे-ण संतऽसंतेण लहु लहुया ॥ २३ ॥

धातुवादेण वा से अत्थं करेति, महाकालमंतेण वा से णिहिं दरिसेति। एवं अत्थं जणयंतो सट्ठाणपच्छित्तं, इक्काया चउगुरु लहुगा। सीहावलोयणेण गतोऽप्यर्थः पुनरुच्यते-अत्ती, अत्थी, अत्थी, एतेसु मंतेसु मासलहुं, असंते चउलहुं।

एक्के एगतरेणं, अत्थीकरणेण जो तु रायाणं।
अत्थीकरेति भिक्खू, सो पावति आणमादीणि ॥ २४ ॥

राया भिक्खुस्स संजम अणुवेलक्ख एतेहिं राया चत्तारि गाहाओ जाव एतेहिं। नि० चू० ४ उ०।

अत्थु (त्थोव) ग्गह—अर्थावग्रह—पुं०। अर्थ्यते इत्यर्थः। अर्थस्यावग्रहणमर्थावग्रहः। सकलरूपादिविशेषनिरपेक्षानिर्देश्यसामान्यमात्ररूपार्थग्रहणलक्षणे मतिज्ञानभेदाऽवग्रहभेदे, नं०। स०। कर्म०। भ०। स्था०। प्रज्ञा०। "सामन्नरूवाइं विसेसणरहियस्स अनिद्देसस्स" अवग्रहणमवग्रह इति। नं०। प्रव०। अर्थ्यते अधिगम्यते, अर्थ्यते वाऽन्विष्यत इति अर्थः। तस्य सामान्यरूपस्याशेषविशेषनिरपेक्षानिर्देश्यस्य रूपादेरवग्रहणं प्रथमपरिच्छेदनमर्थावग्रह इति निर्विकल्पकं ज्ञानं दर्शनमिति यदुच्यते इत्यर्थः। स नैश्चयिको यः स सामयिकः, यस्तु व्यावहारिकः शब्दोऽयमित्याद्युल्लेखवान् सोऽन्तर्मौहूर्तिक इति। अयं पञ्चेन्द्रियमनःसंबन्धात् षोढा इति। स्था० २ ठा० १ उ०। (अर्थावग्रहस्य सोपपत्तिकः स्वरूपविवेकः 'उग्गह' शब्दे द्वितीयभागे ६६८ पृष्ठे द्रष्टव्यः) स च मनःसहितेन्द्रियपञ्चकजन्यत्वात्षोढा। प्रव० २१६ द्वा०।

तथा च सूत्रम्—

अत्थोवग्गहे णं भंते ! कतिविहे पणत्ते ? । गोयमा ! छव्विहे पणत्ते। तं जहा-सोइंदियअत्थोवग्गहे १, चक्खिंदियअत्थोवग्गहे २, घाणिंदियअत्थोवग्गहे ३, जिब्भिंदियअत्थोवग्गहे ४, फासिंदियअत्थोवग्गहे ५, नोइंदियअत्थोवग्गहे ६ ॥ प्रज्ञा० १५ पद। स्था०।

अथ कोऽयमर्थावग्रहः ?। सूरिराह-अर्थावग्रहः षड्विधः प्रज्ञप्तः। तद्यथा-श्रोत्रेन्द्रियार्थावग्रह इत्यादि। श्रोत्रेन्द्रियेणार्थावग्रहो व्यञ्जनावग्रहादनन्तरकालमेकसामायिकमनिर्देश्यसामान्यरूपार्थावग्रहणं श्रोत्रेन्द्रियार्थावग्रहः। एवं घ्राणजिह्वास्पर्शनेन्द्रियार्थावग्रहेष्वपि वाच्यम्। चक्षुर्मनसोस्तु व्यञ्जनावग्रहो न भवति। ततस्तयोः प्रथममेव रूपद्रव्यगुणक्रियाविकल्पनाऽऽत्मनिर्देश्य सामान्यमात्ररूपार्थग्रहणमर्थावग्रहोऽवसेयः। तत्र-(नोइंदियअत्थोवग्गहो त्ति) नोइन्द्रियं मनः। तच्च द्विधा-द्रव्यरूपं, भावरूपं च। तत्र मनःपर्याप्तिनामकर्मोदयतो यन्मनःप्रायोग्यवर्गणादलिकमादाय मनस्त्वेन परिणमति, तद्द्रव्यरूपं मनः। तथाचाह चूर्णिकृत्-

"मणपज्ज त्ति नामकम्मोदयओ जोगो मणोदव्वे घेत्तुं मणत्तेण परिणामिया दव्वमणो भण्णइ" तथा द्रव्यमनोऽवष्टम्भेन जीवस्य यो मननपरिणामः स भावमनः । तथा चाह चूर्णिकार एव-" जीवो पुण मणणपरिणामकिरियापन्नो भावमणो । किं भणियं होइ ?-मणदव्वालंबणो जीवस्स मणवावारो भावमणो भण्णइ" । तत्रेह भावमनसा प्रयोजनम्, तद्ग्रहणे ह्यवश्य द्रव्यमनसोऽपि ग्रहणं भवति; द्रव्यमनोऽन्तरेण भावमनसोऽसम्भवात् । भावमनो विनाऽपि च द्रव्यमनो भवति; यथा भवस्थकेवलिनः; तत उच्यते भावमनसेह प्रयोजनम् । तत्र नोइन्द्रियेण भावमनसोऽर्थावग्रहो द्रव्येन्द्रियव्यापारनिरपेक्षो घटाद्यर्थस्वरूपपरिभावनाऽभिमुखः प्रथममेकसामायिको रूपाद्याकारादिविशेषचिन्ताविकलो निर्देश्यसामान्यमात्रचिन्त्याऽऽत्मको बोधो नोइन्द्रियार्थावग्रहः। नं०। अयं च नैश्चयिक एकसामायिकः । व्यावहारिकस्त्वान्तर्मौहूर्तिकः। स्था०६ ठा०।

अत्थु (त्थो) ग्गहण-अर्थावग्रहण-न० । फलनिश्चये, भ० ११ श० ११ उ० ।

अत्थुरं-देशी-शय्यां, दे० ना० १ वर्ग ।

अत्थुप्पत्ति-अर्थोत्पत्ति-स्त्री०। उत्पद्यते यस्मादिति उत्पत्तिः । अर्थस्योत्पत्तिर्व्यवहार उच्यते अर्थोत्पत्तिः । करणव्यवहारे, व्य० १ उ० ।

अत्थेर-अस्थैर्य-न० । अस्थिरत्वे, अष्ट० ४ अष्ट०।

अत्थोप्पायण-अर्थोत्पादन-न०। द्रव्याऽऽर्जने, प्रव०२५६द्वा०।

अत्थोभय-अस्तोभक-न०। न० ब०। स्तोभकरहिते गुणवत्सूत्रे, अनु०। "उय व इकारो इ त्ति अ-कारणाईय थोभया हुंति" इत वै हाऽऽदिप्रभृतीनामकारणप्रक्षेपाः स्तोभकाः। तद्रहितमस्तोभकम् । बृ० १ उ० । विशे० ।

अथव्वण-अथर्वण-पुं०। चतुर्थवेदे, "जाव अथव्वणकुसलेया वि होत्था" विपा० १ श्रु० ५ अ० ।

अद्-अद्-अ०। आश्चर्ये, "धियो यो नः प्रचोदयात्" अदिति आश्चर्यरूपस्तत्कारणेऽनिवृत्तत्वात्, ततश्च हे अत् ! " विरामे वा" ॥१।३।४१॥ इति दस्य तः । साङ्ख्याभिप्रायेण गा० व्याख्या । जै० गा० । एतादृशः प्रयोगः प्राकृते न प्रयुज्यते ।

अदंड-अदण्ड-पुं० । प्रशस्तयोगत्रये, अहिंसामात्रे च । "एगे अदंडे" स० १ सम० ।

अदंडकु(को)दंडिम-अदण्डकुदण्डिम-त्रि०। दण्डलभ्यं द्रव्यं दण्ड एव । कुदण्डेन निर्वृत्तं द्रव्यं कुदण्डिमम्, तन्नास्ति यत्र तत्तथा । दण्डकुदण्डाभ्यामगृह्यमाणद्रव्ये नगरादौ, तत्र दण्डोऽपराधानुसारेण राजग्राह्यं द्रव्यम् ; कुदण्डस्तु-कारणिकानां प्रज्ञापराधान्महत्यपराधिनोऽपराधेऽल्पं राजग्राह्यं द्रव्यमिति । "उस्सुक्कं उक्करं उक्किट्ठं अदिज्जं अमेज्जं अभडप्पवेसं अदंडकोदंडिमं अधरिमं गणियावरनाडइज्जकलियं" (पुरीवर्णकः) भ० ११ श० ११ उ० । ज्ञा० । जं० । कल्प० ।

अदंतवण-अदन्तवन-त्रि० । दन्तधावनरहिते, अदन्तधावनो धर्मो वीरमहापद्मयोस्तीर्थेऽनुष्ठानः । स्था० ९ ठा० ।

अदंभग-अदम्भक-त्रि०। वञ्चनाऽनुगतवचनविरहिते, ध०३ उ०।

अदं(दं)सण-अदर्शन-न०। न०त०। प्राकृते-"समासे वा" ॥८।२।९७॥ इति दस्य वा द्वित्वम् । प्रा० । चाक्षुषज्ञानाभावे, न विद्यते दर्शनं दृग् यस्येत्यदर्शन । अन्धे, स्त्यानर्द्धिनिद्रोदयवति च । ग० १ अधि० । न विद्यते दर्शनं सम्यक्त्वमस्येति व्युत्पत्तेः । अयं च दीक्षितः सन् विकलतया यत्र तत्र वा संचरन् षड्जीवान् विराधयेद्विषमकीलकण्टकादिषु च पतेत् । स्त्यानर्द्धिस्तु प्रविष्टो गृहिणां साधूनां च मारणादि कुर्यात् । प्रव०१०७ द्वा० । ध० ।

"दुविहो अदंसणो खलु, जाति उववायतो य णायव्वो ।
उववातो पुण तिविहो , वाहीअववायअंजणताए ॥१॥
संगोणं चिय अवरो, थीणद्धीओ मुणेयव्वो ।
एतेसिं सो हि इमा, जहक्कमेणं मुणेयव्वो ॥२॥
अहियणयणे तह सं-सएसु थीणद्धितो तु कमसो तु ।
जगुरु चउगुरु चरिमं, दोमा लहिं दिक्खिते इणमो ॥३॥
छक्कायविउरमणता, आयरणं खाणुकंटमादीसु ।
पक्खिलअपक्खिलहा, अंधस्स ण कप्पती दिक्खा ॥४॥
अवहंति य महादोसे, दंसणकम्मोदएण थीणद्धी ।
एगमणंगय ठ मे, जं काही तं तु आवज्जे" ॥ ५ ॥ पं० भा० ।

चौरे, दे० ना० १ वर्ग ।

अदक्खु-अदृष्ट-त्रि० । न० ब० । अर्वाग्दर्शने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अदक्ख-त्रि० । अनिपुणे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अपश्य-त्रि० । पश्यतीति पश्यः, न पश्योऽपश्यः । अन्धे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । माद्राक्षीत् इत्यस्यापि 'अदक्खु' इति रूपम् । प्रति० । ग० ।

अदक्खुदंसण-अदक्षदर्शन-त्रि०। असर्वज्ञोक्तशासनानुयायिनि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अदृष्टदर्शन-त्रि० । असर्वज्ञोक्तशासनाऽनुयायिनि, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अपश्यकदर्शन-त्रि० । अपश्यकस्यापि सर्वज्ञस्याभ्युपगतं दर्शनं येनाऽसावपश्यकदर्शनः । स्वतोऽर्वाग्दर्शिनि, सूत्र० ।

अदक्खुव दक्खुवाहियं, सद्दहसु अदक्खुदंसणा ।
हंदि हु सुनिरुद्धदंसणे , मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा ??

(अदक्खुवेत्यादि) पश्यतीति पश्यः, न पश्योऽपश्योऽन्धः, तेन तुल्यं कार्याकार्यविवेकविकलत्वादपश्यवत् । तस्याऽऽमन्त्रणं हे अपश्यवत् ! अन्धसदृश ! प्रत्यक्षस्यैवैकस्याऽभ्युपगमेन कार्याकार्यानभिज्ञ !, पश्येन सर्वज्ञेन, व्याहृतमुक्तं सर्वज्ञागमं, श्रद्धस्व प्रमाणीकुरु, प्रत्यक्षस्यैवैकस्याऽभ्युपगमेन समस्तव्यवहारविलोपेन हन्त ! हतोऽसि, पितृनिबन्धनस्याऽपि व्यवहारस्याऽसिद्धेरिति । तथाऽपश्यकस्याऽपि सर्वज्ञस्याऽभ्युपगतं दर्शनं येनाऽसावपश्यकदर्शनः । तस्याऽऽमन्त्रणं वा हे अपश्यकदर्शन ! स्वतोऽर्वाग्दर्शी भवानित्यर्वाग्दर्शनप्रमाणेन सन् कार्याकार्यविवेचनयाऽन्यदर्शनीयश्च यदि सर्वज्ञाभ्युपगमं नाऽकरिष्यत् । यदि वाऽदृशो वा अनिपुणो वा यादृशस्तादृशो वाऽचक्षुर्दर्शनमस्याऽस्तीत्यचक्षुर्दर्शनः केवलदर्शनः सर्वज्ञस्तस्मादागमे हितं तत् श्रद्धत्स्व । इदमुक्तं भवति-अनिपुणेन निपुणेन वा सर्वज्ञदर्शनोक्तं हितं श्रद्धातव्यम् । यदि वा हे अदृश ! हे अर्वाग्दर्शन . . .

क्षमपदार्थदर्शिना यद्व्याहृतमभिहितमागमः, तं श्रद्धस्व । हे असद्दर्शन !, अदृष्टदर्शन ! इति वा, असर्वज्ञोक्तशासनानुयायिन् ! तमात्मीयमाग्रहं परित्यज्य सर्वज्ञोक्ते मार्गे श्रद्धानं कुर्विति तात्पर्यार्थः । किमिति सर्वज्ञोक्ते मार्गे श्रद्धानमसुमान्न करोति येनैवमुपदिश्यते । तन्निमित्तमाह-हंदीत्येवं गृहाण । हुशब्दो वाक्यालङ्कारे, सुष्ठु अतिशयेन निरुद्धमावृतं दर्शनं सम्यक् अवबोधरूपं यस्य सः । केनेत्याह-मोहयतीति मोहनीयम्, मिथ्यादर्शनादि; ज्ञानावरणीयादिकं वा, तेन कृतेन कर्मणा निरुद्धदर्शनः प्राणी सर्वज्ञोक्तं मार्गं न श्रद्धत्ते । अतस्तन्मार्गश्रद्धानं प्रति चोद्यत इति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अदक्खुव-अपश्यवत्-त्रि० । अपश्योऽन्धः, तेन तुल्यं कार्याकार्याविवेचित्वादपश्यवत् । अन्धसदृशे कार्याकार्यानभिज्ञे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अदढ-अदृढ-त्रि० । दुर्बले, व्य० ४ उ० । आचा० ।

अदढधिइ-अदृढधृति-त्रि० । धृतिरहिते, नि० चू० १ उ० । असमर्थे, नि० चू० १ उ० ।

अदण-अदन-न० । अद्-ल्युट् । भोजने, वृ० १ उ० ।

अदण्ण-अदन्न-त्रि० । आकुलीभूते, वृ० १ उ० । विषादीकृते, "तेणं वि य गिलाणेण ते अदण्णा" नि० चू० १० उ० ।

अदत्त (दिण्ण)-अदत्त-त्रि० । न० त० । अवितीर्णे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । ध० । अदत्तद्रव्यग्रहणरूपे तृतीये आश्रवभेदे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । "हिंसामोसमदिण्णबंभपरिग्गहे" प्रव० १ द्वा० ।

अदत्त (दिण्ण) हारि(ण्)-अदत्तहारिन्-त्रि० । अदत्तमपहर्तुं शीलमस्याऽसावदत्तहारी । परद्रव्यापहारके, "जे लूसए होइ अदत्तहारी, ण सिक्खती से य वियस्स किंचि" सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अदत्ता (दिण्णा) दाण-अदत्तादान-न० । अदत्तस्य स्वामिजीवतीर्थकरगुरुभिरवितीर्णस्यानुज्ञानस्य सचित्ताचित्तमिश्रभेदस्य वस्तुन आदानं ग्रहणमदत्तादानम् । तच्च विविधोपाधिवशादनेकविधम् । "एगे अदिण्णादाणे" स्था० १ ठा० १ उ० । सूत्र० । चौर इति व्यपदेशनिबन्धने, उपा० १ अ० । परस्वापहारे, आव० ६ अ० । आ० चू० ।

यथा च तददत्तादानं प्रश्न० ३ अधर्मद्वारे यादृक् १ यन्नाम २ यथा च कृतं ३ यत्फलं ददाति ४ ये च कुर्वन्ति ५ इति पञ्चभिर्द्वारैः क्रमेण प्ररूपितं, तथैवेह प्रदर्श्यते-

(१) यादृशमदत्तादानस्वरूपं तत्प्रतिपादनम् ।
(२) अदत्तादानस्य नामानि ।
(३) (यथा च कृतं) ये चादत्तादानं कुर्वन्ति तन्निरूपणम् ।
(४) अदत्तादानं यत्फलं ददाति तन्निरूपणम् ।
(५) आचार्योपाध्यायादिभ्योऽदत्तादाननिरूपणम् ।
(६) लघुस्वकमदत्तं गृह्णाति ।
(७) तस्करैस्त्यादि न कुर्वीत ।

(१) तत्र यादृशमदत्तादानस्वरूपं तत्प्रतिपादयितुमाह-

जंबू! तइयं च अदिण्णादाणं हरदहमरणभयकलुसतासणपरसंतिगभिज्जलोभमूलं कालविसमसंसियं अहोऽच्छिन्नतण्हपत्थाणपत्थोइमइयं अकित्तिकरं अणज्जं छिद्दमंतरविधुरवसणमग्गणउस्सवमत्तप्पमत्तपसुत्तवंचणाऽक्खिवणघायणपराणिहुयपरिणामतक्करजणबहुमयं अकलुणं रायपुरिसरक्खियं सया साहुगरहणिज्जं पियजणमित्तजणभेदविप्पीतिकारकं रागदोसबहुलं पुणो य उप्पूरसमरसंगामडमरकलिकलहवेहकरणं दुग्गतिविणिवायवड्ढणं भवपुणब्भवकरं चिरपरिचियं अणुगयं दुरंतं तइयं अधम्मदारं ॥

हे जम्बूः ! तृतीयं पुनराश्रवद्वाराणां किमदत्तस्य धनादेरादानं ग्रहणमदत्तादानम् ? । 'हर दह' इत्येतौ हरणदाहयोः परप्रवर्तनार्थौ शब्दौ, हरणदहनपर्यायौ वा छान्दसाविति । तौ च मरणं च मृत्युः, भयं च भीतिरेता एव कलुषं पातकं, तेन त्रासनं त्रासजनकं च रूपं यत्तत्तथा । तच्च तत् तथा (परसंतिग त्ति) परसत्के धने यो गृद्धिलोभो रौद्रध्यानान्विता मूर्च्छा, स मूलं निबन्धनं यस्यादत्तादानस्य तत्तथा । तथेति कर्मधारयः । कालश्चार्धरात्रिविषयः, विषमश्च पर्वतादिदुर्गं, तौ संश्रितमाश्रितं यत्तत्तथा । ते हि प्रायः तत्कारिभिराश्रीयत इति । (अहोच्छिन्नतण्हपत्थाणपत्थोइमइयं ति) अधः अधोगतौ, अच्छिन्नतृष्णानां अत्रुटितवाञ्छानां, यत् प्रस्थानं यात्रा, तत्र प्रस्तोत्री प्रस्ताविका प्रवर्तिका मतिर्बुद्धिर्यस्मिंस्तत्तथा । अकीर्तिकरणमनार्यम्; एते व्यक्ते । तथा छिद्रं प्रवेशद्वारम्, अन्तरमवसरः, विधुरमपायः, व्यसनं राजादिदत्तताप:, एतेषां मार्गणम्; उत्सवेषु मत्तानां च प्रमत्तानां च प्रसुप्तानां च वञ्चनं च प्रतारणम्, आक्षेपणं च चित्तव्यग्रताऽऽपादनम्, घातनं च मारणम्, इति द्वन्द्वः । तत एतत्परत एतन्निष्ठोऽनिभृतोऽनुपशान्तः परिणामो यस्यासौ छिद्रान्तरविधुरव्यसनमार्गणोत्सवमत्तप्रमत्तप्रसुप्तवञ्चनाक्षेपणघातनपरानिभृतपरिणामः । स चासौ तस्करजनः, तस्य बहुमतं यत्तत्तथा । वाचनान्तरे त्विदमेवं पठ्यते-"छिद्दविसमपावगेत्यादि" छिद्रविषमपापकं च नित्यं छिद्रविषमयोः संबन्धीदं पापमित्यर्थः । अन्यदाऽऽहितन्यायं प्रायः कर्तुमशक्यमिति भावः । अनिभृतपरिणामसांक्लिष्टं तस्करजनबहुमतं चेति । अकरुणं निर्दयं, राजपुरुषरक्षितम्, तैर्निवारितमित्यर्थः । सदा साधुगर्हणीयं, प्रतीतम् । प्रियजनमित्रजनानां भेदं वियोजनं विप्रीतिं विप्रियं करोति यत्तत्तथा । रागद्वेषबहुलं, प्रतीतम् । पुनश्च पुनरपि (उप्पूर त्ति) उत्पूरेण प्राचुर्येण समरो जनमरकयुक्तो यः संग्रामो रणः स उत्पूरसमरसंग्रामः, स च डमरं भीत्यापलायनं, कलिकलहश्च राटीकलहो, न तु रतिकलहः । वेधश्चानुशयः, एतेषां करणं कारणं यत्तत्तथा । दुर्गतिविनिपातवर्द्धनं, प्रतीतम् । भवे संसारे, पुनर्भवान् पुनरुत्पादान् करोतीत्येवं शीलं यत्तत्तथा । चिरं परिचितम्, अनुगतमव्युच्छिन्नतयाऽनुवृत्तं, दुरन्तं दुष्टावसानं विपाकदारुणत्वात्, तृतीयमधर्मद्वारं पापोपाय इति ॥

(२) अथ यन्नामेत्यभिधातुमाह-

तस्स य नामाणि गोणाणि हुंति तीसं । तं जहा-चोरिक्कं १ परहडं २ अदत्तं ३ कूरिकडं ४ परलाभो ५ असंजमो ६ परधणम्मि गेही ७ लोलिक्का ८ तक्करत्तणं ९ ति य अवहारो १० हत्थलहुत्तणं ११ पावकम्मकरणं १२ तेणिक्को १३ हरणविप्पणासो १४ आदियणा १५ लुंपणा धणाणं १६ अप्पच्चओ १७ ओवीलो १८ अक्खेवो १९

वलेरो २० विरवेरो २१ कूरया २२ कुलमही यर३ कंखा २४ लालप्पणपत्थणा २५ (अगामणाय) वमणं २६ इच्छा मुच्छा य २७ गहा गेद्धी य २८ नियडिकम्मं २९ अवरो- च्छ त्ति वि य ३० । तस्स एयाणि एवमाईणि नामधेज्जाणि हुंति तीसं अदिण्णादाणस्स पावकलिकलुसकम्मबहुलस्स अणेगाई ।

"तस्सेत्यादि" सुगमम् । नवरं ... [illegible] ...

[illegible]

[illegible]

मगाहिरनिन्नोलितंनकुरफुरंतविगलपम्महयविगयगाढ़दिष्ठ-
पहाय्गुच्छिन्नम्लंनविन्नलविलावकलुणे हृयनोहजमंननु-
रणहरामवचकुंजरपारिसंकियजणणिम्मुकाहएणद्धयभ—
मारहवरलट्ठमिरकोरिकलंवराविएणपामियसहरणचिकिन्ना-
वरराजभूमिनागे अबंगकवंधपउरे भयंकरवायसपरिलिंत-
गिद्धमंडलभमंतज्ञायंधयारगंभीरे,वसुवसुहविकंपितव्व पच-
क्खपिउवणं परमरुद्दबीहणगं दुप्पवेसतरगं अभिवदि-
त्ति गंन्नासमंडलं पवरजमइंता , अवरे पाइक्खोरसंघा

[illegible]

घोरमहे वेयालुट्ठियनिसुड्ढकहकहंतपहसियवीहणग-
निरभिरामे अतिबीभच्छदुब्भिगंधदरिसणिज्जे सुसा
वणे सुण्णघरलेणअंतरावणगिरिकंदरविसमसावयसमाउल
वसहीसु किलिस्संता सीतातवसोसियसरीरा दड्ढच्छवि
रयातिरियभवसंकमदुक्खसंभारवेदणिज्जाणि पावकम्मा
संचिणंता दुल्लहभक्खणपाणभोयणपिवासिया झुंझि
किलंता मंसकुणिमकंदमूलं जं किंचि कयाहारा उव्वि
उप्पुया असरणा अडवीवासं उवेंति , वालसतसंकण
अयसकरा तक्करा भयंकरा कस्स हरामो त्ति अज्ज दव्वं
समामंतं करेंति, गुज्झं बहुयस्स जणस्स कज्जकर
विग्घकरा मत्तप्पमत्तपसुत्तवीसत्थछिद्दघाती वसणब्भुदय
हरणबुद्धी विगव्व रुहिरमहिया परिंति नरवतिमज्जाय
तिक्कंता सज्जणजणदुगंछिया सकम्मेहिं पावकम्मकारी
असुभपरिणया य दुक्खभागी निच्चाविलदुहमनिव्वुइमणा
लोके चेव किलिस्संता परदव्वहरा नरा वसणसयमाव

(तं पुणेत्यादि) तत् पुनः कुर्वन्ति चौर्यं तस्कराः, तदेव
च कुर्वन्तीत्येवंशीलाः तस्कराः परद्रव्यहराः , प्रवीणाः,
निपुणाः,कृतकरणाः बहुशो विहितचौर्यानुष्ठानाः, ते च लब्ध

[illegible]

एतेषां द्वन्द्वः। अनन्ते च एकचौरा ये एकाकिनः सन्तो हरन्तीति। [ओवट्ट त्ति] अपकर्षका ये गेहाद् ग्रहणं निष्कासयन्ति चौरापयाकार्यं परगृहाणि मोषयन्ति, चौरपृष्ठगदा वा। संप्रदायकाश्चौराणां भक्तादि प्रयच्छन्ति। (ओच्छिप त्ति) अपच्छिन्नकाश्चौरविशेषा एव। सार्थघातकाः प्रतीताः। विलकोलीकारकाः परव्यामोहनाय विसंवादयचनवादिनो, विमर्दरयच्यमकारिणो वा। एतेषां द्वन्द्वः। ते च निग्रहाङ्करणात्मिग्राह्य राजादिभिर्गृहीता इत्यर्थः। ते चैते चित्रलोपकाश्चेति समासः। बहुविधेन (तेणिक्क त्ति) स्तैन्येन हरणे बुद्धिर्येषां ते-'बहुविहतेणिक्कहरणबुद्धीए'। पाठान्तरेण-(बहुविधनहाऽपहरणबुद्धि त्ति) बहुविधा तथा तेन प्रकारेणापहरणे बुद्धिर्येषां ते तथा। एते उक्तरूपाः; अन्ये चैतेभ्यः एवंप्रकारा अदत्तमादत्तीति प्रक्रमः। कथंभूतास्ते?, इत्याह-परस्य द्रव्याद्ये अविरता अनिवृत्ताः॥ इति ये अदत्तादानं कुर्वन्ति ते उक्ताः॥

अधुना त एव यथा तत् कुर्वन्ति तदुच्यते-विपुलं बलं सामर्थ्यं परिग्रहश्च परिवारो येषां ते तथा। ते च बहवो राजानः परधने गृद्धाः। इदमधिकं वाचनान्तरे पदत्रयम। तथा स्वके द्रव्ये असंतुष्टाः परविषयान् परदेशानभिघ्नन्ति लुब्धाः, धनस्य कृते इत्यर्थः। चतुर्भिरङ्गैर्विभक्तं समस्तं वा यद्बलं सैन्यं तेन समग्रा युक्ता ये ते तथा। निश्चितैर्निश्चयवद्भिर्वरयोधैः सह युद्धं संग्रामस्तत्र श्रद्धा संजाता येषां ते तथा, ते च ते अहमित्येवं दर्पिताश्च दर्पवन्त इति समासः। तैरेवंविधैः भृत्यैः पदातिभिः। कचिन्मैत्रैरिति पठ्यते। संपरिवृताः समेताः, तथा पद्मशकटसूचीचक्रसागरगरुडव्यूहानि, तैः। इह व्यूहशब्दः प्रत्येकं संबध्यते। तत्र पद्माकारो व्यूहः पद्मव्यूहः, परेषामनभिभवनीयसैन्यविन्यासविशेषः। एवमन्येऽपि वाच्याः। एतै रचितानि यानि तानि तथा तैः। कैः?, अनीकैः सैन्यैः। अथवा-पद्मादिव्यूहा आदिर्येषां गोमूत्रिकाव्यूहादीनां ते तथा। तैश्चरपरलोकानीकैः?, अनीकैः। (उत्थरंत त्ति) आक्रमयन्त आच्छादयन्तः, पराभिभूतानिति गम्यम। अभिभूय जित्वा, तान्येव हरन्ति, परधनानीति प्रक्रम। अपरे सैन्योद्भूतेभ्यो नृपेभ्योऽन्ये स्वयं योद्धारो राजानो रणशीर्षे संग्रामशिरसि प्रवृत्तकं लब्धं लक्ष्यं यैस्ते तथा। 'संगामं ति' द्वितीया सप्तम्यर्थे द्रष्टव्या संग्रामे रणे अतिपतन्ति स्वयमेव प्रविशन्ति, न सैन्यमेव योधयन्ति। किंभूताः?, सन्नद्धाः सन्नद्धादिना कृतसन्नाहाः, बद्धः परिकरः कवचो यैस्ते तथा। उत्पाटितो गाढबद्धश्चिह्नपट्टो नेत्रादिर्धारितपटो मस्तके यैस्ते तथा। गृहीतान्यायुधानि शस्त्राणि प्रहरणानि यैस्ते तथा। अथवा-आयुधप्रहरणानां सेप्यासेप्येन कृतो विशेषः। ततः सन्नद्धादीनां कर्मधारयः पूर्वोक्तमेव विशेषणं प्रपञ्चयन्नाह-'माढी' तनुत्राणविशेष, तेन वरवर्मणा च प्रधानतनुत्राणविशेषेणैव गुण्डिताः प्रेरिता ये ते माढीवरवर्मगुण्डिताः। पाठान्तरेण-(वम्मकवयमगुंडिता) तत्र 'गुडा' तनुत्राणविशेष एव; अन्यत् तथैव। आविद्धा परिहिता जालिका लोहकञ्चुको यैस्ते तथा। कवचेन तनुत्राणविशेषेणैव कण्टकिताः कृतकवचा ये ते तथा। उरसा वक्षसा सह शिरोमुखा ऊर्ध्वमुखा बद्धा यन्त्रिताः कण्ठे गले तोणास्तूणीराः शरधयो यैस्ते उरःशिरोमुखबद्धकण्ठतोणाः। तथा [पासिय त्ति] हस्तपाशितानि करगृहीतानि प्रधानशस्त्राणि यैस्ते तथा। तेषां सत्केन रचितेन रचनाविशेषेण परस्परप्रहरणप्रहारप्रतिघाताय कृतः [एहकर त्ति] समु-

दायो यैस्ते तथा। ततः पूर्वपदेन सह कर्मधारयः। अवतरैः सरभसैः महद्भिः खरचापकरैः निष्ठुरकोदण्डहस्तैः, धानुष्कैरित्यर्थः। ये कराञ्चिताः करकृष्टाः सुनिशिता अतिनिशिताः शरा बाणास्तेषां यो वर्षवटकरको वृष्टिविस्तारो (मुयंत त्ति) मुच्यमानः स एव घनस्य मेघस्य चण्डवेगानां धाराणां निपातः तस्य मार्गो यः स तथा। तत्र 'मंते त्ति' पाठान्तरं च। तत्र मत्प्रत्ययान्तत्वाद्विपातवति संग्रामेऽभिपतन्तीति प्रक्रमः। तथा अनेकानि धनूंषि च मण्डलाग्राणि च खड्गविशेषाः, तथा सन्धिताः क्षेपणायोद्गीर्णा उच्छालिता ऊर्ध्वं गता शक्तयश्च त्रिशूलरूपाः, कनकाश्च बाणाः, तथा वामकरगृहीतानि खेटकानि च फलकानि, निर्मलाः निकृष्टाः खड्गाश्च उज्ज्वलप्रतिकोशीकृतकाः धाराः। तथा प्रहरन्ति प्रहारप्रवृत्तानि कुन्तानि च शस्त्रविशेषाः, तोमराश्च शस्त्रविशेषाः, चक्राणि च चक्राणि, गदाश्च दण्डविशेषाः, परशवश्च कुठाराः, मुसलानि च प्रतीतानि, लाङ्गलानि च हलानि, शूलानि च, लकुटाश्च प्रतीताः। भिन्दिपालाश्च शस्त्रविशेषाः। शब्दलाश्च भल्लाः। [illegible] विशेषाः, चर्मेष्टाश्च चर्मनद्धपाषाणाः, घनाश्च मुद्गरविशेषाः, मौष्टिकाश्च मुष्टिप्रमाणपाषाणाः, मुद्गराश्च प्रतीताः, [illegible] प्रबलार्गलाः, [illegible] [illegible] कराः, तोणाश्च शरधयः, कुवेणयश्च [illegible], [illegible] च आसनानीति द्वन्द्वः। एभिः प्रतीतसर्वैः प्रहरणैर्व्याकुलितो युद्धो यः स तथा। तत्र [illegible] [illegible] (मिलिमिलिमिल त्ति) [illegible] ([illegible] त्ति) [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] विहिता समा सदृशी प्रभा दीप्तिर्येन तत् तथा। [illegible] [illegible] [illegible] तथा; तत्र [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रहरणानि यत्र स तथा। तत्र [illegible], तथा [illegible] संघ [illegible] यानि [illegible], भेरी च दुन्दुभिः, [illegible] [illegible] तथ, तेषां प्रचुराणां पटूनां [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हताना [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] न्दिता हृष्टाः, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] यत्र स तथा तत्र। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रवृत्तं प्रसरणं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रबलं [illegible] [illegible] [illegible] स तथा तत्र, तथा [illegible] तरवराणां [illegible] ([illegible] त्ति) [illegible] करोतीत्येवंशीलो यः स तथा तत्र। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] च [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] च [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] यत्र स [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] च तेषां [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] यः स तथा कर्मधारयः, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] (उच्छलंत त्ति) [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ([illegible] त्ति) [illegible] [illegible] ([illegible] त्ति) [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] च

[illegible] आनन्दमहाशर्मानित्यर्थः । [illegible] स एव [illegible] [illegible] तथा । [illegible]

[illegible]

देशा यत्र स तथा । ततः कर्मधारयः; तत्र । तथा कुन्त[illegible] पन्थानि शिरोरहितकलेवराणि प्रचुराणि यत्र स तथा । [illegible] घायमानां [परिक्षिप्तगिद्ध त्ति] परिक्षीयमानगृद्धानां [illegible] चक्रवाले भ्राम्यतः संचरतस्तस्य या छाया तया [illegible] न्धीरे यः स तथा । तत्र संग्रामे, अपरे राजानः [illegible] निपतन्तीति प्रकृतम् । अथ पूर्वोक्तमेवार्थं संक्षिप्ततरेण [illegible]

यमयो देवाः, वसुधा च पृथिवी, [illegible] देशे तथा [illegible] ज्ञान इति प्रक्रमः । प्रत्यक्षमिव साक्षादिव [illegible] श्मशानं प्रत्यक्षपितृवनम् (परमरुद्दबीहणगं ति) [illegible] पातकं दुष्प्रवेशतरकं प्रवेष्टुमशक्यं, सामान्यजनस्येति [illegible] निपतन्ति प्रविशन्ति संग्रामसंकटं संग्रामगहनं, [illegible] (गहन त्ति) इत्येवम् इति । तथा अपरे राजन्याः [illegible] हसेना) पदातिरूपमौरसमूहाः, तथा सेनापतयः [illegible] चौरपुरुषकर्षकाश्च, तत्पालकाः इत्यर्थः । अटवी [illegible] नि अभ्यस्तदुर्गस्थानानि तेषु वसन्ति ये ते तथा । [illegible] कालीवर्णाः, पञ्चवर्णा इति यावत् । [illegible] ष्टा यत्ता येषां तथा । परविषयानभिघ्नन्ति, लुब्धा इति [illegible] धनस्य कार्ये धनहेतोरित्यर्थः । तथा रत्नाकरभूतो यः [illegible] तथा न [illegible], ऊर्मयो वीचयः [illegible] तथा । [illegible] कलकल त्ति [illegible]

[illegible]

र त्ति] मलजन्तुविशेषाः, ते च प्राहनिमिर्गुम्मारच्य ते । द्वन्द्वः । तेषां समाहतास्व परस्परेणाहताः [समुद्धायमाण य त्ति] समुद्घातस्तस्य प्रहाराय समुच्छलन्तो ये पूराः संघाः घोरा रौद्रास्तैः च प्रचुरं यत्र स तथा तम् । कातरजनहृदयकम्पनमिति गर्तः तम् । घोरं रौद्रं यथा भवतीत्येवमारसन्तं शब्दायमानं,महामत्स्यादिभिर्व्याकर्षिति । [अपारपारं त्ति] अनर्वाक्पारमिव महत्त्वादनर्वाक्पारम, आकाशमिव निरालम्बम, न हि तत्र पतताङ्गिः किञ्चिदालम्बनमवाप्यत इति भावः । औत्पातिकपवनसमुत्पाद्यजनितवायुना [धणिय त्ति] अत्यर्थं, येन[णोल्लिय त्ति] नोदिताः प्रेरिताः उपर्युपरि निरन्तरं तरङ्गाः कल्लोलास्तैः, दत्त इव अतिवेगोऽतिमात्रः श्रयवेगः यो वेगस्तेन, शुभतूर्णाधिकधवलधामान् । चक्षुःपथं दृष्टि मार्गं [मोच्छ्वयंत कारया त्ति] छादयन्तं गम्भीरं विपुलगर्जितं मेघस्येव ध्वनिं गुञ्जितं च, गुञ्जालकलामोदं च निर्घातस्य गगने स्फारकृतो महाध्वानः, गुरुकनिपतितं च विद्युदादिगुरुकद्रव्यनिपातजनितध्वनिर्यत्र स तथा। सुदीर्घानिर्ह्रादी अहत्यप्रतिध्वो [दूरसुव्वंत त्ति] दूरे श्रूयमाणो गम्भीरो धुगधुगायमानश्च शब्दो यत्र स तथा कर्मधारयः । ततस्तम् । पथि मार्गे [रुभंत त्ति] रुन्धानाः संपतिष्णुर्मार्गे स्खलयन्तो ये यक्षराक्षसकूष्माण्डपिशाचव्यन्तरविशेषाः, तेषां च गर्जितं, उपसर्गसहस्राणि च । पाठान्तरेषु-[दरियसज्झायउवसग्गसहस्स त्ति] तत्र यक्षादयः कथिताः, तज्ज्ञातोपसर्गसहस्राणि, तैः सङ्कुलो यः स तथा तम् । बहूनि च औत्पातिकानि उत्पातात् भूतः प्राप्तो यः स तथा । वाचनान्तरे-उपद्रवणाभिभूतो यः स उपद्रवाभिभूतः । ततः प्रतिपक्षत्वादिना कर्मधारयः । ततस्तम् । तथा विरचितो बलिना उपहारेण होमेनाग्निकार्यात्मकेन धूपेन उपचारो देवतापूजा येन स तथा । दत्तं विरचितं रुधिरं यत्र स तथा,तस्य लक्षणार्च्चणं च देवतापूजनं च तत्र प्रयता ये ते तथा । योगेषु प्रवहणोचितव्यापारेषु प्रयता ये ते तथा । ततो विरचितत्वादीना कर्मधारयः । अतस्तैः सांयात्रिकैरिति गम्यते । कलितः सेवितो यः स तथा तम् । पर्यन्तयुगस्य प्रलयकालस्य युगान्तस्य यो ऽन्तकालः क्षयकालस्तेन कल्पा कल्पनीया यथा रौद्रस्वरूपस्य स तथा । दुरन्तं दुरवसानं महानदीनां महानदीनां पतिः प्रभुर्यः स तथा । महाभीमो दृश्यते च स तथा । कर्मधारयः । ततस्तम् । दुःखेनानुचर्यते सेव्यते च स तथा तम् । विषमप्रवेशं दुष्प्रवेशं, दुःखोत्तारमिति च गम्यते । दुःखेनाश्रीयत इति दुराश्रयस्तं, लवणसलिलपूर्णमिति व्यक्तम् । [illegible] कृष्णाः, सिताः सितपटाः, श्रमपिड्डुला अर्द्धिता येषु सान्यसितासितसमुच्छ्रितानि तैः, पोतमध्ये कृष्णा एव रसितपटाः । विपणे, दूरादनुपलक्ष्यमाणत्वेनाविस्याततेजस्वच । [हयवतंवेहिं त्ति] सांयात्रिकयानपात्रैः, तत्कारणादयव्यवैश्चित्यर्थः । अत एतैः प्रवहणैरतिपतद्भिः पुरोवर्त्तित्वं सागरं प्रविश्य समुद्रमध्ये घ्नन्ति, सम्या अत्यय स्वात्मविनाशकत्वं, पोताद् यानपात्रीत, परद्रव्यहरणे ये निरनुकम्पा निरपेक्षाः ते तथा । वाचनान्तरे-परद्रव्यहरणे नरा निरनुकम्पाः [निरवेक्ख त्ति] परलोकं प्रति निरपेक्षास्तेषां निरपेक्षाः ग्रामो जनपदाश्रितः [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]-

रित्वर्थे आश्रमस्थापनमधिनिवासः,निगमो वाणिग्जननिवासः, उक्तरो देशः इति द्वन्द्वः । समस्तान् सम्मृदन्ति घ्नन्ति । तथा [illegible] नगरं [illegible] वे ते तथा । [illegible] [illegible] । [illegible] निष्कृपाः [illegible], [illegible] [illegible] । [illegible]

[illegible]

इति प्रकृतम्। विग्गह-(विगत्त त्ति) युक्ता इव भावरविशेषा इव, (परिसन्ति त्ति) लोहितनेत्राः (परिताति) परियन्ति सर्वतो भ्र-मन्ति। पुनः कथंभूताः? अपरतिमयांशामनिभाला इति प्रतीतम्। मघवन्देव विनिर्दयोऽपि, जुगुप्सिता निन्दिता ये ते तथा, स्व-कर्म्मोत्तैरुपभूतैः, पापकर्मकारिणः पापानुष्ठायिनः, अशुभपरिण-[illegible] इति प्रतीतम्। (निच्चाविल [इन] दुहमणुबद्ध त्ति) नित्यं सदा आविलमनं सकलुष्यमा-नुबं [illegible] दुःखहेतु, आनिर्वृतं स्वास्थ्यरहितं मनो येषां ते तथा। इह लोक एव क्लिश्यमाना व्यसनशतसमापन्नाः, [illegible]।

(४) अथ [illegible] फलद्वारमुच्यते-

[illegible]

काणं परलोकपरम्मुहाणं निरयगतिगामियाणं तेहि य आणत्त-जी(र्णी) यंदंडा तुरियं उग्घाडिया पुरवरेहिं सिंघाडगतियच-उक्कचच्चरमहापहपहेसु वेत्तदंडलउडकट्ठलेट्ठुपत्थरपणालिपण-णोल्लिमुट्ठिलत्तपादपण्हिजाणुकोप्परप्पहारसंभग्गमहियगत्ता अट्ठारसकम्मकारिणा पायियंगुपंगा कलुणा सुक्कोट्ठकंठ-गलतालुजिब्भा जायंता पाणियं विगयजीवियासा तण्हाइया वरागा तं पि य न लहंति, वज्झपुरिसेहिं घाडियंता तत्थ य खरफरुसपडहघट्टितकूडग्गहगाढरुट्ठनिसट्ठपरामट्ठवज्झक-रकुडिजुयनियत्था सुरत्तकणवीरगहियविमुकुलकंठेगुण-वज्झदूतआविद्धमल्लदामा मरणभयुप्पण्णसेयआयतणेहुत्तु-प्पियकिलिन्नगत्ता चुण्णगुंडियसरीररयरेणुभरियकेसा कुसुं-भगुक्किन्नमुद्धया छिन्नजीवियासा घुणंता वज्झपाणपीया तिलं तिलं चेव छिज्जमाणा सरीरविकत्तलोहिओलित्ता कागणिमंसाणि खावियंता पावा खरकरसएहिं तालिज्जमाण-देहा वातिकनरनारिसंपरिवुडा पेच्छिज्जंता य नागरज-णेण वज्झनेवत्थिया पणिज्जंति णगरमज्झेण किवणक-लुणा अत्ताणा असरणा अणाहा अबंधवा बंधुविप्पही-णा विपिक्खंता दिसो दिसिं मरणभयुव्विग्गा आघा-यणपडिदुवारसंपाविया अधण्णा सूलग्गविलग्गभिन्नदेहा ते य तत्थ कीरंति, परिकप्पियंगुवंगा उल्लंबिज्जंति रुक्खसा-लेहिं केइ कलुणाइं विलवमाणा। अवरे चउरंगधणियबद्धा प-व्वयकडगा पमुच्चंते दूरपातबहुविसमपत्थरसहा। अन्ने य ग-यचलणमलणनिम्मद्दिया कीरंति, पावकारी अट्ठारसखंडिया य कीरंति मुंडपरसूहिं। केइ उक्कित्तकण्णोट्ठनासा उप्पाडि-यनयणदसणवसणा जिब्भंछियछिन्नकण्णसिरा प-णिज्जंति छिज्जंति य असिणा निव्विसया छिन्नहत्थपाया य [illegible]

[illegible]

पणोल्लियमततदुक्खभयसमभिभूए ततो वि उव्वट्टिया समा-
णा पुणो वि पवज्जंति तिरियजोणिं,तहिं पि निरओवमं अ-
णुभवंति वेयणं ते,अणंतकालेण जति णाम कहिं वि मणुय-
भावं लहंति णेगेहिं णिरयगतिगमणतिरियभवसयसहस्स-
परियट्टएहिं तत्थ वि य भवंताऽणारिया नीचकुलसमुप्पन्ना
लोयवज्झा तिरिक्खभूया य अकुसला कामभोगतिसिया
जहिं निबंधंति निरयवत्तणि भवप्पवंचकरणपणोल्लिं पुणो वि
संसारवत्तणेममूले धम्मसुइविवज्जिया अणज्जा कूरा मिच्छ-
त्तसुतिपवन्ना य हुंति, एगंतदंडरुइणो वेढंता कोसिकारकीडो
व्व अप्पगं अट्ठकम्मतंतुघणबंधणेणं, एवं नरगतिरियनरअ-
मरगमणपेरंतचक्कवालं जम्मजरामरणकरणगंभीरदुक्खप-
क्खुभियपउरसलिलं संजोगवियोगवीचिचिंतापसंगपसरिय
वहबंधमहल्लविपुलकल्लोलकलुणविलवितलोभकलकलंत-
बोलबहुलं अवमाणणफेणतिव्वखिंसणपुलंपुलप्पभूयरोगवे-
यणपरभवविणिवायफरुसधरिसणसमावडियकठिणकम्म-
पत्थरतरंगरिंगंतनिच्चमच्चुभयतोयपट्ठं कसायपायालसं-
कुलं भवसयसहस्सजलसंचयं अणंतं उव्वेयणयं अणोर-
पारं महब्भयं भयंकरं पइभयं अपरिमियमहिच्छकलुसमति-
वाउवेगउद्धम्ममाणाऽऽसापिवासापायालकामरतिरागदो-
सबंधणबहुविहसंकप्पविउलदगरयरयंऽधकारमोहमहावत्त--
भोगभममाणगुप्पमाणुच्छलंतबहुगब्भवासपच्चोणियत्तपा-
णियपधावियवसणसमावण्णरुण्णचंडमारुयसमाहयमणुण्णवी-
चीवाकुलितभंगफुट्टंतनिट्ठकल्लोलसंकुलजलं पमादबहुचंडदु-
ट्ठसावयसमाहयउद्धायमाणगपूरघोरविद्धंसणत्थऽणत्थबहु-
लं अण्णाणभमंतमच्छपरिहत्थअनिहुतिंदियमहामगरतुरिय-
चरियखोक्खुब्भमाणसंतावनिच्चयचलंतचवलचंचलअत्ता-
णासरणपुव्वकम्मसंचयोदिण्णवज्जवेदिज्जमाणदुहसयवि—
वागघुण्णंतजलसमूहं इड्ढिरससायगारवोहारगहियकम्मपडि-
बद्धसत्तकड्ढिज्जमाणनिरयतलहुत्तसण्णविसण्णबहुलअरति-
रतिभयविसायसोगमिच्छत्तसेलसंकडं अणाइसंताणकम्मबं-
धणकिलेसचिक्खिल्लसुदुत्तारं अमरनरतिरियगतिगमणकुडि-
लपरियत्तविपुलवेलं हिंसाऽलियअदत्तादाणमेहुणपरिग्ग-
हारंभकरणकारावणाणुमोयणअट्ठविहअणिट्ठकम्मपिंडितगु-
रुभारक्कंतदुग्गजलोघदूरनिबोलिज्जमाणउम्मग्गनिमग्गदु-
ल्लहतलं सरीरमणोमयाणि दुक्खाणि उप्पियंता सातासा-
यपरितावणमयं उब्बुड्डनिब्बुड्डयं करेंति । चउरंतमहंतमणवय-
ग्गं रुद्दं संसारसागरं अट्ठियअणालंबणपतिट्ठाणमप्पमेयं
चुलसीइजोणिसयसहस्सगुविलं अणालोकमंधकारं अणंत-
कालं जाव णिच्चं उत्तत्थसुण्णभयसण्णसंपउत्ता संसारसा-
गरं वसंति उव्विग्गवासवसहिं,जहिं जहिं आउयं निबंधंति
पावकम्मकारिणो बंधवजणसयणमित्तपरिवज्जिया अणि-
ट्ठा भवंति । अणादिज्जदुव्विणीया कुट्ठाणासणसेज्जाकु-
भोयणा असुयणो कुसंघयणकुप्पमाणकुसंठिया कुरूवा
बहुकोहमाणमायालोभा बहुमोहा धम्मसण्णसम्मत्तपब्भट्ठा
दारिद्दोवद्दवाभिभूया निच्चं परकम्मकारिणो जीवणत्थरहि-
या किवणा परपिंडतक्किका दुक्खलद्धाहारा अरसविरस-
तुच्छकयकुच्छिपूरा परस्स पच्छंता रिद्धिसक्कारभोयणविसेस-
समुदयविहिं निंदंता अप्पकं, कयंतं च परिवयंता, इह य पुरे
कडाइं कम्माइं पावगाइं विमणसो सोएण डज्झमाणा परि-
भूया हुंति,सत्तपरिवज्जिया य छोभा सिप्पकलासमयसत्थप-
रिवज्जिया जहाजायपसुभूया अवियत्ता निच्चं नीयकम्मोव-
जीविणो लोयकुच्छणिज्जा मोहमणोरहनिरासबहुला आसा-
पासपडिबद्धपाणा अत्थोप्पायणकामसोक्खे य लोयसारे
हुंति । अफलवंतगा य सुट्ठु अवि य उज्जमंता तद्दिवसुज्जु-
त्तकम्मकयदुक्खसंठवियसित्थपिंडसंचयपरा खीणदव्वसा-
रा णिच्चं अधुवधणधण्णकोसपरिभोगविवज्जिया रहिय-
कामभोगपरिभोगसव्वसोक्खा परसिरिभोगोवभोगनिस्सा-
णमग्गणापरायणा वरागा अकामिकाए विणेयंति दुक्खं,
णेव सुहं, णेव णिव्वुतिं, उवलभंति, अच्चंतविपुलदुक्खस-
यसंपलित्ता परदव्वेहिं जे अविरया । एसो सो अदिण्णादाण-
स्स फलविवागो इहलोए परलोए अ अप्पसुहो बहुदुक्खो
महब्भयो बहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वास-
सहस्सेहिं मुच्चति न य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खो त्ति ए-
वमाहंसु नायकुलनंदणो महप्पा जिणो उववीरनामधेयो क-
हेसीय अदिण्णादाणस्स फलविवागं, एयं तं ततियं पि अ-
दिण्णादाणं हरदहमरणभयकलुसतासणपरसंतिकभि-
ज्झलोभमूलं, एवं जाव चिरपरिगयमणुगयं दुरंतं ततियं
अहम्मदारं सम्मत्त त्ति बेमि ।

(तहेवेत्यादि) तथैव यथापूर्वमभिहिताः, केचित्किंचन,परस्य द्रव्यं गवेषयन्त इति प्रतीतम् । गृहीताश्च राजपुरुषैः, हताश्च यष्ट्यादिभिः,बद्धा रुद्धाश्च रज्ज्वादिभिः संयमिताः, चारकादिनिरुद्धाश्च (तुरियं ति) त्वरितं शीघ्रं, अतिधाटिता भ्रामिता प्रतिवर्तिता वा, भ्रमिता एव पुरवरं नगरं समर्पिता ढौकिताः,चौरग्राहाश्च चारभटाश्च चाटुकाराश्च ये ते तथा । तैश्च चौरग्राहचारभटचाटुकारैः;चारकवसतिं प्रवेशिता इति सम्बन्धः । कर्पटप्रहाराश्च लकुटाकारचालितचीवरैस्ताडनाः,निर्दया निष्करुणा ये आरक्षिकास्तेषां संबन्धीनि यानि खरपरुषवचनानि अतिकर्कशभणितानि , तर्जनानि च वचनविशेषाः (गलत्थल त्ति) गलग्रहणं, तथा (उल्लत्थल त्ति) अपवर्तना, अपवर्तना इत्यर्थः तास्तथा, तानि चेति पदचतुष्टयस्य द्वन्द्वः ताभिः विमनसो विरक्तचेतसः सन्तः चारकवसतिं गुप्तिगृहं प्रवेशिताः । किं भूताम् ?,निरयवसतिसदृशीमिति व्यक्तम् । तत्रापि चारकवसतौ, (गोम्मिय त्ति) गौल्मिकस्य गुप्तिपालस्य संबन्धिनो ये प्रहारा घाताः (दुम्मण त्ति) दमनानि उपतापनानि, निर्भर्त्सनानि

किंशुकपिशिता, कदम्बकवनानि च कदम्बकवनैर्या मीलयन्ति [illegible] मदभ्रान्तानि, तैरभिद्रुता ये ते तथा । पाठान्तरे-धम्मो यद्द्य्ं तेनाभिद्रुता ये ते तथा । मार्जारनियमना आकृष्टपरिधा- वनात्, मलिनं दुर्गिन्धमाकृष्टं वमनं यस्यं येषां ते तथा । उ- [illegible] दर्शितमतीव तेषां पार्श्व- गुणितगात्रमतीव, उत्कर्षितं वमनं, [illegible] ये तथा तैः, [illegible] करपत्रमुनेष्वन- इति संबन्धः [हिने त्ति] तदया-[हढि त्ति] काष्ठविशेष, [illegible] काष्ठमयानि, [illegible] रज्जु, [illegible] काष्ठमयं [illegible] रज्जुपाशं, वरत्रा चर्ममयी महारज्जुः, लो- हमुद्गरा मर्दना, [illegible] लोहादिमयं [illegible], [illegible] [illegible] इति द्वन्द्व । [illegible] [illegible] दुःखसमुदी- [illegible] । तथा संपीडनया [illegible] [illegible], [illegible] किं ?, [illegible] । किं ?, [illegible] [illegible] सर्वं तथा । [illegible] [illegible] तथा । [illegible]

[illegible]

तथा । (मथ्यंत त्ति) मथ्यमानं हृदयं येषां ते तथा । इह थकारस्य हकारादेशश्छान्दसत्वात् । तथा संचूर्णिताङ्गो- पाङ्गा इति समासः । आज्ञप्तिकिङ्करैः यथाऽऽदेशकारिभिः, कि- कुर्वाणैः ? । केचित् केचन, आविराधिता यथाऽनपराद्धा एव, वै- रिका ये ते तथा तैः, यमपुरुषसन्निभैः, प्रहता इति प्रकृतम् । ते अदत्तहारिणः । तत्र नरकगतौ मन्दपुण्या निर्भाग्याः, चटचेटा भेदा, चर्मपट्टः चर्मविशेषपट्टिका, पोरा इति लोहकुशी- विशेषः, [illegible], लताकं च, वरत्रा चर्ममयी महारज्जुः, देशो [illegible] यश्मिन् प्रहारशतैर्यानि शतानि तैस्ता- डिताङ्गोपाङ्गानि येषां ते तथा, कृपणाः दुःखाः, लम्बमान- चर्माणि यानि व्रणानि स्थानानि, तेषु या वेदना पीडा, तया विमु- खीकृतं [illegible] मनो येषां ते तथा । घनकुट्टनेन घन- [illegible] निर्वृत्त घनकुट्टिमम्, तेन निगडयुगलेन प्रतीतेन, संको- टिताः संकोचिताः, मोटिताश्च [illegible], ये ते तथा । ते च क्रिय- न्ते निर्विषयाः, आज्ञप्तिकिङ्करैरिति प्रकृतम् । किं भूताः ?, निर- न्तरा निरन्तरविपाकाः, [illegible] [illegible] [illegible]; यथा [illegible] एवंप्रकाराः नरकाः पापाः पापकर्मयुक्ताः, पापकारिणो वा प्राप्नुवन्ति । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] पीडिता [illegible]

नि गात्राणि येषां ते तथा । अष्टादश कर्मकारणाः-अष्टादश चौरप्रसूतिहेतवः । तत्र चौरस्य, तत्प्रसूतीनां च लक्षणमिदम्

"चौरः १ चौरापको २ मन्त्री, ३ भेदकः ४ काणकक्रयी ५ ।
अन्नदः ६ स्थानदश्चैव,७ चौरः सप्तविधः स्मृतः" ॥१॥

अत्र काणकक्रयी बहुमूल्यमपि अल्पमूल्येन चौराहृतं काणकं हीनं कृत्वा क्रीणातीत्येवंशीलः ।

"भलनं १ कुशलं २ तर्जा ३, राजभागो ४ऽवलोकनम् ५ ।
अमार्गदर्शनं ६ शय्या ७, पदभङ्गस्तथैव ८ च ॥ १ ॥
विश्रामः ९ पादपतन १०-मासनं ११ गोपनं तथा १२ ।
खण्डस्य खादनं चैव १३, तथाऽन्यन्माहराजिकम् १४ ॥ २ ॥
पद्या १५-ग्न्यु १६-दक १७ रज्जूनां, १८प्रदानं ज्ञानपूर्वकम् ।
एताः प्रसूतयो ज्ञेयाः, अष्टादश मनीषिभिः" ॥ ३ ॥

तत्र भलनम्-न भेतव्यं भवताऽहमेव त्वद्विषये ज्ञास्यामीत्यादिवाक्यैश्चौर्यविषयं प्रोत्साहनम् १।कुशलम्-मिलितानां सुखदुःखवार्ताप्रश्नः२। तर्जा-हस्तादिना चौर्यं प्रति प्रेषणादिसंज्ञाकरणम्३। राजभागो-राजभाव्यद्रव्यापह्नवः ४। अवलोकनम्-हरतां चौराणामुपेक्षाबुद्ध्या दर्शनम् ५। अमार्गदर्शनम्-चौरमार्गप्रच्छकानां मार्गान्तरकथनेन तदपह्नवः ६। शय्या-शयनीयसमर्पणादि ७। पदभङ्ग-पश्चाच्चतुष्पदप्रचारादिद्वारेण ८। विश्रामः-स्वगृह एव वासकाद्यनुज्ञा ९। पादपतनम्-प्रणामादिगौरवम् १०। आसनम्-विष्टरदानम् ११ । गोपनम्-चौरापह्नवम् १२ । खण्डखादनम्-मण्डकादिभक्ष्ययोगः १३ । माहराजिकं लोकप्रसिद्धम् १४। पद्याऽग्न्युदकरज्जूनां प्रदानमिति प्रत्याख्यानाभ्यङ्गाभ्यां दूरमार्गागमजनितश्रमापनोदितत्वेन पादेभ्यो हितं पद्यमुष्णजलतैलादि तस्य १५, पाकाद्यर्थं चाग्नेः१६, पानाद्यर्थं च शीतोदकस्य १७, चौराहृतचतुष्पदादिबन्धनार्थं च रज्ज्वाश्च १८, प्रदानं वितरणम्। ज्ञानपूर्वकं चेति सर्वत्र योज्यम्, अज्ञानपूर्वकस्य निरपराधत्वादिति ।

तथा पातिताङ्गोपाङ्गाः कदर्थिताङ्गोपाङ्गाः, तैः राज्ञः किङ्करैरिति प्रकृतम् । करुणाः, शुष्कोष्ठकण्ठगलतालुजिह्वाः, याचमानाः पानीयम्, विगतजीविताशाः, तृष्णार्दिताः, वराका इति स्फुटम् । (तं पि य त्ति) तदपि पानीयमपि न लभन्ते, वध्येषु नियुक्ता ये पुरुषाः-ते वध्यपुरुषाः, तैर्बाध्यमानाः प्रेर्यमाणाः । तत्र च धाडने, खरपरुषोऽत्यर्थकठिनो यः पटहको डिण्डिमकः, तेन प्रचलनार्थं पृष्ठदेशे घट्टिताः प्रेरिता ये ते तथा । कुरग्रहः कटिग्रहः, तेन च गाढरुष्टैर्निसृष्टमत्यर्थं परामृष्टाः गृहीता ये ते तथा । ततः कर्मधारयः । वध्यानां सम्बन्धि यत् करकुटीयुगं वस्त्रविशेषयुगलं तत्तथा, तन्निवसिताः परिहिताः। पाठान्तरे-वधाश्च करकुट्योर्हस्तलक्षणः, तयोः युगं युगलं, निवसिताश्च ये ते तथा । सुरक्तैः कणवीरैः कुसुमविशेषैः, ग्रथितं गुम्फितं, विमुकुलं विकसितं, कण्ठे गुण इव कण्ठे गुणं, कण्ठसूत्रसदृशमित्यर्थः । वध्यदूत इव वध्यदूतः, वध्यचिह्नमित्यर्थः । आविद्धं परिहितं, माल्यदामकुसुममाला, येषां ते तथा, मरणभयादुत्पन्नो यः स्वेदः तेनायतमायामवद् यथा भवतीत्येवं स्नेहेन वन्नुपितानीव स्नापितानीव क्लिन्नानि चार्द्रीकृतानि गात्राणि येषां ते तथा । चूर्णेनाङ्गारादीनां गुण्ठितं शरीरं, कुसुमरजसा वातोत्थानेन रेणुना च धूलीरूपेण भरिताश्च मृताः केशा येषां ते तथा । कुसुम्भकेन रागविशेषेण उत्कीर्णा गुण्ठिता मूर्द्धजा येषां ते तथा । छिन्नजीविताशा इति प्रतीतम्। घूर्णमानाः, जयविकलत्वात् । वध्याश्च हन्तव्याः, प्राणप्रीताश्च उच्छ्वासादिप्राणप्रियाः, प्राणपीता वा प्रक्षिप्यमाणा ये ते तथा । पाठान्तरेण-(वेज्झायपाणभीय त्ति) वध्यकेभ्यो भीता इत्यर्थः। 'तिलं तिलं चेव छिज्जमाणा' इति व्यक्तम्। शरीराद्विकृत्तानि छिन्नानि लोहितावलिप्तानि यानि काकणीमांसानि श्लक्ष्णखण्डपिशितानि तानि तथा, खाद्यमानाः, पापाः पापिनः, खरकरशतैः श्लक्ष्णपाषाणभृतैः, चर्मकोशकविशेषशतैः, स्फुटितवशशतैः ताड्यमानदेहाः, घातिकनरनारीसंपरिवृताः घातो येषामस्ति ते घातिकाः, घातिका इव घातिकाः, अयान्त्रिता इत्यर्थः। तैर्नरैर्नारीभिश्च समन्तात्परिवृता ये ते तथा। प्रेक्ष्यमाणाश्च, नागरजनेनेति व्यक्तम्। वध्यनेपथ्यं संजातं येषां ते वध्यनेपथ्यिताः। प्रणीयन्ते नीयन्ते नगरमध्येन सन्निवेशमध्यभागेन, कृपणानां मध्ये करुणाः कृपणकरुणाः, अत्यन्तकरुणा इत्यर्थः। अत्राणाः, अनर्थप्रतिघातकाभावात् । अशरणाः, अर्थप्रापकाभावात्। अनाथाः, योगक्षेमकारिविरहितत्वात् । अबान्धवाः, बान्धवानामनर्थकत्वात्। बन्धुविप्रहीणाः, बान्धवैः परित्यक्तत्वात् । विप्रेक्षमाणाः पश्यन्तः (दिसो दिसं ति) एकस्या दिशोऽन्यां दिशं, पुनस्तस्या अन्यां दिशमित्यर्थः । मरणभयेनोद्विग्ना ये ते तथा । (आघायण त्ति) आघातनं च वध्यभूमिमण्डलस्य प्रतिद्वारम्। द्वारमेव संप्रापिता नीता ये ते तथा । अधन्याः, शूलाग्रे शूलकान्ते विलग्नोऽवस्थितो भिन्नो विदारितो देहो येषां ते तथा ।

ते च, तत्र आघातने, क्रियन्ते विधीयन्ते । तथा परिकल्पिताङ्गोपाङ्गाः छिन्नावयवाः, उल्लम्ब्यन्ते वृक्षशाखाभिः । केचित् करुणानि, वचनानीति गम्यन्ते; विलपन्त इति । तथा अपरे चतुर्ष्वङ्गेषु हस्तपादलक्षणेषु (धणियं) गाढं बद्धा ये ते तथा । पर्वतकटकाद् भृगोः, प्रमुच्यन्ते क्षिप्यन्ते, दूरात्पातः पतनं च, बहुविषमप्रस्तरेषु अत्यन्तासमपाषाणेषु, सहन्ते ये ते तथा। तथाऽन्ये चाऽपरे गजचरणमलनेन निर्मर्दिता दलिता ये ते तथा । ते क्रियन्ते। कैः ?, इत्याह-मुण्डपरशुभिः कुण्ठकुठारैः। तीक्ष्णैर्हि तैर्नात्यन्तं वेदनोत्पद्यत इति विशेषणमिति । तथा केचित् अन्ये, उत्कृत्तकर्णोष्ठनासाभिन्नश्रवणदशनच्छदप्राणाः, उत्पाटितनयनदशनवृषणा इति प्रतीतम् । जिह्वा रसना, आञ्छिता आकृष्टा, छिन्नौ कर्णौ, शिराश्च, नयनाद्या येषां ते तथा । प्रणीयन्ते,आघातस्थानमिति गम्यते। छिद्यन्ते च खण्ड्यन्ते, असिना खड्गेन, तथा निर्विषया देशाद् निष्कासिताः, छिन्नहस्तपादाश्च, प्रमुच्यन्ते राजकिङ्करैस्त्यज्यन्ते, छिन्नहस्तपादा देशान्निष्कास्यन्त इति भावः । तथा यावज्जीवबन्धनाश्च क्रियन्ते, केचिदपरे, के ?, इत्याह-परद्रव्यहरणलुब्धा इति प्रतीतम्। कारागृहया चारकपरिधेन, निगडयुगलैश्च रुद्धा नियन्त्रिता ये ते तथा । ते क ?, इत्याह-[चारगाए त्ति] चारके गुप्तौ, किंविधाः सन्तः?, इत्याह-हृतसारा अपहृतद्रव्याः, स्वजनविप्रमुक्ता मित्रजननिराकृताः निराशाश्चेति प्रतीतम् । बहुजनाधिक्कारशब्देन लज्जापिताः प्राप्तलज्जाः ये ते तथा। अलज्जा विगतलज्जाः, अनुबद्धक्षुधा सततबुभुक्षया, प्रारब्धाभिभूता अपवद्धा वा ये ते तथा । शीतोष्णतृष्णावेदनया दुर्घटया दुष्प्रच्छादनया, घट्टिताः स्पृष्टा ये ते तथा । विवर्णं मुखं,विरूपा च छविः शरीरत्वक्, येषां ते विवर्णमुखविच्छविकाः । ततोऽनुबद्धेत्यादिपदानां कर्मधारयः । तथा विफला असमर्थीकृतार्थाः, मलिना मलीमसाः, दुर्बलाश्चासमर्था ये ते तथा । क्लान्ता ग्लानाः, तथा कासमाना रोगविशेषात्कुत्सितशब्दं कुर्वाणाः, व्याधिताश्च सञ्जातकुष्ठादिरोगाः, आमेनापक्वरसेनाभिभूतानि गात्रावयवानि येषां ते तथा । प्ररूढानि वृद्धिमुपगतानि, भूषणसंस्काराद् अपकर्ष्यमाणानि ...

षां ते तथा। तत्र केशाः शिरोजाः, श्मश्रूणि कूर्चरोमाणि,शेषाणि तु रोमाणीति। (मलमुत्तम्मि त्ति) पुरीषमूत्रे निजके,(खुत्त त्ति) निमग्नाः,तत्रैव चारकबन्धने मृताः,अकामुकाः मरणेऽनभिलाषाः, ततश्च बद्धा पादयोराकृष्टाः, खातिकायां [छूढ त्ति] क्षिप्ताः, तत्र तु खातिकायां, वृकशुनकशृगालकोलमार्जारवृन्दस्य संदंशकतुण्डैः पक्षिगणस्य च विविधमुखशतैर्विलुप्तानि गात्राणि येषां ते तथा । कृता विहिता शृगालादिभिरेव [विहंग त्ति] विभागाः, खण्डशः कृता इत्यर्थः । केचिदन्ये- [किमिणाइ त्ति] कृमिवन्तश्च, कुथितदेहा इति प्रतीतम् । अनिष्टवचनैः शप्यमानाः आक्रोश्यमानाः। कथम् ?, इत्याह- सुष्ठु कृतं, ततः कदर्थनमिति गम्यते। यदिति यस्मात् कदर्थनाद् मृतः पाप इति । अथवा सुष्ठु कृतं सुष्ठु मारयन्तं, यन्मृत एव पाप इति। तथा तुष्टेन जनेन हन्यमानाः, लज्जामापयन्ति मापयन्तीति लज्जापनास्त एव कुत्सिताः लज्जापनकाः, लज्जावहा इत्यर्थः । ते च भवन्ति आत्मने, न केवलमन्येषां, स्वजनस्यापि च दीर्घकालं यावदिति तथा मृताः सन्तः, पुनर्मरणानन्तरं, परलोकसमापन्नाः जन्मान्तरसमापन्नाः, निरये गच्छन्ति,कथंभूते ?, निरभिरामे। अङ्गारकप्रदीप्तकं प्रदीप्तकं च तत्कल्पस्तदुपमो योऽत्यर्थं शीतवेदनास्तेनैव कर्मणा उदीर्णानि उदीरितानि, सततानि अविच्छिन्नानि यानि दुःखशतानि तैः समभिभूतो यः स तथा तत्र। ततस्ततोऽपि नरकादुद्वृत्ताः सन्तः पुनः प्रपद्यन्ते तिर्यग्योनिम्, तत्रापि निरयोपमामनुभवन्ति वेदनाम्, ते अनन्तरोदिताः अदत्तग्राहिणः, अनन्तकालेन यदि नाम कथञ्चिन्मनुष्यभावं लभन्ते इति प्रक्रमः । कथम् ?, इत्याह- नैकेषु बहुषु निरयगतौ यानि गमनानि तिरश्चां च ये भवास्तेषां ये ग्रहणा [illegible] नि लक्षे तथा तेषु, अतिबहुषु पर्यटनेषु लभ्यन्ते । तत्रापि च मनुष्यभवे भवन्ति अनार्याः [illegible]। किंभूताः ?, नीचकुलसमुत्पन्नाः, तथा आर्यजनेऽपि भवन्तो लोकबाह्या [illegible] तिर्यग्भूताश्च, बहुकला इत्यर्थः। कथम् ?, इत्याह- [illegible] निपुणाः, कामभोगेषु तृषिता इति प्रक्रमः। [जहिं त्ति] यत्र नरकादिप्रवृत्तौ, न तु मनुष्यभव एव, निबध्नन्ति (निरयवत्तणि त्ति) निरयवर्तन्यां [illegible], प्रभवप्रपञ्चकरणेन [illegible], [पउणोल्लि त्ति] प्रकर्षेण [illegible] तथा । अत [illegible]। पुनरपि [illegible] संसारो जातो ([illegible] त्ति) मूलं येषां तथा, [illegible] तथा, [illegible]। [illegible]। [illegible] । [illegible] ?, इत्याह- [illegible]। [illegible]।

[illegible]

सलिलं यत्र स तथा तम् । संयोगवियोगा एव वीचयस्तरङ्गा यत्र स तथा । चिन्ताप्रसङ्गः चिन्तासातत्यं, तदेव प्रसृतं प्रसरो यस्य स तथा । वधा हननानि, बन्धाः संयमनानि, तान्येव महान्तो दीर्घतया, विपुलाश्च विस्तीर्णतया, कल्लोला महोर्मयो यत्र स तथा; करुणविलपिते लोभ एव कलकलायमानो बोलो ध्वनिः स बहुलो यत्र स तथा । ततः संयोगादिपदानां कर्मधारयःअतस्तम्। अपमाननमेवापूजनमेव,फेनो यत्र स तथा तीव्रखिंसनं वाऽत्यर्थनिन्दा पुलपुलप्रभूता अनवरतोद्भूता ये रोगवेदनास्ताश्च परिभवविनिपातश्च पराजितवसम्पर्कः, परुषधर्षणानि च निष्ठुरवचननिर्भर्त्सितानि,समापतितानि सभापन्नानि, येऽन्यस्तानि तथा तानि च तानि कठिनानि कर्कशानि दुर्भेदानीत्यर्थः। कर्माणि च ज्ञानावरणादीनि, क्रिया वा, ये प्रस्तराः पाषाणाः, तैः कृत्वा तरङ्गरिङ्गद् वीचिभिश्चलन्, नित्यं ध्रुवं मृत्युश्च भयं चेति स एव वा तोयपृष्ठं जलोपरितनभागो यः स तथा । ततः कर्मधारयः । अथवा- अपमानेन फेनेन, फेनमिति तोयपृष्ठस्य विशेषणम्। अतो बहुव्रीहिरेव अतस्तम्। कषाया एव पातालाः पातालकलशास्तैः संकुलो यः स तथा तम्।भवसहस्राण्येव जलसञ्चयस्तोयसमूहो यत्र स तथा तम। एवं जननादिजन्यदुःखस्य सलिलतोक्ता, इह तु भवानां जननादिधर्मवज्जलविशेषसमुदायतोक्तेति न पुनरुक्तत्वम्। अनन्तमक्षयं, अत्रजनकमुद्वेगकरम्, अनवताग्रपारं विस्तीर्णस्वरूपम्, महानद्यादिविशेषणत्रयमेकार्थम् । अपरिमिता अपरिमाणा ये महेच्छा वृहदभिलाषा लोकास्तेषां कलुषाऽविशुद्धा या मतिः सा एव वायुवेगस्तेन (उद्धम्ममाण त्ति) उत्पाट्यमानं यत्तत्तथा । तत्र आशा अप्राप्तार्थसम्भावनाः, पिपासाश्च प्राप्तार्थकाङ्क्षाः, त एव पातालाः पातालकलशाः, पातालं वा समुद्रजलतलं,तेभ्यस्तस्माद्वा कामरतिः शब्दादिष्वभिरतिः, रागद्वेषबन्धनेन च बहुविधसंकल्पाश्चेति द्वन्द्वः । तद्रूपतस्य विपुलस्योदकरजस उदकरेणोर्यो रयो वेगस्तेनान्धकारो यः स तथा तम्। कलुषमतियोतमाऽऽ[illegible]पातालाकुण्ठायमानकामस्यापूरकरजोरयोऽन्धकारमि— त्यर्थः। मोह एव महावर्तो मोहमहावर्तः, तत्र भोगा एव कामा एव, भ्राम्यन्तो मण्डलेन भ्रमन्तो, गुप्यन्तो व्याकुलीभवन्त उच्छलन्तः, बहवः प्रचुराः, गर्भवासे मध्यनागविवरे, प्रत्यवनिपतन्तश्च [illegible] निपतिताः,प्राणिनो यत्र जलं तत् तथा। तथा प्रधावितानि इतस्ततः प्रकर्षेण गतानि यानि व्यसनानि तानि समापन्नाः प्राप्ता ये ते । [illegible]-वाधिताः [illegible] ये व्यसनसमापन्नाः [illegible] तेषां [illegible] यत् प्रलपितं तदेव [illegible] नेन समाहतमस्मरोदं [illegible], [illegible] इत्यर्थ, अतिरेकैः [illegible] यत्र स तथा तम । मोहात [illegible] व्यसनं [illegible] विशेषणं [illegible]। [illegible] ([illegible] त्ति) [illegible] ([illegible]) [illegible], [illegible] यत्र स तथा । [illegible] ([illegible] त्ति) [illegible] यत्र स तथा। [illegible] ([illegible] त्ति) [illegible]

माणो यः स तथा । सन्तापः,पश्चात् शोकादिकृतः, सन्यत्र पाप-
धाभिरतो नित्यं यत्र स सन्तापनित्यकः । तथा चलत् चपलमभ्र-
सभ्रं यः स तथा,अभिचपलमित्यर्थः । स च मन्त्राणानामदाराणां
पूर्वोक्तकर्मसक्तानां, प्राणिनामिति गम्यम् । यद्दुर्दीर्णं यज्ज्यं
पापं तस्य यो वेद्यमानो दुःखफलरूपो विपाकः स एव पूर्णस्य
सृगत् अलसमूढो यत्र स तथा । ततोऽज्ञानादिपदानां कर्मधार-
यः । प्रशस्तम् । ध्वाङ्क्षिसमानप्रकृतानि यानि गौरवाण्यशुभाय्य-
घमायाविशेषाः,न पयारहास जलचरविशेषाः,मैर्नैर्दीना ये क-
र्मसंनिबद्धाः सत्त्वाः, ससारोक्तं इगमायण्णाश्विघ्नाः, समुद्रपक्षे
विविधवेष्टाप्रसक्ताः । (कड्डिज्जमाण त्ति) आकृष्यमाणा नरक-
एव तलं पातालं (दुत्तं ति) तदभिमुखं यत्रा इति सत्त्वकाः
स्त्रियाः,शिल्पणाहय शोकिताः, मैयंद्रुओ यः स तथा । अरतिभयवि-
षयाणि प्रतीतानि । विषादो दैन्यं, शोकस्तस्यैव प्रकर्षावस्थम् । मि-
थ्यात्वं विपर्यासः,एताम्येव शैला पर्वतास्तैः सङ्कटो यः स तथा ।
धनादिसम्भवो यस्य कर्मबन्धनस्य सन्तया, तथ क्लेशाश्च रा-
गादयस्तद्रूपेण यत् चिक्किणं कर्दमस्तेन सुषु दुरुत्तारो यः स
तथा । ततः स अप्रीत्यादिपदानां कर्मधारयः,प्रशस्तम् । अमर-
नरतिर्यग्गतौ गमनं सैव कुटिलपरिवर्ता वक्रपरिवर्तना, विपु-
ला विस्तीर्णा,वेला जलवृद्धिलक्षणा,यत्र स तथा तम् । हिंसाऽली-
कादत्तादानमैथुनपरिग्रहलक्षणा ये आरम्भव्यापाराः, तथा यानि
करणकारणानुमोदनानि तैरष्टविधमनिष्टं यत्कर्म पिण्डितं सञ्चि-
तं, तदेव गुरुभारस्तेनाक्रान्ता ये ते तथा,तैर्दुर्गादयेषु व्यसनानां
यो जलौघवेगेन दूरमपि,निमज्जमानैः निमज्जमानैः,(उम्मग्गनि-
मग्ग त्ति) उन्मग्ननिमग्नकर्दमोधोगमनानि कुर्वाणैः, दु-
र्लभं तलं प्रतिष्ठानं यस्य स तथा तम् । शारीरमानसानि दुः-
खानि उत्पादयन्तः,तेषां च सुखम्, असातपरितापनं च दुःखजनितोपतापः, एतन्मयमेतद्रूपमेव, (उब्बुड्डुनिब्बु-
डुयं ति) उन्मज्जनिमज्जनं कुर्वन्तः । तथ सातसुखमुन्मज्जनमिव,
असातपरितापनं निमज्जनमिवेति । चतुरन्तं चतुर्विभागं दि-
ग्भेदगतिभेदाभ्यां महान्तं प्रतीतम्, कर्मधारयोऽत्र द्रष्टव्यः । अन-
वदग्रमनन्तं, रुन्दं विस्तीर्णं, संसारसागरमिति प्रतीतम् । किं-
भूतम् ?, इत्याह-अस्थितानां संयमाव्यवस्थितानामविद्यमान-
मालम्बनं प्रतिष्ठानं च कारणरूपं यत्र स तथा तम्, अप्रमेय-
मसर्वविदाऽपरिच्छेद्यं, चतुरशीतियोनिशतसहस्रगुपिलम्,
तत्र योनयो जीवानामुत्पत्तिस्थानानि, तेषां चतुरशीतिलक्षाणि
समवर्णगन्धरसस्पर्शानामेकत्वविवक्षयानुक्त संख्याता अवि-
वोधितं द्रष्टव्यम् । तत्र गाथा-" पुढवि ७ दग ७ अगणि ७
मारुय ७, एक्केक्के सत्त जोणिलक्खाओ । वणपत्तेय १० अणं-
ते १४, दस चोद्दस जोणिलक्खाओ ॥१॥ विगलिंदिएसु दो दो,
चउरो चउरो नारयसुरेसु । तिरिएसु हुंति चउरो, चोद्दस ल-
क्खा य मणुएसु " ॥ २ ॥ इति । अनालोकामहान्धकारो
यः स तथा तम् । अनन्तकालमपर्यवसितत्वात् यावत्, नित्यं
सर्वदा, उत्त्रस्ता उद्विग्नमनसः, दुःखान्वितेन सेवनमुदा-,
भयेन संज्ञाभिश्च आहारादिभिर्युक्तपरिग्रहादिभिः,सम्पृक्ता युक्ताः ।
ततः कर्मधारय । वसति च ब्याघातेन, संसारमसारंमित्यर्थ-
तम् । इद च पदेरिति स्वरूपं तत्प्रतिपत्तिं च सन्निवेशं,दृष्टान्त-
हेति । किंभूतं संसारम् ? उद्विग्नप्रायो दासस्य वसनस्य वस-
तिस्थानं यः स तथा तम् । तथा यत्र यत्र ग्रामकुलादौ आयुर्निब-
ध्नाति पापकारी स्वपरविकल्पितादिना , तत्र तत्रेति शब्दः अ-
न्यपक्षपरिघातिना अत्रुप्तोऽसि विक्रयकस्य : [illegible]

मात्रादिना, स्वजनेन पुत्रादिना, मित्रैश्च सुहृद्भिः परिवर्जिता
ये ते तथा । अनिष्टाः,अनभिमता अन्यैः, भवन्ति जायन्ते । अना-
देयदुर्विनीता इति प्रतीतम् । कुस्थानासनकुशय्याभाजः,कुभोजि-
नश्चेति समासः । (असुइणो त्ति) अशुचयोऽशुभदाः, कुसंहनन-
कुसंस्थाना संहननयुताः, कुप्रमाणाः कुसंस्थाना कुसंहनना वा,
कुसंस्थिताः कुण्डादिस्थानाः इति पदत्रयस्य कर्मधारयः । कु-
रूपाः कुत्सितरूपाः, बहुक्रोधमानमायालोभा इति प्रतीतम् ।
बहुमोहा अतिकामा अत्यज्ञाना वा, धर्मसंज्ञाया धर्मबुद्धेः,
सम्यक्त्वाच्च ये परिभ्रष्टास्ते तथा । दारिद्र्योपद्रवाभिभूताः,
नित्यं परकर्मकारिण इति प्रतीतम् । जीवितेन वर्तनेन वाऽर्थेन
सद्द्रव्यरहिता ये ते तथा । कृपणा रङ्काः, परपिण्डतर्कका पर-
दत्तभोजनगवेषकाः, दुःखलब्धाहारा इति व्यक्तम् । अरसविर-
हितप्रायविभागसंस्कृतेन विरसेन तुच्छेन कुत्सितेन,
भोजनेनेति गम्यते । [illegible] कुर्वन्ति तथा । [illegible]
[illegible] । [illegible] इत्याह- [illegible]
[illegible] पुत्रा, भोजनमन्नम्, [illegible]
यः समुदायः, [illegible]
स तथा तम् । [illegible] ([illegible]) [illegible]
[illegible]
[[illegible]] [illegible]
[illegible]
[illegible] इति [illegible]
[illegible]
[illegible] । तथा [illegible] [[illegible]] [illegible]
[illegible]
[illegible]
तथा । [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

[illegible] परित्नैते आमेयथे [illegible] सर्वसौख्यमानन्दो येस्ते तथा । [illegible] क्रियाः मोगोपमोगी तपोर्धीमिधाएं निधा, [illegible] ये ते तथा । तत्र भोगोपभो- [illegible]–" सइ भुज्जइ त्ति भोगो, सो पुण आहारपु- [illegible] । उवभोगो उ पुणो पुण, उवभुज्जइ वत्थविलयाइ " ॥ १ ॥ इति । [illegible] अकामिकया अनिच्छया, [illegible], [illegible] । किं तत् ?, इत्याह–[illegible], नैव सुखं, नैव निर्वृतिं [illegible] प्राप्नुवन्ति, [illegible] ये अविरता भव- न्ति, ते नैव सुखं [illegible] प्रस्तुतम, [illegible] । [illegible]–(एसो मे) इत्यादि सर्व पूर्ववत् । प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । (पञ्चमं ये च [illegible] मति न पृथगुक्तम)।

([illegible] "अदत्तादाणवेरमण" [illegible])

(१) [illegible]–

जे भिक्खू [illegible] गिरं आइ- यति, आइयंतं वा साइज्जइ ॥ ७४ ॥

[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ २१६ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ २१७ ॥

[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥२१८॥

[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥२१९॥

[illegible]

पच्छ वि जणाति आमं, तुण्हीको वावि पुच्छति भवीणं ।
धम्मं कहिवादिवयणे, रूवे णीयस्स पडिमाए ॥२२०॥

भणाति रूवे–तुमं अम्ह सयणोऽसि, अहवा तुमं सो परिमं पडिमासमासी, परोवय तहेव तुण्हिक्कादि भणति ।

बाहिरउवाणवलिओ, परपच्चयकारणा उ आयारे ।
माहुरुदाहरणं तहिं, सावे गोविंदपव्वज्जा ॥ २२१ ॥

आयारतेणे महुराकोंटइल्ला उदाहरणं, ते मायसुक्का परप- त्तियमित्तं बाहिरकिरिया सुठु उज्जुत्ता जे, ते आयारतेणा । भाव- तेणो जहा–गोविंदवायगो वादे निज्जिओ, सिद्धंतहरणट्ठयाए पव्वयमब्भुवगतो पच्छा सम्मत्तं पडिवएणो । एयमादि गिराणं अदिसाणं णो गहणं कायव्वं, एगंता वयणब्भंसो कतो भवति । मुसावादिया य चरणब्भंसदोसा–

एतेसामण्णतरे, गिरिं अदत्तं तु आदिया जे तु ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥२२२॥

कंठ्या । भायणसट्ठाणं ण पच्छित्तं, ते अदत्तं पि आदिएज्ज ।

वितियपदमणप्पज्झे, आदिएँ अवि को वि ते व अप्पज्झे ।
दुराइ संजमट्ठा, सुयजदव्वेण ऽजाणंता ॥२२३॥

[illegible] वा आइएज्ज, सेहो वा अजाणंतो (दुराइ त्ति) [illegible] वि न देइ, तस्स [illegible] वा जाव गुणेइ, [illegible] वा, करस्स वि तत्थ [illegible] सुत्तेति, गयागयं वा करेतो संजमे हेउं पत्ति । [illegible] ति, पुच्छिओ दिट्ठो वि न दिहति, भणेज्जा जाव वा संजयत्ताभावे [illegible] संजयभामाभो [illegible], तत्थ [illegible] ते [illegible] । आयरियस्स गिलाणस्स वा, [illegible] वा, [illegible] वा [illegible] । [illegible] वा किंचि [illegible] । [illegible] वा [illegible] । नि० चू० ११ उ० । "अदिन्नादाणं सुहुमं, बायरं च । तत्थ सुहुमं [illegible] । बायरं [illegible]" । महा० ३ अ० ।

[illegible]–

[illegible] चतुर्विधम् । तत्र स्वामि- [illegible] १ । जीवादत्तं [illegible] २ । तीर्थकरादत्तं [illegible] ३ । गुर्वदत्तं नाम स्वामिना [illegible] ४ । इति [illegible] तृतीयं व्रतम् । ध० ३ अधि० ।

[illegible] वा, अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा ।
[illegible] ॥१४॥

[illegible] । दश० ६ अ० ।

(६) [illegible]–

जे भिक्खू [illegible] आइयति, आइयंतं वा साइज्जइ ॥ ७७ ॥

लहु थोवं, अदत्तं तेणं, आदियणं गहणं, साइज्जणा अणुमोयणा, मासलहु पच्छित्तं ।

तं अदत्तं दव्वादि चउव्विहं-

दव्वे खेत्ते काले, भावे लहुसगं अदत्तं तु ।
एतेसिं णाणत्तं, वोच्छामि अहाऽणुपुव्वीए ॥ ७१ ॥

दव्वखेत्तकालाणं गहणं, साइज्जणा अणुमोयणा, मासलहु पच्छित्तं, तं आदित्तं दव्वादिहिं चउव्विहं ।

दव्वखेत्तकालाणं इमं वक्खाणं-

दव्वे कम्मणादिएसु, खेत्ते उच्चारभूमिमादीसु ।
काले इत्तरियमवी, अच्छाइ तु चिट्ठमादीसु ॥ ७२ ॥

वणस्सतिभेओ इक्कडादीणं पसिद्धो, कट्ठगो वंसो, आदिग्गहणाओ अवलेहणिया, दारुदंडपादपुंछणमादि, एते अणणुण्णवेउं गेण्हति । खेत्तओ आदित्तं गेण्हति उच्चारभूमिं, आदिग्गहणाओ पासवणभूमीओ अणिट्ठवणभूमीए अणणुण्णवित्ता उच्चारादी आयरइ । खित्तओ आदित्तं गतं । काले इत्तरं स्तोकं अणणुण्णं चिट्ठति । भिक्खादि हिंडंतो जाव वासं वसति विनिच्छं वा पडिच्छति, अच्छणे वा अणणुण्णवेत्ता रुक्खहेट्ठादीसु चिट्ठति निसीयति, तुयट्टति वा, दव्वादीसु वि मासलहुं ॥

इदाणीं भावे अदत्तं-

भावे पाओग्गस्सा, अणणुण्णवणा तु तप्पढमताए ।
ठायंते उडुबद्धे, वासाणं वुड्ढवासे य ॥ ७३ ॥

उडुबद्धे वासासु वा, वुड्ढावासे वा, तप्पढमयाए पाओग्गाऽणणुण्णवणजाएण परिणयस्स दव्वादिसु चेव भावओ लहु अदत्तं, अहवा साहू वुड्ढेसु जं जेट्ठं जं ओमं पाउग्गं अच्छति ।

लहुसमदत्तं गेण्हतस्स को दोसो ?, इमो-

एतेसामण्णतरं, लहुसमदत्तं तु जो तु आदियइ ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ ७४ ॥

कारणतो गेण्हंतो अपच्छित्ती, अदोसो य ।

अद्धाण गेलण्णे ओ-मऽसिवे गामाणुगामिमतिविसा ।
तेणासावयमसगा, सीतं वासं दुरहियासं ॥ ७५ ॥

अद्धाणाओ णिग्गता परिस्संता गामं वियाले पत्ता, ताहे अणणुण्णवितं इक्कडादि गेण्हेज्ज । वसहीए वि अणणुण्णवियाए ठाएज्ज, आगाढगेलण्णे तुरियकज्जे खिप्पमेव अणणुण्णवितं गेण्हेज्ज, ओमोदरियाए भत्तादि आदियं सयमेव गेण्हेज्ज । असिवगाहिताणं ण कोवि देइ, ताहे अदिण्णं संथारगादि गेण्हेज्ज । गामाणुगामं दूइज्जमाणा वियाले गामं पत्ता । जइ य वसही ण लब्भति, ताहे बाहिं वसंतु, मा अदत्तं गेण्हंतु । अह बाही दुविहा-तेणा सिया ति वा सावयामसगेहिं वा खज्जिज्जंति, सीयं वा दुरहियासं, जहा उत्तरावहे अवरत्ते वा संपतति ।

एतेहिं कारणेहिं, पुव्वउ घेत्तु पच्छऽणुण्णवणा ।
अद्धाण णिग्गतादी, दिट्ठमदिट्ठे इमं होति ॥ ७६ ॥

एतेहिं तेणादिकारणेहिं वसहिसामीए दिट्ठे अणुण्णवणा, अदिट्ठे अद्धाण णिग्गयादी, सयणसमोसिणताई अणुण्णवेउं घरसामिणा अदिण्णं घेत्तुं घरसामियमणुण्णवेति इमेण विहाणेण-

पडिलेहणऽणुण्णवणा, अणुलोमणफरुसणा य आदियाओ ।
अतिरिच्चमिदायणाणि-ग्गमणे वा दुविधभेदो य ॥ ७७ ॥

पडिलेहे त्ति । अस्य व्याख्या-

अन्नासत्थं गंतू-ण पुच्छणा दूरपाविया जतणा ।
तद्दिसमेत्तपडिच्छण-पवासम्मि कहिति सन्नातं ॥ ७८ ॥

सो घरसामी जदि खेत्तं खलगं वा गते जदि अब्भासत्तो गंतुं अणुण्णवेज्जति । अह दूरं गतो ताहे संथारगो ताव घेप्पउ जाहिं । आगमेउं तं दिसं अदूरं गंतु पडिक्खति जाहे साहू समीवं पत्तो ताहे अणुलोमवयणेहिं पण्णविज्जति ॥

अणुसासणं सजाती, म जाति मणुस्स वि तह वि तु अहंते ।
अजिठगाणिमित्तं वा, वंभणगा से य ववहारो ॥ ७९ ॥

जहा गोजातिमण्डलपुब्बो गोजातिमेव जाति, महिसो वि णो महिस्सादिसु ठिति करेति । एवं वयं वि साधुणा साधुमेव जामो । जदि तह वि ण देति, फरुसाणि वा भणति, ताहे सो फरुसं ण भणति, अधियासिज्जइ । जइ तह वि णिच्छुभेज्ज, ततो विग्घाए, खुहेहिं वा वसी कज्जति, णिमित्तेण वा आउंटाविज्जति । तस्स असति रुक्खमादिसु बाहिं वसंतु, मा य तेण समाणं कलहेंतु । अह बाहिं दुविहभेदो-आयसंजमाणं च करणं, तासं वा संजमविराहणं वा पणयालं च परितावेति, लहुगा इच्चाई । ताहे भणति-अम्हे रायाओ, जं एत्थ आणत्तियं सो एत्थ रायपुरिसो ण साहिस्सति, एस वा सहस्सजोधी, सो वि बलवतरो किंचि करणं इच्छति, जहाति । जहा-विस्सभूतिणा पुप्फकरंडे य कविट्ठा पाडिया एस दायणा, तह वि अट्ठायमाणे बंधिउं ठवेति, जाव पभायं सो य जइ रायकुलं गच्छति, तत्थ तेण समाणं ववहारो कज्जति, कारणियाणं आगतो भणति-अम्हेहिं रायहितं आचिट्ठंतेहिं मुसिता सावयेहिं वा खद्धा वा, तो तुहं अणिहियं भयसो य अयंतो परकूलनिम्मयाय रायहियं, रायरक्खियाणि य तपोवणाणि, ण दोसे त्ति । नि० चू० २ उ० । लघुकादत्तं पुनः-अननुज्ञापितवृक्षस्तुच्छाद्यग्रहणादिविषयम् । जीत० ।

(७) सूत्रादौ तपस्तैन्यादि न कुर्यात्-

तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे अ जे नरे ।
आयारभावतेणे अ, कुव्वइ देवकिव्विसं ॥ ४६ ॥

तपस्तेनः, वाक्स्तेनः, रूपस्तेनस्तु यो नरः कश्चित्, आचारभावस्तेनश्च प्राप्यापि क्रियां तथा भावदोषात्-किल्विषं करोति किल्बिषिकं कर्म निवर्तयतीत्यर्थः । तपस्तेनो नाम क्षपकरूपकतुल्यः कश्चित्केनचित् पृष्टस्त्वमसौ क्षपक इति ? । स पूजाद्यर्थमाह-अहम् । अथवा वक्ति-साधव एव क्षपकाः । तूष्णीं वाऽऽस्ते । एवं वाक्स्तेनो धर्मकथकादितुल्यरूपः कश्चित्केनचित्पृष्ट इति । एवं रूपस्तेनो राजपुत्रादितुल्यरूपः । एवमाचारस्तेनो विशिष्टाचारवत्तुल्यरूप इति । भावस्तेनस्तु-परोत्प्रेक्षितं कथञ्चन किञ्चित् श्रुत्वा स्वयमनुत्प्रेक्षितमपि मयैतत्प्रपञ्चेन चर्चितमित्याह इति सूत्रार्थः ।

कथं केनच्छ्रुत्वा-

लद्धूण वि देवत्तं, उववन्नो

[illegible] वि मे न [illegible], [illegible] किया इमं फलं ॥४७॥

[illegible] सुत्रार्थः ।

[illegible]–

[illegible] वि मे [illegible], [illegible] फलमूलयं ।

[illegible] वा, [illegible] नत्थ [illegible] ॥ ४८ ॥

[illegible]

[illegible]

थूलगमदत्तादाणं समणोवासओ पच्चक्खाइ, से अ[illegible] णे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–सचित्तादत्तादाणे, [illegible] दत्तादाणे अ ॥

अदत्तादानं द्विविधम्—स्थूलं, सूक्ष्मं च । तत्र [illegible] विषयं चौर्यारोपणहेतुत्वेन प्रसिद्धमिति दुष्टाध्यव[illegible] स्थूलम्, विपरीतमितरत्, स्थूलमेव स्थूलकं, स्थूलकं [illegible] अदत्तादानं चेति समासः । तच्छ्रमणोपासकः प्रत्या[illegible] पूर्ववत् । 'से' शब्दो मागधदेशीप्रसिद्धो निपातस्तत्[illegible] तथादत्तादानं द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तीर्थङ्करगणधरैर्द्विप्रकार[illegible] मित्यर्थः । तद्यथेति पूर्ववत् । सह चित्तेन सचित्तं-द्वि[illegible] कणं वस्तु, तस्य क्षेत्रादौ सुन्यस्तदुर्न्यस्तविस्मृतस्य [illegible] अदत्तस्य चौर्यबुद्ध्या आदानं सचित्तादत्तादानम् । [illegible] ग्रहणम् । अचित्तं वस्त्रकनकरत्नादि, तस्यापि क्षेत्रादौ [illegible] दुर्न्यस्तविस्मृतस्य स्वामिनाऽदत्तस्य चौर्यबुद्ध्याऽऽदानम् [illegible] दत्तादानमिति ।

अदत्तादाणे को दोसो ?, अकरंते वा के गुणा ? [illegible] इमं एगं चेव उदाहरणं । जहा–एगा गोट्ठी सावगं [illegible] गोट्ठीए एगत्थ पगरणं वट्टइ, जाणगते गोट्ठिल्लएहिं [illegible] पंचेरीए एगेण मोरपुत्तेण पाए पच्चंतीए अंकिओ [illegible] य रण्णो निवेइयं । राया भणइ–कहं ते जाणियव्वा ? [illegible] भणइ–एते पाएसु अंकिया नगरसमागमे दिट्ठा, [illegible] तिमि पत्तारि सव्वा गोट्ठिगहिया । एगो सावगो भ[illegible] हरामि, न खंडिओ । तेहिं वि भणियं–न एस हरइ । [illegible] मुक्को । इयरे घाविया अवि य सावगेण गोट्ठी न प[illegible] यव्वं । जइ कहं वि पओयणेण पविसइ, ताओ हारं [illegible] माइं न देइ, न य तेसि आओगट्ठाणेसु ठाइ । आ०[illegible]

तस्यातिचाराः–

तयाणंतरं च णं थूलगअदिण्णादाणस्स पंच [illegible] जाणियव्वा, न समायरियव्वा । तं जहा–तेनाहडे, त[illegible] ओगे, विरुद्धरज्जाइक्कमे, कूडतुलाकूडमाणे, तप्पडिरू[illegible] ववहारे । उपा० १ अ० ।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि, तच्चे भंते ! महव्वए उवट्ठिओ मि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं ॥ ३ ॥

यथापरस्मिँस्तृतीये भदन्त ! महाव्रते अदत्तादानाद्विरमणम् । सर्वं भदन्त ! अदत्तादानं प्रत्याख्यामीति पूर्ववत् । तद्यथा-ग्रामे वा नगरे वा अरण्ये वेत्यनेन क्षेत्रपरिग्रहः। तत्र ग्रसति बुद्ध्यादीन् गुणान् इति ग्रामः, नास्मिन् । नास्मिन् करो विद्यत इति नकरम् । अरण्यं काननादि । अल्पं वा बहु वा अणु वा स्थूलं वा चित्तवद्वा अचित्तवद्वेत्यनेन तु द्रव्यपरिग्रहः। तत्राल्पं मूल्यत एरण्डकाष्ठादि, बहु-वज्रादि । अणु प्रमाणतो वज्रादि । स्थूलमेरण्डकाष्ठादि । तथा चित्तवद्वाऽचित्तवद्वेति, चेतनाचेतनमित्यर्थः (णेव सयं अदिन्नं गिण्हिज्ज त्ति) नैव स्वयमदत्तं गृह्णामि, नैवान्यैरदत्तं ग्राहयामि, अदत्तं गृह्णतोऽप्यन्यान् न समनुजानामीत्येतद्यावज्जीवमित्यादि च भावार्थमधिकृत्य पूर्ववत् । विशेषस्त्वयम्-अदत्तादानं चतुर्विधम्-द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतो, भावतश्च । द्रव्यतोऽल्पादौ, क्षेत्रतो ग्रामादौ, कालतो रात्र्यादौ, भावतो रागद्वेषाभ्याम् । द्रव्यादिचतुर्भङ्गी त्वियम्-"दव्वओ नामेगे अदिन्नादाणे णो भावओ १। भावओ नामेगे नो दव्वओ २। एगे दव्वओ वि भावओ वि ३। एगे णो दव्वओ नो भावओ ४। तत्थ अरत्तऽदुट्ठस्स साहुणो कहिं वि अणणुण्णवेऊण तणाइ गेण्हओ दव्वओ अदिन्नादाणं नो भावओ, हरामीति अब्भुज्जयस्स तदसंपत्तीए भावओ नो दव्वओ । एवं चेव संपत्तीए भावओ दव्वओ वि । चरिमभंगो पुण सुन्नो ।" दश० ४ अ० ।

अहावरं तच्चं महव्वयं पच्चाइक्खामि सव्वं अदिन्नादाणं, से गामे वा णगरे वा अरण्णे वा अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा णेव सयं अदिन्नं गिण्हेज्जा, णेवऽण्णेहिं अदिण्णं गिण्हाविज्जा, अण्णं पि अदिण्णं गिण्हंतं ण समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए जाव वोसिरामि । तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवंति-तत्थिमा पढमा भावणा-अणुवीइमि उग्गहं जाइ से णिग्गंथे णो अणणुवीइमि उग्गहं जाइ से णिग्गंथे । केवली बूया-अणणुवीइमितोग्गहं जाति, से णिग्गंथे अदिण्णं गिण्हेज्जा, अणुवीइमि उग्गहं जाति से णिग्गंथे णो अणणुवीइमितोग्गहजाइ त्ति पढमा भावणा ॥ १ ॥ अहावरा दोच्चा भावणा-अणुण्णविय पाणभोयणभोई से णिग्गंथे णो अणणुण्णविय पाणभोयणभोई । केवली बूया-अणणुण्णविय पाणभोई से णिग्गंथे अदिण्णं भुंजेज्जा । तम्हा अणुण्णविय पाणभोयणभोई से णिग्गंथे णो अणणुण्णविय पाणभोयणभोइ त्ति दोच्चा भावणा ॥ २ ॥ अहावरा तच्चा भावणा-णिग्गंथेणं उग्गहंसि उग्गहियंसि एत्तावता व उग्गहणसीलए सिया । केवली बूया-णिग्गंथेणं उग्गहंसि उग्गहियंसि एत्तावता व अणोग्गहणसीले अदिण्णं ओगिण्हेज्जा णिग्गंथेणं उग्गहंसि एत्तावता व उग्गहणसीलए सि त्ति तच्चा भावणा ॥ ३ ॥ अहावरा चउत्था भावणा-णिग्गंथेणं उग्गहंसि उग्गहियंसि अभिक्खणं २ उग्गहणसीलए सिया । केवली बूया-णिग्गंथेणं उग्गहंसि उग्गहियंसि अभिक्खणं २ अणोग्गहणसीले अदिण्णं गिण्हेज्जा, णिग्गंथे उग्गहंसि उग्गहियंसि अभिक्खणं २ उग्गहणसीलए त्ति चउत्था भावणा ॥ ४ ॥ अहावरा पंचमा भावणा-अणुवीइमितोग्गहं जाइ से णिग्गंथे साहम्मिएसु णो अणणुवीइमि उग्गहं जाति । केवली बूया-अणणुवीइमि उग्गहं जाति से णिग्गंथे साहम्मिएसु अदिण्णं ओगिण्हेज्जा । से अणुवीइमि उग्गहं जाति से णिग्गंथे साहम्मिएसु णो अणणुवीइमि उग्गहं ति पंचमा भावणा ॥ ५ ॥ एत्तावता महव्वए सम्मं जाव आणाए आराहिते आवि भवइ तच्चं भंते ! महव्वए । आचा० २ श्रु० १ अ० ॥

तस्य चेमे अतीचाराः—

एवं तृतीयेऽदत्तस्य, तृणादेर्ग्रहणादणुः ।
क्रोधादिभिर्बादरोऽन्य-सचित्ताद्यपहारतः ॥ ५० ॥

एवं पूर्वोक्तरीत्या सूक्ष्मबादरभेदेन द्विविध इत्यर्थः । तृतीयेऽस्तेयव्रते प्रक्रमादतिचारो भवतीति शेषः । तत्र अणुः सूक्ष्मः, अदत्तस्य स्वाम्यादिनाऽननुज्ञातस्य तृणादेर्ग्रहणादनाभोगेनाङ्गीकरणाद्भवति, तत्र तृणं प्रसिद्धम् । आदिशब्दाद् डगलक्षारमल्लकादेरुपादानम् । अनाभोगेन तृणादि गृह्णतोऽतिचारो भवति, आभोगेन त्वनाचार इति भावः । तथा-क्रोधादिभिः कषायैरन्येषां साधर्मिकाणां चरकादीनां गृहस्थानां वा संबन्धि सचित्तादि सचित्ताचित्तमिश्रवस्तु, तस्याऽपहारतोऽपहरणपरिणामाद् बादरोऽतिचारो भवतीति संबन्धः। यत "तइअम्मि वि एमेव य, दुविहो खलु एस होइ विन्नेओ । तणडगलछारमल्लग, अविदिन्न गिण्हओ पढमं" ॥ १ ॥ अनाभोगेनेति तद्वृत्तिलेशः । "साहम्मि अन्नसाइ-म्मि आणमिहि आणकोहमाईहिं । सचित्ताइ अवहरओ, परिणामो होइ बीओ उ" ॥ २ ॥ साधर्मिकाणां साधुसाध्वीनाम्, अन्यसधर्माणां चरकादीनामिति तद्वृत्तिरित्युक्ताः तृतीयव्रतातिचाराः । ध० ३ अधि० । एतदेव सर्वस्मादद्त्तादानविरमणं दत्ताऽनुज्ञातसंवरनाम्ना स्वरूपोपदर्शनपूर्वकं सभावनाकं प्रश्नव्याकरणेषु तृतीयसंवरद्वारेऽभिहितम् । तस्य चेदमादिमं सूत्रम्—

जंबू ! दत्तमणुण्णायसंवरो नाम होइ ततियं, सुव्वय ! महव्वयं गुणव्वयं परदव्वहरणपडिविरइकरणजुत्तं अपरिमियमणंततण्हामणुगयमहिच्छमणवयणकलुसआयाणसुनिग्गहियं सुसंजमियमणहत्थपायनिहुयं निग्गंथं निट्ठिकं निरुत्तं निरासवं निब्भयं विमुत्तं उत्तमनरवसभपवरबलवगसुविहितजणसम्मतं परमसाहुधम्मचरणं जत्थ य गामागरनगरनिगमखेडकब्बडमडंबदोणमुहसंवाहपट्टणासमगयं च किंचि दव्वं-मणिमुत्तसिलप्पवालकंसदूसरययवरकणगरयणमादि पडियं पम्हुट्ठं विप्पणट्ठं न कप्पति कस्सति कहेउं वा, गेण्हेउं वा, अहिरण्णसुव-

[illegible]

सुरीतु पाऽऽदातु, तन्निवृत्तत्वात् साधोः । यतः साधुर्नैवंरूपं [illegible] [illegible] रजतं, सुवर्णं च हेम, ते [illegible] हिरण्यसुवर्णिकः, तन्निषेधेनाहिरण्यसुवर्णिकः, तेन, सम [illegible] [illegible] तथा । तेन [illegible] [illegible] संवृत्तेन्द्रियसंवरेण यः सोऽपरिग्रहसंवृतः । [illegible] न लोके [illegible] संचारितार्थ वा, साधुः [illegible] [illegible] [illegible], ([illegible]) [illegible] । [illegible] [illegible] । [illegible], पुष्पफल [illegible] [illegible] प्रतीतम । [illegible] वा मूल्यतो, [illegible] [illegible] प्रमाणतः, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] ' इति [illegible] विशेष [illegible] । [illegible] ([illegible]) [illegible] [illegible] [illegible] इति [illegible] [illegible] ([illegible]) [illegible] [illegible] तथा । ([illegible]) [illegible]

[illegible]

इतिहृन्येवंविधमात्मीकृत्यपरिहारपरं सकलसाधुसाधारणं घ-चनमाविष्करोति , इत्यतः स एवायं यो मया विवक्षितः । इत्येवं परसंबन्धिन्य आत्मनि परप्रतिपत्तिः सम्पाद्यैस्तपस्तेन उच्यते । एवं भगवन् ! स त्वं वाग्मी ?, इत्यादिभावनया परसंबन्धिनीं वाचमात्मनि तथैव सम्पादयन् वाक्स्तेन उच्यते । तथा (रूवतेणे य त्ति) एवं रूपवन्तमुपलभ्य स त्वं रूपवानित्यादि भावनया रूपस्तेनः । रूपं च द्विधा-शारीरसुन्दरता, सुविहितसाधुनेपथ्यं च । तत्र साधुनेपथ्यं यथा-"दढोरुगाढ-मज्झे, जेसिं अंते ण फासियं अंगं । मलिणा य चोलपट्टा,दोन्नि य पाया समक्खाया" ॥१॥ तत्र सुविहिताकारस्यात्मीयं जनमुपजीवितुकामः सुविहितः, सुविहिताकारधारी रूपस्तेनः । (आयारे चेव त्ति)आचारे साधुसामाचार्यादिविषये स्तेनो यथा-स त्वं यः क्रियारुचिः श्रूयते ?, इत्यादिभावना । तथैव [भावतेणे य त्ति] भावस्य श्रुतज्ञानादिविशेषस्य स्तेनो भावस्तेन । यथा-कमपि कस्यापि श्रुतविशेषस्य व्याख्यानविशेषमन्यतो बहुश्रुतादुपश्रुत्य प्रतिपादयति, यथाऽयं मया पूर्वश्रुतपर्यायोऽभ्यूहितो नान्य एवमभ्यूहितुं प्रज्ञुरिति । तथा-शब्दकरो रात्रौ महता शब्देनोल्लापः स्वाध्यायादिकारको गृहस्थभाषाभाषको वा । तथा-झञ्झाकरो येन येन गणस्य भेदो भवति तत्तत्कारी, येन गणस्य मनोदुःखमुत्पद्यते तद्भाषी । तथा-कलहकरः कलहहेतुभूतकर्तव्यकारी । तथा-वैरकरः, प्रतीतः । विकथाकारी-स्त्र्यादिकथाकारी । असमाधिकारकश्चित्तास्वास्थ्यकर्ता स्वस्य, परस्य वा । तथा-सदा अप्रमाणभोजी-द्वात्रिंशत्कवलाधिकाहारभोक्ता । सततमनुबद्धवैरश्च सततमनुबद्धं प्रारब्धमित्यर्थः, वैरं वैरिकर्म येन स तथा । नित्यरोषी सदाकोपः (से तारिसे त्ति) स तादृशः पूर्वोक्तस्वरूपः । (नाराहए वयमिणं ति) नाराधयति न निरतिचारं करोति,इदं व्रतम् , इदम्-अदत्तादानविरतिस्वरूपं, स्वाम्यादिभिरननुज्ञातकारित्वात्तस्येति ।

अह केरिसए पुणाई आराहए वयमिणं, जे से उवहिं भत्तपाणदाणसंगहणकुसले अच्चंतबालदुब्बलगिलाणवुड्ढमासखवणे पवत्तिआयरियउवज्झाए सेहे साहम्मिए तवस्सि कुलगणसंघचेइयट्ठे य निज्जरट्ठी वेयावच्चं अणिस्सियं दसविहं बहुविहं करेइ, न य अवियत्तस्स घरं पविसइ, न य अवियत्तस्स भत्तपाणं गिण्हइ, न य अवियत्तस्स सेवइ पीढफलगसेज्जासंथारगवत्थपायकंबलदंडगरओहरणनिसेज्जचोलपट्टमुहपोत्तियपायपुंछणाइ भायणभंडोवहिउवगरणं, न य परिवायं परस्स जंपति, न यावि दोसे परस्स गेण्हति, परववएसेण वि न किंचि गेण्हति, ण य विपरिणामेति कंचि जणं , ण यावि णासेति दिण्णसुकयं दाऊण य काऊण य ण होइ पच्छाताविते, संविभागसीले संगहोवग्गहकुसले, से तारिसए आराहेति वयमिणं ॥

अथ प्रश्नार्थः। कीदृशः पुनः, 'आई' इति अलङ्कारे, आराधयति व्रतमिदम् ?। इह प्रश्नोत्तरमाह-(जे से इत्यादि) यः साधुरुपधिभक्तपानादानं च संग्रहणं च तयोः कुशलो विधिज्ञो यः स तथा । बालश्चेत्यादि समाहारद्वन्द्व । ततोऽत्यन्तं यद्बालदुर्बलग्लानवृद्धमासक्षपकं तत्तथा । तत्र विषये वैयावृत्त्यं करोतीति योगः । तथा-प्रवृत्याचार्योपाध्याये, इह द्वन्द्वैकत्वात् प्रवृत्यादिषु । तत्र प्रवर्त्तितलक्षणमिदम्-"तवसंजमजोगेसुं, जो जोगो जत्थ तं पवत्तेइ । असहुं च नियत्तेई, गणतत्तिल्लो पवत्तेई" ॥१॥ इतरौ प्रतीतौ । तथा-(सेहे त्ति) शैक्षे अभिनवप्रव्रजिते,साधर्मिके समानधर्मिके, लिङ्गप्रवचनाभ्यां तपस्विनि चतुर्थभक्तादिकारिणि, तथा कुलं गच्छसमुदायरूपं चान्द्रादिकं, गणः कुलसमुदायः कोटिकादिकः,सङ्घस्तत्समुदायरूपः, चैत्यानि जिनप्रतिमाः, एतासां योऽर्थः प्रयोजनं स तथा । तत्र च निर्जरार्थः कर्मक्षयकामः, वैयावृत्त्यं व्यावृत्तकर्मरूपमुपष्टम्भनमित्यर्थः । अनिश्रितं कीर्त्यादिनिरपेक्षं, दशविधं दशप्रकारम् । आह च—

" वेयावच्चं वावड-भावो इह धम्मसाहणणिमित्तं ।
अन्नाइयाण विहिणा, संपायणमेस भावत्थो ॥ १ ॥

आयरिय १ उवज्झाए २, थेर ३ तवस्सी ४ गिलाण ५ सेहाणं ६ ।
साहम्मिय ७ कुल ८ गण ९ संघ १० संगयं तमिह कायव्वं" ॥२॥

इति । बहुविधं भक्तपानादिदानभेदेनानेकप्रकारं, करोतीति । तथा-न च नैव च (अवियत्तस्स त्ति) अप्रीतिकारिणो गृहं प्रविशति । न च नैव च [अवियत्तस्स त्ति] अप्रीतिकारिणः सत्कं गृह्णाति यद् भक्तपानम् । न वा [अवियत्तस्स त्ति] अप्रीतिकर्तुः सत्कं सेवते भजते, पीठफलकशय्यासंस्तारकवस्त्रपात्रकम्बलदण्डकरजोहरणनिषद्याचोलपट्टकमुखपोत्तिकापादप्रोञ्छनादि भाजनभाण्डोपध्युपकरणम् । तथा-न च परिवादं परस्य जल्पति, न चापि दोषान् परस्य गृह्णाति । तथा-परव्यपदेशेनापि ग्लानादिव्याजेनापि,न किञ्चिद् गृह्णाति, न च विपरिणमयति दानादिधर्माद्विमुखीकरोति, कञ्चिदपि जनम् । न चापि नाशयति अपह्नवद्वारेण दत्तसुकृतं वितरणरूपं सुचरितं परसंबन्धि, तथा-दत्त्वा च देयं, कृत्वा वैयावृत्त्यादिकार्यं, न भवति पश्चात्तापवान् । तथा-सविभागशीलः लब्धभक्तादिसंविभागकारी । तथा संग्रहे शिष्यादिसंग्रहणे, उपग्रहे च तेषामेव भक्तश्रुतादिदानेनोपष्टम्भने यः कुशलः स तथा । (से तारिसे त्ति) स तादृश आराधयति व्रतमिदमदत्तादानविरतिलक्षणम् ।

इमं च परदव्वहरणवेरमणपरिरक्खणट्ठयाए पवयणं भगवया सुकहियं अत्तहियं पेच्चाभाविकं आगमेसि भद्दं सुद्धं नेयाउयं अकुडिलं अनुत्तरं सव्वदुक्खपावाणं विउसमणं ॥

(इमं चेत्यादि) इमं च प्रत्यक्षं प्रवचनमिति संबन्धः । परद्रव्यहरणविरमणस्य परिरक्षणं पालनं स एवार्थः, तद्भावस्तत् । तस्यैव प्रवचनं शासनमित्यादि व्यक्तम् ।

अस्य पञ्च भावना—

तस्स इमा पंच भावणाओ ततियस्स वयस्स हुंति परदव्वहरणवेरमणपरिरक्खणट्ठाए । पढमं देवकुलसभापवाऽऽवसहरुक्खमूलआरामकंदराऽऽगरागिरिगुहकम्मंतउज्जाणजाणसालकुवियसालमंडवसुण्णघरसुसाणलेणआवणे अण्णम्मि य एवमादियम्मि दगमट्टियबीजहरिततसपाणअसंसत्ते अहाकडे फासुए विवित्ते पसत्थे उवस्सए होइ विहरियव्वं । आहाकम्मबहुले य जे से आसियसम्मज्जिओसित्तसोहियछावणदूमणलिंपणअणुलिंपणजलणभंडचालणं अंतो बाहिं पउंजे च असंजमो जत्थ वट्टति संजयाणं अट्ठा वज्जेयव्वे हु

एतदुपाश्रये निलये वसेत्-निवासं करोति, शय्यां शयनीयं तत्र गवेषयेत्-मृगयेत् । न च विषमां सतीं समां कुर्यात् । न निर्वातप्रवातोत्सुकत्वं कुर्यादिति वर्त्तते । न च दंशमशकेषु विषयेषु क्षुभितव्यम्-क्षोभः कार्यः । अतश्च दंशाद्यपनयनार्थमग्निर्धूमो वा न कर्त्तव्य । एवमुक्तप्रकारेण संयमबहुलः पृथिव्यादिसंरक्षणप्रचुरः, संवरबहुलः प्राणातिपाताद्याश्रवद्वारनिरोधप्रचुरः, संवृतबहुलः कषायेन्द्रियसंवृतप्रचुरः, समाधिबहुलश्चित्तस्वास्थ्यप्रचुरः, धीरो बुद्धिमानक्षोभो वा, परीषहेषु कायेन स्पृशन् न मनोरथमात्रेण तृतीयसंवरमिति प्रक्रमगम्यम् । सततमध्यात्मनि आत्मानमधिकृत्य आत्मालम्बनं, ध्यानं चित्तनिरोधस्तेन युक्तो यः स तथा । तत्रात्मध्यानं 'अमुयगेहे, अमुगकुले, अमुगसिस्से, अमुगरम्मठाणठिए, न मयव्विराहणं' इत्यादिरूपम् । (समीए त्ति) समितः समितिभिः, एकः ससहायोऽपि रागाद्यभावात् चरेदनुतिष्ठेत्, धर्मं चारित्रम् । अथ तृतीयभावनानिगमनायाह-एवमन्तरोदितन्यायेन शय्यासमितियोगेन शयनीयविषयसम्यक्प्रवृत्तियोगेन, शेषं पूर्ववत् ।

चउत्थं साहारणपिंडवायलाभे सइ भोत्तव्वं संजएण समितं,न सायसूपाहियं,न खलु घनं, न वेगियं, न तुरियं,न चवलं, न साहसं, न य परस्स पीलाकरं सावज्जं, तह भोतव्वं जह से ततियं वयं न सीयति साहारणपिंडवायलाभे सुहुमे अदिण्णादाणवयनियमवेरमणे, एवं साहारणपिंडवायलाभे समितिजोगेण भाविओ भवति अंतरप्पा णिच्चं अहिकरणकरणकारावणपावकम्मविरते दत्तमणुण्णायउग्गहरुयी ॥४॥

इह चतुर्थं भावनावस्तु अनुज्ञातभक्तादिभोजनलक्षणम् । तद्वेवम्-साधारणः सङ्घादिसाधर्मिकस्य सामान्यो यः पिण्डः, तस्य भक्तादेः,पात्रस्य पतद्ग्रहलक्षणस्य,उपलक्षणत्वादुपध्यन्तरस्य च, पात्रे वाऽधिकरणे, लाभो दायकात्सकाशात् प्राप्तिः स साधारणपिण्डपात्रलाभः, तत्र सति, भोक्तव्यमभ्यवहर्तव्यम् । परिभोक्तव्यं च केन कथम् ?, इत्याह-संयतेन साधुना,(समियं ति) सम्यक्,यथाऽदत्तादानं भवतीत्यर्थः । सम्यक्त्वमेवाऽऽह-न शाकसूपादिकम्, साधारणस्य पिण्डस्य शाकसूपाधिके भागे भुज्यमाने सङ्घादिके साधर्मीतिरुत्पद्यते । ततस्तददत्तं भवति । तथा-न खलु घनं प्रचुरं, प्रचुरभोजनेऽप्यप्रीतिरेव, प्रचुरभोजकता च साधारणे पिण्डे भोजकान्तरापेक्षया वेगेन भुज्यमाने भवतीति । तन्निषेधायाह-न वेगितं,ग्रासस्य गिलने वेगवत् । न त्वरितं मुखक्षेपे; न चपलं हस्तग्रीवादिरूपकायचलनवत् । न साहसमवितर्कितम्,अत एव न च परस्य पीडाकरं च तत्सावद्यं चेति परस्य पीडाकरं सावद्यम्,किं बहुनोक्तेन?,तथा भोक्तव्यं संयतेन नित्यं यथा (से) तस्य संयतस्य, तद्धा, तृतीयव्रतं न सीदति भ्रश्यति । दुरीक्षं चेदं, सूक्ष्मत्वात् । इत्यत आह-साधारणपिण्डपात्रे लाभे विषयभूते सूक्ष्मं सुनिपुणमतिरक्षणीयत्वादणुकमपि तदित्याह-अदत्तादानविरमणव्रतेन अनेन यद्विरमनमात्मनो नियन्त्रणं तत्तथा । पाठान्तरेण-अदत्तादानाद् व्रतमिति बुद्ध्या नियमेनावश्यतया यद्विरमणं निवृत्तिस्तत्तथा । एतन्निगमयन्नाह-एवमुक्तन्यायेन साधारणपिण्डपात्रलाभे विषयभूते समितियोगेन सम्यक्प्रवृत्तिसंबन्धेन भावितो भवत्यन्तरात्मा । किंभूतः ?, इत्याह-'निच्चमित्यादि' तथैव ।

पंचमगं साहम्मिएसु विणओ पउंजियव्वो । उवयरणपारणासु विणओ पउंजियव्वो, वायणपरियट्टणासु विणओ पउंजियव्वो, दाणगहणपुच्छणासु विणओ पउंजियव्वो, निक्खमणपवेसणासु विणओ पउंजियव्वो, अण्णेसु य एवमाइसु बहुसु कारणसतेसु विणओ पउंजिव्वो, विणओ वि तवो, तवो वि धम्मो, तम्हा विणओ पउंजियव्वो गुरुसु साहूसु तवस्सीसु य, एवं विणएण भाविओ भवति अंतरप्पा निच्चं अहिकरणकरणकारावणपावकम्मविरते दत्तमणुण्णायउग्गहरुयी ॥५॥

[पंचमगं ति] पञ्चमं भावनावस्तु । किं तदित्याह-साधर्मिकेषु विनयः प्रयोक्तव्यः । एतदेव विषयभेदेनाह-(उवकरणपारणासु त्ति) आत्मनोऽन्यस्य वा उपकरणं ग्लानाद्यवस्थायामन्येनोपकारकरणम्,तथा पारणे तपसः श्रुतस्कन्धादिश्रुतस्य पारगमनम्,उपकरणपारणे, तयोः विनयः प्रयोक्तव्यो,विनयश्चेच्छाकारादिदानेन बलात्कारपरिहारादिलक्षण एकत्र,अन्यत्र च गुर्वनुज्ञया भोजनादिकृत्यकरणलक्षणः । तथा-वाचना सूत्रग्रहणं,परिवर्त्तना तस्यैव गुणनम्,तयोर्विनयः प्रयोक्तव्यो वन्दनादिदानलक्षणः । तथा-दानं लब्धस्याहारादेर्ग्लानादिभ्यो वितरणं,ग्रहणं तु तस्यैव परेण दीयमानस्यादानम्,प्रच्छना विस्मृतसूत्रार्थप्रश्नः,एतासु विनयः प्रयोक्तव्यः; तत्र दानग्रहणयोर्गुर्वनुज्ञालक्षणः । प्रच्छनायां तु वन्दनादिर्विनयः । तथा-निष्क्रमणप्रवेशनायास्तु आवश्यिकीनैषेधिक्यादिकरणम् । अथवा हस्तप्रसारणपूर्वकं प्रमार्जनानन्तरं पादविक्षेपलक्षण । किं बहुना प्रत्येकं विषयभणनेनेत्यत आह-अन्येषु चैवमादिकेषु कारणशतेषु विनयः प्रयोक्तव्यः । कस्मादेवमित्याह-(विणओऽवि) न केवलमनशनादितपः,अपि तु विनयोऽपि तपो वर्त्तते, आभ्यन्तरतपोभेदेषु पठितत्वात्तस्य । यद्येवं ततः किम् ?,अत आह-तपोऽपि धर्मः,न केवलं संयमो धर्मः,तपोऽपि धर्मो वर्त्तते, चारित्रांशत्वात्तस्य । यत एवं तस्माद्विनयः प्रयोक्तव्यः । केषु ? इत्याह-गुरुषु साधुषु तपस्विषु च अष्टमादिकारिषु ; विनयप्रयोगे हि तीर्थकरानुज्ञास्वरूपादत्तादानविरमणं परिपालितं भवतीति पञ्चमभावनानिगमनार्थमाह-एवमुक्तन्यायेन भावितो भवत्यन्तरात्मा । किंभूतः ?-'नित्यमित्यादि' पूर्ववत् ॥

एवमिणं संवरस्स दारं सम्मं चारियं होइ सुपणिहियं इमेहिं पंचहि वि कारणेहिं मणवयणकायपरिरक्खिएहिं निच्चं आमरणंतं च एस जोगो नेयव्वो धिइमया मइमया अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्सावी असंकिलिट्ठो सुद्धो सव्वजिणमणुण्णाओ, एवं ततियं संवरदारं फासियं पालियं सोहियं तीरियं किट्टियं सम्मं आराहियं आणाए अणुपालियं भवति, एवं नायमुणिणा भगवया पण्णवियं परूवियं पसिद्धं सिद्धवरसासणमिणं आघवियं सुदेसियं पसत्थं ततियं संवरदारं सम्मत्तं त्ति बेमि ।

इदं च निगमनसूत्रं पुस्तकेषु किञ्चित् साक्षादेव वाचनान्तरेण च दर्शितम् । व्याख्या चास्य प्रथमसंवराध्ययनवदवसेयेति समाप्तमेतदध्ययनविवरणम् । प्रश्न० ३ संव० द्वा० ।

अदत्ता (दिण्णा) लोयण-अदत्तालोचन-त्रि० । अदत्ता

गुरवेऽप्रकटिता, आलोचना-आलोचनार्हं पापं येन सोऽदत्तालोचनः । अदत्तालोचने, ग० १ अधि० ।

अदत्ताहार-अदत्ताहार-पुं० । चौरे, "अदत्ताहारा वा से अवहरंति तपस्सी वा से विलुंपंति " आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अदन्न-अदभ्र-त्रि० । न० त० । दम्भ-रक् । दभ्रमल्पम्, न दभ्रमदभ्रम् । भूयसि (बहले), जं० ३ वक्ष० ।

अदन्नवाह-अदभ्रवाह-त्रि० । अदभ्रं वहतीति अदभ्रवाहः । [illegible], "अदन्नवाहं अमेलनयण कोकासिय बहल-पत्तलच्छं " जं० ३ वक्ष० ।

अदय-अदय-त्रि० । निर्दये, नि० चू० १ उ० ।

अदसंत-अदशत्-त्रि० । अदशने, व्य० २ उ० ।

अदस-अदश-त्रि० । दशारहिते, दश० ७ अ० ।

अदाग-अदाक-त्रि० । काष्ठादिरहिते, तं० ।

अदिज्ज-अदेय-त्रि० । न० त० । अपरिकर्मनिक्षेपेण अधिगमा-[illegible], भ० ११ श० ११ उ० । यत्र हि न केनापि [illegible] । जं० १ वक्ष० । कल्प० ।

अदिट्ठ-अदृष्ट-त्रि० । न० त० । अनुपलब्धे, ज्ञा० १६ अ० । " [illegible] किंचि संपयपयाणमिति " [illegible] चू० १ अ० । [illegible], भ० । ज्ञा० । [illegible] । विशे० । आव० । भ० । (अदृष्टमिदं 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २४३ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) नैयायिकाभिमते गुण-भेदे, [illegible] गुणः' इति वैशेषिकैः [illegible] । सम्म० । [illegible], व्य० १० उ० ।

अदिट्ठदेस-अदृष्टदेश-पुं० । अदृष्टपूर्वदेशान्तरे, व्य० १० उ० ।

अदिट्ठधम्म (ण्)-अदृष्टधर्मन्-त्रि० । न० ब० । सम्यगनुपल-[illegible], दशा० १ अ० । दशा० ।

अदिट्ठभाव-अदृष्टभाव-पुं० । [illegible], सू० १ उ० ।

[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥ १ ॥

[illegible] । सू० १ अ० ।

अदिट्ठ[illegible]-[illegible]-पुं० । [illegible] । [illegible] । [illegible] ।

[illegible] ।

अदिट्ठसार-अदृष्टसार-त्रि० । अगीतार्थे, पं० चू० ।

अदिट्ठहड-अदृष्टहृत-त्रि० । अदृष्टोत्क्षेपनिक्षेपपरमानीते, ध० २ अधि० । आव० ।

अदिट्ठाणुजाव-अदृष्टानुजाव-पुं० । क० स० । अदृष्टस्वविपा-के, विशे० ।

अदिण्ण-अदत्त-त्रि० । स्वामिजीवतीर्थकरगुरुभिरवितीर्णे, स्था० १ ठा० १ उ० । " अदिण्णं से वि न पिविज्जए" औ० । परकी-ये द्रव्ये , आचा० ८ अ० १ उ० ।

अदैन्य-न० । अदीनभावे , स्था० १२ ठा० ।

अदिण्णविचार-अदत्तविचार-त्रि० । न दत्तो विचारः प्रवेशो यत्र तान्यदत्तविचाराणि । अननुज्ञातप्रवेशेषु कोष्ठिकादीनां गृहेषु, व्य० ७ उ० ।

अदित्त-अदृप्त-त्रि० । न० त० । दर्परहिते शान्ते, सू० १ श० ।

अदिस्स-अदृश्य-त्रि० । न० त० । चक्षुषोऽविषये, उत्त० ३३ अ० । " पच्छुत्ते आहारनीहारे आदिस्से मंसचक्खुणा " स० ३४ सम० ।

अदिस्समाण-अदृश्यमान-त्रि० । अनुपलभ्यमाने, आव० ४ अ० । अनुपदिश्यमाने, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

अदीण-अदीन-त्रि० । अशुचिते दीनाकाररहिते, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० । शोकनायात । अन्त० ७ वर्ग । प्रसन्नमनसि स्वनायकत्वे, नि० चू० १ उ० ।

अदीणचित्त-अदीनचित्त-त्रि० । अदैन्यवन्मानसे , पञ्चा० १८ विव० ।

अदीणमणस-अदीनमनस्-त्रि० । अदीनं मनो यस्य स अदी-नमनाः । सुप्यादर्शनमना अदीनमानसो वा । उत्त० २ अ० । अविस्मृतमात्रे, भा० म० प्र० ।

अदीणया-अदीनता-स्त्री० । अशनाद्यलाभेऽपि वैक्लव्याभावे, स्था० २७ ठा० । तद्रूपे निष्पुलिङ्गे , दश० १० अ० ।

अदीणवित्ति-अदीनवृत्ति-त्रि० । आहाराद्यलाभेऽपि अदैन्य-भो , दश० ७ अ० ।

अदीणसत्तु-अदीनशत्रु-पुं० । कुरुदेशनाथे हस्तिनागपुरराजे, [illegible], स्था० ४ ठा० १ उ० । ज्ञा० । "[illegible] " विपा० २ श्रु० १ अ० ।

अदु-अथ-अव्य० । अथवार्थे निपातः । निपातानामनेकार्थ-त्वात् अत्र [illegible], सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । [illegible], आचा० ८ अ० १ उ० ।

अदुक्खणया-अदुःखनता-स्त्री० । [illegible], [illegible] । [illegible] ।

अदुगुंछिय-अजुगुप्सित-त्रि० । [illegible], " [illegible]

रहियमणयज्ञामिमं वि एगया " आ० म० द्वि० । सामायिके, " अनिदं च अदुगुंछितमणगारहितं अणवज्ञ चेव एगया " आ० चू० १ अ० । अनिन्दिते, ओ० ।

अदुट्ठ-अदुष्ट-त्रि० । न० त० । दोषरहिते, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।

अद्विट्ठ-त्रि० । द्वेषरहिते, प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।

अदुट्ठचेत (स्) अदुष्टचेतस्-त्रि० । ६ ब० । अकलुषान्तःकरणे, " तितिक्खए णाणि अदुट्ठचेयसा " आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० ।

अदुत्तरं-अथापर-अव्य० । अतोऽनन्तरमित्यर्थे, " अदुत्तरं च णं गोयमा ! चमरे असुरिंदे " अथापरं चेदं च सामर्थ्यातिशायवर्णनम् । भ० ३ श० १ उ० । " अदुत्तरं च णं मम समणा णिग्गया " ज्ञा० १ अ० । औ० ।

अदुय-अद्रुत-न० । अशीघ्रे, भ० ७ श० ९ उ० ।

अदुयत्त-अद्रुतत्व-न० । सप्तविंशे सत्यवचनातिशये, स० ३५ सम० ।

अदुयबंधण-अद्रुतबन्धन-न० । दीर्घकालिकबन्धने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अदुवा-अथवा-अव्य० । पक्षान्तरोपन्यासद्वारेणाऽनुच्चयोपदर्शने, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । सूत्र० ।

अदूर-अदूर-त्रि० । न० त० । अविप्रकृष्टे, भ० १ श० १ उ० ।

अदूरग (य) अदूरग-त्रि० । शरीरेऽनतिभेदके शल्ये कण्टकादौ, पञ्चा० १६ विव० । परस्परसमीपवर्तिनि, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

अदूरगेह-अदूरगेह-न० । प्रत्यासन्नप्रातिवेश्मिकगृहे, बृ० २ उ० ।

अदूरसामंत-अदूरसामन्त-पुं० । दूरं विप्रकृष्टं, सामन्तं च सन्निकृष्टं, तन्निषेधाददूरसामन्तम् । नातिदूरे नातिसमीपे, भ० १ श० १ उ० । अनिकटाऽऽसन्ने उचितदेशे, औ० । ज्ञा० । " अज्जसुहम्मस्स अणगारस्स अदूरसामंते उड्ढं जाणू जाव विहरति " नि० १ वर्ग ।

अदूरागय-अदूरागत-त्रि० । समीपदेशं प्राप्ते, " अदूरागए बहुसंपत्ते अद्धाण पडिवण्णे अंतरापहे वट्टइ " भ० २ श० १ उ० ।

अदूसिय-अदूषित-त्रि० । अनिष्पङ्कणाकलुषिते, पञ्चा० ६ विव० ।

अदेसकालप्पलावि (ण्)-अदेशकालप्रलापिन्-पुं० । अदेशकाले अनवसरप्रलपनशीलोऽनवसरप्रलापी । ('चंचल' शब्दे दर्शिते) मायाचपलभेदे, बृ० १ उ० ।

अदेसाकालायरण-अदेशाकालाचरण-न० । प्रतिषिद्धो देशोऽदेशः, प्रतिषिद्धः कालोऽकालः, तयोरदेशाकालयोराचरणं चरणाभावः-अदेशाऽकालाचरणम् । प्रतिषिद्धदेशकालयोश्चरणाभावरूपे गृहिधर्मभेदे, अदेशाकालचारी हि-चौरादिभ्योऽवश्यमुपद्रवमाप्नोति; अदेशाकालाचरणं यथावद्यविचारणम् । ध० १ अधि० ।

अदोस-अद्वेष-पुं० । तत्त्वविषयेऽप्रीतिपरिहारे, षो० १६ विव० ।

अद्द-अब्द-पुं० अपो ददाति । अप्-दा-क । ६ त० । " सर्वत्र लवरामवन्द्रे " ॥८ । २ । ७९॥ इति सूत्रेण बलोपः । प्रा० । मेघे, मुस्तायां च, तस्याश्चाऽत्यन्तशीतवीर्यत्वेन पित्तकोपकेऽब्दमयमुस्ताच तथात्वम्, माप्यन्ते व्याप्यन्ते ऋतुमासपक्षतिथिनक्षत्रयोगकरणवारादयो येन । आप-दन्-हृस्वश्च । वत्सरे, वाच० ।

अर्द्द-पुं० । अर्द्यते गम्यतेऽनेनेति अर्द्दः । आकाशे, भ० २० श० २ उ० ।

आर्द्र-त्रि० । अर्द-रक्-दीर्घश्च । क्लिन्ने सरसे सजले वस्तुनि , सूत्र० ।

अस्य निक्षेपार्थं सूत्रकृताङ्गनिर्युक्तिकृदाह—

नामं ठवणा अद्दं, दव्वद्दं चेव होइ भावद्दं ॥
एसो खलु अद्दस्सा, निक्खेवो चउविहो होइ ॥ १ ॥

[नामं ठवणा अद्दमित्यादि] नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्धाऽऽर्द्रकस्य निक्षेपो द्रष्टव्यः ।

तत्र नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यार्द्रप्रतिपादनार्थमाह—

उदगद्दं सारद्दं, छविअद्दं खलु तहा सिणेहद्दं ॥
एयं दव्वद्दं खलु, भावेणं होइ रागद्दं ॥ २ ॥

(उदगद्दमित्यादि) तत्र द्रव्यार्द्रं द्विधा-आगमतो, नो आगमतश्च । आगमतो ज्ञाता, तत्र चानुपयुक्तोऽनुपयोगो द्रव्यमितिकृत्वा । नो आगमतस्तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तम् । यदुदकेन मृत्तिकादिकं द्रव्यमार्द्रीकृतं तदुदकार्द्रम् । सारार्द्रं तु-यद्बहिः शुष्कार्द्रमप्यन्तर्मध्ये सार्द्रमास्ते, यथा-श्रीपर्णीसौवर्चलादिकम् । 'छविअद्दं' तु-यत् स्निग्धत्वग्द्रव्यं मुक्ताफलरक्ताशोकादिकं तदभिधीयते, यसयोपलिप्तं वामार्द्रम् । तथा-श्लेष्मार्द्रं चक्रलेपाद्युपलिप्तं स्तम्भकुड्यादिकं यद्द्रव्यं तत्स्निग्धाकारतया श्लेष्मार्द्रमभिधीयते । एतत्सर्वमप्युदकार्द्रादिकं द्रव्यार्द्रमेवाभिधीयते, खलुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् । भावार्द्रं तु पुनः रागस्नेहाभिष्वङ्गः, तेनार्द्रं यज्जीवद्रव्यं तद्भावार्द्रमित्यभिधीयते ।

साम्प्रतमार्द्रककुमारमधिकृत्यान्यथा
द्रव्यार्द्रं प्रतिपादयितुमाह—

एगभविय बद्धाउ, जो अभिमुहओ नामगोए य ।
एते तिन्नाऽऽदेसा, दव्वम्मि अद्दगे होंति ॥ ३ ॥

[एगभविय इत्यादि] एकेन भवेन यो जीवः स्वर्गादेरागत्यार्द्रककुमारत्वेनोत्पत्स्यते । तथा-ततोऽप्यासन्नतरो बद्धायुष्कः । तथा-ततोऽप्यासन्नतमोऽभिमुखनामगोत्रः, योऽनन्तरसमयमेवार्द्रकत्वेन समुत्पत्स्यते । एते त्रयोऽपि प्रकारा द्रव्यार्द्रके द्रष्टव्या इति । भावार्द्रकं तु-आर्द्रककुमार इति नगरभेदे, तदधिपतौ राजभेदे, तत्सुते, तद्वंशजेषु च । सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । कान्तियुक्ते, आनुगुण्ययुक्ते च । अश्विन्यादिके षष्ठे नक्षत्रे , स्त्री० । वाच० । आर्द्राया रुद्रो देवता । ज्यो० ६ पाहु० ।

अद्दइज्ज-आर्द्रकीय-न० । आर्द्रकात्समुत्थितमध्ययनमार्द्रकीयम् । आर्द्रककुमारवक्तव्यताप्रतिबद्धे सूत्रकृताङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धस्य षष्ठेऽध्ययने, सूत्र० ।

निरुक्तं तु विस्तरतो निर्युक्तिकृतैवेत्थमुक्तम्-

अद्दपुरा अद्दसुतो, नामेण अद्दगो य अणगारो ।
तत्तो समुट्ठियमिणं, अज्झयणं अद्दइज्जं ति ॥ ४ ॥

[अद्दपुर इत्यादि] आर्द्रकायुष्कनामगोत्राण्यनुभवन् भावार्द्रो भवति । यद्यपि शुक्रवेगादीनामप्यार्द्रकसंज्ञाऽस्त्यत्र यदाऽस्ति,

[illegible] मुनिरिवासौ न तैरिहाधिकारः। कि- [illegible] मुनिरिवासौ नैवेहाधिकार इ- [illegible] । एतदेव निर्युक्तिकारः [अ- [illegible]] [illegible] -आर्द्रकपुरं नगरं [illegible] , [illegible] कुमारः, मद्रराजा- [illegible] । स चानगारः [illegible] । [illegible] ता- [illegible] । तेन च ते [illegible] । तत्त- [illegible] गाथामना- [illegible] । [illegible]

[illegible]

[illegible] ॥ ५ ॥

[illegible]

[illegible]

(३) तथाऽऽर्द्रककुमारस्य समाधानम् ।
(४) अपगतरागद्वेषस्य प्रभावमाणस्यापि दोषाभावः ।
(५) संज्ञापुपयोगिनो न श्रमणस्य परदेशाभावः ।
(६) समवसरणाद्युपभोगवतोऽपि भगवतो न कर्मबन्ध
(७) केवलां भावशुद्धिमेव मन्यमानस्य बौद्धस्य [illegible]
(८) हिंसामन्तराऽपि मांसो न भक्षणीयः ।
(९) आर्द्रककुमारेण सह ब्राह्मणानां विवादः ।
(१०) एकदण्डिभिः सहार्द्रककुमारस्योत्तरप्रत्युत्तराणि ।
(११) तथा हस्तितापसैः सहोक्तिप्रत्युक्तयः ।

(१) तत्र तावत्पूर्वभवमधिकृत्य आर्द्रककुमारकं गाथाभिरेव निर्युक्तिकारः–

गामे वसंतपुरए, सामइओ घरिणिसहिओ निक्खं
भिक्खाऽऽयरिया दिट्ठा, ओहासिय भत्तवेहासं ॥
संवेगसमावन्नो, माई भत्तं चइत्तु दियलोए ।
चइऊणं अद्दपुरे, अद्दसुओ अद्दओ जाओ ॥९॥
पीती य दोण्ह दूओ, पुच्छणमभयस्स पट्ठवे सो
तेणावि सम्मदिट्ठि-त्ति होज्ज पडिमाऽरहम्मि गया
दट्ठुं संबुद्धो र-क्खिओ य आसाण वाहणपलाओ
पव्वावेंतो धरिओ, रज्जं न करेति को अन्नो ॥१
अगणिंतो निक्खंतो, विहरइ पडिमाइ दारिगा व
सुवण्णवसुहाराओ, रन्नो कहणं च देवीए ॥१२॥
तं नाइ [illegible] , पुच्छण कहणं च [illegible]
[illegible] पायबिंबं, आगमणं कहण निग्गमणं ॥१३
[illegible] , [illegible]
[illegible] पुच्छण [illegible] निग्गमणं ॥
[illegible] , [illegible]
[illegible]
[illegible] , [illegible] ॥
[illegible] , [illegible] ॥१५॥

(ग्राम वसन्तपुर गाथापञ्चक) [illegible]

[illegible]

प्रत्यागत्याऽऽर्द्रपुरे नगरे आर्द्रकसुत आर्द्रकाभिधानः जातः । साऽपि च देवलोकाच्च्युता वसन्तपुरे नगरे श्रेष्ठिकुले दारिका जाता । इतरोऽपि च परमरूपसंपन्नो यौवनस्थः संवृत्तः । अन्यदाऽऽर्द्रकपिता राजगृहनगरे श्रेणिकस्य राज्ञः स्नेहाविष्करणार्थं परमप्राभृतोपेतं महत्तमं प्रेषयति स्म । आर्द्रककुमारेणासौ पृष्टः-यथा-कस्यैतानि महार्हाण्यमुमाणि प्राभृतानि मत्पित्रा प्रेषितानि यास्यन्तीति । अमात्यः कथयति-यथा-आर्यदेशे तव पितुः परममित्रं श्रेणिको महाराजः, तस्यैतानीति । आर्द्रककुमारेणाप्यभाणि-किं तस्यास्ति कश्चिद्योग्यः पुत्रः ? । अस्तीत्याह । यद्येवं, मत्प्रहितानि प्राभृतानि त्वया तस्य समर्पणीयानीति भणित्वा, महार्हाणि प्राभृतानि समर्पयन्निदमवादीत्-वक्तव्योऽसौ मद्वचनाद्यथाऽऽर्द्रककुमारस्त्वयि स्निह्यतीति । स च महत्तमो गृहीतोभयप्राभृतो राजगृहमगात् । गत्वा च राजद्वारपालनिवेदितो राजकुलं प्रविष्टः । दृष्टश्च श्रेणिकः । प्रणामपूर्वं निवेदितानि प्राभृतानि । कथितं च यथा संदिष्टम् । तेनाप्यासनाशनताम्बूलादिना यथार्हप्रतिपत्त्या संमानितः । द्वितीये चाह्न्यार्द्रककुमारसत्कानि प्राभृतान्यभयकुमारस्य समर्पितानि; कथितानि च तत्प्रीत्युत्पादकानि तत्संदिष्टवचनानि । अभयकुमारेणापि परिणामिक्या बुद्ध्या परिणामितम्-नूनमसौ भव्यः समासन्नमुक्तिगमनश्च, तेन मया सार्द्धं प्रीतिमिच्छतीति । तदिदमत्र प्राप्तकालम्-यदादितीर्थंकरप्रतिकरप्रतिमासंदर्शनेन तस्यानुग्रहः क्रियते, इति मत्वा तथैव कृतम् । महार्हाणि च प्रेषितानि प्राभृतानीति । उक्तश्च महत्तमः-यथा-मत्प्रहितमाभृतमेतदेकान्ते निरूपणीयम् । तेनापि तथैव प्रतिपन्नम् । गतश्चासावार्द्रकपुरम् । समर्पितं च प्राभृतं राज्ञः, द्वितीये चाह्न्यार्द्रककुमारस्येति । कथितं च यथासंदिष्टम् । तेनाप्येकान्ते स्थित्वा निरूपिता प्रतिमा । तां च निरूपयत ऊहाऽपोहविमर्शनेन समुत्पन्नं जातिस्मरणम् । चिन्तितं च तेन-यथा-ममाभयकुमारेण महानुपकारोऽकारि सत्कर्मप्रतिबोधनेनेति । ततोऽसावार्द्रकः संजातजातिस्मरणोऽचिन्तयत्-यस्य मम देवलोकभोगैर्यथेप्सितं संपद्यमानैस्तृप्तिर्नाभूत्तस्यामीभिस्तुच्छैर्मानुषैः स्वल्पकालीनैः कामभोगैस्तृप्तिर्न भविष्यतीति कुतस्त्यम् ? । इत्येवं परिगणय्य निर्विण्णकामभोगो यथोचितभोगमकुर्वन् राज्ञा संजातभयेन मा कश्चिद्यायादित्यतः पञ्चभिः शतैः राजपुत्राणां रक्षयितुमारेभे । आर्द्रककुमारोऽप्यश्ववाहनिकया विनिर्गतः, प्रधानाश्वेन पलायितः । ततश्च प्रव्रज्यां गृह्णन् देवतया सोपसर्गं भवतोऽस्तीति भणित्वा निवारितोऽप्यसावार्द्रको राज्यं नावश्यं करोति स्म । कोऽन्यो मां विहाय प्रव्रज्यां ग्रहीष्यतीत्यभिसंधाय तां देवतामवगणय्य प्रव्रजितः । विहरन्नन्यदाऽन्यतरप्रतिमाप्रतिपन्नः कायोत्सर्गव्यवस्थितो वसन्तपुरे तया देवलोकाच्च्युतया श्रेष्ठिदुहित्रा पद्मदारिकामध्यगतया 'आरमस्येष मम भर्ता' इत्येवमुक्ते सत्यनन्तरमेव तत्सन्निहितदेवतयाऽर्द्धत्रयोदशकोटिपरिमाणा 'शोभनं वृतमनयेति' भणित्वा हिरण्यवृष्टिर्मुक्ता । तां च हिरण्यवृष्टिं राजा गृह्णन् देवतया सर्पाद्युत्थानतो विधृतः । अभिहितं च तया-यथैतद् हिरण्यं जातमस्या दारिकायाः, नान्यस्य कस्यचिदित्यतस्तत्पित्रा सर्वं संगोपितम् । आर्द्रककुमारोऽप्यनुकूलोपसर्ग इति मत्वाऽन्यत्र गतः । गच्छति च काले दारिकायाः वरकाः समागच्छन्ति स्म । पृष्टौ च पितरौ तया-किमेषामागमनप्रयोजनम् ? । कथितं च ताभ्याम्-यथैते तव वरका इति । ततस्तयोक्तम्-तात ! सकृत्कन्याः प्रदीयन्ते नानेकशः; दत्ता चाहं तस्मै यत्संबन्धि हिरण्यजातं भवद्भिर्गृहीतम् । ततः सा पित्राऽभाणि-किं त्वं तं जानासि ? । तयोक्तम्-तत्पादगताभिज्ञानदर्शनतो जानामीति । तदेवमसौ तत्परिज्ञानार्थं सर्वस्य भिक्षार्थिनो भिक्षां दापयितुं निरूपिता । ततो द्वादशभिर्वर्षैर्गतैः कदाचिदसौ भवितव्यतानियोगेन तत्रैव विहरन्समायातः; प्रत्यभिज्ञातश्च तया तत्पादचिह्नदर्शनतः । ततोऽसौ दारिका सपरिवारा तत्पृष्ठतो जगाम । आर्द्रककुमारोऽपि देवतावचनं स्मरंस्तथाविधकर्मोदयादवश्यं भवितव्यतानियोगेन च प्रतिभग्नस्तया सार्द्धं भुनक्ति स्म भोगान् । पुत्रश्चोत्पन्नः । पुनरार्द्रककुमारेणासावभिहिता-सांप्रतं ते पुत्रो द्वितीयः, अहं स्वकार्यमनुतिष्ठामि । तया सुतव्युत्पादनार्थं कार्पासकर्त्तनमारब्धम् । पृष्टा चासौ बालकेन-किमम्ब ! एतद्भवत्या प्रारब्धमितरजनाचरितम् ? । ततोऽसाववोचत्-यथा तव पिता प्रव्रजितुकामः, त्वं चाद्यापि शिशुरसमर्थोऽर्थार्जने, ततोऽहमनाथा स्त्रीजनोचितेनानिन्द्येन विधिनाऽऽत्मानं भवन्तं च किल पालयिष्यामीत्यनेनाभिप्रायेणेदमारब्धमिति । तेनापि बालकेनोत्पन्नप्रतिभया तत्कर्त्तितसूत्रेणैव 'क्वायं मद्बद्धो यास्यतीति' तन्मनोऽनुकूलभाषिणाऽऽपवेष्ट्य यथाऽसौ पिता परिवेष्टितः । तेनापि चिन्तितम्-यावन्तोऽमी बालककृतवेष्टनतन्तवस्तावन्त्येव वर्षाणि मया गृहे स्थातव्यमिति । निरूपिताश्च तन्तवो यावद् द्वादश, तावन्त्येव वर्षाण्यसौ गृहवासे व्यवस्थितः । पूर्णेषु द्वादशसु संवत्सरेषु गृहान्निर्गतः, प्रव्रजितश्चेति । ततोऽसौ सूत्रार्थनिष्पन्न एकाकिविहारेण विहरन् राजगृहाभिमुखं प्रस्थितः । तदन्तराले च तद्रक्षणार्थं यानि प्राक् पित्रा निरूपितानि पञ्च राजपुत्रशतानि, तस्मिंश्च नष्टे राजभयाद्विलक्ष्याश्च न राजान्तिकं जग्मुः । तत्राटवीदुर्गेण चौर्येण वृत्तिं कल्पितवन्तः । तैश्चासौ दृष्टः प्रत्यभिज्ञातश्च । ते च तेन पृष्टाः-किमिति भवद्भिरेवंभूतं कर्माश्रितम् ? । तैश्च सर्वं राजभयादिकं कथितम् । आर्द्रककुमारवचनाच्च संबुद्धाः प्रव्रजिताश्च । तथा राजगृहनगरप्रवेशे गोशालको, हस्तितापसाः, ब्राह्मणाश्च वादे पराजिताः । तथाऽऽर्द्रककुमारदर्शनादेव हस्ती बन्धनाद्विमुक्तः । ते च हस्तितापसादय आर्द्रककुमारधर्मकथाक्षिप्ता जिनवीरसमवसरणे निष्क्रान्ताः । राज्ञा च विदितवृत्तान्तेन महाकुतूहलापूरितहृदयेन पृष्टः-भगवन् ! कथं त्वद्दर्शनतो हस्ती निरर्गलः संवृत्तः ? , इति महान् भगवतः प्रभाव इति । एवमभिहितः सन्नार्द्रककुमारोऽब्रवीत्प्रथमगाथयोत्तरम्-

ण दुक्करं वारणपासमोयणं, गयस्स मत्तस्स वणम्मि रायं ! ।
जहा उ तत्तावलिएण तंतुणा, सुदुक्करं मे पडिहाइ मोयणं ।।१७।

(ण दुक्करमित्यादि) न दुष्करमेतद्वरपाशैर्बद्धमत्तवारणस्य विमोचनं वने, राजन् ! एतत्तु मे प्रतिभाति दुष्करम्-यच्च तत्रावलितेन तन्तुना बद्धस्य मम प्रतिमोचनमिति । स्नेहतन्तवो हि जन्तूनां दुरुच्छेदा भवन्तीति भावः । गतमार्द्रककथानकम् । इति दर्शितं समासतो निर्युक्तिकृताऽऽर्द्रककथानकम् । अथ तदेव सूत्रकृद् व्यासेन दर्शयन्नाह—

(२) यथा च गोशालकेन सार्द्धं वादोऽभूदार्द्रककुमारस्य तथाऽनेनाध्ययनेनोपदिश्यते—

पुरा कडं अद्द ! इमं सुणेह—
मेगंतयारी समणे पुराऽऽसी ।
से भिक्खुणो उवणेत्ता अणेगे,
आइक्खति एहं पुढो वित्थरेणं ।। १ ।।
सा जीविया पट्ठविताऽथिरेणं ,

मज्झागओ गणओ भिक्खुमज्झे ।
आइक्खमाणो बहुजन्नमत्थं ,
न संधयाती अवरेण पुव्वं ॥ २ ॥

तं च गोशालकमार्द्रककुमारं प्रत्येकबुद्धं भगवत्समीपमागच्छन्तं गोशालकोऽब्रवीत्-यथा हे आर्द्रक ! यदहं ब्रवीमि तच्छृणु । पुरा पूर्वं यदनेन भवत्तीर्थकृता कृतं तदेतदिति दर्शयति-एकान्ते जनरहिते प्रदेशे चरितुं शीलमस्येत्येकान्तचारी, तथा श्राम्यतीति श्रमणः, पुराऽसीत्तपश्चरणोद्युक्तः, सांप्रतं तूग्रैस्तपश्चरणविशेषैर्निर्भर्त्सितो मां विहाय देवादिमध्यगतोऽसौ धर्मं किल कथयति, तथा भिक्षून् बहूनुपनीय प्रभूतशिष्यपरिकरं कृत्वा भवद्विधानां मुग्धजनानामिदानीं पृथक् पृथग्विस्तरेणाचष्टे धर्ममिति शेषः ॥ १ ॥ पुनरपि गोशालक एव 'सा आजीविया' इत्याद्याह-येयं बहुजनमध्यगतेन धर्मदेशना युष्मद्गुरुणाऽऽरब्धा सा आजीविका प्रकर्षेण स्थापिता प्रस्थापिता, एकाकी विहरन् लौकिकैः परिभूयत इति मत्वा लोकपङ्क्तिनिमित्तं महान् परिकरः कृतः । तथा चोच्यते- " छत्रं छात्रं पात्रं, वस्त्रं यष्टिं च चर्चयति भिक्षुः । वेषेण परिकरेण च, कियताऽपि विना न भिक्षाऽपि " ॥ १ ॥ अनेन दम्भप्रधानेन आजीविकार्थमिदमारब्धम् । किंभूतेन ?, अस्थिरेण, पूर्वं ह्यसौ मया सार्धमेकाकिप्रान्तशून्यारामदेवकुलादौ वृत्तिं कल्पितवान् ; स च तथाभूतमनुष्ठानं [illegible] यावज्जीवं कर्तुमसमर्थः, अतो मां विहायायं बहून् शिष्यान् प्रतार्यैवंभूतेन [illegible] विहरतीत्यतः चलचित्तोऽस्थिराशयः, पूर्वचर्यापरित्यागेनापरचर्याग्रहणात् । एतदेव दर्शयति-सभायां गतः सदेवमनुजायां [illegible] (गणओ त्ति) गणशो बहुशः, अनेकश इति यावत् । भिक्षूणां मध्ये गतो व्यवस्थितः, आख्यान् बहुजनेभ्यो हितो बहुजनहितः [illegible] कथयन् विहरति । [illegible] न संधत्ते । [illegible] यदि [illegible] एकान्तचर्या [illegible] परमार्थः [illegible] इति ॥ २ ॥

किंच—

एगंतमेवं अदुवा वि इण्हिं,
दोऽवण्णमन्नं न समेंति जम्हा ।

(एगंतमित्यादि) [illegible] शोभनं, पूर्वमाचरितत्वात् [illegible] । [illegible]

(३) [illegible] आर्द्रककुमार [illegible] —

पुव्विं च इण्हिं च अणागयं वा,
एगंतमेवं पडिसंदधाति ॥ ३ ॥

(पुव्विं चेत्यादि) पूर्वं पूर्वस्मिन्काले, यन्मौनव्रतिकत्वं, या चैकचर्या, तच्छद्मस्थत्वाद् घातिकर्मचतुष्टयक्षयार्थम् । सांप्रतं यन्महाजनपरिवृतस्य धर्मदेशनाविधानं, तत् प्राग्बद्धभवोपग्राहिकर्मचतुष्टयक्षपणोद्यतस्य विशेषतस्तीर्थकरनाम्नो वेदनार्थम्, अपरासां चोच्चैर्गोत्रशुभायुर्नामादीनां शुभप्रकृतीनामिति । यदि वा पूर्वं साम्प्रतमनागते च काले रागद्वेषरहितत्वादेकत्वभावनाऽनतिक्रमणाच्चैकत्वमेवानुपचरितं भगवानशेषजनहितं धर्मं कथयन् प्रतिसंदधाति । न तस्य पूर्वोत्तरयोरवस्थयोराशंसारहितत्वाद्भेदोऽस्ति, अतो यदुच्यते भवता पूर्वोत्तरयोरवस्थयोरसाङ्गत्यं, तत् प्लवत इति ॥ ३ ॥

एतद्धर्मदेशनया प्राणिनां कश्चिदुपकारो
भवत्युत नेति ?, भवतीत्याह—

समिच्च लोगं तसथावराणं,
खेमंकरे समणे माहणे वा ।
आइक्खमाणो वि सहस्समज्झे,
एगंतयं सारयती तहच्चे ॥ ४ ॥

त्रसस्थावरस्थितं लोकं षड्द्रव्यात्मकं मत्वाऽवगम्य केवलालोकेन परिच्छिद्य, त्रस्यन्तीति त्रसास्त्रसनामकर्मोदयात्, द्वीन्द्रियादयः, तथा तिष्ठन्तीति स्थावराः स्थावरनामकर्मोदयात्, स्थावराः पृथिव्यादयः, तेषामुभयेषामपि जन्तूनां, क्षेमं शान्तिः रक्षा, तत्करणशीलः क्षेमंकरः । श्राम्यतीति श्रमणः-द्वादशप्रकारतपोनिष्टप्तदेहः । तथा-' मा हण ' इति प्रवृत्तिर्यस्यासौ माहनः, ब्राह्मणो वा, स एवंभूतो निर्ममो रागद्वेषरहितः, प्राणिहितार्थं न लाभपूजाख्यात्यर्थं धर्ममाचक्षाणोऽपि, प्राग्वत् छद्मस्थावस्थायां मौनव्रतिक इव वाक्संयत उत्पन्नदिव्यज्ञानत्वाद्भाषागुणदोषविवेकज्ञतया भाषणेनैव गुणावाप्तेः, अनुत्पन्नदिव्यज्ञानस्य तु मौनव्रतिकत्वेनेति । तथा-देवासुरनरतिर्यक्सहस्रमध्येऽपि व्यवस्थितः, पङ्काधारपङ्कजवत्, तद्दोषव्यासङ्गाभावात् । आशंसाविरहादाशंसादोषविकलत्वादेकान्तमेवासौ सारयति-प्रख्यापयति साधयतीति यावत् । ननु चैकाकिपरिकरोपेतावस्थयोः अस्ति विशेषः प्रत्यक्षेणैवोपलभ्यमानत्वात् । सत्यमस्ति । विशेषो बाह्यो, मध्यान्तरतोऽपीति दर्शयति-तथा प्राग्वत्, अर्चा लेश्या शुक्लध्यानाख्या यस्य स तथार्चः । यदि वाऽर्चा शरीरं, तच्च प्राग्वत् स तथार्चः । तथाहि-अशोकाद्यष्टप्रातिहार्योपेतोऽपि नोत्सेकं याति, नापि शरीरं संस्कारयत्वं विदधाति । स हि भगवानात्यन्तिकरागद्वेषप्रहाणादेकाक्यपि जनपरिवृतो, जनपरिवृतोऽप्येकाकी, न तस्य तयोरवस्थयोः कश्चिद्विशेषोऽस्ति । तथा चोक्तम्-" रागद्वेषौ विनिर्जित्य, किमरण्ये करिष्यसि ? । अथ नो निर्जितावेतौ, किमरण्ये करिष्यसि ? " ॥ १ ॥ इत्यतो बाह्यमनमान्तरमेव कषायजयादिकं प्रधानं कारणमिति स्थितम् ॥ ४ ॥

(५) अथ [illegible] प्राप्तमाशङ्क्यापि दोषाभाव दर्शयन्नाह—

धम्मं कहंतस्स उ णत्थि दोसो,
खंतस्स दंतस्स जितिंदियस्स ।
भासाय दोसे य विवज्जगस्स,
गुणे य भासाय णिसेवगस्स ॥ ५ ॥

[illegible]

विभोषमानस्य जगदभ्युद्धरणप्रवृत्तस्यैकान्तपरहितप्रवृत्तस्य स्वकार्यनिरपेक्षस्य धर्मं कथयतोऽपि,तुशब्दस्य अपिशब्दार्थत्वात्,नास्ति कश्चिद्दोषः। किंभूतस्य?, इत्याह-क्षान्तिसंपन्नस्य,अनेन क्रोधनिरासमाह। तथा दान्तस्योपशान्तस्य, अनेन मानव्युदासमाह। तथा-जितानि स्वविषयप्रवृत्तिनिषेधेनेन्द्रियाणि येन स जितेन्द्रियः,अनेन तु लोभनिरासमाचष्टे। मायायास्तु लोभनिरासादेव निरासो द्रष्टव्यः,तन्मूलत्वात्तस्याः। भाषादोषाः-असत्यसत्यामृषकर्कशाऽसभ्यशब्दोच्चारणादयः; तद्विवर्जकस्य तत्परिहर्तुः। तथा-भाषाया ये गुणाः-हितमितदेशकालासंदिग्धभाषणादयः। तद्विधायकस्य सतो ब्रुवतोऽपि नास्ति दोषः। छद्मस्थस्य हि बाहुल्येन मौनव्रतमेव श्रेयः, समुत्पन्नकेवलस्य तु भाषणमपि गुणायेति ॥ ५ ॥

किंभूतं धर्ममसौ कथयति?, इत्याह-

महव्वए पंच अणुव्वए य,
तहेव पंचासव संवरे य ।
विरतिं इह सामणियम्मि पन्ने,
लवावसप्पी समणे त्ति बेमि ॥ ६ ॥

महान्ति च तानि व्रतानि प्राणातिपातविरमणादीनि,तानि च साधूनां प्रज्ञापितवान् पञ्चापि। तदपेक्षयाऽणूनि लघूनि व्रतानि पञ्चैव, तानि श्रावकानुद्दिश्य प्रज्ञापितवान्। तथैव पञ्चाश्रवान् प्राणातिपातादिरूपान् कर्मणः प्रवेशद्वारभूतान्; तत्संवरं च सप्तदशप्रकारं संयम प्रतिपादितवान्। संवरवतो हि विरतिर्भवत्यतो विरतिं च प्रतिपादितवान्। चशब्दात्तत्फलभूतौ निर्जरामोक्षौ च। इहास्मिन् प्रवचने, लोके वा , श्रमणस्य भावः श्रामण्यं-संपूर्णः संयमः, तस्मिन् वा विधेये मूलगुणान् महाव्रताणुव्रतरूपान्, तथा-उत्तरगुणान् महाव्रताणुव्रतरूपान्,कृत्स्ने संयमे विधातव्ये। प्राज्ञ इति क्वचित्पाठः। प्रज्ञाने तत्प्रतिपादितवानिति। किंभूतोऽसौ?, लवं कर्म, तस्मात् (अवसप्पी त्ति) अवसर्पणशीलोऽवसर्पी, श्रामयतीति श्रमणः तपश्चरणयुक्तः, इत्येतदहं ब्रवीमि। स्वयमेव च भगवान्पञ्चमहाव्रतोपपन्न इन्द्रियनोइन्द्रियगुप्तो विरतश्चासौ लवावसर्पी सन् स्वतोऽन्येषामपि तथाभूतमुपदेशं दत्तवान्, इत्येतद् ब्रवीमीति। यदि वाऽऽर्द्रककुमारवचनमाकर्ण्याऽसौ गोशालकस्तत्प्रतिपक्षभूतं वक्तुकाम इदमाह-इत्येतद्वक्ष्यमाणं यदहं ब्रवीमि तच्छृणु त्वम्, इति ॥ ६ ॥

यथाप्रतिज्ञातमेवाह गोशालकः-

सीओदगं सेवउ बीयकायं,
आहायकम्मं तह इत्थियाओ ।
एगंतचारिस्सिह अम्ह धम्मे,
तवस्सिणो णाभिसमेति पावं ॥ ७ ॥

भवतेदमुद्ग्राहितम्-परार्थं प्रवृत्तस्याशोकादिप्रातिहार्यपरिग्रहः, तथा शिष्यादिपरिकरो, धर्मदेशना च, न दोषायेति यथा, तथाऽस्माकमपि सिद्धान्ते यदेतद्वक्ष्यमाणं, तन्न दोषायेति। शीतं च तदुदकं च शीतोदकमप्रासुकोदकम्; तत्सेवनं परिभोगं करोतु, तथा-बीजकायोपभोगम्, आधाकर्माश्रयणं,स्त्रीप्रसङ्गं च विदधातु, अनेन च स्वपरोपकारः कृतो भवतीति। अस्मदीये धर्मे प्रवृत्तस्य एकान्तचारिण आरामोद्यानादिष्वेकाकिविहारोद्यतस्य तपस्विनो नाभिसमेति-नाभिसंबन्धमुपयाति; पापमशुभकर्मेति। इदमुक्तं भवति-एतानि शीतोदकादीनि यद्यपीषत्कर्मबन्धाय, तथापि धर्माधारं शरीरं प्रतिपालयत एकान्तचारिणस्तपस्विनो बन्धाय न भवन्तीति ॥ ७ ॥

(५) बीजाद्युपभोगिनो न श्रमणव्यपदेशभाजः—

सीतोदगं वा तह बीयकायं,
आहायकम्मं तह इत्थियाओ ।
एयाइँ जाणं पडिसेवमाणा,
अगारिणो अस्समणा भवंति ॥ ८ ॥

एतत्परिहर्तुकाम आह-एतानि प्रागुपन्यस्तानि अप्रासुकोदकपरिभोगादीनि प्रतिसेवन्तोऽगारिणो गृहस्थास्ते अश्रमणाश्चाप्रव्रजिताश्चैवं जानीहि। यतः-"अहिंसा सत्यमस्तेयं, ब्रह्मचर्यमलुब्धता" इत्येतच्छ्रमणलक्षणं चैषां शीतोदकबीजाधाकर्मस्त्रीपरिभोगवतां नास्तीत्यतस्ते नामाकाराभ्यां श्रमणाः, न परमार्थानुष्ठानत इति ॥ ८ ॥

पुनरप्यार्द्रक एवैतद्दूषणायाह-

सिया य बीओदगइत्थियाओ,
पडिसेवमाणा समणा भवंतु ।
अगारिणो वि य समणा भवंतु,
सेवंति ऊ ते वि तहप्पगारं ॥ ९ ॥

स्यादेतद्भवदीयं मतं, यथा ते एकान्तचारिणः क्षुत्पिपासादिप्रधानतपश्चरणपीडिताश्च तत्कथं ते न तपस्विनः?, इत्येतदाशङ्क्याऽऽर्द्रक आह-(बीओदग त्ति) यदि बीजाद्युपभोगिनोऽपि श्रमणा इत्येवं भवताऽभ्युपगम्यते, एवं तर्ह्यगारिणोऽपि गृहस्थाः श्रमणा भवन्तु, तेषामपि देशिकावस्थायामाशंसावतामपि निष्किञ्चनतयैकाकिविहारित्वं, क्षुत्पिपासादिपीडनं च संभाव्यते। अत आह-(सेवंति ऊ) तुरवधारणे, सेवन्त्येव, तेऽपि गृहस्थाः। तथाप्रकारमेकाकिविहारादिकमिति ॥ ९ ॥

पुनरप्यार्द्रको बीजोदकादिभोजिनां दोषाभिधित्सयाऽऽह—

जे यावि बीओदगभोत्ति भिक्खू,
भिक्खं वि हिंडंति य जीवियट्ठी ।
ते णातिसंजोगमविप्पहाय,
कायोवगाऽणंतकरा भवंति ॥ १० ॥

ये चापि भिक्षवः प्रव्रजिताः,बीजोदकभोजिनः सन्तो द्रव्यतो ब्रह्मचारिणोऽपि भिक्षां चाटन्ति जीवितार्थिनः,ते तथाभूताः,ज्ञातिसंयोगं स्वजनसंबन्धं, विप्रहाय त्यक्त्वा कायात्कायेषु चोपगच्छन्तीति कायोपगाः,तदुपमर्दकारम्भप्रवृत्तत्वात्, संसारस्यानन्तकरा भवन्तीति। इदमुक्तं भवति-केवलं स्त्रीपरिभोग एव तैः परित्यक्तोऽसावपि द्रव्यतः। शेषेण तु बीजोदकाद्युपभोगेन गृहस्थकल्पा एव ते। यत्तु भिक्षाऽटनादिकमुपन्यस्तं तेषां, तद् गृहस्थानामपि केषांचित्संभाव्यते, नैतावता श्रमणभाव इति ॥ १० ॥

अधुनैतदाकर्ण्य गोशालकोऽपरमुत्तरं दातुमसमर्थोऽन्यतीर्थिकान्सहायान् विधाय सोल्लुण्ठमसारं वक्तुकाम आह-

इमं वयं तुं तुम पाउकुव्वं,
पावाइणो गरिहसि सव्व एव ।

पावाउयो पुढो किट्टयंता,

सयं सयं दिट्ठि करेंति पाउ ॥ ११ ॥

[illegible] तुशब्दो विशेषणार्थः, स्वं प्रादुष्कुर्व- [illegible] गर्हामि जुगुप्समे, यस्मात्सर्वेऽपि [illegible] संसारोच्छित्तये प्रवर्तन्ते, [illegible] ते तु प्रावादुकाः पृथक् २ स्वां [illegible] स्वदर्शनं कीर्तयन्त, प्रादुष्कुर्वन्ति प्रकाश- [illegible] आर्द्रककुमार आह-सर्वे प्रावादुका [illegible] स्वदर्शनं प्रादुष्कुर्वन्ति, [illegible] कुर्मः । [illegible] सम्यग्दर्शनम् । [illegible] इति ॥११॥

किञ्च—

[illegible] ॥ १२ ॥

[illegible]

दृषट्टनेन जात्या तल्लिङ्गग्रहणोद्घट्टनेन वाऽभिधारयामो गर्ह- णाद् स्वोद्घट्टयामः, केवलं स्वदृष्टिमार्ग तदभ्युपगतं दर्शनं प्रादुष्कुर्मः प्रकाशयामः । तद्यथा-

" ब्रह्मा लूनशिरा हरिर्दृशि सरुग् व्यालुप्तशिश्नो हरः,
सूर्योऽप्युल्लिखितोऽनलोऽप्यखिलभुक्सोमः कलङ्काङ्कितः ।
स्वर्नाथोऽपि विसंस्थुलः खलु वपुःसंस्थैरुपस्थैः कृतः,
सन्मार्गस्खलनाद्भवन्ति विपदः प्रायः प्रभूणामपि " ॥ १ ॥

इत्यादि [illegible] स्वागमे पठ्यते, वयं तु श्रोतारः केव- लमिति । आर्द्रककुमार एव परपक्षं दूषयित्वा स्वपक्षस्थाप- नार्थं श्लोकपश्चार्द्धेनाह-(मग्गे त्ति) अयं मार्गः पन्थाः सम्य- ग्दर्शनादिकः कीर्तितो व्यावर्णितः । कैः ?, आर्यैः सर्वज्ञैरस्ता- शेषधर्मदूरवर्त्तिभिः । किंभूतो धर्मः ?, नास्मादुत्तरः प्रधानो वि- द्यत इत्यनुत्तरः, पूर्वापराव्याहतत्वाद्, यथावस्थितजीवादिप- दार्थस्वरूपनिरूपणाच्च । किंभूतैरार्यैः ?, सन्तश्च ते पुरुषाश्च सत्पुरुषास्तैरनन्तज्ञानदर्शनचारित्रयोपेतैराविर्भूतसमस्तपदार्था- विर्भावकदिव्यज्ञानैः किंभूतो मार्गः ?, अञ्जुः व्यक्तः निर्दोषत्वा- त्स्फुटः, ऋजुर्वा यथैकान्तपरित्यागादकुटिल इति ॥१३॥

पुनरपि स्वसद्धर्मस्वरूपनिरूपणायाऽऽह-

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु,

तसा य जे थावर जे य पाणा ।

भूयाहिसंकाभि दुगुंछमाणा,

णो गरहती वुसिमं किंचि लोए ॥१४॥

[illegible] दिक्षु [illegible] तासु ये त्रसाः, ये च स्थावराः प्राणिनः [illegible] [illegible] जुगुप्समानो गर्हमाणः [illegible] जुगुप्समानो [illegible] नैव [illegible] (वुसिमं ति) संयमवानिति । तदेवं [illegible] अथ [illegible] ॥१४॥

[illegible]

[illegible] ॥ १५ ॥

[illegible]

हीना ,जात्यादिभिरधिका वा, ताभ्यां पराजितस्य महांश्छायाभ्रंश इति । तानेव विशिनष्टि-लपन्तीति लपा वाचालाः, घोषितानेकतर्कविचित्रदण्डकाः । तथा-न लपा मौनव्रतिका निष्ठितयोगाः, गुटिकादियुक्ता वा, यद्बलादभिधेयविषया वागेव न प्रवर्त्तते । ततस्तद्भयेनासौ युष्मत्तीर्थकृदागन्तागाराद्यौ नैव व्रजतीति ॥१५॥

पुनरपि गोशालक एवाऽऽह-

मेहाविणो सिक्खिय बुद्धिमंता ,
सुत्तेहिँ अत्थेहिँ य णिच्छयन्ना ।
पुच्छिंसु मा णे अणगार अन्ने,
इति संकमाणो ण उवेति तत्थ ॥ १६ ॥

मेधा विद्यते येषां ते मेधाविनो ग्रहणधारणसमर्थाः,तथाऽऽचार्यादेः समीपे शिक्षां ग्राहिताः शिक्षिता',तथौत्पात्तिक्यादिचतुर्विधबुद्ध्युपेता बुद्धिमन्तः,तथा-सूत्रेऽपि सूत्रविषयेऽर्थे विनिश्चयज्ञाः, यथावस्थितसूत्रार्थवेदिन इत्यर्थः । ते चैवंभूताः सूत्रार्थविषयं मा प्रश्नमकार्षुः, अन्येऽनगारा एके केचन, इत्येवमसौ शङ्कमानस्तेषां बिभ्यच्च तत्र तन्मध्ये उपैत्युपगच्छतीति । ततश्च न ऋजुमार्ग इति, भययुक्तत्वात्तस्य । तथा-म्लेच्छविषयं गत्वा न कदाचिद्धर्मदेशनां च करोति, आर्यदेशेऽपि न सर्वत्र । अपि तु कुत्रचिदेवेत्यतो विषमदृष्टित्वाद्रागद्वेषपर्यंयसाविति ॥ १६ ॥

एतद् गोशालकमतं परिहर्तुकाम आर्द्रक आह-

णोऽकामकिच्चा ण य बालकिच्चा ,
रायाभिओगेण कुओ भएणं ? ।
वियागरेज्जा पसिणं न वा वि,
सकामकिच्चे णिह आरियाणं ॥ १७ ॥

स हि भगवान्प्रेक्षापूर्वकारितया नाकामकृत्यो भवति , कमनं काम इच्छा,न कामोऽकामस्तेन कृत्यं कर्त्तव्यं यस्यासावकामकृत्यः,स एवंभूतो न भवति,अनिच्छाकारी न भवतीत्यर्थः। यो ह्यप्रेक्षापूर्वकारितया वर्तते, सोऽनिष्टमपि स्वपरात्मनो निरर्थकमपि कृत्यं कुर्वीत । भगवांस्तु-सर्वज्ञः सर्वदर्शी परहितैकरतः कथं स्वपरात्मनोर्निरुपकारकमेवं कुर्यात् ? । तथा च-बालस्येव कृत्यं यस्य स बालकृत्यः, न चासौ बालवदनालोचितकारी,न परानुरोधादपि गौरवाद्धर्मदेशनादिकं विधत्ते । अपि तु यदि कस्यचिद्भव्यसत्त्वस्योपकाराय तद्भाषितं भवति,ततः प्रवृत्तिर्भवति,नान्यथा । न राजाभियोगेनासौ धर्मदेशनादौ कथञ्चित्प्रवर्तते, ततः कुतस्तस्य भयेन प्रवृत्तिः स्यादित्येवं व्यवस्थिते केनचित्कदाचित्संशयकृते प्रश्नं व्यागृणीयाद्, यदि तस्योपकारो भवत्युपकारमन्तरेण न च नैव व्यागृणीयाद्, यदि वाऽनुत्तरसुराणां मनःपर्यायज्ञानिनां च द्रव्यमनसैव तन्निर्णयसंभावादतो न व्यागृणीयादित्युच्यते । यदप्युच्यते भवता-यदि वीतरागोऽसौ किमिति धर्मकथां करोतीति चेदित्याशङ्क्याह-स्वकामकृत्येन स्वेच्छाचारितयाऽसावपि तीर्थकृन्नामकर्मणः क्षपणाय न यथाकथञ्चिदतोऽसाविग्लान', इहास्मिन्संसारे आर्यक्षेत्रे चोपकारयोग्ये आर्याणां हि सर्वहेयधर्मदूरवर्त्तिनां तदुपकाराय धर्मदेशनां व्यागृणीयादसाविति ।

किञ्चाऽन्यत्-

गंता च तत्था अदुवा अगंता ,
वियागरेज्जा समियाऽऽसुपन्ने ।
अणारिया दंसणओ परित्ता,
इति संकमाणो ण उवेति तत्थ ॥ १८ ॥

स हि भगवान् परहितैकरतो गत्वाऽपि विनेयासन्नम, अथवाऽप्यगत्वा यथा भव्यसत्त्वोपकारो भवति तथा भगवन्तोऽर्हन्तो धर्मदेशनां विदधति । उपकारे सति गत्वाऽपि कथयन्ति, असति तु स्थिता अपि न कथयन्ति । अतो न तेषां रागद्वेषसंभव इति । केवलमाशुप्रज्ञः सर्वज्ञः समतया समदृष्टितया चक्रवर्तिद्रमकादिषु पृष्टो वा धर्मं व्यागृणीयात् ; "जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ" इति वचनात् । इत्यतो न रागद्वेषसद्भावस्तस्येति । यत्पुनरनार्यदेशमसौ न व्रजति तत्रेदमाह-अनार्याः क्षेत्रभाषाकर्मभिर्बहिष्कृताः,दर्शनतोऽपि परि समन्तादिता गता',प्रभ्रष्टा इति यावत् । तदेवमसौ भगवानित्येतत् तेषु सम्यग्दर्शनमात्रमपि कथंचिन्न भवति इत्याशङ्कमानस्तत्र न व्रजतीति । यदि वा विपरीतदर्शनिनो भवन्त्यनार्याः शकयवनादय', ते हि वर्तमानसुखमेवैकमङ्गीकृत्य प्रवर्तन्ते न पारलौकिकमङ्गीकुर्वन्त्यतः सद्धर्मपराङ्मुखेषु तेषु भगवान्न याति,न पुनस्तद्द्वेषादिबुद्ध्येति । यदप्युच्यते त्वया-यथाऽनेकशास्त्रविशारदगुटिकासिद्धविद्यासिद्धादितीर्थिकपराभवभयेन न तत्समाजे गच्छतीति । एतदपि बालप्रलपितप्रायम् । यतः सर्वज्ञस्य भगवतः समस्तैरपि प्रावादुकैर्मुखमप्यवलोकयितुं न शक्यते, वादस्तु दूरोत्सारित एवेत्यतः कुतस्तस्य पराभवः ? । भगवाँस्तु केवलालोकेन यत्रैव स्वपरोपकारं पश्यति तत्रैव गत्वाऽपि धर्मदेशनां विधत्त इति ॥ १८ ॥

पुनरन्येन प्रकारेण गोशालक आह-

पन्नं जहा वणिए उदयट्ठी, आयस्स हेउं पगरेति संगं ।
तऊवमे समणे नायपुत्ते,इच्चेव मे होति मती वियक्का ॥१९॥

यथा वणिक् कश्चिदुदयार्थी पण्यं व्यवहारयोग्यं भाण्डं कर्पूरागरुकस्तूरिकाम्बरादिकं देशान्तरं गत्वा विक्रीणाति, तथा आयस्य लाभस्य हेतोः कारणान्महाजनसङ्गं विधत्ते,तदुपमोऽयमपि भवत्तीर्थकरः श्रमणो ज्ञातपुत्र इत्येवं मे मम मतिर्भवति, वितर्को मीमांसा वेति ॥ १९ ॥

एवमुक्तो गोशालकेनार्द्रक आह-

नवं न कुज्जा विहुणे पुराणं,
चिच्चाऽमइं ताई स आह एवं ।
एतावया बंभवतं ति वुत्ता,
तस्सोदयट्ठी समणे त्ति बेमि ॥ २० ॥

योऽयं भवता दृष्टान्तः प्रदर्शितः, स किं सर्वसाधर्म्येण, उत देशतः ?; यदि देशतस्ततो न नः क्षतिमावहति । यतो वणिग्वद् यत्रैवोपचयं पश्यति तत्रैव क्रियां व्यापारयति, न यथाकथञ्चिदित्येतावता साधर्म्यमस्त्येव । अथ सर्वसाधर्म्येणेति । तन्न युज्यते । यतो भगवान् विदितवेद्यतया सावद्यानुष्ठानरहितो नवं प्रत्यग्रं कर्म न कुर्यात् । तथा-विधुनयत्यपनयति पुरातनं यद्भवोपग्राहिकर्म बद्धम् । तथा-त्यक्त्वा अमतिं विमतिं, त्रायी भगवान् सर्वस्य परित्राणशीलः,विमतिपरित्यागेन चैवंभूत एव भवतीति भावः। तायी वा मोक्षं प्रति । अय-वय-मय पय-चय-तयणय गतावित्यस्य रूपम् । स एव भगवानेवाऽऽह-यथा विमतिपरित्यागेन चैवंभूत एव भवतीत्येतावता च मदनेन ब्रह्मणो मोक्षस्य, व्रतं ब्रह्मव्रतमित्येतदुक्तम् । तस्मिँल्लोके, तदर्थं वाऽनु-

इत्येवं विधस्त्वं नस्योदयार्थी वणिक् इति सर्वात्म्यहमिति ॥२०॥

तदेवं दृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकेनानुरूपं दर्शयितुमाह—

समारभंते वणिया भूयगामं,
परिग्गहं चेव ममायमाणा ।
ते णातिसंजोगमविप्पहाय,
आयस्स हेउं पगरंति संगं ॥ २१ ॥

ते हि वणिजश्चतुर्दशरज्ज्वात्मकमपि भूतग्रामं जन्तुसमूहं समारभन्ते, तदुपमर्दकाः क्रियाः प्रवर्त्तयन्ति, क्रयविक्रयार्थं शकटयानवहनादिकर्मकाणि [illegible] । तथा—परिग्रहं द्विपदचतुष्पदधनधान्यादिकं ममीकुर्वन्ति ममेदमित्येवं [illegible]। ते हि वणिजो ज्ञातिभिः स्वजनैः सह यः संयोगस्तम् अविप्रहाय अपरित्यज्य, आयस्य लाभस्य हेतोर्निमित्तात् परेषु सार्द्धं [illegible] संगं प्रकुर्वन्ति । भगवांस्तु षड्जीवनिकायरक्षापरोऽपरिग्रहस्त्यक्तस्वजनः सर्वत्राप्रतिबद्धो धर्मदेशनं [illegible] करोति, अतो भगवतो वणिजैः सार्द्धं न सर्वसाधर्म्यमिति ॥२१॥

पुनरपि वणिजां दोषमुद्भावयन्नाह—

वित्तेसिणो मेहुणसंपगाढा,
ते भोयणट्ठा वणिया वयंति ।
वयं तु कामेसु अज्झोववन्ना,
अणारिया पेमरसेसु गिद्धा ॥ २२ ॥

[illegible]

किं चान्यत्—

आरंभगं चेव परिग्गहं च,
अविउस्सिया णिस्सिय आयदंडा ।
तेसिं च से उदए जं वयासी,
चउरंतणंताय दुहाय णेह ॥ २३ ॥

[illegible]

[illegible]

एकान्तेन भवतीत्यैकान्तिकः, तथा गतप्रायार्थं प्रवृत्तस्य विपर्ययस्यापि दर्शनात् । तथा—नात्यन्तिकः सर्वकालभावी, तदपदर्शनात् स तेषामुदयो लाभो नैकान्तिको नात्यन्तिकश्चेत्येवं तद्विदो वदन्ति । तौ च द्वावपि भावौ विगतगुणोदयौ भवतः । एतदुक्तं भवति—किं तेनोदयेन लाभरूपेण यो नैकान्तिको, नात्यन्तिकश्च, पश्चादनर्थायेति । यश्च भगवतः (से) तस्य दिव्यज्ञानप्राप्तिरूप उदयो लाभो यो वा धर्मदेशनाऽवाप्तनिर्जराख्यः, स च सादिरनन्तश्च । तमेवंभूतमुदयं प्राप्तो भगवानन्येषामपि तथाभूतमेवोदयं साधयति कथयति, श्लाघते वा । किंभूतो भगवान् ?, तायी । तय-चय-मय-पय-चय-तय-णय-गत्यर्थास्य दण्डकधातोर्णिनिप्रत्यये रूपम, मोक्षं प्रति गमनशील इत्यर्थः । त्रायी वा, भव्यजन्तूनां त्राणकरणात् । तथा—ज्ञाती, ज्ञाता क्षत्रियः, ज्ञातं वा वस्तुजातं विद्यते यस्य स ज्ञाती; विदितसमस्तवेद्य इत्यर्थः । तदेवंभूतेन भगवता तेषां वणिजां निर्विवेकिनां कथं सर्वसाधर्म्यमिति ? ॥ २४ ॥

(१)सांप्रतं त्वदेवमभवसरणाद्युपभोगं कुर्वन्नप्याधाकर्मकृतवसतिनिषेवकसाधुवत्कथं तदनुमतिकृतेन कर्मणाऽसौ न लिप्यते ?, इत्येतद्गोशालकमतमाशङ्क्याह—

अहिंसयं सव्वपयाणुकंपी,
धम्मे ठियं कम्मविवेगहेउं ।
तमायदंडेहिं समायरंता,
अबोहिए—ते पडिरूवमेयं ॥ २५ ॥

असौ भगवान् समवसरणाद्युपभोगं कुर्वन्नप्यहिंसकः सानुक्रोशं करोति । एतदुक्तं भवति—नहि तत्र भगवतो मनागप्याशंसा, प्रतिबन्धो वा विद्यते, [illegible] प्रवृत्तेस्तेषामपि प्राणिनामुपकारायैव । कथं नु नाम भव्यानां धर्माभिमुख्यं प्रवृत्तिर्वा स्यादित्येवमर्थं [illegible], अतो भगवानहिंसकः । तथा—सर्वेषां प्राणिनां इति प्रजा जन्तवः, तदनुकम्पी च, तांस्तथाविधान् पर्यटतो [illegible] । तमेवंभूतं धर्मे व्यवस्थितं कर्मविवेकहेतुभूतं भगवन्तम् आत्मदण्डैः समाचरन्तः आत्मसदृशं कुर्वन्तः, [illegible] । एतच्चाबोधेः [illegible] । एवं तावदिदमज्ञानं [illegible] दुर्नयप्रवृत्तानामपि [illegible] इति ॥ २५ ॥

[illegible] हे आर्द्रक ! [illegible] —

पिन्नागपिंडीमवि विद्धु सूले,
केई पएज्जा पुरिसे इमे त्ति ।
अलाउयं वावि कुमारए त्ति,
स लिप्पती पाणिवहेण अम्हं ॥ २६ ॥

पिण्याकः खलः,तस्य पिण्डिः पिण्डिका, तद्वेतनमपि सत् कस्मिं-श्चित्संभ्रमे म्लेच्छादिविषये केनचिन्नश्यता प्रावरणं खलोपरि क्षिप्तं, तच्च म्लेच्छेनान्वेषयंता प्रवृत्तेन पुरुषोऽयमिति मत्वा,खलपिण्ड्या सह गृहीतम्, ततोऽसौ म्लेच्छो वस्त्रवेष्टितां तां खलपिण्डीं पुरुषबुद्ध्या शूले प्रोतां पावकेऽपचत् । तथा-अलाबुकं तुम्बकं कुमारोऽयमिति मत्वाऽग्नावेव पपाच, स चैवं चित्तस्य दुष्टत्वात्प्राणिवधजनितेन पातकेन युज्यते, अस्मत्सिद्धान्ते चित्तमूलत्वाच्छुभाशुभबन्धस्य,इत्येवं भावदकुशलचित्तप्रामाण्यादकुर्वन्नपि प्राणातिपातप्रतिघातफलेन युज्यते ॥ २६ ॥

अमुमेव दृष्टान्तं वैपरीत्येनाऽऽह-

अहवा वि विद्धूण मिलक्खु सूले,
पिन्नागबुद्धीइ नरं पएज्जा ।
कुमारगं वा वि अलाबुयं ति ,
न लिप्पई पाणिवहेण अम्हं ॥२७॥

अथवाऽपि सत्यपुरुषं खलबुद्ध्या कश्चिन्म्लेच्छः शूलप्रोतमग्नौ पचेत्,तथा-कुमारकं बालं, तुम्बकबुद्ध्याऽग्नावेव पचेत् । नैवमेवासौ प्राणिवधजनितेन पातकेन लिप्यतेऽस्माकमिति ॥ २७॥

किञ्चाऽन्यत्-

पुरिसं च विद्धूण कुमारगं वा,
सूलम्मि केई पएज्जायतेए ।
पिन्नायपिंडीं सतीमारुहेत्ता,
बुद्धाण तं कप्पति पारणाए ॥२८॥

पुरुषं वा,कुमारं वा, विद्ध्वा शूले कश्चित्पचेज्जाततेजस्यग्नावथ-खलपिण्डीयमिति मत्वा सतीं शोभनां तदेतद्बुद्धानामपि पारणाय भोजनाय कल्पते योग्यं भवति; किमुतापरेषाम् ? । एवं सर्वास्ववस्थास्वचिन्तितं मनसाऽसंकलितं कर्मचयं नागच्छत्यस्मत्सिद्धान्ते । तदुक्तम्-"अविज्ञानोपचितं परिज्ञानोपचितमीर्यापथिकं स्वप्नान्तिकं चेति कर्मोपचयं न याति"॥२८॥

पुनरपि शाक्य एव दानफलमधिकृत्याऽऽह-

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से,
जे भोयए णितिए भिक्खुयाणं ।
ते पुन्नखंधं सुमहं जिणित्ता ,
भवंति आरोप्प महंतसत्ता ॥२९॥

स्नातका बोधिसत्त्वाः । तुशब्दात्पञ्चशिक्षापदिकादिपरिग्रहः तेषां भिक्षुकाणां सहस्रद्वयं,ये नित्यं शाक्यपुत्रीये धर्मे व्यवस्थिताः केचिदुपासकाः पचनपाचनाद्यपि कृत्वा भोजयेयुः समांसगुडदाडिमेनेष्टेन भोजनेन, ते पुरुषा महासत्त्वाः श्रद्धालवः पुण्यस्कन्धं महान्तं समावर्ज्य, तेन च पुण्यस्कन्धेनारोप्याख्या देवा भवन्त्याकाशोपगाः, सर्वोत्तमां देवगतिं गच्छन्तीत्यर्थः ॥२९॥

(७) तदेवं बुद्धेन दानमूलः,शीलमूलश्च धर्मः प्रवेदितः,तदेहागच्छ , बौद्धसिद्धान्तं प्रतिपद्यस्वेत्येवं भिक्षुकैरभिहितः सन्नार्द्रकोऽनाकुलया दृष्ट्या माध्यस्थ्येनैवेदं वक्ष्यमाणमित्याह-

अजोगरूवं इह संजयाणं,
पावं तु पाणाण पसज्झ काउं ।
अबोहिए दोण्ह वि तं असाहु,
वयंति जे यावि पडिस्सुणंति ॥ ३० ॥

इहास्मिन्भवदीये शाक्यमते, संयतानां भिक्षूणां,यदुक्तं प्राक्, तदत्यन्तेनायोग्यरूपमघटमानकम् । तथाहि-अहिंसार्थमुत्थितस्य त्रिगुप्तिगुप्तस्य पञ्चसमितिसमितस्य सतः प्रव्रजितस्य सम्यग्ज्ञानपूर्विकां क्रियां कुर्वतो भावशुद्धिः फलवती भवति,तद्विपर्यस्तमतेस्त्वज्ञानावृतस्य महामोहाकुलीकृतान्तरात्मतया खलपुरुषयोर्विवेकमजानतः कुतस्त्या भावशुद्धिः । अत्यन्तमसाम्प्रतमेतद् बुद्धमतानुसारिणाम्, यत्खलबुद्ध्या पुरुषस्य शूले प्रोतनपचनादिकम् । तथा बुद्धस्यैवाश्रबुद्ध्या पिशितभक्षणानुमत्यादिकमिति । एतदेव दर्शयति-प्राणानामिन्द्रियाणामपगमेन तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् पापमेव कृत्वा रसमातागौरवादिगृद्धास्तदभावं व्यावर्णयन्ति । एतच्च तेषां पापाभावव्यावर्णनमबोध्यै अबोधिलाभार्थं तयोर्द्वयोरपि संपद्यते, अतोऽसाध्वेतत् । कयोर्द्वयोः ?, इत्याह-ये वदन्ति पिण्याकबुद्ध्या पुरुषपाकेऽपि पातकाभावं, ये च तेभ्यः शृण्वन्त्येवयोर्द्वयोरपि वर्गयोरसाध्वेतदिति । अपि च-अज्ञानावृतमूढजनभावशुद्ध्या शुद्धिर्भवति । यदि च स्यात्,संसारमोचकादीनामपि तर्हि कर्मविमोक्षः स्यात् । तथा-भावशुद्धिमेव केवलामभ्युपगच्छतां भवतां शिरस्तुण्डमुण्डनपिण्डपातादिकं, चैत्यकर्मादिकं चानुष्ठानमनर्थकमापद्यते, तस्मान्नैवंविधया भावशुद्ध्या शुद्धिरुपजायत इति स्थितम् ॥३०॥

परपक्षं दूषयित्वाऽऽर्द्रकः स्वपक्षाऽविर्भावनायाऽऽह-

उड्ढं अहेयं तिरियं दिसासु,
विन्नाय लिंगं तसथावराणं ।
भूयाभिसंकाइ दुगंछमाणा,
वदे करेज्जा व कुओ विहऽत्थि ? ॥३१॥

ऊर्ध्वमधस्तिर्यक्षु या दिशः प्रज्ञापनादिकास्तासु सर्वास्वपि दिक्षु, त्रसानां, स्थावराणां च जन्तूनां त्रसस्थावरत्वेन जीवलिङ्गं चलनस्पन्दनाङ्कुरोद्भवच्छेदम्लानादिकं, तद्विज्ञाय भूताभिशङ्कया जीवोपमर्दोऽत्र भविष्यतीत्येवंबुद्ध्या सर्वमनुष्ठानं जुगुप्समानस्तदुपमर्दं परिहरन् वदेत् । (कुतोऽपि)अतः कुतोऽस्मीहास्मिंश्चैवंभूतेऽनुष्ठाने क्रियमाणे प्रोच्यमाने वाऽस्मत्पक्षे युष्मदापादितो दोष इति ? ॥ ३१ ॥

अधुना पिण्याके पुरुषबुद्ध्यसम्भवमेव दर्शयितुमाह-

पुरिसे त्ति विन्नत्ति न एवमत्थि ,
अणारिए से ऽपुरिसे तहा हु ।
को संभवो पिन्नागपिंडियाए ? ,
वाया वि एसा वुइया असच्चा ॥ ३२ ॥

तस्यां पिण्याकपिण्ड्यां पुरुषोऽयमित्येवमत्यन्तजडस्यापि विज्ञप्तिरेव नास्ति,तस्मात् एव वक्ति सोऽप्यसत्योऽपुरुषः तथाऽभ्युपगमेन, हुशब्दस्यैवकारार्थत्वेऽनार्य एवासौ यः पुरुषमेव खलोऽयमिति मत्वा इतोऽपि नास्ति दोष इत्येवं वदेत् । तथाहि-कः संभवः पिण्ड्यां पुरुषबुद्धेः ?, इत्यतो वागपीयमीदृग्भूतेति, सत्योपघातकत्वात् । तत्र निःशङ्कमङ्गीकृत्य वाग्वृत्तिः निर्विवेकतया वक्तव्ये, तस्मात् पिण्याककाष्ठादावपि प्रवर्तमानेन जीवोपमर्दं नीत्वा साशङ्केन प्रवर्तितव्यमिति ॥ ३२ ॥

किञ्चान्यत्-

वायाभियोगेण जमावहेज्जा,
णो तारिसं वायमुदाहरिज्जा ।
अट्ठाणमेयं वयणं गुणाणं,
णो दिक्खिए बूय ऽनुदालमेयं ॥ ३३ ॥

वाचाऽभियोगो वागभियोगः, तेनापि यद्यस्मात्, आवहेत पापं कर्म, ततो विवेकी भाषागुणदोषज्ञो, न तादृशीं वाचमुदाहरेन्नाभिदध्यात् । यत एवं ततोऽस्थानमेतद्वचनं गुणानाम्, नहि प्रव्रजितो यथावस्थितार्थाभिधायैतदनुदारमसुष्ठु परिस्फूर्तं निःसारं निरुपपत्तिकं वचनं ब्रूयात् । तद्यथा-पिण्याकोऽपि पुरुषः, पुरुषोऽपि पिण्याकः । तथाऽलाबुकमेव बालकः, बालक एवाऽलाबुकमिति ॥ ३३ ॥

साम्प्रतमार्द्रककुमार एव तं भिक्षुकं युक्तिपराजितं सन्तं सोल्लुण्ठं विमणिपुराह-

लद्धे अट्ठे अहो एव तुब्भे,
जीवाणुभागे सुविचिंतिए य ।
पुव्वं समुद्दं अवरं च पुट्ठे,
ओलोइए पाणितले ठिए वा ॥ ३४ ॥

अहो ! युष्माभिः, अथानन्तर्ये वा, एवंभूताभ्युपगमे सति लब्धार्थो विज्ञानं यथावस्थितं तत्त्वमिति तथावगतः सुविचिन्तितो भवद्भिर्जीवानामनुभागः कर्मविपाकस्तत्पीडेति, तथैवंभूतेन विज्ञानेन भवतां यशः पूर्वसमुद्रमपरं च स्पृष्टं गतमित्यर्थः । तथा भवद्भिरेवंविधविज्ञानावलोकनेनावलोकितः पाणितलस्थ इवायं लोक इति; अहो ! भवतां विज्ञानातिशयः, यद्युत भवन्तः पिण्याकपुरुषयोर्बालाऽलाबुकयोर्वा विशेषानभिज्ञतया पापस्य कर्मणो बन्धसद्भावाभावं प्रकल्पितवन्त इति ॥ ३४ ॥

तदेवं परपक्षं दूषयित्वा स्वपक्षस्थापनायाऽऽह-

जीवाणुभागं सुविचिंतयंता,
आहारिया अन्नविहे य सोहिं ।
न वियागरे छन्नपओपजीवी,
एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं ॥ ३५ ॥

मैत्रीभावसमप्रतिपन्नाः सर्वज्ञोक्तमार्गाऽनुसारिणो जीवानामनुभागमवस्थाविशेषं, तदुपमर्दनं पीडां वा, सुष्ठु विचिन्तयन्तः पर्यालोचयन्तोऽन्नविधौ शुद्धिमाहृतवन्तः स्वीकृतवन्तः, द्विचत्वारिंशद्दोषरहितेन, शुद्धेनाहारेणाहारं कृतवन्तो न तु यथा भवतां त्रिकोटिशुद्धमपि पात्रपतितं न दोषायेति । तथा-छद्मपदोपजीवी मातृस्थानोपजीवी सन् न व्यागृणीयात् । एषोऽनन्तरोक्तः, अनु पश्चाद्धर्मोऽनुधर्मस्तीर्थकरानुष्ठानादनन्तरं भवतीत्यमुना विशिष्यते । इहास्मिन् प्रवचने वा, सम्यग्यतानां सत्साधूनां न तु पुनस्त्वद्विधमिथ्यादृष्टीनामिति । पुनः महर्षिरार्द्रकः शाक्यभिक्षुकं प्रति, इति हेतुदृष्टान्तौ मांसादिभक्षणं चोदने, तद्विषयं लोकविरोधं परिहरति । तथाहि-प्राणकत्वेन तुल्येऽपि किञ्चिन्मांसं किञ्चिदमांसमित्येव व्यवस्थितिः । तद्यथा-गोक्षीररुधिरादेरन्यत्वं वस्तुत्वेऽपि, तथा-मातृत्वेऽपि स्त्रीत्वे भार्यात्वं मात्रादौ न, तथा-तत्तद्वस्त्वन्तरविशेषेऽपि । तथा-लुब्धकवर्त्तकादौ प्राणकत्वाद्विशेषे हेतुरेवमनैकान्तिकत्वे । तदुक्तम्-"तत्प्राणि अङ्गमात्रं, प्रा-

णयङ्गत्वेन हेतुना । ओदनादिवदित्येवं, कश्चिदाहेति तार्किकः" ॥ १ ॥ सोऽसिद्धानैकान्तिकविरुद्धदोषदुष्टत्वादपकर्णनीयः । तथाहि-निरंशत्वाद् वस्तुनस्तदेव मांसं, तदेव च प्राण्यङ्गमिति प्रतिज्ञार्थैकदेशादसिद्धः । तद्यथा-नित्यः शब्दो नित्यत्वात् । अथ भिन्नं प्राण्यङ्गं, ततः सुतरामसिद्धः, व्यधिकरणत्वात् । यथा-देवदत्तस्य गृहं, काकस्य कार्ष्ण्यम् । तथाऽनैकान्तिकोऽपि, श्वादिमांसस्याभक्ष्यत्वात् । अथ तदपि क्वचित्कैश्चित्कैश्चिद्भक्ष्यमिति चेत् ?, एवं च सत्यन्यादेरभक्ष्यत्वादनैकान्तिकत्वम् । तथा-विरुद्धव्यभिचार्यपि, यथाऽयं हेतुर्मांसस्य भक्ष्यत्वं साधयति, एवं बुद्धानामपूज्यत्वमपि । तथा-लोकविरोधिनी चेयं प्रतिज्ञा । मांसोदनयोरसाम्याद् दृष्टान्तविरोधश्चेत्येवं व्यवस्थिते यदुक्तं प्राग्-यथा बुद्धानामपि पारणाय कल्पत एतदिति, तदसाम्प्रतं स्थितम् ॥ ३४ ॥

अन्यदपि भिक्षुकोक्तमार्द्रककुमारोऽनूद्य दूषयितुमाह-

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से,
जे भोयए णितिए भिक्खुयाणं ।
असंजए लोहियपाणि से ऊ,
णियच्छते गरिहमिहेव लोए ॥ ३६ ॥

स्नातकानां बोधिसत्त्वकल्पानां भिक्षूणां नित्यं यः सहस्रद्वयं भोजयेदित्युक्तं प्राक् । तद् दूषयति-असंयतः सन् रुधिरक्लिन्नपाणिरनार्य इव गर्हां निन्दां जुगुप्सापदवीं साधुजनानामिह लोक एव निश्चयेन गच्छति, परलोके चाऽनार्यगम्यां गतिं यातीति । एवं तावत्सावद्याऽनुष्ठानानुमन्तॄणामपात्रभूतानां यद्दानं तत्कर्मबन्धायेत्युक्तम् ॥ ३६ ॥

किञ्चान्यत्-

थूलं उरब्भं इह मारिया णं,
उद्दिट्ठभत्तं च पगप्पइत्ता ।
तं लोणतेल्लेण उवक्खडेत्ता,
सपिप्पलीयं पगरंति मंसं ॥ ३७ ॥

आर्द्रककुमार एव तन्मतमाविष्कुर्वन्निदमाह-स्थूलं बृहत्कायमुपचितमांसशोणितम्, उरभ्रमुरणकम्, इह शाक्यशासने, भिक्षुकसंघोद्देशेन व्यापाद्य घातयित्वा, तथोद्दिष्टभक्तं च प्रकल्पयित्वा, तदुरभ्रमांसं लवणतैलाभ्यामुपसंस्कृत्य पाचयित्वा, सपिप्पलीकमपरद्रव्यसमन्वितं प्रकर्षेण भक्षणयोग्यं मांसं कुर्वन्तीति ॥ ३७ ॥

संस्कृत्य च यत्कुर्वन्ति तद्दर्शयितुमाह-

तं भुंजमाणा पिसितं पभूतं,
ण ओवलिप्पामो वयं रएणं ।
इच्चेवमाहंसु अणज्जधम्मं,
अणारिया बाल रसेसु गिद्धा ॥ ३८ ॥

तत्पिशितं शुक्रशोणितसंभूतमनार्या इव भुञ्जाना अपि प्रभूतं तद्रजसा पापेन कर्मणा न वयमुपलिप्यामः, इत्येवं धाष्टर्यान्नाः प्रोचुः अनार्याणामिव धर्मः स्वभावो यस्य स तथा, अनार्यकर्मकारित्वादनार्याः, बाला इव बाला विवेकरहितत्वाद्, रसेषु च मांसादिकेषु गृद्धा अध्युपपन्नाः ॥ ३८ ॥

एतच्च तेषां महतेऽनर्थायेति दर्शयति—

जे यावि भुंजंति तहप्पगारं ,
सेवंति ते पावमजाणमाणा ।
मणं न एयं कुसला करेंती ,
वाया वि एसा बुइया उ मिच्छा ॥ ३९ ॥

ये चापि रसगौरवगृद्धाः शाक्योपदेशवर्त्तिनः, तथाप्रकारं स्थूलोरभ्रं संस्कृतं घृतलवणमरिचादिसंस्कृतं पिशितं च,भुञ्जतेऽश्नन्ति, तेऽनार्याः, पापं कल्मषम, अजानाना निर्विवेकिनः, सेवन्ते आददते । तथा चोक्तम्—

"हिंसामूलममेध्यमास्पदमलं ध्यानस्य रौद्रस्य यद् ,
बीभत्सं रुधिराविलं कृमिगृहं दुर्गन्धपूयादिकम ।
शुक्रासृक्प्रभवं नितान्तमलिनं सद्भिः सदा निन्दितं ,
को भुङ्क्ते नरकाय राक्षससमो मांसं तदात्मद्रुहः ! " ॥ १ ॥

अपि च—

"मां स भक्षयिताऽमुत्र, यस्य मांसमिहाद्म्यहम ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं, प्रवदन्ति मनीषिणः " ॥ २ ॥

तथा—

"योऽत्ति यस्य च तन्मांस-मुभयोः पश्यतान्तरम ।
एकस्य क्षणिका तृप्ति-रन्यः प्राणैर्वियुज्यते " ॥ ३ ॥

तदेवं महादोषं मांसादनमिति मत्वा यद्विधेयं तद्दर्शयति-एतदेवंभूतं मांसादनाभिलाषरूपं मनोऽन्तःकरणं,कुशला निपुणा मांसाशित्वविपाकवेदिनस्तन्निवृत्तिगुणाभिज्ञाश्च, न कुर्वन्ति, तदभिलाषादात्मनो निवर्त्तयन्तीत्यर्थः । आस्तां तावद्भक्षणं, वागप्येषा यथा मांसभक्षणेऽदोष इत्यादिका भारत्यभिहितोक्ता मिथ्या । तुशब्दान्मनोऽपि तदनुमत्यादौ न विधेयमिति । तन्निवृत्तौ चेहैवानुपमा श्लाघा, अमुत्र च स्वर्गापवर्गगमनमिति । तथा चोक्तम्—

"श्रुत्वा दुःखपरम्परामतिघृणां मांसाशिनां दुर्गतिं,
ये कुर्वन्ति शुभोदयेन विरतिं मांसादनस्यादरात् ।
तद्दीर्घायुरदूषितं गदरुजा संभाव्य यास्यन्ति ते,
मर्त्येषूद्भटभोगधर्ममतिषु स्वर्गापवर्गेषु च" ॥३९॥ इत्यादि।

न केवलं मांसादनमेव परिहार्यमन्यदपि मुमुक्षूणां परिहर्त्तव्यमिति दर्शयितुमाह-

सव्वेसि जीवाण दयट्ठयाए ,
सावज्जदोसं परिवज्जयंता ।
तस्संकिणो इसिणो नायपुत्ता ,
उद्दिट्ठभत्तं परिवज्जयंति ॥ ४० ॥

सर्वेषां जीवानां प्राणार्थिनां, न केवलं पञ्चेन्द्रियाणामेवेति सर्वग्रहणम। दयार्थतया दयानिमित्तं सावद्यमारम्भं महानयं दोष इत्येवं मत्वा तत्परिवर्जयन्तः साधवः । तच्छङ्किनो दोषशङ्किन ऋषयो महामुनयो ज्ञातपुत्रीयाः श्रीमन्महावीरवर्द्धमानशिष्याः, उद्दिष्टं दानाय परिकल्पितं यद्भक्तपानादिकं,तत्परिवर्जयन्ति ।४०।

किञ्च—

भूयाभिसंकाए दुगुंछमाणा ,
सव्वेसि पाणाण विहाय दंडं ॥
तम्हा ण भुंजंति तहप्पगारं ,
एसोऽणुधम्मो इह संजयाणं ॥ ४१ ॥

भूतानां जीवानाम,उपमर्दशङ्कया सावद्यमनुष्ठानं जुगुप्समाना परिहरन्तः,तथा-सर्वेषां प्राणिनां दण्डयतीति दण्डः समुपतापस्तं, विहाय परित्यज्य, सम्यगुत्थिताः सत्साधवो यतस्ततो न भुञ्जते,तथाप्रकारमाहारमशुद्धजातीयमेषोऽनुधर्मः,इहास्मिन्प्रवचने, संयतानां यतीनां तीर्थकराचरणात्। अनु पश्चाद्धर्यंत इत्यनुना विशेष्यते । यदि वाऽणुरिति श्लोकेनाप्यतिचारेण वा बाध्यते शिरीषपुष्पमिव सुकुमार इत्यतोऽणुना विशेष्यत इति ॥ ४१ ॥

किञ्चान्यत—

निग्गंथधम्मम्मि इमं समाहिं ,
अस्सिं सुठिच्चा अणिहो चरेज्जा ।
बुद्धे मुणी सीलगुणोववेए ,
अच्चत्थतं पाउणती सि लोगे ॥ ४२ ॥

अस्मिन्मौनीन्द्रधर्मे बाह्याभ्यन्तररूपो ग्रन्थोऽस्यास्तीति निर्ग्रन्थः, स चासौ धर्मश्च निर्ग्रन्थधर्मः, स च श्रुतचारित्राख्यः, क्षान्त्यादिको वा सर्वज्ञोक्तः,तस्मिन्नेवंभूते धर्मे व्यवस्थित,इमं पूर्वोक्तं समाधिमनुप्राप्तः, अस्मिँश्चाशुद्धाहारपरिहाररूपे समाधौ,सुष्ठु अतिशयेन स्थित्वा,अनीहोऽमायः अथवा-निहन्यत इति निहः, न निहोऽनिहः, परीषहैरपीडितः। यदि वा-स्निह बन्धने, स्निह इति स्नेहरूपबन्धनरहित संयममनुष्ठानं चरेत । तथा-बुद्धोऽवगततत्त्वो, मुनिः कालत्रयवेदी, शीलेन क्रोधाद्युपशमरूपेण, गुणैश्च मूलोत्तरगुणभूतैरुपेतो युक्त इत्येवंगुणकलितोऽत्यर्थतां सर्वगुणातिशायिनीं सर्वद्वन्द्वोपरमरूपां संतोषात्मिकां श्लाघां प्रशंसां लोके लोकोत्तरे वाऽऽप्नोति ।

तथा चोक्तम्—

"राजानं तृणतुल्यमेव मनुते शक्रोऽपि नैवादरो ,
वित्तोपार्जनरक्षणव्ययकृताः प्राप्नोति नो वेदनाः ।
संसारान्तरवर्त्त्यपीह लभते संमुक्तवन्निर्भयः ,
संतोषात्पुरुषोऽमृतत्वमचिरायायात्सुरेन्द्रार्चितः"॥१॥ इत्यादि ।

(६) तदेवमार्द्रककुमारं निराकृतगोशालकाजीवकबौद्धमतमभिसमीक्ष्य साम्प्रत द्विजातयः प्रोचुः। तद्यथा-भो आर्द्रककुमार ! शोभनमकारि भवता, यदेते वेदबाह्ये द्वे अपि मते निरस्ते, तत्साम्प्रतमप्यार्हतं वेदबाह्यमेव, अतस्तदपि नाश्रयणार्हं भवद्विधानाम् । तथाहि-भवान् क्षत्रियवरः,क्षत्रियाणां च सर्ववर्णोत्तमा ब्राह्मणा पर्युपास्याः, न शूद्राः, अतो यागादिविधिना ब्राह्मणसेवैव युक्तिमतीत्येतत्प्रतिपादनायाऽऽह—

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से ,
जे भोयए णितिए माहणाणं ।
ते पुन्नखंधे सुमहज्जणित्ता ,
भवंति देवा इति वेयवाओ ॥ ४३ ॥

तुशब्दो विशेषणार्थः। षट्कर्माभिरता वेदाध्यापकाः शौचाचाररततया नित्यं स्नायिनो ब्रह्मचारिणः स्नातकाः,तेषां सहस्रद्वयं नित्यं ये भोजयेयुः कामिकाहारेण ते समुपार्जितपुण्यस्कन्धाः सन्तो देवाः स्वर्गनिवासिनो भवन्तीत्येवंभूतो वेदवाद इति॥४३॥

अधुनाऽऽर्द्रककुमार एतद् दूषयितुमाह—

सिणायगाणं तु दुवे सहस्से ,

जे भोयए णितिए कुलालयाणं ।
से गच्छती लोलुवसंपगाढे,
तिव्वाभितावी णरगाभिसेवी ॥ ४४ ॥

स्नातकानां सहस्रद्वयमपि नित्यं ये भोजयन्ति । किंभूतानाम् ?, कुलानि गृहाणि, आमिषान्वेषणार्थिनो नित्यं येऽटन्ति ते कुलाटा मार्जाराः, कुलाटा इव कुलाटा ब्राह्मणाः । यदि वा-कुलानि क्षत्रियादिगृहाणि तानि नित्यं पिण्डपातान्वेषिणां परतर्ककाणामाश्रयो येषां ते कुलालयास्ते । निन्द्यजीविकोपगतानामेवंभूतानां यो सहस्रद्वयं भोजयेत्सः सत्पात्रनिक्षिप्तदानो गच्छति बहुवेदनासु गतिषु । किंभूतः सन् ?, लोलुपैरामिषपरैः गृद्धैः रससातगौरवाद्युपपन्नैः जिह्वेन्द्रियवशगैः संप्रगाढो व्याप्तः । यदि वा-किंभूते नरके याति ?, लोलुपैरामिषगृध्नुभिरसुमद्भिर्व्याप्तो यो नरकस्तस्मिन्निति । किंभूतश्चासौ दाता ?, नरकाभिसेवी भवति । तद्दर्शयति-तीव्रोऽसह्यो योऽभितापः क्रकचपाटनकुम्भीपाकतप्तत्रपुपानशाल्मलीवृक्षालिङ्गनादिरूपः, स विद्यते यस्यासौ तीव्राभितापी । इत्येवंभूतयेद्नानितस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमानि यावदप्रतिष्ठाननरकाधिवासी भवतीति ॥ ४४ ॥

दयावरं धम्म दुगुंछमाणा,
वहावहं धम्म पसंसमाणा ।
एगं वि जे भोययती असीलं,
णिवो णिसं जाति कुओऽसुरेहिं ? ॥ ४५ ॥

दया प्राणिषु कृपा, तया वरः प्रधानो यो धर्मस्तमेव धर्मं, जुगुप्समानो निन्दन्, तथा-वधं प्राण्युपमर्दमावहतीति वधावहस्तं तथाभूतं धर्मं, प्रशंसन् स्तुवन्, एकमप्यशीलं निर्वृत्तं, षड्जीवकायोपमर्देन यो भोजयेत्, किं पुनः प्रभूतान् ?। नृपो राजन्यो वा यः कश्चिन्मूढमतिर्धार्मिकमात्मानं मन्यमानः स वराको निशेव निशा यामन्धकारत्वान्निशा नरकभूमिस्तां याति, कुतस्तस्यासुरेष्वप्यधमदेवेष्वपि प्राप्तिरिति ?। तथा-कर्मवशाद्देहिनां विचित्रजातिगमनाज्जातेरशाश्वतत्वम्, अतो न जातिमदो विधेय इति । यदपि केचिदुच्यते यथा-ब्रह्मणा ब्रह्मणो मुखाद्विनिर्गता ब्राह्मणाः, बाहुभ्यां क्षत्रियाः, ऊरुभ्यां वैश्याः, पद्भ्यां शूद्राः, इति । एतदप्यप्रमाणत्वादतिफल्गुप्रायम् । तदभ्युपगमे च न विशेषो वर्णानां स्यात् । एकस्मात्प्रसूतेर्वृक्षस्यैकशाखाप्रसूतफलवद् ब्रह्मणो वा मुखादेरेकस्मात् चातुर्वर्ण्यप्राप्तिः स्यात्, न चैतदिष्यते भवद्भिः । तथा-यदि ब्रह्मणादीनां ब्रह्मणो मुखादेरुद्भवः, साम्प्रतं किं न जायते ?। अथ युगादावेवैतदिष्यते, एतदपि दृष्टहानिरदृष्टकल्पना स्यादिति । तथा यदि केचिद्वर्ण्यादि सर्वं हानिरेवायमदः, तथा-सर्वेऽपि निर्गताः, कालत्रयवर्तमानकालवत् । एवं च सर्वेऽपि तद्वचने वक्तुम्-यथा नातिः कालो ब्रह्मणो मुखादेर्विनिर्गतश्चातुर्वर्ण्यमस्तीति, कालत्रयवर्तमानकालवत् । भवति च विशेषः शरीरे न मात्रस्य हेतुत्वेन प्रतिपादितः सर्वज्ञाभिमता मार्गानुसारेण । जातिवर्णव्यवस्था युष्माभिरत्र न प्रतिपादितम् । तथा-'शूद्रो वा एष उच्यते न स पुरोहितः' इत्यादिना । तथा-"सद्यः पतति मांसेन, लाक्षया लवणेन च । त्र्यहेण शूद्रीभवति, ब्राह्मणः क्षीरविक्रयी" ॥ १ ॥ इत्यादिभिः वाक्यैर्जातिः ब्राह्मणत्वम् । एवं तथा-"कर्मभिः वर्णतां याति" तथा-"सर्वेऽपि पशवः मांसाः, मा भूत् ते ब्राह्मणाः" ॥ १ ॥ इत्यादिना स्वकल्पितं वेदवचनं सर्वत्र दूष्यते । तथा-"ष-

ट्शतानि नियुज्यन्ते, पशूनां मध्यमेऽहनि । अश्वमेधस्य वचनात्, न्यूनानि पशुभिस्त्रिभिः" ॥ १ ॥ इत्यादि वेदोक्तत्वाददोष इति चेत् । तन्निवृत्तमभिहितमेव-"न हिंस्यात्सर्वा भूतानि" इत्यतः पूर्वोत्तरविरोधः । तथा-"आततायिनमायान्तमपि वेदान्तगं रणे । जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत्" ॥ १ ॥ तथा-"शूद्रं हत्वा प्राणायामं जपेत्, अस्थिमतां वा कुर्यात्, यत्किञ्चिद्वा दद्यात्, तथा-"नास्थिजन्तूनां शकटं मारयित्वा ब्राह्मणं भोजयेत्" इत्येवमादिका देशना विद्वन्मनांसि न रञ्जयतीत्यतोऽत्यर्थमसमञ्जसमिव लक्ष्यते दर्शनमिति ॥ ४५ ॥

(१०) तदेवमार्द्रककुमारं निराकृतब्राह्मणविवादं भगवदन्तिकं गच्छन्तं दृष्ट्वा एकदण्डिनोऽन्तराले एवमूचुः । तद्यथा-हे आर्द्रककुमार ! शोभनं कृतं भवता यदेते सर्वारम्भप्रवृत्ता गृहस्थाः शब्दादिविषयपरायणाः पिशिताशनेन राक्षसकल्पा द्विजातयो निराकृताः; तत्साम्प्रतमस्मत्सिद्धान्तं शृणु, श्रुत्वा चावधारय । तद्यथा-सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान्, महदाँस्ततोऽहङ्कार-स्तस्माद्गणश्च षोडशकः । तस्मादपि षोडशकात्पञ्च-(तन्मात्राणि ते-) भ्यः पञ्च भूतानि" ॥ १ ॥ तथा चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति । एतावाहेतैरप्याश्रितमतः पञ्चविंशतितत्त्वपरिज्ञानादेव मोक्षावाप्तिरित्यतोऽस्मत्सिद्धान्त एव श्रेयानिति । तथा न युष्मत्सिद्धान्तोऽतिदूरेण भिद्यत इति ।

एतद्दर्शयितुमाह—

इहच्चो वि धम्मम्मि समुट्ठियामो,
अस्सिं सुठिच्चा तह एसकालं ।
आयारसीले वुइएऽह नाणं,
ण संपरायम्मि विसेसमत्थि ॥ ४६ ॥

योऽयमस्मत्कर्मो, भवदीयश्चार्हतः, स उभयरूपोऽपि कर्मिः । तथाहि-युष्माकमपि जीवास्तित्वे सति पुण्यपापबन्धमोक्षसद्भावः, न लोकायतिकानामिव तदभावे प्रवृत्तिः, तथा-ज्ञानामिव सर्वाधारभूतस्यान्तरात्मन एवाभावः । तथा-भवतामपि पञ्च यमा अहिंसादयः, अस्माकं च त एव पञ्च महाव्रतानि । तथेन्द्रियनोइन्द्रियनियमोऽप्यावयोस्तुल्य एव । तदेवम्-अपि धर्मे बहुसमाने सम्यगुत्थानोत्थिता यूयं, वयं च, अस्मिन् धर्मे सुष्ठु स्थिताः, पूर्वस्मिन् काले, वर्तमाने, एष्ये च, यथाप्रतिज्ञं निर्वोढारः । न पुनरन्ये यथा प्रनेश्वरयागविधाने मुक्तयन्तो, मुञ्चन्ति, मोक्ष्यन्ति चेति । तथाऽऽचारप्रधानं शीलं यमनियमलक्षणं न फल्गुवत् कुहकाजीवनरूपम्, अ ज्ञानं च मोक्षाङ्गतयाऽभिहितं, तथा श्रुतज्ञानं, केवलाख्यं स्वभावयोर्दर्शने प्रसिद्धम् । तथा-संपरायन्ते स्वकर्मभिः प्राणिनो यस्मिन्स संपरायः संसारः, तस्मिन्नावयोर्न विशेषः । तथाहि-यथा भवतां कारणे कार्यं नैकान्तेनासदुत्पद्यते कर्माणि तथैव; अस्माकमपि तथा नित्यायं भवद्भिरप्याश्रितमेत्यादिवस्त्वपि युष्मदभिप्रेतौ, प्राविर्भावतिरोभावदस्माकमपीति ॥ ४६ ॥

पुनरपि तथैवैकदण्डिनः सांसारिका—
वदर्थसाम्यादिकमाह—

अव्वत्तरूवं पुरिसं महंतं,

गणाण गं अवसवसब्भयं च ।
सव्वेसु भूतेसु वि सव्वतो से,
चंदो इव ताराहिं समत्तरूवे ॥ ४७ ॥

पुरि शयनात्पुरुषो जीवः, तं यथा भवन्तोऽभ्युपगतवन्तस्तथा वयमपि । तमेव विशिनष्टि-अमूर्तत्वादव्यक्तं रूपमस्यासावव्यक्तरूपः, तथा करचरणशिरोग्रीवाद्यवयवतया व्यक्तोऽस्यानान । तथा-महान्त लोकव्यापिनं, तथा सनातनं शाश्वतं, द्रव्यार्थतया नित्यं, नानागतिभ्रमणेऽपि चैतन्यलक्षणात्मस्वरूपस्याप्रच्युतेः । तथा-अक्षय केनचित्प्रदेशानां खण्डशः कर्तुमशक्यत्वात् । तथा-अव्ययम्, अनन्तेनापि कालेनैकस्यापि तत्प्रदेशस्य व्ययाभावात् । तथा-सर्वेष्वपि भूतेषु कायाकारपरिणतेषु प्रतिशरीरं सर्वतः सामस्त्यावस्थितत्वादसावात्मा भवति । क इव ?, चन्द्र इव ताराभिरश्विन्यादिभिर्नक्षत्रैर्यथा समस्तरूपः संपूर्णः संबन्धमुपयात्येवमसावपि आत्मा प्रत्येकं शरीरैः सह संपूर्णः संबन्धमुपयाति, तदेवमेकदण्डिकनिदर्शनव्याख्यापादनेन साम्यवादपूर्वकं स्वदर्शनारोपणार्थमार्द्रककुमारोऽभिहितः, यदेतानि संपूर्णानि निरुपचरितानि पूर्वोक्तानि विशेषणानि धर्मसंसारयोर्विद्यन्ते, स एव पक्षः सयुक्तिकेन समाश्रयितव्यो भवति । एतानि चास्मदीय एव दर्शने यथोक्तानि सन्ति नार्हते, अतो भवताऽप्यस्मद्दर्शनमेवाभ्युपगन्तव्यमिति ॥ ४७ ॥

तदेवमभिहितः सन्नार्द्रककुमारस्तदुत्तरदानायाऽऽह—

एवं ण मिज्जंति ण संसरंति,
न माहणा खत्तिय वेसपेस्सा ।
कीडा य पक्खी य सरीसिवा य,
नरा य सव्वे तह देवलोए ॥ ४८ ॥

यदि वा प्राक्तनश्लोकः "अव्यक्तरूपं" इत्यादिको वेदान्तवादिमतेन व्याख्यायते । तथाहि-ते एकमेवाव्यक्तं पुरुषमात्मानं महान्तमाकाशमिव सर्वव्यापिनं सनातनमनन्तमक्षयमव्ययं सर्वेष्वपि भूतेषु चेतनाचेतनेषु सर्वतः सर्वात्मतयाऽसौ व्यवस्थित इत्येवमभ्युपगतवन्तः । यथा-सर्वास्वपि तारास्वेक एव चन्द्रः संबन्धमुपयात्येवं चासावपि, इत्यस्य चोत्तरदानायाह-(एव-मित्यादि) एवमिति । तथा-भवतां दर्शने एकान्तेनैव नित्योऽविकार्यात्माऽभ्युपगम्यते इत्येवं पदार्थाः सर्वेऽपि नित्याः । तथा च सति कुतो बन्धमोक्षसद्भावः ? । बन्धाभावाच्च न नारकतिर्यङ्नरामरलक्षणश्चातुर्गतिकः संसारः । मोक्षाभावाच्च निरर्थकं व्रतग्रहणं भवतां, पञ्चरात्रोपदिष्टयमनियमप्रतिपत्तिश्चेत्येवं च यदुच्यते भवता यथाऽऽयपोरतुल्यो धर्म इति । तदयुक्तमुक्तम् । तथा-संसारान्तर्गतानां च पदार्थानां न साम्यम् । तथाहि-भवतां द्वयेकत्ववादिनां सर्वस्य प्रधानादभिन्नत्वात्कारणमेवास्ति, कार्यं च कारणाभिन्नत्वात्सर्वात्मना न विद्यते । अस्माकं च द्रव्यपर्यायोभयवादिनां कारणं कार्यं द्रव्यात्मतया विद्यते, न पर्यायात्मकतया । अपि च-अस्माकमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तमेव सदित्युच्यते; भवतां तु ध्रौव्यं युक्तमेव सदिति । आविर्भावतिरोभावौ भवतोच्येते, तावपि नोत्पादविनाशावन्तरेण भवितुमुत्सहेते । तदेवमैहिकामुष्मिकचिन्तायामावयोर्न कथञ्चित्साम्यम् । किंच-सर्वव्यापित्वे सर्वात्मनामविकारित्वे चात्माद्वैते चाभ्युपगम्यमाने नारकतिर्यङ्नराऽमरभेदेन बालकुमारकसुभगदुर्भगाऽऽढ्यदरिद्रादिभेदेन वा न मीयरन् परिच्छिद्येरन्, नापि स्वकर्मचोदिता नानागतिषु संसरन्ति, सर्वव्यापित्वादेकत्वाच्च । तथा-न ब्राह्मणाः, न क्षत्रियाः, न वैश्याः, न प्रेष्या न शूद्राः, नापि कीटपक्षिसरीसृपाश्च भवेयुः । तथा-नराश्च सर्वेऽपि देवलोकाश्चेत्येवं नानागतिभेदेन निर्दिश्यरन् । अतो न सर्वव्यापी आत्मा, नाप्यात्माद्वैतवादोऽभ्यायाति, अतः प्रत्येकं सुखदुःखानुभवः समुपलभ्यते । तथा-शरीरस्वरूपपर्यन्तमात्र एवात्मा, तत्रैव तद्गुणविज्ञानोपलब्धेरिति स्थितम् ॥ ४८ ॥

तदेवं व्यवस्थिते युष्मदागमो यथार्थाभिधायी न भवति, असर्वज्ञप्रणीतत्वात्, असर्वज्ञप्रणीतत्वं चैकान्तपक्षसमाश्रयणादित्येवमसर्वज्ञस्य मार्गोद्भावने दोषमाविर्भावयन्नाह—

लोयं अयाणित्तिह केवलेणं,
कहंति जे धम्ममजाणमाणा ।
णासंति अप्पाण परं च णट्ठा,
संसारघोरम्मि अणोरपारे ॥ ४९ ॥

लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं, चराचरं वा लोकम्, अज्ञात्वा केवलेन दिव्यज्ञानावभासेनेहास्मिन् जगति, ये तीर्थिका अजानाना अविद्वांसो धर्मं दुर्गतिगमनमार्गस्यार्गलाभूतं, कथयन्ति प्रतिपादयन्ति, ते स्वतो नष्टा अपरानपि नाशयन्ते । क्व ?, घोरे भयानके संसारसागरे (अणोरपारे त्ति) अर्वाग्भागपरभागवर्जितेऽनाद्यनन्त इत्येवंभूते संसारार्णवे आत्मानं प्रक्षिपन्तीति यावत् ॥ ४९ ॥

साम्प्रतं सम्यग्ज्ञानवतामुपदेष्टॄणां गुणानाविर्भावयन्नाह—

लोयं विजाणंतिह केवलेणं,
पुण्णेण नाणेण समाहिजुत्ता ।
धम्मं समत्तं च कहंति जे उ,
तारंति अप्पाण परं च तिण्णा ॥ ५० ॥

लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं केवलालोकेन केवलिनो विविधमनेकप्रकारं जानन्ति विदन्तीहास्मिन् जगति प्रकर्षेण जानाति प्रज्ञः, पुण्यहेतुत्वात् पुण्यम् । तेन तथाभूतेन ज्ञानेन समाधिना च युक्ताः, समस्तं धर्मं श्रुतचारित्ररूपं, ये तु परहितैषिणः, कथयन्ति प्रतिपादयन्ति, ते महापुरुषास्ततः संसारसागरं तीर्णाः, परं च तारयन्ति सदुपदेशदानत इति केवलिनो लोकं जानन्तीत्युक्ते यत्पुनर्ज्ञानेनेत्युक्तं तद् बौद्धमतोच्छेदेन ज्ञानाधार आत्मा अस्तीति प्रतिपादनार्थमिति । एतदुक्तं भवति-यथाऽऽदेशिकः सम्यङ्मार्गज्ञ आत्मानं परं च तदुपदेशवर्तिनं महाकान्ताराद्विवक्षितदेशप्रापणेन निस्तारयत्येवं केवलिनोऽप्यात्मानं परं च संसारकान्तारान्निस्तारयन्तीति ॥ ५० ॥

पुनरप्यार्द्रककुमार एवाह—

जे गरहियं ठाणमिहावसंति,
जे यावि लोए चरणोववेया ।
उदाहडं तं तु समं मईए,
अहाउसो ! विप्परियासमेव ॥ ५१ ॥

असर्वज्ञप्ररूपणमेवंभूतं भवति । तद्यथा-ये केचित्संसारान्तर्वर्तिनोऽशुभकर्मणोपेताः समन्विताः तद्विपाकसहायाः, गर्हितं निन्दितं जुगुप्सितं निर्विवेकिजनाचरितं, स्थानं पदं कर्मानुष्ठानरूपमिहास्मिन् जगति, आसेवन्ते जीविकाहेतुमाश्रयन्ति, तथा च-ये सदुपदेशवर्तिनो लोकेऽस्मिन् चरणेन विरतिपरिणामरूपेणोपेताः समन्विताः, तेषामुभयेषामपि, यदनुष्ठानं शोभनाशोभनस्वरूपम-

पिसत् तदसर्वज्ञैरर्वाग्दर्शिभिः समं सदृशं तुल्यमुदाहृतमुपन्यस्तं,स्वमत्या स्वाभिप्रायेण, न पुनर्यथावस्थितपदार्थनिरूपणेन । अथवा-आयुष्मन् ! हे एकदण्डिन् ! विपर्यासमेव विपर्ययमेवोदाहरेदसर्वज्ञो यदशोभनं तच्छोभनत्वेन; इतरावितरथेति । यदि वा(विपर्यास इति)मत्तोन्मत्तप्रलापवदित्युक्तं भवतीति ।५१।

(११) तदेवमेकदण्डिनो निराकृत्याऽऽर्द्रककुमारो यावद् भगवदन्तिकं व्रजति तावद् हस्तितापसाः परिवृत्य तस्थुरिदं च प्रोचुरित्याह—

संवच्छरेणावि य एगमेगं,
बाणेण मारेउ महागयं तु ।
सेसाण जीवाण दयट्टयाए,
वासं वयं वित्ति पकप्पयामो ॥ ५२ ॥

हस्तिनं व्यापाद्यात्मनो वृत्तिं कल्पयन्तीति हस्तितापसाः, तेषां मध्ये कश्चिद्वृद्धतम एतदुवाच । तद्यथा-भो आर्द्रककुमार ! सद्बुद्धिमता सदाऽऽल्पबहुत्वमालोचनीयम, तत्र ये अमी तापसाः कन्दमूलफलाशिनस्ते बहूनां सत्त्वानां स्थावराणां तदाश्रितानां चोदुम्बरादिषु जङ्गमानामुपघाते वर्तन्ते । येऽपि च भैक्ष्येणात्मानं वर्तयन्ति तेऽप्याशंसादोषदूषिता इतश्चेतश्चाटाट्यमानाः पिपीलिकादिजन्तूनां उपघाते वर्तन्ते । वयं तु संवत्सरेणापि, अपिशब्दात् षण्मासेन चैकैकं हस्तिनं महाकायं बाणप्रहारेण व्यापाद्य शेषसत्त्वानां दयार्थमात्मनो वृत्तिं वर्तनं तदामिषेण वर्षमेकं यावत्कल्पयामः । तदेवं वयमेकसत्त्वोपघातेन प्रभूततरसत्त्वानां रक्षां कुर्म इति ॥ ५२ ॥

साम्प्रतमेतदेवाऽऽर्द्रककुमारो हस्तितापसमतं दूषयितुमाह-

संवच्छरेणावि य एगमेगं,
पाणं हणंता अणियत्तदोसा ।
सेसाण जीवाण वहेऽलग्गा य,
सिया य थोवं गिहिणो वि तम्हा ॥ ५३ ॥

संवत्सरेणैकैकं प्राणिनं घ्नतोऽपि प्राणातिपातादनिवृत्तदोषास्ते भवन्ति । आशंसादोषश्च भवतां पञ्चेन्द्रियमहाकायसत्त्ववधपरायणानामतिदुष्टो भवति । साधूनां तु-सूर्यरश्मिप्रकाशितवीथिषु युगमात्रदृष्ट्या गच्छतामीर्यासमितिसमितानां द्विचत्वारिंशद्दोषरहितमाहारमन्वेषयतां लाभालाभसमवृत्तीनां कुतस्त्य आशंसादोषः ? । पिपीलिकादिसत्त्वोपघातो नास्त्येव; स्तोकसत्त्वोपघातेनैवंभूतेन दोषाभावो भवताऽभ्युपगम्यते,तथा च सति गृहस्था अपि स्वारम्भदेशवर्तिन एव प्राणिनो घ्नन्ति शेषाणां च जन्तूनां क्षेत्रकालव्यवहितानां भवदभिप्रायेण वधेन प्रवृत्ता एव एवं तस्मात्कारणात्स्यादेवं स्तोकत्वादस्वल्पतरं यस्माद् घ्नन्ति ततस्तेऽपि दोषरहिता इति ॥ ५३ ॥

साम्प्रतमार्द्रककुमारो हस्तितापसान्दूषयित्वा तदुत्तरोत्तरं दूषयितुमाह—

संवच्छरेणावि य एगमेगं,
पाणं हणंता समणव्वएसु ।
आयाहिए से पुरिसे अणज्जे,
ण तारिसे केवलिणो भवंति ॥ ५४ ॥

श्रमणानां यतीनां व्रतानि श्रमणव्रतानि, तेष्वपि व्यवस्थिताः सन्त एकैकं संवत्सरेणापि ये घ्नन्ति, ये चोपदिशन्ति, तेऽनार्याः, असत्कर्मानुष्ठायित्वात् । तथा-आत्मानं परेषां चाहितास्ते पुरुषाः बहुवचनमार्षत्वात् । न तादृशाः केवलिनो भवन्ति । तथाहि-एकस्य प्राणिनः संवत्सरेणापि घाते येऽन्ये पिशिताश्रितास्तत्संस्कारे च क्रियमाणे स्थावरजङ्गमा विनाशमुपयान्ति, ते तैः प्राणिवधोपदेष्टृभिर्न दृष्टाः । न च तैर्निरवद्योपायो माधुकर्या वृत्त्या यो भवति स दृष्टः, अतस्ते केवलमकेवलिनो विशिष्टविवेकरहिताश्चेति ।

तदेवं हस्तितापसान्निराकृत्य भगवदन्तिकं गच्छन्तमार्द्रककुमारं महता कलकलेन लोकेनाभिष्ट्रयमानं तं समुपलभ्य अभिनवगृहीतः संपूर्णलक्षणसंपूर्णो हस्ती समुत्पन्नस्तथाविधविवेकोचितं यद् यथाऽऽर्द्रककुमारोऽयमपहताशेषतीर्थिको निष्प्रत्यूहं सर्वज्ञपादपद्मान्तिकं वन्दनाय व्रजति, तथाऽहमपि यद्यपगताशेषबन्धनः स्यां तत एनं महापुरुषमार्द्रककुमारं प्रतिबुद्धतस्करपञ्चशतोपेतं, तथा-प्रतिबोधितानेकवादिगणसमन्वितं परमया भक्त्यैतदन्तिकं गत्वा वन्दामीत्येवं यावदसौ हस्ती कृतसंकल्पस्तावच्चटच्चटदिति त्रुटितसमस्तबन्धनः सन्नार्द्रककुमाराभिमुखं प्रदत्तकर्णतालस्तथोर्ध्वप्रसारितदीर्घकरः प्रधावितः, तदनन्तरं लोकेन कृतहाहारवगर्भकलकलेन पूत्कृतम् । यथा-' धिक् कष्टं हतोऽयमार्द्रककुमारो महर्षिर्महापुरुषः ' तदेवं प्रलपन्तो लोका इतश्चेतश्च प्रपलायमानाः, असावपि वनहस्ती समागत्याऽऽर्द्रककुमारसमीपं भक्तिसंभ्रमावनताग्रभागोत्तमाङ्गो निवृत्तकर्णतालः त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य निहितधरणीतलदन्ताग्रभागः स्पृष्टकराग्रचरणयुगलः सुप्रणिहितमनाः प्रणिपत्य महर्षिवनाभिमुखं ययाविति । तदेवमार्द्रककुमारतपोनुभावाद्बन्धनोन्मुक्तं महागजमुपलभ्य स पौरजनपदः श्रेणिकराजस्तमार्द्रककुमारं महर्षिं तत्तपःप्रभावं चाभिनन्द्याभिवन्द्य च प्रोवाच-भगवन् ! आश्चर्यमिदं, यदसौ वनहस्ती तादृग्विधाद्दृढबन्धनाच्छृङ्खलाबन्धनाद्युष्मत्तपःप्रभावान्मुक्त इत्येतदतिदुष्करमित्येवमभिहिते,आर्द्रकुमारः प्रत्याह-भोः श्रेणिक महाराज ! नैतद्दुष्करं यदसौ वनहस्ती बन्धनान्मुक्तः अपि त्वेतद्दुष्करं यत्स्नेहपाशमोचनं,एतच्च प्राङ्निर्युक्तिगाथया प्रदर्शितम् । सा चेयम् "ण दुक्करं वारणपासमोयणं,गयस्स मत्तस्स वणम्मि रायं ! ॥ जहा उ तत्थाऽऽवलिएण तंतुणा, सुदुक्करं मे पडिहाइ मोयणं " ॥१॥ एवमार्द्रककुमारेण राजानं प्रतिबोध्य तीर्थकरान्तिकं गत्वाऽभिवन्द्य च भगवन्तं भक्तिभरनिर्भरं आसाञ्चक्रे । भगवतापि तानि पञ्चापि शतानि प्रव्राज्य तच्छिष्यत्वेनोपनिन्ये इति ॥५४॥

साम्प्रतं समस्ताध्ययनार्थोपसंहारार्थमाह-

बुद्धस्स आणाए इमं समाहिं,
अस्सिं सुठिच्चा तिविहेण ताई ।
तरिउं समुद्दं च महाभवोघं,
आयाणवं समुदाहरेज्जा ॥ ५५ ॥ त्ति बेमि ।

बुद्धोऽवगततत्त्वः सर्वज्ञो वीरवर्द्धमानस्वामी,तस्य,आज्ञया तदाऽऽगमेन, इमं समाधिं सद्धर्मावाप्तिलक्षणमवाप्य, अस्मिंश्च समाधौ सुष्ठु स्थित्वा मनोवाक्कायैश्च प्रणिहितेन्द्रियो न मिथ्यादृष्टिमनुमन्यते, केवलं तद्वाचारक्षणपुरुषार्थी त्रिविधेनापि करणेन न विघातं स एवंभूत आत्मनः परेषां च त्राणशीलः, तायी वा गमनशीलः

मोक्षं प्रति, स एवं भूतस्तरीतुमतिदुस्तरं समुद्रमिव दुस्तरं महामवौघं मोक्षार्थमोदीयत इत्यादानं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपं तद्विद्यते यस्यासावादानवान् साधुः, स च सम्यग्दर्शनेन सता परतीर्थिकतपःसमृद्ध्यादिदर्शनेन मौनीन्द्राद्दर्शनान्न प्रच्यवते; सम्यग्ज्ञानेन तु यथावस्थितवस्तुप्ररूपणतः समस्तप्रावादुकवादिनिराकरणेनापरेषां यथावस्थितमोक्षमार्गमाविर्भावयतीति; सम्यक्चारित्रेण तु समस्तभूतग्रामहितैषया निरुद्धाश्रवद्वारः सन् तपोविशेषाच्चानेकभवोपार्जितं कर्म निर्जरयति । स्वतोऽन्येषां चैवंप्रकारमेवं धर्ममुपाहरेद्व्यागृणीयादित्यर्थः । इतिः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति ॥ ५५ ॥ सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ॥

अद्दग (य) पुर-आर्द्रकपुर-न० । नगरभेदे, यत्र आर्द्रककुमार उत्पन्नः । सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

अद्दचंदण-आर्द्रचन्दन-न० । सरसचन्दने , औ० । " अद्दचंदणाणुलित्तगत्ता ईसिसिलिंधपुप्फप्पगासाइं सुहुमाइं असंकिलिट्ठाइं वत्थाइं पवरपरिहिया " इति । आर्द्रेण सरसेन चन्दनेनाऽनुलिप्तं गात्रं येषां ते आर्द्रचन्दनानुलिप्तगात्राः । (सुपुरुषवर्णकः) औ० ।

अद्दण-अर्दन-पुं० । अर्द-ल्युट् । गतौ , पीडायां , वधे, याचने च । वाच० । स्वनामख्याते राजनि च, येन पद्मावती प्रार्थयित्वा स्वाभिख्यदेवप्रतिमाऽऽनीता । ग.० ४ , कल्प ।

अद्दणो (एणो)-देशी-आकुले , दे० ना० १ वर्ग ।

अ.व अद्रव-त्रि० । निगालिते, आव० ६ अ० ।

अद्दव्व-अद्रव्य-न० । रूपाद्युचितरूपाभावे, पञ्चा० ३ विव० ।

अद्दहण-आद्रहण-न० । आ-द्रुह-भावे ल्युट् । उत्क्वाथने, करणे ल्युट् । द्रव्यपाकायाग्नावुत्ताप्यमाने उदकतैलादौ, व्यव० ३ उ० ।

अद्दा-आर्द्रा-स्त्री० । रुद्रदेवताके नक्षत्रभेदे, अनु० । " दो अद्दाओ " स्था० २ ठा० ३ उ० । " अद्दा खलु नक्खत्ते " सू० प्र० १० पाहु० । ' अद्दा णक्खत्ते एगतारे ' जं० सं० १ द्वार ।

अद्दाइ।-आदर्शित-न० । आदर्शेन परिचीहृते, बृ० १ उ० ।

अद्दाओ-देशी-दर्पणे, दे० ना० १ वर्ग ।

अद्दाग-आदर्श-पुं० । दर्पणे, स० ।

अद्दायं पेहमाणे मणुस्से किं अद्दायं पेहति, अत्ताणं पेहति, पलिभागं पेहति ?। गोयमा ! णो अद्दायं पेहति, णो अत्ताणं, पलिभागं पेहति । एवं एतेणं अभिलावेणं असिं मणिं दुद्धं पाणं तेल्लं फाणियं वसं ।

(अद्दायमिति) आदर्शं (पेहमाणे त्ति) प्रेक्षमाणो मनुष्यः किमादर्शं प्रेक्षते?, आत्मानं स्वशरीरं प्रेक्षते?, अथवा प्रतिभागं? प्रतिबिम्बम् । भगवानाह-आदर्शं तावत्प्रेक्षत एव, तस्य स्फुटरूपस्य यथावस्थिततया तेनोपलम्भात् । आत्मानं आत्मशरीरं तु नैव पश्यति, तस्य तत्राभावात् । स्वशरीरं हि आत्मनि व्यवस्थितं नादर्शे, ततः कथमात्मशरीरं तत्र स पश्येदिति ? प्रतिभागं स्वशरीरस्य प्रतिबिम्बं पश्यति । अथ किमात्मकं प्रतिबिम्बम् ? उच्यते-छायापुद्गलात्मकम् । तथाहि-सर्वमैन्द्रियकं वस्तु स्थूलं चयापचय-

धर्मकं, रश्मिवच्च; रश्मय इति छायापुद्गला व्यवह्रियन्ते । ते च छायापुद्गलाः प्रत्यक्षत एव सिद्धाः , सर्वस्यापि स्थूलवस्तुनश्छायायाः प्रत्यक्षतः प्रतिप्राणिप्रतीतेः । अन्यच्च-यदि स्थूलवस्तु व्यवहिततया, दूरस्थिततया वा नादर्शादिष्वप्रकाशमर्पयति, ततो न तस्मात्तद् दृश्यते, तस्मादवसीयते-सन्ति छायापुद्गला इति । ते च छायापुद्गलास्तत्तत्सामग्रीवशाद्विचित्रपरिणमनस्वभावाः । तथाहि-ते छायापुद्गला दिवा वस्तुन्यभास्वरगताः सन्तः स्वसंबन्धिद्रव्याकारमादधानाः श्यामरूपतया परिणमन्ते, निशि तु कृष्णाभाः, एतच्च प्रसर्पत्सियमे सुर्यकरनिकरम् , निशि तु चन्द्रोद्योते प्रत्यक्षत एव सिद्धम् । त एव च्छायापरमाणव आदर्शादिभास्वरद्रव्यसंगताः सन्तः स्वसंबन्धिद्रव्याकारमादधाना यादृग्वर्णाः स्वसंबन्धिनि द्रव्ये कृष्णो, नीलः, सितः, पीतो वा, तदाभाः परिणमन्ते । एतदप्यादर्शादिष्वप्यक्षतः सिद्धम् । अतोऽधिकृतसूत्रेऽपि ये मनुष्यस्य छायापरमाणव आदर्शादिकमुपसंक्रम्य स्वदेहवर्णतया, स्वदेहाकारतया च परिणमन्ते, तेषां तत्रोपलब्धिः, न शरीरस्य, ते च प्रतिबिम्बशब्दवाच्याः । अत उक्तं न शरीरं पश्यति, किन्तु प्रतिभागमिति । नैतत्स्वमतं विकल्पितमेव ।

यत उक्तं आगमे-

" सामा उ दिया छाया, अभासुरगता निसिं तु कालाभा ।
सा चेव भासुरगया , सदेहवण्णा मुणेयव्वा ॥ १ ॥
जे आदरिस्स अंतो , देहावयवा हवंति संकंता ।
तेसिं तत्थुवलद्धी , पगासजोगा ण इयरेसिं " ॥ २ ॥

एतत्सूत्रे चाकारेऽन्यदप्याह-कस्मात्संक्रान्ति ? । तत्र स्थूलं द्रव्यं चयापचयधर्मकं , रश्मिवच्च भवति , ततश्चादर्शादिषु छाया स्थूलस्य द्रव्यस्याऽवगाहिनः । न कारणं स्थूलस्य हरिमतः स्थूलद्रव्यस्य कस्यचिद्दर्शनं भवति । अथ ? वं द्रव्ये कियन्ति , अतिदूरस्थं वा इति ।

पलिभागं प्रतिभागं (पेहति) पश्यति । एवमसिमण्यादिष्वपि वाच्यम् । सूत्रार्थोऽपि भावनीयः । सूत्रपाठोऽयम्-" असिं देहमाणे मणुस्से किं असिं देहइ , अत्ताणं देहइ , पलिभागं देहइ " इत्यादि । प्रज्ञा० ११ पद । स्था० । दर्पणस्य निरीक्षणं , नि० चू० १३ उ० । ' अणगार ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३१३ पृष्ठे आदर्शे मुखप्रेक्षणनिषेधोऽप्युक्तः)

अद्दागपसिण (न)-आदर्शप्रश्न-पुं० । प्रश्नविद्याभेदे, यया आदर्शे देवताऽवतारः क्रियते । एतद्वक्तव्यताप्रतिबद्धं प्रश्नव्याकरणानामष्टमेऽध्ययने च । साम्प्रतं प्रश्नव्याकरणेषु तद्वक्तव्यं न दृश्यते । स्था० १० ठा० ।

अद्दागविज्जा-आदर्शविद्या-स्त्री० । विद्याविशेषे, यया आतुरः आदर्शे प्रतिबिम्बितोऽपमृज्यमानः प्रगुणो भवति । व्य० ५ उ० ।

अद्दागसमाण-आदर्शसमान-पुं० । श्रावकभेदे, यो हि साधुषु तत्प्रज्ञापितार्थप्रतिबिम्बनादादर्श इव वर्तते, स आदर्शसमानः । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अद्दामलग-आर्द्रामलक-न० । स्त्रीलिङ्गवर्जितस्य स्वरूपस्य (?) ... प्र० ३ सप्त० । " ... " नि० चू० १ उ० । ... , प्रश्न० ४ द्वा० ।

अद्दारिट्ठ-आर्द्रारिष्ट-पुं० । कोमलकाके, आ० म० प्र० ।

अद्दिय-अर्दित-त्रि० । पीडिते , उत्त० १० उ० ।

अद्दोहि (ण्)-अद्रोहिन्-त्रि० । कस्याऽप्यवञ्चके, ध० ३ अधि० ।

अद्ध-अर्द्ध-न० । "श्रद्धर्धिमूर्धाऽर्धेऽन्ते वा" । ८ । २ । ४१ । इति सूत्रेण संयुक्तस्य ढत्वविकल्पनाभावात् ढः प्रा० । समप्रविभागे, एकदेशे च । विशे० । "अद्धंऽगुलसोणिको जेट्ठप्पमाणो असी भणिओ" । जं० ३ वक्ष० ।

अद्धंतो-देशी-पर्यन्ते , दे० ना० १ वर्ग ।

अद्ध (द्धा)ण-अध्वन्-पुं० । प्राकृते-" पुंस्यन आणो राजवच्च" ८ । ३ । ५६ । इति सूत्रेण अनः स्थाने वा आण इत्यादेशः प्रा० । पथि , को० । मार्गे , ज्ञा० १४ अ० । नि० चू० ।

अद्धाणं पि य दुविहं, पंथो मग्गो य होइ नायव्वो ॥

अध्वा द्विविधः, तद्यथा-पन्थाः, मार्गश्च । पन्था नाम यत्र ग्रामनगरपल्लीप्रत्रजिकानां किञ्चिदेकतरमपि नास्ति । यत्र पुनर्ग्रामानुग्रामपरम्परयाऽवस्थितं भवति स ग्रामे मार्ग उच्यते । वृ० १ उ० । प्रयाणके, विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

अद्ध (द्धाण) कप्प-अध्वकल्प-पुं० । अध्वनि गृह्यमाणे कल्ये कमनीये आहारे, वृ० १ उ० । ('विहार' शब्दे एतद्विधिर्द्रष्टव्यः)

अद्धकरिस-अर्द्धकर्ष-पुं० । पलस्याऽष्टमांशे, अनु० ।

अद्धकविट्ठ-अर्द्धकपित्थ-पुं० । अर्द्धकपित्थाकारवति , " अद्धकविट्ठसंठाणसंठियं " उत्तानीकृतमर्द्धमात्रं कपित्थस्येव यत् संस्थानं तेन संस्थितमर्द्धकपित्थसंस्थानसंस्थितम् । सू० प्र० १८ पाहु० ।

अद्धकुल(म)व-अर्द्धकुड(ड)व-पुं० । मगधदेशप्रसिद्धे धान्यमानविशेषे , रा० ।

अद्धकोस-अर्द्धक्रोश-पुं० । धनुःसहस्रे, जं० ४ वक्ष० ।

अद्धक्खणं-देशी-प्रतीक्षणे , दे० ना० १ वर्ग ।

अद्धक्खिअं-देशी-संज्ञाकरणे, दे० ना० १ वर्ग ।

अद्धचक्क(क्कि)मन्धक-अर्द्धचक्रवाल-न० । अर्द्धं तिर्यग्रूपं भवति येषु वलयाद्धरूपेषु चेष्टितेषु ते । अर्द्धवलयेषु, "अद्धऽन्धकारचक्कचिट्ठियाईं लूनमाणा वधेति" जी० ३ प्रति ।

अद्धच्छिय-अर्द्धाक्षिक-त्रि० । अर्द्धविकसितलोचने, महा० ३ प्र० ।

अद्धजंघा-अर्द्धजङ्घा-स्त्री० । अर्धजङ्घा प्राकृतस्यानुपानहि, वृ० ३ उ० ।

अद्धचंद-अर्द्धचन्द्र-पुं० । अर्द्धचन्द्राकारे सोपाने, ज्ञा० १ अ० । अ० । सौधर्मकल्पोऽर्द्धचन्द्रसंस्थानसंस्थित । रा० ।

अद्धचक्कवाल-अर्द्धचक्रवाल-न० ।

अद्धचक्कवाला-अर्द्धचक्रवाला-स्त्री०

वो , उत्त० ७ उ० ।

अद्धद्द-अर्द्धद्रु-त्रि० । मार्गेषु

अद्धदंत-देशी

अद्धजिण्ण-अर्द्धजीर्ण-त्रि० । जीर्णाऽजीर्णे, भा० म० द्वि० ।

अद्धजोयण-अर्द्धयोजन-न० । योजनस्यार्द्धमर्द्धयोजनम् । गव्यूतौ, वृ० ४ उ० ।

अद्धट्ठम-अर्द्धाष्टम-त्रि० । अर्द्धमष्टमं येषां तान्यर्द्धाष्टमानि । मासेष्वसत्सु, ज्ञा० १ अ० । "अद्धट्ठमाण य राइंदियाणं य विइक्कंताणं" स्था० ६ ठा० । सार्द्धसप्ताहोरात्राधिकेषु-अन्तेषु , कर्म० १ कर्म० ।

अद्धणाराय-अर्द्धनाराच-न० । अर्द्धं नाराचमुभयतो मर्कटबन्धो यत्र तदर्धनाराचम् । मर्कटैकदेशबन्धनद्वितीयपार्श्वकीलिकासंबन्धरूपे चतुर्थसंहनने, स० । यत्र हि एकपार्श्वे मर्कटबन्धो द्वितीये च पार्श्वे कीलिका भवति । जी० १ प्रति० । कल्प० । पं० सं० । कर्म० । तं० । स्था० ।

अद्धतुला-अर्द्धतुला-स्त्री० । तुलाप्रमाणस्यार्द्धे, अनु० ।

अद्धद्ध-अर्द्धार्द्ध-न० । चतुर्भागे, वृ० ३ उ० ।

अद्धद्धा-अर्द्धाद्धा-स्त्री० । अद्धाया अद्धा अद्धाद्धा । दिवसस्य रजन्या वा एकदेशे प्रहरादौ , स्था० १० ठा० ।

अद्धद्धामीसय-अद्धाद्धामिश्रक-न० । अद्धाद्धाविषयं मिश्रकं सत्याऽसत्यमद्धाद्धामिश्रकम् । सत्यमृषाभेदे, यथा कश्चित्कंचिन्द्धिप्रयोजने प्रहरमात्र एव मध्याह्नमित्याह । स्था० १० ठा० ।

अद्धपंचममुहुत्त-अर्धपञ्चममुहूर्त-पुं० । अर्द्धपञ्चमाश्च ते मुहूर्ताश्च अर्द्धपञ्चममुहूर्ताः । नवसु घटिकासु अर्द्धपञ्चमा मुहूर्ता यस्य । ६ प० । नवघटिकापरिमिते, "जया णं भंते ! उक्कोसिया अद्धपंचममुहुत्ता दिवसस्स राईए वा पोरिसी भवइ" भ० ११ श० ११ उ० ।

अद्धपल-अर्धपल-न० । कर्षद्वये , अनु० ।

अद्धपलिअंका-अर्धपर्य(ल्य)ङ्का-स्त्री० । उत्तानैकपादनिवेशनलक्षणायां लक्षणायाम्, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

अद्धपेडा-अर्द्धपेटा-स्त्री० । पेटाया अर्द्धमर्द्धपेटा । पेटाया समचतुरस्रे । अर्द्धपेटेवार्द्धपेटा । पेटार्द्धसमानगमनप्रकारे गोचरभेदे, पञ्चा० १७ विव० । दशा० । "अद्धपेडा इमीए चेव अद्धसंठिया घरपरिवाडी" पं० व० २ द्वा० । अर्द्धपेटाऽप्येवमेव, नवरमर्द्धपेटासदृशं स्थानयोर्दिग्द्वयं संबद्धयोर्गृहश्रेण्योरेव पर्यटति , वृ० १ उ० । स्था० । उत्त० । ध० । ग० ।

अद्धभरह-अर्धभरत-पुं० । भरतस्यार्द्धमर्द्धभरतम् । भरतार्द्धे, "अद्धभरहस्स सामिका धीरकित्ति पुरिसा" प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

अद्धभरहप्पमाणमेत्त-अर्द्धभरतप्रमाणमात्र-त्रि० । अर्द्धभरतस्य यत्प्रमाणं तदेव मात्रा प्रमाणं यस्य स तथा । सातिरेकत्रिषष्ट्यधिकयोजनशतद्वयमिते , " अद्धभरहप्पमाणमेत्तं बोंदिं विसेणं विसपरिणयं विसट्टमाणिं करेत्तए " (वृश्चिक आशीविषो वा) ठा० ४ उ० ॥

। मगधार्द्धविषयभाषानिबद्धे, भ-

नि० चू० ११ उ० ।

। "रसोर्लशौ" (८।४।२८७)

प्राकृतभाषा-

लक्षणबहुलायां भाषायाम्, औ० । प्राकृतादीनां षण्णां भाषाविशेषाणां मध्ये या मागधी नाम भाषा " रसोर्लशौ " मागध्यामित्यादिलक्षणवती, सा असमाश्रितस्वकीयसमग्रलक्षणाऽर्द्धमागधीत्युच्यते । "भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ " इति द्वात्रिंशो बुद्धातिशयः । स० ३४ सम० । विपा० । प्रश्न० । रा० । आचा० । आ० म० । "अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी विसिज्जइ " भाषा किल षड्विधा भवति, यदाह-"प्राकृतसंस्कृतमागध-पिशाचभाषा च शौरसेनी च । षष्ठोऽत्र भूरिभेदो, देशविशेषादपभ्रंशः" ॥१॥ भ० ५ श०४उ० ।

अद्धमास-अर्द्धमास-पुं० । अर्धं मासस्य । एकदे० त०स० । पञ्चदशाहात्मके मासस्यार्द्धरूपे पक्षात्मके काले, प्रश्न० १ संव० द्वा० ।

अद्धमासिय-अर्धमासिक-त्रि० । पाक्षिके, " अद्धमासिए कत्तरिमुंडे त्ति " यदि कर्तर्या कारयति तदा पक्षे पक्षे शुरं कारणीयम्, क्षुरकर्तर्योश्च लोचे प्रायश्चित्तम् । कल्प० ।

अद्धरत्तकालसमय-अर्धरात्रकालसमय-पुं० । समयः समाचारोऽपि भवतीति कालेन विशेषितः । कालरूपः समयः कालसमयः । स चाऽनर्द्धरात्ररूपोऽपि भवतीत्यतोऽर्द्धरात्रकालसमयः । निशीथे रात्रेर्मध्यकाले, " अद्धरत्तकालसमयंसि सुत्तजागरा ओहीरमाणी ओहीरमाणी " इत्यादि । भ० ११ श० ११ उ० ।

अद्धलव-अर्धलव-पुं० । लवस्य समेंऽशे, ज्यो० १ पाहु० ।

अद्धविआरं-देशी-मण्डने, दे० ना० १ वर्ग ।

अद्धवेयाली-अर्धवैताली-स्त्री० । वैताल्या विद्याया उपशामकविद्यायाम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अद्धसंकासिया-अर्धसाङ्काशिका-स्त्री० । देवलसुतराजस्य प्रव्रजितस्य प्रव्रजितायामेव देव्यामुत्पन्नायां पुत्र्याम्, आव० ४ अ० । आ० चू० (' सव्वकामाविरत्तया' शब्दे कथा वक्ष्यते)

अद्धसम-अर्धसम-न० । एकान्तरसमे वृत्ते, यत्र पादा अस्तानि वा समानि, अथवा यत्र प्रथमतृतीययोर्द्वितीयचतुर्थयोश्च समत्वम् । (न सर्वत्र) स्था० ७ ठा० ।

अद्धहार-अर्धहार-पुं० । नवसरिके कण्ठाभरणभेदे, रा० । जी० । वि० । जं० । जीवा० । आचा० । भ० । औ० । स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च । जी० ३ प्रति० । तत्रार्द्धहारद्वीपेऽर्द्धहारभद्रार्द्धहारमहाभद्रौ देवौ अर्द्धहारसमुद्रे अर्द्धहारवरार्द्धहारमहावरौ " जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारभद्द-अर्धहारभद्र-पुं० । अर्द्धहारद्वीपाधिपती देवे, जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारमहाभद्द-अर्धहारमहाभद्र-पुं० । अर्द्धहारद्वीपाधिपती देवे, जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारमहावर-अर्धहारमहावर-पुं० । अर्द्धहारसमुद्राधिपती देवे, अर्द्धहारवरसमुद्राधिपती देवे च । जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारवर-अर्धहारवर-पुं० । स्वनामख्याते द्वीपभेदे, समुद्रे च । तत्र अर्द्धहारवरार्द्धहारवरमहावरौ च देवौ वसतः । जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारवरभद्द-अर्धहारवरभद्र-पुं० । अर्द्धहारवरद्वीपाधिपती देवे, जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारवरमहावर-अर्धहारवरमहावर-पुं० । अर्द्धहारवरसमुद्राधिपती देवे, जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारवरवर-अर्धहारवरवर-पुं० । अर्द्धहारवरसमुद्राधिपती देवे, जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारोभास-अर्धहारावभास-पुं० । स्वनामख्याते द्वीपभेदे, समुद्रभेदे च । तत्र अर्द्धहारावभासे द्वीपे अर्द्धहारावभासभद्रार्द्धहारावभासमहाभद्रौ, अर्द्धहारावभासे समुद्रे अर्द्धहारावभासवरार्द्धहारावभासमहावरौ देवौ वसतः जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारोभासभद्द-अर्धहारावभासभद्र-पुं० । अर्द्धहारावभासद्वीपाधिपती देवे, जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारोभासमहाभद्द-अर्धहारावभासमहाभद्र-पुं० । अर्द्धहारावभासद्वीपाधिपती देवे , जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारोभासमहावर-अर्धहारावभासमहावर-पुं० । अर्द्धहारावभाससमुद्राधिपती देवे, जी० ३ प्रति० ।

अद्धहारोभासवर-अर्धहारावभासवर-पुं० । अर्द्धहारावभाससमुद्राधिपती देवे, जी० ३ प्रति० ।

अद्धा-अद्धा-स्त्री० । समयादिषु कालभेदेषु, संकेतादिवाचकोऽप्यस्ति । भ० ११ श० ११ उ० । अनु० । अवधिज्ञानाऽऽवरणक्षयोपशमलाभरूपायां लब्धौ, विशे० । अद्धा त्रिविधा-अतीताद्धा, वर्तमानाद्धा , अनागताद्धा च । कर्म० ५ कर्म० ।

अद्धाउय-अद्धायुष्-न० । अद्धा कालस्तत्प्रधानमायुः कर्मविशेषोऽद्धायुः । भवात्ययेऽपि कायात्ययेऽपि कालान्तरानुगामिनि , स्था० २ ठा० ३ उ० । कायस्थितिरूपे आयुष्कर्मभेदे, स्था० २ ठा० ४ उ० । यथा-मनुष्यायुः कस्याऽपि भवात्यय एव नागच्छति । "दोण्हं अद्धाउए पण्णत्ते । तं जहा-मणुस्साणं चेव पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चेव " स्था० २ ठा०३ उ० ।

अद्धाकाल-अद्धाकाल-पुं० । अद्धासमयादयो विशेषाः, सूर्यक्रियाविशिष्टोऽर्द्धतृतीयसमुद्रान्तर्वर्तिनि समयादौ कालभेदे , भ० ११ श० ११ उ० । विशे० । आ० म० । आ चू० ।

अद्धाकालस्वरूपोपदर्शनार्थं विशेषावश्यकभाष्ये आह—

सूरकिरिया विसिट्ठो, गोदोहाइकिरियासु निरवेक्खो ।
अद्धाकालो भण्णइ, समयक्खेत्तम्मि समयाई ॥ ४ ॥

सूरो भास्करः, तस्य क्रिया मेरोरनवरतपरिभ्रमणलक्षणा, सूरस्योपलक्षणत्वाच्चन्द्रग्रहनक्षत्रतारादीनामपि गृह्यते, तया सूर्यादिक्रियया विशिष्टो विशेषितो व्यक्तीकृतोऽर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रलक्षणे समयक्षेत्रे यः समयावलिकादिरर्थः प्रवर्तते, न परतः, सूर्यादिक्रियाऽभावात्, सोऽद्धाकालो भण्यते । क्रियैव परिणामवती कालो मान्य ...

पेक्षः, न खलु यथोक्ताद्धाकालः क्रियां गोदोहाद्यामिकामपेक्ष्य प्रवर्त्तते, किं तु सूर्यादिगतिम । तथाहि-यावद्यावत्क्षेत्रं सविता दिनकरस्थमन् द्योतयते तद् दिवस उच्यते, परतस्तु रात्रिः। तस्य च दिवसस्य परमनिकृष्टोऽसंख्येयतमो भागः समयः । ते चासंख्येया आवलिका इत्यादि । एवं च प्रवृत्तस्यास्य कालस्य सूर्यादिगतिक्रियां विहाय काऽन्या गोदोहादिक्रियापेक्षेति ?। के पुनस्ते समयादयोऽद्धाकालभेदा इत्याह निर्युक्तिकारः-"समयावलियमुहुत्ता, दिवसमहोरत्तपक्खमासा य । संवच्छरजुगपलिया , सागरउस्सप्पिपरियट्टा ॥" विशे० ।

एतदेव सूत्रकृदाह—

से किं तं अद्धाकाले ?। अद्धाकाले अणेगविहे पएणत्ते । तं जहा-समयट्ठयाए आवलियट्ठयाए०जाव उस्सप्पिणीयट्ठयाए। एस णं सुदंसणा अद्धादोहारच्छेयणेणं छिज्जमाणा जाहे विभागं णो हव्वमागच्छइ,सेत्तं समए । समयट्ठयाए असंखेज्जाणं समयाणं समुदयसमितिसमागमेणं एगा आवलिए त्ति वुच्चइ, संखेज्जाओ आवलियाओ जहा सालिउद्देसए०जाव तं सागरोवमस्स एगस्स भवे परीमाणं ॥

(से किं तं अद्धाकाले इत्यादि)अद्धाकालोऽनेकविधः प्रज्ञप्तः। तद् यथा-(समयट्ठयाए त्ति)समयरूपोऽर्थः समयार्थस्तद्भावस्तत्ता , तया, समयभावेन इत्यर्थः । एवमन्यत्रापि । यावत् करणात् 'मुहुत्तट्ठयाए' इत्यादि दृश्यमिति । अथानन्तरोक्तस्य समयादिकालस्य स्वरूपमभिधातुमाह-(एस णमित्यादि) एषाऽनन्तरोक्तोऽवसर्पिण्यादिका (अद्धा दोहारच्छेयणेणं ति) द्वौ हारौ भागौ यत्र छेदने, द्विधा वा कारः करणं यत्र तद्, द्विहारं द्विधाकारं वा, तेन । (जाहे त्ति) । यदा, समय इति शेषः "सेत्तमित्यादि" निगमनम । (असंखेज्जाणमित्यादि) असंख्यातानां समयानां संबन्धिनो ये समुदया वृन्दानि तेषां याः समितयो मीलनानि तासां यः समागमः संयोगः समुदयसमितिसमागमस्तेन, यत्कालमानं भवतीति गम्यते; सैकावालिकेति प्रोच्यते । (सालिउद्देसए त्ति) षष्ठशतस्य सप्तमोद्देशके। भ०११ श०११उ०।

अद्धाखिएण-अध्वखिन्न-त्रि० । पथि बहुचलनेन परिश्रान्ते, " जो पुण अद्धाखिन्नं, भत्तेहिं पूएइ तं दाणं ।" पिं०।

अद्धाछेय-अध्वच्छेद-पुं० । आवलिकादिके, क०प्र०।पं०सं०।

अद्धाढय-अर्द्धाढक-पुं०। मगधदेशसंबन्धिनि मानविशेषे, औ०।

अद्धाण-अध्वन्-पुं० । पथि, "पुंस्यन आणो राजवच्च" ॥ ८।३।५६। इत्यनः स्थाने आणेत्यादेशः । प्रा० ।

अद्धाण-न० । प्रयाणके, " अद्धाणेहिं सुहेहिं पातरासेहिं जेणेव वाणारसी णयरी तेणेव उवागच्छइ " विपा० १ श्रु०३ अ०।

अद्धाणकप्प-अध्वकल्प-पुं० । मार्गविहरणविधौ, (स च यथा भवेत् ' विहार ' शब्दे दर्शयिष्येत) तेनास्त्वत्र-

.........................अद्धाणं अद्धाणकप्पं वोच्छामि ।
केहिं व कारणेहिं, अद्धा णो गम्म ते इणमो ॥ १ ॥
असिवे ओमोदरिए, रायदुट्ठे भए व आगाढे ।
देसुट्ठाणे अद्धा-णवे य फड्डोणगो गमणे ॥ २ ॥

उद्दहरे सुभिक्खे, अद्धाण पवज्जणं च दप्पेणं ।
दिवसादी चउ लहुगा, चउ गुरुगा कालगा होंति॥३॥
उग्गमउप्पादणए-सणाएँ जे खलु विराहिते ठाणे ।
तं निप्पएणं तस्स उ, पायच्छित्तं तु दायव्वं ॥४॥
पुढवी आऊ तेऊ, वाउ वणस्सति तसा य आणंता ।
इयरेसु परित्तेसु य, जं जहिँ आरोवणा भणिता ॥५॥
लहुओ गुरुओ लहु गुरु, चत्तारि छच्च लहुया य ।
छग्गुरु छेदो मूलं, अणवट्ठप्पोयपारंची ॥ ६॥
असिवे ओमोदरिए, रायदुट्ठे भए व आगाढे ।
गीयत्था मज्झत्था, सत्थस्स गवेसणं कुज्जा ॥ ७ ॥
कालमकालं जोती,णातूण य अद्दिवत्तिं अणुएणवणा।
मिच्छे मिच्छादिट्ठी , धम्मकहा एणमेत्ते य ॥ ८ ॥
सत्थयसमिए खंमी-परिच्छणे खलु तहेव पोग्गलिए।
धम्मकहणिमित्तेणं, वसहो पुण दव्वलिंगेणं ॥ ९॥
संथे पंथे तेणे, पंचविहो उग्गहो य दव्वाणं ।
सुएणगामे दव्व-ग्गहणं जयणाएँ गीयत्था ॥ १० ॥
तुवरे फले य पत्ते , गो महिसे सुत्तरा य हत्थी य ।
आणवमणातवे वि य , जयणाए जाणगे गहणं ॥११॥
पिप्पलगसूति आरिग-णक्खव्वणतलियपुग्गपत्ते य ।
कत्तिय कत्तरि सिक्कग-मंविदूएँ लाउ चेव वाचीय॥१२॥
पेत्तिय सेत्तिय गुलिगा-एं अगदमत्थकोसे य ।
जं वएहु व गूढकरं, गेएहइ अद्धाणकप्पम्मि ॥ १३ ॥
सीहाणुगा य पुरतो, वसभाणुमग्गतो समएणेति ।
पंथे तं पि य जंता, परेंति जा अप्पज्जत्ती ॥ १४ ॥
दंसिय मिच्छद्दिट्ठी, समुदाणे णिवारणं च णिव्विसए ।
सारूविसएण जइग-वसभा पुण दव्वलिंगेणं ॥ १५ ॥
उवकरणचरित्ताणं, विलोवणा सरीरलोवणागाढे ।
धम्मकहणिमित्तेणं, पुलागकज्जेण आगाढे ॥ १६ ॥
असिवादिकारणेहिं, अद्धाण पवज्जणं अणुएणातं ।
उवकरणपुव्वपडिले-हिएण सत्थेण गंतव्वं ॥ १७ ॥
वयंताणं अमहू, को तीण तरेज्ज गंडपादेहिं ? ।
अपरक्कमो तु तादे, तहियं तु इमे वि मग्गेज्जा ॥ १८ ॥
एगखुरएँ दुखरे, दुपिए अणुबंधि तह य अणुरंगा ।
अह जइया वि जायति, असती अणुसट्ठिमादीहिं॥१९॥
एगखुरा आसादी, दुखुरा वहादि दुपिय जड्डादी ।
अणुबंधी सकडादी, अणुरंगप्पिली तु बोधव्वा ॥२०॥
एएसु पुव्वहट्ठ-खखुरादिजातिसु सिरूपुवादी ।
असती य गुरुओ वा, जिगावेगेण कडुति तु ॥ २१ ॥
आवासियम्मि सत्थे, तस्सेव तणं वि अप्पिणंति पुणो ।
अह जणति गता संता, अणेज्जाइ वि पमंएयं ॥२२॥
मोहे य इक्कमादी, पायंदी तेसि असतिए गुहो।

लिंगविवेगं काउं, चारेंती जा गताणं ॥ २३ ॥
एवं दुक्खुरादीसु वि, जयणा आ जत्थ सा तु कायव्वा ।
सुयत्थजाणएणं, अप्पाबहुयं तु णायव्वं ॥ २४ ॥
एतेसामण्णतरं, अवगाढा णो णिसेवेज्जा ।
तट्टाणगावराहे, संवट्टियमेऽवराहाणं ॥ २५ ॥
संवट्टियाऽवराहे, तवोवरथ दो तहेव मूलं वा ।
आयारप्पकप्पे जं, पमाणणिम्माणचरिमम्मि ॥ २६ ॥
अद्धाणकप्प एसो,.............................। पं० भा०।

अस्य चूर्णिः–अद्धाणकप्पम्मि तिन्नि परिसाओ कीरति, सीह-परिसा पुरओ, वसभपरिसा मज्झओ मिगा य मज्झे,वसभा अंते। जाहे उत्तिण्णा अद्धाणं ताव न परिठवेंति; अद्धाणकप्पं० जाव अद्दपज्जत्ती, सो पुण सत्थवाहो मिच्छादिट्ठी समुद्दाणं वा निवारेज्जा धम्मकहाइ पन्नवणा, साओवियसन्नभद्दएहिं वा पन्नवेंति। अह वसभा दव्वलिंगं काऊण पण्णवेंति वा णं। गाहा-(ववकरण त्ति)सो पुण मिच्छादिट्ठी ववधारणं वा विसेवेज्जा, चरित्तसरीरमाई वा पच्छा धम्मकहाइ दुलागकज्जं करेंति,आगाढे कहं पुण गंतव्व सण्णाहिं वि ?,अह कोइ न तरइ वहितुं अतरंता। गाहा-(पगक्खुर त्ति) पच्छा वहुखुरं ममाति,सिग्घपुत्तसावओ वा णं कहुइ, असइ खुड्डओ लिंगविवेगेणं आयासियपच्चप्पिणति। अह मग्गेज्जा-तत्थ गया पच्चप्पिणिज्जाइ, ताहे लिंगविवेगेणं खुड्डे चारेइ । एव गोणेऽवि दुविहो नाम वत्थीअणुरंगा, मकरअणुवधी, वयंसा, एवं अप्पाबहुयं नाऊण । गाहा सिद्धं० जाव पमाणणिम्माणचरिमम्मि । एस अद्धाणकप्पो । पं० चू० ॥

अद्धाणगमण–अध्वगमन–न० । पथि विहरणे, "णायत्थ अद्धाणगमणे जो कप्पइ,सयरं वा जाव संदमाणियं वा दुरूहित्ताणं गच्छित्तए " औ० । स्था० ।

अद्धाणणिग्गय–अध्वनिर्गत–त्रि० । मार्गनिर्गते, व्य०८ उ० ।

अद्धाणपडिवन्न–अध्वप्रतिपन्न–त्रि०। मार्गप्रतिपन्ने,भ०२ श० १ उ०। (अन्तरापथे वर्तमाने) विहारं वा कुर्वति,वृ०। अस्य भेदाः । तद्यथा-" दूनाहिंडविहारी, ते वि य होंती सपडिवक्खा " वृ० ५ उ० ।

अद्धाणवायणा–अध्ववाचना–स्त्री० । अध्वनि मार्गे सूत्रार्थप्रदाने, व्य० १ उ० ।

अद्धाणसीसय–अध्वशीर्षक–न०। कान्तारादिनिर्गमरूपे प्रवेशरूपे, पिं० । ततः परं समुदायेन सार्थकेन सह गन्तव्यम् । तस्मिन्, व्य० ४ उ० । निर्भयमार्गान्ते, वृ०३ उ० ।

अद्धाणिय–आध्वनिक–त्रि० । पथिके, वृ० ४ उ० ।

अद्धापच्चक्खाण–अद्धाप्रत्याख्यान–न०। कालाख्यामद्धामाश्रित्य पौरुष्यादिकालमाने, आव० ६ अ० ।

एतच्च दशमं प्राग्भिसमित्थं प्रतिपादितम्—

अद्धापच्चक्खाणं, जं तं कालप्पमाणछेएणं ।
पुरिमड्ढपोरिसीए, मुहुत्तमासऽद्धमासेहिं ॥ १० ॥

अद्धाकाले प्रत्याख्यानं यद्, तत्कालप्रमाणच्छेदेन भवति पुरिमार्द्धपौरुषीभ्यां मुहूर्त्तमासार्द्धमासैरिति गाथासंक्षेपार्थः ॥१०॥ आ० चू० ६ अ० ।

भवयवार्थः पुनः—

अद्धा कालो तस्स य, पमाणमद्धं तु जं भवे तमिह ।
अद्धापच्चक्खाणं, दसमं तं पुण इमं भणियं ॥१॥

अद्धाशब्देन कालस्तावदभिधीयते, तस्य च कालस्य मुहूर्त्तपौरुष्यादिकं प्रमाणमप्युपचारात् । (अद्धं ति) अद्धां वदन्तीति शेषः । तुशब्दो अव्ययौ भिन्नक्रमश्च यथास्थानं योजित एव । ततोऽद्धापरिमाणपरिच्छिन्नं यत्प्रत्याख्यानं भवेत् तदिह अद्धाप्रत्याख्यानं दशमं पूर्वोक्तनाग्यनीतप्रत्याख्यानादीनां चरममित्यर्थः । तत्पुनरिदं वक्ष्यमाणं भणितं गणधरैरिति ॥ १ ॥

तदेवाह–

नवकारपोरिसीए, पुरिमड्ढेगासणेगठाणे च ।
आयंबिलऽभत्तट्ठे, चरिमे य अभिग्गहे विगई ॥ २ ॥

अत्र भीमसेनन्यायेन नमस्कारशब्दात् परतः सहितशब्दो द्रष्टव्यः। ततो नमस्कारश्च, कोऽर्थः ?-नमस्कारसहितं च पौरुषी च नमस्कारपौरुष्यौ,तस्मिन्,नमस्कारविषये, पौरुषीविषये चेत्यर्थः। पूर्वार्द्धं च, एकासनं च, एकस्थानं चेति समाहारे सप्तम्येकवचने,पूर्वार्द्धविषये एकासनविषये एकस्थानविषये च । तथा-आचामाम्लं च अभक्तार्थश्च आचामाम्लाभक्तार्थं, तत्र,आचामाम्लविषये उपवासविषये च । तथा-चरिमे चरमविषये । तथा-अभिग्रहे अभिग्रहविषये। तथा-(विगइ त्ति) विकृतिविषये; सप्तम्येकवचनं सुखमुच्चार्यमिति। दशभेदमिदमद्धाप्रत्याख्यानम्। नन्वेकासनादिप्रत्याख्यानं कथमद्धाप्रत्याख्यानम्, कथमत्र कालनियमः श्रूयते ?। सत्यम् । अद्धाप्रत्याख्यानपूर्वाणि प्रायेणैकासनादीनि क्रियन्ते इत्यद्धाप्रत्याख्यानत्वेन भण्यन्त इति ॥ २ ॥ प्रव० ४ द्वा० ।

अद्धापज्जाय–अद्धापर्याय–पुं०। कालकृतधर्मे,स्था०७ ठा०।

अद्धापरिविति–अद्धापरिवृत्ति–स्त्री०। कालपरावृत्तौ, "अद्धापरिवित्तीओ, पमत्त इयरं सहस्ससो किच्चा । " क० प्र०।

अद्धामीसय–अद्धामिश्रक–न० । कालविषये सत्यमृषाभेदे, यथा कस्मिंश्चित्प्रयोजने सहायांस्त्वरयन् परिणतप्राये वासर एव रजनी वर्तते इति ब्रवीतीति । स्था० १० ठा० ।

अद्धामीसिया–अद्धामिश्रिता–स्त्री० । अद्धा कालः, स चेह प्रस्तावाद् दिवसो रात्रिर्वा परिगृह्यते, संमिश्रितो यया साऽद्धामिश्रिता । सत्यमृषाभाषाभेदे,यथा-दिवसे वर्तमान एव वदति-उत्तिष्ठ रात्रिर्जातेति, रात्रौ वा वर्तमानायामुत्तिष्ठोद्गतः सूर्य इति । प्रज्ञा० ११ पद ।

अद्धारूव–अद्धारूप–त्रि० । अद्धा कालः, सैव रूपं स्वभावो यस्य तदद्धारूपम् । कालस्वभावे, पञ्चा० ५ विव० ।

अद्धावक्कति-अर्धापक्रान्ति–स्त्री० । अर्द्धस्य समप्रविभागरूपस्य एकदेशस्य वा एकादिपदात्मकस्यापक्रमणमवस्थानं, शेपस्य तु द्व्यादिपदसंघातस्यैकदेशस्यार्द्धे गमनं यस्यां रचनायां साऽर्द्धापक्रान्तिः । (समयपरिभाषया) पदत्रयमध्यादेकदेशाऽपक्रान्तौ, विशे० ।

अद्धासमय–अद्धासमय–पुं० । अद्धा कालः, तल्लक्षणः समयः क्षणोऽद्धासमयः। भ०२ श०१० उ०। अद्धायाः समयो निर्विभागो

अध [इ] रिम-अधरिम-त्रि० । अविद्यमानं धरिममृणद्रव्यं यस्मिँस्तत्तथा । ज्ञा० १अ० । विपा० । उत्तमर्णाधमर्णाभ्यां परस्परं तदृणार्थं न विवदनीयं, किन्तु असमत्पार्श्वे शुल्कं गृहीत्वा ऋणमुत्कलनीयमिति राजाज्ञाविशिष्टे नगरादौ, जं० ३ वक्ष० । विपा० ।

अध [इ] री-अधरी-स्त्री० । पेषणशिलायाम , " अध(ह)रीसंठाणसंठिया दो वि तस्स पाया " उपा० १ अ० ।

अध [इ] रीलोढ-अधरीलोष्ट्र-पुं० । शिलापुत्रके, " अधरीलोट्टसंठाणसंठिआओ पायस्स अंगुलीओ " उपा० १ अ० ।

अध (ह) रुड-अधरोष्ठ-न० । द्व० स० । हृस्वः संयोगे दीर्घस्य" । ८ । १ । ८४ । इति सूत्रेण ओतो हृस्वः । प्रा० । उपरिस्थाधःस्थोष्ठयुग्मे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । अधस्तनदन्तच्छदे, " ओयवियसिलप्पवालविंबफलसंनिभाधरुट्ठा " जं० ।

अध [इ] व [वा]-अथवा-अव्य० । विकल्पे, नि० चू० १० उ० ।

अधारणिज्ज-अधारणीय-त्रि० । अविद्यमानो धारणीयोऽधमर्णो यस्मिँस्तत्तथा । ज्ञा० १ अ० । अविद्यमानाधमर्णे पुरादौ, विपा० १ श्रु० ३ अ० । आत्मनो धारयितुमशक्ये , भ० ७ श० ६ उ० । अयापनीये, यापनां कर्त्तुमात्मनोऽशक्ये च । ज्ञा० ८ अ० । विपा० । जं० ।

अधि [हि]-अधि-अव्य० । आधिक्ये, भ० १ श० १ उ० ।

अधि [हि] इ-अधृति-स्त्री० । धृतेरभावे, "तो तुमे पिया एवं वसणं पाविओ तस्स अधिइ जाया सुणिज्जओ चेव उद्धायलोहदंडग्गहा य विवडराणि भंजामि " आव० ४ अ० ।

अधि [हि] ग-अधिक-त्रि० । अत्यर्थे, वृ० १ उ० ।

अधि (हि) गम-अधिगम-पुं० । अधिगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते पदार्था येन सोऽधिगमः । आव० ३ अ० । गुरूपदेशजे यथावस्थितपदार्थपरिच्छेदे , एष सम्यक्त्वस्य हेतुविशेषः । निसर्गाद्वाऽधिगमतो जायते । तच्च पञ्चधा-औपशमिकं १ क्षायिकं २ क्षायोपशमिकं ३ वेदकं ४ सास्वादनं च ५ ॥ ध०२अधि० । "जुगवं पि समुप्पन्नं, सम्मत्तं अहिगमं विसोहेइ" आव०३अ० । " गुरूपदेशमालम्ब्य, सर्वेषामपि देहिनाम् । यत्तु सम्यक् श्रद्धानं तत् , स्यादधिगमजं परम् " ॥ १ ॥ " जीवादीणमधिगमो , मिच्छत्तस्स खओवसमभावे । अधिगमसम्मं जीवो , पावेइ विसुद्धपरिणामो " ॥ ध० २ अधि० ।

अधि [भि] [हि] गमरुइ-अधि [भि] गमरुचि-पुं० स्त्री० । अधिगमो विशिष्टं परिज्ञानं,तेन रुचिः जिनप्रणीततत्त्वाभिप्रायरूपा यस्यासावधिगमरुचिः । प्रव० १४६ द्वा० । सरागदर्शनार्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

तत्स्वरूपं च-

सो होइ अभिगमरुई , सुअनाणं जस्स अत्थओ दिट्ठं ।
एक्कारस अंगाइं, पइण्णगा दिट्ठिवाओ य ॥

यस्य श्रुतज्ञानमर्थतो दृष्टं, किमुक्तं भवति ?, येन श्रुतज्ञानस्यार्थोऽधिगतो भवतीति । किं पुनस्तच्छ्रुतज्ञानम् ? इत्याह-(एक्कारस अंगाइं ति) एकादशाङ्गानि आचाराङ्गादीनि, प्रकीर्णकान्युत्तराध्ययननन्द्यध्ययनादीनि , दृष्टिवादः परिकर्मसूत्राद्यङ्गत्वेऽपि पृथगुपादानमस्य प्राधान्यख्यापनार्थम् । चशब्दादुपाङ्गानि चौपपातिकादीनि, स भवत्यधिगमरुचिः॥ प्रव० १४९ द्वा० । स्था० । अर्हतः सकलसूत्रविषयिण्यां रुचौ , ध० २ अधि० ।

अधि [भि] गमसम्मदंसण-अधिगमसम्यग्दर्शन-न० । ३ठा० । गुरूपदेशादिजन्ये सम्यग्दर्शनभेदे, यथा भरतस्य । " अभिगमसम्मदंसणे, दुविहे पण्णत्ते । पडिवाई चेव , अपडिवाई चेव ।" प्रतिपतनं शीलं प्रतिपाति, सम्यग्दर्शनमौपशमिकं,क्षायोपशमिकं वा । अप्रतिपाति क्षायिकम् । स्था० २ ठा० १ उ० ।

अधि (हि) गय-अधिकृत-न० । अधि-कृ-भावे-क्त । अधिकारे, दश० १ अ० ।

अधिगत-त्रि० । प्राप्ते , उत्त० १० अ० । विज्ञाते , व्य० २ उ० । पञ्चा० ।

अधि (हि) गरण-अधिकरण-न० । अधिक्रियतेऽस्मिन्निति अधिकरणम् । आधारे , यथा चक्रमस्तके घटः । नि० चू० १ उ० । अधिक्रियते नरकगतियोग्यतां प्राप्यते आत्माऽनेनेत्यधिकरणम् । कलहे , प्राभृते च । वृ० १ उ० । स० ।

(१) अधिकरणनिरुक्तानि समानार्थकानि च ।
(२) अधिकरणनिक्षेपः ।
(३) अधिकरणं न करणीयम् ।
(४) कृत्वा तु व्युपशमनीयम् ।
(५) अधिकरणोत्पत्तिकारणानि ।
(६) उत्पन्ने च व्युपशमनीयमेव नोपेक्षणीयम् ।
(७) भावनिक्षेपः ।
(८) अधिकरणं कृत्वाऽन्यगणसंक्रान्तिर्न कर्त्तव्या ।
(९) गच्छादनिर्गतस्याधिकरणे समुत्पन्ने विधिः ।
(१०) खरपरुषाणि भणित्वा गच्छान्निर्गच्छतो विधिः ।
(११) गृहस्थैः सहाधिकरणं कृत्वाऽव्यवशमय्य पिण्डग्रहणादि न कार्यम् ।
(१२) अनुत्पन्नमधिकरणमुत्पादयति ।
(१३) कारणे सत्युत्पादयेत् ।
(१४) पुराणान्यधिकरणानि क्षान्तव्युपशमितानि पुनरुदीरणम् ।
(१५) निर्ग्रन्थैर्व्यतिकृष्टमधिकरणं नोपशमनीयम् ।
(१६) निर्ग्रन्थीनिर्व्यतिकृष्टमधिकरणं व्युपशमनीयम् ।
(१७) साधिकरणेनाकृतप्रायश्चित्तेन सह न संभोगः कार्यः ।
(१८) अधिकरण्यधिकरणनिरूपणम् ।

(१) इमे अधिकरणनिरुक्ता, पर्यायाः च-

अहिकरणमहोकरणं, अहरगतीगाहणं अहोतरणं ।
अप्पितिकरणं च तहा, अहीकरणं च अहिकरणं ॥१६९॥

भावाधिकरणं कर्म बन्धकारणमित्यर्थः । अथवा-अधिकं अतिरिक्तं प्रसूतं करणं अधिकरणम् । अधो अधस्तात् आत्मनः करणम् । अधरा अधमा जघन्या गतिस्तामात्मानं ग्राहयतीति । अधो अधस्ताद्रत्नादृभूमि पृष्ठनिश्रेण्यामि वा । न धृतिररतिरित्यर्थः, अस्याः करणम् । अधीरस्य असत्त्ववतः करणं अधिकरणम् । अथवा-अधी. अबुद्धिमान् पुरुषः स तं करोति, इत्यधिकरणम् ।

सो अधिकरणो दुविधो, सपक्खपरपक्खतो य नायव्वो ।

एक्केको वि य दुविहो, गच्छगतो णिग्गतो चेव ॥ १६६ ॥

साधिकरणे साधु द्विविधेन अधिकरणेन भवति,तं चिमं द्विविधं-सपक्खाधिकरणं,परपक्खाधिकरणं च । सपक्खाधिकरणकारी गच्छगतो, गच्छणिग्गतो वा , एवं परपक्खसाधिकरणे वि दुविधं । नि० चू० १० उ० ।

(२) अस्य निक्षेपस्थित्यर्थं निर्युक्तिरदाह-

नामं ठवणा दविए, भावे य चउव्विहं तु अहिगरणं ।
दव्वम्मि जंतमादी , भावे उदओ कसायाणं ॥

नामाधिकरणं,स्थापनाधिकरणं, द्रव्याधिकरणं, भावाधिकरणं चेति चतुर्विधमधिकरणम् । तत्र नामस्थापने गतार्थे, द्रव्याधिकरणम्-आगमतो,नो आगमतश्च । आगमतो-अधिकरणशब्दार्थनिरूपणेषु प्रवृत्तं यत्ता,नो आगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तम् । द्रव्याधिकरणे यन्त्रादिकं द्रष्टव्यम्, यन्त्रं नाम हलशकटा-दि । भावे भावाधिकरणे कषायाणां क्रोधादीनां उदयो विज्ञेयः।

तत्र द्रव्याधिकरणं व्याख्यानयति-

दव्वम्मि उ अधिकरणं, चउव्विहं होइ आणुपुव्वीए ।
निव्वत्तण निक्खवणे, संजोयण निसिरणे य तहा ॥

द्रव्ये द्रव्यविषयमधिकरणं चतुर्विधं भवत्यानुपूर्व्या परिपाटया । तद्यथा-निर्वर्तनाधिकरणं,निक्षेपणाधिकरणं, संयोजनाधिकरणं, निसर्जनाधिकरणं च । बृ० १ उ० ।

निर्वर्तनाधिकरणं द्विविधं-मूलकरणं, उत्तरकरणं च । तत्र मूलनिर्वर्तनाधिकरणं चतुर्विधं भवति-

पढमं पंच सरीरा, संघायणमादणं य उलए वा ।
परिसाडणा य साडण, अहवा अविही य णिव्वत्तणा ॥२३५॥

(पढमं ति) निर्वर्तनाधिकरणे पंच शरीराणि ओरालियादीनि, संघातनकरणं साडनकरणं च । एवं चतुर्विधं मूलकरणं ॥२३५॥

पुनः निर्वर्तनाधिकरणमेवं भवति-

णिव्वत्तणा य दुविहा, मूलगुणे चा वि उत्तरगुणे य ।
मूले पंच सरीरा, सेसु ते संजणा तम्मि ॥ २३६ ॥

निर्वर्तनाधिकरणं द्विविधं-मूलगुणनिर्वर्तनाधिकरणं, उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरणं च । मूले ओरालियादीनि पंच शरीराणि । [illegible] सर्वे [illegible] संयोजना [illegible] ॥ २३६ ॥

[illegible] य [illegible] य [illegible] य [illegible] आहारं ।
[illegible] [illegible] य [illegible] तु ॥ २३७ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible] ॥ २३८ ॥

[illegible]

लेण जहा तवितमायसं जले पक्खित्तं,पढमसमए एगंतेण सातणं करेति, बितिआदिसमएसु गहणं मुंचइ य । एवं ओरालियादिसरीरेसु पढमसमए गहणमेव करेति, बितिआदिसमएसु संघातपरिसाडो,तेयगकम्माणं सव्वकालं न संघातपरिसाडो, अनादित्वात् । पंचण्हं वि अन्ने सव्वसाडो। अहवा एहं ओरालियविउव्वियआहारगाणं मूलंगकरणा अट्ठ-सिरो, उदरं,पुट्ठी,दो बाहाओ, दोण्णि य ऊरू, सेसं उत्तरकरणं। अहवा तिसु आइल्लेसु ओरालादी,उत्तरकरणं [illegible],संघकरणं [illegible] लादिघृतादिना यत्नकरणं । अथवा इमं चउव्विहं सव्वकरणं संघायकरणं परिसाडणाकरणं ॥ २३९ ॥

संघाय परिसाडणा, य मीसे तहे व पडिसेहे ।
पडसंखसगडादी, उट्ठति रित्थाणुकरणं तु ॥ २४० ॥

परिसाडणाकरणं, तत्थ ओरालिय एगिंदियादि पंचविधं, जोणी पाहुडादिणा । जहा सिद्धसेणायरिएण अस्सए [illegible] जहा वा एगेण आयरिएण सीसस्स उवदिट्ठो जोगो जहा [illegible] सो भवति,तं च सुयं आयरियस्स भाइणिज्जेण,सो य णिग्गओ [illegible] उ णिक्खंतो माहिसं उप्पादेउं सोयरियाण हत्थे विक्किणइ । आयरिएण सुयं, तत्थ गतो भणाति-किं ते एएण ?,अहं ते रयणं [illegible] पयच्छामि । दव्वे आहराहि । तं य आहरित्ता आयरिएण [illegible] तिता,एगते णिक्खित्ता भणितो-एत्तिएण कालेण उक्खणेज्जासि, अहं गच्छामि । तेण उक्खित्तो दिट्ठो विसो सप्पो जातो । सो [illegible] मारितो, अधिकरणच्छेओ,सो वि सप्पो अंतो मुहुत्तेण मतो । एवं जो णिव्वत्तेइ सरीरं तं आधिकरणकहं,जतो सुत्ते भणितं 'जीवेणं भंते ! ओरालियसरीरं णिव्वत्तेमाणे किं अधिकरणी ? अधिकरणी जीवो,आधिकरणी सरीरं,आधिकरणं णिव्वत्तणाधिकरणं ॥ णिव्वत्तणाधिकरणं गतं ॥ नि० चू० ४ उ० ।

निक्षेपणाधिकरणं द्विधा-लौकिकं,लोकोत्तरिकं च । तत्र [illegible] स्यग्रहणार्थं गलमांसं मोदकसहितो कुण्डं वा मृगादीनां [illegible] णाय जालं वा, लावकादीनामर्थाय निक्षिप्यते धान्यादीनि [illegible] घट्टादीनि वा यन्त्राणि स्थाप्यन्ते,तदेतल्लौकिकं निक्षेपणाधिकरणम् । यत्तु लोकोत्तरिकं तत्र षडविधम्-यत्र पात्रादिकं [illegible] निक्षिपति तत्र न प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयति १, न प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयति २, प्रत्युपेक्षते न प्रमार्जयति ३, प्रत्युपेक्षते प्रमार्जयति [illegible] दुःप्रत्युपेक्षितं ४, दुःप्रत्युपेक्षितं सुप्रमार्जितम् ५, सुप्रत्युपेक्षितं सुप्रमार्जितं ६ करोति । एतेषु पञ्चसु निक्षेपणाधिकरणम् । यस्तु सप्तमो भङ्गः सुप्रत्युपेक्षितं सुप्रमार्जितं करोति [illegible] लक्षणः, स नाधिकरणं; शुद्धत्वात् । यथा-यद् नाम [illegible] [illegible] स्थापयति तदिदं निक्षेपणाधिकरणम् । बृ० १ उ० ।

इयाणि संजोयणा, सा दुविहा-लोइया, लाउत्तरिया य ।
लोइया अणेगविहा-

विसगरमादी लोए, लोउत्तर भत्तोवहिमादीसु ।
संजोयइ आहारे, सिज्जविधा णिग्गता उवरिं ॥२४२॥
[illegible] णिगिरणा-लोगम्मि पयादणा जोगे ।
मूलादि सार भणियं, अहवा वी अ अति कुणति ॥२४३॥
नि० चू० ४ उ० ।

[illegible] निसिरण-[illegible] । तत्र [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible]

[illegible] । बृ० १ उ० ।

[illegible]

(४) [illegible]—

जिहन्न य अहिगरणं कट्टु अहिगरणं विउसविता वि ओसवणयाइहं; इच्छाए परो आढाइज्जा, [इच्छाए परो नो आढाइज्जा,] इच्छाए परो अब्भुट्टेज्जा, [इच्छाए परो नो अब्भुट्टेज्जा,] इच्छाए परो वंदिज्जा, इच्छाए परो नो वंदिज्जा, इच्छाए परो संभुंजिज्जा, इच्छाए परो नो संभुंजिज्जा, इच्छाए परो संवसिज्जा, इच्छाए परो नो संवसिज्जा, इच्छाए परो उवसमिज्जा; जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा, जो न उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा । तम्हा अप्पणा चेव उवसमियव्वं से किमाहु भंते ! ; उवसमसारं सामण्णं ॥

[illegible]

क्षामितं विनाशमितं, विनाशितं क्षपितमिति च एकार्थानि पदानि भवन्ति। तथा-प्राभृतं प्रहेणकं प्रणयनमिति वा श्रीएयप्येकार्थानि। तानि तु प्राभृतादीनि नरकस्य मन्तव्यानि। यत एतदधिकरणं नरकस्य सामन्तकादेशप्राभृतमुच्यते। एवं प्रहेणकप्रणयनपदे अभिलापनीये।

इच्छा न जिणादेसो, आढा उ ण आदरो जहा पुव्विं।
संभुंजण वास मणुन्ने, सेस मणुन्ने च इतरे वा ॥

इच्छा नाम जिनादेशसमर्थिकृतामुपदेशोऽयमिति कृत्वा नादरादीनि पदानि करोति, किं त्वसच्छन्देन। तथा आढा नाम आदरस्तं यथा पूर्वमुचितालापादिभिः कृतवाँस्तथा कुर्याद्वा न वा; शेषाणि त्वभ्युत्थानादीनि सुगमानीतिकृत्वा भाष्यकृता न व्याख्यातानि। अत्र च संभोजनसंवासनपदे मनोज्ञेषु सांभोगिकेषु भवतः, शेषाणि त्वादराभ्युत्थानवन्दनोपशमनपदानि मनोज्ञेषु वा सांभोगिकेषु, इतरेषु वा असांभोगिकेषु भवेयुः। कृता भाष्यकृता विषमपदव्याख्या। बृ० १ उ०।

(५) अधिकरणोत्पत्तिकारणानि—

अथ कथं तदुत्पद्यते ? इत्याशङ्कावकाशमवलोक्य तदुत्थानकारणानि दर्शयति–

सचित्ते य अचित्ते, मीसवओगयपरिहारदेसकहा।
सम्मं णाउट्टन्ते, अहिगरणमओ समुप्पज्जे ॥

सचित्ते शैक्षादौ, अचित्ते वस्त्रपात्रादौ, मिश्रके स्वभाण्डमात्रकोपकरणैः शिक्षादौ, अनासेव्ये अपरेण गृह्यमाणे, तथा वचोगतं स्खलितमेडितादि। तत्र चाविधीयमाने परिहारः स्थापना, तदुपलक्षितानि यानि कुलानि तेषु प्रवेशे क्रियमाणे देशकथायां वा विधीयमानायां एतेषु स्थानेषु प्रतिनोदितो यदि सम्यग् नावर्तते न प्रतिपद्यते; अतोऽधिकरणमुत्पद्यत इति निर्युक्तिगाथासमासार्थः।

अथैनामेव विवृणोति–

आभव्यमदेमाणे, गिण्हंते तहेव मग्गमाणे य।
सचित्तेतरमीसे, वितहपडिवत्तिओ कलहो ॥

आभाव्यं नाम शैक्षं, शैक्षः कस्याप्याचार्यस्योपसंस्थे, प्रव्रज्यां गृह्णामीति। तमुपस्थितं मन्था विपरिणमय्य परः कश्चिदाचार्यो गृह्णाति। ततो मूलाचार्यो ब्रवीति–किमिति मदीयमाभाव्यं गृह्णासि ?। पूर्वगृहीतं वा शैक्षादिकं याचितो मदीयमाभाव्यं किं न प्रयच्छसीति ?। एवमाभाव्यं सचित्तमचित्तं मिश्रं वा तस्कात्पूर्वमानं पूर्वगृहीतं वा मार्गमाणमपि यदा वितथप्रतिपन्नो न ददाति तदा सकलहो भवति। वितथप्रतिपत्तिर्नाम परस्याभाव्यमपि शैक्षादिकमनाभाव्यतया प्रतिपद्यते।

वचोगतद्वारमाह–

वेवामेलण सुत्ते, देसीभासा पवंचणे चेव।
अन्नम्मि य वत्तव्वे, हीणाहियअक्खरे चेव ॥

[illegible]

शानां भाषातोऽन्यत्र देशान्तरे भाष्यमाण उपहस्यते, उपहस्यमानश्च संघर्षं करोति। यद्वा-प्रपञ्चनं वचनानुकारेण वा करोति, ततः प्रपञ्च्यमानः साधुना सहाधिकरणमुत्पद्यते। अन्यस्मिन् वा वक्तव्ये कोऽप्यन्यद्भणति। यद्वा–हीनाक्षरमधिकाक्षरं वा पदं वक्ति। तत्र हीनाक्षरं भास्कर इति वक्तव्ये भाकर इति वक्ति। अधिकाक्षरं सुवर्णमिति वक्तव्ये सुसुवर्णमिति ब्रवीति।

परिहारद्वारमाह—

परिहारियमठविंते, ठवियमणट्ठाए णिव्विसंते वा।
कुच्छियकुले य पविसइ, वा मउ णाउट्टणे कलहो ॥

गुरुग्लानबालादीनां यत्र प्रायोग्यं लभ्यते तानि कुलानि पारिहारिकाण्युच्यन्ते, एकं गीतार्थसंघाटकं मुक्त्वा शेषसंघाटकानां परिहारमर्हन्तीति व्युत्पत्तेः। तानि यदि न स्थापयति, स्थापितानि वा अनर्थं निष्कारणं निर्विशति, प्रविशतीत्यर्थः। यद्वा–पारिहारिकाणि नाम कुत्सितानि जात्यादिजुगुप्सितानीति भावः। तेषु कुलेषु प्रविशति। एतेषु स्थानेषु यदि नावर्तते न वा तेषु प्रवेशादुपरमते ततः कलहो भवति।

देशकथा—

देसकहा परिकहणे, एक्के एक्के व देसरागम्मि।
सोरट्ठदेस एगे, दाहिण बीयम्मि अहिगरणं ॥

न वर्तते साधूनामीदृशीं कथां कथयितुम्। स प्राह–कोऽसि त्वं ?, येनैवं मां वारयसि। तथाऽप्यस्थिते अनुपरते सत्यधिकरणं भवति। यद्वा–(एक्केक्के व देसरागम्मि त्ति) एकः साधुः सुराष्ट्रं वर्णयति, यथा रमणीयः सुराष्ट्रो विषयः। द्वितीयः प्राह–कूपमण्डूक ! त्वं किं जानासि ?, दक्षिणापथ एव प्रधानो देशः। एवमेकैकदेशरागेणोत्तरप्रत्युत्तरिकं कुर्वाणयोरधिकरणं भवति। बृ० १ उ०। नि० चू०।

(६) उत्पन्ने च व्युपशमनीयमेव नोपेक्षणीयम्–

एवमुत्पन्ने अधिकरणे किं कर्तव्यम् ?, इत्याह—

जो जस्स उ उवसमई, विज्झवणं तस्स तेण कायव्वं।
जो उ उवेहं कुज्जा, आवज्जइ मासियं लहुगं ॥

यः साधुर्यस्य साधोः प्रज्ञापनया उपशाम्यति तस्य तेन साधुना विध्यापनं क्रोधाग्निनिर्वापणं कर्तव्यम्। यः पुनः साधुरुपेक्षां कुर्यात् स आपद्यते मासिकं लघुकम्।

लहुओ उ उवेहाए, गुरुओ सो चेव उवहसंतस्स।
उत्तुयमाणा लहुगा, सहायगत्ते सरिसदोसा ॥

उपेक्षां कुर्वाणस्य लघुको मासः; उपहसत एव मासो गुरुकः। अथ उत्तुयवचनेन तुदति अधिकरणं करोति, विशेषत उत्तेजयतीत्यर्थः। ततश्चत्वारो लघुकाः। अथ कलहं कुर्वतः सहायकत्वं साहाय्यं करोति, ततोऽसावधिकरणकृता सह सदृशदोष इति कृत्वा सदृशं प्रायश्चित्तमापद्यते, चतुर्गुरुकमित्यर्थः।

तथा चाऽऽह—

एउरो चउगुरु अहवा, विसेसिया होंति भिक्खुमाईणं।
अहवा चउगुरुगाई, हवंति उ छेदनिट्ठवणा ॥

भिक्षुवृषभोपाध्यायाचार्याणामधिकरणं कुर्वतां प्रत्येकं चतुर्गुरुकम्, तच्च तपःकालाभ्यां विशेषितम्। अथवा त एव चतुर्गुरवः

तप:कालविशेषिता भवन्ति । तद्यथा-भिक्षोश्चतुर्गुरुकं तपसा, कालेन च लघुकम् । वृषभस्य तदेव कालगुरुकम् । उपाध्यायस्य तपोगुरुकम् । आचार्यस्य तपसा कालेन च गुरुकम् । अथवा चतुर्गुरुकादारभ्य छेदं निष्ठापना कर्तव्या । तद्यथा-भिक्षुरधिकरणं करोति चेत् चतुर्गुरुकम् । वृषभस्य षड्लघुकम् । उपाध्यायस्य षड्गुरुकम् । आचार्यस्याधिकरणं कुर्वाणस्य छेद इति । यथा चाऽधिकरणकरणे आदेशद्वयेन प्रायश्चित्तमुक्तम्, तथा साहाय्यकरणेऽपि द्रष्टव्यम्; समानदोषत्वात् ।

अथोपेक्षाव्याख्यानमाह-

परपत्तिया न किरिया, मोत्तु परहं च जयसु आयहे ।
अवि य उवेहा वुत्ता, गुणो वि दोसो हवइ एवं ॥

इहाधिकरणं कुर्वतो दृष्ट्वा मध्यस्थभावेन तिष्ठति, नाप्येषामप्युपदेशं प्रयच्छति । यतः परप्रत्यया या क्रिया कर्मसंबन्धः सा अस्माकं न भवति, परकृतस्य कर्मण आत्मनि संक्रमाभावात् । तथा यद्येतावधिकरणादुपशाम्येते, ततः परार्थकृतो भवति । तं च परार्थं मुक्त्वा यदि मोक्षार्थिनस्तत आत्मार्थ एव स्वाध्यायादिके यतध्व यत्नं कुरुत । अपि चेदमन्यदुच्यते । ओघनिर्युक्तिशास्त्रेऽप्युपेक्षा संयमाङ्गतया प्रोक्ता-" उवेहा संजमो वुत्तो " इति वचनात् । यद्वा-मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु मध्ये स्थापयन् या उपेक्षा प्रोक्ता ततः सैव साधूनां कर्तुमुचितेति भावः । अत्र सूरिराह—(गुणो वि दोसो हवइ) यदिदमविनेयेषु माध्यस्थ्यमुपदिष्टं तत् संयतापेक्षया, न पुनः संयतानङ्गीकृत्य; यस्मादसंयतेष्वियमुपेक्षा क्रियमाणा गुणः, संयतेषु क्रियमाणा महान् दोषो भवति । उक्तं चौघनिर्युक्तावपि-" संजयगिहचोयणाचोयणे य वावार उवेहा ।

अथ 'परपत्तिया न किरिय त्ति' पदं भावयति-

जइ परो पडिसेविज्जा, पावियं पडिसेवणं ।
मज्झ मोणं चरंतस्स, के अट्ठे परिहायई ? ॥

यदि पर आत्मव्यतिरिक्तः पापिकामकुशलकर्मोपाधिकरणादिकां प्रतिसेवनां प्रतिसेवते ततो मम मौनमाचरतः को नाम ज्ञानादीनां मध्यादर्थः परिहीयते ?, न कोऽपीत्यर्थः ॥

अथ 'मोत्तु परट्ठं च जयसु आयट्ठे' इति पदं व्याचष्टे—

आयट्ठे उवउत्ता, मा परट्ठ वावडा होह ।
इंदि परट्ठाउत्ता, आयट्ठविणासगा होंति ॥

आत्मार्थो नाम ज्ञानदर्शनचारित्ररूपं पारमार्थिकं स्वकार्यम्, तत्रोपयुक्ता भवत । मा परकार्ये अधिकरणोपशमनादौ व्यापृता भवत । इंदीति हेतुप्रदर्शने, यस्मात्परार्थायुक्ता आत्मार्थविनाशकाः स्वाध्यायध्यानाद्यात्मकार्यपरिमन्थकारिणो भवन्ति ।

अथोपहसनोत्तेजनाद्वारे युगपद् व्याचष्टे-

एसो वि ताव दमयतु, हसइ व तस्सोमयाए ओहमणा ।
उत्तरदाणं तह मो-सराहि अह होइ उत्तभणा ॥

द्वयोरधिकरणं कुर्वतोरेकस्मिन् सीदति सति आचार्योऽन्यो वा ब्रवीति-एषोऽपि तावदद्दान्तपूर्व, दम्यतामिदानीमनेन, यदि वा तस्यावमतायाः, पश्चात्करणे इत्यर्थः ; स्वयमट्टहासेनोपहसति, एतदुपहसनमुच्यते । तथा तयोर्मध्याद्यः सीदति तस्योत्तरदा-

मम-अमुकममुकं च ब्रूहि इत्येवं शिक्षापणम्, यद्वा-मा अमुष्मादपसर त्वं, दृढीभूय तथा लग यथा न तेन पराजीयसे । अयमेव उत्तेजनाऽभिधीयते ॥

अथ साहाय्यकरणं व्याख्यानयति-

वायाए हत्थेहिं, पाएहिँ व दंतलउडमादीहिं ।
जो कुणइ सहायत्तं, समाणदोसं तयं बिंति ॥

द्वयोः कलहायमानयोर्मध्यादेकस्य पक्षं कृत्वा यः कोऽपि वाचा हस्ताभ्यां वा पद्भ्यां वा दन्तैर्वा लगुडादिभिर्वा साहाय्यं करोति, तं तेनाधिकरणकारिणा सह समानदोषं तीर्थकरादयो ब्रुवते ।

अथाचार्याणामुपेक्षां कुर्वाणानां सामान्येन वा अधिकरणे अनुपशाम्यमाने दोषदर्शनार्थमिदमुदाहरणमुच्यते—

अरन्नमज्झे एगं सव्वतो वणसंडमंडियं महंतं सरं अत्थि । तत्थ य बहूणि जलचरथलचरखहचरसत्ताणि अच्छंति । तत्थ एगं महल्लं हत्थिजूहं परिवसइ, अन्नया य गिम्हकाले तं हत्थिजूहं पाणियं पाउं पहाउत्तिण्णं मज्झण्हदेसकाले सीयलरुक्खच्छायाए सुहं सुहेणं चिट्ठइ । तत्थ य अदूरदेसे दो सरडा भंडिउमारद्धा । वणदेवयाए अंते दट्ठुं सव्वेसिं सन्नासाए आघोसियं-

"नागा ! वा जलवासीया !, सुणेह तसथावरा ! ।
सरडा जत्थ भंडंति, अभावो परियत्तइ" ॥ १ ॥

ता मा एते सरडे उवेक्खह, वारेह तुब्भे । एवं जाणिया वि ते जलचरा इणो चिंतेंति-किं अम्हं एते सरडा भंडंता काहिंति? । तत्थ य एगो सरडो तो पिल्लितो सो धाडिज्जंतो सुहपसुत्तस्स एगस्स जूहाहिवस्स विलं ति काउं नासापुडं पविट्ठो । बिइओ वि तस्स पिट्ठओ चेव पविट्ठो; ते सिरकपाले जुज्झं संपलग्गा । तस्स हत्थिस्स महती अरई जाया । तओ वेयणट्टे मेहइए असमाहीए वट्टमाणो उट्ठेत्ता तं वणसंडं चूरेइ । बहवे तत्थ विस्संता घाइया, जलं च आडोहितेण जलचरा घाइया, तलागपाली य भेइया, तडागं विणट्ठं, ताहे जलचरा सव्वे वि णट्ठा ।

भो नागा हस्तिनः ! जलवासिनो मत्स्यकच्छपादय ! अपरे च ये त्रसा मृगपशुपक्षिप्रभृतयः ! स्थावराश्च सहकारादयो वृक्षाः !, एते सर्वेऽपि यूयं शृणुत मदीयं वचनम्-यत्र सरसि सरटौ भण्डन'-कलहं कुरुतः; तस्याभावः परिवर्तते, विनाशः संभाव्यत इति भावः ।

अमुमेवार्थमाह-

वणसंडसरे जलथल-खहचरवीसमण देवयाकहणं ।
वारेह सरडुवेक्खण, धाडण गयनास चूरणया ॥

वनखण्डमण्डिते सरसि जलस्थलखचराणां विश्रमणं, तत्र सरटभण्डनं दृष्ट्वा वनदेवतया, 'नागा वा जलवासीया' इत्यादि श्लोककथनं कृत्वा वारयत सरटौ कलहायमानावित्युपदिष्टम् । ततश्च तैर्नागादिभि सरटयोरुपेक्षण कृतम्, एकस्य च सरटस्य द्वितीयेन धाटनं कृतं, ततोऽसौ धाट्यमानो गजनासापुटं प्रविष्टवान् । तत्पृष्ठतो द्वितीयोऽ-

[illegible]

[illegible] मा[illegible] महापुण्वि ।
[illegible] ॥

[illegible]

थानां मायातोऽन्यत्र देशान्तरे भाष्यमाण उपहस्यते, उपहस्य-मानश्च संसकं करोति । यद्वा-प्रवश्रुतं वचनानुसारेण वा करोति, ततः प्रपहस्यमानः साधुना सहाधिकरणमुत्पद्यते । [illegible] कोऽप्यन्यद्वक्ति । यद्वा-हीनाक्षरमधिकाक्षरं वा वदति । तत्र हीनाक्षरं भास्कर इति वक्तव्ये भाकर इति वक्ति । [illegible]धिकाक्षरं सुवर्णमिति वक्तव्ये सुसुवर्णमिति भणति ।

परिहारकद्वारमाह—

परिहारियपडरिके, ठवियमणुण्णाएँ णिव्विसंते वा ।
कुच्छियकुले य पविसइ, वा जइ पाउहणे कलहो ।

गुरुग्लानबालादीनां यत्र प्रायोग्यं लभ्यते तानि कुलानि परि-हारिकाण्युच्यन्ते, [illegible] परिहारमर्हन्तीति व्युत्पत्तेः । तानि यदि न स्थापयति, स्थापितानि वा भवर्थ निष्कारणं निर्विशति, प्रविशति इत्यर्थः । यद्वा-पारिहारिकाणि नाम कुत्सितानि [illegible] भावः । तेषु कुलेषु प्रविशति । एतेषु स्थानेषु यदि [illegible] वा तेषु प्रवेशादुपरमते ततः कलहो भवति ।

देशकथा—

देसकहा परिकहणे, एके एके व देसरागम्मि ।
सोरट्ठदेस एगे, दाहिण वीयम्मि अहिगरणं ।

स एषेन साधूनामीदृशी कथां कथयितुम् । [illegible] येनैव मां वारयसि । तथाऽस्थापिते मनुष्ये [illegible] भवति । यद्वा-(एकेक य देसरागम्मि त्ति) एकः साधुः [illegible] वर्णयति, यथा [illegible] । द्वितीयः [illegible] [illegible] त्वं किं जानासि ?, [illegible] एवमेव [illegible] अधिकरणं भवेत् । बृ० १ उ० । नि० चू० ।

(५) [illegible] किं कर्त्तव्यम् ?, इत्याह—

[illegible] ॥

[illegible]

तप:कालविशेषिता भवन्ति । तद्यथा-भिक्षोश्चतुर्गुरुकं तपसा, कालेन च लघुकम् । वृषभस्य तदेव कालगुरुकम् । उपाध्यायस्य तपोगुरुकम् । आचार्यस्य तपसा कालेन च गुरुकम् । अथवा चतुर्गुरुकादारभ्य छेदं निष्ठापना कर्तव्या । तद्यथा-भिक्षुरधिकरणं करोति तेन चतुर्गुरुकम् । वृषभस्य षड्लघुकम् । उपाध्यायस्य षड्गुरुकम् । आचार्यस्याधिकरणं कुर्वाणस्य छेद इति । यथा चाऽधिकरणकरणे आदेशद्वयेन प्रायश्चित्तमुक्तम्, तथा साहाय्यकरणेऽपि द्रष्टव्यम्; समानदोषत्वात् ।

अथोपेक्षाव्याख्यानमाह-

परपत्तिया न किरिया, मोत्तु परट्ठं च जयसु आयट्ठे ।
अवि य उवेहा वुत्ता, गुणो वि दोसो हवइ एवं ॥

इहाधिकरणं कुर्वतो दृष्ट्वा मध्यस्थभावेन तिष्ठति, नान्येषामप्युपदेशं प्रयच्छति । यतः परप्रत्यया या क्रिया कर्मसंबन्धः सा अस्माकं न भवति, परकृतस्य कर्मण आत्मनि संक्रमाभावात् । तथा यद्येतावधिकरणादुपशाम्येते, ततः परार्थकृतो भवति । तं च परार्थं मुक्त्वा यदि मोक्षार्थिनस्तत आत्मार्थ एव स्वाध्यायादिके यतध्वं यत्नं कुरुत । अपि चेत्यभ्युच्चये । ओघनिर्युक्तिशास्त्रेऽप्युपेक्षा संयमाङ्गतया प्रोक्ता-" उवेहा संजमो वुत्तो " इति वचनात् । यद्वा-मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु मध्ये स्थापयन् या उपेक्षा प्रोक्ता ततः सैव साधूनां कर्तुमुचितेति भाव. । अत्र सूरिराह—(गुणो वि दोसो हवइ) यदिदमविनेयेषु माध्यस्थ्यमुपदिष्टं तत् संयतापेक्षया, न पुनः संयतानङ्गीकृत्य; यस्मादसंयतेष्वियमुपेक्षा क्रियमाणा गुणः, संयतेषु क्रियमाणा महान् दोषो भवति । उक्तं चौघनिर्युक्तावपि-" संजयगिहचोयणाचोयणे य वावार उवेहा ।

अथ 'परपत्तिया न किरिय त्ति ' पदं भावयति-

जइ परो पडिसेविज्जा, पावियं पडिसेवणं ।
मज्झ मोणं चरंतस्स, के अट्ठे परिहायई ? ॥

यदि पर आत्मव्यतिरिक्तः पापिकामकुशलकर्मोपाधिकरणादिकां प्रतिसेवनां प्रतिसेवते ततो मम मौनमाचरतः को नाम ज्ञानादीनां मध्यादर्थः परिहीयते ?, न कोऽपीत्यर्थः ॥

अथ 'मोत्तु परट्ठं च जयसु आयट्ठे' इति पदं व्याचष्टे—

आयट्ठे उवउत्ता, मा परमट्ठ वावडा होह ।
हंदि परट्ठाउत्ता, आयट्ठविणासगा होंति ॥

आत्मार्थो नाम ज्ञानदर्शनचारित्ररूपं पारमार्थिकं स्वकार्यम्, तत्रोपयुक्ता भवत । मा परकार्ये अधिकरणोपशमनादौ व्यापृता भवत । हंदीति हेतूपप्रदर्शने, यस्मात्परार्थायुक्ता आत्मार्थविनाशकाः स्वाध्यायध्यानाद्यात्मकार्यपरिमन्थकारिणो भवन्ति ।

अथोपहसनोत्तेजनाद्वारे युगपद् व्याचष्टे-

एसो वि ताव दमयतु, हसइ व तस्सोमयाएँ ओहमणा ।
उत्तरदाणे तह मो-सराहि अह होइ उत्तमणा ॥

द्वयोरधिकरणं कुर्वतोरेकस्मिन् सीदति सति आचार्योऽन्यो वा ब्रवीति-एषोऽपि तावद्दान्तपूर्व., दम्यतामिदानीमनेन, यदि वा तस्यावमतायाः, पश्चात्करणे इत्यर्थः ; स्वयमट्टहासैरुपहसति, एतदुपहसनमुच्यते । तथा तयोर्मध्याद्यः सीदति तस्योत्तरदा-

मय-अमुकममुकं च ब्रूहि इत्येवं शिक्षापणम्, यद्वा-मा अमुष्मादपसर त्वं, दृढीभूय तथा लग यथा न तेन पराजीयसे । अथैषा उत्तेजनाऽभिधीयते ॥

अथ साहाय्यकरणं व्याख्यानयति-

वायाए हत्थेहिं, पाएहिँ य दंतलउडमादीहिं ।
जो कुणइ सहायत्तं, समाणदोसं तयं बिंति ॥

द्वयोः कलहायमानयोर्मध्यादेकस्य पक्षे भूत्वा यः कोऽपि वाचा हस्ताभ्यां वा पद्भ्यां वा दन्तैर्वा लकुटादिभिर्वा साहाय्यं करोति, तं तेनाधिकरणकारिणा सह समानदोषं तीर्थकरादयो ब्रुवते ।

अथाचार्याणामुपेक्षां कुर्वाणानां सामान्येन वा अधिकरणे अनुपशाम्यमाने दोषदर्शनार्थमिदमुदाहरणमुच्यते—

अरत्तमज्झे एगं सव्वतो वणसंडमंडियं महंतं सरं अत्थि । तत्थ य बहूणि जलचरथलचरखहचरसत्ताणि अच्छंति । तत्थ एगं महल्लं हत्थिजूहं परिवसइ, अन्नया य गिम्हकाले तं हत्थिजूहं पाणियं पाउं पहाउत्तिन्नं मज्झण्हदेसकाले सीयलरुक्खच्छायाए सुहं सुहेणं चिट्ठइ । तत्थ य अदूरदेसे दो सरडा भंडिउमारद्धा । वणदेवयाए अंते दट्ठुं सव्वेसिं सनासाए आघोसियं-

"नागा! वा जलवासीया!, सुणेह तसथावरा ! ।
सरडा जत्थ भंडंति, अभावो परियत्तइ" ॥ १ ॥

ता मा एते सरडे उवेक्खह, वारेह तुब्भे । [illegible]
जलचरा ऽणो चिंतेंति-किं अम्हं कुवे सरडा भंडंता [illegible]
तत्थ य एगो [illegible]
एगस्स जूहाहिवस्स विलं ति काउं नासापुडं [illegible]
वि तस्स पिट्ठओ चेव पविट्ठो; ते सिरकपाले छुब्भे [illegible]
तस्स हत्थिस्स महती अरई जाया । तओ [illegible]
समाहिए वट्टमाणो तडेणा वि वणसंडं चूरेइ ।
[illegible] संता घाइया, जलं च [illegible]
पाली य [illegible]
भो नागा हस्तिनः ! [illegible]
ये त्रसा [illegible]
एते सर्वेऽपि यूयं [illegible]
माणरूपः-कलहं कुरुतः, [illegible]
घ्यत इति भावः ।
[illegible]

वणसंडसरे [illegible]
वारेइ सरडुवेक्खण, धामव [illegible]
वनखण्डमण्डिते सरसि [illegible]
तं दृष्ट्वा वनदेवतया, [illegible]
[illegible]
भि. सरटयोरुपेक्षणं कृतम्, [illegible]

पि प्रविष्टः, तयोश्च युद्धे लग्नेऽसहवेदनार्त्तेन हस्तिना वनखण्डस्य चूर्णं कृतमिति, एष दृष्टान्तः । अयमर्थोपनयः—यथा तेषामुपेक्षमाणानां तत्प्रसरः सर्वेषामप्याश्रयभूतं विनष्टं, तस्मिंश्च विनश्यमाने तेऽपि विनष्टाः, एवमत्राप्याचार्यादीनामुपेक्षमाणानां महान् दोष उपजायते । कथमिति चेत् ?, उच्यते-इह तावधिकरणकारिणावुभेद्वितौ परस्परं मुष्टामुष्टि वा दण्डादण्डि वा युध्येतां, ततश्च परम्परया राजकुले ज्ञाते सति महान् दोषः,यतः स राजादिस्तेषां साधूनां बन्धनं वा, ग्रामनगरादेर्निष्कासनं वा, कण्टकमर्दनं वा कुर्यात् ।

किञ्चान्यत्–

तावो भेदो अयसो, हाणी दंसणचरित्तनाणाणं ।
साहुपदोसो संसा-रवद्धणो साहिकरणस्स ॥

तापो, भेदो, अयशो, हानिर्दर्शनज्ञानचारित्राणां, तथा-साधुप्रद्वेषः संसारवर्द्धनो भवति, एते साधिकरणस्य दोषा भवन्तीति समासार्थः ।

अथैनामेव गाथां विवृणोति–

अइभणिय अभणिए वा, तावो भेदो उ जीवचरणाणं ।
रूवसरिसं न सीलं, जिम्हं मन्ने अयस एवं ॥

तापो द्विधा-प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च । तत्रातिभणिते सति चिन्तयति-धिग् मां येन तदानीं स साधुर्बहुभिर्निष्ठुरैरसद्भूतवचनैरभ्याख्यातः-इत्यभिप्रायं [illegible], एष प्रशस्तस्तापः उच्यते । अथाभणितं न तथाविधं तस्य मुखे भणितं, ततश्चिन्तयति-हा ! मन्दभाग्यो विस्मरणशीलोऽहं यन्मया तस्यैवं आत्मदुर्मर्मनिकृन्तनं न प्रकाशितं, एष अप्रशस्तस्तापो मन्तव्यः । तथा [illegible] कृत्वा जीवितभेदं चारित्रभेदं वा कुर्युः, पश्चात्तापाक्रान्तचेतसो विहायसादिमरणमभ्युपगच्छेयुः, उन्निष्क्रमणं वा कुर्युरिति भावः । लोकोऽपि [illegible] अहो ! धर्मार्थं श्रमणानां [illegible] बहिः प्रशान्ताकारं रूपमवलोक्यते, तादृशं शीलं मनःप्रणिधानं नास्ति । यद्वा-किम् ?, मन्ये जिह्मं लक्षणीयं [illegible] कृतं, येनैवं प्रज्ञानवन्तो ह-[illegible], एवमादिरयशः समुच्छलति ।

आउट्ट [illegible] वा, पच्चा [illegible] कलहम्मि गणभेदो ।
[illegible] सुयपाई य, रायादि मिट्ठे गहणादी ॥

[illegible]

[illegible] वि न [illegible] दंसणे हाणी ।
[illegible] हाणी होइ चरणे वि ॥

[illegible]

निश्चयतस्तु—

अकसायं खु चरित्तं, कसायसहितो न संजओ होइ ।
साहूण पदोसेण य, संसारं सो विवड्ढेइ ।

खुशब्दस्यैवकारार्थत्वादकषायमेव कषायविरहितमेव चारित्रं भगवद्भिः प्रज्ञप्तम्, अतो निश्चयनयाभिप्रायेण कषायसहितः संयत एव न भवति, चारित्रशून्यत्वात् । तथा साधूनामुपरि यः प्रद्वेषस्तेनासौ संसारं वर्द्धयति, दीर्घतरं करोति । यत एते दोषास्तत उपेक्षा न विधेया ।

किं पुनस्तर्हि कर्तव्यम् ?, इत्याह—

आगाढे अहिगरणे, उवसम अवकड्ढणा य गुरुवयणं ।
उवसमह कुणह जायं, छड्डणया सागपत्तेहिं ॥

आगाढे कर्कशे, अधिकरणे उत्पन्ने द्वयोरप्युपशमः कर्त्तव्यः । कथमित्याह-कलहायमानयोस्तयोः पार्श्वस्थितैः साधुभिरपकर्षणमपसारणं कर्तव्यम्, गुरुभिश्चोपशमनार्थमिदं वचनमभिधातव्यम्-आर्याः ! उपशाम्यतोपशाम्यत । अनुपशान्तानां कुतः संयमः ?, कुतो वा स्वाध्यायः ?, तस्मादुपशमं कृत्वा स्वाध्यायं कुरुत । किमेवं द्रमकवत् कनकरसस्य शाकपत्रैः छर्दना परित्यागं कुरुथ ? । कः पुनरयं द्रमकः ?, उच्यते-

जहा-एगो परिव्वायगो दमगपुरिसं चिंतासोगसागरावगाढं पासति । पुच्छति य-किमेवं चिंतापरो ?। तेण से सब्भावो कहितो, दारिद्दाभिभूतो मि त्ति । तेण भणइ सो-ईसरं तुमं करेमि, जतो सीतातववातपरिस्समं अगणंतेहिं तिमासखुधावेयणं सहंतेहिं बंभचारीहिं अचित्तकंदमूलपत्तपुप्फफलाहारीहिं समीपत्तपुडएहिं जावतो अरुसमाणेहिं घेत्तव्वो । एस से उवचारो । तेण दमगेण सो कणगरसो उवचारेण गहितो, तुंबयं भरितं । ततो णिग्गतो तेण परिव्वायगेण भणियं-तुरुट्ठेण वि तुमे एस सागपत्तेण ण छड्डेयव्वो । ततो सो परिव्वायगो गच्छंतो दमगपुरिसं पुणो २ भणति-मम पभावेण ईसरो भविस्ससि । सो य पुणो २ भण्णमाणो रुट्ठो भणति-जं तुब्भ पभावेण इस्सरत्तणं, तेण मे न कज्जं, तं कणगरसं सागपत्तेण छड्डेति । ताहे परिव्वायगेण भणियं-हा हा दुरात्मन् ! किमेयं तुमे कयं ? ।

जं अज्जियं समीखल्लएहिं तवनियमबंभमइएहिं ।
तं दाणि पच्छ नाहिह, छड्डेंतो सागपत्तेहिं ॥

यदर्जितं शमीसंघर्षिभिः [illegible] पत्रपुटैस्तपोनियमब्रह्ममुखैः तदिदानीं शाकपत्रैः परित्यजन् पश्चात्परित्यागकालादूर्द्धमुपरि तं ज्ञास्यसि, यथा-मुधा मया कृतं, यस्मिन्नयं कनकरसः शाकपत्रैरस्मिन् परित्यक्तः । एवं परिव्राजकेन द्रमक उक्तश्च । अयमर्थोपनयः-अधिकरणकारिणावुभावपि [illegible] यथा [illegible] कनकरसस्थानीयं शमोनियमब्रह्मचर्यमयैः [illegible] [illegible] परीषहोपसर्गादिश्रमं न गणयति, चिरसञ्चितं [illegible] तदिदानीं शाकपत्रकल्पैः कषायैः परित्यजन्तः पश्चात्परित्यागमतः स्वयमेव ज्ञास्यथ । यथा हा ! [illegible] [illegible] संयमरूपकनकरसोऽस्माभिः [illegible]

कृत्वा पश्चात्कलहायमानैः शाकवृक्षपत्रस्थानीयैः कषायैरु-रसिक्त्योरिसिक्त्यायमसारीकृतः, शिरस्तुण्डमुण्डनादिश्च प्रव्रज्याप्रयासो मुधैव विहित इति ।

आह-कथमेकमुहूर्त्तभाविनाऽपि क्रोधादिना चिरसंचितं चारित्रं क्षयमुपनीयते ?, उच्यते—

जं अज्जियं चरित्तं, देसूणाए वि पुव्वकोडीए ।
तं पि य कसायमेत्तो, नासेइ नरो मुहुत्तेण ॥

यदर्जितं चारित्रं देशोनयाऽप्यष्टवर्षोनयाऽपि पूर्वकोट्या तदपि स्तोकमल्पतरकालोपार्जितमित्यपिशब्दार्थः । तदपि कषायितमात्रः, उदीर्णमात्रक्रोधादिकषाय इत्यर्थः । नाशयति हारयति, नरः पुरुषो, मुहूर्त्तेन, अन्तर्मुहूर्त्तेनेति भावः । यथा-प्रभूतकालसंचितोऽपि महान् तृणराशिः सकृत्प्रज्वालितेनापि अग्निना सकलोऽपि भस्मसात्क्रियते; एवं क्रोधानलेनापि सकृदुदीरितेन चिरसंचितं चारित्रमपि भस्मीभवतीति हृदयम् । एवमाचार्येण सामान्यतस्तयोरनुशिष्टिर्दातव्या, सम्यक्कमेव एकतरं विशिष्य भणनीयम् ।

यत आह—

आयरिए न जणे अह, एग निवारेइ मासियं लहुगं ।
रागद्दोसविमुक्को, सीयघरसमो उ आयरिओ ॥

आचार्यो नैकमधिकरणकारिणं भणति अनुशास्ति । अथाचार्य एकमेव निवारयति अनुशास्ति न द्वितीयम्, ततो मासिकं लघुकमापद्यते, असामाचारीनिष्पन्नमिति भावः । तस्मादाचार्यो रागद्वेषविमुक्तः शीतगृहसमो भवेत् । शीतगृहं नाम वर्द्धकिरत्ननिर्मितं चक्रवर्त्तिगृहम्; तच्च चक्रवर्त्तिचित्तानुवर्त्तनतः शीतकाले सोष्णम्, ग्रीष्मकाले शीतलम्; यथा च तच्चक्रवर्त्तिनः सर्वर्तुसुखं तथा द्रमकादेरपि प्राकृतपुरुषस्य तत्सर्वर्तुसुखमेव भवति । एवमाचार्यैरपि निर्विशेषैर्भवितव्यम् ।

अथ विशेषं करोति, तत इमे दोषाः—

वारेइ एस एवं, ममं न वारेइ पक्खरागेणं ।
बाहिरभाव गाढतर-गं तुमं च पेक्खसी एक्कं ॥

एष आचार्य आत्मीयोऽयमिति बुद्ध्या अमुं वारयति; एवं पक्षरागेण क्रियमाणेन अननुशिष्यमाणः साधुर्बाह्यभावं गच्छति । यद्वा-स अननुशिष्यमाणो गाढतरमधिकरणं कुर्यात् । अथवा-तमाचार्यं परिस्फुटमेव ब्रूयात्-त्वं मामेवैकं वारयसि प्रेरयसे, तमात्मीयमनुरागाद्यदि वारयसि, तत आचार्यस्य पा[illegible] ततो गुलम । तस्माद् [illegible] अनुशिष्टो च पक्षपात [illegible] ततः गुरुतरम् । [illegible] उपशान्तो न द्वितीयः, तेन चोपशान्तेन [illegible] सामिन, परमसौ नोपशाम्यति । आह-कथमेनदयं जानाति यथाऽयं नोपशान्तः ?, उच्यते-यदा वन्दमानोऽपि न वन्दनकं प्रतीच्छति । यदि वा [illegible] सन्तत्याधिकं न वन्दते, आलप्यमानोऽपि वा नालपति ।

एवं तमनुपशान्तमुपलक्ष्य ततोऽसौ किं करोतीत्याह—

उवसंतोऽणुवसंतं, पासित्ता विण्णवेइ आयरिये ।
तस्स य पयवगहा, निरासेवो परो इमो होइ ॥

उपशान्तः साधुरनुपशान्तमपरं दृष्ट्वा आचार्यं विज्ञपयति-

भगवन्! उपशान्तोऽहं, परमेष न्वेष्टयोऽयं मुक्तो वा नोपशाम्यति । तत आचार्यास्तस्य प्रज्ञापनार्थं परनिर्देशं कुर्वन्ति । बृ० १ उ० । (स च परनिर्देशः 'पर' शब्द एव वक्ष्यते)

(३) अथ भावतो व्याख्यायते, भावः कषायोदयादिः, तदपेक्षया परो भावान्तरवर्त्ती, भावान्तरः स वेदोदयादिकनादृ-विमृष्टे । तथा चाऽऽह—

आउयपडणट्ठाणं, वंदण संजुत्तता य संवासो ।
एयाई जो कुणई, आराहण अट्ठगक्को नत्थि ।
अकसायं निव्वाणं, सव्वेहिं वि जिणवरेहिं पन्नत्तं ।
सो लब्भइ भावपरो, जो उवसमे अणुवसमेो ॥

आदरः, अभ्युत्थानम, वन्दनं, संभोजनं, सहवासोऽदेतानि यस्मिन् च उपशान्तो भुत्वा करोति तस्याऽऽराधना अस्ति, यस्त्वेतानि न करोति तस्याऽऽराधना नास्ति । येन "जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा" इत्यादिकः सूत्रपदको व्याख्यातः । अथ किमर्थमादराऽऽदिपदानामकरणे आराधना न भवेत् ?, इत्याह-अकषायं कषायाभावमपि निर्वाणं सर्वज्ञकथितं तथा च तदेतत् जिनवीर महासम । [illegible] आदरादिपदानामकरणेन सकषायः स भावतो भवन, चरित्र-विराधकत्वात् ।

[illegible]

सो वइइ वइ-य, भावे तुं पुण सकसायनिदमिह ।
जइ सो हुइ जावपरो, पभे य वीअरायाण ॥

सो भद्द! द्वितीयः साधुरकषायोऽपि [illegible] गुण-कषायोपशान्ते [illegible] । [illegible] भावपरतया संयमप्रयोजनाध्यवसाय एव [illegible] न काचित्क्रिया विफला । बृ० १ उ० । नि० चू० ।

(४) अधिकरण [illegible] —

जिवत्तु य अहिगरणं कारि वोसविता इच्छिया अधिगरणं
उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, कप्पइ तस्स एकारसीए एव
वत्तुं, परिनिव्ववियव्वं होइ वि नवेत्तए तहेव पडिसेहणं
सिया, जहा वा तस्स गणस्स तहा सिया ॥

[illegible]

(५) [illegible]

[illegible]

[illegible]

श्यकवेलायाम्। एवं चतुरो वारानेकैकस्मिन् दिने नोद्यते, तच्चाधिकरणं प्रभाते प्रतिक्रान्तानां स्वाध्याये अप्रस्थापिते ।

एवमादौ कारणे तदुत्पद्यते-

दुप्पडिलेहियमादिसु, नोदिएँ सम्मं अपडिवज्जंते ।
ण वि पट्ठवेंति उवसम-कालो ण सुद्धोजियं वाऽसी ॥

दुष्प्रत्युपेक्षितं कुर्वन्, आदिशब्दादप्रत्युपेक्षमाणः, असामाचार्या वा प्रत्युपेक्षमाणो नोदितः सम्यग् यदि न प्रतिपद्यते, ततो अधिकरणं भवेत्। तत्पन्ने चाधिकरणे यदि स्वाध्यायेऽप्रस्थापिते स्वयमेवोपशान्तस्ततः सुन्दरम्। अथ नोपशान्तस्ततो यः प्रस्थापनार्थमुपतिष्ठते स वारणीयः। यथा-तिष्ठतु तावद् यावत् सर्वे ऽपि नो मिलिताः, तत आगतेषु सर्वेषु सूरयो ब्रुवते-आर्याः! पश्यत इमे साधवः स्वाध्यायं न प्रस्थापयन्ति । ते चेदुत्तरं प्रयच्छन्त्यवश्यं-कालो न शुद्धः, पराजितं तेषां साधूनां सूत्रार्थं, ततो न स्थापयन्ति। एवं भणतो मासगुरु, साधवश्च सर्वेऽपि प्रस्थापयन्ति स्वाध्यायं च कुर्वन्ति ।

काले प्रतिक्रान्ते भिक्षावेलायां जातायामिदमाचार्या भणन्ते—

गोयरण अत्तट्ठी, ण च वेला अणुजाणाऽजिइं ।
ण य पडिकमंति उवसम, णिरतीयारा तु पच्छाऽऽह ॥

आर्य! साधवस्त्वदीयेनानुपशमनेन भिक्षां नाटन्ति, तत उपशमं कुरु। स चेदुत्तरं प्राह-यूयमभक्तार्थिनो, न वा भिक्षावेला, एवमुक्ते सर्वेऽप्यटन्ति, तस्याप्यनुपशान्तस्य द्वितीयं मासगुरु। भिक्षानिवृत्तेषु साधुषु गुरवो भणन्ति-आर्य ! साधवो न भुञ्जते। स प्राह-नूनं साधूनां न जीर्णम्। एवमुक्ते सर्वेऽपि समुद्दिशन्ति, तस्य पुनस्तृतीयं मासगुरु। भूयोऽपि प्रतिक्रमणवेलायां भणन्ति-आर्य! साधवो न प्रतिक्रामन्ति, उपशमं कुरु। स चेदुत्तरं प्राह-तुष्यन्ति [illegible], [illegible] निरतीचाराः [illegible] न प्रतिक्रामन्ति, एवमुक्ते सर्वेऽपि प्रतिक्रामन्ति। तस्य पुनश्चतुर्थं [illegible]। एवं प्रभाते [illegible] अधिकरणे उत्पन्ने विधिरुक्तः।

[illegible] वि [illegible], पढम दिवस [illegible] ।
[illegible] व दोणि य मासा, [illegible] परिहरेंति गुरुगा उ ॥

[illegible] काले अधिकरणमुत्पन्नम् [illegible] दिवसमवा [illegible] । तत्र यदि [illegible] अधिकरणमुत्पन्नं तदा [illegible] गुरुकामा [illegible] अनुपशान्तस्य द्वौ गुरुमासौ [illegible] । अथ प्रतिक्रान्ते प्रतिक्रमणे [illegible] ऽपि [illegible] गुरुकाः ।

एवं दिवसे दिवसे, [illegible] तु [illegible] ।
[illegible], गुरुगा गुरुगो तु [illegible] ॥

[illegible] दिवसे दिवसे [illegible] स्वाध्यायप्रस्था- [illegible], [illegible] कर्त्तव्या। यदि [illegible] [illegible] भवन्ति।

[illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible]

स्तमगीतार्थं गीतार्थं वा गुरवे सारयति ततो द्वयोरप्य[illegible] स्यानुपशाम्यतश्च प्रायश्चित्तस्यापत्तिः। अन्ये ब्रुवते-अर्ग[illegible] स्यानुपशाम्यतोऽपि नास्ति प्रायश्चित्तं, यस्तु गुरुर्गीतार्थं [illegible] नोदयति, तस्य प्रायश्चित्तम्।

गच्छो य दोण्णि मासे, पक्खे पक्खे इमं परिहवइ।
भत्तट्ठणसज्झायं, वंदण लावं ततो परेण ॥

एवमनुपशाम्यन्तं गच्छो द्वौ मासौ सारयति, इदं पुन[illegible] पक्षे परिहापयति। तद्यथा-अनुपशान्तस्य पक्षे गते गच्छ[illegible] सार्द्धं भक्तार्थनं न करोति, न गृह्णाति वा, न वा किमपि [illegible] ददातीत्यर्थः। द्वितीये पक्षे गते स्वाध्यायं तेन समं न क[illegible] तृतीये पक्षे गते वन्दनं न करोति, चतुर्थेऽपि पक्षे गते [illegible] यति ततः परमालापमपि तेन सार्द्धं वर्जयति।

आयरिय चउर मासे, संभुंजति चउर देइ सज्झायं [illegible]
वंदणलावे चउरो, तेण परं मूलनिच्छुभणा ॥

आचार्यः पुनश्चतुरो मासान् सर्वैरपि प्रकारैस्तेन समं [illegible] क्ते, ततः परं चतुरो मासान् भक्तार्थनं वर्जयति, स्वाध्या[illegible] ददाति। ततश्चतुरो मासान् स्वाध्यायं परिहृत्य वन्दनालाप[illegible] दाति, ततः परं वर्षे पूर्णे सांवत्सरिके प्रतिक्रान्तेऽनुपशा[illegible] गणान्निष्कासनं कर्त्तव्यम्।

एवं बारसमासे, दोसु तवो सेसए भवे छेदो।
परिहीयमाण तद्दिव-से तव मूलं पडिक्कंते ॥

एवं द्वादशमासानप्यनुपशाम्यतो द्वयोरादिममासयोर्[illegible] च्छेन विसर्जितस्तावत्तपः प्रायश्चित्तमेव, शेषेषु दशसु म[illegible] पञ्चरात्रिंदिवं छेदो यावत्सांवत्सरिकम्, एवं मासं भवति-[illegible] पञ्चरात्रो प्रतिक्रान्तानामधिकरण उत्पन्ने एष विधिरुक्त[illegible] रिहाप्यमाणं तद्दिवस (स) पर्युषणापारणकदिवसादेकैक[illegible] परिहाप्यतः, तावदेवं यावत्तद्दिवसं, पर्युषणादिवस एवाधि[illegible] उत्पन्ने तत्र तपो मूलं वा भवति तच्छेदः। अथ प्रतिक्रम[illegible] वेलायामुत्पन्नं ततः सांवत्सरिके कायोत्सर्गे कृते मूलं च [illegible] भवति।

एतदेव सुव्यक्तमाह—

एवं एकेक्कदिणे, हवेतु ठवणादिणे वि एमेव ।
चेइयवंदणसारे, तम्मि वि काले तिमासगुरू ॥

भाद्रपदशुक्लपञ्चम्यामनुदिते आदित्ये यद्यधिकरणमु[illegible] ततः पर्युषणायामप्यनुपशान्ते संवत्सरो भवति। [illegible] एकदिवसो न संवत्सरः। सप्तम्यां दिवसद्वयम्, एवमेक[illegible] हापयित्वा तावन्नेयं यावत् प्रस्थापनादिन पर्युषणादिवस [illegible] वाऽनुदिते रवौ कलहे उत्पन्ने एवमेव मार्गणा कर्त्तव्या। [illegible] स्वाध्यायप्रस्थापनं कर्तुकामैः सारणीयम्, [illegible] न्तुकामाः सारयेयुः। तथाप्यनुपशान्ते प्रतिक्रमणवेलायां [illegible] यन्ति। एवं तस्मिन्नपि पर्युषणाकालदिवसे [illegible] स्वाध्याय[illegible] पनादिषु स्थानेषु नोदितस्यानुपशाम्यतस्त्रीणि मास[illegible] कानि भवन्ति।

[illegible] पुण मूलं, पडिक्कमंते य होइ अधिकरणं [illegible]
[illegible], [illegible] मूलं न [illegible] ॥

पर्युषणादिने सर्वेषामधिकरणानां व्यवच्छित्तिः कर्त्तव्या[illegible]

रया प्रतिक्रान्ते समाप्ते आवश्यके यदि नोपशान्तः, ततो मूलम् । (पडिक्कमंते य त्ति) अथ प्रतिक्रमणे प्रारब्धे यावत् सांवत्सरिको महाकायोत्सर्गः, तावदधिकरणे कृते मूलमेव केवलं, न शेषाणि प्रायश्चित्तानि ।

संवच्छरं च रुहं, आयरिओ रक्खए पयत्तेणं ।
जदि णाम उवसमेज्जा, पव्वयराईसरिसरोसो ॥

एवमाचार्यस्तं रुष्टं संवत्सरं यावत् प्रयत्नेन रक्षति । किमर्थम् ?, इत्याह-यदि नाम कथञ्चिदुपशाम्येत । अथ संवत्सरेणापि नोपशाम्यति, ततः पर्वतराजीसदृशरोषः स मन्तव्यः ।

तस्य वर्षादूर्ध्वं को विधिः ?, इत्याह-

अण्णे दो आयरिया, एक्केक्कं वरिसमुवेयस्स ।
तेण परं गिहिए सो, वितियपदे रायपव्वइए ॥

तं वर्षादूर्ध्वं मूलाचार्यसमीपाद्विनिर्गतमन्यौ द्वावाचार्यौ क्रमेणैकैकं वर्षमेतेनैव विधिना प्रयत्नेन संरक्षतः, तन्मध्यायेनोपशामितस्तस्यैवासौ शिष्यः । ततः परं वर्षत्रयादूर्ध्वमेव गृहीक्रियते, स्वहस्तादीयं लिङ्गमपाकरोतीत्यर्थः । द्वितीयपदे राजप्रव्रजितस्य लिङ्गं प्रस्तारदोषभयान्न ह्रियते । एवं निशीथोक्तम् ।

एमेव गणायरिए, गच्छम्मि तवो उ तिन्नि पक्खाइं ।
दो पक्खा आयरिए, पुच्छा य कुमारदिट्ठंतो ॥

एवमेव गणिन आचार्यस्य च मन्तव्यम् । नवरमुपाध्यायस्यानुपशाम्यतो गच्छे पक्षत्रयं यावत्तपःप्रायश्चित्तम्, परतश्छेदः । आचार्यस्यानुपशाम्यतो द्वौ पक्षौ तपः, परतश्छेदः । शिष्यः पृच्छति-किं सदृशापराधे विषमं प्रायश्चित्तं प्रयच्छथ ?, रागद्वेषिणो यूयम् । आचार्यः प्राह-कुमारदृष्टान्तोऽत्र भवति । स [illegible]तरत्राभिधास्यते । उपाध्यायस्य त्रयः पक्षास्ते दिवसीकृताः पञ्चचत्वारिंशद्दिवसा भवन्ति ॥

ततः-

पणयालदिणे गणिणो, चउहा काउण साहिएक्कारो ।
भत्तट्ठण-सज्झाए, वंदणलावे य हावेति ।

गणिनः संबन्धिनः पञ्चचत्वारिंशद्दिवसाश्चतुर्धा क्रियन्ते । चतुर्भागे च, साधिकाः सपादा एकादश दिवसा भवन्ति । तत्र गच्छ उपाध्यायेन सममेकादश दिनानि भक्तार्थं करोति । एवं स्वाध्याय-वन्दनालापानपि प्रत्येकमेकादश दिनानि यथाक्रमं करोति, परतस्तु परिहापयति । पञ्चचत्वारिंशद्दिवसानन्तरं चोपाध्यायस्य दशच्छेदः । आचार्यस्तथैवोपाध्यायमपि चतुर्भिर्मासैर्भक्तार्थादीनि परिहापयन् संवत्सरं सारयति । आचार्यस्य द्वौ पक्षौ दिवसीकृतौ त्रिंशद्दिवसा भवन्ति ।

ततः-

तीसदिणा आयरिए, अद्धट्ठदिणा उ हावणा तस्य ।
गच्छेण चउपदेहिं, णिच्छूढे लग्गती छेदं ॥

त्रिंशद्दिवसाश्चतुर्भागेन विभक्ताः सार्धसप्त दिवसा भवन्ति । तत्र गच्छे आचार्येण सहार्धाष्टमानि दिवसानि भक्तार्थं करोति । एवं स्वाध्याय-वन्दनालापनमपि यथाक्रममर्धाष्टमैर्दिवसैः परिहापयति । ततः परं गच्छेन चतुर्भिरपि प्रकारैर्निर्धारितैः पदैर्निष्कासित आचार्यः पञ्चकच्छेदं लगति ।

ततः-

संकंतो अण्णगणं, सगणेण य वजि[...]
आयरिओ पुण वरिसं, वंदणलावे[...]

स्वगच्छेन भक्तार्थनादिभिश्चतुर्भिः पदैर्व[...] गणं संक्रान्तः, पुनरन्यगणस्याचार्यो [...] द्वान्यां पक्षान्यां संछुब्धानः सारयति [...]

सज्झायमाइएहिं, दिणे दिणे सारणा [...]
नवरं पुण नाणत्तं, तवो गुरुस्सेयरे छे[...]

परगणेऽपि संक्रान्तस्य आचार्यस्य स्वाध्या[...] दिने सारणा क्रियते । नवरं परगणोपसंक्रान्त[...] यः अन्यगणस्थस्य गुरोरसारयतस्तपः प्राय[...] पुनरधिकरणकारिण आचार्यस्यानुपशान्तस्य [...] प्राह-रागद्वेषिणो यूयम्-आचार्ये दीर्घ छेदं प्र[...] बहुतरेण, भिक्षुं तत्रोऽपि चिरमेण । एवं निरू[...] रागः, आचार्ये द्वेषः । अत्र सूरिः प्रागुदितं कुमा[...]

सरिसावराहदंडो, जुवराणो भोगहरणबंधा[...]
मज्झिम बंधवहादी, अव्वत्ते कण्णमल जि[...]

"एगस्स रन्नो तिन्नि पुत्ता-जेट्ठो, मज्झिमो, क[...] तेहिं वि समचिंतय-पिचरं मारित्ता रज्जं तिहा वि[...] रज्जं भोत्तव्वं, ताहे जेट्ठो जुवराया, तुमे एयारिसं [...] [illegible]

[illegible]

अप्पच्चय वीसत्था-वयं च होंति गरहा तु गरिह[...]
आणाए य परिभवो, एवं भयं तो तिहा देंति ॥

[illegible]

गच्छम्मि उ पट्ठविए, जम्मि पदे निग्गतो [...]
तित्थगुणाधारिया, मूलं अणवट्ठ-पारंचे ॥

[illegible]

[illegible] पदेन [illegible] द्वितीयपद- [illegible] निर्गत- [illegible] पुनः करो- [illegible] करोति । [illegible] करोति । [illegible] करोति । 'भिक्खुणा [illegible]' [illegible] ([illegible])

(१०) [illegible] —

[illegible]

[illegible] ।

[illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

स्वगणे स्वर्द्धकेषु संक्रान्तस्यानुपशान्तस्य दिवसे [illegible] रात्रिंदिवच्छेदः, परगणे मनोज्ञेषु सांभोगिकेषु [illegible] दशरात्रिंदिवः अन्यसांभोगिकेषु संक्रान्तस्य दशरात्रिं[illegible] अन्यसांभोगिकेषु पञ्चदशरात्रिंदिवः । अवसन्नेषु [illegible] तिरात्रिंदिवच्छेदः । एवं भिक्षोरुक्तम् ।

अथोपाध्यायाचार्ययोरुच्यते-

एमेव य होइ गणी, दसदिवसादी भिन्नमासो [illegible] ।
पच्छमासी [illegible] गुरू, पउसु [illegible] आलेसु मासं [illegible] ॥

एवमेव गणिन उपाध्यायस्यापि अधिकरणं कृत्वा [illegible] संक्रान्तस्य [illegible] । नवरं दशरात्रिंदिवादो [illegible] मासान्तस्तस्य च्छेदः । एवमेव गुरोराचार्यस्य [illegible] स्वगणे सांभोगिकान्यसांभोगिकावसन्नेषु पञ्चदश[illegible] रात्रिंदिवः मासिकान्तश्छेदः । एतानुक्तानां स्वगणादि[illegible] विभागेन प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

अथ तथैव स्थानेषु पुरुषविभागेन प्रायश्चित्त[illegible]

सगणम्मि पंचराइं-दियाइ भिक्खुस्स [illegible]
दस होइ अहोरत्ता, गणिआयरिए व [illegible] ॥

स्वगणे संक्रान्तस्य भिक्षोः पञ्चरात्रिंदिवानि [illegible] रात्रिंदिवच्छेदः । गणिन उपाध्यायस्य दशरात्रिंदिव [illegible] पञ्चदशरात्रिंदिवाः ।

[illegible] भिक्खुस्स य, दस राइंदिया [illegible]
[illegible] अहोरत्ता, गणिआयरिए [illegible] ॥

अन्यगणे सांभोगिकेषु संक्रान्तस्य भिक्षोः [illegible] उपाध्यायस्य पञ्चदशरात्रिंदिवः । आचार्यस्य [illegible] [illegible] अन्यसांभोगिकेषु [illegible] आनुपूर्व्या [illegible] [illegible]

[illegible] , [illegible] दिवे [illegible] ।
[illegible], [illegible] काले [illegible] ॥

[illegible] न, [illegible] राइंदियाइं [illegible]
[illegible], [illegible] ॥

[illegible] , अथवा [illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible]

नन्यन्ते। एवमुपाध्यायस्यापि गुणकारमाहात्म्ययोगेन स्वगुणत्वोपगुज्य मासा आनेतव्याः। परगणे संक्रान्तस्य त्रिकोद्देशकेन छेदेन छिद्यमानस्य पर्यायस्य पदेन पञ्च मासाश्छिद्यन्ते, दशकेनेव छेदेनाष्टभिः पदैश्चत्वारिंशन्मासाश्छिद्यन्ते, एष भिक्षोरुक्तम्।

उपाध्यायस्य पुनरिदम्–

पंच उ मासा पक्खे, अट्ठहिँ मासा हवंति चत्ताउ ।
अद्धऽट्ठमास पक्खे, अट्ठहिँ सट्ठी भवे गणिणो ॥

उपाध्यायस्यापि स्वगणे दशकेन छेदेन पदेन पञ्च मासाः, अष्टभिः पदैर्गुणिताश्चत्वारिंशन्मासाः छिद्यन्ते, तस्यैव परगणे पञ्चदशकेन छेदेनार्द्धाष्टममासाः पदेन छिद्यन्ते । परगणे तु अष्टाभिः पदैर्गुणिताः षष्टिर्मासा गणिनश्छिद्यन्ते ।

अद्धऽट्ठमास पक्खे, अट्ठहिँ मासा हवंति सट्ठी तु ।
दस मासा पक्खेणं, अट्ठहिँऽसीती उ आयरिए ॥

आचार्यस्य स्वगणे संक्रान्तस्य पञ्चदशकेन छेदेन छिद्यमाने पर्याये पदेनार्द्धाष्टममासा अष्टभिः पदैर्गुणिताः षष्टिर्मासाश्छिद्यन्ते । तस्यैव परगणसंक्रान्तस्य विंशतिछेदेन पदेन दश मासा अष्टभिः पदैरशीतिर्मासाश्छिद्यन्ते । एवं स्वगणे परगणे च सांभोगिकेषु संक्रान्तस्य छेदसंकलनाऽभिहिता । अन्यसांभोगिकेषु अवसन्नेषु च संक्रान्तस्य भिक्षोरुपाध्यायाचार्यस्य चाऽनयैव दिशा छेदसंकलना कर्तव्या ।

एसा विही उ निग्गए, सगणे चत्तारि मास उक्कोसा ।
चत्तारि परगणम्मी, तेण परं मूल निच्छुभणं ॥

एष विधिर्गच्छान्निर्गतस्योक्तः । अथ च स्वगणे अवस्थितस्य स्पर्द्धकेषु एके एके संघरतश्चत्वारो मासा उत्कर्षतो भवन्ति । परगणेऽप्येवं चत्वारो मासाः । एवमन्येष्वपि चत्वारो मासाः । ततः परं यद्युपशाम्यति ततो मूलम् । अथ नोपशाम्यति तदा निष्कासनं कर्तव्यम्, लिङ्गमपहरणीयमित्यर्थः ।

चोएइ रागदोसे, सगणे थोवं इमं तु नाणत्तं ।
पंतावण निच्छुभणं, परकुलघरपोसिए ण गया ॥

शिष्यः प्रेरयति–रागद्वेषिणो यूयम्, यत् स्वगणे स्तोकं छेदमादिशथ, परगणे तु प्रभूतम्। एवं स्वगणे प्रशस्तो रागः, परगणे द्वेषः। गुरुराह–इदं छेदनानात्वं कुर्वन्तो वयं न रागद्वेषिणः।

तथा चात्र दृष्टान्तः–

एगस्स गिहिणो चउरो भज्जाओ। तओ य तेण कम्हि एगे सरिसे अवराहे कते पंतवेना णीइमम गिहाओ त्ति निच्छूढा, तइया कम्हि इपरघरम्मि गया, बिइया कुलघरं, तइया जगुणो एगमरीरो पोसिओ त्ति वयंसो, तस्स घरं गया, चउत्थी निच्छुभंती वि बारसहाए लग्गा इणपालो त्ति न गच्छइ, भणइ य–कत्तो णं वच्चामि ?, नत्थि मे अण्णो गइविसओ, जइ वि मारेहि तहा वि तुमं चेव गई मज्झं ति तत्थेव ठिया ।

केनापि गृहिणा चतसृणां भार्याणां सदृशं अपराधं कृत्वा, [illegible] एकस्य . द्वितीया कुलगृहम् ,

तृतीया पोसिको मित्रं, तद्गृहं गता, चतुर्थी तु न क्वापि गता ।

तओ तुट्ठेण चउत्थी घरसामिणी कया । तइयाए पोसियघरं गंतोए सो चेव अणुवाविनो विगतरोसेण सारंठिना, आणीता य । बिइयाए कुलघरं जंतीए जं पिउगिहवसं गहियं गाढतरं रुट्ठेण अंभेहि जणिएहि वि गतरोसेण सारंठिना, दुक्खिया य । पढमा दूरं गहेसि न ताए किंचि पओयणं, गट्टेण वा पच्छिपदंडेण दंडिउं आणिज्जइ । एवं पढमाणिया ओसन्ना, कुलघरसंठाणिया अन्नसंभोइया, पोसियसमा संभोइया, आनिग्गमे सगणसमा गच्छे जाव दूरंतरं ताव गरुयतरो दंडो जवइ । बृ० १ उ० ।

(११) गृहस्थैः सहाधिकरणं कृत्वाऽनुपशान्तस्य विहारादि न कार्यम्–

भिक्खु य अहिगरणं कट्टु तं अहिगरणं अविओसमित्ता नो से कप्पइ गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा, गामाणुगामं वा दूइज्जित्तए गणाओ वा गणं संकमित्तए वा, वासावासं वा वत्थए, जत्थेव य अप्पणो आयरियउवज्झायं पासेज्जा, बहुस्सुयं बज्झागमं तस्संतिए आलोएज्जा, पडिक्कमेज्जा, निंदिज्जा, गरहिज्जा, विउट्टेज्जा, विसोहेज्जा, अकरणयाए अब्भुट्ठेज्जा, अहारिहं तवोकम्मं पायच्छित्तं पडिवज्जेज्जा, से य सुएण पट्ठविए आइयव्वे सिया, से य सुएण नो पट्ठविए नो आइयव्वे सिया , से य सुएण पट्ठविज्जमाणे नो आइयमाणे से निज्जूहियव्वे सिया ॥

अस्य संबन्धमाह–

केण कयं कीस कयं, निच्छुभणो एस किं इहाणीए ? ।
एसो वि गिहीदुहिनो, वत्तिज्ज वइ कलहदुष्टो ॥

केनेदं कृतं [illegible] कृतं, [illegible] विमर्शमिहायाति, [illegible] कश्चिद्रागद्वेषाक कलहं कुर्यात् । [illegible] उपशमयत्येषु [illegible] कः, [illegible] । [illegible] तस्य तदधिकरणमनुपशमय्य [illegible] [illegible] वा [illegible] वा निष्क्रमितुं वा, प्रवेष्टुं वा, [illegible] वा [illegible] विहर्तुं, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।

[illegible] विशोधिर्भवति । तत आह-मा- [illegible] निर्ममीकुर्यात् । [illegible] पुनरकरणतया अभ्युत्था- [illegible] भवति । तत आह- [illegible] प्रतिपद्यते । तथ [illegible] स्यात् । इति [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

आहारद्यश्च दोषाः । स च दुष्टरूपो [illegible] साधूनां [illegible] सर्वानपि साधून् [illegible] वा लोकस्य कुर्यात् । [illegible] विकिरति, [illegible] वा शस्त्रेण साधुना हन्यात् । [illegible] उपकरणं वा अपहरेत्, [illegible] वारयेत् ।

[illegible] वारयेत्-

रज्जे देसे गामे, णिवेसणे गिहे णिवारणं कुणति ।
जा तेण विणा हाणी, कुलगणसंघे य पत्थारो ॥

[illegible] निवारणं कारयेत् । [illegible] एवं देशे, ग्रामे, निवेशने, गृहे [illegible] करोति । [illegible] गुरुः प्राप्नोति । [illegible] प्रस्तारं [illegible] निवारणं कुर्यात् ।

[illegible] दोसा, [illegible]
[illegible] पत्थारं, [illegible] कारणे पहुणा ॥

[illegible] कुर्यात् । [illegible] कारयेत् ।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

निष्काश्यते, अस्मदीयं च वचो गुरवो न सुष्ठु शृण्वन्ति; अत आचार्यान् गमयितुं त्वं युज्यसे-युक्तो भवसि । एवमुक्ते यद्याचार्यं गमयति-क्षामयति ततो लष्टम्। अथ ब्रूते-एष दासस्तावत्त्वं कलहकारित्वम् । ततो ज्ञात्वा वस्तुनो गृहस्थस्य भावं किमयं हन्तुकामस्तमानाययति, उत क्षामयितुकामः ? , एवमभिप्रायं ज्ञात्वा तस्याथ सुहृद, अतस्ते असहिता एव तं साधुं तत्र नयन्ति ।

अथासौ गृही तीव्रकषायतया नोपशाम्यति ततस्तस्य साधोर्गच्छस्य च रक्षणार्थमयं विधिः-

वीसुं उवस्सए वा, ठवेंति पेसेंति फड्डपतिणो वा ।
देंति सहाए सव्वे, वि णेंति गिहिणे अणुवसंते ॥

विष्वगन्यस्मिन्नुपाश्रये तं साधुं स्थापयन्ति, अन्यग्रामे वा यः स्पर्द्धकपतिस्तस्यान्तिके प्रेषयन्ति. निर्गच्छतश्च तस्य सहायान् ददति । अथ मासकल्पः पूर्णस्ततः सर्वेऽपि निर्यान्ति निर्गच्छन्ति । एष गृहस्थेऽनुपशान्ते विधिः ।

अथ गृहस्थ उपशाम्यति न साधुस्तदा तस्येदं प्रायश्चित्तम्-

अविओसियम्मि लहुगा, भिक्खवियारे य वसहिगामे य ।
गणसंकमणे भणंति, इहं पि तत्थेव वच्चाहि ॥

अधिकरणे अव्यवशमिते यदि भिक्षां हिण्डते, विचारभूमिं वा गच्छति,वसतेर्निर्गत्यापरसाधुवसतिं गच्छति;ग्रामानुग्रामं विहरति; सर्वेषु चतुर्लघु। अथापरं गणं संक्रामति, ततस्तैरन्यगणसाधुभिर्भण्यते-इहापि गृहिणः क्रोधनाः सन्ति, ततस्तत्रैव व्रज ।

इदमेव सुव्यक्तमाह-

इह वि गिही अविसहणा,ण य वोच्छिण्णा इहं तुह कसाया।
अणेमि अणागमं, जणइस्ससि वच्च तत्थेव ॥

इहापि ग्रामे गृहिणो अविषहणाः क्रोधनाः, न चेह समागतस्य तव कषाया व्यवच्छिन्नाः। अतोऽन्येषामप्यसमदादीनामायासं जनयिष्यसि, तस्मात्तत्रैव व्रज ।

गिहम्मि न संगिज्झति, संकंतम्मि उ अपेसणे लहुगा ।
गुरुगा अजयणकहणे, एगतरदोसतो जं वा ॥

अनुपशान्ते साधौ गणान्तरं संक्रान्ते मूलाचार्येण साधुसंघाटकस्तत्र प्रेषणीयः,तेन च संघाटकेन शिष्टे कथिते सति द्वितीयाचार्यो न संगृह्णीयात् , अथ मूलाचार्यः संघाटकं न प्रेषयति, तदा चतुर्लघु। संघाटको यद्ययतनया कथयति ततश्चतुर्गुरु। अयतनकथनं नाम-बहुजनमध्ये गच्छे गत्वा भणति-एष निर्धर्मा गृहिभिः सममधिकरणं कृत्वा समायातः, सकलेनापि गच्छेन नोपशान्तः। एवमयतनया कथितेन साधुरेकतरस्य गृहिणः साधुसंघाटकस्य मूलाचार्यस्य वा प्रद्वेषतो यत्करिष्यति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

तस्मादयं विधिः-

उवसामितो गिहत्थो, तुमं पि खामेहि एहि वच्चामो ।
दोसा हु अणुवसंते, ण य सुज्झइ तुज्झ सामइयं ॥

पूर्वं गुरूणामेकान्ते कथयित्वा ततः स्वयमेकान्तेन भण्यते, उपशमितः स गृहस्थः, एहि व्रजाम, त्वमपि तं गृहस्थं क्षामय, अनुपशान्तस्येह परत्र च बहवो दोषाः, समभावः सामायिकम् ।तच्चैवं सकषायस्य भवतो न शुद्ध्यति न शुद्धं भवति । एवमेकान्ते भणितो यदि नोपशाम्यति ततो गणमध्येऽप्येवमेव भणनीयः । ततोऽपि चेन्नोपशाम्यति प्रत्युत चेतसि चिन्तयेत-तस्य गृहिणो निमित्तेनेहाप्यवकाशं न लभे ।

ततः-

तमतिमिरपडलभूतो, पावं चिंतेइ दीहसंसारी ।
पावं ववसिउकामो, पच्छित्ते मग्गणा होति ॥

कृष्णचतुर्दशीरजन्यां द्रव्याभावस्तम उच्यते । तस्यामेव च रात्रौ यदा रजो धूमधूमिका भवति तदा तमस्तिमिरं भण्यते। यदा पुनस्तस्यामेव रजन्यां रजःप्रभृतयो मेघदुर्दिनं च भवति तदा तमस्तिमिरपटलमभिधीयते । यथा तत्रैवान्धकारे पुरुषः किञ्चिदपि न पश्यति, एवं यस्तीव्रतीव्रतरतमेन कषायोदयेनाभिभूतो भण्यते , तमःशब्दस्येहोपमार्थवाचकत्वात्। एवंभूतश्चेदपराधे हि तमपश्यन् दीर्घसंसारी तस्य गृहस्थस्योपरि पापमैश्वर्याज्जीविताद्वा भ्रंशयिष्यामीति रूपं चिन्तयति ।एवं च पापं कर्तुं व्यवसिते तस्मिन्निदं प्रायश्चित्ते मार्गणा भवति।

वच्चामि वच्चमाणे, चउरो लहुगा य होंति गुरुगा य ।
उग्गिण्णम्मि य छेदो, पहरण मूलं च जं तत्थ ॥

व्रजामि तं गृहस्थं व्यपरोपयामीति संकल्पे चतुर्लघवः। पदभेदादारभ्य पथि व्रजतश्चतुर्गुरवः। यदि यष्टिलोष्टादिकं प्रहरणं मार्गयति तदा षड्लघवः। प्रहरणे लब्धे गृहीते च षड्गुरवः। उत्तीर्णे प्रहारे छेदः। प्रहारे पतिते यदि न म्रियते ततः छेद एव। अथ मृतस्ततो मूलम् ।यत्स्वयं परितापनादिकं संभवति तत्तत्र वक्तव्यम्।

एते चापरे दोषाः-

तं चेव णिट्ठवेती, बंधणणिच्छुभणकडगमद्दो य ।
आयरिए गच्छम्मि य, कुलगणसंघे य पत्थारे ॥

स गृहस्थस्तं संयतं वधार्थमागतं दृष्ट्वा कदाचित्तमेव निष्ठापयति-व्यापादयति, तं ग्रामनगरादेर्वा निर्घाटयति; कटकमर्दं वा गृह्णाति । अथवा कटकमर्दो रुष्ट एतस्य सर्वमपि गच्छं व्यापादयति; यथा-पालककस्कन्धकाचार्यगच्छम् । अथवा बन्धननिष्कासनादिकमाचार्यस्य अपरगच्छस्य वा करोति । तथा कुलसमवायं कृत्वा कुलस्य बन्धादिकं कुर्यात् । एवं गणस्य वा, संघस्य वा एष प्रस्तारः । एवमेकाकिनो व्रजत आरोपणा दोषाश्च भणिताः ।

अथ सहायसहितस्याऽऽरोपणामाह-

संजतगणो गिहगणो, गामे नगरं व देसरज्जे य ।
अहिवतिरायकुलम्मि य, जा जहिं आरोवणा भणिया ॥

बहवः संयताः संयतगणः, तं सहायं गृह्णाति, एवं गृहगणं वा सहायं गृह्णाति। स च गृहगणो ग्रामं वा नगरं वा देशं वा राज्यं वा भवेद् ; ग्रामादिवास्तव्यजनसमुदाय इत्यर्थः । एतेषां चासंयतादीनां, येऽधिपतयः तान् वा सहायत्वेन गृह्णाति। अन्यद्वा राजकुलं गृहीत्वा गच्छति। यथा-कालिकाचार्येण त्रिकराजवृन्दम्; तत्र चैकाकिनो या यत्र संकल्पादिकारोपणा भणिता सा चेहापि द्रष्टव्या।

एतदेव व्याचष्टे-

संजयगणो तदधिवो, गिही तु गामपुरदेसरज्जे वा ।
एतेसिं चिय अहिवा, एगतरजुओ उभयतो वा ॥

संयतगणः प्रतीतः तेषां संयतानामधिपस्तदधिपः, आचार्य इत्यर्थः। ये गृहिणः स्वग्रामपुरदेशराज्यवास्तव्याः, एतेषामधिपतयो वा भवेयुः, तत्र ग्रामाधिपतिः, नैगिकाधिपतिः, पुराधिपतिः, श्रेष्ठी, कोट्टपालो, देशाधिपतिर्देशरक्षको देशव्यापृतको वा, राज्याधिपतिर्महामन्त्री, राजा वा; एतेषामेकतरेणोभयेन वा युक्तो व्रजति, तत्रेयं प्रायश्चित्तमार्गणा-

तहिं वयंते गुरुगा, दोसु तु उड्डाहग गहण छग्गुरुगा ।
छग्गिणपहरण छेदो, मूलं जं जत्थ वा पंथे ॥

संयतगणेन तदधिपेन वा उभयेन वा सहाहं व्रजामीति संकल्पे चतुर्लघु। पदभेदमादौ कृत्वा तत्र व्रजतश्चतुर्गुरु, प्रहरणस्य मार्गणायां दर्शने च द्वयोरपि षड्लघु, प्रहरणस्य ग्रहणे षड्गुरु। उड्डीर्णे प्रहरणे छेदः। प्रहारे दत्ते मूलम्। यद्वा-परितापनादिकं पृथिव्यादिविनाशनं यत्र पथि ग्रामं वा करोति तन्निष्पन्नमपि मन्तव्यम्। तथा गृहस्थवर्गेऽपि ग्रामेण वा, ग्रामाधिपतिना यावद् राज्येन वा, राज्याधिपतिना वा, उभयेन वा, सह व्रजामीति संकल्पे चतुर्गुरु। पथि गच्छतः प्रहरणं च गृह्णतः षड्लघु, गृहीते षड्गुरु, शेषं प्राग्वत्। एवं भिक्षोः प्रायश्चित्तमुक्तम्।

एमेव गमो नियमा, गणिआयरिये य होइ णायव्वो ।
णवरं पुण णाणत्तं, अणवट्ठप्पो य पारंची ॥

एष एव गमो नियमाद्भवति उपाध्यायस्याचार्यस्य, चशब्दादभिषेकस्य वा मन्तव्यः। नवरं पुनरत्र नानात्वमधस्तादेकैकपदह्रासेन यत्र भिक्षोर्मूलं, तत्रोपाध्यायस्यानवस्थाप्यम्, आचार्यस्य पाराञ्चिकम्।

तपोऽर्हे च प्रायश्चित्तानीमानि विशेषयितव्यम्-

भिक्खुस्स दोहि लहुगा, गणवच्छे गुरुग एगमेगेणं ।
उवज्झाए आयरिए, दोहि य गुरुगं च णाणत्तं ॥

भिक्षोरेतानि प्रायश्चित्तानि द्वाभ्यामपि तपःकालाभ्यां लघुकानि, गणावच्छेदिकस्यैकतरेण-तपसा कालेन वा गुरुकाणि, उपाध्यायस्याचार्यस्य च द्वाभ्यामपि तपःकालाभ्यां गुरुकाणि, एतन्नानात्वं विशेष्य।

[illegible]

अयं [illegible] प्रायश्चित्तानि [illegible]-

[illegible]

यावता अधिकं नायतस्य प्रायश्चित्तदातुः प्रायश्चित्तम्, आज्ञादयश्च दोषाः। अथोनं ददाति ततो यावता न पूर्यते तावदात्मना प्राप्नोति। अतः सूत्रेण प्रस्थापना कर्तव्या। यस्तु सूत्रं प्रायश्चित्तं नेच्छति, स वक्तव्यः-अन्यत्र शोधिं कुरुष्व। एषाऽऽत्र यूहणा भण्यते।

अस्या एव पूर्वार्द्धं व्याचष्टे-

जेणऽहियं ऊणं वा, ददाति तावतियमप्पणो पावे।
अहवा सुत्तादेसा, पावति चउरो अणुग्घाया ॥

यत् यावता अधिकमूनं ददाति तावदात्मना प्राप्नोति। अथ सूत्रादेशादूनातिरिक्तं ददानश्चतुरोऽनुद्घातान्मासान् प्राप्नोति।

तथेदं निशीथदशमोद्देशकान्तर्गतसूत्रम्-

जे भिक्खू उग्घाइए अणुग्घाइयं देइ, अणुग्घाइए उग्घाइयं वा देइ, देंतं वा साइज्जइ ॥१६॥

(तस्य चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तमित्यर्थः)

अथ द्वितीयपदमाह—

बितियं उप्पाएउं, सासणपंते असज्झ पंच पया।
आगाढे कारणम्मी, रायसंसारिए जतणा ॥

द्वितीयपदं नाम अधिकरणमुत्पादयेदपि शासनप्रान्तः प्रवचनप्रत्यनीकोऽसाध्यश्च न यथा, तथा शासितुं शक्यते; ततस्तेन सममधिकरणमुत्पाद्य शिक्षणं कर्तव्यम्। तत्र च व्ययमसमर्थं संयतग्रामनगरदेशराज्यलक्षणानि पञ्चापि पदानि सहायत्वेन गृह्णीयात्। आगाढे कारणे राजसंसारिका राजान्तरस्थापना, तामपि यतनया कुर्यात्। तथाहि-यदि राजा प्रतीव प्रवचनप्रान्तोऽनुशिष्ट्यादिभिरनुकूलोपायैर्न उपशाम्यति, ततस्तं राजानं स्फेटयित्वा तद्वंशजमन्यवंशजं वा भद्रकं राजानं स्थापयेत्।

यश्च तं स्फेटयति स ईदृग्गुणयुक्तो भवति-

विज्जाओरस्सबली, तेयसलद्धी सहायलद्धी वा।
उप्पाडेउं सासति, अतिपंतं कालगज्जो व्व ॥

यो विद्याबलेन युक्तः, यथा-आर्यखपुटः। औरसेन वा बलेन युक्तः, यथा-बाहुबली। तेजोलब्ध्या वा सलब्धिकः, यथा-ब्रह्मदत्तः। सहायलब्धियुक्तः, यथा-हरिकेशबलः। ईदृशोऽधिकरणमुत्पाद्यातिप्रान्तमतीवप्रवचनप्रत्यनीकं शास्ति, शासितवान्। यथा कालिकाचार्यो गर्दभिल्लराजानं शासितवान्। [illegible]

कथानकं चेदम्-

को उ गद्दभिल्लो ?, को वा कालगज्जो ?, कम्मि वा काले आसि ? भण्णति-उज्जेणी णाम णगरी, तत्थ य गद्दभिल्लो णाम राया, तत्थ कालगज्जा णाम आयरिया जोतिसणिमित्तबलिया, तस्स भगिणी रूववती पढमे वयसि वट्टमाणा गद्दभिल्लेण गहिया, अंतेउरे छूढा, अज्जकालगा विण्णवेंति; संघेण य विण्णवितो ण मुयति। ताहे रुट्ठो कालगज्जो पइण्णं करेति-जइ गद्दभिल्लं रायाणं रज्जाओ ण उम्मूलेमि तो पवयणसंजमोवघायगाणं तमुवेक्खगाण य गतिं गच्छामि। ताहे कालगज्जो कयगेण उम्मत्तो दुंदुं भमति [illegible]-जइ गद्दभिल्लो राया, तो किमतः परम् ?, अह वा अंतेउरं रम्मं, तो किमतः परम् ?, विसयो जइ वा रम्मो, तो किमतः परम् ? सुणिवेट्ठा पुरी, अह तो किमतः परम् ?, अह वा जणो सुवेसो, तो किमतः परम् ?, अह वा हिंडामि भिक्खं, तो किमतः परम् ?, अह सुण्णे देवकुले वासो, तो

किमन परम् ?। एवं भणिओ सो कालगज्जो पारसकूलं गतो, तत्थ एगो साहि त्ति राया भण्णति, तं समल्लीणो णिमित्ताईएहिं दियं आउट्टेति, अण्णया तस्स साहाणुसाहिणा परमसामिणा कम्हि वि कारणे मत्तेण कट्टारिगा सद्देऊं पेसिया, सीसं छिंदाहि त्ति । तं अकंप्पमाणं आयाते पेच्छिऊण सो य विमणो सजातो, अप्पाण मारिउं ववसिओ । ताहे कालगज्जेण भणिओ-मा अप्पाणं मारेहि। साहिणा भणियं-परमसामिणा रुट्ठेण एत्थ अच्छिउं ण तीरइ। कालगज्जेण भणिय-एहि हिंदुगदेसं वच्चामो । रण्णा पडिसुयं । तत्तुल्लाण य अण्णेसिं वि पंचाणउतीए साहीणं मुद्धा, केण कट्टारियाओ सद्देउं पेसियाओ । तेण पुव्विल्लेण दूया पेसिया, मा अप्पाणं मारेह। एहि वच्चामो हिंदुगदेसं। ते छन्नउई वि सुरट्ठमागया, कालो य णवपाउसो वट्टइ । तारिसे काले ण तीरइ गंतुं तत्थ मंडलाइं कया। वि विभाजिऊण जं कालगज्जो समल्लीणो सो तत्थ अहिवो राया ठविओ, ताहे सगवंसो उप्पण्णो, एत्ते य सरिकाले कालगज्जेण भणियो-गद्दभिल्लराया गेण्हेमो , ताहे लाडा रायाणो जे गद्दभिल्लेण अवमाणिता ते मेलिया अण्णे य, ततो उज्जेणी रोहिता।तस्स य गद्दभिल्लस्स एका विज्जा गद्दहिरूवधारिणी अत्थि, सा य एगम्मि अट्टालगे परबलाभिमुहा ठविया,ताहे परमे अवकप्पे गद्दभिल्लो राया अट्ठमभत्तोववासी तं अवयारेइ, ताहे सा गद्दभी महंतेण सद्देण णादति। तिरिओ मणुओ वा जो परबलट्ठिओ सद्दं सुणेति स सव्वो रुहिरं वमंतो भयविब्भंतो णट्ठसण्णो धरणितले णिवडइ। कालगज्जो य गद्दभिल्लं अट्ठमभत्तोववासियं सव्वविधाणदक्खाणं अट्ठसतं जोहाण णिरूवेति, जाहे एस गद्दभी मुहं विडंसेति जाव य सद्दं ण करेति ताव जमगसमगएण मुहं पूरेज्जा । तेहिं पुरिसेहिं तहेव कयं, ताहे सा वाणमंतरी तस्स गद्दभिल्लस्स उवरिं हगिउं मुत्तिउं पलहीणं कयं, ताहे सो वि गद्दभिल्लो अबलो उम्मूलिओ, गहिया उज्जेणी,मागिओ पुणरवि संजमे ठविया। नि० चू० १० उ० ।

(१२) अनुत्पन्नमधिकरणमुत्पादयति -

जे भिक्खू णवाइं अणुप्पणाइं अहिगरणाइं उप्पाएइ,
उप्पायंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥

णव अपुरातनं न भवति, अणुप्पण्णा संपयकाले अविज्जमाणा अधिकरणं, संयमयोगातिरिक्तमित्यर्थः । नि० चू० ५ उ० ।

(१३) कारणे सदुत्पादयेत्—

वितियपदमणप्पज्झो, उप्पादे वि कोविते व अप्पज्झो ।
नाणं ते वा वि पुणो, विगिंचणट्ठा य उप्पाए ॥२५०॥

अणप्पज्झो अकोविदो वा सेहो वा अणरिहो कारणे पव्वावितो कतो, कारणे सो अधिकरणं काउं विगिंचियव्वो ॥ नि० चू० ५ उ० ।

कारणान्तरमाह-

सेवादिऽकोविओ वा, अनलविवेगट्ठया व जाणं पि ।
अहिगरणं तु करेत्ता, करेज्ज सव्वाणि वि पयाणि ॥

क्षिप्तचित्त-, आदिशब्दाद् दृप्तचित्तो, यक्षाविष्टो वा, अनात्मवशत्वादधिकरणं कुर्यात् । अकोविदो वा अयाप्यपरिणतजिनवचनः शैक्षः, स अज्ञत्वादधिकरणं विदध्यात् । यद्वा-जानन्नपि गीतार्थोऽपीत्यर्थः । अनलस्य-प्रव्राजयितुमयोग्यस्य नपुंसकादेः कारणे दीक्षितस्य तत्कारणपरिसमाप्तौ विवेचनार्थं परित्यापनाय तेन सहाधिकरणं करोति, कृत्वा चाधिकरणं सर्वाण्यप्यनादरादीनि पदानि कुर्यात् ।

स्पष्टतरं भावयति—

कारणे अनले दिक्खा, सम्मत्ते ऽणुसट्ठि तेण कलहो वि ।
कारणे सद्दनिता णं, कलहो अण्णोण्ण तेणं वा ॥

कारणे अनलस्यायोग्यस्य दीक्षा दत्ता, समाप्ते च तस्मिन् कारणे तस्यानुशिष्टिः क्रियते । तथाऽप्यनिर्गच्छता तेन समं कलहोऽपि कर्तव्य.। कारणे वा शब्दप्रतिबद्धायां वसतौ स्थिताः, ततोऽन्योन्यं तेन शब्दकारिणा समं कलहः क्रियते येन शब्दो न श्रूयते । बृ० ४ उ० ।

(१४) पुराणान्यधिकरणानि क्षान्तव्युपशमितानि-

पुनरुदीरयति-

जे भिक्खू पोराणाइं अहिगरणाइं खामियविउसमियाइं
पुणो उदीरेइ, उदीरेंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥

पोराणा पूर्वं उत्पन्ना, अधिकरण पूर्ववत् । दोसावगमो खमा, तं च खामियं भण्णति । विविधं ओसमियं विउसमियं मिच्छादुक्कडप्रदाणं । अहवा-खामियं वायाए, मणसा विउसमियं, वुत्थुहं, ताणि जो पुणो उदीरेइ उप्पादयति तस्स मासलहुं ।

खामियविउसमियाइं, अधिकरणाइं तु जे य उप्पाए ।
पावाणा तत्थ तेसिं, तुज्झणउत्तं परूवणा इणमो ॥२५१॥

पावाणा, साधुधर्मे व्यवस्थिता इत्यर्थः । कहं उप्पाएति ?, कति साहुणो पुव्वं कलहिता, तम्मि य खामियविउसमिते तत्थेगो भणाति-अहं णाम तुमे तदा एवं भणितो, आसी ण जुत्त तुज्झ, इयरो पडिभणति-अहं पि ते किं भणितो ? । इतरो भणाति-इयाणिं किं ते सुणामि , एव उप्पाएति ।

स उप्पायगो-

उप्पादगमुप्पण्णं, संबद्धो कक्खडे य बाहूयं ।
आविट्टणा य पुच्छाए, समुग्घतोऽति घायणे चेव ॥२५२॥

पुणो ते वि कलुसिया उप्पायगा, जेहिं उप्पणं, संबद्धं णाम-वायाए परोप्पर सामिज्जमाणा, कक्खडं णाम, पासट्ठितेहि वि ओसमिज्जमाणा ण वि णोवसमति, (बाहुअं ति) रोसवसेण बाहाबाहुं लग्गा, आविट्टणा-एगो णिहओ, जो सो णिहतो सो पुच्छितो। मारणंतियसमुग्घाएण समोहतो, अतिघायणा मारणं ।

एतेसु णवसु ठाणेसु उप्पायगस्स इमं पच्छित्तं-

लहुओ लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति छहुगगुरुगा य ।
छेदो मूलं च तहा, अणवट्ठप्पो य पारंची ॥ २५३ ॥

विनियादिसु चउलहुगादी पच्छित्ता, उप्पादगपदं ण भवति त्ति काउं ।

तातो भेदो अयसो, हाणी दंसणचरित्तणाणाणं ।
साधुपदोसो संसारवड्ढणादी उदीरंते ॥२५४॥
वितियपदमणप्पज्झे, ओदारे वि कोविते व अप्पज्झे ।
नाणं ते वा वि पुणो, विगिंचणट्ठा उदीरेज्जा ॥२५५॥

पूर्ववत् । नि० चू० ५ उ० ।

(१५) निर्ग्रन्थैर्व्यतिकृष्टमधिकरणं नोपशमनीयम्-

नो कप्पइ निग्गंथाणं वितिगिट्ठाइं पाहुडाइं विओसमित्तए ॥ १० ॥

अस्य संबन्धमाह-

विगिगिट्ठा समणाणं, अव्वितिगिट्ठा य होइ समणीणं ।
मा पाहुडं पि एवं, भवेज्ज सुत्तस्स आरंभो ॥

व्यतिकृष्टा श्रमणानां दिग्भवति, अव्यतिकृष्टा श्रमणीनामित्यनन्तरसूत्रेऽभिहितमेव । तथाऽऽकर्ण्य मा प्राभृतमप्येवं भवेदित्येतदधिकृतसूत्रस्यारम्भः । अस्य व्याख्यानं कल्पते निर्ग्रन्थानां व्यतिकृष्टानि क्षेत्राधिकृष्टानि, प्राभृतानि कलहानित्यर्थः । विओसमित्तुमुपशमयितुम्, किं तु यत्रोत्पन्नं न तत्रोपशमयितुं कल्पते । इत्येष सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यप्रपञ्चः-

सेज्जासणातिरित्ते, इच्चादी घट्ट मायणाभेदे ।
वेदंतरंदेवे, वप्पज्जइ पाहुडं एवं ॥

शय्यासनातिरिक्ते-किमुक्तं भवति ?-अतिरिक्तां शय्यामतिरिक्तानि चाऽऽसनानि, परिभुङ्क्ते इति वार्यमाणे, यदि वा हस्तादिकं [illegible] पादेन संघट्टयाऽऽक्रम्य क्षमयित्वा व्रजति, यद्वा-[illegible] भाजनभेदे, अथवा पूर्वं वन्द्यमाने पश्चाद्वन्दने प्रभूतं काल [illegible] समुत्पद्यते ।

अहिगरणसमुप्पन्ने, ना [illegible] पारिहारियकुलम्मि ।
[illegible], अधिगरण तओ समुप्पन्नो ॥

[illegible] अधिकरणं समुत्पद्येत ।

अहिगरणे उप्पन्ने, अविओसवियम्मि निग्गयं समणं ।
जेऽऽसाएज्ज इ [illegible], तस्स चत्तारि भारीया ॥

अधिकरणे उत्पन्ने सति [illegible] तस्मिन्नव्युपशमिते [illegible] व्यतिक्रान्ते [illegible] तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो मासाः गुरवः ।

[illegible] वा वि, संकंसविओसिमित्ते ।
[illegible], [illegible] तु इमं भवे ॥

[illegible]

[illegible]—

[illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible]

[illegible]—

[illegible] ।

मूलं ओद्दावणे होइ, वेहासे चरमं भवे ॥

यदू यस्मात्प्रेषणे, कथने वा; प्रद्वेषादपद्रावणं करिष्यति । वा-यसं वा, वैहायसं नामोत्कलं बनम । तत्रापद्रावणे तेन हते सति प्रेषयितुः कथयितुर्वा मूलं प्रायश्चित्तम्; वैहायसे चरमं पाराञ्चिकमिति ।

अन्यच्च-

तत्थऽन्नत्थ न वा सं-वदेति मे न वि य नंदणाएवं ।
नंदंति ते खलु मए, इति कलुसऽप्पा करे पावं ॥

मम तत्रात्मीयसमीपे अन्यत्रैवेहागतस्य जन्मान्तरवैरात्र न संवदति, नापि च मयि नन्दति ते नन्दन्ति, महाप्रद्वेषोऽमुमाश्रात् । ततो न जन्मान्तरवैरिणः ते मम पृष्ठं मुञ्चन्तीति चिन्त्य कलुषात्मा पापं कुर्यात् ।

किं तत् ?, इत्याह—

आदीविज्ज व वसहिं, गुरुणो अप्पस्स घाय मरणं वा ।
कंमच्छारिय सूसय-सहितो सयमुरस्स बलवं तु ॥

कथच्छारिओ नाम ग्रामो, ग्रामाधिपतिर्वा, लूषका वा स्तेनसहितः, स्वयं वा औरसो बलवान्, वसतिमादीपयेत्, गुरोरन्यस्य वा घातं, मारणं वा कुर्यात् ।

किं तत् ?, इत्याह-

जइ जासइ गणमज्झे, अवप्पयोगा व तत्थ गंतूण ।
अचितोसमिए एत्था-गतो त्ति ते चेव ते दोसा ॥

यः प्रेषितो, यद्वा-भयप्रयोगाद् अन्येन कार्येण तत्र गत्वा गणमध्ये सकलगणसमक्षं यदि ज्ञाप्यते, यथा-एषोऽधिकरणं कृत्वा येन सहाऽधिकरणमनुपशमितमेवाविते अत्रागत इति, (ते दोसा) तानि त एव प्रागुक्ता दोषाः ।

जम्हा एए दोसा, अविही पेसणे य कहणे य ।
तम्हा इमेण विहिणा, पेसण कहणं तु कायव्वं ॥

यस्मादविधिना प्रेषणे, कथने च एतेऽनन्तरोदिता दोषाः, तस्मादनेन वक्ष्यमाणेन विधिना प्रेषणं कथनं च कर्तव्यम् ।

तमेव विधिमाह—

गणिणो अत्थि निवेयं, रहिते किर पेसितो ।
गमेति तं रहे चेव, नेच्छे सहसइं तु तो ॥

अन्येन प्रयोजनेन प्रेषितः सन् रहिते विविक्ते प्रदेशे, [illegible] निवेदं तदधिकरणरहस्यं गणिन आचार्यस्य गमयति [illegible] [illegible] कृताधिकरणं रहस्येव गमयति । यथा-[illegible] [illegible] अधिकरणं कृत्वाऽत्र समागतो, न च [illegible] [illegible] यदि न प्रेच्छेद् यथा-अहं नाधिकरणं कृत्वा [illegible] [illegible] (तु) निवेदयामि ।

गुरुमयगारं गणिणो, सहाति जइ नेच्छइ ।
[illegible] गणमज्झम्मि, ज्ञापने नाभिनिद्दिट्ठं ॥

[illegible]
[illegible]
[illegible] । तथा-[illegible]

ततः प्रहरदिवसाद्यतिक्रमेण प्रस्तावान्तरमारभ्य गणमध्ये तं भाषते, परं नातिनिष्ठुरम् ।

कथं तं भाषते ?, इत्याह—

गणस्स गणिणो चेव, तुपम्मी निग्गते तया।
आयिती महती आसी, सो विवक्खो य सज्जितो ॥

तदा तस्मिन्काले त्वयि अधिकरणं कृत्वा निर्गते समस्तस्यापि गणस्य, गणिनश्चाचार्यस्य महती अप्रीतिरासीत् । येन च सह तवाधिकरणमभूत् सोऽपि विपक्षो गणिना गणेन च सज्जितः ।

गणेण गणिणा चेव, सारेज्ज नमकंपिणो ।
ताहे अघारदेमेण, विवेगो से विहिज्जइ ॥

एवमुक्तानन्तरं तदन्येन गणेन गणिना च स भरवन्द्र शारणी- यः शिक्षणीयः, येन स्वदोषं प्रतिपद्य तत्र गत्वा विपक्षं क्षमय- ति । अथ स तथा सार्यमाणोऽकम्पितो नोपशमं नीतो दुःस्वभा- वत्वात्ततोऽन्यापदेशेन तस्य विवेकः परित्यागो विधीयते ।

केनोपदेशेन ?, इत्याह—

महाजणो इमो अम्हं, खेत्तं पि न पहुप्पति ।
वसही सांपरुद्धा वा, वत्थपत्ता वि नत्थि णो ॥

अयं अस्माकं महान् जनोऽस्माकमेतावतां न चैतत् क्षेत्रं प्रभवति, संकीर्णत्वात् । यदि वा वसतिः सम्पिरुद्धा सं- कटा वर्तते, तत एतावन्तः साधवोऽत्र न मान्ति, अथवा वस्त्र- पात्राण्यस्माकं संप्रति न सन्ति । अपिशब्दादत्र तथाविध- ग्रामोऽप्यस्ति, साधवोऽप्येतेऽभिधासहमाः, तस्मात् पृथगन्यत्र कापि गच्छत । यदि पुनः स सार्यमाण उपशममधिगच्छति, ततः स वक्ष्यमाणेन विधिनोपशमयितव्यः ।

तत्र प्रथमतोऽधिकरणोपशमनस्थानमाह—

सगणिपरगणिणा, ममणुण्णेयरेण वा ।
रहस्सादि व उप्पण्णं, जं जहिं तं तहिं खवे ॥

स्वगणसत्केन परगणसत्केन वा तेनापि समनोज्ञेन सांभोगिकेने- तरेण वा सह रहसि वा, आदिशब्दात्प्रकाशे वा; यतो यत्राधि- करणमुत्पन्नं तत्रैव क्षपयेदुपशमयेत् ।

तत्रोपशमनविधिमाह—

एगो य दो य निग्गय, उप्पण्णं जत्थ तत्थ वोसमणं ।
गामं गच्छ दु गच्छे, कुलगणसंघे य विइयपयं ॥

एको वा, द्वौ वा, त्रयश्चत्वारो वा, चत्वारो वा, येऽधिकरणं कृ- त्वा निर्गतास्ते यत्र ग्रामे नगरे वाऽधिकरणमुत्पन्नं तत्र नीयन्ते, आनीय यैः सहाधिकरणमभूत् तैः सह व्युपशमनं क्षामणं कार्य- म । तदुत्पन्नमधिकरणमेकस्मिन् गच्छे, यदि वा द्वयोर्गच्छयोः, अ- थवा कुले, यदि वा गणे, यदि वा संघे, समुत्पन्नं स्यात् । (विइ- यपदमिति) अत्रापि द्वितीयपदमपवादपदम् । तत्रोपशमना- वकाशेऽपि इदमपि प्राप्तुं विशेषयेत् । तच्च विनोपदर्श- यिष्यते ।

साम्प्रतमधिकरणमुत्पन्नं यथोपशमयितव्यं तथा चाऽऽह—

तं जोसिएहिँ दिट्ठं, तेसिंचय तेसाय मेलवं काउं।
गिहत्थाण य साहूण य, दुण्होवसामिय होंति खामेंति ॥

तदधिकरणमुत्पन्नं यावद्गृहस्थैः संयतैश्च दृष्टं तावत्ता- नां गृहस्थानां साधूनां च मीलनं कृत्वा तेषां पुरतो द्वावपि पर- स्परं क्षमयतः । कुलादिसमवाये समुत्पन्नं ततः कुलादिसमवायं कृत्वा क्षमयतः । किं कारणम् ?, यावद्भिर्गृहिभिः संयतैश्च दृष्टं तावतां मीलनं कृत्वा परस्परं क्षमयतः, तथाऽऽह—

नवणीयतुल्लहियया, साहू एवं गिहिणो उ नाहिंति ।
न य दंमगा साहू, काहिंती तस्स वोसमणं ॥

नवनीततुल्यहृदयाः साधवः, एवं गृहिणः तुल्यशब्दाभिमवतो- ऽवगतस्य ज्ञास्यन्ति । न च दण्डकास्त्या यद्येवंविधिकरणे स- मुत्पन्ने व्युपशमनं करिष्यन्ति, किं तु कलहं करिष्यन्ति, एवं ज्ञास्य- न्ति, एवंरूपा च प्रतिपत्तिः शुभोदयपरम्परोपहेतुः, अतस्तावता मीलनं कृत्वा परस्परं तौ क्षमयतः ।

संप्रति यदुक्तं 'विइयपयमिति' तद्व्याख्यानार्थमाह—

बितियपदे विगिगिट्ठे, विगोगवेरज्ज उच्छिन्न वइगो ।
विहंतो जइ न उवसमे, गतो य सो अन्नदेसेसु ॥

द्वितीयपदे व्यतिकृष्टमपि प्राभृतमपि विनोपदेशमुपशमयेत् । कथम् ?, इत्याह—येन सहाधिकरणं बहुशो बहुत कालात् कृतं, स- न्योपविधिमन्तं क्षमयति, स च दृश्यमानो द्वितीय उपशाम्यति । यदि नोपशमेत् अनुपशान्तश्च गतोऽन्य देशान्तर—

कालेण य उवसमो, वसिहंतो व अन्नम्मेहिं ।
खीराहिंसलद्धीण व, देवय गेलन्न पुट्ठो वा ॥

[illegible]

एवं ज्ञानपुरस्कृतिका [illegible]—

गंतुं न्यायएव्वो, अइव न दर्पोऽहिंसा दीनेहि ।
नंदिद्दृग उवसन्तो, हुरियं वा तस्स होइत्ति ॥

[illegible]

इदं—

गामो हहिव हुरथा, अंतर वा अन्तरं निरुद्धसती ।
अप्प गतो न नगरं, अहवा गेलन्न पंथयरं ॥

[illegible]

अन्नट्ठमए सविहसं, दिवसादि काउंव अंतरोसिं वा ।

[illegible]

[illegible]

एवम्-

साहिगरणं निग्गंथं निग्गंथे णिएहमाणे वा अणिएहमाणे वा णातिक्कमइ ॥

अस्य व्याख्या भाष्यम् ।

अत्र भाष्यम्—

उप्पन्ने अहिगरणे, ओसमणं दुविहऽतिक्कमं दट्ठुं ।

अणुमासणभासनिवं-जणा य जो तीए पडिवक्खो ॥

संयत्या गृहस्थेन सममधिकरणे उत्पन्ने द्विविधमतिक्रमं दृष्ट्वा तस्याधिकरणस्य व्यवशमनं कर्तव्यम् । किमुक्तं भवति ?-स गृहस्थोऽनुपशान्तः सन् तस्याः संयत्याः संयमभेदं, जीवितभेदं चेति द्विविधमतिक्रमं कुर्यात् । तत उपशमितव्यमधिकरणम् । कथम् ?, इत्याह-यस्तस्याः संयत्याः प्रतिपक्षो गृहस्थस्तस्य प्रथमतः कोमलवचनैरनुशासनं कर्तव्यम् । तथाऽप्यतिष्ठति भापणं भाषणं कर्तव्यम् । तथाऽप्यतिष्ठतो निष्क्रमणं, यस्य वा सन्निधानेन तथा निवारणं कर्तव्यम् । बृ० ६ उ० ।

(१७) साधिकरणेनाऽकृतप्रायश्चित्तेन सह न संभोगः कार्यः-

जे भिक्खू साहिगरणं अविओसमियपाहुडं अकडपच्छित्तं परं तिरायाओ विप्फालियं अविप्फालियं संभुंजइ, संभुंजंतं वा साइज्जइ । १५ ।

जदि णिद्देसे, भिक्खू पुव्ववण्णितो सहाधिकरणः कषायभावशुभभावाधिकरणसहित इत्यर्थः । विविधं विविधेहिं वा पगारेहिं विवसमियं उवसामियं । किं तं ?, पाहुडं, कलहमित्यर्थः । ण विओसमियं अविओसामियं, पाहुडं, तम्मि पाहुडकरणे जं पच्छित्तं जेण सो कडपच्छित्तो । “ अमानोनाः प्रतिषेधे ” न कृतं प्रायश्चित्तं अकृतप्रायश्चित्तं, जो तं संभुंजणसंभोएण संभुंजति, एगमंडलीए संभुंजइ त्ति वुत्तं भवति, अहवा दाणग्गहेण संभोएण भुंजति तस्स चउगुरुगा आणादिणो य दोसा । नि० चू० ४ उ० ।

(१८) अथ दण्डकक्रमेणाऽधिकरण्यधिकरणद्वयनिरूपणायाऽऽह—

जीवे णं भंते ! अहिगरणी, अहिगरणं ? । गोयमा ! जीवे अधिगरणी वि, अधिगरणं वि । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जीवे अधिगरणी वि, अधिगरणं वि ? । गोयमा ! अविरतिं पडुच्च से तेणट्ठेणं जाव अधिगरणी वि अधिगरणं पि । णेरइए णं भंते ! किं अधिगरणी, अधिगरणं ? । गोयमा ! अधिगरणी वि, अधिगरणं पि । एवं जहेव जीवे तहेव णेरइए वि, एवं णिरंतरं जाव वेमाणिए ।

(जीवे णमित्यादि) । (अहिगरणी वि त्ति) अधिकरणं दुर्गतिनिमित्तं वस्तु, तच्च विवक्षया शरीरमिन्द्रियाणि च, तथा बाह्यो हलगन्त्र्यादिपरिग्रहः, तदस्यास्तीत्यधिकरणी जीवः । (अहिगरणं पि त्ति) शरीराद्यधिकरणेभ्यः कथञ्चिदव्यतिरिक्तत्वादधिकरणं जीवः । एतच्च द्वयं जीवस्याविरतिं प्रतीत्योच्यते, तेन यो विरतिमानसः शरीरादिभावेऽपि नाधिकरणी, नाप्यधिकरणम्, अविरतियुक्तस्यैव शरीरादेरधिकरणत्वादिति । एतदेव चतुर्विंशतिदण्डके दर्शयति-(नेरइए इत्यादि) अधिकरणी जीव इति प्रागुक्तम् । स च दूरवर्तिनाऽप्यधिकरणेन स्यात्, यथा-गोमान् । इत्यतः पृच्छति-

जीवे णं भंते ! किं साहिगरणी, णिरहिगरणी ? । गोयमा ! साहिगरणी, णो णिरहिगरणी । से केणट्ठेणं पुच्छा ? । गोयमा ! अविरतिं पडुच्च से तेणट्ठेणं जाव णो णिरहिगरणी । एवं जाव वेमाणिए ॥

(साहिगरणि त्ति) सह सहभाविनाऽधिकरणेन शरीरादिना वर्तत इति समासान्तविधेः साधिकरणी । संसारिजीवस्य शरीरेन्द्रियरूपाधिकरणस्य सर्वदैव सहचरितत्वात्साधिकरणित्वमुपदिश्यते । शस्त्राद्यधिकरणापेक्षया तु स्वस्वामिभावस्य तदविरतिरूपस्य सह वर्तित्वाज्जीवः साधिकरणीत्युच्यते । अत एव वक्ष्यति-(अविरइं पडुच्च त्ति) अत एव संयतानां शरीरादिसद्भावेऽप्यविरतेरभावान्न साधिकरणित्वम् । (निरहिगरणि त्ति) निर्गतमधिकरणमस्मादिति निरधिकरणी । समासान्तविधेरधिकरणदूरवर्तीत्यर्थः । स च न भवति, अविरतेरधिकरणभूताया अदूरवर्तित्वादिति । अथवा-सहाधिकरणिभिः पुत्रमित्रादिभिर्वर्तत इति साधिकरणी । कस्यापि जीवस्य पुत्रादीनामभावेऽपि तद्विषयविरतेरभावात्साधिकरणित्वमवसेयम् । अत एव नो निरधिकरणीत्यपि मन्तव्यमिति ।

अधिकरणाधिकारादेवेदमाह-

जीवे णं भंते ! किं आयाहिगरणी, पराहिगरणी, तदुभयाहिगरणी ? । गोयमा ! आयाहिगरणी वि, पराहिगरणी वि, तदुभयाहिकरणी वि । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ० जाव तदुभयाहिगरणी वि ? । गोयमा ! अविरतिं पडुच्च से तेणट्ठेणं जाव तदुभयाहिगरणी वि । एवं जाव वेमाणिए ।

(आयाहिगरणि त्ति) अधिकरणी कृष्यादिमान्, आत्मनाऽधिकरणी आत्माधिकरणी । ननु यस्य कृष्यादि नास्ति स कथमधिकरणी ?, इत्यत्रोच्यते-अविरत्यपेक्षया, इत्यत एवाविरतिं प्रतीत्येति वक्ष्यति । (पराहिगरणि त्ति) परतः परेषामधिकरणे प्रवर्तनेनाधिकरणी पराधिकरणी, (तदुभयाहिगरणि त्ति) तयोरात्मपरयोरुभयं तदुभयं, ततोऽधिकरणी यः स तथेति ।

अथाधिकरणस्यैव हेतुप्ररूपणायाऽऽह—

जीवे णं भंते ! अधिगरणे किं आयप्पओगणिव्वत्तिए, परप्पओगणिव्वत्तिए, तदुभयप्पओगणिव्वत्तिए ? । गोयमा ! आयप्पओगणिव्वत्तिए वि, परप्पओगणिव्वत्तिए वि, तदुभयप्पओगणिव्वत्तिए वि । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ? । गोयमा ! अविरतिं पडुच्च से तेणट्ठेणं जाव तदुभयप्पओगणिव्वत्तिए वि । एवं जाव वेमाणियाणं ।

(आयप्पओगणिव्वत्तिए त्ति) आत्मनः प्रयोगेण मनःप्रभृतिव्यापारेण निर्वर्तितं निष्पादितं यत्तत्तथा । एवमन्यदपि द्वयम् । ननु यस्य वचनादिपरप्रवर्तनवस्तु नास्ति तस्य कथं परप्रयोगनिर्वर्तितादि भविष्यति ?, इत्याशङ्कामुपदर्श्य परिहरन्नाह-(से केणट्ठेणमित्यादि) अविरत्यपेक्षया त्रिविधमप्यस्तीति भावनीयमिति ।

अथ शरीराणामिन्द्रियाणां योगानां च निर्वर्तनायां जीवादेरधिकरणित्वादिप्ररूपणायेदमाह-

जीवे णं भंते ! ओरालियसरीरं णिव्वत्तिएमाणे किं अधि-

अहि (हि) ट्ठाण-अधिष्ठान-न० । संनिवेशविशेषे, नग [illegible], " जे भिक्खू वत्थस्स अहिट्ठेइ, अहिट्ठेन वा साइज्जइ " नि० चू० १ उ० ।

अहि (हि) ट्ठित्ता-अधिष्ठाय-अव्य० । संस्थाप्येति पृष्ठीकृत्येत्यर्थे, नि० चू० १६ उ० ।

अहि (हि) मासग-अधिमासक-पुं० । अभिवर्द्धितसंवत्सरमासे, " जत्थ अहिमासगो पडइ वरिसे तं अभिवड्ढियवरिसं, जत्थ [illegible] अधिमासगो ण पडइ तं [illegible] चंदवरिसं भणंति " नि० चू० २० उ० ।

अहि (हि) मुत्ति-अधिमुक्ति-स्त्री० । [illegible], द्वा० २२ द्वा० ।

अहि (हि) वइ (ति)-अधिपति-पुं० । प्रभावातिशये प्र-[illegible], स्था० १ उ० ।

अहीमहि-अधीमहि-अव्य० । अध्ययनार्थे इ-धातुः । तस्य [illegible] ला आदेशः, आ अधीमहि । [illegible], " अभी हे वरपधामहि " [illegible] । [illegible] । [illegible]-अधीमहि, [illegible] स्था० १ ।

अहीरपुरिस-अहीरपुरुष-पुं० । [illegible] पुरुषे, उत्त० ना० अ० ।

अहुण-अहुण-पुं० । यः पुरुषपापं [illegible] प्राप्नोति स [illegible] यो [illegible] स पुण्यवान् । क० १ कर्म० ।

अहे (धे) कम्म-अधःकर्मन्-न० । अधोगतिनिबन्धने कर्मं अधःकर्म । [illegible], [illegible] भवति [illegible] [illegible], [illegible] प्रवृत्तः । अस्य निक्षेपः-अधःकर्म चतुर्द्धा । तद्यथा-नामाधःकर्म, स्थापनाधःकर्म, द्रव्याधःकर्म, भावाधःकर्म च । [illegible] [illegible] द्रव्याधःकर्म । [illegible] तु द्रव्याधःकर्म निर्युक्तिकृदाह-

जं दव्वं उदगाइसु, छूढमहे वयइ जं च भारेण ।
सीईए रज्जुएण व, ओयरणं दव्वऽहेकम्मं ॥ ९६ ॥

यत्किमपि द्रव्यमुपलादिकमुदकादिषु उदककूपादिषु मध्ये क्षिप्त सत् भारेण [illegible] गुरुतया अधो व्रजति तथा (जं चेति) यच्च (सी)ईए (त्ति) निःश्रेण्या रज्ज्वा वा अवतरणं पुरुषादेः कूपादौ, प्रासादेर्वा भुवि, तद् सर्वोऽप्यधोगमनमवतरणं वा द्रव्याधःकर्म । [illegible] द्रव्याधःकर्मेति व्युत्पत्तेः ।

संप्रति भावाधःकर्मणोऽवसरः, तच्च द्विधा-आगमतो, नोआगमतश्च । तत्र आगमतोऽधःकर्म शब्दार्थज्ञानात् । तत्र नोआगमतो भावाधःकर्म आह-

संजमठाणाणं कं-डगाण लेसाठिईविसेसाणं ।
भावं अहे करेई, तम्हा तं भावऽहेकम्मं ॥ ९७ ॥

संयमस्थानानां वक्ष्यमाणानां कण्डकानां संख्यातीतसंयमस्थानसमुदायरूपाणाम्, उपलक्षणमेतत् षट्स्थानकानां संयमश्रेणेश्च । तथा लेश्यानां, तथा सातवेदनीयादिरूपशुभप्रकृतीनां संबन्धिनां स्थितिविशेषाणां च संबन्धिषु विशुद्धेषु विशुद्धतरेषु स्थानेषु वर्तमानं सन्तं निजं भावमध्यवसायं यस्मादाधाकर्म भुञ्जानः साधुरधः करोति, हीनेषु हीनतरेषु स्थानेषु विधत्ते । तस्मात्तदाधाकर्म भावाधःकर्म भावस्य परिणामस्य सं-यमादिसंबन्धिषु शुभेषु शुभतरेषु स्थानेषु वर्त्तमानस्य; अधः अधस्तनेषु हीनेषु हीनतरेषु स्थानेषु कर्म क्रिया यस्मात्तदाधाकर्मेति व्युत्पत्तेः ।

एतामेव गाथां भाष्यकृद् गाथात्रयेण व्याख्यानयति-

सव्वागासप-एसग-गुणिओ निव्वि-भाग मइया हौंति संजमट्ठाणं ।
संताईयाणि उ ता-णि कंडगं होइ नायव्वं ॥ ९८ ॥
संखाईयाणि उ कं-डगाणि छट्ठाणगं विणिद्दिट्ठं ।
छट्ठाणा उ असंखा, संजमसेढी मुणेयव्वा ॥ ९९ ॥
किण्हाईया उ लेसा, उक्कोसविसुद्धठिइविसेसा उ ।
एएसिं वि सुद्धाणं, अप्पं तग्गाहगो कुणइ ॥ १०० ॥

इह सर्वोत्कृष्टान्यपि देशविरतिविशुद्धिस्थानाद् जघन्यमपि सर्वविरतिविशुद्धिस्थानमनन्तगुणम् च सर्वत्रापि षट्स्थानकचिन्तायां सर्वजीवानन्तकप्रमाणेन गुणकारेण द्रष्टव्या । इयं चात्र भावना-जघन्यमपि सर्वविरतिविशुद्धिस्थानं केवलिप्रज्ञाच्छेदेन छिद्यते, छित्वा च निर्विभागा भागाः सर्वसंकलनया परिभाव्यमानाः सर्वोत्कृष्टदेशविरतिविशुद्धिस्थानगता निर्विभागा भागाः सर्वजीवानन्तकरूपेण गुणकारेण गुण्यमाना यावन्तो जायन्ते तावत्प्रमाणाः प्राप्यन्ते । अयमत्र भावार्थः-इह किल असत्कल्पनया सर्वोत्कृष्टस्य देशविरतिविशुद्धिस्थानस्य निर्विभागा भागाः १०००० दशसहस्राणि, सर्वजीवानन्तकप्रमाणश्च राशिः शतम् । ततस्तेन शतसंख्येन सर्वजीवानन्तकप्रमाणेन राशिना दशसहस्रसंख्याः सर्वोत्कृष्टदेशविरतिविशुद्धिस्थानगता निर्विभागा भागा गुण्यन्ते, जातानि १०००००० दशलक्षाणि । एतावन्तः किल सर्वजघन्यस्यापि सर्वविरतिविशुद्धिस्थानस्य निर्विभागा भागा भवन्ति । सम्प्रति सूत्रमनुश्रियते-तत्र तेषु संयमस्थानादिषु वक्ष्यमाणेषु, प्रथमतः संयमस्थानमुच्यत इति शेषः। अनन्ता अनन्तसंख्याः पाश्चात्यसंकलनया दशलक्षप्रमाणाः, ये चारित्रपर्यायाः सर्वजघन्यचारित्रसर्वविशुद्धिस्थानगता निर्विभागा भागास्ते समुदिताः संयमस्थानम्, सर्वजघन्यतायं प्राप्नुयन्ति । तस्मादनन्तरं यद् द्वितीयं संयमस्थानं तत् पूर्वस्मादनन्तभागवृद्धम् । किमुक्तं भवति ?-प्रथमसंयमस्थानगतनिर्विभागभागापेक्षया द्वितीयसंयमस्थाने निर्विभागा भागा अनन्ततमेन भागेनाधिका भवन्तीति । तस्मादपि यद् अनन्तरं तृतीयं तत्ततोऽनन्तभागवृद्धम् । एवं पूर्वस्मादुत्तरोत्तराणि अनन्ततमेन भागेन वृद्धानि निरन्तरं संयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावदङ्गुलमात्रक्षेत्रासंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणानि भवन्ति । एतावन्ति च समुदितानि स्थानानि कण्डकमित्युच्यते । तथा चाऽऽह-संख्यातीतानि असंख्येयानि । तु पुनरर्थे । तानि संयमस्थानानि, कण्डकं भवति ज्ञातव्यम् । कण्डकं नाम समयपरिभाषया अङ्गुलमात्रक्षेत्रासंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणा संख्या विधीयते ।

तथा च भाष्ये उक्तम्—

" कंडंति इत्थ भण्णइ, अंगुलभागो असंखेज्जो " ।

असाच्च कण्डकात्परतो यदन्यदनन्तरं संयमस्थानं भवति तत् पूर्वस्मादसंख्येयभागाधिकम् । एतदुक्तं भवति-पाश्चात्यकण्डकसत्कचरमसंयमस्थानगतनिर्विभागभागापेक्षया कण्डकादनन्तरे संयमस्थाने निर्विभागा भागा असंख्येयतमेन भागेनाधिकाः प्राप्यन्ते, ततः पराणि पुनरपि कण्डकमात्राणि संयमस्थानानि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि भवन्ति । ततः पुनरेकमसंख्येयभागाधिकं संयमस्थानं, ततो भूयोऽपि, ततः पराणि कण्डकमात्राणि संयमस्थानानि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि भवन्ति । ततः पुनरप्येकमसंख्येयभागाधिकं संयमस्थानम्; एवमनन्तभागाधिकैः कण्डकप्रमाणैः संयमस्थानैर्व्यवहितानि असंख्येयभागाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्तान्यपि कण्डकमात्राणि भवन्ति । ततश्चरमादसंख्येयभागाधिकसंयमस्थानात्पराणि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि कण्डकमात्राणि संयमस्थानानि भवन्ति । ततः परमेकं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानम्, ततो मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति भूयोऽपि तेनैव क्रमेणाभिधाय पुनरप्येकं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । इदं द्वितीयं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानम् । ततोऽनेनैव क्रमेण तृतीयं वक्तव्यम् । अमूनि चैवं संख्येयभागाधिकानि स्थानानि तावद् वक्तव्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति । ततं उक्तक्रमेण भूयोऽपि संख्येयभागाधिकसंयमस्थानप्रसंगे संख्येयगुणाधिकमेकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति भूयोऽपि तथैव वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकं संख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य यावन्ति भवन्ति संयमस्थानानि तावन्ति तथैव वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकं संख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । अमून्यप्येवं संख्येयगुणाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति । ततं उक्तक्रमेण पुनरपि संख्येयगुणाधिकसंयमस्थानप्रसंगे असंख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति तेनैव क्रमेण भूयोऽपि वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकमसंख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्ति संयमस्थानानि तथैव वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकमसंख्येयगुणाधिकसंयमस्थानं वक्तव्यम् । यावन्ति अमूनि चैव संख्येयगुणाधिकसंयमस्थानानि तावन्त्यसंख्येयगुणाधिकसंयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति । ततः पूर्वपरिपाट्या पुनरप्यसंख्येयगुणाधिकसंयमस्थानप्रसंगे अनन्तगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति तथैव क्रमेण भूयोऽपि वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकमनन्तगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्ति संयमस्थानानि तथैव वक्तव्यानि । ततः पुनरप्येकमनन्तगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम् । एवमनन्तगुणाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति । ततो भूयोऽपि [illegible] संयमस्थानानि मूलादारभ्य तथैव वक्तव्यानि । [illegible] । इत्थं तान्यसंख्येयानि षट्स्थानकानि भवन्ति ।

तथा चाऽऽह भाष्यकृत्—

"संखाईयाणि उ कं-डगाणि छट्ठाणगं विणिद्दिट्ठं" इत्यादि । अस्मिंश्च षट्स्थानके षोढा वृद्धिस्तद्यथा-अनन्तभागवृद्धिः, असंख्येयभागवृद्धिः, संख्येयभागवृद्धिः, संख्येयगुणवृद्धिः, असंख्येयगुणवृद्धिः, अनन्तगुणवृद्धिश्च । तत्र यावाननन्ततमो भागोऽसंख्येयतमः संख्येयतमो वा गृह्यते; यावांश्च संख्येयोऽसंख्येयोऽनन्तो वा गुणकारः स निरूप्यते-तत्र पश्चानुपूर्व्या अनन्तभागवृद्धिता तस्य सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागो ह्रियते, हृते च भागे लब्धिः सोऽनन्ततमो भागः । तेनाधिकमुत्तरं संयमस्थानम् । किमुक्तं भवति?-प्रथमस्य संयमस्थानस्य ये निर्विभागा भागास्तेषां सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति ये लभ्यन्ते ते तावत्प्रमाणैर्निर्विभागैरधिकाः द्वितीये संयमस्थाने निर्विभागा अधिकाः प्राप्यन्ते, द्वितीयस्य संयमस्थानस्य ये निर्विभागास्तेषां सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यावन्तो लभ्यन्ते तावत्प्रमाणैर्निर्विभागैरधिकास्तृतीये संयमस्थाने निर्विभागा भागाः प्राप्यन्ते । एवं यद् यत् संयमस्थानमनन्तभागवृद्धमुपलभ्यते तत्तत् पाश्चात्यसंयमस्थानस्य सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यद् यल्लभ्यते तावत्प्रमाणेनानन्ततमेन भागेनाधिकमवसेयम् । असंख्येयभागाधिकानि पुनरेवम्-पाश्चात्यस्य पाश्चात्यस्य संयमस्थानस्य सत्कानां निर्विभागभागानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यद् यल्लभ्यते सोऽसंख्येयतमो भागः, ततस्तेनासंख्येयतमेन भागेनाधिकानि असंख्येयभागाधिकानि स्थानानि वेदितव्यानि । संख्येयभागाधिकानि चैवम्-पाश्चात्यस्य संयमस्थानस्य उत्कृष्टेन संख्येयेन भागे हृते सति यद् यल्लभ्यते स स संख्येयतमो भागः । ततस्तेन संख्येयतमेन भागेनाधिकानि संख्येयभागाधिकानि स्थानानि वेदितव्यानि । संख्येयगुणवृद्धानि पुनरेवम्-पाश्चात्यस्य पाश्चात्यसंयमस्थानस्य ये ये निर्विभागा भागास्ते ते उत्कृष्टेन संख्येयकप्रमाणेन राशिना गुण्यन्ते; गुणिते च सति यावन्तो भवन्ति तावत्तावत्प्रमाणानि संख्येयगुणाधिकानि स्थानानि द्रष्टव्यानि । एवमसंख्येयगुणवृद्धानि, अनन्तगुणवृद्धानि च भावनीयानि; नवरमसंख्येयगुणवृद्धौ पाश्चात्यस्य पाश्चात्यस्य संयमस्थानस्य निर्विभागा भागा असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणेनासंख्येयेन गुण्यन्ते । अनन्तगुणवृद्धौ तु सर्वजीवप्रमाणेनानन्तेन । इत्थं च भागहारगुणकारकल्पनं मा स्वमनीषिकाशिल्पकल्पितं मंस्थाः । यत उक्तं कर्मप्रकृतिप्राभृते षट्स्थानकगतभागहारगुणकारविचाराधिकारे—" सव्वजीवाणमसंखे-ज्जा भागसंखिज्जगस्स जेट्ठस्स । भागो तिसु गुणणा तिसु, ..." ॥ इति । प्रथमाच्च षट्स्थानकादूर्ध्वमुक्तक्रमेणैव द्वितीयं षट्स्थानकमुत्तिष्ठति, एवमेव तृतीयम् । एवं षट्स्थानकान्यपि तावद्वाच्यानि यावदसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि भवन्ति । उक्तं च-"छट्ठाणगअवसाणे, अन्नं छट्ठाणयं पुणो अन्नं । एवमसंखा लोगा, छट्ठाणाणं मुणेयव्वा" ॥ इत्थंभूतानि चासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि षट्स्थानकानि संयमश्रेणिरुच्यते । तथा चाऽऽह-"छट्ठाणा उ असंखा, संजमसेढी मुणेयव्वा" तथा (लेस त्ति) कृष्णादयो लेश्यास्थितिविशेषाः, उत्कृष्टानां सर्वोत्कृष्टानां सातवेदनीयप्रभृतीनां विशुद्धप्रकृतीनां संबन्धिनो विशुद्धाः स्थितिविशेषा वेदि-

तथाः । तत एतेषां संयमस्थानादीनां संबन्धिषु शुभेषु स्थानेषु वर्त्तमानस्तदूमाहक आधाकर्मग्राहकः , आत्मानमेतेषां संयमस्थानादीनां विशुद्धानामधोऽधस्तात्करोति ।

यदि नाम संयमस्थानादीनामधस्तादात्मानमाधाकर्मग्राही करोति ततः किं दूषणं तस्यापतितम् ?, अत आह-

भावावयारमाहे-उमप्पगे किंचिनूणचरणगो ।

आहाकम्मग्गाही, अहो अहो नेइ अप्पाणं ॥ १ ॥

भावानां संयमस्थानादिरूपाणां विशुद्धानामधस्तात् हीनेषु हीनतरेषु अप्रशस्तेष्ववतारमवतरणमात्मनस्याधाय कृत्वा किञ्चिन्न्यूनचरणाम इति । इह चरणेनाग्रः प्रधानश्चरणाग्रः; स च निश्चयनयमताभिप्रायेण क्षीणकषायादिरकषायचारित्रः परिगृह्यते । न च तस्य प्रमादसंभवोऽपि होदयम्, एकान्तेन लोभादिमोहनीयस्य विनाशात्; ततो न तस्याधाकर्मग्रहणसंभवः, इति किञ्चिन्न्यूनग्रहणम् । किञ्चिन्न्यूनेन चरणेनाग्रःप्रधानः किञ्चिन्न्यूनचरणाग्रः । स च परमार्थत उपशान्तमोह उच्यते । अतिशयख्यापनार्थं चैतदुक्तम् । ततोऽयमर्थः-किञ्चिन्न्यूनचरणाग्रोऽपि यावत्, आस्तां प्रमत्तसंयमादिरिति । आधाकर्मग्राही अधोऽधो रत्नप्रभादिनरकादौ नयत्यात्मानम्, एतदूरूपमाधाकर्मग्राहिणः ।

एतदेव भावयति-

बंधइ अहेभराउं , पकरेइ अहोमुहाई कम्माई ।

घणकरणं तिव्वेण उ, भावेण चओवचउया य ॥ २॥

आधाकर्मग्राही विशुद्धेभ्यः संयमादिस्थानेभ्योऽधनीयं अधोऽधोवर्तिषु हीनेषु हीनतरेषु भावेषु वर्त्तमानोऽधोनयस्य रत्नप्रभादिनारककस्य प्रवरय संबन्धि आयुर्बध्नाति । शेषाण्यपि कर्माणि गत्यादीनि अधोमुखानि अधोगत्यभिमुखानि, अधोगतिनयनशीलानीत्यर्थः । प्रकरोति प्रकर्षेण दुरसहकटुकतीव्रानुभावयुक्ततया करोति बध्नाति । बध्नानो च सतामाधाकर्मविषयपरिभोगलाम्पट्यवृत्तिनो निरन्तरमुपजायमानेन तीव्रेण तीव्रतरेण भावेन परिणामेन घनकरणं यथायोगं विभक्तरूपतया निकाचनारूपतया वा व्यवस्थापनम् । तथा प्रतिक्षणमन्यान्यपुद्गलग्रहणेन चय उपचयश्च । तत्र स्तोकतरा वृद्धिश्चयः, प्रभूततरा वृद्धिरुपचयः । एतेन च व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्रभावार्थेनानुवर्त्तितम् । तथा च व्याख्याप्रज्ञप्त्यालापकः—“ आहाकम्मऽन्नं भुञ्जमाणे समणे निग्गंथे अट्ठकम्मपगडीओ बंधइ ; अहे बंधइ , अहे चिणइ , अहे उवचिणइ ” इत्यादि ।

तत एवं सति—

तेसिं गुरूणमुदए-ण अप्पगं दुग्गईए पवडंतं ।

न चएइ विधारेउं, अहरगतिं निंति कम्माई ॥ ३ ॥

तेषामधोनयायुरादीनां कर्मणां गुरूणामधोगतिनयनस्वभावतया गुरूणीव गुरूणि तेषामुदयेन विपाकवेदनानुभवरूपेण,विपाकवेदनानुभवरूपोदयवशादित्यर्थः । दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं विधारयितुं निवारयितुमाधाकर्मग्राही न शक्नोति । यतः कर्माणि अधोनयायुरादीनि उदयप्राप्तानि बलादधरगतिं नरकादिरूपां नयन्ति । न च कर्मणः कोऽपि बलीयान्, अन्यथा न कोऽपि नरकं यायात्, न वा कोऽपि दुःखमनुभवेत् । तस्मादाधाकर्म अधोगतिनिबन्धनमित्यधःकर्मेत्युच्यते । तदेवमुक्तमधःकर्मेति नाम । पिं० ।

अधो (हो) हि-अधोऽवधि-पुं० । परमावधेरधोवर्त्यवधिर्यस्य साऽधोऽवधिः । परमावधेरधोवर्त्यवधियुक्ते जीवे , “अधोहि समोहयणं चेव अप्पाणेणं आया अहेलोगं जाणइ ” स्था० २ ठा० २ उ० ।

अन्तर-अन्तर्-न० । “वोंऽन्तरो वा” ८।१।३०। इति सूत्रेणानुस्वारवैकल्पिकत्वम् । व्यवधाने, प्रा० ।

अन्तरी-स्त्री०-अन्त्र-म० । उदरमध्यावयवे, “पाइ विलग्गी अन्तरी सिरु ल्हसिउं खंधस्सु ” प्रा० ॥

अन्नाइस-अन्यादृश-त्रि० । “अन्यादृशोऽन्नाइसावराइसौ” ८ । ४।४१३। इति अन्यादृशशब्दस्य अन्नाइसेत्यादेशः । अन्यसदृशे, अन्यप्रकारे च । प्रा० ।

अप-अप्-स्त्री० । ब० व० । जले, “ पुव्वापोढयया नक्खत्ते किं देवयाए पण्णत्ते ? । अपदेवयाए ” सू० प्र० १० पाहु० ।

अप (प्प) इट्ठाण-अप्रतिष्ठान-पुं० । न विद्यते प्रतिष्ठानमौदारिकशरीरादेः कर्मणो वा यत्र सोऽप्रतिष्ठानः । मोक्षे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० । सप्तम्यां नरकपृथिव्यां पञ्चानां कालादीनां नरकावासानां मध्यवर्तिनि नरकावासे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । सूत्र० । तस्येन्द्रे च । जी० ३ प्रति० । “अप्पइट्ठाणे नरए एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं ” प० सं० १ द्वा० ॥

अप (प्प) इट्ठिय-अप्रतिष्ठित-त्रि० । न०त० । प्रतिष्ठानरहिते, स्था० ५ ठा० १ उ० । कचिदप्रतिबद्धे, अशरीरिणि च । आचा० २ श्रु० ।

अप (प्प) इण्णपसरियत्त-अप्रकीर्णप्रसृतत्व-न० । सुसंबन्धस्य सतः प्रसरणे, असंबद्धाधिकारित्वातिविस्तारयोराभावे सत्यवचनातिशये, स० ३५ सम० । औ० ।

अपउल्ल-अपक्व-त्रि० । अग्निना संस्कृते, पञ्चा० १ विव० ।

अपएस-अप्रदेश-त्रि० । न० ब० । प्रदेशार्थरहितत्वे, रूत्या० १० अध्या० । अवयवाभावात् निरंशे, भ० २० श० ५ उ० । निरन्वये, विशे० । स्था० । नञः कुत्सार्थत्वादशाक्षणिकत्वेनाशिष्टजनाकीर्णत्वेन वा कुत्सिते प्रदेशे, पञ्चा० ७ विव० । (जीवानां सप्रदेशत्वाप्रदेशत्वचिन्ता ‘ पएस ’ शब्दे वक्ष्यते)

अपओस-अप्रद्वेष-पुं० । अमत्सरे माध्यस्थ्ये, पञ्चा० ३ विव० ।

अपंडिय-अपण्डित-पुं० । सद्बुद्धिरहिते, सू० १ उ० ।

अपंथ-अपथ-पुं० । अशास्त्रोपहतपृथिव्याम् , सू० १ स० ।

अपक्क-अपक्व-त्रि० । अग्न्यादिनाऽसंस्कृते शालिगोधूमौषधादौ, प्रव० ८ द्वा० । पाकमप्रापिते , प्रश्न० ५ संव० द्वा० ।

अपकोसहिभक्खणया-अपकौषधिभक्षणता-स्त्री० । अपक्वाया अग्निनाऽसंस्कृताया ओषधेः शाल्यादिकाया भक्षणता भोजनमपक्वौषधिभक्षणता । भोजनत उपभोगपरिभोगव्रतातिचारभेदे, उपा० १ अ० ।

अपक्खग्गाहि (ण्) -अपक्षग्राहिन्-त्रि० । न पक्षं गृह्णातीत्यपक्षग्राही । शास्त्रबाधितपक्षाग्रहणशीले, स्था० ९ ठा० ।

अपगंड-अपगण्ड-अपगतं गण्डं दोषो यस्मात्तदपगण्डम् । निर्दोषे, उदकफेने च । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अपगंडसुद्ध-अपगण्डशुद्ध-त्रि० । अपगतं गण्डमपद्रव्यं यस्य [illegible], तथा शुद्धम् । निर्दोषार्जुनसुवर्णवच्छुक्ले, तथा [illegible] तत्तुल्यमपगण्डशुद्धम् । उदकफेनवदवदाते, "[illegible] धम्ममुदाहरंत, अणुत्तरं [illegible] [illegible] । सुसुक्कसुक्कं अपगंडसुक्कं, संखिंदुएगंतऽवदातसुक्कं" सूत्र०१ श्रु० ६ अ० ।

अपचय-अपचय-पुं० । अभावे, उत्त० १ अ० ।

अप(प्प)चक्ख-अप्रत्यक्ष-त्रि० । परोक्षे, आ० म० द्वि० । [illegible] इन्द्रियं, अक्षं प्रत्यर्थे इति वचनात् । स्था० ।

अप(प्प)चक्खाण-अप्रत्याख्यान-पुं० । न विद्यते प्रत्याख्यानमणुव्रतादिरूपं येषु । स्था० ६ ठा० १ उ० । न विद्यते स्वल्पमपि प्रत्याख्यानं येषामुदयादेशअप्रत्याख्यानाः । दे० विरत्यावारकेषु कषायेषु, यदाह-"नाल्पमप्युत्सहेद्येषां, प्रत्याख्यानं महोदयात् । अतस्त्वप्रत्याख्यानो, द्वितीयेषु निवेशिता" ॥ १ ॥ ते चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः । कर्म० । प्र० ५० । मनागपि विरतिपरिणामाभावे, कर्म० । प्रव० । पं० सं० ।

अप(प्प)चक्खाणकिरिया-अप्रत्याख्यानक्रिया-स्त्री० । अप्रत्याख्यानेन निवृत्यभावेन क्रिया कर्मबन्धादिकरणमप्रत्याख्यानक्रिया । प्र० १ श० २ उ० । अप्रत्याख्यानजन्ये कर्मबन्धे, [illegible] क्रियैव क्रिया । अप्रत्याख्यानक्रियाया अभावे, भ० १ श० ३ उ० ।

तद्वक्तव्यता—

अपच्चक्खाणकिरिया दुविहा पन्नत्ता । तं जहा-जीवअपच्चक्खाणकिरिया चेव, अजीवअपच्चक्खाणकिरिया चेव ।

([illegible] चेव त्ति) जीवविषये प्रत्याख्यानाभावात् [illegible] अप्रत्याख्यानक्रिया । तथा (अजीवअपच्चक्खाणकिरिया चेव त्ति) [illegible] अप्रत्याख्यानक्रियेति । स्था० २ ठा० १ उ० । [illegible]

[illegible]

[illegible] भंते ! [illegible] गोयमा ! [illegible]

[illegible]

[illegible]

कथेति शेषः । अथवा-तदन्त इति छाया, तुशब्दस्तदर्थे । (सेट्ठिस्स त्ति) श्रीदेवताध्यासितसौवर्णपट्टविभूषितशिरोवेष्टनोपेतपौरजननायकस्य [तणुयस्स त्ति] दरिद्रस्य [किवण त्ति] रङ्कस्य [खत्तियस्स त्ति] राज्ञः [अपच्चक्खाणकिरिय त्ति] प्रत्याख्यानक्रियाया अभावोऽप्रत्याख्यानजन्यो वा कर्मबन्धः, [अविरइ त्ति] इच्छाया अनिवृत्तिः, सा हि सर्वेषां समैवेति । भ० १ श० ९ उ० । "से नूणं भंते ! हत्थिस्स य कुंथुस्स य समा चेव अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ ? । हंता गोयमा ! हत्थिस्स य कुंथुस्स य० जाव कज्जइ । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ० जाव कज्जइ ? । गोयमा ! अविरइं पडुच्च से तेणट्ठेणं जाव कज्जइ" । भ० ७ श० ८ उ० ।

अप(प्प)चक्खाणि(ण्)-अप्रत्याख्यानिन्-त्रि० । अप्रत्याख्यातरि, अविरते यो न प्रत्याख्याति । प्रश्न० [illegible] पद । भ० । (के केऽप्रत्याख्यानिन इति "पच्चक्खाण" शब्दे दर्शयिष्यते)

अप(प्प)चक्खाय-अप्रत्याख्यात-त्रि० । [illegible] ख्याने, भ० ८ श० ५ उ० ।

अप(प्प)च्चय-अप्रत्यय-पुं० । अविश्वासे, नि० चू० [illegible] उ० । प्रत्ययविनाशरूपे मृषावादस्य गौणनाम्नि, प्रश्न० २ आश्र० [illegible] सत्यरूपो गौणादत्तादाने च, तस्य अप्रत्ययकारणत्वात् । प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अपच्चयकारग-अप्रत्ययकारक-त्रि० । विश्वासविनाशके, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अपच्चल-अप्रत्यल-त्रि० । अयोग्ये, नि० चू० ११ उ० । [illegible] ये, प्रत्यलोऽप्रत्यलः, अयोग्य इत्यर्थः । नि० चू० ११ उ० । [illegible]

अपच्छाणुताविं(ण्)-अपश्चात्तापिन्-त्रि० । [illegible] पश्चात्तापमकुर्वति निर्जराभागिनि [illegible] स० ५५ श० ७ उ० । अपश्चात्तापी नाम यः पश्चात्तापं करोति-'हा ! दुष्टु कृतं मया यदु [illegible] न ततः कथं करिष्यामीति !' [illegible] अपश्चात्तापिनि । [illegible]

अपच्छादेमाण-अपच्छादयत्-त्रि० । [illegible] "[illegible] अपच्छादेमाणा [illegible] मई भासइ" [illegible] १ अ० ।

अपच्छिम-अपश्चिम-त्रि० । न विद्यते पश्चिमोऽस्मादित्यपश्चिमः । सर्वोत्तम, "[illegible] अपच्छिमे भवइ" [illegible] । [illegible] । आ० म० । [illegible]

[illegible]

अपच्छिममारणंतियसंलेहणाभूसणा-[illegible]

मा, मरणं प्राणत्यागलक्षणम, इह यद्यपि प्रतिक्षणमावीचीमरणमस्ति तथापि न तद् गृह्यते, किं तर्हि ?, विवक्षितसर्वायुष्कक्षयलक्षणमिति। मरणमेवान्तो मरणान्तः, तत्र भवा मारणान्तिकी, संलिख्यते कृशीक्रियतेऽनया शरीरकषायादीति संलेखना, तपोविशेषलक्षणा, ततः कर्मधारयादपश्चिममारणान्तिकसंलेखना। तस्या जोषणा सेवा, अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनाजोषणा। मरणकाले संलेखनानाम्ना तपसा शरीरस्य कषायाणां च कृशीकरणे, भ० ७ श० २ उ० । कल्प० । स० ।

अपच्छिममारणंतियसंलेहणाझूसणाझूसिय-अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनाजोषणाजोषित [झूषित]-त्रि० । अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनाजोषणया जोषितः सेवितस्तया । अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनायुक्ते, अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनाजोषणया झूषितः क्षपित इति । अपश्चिममारणान्तिककृपिसंदेहे, स्था० २ ठा० २ उ० ।

अपच्छिममारणंतियसंलेहणाझूसणाराहणता-अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनाजोषणाराधनता-स्त्री० । अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनाजोषणाऽस्य आराधनमखण्डकालकरणं तद्भावोऽपश्चिममारणान्तिकजोषणाराधनता । देशोत्तरगुणप्रत्याख्यानभेदे, "एत्थ सामायारी आसेविअगिहधम्मेण किल भावेण पच्छा निक्खमियव्वं, एवं सावगधम्मे उज्जमिओ होइ न सक्कई ताहे भत्तपच्चक्खाणकाले संथारसमणेण होयव्वं ति विभासा भाणियव्वं" अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनाजोषणाराधना चातिचाररहिता सम्यक्पालनीयेति वाक्यशेषः । आव० ६ अ० । औ० ।

अस्या अतिचाराः—

तयाणंतरं च णं अपच्छिममारणंतियसंलेहणाझूसणाराहणाए पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा । तं जहा-इहलोगासंसप्पओगे १ परलोगासंसप्पओगे २ जीवियासंसप्पओगे ३ मरणासंसप्पओगे ४ कामभोगासंसप्पओगे ५ । उपा० १ अ० । आव० । कल्प० । ध० ।

('इहलोगासंसप्पओग' इत्यादिशब्दानां स्वस्वस्थाने व्याख्या द्वितीयादिभागेषु द्रष्टव्या)

अपज्जत्त-अपर्याप्त-त्रि० । परि-आप्-क्त । न० त० । असमर्थे, असंपूर्णे स्वकार्याऽक्षमे च । वाच० । अपर्याप्तयो विद्यन्ते यस्य सोऽपर्याप्तः । "अभ्रादिभ्यः" । ७।२।४६ । इति हैमसूत्रेणाप्रत्ययः । अपर्याप्तकर्मोदयेनानिर्वृत्ते, स्था० १ ठा० १ उ० । तत्र द्विधा अपर्याप्ताः-लब्ध्या करणैश्च । तत्र ये अपर्याप्तका एव सन्तो म्रियन्ते न पुनः स्वयोग्यपर्याप्तीः सर्वा अपि समर्थयन्ति ते लब्ध्यपर्याप्ताः, ये च पुनः करणानि शरीरेन्द्रियादीनि न तावन्निर्वर्तयन्ति, अथ चाऽवश्यं पुरस्तान्निर्वर्तयिष्यन्ति ते करणापर्याप्ताः । इह च समयागमः-लब्ध्यपर्याप्ता अपि नियमादाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपरिसमाप्तावेव म्रियन्ते, नार्वाक् । यस्मादागामिभवायुर्बद्ध्वा म्रियन्ते सर्व एव देहिनः, तच्चाहारशरीरेन्द्रियपर्याप्तिपर्याप्तानामेव बध्यत इति । कर्म० १ कर्म० । पं० सं० । नं० । प्रज्ञा० । स० ।

अपज्जत्तग-अपर्याप्तक-पुं० । "दुविहा नेरइया पण्णत्ता । तं जहा-पज्जत्तगा चेव, अपज्जत्तगा चेव, जाव वेमाणिया" स्था० २ ठा० २ उ० ।

अपज्जत्तणाम-अपर्याप्तनामन्-न० । अपर्याप्तयो विद्यन्ते येषां ते अपर्याप्ता इति कृत्वा तन्निबन्धनं नाम अपर्याप्तनाम । यदुदयाद् जन्तवः स्वयोग्यपर्याप्ति-(परिसमाप्ति) समर्था न भवन्ति, तस्मिन्नामकर्मणि, कर्म० १ कर्म० । स० ।

अपज्जत्ति-अपर्याप्ति-स्त्री० । पर्याप्तिप्रतिपक्षेऽर्थे, जी० १ प्रति० ।

अपज्जवसिय-अपर्यवसित-त्रि० । न० त० । अनन्ते, "साइया सिद्धा भगवंतो साइया अपज्जवसिया चिट्ठंति" अपर्यवसिता रागाद्यभावेन प्रतिपातासंभवात् । प्रज्ञा० २ पद ।

अपज्जुवासणा-अपर्युपासना-स्त्री० । न० त० । असेवनायाम, दश० १२ अ० ।

अपज्जोसणा-अपर्युषणा-स्त्री० । अप्राप्तायामतीतायां वा पर्युषणायाम, नि० चू० १० उ० ।

अपट्ठविय-अप्रस्थापित-त्रि० अप्रस्थाने, "दुपक्खमट्ठवियं अपयट्टे अट्टिमेसु य" नि० चू० ३ उ० ।

अप (प्प) डिकम्म-अप्रतिकर्मन्-न० । प्रतिकर्मरहिते, "सुन्नागारे य अप्पडिकम्मे" प्रश्न० ५ संव० द्वा० । शरीरप्रतिक्रियावर्जपादपोपगमने, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

अप (प्प) डिकंत-अप्रतिक्रान्त-त्रि० । दोषादनिवृत्ते, पं० व० ।

अप (प्प) डिरूव-अप्रतिरूप-त्रि० । न विद्यते प्रति अनुरूपं समानं रूपं यस्य तदप्रतिरूपम् । पार्श्वतसमग्रे, "अप्पडिरूवस्स जसो होइ सया संघवस्स" अप्रतिरूपस्य चरकादि च तेरसमानस्य । सं० ।

अपडिबिद्धसो-देशी-अप्रमनी, दे० ना० १ वर्ग ।

अप (प्प) डिन्न-अप्रतिज्ञ-त्रि० । नास्य प्रतिज्ञा इति अप्रतीयमित्येवंप्रतिज्ञा विद्यतेऽसावप्रतिज्ञः । रागद्वेषरहिते, "अपडिन्नं [illegible] " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । आचा० । नास्य प्रतिज्ञा इहलोकपरलोकाशंसारूपा विद्यत इत्यप्रतिज्ञः । परिग्रहाप्यत्वापद्दानादिरूपेण [illegible] सूत्र० १ श्रु० १० अ० । "कायेसु वा अवरमाइ तेहु, वा गुणीणं अपडिन्नमाहु" सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । न विद्यते प्रतिज्ञा निदानरूपा यस्य सोऽप्रतिज्ञः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । अनिदाने, यो हि [illegible] पुरुष [illegible] न करोति प्रतिज्ञा च कषायोदयादुपजायते । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] तथा-मायोदयात् [illegible] [illegible] तथा-लोभोदयात् [illegible] तथा [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रतिज्ञां कुरुते । आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । [illegible] आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । सूत्र० ।

अपडिपुण्ण-अप्रतिपूर्ण-त्रि० । [illegible] सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ।

अपडिपोग्गल-अप्रतिपुद्गल-त्रि० [illegible] नि० चू० ४ उ० ।

म० १८ श० १ उ०। (जीवादीनामर्थानां प्रथमत्वादिविचारः 'पढम' शब्दे दर्शयिष्यते)

अपढमसगइ–अप्रथमस्वगति–स्त्री० । अप्रशस्तविहायोगतौ, कर्म० ५ कर्म० ।

अपढमसमय–अप्रथमसमय–पुं० । द्वितीयादिके समये, स्था० २ ठा० २ उ०।

अपढमसमयउववण्णग–अप्रथमसमयोपपन्नक–पुं० । न० त०। प्रथमसमयोपपन्नव्यतिरिक्तेषु नैरयिकादिषु वैमानिकपर्यन्तेषु, "नेरइया दुविहा पएणत्ता । तं जहा–पढमसमयोववण्णगा चेव, अपढमसमयोववण्णगा चेव० जाव वेमाणिया" स्था० २ ठा० २ उ० ।

अपढमसमयउवसंतकसायवीयरागसंजम–अप्रथमसमयोपशान्तकषायवीतरागसंयम–पुं० । न० त० । न प्रथमः समयः प्राप्तो येन सोऽप्रथमसमयः, स चासौ उपशान्तकषायवीतरागसंयमश्च तथा । उपशमश्रेणिवर्तिवीतरागसंयमभेदे, स्था० ७ ठा० ।

अपढमसमयएगिंदिय–अप्रथमसमयैकेन्द्रिय–पुं० । प्रथमसमयैकेन्द्रियभिन्ने, यस्यैकेन्द्रियत्वे प्रथमः समयो नास्ति । स्था० १० ठा० ।

अपढमसमयखीणकसायवीयरागसंजम–अप्रथमसमयक्षीणकषायवीतरागसंयम–पुं० । न प्रथमः समयः प्राप्तो येन सोऽप्रथमसमयः, स चासौ क्षीणकषायवीतरागसंयमश्च तथा । [illegible] स्था० ७ ठा० ।

अपढमसमयसजोगिभवत्थ–अप्रथमसमयसयोगिभवस्थ–पुं० । [illegible] स्था० २ ठा० १ उ० ।

अपढमसमयसिद्ध–अप्रथमसमयसिद्ध–पुं० । न प्रथमसमयसिद्धः [illegible] सिद्धविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । [illegible]

[illegible]

[illegible]

अपत्तजोव्वणा–अप्राप्तयौवना–स्त्री० । यौवनाप्राप्तायाम्, सा च गर्भं न धरति [illegible] ५ ठा० २ उ० ।

अपत्तजूमिग–(य)–अप्राप्तभूमिक–पुं० । न प्राप्ता भूमिका येन सोऽप्राप्तभूमिकः । दूरस्थत्वेनाप्राप्ते " जेयणं अपत्तभूमिआ बारसओ जाव " (नि० चू०) " जे जोयणमादीसु ठाणेसु जाव बारस जोयणा ते सव्वे अपत्तभूमिया भवंति " नि० चू० १० उ०।

अपत्तविसय–अप्राप्तविषय–त्रि० । अप्राप्तोऽसंबद्धोऽसंश्लिष्टो विषयो ग्राह्यवस्तुरूपो यस्य तदप्राप्तविषयं लोचनम् । [illegible] णि इन्द्रियजाते, " लोयणमपत्तविसयं, मणो वि [illegible] दाइ सुणंति " । विपा० १ श्रु० २ अ०।

अपत्तिय–अप्रीतिक–त्रि० । अविद्यमानाधारे, भ० ११ श० ११ उ० । अप्रीतिका–स्त्री० । अप्रीत्याम्, पञ्चा० ७ विव० ।

अपत्थ–अपथ्य–त्रि० । अहिते, " अपत्थं अंबगं भुच्चा, राया रज्जं तु हारए " उत्त० ७ अ० । स्था० । अनायोग्यभोजने, पञ्चा० ७ विव० ॥

अप(प्प)त्थण–अप्रार्थन–न०। अनभिलाषेऽकरणे, [illegible]

अप(प्प)त्थिय–अप्रार्थित–त्रि० । अमनोरथगोचरीकृते, प्रश्न० ३ आश्र० ।

अप(प्प)त्थियपत्थ(त्थि)य–अप्रार्थितप्रार्थक–त्रि० । अप्रार्थितं केनाप्यमनोरथगोचरीकृतं प्रस्तावान्मरणं, तस्य प्रार्थकः । मरणार्थिनि, अं० ३ वक्ष०। "केसणं एस अप्पत्थियपत्थए दुरंतपंतलक्खणे" भ० ३ श० २ उ० । ज्ञा० ।

अपद(य)–अपद–न०। न० त० । पादरहिते, [illegible] पदे, आ० चू० ६ अ०। अपादको सूत्रदोषभेदे, यत्र हि पद्यकार्येऽन्यच्छन्दोऽधिकारेऽन्यच्छन्दोऽभिधानम्, यथाऽऽर्यापदे वैतालीयपदाभिधानम् । विशे० । यत्र गाथापदे [illegible] पदं वा [illegible] वा क्रियते । बृ० १ उ० । आ० म० । [illegible] दाडिमादिबीजपूरकादौ वृक्षे, विशे० । अनु० । न विद्यते पदं स्थानविशेषो यस्य सोऽपदः । मुक्तात्मनि, "अपयस्स पयं नत्थि" आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

अपदंस–अपदंश–पुं० । [illegible], नि० चू० १ उ० ।

अप(प्प)दुस्समाण–अप्रद्विषत्–त्रि० । प्रद्वेषमगच्छति, [illegible] ४ अधि० ।

अपद्दवंत–अपद्रवत्–त्रि० । [illegible], [illegible]

अप्पकारिन–अप्राप्यकारिन्–न० । [illegible] कारिणे, सं० । ([illegible] 'इंदिय' शब्दे वक्ष्यते)

अप(प्प)भु–अप्रभु–पुं० । [illegible], पं० व० [illegible]

अप(प्प)मज्जणासील–अप्रमार्जनाशील–त्रि० । [illegible]

अप(प्प)मज्जिया–अप्रमार्ज्य–अव्य० । [illegible]

अप (प्प) मज्जिय–अप्रमार्जित–त्रि० । रजोहरणवस्त्राञ्चलादिनाऽविशोधिते, प्रव० ६ द्वा० ।

अप (प्प) मज्जियचारि(ण्)–अप्रमार्जितचारिण्–पुं० । अप्रमार्जिते, अवस्थाननिषीदनशयनादिकरणनिक्षेपोच्चारादिपरिष्ठापने च कुर्वति, "अपमज्जियचारीया वि भवइ," इति षष्ठं समाधिस्थानम् । दशा० १ अ० । प्रश्न० ।

अप (प्प) मज्जियदुप्पमज्जियउच्चारपासवणभूमि–अप्रमार्जितदुष्प्रमार्जितोच्चारप्रस्रवणभूमि–स्त्री० । पोषधोपवासस्यातिचारभेदे, उपा० १ अ० । आव० ।

अप (प्प) मज्जियदुप्पमज्जियसिज्जासंथार–अप्रमार्जितदुष्प्रमार्जितशय्यासंस्तार–पुं० । पोषधोपवासस्यातिचारे, इह प्रमार्जनं शय्यादौ सेवनकाले वस्त्रोपान्तादिनेति दुष्टमविधिना प्रमार्जनं दुष्प्रमार्जनम् । आव० ६ अ० । उपा० ।

अप (प्प) मत्त–अप्रमत्त–त्रि० । न प्रमत्तोऽप्रमत्तः । यद्वा नास्ति प्रमत्तमस्येत्यप्रमत्तः । पं० सं० १ द्वा० । आचा० । अज्ञानानिद्राविकथादिषड्प्रमादरहिते, ग० २ अधि० । स्था० । ते च प्रायो जिनकल्पिक-परिहारविशुद्धिक-यथालन्दकल्पिक-प्रतिमाप्रतिपन्नाः, तेषां सततोपयोगसम्भवात् । नं० । स० । न विद्यते प्रमत्तः प्रमादो मद्यविषयकषायविकथाप्रमादाख्यो यस्य । अप्रमादिनि, "अहो य राओ य अप्पमत्तेण होति" प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा० । निद्रादिप्रमादरहिते, "अप्पमत्ते समाहिए झाइ" आचा० १ श्रु० ९ अ० २ उ० । "अपमत्ते सया परिक्कमेज्जा" आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । "अप्पमत्ते जए णिच्चं" (दश०) । "सुस्सूसए आयरियमप्पमत्ते" (दश०) प्रयत्नवति च । "अप्पमत्तो अहिंसओ" । दशा० १ अ० ।

अप (प्प) मत्तसंजय–अप्रमत्तसंयत–पुं० । न प्रमत्तोऽप्रमत्तः, नास्ति वा प्रमत्तमस्यासावप्रमत्तः; स चासौ संयतश्चाप्रमत्तसंयतः । कर्म० ३ कर्म० । प्रव० । सर्वप्रमादरहिते सप्तमगुणस्थानकवर्त्तिनि, स० १४ सम० ।

स च–

अप्पमत्तो दुविहो–कसायअप्पमत्तो य, जोगअप्पमत्तो य । तत्थ कसायअप्पमत्तो दुविहो–खीणकसाओ, निग्गहपरो य । एत्थ निग्गहपरेण अहिगारो कहं तस्स अप्पमत्तत्तं भवति ?, कोहोदयनिरोहो वा, उदयपत्तस्स वा विफलीकरणं, एवं जाव लोभो त्ति । जोगअप्पमत्तो मणवयणकायजोगेहिं तिहिं व गुत्तो । अहवा अकुसलमणनिरोहो, कुसलमणउदीरणं वा मणसो वा एगत्तीभावकरणं । एवं वइए वि, एवं काए वि, तहा इंदिएसु सोइंदियविसयपयारनिरोहो वा । सोइंदियविसयपत्तेसु वा अत्थेसु रागदोसविणिग्गहो, एस अप्पमत्तो । आ० चू० ४ अ० ।

तस्य कालः–

अप्पमत्तसंजयस्स णं भंते ! अप्पमत्तसंजमे वट्टमाणस्स सव्वा वि य णं अप्पमत्तद्धाकालओ केव चिरं होइ ? । मंडिया ! एगं जीवं पडुच्च जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडी देसूणा णाणा जीवे पडुच्च सव्वद्धं; सेवं भंते ! भंते ! त्ति ।

(जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं ति) किलाप्रमत्ताद्धायां वर्तमानस्यान्तर्मुहूर्त्तमध्ये मृत्युर्न भवतीति; चूर्णिकारमतं तु प्रमत्तसंयतवर्जः सर्वोऽपि सर्वविरतोऽप्रमत्त उच्यते, प्रमादाभावात् । स चोपशमश्रेणीं प्रतिपद्यमानो मुहूर्त्ताभ्यन्तरे कालं कुर्वन् जघन्यकालो लभ्यत इति; देशोनपूर्वकोटी तु केवलिनमाश्रित्येति । (नाणा जीवे पडुच्च सव्वद्धं) इत्युक्तम् । अथ सर्वाद्धाभाविभावान्तरप्ररूपणायाऽऽह–भंते ! भंते ! त्ति इत्यादि । भ० ३ श० ३ उ० । पञ्चा० । भं० ।

अप (प्प) मत्तसंजयगुणट्ठाण–अप्रमत्तसंयतगुणस्थान–न० । सप्तमे गुणस्थानके, प्रव० २२४ द्वा० ।

अप (प्प) माण–अप्रमाण–न० । प्रमाणातिरिक्ते, बृ० ३ उ० । यद्वा सिद्धान्ते पुरुषस्याहार उक्तोऽस्ति तस्मादाहारप्रमाणात् स्वादुलोभेन अधिकमाहारं करोति, तदाऽप्रमाणो द्वितीय आहारदोषः । उत्त० २४ अ० । ('पमाण' शब्देऽस्य विवृतिः) प्रामाण्यविरुद्धे, रत्ना० ।

प्रसङ्गायातमप्रामाण्यरूपमपि धर्मं प्रकटयन्ति–

तदितरत्त्वप्रामाण्यमिति ॥ १९ ॥

तस्मात्प्रमेयाव्यभिचारित्वादितरत्त्व प्रमेयव्यभिचारित्वमप्रामाण्यं प्रत्येयम् । प्रमेयव्यभिचारित्वं च ज्ञानस्य स्वव्यतिरिक्तग्राह्यापेक्षयैव लक्षणीयम्, स्वस्मिन् व्यभिचारस्यासंभवात् । तेन सर्वं ज्ञानं स्वापेक्षया प्रमाणमेव, न प्रमाणाभासम् । बहिरर्थापेक्षया तु किञ्चित्प्रमाणम्, किञ्चित्प्रमाणाभासम् । रत्ना० १ परि० ।

अप (प्प) माणभोइ (ण्) –अप्रमाणभोजिन्–त्रि० । द्वात्रिंशत्कवलाधिकाहारभोक्तरि, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वा० ॥

अप (प्प) माय–अप्रमाद–पुं० । न प्रमादोऽप्रमादः । प्रमादवर्जनलक्षणे पञ्चिदशयोगसंग्रहे, स० ३२ सम० ।

तत्र उदाहरणम्–

रायगिह मगहसुंदरि–मगहसिरी कुसुमसत्थपक्खेवो ।
परिहरिअ अप्पमत्ता, नट्टंगी अचवी चुक्का ॥ १ ॥

पुरे राजगृहेऽभासी–ज्जरासन्धो महानृपः ।
गायक्यौ तस्य मगध–सुंदरीमगधश्रियौ ॥ १ ॥
चेन्नासौ स्यान्दिकाऽहं, राजा च स्याद्वशे मम ।
मगधश्रीस्ततो दुष्टा, तस्या नाट्यस्य वासरे ॥ २ ॥
विषभावितसौवर्ण-केसरायितसूचिभिः ।
संचलितैः कर्णिकारैः, रङ्गोत्सङ्गमपूजयत् ॥ ३ ॥
शङ्का मगधसुन्दर्यां, विलोक्याभ्यूहते स्म तान् ।
किमेषु कर्णिकारेषु, न लीयन्ते मधुव्रताः ? ॥ ४ ॥
सदोषाणि स्फुटं पुष्पा–ण्येतान्यत्र च चेदहम् ।
द्रक्ष्ये योग्यानि नार्घाया, भाविनानि विषेण वा ॥ ५ ॥
प्राप्यता स्यान्मम तत–स्तदुपायेन बोधये ।
अमान्तरेऽवतीर्णा च, रङ्गे मगधसुन्दरी ॥ ६ ॥
मङ्गले गीयमानेऽस्मा, मागायद्गीतिकामिमाम्– ।

पत्ते वसंतमासे, एआओ अपमोइआम्मि घुट्ठम्मि ।
मुत्तूण कणिआरए, भमरा सेवंति चूयकुसुमाइं ॥ १ ॥

श्रुत्वा गीतिमपूर्वां तां, जज्ञे मगधसुन्दरी ।

[illegible]

अपरिसेसिय–अपरिशेषित–त्रि० । [illegible] मप्रत्नीप्यर्थः । अपरिसेस त्ति गतं । नि० चू० १ उ० ।

अपरीसिय–अपरिशेषित–त्रि० । [illegible] नि० चू० १ उ० ।

अपरिसिडिल–अपरिशिथिलत्व–न० । [illegible] मनुल्भो वुद्धवचनातिशये, औ० ।

अपरिग्गह–अपरिग्रह–पुं० । न विद्यते धर्मोपकरणाते [illegible] परिग्रहो यस्य स तथा । [illegible] रिग्गहे साधौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । "[illegible] ला, भिक्खू ताणं परिव्वए" सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । [illegible] न विद्यते परि समन्तात् गृह्यते [illegible] इति परिग्रहः [illegible] परिग्रहः । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । [illegible] ।

अपरिग्गहसंवुड–अपरिग्रहसंवृत–त्रि० । [illegible] रिये परिग्रहसंवरेण च संवृते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अपरिग्गहा अपरिग्रहा स्त्री० । न विद्यते परिग्रहः [illegible] अपरिग्रहा । [illegible] "[illegible] णियाण, वेसाणुविहो य कोइ आमतो ।" [illegible]

अपरिग्गहिया अपरिगृहीता स्त्री० । [illegible]

[illegible]

अपरिग्गहियागमण–अपरिगृहीतागमन–न० । [illegible]

[illegible]

अपरिणय-अपरिणत-त्रि० । न परिणतं रूपान्तरमापन्नमपरिणतम् । स्वरूपेणावस्थिते परिणाममप्राप्ते, यथा दुग्धं दुग्धभावे व्यवस्थितं दधिभावमनापन्नमपरिणतम् । पिं० । देयं द्रव्यं मिश्रमचित्तत्वेन परिणमनादपरिणतम् । ध० ३ अधि० । अप्रासुकीभूते देयद्रव्ये, तद्दाने आपतति एषणादोषे च, ग० । ध० ३ अधि० । प्रव० । अपरिणतमिति यद्देयं न सम्यगचित्तीभूतं दातृग्राहकयोर्वा न सम्यग्भावोपेतम् । आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० । यदा द्रव्येण अपरिणतमाहारं गृह्णीतम्, द्वयोः पुरुषयोराहारं वर्तते, तन्मध्ये एकस्य साधवे दातुं मनोऽस्ति, एकस्य च नास्ति, तदाहारमपरिणतदोषयुक्तं स्यात्, अपरिणतदोष—आएमः ।

तथापरिणतद्वारमाह-

अपरिणयं पि य दुविहं, दव्वे भावे य दुविहमिक्कं ।
दव्वम्मि होइ छक्कं, भावम्मि य होइ सज्भलगा ॥

अपरिणतमपि द्विविधं, तद्यथा—द्रव्ये द्रव्यविषयं, भावे भावविषयं, द्रव्यरूपमपरिणतं, भावरूपमपरिणतं चेत्यर्थः । पुनरप्येकैकं दातृगृहीतृसंबन्धाद् द्विधा । तद्यथा-द्रव्यापरिणतं,दातृसत्कं च । एवं भावापरिणतमपि ।

तत्र द्रव्यापरिणतस्वरूपमाह—

जीवत्तम्मि अविगए, अपरिणयं गए जीव दिट्ठंतो ।
दुद्धदहीइ अभद्दं, अपरिणयं परिणयं जई ॥

जीवत्वे सचेतनत्वे अविगते अप्रध्वस्ते पृथिवीकायादिकं द्रव्यमपरिणतमुच्यते, गते तु जीवे परिणतम् । अत्र दृष्टान्तो दुग्धदधिनी । यथा हि-दुग्धस्वरूपावस्थितं दधिभावमनापन्नं परिणतमुच्यते,दुग्धतायां चावस्थितेऽपरिणतम्,एवं पृथिवीकायादिकमपि स्वरूपेण सजीवं सजीवत्वापरिभ्रष्टमपरिणतमुच्यते । जीवेन च विप्रमुक्तं परिणतमिति । तत्र यदा दातुः सत्तायां वर्तते तदा दातृसत्कम्,यदा तु गृहीतुः सत्तायां तदा गृहीतुः सत्कमिति॥

संप्रति दातृविषयं भावापरिणतम्—

दुगमाईसामन्ने, जइ परिणमइ उ तत्थ एगस्स ।
देमि त्ति न सेसाणं, अपरिणयं भावओ एयं ।

एवं द्विकादिसामान्ये आत्मादिद्विकादिसाधारणे देयवस्तुनि यदैकस्य कस्यचिद् ददामीत्येवंभावः परिणमति, शेषाणामनङ्गीकृतोऽपरिणतम्,न भावापेक्षया देयतया परिणतमित्यर्थः। अथ साधारणानिसृष्टस्य दातृभावापरिणतस्य च कः परस्परं प्रतिविशेषः ? । उच्यते-साधारणानिसृष्टं दायकपरोक्षत्वे, दातृभावापरिणतं तु दायकसमक्षत्वे इति ।

संप्रति गृहीतृविषयं भावापरिणतमाह-

एगेण वा वि ऐसि, मणम्मि परिणामियं न इयरेणं ।
तं पि हु होइ अगेज्झं, सज्झलगा सादि-साहू वा ॥

एकेनापि केनचित् साधुना [illegible] पर्याप्तमिति मनसि परिणामितं, न इतरेण द्वितीयेन, तदपि अगेज्झं [illegible] साधूनामकल्प्यम्, [illegible] कलहादिदोषसंभवात् । संप्रति द्विविधस्यापि भावापरिणतस्य दिग्दर्शनमाह—(सज्झ[illegible] ११ १

गेत्यादि) तत्र दातृविषयं भावापरिणतं [illegible] गृहीतृविषयं भावापरिणतं साधुविषयम् [illegible] पिं० । एतच्च साधूनामकल्प्यम्, [illegible] कलहादिदोषसमवायाच्च । ध० ३ अधि० । ग० । " अपरिणय दव्वे भावभ्रूं [illegible] " पं० चू० (अपरिणतदोषविधः ' पायण ' शब्दे वक्ष्यते)

अपरिणतकन्दादिप्रतिषेधः—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव पविट्ठे समाणे से आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अणगंधाणि वा पाणगंधाणि वा सुरभिगंधाणि वा आघाय से तत्थ आसायवडियाए मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववन्ने अहो ! गंधो अहो ! गंधो णो गंधमाघाएज्जा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, सालुयं वा विरालियं वा सासवणालियं वा अण्णतरं वा तहप्पगारं आमगं असत्थपरिणयं अफासुयं जाव लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ।

(से भिक्खू इत्यादि) (आगन्तारेषु [illegible] [illegible] [illegible] पर्यावसथेषु [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] अहो ! गन्ध, अहो ! गन्ध [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] (सासवणालिय त्ति) [illegible]

किञ्च—

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव पविट्ठे समाणे से जं पुण जाणेज्जा, पिप्पलिं वा पिप्पलिचुण्णं वा मिरियं वा मिरियचुण्णं वा सिंगबेरं वा सिंगबेरचुण्णं वा अण्णतरं वा तहप्पगारं आमगं असत्थपरिणयं अफासुयं लाभे संते जाव णो पडिगाहेज्जा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव पविट्ठे समाणे सेज्जं पुण पलंबजायं जाणेज्जा । तं जहा अंबपलंबं वा अंबाडगपलंबं वा तालपलंबं वा झिज्झिरिपलंबं वा सुरभिपलंबं वा सल्लइपलंबं वा अण्णतरं वा तहप्पगारं पलंबजायं आमगं असत्थपरिणयं अफासुयं [illegible] जाव लाभे संते णो पडिगाहेज्जा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव पविट्ठे समाणे सेज्जं पुण पवालजायं जाणेज्जा । तं जहा-आसोत्थपवालं वा णग्गोहपवालं वा पिलंखुपवालं वा णिपूरपवालं वा सल्लइपवालं वा अण्णतरं वा तहप्पगारं पवालजायं आमगं असत्थपरिणयं अफासुयं [illegible] जाव णो पडिगाहेज्जा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव पविट्ठे समाणे सेज्जं पुण सरडुयजायं जाणेज्जा । तं जहा-अंबसरडुयं वा कविट्ठसरडुयं वा दालिमसरडुयं वा बिल्लसरडुयं वा अण्णतरं वा तहप्पगारं सरडुयजायं [illegible]

असत्थपरिणयं अफासुयं० जाव णो पडिगाहेज्जा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव पविट्ठे समाणे सेज्जं पुण मंथुजायं जाणेज्जा । तं जहा-उंबरमंथुं वा णग्गोहमंथुं वा पिलक्खुमंथुं वा आसोत्थमंथुं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं मंथुजायं आमयं दुरुक्कं साणुबीयं अफासुयं जाव णो पडिगाहेज्जा ।

"से भिक्खू वेत्यादि" स्पष्टम, नवरं (मंथु त्ति) चूर्णम । (दुरुक्कं ति) ईषत्पिष्टम । (साणुबीय त्ति) अविध्वस्तयोनिबीजमिति ॥

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, आमडागं वा पूतिपिण्णागं वा महुं वा मज्जं वा सप्पिं वा खोलं वा पुराणं एत्थ पाणा अणुप्पसूया एत्थ पाणा जाया एत्थ पाणा संवुड्ढा एत्थ पाणा अवुक्कंता एत्थ पाणा अपरिणया एत्थ पाणा अविद्धत्था णो पडिगाहेज्जा ॥

(से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्षुर्यत्पुनरेवं जानीयात्तद्यथा- (आमडागं वे त्ति) आमपत्रं अरणिकतन्दुलीयकादि । तथाऽर्धपक्वकं वा, (पूतिपिण्णागं त्ति) कुथितखलम । मधुमद्ये प्रतीते, सर्पिर्घृतम, खोलं मद्याधःकर्दमः, एतानि पुराणानि न ग्राह्याणि । यत एतेषु प्राणिनो ह्यनुप्रसूता जाताः, संवृद्धाः, अव्युत्क्रान्ताः, अपरिणताः, अविध्वस्ता नात्रादरः [illegible] [illegible] [illegible] भेदः ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, उच्छुमेरगं वा अंककरेलुयं वा कसेरुगं वा सिंघाडगं वा पूतिआलुगं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं आमगं असत्थपरिणयं जाव णो पडिगाहेज्जा ॥

(से भिक्खू वेत्यादि) (उच्छुमेरगं वे त्ति) अपनीतत्वगिक्षुगण्डिकाः [illegible] [illegible] [illegible] अप्रतिगृह्यं इत्यादिति ॥

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्जं पुण जाणेज्जा, उप्पलं वा उप्पलणालं वा भिसं वा भिसमुणालं वा पोक्खलं वा पोक्खलविभंगं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं जाव णो पडिगाहेज्जा ॥

[illegible]

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा [illegible] सेज्जं पुण जाणेज्जा [illegible]

[illegible]

(से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्षुर्यत्पुनरेवं जानीयात्तद्यथा- [illegible] बीजानि जपाकुसुमादीनि, मूलबीजानि जात्यादीनि, स्कन्धबीजानि शल्लक्यादीनि, पर्वबीजानि इक्ष्वादीनि । तथा अग्रजातानि मूलजातानि स्कन्धजातानि पर्वजातानीति । (एतदुक्तं) नान्यस्मादानीतान्यन्यत्र प्ररोहितानि, किन्तु तत्रैव [illegible] तानि, तथा (तक्कलिमत्थएण वा) तक्कली कन्दली [illegible] तन्मस्तकं तन्मध्यवर्ती गर्भः । तथा कन्दलीशीर्षकं [illegible] कः । एवं नालिकेरादेरपि द्रष्टव्यमिति । अथवा कन्दलीमस्तकेन सदृशमन्यद्यच्छिन्नाऽनन्तरमेव ध्वंसमुपयाति, स तथाप्रकारमन्यदामममशस्त्रपरिणतं न प्रतिगृह्णीयादिति ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, उच्छुं वा काणं अंगारियं सम्मिस्सं विगदूमियं वेत्तग्गं वा कंदलीऊसुयगं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं असत्थपरिणयं जाव णो पडिगाहेज्जा ॥

(से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्षुर्यत्पुनरेवं जानीयात्, तद्यथा- इक्षुं वा (काणगं ति) व्याधिविशेषात्सच्छिद्रं, तथा-अङ्गारितं विवर्णीभूतं, तथा-सम्मिश्रं स्फुटितत्वक् (विगदूमियं ति) वृकैः शृगालैर्वा ईषद्भक्षितं, न ह्येतावता [illegible] [illegible] इति सूत्रोपन्यासः । तथा वेत्राग्रं (कन्दलीऊसुयगं ति) कन्दलीमध्यं तथाऽन्यदप्येवंप्रकारमाममशस्त्रोपहतं न प्रतिगृह्णीयादिति ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, लसुणं वा लसुणपत्तं वा लसुणणालं वा लसुणकंदं वा लसुणचोयगं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं असत्थपरिणयं जाव णो पडिगाहेज्जा ॥

लशुनसूत्रं सुगमम । णवरं (चोयगं ति) कोशकाकारा [illegible] इव बाह्यत्वक् । सा च यावत्साऽऽर्द्रा तावत्सचित्तेति ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, अत्थियं वा कुंभिपक्कं तिंदुगं वा वेलुगं वा [illegible] लगं वा कासवणालियं वा अण्णयरं वा आमं असत्थपरिणयं जाव णो पडिगाहेज्जा ॥ से भिक्खू वा भिक्खुणी वा जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, कणं वा कणकुंडगं वा कणपूयलिं वा चाउलं वा चाउलपिट्ठं वा तिलं वा तिलपिट्ठं वा तिलपप्पडगं वा अण्णयरं वा तहप्पगारं आमं असत्थपरिणयं जाव लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ॥

(से भिक्खू वेत्यादि) (अत्थियं ति) वृक्षविशेषफलम् [illegible] (तेंदुयं ति) टेम्बरुकम, (बिलुयं ति) बिल्वं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible]

अपरिणामग–अपरिणामक–पुं० । न विद्यते परिणामो यद्गु- कार्थपरिणमनं यस्य स तथा । व्य० १ उ०। उत्सर्गैकरुचौ पुरुषे, नं० । जी० १ प्रति० ।

अपरिणामकमाह—

जो दव्वखित्तकयकाल–भावओ जं जहा जिणक्खायं ।
तं तह असद्दहंतं, जाण अपरिणामयं साहुं ॥

यो द्रव्यक्षेत्रकालभावकृतं तद् न श्रद्दधाति तं तथा अश्रद्दधतं जानीहि अपरिणामकं साधुम् । बृ० १ उ० । पं० व० । (' परिणाम ' शब्दव्याख्यानावसरे अतिपरिणामकस्यापि व्याख्याऽन्यधायि, तत्रैवास्यापि शब्दस्य व्याख्या दृष्टान्तश्च द्रष्टव्यः)

अपरिणिव्वाण–अपरिनिर्वाण–न० । परि समन्तात् निर्वाणं सुखं परिनिर्वाणं, न परिनिर्वाणमपरिनिर्वाणम् । समन्तात् शरीरमनःपीडाकरे, " मज्झेसि सव्वाणं असायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खं " आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

अपरिण्णत्त–अपरिज्ञप्त–त्रि० । अज्ञापिते, कल्प० ।

अपरिण्णाय–अपरिज्ञात–त्रि० । ज्ञपरिज्ञया स्वरूपतोऽनवगते, प्रत्याख्यानपरिज्ञया चाप्रत्याख्याते, स्था० ५ ठा० २ उ० । आचा० ।

अपरितंत–अपरितान्त–त्रि० । अपरितान्ते परिश्रममगच्छति, नं० । प्रश्न० । पं० भा० । 'अपरितन्तो सुत्तत्थ–तदुभयसु' पं० चू० ।

अपरितंतजोगि (ण्)–अपरितान्तयोगिन्–त्रि० । अपरितान्तोऽविश्रान्तो योगः समाधिर्यस्य सोऽपरितान्तयोगः । स्वार्थिकेऽन्तत्वाच्चापरितान्तयोगी । अन्त० ७ वर्ग । अविश्रान्तसमाधौ, अणु० ३ वर्ग । अपरितान्ता अश्रान्ता योगा मनःप्रभृतयः सदनुष्ठानेषु यस्य स तथा ; तत अपरिश्रान्तसंयमे प्रयते, प्रश्न० १ सम्व० द्वा० ।

अपरितावणया–अपरितापनता–स्त्री० । शरीरपरितापानुत्पादने, भ० ५ श० ए उ० । परितापानुत्पादने, ध० ३ अधि० । समन्ताच्छरीरसन्तापपरिहारे, पा० ।

अपरिताविय–अपरितापित–त्रि० । स्वतः परतो वाऽनुपजातकायमनःपरितापे, जी० ३ प्रति० ।

अपरित्त–अपरीत–पुं० । न० त० । साधारणशरीरे, स्था० ३ ठा० २ उ० । अनन्तसंसारे वा जीवे, भ० ६ श० ३ उ० ।

अपरित्ते दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–कायअपरित्ते य, संसारअपरित्ते य ॥

कायापरीतोऽनन्तकायिकः ; संसारापरीतः सम्यक्त्वादिनाऽकृतपरिमितसंसारः । प्रज्ञा० १८ पद । कायापरीतः साधारणः, संसारापरीतः कृष्णपाक्षिकः । जी० २ प्रति० ।

तत्र—

संसारअपरित्ते दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–अणादिए अपज्जवसिए, अणादिए सपज्जवसिए ॥

संसारापरीतो द्विधा–अनाद्यपर्यवसितो यो न कदाचनापि संसारव्यवच्छेदं करिष्यति; यस्तु करिष्यति सोऽनादिसपर्यवसितः । प्रज्ञा० १८ पद । अनादिकोऽपर्यवसितो येन जातुचिदपि सिद्धिं गन्ता, अनादिको वा सपर्यवसितो भव्यविशेषः । जी० २ प्रति० । (कायापरीतादिव्याख्यानं ' अंतर ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ७७ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

अपरिब्भूय–अपरिभूत–त्रि० । अपरिभवनीये, स्था० ७ ठा० ।

अपरिभोग–अपरिभोग–पुं० । परिभोगाभावे, स्था० ५ ठा० २ उ० । नि० चू० ।

अपरिमाण–अपरिमाण–त्रि० । न विद्यते परिमाणं यस्य स तथा । क्षेत्रतः कालतो वा इयत्तारहिते, " अपरिमाणं वि जाणाइ, इहमेगेसिमाहियं " सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । नि० चू० ।

अपरिमिय–अपरिमित–त्रि० । अपरिमाणे, न परिमितोऽपरिमितः । अनु० । परिमाणरहिते, " अपरिमियमहिच्छकलुसमतिवाउवेगउद्धम्ममाणं " अपरिमिता अपरिमाणा ये महेच्छा बृहदभिलाषा अविरता लोकास्तेषां कलुषाऽविशुद्धा मतिः सैव वायुवेगस्तेन उत्पाद्यमानं यत्तत्तथा । प्रश्न० ३ सम्ब० द्वा० । आव० । "अपरिमियनाणदंसणधरेहिं" (तीर्थकृद्भिः) प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० । सू० । दर्श० । अनन्ते, औ० । बृहति, "अपरिमियं च वसाणं, कव्वं गच्छति नायव्वं" दश० २ अ० ।

अपरिमियपरिग्गह–अपरिमितपरिग्रह–पुं० । अपरिमितश्चासौ परिग्रहणं परिग्रहः । परिमाणरहितपरिग्रहे, आव० ६ अ० ।

अपरिमियबल–अपरिमितबल–त्रि० । अपरिमितं बलं यस्य सोऽपरिमितबलः । निर्विशेषवीर्यान्तरायक्षयादनन्तबलशालिनि, " तत्तो वज्जा वज्जभद्दा, अपरिमियबला जिणवरिंदा " विशे० । सूत्र० । " अपरिमियबलवीरियजुत्ते " अपरिमितानि बलादीनि, तैर्युक्तो यः स तथा । उपा० २ अ० ।

अपरिमियमणंततण्हा–अपरिमितानन्ततृष्णा–स्त्री० । अपरिमाणद्रव्यविषया अनन्ता वाऽक्षया या तृष्णाऽविद्यमानद्रव्याऽऽशेच्छा । अपरिमितवाञ्छायाम्, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वा० ।

अपरिमियसत्तजुत्त–अपरिमितसत्त्वयुक्त–त्रि० । अपरिमितमियत्तारहितं यत्सत्त्वं धृतिबलं तेन युक्तः । अपरिमितधैर्ये, सू० ३ उ० ।

अपरियट्टमाणा–अपरावर्तमाना–स्त्री० । न परावर्तमाना अपरावर्तमाना, पं० सं० ३ द्वा० । परावर्तमानप्रकृतिभिन्नासु कर्मप्रकृतिषु, पं० स० ३ द्वा० । (मूलप्रकृतीनां बन्धादिप्रस्तावे ' कम्म ' शब्दे तृतीयभागे २९१ पृष्ठे दर्शयिष्यन्ते एताः)

अपरियाइत्ता–अपर्यादाय–अव्य० । परितः समन्तादगृहीत्वेत्यर्थे, स्था० २ ठा० १ उ० । सामस्त्येनागृहीत्वे, स्था० १ ठा० १ उ० ।

अपरियाणित्ता–अपरिज्ञाय–अव्य० । ज्ञपरिज्ञयाऽज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया चाप्रत्याख्यायेत्यर्थे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

अपरियार–अपरिचार–त्रि० । न० ब० । प्रविचारणामैथुनसेवारहिते, अप्रविचारे, प्रज्ञा० ३४ पद ।

अपरिवडिय–अप्रतिपतित–त्रि० । स्थिरे, पञ्चा० ७ विव० ।

अपरिसा (स्सा) इ (वि) (ण्)–अपरिस्राविन्–पुं० । परिस्रवितुं शीलमस्य परिस्रावी । न परिस्रावी अपरिस्रावी । द्रव्यतः छिद्ररहिते तुम्बकादौ, भावतः कुमार्गकरणाकारेतनुयोगदानयोग्ये, बृ० ।

विधाहाररहिते, पञ्चा० १७ विव० ॥ " छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं " जं० २ वक्ष० ॥ पानकसदृशेषु शीतलत्वेन दाहोपशमहेतुषु स्थालीपानकादिषु, गोशालकसम्मतपदार्थेषु च । भ० १५ श० १ उ० । (तत्प्रदर्शनं गोसालक' शब्दे करिष्यामि) पानकाहारवर्जिते, जं० ४ वक्ष० । पानीयपानपरिहारवति, स्था० ६ ठा० । एकान्तरोपवासे, ध० ३ अधि० ।

अपाय–अपाद–त्रि० । विशिष्टच्छन्दोरचनायोगोत्पादवर्जिते, दशा० १ अ० । उत्त० ।

अपायच्छिन्न–अपादच्छिन्न–त्रि० । अच्छिन्नचरणे, नि० चू० १५ उ० ।

अपार–अपार–त्रि० । अनन्ते, स० ।

अपारंगम–अपारङ्गम–त्रि० । पारस्तटः परकूलं तद् गच्छतीति पारङ्गमः, न पारङ्गमोऽपारङ्गमः । पारगतोपदेशाभावाद् पारंगमे, "अपारंगमा एए, ण य पारंगमित्तए" । एते कुतीर्थिकादयः अपारङ्गमा इत्यादि । पारस्तटः परकूलं, तद् गच्छन्तीति पारङ्गमाः, न पारङ्गमा अपारङ्गमाः, एत इति पूर्वोक्ताः । पारगतोपदेशाभावादपारङ्गता इति भावनीयम् । न च ते पारगतोपदेशादृते पारङ्गमनायोद्यता अपि पारं गन्तुमलम् । अथवा गमनं गमः, पारस्य पारे वा गमः पारगमः । सूत्रे त्वनुस्वारोऽलाक्षणिकः, न पारगमोऽपारगमस्तस्मा अपारगमाय । असमर्थसमासोऽयम् । तेनायमर्थः–पारगमनाय ते न भवन्तीत्युक्तं भवति । तत्स्थानत्वमपि संसारान्तर्वर्तिन एवासते । यद्यपि पारगमनायोद्यमयन्ति तथापि ते सर्वज्ञोपदेशविकलाः स्वरुचिविरचितशास्त्रप्रवृत्तयो नैव संसारपारं गन्तुमलम् । आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अपाग–अपाग–त्रि० । अर्वाग्गामिनि, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अपामग्गो–देशी–विधौ, दे० ना० १ वर्ग ।

अपाव–अपाप–त्रि० । अपगताशेषकर्मकलङ्के, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अपावभाव–अपापभाव–त्रि० । लब्ध्याद्यपेक्षारहिततया शुद्धचित्ते, दशा० १ अ० १ उ० ।

अपासमाण–अपश्यत्–त्रि० । अनवलोकयति, ओघ० ।

अपारय–अपारक–पुं० । [illegible] प्रशस्तमनोविनये, स्था० ७ ठा० । [illegible], भ० २५ श० ७ उ० ।

अपावा–अपापा–स्त्री० । [illegible] पुर्याम्, यत्र श्रीमहावीरः स्वामी निर्वृतः । कल्प० ।

अपास–अपाश–पुं० । [illegible], आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

अपासत्थया–अपार्श्वस्थता–स्त्री० । न पार्श्वस्थोऽपार्श्वस्थस्तद्भावः अपार्श्वस्थता । [illegible] । स्था० १० ठा० ।

[illegible] । [illegible], नि० चू० १ उ० ।

[illegible] । [illegible], उत्त० ४ उ० । स्था० । [illegible] ।

[illegible] । [illegible], भ० ३ श० १ उ० ।

अपिय–अप्रिय–त्रि० । अप्रीतिकरे, न० १ श० ३३ उ० । अप्रियदर्शने, औ० । प्रति० । अप्रीतिके, " अचियत्तं ति वा अपियत्तं ति वा एगट्ठं " व्य० २ उ० ।

अपियणिज्जोदग–अपानीयोदक–पुं० । अपातव्यजलं मेघे, स्था० ७ श० ६ उ० ।

अपिसुण–अपिशुन–त्रि० । छेदनभेदनयोरकर्तरि, दश० ९ अ० ३ उ० ।

अपीइकारग–अप्रीतिकारक–त्रि० । अमनोज्ञे, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अपीइगरहिय–अप्रीतिकरहित–त्रि० । अप्रीतिवर्जिते, पञ्चा० ७ विव० ।

अपीइतर–अप्रीतितर–त्रि० । अमनोज्ञतरे, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अपीड(ल)णया–अपीडनता–स्त्री० । पादाद्यनवगाहने, पा० । प्र० ।

अपीलिय–अपीडित–त्रि० । संयमतपःक्रियया आश्रवनिरोधानशनादिरूपतया पीडयाऽदुःखिते, पं० सू० ४ सू० ।

अपुच्छिय–अपृष्ट–त्रि० । पृच्छामगते, " अपुच्छिओ न भासिज्जा, भासमाणस्स अंतरा । पिट्ठिमंसं न खाइज्जा, मायामोसं विवज्जए ॥ " दश० ८ अ० ।

अपुज्ज–अपूज्य–त्रि० । न० त० । अवन्दनीये, व्य० ३ उ० ।

अपुट्ठ–अपुष्ट–त्रि० । दुर्बले, बृ० ३ उ० । अपुष्कले, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अपृष्ट–त्रि० । अजीप्सिते, भ० ३ श० १ उ० ।

अपुट्ठधम्म–अपुष्टधर्मन्–पुं० । अपुष्टोऽपुष्कलः सम्यगपरिज्ञातो धर्मः श्रुतचारित्राख्यो दुर्गतिप्रसृतजन्तुधरणस्वभावो येनासावपुष्टधर्मा । अगीतार्थे, "एवं तु सेहे वि अपुट्ठधम्मे, धम्मं न जाणाइ अबुज्झमाणे " सम्यगपरिणतधर्मपरमार्थे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अपुट्ठलाभिय–अपृष्टलाभिक–पुं० । न पृष्टलाभिकोऽपृष्टलाभिकः । हे साधो ! किं ते दीयते ?, इत्यादिप्रश्नमन्तरेण भिक्षां लभमाने भिक्षाचरकभेदे, धर्मधर्मिणोरभेदोपचाराद् भिक्षाचर्याभेदे च । औ० ।

अपुट्ठवागरण–अपृष्टव्याकरण–न० । अपृष्टे सति प्रतिपादने, " एयं सव्वं अपुट्ठवागरणं नेयव्वं " भ० ३ श० १ उ० ।

अपुट्ठासंथण–अपुष्टासम्पन–न० । अदृष्टापवादकारके, प्रश्न० २ द्वा० ।

अपुणकरणसंगय–अपुनःकरणसंगत–त्रि० । पुनरिदं मिथ्यादुष्कृतं न करिष्यामीत्येवं निश्चयान्विते, पञ्चा० ११ विव० ।

अपुणच्चवण–अपुनश्च्यवन–पुं० । न पुनश्च्यवनं यथाऽपुनश्च्यवनं, देवेभ्यश्च्युत्या तिर्यगादिषूत्पत्त्यभावे, उत्त० २ अ० ।

अपुणबंधग–अपुनर्बन्धक–पुं० । न पुनरपि बध्नाति मोहनीयकर्मोत्कृष्टस्थितिबन्धनं यस्य स अपुनर्बन्धकः । पञ्चा० ३ विव० । [illegible] धर्माधिकारिभेदे, धो० विं० । यस्तु तां तथैव पुनःपुनः [illegible] मां भक्तवान् नैव तथा न [illegible]

सोऽपुनर्बन्धक उच्यते । "पावं ण तिव्वभावा कुणइ" इति वचनात् । ध० ३ अधि० ।

एतल्लक्षणं यथा—

पावं ण तिव्वभावा, कुणइ ण बहुमण्णई भवं घोरं ।
उचियट्ठिइं च सेवइ, सव्वत्थ वि अपुणबंधो त्ति ॥

पापमशुभं कर्म, तत्कारणत्वाद्धिंसाऽऽद्यपि पापम् । तद् नैव तीव्रभावाद् गाढसंक्लिष्टपरिणामात्करोति । अत्यन्तोत्कट-मिथ्यात्वादिकर्मोपशमेन सम्यगात्मनैर्मल्यविशेषभावात्तीव्रमिति विशेषणादापन्नम्-अतीव्रभावात्करोत्यपि, तथाविधकर्मदोषात् । तथा न बहु मन्यते न बहुमानविषयीकरोति, भवं संसारं, घोरं रौद्रं, घोरदुःखवत्त्वात् । तथा-उचितस्थितिमनुरूपप्रतिपत्तिं, च शब्दः समुच्चये । सेवते भजते । कर्मलाघवात्सर्वत्रापि, आस्तामेकत्र, देशकालाद्यवस्थापेक्षया समस्तेष्वपि देवातिथिमातापितृप्रभृतिषु मार्गानुसारितामिमुखत्वेन मयूरशिशुदृष्टान्तादपुनर्बन्धकः, उक्तनिर्वचनो जीव इत्येवंविधक्रियालिङ्गो भवतीत्यलं प्रसङ्गेन । ध० १ अधि० । द्वा० ।

प्रकारान्तरेण–

भवाभिनन्दिदोषाणां, प्रतिपक्षगुणैर्युतः ।
वर्द्धमानगुणप्रायो, ह्यपुनर्बन्धको मतः ॥१७८॥

भवाभिनन्दिदोषाणां 'क्षुद्रो लोभरतिर्दीनो मत्सरी' इत्यादिना प्रागेवोक्तानां, प्रतिपक्षगुणैरक्षुद्रतानिर्लोभतादिभिर्युतो, वर्द्धमानगुणप्रायो वर्द्धमानाः शुक्लपक्षक्षपापतिमण्डलमिव प्रतिकलमुल्लसन्तो गुणा औदार्यदाक्षिण्यादयः, प्रायो बाहुल्येन यस्य स तथा । अपुनर्बन्धको धर्माधिकारी मतोऽभिप्रेतः ।

अस्यैषा मुख्यरूपा स्यात्, पूर्वसेवा यथोदिता ।
कल्याणाशययोगेन, शेषस्याप्युपचारतः ॥१७९॥

अस्यापुनर्बन्धकस्यैषा प्रागुक्तमुख्यरूपा निरुपचरिता, स्यादेवम् । पूर्वसेवा देवादिपूजारूपा, यथोदिता यत्प्रकारा निरूपिता प्राक् । कल्याणाशययोगेन मनाग् मुक्त्यनुकूलशुभभावसंबन्धेन, शेषस्यापुनर्बन्धकापेक्षया विलक्षणस्य सकृद्बन्धकादेः, उपचारत औपचारिकी पूर्वसेवा स्यात्, यद्यपि तथाविधभववैराग्याभावात्तस्य ॥१७९॥

इह केचिन्मार्गपतितमार्गाभिमुखावपि शेषशब्देनाहुः । तच न युज्यते, अपुनर्बन्धकावस्थाविशेषरूपत्वात्तयोरपुनर्बन्धकग्रहणेनैव गतत्वात् । यतो ललितविस्तरायां मार्गलक्षणमित्थमुक्तम्-इह मार्गश्चेतसोऽवक्रगमनं, भुजङ्गमनलिकाऽऽयामतुल्यो विशिष्टगुणस्थानावाप्तिप्रगुणः स्वरसवाही क्षयोपशमविशेष इति । तत्र प्रविष्टो मार्गपतितः मार्गप्रवेशयोग्यभावापन्नो मार्गाभिमुख, एवं च नैतावपुनर्बन्धकावस्थायाः परतरावस्थाभाजौ चतुर्मुचितौ, प्रागवस्थायामपगमयोग्यतया पञ्चसूत्रकवृत्तावनयोरुक्तत्वात् । यथोक्तं तत्र-एवं च भागवती सदाज्ञा सर्वैवाऽपुनर्बन्धकादिगम्या । अपुनर्बन्धकादयो ये सत्त्वा उत्कृष्टां कर्मस्थितिं तथाऽपुनर्बन्धकत्वेन क्षपयन्ति ते खल्वपुनर्बन्धकाः । आदिशब्दान्मार्गपतितमार्गाभिमुखादयः परिगृह्यन्ते, इदमतिक्षालोचनादिगम्यलिङ्गाः । एतद्गम्येयं न संसाराभिनन्दिगम्येति । संसाराभिनन्दितथापुनर्बन्धकप्रागवस्थाभाजो जीवा इति ।

ननूपचरितं वस्त्वेव न भवति, तत् कथमुपचारतः शेषस्य पूर्वसेवा स्यात् ? इत्याशङ्क्याह—

कुलश्राम्या उपन्यासः, शेषापेक्षोऽपि कार्यतः ।
नामधोऽप्यस्य बाहुल्या-दन्यथैतत्प्रदर्शकः ॥१८०॥

कृतश्च कृतः पुनरिह अस्याः पूर्वसेवायाः उपन्यासः प्रज्ञापनारूपः शेषापेक्षोऽपि अपुनर्बन्धकतायामसञ्जीवानाश्रित्य, कार्यतो भाविनीं साधरूपां पूर्वसेवामपेक्ष्य तद्वलोदकं पादरोग इत्यादिदृष्टान्तात् । यतः, न नैवाऽऽसन्नोऽपि समीपवर्त्यपि, जीवोऽस्यापुनर्बन्धकभावस्य, किं पुनरयमेवेत्यपिशब्दार्थः । बाहुल्यात्प्रायेणान्यथाऽपुनर्बन्धाचारविलक्षणो वर्तते इत्येतस्यार्थस्य प्रदर्शको ज्ञापकः । न हि मृत्पिण्डादिकारणं कार्याद् घटादेर्बाहुल्येन वैलक्षण्यमनुभवद् दृश्यते, किन्तु कथञ्चित्तुल्यरूपतामिति ।

इदमेवाधिकृत्याह–

शुद्ध्युल्लोके यथा रत्नं, जात्यं काञ्चनमेव वा ।
गुणैः संयुज्यते चित्रै-स्तद्वदात्माऽपि दृश्यताम् ॥१८१॥

शुद्धिःशुद्धिमनुभवन् क्षारमृत्पुटपाकादिसंयोगेन, लोके व्यवहारार्हजनमध्ये यथा रत्नं पद्मरागादि, जात्यमकृत्रिमं, काञ्चनमेव वा चामीकरं वा, गुणैः कान्त्यादिभिः, संयुज्यते संश्लिष्यति, चित्रैर्नानाविधैस्तदुचितैः, तद्वद् रत्नकाञ्चनवत्, आत्माऽपि जीवः शुद्ध्येत, किं पुना रत्नकाञ्चने ?, इत्यपिशब्दार्थः । दृश्यताम्-ऊहापोहचक्षुषाऽवलोक्यतामिति ।

अत्रैव मतान्तरमाह—

तत्प्रकृत्यैव शेषस्य, केचिदेनां प्रचक्षते ।
आलोचनाद्यभावेन, तथाऽनाभोगसङ्गताम् ॥१८२॥

सा वक्ष्यमाणविशेषणानुरूपा या प्रकृतिः स्वभावस्तया शेषस्य सकृद्बन्धकादेः, केचित् शास्त्रकारा एनां पूर्वसेवां, प्रचक्षते व्याकुर्वते, न पुनः सर्वे । कीदृशीम् ?, इत्याह-'आलोचनाद्यभावेन' आलोचनस्योहस्य, आदिशब्दादपोहस्य, निर्णयस्य, मार्गविषयस्याभावेन, तथाऽनाभोगसंगतां, तथा तत्प्रकारः, कथञ्चिदपि भवस्वरूपाऽनिर्णायको योऽनाभोग उपयोगाभावस्तत्संगतां पूर्वकारणभावेनोपचरितत्वमुक्तमत्र चानाभोगद्वारेणेति ॥

एतदेव समर्थयमान आह–

युज्यते चैतदप्येवं, तीव्रे मलविषे न यत् ।
सदावेगो भवासङ्ग-स्तस्योच्चैर्विनिवर्तते ॥ १८३ ॥

युज्यते च घटत एवैतदप्यनन्तरोक्तं वस्तु, किं पुनः परम्परोक्तम् ?, इत्यपिशब्दार्थः एवं यथा केचित्प्रचक्षते । अत्र हेतुः-तीव्रस्य-

[illegible]

हि तन्निवृत्तौ तस्यापुनर्बन्धकत्वमेव स्यात् इत्यौपचारिक्येव, शेषस्य पूर्वसेवेति स्थितम् ॥

अथ यां प्रकृतिमाश्रित्य पूर्वसेवा स्यात्तां, तद्विपर्ययं चाऽऽह—

संक्लेशायोगतो भूयः, कल्याणाङ्गतया च यत् ।
तात्त्विकी प्रकृतिर्ज्ञेया, तदन्या तूपचारतः ॥ १८४ ॥

संक्लेशाऽयोगतो भूयः पुनरपि, तीव्रसंक्लेशाऽयोगेन कल्याणाङ्गतया च उत्तरोत्तरभववैराग्यादिकल्याणनिमित्तभावेन वा । यत्प्रसादु वर्तते या सा तस्मात्तात्त्विकी वास्तवरूपा, प्रकृतिः स्वभावलक्षणा धर्माऽर्हजीवस्य ज्ञेया; तदन्या तु तस्या अन्या पुनः प्रकृतिरुपचारत उपचरितरूपा तात्त्विकप्रकृतिविलक्षणत्वात्तस्याः ।

एनां चाश्रित्य शास्त्रेषु, व्यवहारः प्रवर्तते ।

ततश्चाधिकृतं वस्तु, नान्यथेति स्थितं ह्यदः ॥ १८५ ॥

एनां चैनामेव तात्त्विकीं प्रकृतिं चाश्रित्यापेक्ष्य, शास्त्रेषु योगप्रतिबद्धेषु, व्यवहारः पूर्वसेवादिः, प्रवर्तते प्रज्ञापनीयतामेति । ततश्च तस्मादेव हेतोरधिकृतं पूर्वसेवालक्षणं वस्तु तात्त्विकं, नान्यथा पुनर्बन्धकं व्यतिरिच्य इति स्थितं प्रतिष्ठितं, हि स्फुटम्, अद एतत् ।

तथा-

शान्तोदात्तत्वमत्रैव, शुद्धानुष्ठानसाधनम् ।

सूक्ष्मभावोहसंयुक्तं, तत्त्वसंवेदनानुगम् ॥ १८६ ॥

शान्तस्तथाविधेन्द्रियकषायविकारविकलः, उदात्त उच्चोच्चतराद्याचरणाद्यनिबद्धचित्तः । ततः शान्तश्चासावुदात्तश्च शान्तोदात्तः, तस्य भावस्तत्त्वम् । अत्रैव प्रोक्तप्रकृतौ सत्यां, जायते शुद्धाऽनुष्ठानसाधनं निरवद्याचरणकारणम् । तथा सूक्ष्मभावोहसंयुक्तं बन्धमोक्षादिनिपुणभावपर्यालोचनयुतम् । अत एव तत्त्वसंवेदनानुगं तत्त्वसंवेदनसंज्ञितज्ञानविशेषसमन्वितम् ।

ततः—

शान्तोदात्तः प्रकृत्येह, शुभभावाश्रयो मतः ।

धन्यो भोगसुखस्येव, वित्ताढ्यो रूपवान् युवा ॥ १८७ ॥

शान्तोदात्त उक्तरूपः, प्रकृत्या स्वभावेनेह जने, शुभभावाश्रयः परिशुद्धचित्तपरिणामस्थानं, मतो अन्तुः । अत्र दृष्टान्तमाह- धन्यः सौभाग्यादियुक्ततया धनार्हो भोगसुखस्येव शब्दरूपरसगन्धस्पर्शविषयलक्षणस्य यथाऽऽश्रयः, वित्ताढ्यो विभवनायकः, रूपवान् शुभशरीरसंस्थानः, युवा तरुणः पुमान् ।

एतदेव व्यतिरेकेण आह-

अनीदृशस्य च यथा, न भोगसुखमुत्तमम् ।

अशान्तादेस्तथा शुद्धं, नानुष्ठानं कदाचन ॥ १८८ ॥

[illegible] च धन्यादिविशेषणविकलस्य पुनर्यथा न भोगसुखं [illegible], उत्तमं प्रधानम्, अशान्तादेरशान्तस्यानुदात्तस्य च । तथा भोगसुखवत्, शुद्धं निरवद्य[illegible] [illegible], कदाचन कस्मिन्नपि काले ।

[illegible]

[illegible] ॥

[illegible]-निर्मितं न तु तत्त्वतः ॥ १८९ ॥

[illegible]

प्रतिष्ठितम् । किमुक्तं भवति ?-स्वबुद्धिकल्पनाशिल्पिनिर्मितम् । स्वबुद्धिकल्पना स्वच्छन्दमतिविकल्परूपा, सैव शिल्पी वैज्ञानिकस्तेन निर्मितं घटितम्; न तु न पुनस्तत्त्वतः परमार्थतः भोगसुखं धर्मानुष्ठानं चेति ।

तद्भावनाऽर्थमाह-

भोगाङ्गशक्तिवैकल्यं, दरिद्रायौवनस्थयोः ।

सुरूपरागाशङ्के च, कुरूपस्य स्वयोषिति ॥ १९० ॥

इह भोगाङ्गानि रूपादीनि । यदाह वात्स्यायनः-" रूपवयोवैचक्षण्यसौभाग्यमाधुर्यैश्वर्याणि भोगसाधनम् "इति । तत्रापि रूपवयोवित्ताढ्यत्वानि प्रधानानीति । एतदेव त्रितयमपेक्ष्याऽऽह-' भोगाङ्गशक्तिवैकल्यं ' भोगाङ्गानां रूपादीनां, शक्तेर्भोगसंपादनलक्षणाया वैकल्यमभावः, दरिद्रायौवनस्थयोर्दरिद्रस्य भोगाङ्गविरहोऽयौवनस्थस्य स्वशक्तिरिति । सुरूपरागाशङ्के च सुरूपे सुकुमारत्वे स्त्रीगते सुन्दरे संस्थाने रागोऽभिष्वङ्गविशेषः, आशङ्का च स्त्रीगतानुरागसंदेहरूपा तस्मिन्, ततः सुरूपरागाशङ्का च सुरूपरागाशङ्के, पुनः कुरूपस्य तु पुंसः स्वयोषिति स्वस्त्रियामिति ।

ततश्च-

अभिमानसुखाभावे, तथा क्लिष्टान्तरात्मनः ।

अपायशक्तियोगाच्च, नहीत्थं भोगिनः सुखम् ॥ १९१ ॥

अभिमानसुखाभावे अहं सुखीत्येवं चित्तप्रतिपत्तिरूपस्याभिमानसुखस्याभावे सति, तथेति विशेषणसमुच्चये । क्लिष्टान्तरात्मनोऽपूर्यमाणेच्छत्वेन साबाधचित्तस्यापायशक्तियोगाच्चापायस्य निर्वाहशरीरव्ययच्छेदरूपस्य दरिद्रायौवनस्थयोः कुरूपस्य वा कथमपि स्त्रीकृतोपादानादेर्या शक्तिर्योग्यता, तस्या योगात्संबन्धात्, चः समुच्चये । किम् ?, इत्याह-नहि नैवेत्थमनाढ्यादिविशिष्टस्य भोगिनः सुखं भोगजं यद्विवक्षितमुत्तमं इति ।

यथा च तद्भोगसुखमनुष्ठानं च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावेन स्यातां तथाऽऽह-

अतोऽन्यस्य तु धन्यादे-रिदमत्यन्तमुत्तमम् ।

यथा तथैव शान्तादेः, शुद्धानुष्ठानमित्यपि ॥ १९२ ॥

अतः प्रागुक्ताद्भोगिनः सकाशात्, अन्यस्य तु अन्यप्रकारभाजः, पुनः धन्यादेरुक्तरूपस्य भोगिन इदं भोगसुखमत्यन्तमुत्तमं, शेषभोगसुखातिशायि यथा स्यात्तथैव, शान्तादेः शान्तोदात्तप्रकृतेरनुष्ठानं प्रस्तुतमित्यपीदमपि ज्ञेयम् ।

एवं सति यत्स्यात्तदाह-

क्रोधाद्यबाधितः शान्तः, उदात्तस्तु महाशयः ।

शुभानुबन्धिपुण्याच्च, विशिष्टमतिसंगतः ॥ १९३ ॥

क्रोधाद्यबाधितः शान्तः, उदात्तस्तु उदात्तः, पुनर्महाशयो गाम्भीर्यादिगुणोपेततया महाचेताः, शुभानुबन्धिपुण्याच्च पुण्यानुबन्धिनः पुण्यात्सकाशात्पुनर्विशिष्टमतिसंगतो मार्गानुसारिप्रौढप्रज्ञागुणः सन् ।

किमित्याह -

ऊहतेऽयमतः प्रायो, भवबीजादिगोचरम् ।

कान्तादिगतगेयादि, तथा भोगीव सुन्दरम् ॥ १९४ ॥

ऊहते वितर्कयति, अयमपुनर्बन्धकः, अतो विशिष्टमतिसांगत्यात् प्रायो बहुत्वेन। कथम् ?, इत्याह-भवबीजादिगोचरं भवबीजं भवकारणम्; आदिशब्दाद्भवस्वरूपं भवफलं च गृह्यते। यथा-" एस णं अणाइजीवे अणाइजीवस्स भवे अणाइकम्मसंयोगनिव्वत्तिए दुक्खरूवे दुक्खफले दुक्खाणुबंधित्ति " ततो भवबीजादिगोचरो यत्र तत्तथा, क्रियाविशेषणमेतत्। अथवा भवबीजादिगोचरो विषय ऊहनीयतया भवबीजादिगोचरस्तम्। अत्र दृष्टान्तः-कान्तादिगतगेयादि। कान्ता वल्लभा, आदिशब्दात्सद्द्रव्यगायनादिग्रहः। तद्गतं तत्प्रतिबद्धं यद् गेयं गीतम्, आदिशब्दात्परस्पादिशेषेन्द्रियविषयग्रहः। तथा तत्प्रकारो गेयादृहयोग्यो भोगी, स इव सुन्दरं मनोहारीन्द्रियविषयस्थानमागतमिति। यथा विचक्षणो भोगी सुन्दरं कान्तादिगतगेयादि ऊहते तथाऽयं भवबीजादिकमिति भावः।

यथोहते तथैवाऽऽह-

प्रकृतेर्भेदयोगेन, नाममो नाम आत्मनः।
हेत्वभेदादिदं चारु, न्यायमुद्राऽनुसारतः ॥ १९५ ॥

प्रकृतेः परपरिकल्पितायाः सत्वरजस्तमोरूपायाः, स्वप्रक्रियायाश्च ज्ञानावरणादिलक्षणायाः, भेदयोगेनैकान्तेनैव भेदेनेत्यर्थः। न नैयासमो विसदृशो, नामः परिणामश्चैतन्यस्याक्षानोन्मीलनादिकः प्रत्यक्षत एवोपलभ्यमानः, आत्मनो जीवस्य स्यात्, किन्तु सर्वजीवानां सर्वदैव सम एव प्राप्नोति। कुतः ?, इत्याह-हेत्वभेदात्। हेतोः प्रकृतिभेदलक्षणस्याभेदाद् नानात्वात्। महाभिन्ने हेतौ क्वचिदपि फलभेद उपपद्यत इति कृत्वा इदमनेकान्तेनैव प्रकृतिभेद आत्मनः परिणामवैसदृश्यासाद्धत्यलक्षणं वस्तु चारु संगतं वर्तते। कुतः ?, इत्याह-न्यायमुद्राऽनुसारतः, न्यायस्य मुद्रा छत्रमण्डलैरपि परैरनुल्लङ्घनीयत्वाद् राजादिमुद्रावत्, तस्या अनुसारतोऽनुवर्तनात्। तथाहि-यदि प्रकृतिभेदे सत्यपि परिणामनानात्वमात्मन इष्यते, तदा मुक्तानामपि प्राप्नोति, संसारिणां मुक्तानामपि च प्रकृतिभेदाविशेषात्।

एवं च सर्वस्तद्योगा-दयमात्मा तथा तथा।
भवे भवदतः सर्व-प्राप्तिरस्याविरोधिनी ॥ १९६ ॥

एवं च प्रकृतिभेद आत्मनः परिणामननानात्वसाङ्कृत्ये सति पुनः किं स्यादित्याह-सर्वः निरवशेषः, तद्योगात्प्रकृतिसंयोगात्कथञ्चिदैवापत्तिलक्षणात्, अयम्-अपुनर्बन्धकादयस्थाभाग्, आत्मा जीवः, तथा तथा नरनारकादिपर्यायप्रमाकारेण भवे संसारे, भवेत्स्यात्। अतस्तथा तथा भवनात् सर्वप्राप्तिः संसारापवर्गावस्थालाभरूपाऽस्यात्मनोऽविरोधिनी अविघटमाना संपद्यते। प्रकृतियोगात्तस्य संसारावस्था, वियोगाच्च मुक्तावस्थेति भावः।

सांसिद्धिकमलाद् यद्वा, न हेतोरस्ति सिद्धता।
तद्भिन्नं यद्भेदेऽपि, तत्कालादिविभेदतः ॥१९७॥

सांसिद्धिकमलात्कर्मबन्धयोग्यतालक्षणादनादिस्वभावात्, सांसिद्धिकमलं परिहृत्येत्यर्थः। यद्वेति ऊहस्यैव पक्षान्तरसूचका। 'न' नैव, हेतोरन्यस्येश्वरानुग्रहादेः परिणामविचित्रतायां साध्यायां सिद्धता प्रमाणप्रतिष्ठिता। ईश्वरो हि ज्ञानवैराग्यैश्वर्य-वैराग्ययत्। यतः पठ्यते-"ज्ञानमप्रतिघं यस्य, वैराग्यं च जगत्पतेः। ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च, सह सिद्धं चतुष्टयम् " ॥ १ ॥

ततः कथमसौ कञ्चनानुगृह्णीयान्निगृह्णीयाद्वा?। किञ्चासौ योग्यतामपेक्ष्य प्रवर्तते, इतरथा वेति द्वयी गतिः। किं चातः ?। यदि प्रथमः पक्षः, तदा सैव योग्यता हेतुः, किमीश्वरानुग्रहनिग्रहाभ्याम् ?। अथेतरथा, तदा सार्वत्रिकावेवानुग्रहनिग्रहौ स्याताम् न तु विभागेन, न वा क्वचित्, निमित्ताभावात्। यतः पठ्यते-
" नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोरन्यानपेक्षणात्।
अपेक्षातो हि भावानां, कादाचित्कत्वसंभवः " ॥ १ ॥ इति ॥

सांसिद्धिकमलमेवात्मनां परिणामवैचित्र्ये हेतुः। तत्सांसिद्धिकमलं, भिन्नं नानारूपम्, यद्यस्मात्कारणात्, अभेदेऽपि कथञ्चित्सामान्यरूपतया। एतदपि कुतः ?, इत्याह-तत्कालादिविभेदतः ते शास्त्रान्तरप्रसिद्धा ये कालादयः कालस्वभावनियतिपूर्वकृतपुरुषकारलक्षणा हेतवः सर्वत्रापि कार्यजनकाः, तेषां विभेदतो वैसदृश्यात्। इदमुक्तं भवति-कालादिभेदात्सांसिद्धिकमप्यात्मना सह भेदाभेदवृत्ति मलमेव नानारूपं वर्तते, तत्स्वादृश्यादेव परिणामवैचित्र्यमात्मनामनुपचरितमेवोपपद्यते, न पुनरीश्वरानुभावात्। प्रागुक्तयुक्त्या तस्य निराकृतत्वात्; इति वा विस्मयमपरमाचिनि ॥

इदमेव समर्थयति-

विरोधिन्यपि चैवं स्या-त्तथा लोकेऽपि दृश्यते।
स्वरूपेतरहेतुभ्यां, भेदादेः फलचित्रता ॥ १९८ ॥

विरोधिन्यपि च विघटमानैव च सर्वप्राप्तिरनुवर्तते, न पुनः कथञ्चिदपि विरोधिनी; एवं सांसिद्धिकमलस्यैवेत्यनुपगमे सति, स्यात्प्रवर्तेत्। यथा च विरोधिनी सर्वप्राप्ति, तथाऽनन्तरमेव दर्शितेति। तथेति हेत्वन्तरसमुच्चये। लोकेऽपि, प्रागेव तावद्दर्शितेत्यपिशब्दार्थः। दृश्यते विलोक्यते। स्वरूपेतरहेतुभ्यां स्वरूपेतरहेतुः परिणामिकारणम्। यथा-मृद्घटस्य, इतरः पुनर्निमित्तहेतुर्यथा-तस्यैव चक्रचीवरादि, ताभ्यां तयोर्भेदादेश्च। भेदादेर्भेदादभेदाच्च, यथायोगं संबन्धस्वरूपहेतुभेदस्याभेदात्, इतरापेक्षया च भेदात्। किमित्याह-फलचित्रता कार्याणां नानारूपता। यदि हि मृन्मात्रक एव घटः स्यात्तदा सर्वघटानां मृन्मयत्वाविशेषादेकाकारतैव स्यात्। तथा चक्रादिनिमित्तत्वे परिणामिकारणविरहेण कूर्मरोमादिभिरिव न कस्यचित्कार्यस्योत्पत्तिः स्यादिति। स्वरूपेतरहेतु समन्धिनामिदवृत्त्या भेदवृत्त्या च कार्यमुत्पद्यमानं विचित्रतां प्रतिपद्यते। एवं च सांसिद्धिके मले सर्वजीवानां परिणामिकारणे सति तत्कालादिनिमित्तसापेक्षतायां विचित्रभेदप्रकारं परिणामप्राप्त्या सर्वो लोकः शास्त्रप्रसिद्धो नरकस्वर्गादिप्रपञ्चः, तदभावात् पुनरपुनर्बन्धकत्वादि यावत्सर्वकर्मक्षयलक्षणा मुक्तिरिति सर्वमनुपचरितमुपपद्यत इत्यूहते इति ॥

ततः किमित्याह-

एवमूहप्रधानस्य, प्रायो मार्गानुसारिणः।
एतद्वियोगविषयोऽ-प्येष सम्यक् प्रवर्तते ॥ १९९ ॥

एवमुक्तरूपेण ऊहप्रधानस्य वितर्कसारस्य, प्रायो बाहुल्येन, मार्गानुसारिणो निर्वाणपथानुकूलस्यापुनर्बन्धकस्यैव सर्वकर्मक्षयाऽपि प्रवृत्तिरस्य यथोक्तेति प्रायो ग्रहणम्। एतद्वियोगविषयोऽपि आत्मना सह प्रकृतिवियोगगोचरः, किं पुनः तत्संयोगगोचर इत्यपिशब्दार्थः। एष ऊहः, सम्यक्

[illegible] ,प्रवर्तते मनुर्न्न नाति । इदमुक्तं भवति-यथा भवबी- [illegible] , तथा कर्मणात्मनः कर्मणा वियो- [illegible] इति ।

एवं सति यन्निदं तदाह-

[illegible] मारम्भादेव नापरैः ।
[illegible] सिद्धि-र्नीत्यैव यथोदितम् ॥२००॥

[illegible] पूर्वोक्तस्य पुनर्बन्धकस्य, आरम्भादेव प्रा- [illegible] , अपरैर्मार्गाभिमुखादिभिर्योगो घ- [illegible] , अपुनर्बन्धकस्य, सिद्धिर्निष्पत्तेः, [illegible] , यथोदितं यत्प्रकारमिदं वस्तु, तथो- [illegible] । यो० बि० ।

पुनरपि—

[illegible] सर्वेऽप्यपुनर्बन्धकः स्मृतः ।
[illegible] अपुनर्बन्धको भवे ॥ १ ॥
[illegible] ॥ २ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible] ॥ ३ ॥

[illegible]

अपुणब्भाव-अपुनर्भाव-त्रि० । अपुनरुत्पादस्वभावे, "अ- [illegible] भावे सिया " अपुनर्भावं स्यात् कर्म, पुनरुत्पादस्य [illegible] । पं० सं० १ द्वा० ।

अपुणरागम-अपुनरागम-त्रि० । नित्ये, जन्मादिरहिते [illegible]

अपुणरावत्तय-अपुनरावर्तक-पुं० । न० ब० । [illegible] मेयावतारे, सिद्धिगत्याख्येऽर्थे, पुनर्भवबीजकर्माभावात् [illegible] पुनरजननात् । स० १ सम० । औ० । " अपुणरावत्ती सिद्धिगइणामधेयं ठाणं संपाविउकामेणं " प्र० १ [illegible]

अपुणरावित्ति-अपुनरावृत्ति-पुं० । न० । न पुनरावृत्तिः संसारे ऽवतारो यस्मात् तत्तथा । सिद्धाख्येऽर्थे, ध० २ अधि० । [illegible] पुनरावृत्त्यभावे, पं० सू० ।

" अपुनर्वर्तितः परिवर्तते पुनः, दायं प्रयाताः पुनरेति [illegible] । गतं गतं नैव तु संनिवर्तते, जलं नदीनां च नृणां च जीवितम् " ॥ पं० सू० ५ सू० ।

" दग्धे बीजे यथा-त्यन्तं प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः " ॥ १ ॥ [illegible] ।

अपुणरुत्त-अपुनरुक्त-त्रि० । न० त० । पुनरुक्तिदोषरहिते, " अपुणरुत्तेहिं महाविसेहिं संथुणइ " । रा० । [illegible] " अनुगतार्थगम्भीरा-भूतार्थविनियोगतः [illegible] । [illegible] अपुनरुक्तम " ॥ १ ॥ [illegible] ।

अपुण्ण-अपुण्य-त्रि० । न० ब० । अविद्यमानपुण्ये, [illegible] ७ अ० । [illegible] वर्तमाने, " [illegible] । " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । [illegible] आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अपुण्णा-त्रि० । पूर्णेतरविरिक्ते, " [illegible] " अपूर्णाः, [illegible] । विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

अपुण्णकाल-अपूर्णकाल-पुं० । [illegible]

अपुण्णकालिय-अपूर्णकालिक-पुं० । [illegible] १० उ० ।

अपुव्व-अपूर्व-त्रि० । न० ब० । [illegible] आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० ।

[illegible] " [illegible] " [illegible] १ उ० ।

[illegible]

अपुरिसकारपरक्कम–अपुरुषकारपराक्रम–त्रि० । न० ब० । पुरुषकारः पराक्रमश्च न विद्येते यस्य सोऽपुरुषकारपराक्रमः । अनिष्पादितप्रयोजनेन निष्पादितप्रयोजनेन वा पौरुषाभिमानेन रहिते, विपा० १ श्रु० ३ अ० । भ० ।

अपुरिसवाय–अपुरुषवाद-(च्)-पुं० । स्त्री० । अपुरुषो नपुंसकस्तद्वादः, वाग्वा । सू० ६ उ० । नपुंसकोऽयमित्येवंवार्तायाम्, " अपुरिसवायं वयमाणे, दासवायं वयमाणे, इच्चेइ कप्पस्स " द्वितीयः प्रस्तारः । (व्याख्याऽन्यत्र) । स्था० ६ ठा० ।

अपुरोहिय–अपुरोहित–त्रि० । नास्ति पुरोहितो यत्र । शान्तिकर्मकारिरहिते, यत्र तथाविधप्रयोजनाभावात् पुरोहितो नास्ति । भ० ३ श० १ उ० ।

अपुव्व–अपूर्व–त्रि० । न० त० । अभिनवे अनन्यसदृशे, प्रव० २२४ द्वा० । प्रति० । अभूतपूर्वे , आ० म० द्वि० । अपूर्वकरणे, आव० ४ अ० । द्वा० ।

अपुव्वकरण–अपूर्वकरण–न० । अपूर्वामपूर्वां क्रियां गच्छतीत्यपूर्वकरणम् । तत्र च प्रथमसमय एव स्थितिघातरसघातगुणश्रेणिगुणसंक्रमाः, अन्यश्च स्थितिबन्धः, इत्येते पञ्चाप्यधिकारा यौगपद्येन पूर्वमप्रवृत्ताः प्रवर्तन्ते इत्यपूर्वकरणम् । आचा० १ श्रु० ए अ० १ उ० । अप्राप्तं पूर्वमपूर्वम्, स्थितिघातरसघाताद्यपूर्वार्थनिर्वर्तनं वा । अपूर्वं च तत्करणं च अपूर्वकरणम् । भव्यानां सम्यक्त्वाद्यनुगुणे विशुद्धतररूपे परिणामविशेषे, आ० म० प्र० । पञ्चा० । वृ० । पं० । ('करण' शब्दे तृतीयभागे ३५६ पृष्ठे व्याख्यास्यते चैतत्) अपूर्वमभिनवं प्रथममित्यर्थः । करणं स्थितिघातरसघातगुणश्रेणिगुणसंक्रमस्थितिबन्धानां पञ्चानामर्थानां निर्वर्तनं यस्यासावपूर्वकरणः । अष्टमगुणस्थानकं प्रतिपन्ने जीवे, कर्म० । तथाहि— बृहत्प्रमाणाया ज्ञानावरणीयादिकर्मस्थितेरपवर्तनाकरणेन खण्डनमल्पीकरणं स्थितिघात उच्यते । रसस्यापि प्रचुरीभूतस्य सतोऽपवर्तनाकरणेन खण्डनमल्पीकरणं रसघात उच्यते । एतौ द्वावपि पूर्वगुणस्थानेषु विशुद्धेरल्पत्वादल्पावेव कृतवान् । अत्र पुनर्विशुद्धेः प्रकृष्टत्वाद् बृहत्प्रमाणतया अपूर्वाविमौ करोति, तथा उपरितनस्थितेर्विशुद्धिवशादपवर्तनाकरणेनावतारितस्य दलिकस्यान्तर्मुहूर्तप्रमाणमुदयक्षणादुपरि क्षिप्रतरक्षपणाय प्रतिक्षणमसंख्येयगुणवृद्ध्या विरचनं गुणश्रेणिः । स्थापना— * एतां च पूर्वगुणस्थानेष्वविशुद्धत्वात् कालतो द्राघीयसीं दलिकरचनामाश्रित्याप्रथीयसीमल्पदलिकस्यापवर्तनाद्विरचितवान् । इह तु तामेव विशुद्धत्वादपूर्वां कालतो ह्रस्वतरां दलिकरचनामाश्रित्य पुनः पृथुतरां बहुतरदलिकस्यापवर्तनाद् विरचयतीति । तथा बध्यमानशुभप्रकृतिष्वबध्यमानाशुभप्रकृतिदलिकस्य प्रतिक्षणमसंख्येयगुणवृद्ध्या विशुद्धिवशान्नयनं गुणसंक्रमः । तमप्यसावपूर्वं करोति । तथा स्थितिं कर्मणामशुद्धत्वात् प्राग्द्राघीयसीं बद्धवान्, इह तु तामपूर्वां विशुद्धत्वादेव ह्रसीयसीं बध्नातीति (स्थितिबन्धः) । अयं चापूर्वकरणो द्विधा-क्षपकः, उपशमकश्च । क्षपणोपशमनार्हत्वाच्चैवमुच्यते, राज्यार्हकुमारराजवत् । न पुनरसौ क्षपयत्युपशमयति वा । कर्म० २ कर्म० । प्रव० । पं० सं० । दर्श० । अष्ट० । आचा० ।

अपुव्वकरणगुणट्ठाण–अपूर्वकरणगुणस्थानक–न० । अपूर्वकरणस्य गुणस्थानकमपूर्वकरणगुणस्थानकम् । अष्टमगुणस्थानके, प्रव० २२४ द्वा० । एतच्च गुणस्थानकं प्रपन्नानां कालत्रयवर्तिनो नानाजीवानपेक्ष्य सामान्यतोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि भवन्ति । कथं पुनस्तानि भवन्तीति विनेयजनानुग्रहार्थं विशेषतोऽपि प्ररूप्यन्ते-इह तावदिदं गुणस्थानकमन्तर्मुहूर्तकालप्रमाणं भवति । तत्र च प्रथमसमयेऽपि ये प्रपन्नाः, प्रपद्यन्ते, प्रपत्स्यन्ते, च तदपेक्षया जघन्यादीन्युत्कृष्टान्तान्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाध्यवसायस्थानानि लभ्यन्ते, प्रतिपत्तॄणां बहुत्वादध्यवसायानां च विचित्रत्वादिति भावनीयम् । ननु यदि कालत्रयापेक्षा क्रियते तदैतद् गुणस्थानकं प्रतिपन्नानामनन्तान्यध्यवसायस्थानानि कस्मान्न भवन्ति ? । अनन्तजीवैरस्य प्रतिपन्नत्वादनन्तैरेव च प्रतिपत्स्यमानत्वादिति । सत्यम् । स्यादेवं यदि तत्प्रतिपत्तॄणां सर्वेषां पृथक् पृथग् भिन्नान्येवाध्यवसायस्थानानि स्युः, तच्च नास्ति, बहूनामेकाध्यवसायस्थानवर्तित्वादपीति । ततो द्वितीयसमये तदन्यान्यधिकतराण्यध्यवसायस्थानानि लभ्यन्ते । तृतीयसमये तदन्यान्यधिकतराणि । चतुर्थसमये तदन्यान्यधिकतराणीत्येवं तावन्नेयं यावच्चरमसमयः । एतानि च स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्रं क्षेत्रमभिव्याप्नुवन्ति । तद्यथा-४००००००० अत्र प्रथमसमयजघन्याध्यवसायस्थानात्प्रथमसमयोत्कृष्टमध्यवसायस्थानमनन्तगुणविशुद्धम् , तस्माच्च द्वितीयसमयजघन्यमनन्तगुणविशुद्धम् , ततोऽपि द्वितीय-३००००००० समयजघन्यात्तदुत्कृष्टमनन्तगुणविशुद्धम , तस्माच्च-तृतीय-२००००० समयजघन्यमनन्तगुणविशुद्धम् । ततोऽपि तदुत्कृष्ट-१०००० मनन्तगुणविशुद्धमित्येवं तावन्नेयं यावद्विचरमसमयोत्कृष्टात् चरमसमयजघन्यमनन्तगुणविशुद्धम ; ततोऽपि तदुत्कृष्टमनन्तगुणविशुद्धमिति । एकसमयगतानि चामून्यध्यवसायस्थानानि परस्परमनन्तभागवृद्ध्यसंख्यातभागवृद्धिसंख्यातभागवृद्धिसंख्येयगुणवृद्ध्यसंख्येयगुणवृद्ध्यनन्तगुणवृद्धिरूपषट्स्थानकपतितानि । युगपदेतद् गुणस्थानप्रविष्टानां च परस्परमध्यवसायस्थानव्यावृत्तिलक्षणा निवृत्तिरप्यस्तीति निवृत्तिगुणस्थानकमप्येतदुच्यते । अत एवोक्तं सूत्रे-" नियट्टि अनियट्टीत्यादि " । कर्म०२कर्म० । प्रव० ।

अपुव्वणाणगहण–अपूर्वज्ञानग्रहण–न० । अपूर्वस्य ज्ञानस्य निरन्तरं ग्रहणमपूर्वज्ञानग्रहणम् । तच्चाष्टादशं तीर्थकरनामकर्मबन्धकारणम् । अपूर्वस्य ज्ञानस्य निरन्तरं ग्रहणे, आ० म० प्र० । प्रव० ।

अपु (प्पु) स्सुय–अल्पौत्सुक्य–त्रि० । अविमनस्के, आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अपुहत्त–अपृथक्त्व–त्रि० । अविद्यमानं पृथक्त्वं प्रस्तावात्संयमयोगेभ्यो विमुक्तत्वस्वरूपं यस्यासावपृथक्त्वः । सदा संयमयोगवति, (उत्त०) संयमयोगेभ्योऽभिन्ने, (उत्त०) " अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ " उत्त० २६ अ० ।

अपुहत्ताणुओग–अपृथक्त्वानुयोग–पुं० । अनुयोगभेदे, यत्रैकस्मिन्नेव सूत्रे सर्व एव चरणादयः प्ररूप्यन्ते, अनन्तागमपर्यायत्वात् सूत्रस्य । दश० १ अ० ।

अपूया–अपूजा–स्त्री० । पूजाभावे, " पूयाऽपूया हियाऽहिया " स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अपूरेंत–अपूरयत्–त्रि० । अनाचरति, आ० म० द्वि० ।

[illegible] अविद्यमानवर्जे, [illegible] । बृ० १ उ० ।

[illegible]-[illegible]-पुं० । अविद्यमानकषायभेदे, [illegible] [illegible] ।

[illegible]-[illegible]-न० । [illegible] यस्मिन्नल्पा- [illegible] । मिताक्षरे, [illegible] सूत्रे, यथा सामायिकसूत्रम् । [illegible], विशे० । [illegible] । अनु० । आ० म० । " अप्पक्खरं [illegible] " [illegible] ।

अप्पक्खरं महत्थं, महक्खरऽप्पत्थ दोसु वि महत्थं ।
दोसु वि अप्पं च तहा, भणियं सुत्तं चउवियप्पं ॥ १३ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

अप्पज्ज(ण्ण्)-आत्मज्ञ-त्रि० । आत्मानं जानातीति [illegible] "ज्ञो ञः" ८।२।८३ । इति सूत्रेण अस्य वा सुक् । [illegible] [illegible]स्वज्ञातरि, प्रा० । अपरायत्ते, नि० चू० १ उ० ।

अप्पज्जोइ-आत्मज्योतिष्-पुं० । आत्मैव ज्योतिरस्य [illegible] [illegible]ज्योतिः । ज्ञानात्मके पुरुषे, येन स्वयं पुरुष [illegible] [illegible]भिधीयते ।

अन्नमि[illegible] आइच्चे, चंदे मंताउ अग्गिवाणाउ ।
किं जोइरयं पुरिसो ?, अप्पज्जोइ त्ति निद्दिट्ठो ॥

[illegible] आदित्ये, [illegible], [illegible] "किं ज्योतिरेवाय पुरुषः ?, [illegible] [illegible] " । ज्योतिरिति [illegible], [illegible] किं ज्योतिः ?, इत्याह-अयं पुरुष इति, पुरुष [illegible] । [illegible] कथंभूतः ?, इत्याह-(अप्पज्जोइ त्ति) आत्मैव ज्योतिरस्य [illegible] आत्मज्योतिः, ज्ञानात्मक इति हृदयम् । निर्दिष्टो [illegible] कथितः, [illegible] इत्यर्थः । विशे० ।

अप्पज्झो-देशी-आत्मवशे, दे० ना० १ वर्ग ।

अप्पडंक-[illegible]-त्रि० । [illegible] [illegible] ८ उ० । [illegible] । [illegible], [illegible] ।

अप्पडिकंटग-[illegible]-त्रि० [illegible] [illegible] । [illegible], स्था० ।

अप्पडिसरिग-[illegible]-पुं० । [illegible], " [illegible] [illegible] " [illegible] । बृ० १ उ० ।

अप्पाण-आत्मीय-त्रि० । [illegible], " [illegible] " ८ ४ । [illegible] । इति सूत्रेण आत्मीयस्य 'अप्पाण' [illegible] " [illegible] अप्पाणयं " । प्रा० । [illegible] । [illegible], आचा० १ श्रु० [illegible] ।

अप्पाणरक्ख-आत्मरक्ष-त्रि० । [illegible] " [illegible] [illegible] " । प्रा० ।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

सेमयाई ति " आत्मन आत्मीयानि । विपा० १ श्रु० २ अ० ।

अप्पतर-अल्पतर-त्रि० । अतिशयिते स्तोके, " अप्पतराए मे पावे कम्मे कज्जइ " । भ० ८ श० ६ उ० । आचा० । सूत्र० ।

अप्पतरबंध-अल्पतरबन्ध-पुं० । अल्पतरे कर्मणां बन्धे, यदा त्वष्टविधादिबहुबन्धको भूत्वा पुनरपि सप्तविधाद्यल्पतरबन्धको भवति स एव प्रथमसमये एषोऽल्पतरबन्धः (कर्म०)। यदा तु प्रभुताः प्रकृतीर्बध्नन् परिणामविशेषतः स्तोकां बध्नाति तदा यथाऽष्टौ बध्वा सप्त बध्नाति; सप्त वा बध्वा षट् वा बध्वा एकां, तदानीं स बन्धोऽल्पतरः । तथा चाऽऽह-" एगादहिगे भूओ " एकादिभिर्न्यूनादिभिः प्रकृतिरूपैर्बन्धे द्वितीयप्रकारः, अल्पतर इत्यर्थः । कर्म० ५ कर्म० ।

अप्पतुमंतुम-अल्पतुमन्तुम-त्रि० । विगतक्रोधमनोविकारविशेषे, व्य० ७ उ० ।

अप्पत्त-अल्पत्व-न० । तुच्छत्वे, पं० व० ४ द्वा० ।

अप्पत्तिय-अप्रीतिक-न०। आर्षत्वात्तथारूपम । अप्रेम्णि, भ० ७ श० १ उ० । ध० । आ० म० । दर्श० । अप्रीतिस्वभावे, भ० १३ श० १ उ० । मनसः पीडायाम, आचा० २ श्रु० ७ अ० २ उ० । क्रोधे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । अपकारे, नि० चू० १ उ० ।

अप्पत्थाम-अल्पस्थामन्-त्रि० । अल्पसामर्थ्ये, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अप्पधण-अल्पधन-त्रि० । अल्पमूल्ये, " महाधणे अप्पधणे व वत्थे, मुच्छिज्जजणी ओ अविविक्तभावे" बृ० ३ उ० ।

अप्पपएसग-अल्पप्रदेशक-त्रि० । अल्पं स्तोकं प्रदेशाग्रं कर्मदलिकपरिमाणं यस्य सः । स्तोकप्रदेशाग्रके कर्मणि, भ० १ श० १ उ० ।

अप्पपज्जवजाय-अल्पपर्यायजात-न० । अल्पे सुवादौ स्वजनीये, ध० ३ अधि० ।

अप्पपरणिव्वत्ति-आत्मपरनिर्वृत्ति-स्त्री० । आत्मनः परेषां च परेभ्यो निवृत्तौ, आलोचनाप्रदानतः स्वयमात्मनो दोषेभ्यो निवृत्तिः, एतानां तद् दृष्ट्वाऽन्यत्र आलोचनाभिमुखा भवन्तीत्यन्येषामपि दोषेभ्यो निवर्तनमिति ॥ स्था० १ उ० ॥

अप्पपरिग्गह-अल्पपरिग्रह-पुं० । अल्पधनधान्यादिस्वीकारे, औ० ।

अप्पपरिच्चाय-अल्पपरित्याग-पुं० । स्वल्पतरगुणपरिहारे, पञ्चा० १० विव० ।

अप्पपाण-अल्पप्राण-त्रि० । अल्पशब्दोऽभावाभिधायी सर्वत्रापि, सूत्रेऽपि मत्वर्थीयलोपात् प्राणाः प्राणिन , अल्पा अविद्यमानाः प्राणिनो यस्मिँस्तदल्पप्राणम् । अविद्यमानागन्तुकजीवविरहिते उपाश्रयादौ, उत्त० १ अ० । अल्पः प्राणः प्राणनक्रिया यस्मिन् । वर्णभेदे, यस्योच्चारणे अल्पप्राणव्यापारोऽपेक्ष्यते स्मिन्, स च शिक्षायामुक्तः-"अयुग्मा वर्गयमगाः, यणश्चाल्पासवः स्मृताः " इति । तथा च वर्गेषु प्रथमतृतीयपञ्चमवर्णाः यमगा यवरलाश्च अल्पासवः । महाप्राणवर्णोच्चारणे अल्पप्रयत्ने, बाह्यप्रयत्नस्तु एकादशधा-विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरित इति । अल्प प्राण प्राणहेतुकं वचनमस्य । अल्पबले, त्रि० । वाच० ।

अप्पपासि (ण्)-अल्पपाशिन्-त्रि० । अल्पं पश्यति दृष्टं तुं शीलमस्यासावल्पपाशी । परिमितपानपाशिनि, सूत्र० श्रु० ८ अ० ।

अप्पपिंडासि (ण्)-अल्पपिण्डाशिन्-त्रि० । अल्पं स्तोकं पिण्डमशितुं शीलमस्यासावल्पपिण्डाशी । परिमिताहारिणि, तथा च आगमः-"हे जन्तव ! आत्मीय, जन्य तथ च सुंदोवर्जिदा । जेण य तेण य संतु-ट्ठ धीरमुणिओ सिते अप्पा " ॥१ सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

अप्पभक्खि (ण्) -अल्पभक्षिन्-त्रि० । स्तोकाहारकारिणि, उत्त० १५ अ० ।

अप्पभव-अल्पभव-पुं० । परीतसांसारिकत्वे, प्रति० ।

अप्पभासि (ण्) -अल्पभाषिन्-त्रि० । कारणे परिमितं भाषितरि, दश० ८ अ० । " अप्पं भासेज्ज सुव्वए " । तथा सुव्रत साधुरल्पं परिमितं हितं च भाषेत, सर्वदा विकथारहितो भवेदित्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० ९ अ० ।

अप्पभूय-अल्पभूत-त्रि० । अल्पमात्रे, स्था० ६ ठा० १ उ० ।

अप्पमइ-अल्पमति-त्रि० । अल्पबुद्धौ, क० प्र० ।

अप्पमहग्घाभरण-अल्पमहार्घाभरण-त्रि० । अल्पानि स्तोकभारवन्ति महार्घाभरणानि बहुमूल्यबहुमूल्यानि यस्यासौ तथा । अल्पभारबहुमूल्याभरणयुक्ते, " हाए सुद्धप्पावेसाइं अप्पमहग्घाभरणा नामो गिहाओ पडिनिक्खमइ " इत्य० १ अ० ।

अप्परय-अल्परत-त्रि० । अल्पीभूतं बध्यमानं कर्माणि यत्र [illegible] मोहनीयकर्मोदयजनितमैथुनस्य [illegible] । [illegible] उपशमादौ, कल्प० १ क्ष० । अल्पधूलीके बहुधूलीरहिते, दशा० ९ अ० ४ उ० ।

अल्परजस्-त्रि० । रजोरहिते, कल्प० ३ क्ष० । [illegible] " सिंह वा इवइ सामए देवे वा अप्परए [illegible] " कल्प० १ अ० ।

अप्पलाहलद्धि-अल्पलाभलब्धि-पुं० । अल्पा तुच्छा वस्त्रादिलाभे लब्धिर्यस्य सोऽल्पलाभलब्धिः । [illegible] स्पादके, वृ० १ उ० ।

अप्पलीण-अप्रलीन-त्रि० । अप्रवृद्धे [illegible] स्त्र्यादिषु संश्लेषमकुर्वति, " [illegible] जावए " सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अप्पलीयमाण-अप्रलीयमान-त्रि० । कामेषु [illegible] वा लोके न प्रलीयमाना अप्रलीयमानाः । [illegible] १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

अप्पलेव-अल्पलेप-त्रि० । [illegible] पृथुकादौ निर्लेपे, आचा० ४ अ० । [illegible] २ अधि० ।

अप्पलेसा-अल्पलेश्या-स्त्री० । [illegible] [illegible] स्था० ४ ठा० । [illegible] " [illegible] णि वा अप्पलेसा " [illegible] स्था० ३ ठा० । [illegible]

कर्मबन्धो यस्यां साऽल्पलेपा । चतुर्थी पिण्डैषणायाम, तथा चाऽऽचाराङ्गम्-"अंसिं खलु पडिग्गहियंसि अप्पे पच्छाकम्मे अप्पपज्जवजाए " ध० ३ अधि० ।

अप्पवस-आत्मवश-त्रि० । स्ववशे, ग० २ अधि० ।

अप्पवसा-आत्मवशा-स्त्री० । नार्याम, तस्या निरङ्कुशत्वेन स्वच्छन्दत्वात् । प्रा० को० ।

अप्पवाइ (ण्)-आत्मवादिन्-पुं० । 'पुरुष एवेदं सर्वमित्यादि ' प्रतिपन्ने वादिनि, नं० ।

अप्पवीय-अल्पबीज-त्रि० । अविद्यमानानि बीजानि शाल्यादीनि नीवारश्यामाकादीनां यस्मिंस्तत् अल्पबीजम् । बीजस्योपलक्षणत्वात् एकेन्द्रियादिरहिते, उत्त० १ अ० । आचा० ।

अप्पवुट्ठि-अल्पवृष्टि-स्त्री० । आसारे, प्रा० को० ।

अप्पवुट्ठिकाय-अल्पवृष्टिकाय-पुं० । अल्पः स्तोकोऽविद्यमानो वा, वर्षणं वृष्टिरधस्तनं वृष्टिप्रधानः कायो निकायोऽल्पवृष्टिकायः । वर्षणधर्मयुक्तं च उदकं वृष्टिः, तस्याः कायो राशिर्वृष्टिकायः । अल्पश्चासौ वृष्टिकायश्चाल्पवृष्टिकायः । स्तोके व्योमनि पतदप्काये , स्था० ।

अल्पवृष्टेश्च त्रीणि कारणानि-

तिहिं ठाणेहिं अप्पवुट्ठिकाए सिया । तं जहा-तेसिं च णं देसंसि वा पएसंसि वा णो बहवे उदगजोणिया जीवा य पोग्गला य उदगत्ताए वक्कमंति विउक्कमंति चयंति उववज्जंति देवा नागा जक्खा भूता णो सम्ममाराहिया भवंति । तत्थ समुट्ठियं उदगपोग्गलं परिणयं वासिउकामं अन्नं देसं साहरंति, अब्भवद्दलगं च णं समुट्ठियं परिणयं वासिउकामं वाउयाए विहुणेइ । इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं अप्पवुट्ठिकाए सिया ।

(तिहिं ति) [illegible]

सरदकालसमयंसि अप्पवुट्ठिकायंसि " भ० १५ श० १ उ० ।

अप्पसंतचित्त-अप्रशान्तचित्त-त्रि० । उत्कटक्रोधादिरूपपरिणामे, पञ्चा० २ विव० ।

अप्पसंतमइ-अप्रशान्तमति-त्रि० । अपरिणतधिषणे, "अप्रशान्तमतौ शास्त्र-सद्भावप्रतिपादनम् । दोषायाभिनवोदीर्णे शमनीयमिव ज्वरे " ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

अप्पसक्खिय-आत्मसाक्षिक-न० । आत्मा स्वजीवः, स एव संवित्प्रत्यक्षविगतपरिणामपरिणतः साक्षी यत्र तदात्मसाक्षिकम् । स्वकृतेऽनुष्ठाने, " साहुसक्खियं देवसक्खियं अप्पसक्खियं " पा० ।

अप्पसत्तचित्त-अल्पसत्त्वचित्त-त्रि० । आपत्स्वविक्लवताव्यवसानकरं च सत्त्वमुक्तम । ततश्चाल्पं तुच्छं सत्त्वं यस्य तदल्पसत्त्वं, तच्चित्तं यस्य सोऽल्पसत्त्वचित्तः । चेतसा विक्लवे, " ण हि अप्पसत्तचित्तो धम्माहिगारी जओ होइ " । पञ्चा० २ विव० ।

अप्पसत्तम-आत्मसप्तम-त्रि० । आत्मना सप्तमः । सप्तानां पूरणः । आत्मा वा सप्तमो यस्यामावात्मसप्तमः । अन्यैः षड्भिः सह विद्यमाने, " मल्लीणं अरहा अप्पसत्तमे मुंडे भवित्ता " स्था० ७ ठा० ।

अप्पसत्तिय-अल्पसात्त्विक-त्रि० । निःसारे, "सुसमत्था वयं मत्या, कीरंति अप्पसत्तिया पुरिमा । दीसंति सूरवादी, नरा पसगा ण ते सूरा " ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अप्पसद्द-अल्पशब्द-पुं० । विगतरात्र्यां ध्वनौ , स्था० ८ ठा० । रात्र्यादावसंयतजागरणभयात् । ज० २१ श० ७ उ० । अल्पकशब्दे, कलहक्रोधकार्ये, औ० ।

अप्पसरयक्ख-अल्पसरजस्क-न० । अल्पे तृणादौ, आचा० २ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

अप्पसार-अल्पसार-न० । अल्पं च तत्सारं चेत्यल्पसारम् । प्रमाणतोऽल्पे वस्तुनः सारे, ज्ञा० १ अ० । " अप्पसारं तुच्छं ति जीया संघयणं " आ० म० प्र० । "अप्पसारियं होइ त्ति " नि० चू० १ उ० ।

अप्पसागारिकिरिया-अल्पसागारिकक्रिया-स्त्री० गृहस्थानां वसतौ, आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ० । ('वसही' शब्देऽस्या वृत्त)

अप्पसुय-अल्पश्रुत त्रि० । अनधीतागमे, ग्रा० ३१ द्वा० ।

अप्पसुह-अल्पसुख-त्रि० । ५ व० । [illegible] दुःखे, अविद्यमानसुखे च । प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अप्पहरिय-अल्पहरित-त्रि० । अल्पानि हरितानि दूर्वाप्रवालादीनि यत्र तत्तथा । दूर्वादिरहिते, आचा० २ श्रु० ७ अ० १ उ० ।

अप्पहिंसा-अल्पहिंसा-स्त्री० । अल्पपापोऽल्पपापवाची । [illegible] प्राणिनां हिंसायाम, स्था० १ उ० ।

अप्पा-आत्मन्-पुं० । अतति गच्छति सततं [illegible] [illegible] । आ० म० द्वि० । अवि० , हा० २० अ० । (आत्मा [illegible] 'अत्ता' शब्दे द्वितीयभागे १६७ पृष्ठे द्रष्टव्या)

अप्पाइय-आप्यायित-त्रि० । मनोहराहारैः स्वस्थीभूते, वृ०१उ०।

अप्पाउअ-अल्पायुष्क-त्रि० स्तोकजीविते, प्रश्न०१आश्र०द्वा०।

अप्पाउअत्ता-अल्पायुष्कता-स्त्री० । अल्पमायुर्यस्यासावल्पायुष्कः, तद्भावस्तत्ता । अल्पायुष्कतायाम, भ० ५ श० ६ उ० । अल्पमायुर्जीवितं यद् तदल्पायुः, तद् भावस्तत्ता । जघन्यायुष्ट्वे, स्था० ३ ठा० १ उ० । (अल्पायुषः कारणं ' आउ ' शब्दे द्वितीयभागे ११ पृष्ठे वक्ष्यते)

अप्पाउड-अप्रावृत-पुं० । प्रावरणवर्जके अभिग्रहविशेषग्राहके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अप्पाउरण-अप्रावरण-न० । प्रावरणनिषेधात्तद्विषयोऽभिग्रहोऽप्यप्रावरणम् । पञ्चा० ५ विव० । प्रावरणत्यागरूपेऽभिग्रहप्रत्याख्यानभेदे, प्रव० ४ द्वा० । अत्र पञ्च आकाराः—" अभिग्गहेसु अप्पाउरणं कोइ पच्चक्खाइ, तस्स पंच (आगारा) अन्नत्थऽणाभोगे, सहसागारे, चोलपट्टागारे, महत्तरागारे सव्वसमाहिवत्तियागारे य " ।

तथा च सूत्रम्—

अप्पाउरणं पच्चिक्खति अन्नत्थऽणाभोगेणं, सहसागारेणं, चोलपट्टागारेणं, महत्तरागारेणं, सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिर त्ति । आव० ६ अ० ।

चोलपट्टकादन्यत्र सागारिकप्रदर्शने चोलपट्टके गृह्यमाणेऽपि न भङ्ग इत्यर्थः । प्रव० ४ द्वा० ।

अप्पाण-आत्मन्-पुं० । स्वस्मिन्, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । " पुंस्यन आणो राजवच्च " । ८ । ३ । ५६ । पुंलिङ्गे वर्तमानस्यान्नन्तस्य स्थाने आण इत्यादेशो वा भवति; पक्षे यथादर्शनं राजवत्कार्यं भवति । आणादेशे च " अतः सेर्डोः " (८।३।२) इत्यादयः प्रवर्त्तन्ते । पक्षे तु राज्ञः " जस्-शस्-ङसि-ङसां णो " (८।३।५०) " टो णा " (८।३।२४) " इणममामा " (८।३।५३) इति प्रवर्त्तन्ते । अप्पाणो । अप्पाणा । अप्पाणं । अप्पाणे । अप्पाणेण । अप्पाणेहिं । अप्पाणाओ । अप्पाणासुन्तो । अप्पाणस्स । अप्पाणाण । अप्पाणम्मि । अप्पाणेसु । अप्पाण-कयं । पक्षे राजवत् । अप्पा ! अप्पो । हे अप्पा ! । हे अप्प ! अप्पाणो चिट्ठंति । अप्पाणो पेच्छ । अप्पणा । अप्पेहिं । अप्पाणो । अप्पाओ । अप्पाउ । अप्पाहि । अप्पाहिन्तो । अप्पा । अप्पासुन्तो । अप्पणो धणं । अप्पाणं । अप्पे । अप्पेसु । प्रा० । (य आत्मानमादर्शादौ पश्यति इति ' अप्पायार ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३१३ पृष्ठे दर्शितम्) स्वभावे, न० । स्था० २ ठा० २ उ० ।

अप्पाणरक्खि (ण्)-आत्मरक्षिन्-त्रि० । आत्मानं रक्षति पापेभ्यः कुगतिगमनादिभ्य इत्येवंशील आत्मरक्षी । आत्मनः पापेभ्यो निवारके, उत्त० ४ अ० ।

अप्पाधार-अल्पाधार-पुं० । अल्पस्य सूत्रस्य अर्थस्य वा आधारोऽल्पाधारः । सूत्रार्थनैपुण्यविकले, व्य० १ उ० ।

अप्पाबहुय(ग)-अल्पबहुत्व-न० । अल्पं च स्तोकं बहु च प्रभूतमल्पबहु, तद्भावोऽल्पबहुत्वम् । दीर्घत्वासंयुक्तत्वे च प्राकृतत्वादिति । स्था० ४ ठा० २ उ० । गत्यादिरूपमार्गणास्थानादीनां परस्परस्तोकभूयस्त्वे, कर्म० ४ कर्म० ।

(१) अल्पबहुत्वस्य चातुर्विध्यनिरूपणम् ।
(२) द्वारसंग्रहः ।
(३) पृथ्वीकायादीनां जघन्याद्यवगाहनया ऽल्पबहुत्वम् ।
(४) उत्कृष्टस्थानाद्यायुषामल्पबहुत्वम् ।
(५) आहारद्वारे आहारकानाहारकजीवानामल्पबहुत्वम् ।
(६) सेन्द्रियाणां परस्परमल्पबहुत्वम् ।
(७) उद्वर्तनापवर्तनयोरल्पबहुत्वम् ।
(८) उपयोगद्वारे साकारानाकारोपयुक्तानामल्पबहुत्वम् ।
(९) कषायद्वारे क्रोधकषायादीनामल्पबहुत्वम् ।
(१०) कायिकद्वारे सकायिकानामल्पबहुत्वम् ।
(११) क्षेत्रद्वारे जीवाः कस्मिन् क्षेत्रे स्तोकाः कस्मिन् बहव इत्यादिनिरूपणम् ।
(१२) गतिद्वारे चतुःपञ्चाष्टगतिसमासेनाल्पबहुत्वम् ।
(१३) चरमद्वारे चरमाचरमाणामल्पबहुत्वम् ।
(१४) जीवद्वारे जीवपुद्गलादीनामल्पबहुत्वम् ।
(१५) ज्ञानद्वारे ज्ञानिप्रमुखाणामल्पबहुत्वम् ।
(१६) दर्शनद्वारे दर्शनिनामल्पबहुत्वम् ।
(१७) दिग्द्वारे दिगनुपातेन जीवानामल्पबहुत्वम् ।
(१८) परीतद्वारे परीतापरीतनोपरितानामल्पबहुत्वम् ।
(१९) पर्याप्तद्वारे पर्याप्तापर्याप्तनोपर्याप्तानामल्पबहुत्वम् ।
(२०) पुद्गलद्वारम् ।
(२१) बन्धद्वारे आयुःकर्मबन्धकादीनामल्पबहुत्वम् ।
(२२) भवसिद्धिकद्वारम् ।
(२३) भावकद्वारम् ।
(२४) महादण्डकद्वारम् ।
(२५) योगद्वारे चतुर्दशविधस्य संसारसमापन्नजीवस्य योगानामल्पबहुत्वम् ।
(२६) योनिद्वारम् ।
(२७) लेश्याद्वारे सलेश्यानामल्पबहुत्वम् ।
(२८) वेदद्वारम् ।
(२९) शरीरद्वारे आहारकादिशरीरिणामल्पबहुत्वम् ।

(१) तच्चतुर्विधम्—

चउव्विहे अप्पाबहुए पणत्ते । तं जहा-पगइ-अप्पाबहुए, ठिइ-अणुभाव-पएस-अप्पाबहुए ।

प्रकृतिविषयमल्पबहुत्वं बन्धापेक्षया, यथा-सर्वस्तोकप्रकृतिबन्धक उपशान्तमोहादिरेकविधबन्धकः, उपशमकादिसूक्ष्मसंपरायः षड्विधबन्धकः, बहुतरबन्धकः सप्तविधबन्धकः, ततोऽष्टविधबन्धक इति । स्थितिविषयमल्पबहुत्वं यथा- " सव्वथोवो संजयस्स जहन्नओ ठिइबंधो एगिंदियबायरपज्जत्तगस्स जहन्नओ ठिइबंधो असंखिज्जगुणो " इत्यादि । अनुभागमल्पबहुत्वं यथा- " सव्वत्थोवाइं अणंतगुणवुड्ढिट्ठाणाणि असंखिज्जगुणवुड्ढिठाणाणि, असंखिज्जगुणाणि संखिज्जगुणवुड्ढिठाणाणि असंखिज्जगुणाई जाव अणंतभागवुड्ढिट्ठाणाणि असंखिज्जगुणाणि " । प्रदेशाल्पबहुत्वं यथा- अष्टविधबन्धकस्य

[illegible] तुल्लो विसेसाहिओ नाण- [illegible] तुल्लो विसेसाहिओ मोहस्स विसेसाहि- [illegible] विसेसाहिओ ति "। स्था० ४ ठा० २ उ० ।

(२) [illegible]—

[illegible] कमासमासो ।
[illegible] ॥ १ ॥
[illegible] से चरिमे ।
[illegible] चेव ॥ २ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

पत्तगाणं जहण्णिया ओगाहणा दोण्ह वि तुल्ला असंखे- गुणा १० । ११ । सुहुमनिओयस्स पज्जत्तगस्स [illegible] ओगाहणा असंखेज्जगुणा १२। तस्स चेव [illegible] उक्कोसिया ओगाहणा विसेसाहिया १३। तस्स चेव [illegible] स्स उक्कोसिया ओगाहणा विसेसाहिया १४। सुहुम[illegible] यस्स पज्जत्तगस्स जहण्णिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा [illegible] तस्स चेव अपज्जत्तगस्स उक्कोसिया विसेसाहिया १६। [illegible] चेव पज्जत्तगस्स उक्कोसिया ओगाहणा विसेसाहिया [illegible] एवं सुहुमतेउकाइयस्स वि १८ । १९ । २० । एवं सु[illegible] आउकाइयस्स वि २१ । २२ । २३ । एवं सुहुमपुढवि[illegible] इयस्स वि । २४ । २५ । २६ । एवं बादरवाउका[illegible] वि २७ । २८ । २९ । एवं बादरतेउकाइयस्स वि [illegible] ३१ । ३२ । एवं बादरआउकाइयस्स वि ३३ । ३४ । [illegible] एवं बादरपुढविकाइयस्स वि ३६ । ३७ । ३८ । [illegible] निगोदाणं गमणं भाणियव्वं बादरनिओयस्स [illegible] ओगाहणा असंखेज्जगुणा ३९ । तस्स चेव [illegible] उक्कोसिया ओगाहणा विसेसाहिया ४० । तस्स चेव [illegible] त्तगस्स उक्कोसिया ओगाहणा विसेसाहिया ४१ [illegible] पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइयस्स जहण्णिया ओग[illegible] असंखेज्जगुणा ४२ । तस्स चेव अपज्जत्तगस्स उक्को[illegible] ओगाहणा असंखेज्जगुणा ४३ । तस्स चेव पज्जत्त[illegible] उक्कोसिया असंखेज्जगुणा ४४ ।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

गाहणट्ठाणाउयस्स भावट्ठाणाउयस्स कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया ? । गोयमा! सव्वत्थोवे खेत्तट्ठाणाउए ओगाहणट्ठाणाउए असंखेज्जगुणे, दव्वट्ठाणाउए असंखेज्जगुणे भावट्ठाणाउए असंखेज्जगुणे, " खेत्तोगाहणदव्वे, भावट्ठाणाउयं च अप्पबहुं । खेत्ते सव्वत्थोवे, सेसट्ठाणा असंखेज्जा " ॥ १ ॥

(एयस्स णं भंते! दव्वट्ठाणाउयस्स त्ति) द्रव्यं पुद्गलद्रव्यं, तस्य स्थानं भेदः परमाणुद्विप्रदेशकादि, तस्यायुः स्थितिः। अथवा द्रव्यस्याणुत्वादिभावेन यत् स्थानमवस्थानं, तद्रूपमायुः, द्रव्यस्थानायुः, तस्य; (खेत्तट्ठाणाउयस्स त्ति) क्षेत्रस्याकाशस्य, स्थानं भेदः पुद्गलावगाहकृतः,तस्यायुः-स्थितिः। अथवा क्षेत्रे एकप्रदेशादौ,स्थानं यत्पुद्गलानामवस्थानं,तद्रूपमायुः,क्षेत्रस्थानायुः। एवमवगाहनास्थानायुर्भावस्थानायुश्च; नवरमवगाहनानियतपरिमाणक्षेत्रावगाहित्वं पुद्गलानाम्। भावस्तु कालत्वादिः। ननु क्षेत्रस्यावगाहनायाश्च को भेदः?। उच्यते-क्षेत्रमवगाढमेव । अवगाहना तु-विवक्षितक्षेत्रादन्यत्रापि पुद्गलानां तत्परिमाणावगाहित्वमिति। " कयरे " इत्यादि कण्ठ्यम्। एषां च परस्परेणाल्पबहुत्वव्याख्या गाथाऽनुसारेण कार्या। ताश्चेमाः-

" खेत्तोगाहणदव्वे, भावट्ठाणाउ अप्पबहुयत्ते ।
थोवा असंखगुणिया, तिन्नि य सेसा कहं नेया ? ॥ १ ॥
खेत्ताऽमुत्तत्ताओ, तेण समं बंधपच्चयाभावा ।
तो पोग्गलाण थोवो, खेत्तावट्ठाणकालो उ " ॥ २ ॥

अयमर्थः-क्षेत्रस्याऽमूर्त्तत्वेन क्षेत्रेण सह पुद्गलानां विशिष्टबन्धप्रत्ययस्य स्नेहादेरभावादेकत्र ते चिरं तिष्ठन्तीति शेषः। यस्मादेवं तत इत्यादि व्यक्तम्।

अथावगाहनायुषो बहुत्वं भाव्यते-

" अन्नं खेत्तगयस्स वि, तं चियमाणं चिरं पि संधरइ ।
ओगाहणनासे पुण, खेत्तऽन्नत्तं फुडं होइ " ॥ ३ ॥

इह पूर्वार्द्धेन क्षेत्राद्धाया अधिकाऽवगाहनाद्धेत्युक्तम् । उत्तरार्द्धेन तु अवगाहनाद्धातो नाधिका क्षेत्राद्धेति ।

कथमेतदेवम् ?, इत्युच्यते—

" ओगाहणाअवद्धा, खेत्तद्धा अकिरिया य बद्धा य ।
न उ ओगाहणकालो, खेत्तद्धामेत्तसंबद्धो " ॥४॥

अवगाहनायामगमनक्रियायां च नियता क्षेत्राद्धा विवक्षिता, अवगाहनासद्भावे एवाक्रियासद्भावः। एवं च तस्या-भावाद्धाव्यतिरेके चाभावात्। अवगाहना तु-न क्षेत्रमात्रनियता, क्षेत्राद्धाया अभावेऽपि तस्या भावादिति।

अथ निगमनम्—

" जम्हा तत्थ ऽन्नत्थ य, सच्चे ओगाहणा भवे खेत्ते ।
तम्हा खेत्तद्धाओ-ऽवगाहणद्धा असंखगुणा " ॥ ५ ॥

अथ द्रव्यायुषो बहुत्वं भाव्यते—

" संकोयविकोएण य, उवरमियाए ऽवगाहणाए वि ।
तत्तियमेत्ताणं चिय, चिरं पि दव्वाणऽवत्थाणं " ॥ ६ ॥

संकोचेन, विकोचेन वा उपरतायामप्यवगाहनायां यावन्ति द्रव्याणि पूर्वमासंस्तावन्तामेव चिरमपि तेषामवस्थानं संभवति। अनेनावगाहनानिवृत्तावपि द्रव्यं न निवर्त्तत इत्युक्तम्।

अथ द्रव्यनिवृत्तिविशेषेऽवगाहना निवर्त्तत एवेत्युच्यते-

" संघायभेयओ वा, दव्वोवरमे पुणाइ संखित्ते ।
नियमा तद्दव्वोगा-हणाइ नासो न संदेहो " ॥ ७ ॥

सङ्घातेन, पुद्गलानां भेदेन वा तेषामेव यः संक्षिप्तः स्तोकावगाहनः स्कन्धो न तु प्राक्तनावगाहनः, तत्र यो द्रव्योपरमो द्रव्यान्यथात्वं, तत्र सति,न च सङ्घातेन न संक्षिप्तः स्कन्धो भवति, तत्र सति सूक्ष्मतरत्वेनापि तत्परिणतेः भवनाद् नियमात्तेषां द्रव्याणामवगाहनाया नाशो भवति ।

कस्मादेवम् ?, इत्यत उच्यते—

" ओगाहणा दव्वे, संकोयविकोयओ य अवबद्धा ।
न उ दव्वं संकोयण-विकोयमेत्तम्मि संबद्धं " ॥ ८ ॥

अवगाहनाद्धा द्रव्येऽवबद्धा नियतत्वेन संबद्धा। कथम्?, सङ्कोचाद्विकोचाच्च, सङ्कोचादि परिहृत्येत्यर्थः। अवगाहनाद्धायां सङ्कोचविकोचयोरभावे सति भवति, तत्सद्भावे च न भवतीत्येवं द्रव्येऽवगाहना नियतत्वेन संबद्धेत्युच्यते। द्रुमस्येव खदिरत्वमिवेति । एतद्विपर्ययमाह-न पुनर्द्रव्यं सङ्कोचविकोचमात्रे सत्यप्यवगाहनायां नियतत्वेन संबद्धं सङ्कोचविकोचाभ्यामवगाहनानिवृत्तावपि द्रव्यं न निवर्त्तत इत्यवगाहनायां तन्नियतत्वेनासंबद्धमित्युच्यते, खदिरत्वे द्रुमत्ववदिति।

अथ निगमनम्-

"जम्हा तत्थऽन्नत्थ य, दव्वं ओगाहणाइ तं चेव ।
दव्वद्धा संखगुणा, तम्हा ओगाहणद्धाओ " ॥ ९ ॥

अथ भावायुर्बहुत्वं भाव्यते -

" संघायभेयओ वा, दव्वोवरमे वि पज्जवा संति ।
तं कालगुणविरामे, पुणाइ दव्वं न ओगाहो " ॥ १० ॥

सङ्घातादिना द्रव्योपरमेऽपि पर्याया भवन्ति, यथा-पुद्गले कृष्णादिगुणाः । स्वकालगुणोपरमे तु न द्रव्यं, न चावगाहनाऽनुवर्त्तते । अनेन पर्यायाणां चिरं स्थानं,द्रव्यस्य त्वचिरमित्युक्तम् ।

अथ कस्मादेवम् ?, इत्युच्यते-

" संघायभेयबंधा-णुवत्तिणी निच्चमेव दव्वद्धा ।
न उ गुणकालो संघा-यभेयमेत्तऽवसंबद्धो " ॥११॥

सङ्घातभेदलक्षणाभ्यां धर्माभ्यां यो बन्धः सम्बन्धस्तदनुवर्त्तिनी तदनुसारिणी,सङ्घातादभाव एव द्रव्याद्धा सद्भावेन, तद्भावे चाभावात्; नपुनर्गुणकालः, सङ्घातभेदमात्रकालसंबद्धः सङ्घातादिभावेऽपि गुणानामनुवर्त्तनादिति ।

अथ निगमनम्—

" जम्हा तत्थऽन्नत्थ य, दव्वे खेत्तावगाहणासुं च ।
तं चेव पज्जवा सं—ति वा तदद्धा असंखगुणा " ॥ १२ ॥
" आह् अणेगंतो यं, दव्वोवरमे गुणाण ऽवत्थाणं ।
गुणविप्परिणामम्मि य, दव्वविसेसो व ऽदेयणो " ॥ १३ ॥

द्रव्यविशेषो द्रव्यपरिणामः ।

" विप्परिणयम्मि दव्वे, कम्मि गुणपरिणई भवे तुल्लं ।
कम्मि विपुलन्दव्वे, वि होइ गुणविप्परीणामो " ॥ १४ ॥

"जइ सव्वं कि पुण, गुणबहुत्ता न भवदव्वभणओ ।
दव्वस्स तदद्धे, विबद्धत्ताण गुणाण तिं " ॥१५॥ इति । भ०
५ श० ७ उ० ।

(जीवस्थानेष्वल्पबहुत्वम्–" काल " शब्दे द्वितीयभागे [illegible] पृष्ठे द्रष्टव्यम्) ([illegible] ' [illegible] ' शब्दे द्वितीयभागे ३१ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

(५) [आहारकद्वार] आहारकानाहारकजीवानामल्पबहुत्वम्-

एएसि णं भंते ! जीवाणं आहारगाणं अणाहारगाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा अणाहारगा आहारगा असंखिज्जगुणा ।

[illegible]

अपज्जत्तगा विसेसाहिया, तेइंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, बेइंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, एगिंदिया अपज्जत्तगा अणंतगुणा, सइंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिया ।

सर्वस्तोकाः पञ्चेन्द्रिया अपर्याप्ताः एकस्मिन् प्रतरे यावन्त्यङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्यश्चतुरिन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, प्रभूताङ्गुलासंख्येयभागखण्डप्रमाणत्वात् । तेभ्यस्त्रीन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, प्रभूततरप्रतराङ्गुलासंख्येयभागखण्डप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि द्वीन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, प्रभूततमाङ्गुलासंख्येयभागखण्डप्रमाणत्वात् । तेभ्य एकेन्द्रिया अपर्याप्ता अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानामपर्याप्तानामनन्तत्वात् । तेभ्योऽपि सेन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, द्वीन्द्रियाद्यपर्याप्तानामपि तत्र प्रक्षेपात् । गतं द्वितीयमल्पबहुत्वम् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० ।

सम्प्रत्येतेषामेव पर्याप्तापर्याप्तानामल्पबहुत्वमाह–

एएसि णं भंते ! सइंदियाणं एगिंदियाणं बेइंदियाणं तेइंदियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं पज्जत्तगाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पज्जत्तगा चउरिंदिया पंचिंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया, तेइंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया, बेइंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया, एगिंदिया पज्जत्तगा अणंतगुणा, सइंदिया पज्जत्तगा [illegible] ।

[illegible]

खेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! तेइंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा तेइंदिया पज्जत्तगा, तेइंदिया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! चउरिंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा चउरिंदिया पज्जत्तगा, चउरिंदिया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! पंचेंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचिंदिया पज्जत्तगा, पंचिंदिया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ॥

सर्वस्तोकाः सेन्द्रिया अपर्याप्तकाः, इह सेन्द्रिया एव बहवस्तत्रापि सूक्ष्माः, तेषां सर्वलोकापन्नत्वात् । सूक्ष्माश्चापर्याप्ताः सर्वस्तोकाः पर्याप्ताः संख्येयगुणा इति । सेन्द्रिया अपर्याप्ताः सर्वस्तोकाः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः । एवमेकेन्द्रिया अपर्याप्ताः सर्वस्तोकाः पर्याप्ताः संख्येयगुणा भावनीयाः । तथा सर्वस्तोका द्वीन्द्रियाः पर्याप्ताः, यावन्ति प्रतरेऽङ्गुलस्य असंख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणत्वात् तेषाम् । तेभ्योऽपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, प्रतरगताङ्गुलासंख्येयभागखण्डमात्रत्वात् । एवं त्रिचतुरिन्द्रियाल्पबहुत्वान्यपि भावनीयानि । गत षडल्पबहुत्वात्मकं चतुर्थमल्पबहुत्वम् ।

सम्प्रत्येतेषां सेन्द्रियादीनां समुदितानां पर्याप्तापर्याप्तानामल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं भंते ! सइंदियाणं एगिंदियाणं बेइंदियाणं तेइंदियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा चउरिंदिया पज्जत्तगा, पंचिंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया, बेइंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया, तेइंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया, पंचिंदिया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, चउरिंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिआ, तेइंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिआ, बेइंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, एगिंदिया अपज्जत्तगा अणंतगुणा, सइंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, एगिंदिया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, सइंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सइंदिया विसेसाहिया ।

इदं प्रागुक्तद्वितीयतृतीयाल्पबहुत्वभावनानुसारेण स्वयं भावनीयम्, तत्त्वतो भावितत्वात् । गतमिन्द्रियद्वारम् ३ प्रज्ञा० ३ पद । जी० । प्रव० । (इन्द्रियोपयोगाद्धाविषयमल्पबहुत्वम् 'इंदियउवओगद्धा' शब्दे द्वितीयभागे ५६८ पृष्ठे प्रदर्शयिष्यते)

(७) [उद्वर्तनाऽपवर्तनयोरल्पबहुत्वम्] सम्प्रति द्वयोरपि उद्वर्तनापवर्तनयोरल्पबहुत्वं सूत्रकृत् प्रतिपादयति-

थोवं पएसगुणहाणि अंतरे दुसु जहन्ननिक्खेवो ।
कमसो अणंतगुणिओ, दुसु वि अइत्थावणा तुल्ला ॥२२२॥
वाघाएणणुभाग-कंडगमेक्काइ वग्गणाऊणं ।

उक्कोसो निक्खेवो, ससंतबंधो य सविसेसो ॥ २२३ ॥

एकस्यां दिशि स्थितौ यानि स्पर्द्धकानि तानि क्रमशः स्थाप्यन्ते । तद्यथा-सर्वजघन्यं रसस्पर्द्धकमादौ, ततो विशेषाधिकरसं द्वितीयम्, ततो विशेषाधिकरसं तृतीयम् । एवं तावन्नेयं यावदुत्कृष्टरसमन्ते । तत्राऽऽदिस्पर्द्धकादारभ्यानन्तरोत्तरस्पर्द्धकानि प्रदेशापेक्षया विशेषहीनानि, अन्तिमस्पर्द्धकादारभ्य पुनरधोऽधः क्रमेण प्रदेशापेक्षया विशेषाधिकानि, तेषां मध्ये यावति द्विगुणवृद्ध्यन्तरे द्विगुणहान्यन्तरे वा यत् स्पर्द्धकं यानि तत् सर्वस्तोकम् । अथवा स्नेहप्रत्ययस्य स्पर्द्धकस्य अनुभागद्विगुणवृद्ध्यन्तरे, द्विगुणहान्यन्तरे वा यदनुभागस्थानं तत्सर्वस्तोकमेव प्राप्यते । अन्तिमस्थितिषु प्रभूतानि, इति स्पर्द्धकसंख्यापेक्षया द्वयोरपि विशेषतुल्यः । एवमतिस्थापनायामुत्कृष्टायामपि भावनीयम् । क्रमशः इति च पदं सर्वत्र योजनीयम् । ततो द्वयोरपि निक्षेपो व्याघातविषया अनन्तगुणा, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्या । ततो "वाघाएणं" इत्यादि व्याख्यानेन यद् उत्कृष्टं अनुभागकण्डकं एकया वर्गणया एकसमयमात्रस्थितिगतस्पर्द्धकं [illegible], एषा उत्कृष्टानुभागकण्डकस्य [illegible], सा अनन्तगुणा । तत उद्वर्तनापवर्तनयोरुत्कृष्टो निक्षेपो विशेषाधिकः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यः । ततः (ससंतबंधो य सविसेसो त्ति) पूर्वोक्तोऽप्युत्कृष्टस्थितिकर्मानुभागेन सह उत्कृष्टोऽप्यनुभागबन्धो विशेषाधिकः । क० प्र० ॥

(८) [उपयोगद्वारम्] साकारानाकारोपयुक्तानामल्पबहुत्वम्-

एएसि णं भंते ! जीवाणं सागारोवउत्ताणं अणागारोवउत्ताण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा अणागारोवउत्ता सागारोवउत्ता संखेज्जगुणा ।

इहानाकारोपयोगकालः सर्वस्तोकः, साकारोपयोगकालः संख्येयगुणः । ततो जीवा अनाकारोपयोगोपयुक्ताः सर्वस्तोकाः, पृच्छासमये तेषां स्तोकानामेवावाप्यमानत्वात् । तेभ्यः साकारोपयोगोपयुक्ताः संख्येयगुणाः, साकारोपयोगकालस्य दीर्घतया तेषां पृच्छासमये बहूनां प्राप्यमाणत्वात् । गतमुपयोगद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० । कर्म० । [illegible]
(इति संज्ञिनां [illegible] अल्पबहुत्वं [illegible] 'बंध' शब्दे प्रदेशबन्धप्रस्तावे वक्ष्यते)

(९) [कषायद्वारम्] क्रोधकषायादीनामल्पबहुत्वम्-

एएसि णं भंते ! जीवाणं सकसाईणं कोहकसाईणं माणकसाईणं मायाकसाईणं लोभकसाईणं अकसाईण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा अकसाई, माणकसाई अणंतगुणा, कोहकसाई विसेसाहिया, मायाकसाई विसेसाहिया, लोहकसाई विसेसाहिया, सकसाई विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोका अकषायिणः, सिद्धानां केवलिनां च अकषायित्वात् । तेभ्यो मानकषायिणोऽनन्तगुणाः, [illegible] गुणाः, [illegible] । तेभ्यः क्रोधकषायिणो विशेषाधिकाः, तेभ्यो मायाकषायिणो विशेषाधिकाः, तेभ्योऽपि लोभकषायिणो विशेषाधिकाः [illegible]

(नैरयिकाद्यायुषामल्पबहुत्वम्-" आउ " शब्दे द्वितीयभागे ११-१२ पृष्ठे दर्शयिष्यते) (ज्ञानिनामनिधत्तायुरादीनां भेदाः ' आउबंध ' शब्दे द्वितीयभागे ३१ पृष्ठे वक्ष्यन्ते)

(१) [आहारद्वारम्] आहारकानाहारकजीवानामल्पबहुत्वम्-

एएसि णं भंते ! जीवाणं आहारगाणं अणाहारगाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा अणाहारगा आहारगा असंखिज्जगुणा ।

सर्वस्तोका जीवा अनाहारकाः, विग्रहगत्यापन्नादीनामेवाना-हारकत्वात् । उक्तं च—" विग्गहगइमावन्ना, केवलिणो समुह-या अजोगी य । सिद्धा य अणाहारा, सेसा आहारगा जीवा " ॥१॥ तेभ्य आहारका असंख्येयगुणाः । ननु वनस्पतिकायिकानां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तत्वात् तेषां चाहारकतयाऽपि लभ्यमानत्वात् कथमनन्तगुणा न भवन्ति ? । तदयुक्तम् । वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । इह सूक्ष्मनिगोदाः सर्वसङ्ख्ययाऽप्यसङ्ख्येयाः, तत्राप्यन्तर्मुहूर्त-समयतुल्याः सूक्ष्मनिगोदाः सर्वकालविग्रहे वर्तमाना लभ्यन्ते । ततोऽनाहारका अल्पबहवः सकलजीवराश्यसं-ख्येयभागतुल्या इति । तेभ्य आहारका असंख्येयगुणाः, ते च [illegible] । प्रज्ञा० ३ पद । जी० । कर्म० ।

([illegible], तेषां कर्मप्रकृतिगुणाश्च 'इं-दिय' शब्दे द्वितीयभागे ५३४ पृष्ठे वक्ष्यन्ते)

(२) [इन्द्रियद्वारम्] इन्द्रियवतां जीवानामल्पबहुत्वम्-

एएसि णं भंते ! सइंदियाणं एगिंदियाणं बेइंदियाणं तेइंदियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं अणिंदियाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचिंदिया चउरिंदिया वि-सेसाहिया, तेइंदिया विसेसाहिया, बेइंदिया विसेसाहिया, अणिंदिया अणंतगुणा, एगिंदिया अणंत० । सइंदिया वि० ।

[illegible]

एएसि णं भंते ! [illegible]

[illegible]

अपज्जत्तगा विसेसाहिया, तेइंदिया अपज्जत्तगा विसे-साहिया, बेइंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, एगिंदिया अपज्जत्तगा अणंतगुणा, सइंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिया ।

सर्वस्तोकाः पञ्चेन्द्रिया अपर्याप्ताः एकस्मिन्प्रतरे यावन्त्य-ङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणत्वात् तेषां । तेभ्यश्चतुरिन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, प्रभूताङ्गुलासंख्ये-यभागखण्डप्रमाणत्वात् । तेभ्यस्त्रीन्द्रिया अपर्याप्ता विशे-षाधिकाः, प्रभूततरप्रतराङ्गुलासंख्येयभागखण्डमानत्वात् । ते-भ्योऽपि द्वीन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, प्रभूततमाङ्गुला-संख्येयभागखण्डप्रमाणत्वात् । तेभ्य एकेन्द्रिया अपर्याप्ता अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानामपर्याप्तानामनन्ततया सदा प्राप्यमाणत्वात् । तेभ्योऽपि सेन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, द्वीन्द्रियाद्यपर्याप्तानामपि तत्र प्रक्षेपात् । गतं द्वितीयमल्पबहुत्व-म् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० ।

अधुनैतेषामेव पर्याप्तापर्याप्तगतमल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं भंते ! सइंदियाणं एगिंदियाणं बेइंदियाणं तेइंदियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं पज्जत्तगाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पज्जत्तगा चउरिंदिया पंचिं-दिया पज्जत्तगा विसेसाहिया, तेइंदिया पज्जत्तगा विसे-साहिया, बेइंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया, एगिंदिया पज्जत्तगा अणंतगुणा, सइंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया ।

सर्वस्तोकाश्चतुरिन्द्रियाः पर्याप्ताः, यतोऽल्पायुषश्चतुरिन्द्रियाः, ततः प्रभूतकालमवस्थानाभावात् । पृच्छासमये स्तोका एव प्रतरे यावन्त्यङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणा [illegible] । तेभ्यः पञ्चेन्द्रियपर्याप्ता विशेषाधिकाः, प्रभूताङ्गुला-संख्येयभागखण्डमानत्वात् । तेभ्योऽपि द्वीन्द्रियाः पर्याप्ता वि-शेषाधिकाः, प्रभूततरप्रतराङ्गुलासंख्येयभागखण्डमानत्वात् । ते-भ्योऽपि त्रीन्द्रियाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, [illegible] प्रभूततमप्रतराङ्गुलासंख्येयभागखण्डप्रमाणत्वात् । तेभ्य एके-न्द्रियाः पर्याप्ता अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानां पर्याप्ता-नामनन्तत्वात् । तेभ्यः सेन्द्रियाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, द्वीन्द्रिया-दीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् । गतं तृतीयमल्पबहुत्वम् ।

साम्प्रतमेतेषामेव सेन्द्रियाणां पर्याप्तापर्याप्तानामल्पबहुत्व-माह—

एएसि णं भंते ! सइंदियाणं पज्जत्तापज्जत्तगाणं क-यरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहि-या वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सइंदिया अपज्जत्तगा प-ज्जत्तगा सइंदिया संखिज्जगुणा । एएसि णं भंते ! एगिं-दियाणं पज्जत्तापज्जत्तगाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा एगिंदिया अपज्जत्तगा एगिंदिया पज्जत्तगा संखिं० । एएसि णं भंते ! बेइंदियाणं पज्ज-त्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा बेइंदिया पज्जत्तगा बेइंदिया अपज्जत्तगा असं-

खेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! तेइंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा तेइंदिया पज्जत्तगा, तेइंदिया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! चउरिंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा चउरिंदिया पज्जत्तगा, चउरिंदिया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! पंचेंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचिंदिया पज्जत्तगा, पंचिंदिया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ॥

सर्वस्तोकाः सेन्द्रिया अपर्याप्तकाः, इह सेन्द्रिया एव बदरस्तत्रापि सूक्ष्माः, तेषां सर्वलोकापन्नत्वात् । सूक्ष्माश्चापर्याप्ताः सर्वस्तोकाः पर्याप्ताः संख्येयगुणा इति । सेन्द्रिया अपर्याप्ताः सर्वस्तोकाः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः । एवमेकेन्द्रिया अपर्याप्ताः सर्वस्तोकाः पर्याप्ताः संख्येयगुणा भावनीयाः । तथा सर्वस्तोका द्वीन्द्रियाः पर्याप्ताः,यावन्ति प्रतरेऽङ्गुलस्य असंख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणत्वात् तेषाम् । तेभ्योऽपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, प्रतरगताङ्गुलासंख्येयभागखण्डमात्रत्वात् । एवं त्रिचतुरिन्द्रियाल्पत्वान्यपि वक्तव्यानि । गतं षडल्पबहुत्वात्मकं चतुर्थमल्पबहुत्वम् ।

सम्प्रत्येतेषां सेन्द्रियादीनां समुदितानां पर्याप्तापर्याप्तानामल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं भंते ! सइंदियाणं एगिंदियाणं बेइंदियाणं तेइंदियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा चउरिंदिया पज्जत्तगा, पंचिंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया, बेइंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया,तेइंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया, पंचिंदिया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, चउरिंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिआ, तेइंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिआ, बेइंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, एगिंदिया अपज्जत्तगा अणंतगुणा, सइंदिया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, एगिंदिया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, सइंदिया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सइंदिया विसेसाहिया ।

इदं प्रागुक्तद्वितीयतृतीयाल्पबहुत्वभावनानुसारिणा स्वयं भावनीयम्, तस्वतो भावितत्वात् । गतमिन्द्रियद्वारम् ॥ प्रज्ञा० ३ पद । जी० । प्रव० । (इन्द्रियोपयोगाद्धाविषयमल्पबहुत्वम् 'इंदियउवओगद्धा' शब्दे द्वितीयभागे ५६८ पृष्ठे प्ररूपयिष्यते)

(७) [उद्वर्तनाऽपवर्तनयोरल्पबहुत्वम्] सम्प्रति द्वयोरपि उद्वर्तनापवर्तनयोरल्पबहुत्वं सूत्रकृत् प्रतिपादयति–

थोवं पएसगुणहाणि अंतरे दुसु जहन्ननिक्खेवो ।
कमसो अणंतगुणिओ,दुसु वि अइत्थावणा तुल्ला ॥२२०॥
वाघाएणऽणुभाग–कंडगमेक्कावग्गणाऊणं ।
ठकिहो निक्खेवो, ससंतबंधो य सविसेसो । ११३ ॥

एकस्यां दिशि स्थितौ यानि स्पर्द्धकानि तानि क्रमशः स्थाप्यन्ते । तद्यथा-सर्वजघन्य रसस्पर्द्धकमादौ, ततो विशेषाधिकरसं द्वितीयम्, ततो विशेषाधिकरसं तृतीयम् । एवं तावत्सर्वोत्कृष्टरसमन्ते । तत्राऽऽदिस्पर्द्धकादारभ्योत्तरोत्तरस्पर्द्धकानि प्रदेशापेक्षया विशेषहीनानि, अन्तिमस्पर्द्धकादारभ्य पुनरधोऽधः क्रमेण प्रदेशापेक्षया विशेषाधिकानि, तेषां मध्ये एकस्मिन् द्विगुणवृद्ध्यन्तरे द्विगुणहान्यन्तरे वा यत् स्पर्द्धके याति तत् सर्वस्तोकम् । अथवा स्नेहप्रत्ययस्य स्पर्द्धकस्य अनुभागद्विगुणवृद्ध्यन्तरे, द्विगुणहान्यन्तरे वा यदनुभागपदं तत्सर्वस्तोकान्येव प्राप्यन्ते । अन्तिमस्थितिषु प्रभृतानि, इति स्पर्द्धकसंख्यापेक्षया द्वयोरपि निक्षेपस्तुल्यः पश्यमतिस्थापनायामुत्कृष्टनिक्षेपेऽपि च भावनीयम् । क्रमश इति च सकलगाथापेक्षया योजनीयम् । ततो द्वयोरप्यतिस्थापना व्याघातबाह्या अनन्तगुणा, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्या । ततो "वाघाएणेत्यादि" व्याघातेन यद् उत्कृष्टं अनुभागकण्डकमेकया वर्गणया एकसमयमात्रस्थितिगतस्पर्द्धकसंहतिरूपया ऊनम्, एषा उत्कृष्टानुभागकण्डकस्य यातिस्थापना, सा अनन्तगुणा । तत उद्वर्तनापवर्तनयोरुत्कृष्टो निक्षेपो विशेषाधिकः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्यः । ततः (ससंतबंधो य सविसेसो त्ति) पूर्वबद्धोत्कृष्टस्थितिकर्मानुभागेन सह उत्कृष्टस्थित्यनुभागबन्धो विशेषाधिकः । क० प्र० ॥

(८) [उपयोगद्वारम्] साकाराऽनाकारोपयुक्तानामल्पबहुत्वम्–

एएसि णं भंते ! जीवाणं सागारोवउत्ताणं अणागारोवउत्ताण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा अणागारोवउत्ता सागारोवउत्ता संखिज्जगुणा ।

इहानाकारोपयोग कालः सर्वस्तोकः, साकारोपयोगकालस्तु सङ्ख्येयगुणः । ततो जीवा अप्यनाकारोपयोगोपयुक्ताः सर्वस्तोकाः, पृच्छासमये तेषां स्तोकानामेवावाप्यमानत्वात् । तेभ्यः साकारोपयोगोपयुक्ताः सङ्ख्येयगुणाः, साकारोपयोगकालस्य दीर्घतया तेषां पृच्छासमये बहूनां प्राप्यमाणत्वात् । गतमुपयोगद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० । कर्म० । पं० सं० । क० प्र० ।

(कति सञ्ज्ञिनां कति असञ्ज्ञिनामवक्तव्यकसञ्ज्ञिनां षट्कसमर्जितानां यावच्चतुरशीतिसमर्जितानां, कर्मप्रदेशाग्राणामल्पबहुत्वं 'बंध' शब्दे प्रदेशबन्धावसरे वक्ष्यते)

(९) [कषायद्वारम्] क्रोधकषायादीनामल्पबहुत्वम्–

एएसि णं भंते ! जीवाणं सकसाईणं कोहकसाईणं माणकसाईणं मायाकसाईणं लोभकसाईणं अकसाईण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा अकसाई, माणकसाई अणंतगुणा, कोहकसाई विसेसाहिया, मायाकसाई विसेसाहिया, लोभकसाई विसेसाहिया, सकसाई विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोका अकषायिणः, सिद्धानां केवलिनां च मनुष्याणाम-कषायत्वात् । तेभ्यो मानकषायिणो मानकषायपरिणामवन्तोऽनन्तगुणाः, षट्स्वपि जीवनिकायेषु मानकषायपरिणामस्याऽऽप्यमानत्वात् । तेभ्यः क्रोधकषायिणो विशेषाधिकाः, तेभ्यो मायाकषायिणो विशेषाधिकाः, तेभ्योऽपि लोभकषायिणो विशेषाधिकाः, प्रा-

[illegible]परिणामकालापेक्षया क्रोधादिकषायपरिणामकालस्य यथोत्तरं विशेषाधिकतया क्रोधादिकषायाणामपि यथोत्तरं विशेषाधिकत्वसंभवात् । लोभकषायिभ्यः सामान्यतः सकषायिणः विशेषाधिकाः, मानादिकषायाणामपि तत्र प्रक्षेपात् । [illegible] इत्यत्रैवं व्युत्पत्तिः-कषायशब्देन कषायोदयः परिगृह्यते, तथा च लोके व्यवहारः-सकषायोऽयं, कषायोदयवानित्यर्थः । सह कषायेण कषायोदयेन वर्तन्ते सकषायोदयाः वि-[illegible] प्रागुक्तोदयमुपदर्शयन्तः कषायकर्मपरिमाणव-[illegible]न्तु यस्तु जीवस्यावस्थं,कषायोदयसंभवात् । सकषाया वि-[illegible] येषां ते सकषायिणः, कषायोदयसहिता इति तात्पर्यार्थः । [illegible] । प्रज्ञा० ३ पद । जी० । कर्म० । सकषायि-[illegible] अल्पबहुत्वचिन्तायां, सर्वस्तोका अकषायि-णः, [illegible]ऽनन्तगुणाः । जी० ९ प्रति० । (काम-भोग[illegible]बहुत्वं 'कामभोग' शब्दे वक्ष्यते)

(१०) [कायद्वारम्] सकायिकानामल्पबहुत्वम्—

एएसि णं भंते ! सकाइयाणं पुढविकाइयाणं आउकाइयाणं तेउकाइयाणं वाउकाइयाणं वणस्सइकाइयाणं तसका-इयाणं अकाइयाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोय-मा ! सव्वत्थोवा तसकाइया, तेउकाइया असंखिज्जगुणा, पुढविकाइया विसेसाहिया, आउकाइया विसेसाहिया, वा-उकाइया विसेसाहिया, अकाइया अणंतगुणा, वणस्सइ-काइया अणंतगुणा, सकाइया विसेसाहिया वा ॥

[illegible] सर्वस्तोकास्त्रसकायिकाः, [illegible] तेजस्कायिका असंख्येयगुणाः, [illegible] । तेभ्यः पृथिवीकायिका विशेषाधिकाः, [illegible] । तेभ्योऽप्कायिका विशेषाधिकाः, [illegible] । तेभ्यो वायुकायिका विशेषाधिकाः, [illegible] । [illegible] अनन्तगुणाः, [illegible] । तेभ्यो वनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः, [illegible] । तेभ्यः सकायिका विशेषाधिकाः, पृथिवीकायिकादी-[illegible] । [illegible]बहुत्वम् । प्रज्ञा० ३ पद । [illegible]

[illegible]

एएसि णं भंते ! [illegible] पुढविकाइयाणं आउकाइया-णं [illegible] कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । [illegible]

सगा अणंतगुणा । सकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहि[illegible] प्रज्ञा० ३ पद । (टीका चास्य सुगमाऽतो न प्रतन्यते)

साम्प्रतमेतेषामेव पर्याप्तानां तृतीयमल्पबहुत्व[illegible]

एएसि णं भंते ! सकाइयाणं पुढविकाइयाणं आउका[illegible] तेउकाइयाणं वाउकाइयाणं वणस्सइकाइयाणं तसका[illegible] य पज्जत्तगाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गो[illegible] सव्वत्थोवा तसकाइया पज्जत्तगा, तेउकाइया प[illegible] असंखेज्जगुणा, पुढविकाइया पज्जत्तगा विसे[illegible] आउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, वाउकाइया [illegible] त्तगा विसेसाहिया, वणस्सइकाइया पज्जत्ता अणं[illegible] सकाइया पज्जत्ता विसेसाहिया । प्रज्ञा० ३ पद ।

(टीका सुगमा)

साम्प्रतमेतेषामेव सकायिकादीनां प्रत्येकं पर्याप्ताप[illegible]

गतमल्पबहुत्वमाह-

एएसि णं भंते ! सकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं [illegible] कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसे[illegible] वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सकाइया अपज्जत्तगा, [illegible] इया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! पुढविका[illegible] पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ब[illegible] तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थो[illegible] विकाइया अपज्जत्तगा, पुढविकाइया पज्जत्तगा सं[illegible] गुणा । एएसि णं भंते ! आउकाइयाणं पज्जत्ताप[illegible] कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्[illegible] आउकाइया अपज्जत्तगा, आउकाइया पज्जत्तगा [illegible] ज्जगुणा । एएसि णं भंते ! तेउकाइयाणं पज्जत्ताप[illegible] कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्[illegible] तेउकाइया अपज्जत्तगा, तेउकाइया पज्जत्तगा संखे[illegible] एएसि णं भंते ! वाउकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे [illegible] हिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा वा[illegible] अपज्जत्तगा, वाउकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । ए[illegible] भंते ! वणस्सइकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कय[illegible] अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा वणस्सइकाइ[illegible] पज्जत्तगा, वणस्सइकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । ए[illegible] भंते ! तसकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कय[illegible] अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा तसकाइया प[illegible] गा, तसकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा । प्रज्ञा०

(टीका सुगमा)

[illegible]

एएसि णं भंते ! सकाइयाणं पुढविकाइयाणं आउकाइयाणं तेउकाइयाणं वाउकाइयाणं वणस्सइकाइयाणं तसकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा तसकाइया पज्जत्तगा, तसकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, तेउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, पुढविकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, आउकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, वाउकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, तेउकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, पुढविकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, अप्पकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, वाउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, वणस्सइकाइया अपज्जत्तगा अणंतगुणा, वणस्सइकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, सकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, सकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, सकाइया विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोकास्त्रसकायिकाः पर्याप्तकाः, तेभ्यस्त्रसकायिका एवाऽपर्याप्तका असंख्येयगुणाः; द्वीन्द्रियादीनामपर्याप्तानां पर्याप्तद्वीन्द्रियादिभ्योऽसंख्येयगुणत्वात् । ततस्तेजस्कायिका अपर्याप्ता असङ्ख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । ततः पृथिव्यम्बुवायवोऽपर्याप्ताः क्रमेण विशेषाधिकाः ततस्तेजस्कायिकाः पर्याप्तकाः सङ्ख्येयगुणाः, सूक्ष्मेभ्योऽपर्याप्तेभ्यः पर्याप्तानां सङ्ख्येयगुणत्वात् । ततः पृथिव्यम्बुवायवः पर्याप्ताः क्रमेण विशेषाधिकाः ततो वनस्पतयोऽपर्याप्ता अनन्तगुणाः पर्याप्ताः सङ्ख्येयगुणाः तदेवं कायद्वारे सामान्येन पञ्चसूत्राणि प्रतिपादितानि ॥

सम्प्रत्यस्मिन्नेव द्वारे सूक्ष्मबादरादिभेदेन पञ्चदश सूत्राण्याह—

एएसि णं भंते ! सुहुमाणं सुहुमपुढविकाइयाणं सुहुमआउकाइयाणं सुहुमतेउकाइयाणं सुहुमवाउकाइयाणं सुहुमवणस्सइकाइयाणं सुहुमणिओयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमतेउकाइया सुहुमपुढविकाइया विसेसाहिया, सुहुमआउकाइया विसेसाहिया. सुहुमवाउकाइया विसेसाहिया, सुहुमनिगोदा असंखेज्जगुणा । सुहुमवणस्सइकाइया अणंतगुणा, सुहुमा विसेसाहिआ ॥

सर्वस्तोकाः सूक्ष्मतेजस्कायिकाः असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मपृथिवीकायिका विशेषाधिकाः, प्रभूतासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्माप्कायिकाः, प्रभूततरासंख्येयलोकाकाशमानत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मवायुकायिका विशेषाधिकाः, प्रभूततमासङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिमानत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा असंख्येयगुणाः । सूक्ष्मग्रहणं बादरव्यवच्छेदार्थम् । द्विविधा हि निगोदाः-सूक्ष्माः, बादराश्च । तत्र बादराः सूरणकन्दादिषु, सूक्ष्माः सर्वलोकापन्नाः, ते च प्रतिगोलकमसङ्ख्येया इति सूक्ष्मवायुकायिकेभ्योऽसंख्येयगुणाः । तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः, प्रतिनिगोदमनन्तानां भावात् । तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्मजीवा विशेषाधिकाः, सूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् । गतमौघिकानामिदमल्पबहुत्वम् ।

इदानीमेतेषामेवाऽपर्याप्तानामाह—

एएसि णं भंते ! सुहुमअपज्जत्तगाणं सुहुमपुढविकाइया अपज्जत्तगाणं सुहुमआउकाइआ अपज्जत्तगाणं सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तगाणं सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तगाणं सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तगाणं सुहुमनिगोदा अपज्जत्तगाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तया, सुहुमपुढविकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमआउकाइया अपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमनिगोदा अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा अणंतगुणा, सुहुमा अपज्जत्तगा विसेसाहिआ ॥

इदमपि प्रागुक्तक्रमेणैव भावनीयम् ।

सम्प्रत्येतेषामेव पर्याप्तानां तृतीयमल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं भंते ! सुहुमपज्जत्तगाणं सुहुमपुढविकाइयपज्जत्तगाणं सुहुमआउकाइयपज्जत्तगाणं सुहुमतेउकाइयपज्जत्तगाणं सुहुमवाउकाइयपज्जत्तगाणं, सुहुमवणस्सइकाइयपज्जत्तगाणं सुहुमनिगोदपज्जत्तगाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमतेउकाइया पज्जत्तगा, सुहुमपुढविकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया । सुहुमआउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमनिगोदा पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, सुहुमवणस्सइकाइया पज्जत्तगा अणंतगुणा, सुहुमा पज्जत्ता विसेसाहिया ।

इदमपि प्रागुक्तक्रमेणैव भावनीयम् । प्रज्ञा० ३ पद ।

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियाणां भवानामल्पबहुत्वचिन्तायामाह—

अप्पाबहुगं सव्वत्थोवा पंचिंदिया, चउरिंदिया विसेसाहिया, तेइंदिया विसेसाहिया, बेइंदिया विसेसाहिया, तेउकाइया असंखेज्जगुणा, पुढवि० आउ० वाउ० विसेसाहिया, वणस्सइकाइया अणंतगुणा ।

सर्वस्तोकाः पञ्चेन्द्रियाः, संख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणविष्कम्भसूचीप्रमितप्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यश्चतुरिन्द्रिया विशेषाधिकाः, विष्कम्भसूच्यास्तेषां प्रभूतसंख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेषां विष्कम्भसूच्याः प्रभूततरसंख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि द्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेषां विष्कम्भसूच्याः प्रभूततमसंख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणत्वात् । तेभ्यस्तेजस्कायिका असंख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यः पृथिवीकायिका विशेषाधिकाः, प्रभूतासंख्येयलोकाकाशप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽप्कायिका विशेषाधिकाः, प्रभूततरासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाण-

त्वात् । तेभ्यो वायुकायिका विशेषाधिकाः, प्रभूततमासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यो वनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः, अनन्तलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । जी० १ प्रति० ।

सम्प्रति एतेषामेवानिन्द्रियसहितानां दशानामल्पबहुत्वमाह-

एएसि णं भंते ! पुढविकाइयाणं आउकाइयाणं तेउ०, वाउ०,वणप्फति०,बेइंदियाणं तेइंदियाणं चउरिंदियाणं पंचिंदियाणं अणिंदियाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० जाव विसेसाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचिंदिया, चउरिंदिया विसेसाहिया, तेइंदिया विसेसाहिया, बेइंदिया वि०,तेउकाइया असंखेज्जगुणा । पुढविकाइया वि०, आउकाइया वि०, वाउकाइया वि०, अणिंदिया अणंतगुणा, वणप्फतिकाइया अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोकाः पञ्चेन्द्रियाः, चतुरिन्द्रिया विशेषाधिकाः, त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः, द्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः, तेजस्कायिका असंख्येयगुणाः, पृथिवीकायिकाः विशेषाधिकाः, अप्कायिका विशेषाधिकाः, वायुकायिका विशेषाधिकाः, अनिन्द्रिया अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः । जी० १० प्रति० ।

अधुनाऽमीषामेव सूक्ष्मादीनां प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तानामल्पबहुत्वान्याह-

एएसि णं भंते ! सुहुमाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमा अपज्जत्तगा, सुहुमा पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! सुहुमपुढविकाइयाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमपुढविकाइया अपज्जत्तया, सुहुमपुढविकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा ।

इह बादरेषु पर्याप्तेभ्योऽपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, एकैकपर्याप्तनिश्रया असंख्येयानामपर्याप्तानामुत्पादात् । तथा चोक्तं प्राक् प्रथमे प्रज्ञापनाख्ये पदे-" पज्जत्तगनिस्साए अपज्जत्तगा वक्कमंति, जत्थ एगो तत्थ नियमा असंखेज्जा" इति । सूक्ष्मेषु पुनरयं क्रमः । पर्याप्तापर्याप्तापेक्षया चिरकालावस्थायित्वादिति । अतएव बहवो भवन्ति । तत उक्तम्-सर्वस्तोकाः सूक्ष्मा अपर्याप्ताः, तेभ्यः सूक्ष्माः पर्याप्तकाः संख्येयगुणाः, एवं पृथिवीकायिकादिष्वपि प्रत्येकं भावनीयम् । गतं चतुर्थमल्पबहुत्वम् ।

इदानीमेतेषां समुदितानां पर्याप्तापर्याप्तानां पञ्चममल्पबहुत्वमाह-

एएसि णं भंते ! सुहुमआउकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमआउकाइया अपज्जत्तगा, सुहुमआउकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! सुहुमतेउकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तगा, सुहुमतेउकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! सुहुमवाउकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तगा, सुहुमवाउकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! सुहुमवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा, सुहुमवणस्सइकाइया पज्जत्तगा संखिज्जगुणा । एएसि णं भंते ! सुहुमनिगोदाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमनिगोदा अपज्जत्तगा सुहुमनिगोदा पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! सुहुमाणं सुहुमपुढविकाइयाणं सुहुमआउकाइयाणं सुहुमतेउकाइयाणं सुहुमवाउकाइयाणं सुहुमवणस्सइकाइयाणं सुहुमनिगोदाण य पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तया, सुहुमपुढविकाइया अपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमआउकाइया अपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमतेउकाइया पज्ज० संखेज्जगुणा, सुहुमपुढविकाइया पज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमआउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमनिगोदा अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, सुहुमनिगोदा पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा अणंतगुणा, सुहुमा अपज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमा वणस्सइकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा, सुहुमा पज्जत्तगा विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोकाः सूक्ष्मास्तेजस्कायिका अपर्याप्ताः, कारणं प्रागेवोक्तम् । तेभ्यः सूक्ष्माः पृथिवीकायिका अपर्याप्ता विशेषाधिकाः । तेभ्यः सूक्ष्माप्कायिका अपर्याप्ता विशेषाधिकाः । तेभ्यः सूक्ष्मवायुकायिका अपर्याप्ता विशेषाधिकाः । अत्रापि कारणं प्रागेवोक्तम् । तेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कायिकाः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः । अपर्याप्तेभ्यो हि पर्याप्ताः संख्येयगुणाः । इत्यनन्तरं भावितम् । तत्र सर्वस्तोकाः सूक्ष्मतेजस्कायिका अपर्याप्ता उक्ताः । इतरे च सूक्ष्मापर्याप्ताः पृथिवीकायिकादयो विशेषाधिकाः विशेषाधिकत्वं च मनागधिकत्वम्, न द्विगुणत्वं न त्रिगुणत्वं वा । ततः सूक्ष्मतेजस्कायिकेभ्योऽपर्याप्तेभ्यः पर्याप्ताः सूक्ष्मतेजस्कायिकाः संख्येयगुणाः ततः सूक्ष्मवायुकायिकाः पर्याप्तेभ्योऽपि असंख्येयगुणा भवन्ति । तेभ्यः सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः । तेभ्यः सूक्ष्माप्कायिकाः पर्याप्ताः विशेषाधिकाः । तेभ्योऽपि सूक्ष्मवायुकायिकाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः । तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, तेषामतिप्रभूतत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः, सूक्ष्मेष्वपर्याप्तेभ्यः पर्याप्तानामोघतः संख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका अपर्याप्ता अनन्तगुणाः, प्रतिनिगोदमनन्तानां तेषां भावात् । तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्मा अपर्याप्तकाः विशेषाधिकाः, सूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः...

काः पर्याप्तकाः संख्येयगुणाः। सूक्ष्मेषु हि अपर्याप्तेभ्यः पर्याप्तकाः संख्येयगुणाः। यथापान्तराले विशेषाधिकत्व तदल्पमिति न संख्येयगुणत्वव्याघातः। तेभ्यः सूक्ष्मपर्याप्तका विशेषाधिकाः, सूक्ष्मपृथिव्यादीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात्। तेभ्यः सूक्ष्मा विशेषाधिकाः, अपर्याप्तानामपि तत्र प्रक्षेपात् ॥ १५ ॥ सर्वमुक्तानि सूक्ष्माश्रितानि पञ्चसूत्राणि।

सम्प्रति बादराश्रितानि पञ्चोक्तक्रमेणाभिधित्सुराह—

एएसि णं भंते ! बादरगाणं बादरपुढविकाइयाणं बादरआउकाइयाणं बादरतेउकाइयाणं बादरवाउकाइयाणं बादरवणस्सइकाइयाणं पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइयाणं बादरनिगोदाणं बादरतसकाइयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतसकाइया, बादरतेउकाइया असंखेज्जगुणा, पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया असंखेज्जगुणा, बादरनिगोदा असंखेज्जगुणा, बादरपुढविकाइया असंखेज्जगुणा, बादरआउकाइया असंखेज्जगुणा, बादरवाउकाइया असंखेज्जगुणा, बादरवणस्सइकाइया अणंतगुणा, बादरा विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोका बादरत्रसकायिकाः, द्वीन्द्रियादीनामेव बादरत्रसत्वात्, तेषां च शेषकायेभ्योऽल्पत्वात्। तेभ्यो बादरतेजस्कायिका असंख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात्। तेभ्योऽपि प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिका असंख्येयगुणाः, स्थानस्यासंख्येयगुणत्वात्। बादरतेजस्कायिका हि मनुष्यक्षेत्र एव भवन्ति। तथा चोक्तं द्वितीयस्थानाख्ये पदे-" कहि णं भंते ! बादरतेउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता ?। गोयमा ! सट्ठाणेणं अंतो मणुस्सखित्ते अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु निव्वाघाएणं पन्नरससु कम्मभूमिसु वाघाएण पंचसु महाविदेहेसु एत्थ णं बायरतेउकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता, तत्थेव बायरतेउकाइयाणमपज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता" इति। बादरवनस्पतिकायिकेषु त्रिष्वपि लोकेषु भवनादिषु। तथा चोक्तं तस्मिन्नेव द्वितीये स्थानाख्ये पदे-"कहि णं भंते ! बायरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता ?। गोयमा ! सट्ठाणेणं सत्तसु घणोदहीसु सत्तसु घणोदहिवलएसु अहोलोए पायालेसु भवणेसु भवणपत्थडेसु उड्ढलोए कप्पेसु विमाणेसु विमाणावलियासु विमाणपत्थडेसु तिरियलोए अगडेसु तलाएसु नदीसु दहेसु वावीसु पुक्खरिणीसु दीहियासु गुंजालियासु सरेसु सरपंतियासु सरसरपंतियासु बिलपंतियासु उज्झरेसु निज्झरेसु चिल्ललेसु पल्ललेसु विप्पिणेसु दीवेसु समुद्देसु सव्वेसु चेव जलासएसु जलट्ठाणेसु, एत्थ णं बायरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता"। तथा-" जत्थेव बायरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ठाणा तत्थेव बायरवणस्सइकाइयाणं अपज्जत्तगाणं ठाणा पन्नत्ता " इति। तत क्षेत्रस्यासंख्येयगुणत्वादुपपद्यन्ते बादरतेजस्कायिकेभ्योऽसंख्येयगुणाः प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिकाः। तेभ्यो बादरनिगोदा असंख्येयगुणाः, तेषामत्यन्तसूक्ष्मावगाहनत्वात्, जलेषु सर्वत्रापि च भावात्। पनकशैवालादयो हि जले अवश्यं भाविनः, ते च बादरानन्तकायिका इति। तेभ्योऽपि बादरपृथिवीकायिका असंख्येयगुणाः, अष्टसु पृथिवीषु सर्वेषु विमानभवनपर्वतादिषु भावात्। तेभ्योऽसंख्येयगुणा बादराप्कायिकाः, समुद्रेषु जलप्राभूत्यात्। तेभ्यो बादरवायुकायिका असंख्येयगुणाः, सुषिरे सर्वत्र वायुसंभवात्। तेभ्यो बादरवनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः, प्रतिबादरनिगोदमनन्तानां जीवानां भावात्। तेभ्यः सामान्यतो बादरा जीवा विशेषाधिकाः, बादरत्रसकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात्। गतमेकमौधिकानां बादराणामल्पबहुत्वम्।

इदानीं तेषामेवापर्याप्तानां द्वितीयमाह-

एएसि णं भंते ! बादरा पज्जत्तगाणं बादरपुढविकाइया अपज्जत्तगाणं बादरआउकाइया अपज्जत्तगाणं बादरतेउकाइया अपज्जत्तगाणं बादरवाउकाइया अपज्जत्तगाणं बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगाणं पत्तेयसरीरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगाणं बादरनिगोदा अपज्जत्तगाणं बादरतसकाइया अपज्जत्तगाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतसकाइया अपज्जत्तगा, बादरतेउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरनिगोदा अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरपुढविकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरआउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरवाउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा अणंतगुणा, बादरअपज्जत्तगा विसेसाहिया २।

सर्वस्तोका बादरत्रसकायिका अपर्याप्तकाः, युक्तिरत्र प्रागुक्तैव। तेभ्यो बादरतेजस्कायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात्। इत्येवं प्रागुक्तक्रमेणेदमल्पबहुत्वं भावनीयम्। गतं द्वितीयमल्पबहुत्वम्।

इदानीमेतेषामेव पर्याप्तानां तृतीयमल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं भंते ! बादरपज्जत्तयाणं बादरपुढविकाइया पज्जत्तयाणं बादरआउकाइया पज्जत्तयाणं बादरतेउकाइया पज्जत्तयाणं बादरवाउकाइया पज्जत्तयाणं बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तयाणं पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया पज्जत्तयाणं बादरनिगोदपज्जत्तयाणं बादरतसकाइया पज्जत्तयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतेउकाइया पज्जत्तया, बादरतसकाइया पज्जत्तया असंखेज्जगुणा, पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरनिगोदा पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरपुढविकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरआउकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरवाउकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगा अणंतगुणा, बादरपज्जत्तगा विसेसाहिया ॥ ३ ॥

[illegible]

[illegible]

पज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगा, पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा। एएसि णं भंते ! बादरनिगोदाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरनिगोदा पज्जत्तगा बादरनिगोदा अपज्जत्तगा असंखिज्जगुणा। एएसि णं भंते ! बादरतसकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतसकाइया पज्जत्तगा, बादरतसकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ॥४॥

इह बादरैकैकपर्याप्तनिश्रया असंख्येया बादरा अपर्याप्ता उत्पद्यन्ते। " पज्जत्तगनिस्साए अपज्जत्तगा वक्कमंति जत्थ एगो तत्थ नियमा असंखेज्जा " इति वचनात्। ततः सर्वत्र पर्याप्तेभ्योऽपर्याप्ता असंख्येयगुणा वक्तव्याः। [illegible] भावनीयम्। गतं चतुर्थमल्पबहुत्वम् ।४।

[illegible] समुदितानां पर्याप्तापर्याप्तानां पञ्चममल्पबहुत्वमाह-

एएसि णं भंते ! बादराणं बादरपुढविकाइयाणं बादरआउकाइयाणं बादरतेउकाइयाणं बादरवाउकाइयाणं बादरवणस्सइकाइयाणं पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइयाणं बादरनिगोदाणं बादरतसकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतेउकाइया पज्जत्तगा, बादरतसकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरतसकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरपत्तेयवणस्सइकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरनिगोदा पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरपुढविकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरआउकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरवाउकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरतेउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरनिगोदा अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरपुढविकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरआउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरवाउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा। बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगा अणंतगुणा, बादरा पज्जत्तगा विसेसाहिया, बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरा अपज्जत्तगा विसेसाहिया, बादरा विसेसाहिया ॥

[illegible]

असंख्येयगुणाः। तेभ्यो बादराप्कायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः। तेभ्यो बादरवायुकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः। एतेषु पदेषु युक्तिः प्रागुक्ता अनुसरणीया ॥ तेभ्यो बादरतेजस्कायिका अपर्याप्तका असंख्येयगुणाः, यतो बादरवायुकायिकाः पर्याप्ताः संख्येयेषु प्रतरेषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणाः, बादरतेजस्कायिकाश्चापर्याप्ता असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाः, ततो भवन्त्यसंख्येयगुणाः। ततः प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिकाः, बादरनिगोदाः, बादरपृथिवीकायिकाः, बादराप्कायिकाः, बादरवायुकायिका अपर्याप्ता यथोत्तरमसंख्येयगुणा वक्तव्याः। यद्यपि चैते प्रत्येकमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणास्तथाऽप्यसंख्यातस्यासंख्यातभेदभिन्नत्वादित्थं यथोत्तरमसंख्येयगुणत्वं न विरुध्यते। तेभ्यो बादरवनस्पतिकायिका जीवाः पर्याप्ता अनन्तगुणाः, प्रतिबादरैकैकनिगोदमनन्तानां जीवानां भावात्। तेभ्यः सामान्यतो बादराः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, बादरतेजस्कायिकादीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात्। तेभ्यो बादरवनस्पतिकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणा एकैकपर्याप्तबादरवनस्पतिकायिकनिगोदनिश्रयाः, असंख्येयानामपर्याप्तबादरवनस्पतिकायिकनिगोदानामुत्पादात्। तेभ्यः सामान्यतो बादरा अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, बादरतेजस्कायिकादीनामप्यपर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात्। तेभ्यः पर्याप्तापर्याप्तविशेषणरहिताः सामान्यतो बादरा विशेषाधिकाः, बादरपर्याप्ततेजस्कायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात्। गतानि बादराश्रितान्यपि पञ्च सूत्राणि।

सम्प्रति सूक्ष्मबादरसमुदायगतां पञ्चसूत्रीमभिधित्सुः प्रथमतः औधिकं सूक्ष्मबादरसूत्रमाह–

एएसि णं भंते ! सुहुमाणं सुहुमपुढविकाइयाणं सुहुमआउकाइयाणं सुहुमतेउकाइयाणं सुहुमवाउकाइयाणं सुहुमवणस्सइकाइयाणं सुहुमनिगोदाणं बादराणं बादरपुढविकाइयाणं बादरआउकाइयाणं बादरतेउकाइयाणं बादरवाउकाइयाणं बादरवणस्सइकाइयाणं पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइयाणं बादरनिगोदाणं बादरतसकाइयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतसकाइया १, बादरतेउकाइया असंखेज्जगुणा २, पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया असंखेज्जगुणा ३, बादरनिगोदा असंखिज्जगुणा ४, बादरपुढविकाइया असंखेज्जगुणा ५, बादरआउकाइया असंखेज्जगुणा ६, बादरवाउकाइया असंखेज्जगुणा ७, सुहुमतेउकाइया असंखेज्जगुणा ८, सुहुमपुढविकाइया विसेसाहिया ९, सुहुमआउकाइया विसेसाहिया १०, सुहुमवाउकाइया विसेसाहिया ११, सुहुमनिगोदा असंखेज्जगुणा १२, बादरवणस्सइकाइया अणंतगुणा १३, बादरा विसेसाहिया १४, सुहुमवणस्सइकाइया असंखेज्जगुणा १५, सुहुमा विसेसाहिया १६ ॥

(एएसि णं भंते ! इत्यादि) इह प्रथमं बादरगतमल्पबहुत्वं बादरसूत्र्यां यत्प्रथमं सूत्रं तद्भावनीयं यावद् बादरवायुकायिकपदम्। तदनन्तरं सूक्ष्मगतमल्पबहुत्वम्। ततः सूक्ष्मपञ्चसूत्र्यां यत्प्रथमं सूत्रं तद्वत्, यावत्सूक्ष्मनिगोदविषया। तदनन्तरं बादरवनस्पतिकायिका अनन्तगुणाः, प्रतिबादरनिगोदमनन्तानां जीवानां भावात्। तेभ्यो बादरा विशेषाधिकाः, बादरतेजस्कायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात्। तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका असंख्येयगुणाः, बादरनिगोदेभ्यः सूक्ष्मनिगोदानामसंख्येयगुणत्वात्। तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्मा विशेषाधिकाः, सूक्ष्मतेजस्कायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात्। गतमेकमल्पबहुत्वम्। प्रज्ञा० ३ पद। जी०।

इदानीमेतेषामेवापर्याप्तानां द्वितीयमाह–

एएसि णं भंते ! सुहुमअपज्जत्तयाणं सुहुमपुढविकाइयाणं अपज्जत्तयाणं सुहुमआउकाइयाणं अपज्जत्तयाणं सुहुमतेउकाइयाणं अपज्जत्तयाणं सुहुमवाउकाइयाणं अपज्जत्तयाणं सुहुमवणस्सइकाइयाण अपज्जत्तयाणं सुहुमनिगोदा अपज्जत्तयाणं बादरा अपज्जत्तयाणं बादरपुढविकाइया अपज्जत्तयाणं बादरआउकाइया अपज्जत्तयाणं बादरतेउकाइया अपज्जत्तयाणं बादरवाउकाइया अपज्जत्तयाणं बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तयाणं पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तयाणं बादरनिगोदा अपज्जत्तयाणं बादरतसकाइया अपज्जत्तयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतसकाइया अपज्जत्तगा १, बादरतेउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा २, पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ३, बादरनिगोदा अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ४, बादरपुढविकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ५, बादरआउकाइया अपज्जत्तगा असंखे० ६, बादरवाउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ७, सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा ८, सुहुमपुढविकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया ९, सुहुमआउकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया १०, सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया ११, सुहुमनिगोदा अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा १२, बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा अणंतगुणा १३, बादरा अपज्जत्तगा विसेसाहिया १४, सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा असंखिज्जगुणा १५, सुहुमा अपज्जत्तगा विसेसाहिया १६।

सर्वस्तोका बादरत्रसकायिका अपर्याप्ताः, ततो बादरतेजस्कायिका बादरप्रत्येकवनस्पतिकायिकबादरनिगोदबादरपृथिवीकायिकबादराप्कायिकबादरवायुकायिका अपर्याप्ताः यथोत्तरमसंख्येयगुणाः। अत्र भावना बादरपञ्चसूत्र्यां यद् द्वितीयमपर्याप्तसूत्रं तद्वद्भावनीया। ततो बादरवायुकायिकेभ्योऽसंख्येयगुणाः सूक्ष्मतेजस्कायिका अपर्याप्ताः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात्। तेभ्यः सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः सूक्ष्माप्कायिकाः सूक्ष्मवायुकायिकाः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ता यथोत्तरमसंख्येयगुणाः। अत्र भावना सूक्ष्मपञ्चसूत्र्यां यद् द्वितीयं सूत्रं तद्वत्। तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तेभ्यो बादरवनस्पतिकायिका जीवा अपर्याप्ता अनन्तगुणाः, प्रति-

दरैकैकनिगोदमनन्तानां सद्भावात् । तेभ्यः सामान्यतो बादरा अपर्याप्तका विशेषाधिकाः, बादरत्रसकायिकापर्याप्तादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, बादरनिगोदपर्याप्तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तानामसंख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्मा अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, सूक्ष्मतेजस्कायिकापर्याप्तादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् । गतं द्वितीयमल्पबहुत्वम् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० ।

अधुनैतेषामेव पर्याप्तानां तृतीयमल्पबहुत्वमाह–

एएसि णं भंते ! सुहुमपज्जत्तयाणं सुहुमपुढविकाइयपज्जत्तगाणं सुहुमआउकाइयपज्जत्तगाणं सुहुमतेउकाइयपज्जत्तयाणं सुहुमवाउकाइयपज्जत्तयाणं सुहुमवणस्सइकाइयपज्जत्तयाणं सुहुमनिगोयपज्जत्तयाणं बादरपज्जत्तगाणं बादरपुढविकाइयपज्जत्तयाणं बादरआउकाइयपज्जत्तगाणं बादरआउकाइयपज्जत्तयाणं बादरतेउकाइयपज्जत्तयाणं बादरवाउकाइयपज्जत्तयाणं बादरवणस्सइकाइयपज्जत्तयाणं पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइयपज्जत्तयाणं बादरनिगोदपज्जत्तयाणं बादरतसकाइयपज्जत्तयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतेउकाइया पज्जत्तगा बादरतसकाइया पज्जत्तया असंखिज्जगुणा, पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगा असंखिज्जगुणा, बादरनिगोदा पज्जत्तया असंखिज्जगुणा, बादरपुढविकाइया पज्जत्तया असं०, बादरआउकाइया पज्जत्तया असंखिज्जगुणा, बादरवाउकाइया पज्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहुमतेउकाइया पज्जत्तगा असंखिज्जगुणा, सुहुमपुढविकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमआउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमनिगोदा पज्जत्तया असंखिज्जगुणा, बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तया अणंतगुणा, बादरा पज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमवणस्सइकाइया पज्जत्तगा असंखिज्जगुणा, सुहुमा पज्जत्तया विसेसाहिया ।

(सुहुमपज्जत्तयाणमित्यादि) । सर्वस्तोका बादरतेजस्कायिकाः पर्याप्ताः, तेभ्यो बादरत्रसकायिकाः, बादरप्रत्येकवनस्पतिकायिकाः, बादरनिगोदाः, बादरपृथ्वीकायिकाः, बादराप्कायिकाः, बादरवायुकायिकाः पर्याप्ता यथोत्तरमसंख्येयगुणाः । [illegible] ... तेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः [illegible]

पाधिकाः, बादरतेजस्कायिकादीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् । तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, बादरनिगोदपर्याप्तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदपर्याप्तानामसंख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्माः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, सूक्ष्मतेजस्कायिकादीनामपि पर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् ॥ गतं तृतीयमल्पबहुत्वम् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० ।

इदानीमेतेषामेव सूक्ष्मबादरादीनां प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तानां पृथक् २ मल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं भंते ! सुहुमाणं बादराण य पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरा पज्जत्तगा, बादरा अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, सुहुमा अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, सुहुमा पज्जत्तगा संखेज्जगुणा। एएसि णं भंते ! सुहुमपुढविकाइयाणं बादरपुढविकाइयाण य पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरपुढविकाइया पज्जत्तया, बादरपुढविकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमपुढविकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, सुहुमपुढविकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! सुहुमआउकाइयाणं बादरआउकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरआउकाइया पज्जत्तया बादरआउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमआउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमआउकाइया पज्जत्तगा संखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! सुहुमतेउकाइयाणं बादरतेउकाइयाण य पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतेउकाइया पज्जत्तगा, बादरतेउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा । सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमतेउकाइया पज्जत्ता संखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! सुहुमवाउकाइयाणं बादरवाउकाइयाण य पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरवाउकाइया पज्जत्तया, बादरवाउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा । सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्ज०, सुहुमवाउकाइया पज्जत्तया असंखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! सुहुमवणस्सइकाइयाणं बादरवणस्सइकाइयाण य पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तया, बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहुमवणस्सइकाइया पज्जत्तया संखिज्जगुणा । एएसि णं भंते ! सुहुमनिगोदाणं बादरनिगोदाण य पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरनिगोदा पज्जत्तया, बादरनिगोदा अ-

पज्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहुमनिगोदा अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा, सुहुमनिगोदा पज्जत्तया संखिज्जगुणा ॥

सर्वत्रेयं भावना-सर्वस्तोका बादराः पर्याप्ताः,परिमितक्षेत्रवर्तित्वात् । तेभ्यो बादरा अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, एकैकबादरपर्याप्तनिश्रया असंख्येयानां बादरपर्याप्तानामुत्पादात् । तेभ्यः सूक्ष्मा अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, सर्वलोकोत्पत्तितया तेषां क्षेत्रस्यासंख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः सूक्ष्माः पर्याप्तकाः संख्येयगुणाः,चिरकालावस्थायितया तेषां सदैव संख्येयगुणतयाऽवाप्यमानत्वात् । गतं चतुर्थमल्पबहुत्वम् ॥

इदानीमेतेषामेव सूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनां बादरपृथिवीकायिकादीनां च प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तानां च समुदायेन पञ्चममल्पबहुत्वमाह-

एएसि णं भंते ! सुहुमाणं सुहुमपुढविकाइयाणं सुहुमआउकाइयाणं सुहुमतेउकाइयाणं सुहुमवाउकाइयाणं सुहुमवणस्सइकाइयाणं सुहुमनिगोदाणं बादराणं बादरपुढविकाइयाणं बादरआउकाइयाणं बादरतेउकाइयाणं बादरवाउकाइयाणं बादरवणस्सइकाइयाणं पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइयाणं बादरनिगोदाणं बादरतसकाइयाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा बादरतेउकाइया पज्जत्तया १, बादरतसकाइया पज्जत्तया असंखिज्जगुणा २, बादरतसकाइया अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा ३, पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया पज्जत्तया असंखिज्जगुणा ४, बादरनिगोदा पज्जत्तया असंखिज्जगुणा ५, बायरपुढविकाइया पज्जत्तया असंखेज्जगुणा ६, बादरआउकाइया पज्जत्तगा असंखिज्जगुणा ७, बादरवाउकाइया पज्जत्तगा असंखिज्जगुणा ८, बादरतेउकाइया अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा ९, पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तया असंखिज्ज० १०, बादरनिगोदा अपज्जत्तया असंखे० ११, बादरपुढविकाइया अपज्जत्तया असंखे० १२, बादरआउकाइया अपज्जत्तया असंखे० १३, बादरवाउकाइया अपज्जत्तया असंखे० १४, सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा १५, सुहुमपुढविकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया १६, सुहुमआउकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया १७, सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तया विसेसाहिया १८, सुहुमतेउकाइया पज्जत्तया संखि० १९, सुहुमपुढविकाइया पज्जत्तया विसेसाहिया २०, सुहुमआउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया २१, सुहुमवाउकाइया पज्जत्तया विसेसाहिया २२, सुहुमनिगोदा अपज्जत्तया असंखे० २३, सुहुमनिगोदा पज्जत्तया संखे० २४, बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तया अणंतगुणा २५, बादरा पज्जत्ता विसेसाहिया २६, बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा असंखिज्जगुणा २७, बादरा अपज्जत्तगा विसेसाहिया २८, बादरा विसेसाहिया २९, सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा असंखि० ३०, सुहुमा अपज्जत्तगा विसेसाहिया ३१, सुहुमवणस्सइकाइया पज्जत्तगा असंखे० ३२, सुहुमा पज्जत्तगा विसेसाहिया ३३, सुहुमा विसेसाहिया ३४ ।

(एएसि णं भंते ! सुहुमाणं सुहुमपुढविकाइयाणमित्यादि) सर्वस्तोका बादरतेजस्कायिकाः पर्याप्ताः, आवलिकासमयवर्गकतिपयसमयन्यूनैरावलिकासमयैर्गुणिते यावान् समयराशिस्तावत्प्रमाणत्वात् तेषाम् १ । तेभ्यो बादरत्रसकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, प्रतरे यावन्त्यङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणत्वात्तेषाम् २ । तेभ्यो बादरत्रसकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, प्रतरे यावन्त्यङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणत्वात्तेषाम् ३ । ततः प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिक ४ बादरनिगोद ५ बादरपृथ्वीकायिक ६ बादराप्कायिक ७ बादरवायुकायिकाः ८ पर्याप्ता यथोत्तरमसंख्येयगुणाः । यद्यप्येते प्रत्येकं प्रतरे यावन्त्यङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि खण्डानि तावत्प्रमाणास्तथाप्यङ्गुलासंख्येयभागस्यासंख्येयभेदभिन्नत्वादित्थं यथोत्तरमसंख्येयगुणत्वमभिधीयमानं न विरुध्यते । ततोऽन्ये बादरतेजस्कायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् ९ । ततः प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिक १० बादरनिगोद ११ बादरपृथिवीकायिक १२ बादराप्कायिक १३ बादरवायुकायिका अपर्याप्ता यथोत्तरमसंख्येयगुणाः १४, ततो बादरवायुकायिकेभ्योऽपर्याप्तेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः १५, ततः सूक्ष्मपृथिवीकायिक १६ सूक्ष्माप्कायिक १७ सूक्ष्मवायुकायिका अपर्याप्ता यथोत्तरं विशेषाधिकाः १८ । ततः सूक्ष्मतेजस्कायिकाः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः, सूक्ष्मेष्वपर्याप्तेभ्यः पर्याप्तानामोघत एव संख्येयगुणत्वात् १९ । ततः सूक्ष्मपृथिवीकायिक २० सूक्ष्माप्कायिक २१ सूक्ष्मवायुकायिकाः पर्याप्ता यथोत्तरं विशेषाधिकाः २२ । तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, तेषामतिप्रभूततया सर्वलोकेषु भावात् २३ । तेभ्यः सूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्तकाः संख्येयगुणाः, सूक्ष्मेष्वपर्याप्तेभ्यः पर्याप्तानामोघत एव सदा संख्येयगुणत्वात् । यदि च बादरवायुकायिकापर्याप्तेभ्यः पर्याप्तसूक्ष्मनिगोदपर्यवसानाः सामान्यतः प्रत्येकपदार्थाः असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणा उक्ताः, तथाप्यसंख्येयस्यासंख्येयभेदभिन्नत्वादित्थमसंख्येयगुणत्वं विशेषाधिकत्वं संख्येयगुणत्वं च प्रतिपाद्यमानं न विरुध्यते २४ । तेभ्यः पर्याप्तसूक्ष्मनिगोदेभ्यो बादरवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता अनन्तगुणाः, प्रतिबादरनिगोदमनन्तानां जीवानां भावात् २५ । तेभ्यः सामान्यतो बादराः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, बादरपर्याप्ततेजस्कायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् २६ । तेभ्यो बादरवनस्पतिकायिका अपर्याप्तका असंख्येयगुणाः, एकैकपर्याप्तबादरनिगोदनिश्रया असंख्येयानां बादरनिगोदानामपर्याप्तानामुत्पादात् २७ । तेभ्यः सामान्यतो बादरा अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, बादरतेजस्कायिकादीनामपर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् २८ । तेभ्यः सामान्यतो बादरा विशेषाधिकाः, पर्याप्तानामपि तत्र प्रक्षेपात् २९ । तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, बादरनिगोदेभ्यः सूक्ष्मनिगोदानामपर्याप्तानामसंख्येयगुणत्वात् ३० । ततः सामान्यतः सूक्ष्मा अपर्याप्तका विशेषाधिकाः, सूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनामप्यपर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् ३१ । तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, सूक्ष्मवनस्पतिकायिकापर्याप्तेभ्यो हि सूक्ष्मवनस्पतिकायिकपर्याप्तानां सं-

[illegible] पर्याप्तानां संख्येयगुणत्वात्। [illegible] विशेषाधिकायस्य संख्ये- [illegible] १२। तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्माः पर्याप्ता [illegible] पर्याप्त [illegible] दीनामपि तत्र प्रवे- [illegible] ११। [illegible] सूक्ष्माः पर्याप्तापर्याप्तविशेषणर- [illegible] नामपि तत्र प्रवेशात् १४। गतं [illegible] तन्नो समर्थितानि [illegible] । इति गतं [illegible] । प्रज्ञा० ३ पद। [illegible] । जी० ३ प्रति०।

([illegible] 'किरिया' शब्दे दर्शयते)

(११) [[illegible]] [illegible] जीवाः स्तोकाः कतिमन् वा [illegible]

[illegible] जीवा बहुलोयतिरियलोए [illegible] विसेसाहिया, तिरियलोए असंखि- [illegible] , असंखेज्जगुणा, [illegible] विसेसाहिया ।

[illegible]

शाश्वतं यत्र तिर्यग्लोकस्य सर्वोपरितनमेकं प्रादेशिकं प्रदेशप्रतरमेतद्द्वयमध्याधोलोकतिर्यग्लोक [illegible] प्रवचनप्रसिद्धेः। तत्र ये विग्रहगत्या तत्स्थाना वा [illegible] विशेषाधिकाः। कथमिति चेत् ?, उच्यते-इह ये [illegible] र्यग्लोके तिर्यग्लोकादधोलोके ईलिकागत्या [illegible] मभिहितं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति; ये च तत्रस्थ [illegible] प्रतरद्वयमध्यासीना वर्तन्ते ते विवक्षितप्रतरद्वय [illegible] पुनरधोलोकादूर्ध्वलोके समुत्पद्यमानास्तत्प्रतरद्वयं स्पृशन्ति न परिगृह्यन्ते, तेषां सूत्रान्तरविषयत्वात्। [illegible] लोके विशेषाधिकाः, इत्यधोलोकात्तिर्यग्लोके ईलिकागत्या [illegible] मुत्पद्यमाना ऊर्ध्वलोकात्तथा विशेषाधिका [illegible] शेषाधिकाः २। तेभ्यस्तिर्यग्लोकवर्तिनोऽसंख्येयगुणाः, [illegible] द्विकात्तिर्यग्लोके क्षेत्रस्यासंख्येयगुणत्वात् ३। तेभ्य [illegible] लोकसंस्पर्शिनोऽसंख्येयगुणाः, इह ये केवलं ऊर्ध्व [illegible] लोके तिर्यग्लोके वा वर्तन्ते, ये च विग्रहगत्या [illegible] लोकौ स्पृशन्ति ते न गण्यन्ते, किन्तु ये विग्रहगत्या [illegible] लोकान् स्पृशन्ति ते परिगृह्यन्ते, सूत्रस्य विशेषविषय [illegible] च तिर्यग्लोकवर्तिभ्योऽसंख्येयगुणा यत्र। [illegible] उच्यते-इह बहवः प्रतिसमयमूर्ध्वलोके [illegible] निगोदा वर्तन्ते, ये तु तिर्यग्लोकवर्तिनः [illegible] न्ते, ते अधोलोके ऊर्ध्वलोके वा केचित् [illegible] ग्लोके समुत्पद्यन्ते, ततो न ते लोकत्रयसंस्पर्शिन [illegible] नस्पर्शित्वाः तथोर्ध्वलोकाधोलोकगतानां [illegible] मुत्पद्यमानानां मध्ये केचित् [illegible] एव [illegible] वा समुत्पद्यन्ते, केचित् तिर्यग्लोके, [illegible] लोकगता ऊर्ध्वलोके, ऊर्ध्वलोकगता अधोलोके समुत्प [illegible] च तथोत्पद्यमानास्त्रीनपि लोकान् स्पृशन्तीत्यसंख्येयगुणा [illegible] पुनरनन्तगुणा इति यावत् एवंप्रमाणा वस्था जीवा [illegible] लभ्यन्ते ?, इति चेत्, उच्यते-युक्तिवशात् [illegible] हि-प्रज्ञापनायामेव सूत्रं पर्याप्तद्वारे-" [illegible] वा [illegible] , [illegible] अणंतगुणा, [illegible] गुणा " इति। तत्र [illegible] , [illegible] संख्येयगुणा एव नासंख्येयगुणाः; [illegible] वर्तमाना [illegible] इति [illegible] संख्येयगुणाः, [illegible] न। [illegible] विशेषाधिकाः, [illegible] विशेषाधिकत्वात्। [illegible] सामान्यतः [illegible] अल्पबहुत्वम्।

[illegible] सिद्धिक [illegible] माह-

[illegible] विसेसाहिया [illegible] , [illegible] असंखेज्जगुणा [illegible]

[illegible]

कालमेव नरकेषूत्पन्ने नारकायुष्कप्रतिसंवेदनात्। ते चैवंभूताः कतिपय इति सर्वस्तोकाः । अन्ये तु व्याचक्षते-नारका एव यथोक्तप्रापीषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यमानाः समुद्घातवशतो विक्षिप्तनिजात्मप्रदेशदण्डाः परिगृह्यन्ते । ते हि किल तदा नारका एव निर्विवादं तदायुष्कप्रतिसंवेदनात् त्रैलोक्यसंस्पर्शिनश्च यथोक्तवापीषु स्वात्मप्रदेशदण्डस्य विक्षिप्तत्वादिति। तेभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोकसंज्ञाः प्राग्युक्तप्रतरद्वयस्य संस्पर्शिनोऽसंख्येयगुणाः, यतो बहवोऽसंख्येयेषु द्वीपसमुद्रेषु पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिका नरकेषूत्पद्यमाना यथोक्तप्रतरद्वयं स्पृशन्ति, ततो भवन्ति पूर्वोक्तेभ्योऽसंख्येयगुणाः, क्षेत्रस्यासंख्यातगुणत्वात् । मन्दरादिक्षेत्राद्यसंख्येयद्वीपसमुद्रात्मकं क्षेत्रमसंख्येयगुणमित्यतो भवन्त्यसंख्येयगुणाः । अन्ये त्वभिदधति-नारका एवासंख्येयेषु द्वीपसमुद्रेषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियतयोत्पद्यमाना मारणान्तिकसमुद्घातेन विक्षिप्तनिजात्मप्रदेशदण्डा द्रष्टव्याः। ते हि नारकायुःप्रतिसंवेदना नारका उद्वर्तमाना अप्यसंख्येयाः प्राप्यन्ते, इति प्रागुक्तेभ्योऽसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽधोलोकेऽसंख्येयगुणाः, तस्य तेषां स्वस्थानत्वात् । उक्तं नारकगतिमधिकृत्य क्षेत्रानुपातेनाऽल्पबहुत्वम् ।

इदानीं तिर्यग्गतिमधिकृत्याऽऽह-

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तिरिक्खजोणिया उड्ढलोयतिरियलोए अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, उड्ढलोए असंखिज्ज०, अहोलोए विसेसाहिया ॥

इदं सर्वमपि सामान्यतो जीवसूत्रमिव भावनीयम् । तदपि *तिरश्च एव सूक्ष्मनिगोदानधिकृत्य भावितम् ।*

अधुना तिर्यग्योनिकस्त्रीविषयमल्पबहुत्वमाह—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तिरिक्खजोणिणीओ उड्ढलोयतिरियलोए असंखेज्ज०, तेलुक्के असंखेज्ज०, अहोलोयतिरियलोए संखिज्जगुणाओ, अहोलोए संखेज्जगुणाओ, तिरियलोए संखिज्जगुणाओ ।

क्षेत्रानुपातेन तिर्यग्योनिकाः स्त्रियश्चिन्त्यमानाः सर्वस्तोका ऊर्ध्वलोके, इह मन्दरादिवापीप्रभृतिष्वपि हि पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः स्त्रियो भवन्ति, ताश्च क्षेत्रस्याऽल्पत्वात् सर्वस्तोकाः । ताश्च ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोकसंज्ञे प्रतरद्वये वर्तमाना असंख्येयगुणाः । कथमिति चेत् ?, उच्यते-यावत्सहस्रारदेवलोकस्तावद्देवा अपि गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रिययोनिषूत्पद्यन्ते, किं पुनः शेषकायाः ?। ते हि यथासंभवमुपरिवर्तिनोऽपि तत्रोत्पद्यन्ते ; ततो ये सहस्रारान्ता देवा अन्येऽपि च शेषकाया ऊर्ध्वलोकात्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्त्रीत्वेन तदायुःप्रतिसंवेदयमाना उत्पद्यन्ते,याः तिर्यग्लोकवर्तिन्यस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्त्रिय ऊर्ध्वलोके देवत्वेन शेषकायत्वेन चोत्पद्यमाना मारणान्तिकसमुद्घातेनोत्पत्तिदेशे निजनिजात्मकप्रदेशदण्डान् विक्षिपन्ति,ता यथोक्तप्रतरद्वयं स्पृशन्ति । तिर्यग्योनिकाः स्त्रियश्च ताः ततोऽसंख्येयगुणाः, क्षेत्रस्याऽसंख्येयगुणत्वात् । ताभ्यस्त्रैलोक्ये संख्येयगुणाः, यस्मादधोलोकाद्भवनपतिव्यन्तरनारकाः शेषकाया अपि चोर्ध्वलोकेऽपि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्त्रीत्वेनोत्पद्यन्ते।ऊर्ध्वलोकाद्देवादयोऽप्यधोलोके च ते समवहता निजनिजात्मप्रदेशदण्डैस्त्रीनपि लोकान् स्पृशन्ति। प्रभूताश्च ते तथा तिर्यग्योनिकस्त्र्यायुःप्रतिसंवेदनात्। तिर्यग्योनिकाः स्त्रियश्च ततः संख्येयगुणाः ।३। ताभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोकसंज्ञे प्रतरद्वये वर्तमानाः संख्येयगुणाः, बहवो हि नारकादयः समुद्घातमन्तरेणाऽपि तिर्यग्लोके तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्त्रीत्वेनोत्पद्यन्ते । तिर्यग्लोकवर्तिनश्च जीवास्तिर्यग्योनिकस्त्रीत्वेनाऽधोलौकिकग्रामेष्वपि च ते, च तथोत्पद्यमाना यथोक्तं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति । तिर्यग्योनिकस्त्र्यायुःप्रतिसंवेदनाच्च तिर्यग्योनिकस्त्रियोऽपि तथाऽधोलौकिकग्रामा योजनसहस्रावगाहाः पर्यन्तेऽर्वाक् कश्चित्प्रदेशो नवयोजनशतावगाहा अपि तत्र काश्चित्तिर्यग्योनिकस्त्रियोऽवस्थानेनाऽपि यथोक्तप्रतरद्वयाध्यासिन्यो वर्तन्ते, ततो भवन्ति पूर्वोक्ताभ्यः संख्येयगुणाः ।४। ताभ्योऽधोलोके संख्येयगुणाः, यतोऽधोलौकिकग्रामाः सर्वेऽपि च समुद्रा योजनसहस्रावगाहाः, ततो नवयोजनशतानामधस्ताद् या वर्तन्ते मत्स्यीप्रभृतिकाः तिर्यग्योनिकस्त्रियस्ताः स्वस्थानत्वात् प्रभूता इति संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्य संख्येयगुणत्वात् । ताभ्यस्तिर्यग्लोके संख्येयगुणाः । उक्तं *तिर्यग्गतिमप्यधिकृत्याल्पबहुत्वम् ।*

इदानीं मनुष्यगतिविषयमाह—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा मणुस्सा तेलुक्के उड्ढलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए संखिज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखिज्जगुणा ।

क्षेत्रानुपातेन मनुष्याश्चिन्त्यमानाः त्रैलोक्ये त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः सर्वस्तोकाः,यतो ये ऊर्ध्वलोकादधोलौकिकग्रामेषु समुत्पित्सवो मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहता भवन्ति, ते केचित्समुद्घातवशाद्बहिर्निर्गतैः स्वात्मप्रदेशैस्त्रीनपि लोकान् स्पृशन्ति, येऽपि च वैक्रियसमुद्घातमाहारकसमुद्घातं वा गताः तथाविधप्रयत्नविशेषाद्दूरतरमूर्ध्वमधो विक्षिप्तात्मप्रदेशाः, ये च केवलिसमुद्घातंगतास्तेऽपि त्रीनपि लोकान् स्पृशन्ति । स्तोकाश्चेति सर्वस्तोकाः,ते-भ्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोके ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोकसंज्ञे प्रतरद्वयसंस्पर्शिनोऽसंख्येयगुणाः,यत इह वैमानिकदेवाः शेषकायाश्च यथासंभवमूर्ध्वलोकात्तिर्यग्लोके मनुष्यत्वेन समुत्पद्यमाना यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शिनो भवन्ति। विद्याधराणामपि च मन्दरादिषु गमनं, तेषां च शुक्ररुधिरादिपुद्गले संमूर्च्छिममनुष्याणामुत्पाद इति,ते विद्याधरा रुधिरादिपुद्गलसंमिश्रा मन्दरं गच्छन्ति । तथा संमूर्च्छिममनुष्या अपि यथोक्तप्रतरद्वयस्पर्शयन्त उपजायन्ते,ते चातिबहव इत्यसंख्येयगुणाः,तेभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोके अधोलोकतिर्यग्लोकसंज्ञे प्रतरद्वये संख्येयगुणाः,यतोऽधोलौकिकग्रामेषु स्वभावत एव बहवो मनुष्याः, ततो ये तिर्यग्लोकान्मनुष्येभ्यः शेषकायेभ्यो वाऽधोलौकिकग्रामेषु गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्यत्वेन संमूर्च्छिममनुष्यत्वेन वा समुत्पित्सवो ये वाऽधोलोकादधोलौकिकग्रामरूपात् शेषाद्वा मनुष्येभ्यः शेषकायेभ्यो वा तिर्यग्लोके गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्यत्वेन वा संमूर्च्छिममनुष्यत्वेन वा समुत्पत्तुकामास्ते यथोक्तं किल प्रतरद्वयं स्पृशन्ति, बहुतराश्च ते तथा स्वस्थानतोऽपि केचिदधोलौकिकग्रामेषु यथोक्तप्रतरद्वयस्पर्शिन इति प्रागुक्तेभ्योऽसंख्येयगुणाः, तेभ्य ऊर्ध्वलोके संख्येयगुणाः, सौमनसादिषु क्रीडार्थं चैत्यवन्दननिमित्तं वा प्रभूततराणां विद्याधरचारणमुनीनां भावात् । तेषां च यथायोगं रुधिरादिपुद्गलयोगतः संमूर्च्छिममनुष्यसंभवात् । तेभ्योऽधोलोके संख्येयगुणाः, स्वस्थानत्वेन बहुत्वभावात् । तेभ्यस्तिर्यग्लोके संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्य संख्येयगुणत्वात्स्वस्थानत्वाच्च ।

सम्प्रति क्षेत्रानुपातेन मानुषीविषयमल्पबहुत्वमाह-

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवाओ माणुसीओ तेलुक्के उड्ढलोय-तिरियलोए संखेज्जगुणाओ, अहोलोयतिरियलोए संखेज्जगुणाओ, उड्ढलोए संखेज्जगुणाओ, अहोलोए संखेज्ज०, तिरियलोए संखेज्ज० ॥

क्षेत्रानुपातेन मानुष्यश्चिन्त्यमानाः सर्वस्तोकास्त्रैलोक्यस्पर्शिन्य ऊर्ध्वलोकादधोलोके समुत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातवशविनिर्गतदूरतरात्मप्रदेशानामथवा वैक्रियसमुद्घातगतानां केवलिसमुद्घातगतानां वा त्रैलोक्यसंस्पर्शिन्यः तासां चातिस्तोकत्वमिति सर्वस्तोकाः तास्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोके ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोकसंज्ञे प्रतरद्वये संख्येयगुणाः, वैमानिकदेवानां द्वीपकानां चोर्ध्वलोकात्तिर्यग्लोके मनुष्यस्त्रीत्वेनोत्पद्यमानानां तथा तिर्यग्लोकगतमनुष्यस्त्रीणामूर्ध्वलोके समुत्पित्सूनां मारणान्तिकसमुद्घातवशाद् दूरतरमूर्ध्वविक्षिप्तात्मप्रदेशानामद्यापि स्वायुरनुभवन्तीनां यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शनभावात्, तासां चोभयासामपि बहुतरत्वात् । ताभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोके प्राग्उक्तस्वरूपप्रतरद्वयरूपे संख्येयगुणाः, तिर्यग्लोकान्मनुष्यस्त्रीभ्य इतरेभ्यो वाऽधोलौकिकग्रामेषु यदि वाऽधोलौकिकग्रामरूपात् स्थानात् तिर्यग्लोके मनुष्यस्त्रीत्वेनोत्पित्सूनां तासां चाधोलौकिकग्रामेष्ववस्थानतोऽपि यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शसंभवात्, तासां च प्राक्तनीभ्योऽतिबहुत्वात् । ताभ्योऽप्यूर्ध्वलोके संख्येयगुणाः, क्रीडार्थं चैत्यवन्दनानिमित्तं वा सौमनसादिषु प्रभूततराणां विद्याधरीणां संभवात् । ताभ्योऽपि अधोलोके संख्येयगुणाः, स्वस्थानत्वेन तत्रापि बहुतराणां भावात् । ताभ्यस्तिर्यग्लोके संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्यासंख्येयगुणत्वात्, स्वस्थानत्वाच्च । गतं मनुष्यगतिमधिकृत्याल्पबहुत्वम् ।

इदानीं देवगतिमधिकृत्याऽऽह-

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा उड्ढलोए उड्ढलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, अहोलोए तिरियलोए असंखेज्ज० । अहोलोए संखिज्जगुणाओ, तिरियलोए संखिज्जगुणाओ ॥

क्षेत्रानुपातेन चिन्त्यमाना देवाः सर्वस्तोकाः, ऊर्ध्वलोके [illegible]

[illegible]

कसंज्ञे प्रतरद्वये. वर्तमानाः संख्येयगुणाः । तद्धि-अर्थोऽयं भवनपतिव्यन्तरदेवानां प्रत्यासन्नतया स्वस्थानं, तथा बहवो भवनपतयः स्वस्थानस्थास्तिर्यग्लोकगमागमेन तथोर्ध्वलोकतः तथा वैक्रियसमुद्घातेन समवहतास्तथा तिर्यग्लोकवर्तिनः पञ्चेन्द्रियमनुष्या वा भवनपतित्वेनोत्पद्यमाना भवनपत्यायुरनुभवन्तो यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शिनोऽतिबहव इति संख्येयगुणाः । तेभ्योऽधोलोके संख्येयगुणाः, भवनपतीनां स्वस्थानमिति कृत्वा तेभ्यस्तिर्यग्लोके संख्येयगुणाः, ज्योतिष्कव्यन्तराणां स्वस्थानत्वात् ।

अधुना देवीरधिकृत्याल्पबहुत्वमाह-

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवाओ देवीओ उड्ढलोए उड्ढलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणाओ, तेलुक्के संखेज्जगुणाओ, अहोलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणाओ, अहोलोए संखेज्जगुणाओ, तिरियलोए संखेज्जगुणाओ ॥

सर्वं देवसूत्रमिवाऽविशेषेण भावनीयम् । तदेवमुक्तं देवविषयमोघिकमल्पबहुत्वम् ।

इदानीं भवनपत्यादिविशेषविषयं प्रतिपिपादयिषुः प्रथमं भवनपतिविषयमाह—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा भवणवासी देवा उड्ढलोए उड्ढलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणाओ, तेलुक्के संखिज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, तिरियलोए असंखिज्जगुणा, अहोलोए असंखेज्ज० । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा भवणवासिणीओ देवीओ उड्ढलोए तिरियलोए असंखि०, तेलुक्के संखेज्जगुणाओ, अहोलोए तिरियलोए असंखेज्ज०, तिरियलोए असंखिज्ज०, अहोलोए असंखिज्ज० ॥

क्षेत्रानुपातेन भवनवासिनो देवाश्चिन्त्यमानाः सर्वस्तोका ऊर्ध्वलोके, तथाहि-केषाञ्चित् सौधर्मादिष्वपि कल्पेषु पूर्वसाङ्गतिकनिश्रया गमनं भवति । केषाञ्चिन्मन्दरे तीर्थकरजन्ममहिमानिमित्तम्, अञ्जनदधिमुखेऽष्टाह्निकानिमित्तम्, अपरेषां मन्दरादौ क्रीडानिमित्तं गमनम् । एते च सर्वेऽपि स्वल्पा इति सर्वस्तोकाः । ऊर्ध्वलोके तेभ्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोकसंज्ञे प्रतरद्वयेऽसंख्येयगुणाः, कथमिति चेत् ? उच्यते-इह हि तिर्यग्लोकस्था वैक्रियसमुद्घातेन समवहता ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोके च स्पृशन्ति, यथा ते तिर्यग्लोकस्था एव मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहता ऊर्ध्वलोके सौधर्मादिषु देवलोकेषु बादरपर्याप्तपृथिवीकायिकतया बादरपर्याप्ताप्कायिकतया बादरपर्याप्तवनस्पतिकायिकतया च शुभेषु मणिविमानादिषु स्थानेषूत्पत्स्यमानाः, यद्यपि स्वभवायुःप्रतिसंवेदयमाना न पारभविक पूर्वकायिकायायुः द्विविधा हि मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहताः [illegible] प्रतिसंवेदयन्ति, केचनेति । तथा चोक्तं प्रज्ञप्तौ-"जीवे णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहए समोहणित्ता जे भविए मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं बायरपुढविकाइयत्ताए उववज्जित्तए, से णं भंते ! किं तत्थ गए उववज्जेज्जा ? उदाहु पडिनियत्तित्ता ? गोयमा ! अत्थेगइए तत्थ गए उववज्जइ, अत्थेगइए तओ पडिनियत्तइ, [illegible]

पि मारणंतियसमुग्घाएणं समोहणंति, समोहणित्ता तओ पच्छा चयवउज्जइ त्ति" स्वभावायुःप्रतिसंवेदनाच्च ते भवनवासिन एव लभ्यन्ते। ते इत्थंभूता वरपत्तिदेशे विक्षिप्तात्मप्रदेशदण्डास्तथा ऊर्ध्वलोकगमनागमनतस्तत्प्रतरद्वयप्रत्यासन्नक्रीडास्थानाच्च यथोक्तं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति। ततः प्रागुक्तेभ्योऽसंख्येयगुणाः,तेभ्यस्त्रैलोक्ये त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः संख्येयगुणाः, यतो ये ऊर्ध्वलोके तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया भवनपतित्वेनोत्पत्तुकामाः, ये च स्वस्थाने वैक्रियसमुद्घातेन मारणान्तिकप्रथमसमुद्घातेन वा तथाविधतीव्रप्रयत्नविशेषेण समवहतास्ते त्रैलोक्यसंस्पर्शिन इति संख्येयगुणाः, परस्थानसमवहतेभ्यः स्वस्थानसमवहतानां संख्येयगुणत्वात् । तेभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोके अधोलोकतिर्यग्लोकसंज्ञे प्रतरद्वयेऽसंख्येयगुणाः; स्वस्थानप्रत्यासन्नतया तिर्यग्लोके गमनागमनभावतः स्वस्थानस्थितक्रोधादिसमुद्घातगमनतश्च बहूनां यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शभावात्। तेभ्यः तिर्यग्लोकेऽसंख्येयगुणाः, समवसरणादौ वन्दननिमित्त द्वीपेषु च रमणीयेषु क्रीडानिमित्तमागमसम्भवादागतानां च चिरकालमव्यवस्थानात् । तेभ्योऽधोलोकेऽसंख्येयगुणाः, भवनवासिनामधोलोकस्य स्वस्थानत्वात् । एवं भवनवासिदेवीगतमल्पबहुत्वं भावनीयम् ।

सम्प्रति व्यन्तरगतमल्पबहुत्वमाह—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा जोइसिया देवा उड्ढलोए, उड्ढलोयतिरियलोए असंखिज्ज०, तेलुक्के संखेज्जगुणा,अहोलोयतिरियलोए असंखिज्जगुणा,अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए असंखेज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा जोइसिणीओ देवीओ उड्ढलोए, उड्ढलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणाओ, तेलुक्के संखेज्जगुणाओ, अहोलोयतिरियलोए असंखेज्ज०, अहोलोए संखि०, तिरियलोए असंखे० ॥

क्षेत्रानुपातेन ज्योतिष्काश्चिन्त्यमानाः सर्वस्तोकाः ऊर्ध्वलोके, केषाञ्चिदेव मन्दरे तीर्थंकरजन्ममहोत्सवनिमित्तम्, अञ्जनदधिमुखपर्वतादिषु अष्टाह्निकानिमित्तम्,अपरेषां केषाञ्चिद् मन्दरादिषु क्रीडानिमित्तं गमनसंभवात् । तेभ्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोके प्रतरद्वयरूपेऽसंख्येयगुणाः, यद्धि प्रतरद्वयं केचित्स्वस्थाने स्थिता अपि स्पृशन्ति, प्रत्यासन्नत्वात्। अपरे वैक्रियसमुद्घातसमवहताः, अन्ये ऊर्ध्वलोके गमनागमनभावतस्ततोऽधिकृतप्रतरद्वयस्पर्शिनः पूर्वोक्तेभ्योऽसंख्येयगुणाः। तेभ्यस्त्रैलोक्ये त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः संख्येयगुणाः। ये हि ज्योतिष्कास्तथाविधतीव्रप्रयत्नवैक्रियसमुद्घातेन समवहतास्त्रीनपि लोकान् स्वप्रदेशैः स्पृशन्ति,ते स्वभावतोऽप्यतियदव इति पूर्वोक्तेभ्यः संख्येयगुणाः। तेभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोके प्रतरद्वये वर्तमाना असंख्येयगुणाः,यतो बहवोऽधोलौकिकग्रामेषु समवसरणादिनिमित्तम्, अधोलोके क्रीडानिमित्तं गमनागमनभावतो बहवश्चाऽधोलोका ज्योतिष्केषु समुत्पद्यमाना यथोक्तं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति, ततो घटन्ते पूर्वोक्तेभ्योऽसंख्येयगुणाः, तेभ्यः संख्येयगुणाः, अधोलोके, बहूनामधोलोके क्रीडानिमित्तमधोलौकिकग्रामेषु समवसरणादिषु चिरकालमवस्थानात् । तेभ्योऽसंख्येयगुणास्तिर्यग्लोके, तिर्यग्लोकस्य तेषां स्वस्थानत्वात् । एवं ज्योतिष्कदेवीसूत्रमपि भावनीयम् ।

सम्प्रति वैमानिकदेवविषयमल्पबहुत्वमाह—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वेमाणिया देवा उड्ढलोयतिरियलोए, तेलुक्के संखेज्ज०, अहोलोयतिरियलोए संखिज्ज०, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखेज्ज०, उड्ढलोए असंखिज्ज० । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवाओ वेमाणिणीओ देवीओ उड्ढलोयतिरियलोए, तेलुक्के संखेज्जगुणाओ, अहोलोयतिरियलोए संखिज्ज०, अहोलोए संखेज्ज०, तिरियलोए संखेज्ज०, उड्ढलोए असंखे० ॥

क्षेत्रानुपातेन क्षेत्रानुसारेण चिन्त्यमाना वैमानिका देवाः सर्वस्तोका ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोकसंज्ञे प्रतरद्वये, यतो ये अधोलोके तिर्यग्लोके वा वर्तमाना जीवा वैमानिकेषूत्पद्यन्ते, ये च तिर्यग्लोके वैमानिका गमनागमनं कुर्वन्ति, ये च विवक्षितप्रतरद्वयाध्यासिनः क्रीडास्थानं संश्रिताः,ये च तिर्यग्लोके स्थिता एव वैक्रियसमुद्घातमारणान्तिकसमुद्घातं वा कुर्वाणास्तथाविधप्रयत्नविशेषादूर्ध्वमात्मप्रदेशदण्डं निसृजन्ति, ते विवक्षितं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति । ते चाल्प इति सर्वस्तोकाः। तेभ्यस्त्रैलोक्ये संख्येयगुणाः। कथमिति चेद् ?, उच्यते-इह येऽधोलौकिकग्रामेषु समवसरणादिनिमित्तमधोलोके वा क्रीडानिमित्तं गताः सन्तो वैक्रियसमुद्घातं मारणान्तिकसमुद्घातं वा कुर्वाणास्तथाविधप्रयत्नविशेषाद् दूरतमूर्ध्वं विक्षिप्तात्मप्रदेशदण्डाः, ये च वैमानिकभवादीलिकागत्या च्यवमाना अधोलौकिकग्रामेषु समुत्पद्यन्ते, ते किल त्रीनपि लोकान् स्पृशन्ति । बहवश्च पूर्वोक्तेभ्य इति संख्येयगुणाः। तेभ्योऽपि अधोलोकतिर्यग्लोके प्रतरद्वयसंज्ञे संख्येयगुणाः, अधोलौकिकग्रामेषु समवसरणादौ गमनागमनभावतो विवक्षितप्रतरद्वयाध्यासिनः समवसरणादौ वाऽवस्थानतो बहूनां यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शभावात् । तेभ्योऽधोलोके संख्येयगुणाः, अधोलौकिकग्रामेषु बहूनां समवसरणादावस्थानाभावात् । तेभ्यस्तिर्यग्लोके संख्येयगुणाः, बहुषु समवसरणेषु बहुषु च क्रीडास्थानेषु बहूनामवस्थानभावात् । तेभ्य ऊर्ध्वलोकेऽसंख्येयगुणाः, ऊर्ध्वलोकस्य स्वस्थानत्वात्, तत्र च सदैव बहुतरभावात्। एवं वैमानिकदेवीविषयसूत्रमपि भावनीयम् ॥

सम्प्रत्येकेन्द्रियादिगतमल्पबहुत्वमाह—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा एगिंदिया जीवा उड्ढलोयतिरियलोए,अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असं०, उड्ढलोए असंखेज्जगुणा , अहोलोए विसेसाहिआ । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा एगिंदिया जीवा अपज्जत्तगा उड्ढलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, उड्ढलोए असंखिज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा एगिंदिया जीवा पज्जत्तगा उड्ढलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया , तिरियलोए असंखेज्जगुणा , तेलुक्के असंखेज्जगुणा,उड्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया ॥

[illegible]नेन [illegible] एकेन्द्रिया जीवाः सर्वस्तोका ऊर्ध्व- [illegible]के ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोकप्रतरद्वये, यतो ये तत्र [illegible] तिर्यग्लोके, तिर्यग्लोकाद्वा ऊर्ध्व- [illegible] समुद्घातस्य [illegible]समुद्घातेन किल विग्र- [illegible] इति सर्वस्तोकाः तेभ्योऽ- [illegible]लोके विशेषाधिकाः, यतो ये अधोलोकात्तिर्यग्लो- के, तिर्यग्लोकाद्वाऽधोलोके [illegible]गत्या समुत्पद्यमाना विग्र- [illegible] [illegible] ऊर्ध्वलोकमधोलोकं [illegible], [illegible]ऽधोलोकात्तिर्यग्लोके समुत्पद्यमाना [illegible] विशेषाधिकाः । तेभ्यस्तिर्यग्लोके असंख्येयगु- णाः, [illegible]लोकक्षेत्रस्याऽसंख्येयगुणत्वात् । [illegible]संख्येयगुणाः, बहवो हि ऊर्ध्वलोकादधोलोके अ- [illegible] समुत्पद्यन्ते । तेषां च मध्ये बहवो मार- [illegible]प्रदेशाद्बहिरपि लोकान् [illegible]संख्येयगुणाः । तेभ्य ऊर्ध्वलोके असंख्येय- गुणाः, [illegible]गुणत्वात् । तेभ्योऽधोलोके विशे- षाधिकाः, [illegible] विशेषाधिकत्वात् । [illegible] सूत्रं भावयितव्यम् ।

[illegible]माह—

[illegible] [illegible] थोवा [illegible]लोए, उड्ढलोयति- रियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असं०, अहोलोयतिरि- यलोए असंखेज्जगुणा, उड्ढलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए [illegible]गुणा । [illegible] [illegible] बेइंदिया [illegible] [illegible], उड्ढलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के [illegible], अहोलोयतिरियलोए असंखेज्जगुणा, [illegible]

ए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरि- यलोए असंखिज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखिज्जगुणा । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा [illegible] जीवा पज्जत्तगा उड्ढलोए, उड्ढलोयतिरियलोए असंखेज्ज- गुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, अहोलोयतिरियलोए असं- खेज्जगुणा, अहोलोए संखेज्जगुणा, तिरियलोए संखे०।

क्षेत्रानुपातेन क्षेत्रानुसारेण चिन्त्यमाना द्वीन्द्रिया सर्वस्तो- काः ऊर्ध्वलोके, ऊर्ध्वलोकस्यैकदेशे तेषां संभवात् । [illegible] लोकतिर्यग्लोके प्रतरद्वये असंख्येयगुणाः, यतो ये ऊर्ध्वलोके तिर्यग्लोके तिर्यग्लोकाद्वा ऊर्ध्वलोके द्वीन्द्रियत्वेन समुत्पद्य- मानास्तदायुरनुभवन्त ईलिकागत्या समुत्पद्यन्ते । ये च द्वीन्द्रि- या एव तिर्यग्लोकादूर्ध्वलोके ऊर्ध्वलोकाद्वा तिर्यग्लोके द्वीन्द्रिय- त्वेन वा समुत्पत्तुकामाः कृतप्रथममारणान्तिकसमुद्घा- ता अत एव द्वीन्द्रियायुःप्रतिसंवेदयमानाः समुद्घात- [illegible]प्रदेशाः, ये च प्रतरद्वया[illegible] [illegible] यथोक्तप्रतरद्वयस्पर्शिनो बहवश्च इति तेभ्यो [illegible]ऽसंख्येयगुणाः । तेभ्यस्त्रैलोक्येऽसंख्येयगुणाः, यतो [illegible] प्राचुर्येणोत्पत्तिस्थानान्यधोलोके [illegible] तिर्यग्लोके, तत्र ये द्वीन्द्रिया अधोलोकादूर्ध्वलोके द्वीन्द्रिय- त्वेन वा समुत्पत्तुकामाः कृतप्रथममारणान्तिकसमुद्घा- ता समुद्घातवशाच्चोत्पत्तिदेशं यावद्विक्षिप्तात्मप्रदेशदण्डा द्वी- न्द्रियायुःप्रतिसंवेदयमानाः, ये चोर्ध्वलोकादधोलोके द्वीन्द्रि- याः [illegible] यावद् द्वीन्द्रियत्वेन समुत्पद्यमाना [illegible] भवन्ति, त्रैलोक्यस्पर्शिनः ते च [illegible]

[illegible]ऽधोलोकतिर्यग्लोकेऽसंख्येयगुणाः ।

[illegible]

स्पृशन्ते ये च पञ्चेन्द्रिया ऊर्ध्वलोकादधोलोके अधोलोकादूर्ध्वलोके शेषकायत्वेन पञ्चेन्द्रियत्वेन चोत्पित्सवः कृतमारणान्तिकसमुद्घाताः समुद्घातवशाच्चोत्पत्तिदेशं यावद् विक्षिप्तात्मप्रदेशदण्डाः पञ्चेन्द्रियायुरद्याप्यनुभवन्ति, ते त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः, ते चाल्पे इति सर्वस्तोकाः । तेभ्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोके प्रतरद्वयरूपेऽसंख्येयगुणाः, प्रभूततराणामुपपातेन समुद्घातेन वा यथोक्तप्रतरद्वयसंस्पर्शसंभवात् । तेभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोके संख्येयगुणाः, अतिप्रभूततराणामुपपातसमुद्घाताभ्यामधोलोकतिर्यग्लोकसंज्ञप्रतरद्वयसंस्पर्शभावात् । तेभ्य ऊर्ध्वलोके संख्येयगुणाः, वैमानिकानामवस्थानभावात् । तेभ्योऽधोलोके संख्येयगुणाः, वैमानिकदेवेभ्यः संख्येयगुणानां नैरयिकाणां तत्र भावात् । तेभ्यस्तिर्यग्लोकेऽसंख्येयगुणाः, संमूर्छिमजलचरखचरादीनां व्यन्तरज्योतिष्काणां संमूर्छिममनुष्याणां च तत्र भावात् । एवं पञ्चेन्द्रियापर्याप्तसूत्रमपि भावनीयम् ।

पञ्चेन्द्रियपर्याप्तसूत्रमिदम्-

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा पंचिंदिया पज्जत्ता उड्ढलोए, उड्ढलोयतिरियलोए असं०, तेलुक्के असं०, अहोलोयतिरियलोए संखिज्ज०, अहोलोए संखेज्ज०, तिरियलोए असंखेज्जगुणा ।

क्षेत्रानुपातेन चिन्त्यमानाः पञ्चेन्द्रियाः पर्याप्ताः सर्वस्तोकाः ऊर्ध्वलोके, प्रायो वैमानिकानामेव तत्र भावात् । तेभ्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोके प्रतरद्वयरूपेऽसंख्येयगुणाः, विवक्षितप्रतरद्वयप्रत्यासन्नज्योतिष्काणां तदाश्रितक्षेत्राभिव्यन्तरतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां वैमानिकव्यन्तरज्योतिष्कविद्याधरचारणमुनितिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामूर्ध्वलोके तिर्यग्लोके च गमनागमने कुर्वतामधिकृतप्रतरद्वयस्पर्शात् । तेभ्यस्त्रैलोक्ये त्रिलोकसंस्पर्शिनः असंख्येयगुणाः । कथमिति चेत् ?, यतो ये भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका विद्याधरा वा अधोलोकस्थाः कृतवैक्रियसमुद्घातास्तथाविधप्रयत्नविशेषादूर्ध्वलोकप्रदेशाभिविक्षिप्तात्मप्रदेशदण्डास्ते त्रीनपि लोकान् स्पृशन्तीति संख्येयगुणाः । तेभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोके प्रतरद्वयरूपे संख्येयगुणाः, बहवो हि व्यन्तराः स्वस्थानप्रत्यासन्नतया भवनपतयस्तिर्यग्लोके ऊर्ध्वलोके वा व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका देवा अधोलौकिकग्रामेषु समवसरणादावधोलोके क्रीडादिनिमित्तं च गमनागमनकरणतः, तथा समुद्रेषु केचित् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाः स्वस्थानप्रत्यासन्नतया, अपरे तदध्यासितक्षेत्राश्रिततया यथोक्तं प्रतरद्वयं स्पृशन्ति, ततः संख्येयगुणाः । तेभ्योऽधोलोके संख्येयगुणाः, नैरयिकाणां भवनपतीनां च तत्रावस्थानात् । तेभ्यस्तिर्यग्लोकेऽसंख्येयगुणाः, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यव्यन्तरज्योतिष्काणामवस्थानात् । तदेवमुक्तं पञ्चेन्द्रियाणामल्पबहुत्वम् ।

इदानीमेकेन्द्रियभेदानां पृथिवीकायिकादीनां पञ्चानामौघिकपर्याप्तापर्याप्तभेदेन प्रत्येकं त्रीणि त्रीण्यल्पबहुत्वान्याह-

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा पुढविकाइया उड्ढलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखिज्जगुणा, उड्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा पुढविकाइया अपज्जत्तया उड्ढलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, उड्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा पुढविकाइया पज्जत्तगा उड्ढलोयतिरियलोए, तिरियलोए, अहोलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, उड्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा आउकाइया उड्ढलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, उड्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा आउकाइया अपज्जत्तया उड्ढलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, उड्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा आउकाइया पज्जत्तया उड्ढलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, उड्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तेउकाइया उड्ढलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, उड्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तेउकाइया अपज्जत्तया उड्ढलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, उड्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा तेउकाइया पज्जत्तया उड्ढलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, उड्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वाउकाइया उड्ढलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, उड्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वाउकाइया अपज्जत्तया उड्ढलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, उड्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वाउकाइया पज्जत्तया उड्ढलोयतिरियलोए, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, तेलुक्के असंखेज्जगुणा, उड्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया । खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा वणस्सइकाइया उड्ढलोयतिरियलोए,

पद्यागतानामेव प्रथमसमये वर्तमानानां प्रथमसमयतिर्यग्यो-
निकत्वात्।

द्वितीयमेवम्—

एएसि णं भंते ! अपढमसमयणेरइयाणं अपढमसमय-
तिरिक्खजोणियाणं अपढमसमयमणूसाणं अपढमसमयदेवा-
ण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा !
सव्वत्थोवा अपढमसमयमणूसा, अपढमसमयणेरइया अ-
संखेज्जगुणा, अपढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा, अपढम-
समयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा।

सर्वस्तोका अप्रथमसमयमनुष्याः, तेभ्योऽप्रथमसमयनैरयिका
असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, ते-
भ्योऽप्रथमसमयतिर्यग्योनिका अनन्तगुणाः, निगोदजीवानाम-
नन्तत्वात्।

तृतीयमेवम्—

एएसि णं पढमसमयणेरइयाणं अपढमसमयणेरइयाणं कयरे
कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा पढ-
मसमयणेरइया, अपढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा। एए-
सि णं भंते ! पढमसमयतिरिक्खजोणियाणं अपढमसमयति-
रिक्खजोणियाणं कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया ?।
गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयतिरिक्खजोणिया, अपढमस-
मयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा। मणुयदेवाणं अप्पाबहुयं
जहा नेरइया।

सर्वस्तोकाः प्रथमसमयनैरयिकाः, अप्रथमसमयनैरयिका
असंख्येयगुणाः तथा प्रथमसमयतिर्यग्योनिकाः सर्वस्तोकाः, अ-
प्रथमसमयतिर्यग्योनिका अनन्तगुणाः, तथा सर्वस्तोकाः प्रथम-
समयमनुष्याः, अप्रथमसमयमनुष्याः असंख्येयगुणाः तथा स-
र्वस्तोकाः प्रथमसमयदेवाः, अप्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः।

समस्तसमुदायगतं चतुर्थमेवम्—

एएसि णं भंते ! पढमसमयणेरइयाणं अपढमसमयणेरइ-
याणं पढमसमयतिरिक्खजोणियाणं, अपढमसमयतिरिक्ख-
जोणियाणं पढमसमयमणूसाणं अपढमसमयमणूसाणं पढम-
समयदेवाणं अपढमसमयदेवाणं सिद्धाण य कयरे कयरेहिं-
तो० जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमय-
मणूसा, अपढमसमयमणूसा असंखेज्जगुणा, पढमसमयणेर-
इया असंखेज्जगुणा, पढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा, पढमसम-
यतिरिक्खजोणिया असंखेज्जगुणा, अपढमसमयणेरइया
असंखेज्जगुणा, अपढमसमयदेवा असंखेज्जगुणा, सिद्धा
अणंतगुणा, अपढमसमयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा।

[illegible]

प्रथमसमयाप्रथमसमयभेदेन भिन्नानां नैरयिकतिर्यग्योनिकम-
नुष्यदेवसिद्धानां दशानामल्पबहुत्वान्यत्रापि चत्वारि।

तत्र प्रथममिदम्—

एतेसि णं भंते ! पढमसमयणेरइयाणं पढमसमयतिरिक्ख-
जोणियाणं पढमसमयमणूसाणं पढमसमयदेवाणं पढमसमय-
सिद्धाण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ?।
गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयसिद्धा पढमसमयमणूसा
असंखेज्जगुणा, पढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा, पढम-
समयदेवा असंखेज्जगुणा, पढमसमयतिरिक्खजोणिया अ-
संखेज्जगुणा॥

सर्वस्तोकाः प्रथमसमयसिद्धाः, अष्टोत्तरशतादूर्द्धमभावात्।
तेभ्यः प्रथमसमयमनुष्या असंख्येयगुणाः, तेभ्यः प्रथमसमयनै-
रयिकाः असंख्येयगुणाः, तेभ्यः प्रथमसमयदेवाः असंख्येय-
गुणाः, तेभ्यः प्रथमसमयतिर्यञ्चोऽसंख्येयगुणाः।

द्वितीयमिदम्—

एतेसि णं भंते ! अपढमसमयणेरइयाणं अपढमसमयति-
रिक्खजोणियाणं अपढमसमयमणूसाणं अपढमसमयदेवाणं
अपढमसमयसिद्धाण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसा-
हिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा अपढमसमयमणूसा, अप-
ढमसमयणेरइया असंखेज्जगुणा, अपढमसमयदेवा असं-
खेज्जगुणा, अपढमसमयसिद्धा अणंतगुणा, अपढमसमय-
तिरिक्खजोणिया अणंतगुणा।

सर्वस्तोका अप्रथमसमयमनुष्याः, अप्रथमसमयनैरयिका अ-
संख्येयगुणाः, अप्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, अप्रथमस-
मयसिद्धा अनन्तगुणाः, अप्रथमसमयतिर्यञ्चोऽनन्तगुणाः।

तृतीयम्—

एएसि णं भंते ! पढमसमयणेरइयाण य अपढमसमयणेरइ-
याण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा !
सव्वत्थोवा पढमसमयणेरइया, अपढमसमयणेरइया असं-
खेज्जगुणा। एतेसि णं भंते ! पढमसमयतिरिक्खजोणि-
याणं अपढमसमयतिरिक्खजोणियाण य कयरे कयरेहिंतो०
जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमस-
मयतिरिक्खजोणिया, अपढमसमयतिरिक्खजोणिया अणं-
तगुणा। एतेसि णं भंते ! पढमसमयमणूसाणं अपढमस-
मयमणूसाण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ?।
गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयमणूसा, अपढमसमयमणूसा
असंखेज्जगुणा। जहा मणूसा तहा देवा वि। एतेसि णं भं-
ते ! पढमसमयसिद्धाणं अपढमसमयसिद्धाण य कयरे कयरे-
हिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?।
गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयसिद्धा, अपढमसमयसि-
द्धा अणंतगुणा।

[illegible] सर्वस्तोकाः प्रथमसमयसिद्धाः, अप्रथमसमयसिद्धा अनन्त-
गुणाः।

समुदायगतं चतुर्थमेवम्-

एएसि णं भंते ! पढमसमयणेरइयाणं अपढमसमयणेरइयाणं पढमसमयतिरिक्खजोणियाणं अपढमसमयतिरिक्खजोणियाणं पढमसमयमणूसाणं अपढमसमयमणूसाणं पढमसमयदेवाणं अपढमसमयदेवाणं पढमसमयसिद्धाणं अपढमसमयसिद्धाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा पढमसमयसिद्धा, पढमसमयमणूसा असंखिज्जगुणा, अपढमसमयमणूसा असंखिज्जगुणा, पढमसमयणेरइया असंखिज्जगुणा, पढमसमयदेवा असंखिज्जगुणा, पढमसमयतिरिक्खजोणिया असंखिज्जगुणा, अपढमसमयणेरइया असंखिज्जगुणा, अपढमसमयदेवा असंखिज्जगुणा, अपढमसमयसिद्धा अणंतगुणा, अपढमसमयतिरिक्खजोणिया अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोकाः प्रथमसमयसिद्धाः, तेभ्यः प्रथमसमयमनुष्या असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयमनुष्या असंख्येयगुणाः, तेभ्यः प्रथमसमयनैरयिका असंख्येयगुणाः, तेभ्यः प्रथमसमयतिर्यग्भ्योऽसंख्येयगुणा देवा असंख्येयगुणाः, तेभ्यः प्रथमसमयतिर्यञ्चोऽसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयनैरयिका अनन्तगुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयदेवा असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयसिद्धा अनन्तगुणाः, तेभ्योऽप्रथमसमयतिर्यञ्चोऽनन्तगुणाः । भावना सर्वाऽपि प्राग्वत् । नवर सूत्रे संग्रह इति । जी० १० प्रति० ।

संप्रति गुणस्थानकेष्वेव वर्तमानानां जन्तूनामल्पबहुत्वमाह-

(पण दो खीण दु जोगी, ऽणुदीरग अजोगि)थोव उवसंता ।
संखगुण खीण सुहुमा, नियट्टिअपुव्व समा अहिया ।६२।

(थोव उवसंत त्ति) स्तोका उपशान्तमोहगुणस्थानवर्तिनो जीवाः, यतस्ते प्रतिपद्यमाना उत्कर्षतोऽपि चतुष्पञ्चाशत्प्रमाणा एव प्राप्यन्त इति । तेभ्यः सकाशात् क्षीणमोहाः संख्येयगुणाः, यतस्ते प्रतिपद्यमानका उत्कर्षतोऽष्टोत्तरशतप्रमाणा अपि लभ्यन्ते । एतच्चोत्कृष्टपदापेक्षयोक्तम् । अन्यथा कदाचिद्विपर्ययोऽपि दृष्टव्यः । स्तोकाः क्षीणमोहाः, बहवस्तु तेभ्य उपशान्तमोहाः, तथा तेभ्यः क्षीणमोहेभ्यः सकाशात् सूक्ष्मसंपरायानिवृत्तिबादरापूर्वकरणा विशेषाधिकाः, स्वस्थाने पुनरेते चिन्त्यमानास्त्रयोऽपि समास्तुल्या इति ॥६२॥

जोगि अपमत्त इयरे, संखगुणा देससासणा मीसा ।
अविरय अजोगि मिच्छा, असंख चउरो दुवेऽणंता ।६३।

तेभ्यः सूक्ष्मादिभ्यः सयोगिकेवलिनः संख्यातगुणाः, तेषां कोटिपृथक्त्वेन लभ्यमानत्वात् । तेभ्योऽप्रमत्ताः संख्येयगुणाः, कोटिसहस्रपृथक्त्वेन प्राप्यमाणत्वात् । तेभ्य (इयर त्ति) अप्रमत्तप्रतियोगिनः प्रमत्ताः संख्येयगुणाः, प्रमादस्थानो हि बहूनां बहुकालं च लभ्यते, विपर्ययेण त्वप्रमाद इति न यथोक्तसंख्याव्याघातः । (देसेत्यादि) देशविरतसास्वादनमिश्राविरतलक्षणाश्चत्वारो यथोत्तरमसंख्येयगुणाः, अयोगिमिथ्यादृष्टिलक्षणौ च द्वौ यथोत्तरमनन्तगुणौ, तत्र प्रमत्तेभ्यो देशविरता असंख्येयगुणाः, तिर्यक्षु देशविरतिभावात् । सास्वादनास्तु कदाचित्सर्वथैव न भवन्ति, यदा भवन्ति तदा जघन्येनैको द्वौ वा, उत्कर्षतस्तु देशविरतेभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः, सास्वादनाद्धाया उत्कर्षतोऽपि षडावलिकामात्रतया स्तोकत्वात् । मिश्राद्धायाः पुनरन्तर्मुहूर्तप्रमाणतया प्रभूतत्वात् । तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः अविरतसम्यग्दृष्टयः, तेषां गतिचतुष्टयेऽपि प्रभूततया सर्वकालमवस्थानात् । तेभ्योऽप्ययोगिकेवलिनो भवस्थाभवस्थभेदभिन्ना अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्योऽप्यनन्तगुणा मिथ्यादृष्टयः, साधारणवनस्पतीनां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात्, तेषां च मिथ्यादृष्टित्वादिति । तदेवमभिहितं गुणस्थानवर्ति... जीवानामल्पबहुत्वम् । कर्म० ४ कर्म० । पं० सं० ।

(१३) [चरमद्वारम्] चरमाचरमाणामल्पबहुत्वम्-

एएसि णं भंते ! जीवाणं चरिमाणं अचरिमाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा० ? । गोयमा ! सव्वत्थो... जीवा अचरिमा, चरिमा अणंतगुणा ।

इह येषां चरिमो भवः संभवी योग्यतयाऽपि ते चरमा उच्यन्ते, ते चार्थाद् भव्याः, इतरेऽचरमा अभव्याः सिद्धाश्च, उभयेषामपि चरमाचरमत्वाभावात् । तत्र सर्वस्तोका अचरमाः, अभव्यानां सि... च समुदितानामप्यजघन्योत्कृष्टयुक्तानन्तकपरिमाणत्वात् ... भ्योऽनन्तगुणाश्चरमाः, अजघन्योत्कृष्टानन्तानन्तकपरि... त्वात् । गतं चरमद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद । (रत्नप्रभादीन... मावरमगतमल्पबहुत्वं, सङ्घातप्रदेशस्य सङ्घातप्रदेशाव... परिमण्डलादेश्चरमादिविषयमल्पबहुत्वं च 'चरम' श... दर्शयिष्यते)

(१४) [जीवद्वारम्] जीवपुद्गलसमयद्रव्यप्रदेशपर्याय... मल्पबहुत्वम्-

एएसि णं भंते ! जीवाणं पोग्गलाणं अद्धा... सव्वदव्वाणं सव्वपएसाणं सव्वपज्जवाण य कयरे... हिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा... ला अणंतगुणा, अद्धासमया अणंतगुणा, सव्वद... सेसाहिया, सव्वपदेसा अणंतगुणा, सव्वपज्जवा अ... प्रज्ञा० ३ पद ।

तदेवमर्थतः-

'जीवा १ पोग्गल २ समया ३, दव्व ४ पएसा य ५ पज्ज... थोवाऽणंताऽणंता, विसेसअहिया दुवेऽणंता' ॥ १ ॥

इह भावना-यतो जीवाः प्रत्येकमनन्तानन्तैः पुद्गलैः... भवन्ति, पुद्गलास्तु जीवैः संबद्धा असंबद्धाश्च... स्तोकाः पुद्गलेभ्यो जीवाः ।

यदाह-

"जं पोग्गलावबद्धा, जीवा पायण होंति तो थो... जीवेहिं विरहियाऽविर-हिया य पुण पोग्गला... जीवेभ्योऽनन्तगुणाः पुद्गलाः कथम् ?, यत्तेजसादि... येन परिगृहीतं तत्तो जीवात्पुद्गलपरिणाममधि... भवति, तथा-तैजसशरीरात्प्रदेशतोऽनन्तगुणं का... ते जीवप्रतिबद्धेऽनन्तगुणे जीवविमुक्ते च ते ... प्रवचः, शेषशरीरचिन्ता त्विह न कृता, यस्मात्... स्वे स्वे स्थाने तयोरनन्तभागे वर्तन्ते, ...

ला अपि जीवेभ्योऽनन्तगुणाः, किं पुनः कार्मणादिपुद्गलराशिसहिताः । तथा पञ्चदशविधप्रयोगपरिणताः पुद्गलाः स्तोकाः, तेभ्यो मिश्रपरिणताः अनन्तगुणाः, तेभ्योऽपि विस्रसापरिणता अनन्तगुणाः, त्रिविधा एव च पुद्गलाः सर्वे एव भवन्ति । जीवाश्च सर्वेऽपि प्रयोगपरिणतपुद्गलानां प्रतनुकेऽनन्तभागे वर्तन्ते यस्मादेवं तस्माज्जीवेभ्यः सकाशात् पुद्गलाः बहुभिरनन्ताऽनन्तकैर्गुणिताः सिद्धा इति ।

आह च-

" जं जेण परिग्गहियं, तयादिजिएण देहमेक्केक्कं ।
तत्तो तमणंतगुणं, पोग्गलपरिणामओ होइ ॥ १ ॥
तेयाओ पुण कम्मग-मणंतगुणियं जओ विणिद्दिट्ठं ।
एवं ता बद्धाई, तेयगकम्माइ जीवेहिं ॥ २ ॥
एत्तोऽणंतगुणाइं, तेसिं चिय जाणि होंति मुक्काइं ।
इह पुण थोवत्ताओ, अग्गहणं सेसदेहाणं ॥ ३ ॥
जं तेसिं मुक्काइं, पि होंति सट्ठाणऽणंतभागम्मि ।
तेण महग्गहणमिहं, बद्धाबद्धाण दोण्हं पि ॥ ४ ॥
इह पुणतेयसरीरग-बद्धं चिय पोग्गला अणंतगुणा ।
जीवेहिं तो किं पुण, सहिया अवसेसरासीहिं ॥ ५ ॥
थोवा भणिया सुत्ते, पन्नरसविहप्पओगपाओग्गा ।
तत्तो मीसपरिणया-ऽणंतगुणा पोग्गला भणिया ॥ ६ ॥
ते वीससा परिणया, तत्तो भणिया अणंतसंगुणिया ।
एवं तिविहपरिणया, सव्वे वि य पोग्गला लोए ॥ ७ ॥
जं जीवा सव्वे वि य, एक्कम्मि पओगपरिणयाण वि ।
वट्टंति पोग्गलाणं, अणंतभागम्मि तणुयम्मि ॥ ८ ॥
बहुएहिं अणंताणं, तहिं तेण गुणिया जिएहिंतो ।
सिद्धा भवंति सव्वे, वि पोग्गला सव्वलोगम्मि " ॥ ९ ॥

ननु पुद्गलेभ्योऽनन्तगुणाः समया इति यदुक्तम् । तन्न संगतम् । तेषामेवाल्पत्वात् । अल्पत्वं च मनुष्यक्षेत्रमात्रवर्तित्वात्समयानां पुद्गलानां च सकललोकवर्तित्वादिति । अत्रोच्यते-समयक्षेत्रे ये केचन द्रव्यपर्यायाः सन्ति, तेषामेकैकस्मिन् साम्प्रतं समयो वर्तते । एवं च साम्प्रतं समयो यस्मात्समयक्षेत्रद्रव्यपर्यायगुणो भवति तस्मादनन्ताः समया एकैकस्मिन् समये भवन्तीति । आह च—

" होंति य अणंतगुणिया, अद्धासमया उ पोग्गलेहिंतो ।
जह थोवा ते नणु खं-समेत्तवत्तणाओ त्ति ॥ १ ॥
भण्णइ समयक्खेत्त-म्मि संति जे केइ दव्वपज्जाया ।
वट्टइ संपयसमओ, तेसिं पत्तेयमेक्केक्के ॥ २ ॥
एवं संपयसमओ, जं समयक्खेत्तपज्जवब्भत्थो ।
तेणाणंता समया, भवंति एक्केक्कसमयम्मि " ॥ ३ ॥

[illegible] वर्तमानोऽपि समयः पुद्गलेभ्योऽनन्तगुणो भवति, [illegible] पर्यायाणामनन्तत्वात् । किं च । केवलमिदं [illegible] मनन्तगुणाः समयाः सर्वलोकद्रव्यप्रदेशपर्याये- [illegible] संभवन्ति । तथाहि-[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] भवन्ति । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] समयक्षेत्रद्रव्यप्रदेशपर्यायराशि- [illegible]त्वात् । तथाऽन्येष्वपि तावत्सु तात्त्विकसमयेषु गतेषु तावन्त एवौपचारिकसमया प्रभवन्तीत्येवमसंख्यातेषु कल्पनया शतमानेषु तात्त्विकसमयेषु पौनःपुन्येन गतेष्वनन्ततमायां कल्पनया सहस्रतमायां वेलायां गता भवन्ति । तात्त्विकसमया लोकद्रव्यप्रदेशपर्यवमात्राः कल्पनया शतप्रमाणाः, एवं चैकस्मिँस्तात्त्विकसमयेऽनन्तानामौपचारिकसमयानां भावात्सर्वलोकद्रव्यप्रदेशपर्यवराशेरपि समया अनन्तगुणाः प्राप्नुवन्ति, किं पुनः पुद्गलेभ्यः ? इति ।

यदाह-

" जं सव्वलोगदव्व-प्पएसपज्जवगणस्स भइयस्स ।
लब्भइ समयक्खेत्त-प्पएसपज्जायपिंडेण ॥ १ ॥
एवइसमएहिँ गएहिँ, लोगपज्जवसमा समयसंखा ।
लब्भइ अन्नेहिँ पि य, तत्तियमेत्तेहिँ तावइया ॥ २ ॥
एवमसंखेज्जेहिँ, समएहिँ गतेहिंतो गयाहिँ ति ।
समयाओ लोगदव्व-प्पएसपज्जायमेत्ताओ ॥ ३ ॥
इय सव्वलोगपज्जव-रासीओ वि समया अणंतगुणा ।
पावेंति गणिज्जंता, किं पुण ता पोग्गलेहिंतो ? " ॥ ४ ॥

अन्यस्तु प्रेरयति-उत्कृष्टतोऽपि षण्मासमात्रमेव सिद्धिगतेरन्तरं भवति, तेन च सेत्स्यद्भ्यः सिद्धेभ्योऽपि च जीवेभ्योऽसंख्यातगुणा एव समया भवन्ति । कथं पुनः ?, सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणा भविष्यन्तीति इहाप्यौपचारिकसमयापेक्षया समयानामनन्तगुणत्वं वाच्यमिति । अथ समयेभ्यो द्रव्याणि विशेषाधिकानीति कथम् ? । अत्रोच्यते-यस्मात्सर्वे समयाः प्रत्येकं द्रव्याणि, शेषाणि च जीवपुद्गलधर्मास्तिकायादीनि तेष्वेव क्षिप्यन्तेऽतः केवलेभ्यः समयेभ्यः सकाशात् समस्तद्रव्याणि विशेषाधिकानि भवन्ति, न संख्यातगुणादीनि, समयद्रव्यापेक्षया जीवादिद्रव्याणामल्पतरत्वादिति ।

उक्तं च-

" एत्तो समएहिंतो, होंति विसेसाहियाइँ दव्वाइं ।
जं भेया सव्वे च्चिय, समया दव्वाइ पत्तेयं ॥ १ ॥
सेसाइँ जीवपोग्गल-धम्माधम्मं बराइँ छूढाइं ।
दव्वट्ठयाए समए-सु तेण दव्वा विसेसहिया ॥ २ ॥

अन्वद्धासमयानां कस्माद्द्रव्यत्वमेवेष्यते ?, समयस्कन्धापेक्षया प्रदेशार्थत्वस्यापि तेषां युज्यमानत्वात् । तथाहि-यथा स्कन्धो द्रव्यं सिद्धं, स्कन्धावयवा अपि यथा प्रदेशाः सिद्धाः, एवं समयस्कन्धवर्तिनः समया भवन्ति, प्रदेशाश्च द्रव्यं चेति ? । अत्रोच्यते-परमाणूनामन्योऽन्यसव्यपेक्षत्वेन स्कन्धत्वं युक्तम्, अद्धासमयानां पुनरन्योऽन्यापेक्षिता नास्ति । यतः कालसमयाः प्रत्येकं वृत्तौ च काल्पनिकस्कन्धतायां च वर्तमानाः प्रत्येकवृत्तय एव, न त्वन्योऽन्यापेक्षास्तस्मात्तेऽन्योऽन्यनिरपेक्षाः, अन्योऽन्यनिरपेक्षत्वाच्च न ते वास्तवस्कन्धनिष्पादकाः, ततश्च तेषां प्रदेशार्थतेति ।

उक्तं चात्र आह-" अद्धासमयाणं किं, पुण दव्वट्ठयच्चिय मेवं । तेसिं पएसट्ठा विहु, जुज्जइ खंधं समासज्ज ॥ १ ॥
सिद्धं खंधो दव्वं, तदवयवा वि य तहा पएस त्ति ।
इय तव्वत्ती समया, होंति पएसा य दव्वं च ॥ २ ॥
भण्णइ परमाणूणं, अन्नोन्नावेक्ख बंधवा सिद्धा ।
अद्धासमयाणं पुण, अन्नोन्नावेक्खया नत्थि ॥ ३ ॥
अद्धासमया जम्हा, पत्तेयं परिणवयणाओ य ।
पत्तेयवत्तिणो च्चिय, ते तेणन्नोन्ननिरवेक्खा " ॥ ४ ॥

अथ द्रव्येभ्यः प्रदेशा अनन्तगुणा इति । एतत्कथम् ?। उच्यते-अद्धासमयद्रव्येभ्य आकाशप्रदेशानामनन्तगुणत्वात् । ननु के-नप्रदेशानां कालसमयानां च समानेऽप्यनन्तत्वे किं कारणमा-श्रित्याकाशप्रदेशा अनन्तगुणाः, कालसमयाश्च तदनन्तभाग-वर्त्तिन इति ?। उच्यते-एकस्यामनाद्यपर्यवसितायामाकाशप्रदे-शश्रेण्यामेकैकप्रदेशानुसारतस्तिर्यगायतश्रेणीनां कल्पनेन ता-स्योऽपि चैकैकप्रदेशानुसारेणैवोर्ध्वाधआयतश्रेणीविरचनेन आकाशप्रदेशघनो निष्पद्यते, कालसमयश्रेण्यां तु सैव श्रेणी भवति, न पुनर्घनः, ततः कालसमयाः स्तोका भवन्तीति ।

इह गाथा-

"एत्तो सव्वपएसा-ऽणंतगुणा खप्पएसऽणंतत्ता ।
स-व्वागासमणंतं, जेण जिणिंदेहिं पन्नत्तं ॥ १ ॥
आह समेऽणंतत्त--म्मि खेत्तकालाण किं पुण निमित्तं ? ।
भणियं खमणंतगुणं, कालोऽयमणंतभागम्मि ॥ २ ॥
भण्णइ नभसेढीए, अणाइयाए अपज्जवसियाए ।
निप्फज्जइ खम्मि घणो, न उ काले तेण सो थोवो " ॥ ३ ॥

प्रदेशेभ्योऽनन्तगुणाः पर्याया इत्येतद्भावनार्थं गाथा-
"एत्तो य अणंतगुणा, पज्जाया जेण नहपएसम्मि ।
एक्केक्कम्मि अणंता, अगुरुलहू पज्जया भणिया " ॥ १ ॥ इति । भ० २५ श० ३ उ० । गतं जीवद्वारम् ।

(१५) [ज्ञानद्वारम्] ज्ञानिनामल्पबहुत्वम्-

एएसि णं भंते ! जीवाणं आभिणिबोहियणाणीणं सुय-णाणीणं ओहिणाणीणं मणपज्जवणाणीणं केवलणा-णीण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा ४ ?। गोयमा ! स-व्वत्थोवा मणपज्जवनाणी, ओहिणाणी असं०, आभिणि-बोहियनाणी सुयनाणी दो वि तुल्ला विसेसाहिया, केवल-नाणी अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका मनःपर्यवज्ञानिनः, संयतानामेवामर्षौषध्यादिऋ-द्धिप्राप्तानां मनःपर्यवज्ञानसंभवात् । तेभ्योऽसंख्येयगुणा अव-धिज्ञानिनः, नैरयिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवानामप्यवधिज्ञान-संभवात् । तेभ्य आभिनिबोधिकज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनश्च विशे-षाधिकाः, संज्ञितिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणामेवावधिज्ञानविकला-नामपि केषाञ्चिदाभिनिबोधिकश्रुतज्ञानभावात् । स्वस्थाने तुल्ये-ऽपि परस्परं तुल्याः।"जत्थ मइनाणं तत्थ सुयनाणं,जत्थ सुय-नाणं तत्थ मइनाणं " इतिवचनात् । तेभ्यः केवलज्ञानिनोऽनन्त-गुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । उक्तं हि ज्ञानिनामल्पबहुत्वम् ।

इदानीं प्रतिपक्षभूतानामज्ञानिनामल्पबहुत्वमाह-

एएसि णं भंते ! जीवाणं मइअन्नाणीणं सुयअन्नाणीणं विभंगनाणीण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा विभंगनाणी, मइअन्नाणी सुयअन्नाणी दो वि तुल्ला अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका विभङ्गज्ञानिनः,कतिपयानामेव नैरयिकदेवतिर्यक्-पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां विभङ्गभावात् । तेभ्यो मत्यज्ञानिनः श्रुताज्ञा-निनोऽनन्तगुणाः, वनस्पतीनामपि मत्यज्ञानश्रुताज्ञानभावात् । स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । " जत्थ मइअन्नाणं तत्थ सुयअ-न्नाणं, जत्थ सुयअन्नाणं तत्थ मइअन्नाणं " . . . ।

संप्रत्युभयेषां ज्ञानाज्ञानिनामल्पबहुत्वमाह-

एएसि णं भंते ! जीवाणं आभिनिबोहियनाणीणं सु-यणाणीणं ओहिणाणीणं मणपज्जवणाणीणं केवलणा-णीणं मतिअन्नाणीणं सुयअन्नाणीणं विभंगनाणीण य-कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा मणपज्जवणाणी, ओहिनाणी असंखिज्जगुणा, आभिनिबोहियनाणी सुयनाणी य दो वि तुल्ला विसेसाहि-या, विभंगनाणी असंखेज्ज०, केवलनाणी अणंतगुणा, मइअन्नाणी सुयअन्नाणी य दो वि तुल्ला अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका मनःपर्यवज्ञानिनः, संयतानामेवामर्षौषध्यादिऋद्धि-प्राप्तानां मनःपर्यवज्ञानसंभवात् । तेभ्योऽसंख्येयगुणा अवधिज्ञा-निनः, तेभ्य आभिनिबोधिकज्ञानिनः श्रुतज्ञानिनश्च विशेषाधि-काः, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः । अत्र भावना प्राग्-वोक्ता । तेभ्योऽसंख्येयगुणा विभङ्गज्ञानिनः, यस्मात्सुरगतौ निरयगतौ च सम्यग्दृष्टिभ्यो मिथ्यादृष्टयोऽसंख्येयगुणाः पठ्य-न्ते, देवनैरयिकाश्च सम्यग्दृष्टयोऽवधिज्ञानिनो मिथ्यादृष्टयो विभङ्गज्ञानिन इत्यसंख्येयगुणाः, तेभ्यः केवलज्ञानिनोऽनन्तगु-णाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यो मत्यज्ञानिनः श्रुताज्ञानिन-श्चानन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तत्वात्, तेषां च मत्यज्ञानिश्रुताज्ञानित्वात् । स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्पर तुल्याः । गतं ज्ञानद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद । भ० । जी० । कर्म० ।

इदानीं ज्योतिष्काणामल्पबहुत्वमाह-

एतेसि णं भंते ! चंदिमसूरियगहगणणक्खत्तताराख्वाणं कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसे-साहिया वा ?। गोयमा ! चंदिमसूरिया दुवे तुल्ला सव्व-त्थोवा, णक्खत्ता संखिज्जगुणा, गहा संखिज्जगुणा, ता-राख्वा संखेज्जगुणा ॥

(एतेसि णमित्यादि)एतेषामनन्तरोक्तानां,प्रत्यक्षप्रमाणगोचराणां वा,भदन्त ! चन्द्रसूर्यग्रहनक्षत्रतारकरूपाणां कतरे कतरेभ्योऽल्पाः स्तोकाः । वाशब्द विकल्पसमुच्चयार्थे । कतरे कतरेभ्यो बहुका वा कतरेऽप्यस्तुल्या वा,अत्र विभक्तिपरिणामेन तृतीया व्याख्येया । कतरे कतरेभ्यो विशेषाधिका इति ?। गौतम ! चन्द्रसूर्या एते द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं चन्द्रसूर्याणां समसंख्या-कत्वात् । शेषेभ्यो ग्रहादिभ्यः सर्वेऽपि स्तोकाः,तेभ्यो नक्षत्राणि संख्येयगुणानि, अष्टाविंशतिगुणत्वात् । तेभ्योऽपि ग्रहाः संख्येयगुणाः,सातिरेकत्रिगुणत्वात् । तेभ्योऽपि तारकरूपाणि संख्येयगुणानि, प्रभूतकोटाकोटिगुणत्वादिति । जं० ७ वक्ष० । ज्योति-ष्कायाणामल्पबहुत्वम् । भ० ८ श० ३ उ० । " सव्वत्थोवा णाणी, अणणाणी अणंतगुणा " । जी० १ प्रति० । वनस्पतिजीवानां बादरनिगोदजीवानामल्पबहुत्वम्-" अप्पबहुं सव्वत्थोवा नमा, लोगस्स लोयागस्स अणंतगुणा"। जी०२ प्रति०। (निगोदानां पुद्गलादीना-मल्पबहुत्वं ' निगोद ' शब्दे वक्ष्यते)

(१६) [दर्शनद्वारम्] दर्शनिनामल्पबहुत्वम्-

एएसि णं भंते ! जीवाणं . . . चक्खुदंसण-णीणं ओहिदंसणीणं . . . कयरे कयरेहिं-

तो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा ओहिदंसणी, चक्खुदंसणी असंखेज्जगुणा, केवलदंसणी अणंतगुणा, अचक्खुदंसणी अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोका अवधिदर्शनिनः, देवनैरयिकाणां कतिपयानां च संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणामवधिदर्शनभावात् । तेभ्यश्चक्षुर्दर्शनिनोऽसंख्येयगुणाः, सर्वेषां देवनैरयिकगर्भजमनुष्याणां संज्ञितिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियाणां च असंज्ञितिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां चक्षुर्दर्शनभावात् । तेभ्यः केवलदर्शनिनोऽनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्योऽचक्षुर्दर्शनिनोऽनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तत्वात् । गतं दर्शनद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद । कर्म० । जी० ।

(१७) [दिग्द्वारम्] दिगनुपातेन जीवानामल्पबहुत्वम्—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा जीवा पच्चच्छिमेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया ।

इह दिशः प्रथमे आचाराख्येऽङ्गे अनेकप्रकारा व्यावर्णिताः, तत्रेह क्षेत्रदिशः प्रतिपत्तव्याः, तासां नियतत्वात् । इतरासां च प्रायोऽनवस्थितत्वादनुपयोगित्वाच्च, क्षेत्रदिशां च प्रभवस्तिर्यग्लोकमध्यगतादष्टप्रदेशकाद् रुचकात् । यत उक्तम्—"अट्ठपएसो रुयगो, तिरियलोयस्स मज्झयारम्मि । एस पभवो दिसाणं, एसेव भवे अणुदिसाणं" ॥ १ ॥ इति दिशामनुपातो दिगनुसरणं, तेन दिशोऽधिकृत्येति तात्पर्यार्थः । सर्वस्तोका जीवाः पश्चिमेन पश्चिमायां दिशि । कथमिति चेत् ?, उच्यते—इह अल्पबहुत्वं बादरानधिकृत्य द्रष्टव्यं, न सूक्ष्माणां, सर्वलोकापन्नानां प्रायः सर्वत्रापि समत्वात् । बादरेष्वपि मध्ये सर्वबहवो वनस्पतिकायिकाः, अनन्तसंख्याततया तेषां प्राप्यमाणत्वात् । ततो यत्र ते बहवः तत्र बहुत्वं जीवानां, यत्र स्तोकाः तत्राल्पत्वम् । वनस्पतयश्च तत्र बहवो यत्र प्रभूता आपः "जत्थ जलं तत्थ वणं" इति वचनात् । तत्रावश्यं पनकशैवालादीनां भावात् । ते च पनकशैवालादयो बादरनामकर्मोदये वर्तमाना अपि अत्यन्तसूक्ष्मावगाहनत्वादतिप्रभूतपिण्डीभावाच्च सर्वत्र सन्तोऽपि न चक्षुषा ग्राह्याः । तथा चोक्तमनुयोगद्वारेषु—" तेणं वालग्गा सुहुमपणगजीवस्स सरीरोगाहणाहिंतो असंखेज्जगुणा " इति । ततो यद्यपि तेन दृश्यन्ते तथापि ते सन्तीति प्रतिपत्तव्याः । आह च मूलटीकाकारः—इह सर्वबहवो वनस्पतय इति यत्र ते सन्ति तत्र बहुत्वं जीवानां, तेषां च बहुत्वम् " जत्थ आउकाओ तत्थ नियमा वणस्सइकाया " इति । " पणगसेवालहढाई बायरा वि होंति, सुहुमा आणागिज्झा चक्खुफासा " इति । उदकं च प्रभूतं समुद्रेषु द्वीपद्विगुणविष्कम्भत्वात् । तेष्वपि च समुद्रेषु प्रत्येकं प्राचीप्रतीचीदिशोर्यथाक्रमं चन्द्रसूर्यद्वीपाः, यावति च प्रदेशे चन्द्रसूर्यद्वीपा अवगाढास्तावत्युदकाभावः, उदकाभावाच्च वनस्पतिकायिकाभावः, केवलं पश्चिमायां दिशि लवणसमुद्राधिपतिसुस्थितनामदेवावासभूतो गौतमद्वीपोऽभ्यधिको लवणसमुद्रेऽप्यधिको वर्तते, तत्र च उदकाभावाद्वनस्पतिकायिकाभावः । तस्मात्सर्वस्तोका जीवाः पश्चिमायां दिशि, तेभ्यो विशेषाधिकाः पूर्वस्यां दिशि, तत्र हि गौतमद्वीपो न विद्यते, ततस्तावता विशेषेणाधिकाः । तेभ्योऽपि दक्षिणस्यां दिशि विशेषाधिकाः, यतस्तत्र चन्द्रसूर्यद्वीपा न विद्यन्ते, तदभावात् तत्रोदकं प्रभूतं, तस्मात्तत्र वनस्पतिकायिका अपि प्रभूता इति विशेषाधिकाः, तेभ्योऽप्युदीच्यां दिशि विशेषाधिकाः । किं कारणमिति चेत् ?, उच्यते—उदीच्यां हि दिशि संख्येययोजनेषु द्वीपेषु मध्ये कस्मिंश्चिद् द्वीपे आयामविष्कम्भाभ्यां संख्येययोजनकोटाकोटिप्रमाणं मानसं नाम सरः समस्ति, ततो दक्षिणदिगपेक्षया अस्यां प्रभूतमुदकम्, उदकबाहुल्याच्च प्रभूता वनस्पतयः, प्रभूता द्वीन्द्रियाः शङ्खादयः, प्रभूताः कुथितशङ्खादिकलेवराश्रिताः त्रीन्द्रियाः पिपीलिकादयः, प्रभूताः पद्मादिषु चतुरिन्द्रिया भ्रमरादयः, प्रभूताः पञ्चेन्द्रिया मत्स्यादयः, इति विशेषाधिकाः ॥

इदानीं विशेषेण तदाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा पुढविकाइया दाहिणेणं, उत्तरेणं विसेसाहिया, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, पच्चच्छिमेणं विसेसाहिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा आउकाइया पच्चच्छिमेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा तेउकाइया दाहिणुत्तरेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, पच्चच्छिमेणं विसेसाहिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा वाउकाइया पुरच्छिमेणं, पच्चच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया ॥

दिगनुपातेन दिगनुसारेण, दिशोऽधिकृत्येति भावः । पृथिवीकायिकाश्चिन्त्यमानाः सर्वस्तोकाः दक्षिणस्यां दिशि । कथमिति चेत् ?, उच्यते—इह यत्र घनं तत्र बहवः पृथिवीकायिकाः, यत्र सुषिरं तत्र स्तोकाः, दक्षिणस्यां दिशि बहूनि भवनपतीनां भवनानि, बहवो नरकावासास्ततः सुषिरप्राचुर्यसंभवात्, सर्वस्तोका दक्षिणस्यां दिशि पृथिवीकायिकाः । तेभ्य उत्तरस्यां दिशि विशेषाधिकाः, यत उत्तरस्यां दिशि दक्षिणदिगपेक्षया स्तोकानि भवनानि, स्तोका नरकावासास्ततो घनप्राचुर्यसंभवाद् बहवः पृथिवीकायिका इति विशेषाधिकाः । तेभ्योऽपि पूर्वस्यां दिशि विशेषाधिकाः, रविशशिद्वीपानां तत्र भावात् । तेभ्योऽपि पश्चिमायां दिशि विशेषाधिकाः । किं कारणमिति चेत् ?, उच्यते—यावन्तो रविशशिद्वीपाः पूर्वस्यां दिशि तावन्तः पश्चिमायामपि, तत एव तावता साम्यम् । परं लवणसमुद्रे गौतमनामा द्वीपः पश्चिमायामधिकोऽस्ति, तेन विशेषाधिकाः । अत्र पर आह—ननु यथा पश्चिमायां दिशि गौतमद्वीपोऽभ्यधिकः समस्ति, तथा तस्यां पश्चिमायां दिशि अधोलौकिकग्रामा अपि योजनसहस्रावगाहाः सन्ति, ततः खातपूरितन्यायेन तत्रत्या एव पृथिवीकायिकाः प्राप्नुवन्ति, न विशेषाधिकाः । नैतदेवम् । यतोऽधोलौकिकग्रामावगाहो योजनसहस्रं, गौतमद्वीपस्य पुनः षट्सप्तत्यधिकं योजनसहस्रमुच्चैस्त्वं, विष्कम्भतस्तु द्वादश योजनसहस्राणि, यच्च मेरोरारभ्याधोलौकिकग्रामेभ्योऽर्वाक् हीनत्वं हीनतरत्वं तत्पूर्वस्यामपि दिशि प्रभूतगर्तादिसम्भवात् समानम् । ततो यद्यधोलौकिकग्रामविवरेषु त्रुटिः गौतमद्वीपेन प्रक्षिप्यते, तथापि समधिक एव प्राप्यते, न त्रुटिरिति । तेन समधिकेन विशेषाधिकाः पश्चिमायां दिशि पृथिवीकायिकाः । इह दिगनुपातेन पृथिवीकायिकानामल्पबहुत्वम् । इदानीमप्कायिकानामल्पबहुत्वमाह—दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा आउकाइया

इत्यादि) सर्वस्तोका अप्कायिकाः पश्चिमायां दिशि, गौतमद्वीपस्थाने तेषामभावात् । तेभ्योऽपि विशेषाधिकाः पूर्वस्यां दिशि, तेभ्योऽपि विशेषाधिका दक्षिणस्यां दिशि, चन्द्रसूर्यद्वीपाभावात् । तेभ्योऽप्युत्तरस्यां दिशि विशेषाधिकाः, मानससरःसद्भावात् । तेजस्कायिकानामल्पबहुत्वम्-(दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा तेउकाइया इत्यादि) तथा दक्षिणस्यामुत्तरस्यां च दिशि सर्वस्तोकाः तेजस्कायिकाः, यतो मनुष्यक्षेत्र एव बादरास्तेजस्कायिका नान्यत्र, तत्रापि यत्र बहवो मनुष्याः तत्र ते बहवो बाहुल्येन पाकारम्भसम्भवात्, यत्र स्वल्पं तत्र स्तोकाः । तत्र दक्षिणस्यां दिशि पञ्चसु भरतेषु, उत्तरस्यां दिशि पञ्चस्वैरावतेषु क्षेत्रस्याल्पत्वात् स्तोका मनुष्याः । तेषां स्तोकत्वेन तेजस्कायिका अपि स्तोकाः; स्वल्पपाकारम्भसम्भवात् । ततः सर्वस्तोका दक्षिणोत्तरयोर्दिशोः तेजस्कायिकाः; स्वस्थाने तु प्रायः समानाः । तेभ्यः पूर्वस्यां दिशि संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्य संख्येयगुणत्वात् । ततोऽपि पश्चिमायां दिशि विशेषाधिकाः, अधोलौकिकग्रामेषु मनुष्यबाहुल्यात् । इदानीं वायुकायिकानामल्पबहुत्वम्-(दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा वाउकाइया पुरच्छिमेणमित्यादि) । इह यत्र शुषिरं तत्र वायुर्यत्र च घनं तत्राभावः । तत्र पूर्वस्यां दिशि प्रचुरं घनमित्यल्पा वायवः, पश्चिमायां दिशि विशेषाधिकाः, अधोलौकिकग्रामेषु सम्भवात् । उत्तरस्यां दिशि विशेषाधिकाः, भवननरकावासबाहुल्यात् । ततोऽपि दक्षिणस्यां दिशि विशेषाधिकं, उत्तरदिगपेक्षया दक्षिणस्यां दिशि भवनानां नरकावासानां चातिप्रचुरत्वात् ।

तथा यत्र प्रभूता आपस्तत्र प्रभूताः पनकादयोऽनन्तकायिकावनस्पतयः, प्रभूताः शङ्खादयो द्वीन्द्रियाः, प्रभूताः पिपीलिकादयस्त्रीन्द्रियाः, प्रभूताः पद्मकन्दादिषु कुन्थ्वादयः त्रीन्द्रियाः, प्रभूताः पद्माद्याश्रिता भ्रमरादयश्चतुरिन्द्रिया इति ।

इदानीं वनस्पत्यादीनामल्पबहुत्वम्—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा वणस्सइकाइया पचच्छिमेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा वेइंदिया पचच्छिमेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा तेइंदिया पचच्छिमेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया । एवं चउरिंदिया वि ॥

वनस्पत्यादिसूत्राणि चतुरिन्द्रियसूत्रपर्यन्तानि अप्कायिकसूत्रवद्भावनीयानि ।

नैरयिकाणामल्पबहुत्वम्—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा णेरइया पुरच्छिमपचच्छिमेणं, उत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा रयणप्पभा पुढविणेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं, उत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा सक्करप्पभा पुढविणेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा णेरइया वालुयप्पभा पुढविपुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं [illegible] दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा पंकप्पभा पुढविणे[illegible] पच्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । [illegible] सव्वत्थोवा धूमप्पभा पुढविनेरइया पुरच्छिमपच्च[illegible] दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाणुवाएणं सव्वत्थ[illegible] पुढविनेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं, दाहि[illegible] ज्जगुणा । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा अहेसत्त[illegible] रइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असं[illegible]

नैरयिकसूत्रे सर्वस्तोकाः पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्विभा[illegible] यिकाः, पुष्पावकीर्णनरकावासानां चात्राल्पत्वात्, य[illegible] संख्येययोजनविस्तृतत्वाच्च । तेभ्यो दक्षिणदिग्भावि[illegible] संख्येयगुणाः, पुष्पावकीर्णनरकावासानां तत्र बाहुल्या[illegible] च प्रायोऽसङ्ख्येययोजनविस्तृतत्वात्, कृष्णपाक्षिका[illegible] दिशि प्राचुर्येणोत्पादाच्च । तथाहि-द्विविधा जन्तवः, [illegible] क्षिकाः, कृष्णपाक्षिकाश्च । तेषां लक्षणमिदम्-किञ्चिदूनपु[illegible] रावर्तार्द्धमात्रसंसारास्ते शुक्लपाक्षिकाः, अधिकतरसंसार[illegible] नस्तु कृष्णपाक्षिकाः उक्तञ्च-'जेसिमवड्ढो पुग्गल-परियट्टो [illegible] ओ य संसारो । ते सुक्कपक्खिया खलु, अहिए पुण कण्हपक्[illegible] ओ" ॥ १ ॥ अत एव च स्तोकाः शुक्लपाक्षिकाः, अल्पसंसा[illegible] णां स्तोकत्वात् । बहवः कृष्णपाक्षिकाः, प्रभूतसंसारिणामति[illegible] चुरत्वात् । कृष्णपाक्षिकाश्च प्राचुर्येण दक्षिणस्यां दिशि समुत्[illegible] द्यन्ते, न शेषासु दिक्षु, तथास्वाभाव्यात् । तच्च तथास्वाभा[illegible] पूर्वाचार्यैरेवं युक्तिभिरुपबृंह्यते । तद्यथा-कृष्णपाक्षिका दीर्घतरस[illegible] संसारभाजिन उच्यन्ते । दीर्घतरसंसारभाजिनश्च बहुपापोदया [illegible] भवन्ति, बहुपापोदयाश्च क्रूरकर्माणः, क्रूरकर्माणश्च प्रायस्तथा-स्वाभाव्यात् । तद्भवसिद्धिका अपि दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते, न शेषासु दिक्षु । यत उक्तम्-"पायमिह कूरकम्मा, भवसिद्धिया वि दाहिणल्लेसु । नेरइयतिरियमणुया, सुराइठाणेसु गच्छंति " ॥१॥ ततो दक्षिणस्यां दिशि बहूनां कृष्णपाक्षिकाणामुत्पादसम्भवात्, पूर्वोक्तकारणद्वयाच्च सम्भवन्ति पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविभ्यो दाक्षिणात्या असंख्येयगुणाः । यथा च सामान्यतो नैरयिकाणां दिग्विभागेनाल्पबहुत्वमुक्तमेवं प्रतिपृथिव्यपि वक्तव्यम्, युक्तेः सर्वत्रापि समानत्वात् । तदेवं प्रतिपृथिव्यपि दिग्विभागेनाल्पबहुत्वमुक्तम् ।

इदानीं सप्तापि पृथिवीरधिकृत्य दिग्विभागेनाल्पबहुत्वमाह—

दाहिणेहिंतो अहेसत्तमा पुढविनेरइएहिंतो छट्ठीए तमाए पुढवीए नेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दाहिणल्लेहिंतो तमापुढविनेरइएहिंतो पंचमा धूमप्पभाए पुढवीए नेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दाहिणल्लेहिंतो धूमप्पभा पुढविनेरएहिंतो चउत्थिए पंकप्पभाए पुढवीए णेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दाहिणल्लेहिंतो पंकप्पभापुढविनेरइएहिंतो [illegible]

संखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा। दाहिणिल्लेहिंतो वालुयप्पभापुढविनेरइएहिंतो बीयाए सक्करप्पभाए पुढवीए नेरइया पुरच्छिमपच्चत्थिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा। दाहिणिल्लेहिंतो सक्करप्पभा पुढविनेरइएहिंतो इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए नेरइया पुरच्छिमपच्चत्थिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

व्यन्तराणामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा वाणमंतरा देवा पुरच्छिमेणं, पच्चत्थिमेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया।

व्यन्तरसूत्रे भावना—यत्र शुषिरं तत्र व्यन्तराः प्रचुराः, यत्र घनं तत्र न। ततः पूर्वस्यां दिशि घनत्वात् स्तोका व्यन्तराः, तेभ्योऽपरस्यां दिशि विशेषाधिकाः, अधोलौकिकग्रामेषु शुषिरसम्भवात्। तेभ्योऽप्युत्तरस्यां दिशि विशेषाधिकाः, स्वस्थानतया नगरावासबाहुल्यात्। तेभ्योऽपि दक्षिणस्यां दिशि विशेषाधिकाः, अतिप्रभूतनगरावासबाहुल्यात्।

ज्योतिष्काणामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा जोइसिया देवा पुरच्छिमपच्चत्थिमेणं, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया।

तत्र सर्वस्तोका ज्योतिष्काः पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि, चन्द्रादित्यद्वीपेषूद्यानकल्पेषु कतिपयानामेव तेषां भावात्। तेभ्योऽपि दक्षिणस्यां दिशि विशेषाधिकाः, विमानबाहुल्यात्, कृष्णपाक्षिकाणां दक्षिणदिग्भागे [illegible]। तेभ्योऽप्युत्तरस्यां दिशि विशेषाधिकाः, यतो मानसे सरसि बहवो ज्योतिष्काः क्रीडास्थानमिति क्रीडनपरायणा नित्यमासते। मानससरसि च ये मत्स्यादयो जलचरास्ते आसन्नविमानदर्शनतः समुत्पन्नजातिस्मरणाः किञ्चिद्व्रतं प्रतिपद्याऽनशनादि च कृत्वा [illegible]। ततो दाक्षिणात्येभ्यः विशेषाधिकाः।

वैमानिकानामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा सोहम्मे कप्पे पुरच्छिमपच्चत्थिमेणं, उत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं विसेसाहिया। दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा ईसाणे कप्पे पुरच्छिमपच्चत्थिमेणं, उत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं विसेसाहिया। दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा सणंकु

मानानां बाहुल्यादसंख्येयगुणत्वमुक्तम्। तेभ्योऽपि दक्षिणस्यां दिशि विशेषाधिकाः, कृष्णपाक्षिकाणां प्राचुर्येण तत्र गमनात्। एवमीशानसनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पसूत्राण्यपि भावनीयानि। ब्रह्मलोककल्पे सर्वस्तोकाः पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनो देवाः, यतो बहवः कृष्णपाक्षिकास्तिर्यग्योनयो दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते। शुक्लपाक्षिकाः पुनः पूर्वोत्तरपश्चिमासु, शुक्लपाक्षिकाश्च स्तोका इति पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनः सर्वस्तोकाः। तेभ्यो दक्षिणस्यां दिशि असंख्येयगुणाः, कृष्णपाक्षिकाणां बहूनां तत्रोत्पादात्। एवं लान्तकशुक्रसहस्रारसूत्राण्यपि भावनीयानि। आनतादिषु पुनर्मनुष्या एवोत्पद्यन्ते, तेन प्रतिकल्पं प्रतिग्रैवेयकं प्रत्यनुत्तरविमानं चतसृष्वपि दिक्षु प्रायो बहुसमा वेदितव्याः। तथा चाऽऽह—"तेण परं बहुसमोववन्नगा समणाउसो" इति॥

इदानीं सिद्धानामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा सिद्धा दाहिणउत्तरेणं, पुरच्छिमेणं संखेज्जगुणा, पच्चच्छिमेणं विसेसाहिया॥

सर्वस्तोकाः सिद्धा दक्षिणस्यामुत्तरस्यां च दिशि। कथमिति चेत्?, उच्यते—इह मनुष्या एव सिद्ध्यन्ति नान्ये, मनुष्या अपि सिद्ध्यन्तो येष्वाकाशप्रदेशेष्विह चरमसमये अवगाढास्तेष्वेवाकाशप्रदेशेषूर्ध्वमपि गच्छन्ति, तत्रैव चोपर्यवतिष्ठन्ते, न मनागपि वक्रं गच्छन्ति, सिद्ध्यन्ति च, तत्र दक्षिणस्यां दिशि पञ्चसु भरतेषूत्तरस्यां दिशि पञ्चस्वैरावतेषु मनुष्या अल्पाः, क्षेत्रस्याल्पत्वात्। सुषमसुषमादौ च सिद्ध्यभावादिति। भरतैरावतसिद्धाः सर्वस्तोकाः, तेभ्यः पूर्वस्यां दिशि संख्येयगुणाः, पूर्वविदेहानां भरतैरावतक्षेत्रेभ्यः संख्येयगुणतया तद्गतमनुष्याणामपि संख्येयगुणत्वात्, तेषां च सर्वकालं सिद्धिभावात्। तेभ्यः पश्चिमायां दिशि विशेषाधिकाः, अधोलौकिकग्रामेषु मनुष्यबाहुल्यात्। प्रज्ञा० ३ पद।

भव्यद्रव्यदेवादीनाम्—

एएसि णं भंते! भवियदव्वदेवाणं णरदेवाणं० जाव भावदेवाण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा? गोयमा! सव्वत्थोवा णरदेवा, देवाहिदेवा संखेज्जगुणा, धम्मदेवा संखेज्जगुणा, भवियदव्वदेवा असंखेज्जगुणा, भावदेवा असंखेज्जगुणा॥

भरतैरवतेषु प्रत्येकं द्वादशानामेव तेषामुत्पत्तेर्विजयेषु च वासुदेवसम्भवात्, सर्वेषु कदाऽप्युत्पत्तेरिति। (देवाहिदेवा संखेज्जगुण त्ति) भरतादिषु प्रत्येकं तेषां चक्रवर्तिभ्यो द्विगुणतयोत्पत्तेर्विजयेषु च वासुदेवाक्रान्तेष्वप्युत्पत्तेरिति। (धम्मदेवा संखेज्जगुण त्ति) साधूनामेकदाऽपि कोटिसहस्रपृथक्त्वसद्भावादिति। (भवियदव्वदेवा असंखेज्जगुण त्ति) देशविरतादीनां देवगतिगामिनामसंख्यातत्वात्। (भावदेवा असंखेज्जगुण त्ति) स्वरूपेणैव तेषामतिबहुत्वादिति।

अथ भावदेवविशेषाणां भवनवास्यादीनामल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं भंते! भावदेवाणं भवणवासीणं वाणमंतराणं जोइसियाणं वेमाणियाणं सोहम्मगाणं, जाव अच्चुयगाणं गेवेज्जगाणं अणुत्तरोववाइयाण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा? गोयमा! सव्वत्थोवा अणुत्तरोववाइया भावदेवा, उवरिमगेवेज्जा भावदेवा संखेज्जगुणा, मज्झिमगेवेज्जा संखेज्जगुणा, हेट्ठिमगेवेज्जा संखेज्जगुणा, अच्चुयकप्पे देवा संखेज्जगुणा, जाव आणयकप्पे भावदेवा। एवं जहा जीवाभिगमे तिविहे देवपुरिसअप्पाबहुयं० जाव जोइसिया भावदेवा असंखेज्जगुणा॥

(जहा जीवाभिगमे तिविहे इत्यादि) इह च "तिविहे" त्ति त्रिविधजीवाधिकार इत्यर्थः। देवपुरुषाणामल्पबहुत्वमुक्तं तथेहापि वाच्यम्। भ० १२ श० ९ उ०। (नव २८ अधिकारे वेदद्वारे वक्ष्यते) (निगोदविषयं 'णिगोद' शब्दे दर्शयिष्यते) (कायादिपरिचारकाणामल्पबहुत्वं 'परिचारणा' शब्दे निरूपयिष्यते)

(१८) [परीत्तद्वारम्] परीत्तापरीत्तनोपरीत्तानामल्पबहुत्वम्—

एएसि णं भंते! जीवाणं परित्ताणं अपरित्ताणं नोपरित्ताणं नोअपरित्ताण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४? गोयमा! सव्वत्थोवा जीवा परित्ता, नोपरित्ता नोअपरित्ता अणंतगुणा, अपरित्ता अणंतगुणा।

इह परीत्ता द्विविधाः—भवपरीत्ताः, कायपरीत्ताश्च। तत्र भवपरीत्ता येषां किञ्चिदूनापार्द्धपुद्गलपरावर्त्तमात्रः संसारः; कायपरीत्ताः प्रत्येकशरीरिणः, तत्र उभयेऽपि परीत्ताः सर्वस्तोकाः, शुक्लपाक्षिकाणां प्रत्येकशरीरिणां च शेषजीवराश्यपेक्षया अल्पत्वात्। तेभ्यो नोपरीत्ता नोअपरीत्ता अनन्तगुणाः, उभयप्रतिषेधवर्त्तिनो हि सिद्धाः, ते चानन्ता इति। तेभ्योऽपरीत्ता अनन्तगुणाः, कृष्णपाक्षिकाणां साधारणवनस्पतीनां च सिद्धेभ्योऽनन्तगुणत्वात्। गतं परीत्तद्वारम्।

(१९) [पर्याप्तद्वारम्] पर्याप्तापर्याप्तनोपर्याप्तनोअपर्याप्तानामल्पबहुत्वम्—

एएसि णं भंते! जीवाणं पज्जत्ताणं अपज्जत्ताणं नोपज्जत्तानोअपज्जत्ताण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४? गोयमा! सव्वत्थोवा जीवा नोपज्जत्ता नोअपज्जत्ता, अपज्जत्तगा अणंतगुणा, पज्जत्तगा संखेज्जगुणा।

सर्वस्तोका नोपर्याप्तका नोअपर्याप्तकाः, उभयप्रतिषेधवर्त्तिनो हि सिद्धाः, ते चापर्याप्तकादिभ्यः सर्वस्तोका इति। तेभ्योऽपर्याप्तका अनन्तगुणाः, साधारणवनस्पतीनां सिद्धेभ्योऽनन्तगुणानां सर्वदाऽपर्याप्तत्वेन लभ्यमानत्वात्। तेभ्यः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः, इह सर्वबहवो जीवाः सूक्ष्माः, सूक्ष्माश्च सर्वकालमपर्याप्तेभ्यः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः, इति संख्येयगुणा उक्ताः। गतं पर्याप्तद्वारम्। प्रज्ञा० ३ पद।

(२०) [पुद्गलद्वारम्] पुद्गलानां क्षेत्रानुपातेनाल्पबहुत्वमाह—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा पोग्गला तेलुक्के, उड्ढलोयतिरियलोए अणंतगुणा, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, उड्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया॥

इहाल्पबहुत्वं पुद्गलानां [illegible] क्षेत्रानुपातेन [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

संखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दाहिणिल्लेहिंतो वालुयप्पभापुढविणेरइएहिंतो वीयाए सक्करप्पभाए पुढवीए णेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दाहिणिल्लेहिंतो सक्करप्पभापुढविणेरइएहिंतो इमी से रयणप्पभाए पुढवीए णेरइया पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।

सप्तमपृथिव्यां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्विभाविभ्यो नैरयिकेभ्यो ये सप्तमपृथिव्यामेव दाक्षिणात्यास्तेऽसंख्येयगुणाः, तेभ्यः षष्ठपृथिव्यां तमःप्रभाभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्विभाविभ्यो-ऽसंख्येयगुणाः । कथमिति चेत् ?, उच्यते-इह सर्वोत्कृष्टपापकारिणः संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याः, सप्तमनरकपृथिव्यामुत्पद्यन्ते । किञ्चिद्धीनहीनतरपापकर्मकारिणश्च षष्ठ्यादिषु पृथ्वीषु सर्वोत्कृष्टपापकर्मकारिणश्च सर्वस्तोकाः [illegible] किञ्चिद्धीनतरादिपापकर्मकारिणः, ततो युक्तमसंख्येयगुणत्वं सप्तमपृथिवीदाक्षिणात्यनारकापेक्षया षष्ठपृथिव्यां पूर्वोत्तरपश्चिमनारकाणाम् । एवमुत्तरोत्तरपृथिवीष्वपि [illegible] भावनीयम् । तेभ्योऽपि तस्यामेव षष्ठपृथिव्यां दक्षिणस्यां दिशि नारका असंख्येयगुणाः । [illegible] । तेभ्योऽपि पञ्चमपृथिव्यां धूमप्रभाभिधानायां पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनोऽसंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तस्यामेव पञ्चमपृथिव्यां दाक्षिणात्या असंख्येयगुणाः एवं सर्वास्वपि क्रमेण वाच्यम् ।

पञ्चेन्द्रियतिरश्चामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा पंचिंदियतिरिक्खजोणिया पच्चच्छिमेणं, पुरच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया ।

[illegible]

मनुष्याणामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा मणुस्सा दाहिणउत्तरेणं, पुरच्छिमेणं संखेज्जगुणा, पच्चच्छिमेणं विसेसाहिया ।

[illegible] तेभ्यः पूर्वस्यां दिशि [illegible] । तेभ्योऽपि पश्चिमायां दिशि [illegible] मनुष्य- [illegible] ।

भवनवासिनामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा भवणवासी देवा पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं, उत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा ।

[illegible]

व्यन्तराणामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा वाणमंतरा देवा पुरच्छिमेणं, पच्चच्छिमेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया ।

व्यन्तरसूत्रे भावना-यत्र शुषिरं तत्र व्यन्तराः प्रचरन्ति, यत्र घनं तत्र न । ततः पूर्वस्यां दिशि घनत्वात् स्तोका व्यन्तराः, तेभ्योऽपरस्यां दिशि विशेषाधिकाः, अधोलौकिकग्रामेषु शुषिरसम्भवात् । तेभ्योऽप्युत्तरस्यां दिशि विशेषाधिकाः, स्वस्थानतया नगरावासबाहुल्यात् । तेभ्योऽपि दक्षिणस्यां दिशि विशेषाधिकाः, अतिप्रभूतनगरावासबाहुल्यात् ।

ज्योतिष्काणामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा जोइसिया देवा पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया ॥

तथा सर्वस्तोका ज्योतिष्काः, पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि चन्द्रादित्यद्वीपेषूद्यानकल्पेषु कतिपयानामेव तेषां भावात् । तेभ्योऽपि दक्षिणस्यां दिशि विशेषाधिकाः, विमानबाहुल्यात् कृष्णपाक्षिकाणां दक्षिणदिग्भागिनां च । तेभ्योऽप्युत्तरस्यां दिशि विशेषाधिकाः, यतो मानसे सरसि बहवो ज्योतिष्काः क्रीडास्थानमिति क्रीडनव्यापृताः नित्यमासते । मानससरसि च ये मत्स्यादयो जलचरास्ते आसन्नविमानदर्शनतः समुत्पन्नजातिस्मरणात् किञ्चिद्व्रतं प्रतिपद्याऽनशनादि च कृत्वा कृतनिदानास्तत्रोत्पद्यन्ते । ततो जघन्यतोऽपि दाक्षिणात्येभ्यो विशेषाधिकाः ।

वैमानिकानामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा सोहम्मे कप्पे पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं, उत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं विसेसाहिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा ईसाणे कप्पे पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं, उत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं विसेसाहिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा सणंकुमारे कप्पे पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं, उत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं विसेसाहिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा माहिंदे कप्पे पुरच्छिमेणं पच्चच्छिमेणं, उत्तरेणं असंखेज्जगुणा, दाहिणेणं विसेसाहिया । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा बंभलोए कप्पे देवा पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाणुवाएणं लंतए कप्पे देवा पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा महासुक्के कप्पे पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा देवा सहस्सारे कप्पे पुरच्छिमपच्चच्छिमउत्तरेणं, दाहिणेणं असंखेज्जगुणा । तेण परं बहुसमोववन्नगा समणाउसो ! ।

तथा सौधर्मे कल्पे सर्वस्तोकाः पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि वैमानिका देवाः, [illegible] सर्वस्तोकाः पूर्वस्यां पश्चिमायां च दिशि [illegible]

मानानां बाहुल्यादसंख्येययोजनविस्तृतत्वाच्च । तेभ्योऽपि दक्षिणस्यां दिशि विशेषाधिकाः, कृष्णपाक्षिकाणां प्राचुर्येण तत्र गमनात् । एवमीशानसनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पसूत्राण्यपि भावनीयानि । ब्रह्मलोककल्पे सर्वस्तोकाः पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनो देवा, यतो बहवः कृष्णपाक्षिकास्तिर्यग्योनयो दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते । शुक्लपाक्षिकाः पुनः पूर्वोत्तरपश्चिमासु, शुक्लपाक्षिकाश्च स्तोका इति पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनः सर्वस्तोकाः । तेभ्यो दक्षिणस्यां दिशि असंख्येयगुणाः, कृष्णपाक्षिकाणां बहूनां तत्रोत्पादात् । एवं लान्तकशुक्रसहस्रारसूत्राण्यपि भावनीयानि । आनतादिषु पुनर्मनुष्या एवोत्पद्यन्ते, तेन प्रतिकल्पं प्रतिग्रैवेयकं प्रत्यनुत्तरविमानं चतसृषु दिक्षु प्रायो बहुसमा वेदितव्याः । तथा चाऽऽह-" ठेण परं बहुसमोववन्नगा समणाउसो " इति ॥

इदानीं सिद्धानामल्पबहुत्वमाह-

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा सिद्धा दाहिणउत्तरेणं, पुरच्छिमेणं संखेज्जगुणा, पच्चच्छिमेणं विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोकाः सिद्धाः दक्षिणस्यामुत्तरस्यां च दिशि । कथमिति चेत् ?, उच्यते-इह मनुष्या एव सिद्ध्यन्ति नान्ये, मनुष्या अपि सिद्ध्यन्तो येष्वाकाशप्रदेशेष्विह चरमसमये अवगाढास्तेष्वेवाकाशप्रदेशेषूर्ध्वमपि गच्छन्ति, तेष्वेव चोपर्यवतिष्ठन्ते, न मनागपि वक्रं गच्छन्ति, सिद्ध्यन्ति च, तत्र दक्षिणस्यां दिशि पञ्चसु भरतेषूत्तरस्यां दिशि पञ्चस्वैरवतेषु मनुष्या अल्पाः, क्षेत्रस्याल्पत्वात् । सुषमसुषमादौ च सिद्धेरभावादिति । ततोऽत्र सिद्धाः सर्वस्तोकाः, तेभ्यः पूर्वस्यां दिशि संख्येयगुणाः, पूर्वविदेहानां भरतैरवतक्षेत्रेभ्यः संख्येयगुणतया तद्गतमनुष्याणामपि संख्येयगुणत्वात्, तेषां च सर्वकालं सिद्धिभावात् । तेभ्यः पश्चिमायां दिशि विशेषाधिकाः, अधोलौकिकग्रामेषु मनुष्यबाहुल्यात् । प्रज्ञा० ३ पद ।

भव्यदेवादीनाम्—

एएसि णं भंते ! भवियदव्वदेवाणं णरदेवाणं० जाव भावदेवाण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा णरदेवा, देवाहिदेवा संखेज्जगुणा, धम्मदेवा संखेज्जगुणा, भवियदव्वदेवा असंखेज्जगुणा, भावदेवा असंखेज्जगुणा ॥

भरतैरवतेषु प्रत्येकं द्वादशानामेव तेषामुत्पत्तेर्विजयेषु च वासुदेवसम्भवात्; सर्वेष्वेकदाऽनुत्पत्तेरिति । (देवाहिदेवा संखेज्जगुण त्ति) भरतादिषु प्रत्येकं तेषां चक्रवर्तिभ्यो द्विगुणतयोत्पत्तेर्विजयेषु च वासुदेवोपेतेष्वप्युत्पत्तेरिति । (धम्मदेवा संखेज्जगुण त्ति) साधूनामेकदाऽपि कोटिसहस्रपृथक्त्वसद्भावादिति । (भवियदव्वदेवा असंखेज्जगुण त्ति) देशविरतादीनां देवगतिगामिनामसंख्यातत्वात् । (भावदेवा असंखेज्जगुण त्ति) स्वरूपेणैव तेषामतिबहुत्वादिति ।

अथ भावदेवविशेषाणां भवनपत्यादीनामल्पबहुत्वप्ररूपणायाह-

एएसि णं भंते ! भावदेवाणं भवणवासीणं वाणमंतराणं जोइसियाणं वेमाणियाणं सोहम्मगाणं, जाव अच्चुयगाणं गेवेज्जगाणं अणुत्तरोववाइयाण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा अणुत्तरोववाइया भावदेवा, उवरिमगेवेज्जा भावदेवा संखेज्जगुणा, मज्झिमगेवेज्जा संखेज्जगुणा, हेट्ठिमगेवेज्जा संखेज्जगुणा, अच्चुयकप्पे देवा संखेज्जगुणा, जाव आणतकप्पे भावदेवा । एवं जहा जीवाभिगमे तिविहे देवपुरिसअप्पाबहुयं० जाव जोइसिया भावदेवा असंखेज्जगुणा ॥

(जहा जीवाभिगमे तिविहे इत्यादि) इह च "तिविहे त्ति" त्रिविधजीवाधिकार इत्यर्थः । देवपुरुषाणामल्पबहुत्वमुक्तं तथेहापि वाच्यम् । भ० १२ श० ६ उ० । (तच्च २८ अधिकारे वेदद्वारे वक्ष्यते) (निगोदविषयं 'णिगोद' शब्दे दर्शयिष्यते) (कायादिपरिचारकाणामल्पबहुत्वं ' परियारणा ' शब्दे निरूपयिष्यते)

(१८) [परीत्तद्वारम्] परीत्तापरीत्तनोपरीत्तानामल्पबहुत्वम्-

एएसि णं भंते ! जीवाणं परित्ताणं अपरित्ताणं नोपरित्ताणं नोअपरित्ताण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा परित्ता , नोपरित्ता नोअपरित्ता अणंतगुणा, अपरित्ता अणंतगुणा ।

इह परीत्ता द्विविधाः-भवपरीत्ताः, कायपरीत्ताश्च । तत्र भवपरीत्ता येषां किञ्चिदूनाऽपार्धपुद्गलपरावर्त्तमानसंसारः ; कायपरीत्ताः प्रत्येकशरीरिणः, तत्र उभयेऽपि परीत्ताः सर्वस्तोकाः, शुक्लपाक्षिकाणां प्रत्येकशरीरिणां च शेषजीवापेक्षयाऽतिस्तोकत्वात् । ततो नोपरीत्ता नोअपरीत्ता अनन्तगुणाः, उभयप्रतिषेधवृत्ताश्च सिद्धाः,ते चानन्ता इति । तेभ्योऽपरीत्ता अनन्तगुणाः, कृष्णपाक्षिकाणां साधारणवनस्पतीनां वा सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । गतं परीत्तद्वारम् ।

(१९) [पर्याप्तद्वारम्] पर्याप्तापर्याप्तनोपर्याप्तानामल्पबहुत्वम्—

एएसि णं भंते जीवाणं पज्जत्ताणं अपज्जत्ताणं नोपज्जत्ताणं नोअपज्जत्ताण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा नोपज्जत्तगा नोअपज्जत्तगा, अपज्जत्तगा अणंतगुणा, पज्जत्तगा संखेज्जगुणा ।

सर्वस्तोका नोपर्याप्तका नोअपर्याप्तकाः, उभयप्रतिषेधवर्तिनो हि सिद्धाः, ते चापर्याप्तकादिभ्यः सर्वस्तोका इति । तेभ्योऽपर्याप्तका अनन्तगुणाः, साधारणवनस्पतिकायिकानां सिद्धेभ्योऽनन्तगुणानां सर्वकालमपर्याप्तत्वेन लभ्यमानत्वात् । तेभ्यः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः, इह सर्वबहवो जीवाः सूक्ष्माः, सूक्ष्माश्च सर्वकालमपर्याप्तेभ्यः पर्याप्ताः संख्येयगुणाः, इति संख्येयगुणा उक्ताः । गतं पर्याप्तद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद ।

(२०) [पुद्गलद्वारम्] पुद्गलानां क्षेत्रानुपातादिभिरल्पबहुत्वमाह—

खेत्ताणुवाएणं सव्वत्थोवा पोग्गला तेलुक्के, उड्ढलोयतिरियलोए अणंतगुणा, अहोलोयतिरियलोए विसेसाहिया, तिरियलोए असंखेज्जगुणा, उड्ढलोए असंखेज्जगुणा, अहोलोए विसेसाहिया ॥

इदमल्पबहुत्वं पुद्गलानां द्रव्यार्थत्वमङ्गीकृत्य व्याख्येयम्, तथासम्प्रदायात् । तत्र क्षेत्रानुपातेन क्षेत्रानुसारेण चिन्त्यमानाः पुद्गलाः त्रैलोक्ये त्रैलोक्यसंस्पर्शिनः सर्वस्तोकाः, सर्वस्तोकानि त्रैलोक्यव्यापीनीति पुद्गलद्रव्याणीति भावः । यस्मान्महास्कन्धा एव त्रैलोक्यव्यापिनस्ते चाल्पा इति । तेभ्य ऊर्ध्वलोकति-

र्यग्लोके अनन्तगुणाः,यतस्तिर्यग्लोकस्य यत्सर्वोपरितनमेकप्रादेशिकं प्रतरं यच्चोर्ध्वलोकस्य सर्वाधस्तनमेकप्रादेशिकं प्रतरमेते द्वे अपि प्रतरे ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोक उच्यते । ते चाऽनन्ताः संख्येयप्रदेशिकाः,अनन्ता असंख्येयप्रदेशिकाः,अनन्ता अनन्तप्रदेशिकाः, स्कन्धाः स्पृशन्तीति द्रव्यार्थतया अनन्तगुणाः । तेभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोके प्रागुक्तप्रकारेण प्रतरद्वयरूपे विशेषाधिकाः, क्षेत्रस्य आयामविष्कम्भाभ्यां मनाग् विशेषाधिकत्वात् । तेभ्यस्तिर्यग्लोके असंख्येयगुणाः, क्षेत्रस्याऽसंख्येयगुणत्वात् । तेभ्य ऊर्ध्वलोके असंख्येयगुणाः, यतस्तिर्यग्लोकक्षेत्रादूर्ध्वलोकक्षेत्रमसंख्येयगुणमिति । तेभ्योऽधोलोके विशेषाधिकाः, ऊर्ध्वलोकादधोलोकस्य विशेषाधिकत्वात् । देशोनसप्तरज्जुप्रमाणो ह्यूर्ध्वलोकः, समधिकसप्तरज्जुप्रमाणस्त्वधोलोकः ।

सम्प्रति दिगनुपातेनाल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा पोग्गला उड्ढदिसाए, अहोदिसाए विसेसाहिया, उत्तरपुरच्छिमेणं दाहिणपच्चच्छिमेण य दो वि तुल्ला असंखेज्जगुणा, दाहिणपुरच्छिमेणं उत्तरपच्चच्छिमेण य दो वि तुल्ला विसेसाहिया, पुरच्छिमेणं असंखेज्जगुणा, पच्चच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया ।

दिगनुपातेन दिगनुसारेण चिन्त्यमानाः पुद्गलाः सर्वस्तोका ऊर्ध्वदिशि, इह [illegible] एकप्रादेशिको [illegible] ऊर्ध्वं दिक् यावल्लोकान्तः । [illegible] पुद्गलाः, तेभ्योऽधोदिशि विशेषाधिकाः, [illegible] । [illegible] [illegible]

[illegible]

उड्ढलोए असंखेज्ज०, अहोलोए अणंतगुणाइं, तिरियलोए संखिज्जगुणाइं ।

क्षेत्रानुपातेन चिन्त्यमानानि द्रव्याणि सर्वस्तोकानि त्रैलोक्यस्पर्शीनि,यतो धर्मास्तिकायाऽधर्मास्तिकायाऽऽकाशास्तिकायद्रव्याणि पुद्गलास्तिकायस्य महास्कन्धा जीवास्तिकायस्य [illegible] समुदायेनातीवसमयद्रव्यता जीवास्त्रैलोक्यव्यापिन इ[illegible] इति सर्वस्तोकानि । तेभ्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोके प्रागुक्तस्वरूपे प्रतरद्वयात्मके अनन्तगुणानि, अनन्तैः पुद्गलद्रव्यैरनन्तैर्जीवद्रव्यै[illegible]स्य संस्पर्शनात् । तेभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोके विशेषाधिकानि, अधोलोकतिर्यग्लोकादधोलोकतिर्यग्लोकस्य मनाग्विशेषाधिकत्वात् । तेभ्य ऊर्ध्वलोके असंख्येयगुणानि,क्षेत्रस्याऽसंख्येयगुणत्वात् । तेभ्योऽधोलोके अनन्तगुणानि । कथमिति चेत्?, [illegible] ह्यधोलौकिकग्रामेषु कालोऽस्ति,तस्य च कालस्य तत्तत्[illegible] संख्येयाऽसंख्येयानन्तप्रादेशिकद्रव्यक्षेत्रकालभावपर्यायसं[illegible] प्रतिपरमाण्वादिद्रव्यमनन्तता, ततो भवन्त्यधोलोके अनन्तगुणानि, तेभ्यस्तिर्यग्लोकेऽसंख्येयगुणानि, [illegible] समप्रमाणानां खण्डानां मनुष्यलोके कालद्रव्याधारभूते [illegible] यानामवाप्यमानत्वात् ।

साम्प्रतं दिगनुपातेन सामान्यतो द्रव्याणामल्पबहुत्व[illegible]—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवाइं दव्वाइं अहेदिसाए, उड्ढदिसाए अणंतगुणाइं, उत्तरपुरच्छिमेणं दाहिणपच्चच्छिमेणं दो वि तुल्लाइं असंखेज्जगुणाइं, दाहिणपुरच्छिमेणं उत्तरपच्चच्छिमेण य दो वि तुल्लाइं विसेसाहियाइं, पुरच्छिमेणं असंखेज्जगुणाइं, पच्चच्छिमेणं विसेसाहियाइं, दाहिणेणं विसेसाहियाइं, उत्तरेणं विसेसाहियाइं ।

दिगनुपातेन दिगनुसारेण चिन्त्यमानानि सामान्यतो द्रव्याणि सर्वस्तोकानि अधोदिशि [illegible] ऊर्ध्वदिश्यनन्तगुणानि । किं कारणमिति चेत्?, उच्यते- इह ऊर्ध्वलोके मेरोः पञ्चयोजनशतिकं स्फाटिकमयं काण्डं, तत्र [illegible] [illegible] द्रव्याणां [illegible] प्रागुक्तनीत्या प्रतिपरमाण्वादिद्रव्यमनन्तत्वात् । तेभ्यः [illegible] [illegible] असंख्येयानि, क्षेत्रस्यासंख्येयगुणत्वात् । [illegible] तु द्वयान्यपि परस्परं तुल्यानि, समानक्षेत्रत्वात् । तेभ्यः [illegible] [illegible] विशेषाधिकानि, [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] दिशि असंख्येयगुणानि, क्षेत्रस्यासंख्येयगुणत्वात् । [illegible] विशेषाधिकानि, [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible]

[illegible]

[illegible] भंते ! परमाणुपोग्गलाणं संखिज्जपएसियाणं असंखिज्जपएसियाणं अणंतपएसियाण य खंधाणं दव्व-

-एसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा
वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा दव्व-
ट्ठयाए,परमाणुपोग्गला दव्वट्ठयाए अणंतगुणा, संखेज्जपदे-
सिया खंधा दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपदेसिया
खंधा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, पदेसट्ठयाए सव्वत्थो-
वा अणंतपदेसिया खंधा, पदेसट्ठयाए परमाणुपोग्गला अ-
णंतगुणा, संखेज्जपदेसिया खंधा पदेसट्ठयाए संखेज्जगुणा,
असंखेज्जपएसिया खंधा पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, द-
व्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा, दव्व-
ट्ठयाए ते चेव, पदेसट्ठयाए अणंतगुणा, परमाणुपोग्गला
दव्वट्ठपदेसट्ठयाए अणंतगुणा, संखिज्जपदेसिया खंधा
दव्वट्ठयाए संखिज्जगुणा, ते चेव य पदेसट्ठयाए सं-
खिज्जगुणा, असंखिज्जपएसिया खंधा दव्वट्ठयाए असं-
खिज्जगुणा, ते चेव पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा ॥

...व्याख्यानं प्राग्वत् । नवरमत्राल्पबहुत्वभावनायां सर्वत्र
...व्याख्यानाद्यं कारणं वाच्यम् ।

सम्प्रत्येतेषामेव क्षेत्रप्राधान्येनाल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं भंते ! एगपएसोगाढाणं संखेज्जपएसोगाढाणं
असंखिज्जपएसोगाढाण य पोग्गलाणं दव्वट्ठयाए पदेसट्ठ-
याए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गो-
यमा ! सव्वत्थोवा एगपदेसोवगाढा पुग्गला दव्वट्ठयाए,सं-
खिज्जपएसोवगाढा पुग्गला दव्वट्ठयाए संखिज्जगुणा, असं-
खिज्जपदेसोवगाढा पोग्गला दव्वट्ठयाए असंखिज्जगुणा;
पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा एगपदेसोवगाढा पोग्गला,पदेसट्ठयाए
संखिज्जपदेसोगाढा पोग्गला,पदेसट्ठयाए संखेज्जगुणा,असं-
खेज्जपदेसोगाढा पोग्गला पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा,
दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा एगपदेसोगाढा पोग्गला,दव्व-
ट्ठपदेसट्ठयाए संखेज्जपदेसोगाढा पोग्गला दव्वट्ठयाए
संखेज्जगुणा, ते चेव पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा, असं-
खिज्जपएसोगाढा पोग्गला दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, ते
चेव पएसट्ठयाए असंखिज्जगुणा । एएसि णं भंते !
एगसमयट्ठितीयाणं संखिज्जसमयट्ठितीयाणं असंखि-
ज्जसमयट्ठितीयाण य पोग्गलाणं दव्वट्ठयाए पदेसट्ठ-
याए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०
४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा एगसमयट्ठिईया पोग्गला
दव्वट्ठयाए, संखेज्जसमयट्ठितीया पोग्गला दव्वट्ठयाए सं-
खेज्जगुणा, असंखिज्जसमयट्ठिईया पोग्गला दव्वट्ठयाए
असंखिज्जगुणा, पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा एगसमयट्ठि-
ईया पोग्गला, पदेसट्ठयाए संखेज्ज-
पएसट्ठयाए संखिज्जगुणा, असं-
-ज्जा पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्व-
त्थोवा एगसमयट्ठिईया पुग्गला,दव्वट्ठपएसट्ठयाए संखेज्ज-
समयट्ठिईया पोग्गला दव्वट्ठयाए संखिज्जगुणा, ते चेव
पदेसट्ठयाए संखिज्जगुणा, असंखिज्जसमयट्ठिईया पो-
ग्गला दव्वट्ठयाए असंखिज्जगुणा, ते चेव पदेसट्ठयाए
असंखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! एगगुणकालगाणं सं-
खिज्जगुणकालगाणं असंखेज्जगुणकालगाणं अणंतगुण-
कालगाण य पोग्गलाणं दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपदे-
सट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! ज-
परमाणुपोग्गला तहा जाणियव्वा । एवं संखेज्जगुणकाल-
याण वि । एवं सेसाण वि वण्णरसगंधा जाणियव्वा-
फासाणं कक्खडमउयगरुयलहुयाणं जहा एगपदे-
गाढाणं जाणियं तहा जाणियव्वं, अवसेसा फासा
वण्णा भणिया तहा जाणियव्वा ॥

इह क्षेत्राधिकारतः क्षेत्रस्य प्राधान्यात्परमाण्वाद्यनन्त-
स्कन्धा अपि विवक्षितैकप्रदेशावगाढा आधाराधेययोर
धारादेकद्रव्यत्वेन व्यवह्रियन्ते । ते इत्थंभूता एकप्रदेशा-
पुद्गलाः पुद्गलद्रव्याणि सर्वस्तोकानि,लोकाकाशप्रदेशप्र-
स्वर्थः।नहि स कश्चिदेवंभूत आकाशप्रदेशोऽस्ति,य ए-
वगाहनपरिणामपरिणतानां परमाण्वादीनामवकाशप्र-
णामेन परिणतो न वर्तते इति । तेभ्यः संख्येयप्रदेश-
पुद्गला द्रव्यार्थतया संख्येयगुणाः । कथमिति चेत् ।
इहापि क्षेत्रस्य प्राधान्याद् द्व्यणुकाद्यनन्ताणुकस्क-
शावगाढा एकद्रव्यत्वेन विवक्ष्यन्ते, तानि च तथा-
सद्द्रव्याणि पूर्वोक्तेभ्यः संख्येयगुणानि । तथाहि-सर्व-
स्तस्यतोऽसंख्येया अपि असत्कल्पनया दश परिक-
प्रत्येकचिन्तायां दर्शयन्ति दश एकप्रदेशावगाढानि
णि सन्त्यानि, तेष्वेव दशसु प्रदेशेष्वन्यप्रदेशाभ्
बहवो द्विकसंयोगा लभ्यन्ते, इति भवन्त्येकप्रदेशा-
प्रदेशावगाढानि पुद्गलद्रव्याणि संख्येयगुणानि ।
त्रिप्रदेशावगाढानि । एवमुत्तरोत्तरं यावदुत्कृष्ट-
गाढानि।ततः स्थितमेतत्-एकप्रदेशावगाढेभ्य-
वगाढपुद्गला द्रव्यार्थतया संख्येयगुणा इति ।
ख्येयप्रदेशावगाढाः पुद्गला द्रव्यार्थतयाऽसंख्येय-
तस्य असंख्यातभेदभिन्नत्वात् । प्रदेशार्थतासू-
र्थतासूत्रं च सुगमत्वात् स्वयं भावनीयम् । ...
सुगमत्वात्स्वयंभावयितव्यानि, नवरं “ जह
तहा भाणियव्वा ” इति । यथा प्राक् सामा-
न्यता एकगुणकालकादयोऽपि वक्तव्याः । ...
स्तोका अणंतपएसिया खंधा एगगुणकाल-
दव्वट्ठयाए एगगुणकालगा अणंतगुणा ...
खंधा एगगुणकालगा संखेज्जगुणा, असं-
एगगुणकालगा असंखेज्जगुणा, पएसट्ठया-
पएसिया खंधा एगपरमाणुपोग्गला एगगु-
इत्यादि । एवं संख्येयगुणकालकाना-
...ति वाच्यम् । एवं शेषवर्णगन्धरसा अ-
... स्पर्शा यथा एकप्रदे-

यग्लोके अनन्तगुणाः,यतस्तिर्यग्लोकस्य यत्सर्वोपरितनमेकप्रादेशिकं प्रतरं यच्चोर्ध्वलोकस्य सर्वाधस्तनमेकप्रादेशिकं प्रतरमेते द्वे अपि प्रतरे ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोक उच्यते । ते चाऽनन्ताः संख्येयप्रदेशिकाः,अनन्ता असंख्येयप्रदेशिकाः,अनन्ता अनन्तप्रदेशिकाः, स्कन्धाः स्पृशन्तीति द्रव्यार्थतया अनन्तगुणाः । तेभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोके प्रागुक्तप्रकारेण प्रतरद्वयरूपे विशेषाधिकाः, क्षेत्रस्य आयामविष्कम्भाभ्यां मनाग् विशेषाधिकत्वात् । तेभ्यस्तिर्यग्लोके असंख्येयगुणाः, क्षेत्रस्याऽसंख्येयगुणत्वात् । तेभ्य ऊर्ध्वलोके असंख्येयगुणाः, यतस्तिर्यग्लोकक्षेत्रादूर्ध्वलोकक्षेत्रमसंख्येयगुणमिति । तेभ्योऽधोलोके विशेषाधिकाः, ऊर्ध्वलोकादधोलोकस्य विशेषाधिकत्वात् । देशोनसप्तरज्जुप्रमाणो ह्यूर्ध्वलोकः, समधिकसप्तरज्जुप्रमाणस्त्वधोलोकः ।

संप्रति दिगनुपातेनाल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवा पोग्गला उड्ढदिसाए, अहोदिसाए विसेसाहिया, उत्तरपुरच्छिमेणं दाहिणपच्चच्छिमेण य दो वि तुल्ला असंखेज्जगुणा, दाहिणपुरच्छिमेणं उत्तरपच्चच्छिमेण य दो वि तुल्ला विसेसाहिया, पुरच्छिमेणं असंखेज्जगुणा, पच्चच्छिमेणं विसेसाहिया, दाहिणेणं विसेसाहिया, उत्तरेणं विसेसाहिया ।

दिगनुपातेन दिगनुसारेण चिन्त्यमानाः पुद्गलाः सर्वस्तोका ऊर्ध्वदिशि, इह रत्नप्रभाप्रमाणमनुमितलमेकमध्ये अष्टप्रादेशिको रुचकस्तस्मात्प्रभृतिर्निर्गताधस्तनप्रदेशाः, ऊर्ध्वा दिक् यावल्लोकान्तः । तत्र च सर्वस्तोकाः पुद्गलाः, तेभ्योऽधोदिशि विशेषाधिकाः, अधोदिशि रुचकादेव प्रभवति । तत्र प्रदेशा यावल्लोकान्तः [illegible] विशेषाधिकत्वात् । तत्र पुद्गला विशेषाधिकाः, तेभ्य उत्तरपूर्वस्यां दक्षिणपश्चिमायां च प्रत्येकमसंख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्या यस्मात्ते द्वे अपि दिशौ रुचकादिविनिर्गते [illegible] तिर्यग्लोकान्तमधोलोकान्तमूर्ध्वलोकान्तं पर्यवसिते, तेन ते असंख्येयगुणास्तत्र पुद्गला असंख्येयगुणाः, ते तु स्वस्थाने समाविति । पुद्गला अपि स्वस्थाने तुल्याः, तेभ्योऽपि दक्षिणपूर्वस्यामुत्तरपश्चिमायां च प्रत्येकं विशेषाधिकाः, [illegible] तु परस्परं तुल्यास्तत्र विशेषाधिका इति चेत्?, उच्यते—इह सौमनसगन्धमादनेषु सप्त सप्त कूटानि,विद्युत्प्रभमाल्यवतोरेव नव, तेषु च कूटेषु धूमिकावश्यायादिसूक्ष्मपुद्गलाः बहवः सम्भवन्ति, अतो विशेषाधिकाः । स्वस्थाने तु तुल्यत्वम्, [illegible] तेभ्यः पूर्वस्यां दिशि असंख्येयगुणाः, क्षेत्रस्यासंख्येयगुणत्वात् । तेभ्यः पश्चिमायां विशेषाधिकाः, [illegible] शुषिरभावतो बहूनां पुद्गलानामवस्थानभावात् । तेभ्यो दक्षिणस्यां विशेषाधिकाः, बहुभवनशुषिरभावात् । तेभ्य उत्तरस्यां विशेषाधिकाः, यत उत्तरस्यामायाम- [illegible] योजनप्रमाणं मानसं सरः, तत्र [illegible] जलचरास्तत्र सम्भवन्ति जीवसत्त्वमिति तेषां [illegible] तैजसकार्मणपुद्गलाः सम्भवन्ति, इति पूर्वोक्तेभ्यो [illegible] विशेषाधिकाः [illegible] ।

[illegible] ड्ढलोए असंखेज्ज०, अहोलोए अणंतगुणाई, [illegible] ए संखिज्जगुणाई ।

क्षेत्रानुपातेन चिन्त्यमानानि द्रव्याणि सर्वस्तोकानि त्रैलोक्यस्पर्शीनि,यतो धर्मास्तिकायाऽधर्मास्तिकायाऽऽकाशास्तिकाय [illegible] द्रव्याणि पुद्गलास्तिकायस्य महास्कन्धा जीवास्तिकायस्य [illegible] मारणान्तिकसमुद्घातेनातीवसमवहता जीवास्त्रैलोक्यव्यापिन इति सर्वस्तोकानि । तेभ्य ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोके प्रागुक्तप्रतरद्वयात्मके अनन्तगुणानि, अनन्तैः पुद्गलद्रव्यैरनन्तैर्जीवद्रव्यैस्य संस्पर्शनात् ।तेभ्योऽधोलोकतिर्यग्लोके विशेषाधिकानि, ऊर्ध्वलोकतिर्यग्लोकादधोलोकतिर्यग्लोकस्य मनाग्विशेषाधिकत्वात् । तेभ्य ऊर्ध्वलोके असंख्येयगुणानि,क्षेत्रस्यासंख्येयगुणत्वात् । तेभ्योऽधोलोके अनन्तगुणानि । कथमिति चेत्?, अधोलौकिकग्रामेषु कालोऽस्ति,तस्य च कालस्य तत्तत्संख्येयाऽसंख्येयानन्तप्रादेशिकद्रव्यक्षेत्रकालभावपर्यायसंख्यानात्प्रतिपरमाणु द्रव्यमनन्तता, ततो भवन्त्यधोलोकेऽनन्तगुणानि, तेभ्यस्तिर्यग्लोकेऽसंख्येयगुणानि, [illegible] प्रमाणानां क्षेत्राणां मनुष्यलोके कालद्रव्याधारभूतानामसंख्येयमानत्वात् ।

साम्प्रतं दिगनुपातेन सामान्यतो द्रव्याणामल्पबहुत्वमाह—

दिसाणुवाएणं सव्वत्थोवाइं दव्वाइं अहोदिसाए, [illegible] दिसाए अणंतगुणाई, उत्तरपुरच्छिमेणं दाहिण[illegible] मेणं दोवि तुल्लाइं असंखेज्जगुणाई, दाहिणपुर[illegible] उत्तरपच्चच्छिमेण य दोवि तु[illegible] विसेसाहियाई । [illegible] रच्छिमेणं असंखेज्जगुणाई [illegible] याई, दाहिणेणं विसेसा[illegible]

दिगनुपातेन दिगनुसा[illegible] सर्वस्तोकानि अधो[illegible] दिश्यनन्तगुणानि [illegible] के मेरोः पश्चिमे[illegible] प्राऽनुप्रवेशा[illegible] प्रागुक्तनी[illegible] गुणानि,तेभ्य [illegible] ते द्रायर्थः। समस्थ[illegible] तु द्वयान्यपि परस्परं तुल्यानि [illegible] पूर्वस्यामाग्नेय्याम्, उत्तरपश्चिमा[illegible] विशेषाधिकानि,विद्युत्प्रभमाल्यवत्कूट [illegible] यादिसूक्ष्मपुद्गलद्रव्याणां बहूनां सम्भवात् । [illegible] दिशि असंख्येयगुणानि, क्षेत्रस्यासंख्येयगुणत्वात् । [illegible] पश्चिमायां विशेषाधिकानि, अधोलौकिकग्रामेषु [illegible] बहूनां पुद्गलद्रव्याणामवस्थानात् । तेभ्यो दक्षिणस्यां वि[illegible] शेषाधिकानि, बहुभवनशुषिरभावात् । तेभ्य उत्तरस्यां विशेषाधिकानि, तत्र मानससरसि जीवद्रव्याणां [illegible] कार्मणपुद्गलस्कन्धद्रव्याणां च भूयसां भावात् ।

साम्प्रतं परमाणुपुद्गलानां संख्येयप्रदेशानामसंख्येयप्रदेशानामनन्तप्रदेशानां परस्परमल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं संखिज्जपदेसियाणं असंखिज्जपदेसियाणं अणंतपदेसियाण य खंधाणं [illegible]

याए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४?। गोयमा ! सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा दव्वट्ठयाए, परमाणुपोग्गला दव्वट्ठयाए अणंतगुणा, संखेज्जपदेसिया खंधा दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपदेसिया खंधा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा, पदेसट्ठयाए परमाणुपोग्गला अणंतगुणा, संखेज्जपदेसिया खंधा पदेसट्ठयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसिया खंधा पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया खंधा, दव्वट्ठयाए ते चेव, पदेसट्ठयाए अणंतगुणा, परमाणुपोग्गला दव्वट्ठपदेसट्ठयाए अणंतगुणा, संखिज्जपदेसिया खंधा दव्वट्ठयाए संखिज्जगुणा, ते चेव य पदेसट्ठयाए संखिज्जगुणा, असंखिज्जपएसिया खंधा दव्वट्ठयाए असंखिज्जगुणा, ते चेव पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा ॥

सर्वत्र व्याख्यानं पाठसिद्धम् । नवरमत्राल्पबहुत्वभावनायां तथास्वाभाव्यं कारणं वाच्यम् ।

संप्रत्येतेषामेव क्षेत्रप्राधान्येनाल्पबहुत्वमाह—

एएसि णं भंते ! एगपएसोगाढाणं संखेज्जपएसोगाढाणं असंखिज्जपएसोगाढाण य पोग्गलाणं दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४?। गोयमा ! सव्वत्थोवा एगपदेसोवगाढा पुग्गला दव्वट्ठयाए, संखेज्जपएसोवगाढा पुग्गला दव्वट्ठयाए संखिज्जगुणा, असंखेज्जपदेसोवगाढा पोग्गला दव्वट्ठयाए असंखिज्जगुणा; पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा एगपदेसोवगाढा पोग्गला, पदेसट्ठयाए संखेज्जपदेसोगाढा पोग्गला पदेसट्ठयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपदेसोगाढा पोग्गला पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा एगपदेसोगाढा पोग्गला, दव्वट्ठपदेसट्ठयाए संखेज्जपदेसोगाढा पोग्गला दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, ते चेव पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसोगाढा पोग्गला दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, ते चेव पएसट्ठयाए असंखिज्जगुणा । एएसि णं भंते ! एगसमयट्ठिईयाणं संखिज्जसमयट्ठिईयाणं असंखिज्जसमयट्ठिईयाण य पोग्गलाणं दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४?। गोयमा ! सव्वत्थोवा एगसमयट्ठिईया पोग्गला दव्वट्ठयाए, संखिज्जसमयट्ठिईया पोग्गला दव्वट्ठयाए संखिज्जगुणा, असंखिज्जसमयट्ठिईया पोग्गला दव्वट्ठयाए असंखिज्जगुणा, पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा एगसमयट्ठिईया पोग्गला, पदेसट्ठयाए संखेज्जसमयट्ठिईया पोग्गला पएसट्ठयाए संखिज्जगुणा, असंखिज्जसमयट्ठिईया पोग्गला पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा एगसमयट्ठिईया पुग्गला, दव्वट्ठपएसट्ठयाए संखेज्जसमयट्ठिईया पोग्गला दव्वट्ठयाए संखिज्जगुणा, ते चेव पदेसट्ठयाए संखिज्जगुणा, असंखिज्जसमयट्ठिईया पोग्गला दव्वट्ठयाए असंखिज्जगुणा, ते चेव पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा । एएसि णं भंते ! एगगुणकालगाणं संखिज्जगुणकालगाणं असंखेज्जगुणकालगाणं अणंतगुणकालगाण य पोग्गलाणं दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४?। गोयमा ! जहा परमाणुपोग्गला तहा भाणियव्वा । एवं संखेज्जगुणकाल... भाणियव्वा । एवं सेसाण वि वण्णरसगंधाणं भाणियव्वं, एवं सेसाण वि । एवं कक्खडमउयगरुयलहुयाणं जहा एगपदेसोगाढाणं भणियं तहा भाणियव्वं, अवसेसा फासा जहा वण्णा भणिया तहा भाणियव्वा ॥

इह क्षेत्राधिकारतः क्षेत्रस्य प्राधान्यात्परमाण्वाद्यनन्ताणुकस्कन्धा अपि विवक्षितैकप्रदेशावगाढा आधाराधेययोरभेदोपचारादेकद्रव्यत्वेन व्यवह्रियन्ते । ते ह्यर्थभूता एकप्रदेशावगाढाः पुद्गलाः पुद्गलद्रव्याणि सर्वस्तोकानि, लोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । नहि स कश्चिदेवंभूत आकाशप्रदेशोऽस्ति, य एकप्रदेशावगाहनपरिणामपरिणतानां परमाण्वादीनामवकाशप्रदानेन परिणतो न वर्तेत इति । तेभ्यः संख्येयप्रदेशावगाढाः पुद्गला द्रव्यार्थतया संख्येयगुणाः । कथमिति चेत् ?, इहापि क्षेत्रस्य प्राधान्याद् द्व्यणुकाद्यनन्ताणुकस्कन्धा द्विप्रदेशावगाढा एकद्रव्यत्वेन विवक्ष्यन्ते, तानि च तथाभूतद्रव्याणि पूर्वोक्तेभ्यः संख्येयगुणानि । तथाहि-सर्वलोकस्थितत्वादसंख्येया अपि असत्कल्पनया दश परिकल्प्यन्ते, तेषां प्रत्येकचिन्तायां दशैवेति दश एकप्रदेशावगाढानि द्रव्याणि, तेष्वेव दशसु प्रदेशेष्वन्यान्यग्रहणतो बहवो द्विकसंयोगा लभ्यन्ते, इति भवन्त्येकप्रदेशावगाढेभ्यो द्विप्रदेशावगाढानि पुद्गलद्रव्याणि संख्येयगुणानि । एवमुत्तरोत्तरं यावद्दशप्रदेशावगाढानि । ततः स्थितमेतत्-एकप्रदेशावगाढेभ्यः संख्येयप्रदेशावगाढानि । ततः स्थितमेतत् संख्येयगुणा इति । ... वगाढपुद्गला द्रव्यार्थतया संख्येयगुणा द्रव्यार्थतयाऽसंख्येयप्रदेशावगाढाः पुद्गला द्रव्यार्थतयाऽसंख्येयगुणाः, तस्य असंख्यातभेदभिन्नत्वात् । प्रदेशार्थतासूत्रं ... पंतासूत्रं च सुगमत्वात् स्वयं भावनीयम् । कालसुगमत्वात्स्वयं भावयितव्यानि, नवरं "जहा ... तहा भाणियव्वा" इति । यथा प्राक् ... सामान्यस्तथा एकगुणकालकादयोऽपि वक्तव्याः । ते ... स्तोका अणंतपएसिया खंधा एगगुणकालगा दव्वट्ठयाए एगगुणकालगा अणंतगुणा, संखेज्जगुणा, असंखेज्ज... खंधा एगगुणकालगा संखेज्जगुणा, एगगुणकालगा असंखेज्जगुणा, पएसट्ठयाए ... एगगुणकालगा एगपरमाणुपोग्गला एगगुणका... पएसिया खंधा एगगुणकालकाः अनन्त... इत्यादि । एवं संख्येयगुणकालकादयोऽपि ... अपि वाच्यम् । एवं द्रव्यवर्णगन्धरसा अपि ... शमन्तगुरुलघुकः स्पर्शो यथा एकप्रदेशावगा...

...ख्येयगुणाः, तथा सर्वस्तोका इन्द्रियोपयुक्ताः । इन्द्रि- योपयोगो हि प्रत्युत्पन्नकालविषयः यतः तदुपयोगका- ...कालत्वात् पृच्छासमये स्तोका मवाप्यन्ते । यदा तु तैस- ...न्द्रियेण दृष्टा विचारयन्ति संज्ञयाऽपि तदा नोइन्द्रियो- पयुक्ताः स व्यवदिश्यन्ते । ततो नोइन्द्रियोपयोगस्यातीतानागत- ...विषयतया बहुकालत्वात्संख्येयगुणा नोइन्द्रियोपयुक्ताः, ...दा सर्वस्तोका अनाकारोपयुक्ताः, अनाकारोपयोगकालस्य ...त्वात् । साकारोपयुक्ताः संख्येयगुणाः, अनाकारोपयोग- ...साकारोपयोगस्य संख्येयगुणत्वात् । इदानीं समुदाय- ...वं मन्नल्पबहुत्वं भाव्यते , सर्वस्तोका जीवाः आयुष्क- ...बन्धकाः ,आयुर्बन्धकालस्य प्रतिनियतत्वात् । तेभ्योऽपर्या- ...ः संख्येयगुणाः [illegible]

[illegible]

पदानामधस्ताद् यथासंख्येयमायुर्बन्धका पर्याप्ता जागरा सम- वहता असातवेदका नोइन्द्रियोपयुक्ताः साकारोपयुक्ता । ...ना चेयम्-आद्यमिति तत्परिमाणं संख्यायामेकः स्थाप्यते । इत- शेषपदानि किल जघन्येन संख्येयगुणानीति द्विगुणो द्विगुणाङ्के- षु स्थाप्यते । तद्यथा-द्वौ चत्वार अष्टौ षोडश द्वात्रिंशत् चतु- षष्टिः; सर्वोऽपि जीवराशिरनन्तानन्तस्वरूपोऽप्यसत्कल्पना- षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयपरिमाणः परिकल्प्यते । ततोऽस्मादा- युर्बन्धकादिगताः संख्याः शोधयित्वा यत् शेषमवतिष्ठते तदा- युरबन्धकादीनां परिमाणे स्थापयितव्यम् । तद्यथा-आयुरबन्धका- दिपदे द्वे शते पञ्चपञ्चाशदधिके,शेषेषु यथोक्तक्रमं द्वे शते, चतुष्प- ञ्चाशदधिके द्वे शते, द्विपञ्चाशदधिके द्वे शते, अष्टचत्वारिंशद- धिके द्वे शते, चत्वारिंशदधिके द्वे शते, चतुर्विंशत्यधिके द्वे- नवत्यधिकं शतम । एवं च सति उपरितनपङ्क्तिगतान्यनाकारो- पयुक्तपर्यन्तानि पदानि संख्येयगुणानि, द्विगुणद्विगुणाधि- कत्वात् । ततः परं साकारोपयुक्तपदमपि संख्येयगुणम,त्रिगुण- त्वात् । शेषाणि तु नोइन्द्रियोपयुक्तादीनि प्रतिलोमं विशेषाधि- कानि, द्विगुणत्वस्यापि क्वचिदभावात् । प्रज्ञा० ३ पद ।

(प्रकृतिबन्धादीनाम)

सम्प्रति प्रागुक्तचतुर्विधबन्धे योगस्थानानि कारणं, प्रकृतयः प्र- देशाश्च तत्कार्यं वर्तन्ते । तथा स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि का- रणं, स्थितिविशेषास्तु तत्कार्यम, अनुभागबन्धाध्यवसायस्था- नानि कारणम , अनुभागस्थानानि तु तत्कार्यं वर्तन्त इति [illegible] नामामीषां पदार्थानां परस्परमल्पबहुत्वमभिधित्सुराह-

सेढिअसंखिज्जंसे, जोगट्ठाणाणि पयडिठिइभेया ।
ठिइबंधज्झवसाया-ऽणुभागठाणा असंखगुणा ॥७५॥

योगा वीर्यम्, तस्य स्थानानि वीर्यविभागाल्पबहुत्वलक्षणानि ।... [illegible]

[illegible]

रिच्छेदवृद्ध्या वर्द्धमानानां जीवप्रदेशानां समानजातीयरूपा घनीकृतलोकाकाशश्रेणेरसंख्येयभागप्रदेशराशिप्रमाणा वर्गणा वाच्याः ।

एताश्चैतावत्योऽप्यसत्कल्पनया षट् स्थाप्यन्ते—

१५	१५	१५
१४	१४	१४
१३	१३	१३
१२	१२	१२
११	११	११
१०	१०	१०

तत्र जघन्यवर्गणायां जीवप्रदेशा असंख्येयवीर्यभागान्विताः । अथ सत्कल्पनया त्रयस्त्रयः स्थाप्यन्ते, एताश्चैतावत्यः समुदिता एकं वीर्यस्पर्द्धकमित्युच्यते । अथ स्पर्द्ध इति कः शब्दार्थः ?, उच्यते-एकैकोत्तरवीर्यभागवृद्ध्या परस्परं स्पर्द्धन्ते वर्गणा यत्र तत् । तत ऊर्ध्वमेकेन द्व्यादिभिर्वा वीर्यपरिच्छेदैरधिका जीवप्रदेशा न प्राप्यन्ते । किं तर्हि ?, प्रथमस्पर्द्धकचरमवर्गणायां जीवप्रदेशेषु यावन्तो वीर्यपरिच्छेदास्तेभ्योऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणैरेव वीर्यपरिच्छेदैरधिका जीवप्रदेशाः, अतस्तेषामपि समानवीर्यभागानां समुदायो द्वितीयस्पर्द्धकस्याद्यवर्गणा । तत एकेन वीर्यभागेनाधिकानां समुदायो द्वितीयवर्गणा । एवमेकोत्तरवृद्धिक्रमेणैता अपि श्रेण्यसंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिमाना वाच्या । एतासामपि समुदायो द्वितीयं स्पर्द्धकम् । इत ऊर्ध्वं पुनरप्येकोत्तरवृद्धिर्न लभ्यते । किं तर्हि-असंख्येयलोकाकाशप्रदेशतुल्यैरेव वीर्यभागैरधिकास्तत्प्रदेशाः प्राप्यन्ते, अतस्तेनैव क्रमेण तृतीयस्पर्द्धकमारभ्यते । पुनस्तेनैव क्रमेण चतुर्थम्, पुनः पञ्चममित्येवमेतान्यपि वीर्यस्पर्द्धकानि श्रेण्यसंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशिप्रमाणानि वाच्यानि । एषां चैतावतां स्पर्द्धकानां समुदाय एकं योगस्थानकमुच्यते । इदं तावदेकस्य सूक्ष्मनिगोदस्य सर्वाद्यसमये सर्वजघन्यवीर्यस्य योगस्थानकमभिहितं, तदन्यस्य तु किञ्चिदधिकवीर्यस्य जन्तोः, अनेनैव क्रमेण द्वितीयं योगस्थानकमुत्तिष्ठते । तदन्यस्य तु तेनैव क्रमेण तृतीयम्, तदन्यस्य तु तेनैव क्रमेण चतुर्थम् । इत्यमुना क्रमेणैतान्यपि योगस्थानानि नानाजीवानां कालभेदेनैकजीवस्य वा श्रेण्यसंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणानि भवन्ति । ननु जीवानामनन्तत्वात्तद्भेदाद्योगस्थानान्यनन्तानि कस्मान्न भवन्ति ?। नैतदेवम्-यत एकैकस्मिन् सदृशे योगस्थानेऽनन्ताः स्थावरजीवा वर्त्तन्ते, त्रसास्त्वेकैकस्मिन् सदृशे योगस्थानेऽसंख्याता वर्त्तन्ते, तेषां च तदेकैकमेव विवक्षितमतो विसदृशानि यथोक्तमानान्येव योगस्थानकानि भवन्ति । तथाऽपर्याप्ताः सर्वेऽप्येकस्मिन् योगस्थानके एकसमयमवतिष्ठन्ते । ततः परमसंख्येयगुणवृद्धेषु प्रतिसमयमन्योन्ययोगस्थानकेषु संक्रामन्ति, पर्याप्तास्तु सर्वेऽपि स्वप्रायोग्ये सर्वजघन्ययोगस्थानके जघन्यतः समयमुत्कृष्टतश्चतुरः समयान् यावद्वर्त्तन्ते, ततः परमन्ययोगस्थानकमुपजायते, स्वप्रायोग्योत्कृष्टयोगस्थानके तु जघन्यतः समयम्, उत्कृष्टतस्तु द्वौ समयौ, मध्यमेषु जघन्यतः समयम्, उत्कृष्टतस्तु क्वचित् चतुरः, क्वचित्पञ्च, क्वचित् षट्, क्वचित् सप्त, क्वचिदष्टौ समयान् यावद्वर्त्तन्त इति । अयं चैतावानपि योगो मनःप्रभृतिसहकारिकारणवशात्संक्षिप्य सत्यमनोयोगः १, असत्यमृषामनोयोगः २ । असत्यामृषामनोयोगः ४ । सत्यवाग्योगः १, असत्यवाग्योगः २, सत्यमृषावाग्योगः ३ असत्यामृषावाग्योगः ४ । औदारिककाययोगः १,

औदारिकमिश्रकाययोगः २, वैक्रियकाययोगः ३, वैक्रियमिश्रकाययोगः ४, आहारककाययोगः ५, आहारकमिश्रकाययोगः ६, कार्मणकाययोगभेदतः पञ्चदशधा प्रोक्त इत्यलं प्रसंगेन । एतेभ्यश्च योगस्थानेभ्योऽसंख्येयगुणाः असंख्यातगुणिताः । (पयडि त्ति) भेदशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् प्रकृतिभेदात् स्थितिभेदाच्च ज्ञानावरणादीनां भेदाः । " असंखगुण त्ति " पदमनुभागबन्धस्थानानि यावत्सर्वत्र योजनीयम् । इयमत्र भावना-इह तावदावश्यकादिष्ववधिज्ञानदर्शनयोः क्षयोपशमवैचित्र्यादसंख्यातास्तावद्भेदा भवन्ति । ततश्च तदावरणबन्धस्यापि तावत्प्रमाणभेदाः संगच्छन्ते, वैचित्र्येण बन्धस्यैव विचित्रक्षयोपशमोपपत्तेरिति । कथं पुनः क्षयोपशमवैचित्र्येऽप्यसंख्येयभेदत्वं प्रतीयते ?, इति चेत् । उच्यते-क्षेत्रतारतम्येनेति । तथाहि-त्रिसमयाहारकसूक्ष्मपनकसत्त्वावगाहनामानं जघन्यमवधिज्ञानस्य क्षेत्रं परिच्छेद्यतयोक्तम् । यदाह सकलश्रुतपारदृश्वा विश्वानुग्रहकाम्यया विहितानेकशास्त्रसंदर्भो भगवान् श्रीभद्रबाहुस्वामी-" जावइय तिसमयाहा-रगस्स सुहुमस्स पणगजीवस्स । ओगाहणा जहन्ना, ओहीखित्तं जहन्नं तु " ॥ १ ॥ उत्कृष्टं तु सर्वबहुतेजस्कायिकजन्तूनां शुचिः सर्वतो भ्रमिता यावन्मात्रं क्षेत्रं स्पृशति तावन्मात्रं तस्य प्रमाणं भवति । यदाहुः श्रीमदाराध्यपादाः-" सव्वबहुअगणिजीवा, निरंतरं जत्तियं भरिज्जंसु । खित्तं सव्वदिसागं, परमोही खित्तनिद्दिट्ठो " ॥ १ ॥ इति । ततो जघन्यात् क्षेत्रादारभ्य प्रदेशवृद्ध्या प्रकृष्टोत्कृष्टक्षेत्रविषयत्वे सत्यसंख्येयभेदत्वमवधिज्ञानस्य क्षेत्रतारतम्येन भवति । अतस्तदावारकस्यावधिज्ञानस्यापि नानाजीवानां क्षेत्रादिभेदेन बन्धवैचित्र्यादुदयवैचित्र्याच्चासंख्येयगुणभेदत्वम् । एवं नानाजीवानाश्रित्य मतिज्ञानावरणादीनां शेषाणामप्यावरणानां तथाऽन्यासामपि सर्वासां मूलप्रकृतीनामुत्तरप्रकृतीनां च क्षेत्रादिभेदेन बन्धवैचित्र्यादुदयवैचित्र्याच्चासंख्याता भेदाः संपद्यन्त इति ।

उक्तं च—

" जह ओहिविसओ, उक्कोसे सव्वबहुयागिंदिसूई ।
जत्तियमित्तं फुसई, तत्तियमित्तप्पएससमो ॥ १ ॥
तत्तारतम्मभेया, जेण बहू हुंति आवरणजणिया ।
तेणासंखगुणत्तं, पयडीणं जोगओ जाण " ॥ २ ॥

एतदुणामानुपूर्व्या बन्धोदयवैचित्र्येणासंख्याता भेदाः, ते च लोकस्यासंख्येयभागवर्तिप्रदेशराशितुल्या इति बृहत्कर्मचूर्णिकारोक्ता विशेषाः । ननु जीवानामनन्तत्वात्तेषां बन्धोदयवैचित्र्येणानन्ता अपि प्रकृतिभेदाः कस्मान्न भवन्ति ?। नैतदेवम्, सदृशानां बन्धोदयानामेकत्वेन विवक्षितत्वादसदृशास्त्वेतावन्त एव तद्भेदा भवन्ति । ते च भेदाः प्रकृतिभेदत्वात्प्रकृतय इत्युच्यन्ते । ततश्च योगस्थानेभ्योऽसंख्यातगुणाः प्रकृतयः, यत एकैकस्मिन् योगस्थाने वर्त्तमानैर्नानाजीवैः कालभेदादेकजीवेन वा सर्वा अप्येताः प्रकृतयो बध्यन्त इति । तथा ताभ्यः प्रकृतिभेदेभ्यः स्थितिभेदाः स्थितिविशेषा अन्तर्मुहूर्त्तसमयाधिकान्तर्मुहूर्त्तद्विसमयाधिकान्तर्मुहूर्त्तादिलक्षणा असंख्यातगुणा भवन्ति । एकैकस्याः प्रकृतेरसंख्याने स्थितिविशेषैरप्यमानत्वादेकमेव हि प्रकृतिभेदं कश्चिज्जीवोऽन्येन स्थितिविशेषेण बध्नाति, स एव च तं कदाचिदन्येन, कदाचिदन्यतरेण, कदाचिदन्यतमेनेत्येवमेकं प्रकृतिभेदमेकं जीवमाश्रित्यासंख्याताः स्थितिभे-

दा भवन्ति, किं पुनः सर्वप्रकृतीः सर्वजीवानाश्रित्य प्रकृतिभेदेभ्यः ?, स्थितिभेदानामसंख्यातगुणत्वमित्यतः प्रकृतिभेदेभ्यः स्थितिभेदाः असंख्यातगुणा भवन्तीति ; तथा स्थितिभेदेभ्यः सकाशात् स्थितिबन्धाध्यवसायाः पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्यातगुणानि । तत्र स्थानं स्थितिः ? कर्मणोऽवस्थानं,तस्या बन्धः स्थितिबन्धः । अध्यवसानान्यध्यवसायाः,ते चेह कषायजनिता जीवपरिणामविशेषाः तिष्ठन्ति जीवा एष्विति स्थानानि, अध्यवसाया एव स्थानान्यध्यवसायस्थानानि; स्थितिबन्धस्य कारणभूतान्यध्यवसायस्थानानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि, तानि स्थितिभेदेभ्योऽसंख्येयगुणानि, यतः सर्वजघन्योऽपि स्थितिविशेषोऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणैरध्यवसायस्थानैर्जन्यते । उत्तरे तु स्थितिविशेषास्तैरेव यथोत्तरं विशेषवृद्धैर्जन्यन्ते ; अतः स्थितिभेदेभ्यः स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्यातगुणानि सिद्धानि भवन्ति । तथा-(अणुभागठाण त्ति) पदैकदेशे पदसमुदायोपचारादनुभागस्थानान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि । तत्रानु पश्चाद्बन्धोत्तरकालं भज्यते सेव्यतेऽनुभूयत इत्यनुभागो रसः, तस्य बन्धोऽनुभागबन्धः,अध्यवसानान्यध्यवसायाः, ते चेह कषायजनिता जीवपरिणामविशेषाः । तिष्ठन्ति जीवा एष्विति स्थानानि, अध्यवसाया एव स्थानान्यध्यवसायस्थानानि, अनुभागबन्धस्य कारणभूतान्यध्यवसायस्थानान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि । स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानेभ्यस्तान्यसंख्येयगुणानि भवन्ति, स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानं ह्येकैकमन्तर्मुहूर्तप्रमाणमुक्तम् । अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानं त्वेकैकं जघन्यतः सामायिकम्,उत्कृष्टतस्त्वष्टसामायिकान्तमेवोक्तमत एकस्मिन्नपि नानाकल्पे स्थितिबन्धाध्यवसायस्थाने तदन्तर्गतानि नानाविधानि तीव्रतीव्रमन्दमन्दरूपाणि नानाजीवान् कालभेदेनैकजीवान् कालभेदेनैकजीवं वा समाश्रित्यासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि भवन्ति । तथाहि-जघन्यस्थितिजनकानामपि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानां मध्ये यदाद्यं सर्वलघुस्थितिकं बन्धाध्यवसायस्थानं तस्मिन्नपि देशक्षेत्रकालभावजीवभेदेनासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि प्राप्यन्ते । द्वितीयादिषु तु तान्यप्यधिकान्यधिकतराणि च प्राप्यन्ते इति सर्वेष्वपि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानेषु भावनाः कार्याः । अतः स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानेभ्योऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानान्यसंख्येयगुणानीति ।

ततो कम्मपएसा, अणंतगुणिया तओ रसच्छेया ।

ततश्चैतेभ्योऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानेभ्यः, कर्मप्रदेशाः कर्मस्कन्धा अनन्तगुणिता भवन्ति । इदमत्र तात्पर्यम्-प्रत्येकमभव्येभ्योऽनन्तगुणैः सिद्धानामनन्तभागवर्त्तिभिः परमाणुभिर्निष्पन्नाननन्तान् स्कन्धान् मिथ्यात्वादिभिर्हेतुभिः प्रतिसमयं जीवो गृह्णातीत्युक्तम् । अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि तु सर्वाण्यप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्येव सिद्धानि, अतोऽनुभागबन्धाध्यवसायस्थानेभ्यः कर्मप्रदेशा अनन्तगुणाः सिद्धा भवन्ति । ततश्च (तओ रसच्छेय त्ति) तेभ्योऽपि कर्मप्रदेशेभ्यो रसच्छेदा अनन्तगुणा भवन्ति । तथाहि-इह सर्वजघन्यरसस्याप्यविभागपलिच्छेदा अनन्तगुणाः केवलिप्रज्ञाछेदनकेन छिद्यमाना कर्मपुद्गलेषु रसो अनन्तेन सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणाः प्राप्यन्ते । सर्वजघन्यरसस्यापि विभाग-

सर्वजीवानन्तगुणानविभागपरिच्छेदान् प्रयच्छति । यस्मादग्रतोऽपि सूक्ष्मतयाऽन्यो भागो नोत्तिष्ठति सोऽविभागपरिच्छेद उच्यते । एवं भूताश्चानुभागस्याविभागपरिच्छेदा रसपर्यायाः सर्वकर्मस्कन्धेषु प्रतिपरमाणु सर्वजीवानन्तगुणाः संप्राप्यन्ते । यत-

"गहणसमयम्मि जीवो, उप्पाएइ उ गुणे सपच्चयओ।
सव्वजियाणंतगुणे, कम्मपएसेसु सव्वेसु" ॥

गुणशब्देनेहाविभागपरिच्छेदा उच्यन्ते । शेषं सुगमम् । कर्मप्रदेशाः पुनः प्रतिस्कन्धं सर्वेऽपि सिद्धानामप्यनन्तभागे एव वर्तन्ते । अतः कर्मप्रदेशेभ्यो रसच्छेदा अनन्तगुणाः सिद्धा भवन्तीति । कर्म० ५ कर्म० । (औदारिकादिशरीरबन्धकानामल्पबहुत्वं तु ' सरीर ' शब्द एव दृश्यम्)

(२२) [भवसिद्धिकद्वारम्] भवसिद्धिकद्वारमाह-

एएसि णं भंते ! जीवाणं भवसिद्धियाणं अभवसिद्धियाणं नोभवसिद्धियाणं नोअभवसिद्धियाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा अभवसिद्धिया, नोभवसिद्धिया नोअभवसिद्धिया अणंतगुणा,भवसिद्धिया अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोका अभवसिद्धिकाः अभव्याः, जघन्ययुक्तानन्तकपरिमाणत्वात् । उक्तं चानुयोगद्वारेषु-"उक्कोसए परित्ताणतए पक्खित्ते जहन्नयजुत्ताणं तयं होइ अभवसिद्धिया वि तत्तिया चेव त्ति" तेभ्यो नोभवसिद्धिका नोअभवसिद्धिका अनन्तगुणाः, यत उभयप्रतिषेधवृत्तयः सिद्धास्ते चाजघन्योत्कृष्टयुक्तानन्तकपरिमाणा इत्यनन्तगुणाः । तेभ्यो भवसिद्धिका अनन्तगुणाः, यतो भव्यनिगोदस्यैकस्यानन्तभागकल्पाः सिद्धा भव्यजीवराशिनिगोदाश्चासंख्येया लोके इति । गतं भवसिद्धिद्वारम् । प्रज्ञा० ३ पद ॥

(२३) [भाषकद्वारम्] भाषकाभाषकाल्पबहुत्वमाह-

एएसि णं भंते ! जीवाणं भासगाणं अभासगाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा भासगा,अभासगा अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोका भाषका भाषालब्धिसंपन्नाः, द्वीन्द्रियादीनामेव भाषकत्वात् । अभाषका भाषालब्धिहीना अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानामनन्तत्वात् । प्रज्ञा० ३ पद । सत्यादिभेदभाषाणामल्पबहुत्वम् । प्रज्ञा० ११ पद । (भाषाद्रव्याणां खण्डादिभिर्भेदैर्भिद्यमानानामल्पबहुत्वं च 'भासा' शब्दे वक्ष्यते)

(२४) [महादण्डकद्वारम्] सर्वजीवाल्पबहुत्वम्-

अह भंते ! सव्वजीवप्पबहुं महादंडयं वत्तइस्सामि, सव्वत्थोवा गब्भवक्कंतियमणुस्सा, मणुस्सीओ संखेज्जगुणाओ, बादरतेउकाइया पज्जत्तया असंखिज्जगुणा, अणुत्तरोववाइया देवा असंखेज्जगुणा, उवरिमगेविज्जगा देवा संखेज्जगुणा, मज्झिमगेविज्जगा देवा संखेज्जगुणा,हेट्ठिमगेविज्जगा देवा संखेज्जगुणा, अच्चुए कप्पे देवा संखेज्जगुणा, आरणे क-

प्पे देवा संखेज्जगुणा, पाणए कप्पे देवा संखेज्जगुणा, आणए कप्पे देवा संखेज्जगुणा; अहेसत्तमाए पुढवीए णेरइया असंखेज्जगुणा, छट्ठीए तमाए पुढवीए नेरइया असं०, सहस्सारे कप्पे देवा असंखिज्जगुणा, महासुक्के कप्पे देवा असंखिज्जगुणा, पंचमाए धूमप्पभाए पुढवीए णेरइया असं०, लंतए कप्पे देवा असंखेज्जगुणा; चउत्थीए पंकप्पभाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा, बंभलोए कप्पे देवा असंखेज्जगुणा, तच्चाए वालुयप्पभाए पुढवीए णेरइया असंखेज्जगुणा, माहिंदे देवा असंखेज्जगुणा, सणंकुमारे कप्पे देवा असंखेज्जगुणा; दोच्चाए सक्करप्पभाए पुढवीए णेरइया असं०, संमुच्छिममणुस्सा असंखेज्ज०, ईसाणे कप्पे देवा असं०, ईसाणे कप्पे देवीओ संखे०, सोहम्मे कप्पे देवा संखेज्ज०, सोहम्मे कप्पे देवीओ संखेज्जगुणाओ, भवणवासिदेवा असंखेज्जगुणा, भवणवासिणीओ देवीओ संखिज्जगुणाओ, इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए णेरइया असंखिज्जगुणा, खहचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया पुरिसा असंखेज्जगुणा, खहचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिणीओ संखिज्जगुणाओ, थलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया पुरिसा असंखेज्जगुणा, थलचरपंचिंदियतिरिक्खजोणिणीओ संखिज्जगुणाओ, जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया पुरिसा संखेज्जगुणा, जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिणीओ संखिज्जगुणाओ, वाणमंतरा देवा संखेज्जगुणा, वाणमंतरीओ देवीओ संखेज्ज०, जोइसिया देवा संखेज्जगुणा, जोइसिणीओ देवीओ संखिज्जगुणाओ, खहयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया नपुंसया संखिज्ज०, थलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया नपुंसया संखेज्ज०, जलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिया नपुंसया संखे०, चउरिंदिया पज्जत्तया संखेज्ज०, पंचिंदिया पज्जत्ता विसेसाहिया, बेइंदिया पज्जत्ता विसे०, पंचिंदिया अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा, चउरिंदिया अपज्जत्तया विसेसाहिया, तेइंदिया अपज्जत्तया विसेसाहिया, बेइंदिया अपज्जत्तया विसेसाहिया, पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरनिगोदा पज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरपुढविकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरआउकाइया पज्जत्तया असंखिज्जगुणा, बादरवाउकाइया पज्जत्तगा असंखिज्जगुणा, बादरतेउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तगा असंखिज्जगुणा, बादरनिगोदा अपज्जत्तया संखिज्जगुणा, बादरपुढविकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, बादरआउकाइया अपज्जत्तगा असंखिज्जगुणा, बादरवाउकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमतेउकाइया अपज्जत्तगा असंखेज्जगुणा, सुहुमपुढविकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया; सुहुमआउकाइया अपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया अपज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमतेउकाइया पज्जत्तगा असंखिज्ज०, सुहुमपुढविकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमआउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमवाउकाइया पज्जत्तगा विसेसाहिया, सुहुमणिगोदा अपज्जत्ता असंखे०, सुहुमणिगोदा पज्जत्तया संखिज्जगुणा, अभवसिद्धिया अणंतगुणा, पडिवडियसम्मद्दिट्ठी अणंतगुणा, सिद्धा अणंतगुणा; बादरवणस्सइकाइया पज्जत्तगा अणंतगुणा, बादरपज्जत्ता विसेसाहिया, बादरवणस्सइकाइया अपज्जत्तया असंखिज्जगुणा, बादरअपज्जत्तया विसेसाहिया, बादरा विसेसाहिया, सुहुमवणस्सइकाइया अपज्जत्तया असंखेज्जगुणा, सुहुमा अपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमवणस्सइकाइया पज्जत्तया संखेज्ज०, सुहुमपज्जत्तया विसेसाहिया, सुहुमा विसेसाहिया, भवसिद्धिया विसेसाहिया, निगोदा जीवा विसेसाहिया, वणस्सइजीवा विसेसाहिया, एगिंदिया विसेसाहिया, तिरिक्खजोणिया विसेसाहिया, मिच्छद्दिट्ठी विसेसाहिया, अविरया विसेसाहिया, छउमत्था विसेसाहिया, सजोगी विसेसाहिया, संसारत्था विसेसाहिया, सव्वजीवा विसेसाहिया ॥

इदानीं महादण्डकं विवक्षुर्गुरुमापृच्छति-(अह भंते ! इत्यादि) अथ भदन्त ! सर्वजीवाल्पबहुत्वं सर्वजीवाल्पबहुत्ववक्तव्यतात्मकं महादण्डकं वर्तयिष्यामि, रचयिष्यामीति तात्पर्यार्थः । अनेन एतत् ज्ञापयति-तीर्थकरानुज्ञामात्रसापेक्ष एव भगवान् गणधरः सूत्ररचनां प्रति प्रवर्तते, न पुनः श्रुताभ्यासपुरस्सरमिति । यद्वैतज्ज्ञापयति-कुशलेऽपि कर्मणि विनेयेन गुरुमनापृच्छ्य न प्रवर्तितव्यं, किन्तु तदनुज्ञापुरस्सरम् , अन्यथा विनेयत्वायोगात् । विनेयस्य हि लक्षणमिदम्-" गुरोर्निवेदितात्मा यो, गुरुभावानुवर्तकः । मुक्त्यर्थं चेष्टते नित्य,स विनेयः प्रकीर्तितः "॥ १ ॥ गुरुरपि यः प्रष्टव्यः स एवं रूपः-"धर्मज्ञो धर्मकर्त्ता च, सदा धर्मप्रवर्तकः । सत्त्वेभ्यो धर्मशास्त्रार्थ-देशको गुरुरुच्यते " ॥ १ ॥ इति । महादण्डकं वर्तयिष्यामीत्युक्तम् । ततः प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-(सव्वत्थोवा गब्भवक्कंतियमणुस्सेत्यादि) सर्वस्तोका गर्भव्युत्क्रान्तिका मनुष्याः,संख्येयकोटीकोटिप्रमाणत्वात् १ । तेभ्यो मानुष्यो मनुजस्त्रियः-संख्येयगुणाः, सप्तविंशतिगुणत्वात् । उक्तं च-" सत्तावीसगुणा पुण, मणुयाणं तदहिया चेव " इति २ । ताभ्यो बादरतेजस्कायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः , कतिपयवर्गन्यूनावलिकाघनसमयप्रमाणत्वात् ३ । तेभ्योऽनुत्तरोपपातिनो देवा असंख्येयगुणाः, क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ४ । तेभ्य उपरितनग्रैवेयकत्रिकदेवाः संख्येयगुणाः,बृहत्तरक्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । एतदपि कथमवसेयम्?, इति चेत् । उच्यते-विमानबाहुल्यात् । तथाहि-अनुत्तरदेवानां पञ्च विमानानि विमानशतं तूपरितनग्रैवेयकत्रिकदेवानां प्रतिविमानं चाऽसंख्येया देवा यथा यथा चाधोवर्तीनि विमानानि तथा तथा देवा अपि प्राचुर्येण लभ्यन्ते,ततोऽवसीयते-अनुत्तरोपपातिदेवेभ्यो बृहत्तरक्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्त्याकाशप्रदेशराशिप्रमाणा उपरितनग्रैवेयकत्रिकदेवाः । एवमुत्तरत्र ऽपि भावना

कल्पो, यावदानतकल्पः ५ । तेभ्योऽप्युपरितनग्रैवेयकत्रिकदेवेभ्यो मध्यमग्रैवेयकत्रिकदेवाः संख्येयगुणाः ६ । तेभ्योऽप्यधस्तनग्रैवेयकत्रिकदेवाः संख्येयगुणाः ७ । तेभ्योऽच्युतकल्पदेवाः संख्येयगुणाः ८, तेभ्योऽप्यारणकल्पदेवाः संख्येयगुणाः । यद्यप्यारणाच्युतकल्पौ समश्रेणिकौ, समविमानसंख्याकौ च, तथाऽपि कृष्णपाक्षिकास्तथास्वाभाव्यात् प्राचुर्येण दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते, नोत्तरस्यां, बहवश्च कृष्णपाक्षिकाः, स्तोकाः शुक्लपाक्षिकाः, ततोऽच्युतकल्पदेवापेक्षया आरणकल्पे देवाः संख्येयगुणाः ९ । तेभ्योऽपि प्राणतकल्पे देवाः संख्येयगुणाः १० । तेभ्योऽप्यानतकल्पे देवाः संख्येयगुणाः, भावना आरणकल्पवत्कर्तव्या ११ । तेभ्योऽधःसप्तमनरकपृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः, श्रेण्यसंख्येयभागगतनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् १२ । तेभ्यः षष्ठपृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः, एतच्च प्रागेव दिगनुपातेन नैरयिकाल्पबहुत्वचिन्तायां भावितम् १३ । तेभ्योऽपि सहस्रारकल्पदेवा असंख्येयगुणाः, षष्ठपृथिवीनैरयिकपरिमाणहेतुश्रेण्यसंख्येयभागापेक्षया सहस्रारकल्पदेवपरिमाणहेतोः श्रेण्यसंख्येयभागस्यासंख्येयगुणत्वात् १४ । तेभ्यो महाशुक्रे कल्पे देवा असंख्येयगुणाः, विमानबाहुल्यात् । तथाहि-षट्सहस्राणि विमानानां सहस्रारकल्पे, चत्वारिंशत्सहस्राणि महाशुक्रे, अन्यच्च अधोऽधोविमानवासिनो देवा बहुबहुतराः, स्तोकस्तोकतराश्चोपरितनोपरितनविमानवासिनः, ततः सहस्रारदेवेभ्यो महाशुक्रकल्पे देवा असंख्येयगुणाः १५ । तेभ्योऽपि पञ्चमधूमप्रभाभिधानायां पृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः, बृहत्तमश्रेण्यसंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् १६ । तेभ्योऽपि लान्तके कल्पे देवा असंख्येयगुणाः, अतिबृहत्तमश्रेण्यसंख्येयभागगतनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् १७ । तेभ्योऽपि चतुर्थ्यां पङ्कप्रभायां पृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः, युक्तिः प्रागुक्तैव भावनीया १८ । तेभ्योऽपि ब्रह्मलोके कल्पे देवा असंख्येयगुणाः, युक्तिः प्रागुक्तैव १९ । तेभ्योऽपि तृतीयस्यां वालुकाप्रभायां पृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः २० । तेभ्योऽपि माहेन्द्रकल्पे देवा असंख्येयगुणाः २१ । तेभ्योऽपि सनत्कुमारकल्पे देवा असंख्येयगुणाः, युक्तिः सर्वत्रापि प्रागुक्तैव २२ । तेभ्यो द्वितीयस्यां शर्कराप्रभायां पृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः । [illegible] २३ । तेभ्यो [illegible] असंख्येयगुणाः, ते हि [illegible] २४ । [illegible]

स्यात् । " बत्तीसगुणा बत्तीसरूवअहियाओ होंति देवी[illegible] इति वचनात् २६ । ताभ्यः सौधर्मकल्पे देवाः संख्येय[illegible] तत्र विमानबाहुल्यात् । तथाहि-तत्र द्वात्रिंशच्छतसह[illegible] विमानानामष्टाविंशतिशतसहस्राणि ईशाने कल्पे, अपि च [illegible] दक्षिणदिग्वर्ती सौधर्मकल्पः, ईशानकल्पस्तूत्तरदिग्वर्ती, [illegible] स्यां च दिशि बहवः कृष्णपाक्षिकाः समुत्पद्यन्ते । ततः [illegible] नदेवेभ्यः सौधर्मदेवाः संख्येयगुणाः । नन्वियं युक्तिर्मा[illegible] नत्कुमारकल्पयोरप्युक्ता, परं तत्र माहेन्द्रकल्पापेक्षया स[illegible] मारकल्पदेवा असंख्येयगुणा उक्ताः, इह तु सौधर्मक[illegible] ख्येयगुणाः तदेव तत्कथम् ?, उच्यते-वचनप्रामाण्यात् । [illegible] पाठभ्रमः, यतोऽन्यत्राप्युक्तम्-" ईसाणे सव्वत्थ वि, ब[illegible] गुणा उ होंति देवीओ । संखेज्जा सोहम्मे, तओ असंखा भ[illegible] सी " ॥१॥ इति । २७ । तेभ्योऽपि तस्मिन्नेव सौधर्मकल्पे देव[illegible] यगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् । " सव्वत्थ वि बत्तीसगुणा[illegible] ति देवीओ " इति वचनात् २८ । ताभ्योऽप्यसंख्ये[illegible] भवनवासिनः । कथम् ?, इति चेत् । इह अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्र[illegible] शेः सम्बन्धिनि प्रथमे वर्गमूले तृतीयेन वर्गमूलेन गुणिते [illegible] वान् प्रदेशराशिर्भवति तावत्प्रमाणासु घनीकृतस्य लोक[illegible] प्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्प्रमाणो भ[illegible] तिदेवदेवीसमुदायः, तत्रात्किञ्चिन्न्यूनद्वात्रिंशद्भागकल्पा[illegible] पतयो देवाः, ततो घटन्ते सौधर्मदेवीभ्यस्तेऽसंख्येयगुणाः [illegible] तेभ्यो भवनवासिनो देव्यः संख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वा[illegible] ताभ्योऽप्यस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां नैरयिका असंख्येय[illegible] अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः सम्बन्धिनि प्रथमवर्गमूले द्वि[illegible] वर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणासु [illegible] यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् ३१ । तेभ्योऽ[illegible] चरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः पुरुषा असंख्येयगुणाः, प्रतरा[illegible] यभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगतनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ३२ [illegible] भ्योऽपि खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः स्त्रियः संख्येयगु[illegible] त्रिगुणत्वात् । " तिगुणा तिरूवअहिया, तिरियाणं [illegible] मुणेयव्वा " इति वचनात् ३३ । ताभ्यः स्थलचरपञ्चेन्द्रिय[illegible] र्यग्योनिकाः पुरुषाः संख्येयगुणाः, बृहत्प्रतरासंख्येय[illegible] र्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ३४ । तेभ्य[illegible] स्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः स्त्रियः संख्येयगुणाः, त्रिगुण[illegible] ३५ । ताभ्यो जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः पुरुषाः [illegible] यगुणाः, बृहत्तमप्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगता[illegible] देशराशिप्रमाणत्वात् ३६ । तेभ्यो जलचरपञ्चेन्द्रियति[illegible] निकाः स्त्रियः संख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात् ३७ । ताभ्यो [illegible] देवाः पुंवेदोदयिनः संख्येयगुणाः, यतः संख्येययोजन[illegible] कोटिप्रमाणानि सूचीरूपाणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् [illegible] भवन्ति तावन्तः सामान्येन व्यन्तराः, केवलमिह पुरुष[illegible] [illegible] इति तत्समुदायापेक्षया किञ्चिन्न्यूनद्वात्रिंशत्तमभाग[illegible] [illegible] । ततो घटन्ते [illegible] ३८ । तेभ्यो व्यन्तर्यः संख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् [illegible] ताभ्यो [illegible] देवाः संख्येयगुणाः, ते हि सामान्यत [illegible] [illegible] प्रमाणानि सूचीरूपाणि [illegible] [illegible] , [illegible] [illegible] इति [illegible] किञ्चिन्न्यूनद्वात्रिंशत्तम[illegible] [illegible] ४० । तेभ्यो [illegible] संख्येयगुणाः, द्वात्रिं[illegible] त्वात् ४१ । ततः [illegible]

संख्येयगुणाः। क्वचित् 'असंख्येयगुणाः, इति पाठः; स न समीचीनः, यत इत ऊर्ध्वं ये पर्याप्तचतुरिन्द्रिया वक्ष्यन्ते तेऽपि ज्योतिष्कदेवापेक्षया संख्येयगुणा एवोपपद्यन्ते । तथाहि-षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयाङ्गुलप्रमाणानि सूचीरूपाणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणा ज्योतिष्काः । उक्तं च-"छप्पन्नदोसयंगुल सूइपएसेहि भाइया पयरं। जोइसिएहिं हीरइ" इति। अङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि च सूचीरूपाणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणाश्चतुरिन्द्रियाः। उक्तं च-"पज्जत्ता-पज्जत्ता-बितिचउ असण्णिणो अवहरंति। अंगुलसंखाऽसंखप्पएसभइयं पुढो पयरं"।१। अङ्गुलासंख्येयभागापेक्षया षट्पञ्चाशदधिकमङ्गुलशतद्वयं संख्येयगुणं, ततो ज्योतिष्कदेवापेक्षया परिभाव्यमानाः पर्याप्तचतुरिन्द्रिया अपि संख्येयगुणा एव घटन्ते, किं पुनः पर्याप्तचतुरिन्द्रियापेक्षया संख्येयभागमात्रखचरपञ्चेन्द्रियनपुंसका इति ४२ । तेभ्योऽपि स्थलचरपञ्चेन्द्रियनपुंसकाः संख्येयगुणाः ४३। तेभ्योऽपि जलचरपञ्चेन्द्रियनपुंसकाः संख्येयगुणाः ४४ । तेभ्योऽपि पर्याप्तचतुरिन्द्रियाः संख्येयगुणाः ४५ । तेभ्योऽपि पर्याप्ताः संज्ञ्यसंज्ञिभेदभिन्नाः पञ्चेन्द्रिया विशेषाधिकाः ४६ । तेभ्योऽपि पर्याप्ता द्वीन्द्रिया विशेषाधिकाः ४७ । तेभ्योऽपि पर्याप्तास्त्रीन्द्रिया विशेषाधिकाः ४८ । यद्यपि पर्याप्तचतुरिन्द्रियादीनां पर्याप्तत्रीन्द्रियपर्यन्तानां प्रत्येकमङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि सूचीरूपाणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणत्वमविशेषेणान्यत्र वर्ण्यते, तथाप्यङ्गुलासंख्येयभागस्य संख्येयभेदभिन्नत्वादित्थं विशेषाधिकत्वमुच्यमानं न विरुद्धम्। उक्तं चेत्थमल्पबहुत्वमन्यत्रापि-"तत्तो नपुंसकखहयरसंखेज्जा थलयरजलयरनपुंसका चतुरिंदिया तत्तो पणबितिपज्जत्ता किंचऽहिय त्ति" ४८। तेभ्योऽपि पर्याप्तत्रीन्द्रियेभ्योऽपर्याप्ताः पञ्चेन्द्रिया असंख्येयगुणाः, अङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि खण्डानि सूचीरूपाणि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणत्वात् ४९। तेभ्यश्चतुरिन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः ५०। तेभ्योऽपि त्रीन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः ५१। तेभ्यो द्वीन्द्रिया अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, यद्यपि चापर्याप्ताश्चतुरिन्द्रियादयोऽपर्याप्तद्वीन्द्रियपर्यन्ताः प्रत्येकमङ्गुलस्यासंख्येयभागमात्राणि खण्डानि सूचीरूपाणि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणा अन्यत्राविशेषेणोक्ताः, तथाप्यङ्गुलासंख्येयभागस्य विचित्रत्वादित्थं विशेषाधिकत्वमुच्यमानं न विरोधमास्कन्दति ५२। तेभ्योऽपि द्वीन्द्रियापर्याप्तेभ्यः प्रत्येकबादरवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, यद्यपि चापर्याप्तद्वीन्द्रियादिवत् पर्याप्तबादरवनस्पतिकायिका अप्यङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि सूचीरूपाणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणा अन्यत्रोक्ता, तथाऽप्यङ्गुलासंख्येयभागस्यासंख्येयभेदभिन्नत्वाद् बादरपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिपरिमाणचिन्तायामङ्गुलासंख्येयभागोऽसंख्येयगुणहीनः परिगृह्यते, ततो न कश्चिद्विरोधः ५३ । तेभ्यो बादरनिगोदा अनन्तकायिकशरीररूपाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः ५४ । तेभ्योऽपि बादरपृथिवीकायिकाः पर्याप्ताः असंख्येयगुणाः ५५ । तेभ्योऽपि पर्याप्तबादराप्कायिका असंख्येयगुणाः, यद्यपि च पर्याप्तबादरप्रत्येकवनस्पतिकायिकाऽप्कायिकाः प्रत्येकमङ्गुलासंख्येयभागमात्राणि सूचीरूपाणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणा अन्यत्राविशेषेणोक्ताः, तथाऽप्यङ्गुलासंख्येयभागस्यासंख्येयभेदभिन्नत्वादित्थमसंख्येयगुणत्वादित्थमभिधाने न कश्चिद्दोषः ५६ । तेभ्यो बादरपर्याप्ताप्कायिकेभ्यो बादरवायुकायिकाः पर्याप्ता असंख्येयगुणाः, घनीकृतलोकासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयप्रतरगतनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ५७ । तेभ्यो बादरतेजस्कायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः, असंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ५८ । तेभ्यः प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः ५९ । तेभ्योऽपि बादरनिगोदा अपर्याप्तका असंख्येयगुणाः ६० । तेभ्यो बादरपृथिवीकायिका अपर्याप्तका असंख्येयगुणाः ६१ । तेभ्यो बादराप्कायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः ६२ । तेभ्यो बादरवायुकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः ६३ । तेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः ६४ । तेभ्यः सूक्ष्मपृथिवीकायिका अपर्याप्ता विशेषाधिकाः ६५ । तेभ्यः सूक्ष्माप्कायिका अपर्याप्ता विशेषाधिकाः ६६ । तेभ्यः सूक्ष्मवायुकायिका अपर्याप्ता विशेषाधिकाः ६७ । तेभ्यः सूक्ष्मतेजस्कायिकाः पर्याप्तका असंख्येयगुणाः, अपर्याप्तकसूक्ष्मेभ्यः पर्याप्तसूक्ष्माणां स्वभावत एव प्राचुर्येण भावात् । तथा चाह अस्यामेव प्रज्ञापनायां संग्रहणीकारः-"जीवाणमपज्जत्ता, बहुतरगा बायराण विन्नेया। सुहुमाण य पज्जत्ता, ओहेण य केवली विंति" । ६८ । तेभ्योऽपि सूक्ष्मपृथिवीकायिकाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः ६९ । तेभ्योऽपि सूक्ष्माप्कायिकाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः ७० । तेभ्योऽपि सूक्ष्मवायुकायिकाः पर्याप्ता विशेषाधिकाः ७१ । तेभ्योऽपि सूक्ष्मनिगोदा अपर्याप्तका असंख्येयगुणाः ७२ । तेभ्योऽपि पर्याप्ताः सूक्ष्मनिगोदाः संख्येयगुणाः, यद्यपि च पर्याप्ततेजस्कायिकादयः पर्याप्तसूक्ष्मनिगोदपर्यन्ता अविशेषेणान्यत्राऽसंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणा उक्ताः, तथाऽपि लोकासंख्येयत्वस्याऽसंख्येयभेदभिन्नत्वादित्थमल्पबहुत्वमभिधीयमानमुपपन्नं द्रष्टव्यम् ७३ । तेभ्योऽभवसिद्धिका अनन्तगुणाः, जघन्ययुक्तानन्तकप्रमाणत्वात् ७४ । तेभ्यः प्रतिपतितसम्यग्दृष्टयोऽनन्तगुणाः ७५ । तेभ्यः सिद्धा अनन्तगुणाः ७६ । तेभ्योऽपि बादरवनस्पतिकायिकाः पर्याप्ता अनन्तगुणाः ७७ । तेभ्योऽपि सामान्यतो बादरपर्याप्ता विशेषाधिकाः, बादरपर्याप्तपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् । ७८ । तेभ्यो बादरापर्याप्तवनस्पतिकायिका असंख्येयगुणाः, एकैकबादरनिगोदपर्याप्तनिश्रयाऽसंख्येयगुणानां बादरापर्याप्तनिगोदानां संभवात् ७९। तेभ्यः सामान्यतो बादरापर्याप्ता विशेषाधिकाः, बादरापर्याप्तपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ८० । तेभ्यः सामान्यतो बादरा विशेषाधिकाः, पर्याप्तापर्याप्तानां तत्र प्रक्षेपात् ८१ । तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिका अपर्याप्ता असंख्येयगुणाः ८२ । तेभ्यः सामान्यतः सूक्ष्मा अपर्याप्ता विशेषाधिकाः, सूक्ष्माऽपर्याप्तपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ८३ । तेभ्यः सूक्ष्मवनस्पतिकायिकाः पर्याप्तकाः संख्येयगुणाः, पर्याप्तसूक्ष्माणामपर्याप्तसूक्ष्मेभ्यः स्वभावतः सदैव संख्येयगुणतया प्राप्यमाणत्वात्, तथा केवलवेदसोऽनुपलब्धेः ८४ । तेभ्योऽपि सामान्यतः सूक्ष्माः पर्याप्ता विशेषाधिकाः, पर्याप्तसूक्ष्मपृथिवीकायिकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् ८५ । तेभ्यः पर्याप्ताऽपर्याप्तविशेषणरहिताः सूक्ष्मा विशेषाधिकाः, अपर्याप्तसूक्ष्मपृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायिकानामपि तत्र प्रक्षेपात् ८६ । तेभ्योऽपि भवसिद्धिका 'भवे सिद्धिर्येषां ते भवसिद्धिकाः' भव्या विशेषाधिकाः, जघन्ययुक्तानन्तकमात्राभव्यपरिहारेण सर्वजीवानां भव्यत्वात् ८७। तेभ्यः सामान्यतो निगोदजीवा विशेषाधिकाः, इह भव्याभव्याश्चातिप्राचुर्येण बादरसूक्ष्मनिगोदजीवराशावेव प्राप्यन्ते, नान्यत्र, अन्येषां सर्व-

[illegible]

अपजेपर संखगुणा, परमपज्जविए असंखगुणा ॥५४॥

असमासा अपर्याप्तास्ते च ते त्रसाश्च द्वीन्द्रियादयोऽसमाप्तत्रसाः, अपर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियाः, संज्ञ्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियास्तेषामुत्कृष्टोऽसमाप्तत्रसोत्कृष्टोऽसंख्येयगुणो वाच्यः। अयमर्थः-पर्याप्तबादरैकेन्द्रियोत्कृष्टयोगाद् द्वीन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः १४ । ततस्त्रीन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः १५ । ततश्चतुरिन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः १६ । ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः १७ । ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः १८ । (पज्जत्तजहन्न त्ति) ततस्त्रसानां पर्याप्तानां जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणो वाच्यः १९ । ततोऽपि (इयर त्ति) त्रसानां पर्याप्तानामुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणो वाच्यः २० । इत्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्-ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य लब्ध्यपर्याप्तकोत्कृष्टयोगात्पर्याप्तद्वीन्द्रियस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः २१ । ततस्त्रीन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः २२ । ततश्चतुरिन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः २३ । ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः २४ । ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य जघन्यो योगोऽसंख्येयगुणः २५ । ततः पर्याप्तद्वीन्द्रियस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः २६ । ततः पर्याप्तत्रीन्द्रियस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः २७ । ततः पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्योत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः २८ । ततः पर्याप्तसंज्ञ्युत्कृष्टयोगादनुत्तरोपपातिनामुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः २९ । ततो ग्रैवेयकदेवानामुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः ३० । ततो भोगभूमिजानां तिर्यङ्मनुष्याणामुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः ३१ । ततोऽप्याहारकशरीरिणामुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः ३२ । ततः शेषदेवनारकतिर्यङ्मनुष्याणां यथोत्तरमुत्कृष्टो योगोऽसंख्येयगुणः ३३ ।

अथ सुखावबोधायाल्पबहुत्वपदानां यन्त्रकमुपदर्श्यते। तच्चेदम्-

सूक्ष्मनि० अप० जघ० योग सर्वस्तो० १	बादर० अप० जघ० योग असं० २	द्वीन्द्रि० अप० जघ० यो० असं० ३
त्रीन्द्रि० अप० जघ० यो० असं० ४	चतुरि० अप० जघ० यो० असं० ५	असंज्ञि० अप० जघ० यो० असं० ६
संज्ञि अप० जघ० यो० असं० ७	सूक्ष्मनिगो० पर्या० ज० यो० असं० ८	बादरपर्या० जघ० यो० असं० ९
द्वीन्द्रि० पर्या० जघ० यो० असं० १०	त्रीन्द्रिय० प० जघ० यो० असं० ११	चतुरि० प० जघ० यो० असं० १२
असंज्ञिपर्या० जघ० यो० असं० १३	संज्ञिपर्या० जघ० यो० असं० १४	सूक्ष्मनिगोद अप० उत्कृष्टयो० असं० १५
बादर अप० उत्कृ० यो० असं० १६	द्वीन्द्रि० अप० उत्कृ० यो० असं० १७	त्रीन्द्रि० अप० उत्कृ० यो० असं० १८
चतुरिन्द्रि० अप० उत्कृ० यो० असं० १९	असंज्ञिअप० उत्कृ० यो० असं० २०	संज्ञि अप० उत्कृष्ट० यो० असं० २१
सूक्ष्मनि० पर्या० उत्कृ० यो० असं० २२	बादर पर्या० उत्कृ० यो० असं० २३	द्वीन्द्रि० प० उत्कृ० यो० असं० २४
त्रीन्द्रि० प० उत्कृ० यो० असं० २५	चतुरि० प० उत्कृ० यो० असं० २६	असंज्ञि पर्या० उत्कृ० यो० असं० २७
संज्ञि पर्या० उत्कृ० यो० असं० २८	अनुत्तरो० उत्कृ० यो० असं० २९	ग्रैवेयकदेव० उत्कृ० यो० असं० ३०
भोगभूमि० तिर्य० ग० यो० असं० ३१	आहारक० उत्कृ० यो० असं० ३२	देवना० ति० मनु० उत्कृ० यो० असं० ३३

गुणकारश्चात्रापि सूक्ष्मक्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागरूपः प्रत्येकं ग्राह्यः। तदत्र जघन्ययोगी जघन्यकर्मप्रदेशग्रहणं जघन्यस्थितिं च विदधाति, योगवृद्धौ च तद्वृद्धिरपीति स्थितमिति। (एय विद्धाणेत्यादि) एयम्, मकारस्य लोपः, प्राकृतत्वात्। पूर्वोक्तयोगप्ररूपणान्यायेन सूक्ष्मैकेन्द्रियादिजीवक्रमेणैव स्थितीनां स्थानानि स्थितिस्थानानि, वाच्यानीति शेषः। तत्र जघन्यस्थितेरारभ्य एकैकसमयवृद्ध्या सर्वोत्कृष्टनिजस्थितिपर्यवसानाः ये स्थितिभेदास्ते स्थितिस्थानान्युच्यन्ते। कथं पुनरेतानि वाच्यानि ? इति, कियद्गुणानि पुनरेतानि ?, इत्याह-संख्यगुणानि। तत्र संख्यानं संख्या, तामर्हतीति संख्यः "दण्डादिभ्यो यः" (६ । ४ । १७८) इति (हैमसूत्रेण) यप्रत्ययः। ततः संख्यः संख्येयः संख्यात इत्यर्थो गुणो गुणकारो येषां तानि संख्यगुणानि, संख्यातगुणितानीत्यर्थः। किं सर्वपदेषु संख्यातगुणान्येव, अहोस्विदस्ति कस्मिंश्चित्पदे विशेषः ?, इत्याह-(परमपज्जविए असंखगुण त्ति) परं केवलम्, अपर्याप्तद्वीन्द्रिये अपर्याप्तद्वीन्द्रियपदे, तानि स्थितिस्थानानि असंख्यातगुणानि २। ततः सूक्ष्मैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणानि ३ । ततो बादरैकेन्द्रियस्य पर्याप्तकस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणानि ४ । एतानि च पल्योपमासंख्येयभागसमयतुल्यानि स्थितिस्थानानि भवन्ति। यत एकेन्द्रियाणां जघन्योत्कृष्टस्थित्योरन्तरालमेतावन्मात्रमेवेति, ततोऽपर्याप्तद्वीन्द्रियस्य स्थितिस्थानान्यसंख्यातगुणितानि पल्योपमसंख्येयभागमात्राणीति कृत्वा ५ । ततस्तस्यैव द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणितानि ६ । ततस्त्रीन्द्रियस्यापर्याप्तकस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणितानि ७ । ततस्त्रीन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणितानि ८ । ततश्चतुरिन्द्रियस्यापर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणितानि ९ । ततः पर्याप्तचतुरिन्द्रियस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणितानि १० । ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणितानि ११ । ततोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणानि १२ । ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यापर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणानि १३ । ततः संज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य स्थितिस्थानानि संख्यातगुणानि भवन्तीति १४ ।

स्थापना-

सू० अप० स्थिति स्तो०	बादर अप० स्थिति सं०	द्वीन्द्रिय अप० स्थिति असं०	त्रीन्द्रि० अप० स्थिति सं०	चतु० अप० स्थि० सं०	असंज्ञि अप० स्थिति सं०	संज्ञि० अ० प० स्थिति सं०
सूक्ष्म० पर्या० स्थिति सं०	बादर प० स्थिति सं०	द्वीन्द्रि० प० स्थि० सं०	त्रीन्द्रि० प० स्थि० सं०	चतु० पर्या० स्थि० सं०	असं० प० स्थिति सं०	संज्ञि० प० स्थिति सं०

तदेवं निरूपितानि योगप्रसङ्गेन स्थितिस्थानानि। कर्म० ५ कर्म०।

योगस्यैवाल्पबहुत्वं प्रकारान्तरेणाऽऽह—

एयस्स णं भंते ! पन्नरसविहस्स जहण्णुक्कोसगस्स कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवे कम्मगसरीरस्स जहण्णए जोए १, ओरालियमीसगस्स जहण्णए जोए असंखेज्जगुणे २, वेउव्वियमीसगस्स जहण्णए जोए असंखेज्जगुणे ३, ओरालियसरीरस्स जहण्णए जोए असंखेज्जगुणे ४, वेउव्वि-

सरीरस्स जहएणए जोए असंखेज्जगुणे ५, कम्मग-सरीरस्स उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे ६, आहारग-मीसगस्स जहएणए जोगे असंखेज्जगुणे ७, आहा-रगमीसगस्स उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे ८, ओरालि-यमीसगस्स वेउव्वियमीसगस्स । एएसि णं उक्कोसए जोए दोरह वि तुल्ले असंखेज्जगुणे ९, असच्चामोस-मणजोगस्स जहएणए जोए असंखेज्जगुणे १०, आ-हारगस्स सरीरस्स जहएणए जोए असंखेज्जगुणे ११, [illegible] मणजोगस्स वइउव्विहस्स वइजोगस्स एएसि णं चउरह वि तुल्ले जहएणए जोए असंखेज्जगुणे १२, आहारगसरीरस्स उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे १३, ओरालियसरीरस्स वेउव्वियसरीरस्स चउव्विहस्स य म-णजोगस्स चउव्विहस्स य वइजोगस्स । एएसि णं दस-एह वि तुल्ले उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे १४ ।

[illegible] । भ० २५ श० १ उ० ।

[illegible]-

एएसि णं भंते ! जीवाणं सजोगीणं मणजोगीणं वइ-जोगीणं कायजोगीणं अजोगीण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गो-यमा ! सव्वत्थोवा जीवा मणजोगी, वइजोगी असंखे-ज्जगुणा, अजोगी अणंतगुणा, कायजोगी अणंतगुणा, सजोगी विसेसाहिया ।

[illegible]

[illegible]

सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यः शीतयोनिका अनन्तगुणाः, वन-कायिकानां सर्वेषामपि शीतयोनिकत्वात्, तेषां च सिद्धेभ्यो-ऽप्यनन्तगुणत्वात् ।

सचित्ताचित्तमिश्रयोनिकानाम्-

एतेसि णं भंते ! जीवाणं सचित्तजोणीणं अचित्त-जोणीणं मीसजोणीणं अजोणीण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा मीसजोणि-या, अचित्तजोणिया असंखिज्जगुणा, अजोणिया अणं-तगुणा, सचित्तजोणिया अणंतगुणा ।

अल्पबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोका जीवा मिश्रयोनिकाः, पञ्चे-न्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणामेव मिश्रयोनिकत्वात् । ते-भ्योऽचित्तयोनिका असंख्येयगुणाः, नैरयिकदेवानां [illegible] प्रत्येकं पृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकवनस्पतिद्वित्रिचतुरिन्द्रियसं-मूर्छिमतिर्यक्पञ्चेन्द्रियसंमूर्छिममनुष्याणामचित्तयोनिकत्वा[illegible] तेभ्योऽप्ययोनिका अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । ते-भ्यः सचित्तयोनिका अनन्तगुणाः, निगोदजीवानां सचित्तयो-निकत्वात्, तेषां च सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् ।

संवृतविवृतयोनिकानाम्-

एतेसि णं भंते ! जीवाणं संवुडजोणियाणं वियडजोणियाणं य संवुडवियडजोणियाणं अजोणियाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा संवुडवियडजोणि[illegible] वियडजोणिया असंखेज्जगुणा, अजोणिया अणंतगुणा, संवुडजोणिया अणंतगुणा ।

अल्पबहुत्वचिन्तायां सर्वस्तोकाः संवृतविवृतयोनिकाः, गर्भ-व्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणामेव संवृतविवृतयोनिक[illegible] त्वात् । तेभ्यो विवृतयोनिकाः संख्येयगुणाः, द्वीन्द्रियादीनां चतुरि-[illegible] पर्यवसानानां संमूर्छिमतिर्यक्पञ्चेन्द्रियसंमूर्छिममनुष्य[illegible] च विवृतयोनिकत्वात् । तेभ्योऽयोनिका अनन्तगुणाः, सिद्धा[illegible] नन्तत्वात् । तेभ्यः संवृतयोनिका अनन्तगुणाः, वनस्पती[illegible] संवृतयोनिकत्वात्, तेषां च सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । प्रज्ञा० ९ पद [illegible]

(२३) [लेश्याद्वारम्] सलेश्यानामल्पबहुत्वम्-

तत्र सलेश्याऽलेश्यानामल्पबहुत्वाभिधानाम्- " [illegible] अलेस्सा, सलेस्सा अणंतगुणा" जी० १ प्रति० ।

सम्प्रति सलेश्यादीनामष्टानामल्पबहुत्वमाह-

एएसि णं भंते ! जीवाणं सलेस्साणं किण्हलेस्साणं नी-ललेस्साणं काउलेस्साणं तेउलेस्साणं पम्हलेस्साणं सुक्कले-स्साणं अलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा सुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा संखिज्जगुणा, तेउलेस्सा संखिज्ज०, अलेस्सा अणंतगुणा, काउलेस्सा अणंतगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, किण्हलेस्सा विसेसाहिया, सलेस्सा [illegible]

सर्वस्तोकाः शुक्ललेश्याः, [illegible]

[illegible]

षु मनुष्यस्त्रीपुंनपुंसकेषु तथा गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यग्योनिकस्त्रीपुंनपुंसकेषु असंख्येयवर्षायुष्केष्ववाप्यते, सनत्कुमारादिदेवाद्यश्च समुदिता लान्तकादिदेवादिभ्यः संख्येयगुणाः, इति भवन्ति शुक्ललेश्याकेभ्यः पद्मलेश्याकाः संख्येयगुणाः, तेभ्यस्तेजोलेश्याकाः संख्येयगुणाः, सर्वेषां सौधर्मेशानज्योतिष्कदेवानां कतिपयानां च भवनपतिव्यन्तरगर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां बादरापर्याप्तैकेन्द्रियाणां च तेजोलेश्याभावात् । नन्वसंख्येयगुणाः कस्मान्न भवन्ति, कथं न भवन्ति ?, इति । चेत् । उच्यते-इह ज्योतिष्का भवनवासिभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः, किं पुनः सनत्कुमारादिदेवेभ्यः, ते च ज्योतिष्कास्तेजोलेश्याकास्तथा सौधर्मेशानकल्पदेवाश्च ततः प्राप्नुवन्त्यसंख्येयगुणाः। तदयुक्तम्। वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात्। लेश्यापदे हि गर्भव्युत्क्रान्तिकतिर्यग्योनिकानां संमूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानां च कृष्णलेश्याद्यल्पबहुत्वे सूत्रं वक्ष्यति-"सव्वत्थोवा गब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणिया सुक्कलेस्सा, तिरिक्खजोणिणीओ संखेज्जगुणाओ, पम्हलेस्सा गब्भवक्कंतियतिरिक्खजोणिया संखेज्जगुणा, तिरिक्खजोणिणीओ संखेज्जगुणाओ, तेउलेस्सा गब्भवक्कंतितिरिक्खजोणिया संखेज्जगुणा, तेउलेस्साओ तिरिक्खजोणिणीओ संखेज्जगुणाओ" इति महादण्डके च तिर्यग्योनिकस्त्रीभ्यो व्यन्तरज्योतिष्काश्च संख्येयगुणा वक्ष्यन्ते। ततो यद्यपि भवनवासिभ्योऽप्यसंख्येयगुणा ज्योतिष्काः, तथापि पद्मलेश्याकेभ्यस्तेजोलेश्याकाः संख्येयगुणा एव । इदमत्र तात्पर्यार्थः-यदि केवलान् देवानेव पद्मलेश्यानधिकृत्य देवा एव तेजोलेश्याकाश्चिन्त्यन्ते ततो भवन्त्यसंख्येयगुणाः, यावता तिर्यक्संमिश्रया पद्मलेश्याकेभ्यस्तिर्यक्संमिश्रा एव तेजोलेश्याकाश्चिन्त्यन्ते, तिर्यञ्चश्च पद्मलेश्या अपि अतिबहवस्ततः संख्येयगुणा इति । तेभ्यः अलेश्याका अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यः कापोतलेश्या अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानामपि कापोतलेश्यायाः संभवात्, वनस्पतिकायिकानां च सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । तेभ्योऽपि नीललेश्या विशेषाधिकाः, प्रभूततराणां नीललेश्यासंभवात् । तेभ्योऽपि कृष्णलेश्याका विशेषाधिकाः, प्रभूतानां कृष्णलेश्याकत्वात् । सामान्यतः सलेश्या विशेषाधिकाः, नीललेश्याकादीनामपि तत्र प्रक्षेपात् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० । कर्म० ।

तदेवं सामान्यतोऽल्पबहुत्वं चिन्तितं; संप्रति नैरयिकेषु तच्चिन्तयन्नाह-

एतेसि णं भंते ! नेरइयाणं कण्हलेस्साणं नीललेस्साणं काउलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा नेरइया कण्हलेस्सा, नीललेस्सा असंखेज्जगुणा, काउलेस्सा असंखेज्जगुणा ।

नैरयिकाणां हि तिस्रो लेश्याः । तद्यथा-कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या । उक्तञ्च-"काऊपदोसु तइया-ए मीसिया नीलिया चउत्थीए । पंचमियाए मिस्सा, कण्हा तत्तो परमकण्हा ।" ॥ १ ॥ ततः त्रयाणामेव पदानां परस्परमल्पबहुत्वचिन्ता, तत्र सर्वस्तोकाः कृष्णलेश्या नैरयिकाः, कतिपयपञ्चमपृथिवीगतनरकावासेषु षष्ठ्यां सप्तम्यां नैरयिकाणां कृष्णलेश्यासद्भावात् । ततोऽसंख्येयगुणा नीललेश्याः, कतिपयेषु तृतीयपृथिवीगतनरकावासेषु चतुर्थ्यां समस्तायां पृथिव्यां कतिपयेषु पञ्चमपृथिवीगतनरकावासेषु नैरयिकाणां पूर्वोक्तेभ्योऽसंख्येयगुणानां नीललेश्याभावात् । तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः कापोतलेश्याः, प्रथमद्वितीयपृथिव्योस्तृतीयपृथिवीगतेषु च कतिपयेषु नरकावासेषु नारकाणामनन्तरोक्तेभ्योऽसंख्येयगुणानां कापोतलेश्यासद्भावात् ।

अधुना तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेष्वल्पबहुत्वमाह-

एएसि णं भंते ! तिरिक्खजोणियाणं कण्हलेस्साणं० जाव सुक्कलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा तिरिक्खजोणिया सुक्कलेस्सा, एवं जहा ओहिया, नवरं अलेस्सवज्जा ।

(एवं जहा ओहिया इति) एवमुपदर्शितेन प्रकारेण प्राग्वत् औघिकास्तथा वक्तव्याः, नवरमलेश्यावर्जाः तिरश्चामलेश्यानामसंभवात् । ते चैवम्-सर्वस्तोकास्तिर्यग्योनिकाः शुक्ललेश्यास्ते च जघन्यपदे संख्याता द्रष्टव्याः १, तेभ्योऽसंख्येयगुणाः पद्मलेश्याः २, तेभ्योऽपि संख्येयगुणास्तेजोलेश्याः ३, तेभ्योऽप्यनन्तगुणाः कापोतलेश्याः ४, तेभ्योऽपि नीललेश्या विशेषाधिकाः ५, तेभ्योऽपि कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः ६, तेभ्योऽपि सलेश्या विशेषाधिकाः ७ ।

साम्प्रतमेकेन्द्रियेष्वल्पबहुत्वमाह-

एतेसि णं भंते ! एगिंदियाणं कण्हलेस्साणं० जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा एगिंदिया तेउलेस्सा, काउलेस्सा अणंतगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया ॥

सर्वस्तोका एकेन्द्रियास्तेजोलेश्याः, कतिपयेषु बादरपृथिव्यप्प्रत्येकवनस्पतिकायिकेष्वपर्याप्तावस्थायां तस्याः सद्भावात् । तेभ्यः कापोतलेश्या अनन्तगुणाः, अनन्तानां सूक्ष्मबादरनिगोदजीवानां कापोतलेश्यासद्भावात् । तेभ्योऽपि नीललेश्या विशेषाधिकाः, तेभ्योऽपि कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः । अत्र भावना प्रागेवोक्ता ।

सम्प्रति पृथिवीकायिकादिविषयमल्पबहुत्वं वक्तव्यम् । तत्र पृथिव्यब्वनस्पतिकायानां चतस्रो लेश्याः, तेजोवायुकायानां तिस्र इति तथैव सूत्रमाह-

एतेसि णं भंते ! पुढवीकाइयाणं कण्हलेस्साणं० जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! जहा ओहिया एगिंदिया, नवरं काउलेस्सा असंखिज्जगुणा, एवं आउकाइयाण वि । एतेसि णं भंते ! तेउकाइयाणं कण्हलेस्साणं नीलकाउलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा तेउकाइया काउलेस्सा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया, एवं वाउकाइयाण वि । एतेसि णं भंते ! वणस्सइकाइयाणं कण्हलेस्साणं० जाव तेउलेस्साण य जहा एगिंदियाणं बेइंदियतेइंदियचउरिंदियाणं जहा तेउकाइयाणं । एतेसि णं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं कण्हलेस्साणं० जाव सुक्कलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! जहा ओहियाणं तिरिक्खजोणियाणं, नवरं काउलेस्सा असंखि-

भावना प्रागुक्तानुसारेण कर्त्तव्या। तिर्यग्योनिकविषयां सूत्रसंकलनामाह-"एवमेते दस अप्पाबहुगा तिरिक्खजोणियाणमिति" सुगमम्; नवरमिहेमे पूर्वाचार्यप्रदर्शिते संग्रहणीगाथे-

"ओहियपणिंदि १ संमु-च्छिया य २ गब्भ ३ तिरिक्खइत्थीओ ४।
समुच्छगब्भतिरिया, ५ मुच्छतिरिक्खी य ६ गब्भम्मि ७ ॥ १॥
संमुच्छगब्भइत्थी, ८ पणिंदितिरिगित्थियाओ ९ इत्थी उ १०।
दस अप्पबहुगभेया, तिरियाणं होंति णायव्वा" ॥ २ ॥

यथा तिरश्चामल्पबहुत्वान्युक्तानि तथा मनुष्याणामपि वक्तव्यानि; नवरं पश्चिमं दशममल्पबहुत्वं नास्ति, मनुष्याणामनन्तत्वाभावात्; तदभावे "काउलेसा अणंतगुणा" इतिपदासंभवात्।

अधुना देवविषयमल्पबहुत्वमाह-

एतेसि णं भंते! देवाणं कण्हलेस्साणं० जाव सुक्कलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा! सव्वत्थोवा देवा सुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा असंखिज्जगुणा, काउलेस्सा असंखिज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया, तेउलेस्सा संखिज्जगुणा ॥

सर्वस्तोका देवाः शुक्ललेश्याः, लान्तकादिदेवलोकेष्वेव तेषां सद्भावात्। तेभ्यः पद्मलेश्या असंख्येयगुणाः, भवनपतिव्यन्तरदेवेषु सनत्कुमारादिदेवेभ्योऽसंख्येयगुणेषु कापोतलेश्यासद्भावात्। तेभ्योऽपि नीललेश्या विशेषाधिकाः, प्रभूततराणां भवनपतिव्यन्तराणां तस्याः संभवात्। तेभ्योऽपि कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः, प्रभूततराणां तेषां कृष्णलेश्याकत्वात्। तेभ्योऽपि तेजोलेश्याः संख्येयगुणाः, कतिपयानां भवनपतिव्यन्तराणां समस्तानां ज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवानां तेजोलेश्याभावात्।

अधुना देवीविषयं सूत्रमाह-

एएसि णं भंते! देवीणं कण्हलेस्साणं० जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा! सव्वत्थोवाओ देवीओ काउलेस्साओ, नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कण्हलेस्साओ विसेसाहियाओ, तेउलेस्साओ संखेज्जगुणाओ।

(एएसि णं भंते! देवीणमित्यादि) देव्यश्च सौधर्मेशानान्ता एव न परत इति तासां चतस्र एव लेश्यास्ततस्तद्विषयमेवाल्पबहुत्वमभिधित्सुना "जाव तेउलेस्साण य" इत्युक्तम्। सर्वस्तोका देव्यः कापोतलेश्याः, कतिपयानां भवनपतिव्यन्तरदेवीनां कापोतलेश्याभावात्। ताभ्यो विशेषाधिका नीललेश्याः, प्रभूतानां भवनपतिव्यन्तरदेवीनां तस्याः सम्भवात्। ताभ्योऽपि कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः, प्रभूतानां तासां कृष्णलेश्याकत्वात्। ताभ्यस्तेजोलेश्याः संख्येयगुणाः, ज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवीनामपि समस्तानां तेजोलेश्याकत्वात्।

सम्प्रति देवदेवीविषयं सूत्रमाह-

एतेसि णं भंते! देवाणं देवीण य कण्हलेस्साणं० जाव सुक्कलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा! सव्वत्थोवा देवा सुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा असंखेज्जगुणा, काउलेस्सा असंखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया, काउलेस्साओ देवीओ संखेज्जगुणाओ, नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कण्हलेस्साओ विसेसाहियाओ, तेउलेस्सा देवा संखिज्जगुणा, तेउलेस्साओ देवीओ संखेज्जगुणाओ।

सर्वस्तोका देवाः शुक्ललेश्याः, तेभ्योऽसंख्येयगुणाः पद्मलेश्याः, तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणाः कापोतलेश्याः, तेभ्यो नीललेश्या विशेषाधिकाः, तेभ्योऽपि कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः, एतावत्प्रागेव भावितम्। तेभ्योऽपि कापोतलेश्याका देव्यः संख्येयगुणाः। ताश्च भवनपतिव्यन्तरनिकायान्तर्गता वेदितव्याः, अन्यत्र देवीनां कापोतलेश्याया असम्भवात्। देव्यश्च देवेभ्यः सामान्यतः प्रतिनिकायं द्वात्रिंशद्गुणाः, ततः कृष्णलेश्याभ्यो देवीभ्यः कापोतलेश्याया असम्भवात्। देव्यश्च देवेभ्यः सामान्यतः प्रतिनिकायं द्वात्रिंशद्गुणाः, ततः कृष्णलेश्याभ्यो देवीभ्यः कापोतलेश्या देव्यः संख्येयगुणा अपि घटन्ते, ताभ्यो नीललेश्या विशेषाधिकाः, ताभ्यः कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः। अत्रापि प्राग्वद् भावना। तेभ्योऽपि तेजोलेश्या देवाः संख्येयगुणाः, कतिपयानां भवनपतिव्यन्तराणां समस्तानां ज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवानां तेजोलेश्याकत्वात्। तेभ्योऽपि तेजोलेश्याका देव्यः संख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात्।

सम्प्रति भवनवासिदेवविषय सूत्रमाह-

एतेसि णं भंते! भवनवासीणं देवाणं कण्हलेस्साणं० जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा! सव्वत्थोवा भवणवासी देवा तेउलेस्सा, काउलेस्सा असंखेज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया।

(एएसि णं भंते! इत्यादि) सर्वस्तोकास्तेजोलेश्याः, महर्द्धयो हि तेजोलेश्याका भवन्ति; महर्द्धयश्चाल्पे, इति सर्वस्तोकाः। तेभ्योऽसंख्येयगुणाः कापोतलेश्याः, अतिशयेन प्रभूतानां कापोतलेश्यासंभवात्। तेभ्यो नीललेश्या विशेषाधिकाः, अतिप्रभूततराणां तस्याः संभवात्। तेभ्योऽपि कृष्णलेश्या विशेषाधिकाः, अतिप्रभूततराणां कृष्णलेश्याभावात्। एवं भवनपतिदेवीविषयमपि सूत्रं भावनीयम्।

तच्च—

एतेसि णं भंते! भवणवासिणीणं देवीणं कण्हलेस्साणं० जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा! एवं चेव।

अधुना भवनपतिदेवदेवीविषयं सूत्रमाह-

एएसि णं भंते! भवणवासीणं देवाणं देवीण य कण्हलेस्साणं० जाव तेउलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा! सव्वत्थोवा भवणवासी देवा तेउलेस्सा, भवणवासिणीओ तेउलेस्साओ संखिज्जगुणाओ, काउलेस्सा भवणवासी असंखिज्जगुणा, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया, काउलेस्साओ भवणवासिणीओ संखेज्जगुणाओ, नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कण्हलेस्साओ विसेसाहियाओ, एवं वाणमंतराण वि तिन्नेव अप्पाबहुगा जहेव भवणवासीणं तहेव भाणियव्वा।

न्ति खण्डानि एकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तावत्प्रमाणो ज्योतिष्कदेवदेवीसमुदायः,सङ्कतिकिञ्चिदूनद्वात्रिंशत्तमभागकल्पा ज्योतिष्कदेवाः,ततः कृष्णलेश्येभ्यो वाणमन्तरेभ्यः संख्येयगुणा एव घटन्ते ज्योतिष्कदेवाः, न त्वसंख्येयगुणाः, सूचीरूपखण्डप्रमाणहेतोः संख्येययोजनकोटीकोट्यपेक्षया षट्पञ्चाशदधिकाङ्गुलशतद्वयसंख्येयभागमात्रवर्तित्वात् ।

सम्प्रति भवनवास्यादिदेवदेवीविषयं, तदनन्तरं भवनवास्यादिदेवदेवीसमुदायविषयं सूत्रमाह—

एतेसि णं भंते ! भवणवासीणं० जाव वेमाणियाणं देवाण य देवीण य कण्हलेस्साणं० जाव सुक्कलेस्साण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा वेमाणिया देवा सुक्कलेस्सा, पम्हलेस्सा असंखेज्जगुणा, तेउलेस्सा असंखेज्जगुणा, तेउलेस्साओ देवीओ वेमाणिणीओ संखेज्जगुणाओ,तेउलेस्सा भवणवासीदेवा असं०, तेउलेस्साओ भवणवासिणीओ संखेज्ज०, काउलेस्सा भवणवासी असं०,नीललेस्सा विसेसाहिया,कण्हलेस्सा विसेसाहिया, काउलेस्साओ भवणवासिणीओ संखेज्ज०, नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कण्हलेस्साओ विसेसाहियाओ, तेउलेस्सा वाणमंतरा असं०, तेउलेस्साओ वाणमंतरीओ संखे०, काउलेस्सा वाणमंतरा असं०, नीललेस्सा विसेसाहिया, कण्हलेस्सा विसेसाहिया, काउलेस्साओ वाणमंतरीओ संखे०, नीललेस्साओ विसेसाहियाओ, कण्हलेस्सा विसेसाहिया, तेउलेस्सा जोइसिया संखे०, तेउलेस्साओ जोइसिणीओ संखेज्जगुणाओ ।

एतच्च सूत्रद्वयमपि प्रागुक्तभावनाऽनुसारेण भावनीयम् । प्रज्ञा० १७ पद । (लेश्यास्थानानामल्पबहुत्वं तु 'लेस्सा' शब्दे वक्ष्यते) (वर्गणाया अल्पबहुत्वं बन्धप्ररूपणावसरे वक्ष्यते)

(२७) इदानीं वेदद्वारमाह-

एएसि णं भंते ! जीवाणं सवेदगाणं इत्थीवेदगाणं पुरिसवेदगाणं नपुंसगवेदगाणं अवेदगाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा०४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा पुरिसवेदगा, इत्थीवेदगा संखेज्जगुणा, अवेदगा अणंतगुणा, नपुंसगवेदगा अणंतगुणा, सवेदगा विसेसाहिया ।

सर्वस्तोकाः पुरुषवेदाः,संज्ञिनामेव तिर्यङ्मनुष्याणां देवानां च पुरुषवेदभावात् । तेभ्यः स्त्रीवेदाः संख्येयगुणाः, यत उक्तं जीवाभिगमे-"तिरिक्खजोणियपुरिसेहिंतो तिरिक्खजोणियइत्थीओ तिगुणाओ तिरूवाहियाओ य तहा मणुस्सपुरिसेहिंतो मणुस्सइत्थीओ सत्तावीसगुणाओ सत्तावीसरूवुत्तराओ य तहा देवपुरिसेहिंतो देवत्थीओ बत्तीसगुणाओ बत्तीसरूवुत्तराओ य " इति । वृद्धाचार्यैरप्युक्तम्-

" तिगुणा तिरूवअहिया, तिरियाण इत्थिया मुणेयव्वा ।
सत्तावीसगुणा पुण, मणुयाणं तदहिया चेव ॥ १ ॥
बत्तीसगुणा बत्ती-सरूवअहिया य तह य देवाणं ।
देवीओ पण्णत्ता, जिणेहिं जियरागदोसेहिं " ॥ २ ॥

अवेदका अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यो नपुंसकवेदा अनन्तगुणाः, वनस्पतिकायिकानां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । सामान्यतः सवेदका विशेषाधिकाः, स्त्रीवेदकपुरुषवेदकानामपि तत्र प्रक्षेपात् । प्रज्ञा० ३ पद । जी० ।

सवेदानामल्पबहुत्वचिन्तायाम्-

अप्पाबहुगं-सव्वत्थोवा अवेदगा, सवेदगा अणंतगुणा । एवं सकसाती चेव अकसाती चेव जहा सवेया य तहेव भाणियव्वा । जी० १ प्रति० । भ० ।

अथ वेदविशेषवतां स्त्रीपुंनपुंसकानां प्रत्येकमल्पबहुत्वम्-तत्र स्त्रीणां पञ्चाल्पबहुत्वानि । तद्यथा-प्रथमं सामान्येनाल्पबहुत्वम्, विशेषचिन्तायां द्वितीयं त्रिविधतिर्यक्स्त्रीणाम्, तृतीयं त्रिविधमनुष्यस्त्रीणाम्,चतुर्थं चतुर्विधदेवस्त्रीणाम्, पञ्चमं मिश्रस्त्रीणाम् ।

तत्र प्रथममल्पबहुत्वमभिधित्सुराह-

एतासि णं भंते ! तिरिक्खजोणित्थियाणं मणुस्सित्थियाणं देवित्थियाणं कयरा कयराहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवाओ मणुस्सित्थियाओ,तिरिक्खजोणित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ, देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ ।

(एतासि णं भंते ! इत्यादि) सर्वस्तोका मनुष्यस्त्रियः, संख्यातकोटाकोटिप्रमाणत्वात् । तिर्यग्योनिकाः स्त्रियोऽसंख्येयगुणाः, प्रतिद्वीपं प्रतिसमुद्रं तिर्यक्स्त्रीणामतिबहुतया संभवात्, द्वीपसमुद्राणां चाऽसंख्येयत्वात् । तताभ्योऽपि देवस्त्रियोऽसंख्येयगुणाः, भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवीनां प्रत्येकमसंख्येयश्रेण्याकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । १ ।

द्वितीयमल्पबहुत्वमाह-

एतासि णं भंते ! तिरिक्खजोणित्थियाणं जलयरीणं थलयरीणं खहयरीण य कयरा कयराहिंतो अप्पाओ वा बहुयाओ वा तुल्लाओ वा विसेसाहियाओ वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवाओ खहयरतिरिक्खजोणियाओ, थलयरतिरिक्खजोणियाओ संखेज्जगुणाओ, जलयरतिरिक्खजोणियाओ संखेज्जगुणाओ ।

सर्वस्तोकाः खचरतिर्यग्योनिकस्त्रियः,ताभ्यः स्थलचरतिर्यग्योनिकस्त्रियः संख्येयगुणाः, खचरेभ्यः स्थलचराणां स्वभावत एव प्राचुर्येण भावात् । ताभ्यो जलचरस्त्रियः संख्येयगुणाः, लवणे कालोदे स्वयंभूरमणे च समुद्रे मत्स्यानामतिप्राचुर्येण भावात् । स्वयंभूरमणसमुद्रस्य च शेषसमस्तद्वीपसमुद्रापेक्षयाऽतिप्रभूतत्वात् ।

अधुना तृतीयमाह-

एतासि णं भंते ! मणुस्सित्थियाणं कम्मभूमियाणं अकम्मभूमियाणं अंतरदीवियाण य कयरा कयराहिंतो अप्पा वा०४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवाओ अंतरदीवगअकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ,देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि तुल्लाओ संखेज्जगुणाओ, हरिवासरम्मगवासअकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि तुल्लाओ संखेज्जगुणाओ,हेमवयहिरण्णवयवासअकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि तुल्लाओ

संखेज्जगुणाओ, भरहेरवयवासकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि तुल्लाओ संखेज्जगुणाओ, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि तुल्लाओ संखेज्जगुणाओ।

सर्वस्तोका अन्तरद्वीपकाऽकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियः, क्षेत्रस्याल्पत्वात्। ताभ्यो देवकुरूत्तरकुरुस्त्रियः संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्य संख्येयगुणत्वात्। स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्याः, समानप्रमाणक्षेत्रत्वात्। ताभ्यो हरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः, देवकुरूत्तरकुरुक्षेत्रापेक्षया हरिवर्षरम्यकक्षेत्रस्यातिप्रभूतत्वात्। स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्याः, क्षेत्रस्य समानत्वात्। ताभ्योऽपि हैमवतहैरण्यवताकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्याल्पत्वेऽपि अल्पस्थितिकतया बहूनां तत्र तासां सम्भवात्। स्वस्थाने तु द्वयोरपि परस्परं तुल्याः। ताभ्योऽपि भरतैरवतकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः, कर्मभूमितया स्वभावत एव तत्र प्राचुर्येण संभवात्। स्वस्थानेऽपि द्वयोरपि परस्परं तुल्याः। ताभ्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः, क्षेत्रबाहुल्यादजितस्वामिकाल इव [illegible] एव तत्र प्राचुर्येण भावात्, स्वस्थानेऽपि द्वयोरपि परस्परं तुल्याः। उक्तं तृतीयमल्पबहुत्वम्॥

अधुना चतुर्थमाह-

एयासि णं भंते! देवित्थियाणं भवणवासीणं वाणमंतरीणं जोइसियाणं वेमाणिणीण य कयरा कयराहिंतो अप्पा वा०४? गोयमा! सव्वत्थोवाओ वेमाणियदेवित्थियाओ, भवणवासिदेवित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ, वाणमंतरदेवित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ, जोइसियदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ।

सर्वस्तोका वैमानिकदेवस्त्रियः, [illegible] प्रथम [illegible] यावत् [illegible] [illegible] ताभ्यो भवनवासिदेवस्त्रियः असंख्येयगुणाः, [illegible] प्रथम [illegible] यावत्प्रदेशराशि- [illegible] [illegible] असंख्येयगुणाः, [illegible] [illegible] संख्येयगुणाः [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible]

वा अंतरदीवगअकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ, देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि संखेज्जगुणाओ, हरिवासरम्मगवासअकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि संखेज्जगुणाओ, हेमवतहेरण्णवासअकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि असंखेज्जगुणाओ, भरहेरवयकम्मभूमगमणुस्सित्थीओ दो वि संखेज्जगुणाओ, पुव्वविदेहअवरविदेहवासकम्मभूमगमणुस्सित्थीओ दो वि संखेज्जगुणाओ, वेमाणियदेवित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ, भवणवासिदेवित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ, खहयरतिरिक्खजोणित्थियाओ असंखेज्जगुणाओ, थलयरतिरिक्खजोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, जलयरतिरिक्खजोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, वाणमंतरदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, जोइसियदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ।

सर्वस्तोका अन्तरद्वीपकाकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियः, ताभ्यो देवकुरूत्तरकुर्वकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः, ताभ्योऽपि हरिवर्षरम्यकस्त्रियः संख्येयगुणाः, ताभ्योऽपि हैमवतहैरण्यवतस्त्रियः संख्येयगुणाः, ताभ्योऽपि भरतैरवतकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः, ताभ्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहमनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः। अत्र भावना प्राग्वत्। ताभ्यो वैमानिकदेवस्त्रियोऽसंख्येयगुणाः, असंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्तासाम्। ताभ्यो भवनवासिदेवस्त्रियोऽसंख्येयगुणाः। अत्र युक्तिः प्रागेवोक्ता। ताभ्यः खचरतिर्यग्योनिकस्त्रियोऽसंख्येयगुणाः, प्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्तासाम्। ताभ्यः स्थलचरतिर्यग्योनिकस्त्रियः संख्येयगुणाः, बृहत्तरप्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्। ताभ्यो जलचरतिर्यग्योनिकस्त्रियः संख्येयगुणाः, बृहत्तमप्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्। ताभ्यो व्यन्तरदेवस्त्रियः संख्येयगुणाः, संख्येययोजनकोटाकोटीप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्राणि यावन्ति खण्डानि [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] त्वात्। ताभ्योऽपि ज्योतिष्कदेवस्त्रियः संख्येयगुणाः। [illegible] [illegible] [illegible]

साम्प्रतं नपुंसकानामुच्यते-

एतेसि णं भंते! नेरइयनपुंसकाणं तिरिक्खजोणियनपुंसकाणं मणुस्सनपुंसकाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा [illegible] विसेसाहिया वा? गोयमा! सव्वत्थोवा मणुस्सनपुंसका, नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, तिरिक्खजोणियनपुंसका अणंतगुणा।

सुगमम्। [illegible]

[illegible]

सम्प्रति नैरयिकनपुंसकविषयमल्पबहुत्वमाह—

एतेसि णं भंते ! नेरइयनपुंसकाणं० जाव अहेसत्तमपुढविनेरइयनपुंसकाण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा अहेसत्तमपुढविनेरइयनपुंसका, छट्ठपुढविणेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा० जाव दोच्चा, पुढविनेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए नेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा ॥

(एएसि णमित्यादि) सर्वस्तोका अधःसप्तमपृथिवीनैरयिकनपुंसकाः, अल्पतरश्रेण्यसंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि षष्ठपृथिवीनैरयिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि पञ्चमपृथिवीनैरयिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि चतुर्थपृथिवीनैरयिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि तृतीयपृथिवीनैरयिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि द्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुंसका असंख्यातगुणाः, सर्वेषामप्येतेषां पूर्वपूर्वनैरयिकपरिमाणहेतुश्रेण्यसंख्येयभागापेक्षया असंख्येयगुणाः, संख्येयगुणश्रेण्यसंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । द्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुंसकेभ्योऽस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां नैरयिका असंख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशौ तद्गतप्रथमवर्गमूलगुणिते यावान् प्रदेशराशिस्तावत्प्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् । प्रतिपृथिवी च पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविनो नैरयिकाः सर्वस्तोकाः, तेभ्यो दक्षिणदिग्भाविनोऽसंख्येयगुणाः, पूर्वपूर्वपृथिवीगतदक्षिणदिग्भागभाविभ्योऽप्युत्तरस्यामुत्तरस्यां पृथिव्यामसंख्येयगुणाः पूर्वोत्तरपश्चिमदिग्भाविन इत्यादि ॥

सम्प्रति तिर्यग्योनिकनपुंसकविषयमल्पबहुत्वमाह—

एतेसि णं भंते ! तिरिक्खजोणियनपुंसकाणं एगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसकाणं पुढविकाइयएगिंदियणपुंसकाणं० जाव वनस्सइकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं बेइंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं तेइंदियचउरिंदियपंचेंदियतिरिक्खजोणियणपुंसकाणं जलयरथलयरखहयराण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा खहयरतिरिक्खजोणियणपुंसका, थलयरतिरिक्खजोणियनपुंसका संखेज्जगुणा, जलयरतिरिक्खजोणियनपुंसका संखेज्जगुणा, चतुरिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसका विसेसाहिया, तेइंदिया विसेसाहिया, बेइंदिया विसेसाहिया, तेउकाइयएगिंदियतिरिक्खा असंखेज्जगुणा, पुढविकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणिया विसेसाहिया, एवं आउवाउ०, वणस्सइकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसका अणंतगुणा ॥

(एएसि णमित्यादि) सर्वस्तोकाः खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्नपुंसकाः, प्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यः स्थलचरतिर्यग्योनिकनपुंसकाः संख्येयगुणाः, बृहत्तरप्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगतनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि जलचरतिर्यग्योनिकनपुंसकाः संख्येयगुणाः, बृहत्तरप्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि चतुरिन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका विशेषाधिकाः, असंख्येयकोटीकोटिप्रमाणाकाशप्रदेशराशिप्रमाणासु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नभःप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्यस्त्रीन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका विशेषाधिकाः, प्रभूततरश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिमानत्वात् । तेभ्योऽपि द्वीन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका विशेषाधिकाः, प्रभूततमश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिमानत्वात् । तेभ्यः तेजस्कायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, सूक्ष्मबादरभेदभिन्नानां तेषामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्यः पृथिवीकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका विशेषाधिकाः, प्रभूतासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽप्कायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका विशेषाधिकाः, प्रभूततरासंख्येयलोकाकाशप्रदेशमानत्वात् । तेभ्योऽपि वायुकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका विशेषाधिकाः, प्रभूततमासंख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि वनस्पतिकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका अनन्तगुणाः, अनन्तलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् ।

अधुना मनुष्यनपुंसकविषयमल्पबहुत्वमाह—

एतेसि णं भंते ! मणुस्सणपुंसकाणं कम्मभूमिकाणं अकम्मभूमिकणपुंसकाणं अंतरदीवकाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा अंतरदीवगाऽकम्मभूमगमणुस्सणपुंसका, देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मभूमगा दो वि संखेज्जगुणा, एवं जाव पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमगमणुस्सणपुंसगा दो वि संखेज्जगुणा ॥

सर्वस्तोकाः अन्तरद्वीपजमनुष्यनपुंसकाः, एते च संमूर्च्छनजा द्रष्टव्याः, गर्भव्युत्क्रान्तिकमनुष्यनपुंसकानां तत्रासंभवात्, संहृतास्तु कर्मभूमिजास्तत्र भवेयुरपि । तेभ्यो देवकुरूत्तरकुर्वकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः संख्येयगुणाः, तद्गतगर्भजमनुष्याणामन्तरद्वीपजगर्भजमनुष्येभ्यः संख्येयगुणत्वात् । गर्भजमनुष्योच्चाराद्याश्रयेण च संमूर्च्छनजमनुष्याणामुत्पादात् । स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः । एवं तेभ्यो हरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः । हैमवतहैरण्यवतवर्षाकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः । तेभ्यो भरतैरवतवर्षकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः । तेभ्यः पूर्वविदेहापरविदेहकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः । युक्तिः सर्वत्रापि तथैवानुसर्तव्या ।

संप्रति नैरयिकतिर्यङ्मनुष्यविषयमल्पबहुत्वमाह—

एतेसि णं भंते ! नेरइयनपुंसकाणं रयणप्पुढविनेरइयनपुंसकाणं० जाव अहेसत्तमपुढविनेरइयनपुंसकाणं तिरिक्खजोणियनपुंसकाणं एगिंदियतिरिक्खजोणियाण पुढविकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसकाणं० जाव वणस्सइकाइयएगिंदियनपुंसगाणं बेइंदियतेइंदियचउरिंदियपंचेंदियतिरि-

क्खजोणियणपुंसकाणं जलयराणं थलयराणं खहयराणं मणुस्सणपुंसकाणं कम्मभूमिकाणं अकम्मभूमिकाणं अंतरदीवकाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा अहेसत्तमपुढविनेरइयनपुंसका, छट्ठपुढविनेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा०जाव दोच्चा, पुढविनेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, अंतरदीवगमणुस्सणपुंसका असंखेज्जगुणा,देवकुरूत्तरकुरुअकम्मभूमिका दो वि संखेज्जगुणा,०जाव पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमगमणुस्सणपुंसका दो वि संखेज्जगुणा, रयणप्पभापुढविनेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा, खहयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियणपुंसका असंखेज्जगुणा, थलयरा संखेज्जगुणा,जलयरा संखेज्जगुणा,चतुरिंदियतिरिक्खजोणियनपुंसका विसेसाहिया,तेइंदियनपुंसगा विसेसाहिया,वेइंदियनपुंसगा विसेसाहिया, तेउकाइयएगिंदियनपुंसगा असंखेज्जगुणा, पुढविकाइयएगिंदियनपुंसगा विसेसाहिया, आउकाइयनपुंसगा विसेसाहिया,वाउकाइया विसेसाहिया,वणस्सइकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसका अणंतगुणा।

सर्वस्तोका अधःसप्तमपृथिवीनैरयिकनपुंसकाः,तेभ्यः षष्ठपञ्चमचतुर्थतृतीयद्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुंसका यथोत्तरमसंख्येयगुणाः,द्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुंसकेभ्योऽन्तरद्वीपजमनुष्यनपुंसका असंख्येयगुणाः, एतदसंख्येयगुणत्वं संमूर्छनजमनुष्यापेक्षं, तेषां नपुंसकत्वाद्, एतावतां च तत्र संमूर्छनसंभवात्। तेभ्यो देवकुरूत्तरकुरुकर्मभूमकमनुष्यनपुंसका हैमवतहैरण्यवताकर्मभूमकमनुष्यनपुंसका भरतैरवतकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः पूर्वविदेहापरविदेहकर्मभूमकमनुष्यनपुंसका यथोत्तरं संख्येयगुणाः, स्वस्थानचिन्तायां तु द्वये परस्परं तुल्याः, पूर्वविदेहापरविदेहकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकेभ्योऽस्यां प्रत्यक्षत उपलभ्यमानायां रत्नप्रभायां पृथिव्यां नैरयिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, तेभ्यः खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकाः असंख्येयगुणाः, तेभ्यः स्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका यथोत्तरं संख्येयगुणाः, जलचरपञ्चेन्द्रियनपुंसकेभ्यश्चतुरिन्द्रियत्रीन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका यथोत्तरं विशेषाधिकाः, द्वीन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकेभ्यस्तेजस्कायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, तेभ्यः पृथिव्यम्बुवायुतिर्यग्योनिकनपुंसका यथोत्तरं विशेषाधिकाः, वाय्वेकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकेभ्यो वनस्पतिकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका अनन्तगुणाः । युक्तिः सर्वत्राऽपि प्रागुक्तानुसारेण स्वयं भावनीया। इत्युक्तानि पञ्च नपुंसकानामपि अल्पबहुत्वानि । जी० २ प्रति० ।

साम्प्रतं पुरुषाणामुच्यन्ते-तानि च पञ्च। तद्यथा-प्रथमं सामान्याल्पबहुत्वम् १, द्वितीयं त्रिविधतिर्यक्पुरुषविषयम् २, तृतीयं त्रिविधमनुष्यपुरुषविषयम् ३, चतुर्थं चतुर्विधदेवपुरुषविषयम् ४, पञ्चमं मिश्रपुरुषविषयम् ५ ।

तत्र प्रथमं तावदभिधित्सुराह—

(एतेसि णं भंते ! देवपुरिसाणं भवणवासीणं वाणमंतराणं जोइसियाणं वेमाणियाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा वेमाणियदेवपुरिसा, भवणवइदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा, वाणमंतरदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा, जोइसियदेवपुरिसा संखेज्जगुणा ।)

(एएसि णं भंते ! इत्यादि)सर्वस्तोका मनुष्यपुरुषाः,संख्येयकोटीकोटिप्रमाणत्वात् । तेभ्यः तिर्यग्योनिकपुरुषा असंख्येयगुणाः, प्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात्तेषाम् । तेभ्यो देवपुरुषाः संख्येयगुणाः,बृहत्प्रतरासंख्येयभागवर्त्यसंख्येयश्रेणिगताकाशप्रदेशराशितुल्यत्वात् । तिर्यग्योनिकपुरुषाणां यथा तिर्यग्योनिकस्त्रीणां मनुष्यपुरुषाणां यथा मनुष्यस्त्रीणामल्पबहुत्वं वक्तव्यम् । सम्प्रति देवपुरुषाणामल्पबहुत्वमाह-सर्वस्तोका अनुत्तरोपपातिकदेवपुरुषाः, क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्त्याकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्य उपरितनग्रैवेयकदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः,बृहत्तरक्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशिमानत्वात् । कथमेतदवसेयमिति चेत् ?,उच्यते-विमानबाहुल्यात् । तथाहि-अनुत्तरेषु पञ्च विमानानि, विमानशतं तूपरितनग्रैवेयकप्रस्तटे,प्रतिविमानं चासंख्येया देवाः, यथा यथाऽधोऽधोवर्तीनि विमानानि तथा तथा देवा अपि प्राचुर्येण लभ्यन्ते; ततोऽवसीयते-अनुत्तरविमानवासिदेवपुरुषापेक्षया बृहत्तरक्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणा उपरितनग्रैवेयकप्रस्तटे देवपुरुषाः, एवमुत्तरत्रापि भावना विधेया । तेभ्यो मध्यमग्रैवेयकप्रस्तटे देवपुरुषाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्यधस्तनग्रैवेयकप्रस्तटे देवपुरुषाः संख्येयगुणाः,तेभ्योऽप्यच्युतकल्पदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः, यद्यप्यारणाच्युतकल्पौ समश्रेणिकौ समविमानसंख्याकौ च, तथापि कृष्णपाक्षिकास्तथास्वाभाव्यात् प्राचुर्येण दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते । अथ के ते कृष्णपाक्षिकाः ?,उच्यते-इह द्विविधा जीवाः,तद्यथा-कृष्णपाक्षिकाः, शुक्लपाक्षिकाश्च । तत्र येषां किञ्चिदूनोपार्धपुद्गलपरावर्तः संसारस्ते शुक्लपाक्षिकाः, इतरे दीर्घसंसारभाजिनः कृष्णपाक्षिकाः । उक्तं च-" जेसिमवड्ढो पोग्गल-परियट्टो सेसओ य संसारो । ते सुक्कपक्खिया खलु, अहिए पुण कण्हपक्खीओ" ॥१॥ अत एव स्तोकाः शुक्लपाक्षिकाः, अल्पसंसाराणां स्तोकानामेव भावात् । बहवः कृष्णपाक्षिकाः,दीर्घसंसाराणामनन्तानां भावात् । अथ कथमेतदवसानेयं कृष्णपाक्षिकाः प्राचुर्येण दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते ?, उच्यते-तथास्वाभाव्यात् । तच्च तथास्वाभाव्यमेवं पूर्वाचार्यैर्युक्तिभिरुपबृंहितम्, कृष्णपाक्षिकाः खलु दीर्घसंसारभाजिन उच्यन्ते, दीर्घसंसारभाजिनश्च बहुपापोदयात्, बहुपापोदयाश्च क्रूरकर्माणः, क्रूरकर्माणश्च प्रायस्तथास्वाभाव्यात् तद्भवसिद्धिका अपि दक्षिणस्यां दिशि समुत्पद्यन्ते,यत उक्तम्- " पायमिह कूरकम्मा, भवसिद्धिया वि दाहिणिल्लेसु । नेरइयतिरियमणुया, सुरा य ठाणेसु गच्छंति " ॥१॥ ततो दक्षिणस्यां दिशि प्राचुर्येण कृष्णपाक्षिकाणां संभवादुपपद्यतेऽच्युतकल्पदेवपुरुषापेक्षया आरणकल्पदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽपि प्राणतकल्पदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः, तेभ्योऽप्यानतकल्पदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः, अत्रापि प्राणतकल्पापेक्षया संख्येयगुणत्वं, कृष्णपाक्षिकाणां दक्षिणस्यां दिशि प्राचुर्येण प्रादुर्भावात् । एते च सर्वेऽप्यनुत्तरविमानवास्यादय आनतकल्पवासिपर्यन्तदेवपुरुषाः प्रत्येकं क्षेत्रपल्योपमासंख्येयभागवर्तिनभः-

प्रदेशराशिप्रमाणा द्रष्टव्याः । "आणयपाणयमाई पल्लस्साऽसंखभागा उ" इति वचनात् । केवलमसंख्येयो भागो विचित्र इति परस्परं यथोक्तं संख्येयगुणत्वं न विरुध्यते । आनतकल्पदेवपुरुषेभ्यः सहस्रारकल्पवासिदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः, घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिक्याः श्रेणेरसंख्येयतमे भागे यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात्तेषाम्,तेभ्योऽपि महाशुक्रकल्पवासिदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः,बृहत्तरश्रेण्यसंख्येयभागाकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । कथमेतत् प्रत्येयमिति चेत् ?, उच्यते-विमानबाहुल्यात् । तथाहि-षट्सहस्राणि विमानानां सहस्रारकल्पे, चत्वारिंशत्सहस्राणि महाशुक्रे, अन्यच्चाधोविमानवासिनो देवा बहुबहुतराः, स्तोकस्तोकतरा उपरितनविमानवासिनः, तत उपपद्यते सहस्रारकल्पदेवपुरुषेभ्यो महाशुक्रकल्पवासिदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः,तेभ्योऽपि लान्तककल्पदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः, बृहत्तमश्रेण्यसंख्येयभागवर्तिनभःप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि ब्रह्मलोककल्पवासिनो देवपुरुषा असंख्येयगुणाः , भूयोबृहत्तमश्रेण्यसंख्येयभागवर्त्याकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्योऽपि माहेन्द्रकल्पदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः, भूयस्तरबृहत्तमश्रेण्यसंख्येयभागगताकाशप्रदेशमानत्वात् । तेभ्यः सनत्कुमारकल्पदेवा असंख्येयगुणाः,विमानबाहुल्यात् । तथाहि-द्वादशशतसहस्राणि सनत्कुमारकल्पे विमानानाम्, अष्टौ शतसहस्राणि माहेन्द्रकल्पे, अन्यच्च दक्षिणदिग्भागवर्ती सनत्कुमारकल्पो,माहेन्द्रकल्पश्चोत्तरदिग्वर्ती,दक्षिणस्यां च दिशि बहवः समुत्पद्यन्ते कृष्णपाक्षिकाः, तत उपपद्यन्ते माहेन्द्रकल्पात्सनत्कुमारकल्पदेवा असंख्येयगुणाः।एते च सर्वेऽपि सहस्रारकल्पवासिदेवादयः सनत्कुमारकल्पवासिदेवपर्यन्ताः प्रत्येकं स्वस्थाने चिन्त्यमाना घनीकृतलोकैकश्रेण्यसंख्येयभागगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणा द्रष्टव्याः । केवलं श्रेण्यसंख्येयभागोऽसंख्येयभेदस्तत इत्थमसंख्येयगुणतया अल्पबहुत्वमभिधीयमानं न विरोधभाक् । सनत्कुमारकल्पदेवपुरुषेभ्य ईशानकल्पदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः संबन्धिनि द्वितीयवर्गमूले तृतीयेन वर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिस्तावत्संख्याकासु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीसु श्रेणीषु यावन्तो नभःप्रदेशास्तेषां यावान् द्वात्रिंशत्तमो भागस्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्यः सौधर्मकल्पवासिदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः, विमानबाहुल्यात् । तथाहि-अष्टाविंशतिः शतसहस्राणि विमानानामीशानकल्पे, द्वात्रिंशच्च शतसहस्राणि सौधर्मकल्पे, अपि च दक्षिणदिग्वर्ती सौधर्मकल्पः,ईशानकल्पश्चोत्तरदिग्वर्ती,दक्षिणस्यां च दिशि बहवः कृष्णपाक्षिका उत्पद्यन्ते । तत ईशानकल्पवासिदेवपुरुषेभ्यः सौधर्मकल्पवासिदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः । नन्वियं युक्तिः सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोरप्युक्ता, परं तत्र माहेन्द्रकल्पापेक्षया सनत्कुमारकल्पदेवा असंख्येयगुणा उक्ताः, इह तु सौधर्मकल्पे संख्येयगुणाः,तदेतत्कथम् ?, उच्यते-तथावस्तुस्वाभाव्यात् । एतच्चावसीयते प्रज्ञापनादौ,सर्वत्र तथा भणनात् । तेभ्योऽपि भवनवासिदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः संबन्धिनि प्रथमवर्गमूले द्वितीयेन वर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिरुपजायते तावत्संख्याकासु घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्तो नभःप्रदेशास्तेषां यावान् द्वात्रिंशत्तमो भागस्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्यो व्यन्तरदेवपुरुषाः संख्येयगुणाः, संख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्राणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति, तेषां यावान् द्वात्रिंशत्तमो भागस्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्यः संख्येयगुणा ज्योतिष्का देवपुरुषाः, षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयाङ्गुलप्रमाणैकप्रादेशिकश्रेणिमात्राणि खण्डानि यावन्त्येकस्मिन् प्रतरे भवन्ति तेषां यावान् द्वात्रिंशत्तमो भागस्तावत्प्रमाणत्वात् । जी० २ प्रति० । इति चत्वार्यल्पबहुत्वान्युक्तानि । (☞ अत्र टीकाकारस्यान्यादृशः पाठः सम्मत इदानीतनप्रतिषु तु अन्यादृश इति शब्दतो भेद आभाति, अर्थतस्तु न भेदः)

सम्प्रति पञ्चममल्पबहुत्वमाह—

एतेसि णं भंते ! तिरिक्खजोणियपुरिसाणं जलयराणं थलयराणं खहयराणं मणुस्सपुरिसाणं कम्मभूमगाणं अकम्मभूमगाणं अंतरदीवगाणं देवपुरिसाणं० भवणवासीणं वाणमंतराणं जोतिसियाणं वेमाणियाणं सोधम्माणं०जाव सव्वट्ठसिद्धगाण य कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा अंतरदीवगमणुस्सपुरिसा,देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मभूमगमणुस्सपुरिसा दो वि संखिज्जगुणा, हरिवासरम्मवासअकम्मभूमगमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, हेमवतहेरण्णवतवासअकम्मभूमगमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा , भरहेरवयवासकम्मभूमगमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमगमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा , अणुत्तरोववातिदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा, उवरिमगेवेज्जगदेवपुरिसा संखेज्जगुणा, मज्झिमगेवेज्जदेवपुरिसा संखेज्जगुणा , हिट्ठिमगेवेज्जदेवपुरिसा संखेज्जगुणा, अच्चुते कप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा , आरणकप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा, पाणयकप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा , आणतकप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा , सहस्सारकप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, महासुक्ककप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा० जाव माहिंदे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा , सणंकुमारकप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा,ईसाणकप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा , सोधम्मे कप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा , भवणवासिदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा, खहयरतिरिक्खजोणियपुरिसा असंखेज्जगुणा, थलयरतिरिक्खजोणियपुरिसा संखेज्जगुणा , जलयरतिरिक्खजोणियपुरिसा संखेज्जगुणा , वाणमंतरदेवपुरिसा संखेज्जगुणा, जोतिसियदेवपुरिसा संखेज्जगुणा ।

सर्वस्तोका अन्तरद्वीपजमनुष्यपुरुषाः, क्षेत्रस्य स्तोकत्वात् । तेभ्यो देवकुरूत्तरकुरुमनुष्यपुरुषाः संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्य बाहुल्यात् । स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, तेभ्योऽपि हरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मभूमकमनुष्यपुरुषाः संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्यातिबहुत्वात् । स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः, क्षेत्रस्य समानत्वात् । तेभ्योऽपि हैमवतहैरण्यवताकर्मभूमकमनुष्यपुरुषाः संख्येयगुणाः, क्षेत्रस्याल्पत्वेऽप्यल्पस्थितिकतया प्राचुर्येण लभ्यमानत्वात् । स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः ।

[illegible] संख्येयगुणाः, [illegible] एव प्रत्येकमेषु च [illegible] संभवात् । [illegible] । तेभ्योऽपि पूर्वविदेहापर- [illegible] संख्येयगुणाः, [illegible] । [illegible] एव मनुष्यपुरुषाणां प्राचुर्येण [illegible] । तेभ्योऽप्यनुत्त- [illegible] संख्येयगुणाः । [illegible]

[illegible]

मनुष्यनपुंसकाश्च संख्येयगुणाः, श्रेण्यसंख्येयभागप्रदेशरा- शिप्रमाणत्वात् ।

संप्रति तृतीयमल्पबहुत्वमाह—

एतेसि णं भंते ! देवित्थीणं देवपुरिसाणं णेरइयनपुंसगा- ण कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा णेरइयनपुंसगा, देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, देवित्थीओ संखेज्जगुणाओ ।

सर्वस्तोका नैरयिकनपुंसकाः, अङ्गुलमात्रक्षेत्रप्रदेशराशेः [illegible] वर्गमूलेन गुणिते यावान् प्रदेशराशिर्भवति [illegible] घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु [illegible] प्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यो देवपुरुषा असंख्येयगुणाः, असंख्येययोजनकोटीकोटिप्रमाणायां सूच्यां [illegible] घनीकृतस्य लोकस्य एकप्रादेशिकीषु श्रेणिषु यावन्त आकाशप्रदेशास्तावत्प्रमाणत्वात् । तेभ्यो देव्यः संख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् ।

सम्प्रति सकलसंमिश्रं चतुर्थमल्पबहुत्वमाह-

एतेसि णं भंते ! तिरिक्खजोणित्थीणं तिरिक्खजोणियपु- रिसाणं तिरिक्खजोणियनपुंसगाणं मणुस्सित्थीणं मणु- स्सपुरिसाणं मणुस्सनपुंसगाणं देवित्थीणं देवपुरिसाणं णे- रइयनपुंसगाण य कयरे कयरेहिंतो० ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा मणुस्सपुरिसा, मणुस्सित्थीओ संखेज्ज- गुणाओ, मणुस्सनपुंसगा असंखेज्जगुणा, णेरइयनपुं- सगा असंखेज्जगुणा, तिरिक्खजोणियपुरिसा असं- खेज्जगुणा, तिरिक्खजोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, तिरिक्खजोणियनपुंसगा अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका मनुष्यपुरुषाः, तेभ्यो मनुष्यस्त्रियः संख्येयगुणाः । तेभ्यो मनुष्यनपुंसका असंख्येयगुणाः । [illegible] तेभ्यो नैरयिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, असंख्येयश्रेण्याकाश- प्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यस्तिर्यग्योनिकपुरुषा असंख्येयगुणाः, तेभ्यस्तिर्यग्योनिकस्त्रियः संख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात् । [illegible] देवपुरुषा असंख्येयगुणाः, [illegible] [illegible] । [illegible] संख्येयगुणाः, द्वात्रिंशद्गुणत्वात् । [illegible] अनन्तगुणाः, [illegible] ।

[illegible]

[illegible]

खहयरजोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, थलयरतिरिक्खजोणि-यपुरिसा संखेज्जगुणा, थलयरतिरिक्खजोणित्थीओ सं-खेज्जगुणाओ, जलयरतिरिक्खजोणियपुरिसा संखेज्जगुणा, जलयरतिरिक्खजोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, खहयर-पंचेंदियतिरिक्खजोणियणपुंसका संखेज्जगुणा, थलयरपंचें-दियतिरिक्खजोणियणपुंसगा संखेज्जगुणा, जलयरतिरि-क्खजोणियणपुंसकपंचेंदिया संखेज्जगुणा, चउरिंदियति-रिक्खजोणियणपुंसका विसेसाहिया, तेइंदियणपुंसका विसे-साहिया, बेइंदियणपुंसगा विसेसाहिया, तेउक्काइयएगिंदि-यतिरिक्खजोणियणपुंसका असंखेज्जगुणा, पुढविणपुंसका विसेसाहिया, आउ० विसेसाहिया, वाउ० विसेसाहिया, वणप्फतिएगिंदियणपुंसका अणंतगुणा ।

सर्वस्तोकाः खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकपुरुषाः । तेभ्यः खच-रतिर्यग्योनिकस्त्रियः संख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात् । ताभ्यः स्थ-लचरतिर्यग्योनिकपुरुषाः संख्येयगुणाः । तेभ्यः स्थलचरति-र्यग्योनिकस्त्रियः संख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात् । ताभ्यः जलच-रतिर्यग्योनिकपुरुषाः संख्येयगुणाः । तेभ्यः जलचरतिर्यग्यो-निकस्त्रियः संख्येयगुणाः, त्रिगुणत्वात् । ताभ्यः खचरपञ्चे-न्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकाः संख्येयगुणाः । तेभ्यः स्थ-लचरतिर्यग्योनिकनपुंसका यथाक्रमं संख्येयगुणाः । ततश्च-तुरिन्द्रियत्रीन्द्रियद्वीन्द्रिया यथोत्तरं विशेषाधिकाः । ततस्तेज-स्कायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका असंख्येयगुणाः । ततः पृथिव्यम्बुवायुकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका यथोत्तरं विशेषाधिकाः । ततो वनस्पतिकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकन-पुंसका अनन्तगुणाः ।

संप्रति कर्मभूमिजादिमनुष्यस्त्र्यादिविभागतः षष्ठम-ल्पबहुत्वमाह-

एयासि णं भंते ! मणुस्सित्थीणं कम्मभूमियाणं अकम्म-भूमियाणं अंतरदीवियाणं मणुस्सपुरिसाणं कम्मभूमिकाणं अकम्मभूमिकाणं अंतरदीविकाणं मणुस्सणपुंसकाणं कम्म-भूमगाणं अकम्मभूमगाणं अंतरदीविकाण य कयरे कयरेहिं-तो अप्पा वा०४? । गोयमा ! अंतरदीवकअकम्मभूमकमणुस्सि-त्थियाओ मणुस्सपुरिसा य एतेसि णं दोण्णि वि तुल्ला सव्व-त्थोवा, देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मभूमकमणुस्सित्थियाओ मणु-स्सपुरिसाओ एतेणं दोण्णि वि तुल्ला संखेज्जगुणाः हरि-वासरम्मकवासअकम्मभूमकमणुस्सित्थियाओ मणुस्सपुरि-सा य एते णं दोण्णि वि तुल्ला संखेज्जगुणा, हेमवते हेरण्ण-वते अकम्मभूमकमणुस्सित्थीओ मणुस्सपुरिसा य दो वि तुल्ला संखेज्जगुणा, भरहेरवतकम्मभूमगमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, भरहेरवयकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दो-वि संखेज्जगुणाओ, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमगमणुस्सपु-रिसा दो वि संखेज्जगुणा, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभू-मगमणुस्सित्थीओ दो वि संखेज्जगुणाओ, अंतरदीवगअक-म्मभूमगमणुस्सणपुंसका असंखेज्जगुणा, देवकुरुउत्तरकुरुअ-कम्मभूमगमणुस्सणपुंसका दो वि संखेज्जगुणा, एवं तहेव० जाव पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमकमणुस्सणपुंसका दो वि संखेज्जगुणा ॥

सर्वस्तोकाः अन्तरद्वीपकमनुष्यस्त्रियोऽन्तरद्वीपकमनुष्यपुरु-षाश्च; एते च द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः । तत्रत्यस्त्रीपुंसानां युग-लधर्मोपेतत्वात् । तेभ्यो देवकुरूत्तरकुरुकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियो मनुष्यपुरुषाः संख्येयगुणाः । युक्तिरत्र प्रागेवोक्ता । स्वस्था-ने तु परस्परं तुल्याः । एवं हरिवर्षरम्यकमनुष्यपुरुषस्त्रियो हैमवतहैरण्यवतमनुष्यपुरुषस्त्रियश्च यथोत्तरं संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । ततो भरतैरवतकर्मभूमकम-नुष्या द्वये संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेभ्यो भरतैरवतकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियो द्वयोऽपि संख्येय-गुणाः, सप्तविंशतिगुणत्वात्, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । ताभ्यः पूर्वविदेहापरविदेहकर्मभूमकमनुष्यपुरुषा द्वयेऽपि संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेभ्यः पूर्व-विदेहापरविदेहाकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियो द्वयोऽपि संख्येयगु-णाः, सप्तविंशतिगुणत्वात्, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । ताभ्योऽन्तरद्वीपकमनुष्यनपुंसका असंख्येयगुणाः, श्रेण्यसंख्ये-यभागगताकाशप्रदेशराशिप्रमाणत्वात् । तेभ्यो देवकुरूत्तरकुरु-कर्मभूमकमनुष्यनपुंसका द्वयेऽपि संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेभ्यो हरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मभूमकमनुष्यनपुं-सका द्वयेऽपि संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेभ्यो हैमवतहैरण्यवताकर्मभूमकमनुष्यनपुंसका द्वयेऽपि संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेभ्यो भर-तैरवताकर्मभूमकमनुष्यनपुंसका द्वयेऽपि संख्येयगुणाः, स्व-स्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेभ्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहक-र्मभूमकमनुष्यनपुंसका द्वयेऽपि संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः ।

संप्रति भवनवास्यादिदेव्यादिविभागतः सप्तममल्पबहुत्वमाह-

एतासि णं भंते ! देवित्थीणं भवणवासीणं वाणमंतरीणं जोइसीणं वेमाणिणीणं देवपुरिसाणं भवणवासीणं० जाव वेमाणियाणं सोधम्मकाणं० जाव गेविज्जकाणं अणुत्तरोववा-इयाणं णेरइयनपुंसकाणं रयणप्पभापुढविनेरइयनपुंसकाणं० जाव अहेसत्तमापुढविनेरइयनपुंसगाणं कयरे कयरेहिंतो० जाव विसेसाहिया वा? । गोयमा ! सव्वत्थोवा अणुत्तरोववा-इया देवपुरिसा, उवरिमगेवेज्जा देवपुरिसा संखेज्जगुणा, तहे-व० जाव आणतकप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा, अहेसत्तमाए पुढवीए नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, छट्ठीए पुढवीए नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, सहस्सारे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, महासुक्के कप्पे देवा असंखेज्जगुणा, पंचमाए पुढवीए नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, लंतए कप्पे असंखेज्जगुणा, चउत्थीए पुढवीए नेरइया असं-खेज्जगुणा, बंभलोए कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, तच्चाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा, माहिंदे कप्पे दे-वपुरिसा असंखेज्जगुणा, सणंकुमारे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, दोच्चाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा,

ईसाणे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, ईसाणे कप्पे देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, सोधम्मे कप्पे देवपुरिसा संखेज्जा, सोधम्मे कप्पे देवित्थियाओ संखे०, भवनवासिदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा, भवणवासिदेवीत्थियाओ संखे०, इमीसे रयणप्पभापुढवीनिरइया असंखेज्जगुणा, वाणमंतरदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा, वाणमंतरदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, जोतिसियदेवपुरिसा संखेज्जगुणा, जोतिसियदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ ॥

सर्वस्तोका अनुत्तरोपपातिकदेवपुरुषाः, तत उपरितनग्रैवेय- [illegible]

[illegible]

वा० ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा अंतरदीवकअकम्मभूमिगमणुस्सित्थीओ मणुस्सपुरिसा य एतेणं दो वि तुल्ला सव्वत्थोवा, देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मभूमगमणुस्सित्थीओ मणुस्सपुरिसा य एतेणं दो वि तुल्ला संखेज्जगुणा; एवं हरिवासरम्मवासे, एवं हेमवते हेरण्णवते, भरहेरवयकम्मभूमगमणुस्सपुरिसा दो वि संखे०, भरहेरवयकम्मभूमगमणुस्सित्थीओ दो वि संखेज्जगुणाओ, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमगमणुस्सपुरिसा दो वि संखेज्जगुणा, पुव्वविदेहअवरविदेहकम्मभूमगमणुस्सित्थियाओ दो वि संखेज्जगुणाओ, अणुत्तरोववातियदेवपुरिसा असंखेज्जगुणा, उवरिमगेवेज्जा देवपुरिसा संखेज्जगुणा० जाव आणए देवपुरिसा संखेज्जगुणा, अहेसत्तमाए पुढवीए नेरइयणपुंसगा असंखेज्जगुणा, छट्ठीए नेरइयणपुंसगा असंखेज्जगुणा, सहस्सारे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, महासुक्के कप्पे असंखेज्जगुणा, पंचमाए पुढवीए नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, लंतए कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, चउत्थीए पुढवीए नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, बंभलोए कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, तचाए पुढवीए नेरइया असंखेज्जगुणा, माहिंदे कप्पे असंखेज्जगुणा, सणंकुमारे कप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, दोचाए पुढवीए णेरइयणपुंसका असंखेज्जगुणा, अंतरदीवगअकम्मभूमगमणुस्सणपुंसका असंखेज्जगुणा । देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मभूमगमणुस्सणपुंसका दो वि संखेज्जगुणा, एवं जाव विदेहो त्ति । ईसाणकप्पे देवपुरिसा असंखेज्जगुणा, ईसाणकप्पे देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, सोधम्मे कप्पे देवपुरिसा संखेज्जगुणा, सोधम्मे कप्पे देवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, भवणवासिदेवपुरिसा असंखे०, भवणवासिदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए नेरइयनपुंसका असंखेज्जगुणा, खहयरतिरिक्खजोणियपुरिसा संखेज्जगुणा, खहयरतिरिक्खजोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, थलयरतिरिक्खजोणियपुरिसा संखे०, थलयरतिरिक्खजोणित्थियाओ संखे०, जलयरतिरिक्खजोणियपुरिसा संखेज्ज०, जलयरतिरिक्खजोणित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, वाणमंतरदेवपुरिसा संखेज्जगुणा, वाणमंतरदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ, जोतिसियदेवपुरिसा संखेज्ज०, जोतिसियदेवित्थियाओ संखेज्जगुणाओ । खहयरपंचेंदियतिरिक्खजोणियणपुंसका संखेज्जगुणा, थलयरणपुंसका संखे०, जलयरणपुंसका संखे०, [illegible]

या, वाउ० विसेसाहिया, वणप्फइकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणियणपुंसका अणंतगुणा ॥

सर्वस्तोका अन्तरद्वीपकमनुष्यस्त्रियो मनुष्यपुरुषाश्च, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि तुल्याः, युगलधर्मोपेतत्वात् । एवं देवकुरूत्तरकुरुकर्मभूमकहरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मभूमकहैमवतहैरण्यवताकर्मभूमकमनुष्यस्त्रीपुरुषा यथोत्तरं संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेभ्यो भरतैरवतकर्मभूमकमनुष्यपुरुषा द्वयेऽपि संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेभ्यो भरतैरवतकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियो द्वय्योऽपि संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । ताभ्यः पूर्वविदेहापरविदेहकर्मभूमकमनुष्यपुरुषा द्वयेऽपि संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । तेभ्योऽपि पूर्वविदेहापरविदेहकर्मभूमकमनुष्यस्त्रियो द्वय्योऽपि संख्येयगुणाः, सप्तविंशतिगुणत्वात्, स्वस्थाने तु परस्परं तुल्याः । ताभ्योऽनुत्तरोपपातिकोपरितनग्रैवेयकमध्यमग्रैवेयकाधस्तनग्रैवेयकाच्युतारणप्राणतानतकल्पदेवपुरुषाः यथोत्तरं संख्येयगुणाः ; ततोऽधःसप्तमषष्ठपृथिवीनैरयिकसहस्रारकल्पदेवपुरुषा महाशुक्रकल्पदेवपुरुषाः पञ्चमपृथिवीनैरयिकलान्तककल्पदेवपुरुषाश्चतुर्थपृथिवीनैरयिकनपुंसकब्रह्मलोककल्पदेवपुरुषतृतीयपृथिवीनैरयिकनपुंसकमाहेन्द्रकल्पसनत्कुमारकल्पदेवपुरुषद्वितीयपृथिवीनैरयिकनपुंसकान्तरद्वीपनपुंसका यथोत्तरमसंख्येयगुणाः । ततो देवकुरूत्तरकुरुकर्मभूमकहरिवर्षरम्यकवर्षाकर्मभूमकहैमवतहैरण्यवताकर्मभूमकभरतैरवतकर्मभूमकपूर्वविदेहापरविदेहकर्मभूमकमनुष्यनपुंसकाः यथोत्तरं संख्येयगुणाः, स्वस्थाने तु द्वये परस्परं तुल्याः । तत ईशानकल्पदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः, तत ईशानकल्पे देवस्त्रियः संख्ये० । ताभ्यः सौधर्मकल्पे देवपुरुषस्त्रियः संख्ये० । तेभ्यो भवनवासिदेवपुरुषा असंख्येयगुणाः, तेभ्यो भवनवासिदेवस्त्रियः संख्येयगुणाः । ताभ्योऽस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां नैरयिकनपुंसका असंख्येयगुणाः । ततः खचरतिर्यग्योनिकपुरुषाः खचरतिर्यग्योनिकस्त्रियः स्थलचरतिर्यग्योनिकपुरुषाः स्थलचरतिर्यग्योनिकस्त्रियः जलचरतिर्यग्योनिकपुरुषा जलचरतिर्यग्योनिकस्त्रियो वाणमन्तरदेवपुरुषाः वाणमन्तरदेवस्त्रियो ज्योतिष्कदेवपुरुषाः ज्योतिष्कदेवस्त्रियो यथोत्तरं संख्येयगुणाः । ततः खचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका असंख्येयगुणाः । ततः स्थलचरजलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसकाः क्रमेण संख्येयगुणाः, ततश्चतुरिन्द्रियत्रीन्द्रियद्वीन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका यथोत्तरं विशेषाधिकाः । ततस्तेजस्कायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका असंख्येयगुणाः, ततः पृथिव्यप्वायुकायिकतिर्यग्योनिकनपुंसका यथोत्तरं विशेषाधिकाः । वनस्पतिकायिकैकेन्द्रियतिर्यग्योनिकनपुंसका अनन्तगुणाः, निगोदजीवानामनन्तत्वात् । जी० २ प्रति० ।

शरीरमाश्रित्य सशरीराशरीराल्पबहुत्वचिन्तायाम्–
" सव्वत्थोवा ससरीरी, असरीरी अणंतगुणा "

(२.७) [शरीरद्वारम्] आहारकादिशरीरिणाम्—

अप्पाबहुं–सव्वत्थोवा आहारगसरीरी, वेउव्वियसरीरी असंखेज्जगुणा, ओरालियसरीरी असंखेज्जगुणा, असरीरी अणंतगुणा, तेयाकम्मासरीरी दो वि तुल्ला अणंतगुणा ।

सर्वस्तोका आहारकशरीरिणः, उत्कर्षतोऽपि सहस्रपृथक्त्वेन प्राप्यमाणत्वात् । तेभ्यो वैक्रियशरीरिणोऽसंख्येयगुणाः; देवनारकाणां कतिपयगर्भजतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यवायुकायिकानां च वैक्रियशरीरत्वात् । तेभ्य औदारिकशरीरिणोऽसंख्येयगुणाः, इहानन्तानामपि जीवानां यस्मादेकमौदारिकं शरीरं ततः स एक औदारिकशरीरी परिगृह्यते, ततोऽसंख्येयगुणा एवौदारिकशरीरिणो नानन्तगुणाः । आह च मूलटीकाकारः 'औदारिकशरीरिभ्योऽशरीरा अनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात्, औदारिकशरीरिणां च शरीरापेक्षया असंख्येयत्वादिति' । तेभ्योऽशरीरिणोऽनन्तगुणाः, सिद्धानामनन्तत्वात् । तेभ्यः तैजसशरीरिणः कार्मणशरीरिणः अनन्तगुणाः, स्वस्थाने तु द्वयेऽपि परस्परं तुल्याः । तैजसकार्मणयोः परस्पराविनाभावित्वात् । इह तैजसशरीरं कार्मणशरीरं च निगोदेष्वपि प्रतिजीवं विद्यते, इति सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वम् । जी० ६ प्रति० । (औदारिकादिशरीराणां चाल्पबहुत्वं 'सरीर' शब्दे वक्ष्यते) (संक्रमविषयमल्पबहुत्वं 'संकम' शब्दे द्रष्टव्यम) (समुद्घातविषयमल्पबहुत्वं ' समुग्घाय' शब्दे प्ररूपयिष्यते)

[संज्ञिद्वारम्] संज्ञ्यसंज्ञिनोसंज्ञिनोअसंज्ञिनामल्पबहुत्वम् -

एएसि णं भंते ! जीवाणं सन्नीणं असन्नीणं नोसन्नीणं नोअसन्नीण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा सन्नी, नोसन्नी नोअसन्नी अणंतगुणा, असन्नी अणंतगुणा ।

सर्वस्तोकाः संज्ञिनः, समनस्कानामेव संज्ञित्वात् । तेभ्यो नोसंज्ञिनो नोऽसंज्ञिनोऽनन्तगुणाः, उभयप्रतिषेधवृत्ता हि सिद्धाः, ते च संज्ञिभ्योऽनन्तगुणा एवेति । तेभ्योऽसंज्ञिनोऽनन्तगुणाः, वनस्पतीनां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तगुणत्वात् । प्रज्ञा० ३ पद । (आहारादिसंज्ञोपयुक्तानां नैरयिकादीनामल्पबहुत्वं 'सन्ना' शब्दे वक्ष्यते) (सामायिकादिसंयतविषयमल्पबहुत्वं 'संजय' शब्दे एव द्रष्टव्यम) (संयमस्थानानामल्पबहुत्वं ' संजमट्ठाण ' शब्दे प्रदर्शयिष्यते)

[संयमद्वारम्] संयतानामसंयतानां नोसंयत-
नोअसंयतानामल्पबहुत्वम्—

एएसि णं भंते ! जीवाणं संजयाणं असंजयाणं संजयासंजयाणं नोसंजयाणं नोअसंजयाण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा संजया, संजयासंजया असंखेज्जगुणा, नोसंजता नोअसंजता अणंतगुणा, असंजता अणंतगुणा ।

सर्वस्तोकाः संयताः, उत्कृष्टपदेऽपि तेषां कोटिसहस्रपृथक्त्वप्रमाणतया लभ्यमानत्वात् । "कोटिसहस्सपुहुत्तं मणुयलोए संजयाणं" इति वचनात् । तेभ्यः संयतासंयता देशविरता असंख्येयगुणाः, तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामसंख्यातानां देशविरतिसद्भावात् । तेभ्यो नोसंयता नोअसंयता अनन्तगुणाः, त्रितयप्रतिषेधवृत्ता हि सिद्धाः, ते चानन्ता इति । तेभ्योऽसंयता अनन्तगुणाः, वनस्पतीनां सिद्धेभ्योऽप्यनन्तत्वात् । प्रज्ञा० ३ पद ।

संस्थानानामल्पबहुत्वम्—

एएसि णं भंते ! परिमंडलवट्टचउरंसतंसआयतअणित्थंत्थाणं संठाणाणं दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कय-

[illegible]

[illegible] ।

([illegible]) [illegible]

[illegible] ! [illegible]

[illegible] ।

[illegible]

[illegible])

[illegible]

मिथाण्डकमुदरपूरकस्याहारः कुक्कुटाण्डकम्, तस्य प्रमाणतो मात्रा द्वात्रिंशत्तमांशरूपा येषां ते कुक्कुटाण्डकप्रमाणमात्राः । अत्रायमभिप्रायः-यावान् यस्य पुरुषस्याहारस्य द्वात्रिंशत्तमो भागस्तत्पुरुषापेक्षया कवलः । इदमेव कवलमानमाश्रित्य प्रतिपादकवलचतुःषष्ट्यादिमानाहारस्यापि पुरुषस्य द्वात्रिंशता कवलैः प्रमाणप्राप्तनोपपत्ता स्यात्, नहि कवलोऽस्य-र्द्ध स्तुकवलः प्रमाणप्राप्त्यमुपपद्यते । प्रथमव्याख्याने तु प्रायिकपक्षमधिकृत्यमिति । (अप्पाहार त्ति) अल्पाहारः, साधुर्भवतीति गम्यम । अथवाऽष्टौ कुक्कुटाण्डकप्रमाणमात्रान् कवलानाहारमाहारयति कुर्वति साधौ अल्पाहारः स्तोकाहार, आहारप्रत्युर्वोदकपदार्थस्य । भ० ७ श० १ उ० । ध० । आचा० । (अल्पाहारस्य इन्द्रियाणि विषयेषु न वर्तन्त इति 'जिणकप्पिय' शब्दे वक्ष्यते)

अप्पाहिगरण-अल्पाधिकरण-पुं० । अल्पमविद्यमानमधिकरणं कलहरूपपरपक्षोद्विषयो यस्य तत्तथा । स्था० ६ ठा० १० ३० । निष्कलह, स्था० ८ ठा० ।

अप्पिच्छ-अल्पेच्छ-त्रि० । अल्पा स्तोका धर्मोपकरणप्राप्तिमात्रविषयत्वेन, न तु सत्कारादिकामितया महती, अल्पशब्दस्याभाववाचित्वेनाविद्यमाना इच्छा वाञ्छा यस्यासावल्पेच्छः । दश० ३ अ० । अमहेच्छे, औ० । धर्मोपकरणमात्रधारिणि, दश० २ अ० । न्यूनोदरतयाऽऽहारपरिभोगिनि, दशा० ७ अ० । अल्पाः स्तोकाः परिग्रहारम्भविषयाऽस्ताः करणप्रवृत्तिर्येषां ते तथा । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । मणिकनकादिविषयमतिरथ धार्मिके, औ० ३ प्रति० । स्था० । उं० ।

अप्पिय-अप्रिय-न० । प्रियस्याभावोऽप्रियम् । चित्तदुःखासिकायाम, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । न प्रियमप्रियम् । अप्रीतिदे, भ० १ श० ५ उ० । दशा० । ठा०, स्था० । यस्मि दर्शनावालकादावपि न प्रियबुद्धिमुत्पादयति । जी० १ प्रति० । प्रमादविषये, स्था० ८ ठा० । " अणिट्ठा अकंता अप्पिया असुभा अमणा एगंता " विपा० १ श्रु० १ अ० । "कोह असच्च कुविज्जा, धारिज्जा पियमप्पियं ।" अप्रियमपि कर्णकटुकतया तदात्वे प्रियमपि, गुरुवचनमिति गम्यते । उत्त० १ अ० ।

अप्पिन्-त्रि० । अप्रत्यस्तगुणेन दीपिते, दशा० ३ अ० । आदिते, ज० ११ श० ७ उ० । दीपिते, विपा० १ श्रु० २ अ० । निर्देपिते, स्था० १० ठा० । "अप्पियमय पिसेसो, सामाकमत्यप्पिअयस्य " विशे० । " जहा दवियमप्पियं तं तदेव " चतुरुत्थमर्पितं प्रतिपादयितुमभीष्टम । अनुयो० १ काण्ड ॥

अप्पित-त्रि० । अल्प शिप्ते इव, अल्प-कृतार्थे शिष, कारमं वितः । कर्णोज्झिते, " सुया न वदेऽप्पितकल्पवादयः " व्यव० ।

अप्पियकारिणी-अप्रियकारिणी-स्त्री० । धीतुश्चैर्यनिवेदनादिरूपायां भाषायाम, " अप्पियकारिणि च भासं न भासिज्जा सया सपुज्जो " दश० ६ अ० ३ उ० ।

अप्पियत्तण-अप्रियत्व-पुं० । अल्पतेन विद्यते इत्यपिनो विवेकः, तदादी नयोऽर्पितनयः । विशेष यथा तेन स सामान्यमिति तद्वसमवदिष्टे नये, विशे० । अनुयो० ।

अप्पियता-अप्रियता-स्त्री० । अप्रेमलक्षण, भ० १ श० ६ उ० ।

अप्पियवहार-अर्पितव्यवहार-पुं० । अर्पित इति व्यवहारो [illegible]

यस्मिन सोऽयमर्पितव्यवहारः । अनुत्पन्नमधिकृत्य [illegible] अर्पितानर्पितयोर्विशेषः । व्यवहारे, [illegible] कथित व्यवहारे, उत्त० १ अ० ।

अप्पियवइ-अप्रियवच-त्रि० । अप्रियं दुःखकारणं [illegible] अप्रियवचः । [illegible] उत्त० १ अ० ।

अप्पियस्सर-अप्रियस्वर-त्रि० । [illegible]

अप्पियाणप्पिय-अर्पितानर्पित-न० । [illegible] स्था० १० ठा० ।

अप्पीकय-अर्पीकृत-त्रि० । [illegible]

अप्पुट्ठाइ (ण्) अल्पोत्थायिन्-त्रि० । [illegible]

अप्पुत्तियत्त... [illegible]

अप्पुट्ठ-अस्पृष्ट-त्रि० । [illegible]

अप्पुण्ण-अपूर्ण-त्रि० । [illegible]

अप्पुस्सुय-अल्पोत्सुक-त्रि० । [illegible]

अप्पो-देशी-पुं० । [illegible]

अप्पोवहिम-[illegible]-पुं० । [illegible]

अप्पोदग-[illegible]

[illegible]

अप्पोसहि-[illegible]

अप्पोरगा-[illegible]

अप्पोसहिमंतबल–अल्पौषधिमन्त्रबल–त्रि०। अल्पं स्तोकमौषधिमन्त्रबलं यस्य स तथा । स्तोकेनौषधिमन्त्रबलेन युते, "अप्पोसहिमंतबलो नहु अप्पाणं तिगिच्छिहिसि" आव०४ अ०।

अप्फालण–आस्फालन–न० । हस्तेनाऽऽताडने उत्तेजने, औ० । दशा० । अस्फाटेरस्फालं वादनमास्फालनमिति प्रसिद्धम् । रा० । दशा० चू० ।

अप्फालिज्जंत–आस्फाल्यमान–त्रि० । हस्तेनाऽऽताड्यमाने, "अप्फालिज्जंतीणं भंभाणं होरंभाणं" रा०।

अप्फा (प्पा) लिय–आस्फालित–त्रि० । आ समन्तात्स्फारं ताडिते, [illegible]

अप्फुट्ट–अस्पृष्ट–त्रि० । स्पृष्टाविपरीते " उपसर्गानतिघोरा–[illegible] " [illegible]

अप्फुडिय–अस्फुटित–त्रि० । [illegible]

[illegible]

ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते गन्तस्स पारगा ॥ २२ ॥
ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते जम्मस्स पारगा ॥ २३ ॥
ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते दुक्खस्स पारगा ॥ २४ ॥
ते णावि संधिं णच्चा णं, न ते धम्मविओ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते मारस्स पारगा ॥ २५ ॥

साम्प्रतं पञ्चभूतात्माद्वैततज्जीवतच्छरीरवादिनां [illegible] अफलवादित्वं धनुकामः सूत्रकारो [illegible] दर्शनकाभ्युपगमं दर्शयितुमाह–(अगारेत्यादि) [illegible] तदावसन्तस्तस्मिन्तिष्ठन्तो गृहस्था इत्यर्थः । [illegible] प्रव्रजिताश्च शाक्यादयः । [illegible] संज्ञापयन्ति–यथेदमस्मदीयं दर्शनमापन्नाः [illegible] दुःखेभ्यो विमुच्यन्ते । [illegible]

[illegible]

न्पुनस्ते प्राप्नुवन्ति तद्दर्शयितुमाह-(णाणाविहाइं इत्यादि) नाविधानि बहुप्रकाराणि दुःखान्यसातोदयलक्षणान्यनुभवन्ति ः पुनः । तथाहि-नरकेषु करपत्रदारण-कुम्भीपाक-तप्तायः-हमर्मीसमालिङ्गनादीनि,तिर्यक्षु च शीतोष्णादिदमनाङ्कनाऽ-अतिसारारोपणक्षुत्तृडादीनि,मनुष्येषु इष्टवियोगानिष्टसंयोग-काक्रन्दनादीनि, देवेषु चाभियोगेर्ष्याकिल्बिषिकत्वच्यवना-न्यनेकप्रकाराणि दुःखानि, ये एवंभूता वादिनस्ते पौनःपुन्येन ननुभवन्ति । एतच्च श्लोकार्द्धं सर्वेषूत्तरश्लोकार्द्धेषु योज्यम् । ं सुगमं यावदुद्देशकसमाप्तिरिति ॥ २६ ॥ नवरमुच्चावचा-ति-अधमोत्तमानि नानाप्रकाराणि वासस्थानानि गच्छन्तीति न्तो भ्रमन्तो गर्भाक्रमैष्यन्ति यास्यन्त्यनन्तशो निर्विच्छेद-ति ब्रवीमीति । सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं प्रत्याह-ब्रवीम्यहं र्थद्धराज्ञया न स्वमनीषिकया, स चाहं ब्रवीमि, येन मया ती-द्रसकाशाच्छ्रुतम् । एतेन च क्षणिकवादिनिरासो द्रष्टव्यः । २७ । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

फास-अस्पर्श-त्रि० । न विद्यते स्पर्शोऽष्टप्रकारो मृदुकर्क-दिरस्येत्यर्थः । पं० १६ विव० । अशुभस्पर्शे एकान्तोद्वेजनी-सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

फासुय-अप्रासुक-न० । न प्रगता असवोऽसुमन्तो यस्मात्त-प्रासुकम् । सजीवे, भ० ५ श० ६ उ० । सचित्ते, आचा० १ ० १ अ० १ उ० । सूत्र० । स्था० ।

फासुयपडिसेवि (ण्)-अप्रासुकप्रतिसेविन्-त्रि० । अप्रासु-सचित्तं प्रतिसेवितुं शीलमस्य स भवत्यप्रासुकप्रतिसेवी । चित्तजलादिवस्तुप्रतिसेवनशीले,"अफासुयपडिसेविय, णामं भो य सीलवाई य ।" सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

फुस-अस्पृश्य-त्रि० । स्प्रष्टुमयोग्ये, " अफुसं दुक्खं " अ-पृश्यं कर्मान्तरगादेव । स्था० ३ ठा० २ उ० ।

फुसमाणगइ-अस्पृशद्गति-पुं० । अस्पृशन्ती सिद्ध्यन्त-लप्रदेशान् गतिर्यस्य सोऽस्पृशद्गतिः । अन्तरालप्रदेशाना-स्पर्शनेनैवोर्ध्वं गच्छति सिद्धे, औ० ।

उज्जुसेढीपडिवन्ने अफुसमाणगई उड्ढं एकसमएणं अ-विग्गहेणं उड्ढं गता सागारोवउत्ते सिज्झिहि त्ति ॥

अन्तरालप्रदेशस्पर्शने हि नैकेन समयेन सिद्धिः,इष्यते च त-क एव समयः, य एव चायुष्कादिकर्मणां क्षयसमयः स एव र्वाणसमयोऽतोऽन्तराले समयान्तरस्याभावादन्तरालप्र-शानामसंस्पर्शनामिति सूक्ष्मश्चायमर्थः केवलिगम्यो भा-न इति । औ० ॥ " अफुसमाणगती वितियं समयं ण फुसति, हवा जेसु अवगाढो जे य फुसति सकुमविगच्छमाणो तत्तिए व आगासपदेसे फुसमाणो गच्छति " । आ० चू० २ अ० ।

बंझ-अवन्ध्य-त्रि० । न वन्ध्यमवन्ध्यम् । अवश्यकार्यका-णि, सूत्र० । अवन्ध्यमेकादशं पूर्वम्, वन्ध्यं नाम निष्फलं, न द्यते वन्ध्यं यत्र तदवन्ध्यम्, सफलमित्यर्थः । तत्र हि-सर्वे-पि ज्ञानतपःसंयमयोगाः शुभफलेन सफला वर्ण्यन्ते,अप्रशस्ता-श्च प्रमादादिकाः सर्वे अशुभफला वर्ण्यन्तेऽतोऽवन्ध्यम्, तस्य परिमाणं षड्विंशतिपदकोट्यः । स० । " अवंझपुव्वस्स णं रस वत्थू पण्णत्ता " नं० । स० । अवश्यकार्यकर्तरि, सूत्र० श्रु० १ अ० ।

अबंध-अबन्ध-पुं० । बन्धाभावे, पं० सं० ५ द्वा० ।

अबंधग-अबन्धक-पुं० । निरुद्धयोगे, भ० २५ श० ६ उ० । आ० म० द्वि० ।

अबंधव-अबान्धव-त्रि० । स्वजनसम्पाद्यकार्यरहिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अबंभ-अब्रह्मन्-न० । अकुशले कर्मणि,तच्च मैथुनं विवक्षितम्, अत्यन्ताकुशलत्वात्तस्य । प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

तच्चाष्टादशधा-

अट्ठारसविहे अबंभे ओरालिअं च दिव्वं, मणवयकाए-ण जोएण अणुमोअणकारावणकरणेणऽट्ठारसा बंभं ॥

इह मूलतो द्विधा ब्रह्म भवति-औदारिकं तिर्यङ्मनुष्याणां, दि-[illegible] संबन्धः । मनो- [illegible]

भावना-औदारिकं स्वयं न करोति मनसा वाचा कायेन, नान्येन कारयति मनसा वाचा कायेन, कुर्वन्तं नानुमोदते मनसा वाचा कायेन । एवं वैक्रियमपि । आव० ४ अ० । एतच्च प्रश्नव्याकरणानां चतुर्थेऽध्ययने यथा यादृशादिद्वारपञ्चकेन । द्वारपञ्चकं चेदम्-"जारिसओ १ जं नामा २, जह य कओ ३ जारिसं फलं दिंति ४ । जे वि य करेंति पावा ५, पाणवहं तं निसामेह " ॥ १ ॥ प्रश्न० ५ आश्र० द्वा० ।

तत्र यादृशमब्रह्मेति द्वारार्थप्रतिपादनायेदं सूत्रम्-

जंबू ! अबंभं च चउत्थं सदेवमणुयासुरस्स लोयस्स प-त्थणिज्जं पंकपणगपासजालभूयं इत्थीपुरिसनपुंसगवेदचि-ण्हं तवसंजमबंभचेरविग्घं भेदाययणबहुपमादमूलं कायरका-पुरिससेवियं सुयणजणवज्जणिज्जं उड्ढनरयतिरियतिलो-कपइट्ठाणं जरामरणरोगसोगबहुलं वधबंधविघायदुव्विघायं दंसणचरित्तमोहस्स हेउभूयं चिरपरिचयमणुगयं दुरंतं चउत्थं अहम्मदारं ॥

(जंबू ! इत्यादि) जम्बू ! इति शिष्यामन्त्रणम् । अब्रह्म अकुशलं कर्म,तच्चेह मैथुनं विवक्षितम्,अत्यन्ताकुशलत्वात्तस्य । आह च-"नो किंचि अणुन्नायं,पडिसिद्धं वा वि जिणवरिंदेहिं मुत्तुं मेहुण-भेगं, न जं विणा रागदोसेहिं" ।१। चकारः पुनरर्थः चतुर्थसूत्र-क्रमापेक्षया सहदेवमनुजासुरैर्यो लोकः स तथा, तस्य प्रार्थनी-यमभिलषणीयम् यतः-"हरिहरहिरण्यगर्भ-प्रमुखे भुवने न को-ऽप्यसौ शूरः । कुसुमविशिखस्य विशिखा-नस्खलयद्यो जिनाद-न्यः" ॥१॥ पङ्को महान् कर्दमः, पनकः स एव प्रतलः, सूक्ष्मः पाशो बन्धनविशेषः, जालं मत्स्यबन्धनम् । एतद्भूतमेतदुपमं कलङ्कनिमित्तत्वेन दुर्मोचनत्वेन च साधर्म्यात् । उक्तं च-

"सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां,
लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव ।
भ्रूचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथजुषो नीलपक्ष्माण एते,
यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति" ॥१॥

तथा स्त्रीपुरुषनपुंसकवेदानां चिह्नं लक्षणं यत्तत्तथा । तपः सं-यमब्रह्मचर्यविघ्नमिति व्यक्तम् । तथा भेदस्य चारित्रजीवित-विनाशस्यायतनानि...आश्रया ये बहवः प्रमादा मद्यविकथादय-

नि उपदर्शितस्वरूपाणि, पथमादीनि एवंप्रकाराणि, नामधेयानि त्रिंशद्भवन्ति । कामाऽऽधेयं प्रकारान्तरेण पुनरन्यान्यपि भवन्तीति भावः । उक्तं यन्नामेति द्वारम् ।

अथ ये तत्कुर्वन्ति तद् द्वारमुच्यते—

तं च पुण निसेवंति सुरगणा अच्छरा मोहमोहितमती असुर १ भुयग २ गरुल ३ विज्जुजलणदीवउदहिदिसिपवणथणिय १० अणपन्नियपणपन्नियइसिवाइयभूयवाइयकंदियमहाकंदियकुहंडपयंगदेवा पिसायभूयजक्खरक्खसकिंणरकिंपुरिसमहोरगगंधव्वतिरियजोइसविमाणवासिमणुयगणा जलयरथलयरखहचरा य मोहपडिबद्धचित्ता अवितण्हा कामभोगतिसिया णं तण्हाए बलवईए महईए समभिभूया गढिया य अतिमुच्छिया य अबंभे ओसण्णा तामसेण भावेण अणुम्मुक्का दंसणचरित्तमोहस्स पंजरं पिव करेंति अण्णमण्णं सेवमाणा, भुज्जो २ असुरसुरतिरियमणुयभोगरतिविहारसंपउत्ता य चक्कवट्टीसुरनरवतिसक्कया सुरवर व्व देवलोए भरहनगणगरनिगमजणवयपुरवरदोणमुहखेडकब्बडमडंबसंबाहपट्टणसहस्समंडियं थिमियमेयणियं एगच्छत्तं ससागरं भुंजिऊण वसुहं नरसीहा नरवतिनरिंदा नरवसहा मरुयवसभकप्पा अब्भहियं रायतेयलच्छीए दिप्पमाणा सोमा रायवंसतिलगा रविससिसंखवरचक्कसोत्थियपडागजवमच्छकुम्मरहवरभगभवणविमाणतुरंगतोरणगोपुरमणिरयणनंदियावत्तमुसलणंगलसुरइयवरकप्परुक्खमिगवतिभद्दासणसुरुइथूभवरमउडसरियकुंडलकुंजरवरवसभदीवमंदरगरुलज्झयइंदकेउदप्पणअट्ठावयचावबाणनक्खत्तमेहमेहलवीणाजुगछत्तदामदामिणिकमंडलुकमलघंटावरपोतसूचीसागरकुमुदागरमगरहारगागरनेउरणगणगरवइरकिण्णरमयूरवररायहंससारसचकोरचक्कवागमिहुणचामरखेडगपव्वीसगविपंचिवरतालियंटसिरियाभिसेयमेयणिखग्गंकुसविमलकलसभिंगारवद्धमाणगपसत्थउत्तमविभत्तवरपुरिसलक्खणधरा बत्तीसगायवरसहस्साणुजायमग्गा चउसट्ठिसहस्सपवरजुवतीणयणकंता रत्ताभा पउमपम्हकोरंटगदामचंपगसुततवियकणगनिकसवण्णा सुजायसव्वंगसुंदरंगा महग्घवरपट्टणुग्गयविचित्तरागएणीपएणीनिम्मियदुगुल्लवरचीणपट्टकोसेज्जसोणीसुत्तकविभूसियंगा वरसुरभिगंधवरचुण्णवासवरकुसुमभरियसिरया कप्पियछेयायरियसुकयरइयमालकडगंगयतुडियपवरभूसणपिणद्धदेहा एकावलिकंठसुरइयवच्छपलंबपलंबमाणसुकयपडउत्तरिज्जमुद्दियापिंगलंगुलिया उज्जलनेवत्थरइयचिल्लगविरायमाणा तेएण दिवाकरो व्व दित्ता सारयनवत्थणियमहुरगंभीरनिद्धघोसा उप्पण्णसमत्तरयणचक्करयणप्पहाणा नवनिहिपइणो समिद्धकोसा चाउरंता चाउराहिं सेणाहिं समणुजाइज्जमाणमग्गा तुरगपतीगयपतीरहपतीनरपती विपुलकुलवीसुयजसा सारयससिसकलसोम्मवयणा सूरा तिलोक्कनिग्गयपभावलद्धसद्दा समत्तभरहाहिवा नरिंदा ससेलवणकाणणं च हिमवंतसागरंतं धीरा भोत्तूण भरहवासं जियसत्तू पवररायसीहा पुव्वकडतवप्पभावा निविट्ठसंचियसुहा अणेगवाससयमायुव्वंतो भज्जाहि य जणवयप्पहाणाहिं लालियंता अतुलसद्दफरिसरसरूवगंधे य अणुभवित्ता ते वि उवणमंति मरणधम्मं अवितित्ता कामाणं, भुज्जो बलदेवा वासुदेवा य, पवरपुरिसा महाबलपरक्कमा महाधणुवियट्टका महासत्तसागरा दुद्धरा धणुधरा नरवसभा रामकेसवा भायरो सपरिसा वसुदेवसमुद्दविजयमादियदसाराणं पज्जुण्णपयिवसंबअनिरुद्धनिसढउम्मुयसारणगयसुमुहदुम्मुहादीणं जायवाणं अद्धुट्ठाण वि कुमारकोडीणं हिययदइया देवीए रोहिणीए देवीए देवईए य हियाणंदहियभावनंदणकरा सोलसरायवरसहस्साणं जायमग्गा सोलसदेवीसहस्सवरणयणहिययदइया णाणामणिकणगरयणमोत्तियपवालधणधण्णसंचयरिद्धिसमिद्धकोसा हयगयरहसहस्ससामी गामागरणगरखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणासमसंवाहसहस्सथिमियनिव्वुयपमुदितजणविविहसस्सनिप्फज्जमाणमेइणीसरसरियतलागसेलकाणणआरामुज्जाणमणाभिरामपरिमंडियस्स दाहिणड्ढवेयड्ढगिरिविभत्तस्स लवणजलपरिगयस्स छव्विहकालगुणकमजुत्तस्स अद्धभरहस्स सामिका धीरकित्तिपुरिसा ओहबला अतिबला अनिहया अपराजियसत्तुमद्दणा रिउसहस्समाणमहणा साणुक्कोसा अमच्छरी अचवला अचंडा मियमंजुलपलावा हसियगंभीरमहुरभणिया अब्भुवगयवच्छला सरण्णा लक्खणवंजणगुणोववेया माणुम्माणपमाणपडिपुण्णसुजायसव्वंगसुंदरंगा ससिसोमाकारकंता पियदंसणा अमरिसणा पयंडदंडप्पयारगंभीरदरिसणिज्जा तालज्झयउव्विद्धगरुलकेउ बलवगगज्जंतदरितदप्पियमुट्ठियचाणूरचूरगा रिट्ठवसभघाती केसरिमुहविप्फाडगा दरियनागदप्पमहणा जमलज्जुणभंजगा महासउणिपूयणारिपू कंसमउडमोडगा जरासंधमाणमहणा तेहि य अविरलसमसहियचंदमंडलसमप्पभेहिं सूरमरीयकवयविणिमुयंतेहिं सपडिदंडेहिं आयवत्तेहिं धरिज्जंतेहिं विरायंता ताहि य पवरगिरिकुहरविहरणसमुद्धियाहिं निरुवहयचमरपच्छिमसरीरसंजायाहिं अमइलसियकमलविमुकुलुज्जलितरययगिरिसिहरविमलससिकिरणसरिसकलहोयनिम्मलाहिं पवणाहयचवलचलियसललियपणच्चियवीइपसरियखीरोदगपवरसागरुप्पूरचंचलाहिं माणससरपसरपरिचियावासविसयवेसाहिं कणगगिरिसिहरसंसियाहिं ओवाउप्पायचवलजवियसिग्घवेगाहिं हंसवधूयाहिं

णियविणासमंसलसुबद्धजहणवरधारिणीओ वज्जविराइयपसत्थलक्खणनिरोदरीओ तिवलिवलियतणुनमियमज्झमाओ उज्जुयसमसंहियजच्चतणुकसिणनिद्धआदेज्जलडहसुकुमालमउयरमणिज्जरोमराई गंगावत्तगपयाहिणावत्ततरंगभंगुररविकिरणतरुणबोहियआकोसायंतपउमगंभीरवियडनाभी अणुब्भडपसत्थसुजायपीणकुच्छी सन्नयपासा संगयपासा सुजायपासा मियमाइयपीणरइयपासा अकरंडुयकणगरुयगनिम्मलसुजायनिरुवहयगायलट्ठी कंचणकलसप्पमाणसमसंहियलट्ठचुच्चुयआमेलगजमलजुयलवट्टियअब्भुण्णयरइयसंठियपओहराओ भुयंगअणुपुव्वतणुयगोपुच्छवट्टसमसंहियनमियआदेज्जललियबाहाओ तंबनहा मंसलग्गहत्था कोमलपीवरवरंगुलीया णिद्धपाणिलेहा ससिसूरसंखचक्कवरसोत्थियविभत्तसुविरइयपाणिलेहा पीणुण्णयकक्खवक्खवत्थिप्पएसपडिपुण्णगलकपोला चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरसरिसगीवा मंसलसंठियपसत्थहणुया दालिमपुप्फप्पगासपीवरपलंबकुंचियवराधरा सुंदरोत्तरोट्ठा दहिदगरयकुंदचंदवासंतिमउलअच्छिद्दविमलदसणा रत्तुप्पलपत्तमउयसुकुमालतालुजीहा कणवीरमउलकुडिलअब्भुग्गयउज्जुतुंगनासा सारदनवकमलकुमुयकुवलयदलनिगरसरिसलक्खणपसत्थनिम्मलकंतनयणा आनामियचावरुइलकिण्हब्भराइसंगयसुजायतणुकसिणनिद्धभमुगा अल्लीणपमाणजुत्तसवणा सुस्सवणा पीणमट्ठगंडलेहा चउरंगुलविसालसमनिडाला कोमुइरयणिकरविमलपडिपुण्णसोमवयणा छत्तुण्णयउत्तमंगा अकविलसुसिणिद्धदीहसिरया छत्तज्झयजुगथूभदामणिकमंडलुकलसवाविसोत्थियपडागजवमच्छकुम्मरहवरमगरज्झयअंकथालअंकुसअट्ठावयसुपइट्ठअमरसिरियाभिसेयतोरणमेइणिउदहिवरपवरभवणगिरिवरवरायंसगुललियगयउसभसीहचामरपसत्थउत्तमविसिट्ठबत्तीसलक्खणधरीओ हंससरिच्छगईओ कोइलमहुरगिराओ कंता सव्वस्स अणुमयाओ ववगयवलिपलियवंगदुव्वण्णवाहिदोभग्गसोयमुक्काओ उच्चत्तेण य नराण थोवूणमुसियाओ सिंगारागारचारुवेसा सुंदरथणजहणवयणकरचरणणयणा लावण्णरूवजोव्वणगुणोववेया णंदणवणविवरचारिणीओ व्व अच्छराओ उत्तरकुरुमाणसच्छराओ अच्छेरगपेच्छणिज्जाओ तिण्णि पलिओवमाइं परमाउं पालयित्ता ओ वि उवणमंति मरणधम्मं अवितित्ता कामाणं, मेहुणसन्नसंपगिद्धा य मोहभरिया सत्थेहिं हणंति एक्कमेक्कं विसयविसउदीरएहिं अवरे परदारेहिं हणंति विसुणिया धणनासं सयणविप्पणासं च पाउणंति, परस्स दाराओ जे अविरया मेहुणसन्नसंपगिद्धा य मोहभरिया अस्सा हत्थी गवा य महिसा मिगा य मारेंति एक्कमेक्कं मणुयगणा वानरा य पक्खी य विरुज्झंति मित्ताणि खिप्पं भवंति सत्तू समयधम्मगणे य भिंदंति

पारदारी धम्मगुणरया य बंभयारी खणेण उल्लोट्टए चरित्ताओ जसमंतो सुव्वया य पावंति अयसकित्तिं रोगत्ता वाहिया वड्ढंति रोयवाही, दुवे य लोया दुआराहगा भवंति, इहलोए चेव परलोए परस्स दाराओ जे अविरया तहेव केइ परस्स दारं गवेसमाणा गहिया य हया य बद्धरुद्धा य एवं जाव गच्छंति विपुलमोहाभिभूयसन्ना मेहुणमूलं च सुव्वइ तत्थ तत्थ वत्तपुव्वा संगामा जणक्खयकरा सीयाए दोवईए य कए रुप्पिणीए पउमावईए ताराए कंचणाए रत्तसुभद्दाए अहिल्लियाए सुवण्णगुलियाए किन्नरीए य सुरूवविज्जुमईए रोहिणीए य अण्णेसु य एवमाइएसु बहवे महिलाकएसु सुव्वंति अइक्कंता संगामा गामधम्ममूला, इह लोए ताव नट्ठा परलोए य नट्ठा महया मोहतिमिरंधयारे घोरे तसथावरसुहुमबायरेसु पज्जत्तमपज्जत्तसाहारणसरीरपत्तेयसरीरेसु य अंडजपोयजजराउयरससंसेइमसम्मुच्छिमउब्भियउववाइएसु य नरगतिरियदेवमाणुसेसु जरामरणरोगसोगबहुले पलिओवमसागरोवमाइं अणाईयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरियट्टंति जीवा मोहवससंनिविट्ठा, एसो सो अबंभस्स फलविवागो इहलोइओ परलोइओ य अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भओ बहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वाससहस्सेहिं मुच्चइ न य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खो त्ति एवमाहंसु नायकुलनंदणो महप्पा जिणो उ वीरवरनामधेज्जो कहेसी य अबंभस्स फलविवागं, एयं तं अबंभं पि चउत्थं पि सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स पत्थणिज्जं एवं चिरपरिचियमणुगयं दुरंतं चउत्थं अहम्मदारं सम्मत्तं त्ति बेमि ।

(तं च पुण [illegible]) [illegible]

[illegible]

अयंपुल-[illegible]

[illegible]

अबाध्य-त्रि० । परैर्बाधितुमशक्ये, स्या० ।

अबज्झसिद्धंत-अबाध्यसिद्धान्त-पुं० । अबाध्यः परैर्बाधितुमशक्यः सिद्धान्तः स्याद्वादश्रुतलक्षणोऽस्य तथा । कुतीर्थिकोपन्यस्तकुहेतुसमूहाऽशक्यबाधस्याद्वादरूपसिद्धान्तप्रणयनमणनाद् वचनातिशयसंपन्ने तीर्थंकरे, " अबाध्यसिद्धान्तममर्त्यपूज्यम् " स्या० ।

अवज्झा-अवाध्या-स्त्री० । अयोध्यायाम्, जं० ४ वक्ष० । ती० । गन्धिलाख्यविजयक्षेत्रयुगले पुरीयुगले, " दो अवज्झाओ " स्था० २ ठा० ३ उ० ।

अबद्ध-अबद्ध-न० । पद्यगद्यबन्धनरहिते ग्रन्थे, मा०म०द्वि० ।

अबद्धट्ठिय-अबद्धास्थिक-न० । अबद्धमस्थि यस्य तदबद्धास्थिकम् । अतिप्रभे फले, " तिन्नि य अबद्धट्ठिय त्ति एवं वमेव य होंति बहुबीए " विशे० । आ० म० । अबाध्यबद्धबीजे अतिप्रभे, सू० १ श्रु० ।

अबद्धसुय-अबद्धश्रुत-न० । गद्यात्मके श्रुते, विशे० । आ० म० । (' करण ' शब्दे व्याख्या)

अबद्धिय-अबद्धिक-पुं० । स्पृष्टं जीवेन कर्म न स्कन्धबन्धवद्बद्धमित्येवं, तदेवामन्यमानोऽबद्धिकाः । " अतोऽनेकस्वरात् " ७।२।६। इति इकप्रत्ययः । स्पृष्टकर्मविपाकप्ररूपकेषु निह्नवभेदेषु, स्था० ७ ठा० । मा० म० । विशे० ।

यथा चाबद्धिकानां दृष्टिर्गोष्ठामाहिलाद्दशपुरनगरे समुत्पन्ना तथाऽभिधित्सुराह-

पंचसया चुलसीया, तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स ।
तो अबद्धियदिट्ठी, दसउरनयरे समुप्पन्ना ॥

पञ्च वर्षशतानि चतुरशीत्यधिकानि (५८४) तदा सिद्धिं गतस्य महावीरस्य, ततोऽबद्धिकनिह्नवदृष्टिर्दशपुरनगरे समुत्पन्नेति ।

कथं पुनरियमुत्पन्ना ?, इत्याह-

दसउरनगरुच्छुघरे, अज्जरक्खियपूसमित्ततियगं च ।
गोट्ठामाहिलनवम-ट्ठमेसु पुच्छा य विंझस्स ॥

(एतद्गाथार्थस्तु ... [illegible] ... कथा च 'अज्जरक्खिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ... पृष्ठे समुक्ता) गोष्ठामाहिलो मथुरात आगत्य पृथगुपाश्रये स्थितः । विशे० ।

दुर्बलिकापुष्यमित्र ... [illegible] ... व्याख्यानयति ... [illegible] ... । अन्यदा ... [illegible] ... अत्र प्रस्तुत-(" सोऊ ... [illegible] ... " इत्यादि) ... [illegible] ...

किमित्याह-

बीसुं वसहीए ठिओ, छिद्दऽन्नेसणपरो य स कयाइ ।
विंझस्स सुणइ पासे-ऽणुभासमाणस्स वक्खाणं ॥

विष्वग्वसतौ स्थितः छिद्रान्वेषणपरः स गोष्ठामाहिलः पृथग्विन्ध्यस्यानुभाषमाणस्य चिन्तनिकां कुर्वतः पार्श्वे व्याख्यां शृणोतीति । विशे० ।

(कर्मविषया विप्रतिपत्तिः) ततः किम् ?, इत्याह-

कम्मप्पवायपुव्वे, बद्धं पुट्ठं निकाइयं कम्मं ।
जीवपएसेहिँ समं, सूइकलावोवमाणाउ ॥
उव्वट्टणाइकरणं, संकमणं खवणमणुभवो वा वि ।
अणिकाइयम्मि कम्मे, निकाइए पायमणुभवणं ।
सो उ भणइ सदोसं, वक्खाणमिणं ति पावए मोक्खो ।
मोक्खाभावो जीव-प्पएसकम्माविभागाउ ॥

इह कर्मप्रवादनाम्न्यष्टमे पूर्वे कर्मविचारे प्रस्तुते ... पुष्यमित्र एवं व्याख्यानयति । तद्यथा-जीवप्रदेशैः सह बद्धं स्पृष्टमात्रमेव कर्म भवति । यथा-अकषायस्येर्यापथप्रत्ययं कर्म, तत् कालान्तरस्थितिमप्राप्यैव जीवप्रदेशेभ्यो विघटते, कुड्यापतितचूर्णमुष्टिवदिति । अन्यत्तु (पुट्ठ त्ति) बद्धस्पृष्टं संबध्यते, ततश्च बद्धं स्पृष्टं चेत्यर्थः । तत्र बद्धं जीवेन सह संयोगमात्रमापन्नं; स्पृष्टं तु जीवप्रदेशैरात्मीकृतम्, एतद्द्वयं तत्कालान्तरेण विघटते आर्द्रलेपकुड्ये सस्नेहचूर्णवत् । (निकाइयं ति) बद्धं स्पृष्टं चेत्यथापि संपद्यते । तद्यथा किमपि कर्म बद्धं स्पृष्टं निकाचितं भवतीत्यर्थः । तत्र ... बद्धस्पृष्टं गाढतराध्यवसायेन बद्धं ... अपवर्तनादिकरणाविषयतां नीतं निकाचितमुच्यते । इदं च कालान्तरेऽपि विपाकतोऽनुभवमन्तरेण प्रायेणापगच्छति, गाढतरबद्धत्वात्, ... कुड्ये ... निविडश्लेषवत्काष्ठहस्तकवदिति । अथ च त्रिविधोऽपि बन्धः सूचीकलापोपमानाद्भावनीयः । तद्यथा-गुणावेष्टितसूचीकलापोपमं बद्धमुच्यते, लोहपट्टबद्धसूचीसमानं तु स्पृष्टमभिधीयते, बद्धस्पृष्टनिकाचितं ... कृतसूचीनिचयसदृशं भावनीयमिति । अनिकाचितनिकाचितकर्मणोः को विशेषः ?, इत्याह-(उव्वट्टणाइ) इह कर्मविषये अष्टौ करणानि भवन्ति । उक्तं च-" बंधणसंकमणुव्वट्टणा य अववट्टणा उदीरणया । उवसामणा निहत्ती, निकायणा चत्ति करणाइं " ॥१॥ तत्र निकाचिते कर्मणि ... (उव्वट्टण त्ति) ... उद्वर्तना प्रवर्तते । तथा-(संकमणं ति) ... तथा-(संकामो त्ति) ... संक्रमः । तथा-(खवण त्ति) ... कर्मणः प्रदेशोदयेन निर्जरणं क्षपणम् । तथा-(अणुभवो वि) ... [illegible] ... अनिकाचिते कर्मणि प्रवर्तन्ते । निकाचिते तु प्रायो विपाकेनानुभवनमेव प्रवर्तते, न पुनरपवर्तनादीनि ... [illegible] ...

मिति पर्यवसितम्। विन्ध्यसमीपे श्रुत्वा तथाविधकर्मोदयादभिनिवेशेन विप्रतिपन्नो गोष्ठामाहिलः प्रतिपादयति-ननु सदोषमिदं व्याख्यानम्-यस्मादेवं व्याख्यायमाने भवतां मोक्षाभावः प्राप्नोति, जीवप्रदेशैः सह कर्मणामविभागेन तादात्म्येनावस्थानादिति।

अमुमेवार्थं प्रमाणतः साधयन्नाह-

न हि कम्मं जीवाओ, अवेइ अविभागओ पएसो व्व।
तदणवगमादमोक्खो, जुत्तमिणं तेण वक्खाणं ॥

नहि नैव कर्म जीवादपैतीति प्रतिज्ञा। अविभागाद् वह्न्ययोगोलकन्यायतो जीवेन सह तादात्म्यादित्यर्थः, एष हेतुः। (पएसो व्व त्ति) जीवप्रदेशराशिवदित्यर्थः, एष दृष्टान्तः। इह यद्येन सहाविभागेन व्यवस्थितं न तत्तो वियुज्यते, यथा जीवात्तत्प्रदेशनिकुरम्बम्। इष्यते चाविभागो जीवकर्मणोर्भवद्भिरिति न तस्माद्वियुज्यते, ततस्तदपगमात्तस्य कर्मणो जीवादनपगमादवियोगात्सर्वदैव जीवानां सकर्मकत्वान्मोक्षाभावः, तेन तस्मादिदमिह मदीये व्याख्याने कर्तुं युक्तमिति।

तदित्याह—

पुट्ठो जहा अबद्धो, कंचुइणं कंचुओ समन्नेइ।
एवं पुट्ठमबद्धं, जीवं कम्मं समन्नेइ ॥

यथा स्पृष्टः स्पर्शनमात्रेण संयुक्तोऽबद्धः क्षीरनीरन्यायादलोलीभूत एव कञ्चुको विषधरनिर्मोकः कञ्चुकिनं विषधरं समन्वेति समनुगच्छति, एवं कर्मापि स्पृष्टं सर्पकञ्चुकवत्स्पर्शनमात्रेणैव संयुक्तमबद्धं वह्न्ययःपिण्डादिन्यायादलोलीभूतमेव जीवं समन्वेति, एवमेव मोक्षोपपत्तेरिति। विशे०। "यतो यद्रेस्यते तेन, स्पृष्टमात्रं तदिष्यताम्। कञ्चुकी कञ्चुकेनेव, कर्म भोत्स्यति चात्मनः" ॥ १ ॥ प्रयोगः-यद्येन भविष्यत्पृथग्भावं, तत्तेन स्पृष्टमात्रं, यथा कञ्चुकः कञ्चुकिना, भविष्यत्पृथग्भावं च कर्म जीवेन। उत्त० ३ अ०।

[प्रत्याख्यानविषया विप्रतिपत्तिः]

तदेवं कर्मविचारे विप्रतिपत्तिमुपदर्श्येदानीं प्रत्याख्यानविषयां विप्रतिपत्तिमुपदर्शयन्नाह-

सोऊण भन्नमाणं, पच्चक्खाणं पुणो नवमपुव्वे।
सो जावजीव विहियं, तिविहं तिविहेण साहूणं ॥

स गोष्ठामाहिलः कर्मविचारे विप्रतिपन्नः पुनरन्यदा नवमपूर्वे "करेमि भंते! सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए" इत्यादि। यावज्जीवावधिकं साधूनां संबन्धिप्रत्याख्यानं भण्यमानं विन्ध्यसमीपे विचार्यमाणं शृणोति।

तदेव श्रुत्वा किं करोति?, इत्याह-

जंपइ पच्चक्खाणं, अपरीमाणाइ होइ सेयं तु।
जेसिं तु परीमाणं, तं दुट्ठं आसंसा होइ ॥

गोष्ठामाहिलो जल्पति-ननु प्रत्याख्यानं सर्वमपि अपरिमाणतया अवधिरहितमेव क्रियमाणं श्रेयोहेतुत्वाच्छ्रेयः शोभनं भवति, येषां तु व्याख्याने प्रत्याख्यानस्य यावज्जीवादिपरिमाणमवधिर्विधीयते तेषामनेन तत्प्रत्याख्यानमाशंसादोषदुष्टत्वाद् दुष्टं सदोषं प्राप्नोति।

अत्र भाष्यम्-

आसंसा जा पुन्ने, सेविस्सामि त्ति दूसियं तीए।
जेण सुयम्मि वि भणियं, परिणामाओ असुद्धं तु ॥

आशंसातः प्रत्याख्यानं दुष्टमित्युक्तम्। तत्राशंसा का?, इत्याह-(ज त्ति) या एवंविधपरिणामरूपा। कथंभूतः परिणामः?, इत्याह-पूर्णे प्रत्याख्याने देवलोकादौ सुराङ्गनासंभोगादिभोगानहं सेविष्ये, इत्येवंभूतपरिणामरूपा च या आशंसा, तया प्रत्याख्यानं दूषितं भवति। कुतः?, इत्याह-येन श्रुतेऽप्यागमेऽपि भणितं, दुष्टपरिणामाशुद्धेः प्रत्याख्यानमशुद्धं भवति। तथा चागमः-"सोही सद्दहणा जा-णणा य विणयऽणुभासणा चेव। अणुपालणा विसोही, भावविसोही भवे छट्ठा" ॥ तत्र 'पच्चक्खाणं सव्वण्णुदेसियं' इत्यादिना श्रद्धानादिषु व्याख्यातेषु भावविशुद्धेरेवं व्याख्यानं तत्प्रकृतोपयोगीति दृश्यते। "रागेण व दोसेण व, परिणामेण व न दूसियं जं तु। तं खलु पच्चक्खाणं, भावविसुद्धं मुणेयव्वं" ॥१॥ इति। विशे०। (एते विप्रतिपत्ती २५६ पृष्ठ 'कम्म' शब्दे, 'पच्चक्खाण' शब्दे च वक्ष्येते)

एवं युक्तिभिः प्रज्ञापितेऽपि यावदसौ न किञ्चित्प्रतिपद्यते ततः किं संजातम्?, इत्याह-

इय पण्णविओ वि न सो, जाहे सद्दहइ पूसमित्तेण।
अन्नगणत्थेरेहि य, काउं तो संघसमवायं ॥
आहूय देवयं वे-इ जाणमाणो वि पच्चयणिमित्तं।
वच्च जिणिंदं पुच्छसु, गयागया सा परिकहेइ ॥
संघो सम्मावाई, गुरुप्पुरोगो त्ति जिणवरो भणइ।
इयरो मिच्छावाई, सत्तमओ निण्हओऽयं ति ॥
एईसे सामत्थं, कत्तो गंतुं जिणिंदमूलम्मि।
वेइ कइपूयणाए, संघेण तओ कओ बज्झो ॥

चतसृणामप्यासामक्षरार्थः सुगम एव। भावार्थस्तु कथानकशेषादवसेयः। तच्चेदम्-एवं युक्तिभिः प्रज्ञाप्यमानो यावदसौ न किमपि श्रद्धत्ते तावत्पुष्यमित्राचार्यैरन्यगच्छगतबहुश्रुतस्थविराणामन्तिके नीतः, ततस्तैरप्युक्तोऽसौ-यादृशं गुरवः प्ररूपयन्त्याचार्यरक्षितसूरिभिरपि तादृशमेव प्ररूपितं, न हीनाधिकम्, ततो गोष्ठामाहिलेनोक्तम्-किं यूयमृषयो जानीथ?, तीर्थकरैर्यादृशमेव प्ररूपितं तादृशमहं प्ररूपयामि। ततः स्थविरैरुक्तम्-मिथ्याभिनिविष्टो मा कार्षीस्तीर्थकराशातनाम्, न किमपि त्वं जानासि। ततः सर्वविप्रतिपत्तेः तस्मिन् सर्वैरपि तैः संघसमवायः कृतः। सर्वेणापि च संघेन देवताह्वानार्थं कायोत्सर्गो विहितः, ततो भद्रिका काचिद्देवता समागता। सा वदति स्म-संदिशत किं करोमि?। ततः संघः प्रस्तुतमर्थं जानन्नपि सर्वजनप्रत्ययनिमित्तं प्रवीति-महाविदेहं गत्वा तीर्थकरमापृच्छस्व, किं दुर्बलिकापुष्यमित्रप्रमुखः संघो यदुक्तानि तानि सत्यानि उत गोष्ठामाहिलो वदति?। ततस्तया प्रोक्तम्-मम महाविदेहे गमनागमने कुर्वन्त्याः प्रत्यूहानुघातार्थमनुग्रहं कृत्वा कायोत्सर्गं कुरुत, येनाहं गच्छामि। ततस्तथैव कृतं संघेन। गता च सा। पृष्टा च भगवन्तं प्रत्यागता कथयति स्म-यदुत तीर्थकरः समादिशति-दुर्बलिकापुष्यमित्रपुरस्सरः संघः सम्यग्वादी। गोष्ठामाहिलस्तु मिथ्यावादी; सप्तमश्चायं निह्नव इति, तदेतच्छ्रुत्वा गोष्ठामाहिलो ब्रवीति-अल्पर्द्धिकेयं वराकी, का शक्तिरस्याः कटपूतना-

[illegible]स्तीर्थकरान्तिके गमनशक्तिरित्येवमपि यावदसौ न किञ्चि- [illegible]न्यते तावत्संघनेनोद्वाह्य बाह्यः कृतोऽनालोचितमतिकान्तश्च [illegible] मतः ॥ ५४२ ॥ विशे० ॥

अबम्हण्ण-अब्रह्मण्य-त्रि० । न० ब० । मागध्याम्-" न्य-ण्य-ज्ञ-ञ्जां ञ्ञः "। ८ । ४ । २९३ ॥ इति सूत्रेण ण्यस्थाने द्वि- [illegible]ञः । प्रा० ४ पाद । अब्रह्मण्यरहन्ये, मर्यामा० अध्यपी०, त० [illegible] । अब्रह्मण्यानार्थ, वाच० ।

अबल-अबल-न० । न बलं सामर्थ्यमुत्कर्षो वा । अभावे न० त० । [illegible]मामर्थ, वाच० । शरीरबलवर्जिते, त्रि० । विपा० १ श्रु० ३ अ० । [illegible] । भ० । [illegible]रादौ गन्तुमसमर्थे, भारं वोढुमसमर्थे च । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । औ० । प्रा० ।

अबलत्त-अबलत्व-न० । अबलस्य भावोऽबलत्वम् । बला- [illegible], सू० १ उ० ।

अबला-अबला-स्त्री० । महिलायाम्, को० । अकिञ्चित्करा- [illegible], सू० १ अ० ।

अबहिट्ठ-अबहित्थ-न० । आकारगोपने, वाच० । मैथुने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

अबहिम्मण-अबहिर्मनस्-त्रि० । न विद्यते बहिर्मनो यस्यासा- [illegible] । सर्वज्ञोपदेशवर्तिनि, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० ।

अबहिल्लेस-अबहिर्लेश्य-त्रि० । [illegible] बहिः संयमा- [illegible] मनोवृत्तिर्यस्यासावबहिर्लेश्यः । भ० २ श० १ उ० । प्रश्न० । औ० ।

अबहुवादि (न्)-अबहुवादिन्-त्रि० । [illegible], [illegible] १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अबहुस्सुय (त)-अबहुश्रुत-पुं० । बहु श्रुतं यस्य स बहुश्रुतः, [illegible] । [illegible], [illegible] । [illegible] १ उ० । [illegible] ३ उ० ।

[illegible]—

जे यावि होंति निव्विज्जे, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ।
अभिक्खणं उल्लवई, अविणीए अबहुस्सुए ॥ २ ॥

(जे यावि त्ति) [illegible] [illegible] (अबहुस्सुए त्ति) [illegible]

[illegible]

थंभा कोहा पमाएणं, रोगेणालस्सएण य ॥ ३ ॥

अथेत्युपन्यासार्थः । पञ्चभिः पञ्चसंख्यैस्तिष्ठन्त्येषु [illegible] जन्तव इति स्थानानि, तैः, यैरिति वक्ष्यमाणैर्हेतुभिः शिक्षे- [illegible], ग्रहणासेवनात्मिका न लभ्यते नावाप्यते, तैरपरनग्रा [illegible]त्वमवाप्यत इति शेषः । कैः पुनः सा न लभ्यते ?, स्त- म्भात् मानात्, क्रोधात् कोपात्, प्रमादेन मद्यविषयादि- रोगेण गलत्कुष्ठादिना, आलस्येनानुत्साहात्मना, [illegible] [illegible] इति । क्रमश्च समस्तानां व्यस्तानां च हेतुत्वेनो [illegible] यतीति । उत्त० ११ अ० ।

अबालुया-अबालुका-स्त्री० । अबालुकाशब्दार्थे [illegible] [illegible]र्थे, तं० ।

अबाहा-अबाधा-स्त्री० । बाधृ-लोडने, बाधत इति बाधा, कर्म- उदयः । न बाधाऽबाधा । कर्मणो बन्धस्योदयस्य [illegible], [illegible] ६ श० ३ उ० । स० । जं० । बाधा परस्परं संश्लेषः [illegible], न बाधाऽबाधा । भ० १४ श० ८ उ० । [illegible], स० ४२ सम० । विशे० । आ० चू० । (अबाधया [illegible] शब्देऽस्मिन्नेव भागे ७८ पृष्ठे उक्तम्)

मंदरस्स णं भंते ! पव्वयस्स केवइयाए अबाहाए जोइसं चा[रं] चरइ ? । गोयमा ! इक्कारसेहिं इक्कवीसेहिं जोयणसएहिं [illegible] जोइसं चारं चरइ । लोगंताओ णं भंते ! केवइयाए अबाहाए जोए जोइसे पण्णत्ते ? । गोयमा ! एक्कारसेहिं एक्कारसेहिं [illegible] जोयणसएहिं अबाहाए जोइसे पण्णत्ते । धरणितलाओ [illegible] भंते ! सत्तहिं णउएहिं जोयणसएहिं जोइसं चारं च[रइ] एवं सूरविमाणे अट्ठहिं सएहिं चंदविमाणे अट्ठहिं [illegible] सीएहिं उवरिल्ले तारारूवे णवहिं जोयणसएहिं [illegible] चरइ । जोइसस्स णं भंते ! हेट्ठिल्लाओ तलाओ [illegible] अबाहाए सूरविमाणे चारं चरइ ? । गोयमा ! [illegible] [illegible] अणेहिं अबाहाए चारं चरइ । एवं चंदविमाणे [illegible] जोयणेहिं चारं चरइ । उवरिल्ले तारारूवे दसुत्तरे [illegible] णसए चारं चरइ, सूरविमाणाओ चंदविमाणे [illegible] जोयणेहिं चारं चरइ, सूरविमाणाओ जोयणसए [illegible] तारारूवे चारं चरइ, चंदविमाणाओ वीसाए [illegible] उवरिल्ले तारारूवे चारं चरइ ।

(मंदरस्स णं भंते ! इत्यादि) मन्दरस्य भदन्त ! [illegible] [illegible] अबाधया [illegible] ज्योतिष्कं चारं [illegible] भगवानाह—गौतम ! [illegible] [illegible] ज्योतिष चारं चरति । [illegible] [illegible] मुरं भवति ! [illegible] [illegible] ज्योतिष्कं [illegible] चारं [illegible] [illegible]

कान्ततः अलोकादितोऽर्वाक् कियत्या अबाधया अबाधया प्रक्रमात् परं ज्योतिश्चक्रं प्रज्ञप्तम् ? । भगवानाह—गौतम ! अगत्-नाबाधाद् एकादशभिरेकादशाधिकैर्योजनशतैरबाधया ज्योतिश्चक्रं प्रज्ञप्तं, प्रक्रमात् स्थिरं बोध्यम्, चरज्योतिश्चक्रस्य तत्राभावादिति । अथ पञ्चमद्वारं पृच्छति-'धरणितलाओ णं भंते!' एतेन तत्सूत्रैकदेशेन परिपूर्णं प्रश्नसूत्रं बोध्यम् । तच्च-धरणितलाओ णं भंते ! उड्ढं उप्पइत्ता केवइआए अबाहाए हिट्ठिल्ले जोइसे चारं चरइ ? । गोयमा ! " इत्यन्तं वस्त्वेकदेशस्य वस्तुस्कन्धस्मारकत्वनियमात् । तत्रायमर्थः-धरणितलात् समयप्रसिद्धात् समभूतलभूभागादूर्ध्वमुत्पत्य कियत्याऽबाधया अधस्तनं ज्योतिषं तारापटलं चारं चरति ? । भगवानाह—गौतम ! सप्तभिर्नवत्यधिकैर्योजनशतैरित्येवंरूपया अबाधया अधस्तनं ज्योतिश्चक्रं चारं चरति । अथ सूर्यादिविमानाबाधास्वरूपं संक्षिप्य भगवान् स्वयमेवाह-(एवं सूरविमाणे अट्ठहिं सएहिं चंद०) इत्यादि । एवमुक्तन्यायेन समभूमिभागादधस्तनं ज्योतिश्चक्रं नवत्यधिकसप्तयोजनशतैस्तथा समभूमिभागादेव सूर्यविमानमष्टभिर्योजनशतैश्च रविमानमशीत्यधिकैरष्टभिर्योजनशतैरुपरितनं तारारूपं नवयोजनशतैश्चारं चरति । अथ ज्योतिश्चक्रचारक्षेत्रापेक्षया प्रश्नमाह-(जोइसस्स णमित्यादि) ज्योतिश्चक्रस्य दशोत्तरयोजनशतबाहुल्यस्याधस्तनात्तलात् कियत्या अबाधया सूर्यविमानं चारं चरति ? । गौतम ! दशभिर्योजनैरित्येवंरूपया अबाधया सूर्यविमानं चारं चरति । अत्र च सूर्यसमभूभागादूर्ध्वं नवत्यधिकसप्तयोजनातिक्रमे ज्योतिश्चक्रबाहुल्यमूलभूत आकाशप्रदेशप्रतरः सोऽवधिर्मन्तव्यः । एवं चन्द्रासूत्रेऽपि । एवं चन्द्रविमानं नवत्या योजनैरित्येवंरूपया अबाधया चारं चरति । तथा चोपरितनं तारारूपं दशाधिके योजनशते ज्योतिश्चक्रबाहुल्यप्रान्ते इत्यर्थः, चारं चरति । अथ गतार्थमपि शिष्यव्युत्पादनार्थमाह-सूर्यादीनां परस्परान्तरं सूत्रकृदाह—(सूरविमाणाओ इत्यादि) सूर्यविमानात् चन्द्रविमानं अशीतियोजनैश्चारं चरति । सूर्यविमानात् योजनशतेऽतिक्रान्ते उपरितनं तारापटलं चारं चरति। चन्द्रविमानाद् विंशत्या योजनैरुपरितनं तारापटलं चारं चरति ॥ अत्र सूचनामात्रत्वात् सूत्रेऽनुक्ता अपि ग्रहाणां नक्षत्राणां च क्षेत्राणां च क्षेत्रविभागव्यवस्था मतान्तराश्रिता संग्रहणिवृत्त्यादौ दर्शिता लिख्यते-

" शतानि सप्त गत्वोर्ध्वं, योजनानां भुवस्तलात् ।
नवतिं च स्थितास्ताराः, सर्वाऽधस्तान्नभस्तले ॥ १ ॥
तारकापटलाद्गत्वा, योजनानि दशोपरि ।
सूराणां पटलं तस्मा-दशीतिं शीतरोचिषः ॥ २ ॥
चत्वारि तु ततो गत्वा, नक्षत्रपटलं स्थितम् ।
गत्वा ततोऽपि चत्वारि, बुधानां पटलं भवेत् ॥ ३ ॥
शुक्राणां च गुरूणां च, भौमानां मन्दसंज्ञिनाम् ।
त्रीणि त्रीणि च गत्वोर्ध्वं, क्रमेण पटलं स्थितम् " ॥ ४ ॥ इति ।
जं० ७ वक्ष० ।

(मंदरस्स णमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । मन्दरस्य पर्वतस्य जम्बूद्वीपगतस्य सकलतिर्यग्लोकमध्यवर्तिनः कियत्क्षेत्रमबाधया सर्वतः कृत्वा चारं चरति ? । भगवानाह-(ता एक्कारसेत्यादि) ता इति पूर्ववत् । एकादश योजनशतानि एकविंशत्यधिकानि अबाधया कृत्वा चारं चरति । किमुक्तं भवति?, मेरोः सर्वतः एकादश योजनशतान्येकविंशत्यधिकानि मुक्त्वा तदनन्तरं चक्रवालतया ज्योतिश्चक्रं चारं चरति । (ता लोयंताओ णमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । लोकान्तादर्वाक्, णमिति वाक्यालङ्कारे । कियत्क्षेत्रमबाधया कृत्वा ज्योतिषं प्रज्ञप्तम् ? । भगवानाह-(एक्कारसेत्यादि) एकादश योजनशतानि एकादशाधिकानि अबाधया कृत्वा अपान्तरालं विधाय ज्योतिषं प्रज्ञप्तम् । (ता जंबुद्दीवे णं दीवे कयरे नक्खत्ते) इत्यादि सुगमम् । नवरमभिजिन्नक्षत्रं सर्वाभ्यन्तरं नक्षत्रमण्डलमपेक्ष्य, एवं मूलादीन्यपि सर्वबाह्यादीनि वेदितव्यानि । (ता चंदविमाणे णमित्यादि) संस्थानविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-(ता अद्धकविट्ठगेत्यादि) अर्द्धकपित्थमुत्तानीकृतमर्द्धमात्रं कपित्थं तस्येव यत् संस्थानं तेन यः संस्थितमर्द्धकपित्थसंस्थानसंस्थितम् । आह-यदि चन्द्रविमानमर्द्धमात्रकपित्थफलसंस्थानसंस्थितं तत उदयकाले अस्तमनकाले यदि वा तिर्यक्परिभ्रमत् पौर्णमास्यां कस्मात्तदर्द्धकपित्थफलाकारं नोपलभ्यते, कामं शिरस उपरि वर्तमानं वर्तुलमुपलभ्यते अर्द्धकपित्थस्य शिरस उपरि दूरमवस्थापितस्य परभाग दर्शनतो वर्तुलतया दृश्यमानत्वात् ? । उच्यते-इहार्द्धकपित्थफलाकारं चन्द्रविमानं न सामस्त्येन प्रतिपत्तव्यम्, किन्तु तस्य चन्द्रविमानस्य पीठं, तस्य च पीठस्योपरि चन्द्रदेवस्य ज्योतिश्चक्रराजस्य प्रासादः, तथा कथञ्चनापि व्यवस्थितो यथा पीठेन सह भूयान् वर्तुल आकारो भवति, स च दूरभावात् एकान्ततः समवृत्ततया जनानां प्रतिभासते, ततो न कश्चिद् दोषः । नचैतत् स्वमनीषिकाया जृम्भितम् । यदेतदेव जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणेन विशेषणवत्यामाक्षेपपुरस्सरमुक्तम्-

" अद्धकविट्ठागारा, उदयऽत्थमणम्मि कहं न दीसंति ।
ससिसूराण विमाणा, तिरियक्खेत्तट्ठियाणं च ? ॥ १ ॥
उत्ताणऽद्धकविट्ठा-गारं पीढं तदुवरि पासाओ ।
वट्टालेखेण ततो, समवट्टं दूरभावाओ " ॥ २ ॥

तथा सर्वं निरवशेषं स्फटिकमयं स्फटिकविशेषमणिमयं, तथा अभ्युद्गता आभिमुख्येन सर्वतो विनिर्गता उत्सृता प्रबलतया सर्वासु दिक्षु प्रसृता या प्रभा दीप्तिस्तया सितं शुक्लमभ्युद्गतोच्छ्रितप्रभासितं, तथा विविधा अनेकप्रकारा मणयश्चन्द्रकान्तादयो रत्नानि कर्केतनादीनि तेषां भक्तयो विच्छित्तिविशेषाः ताभिश्चित्रमनेकरूपवत्, आश्चर्यवद्वा विविधमणिरत्नचित्रम्; तथा वातोद्धूता वायुकम्पिता विजयोऽभ्युदयस्तत्संसूचिका वैजयन्त्यभिधाना याः पताकाः । अथवा विजया इति वैजयन्तीनां पार्श्वकर्णिका उच्यते, तत्प्रधाना वैजयन्त्यो विजयवैजयन्त्यः पताकास्ता एव विजयवर्जिता वैजयन्त्यः, छत्रातिच्छत्राणि च उपर्युपरि स्थितातपत्राणि तैः कलितं, ततो वातोद्धूतविजयवैजयन्तीपताकाच्छत्रातिच्छत्रकलितं, तुङ्गमुच्चम्, अत एव (गगनतलमणुलिहंत सिहरं ति) गगनतलमम्बरतलमनुलिखत्, अतिलङ्घयच्छिखरं यस्य तद् गगनतलानुलिखच्छिखरम् । तथा जालानि जालकानि तानि च भवनभित्तिषु लोके प्रतीतानि, तदन्तरेषु विशिष्टशोभानिमित्तं रत्नानि यत्र तद् जालान्तररत्नम्, सूत्रे चात्र प्रथमैकवचनलोपो द्रष्टव्यः । तथा पञ्जरादुन्मीलितमिव बहिष्कृतमिव पञ्जरोन्मीलितमिव । यथा हि किल किमपि वस्तु पञ्जराद् वंशादिमयप्रच्छादनविशेषाद् बहिष्कृतमत्यन्तमविनष्टच्छायत्वात् शोभते, एवं तदपि विमानमिति भावः । तथा-मणिकनकानां

[illegible] दिव्यं यस्य तद् मणिकनकस्तूपिकाकम्। [illegible] पुण्डरीकाणि द्वारादौ प्रति- [illegible] रत्नमयाश्चा- [illegible] विकसितम्, [illegible] पुण्डरीक- [illegible] । तथा-[illegible] । तथा—[illegible] सुवर्ण [illegible] वालुकाः [illegible] तथा ; तपनीयवालुका- [illegible] वा । तथा सभीकानि [illegible] तत्र तत् सश्रीक- [illegible] । [illegible] दर्शनीयं द्रष्टुं यो- [illegible] । तथा-[illegible] रूपं [illegible] । ([illegible]) यथा चन्द्रविमान- [illegible] , प्रायः सर्वे- [illegible] । तथा चोक्तं समवायाङ्गे- [illegible] [illegible] ।

[illegible]

अमुच्छं तेसिं परकंतं, सफलं होइ सव्वसो ॥ २३ ॥

ये केवलाऽबुद्धा धर्मं प्रत्यविज्ञातपरमार्था [illegible] र्परिज्ञानेन आतापलेपाः पण्डितमानिनोऽपि [illegible] सम्यग्बोधाद्बुद्धा इत्युक्तम् । नच [illegible] सम्यक्त्वव्यतिरेकेण तत्त्वावबोधो भवतीति । तद् यथा-

"शास्त्रावगाहपरिघट्टनतत्परोऽपि,
नैवाऽबुधः समभिगच्छति वस्तुतत्त्वम् ।
नानाप्रकाररसभावगताऽपि दर्वी,
स्वादं रसस्य सुचिरादपि नैव वेत्ति" ॥ १ ॥

यदि वा अबुद्धा इव बालवीर्यवन्तः, तथा [illegible] भागाश्च महाभागाः । भागशब्दः पूजावचन [illegible] हापूज्या इत्यर्थः । लोकविश्रुता इति । तथा [illegible] कनेरितः सुभटा इति । इदमुक्तं भवति-पण्डिता [illegible] गादिभिर्गुणैर्लोकपूज्याः । अपि च—तथा [illegible] स्तोऽपि सम्यक्त्वपरिज्ञानविकलाः केवल [illegible] यति-न सम्यग् असम्यक्, तद्भावोऽसम्यक्त्वम् । [illegible] र्शितं येषां ते तथा, मिथ्यादृष्टय इत्यर्थः । तेषां [illegible] क्रियापि तपोदानाध्ययनयमनियमादिषु [illegible] त्वशुद्धमविशुद्धकारि, प्रत्युत कर्मबन्धाय, [illegible] शल्यत्वादिति, कुत्सितक्रियाया [illegible] तेषां पराक्रान्तं सह फलेन कर्मबन्धेन [illegible] इति । सर्वोऽपि तत्क्रिया [illegible] ॥ २२ ॥ सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । बालपण्डिते, [illegible] ।

अबुद्धजागरिया—अबुद्धजागरिका—स्त्री० । [illegible] जागरिकायाम, भ० " अबुद्धा अबुद्धजागरियं जागर [illegible] अबुद्धाः केवलज्ञानाभावेन यथासंभवं [illegible] स्तदवस्थाः ते च, अबुद्धानां [illegible] तथा तां जाग्रति । भ० १२ श० १ उ० ।

अबुद्धसिरी-देशी—मनोरथाधिकफलप्राप्तौ, दे० ना० [illegible]

अबुद्धिअ-अबुद्धिक-त्रि० । [illegible] इत्यर्थ, पं० चू० । बुद्धिरहिते, सूत्र० १ श्रु० [illegible]

अबुह-अबुध-पुं० । [illegible] अज्ञानवता [illegible] पण्डिते मूर्खे, अजानाने च । [illegible] सूत्र० १ श्रु० [illegible] श्र० १ उ० । [illegible] १ [illegible] विवेके, सू० १ श्र० ।

अबुहजण-अबुधजन-त्रि० । [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

इह जे मरंति जीवा, तेसिं दुलहा भवे बोही ॥

मिथ्यादर्शनं विपर्यस्तदर्शनं, मिथ्यात्वं तु मिथ्याक्रियाद्यभिलाषरूपं, तत्र रताः, तथा सह निदानेन देवत्वादिप्रार्थनारूपेण वर्त्तन्त इति सनिदानाः । तथा कृष्णां सर्वाधमरूपां लेश्यां जीवपरिणामरूपामवगाढाः प्राप्ता इहास्मिन् जगति एवंविधा ये जीवा म्रियन्ते तेषां दुर्लभो भवेद् बोधिः । आतु० ।

अबोहिकलुस-अबोधिकलुष-त्रि० । मिथ्यादृष्टौ, दश० ४ अ० ।

अबोहिबीय-अबोधिबीज-न० । अबोधेर्जन्मान्तरे जिनधर्माऽप्राप्तौ बीजमिव बीजं हेतुरबोधिबीजम् । पञ्चा० ४ विव० । सम्यग्दर्शनाज्ञानहेतौ, पञ्चा० ७ विव० ।

अबोहिय-अबोधिक-न० । अर्थाना० आवश्यकी० स० । मिथ्यात्वफले (अज्ञाने), दशा० ६ अ० । न विद्यते बोधिर्यस्य सोऽबोधिकः । बोधरहिते, " निच्छयत्थं न जाणंति, मिलक्खु व्व अबोहिया " सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । अविद्यमानबोधिके, औ० । अविद्यमानो बोधोऽस्मात् । भवान्तराप्राप्तव्यजिनधर्मलाभप्रतिजागरणादौ, " अप्पणो य अबोहीए, महामोहं पकुव्वइ " । स० ३० सम० ।

अब्बुय-अर्बुद-पुं० । स्वनामख्याते (आबू) पर्वते, ती० ।

तत्कथा चैवम्-

अर्हन्तौ प्रणिपत्याऽहं, श्रीमन्नाभेयनेमिनौ ।
महाऽर्बुदाख्यस्य, कल्पं जल्पामि लेशतः ॥ १ ॥
देव्याः श्रीमातुरुत्पत्ति-मादौ वच्मि यथाश्रुतम् ।
यदधिष्ठानतो ह्येष, प्रख्यातो भुवि पर्वतः ॥ २ ॥
श्रीरत्नमालनगरे, राजाऽभूद्रत्नशेखरः ।
सोऽनपत्यतया दूनः, प्रैषीच्छाकुनिकान् बहिः ॥ ३ ॥
शिरस्थां काष्ठभारिण्या-स्ते दुर्गां दुर्गतस्त्रियाः ।
वीक्ष्य व्यजिज्ञपन् राज्ञे, भाव्यस्यास्त्वत्पदे सुतः ॥ ४ ॥
राज्ञाऽऽदिष्टा सगर्भैव, सा हन्तुं तन्नरैर्निशि ।
गर्त्ते क्षिप्ता कायचिन्ता-व्याजात् तस्माद् बहिर्निरैत् ॥ ५ ॥
साऽसूत सूनुमत्याऽऽर्त्ता, द्राग् वनान्तरेऽमुचत् ।
गर्त्ते चाऽऽनीय तद्भृत्या-नभिज्ञैरघानि सा ॥ ६ ॥
पुण्यैरितामिं स्तन्यं वा-पीप्यत् सन्ध्याद्वये मृगी ।
प्रवृद्धेऽसिद्ध्रुशाला-महालक्ष्म्याः पुरोऽभवत् ॥ ७ ॥
मृग्याश्चतुर्णां पादानां-मध्ये नूतननाणकम् ।
जातं श्रुत्वा शिशुरूपं, लोके वार्ता व्यजृम्भत ॥ ८ ॥
मध्ये नृपोऽभूत् कोऽपीति, श्रुत्वा प्रैषीद् भटान्नृपः ।
तद्वधायाथ त दृष्ट्वा, साय ते पुरगोपुरे ॥ ९ ॥
बालहत्याभियाऽमुञ्चन्, गोयूथस्यागतः पथि ।
तत्पुरेव स्थित भाग्या-देकस्तुङ्गो पुरोऽभवत् ॥ १० ॥
तन्मैयं च चतुष्पादा-न्तराले त शिशुं व्यधात् ।
तच्छ्रुत्वा मन्त्रिवाक्यात्तं, राजाऽस्मंस्तौरसं मुदा ॥ ११ ॥
श्रीपुञ्जाख्यः क्रमात्सोऽनृद्, भूपस्तस्याऽभवत्सुता ।
श्रीमाता रूपसंपन्ना, केवलं मुखगानना ॥ १२ ॥
तद्वैराग्याधिविरया, जातु जातिस्मरा पितुः ।
न्यवेदयत् प्राग्भवं स्वं, यदाऽहं वानरी पुरा ॥ १३ ॥
संचरन्त्यर्बुदे शाखि-शाखां तामुनि केनचित् ।
विद्धा धृक्षाध कपरे मे, कुण्डेऽपतत् तरोरधः ॥ १४ ॥
तस्य कामितनीर्थस्य, माहात्म्याद् नृतनुर्मम ।
मस्तकं तु तथैवास्ते-ऽद्याप्यतः कपिमुखत्वम् ॥ १५ ॥

श्रीपुञ्जोऽक्षेपयच्छीर्षं, कुण्डे प्रेष्य निजान् नरान् ।
ततः सा नृमुखी जज्ञे, तपस्वी चार्बुदे गिरौ ॥ १६ ॥
व्योमगामन्यदा योगी, दृष्ट्वा तां रूपमोहितः ।
साङ्कर्तावालपत् प्रेम्णा, मां कथं वृणुषे शुभे ? । ॥ १७ ॥
सोचेऽत्यगादाद्ययामो, रात्रेस्तावदतः परम् ।
ताम्रचूडरुतादर्वाक्, कयाचिद्विद्यया यदि ॥ १८ ॥
शैलेऽत्र कुरुषे हद्याः, पद्या द्वादश तर्हि मे ।
वरः स्या इति चेटैस्तै-र्विद्याभ्याऽचीकरत्स ताः ॥ १९ ॥
स्वशक्त्या कुक्कुटरवे, कृतके कारिते तया ।
निषिद्धोऽपि विवाहाय, नास्थात्तत्कैतवं विदन् ॥ २० ॥
सरित्तीरेऽथ तं स्वस्था, कृतवीवाहसंभृतिम् ।
सोचे त्रिशूलमुत्सृज्य, विवोढुं संनिधेहि मे ॥ २१ ॥
तथाकृत्योपागतस्य, पादयोर्विकृतान् शुनः ।
नियोज्य साऽस्य शूलेन, हृदन्त्रेण वधं व्यधात् ॥ २२ ॥
इत्याजन्माखण्डशीला, जन्म नीत्वा स्वराप सा ।
श्रीपुञ्जः शिखरे तत्र, तत्प्रासादमचीकरत् ॥ २३ ॥
षण्मासान्तेऽर्बुदाख्योऽस्या-ऽधोभागेऽर्बुदलस्याहिः ।
ततो विकम्पतेऽस्य सर्वः, प्रासादशिखरं विना ॥ २४ ॥

लौकिकास्त्वाहुः—

नन्दिवर्धन इत्यासीत्, प्राक् शैलोऽयं हिमाद्रिजः ।
कालेनार्बुदनागाधि-ष्ठानादर्बुद इत्यभूत् ॥ २५ ॥
वसन्ति द्वादश ग्रामाः, अस्योपरि धनोद्धुराः ।
तपस्विनो गौगाश्विकाः, राष्ट्रिकाश्च सहस्रशः ॥ २६ ॥
न स वृक्षो न सा वल्ली, न तत्पुष्पं न तत्फलम् ।
न स स्कन्धो न सा शाखा, या नैवात्र निरीक्ष्यते ॥ २७ ॥
प्रदीपवन्महौषध्यो, ज्वलन्त्यत्र रात्रिषु ।
सुरभीणि रसाढ्यानि, वनानि विविधान्यपि ॥ २८ ॥
स्वच्छन्दोच्छलदच्छोर्मि-लीलाकुसुमान्विता ।
पिपासुतापाऽऽनन्दाऽत्र, भाति मन्दाकिनी धुनी ॥ २९ ॥
चकासत्यस्य शिखरा-ण्युत्तुङ्गानि सहस्रशः ।
परिरम्भन्ति सूर्यस्य, येषु रथ्या अपि क्षणम् ॥ ३० ॥
चण्डाश्वीयर्श्नसेभ-कन्दायाः कन्दजातयः ।
दृश्यन्ते च प्रतिपदं, तत्तत्कार्यप्रसाधिकाः ॥ ३१ ॥
प्रदेशाः पेशलाः कुण्डै-स्तत्तद्वाश्चर्यकारिभिः ।
अस्य धातुखनीभिश्च, निर्झरैश्चामृतोदकैः ॥ ३२ ॥
चाकूयिते कृते चोच्चै-र्झङ्कारवत्कुण्डतः ।
प्रादुर्भवन्ति वार्पूराः, कुर्वन् कलकलारवम् ॥ ३३ ॥
श्रीमाताऽचलेश्वरस्य, वसिष्ठाश्रम एव च ।
अत्रापि लौकिकास्तीर्थं, मन्दाकिन्यादयोऽपि च ॥ ३४ ॥
महाऽर्बुदस्य नेतारः, परमारनरेश्वराः ।
पुरी चन्द्रावती तेषां, राजधानी निधिः श्रियाम् ॥ ३५ ॥
कारयन् विमलां बुद्धिं, विमलो दण्डनायकः ।
चैत्यमत्र पर्वतस्याधात्, पैत्तलप्रतिमान्वितम् ॥ ३६ ॥
आराधयाम्बां भगवतीं, पुत्रसंपदस्पृहः ।
तीर्थस्थापनमभ्यर्थ्य, चम्पकद्रुमसंनिधौ ॥ ३७ ॥
पुष्पस्रगरामदाचित्र, दृष्ट्वा गोमयगोमुखम् ।
तत्रादर्शि भुवं दण्डेन, श्रीमातुर्भवनान्तिके ॥ ३८ ॥ (युग्मम्)
राजानकः श्रीधान्धूकं, क्रुद्धं च गुर्जरेश्वरम् ।
प्रसाद्य भक्त्या तं चित्र-कूटादानाय्य तदिरा ॥ ३९ ॥
वैक्रमे वसुवस्वाशा १०८८, मितेऽब्दे भूरिरैव्ययात् ।

मन्त्रासादं सुविमल-वसत्याह्वं व्यधापयत् ॥ ४० ॥
यात्रोपनयसंघस्या-निष्ठाविघ्नविघातनम् ।
कुर्वतेऽत्राम्बिका देवी, पूजिता बहुभिर्विधैः ॥ ४१ ॥
युगादिदेवचैत्यस्य, पुरस्तादश्च चाश्मनः ।
एकरात्रेण घटितः, शिल्पिना तुरगोत्तमः ॥ ४२ ॥
विक्रमे वसुवस्वर्क १२८८, मितेऽब्दे नेमिमन्दिरम् ।
निर्ममे लूणिगवस-त्याह्वयं सचिवेन्दुना ॥ ४३ ॥
कषोपलमयं बिम्बं, श्रीतेजःपालमन्त्रिराट् ।
तत्र न्यास्थत् स्तम्भतीर्थे, निष्पन्नं दृक्सुधाऽञ्जनम् ॥ ४४ ॥
मूर्तीः स्वपूर्ववंश्यानां, हस्तिशालं च तत्र सः ।
मन्त्रीविदाद्विशां पत्युः, श्रीसोमस्य निदेशतः ॥ ४५ ॥
अहो ! शोभनदेवस्य, सूत्रधारशिरोमणेः ।
तच्चैत्यरचनाशिल्पा-न्नाम लेभे यथार्थताम् ॥ ४६ ॥
यत्प्रभावतः समुद्रेण, मैनाकोऽस्यानुजो गिरेः ।
समुद्रमानोऽन्वनेन, द्रविणम् मन्त्रीश्वरो भयात् ॥ ४७ ॥
तीर्थद्वयेऽपि भग्नेऽस्मिन्, दैवात् म्लेच्छैः प्रचक्रतुः ।
अस्योद्धारं द्वौ शकाब्दे, वह्निवेदार्कसम्मिते १२४३ ॥ ४८ ॥
तत्राद्यतीर्थस्योद्धर्ता, लल्लो महणसिंहभूः ।
पीथडस्त्वपरस्याभूदुद्धर्ता, चाण्डसिंहजः ॥ ४९ ॥
कुमारपालभूपाल-श्चौलुक्यकुलचन्द्रमाः ।
श्रीवीरचैत्यमत्योच्चैः, शिखरे निरमीमपत् ॥ ५० ॥
[illegible], [illegible] ।
[illegible], [illegible] ॥ ५१ ॥
[illegible], श्रीजिनप्रभसूरिभिः ।
श्रीमदर्बुदकल्पोऽयं, चतुरैः परिपीयताम् ॥ ५२ ॥
इति श्रीमदर्बुदाद्रिकल्पः समाप्तः ॥ ती० ८ कल्प ।

अब्भ-अभ्र-न० । अपो बिभर्तीति अभ्रम् । मेघे, रा० । अपभ्रं-शे-" लिङ्गमतन्त्रम् " ॥ ८ । ४ । ४४५ ॥ इति सूत्रेण पुंस्त्वम् । "अब्भा लग्गा डुंगरिहिं, पहिउ रडन्तउ जाइ । जो एहा गिरि-गिलण-मणु, सो किं धणहे धणाइ " ॥१॥ प्रा० ४ पाद । अभ्राणि समस्तान्यभ्रकम् । 'समुदाये' । ७ । २ । ४८ । इति हैमसूत्रेण म-त्वर्थीयोऽप्रत्ययः । आकाशे, " अब्भवद्दलए विउव्वइ " । अभ्रे [illegible] विकुर्वन्ति, आकाशे मेघान् विकुर्वन्ती-त्यर्थः । रा० । स्था० । का० म० ।

अब्भंग-अभ्यङ्ग-पुं० । अभि-अञ्ज्-भावे घञ् । कुत्वम् । [illegible] मर्दने, घृतवारं तैलमर्दने च । नि०चू०३उ० ।

अब्भंगण-अभ्यञ्जन-न० । घृतवसादिना (प्रश्न० ४ आश्र० द्वा०) [illegible] (आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ०) [illegible] । नि०चू० । ध० म० । वृ० । प्रश्न० ।

[illegible] न कार्यम्—

जे भिक्खू [illegible] वा [illegible] वा परिवासिएण [illegible] वा [illegible] वा [illegible] वा वसाए वा णवणीएण वा अब्भं-गेज्ज वा [illegible] वा [illegible] आणाइंहिं [illegible] ।

[illegible]-

[illegible] ।
[illegible] ॥

आलेपः सम्बद्धोऽस्नेहो वा दीयते,ततो यथा [illegible]
तथा,तथाऽनेनाऽभिधीयते । यद्वा व्रण म्रक्षित्वा [illegible]
मालेपं प्रयच्छन्ति; न वा सर्वोऽपि व्रण आलेप्यते । [illegible]
णा भूयात्;ततो व्रणोऽपि म्रक्ष्यते,आलेपोऽपि म्रक्षितुं [illegible]
प्रायः । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या-नो कल्पते [illegible]
तेन वा तैलेन वा घृतेन वा नवनीतेन वा वसया वा [illegible]
ङ्क्तुं वा,बहुलेन तैलादिना म्रक्षितुं वा स्तोकेन तैलादिना [illegible]
गाढागाढेभ्यो रोगातङ्केभ्यः,तन्मुक्त्वा न कल्पते इत्यर्थः [illegible]
त एव संचयादयो मन्तव्याः ।

आह-यद्येवं परिवासितेन न कल्पते म्रक्षितुं, तदर्वा[illegible]
तेन कल्पिष्यते ।

सूरिराह—

तद्दिवसमक्खणम्मी, लहुओ मासो उ होइ [illegible] ।
आणाइयणा विराहण, धूलि सरक्खो य तसपाण ॥

तद्दिवसानीतेनापि यदि म्रक्षयति तदा लघुमासः, [illegible]
दोषाः, विराधना च संयतस्य भवति । तथाहि-[illegible]
धूलिर्लगति; सरजस्को वा सचित्तरजोरूपो वा [illegible]
ति, तेन चीवराणि मलिनीक्रियन्ते, तेषां धावने संयमवि[illegible]
स्नेहगन्धेन वा ये त्रसप्राणिनो लगन्ति तेषां विराधना [illegible]

धुवणाधुवणे दोसा, निसि भत्तं उप्पिलावणं [illegible] ।
चउसत्त स मइ तलिया, उव्वट्टणमाइ पलिमंथो ॥

स्नेहेन मलिनीकृतानां चीवराणां गात्राणां च [illegible]
रुभयोरपि दोषाः । तथाहि—यदि न धाव्यन्ते तदा [illegible]
अथ धाव्यन्ते ततः प्राणिनामुत्प्लावना भवेत् । [illegible]
शरीरयोर्वा कृशत्वं च भवति । (स मइ त्ति)स एव [illegible]
गति, म्रक्षिते च गात्रपादयोर्वा धूली लगिष्यति [illegible]
काऽपि नश्यति, तत्र गर्वो निर्मार्दवतेत्यादयो दोषाः । [illegible]
गात्रस्योद्वर्तनादिकं करोति तावत्सूत्रार्थपरिमन्थो भव[illegible]

तद्दिवसमक्खणेण उ, दिट्ठा दोसा जहा उ [illegible]
अद्धाणेणुव्वाए-ऽप्पवाएँ असुकच्चुगयणाओ ॥

तद्दिवसम्रक्षणेन जनिता एते दोषा दृष्टाः । [illegible]
म्रक्षयेत् तथाऽभिधीयते-अध्वगमनेनाभारोऽभ्यन्त[illegible]
तेन वा कटी गृहीता, अर्शसा तद्वारेऽपि [illegible]
तया वा कोऽपि गृहीतस्ततो यतनया म्रक्षयेदपि ।

तामेवाह—

मक्खाईकयकज्जो, धुवितं मइलेउ अरयए अंते ।
परिपीय गोमयाई-उव्वट्टण धोवणे सयणा ।

संडासमनुप, आदिशब्दादागमनादिकं न [illegible]
संप्राप्तकार्यः, सर्वाणि यदि संमनकायानि [illegible]
न यावन्मात्रं प्रक्षणीयं तावन्मात्रमेव [illegible]
म्रक्षयति, म्रक्षयित्वा च [illegible]
गोमयेन सह तैलादिकघृतस्त परिणत भवति । [illegible]
दिना तन्मोटनं कृत्वा यतनया यथा प्राणिनो [illegible]
ति तथा धावनं कार्यम् ।

जइ कारणे तद्दिवसं, तु कप्पइ तह [illegible]
आयरियाइ पगमे-हिं पुच्छिए [illegible]
यथा कारणे तद्दिवसानीतं म्रक्षणं कल्पते, तथा[illegible]

सितं प्रक्षणं कारणे कल्पते। कथमिति चेत्?, अत आह-आचार्यस्य कोऽपि व्याधिरुत्पन्नस्ततो वृषभैः वैद्यः पूर्वोक्तविधिना प्रष्टव्यः, तेन च संदेश उपदेशो दत्तो भवेत्, यथा-शतपाकादीनि तैलानि यदि भवन्ति ततः चिकित्सा क्रियते।

ततः किं कर्तव्यम्?, इत्याह-

सयपाग सहस्सं वा, सयसाहस्सं व हंसमरुतेल्लं ।
दूरा उ णीय असई, परिवासिज्जा जयं धीरे ॥

शतपाकं नाम तैलं तदुच्यते-यदौषधानां शतेन पच्यते। यद्वा-एकेनाप्यौषधेन शतवार पक्कं परिवासयेत्। एवं सहस्रपाकं शतसहस्रपाकं च मन्तव्यम्। हंसपाकं नाम हंसेन औषधसमारम्भभृतेन यदेतत्तैलं पच्यते। मरुतैलं मरुदेशे पर्वतादुत्पद्यते। एवंविधानि दुर्लभद्रव्याणि प्रथमं तद्दैवसिकानि मार्गणीयानि, अथ दिने दिने न लभ्यन्ते ततः पञ्चकपरिहाण्या चतुर्गुरुप्राप्तो दूरादप्यानीय धीरो गीतार्थो यतनया अल्पसागारिके स्थाने अन्वहं चीरेण वेष्टयित्वा परिवासयेत्।

इदमेव सुव्यक्तमाह-

एयाणि मक्खणट्ठा, पाणट्ठा पइदिणं ण लंभेज्जा ।
पणहाणीए जइउं, चउगुरुपत्तो अदोसो उ ॥

एतानि शतपाकादीनि म्रक्षणार्थं पानार्थं वा प्रतिदिनं यदि न लभ्यन्ते ततः पञ्चकपरिहाण्या यतित्वा चतुर्गुरुकं, यदा प्राप्तो भवति तदा परिवासयन्नप्यदोषो न प्रायश्चित्तभाक्। वृ० ५ उ०। सूत्र०। "से से परो कायं तेल्लेण वा घएण वा वसाए वा मक्खेज्ज वा अब्भंगेज्ज वा णो तं सातिए णो तं णियमे" आचा० २ श्रु० १३ अ०। "जे भिक्खू अंगादाणं तेल्लेण वा घएण वा णवणीएण वा वसाए वा अब्भंगेज्ज वा मक्खेज्ज वा अब्भंगंतं वा मक्खंतं वा साइज्जइ" नि० चू० १ उ०। ('अंगादाण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४० पृष्ठे व्याख्यातमेतत्) "अब्भंगण विहिपरिमाणं करेइ" उपा० १ अ०। ('आणंद' शब्दे द्वितीयभागे १०७ पृष्ठे दर्शयिष्यते सूत्रम्)

अब्भंगिएल्लय-अभ्यङ्गित-त्रि०। स्नेहाभ्यक्तशरीरे, वृ० १उ०। पिं०। व्या० म०। ओघ०।

अब्भंगि (गे) त्ता-अभ्यज्य-अव्य०। तैलादिना अभ्यङ्गं कृत्वेत्यर्थे, व्या० ३ ठा० १ उ०। आचा०।

अब्भंगिय-अभ्यङ्गित-त्रि०। स्नेहेन मर्दिते, पिं०।

अब्भं (भिं) तर-अभ्यन्तर-त्रि०। पुत्रकलत्रादिवत् प्रत्यासन्ने, स्था० ८ ठा०।

आभ्यन्तर-त्रि०। अभ्यन्तरे भवमाभ्यन्तरम्। मध्यस्थे, स्था० २ ठा० १ उ०। पिं०। विपा०। ज्ञा०। अभ्यन्तरभागवर्तिनि, रा०। जी०। "सव्वब्भंतराणंतर मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ" जं० ७ वक्त०।

अब्भं (भिं) तरओमचित्तकम्म-अभ्यन्तरतःसचित्र-कर्मन्-त्रि०। मध्ये चित्रकर्मरमणीये, कर्म० २ कर्म०। कल्प०।

अब्भं (भिं) तरकरण-अभ्यन्तरकरण-न०। भावसंप्रद-भेदे, व्यगतब-अभ्यन्तरकरणं नाम द्वयोः साध्वोर्गच्छभेदीभूत-योरभ्यन्तरे कुलादिकार्यनिमित्तं परस्परमुल्लपतोस्तृतीयस्योपशुश्रूषोर्बहिःकरणं, अथवाऽपदिष्टः सन्नभ्यन्तरे गत्वा तद् गच्छादिप्रयोजनं ब्रूते, एतदभ्यन्तरकरणम्। यदि वा तेन सह ये वाह्यभावं मन्यन्ते तानपि तथाऽनुवर्त्तयति यथा तं तेऽभ्यन्तरमभिमन्यन्ते, एतदभ्यन्तरकरणम् (व्य०)।

पूयण जहा गुरूणं, अब्भंतर दोण्हमुल्लवंताणं ।
तइयं कुणती बहिया, वेइ गुरूणं च तं पिट्ठो ॥

पूजनं यथाक्रमं गुरूणामभ्यन्तरकरणं यदभ्यन्तरे द्वयोरुल्लपतोस्तृतीयमुपशुश्रूषुं बहिः करोति, यदि वा तद् गच्छादिप्रयोजनं पृष्टः सन्नभ्यन्तरं गत्वा गुरूणां ब्रूते कथयति। व्य० ३ उ०।

अब्भं (भिं) तरग-आभ्यन्तरक-पुं०। आसन्नमन्त्रिप्रभृतौ, विपा० १ श्रु० ३ अ०। स्था०।

अब्भं (भिं) तरट्ठाणिज्ज-अभ्यन्तरस्थानीय-पुं०। आभ्यन्तरनामसु प्रेष्यपुरुषेषु, "अब्भिंतरट्ठाणिज्जे पुरिसे सद्दावेइ" ज्ञा० १३ अ०।

अब्भं (भिं) तरतव-अभ्यन्तरतपस्-न०। अभ्यन्तरमन्तरस्यैव शरीरस्य तापनात्सम्यग्दृष्टिभिरेव तपस्तया प्रतीयमानत्वाच्च, तच्च तत्तपश्चेति अभ्यन्तरतपः। औ०। लौकिकैरनभिलक्ष्यत्वात् तन्त्रान्तरीयैश्च परमार्थतोऽनासेव्यमानत्वात् मोक्षप्राप्त्यन्तरङ्गत्वाच्चाभ्यन्तरमिति। स्था० ६ ठा०। स०। पं० व०। पञ्चा०। ग०। भ०। उत्त०। अभ्यन्तरस्यैव शरीरस्य कार्मणलक्षणस्य तापकत्वादभ्यन्तरतपः। प्रश्न० ५ सम्ब० द्वा०। प्रायश्चित्तादौ तपोभेदे, औ०। "प्रायश्चित्तं ध्यानं, वैयावृत्यं विनयमथोत्सर्गः। स्वाध्याय इति तपः षट्-प्रकारमाभ्यन्तरं भवति" ॥ १ ॥ ध० १ अधि०। ग०। उत्त०। "छव्विह अब्भंतरिए तवे पण्णत्ते। तं जहा-पायच्छित्तं विणओ वेयावच्च तहेव सज्झाओ झाणं वि उस्सग्गो" स्था० ६ ठा०।

अब्भं (भिं) तरतो-अभ्यन्तरतस्-अव्य०। सप्तम्यर्थे तसिल्। अभ्यन्तरे मध्ये इत्यर्थे, "सत्तण्हं पयडीण, अब्भिंतरतो य कोडिकोडीए"। आ० म० प्र०।

अब्भं (भिं) तरदेवसिय-अभ्यन्तरदैवसिक-न०। दिवसाभ्यन्तरसम्भवेऽतिचारे, "इच्छामि खामेउं अब्भिंतरदेवसियं" इति। ध० २ अधि०।

अब्भं (भिं) तरपरिस-अभ्यन्तरपरिषद्-स्त्री०। औ०। वयस्यमण्डलीस्थानीयायां परमविश्वसनीयायां समित्यपरनामिकायां देवेन्द्राणां पर्षदि, रा०। स्था०।

अब्भं (भिं) तरपाणीय-अभ्यन्तरपानीय-त्रि०। अभ्यन्तरे पानीयं यस्य स तथा। मध्यस्थजलयुक्ते चौरपल्ल्यादावर्थे, ज्ञा० १८ अ०।

अब्भं (भिं) तरपुक्खरद्ध-अभ्यन्तरपुष्कराद्ध-न०। मानुषोत्तरपर्वतादर्वाग्वर्त्तिनि पुष्करवरद्वीपस्यार्द्धे, जी० ३ प्रति०। सू० प्र०। (वक्तव्यतादि 'पुक्खरवरदीव' शब्दे व्याख्यास्यते)

अब्भं (भिं) तरपुप्फफल-अभ्यन्तरपुष्पफल-त्रि०। अभ्यन्तराणि अभ्यन्तरभागवर्त्तीनि पुष्पाणि च फलानि च पुष्पफलानि येषाम्। पत्रावृत्तत्वाद् बहिरदृश्यपुष्पफले वृक्षे, रा०।

अब्भं (भिं) तरबाहिरिय-अभ्यन्तरबाहिरिक-त्रि०। नगरा-

[illegible]भागेन बाहिरिका नगरबहिर्भागो यत्र त[illegible] । [illegible] बाहिरिकाया विद्यमानत्वे, दशा० १० अ० ।

[illegible] (देश) नरक- आभ्यन्तरक-पुं० । राजानमति[illegible] [illegible], स्था० १ ठा० ।

[illegible] (देश) [illegible]-अभ्यन्तरलब्धि-स्त्री० । अभ्यन्त[illegible], तथाचोक्तं चूर्णी-" तस्स अब्भंतरलद्धी नाम [illegible] कोहिनाणं समुप्पन्नं ततो ठाणाओ सा[illegible] निरंतरसंबद्धं संखेज्जं वा असंखेज्जं [illegible] एस अब्भितरलद्धि ति " [illegible] । "[illegible], [illegible] सव्वओ । सं-[illegible]" ॥७५३॥ विशे० ।

[illegible] (देश) [illegible]-अभ्यन्तरशम्बूका-स्त्री० । अभ्यन्त-[illegible] निष्क्रमणस्य बहिर्निस्सरणे [illegible], स्था० ३ अधि० । [illegible] बाहिर्भागाच्च-[illegible] साऽभ्यन्तरशम्बूका । [illegible] ।

[illegible] (देश) [illegible]-अभ्यन्तरकायोत्सर्गिका-स्त्री० । [illegible] गुरुविनयादिमनुगम्य, [illegible] इति । कायोत्सर्गस्था-[illegible] । [illegible] ।

[illegible] (देश) [illegible]-पुं० । [illegible], [illegible] । विशे० ।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

परिसेवी परिहारपत्ते । से य वएज्जा-णो पडिसेवी, णो परिहारपत्ते । जे से पमाणं वदति से य पमाणाइ घेत्तव्विया । से किमाहु भंते !, सच्चपइण्णा ववहारा ॥ ५ ॥

द्वौ साधर्मिकौ सांभोगिकौ, एकतः एकत्र संघाटकेन विहारतः, तयोर्द्वयोर्मध्ये एकः [illegible] 'अवियत्तं' अभ्युपगच्छति, न [illegible] दधाति, तत आह-(पच्चयहेउं च [illegible]) [illegible] मन्येषां च साधूनामेव संवदति, अन्यथा [illegible] चितमभिमन्यत इति प्रत्ययो विश्वासः, [illegible] च प्रतिसेवितमिति भणति । एवमुक्तो [illegible] स प्रष्टव्यः-किं त्वं प्रतिसेवी, न वा ? । [illegible] वदेत्-प्रतिसेवी, ततः स परिहारतपोभाक् क्रियते, [illegible] । छेदादिप्रायश्चित्तभागपि क्रियते इति द्रष्टव्यम् । [illegible] वदेत्-नाहं प्रतिसेवी; तर्हि परिहारः प्राप्तः [illegible] तपःप्रभृति प्रायश्चित्तभाक् क्रियते इति भावः । [illegible] या यदव्याख्यानदाता " से " तस्य प्रतिसेवनार्थं [illegible] कादि यत्किं; तस्मात्प्रमाणाद् गृहीतव्यो [illegible] । [illegible] कस्मात्कारणादेवमाहुर्भगवन्तः ? हे भदन्त ! [illegible] [illegible] न यथाकथं [illegible] अप्रतिसेवी वा क्रियते । एष सूत्राक्षरार्थः ।

अधुना निर्युक्तिभाष्यविस्तरः । तत्र [illegible] [illegible] यो रत्नाधिकतरः [illegible] [illegible] समयमरत्नाधिक [illegible] प्रतिपादयितुमाह-

रयणाहियवायणं, खलियमिलियपेल्लणाएँ उदए ।
देव उत्त मेहुणम्मि य, अब्भक्खाणं गुरुगम्मि ॥

रत्नाधिकवादेन रत्नाधिकोऽहमिति [illegible] [illegible] । यथा-हे क्षुल्लक ! [illegible] ! [illegible] प्रथममेव [illegible], यदि वा [illegible] [illegible] हा क्षुल्लक ! [illegible] [illegible] । तथा ([illegible] ति) [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible]

ज्येष्ठार्येणाद्य सह इदानीमार्यागृहे कृतमकार्यं मैथुनाभिसेवालक्षणं, ततो भदन्त ! तत्संसर्गतो मयाऽपि संसृष्टकल्पो मैथुनप्रतिसेवा, अत्रास्मिन्प्रस्तावे उपजीवितः ॥

अहवा उच्चारगतो, कुरुंगमाईकडिल्लदेसम्मि ।
चेती कयं अकज्जं, जेट्ठज्जेणं सह मए वि ॥

अथवेत्यभ्याख्यानस्य प्रकारान्तरप्रदर्शने। कुरुङ्गादौ कडिल्लदेशे गहनप्रदेशे उच्चाराय गतस्तत्र च ज्येष्ठार्येण सह मयापि कृतमकार्यमिति। तस्माद् व्रतानि मम साम्प्रतमारोपयत।

एवमुक्ते सूरिभिः स एवं वक्तव्यः—

तम्मागते वयाई, दाहामो देंति वाऽऽउरंतस्स ।
भूतत्थे पुण नाए, अलियनिमित्तं न मूलं तु ॥

योऽसौ त्वया अभ्याख्यातः स यदा आगतो भविष्यति तदा तस्मिन्नागते व्रतानि दास्यामः। अथ स त्वरमाणो ब्रूते–भगवन् ! कुशाग्रस्थितवातहतजलबिन्दुरिवातिचञ्चलं जीवितमिति न शक्यते क्षणमात्रमप्यव्रतेन स्थातुम, इत्यधुनैव ममारोप्यतां व्रतानीति। तस्यैव त्वरमाणस्य ददति व्रतानि, वाशब्दो विकल्पार्थः। तत्र पुनस्तस्यार्थो गवेषणीयः, किमयं सत्यं ब्रूते, उतालीकम् ?, तत्र यथा भूतार्थो गवेषणीयस्तथाऽनन्तरमेव वक्ष्यते। भूतार्थे च ज्ञाते यदि सत्यं, तदा द्वयोरपि मूलं दीयते। अथालीकम्, ततो योऽभ्याख्यातः स शुद्धः, इतरस्य त्वभ्याख्यातुर्मूलं न दीयते, किन्त्वलीकनिमित्तं मृषावादप्रत्ययं चतुर्गुरुकं प्रायश्चित्तमिति।

सम्प्रति यथा भूतार्थो ज्ञायते तथा प्रतिपिपादयिषुर्द्वारगाथामाह—

चरियापुच्छणपेसण, कावालिय तत्थसंघो य जं भणइ ।
चउभंग निरिक्खा देवया य तहियं विही एसो ॥

तत्र भूतार्थे ज्ञातव्ये एष विधिः–चरिका परिव्राजिका, तस्याः प्रच्छनाय वृषभाणां प्रेषणं स चेत्सत्यवादी न मन्यते ततस्तौ द्वावपि पृथगाश्रये प्रेष्य तत्र वृषभाः तत्स्वरूपगवेषणाय कापालिकरूपेण प्रेष्यन्ते। कापालिकग्रहणमुपलक्षणम, तेन सरजस्कादिरूपेणापीत्यपि द्रष्टव्यम। एवमपि भूतार्थानिर्णये (तथेति) तपः स्वकायोत्सर्गेण देवतामाकम्प्य पृच्छति। एतस्यापि प्रकारस्याभावे संघो मेलयित्वा प्रष्टव्यः, तेन च निरीक्षिणो निरीक्षकानधिकृत्य चतुर्भङ्गी–कश्चित्पालनं तथाभावेन पश्यन्तीत्यादिरूपा वक्ष्यमाणा प्ररूप्यते। गाथायां पुंस्त्वं प्राकृतत्वात्। सा च चतुर्भङ्गी सन्ध्यान्तर्देवता आश्रित्य संभवति। एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः।

साम्प्रतमेनामेव गाथां विवरीषुराह—

आलोइयम्मि तिउणो, कज्जं मे सीसए तयं सव्वं ।
पडिसिद्धम्मि य इयरो, भणाइ वीयं पि मे नत्थि ॥

अभ्याख्यातः साधुरागतः सन् आलोचयति–प्रथमाश्रितो यावन्न जानामि द्वितीयः संघाटकः क्वापि गत इति केवलोऽहमागतोऽस्मि। तत आचार्या ब्रुवते–सम्यगालोचय। तत स स्मृत्वा आलोचयति, यावत्तस्मिन्नपि तृतीये वारे तदालोचितम्। तत्रिगुणं त्रिःकृत्वः आलोचिते यदि न प्रतिसेवितमित्यालोचयति, ततो येन कारणेन त्रीन् वारान् आलोचापितस्तत्कार्यं कारणं सर्वं तस्य शिष्यते कथ्यते, यथा–स एष तव संघाटकस्त्वया सह किञ्चिन्मात्रं द्विविकल्पया समागतो ब्रूते–ज्येष्ठार्येण आर्यागृहे वृक्षविषमे च क्वचित्प्रदेशे कृतमकार्यम, तत्संसर्गतो मयाऽपि संसृष्टकल्प उपजीवित इति। ततोऽभ्याख्यातसाधुर्वदति–न मया प्रतिसेवितम। एवं तेन प्रतिषिद्धे प्रतिसेवने इतरोऽभ्याख्यानप्रदाता भवति—अहो ! ज्येष्ठार्य ! तव द्वितीयमपि व्रतं नास्ति, आस्तां चतुर्थमित्यपिशब्दार्थः।

दोण्हं पि अणुमएणं, चरिया वसहे पुच्छियपमाणं ।
अन्नत्थ वसह तुब्भे, जा पुच्छिमो देव उस्सग्गं ॥

एवं द्वयोरपि विवदतोरेवमुच्यते–चरिका पृच्छ्यतां यत्सा वक्ष्यति तत्प्रमाणयिष्यते। एवमुक्ते यदि तौ द्वावप्यनुमन्येते, ततो द्वयोरनुमतेन, संमत्या इत्यर्थः। वृषभाश्चरिकां प्रष्टुं प्रेष्यन्ते, ते च तत्र गताः प्रथमतश्चरिकां प्रज्ञापयन्ति, प्रज्ञाप्य पृच्छन्ति–किमत्र सत्यम्, अलीकं वा ?। एवं वृषभैश्चरिका पृष्टा सती यद् ब्रूते तत्प्रमाणं कर्तव्यम। तत्र चरिकयोक्तम्–भगवन् ! अभ्याख्यानं तेन द्वितीयेन तस्मै दत्तमिति। एतदुक्तं वृषभा यथातथागत्य गुरवे निवेदयन्ति। यथावस्थिते निवेदिते यद्यन्यतरो वदति–गूहयति चरिका न सम्यक्कथयति। तदा गुरवो द्वावपि ब्रुवते यूयमन्यत्र वसतिं याचयित्वा तत्र वसथ, यावद्वय रात्रौ देवताराधनार्थं कायोत्सर्गं कुर्मः। किमुक्तं भवति ?–कायोत्सर्गेण देवतामाकम्प्य पृच्छामः—कोऽत्र सत्यवादी, को वाऽलीकवादी ?। इति।

एवमुक्ते तौ द्वावपि वसत्यन्तरे गते यद् भवति तदभिधित्सुराह—

अहिगमाई वसभा, पुव्वि पच्छा वसंति निसि सुण्णा ।
आवस्सग आउट्टण, सब्भावे वा असब्भावे ॥

अधिगताः कापालिकाः, आदिशब्दात्सरजस्कादिपरिग्रहः, तद्रूपाः सन्तः। किमुक्तं भवति ?–कापालिकवेषं सरजस्कवेषं कृत्वा यस्यां वसतौ द्वावपि जनौ तिष्ठतस्तत्र पूर्वं वृषभा गच्छन्ति। यदि वा तयोर्गतयोः पश्चात्तत्र च गत्वा रात्रौ सुप्तस्थाने सुप्ता इव तिष्ठन्ति, तथापि तयोः परस्परमुल्लापं शृण्वन्ति। तयोश्चावश्यकं कर्तुकामयोर्योऽभ्याख्यातो धर्मस्थापितोऽभ्याख्यानदाता, स इतरं प्रति मिथ्यादुष्कृतेनोपस्थितः एतद्वदति–त्वं मया असता अभ्याख्यानेनाभ्याख्यातोऽसि मिथ्यादुष्कृतमिति। ततो रत्नाधिको ब्रूते–किं नाम तवापकृतं मया, येनासदभ्याख्यानं मे दत्तमिति ?। अथ सत्याधिको भाषते–त्वं नित्यमेव यत्र तत्र वा कार्ये सम्यग् प्रवर्त्तमानमपि हे दुष्ट ! शैक्षक ! इति तर्जयसि, तेन मया त्वमसदभ्याख्यानेनाभ्याख्यातः। एवमावश्यके आवश्यकवेलायामावर्त्तने भावप्रत्यावर्त्तने अलीकाभ्याख्याने सद्भावो ज्ञायते। अथ न परस्परमालापः सद्भावो ज्ञायते, तदा सद्भावपरिज्ञानाभावे तपस्वी द्रष्टव्य इति शेषः।

तथाचाऽऽह—

सहो त्ति मं चामसि निच्चमेव,
बहूण मज्झम्मि तओ वदेमि ।
अभासमाणस्स परोप्परं वा,
देवाए–मुस्सग्ग मयम्मि कुज्जा ॥

नित्यमेव सर्वकालमेव यद् हे शठ ! शैक्षक ! इति मां भाषसे, तेन त्वमसदभ्याख्यानेनाभ्याख्यातः। अथ न परस्परं

स्तमवमरत्नाधिकं ब्रूयात्-यदि मया कदाचित् क्षुल्लकया सह कृत-मकार्यं ततः किं त्वया बहूनां मध्ये अहमेवमभ्याख्यातः-अनेन कृता प्रतिसेवनेति । किन्त्वहमेवैकान्ते वक्तव्यो भवामि । यथा क्षुल्लक कृतमालोचनां गृहाण गुरूणामन्तिक इति । मम रोषेण त्वया-ऽस्मदीयमपि शीलं विलोपितम्, एवं सद्भावो ज्ञायते । एतावता "आवस्सग आउट्टण, सब्भावे वा" इति व्याख्यातम् । इदा-नीमसद्भावे इति व्याख्यानयति-"अभासमाणाण परोप्परं वा" इति । अथ कदाचित्तौ रोषतः परस्परं न संलपतः, तदा तयोः परस्परमभाषमाणयोर्भूतार्थपरिज्ञानार्थं तपस्वी क्षपको देवताध्यानार्थं कायोत्सर्गं कुर्यात् । कायोत्सर्गेण च देवतामाक-म्प्य पृच्छति-कोऽनयोर्द्वयोर्मध्ये सम्यग्वादी, को वा मिथ्या-वादीति ? । तत्र यद्देवता ब्रूते तत्प्रमाणम् । तेन तप इति द्वारं व्याख्यातम् ।

अधुना सङ्घद्वारं व्याचिख्यासुरिदमाह—

किंचि तहाऽतह दीसइ, चउभंगे पंत देवया जहा ।

अत्तीकरेइ मूलं, इयरे सच्चप्पतिण्णाओ ॥

सर्वप्रकारेणाज्ञायमाने भूतार्थे संघसमवायं कृत्वा तस्मै आवे-द्यते-रत्नाधिको वदति नाहं कृतवान्प्रतिसेवनाम्; इतरो ब्रूते द्वावपि प्रतिसेवितवन्ताविति, तत्र किं कर्त्तव्यमिति ? । एवमा-दिना कृते ये संघमध्ये गीतार्थास्ते वदन्ति-किञ्चित्तथाभावं तथा भावेन दृश्यते; किञ्चित्तथाभावमन्यथाभावेन; किञ्चिदन्यथाभा-वं तथाभावेन; किञ्चिदन्यथाभावमन्यथाभावेन । एषा चतुर्भङ्गी । अस्यां चतुर्भङ्ग्यां प्रथमो भङ्गः प्रतीतः । द्वितीयभङ्गभावना त्वे-वम्-कोऽपि कथमपि वनप्रदेशे गच्छति । तत्र केचिदारक्षका अ-पगतक्षमा असिव्यग्रहस्ता वल्गन्ति । ततः कदाचिद्देवता भद्रि-का मा विनश्यत्वेष पुरुष इति तं दूरान्तरितं दर्शयति । तृतीय-भङ्गः-भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः सागारिकमकषायितं सङ्ग-मकः कषायितं दर्शयति । चतुर्थभङ्गः-कस्याञ्चिद्विपदि दासं शाला कारितान्तःपुरस्थं विनश्यन्तं दृष्ट्वा कदाचिद्भद्रदेवता तदनुकम्पया स्त्रियं दर्शयति । एवं प्रान्ता भद्रा च देवता अन्यथाभूतं वस्तु अन्यथा करोति—अन्यथा भूतं दर्शयति, ततो दृष्टमपि तावदप्रमाणमत्र । ननु ज्ञायते-किमपि दृष्टमप्रम-त्ताधिकृतम्, एष च सम्यग्निश्चय व्यवहारस्तीर्थकृद्भिरुपदिष्टः-अस्मादपद्द रत्नाधिको ब्रूते-न मया प्रतिसेवितमिति तत्प्र-माणतः शुद्ध एव न प्रायश्चित्तमागिति । यदपि चावमरत्नाधि-को वक्ति-मया प्रतिसेवितमिति, तदपि प्रमाणमतस्तस्य मूलं प्रायश्चित्तमिति । व्य० २ उ० ।

अब्भक्खाणए-अभ्याख्यानक-त्रि० । मेघाद्भूते, वृ० १ उ० ।

अब्भहिय-देशी-प्रसिद्धार्थे । अनुपतने, "अब्भहियंधिउ वे वडी, वेम्मु निबम्भ ज्ञाइ । लज्जामय-रिउ-संभव-हो, कर दरिसणा मर्ह" । प्रा० । [illegible] प्रिया यावत्, एतद्दीप-कम् । यथा प्रसन्नोऽनुप्यते, तथा प्रमाणोऽनुप्यते । प्रिया [illegible] । [illegible] ([illegible] इति) मनुजाय [illegible] मयांगनत्पु-[illegible] परिपूर्णा, प्रवृत्ता इत्यर्थः । [illegible] । ४ । १ । ५८ । इत्यतः प्रत्ययः । [illegible] । अनुमतेन एते "[illegible]" [illegible] । ८ । ४ । ४१८ । [illegible] पुं० ४ पाद ॥

अब्भणुण्णा-अभ्यनुज्ञा-स्त्री० । कर्त्तव्यानुमतिदाने, स्था०

अथात्र भगवतो महावीरस्याऽभ्यनुज्ञातानि प्रदर्श्यन्ते-

पंच ठाणाइं समणेणं भगवया महावीरेणं समणाणं नि-ग्गंथाणं णिच्चं वणियाइं णिच्चं कित्तियाइं णिच्चं बुझ्याइं णिच्चं पसत्थाइं निच्चमब्भणुण्णाइं भवंति । तं जहा-खंती मोत्ती अज्जवे मद्दवे लाघवे । पंच ठाणाइं समणाणं जाव अब्भणुण्णायाइं भवंति । तं जहा-सच्चे संजमे तवे चियाए बंभचेरवासे । पंच ठाणाइं समणाणं० जाव अब्भणुण्णायाइं भवंति । तं जहा-उक्खित्तचरए णिक्खित्तचरए अंतचरए पंतचरए लूहचरए । पंच ठाणाइं० जाव अब्भणुण्णायाइं भवंति । तं जहा-अन्नायचरए अन्नेलचरए मोणचरए संसट्ठकप्पिए तज्जायसंसट्ठकप्पिए । पंच ठाणाइं० जाव अब्भणुण्णायाइं भवंति । तं जहा-उवनिहिए सुद्धेसणिए संखादत्तिए दिट्ठलाभिए पुट्ठलाभिए । पंच ठाणाइं० जाव अब्भणुण्णायाइं भवंति । तं जहा-आयंबिलए निव्विइए पुरिमड्ढिए परिमियपिंडवाइए भिन्नपिंडवाइए । पंच ठाणाइं० जाव अब्भणुण्णायाइं भवंति । तं जहा-अरसाहारे विरसाहारे अंताहारे पंताहारे लूहाहारे । पंच ठाणा० जाव भवंति । तं जहा-अरसजीवी विरसजीवी अंतजीवी पंतजीवी लूहजीवी । पंच ठाणाइं० जाव भवंति । तं जहा-ठाणाइए उक्कुडुआसणिए पडिमट्ठाई वीरासणिए णेसज्जिए । पंच ठाणाइं० जाव भवंति । तं जहा-दंडायइए लगंडसाई आयावए अवाउडए अकंडुयए ॥

नित्यं सदा वर्णितानि फलतः कीर्तितानि संशब्दितानि, ना-मतः (बुइयाइं ति) व्यक्तवाचोक्तानि, स्वरूपतः प्रशस्तानि प्रशंसितानि श्लाघितानि, शंसु स्तुताविति वचनात् । अभ्यनु-ज्ञातानि कर्त्तव्यतया अनुमतानि भवन्तीति । इह च सर्वेष्व-पि प्रतिसूत्रे यथावृत्त्यसूत्रं यावत् दृश्यत इति । स्था० ५ ठा० १ उ० । (क्षान्त्यादीनां व्याख्या स्वस्थाने वक्ष्यते)

अभूतयाऽभ्याख्यानं कुर्वतः क्रिया-

जे णं भंते ! परं अलिएणं असब्भूएणं अब्भक्खाणेणं अब्भक्खाइ, तस्स णं कहप्पगारा कम्मा कज्जंति ? । गोयमा ! जे णं परं अलिएणं असंतएणं अब्भक्खाणेणं अब्भक्खाइ, तस्स णं तहप्पगारा चेव कम्मा कज्जंति, जत्थेव णं अभि-समागच्छइ तत्थेव णं पडिसंवेदेइ । तओ से पच्छा वेदेइ । सेवं भंते ! भंते ! त्ति ।

अलीकेन भूतनिह्नवकरणेण यथा ब्रह्मचर्यगार्हस्थ्यादेः (असब्भूएणं ति) असता अब्रह्मचर्यमनुपालनमित्यादिकरणेन अभूतोद्भावनरूपेण यथाचौरेऽपि चौरोऽयमित्यादिना । अथवा अलीकेन असत्येन तथा दुष्टताभपि भवति, शुभकार्येऽपि सद्भूतदीप्यमानस्य आमनोऽपि नाहं जानामि इत्यादि । अत्र सू-

रूपेण दुष्टाभिसन्धित्वादशोभनरूपेणाचौरेऽपि चौरोऽयमित्यादिना (अब्भक्खाणेणं ति) आभिमुख्येनाख्यानं दोषाविष्करणमभ्याख्यानं, तेन अभ्याख्याति सूत्रे । (कहप्पगार त्ति) कथंप्रकाराणि ? किंप्रकाराणीत्यर्थः । (तहप्पगार त्ति) अभ्याख्यानफलानीत्यर्थः । (जत्थेव णमित्यादि) यत्रैव मानुषत्वादावभिसमागच्छति उत्पद्यते तत्रैव प्रतिसंवेदयत्यभ्याख्यानफलं कर्म, ततः पश्चाद्वेदयति निर्जरयतीत्यर्थः ॥ भ० ५ श० ७ उ० ।

अब्भणुण्णाय–अभ्यनुज्ञात–त्रि० । कर्तव्यतयाऽनुमते, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

अब्भत्थ–अभ्यस्त–त्रि० । अभि-अस्-क्त । पौनःपुन्येनैकजातीयक्रियाकर्मणि पुनःपुनरावर्त्तिते, "शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्" । "उभे अभ्यस्तम्" ॥ ६ । १ । ५ ॥ उक्तयोः कृतद्वित्वयोरुभयोः धातुभागयोः । "नाभ्यस्ताच्छतुः" ॥ ७ । १ । ७८ ॥ "अभ्यस्तस्य च" ॥ ६ । १ । ३३ ॥ वाच० । गुणिते, विशे० । आ० म० । पं० व० ।

अब्भत्थणा–अभ्यर्थना–स्त्री० । परस्परप्रवर्त्तनायां 'त्वं ममेदं कार्यममुष्य वा कुरु' इत्येवं रूपायाम्, पञ्चा० ११ विव० । "जइ अब्भत्थेज्ज परं, कारणजाते करेज्ज से को वि । तत्थ वि इच्छाकारो, न कप्पइ बलाभिओगो उ" ॥ १ ॥ आ० म० द्वि० । (अभ्यर्थनायां मरुकदृष्टान्तः "इच्छाकार" शब्दे द्वितीयभागे ५७५ पृष्ठे दर्शयिष्यते)

अब्भपडल–अभ्रपटल–न० । मेघवृन्दे, पृथिवीकायपरिणामविशेषे च । (अभ्रक–तबक) । "अब्भपडलपिंगलुज्जलेण" (अन्तेण) अभ्रपटलमिव मेघवृन्दमिव बृहच्छायाहेतुत्वात् अभ्रपटलं, पिङ्गलं च कपिशं सुवर्णकटिकानिर्मितत्वात् उज्ज्वलं निर्मलं यत्तत्तथा । अथवा अभ्रमभ्रकं पृथिवीकायपरिणामविशेषस्तत्पटलमिव पिङ्गलं चोज्ज्वलं च तत्तथा । तेन । औ० । सूत्र० । जी० । प्रज्ञा० ।

अब्भपिसाय–देशी–राहौ, दे० ना० १ वर्ग ।

अब्भवालुया–अभ्रवालुका–स्त्री० । अभ्रपटलमिश्रवालुकारूपे खरबादरपृथिवीकायभेदे, प्रज्ञा० १ पद । जी० । सूत्र० ।

अब्भरहिय–अभ्यर्हित–त्रि० । राजामात्यादिपुत्रे गौरविके, (बृ०) राजमान्ये, बृ० १ उ० । नि० चू० ।

अब्भराग–अभ्रराग–पुं० । सायं सूर्यकरयोगाद् मेघानां नानावर्णे मेघे, प्रज्ञा० १७ पद ।

अब्भरुक्ख–अभ्रवृक्ष–पुं० । अभ्रात्मको वृक्षोऽभ्रवृक्षः । भ० ३ श० ६ उ० । वृक्षाकारेण परिणतेऽभ्रे, जी० ३ प्रति० । अनु० ।

अब्भवद्दलय–अभ्रवार्दलक–न० । अभ्ररूपं वारो जलस्य दलकं कारणमभ्रवार्दलकम् । मेघे, भ० १५ श० १ उ० । अभ्रे आकाशे वार्दलकमभ्रवार्दलकम् । नभोगतमेघे, " अब्भवद्दलयाइ विउव्वइ" आ० म० प्र० । अभ्राणि मेघास्तैर्वार्दलकम् । मेघैः कृते, स्था० ३ ठा० ३ उ० । रा० ।

अब्भसंझा–अभ्रसन्ध्या–स्त्री० । सन्ध्याकाले नीलाद्यभ्रपरिणतौ, जी० ३ प्रति० ।

अब्भसंथड–अभ्रसंस्तृत–न० । मेघैराकाशाच्छादने, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अब्भसण–अभ्यसन–न० । अभि-अस्-ल्युट् । अभ्यासे, पौनःपुन्येनैकक्रियाकरणे पुनःपुनरावर्त्तने, वाच० । " अब्भसणं ति वा गुणणं ति वा एगट्ठा " दश० १ अ० ।

अब्भसिय–अभ्यस्य–अव्य० । अभ्यासीकृत्येत्यर्थे, दश० ६ अध्या० ।

अब्भहिय–अभ्यधिक–त्रि० । अत्यर्थे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० । भ० । " अब्भहियभीमभेरवप्पगारेणं " । अभ्यधिकं यथा भवत्येवं भीमभैरवोऽतिभीष्मो रवप्रकारो यस्य स तथा तेन (वतरवेन) ज्ञा० १ अ० । प्रज्ञा० । " अब्भहियं सोभितुमाढत्तो " आ० म० प्र० । " अब्भहियरायतेयलच्छीए " कल्प० ३ क्षण ।

अब्भहियतरग–अभ्यधिकतरक–त्रि० । विपुलतरे (विस्तीर्णे,) नं० ।

अब्भागम–अभ्यागम–पुं० । आभिमुख्येनागम्यतेऽत्र । अभि-आ-गम्-क-अप् । युद्धे, कर्मणि अप् । अन्तिके, करणे अप् । विरोधे, भावे अप् । अभ्युत्थाने, अभिघाते च अभिमुखगमने, वाच० । प्रा० । आसन्नवासे, नि० चू० २ उ० ।

अब्भागमिय–अभ्यागमिक–पुं० । आगन्तुकेषु, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अब्भागय–अभ्यागत–पुं० । अभि-आ-गम्-क्त । निजग्रामीणे गृहं गतेऽतिथौ, वाच० । " तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे, येन त्यक्ता महात्मना । अतिथिं तं विजानीया–च्छेषमभ्यागतं विदुः " ॥ १ ॥ इत्यतिथेर्भेदोऽस्य । आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अब्भावगासिय–अभ्रावकाशिक–न० । सहकारादेर्मूलाधोभागवर्त्तिनि प्रतिश्रये, बृ० २ उ० ।

अब्भास–अभ्यास (श)–पुं० । अभ्यसनमभ्यासः । अभ्यस्यते इत्यस्यानिपूर्वस्य घञ् । कर्म० ५ कर्म० । हेवाके, स्था० ४ ठा० ४ उ० । परिचये, पो० १ विव० । गुणने, अनु० । भावनायाम्, " अब्भास त्ति वा भावण त्ति वा " (एकार्थम्) बृ० १ उ० । अभ्यासादेव हि सर्वक्रियासु सुकौशलमुन्मीलति, अनुभवसिद्धं चेदं लिखनपठनसंख्यानगाननृत्यादिसर्वकलाविज्ञानेषु सर्वेषाम् । उक्तमपि–" अभ्यासेन क्रियाः सर्वाः, अभ्यासात्सकलाः कलाः । अभ्यासाद्ध्यानमौनादि, किमभ्यासस्य दुष्करम् ? " ॥ १ ॥ निरन्तरं विरतिपरिणामाभ्यासे च प्रेत्यापि तदनुवृत्तिः स्यात् । यत उक्तम्–"जं अब्भासइ जीवो, गुणं च दोसं च एत्थ जम्मम्मि । तं पावइ परलोए, तेण य अब्भासजोएणं" । ध० २ अधि० । अत्र दृष्टान्तः–कश्चिद् गोपस्तदहर्जातं तर्णकमुत्क्षिप्य गवान्तिके नयत्यानयति वा ततोऽसावनेनैव क्रमेण प्रत्यहं प्रवर्द्धमानमपि वत्समुत्क्षिपन् अभ्यासवशाद् द्विहायनं त्रिहायणमप्युत्क्षिपत्येवं साधुरप्यभ्यासात् शनैः शनैः परीषहोपसर्गजयं विधत्त इति । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । ध्याने, एकावलम्बनेन मनःस्थैर्ये च । विशे० । " तत्राभ्यासः स्थितौ श्रमः " तत्राभ्यासः स्थितौ वृत्तिरहितस्य चित्तस्य स्वरूपनिष्ठे परिणामे श्रमो यत्नः पुनः पुनस्तथात्वेन चेतसि निवेशनरूपः । तदाह–" तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यास इति । " स च चिरं चिरकालं नैरन्तर्येणादरेण चाश्रितो दृढभूमिः स्थिरो भवति । तदाह–" स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढभूमिरिति " । द्वा० ११ द्वा० ।

[illegible]

[illegible] भवति शुद्धः ।
[illegible], [illegible]गुणानाम् ॥ १३ ॥

([illegible]) [illegible] परिचयोऽपि, प्रायो [illegible], [illegible] यथाह आवश्ये, [illegible] कुलयोगिन्- [illegible] [illegible] मूलाधाने [illegible] । [illegible] “[illegible] उत्पन्ते, [illegible]” ॥ १ ॥ [illegible]–“सामान्यतो [illegible] ॥ १३ ॥

[illegible]

[illegible] सिद्धिमुपयाति ।
[illegible] ॥ १४ ॥

[illegible] । [illegible] ।

[illegible] –

[illegible] ।
[illegible] ॥ १ ॥
[illegible]
[illegible] ॥ २ ॥
[illegible] ॥ इति ॥

[illegible]

अब्भासकरण–अभ्यासकरण–न० । [illegible] स्य पुनस्तत्रैव संस्थानलक्षणे संयोगभेदे, [illegible] ये अभ्यासगतासेवनासमीपवर्तिस्थले, [illegible]

अब्भासग–अभ्यासक–पुं० । निकटे, “ [illegible] सक इत्यनर्थान्तरम् ” आ० चू० १ अ० ।

अब्भासगुण–अभ्यासगुण–पुं० । गुणभेदे, [illegible] विषयः । तद्यथा–सदृहजनवान्तकोऽपि [illegible] मानिकं गुण एव प्रतिपाति, उपन्तरिन [illegible] [illegible] मेनसोऽपि [illegible] । [illegible]

अब्भासजोगिपयर–अभ्यासमनिनवर– [illegible] भूप्येते, पं० व० १ द्वा० ।

अब्भासत्थ–अभ्यासस्थ–त्रि० । निकटवर्तिनि, [illegible]

अब्भासवत्तिअ–अभ्यासवर्तित्व–न० । [illegible] सामीप्यं तत्र वर्तितुं शीलमस्येत्यभ्यासवर्ती, [illegible] त्वम् । भ० २५ श० ७ उ० । [illegible] लक्षणे लोकोपचारविनये, स्था० १ ठा० । [illegible]

अब्भासप्पच्चय–पुं० । [illegible] प्रत्ययो निमित्तं यत्र [illegible] । [illegible] [illegible] प्रकाशनादी, [illegible] पर्यात । [illegible] गुणि, [illegible] गुणानामेव [illegible] ४ अ० ४ उ० । नि० चू० ।

अब्भासपीतिक–न० । अभ्यासे प्रीतिक प्रेम [illegible] कम् । लोकोपचारविनयभेदे, भ० २ श० ५ उ० ।

अब्भासवित्ति–अभ्यासवृत्ति–स्त्री० । [illegible] वर्तिन, दशा० ३ अ० १ उ० ।

अब्भासासण–अभ्यासासन– [illegible] १० [illegible] ।

अब्भासासण–अभ्यासासन–न० । [illegible] वर्तिनि, भ० ११ श० ।

अब्भासिय–अभ्यासित–त्रि० । [illegible]

अब्भिंग–अभ्यङ्ग–पुं० । [illegible] [illegible]

अब्भिंगिय–अभ्यङ्गित–त्रि० । [illegible] नक्षित, [illegible]

अब्भिंगेइ–[illegible] । [illegible] “ [illegible] ” [illegible] [illegible]

अब्भिंतर–[illegible]

अब्भुग्गच्छ–[illegible] [illegible]

अब्भुग्गय–[illegible]

अब्भुग्गय-अभ्युद्गत-त्रि० । अभिमुखमुद्गतोऽभ्युद्गतः । उत्पादिते, औ० । आभिमुख्येन सर्वतो विनिर्गते, चं० प्र० १८ पाहु० । मद्दुरघटुप्पन्ने घट्टितुं प्रवृत्ते, उद्यते च । ज्ञा० १ अ० । ज० । विपा० । अग्रिमभागे मनागुन्नते, रा० । जं० । अभ्युत्कटे, रा० । जी० । भूद्व्यमभ्यतो विनिर्गते, ज० २ वक्ष० । अतिरमणीयतया द्रष्टृणां प्रत्यभिमुखमुत्थापकत्वेन स्थिते, रा० ॥ " अब्भुग्गयमउलमल्लियाविमलधवलदंतं " अभ्युद्गतमुकुला आयतकुड्मला ये मल्लिकाविचकिलास्तद्वद् विमलौ दन्तौ यस्य । अथवा प्राकृतत्वात् मल्लिकामुकुलवदभ्युद्गतावुन्नतौ विमलधवलदन्तौ यस्य तदभ्युद्गतमुकुलमल्लिकाविमलधवलदन्तम् (हस्तिनम्) । उपा० २ अ० । "अब्भुग्गयमउलमल्लियाधवलसरिससंठाणं " अभ्युद्गतान्युन्नतानि मुकुलमल्लिकेव कोरकावस्थविचकिलकुसुमवद् धवलानि तथा सदृशं समं संस्थानं येषां तानि । जं० ७ वक्ष० । " अब्भुग्गयसुकयवइरवेइयतोरणवररइयसालिभंजियागं " अभ्युद्गते उच्छ्रिते सुकृतवज्रवेदिकायाः सम्बन्धिनि तोरणवरे रचिता लीलास्थिताः शालभञ्जिका यस्यां सा तथा, ताम् । (शिबिकाम्) भ० ९ श० ३३ उ० । आ० म० । ज्ञा० । रा० । मद्दुरघटुप्पन्ने च, ज्ञा० १ अ० ।

अब्भोद्गत-त्रि० । उच्चे, भ० १२ श० ५ उ० ।

अब्भुग्गयभिंगार-अभ्युद्गतभृङ्गार-अभ्युद्गतोऽभिमुखमुद्गत उत्पाटितो भृङ्गारो यस्य स तथा । तथाभूते महाभागे, औ० । भ० । दशा० ।

अब्भुग्गयमुसिय-अभ्यु(द्गतो)न्नतोच्छ्रित-त्रि० । अभ्युद्गतश्चासावुच्छ्रितश्चेत्यभ्युद्गतोच्छ्रितः । अत्यर्थमुच्चे, भ० । "अब्भुग्गयमूसियपहसिया " अभ्युद्गतमत्युद्गतं वा यथा भवत्येवमुच्छ्रितश्चेत्यभ्युद्गतोच्छ्रितः । अत्यर्थमुच्च इत्यर्थः । प्राकृतत्वा-न्नत्सोपश्चात् इश्यः । तथा प्रहसित इव प्रभापटलपरिगततया प्रहसितः । प्रभया वा सितः शुक्लः, संबद्धो वा प्रभासित इति । भ० २ श० ८ उ० । स० । जं० । जी० ।

अब्भुज्जय-अभ्युद्यत-त्रि० । वर्द्धितुं प्रवृत्ते, " अब्भुग्गएसु अब्भुज्जएसु अब्भुट्ठिएसु " (मेघेषु) ज्ञा० १ अ० । सोद्यमे, ज्ञा० ५ अ० । उद्यतविहारिणि, व्य० ४ उ० । "अब्भुज्जयं दुविधं अब्भुज्जयमरणेण, अब्भुज्जयविहारेण वा " । नि० चू० १६ उ० ।

अभ्युद्यतविहारमरणयोः स्वरूपमाह—

जिण-सुद्ध-अहालंदे, तिविहो अब्भुज्जओ अह विहारो ।
अब्भुज्जयमरणं पुण, पाओवगमणिंगिणिपरिन्ना ॥

जिनकल्पः, शुद्धपरिहारकल्पो, यथालन्दकल्पश्चेति त्रिविधोऽभ्युद्यतः; अथैष विहारो मन्तव्यः । अभ्युद्यतमरणं पुनस्त्रिविधम्-पादपोपगमनमिङ्गिनीमरणं, परिज्ञेति भक्तप्रत्याख्यानम्, बुद्धिश्चाप्येतेषु अभ्युद्यतरूपतया श्रेयसी ।

अतः कतरदनयोः प्रतिपत्तव्यम् ?, उच्यते—

सयमेव आउकालं, नाउं पेच्छित्तु वा बहुं सेसं ।
सुबहुगुणलाभकंखी, विहारमब्भुज्जयं भयइ ॥

स्वयमेवायुःकालं सातिशयश्रुतोपयोगाद्बहु दीर्घं शेषमवशिष्यमाणं ज्ञात्वा दृष्ट्वा वाऽन्यं श्रुताद्यतिशययुक्तमाचार्यं बहु शेष-मवबुध्य; ततः सुबहुगुणलाभकाङ्क्षी सन् विहारमभ्युद्यतं भजति, प्रतिपद्यत इत्यर्थः । बृ० १ उ० । ('जिणकप्पिय' शब्देऽस्य विधिः)

अब्भुज्जयमरण-अभ्युद्यतमरण-न० । अभ्युद्यतस्य मरणे, तत्त्रिविधमिति अनन्तरमुक्तम् । बृ० १ उ० । नि० चू० । पं० व० । संथा० । (पादपोपगमनादिषु वक्तव्यताऽस्य)

अब्भुज्जयविहार-अभ्युद्यतविहार-पुं० । अभ्युद्यतानां जिनकल्पिकादीनां विहारे, पं० व० ४ द्वा० । बृ० । (स च त्रिविध इति ' अब्भुज्जय ' शब्दे उक्तम्)

अब्भुट्ठाण-अभ्युत्थान-न० । आभिमुख्येनोत्थानमुद्गमनमभ्युत्थानम् । ग० २ अधि० । उत्त० । तदुचितस्यागतस्य अभिमुखमुत्थाने, पञ्चा० १७ विव० । दश० । द्वा० । विनयार्हस्य दर्शनादेवाऽऽसनत्यजने, स्था० ७ ठा० । ससंभ्रममासनमोचने, उत्त० ३ अ० । व्य० । प्रव० ।

एष दर्शनविनयभेद इत्थं समाचरणीयः—

अब्भुट्ठाणे लहुगा, पासत्थादन्नतित्थीणं ।
संजइणीण पुणो तह, संजइवग्गे य गुरुगा उ ॥

साधुभिः साधूनामेवाभ्युत्थानं विधेयं न गृहस्थादीनां, तत्रापि संविग्नानामेव न पार्श्वस्थादीनाम् । अथ पार्श्वस्थादीनामन्यतीर्थिकानां गृहिणां वाऽभ्युत्थानं करोति तदा चत्वारो लघवः । तथा संयत्यादीनामन्यतीर्थिनीनां संयतवर्गस्य अभ्युत्थाने चतुर्गुरवः ।

अथात्रैव दोषानुपदर्शयति—

उट्ठेइ इत्थि जइ एस चिंति, धम्मे ठिओ नाम न एस साहू ।
दक्खिन्नपन्ना वसमेइ चेवं, मिच्छत्तदोसा य कुलिंगिणीसु ॥

संयतं कस्या अपि स्त्रिया अभ्युत्तिष्ठन्तं दृष्ट्वा श्रावकादिश्चिन्तयेत्-यदेष साधुः स्त्रियमायान्तं दृष्ट्वा अभ्युत्तिष्ठति । नाम नामेति संभावनायाम् । संभावयाम्यहं नैष सम्यग्धर्मे [illegible] रित्रात्मके स्थितः, अन्यथा किमेष एतामभ्युत्तिष्ठेद् ? । किंच-एवं स्त्रिया अभ्युत्तिष्ठन् दाक्षिण्यवान् भवति । [illegible] एयत्वे तस्या वशमायत्ततामुपैति । ततश्च [illegible] ये दोषाः । यास्तु कुलिङ्गिन्यस्ताः परि[illegible] अभ्युत्थीयमानासु यथा भद्रकादीनां [illegible] दोषा भवन्ति ।

अन्यतीर्थिकेषु पुनरिमे [illegible]—

ओभावणा पवयणे, बुद्धि[illegible]
खिसिज्जंति य तप्प-[illegible] ॥

भो भागवत ! सौगता[illegible] चरममहती अपभ्राजना [illegible] पां यदेवमन्यदर्शि[illegible] कुतीर्थस्योद्भावना [illegible] यदेवं जैना [illegible] त्ति) प्रवचन[illegible] यादर्शा [illegible] मता [illegible] शाक्य[illegible] [illegible]

एएण कारणेणं, पुरिसेसुं इत्थिया पत्थ ॥

इह स्त्रियः प्रायेण पूजितं पूजयन्ति, यमेवाचार्यादिकं साधु-श्रावकादिभिरभ्युत्थानादिना पूज्यमानं पश्यन्ति तस्यैव पूजां विदधति,ताश्च स्त्रियः प्रायेण लघुसत्त्वास्तुच्छाशया भवन्ति। ततः साधुभिरनभ्युत्थीयमानमाचार्यं गाढतरं परिभवबुद्ध्या पश्यन्ति, न किमप्येष आचार्यो जानाति,तथाऽयं विशिष्टगुणवान् संमान्यते, अन्यथा किमेते साधवो नाभ्युत्तिष्ठन्ति,एवमेतेन कारणेन पुरुषेषु साधुश्रावकादिषु पूर्वं लघुतरप्रायश्चित्तमुक्त्वा पश्चात् स्त्रियोऽधिकृत्य गुरुतरमुक्तम् ।

अथ राज्ञा सार्द्धं समागतस्यानभ्युत्थाने किं कारणं पाराञ्चिकम् ?, इत्याह-

पासणिद्धा एंति महायणेण समं फासिं दोसो गच्छइ एएसु तणु वि गरुअं वक्कं होज्ज कहं वा परिभूते वेकुत्तं वा कुत्थियवेरम्मि मणुस्से वहा ॥

राजादय ऋद्धिमन्तः प्रायेण बाहुल्येन महाजनेन सामन्तमन्त्रि-दण्डनायकादीनां महता समवायेन समं समागच्छन्ति,ततस्तेषु तनुरपि स्वल्पोऽपि अनभ्युत्थानमात्रलक्षणो दोषः स्फातिं गच्छति, सर्वत्र विस्तरतीति भावः। अपि च-साधुभिरनभ्युत्थीयमान आचार्यः परिभूतो भवति, परिभवपदमुपगच्छतीत्यर्थः। परिभूत-[illegible] ?,

[illegible]

[illegible]

मुकानामपि धर्मकथायाः कथं गाम्भीर्यमाधुर्यगुणैरमर्थ्यमपि परिभूततया न राजादीनामुपादेयं भवति। तदनुपादेयतायां च तेषां सम्यग्दर्शनादिप्रतिपत्तिरपि न भवति, अतो राज्ञा सार्द्धं समागते अनभ्युत्थीयमाने पाराञ्चिकम् ।

परः प्राह-युक्तं प्रवचनभूत्यादेरागतस्याऽभ्युत्थानम्, यत्तु चङ्क्रमणं कुर्वतोऽभ्युत्थानं तदस्माकं युक्तिक्षमं प्रतिभाति ।

यतः-

अवस्सकिरियाजोगे, वट्टंते साहुणया ।
परिफग्गुं तु पासामो, चंकमंते वि उट्ठाणं ॥

विचारविहारादिको योऽवश्यं कर्त्तव्यः क्रियायोगस्तत्र वर्त्तमानो यदा समागच्छति तदा सार्थकी श्रेयसी तस्य पूज्यता। यदा तु चङ्क्रमणं करोति तदा निरर्थको योगो वर्त्तते । चङ्क्रमणमप्यपि गुरौ यदुत्थानं तदपि फल्गु निर्मूलमेव पश्यामः। भगवत्यां तृतीयशते-"जावं च णं से जीवे सया समियं एयइ वेयइ चलइ फंदइ घट्टइ खुब्भइ उदीरइ तं तं भावं परिणमइ तावं च णं तस्स जीवस्स अंते अंतकिरिया न भवइ" ॥

अत्र सूरिप्रतिविधानमाह-

कामं तु चंकमंतो, अरंताईसु वट्टई जीवो ।
सो उ अणट्ठा णट्ठो, अवि य सुहंपि उवयोगे ॥

काममनुमतं यदेष जीव चङ्क्रममाण आरम्भादिषु कर्मबन्धकारणेषु वर्त्तते, न तु स पुनः परस्परं ऽनर्थो निष्कारणं तत्र चङ्क्रमः। अपि बाह्यारम्भेऽप्यन्तरङ्गेऽपि, किं पुनः चङ्क्रमणादिविचारविहारादेः । अर्थान्तरमपि-च सार्थक चङ्क्रमणादिर्व्यापारः स इह वर्त्तते ।

तत्र सत्येऽकोऽपि व्यापारः कथमिह ?, इत्यत्र [illegible] यदा

योगत्रयेऽपि व्यापार्यमाणे दोषा यथा च गुणा भवन्ति तदेतत् प्रतिपादयति-

मणो य वाया काओ अ, तिविहो जोगसंगहो ।
ते अजुत्तस्स दोसाय, जुत्तस्स य गुणावहा ॥

मनोयोगो वाग्योगः काययोगश्चेति त्रिविधो योगसंग्रहो भवति, संग्रहणं त्रिविधो योगो प्रवर्त्तनीयार्थः। ते मनोवाक्काययोगा अयुक्तस्य अनुपयुक्तस्य दोषाय कर्मबन्धाय भवन्ति,युक्तस्य तु त एव गुणावहकर्मनिर्जराकारिणः संपद्यन्ते ।

इदमेव भावयति-

जह गुत्तस्सिरियाई, न होंति दोसा तहेव समिइस्स ।
गुत्ती ठियप्पमायं, रुंभइ समिई सचेट्ठस्स ॥

यथा किल मनोवाक्कायगुप्तस्य ईर्यादिसम्भवा [illegible] क्रियासमुत्था दोषा न भवन्ति, तथैव समितस्य [illegible] चङ्क्रमणं कुर्वत ईर्यादिसम्भवा दोषा न भवन्त्येव। किं कारणम् ?, इत्याह-यदा किल गुप्तिषु मनोगुप्त्यादिषु स्थितो भवति तदा योऽगुप्तिप्रत्ययः प्रमादस्तं निरुणद्धि,[illegible] न बध्नाति,यस्तु समितो स्थितः [illegible] कर्मबन्धनयोग्यं [illegible] विदधाति ।

परः प्राह-यो गुप्तः स समितो भवति न वा ?, यो वा समितः स गुप्तो भवति न वा ?, ।

अत्रोच्यते-

समिओ नियमा गुत्तो, गुत्तो समियत्तणम्मि भइयव्वो ।
कुसलवइमुदीरंतो, जं वइसमिओ वि गुत्तो वि ॥

इह समितः प्रवीचाररूपा [illegible], गुप्तस्तु [illegible] प्रवीचाराप्रवीचाररूपाः [illegible] ततो यः समितः [illegible] भवति । [illegible] यस्माद् गुप्तो गुप्तिगुप्तः [illegible] विकल्पनीयः, यः समितः स नियमाद् गुप्तः [illegible] निरवद्यवागादिप्रवर्त्तनात् [illegible] संवृतः [illegible] भवति [illegible]

तत्र समितस्य [illegible]

जो पुण कायपरीओ, चिट्ठइ कुसलं [illegible] ।
चिट्ठइ एवगमणा, सो खलु गुत्तो न समिओ उ ॥

यः पुनः कायपरीतो [illegible] धर्मध्यानादिलक्षणं [illegible] समितः, प्रवीचाररूपत्वात् । [illegible] स गुप्तोऽपि स समितो न भवति ।

अथ [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible] समितिर्मानसी मानसिकोपयोगनिष्पन्ना। किमुक्तं भवति? यदा साधुरेषणासमितो भवति, तदा श्रोत्रादिभिरिन्द्रियैर्[illegible]नादिमनुष्येषु शब्दादिषूपयुज्यते । अत [illegible] मनोगुप्तेरेकत्वं, शेषास्तु समितय ईर्याआदाननिक्षेप[illegible]यः कायिक्यः-कायचेष्टानिष्पन्नाः। अत एतासां तिसृणामपि कायगुप्त्या सहैकत्वम्। (मणो उ सव्वासु अविरुद्धो त्ति) मानसिक उपयोगः सर्वासु पञ्चस्वपि स[illegible], समितिष्वेकोऽप्यस्तीति भावः। अत एव म[illegible] सर्वासां समितीनां मनोगुप्त्या सहैकत्वं मन्तव्यम।

आह-भिक्षार्थं गृहद्वारे स्थितस्य तत्राहारादीनि कल्पनीयानि मार्गयतः श्रोत्रादिभिरुपयुक्तस्य भाषासमितिमनोगुप्त्ये[illegible] तिसृणामपि संभवो दृश्यते। अतः किमासा[illegible]?, इत्याशङ्क्याऽऽह-

वयसमितो च्चिय साहू, आहारादीणि कप्पणिज्जाणि।
[illegible] पुण, मोयाइ माणसी जवइ ॥

[illegible] मया साहामित्येषणासमिति[illegible] यदा साधुराहारादीनि कल्पनीयानि मार्गयति [illegible]। न पुनर्मनोगुप्तः, [illegible]। यदा तु श्रोत्रादिभिरेषणायामुपयोगं करोति तदा मानसी [illegible]। न पुनर्भाषासमितिः। [illegible]-भाषासमितिः, मनोगुप्तिरेति द्वे समितिगुप्ती [illegible], किन्तु भिन्नकाले, यदपि च "मणो य सव्वासु [illegible]त्ति" [illegible] भाषासमितावपि मानसिकोपयोगः [illegible] न विरुध्यत इति।

अपि च-

[illegible] चिट्ठा, [illegible]दीणं तु भणियाईसु।
[illegible], न [illegible] ॥

[illegible] ईर्यासमिति, किन्तु [illegible] सह[illegible]गम[illegible]। [illegible]

[illegible]-

[illegible], [illegible] ॥
[illegible] ॥

[illegible]

कल्पितम्। कथम्?, इत्यत आह-मा सूत्रार्थ[illegible]न्यो व्याघातो भविष्यतीति कृत्वा यदि गुरवो [illegible]न्ति तदा नाभ्युत्थातव्यम। परमेवं गुरुभिर्[illegible] वारमभ्युत्थानं विधाय प्रणिपातवन्दनशिर[illegible] भगवन्! अनुजानीध्वमिति भणित्वा यथायोगं [illegible]गुणनादिकं व्यापारं कुर्यात्। अथवा गुरवो [illegible] ततो नियमादभ्युत्थातव्यम।

पुनरपि परः प्रेरयति-यदि चङ्क्रमणाभ्युत्थाने सूर[illegible]स्थदोषो भवति तत इदमस्माभिरुच्यते-

अइसुट्ठियं चुचइ, जं चंकमणे वि होइ उट्ठाणं।
एवमकारिज्जंतो, जइगाभोइ व मा कुणा ॥

अतिसुष्ठुतीव प्रबुद्ध[illegible]चितमिदं भवद्भि[illegible]प्यभ्युत्थानं कर्तव्य भवति। सूरिराह-[illegible] स्थानमकार्यमाणा भद्रकजोजिकस्येव [illegible]नयं कार्युरितिकृत्वा चङ्क्रमेऽपि अभ्युत्थानं [illegible]ऽयं भद्रकजोजिकः?, इत्युच्यते। "जहा-एगो भो[illegible] तुट्ठेण गाममंडलं पमासणे दिन्नं। सो तत्थ गओ, [illegible] स्या तुट्ठा भद्दओ सामी अम्हो त्ति (भद्रकस्वामी) [illegible] इयं चिंतेति-अहं तव पुत्ताणुपुत्तियं [illegible] चिन्तणिज्ज त्ति कार्यं करं पुव्वपरिमाणाओ [illegible] इएण अब्भुवगयइ। अन्नया जं जं ते चिंतेंति [illegible] सो तेसिं गामिल्लयाणं अनुग्गहं करेइ। [illegible] अपसरा ते जहारिहं निउयं भंभिउमाढत्ता। [illegible] कहेण ते गामिल्लया दुक्खिया, केइ उद्दविया"। [illegible] पच्चोयरणओ-"चंकमणं अणब्भुट्ठाणं, [illegible] रिहविउ, ततो रुट्ठो आयरिओ पच्छित्त [illegible] अणुंनायराहिणो ते गच्छाओ निच्छुभिज्जा, [illegible] य ते इहलोए परलोए य परिच्चत्ता नयंति। [illegible] सारणमुवगयाणं तेसिं न सरेक्खणकारी भवइ, [illegible] मणे वि ते अब्भुट्ठाणं कारिज्जति"।

अपि च-

घमनाण होंति बहुगा, असारणं भा[illegible] ॥
ते वि य पुरिसा दुविहा, पंचाणणा [illegible] ॥

ये ते गुरुत्वज्ञानादिषु नाभ्युत्थिष्ठन्ति [illegible] यन्ति-कस्मादाचार्यान्नाभ्युत्थिष्ठथ?, [illegible] अथ वृत्तेः प्रतिनोदिताः [illegible] एवं सति गुरुता [illegible] मकृत्याने प्रसारणायां [illegible] पसंग[illegible]प्रतिपाद[illegible]। ते द्विविधा पुरुषाः [illegible]

[illegible]

अस्माकं पूर्वस्मिन् गच्छे वसतामाचार्यस्य चङ्क्रमणादिषु वारं वारं अभ्युत्थानेन कटी भग्ना, अथास्माभिर्नाभ्युत्थीयते तदा शोधिं प्रायश्चित्तं प्रयच्छन्ति,गाढं च खरपरुषैः खरण्टयति, अस्मिंस्तु गच्छे न प्रायश्चित्तं, न च खरण्टना, अतोऽभिरोधोऽभियन्त्रणा,तेन सुखं सुखदायी वासोऽत्र 'णे' अस्माकं भविष्यति,निश्चयो वयमत्रेति कृत्वा तत्रैव तिष्ठेयुः,न भूयः स्वगच्छं गच्छेयुः।

जे पुण उज्जयचरणा, पंजरभग्गो न रोयए ते उ ।
अन्नत्थ वि सइरत्तं, न लब्भई एति तत्थेव ॥

ये पुनरुद्यतचरणाः स्खलितेऽप्यनभ्युत्थानादावपराधे सम्यक् प्रतिनोदनाकारिणः तान् पञ्जरभग्नो न रोचयति, न कस्मिन्नपि प्रार्थयति । चिन्तयति च-अन्यत्रापि गच्छान्तरे स्वैरित्वं स्वातन्त्र्यं न लभ्यत इति विचिन्त्य तत्रैव स्वगच्छे एति समागच्छति।

अत्र संयमाभिमुखोऽसौ समागतस्तत्र किम् ?, इत्याह-

चरणोदासीणे पुण, जो विप्पजहाय आगतो समणो ।
सो तेसु पविसमाणो, सड्ढं वड्ढेइ ओलग्गा वि ॥

यः पुनः श्रमणश्चरणोदासीनान् पार्श्वस्थादीन् सुखशीलविहारिणो विप्रहाय संयमाभिमुखः समागतः स तेषु गच्छान्तरीयेषु साधुषु प्रविशन् उभयेषामपि साधूनां श्रद्धां वर्द्धयति । तथाहि-यत्र गच्छे असौ प्रविशति तदीयाः साधवः चिन्तयन्ति-एष "सुन्दरा अमी" इति परिज्ञायास्माकं मध्ये प्रविशति, अतः सुन्दरतरं कुर्महे। यस्मादपि गच्छादायातः तदीया अपि चिन्तयन्ति-अस्मान् सुखशीलानिति विहायैव गच्छान्तरं गच्छति, अतो वयमुद्यता भवाम इति ।

अथासौ संयमाभिमुखस्तत्रापि सामाचारीहापनं प्रतिनोदनाया अभावं च पश्यति, ततश्चिन्तयति-

इत्थ वि मेराहाणी, एते वि हु सारवारणामुक्का ।
अन्ने वयं अजियुद्धा, तप्पच्चयनिज्जराहाणी ॥

अत्रापि गच्छे, न केवलं पूर्वस्मिन्नित्यपिशब्दार्थः । मर्यादाया अभ्युत्थानादिसामाचार्या हानिरवलोक्यते, एतेऽपि च साधवः सारणवारणया मुक्ताः परिस्फुटं प्राक्तनगच्छसाधव इव निरर्गलाः समीक्ष्यन्ते, अतः को नामामीषां समीपे स्थास्यतीति मत्वा स संयमाभिमुखः साधुरन्यान् गच्छान्तरीयान् साधून् व्रजति प्रविशति । प्रविशतु नाम गच्छान्तरं, का नो हानिरिति चेत् ?, अत आह-तत्प्रत्यया-तस्य साधोः संयमानुपालनप्रत्ययकारणहेतुका या निर्जरा, तस्या हानिः प्राप्नोति, सा न भवतीत्यर्थः ।

आह-किं कारणमसौ तेषु तत्र विशति ?, इत्याह-

जहि नत्थि सारणा वा-रणा य पडिचोयणा य गच्छम्मि ।
सो उ अगच्छो गच्छो, संजमकामीण मोत्तव्वो ॥

विस्मृते क्वचित् कर्त्तव्ये भवतेदं न कृतमित्येवंरूपा स्मारणा सारणा, अकर्त्तव्यनिषेधो वारणा, चपलत्वादन्यथा कर्तव्यसमाचारीगादिना अन्यथा कुर्वतः सम्यक् प्रयत्नेन प्रेरणा, वारितस्यापि पुनः पुनः प्रवर्त्तमानस्य खरपरुषोक्तिभिः शिक्षणं प्रतिनोदना,यतः सारणादयो यत्र गच्छे न सन्ति स गच्छो गच्छकार्याकरणादगच्छो मन्तव्यः । अत एव संयमकामिना संयमाभिमुखेन साधुना मोक्तव्योऽसौ, नाश्रयणीय इति भावः । गाथायां सारणत्वादिकारस्य दीर्घत्वम् ।

प्रकारान्तरेण प्रायश्चित्तमभिधित्सुः प्रस्तावनामाह—

अयमवरो उ विकप्पो, पुव्वावरवाहय त्ति ते बुद्धी ।
लोए वि अणेगविहं, नणु भेसज मो रुजोवसमे ॥

अयमग्रेतनगाथायां वक्ष्यमाणोऽपरः प्रायश्चित्तस्य विकल्पः प्रकारः। अत्र परः प्राह-पूर्वापरव्याहतमिदम्, पूर्वमन्यादृशं प्रायश्चित्तमुक्त्वा यदिदानीमन्यादृशमभिधीयते तदेतत् पूर्वापरविरुद्धमिति ते तव बुद्धिः स्यात् । तत्रोच्यते-ननु लोकेऽपि रुजोपशमे विधातव्ये यथा त्रिफलात्रिकटुकादिभेदादनेकविधं भेषजं, 'मो' इति पादपूरणे । प्रयुज्यमानं दृष्टमेव, एवमत्राप्येकस्यैवानभ्युत्थानस्य तथा क्षेत्रमहाजनादिभेदादनेकविधं प्रायश्चित्तमभिधीयमानं न विरुध्यते ।

इत्थं परामिकृतं परिहृत्य प्रायश्चित्तमाह—

वीयारसाहुसंजइ-निगमथमामंघरायगहिए तु ।
लहुगो लहुगा गुरुगा, छम्मासा छेदमूलदुगं ॥

आचार्य विचारभूमेरागतं नाभ्युत्तिष्ठन्ति सामान्यतः साधुभिः सममायातमनभ्युत्थितानां चतुर्लघवः, संयतीभिः समं चतुर्गुरवः, निगमैः पौरवणिग्विशेषैः समं षड्लघवः, षट्या महत्तरादिगोष्ठीपुरुषसमवायलक्षणया समं छेदः, अथेन समं मूलम्, राज्ञा सममनवस्थाप्यम् । (गहिए त्ति) अयशीर्षितेन राज्ञा सममायातमनभ्युत्थितानां पाराञ्चिकम् । तमनभ्युत्थानम् । बृ० ३ उ० । (अत्रायमत्र यथा आचार्यस्यानभ्युत्थाने च कल्प्ये तदनु सर्वे 'अइसेस' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५४ पृष्ठे दर्शितम्) पुनर्नैतत्करिष्यामीत्यभ्युपगमे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । प्रश्ने, स्था० २ ठा० १ उ० । साम्प्रतमागतस्य, संभोगासंभोगस्थाने यथा पार्श्वस्थादेरभ्युत्थानं कुर्वन्नविसंभोग्यः । स० १२ सम० । प्रव० । आव० । आ० चू० । गुरुजनागमने दृष्टे आसनत्यागेनोर्ध्वीभवने, उत्त० २३ अ० । (अभ्युत्थान वक्तव्यता 'सक्कार' शब्दे दर्शयिष्यते) (त्रिभिः स्थानैर्देवा अभ्युत्तिष्ठेयुरिति 'मणुस्सलोय' शब्दे दर्शयिष्यते) ।

अब्भुट्ठित्तए-अभ्युत्थातुम्-अव्य० । अभ्युपगन्तुमित्यर्थे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

अब्भुट्ठिय-अभ्युत्थित-त्रि० । उद्यमे, "अब्भुट्ठियं रायरिसिं, पव्वज्जाठाणमुत्तमं" उत्त० ९ अ० । "अब्भुट्ठिएसु मेहेसु" प्रवर्षणाय उद्यतेषु, ज्ञा० १ अ० । आरब्धे, पं० ३ कल्प० । अभ्युदिते, उत्त० ६ अ० । सं० ।

अब्भुट्ठेत्ता-अभ्युत्थातृ-त्रि० । अभ्युपगन्तरि, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अब्भुट्ठेयव्व-अभ्युत्थातव्य-त्रि० । अभ्युपगन्तव्ये, स्था० ८ ठा० ।

अब्भुणय-अभ्युन्नत-त्रि० । उच्छ्रिते, ज्ञा० १ अ० । "अब्भुण्णयपउमनालकोमलसुविरइयगत्था" अभ्युन्नता उन्नताः सुन्दराः, अथवा कोमला इव रचिताः, मांसला प्रशस्ताः, मसृणा आरक्ताः,शुक्ला: परिवाराः, स्निग्धाः कान्ताः, अतः पर्वा ते यथा । प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० । "अब्भुण्णयपाणिपाया उन्नतोरुवक्षाः" अब्भुण्णयगुच्छी पीवरी रुक्खी रमिरी गुरुवी मांसलो विविध-

संस्थानवन्तौ पयोधरौ स्तनौ यस्याः सा तथा। (घरतरुणी) जी० ३ प्रति०। ज्ञा०। अत्युत्कटे, आ० म० प्र०। जं०। रा०।

अब्भुत्त-स्ना-धा०, पर०, अदा०। शौचे, "स्नातेरब्भुत्तः" ।८।४।१४। इति सूत्रेण धातोः 'अब्भुत्त' इत्यादेशः। अब्भुत्तइ-स्नाति। प्रा० ४ पाद। प्र-दीप्-धा०, दिवा०। आत्मप्रकाशे, "प्रदीपेस्तेअव-संदुम-संधुक्काब्भुत्ताः" ८।४।१५२। इति सूत्रेण प्रदीप्यतेः 'अब्भुत्त' आदेशः। अब्भुत्तइ-प्रदीप्यते। प्रा० ४ पाद।

अब्भुदय-अभ्युदय-पुं०। राजलक्ष्म्यादिलाभे, ज्ञा० २ अ०। अभ्युदयो यथेह राज्याभिषेकादिर्मानवे भवति तथा स्वर्गापवर्गप्राप्तिहेतुत्वादस्य संस्तारकस्य, अत एवोऽप्यभ्युदयः। संथा०।

अब्भुदयफल-अभ्युदयफल-त्रि०। अभ्युदयनिवर्त्तके, पो० ए विव०।

अब्भुदयहेउ-अभ्युदयहेतु-पुं०। कल्याणनिमित्ते, पञ्चा० ८ विव०।

अब्भुदयावुच्छित्ति-अभ्युदयाव्युच्छित्ति-स्त्री०। स्वर्गादेरव्यवच्छेदे सन्ततौ, पो० ६ विव०।

अब्भुय-अद्भुत-त्रि०। सकलभुवनातिशायिनि श्रुतशिल्पत्यागतपःशौर्यकर्मादिके अपूर्वे वस्तुनि, उपचारात् तद्दर्शनश्रवणादिभ्यो जाते विस्मयरूपे रसविशेषे, पुं०। अनु०।

अद्भुतरसं स्वरूपतो लक्षणतश्चाऽऽह-

विम्हयकरो अपुव्वो, अनुभूअपुव्वो य जो रसो होइ।
हरिसविसाओप्पत्ती-लक्खणो उ अब्भुओ नाम ॥ ६ ॥

अब्भुओ रसो जहा-

अब्भुअतरमिह एत्तो, अन्नं किं अत्थि जीवलोगम्मि।
जं जिणवयणे अत्था, तिकालजुत्ता मुणिज्जंति।

कस्मिंश्चिदननुभूते वस्तुनि दृष्टे विस्मयं करोति, विस्मयोत्कर्षरूपो यो रसो भवति सोऽद्भुतो नामेति संटङ्कः। कथंभूतः?, अपूर्वोऽननुभूतपूर्वो वा। अनुभूतपूर्वः किंलक्षणः?, इत्याह-हर्षविषादोत्पत्तिलक्षणः, शुभे वस्तुन्यद्भुते दृष्टे हर्षजननलक्षणः, अशुभे तु विषादजननलक्षण इत्यर्थः। उदाहरणमाह-"अब्भुअ"-गाहा। इह जीवलोकेऽद्भुततरं इतो जिनवचनात् किमन्यदस्ति, नास्तीत्यर्थः। कुतः?, इत्याह-यद्यस्माज्जिनवचनेनार्था जीवादयः सूक्ष्मव्यवहितनिरोहिताऽतीन्द्रियामूर्तादिस्वरूपा अतीतानागतवर्तमानरूपाः त्रिकालयुक्ता अपि ज्ञायन्त इति। अनु०। "अब्भुए णीए अब्भुए वाइए अब्भुए नट्टे" अद्भुतमाश्चर्यकारि। रा०।

अब्भुवगम-अभ्युपगम-पुं०। अङ्गीकरणे, स्था० २ ठा० ४ उ०।

अब्भुवगमसिद्धंत-अभ्युपगमसिद्धान्त-पुं०। सिद्धान्तभेदे, सू० स च-

जं अब्भुवेच्च कीरइ, सिद्धाए वरा स अब्भुवगमो उ।
सीसो वन्दी गमरु-इ सरणं मग्गुगामिणा ॥

दश अब्भुवेच्च स्वेच्छया अभ्युपगम्य वादकथा क्रियते। यथा-हंसो वन्हिः, शब्दरूपं, दृश्यते, महोरंगस्तावत्, खरस्य च शृङ्गम, इत्येवंऽभ्युपगमसिद्धान्तः। सू० १ उ०। अर्थादिस्वरूपगमात्तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः। तत्र किं-इति विचारे कश्चिदाह-अस्तु द्रव्यं शब्दः, स तु किं नित्योऽनित्य इत्येवं विचारः। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

अब्भुवगय-अभ्युपगत-त्रि०। अति आभिमुख्येन आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ०। अभ्युपगमवति, ग० १ अ० संप्राप्ते, पा०। श्रुतसंपदोपसंपन्ने, आ० म० प्र०। पं० व० १ द्वार।

अब्भोवगमिया-आभ्युपगमिकी-स्त्री०। अभ्युपगमेन स्वीकारेण निर्वृत्ता तत्र भवा वाऽऽभ्युपगमिकी। स्वयमभ्युपगते (वेदनायाम्)। स्था० २ ठा० ४ उ०। या हि स्वयमनुभूयते यथा-साधुभिः प्रव्रज्याप्रतिपत्तितो ब्रह्मचर्यभूमिशय्याकेशलुञ्चनातापनादिभिः शरीरपीडाभ्युपगमनम्। न० १०। उ०। "दुविहा वेदणा पण्णत्ता। तं जहा-अब्भोवगमिया य उवक्कमिया य" प्रज्ञा० ३४ पद।

अभग्ग-अभग्न-त्रि०। न भग्नोऽभग्नः। सर्वथाविनाशरहिते, "एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो"। आव० ५ अ०। ध०। ल०। आ० चू०।

अभग्गसेण-अभग्नसेन-पुं०। विजयाभिधानचौरसेनापतेः पुत्रे, विपा०। तत्कथानकं चेदम्-

तचस्स उक्खेवो एवं खलु-जंबू! तेणं कालेणं तेणं समएणं पुरिमतालणामं णयरे होत्था, रिद्धि० तस्स णं पुरिमतालस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ णं अमोहदंसी उज्जाणे, तत्थ णं अमोहदंसिस्स जक्खस्स जक्खायतणे होत्था, तत्थ णं पुरिमताले महब्बले णामं राया होत्था, तत्थ णं पुरिमतालस्स णयरस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए देसप्पंते अडवी संसया। एत्थ णं सालाडवी णामं चोरपल्ली होत्था, विसमगिरिकंदरकोलंबसण्णिविट्ठा वंसीकलंकपागारपरिक्खित्ता छिण्णसेलविसमप्पवायफरिहोवगूढा अब्भिंतरपाणिया सुदुल्लभजलपेरंता अणेगखंडी विदितजणदिण्णनिग्गमप्पवेसा सुबहुयस्स विकुविजयस्स जणस्स दुप्पहंसा यावि होत्था। तत्थ णं सालाडवीए चोरपल्लीए विजए णामं चोरसेणावइ परिवसइ, अहम्मिए० जाव लोहियपाणी बहुणयरणिग्गयजसे सूरे दढप्पहारे साहसिए सद्दवेही असिलट्ठिपढममल्ले, से णं तत्थ सालाडवीए चोरपल्लीए पंचण्हं चोरसयाणं आहेवच्चं० जाव विहरइ। तए णं से विजए चोरसेणावइ बहुणं चोराण य पारदारियाण य गंठिच्छेयाण य संधिच्छेयाण य खंडपट्टाण य अन्नेसिं च बहूणं छिण्णभिण्णबाहिराऽहियाणं कुडंगे यावि होत्था। तए णं विजयचोरसेणावइ पुरिमतालस्स णयरस्स उत्तरपुरच्छिमिल्लं जणवयं बहूहिं गामघाएहि य णगर-

घाएहि य गोग्गहणेहि य बंदिग्गहणेहि य पंथकोट्टेहि य खत्तखणणेहि य उवीलेमाणे उव्वीलेमाणे विद्धंसेमाणे विद्धंसेमाणे तज्जेमाणे तज्जेमाणे तालेमाणे तालेमाणे णित्थाणे णिद्धणे णिक्कणे करेमाणे विहरइ, महब्बलस्स रएणो अभिक्खणं २ कप्पाइं गिण्हइ, तत्थ णं विजयस्स चोरसेणावइस्स खंधसिरी णामं भारिया होत्था। अहीण० तत्थ णं विजयचोरसेणावइस्स पुत्ते खंधसिरीए भारियाए अत्तए अभग्गसेणे णामं दारए होत्था अहीणं । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे पुरिमतालणामं णयरे जेणेव अमोहदंसी उज्जाणे तेणेव समोसढे परिसा राया निग्गओ,धम्मो कहिओ, परिसा राया णिग्गओ, तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अन्तेवासी गोयमे० जाव रायमग्गं समोगाढे तत्थ णं बहवे हत्थी पासइ, तए णं तं पुरिसं राया पुरिसा पढमंमि चच्चरंमि णिसियाविंति , णिसियाविंतित्ता अट्ठचुल्लपिउए अग्गओ घाएइ कसप्पहारेहिं तालेमाणे २ कलुणं काकणिमंसाइं खावेइ,खावेइत्ता रुहिरपाणं च पायंति । तयाणंतरं च णं दोच्चं पि चच्चरंसि अट्ठलहुमाउयाओ अग्गओ घाएंति, घाएंतित्ता एवं तच्चे० अट्ठमहापिउए, चउत्थे० अट्ठमहामाउए, पंचमे पुत्ता, छट्ठे सुण्हा, सत्तमे जामाउया, अट्ठमे धूयाओ, णवमे णत्तुया,दसमे णत्तुयओ, एक्कारसे णत्तुयावइ, बारसमे णत्तुणीओ,तेयारसमे उस्सियपतिया, चउद्दसमे पिउस्सियाओ, पण्णरसमे मासियाओ पइयाओ, सोलसमे मामियाओ०,सत्तरसमे मामियाओ,अट्ठारसमे अवसेसं मित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरिजणं अग्गओ घाएंति,घाएंतित्ता कसप्पहारेहिं तालेमाणे२ कलुणं काकणिमंसाइं खावेइ रुहिरपाणं च पाएइ । तए णं से भगवं गोयमे तं पुरिसं पासइ, पासइत्ता अयमेयारूवे अज्झत्थिये ५ समुप्पण्णे० जाव तहेव णिग्गए एवं वयासी–एवं खलु अहं भंते !-से णं भंते ! पुरिसे पुव्वभवे के आसी० जाव विहरइ । एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे भारहेवासे पुरिमताले णामं णयरे होत्था,रिद्धि० ३ तत्थ णं पुरिमताले उदये णामं राया होत्था,महया तत्थ णं पुरिमताले निण्णए णामं अंडयवाणियए होत्था,अड्ढे० जाव अपरिभूए अहम्मिए० जाव दुप्पडियाणंदे तस्स णं णिण्णयस्स अंडयवाणियस्स बहवे पुरिसा दिण्णभत्तिभत्तवेयणा कल्लाकल्लिं कोद्दालियाओ य पत्थियाए पडिए गेण्हइ, गेण्हइत्ता पुरिमतालस्स णयरस्स परिपेरंते सुबहुकाकअंडए य घूतिअंडए य पारेवइटिट्टिभबग्गमयूरिकुक्कुडिअंडए य अण्णेसिं चेव बहूणं जलयरथलयरखहयरमाईणं अंडाइं गेण्हइ, गेण्हइत्ता पत्थियपडिगाइं भरेइ, भरेइत्ता जेणेव निण्णए अंडवाणियए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता णिण्णयस्स अंडवाणियस्स उवणेइ, तए णं तस्स णिण्णयस्स अंडवाणियस्स बहवे पुरिसा दिण्णभए बहवे कायअंडए य० जाव कुक्कुडअंडए य अण्णेसिं च बहूणं जलथलखचरमाईणं अंडए तवएसु य कंदूएसु य भज्जणएसु य इंगालेसु य तलिंति भज्जंति सोल्लिंति, तलिंता भज्जंता सोल्लिंता य रायमग्गं अंतरावणंसि अंडयपणियणं वित्तिं कप्पेमाणे विहरइ, अप्पणो वि य णं से णिण्णए अंडवाणियए तेसिं बहूहिं कायअंडएहि य० जाव कुक्कुडिअंडएहि य सोल्लेहिं तलिं भज्जे सुरं च ४ आसाए ४ विहरइ, तए णं से णिण्णए अंडए एयकम्मे ४ सुबहुपावं समज्जित्ता एगं वाससहस्सं परमाउं पालइ,पालइत्ता कालमासे कालं०तच्चाए पुढवीए उक्कोससत्तसागरोवमट्ठितीएसु णेरइएसु णेरइयत्ताए उववण्णे, से णं ताओ अणंतरं उव्वट्टित्ता इहेव सालाडवीए चोरपल्लीए विजयस्स चोरसेणावइस्स खंदसिरीए भारियाए कुच्छिसि पुत्तत्ताए उववण्णे, तए णं से खंदसिरीभारियाए अण्णया कयाइ तिण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं इमेयारूवे दोहले पाउब्भूए-धण्णाओ णं ताओ अम्मयाओ ४ जाणं बहूहिं मित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरियणमहिलाएहिं अण्णेहि य चोरमहिलाहिं सद्धिं संपरिवुडा ण्हाया० जाव पायच्छित्ता सव्वालंकारभूसिया विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च ५ आसाएमाणे ४ विहरइ । जिमियभुत्तुत्तरागयाओ पुरिसणेवत्थिया सण्णद्ध० जाव पहरणावरणभरिएहि य फलएहिं णिक्किट्ठाहिं असीहिं अंसागएहिं तोणेहिं सजीवेहिं धणुहि समुक्खित्तेहिं सरेहिं समुल्लालियाहि य दामाहिं लंबियाहिं उसारियाहिं उरुघंटाहिं छिप्पतूरेणं विज्जमाणे विज्जमाणे महया २ उक्किट्ठ० जाव समुद्दरवभूयं पि व करेमाणीओ सालाडवीए चोरपल्लीए सव्वओ समंताओ लोएमाणीओ २ आहिंडमाणीओ २, दोहलं वि णिंति–तं जइ अहं अहं पि बहूहिं णाइणियगसयणसंबंधिपरियणमहिलाइं अण्णेहिं सालाडवीए चोरपल्लीए सव्वओ समंताओ लोएमाणीओ २ आहिंडमाणीओ २ दोहलं विणिज्जामि त्ति कट्टु तंसि दोहलंसि अविणिज्जमाणंसि० जाव झियामि तए णं से विजए चोरसेणावइ खंदसिरीभारियं ओहय० जाव पासइ एवं वयासी–किण्हं तुम्हं देवा ओहय० जाव झियासि, तए णं सा खंदसिरी भारिया विजयं एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! मम तिण्हं मासाणं०जाव झियामि,तए णं से विजये चोरसेणावइ खंदसिरीभारियाए अंतियं एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म खंदसिरीभारियं एवं वयासी–

अणुजाणउ देवाणुप्पिए ! एयमट्ठं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता तयाणंतरं सा खंदसिरी भारिया विजएणं चोरसेणावइणा अब्भणुन्नाया समाणी हट्ठतुट्ठहियया चित्त० जाव बहूहिं य बहूहिं चोरमहिलाहिं सद्धिं संपरिवुडा ण्हाया० जाव विभूसिया विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च ५ आसाएमाणी ४ विहरइ। जिमियभुत्तुत्तरागया पुरिसणेवत्था सण्णद्धबद्ध० जाव आहिंडमाणी दोहलं विणिति, तए णं सा खंदसिरी भारिया संपुण्णदोहला सम्माणियदोहला विणियदोहला वोच्छिण्णदोहला संपुण्णदोहला तं गब्भं सुहंसुहेणं परिवहइ, तए णं सा खंदसिरी चोरसेणावइणी णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं दारयं पयाया। तए णं से विजयचोरसेणावई तस्स दारगस्स इड्ढीसक्कारसमुदएणं दसरत्तट्ठिइवडियं करेइ, तए णं से विजयचोरसेणावई तस्स दारगस्स एक्कारसमे दिवसे विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावित्ता मित्तणाइ० आमंतेइ, आमंतेत्ता० जाव तस्सेव मित्तणाइपुरओ एवं वयासी–जम्हा णं अम्हं इमंसि दारगंसि गब्भगयंसि समाणंसि इमेयारूवे दोहले पाउब्भूए तम्हा णं होउ अम्हं दारए अभग्गसेणणामेणं, [illegible] जाव परिवड्ढइ, तए [illegible] जाव [illegible] गुंजइ। [illegible]

रिवसित्तए सालाडवीचोरपल्लीए अभंगसेणे सेणा-वई अम्हं बहूहिं गामघाएहिं य० जाव णिद्धणे करे-माणे विहरइ, तं इच्छामि णं सामी ! तुब्भं बाहुच्छायपरिग्गहिया णिब्भया णिरुव्विग्गा सुहंसुहेणं परिवसित्तए कट्टु पायवडीया पंजलिउडा महब्बलरायं एयमट्ठं विण्णवेंति। तए णं से महब्बले राया तेसिं जणवयाणं पुरिसाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसे-माणे तिवलियं भिउडिं णिडाले साहट्टु दंडं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! सालाडविचोरपल्लिं विलुंपाहि अभंगसेणचोरसेणावई जीवग्गाहं गिण्हइत्ता ममं उवणेहि, तए णं से दंडे महब्बलस्स रण्णो एयमट्ठं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता तए णं से दंडे बहूहिं पुरिसेहिं सण्णद्ध० जाव पहरणेहिं सद्धिं संपरिवुडे मग्गइएहिं फलएहिं० जाव छिप्पतूरेणं वज्जमाणेणं महया उक्किट्ठि० करेमाणे पुरिमतालं णयरं मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता जेणेव सालाडवी चोरपल्ली तेणेव पहारेत्थ गमणाए तए णं तस्स अभंगसेणावइस्स चोरपुरिसे इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे जेणेव सालाडवी चोरपल्ली जेणेव अभंगसेणावई तेणेव उवागया करयल० जाव एवं वयासी– एवं खलु देवाणुप्पिया ! पुरिमताले णयरे महब्बलेणं रण्णा महया भडचडगरेणं परिवारेणं दंडे आणत्ते–गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! सालाडवीचोरपल्लिं विलुंपाहि, अभंगसेणं चोरसेणावइं जीवग्गाहं गिण्हेहि, गिण्हेइत्ता ममं उवणेहि। तए णं से दंडे महया भडचडगरेणं जेणेव सालाडवी चोरपल्ली तेणेव पहारेत्थ गमणाए, तए णं से अभंगसेणचोरसेणावई तेसिं चोरपुरिसाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म पंचचोरसयाइं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! पुरिमताले णयरे महब्बले० जाव [illegible] पहारेत्थ गमणाए आगए, तए णं से अभंगसेणे [illegible] चोरसयाइं एवं वयासी [illegible] देवाणुप्पिया ! [illegible] सालाडवीचोरपल्लीए [illegible] पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता तए णं से अभंगसेणे [illegible] विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं [illegible] विहरइ। [illegible]

ग्गहणं ठिए गड्डियभत्तपाणिए तं दंडं पडिसाहेमाणे चि-
ट्ठइ, तए णं से दंडे जेणेव अभंगसेणे चोरसेणावइए तेणे-
व उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अभंगसेणेणं चोरसेणावइणा
सद्धिं संपलग्गे यावि होत्था । तए णं से अभंगसेणे चोर-
सेणावई तं दंडं खिप्पामेव हयमहिय० जाव पडिसेहंति,
तए णं से दंडे अभंगसेणे चोरसेणावई हय० जाव प-
डिसेहिए समाणे अथामे अबले अवीरिए अपुरिसक्का-
रपरक्कमे अधारणिज्जमिति कट्टु जेणेव पुरिमताले ण-
यरे जेणेव महब्बले राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता
करयल० एवं वयासी–एवं खलु सामी ! अभंगसेणचोरसे-
णावई विसमदुग्गगहणं ठिए गहियभत्तपाणिए णो ख-
लु से सक्का केणइ सुबहुएण वि आसबलेण वा हत्थिबले-
ण वा जोहबलेण वा रहबलेण वा चाउरंगिणं पि उरं
उरेण गिण्हित्तए, ताहे सामेण य भेदेण य उवप्पदाणेण य
वीसंभमाणे उपत्तेयावि होत्था। जे दंडेण य विपसे अ-
ब्भितरगा सीसगभमा मित्तणाइणियगसयणसंबंधिपरियणं च
विपुलेणं धणकणगरयणसंतसारसावए जेणं भिंदइ अभं-
गसेणस्स य चोरसेणावइ अभिक्खणं अभिक्खणं महत्थाइं
–महत्थाइं महरिहाइं पाहुडाइं पेसेइत्ता अभंगसेणं च चोरसे-
णावइं वीसंभमाणेइ, तए णं से महब्बले राया अण्णया
कयाइ पुरिमताले णयरे एगं महं महइ महालियं कूडागार-
सालं करेइ, अणेगखंभसयसण्णिविट्ठं ४, तए णं महब्बले राया
अण्णया पुरिमताले णयरे उस्सुक्कं० जाव दसरत्तं पमोयं उ-
ग्घोसावेइ, उग्घोसावेइत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता
एवं वयासी–गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! सालाडवीए
चोरपल्लीए तत्थ णं तुब्भे अभंगसेणं चोरसेणावइं कर-
यल० जाव वयह–एवं खलु देवाणुप्पिया ! पुरिमता०
महब्बलस्स रण्णो उस्सुक्के० जाव दसरत्ते पमोदउग्घोसिए
तं किं णं देवाणुप्पिया ! विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं
पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारे य इहं हव्वमाणिज्जउ उदाहु सयमेव
गच्छित्था तए णं कोडुंबियपुरिसे महब्बलस्स रण्णो करयल०
जाव पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता पुरिमतालाओ णयराओ
पडि० पडि० णाइविकिट्ठेहिं अद्धाणेहिं सुहेहिं पातरासेहिं
जेणेव सालाडवी चोरपल्ली तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता
अभंगसेणं करयल० जाव एवं वयासी–एवं खलु देवा-
णुप्पिया ! पुरिमताल० महब्बलस्स रण्णो उस्सुक्के० जाव
उदाहु सयमेव गच्छित्था, तए णं से अभंगसेणे ते कोडुं-
बियपुरिसे एवं वयासी–अहं णं देवाणुप्पिया ! पुरि-
मता० सयमेव गच्छामिए कोडुंबियपुरिसे सक्कारेइ, सक्का-
...विसज्जेइ । तए णं से अभंगसे० बहूहिं मित्त०
...मल्लालंकारविभू-

मिए मालाकच्छी चोरपल्लीओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खम-
इत्ता जेणेव पुरिमता० जेणेव महब्बले राया तेणेव०
करयलपरिग्गहियं महब्बलं रायं जएणं विजएणं वद्धावेइ
वद्धावेइत्ता महत्थं० जाव पाहुडं उवणेइ, तए णं से मह
अभंगसेणस्स चोरस्स तं महत्थं० जाव पडिच्छइ, अभंग
सेणचोरसे० सक्कारेइ संमाणेइ, संमाणेइत्ता विसज्जेइ कू
डागारसालाए आवासए हिं दलयइ । तए णं से अभं
सेणे चोरसेणावइ महब्बलेणं रण्णा विसज्जिए समाणे जे
कूडागारसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तए
मह० कोडुंबियपुरिसे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी
च्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! विपुलं असणं पाणं
साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावेइत्ता तं विपुलं असण
खाइमं साइमं सुरं च ५ सुबहुपुप्फगंधमल्लालंकारं च
गसेणस्स चोरसे० कूडागारसालाए उवणेइ । त
कोडुंबियपुरिसा करयल० जाव उवणेइ, तए णं से
से० बहूहिं मित्तसद्धिं संपरिवुडे ण्हाए० जाव सव्व
विभूसिए तं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं सु
साएमाणे ४ पमत्ते विहरइ । तए णं से मह० कोडुं
सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–गच्छह णं तुब्भे
प्पिया ! पुरिमतालस्स णयरस्स दुवाराइं पिहेति,
अभंगसेणं चोरसेणावइ जीवग्गाहं गेण्हंति, गेण्ह
ब्बलस्स रण्णो ते उवणेइ, तए णं मह० अभंगसे
णं विहाणेणं वज्झं आणवेइ, एवं खलु गोयमा
चो० पुरा० जाव विहरइ । अभंगसेणेणं
णावइ कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छिहि
ज्जिहिति ? । गोयमा ! अभंगसेणचोरस०
परमाउं पालित्ता अज्जेव तिभागावसेसे दिव
कए समाणे कालमासे कालं किच्चा इमीसे र
सेणं णेरइएसु उववज्जिहिति, से णं ताओ
एवं संसारो जहा पढमे० जाव पुढवी०, तओ
रसीए णयरीए सुयरत्ताए पच्चायाहिति,
एहिं जीवियाओ विवरोविए समाणे०
णयरीए सेट्ठिकुलंसि पुत्तत्ताए पच्चाहिति,
धाइजावे एवं जहा पढमे० जाव अंतक

(एवं खलु त्ति) एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण, (देस०
लङ्कारे । (जंबू त्ति) आमन्त्रणे, (देस०
(विसमगिरिकंदरे कोलंबसंनिविट्ठा)
कुहरं तस्य यः कोलम्बः प्रान्तः तस्य
या सा तथा । कोलम्बो हि लोके अव
इहोपचारतः कन्दरं प्रान्तः कोलम्बो
३ अ० । (इत्यादिटीका सुगमेति न
आ० चू० ६ अ० ।

अहासुहं देवाणुप्पिए! एयमट्ठं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता तयाणंतरं सा खंदसिरी भारिया विजएणं चोरसेणावइणा अब्भणुण्णाया समाणी हट्ठतुट्ठबहूहिं मित्त० जाव अन्नेहि य बहूहिं चोरमहिलाहिं सद्धिं परिवुडा ण्हाया० जाव विभूसिया विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च ५ आसाएमाणी ४ विहरइ। जिमियभुत्तुत्तरागया पुरिसणेवत्था सन्नद्धबद्ध० जाव आहिंडमाणी दोहलं विणेति, तए णं सा खंदसिरी भारिया संपुण्णदोहला सम्माणियदोहला विणियदोहला वोच्छिण्णदोहला संपुण्णदोहला तं गब्भं सुहं सुहेणं परिवहइ, तए णं सा खंदसिरी चोरसेणावइणी णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं दारयं पयाया। तए णं से विजयचोरसेणावइ तस्स दारगस्स इड्ढीसक्कारसमुदएणं दसरत्तट्ठिइपडियं करेइ, तए णं से विजयचोरसेणावइ तस्स दारगस्स एक्कारसमे दिवसे विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावित्ता मित्तणाइ० आमंतेइ, आमंतेइत्ता० जाव तस्सेव मित्तणाइपुरओ एवं वयासी–जम्हा णं अम्हं इमंसि दारगंसि गब्भगयंसि समाणंसि इमेया रूवे दोहले पाउब्भूए तम्हा णं होउ अम्हं दारए अभग्गसेणणामेणं, तए णं से अभग्गसेणकुमारे पंचधाइ० जाव परिवड्ढइ, तए णं से अभग्गसेणे णामं कुमारे उम्मुक्कबालभावे यावि होत्था, अट्ठदारियाओ० जाव अट्ठओ दाओ उप्पिं भुंजइ। तए णं से विजए चोरसेणावइ अण्णया कयाइ कालधम्मुणा संजुत्ते, तए णं से अभग्गसेणकुमारे पंचहिं चोरसएहिं सद्धिं संपरिवुडे रोयमाणे विजयस्स चोरसेणावइस्स महया इड्ढीसक्कारसमुदएणं णीहरणं करेइ, करेइत्ता बहूहिं लोइयाइं मयकिच्चाइं करेइ, करेइत्ता कालेणं अप्पसोए जाए यावि होत्था, तए णं से अभग्गसेणकुमारे चोरसेणावइ जाए अहम्मिए० जाव कप्पाइं गेण्हइ, गेण्हइत्ता तए णं ते जाणवया पुरिसा अभग्गसेणचोरसेणावइणा बहुगामघायावणाहिं ताविया समाणा अण्णमण्णं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया! अभग्गसेणचोरसेणावइ पुरिमताले णयरे [illegible] बहूहिं गामघाएहिं० जाव णिद्धणे करेमाणे विहरइ, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया! [illegible] विण्णवित्तए, तए णं ते जाणवया पुरिसा एयमट्ठं अण्णमण्णस्स पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता महत्थं [illegible] गेण्हइ, गेण्हइत्ता जेणेव पुरिमताले णयरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता जेणेव महब्बले राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता महब्बलस्स रण्णो तं महत्थं० जाव पाहुडं उवणेइ करयलपरिग्गहियं० जाव एवं वयासी–एवं खलु सामी! [illegible] सालाडवीचोरपल्लीए अभग्गसेणे चोरसेणावइ अम्हं बहूहिं गामघाएहिं य० जाव णिद्धणे करेमाणे विहरइ, तं इच्छामि णं सामी! तुब्भं बाहुच्छायापरिग्गहिया णिब्भया णिरुव्विग्गा सुहं सुहेणं परिवसित्तए त्ति कट्टु पायवडिया पंजलिउडा महब्बलरायं एयमट्ठं विण्णवेंति। तए णं से महब्बले राया तेसिं जाणवयाणं पुरिसाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे तिवलियं भिउडिं णिडाले साहट्टु दंडं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया! सालाडविचोरपल्लिं विलुंपाहि अभग्गसेणचोरसेणावइं जीवग्गाहं गिण्हइत्ता ममं उवणेहि, तए णं से दंडे तहत्ति एयमट्ठं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता तए णं से दंडे बहूहिं पुरिसेहिं सण्णद्ध० जाव पहरणेहिं सद्धिं संपरिवुडे मग्गइएहिं० जाव छिप्पतूरेहिं वज्जमाणेहिं महया उक्किट्ठि० करेमाणे पुरिमतालं णयरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता जेणेव सालाडवी चोरपल्ली तेणेव पहारेत्थ गमणाए तए णं तस्स अभग्गसेणावइस्स चोरपुरिसे इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे जेणेव सालाडवी चोरपल्ली जेणेव अभग्गसेणावइ तेणेव उवागया करयल० जाव एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया! पुरिमताले णयरे महब्बलेणं रण्णा महया भडचडगरेणं परिवारेणं दंडे आणए–गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया! सालाडवीचोरपल्लिं विलुंपाहि, अभग्गसेणं चोरसेणावइं जीवग्गाहं गिण्हाहि, गिण्हेइत्ता ममं उवणेहि। तए णं से दंडे महया भडचडगरेणं जेणेव सालाडवी चोरपल्ली तेणेव पहारेत्थ गमणाए तए णं से अभग्गसेणचोरसेणावइ तेसिं चोरपुरिसाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म पंचचोरसयाइं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया! पुरिमताले णयरे महब्बले० जाव दंडे पहारेत्थ गमणाए आगए, तए णं से अभग्गसेणे ताइं पंच चोरसयाइं एवं वयासी–तं सेयं खलु देवाणुप्पिया! अम्हं तं दंडं सालाडविं चोरपल्लिं असंपत्तं अंतरा चेव पडिसेहित्तए, तए णं ताइं पंच चोरसयाइं अभग्गसेणस्स तह त्ति० जाव पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता तए णं से अभग्गसेणे चोरसेणावई विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावेइत्ता पंचहिं चोरसएहिं सद्धिं ण्हाए० जाव पायच्छित्ते भोयणमंडवंसि तं विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं सुरं च ५, आसाएमाणे ४ विहरइ। जिमियभुत्तुत्तरागए वि य णं समाणे आयंते चोक्खे परमसुइभूए पंचहिं चोरसएहिं सद्धिं अल्लं चम्मं दुरुहइ, दुरुहइत्ता सण्णद्ध० जाव पहरणेहिं मग्गइएहिं० जाव रवेणं पच्चावरण्हकालसमयंसि सालाडवीचोरपल्लीओ णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता विस[illegible]

इत्याकर्ण्य नरेन्द्राद्या, पर्षत्सत्या गृहेऽगमत ।
द्रमकः स तु तत्रैव, स्वार्थार्थी तस्थिवान् स्थिरः ॥ ९ ॥
गुरुस्तमूचे विसन्न-श्चिन्तितं ब्रूहि ! सोऽब्रवीत ।
जानामि यदि वः पादान्, वरिवस्यामि सर्वदा ॥ १० ॥
ततः प्रमाज्य तं सद्यो, गुरवः कृतयोगिनाम् ।
अर्पयामासुराचार्यं, शिक्षयामासुरान्तु ते ॥ ११ ॥
ते गीतार्थयुतं भिक्षा-चर्यायामन्यदा गतम् ।
प्रागवस्थाविदः पौराः, मेदय प्राहुरहंयवः ॥ १२ ॥
अहो ! महर्द्धिरूपत्याऽयं, महासत्त्वो महामुनिः ।
इति चक्रोक्तिभिः विङ्कि-रुपहास्यत सोऽन्वहम् ॥ १३ ॥
ततोऽसौ शैक्षकस्त्रस्तं, परीपहमसासहिः ।
सुधर्मस्वामिना प्रोचे-ऽनूचानेन यशस्विना ॥ १४ ॥
संयमे किं समाधान-मस्ति ते सुष्ठु सोऽभ्यधात् ।
अस्ति युष्मत्प्रसादेन, विहारोऽन्यत्र चेद् भवेत् ॥ १५ ॥
विधास्यते समाधिस्ते, वत्सेत्युक्त्वा गुरुस्ततः ।
अभयस्यागतस्याख्या-द्विहारो नो भविष्यति ॥ १६ ॥
अभयः स्माह नः कस्मा-दकस्माद्दीदृशः प्रभो !।
अप्रसादोऽथ तेऽप्रोचु-र्मुनेरस्य परीषहम् ॥ १७ ॥
अनयोप्यभ्यधादेकं, दिवसं स्थीयतां प्रभो !।
निवर्त्तेत न चेदेष, न स्थातव्यं ततः परम् ॥ १८ ॥
ओमित्युक्ते मुनीन्द्रेण, निस्तन्द्रः शासनोन्नतौ ।
जगाम धाम सद्धर्म-धामधामाऽभयस्ततः ॥ १९ ॥
रत्नानामसपत्नानां, रत्नगर्भाधिपोऽङ्गणे ।
कोटित्रयीं समाकृष्य, राशित्रयमचीकरत् ॥ २० ॥
तुष्टो राजा ददात्युर्वी-रत्नकोटित्रयीं जनाः !।
गृह्णीतैनां यथेष्टं हि, पटहेनेत्यघोषयत ॥ २१ ॥
ततोऽमिलद् द्रुतं लोको, लोलुपः सोऽभयेन तु ।
बभाणे गृह्यतामेषा, रत्नकोटित्रयी मुधा ॥ २२ ॥
युष्माभिः स्वगृहं गत्वा-ऽनया किन्तु गृहीतया ।
यावज्जीवं विमोक्तव्यं, जलमग्नि स्त्रियस्तथा ॥ २३ ॥
इत्याकर्ण्य जनास्तूर्ण-मुत्कर्णास्तज्जिघृक्षवः ।
विन्यस्तो निश्चलास्तस्थुः, सिंहनादं मृगा इव ॥ २४ ॥
अभयः प्राह भोः ! कस्मा-द्विलस्यस्तेऽप्यदोऽवदन् ।
लोकोत्तरमिदं लोकः, किं कश्चित्कर्तुमीश्वरः ? ॥ २५ ॥
सोऽवादीन्मुनिना तेन, तत्यजे त्रयमप्यदः ।
तत्कुतो हसतैवं त-मतिदुष्करकारकम् ? ॥ २६ ॥
न जानीमो वयं स्वामि-न्नस्यर्षेः सत्त्वमीदृशम् ।
तमृषिमर्चयिष्याम-स्तदिदानीं महामते ! ॥ २७ ॥
अभयेन समं गत्वा, क्षमिन्तस्ते प्रणम्य तम् ।
महर्षिं क्षामयामासुः, स्वापराधं मुहुर्मुहुः ॥ २८ ॥
इत्येवमत्रयो जैन-शासनार्थविशारदः ।
अतिशिपज्जनं मुग्धं, चिरं धर्मे जिनोदिते ॥ २९ ॥
इत्येवत्य हृतपापकश्मलं,
सज्जना अभयवृत्तमुज्ज्वलम् ।
शिक्षयन्तु कृतसर्वमङ्गलं,
संततं प्रवचनार्थकौशलम् ॥ ३० ॥ ध० र० ॥

अभयघोस-अभयघोष-पुं० । स्वनामख्याते वैद्ये, ध० र० ।

अभयघोषकथा चेयम्-

आसीत् पूर्वविदेहेषु, शत्रुसंहातिदुर्जये ।
वत्सावत्याख्यविजये, प्रवरा पूः प्रभङ्करा ॥ १ ॥
तस्यां सुविधिवैद्यस्य, सूनुः सत्कर्मकर्मठः ।
आसीदभयघोषाख्यो, वैद्यविद्याविशारदः ॥ २ ॥
नरेन्द्रमन्त्रिसार्थेश-नगरश्रेष्ठिनां सुताः ।
महस्याः सद्गुणश्रेण्यो, वयस्यास्तस्य जज्ञिरे ॥ ३ ॥
मिलितानामथामीषा-मन्येद्युर्वैद्यमन्दिरे ।
आगादनगारवृत्तिः, साधुर्माधुकरीं चरन् ॥ ४ ॥
तं पृथ्वीपालभूपाल-पुत्रं नाम्ना गुणाकरम् ।
निकृष्टकुष्ठं ते दृष्ट्वा, प्रोचिरे वैद्यनन्दनम् ॥ ५ ॥
सदाऽर्थसंभैर्वेदयावद्, भवद्भिर्वेद्यते जनः ।
न कस्यचित्तपस्व्यादे-श्चिकित्सा क्रियते किल ॥ ६ ॥
जगाद वैद्यजन्माऽपि, चिकित्स्योऽयं मुनिर्मया ।
भो भद्राः ! निश्चितं किन्तु, भेषजानि न सन्ति मे ॥ ७ ॥
तेऽप्यूचुर्दद्महे मूल्यं, शाधि साध्वौषधानि नः ।
उवाच सोऽपि गोशीर्ष-चन्दनं रत्नकम्बलम् ॥ ८ ॥
लक्षद्वयेन तत्र केयं, तृतीयं तु मदोकसि ।
विद्यते लक्षपाकाख्यं, तैलं तद् गृह्यतां द्रुतम् ॥ ९ ॥
लक्षद्वयं गृहीत्वाऽथ, गत्वा ते कुत्रिकापणे ।
ययाचन्तौषधे तांस्तु, श्रेष्ठ्यूचे किं प्रयोजनम् ? ॥ १० ॥
तेऽवोचन् कुष्ठिनः साधो-श्चिकित्साऽऽस्यां विधास्यते ।
आकर्ण्य तद्वचः श्रेष्ठी, चेतस्येवमचिन्तयत् ॥ ११ ॥
क्वैषां प्रमादशार्दूल-काननं यौवनं ह्यदः ।
विवेकवन्धुरा बुद्धिः, क्व चेयं वार्धकोचिता ? ॥ १२ ॥
मादृशामीदृशं योग्यं, जराजर्जरवर्ष्मणाम् ।
यत् कुर्वन्त्यपि तदहो !, धन्यैर्भारोऽयमुह्यते ॥ १३ ॥
एवं विचिन्त्य स श्रेष्ठी, ते समर्प्यौषधे मुधा ।
भावितात्मा प्रवव्राज, ववाज च महोदयम् ॥ १४ ॥
कृत्वा समग्रसामग्रीं, तेऽग्रिमा भक्तिशालिनाम् ।
समं वैद्यवरेण्येन, प्रययुः साधुसन्निधौ ॥ १५ ॥
नत्वाऽनुज्ञाप्य तैलेन, सर्वाङ्गं म्रक्षितः स तैः ।
वेष्टितः कम्बलेनाथ, निरीयुः कृमयस्ततः ॥ १६ ॥
शीतत्वात्तत्र ते लग्नाः, निर्यद्भिस्तैः प्रपीडितः ।
लिप्तश्च चन्दनेनाशु, स्वास्थ्यमाप मुनिः क्षणात् ॥ १७ ॥
त्रिरेवमाद्यवेलायां, निर्ययुः कृमयस्त्वचः ।
मांसगास्तु द्वितीयस्यां, तृतीयस्यां च तेऽस्थिगाः ॥ १८ ॥
तान् कृमींस्ते दयावन्त-श्चिक्षिपुर्गोकलेवरे ।
संरोहण्या च तं साधुं, सद्यः सज्जं प्रचक्रिरे ॥ १९ ॥
क्षमयित्वा च नत्वा च, गत्वाऽन्तर्नगरं ततः ।
चैत्यं चक्रुश्च विक्रीय, तेऽर्द्धमूल्येन कम्बलम् ॥ २० ॥
गृहीत्वा गृहिधर्मं च, पश्चात् कृत्वा च संयमम् ।
ते पञ्चाप्यच्युतेऽभूव-न्निन्द्रसामानिकाः सुराः ॥ २१ ॥
ततश्च्युत्वा विदेहेषु, भूत्वा पञ्चापि सोदराः ।
ते प्रव्रज्य च सर्वार्थ-सिद्धेऽनूपन् सुरोत्तमाः ॥ २२ ॥
ततोऽप्यभयघोषस्य, जीवश्च्युत्वाऽत्र भारते ।
बभूव भव्यसंदोह-बोधनः प्रथमो जिनः ॥ २३ ॥
शेषास्तु भरतो बाहु-बलिर्ब्राह्मी च सुन्दरी ।
जज्ञिरे तदपत्यानि, प्रापुश्च परमं पदम् ॥ २४ ॥
एवं निशम्याऽभयघोषवृत्तं,
मुदा गुरूणां गुणराजिभाजाम् ।
दानं सदाप्यौषधभेषजादेः,
कृतोद्यमा भव्यजना भवन्तु ॥ २५ ॥ ध० र० ।

तस्याचार्यजिनेश्वरस्य मदवद्वादिप्रतिस्पर्द्धिनः,
तद्वन्धोरपि बुद्धिसागर इति ख्यातस्य सूरेर्भुवि ।
छन्दोबन्धनिबद्धबन्धुरवचःशब्दादिसल्लक्ष्मणः,
श्रीसंविग्नविहारिणः श्रुतनिधेश्चारित्रचूडामणेः ॥ ८ ॥
शिष्येणाभयदेवाख्य-सूरिणा विवृतिः कृता ।
ज्ञाताधर्मकथाङ्गस्य, श्रुतभक्त्या समासतः ॥ ९ ॥ (युग्मम्)
निर्वृतिककुलनभस्तल-चन्द्रद्रोणाख्यसूरिमुख्येन ।
पण्डितगणेन गुणव-त्प्रियेण संशोधिता चेयम् ॥ १० ॥
एकादशसु शतेष्वथ,विंशत्यधिकेषु विक्रमसमानाम्(सं०११२०)
अणहिलपाटकनगरे,विजयदशम्यां च सिद्धेयम्॥११॥ ज्ञा०२ श्रु०।
यस्मिन्नतीते श्रुतसंयमश्रिया-
वप्राप्नुवत्यप परं तथाविधम् ।
स्वस्याश्रयं संघसतोऽतिदुःस्थिते,
श्रीवर्द्धमानः स यतीश्वरोऽभवत् ॥ १ ॥
शिष्योऽभवत्तस्य जिनेश्वराख्यः,सूरिः कृतानिन्द्यविचित्रशास्त्रः।
सदा निरालम्बविहारवर्ती, चन्द्रोपमश्चन्द्रकुलाम्बरस्य ॥ २ ॥
अन्योऽपि विख्यो भुवि बुद्धिसागरः,पाण्डित्यचारित्रगुणैरनूपमैः।
शब्दादिलक्ष्मप्रतिपादकानघ-ग्रन्थप्रणेता प्रवरः क्षमावताम्॥३॥
तयोरिमां शिष्यवरस्य वाक्याद्,
वृत्तिं व्यधात् श्रीजिनचन्द्रसूरेः ।
शिष्यस्तयोरेव विमुग्धबुद्धि-
र्ग्रन्थार्थबोधेऽभयदेवसूरिः ॥ ४ ॥
बोधो न शास्त्रार्थगतोऽस्ति तादृशो,
न तादृशी वाक्पटुताऽस्ति मे तथा ।
न चास्ति टीकेह न वृत्तिनिर्मिता,
हेतुः परं मेऽत्र कृतौ विभोर्वचः ॥ ५ ॥
यदिह किमपि दृब्धं बुद्धिमान्द्याद् विरुद्धं,
मयि विहितकृपास्तद्धीधनाः शोधयन्तु ।
विपुलमतिमतोऽपि प्रायशः सावृतेः स्या-
दिह न मतिविमोहः किं पुनर्मादृशस्य ? ॥ ६ ॥
चतुरधिकविंशतियुते,वर्षसहस्रे शते (सं०११२४)च सिद्धेयम्।
धवलकपुरे वसतौ, धनपत्योर्बकुलचन्द्रिकयोः ॥ ७ ॥
अणहिलपाटकनगरे, संघवरैर्वर्तमानबुधमुख्यैः ।
श्रीद्रोणाचार्याद्यै-र्विद्वद्भिः शोधिता चेति ॥८॥ पञ्चा०१६विव०।
" अविस्सइ नयवत्थो, जिणनाहो पणसयाइ वरिसाणं ।
तयणु धरणिंदनिमिय-महिज्जो विस्सुअप्पसारो ॥ ५५ ॥
सिरिअभयदेवसूरी, दूरीकयदुरिमरोगसंघाओ ।
पयडं तित्थं काही, अइणिमाहप्पदिप्पंतं" ॥५६॥ ती०६ कल्प।

(२) राजगच्छीये प्रद्युम्नसूरिशिष्ये, येन वादमहार्णवो नाम ग्रन्थो विरचितः, 'न्यायवनसिंह' इति च विरुदं लेभे। वि०सं० १२५६ वर्षे पार्श्वनाथचरित्रनाम्नो ग्रन्थस्य कर्त्रा माणिक्यचन्द्रसूरिणा तत्र लिखितम्-यद् वादमहार्णवकृतोऽभयदेवसूरेरहं नवमोऽस्मीति। अभयदेवसूरेरेव शिष्य. धनेश्वरसूरिर्मुञ्जराजस्य मान्यो गुरुरासीदिति तत्समयोऽनुमातुं शक्यते। अनेनैव अभयदेवसूरिणा तत्त्वबोधविधायिनी नाम सम्मतिटीका विरचितेति। जै०इ०।
एतच्च स्फुटमेव प्रतिभाति ग्रन्थसमाप्तौ-
"इति कतिपयसूत्रव्याख्यया यन्मयाऽऽप्तं,
कुशलमतुलमस्मात्सम्मतेर्भव्यसार्थः ।
भवभयमभिभूय प्राप्यतां ज्ञानगर्भं,
विमलमभयदेवस्थानमानन्दसारम् ॥ १ ॥
पुष्पदाम्दानसद्विद्विरदघनघटाकुम्भपीठ-
प्रध्वंसोद्भूतमुक्ताफलविशदयशोराशिभिर्यस्य तूर्णम् ।
गन्तुं दिग्दन्तिदन्तच्छलनिहितपद व्योम पर्यन्तभागात्,
स्वच्छप्रह्लादभाग्दकोदरनिविडतरोत्पिपीकृतैः सप्रतस्थे ॥२॥
प्रद्युम्नसूरेः शिष्येण, तत्त्वबोधविधायिनी ।
तस्यैवाऽभयदेवेन, सम्मतेर्विवृतिः कृता ॥३॥ सम्म०३ काण्ड।
इत्ययं द्वितीयोऽभयदेवसूरिः ॥

(३) हर्षपुरीयगच्छोद्भवे मलधारीत्यपरनामके सूरौ, स च कोटिकगणस्य मध्यमशाखायां प्रश्नवाहनकुलसंभूतः स्थूलभद्रस्वामिनो वंश्यः। एकदा हर्षपुराद् विहरन् अणहिल्लपट्टननगरे बहिःप्रदेशे सपरिवारः स्थितः, अन्यदा श्रीजयसिंहदेवनरेन्द्रेण गजस्कन्धारूढेन राजवाटिकाऽऽगतेन दृष्टो मलमलिनवस्त्रदेहः, राज्ञा च गजस्कन्धादवतीर्य दुष्करकारक इति दत्तं तस्य " मलधारी " इति नामेति। जै० इ०।

तथा च विविधतीर्थकल्पे जिनप्रभसूरिः--

"सिरिपण्हवाहणकुलसंभूओ हरिसपुरीयगच्छालंकारभूसिओ अभयदेवसूरी हरिसओ राओ एगया गामाणुगामं विहरंतो सिरिअणहिल्लवाडयपट्टणमागओ, ठिओ बाहिं पएसे सपरिवारो,अन्नया सिरिजयसिंहदेवनरिंदेण गयखंधारूढेण रायवाडियागएण दिट्ठो मलमलिणवत्थदेहो, राएण गयखंधाओ ओअरिऊण दुक्करकारओ त्ति दिण्णं 'मलधारि' त्ति नामं, अब्भत्थिऊण नयरमज्झे नीओ रण्णा, दिण्णो उवस्सओ घयवसहीसमीवे,तत्थ ठिआ सूरिणो"ती०४० कल्प। अस्य गुरुर्जयसिंहसूरिर्नामाऽऽसीत्, हेमचन्द्रसूरिनामा च शिष्योऽभवत्। येन वि० सं० ११७० वर्षे 'भवभावना ' नाम ग्रन्थो व्यरचि, येनैकसहस्रं ब्राह्मणा जैनीकृताः, धन्धुकदेशाज्जयमेरुनगरादनूरवर्तिनि ' मेरता ' ग्रामे प्रसिद्धं तज्जिनमन्दिरं कारितम् । किञ्च-अस्यैव अभयदेवसूरेरुपदेशाद् भुवनपालराजेन जिनमन्दिरे पूजाहङ्कारिदेयः करो मोचितः। मजयमेरुराजेन जयसिंहेनापि तदुपदेशान्मासस्य कर्बोरेकर्योरष्टमीचतुर्दश्योः शुक्लपञ्चम्यां च स्वराज्ये प्राणिमात्रवधो निवारितः। शाकम्भरीराजेन पृथ्वीराजेन च तदुपदेशाद् रणस्तम्भपुरे स्वर्णकलशोपशोभितं जिनमन्दिरं कारितम् । यदा च सोऽभयदेवसूरिरनशनेन देवलोकं गतस्तदा तस्य शवं चन्दनमयरथे निधायाग्निसंस्कारः कृतः, तस्य च शवरथस्य पश्चात् सर्व एव नागरो लोको जयसिंहराजश्च पृष्ठतोऽनुजगाम । दग्धे च तद्भस्म रोगोपद्रवनाशकमिति मत्वा सर्वलोका जहिरे। इत्येतत्सर्वं रणस्तम्भपुरीयजिनमन्दिरे शिलायां लिखितमुपलभ्यते। इत्ययं तृतीयोऽभयदेवसूरिः । जै० इ० ।

(४) प्रद्युम्नसूरिशिष्ये सं० १२४८ वर्षे विवेकमञ्जर्याः कारकस्य आसडस्य गुरौ, अनेन च भद्रबाहुकृतसामुद्रिकशास्त्रोपरि टीका कृता । केचिदेनं श्रीशान्त्याचार्यशिष्यं मन्यन्ते। इत्ययं चतुर्थोऽभयदेवसूरिः । जै० इ० ।

(५) रुद्रपल्लीयगच्छोद्भवे विजयेन्दुसूरिशिष्ये देवभद्रसूरिगुरौ, अनेन काशिराजाद् ' वादिसिंह ' इति विरुदं लेभे। ' जयन्तविजयं ' नाम महाकाव्यं च वि०सं० १२७८ वर्षे निर्ममे। इत्ययं पञ्चमोऽभयदेवसूरिः। जै० इ० ।

(६) गुणाकरसूरिसहवर्तिनि, येन वि०सं० १४२६ वर्षे सरस्वतीपत्तननगरे जयन्तवरभोगटीका कृता, १४५१ वर्षे 'विजयपहुत्त' नामकं स्तोत्रं च निर्मितम् । जै० इ० ।

अभयप्पदाण-अभयप्रदान-न० । दानभेदे, " दाणाण सेट्ठं अभयप्पदाणं " तथा स्वपरानुग्रहार्थमर्थिने दीयत इति दानमनेकधा, तेषां मध्ये जीवानां जीवितार्थिनां त्राणकारित्वादभयदानं श्रेष्ठम् । तदुक्तम्-" दीयते म्रियमाणस्य, कोटिं जीवितमेव वा । धनकोटिं न गृह्णीयात्, सर्वो जीवितुमिच्छति " ॥१॥ गोपालाङ्गनादीनां दृष्टान्तद्वारेणार्थो बुद्धौ सुखेनारोहतीति । अतोऽभयप्रदानप्राधान्यख्यापनार्थं कथानकमिदम्-

"वसन्तपुरे नगरे अरिदमनो नाम राजा । स च कदाचिच्चतुर्वधूसमेतो वातायनस्थः क्रीडायमानस्तिष्ठति । तेन कदाचिच्चोरो रक्तकणवीरकृतमुण्डमालो रक्तपरिधानो रक्तचन्दनोपलिप्तश्च प्रहतवध्यडिण्डिमो राजमार्गेण नीयमानः सपत्नीकेन दृष्टः । दृष्ट्वा च ताभिः पृष्टम्-किमनेनाकारीति ? । तासामेकेन राजपुरुषेणावेदितम्-यथा-परद्रव्यापहारेण राजविरुद्धमिति । तत एकया राजा विज्ञप्तः-यथा यो भवता मम प्राग् वरः प्रतिपन्नः सोऽधुना दीयताम्, यथाऽहमस्योपकरोमि किञ्चित् । राज्ञाऽपि प्रतिपन्नं, ततस्तया स्नानादिपुरःसरमलङ्कारेणालङ्कृतो दीनारसहस्रव्ययेन पञ्चविधान् शब्दादीन् विषयानेकमहः प्रापितः । पुनर्द्वितीययाऽपि तथैव द्वितीयमहो दीनारशतसहस्रव्ययेन लालितः । ततस्तृतीयया तृतीयमहो दीनारकोटिव्ययेन सत्कारितः । चतुर्थ्या तु राजानुमत्या मरणाद्रक्षितोऽभयप्रदानेन । ततोऽसावन्याभिर्हसिता, नास्य त्वया किञ्चिद्दत्तमिति । तदेवं तासां परस्परं बहूपकारविषये विवादे जाते राज्ञाऽसावेव चोरः समाहूय पृष्टः, यथा केन तव बहूपकृतमिति ? । तेनाऽप्यभाणि-यथा न मया मरणमहाभयभीतेन किञ्चित् स्नानादिकं सुखं विज्ञातमिति । अभयप्रदानाकर्णनेन पुनर्जन्मानमिवात्मानमवैमीति । अतः सर्वदानानामभयप्रदानं श्रेष्ठमिति स्थितम् । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अभयसेण-अभयसेन-पुं० । वारत्तकपुरराजनि, पिं० । आव० ।

अभया-अभया-स्त्री० । दधिवाहननृपस्य स्वनामख्यातायां भार्यायाम्, तं० १५ [illegible] । तं० । दर्शितग्राम, नि० चू० १५ उ० । ध० । आव० ।

अभयारिट्ठ-अभयारिष्ट-न० । स्वनामख्याते मद्यविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

अभवसिद्धिय-अभवसिद्धिक-पुं० । न भवसिद्धिकोऽभवसिद्धिकः । अभव्ये, स्था० २ ठा० १ उ० । सं० । " णेरइया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-भवसिद्धिया चेव, अभवसिद्धिया चेव० जाव वेमाणिया " स्था० २ ठा० २ उ० ।

अभविय (व्व)-अभव्य-पुं० । न० त० । तथाविधानादिपारिणामिकभावात् ([illegible]) सिद्धिगमनायोग्ये जीवे, [illegible] । [illegible] सिद्धिं गच्छति । आह-ननु [illegible] विशेषः ?, [illegible] यतः [illegible] निर्वाणाद्ययोग्यत्वेन [illegible] प्रसज्यते, [illegible] नेवम् । [illegible]-

[illegible], न सिद्धो [illegible] ।
[illegible], [illegible] ॥

[illegible]

नात्र कश्चिद्विरोधः, नारकादिभेदवत् । [illegible] भव्याः स्वभावत एव जीवाः, न तु कर्मत इति पूर्वं [illegible] नास्माकं संदेह इति, परेणैवमुक्ते सतीत्याह-

दव्वाइत्ते तुल्ले, जीवनहाणं सहावओ भेओ ।
जीवाजीवाइगओ, जह तह भव्वेयरविसेसो ॥

यथा जीवनभसोर्द्रव्यत्वसत्त्वप्रमेयत्वादिधर्मैस्तुल्ययोर्जीवत्वचेतनाचेतनत्वादिस्वभावतो भेदः, तथा [illegible] जीवत्वसाम्येऽपि यदि भव्याऽभव्यकृतो विशेषः स्यात् [illegible] दोषः ?, इति ।

इत्थं संबोधितो भव्यत्वादिविशेषमभ्युपगम्य [illegible]

एवं पि भव्वभावो, जीवत्तं पि व सभावजाईओ ।
पावइ निच्चो तम्मि य, तदवत्थे नत्थि निव्वाणं ॥

नन्वेवमपि भव्यभावो नित्योऽविनाशी प्राप्नोति, स्वभावजातत्वात् स्वाभाविकत्वाज्जीवत्ववत् । भवत्वेवमिति [illegible] यतस्तस्मिन् भव्यभावे तदवस्थे नित्यावस्थायिनि [illegible] र्वाणम्, 'सिद्धो न भव्यो नाप्यभव्यः' इति वचनादिति ।

नैवम्, कुतः ?, इत्याह-

जह घडपुव्वाभावो-ऽणाइसहावो वि संनिहाणो य ।
जइ भव्वत्ताभावो, भवेज्ज किरियाए को दोसो ? ॥

यथा घटस्य प्रागभावोऽनादिस्वभावजातीयोऽपि [illegible] विधाने विनश्वरो दृष्टः, एवं भव्यत्वस्यापि [illegible] क्रियोपायतोऽभावः स्यात्तर्हि को दोषः संपद्यते ?, न [illegible]

आक्षेपपरिहारौ प्राऽऽह-

अणुदाहरणमभावो, खरसिंगं पि व मई न तं जम्हा ।
भावो च्चिय स विसिट्ठो, कुंभाणुप्पत्तिमेत्तेणं ॥

स्यान्मतिः परस्य ननु-अनुदाहरणमसौ प्रागभावः, प्रागभावस्य [illegible] अवस्तुत्वात्, खरविषाणवत् । तत्र, यस्मात्प्राग् एवासौ [illegible] गभावस्तत्कारणभूतानादिकालप्रवृत्तपुद्गलसंघातरूप, [illegible] घटानुत्पत्तिमात्रेण विशिष्ट इति, भवतु तर्हि घटप्रागभावरूप[illegible] [illegible]स्यस्य विनाशः केवलम्, एवं सति दोषान्तरं प्रसज्यते, [illegible]

इत्याह-

एवं भव्वुच्छेओ, कोट्ठागारस्स व अवचउ त्ति ।
तं णाणंतत्तणओ-ऽणागयकालंबराणं व ॥

नन्वेवं सति भव्योच्छेदो भव्यजीवैः संसारः शून्यः [illegible] प्रसङ्गात् । कस्य यथा समुच्छेदः ?, इत्याह-स्तोकस्तोकापचयात् । [illegible] धान्यस्य पूर्णकोष्ठागारस्य । इदमुक्तं भवति-[illegible] [illegible] कालेन भव्यस्य जीवस्य [illegible] मनान्तमेनापचीयमानस्य धान्यकोष्ठागारस्येव [illegible] भव्यराशेरुच्छेदः प्राप्नोतीति । अत्रोत्तरमाह-तदेतन्न, [illegible] [illegible] राशेः, अनागतकालाकाशवदिति । इह यद् [illegible] [illegible] स्तोकस्तोकतयाऽपचीयमानमपि [illegible], यथा [illegible] समयं वर्तमानसमयाऽपचीयमानोऽप्यनागतकाल[illegible] प्रतिसमयं बुद्ध्या प्रदेशापहारेणापचीयमानं सर्वमप्या[illegible] [illegible], इति न भव्योच्छेदः ।

कुतः ?, इत्याह-

सं वामीयाणागय-काला तुल्ला जओ य संसिद्धो ।

एक्को अणंतभागो, भव्वाणमईयकालेणं ॥
एएसेण तत्तिओ च्चिय, जुत्तो जंतो वि सव्वभव्वाण ।
जुत्तो न समुच्छेओ, होज्ज मई कहमिणं सिद्धं ।
भव्वाणमणंतत्तण-मणंतभागो व कह विमुक्कोसि ।
कालाइओ व मंमिय !, मह वयणाओ वि पडिवज्जा ।

अनागतातीतानागतकालौ तुल्यावेव, यतश्चातीतेनानन्तेनापि कालेनैक एव निगोदानन्ततमो भागोऽद्यापि भव्यानां सिद्धः, एष्यतापि भविष्यत्कालेन तावन्मात्र एव भव्यानन्तभागः सिद्धिं गच्छन् युक्तो घटमानको न हीनाधिकः, भविष्यतोऽपि कालस्यातीततुल्यत्वात् । तत एवमपि सति न सर्वभव्यानामुच्छेदो युक्तः, सर्वेणापि कालेन तदनन्तभागस्यैव सिद्धिगमनसंभवोपदर्शनात् । अथ परस्य मतिर्भवेत्-कथमिदं ससंवदम-यदुतानन्ता भव्याः, तदनन्तभागश्च सर्वेणैव कालेन सेत्स्यति ?, इति । अत्रोच्यते-कालाकाशादय इवानन्तास्तावद्भव्याः, तदनन्तभागस्य च मुक्तिगमनात्कालाकाशयोरिव न सर्वेषामुच्छेद इति प्रतिपत्तव्य । मद्वचनाद्वा मण्डिक ! सर्वमेतच्छ्रद्धेहीति । विशे० । आ० । हा० कर्म० । धा० । नं० । वृ० । दशा० ।

अनारिय-अभार्य-पुं० । अपत्नीके, कल्प० ।

" पद्मावती च समुवाच विना वधूटीं,
शोभा न काचन नरस्य भवत्यवश्यम् ।
नो केवलस्य पुरुषस्य करोति कोऽपि,
विश्वासमेव विट एव भवेदभार्यः " ॥ १ ॥ कल्प० १ क्ष० ।

अभाव-अभाव-पुं० । अशुभभावे, उत्त० १ अ० । जीवादयः पदार्था अन्यापेक्षया अभावाः । निषेधे, भ० ४२ श० १ उ० । विनाशे, सू० १ उ० । असम्भवे, दशा० १ उ० । असत्तायाम्, रत्ना०२ विष० । स० (अभावप्रामाण्यम्) यदपि—

" प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः, प्रमाणाभाव उच्यते ।
साऽऽत्मनोऽपरिणामो वा, विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि " ॥ १ ॥

(सेति) प्रत्यक्षाद्यनुत्पत्तिः, आत्मनो घटादिग्राहकतया परिणामाभावः प्रसज्यपक्षे, पर्युदासपक्षे पुनरन्यस्मिन् घटविविक्ताख्ये वस्तुनि अभावे घटो नास्तीति विज्ञानम्, इत्यभावप्रमाणमभिधीयते । तदपि, यथासंभवं प्रत्यक्षाद्यन्तर्गतमेव । तथाहि-

" गृहीत्वा वस्तुसद्भावं, स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानसं नास्तिता ज्ञानं, जायतेऽक्षानपेक्षया " ॥ १ ॥

इयमभावप्रमाणजनिका सामग्री । तत्र च भूतलादिकं वस्तु प्रत्यक्षेण घटादिभिः प्रतियोगिभिः संसृष्टम्, असंसृष्टं वा गृह्येत ? । नाद्यः पक्षः । प्रतियोगिसंसृष्टस्य भूतलादिवस्तुनः प्रत्यक्षेण ग्रहणे तत्र प्रतियोग्यभावग्राहकत्वेनाभावप्रमाणस्य प्रवृत्तिविरोधात् । प्रवृत्तौ वा न प्रामाण्यम्, प्रतियोगिनः सत्त्वेऽपि तत्प्रवृत्तेः । द्वितीयपक्षे तु-अभावप्रमाणवैयर्थ्यं, प्रत्यक्षेणैव प्रतियोगिनां कुम्भादीनामभावप्रतिपत्तेः । अथ न संसृष्टं नाप्यसंसृष्टं प्रतियोगिभिर्भूतलादि वस्तु प्रत्यक्षेण गृह्यते, वस्तुमात्रस्य तेन ग्रहणाभ्युपगमादिति चेत् । तदपि दुष्टम् । संसृष्टत्वासंसृष्टत्वयोः परस्परपरिहारस्थितिरूपत्वेनैकनिषेधेऽपरविधानस्य परिहर्तुमशक्यत्वात्, इति सदसद्रूपवस्तुग्रहणप्रवणेन प्रत्यक्षेणैवायं बध्यते । क्वचित्तु-तदघटं भूतलमिति स्मरणेन, तदेवेदमघटं भूतलमिति प्रत्यभिज्ञानेन, योऽग्निमान्न भवति नासौ धूमवानिति तर्केण, नात्र धूमो नाग्निरित्यनुमानेन, गृहे गर्गो नास्तीत्यागमेनाभावस्य प्रतीतेः क्वाऽभावप्रमाणं प्रवर्तताम् ? । रत्ना० २ परि० ।

अस्यैव प्रकारानाह-

स चतुर्धा-प्रागभावः प्रध्वंसाभाव इतरेतराभावोऽत्यन्ताभावश्च ॥ ५८ ॥

प्राक् पूर्वं वस्तूत्पत्तेरभावः, प्रध्वंसश्चासावभावश्च, इतरस्येतरस्मिन्नभावः, अत्यन्तं सर्वदाऽभावः । विधिप्रकारास्तु प्राक्तनैर्नोचिरे । अतः सूत्रकृद्भिरपि नाभिदधिरे ॥ ५८ ॥

तत्र प्रागभावमाविर्भावयन्ति—

यन्निवृत्तावेव कार्यस्य समुत्पत्तिः सोऽस्य प्रागभावः ॥ ५९ ॥

यस्य पदार्थस्य निवृत्तावेव सत्यां, न पुनरनिवृत्तावपि; अतिव्याप्तिप्रसक्तेः । अन्धकारस्यापि निवृत्तौ क्वचिद् ज्ञानोत्पत्तिदर्शनादन्धकारस्यापि ज्ञानप्रागभावत्वप्रसङ्गात् । नचैवमपि रूपज्ञानं तन्निवृत्तावेवोत्पद्यत इति तत्प्रति तस्य तत्त्वप्रसक्तिरिति वाच्यम् । अतीन्द्रियदर्शिनि नक्तंचरादौ च तद्भावेऽपि तद्भावात् । (स इति) पदार्थः, (अस्येति) कार्यस्य ॥ ५९ ॥

अत्रोदाहरन्ति—

यथा मृत्पिण्डनिवृत्तावेव समुत्पद्यमानस्य घटस्य मृत्पिण्डः ॥ ६० ॥

प्रध्वंसाभावं प्राहुः—

यदुत्पत्तौ कार्यस्यावश्यं विपत्तिः सोऽस्य प्रध्वंसाभावः ॥ ६१ ॥

यस्य पदार्थस्योत्पत्तौ सत्यां प्रागुत्पन्नकार्यस्यावश्यं नियमेन, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । विपत्तिर्विघटनं, सोऽस्य कार्यस्य प्रध्वंसाभावोऽभिधीयते ॥ ६१ ॥

उदाहरन्ति—

यथा कपालकदम्बकोत्पत्तौ नियमतो विपद्यमानस्य कलशस्य कपालकदम्बकम् ॥ ६२ ॥

इतरेतराभावं वर्णयन्ति—

स्वरूपान्तरात् स्वरूपव्यावृत्तिरितरेतराभावः ॥ ६३ ॥

स्वभावान्तराच्च पुनः स्वस्वरूपादेव तस्याभावप्रसक्तेः, स्वरूपव्यावृत्तिः स्वस्वभावव्यवच्छेद इतरेतराभावोऽन्यापोहनामा निगद्यते ॥ ६३ ॥

उदाहरणमाहुः—

यथा स्तम्भस्वभावात्कुम्भस्वभावव्यावृत्तिः ॥ ६४ ॥

अत्यन्ताभावमुपदिशन्ति-

कालत्रयापेक्षिणी हि तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरत्यन्ताभावः ॥ ६५ ॥

अतीतानागतवर्तमानरूपकालत्रयेऽपि याऽसौ तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरेकत्वपरिणतिव्यावृत्तिः, सोऽत्यन्ताभावोऽभिधीयते ॥ ६५ ॥

अभिउंजिय-अभियुज्य-अव्य० । सम्बन्धमुपागत्य प्रतिस्प-र्धे, स्था० ३ ठा०४ उ० । वशीकृत्याश्लिष्य वा इत्येतेषामर्थे, दशा० १० अ० ।

अभिओग-अभियोग-पुं० । अभियुज्यमानतायाम्, स द्विवि-धो-दैवो मानुषिकश्च । व्य० ७ उ० । (स च 'उवसग्गपत्त' शब्दे द्वितीयभागे १०२६ पृष्ठे व्याख्यास्यते) अभियोजनमभियोगः । राजाभियोगादिके अनिच्छतोऽपि व्यापारणे, ध० २ अधि० । आ-देशकर्मणि, औ० । प्रश्न० । आज्ञायाम्, स्था० १० ठा० । वशी-करणे, नि० चू० १ उ० । अभिभवे, आव० ४ अ० । वृ० । सूत्र० । गर्वे, आव० ४ अ० । अभियोजनं विद्यामन्त्रादिभिः परेषां व-शीकरणादिरभियोगः । स च द्विधा । यदाह-

दुविहो खलु अभिओगो, दव्वे भावे य होइ नायव्वो ।
दव्वम्मि होंति जोगा, विज्जामंताइ भावम्मि ॥

इदानीम् (अभिओगो त्ति) व्याख्यानयन्नाह-(दुविहो खलु अभि-ओगो त्ति) इह द्विविधो अभियोगः-द्रव्याभियोगो, भावाभि-योगश्च ज्ञातव्यः । तत्र द्रव्ये योगो द्रव्ययोगश्चूर्णम्, तन्मिश्रः पिण्डो द्रव्याभियोगपिण्डः, स च परित्यजनीयः । भावाभियोग-श्च विद्यया मन्त्रेण वा पिण्डं ददाति स च भावाभियोगः पिण्डः । स च परिष्ठापनीय इति । अत्र अगार्या दृष्टान्तः— "एगा अविरइया, सा अणिट्ठा पइणो, ताए परिव्वाइया अ-ब्भत्थिया-किंचि मंतेण अभिमंतिऊण मम देहि, जेण पई मे वसो होइ, ताहे ताए अभिमंतिऊण कूरो दिन्नो । अवि-रइयाए चिंतियं-मा एसो छिन्नो मरेज्ज, तओ ताए अणुकं-पाए उक्कुरुडियाए छड्डिओ, सो गद्दहेण खाइओ, सो रत्तिं घरदारं खोडिउमारद्धो, ताणि निग्गयाणि जाव पेच्छंति ग-द्दहेण खोडिज्जंतं, सा अविरइया जाणइ-किमेयं ति ?, ताए स-ब्भावो कहिओ, तेहिं वि सा चरिया दंडाविया, एस दोसो, एवं ताव जइ तिरियाणं एसा अवत्था होइ, माणुसस्स पुण सुट्ठयरं होइ, अओ एरिसो पिंडो न घेत्तव्वो " ॥

अमुमेवार्थं गाथाभिरुपसंहरन्नाह-

विज्जाए हो अगारी, अविपत्ता सा य पुच्छए चरियं ।
अभिमंतणोदणस्स उ, अणुकंपत्तणमुस्सग्गं च खरे ॥६०४॥

विद्याभिमन्त्रिते पिण्डे अगारीदृष्टान्तः-सा भर्तुरस्वायत्ता न रो-चते । सा च चरिकां पारिव्राजिकां पृच्छति पत्युर्वशीकरणार्थम् । तया अभिमन्त्रणमोदनस्य कृत्वा दत्तं, तथाऽपि अगार्या पत्युर्म-रणानुकम्पया न दत्तः स ओदनः, किन्तु उत्सर्गः, परित्यागः कृतः । स च खरेण भक्षित इति ।

वारस्स पिट्टणम्मि य, पुच्छण कहणं च हो अगारीए ।
सेहे चरिआ दंडे, एवं दोसा इहिं पि भवे ॥

स च गर्दभ आगत्य द्वारं पिट्टति मन्त्रवशीकृतः सन्, शेषं सुगमम् । एवं भावाभियोगे दृष्टान्त उक्तः ।

इदानीं द्रव्याभियोगे चूर्णवशीकरणपिण्डः, स उच्यते-

" एगा अविरइया, सा य गुरुअस्स भिक्खुणो अज्झोववण्णा अणुरत्ता, ताहे सा तं पत्थेइ, अणिच्छंतस्स चुण्णाभिओगेण संजोएउ भिक्खं पडिवेसिय घरे काऊण दवावियं ताए, जओ चेव तस्स साहुस्स पडिग्गहे पडियं तओ चेव तस्स साहुस्स तत्तो मणो हीरइ, तेण य णायं, ताहे विगिंचति, णियट्टो आय-रियाणं पडिग्गहं काउं काइयभूमिं वच्चइ, जाव आयरियाणं पि तत्तो हुत्तो भावो हीरति, ताहे सो सीसो आगंतुं आलोएइ, मम वि अत्थि भावो, तं एयं संजोगचुण्णेण कओ पिंडो अत्थि, ताहे परिट्ठविज्जइ, जो विहिं परिट्ठवणे सो उवरिं भणिहिइ त्ति" । एवमेव विसकयं पि । "एगा अगारी साहुणो अज्झोव-वण्णा, सो य णो इच्छति, ताए रुट्ठाए विसेण मिस्सा भिक्खा दिन्ना । तस्स य दिन्नमेत्ताणं चेव सिरोवेयणा जाया, परिणि-यट्टो गुरुणो समप्पेऊण काइयं वोसिरइ, जाव गुरुणो वि सी-सवेयणा जाया, तं च गुरुणा गंधेण णायं, जहा इमं विसमि-स्सं, अहवा तत्थ लवणकया भिक्खा पडिया, ताहे तं विसं वप्पिसइ । एवं णाते परिट्ठविज्जति " ॥

इदानीममुमेवार्थं गाथाभिरुपसंहरन्नाह—

जोगम्मि उ अविरइया, अज्झोववन्ना गुरूभिक्खुम्मि ।
कम्मयोगिपणिच्छंत-स्स देइ भिक्खं असुहभावो ॥६०६॥

योगे अविरतिकागृहस्थीदृष्टान्तः-अभ्युपपन्ना रक्ता सुरूपे भि-क्षौ, अनिच्छतस्तत्कर्मकर्तुः कृतयोगां भिक्षां, भिक्षापिण्डं ददाति । पुनश्च तस्य साधोर्ग्रहणानन्तरमेव अशुभभावो जातः ।

तदभिमुखं चिन्तयति—

संकाए स नियट्टो, दाऊण गुरुस्स काइयं विसरे ।
तेसिं पि असुहभावो, पुच्छा य ममं पि उस्सयणा ॥६०७॥

तया च शङ्कया योगकृतभिक्षाशङ्कया निवृत्तः भिक्षापरिभ्रम-णात् । शेषं सुगमम् ।

एमेव संकियम्मि वि, दाऊण गुरुस्स काइए विसरे ।
गंधाई विणाए, उस्सग्गऽविही सियालवहे ॥ ए ॥

एवमेव विषकृतोऽपि दृष्टान्तः-गुरोर्दत्त्वा समर्पयित्वा कायिकां व्युत्सृजति, तेन गुरुणा गन्धादिना विज्ञातम् । आदिग्रहणात् तत्तस्य उत्सर्जनं परित्यागः क्रियते, तत्र विधिना परिष्ठापनं कर्तव्यम्, नानाविधिना अविधिपरिष्ठापने सति शृगालादिवधो भवति । ओ० । वृ० ।

अभिओगी-आभियोगी-स्त्री० । आ समन्तादाभिमुख्येन यु-ज्यन्ते प्रेष्यकर्मणि व्यापार्यन्ते इत्याभियोग्याः किङ्करस्थानी-या देवविशेषास्तेषामियमाभियोगी । भावनायाम्, वृ० ।

अथाभियोगीमाह—

कोउअ-भूई-पसिणे, पसिणापसिणे निमित्तमाजीवी ।
इड्ढिरससायगुरुओ, अभिओगीभावणं कुणइ ॥

ऋद्धिरससातगुरुकः सन् कौतुकाजीवी भूतिकर्माजीवी, प्रश्नाजीवी, प्रश्नाप्रश्नाजीवी, निमित्ताजीवी च भवति एवंविध आभियोगीभावनां करोतीति ॥ (वृ०)

अथ ऋद्धिरससातगुरुक इति पदव्याख्यानार्थमाह-

एयाणि गारवट्ठा, कुणमाणो आभिओगियं बंधइ ।
बीयं गारवरहिओ, कुव्वं आराह तित्थं च ।

एतानि कौतुकादीनि ऋद्धिरससातगौरवार्थं कुर्वाणः प्रयुञ्जा-नः स आभियोगिकं देवादिप्रेष्यकर्मव्यापारफलं कर्म बध्नाति । द्वितीयमपवादपदमत्र भवति-गौरवरहितः सन्नतिशयज्ञाने सति निस्पृहवृत्त्या प्रवचनप्रभावनार्थमेतानि कौतुकादीनि कु-र्वन्नाराधको भवति, उच्चैर्गोत्रं च कर्म बध्नाति, तीर्थोन्नति-

कारणादिति । तता आभियोगिकी भावना । बृ० १ उ० । भ० । स्था० । औ० ।

अभिओयण–अभियोजन–न० । परेषां विद्यामन्त्रादिभिर्वशीकरणे, महा० २० पद । आव० ।

अभिकंखमाण–अभिकाङ्क्षत्–त्रि० । कर्तुमिच्छति, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अभिकंखा–अभिकाङ्क्षा–स्त्री० । अभिलाषे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । आचा० ।

अभिकंत–अभिक्रान्त–त्रि० । अतिसङ्क्रान्ते, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० । भावे निष्ठाप्रत्ययः । अभिक्रमणे, सूत्र० ४ अ० ।

अभिकंतकिरिया–अभिक्रान्तक्रिया–स्त्री० । चरकादिभिरनवसेवितपूर्वायां वसतौ, आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अभिकंतकूरकम्म–अभिक्रान्तक्रूरकर्मन्–त्रि० । हिंसादिक्रियाप्रवृत्ते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । आचा० ।

अभिकंतवय–अभिक्रान्तवयस्–न० । जरामभिमुखं वार्धकाभिक्रान्ते, आयवयोद्वयातिक्रमे जराभिमुखे वयसि, बालादीनां वयोऽपचयवत्वयस्था–तामभिमुखमाक्रान्ते, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अभिक्कमण–अभिक्रमण–न० । अभिमुखं क्रमणे, आचा० १ श्रु० ७ अ० ८ उ० ।

अभिक्कममाण–अभिक्रममाण–त्रि० । गच्छति, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अभिक्कम्म–अभिक्रम्य–अव्य० । आभिमुख्येन क्रान्त्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अभिक्खणं–अभीक्ष्णम्–अव्य० । अनवरते, आ० म० प्र० । भ० । प्रश्न० । विशे० । सूत्र० । आचा० । पुनःशब्दार्थे, स्था० ५ ठा० १ उ० । "एगे समुप्पज्जेज्जा अभिक्खणं अभिक्खणं इत्थिकहं भत्तकहं" स्था० २ ठा० ४ उ० । अभीक्ष्णं पुनःपुनः विशे० । बृ० । नि० चू० । दश० । स० । भूयोभूयः । दशा० १० अ० । रा० । वारंवारम् । कल्प० १ क्ष० । उत्त० । असकृत् । दशा० २ अ० । भृशम् । स० ३० सम० । "अभिक्खणमोधारणि भासइ" आव० ४ अ० ।

अभिक्खणिसेवण–अभीक्ष्णनिषेवण–न० । अभीक्ष्णप्रतिसेवने, व्य० ३ उ० ।

अभिक्खमाइण–अभीक्ष्णमायिन्–त्रि० । बहुशो मायाविनि, व्य० ३ उ० ।

अभिक्खसेवा–अभीक्ष्णसेवा–स्त्री० । प्रमाणाधिकसेवायाम्, नि० चू० १ उ० ।

अभिक्खाभिय–अभिक्षालाभिक–पुं० । अतुच्छज्ञानवज्ञानप्राहके भिक्षाचर्याविषयकाभिग्रहविशेषधारके साधौ, औ० । सूत्र० ।

अभिक्खासेवणा–अभीक्ष्णासेवना–स्त्री० । असकृदासेवनायाम्, नि० चू० १ उ० ।

अभिगज्जंत–अभिगर्जत्–न० । घनत्वनिमुखने, दशा० २ अ० ।

अभिगम–अभिगम–पुं० । सम्यग्धर्मप्रतिपत्तौ, पा० । ध० । दशा० ।

[illegible] —

[illegible]

(अभिगमेण त्ति) [illegible] (अभिगमाणं त्ति) [illegible] (अभिगमण त्ति) [illegible] ([illegible] त्ति) [illegible] ([illegible] त्ति) [illegible] दर्श० । सूत्र० । [illegible] अभिगमः, इति [illegible]

अभिगमण–अभिगमन–न० । अभिमुखगमने, [illegible] ध० । ज्ञा० । नि० । सूत्र० । [illegible] सू० प्र० १३ पाहु० । "अभिगमणवयाए" [illegible] । ज्ञा० १२ अ० ।

अभिगमणजोग्ग–अभिगमनयोग्य–त्रि० । अभिमुखगमनयोग्ये, रा० ।

अभिगमरुइ–अभिगमरुचि–पुं० । अभिगमो विशिष्टपरिज्ञानं तेन रुचिर्यस्यासौ अभिगमरुचिः । सम्यक्त्वभेदे, [illegible] प्रव० १४९ द्वार ।

> सो होइ अभिगमरुई, सुयनाणं जस्स अत्थओ दिट्ठं।
> एक्कारस अंगाई, पइण्णगा दिट्ठिवाओ य ।

यस्य श्रुतज्ञानमर्थतो दृष्टमेकादशाङ्गानि, प्रकीर्णकानि [illegible] तावेकवचनम् । ततोऽयमर्थः–प्रकीर्णानि उत्तराध्ययनादीनि दृष्टिवादः, चशब्दादुपाङ्गानि च, स भवत्यभिगमरुचिः । [illegible] १ पद । ध० ।

अभिगमसड्ढ–अभिगमश्राद्ध–पुं० । प्रतिपन्नाणुव्रते, प्र० ३ [illegible]

अभिगमसम्मत्त–अभिगमसम्यक्त्व–न० । जीवाजीवपुण्यपापाश्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षेषु परीक्षितनवपदार्थाभिगमप्रत्ययिके सम्यक्त्वभेदे, आ० चू० ४ अ० । "अभिगमसम्मत्ते दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–पडिवाई चेव, अपडिवाई चेव" स्था० २ ठा० १ उ० ।

अभिगय–अभिगत–पुं० । न० । आभिमुख्येन गतः । [illegible] बृ० १ उ० ।

अभिगिज्झ–अभिगृह्य–अव्य० । अङ्गीकृत्य आभिमुख्येनेत्यर्थे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

अभिगिज्झंत–अभिगृध्यत्–त्रि० । आभिमुख्येन लुब्धे लोभवशगीभवने, सूत्र० २ श्रु० २ उ० ।

अभिगह–अभिग्रह–पुं० । आभिमुख्येन ग्रहोऽभिग्रहः । [illegible] आव० १ अ० २ उ० । गाभिगृह्यत इत्यभिग्रहः । प्रतिज्ञाविशेषे, आव० ६ अ० ।

साध्वाचारविशेषे, यथेत्थमाहारादिकमस्मीयं कल्पते, इत्थं च न कल्पते । सू० १ उ० । स च द्रव्यादिविषयभेदाच्चतुर्विधः । ध० ३ अधि० । तत्र द्रव्याभिग्रहो लेपकृतादिद्रव्यविषयः, क्षेत्राभिग्रहः स्वग्रामपरग्रामादिविषयः, कालाभिग्रहः पूर्वाह्णादिविषयः, भावाभिग्रहस्तु गानहसनादिप्रवृत्तपुरुषादिविषयः । औ० । प्रव० ।

हिंडंति तओ पच्छा, अमुच्छिया एसणाएँ उवउत्ता ।
दव्वादभिग्गहजुआ, मोक्खट्ठा सव्वभावेणं ॥ ९७ ॥

हिण्डन्ति अटन्ति ततः पश्चाद्, विधिनिर्गमनानन्तरमित्यर्थः । अमूर्च्छिता आहारादौ मूर्च्छामकुर्वन्तः, एषणायां ग्रहणविषयायाम्, उपयुक्तास्तत्पराः, द्रव्याद्यभिग्रहयुता वक्ष्यमाणद्रव्याद्यभिग्रहोपेताः, मोक्षार्थं तदर्थं विहितानुष्ठानत्वात्, भिक्षाटनस्य सर्वभावेन सर्वभावाभिसन्धिना तद्वैयावृत्यादेरपि मोक्षार्थत्वादिति गाथार्थः ।

तत्र द्रव्याभिग्रहानाह—

लेवमलेवजुअं वा, अमुगं दव्वं च अज्ज घिच्छामि ।
अमुगेणं च दव्वेणं, अह दव्वाभिग्गहो चेव ॥ ९८ ॥

लेपवज्जुगार्यादि, तन्मिश्रं वा, अलेपवद्वा तद्विपरीतम्, अमुकं द्रव्यं वा मण्डकादि, अद्य ग्रहीष्यामि अमुकेन वा द्रव्येण दर्वीकुन्तादिना, अथायं द्रव्याभिग्रहो नाम साध्वाचरणविशेष इति गाथार्थः ।

क्षेत्राभिग्रहमाह—

अट्ठउ गोअरभूमि, एलुगविक्खंभमेत्तगहणं च ।
सगामपरगामे, एवइअ गिहाण खेत्तम्मि ॥ ९९ ॥

अष्टौ गोचरभूमयो वक्ष्यमाणलक्षणाः, तथा एलुकविष्कम्भमात्रग्रहणं च, यथोक्तम्–'एलुकविक्खंभमित्ता'। तथा स्वग्रामपरग्रामयोरेतावन्ति च गृहाणि क्षेत्रे इति, स क्षेत्रविषयोऽभिग्रह इति गाथार्थः । पं० व० २ द्वार।

कालाभिग्रहमाह—

काले अभिग्गहो पुण, आई मज्झं तहेव अवसाणे ।
अप्पत्ते सइ काले, आई बिइओ अ चरिमम्मि ॥

काले कालविषयोऽभिग्रहः पुनरयम्–आदौ मध्ये तथैवावसाने भिक्षावेलायाः, एतदेव व्याचष्टे–अप्राप्ते भिक्षाकाले यत्पर्यटति स प्रथमोऽभिग्रहः । यत्तु सति प्राप्ते भिक्षाकाले चरति स द्वितीयो मध्यविषयोऽभिग्रहः । यत्पुनश्चरमेऽतिक्रान्ते भिक्षाकाले पर्यटति सोऽवसानविषयोऽभिग्रहः ।

कालत्रयेऽपि तु गुणदोषानाह–

दिंतगपडिच्छगाणं, हविज्ज सुहुमं पि मा हु अवियत्तं ।
इय अप्पत्ते अइए, पवत्तणं मा ततो मज्झे ॥

दद्त्प्रतीच्छकयोरिति–भिक्षादातृग्राहिणो भिक्षाप्रतीच्छकस्य च धर्मादिकाद्दसां भूत् सूक्ष्ममप्यप्रीतिकम्, इत्यस्मात्कारणादप्राप्तेऽतीते च–भिक्षाकालेऽटनं श्रेय इति गम्यते । (पवत्तणं मा ततो मज्झे त्ति) अप्राप्ते अतीते वा पर्यटनं प्रवर्त्तनं पुरःकर्मपश्चात्कर्मादिदोषा भूत्, तत एतेन हेतुना मध्ये प्राप्ते भिक्षाकाले पर्यटति॥

अथ भावाभिग्रहमाह—

उक्खित्तमाइचरगा, भावजुया खलु अभिग्गहा होंति ।
गायंतो व रुयंतो, जं देइ निसन्नमादीया ॥

उत्क्षिप्तं पाकपिठरात्पूर्वमेव दायकेनोद्धृतं तद् ये चरन्ति गवेषयन्ति ते उत्क्षिप्तचरकाः । आदिशब्दाद् निक्षिप्तचरकाः, संख्यादत्तिकाः, दृष्टलाभिकाः, पृष्टलाभिका इत्यादयो गृह्यन्ते । त एते गुणगुणिनोः कथंचिदभेदाद्भावयुताः खल्वभिग्रहा भवन्ति, भावाभिग्रहा इति भावः । यद्वा–गायन् यदि दास्यति तदा मया ग्रहीतव्यम्, एवं रुदन् वा, निषण्णादिर्वा, आदिग्रहणादुत्थितः, संप्रस्थितश्च यद्दाति तद्विषयो योऽभिग्रहः स सर्वोऽपि भावाभिग्रह उच्यते ।

तथा–

ओसक्कणअहिसक्कण, परंमुहालंकिए व इयरो वा ।
भावऽन्नयरेण जुओ, अह भावाभिग्गहो नाम ॥

अवष्वष्कणमपसरणं कुर्वन्, अभिष्वष्कन् संमुखमागच्छन्, पराङ्मुखः प्रतीतः, अलङ्कृतः कटककेयूरादिभिः, इतरो वा अनलङ्कृतः पुरुषो यदि दास्यति तदा ग्राह्यमित्येतेषां भावानामन्यतरेण भावेन युतः, अथायं भावाभिग्रहो नामेति । सू० १ श्रु० । आचा० । "तए णं समणे भगवं महावीरे गब्भत्थे चेव इमेयारूवे अभिग्गहं अभिगिण्हइ–णो खलु मे कप्पइ अम्मापिईहिं जीवंतेहिं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए" । कल्प० ५ क्ष० । वीरः पञ्चाभिग्रहानभिगृह्य विहारं प्रति प्रस्थितः । अभिग्रहाश्चेमे–'नाप्रीतिमद्गृहे वासः १, स्थेयं प्रतिमया सदा २। न गेहिविनयः कार्यः ३, मौनं ४ पाणौ च भोजनम् ५' ॥१॥ कल्प० ५ क्ष० । प्रत्याख्यानभेदे, "पंच चउरो अभिग्गहे" पञ्च चत्वारश्चाभिग्रहे आकाराः–"अभिग्गहेसु अप्पाउरण चोलपट्टगा, तस्स पंच (आगारा,) अणत्थणाभोगे सहसागारे चोलपट्टगागारे महत्तरागारे सेसेसु चोलपट्टगा णे नत्थि विगइए अट्ठ नव य आगारा" आव० ६ अ० । ध० । ल० प्र० । इदमेव दर्शनं शोभनं नान्यदित्येवंरूपे कुमतपरिग्रहे, स्था० २ ठा० १ उ० । गुरुनियोगकरणाभिसन्धौ, द्वा० २७ द्वा० । एष कायिकविनयभेदः व्य० १ उ० । दश० । पं० सं० । प्रज्ञापनायाम्, अभियोगे, आभिमुख्येनोद्यमे गौरवान्विते च । वाच० ।

अभिग्गहियसिज्जासणिय–अभिगृहीतशय्यासनिक–पुं० । शय्यासनाभिग्रहयुते साध्वाचारे, कल्प० ।

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अणभिग्गहियसिज्जासणिएणं हुत्तए ॥

नो कल्पते साधूनां, साध्वीनां वा (अणभिग्गहिय त्ति) न अभिगृहीते शय्यासने येन स अनभिगृहीतशय्यासनः, अनभिगृहीतशय्यासन एव अनभिगृहीतशय्यासनिकः । स्वार्थे इकण् प्रत्ययः । तथाविधेन साधुना (हुत्तए त्ति) भवितुं न कल्पते । वर्षासु मणिकुट्टिमे पीठफलकादिग्रहणमेव श्रेयस्कम्, अन्यथा शीतलायां भूमौ शयने उपवेशने च कुन्थ्वादिविराधनासम्भवात् । कल्प० ९ क्ष० ।

अभिग्गहिया–अभिगृहीता–स्त्री० । अभिग्रहवत्प्रतिमायाम्, प्रव० । अभिग्रहविशेष–भावतां सतां तदेषणानां मध्ये सप्तैषणाग्रहणं, पञ्चसु ग्रहणं, पुनरपि द्विवृत्तिरादिषु मन्यतमां पञ्चानां मध्ये द्वयोरभिग्रहः । प्रव० ६ द्वा० । "अभिग्गहिया व सत्ता त्रिगुणविषयाः" नि० चू० ४ उ० । प्रतिनियतनाथवाचके, यथा इदमिदानीं कर्त्तव्यमिदं नेति । प्रज्ञा० ११ पद ।

कंत–अभिनिष्क्रान्त–त्रि०। अधीताचारादिशास्त्रे, तद-
ापवृंहितचरणपरिणामे च। आचा०१ श्रु० ६ अ०१ उ०।

गिज्झ–अभिनिगृह्य–अव्य०। अवरुध्येत्यर्थे, आचा०
। अ० ३ उ०।

चारिया–अभिनिचारिका–स्त्री०। आभिमुख्येन निय-
का; सूत्रोपदेशेन बहुवर्जिकादिषु दुर्बलानामाप्यायनि-
र्वाह्य काले समुत्कृष्टमभुदाने लघुगमने, व्य० ४ उ०।

पया–अभिनिप्रजा–स्त्री०। अभि प्रत्येकं नियता वि-
प्रजा अभिनिप्रजा। प्रत्येकं विविक्तायां प्रजायाम,
उ०।

बोह–अभिनिबोध–पुं०। अर्थाभिमुखो नियतः प्र-
स्वरूपो बोधो बोधविशेषोऽभिनिबोधः। अभिनिबु-
ानस्मादस्मिन् वेति। मतिज्ञाने,तदावरणक्षयोपशमे च।
० प्र०। सम्म०। नं०। आव०। स्था०। आभिमुख्येन
येन च बुध्यते संवेद्यते आत्मा तदित्यभिनिबोधः।
दिज्ञाने, अभिनिबुध्यते वस्त्ववगच्छतीति अभिनि-
मतिज्ञानात्मनि, विशे० ॥

ट्टण–अभिनिवर्त्तन–न०। व्यावर्तने, आचा० १ श्रु०
। उ०।

विट्ठ–अभिनिविष्ट–त्रि०। पश्चाऽऽसृते, उत्त० १४ अ०।
बद्धे, उत्त० १४ अ०। अभिविधिना निविष्टम्। भ० १२
० । जीवप्रदेशेषु अभिव्याप्त्या निविष्टे अभिगाढतां
० १३ श० ७ उ०।

वेस–अभिनिवेश–पुं०। असत्याग्रहे, पञ्चा० १४ विव०।
ग्रन्थे, ओघ०। तद्रूपे योगशास्त्रप्रसिद्धे क्लेशभेदे, द्वा०।

तोऽपि तथारूढः, सदा स्वरसवृत्तिकः।
ात्मवियोगस्या-भिनिवेशोऽभिलापतः ॥ २० ॥

शोऽपीति) विदुषोऽपि पण्डितस्यापि, तथारूढः पूर्व-
भूतमरणदुःखानुभववासनाबलाद् भूयः समुपजायमानः,
ानामवियोगस्याभिलाषतः शरीरादिवियोगो मे मा-
व लक्षणाद्, अभिनिवेशो भवति, सदा निरन्तरं, स्वर-
ोऽनिच्छाधीनप्रवृत्तिकः। तदुक्तम्—' स्वरसवाही
पि तथारूढोऽभिनिवेशः' इति।२०। द्वा०२५ द्वा०। "कहं
प विचारे सोऽभिणिवेसेण अपहा कम्मं बज्झइ"
० द्वि०।

ाह–अभिनिबन्ध–त्रि०। बन्धने, वाच०। सम्माने,
० प्र०।

व्वगडा–अभिनिव्यगडा–स्त्री०। अभि प्रत्येकं निय-
ः परिक्षेपो यस्यां सा अभिनिव्यगडा। पृथक्परिक्षे-
व्य० ६ उ०।

व्याकृता–स्त्री०। पृथग्विविक्तद्वारायां वसतौ, व्य०१उ०।

व्वट्ट–अभिनिर्वृत्त–त्रि०। सामीप्याद्रक्तायुर्विशेषेमा-
भिनिर्वर्तनासंपादिते, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०।

अभिणिव्वट्टित्ता–अभिनिर्वर्त्य–अव्य०। समाकृष्येत्यर्थे, "अ-
भिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसेज्जा" सूत्र० २ श्रु० १ अ०। विधाये-
त्यर्थे, "दंडसहस्सं अभिणिव्वट्टित्ता णं उवदंसित्तए" भ० ५
श० ४ उ०।

अभिणिव्वुड–अभिनिर्वृत–त्रि०। क्रोधाद्युपशमेन शान्तीभूते,
मुक्ते, सूत्र०१ श्रु० २ अ० १ उ०। विषयकषायाद्युपशमाच्छीती-
भूते, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ०। लोभादिजयाच्छीतीभूते,
"दंतेऽभिनिव्वुडे दंते, वीतगिद्धी सदा जए"। क्रोधादिपरित्या-
गाच्छीतीभूते,सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। "पावाओ विरतेऽभिनिव्वुडे"
सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०। "अभिनिव्वुडे अमाई", अभिनिर्वृत-
ग्रहणं संसारमहानरककन्दोच्छेदविप्रतिपत्त्या। आचा० १ श्रु० १
अ० १ उ०।

अभिणिसज्जा–अभिनिषद्या–स्त्री०। अभि रात्रिमभिव्याप्य
स्वाध्यायनिमित्तमागता निषीदन्त्यस्यामित्यभिनिषद्या। अभि-
नैषेधिक्यां स्वाध्यायं कृत्वा रात्रिमुषित्वा प्रत्यूषे प्रतियातानां
वसतौ, व्य० १ उ०।

बहवे परिहारियाऽपरिहारिया इच्छेज्जा–एगंतओ अभि-
निसिज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेतिए; नए णो णं कप्पति थेरे
अणापुच्छित्ता एगंतओ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं
वा चेइतए। कप्पइ एहं थेरे आपुच्छित्ता से एगंतओ अभिनि-
सेज्जं वा अभिनिसीहियं वा चेइत्तए; थेरा य एहं से (ते)
वियरिज्जा-एवं एहं कप्पइ अभिनिसेज्जं वा अभिनिसीहियं
वा चेतेतए। थेरा एहं नो वियरेज्जा–एवं एहं णो कप्पइ
एगंतओ अभिणिसेज्जं वा अभिणिसीहियं वा चेतेतए। जो
णो थेरेहिं अविविइएहं अभिनिसिज्जं वा अभिनिसीहियं
वा चेतेति, से संतरा छेदे वा परिहारे वा ॥ २२ ॥

बहवस्त्रिप्रभृतयोऽनेके पारिहारिकाः परिहारतपःप्रपन्नाः, बहवोऽपारि-
हारिका इच्छेयुरेकान्ते विविक्ते प्रदेशान्तरे वसत्यन्तरे वा अभिनि-
षद्याम, अभि रात्रिमभिव्याप्य स्वाध्यायनिमित्तमागता निषीद-
न्त्यस्यामित्यभिनिषद्या, तां वा, तथा निषेधः स्वाध्यायव्यतिरेकेण
सकलव्यापारप्रतिषेधः, तेन निर्वृत्ता नैषेधिकी। अभि आभिमु-
ख्येन संयमयोग्यतया नैषेधिकी अभिनैषेधिकी, तां वा। इय-
मत्र भावना–तत्र दिवा स्वाध्यायं कृत्वा रात्रौ वसतिमेव प्रत्या-
यान्ति प्रतियान्ति, सा अभिनैषेधिकी। अभिनैषेधिक्यामेव स्वा-
ध्यायं कृत्वा रात्रिमुषित्वा प्रत्यूषे वसतिमुपागच्छन्ति सा
अभिनिषद्येति। तामभिनिषद्यामभिनैषेधिकीं वा (चेतित्तए इति)
गन्तुं,तत्र, नो नैव,'से' तेषां पारिहारिकाणामपारिहारिकाणां च
कल्पते, स्थविरान् आचार्यादीन् अनापृच्छ्य (एगन्तओ) एकान्ते
विविक्ते प्रदेशे, वसत्यन्तरे वा अभिनिषद्यामभिनैषेधिकीं वा ग-
न्तुम्, इदमुक्तं भवति–आचार्यव्यतिरेकेण शेषसाधुस्थविराणां सर्वेषा-
मपि गुरुपृच्छाऽऽवश्यकतयात्। तदेवं प्रतिषेधसूत्रमभिधाय अ-
नुज्ञासूत्रमाह–(कप्पति एहं थेरे आपुच्छित्ता) इ-
त्यादि सुगमम्। इह पारिहारिका नाम चारपारिहारिकतपो-
ऽभिधीयन्ते।

तत्र चोदकः प्राह–

पुच्छंति अप्पणो, किमु इयरेहिं चएंति।

एको व दुवे होज्जा, बहुया उ कहं समावन्ना ॥

पूर्वस्मिन् कल्पे नास्ति अध्ययने भिक्खुप्रमत्तो भदन्तैः परमकल्याणयोगिभिरुपवर्णितः, ततः कथं परिहारतपःप्रायश्चित्ताऽऽपत्तितः पारिहारिका भवेयुः ?। अपि च-एको द्वौ वा पारिहारतप आपद्येयाताम्, एकस्य एकाकिदोषाणां द्वयोरसमाप्तकल्पदोषाणां संभवात्। ये च बहवस्ते च समानकल्पकल्पत्वात् परस्परं रक्षणपरायणाः कथं पारिहारिकत्वं समापन्ना इति ?।

अत्राचार्य आह—

चोयग ! बहुउप्पत्ती, जोहा व जहा तहा समणजोहा ।
दव्वच्छलणे जोहा, भावच्छलणे समणजोहा ॥

हे चोदक ! परीषहाणामसहनेन श्रोत्रेन्द्रियादिविषयेष्विष्टानिष्टेषु रागद्वेषाभिगमनेन परिहारतपःप्रायश्चित्तस्थानापत्त्या बहूनां पारिहारिकाणामुत्पत्तिर्न विरुद्धा। अथवा-यथा योधाः सन्नद्धबद्धकवचा अपि रणे प्रविष्टाः प्रतिपन्थिपुरुषैस्तथाविधं कमप्यवसरमवाप्य देशतः, सर्वतो वा छल्यन्ते, तथा श्रमणयोधा अपि मूलगुणोत्तरगुणेष्वत्यन्तमप्रमत्ततया यतमाना अपि छलनामाप्नुवन्ति। सा च छलना द्विधा-द्रव्यतो, भावतश्च। द्रव्यतश्छलना खड्गादिभिः। भावतः परीषहोपसर्गाद्यैः। तत्र द्रव्यच्छलने द्रव्यतश्छलनविषयाः, योधा रणे प्रविष्टा भटाः, भावच्छलने भावच्छलनविषयाः श्रमणयोधाः॥

सम्प्रति यदुक्तं यथा योधास्तथा श्रमणयोधा इति तद् व्याख्यानयति-

आयरिया वि रणमुहे, जहा छलिज्जंति अप्पमत्ता वि ।
छलणा वि होइ दुविहा, जीवंतकरी य इयरी य ॥

यथा योधा आगूर्णा अपि सन्नद्धसन्नाहा अपि अप्रमत्ता अपि च रणमुखे प्रविष्टाः प्रतिभटैश्छल्यन्ते। सा च छलना द्विधा-जीवितान्तकरी, इतरा च। तत्र यया जीवितात् व्यपरोप्यते सा जीवितान्तकरी, यया तु परितापनाऽऽपद्यते नापद्रावणं सा इतरा।

मूलगुणउत्तरगुणे, जयमाणा वि हु तहा छलिज्जंति ।
भावच्छलणा य पुणो, सा वि य देसे य सव्वे य ॥

तथा श्रमणयोधा रागादिप्रतिपक्षभावनामन्नाहसन्नद्धा यथामूलगुणेषूत्तरगुणेषु चात्यन्तमप्रमत्ततया यतमाना अपि 'हु' निश्चितं, भावच्छलनया परीषहोपसर्गादिभिः सन्मार्गच्यावनरूपया छल्यन्ते। सापि च भावच्छलना द्विधा-देशतः, सर्वतश्च। तत्र यया तपोऽर्हं प्रायश्चित्तमापद्यते-सा देशतो भावच्छलना। यया मूलमापद्यते-सा सर्वतः।

एवं परिहारिया-ऽपरिहारिया व होति बहुया तो ।
ते एगंत निसीहिय-अभिनिसिज्जं वा वि चेएज्जा ॥

[illegible]

[illegible]

चेतेंति निसि दिया वा, सुत्तत्थ निसीहिया स ह...
सज्झायं काऊणं, निसीहिया तो निसिं चिय हो...
अभिवसिउं जत्थ निसिं, उवेंति पातो तहिं सेज्जा॥

तिष्ठन्ति स्वाध्यायव्यापृताः अस्मिन्निति स्थानम्। कि... स्वाध्यायव्यतिरिक्तशेषव्यापारप्रतिषेधेन निर्वृत्ता नैषे... ततः स्थानमिति वा, नैषेधिकीति वा (एगट्ठमिति) एक... शब्दावेतौ तुल्यार्थाविति भावः। व्युत्पत्त्यर्थस्य द्वयोरप्ये... स्यात्। यत्र स्थानमेवं स्वाध्यायनिमित्तमेकं, न तु शेष... अवाग्वसनस्थानं वा चेतयन्ति। निशि रात्रौ दिवा वा... सूत्रार्थहेतुत्वात् नैषेधिकी। एतेनास्मिन् या नैषेधि... का सा सूत्रार्थप्रायोग्या नैषेधिकी प्रतिपत्तव्या, न तु ... करणप्रायोग्या नैषेधिकी प्रतिपत्तव्या। किमुक्तं भवे... यस्यां नैषेधिक्यां दिवा स्वाध्यायं कृत्वा दिवैव, यदि ... निशि च स्वाध्यायं कृत्वा निश्येव निशायामवश्यं नैषे... कीं वसतिमुपयन्ति सा अभिनैषेधिकी। यस्यां पुनर्नैषे... दिवा निशायां वा स्वाध्यायं कृत्वा रात्रिमुषित्वा प्रातर्ग... पयन्ति (तई इति) तका अभिशय्या अभिनिषद्येति ...

अथ स्थविरा आपृष्टा अपि यदा न ब्रुवन्ति, तदा ... कल्पते, न वा ?। इत्याशङ्कायामाह—(थेरा ...) स्थविरा आचार्यादयः, चशब्दो वाक्यभेदे, ... वाक्यालङ्कारे, स तेषां पारिहारिकाणामपारिहारिकाणां वा ... तेऽनुजानीयुर्नैषेधिकीमभिशय्यां वा गन्तुं, एवमुक्ता ... रेण, एहमिति पूर्ववत्, कल्पते अभिशय्यामभिनैषेधिकीं ... (चेव तए इति) गन्तुम्। (थेरा एहमित्यादि) स्थविरा... मिति प्राग्वत्। नो नैव, तेषां वितरेयुरेवममुना प्रकारेण ... कल्पते एकान्ततोऽभिनिषद्यामभिनैषेधिकीं वा गन्तुम्। (...मित्यादि) यः पुनर्णमिति वाक्यालङ्कारे, स्थविरैरवितीर्ण... मुज्ञातः सन् एकान्ततो अभिनिषद्यामभिनैषेधिकीं वा (...) गच्छति, ततः (से) तस्य स्वान्तरात् स्वकृतमन्तरं ... तस्मात्, यावन्न मिलति यावद्वा स्वाध्यायभूमेर्नाऽऽगच्छति ... यद् यद् विचालं तत् अन्तरं तस्मात्स्वकृतादन्तरात् ... पञ्चरात्रिन्दिवादिकः, परिहारो वा परिहारतपो वा ... कादिः। एष सूत्रार्थः॥

अधुना निर्युक्तिविस्तरः—

निक्कारणम्मि गुरुगा, कज्जे लहुया अपुच्छणे लहुगा।
पडिसेहम्मि य लहुया, गुरुगमणे होतऽणुग्घाया ॥

यदि निष्कारणे कारणाभावे अभिशय्यामभिनैषेधिकीं वा गच्छन्ति, ततस्तेषां प्रायश्चित्तं गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः। ... कार्ये समुत्पन्ने गच्छन्ति, तत्र प्रायश्चित्तं लघुकाश्चत्वारो लघु... मासाः। कार्यमुपरिष्टाद् वर्णयिष्यते। यदि पुनः कार्ये ... अनापृच्छ्य गच्छन्ति, तदा अपृच्छने लघुको मासः... पृच्छायामपि कृतायां यदि स्थविरैः प्रतिषेधे गच्छन्ति ... लघुकाश्चत्वारो लघुमासाः। (गुरुगमणे इत्यादि) गुरुणां ... न यदि गच्छन्त्यभिशय्यामभिनैषेधिकीं वा ततस्तत्र ... ऽनुद्घातगुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः॥

ये पुनरेवमनिषण्णाः समर्थां निष्कण्ठे परीषहा ... मे दोषाः-

तेणाऽऽदेसगिलाणे, कायगइत्थीनपुंसमुच्छा वा

उणत्तणेण दोसा, हवंति एए उ वसहीए ।

ये वसतिपालास्तेषु संतरुनत्वे हीनत्वे एते गाथापूर्वार्द्धोक्ता दोषा भवन्ति । तद्यथा-स्तेनाश्चौरास्ते ' गताः साधवो वसतेः ' इति ज्ञात्वा वसतावापतेयुः, आदेशा प्राघूर्णकास्ते वा समागच्छेयुः, तेषां च समागतानामविश्रामणादिप्रसक्तिः, समर्थसाध्वभावात् । (गिलाण त्ति) ग्लानो वा, तेषामभावे व्याधिपीडितो समाधिमाप्नुयात् । (झामण त्ति) दाहो वा प्रदीपनकेन वसतेर्भूयात् । तथा स्तोकाः साधवो वसतौ तिष्ठन्तीति स्त्रियो नपुंसका वा कामविह्वलाः समागच्छेयुः । तत्रात्मपरोभयसमुत्था दोषाः । तथा मूर्च्छा कस्यापि पित्तादिवशतो भूयात् । तदेवं यतो वसतिपालानामिमे विनिर्गमे दोषास्तस्मात्तैरपि शय्यादिषु न गन्तव्यमित्येष द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

व्यासार्थं तु भाष्यकृदाह-

दुविहाऽवहार सोही, एसणघातो य जा य परिहाणी ।
आएसमविस्सामण-परितावणया य एक्कतरे ॥

स्तेनैरपहारो द्विविधः । तद्यथा-साध्वपहारः, उपध्यपहारश्च । तस्मिन् द्विविधेऽप्यपहारे शोधिः प्रायश्चित्तम् । तद्यथा-यद्येकं साधुमपहरन्ति स्तेनास्तदा वसतिपालानां प्रायश्चित्तं मूलम् । अथ द्वावपहरन्ति ततोऽनवस्थाप्यम् । त्रिप्रभृतीनामपहरणे पाराञ्चिकम् । तथा जघन्योपध्यपहारे पञ्चरात्रिन्दिवम् । मध्यमोपध्यपहारे मासलघु । उत्कृष्टोपध्यपहारे चतुर्गुरुकम् । तथा एषणाया घातः प्रेरणमेषणघातः, स च स्यात् । तथाहि-भवतुपधिपात्रादिकमन्तरेण एषणाघातः, तत एषणाप्रेरणे यत्प्रायश्चित्तं तदापद्यते तेषां वसतिपालानामिति । तथा (जा य परिहाणि त्ति) या च परिहाणिरुपधिमन्तरेण शीतादिव्याधितस्य, तत्क्रयणप्रयतमानस्य वा, सूत्रार्थस्य च भ्रंशः, तन्निमित्तकमपि समापद्यते प्रायश्चित्तम् । तत्र सूत्रपौरुष्या अकरणे मासलघु । अर्थपौरुष्या अकरणे मासगुरु । अथोपधिगवेषणेन दीर्घकालतः सूत्रं नाशयन्ति ततश्चतुर्लघु । अर्थनाशने चतुर्गुरु । तथा तेषु वसतिपालेषु साधुष्वभिशय्यादिगतेषु आदेशानां प्राघूर्णकानां समागतानामध्वपरिश्रान्तानामविश्रामणे या अनागाढा परितापनोपजायते, तन्निष्पन्नमपि तेषामापद्यते प्रायश्चित्तम् । (एक्कतरे त्ति) तेषु वसतिपालेष्वभिशय्यादिगतेषु यो मुक्त एकतरो वसतिपालः, स एको द्वौ बहवो वा, ' यद्यागच्छन्ति प्राघूर्णकास्ते सर्वेऽपि नियमतो विश्रमयितव्याः ' इति जिनप्रवचनमनुसरन् बहून्प्राघूर्णकान् विश्रामयन् यदनागाढमागाढं वा परितापनामाप्नोति तन्निमित्तकमपि समापतति तेषां प्रायश्चित्तम् ।

साम्प्रतमस्या एव गाथायाः पश्चार्द्धं व्याख्यानयति-

आदेसमविस्सामण-परितावण तेसऽवच्छलत्तं च ।
गुरुकरणे वि य दोसा, हवंति परितावणादीया ॥

आदेशानां प्राघूर्णकानामविश्रामणे, 'गाथायां मकारोऽलाक्षणिकः,' एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । दीर्घाध्वपरिश्रमतो यदनागाढमागाढं वा परितापनं; तथा तेष्वादेशेषु समागतेषु अवत्सलत्वमवात्सल्यकरणं तन्निष्पन्नं तेषां प्रायश्चित्तम् । अन्यच्च वसतिपालेष्वपि शय्यादिगतेषु प्राघूर्णकानां समागतानामन्याभावे गुरुः स्वयं वात्सल्यं करोति, गुरुकरणेऽपि च दोषा भवन्ति परितापनादयः । तथाहि-गुरोः स्वयं करणे सुकुमारतया अनागाढमागाढं वा परितापनं स्यात्, परितापनाच्च रोगसमागमः, रोगसमागमे च बहूनां स्वगच्छपरगच्छीयानां सूत्रार्थहानिः, श्रावकादीनां धर्मदेशनाश्रवणव्याघातः, लोके चावर्णवादः । यथा-दुर्विनीता एते शिष्या इति । गतमादेशद्वारम् ।

अधुना ग्लानद्वारमाह—

सयकरणमकरणे वा, गिलाणपरितावणा य दुविहो वि ।
बालोवहीण दाहो, तदट्ठमण्णो व आदित्ते ॥

वसतिपालेष्वभिशय्यादिगतेषु, द्विधा द्वाभ्यामपि प्रकाराभ्यां ग्लानस्य परितापना । तद्यथा—स्वयंकरणे, अकरणे वा । तथाहि-ग्लानो यदि स्वयमुद्वर्तनादिकं करोति, तदाऽपि तस्याऽनागाढादिपरितापनासंभवः । अथ न करोति, तथापि परितापनासंभवः, ततस्तन्निमित्तं आपद्यते तेषां प्रायश्चित्तम् । अन्यच्च यः पश्चान्मुक्तो वसतिपालः स यदा प्रभूतं ग्लानस्य ग्लानानां वा कर्तव्यं करोति, तदा सोऽपि परितापनमनागाढमागाढं वाऽऽपद्यते; ततस्तद्धेतुकमपि प्रायश्चित्तम् । गतं ग्लानद्वारम् । अधुना झामणद्वारमाह-(बालोवहीणमित्यादि) तेषु समर्थेषु वसतिपालेषु बालं वसतिपालं मुक्त्वा अभिशय्यामभिनैषेधिकीं वा गतेषु अग्निकायेन प्रदीप्ते उपाश्रये बालानामुपधीनां च दाहो भवेत् । तत्र यद्येकोऽपि साधुर्म्रियते तदा चरमं पाराञ्चिकं प्रायश्चित्तम् । अथ न म्रियते किन्तु दाहमागाढमनागाढं वा परितापनमाप्नोति तदा तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । अथोपधिर्जघन्यो मध्यम उत्कृष्टो वा दह्यते ततस्तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् । (तदट्ठमण्णो य त्ति) तदर्थं बालनिस्सारणार्थम्, उपधिनिस्सारणार्थं वा अन्यः प्रविशेत, तदा कदाचित्सोऽपि बालो दह्येत अन्यथा प्रविशन्, ततस्तदुभयनिमित्तमापद्यते प्रायश्चित्तम्, लोके च महान् अवर्णवादः । गतमग्निद्वारम् ।

अधुना स्त्रीनपुंसकद्वारमाह—

इत्थीनपुंसगा वि य, ओमत्तणओ निहा भवे दोसा ।
अभिघाय पित्ततो वा, मुच्छा भंगो व थाहिं च ॥

स्त्रियो नपुंसका वा, अवमत्वेन हीनत्वेन, ' स्तोकाः साधवो वसतौ तिष्ठन्ति, परिणतप्रज्ञाश्चान्यत्र गता वर्तन्ते ' इति ज्ञात्वा समागच्छेयुस्तदागमने च त्रिधा आत्मपरोभयसमुत्थाश्च दोषाः स्युः । तथाहि—यत् स्त्र्यादिकमुपलभ्य स्वयं क्षोभमुपयन्ति साधवः, एष आत्मसमुत्थो दोषः । यत्पुनः स्वयमक्षुभ्यतः साधून् बलात् स्त्र्यादिकं क्षोभयति, एष परसमुत्थः । यदा तु स्वयमपि क्षुभ्यन्ति, स्त्र्यादिकमपि च क्षोभयन्ति, तदा उभयसमुत्थ इति ॥ मूर्च्छाद्वारमाह—(अभिघातेत्यादि) वसतेरन्तःस्थितस्य वसतिपालस्य कथमपि अवमत्वेन्नर्दिता एकाकिनो वसतौ काष्ठादिभिः शरीरस्योपरि निपतद्भिरभिघातो वा तथा पित्तवशतो वा मूर्च्छा भवेत् । तदा च पृथगत्वेनानागाढा आगाढा वा परितापना स्यात् । यदि वा वसतेरन्तर्बहिर्वा स्वयस्थितस्यापि तस्य पित्तप्रकोपतो मूर्च्छा भवेत् । तत एकाकिनः सतस्तस्य को मूर्च्छामुपशमयेत् ? । ततस्तन्निष्पन्नप्रायश्चित्तसंभवः, प्रभूतश्च अवर्णवादः । तदेवं पश्चान्मुक्तानां वसतिपालानां दोषा उक्ता इति ।

सम्प्रति ये अभिशय्यादिगमनेऽन्येषां दोषास्तानभिधित्सुरिदमाह -

जत्थ वि य ते वयंती, अभिसेज्जं वा निसीहियं वा वि ।

[illegible] दि य इमे दोसा, होंति गयाणं मुणेयव्वा ॥

[illegible] अभिग्रहा- [illegible] तेषां गतानामिमे वक्ष्यमा- [illegible] ।

[illegible]

[illegible] इत्थिओ नपुंसा य ।
[illegible] हवंते ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible] होंति गयाणं [illegible] ।
[illegible] दोसा उ ॥

[illegible]

दिट्ठा अदिट्ठा य तहिं तिरिक्खा ॥
चउप्पिया वालसरीसिवा वा,
एगो य दो तिण्णि य जत्थ दोसा ॥

तत्र अभिग्रहाभावानभिग्रहिकौ वा मनुष्याः तिर्यञ्चो द्विक- भवेयुः । तद्यथा-जुगुप्सिता नाम निन्दिताः, ते च गर्दभादयः तद्विपरीता अजुगुप्सिताः, गोमहिष्यादयः । एकैके द्विधा, तद्यथा-दमकाश्च दयालवः, तद्विपरीता अदमाः, न केवलमेते [illegible] किन्तु [illegible] [illegible] तेषु च तिर्यक्षु मनुष्येषु [illegible] एको द्वौ त्रयो वा दोषा भवेयुः । तत्र एकः-आत्मविरा- धनादीनामन्यतमः, द्वौ [illegible] त्रयः-कस्यापि आत्मविराधना, कस्यापि संयमविराधना, कस्या- प्युभयविराधनेति । अत्र चतुर्भङ्गी-कस्याप्यात्मविराधना, न संयमविराधना १, कस्यापि संयमविराधना, नात्मविराधना २, कस्याप्यात्मविराधनाऽपि संयमविराधना ३, कस्यापि नो- भयविराधनेति ४ । [illegible] [illegible] ।

अधुना [illegible] गुणानभिधित्सुराह-

[illegible] य होंति तत्थ,
[illegible] निक्खमाणा ।
[illegible] य काया होंति,
[illegible] होंति मे उ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible] वा ।
[illegible] तु ॥

[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible]

अभिनैषेधिकी वा गन्तव्या। तत्र (पढमचरमे दुगं तु इति) प्रथमे सूत्रार्थपौरुष्याख्याने स्वाध्यायार्थे,चरमे प्रश्नरहस्ये, द्विकमभिशय्याभिनैषेधिकीलक्षणं यथायोग्यं गन्तव्यं, शेषेषु च प्राघूर्णकसंसक्तवृष्टिकायकेषु, भयत्वभिशय्या गन्तव्या।

तथाऽन्यथानुपूर्व्यापि व्याख्याया इति न्यायज्ञापनार्थं प्रथमतः सूत्रार्थपौरुषीति चरमद्वारं विवरीषुरिदमाह–

छेयसुयविज्जमंता, पाहुडि अवणीय सड्डिमट्टिद्वा।
इइ दोसा चरमपए, पढमपए पोरिसीभंगो ॥

छेदसूत्राणि प्रकल्पव्यवहारादीनि, तानि वसतौ अपरिणामकोऽतिपरिणामको वा शृणुयात्, तथा विद्यामन्त्रांश्च वसतौ कथ्यमानान् दीर्घकालमपि अविनीतो निर्धर्मो शृणुयात्,प्राभृतं वा योनिप्राभृतादिकं वसतौ व्याख्यायमानम्, अविनीतः कथमपि शृणुयात् । तच्छ्रवणे च महान् दोषः । तथाचात्र सिद्धसेनक्षपणकदृष्टान्तः "कयाइ जोणिपाहुडे वक्खाणिज्जमाणे पच्छन्नेण आयरियाईण कहिज्जमाणेण विक्कमेण सुयं । जहा–अमुगदव्वसंजोगे महिसो समुच्छइ; तं सोउं सो उत्थाविओ गतो अण्णम्मि गामे, तत्थ महिसे दव्वसंजोगेण समुच्छाविता सागारिएहत्थे स विक्किणइ, तं आयरिया कहमवि जाणित्ता तत्थ आगया, वंदितो से पुच्छितो, तेण सम्भावो कहितो । आयरिया भणंति–अहं सुंदरसुवण्णरयणजुत्तादि देमि । तेण अब्भुवगयं । ततो आयरिएहिं भणियं–अमुगाणि दव्वाणि य तिरियसंजोयणाणि ततो पच्छा सुवण्णरयणाणि भविस्संति । तेण तहा कयं, समुच्छितो दिट्ठीविसो सप्पो, तेण दिट्ठो मतो" । ततोऽभिशय्याऽभिनैषेधिकी वा गन्तव्या । तथा प्रथमपदमस्वाध्यायलक्षणं, तत्र दोषः पौरुषीभङ्गः । इयमत्र भावना–अस्वाध्यायिके वसतावुत्पन्ने स्वाध्यायकरणार्थमवश्यमभिशय्यायामभिनैषेधिक्यां वा गन्तव्यम्, अन्यथा सूत्रपौरुष्या अर्थपौरुष्या वा भङ्गः । तद्भङ्गे च सम्यग्ज्ञानादिविराधना। गतं चरमद्वारमस्वाध्यायद्वारं च ।

सम्प्रति प्राघूर्णकादिद्वारत्रितयमाह—

अभिसंघट्ट हत्था–दिघट्टणं भंडणे अजिण्णादी।
दोसु असंजमदोसा, भंडण अह्याविराहणा वा ॥

कदाचिदन्यतथाविधवसत्यलाभे साधवः संकटायां वसतौ स्थिता भवेयुः, प्राघूर्णकाश्च साधवो भूयांसः समागताः, तत्र दिवसे यथा तथा वा तिष्ठन्ति,रात्रौ भूमिषु अपूर्यमाणासु यद्यभिशय्यां न व्रजन्ति तदा तस्मिन्नुपाश्रये अतिशयेन संघट्टः परस्परं संहननाभिसंकटतया सोऽभिसंघट्टः,तस्मिन्नेव स्थितानां परस्परं हस्तपादादीनां घट्टनं भवेत, तद्भावे च कलहासमाध्यादिदोषसंभवः । अथैतद्दोषभयादुपविष्टा एव तिष्ठन्ति, ततो जागरणे रात्रौ जाग्रतामजीर्णादिदोषसंभवः। अजीर्णमाहारस्याजरणं, तद्भावे च रोगोत्पत्तिः । रोगे च चिकित्साया अकरणे असमाधिः, क्रियमाणायां च चिकित्सायां षट्कायव्यापत्तिः। इति गतं प्राघूर्णकद्वारम् ॥ अधुना संसक्तद्वारं चाह–(दोसु असंजमेत्यादि) द्वयोः–संसक्ते उपाश्रये वृष्टिकाये च निपतति, असंयमविराधनारूपौ दोषौ । तथाहि–ससत्त्वे उपाश्रये ... संयमविरा-

लतीति तथापि संयमविराधना, अप्कायविराधना... अन्यथा वृष्टिकाये निपतति उपधिका येन स्तीम्यते, ... वोपधिना शरीरलग्नेन रात्रौ निद्रा नायाति, निद्राया... च अजीर्णदोषः । तस्मात् ससत्त्वायां वसतौ वृष्टिकाये ... पतति नियमतो गन्तव्या अभिशय्येति । तदेवमुक्तं ग... णम् । तथा चाऽऽह–

दिट्ठं कारणगमणं, जइ य गुरू वच्चए तओ गुरु...
ओरालइत्थियपेल्लण, संका पवत्तियया दोसा ॥

एवमुक्तस्वरूपं भगवद्भुपदेशतः पूर्वसूरिभिः, कारणे अ...पादिलक्षणेऽभिशय्यायां गमनं, तत्र यद्येवं दृष्टे कार... गुरुरभिशय्यामभिनैषेधिकीं वा व्रजेत ततस्तस्य ... त गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः । को दोषो गुरुग... चेत्?, अत आह–(ओरालेत्यादि)आचार्यः प्राय उदा... भवेत् , सहाया अपि च कथमपि तस्य स्तोका अभूव... काश्चन स्त्रियः सहायादीन् व्यापाद्याऽस्य हृदयादिना ... अन्यच्च-शय्यातरादीनां शङ्का समुपजायते,तथाहि–किं... चार्यो नोपितः , नूनमगारीं प्रतिसेवितुं गत इति । ... प्रत्यर्थिका प्रत्यनीकाः प्रतिघाताद्योऽल्पसहायमुपलभ्य ... शायाऽऽययुः। तत एवमाचार्यगमने दोषाः,तस्मात्तेन न ... मिति, न केवलमाचार्येण न गन्तव्यं किन्त्वेतैरपि न गन्त...

के ते एते ?, इत्याह–

गुरुकरणे पडियारी, भएण वलवं करेज्ज जे रक्ख...
कंदप्पविग्गही वा, अवियत्तो गणवुड्ढो वा ॥

गुरोराचार्यादेः करणे करणविषये ये प्रतिचारिणः प्र... काः कायिकमात्रकादिसमर्पका विश्रामकाश्च, तैर्न गन्तव्... गमने गुरोः सीदनात् । तथा भयेन पश्चाद्वसतावपान्... अभिशय्यायां वा तस्करादिभयेन समुत्थितेन सर्वैरपि स... न गन्तव्यम् , आत्मसंयमविराधनादोषप्रसङ्गात् । त... बलवान् गुर्वादीनां तस्करादिभ्यो रक्षां करोति, तेन... गन्तव्यं, तद्गमने गुर्वादीनामपायसंभवात् । तथा यः ... कन्दर्पशीलः,यश्च विग्रही,तथाचाऽऽरादिकरणशीलः,यो ... गम्यते तत्र शय्यातरादीनां कैश्चिदपि कारणैः पूर्वंवि... (अवियत्तो त्ति) अप्रीतो, यश्च स्थानवृद्धः, वयोवृद्धः; ... सर्वैर्न गन्तव्यम्,प्रवचनोड्डाहात्मविराधनादिदोषप्रसङ्गात्... कथमपि ते गच्छन्ति ततो बलादाचार्यादिभिर्वारयितव्या...

अथ कारणे समुत्पन्ने तेषां गच्छतां को नायकः प्रवर्त्तयितव्यः ?, उच्यते–

गंतव्य गणावच्छे–दयपवत्तिथेरगीयभिक्खू य ।
एएसि असतीए, अगीयए मेरकहणं तु ॥

कारणे अस्वाध्यायादिलक्षणे समुत्पन्ने सति शेषसाधु... स्तव्यमभिशय्यादि, तेषां च गच्छतां नायकः प्रवर्तनीयो ग... च्छेदको वक्ष्यमाणस्वरूपः । तदभावे प्रवर्त्ती, सोऽपि वक्ष्य... स्वरूपः, तदभावे स्थविरः, तस्याप्यभावे गीतभिक्षुर्गी... सामान्यमती। एतेषामसति अभावेऽगीतार्थोऽपि माध्यस्थ्य... गुणयुक्तः प्रवर्तनीयः । केवलं तस्मिन्नगीतार्थे (मेरकहा... इति) मर्यादायाः सामाचार्याः कथनम्–यथा साधूनामाव...

चरित्रे गुणे दृष्टान्तो राजकन्या । एकदेशेन राजकन्याऽन्तःपुरपालकः । तथा-"हाणाऽमनि" इत्यादि । सकृद्वापि यमतौ मासपूर्वके समागते सति स्थानस्य योग्यभूमिप्रदेशस्य असति (आर्यप्रधानोऽयं निर्देशः) अधियमानेऽप्युत्सर्गतो ननु नैव गमनं, किन्तु यतना वक्ष्यमाणा कार्या, तस्यां च यतनायां कर्तुमशक्यमानायामभिशय्यादिषु प्रेक्ष्यमाणा यदि केचन कर्कशयन्ते-यथा-सकृद्गमनाय मासपूर्वकाः समागताः, यद् गन्तव्यमस्माभिरभिशय्यादिषु, कलहं वा रात्रौ जागरणमिति, तदा तेषां कर्कशत्वे प्रायश्चित्तं मासलघु देयमिति द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव गाथां विवरीषुः प्रथमतोऽनिवद्दुकं प्रायश्चित्तमिति व्याख्यानयति-

अनिहुयं वेदिज्जइ, भंते ! मा हु दुरवेडमो भवेज्ज ।

पच्छिचेहि अपंदं, निद्दयदीहिं जलेज्जा ॥

भदन्त ! परकल्याणयोगिन् !, गुरुपदे प्रभूतं गुरुमासादि प्रायश्चित्तं पदे दीयते, ततः स प्रायश्चित्तैः समन्ततोऽतिशायेन वेष्टितो वेष्टितः सन्, मा निषेधे, 'हु' निश्चितं, दुरुद्वेष्टको भूयात्-दुःखेन तस्य प्रायश्चित्तेभ्य उद्वेष्टनं स्यात्, अतिप्रभूतेषु हि गुरुषु प्रायश्चित्तेषु पदे दीयमानेषु कदाऽप्यमानमुद्वेष्टयिष्यतीति भावः । अपि च-अकाण्डे यत् तत्र चापदे पदे निर्दयैः साद्भिर्गुरुभिर्निर्दयैः प्रायश्चित्तैः स प्रवेष्टः-भग्नपरिणामो भूयात् । तथा च सति महती हानिः ।

तस्मात्-

तं दिज्जउ पच्छित्तं, जं सत्ती सा य कीरऊ मेरा ।

जा सीरइ परिहरिउं, मोमादि अपच्चओ इहरा ॥

न प्रायश्चित्तं दीयतां यत्करोति शक्नोति कर्तुं, सा च क्रियतां 'मेरा' मर्यादा या परिहर्तुं शक्यते । पाठान्तरं वा-(परिपालेउमिति) तत्र या परिपालयितुं शक्यते इति व्याख्येयम् । उभयथाप्ययं भावार्थः-या परिपालयितुं शक्यते इति । मासादि (अपच्चओ इहरा इति) इतरथा प्रभूते प्रायश्चित्ते दत्ते मृषावाद्य उभयोरपि समुपजायेत । तत्र गुरोर्मासाधिकप्रायश्चित्तदानात्, इतरस्य तु भग्नपरिणामतया तथा परिपालनायोगात् । अन्यच्च-अल्पमात्रे प्रायश्चित्ते दत्ते युष्माभिरपि पूर्वमाशातनादोषः प्रज्ञापितः । अप्रत्ययश्च शिष्यस्योपजायते, यथा-अतिप्रभूतमाचार्याः प्रायश्चित्तं ददति; नवैवंरूपं प्रायश्चित्तं जिनाः प्ररूपितवन्तः; सकलजगज्जन्तुहितैषितया तेषामतिकर्कशप्रायश्चित्तोपदेशदानायोगात् । तस्मात् सर्वमिदं स्वमतिपरिकल्पितमसदिति । एवं चोदकेनोक्ते गुरुराह—

जं जत्तिएण सुज्झइ, अवराहो तस्स तत्तियं देइ ।

पुव्वमियं परिकहियं, धम्मकगाइएहिँ नाएहिं ॥

चोदक आह-त्वया सर्वमिदमयुक्तमुच्यते, यतो देशकालसंहननाद्यपेक्षया योऽपराधो यावन्मात्रेण प्रायश्चित्तेन शुद्ध्यति तस्यापराधस्य शोधनाय तावन्मात्रमेव सूरिः प्रायश्चित्तं ददाति, नाधिकं, नापि हीनम्, एतच्च पूर्वमेव घटपटादिभिर्ज्ञातैरुदाहरणैः "जमनिग्गवणगुरुए" इत्यादिना ग्रन्थेन परिकथितं, तस्मान्न दोषः ॥

साम्प्रतमदृत्वालोचने यो व्याधदृष्टान्त उपन्यस्तस्तं भावयति-

कंटगमादिपविट्ठे, नोच्चरई सयं न भोइए कहइ ।

कमढीभूए वणगए, आगलणं सोणिया मरणं ॥

इह किल व्याधा वने संचरन्त उपानहौ पादेषु नोपनह्यन्ति, मा हस्तिन उपानहोः शब्दान्नश्येयुरिति । तत्रैकस्य व्याधस्यान्यदा वने उपानहौ विना परिभ्रमतो द्वयोरपि पादयोः कण्टकादयः प्रविष्टाः, आदिशब्दात् शल्यकीलिकादिपरिग्रहः । तानुप्रविष्टान् कण्टकादीन् स्वयं नोद्धरति, नापि भोजिकायै निजभार्यायै व्याध्यै कथयति । ततः स तैः पादतलप्रविष्टैः कण्टकादिभिः पीडितः सन् वनगतो हस्तिना पृष्ठतो धावता प्रेर्यमाणो धावन् कमठीभूतः-स्थले कमठ इव मन्दगतिरभूत्, ततः 'प्राप्तो हस्ती प्रत्यासन्नं देशम्' इति जानन् क्षुब्ध्वा स्थानं गत्वा,(आगलणमिति) वैकल्यं प्राप्तः। ततो मरणम् । एष गाथाऽक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्-"एगो वाहो उवाहणाओ विणा वणे गतो, तस्स पायतला कंटगाईणं भरिया, ते कंटगाइया नो सयमुद्धरिया, नो वि य वाहीए उद्धराविया, अन्नया वणे संचरंतो हत्थिणा दिट्ठो, तो तस्स धावंतस्स कंटगाइया दूरतरं मंसे पविट्ठा, ताहे अतिदुक्खेण अद्दितो महावायवो इव छिन्नमूलो हत्थिजूहेण घेयणभूतो पडितो, हत्थिणा विणासितो" ।

बितिए सयमुद्धरती, अणुट्ठिए भोइयाएँ नीहरइ ।

परिमद्दणदंतमला-दिपूरणं वणगयपलातो ॥

अन्यो द्वितीयो व्याध उपानहौ विना वने गतः, तस्य वने संचरतः कण्टकादयः पादतले प्रविष्टास्तान् स्वयमुद्धरति, ये च स्वयमुद्धर्तुं न शक्यास्तान् अनुद्धृतान् भोजिकया निजभार्यया व्याध्या नीहारयति-निष्काशयति, तदनन्तरं तेषां कण्टकादिवेधस्थानानामङ्गुष्ठादिना परिमर्दनं, तदनन्तरं दन्तमलादिना-आदिशब्दात् कर्णमलादिपरिग्रहः । पूरणं कण्टकादिवेधानाम् । ततोऽन्यदा वने गतः सन् हस्तिना दृष्टोऽपि पलायितो जातो जीवितव्यसुखानामाभागी । एष दृष्टान्तः ।

साम्प्रतं दार्ष्टान्तिकयोजनामाह-

वाहत्थाणी साहू, वाहिगुरू कंटकादि अवराहा ।

सोही य ओसहाइं, पमत्तयनाणुवणओ उ ॥

व्याधस्थानीयाः साधवः, व्याधीस्थानीयो गुरुः, कण्टकादिस्थानीया अपराधाः, औषधानि दन्तमलादीनि, तत्स्थानीया शोधिः । अत्र द्वौ व्याधदृष्टान्तौ, तत्र प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च । आद्योऽप्रशस्तो, द्वितीयः प्रशस्तः । तत्र प्रशस्तेन ज्ञातेन दृष्टान्तेनोपनयः कर्तव्यः । आचार्योऽपि यदि तान् उपेक्षते, ततः कण्टकादीनामुपेक्षको व्याध इव सोऽपि दुस्तरामापदमाप्नोति ॥

तथा चाऽऽह-

पडिसेवंत उवेक्खइ, न य णं आवीलए अकुव्वंतो ।

संसारहत्थिहत्थं, पावइ विवरीयमियरो वि ॥

इतरोऽपि आचार्योऽपि, तुशब्दार्थोऽपिशब्दार्थः, यः प्रतिसेवमानान् उपेक्षते, न तु निषेधति; न वाऽकुर्वतोऽकुर्वाणान् प्रायश्चित्तमुत्पीडयति-न भूयः प्रायश्चित्तदानदण्डेन ताडयन् (प्रायश्चित्तं) कारयति, स विपरीतम्, आचार्यपदस्य हि यथोक्तनीत्या परिपालनफलमचिरात् मोक्षगमनं, तद्विपरीतं संसार एव हस्तिहस्तं प्राप्नोति, दुस्तरं संसारमागच्छतीति भावः ।

उपसंहारमाह-

आलोयणाऽऽरोवण, गुणा य दोसा य वण्णिया एए ।

एवं भद्रेष्वनुत्कटरागद्वेषेषु लोकेषु प्रागुक्ताः तथादिसमुत्था दोषा न सन्ति, तथाभिशय्यामपि गच्छताचार्यः पृच्छन्, इतरेऽपि ये अनापृच्छया गच्छन्ति, येऽपि च प्रतिषेधितास्तेऽपि च यतनया गच्छन्ति ।

का यतना ?, इति चेदत आह—

वसहीए असज्झाए, सन्नादिगतो य पाहुणो दहुं ।
सोउं च असज्झायं, वसहिं इवेंति जयणाए ॥

वसतावस्वाध्यायो जातो, गुरवश्च संज्ञाभूम्यादिषु गताः, ततोऽस्वाध्याये, तथा स्वयं(संज्ञादिगतः) संज्ञाभूमिम, आदिशब्दादन्यद्वा स्थानं प्रयोजनेन गतः सन् प्राघूर्णकान् समागच्छतो दृष्ट्वा कृतमस्माकं वसतिः संकटा प्राघूर्णकाश्च बहवः समागताः, ततो न सर्वेषां संस्तारकयोग्यभूमिरपत्स्यते इति विचिन्त्य, तथा पूर्वं वसतावस्वाध्यायो नाभूत् संज्ञादिगतेन च तेन श्रुतं, यथा-जातो वसतावस्वाध्यायस्ततोऽस्वाध्यायं च श्रुत्वा यावद् गुरूणां मूलं वसतावागच्छन्ति तावद् रात्रिः समापतति, दूरे चातिशय्या, रात्रौ च गच्छतामात्मसमुत्थं, ततोऽनापृच्छ्यैव ततः स्थानादभिशय्यां गच्छन्ति, केवलं येऽन्ये साधवो वसतिमुपयान्ति, तान् भणन्ति-प्रतिपादयन्ति, संदिशन्तीत्यर्थः ।

किं तद् ?, इत्याह—

दीवेह गुरूण इमं, दूरे वसही इमो विकालो य ।
संथारकालकाइय-भूमीपेहा य एमेव ॥

दीपयत प्रकाशयत-कथयतेति यावत् । गुरूणां, यथा-दूरे वसतिरभिशय्या । अयं च प्रत्यक्ष उपलक्ष्यमाणो विकालः समापतितः, तत एवमेव अनापृच्छ्यैव युष्मान्, संस्तारकभूमेः कालभूमीनां कायिकीभूमीनां (कायिकी संज्ञा) उपलक्षणमेतत्-प्रश्रवणभूमीनां च प्रेक्षार्थमभिशय्यां गता इति । एवमनापृच्छाया अपवाद उक्तः ।

सम्प्रति प्रतिषिद्धेऽपवादमाह-

एमेव य पडिसिद्धे, सज्झायस्स कंचि पडिपुच्छे ।
तं पि य होइ असमि-क्खिऊण पडिमोहिनो जम्हा ॥

कस्यापि साधोरभिशय्यादिगमने गुरुणा प्रतिषिद्धे, संज्ञादिगतस्य कायिक्यादिगतस्य कायिक्यादिभूमिगतस्य सत एवमेवमनन्तरोदितेन प्रकारेण, गुरून् प्रति संदेशकथनं ज्ञातव्यम् । कथम् ?, इत्याह-(कंचि पडिपुच्छे त्ति) कमपि वृषभं प्रतिपृच्छेत्-यथा न मम किमपि गमनप्रतिषेधकारणमभूत, केवलमेवमेव गुरुणा प्रसिद्धः, अथ च मया स्वाध्यायः कर्तव्यः, वसतौ चास्वाध्यायादिकमुपजातमतः किं करोमि ?, यामि वसतिं, प्रतिपृच्छामि गुरूनिति । एवमुक्ते ते वृषभादयोऽभिशय्यां गन्तुकामाः कालस्य स्तोकत्वात् यावद् वसतौ गत्वा गुरून् प्रतिपृच्छ्य समागच्छन्ति तावद् रात्रिः पततीति तं प्रत्येवमुदीरयन्ति । (तं पि येत्यादि) तदपि गुरूणां प्रतिपृच्छनं (होइ त्ति) दर्शितपदमेतत् । दृष्टमेव, कृतमेवेत्यर्थः । यस्मादसमीक्ष्यापर्यालोच्य, अनाभोगेन एवेत्यर्थः । त्वं प्रतिषेधितः, ततो यत्र किमपि गुरवो वदन्ते तत्र वयं प्रत्याख्यामः-यथैव न किमपि गमनप्रतिषेधकारणं ज्ञातवान्, प्रतिपृच्छार्थं चागच्छन् अस्माभिर्धारितः, सायंकालस्यासाध्यमानत्वात् । एवमुक्त्वा वसतावपि तं वृषभा नयन्ति, सोऽपि च अनाधीयमानश्चिन्तयति-यथा नास्ति मम कश्चिद्दोषः ?, किं न गच्छामीति । स च तत्र गच्छन्, वृषभाश्च येऽन्ये साधवो वसतिमुपयान्ति, तेषां संदेशं प्रयच्छन्ति ।

अथासमीक्ष्य प्रतिषिद्ध इति वृषभाः कथं जानन्तीत्यत आह-

जाणंति य तं वसभा, अहवा वसभाण तेण सब्भावो ।
कहितो न मेऽत्थि दोसो, तो णं वसभा घेत्तुं निंति ॥

जानन्ति स्वयमेव ते वृषभाः, यथा-निर्दोष एषोऽकारणे गुरुणा प्रतिषिद्धः, अस्मात्समक्षमेवास्य प्रायोऽस्वस्थाभावात् । अथवा तेन वृषभाणां सद्भावः कथितः-यथा न मे कश्चन दोष इति । तत एतद् ज्ञात्वा गुरुमनापृच्छ्यैव यथोक्तप्रकारेण वृषभा वसाभयन्ति । योऽपि आचार्यस्य प्रतिचार्यस्य प्रतिचारी पूर्वं प्रतिषिद्धः सोऽपि, 'तत्कर्तव्यं यद् वृषभैः सम्पादितं भवति' इति ज्ञात्वा ततो गच्छत्यभिशय्यामिति न कश्चिद्दोषः ।

संप्रति अभिशय्याया नैषेधिक्याश्च भेदानाह—

अभिसेज्जमभिनिसीहिय, एक्केका दुविह होइ नायव्वा ।
एगवगडाएँ अंतो, बहिया संबद्धऽसंबद्धा ॥

या गन्तव्या अभिशय्या, अभिनैषेधिकी वा, सा एकैका द्विवि-

तद्यथा-संबद्धा, असंबद्धा च । तत्र यस्या अभिशय्याया वसतेश्च एक एव पृष्ठवंशः सा संबद्धा । यस्याः पुनः पृथक् पृष्ठवंशः सा असंबद्धा । अथैकवृत्तिपरिक्षेपस्यान्तरभिशय्या द्विविधाऽपि यथोक्तप्रकारा घटते, या त्वेकवृत्तिपरिक्षेपस्य बहिः सा नूनमसंबद्धा स्यात्, तस्याः सुप्रतीतत्वात् । या पुनः संबद्धा, सा कथमुपपद्यते ?, उच्यते—यस्या अभिशय्याया वृत्तिपरिक्षेपस्य बहिर्भूतायाः, वसतेश्च तल्लग्नायाः पृष्ठवंशोऽपान्तराले च भित्तिः, सा बहिर्भूताऽपि संबद्धेति । नैषेधिकी पुनरन्तर्बहिर्वा नियमादसंबद्धैव । हस्तशतस्याभ्यन्तरतोऽस्वाध्यायिके समुत्पन्ने स्वाध्यायासंभवात् ।

तथा चाऽऽह—

जा सा उ अभिनिसीहिय, सा नियमा होइ ऊ असंबद्धा ।
संबद्धमसंबद्धा, अभिसेज्जा होति नायव्वा ॥

अत्र येति-अवगते, सेति-यदुक्तं तद्दोषाभावोपक्रमप्रदर्शनार्थमित्यदुष्टम् । याऽस्य अभिनैषेधिकी, सा नियमाद्भवत्यसंबद्धा । कारणमनन्तरमेवोक्तम्, या त्वभिशय्या सा संबद्धा असंबद्धा च भवति ज्ञातव्या ।

अथ कस्यां वेलायां तत्र गन्तव्यम् ?, तत्र आह-

धरमाणच्चिय सूरे, संथारुच्चारकालभूमीओ ।
पडिलेहियऽणुण्णविए, वसहीहिँ वयंतिमं वेलं ॥

योऽस्यामभिशय्यायाः शय्यातरस्तं वृषभा अनुज्ञापयन्ति, यथा-स्वाध्यायनिमित्तं वयमत्र वत्स्याम इति । तत एवं वृषभैरनुज्ञापिते शय्यातरे, धरमाण एव अनस्तमित एव सूर्ये, तत्राभिशय्यायां संस्तारकोच्चारकालभूमीः प्रत्युपेक्ष्य भूयो वसतावागत्य इमां वेलामिति "कालाध्वनोर्व्याप्तौ" ॥ २ । २ । ४२ ॥ इति (हैम) सूत्रेण सप्तम्यर्थे द्वितीया । अस्यामनन्तरं वक्ष्यमाणायां वेलायां व्रजन्ति ।

कथं गन्तव्यम् ?, इत्यत आह—

आवस्सयं तु काउं, निव्वाघाएण होइ गंतव्वं ।
वाघाए उ भयणा, देसं सव्वं अकाऊण ॥

[illegible] निर्व्याघातः, तेन निर्व्याघातेन गन्तव्यम् [illegible] समस्तावश्यकं कृत्वा । व्याघातेन पुनरेषैव भजना विकल्पना । का भजना ?, इत्यत आह—देशं वा आवश्यकस्याकृत्वा, सर्वं वाऽऽवश्यकमकृत्वा ।

[illegible] प्रतिपादयन्नाह—

[illegible] आरक्खिअ [illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible]

इदानीं सर्वस्याऽकरणमाह—

काउस्सग्गमकाउं, किइकम्मालोयणं जहन्नेणं ।
गमणम्मी एस विही, आगमणम्मी विहिं वोच्छं ॥

यो दैवसिकानि पापानुप्रेक्षार्थं प्रथमः कायोत्सर्गः [illegible] त्वा । किमुक्तं भवति—सर्वमावश्यकमकृत्वा [illegible] कियन्मेव गच्छन्ति, उतास्ति कश्चन विधिः ?। उच्यते—[illegible] ति पुनः । तथा चाऽऽह—(किइकम्मालोयणं जहन्नेणं [illegible]) जघन्येन जघन्यपदे सर्वमावश्यकमकृत्वा, [illegible] गुरवे [illegible] कृत्वा, यश्च सर्वोत्तमो ज्येष्ठः स आलोच्य, [illegible] गत्वा सर्वमावश्यकमहीनं कुर्वन्ति । एषोऽभिगमने [illegible] अभिगमनात् प्रत्यागमने पुनर्यो विधिस्तमिदानीं वक्ष्ये ।

प्रतिद्वारमेव निर्दिशति—

आवस्सगं अकाउं, निव्वाघाएण होइ कायव्वं ।
वाघायम्मि उ भयणा, देसं सव्वं च काउं वा ॥

यदि कथमपि व्याघातो न भवति ततो निर्व्याघातेन [illegible] तावद्वेलायामावश्यकमकृत्वाऽभिगमनतो प्रत्यागतं [illegible] आगम्य च गुरुभिः सहावश्यकं कुर्वन्ति । व्याघाते तु [illegible] पुनर्भजना ?, इत्यत आह—देशमावश्यकस्य कृत्वा, सर्वं [illegible] वश्यकं कृत्वा ।

तत्र देशस्य आवश्यकस्य करणमाह—

काउस्सग्गं काउं, किइकम्मालोयणं पडिक्कमणं ।
किइकम्मं तिविहं वा, काउस्सग्गं परिण्णा य ॥

कायोत्सर्गमाद्यं कृत्वा समस्तावश्यकं शेषं गुरुभिः सह [illegible] ति । अथवा द्वौ कायोत्सर्गौ कृत्वा, यदि वा [illegible]

अहिगरणहत्थिसंभम-गेलण्ण निवेयणा मत्तरिं ॥

ग्लानत्वमेकस्य बहूनां वा साधूनां तत्राभवत्,ततः सर्वेऽपि साधवस्तत्र व्यापृतीभूता इति न वसतावागमनम्।अथवा वर्षं पतितुमारब्धम्। महिका वा पतितुं लग्ना। यद्वा-(वहुट्ट त्ति) भग्निदः कोऽप्यन्तरा विरूपकरणाय तिष्ठति। अन्तःपुरं वा तदानीं निर्गन्तुमारब्धं, तत्र च राज्ञा उद्घोषितम्-यथा पुरुषेण न केनापि रथ्यासु संचरितव्यम्। राजा वा तदा निर्गच्छति, तत्र हयगजपुरुषादीनां संमर्दः। अग्निकायो वाऽपान्तराले महान् उत्थितः। आधिकरणं वा गृहस्थेन समं कथमपि जातं बृहद्, वृषभास्तदुपशमयितुं लग्नाः। हस्तिसंभ्रमो वा जातः। किमुक्तं भवति?-हस्ती कथमप्यालानस्तम्भं भङ्क्त्वा शून्यासनः स्वेच्छया तदा परिभ्रमति। एतेषु कारणेषु नागच्छेयुरपि वसतिम्। नवरमेतेषु कारणेषु मध्ये ग्लानत्वे विशेषः; यदि ग्लानत्वमागाढमुपजातमेकस्य बहूनां वा, तदा गुरूणां निवेदना कर्त्तव्येति। समाप्ता प्राक्तनसूत्रस्य निर्विशेषा व्याख्या। व्य० १ उ०।

अभिणिसढ-अभिनिसृष्ट-त्रि० । अभिविधिना निर्गताः सटास्तदवयवरूपाः, केशरिस्कन्धसटा वा यस्य तदभिनिःसटम्। बहिरभिनिर्गतावयवे, भ० १५ श० १ उ० ।

अभिणिसिट्ठ-अभिनिसृष्ट-त्रि० । बहिर्भागाभिमुखं निसृष्टे, जी० ३ प्रति० । रा० ।

अभिणिसेहिया-अभिनैषेधिकी-स्त्री० । निषेधः-स्वाध्यायव्यतिरेकेण सकलव्यापारप्रतिषेधः; तेन निर्वृत्ता नैषेधिकी। अभि आभिमुख्येन संयतप्रायोग्यतया नैषेधिकी अभिनैषेधिकी। दिवा स्वाध्यायं कृत्वा रात्रौ प्रतिगन्तव्यायां वसतौ, व्य० १ उ० । (वक्तव्यताऽनन्तरमेव 'अभिणिसज्जा' शब्दे ७१५ पृष्ठे दर्शिता)

अभिणिस्सड-अभिनिस्सृत-त्रि० । बहिर्विनिर्गते, "बहिया अभिणिस्सडाओ पमासेंति"। भ० १४ श० ९ उ० ।

अभिणूमकड-अभिनूमकृत-त्रि० । आभिमुख्येन कर्मणा मायया वा कृते, " अभिणूमकडेहिँ मुच्छिए, तिव्वं से कम्मेहिँ किच्चती"। सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अभिण्ण-अभिन्न-त्रि० । अविदीर्णे, उपा० २ अ० । भिन्नशब्दार्थविरुद्धे, बृ० ३ उ० । नि० चू० ।

अभिण्णगंठि- अभिन्नग्रन्थि-पुं० । सकृदप्यनवाप्तसम्यग्दर्शने, पञ्चा० ११ विव० ।

अभिण्णपुडो-देशी-रिक्तपुटे, शिशुभिः क्रीडया जनप्रक्षोभार्थं विपणिमार्गे रिक्ता पुटिका या क्षिप्यते सैवमुच्यते। दे० ना० १ वर्ग ।

अभिण्णाय- (जाणिय)-अभिज्ञाय-अव्य० । ज्ञात्वेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ९ अ० १ उ० । बुद्ध्वेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ६ उ० । आभिमुख्येन परिच्छिद्य इत्येतेषां शब्दानामर्थेषु, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अभिण्णायदंसण-अभिज्ञातदर्शन-त्रि० । सम्यक्त्वभावनया भाविते, आचा० १ श्रु० ९ अ० १ उ० ।

अभिण्णायार-अभिन्नाचार-पुं० । न भिन्नो न केनचिदप्यतीचारविशेषेण खण्डित आचारो ज्ञानाचारादिको यस्यासावभिन्नाचारः। (व्य०) जात्योपजीवनादिपरिहरति, व्य० ३ उ०।

अभितत्त-अभितप्त-त्रि० । अग्निना आभिमुख्येन सन्तापिते, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अभितप्पमाण-अभितप्यमान-त्रि० । कदर्थ्यमाने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अभिताव-अभिताप-अव्य० । तापाभिमुखे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । क्रकचपाटनकुम्भीपाकतप्तत्रपुपानशाल्मल्यालिङ्गनादिरूपे सन्तापे, सूत्र०२ श्रु०६ अ० । दाहे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अभित्थुय-अभिष्टुत-त्रि० । विशिष्टगुणोत्कीर्तनेन व्यावर्णिते, संथा० ।

अभित्थुव्वमाण-अभिष्टुवत्-त्रि० । संस्तुवति, स्था० ६ ठा० । अभिष्टूयमान-त्रि० । अभिनन्द्यमाने संस्तूयमाने, स्था० ६ ठा० । कल्प० । आ० म० ।

अभिदुग्ग-अभिदुर्ग-पुं० । कुम्भीशाल्मल्यादौ, (सूत्र०) अतिविषमे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । अग्निस्थाने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अभिद्दुय-अभिद्रुत-त्रि० । अध्यवसायरूपेण व्याप्ते, सूत्र०१ श्रु० ३ अ०३उ०। गर्भाधानादिदुःखैः पीडिते,सूत्र०१ श्रु०२ अ०३ उ०।

अभिधारण-अभिधारण-न० । प्रव्रज्यार्थमाचार्यादेर्मनसा संकल्पने, तच्च द्विधा-अनिर्दिष्टं, निर्दिष्टं च । अनिर्दिष्टे नाम अभिधारयन् कमप्याचार्यं विशेषतो न निर्दिशति। स च अभिधारको द्विधा-संज्ञी, असंज्ञी च। पुनरेकैको द्विधा-गृहीतलिङ्गः,अगृहीतलिङ्गश्च। (बृ०) मनसि करणे, बृ० ३ उ० । व्य० ।

अभिधेज्ज-अभिधेय-त्रि० । अर्थे शब्दवाच्ये, यथा घटशब्देन घटोऽभिधीयते। विशे० । नि० चू० ।

अभिपवुट्ठ-अभिप्रवृष्ट-त्रि० । कृतवर्षे, " वासावासे अभिपवुट्ठे बहवे पाणा "। आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अभिप्पाइयणाम-आभिप्रायिकनामन्-न० । अभिप्रायतः क्रियमाणे नामनि, अनु० ।

से किं तं अभिप्पाइयणामे ?। अभिप्पाइयणामे अंबए निंबए बउलए पलासए सिणए पीलुए करीरए। सेत्तं अभिप्पाइयनामे ॥

इह वृक्षादिषु प्रसिद्धम् 'अम्बक-निम्बक' इत्यादि नाम देशरूढ्या स्वाभिप्रायानुरोधतो गुणनिरपेक्षं पुरुषेषु व्यवस्थाप्यते, तदाभिप्रायिकं स्थापनानामेति। प्राधान्य-तदनन्तरस्थापनाप्रमाणनिष्पन्नं सप्तविधं नामेति। अनु० ।

अभिप्पाय-अभिप्राय-पुं० । मनोविकल्पे, विशे० । बुद्धिविपर्यये, आ० म० द्वि० । बुद्धेरध्यवसाये, आ० म० प्र० । वेगप्रवृत्तौ, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । अभिप्रायश्चतुर्विधः-औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा, पारिणामिकी चेति। आ० चू० । संविज्ञानमवगमो भावोऽभिप्राय इत्यनर्थान्तरम्। आ० म० प्र० । (अस्य च 'बुद्धि' शब्दे व्याख्या करिष्यते)

अभिप्पायसिद्ध-अभिप्रायसिद्ध-पुं० । बुद्धिसिद्धे, आ० म० ।

साम्प्रतमभिप्रायसिद्धं प्रतिपादयन्नाह—

विउला विमला सुहुमा, जस्स मई जो चउव्विहाए वा ।
बुद्धीए संपन्नो, स बुद्धिसिद्धो इमा सा य ॥

विपुला विस्तारवती, एकपदेनानेकपदानुसारिणीति भावः । विमला संशयविपर्ययानध्यवसायमलरहिता, सूक्ष्मा अतिदुरवबोधसूक्ष्मव्यवहितार्थपरिच्छेदसमर्था, यस्य मतिः स बुद्धिसिद्धः । यदि वा-यश्चतुर्विधया औत्पत्तिक्यादिभेदभिन्नया बुद्ध्या संपन्नः स बुद्धिसिद्धः । आ० म० द्वि० । आ० चू० । (अस्य कथा 'उप्पत्तिया' शब्दे द्वितीयभागे ८२५ पृष्ठे द्रष्टव्या)

अभिप्पेय–अभिप्रेत–त्रि० । मनोविकल्पिते, विशे० । आचा० । कामयति, दश० ६ अ० । अभिमतविषये, संयोगे च । उत्त० १ अ० । ('संजोग' शब्देऽस्य विवृतिः)

अभिभव–अभिभव–पुं० । अभियोगे, आव० ५ अ० । पराजये, आचा० १ श्रु० ९ अ० २ उ० । आ० चू० । अभिभवो नामादिभेदतश्चतुर्धा । द्रव्याभिभवो रिपुसेनादिपराजयः, आदित्यतेजसा वा चन्द्रग्रहनक्षत्रादितेजोऽभिभवः । भावाभिभवस्तु-परीषहोपसर्गानीकजयात् ज्ञानदर्शनावरणमोहान्तरायकर्मनिर्दलनं, परीषहोपसर्गादिसेनाविजयाद्विमले चरणं, चरणशुद्धेर्ज्ञानावरणादिकर्मक्षयः, तत्क्षयान्निरावरणमप्रतिहतमशेषज्ञेयग्राहि केवलं समुपजायते । इदमुक्तं भवति-परीषहोपसर्गज्ञानदर्शनावरणीयमोहान्तरायाण्यभिभूय केवलमुत्पाद्य तैरुपलब्धमिति । आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

अभिभाविय–अभिभूय–अव्य० । जित्वेत्यर्थे, भ० ६ श० ३३ उ० ।

अभिभूय–अभिभूय–अव्य० । आभिमुख्येन पीडयित्वेत्यर्थे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । जित्वेत्यर्थे, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । पराजित्येत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । दश० । तिरस्कृत्येत्यर्थे च । आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

अभिभूत–त्रि० । ध्माते, जं० २ वक्ष० । तिरोहितशुभव्यापारे च । आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अभिभूयणाणि (ण्)–अभिभूयज्ञानिन्–पुं० । अभिभूय पराजित्य मत्यादीनि चत्वार्यपि ज्ञानानि यद्वर्तते ज्ञानं केवलाख्यं तेन ज्ञानेन ज्ञानी । केवलिनि, सूत्र० १ श्रु० ६ उ० ।

अभिमंतिऊण–(अभिमंतिय)–अभिमन्त्र्य–अव्य० । मन्त्रपाठेन संस्कृत्येत्यर्थे, "रायगले जे मंसा, अच्छाति ते अभिमंतिय आगासेण उप्पइया" आ० म० द्वि० । नि० चू० ।

अभिमन्नु–अभिमन्यु–अव्य० । "म्नयोर्ञः" ८ । ४ । ३०५ । इति पैशाच्यां म्नयोः स्थाने ञो जातः । अर्जुनस्य सुभद्रायां जाते पुत्रे, प्रा० ४ पाद ।

अभिमय–अभिमत–त्रि० । इष्टे, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । विशे० ।

अभिमद्द–अभिमर्द–पुं० । प्रधर्षणेर्थे, स्था० १ अ० ।

अभिमाण–अभिमान–पुं० । अभि-मन्-भावे घञ् । ज्ञानसम्पत्त्यादिना, मिथ्याज्ञाने, गर्वे दर्पे, हर्षे, प्रणये, हिंसायां च । वाच० । "अभिमाणो गव्वो भण्णति" । नि० चू० १ उ० । ('गव्व' शब्दे द्वितीयभागे ८४७ पृष्ठे दर्शयिष्यामः द्रष्टव्यः)

अभिमाणवद्ध–अभिमानवद्ध–त्रि० । अभिमानाधरे, सूत्र० १ श्रु० १३ उ० ।

अभिमार–अभिमार–पुं० । विशेषतोऽभिद्रावके वृक्षविशेषे, उत्त० ३ उ० ।

अभिमुह–अभिमुख–त्रि० । अभि भगवन्तं लक्ष्यीकृत्य मुखमस्येति अभिमुखः । भगवतः संमुखे, रा० । कृताभिमुखे, पं० । सं० प्र० । ज्ञा० । स्था० । अन्त० । सू० प्र० । औ० ।

अभियंद–अभिचन्द्र–पुं० । महाबलस्य राज्ञः स्वनामख्याते प्रियवयस्ये, ज्ञा० ८ अ० ।

अभियावण्ण–अभ्यापन्न–त्रि० । आभिमुख्येन आपातुमुद्यते नाऽऽपन्नो व्यवस्थितः । सावद्यानुष्ठानेषु प्रतिपन्ने, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

अभिरइ–अभिरति–स्त्री० । लोकेऽर्थादिषु आभिमुख्येन रतौ, विशे० ।

अभिरमंत–अभिरममाण–त्रि० । अभितो रतिं कुर्वाणे, "अभिरममाणा तुच्छ" प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अभिराम–अभिराम–त्रि० । रम्ये, ज्ञा० १३ अ० । औ० । अभिरमणीये, चं० प्र० २० पाहु० । विपा० । रा० । आ० म० । स० । मनोज्ञे, ज्ञा० १७ अ० । मनोहरे, कल्प० १ क्ष० ।

अभिरुइय–अभिरुचित–त्रि० । स्वादुभावमिवोपगते, भ० ६ श० ३३ उ० ।

अभिरूव–अभिरूप–त्रि० । अभि आभिमुख्येन सदाऽवस्थितानि रूपाणि राजहंसचक्रवाकसारसादीनि गजमहिषमृगयूथादीनि वा जलान्तर्गतानि करिमकरादीनि वा यस्मिंस्तदभिरूपमिति । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । अभिरूपं प्रति प्रत्येकमभिमुखमनीव चेतोहारित्वाद् रूपमाकारो यस्य स अभिरूपः । रा० । अभि सर्वेषां द्रष्टृणां मनःप्रसादानुकूलतया अभिमुखं रूपं यस्य तत् अभिरूपम् । अत्यन्तकमनीये, तं० । जी० । प्रज्ञा० । स्था० । अभिमतरूपे, विपा० १ श्रु० २ अ० । जं० । द्रष्टारं द्रष्टारं प्रत्यभिमुखं न कस्यचिद्विरागहेतुरूपमाकारो यस्य सोऽभिरूपः । रा० । अभिमुखमनीयोत्कटं रूपमाकारो यस्य स । सू० प्र० १ पाहु० । मनोज्ञरूपे, ज्ञा० १ अ० । उपा० । औ० । भ० । अभि प्रतिक्षणं नवं नवमिव रूपं यस्य तदभिरूपम् । आ० म० प्र० । अनुसमयमहीयमानरूपे, स० । "अभिरूवं अभिरूवं पडिरूवं पडिरूवं पासादीयं पासादीयं" आचा० २ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

अभिलप्प–अभिलाप्य–त्रि० । कथनयोग्ये, प्रज्ञापनयोग्ये, आ० म० प्र० । सूत्र० । "जे पुण अभिलप्पा ते दुविहा भवंति । तं जहा-पण्णवणिज्जा, अपण्णवणिज्जा य । तत्थ जे ते अपण्णवणिज्जा तेसु वि ण चेव अहिगारो अत्थि त्ति । जे पुण पण्णवणिज्जा भावा ते केवलणाणेण पासिऊण तित्थयरो तित्थकरणामकम्मोदएण सव्वसत्ताणं अणुग्गहनिमित्तं भासंति" आ० चू० १ अ० ।

अभिलाव–अभिलाप–पुं० । अभिलप्यते आभिमुख्येन उच्यते अनेनार्थ इत्यभिलापः । वाचके शब्दे, नन्द्यादिभ्यः अंशे च । उत्त० १ अ० । आ० म० । विशे० । प्रज्ञा० ।

अभिलावपावियद्ध-अभिलाप्याविनार्य-पुं० । शब्दसंयुक्तेऽर्थे, कर्म० ६ कर्म० ।

अभिलावपुरिस-अभिलापपुरुष-पुं० । अभिलप्यतेऽनेनेति अभिलापः शब्दः, स एव पुरुषः पुंलिङ्गतयाऽभिधानात् । पुरुषभेदे, यथा-घटः कुटो येति । आह च-" अभिलावो पुंलिङ्गाभिहाणमेत्तं घडो व्व " । स्था० ३ ठा० १ उ० । आ० चू० १ । विशे० । आ० म० ।

अभिलास-अभिलाष-पुं० । इच्छायाम, स्था० ५ ठा० २ उ० । सम्प्रेऽप्यधिकतरस्य वाञ्छायाम्, स्था० ४ ठा० ३ उ० । यदिदमहं प्राप्नोमि ततो भव्यं भवतीत्यध्यवसायानुविद्धायां प्रार्थनायाम, नं० । ममैवंरूपं वस्तु पुष्टिकारि, तदिदमवाप्यते ततः समीचीनं भवतीत्येवं शब्दार्थोल्लेखानुविद्धे स्वपुष्टिनिमित्तप्रतिनियतवस्तुप्राप्त्यध्यवसाये, नं० । आ० म० । इष्टेषु शब्दादिषु प्राप्तेच्छायाम्, द्वा० १९ द्वा० ।

अभिवड्ढिय-अभिवर्द्धित-त्रि० । मासभेदे, संवत्सरभेदे च । ज्यो० । तत्र एकत्रिंशद्दिनानि, एकविंशत्युत्तरशतं चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानामभिवर्द्धितमासः, एतद्विधेन मासेन द्वादशप्रमाणोऽभिवर्द्धितसंवत्सरः । स च प्रमाणेन त्रीणि शतान्यह्नां त्र्यशीत्यधिकानि चतुश्चत्वारिंशच्च द्विषष्टिभागाः-३८३ । ४४ । ६२ । स्था०५ ठा०३ उ० । सू० प्र० । कल्प० । स० । चं० प्र० । ज्यो० । यस्मिन् संवत्सरे अधिकमाससंभवेन त्रयोदश चन्द्रमासा भवन्ति, सोऽभिवर्द्धितसंवत्सरः । उक्तं च-" तेरस य चंदमासा, एसो अभिवड्ढिओ उ नायव्वो " जं० २ वक्ष० ।

ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पंचमस्स अभिवड्ढियसंवच्छरस्स अभिवड्ढियमासे तिसतीमुहुत्तेणं अहोरत्तेणं गणिज्जमाणे केवइयराइंदियग्गेणं आहिए ?। ता एक्कतीसं राइंदियाइं एगुणतीसं च मुहुत्ता सत्तरसबावट्ठिभागे मुहुत्तस्स राइंदियग्गेणं आहिते त्ति वदेज्जा । ता से णं केवइए मुहुत्तग्गेणं आहिता ?। ता णव एगुणसट्ठे मुहुत्तसते सत्तरस य बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स मुहुत्तग्गेणं आहिता । ता एतेसि णं अद्धा दुवालसखुत्तकडा अभिवड्ढिए संवच्छरे । ता से णं केवइए राइंदियग्गेणं आहिता ति वदेज्जा ?। ता तिण्णि तेसीए राइंदियसते एक्कवीसं च मुहुत्ते अट्ठारसबावट्ठिभागे मुहुत्तस्स राइंदियग्गेणं आहिया ति वदेज्जा । ता से णं केवतियमुहुत्तग्गेणं आहिता ति वदेज्जा ?। ता एगारसमुहुत्तसहस्सा पंचय एक्कारे मुहुत्तसते अट्ठारस य बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स मुहुत्तग्गेणं आहिता ति वदेज्जा ॥

'ता एएसि णं, इत्यादि पञ्चमाभिवर्द्धितसंवत्सरविषयं प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह—(एक्कतीसमित्यादि) ता एकत्रिंशद् रात्रिन्दिवानि, एकोनत्रिंशच्च मुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तदश द्वाषष्टिभागा रात्रिन्दिवाग्रेणाभिवर्द्धितमासः । तथाहि—अभिवर्द्धितसंवत्सरः । चन्द्रमासाश्च त्रयोदश रात्रिन्दिवानि, एकस्य च रात्रिन्दिवस्य द्वात्रिंशद् द्वाषष्टिभागाः । ३२ । १/६२ । एतत् त्रयोदशभिर्गुण्यते, ततो द्वाषष्टिभागाः रात्रिन्दिवेषु [illegible]

रात्रशतानि त्र्यशीत्यधिकानि चतुश्चत्वारिंशच्च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य-३८३ । ४४ । ६२ । एतदभिवर्द्धितसंवत्सरपरिमाणम । तत्र त्र्यशीत्यधिकानां त्रीणि अहोरात्रशतानां द्वादशभिर्भागे हृते लब्धा एकत्रिंशदहोरात्राः, [illegible] । ते मुहूर्त्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि त्रिंशदधिकानि त्रीणि शतानि ३३० । [illegible] रात्रिन्दिवस्य, तेऽपि मुहूर्त्तकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि त्रयोदशशतानि विंशत्यधिकानि १३२० । [illegible] ह्रियते, लब्धा एकविंशतिर्मुहूर्त्ताः, [illegible] । एकविंशतिमुहूर्त्ता मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जातानि मुहूर्त्तानां त्रीणि शतान्येकपञ्चाशदधिकानि ३५१ । [illegible] विभागो ह्रियते, लब्धा एकोनत्रिंशन्मुहूर्त्ताः, [illegible] । ते द्वाषष्टिभागकरणार्थं द्वाषष्ट्या गुण्यन्ते, जातं [illegible] १८६ । [illegible] द्वाषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जाते द्वे शते चतुरुत्तरे २०४ । त्रयोदशभिर्भागो ह्रियते, [illegible] सप्तदश द्वाषष्टिभागाः । (ता से णमित्यादि) [illegible] । [illegible] अभिवर्द्धितमासः [illegible] । भगवानाह-(ता णवेत्यादि) [illegible] ५९ । [illegible]

[illegible]

अभिवड्ढियमास [illegible]

अभिवायण–अभिवादन–न० । वाङ्नमस्कारे, दशा० २ चू० । [illegible] । वाङ्नमस्कारे, तं० । कायेन प्रणिपाते, संथा० । [illegible]

अभिवायमाण–अभिवादयत्–त्रि० । अभिवादनं कुर्वाणे, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

अभिवाहरणा–अभिव्याहरणा–स्त्री० संशब्दनायाम्, पञ्चा० ३ विव० ।

अभिवाहार–अभिव्याहार–पुं० । अभिव्याहरणमभिव्याहारः । [illegible] आलोचनादिषु प्रथमे [illegible] । व्य० प्र०

[illegible]

अभिवाहारो [illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible]

अभिसंजाय–अभिसंजात–त्रि० । पेशी प्रादुर्भूते, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अभिसंधारण–अभिसंधारण–न० । पर्यालोचने, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अभिसंधिय–अभिसंधित–त्रि० । गृहीते, आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

अभिसंभूय–अभिसंभूत–त्रि० । [illegible] आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । प्रादुर्भूते, आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अभिसंवड्ढ–अभिसंवृद्ध–त्रि० धर्मश्रवणयोग्यावस्थायां [illegible] आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अभिसंबुद्ध–अभिसंबुद्ध–त्रि० । धर्मकथादिकं निमित्तम् [illegible] पलब्धपुण्यपापतया ज्ञाते, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अभिसमन्नागय–अभिसमन्वागत–त्रि० । अभिमुख्येन [illegible] ज्ञातः परिच्छिन्नः । आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । [illegible] आभिमुख्येन व्यवस्थिते, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । [illegible] गत उपभोगं प्राप्ते, ज्ञा० २ श्रु० । विशेषतः परिच्छिन्ने, भ० [illegible] । मिलिते, भ० १५ श० १ उ० । अभिविधिना, सर्वैः [illegible] । समन्वागतानि संप्राप्तानि जीवेन [illegible] (भ० १२ श० ४ उ०) [illegible] । [illegible] गत्वा, दशा० ४ अ० ३ उ० ।

अभिसमागम–अभिसमागम–पुं० । अभि [illegible] समागमः । [illegible]

तिविहे अभिसमागमे पन्नत्ते । तं जहा–उड्ढं अहे तिरियं । जया णं तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा [illegible] णाणदंसणे समुप्पज्जइ, से णं तप्पढमयाए उड्ढमभिसमेइ, तओ तिरियं, तओ पच्छा अहे [illegible] समणाउसो ! ॥

(अभिसमागम त्ति) [illegible]

[illegible]

[illegible]

परिच्छिद्य पृथक् प्रवेदितं वा । आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । अवगम्येत्यर्थे, स्था० ९ ठा० । आचा० । समधिगम्य प्रवृत्त्येत्यर्थे, अभिसमेत्य धर्मं यावत्केवलित्वमुत्पादयन् । "धर्मोपादेयतां ज्ञात्वा, संजातेच्छोऽत्र भावतः । दृढं स्वशक्तिमालोच्य, ग्रहणे संप्रवर्त्तते" ॥१॥ स्था० २ ठा० १ उ० ।

अभिसरण-अभिसरण-न० । आपेक्षिकसंमुखाभिगमने, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अभिसरित-अभिसरित-त्रि० । स्त्र्यर्थं सङ्केतस्थलं प्रापिते, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ॥

अभिसव-अभिषव-पुं० । अनेकद्रव्यसन्धाननिष्पन्नसुरासौवीरकादौ मांसप्रकारखण्डादौ सुरामध्वाद्यभिष्यन्दिद्रव्ये, वृष्योपयोगे च । अयं च सावद्याहारवर्जकस्यानाभोगातिक्रमादिनाऽतिचारः । प्रव० ६ द्वार ।

अभिसित्त-अभिषिक्त-त्रि० । कृताभिषेके जाताभिषेके, "अणेण अमयकलसेण अभिसित्तो अब्भहियं सोहिउमाढत्तो" आ० म० प्र० ।

अभिसेग-अभिषेक-पुं० । शुक्रशोणितनिषेकादिक्रमे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । सर्वौषधिसमुपस्कृततीर्थोदकैः राज्याधिष्ठातृत्वादिप्राप्त्यर्थं मन्त्रोच्चारणपूर्वकं तद्योग्यशिरसोऽभ्युक्षणम् । स्था० ।

तत्रेन्द्राणामभिषेक इत्थम्-

जेणामेव अभिसेयसभा तेणामेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता अभिसेयसभं अणुपयाहिणं करेमाणे पुरच्छिमिल्लेणं दारेणं अणुपविसति, अणुपविसित्ता जेणेव सीहासणे तेणेव उवागच्छति, तेणेव उवागच्छित्ता सीहासणवरगते पुरच्छाभिमुहे सण्णिसण्णे । तए णं तस्स विजयस्स देवस्स सामाणियपरिसोववण्णगा देवा आभिओगिए देवे सद्दावेंति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! तुब्भे विजयस्स देवस्स महत्थं महग्घं महरिहं विपुलं इंदाभिसेयं उवट्ठवेह । तए णं ते आभिओगिया देवा सामाणियपरिसोववण्णएहिं देवेहिं एवं वुत्ता समाणा हट्ठ० जाव हियया करतलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु 'एवं देवा तह त्ति' आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेंति, पडिसुणेत्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमंति, अवक्कमित्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति, समोहणित्ता संखिज्जाइं जोयणाइं दंडं णिसरंति, णिसरित्ता तहेव जाव पोग्गलाइं गेण्हइ । तं जहा-रयणाए० जाव रिट्ठाणं अहा बायरे पोग्गले परिसाडेंति, परिसाडित्ता अहा सुहुमे पोग्गले परियायंति, परियाइत्ता दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणंति, समोहणित्ता अट्ठसयं सोवण्णियाणं कलसाणं, अट्ठसतं रुप्पमयाणं कलसाणं, अट्ठसयं मणिमयाणं कलसाणं, अट्ठसयं सुवण्णरुप्पमयाणं कलसाणं, अट्ठसहस्सं सुवण्णमणिमयाणं कलसाणं, अट्ठसयं रुप्पमणिमयाणं कलसाणं, अट्ठसयं सुवण्णरुप्पमणिमयाणं कलसाणं, अट्ठसयं भोमिज्जाणं कलसाणं, अट्ठसयं भिंगाराणं कलसाणं, एवं आयंसगाणं थालाणं पातीणं सुपतिट्ठकाणं चित्ताणं रयणकरंडगाणं पुप्फचंगेरीणं० जाव लोमहत्थचंगेरीणं पुप्फपडलगाणं० जाव लोमहत्थपडलगाणं अट्ठसयं सीहासणाणं छत्ताणं चामराणं अवपडगाणं वट्टकाणं सिप्पीणं खोरकाणं पीणगाणं तेल्लसमुग्गकाणं अट्ठसहस्सं धूवकडुच्छुकाणं विउव्वंति । तेसा भाविए विउव्विए य कलसे य० जाव धूवकडुच्छुए य गेण्हंति, गेण्हित्ता विजयाओ रायहाणीओ पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खमित्ता ताए उक्किट्ठाए० जाव उद्धुयाए दिव्वाए देवगतीए तिरियमसंखेज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं मज्झेणं वीतीवयमाणा वीतीवयमाणा जेणेव खीरोदे समुद्दे तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता खीरोदगं गेण्हंति, खीरोदगं गेण्हित्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं० जाव सयसहस्सपत्ताइं गेण्हंति, ताइं गेण्हित्ता जेणेव पुक्खरोदे समुद्दे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता पुक्खरोदगं गेण्हंति, पुक्खरोदगं गेण्हित्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं० जाव सयसहस्सपत्ताइं गेण्हंति, ताइं गेण्हित्ता जेणेव समयखेत्ते जेणेव भरहेरवयाइं वासाइं जेणेव मागधवरदामपभासाइं तित्थाइं तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता तित्थोदगं गेण्हंति, तित्थोदगं गेण्हित्ता तित्थमट्टियं गेण्हंति, तित्थमट्टियं गेण्हित्ता जेणेव गंगासिंधुरत्तारत्तवतीओ सलिलाओ तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सरितोदगं गेण्हंति, सरितोदगं गेण्हित्ता उभओ तडमट्टियं गेण्हंति, तडमट्टियं गेण्हित्ता जेणेव चुल्लहिमवंतसिहरिवासहरपव्वता तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सव्वतुवरे य सव्वपुप्फे य सव्वगंधे य सव्वमल्ले य सव्वोसहिसिद्धत्थए य गेण्हंति, गेण्हित्ता जेणेव पउमद्दहपुंडरीयद्दहा तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता दहोदगं गेण्हंति, दहोदगं गेण्हित्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं० जाव सयसहस्सपत्ताइं गेण्हंति, ताइं गेण्हित्ता जेणेव हेमवयहेरण्णवयाइं वासाइं जेणेव रोहियरोहियंसासुवण्णकूलरुप्पकूलाओ तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सलिलोदगं गेण्हंति, सलिलोदगं गेण्हित्ता उभओ तडमट्टियं गेण्हंति, उभओ तडमट्टियं गेण्हित्ता जेणेव सद्दावतिवियडावतिपरियागा वट्टवेयड्ढपव्वता तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सव्वतुवरे य० जाव सव्वोसहिसिद्धत्थए य गेण्हंति, गेण्हित्ता जेणेव महाहिमवंतरुप्पिवासहरपव्वता तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता सव्वपुप्फे तं चेव० जेणेव महापउमद्दहमहापुंडरीयद्दहा तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता जाइं तत्थ उप्पलाइं तं चेव० जेणेव हरिवासरम्मगवासाइं जेणेव हरिकंतानरकंताओ सलिलाओ तेणेव उवागच्छंति,

नोनिशीथाभ्याहृतं द्विविधम् । तद्यथा-स्वग्रामे स्वग्रामविषयं, परग्रामे परग्रामविषयम् । तत्र यस्मिन् ग्रामे साधुर्निवसति स एव स्वग्रामः । शेषस्तु परग्रामः । तत्र परग्रामे परग्रामविषयमभ्याहृतं द्विविधम् । तद्यथा-स्वदेशं परदेशं च । स्वदेशं स्वग्रामाभ्याहृतं, परदेशं परग्रामाभ्याहृतं चेति । तत्र स्वदेशो यत्र देशे मण्डले साधुर्वसति, शेषस्तु परदेशः । एतद् द्विविधमपि प्रत्येकं द्विधा । तद्यथा-(जलथल त्ति) सूचनात्सूत्रमिति कृत्वा जलपथेनाभ्याहृतं, स्थलपथेनाभ्याहृतं च । तत्र जलपथेनाभ्याहृतं द्विधा-नावा, उडुपेन च । उपलक्षणमेतत् । तेन स्तोकजलसंभावनायां जङ्घाभ्यामपि । तत्र नौर्नावादिका, उडुपं तरणकाष्ठम् । तुम्बकादि चाडुपादिग्रहणेन गृहीतं द्रष्टव्यम् । स्थलपथेनाभ्याहृतं द्विधा । तद्यथा-जङ्घया, पद्भ्याम् । उपलक्षणमेतत् । तेन शकटादिना च ।

तथामुनेव अभ्याहृतभेदान् समपञ्चं विनाशयन् दोषान् प्रदर्शयति-

जंघाबाहुतरीए, जले थले खंधअरग्गनिबद्धा ।
संजमआयविराहण, तहियं पुण संजमे काया ॥
अत्थाह गाहपंका, मगरोहारा जले अवायाओ ।
कंटाहितेणसावय, थलम्मि एए भवे दोसा ॥

तत्र जलमार्गे स्तोकजलसंभावनायां जङ्घाभ्याम्, प्रभूतजलसंभावनायां बाहुभ्याम्, यदि वा तरिकया । उपलक्षणमेतत् । उडुपेन वाऽभ्याहृतं संभवति । स्थलमार्गे तु स्कन्धेन, यद्वा-(अरग्गनिबद्ध त्ति) अत्र तृतीयार्थे प्रथमा । ततोऽयमर्थः-आरकनिबद्धा गन्त्री, तया । गुर्वनिबद्धा गन्त्र्यादयस्तैः । अत्र च दोषः संयमविराधना, आत्मविराधना च । तत्र संयमात्मविराधनामध्ये संयमविषया विराधना जलमार्गे स्थलमार्गे च-कायाः अप्कायादयो विराध्यमाना द्रष्टव्याः । जलमार्गे आत्मविराधनामाह-(अत्था-होत्यादि) अत्र प्राकृतत्वात् क्वचित् विभक्तिलोपः, क्वचित् विभक्तिविपर्यासश्च । ततोऽयमर्थः-अस्ताघे पादादिभिरलभ्यमानेऽधोभूभागे अधोनिमज्जनलक्षणोऽपायो भवति । तथा ग्राहेभ्यो जलचरविशेषेभ्यः, यद्वा पङ्कतः कर्दमरूपात् ; अथवा मकरेभ्यः, यद्वा-(उहार त्ति) कच्छपेभ्यः । उपलक्षणमेतत्-अन्येभ्यश्च पादकण्टकजलकादिभ्योऽपाया विनाशरूपा दोषाः संभवन्ति । स्थलमार्गे आत्मविराधनामाह-(कंटेत्यादि) कण्टकेभ्यो, यदि वा अहिभ्यो, यद्वा स्तेनेभ्यः, अथवा श्वापदेभ्यः । उपलक्षणमेतत्-ज्वरापूरणादिकपरिश्रमेभ्यश्च स्थले स्थलमार्गे, एतेऽपायरूपा दोषाः प्रतिपत्तव्याः । उक्तमेतावता परग्रामाभ्याहृतं नोनिशीथम् ।

संप्रति तदेव स्वग्रामाभ्याहृतं नोनिशीथं गाथाद्वयेनाह-

सग्गामे वि य दुविहं, घरंतरं नोघरंतरं चेव ।
तिघरंतरा परेणं, घरंतरं तत्तु नायव्वं ॥
नोघरतरऽणेगविहं, वाडगसाहीनिवेसणगिहेसु ।
कायोवगंधमिम्मय-कंसेण व तं तु आणेज्जा ॥

स्वग्रामविषयमभ्याहृतं द्विविधम् । तद्यथा-गृहान्तरं, नोगृहान्तरं च । तत्र त्रिगृहान्तरात्परेण-त्रीणि गृहाण्यन्तरे कृत्वा परतो यदानीतं तद् गृहान्तरम् । एवं च सति किमुक्तं भवति ?-यद् गृहत्रयमध्यादानीयते, उपयोगश्च तत्र संभवति, तद् आचीर्णमसंयम । नोगृहान्तरमनेकविधम्, तच्च वाटकादिविषयम् । तत्र वाटकः-प्रतिच्छन्नः प्रतिनियतः संनिवेशः । साही-वर्तनी, सैवैका अपान्तराले विद्यते, न तु गृहान्तरमित्यर्थः । निवेशनम्-एकनिष्क्रमप्रवेशानि द्व्यादिगृहाणि । गृहं-केवलं मन्दिरम् । एतच्च सकलमपि वाटकादिविषयमनाचीर्णमनुपयोगसंभवे वेदितव्यम् । तदपि च गृहान्तराख्यं च नोनिशीथं स्वग्रामाभ्याहृतं प्रतिलाभयितुमीप्सितस्य साधोरुपाश्रयमानयेत्-कायेन, यदि वा स्कन्धेन । उपलक्षणमेतत्-तेन करादिना च, यदि वा मृन्मयेन भाजनेन, यद्वा कांस्येन ।

संप्रत्यस्यैव स्वग्रामविषयिणो नोनिशीथाभ्याहृतस्य संभवमाह-

सुन्नं च असइकालो, पगयं च पहेणगं च पाहुत्ता ।
इय एइ काय घेत्तुं, दाविंइ य कारणं तं तु ॥

इह साधुर्भिक्षामटन् क्वापि गृहे प्रविष्टः, परं तत्तदानीं शून्यं बहिर्निर्गतमानुषमासीत् । यद्वा-अद्यापि तत्र राध्यते, इत्यसत् अविद्यमानो भिक्षाकालः । यदि वा तत्र प्रकृतं गौरवार्हस्वजनभोजनादिकं वर्तते, ततो न तदानीं साधवे भिक्षा दातुं प्रपारिता, यदि वा विहृत्य साधोर्गतस्य पश्चात्प्रहेणक प्रहेणकमागतं, तच्चोत्कृष्टत्वात् किल साधवे दातव्यम् । अथवा तदा श्राद्धिका प्रसुप्ता-शायिता आसीत्, ततः साधवे भिक्षा न दत्ता । इति एतैः कारणैः, काचित् श्राद्धिका तद्गृहाद् गृहीत्वा साधोरुपाश्रयमानयेत्, तच्चानयनस्य कारणं 'तदा शून्यं गृहमासीत्' इत्यादिरूपं दीपयति प्रकाशयति । तत् एवं नोनिशीथस्वग्रामाभ्याहृतसंभवः । तदेवमुक्तं स्वग्रामपरग्रामभेदभिन्नं नोनिशीथाभ्याहृतम् ।

अथ स्वग्रामपरग्रामभेदभिन्नमेव निशीथाभ्याहृतमपि देशेनाह-

एमेव कमो नियमा, निसीहमभिहडे वि होइ णायव्वो ।
अविइयदायगभावं, निसीहअभिहडं तु नायव्वं ॥

य एव क्रमः स्वग्रामपरग्रामादिको नोनिशीथाभ्याहृते उक्तः, स एव निशीथाभ्याहृते नियमाद् ज्ञातव्यः । संप्रति निशीथाभ्याहृतस्वरूपं कथयति-"अविइय" इत्यादिना । यतिना न विज्ञातो दायकस्याभ्याहृतदानपरिणामो यत्र, तेन अविदितदायकभावं निशीथाभ्याहृतमवगन्तव्यम् । किमुक्तं भवति ?-सर्वथा साधुना अभ्याहृतत्वेन यद् अपरिज्ञातं तन्निशीथाभ्याहृतमिति परग्रामाभ्याहृत उक्तः ।

स एव निशीथस्याभिहृतो गाथाचतुष्टयेनोच्यते-

अइदूर जलंतरिया, कम्मासंकाएँ ठाण पेच्छंति ।
आणेंति संखडीओ, सड्ढा सड्ढी व पच्छन्नं ।
निग्गम देउल दाणं, दियाएँ सड्ढाइनिग्गए दाणं ।
मिट्ठम्मि सेसगपणं, दिन्नऽन्ने वारयंतऽन्ने ।
भुंजण अजीरपुव्व-इ्गाइ अच्छंति तुच्चसेसं वा ॥
आगम निसीहियाई, न भुंजई सावगासंका ।
उक्खित्तं निक्खित्तं, आमगयं महागम्मि पासगए ।
सामित्तु गया सड्ढा, ते वि य सुद्धा असढभावा ॥

क्वचित् ग्रामे धनावहप्रमुखा बहवः श्रावकाः, धनवतीप्रमुखाश्च श्राविकाः, एते चान्येककुटुम्बवर्तिनः । अन्यदा तेषामावसथे विवाहः समजनि, दृष्टे च तस्मिन् प्रचुरमोदकाद्युद्धरितम्, ततस्तैरचिन्ति-यदेतत् साधुभ्यो दीयते, येन महत्पुण्यमस्माकं

जायते । अथ च केचित् साधवोऽतिदूरेऽवतिष्ठन्ते, केचित् पुनः प्रत्यासन्नाः, परमन्तराले नदी विद्यते, ततस्तेऽप्कायेषु विराधनां भावयन्तो नागमिष्यन्ति, आगता अपि च प्रचुरमोदकादिकमवलोक्य कथ्यमानमपि शुद्धमाधाकर्मशङ्कया न ग्रहीष्यन्ति । ततो यत्र ग्रामे साधवो निवसन्ति तत्रैव प्रच्छन्नं गृहीत्वा व्रजाम इति । तथैव च कृतम् । ततो भूयोऽपि चिन्तयन्ति-यदि साधूनाहूय दास्यामस्ततोऽशुद्धमाशङ्क्य ते न ग्रहीष्यन्ति । तस्मात् तद् द्विजादिभ्योऽपि किमपि दद्मः, तच्च तथा दीयमानमपि यदि साधवो न प्रेक्ष्यन्ते ततस्तदवस्थैव तेषामशुद्धाऽऽशङ्का भविष्यति। ततो यत्रोच्चारादिकार्यार्थं निर्गताः सन्तः साधवः प्रेक्ष्यन्ते तत्र दद्म इति। एवं च चिन्तयित्वा विवक्षिते कस्मिंश्चित् प्रदेशे कस्यचिद् देवकुलस्य बहिर्भागे द्विजादिभ्यः स्तोकं स्तोकं दातुमारब्धम्, तत उच्चारादिकार्यार्थं विनिर्गताः केचन साधवो दृष्टाः, ततस्ते निमन्त्रिताः। यथा भोः साधवः ! अस्माकमुद्वरितं मोदकादिकं प्रचुरमवतिष्ठते ततो यदि युष्माकं किमप्युपकरोति तर्हि तत् प्रतिगृह्णीतेति। साधवोऽपि शुद्धमित्यवगम्य प्रत्यगृह्णन् । तैश्च साधुभिः शेषाणामपि साधूनामुपादेशि-यथाऽमुकस्मिन् प्रदेशे प्रचुरमेषणीयमशनादि लभ्यते । ततस्तेऽपि तद्ग्रहणाय समाजग्मुः। तत्र चैके श्रावकाः प्रचुरमोदकादिकं प्रयच्छन्ति । अन्ये च मातृस्थानतो (मायाविशेषात्) निवारयन्ति-यथैवं तावद्दीयतां माऽधिकं, शेषमस्माकं भोजनाय भविष्यति। अन्ये पुनस्तानेव निवारयतः प्रतिषेधयन्ति। यथा-न केऽप्यस्माकं भोक्ष्यन्ते, सर्वेऽपि प्रायो भुक्ताः, ततः स्तोकमात्रेण किञ्चिदुद्धरितेन प्रयोजनं, तस्माद् यथेच्छं साधुभ्यो दीयतामिति । साधवश्च ये नमस्कारसहितप्रत्याख्यानास्ते भुक्ताः, ये चापौरुषीप्रत्याख्यानास्ते भुञ्जाना वर्तन्ते । ये चाजीर्णवन्तः पूर्वार्द्धादिप्रतीक्षमाणा वर्तन्ते ते नाद्यापि भुञ्जते । श्रावकाश्च चिन्तयामासुः-अपराह्णे साधवो भुक्ता भविष्यन्ति, ततो वन्दित्वा निजस्थानं व्रजाम इति । एवं च चिन्तयित्वा समधिकप्रहरवेलायां साधुभ्यो वसतावागत्य नैषेधिक्यादिकां सकलामपि श्रावकक्रियां कृतवन्तः। ततो ज्ञातं यथाऽमी श्रावकाः परमविवेकिनो दातारश्च परम्परया विवक्षितग्रामवास्तव्याः, ततः सम्यगिमदयोरुद्भावितम्-नूनमस्मन्निमित्तमेतत् ग्रामाद् ग्रामाभ्याहृतमिति, ततो यैर्भुक्तं तैर्भुक्तमेव, ये त्वद्यापि पूर्वार्द्धादि प्रतीक्ष्यमाणा न भुञ्जते, तैर्न भुक्तं, येऽपि च भुञ्जाना अवतिष्ठन्ते, तैरपि यः कवल उत्क्षिप्तः स भाजने मुच्यते, यत्तु मुखे प्रक्षिप्तं कवलादि निक्षिप्तं, तद् मुखाद् निःसार्य समीपस्थापित मल्लके प्रक्षिपेत् । शेषं तु भाजनगतं सर्वमपि परिष्ठापितम् । [illegible] सर्वेऽपि समापन्नाः स्वस्थानं ग-तम्। तत्र ये भुक्ता ये चार्द्धभुक्तास्तेऽपि सर्वेऽप्यशठभावा इति शुद्धाः । सूत्रं सुगमम् । केचन ([illegible]) के-चित् [illegible], केचित् [illegible]। उक्तं परग्रामाभ्याहृतं नि० चू० ।

अथ स्वग्रामाभ्याहृतं [illegible]—

[illegible] ,[illegible] [illegible] वा ।
[illegible], [illegible] [illegible]-निवणा ॥
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।
[illegible] वा, [illegible] [illegible] ॥

[illegible]

तो निवृत्ता सती साधोः प्रतिश्रमनार्थमाश्रयं प्रविश्य प्रत्युत स्वमेवमाह-भगवन् ! प्रहेणकमिदममुकस्मिन् गृहे गतया लब्धम्। यद्वा-क्वापि संखड्यां संप्रति वन्दनार्थमहं प्रस्थिता,तत्रायं लब्धः, ततो यदि युष्माकमिदमुपकरोति तर्हि प्रतिगृह्णीतेति तत्प्रणीतं ददाति । यद्वा एवमाह-निजकानां स्वजनानामर्थाय प्रेषणकं मया स्वगृहादानीतं, परं तैर्नेच्छितं ततस्तद्गृहात् प्रतिनिवृत्ता वन्दनार्थमत्रागतेति,ततस्तद्ददाति । यदि वा श्रावका काचिदभ्याहृतमानीय सागारिकां शय्यातरीं, यद्वा-'संज्ञिका' श्रमणोपासिकां वसतिप्रतिवेशिनीं पूर्वगृहीतसंकेतां, यथा साधवः शृण्वन्ति तथा ब्रवीति-गृहाणेदं प्रहेणकमिति । तया च मातृस्थानतः प्रतिषिद्धम् । यथा-त्वयाऽप्यमुकस्मिन् दिने मदीयं प्रहेणकं न जगृहे, ततोऽहमपि त्वदीयं न गृहीष्यामीत्येवं निषिद्धा । तत: साऽपि मातृस्थानतः किञ्चित्परुषं प्रत्युक्तवती । द्वितीययाऽपि तथैव भाषितं, त एवं परस्परं संवृत्ते कलहे सति सा प्रहेणकदायिका रोषवती वन्दनार्थं वसतौ प्रविशति, ततोऽनन्तरं वृत्तं वृत्तान्तं कथयित्वा तदानीतं ददाति । उक्तं स्वग्रामाभ्याहृतं नि० चू० ।

संप्रत्यनाचीर्णं निगमयन्नाचीर्णस्य भेदानाह—

एवं तु अणाइन्नं, दुविहं पि य आहडं समक्खायं ।
आइन्नं पि य दुविहं, देसे तह देसदेसे य ॥

एतत् पूर्वोक्तमभ्याहृतं निशीथ-नोनिशीथभेदात्, स्वग्राम-परग्रामभेदात् द्विविधमप्याख्यातमनाचीर्णमकल्पनीयम्। संप्रत्याचीर्णं वक्ष्ये। तदपि द्विविधम्, तद्यथा-देशे, देशदेशे च।

संप्रति देशस्य देशदेशस्य च स्वरूपमाह—

हत्थसयं खलु देसो, आरेणं होइ देसदेसो य ।
आइन्नं तिन्नि गिहा, ते वि य उवओगपुव्वागा ॥

हस्तशतं हस्तशतप्रमितं क्षेत्रो देशः । हस्तशतादारात् हस्तशतमध्ये इत्यर्थः, देशदेशः । अत्र हस्तशतप्रमाणे आचीर्णे यदि गृहाणि त्रीणि भवन्ति, नाधिकानि, ततः कल्पते। तान्यपि त्रीणि गृहाणि उपयोगपूर्वकाणि भवन्ति। उपयोगस्तत्र दातुं शक्यते इत्यर्थः । ततः कल्पते, नान्यथेति ।

संप्रति गृहत्रयव्यतिरेकेण हस्तशतादिसंभवं तद्विषये कल्पविधिं चाऽऽह—

परिसेवणपंतीए, दूरपवेसे य घंघसालगिहे ।
हत्थसया आइन्नं,गहणं परओ उ पडिकुट्ठं ॥

परिविष्यते ततो भोजनं दीयते येभ्यस्ते परिवेषणा पुरुषाः, तेषां पङ्क्तिः श्रेणिः,तस्यां तत्र,पश्चिमन् पर्यन्ते साधुसंघाटको वर्तते, द्वितीयं तु देयं तिष्ठति। तत्र च स्पृष्टास्पृष्टमवलोकयितुं शक्यते । एवमुत्तरयोरपि पदयोर्भावनीयम् । ततः [illegible] [illegible] । यद्वा-दूरप्रदेशे [illegible] यदि वा घट्टशालागृहे, हस्तशताभ्यन्तरे [illegible] [illegible] इत्यर्थः । [illegible] ग्रहणं प्रतिकुष्ट-निराकृतं [illegible] [illegible] ।

[illegible] भेदान् प्रदर्शयति-

उद्दोसमज्झिमऽह-न्नगं तु तिविहं तु होइ आइन्नं ।
करपरियत्त जहन्नं, सयमुक्कोसं मज्झिमं सेसं ॥

त्रिविधमाचीर्णमभ्याहृतम् । तद्यथा-उत्कृष्टं,मध्यमं, जघन्यं च। तत्र यदा ऊर्ध्वाधःपरिष्ठात् कथमपि हस्तयोगेन मुष्टिगृहीतेन वा मण्डकादिना, यदि वा स्वपत्यादिपरिवेषणार्थमोदनभृतस्थालकरोटिकघोलादितया व्यवतिष्ठते । अत्रान्तरे च कथमपि साधुरागच्छति भिक्षार्थं, तस्मै च यदि करस्थं ददाति तदा करप्रवर्तनमात्रं जघन्यमभ्याहृतमाचीर्णम् । हस्तशतादभ्याहृतमुत्कृष्टम् । शेषं तु हस्तशतमध्यवर्ति मध्यमम् । तदेवमुक्तमभ्याहृतम् । पिं० ध० आचा० स्था० । आव० । व्य० । सूत्र० । नि० चू०। "गिहिणो अभिहडं सेयं, भुंजीओ ण उ भिक्खुणो" गृहिणां गृहस्थानां यदभ्याहृतं तदयतेर्नोक्तं श्रेयः श्रेयस्करं, न तु भिक्षूणां संयम्यतीति (प्रश्नः) । अत्र ततुक्तं व्याख्या चात्र एवं द्रष्टव्यम्-यथा गृहस्थाभ्याहृतं जीवोपमर्देन भवति, यतीनां तु समादिदोषरहितमिति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । " अत्र प्रायः स्वग्रामाभिहडे मासलहुं, परगामाभिहडे निप्पच्चवाए चउलहुं, सपच्चवाए चउगुरुं" । पं० चू० ।

अभिहृतशब्दव्याख्या-

जे भिक्खू गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठे समाणे परं तिघरंतराओ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अभिहडं आहट्टु दिज्जमाणं पडिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

"जे भिक्खू गाहावतिकुलं० असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परं तिघरंतराओ " इत्यादि । तिण्णि गिहाणि तिघरं, तिघरमेव अंतरं तिघरंतरं । किमुक्तं भवति ?-गृहत्रयात्परत इत्यर्थः । अहवा तिण्णि दो अंतरा परत इत्यर्थः । आयारा गृहीत्वा किंचित् असणादी अभिहडदोसेण जुत्तं आहट्टु साहुस्स देज्ज, जो अणाइण्णं तिघरंतरापरेणं, आहडे वा अणुवउत्तो गेण्हति, तस्स मासलहुं। नि० चू० ३ उ०। (अन्यग्रन्थैः सहाभिहृतसहणव्याख्या 'अणाइण्णपिंड' शब्दे ४६६ पृष्ठे उक्ता।)

जे भिक्खू परं अद्धजोयणमेराओ सपच्चवायंसि अभिहडमाहट्टु दिज्जमाणं पडिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

अद्धजोयणाओ परओ सपच्चवाएण पहेण अभिहडं-अभिमुखयेन, हृञ्-हरणे, अभिमुखं हृतम्, आनीतमित्यर्थः । तं पडिगाहेति जो भिक्खू, सो आणादी पावति, चउगुरुं च से पच्छित्तं । एसो चेव अत्थो इमो-

परमद्धजोयणाओ, सपच्चवायंसि अभिहडाणीयं ।

तं जे भिक्खू पायं, पडिच्छते आणमादीणि ॥ १७ ॥

कंठा । इमेहिं वा पच्चवाओ पहे-

सावय तेणा दुविहा, सव्वालजला महानदी पुण्णा ।

वणहत्थिदुट्ठसप्पा, पडिणीया चेव तु अवाया ॥ १८ ॥

सीहादिया सावया । तेणा दुविहा-सरीरोवगरणे । जले गाहमगराइएहिं सव्वाला महाणई वा अगाधा पुण्णा, वणहत्थी वा दुट्ठो पहे । कुंभीणसादिसप्पा वा पहे विसंति, गिहीणं वा पडिणीया संति, पढमादिया अवाएहिं इमे दोसा ॥ १८ ॥

तेणादिसु जं पावति, विराहए अंतरा वावा ।

पव्वदिपयारेते वा, उड्डाहपदोसवोच्छेदो ॥ १९ ॥

सो गिहत्थो आणयंतो तेणगसमीवाओ जं घायादि पावति । आदिग्गहणातो सिंहवग्घादियाण वा समीवातो जं पावति, अहवा गिहत्थो आणतो जं कंमाइए तेणादिपहारे पावति, अंतरा वा पुढवादीए काए विराहेज्जा, अहिमाइ संगेहिं वा डक्को हिंसो वा जुज्झंतो वा मारितो वा, ताहे सयणादिजणो भासति-संजयाण पाए तेणो मारितो ति । एवं उड्डाहो । तस्स वा सव्वस्स पदोसं गच्छेज्जा, तद्दव्वस्स वा वोच्छेदं करेज्जा । सो वा पदोसं गच्छे वोच्छेदं वा करेज्जा, जम्हा एवमादि, तम्हा अभिहडं ण गेण्हेज्जा, अण्णगा गवेसेज्ज । बितियपदेण गिहत्थाणीतं पि गेण्हेज्जा ॥ १९ ॥

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।

सेहे चरित्तसावय-भए य जयणा इमा तत्थ ॥ २० ॥

सक्खेत्ते से पाहाए असिवाए दुब्भिक्खे वा, अण्णाउंछेणेणं वा संथुयमणुण्णा, अहवा पायदुट्ठे समणा वा अणिट्ठं ओमं च, एवं रायदुट्ठभयादिगमयं वा, सयं गिलाणं वायंतो वा, सेहस्स वा तत्थ णाणियं मा करेज्जा । चरित्तदोसा वा, तत्थ इत्थीमादिया दोसा, सावयभयं वा, तत्थ पढमादिकारणेहिं इमं जयणं करेंति ।

अण्णाहिंति पुराणा-दि पाढणगेसु आणवए पायं ।

तेहिं य सयमाणीए, गहणं गीतेसे भयणा ॥ २१ ॥

अण्णाहणं सड्डेसी, पुराणस्स साहिज्जति । साहिज्जणेण गिहीतादुच्चयस्स पाणस्स वा, सयमहिंडतो वा साहिज्जति । पढमस्स गहणं, तेहिं वा आणीया जहि तत्थ तं सयमाणीतं गेण्हति, अहवा अणीयाणेहिं तत्थ अयणं करेति, पुरा पडिसेहिता किंचि भावे तेहिं तेहिं य जदा अगीयहिया तहा गेण्हति ।

एमेव कप्पो णियमा, आहारे सेसए य उवकरणे ।

पुव्व अवरे य पए, सरस्सवा पुणो अद्धुगा ॥ २२ ॥

जो पादे विही भणितो एसेव विही आहारे, सेसोवकरणे य दट्ठव्वो । सपउप्पवा ते, इमरे पुण निरच्चवा, ते अच्चमच्चा अडलहुगा । नि० चू० ११ उ० ।

अभिहणण-अभिहनन-न० । वेदमं द्विधा, स्थाव० १ स्था० ठा० । पादाभ्यामभिमुखेन हनने, उ० ८ उ० ७ उ० । अभिमुखमागच्छतो हनने, आ० ३ ठा० १ उ० । स्था० ।

अभिहणमाण-अभिघ्नत् त्रि० । पादाभ्यामभिघ्नन्त कुर्वति, "पु रओवयचक्खुहिं पादाभिघ्नत अभिहणमाण" प्र० १ श्रु० ।

अभिहय-अभिहत-त्रि० । अभिमुखेन हतेऽभिहतम् । अत्रैव पठिते, " सव्वसिरिया अभिहया वत्तिया लेसिया " आव० ४ अ० । ध० । आव० ।

अभिहाण-अभिधान-न० । अभिधीयते येन तदभिधानम् । नि० चू० १ उ० । नामधेय, विशे० । शब्दे, विशे० । वचने, विशे० । अर्थोऽभिधानवाच्यः लोके सर्वत्र प्रत्ययावसानत्वात् विशे० । नामे स्तुते । उपायन्ते, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । ११ हितवमभिधानं अभिधान-वचनवाचनं च । तस्मिन् कथ्यन्ते, अन्यतो यथा शास्त्रे विद्यमाने । आ० चू० १ अ० ।

अभिहाणभेद-अभिधानभेद पुं० । शब्दभेदे, विशे० ।

अभिहाणहेउकुसल-अभिधानहेतुकुशल-पुं० । अभिधान

धीनिज्जितो पमत्तो, नच्चा रज्जं पि पेल्लेज्जा ॥

प्रातिवेशिका नाम सीमान्तवर्त्तिनः प्रत्यर्थिनो राजान इदं श्रुत्वा परिभवेन परिभवोत्पादनबुद्ध्या हसिष्यन्ति, न केवलं हसिष्यन्ति किन्तु स्त्रीनिर्जितः प्रमत्त एव इति ज्ञात्वा राज्यमपि प्रेरयिष्यन्ति, गृहीष्यन्तीत्यर्थः।

धि तेसिं गामनगरा-ण जेसिं इत्थी पणायिगा ते य।

धिद्धिकया य पुरिसा, जे इत्थीणं वसं जाया ॥

धिग् निन्दायाम्,तेषां ग्रामनगराणां,येषां स्त्री प्रणायिका प्रकर्षेण स्वतन्त्रतया नायिका। अत्र धिग्योगे द्वितीया प्राप्ताऽपि षष्ठी, प्राकृतत्वात्। तथा तेऽपि पुरुषाः धिकृताः धिक्कारं प्रापयन्तो ये स्त्रीणां वशमापन्ना जाताः।

तथा-

इत्थीओ बलवं जत्थ, गामेसु नगरेसु वा।

सो गामो नगरं वा वि, खिप्पमेव विणस्सइ ॥

यत्र ग्रामेषु नगरेषु वा स्त्रियो बलवत्यः स ग्रामो नगरं वा क्षिप्रमेव विनश्यति। बहुवचनेनोपसंहारो जातौ बहुवचनमेकवचनं नयतीति ज्ञापनार्थः।

एवमुक्ते राजा पुरोधा वा एवं मनसि संप्रधारयेत्। यथा-'नास्माकं ग्रामेषु नगरेषु वा स्त्रियो बलवत्यः' इति, तत आह-

सूयग तहाऽणुसूयग, पडिसूयग सव्वसूयगा चेव।

पुरिसा कयवित्तीया, वसंति सामंतरज्जेसु ॥

तस्यामात्यस्य पुरुषाः कृतवृत्तयः कृताजीविकाः, चतसृषु दिक्षु चत्वारः सामन्तराज्येषु प्रातिवेशिकराज्येषु वसन्ति। तद्यथा-सूचकाः,अनुसूचकाः, प्रतिसूचकाः सर्वसूचकाश्च। सूचकाः-सामन्तराज्येषु गत्वा अन्तःपुरपालकैः सह मैत्रीं कृत्वा यत्तत्र रहस्यं तत्सर्वं जानन्ति। अनुसूचकाः-नगराभ्यन्तरे चारमुपलभन्ते। प्रतिसूचकाः-नगरद्वारसमीपे अल्पव्यापारा अवतिष्ठन्ते। सर्वसूचकाः-स्वनगरं पुनरागच्छन्ति, पुनर्यान्ति। तत्र ये सूचकास्ते श्रुतं दृष्टं वा सर्वमनुसूचकेभ्यः कथयन्ति। अनुसूचकाः सूचककथितं स्वयमुपलब्धं च प्रतिसूचकेभ्यः। प्रतिसूचका अनुसूचककथितं स्वयमुपलब्धं च सर्वसूचकेभ्यः। सर्वसूचका अमात्याय कथयन्ति। यथा तस्यामात्यस्य चतुर्विधाः पुरुषाः सामन्तराज्येषु वसन्ति, तथा महेला अपि।

तथा चाऽऽह-

सूयग तहाऽणुसूयग, पडिसूयग सव्वसूयगा चेव।

महिला कयवित्तीया, वसंति सामंतरज्जेसु ॥

अस्या व्याख्या प्राग्वत्। यथा च पुरुषाः स्त्रियश्च सामन्तराज्येषु समस्तेषु वसन्ति तथा सामन्तनगरेष्वपि राजधानीरूपेषु।

तथा चाऽऽह-

सूयग तहाऽणुसूयग, पडिसूयग सव्वसूयगा चेव।

पुरिसा कयवित्तीया, वसंति सामंतनगरेसु।

सूयग तहाऽणुसूयग, पडिसूयग सव्वसूयगा चेव ॥

महिला कयवित्तीया, वसंति सामंतनगरेसु ॥

इदं गाथाद्वयमपि पूर्ववत्। यथा च परराज्येषु परनगरेषु च पुरुषाः स्त्रियश्च वसन्ति, तथा निजराज्ये निजनगरे अन्तःपुरे।

तथा चाऽऽह-

सूयग तहाऽणुसूयग, पडिसूयग सव्वसूयगा चेव।

पुरिसा कयवित्तीया, वसंति निययम्मि रज्जम्मि ॥

सूयग तहाऽणुसूयग, पडिसूयग सव्वसूयगा चेव।

महिला कयवित्तीया, वसंति निययम्मि रज्जम्मि ॥

सूयग तहाऽणुसूयग, पडिसूयग सव्वसूयगा चेव।

पुरिसा कयवित्तीया, वसंति निययम्मि नगरम्मि ॥

सूयग तहाऽणुसूयग, पडिसूयग सव्वसूयगा चेव ॥

महिला कयवित्तीया, वसंति निययम्मि नगरम्मि।

सूयग तहाऽणुसूयग, पडिसूयग सव्वसूयगा चेव ॥

पुरिसा कयवित्तीया, वसंति अंतेउरे रण्णो ॥

सूयग तहाऽणुसूयग, पडिसूयग सव्वसूयगा चेव।

महिला कयवित्तीया, वसंति अंतेउरे रण्णो ॥

गाथाषट्कस्यापि व्याख्या पूर्ववत्। तत एवं निजचारपुरुषैः महिलाभ्यो राज्ञः पुरोधसश्च निशि वृत्तममात्यो ज्ञातवान्। तदेवं राज्ञोऽपि यः शिक्षाप्रदानेऽधिकारी सोऽमात्य इति। उक्तममात्यस्य स्वरूपम्। व्य० १ उ०।

अमर्त्य-पुं०। देवे, स्था०।

अमच्चपुज्ज-अमर्त्यपूज्य-त्रि०। देवाराध्ये तीर्थङ्करादौ, स्था०।

अमच्छरि (ण्)-अमत्सरिन्-त्रि०। परसंपद्द्वेषिणि, दश० १ चू०। परगुणग्राहिणि, प्रश्न ४ आश्र० द्वा०।

अमच्छरियया-अमत्सरिकता-स्त्री०। मत्सरिकः परगुणानामसोढा, तद्भावनिषेधोऽमत्सरिकता। भ० ८ श० ९ उ०। परगुणग्राहितायाम्, औ०।

अमज्जमंसासि (ण्)-अमद्यमांसाशिन्-त्रि०। मद्यमांसमनश्नति, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। अमद्यपे, अमांसाशिनि च। दश० २ चू०।

अमज्जाइल्ल-अमर्यादावत्-पुं०। "मज्जाया सीमायाथा, न मज्जाया अमज्जाया, तीए जो वट्टति सो अमज्जाइल्लो" नि० चू० १ उ०। मर्यादया अवर्त्तरि प्रवर्त्तके आचार्ये च। नि० चू० ४ उ०।

अमज्झ-अमध्य-त्रि०। न० ब०। विभागद्वयं कर्तुमशक्ये, "तओ अमज्झा पण्णत्ता। तं जहा-समए,पएसे, परमाणू"। स्था० ३ ठा० ४ उ०। विषमसंख्यावयवाभावात् क्षेत्रपरमाणौ, भ० २० श० ६ उ०।

अमण-अमन-न०। अधिगमने, अन्तःपरिच्छेदे च। स्था० ३ ठा० ४ उ०।

अमनस्-न०। मनोविशेषविरहे, "तिविहे अमणे पण्णत्ते। तं जहा-णोतममणे णोतयअमणे अमणे"। स्था० ३ ठा० ३ उ०। अविद्यमानान्तःकरणे, दर्श०। "आयइ सुणिप्पकंपां, मणं अमणो जिणो होइ" प्रयत्नविशेषाद् मनः अपनीय अमना अविद्यमानान्तःकरणो जिनो भवति। आव० ४ अ०। औ०। असंज्ञिनि च, क० प्र०।

अमणा-अमनाक्-अव्य०। न मनागमनाक्। निरर्थं शब्दार्थे, सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

अमणाम-अमनआप-त्रि० । न जातुचिदपि मोस्यतया जन्तूनां मनांसि आप्नोति । जी० १ प्रति० । न मनसा आप्यते प्राप्यते चिन्तया यत्तत्तथा । उपा० ८ अ० ।

अमणोऽम-त्रि० । न मनसा अम्यते गम्यते पुनः पुनः स्मरणतो यत्तदमनोऽम्यम् । अत्यर्थं मनोऽनिष्टे, भ० १ श० ५ उ० ।

अमणाम-त्रि० । अमनामयतीति अमनामः। पीडाविशेषकारिणि, " अमणुण्णाओ अमणामओ दुक्खाओ " सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

अमणुण्ण-अमनोज्ञ-त्रि० । मनसोऽनुकूलं मनोज्ञं; न मनोज्ञम् अमनोज्ञम् । आव० ४ अ० । न मनसा ज्ञायते सुन्दरतया इत्यमनोज्ञम् । भ० १ श० ३३ उ० । स्वरूपेणाऽशोभने, (कदर्थादौ) स्था० ३ ठा० १ उ० । मनःप्रतिकूले, सूत्र० १ श्रु० १ अ० । असुन्दरे, प्रश्न० ५ आस्र० द्वा० । अनिष्टे, स० १ सम० । स्था० । अनुमतमनोज्ञे, स्था० ८ ठा० । विपा० । अमनःप्रह्लादहेतौ विपाकतो दुःखजनके, जी० १ प्रति० । " अमणुण्णसमुप्पायदुक्खमेव " अमनोज्ञात् दुष्प्रयुक्तेन पुनिकपुरीषेण च पूतिकर्मणि विग्रहः । यद् च दुष्कृतं चिक्कणं, पूतिकं च कुथितम् । (कामसमोगाः) भ० १ श० ३३ उ० । " अमणुण्णसंपओगसंपउत्ते [illegible] विप्पओगस्सइसमण्णागए या वि भवति " अमनोज्ञो-ऽनिष्टो यः शब्दादिस्तस्य यः संप्रयोगो योगस्तेन संप्रयुक्तो यः स तथा, स च तद्विप्रयोगः स्मृत्, तस्यामनोज्ञस्य शब्दादेर्विप्रयो-[illegible] भवति । [illegible]

[illegible]

अमणुण्णसमुप्पाय-अमनोज्ञसमुत्पाद-त्रि० । न मनोज्ञममनो-ज्ञम् [illegible] सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

[illegible]

अमम्मणा-अमन्मना-स्त्री० । अनवरतव्यक्तमानायां वाचि, प्रश्न० २ आ० । रा० ।

अमय-अमृत-न० । सुधायाम, पञ्चा० ३ विव० । ईतेरीमथिते, आ० म० प्र० । " अमयमहियफेणपुंजसन्निगासं " अमृतस्य क्षीरोदधिजलस्य मथितस्य यः फेनपुञ्जो डिण्डीरपुञ्जस्तत्सन्निकाशं तत्समप्रभम् । रा० । न-मृ-क्त । न० त० । मोक्षे, देवशिष्टद्रव्ये, जले, घृते , अयाचिते वस्तुनि च । पञ्चाशि, हा० । मरणशून्ये, त्रि० । विभीतके, स्त्री० । वाच० ।

अमय-त्रि० । अचिन्तनी, " अमओ य होइ जीवो, कारणविरहा जहेव आगासं । समयं च होइ भनिच्चं, मिम्मयघडतुण्णं " अमयश्च भवति जीवः । विशे० । चन्द्रे, दे० ना० १ वर्ग ।

अमयकलस-अमृतकलश-पुं० । अमृतपूर्णघटे, " अमयकलसेण अभिसित्तो " आ० म० प्र० ।

अमयघोस-अमृतघोष-पुं० । काकन्द्या नगर्याः स्वनामख्यो राजनि, स च स्वपुत्रं राज्ये स्थापयित्वा धर्ममनयाने प्रतीत इति । संथा० ।

अमयणिहि-अमृतनिधि-पुं० । वाणव्यन्तरस्थानके प्रतिष्ठिते भवति, ती० ४१ कल्प ।

अमयतरंगिणी-अमृततरङ्गिणी-स्त्री० । महोपाध्यायश्रीकल्याणविजयगणिशिष्य-मुख्यपण्डितश्रीलाभविजयगणिशिष्यमुख्य-पण्डितश्रीजीतविजयगणिसतीर्थ्यतिलकपण्डितश्रीनयविजयगणिचरणकमलसेविना पण्डितश्रीपद्मविजयगणिसहोदरेणोपाध्याय-श्रीयशोविजयगणिना विरचितायां नयोपदेशटीकायाम्, नयो० ।

अमयणिगम-देशी-चन्द्रे, दे० ना० १ वर्ग ।

अमयण(ण्)-अमृतात्मन्-पुं० । धर्मध्यानसमाधौ, द्वा० २२ द्वा० ।

अमयफल-अमृतफल-न० । अमृतोपमफले, द्वा० [illegible]

अमयवल्ली-अमृतवल्ली-स्त्री० । वल्लीविशेषे, प्रज्ञा० ४ प० । गुडूच्याम, वाच० ।

अमयसुय-अमृतसुत-त्रि० । माधुर्यादिगुणैः सुधासदृशे, सू० २ उ० ।

अमयरसासायणु-अमृतरसास्वादज्ञ-त्रि० । अमृतरसास्वादं जानाति इति अमृतरसास्वादज्ञः । [illegible]

अमयवास-अमृतवर्ष-पुं० । [illegible]

अमयसाय-अमृतस्वाद-पुं० । [illegible]

अमयसार-अमृतसार-न० । [illegible]

अमर-अमर-पुं० । देवे, [illegible]

केषु च, तेषामायुषोऽभावात् । औ० । " इमस्स चेव पडिवूहणट्ठाए अमरायइ महासड्डी " (अमरायइ इत्यादि) अमरायते-न मरः सन् कृष्यर्थीयनप्रद्युम्नरूपाऽधसकोऽमर इवाचरति अमरायते । आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

अमरकेउ-अमरकेतु-पुं० । विजये (क्षेत्रे) तमालख्यतानामनगर्या राज्ञः समरनन्दनस्य मदारमञ्जर्या उदरसंभवे पुत्रे, दर्श० ।

अमरचंद-अमरचन्द्र-पुं० । नागेन्द्रगच्छीये महेन्द्रसूरिशिष्य-शान्तिसूरिशिष्ये, येन गुर्जरदेशाधिपतिसिद्धराजसकाशाद् व्याघ्रशिशुक इति पदवी लेभे, सिद्धान्तार्णवनामा ग्रन्थश्च व्यरचि । इत्येकोऽमरचन्द्रसूरिः । (१)

(२) वायटीयगच्छीये जिनदत्तसूरिशिष्ये, येन चतुर्विंशतिजिनचरित्रं पद्मानन्दाभ्युदयापरनामकं महाकाव्यं, बालभारतं, काव्यकल्पलता, काव्यकल्पलतापरिमलः, छन्दोरत्नावली, कलाकलापश्चेत्येवमादयो ग्रन्था विद्वद्विश्वचमत्कृतिकृतो निरमायिषत । एतस्य शीघ्रकवित्वशक्तेर्मुग्धः वीशलदेवो नाम गुर्जरधरित्रीश्वरोऽस्मै बहुमानमदात् । अयं च वैक्रमीयसंवत्सराणां त्रयोदशशतकेऽवर्तत । जै० इ० ।

अमरण-अमरण-न० । मृत्योरभावे, ध० १ अधि० ।

अमरणधम्म-अमरणधर्मन्-त्रि० । तीर्थकरे, पं० व० ४ द्वा० ।

अमरदत्त-अमरदत्त-पुं० । जयघोषश्रेष्ठिपुत्रे, ध० र० ।

कथानकं पुनरेवम्—

" विद्दुममसिरिपरिकलियं, असंकियं बहुसमिद्धलोएहिं ।
रयणायरमज्झे पि व, रयणपुरं अत्थि वरनयरं ॥ १ ॥
कयसुगयसमयपोसो, पुरसिट्ठी अत्थि तत्थ जयघोसो ।
जिणमुणिविहियपओसो, सुजसा नामेण से भज्जा ॥ २ ॥
अमराभिहाणकुलदे-वयाए दिन्नु त्ति तो अमरदत्तो ।
नामेण ताण पुत्तो, पसन्नचित्तो सहावेण ॥ ३ ॥
आजम्मं तव्वयण-भयवासियहिययइब्भवरकन्नं ।
पियरेहिँ पढमजुव्वण-भरम्मि परिणाविओ सो उ ॥ ४ ॥
अह महुसमयम्मि कया-वि अमरदत्तो समित्तसंजुत्तो ।
पुप्फकरंडुज्जाणे, कीलाइकए समणुपत्तो ॥ ५ ॥
सो कीलंतो तहियं, तरुस्स हिट्ठा निएइ मुणिमेगं ।
तस्स य पासे एगं, रुयमाणं पहियपुरिसं च ॥ ६ ॥
तो कोउगेण अमरो, आसन्नं तस्स होउ पुच्छेइ ।
किं भद्द ! रोयसि तुमं ?, सगग्गयं सो वि इय भणइ ॥ ७ ॥
कंपिल्लपुरे सिंधुर-सिट्ठिस्स वसुंधराए दइयाए ।
ओवाइयलक्खेहिं, एगो पुत्तो अहं जाओ ॥ ८ ॥
सेणु त्ति विहियनाम-स्स अहगया जाय मज्झ छम्मासा ।
ता सयलविहवसहिया, अम्मापियरो गया निहणं ॥ ९ ॥
तप्पभिइ पालिओऽहं, जेहिं सयणेहिँ गरुयकरुणेहिं ।
मम दुक्कयजमनिहया, पंचत्तं ते वि संपत्ता ॥ १० ॥
बहुलोयाणं संता-वकारणे विसतरु व्व कमसोऽहं ।
देहेण दुब्भरेण य, वड्ढिओ इयरं कालं ॥ ११ ॥
लग्गइ पुण दक्खोवरि, पिडगसमाणा असमाणदुक्खकरा ।
मह देहे अरयमुहा, रोगा बहवे समुप्पन्ना ॥ १२ ॥
किंच पिसाओ भूओ, व कोवि मह अंतरंतरा अंगं ।
पीडेइ तह अदिट्ठो, जह तं वुत्तु पि न तरेमि ॥ १३ ॥
तो जीवियव्वभग्गो, मग्गोहत्तरम्मि जाव मरणाय ।
अप्पाणं ओबंधे-मि ताव पासो वि लहु तुट्टो ॥ १४ ॥
इत्थिह वेरग्गगओ, पुरा मए किं कयं ति पुच्छेउं ।
मुणिणो इमस्स पासे, भो भद्द ! इहं अहं पत्तो ॥ १५ ॥
जम्माउ वि निययदुहं, सुमरिय रोयामि इय भणेऊण ।
तेणं पहियनरेणं, नियवुत्तंतं मुणी पुट्ठो ॥ १६ ॥
अह विम्हयरसपुट्ठो, किं तु कहिस्सइ इमो सुसाहु त्ति ? ।
सो अमरदत्तपमुहो, एकग्गमणो जणो जाओ ॥ १७ ॥
अह वज्जरियं मुणिणा, भो पहिय ! तुमं इओ भवे तइए ।
मगहे गुब्बरगामे, देविलनामाऽऽसि कुलपुत्तो ॥ १८ ॥
अन्नदिणे वायगिहे, तुह गच्छंतस्स कोवि मग्गम्मि ।
मिलिओ पहिओ कमसो, तए धणड्ढु त्ति सो नाओ ॥ १९ ॥
तं वीससिउं रयणीए, हणिय गहिऊण तस्स सव्वं ।
जा जासि तुमं पुरओ, हरिणा छुहिएण ताव हओ ॥ २० ॥
पत्तो पढमे नरए, असरिसदुक्खाइँ सहिय बहुयाइं ।
तो उव्वट्टिय इहयं, सो एसो सेण संजाओ ॥ २१ ॥
जो सेण ! तए तइया, पहिओ पहओ भवम्मि सो एसो ।
अन्नाण तवं काउं, असुरनिकाए सुरो जाओ ॥ २२ ॥
संभरिय पुव्ववइरे-ण तेण हणिया तुहम्मपिउसयणा ।
निहणं धणं च णीयं, जणिया रोगा तुह सरीरे ॥ २३ ॥
छिन्नो तहेय पासो, एसो सुचिरं दुही हवेउ त्ति ।
सो कुणइ अंतरा अं-तरा य वियणं परमघोरं ॥ २४ ॥
तं सोउं भवभीओ, पहिओऽणसणं गहिउ मुणिपासे ।
सुमरंतो नवकारं, जाओ वेमाणिएसु सुरो ॥ २५ ॥
इय सुणिय पहियचरियं, अमरो संवेगपरिगओ अहियं ।
नमिउं विन्नवइ मुणिं, भयवं ! मह कहसु जिणधम्मं ॥ २६ ॥
ध० र० ।

इच्छामि समणुसिट्ठिं, ति भणिय नमिउं च सुगुरुचलणजुगं ।
तत्तो समित्तजुत्तो, गेहे पत्तो अमरदत्तो ॥ ९८ ॥
सो मित्रेणा संलत्तो, किं वच्छ ! चिराइयं तए तत्थ ।
तो मित्तेहिं वुत्तो, सुणंतो तस्स सयलो वि ॥ ९९ ॥
अह कुविओ जयघोसो, भणेइ कुपुत्त ! किं अरे ! तुमए ।
सुगु कुलागय समयं, धम्मं धम्मंतरं गहियं ॥ १०० ॥
ता मुंच इमं धम्मं, सियभिक्खूणं करेसु भिक्खूणं ।
अन्नह तए समं मम, संभासो वि हु न सुणु त्ति ॥ १०१ ॥
भणइ य कुमरो हे ता-य ! एस सुपरिक्खिऊण घित्तव्वो ।
धम्मो वरकणगं पि व, न कुलागयमित्तओ चेव ॥ १०२ ॥
पाणिवहालियचोरि-क्कपरिइपरजुवइयउज्झणपहाणो ।
पुव्वावरमविरुद्धो, धम्मो एसो कहमजुत्तो ? ॥ १०३ ॥
अह गिण्हंतो उत्तम-पणियं वणिओ भवे ण वयणिज्जो ।
पडिवन्नुत्तमधम्मो, न हीलणिज्जो तहाऽहं पि ॥ १०४ ॥
तं सुणिय भणिणिविट्ठो, सिट्ठी जंपेइ रे दुराचार ! ।
जं रोयइ कुणसु तयं, न इओ तं भासिउं उचिओ ॥ १०५ ॥
एयं निसामिऊणं, ससुरेण भणाविओ इमो एवं ।
जइ मह सुयाए कज्जं, ता जिणधम्मं चयसु सिग्घं ॥ १०६ ॥
मुणुं जिणधम्ममिमं, सेसं सव्वमवि अणंतसो पत्तं ।
एवं चिंतिय अमरो, विसज्जए पिउगिहे भज्जं ॥ १०७ ॥
अन्नदिणे अणलीए, भणिओ एमो जहा तुमं वच्छ ! ।
जो रोयइ तुह धम्मो, तं कुणसु वयं न विग्घकरा ॥ १०८ ॥
किंतु अमराभिहाणं, कुलदेविं निच्चमेव अच्चेसु ।
एयप्पसायपलद्धो, तुह जम्मो तो इमो भाइ ॥ १०९ ॥
अंब ! न संगइ कप्पइ, जिणमुणिवरारिहदेवदेविंसु ।

देवगुरु त्ति मई मे, भत्ती तह पणमणप्पमुहा ॥ ११० ॥
नो मह तेसु पओसो, मणयं पि न भत्तिमित्तमवि किंतु ।
देवगुरुगुणविओगा, तेसु उदासत्तणं अंब ! ॥ १११ ॥
भयरागदोसमोह-क्खएण देवस्स होइ देवत्तं ।
तच्चारित्तागमपरिमा-ण दंसणा देवत्तं नेयं ॥ ११२ ॥
सिवसाहगगुणगणगरु-त्तेण सत्थत्थसम्मगिरणेण ।
इह गुरुणो वि गुरुत्तं, होइ जहत्थं पसत्थं च ॥ ११३ ॥
ता अंब ! पणमिय जिणं, भमिज्जए तिहुयणे वि कह अन्नो ?।
नहु पेयइ लवणजलं, पीए खीरोहियजलम्मि ॥ ११४ ॥
इय तेणं परिभणिया, जणणी मोणं अकासि सविसाया ।
अह कुविया कुलदेवी, से दंसइ भीसणसयाइं ॥ ११५ ॥
न य तस्स किं पि पहवइ, सत्तिकधणस्स धम्मनिरयस्स ।
पवरं पओसं आहियं, तो अमरा अमरदत्तम्मि ॥ ११६ ॥
पच्चक्खीहोउ कया-वि तीए सो निठुरं इमं भणिओ ।
रे कूडधम्मगव्विय ! , न पणामं मज्झ वि करेसि ॥ ११७ ॥
ता इण्हि हणेमि तुमं, दढधम्मो तं भणेइ अमरो वि ।
जइ आउयं पि बलवं-तो मारिज्जइ न को वि तए ॥ ११८ ॥
अह कह वि तं पि तुट्टं, मरियव्वे इहरहा वि ता जाए ।
को मइमसममलं, मरणे भवकोडिसयदुलहं ? ॥ ११९ ॥
तो अमरा मायरिमा, तस्स सरीरे विउव्वए पाधा ।
[illegible]-नितिक्खिया वेयणा तिव्वा ॥ १२० ॥
जा इक्का वि हु जीयं, हरेइ नियमेण [illegible]स्स ।
दढधम्मो तह वि इमो, एयं चित्ते विचिंतेइ ॥ १२१ ॥
रे जीव ! तए पत्तो, निवतुरयहयत्तिए य माणाहो ।
देवो निरिक्खरहंतो, मयणुगो मणमज्जे ॥ १२२ ॥
ता दमिय [illegible] हियय-द्दिणय मरणं पि सुग्गइकरं ।
[illegible] पुण निबद्धं होमि जियंतो वि नमणाहो ॥ १२३ ॥
[illegible] य इमं, उक्कं गुरु दंसणं [illegible] ।
[illegible]-[illegible] सरणं ॥ १२४ ॥

ि[illegible]—

[illegible] पुण, [illegible] परंमुहा हुंतु ।
[illegible] सरीरं [illegible] वि विसंतु नयणा य ॥ १२५ ॥
[illegible], [illegible] मुंचउ रज्जा ।
[illegible] हियं भत्ती, [illegible] निच्चं य ॥ १२६ ॥
[illegible], [illegible] अमरा ।
[illegible], भणेइ संतोस [illegible] ॥ १२७ ॥
[illegible] ते [illegible] !, ते [illegible] निद्दयमिम ।
[illegible] ॥ १२८ ॥
[illegible], [illegible] ॥
[illegible] ! ॥ १२९ ॥
[illegible], मुहा [illegible] मुहाए ।
[illegible], [illegible] ॥ १३० ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ १३१ ॥
[illegible] ।
[illegible], [illegible] ॥ १३२ ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ १३३ ॥
[illegible]
[illegible] ।

भजत दर्शनशुद्धिमनुत्तरां,
भयत येन महोदयशालिनः ॥ १३४ ॥ ध० र० ।

अमरपरिग्गहिय-अमरपरिगृहीत-त्रि० । देवैः स्वीकृते, ध्र० ।

अमरप्पभ-अमरप्रभ-पुं० । विक्रमसंवत्सराणां चतुर्दशशते विद्यमाने भक्तामरस्तोत्रटीकाकारके कल्याणमन्दिरस्तोत्रटीकाकारकगुणसागर-गुरु-सागरचन्द्रस्य गुरौ, जै० इ० ।

अमरवइ-अमरपति-पुं० । देवेन्द्रे, " अमरवइ भाणिज्जइ " श्रा० ३ श्रु० ८ च० । प्रज्ञा० । मल्लिनाथेनार्हता सहानुप्रव्रजिते ज्ञातकुमारे, ज्ञा० ८ अ० ।

अमरवर-अमरवर-पुं० । महामहर्द्धिकदेवे, तं० ।

अमरसागर-अमरसागर-पुं० । अञ्चलगच्छीये कल्याणसागरसूरिशिष्ये, अयं च उदयपुरनगरे वैक्रमीये १६९४ तमे जन्म लब्ध्वा १७०५ वर्षे प्रव्रज्य १७१५ वर्षे तम्भातनगरे आचार्यपदवीं प्राप्तः । ततः १७१८ वर्षे भुजनगरं गच्छेशपदं लेभे । ततः सं० १७६२ मिते धवलकपुरे स्वर्गं गतः । जै० इ० ।

अमरसुह-अमरसुख-न० । देवसुखे, आव० ४ अ० ।

अमरसेण-अमरसेन-पुं० । मल्लिनाथेनार्हता सहानुप्रव्रजिते स्वनामख्याते ज्ञातकुमारे, ज्ञा० ८ अ० । स्वनामख्याते राजान्तरे च । दर्श० ।

अमरिस-अमर्ष-पुं० । न-मृष्-घञ् । " र्शर्षतप्तवज्रे वा " ।८।२।१०५। इति संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनस्येकारः । प्रा० २ पा० । मत्सरविशेषे, आ० म० द्वि० । महाकदाग्रहे, उत्त० ३४ अ० । कोपे, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अमरिसण-अमर्षण-त्रि० । अपराधाऽसहिष्णौ, प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० । अपराधिष्वकृतक्षमे, स० ।

अममृग-पुं० । प्रयोजनेष्वनलसे, स० ।

अमरिसिय-अमर्षित-त्रि० । अमर्षः संजातोऽस्येत्यमर्षितः । संजातमत्सरविशेषे, आ० म० द्वि० ।

अमल-अमल-पुं० । न विद्यते मल इव मलो निर्मलनिर्बन्धजीवमालिन्याधायकहेतुत्वादष्टप्रकारकं कर्म येषां ते अमलाः । सिद्धेषु, प्रव० २७५ द्वार । निर्ममत्वे, त्रि० । आ० म० द्वि० । अमलदेवस्य राज्ञः पुत्रे, कल्प० ७ क्ष० ।

अमलचंद-अमलचन्द्र-पुं० । वैक्रमीये ११८० वर्षे पूर्णतां विहरति स्वनामख्याते गणिनि, जै० इ० ।

अमलवाहण-अमलवाहन-पुं० । विमलवाहने महापद्मकुमारे, भी० ९१ कल्प० ।

अमला-अमला-स्त्री० । स्वनामख्यातायां शक्राग्रमहिष्याम्, स्था० ८ ठा० । भ० १० श० ५ उ० । जी० । ज्ञा० । (' अग्गमहिसी ' शब्दे विशेषः प्रथम भागे १९३ पृष्ठे गताऽनुसन्धेया)

अमहग्घ-अमहार्घ-त्रि० । महती अर्घा यस्य स महार्घः, महार्घं यस्य महार्घकः, न महार्घकोऽमहार्घकः । अल्पमूल्ये, उत्त० २० अ० ।

अमहग्घण-अमहार्घन-त्रि० । अमहामूल्ये, पञ्चा० १७ विव० ।

अमाइ (ण्)-अमायिन्-त्रि० । माया यस्यास्तीति मायी । न मायी अमायी । स्था० १ उ० । शाठ्यरहिते, प्रव० ६४ द्वार । कौटिल्यशून्ये, दश० ५ अ० १ उ० । सर्वत्र विश्वास्ये, स चालोचनादेरर्हः । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । " नो पलिउंचमाई " स्था० १० ठा० । स्य० । " भाव राया चर्च रज्जं, न य दुच्चरियं कहे तहा माई " । पञ्चा० १५ विव० ।

अमाइरूव-अमायिरूप-त्रि० । अमायिनो रूपं यस्यासावमायिरूपः । अशेषच्छद्मरहिते, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अमाइल्ल-अमायाविन्-त्रि० । मायारहिते, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

अमाइल्लया-अमायाविता-स्त्री० । मोहस्तो मायायाँश्चन्द्रभावस्तत्ता । (मायात्यागे), निरुत्सुकतायाम, स्था० १० ठा० ।

अमाणिय-अमान्य-त्रि० । अभ्युत्थानाद्यकरणादित्यर्के, "जया य माणिओ होइ, पच्छा होइ अमाणिओ । सिट्ठी व कब्बडे छूढो, स पच्छा परितप्पई " । दश० १ चू० ।

अमाव (वा) सा-अमाव (वा) स्या-स्त्री० । अमा-सह वसतश्चन्द्रार्कौ यत्र । वस्-यत्, एयत् वा । कृष्णपक्षशेषदिने, तद्दिने चन्द्रार्कौ एकराशिस्थौ भवतः । वाच० ।

एकस्मिन् वर्षे द्वादश अमावस्याः । तद् यथा-

बारस अमावसाओ पणत्ताओ । तं जहा-साविट्ठी,पोट्ठवई, अस्सोती, कत्तिया, मग्गसिरी, पोसी, माही, फग्गुणी, चेत्ती, विसाही, जेट्ठामूली, आसाढी ।

द्वादश एव अमावस्याः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-श्राविष्ठी, प्रौष्ठपदी इत्यादि । तत्र श्रविष्ठा धनिष्ठा, तस्यां भवा श्राविष्ठी-श्रावणमासभाविनी । प्रोष्ठपदा उत्तरभाद्रपदा, तस्यां भवा प्रौष्ठपदी-भाद्रपदमासभाविनी । अश्वयुजि भवा आश्वयुजी-अश्वयुग्मासभाविनी । एवं मासक्रमेण तत्तन्नामानुरूपनक्षत्रयोगात् शेषा अपि वक्तव्याः । चं० प्र० १० पाहु० । सू० प्र० ।

सम्प्रति (नक्षत्रयोगम्) अमावास्यावक्तव्यतायामाह-

दुवालस अमावासाओ पणत्ताओ । तं जहा-सावट्ठी पोट्ठवती० जाव आसाढी । ता सावट्ठी णं अमावासा कति णक्खत्ता जोएंति ? । ता दोण्णि णक्खत्ता जोएंति । तं जहा-असिलेसा १, महा २ य । एवं एएणं अभिलावेणं णेयव्वं । ता पोट्ठवती णं दोण्णि णक्खत्ता जोएंति । तं जहा-पुव्वफग्गुणी १, उत्तरा २ य । असोतिं दोण्णि । तं जहा-हत्थो १, चित्ता २ य । कत्तियं दोण्णि । तं जहा-साति १, विसाहा २ य । मग्गसिरं तिण्णि । तं जहा-अणुराहा १, जेट्ठा २, मूलो ३ य । पोसिं च दोण्णि । तं जहा-पुव्वासाढा १, उत्तरासाढा २ य । माहिं तिण्णि । तं जहा-अभिई १, समणो २, धणिट्ठा ३ य । फग्गुणिं दोण्णि । तं जहा-सतभिसया १,पुव्वपोट्ठवती २ य । चेत्तिं तिण्णि । तं जहा-उत्तरभद्दवदा १, रेवती २, अस्सिणी ३ य । विसाहिं दोण्णि । तं जहा-भरणी १,कत्तिया २ य । जेट्ठामूलिं दोण्णि । तं जहा-रोहिणी १, मग्गसिरं २ च । ता आसाढी णं अमावासं कति णक्खत्ता जोएंति ? । ता तिण्णि नक्खत्ता जोएंति । तं जहा-अद्दा १,पुणव्वसू २, पूसो ३ य ।

(दुवालसेत्यादि) द्वादश अमावास्याः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा-श्राविष्ठी, प्रौष्ठपदी इत्यादि । तत्र मासपरिसमापकेन श्रविष्ठानक्षत्रेणोपलक्षितो यः श्रावणो मासः, सोऽप्युपचारात् श्रविष्ठा, तस्यां भवा श्राविष्ठी । किमुक्तं भवति ?-श्राविष्ठी नक्षत्रपरिसमाप्यमानश्रावणमासभाविनी इति । प्रौष्ठपदी नक्षत्रपरिसमाप्यमानभाद्रपदमासभाविनी । एवं सर्वत्राऽपि वाक्यार्थो भावनीयः । (ता साविट्ठी णमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । श्राविष्ठीममावास्यां कति नक्षत्राणि युञ्जन्ति, कति नक्षत्राणि यथायोगं चन्द्रेण सह संयुज्य श्राविष्ठीममावास्यां परिसमापयन्ति ? । भगवानाह-(ता दोण्णिमित्यादि) ता इति पूर्ववत् । द्वे नक्षत्रे युङ्क्तः तद्यथा-अश्लेषा,मघा च । इह व्यवहारनयमतेन यस्मिन् नक्षत्रे पौर्णमासी भवति तत आरभ्य अर्वाक्तने पञ्चदशे नक्षत्रे अमावास्या । तत आरभ्य पञ्चदशे नक्षत्रे पौर्णमासी । ततः श्राविष्ठी पौर्णमासी किल श्रवणे धनिष्ठायां चोक्ता । ततोऽमावास्यायामप्यस्यां श्राविष्ठ्यामश्लेषा मघा चोक्ता । लोके च तिथिगणितानुसारतो गतायामप्यमावास्यायां वर्तमानायामपि च प्रतिपदि यस्मिन्नहोरात्रे प्रथमतोऽमावास्याऽभूत् स सकलोऽप्यहोरात्रोऽमावास्येति व्यवह्रियते । ततो मघानक्षत्रमप्येवं व्यवहारतोऽमावास्यायां प्राप्यते,इति न कश्चिद् विरोधः । परमार्थतः पुनरिमाममावास्यां श्राविष्ठीमिमानि त्रीणि नक्षत्राणि परिसमापयन्ति । तद्यथा-पुनर्वसु,पुष्योऽश्लेषा च । तथाहि-अमावास्या चन्द्रयोगपरिज्ञानार्थं करणं प्रागेवोक्तम् । तत्र तद्भावना क्रियते । कोऽपि पृच्छति-युगस्यादौ प्रथमा श्राविष्ठ्यमावास्या केन चन्द्रयुक्तेन नक्षत्रेणोपेता सती समाप्तिमुपयाति ? । तत्र पूर्वोदितस्वरूपोऽवधार्यराशिः षट्षष्टिमुहूर्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्च द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकः सप्तषष्टिभाग इतिप्रमाणो ध्रियते । तत एकेन गुण्यते, प्रथमाया अमावास्यायाः स्पृष्टत्वात् । एकेन च गुणितं तदेव भवतीति तावानेव जातः । ततस्तस्माद् द्वाविंशमुहूर्ताः,एकस्य च मुहूर्तस्य षट्चत्वारिंशद्द्वाषष्टिभागाः, इत्येवंपरिमाणं पुनर्वसुशोधनकं शोध्यते । ततः षट्षष्टिमुहूर्तेभ्यो द्वाविंशतिमुहूर्ताः शुद्धाः, स्थिताः पश्चात् चतुश्चत्वारिंशत् ४४ । तेभ्य एकं मुहूर्तमपकृष्य तस्य द्वाषष्टिभागाः क्रियन्ते, कृत्वा च ते द्वाषष्टिभागराशिमध्ये प्रक्षिप्यन्ते, जाताः सप्तषष्टिः । तेभ्यः षट्चत्वारिंशत् शुद्धाः, शेषास्तिष्ठन्त्येकविंशतिः । त्रिचत्वारिंशतो मुहूर्तेभ्यः त्रिंशता मुहूर्तैः पुष्यः शुद्धः, स्थिताः पश्चात् त्रयोदश मुहूर्ताः । अश्लेषा नक्षत्रं चापार्धक्षेत्रमिति पञ्चदशमुहूर्तप्रमाणं, तत इदमागतमश्लेषानक्षत्रमेकस्मिन् मुहूर्ते, एकस्य च मुहूर्तस्य चत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तषष्टिधा छिन्नस्य षट्षष्टिसङ्ख्येषु भागेषु शेषेषु प्रथमाऽमावास्या समाप्तिमुपगच्छति । तथा च वक्ष्यति-" ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पढमं अमावासं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोएइ ? । ता असिलेसाहिं असिलेसाणं एको मुहुत्तो चत्तालीसं च बावट्ठिभागा , मुहुत्तस्स बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता छावट्ठी चुण्णिया भागा सेसा" इति । यदा तु द्वितीयाऽमावास्या

[illegible], यदा मा [illegible] आरभ्य प्रयोदशी । ततः स [illegible] ११ । ३ । १ प्रयोदशामिर्गुण्यते । जातानि मुहूर्ता- [illegible] अधिकानि [illegible] । एकस्य च मुहूर्तस्य [illegible] १५ । एकस्य च द्वाषष्टि भागस्य ६२ स- [illegible] ११ सप्त ६ ६७ भागाः । तत्र-"चत्तारि य या- [illegible] उत्तराभद्दा" इति वचनात् । चतुर्भिश्चा- [illegible] चत्वारिंशता द्वाषष्टिभागैरुत्तरा- [illegible] मुहूर्तानि, स्थितानि पश्चात् मुहूर्ता- [illegible] एकस्य च मुहूर्तस्य [illegible] । एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य स- [illegible] । ४ । १६ । ११ । १ । तत एतस्मात् [illegible] मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य [illegible], एकस्य च द्वाषष्टिभा- [illegible] ३ । १० । ११ । १ इति शोधनी- [illegible] त्रीणि नक्षत्र- [illegible], स्थिताः पश्चात् अष्टौ मुहूर्ताः । [illegible] क्रियन्ते । कृत्वा च द्वा- [illegible] । [illegible] । तस्मात् क्रमेणक्रमा- [illegible], ततः [illegible], पश्चात्[illegible] [illegible] । [illegible] मुहूर्तेष्वेकस्य च [illegible] एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य [illegible] द्वितीयां श्राविष्ठीममावा- [illegible]

[illegible]

स्य च मुहूर्तस्य एकोनत्रिंशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु [illegible] वास्यां परिसमापयति ॥ एवं चतुर्थी [illegible] सप्तेवानक्षत्रं प्रथमस्य मुहूर्तस्य सप्तसु द्वाषष्टि[illegible] द्वाषष्टिभागस्य एकचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु [illegible] । पञ्चमीं श्राविष्ठीममावास्यां पुष्यनक्षत्रं [illegible] च मुहूर्तस्य द्विचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य द्वाषष्टिभागस्य चतुष्पञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु [illegible] १ । ४ । ५४ परिणमयति । एवमुक्तेन प्रकारेण [illegible] मापेन, शेषमप्यमावास्याजातं नेतव्यम् । [illegible] ([illegible] एयं दोण्णि । तं जहा-पुव्वाफग्गुणी, उत्तरा य त्ति) [illegible] पाठः-" ता पोट्ठवयं णं अमावासं कइ नक्खत्ता [illegible] । [illegible] दोण्णि नक्खत्ता जोएंति । तं जहा-पुव्वफग्गुणी, [illegible]" इदमपि व्यवहारत उच्यते । परमार्थतः पुनः [illegible] प्रौष्ठपदीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा-मघा, पूर्व[illegible] गी, उत्तरफाल्गुनी च । तत्र प्रथमां प्रौष्ठपदीममावास्यां पूर्वफाल्गुनीनक्षत्रं चतुर्षु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य [illegible] द्वाषष्टिभागेषु एकस्य द्वाषष्टिभागस्य [illegible] सप्तषष्टिभागे[illegible] २६ । २ अतिक्रान्तयोः, द्वितीयां प्रौष्ठपदीममावास्यां पूर्वफाल्गुनीनक्षत्रं सप्तसु मुहूर्तेष्वेकस्य च मुहूर्तस्य [illegible] षष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चदशसु सप्तषष्टि[illegible] ७ । ३१ । १५ गतेषु; तृतीयां प्रौष्ठपदीममावास्यां मघा[illegible] [illegible]दशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य [illegible]विंशती सप्तषष्टिभागेषु [illegible] ३७ । ५८ गतेषु, चतुर्थी प्रौष्ठपदीममावास्यां पूर्वफाल्गुनी[illegible] नक्षत्रमेकविंशती मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वादशसु द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य [illegible] सप्तषष्टिभागेषु २१ । १२ । ५२ गतेषु; पञ्चमी प्रौष्ठपदीममावास्यां मघानक्षत्रं चतुर्विंशती मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य [illegible] द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य [illegible] सप्तषष्टिभागेषु २४ । ४७ । ५५ परिसमाप[illegible] ([illegible] दोण्णि । तं जहा-हत्थो, चित्ता य त्ति) [illegible] सूत्रपाठः-" ता आसोई णं अमावासं कइ नक्खत्ता [illegible] ता दोण्णि नक्खत्ता जोएंति । तं जहा-हत्थो, चित्ता य" । [illegible] इति व्यवहारतः । निश्चयतः पुनः [illegible] अमावास्यां [illegible] परिसमापयतः । तद्यथा-उत्तरफाल्गुनी, हस्तश्च । तत्र [illegible]

[illegible]

पञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु १०।५७।५६ गतेषु परिसमापयति। (कत्तिअं दोन्नि। तं जहा-साइं, विसाहा य त्ति) अत्राप्येवं सूत्रपाठः-"ता कत्तियं णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोएंति?। ता दोन्नि नक्खत्ता जोएंति। तं जहा साइं, विसाहा य त्ति" एतदपि व्यवहारनयमतेन। निश्चयतः पुनस्त्रीणि नक्षत्राणि कार्त्तिकीममावास्यां परिसमापयन्ति। तद्यथा-चित्रा,स्वातिर्विशाखा च। तत्र प्रथमां कार्त्तिकीममावास्यां विशाखानक्षत्रं षोडशसु मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य षड्विंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुर्षु सप्तषष्टिभागेषु १६।२६।४ गतेषु; द्वितीयां कार्त्तिकीममावास्यां स्वातिनक्षत्रं पञ्चसु मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तसु द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तदशसु सप्तषष्टिभागेषु ५।७।१७ गतेषु; तृतीयां कार्त्तिकीममावास्यां चित्रानक्षत्रमष्टसु मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुश्चत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु ८।४४।३०; चतुर्थीं कार्त्तिकीममावास्यां विशाखानक्षत्रं त्रयोदशसु मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य द्वाविंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुश्चत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु १३।२२।४४ गतेषु; पञ्चमीं कार्त्तिकीममावास्यां विशाखानक्षत्रमेकविंशतौ मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तपञ्चाशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तपञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु २१। ५७। ५७। गतेषु समापयति। (मग्गसिरी तिन्नि। तं जहा-अणुराहा, जेट्ठा, मूलो य त्ति) अत्रापि सूत्रालापक एवम्-"ता मग्गसिरिं णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोएंति?। ता तिन्नि नक्खत्ता जोएंति। तं जहा-अणुराहा, जेट्ठा, मूलो य" इति। एतदपि व्यवहारतः। निश्चयतः पुनरिमानि त्रीणि नक्षत्राणि मार्गशीर्षीममावास्यां परिसमापयन्ति। तद्यथा-विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा च। तत्र प्रथमां मार्गशीर्षीममावास्यां ज्येष्ठानक्षत्रं सप्तसु मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्यैकचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चसु सप्तषष्टिभागेषु ७।४१।५; द्वितीयां मार्गशीर्षीममावास्यामनुराधानक्षत्रमेकादशसु मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्दशसु द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्याष्टादशसु सप्तषष्टिभागेषु ११।१४।१८; तृतीयां मार्गशीर्षीममावास्यां विशाखानक्षत्रमेकोनत्रिंशति मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्यैकोनपञ्चाशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य चैकत्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु २१। ४९। ३१ गतेषु; चतुर्थीं मार्गशीर्षीममावास्यामनुराधानक्षत्रं चतुर्विंशतौ मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तविंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु २४।२७।४५ गतेषु, पञ्चमीं मार्गशीर्षीममावास्यां विशाखानक्षत्रं त्रिचत्वारिंशति मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य [illegible] द्वाषष्टिभागस्य अष्टपञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु ४३।०।५८ परिसमापयति। (पोसिं च दोन्नि। तं जहा-पुव्वासाढा य, उत्तरासाढा य त्ति) तत्रैवं सूत्रालापकः-"ता पोसिं णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोएंति?। ता दोन्नि नक्खत्ता जोएंति। तं जहा-पुव्वासाढा य, उत्तरासाढा य त्ति" एतदपि व्यवहारत उक्तम्। निश्चयतः पुनस्त्रीणि नक्षत्राणि परिसमापयन्ति। तद्यथा-मूलं, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा च। तथाहि-प्रथमां पौषीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रमष्टाविंशतौ मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य षट्चत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्सु सप्तषष्टिभागेषु २८।४६।६ गतेषु; द्वितीयां पौषीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रं द्वयोर्मुहूर्त्तयोरेकस्य च मुहूर्त्तस्य एकोनविंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकोनविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु २।१९।१९; तृतीयामधिकमासभाविनीं पौषीममावास्यामुत्तराषाढानक्षत्रमेकादशसु मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य एकोनषष्टौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु ११।५९।३३ गतेषु; चतुर्थीं पौषीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रं पञ्चदशसु मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य षट्पञ्चाशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्चत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु १५।५६।४६; पञ्चमीं पौषीममावास्यां मूलनक्षत्रमेकोनविंशतौ मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य पञ्चाशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकोनषष्टौ सप्तषष्टिभागेषु १९।५०।५९ अतिक्रान्तेषु परिसमापयन्ति। (माहिं तिन्नि। तं जहा-अभिई,सवणो, धणिट्ठा य त्ति) अत्राप्येवं सूत्रालापकः-"ता माहिं णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोएंति?। ता तिन्नि नक्खत्ता जोएंति। तं जहा-अभिई, सवणो, धणिट्ठा य"। एतदपि व्यवहारतः। निश्चयतः पुनरमूनि त्रीणि नक्षत्राणि माघीममावास्यां परिसमापयन्ति। तद्यथा-उत्तराषाढा, अभिजित्, श्रवणश्च। तथाहि-प्रथमां माघीममावास्यां श्रवणनक्षत्रं दशसु मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य षड्-

[illegible]

मुहू[illegible] मुहूर्त्तस्य षड्विंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य विंशतौ सप्तषष्टिभागेषु ३।२६।२० गतेषु; तृतीयां माघीममावास्यां श्रवणनक्षत्रं त्रयोविंशतौ मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्यैकोनचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चत्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु २३।३९।३५; चतुर्थीं माघीममावास्यामभिजिन्नक्षत्रं षट्सु मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तत्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु ६।३७।४७ गतेषु; पञ्चमीं माघीममावास्यामुत्तराषाढानक्षत्रं पञ्चविंशतौ मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य दशसु द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षष्टौ सप्तषष्टिभागेषु २५।१०।६० अतिक्रान्तेषु परिणमयति। (फग्गुणी दोन्नि। तं जहा-सयभिसया, पुव्वभद्दवया य त्ति) अत्राप्येवं सूत्रालापकः-"ता फग्गुणी णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोएंति?। ता दोन्नि नक्खत्ता जोएंति। तं जहा-सयभिसया, पुव्वभद्दवया य त्ति"। एतदपि व्यवहारतः। निश्चयतः पुनरमूनि त्रीणि नक्षत्राणि फाल्गुनीममावास्यां परिसमापयन्ति। तद्यथा-धनिष्ठा, शतभिषक्, पूर्वभाद्रपदा च। तत्र प्रथमां फाल्गुनीममावास्यां पूर्वभाद्रपदा एकस्मिन् मुहूर्त्ते, एकस्य च मुहूर्त्तस्य एकत्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य नवसु सप्तषष्टिभागेषु १।३१।९ गतेषु; द्वितीयां फाल्गुनीममावास्यां धनिष्ठानक्षत्रं विंशतौ मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्षु द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वाविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु २०।४।२२; तृतीयां फाल्गुनीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रं चतुर्दशसु मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुश्चत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु, १४।४४।३६; चतुर्थीं फाल्गुनीममावास्यां शतभिषक्नक्षत्रं त्रिषु मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य सप्तदशसु द्वाषष्टिभागेषु एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकोनपञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु ३।१७।४९; पञ्चमीं फाल्गुनीममावास्यां धनिष्ठानक्षत्रं षट्सु मुहूर्त्तेषु, एकस्य च मुहूर्त्तस्य द्विपञ्चाशति द्वा-

[illegible], तदा सा पुनर्वसुनक्षत्रादित आरभ्य त्रयोदशी । ततः स [illegible] ११ । ३ । १ त्रयोदशभिर्गुण्यते । जातानि मुहूर्ता- [illegible] [illegible] ८८८ । एकस्य च मुहू- र्तस्य [illegible] ६५ । एकस्य च द्वाषष्टि भागस्य ६२ स- [illegible] १३ सप्तषष्टि १७ भागाः । तत्र-"चत्तारि य बा- [illegible] उत्तरभद्दा" इति वचनात् । चतुर्भिर्द्वाच- [illegible] द्वाषष्टिभागैरुत्तरा- [illegible] शुद्धानि, स्थितानि पश्चात् मुहूर्ता- [illegible] एकस्य च मुहूर्तस्य [illegible] । एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य स- [illegible] । ४१९ ११ १३ । तत एतस्मात् [illegible] मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य [illegible], एकस्य च द्वाषष्टिभा- गस्य [illegible] ३१९, ११ १३ इति शोधनी- यम् । [illegible] त्रीणि नक्षत्र- [illegible], स्थिताः पश्चात् सप्तदश मुहूर्ताः । [illegible] क्रियन्ते । कृत्वा च द्वा- [illegible] । तस्याश्चतुर्विंश- [illegible] । तथा कामेकमा- [illegible] शुद्धा, पश्चादेको [illegible] अमावास्यासमाप- [illegible] । [illegible] मुहूर्तेष्वेकस्य च मुहूर्तस्य [illegible] द्वाषष्टिभागस्य [illegible] द्वितीयां श्राविष्ठीममावा- [illegible] श्राविष्ठममावास्या वि- [illegible] भ्रमरा- [illegible] ११ । [illegible] [illegible] मुहूर्तस्य [illegible] [illegible]

[illegible]

स्य च मुहूर्तस्य एकोनत्रिंशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य द्वा- षष्टिभागस्य सप्तविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु तृतीयां श्राविष्ठी- मावास्यां परिसमापयति ॥ एवं चतुर्थी श्राविष्ठीममावास्या- मश्लेषानक्षत्रं प्रथमस्य मुहूर्तस्य सप्तसु द्वाषष्टिभागेषु एकस्य द्वाषष्टिभागस्य एकचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु [illegible], पञ्चमीं श्राविष्ठीममावास्यां पुष्यनक्षत्रं [illegible] च मुहूर्तस्य द्विचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य द्वा- षष्टिभागस्य चतुष्पञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु गतेषु १ । ४२ । ५४ परिणमयति । एवमुक्तेन प्रकारेण एतेनाभिलापेन [illegible] लापेन, शेषमप्यमावास्याजातं नेतव्यम् । विशेषा- ([illegible] यं होंति । तं जहा-पुव्वाफग्गुणी, उत्तरा य त्ति) सोऽत्र पाठः-" ता पोट्ठवयं णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोएंति ? । [illegible] होंति नक्खत्ता जोएंति । तं जहा-पुव्वफग्गुणी, उत्तरफग्गुणी य" इदमपि व्यवहारत उच्यते । परमार्थतः पुनरमूनि [illegible] प्रौष्ठपदीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा-मघा, पूर्वफल्गु- नी, उत्तरफाल्गुनी च । तत्र प्रथमां प्रौष्ठपदीममावास्यामुत्त- रफाल्गुनीनक्षत्रं चतुर्षु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य [illegible] द्वाषष्टिभागेषु एकस्य द्वाषष्टिभागस्य त्रयोः सप्तषष्टिभागे ४ । २६ । २ अतिक्रान्तयोः, द्वितीयां प्रौष्ठपदीममावास्यां पूर्वफा- ल्गुनीनक्षत्रं सप्तसु मुहूर्तेष्वेकस्य च मुहूर्तस्य [illegible] [illegible] षष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चदशसु सप्तषष्टिभागे ७ । ११ । १५ गतेषु; तृतीयां प्रौष्ठपदीममावास्यां मघानक्षत्रमे- कादशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुस्त्रिंशति द्वाषष्टिभा- गेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्याष्टाविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु ११ । ३४ । २८ गतेषु, चतुर्थी प्रौष्ठपदीममावास्यां पूर्वफाल्गुनीन- क्षत्रमेकविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वादशसु द्वाषष्टि- भागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वाचत्वारिंशति सप्तषष्टि- भागेषु २१ । १२ । ४२ गतेषु, पञ्चमीं प्रौष्ठपदीममावास्यां मघानक्षत्रं चतुर्विंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तच- त्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चपञ्चाश- ति सप्तषष्टिभागेष्वतिक्रान्तेषु २४ । ४७ । ५५ परिसमापयति । (आसोईं होंति । तं जहा-हत्थो, चित्ता य त्ति) । अत्रापि सूत्रपाठः-"ता आसोइं णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोएंति ? । ता दोण्णि नक्खत्ता जोएंति । तं जहा-हत्थो, चित्ता य" । एत- दपि व्यवहारतः । निश्चयतः पुनराश्वयुजीममावास्यां [illegible] परिसमापयतः । तद्यथा-उत्तरफाल्गुनी, हस्तश्च । तत्र प्रथ- माश्वयुजीममावास्यां हस्तनक्षत्रं पञ्चविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य [illegible] द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य [illegible] सप्तषष्टिभागेषु २५ । ११ । १; द्वितीयामाश्वयुजीममावास्यामुत्त- रफाल्गुनीनक्षत्रं चतुश्चत्वारिंशति मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्त- स्य [illegible] द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य [illegible] सप्तषष्टिभागेषु ४५ । ४ । १६ गतेषु; [illegible]

[illegible]

पञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु ३०।५१।५९ गतेषु परिसमापयति ।
(कत्तियं दोण्णि । तं जहा-साई, विसाहा य त्ति) अत्राप्येवं
सूत्रपाठः-"ता कत्तियं णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोएंति ? ता
दोण्णि नक्खत्ता जोएंति । तं जहा साई, विसाहा य त्ति" एत-
दपि व्यवहारनयमतेन । निश्चयतः पुनस्त्रीणि नक्षत्राणि कार्ति-
कीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा-चित्रा,स्वातिर्विशाखा
च । तत्र प्रथमां कार्तिकीममावास्यां विशाखानक्षत्रं षोडशमुहू-
र्त्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्य षड्विंशति द्वाषष्टिभागेषु,एकस्य च द्वाष-
ष्टिभागस्य चतुर्षु सप्तषष्टिभागेषु १६।२६।४ गतेषु,द्वितीयां का-
र्तिकीममावास्यां स्वातिनक्षत्रं पञ्चसु मुहूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्य
त्रयोदशसु द्वाषष्टिभागेषु,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तदशसु षष्टिभा-
गेषु ५।१३।१७ गतेषु; तृतीयां कार्तिकीममावास्यां विशाखानक्ष-
त्रमष्टसु मुहूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्य चतुश्चत्वारिंशति द्वाषष्टिभा-
गेषु,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु ८।४४।
३०; चतुर्थी कार्तिकीममावास्यां विशाखानक्षत्रं त्रयोदशमुहूर्ते-
षु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वाविंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च
द्वाषष्टिभागस्य चतुश्चत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु १३।२२।४४
गतेषु, पञ्चमीं कार्तिकीममावास्यां विशाखानक्षत्रमेकविंशतौ
मुहूर्तेषु , एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तपञ्चाशति द्वाषष्टिभागेषु,
एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तपञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु २१।
५७।५७ । गतेषु समाप्तिमुपनयति । (मग्गसिरी तिण्णि । तं
जहा-अणुराहा, जेट्ठा, मूलो य त्ति) अत्रापि सूत्रालापक एवम्-
"ता मग्गसिरिं णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोएंति ? ता तिण्णि
नक्खत्ता जोएंति । तं जहा-अणुराहा, जेट्ठा, मूलो य "
इति । एतदपि व्यवहारतः । निश्चयतः पुनरिमानि त्रीणि
नक्षत्राणि मार्गशीर्षीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा-
विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा च । तत्र प्रथमां मार्गशीर्षीममावा-
स्यां ज्येष्ठानक्षत्रं सप्तसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्यैकचत्वारिंश-
ति द्वाषष्टिभागेषु,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चसु सप्तषष्टिभागेषु
७।४१।५। द्वितीयां मार्गशीर्षीममावास्यामनुराधानक्षत्रमे-
कादशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्दशसु द्वाषष्टिभागेषु,
एकस्य च द्वाषष्टिभागस्याष्टादशसु सप्तषष्टिभागेषु ११।१४।१८;
तृतीयां मार्गशीर्षीममावास्यां विशाखानक्षत्रमेकोनत्रिंशति मु-
हूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्यैकोनपञ्चाशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य
च द्वात्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु २९। ४९। ३१ गतेषु, चतुर्थी मार्ग-
शीर्षीममावास्यामनुराधानक्षत्रं चतुर्विंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च
मुहूर्तस्य सप्तविंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य
पञ्चचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु २४।२७।४५ गतेषु, पञ्चमीं मार्ग-
शीर्षीममावास्यां विशाखानक्षत्रं त्रिचत्वारिंशति मुहूर्तेषु,एकस्य
च मुहूर्तस्य संबन्धिनो द्वाषष्टिभागस्य अष्टापञ्चाशति सप्तषष्टि-
भागेषु ४३।०।५८ परिसमापयति । (पोसि च दोण्णि ।
तं जहा-पुव्वासाढा य, उत्तरासाढा य त्ति) तथैव सूत्राला-
पकः-"ता पोसी णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोएंति ? । ता दो-
ण्णि नक्खत्ता जोएंति । तं जहा-पुव्वासाढा य, उत्तरासाढा य
त्ति " एतदपि व्यवहारत उक्तम् । निश्चयतः पुनस्त्रीणि नक्ष-
त्राणि परिसमापयन्ति । तद्यथा-मूल, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा
च । तथाहि-प्रथमां पौषीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रमष्टाविंश-
तौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षट्चत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु,
एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्सु सप्तषष्टिभागेषु २८।४६।६ गतेषु;
द्वितीयां पौषीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रं द्वयोर्मुहूर्तयोरे-
कस्य च मुहूर्तस्य एकोनविंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाष-
ष्टिभागस्य एकोनविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु २। १९ । १९ ; तृती-
यामधिकमाससमाप्तिनीं पौषीममावास्यामुत्तराषाढानक्षत्रमेका-
दशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य एकोनषष्टौ द्वाषष्टिभागेषु,
एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु ११।५९।
३३ गतेषु; चतुर्थी पौषीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रं पञ्चदशसु
मुहूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्य षट्पञ्चाशति द्वाषष्टिभागेषु,एकस्य
च द्वाषष्टिभागस्य षट्चत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु १५।५६।४६;
पञ्चमीं पौषीममावास्यां मूलनक्षत्रमेकोनविंशतौ मुहूर्तेषु,एकस्य
च मुहूर्तस्य पञ्चाशद् द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य ए-
कोनषष्टौ सप्तषष्टिभागेषु १९।५०।५९ अतिक्रान्तेषु परिसमापय-
न्ति । (माहिं तिण्णि । तं जहा-अभिई,सवणो, धनिट्ठा य त्ति)
अत्राप्येवं सूत्रालापकः-" ता माही णं अमावासं कइ नक्ख-
त्ता जोएंति ? । ता तिण्णि नक्खत्ता जोएंति । तं जहा-अभिई,
सवणो, धनिट्ठा य " । एतदपि व्यवहारतः । निश्चयतः पुनर-
मूनि त्रीणि नक्षत्राणि माघीममावास्यां परिसमापयन्ति । त-
द्यथा-उत्तराषाढा, अभिजित्, श्रवणश्च । तथाहि-प्रथमां माघी-
ममावास्यां श्रवणनक्षत्रं दशसु मुहूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्य षड्विं-
शतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्याष्टसु सप्तषष्टिभा-
गेषु १०।२६।८ गतेषु, द्वितीयां माघीममावास्यामभिजिन्नक्षत्रं त्रिषु
मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षड्विंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च
द्वाषष्टिभागस्य विंशतौ सप्तषष्टिभागेषु ३।२६।२० गतेषु; तृतीयां
माघीममावास्यां श्रवणनक्षत्रं त्रयोविंशतौ मुहूर्तेषु,एकस्य च मु-
हूर्तस्यैकोनचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य
पञ्चत्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु २३। ३९। ३५; चतुर्थी माघीममावा-
स्यामभिजिन्नक्षत्रं षट्सु मुहूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तत्रिंश-
ति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तचत्वारिंशति
सप्तषष्टिभागेषु ६ । ३७। ४७ गतेषु; पञ्चमीं माघीममावास्या-
मुत्तराषाढानक्षत्रं पञ्चविंशतौ मुहूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्य दशसु
द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षष्टौ सप्तषष्टिभागे-
षु २५ । १०।६० अतिक्रान्तेषु परिणमयति । (फग्गुणी दोण्णि ।
तं जहा-सयभिसया, पुव्वभद्दवया य त्ति) अत्राप्येवं सू-
त्रालापक-"ता फग्गुणी णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोएंति ?
ता दोण्णि नक्खत्ता जोएंति । तं जहा-सयभिसया, पुव्वभद्दवया
य त्ति " । एतदपि व्यवहारतः । निश्चयतः पुनरमूनि त्रीणि
नक्षत्राणि फाल्गुनीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा-ध-
निष्ठा, शतभिषक्, पूर्वभाद्रपदा च । तत्र प्रथमां फाल्गुनीमम-
वास्यां पूर्वभाद्रपदा एकस्मिन् मुहूर्ते, एकस्य च मुहूर्त-
एकत्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु , एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य नव
सप्तषष्टिभागेषु १ । ३१ । ९ गतेषु; द्वितीयां फाल्गुनी-
मावास्यां धनिष्ठानक्षत्रं विंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्त-
चतुर्द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वाविंशतौ सप्त-
षष्टिभागेषु २० । ४ । २२; तृतीयां फाल्गुनीममावास्यां पूर्वा-
[illegible]नक्षत्रं चतुर्दशसु मुहूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्य चतुश्चत्वा-
रिंशति द्वाषष्टिभागेषु,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्त्रिंशति सप्त-
भागेषु, १४ । ४४ । ३६; चतुर्थी फाल्गुनीममावास्यां शत-
[illegible]नक्षत्रं त्रिषु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तदशसु द्वा-
[illegible]भागेषु एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकोनपञ्चाशति सप्त-
भागेषु ३ । १७ । ४९, पञ्चमीं फाल्गुनीममावास्यां
[illegible]नक्षत्रं षट्सु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्विपञ्चाशति

चिन्त्यते, तदा सा युगस्यादित आरभ्य त्रयोदशी । ततः स ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ त्रयोदशभिर्गुण्यते । जातानि मुहूर्तानामष्टौ शतानि अष्टापञ्चाशदधिकानि ८५८ । एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चषष्टिभागाः ६५ । एकस्य च द्वाषष्टि भागस्य ६२ सत्काः त्रयोदश १३ सप्तषष्टि ६७ भागाः । तत्र–"चत्तारि य बायाला, अट्ठ सोज्झा उत्तरासाढा" इति वचनात् । चतुर्भिर्द्विचत्वारिंशदधिकैर्मुहूर्तशतैः षट्चत्वारिंशता द्वाषष्टिभागैरुत्तराषाढापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थितानि पश्चात् मुहूर्तानां चत्वारि शतानि षोडशोत्तराणि, एकस्य च मुहूर्तस्य एकोनविंशतिर्द्वाषष्टिभागाः । एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सत्कास्त्रयोदश सप्तषष्टिभागाः । ४१६ २२/६२ १३/६७ । ततं एतस्मात् त्रीणि शतानि नवनवत्यधिकानि मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्टिः सप्तषष्टिभागा ३९९ २४/६२ ६६/६७ इति शोधनीयम् । ततः षोडशोत्तरेभ्यः चतुःशतेभ्यः त्रीणि नवनवत्यधिकानि शुद्धानि, स्थिताः पश्चात् सप्तदश मुहूर्ताः । तेभ्य एकं मुहूर्तं गृहीत्वा द्वाषष्टिभागाः क्रियन्ते । कृत्वा च द्वाषष्टिभागराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जाता एकाशीतिः । तस्याश्चतुर्विंशतिः शुद्धा, स्थिताः पश्चात् सप्तपञ्चाशत् । तस्या रूपमेकमादाय सप्तषष्टिभागाः क्रियन्ते, तेभ्यः षट्षष्टिः शुद्धा, पश्चादेको ऽवतिष्ठते, सप्तषष्टिभागराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जाताश्चतुर्दशसप्तषष्टिभागाः । आगतं पुष्यनक्षत्रम् । षोडशसु मुहूर्तेष्वेकस्य च मुहूर्तस्य षट्पञ्चाशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुर्दशसु सप्तषष्टिभागेष्वतिक्रान्तेषु द्वितीयां श्राविष्ठीममावास्यां परिसमापयति ॥ यदा तु तृतीया श्राविष्ठ्यमावास्या चिन्त्यते, तदा सा युगादित आरभ्य पञ्चविंशतितमेति स ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ पञ्चविंशत्या गुण्यते, जातानि षोडश शतानि पञ्चाशदधिकानि मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चविंशदुत्तरशतं द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चविंशति सप्तषष्टिभागाः १६५० १२५/६२ २५/६७ । तत्र चतुर्भिर्द्वाचत्वारिंशदधिकैर्मुहूर्तशतैरेकस्य च मुहूर्तस्य षट्चत्वारिंशता द्वाषष्टिभागैः प्रथममुत्तराषाढापर्यन्तं शोधनकं शुद्धम्, स्थितानि पश्चान्मुहूर्तानां द्वादशशतान्यष्टोत्तराणि १२०८; द्वाषष्टिभागस्य मुहूर्तस्य एकोनाशीतिः ७९, एकस्य द्वाषष्टिभागस्य पञ्चविंशतिसप्तषष्टिभागाः २५/६७ । ततोऽष्टभिः शतैरेकोनविंशत्यधिकैः ८१९ मुहूर्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरेको नक्षत्रपर्यायः शुध्यति । स्थितानि पश्चात् त्रीणि शतानि नवाशीत्यधिकानि मुहूर्तानाम् ३८९ । एकस्य च मुहूर्तस्य चतुष्पञ्चाशद् द्वाषष्टिभागाः ५४/६२, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षड्विंशतिसप्तषष्टिभागाः २६/६७ । ततो भूयस्त्रिभिःशतैर्नवनवत्यधिकैर्मुहूर्तानां, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीनि रोहिणिकापर्यन्तानि शुद्धानि स्थितानि, पश्चाद् मुहूर्ता नवतिः, एकस्य च मुहूर्तस्य एकोनत्रिंशद् द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तविंशतिः सप्तषष्टिभागाः ९० २९/६२ २७/६७ । ततः त्रिंशता मुहूर्तैर्मृगशिरः शुद्धं, स्थिताः पश्चात् मुहूर्ताः ६० । ततः पञ्चदशभिरार्द्रा शुद्धा, स्थिताः पञ्चचत्वारिंशत् ४५ । ततः त्रिंशता मुहूर्तैः पुनर्वसु शुद्धम् । पञ्चदशसु मुहूर्तेष्वेकस्य च मुहूर्तस्य एकोनत्रिंशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु तृतीयां श्राविष्ठीममावास्यां परिसमापयति ॥ एवं चतुर्थी श्राविष्ठीममावास्यामश्लेषानक्षत्रं प्रथमस्य मुहूर्तस्य सप्तसु द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य द्वाषष्टिभागस्य एकचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु गतेषु ७ । ४१; पञ्चमीं श्राविष्ठीममावास्यां पुष्यनक्षत्रं त्रिषु मुहूर्तेष्वेकस्य च मुहूर्तस्य द्विचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुष्पञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु गतेषु ३ । ४२ । ५४ परिसमापयति । एवमुक्तेन प्रकारेण एतेनानन्तरोदितकरणोपायेन, शेषमप्यमावास्याजातं नेतव्यम् । विशेषमाह–(पुट्ठवयं दोण्णि । तं जहा–पुव्वाफग्गुणी, उत्तरा य त्ति) अत्रैवं सूत्रपाठः–"ता पोट्ठवयं णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोएंति ? ता दोण्णि नक्खत्ता जोएंति । तं जहा–पुव्वफग्गुणी, उत्तरफग्गुणी य" इदमपि व्यवहारत उच्यते । परमार्थतः पुनस्त्रीणि नक्षत्राणि प्रौष्ठपदीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा–मघा, पूर्वफाल्गुनी, उत्तरफाल्गुनी च । तत्र प्रथमां प्रौष्ठपदीममावास्यामुत्तरफाल्गुनीनक्षत्रं चतुर्षु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षड्विंशतौ द्वाषष्टिभागेषु एकस्य द्वाषष्टिभागस्य द्वयोः सप्तषष्टिभागयोः ४ । २६ । २ अतिक्रान्तयोः, द्वितीयां प्रौष्ठपदीममावास्यां पूर्वफाल्गुनीनक्षत्रं सप्तसु मुहूर्तेष्वेकस्य च मुहूर्तस्य एकषष्टौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चदशसु सप्तषष्टिभागेषु ७ । ६१ । १५ गतेषु; तृतीयां प्रौष्ठपदीममावास्यां मघानक्षत्रमेकादशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुस्त्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्याष्टाविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु ११ । ३४ । २८ गतेषु; चतुर्थीं प्रौष्ठपदीममावास्यां पूर्वफाल्गुनीनक्षत्रमेकविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वादशसु द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वाचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु २१ । १२ । ४२ गतेषु; पञ्चमीं प्रौष्ठपदीममावास्यां मघानक्षत्रं चतुर्विंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चपञ्चाशति सप्तषष्टिभागेष्वतिक्रान्तेषु २४ । ४७ । ५५ परिसमापयति । (आसोइं दोण्णि । तं जहा–हत्थो, चित्ता य त्ति) । अत्रैवं सूत्रपाठः–"ता आसोइं णं अमावासं कइ नक्खत्ता जोएंति ? ता दोण्णि नक्खत्ता जोएंति । तं जहा–हत्थो, चित्ता य" । एतदपि व्यवहारतः । निश्चयतः पुनराश्वयुजीममावास्यां द्वे नक्षत्रे परिसमापयतः । तद्यथा–उत्तरफाल्गुनी, हस्तश्च । तत्र प्रथमामाश्वयुजीममावास्यां हस्तनक्षत्रं पञ्चविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य एकत्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिषु सप्तषष्टिभागेषु २५ । ३१ । ३; द्वितीयामाश्वयुजीममावास्यामुत्तरफाल्गुनीनक्षत्रं चतुश्चत्वारिंशति मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्षु द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षोडशसु सप्तषष्टिभागेषु ४४ । ४ । १६ गतेषु; तृतीयामाश्वयुजीममावास्यामुत्तरफाल्गुनीनक्षत्रं सप्तदशमुहूर्तेषु एकस्य च मुहूर्तस्य एकोनचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेष्वेकस्य द्वाषष्टिभागस्य एकोनत्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु १७ । ३९ । २९; चतुर्थीमाश्वयुजीममावास्यां हस्तनक्षत्रं द्वादशमुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तदशसु द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु १२ । १७ । ४३ गतेषु; पञ्चमीमाश्वयुजीममावास्यामुत्तरफाल्गुनीनक्षत्रं त्रिंशति मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्विपञ्चाशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभाग

पञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु ३०।५२।५६ गतेषु परिसमापयति । (कत्तिअं दोण्णि । तं जहा-साई, विसाहा य त्ति) अत्राप्येवं सूत्रपाठः-"ता कत्तिअं णं अमावासं कइ णक्खत्ता जोएंति ?। ता दोण्णि णक्खत्ता जोएंति । तं जहा-साई, विसाहा य त्ति" एतदपि व्यवहारतएवमेव । निश्चयतः पुनस्त्रीणि नक्षत्राणि कार्तिकीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा-चित्रा,स्वातिर्विशाखा च । तत्र प्रथमां कार्तिकीममावास्यां विशाखानक्षत्रं षोडशसुमुहूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्य षड्विंशतौ द्वाषष्टिभागेषु,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुर्षु सप्तषष्टिभागेषु१६।२६।४ गतेषु; द्वितीयां कार्तिकीममावास्यां स्वातिनक्षत्रं पञ्चसु मुहूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्य नवसु द्वाषष्टिभागेषु,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तदशसु षष्टिभागेषु ५।९।१७ गतेषु; तृतीयां कार्तिकीममावास्यां चित्रानक्षत्रमष्टसु मुहूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्य चतुश्चत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु ८।४४।३०; चतुर्थी कार्तिकीममावास्यां विशाखानक्षत्रं त्रयोदशसुमुहूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्य द्वाविंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुश्चत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु १३।२२।४४ गतेषु; पञ्चमीं कार्तिकीममावास्यां चित्रानक्षत्रमेकविंशतौ मुहूर्तेषु , एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तपञ्चाशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तपञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु २१,५७।५७ । गतेषु समाप्तिमुपनयति । (मग्गसिरी तिण्णि । तं जहा-अणुराहा, जेट्ठा, मूलो य त्ति) अत्रापि सूत्रालापक एवम्-"ता मग्गसिरिं णं अमावासं कइ णक्खत्ता जोएंति ?। ता तिण्णि णक्खत्ता जोएंति । तं जहा-अणुराहा, जेट्ठा, मूलो य " इति । एतदपि व्यवहारतः । निश्चयतः पुनरिमानि त्रीणि नक्षत्राणि मार्गशीर्षीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा-विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा च । तत्र प्रथमां मार्गशीर्षीममावास्यां ज्येष्ठानक्षत्रं सप्तसु मुहूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्यैकचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चसु सप्तषष्टिभागेषु ७।४१।५; द्वितीयां मार्गशीर्षीममावास्यामनुराधानक्षत्रमेकादशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्दशसु द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्याष्टादशसु सप्तषष्टिभागेषु ११।१४।१८; तृतीयां मार्गशीर्षीममावास्यां विशाखानक्षत्रमेकोनत्रिंशति मुहूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्य एकोनपञ्चाशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य एकत्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु २९ । ४९ । ३१ गतेषु; चतुर्थी मार्गशीर्षीममावास्यामनुराधानक्षत्रं चतुर्विंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तविंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु २४।२७।४५ गतेषु; पञ्चमीं मार्गशीर्षीममावास्यां विशाखानक्षत्रं त्रिचत्वारिंशति मुहूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्य सर्वान्तिमे द्वाषष्टिभागस्य अष्टापञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु ४३।०।५८ परिसमापयति । (पोसिं च दोण्णि । तं जहा-पुव्वासाढा य, उत्तरासाढा य त्ति) तत्रैवं सूत्रालापकः-"ता पोसी णं अमावासं कइ णक्खत्ता जोएंति ?। ता दोण्णि णक्खत्ता जोएंति । तं जहा-पुव्वासाढा य, उत्तरासाढा य त्ति " एतदपि व्यवहारेण उक्तम । निश्चयतः पुनस्त्रीणि नक्षत्राणि परिसमापयन्ति । तद्यथा-मूलं, पूर्वाषाढा, उत्तराषाढा च । तथाहि-प्रथमां पौषीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रमष्टाविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षट्चत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्सु सप्तषष्टिभागेषु २८।४६।६ गतेषु; द्वितीयां पौषीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रं द्वयोर्मुहूर्तयोरेकस्य च मुहूर्तस्य एकोनविंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकोनविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु २।१९।१९; तृतीयामधिकमाससमाप्तिनीं पौषीममावास्यामुत्तराषाढानक्षत्रमेकादशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य एकोनषष्टौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयस्त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु ११।५९।३३ गतेषु; चतुर्थी पौषीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रं पञ्चदशसु मुहूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्य षट्पञ्चाशति द्वाषष्टिभागेषु,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्चत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु १५।५६।४६; पञ्चमीं पौषीममावास्यां मूलनक्षत्रमेकोनविंशतौ मुहूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चाशद् द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकोनषष्टौ सप्तषष्टिभागेषु १९।५०।५९ अतिक्रान्तेषु परिसमापयन्ति । (माहिं तिण्णि । तं जहा-अभिई,सवणो, धनिट्ठा य त्ति) अत्राप्येवं सूत्रालापकः-" ता माही णं अमावासं कइ णक्खत्ता जोएंति ?। ता तिण्णि नक्खत्ता जोएंति । तं जहा-अभिई, समणो, धनिट्ठा य " । एतदपि व्यवहारतः । निश्चयतः पुनरमूनि त्रीणि नक्षत्राणि माघीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा-उत्तराषाढा, अभिजित्, श्रवणश्च । तथाहि-प्रथमां माघीममावास्यां श्रवणनक्षत्रं दशसु मुहूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्य षड्विंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्याष्टसु सप्तषष्टिभागेषु १०।२६।८ गतेषु, द्वितीयां माघीममावास्यामभिजिन्नक्षत्रं त्रिषु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षड्विंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य विंशतौ सप्तषष्टिभागेषु ३।२६।२० गतेषु; तृतीयां माघीममावास्यां श्रवणनक्षत्रं त्रयोविंशतौ मुहूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्यैकोनचत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चत्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु २३।३९।३५; चतुर्थी माघीममावास्यामभिजिन्नक्षत्रं षट्सु मुहूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तत्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तचत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु ६ । ३७।४७ गतेषु; पञ्चमीं माघीममावास्यामुत्तराषाढानक्षत्रं पञ्चविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य दशसु द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षष्टौ सप्तषष्टिभागेषु २५ । १०।६० अतिक्रान्तेषु परिणमयति । (फग्गुणी दोण्णि । तं जहा-सयभिसया, पुव्वभद्दवया य त्ति) अत्राप्येवं सूत्रालापकः-"ता फग्गुणी णं अमावासं कइ णक्खत्ता जोएंति ?। ता दोण्णि नक्खत्ता जोएंति । तं जहा-सयभिसया, पुव्वभद्दवया य त्ति " । एतदपि व्यवहारतः । निश्चयतः पुनरमूनि त्रीणि नक्षत्राणि फाल्गुनीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा-धनिष्ठा, शतभिषक्, पूर्वभाद्रपदा च । तत्र प्रथमां फाल्गुनीममावास्यां पूर्वभाद्रपदा एकस्मिन् मुहूर्ते, एकस्य च मुहूर्तस्य एकत्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु , एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य नवसु सप्तषष्टिभागेषु १ । ३१ । ९ गतेषु; द्वितीयां फाल्गुनीममावास्यां धनिष्ठानक्षत्रं विंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वाविंशतौ सप्तषष्टिभागेषु २० । ४ । २२; तृतीयां फाल्गुनीममावास्यां पूर्वाषाढानक्षत्रं चतुर्दशसु मुहूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्य चतुश्चत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्त्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु, १४।४४।३६; चतुर्थी फाल्गुनीममावास्यां शतभिषक्नक्षत्रं त्रिषु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तदशसु द्वाषष्टिभागेषु एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकोनपञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु ३ । १७ । ४९; पञ्चमीं फाल्गुनीममावास्यां धनिष्ठानक्षत्रं षट्सु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्विपञ्चाशति द्वा-

पाहिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य सप्तसु द्वाषष्टिभागेषु ६ । १२ । ६२ गतेषु परिसमापयति । (चेत्ती- णिंति । तं जहा—उत्तरभद्दवया, रेवई, अस्सिणी य त्ति) अत्रैवं सूत्रपाठः—"ता चित्ती णं अमावासं कइ णक्खत्ता जोएंति ? । ता तिण्णि णक्खत्ता जोएंति । तं जहा- उत्तरभद्दवया, रेवई, अस्सिणी य त्ति" । एतदपि व्यवहारनयम- तेन । निश्चयनयमतेन पुनरमूनि त्रीणि नक्षत्राणि चैत्रीममावा- स्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा-पूर्वभाद्रपदा, उत्तरभाद्रपदा, रेवती च । तत्र प्रथमां चैत्रीममावास्यामुत्तरभाद्रपदानक्षत्रं सप्तविं- शतिमुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षड्विंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य दशसु सप्तषष्टिभागेषु, २७ । २६ । १०; द्वितीयां चैत्रीममावास्यामुत्तरभाद्रपदानक्षत्रमेकादशसु मुहूर्ते- षु [illegible]

[illegible]

११ । ४६ । १२ गतेषु; द्वितीयां ज्येष्ठामूलीममावास्यां [illegible] नक्षत्रं त्रयोविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्यैकोनत्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चविंशतौ सप्तषष्टिभा- गेषु २३ । २९ । २५ अतिक्रान्तेषु; तृतीयां ज्येष्ठामूलीममावास्यां रोहिणी नक्षत्रं द्वात्रिंशति मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्यैकोन- द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य एकोनत्रिंशति सप्तषष्टिभागेषु ३२ । ५९ । ३१; चतुर्थी ज्येष्ठामूलीममावा- स्यां रोहिणी नक्षत्रं षट्सु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वात्रिंशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्विपञ्चाशति सप्तषष्टि- भागेषु ६ । ३२ । ५२ ; पञ्चमीं ज्येष्ठामूलीममावास्यां कृत्ति- का नक्षत्रं दशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य पञ्चसु द्वाषष्टि- भागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य पञ्चषष्टौ सप्तषष्टिभागेषु १० । ५ । ६५ गतेषु परिसमापयति । (ता आसाढी णं इत्यादि) ता इति पूर्ववत् । आषाढी, अमावास्यां कति नक्षत्राणि युञ्जन्ति ? । भगवानाह- (ता इत्यादि) ता इति पूर्ववत् । त्रीणि युञ्जन्ति । तद्यथा-आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्यश्च । एतदपि व्यवहारत उक्तम् । परमार्थतः पुनरमूनि त्रीणि नक्षत्राणि आषाढीममावास्यां परिसमापयन्ति । तद्यथा-मृगशिरः, आर्द्रा, पु- नर्वसुश्च । तत्र प्रथमामाषाढीममावास्यामार्द्रा नक्षत्रं दशसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य एकपञ्चाशति द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाष- ष्टिभागस्य त्रयोदशसु सप्तषष्टिभागेषु १० । ५१ । १३; द्वितीयामाषाढी- ममावास्यां मृगशिरो नक्षत्रं सप्तविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहू- र्तस्य चतुर्विंशतौ द्वाषष्टिभागेषु, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षड्विं- शतौ सप्तषष्टिभागेषु २७ । २४ । २६ ; तृतीयामाषाढीममावा- स्यां पुनर्वसु नक्षत्रं नवसु मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वाषष्टि- भागयोः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चत्वारिंशति सप्तषष्टिभागेषु ९ । २ । ४०; चतुर्थीमाषाढीममावास्यां मृगशिरो नक्षत्रं एक- त्रिंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य सप्तविंशति द्वाषष्टिभागेषु, ए- कस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रिपञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु ३१ । २७ । ५३ गतेषु; पञ्चमीमाषाढीममावास्यां पुनर्वसु नक्षत्रं एकोनविंशतौ मुहूर्तेषु, एकस्य च मुहूर्तस्य षोडशसु द्वाषष्टिभागेषु १९ । १६ । ० गतेषु परिसमापयन्ति इति । [illegible] [illegible] । च० प्र० १० पाहु० । [illegible]

संप्रति नक्षत्रेषु कुलादियोजनामाह—

ता साविट्ठी णं अमावासं किं कुलं जोएइ, उवकुलं जोएइ, कुलोवकुलं वा जोएइ ? । ता कुलं वा जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, णो लब्भइ कुलोवकुलं, कुलं जोएमाणे महाणक्खत्ते जोएइ, उवकुलं जोएमाणे [illegible] णक्खत्ते जोएइ । ता साविट्ठी णं अमावासं कुलं जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, कुलेण वा जुत्ता उवकुलेण वा जुत्ता साविट्ठी अमावासं जुत्त त्ति वत्तव्वं सिया, [illegible] । [illegible] [illegible] कुलोवकुलेण वा जुत्ता [illegible] जुत्त त्ति वत्तव्वं सिया ॥

[illegible]

कुलमपि युनक्ति, 'वाशब्दोऽपिशब्दार्थः' उपकुलं वा युनक्ति। न लभते योगमधिकृत्य कुलोपकुलम। तत्र कुलं कुलसंज्ञं नक्षत्रं श्राविष्ठीममावास्यां युञ्जन्मघानक्षत्रं युनक्ति। एतच्च व्यवहारत उच्यते। व्यवहारतो हि गतायामप्यमावास्यायां वर्तमानायामपि च प्रतिपदि योऽहोरात्रो मूले अमावास्यायां संबन्धः स सकलोऽप्यहोरात्रोऽमावास्येति व्यवह्रियते। तत एव व्यवहारतः श्राविष्ठ्याममावास्यायां मघानक्षत्रसंभवादुक्तम्-कुलं युञ्जन् मघानक्षत्रं युनक्तीति। परमार्थतः पुनः कुलं युञ्जन् पुष्यनक्षत्रं युनक्तीति प्रतिपत्तव्यम्, तस्यैव कुलप्रसिद्ध्या प्रसिद्धस्य श्राविष्ठ्याममावास्यायां संभवात्। एतच्च प्रागेव भावितम्। एवमुत्तरसूत्रमपि व्यवहारनयमतेन यथायोगं परिभावनीयम्। उपकुलं युञ्जन् अश्लेषानक्षत्रं युनक्ति। संप्रत्युपसंहारमाह-(ता साविट्ठी णमित्यादि) यत उक्तप्रकारेण द्वाभ्यां कुलोपकुलाभ्यां श्राविष्ठ्याममावास्यायां चन्द्रयोगः समस्ति, न कुलोपकुले, न ततः श्राविष्ठीममावास्यां कुलमपि 'वाशब्दोऽपिशब्दार्थः' युनक्ति, उपकुलं वा युनक्ति इति वक्तव्यं स्यात्। यदि वा कुलेन वा युक्ता, उपकुलेन वा युक्ता सती श्राविष्ठ्यमावास्या युक्तेति वक्तव्यं स्यात्। (एवं नेयव्वमिति) एवमुक्तेन प्रकारेण शेषमप्यमावास्याजातं नेतव्यम। नवरं मार्गशीर्ष्यां माघ्यां फाल्गुन्यामाषाढ्यां च कुलोपकुलं भणितव्यम्, शेषाणां त्वमावास्यानां कुलोपकुलं नास्ति, ततो न वक्तव्यम्। संप्रति पाठकानुग्रहाय सूत्रालापका दर्श्यन्ते-"ता पोट्ठवई णं अमावासं किं कुलं जोएइ,उवकुलं वा जोएइ,कुलोवकुलं वा जोएइ? ता कुलं वा जोएइ,उवकुलं वा जोएइ,नो लभइ कुलोवकुलं, कुलं जोएमाणे उत्तरफग्गुणी जोएइ,उवकुलं जोएमाणे पुव्वाफग्गुणी जोएइ। ता पोट्ठवई णं अमावासं कुलं वा जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, कुलेण वा जुत्ता उवकुलेण वा जुत्ता पोट्ठवया अमावासा जुत्त त्ति वत्तव्वं सिया। ता आसोई णं अमावासं किं कुलं जोएइ, उवकुलं जोएइ, कुलोवकुलं जोएइ? ता कुलं वा जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, नो लभइ कुलोवकुलं, कुलं जोएमाणे चित्ता नक्खत्ते जोएइ, उवकुलं जोएमाणे हत्थनक्खत्ते जोएइ। ता आसोई णं अमावासं कुलं वा जोएइ,उवकुलं वा जोएइ, कुलेण वा जुत्ता उवकुलेण वा जुत्ता आसोई अमावासा जुत्त त्ति वत्तव्वं सिया। ता कत्तियं णं अमावासं किं कुलं जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, कुलोवकुलं वा जोएइ? ता कुलं वा जोएइ,उवकुलं वा जोएइ,नो लभइ कुलोवकुलं। कुलं जोएमाणे विसाहा नक्खत्ते जोएइ, उवकुलं जोएमाणे सातिनक्खत्ते जोएइ। ता कत्तियं णं अमावासं कुलं वा जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, कुलेण वा जुत्ता उवकुलेण वा जुत्ता कत्तिई अमावासा जुत्त त्ति वत्तव्वं सिया। ता मग्गसिरिं णं अमावासं किं कुलं जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, कुलोवकुलं वा जोएइ? ता कुलं वा जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, कुलोवकुलं वा जोएइ, कुलं जोएमाणे मूलनक्खत्ते जोएइ, उवकुलं जोएमाणे जेट्ठानक्खत्ते जोएइ, कुलोवकुलं जोएमाणे अणुराहानक्खत्ते जोएइ। ता मग्गसिरिं णं अमावासं कुलं वा जोएइ, उवकुलं वा जोएइ, कुलोवकुलं वा जोएइ,कुलेण वा जुत्ता उवकुलेण वा जुत्ता कुलोवकुलेण वा जुत्ता जुत्त त्ति वत्तव्वं सिया" इत्यादि।निश्चयतः पुनः कुलादियोजना प्रागुक्तचन्द्रेण योगमधिकृत्य स्वयं परिभावनीया। चं० प्र० १० पाहु०। " पंच संवच्छरिए णं जुगे बावट्ठिं अमावासाओ"। युगे पञ्च संवत्सराः,तत्र त्रयश्चान्द्राः,तेषु षड्त्रिंशद् अमावास्या भवन्ति, द्वौ चाभिवर्द्धितौ संवत्सरौ, तत्र षड्विंशतिरमावास्याः। स० ६२ सम०।

अथैवंरूपे युगे कियन्त्योऽमावास्याः कियन्त्यश्च पौर्णमास्यः?- इति युगे तद्गतसर्वसंख्यामाह—

तत्थ खलु इमाओ बावट्ठि पुण्णिमाओ, बावट्ठि अमावासाओ पण्णत्ताओ। एए कसिणा रागा बावट्ठि, एए कसिणा विरागा बावट्ठि, एए चउव्वीसे पव्वसते, एवं चउव्वीसे कसिणरागविरागसए। ता जावइया णं पंचण्हं संवच्छराणं समया एएणं चउव्वीसेणं सतेणं ऊणगा एवतिया णं परिमिता असंखेज्जा देसरागविरागसमया भवंतीति जत्थ चउव्वीसे समयसए तत्थ बावट्ठिसमए कसिणो रागो,बावट्ठिसमए कसिणो विरागो, तव्वज्जियमक्खाया।

(तत्थ खलु इत्यादि) तत्र युगे खल्विमा वक्ष्यमाणस्वरूपा द्वाषष्टिः पौर्णमास्यो, द्वाषष्टिश्चामावास्याः प्रज्ञप्ताः। तथा युगे चन्द्रमस एते अनन्तरोदितस्वरूपाः कृत्स्नाः परिपूर्णा रागा द्वाषष्टिः, अमावास्यानां युगे द्वाषष्टिसंख्याप्रमाणत्वात्, तास्वेव चन्द्रमसः परिपूर्णरागसंभवात्। एते अनन्तरोदितस्वरूपा युगे चन्द्रमसः कृत्स्ना विरागाः सर्वात्मना रागाभावा द्वाषष्टिः, युगे पौर्णमासीनां द्वाषष्टिसंख्यात्मकत्वात्, तास्वेव चन्द्रमसः परिपूर्णविरागसंभवात्। तथा युगे सर्वसंख्यया एकं चतुर्विंशत्यधिकं पर्वशतम्; अमावास्यापौर्णमासीनामेव पर्वशब्दस्य वाच्यत्वात्, तासां च पृथक् पृथक् द्वाषष्टिसंख्यानामेकत्र मीलने चतुर्विंशत्यधिकशतत्वात्। एवमेव युगमध्ये सर्वसंकलनया चतुर्विंशत्यधिकं कृत्स्नरागविरागशतम्। (ता जावइयाणमित्यादि) यावन्तः पञ्चानां चन्द्राभिवर्द्धितरूपाणां संवत्सराणां समया एकेन चतुर्विंशत्यधिकेन समयशतेन ऊनका एतावन्तः परिमिता असंख्याता देशरागविरागसमया भवन्ति, एतेषु सर्वेष्वपि चन्द्रमसो देशतो रागविरागभावात्। यत्र चतुर्विंशत्यधिकं समयशतं, तत्र द्वाषष्टिसमयेषु कृत्स्नो रागः द्वाषष्टिसमयेषु कृत्स्नो विरागः, तेन तद्वर्जनमित्याख्यातम्, प्रवेति गम्यते। प्रागद्वचनमेतारस्य-ष्क् अध्येयम्। चं० प्र० १३ पाहु०।

सम्प्रत्यमावास्याविषयं चन्द्रनक्षत्रयोगं सूर्यनक्षत्रयोगं च प्रतिविपादयिषुः प्रथमामावास्याविषयं प्रश्नसूत्रमाह—

ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं पढमं अमावासं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएति? ता असिलेसाहिं, असिलेसाणं एक्को मुहुत्तो, चत्तालीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता छावट्ठि चुण्णिया भागा सेसा। तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति? ता असिलेसाहिं चेव, असिलेसाणं एक्को मुहुत्तो, चत्तालीसं बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता छावट्ठि चुण्णिया भागा सेसा।

" ता एएसि णं " इत्यादि सुगमम्। भगवानाह-(ता असिलेसाहिं इत्यादि) ता इति पूर्ववत्। अश्लेषाभिः सह संयुक्तश्चन्द्रः प्रथमामावास्यां परिसमापयति, अश्लेषानक्षत्रस्य च षट्तारकत्वात् तदपेक्षया बहुवचनम्। तस्यां च प्रथमामावास्यापरिसमाप्तिवेलायामश्लेषानक्षत्रस्य एको मुहूर्तः, शेष द्वाषष्टिभागा मुहूर्तस्य, षट्षष्टिश्चूर्णिका भागाः शेषाः

संप्रति द्वादशामावास्याविषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दुवालसमं अमावासं चंदे केणं नक्खत्तेणं जोएति पुच्छा ?। ता अद्दाहिं, अद्दाणं चत्तारि मुहुत्ता,दस य बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स,बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता चउप्पण्णं चुण्णिया भागा सेसा। तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति पुच्छा ?। ता अद्दाए चेव। अद्दाए जं चेव चंदस्स, तं चेव ॥

(ता एएसि णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह-(ता अद्दाहिमित्यादि) आर्द्रायुक्तश्चन्द्रो द्वादशीममावास्यां परिसमापयति । तदानीं चार्द्रायाश्चत्वारो मुहूर्त्ताः,दश च मुहूर्त्तस्य द्वाषष्टिभागाः,द्वाषष्टिभागं च सप्तषष्टिधा छित्त्वा चतुष्पञ्चाशत्चूर्णिकाभागाः शेषाः। तथाहि-स एव ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ द्वादश्यमावास्या चिन्त्यमाना वर्तते इति द्वादशभिर्गुण्यते,जातानि सप्तशतानि द्विनवत्यधिकानि मुहूर्त्तानाम् , एकस्य च मुहूर्त्तस्य षष्टिर्द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वादश सप्तषष्टिभागाः ७९२ । ६० । १२ । एतस्माच्चतुर्भिः शतैर्द्विचत्वारिंशदधिकैर्मुहूर्त्तानाम्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य षट्चत्वारिंशता द्वाषष्टिभागैः पुनर्वस्वादीन्युत्तराषाढापर्यन्तानि नक्षत्राणि शुद्धानि, स्थितानि पश्चात् त्रीणि शतानि पञ्चाशदधिकानि मुहूर्त्तानाम् , एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्दश द्वाषष्टिभागाः,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वादश सप्तषष्टिभागाः ३५० । १४ । १२ । ततस्त्रिभिः शतैर्नवोत्तरैर्मुहूर्त्तानाम्,एकस्य च मुहूर्त्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैः,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैरभिजिदादीनि रोहिणीपर्यन्तानि शुद्धानि,स्थिताः पश्चाच्चत्वारिंशन्मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्त्तस्य एकपञ्चाशद् द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य त्रयोदश सप्तषष्टिभागाः ४०।५१।१३। ततस्त्रिंशता मुहूर्त्तैर्मृगशिरः शुद्धं, स्थिताः पश्चाद्दश मुहूर्त्ताः, शेषं तथैव १०।५१।१३। तत आगतमार्द्रानक्षत्रस्य चन्द्रेण सह संयुक्तस्य चतुर्षु मुहूर्त्तेषु,एकस्य च दशसु द्वाषष्टिभागेषु,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य चतुष्पञ्चाशति सप्तषष्टिभागेषु ४ । १० । ५४ द्वादशी अमावास्या परिसमाप्तिमियर्ति। संप्रति सूर्यविषयं प्रश्नमाह-(तं समयं च णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह-(ता अद्दाए चेव) आर्द्रयैव युक्तः सूर्योऽपि द्वादशीममावास्यां परिसमापयति। शेषपाठविषये अतिदेशमाह-" अद्दाए जं चेव चंदस्स, तं चेव " चन्द्रस्य विषये आर्द्रायाः शेषमुक्तम्, तदेव सूर्यविषयेऽपि वक्तव्यम् । "अद्दाए चत्तारि मुहुत्ता , दस य बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स, बावट्ठिभागं च सत्तट्ठिहा छेत्ता चउप्पण्णं चुण्णिया भागा सेसा " इति ।

चरमद्वाषष्टितमामावास्याविषयं प्रश्नमाह-

ता एतेसि णं पंचण्हं संवच्छराणं चरिमं बावट्ठिं अमावासं चंदे केणं णक्खत्तेणं जोएति पुच्छा ?। ता पुणव्वसुणा, पुणव्वसुस्स णं बावीसं मुहुत्ता, छायालीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स सेसा। तं समयं च णं सूरे केणं णक्खत्तेणं जोएति पुच्छा ?। ता पुणव्वसुणा चेव,पुणव्वसुस्स णं बावीसं मुहुत्ता, छायालीसं च बावट्ठिभागा मुहुत्तस्स सेसा।

(ता एएसि णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह-(ता पुणव्वसुणा इत्यादि) ता इति पूर्ववत् । पुनर्वसुना युक्तश्चन्द्रश्चरमां द्वाषष्टितमाममावास्यां परिसमापयति। तदानीं च चरमद्वाषष्टितमामावास्यापरिसमाप्तिवेलायां पुनर्वसुनक्षत्रस्य द्वाविंशतिमुहूर्त्ताः, षट्चत्वारिंशच्च द्वाषष्टिभागाः मुहूर्तस्य शेषाः । तथाहि- स एव ध्रुवराशिः ६६ । ५ । १ द्वाषष्ट्या गुण्यते, जातानि मुहूर्तानां चत्वारिंशच्छतानि द्विनवत्यधिकानि , एकस्य च मुहूर्तस्य द्वाषष्टिभागानां त्रीणि शतानि दशोत्तराणि, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वाषष्टिसप्तषष्टिभागाः ४०९२ । ३१० । ६२ तत एतस्माच्चतुर्भिः शतैर्द्वाचत्वारिंशदधिकैर्मुहूर्त्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य षट्चत्वारिंशता द्वाषष्टिभागैः प्रथमशोधनकं शुद्धम्; जातानि षट्त्रिंशच्छतानि पञ्चाशदधिकानि मुहूर्त्तानाम्,एकस्य च मुहूर्त्तस्य द्वे शते चतुष्षष्ट्यधिके द्वाषष्टिभागानाम्,एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य द्वाषष्टिसप्तषष्टिभागाः ३६५० । २६४ । ६२ । ततोऽभिजिदाद्युत्तराषाढापर्यन्तसकलनक्षत्रपर्यायविषयं शोधनकम् । अष्टौ शतानि एकोनविंशत्यधिकानि मुहूर्त्तानाम्, एकस्य चतुर्विंशतिर्द्वाषष्टिभागाः , एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्टिः सप्तषष्टिभागाः ८१९ । २४ । ६६ इत्येवं प्रमाणं चतुर्भिर्गुणयित्वा शोध्यते । स्थितानि पश्चात् त्रीणि शतानि चतुःसप्तत्यधिकानि मुहूर्तानाम् , एकस्य च मुहूर्तस्य चतुष्षष्ट्यधिकं शतं द्वाषष्टिभागानाम् , एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्टिः सप्तषष्टिभागाः ३७४ । १६४ । ६६ । ततो भूयस्त्रिभिः शतैर्मुहूर्तानां नवोत्तरैः, एकस्य च मुहूर्तस्य चतुर्विंशत्या द्वाषष्टिभागैः, एकस्य च द्वाषष्टिभागस्य षट्षष्ट्या सप्तषष्टिभागैः ३०९ । २४ । ६६ अभिजिदादीनि रोहिणीपर्यन्तानि शुद्धानि, स्थितानि पश्चात्सप्तषष्टिर्मुहूर्त्तानाम्, एकस्य च मुहूर्तस्य षोडश द्वाषष्टिभागाः ६७ । १६ । ततस्त्रिंशता मुहूर्तैर्मृगशिरः, पञ्चदशभिरार्द्रा शुद्धा,स्थिताः पश्चात् शेषा द्वाविंशतिर्मुहूर्त्ताः, एकस्य च मुहूर्तस्य षोडश द्वाषष्टिभागाः २२। १६। तत आगतं चन्द्रेण सह संयुक्तं पुनर्वसुनक्षत्रं द्वाविंशतौ मुहूर्तेषु,एकस्य च मुहूर्तस्य षट्चत्वारिंशति द्वाषष्टिभागेषु, शेषेषु चरमां द्वाषष्टितमाममावास्यां परिसमापयति । सूर्यविषयं प्रश्नसूत्रमाह-(तं समयं च णमित्यादि) सुगमम् । भगवानाह-(ता पुणव्वसुणा चेव त्ति) सूर्यः पुनर्वसुना चैव सह योगमुपागतश्चरमां द्वाषष्टितमाममावास्यां परिणमति । शेषं अतिदेशमाह-(पुणव्वसुस्स णं बावीसं मुहुत्ता इत्यादि) एतच्च प्राग्वद्भावनीयम् । चन्द्रमसः सूर्यस्य चामावास्याविषये नक्षत्रयोगपरिज्ञानहेतोः करणस्य समानत्वात् । चं० प्र० १० पाहु० ।

संप्रति कियत्सु मुहूर्त्तेषु गतेषु अमावास्यातोऽनन्तरा पौर्णमासी, कियत्सु वा मुहूर्त्तेषु गतेषु पौर्णमास्या अनन्तरममावास्या ?, इत्यादि निरूपयति-

ता अमावासाओ णं पुण्णिमासिणी चत्तारि बायाले मुहुत्तसते, छायालीसं बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स आहिता ति वदेज्जा ; ता अमावासाओ णं अमावासा अट्ठा पंचासीते मुहुत्तसते, तीसं च बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स आहिया ति वदेज्जा; ता पुण्णिमासिणीओ णं अमावासा चत्तारि बायाले मुहुत्तसते तं चेव, ता पुण्णिमासिणीओ णं पुण्णिमासिणी अट्ठा पंचासीते मुहुत्तसते,तीसं च बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स आहिता०। एस णं एवइए चंदे मासे; एस णं एवइए . "

(ता अमावासाओ णमित्यादि) सुगमम् । नवरं अमावास्याया अनन्तरं चन्द्रमासस्यार्द्धेन पौर्णमासी, पौर्णमास्या अनन्तरमर्द्धमासेन चन्द्रमासस्यामावास्या, अमावास्यायाश्च अमावास्या परिपूर्णेन चन्द्रमासेन, पौर्णमास्या अपि पौर्णमासी परिपूर्णेन चन्द्रमासेन भवति यथोक्ता मुहूर्त्तसंख्या । उपसंहारमाह-(एस णमित्यादि) एष अष्टौ मुहूर्त्तशतानि पञ्चाशीत्यधिकानि त्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्येति, एतावान् एतावत्प्रमाणश्चन्द्रमासः । तत एतावत्प्रमाणं शकलं खण्डरूपं युगं; चन्द्रमासप्रमितं युगं शकलमेतदित्यर्थः । चं० प्र० १३ पाहु० ।

पूर्णिमानक्षत्रात् अमावास्यायाम्, अमावास्यानक्षत्राच्च पूर्णिमायां नक्षत्रस्य नियमेन संबन्धमाह-

जया णं भंते ! साविट्ठी पुण्णिमा जवइ तया णं माही अमावासा भवइ, जया णं भंते ! माही पुण्णिमा जवइ तया णं साविट्ठी अमावासा जवइ ? । हंता, गोयमा ! जया णं साविट्ठी० तं चेव वत्तव्वं । जया णं भंते ! पोट्ठवई पुण्णिमा जवइ तया णं फग्गुणी अमावासा जवइ, जया णं फग्गुणी पुण्णिमा भवइ तया णं पोट्ठवई अमावासा जवइ ? । हंता , गोयमा ! तं चेव एवं । एतेणं अभिलावेणं इमाओ पुण्णिमाओ अमावासाओ णेअव्वाओ । अस्सिणी पुण्णिमा चेत्ती अमावासा, कत्तिगी पुण्णिमा विसाही अमावासा, मग्गसिरी पुण्णिमा जेट्ठामूली अमावासा, पोसी पुण्णिमा आसाढी अमावासा ।

(जया णं भंते ! इत्यादि) यदा भदन्त ! श्राविष्ठी श्रविष्ठानक्षत्रयुक्ता पूर्णिमा भवति तदा तस्या अर्वाक्तनी अमावास्या माघी मघानक्षत्रयुक्ता भवति । यदा तु माघी मघानक्षत्रयुक्ता पूर्णिमा भवति तदा पाश्चात्या अमावास्या श्राविष्ठी श्रविष्ठानक्षत्रयुक्ता भवतीति [illegible] प्रश्नः ? । भगवानाह-(हंतेति) गौतम ! [illegible] यदा श्राविष्ठीत्यादि, तदेव वक्तव्यं, प्रश्नेन समा- [illegible] । [illegible] अनेन [illegible] पौर्णमासी भवति तत आरभ्य अर्वाक्तने पञ्चदशे चतुर्दशे वा नक्षत्रे [illegible], ततो यदा श्राविष्ठी श्रविष्ठानक्षत्रयुक्ता [illegible] भवति तदा अर्वाक्तनी अमावास्या माघी मघानक्षत्रयुक्ता भवति, श्रविष्ठानक्षत्रात् मघानक्षत्रस्य पूर्वं चतुर्दशत्वात् । [illegible] मघानक्षत्रात् [illegible] इति पाठः, तेनात्र विचार्यम् । [illegible] । यदा भदन्त ! मा- [illegible] पूर्णिमा भवति तदा श्राविष्ठी श्रविष्ठानक्षत्रयुक्ता [illegible] अमावास्या भवति, मघानक्षत्रात् पूर्वं [illegible] । इदं च माघमासमधिकृत्य [illegible] । यदा भदन्त ! [illegible] पौर्णमासी भवति तदा [illegible] अमावास्या [illegible] भवति [illegible] पूर्वं [illegible] । यदा [illegible] पौर्णमासी भवति तदा अमावास्या [illegible] भवति, [illegible] पूर्वं [illegible] । इदं च [illegible] पूर्वं [illegible]

तस्याः । यदा आश्विनी पूर्णिमा अश्विनीनक्षत्रोपेता भवति तदा पाश्चात्याऽनन्तरा अमावास्या चैत्री चित्रानक्षत्रयुक्ता भवति, अश्विन्या आरभ्य पूर्वं चित्रानक्षत्रस्य पञ्चदशत्वात् । एतच्च व्यवहारनयमधिकृत्योक्तमवसेयम्; निश्चयत एकस्यामप्यश्विनीसंभाविन्याममावास्यायां चित्रानक्षत्रासंभवात् । एतच्च प्रागेव दर्शितम् । यदा च चैत्री चित्रानक्षत्रोपेता पौर्णमासी भवति तदा पाश्चात्या अमावास्या आश्विनी अश्विनीनक्षत्रयुक्ता भवति, एतदपि व्यवहारतः । निश्चयत एकस्यामपि चैत्रभाविन्याममावास्यायामश्विनीनक्षत्रस्यासंभवात् । एतदपि सूत्रमाश्विनचैत्रमासावधिकृत्य प्रवृत्तम् । यदा च कार्त्तिकी कृत्तिकानक्षत्रयुक्ता पौर्णमासी भवति तदा वैशाखी विशाखानक्षत्रयुक्ता अमावास्या भवति, कृत्तिकातोऽर्वाक् विशाखायाः पञ्चदशत्वात् । यदा वैशाखी विशाखानक्षत्रयुक्ता पौर्णमासी भवति तदा ततोऽनन्तरा पाश्चात्याऽमावास्या कार्त्तिकी कृत्तिकानक्षत्रोपेता भवति, विशाखातः पूर्वं कृत्तिकाया चतुर्दशत्वात् । एतच्च कार्त्तिकवैशाखमासावधिकृत्योक्तम् । यदा च मार्गशीर्षी मृगशिरोयुक्ता पौर्णमासी भवति तदा ज्येष्ठामूली ज्येष्ठानक्षत्रोपेता अमावास्या, यदा ज्येष्ठामूली पौर्णमासी तदा मार्गशीर्षी अमावास्या । एतच्च मार्गशीर्षज्येष्ठमासावधिकृत्य भावनीयम् । यदा पौषी पुष्यनक्षत्रयुक्ता पौर्णमासी तदा आषाढी पूर्वाषाढानक्षत्रयुक्ता अमावास्या भवति, यदा पूर्वाषाढानक्षत्रयुक्ता पौर्णमासी भवति तदा पौषी पुष्यनक्षत्रयुक्ता अमावास्या भवति । एतच्च पौषाषाढमासावधिकृत्योक्तमिति । उक्तानि मासार्द्धमासपरिसमापकानि नक्षत्राणि । जं० ७ वक्ष० ।

अमि (मे) ज्ज-अमेय-त्रि० । अमिताऽनेकवस्तुयोगात् [illegible] विकल्पनिषेधाद् वा (कल्प० ४ क्ष०) अविद्यमानदानाये भवादौ, जं० ३ वक्ष० । अविद्यमानमाये, प्र० ११ श० ११ उ० ।

अमि (मे) ज्झ-अमेध्य-न० । म० तं० । अशुचिद्रव्ये, उपा० १० उ० । विष्ठायाम, तं० । " अमिज्झेण लित्तोसि [illegible] केण धिलिस्सो " । आ० म० द्वि० ।

अमि (मे) ज्झपुण्ण-अमेध्यपूर्ण-त्रि० । विष्ठापूर्णे, तं० ।

अमि (मे) ज्झमय-अमेध्यमय-त्रि० । अमेध्यं प्रचुरमस्मिन्निति । पुरीषात्मके, तं० ।

अमि (मे) ज्झरस-अमेध्यरस-पुं० । विष्ठारसे, तं० ।

अमि (मे) ज्झसंभूय-अमेध्यसंभूत-त्रि० । विष्ठासंभवे, तं० ।

अमि (मे) ज्झुक्कर-अमेध्योत्कर-पुं० । उच्चारनिकरे, [illegible] १ विव० ।

अमित्त-अमित्र-न० । अहितस्थापके, स्था० ४ ठा० ४ उ० । आव० । (' पुरिसजाय ' शब्देऽस्य चतुर्भङ्गी द्रष्टव्या)

अमिय-अमृत त्रि० । अमरधर्मिणि, [illegible] । [illegible] मे० द्वि० । [illegible], आव० ४ अ० । " [illegible], [illegible] गुरुप्पमे " ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अमिय त्रि० । परिमाणरहिते, पं० २ अधि० । [illegible] जं० १ प्र० । [illegible]

"केवली पुरच्छिमेणं मियं पि जाणइ,अमियं पि जाणइ"।भ० ५ श० ४ उ० । केवलज्ञाने च । विशे० ।

अमियगइ–अमितगति–पुं० । दाक्षिणात्ये दिक्कुमारेन्द्रे, प्र० ३ श० ८ उ० । स० । प्रज्ञा० । स्वनामख्याते माथुरसंघीये माधवसेनाचार्यशिष्ये दिगम्बरजैनाचार्ये, स च वैक्रमीये १०५० वर्षे आसीत् । येन धर्मपरीक्षा–सुभाषितरत्नसंदोहनामानौ च ग्रन्थौ निर्मितौ । जै० इ० ॥

अमियचंद–अमृतचन्द्र–पुं० । कुन्दकुन्दाचार्यकृतसमयसारग्रन्थोपरि 'आत्मख्याति' नाम्न्याः टीकायाः, तथा प्रवचनसारटीका–पञ्चास्तिकायटीका–तत्त्वार्थसार–पुरुषार्थसिद्धयुपाय–तत्त्वदीपिकादिग्रन्थानां च कारके धर्मीये द्वादशपुरुरतनवम्रातके (९६२) विद्यमाने आचार्ये, जै० इ० ।

अमियणाणि(ण्)–अमितज्ञानिन्–पुं० । अमितं च तद् ज्ञानं अमितज्ञानम्,तदस्यास्तीति सोऽमितज्ञानी। आ०म०प्र०। सर्वज्ञे, म० । अपरिच्छेद्यज्ञानिनि, अनन्तज्ञानिनि च । आ० चू० १ अ० । केवलिनि, पं० चू० ।

> अमियमणंतं नाणं, तं तेसि अमियणाणिणो तो ते ।
>
> तं जेण णेयमाणं, तं चाणंतं जओ नेयं ॥ २०५० ॥

अनन्तत्वात्मामुमशक्यममितं केवलज्ञानलक्षणं ज्ञानं, तदेषां विद्यते,ततोऽमितज्ञानिनस्ते । कथं पुनः केवलज्ञानस्यानन्त्यम् ? इत्याह–तत्केवलज्ञानं, येन कारणेन ज्ञेयमानं वर्तते, ज्ञानस्य ज्ञेयानुवर्तित्वात् । तच्च ज्ञेयं सर्वमपि यतोऽनन्तमतः केवलज्ञानस्यानन्त्यमिति ॥ विशे० ॥

अमियतेयसूरि–अमिततेजःसूरि–पुं० । स्वनामख्याते सूरीन्द्रे, " पवर्सि अमियतेयसूरीणं अंतिए सहजायाए पव्वइउं वयं वि सेसकारणं तेण भणियं "। दर्श० ।

अमियभूय–अमृतभूत–न० । भूतशब्द उपमार्थः । परमपदहेतुत्वाज्जरामरत्वादिविधानकत्वेनाऽमृततुल्ये जिनवचने, "जिणवयणसुभासियं अमियभूयं । " आतु० ।

अमियमेह–अमृतमेघ–पुं० । दुष्षमदुष्षमान्ते वर्तिनि चतुर्थे महामेघे, जं० ।

चतुर्थमेघवक्तव्यतामाह–

> तंसि च णं घयमेहंसि सत्तरत्तं णिवतितंसि समाणंसि एत्थ णं अमियमेहे णामं महामेहे पाउब्भविस्सइ, भरहप्पमाणमित्ते आयामेणं जाव वासं वासिस्सइ, जे णं भरहे वासे रुक्खगुच्छगुम्मलयवल्लितणपव्वगहरितओसहिपवालंकुरमाईए तणवणप्फइकाइए जणइस्सइ ॥

(तंसि इत्यादि) तस्मिंश्च घृतमेघे सप्तरात्रं निपतति सति, अत्रान्तरेऽमृतमेघो नाम यथार्थनामा महामेघः प्रादुर्भविष्यति वर्षिष्यति इतिपर्यन्तं पूर्ववत् । यो मेघो भरते वर्षे वृक्षगुच्छगुल्मलतावल्ल्यः, तृणानि प्रतीतानि, पर्वगा इक्ष्वादयः, हरितानि दूर्वादीनि, औषधयः शाल्यादयः, प्रवालाः पल्लवाः, अङ्कुराः शाल्यादिबीजसूचय इत्यादीनि तृणवनस्पतिकायिकान् बादरवनस्पतिकायिकान् जनयिष्यतीति । जं० २ वक्ष० ।

अमियरसरसोवम–अमृतरसरसोपम–त्रि० । अमृतरसेन रसस्योपमा यत्र तदमृतरसरसोपमम् । सुधाऽऽस्वादमधुरे, "तेसाणं (तीर्थंकराणं) अमियरसरसोवमं भासि " । आ० म० प्र० ।

अमियवाहण–अमितवाहन–पुं० । औत्तराहदिक्कुमारेन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० । भ० । प्रज्ञा० । स० ।

अमियासणिय–अमितासनिक–पुं० । अबद्धासने, मुहुर्मुहुः स्थानात् स्थानान्तरं गच्छति, अनेकान्यासनानि सेवमाने, कल्प० १ क्ष० ।

अमिल–आमिल–न० । ऊर्णावस्त्रे, ध० २ अधि० । दश० । नि० चू० । आचा० ।

अमिलक्खु–अम्लेच्छ–पुं० । आर्ये म्लेच्छभाषाऽनभिज्ञे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अमिला–अमिला–स्त्री० । श्रीनेमिनाथस्य प्रथमशिष्यायाम्, स० । पत्रिकायां द्वयमहिष्याम्, सू० १ उ० ।

अमिलाण–अम्लान–त्रि० । अमलिने, औ० । नि० चू० ।

अमिलाय–अम्लान–त्रि० । न म्लायते शीघ्रं तदिति । चिरममलिने, नि० चू० २ उ० ।

अमिलायमल्लदाम–अम्लानमाल्यदामन्–न० । अम्लानपुष्पदामनि, भ० ११ श० ११ उ० । विपा० ।

अमिलिय–अमिलित–त्रि० । असंसक्ते, विशे० । अनेकशास्त्रसंबन्धीनि सूत्राण्येकत्र मीलयित्वा यत्र पठति तन्मिलितम् । असदृशधान्यमेलकवत् । अथवा परावर्तमानस्य यत्र पदादिविच्छेदो न प्रतीयते तन्मिलितम्, न तथा अमिलितम् । मिलितदोषविप्रमुक्ते सूत्रगुणे, अनु० । पं० चू० । ग० । आमिलितं यद् ग्रन्थान्तरवर्तीनि पदैरमिश्रितं,यथा–सामायिकसूत्रं दशवैकालिकोत्तराध्ययनादिपदानि न क्षिपति । बृ० १ उ० ।

अमुइ–अमोचिन्–त्रि० । अमोचनशीले, सू० ४ उ० । " अमुइ समुत्ते वि जो ण मुए " पं० भा० । पं० चू० ।

अमुक्कपुण्णय–अमुक्तपूर्णत–त्रि० । अमुक्ता पूर्णता येन तत् अमुक्तपूर्णतम् । पूर्णे, ध० २ अधि० ।

अमुग–अमुक–त्रि० । अदस्–अकच् । उत्वमत्वे कस्य गः, । प्रा० १ पाद । अदःशब्दार्थे अज्ञातनामकत्वे विवक्षितेऽर्थे, " अमुगंमि भोवे " अमुकस्मिन् भवतु । प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । " अमुगं गामं वच्चामो, तत्थ वा तिथि वा दिवसो अच्छिस्सामो " । व्य० भ० द्वि० । प्रव० ।

अमुग्ग–अमुक्त–त्रि० । अविद्यमानमुक्ते, अनु० ।

अमुच्छिय–अमूर्छित–त्रि० । न मूर्छितोऽमूर्छितः । सूत्र० १ श्रु० १० अ० । दश० । आहारादौ मूर्छामकुर्वति, पं०व०२ द्वा० । गिद्धे शब्दादिषु वा गृद्धे, दश० ५ अ० १ उ० । [illegible]

अमुण–अज्ञ–पुं० । जडे, मूर्खे च । बृ० १ उ० ।

अमुणिय–अज्ञात–न० । नास्ति मुणितं ज्ञानं यत्र [illegible] न । ज्ञानविकले, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० ।

अमुत्त–अमुक्त–त्रि० । लोकव्यापारामुक्ते [illegible]

अमूर्त–त्रि० । अरूपिणि, स्था० ४ ठा० ।

अमुत्तत्त–अमूर्तत्व–न० । मूर्तत्वाभावे [illegible] । " मूर्ति दृष्यति मूर्तेन अमूर्तेन [illegible] "

मूर्त्तिः रूपरसगन्धस्पर्शादिसन्निवेशता, तस्या धारणस्वभावो मूर्त्तत्वं, मूर्त्तस्वभावः, तस्माद्विपरीतं तदमूर्त्तत्वम्, अमूर्त्तस्वभावः । द्रव्या० १३ अध्या० ।

अमुत्ति-अमुक्ति-स्त्री० । मुक्तिर्मोक्षगतिः, न मुक्तिरमुक्तिः । संसारसुखाभिलाषे, आतु० । सलोभतायां परिग्रहे गौणपरिग्रहे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वा० ।

अमुत्तिमग्ग—अमुक्तिमार्ग-न० । न विद्यते मुक्तेरशेषकर्मप्रच्युतिलक्षणाया मार्गः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मको यस्मिंस्तदमुक्तिमार्गम् । अधर्मपक्षे विभङ्गस्थाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अमुय-अस्मृत-त्रि० । मनोऽपेक्षया स्मृतिमनागते, भ० ३ श० ६ उ० ।

अमुयग-अमृतक-त्रि० । अबाह्याभ्यन्तरपुद्गलरचितावयवशरीरिणि जीवे, स्था० । "अमुयगो जीवेति" देवानां बाह्याभ्यन्तरपुद्गलादानविरहेण वैक्रियवतां दर्शनाद् बाह्याभ्यन्तरपुद्गलरचितावयवशरीरो जीव इत्यध्यवसायवत् पञ्चमं विभङ्गज्ञानम् । स्था० ७ ठा० ।

अमुसा-अमृषा-अव्य० । सत्ये, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

अमुह-अमुख-त्रि० । निरुत्तरे, व्य० ९ उ० ।

अमुहरि (ण्)-अमुखरिन्-त्रि० । अवाचाले, उत्त० १ अ० ।

अमूढ-अमूढ-त्रि० । अविप्लुते, दश० १० अ० । सन्मार्गस्थे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । तत्त्वज्ञानिनि, अष्ट० २ अष्ट० ।

अमूढणाण-अमूढज्ञान-त्रि० । यथावस्थितज्ञाने, आ० म० द्वि० ।

अमूढदिट्ठि-अमूढदृष्टि-स्त्री० । अमूढा तपोविद्यातिशयादिकुतीर्थिकर्द्धिदर्शनेऽप्यमोहस्वभावादविचलिता, सा च दृष्टिश्च सम्यग्दर्शनममूढदृष्टिः । प्रव० ६ द्वार । बुद्धिमत्कुतीर्थिकदर्शनेऽप्यविगीतमेवास्मद्दर्शनमिति मोहविरहितायां बुद्धौ, उत्त० २ अ० । अमूढबुद्धिसंपन्ने, मुह्यते स्म अस्मिन्निति मूढः । न मूढोऽमूढस्तस्य दृष्टिः । याथातथ्यदृष्टौ, नि० चू० १ उ० । बालतपस्वितपोविद्याऽतिशयदर्शनैर्न मूढा स्वरूपान्न चलिता दृष्टिः सम्यग्दर्शनरूपेण यस्याऽसौ अमूढदृष्टिः । ग० १ अधि० । ध० । पञ्चा० । दश० ।

इदाणिं अमूढदिट्ठि त्ति दारं—

मुह्यते स्म अस्मिन्निति मूढः, न मूढोऽमूढः । अमूढदिट्ठी, याथातथ्यदर्शिरित्यर्थः ॥

जदा सा भवति तदा भवणति—

णेगविहा इड्ढीओ, पूयं परवादिणं च दट्ठूणं ।
जस्स ण मुज्झइ दिट्ठी, अमूढदिट्ठिं तगं बेंति ॥ २६ ॥

(णेगविह त्ति) णाणप्पगारा, का ता ? (इड्ढि त्ति) इड्ढीओ-इस्सरियं, तं पुण विज्जामंतं तवोमंतं वा विउव्वणाऽऽगासगमणविभंगणाणादि ऐश्वर्यम् ।(पूय त्ति) असणपाणखादिमसादिमवत्थकंबलादी-जस्स वा जं पाउग्गं तेण से पडिलाभेण पूया । केसिं सा ? (परवादिणं ति) असमणा सक्कदंडकपरा, जे य परिव्वायगरत्तपडियादी परतंतरूपा, चरगादओ गिहत्था धीयरादि । अहवा अचरगादओ अण्णमण्णे वि जे इमे पासत्था, ते पूयामिव्वाराइं इहं, 'च' अणुकारिमत्ते, णावपूरणे वा दट्ठूणं' ।(दट्ठूणं ति) दट्ठा जहा जेसिं परवादीणं पूया सक्कारादिइड्ढिविसेसा दीसंति, ण तहा अहं । अच्चुदारं देव मंडिअणमणो विसिट्ठतरो जदेत्था अतो भणति-(जस्स ति) जस्स पुरिसस्स, 'ण' इति पडिसेहे हेट्ठो विणाणाणिच्चाओ, दिट्ठी दरिसणं, स एवंगुणविसिट्ठो अमूढदिट्ठी दरिसणं भवणति । जगा'दरिसणं तगं ति दिट्ठी कीरति-(तगं ति)।(बेंति) ब्रुवन्ति आचार्याः, कथयन्तीत्यर्थः । अमूढदिट्ठि त्ति दारं गयं ॥ नि० चू० १ उ० ।

इयाणिं दिट्ठंतो-

सुलसा अमूढदिट्ठी, ... ।

सुलसा साविगा अमूढदिट्ठि त्ति उदाहरणं भवति-भगवं जाव रायगिहे समोसरिओ । भगवया य भवियथिरीकरणत्थं अम्मडो परिव्वायगो रायगिहं गच्छंतो भणिओ-सुलसं मम वयणा पुच्छेज्जसि । सो चिंतेति-पुण्णमंतिया सा, जं अरहा पुच्छति । तेण परिक्खणणिमित्तं भत्तं मग्गिता, अलभमाणेण बहूणि रूवाणि काऊण मग्गिता । ण दिण्णं । भणति य-परं अणुकंपाए देहि, तं पत्तबुद्धीए । तेण भणियं-जदि पत्तबुद्धीए देहि ? सा भणति-ण देमि । पुणो पउमासणं विउव्वियं । सा भणति जइ वि सिक्खं बंभणो तहा वि ते ण देमि पत्तबुद्धीए । तओ तेण उवसंघरित्ता सब्भावं च से कहियं । ण दिट्ठिमोहो सुलसाए जाओ । एवं अमूढदिट्ठिणा होयव्वं" । नि० चू० १ उ० । (अस्मिन्नेव भागे ११२ पृष्ठे 'अंबड' शब्देऽपि कथयम)

अमूढलक्ख-अमूढलक्ष-त्रि० । अमूढः सुनिर्णयो लक्ष्यो ज्ञेयविशेषो यस्य सोऽमूढलक्षः । पञ्चा० १४ विव० । अष्ट० । यथावस्थितवस्तुवेदिनि, सू० १ उ० । समस्तत्वाविपरीतवेदने, आ० म० द्वि० ।

अमेत्तणाण-अमात्रज्ञान-न० । मात्रा मानं, तेन रहितममात्रम्, अमात्रं च तज्ज्ञानं च अमात्रज्ञानम् । अप्रमिते केवलज्ञानिनि, अष्ट० १२ अष्ट० ।

अमेहा-अमेधा-स्त्री० । मेधोपघाते, वि० चू० १ उ० ।

अमोसलि-अमुशलि-न० । न मुशली क्रिया यस्मिन् प्रत्युपेक्षणे तदमुशलि । सुप्रत्युपेक्षणभेदे, ओघ० ।

अणचाविय अवलियं, अणाणुबंधी अमोसलिं चेव ।
छप्पुरिमा ण च खोडा, पाणी पाणे पमज्जणया ॥२५॥

(अमोसलि त्ति) न मुशली क्रिया यस्मिन् प्रत्युपेक्षणे तदमुशलि प्रत्युपेक्षणम् । यथा मुशलं कुट्टने ऊर्ध्वं लगति, अधस्तिर्यक् च । एवं न प्रत्युपेक्षणा कर्तव्या । किंतु यथा प्रत्युपेक्षमाणस्य कर्णे भित्तिषु न लगति, न च तिर्यक् न भूमौ, तथा कर्त्तव्यम् । ओघ० । ध० । स्था० । उत्त० । नि० चू० ।

अमोह-अमोघ-त्रि० । अवन्ध्यताऽऽयातत्वेनाविफले, अभिप्रायरूपे, विशे० । अवन्ध्ये, दश० ८ अ० । आदित्योदयास्तमयवेलायामादित्यकिरणविकारजनितेषु आताम्रेषु कृष्णेषु श्यामेषु वा शकटोर्ध्वसंस्थितेषु (सूर्यबिम्बस्याधःस्थेषु कदाचिदुपलभ्यमानेषु रेखारूपेषु) दण्डेषु, भ० ३ श० ६ उ० । जी० । अनु० ।

अमोह-त्रि० । मोहनं मोहो वितथग्राहः, न मोहोऽमोहः । अवितथग्राहे, विशे० । मोहरहिते, अष्ट० ३२ अष्ट० । जम्बूमन्दरस्य रुचकवरे पर्वते कूटभेदे, स्था० ८ ठा० । द्वी० । शोभाञ्जना नगर्यां उत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे चैत्ये पूज्यमाने यक्षे, विपा० ।

अमोहणाधारि (ण्)-अमोहनाधारिन्-पुं० । अमोहनं मोहरहितं समस्तमा समन्ताद् धारयतीत्येवंशीलोऽमोहनाधारी । सूत्रादेर्निर्मोहं धारके, व्य० १० उ० ।

अमोहदंसि (ण्)–अमोघदर्शिन्–पुं० । अमोघं पश्यति यथावत्पश्यति, दशा० ६ अ० ।

अमोहवयण–अमोघवचन–न० । धर्मदेशनारूपेऽव्यर्थवचने, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अमोहा–अमोघा–स्त्री० । जम्ब्वाः सुदर्शनाया नाम्नि, (मोघं निष्फलम्) न मोघा अमोघा । अनिष्फला इत्यर्थः । तथाहि-तदाश्रयतस्वामिभावेन प्रतिपन्ना सती जम्बूद्वीपाधिपत्यमुपजनयति, तदन्तरेण तद्विषयस्य स्वामित्वस्यैवायोगात्, ततोऽनिष्फलेति । जी० ३ प्रति० । जं० । उत्तराञ्जनाद्रेर्दक्षिणदिग्भागवर्तिन्यां पुष्करिण्याम्, द्वी० । स्था० । जो० ।

अम्ब–आम्र–पुं० । " ताम्राम्रे म्बः " । ८ । २ । ५६ । इति सूत्रेण संयुक्तस्य मयुक्तो 'म्बः' । चूत–(आँब) वृक्षे, तत्फले च । प्रा० २ पाद ।

अम्बफलहत्थगय–आम्रफलहस्तगत–त्रि० । स्वकीयतपस्तेजोजनितदाहोपशमनार्थमाम्राम्थिकं नृपति, भ०१५ श०१उ० ।

अम्मड–अम्मड–पुं० । स्वनामख्याते परिव्राजके, भ० १४ श० ८ उ० । औ० । स्था० । (तद्वक्तव्यता अनुस्वारप्रकरणे 'अंब (म) ड ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ११० पृष्ठे निरूपिता)

अम्मया–अम्बा–स्त्री० । पुत्रमातरि, ज्ञा० १ अ० । प्रश्न० । भ० । नि० ।

अम्महे–अम्महे–अव्य० । हर्षे, " अम्महे हर्षे " ८ । ४ । २८४ । इति शौरसेन्याम् ' अम्महे ' इति निपातो हर्षे प्रयोक्तव्यः । " अम्महे एआए सुम्मिलाए सुपलिगढिदो भवं " । प्रा० ४ पाद ।

अम्मापितिसमाण–अम्बापितृसमान–पुं० । मातापितृभ्यां समाने पुत्रेषु मातापित्रोरिव व्यवहारादिष्वविषमदर्शिनि, व्य० ३ उ० । उपचारं विनाऽपि साधुषु एकान्तेनैव वत्सले श्रमणोपासके, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अम्मापियर–अम्बापितृ–पुं० । द्वि० व० । मातापित्रोः, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अम्मापेइय–अम्बापैतृक–न० । मातापितृसम्बन्धिनि, भ० ।

अम्मापेइए णं भंते ! सरीरए केवइयं कालं संचिट्ठइ ? । गोयमा ! जावइयं कालं से भवधारणिज्जे सरीरए अव्वावण्णे भवइ, एवइयं कालं संचिट्ठइ । अहे णं समए समए वोयसिज्जमाणे चरिमकालसमयंसि वोच्छिण्णे भवइ ।

(अम्मापेइए णं ति) अम्बापैतृकं शरीरावयवेषु शरीरोपचारात्, उक्तलक्षणानि मातापित्र्यङ्गानीत्यर्थः । (जावइयं ति) यावन्तं कालं, (से त्ति) तस्य वा जीवस्य, भवधारणीयं भवधारणप्रयोजनं, मनुष्यादिभवोपग्राहकमित्यर्थः । (अव्वावण्णे त्ति) अविनष्टम्, (अहे णं ति) उपचयान्तिमसमयादनन्तरमेतद् अम्बापैतृकं शरीरम् (वोयसिज्जमाणे त्ति) व्यवकृष्यमाणं हीयमानमिति । भ० १ श० ७ उ० ।

अम्मि–अहम्–अस्मदः प्रथमैकवचनान्तस्य " अस्मदो म्मि अम्मि अम्हि हं अहं अहयं सिना " । ८ । ३ । १०५ । इत्यनेन 'अम्मि' इत्यादेशः । "उन्नम न अम्मि कुविआ" प्रा० ३ पाद ।

अम्मो–अव्य० । " अम्मो आश्चर्ये " । ८ । २ । २०८ । इति सूत्रेण अम्मो इत्याश्चर्ये प्रयोक्तव्यम् । " अम्मो कह पारिज्जइ " । प्रा० २ पाद ।

अम्ह–अस्माकम्–अस्मद आमा सहितस्य "णे णो मज्झ अम्ह अम्हं०" । ८ । ३ । ११४ । इत्यादिसूत्रेणाम्हादेशः । प्रा० ३ पाद ।

वयम्–अस्मदो जसा सहितस्य "अम्ह अम्हे अम्हो मो वयं भे जसा" । ८ । ३ । १०६ । इति सूत्रेण अम्हादेशः । प्रा० ३ पाद । " अम्ह थोवडा थोवडायारा " प्रो० ।

अम्हइं–वयम्-अस्मान्–"जश्शसोरम्हे अम्हइं" । ८ । ४ । ३७६ । इत्यपभ्रंशे अस्मदो जशि शसि च प्रत्येकमम्हे अम्हइं इत्यादेशौ । "अवस न सुअहिं सुअच्छिअहिं, जिवँ अम्हइं तिवँ ते वि" । " अम्हइं देक्खइ" प्रा० ४ पाद ।

अम्हं–अस्माकम्–"णे णो मज्झ अम्ह अम्हं०" । ८ । ३ । ११४ । इत्यादिसूत्रेणामा सहितस्यास्मदोऽम्हमादेशः । प्रा० ३ पाद । 'अम्हं धूया णो आढाइ " विपा० १ श्रु० ६ उ० ।

अम्हकेर–अस्मदीय–त्रि० । "इदमर्थस्य केरः" । ८ । २ । १४७ । इतीदमर्थस्य प्रत्ययस्य 'केर' इत्यादेशः । "सेवादौ वा" ८ । २ । ९९ । इति कद्वित्वम् । अस्मत्सत्के, प्रा० २ पाद ।

अम्हत्तो–अस्मत्त्वम्–" ममाम्हौ भ्यसि " ८ । ३ । ११२ । इति सूत्रेण भ्यसि ' अम्ह ' इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

अम्हाण–अस्माकम्–अस्मद आमा सहितस्य " णे णो मज्झ अम्हं०" ८ । ३ । ११४ । इत्यादिसूत्रेण अम्हाणादेशः । प्रा० ३ पाद ।

अम्हातिस–अस्मादृश–त्रि० । " यादृशादेर्दुस्तिः " ८।४।३१७। इति पैशाच्यां 'ह' इत्यस्य स्थाने तिरादेशः । प्रा० ४ पाद ।

अम्हार–मम–पैशाच्यां " षष्ठ्याः " ८।४।३४५ । इति सूत्रेण षष्ठ्या लुक् । "संगर–सएहिं जु वण्णिअइ, देक्खु अम्हारा कंतु" प्रा० ४ पाद ।

अम्हारिस–अस्मादृश–त्रि० । " दृशः क्विप्-टक्सकः " ८ । १ । १४२ । इति सूत्रेण क्विबाद्यन्तस्य दृशो रिरादेशः । "पक्ष्म-श्म-ष्म-स्म-ह्मां म्हः" ८ । २ । ७४ । इति संयुक्तस्य स्मभागस्य मकाराक्रान्तो हकारः । प्रा० २ पाद । " अम्हारिसो ' अस्मत्सदृशेषु, प्रा० १ पाद ।

अम्हासुन्तो–अम्हाहिन्तो–अस्मत्त्वम्–" ममाम्हौ भ्यसि " ८ । ३ । ११२ । इत्यस्मदो भ्यसि अम्हादेशः "भ्यसस् त्तो दो दु हि हिन्तो सुन्तो " ८ । ३ । ९ । इति सूत्रेण भ्यसः ' सुन्तो, हिन्तो ' इत्यादेशौ । प्रा० ३ पाद ।

अम्हि–अहम्–" अस्मदो म्मि अम्मि अम्हि हं अहं अहयं सिना " ८ । ३ । १०५ । इति सूत्रेण सिना सह 'अम्हि ' इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ।

अम्हिया–अस्मिता–स्त्री० । अहङ्कारानुगमे, द्वा० २६ द्वा० । यथाऽन्तर्मुखतया प्रतिलोमतापरिणामेन प्रकृतिलीने चेतसि सत्तामात्रमेव भाति साऽस्मिता । द्वा० २० द्वा० । अस्मिता दृग्दर्शनैकता, दृग्दर्शनयोः पुरुषरजस्तमोऽनभिभूतसात्त्विकपरिणा–

मूर्त्तिः रूपरसगन्धस्पर्शादिसन्निवेशता, तस्या धारणस्वभावो मूर्त्तत्वं, मूर्त्तस्वभावः, तस्माद्विपरीतं तदमूर्त्तत्वम्, अमूर्त्तस्वभावः । द्रव्या० १३ अध्या० ।

अमुत्ति-अमुक्ति-स्त्री० । मुक्तिर्मोक्षगतिः, न मुक्तिरमुक्तिः । संसारसुखाभिलाषे, आतु० । सलोभतायां पर्ष्टिंशे गौणपरिग्रहे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वा० ।

अमुत्तिमग्ग—अमुक्तिमार्ग-न० । न विद्यते मुक्तेरशेषकर्मप्रच्युतिलक्षणाया मार्गः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मको यस्मिंस्तदमुक्तिमार्गम् । अधर्मपक्षे विभङ्गस्थाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अमुय-अस्मृत-त्रि० । मनोऽपेक्षया स्मृतिमनागते, भ० ३ श० ६ उ० ।

अमुयग-अमृतक-त्रि० । अबाह्याभ्यन्तरपुद्गलरचितावयवशरीरिणि जीवे, स्था० । "अमुयगो जीवेति" देवानां बाह्याभ्यन्तरपुद्गलादानविरहेण वैक्रियवतां दर्शनाद् बाह्याभ्यन्तरपुद्गलरचितावयवशरीरो जीव इत्यध्यवसायवत् पञ्चमं विभङ्गज्ञानम् । स्था० ७ ठा० ।

अमुसा-अमृषा-अव्य० । सत्ये, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

अमुह-अमुख-त्रि० । निरुत्तरे, व्य० ९ उ० ।

अमुहरि (ण्)-अमुखरिन्-त्रि० । अवाचाले, उत्त० १ अ० ।

अमूढ-अमूढ-त्रि० । अविप्लुते, दश० १० अ० । सन्मार्गस्थे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । तत्त्वज्ञानिनि, अष्ट० २ अष्ट० ।

अमूढणाण-अमूढज्ञान-त्रि० । यथावस्थितज्ञाने, आ० म० द्वि० ।

अमूढदिट्ठि-अमूढदृष्टि-स्त्री० । अमूढा तपोविद्यातिशयादिकुतीर्थिकर्द्धिदर्शनेऽप्यमोहस्वभावादविचलिता, सा च दृष्टिश्च सम्यग्दर्शनममूढदृष्टिः । प्रव० ६ द्वार । कुद्धिमत्कुतीर्थिकदर्शनेऽप्यविगीतमेवास्मद्दर्शनमिति मोहविरहितायां बुद्धौ, उत्त० २ अ० । अमूढबुद्धिसंपन्ने, मुह्यते स्म अस्मिन्निति मूढः । न मूढोऽमूढस्तस्य दृष्टिः । याथातथ्यदृष्टौ, नि० चू० १ उ० । बालतपस्वितपोविद्याऽतिशयदर्शनैर्न मूढा स्वरूपान्न चालिता दृष्टिः सम्यग्दर्शनरूपेण यस्याऽसौ अमूढदृष्टिः । ग० १ अधि० । ध० । पञ्चा० । दश० ।

इदाणि अमूढदिट्ठि त्ति दारं—

मुह्यते स्म अस्मिन्निति मूढः, न मूढोऽमूढः । अमूढदिट्ठी, यथार्थदृष्टिरित्यर्थः ॥

जहा सा भवति तहा भण्णति—

णेगविहा इड्ढीओ, पूयं परवादिणं च दट्ठूणं ।
जस्स ण मुज्झइ दिट्ठी, अमूढदिट्ठिं तगं बेंति ॥ २६ ॥

(णेगविह त्ति) अणेगप्पगारा, का ता ? (इड्ढि त्ति) इड्ढीओ-इस्सरियं, तं पुण विज्जामंतं तवोमंतं वा विउव्वणाऽऽगासगमणविभंगणाणादि वेभवयं । (पूय त्ति) असणपाणखाइमसाइमवत्थकंबलादी-जस्स वा जं पाउग्गं तेण से पडिलाभेइ पूया । केसि वा ? (परवादिणं ति) अण्णमासरक्खरत्तपडा, ते य परिव्वायगकोसच्चरडिगंदी मग्गंकाणा, वणदाओ गिहत्था धीवरादि । कस्स वा अमरुयाणो अमायमेत्ति जे इमे णामाणा, ते पूयासक्कारादी, 'अ अणुदरिसणं, सत्यपूर्णं वा दट्ठव्वो' । (दट्ठूणं ति) दट्ठा एता भेदि परवादिं च पूया सक्कारादिड्ढिविसेसा दं । मंति, ण तहा करेइ । इत्थुदाहरणं देय ते अणगारो विधिभरो भवेज्जा धरो । भणति-(जस्स त्ति) जस्स पुरिसस्स, 'ण' इति पडिसेहे ह दो विषणाणविरुच्चासो, दिट्ठी दरिसणं, स एवंगुणविसेसे अमूढदिट्ठी दरिसणं भण्णति । उणादिट्ठस्स तगारेण निद्देसो कीरति-(तगं ति) । (बेंति) ब्रुवन्ति आचार्याः, कथयन्तीत्यर्थः । अमूढदिट्ठि त्ति दारं गयं ॥ नि० चू० १ उ० ।

इयाणि दिट्ठंतो—

सुलसा अमूढदिट्ठी, ... ।

सुलसा साविगा अमूढदिट्ठि त्ति उदाहरणं भण्णति-भगवं वीरे णयरीए समोसरिओ । भगवया य भवियथिरीकरणत्थं अंबडो परिव्वायगो रायगिहं गच्छंतो भणिओ-सुलसं मम वयणा तुमं पुच्छेज्जासि । सो चिंतेति-पुण्णमंतिया सा, जं अरहा पुच्छति । तं परिक्खणणिमित्तं भत्तं मग्गिता, अलभमाणेण बहूणि रूवाणि काऊण मग्गिता । ण दिण्णं । भणति य-परं अणुकंपाए देहि, मए पच्चवुत्तीए । तेण भणियं-जदि पच्चवुत्तीए देहि ! सा भणति-ण देमि । पुणो पउमासणं विउव्वियं । सा भणति जइ वि णिच्चं बंभणो तदा वि ते ण देमि पच्चवुत्तीए । तओ तेण उवसंहरित्ता सब्भावं च से कहियं । ण दिट्ठिमोहो सुलसाए जाओ । एवं अमूढदिट्ठिणा होयव्वं" । नि० चू० १ उ० । (अस्मिन्नेव भागे ११२ पृष्ठे 'अंबड' शब्देऽपि कथेयम्)

अमूढलक्ख-अमूढलक्ष-त्रि० । अमूढः सुनिर्णयो लक्षो वेद्यविशेषो यस्य सोऽमूढलक्षः । पञ्चा० १४ विव० । अष्ट० । यथावस्थितवस्तुवादिनि, बृ० १ उ० । समस्ततत्त्वाविपरीतवेदने, आ० म० द्वि० ।

अमेत्तणाण-अमात्रज्ञान-न० । मात्रा मानं, तेन रहितममात्रम्, अमात्रं च तज्ज्ञानं च अमात्रज्ञानम् । अपरिमिते केवलज्ञानिनि, अष्ट० १२ अष्ट० ।

अमेहा-अमेधा-स्त्री० । मेधोपघाते, नि० चू० १ उ० ।

अमोसलि-अमुशलि-न० । न मुशली क्रिया यस्मिन् प्रत्युपेक्षणे तदमुशलि । सुप्रत्युपेक्षणभेदे, ओघ० ।

अणच्चाविय अवलियं, अणाणुबंधी अमोसलिं चेव ।
छप्पुरिमा णव खोडा, पाणी पाणे पमज्जणया ॥ २७ ॥

(अमोसलिं ति) न मुशली क्रिया यस्मिन् प्रत्युपेक्षणे तदमुशलि प्रत्युपेक्षणम् । यथा मुशलं कुट्टने ऊर्ध्वं लगति, अधस्तिर्यक् च । एवं न प्रत्युपेक्षणा कर्त्तव्या । किंतु यथा प्रत्युपेक्षमाणस्य कर्णे पीठिषु न लगति, न च तिर्यक् कुड्ये भूमौ, तथा कर्त्तव्यम् । ओघ० । ध० । स्था० । उत्त० । नि० चू० ।

अमोह-अमोघ-त्रि० । अर्थयताऽऽयातत्वेनाविफले, अविसंवादरूपे, विशे० । अवन्ध्ये, दश० ८ अ० । आदित्योदयास्तमयवेलायामादित्यकिरणविकारजनितेषु आताम्रेषु कृष्णेषु श्यामेषु वा शकटोर्द्धसंस्थितेषु (सूर्यबिम्बस्याधःस्थेषु कदाचिदुपलभ्यमानेषु रेखारूपेषु) दण्डेषु, भ० ३ श० ६ उ० । जी० । अनु० ।

अमोह-त्रि० । मोहनं मोहो वितथग्राहः, न मोहोऽमोहः अवितथग्राहे, विशे० । मोहरहिते, अष्ट० ३२ अष्ट० । जम्बूद्वीपस्य रुचकवरे पर्वते कूटभेदे, स्था० ८ ठा० । द्वी० । शोमायसनगर्यां उत्तरपौरस्त्ये दिग्भागे चैत्ये पूज्यमाने यक्षे, विपा० ।

अमोहणाधारि (ण्)-अमोहनाधारिन्-पु० । अमोहनं कृत्वाविहितं समस्तमा समन्तात् धारयतीत्येवंशीलोऽमोहनाधारी । सूत्रादेर्निर्मोहं धारके, व्य० १० उ० ।

अमोहदंसि (ण्)-अमोघदर्शिन्-पुं० । अमोघं पश्यति य-थावत्पश्यति, इरा० ६ अ० ।

अमोहवयण-अमोहवचन-न० । धर्मदेशनारूपेऽमोघवचने, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अमोहा-अमोघा-स्त्री० । जम्ब्वाः सुदर्शनाया नाम्नि, (मोघं निष्फलम्) न मोघा अमोघा । अनिष्फला इत्यर्थः । तथाहि-तत्स्वस्वामित्वेन प्रतिपन्ना सती जम्बूद्वीपाधिपत्यमुपजन-यति, तदन्तरेण तद्विषयस्य स्वामित्वायोगात्, ततोऽनिष्फलेति । जं० ४ प्रति० । जं० । उत्तराञ्जनपर्वतेषु दक्षिण-स्यामाशायां पुष्करिण्याम्, द्वी० । स्था० । जी० ।

अम्ब-आम्र-पुं० । " ताम्राम्रे म्बः " । ८ । २ । ५६ । इति सूत्रेण संयुक्तस्य मयुक्तो 'म्बः' । चूत-(आम्र) वृक्षे, तत्फले च । प्रा० ५ पाद ।

अम्बफलसहस्सगय-आम्रफलसहस्रगत-त्रि० । स्वकीयतप-स्तेजोज्वालिकशरीरपरमवर्णमाधारिस्थिक श्रूयते, भ०१५ श०१उ० ।

अम्मड-अम्मड-पुं० । स्वनामख्याते परिव्राजके, भ० १४ श० ८ उ० । औ० । स्था० । (तद्वक्तव्यता अनुस्वारप्रकरणे ' अं-ब (म) ड ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ११० पृष्ठे निरूपिता)

अम्मया-अम्बा-स्त्री० । पुत्रमातरि, इरा० १ अ० । प्रश्न० । भ० । नि० ।

अम्महे-अम्महे-अव्य० । हर्षे, " अम्महे हर्षे " ८ । ४ । २८४ । इति शौरसेन्याम् ' अम्महे ' इति निपातो हर्षे प्रयोक्तव्यः । " अम्महे एआए सुम्मिलाए सुपलिगढिदो भवं " । प्रा० ४ पाद ।

अम्मापितिसमाण-अम्बापितृसमान-पुं० । मातापितृभ्यां स-माने पुत्रेषु मातापित्रोरिव स्वपदारादिष्वविषमदर्शिनि, स्था० ३ श० । उपचारं विनाऽपि साधुषु एकान्तेनैव यत्सले श्रमणो-पासके, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अम्मापियर-अम्बापितृ-पुं० । द्वि० व० । मातापित्रोः, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

अम्मापेइय-अम्बापैतृक-न० । मातापितृसम्बन्धिनि, भ० ।

अम्मापेइए णं भंते ! सरीरए केवइयं कालं संचिट्ठइ ?। गोयमा ! जावइयं कालं से भवधारणिज्जे सरीरए अ-व्वावन्ने भवइ, एवइयं कालं संचिट्ठइ । अहे णं समए समए वोयसिज्जमाणे चरिमकालसमयंसि वोच्छिण्णे भवइ ।

(अम्मापेइए णं ति) अम्बापैतृकं शरीरावयवेषु शरीरोपचा-रात्, उपलक्षणानि मातापित्रङ्गानीत्यर्थः । (जावइयं ति) याव-न्तं कालं, (से त्ति) तस्य वा जीवस्य, भवधारणीयं भवधा-रणप्रयोजनं, मनुष्यादिभवोपग्राहकमित्यर्थः । (अव्वावण्णे त्ति) अविनष्टम्, (अहे णं ति) उपचयान्तिमसमयादनन्तरमे-तद् अम्बापैतृकं शरीरम (वोयसिज्जमाणे त्ति) व्यवकृष्यमा-णं हीयमानमिति । भ० १ श० ७ उ० ।

अम्मि-अहम्-अस्मदः प्रथमैकवचनान्तस्य " अस्मदो म्मि अम्मि अम्हि हं अहं अहयं सिना " । ८ । ३ । १०५ । इत्यनेन 'अम्मि' इत्यादेशः । "अम्मि न अम्मि कुविआ" प्रा० ३ पाद ।

अम्मो-अव्य० । " अम्मो आश्चर्ये " । ८ । २ । २०८ । इति सूत्रेण अम्मो इत्याश्चर्ये प्रयोक्तव्यम् । " अम्मो कह पारिज्जइ " ॥ प्रा० २ पाद ।

अम्ह-अस्माकम्-अस्मद आमा सहितस्य "णे णो मज्झ अम्ह अम्हं०" । ८ । ३ । ११४ । इत्यादिसूत्रेणाम्हादेशः प्रा०३ पाद ॥ वयम्-अस्मदो जसा सहितस्य "अम्ह अम्हे अम्हो मो वयं भे जसा" । ८ । ३ । १०६ । इति सूत्रेण अम्हादेशः । प्रा० ३ पाद । " अम्ह थोवडा रिउबहुआरा " औ० ॥

अम्हइं-वयम्-अस्मान्-"जश्शसोरम्हे अम्हइं" ।८ । ४। ३७६ । इत्यपभ्रंशे अस्मदो जसि शसि च प्रत्येकमम्हे अम्हइं इत्या-देशौ । "अवस न सुअहिँ सुहच्छिअहिँ, जिवँ अम्हइँ तिवँ ते वि" । " अम्हइं देक्खइ" प्रा० ४ पाद ।

अम्हं-अस्माकम्-"णे णो मज्झ अम्ह अम्हं०"।८।३।११४। इत्या-दिसूत्रेणामा सहितस्यास्मदोऽम्हमादेशः । प्रा०३ पाद । 'अम्ह पुया णो भादाइ " विपा० १ श्रु० ६ उ० ।

अम्हकेर-अस्मदीय-त्रि० । "इदमर्थस्य केरः" ।८।२।१४७ । इ-दमर्थस्य प्रत्ययस्य 'केर' इत्यादेशः । "सेवादौ वा" ८ । २ । ९९ । इति कद्वित्वम । अस्मत्सत्के, प्रा० २ पाद ।

अम्हत्तो-अस्मत्-त्वम्-" ममाम्हौ ङसि " ८ । ३। ११२ । इति सूत्रेण ङसि ' अम्ह ' इत्यादेशः । प्रा० २ पाद ।

अम्हाण-अस्माकम्-अस्मद आमा सहितस्य " णे णो मज्झ अम्ह०" ८ । ३ । ११४ । इत्यादिसूत्रेण अम्हाणादेशः । प्रा० ३ पाद ।

अम्हातिस-अस्मादृश-त्रि० । " यादृशादेर्दुस्तिः " ८।४।३१७। इति पैशाच्यां 'दृ' इत्यस्य स्थाने तिरादेशः । प्रा० ४ पाद ।

अम्हार-मम-पैशाच्यां " युष्मदः"८।४। ३४५ । इति सूत्रेण य-थया सुक । "संगर-सएहिँ जु वणिअइ, देक्खु अम्हारा कंतु" प्रा० ४ पाद ॥

अम्हारिस-अस्मादृश-त्रि० । " दृशः क्विप्-टक्सकः " ८।१। १४२। इति सूत्रेण क्रियान्तस्य ऋतो रिरादेशः । "पक्ष्म-श्म-ष्म-स्म-ह्मां म्हः" ८ । २ ।७४। इति संयुक्तस्य स्मभागस्य मका-राक्रान्तो हकारः । प्रा० २ पाद । " अम्हारिसो ' अस्मत्सदृशेषु, प्रा० १ पाद ।

अम्हासुन्तो-अम्हाहिन्तो-अस्मत्त्वम्-" ममाम्हौ ङसि " ८ । ३ । ११२। इत्यस्मदो ङसि अम्हादेशः । "ङसस् त्तो दो दु हि हिन्तो सुन्तो " ८ । ३ । ९ । इति सूत्रेण ङसः ' सुन्तो, हि-न्तो ' इत्यादेशौ । प्रा० ३ पाद ॥

अम्हि-अहम्-" अस्मदो म्मि अम्मि अम्हि हं अहं अहयं सि-ना " ८ । ३ । १०५ । इति सूत्रेण सिना सह 'अम्हि ' इत्यादेशः । प्रा० ३ पाद ॥

अम्हिया-अस्मिता-स्त्री० । अहङ्कारानुगमे, द्वा० २६ द्वा० । य-दान्तर्मुखतया प्रतिलोमतापरिणामेन प्रकृतिलीने चेतसि स-त्तामात्रमेव भाति साऽस्मिता । द्वा० २० द्वा० । अस्मिता दृग्-दर्शनैकता; दृग्दर्शनयोः पुरुषरजस्तमोऽभिभवात्सात्त्विकपरिणा-

मयोः भोक्तृभोग्ययोरेकतया अस्मिता । तदुक्तम्-"दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवास्मिता" द्वा० २५ द्वा० ।

अम्हे-वयम्-अस्मान्-" जस्शसोरम्हे अम्हइं " ८ । ४ । ३७६ । इत्यपभ्रंशे अस्मदो जसि शसि च 'अम्हे' इत्यादेशः। प्राकृतेऽप्येवम्-"अम्हे थोवा रिउ बहुअ,कायर एम्व भणंति"। प्रा०४ पाद ॥

अम्हेच्चय-आस्माक-त्रि० । अस्माकमिदम् । " युष्मदस्मदोऽञ एच्चयः" ८ । २ । १४९ । इत्यस्मदः परस्येदमर्थस्याञः 'एच्चय' इत्यादेशः । अस्मदीये, प्रा० ४ पाद ॥

अम्हो-अस्माकम्-" णे णो मज्झ अम्ह अम्हं अम्हे अम्हो " ८ । ३ । ११४ । इत्यामा सहितस्यास्मद ' अम्हो ' इत्यादेशः। प्रा० ३ पाद ।

अय-अज-पुं० । अजैकपाद्देवे, स च पूर्वभाद्रपदानक्षत्रस्य देवता । ज्यो० ६ पाहु० । ' दो अया ' स्था० २ ठा० ३ उ० । अनु० । सूर्यवंशीये रघुपुत्रे, वाच० ।

अय-पुं० । अयनमयः। इण् गतौ इति धातोः"एरच्" ३। ३। ५६। इति [पाणि०] सूत्रेण अच् प्रत्ययः, आ० म० द्वि०। वेदने, लाभे,प्राप्तौ च। विशे०। आ० म० । आव० । इष्टफले,न० । स्था० १ ठा० १ उ० । शुभे, स्था० १० ठा० ।

अयस्-न० । लोहे, नि० चू० ५ उ० । जी० । प्रश्न०। उत्त० ।

अयआगर-अयआकर-पुं० । लोहाऽऽकरे, यत्र लोहमुत्पद्यते। नि० चू०५ उ०। यत्र वा लोहकारो लोहं ध्मापयति । स्था०७ठा०।

अयं-अयम्-पुं० । "पुंस्त्रियोर्नवाऽयमिमिआ सौ" ॥८।३।७३॥ इति इदमशब्दस्य सौ अयादेशे अयं।प्रा०३पाद।"अयं परमट्ठे सेसे अणट्ठे " अयमिति प्राकृतत्वादिदम् । औ० ।

अयंत-आयत्-त्रि०। आगच्छति प्रविशति, " जाव अयंतो निसीहियं कुणइ " आ० म० द्वि० ।

अयंपुल-अयंपुल-पुं० । आजीविकोपासके गोशालकशिष्ये, भ० ८ श० ५ उ० ।

अयंसंधि-अयंसन्धि-त्रि० । " अयं संधीति " अयमिति प्रत्यक्षगोचरापन्नः, आर्यक्षेत्रसुकुलोत्पत्तीन्द्रियनिर्वृत्तिश्रद्धासंवेगलक्षणः सन्धिः । आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । ' अयंसन्धीति ' सन्धानं (सन्धिः) सन्धीयते वाऽसाविति सन्धिः। अयं सन्धिर्यस्य साधोरसावयंसन्धिः । छान्दसत्वाद् विभक्तेरलुक् । यथाकालमनुष्ठानविधायिनि , यो यस्य वर्तमानः कालः कर्तव्यतयोपस्थितस्तत्करणतया तमेव संधत्ते। एतदुक्तं भवति-सर्वाः क्रियाः प्रत्युपेक्षणोपयोगस्वाध्यायभिक्षाचर्याप्रतिक्रमणादिका असंपन्ना अन्योन्याबाधयाऽऽत्मीयकर्तव्यकाले करोतीत्यर्थ इति । आचा० १ श्रु०२अ०५उ०।

अयकंत-अयस्कान्त-पुं० । अयसां मध्ये कान्तः रमणीयः । कस्कादित्वात् सत्वम् । कान्तिलोह इति ख्याते लोहभेदे, वाच० । सन्निधिमात्रेण लोहाकर्षके, [चुम्बक] इतिख्याते प्रस्तरभेदे च । अयसां प्रियत्वात्तथात्वम् । आ० म० प्र० ।

अयकक्करभोइ (ण्)-अजकर्करभोजिन्-त्रि० । अजस्य छागादेः कर्करमतिप्रगुणं यथाकथञ्चिद् हन्यमानं कर्करायते तन्मेदोदन्तुरे यत् कं मांसं,तद् भुङ्क्ते इत्येवंशीलोऽजकर्करभोजी। अजादेः कर्करायितमांसभुजि, " भयक्करभोई य, तुन्दिल्ले चियलोहिए । आउयं नरए कंखे, जहा एसं व एलए" ॥ उत्त० ७ अ० ।

अयकडिल्ल-अयःकडिल्ल-न० । अयो लोहं तन्मयं कडिल्लम् । लोहकटाहे, औप० ।

अयकरग-अजकरक-पुं० । महाग्रहे महाग्रहे,सू० प्र० २० पाहु०। कल्प० । चं० प्र० । जं० । "दो अयकरगा" स्था० २ ठा० ३ उ० ।

अयकोट्ठग-अयःकोष्ठक-न० । लोहप्रतापनार्थे कुशूले, भ० १ श० १ उ० । उपा० । जी० ।

अयक्कंत-अयस्कान्त-पुं० । लोहाकर्षके चुम्बके मणौ, आ० म० प्र० ।

अयगर-अजगर-पुं० । शयुःपर्याये, उरःपरिसर्पविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० । महाकायसर्पे, जं० २ वक्ष० । " से किं तं अयगरा ? । अयगरा एगागारा पन्नत्ता, सेत्तं अयगरा "। प्रज्ञा० १ पद । जी० ।

अयगोलय-अयोगोलक-पुं०। अयो लोहं, तस्य गोलः पिण्डोऽयोगोलः। नि० चू० १ उ०। अयःपिण्डे, दशा० ७ अ०। सूत्र०।

अयच्छ-कृष्-धा०-विलेखने, " कृषेः कड्ड-साअड्ढाअञ्छायञ्छाइञ्छाः " ८ । ४ । १८७ । इति सूत्रेण कृषेः अयच्छादेशः। अयच्छइ-कृषति । प्रा० ४ पाद ।

अयण-अयन-न० । गमने, आ० म० द्वि० । उत्त० । स्था० । ज्ञाने प्रापणे, अनु० । परिच्छेदे, नं० । ऋतुत्रयमाने, कर्म० ४ कर्म०। षण्मासात्मके काले, तं० । जं० । भ० । अनु० । अयनानि षाण्मासिकानि दक्षिणायनोत्तरायणलक्षणानि । कल्प० ५ क्ष० ।

साम्प्रतमयनपरिमाणं वक्तुकाम आह-

छहिँ मासेहिँ दिणयरो, तेसीयं चरइ मंडलसयं तु ।
अयणम्मि उत्तरे दा-हिणे य एसो विही होइ ॥

षड्भिर्मासैर्दिनकरः सूर्यः त्र्यशीत्यधिकं मण्डलशतं चरति। तथाहि-सर्वाभ्यन्तरमन्तरे द्वितीयमण्डले यदा सूर्य उपसंक्रम्य चारं चरति तदा स नवस्य सूर्यसंवत्सरस्य प्रथमोऽहोरात्रः। द्वितीयेन चाहोरात्रेण सर्वाभ्यन्तरात् तृतीयमण्डलं चरति। एवं षड्भिर्मासैस्त्र्यशीत्यधिकं मण्डलशतं चीर्णं भवति। एष दक्षिणायनस्य षण्मासप्रमाणस्य पर्यन्तः । ततः सर्वबाह्याद् मण्डलादर्वागन्तरे द्वितीये मण्डले यदोपसंक्रम्य सूर्यश्चारं चरति तदा स उत्तरायणस्य प्रथमो दिवसः। सर्वबाह्याद् मण्डलादर्वाक्तनं तृतीयं मण्डलं द्वितीयेनाहोरात्रेण चरति, एवं षड्भिर्मासैस्त्र्यशीत्यधिकं मण्डलशतं सर्वाभ्यन्तरमण्डलपर्यवसानम्। एष दक्षिणस्मिन् उत्तरस्मिन् वा अयने विधिः प्रकारो भवति।

अत्रार्थे च करण विवक्षुः प्रथमतः तदुपक्षेपमाह—

तेसीयं दिवसमयं, अयणे सूरस्स होइ पडिपुन्नं ।
सुण तस्स कारणविहिं, पुव्वायरिओवएसेणं ॥

सूर्यस्यायनं दक्षिणमुत्तरं वा भवति परिपूर्णं त्र्यशीत्यधिकं दिवसशतम् । कथमेतदवसीयते इति चेत् ? । उच्यते-इह युगमध्ये दश सूर्यस्यायनानि भवन्ति,युगे च दिवसानामष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि १८३० । ततस्त्रैराशिकमवतार्यते, यदि दशभिरयनैरष्टादशदिवसशतानि त्रिंशदधिकानि लभ्यन्ते,

तत एकेनायनेन किं लभ्यम् ?। आह-राशित्रयस्थापना १०+१८३०+१। अत्रान्त्येन राशिना एककलक्षणेन मध्यमस्य राशेर्गुणनं एकेन च गुणितं तदेव भवतीति, जातान्यष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि, तेषामाद्येन राशिना दशकलक्षणेन भागो ह्रियते, लब्धं त्र्यशीत्यधिकं दिवसशतम्। एतावदेकस्य दक्षिणस्योत्तरस्य परिमाणम्। सम्प्रति तस्य दक्षिणस्यैवायनस्य परिज्ञानविषये कारकविधिं करणरूपं प्रकारं पूर्वाचार्योपदेशेन प्रतिपाद्यमानं शृणु।

तत्र करणमाह–

सूरस्स अयणकरणं, पव्वं पन्नरसंगुणं नियमा।
तिहिसंखित्तं संतं, बावट्ठीभागपरिहीणं ॥
तेसीयसयविभत्त–म्मि तम्मि लद्धं तु रूवमाएज्जा।
जइ लद्धं होइ समं, नायव्वं उत्तरं अयणं ॥
अह हवइ भागलद्धं, विसमं जाणाहि दक्खिणं अयणं।
जे अंसा ते दिवसा, होंति पवत्तस्स अयणस्स ॥

सूर्यस्यायनपरिज्ञानविषये करणमिदं, वक्ष्यमाणमिति शेषः। तदेवाह-पर्व पर्वसंख्यानं पञ्चदशगुणं नियमात् कर्त्तव्यम्। किमुक्तं भवति?–युगमध्ये विवक्षितदिनात् प्राग् यानि पर्वाणि अतिक्रान्तानि तत्संख्या पञ्चदशगुणा कर्त्तव्येति। ततः पर्वणामुपरि यास्तिथयोऽतिक्रान्तास्तास्तत्र संक्षिप्यन्ते। ततो (बावट्ठीभागपरिमाणमिति) प्रत्यहोरात्रम्-एकैकेन द्वाषष्टिभागेन परिहीयमानेन ये निष्पन्ना अवमरात्रास्तेऽप्युपचाराद् द्वाषष्टिभागा इत्युच्यन्ते, तैः परिहीनं विधेयम्। ततस्तस्मिन् त्र्यशीत्यधिकेन शतेन विभक्ते सति यल्लब्धं रूपमेकद्व्यादिकं तत् आदेयात्, गृह्णीयात्; पृथक् स्थाने स्थापयेदित्यर्थः। तत्र यदि लब्धं समं द्विचतुरादिरूपं भवति, तदा उत्तरमयनमनन्तरमतीतं ज्ञातव्यम्। अथ भवति भागे लब्धं विषमं, तदा जानीहि दक्षिणमयनमनन्तरमतीतम्। ये तु शेषा अंशाः पश्चादवतिष्ठन्ते तत्कालं प्रवृत्तस्यायनस्य दिवसस्य दिवसा भवन्ति ज्ञातव्याः॥ तथाहि-युगमध्ये नवमासातिक्रमे पञ्चम्यां केनापि पृष्टम्-किमयनमनन्तरमतीतम्?, किं वा साम्प्रतमयनं वर्त्तते?, इति। तत्र नवसु मासेषु अष्टादश पर्वाणि, ततोऽष्टादश पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जाते द्वे शते सप्तत्यधिके २७०। नवमासानामुपरि पञ्चम्यां पृष्टमिति पञ्च तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जाते द्वे शते पञ्चसप्तत्यधिके २७५, नवसु मासेषु चत्वारोऽवमरात्रा भवन्ति, तथा ते चतुर्भिर्हीनाः क्रियन्ते, जाते द्वे शते एकसप्तत्यधिके २७१। अस्य राशेस्त्र्यशीत्यधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धमेकं रूपम्, शेषास्तिष्ठन्त्यष्टाशीतिः। तत आगतमिदमेकमयनमतीतं, तदपि च दक्षिणायनम्। साम्प्रतमुत्तरायणं वर्त्तते, तस्य चाष्टाशीतितमो दिवसो भजतीति, तथा युगमध्ये पञ्चविंशतिमासातिक्रमे दशम्यां केनापि पृष्टम्-कियन्त्ययनानि गतानि?, किं वाऽनन्तरमयनमतीतं?, किं वा साम्प्रतमयनं वर्त्तते? इति। तत्र पञ्चविंशतिमासेषु पञ्चाशत्पर्वाणि, तानि पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जातानि सप्तशतानि पञ्चाशदधिकानि ७५०। तत उपरितना दश प्रक्षिप्यन्ते, जातानि सप्तशतानि षष्ट्यधिकानि ७६०। पञ्चविंशतिमासेषु चावमरात्रा भवन्ति द्वादश, ते ततोऽपनीयन्ते, जातानि सप्तशतानि अष्टचत्वारिंशदधिकानि ७४८। एतेषां त्र्यशीत्यधिकेन शतेन भागो ह्रियते, लब्धाश्चत्वारः, शेषास्तिष्ठन्ति षोडश, आगतानि चत्वार्ययनान्यतिक्रान्तानि, चतुर्थं चाऽयनमनन्तरमतीतमुत्तरायणम्। सम्प्रति दक्षिणायनस्याप्रवर्त्तमानस्य षोडशो दिवसो वर्त्तते इति। एवमन्यदपि भावनीयम्।

साम्प्रतं चन्द्रगतस्य दक्षिणस्योत्तरस्य वाऽयनस्य परिमाणमाह-

तेरस य मंडलाइं, चउचत्ता सत्तसट्ठिभागा य।
अयणेण चरइ सोमो, नक्खत्ते अद्धमासेणं ॥

इह नक्षत्रमासार्द्धपरिमाणं चन्द्रायणम्। तत आह-नक्षत्रविषये योऽर्द्धमासस्तत्तावत्परिमाणेनायनेन सोमश्चरति तत्र त्रयोदश मण्डलानि चतुश्चत्वारिंशतं सप्तषष्टिभागान्। किमुक्तं भवति?–त्रयोदश अहोरात्राः, एकस्य च अहोरात्रस्य सत्काश्चतुश्चत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागा दक्षिणस्योत्तरस्य वा चन्द्रायणस्य परिमाणमिति। कथमेतदवसीयते इति चेत्?; उच्यते-इह नक्षत्रमासस्य परिमाणं सप्तविंशतिदिनानि, एकस्य च दिनस्य सत्का एकविंशतिः सप्तविंशतिभागाः। तत एतस्यार्द्धे यथोक्तं चन्द्रायणपरिमाणं भवति। अथवा—युगे चन्द्रायणानां चतुस्त्रिंशदधिकं शतं भवति; अहोरात्राणां च युगे अष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि। ततोऽत्र त्रैराशिककर्मावकाशः। यदि चतुस्त्रिंशेन शतेन अहोरात्राणामष्टादश शतानि त्रिंशदधिकानि प्राप्यन्ते, तत एकेन चन्द्रायणेन किं प्राप्नुमः?। राशित्रयस्थापना-१३४ + १८३० + १। अत्र मध्यस्य राशेरन्त्येन राशिना गुणनं, एकेन च गुणितं तदेव भवतीति जातान्यष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि १८३०। तेषामाद्येन राशिना चतुस्त्रिंशदधिकशतरूपेण भागो ह्रियते, लब्धास्त्रयोदश; शेषास्तिष्ठन्त्यष्टाशीतिः। तत आद्यस्य राशेश्चतुश्चत्वारिंशता गुणने जातानि अष्टपञ्चाशत् षण्णवत्यधिकानि ५८९६। तेषां चतुस्त्रिंशाधिकेन शतेन भागो ह्रियते लब्धाश्चतुश्चत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः।

सम्प्रति चन्द्रायणपरिज्ञाननिमित्तं करणमाह–

चंदायणस्स करणं, पव्वं पन्नरसंगुणं नियमा।
तिहिपक्खित्तं संतं, बावट्ठीभागपरिहीणं ॥
नक्खत्तअद्धमासे–ण भागलद्धं तु रूवमाएज्जा।
जइ लद्धं हवइ समं, नायव्वं दक्खिणं अयणं ॥
अह हवइ भागलद्धं, विसमं जाणाहि उत्तरं अयणं।
सेसाणं अंसाणं, ओसिस्सइ सो भवे करणं ॥
सत्तट्ठीए विभत्ते, जं लद्धं तइ हवंति दिवसाओ।
अंसा य दिवसभागा, पवत्तमाणस्स अयणस्स ॥

चन्द्रगतस्य दक्षिणस्योत्तरस्य वा अयनस्य परिज्ञानाय करणमिदम्-यानि युगमध्ये पर्वाण्यतिक्रान्तानि तत्पर्वसंख्यानं पञ्चदशभिर्गुण्यते, ततः पर्वणामुपरि यास्तिथयोऽतिक्रान्तास्ताः तत्र प्रक्षिप्यन्ते, ततो द्वाषष्टिभागपरिहीनमवमरात्रपरिहीनं क्रियते, ततो नक्षत्रस्यार्द्धमासेन तस्मिन् भक्ते सति यद् लब्धमेकद्व्यादिरूपं तद् आदेयात्, पृथक् स्थाने स्थापयेदित्यर्थः। तत्र यदि लब्धं भवति समं तदा दक्षिणं चन्द्रायणमनन्तरमतीतमवसेयम्। अथ भवति भागलब्धं विषमं तदा उत्तरं चन्द्रायणमनन्तरमतीतं जानीहि। इह युगस्यादौ प्रथमतः चन्द्रायणमुत्तरं, ततो दक्षिणायनमतोऽत्र समे भागे दक्षिणायनमनन्तरमतीतमवसेयम्, विषमे लब्धे उत्तरायणमिति। शेषास्तु अंशा ये उद्धरितास्तेषामंशानां सप्तषष्ट्या विभक्ते सति यद् लब्धं तत् प्रवर्त्तमानस्यायनस्य भवन्ति दिवसाः, शेषाश्चोद्धरिता अंशा दिवसभागा ज्ञातव्याः। तथाहि-युगमध्ये नवमासातिक्रमे पञ्चम्यां

केनापि पृष्टम्-किं चन्द्रायणमनन्तरमतीतं?,किं वा साम्प्रतमुत्तरं दक्षिणं वा वर्तते ?। तत्र नवसु मासेषु पर्वाणि अष्टादश, तानि पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जाते द्वे शते सप्तत्यधिके २७०। नवानां च मासानामुपरि पञ्चम्यां पृष्टमिति पञ्च तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जाते द्वे शते पञ्चसप्तत्यधिके २७५ । नवसु च मासेषु चत्वारोऽवमरात्राः, ते ततोऽपनीयन्ते,जाते द्वे शते एकसप्तत्यधिके २७१ । एतस्य राशेर्नक्षत्रमासार्द्धेन भागहरणं, तत्र नक्षत्रार्द्धमासो न परिपूर्णः,किन्तु कतिपयसप्तषष्टिभागाधिकः,तत एव सर्वोऽप्ययमवरात्रयुक्तः सप्तषष्ट्या गुण्यते,जातान्यष्टादशशतानि शतमेकं पञ्चाशदधिकम् १८१५०। नक्षत्रार्द्धमासस्य च दिवसपरिमाणं त्रयोदशदिवसाः १३,एकस्य च दिवसस्य चतुश्चत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः ४४/६७ । तत्र त्रयोदश दिनानि सप्तषष्टिभागकरणार्थं सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते, जातान्यष्टादशशतानि एकसप्तत्यधिकानि,तत्र उपरितनाश्चतुश्चत्वारिंशत् सप्तषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जातानि नवपञ्चदशाधिकानि ९१५।एतैः पूर्वराशेर्भागे हृते लब्धा एकोनविंशतिः १९ । शेषमुद्धरन्ति सप्तशतानि सप्तसप्तत्यधिकानि ७७७ । तेषां दिवसाऽऽनयनाय सप्तषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धा एकादश दिवसाः, शेषास्तिष्ठन्ति पञ्चत्रिंशत् सप्तषष्टिभागाः आगतमेकोनविंशतिश्चन्द्रायणान्यतिक्रान्तानि,अनन्तरं चन्द्रायणमतिक्रान्तमुत्तरायणम्, दक्षिणस्य चन्द्रायणस्य सम्प्रति प्रवृत्तस्यैकादश दिवसा गताः, द्वादशस्य च दिवसस्य पञ्चत्रिंशत्सप्तषष्टिभागाः, पञ्चम्यां समाप्तायां भविष्यन्तीति ॥ तथा युगमध्ये पञ्चविंशतिमासातिक्रमे दशम्यां केनापि पृष्टम्-कियन्ति चन्द्रायणान्यतिक्रान्तानि ?,किं च साम्प्रतमनन्तरमतीतं चन्द्रायणं , किं वा संप्रति वर्तते चन्द्रायणं, दक्षिणमुत्तरं वेति ? । तत्र पञ्चविंशतिमासेषु पर्वाणि पञ्चाशत् , तानि पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते, जातानि सप्तशतानि पञ्चाशदधिकानि ७५० । तत उपरितना दश प्रक्षिप्यन्ते, जातानि सप्तशतानि षष्ट्यधिकानि ७६० । पञ्चविंशतिमासेषु चावमरात्रा अभवन् द्वादश,ते पूर्वराशेरपनीयन्ते,जातानि सप्तशतानि अष्टाचत्वारिंशदधिकानि ७४८ । तानि षष्टिभागकरणार्थं सप्तषष्ट्या गुण्यन्ते, जातानि पञ्चाशत्सहस्राणि षण्णवत्यधिकानि ५००९६ । तेषां नवभिः शतैः पञ्चदशोत्तरैः ९१५ भागो ह्रियते, लब्धा चतुष्पञ्चाशत् । शेषमुद्धरन्त्यष्टौ शतानि षडशीत्यधिकानि ८८६ । तेषां दिवसानयनाय सप्तषष्ट्या भागहरणं, लब्धास्त्रयोदश दिवसाः, शेषास्तिष्ठन्ति पञ्चदश, आगतानि चतुष्पञ्चाशत् चन्द्रायणानि अतिक्रान्तानि । अनन्तरं चातिक्रान्तं चन्द्रायणं दक्षिणं,सम्प्रति वर्तते उत्तरं चन्द्रायणम्,तस्य च त्रयोदश दिवसामतिक्रान्ताः, चतुर्दशस्य च दिवसस्य पञ्चदश सप्तषष्टिभागा दशम्यां समाप्तायां भविष्यन्तीति। एवमन्यदपि भावनीयमिति ॥ ज्यो० ११ पाहु० । सं० प्र० । सू० प्र० ।

अयपाए (य)-अयःपात्र-न० । लोहपात्रे, " अयपायाणि वा तउपायाणि वा " आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

अयमग्ग-अयमार्ग-पुं० । नरकमार्गभेदे,यत्र बलीवर्द इव गम्यते। "लोह-पथमिव तप्तं गमयन्ति" । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ॥

अयमीरिहि-अयमीरिथि-स्त्री० । इत्यविशाखानीयिथाया अनुराधाज्येष्ठामूलनक्षत्राणि, स्था० ९ ठा० ।

अयसी-अतसी-स्त्री० । धान्यविशेषे वनस्पतिभेदे, (अलसी-मालवा) दश० ५ अ० । प्रज्ञा० । जं० । रा० । उत्त० । को० । भद्रबाहु० अ० ६ श्रु० ।

अयसीकुसुमप्पयास-अतसीकुसुमप्रकाश-त्रि० । नीले...

अ० । अन्त० । उपा० । रा० ।

अयसीपुप्फ-अतसीपुष्प-न० । धान्यविशेषस्य प्रसूने... ३४ अ० ।

अयसी (सि) वएण-अतसीवर्ण-त्रि० । अतसी... श्यामवर्णे, उत्त० ११ अ० ।

अयहारि (ण्)-अयोहारिन्-त्रि० । लोहस्याहर्तरि... १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

अयाकिवाणिज्ज-अजाकृपाणीय-न० । ममोपरि कृपाणः... ष्यतीत्यजा न वेत्ति, तथा सति अजागले कृपाणपतन... तर्कितोपस्थिते, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अयाकुच्छि-अजाकुक्षि-स्त्री० । अजायाः कुक्षिरिव कु... तदजाकुक्षि । उपा० २ अ० ।

अयागर (न०)-अयआकर-पुं० । प्राकृतत्वात्पुंस्त्व... लोहाकरे, येषु निरन्तरं महामूषास्वयोदलं प्रक्षिप्याग्नि... ते । जी० ३ प्रति० ।

अयाणंत-अजानत्-त्रि० । अविदुषि, " पावस्स फल... अयाणमाणा वट्टंति" । प्रश्न० १ सम्ब० द्वा० ।

अयावय-अजाव्रज-पुं० । अजावाटके, "केइ पुरिसे ... स्स एगं महं अयावयं करेज्जा" । भ० १९ श० ३ उ० ।

अयावयट्ठ-अयावदर्थ-पुं० । न यावदर्थः । अपरि... दशा० ५ अ० २ उ० ।

अय्य-आर्य-पुं० । "न वा र्यो य्यः" । ८ । ४ । २६६ । ... भागस्य य्यः । [अस्यार्थस्तु ' अज्ज ' शब्देऽस्य भागे ... रूपव्यः] " अय्य ! एसे खु कुमाले मलयकेदू " । ... एष खलु कुमारो मलयकेतुः । प्रा० ४ पाद ।

अय्यउत्त-आर्यपुत्र-पुं० । " न वा र्यो य्यः " ८ । ४ । ... इति शौरसेन्यां र्यस्य स्थाने य्यः । श्रेष्ठपुत्रे, नाटकसंबोधने ... कादौ, "अय्यउत्त ! पय्याकुलीकदम्हि" आर्यपुत्र ! पर्या... कृताऽस्मि । प्रा० ४ पाद ।

अय्युण-अर्जुन-पुं० । "जद्यां यः" । ८ । ४ । २९२ । इति मा... जस्य स्थाने यः । (' अज्जुण ' शब्दे २२४ पृष्ठेऽस्यार्थः ... प्रा० ४ पाद ।

अर-अर-पुं० । न० । ऋ-अच् । चक्रनाभिनेम्योर्मध्यस्थे ... शमि च । वाच० । नं० । सर्वोत्तमे महासत्त्व-कुले य ... तस्याभिवृद्ध्ये वृद्धे-रसावर उदाहृतः" ॥ १ ॥ इति वचनात् ... तथा गर्भस्थेऽस्मिन् जनन्या स्वप्ने सर्वरत्नमयोऽरो दृ... अरः । ध० २ अधि० । जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रेऽवसर्पिण्याम् ... ण्यां जाते सप्तमे चक्रवर्तिनि, स० । अष्टादशे तीर्थंकरे, ... आव० । नि० । स्था० । प्रव० ।

सुमिणे अरं महरिहं, पासइ जणणी अरो तम्हा ... तस्य माते वि माउलमे कुले सुविदितकरा एव ... पुणो-(सुमिणे अरं महारिहं ति) माहात्म्यं । ... सुमिणे मध्यरयणमयो अरसुंदरो अरयमाणो ... रिहो महा अरो त्ति सं नामं कयं ति गाथार्थः ... ॥ ... अ० । आ० चू० ।

अरजिनचरित्रं त्विदम्—

सागरंतं चइत्ता णं, भरहं नरवरीसरो ।
अरो य अरयं पत्तो, पत्तो गइमणुत्तरं ॥ ४० ॥

च पुनः, अरो अरनामा नरेश्वरः सप्तमचक्री सागरान्तं समुद्रान्तं भरतक्षेत्रं षट्खण्डराज्यं त्यक्त्वा अरजस्त्वं प्राप्तः सन् अनुत्तरां गतिं सिद्धगतिं प्राप्तः, मोक्षं गत इत्यर्थः। चक्रीभूत्वा तीर्थकरपदं लब्ध्वा मोक्षं गत इत्यर्थः। अत्र अरनाथदृष्टान्तः। अरनाथवृत्तान्तस्तूत्तराध्ययनवृत्तिद्वयेऽपि नास्ति, तथापि ग्रन्थान्तराल्लिख्यते–प्राग्विदेहविजयणे मङ्गलावतीविजये रत्नसञ्चया पुरी अस्ति। तत्र महीपालनामा भूपालोऽस्ति स्म, प्राज्यं राज्यं भुङ्क्ते स्म। अन्यदा गुरुमुखाद्धर्मं श्रुत्वा स वैराग्यमागतः, स तृणमिव राज्यं त्यक्त्वा दीक्षां लली। गुर्वन्तिके एकादशाङ्गानि अधीत्य गीतार्थो बभूव। बहुवत्सरकोटीः स संयममाराध्य विंशतिस्थानकैस्तीर्थंकरनामकर्म बबन्ध। ततो मृत्वा सर्वार्थसिद्धविमाने देवो बभूव। ततश्च्युत्वा इह भरतक्षेत्रे हस्तिनापुरे सुदर्शननामा नृपो बभूव। तस्य राज्ञी देवीनाम्नी बभूव। तस्याः कुक्षौ सोऽवततार। तदानीं रेवतीनक्षत्रं बभूव। तया चतुर्दश स्वप्ना दृष्टाः। ततः पूर्णेषु मासेषु रेवतीनक्षत्रे तस्य जन्म बभूव। जन्मोत्सवस्तदा षट्पञ्चाशद्दिक्कुमारिकाभिः चतुःषष्टिसुरेन्द्रैर्निर्मितः, ततः सुदर्शनराजाऽपि स्वपुत्रस्य जन्मोत्सवं विशेषाच्चकार। अस्मिन् गर्भगते मात्रा प्रौढो रत्नमयोऽरः स्वप्ने दृष्टः। ततः पित्राऽस्य 'अर' इति नाम कृतम्। देवपरिवृतः स वयसा गुणैश्च वर्द्धते स्म। एकविंशतिसहस्रवर्षेषु अरकुमारस्य पित्रा राज्यं दत्तम्, एकविंशतिवर्षसहस्राणि यावद्राज्यं भुक्तवतः तस्य शस्त्रकोशे चक्ररत्नं समुत्पन्नं, ततो भरतं संसाध्य एकविंशतिसहस्रवर्षाणि यावच्चक्रवर्तित्वं बुभुजे। ततः स्वामी स्वयं बुद्धोऽपि लोकान्तिकदेवबोधितो वार्षिकं दानं दत्त्वा चतुःषष्टिसुरेन्द्रसेवितो वैजयन्त्याख्यां शिबिकामारूढः सहस्राम्रवणे सहस्रराजभिः समं प्रव्रजितः। ततश्चतुर्ज्ञानी असौ त्रीणि वर्षाणि छद्मस्थो विहृत्य पुनः सहस्राम्रवणे प्राप्तः। तत्र शुक्लध्यानेन ध्वस्तघातिकर्मा केवलज्ञानं प्राप। ततः सुरैः समवसरणे कृते स्वामी योजनगामिना शब्देन देशनां चकार। तां देशनां श्रुत्वा केऽपि सुश्रावका जाताः, केऽपि च प्रव्रजिताः। तदानीं कुम्भनृपः प्रव्रज्य प्रथमो गणधरो जातः। अरनाथस्य षष्टिसहस्राः साधवो जाताः, साध्व्यः स्वामिनस्तावत्प्रमाणा एव जाताः। श्रावकाश्चतुरशीतिसहस्राधिकलक्षत्रयमाना बभूवुः। सम्मेतशैलशिखरे मासिकाऽनशनेन भगवान्निर्वृतः। देवैर्निर्वाणोत्सवो भृशं कृतः॥ उत्त० १८ अ०। "अरे णं अरहा तीसं धणू उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था" । स० ३० सम०। कल्प०। आ० म०, जै० गा०। (अस्यान्तरं 'अंतर' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६६ पृष्ठे प्रदर्शितम्।)

अरइ–अरति–स्त्री०। रमणं रतिः–संयमविषया धृतिः, तद्विपरीता त्वरतिः। उत्त० २ अ०। संयमविषयेऽधैर्ये, उत्त० ३ अ०। संयमोद्विग्नतायाम्, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ०। मोहनीयकर्मोदयजे चित्तविकारे, स्था० १ ठा० १ उ०। सूत्र०। दश०। दशा०। वातादिजन्ये चित्तोद्वेगे, व्य० ११ अ०। अप्रसन्नतायाम्, शब्दादिविषयेषु संयमे वा जीवस्य चित्तोद्वेगे, सूत्र० १ उ०। सूत्र०। अनिष्टसंप्रयोगसंभवे मनोदुःखे, प्रव० ४१ द्वार। इष्टप्राप्तिविनाशोत्थे मानसे विकारे, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०। सूत्र०। स०।

अरइं आउट्टे से मेहावी

रमणं रतिस्तदभावोऽरतिः, तां पञ्चविधाचारविषयां मोहोदयात् कषायाभिष्वङ्गजनितां मातापितृकलत्रादुत्थापितां, (स इति) अरतिमान्, मेधावी विदितासारसंसारस्वभावः सन्, आवर्तेत निवर्तयेदित्युक्तं भवति। संयमे चारतिर्न विषयाभिष्वङ्गमृते, कण्डरीकस्येव; इत्यत इदमुक्तं भवति–विषयाभिष्वङ्गे रतिं निवर्तेत। निवर्तनं चैवमुपजायते–यदि दशविधचक्रवालसामाचारीविषया रतिरुत्पद्यते, पौण्डरीकस्येवेति, ततश्चेदमप्युक्तं भवति–संयमे रतिं कुर्वीत, तद्विहितरतेस्तु न किञ्चिद्बाधायै नापीहापरसुखोत्तरबुद्धिरिति। आह च–

"क्षितितलशयनं वा प्रान्तभिक्षाऽशनं वा,
सहजपरिभवो वा नीचदुर्भाषितं वा।
महति फलविशेषे नित्यमभ्युद्यतानां,
न मनसि न शरीरे दुःखमुत्पादयन्ति" ॥ १ ॥
"तणसंथारनिसण्णो, वि मुणिवरो भट्ठरागमयमोहो।
जं पावइ मुत्तिसुहं, कत्तो तं चक्कवट्टी वि" ॥ १ ॥ आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

"अरइं च वोसिरे" अरतिं चानभिमतक्षेत्रादिविषयां व्युत्सृजामि। आतु०।

अरइकम्म–अरतिकर्मन्–न०। नोकषायवेदनीयकर्मभेदे, यदुदयात् सचित्ताचित्तेषु बाह्यद्रव्येषु जीवस्यारतिरुत्पद्यते। स्था० ९ ठा०।

अरइकारग–अरतिकारक–त्रि०। अरतिजनके, दशा० १ चू०।

अरइपरि (री) सह–अरतिपरि (री) षह–पुं०। रमणं रतिः संयमविषया धृतिः, तद्विपरीता त्वरतिः, सैव परीषहः, अरतिपरीषहः। उत्त० २ अ०। अरतिर्मोहनीयजो मनोविकारः, सा च परीषहः, तन्निषेधेन सहनादिति। भ० ८ श० ८ उ०। विहरतस्तिष्ठतो वा यद्यरतिरुत्पद्येत तत्रोत्पन्नारतिनाऽपि सम्यग्धर्मारामरतेनैव संसारस्वभावमालोच्य भवितव्यम्। परीषहभेदे, आव० ४ अ०।

"गच्छंस्तिष्ठन्निषण्णो वा, नारतिप्रवणो भवेत्।
धर्मारामरतो नित्यं, स्वस्थचेता भवेन्मुनिः" ॥ १ ॥ आ० म० द्वि०।
न कदाऽप्यरतिं कुर्याद्, धर्मारामरतिर्यतिः।
गच्छंस्तिष्ठंस्तथाऽऽसीनः, स्वास्थ्यमेव समाश्रयेत" ॥ १ ॥ ध० ३ अधि०।

अरतिपरीषहमाह–

गामाणुगामं रीयंतं, अणगारं अकिंचणं।
अरई अणुप्पविसे, तं तितिक्खे परीसहं ॥ १४ ॥

ग्रामसूत्रम्–ग्रसते बुद्ध्यादीन् गुणानिति ग्रामः। स च जिगमिषितः, अनुग्रामश्च तन्मार्गानुकूलः, अननुकूलगमने प्रयोजनाभावात्, ग्रामानुग्रामम्। यद्वा–ग्रामश्च स एव लघुग्रामश्च तम्। अथवा ग्रामानुग्राममिति रूढिशब्दत्वादेकत्वाद् ग्रामादन्योऽनुग्रामः। ततोऽपि ग्रामानुग्राममुच्यते। नगराद्युपलक्षणमेतत्–तेन नगरादीश्च। किमित्याह–(रीयंतं ति) व्यत्ययाद्रीयमाणं विहरन्तम्, अनगारमुक्तस्वरूपम्, अकिञ्चनं नास्य किञ्चन प्रतिबन्धास्पदं धनकनकादयस्तीत्यकिञ्चनो निष्परिग्रहः, तथाभूतम्, अरतिरुक्तरूपा, अनुप्रविशेन्मनसि लब्धाऽऽस्पदा भवेत्, (तमिति) अरतिस्वरूपं, तितिक्षेत सहेत, परीषहमिति सूत्रार्थः।

अरहंते सिद्धे आयरिए उवज्झाए साहवो जत्थ। एएसिं चेव गन्नत्थसब्भावो इमो । तं जहा-सनरामरासुरस्स णं सव्वस्सेव जगस्स अट्ठमहापाडिहाराए पूयाए समोवलक्खियं अणन्नसरिसमचिंतमाहप्पं केवलाहिट्ठियं पवरुत्तमत्तं ॥

(अरहंते त्ति) अरहंता असेसकम्मक्खपणं णिद्दड्ढभवंकुरत्तणओ न पुणो इह भवंति, जम्मंति, उववज्जंति वा, अरहंता वा निम्महियनिहयनिद्दलियविल्लुयनिट्ठवियअभिदूयसुदुज्जया ॥ महा० ३ अ० । स्था० । प्रव० । दश० । त्रिभुवनपूजायोग्येषु तीर्थकरेषु ऋषभादिषु, कल्प० १ क्ष० । आजीविककल्पनया गोशालकोऽप्यर्हन्,अत एव तेऽर्हद्देवताका इत्युच्यन्ते । "अरहंतदेवयागा" गोशालकस्य तत्कल्पनयाऽर्हत्वात्। भ० ८ श० ५ उ० । "जो जाणइ अरहंते, दव्वत्तगुणत्तपज्जवत्तेहि। सो जाणइ अप्पाणं,मोहो खलु जाइ तस्स लयं" ॥१॥ नं० ।

अरहोऽन्तर्-न० । अविद्यमानं रह एकान्तरूपो देशोऽन्तश्च मध्यं गिरिगुहादीनां सर्ववेदितया समस्तवस्तुस्तोमगतप्रच्छन्नत्वस्याभावेन येषां ते अरहोन्तराः । अर्हत्सु जिनेषु, भ० २ श० १ उ० ।

अरथान्त-पुं० । अविद्यमानो रथः स्यन्दनः सकलपरिग्रहोपलक्षणभूतः, अन्तश्च विनाशो जराद्युपलक्षणभूतो येषां तेऽरथान्ताः । भ० १ श० १ उ० ।

अरहयत्-पुं० । कञ्चिदप्यासक्तिमगच्छत्सु क्षीणरागत्वात् प्रकृष्टरागादिहेतुभूतमनोज्ञेतरविषयसंपर्केऽपि वीतरागत्वादिकं स्वभावमत्यजत्सु जिनेषु, भ० १ श० १ उ० ।

अरहंतमग्गगामि (ण्)-अर्हन्मार्गगामिन्-त्रि० । अर्हदुपदिष्टेन मार्गेण गन्तुं शीलं यस्य । जैने साधौ, " अरहंतमग्गगामी, दिट्ठंता साहुणो वि समचित्ता । पागएसु गिहीसु, एसंते अवहमाणा य " ॥ १५ ॥ दश० १ अ० ।

अरहंतसिद्धि-अर्हत्सिद्धि-स्त्री० । सिद्धभेदे, यथाऽर्हत्वं समवाप्येति । प्रव० २३० द्वार ।

अरहट्ट-अरघट्ट-पुं० । घटीयन्त्रे, " जम्मणमरणारहट्टे, भित्तूण भवा विमुच्चिहिसि " । आतु० । भाव० ॥

अरहण्णय-अरहन्नक-पुं० । अर्हन्मित्रभ्रातरि, ग० ।

तद्वृत्तं चेत्थम्-

[illegible] ॥ १ ॥

[illegible] ॥ २ ॥

[illegible] ॥ ३ ॥

[illegible] ॥ ४ ॥

[illegible] ॥ ५ ॥

[illegible] ॥ ६ ॥

[illegible] ।

नैच्छत्सामिव गच्छिद्रा-ण्यीक्षते न त्ववैक्षत ॥ ७ ॥
समानवयसोऽथोचन्, हसन्तस्तं च साधवः ।
त्वमर्हन्मित्र ! धन्योऽसि, यच्छुनीमर्कटीप्रियः ॥ ८ ॥
अन्यदा क्रमणासह्यं अशक्ताहं विलङ्घितुम् ।
प्रमादाक्षतिभेदेन, पदं प्रासारयन्मुनिः ॥ ९ ॥
तस्य तच्छिद्रमासाद्य, सा चिच्छेदाङ्घ्रिमूलतः ।
स मिथ्यादुष्कृतं जल्प-न्नपतत्तत्र नाड्घ्रिहि ॥ १० ॥
सम्यग्दृष्टिः सुरी तां च, निर्घाट्य तं मुनेः क्रमम् ।
तथैवालगयद् भूयो, देवताऽतिशयेन च ॥११॥ ग०२ अधि० आ० म० । आ० चू० ।

अरहन्नक-पुं० । तारानगर्यामर्हन्मित्राचार्यपार्श्वे प्रव्रजितदत्तवणिग्भार्यया सह प्रव्रजिते पुत्रे, उत्त० २ अ० । (स चोष्णपरीषहमसहमान उत्प्रव्रजित इति 'उण्हपरीसह' शब्दे द्वितीयभागे ७५४ पृष्ठे वक्ष्यते) चम्पानगरीवासिनि देवदत्तकुण्डलयुगलं मल्लीनाथाय समर्पके स्वनामख्याते सांयात्रिकवणिजि, ज्ञा० ।

अर्हन्नककथा-

तत्थ णं चंपाए णयरीए अरहण्णयपामोक्खा बहवे संजत्ताणावावाणियगा परिवसंति अड्ढा जाव अपरिभूया । तए णं से अरहण्णगे समणोवासगे यावि होत्था अभिगयजीवाजीवे । वण्णओ-तए णं तेसिं अरहण्णगपामोक्खाणं संजत्तानावावाणियगाणं अण्णया कयाइं एगयओ सहियाणं इमेया रूवे मिहो कहासंलावे समुप्पज्जेत्था । सेयं खलु अम्हं गणिमं च धरिमं च मेज्जं च पारिच्छेज्जं च भंडगं गहाय लवणसमुद्दं पोयवहणेण ओगाहित्तए त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स एयमट्ठं पडिसुणेति, पडिसुणेइत्ता गणिमं च ४ गेण्हेइ, गेण्हेइत्ता सगडी-सागडं सज्जेति, सज्जेइत्ता गणिमस्स ४ भंडस्स सगडी-सागडियं भरेंति, भरेइत्ता सोहणंसि तिहिकरणणक्खत्तमुहुत्तंसि विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावेइत्ता मित्तणाइ भोयणवेलाए भुंजावेति० जाव आपुच्छंति, आपुच्छेइत्ता गणिमस्स ४ जाव सगडी-सागडियं जोयंति, जोयंतित्ता चंपाए णयरीए मज्झं मज्झेणं णिगच्छंति, णिगच्छेइत्ता जेणेव गंभीरपोयपट्टणए, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छेइत्ता सगडी-सागडियं मोयंति, पोयवहणं सज्जेंति, सज्जेइत्ता गणिमस्स ४ जाव चउव्विहस्स भंडस्स भरेंति, तंदुलाण य समियस्स य तेल्लस्स य घयस्स य गुलस्स य गोरसस्स य उदगस्स य भायणाण य ओसहाण य भेसज्जाण य तणस्स य कट्ठस्स य आवरणाण य पहरणाण य अण्णेसिं च बहूणं पोयवहणपाउग्गाणं दव्वाणं पोयवहणं भरेंति, भरेइत्ता सोहणंसि तिहिकरणणक्खत्तमुहुत्तंसि विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेंति, मित्तणाइ आपुच्छंति, जेणेव पोयट्ठाणे, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता तए णं तेसिं अरहण्णगपामोक्खाणं जाव वाणियगाणं

ते परिवुडा० जाव णाईहिं दासेहिं पेसेहिं० जाव वग्गूहिं अभिणंदंता य अभिसंथुणमाणा य एवं वयासी-अज्ज ! ताय ! भाय ! माउल ! भाइणेज्ज ! भगवया समुद्देणं अभिरक्खिज्जमाणा चिरं जीवह, भद्दं च भे; पुणरवि लद्धट्ठे कयकज्जे अणहसमग्गे णियगं घरं हव्वमागए पासामो त्ति कट्टु ताहिं सोमाहिं णिद्धाहिं दीहाहिं सप्पिवासाहिं पप्पुयाहिं दिट्ठीहिं णिरिक्खमाणा मुहुत्तमेत्तं संचिट्ठंति, तओ समाणिएसु पुप्फबलिकम्मेसु दिन्नेसु सरसरत्तचंदणदद्दरपंचंगुलितलेसु अणुक्खित्तंसि धूवंसि पूइएसु समुद्दवाएसु संसारियासु वलयबाहासु ऊसिएसु सिएसु झयग्गेसु पडुप्पवाइएसु तूरेसु जइएसु सव्वसउणेसु गहिएसु रायवरसासणेसु महया उक्किट्ठिसीहणाय० जाव रवेणं पक्खुभियमहासमुद्दरवभूयं पिव मेइणिं करेमाणा एगदिसिं० जाव वाणियगा णावं दुरूढा; तओ पुस्समाणवो वक्कमुदाहु। हं भो ! सव्वेसामवि भे अत्थसिद्धी उवट्ठियाइं कल्लाणाइं, पडिहयाइं सव्वपावाइं, जुत्तो पुस्सो विजयमुहुत्तो अयं देसकालो, तओ पुस्समाणए णं वक्के उदाहिए हट्ठतुट्ठे कण्णधारकुच्छिधारगब्भिज्जसंजत्ताणावावाणियगा वावरिंसु तं णावं पुण्णुच्छंगं पुण्णमुहिं बंधणाहिंतो मुंचंति । तए णं सा णावा विमुक्कबंधणा पवणबलसमाहया ऊसियसिया विततपक्खा इव गरुलजुवई गंगासलिलतिक्खसोयवेगेहिं संखुब्भमाणी संखुब्भमाणी उम्मीतरंगमालासहस्साइं समइक्कमाणी समइक्कमाणी कइवएहिं अहोरत्तेहिं लवणसमुद्दं अणेगाइं जोयणसयाइं ओगाढा । तए णं तेसिं अरहण्णगपामोक्खाणं वाणियगाणं लवणसमुद्दं अणेगाइं जोयणसयाइं ओगाढाणं समाणाणं बहूइं उप्पाइयसयाइं पाउब्भूयाइं। तं जहा-अकाले गज्जिए अकाले विज्जुए अकाले थणियसद्दे अभिक्खणं अभिक्खणं आगासे देवया णच्चंति । एगं च णं महं पिसायरूवं पासंति-तालजंघं दिवंगयाहिं बाहाहिं मसिमूसगमहिसकालगं भरियमेहवण्णं लंबोट्ठं णिग्गयग्गदंतं निल्लालियजमलजुयलजीहं आऊसियवयणगंडदेसं चीणचिपिडनासियं विगयभुग्गभुमयं खज्जोयगदित्तचक्खुरागं उत्तासणगं विसालवच्छं विसालकुच्छिं पलंबकुच्छिं पहसियपयलियपयडियगत्तं पणच्चमाणं अप्फोडंतं अभिवयंतं अभिगज्जंतं बहुसो बहुसो अट्टहासे विणिम्मुयंतं नीलुप्पलगवलगुलियअयसिकुसुमप्पगासं खुरधारं असिं गहाय अभिमुहमावयमाणं पासंति। तए णं ते अरहण्णगवज्जा संजत्ताणावावाणियगा एगं च णं महं तालपिसायं पासंति। तालजंघं दिवंगयाहिं बाहाहिं फुट्टसिरं भमरणिगरवरमासरासिमहिसकालगं भरियमेहवण्णं सुप्पणहं फालसरिसजीहं लंबोट्ठं धवलवट्टअसिलिट्ठतिक्खथिरपीणकुडिलदाढोवगूढवयणं विकोसियधारासिजुयलसमसरिसतणुयचंचलगलंतरसलोलचवलफुरुफुरंतनिल्लालियग्गजीहं अवयत्थियमहल्लविगयबीभच्छलालापगलंतरत्ततालुयं हिंगुलुयसगब्भकंदरबिलं व अंजणगिरिस्स अग्गिजालुग्गिलंतवयणं आऊसियअक्खचम्मोट्ठगंडदेसं चीणचिविडवंकभग्गणासं रोसागयधमधमंतमारुयनिट्ठुरखरफरुसझुसिरउब्भुग्गणासियपुडं घाडुब्भडरइयभीसणमुहं उद्धमुहकण्णसक्कुलियमहंतविगयलोमसंखालगलंबंतचलियकण्णं पिंगलदिप्पंतलोयणं भिउडितडियनिडालं णरसिरमालपरिणद्धचिंधं विचित्तगोणससुबद्धपरिकरं अवहोलंतपुप्फुयंतसप्पविच्छुयगोधुंदरणउलसरडविरइयविचित्तवेयच्छमालियागं भोगकूरकण्हसप्पधमधमेंतलंबंतकण्णपूरं मज्जारसियाललइयखंधं दित्तघुघुयंतघूयकयकुंभलसिरं घंटारवेण भीमभयंकरं कायरजणहिययफोडणं दित्तमट्टहासं विणिम्मुयंतं वसारुहिरपूयमंसमलमलिणपोच्चडतणुं उत्तासणयं विसालवच्छं पेच्छंताभिण्णणहमुहनयणकण्णवरवग्घचित्तकत्तीणियंसणं सरसरुहिरगयचम्मविततऊसवियबाहुजुयलं ताहि य खरफरुसअसिणिद्धदित्तअणिट्ठअसुभअप्पियअकंतवग्गूहि य तज्जयंतं पासंति। तं तालपिसायरूवं एज्जमाणं पासंति,पासइत्ता भीया संजातभया अण्णमण्णस्स कायं समतुरंगेमाणा बहूणं इंदाण य खंदाण य रुद्दसिववेसमणणागाणं भूयाण य जक्खाण य अज्जकोट्टकिरियाण य बहूणि उवयाइयसयाइंणि उवाइयमाणा चिट्ठंति॥ तए णं से अरहण्णए समणोवासए तं दिव्वं पिसायरूवं एज्जमाणं पासइ,पासइत्ता अभीए अतत्थे अचलिए असंभंते अणाउले अणुव्विग्गे अभिण्णमुहरागणयणवण्णे अदीणविमणमाणसे पोयवहणस्स एगदेसंमि वत्थंतेणं भूमिं पमज्जेति,पमज्जइत्ता ठाणं ठायति,ठायइत्ता करयल० जाव त्ति कट्टु एवं वयासी-णमोत्थु णं अरिहंताणं० जाव ठाणं संपत्ताणं जइ णं अहं एत्तो उवसग्गाओ मुंचामि तो मे कप्पइ पारेत्तए,अह णं एत्तो उवसग्गातो ण मुंचामि,तो मे तहा पच्चक्खाएव्वं ति कट्टु सागारभत्तं पच्चक्खाइ । तए णं से पिसायरूवे जेणेव अरहण्णए समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता अरहण्णगं समणोवासयं एवं वयासी-हंभो अरहण्णगा ! अपत्थियपत्थिया० ! जाव परिवज्जिया नो खलु कप्पइ तव सीलव्वयगुणवेरमणपच्चक्खाणपोसहोववासाइं चालित्तए वा एवं खोभित्तए वा खंडित्तए वा भंजित्तए वा उज्झित्तए वा परिच्चइत्तए वा तं जइ णं तुमं सीलव्वयं ण परिच्चयसि, तो मे अहं पोयवहणं दोहिं अंगुलियाहिं गिण्हामि, गेण्हित्ता सत्तट्ठतलप्पमाणमेत्ताइं उड्ढं वेहासं उव्विहामि । अंतो जलंमि

[illegible] इमं [illegible] अकाले चेव जीवि- [illegible] । तए णं से [illegible] समणोवासए [illegible] -हं णं देवाणुप्पिया ! [illegible] नो खलु अहं [illegible] निग्गंथाओ [illegible] वा [illegible] वा विपरिणामित्तए [illegible] जाव [illegible] विहरइ । तए णं से [illegible]

[illegible]

णं तुम्हे जीया चाव जाव सद्दे [illegible] सद्धेणं एसमट्ठे तं दिट्ठं देवाणुप्पियाणं [illegible] वीरिए पुरिसक्कारे परिक्कमे लद्धे पत्ते अभिसमन्नागए । खामेमि णं देवाणुप्पिया ! भुज्जो भुज्जो० [illegible] पाए त्ति कट्टु पंजलिउडे पायवडिए एयमट्ठं [illegible] णं भुज्जो भुज्जो खामेइ, खामेत्ता [illegible] कुंडलजुयलं दलइ, दलइत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए । तए णं से अरहण्णए [illegible] निरुवसग्गे त्ति कट्टु पडिमं पारेइ । तए णं [illegible] गयामोक्करा० जाव वाणियगा [illegible] एणं जेणेव गंभीरपोयट्ठाणे तेणेव उवागच्छइ, [illegible] गच्छइत्ता पोयं ठवेइ । पोयं ठवेइत्ता सगडी-सागडं [illegible] सज्जेइ । सज्जेइत्ता गणिमं च ४ सगडि [illegible] सगडी सागडं जोएंति जेणेव मिहिला णयरी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता मिहिलाए रायहाणीए बहि या अग्गुज्जाणंसि सगडी-सागडं मोएइ । तए णं [illegible] समणोवासए तं महत्थं [illegible] जाव [illegible] पाहुडं कुंडलजुयलं गिण्हइ, गिण्हइत्ता मिहिलाए [illegible] अणुप्पविसइ । अणुप्पविसइत्ता जेणेव कुंभए [illegible] तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करयल० जाव [illegible] महत्थं रायारिहं पाहुडं दिव्वं कुंडलजुयलं च [illegible] इ । तए णं से कुंभए राया [illegible] पडिच्छइत्ता मल्लिं विदेहरायवरकन्नं [illegible] वेइत्ता तं दिव्वं कुंडलजुयलं मल्लीए [illegible] [illegible]

[illegible]

लिया ! इहूणिं गामागर० जाव आहिंमह लवणसमुद्दं च अभिक्खणं अभिक्खणं पोयवहणेहिं उग्गाहह, तं अत्थियाइं भे केइ कहिं वि अच्छेरए दिट्ठपुव्वे । तए णं ते अरहण्णगपामोक्खा कुंभगं रायं एवं वयासी-एवं खलु अम्हे सामी ! अम्हे इहेव चंपाए नयरीए अरहण्णगपामोक्खा बहवे संजत्तानावावाणियगा परिवसामो, तए णं अम्हे अन्नया कयाइं गणिमं च ४ तहेव अहीणं अतिरित्तं० जाव कुंभगस्स रण्णो उवणेमो, तए णं से कुंभए राया मल्लीए विदेहरायवरकन्नाए तं दिव्वं कुंडलजुयलं पिणिद्धेइ । पिणिद्धेत्ता पडिविसज्जेइ । तए णं सामी ! अम्हेहिं कुंभगरायभवणंसि मल्लीए विदेहरायवरकन्नाए अच्छेरए दिट्ठे एसो खलु अन्ना काइ तारिसिया देवकन्ना० जाव जारिसिया णं मल्ली विदेहकन्ना, तए णं चंदच्छाए राया अरहण्णगपामोक्खे सक्कारेइ सम्माणेइ । सम्माणेत्ता उस्सुक्कं वियरइ पडिविसज्जेइ । तए णं चंदच्छाए राया वाणियगजणियहासे दूयं सद्दावेइ । सद्दावेत्ता० जाव जइ वि य णं सा सयं रज्जसुंका तए णं से दूए हट्ठतुट्ठे पडिसुणेइ, जेणेव सए गिहे जेणेव चाउग्घंटे आसरहे दुरूढे० जाव पहारेत्थ गमणाए ॥

(संजत्तानावावाणियग त्ति) संयात्रा यात्रा देशान्तरगमनं संयात्राप्रधाना नौवाणिजका पोतवणिजः, संयात्रानौवाणिजकाः । (अरहण्णए समणोवासए यावि होत्थ त्ति) न केवलं जाताः । (अरहण्णे समणोपासको धार्मिकः, धन्यः मार्दवादिगुणयुक्तः, श्रमणोपासकश्चाप्यभूत् । (गणिमं चेत्यादि) गणिमं-नालिकेरपूगफलादि, यद्गणितं सत् व्यवहारे प्रविशति । धरिमं-धृतं तुलाधृतं सत् व्यवह्रियते । मेयं-यत्सेतिकापलादिना मीयते । परिच्छेद्यं-यद्गुणतः परिच्छिद्यते परीक्ष्यते वस्त्रमण्यादि । (समियस्स य त्ति) कणिकायाश्च,(घोसहाण य त्ति) घृतपूर्णविशेषादीनाम् । (ओसहाण य त्ति) पथ्यानामाहारविशेषाणाम् । अथवा औषधानामेकद्रव्यरूपाणां, भेषजानां द्रव्यसंयोगरूपाणाम् । आवरणानामङ्गरक्षकारीणां, बोधिस्थप्रकाराणां च वस्त्राणाम् । (अज्जेत्यादि) आर्य !-हे पितामह !, हे तात !-हे पितः !, हे भ्रातः !, हे मातुल !, हे भागिनेय ! भगवता समुद्रेणाभिरक्षमाणाः चिरं जीवत, भद्रं च भवतां, भविष्यतीति गम्यते । पुनरपि लब्धार्थान् कृतकार्यान्, अनघसमग्रान्, अनघत्वं निर्दूषणतया, समग्रत्वं हीनधनपरिवारतया, निजकं गृहं, 'हव्व' शीघ्रमागताननघसमग्रान् निजकं गृहं हव्वं शीघ्रमागतान् पश्यामि इति कृत्वेत्यभिधाय, (सोमाहिं ति) निर्विकारम् पश्यामि इति कृत्वेत्यभिधाय, (सोमाहिं ति) निर्विकारत्वात् । (निद्धाहिं ति) सस्नेहत्वात् । (दीहाहिं ति) दूरं यावत् । (सपिवासाहिं ति) सपिपासाभिः पुनर्दर्शनस्य संकल्पात् । (पप्पुयाहिं ति) प्रप्लुताभिराकाङ्क्षाधर्मोभिः, दर्शनामृताभिर्वा । (समाणिएसु त्ति) समापितेषु दत्तेषु, निर्धूतसमाप्तादीनि, (समाणिएसु त्ति) समापितेषु ... सरसरक्तचन्दनस्य दर्दरेण चपेटाप्रकारेण पञ्चाङ्गुलिषु तलेषु, हस्तकेष्वित्यर्थः । (अणुक्खित्तंसि त्ति) अनुक्षिप्तेषु धूपे, पूजितेषु समुद्रवातेषु, नौसांयात्रिकैरात्मवाहनप्रवहणसांयात्रिकवृन्दपरिपूजितेषु वा (संसारियासु बलयबाहासु त्ति) स्थानान्तरानुचितस्थाननिवेशितेषु दीर्घकाष्ठप्रसरदिग्भागेषु आयेल्लकाष्ठानि समारोप्यते । तथा-उच्छ्रितेषु पूर्वोक्तेषु

सितेषु ध्वजाग्रेषु पताकाग्रेषु पटुभिः पुरुषैः, पटु वा यथा भवतीत्येवं प्रवादितेषु तूर्येषु जयिकेषु जयावहेषु, सर्वशकुनेषु वा गृहीतेषु राजवरशासनेषु आज्ञासु पट्टकेषु वा, प्रभुमहासमुद्रस्य भूतमिव तदात्मकमिव,तं प्रदेशमिति गम्यते। (तओ पुस्समाणवो वक्कं समुदाहु त्ति) ततोऽनन्तरं मागधो मङ्गलपाठको वचनमिदं प्रवदतीति पुष्यमाणवोऽयमित्येतेनाह-सर्वेषामेव प्रवचनामर्थसिद्धिर्भवतु, उपस्थितानि कल्याणानि, प्रतिहतानि सर्वपापानि, सर्वविघ्ना । (जुत्तो त्ति) युक्तः पुष्यो नक्षत्रविशेषः चन्द्रमसा, इत्यवसरं इति गम्यते । पुष्यनक्षत्रं हि यात्रायां सिद्धिकरम् । यदाहुः-'अपि द्वादशमे चन्द्रे पुष्यः सर्वार्थसाधनः' इति, मागधेन तदुपन्यस्तम् । विजयो मुहूर्तस्त्रिंशतो मुहूर्तानां मध्यात् अयं देशकालः, एष प्रस्तावः गमनस्येति गम्यते । (वक्के उदाहिए त्ति) वाक्ये उदाहृते, हृष्टतुष्टाः, कर्णधारा नियामकाः, कुक्षिधारा नौपार्श्वनियुक्तकाः आवेल्लकवाहकादयः, गर्भे भवा गर्भजाः, नौमध्ये उच्चावचकर्मकारिणः, संयात्रानौवाणिजकाः, भाण्डपतयः, एतेषां द्वन्द्वः । (वावरिंसु त्ति) व्यापृतवन्तः स्वस्वव्यापारमिति । ततस्तां नावं पूर्णोत्सङ्गां विविधभाण्डभृतमध्यां, पुण्यमध्यां वा, मध्यभागनिवेशितमाङ्गल्यवस्तुत्वात् । पूर्णमुखीं, पुण्यमुखीं वा । तथैव बन्धनेभ्यो मुञ्चन्ति विसर्जयन्ति पवनबलसमाहता वा वातसामर्थ्यात्प्रेरिताः । (ऊसियसिय त्ति) उच्छ्रितसितपटाः, यानपात्रे हि वायुसंग्रहार्थं महान् पट उच्छ्रितः क्रियते । एवं वासावुपमीयते-विततपक्षेव गरुडयुवतिः । गङ्गासलिलस्य तीक्ष्णा ये स्रोतोवेगाः प्रवाहवेगास्तैः संक्षुभ्यन्ती संक्षुभ्यन्ती प्रेर्यमाणा प्रेर्यमाणा, समुद्र प्रनीति । ऊर्मयो महाकल्लोलाः, तरङ्गा ह्रस्वकल्लोलाः, तेषां मालाः समूहाः तासहस्राणि, (समतिक्कमाणि त्ति) समतिक्रामन्ती (ओगाढ त्ति) प्रविष्टा । (तालजंघमित्यादि) तालो वृक्षविशेषः, स च दीर्घस्कन्धो भवति । ततस्तालवज्जङ्घे यस्य तत्तथा । (दिवं गयाहिं बाहाहिं ति) आकाशप्राप्ताभ्यामतिदीर्घाभ्यां भुजाभ्यां युक्तमित्यर्थः । (मसिमूसगमहिसकालगं ति) मषी कज्जलं, मूषक उन्दुरविशेषः । अथवा मषीप्रधाना मूषा ताम्रादिधातुप्रतापनभाजनं, महिषश्च प्रतीत एव । तद्वत्कालकं यत्तत्तथा (भरियमेहवण्णं ति) जलभृतमेघवर्णमित्यर्थः । तथा लम्बोष्ठम्, [निग्गयग्गदंत त्ति] निर्गतानि मुखादग्राणि येषां ते तथा, निर्लालिता दन्ता यस्य तत्तथा । [निल्लालियजमलजुयलजीहं ति] निर्लालितं विवृतमुखान्निस्सारितं यमलं समं युगलं द्वयं जि- [illegible] ...ंदेसं ति] " आऊ- [illegible] गण्डदेशौ क- [illegible] ं ति] चीना पीनना‍गौ यस्य तत्तथा । [[illegible] [चिपय- ह्रस्वा, चिपिटा च निम्ना, नासिका यस्य तत्तथा । [विगय- भुग्गभुमुहं ति] विकृते विकारवत्यौ, भुग्ने, भग्ने इत्यर्थः । पालन्तरेण-भुग्नभग्ने अतीववक्रे भ्रुवौ यस्य तत्तथा । [खज्जोयगदित्तचक्खुरागं ति] खद्योतको ज्योतिरिङ्गणः, तद्दीप्तचक्षूरागो लोचनरक्तत्वं यस्य स तथा । उत्त्रासनकं भयङ्करम् । विशालवक्षो विस्तीर्णोरःस्थलम्,विशालकुक्षि विस्तीर्णोदरदेशम् । [पहसियपयलियपयडियगत्तं ति] प्रहसितानि प्रहसितुमारब्धानि, प्रचलितानि च स्वरूपात्, प्रपतितानि च प्रकर्षेण श्लथीभूतानि, गात्राणि यस्य तत्तथा । वाचनान्तरे-" विगयभुग्गभग्गभुमुहं ति" पाठः । तथा पयलियपडियफुलिंगखज्जोयदित्तचक्खुरागं ति

[illegible] मवर्तिते मवर्तिते च यस्य स्फु- [illegible] तथा । " [illegible] मलीनम् । ([illegible]) । [illegible] । [illegible] [[illegible] ति] [illegible] यस्य स तथा तम- [illegible] भवति, अन्यथा [illegible] हलेति । [illegible] । [illegible] [[illegible]] [illegible] [illegible]

[illegible]

मारुतो वायुर्निपुरो निर्भरः, [illegible] रयोऽत्यर्थोऽपि तत्तथा । [illegible] पुटे यस्य स तथा तम् । इह च [illegible] स्थादिति । [illegible] विशेषाभ्याम्, [illegible] विकराले [illegible] यस्य स तथा,तम । कर्णमुखे कर्णपुटयो [illegible] स्ती तथा तौ च महान्ति दीर्घाणि [illegible] तथा तौ च (संभालणं ति) [illegible] [illegible] यस्य स तथा, तम । [illegible] दीप्यमाने [illegible] लोचने यस्य स तथा तम् । [illegible] कृतभ्रुविकारः, [illegible] [illegible] शिरोमालया परिलह [illegible] तम । अथवा-नरशिरोमालया च परिगह [illegible] यस्य स तथा तम । [illegible] सुखदः परिकरः [illegible] येन स तथा तम । ([illegible] [[illegible] ति] [illegible] [illegible] अत्यर्थ [illegible] माला यस्य स तथा तम । [illegible] स तथा तौ च [illegible] [illegible] यस्य स तथा तम । [illegible]

[illegible]

त्ति) अप्रार्थितं परेणापि न प्रार्थ्यते तत्प्रार्थयति स्म यः स तथा, तदामन्त्रणम् । पाठान्तरेण-अप्रस्थितः सन् यः प्रस्थित इव मुमूर्षुरित्यर्थः, स तथोच्यते, तदामन्त्रणम्-हे अप्रस्थितप्रस्थित !, यावत्करणात् (दुरंतपंतलक्खण त्ति) दुरन्तानि दुष्टपर्यन्तानि प्रान्तान्यपसदानि लक्षणानि यस्य स तथा, तस्यामन्त्रणम् । (हीणपुण्णचाउद्दसी इति) हीना असमग्रा पुण्या पवित्रा चतुर्दशी तिथिर्यस्य जन्मनि स तथा । चतुर्दशीजातो हि किल भाग्यवान् भवतीति । आक्रोशे तदभावो दर्शित इति । " सिरिहिरिधीकित्तिवज्जिय त्ति " प्रतीतम् । (तवसीलव्वयत्यादि) तपः, शीलव्रतान्यणुव्रतानि, गुणाः गुणव्रतानि, विरमणानि रागादिविरतिप्रकाराः, प्रत्याख्यानानि नमस्कारसहितादीनि, पोषधोपवासोऽष्टमीचतुर्दश्यादिषु, पर्वदिनेषूपवसनमाहारशरीरसत्काराब्रह्मव्यापारपरिवर्जनमित्यर्थः । एतेषां द्वन्द्वः । [चालित्तए त्ति] भङ्गकान्तरगृहीतान् भङ्गकान्तरेण कर्तुं, क्षोभयितुमेतानेवं परिपालयामि । [खोभित्तए त्ति] क्षोभयितुमेतान् कर्तुं, खण्डयितुं देशतः, भङ्क्तुं सर्वतः, 'उज्झितुं' सर्वस्याद्देशविरतेस्त्यागेन परित्यक्तुं, सम्यक्त्वस्यापि त्यागत इति । [दोहिं अंगुलयाहिं ति] अङ्गुष्ठकतर्जनीभ्याम्, अथवा-तर्जनीमध्यमाभ्यामिति । [सत्तट्ठतलप्पमाणमेत्ताइं ति] सप्तो हस्ततालाभिधानो वाऽतिदीर्घो वृक्षविशेषः, स एव प्रमाणं मानं तलप्रमाणं, सप्ताष्टौ वा सप्ताष्टानि तलप्रमाणानि परिमाणं येषां ते सप्ताष्टतलप्रमाणमात्राः, तान् गगनभागान् यावदिति गम्यते । [उड्ढं वेहासं ति] ऊर्ध्वं विहायसि गगने । [उव्विहामि त्ति] नयामि, [जेणं तुमं ति] येन त्वं [अट्टदुहट्टवसट्टे त्ति] आर्तस्य ध्यानविशेषस्य यो [दुहट्ट त्ति] दुर्घटः दुःस्थगो दुर्निरोधो, वशः पारतन्त्र्यं, तेन ऋतः पीडितः, आर्तदुर्घटवशार्तः । किमुक्तं भवति ?-असमाधिप्राप्तः । [ववरोविज्जसि त्ति] व्यपरोपयिष्यसे अपेतीभविष्यसीत्यर्थः । [चालित्तए त्ति] इह चलनमन्यथाभावं, कथम् ?, [खोभित्तए त्ति] क्षोभयितुं संशयोत्पादनतः, तथा [विपरिणामित्तए त्ति] विपरिणामयितुं विपरीताध्यवसायोत्पादनत इति । ' संते ' इति यावत्करणात् । ' तंते परितंते ' इति द्रष्टव्यम् । तत्र श्रान्तः श्रान्तो वा मनसा, तान्तः कायेन खेदवान्, परितान्तः सर्वतः खिन्नः, निर्विण्णस्तस्मादुपसर्गकरणादुपरतः । [लद्धेत्यादि] तत्र लब्धा उपार्जनतः, प्राप्ता तत्प्राप्तेः, अभिसमन्वागता सम्यगासेवनतः [आइक्खइ इत्यादि] आख्याति सामान्येन, भाषते विशेषतः । एतदेव द्वयं क्रमेण पर्यायशब्दाभ्यामुच्यते-प्रज्ञापयति, प्ररूपयति । "देवेण वा दाणवेण वा" इत्यादावपि द्रष्टव्यम् । अपरं-" किन्नरेण वा किंपुरिसेण वा महोरगेण वा गंधव्वेण व त्ति " तत्र देवो वैमानिको, ज्योतिष्को वा । दानवो भवनपतिः, शेषा व्यन्तरभेदाः , ' नो सद्दहामीत्यादि ' न श्रद्धे प्रत्ययं न करोमि । [नो पत्तियामि त्ति] तत्र प्रीतिकं प्रीतिं न करोमि, [नो रोचयामि] अस्माकमप्येवंभूता गुणप्राप्तिर्भवत्वेवं न रुचिविषयीकरोमीति [पियधम्मे त्ति] धर्मप्रियो, दृढधर्मा आपद्यपि धर्मादविचलः, यावत्करणात्कुलादिपदानि दृश्यानि । तत्र [इड्ढि त्ति] गुणर्द्धिः, द्युतिरान्तरं तेजः, यशः ख्यातिः, बलं शारीरं, वीर्यं जीवप्रभवम्, पुरुषकारोऽभिमानविशेषः, पराक्रमः स एव निष्पादितस्वविषयः, लब्धादिपदानि तथैव । [खमउ णं देवाणुप्पिया त्ति] क्षमस्व, अहमनेवं करिष्यामीत्यर्थः । ज्ञा० ८ अ० । दर्श० ।

अरिहमित्त-अर्हन्मित्र-पुं० । अर्हद्दत्तलघुभ्रातरि, श्रमिकासक्ता या भ्रातृजायया अर्हन्नो मारितः । ग० २ अधि० । [अस्य कथा ' अरहस्सय ' शब्द एवोक्ता] द्वारवतीवास्तव्ये वणिजि वैद्योपदिष्टं मांसं निर्ग्रन्थेऽप्यपवादिकमत्या अनुकल्प्यः, आ० चू० ४ अ० । आव० । [' अट्टदोसोवसंहार ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५०३ पृष्ठेऽस्य कथा समुक्ता]

अरहया-अर्हता-स्त्री० । तीर्थकरत्वे, पञ्चा० ८ विव० ।

अरहस्सधारक-अरहस्यधारक-पुं० । नास्ति अपरं (रहस्यं)रहस्यान्तरं यस्मात्तदरहस्यम् । अत एव रहस्यं छेदशास्त्रार्थतत्त्वमित्यर्थः । तद्यो धारयति अपात्रेभ्यो न प्रयच्छति सोऽरहस्यधारकः । योग्यायैव छेदसूत्रदायके, बृ० १ उ० ।

अरहस्सभागि (न्)-अरहस्यभागिन्-पुं० । रहस्यस्य प्रच्छन्नस्याभावोऽरहस्यं, तद् भजते इत्यरहस्यभागी । अर्हति, दशा० ५ अ० । कल्प० ।

अरहस्सर-अरहःस्वर-त्रि० । अपकारस्वरे महाध्वनौ, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । बृहदाक्रन्दशब्दे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

अराइ-अराति-पुं० । शत्रौ, आ० म० द्वि० । आचा० । विशे० । आ० क० । शत्रौ, वाच० ।

अरि-अरि-पुं० । ऋ-गमने-इन्-उणा० । सदा विरुद्धे, विशे० । सामान्यतः शत्रौ, अं० २ वक्ष० । दशा० । औ० । आ० म० । आव० । जन्मान्तरवैरिणि, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । रथाङ्गचक्रे, षड्वर्गादौ, अरिषु कामादिषु, वाच० ।

अरिंजय-अरिञ्जय-पुं० । श्रीवर्धमानदेवस्य [illegible] पुत्रे, कल्प० ७ क्ष० ।

अरिछव्वग्ग-अरिषड्वर्ग-पुं० । षड् वर्गः समुदाय षड्वर्गः । अरीणां षड्वर्गः । वाच० । कामक्रोधलोभमानमदहर्षाख्ये अन्तरङ्गे षड्वर्गे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । तथा चाह-अन्तरङ्गषड्वर्गे, अयुक्तितः प्रयुक्ताः कामक्रोधलोभमानमदहर्षाः क्षितीशानामन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः । तत्र परपरिगृहीतास्वनूढासु वा स्त्रीषु दुरभिसन्धिः कामः, अविचार्य परस्यात्मनो वाऽपायहेतुः क्रोधः, दानार्हेषु स्वधनाप्रदानम्-अकारणपरधनग्रहणं वा लोभः, दुरभिनिवेशामोक्षो युक्तोक्ताग्रहणं वा मानः, कुलबलैश्वर्यरूपविद्यादिभिरात्माहङ्कारकरणं, परप्रधर्षनिबन्धनं वा मदः, निर्निमित्तमन्यस्य दुःखोत्पादनेन स्वस्य द्यूतपापर्द्ध्यनर्थसंश्रयेण वा मनःप्रीतिकरो हर्षः, ततोऽस्यारिषड्वर्गस्य त्यागः [illegible] धर्मार्थकामानामुपघातहेतुत्वात् । यदाह-" दाण्डक्यो नाम भोजः कामात् ब्राह्मणकन्यामभिमन्यमानः सबन्धुराष्ट्रो विननाश, करालश्च वैदेहः ॥१॥ कोपाज्जनमेजयो ब्राह्मणेषु विक्रान्तः, तालजङ्घश्च भृगुषु ॥२॥ लोभादैलश्चातुर्वर्ण्यमत्याहारयमाणः, सौवीरश्चाजबिन्दुः ॥३॥ मानाद्रावणः परदारान् अप्रयच्छन्, दुर्योधनो राज्यादंशं च ॥४॥ मदाद्दम्भोद्भवो भूतावमानी, हैहयश्चार्जुनः ॥५॥ हर्षाद्वातापिरगस्त्यमत्यासादयन्, वृष्णिसङ्घश्च द्वैपायनमिति ॥६॥" [illegible]

अरिट्ठ-अरिष्ट-पुं० । रिष-हिंसायाम्-क्त । न० त० । [illegible] भे, वाच० । रिष्टमरे, सूत्र० १ श्रु० । काके, [illegible] ने, वाच० । [illegible] दर्श० । [illegible]

तदनु हरिप्रियाभिरङ्कन नेमिनं, कनकशृङ्गकशैर्घुसृणाधिकैः" ॥ १ ॥
तथा रुक्मिणीप्रमुखगोपिका अपि स्नापितवान्, यदयं नेमिर्निःशङ्कं क्रीडया पाणिग्रहाभिमुखीकार्यः । ततश्च ता अपि-

"काश्चित् केसरसारनीरनिकरैराच्छोटयन्ति प्रभुं,
काश्चिद् बन्धुरपुष्पकन्दुकभरैर्निघ्नन्ति वक्षःस्थले ।
काश्चित्तीक्ष्णकटाक्षलक्ष्यविशिखैर्विध्यन्ति नर्मोक्तिभिः,
काश्चित्कामकलाविलासकुशला विस्मापयाञ्चक्रिरे" ॥ १ ॥

ततश्च-

"नाथन्यः प्रमदाः सुगन्धिपयसा स्वर्णादिशृङ्गीभृतं,
भृत्या तज्जलनिर्झरैः पृथुतरैः कर्तुं प्रभुं व्याकुलम् ।
मत्यस्तस्य मिथो हसन्ति सततं क्रीडाम्बुसन्मानसा-
स्नानं व्योमनि देववर्गगिरिति समुद्भूता भुवा चाञ्चलैः ॥ २ ॥
मुग्धाः स्थ प्रमदा ! यतोऽमरगिरौ गीर्वाणनाथश्च नु-
स्पर्धया योजनमानवक्त्रकुहरैः कुम्भैः सहस्राधिकैः ।
बाल्येऽपि स्नपितो य एष भगवानाभून्मनागाकुलः,
कर्तुं तस्य सुयत्नतोऽपि किमहो! युष्माभिरीशिष्यते?" ॥ ३ ॥

ततो नेमिरपि हरिं ताश्च सर्वा जलैराच्छोटयति स्म, कमलपुष्पकन्दुकैस्ताडयति स्म, इत्यादि सविस्तरं जलक्रीडां कृत्वा तटमागत्य नेमिं स्वर्णासने निवेश्य सर्वा अपि गोप्यः परिवेष्ट्य स्थिताः । तत्र रुक्मिणी जगौ-

"निर्वाहकातरतयोद्वहसे न यत्त्वं,
कन्यां तदेतदविचारितमेव मन्ये ।
भ्राता तवास्ति विदितः सुतरां समर्थो,
द्वात्रिंशदुन्मितसहस्रवधूर्विवोढा" ॥ १ ॥

तथा सत्यभामाऽप्युवाच-

"ऋषभमुख्यजिनाः करपीडनं,
विदधिरे दधिरे च महीशताम् ।
बुभुजिरे विषयांश्च बहून् सुतान्,
सुषुविरे शिवमप्यथ लेभिरे ॥ २ ॥
त्वमसि किन्तु नवोऽद्य शिवंगमी,
भृशमरिष्टकुमार ! विचारय ।
कलय देवर ! चारुगृहस्थतां,
स्वजनबन्धुमनःसु च सुस्थताम् ॥ ३ ॥
अथ जगाद च जाम्बवती जयात्,
शृणु पुरा हरिवंशविभूषणम् ।
स मुनिसुव्रततीर्थपतिर्गृही,
शिवमगादिह जातसुतोऽपि हि ॥ ४ ॥
पद्मावतीति समुवाच विना वधूटीं,
शोभा न काचन नरस्य भवत्यवश्यम् ।
नो केवलस्य पुरुषस्य करोति कोऽपि,
विश्वासमेव विट एव भवेदभार्यः" ॥ ५ ॥

गान्धारी जगौ-

"सज्जन्ययात्राग्रजसङ्घसाधर्मि-
पर्वोत्सवा वेश्मविवाहकृत्यम् ॥
वधूनिकापुंस्करणर्पणश्च,
शोभन्त एतानि विनाऽङ्गनां नो" ॥ ६ ॥

गौर्युवाच-

"अज्ञानभाजः किल पक्षिणोऽपि,
क्षितौ परिभ्रम्य वसन्ति सायम् ।
नीडे स्वकान्तासहिताः सुखेन,
ततोऽपि किं देवर ! मूढदक्ष त्वम्" ॥ ७ ॥

लक्ष्मणाऽप्यवोचत्-

"स्नानादिसर्वाङ्गपरिष्क्रियायां,
विचक्षणः प्रीतिरसाभिरामः ।
विस्रम्भपात्रं विधुरे सहायः,
कोऽन्यो भवेन्नूनमृते प्रियायाः" ॥ ८ ॥

सुसीमाऽप्यवादीत्-

"विना प्रियां को गृहमागतानां,
प्राघूर्णकानां मुनिसत्तमानाम् ॥
करोति पूजाप्रतिपत्तिमन्यः?,
कथं च शोभां लभते मनुष्यः?" ॥ ९ ॥

एवमन्यासामपि गोपाङ्गनानां वाचोयुक्त्या यदूनामाग्रहाच्च मौनावलम्बितमपि स्मितानन जिनं निरीक्ष्य, "अनिषिद्धमनुमतम्" इति न्यायाद् नेमिना पाणिग्रहणं स्वीकृतमिति ताभिर्वादमुद्घोषितम्, तथैव जनोऽकिरिनि । ततः कृष्णेनोग्रसेनपुत्री राजीमती मार्गिता, लग्नं पृष्टे, क्रोष्टुकिनामा ज्योतिर्वित् प्राह-

"वर्षासु शुभकार्याणि, नान्यान्यपि समाचरेत् ।
गृहिणां मुख्यकार्यस्य, विवाहस्य तु का कथा? ॥ १ ॥
समुद्रस्तं बभाषेऽथ, कालक्षेपोऽत्र नार्हति ।
नेमिः कथञ्चित् कृष्णेन, विवाहाय प्रवर्त्तितः ॥ २ ॥
मा भूद्विवाहप्रत्यूहो, नेदीयस्तद्दिनं वद ॥
श्रावणे मासि तेनोक्ता, ततः षष्ठी समुज्ज्वला" ॥ ३ ॥

चलितश्च श्रीनेमिकुमारः स्फारशृङ्गारः प्रजाप्रमोदकरो रथारूढो धृतातपत्रसारः श्रीसमुद्रविजयादिदशार्हकेशवबलभद्रादिविशिष्टपरिवारः शिवादेवीप्रमुखप्रमदागीयमानधवलमङ्गलविस्तरः पाणिग्रहणाय व्रजतो गच्छंश्च वीक्ष्य सारथिं प्रति- कस्येदं कृतमङ्गलभरं धवलमन्दिरम्?, इति पृष्टवान् । ततः सोऽङ्गुल्यग्रेण दर्शयन् इति जगाद-'उग्रसेननृपस्य तव श्वशुरस्यायं प्रासाद इति, इमे च तव भार्याया राजीमत्याः सख्यौ चन्द्रानना-मृगलोचनाभिधाने मिथो वार्त्तयतः' । तत्र मृगलोचना विलोक्य चन्द्राननां प्राऽऽह-हे चन्द्रानने! स्त्रीवर्गे एका राजीमत्येव वर्णनीया, यस्या अयमेतादृशो वरः पाणिं ग्रहीष्यति । चन्द्रवदनाऽपि मृगलोचनामाह-

"राजीमतीमद्भुतरूपरम्यां, निर्माय धाताऽपि यदीदृशेन ॥
वरेण नो योजयति प्रतिष्ठां, लभेत विज्ञानविचक्षणः काम्?" ॥ १ ॥

इतश्च तूर्यशब्दमाकर्ण्य मातृगृहाद् राजीमती सखीमध्ये प्राप्ता हे सख्यौ! भवतीभ्यामेव साडम्बरमागच्छन्नपि वरो विलोक्यते, अहमपि विलोकयितुं न लभेयमिति बलात्तदन्तरे स्थित्वा नेमिमालोक्य साश्चर्यं चिन्तयति स्म-

"किं पातालकुमारः?, किं वा मकरध्वजः सुरेन्द्रः किम् ? ॥
किं वा मम पुण्यानां, प्राग्भारो मूर्त्तिमानेषः ? ॥ १ ॥
तस्य विधातुः करयो-रात्मानं न्युञ्छनं करोमि मुदा ।
येनैष वरो विहितः, सौभाग्यप्रभृतिगुणराशिः" ॥ २ ॥

मृगलोचना राजीमत्यभिप्रायं परिज्ञाय सप्रीतिहासं—हे सखि! चन्द्रानने! समग्रगुणसम्पूर्णेऽपि अस्मिन् वरे एकं दूषणं वर्त्तत एव, परं वरार्थिन्यां राजीमत्यां शृण्वन्त्यां वक्तुं न शक्यते । चन्द्राननाऽपि-हे सखि ! मृगलोचने ! मयाऽपि तद् ज्ञातं, परं साम्प्रतं मौनमेवाचरणीयम् । राजीमत्यपि अपवा माध्यस्थ्यं दर्शयन्ती-हे सख्यौ ! यस्याः कस्या अपि श्लाघनाहृतभाग्यधन्यायाः कन्याया अयं वरो भवतु, परं सर्वगुणसुन्दरोऽस्मि-

[illegible]

मतोऽहं कामये मुक्तिं, या वितरति [illegible] ॥
इत्यादि ।

राजीमती-हा देव ! [illegible] गद्गदस्वरेण आह-

"हा [illegible] ! हा [illegible] !
हा करुणाकर ! स्वामी !, [illegible] ॥
"हा [illegible] ! [illegible]
[illegible] ॥

पुनर्नेमिं [illegible] आह-

"[illegible]
[illegible] ॥

सखी [illegible]-

"[illegible]
[illegible] ॥
[illegible]
[illegible] ॥
[illegible]
"[illegible]
[illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

अथ निष्क्रमणम्-

जे से वासाणं पढमे मासे दुच्चे पक्खे सावणसुद्धे, तस्स णं सावणसुद्धस्स छट्ठीपक्खेणं पुव्वण्हकालसमयंसि उत्तरकुराए सीयाए सदेवमणुआसुराए परिसाए समणुगम्ममाणे०जाव बारवईए नयरीए मज्झं मज्झेणं निगच्छइ। निगच्छइत्ता जेणेव रेवयए उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता असोगवरपायवस्स अहे सीयं ठावेइ। ठावेइत्ता सीयाओ पच्चोरुहइ। पच्चोरुहइत्ता सयमेव आभरणमल्लालंकारं ओमुयइ। ओमुयइत्ता सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ। करेइत्ता छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं चित्ताहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं एगं देवदूसमादाय एगेणं पुरिससहस्सेणं सद्धिं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइए ॥१७३॥

(जे से वासाणं पढमे इत्यादि) योऽसौ वर्षाकालस्य प्रथमो मासो द्वितीयः पक्षः-श्रावणस्य शुक्लः पक्षः तस्य श्रावणशुक्लस्य षष्ठीदिवसे पूर्वाह्णकालसमये उत्तरकुरायां शिबिकायां स्थितो देवमनुष्यासुरसहितया पर्षदा समनुगम्यमानो यावद् द्वारवत्या नगर्या मध्यभागे निर्गच्छति। निर्गत्य यत्रैव रैवतकमुद्यानं तत्रैव उपागच्छति। उपागत्य अशोकनामवृक्षस्य अधस्तात् शिबिकां स्थापयति। संस्थाप्य शिबिकातः प्रत्यवतरति। प्रत्यवतीर्य स्वयमेव आभरणमाल्यालङ्कारान् अवमुञ्चति, अवमुच्य स्वयमेव पञ्चमौष्टिकं लोचं करोति। कृत्वा च षष्ठेन भक्तेन अपानकेन जलरहितेन चित्रायां नक्षत्रे चन्द्रयोगमुपागते सति एकं देवदूष्यं गृहीत्वा एकेन पुरुषाणां सहस्रेण सार्द्धं मुण्डो भूत्वा अगारान्निष्क्रम्य साधुतां प्रतिपन्नः ॥१७३॥ कल्प० ७ क्ष०। स०।

अथ केवलोत्पादः-

अरहा अरिट्ठनेमी चउप्पन्नं राइंदियाइं निच्चं वोसट्ठकाए तं चेव सव्वं०जाव पणपन्नगस्स राइंदियस्स अंतरा वट्टमाणस्स जे से वासाणं तच्चे मासे पंचमे पक्खे आसोयबहुले, तस्स णं आसोयबहुलस्स पन्नरसीपक्खेणं दिवसस्स पच्छिमे भाए उज्जिंतसेलसिहरे वेयसस्स पायवस्स अहे अट्ठमेणं भत्तेणं अपाणएणं चित्ताहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं झाणंतरियाए वट्टमाणस्स अणंते० जाव जाणमाणे पासमाणे विहरइ ॥ १७४ ॥

(अरहा अरिट्ठनेमी इत्यादि) अर्हन् अरिष्टनेमिः चतुष्पञ्चाशत् अहोरात्रान् यावद् नित्यं व्युत्सृष्टकायः तदेव-पूर्वोक्तं सर्वं वाच्यं यावत् पञ्चपञ्चाशत्तमस्य अहोरात्रस्य अन्तरा वर्त्तमानस्य योऽसौ वर्षाकालस्य तृतीयो मासः, पञ्चमः पक्षः आश्विनस्य कृष्णपक्षः, तस्य आश्विनबहुलस्य पञ्चदशे दिवसे दिवसस्य पश्चिमे भागे उज्जयन्तनामशैलस्य शिखरे वेतसनामवृक्षस्य अधस्तात् अष्टमेन भक्तेन अपानकेन जलरहितेन चित्रायां नक्षत्रे चन्द्रयोगमुपागते सति शुक्लध्यानस्य मध्यभागे वर्त्तमानस्य प्रभोरनन्तं केवलज्ञानं समुत्पन्नं यावत् सर्वभावान् जानन् पश्यंश्च विहरति, तत्र केवलज्ञानं रैवतकस्थे सहस्राम्रवणे समुत्पेदे, तत उद्यानपालकौ विष्णोर्व्यजिज्ञपत्। विष्णुरपि महर्द्ध्या भगवन्तं वन्दितुमाययौ। राजीमत्यपि तत्रागता। अथ प्रभोर्देशनां निशम्य वरदत्तनृपः सहस्रद्वयनृपयुतो व्रतमाददे। हरिणा च राजीमत्याः स्नेहकारणे पृष्टे प्रभुर्धनवतीभवादारभ्य तया सह स्वस्य नवभवसम्बन्धमाचष्ट। तथाहि-प्रथमे भवेऽहं धननामा राजपुत्रः, तदेयं धनवती नाम्नी मत्पत्नी अभूत् १। ततो द्वितीये भवे प्रथमे देवलोके आवां देवदेव्यौ २। ततस्तृतीये भवेऽहं चित्रगतिनामा विद्याधरः, तदेयं रत्नवती मत्पत्नी ३। ततश्चतुर्थे भवे चतुर्थे कल्पे द्वावपि देवौ ४। पञ्चमे भवेऽहं अपराजितराजा, एषा प्रियतमा राज्ञी ५। षष्ठे एकादशे कल्पे द्वावपि देवौ ६। सप्तमेऽहं शङ्खो नाम राजा, एषा तु यशोमती राज्ञी ७। अष्टमेऽपराजिते द्वावपि देवौ ८। नवमेऽहमयम्, एषा राजीमती ९। ततः प्रभुरन्यत्र विहृत्य क्रमात्पुनरपि रैवतके समवासरत्। अनेकराजकन्यापरिवृता राजीमती तदा रथनेमिश्च प्रभुपार्श्वे दीक्षां जगृहतुः। अन्यदा च राजीमती प्रभुं नन्तुं प्रतिव्रजन्ती मार्गे वृष्ट्या बाधिता। एकां च गुहां प्राविशत्। तस्यां च गुहायां पूर्वं प्रविष्टं रथनेमिमजानती सा क्लिन्नानि वस्त्राणि शोषयितुं परितः क्षिपेत्। ततश्च तामपहसितत्रिदशतरुणीरामणीयकां साक्षात् कामरमणीमिव रमणीयां तथा विवसनां निरीक्ष्य भ्रातुर्वैरादिव मदनेन मर्मणि हतः कुललज्जामुत्सृज्य धीरतामवधीर्य रथनेमिस्तां जगाद-

"अयि ! सुन्दरि ! किं देहः, शोष्यते तपसा त्वया ?।
सर्वाङ्गभोगसंयोग-योग्यः सौभाग्यशेवधिः ॥ १ ॥
आगच्छ स्वेच्छया भद्रे !, कुर्वहे सफलं जनुः ॥
आवामुभावपि प्रान्ते, चरिष्यावस्तपोविधिम्" ॥ २ ॥

ततश्च सदा सती तदाकर्ण्य तं दृष्ट्वा च धृताद्भुतधैर्या तं प्रत्युवाच-

'महानुभाव ! कोऽयं ते-ऽभिलाषो नरकाध्वनि ।
सर्वं सावद्यमुत्सृज्य, पुनर्वाञ्छन् न लज्जसे ॥ १ ॥
अगन्धनकुले जाता-स्तिर्यञ्चो ये भुजङ्गमाः ।
तेऽपि नो वान्तमिच्छन्ति, त्वं नीच ! किं ततोऽधमः ?" ॥२॥

इत्यादिवाक्यैः प्रतिबोधितः श्रीनेमिपार्श्वे तद्दुश्चीर्णमालोच्य तपस्तप्त्वा मुक्तिं जगाम। राजीमत्यपि दीक्षामाराध्य शिवशय्यामारूढा, चिरप्रार्थितं शाश्वतिकं श्रीनेमिसंयोगमवाप। यदाह-

"छद्मस्था वत्सरं स्थित्वा, गेहे वर्षचतुःशतीम् ।
पञ्चवर्षशतीं राजी, ययौ केवलिनी शिवम्" ॥ १ ॥ १७४ ॥

(कृष्णाग्रमहिषीप्रव्राजनम् 'अग्गमहिसी' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३४ पृष्ठे उक्तम्)

अथ गणादिसंपत्-

अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स अट्ठारस गणा
अट्ठारस गणहरा हुत्था ॥ १७५ ॥

(अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स त्ति) अर्हतोऽरिष्टनेमेरष्टादश गणाः, अष्टादश गणधराश्च अभवन् ॥ १७५ ॥ कल्प० ७ क्ष०।

अथ श्रमणश्रमणीसंपत्-

अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स वरदत्तपामुक्खाओ अट्ठारस समणसाहस्सीओ उक्कोसिया समणसंपया हुत्था ॥१७६॥

(अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्सेत्यादि) अर्हतोऽरिष्टनेमेः वरदत्तप्रमुखाणि अष्टादश श्रमणानां सहस्राणि, उत्कृष्टा एतावती श्रमणसम्पदा अभवत् ॥ १७६ ॥

[illegible]

(अरहओ अरिट्ठनेमिस्सेत्यादि) [illegible] ॥ १८१ ॥ कल्प० ७ क्ष० । [illegible]

अथ भगवत आयु—

तेणं कालेणं तेणं समएणं अरहा अरिट्ठनेमी [illegible] वाससयाइं कुमारवासमज्झे वसित्ता, [illegible] राइंदियाइं छउमत्थपरियायं पाउणित्ता, [illegible] याइं केवलिपरियायं पाउणित्ता, [illegible] याइं सामन्नपरियायं पाउणित्ता, [illegible] सव्वाउयं पालइत्ता, खीणे वेयणिज्जा[illegible] ओसप्पिणीए दूसमसुसमाए बहुविइक्कंताए, जे से [illegible] चउत्थे मासे अट्ठमे पक्खे आसाढसुद्धे, [illegible] अट्ठमीपक्खेणं उप्पिं उज्जिंतसेलसिहरंसि [illegible] अणगारसएहिं सद्धिं [illegible] चित्तानक्खत्तेणं जोगमुवागएणं पुव्वरत्तावरत्त[illegible] [illegible]

[तेणं कालेणं इत्यादि] [illegible]

[illegible]

" उज्जंतसेलसिहरे, दिक्खा नाणं निसीहिया जस्स ।
तं धम्मचक्कवट्टिं, अरिट्ठनेमिं नमंसामि " ॥१॥ ध० २ अधि०।
(अरिष्टनेमिना राजीमतीपरित्यागः, तथा प्रव्रजितया राजी-मत्या रथनेमिप्रतिबोधश्च ' रहनेमि ' शब्दे वक्ष्यते)
अणहिलपट्टने पूज्यमाने श्रीअरिष्टनेमिदेवे, ती० ।

तत्र कथा चेयम्-

पणमिय अरिट्ठनेमिं, अणहिल्लपुरपट्टणावयंसस्स ।
वंजारागच्छनिस्सिय-अरिट्ठनेमिस्स कित्तिमो कप्पं ॥१॥

"पुव्वं किर सिरिकन्नउज्जनयरे अक्खो नाम महाड्ढिंगपसिद्धो नेगमो होत्था। सो अन्नया वाणिज्जकज्जे महया सत्थसमेयेण कयाण-गाणि गहिऊण कन्नउज्जपडिबद्धं कनउज्जाहियगुज्जरदेसं पट्ठिओ, आवासिओ य। कमेण लक्खारामे सरस्सईसमीवे पुव्विं अणहिल्लगोवालयपट्ट-णनिवेसट्ठाणे कारिते आसी। तत्थ सत्थं निवेसित्ता अच्छंतस्स तस्स नेगमस्स पत्तो वासारत्तो । वरिसिउं पयत्ता जलहरा। अन्नया भद्दवयमासे सो वसहनाहो सव्वो वि कत्थ वि गओ, को वि न जाणइ, सव्वत्थ गवेसाविओ न लद्धो। तओ मयचरम ना-णि इय अवत्थचिंताउरस्स तस्स रत्तीए आगया सुमिणंमि भगवई अंबा देवी। भणियं च तीए-वच्छ ! जग्गसि, सुयसि वा? तक्खणेण वुत्तं-अम्मो ! कओ मे निद्दा ?, जस्स वसहसत्थो सव्व-स्स नूणं विप्पणट्ठो। देवीए भणियं-भद्द ! एयम्मि लक्खारामे अं-बिलियापूणस्स हिट्ठे पडिमातियं चट्टए । पुरिसतिगं खणावि-त्ता तं गाहयव्वं । एगा पडिमा अरिट्ठनेमिसामिणो, अवरा सिरिपासनाहस्स, अन्ना य अंबियादेवीए । अक्खेण पाररिय-त्त य अंबिलियापुणागं थाहल्लो सो पयसो कहं नायव्वो ? देवीए जंपियं-धाउमय मंडलं पुप्फपयरं जत्थ पाससि,तं चेव ठा-णं पडिमातिगस्स जाणिज्जासि। तम्मि पडिमातिगे पयडीकए पू-इज्जंते अ तुज्झ वसहा सयमेव आगच्छिहिंति। पच्छा तेण उट्ठिऊ-ण बलिविहाणपुव्वं तहा कए पयडीहूआओ तिण्णि वि पडिमाओ। पूयाओ विहिपुव्वं । खणमित्तेण अतक्कियमेव आगया वसहा । संतुट्ठो नेगमो । कमेणं कारिओ तत्थ पासाओ। ठावियाओ पडिमाओ ॥ अन्नया अरिट्ठए वासारत्ते आगहारगामाओ अट्ठारससयपट्टसालिवयरमंडिआओ वंजारागच्छमंडणसिरि-उसभसेणसूरिणो भत्तीउत्तरपरिवारिया विहरंता तत्थ आगया । ते-णेहिं विन्नविअं-भगवं ! तित्थं उल्लंघिउं गंतुं न कप्पइ । पुरओ तओ तेहिं सूरिहिं तत्थ ताओ पडिमाओ समासियपुहिमाए ध-यारोवो महूसवपुव्वं कओ । अज्जवि पइ वरिसं तम्मि चेव दिट्ठो धयारोवो कीरइ। सो य धयारोवमहूसवो विक्कमाइच्चाओ पंचसु सएसु दुनउएसु (५०२) वरिसाणं अइक्कंतेसु संवुत्तो । तओ अट्ठसएसु दुउत्तरेसु विक्कमवासेसु (८०२) अणहिल्लगोवालय प-रिक्खियपएसे लक्खारामठाणे पट्टणं चाउक्कडवंसमुत्ताहलेण वणरायराइणा निवेसियं । तत्थ वणराया जमरायपमुहरयप-हसीहरयणाइच्चसामंतसीहनामाणो सत्त चाउक्कडवंसरायाणो जाया। तओ चेव पुरे चालुक्कवंसे मूलराय-चामुंडराय-वल्लहराय-दु-ल्लहराय-भीमदेव-कन्नदेव-जयसिंहदेव-कुमारपाल-अजयदेव-बालमू-लराय-भीमदेवाभिहाणा एगारस नरिंदा । तओ वाघेलावंस-लूणसाप-वीरधवल-वीसल-अज्जुणदेव-सारंगदेव-कन्नदेवा न-रिंदा संजाया । तओ अल्लावदीणसुरत्ताणस्स गुज्जरधरित्तीए आणा पयट्टा। सो अरिट्ठनेमिसामी कोहंडीसहिओ तहा अज्ज-वि तहेव पूइज्जइ त्ति " ॥

[illegible] अरिष्टनेमिकल्पोऽयं, लिखितः [illegible] ।
[illegible] पुरा विदां श्रुत्वा, श्रीजिनप्रभसूरिभिः ॥ १ ॥ ती० २६ कल्प०। "दो तित्थयरा नीलुप्पलसमा वण्णेणं पन्नत्ता । तं जहा-मुणिसुव्वए चेव, अरिट्ठनेमी चेव " । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

अरिट्ठा-अरिष्टा-स्त्री० । [illegible] ०४ वक्ष० । " दो अरिट्ठाओ " । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

अरिट्ठारि-अरिष्टारि-पुं० । [illegible] "अपूर्ति देवकी चके, [illegible] " [illegible]

अरिणा-अरिणा-स्त्री० । [illegible] प्र० [illegible] ५ उ० ।

अरिदमण-अरिदमन-पुं० । [illegible] सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । ([illegible] मोग ७०८ पृष्ठे दर्शिता) [illegible] ध० र० ।

अरिरिरि-अव्य० । [illegible] पा० ३ पाद ।

अरिम-अरिम-न० । [illegible]

[illegible]

अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स अज्जजक्खिणीपामुक्खाओ चत्तालीसं अज्जियासाहस्सीओ उक्कोसिया अज्जियासंपया हुत्था ॥ १५७ ॥

(अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स) अर्हतोऽरिष्टनेमेः, आर्ययक्षिणीप्रमुखाणि चत्वारिंशत् आर्यासहस्राणि उत्कृष्टा एतावती आर्यासम्पदा अभवत् ॥ १५७ ॥ कल्प० ७ क्ष० । स० । आ० चू० ।

अथ श्रावकसंपत्-

अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स नंदपामुक्खाणं समणोवासगाणं एगा सयसाहस्सी अउणत्तरिं च सहस्सा उक्कोसिआ समणोवासगाणं संपया हुत्था ॥ १५८ ॥

(अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्सेत्यादि) अर्हतोऽरिष्टनेमेः नन्दप्रमुखाणां श्रावकाणामेको लक्ष एकोनसप्ततिश्च सहस्राः, उत्कृष्टा सम्पत्, श्रावकाणां सम्पदा अभवत् ॥ १५८ ॥

अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स महासुव्वयापामुक्खाणं समणोवासियाणं तिन्नि सयसाहस्सीओ छत्तीसं च सहस्सा उक्कोसिया समणोवासियाणं संपया हुत्था ॥ १५९ ॥

(अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स) अर्हतोऽरिष्टनेमेः महासुव्रताप्रमुखानां श्राविकाणां त्रयो लक्षाः षट्त्रिंशत्सहस्राः उत्कृष्टा सम्पत् श्राविकाणां सम्पदा अभवत् ॥ १५९ ॥

अथ चतुर्दशपूर्विणः-

अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स चत्तारि सया चउद्दसपुव्वीणं [illegible] संपया हुत्था ॥

[illegible] ॥ कल्प० ७ क्ष० ।

[illegible]

[illegible] केवलनाणीणं [illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible] ॥ १८० ॥

[illegible]

[illegible]

(अरहओ अरिट्ठनेमिस्सेत्यादि) अर्हतोऽरिष्टनेमेः [illegible] अन्तकृन्मर्यादा अभवत् । तद्यथा-युगान्तकृद्भूमिः, पर्यायान्तकृद्भूमिश्च ॥ यावत्; इहमग्रे योज्यम्-अष्टमं पुरुषयुगं यावत् युगान्तकृद्भूमिरासीत्, द्विवर्षपर्याये जाते कोऽपि केवली [illegible] ॥ १८१ ॥ कल्प० ७ क्ष० । स्था० ।

अथ भगवत आयुः-

तेणं कालेणं तेणं समएणं अरहा अरिट्ठनेमी तिन्नि वाससयाइं कुमारवासमज्झे वसित्ता, चउप्पन्नं राइंदियाइं छउमत्थपरिआयं पाउणित्ता, देसूणाइं सत्त वाससयाइं केवलिपरिआयं पाउणित्ता, पडिपुन्नाइं सत्त वाससयाइं सामन्नपरिआयं पाउणित्ता, एगं वाससहस्सं सव्वाउअं पालइत्ता, खीणे वेयणिज्जाउयनामगुत्ते इमीसे ओसप्पिणीए दूसमसुसमाए बहुविइक्कंताए, जे से गिम्हाणं चउत्थे मासे अट्ठमे पक्खे आसाढसुद्धे, तस्स णं आसाढसुद्धस्स अट्ठमीपक्खेणं उप्पिं उज्जिंतसेलसिहरंसि पंचहिं छत्तीसेहिं अणगारसएहिं सद्धिं मासिएणं भत्तेणं अपाणएणं चित्तानक्खत्तेणं जोगमुवागएणं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि नेसज्जिए कालगए० जाव सव्वदुक्खप्पहीणे ॥ १८२ ॥

[तेणं कालेणं इत्यादि] तस्मिन् काले तस्मिन् समये अर्हन् अरिष्टनेमिः त्रीणि वर्षशतानि कुमारावस्थायां स्थित्वा [illegible] छद्मस्थपर्यायं पालयित्वा, किञ्चिदूनानि सप्तवर्षशतानि केवलिपर्यायं पालयित्वा, प्रतिपूर्णानि सप्त वर्षशतानि चारित्रपर्यायं पालयित्वा, एकं वर्षसहस्रं सर्वायुः पालयित्वा, क्षीणेषु सत्सु वेदनीयायुर्नामगोत्रेषु कर्मसु अस्यामवसर्पिण्यां दुःषमसुषमानामके चतुर्थेऽरके बहु व्यतिक्रान्ते सति, योऽसौ उष्णकालस्य चतुर्थो मासः अष्टमः पक्षः आषाढशुद्धः, तस्य आषाढशुद्धस्य अष्टमीदिवसे उपरि उज्जयन्तशैलशिखरस्य पञ्चभिः षट्त्रिंशदधिकैरनगारशतैः सार्द्धं मासिकेन भक्तेन अपानकेन चित्रानक्षत्रे चन्द्रेण योगमुपागते सति पूर्वरात्रापररात्रसमये निषद्यायां स्थितः सन् कालगतः यावत् सर्वदुःखप्रहीणः ॥ १८२ ॥ कल्प० ७ क्ष० ।

अथ नेमिनिर्वाणात् [illegible] (सूत्र)

पुस्तकलिखनादि [illegible]-

अरहओ णं अरिट्ठनेमिस्स कालगयस्स जाव सव्वदुक्खप्पहीणस्स चउरासीइं वाससहस्साइं विइक्कंताइं पंचासीइमस्स वाससहस्सस्स नव वाससयाइं विइक्कंताइं दसमस्स वाससयस्स अयं असीइमे संवच्छरे काले गच्छइ ॥

अर्हतोऽरिष्टनेमेः कालगतस्य यावत् सर्वदुःखप्रहीणस्य [illegible]

[illegible]

इति पृषोदरादित्वादिष्टरूपनिष्पत्तिः। स्यादेतत्, अनन्तरगाथायामेव प्रोक्ताः, पुनरप्यमीषामेवेहोपन्यासो न युक्तः । उच्यते- अनन्तरगाथायां नमस्कारार्हत्वहेतुत्वेनोक्ताः, इह पुनरभिधाननिरुक्तिप्रतिपादनार्थं उपन्यासः।

साम्प्रतं प्रकारान्तरतोऽस्य आख्यायन्ते, ते चाष्टौ ज्ञानावरणादिसंज्ञाः सर्वसत्वानामेव । तथाचाऽऽह-

अट्ठविहं पि य कम्मं, अरिभूयं होइ सव्वजीवाणं ।
तं-कम्ममरिहंता, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥

अष्टविधमष्टप्रकारम्, अपिशब्दादुत्तरप्रकृत्यपेक्षया अनेकप्रकारम् । चशब्दो भिन्नक्रमः,स चावधारणे । ज्ञानावरणादि कर्मैव अरिभूतं शत्रुभूतं भवति सर्वजीवानां सत्वानाम्, अनन्तबोधादिगुणहेतुत्वात् । तत्कर्मारिहन्तारो यतः, तेनार्हन्त उच्यन्ते । रूपनिष्पत्तिः प्राग्वत्।

अथवा-

अरिहंति वंदणनमं-सणाणि अरिहंति पूयसक्कारं ।
सिद्धिगमणं च अरिहा, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥

अर्ह-पूजायाम् । अर्हन्ति वन्दननमस्करणे, तत्र वन्दनं शिरसा, नमस्करणं वाचा । तथा-अर्हन्ति पूजासत्कारं, तत्र वस्त्रमाल्यादिजन्या पूजा, अभ्युत्थानादिसंभ्रमः सत्कारः । तथा सिद्धिगमनं च सिद्धार्थाः [illegible] प्राणिनः सिद्धिः लोकान्तक्षेत्रलक्षणा । उक्तं च-"इह बोंदिं चइत्ताणं, तत्थ गन्तूण सिज्झइ" [illegible] इति अर्हन्तियर्हाः योग्याः ("अर्ह") ५।१।४७। इत्यच् । [illegible] अर्हन्तोऽर्हन्तः ।

तथा-

देवासुरमणुएसु य, अरिहा पूया सुरुत्तमा जम्हा ।
अरिणो हंताऽरिहंता, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥

[illegible] 'पृष्ठे पञ्चम्यर्थे सप्तमी, प्राकृतत्वात्' पूजामर्हन्ति [illegible] । कुत इति चेत् ? अत आह-यस्मात्सुरोत्तमाः [illegible] ततः पूजामर्हन्ति [illegible] पुनः सामान्यविशेषाभ्यामु- [illegible] इत्यादि) [illegible] हन्तारः, तथा- [illegible] हन्तारः, तेनार्हन्त उच्यन्ते । [illegible] अर्हन्त इति निष्पत्तिः [illegible] । आ० म० द्वि० । ध० । ल० । कल्प० । सूत्र० प्र० । आव० [illegible] । वंद० वि० ।

[illegible]

[illegible]

द्वितीयभागे ४०३ पृष्ठे द्रष्टव्या) " अरिहंता लोगु[illegible] रिहंते सरणं पवज्जामि " । आव० ४ अ० । ([illegible] लोकोत्तमा इति ' चउसरणगमण ' शब्दे वक्ष्ये) [illegible] अस्थोऽतीन्द्रियमर्थं न जानाति, तमेवार्हन् जानाति [illegible] " छउमत्थ ' शब्दे) (अर्हन्त एव सर्वज्ञा इति " [illegible] शब्दे निरूपयिष्यते)

जम्बूद्दीवे दीवे भरहेरवएसु वासेसु एगसमए एगजुगे [illegible]
अरिहंतवंसा उप्पज्जिंसु वा, उप्पज्जंति, उप्पज्जिस्संति [illegible]

पञ्चादिकः कालविशेषो युगं, तत्रैकस्मिन्,तस्याप्येकस्मिन् [illegible] "एगसमए एगजुगे" इत्येवंपाठेऽपि व्याख्योक्तक्रमेणैव, [illegible] घार्थसम्बन्धात, अन्यथा वा ज्ञायतेऽपीति । द्वावर्हन्तौ [illegible] वाहौ-एको भरतप्रभवः, अन्य ऐरवतप्रभव इति । [illegible] ठा० २ ठा० ।

एकस्मिन् क्षेत्रे एकसमये द्वावर्हन्तौ नोत्पद्येते इति [illegible] वासुदेवं प्रति मुनिसुव्रतोक्तिः । ज्ञा० १६ अ० । जम्बूद्वीपे [illegible] रपौरस्त्ये शीताया महानद्या उत्तरे दक्षिणे च [illegible] अष्टौ; जम्बूद्वीपे मन्दरपश्चिमेन शीतोदाया महानद्या [illegible] दक्षिणे च उत्कर्षेण अष्टावष्टौ । प्रतिकच्छादिविजयमेकै- [illegible] स्मिन् द्वात्रिंशत्तीर्थकरा इति । स्था० ८ ठा० । (अर्हज्जन्म[illegible] लोकान्धकारोद्योताविति "अंधयार" शब्देऽस्मिन्नेव भागे [illegible] पृष्ठे समुक्तम्, तथा 'तित्थयर' शब्दे सर्वो वक्तव्य [illegible] " ससिधवला अरिहंता " इति गाथायामर्हच्छरीरे [illegible] धारोपः किंहेतुकः ? इति प्रश्ने, अर्हन्तः पञ्चवर्णाः, [illegible] वर्णाः शास्त्रेषु व्यक्ततयैवोक्ताः सन्ति, आचार्यादयोऽपि [illegible] पीतादिवर्णा एव भवन्ति, तत्तेषु पूर्वाचार्यैर्गुणक्रमेण [illegible] मानेषु ध्यानार्थं एकवर्णारोपणपूर्वकमेवं ध्यानं विहितं [illegible] तीति, ते तु सर्वास्वपि क्रियासु द्रव्यक्षेत्रकालभाव [illegible] भिन्नासु प्रवर्त्तन्त इति न कोऽप्यनुपपत्तिः । १४३ । सेन० १ उल्ला० ।

अरिहंतकम्मभोमभव-अर्हत्क्षमाभोमभव-त्रि० । अर्हतां तीर्थंकराणां क्षमाधरणाः न पराक्रमोऽपि क्षमयापि, तेन [illegible] मय उत्पत्तिर्यस्य तदर्हत्क्षमाभोमभवम् । [illegible] पङ्कजसङ्गमे, द्वा० ५ अध्या० ।

अरिहंतकम्पनोपगमासिय-अर्हत्क्षमाम्भोजगमाश्रित-त्रि० । अर्हतां वीतरागाणां क्षमाधरणाख्य पद्माम्भोजानि [illegible] समाश्रितः । अर्हच्चरणारविन्दशरणानुगे, द्वा० ११ अध्या० ।

अरिहंतचेइय-अर्हच्चैत्य-न० । [illegible] कर्मा पूजामर्हन्तीति अर्हन्तः तीर्थंकराः, तेषां [illegible] मानि [illegible] अर्हच्चैत्यानि । [illegible] भाव कर्मणि वा (" [illegible] " ७ । १ । ५१ । इति हैमसूत्रेण ष्यणि) [illegible] तथार्हतां प्रतिमाः प्रशस्तसमाधिचित्तोत्पादकत्वात् [illegible] त्यानि भण्यन्ते । अर्हत्प्रतिमासु, " अरिहंतचेइयाणं [illegible] काउस्सग्गं " आव० ५ अ० । आ० चू० । [illegible]

अरिहंतनाणिन-अर्हज्ज्ञानिन-त्रि० । अर्हद्भिः [illegible] ते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अरिहंतमणुन्नाय-अर्हदनुज्ञात-त्रि० । [illegible] नुज्ञाते, प्रश्न० १६ द्वा० ।

तत्तीर्थकरास्ते
म " ७ । १ ।
अर्हत्सात्किकम ।
। अर्हतां धम-
भयरूपासु य-
म० ५ सम्म०
। २ मधि० ।
.तयुरूपयोः पञ्चमे
शिष्ये, कल्प० ८ क्ष० ।

अरिहदिण्ण-अर्हद्दत्त-पुं० । सिंहगिरेश्चतुर्थे शिष्ये, कल्प० ८ क्ष० ।

अरुउवसग्ग-अरुगुपसर्ग-पुं० । रोगरहिते उपसर्गे, तं० ।

-अरूपोपसर्ग-पुं० । आर्षत्वाद् पकारलोपः । रूपरहिते उत्पाते, तं० ।

अरुग-अरुक-न० । व्रणे, " अरुगं इहरा कुत्थइ " । बृ० ३ उ० ।

अरुण-अरुण-पुं० । नन्दीश्वरवरसमुद्रस्य परतोऽरुणोदसमुद्रपरिवेष्टिते द्वीपभेदे, स च वृत्तवलयाकारसंस्थानसंस्थित । तत्र अशोकवीतशोकौ देवौ । सू० प्र० १९ पाहु० । अनु० । द्वी० । जी० । प्रज्ञा० । नं० । स्था० । " दयणा व समुद्दाओ, दीवसमुद्दा भवे असंखिज्जा । गंतूण होइ अरुणो, अरुणे दीवो तओ उदही " ॥ ६४ ॥ द्वी० । हरिवर्षनामाऽकर्मभूमिवृत्तवैताढ्यपर्वतस्याधिपती देवे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । अरुणोपपातग्रन्थप्रतिपाद्ये देवे, स्था० १० ठा० । उपा० । सू० प्र० । विमानभेदे, अरुणादीनि दश विमानानि-" अरुणे १ अरुणाभे २ खलु, अरुणप्पह ३ अरुणकंत ४ सिट्ठे य ५ । अरुणज्झए य छट्ठे ६, भूय ७ वडिंसे ८ गवे ९ कीले १० " ॥ ५ ॥ शिष्टादिनामान्यरुणपदपूर्वाणि द्रष्टव्यानि । उपा० ९ अ० । ऋ-उनन् । सूर्ये, सूर्यसारथौ, गुडे, सन्ध्यारागे, निःशब्दे, दानवभेदे, कुष्ठभेदे, पुन्नागवृक्षे, अव्यक्तरागे, कृष्णमिश्रितरक्तवर्णे च । तद्वति, त्रि० । कुङ्कुमे, सिन्दूरे च । न० । मञ्जिष्ठायां, श्यामाकायाम, अतिविषायां, नदीभेदे, कदम्बपुष्पायां च । स्त्री० । वाच० ।

अरुणगंगा-अरुणगङ्गा-स्त्री० । महाराष्ट्रजनपदभूमौ वहति नदीभेदे, ती० ४८ कल्प ।

अरुणप्पभ-अरुणप्रभ-पुं० । चतुर्थेऽनुवेलन्धरनागराजे, तदावासपर्वते च । जी० ३ प्रति० । स्था० । विमानभेदे, उपा० १ अ० । राहोश्चन्द्रं गृह्णतो दशमे कृष्णपुद्गले, चं० प्र० २० पाहु० ।

अरुणप्पभा-अरुणप्रभा-स्त्री० । नवमस्य तीर्थंकरस्य निष्क्रमणशिबिकायाम्, स० ।

अरुणवर-अरुणवर-पुं० । स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च । तत्र अरुणवरे द्वीपे अरुणवरभद्रारुणवरमहाभद्रौ, अरुणवरे समुद्रे अरुणभद्रारुणमहानद्रौ देवौ । सू० प्र० १९ पाहु० । जी० । अनु० । द्व० प० ।

अरुणवरोभास-अरुणवरावभास-पुं० । स्वनामख्याते द्वीपविशेषे, समुद्रविशेषे च । तत्रारुणवरावभासे द्वीपे अरुणवरावभासभद्रारुणवरावभासमहाभद्रौ । अरुणवरावभाससमुद्रे अरुणवरावभासवरारुणवरावभासमहावरौ देवौ । सू० प्र० १९ पाहु० । जी० । चं० प्र० ।

अरुणाभ-अरुणाभ-पुं० । अरुणकान्तौ, चन्द्रं गृह्णतो राहोर्दशमे कृष्णपुद्गले, सू० प्र० २० पाहु० । विमानभेदे, स० ८ सम० । स्था० ।

अरुणुत्तरवडिंसग-अरुणोत्तरावतंसक-न० । विमानभेदे, स० ८ सम० ।

अरुणोदग-अरुणोदक-पुं० । अरुणद्वीपस्य परितः प्रवृत्ते समुद्रे, अरुणोदे समुद्रे सुभद्रमनोभद्रौ देवौ । सू० प्र० १९ पाहु० । चं० प्र० । द्वी० । स० ।

अरुणोववाय-अरुणोपपात-पुं० । अरुणो नाम देवस्तत्समयनिबद्धो ग्रन्थस्तदुपपातहेतुररुणोपपातः । संक्षेपिकानां दशानां षष्ठेऽध्ययने, स्था० ।

नन्द्यध्ययनटीकायां चूर्णिकारो भावयति-

जाहे तमज्झयणं उवउत्ते समाणे अणगारे परियट्टइ ताहे से अरुणे देवे ससमयनिबद्धत्तणओ चलियासणे संभमुब्भंतलोयणे पउत्तावही वियाणिय हट्ठपहट्ठे चलचवलकुंडलधरे दिव्वाए जुईए दिव्वाए विभूईए दिव्वाए गईए जेणामेव से भगवं समणे निग्गंथे अज्झयणं परियट्टेमाणे अत्थेइ तेणामेव उवागच्छइ । उवागच्छित्ता भत्तिभरोणयवयणे विमुक्कवरकुसुमगंधवासे उवेइ । उवयइत्ता ताहे से समणस्स पुरतो ठिच्चा अंतद्धिए कयंजली उवउत्ते संवेगविसुज्झमाणज्झवसाणे तमज्झयणं सुणमाणे चिट्ठइ । समत्ते अज्झयणे भणइ-भयवं ! सुसज्झाइयं सुसज्झाइयं वरं वरेहि त्ति, ताहे से इहलोयनिप्पिवासे समतणमणिमुत्ताहललेट्ठुकंचणे सिद्धवररमणिपडिबद्धनिब्भराणुरागे समणे पडिवणइ-न मे भो ! वरेणं अट्ठो त्ति । ततो से अरुणदेवे अहिगयरजायसंवेगे पयाहिणं करेत्ता वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता पडिगच्छइ ॥ नं० टी० ॥

यदा तदध्ययनमुपयुक्तः सन् श्रमणः परिवर्तयति, तदाऽसावरुणो देवः स्वसमयनिबद्धत्वाच्चलितासनः संभ्रमोद्भ्रान्तलोचनः प्रयुक्तावधिस्तद्विज्ञाय हृष्टप्रहृष्टश्चलचपलकुण्डलधरो दिव्यया द्युत्या दिव्यया विभूत्या दिव्यया गत्या यत्रैवासौ भगवान् श्रमण अध्ययनं परिवर्तयति तत्रैवोपागच्छति । उपागत्य च भक्तिभरावनतवदनो विमुक्तवरकुसुमवृष्टिरवपतति । अवपत्य च तदा तस्य श्रमणस्य पुरतः स्थित्वाऽन्तर्हितः कृताञ्जलिक उपयुक्तः संवेगविशुद्ध्यमानाध्यवसानः तमध्ययनं शृण्वँस्तिष्ठति । समाप्ते च भणति-सुस्वाध्यायितं सुस्वाध्यायितमिति वरं वृणीष्वेति । ततोऽसाविहलोकनिष्पिपासः समतृणमणिमुक्ताश्मलोष्टकाञ्चनः सिद्धवरवधूनिर्भरानुगतचित्तः श्रमणः प्रतिभणति-न मे वरेणार्थ इति । ततोऽसावरुणो देवोऽधिकतरजातसंवेगः प्रदक्षिणां कृत्वा वन्दते, नमस्यति । वन्दित्वा नमसित्वा प्रतिगच्छति । एवं वरुणोपपातादिष्वपि भणितव्यमिति । स्था० १० ठा० । नं० । पा० । द्वादशवर्षपर्यायस्य श्रमणस्य कल्पतेऽरुणोपपातः । व्य० १ उ० ।

अरुय-अरुस्-न० । व्रणे, "नातिकंडूइयं सेयं, अरुयस्सावरज्झति " । अरुषो व्रणस्यातिकण्डूयितं नखैर्विलेखनं न श्रेयो न

इति पृषोदरादित्वादिष्टरूपनिष्पत्तिः । स्यादेतत्, अनन्तरगाथाद्वयेन पर्यायः, पुनरप्यमीषामेवेहोपन्यासो न युक्तः । उच्यते- अनन्तरगाथायां नमस्कारार्हत्वहेतुत्वेनोक्ताः, इह पुनरभिधानिरुक्तिप्रतिपादनार्थं उपन्यासः ।

साम्प्रतं प्रकारान्तरतोऽपि व्याख्यायन्ते, ते चाष्टौ ज्ञानावरणादिसंज्ञाः सर्वसत्त्वानामेव । तथाचाऽऽह-

अट्ठविहं पि य कम्मं, अरिभूयं होइ सव्वजीवाणं ।
तं-कम्ममरिहंता, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥

अष्टविधमप्यष्टप्रकारम्, [illegible] अनेकप्रकारम् । [illegible] ज्ञानावरणादि कर्म [illegible] भवति सर्वजीवानां सत्त्वानाम्, अनर्थसंपादितहेतुत्वात् । तत्कर्मारिहन्तारो यतः, तेनार्हन्त उच्यन्ते । [illegible]

अथवा-

अरिहंति वंदणनमं-सणाणि अरिहंति पूयसक्कारं ।
सिद्धिगमणं च अरिहा, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥

अर्ह-पूजायाम् । अर्हन्ति वन्दननमस्करणे, तत्र वन्दनं शिर-[illegible] । तथा-अर्हन्ति पूजासत्कारं, तत्र वस्त्र-[illegible] पूजा, [illegible] सत्कारः । तथा-[illegible] भवन्त्यर्हाः । सिद्धिः लोकान्तक्षेत्र-[illegible] "[illegible] मिज्झइ" [illegible] । हैमः ("अर्ह" । ५ । १ । ४९ । इत्यच्) [illegible] ।

तथा-

देवासुरमणुएसु य, अरिहा पूया सुरुत्तमा जम्हा ।
अरिणो हंता रयं हंता, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥

[illegible] पूजाम-[illegible] । पूजा इति केन ? [illegible] यस्मात्सुरोत्त-[illegible] समवसरणा-[illegible] पुनः सामान्यविशेषाभ्यामु-[illegible] तथा-[illegible] तेनार्हन्त उ-[illegible] इति निरुक्तिः [illegible] । आव०

[illegible]

द्वितीयभागे ४८३ पृष्ठे द्रष्टव्या) " अरिहंता मंगलं । [illegible] अरिहंते सरणं पवज्जामि " । आव० ४ अ० । ([illegible] लोकोत्तमा इति ' चउसरणगमण ' शब्दे वक्ष्ये) । ([illegible] छद्मस्थोऽतीन्द्रियमर्थं न जानाति, तमेवार्हन् जानाति [illegible] " छउमत्थ ' शब्दे) (अर्हन्त एव सर्वज्ञा इति " [illegible] शब्दे निरूपयिष्यते)

जम्बूद्दीवे दीवे भरहेरवएसु वासेसु एगसमए एगजुगे [illegible]
अरिहंतवंसा उप्पज्जिंसु वा, उप्पज्जंति, उप्पज्जिस्संति वा ।

पञ्चादिकः कालविशेषो युगं, तत्रैकस्मिन्नस्यान्ते [illegible] "एगसमए एगजुगे" इत्येवंपाठेऽपि व्याख्योक्तेव, [illegible] वार्थसम्बन्धात्, अन्यथा वा भावनीयेति । [illegible] वाहौ-एको भरतप्रभवः, अन्य ऐरवतप्रभव इति । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

एकस्मिन् क्षेत्रे एकसमये द्वावर्हन्तौ नोत्पद्येते इति [illegible] वासुदेवं प्रति मुनिसुव्रतोक्तिः । ज्ञा० १६ अ० । जम्बूद्वीपे [illegible] पौरस्त्ये शीताया महानद्या उत्तरे दक्षिणे च [illegible] जम्बूद्वीपे मन्दरपश्चिमेन शीतोदाया महानद्या [illegible] दक्षिणे च उत्कर्षेण अष्टावष्टौ । प्रतिकच्छादिविजयमेकैकस्मिन् द्वात्रिंशत्तीर्थंकरा इति । स्था० ८ ठा० । ([illegible] लोकान्धकारोद्योताविति "अंधयार" शब्देऽस्मिन्नेव भागे [illegible] पृष्ठे समुक्तम्, तथा 'तित्थयर' शब्दे सर्वो [illegible] " ससिधवला अरिहंता " इति गाथायामर्हतां [illegible] धारोपः किंहेतुकः ? इति प्रश्ने, अर्हन्तः पद्मवर्णाः, [illegible] वर्णाः शास्त्रेषु [illegible] सन्ति, आचार्योपाध्याय [illegible] पीतादिवर्णा एव भवन्ति, तेनैतेषु पूर्वाचार्यैः [illegible] मानेषु ध्यानार्थे [illegible] ध्यानं [illegible] तीति, न तु सर्वास्वपि क्रियासु [illegible] क्रियासु प्रवर्त्तनेन इति न काऽप्यनुपपत्तिः । [illegible]

अरिहंतकमंभोयभव-अर्हत्क्रमाम्भोजभव-त्रि० । अर्हतां तीर्थंकराणां क्रमाम्बुजाः न पदाम्भोजानि क्रमयोः, तेभ्यो भव उत्पत्तिर्यस्य तदर्हत्क्रमाम्भोजभवम् । [illegible] पङ्कजसम्बन्धं, द्वात्रि० ५ द्वात्रि० ।

अरिहंतकमंभोयपमाणिय-अर्हत्क्रमाम्भोजप्रमाणित-त्रि० । अर्हतां वीतरागाणां क्रमाम्बुजानि पदाम्भोजानि [illegible] समाश्रितः । अर्हच्चरणाम्बुजशरणीभूते, द्वात्रि० ११ द्वात्रि० ।

अरिहंतचेइय-अर्हच्चैत्य-न० । [illegible] पूजामर्हन्तीति अर्हन्तः तीर्थंकराः, तेषां चैत्यानि [illegible] अर्हच्चैत्यानि । इदमत्र भावना-[illegible] भावे कर्मणि वा (" वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च " ७ । १ । ५९ । इति हैमसूत्रेण ष्यञ्) [illegible] तदर्हतां प्रतिमाः [illegible] स्यानि भवन्ति । अर्हत्प्रतिमासु, " अरिहंतचेइयाणं करेमि काउस्सग्गं " आव० ५ अ० । [illegible]

अरिहंतणाणिय-अर्हज्ज्ञानिक-त्रि० । अर्हद्भिः [illegible] सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

अरिहंतणुणाय-अर्हदनुज्ञात-त्रि० । अर्हद्भिरनुज्ञाते, [illegible] १६ अ० ।

शोभनं भवति, अपि त्वपराध्यति, तत्कण्डूयनं व्रणस्य दोषमावहति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अरुज्-त्रि० । आधिव्याधिवेदनारहिते, ध० २ अधि० । शरीरमनसोरभावाद् अविद्यमानरोगे सिद्धिस्थाने, स० १ सम० । औ० । जी० । कल्प० ।

अरुह-अर्हत्-पुं० । "उच्चार्हति" । ८ । २ । १११ । इति सूत्रेण संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात् पूर्वं उद्, अदितौ च भवतः । अरुहो, अरहो, अरिहो । प्रा० २ पाद । योग्ये, तीर्थंकरे च । प्रव० २७५ द्वार ।

अरुह-पुं० । न रोहति भूयः संसारे समुत्पद्यते इत्यरुहः, संसारकारणानां कर्मणां निर्मूलकाषं कषितत्वात् । अजन्मनि सिद्धे, प्रव० २७५ द्वार । क्षीणकर्मबीजत्वात् (अरुहः) । आह च- "दग्धे बीजे यथात्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः" ॥१॥ भ० १ श० १ उ० । आव० । दर्श० ।

अरूव-अरूप-त्रि० । न विद्यते रूपं स्वभावो यस्यासावरूपः । अनन्तस्वभावे, अने० ४ अधि० ।

अरूवकाय-अरूपकाय-पुं० । अमूर्त्ते धर्मास्तिकायादौ, भ० ७ श० १० उ० ।

अरूवि (ण्)-अरूपिन्-त्रि० । रूपं मूर्तिर्वर्णादिमत्त्वं, तदस्यास्तीति रूपी, न रूपी अरूपी । अमूर्ते, स्था० ५ ठा० ३ उ० । धर्मास्तिकायादौ, प्रज्ञा० १ पद । भ० । आव० ।

"धम्मत्थिकाए तद्देसे, तप्पएसे य आहिए ।
अहम्मे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ॥ ५ ॥
आगासे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ।
अद्धासमए चेव, अरूवी दसहा भवे" ॥ ६ ॥ उत्त० ३६ अ० ।

(टीकाऽनयोः 'अजीव' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २०३ पृष्ठे दर्शिता) कर्मणि अमूर्ते आत्मनि, भ० १७ श० २ उ० । दर्श० । कर्मरहिते सिद्धे, आ० म० द्वि० । मुक्ते, स्था० २ ठा० १ उ० । "अरूवी सत्ता, अपयस्स पयं नत्थि, से न सद्देण रूवेण गंधेण रसेण फासे इच्चेयावंति त्ति बेमि" । (अरूवी सत्ता त्ति) तेषां मुक्तात्मनां या सत्ता साऽरूपिणी । अरूपित्वं च दीर्घादिप्रतिषेधेन प्रतिपादितम् । आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

अरूविअजीवपण्णवणा-अरूप्यजीवप्रज्ञापना-स्त्री० । रूपादिभिर्विकाररहिता धर्मास्तिकायादयः, ते च ते अजीवाश्च अरूप्यजीवाः; तेषां प्रज्ञापना अरूप्यजीवप्रज्ञापना । अजीवप्रज्ञापनाभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

अरे-अरे-अव्य० । रतिकलहे, "अरे! मए समं मा करेसु उवहासं" । प्रा० २ पाद । रेरेकारे, नीचसंबोधने, आक्षेपे, असूयायां च । वाच० ।

अरोग-अरोग-त्रि० । निरोगे, भ० १८ श० १ उ० । [illegible] सिद्धे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अल-अल-धा० । भूष-णे । पूर्वं अलङ्कुर्वन्ति [illegible] । वाच० । पर्व [illegible] समर्थे, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० । [illegible], ज्ञा० २ श्रु० ।

अलं-अलम्-अव्य० । पर्याप्ते, नि० चू० १ उ० । आचा० । भ० । [illegible] । अत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० । सामर्थ्ये, औ० । [illegible], सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । भूषणे, सामर्थ्ये, निवारणे, निषेधे, निरर्थके, अत्यर्थे [illegible] च । वाच० ।

अलंकरण-अलङ्करण-न० । शोभाकारके, कल्प० ३ क्ष० ।

अलंकार-अलङ्कार-पुं० । अलङ्क्रियते भूष्यतेऽनेनेत्यलङ्कारः । कटककेयूरादिके, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । औ० । ज्ञा० । दशा० । आभरणविशेषे, रा० । आ० म० । बृ० । अलङ्-कृ-करणे घञ् । भूषायाम्, हारादौ भूषणे, साहित्ये-काव्यदोषगुणप्रतिपादके ग्रन्थे, शब्दभूषणे-अनुप्रासादौ, अर्थभूषणे-उपमादौ च । वाच० । "चउव्विहे अलंकारे पण्णत्ते । तं जहा-केसालंकारे वत्थालंकारे मल्लालंकारे आभरणालंकारे" । स्था० ४ ठा० ४ उ० । आ० चू० ॥

अलंकारचूलामणि-अलङ्कारचूडामणि-पुं० । स्वनामख्याते अलङ्कारग्रन्थे, यस्य वृत्तिः प्रतिमाशतक-नयोपदेशकर्त्रा कृता । नयो० । प्रति० ।

अलंकारिय-आलङ्कारिक-पुं० नापिते, ज्ञा० १३ अ० ।

अलंकारियकम्म-आलङ्कारिककर्मन्-न० । नखच्छ[म]श्रुनादौ, ज्ञा० २ अ० । क्षुरकर्मणि, विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

अलंकारियसहा-आलङ्कारिकसभा-स्त्री० । नापितकर्मशालायाम्, ज्ञा० १३ अ० । आलङ्कारिकसभा यस्यामलङ्क्रियते । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

अलंकिय-अलङ्कृत-त्रि० । मुकुटादिभिः [कल्प० ३ क्ष० । औ० । ज्ञा० ।] विभूषिते, दशा० १० अ० । औ० । ज्ञा० । विपा० । भ० ९ श० ३३ उ० । उत्प्रेक्षादिभिरलङ्कारैर्विभूषिते, विशे० । अनु० । उपमादिभिः काव्यालङ्कारैर्युते, आ० म० द्वि० । स्था० । उत्त० । अन्यान्यस्फुटशुभस्वरविशेषाणां करणादलङ्कृतम् । स्था० ७ ठा० । अनु० । अन्यान्यस्वरविशेषकरणेनालङ्कृतमिव गीयमाने गीतगुणभेदे, जी० ३ प्रति० ।

अलंचपक्खगाहि (ण्)-अलञ्चापक्षग्राहिन्-पुं० । "न कस्यापि लञ्चापक्षग्राही, परिमया कवजकक्खाओ" । न कस्यापि पक्षं गृह्णन्ति, ते मुञ्चन्ति गृह्णन्ति, नाप्यात्मीयोऽयमिति कृत्वा पक्षं गृह्णन्ति, एतादृशा अलञ्चापक्षग्राहिणः कृपया मूर्त्ता यद्वा इव [illegible] मूर्तिमन्तो धर्मैकनिष्ठा देवा इत्यर्थः । [illegible] पञ्चापरिमाहकेषु रूपकेषु, व्य० १ उ० ।

अलंथूम-अलंथूम-पुं० । अत्यन्तमलिने, अष्ट० ३ अष्ट० ।

अलंबुसा-अलम्बुसा-स्त्री० । उत्तरदिग्भागवास्तव्यरुचकवासिन्यां दिक्कुमार्याम्, जं० ५ वक्ष० । आ० म० । द्वी० । आ० क० । स्था० । आ० चू० ।

अलंजोगसमत्थ-अलंयोगसमर्थ-त्रि० । अत्यर्थं भोगानुभवनसमर्थे, औ० ।

अलक्ख-अलक्ष-पुं० । वाराणसीनगर्यां राजभेदे, अन्त० । [illegible] अन्तकृद्दशानां षष्ठवर्गस्य षोडशेऽध्ययने सूचितमिदम् । [illegible] "तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणारसीए नयरीए काममहावणे चेइए । तत्थ णं वाणारसीए नयरीए अलक्खे नामं राया होत्था । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे जाव विहरइ, परिसा निग्गया । तए णं अलक्खे राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे [illegible] जाव पज्जुवासइ । [illegible] महावीरस्स अंतिए [illegible] धम्मं सोच्चा णिसम्म [illegible] अलक्खे राया समणस्स [illegible] निक्खंतो, जाव एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ [illegible] बहूइं वासाइं परियाओ जाव विपुले सिद्धे" । अन्त० ६ वर्ग ।

अल्लसगणया-अल्लसगणना-स्त्री० । असमञ्जसाभिधायितायाम्, विशे० ।

अलगापुरी-अलकापुरी-स्त्री० । वैश्रवणपत्तनपुर्याम्, अन्त० । धर्म० ।

अलचपुर-अचलपुर-न० । "अचलपुरे च-लोः" । ८ । २ । ११८ । इति सूत्रेण अचलपुरशब्दे चकारलकारयोर्व्यत्ययः । कृष्णाबेणानद्योः समीपस्थनगरे, प्रा० २ पाद ।

अलत्त-अलक्त-पुं० । लाक्षारसे, अनु० ।

अलत्तय-अलक्तक-पुं० । लाक्षारसेन रक्ते, "जे रत्तए ते अलत्तए" । यो रक्तो लाक्षारसेन [प्राकृतशैल्यां कन् प्रत्ययः] स एव रक्तोऽभिधया अलक्तक उच्यते । अनु० ।

अलद्ध-अलब्ध-त्रि० । अप्राप्ते, स्था० ५ ठा० २ उ० । अप्राप्ते च, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अलद्धिजुत्त-अलब्धियुक्त-त्रि० । स्वकीयलाभविहीने, पञ्चा० १८ विव० ।

अलद्धिय-अलब्धिक-त्रि० । अलब्धिमति लब्धिरहिते, ओघ० ।

अलमसिरी-अलमश्री-स्त्री० । अलादेव्या मातरि, ज्ञा० २ अ० ।

अलमंथु-देशी-पुं० । असमयभाषया समर्थे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

अलमत्थु-अलमस्तु-त्रि० । अलमस्तु निषेधो भवतु, य एवमाह सोऽलमस्त्वित्युच्यते । निषेधके, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

अलय-अलय-पुं० । वृश्चिककण्टके, " अलए भंजावेइ " इति वृश्चिककण्टकान् शरीरे प्रवेशयतीत्यर्थः ॥ विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

अलयभद्दा-अलकभद्रा-स्त्री० । कैलासस्य पूर्वतः पुर्याम्, दी० ।

अलया-अलका-स्त्री० । वैश्रवणपत्तनपुर्याम्, ज्ञा० ४ अ० ।

अलव-अलप-त्रि० । लपन्तीति लपा वाचालाः । घोषितानेकतर्कविचित्रदण्डकाः, तथा न लपा अलपाः । मौनव्रतिकेषु निष्ठितयोगेषु गुटिकादियुक्तेषु, यद्वशात् अभिधेयविषया वागेव न निस्सरति । सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

अलवणसक्य-अलवणसंस्कृत-त्रि० । विशिष्टसंस्काररहिते, व्य० ४ उ० ।

अलस-अलस-त्रि० । निरुद्यमे, वृ० १ उ० । मन्दे, जीवा० । असमर्थे च । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । स्था० । गण्डोलके, पुं० । " अलसो त्ति वा गंडूलगो त्ति वा सुसुणागो त्ति वा एगट्ठं" । नि० चू० १ उ० ।

अलसग-अलसक-पुं० । " नोर्ध्वं व्रजति नाधस्ता-दाहारो न च पच्यते । आमाशयेऽलसीभूत--स्तेन सोऽलसकः स्मृतः " ॥ १ ॥ इत्युक्तलक्षणे विसूचिकाविशेषलक्षणे, उपा० ८ अ० । हस्तपादादिस्तम्भे श्वयथौ, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अलसमाण-अलसायमान-त्रि० । अनलसोऽलसो भवतीति अलसायते, अलसायत इति अलसायमानः । अत्र " डाच् लोहितादिभ्यः षित्" । ३ । ४ । ३० । इति हैमसूत्रेण लोहितादेराकृतिगणत्वात् च्व्यर्थे क्यङ्प्रत्ययः, स च षित् । आलस्यं भजमाने, ग० १ अधि० ।

अलसमत्त-अलसमत्त्व-न० । कापुरुषे, वृ० १ उ० ।

अलसी-अतसी-स्त्री० । "अतसी-सातवाहने लः" । ८ । २ । ११ । इति सूत्रेण तस्य लः । प्रा० १ पाद । धान्यभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

अलहुय-अलघुक-न० । अत्यन्तसूक्ष्मे, स्था० १० ठा० ।

अला-अला-स्त्री० । विद्युत्कुमारीमहत्तरिकाभेदे, स्था० ६ ठा० । धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्याग्रमहिष्याम्, ज्ञा० २ श्रु० । (' अग्गमहिसी ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७० पृष्ठेऽस्याः पूर्वापरभवावुक्तौ)

अलाउ-अलाबु-न० । तुम्बके, औ० । अनु० । सूत्र० ।

अलाउच्छेय-अलाबुच्छेद-न० । अलाबुकं छिद्यते येन तदलाबुच्छेदम् । तुम्बच्छेदके पिप्पलादिशस्त्रे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

अलाउपाय-अलाबुपात्र-न० । तुम्बकभाजने, औ० । आचा० । स्था० ।

अलाघवया-अलाघवता-स्त्री० । अविद्यमानं लाघवं लघुता यस्य स तथा; तद्भावोऽलाघवता । लाघवाभावे, वृ० ।

अथालाघवतां व्याचष्टे-

उवहि-सरीरमलाघव, देहे णिद्धाइवद्धयसरीरो ।
संघंसगसासभया, ण विहरइ विहारकामो वि ॥

अलाघवं गौरवम् । तच्च द्विधा-उपधौ, शरीरे च । तत्र देहे देहविषयमलाघवमिदम्-स्निग्धं घृतादि, तेन; आदिशब्दाद् गुडशर्करादिमधुरद्रव्यैः प्रतिदिनमस्य च हियमाणैर्वृद्धच्छरीरः सन् मार्गे गच्छतः शरीरजाड्यसमुत्थो यो गात्रसंघर्षो, यश्च श्वासस्तद्भयाद्विहरणकामोऽपि न विहरति ।

अथोपकरणेऽलाघवमाह-

सागारि पुत्तभाउग-णएहग दाण अविसज्ज जारणया ।
ण विहरति ओम सावय, नियईअगणि भाण एज्जो त्ति ॥

सागारिकेण शय्यातरेण, तदाऽऽदौ स्वपुत्रैर्भ्रातृभिर्नप्तृभिश्च पौत्रैः कस्यापि साधोरविग्रहस्यानीवप्रभूतस्य कम्बल्याद्युपकरणस्य दानमकारि । स च साधुस्तद्भारतया न विहरति । अन्यदा तत्रावमं दुर्भिक्षं संजातम् । स च तदापि न विहरति [सावय त्ति] श्रावकेण चिन्तितम्-एष साधुः किमद्यापि न विहरति?, नूनं बहूपकरणप्रतिबद्धोऽयम् । ततस्तेन श्रावकेण तस्य संयतस्य भिक्षार्थं विनिर्गतस्य सर्वमप्युपकरणं निष्काश्यान्यत्र संगोप्य निशीथे तया मायया तदीय उपाश्रयः सर्वोऽपि [अगणि त्ति] अग्निना प्रदीपितः । ततः समायातः, दृष्टः प्रतिश्रयो दग्धः । कृतवान् हा ! कष्टं, हाहा ! कष्टं, मदुपकरणं दग्धमिति । परिखेदं पृष्टाश्च श्रावकाः-किञ्चिदुपकरणं निष्काशितं न वेति ? । स प्राह-न शक्तं किमपि निष्काशयितुं, परं [भाण त्ति] भाजनद्वयं महता कष्टेन निष्काशितम् । ततः साधुना भणितम्-विहरामि संप्रति कस्यां दिशि सुभिक्षम् । श्रावकः प्राह-[एज्ज त्ति] सुभिक्षीभूते भूयोऽप्यागच्छेः । ततः प्रतिपन्नं साधुना तद्वचनम् । समागतः कालान्तरेण पुनरपि तत्रैवासौ । निवेदितः श्रावकेण यथावस्थितो व्यतिकरः, क्षमयित्वा च दत्तं सर्वमपि तदीयमुपकरणम् । एवमादयो दोषा उपकरणालाघवे भवन्ति । वृ० २ उ० । पञ्चा० । जि० चू० ।

अलाभ (ह)-अलाभ-पुं० । लभनं लाभः, न लाभोऽलाभः । अभिलषितविषयाप्राप्तौ, उत्त० २ अ० ।

अलाभ (ह) परि (री) सह-अलाभपरिषह-पुं० । अलाभः प्रतीतः, तत्परिषहणं च तत्र दैन्याभावः । भ० ८ श० ८ उ० । प्रव० । स० । प्रश्न० । नानादेशविहारिणो विभवमपेक्ष्य बहुधूर्ना ...

अलिउल-अलिकुल-न० । भ्रमरसमूहे, " क्लीबे अरवासंारिं " । ८ । ४ । ३४३ । इति अरवास्तोः 'इं' इत्यादेशः "कमलइं मेल्लवि अलिउलइं, करि-गंडाइं महंति" । प्रा० ४ पाद ।

अलिंग-अलिङ्ग-न० । प्रधाने, (साङ्ख्यपरिकल्पितप्रकृतौ,) द्वा० २० द्वा० ।

अलिंजर-अलिञ्जर-न० । महदुदकभाजनविशेषे, उपा० ७ अ० । उदककुम्भे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

अलिंदग-अलिन्दक-पुं० । गृहाद्बहिर्द्वारप्रवर्तिप्रकोष्ठकायाम्, सू० २ श्रु० । नि० चू० ।

अलिंदुग-अलिन्दुक-न० । उपरत्ने, अनु० ॥

अलित्त-अलिप्त-त्रि० । अकृतलेपे, अलिप्तस्य तापसमाधिर्नश्यति, पूर्णान दर्शन्तरपि । अष्ट० ११ अष्ट० ।

अरित्त-न० । नौक्षेपणकाष्ठोपकरणभेदे, आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

अलिपत्त-अलिपत्र-न० । वृश्चिकपुच्छाकृतौ, विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

अलिय-अलीक-न० । पुं० । " पानीयादिष्वित् " । ८ । १ । १०१ । इति सूत्रेण ईकारस्य इत्त्वम् । प्रा० १ पाद । कषायवशान्मिथ्याभाषणे, अनृतभाषणे, उत्त० १ अ० । मृषावादे, प्रव० २३७ द्वा० । स्था० । प्रश्न० । दर्श० । द्विधा अलीकम्-असतोद्भावनं, भूतनिह्नवश्च । यथा-' ईश्वरकर्तृकं जगत् ' इत्याद्यसतोद्भावनम् । ' नास्त्यात्मा ' इत्यादिस्तु भूतनिह्नवः । विशे० । आ० म० । नि० चू० । अनु० । आ० । अलीकवादजनितकर्मांशौ, प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । " अलियनियडिसातिजोयबहुल " अलीकः शुभफलापेक्षया निष्फलो यो निकृतेर्वञ्चनप्रच्छादनार्थवचनस्य [साइ त्ति] अविश्रम्भस्य च अविश्वासवचनस्य योगो व्यापारस्तेन बहुलं प्रचुरं यत् तत्तथा । प्रश्न० २ आश्र० द्वा० । " अलियं न भासियव्वं, अत्थि हु सच्चं पि जं न वत्तव्वं । सच्चं पि होइ अलियं, जं परपीडाकरं वयणं " ॥ १ ॥ दर्श० ।

अलियणिमित्त-अलीकनिमित्त-न० । मृषावादप्रत्यये, स्था० २ ठा० ।

अलियजीरु-अलीकभीरु-पुं० । सत्यवादिनि, व्य० ७ उ० ।

अलियवयण-अलीकवचन-न० । वितथभाषणे, प्रव० ४१ द्वार । यथा-किं दिवा प्रचलायसि ? इत्यादिप्रश्ने-न प्रचलयामीत्यादिभणने, प्रव० २३५ द्वार । उत्त० । स्था० । (पञ्चालीकानि)

अथ द्वितीयमणुव्रतं दर्शयति-

द्वितीयं कन्यागोभूम्य-लीकानि न्यासनिह्नवः ।
कूटसाक्ष्यं चेति पञ्चा-सत्येभ्यो विरतिर्मतम् ॥ २६ ॥

द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्यालीकशब्दस्य प्रत्येकं संयोजनात् कन्यालीकं, गवालीकं, भूम्यलीकं चेति, तानि । तथा-न्यासनिह्नवः, कूटसाक्ष्यं चेति; पञ्च पञ्चसंख्याकानि, अर्थात् क्लिष्टाशयसमुत्थत्वात् स्थूलासत्यानि, तेभ्यो विरतिर्विरमणं, द्वितीयं अधिकाराद् अणुव्रतं मतं, जिनैरिति शेषः । तत्र कन्याविषयमलीकं कन्यालीकं, द्वेषादिभिरविषकन्यां विषकन्यां, विषकन्यामविषकन्यां वा, सुशीलां वा दुःशीलां, दुःशीलां वा सुशीलाम्, इत्यादि वदतो भवति । इदं च सर्वस्य कुमारादिद्विपदविषयस्यालीकस्योपलक्षणम् १ । गवालीकम्-अल्पक्षीरां बहुक्षीरां, बहुक्षीरां वाऽल्पक्षीरामित्यादि वदतः । इदमपि सर्वचतुष्पदविषयालीकस्योपलक्षणम् २ । भूम्यलीकं परसत्कामप्यात्मादिसत्काम्, आत्मादिसत्कां वा परसत्काम, ऊषरं वा क्षेत्रमनूषरम्, अनूषरं वोषरमित्यादि वदतः । इदं चाशेषाऽपदद्रव्यविषयालीकस्योपलक्षणम् । यदाह-" कण्णागहणं दुपया-ण सूअगं चउपयाण गोवयणं । अपयाणं दव्वाणं, सव्वाणं भूमिवयणं तु " ॥ १ ॥ ननु यद्येवं तर्हि द्विपदचतुष्पदापदग्रहणं सर्वसंग्राहकं कुतो न कृतम् ? । सत्यम् । कन्याद्यलीकानां लोकेऽतिगर्हितत्वेन रूढत्वाद्विशेषेण वर्जनार्थमुपादानम् । कन्याऽलीकादौ च भोगान्तरायद्वेषवृद्ध्यादयो दोषाः स्फुटा एव । यत आवश्यकचूर्णौ-"मुसावाए के दोसा, अकरंते वा के गुणा ? । तत्थ दोसा कण्णगं चेव अकण्णगं भणंतो भोगंतरायदोसा; पउट्ठा वा आतघातं करेज्ज, कारवेज्ज वा; एवं सेसेसु भाणिअव्वा " इत्यादि । तथाऽन्यस्य ते रक्षणायान्यस्मै समर्प्यते इति ३ । न्यासः सुवर्णादिः, तस्य निह्नवोऽपलापस्तद्वचनं स्थूलमृषावादः । इदं चानेनैव विशेषणेन पूर्वालीकेभ्यो भेदेनोपात्तम् । अस्य चादत्तादाने सत्यपि च तस्यैव प्राधान्यविवक्षणान्मृषावादत्वम् ४ । कूटसाक्ष्यं लभ्यदेयविषये प्रमाणीकृतस्य लञ्चामत्सरादिना कूटं वदतः । यथा-'अहमत्र साक्षी' इति' अस्य च परकीयपापसमर्थकत्वलक्षणविशेषमाश्रित्य पूर्वेभ्यो भेदेनोपन्यासः ५ इति । अत्रायं भावार्थः-मृषावादः क्रोधमानमायालोभत्रिविधरागद्वेषहास्यभयव्रीडाक्रीडारत्यरतिदाक्षिण्यमात्सर्यविषादादिभिः संभवति । पीडाहेतुश्च सत्यवादोऽपि मृषावादः । सद्भ्यो हितं सत्यमिति व्युत्पत्त्या परपीडाकरमसत्यमेव । यतः-"अलिअं न भासिअव्वं, अत्थि हु सच्चं पि जं न वत्तव्वं । सच्चं पि तं न सच्चं, जं परपीडाकरं वयणं " ॥ १ ॥ स च द्विविधः-स्थूलः, सूक्ष्मश्च । तत्र परिस्थूलवस्तुविषयोऽतिदुष्टविवक्षासमुद्भवश्च स्थूलः, तद्विपरीतः सूक्ष्मः । आह हि-"दुविहो अ मुसावाओ, सुहुमो थूलो अ तत्थ इह सुहुमो । परिहासाइप्पभवो, थूलो पुण तिव्वसंकेसा" ॥ १ ॥ श्रावकस्य सूक्ष्ममृषावादे यतना, स्थूलस्तु परिहार्य एव । तथाऽऽवश्यकसूत्रम्-'थूलगमुसावायं समणोवासओ पच्चक्खाइ, से अ मुसावाए पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा-कण्णालिए १, गवालिए २, भोमालिए ३, णासावहारे ४, कूडसक्खे अ ५ इति । तच्चूर्णावपि-" जेण भासिएण अप्पणो परस्स वा अतीव बाधाओ अइसंकिलेसो य जायते, तं अट्ठाए वा अणट्ठाए वा ण वएज्ज त्ति " । एतच्चासत्यं चतुर्धा-भूतनिह्नवः १, अभूतोद्भावनं २, अर्थान्तरं ३, गर्हा च ४ । तत्र भूतनिह्नवो यथा नास्त्यात्मा, नास्ति पुण्यं, नास्ति पापमित्यादि १ । अभूतोद्भावनं यथा-आत्मा श्यामाकतण्डुलमात्र, अथवा सर्वगत आत्मेत्यादि २ । अर्थान्तरं यथा-गामश्वमभिवदतः ३ । गर्हा तु त्रिधा-एका सावद्यव्यापारप्रवर्तिनी, यथा-क्षेत्रं कृषेत्यादि १ । द्वितीया अप्रिया-काणं काणं वदतः २ । तृतीया आक्रोशरूपा, यथा-अरे ! बान्धकिनेय ! ३ इत्यादि । ध० २ अधि० । दर्श० । पञ्चा० । श्रा० ।

अलीकवचनप्रकरणम्-

जे भिक्खू लहुसयं मुसं वयइ, वदंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥
मुसं अलियं, लहुसयं अल्पं, तं वदमो मासलहुं ।
तं पुण मुसं चउव्विहं-
दव्वे खेत्ते काले, भावे लहुसगं मुसं होति ।

एतेसिं नाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए । ६० ।

नानात्वं विसेसो, आणुपुव्वीए द्रव्यादिउपन्यासक्रमेण प-क्ष्यामि ।

इमे दव्वादि उदाहरणा—

दव्वे धम्मपयादिसु, खेत्ते संथारवसहिमादीसु ।

कालेऽतीतमणागत, भावे भेदा इमे होंति ॥ ६१ ॥

पढमपादस्स वक्खाणं—

मरुग पुत्तो एस तुहं, एयाति सो तस्स दव्वतो अलियं ।

गोरसं च भणंति, दव्वंभूतं व जं भणाति ॥ ६२ ॥

[illegible] सहसा मणेज्जा-मरुग एस ण तुज्झं, सहसा गोरसं ब्रूते, द्रव्यभूतं वा अनुपयुक्त इत्यर्थः ।

अहवा दव्वालियं इमं—

वत्थं वा पायं वा, अणुप्पाइयं तु सो पुट्ठो ।

[illegible] उप्पाइयं, दव्वा अलियं भवे अहवा ॥ ६३ ॥

[illegible] उप्पाइयं, अण्णो भणइ-मए उप्पाइयं । [illegible]

[illegible] (संथारवसहिमादीसु इत्यादि) अस्य व्याख्या—

[illegible] संपुण्णो, परसंथारं भणाति मज्झं एयं ।

सो [illegible] ॥ ६४ ॥

[illegible]

[illegible] व्याख्या—

[illegible] ॥ ६५ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ ६६ ॥

[illegible]

[illegible] ।

जे य जणओ अवाया, सपडीपक्खा उ [illegible] ॥

यो वक्ता अलीकवचनजापकः, यश्च वचनीय- [illegible] यमुद्दिश्य भण्यते, येषु च स्थानेष्वलीकं संभवति, [illegible] तत्र शोधिः प्रायश्चित्तम्, ये चाऽलीकं भणतो [illegible] समतिपक्षाः सापवादा अत्र भणनीयतया ज्ञातव्याः [illegible] गाथासमासार्थः ।

साम्प्रतं तामेव विवृणोति-

आयरिए अभिसेगे, भिक्खुम्मि य थेरए य [illegible] ।

गुरुगा लहुगा गुरुलहु-भिण्णे पडिलोम विइयं [illegible] ॥

इहाचार्यादिर्वक्ता, वचनीयोऽपि एकैकतः । तत्र [illegible] आचार्यमलीकं भणति चतुर्गुरु, अभिषेकं भणति [illegible] भिक्षुं भणति मासगुरु, स्थविरं भणति मासलघु, [illegible] भिन्नमासः । (पडिलोम विइयं ति) [illegible] प्रायश्चित्तं प्रतिलोमं वक्तव्यम् । तद्यथा-आचार्यः [illegible] भिन्नमासः, अभिषेकं भणति मासलघु, एवं [illegible] भणतश्चतुर्गुरु, एवमभिषेकादीनामप्यलीकं भणतां [illegible] वस्थाने च प्रायश्चित्तमिदमेव मन्तव्यम् । [illegible] कनीयः-अभिषेकमाचार्ये अलीकं भणति चतुर्लघु इत्यर्थः ।

तत्वलीकवचनं येषु स्थानेषु संभवति, तानि [illegible] नि दर्शयितुकामो द्वारगाथाद्वयमाह-

पयला उल्ले मरुए, पच्चक्खाणे य गमण परियाए ।

समुद्देससंखडीओ, खुड्डगपरिहारियमुहीओ ।

आवस्सगगमणे दिसा-सु एगकुले चेव एगदव्वे य ॥

पडियाखित्तागमणं, पडियाखित्तायपत्तुंजणयं ॥

प्रचलापदमार्द्रपदं मरुकपदं प्रत्याख्यानपदं गमनपदं पर्याय-पदं समुद्देशपदं संखडीपदं क्षुल्लकपदं पारिहारिकपदं [illegible] ओ त्ति] [illegible] वश्यं गमनपदं दिग्विषयपदं, एककुलगमनपदं, एकद्रव्य-पदं, प्रत्याख्याय गमनपदं, प्रत्याख्याय भोजनपदं [illegible] गाथाद्वयसमासार्थः ।

प्रथमद्वारं प्रतिद्वारं विवृणोति—

पयलासि किं दिवा ? ण य, पयलामि [illegible]

अन्नदाणिसज्जिणहवे, लहुगा गुरुगा बहुगाणं ।

कोऽपि साधुर्दिवा प्रचलायते, स [illegible] विमेव दिवा प्रचलायसे ? । स प्राह-न [illegible] वारं निह्नवनस्य मासलघु, [illegible] प्रत्युक्तः । [illegible]

[illegible]

[illegible] ।

[illegible] ।

लघुगुरुमासो छल्लहुगा, छग्गुरुगादी पायरे हुंति ॥

एवं निह्नवने निह्नवने प्रायश्चित्तं वर्द्धते यावत् दशपदम्; पाराञ्चिकं तत्पाराञ्चिकम्। तद्यथा-पञ्चमं वारं निह्नुवानस्य षड्लघु, षष्ठं वारं षड्गुरु, सप्तमं मूलम्, अष्टममनवस्थाप्यं, दशमं वारं निह्नुवानस्य पाराञ्चिकम् । अत्र च प्रचलादिषु सर्वेष्वपि द्वारेषु यत्र यत्र लघुमासो वा भवति तत्र तत्र सूक्ष्मो मृषावादः, यत्र तु चतुर्लघुकादिकं भवति तत्र बादरो मृषावादो भवति। इति प्रचलाद्वारम् ।

अथार्द्रद्वारमाह—

किं णीसि वासमाणे, ण णीमि णणु वासबिंदवो एए ।
भुंजंति हीण मरुगा, कहिं ति नणु सव्वगेहेसु ॥

कोऽपि साधुर्वर्षे पतति प्रस्थितः, स चापरेण भणितः-किं 'वासमाणे' वर्षति निर्गच्छामि ?, एवं भणित्वा तथैव प्रस्थितः। ततः परेण साधुना भणितम्-कथं न निर्गच्छामीति भणित्वा निर्गतोऽसि ?। स आह-वासृ-शब्दे इति धातुपाठाद् वासति शब्दायमाने यो गच्छति स वासति निर्गच्छतीत्यभिधीयते । न तु न कश्चिद् वासति, किन्तु वर्षबिन्दव एते, तेषु गच्छामि । एवं छलवादेन प्रत्युत्तरं ददानस्य तथैव प्रथमवारादिषु मासलघुकादिकं प्रायश्चित्तम् ॥ अथ मरुकद्वारम् । कोऽपि साधुः कारणे विनिर्गत उपाश्रयमागत्य साधून् भणति-साधवो यात, हुञ्जते मरुकाः । एवमुक्ते ते साधव उत्साहितमानसा भणन्ति-(कहिं ति त्ति) क्व ते मरुका भुञ्जते ? । इतरः आह-ननु सर्वे आत्मीयगृहेषु, एवं छलेनोत्तरं प्रयच्छति ॥

अथ प्रत्याख्यानद्वारमाह—

भुंजसु पच्चक्खातं, मए त्ति तक्खण पभुंजओ पुट्ठो ।
किं च ण मे पंचविहा, पच्चक्खाया अविरईओ ॥

कोऽपि साधुना भोजनवेलायां भणितः-मुङ्क्ष्व समुद्दिश । स आह-प्रत्याख्यातं मयेति । एवमुक्त्वा मण्डल्यां तत्क्षणादेव भोक्तुं प्रवृत्तः । ततो द्वितीयेन साधुना पृष्टः-आर्य ! त्वयेत्थं भणितम्-मया प्रत्याख्यातम् ?। स आह-किं वा मया प्राणातिपातादिका पञ्चविधा अविरतिर्न प्रत्याख्याता, येन प्रत्याख्यानं न घटते ? ।

अथ गमनद्वारमाह—

वच्चसि नाहं वच्चे, तक्खण वच्चए पुच्छिओ भणइ ।
सिद्धंतं न वि जाणसि, नणु गम्मइ गम्ममाणं तु ॥

केनापि साधुना चैत्यवन्दनादिप्रयोजने व्रजता कोऽपि साधुरुक्तः-किं त्वमपि व्रजसि ?, गच्छसीत्यर्थः । स आह-नाहं व्रजामि। एवमुक्त्वा तत्क्षणादेव व्रजितुं प्रवृत्तः। तेन पूर्वप्रस्थितसाधुना पृष्टः-कथं न व्रजामीति भणित्वा व्रजसि ?। स भणति-सिद्धान्तं न जानीषे त्वम् । तन्निक्याक्षेपे । भो मुग्ध ! गम्यमानमेव गम्यते, नागम्यमानम्, यस्मिंश्च समये त्वयाऽहं पृष्टस्तस्मिन्नाहं गच्छामि ?, इति ॥

अथ पर्यायद्वारमाह—

दसएयस्स य मज्झ य, पुच्छिय परियाय वेइ उ छलेण ।
मम नवए वंदिअम्मि, भणइ वे पंचगा दसओ ॥

कोऽपि साधुरात्मद्वितीयः केनापि साधुना वन्दितुकामेन पृष्टः-कति वर्षाणि भवतां पर्यायः ? इति । स एवं पृष्टो भणति-एतस्य साधोर्मम च दश वर्षाणि पर्याय इति । एवं छलेन तेनोक्ते, स प्रच्छकः साधुः-मम नव वर्षाणि पर्याय इत्युक्त्वा प्रवन्दितो वन्दितुं लग्नः । इतरश्छलवादी भणति-उपविशत, भवन्तः एवमेव वन्दनीया इति। कथं पुनरहं वन्दनीयः ? इति तेनोक्ते, छलवादी भणति-मम पञ्च वर्षाणि पर्यायः, एतस्यापि साधोः पञ्च। एवं द्वे पञ्चके मीलिते दश भवन्ति। ततो युष्माकमावयोरुभयोरपि वन्दनीया इति भणति।

अथ समुद्देशद्वारमाह—

वट्टइ उ समुद्देसो, किं अत्थह कत्थ एस गगणम्मि ।
वट्टंति संखडीओ, घरेसु नणु आउखंडणया ॥

कोऽपि साधुः कायादिभूमौ निर्गत्य आदित्यं राहुणा ग्रस्यमानं दृष्ट्वा साधून् स्वस्थान् मौनान् भणति-आर्याः ! समुद्देशो वर्तते किमत्रमुपविष्टास्तिष्ठथ ?। ततस्ते साधवो नायमलीकं ब्रूते इति कृत्वा गृहीतभाजनमुपस्थिताः पृच्छन्ति । कुत्रासौ समुद्देशो भवति ?। स आह-नन्वेष गगनमार्गे सूर्यस्य राहुणा समुद्देशः प्रत्यक्षमेव दृश्यते ॥ अथ संखडीद्वारम्। कोऽपि साधुः प्रश्रवणिकापानकादिनिमित्तं विनिर्गतः प्रत्यागतो भणति-प्रचुराः संखड्यो वर्तन्ते, किमेवं तिष्ठथ ?। ततस्ते साधवो गन्तुकामाः पृच्छन्ति-कुत्र ताः संखड्यः। स छलवादी भणति-तेषु तेषु गृहेषु संखड्यो वर्तन्त एव। साधवो भणन्ति-कथं ता अप्रसिद्धाः संखड्य उच्यन्ते ?। छलवादी भणति-[नणु आउखंडणय त्ति] नन्वित्याक्षेपे । पृथव्यादिजीवानामायूंषि गृहे गृहे रन्धनादिभिरारम्भैः संखण्ड्यन्ते, ताः कथं न संखड्यो भवन्ति ? ।

अथ क्षुल्लकद्वारमाह-

खुड्डग ! जणणी ते मया, रुइए जीवइ त्ति अण्ण भणितम्मि।
माइत्ता सव्वजिया, जवेसु तेणेस ते माता ॥

कोऽपि साधुरुपाश्रयसमीपे मृतां शुनीं दृष्ट्वा क्षुल्लकमपि भणति-क्षुल्लक ! जननी तव मृता । ततः क्षुल्लकः प्ररुदितो-रोदितुं लग्नः।तमेव रुदन्तं दृष्ट्वा स साधुराह-मा रुदिहि, जीवति ते जननी । एवमुक्ते क्षुल्लकोऽपरे च साधवो भणन्ति-कथं पूर्वं मृतेत्युक्त्वा सम्प्रति जीवतीति भणसि ?। स आह—एषा या शुनी मृता सा तव माता भवति । क्षुल्लको ब्रूते-कथमेषा मम माता ?। मृषावादी साधुराह-सर्वेऽपि जीवा अतीते काले तव मातृत्वेन बभूवुः। तथा च प्रज्ञप्तिसूत्रम्-"एगमेगस्स णं जीवस्स सव्वजिया माइत्ताए पिइत्ताए भायत्ताए पुत्तत्ताए धूयत्ताए भूतपुव्वा ? । हन्ता गोयमा ! एगमेगस्स जीवस्स जीवा सदा भूतपुव्वा "। तेनैव कारणेनैषा शुनी त्वदीया मातेति॥

अथ पारिहारिकद्वारमाह-

उज्जाणे दट्ठूणं, दिट्ठा परिहारग त्ति साहु कहणे ।
कत्थुज्जाणे गुरुगं, वयंति दिट्ठेसु लहुगुरुगा ॥
उव्वडगा उ णिउत्ते, आलोइए अम्मि उग्गुरू होंति ।
परिहरमाणा वि कहं, अप्परिहारी भवे छेदो ॥ २ ॥
किं परिहरंति णणु या-णुकंटए मूल तुम्ह मज्झे य ।
अट्ठमगो अणवट्ठं, वहिं पवयणस्स पारंची ॥ ३ ॥

कोऽपि साधुरुद्याने स्थितान् तपस्विनो दृष्ट्वा प्रतिश्रयमागत्य भणति-मया पारिहारिका दृष्टा इति । साधवो जानते, यदा-

दुईमि भावयं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए । ६० ।

[illegible] त्रिभेदो, आनुपूर्व्या द्रव्यादिउपन्यासक्रमेण व-[illegible] ।

इमे दव्वादि उदाहरणा—

दव्वे [illegible], खेत्ते [illegible] ।
[illegible], जावे भेदा इमे होंति ॥ ६१ ॥

[illegible]—

[illegible] तुहं, [illegible] सो तस्स दव्वतो अलियं ।
[illegible], दव्वंतरं व जं भणति ॥ ६२ ॥

[illegible] सहसा [illegible] अनुवयुक्त इत्यर्थः ।

[illegible] इमं-

[illegible] तु मो पुट्ठो ।
[illegible] अहवा ॥६३॥

[illegible]

[illegible] मणति [illegible] ।
[illegible] ।६४।

[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ॥६५॥

[illegible]

[illegible]

[illegible] ।६६॥

[illegible]

जे य जणओ अवाया, सपडीवक्खा उ होंता ॥

यो वक्ता अलीकवचनभाषकः, यश्च [illegible] यमुद्दिश्य भण्यते, येषु च स्थानेष्वलीकं [illegible] तत्र शोधिः प्रायश्चित्तम्, ये चालीकं भणतो [illegible] सप्रतिपक्षाः सापवादा अत्र भणनीयतया [illegible] गाथासमासार्थः ।

साम्प्रतं तामेव विवृणोति-

आयरिए अभिसेगे, भिक्खुम्मि य थेरए य [illegible] ।
गुरुगा लहुगा गुरुलहु-भिण्णे पडिलोम [illegible] ॥

इहाचार्यादिर्वक्ता, यमपि [illegible] आचार्यमलीकं भणति चतुर्गुरु, अभिषेकं भणति [illegible] भिक्षुं भणति मासगुरु, स्थविरं भणति मासलघु, [illegible] भिन्नमासः । (पडिलोम [illegible]) [illegible] प्रायश्चित्तं प्रतिलोमं वक्तव्यम् । तद्यथा-आचार्य [illegible] भिन्नमासः, अभिषेकं भणति मासलघु, [illegible] भणतश्चतुर्गुरु, [illegible] प्रायश्चित्तमिदमेव मन्तव्यम् । [illegible] [illegible]

[illegible] येषु स्थानेषु [illegible] दर्शयितुकामो गाथाद्वयमाह-

पयला उल्ले मरुए, पच्चक्खाणे य गमण परियाए ।
समुद्देससंखडीओ, खुड्डगपरिहारियमुहीओ ।
आवस्सगमणं दिसा-सु एगकुले चेव एगदव्वे य ॥
पडियाक्खियागमणं, पडियाक्खियावत्तु[illegible] ॥

प्रचलापदम् [illegible] मरुकपदं प्रत्याख्यानपदं गमनपदं [illegible] पदं समुद्देशपदं संखडीपदं क्षुल्लकपदं परिहारिक[illegible] [illegible]] [illegible] गमनपदं [illegible] पदं, प्रत्याख्याय गमनपदं, [illegible] भोजनपदं [illegible] गाथाद्वयसमासार्थः ।

[illegible] विवृणोति—

[illegible] ।
[illegible] गुरुगा [illegible] ।

[illegible]

लघुगुरुमासो लहुगो, लहुगादी वायरे हुंति ॥

एवं निह्नवने निह्नवने प्रायश्चित्तं वर्द्धते यावत् स्थपदम्: पाराञ्चिकं तपोऽश्चिकम्। तद्यथा-पञ्चमं वारं निह्नुवानस्य षड्लघु, षष्ठं वारं षड्गुरु, सप्तमं मूलम , नवममनवस्थाप्यं, दशमं वारं निह्नुवानस्य पाराञ्चिकम । अत्र च प्रचलादिषु सर्वेष्वपि द्वारेषु यत्र यत्र लघुमासो वा भवति तत्र तत्र सूक्ष्मो मृषावादः, यत्र तु चतुर्लघुकादिकं भवति तत्र बादरो मृषावादो भवति। गतं प्रचलाद्वारम।

अथाऽर्द्रद्वारमाह—

किं णोसि वासमाणे, ण णोमि णणु वासविंदवो एए।
भुंजंति ह्रीण मरुगा, कहिं नि नणु सव्वगेहेसु ॥

कोऽपि साधुर्वर्षे पतति प्रस्थितः, स आचार्येण भणितः-किं 'वासमाणे' वर्षति निर्गच्छसि ?, एवं भणित्वा तथैव प्रस्थितः। तत इतरेण साधुना भणितम्-कथं न निर्गच्छामीति भणित्वा निर्गच्छसि ?। स प्राह-वाषृ-शब्दे इति धातुपाठाद् वासति शब्दायमाने यो गच्छति स वासति निर्गच्छतीत्यभिधीयते। अत्र तु न कश्चिद् वासति, किन्तु वर्षबिन्दव एते, तेषु गच्छामि। एवं छलवादेन प्रत्युत्तरं ददानस्य तथैव प्रथमवारादिषु मासलघुकादिकं प्रायश्चित्तम् ॥ अथ मरुकद्वारम् । कोऽपि साधुः कारणे विनिर्गत उपाश्रयमागत्य साधून् भणति-साधवो यात, भुञ्जते मरुकाः । एवमुक्ते ते साधव उत्साहितमाजना भणन्ति-(कहिं नि त्ति) क ते मरुका भुञ्जते ? । इतरः प्राह-ननु सर्वे आत्मीयगृहेषु, एवं छलेनोत्तरं प्रयच्छति ॥

अथ प्रत्याख्यानद्वारमाह—

भुंजसु पच्चक्खातं, मए त्ति तक्खण पभुंजओ पुट्ठो।
किं च ण मे पंचविहा, पच्चक्खाया अविरईओ ॥

कोऽपि साधुना भोजनवेलायां भणितः-भुङ्क्ष्व समुद्दिश । स प्राह-प्रत्याख्यातं मयेति । एवमुक्त्वा मण्डल्यां तत्क्षणादेव भक्तुमारब्धुं प्रवृत्तः । ततो द्वितीयेन साधुना पृष्टः-आर्य ! त्वयेदं भणितम्-मया प्रत्याख्यातम् ?। स प्राह-किं वा मया प्राणातिपातादिका पञ्चविधा अविरतिर्न प्रत्याख्याता, येन प्रत्याख्यानं न घटते ?।

अथ गमनद्वारमाह—

वच्चसि नाहं वच्चं, तक्खण वच्चए पुच्छिओ भणइ।
सिद्धंतं न वि जाणसि, णणु गम्मइ गम्ममाणं तु ॥

केनापि साधुना चैत्यवन्दनादिप्रयोजने व्रजता कोऽपि साधुरुक्तः-किं त्वमपि व्रजसि ?, गच्छसीत्यर्थः । स प्राह-नाहं व्रजामि। एवमुक्त्वा तत्क्षणादेव व्रजितुं प्रवृत्तः। तेन पूर्वप्रस्थितसाधुना पृष्टः-कथं न व्रजामीति भणित्वा व्रजसि ?। स भणति-सिद्धान्तं न जानीषे त्वम । मन्वित्याक्षेपे। भो मुग्ध ! गम्यमानमेव गम्यते, नागम्यमानम, यस्मिश्च समये त्वयाऽहं पृष्टस्तस्मिन्नहं गच्छामि ?, इति ॥

अथ पर्यायद्वारमाह—

दसपयरण य अज्झ य, पुच्छिय परियाय वेइ उ छलेण।
मम नवए वंदिअमिय, भणाइ ते पंचगा दसओ ॥

कोऽपि साधुरात्मद्वितीयः केनापि साधुना वन्दितुकामेन पृष्टः-कति वर्षाणि भवतां पर्यायः ? इति । स एवं पृष्टो भणति-एतस्य साधोर्मम च दश वर्षाणि पर्याय इति । एवं छलेन तेनोक्ते, स प्रच्छकः साधुः-मम नव वर्षाणि पर्याय इत्युक्त्वा प्रवन्दितो वन्दितुं लग्नः । इतरश्छलवादी भणति-उपविशत, भवन्तः इत्थमेव वन्दनीया इति। कथं पुनरहं वन्दनीयः? इति तेनोक्ते, छलवादी भणति-मम पञ्च वर्षाणि पर्यायः, एतस्यापि साधोः पञ्च। एते द्वे पञ्चके मीलिते दश भवन्ति। ततो यूयमावयोरुभयोरपि वन्दनीया इति भणति।

अथ समुद्देशद्वारमाह—

वट्टइ उ समुद्देसो, किं अत्थह कत्थ एस गगणम्मि।
वट्टंति संखडीओ, घरेसु णणु आउखंडणया ॥

कोऽपि साधुः कायादिभूमौ निर्गत्य आदित्यं राहुणा ग्रस्यमानं दृष्ट्वा साधून् स्वस्थान् मौनाद् भणति-आर्याः ! समुद्देशो वर्तते किमेवमुपविष्टास्तिष्ठथ ?। ततस्ते साधवो भायमसीकं मूने इति कृत्वा गृहीतभाजनमुपस्थिताः पृच्छन्ति। क्वासौ समुद्देशो भवति ?। स प्राह-नन्वेष गगनमार्गे सूर्यस्य राहुणा समुद्देशः प्रत्यक्षमेव दृश्यते ॥ अथ संखडीद्वारम। कोऽपि साधुः प्रश्रमालिकापानकादिनिमित्तं विनिर्गतः प्रत्यागतो भणति-प्रचुराः संखड्यो वर्तन्ते, किमेवं तिष्ठथ ?। ततस्ते साधवो गन्तुकामाः पृच्छन्ति-क्व ताः संखड्यः। स छलवादी भणति-तेषु तेषु गृहेषु संखड्यो वर्तन्त एव। साधवो भणन्ति-कथं ता अप्रसिद्धाः संखड्य उच्यन्ते ?। छलवादी भणति-[णणु आउखंडणय त्ति] नन्वित्याक्षेपे । पृथ्व्यादिजीवानामायूंषि गृहे गृहे रन्धनादिभिरारम्भैः संखण्ड्यन्ते, ताः कथं न संखड्यो भवन्ति ?।

अथ क्षुल्लकद्वारमाह—

खुड्डग ! जणणी ते मिया, रुइए जीवइ त्ति अग्ग भणितम्मि।
माइत्ता सव्वजिया, जवेसु तेणेस ते माता ॥

कोऽपि साधुरुपाश्रयसमीपे मृतां शुनीं दृष्ट्वा क्षुल्लकमेवं भणति-क्षुल्लक ! जननी तव मृता । ततः क्षुल्लकः प्ररुदितो-रोदितुं लग्नः। तमेवं रुदन्तं दृष्ट्वा स साधुराह-मा रुदिहि, जीवति ते जननी । एवमुक्ते क्षुल्लकोऽपरे च साधवो भणन्ति-कथं पूर्वं मृतेत्युक्त्वा सम्प्रति जीवतीति भणसि ?। स प्राह-एषा या शुनी मृता सा तव माता भवति। क्षुल्लको ब्रूते-कथमेषा मम माता ?। मृषावादी साधुराह-सर्वेऽपि जीवा अतीते काले तव मातृत्वेन बभूवुः। तथा च भगवतीसूत्रम्-"एगमेगस्स णं जीवस्स सव्वजिया माइत्ताए पिइत्ताए भायत्ताए पुत्तत्ताए धूयत्ताए भूतपुव्वा ?। हंता गोयमा ! एगमेगस्स जीवस्स जीवा सव्वे भूतपुव्वा "। तेनैव कारणेनैषा शुनी त्वदीया मातेति ॥

अथ पारिहारिकद्वारमाह—

उज्जाणे दट्ठूणं, दिट्ठा परिहारग त्ति सहु करणे।
कत्युज्जाणे गुरुयं, वयंति दिट्ठेसु लहुगुरुगा ॥
वट्टगा उ णिवत्ते, आलोए तम्मि उग्गुरू होंति।
परिहरमाणा वि कहं, अप्परिहारी भवे छेदो ॥ २ ॥
किं परिहरंति णणु पा-णकंटए मूल तुज्झ भत्ते य।
अद्धंगो भणवटं, बहिं पवयणस्स पारंची ॥ ३ ॥

कोऽपि साधुरुद्याने स्थितान् साधून् दृष्ट्वा प्रतिश्रयमागत्य भणति-मया पारिहारिका दृष्टा इति । साधवो जानते, यथा-

[illegible] समागताः । एवं छलाभिप्रायेण कथयत एव [illegible] । [illegible] साधवः पारिहारिकसाधुदर्शनोत्सुकाः पृच्छ-[illegible] ? । स प्राह-उद्याने, एवं भणतो मासगुरु । [illegible] साधवः पारिहारिकदर्शनार्थं चलिताः, व्रजन्तो यावत् प-[illegible] तत्र गतेष्वपश्यत्सु क-[illegible] । [illegible] इति कृत्वा निवृत्तेषु कथयतः [illegible] । ते साधवः ईर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य गुरूणामालोच-[illegible] साधुनेति, एवं ब्रुवाणेषु तस्य [illegible] । [illegible]-किमेवं विप्रतारयसि ? । स [illegible] [illegible] कथमपरिहारिणो भवन्ति ?, एवं [illegible] । साधवो भणन्ति-किं ते परिहरन्ति येन प-[illegible] ? । इतरः प्राह-[illegible] तेऽपि [illegible] इदमो मूलम् । [illegible] सर्वैरपि सा-[illegible] [illegible] । ततः स [illegible] कई पुनोऽत्रऽसदारोपः प-[illegible] एवं भणतोऽनवस्था-[illegible] । [illegible]-सर्वेऽपि यूयं प्रथमन-[illegible] भवति ।

[illegible]-

कि [illegible] [illegible], कि [illegible] [illegible] ।
[illegible] को [illegible], [illegible] व [illegible] ? ॥

[illegible] ?, [illegible]

[illegible]-

[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥ ७ ॥

[illegible]

[illegible]

यूयं सर्वेऽप्येकत्र मिलिता इति भणतो [illegible] करोमीति भणतोऽनवस्थाप्यम् । सर्वेऽपि [illegible] बाह्या इति वदति पाराञ्चिकम् ।

इदमेवान्यपदं व्याख्यानयति-

किं छागलेण जंपह, किं मे कुणेह एव भणंइ ।
बहुएहिँ को विरोहो, सलभेहिँ व नागरेस्स ? ॥

गतार्था ।

अथावश्यंगमनद्वारमाह-

गच्छासि ण ताव गच्छं, किं णु ण जासि ति पुच्छितो [illegible]
वेला ण ताव जायति, परलोगं वा वि मोक्खं वा ॥

कोऽपि साधुः केनापि साधुना पृष्ट-आर्य ! [illegible] म । स प्राह-अवश्यं गमिष्यामि । [illegible] साधुना [illegible] तत्र चलिष्ठ, व्रजामः स प्राह-न तावद्दा [illegible] ण भणितम्-किं तुरिति वितर्के । न यामि गच्छामि, [illegible] णितम्-अवश्यं गमिष्यामि ?। एवं पृष्टो भणति-[illegible] परलोकं गन्तुं वेला जायते, अतो न गच्छामि । [illegible] माद्यापि वेला, अतो न गच्छामि । [illegible] । किं भ-वति-अवश्यं परलोकं मोक्षं वा गमिष्यामि ।

अथ 'दिसासु सि' पदं व्याख्यानयति-

कतरि दिसि गमिस्ससि, पुव्वं अवरं गतो [illegible]
किं वा ण होति पुव्वा, इमा दिसा अवरगस्स ॥

एकः साधुरेकेन साधुना पृष्टः-आर्य ! कतरां दिशं [illegible] गमिष्यसि ?। स एवं पृष्टो ब्रवीति-पूर्वां गमिष्यामि । [illegible] साधुः [illegible] दिशं गत । [illegible] [illegible] दिशं गत । तेन साधुना [illegible] [illegible] ?। स प्राह-किं [illegible] प्रामस्येयं दिक् पूर्वा न भवति, तत एवं [illegible]

अथ कुलद्वारमाह-

अहमेगकुलं गच्छं, वयह बहुकुलयवेगणं [illegible] ।
[illegible] कहं [illegible] कुले, [illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ।

[illegible]

अवगाहलक्षण आकाशास्तिकायः, उपयोगलक्षणो जीवास्तिकायः, ग्रहणलक्षणः पुद्गलास्तिकायः । एषां च पञ्चानां द्रव्याणां मध्यात्पुद्गलानामेव ग्रहणरूपं लक्षणं, नान्येषां धर्मास्तिकायादीनाम, तेन अहमेकमेव द्रव्यं गृह्णामि न बहूनीति व्याख्यानं द्वितीयद्वारगाथायाः पूर्वार्द्धम् । अथ "पडियाइक्खित्ताय भुंजएय त्ति" पश्चार्द्धं व्याख्यायते-प्रत्याख्याय 'नाहं गच्छामीति प्रतिषिध्य' गमनं करोति । प्रत्याख्याय च 'नाहं भुञ्जे इति भणित्वा' भुङ्क्ते । अपरेण च साधुना पृष्टो ब्रवीति-गम्यमानं गम्यते नागम्यमानम्, भुज्यमानमेव भुज्यते नाभुज्यमानम् । अनेन पश्चार्द्धेन गमनद्वारप्रत्याख्यानद्वारे व्याख्याते इति प्रतिपत्तव्यम् । इह सर्वत्रापि प्रथमवारं भणतो मासलघु । अथाभिनिवेशेन वदन् निवर्तयति तदा पूर्वोक्तनीत्या पाराञ्चिकं यावद् द्रष्टव्यम् । तदेवं येषु स्थानेष्वलीकं संभवति यादृशी च यत्र शोधिः तदभिहितम् । संप्रति ये अपवादास्ते साधवादा इति द्वारम् । अथानन्तरोक्तान्यलीकानि भणतो द्वितीयसाधुना महाव्रतदार्ढ्यशक्तिः संयमात्मविराधनारूपा सप्रपञ्चं सुधिया वक्तव्या । अपवादपदं तु पुरस्ताद् भणिष्यते । वृ० ६ उ० । जीत० ।

अलीकवचनाख्याधर्मद्वारस्य व्याख्या-

जंबू ! बितियं च अलियवयणं लहुसगलहुचवलभणियं भयकरदुहकरअयसकरवेरकरगं अरतिरतिरागदोसमणसंकिलेसवियरणं अलियनियडिसाइजोयबहुलं णीयजणणिसेवियं निस्संसं अप्पच्चयकारगं परमसाहुगरहणिज्जं परपीलाकारगं परमकण्हलेससहियं दुग्गतिविणिवायवड्ढणं भवपुणब्भवकरं चिरपरिचियमणुगयं दुरंतं कित्तियं बितियं अहम्मदारं ॥

'जम्बू !' इति शिष्यामन्त्रणवचनम् । 'द्वितीयं च'-द्वितीयं पुनराश्रवद्वारम्, अलीकवचनं मृषावादः । इदमपि पञ्चभिर्यादृशकादिद्वारैः प्ररूप्यते । तत्र यादृशमिति द्वारमाश्रित्यालीकवचनस्य स्वरूपमाह-लघुर्गुणगौरवरहितः, स्व आत्मा येषां ते लघुस्वकाः, तेभ्योऽपि ये लघवस्ते लघुस्वकलघवः, ते च ते चपलाश्च, कायादिभिरिति कर्मधारयः । तैरेव भणितं यत्तत्तथा । तथा-भयकरं दुःखकरमयशःकरं वैरकरं च यत्तत्तथा । अरतिरतिरागद्वेषलक्षणं मनःसंक्लेशं वितरति यत्तत्तथा । अलीकः शुभफलापेक्षया निष्फलो यो निकृतेर्वञ्चनप्रच्छादनार्थवचनस्य, (साइ त्ति) अविश्रम्भस्य च अविश्वासवचनस्य योगो व्यापारस्तेन बहुलं प्रचुरं यत्तत्तथा । नीचैर्जात्यादिहीनैः प्राय इदं निषेवितं तत्तथा । नृशंसं नृशंसार्जितं, निःशंसं वा श्लाघारहितम्, अप्रत्ययकारकं विश्वासविनाशकम् । इतः पदचतुष्टयं कण्ठ्यम् । तथा-भवे संसारे पुनर्भव पुनः पुनर्जन्म करोतीति, तच्च पुनर्भवकरम्, चिरपरिचितमनादिसंसारेऽभ्यस्तम्, अनुगतमव्यवच्छेदेनानुवृत्तं, दुरन्तं विपाकदारुणं, द्वितीयमधर्मद्वारं कीर्तितम् । एतेन यादृश इत्युक्तम् ।

अथ यन्नामेत्यभिधातुकाम आह-

तस्स य णामाणि गोणाणि होंति तीसं । तं जहा-अलियं १ सढं २ अणज्जं ३ मायामोसो ४ असंतगं ५ कूडकवडमवत्थुं ६ निरत्थयमवत्थयं च ७ विद्देसगरहणिज्जं ८ अणुज्जुगं ९ कक्कणा य १० वंचणा य ११ मिच्छापच्छाकडं च १२ साती १३ उच्छन्नं १४ उक्कूलं च १५ अट्टं १६ अब्भक्खाणं च १७ किब्बिसं १८ वलयं १९ गहणं च २० मम्मणं च २१ नूमं २२ नियती २३ अपच्चओ २४ असमओ २५ असच्चसंधत्तणं २६ विवक्खो २७ अवहीयं २८ उवहिअसुद्धं २९ अवलोवो त्ति अविय ३०। तस्स एयाणि एवमाईणि णामधेज्जाणि होंति तीसं सावज्जस्स अलियस्स वइजोगस्स अणेगाइं ।

"तस्स" इत्यादि सुगमं यावत्तद्यथा । अलीकं १, शठः, शठस्य मायिनः कर्तृत्वात् २, अनार्यवचनत्वादनार्यः ३, मायालक्षणकषायानुगतत्वात्, मृषारूपत्वाच्च मायामृषा ४, (असंतगं त्ति) असदर्थाभिधानरूपत्वादसत्यम् ५, (कूडकवडमवत्थुं त्ति) कूटं परवञ्चनार्थं न्यूनाधिकभाषणं, कपटं भाषाविपर्ययकरणम्, अविद्यमानवस्त्वभिधेयोऽर्थो यत्र तदवस्तु; पदत्रयस्याप्येतस्य कथञ्चित् समानार्थत्वेनैकतरस्यैव गणनादिदमेकं नाम ६, (निरत्थयमवत्थयं चेति) निरर्थकं सत्यार्थनिष्क्रान्तम्, अपार्थकम्-अपगतसत्यार्थम्, इहापि द्वयोः समानार्थतया एकतरस्यैव गणनादेकत्वम् ७, (विद्देसगरहणिज्ज त्ति) विद्वेषो मत्सरस्तस्माद् गर्हति निन्दति येन, अथवा-तत्रैव विद्वेषाद् गर्हति साधुजिर्यत्तद्विद्वेषगर्हणीयमिति ८, अनृजुकं वक्रमित्यर्थः ९, कल्कं पापं माया वा, तत्कारणं कल्कं माया पापं च १०, वञ्चना च ११, (मिच्छापच्छाकडं च त्ति) मिथ्येति कृत्वा पश्चात्कृतं निराकृतं न्यायवादिभिर्यत्तत्तथा १२, (साती ति) अविश्रम्भः १३, (उच्छन्नं ति) अपसदं विरूपं छन्नं स्वदोषाणां परगुणानां वाऽऽवरणमपच्छन्नम्, उच्छन्नं वा न्यूनत्वम् १४, (उक्कूलं च त्ति) उत्कूलयति सन्मार्गादपध्वंसयति, कूलाद्वा न्यायसरित्प्रवाहतटादूर्ध्वं यत्तदुत्कूलम् । पाठान्तरेण-उत्कूलम्-ऊर्ध्वं धर्मकलाया यत्तत्तथा १५, आर्तम्-ऋतस्य पीडितस्येदं वचनमिति कृत्वा १६, अभ्याख्यानं चोद्घाटनम्-असतां दोषाणामित्यर्थः १७, किल्बिषं किल्बिषस्य पापस्य हेतुत्वात् १८, वलयमिव वलयं, वक्रत्वात् १९, गहनमिव गहनं, दुर्लक्ष्यान्तस्त्वात् २०, मन्मनमिव मन्मनं च, अस्फुटत्वात् २१, (नूमं ति) प्रच्छादनम् २२, निकृतिर्मायायाः प्रच्छादनार्थं वचनम् २३, अप्रत्ययः प्रत्ययाभावः २४, असमयोऽसम्यगाचारः २५, असत्यमलीकं संदधाति करोतीति असत्यसन्धस्तद्भावोऽसत्यसन्धत्वम् २६, विपक्षः-सत्यस्य, सुकृतस्य चेति भावः २७, (अवहीयं ति) अपगता निन्दा धीर्यस्मिंस्तदपधीकम् । पाठान्तरेण-'अवणाइय' आज्ञां जिनादिश्रमातिगच्छद्यत्निष्क्रामति यत्तदाज्ञातिगम् २८ । (उवहिअसुद्ध त्ति) उपधिना मायया अशुद्धं सावद्यमुपध्यशुद्धम् २९, अपलोपो वस्तुसद्भावप्रच्छादनम्, इत्येवम्प्रकारार्थः । अपि चेति समुच्चयार्थः ३० । (तस्स एयाणि एवमाईणि नामधेज्जाणि होंति तीसं सावज्जस्स अलियस्स वइजोगस्स अणेगाइं त्ति) इह वाक्ये वचनव्यत्ययघटना कार्या-तस्यालीकस्य सावद्यस्य वाग्योगस्य एतान्यनन्तरोदितानि त्रिंशत् एवमादीन्येवम्प्रकाराणि चानेकानि नामधेयानि नामानि भवन्तीति ॥ यन्नामेति द्वारं प्रतिपादितम् ।

अथ ये यथा चालीकं वदन्ति तांस्तथा चाऽऽह-

तं च पुण वदंति केइ अलियं पावा असंजया अविरया कवडकुडिलकडुयचडुलभावा कुद्धा लुद्धा भया य हस्स-

गुरुपरिहारिकाः समागताः । एवं छलाभिप्रायेण कथयत एव मासगुरु । नूतस्ते साधवः परिहारिकसाधुदर्शनोत्सुकाः पृच्छन्ति-कुत्र ते दृष्टाः ? । स प्राह-उद्याने, एवं भणतो मासगुरु । ततः साधवः परिहारिकदर्शनार्थं चलिताः, व्रजन्तो यावन्न पश्यन्ति तावत्तस्य कथयतश्चतुर्लघु । तत्र गतैर्दृष्टेष्वचलस्थेषु कथयतश्चतुर्गुरु । अचमचा अमी इति कृत्वा निवृत्तेषु कथयतः षड्लघवः । ते साधव ईर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य गुरूणामालोचयन्ति-विप्रतारिता वयमनेन साधुनेति, एवं ब्रुवाणेषु तस्य षड्गुरु । आचार्यैरुक्तम्-किमेवं विप्रतारयसि ? । स चेदोत्तरं दद्यात्-साधवः-परिहरन्तोऽपि कथमपरिहारिणो भवन्ति ?, एवं ब्रुवतश्छेदः । साधवो भणन्ति-किं ते परिहरन्ति येन परिहारिका उच्यन्ते ? । इतरः प्राह-स्थाणुकण्टकादिकं तेऽपि परिहरन्ति, एवमुक्ते द्दतो मूलम् । ततस्तैः सर्वैरपि साधुभिरुक्तं त्वं [illegible] दुर्दर्शोऽसि यदेवंगतेऽप्युत्तरं ददासीति । ततः स प्राह-सर्वेऽपि यूयमेकत्र मिलिताः, अहं पुनरेकोऽसहायोऽतः परं कि [illegible], न परिहरन्तु मदीयं अलिकम्, एवं भणतोऽनवस्थाप्यम् । [illegible] एवं ब्रवीति-सर्वेऽपि यूयं प्रवचनस्य बाह्याः, एवं ब्रुवाणस्य [illegible] पाराञ्चिकं भवति ।

इदमेवान्यपदं व्याचष्टे-

किं [illegible] जंपइ, किं मं कोण्हइ एवऽणाएणं ।

बहुएहिँ को विरोहो, सलभेहिँ व नागपोयस्स ? ॥

[illegible] (कोण्हइ) [illegible] को विरोधः ?, शलभैरिव नागपोतस्य ।

अथ [illegible]द्वारमाह-

[illegible] दिट्ठ [illegible] भासेति पोग्गलगुही ओ ।

[illegible] ॥

[illegible] ।

[illegible] ॥ २ ॥

[illegible]

यूयं सर्वेऽप्येकत्र मिलिता इति भणतो छेदम् । [illegible] करोमीति भणतोऽनवस्थाप्यम् । सर्वेऽपि यूयं प्रवचनबाह्या इति वदतः पाराञ्चिकम् ।

इदमेवान्यपदं व्याख्यानयति-

किं आगलेण जंपइ, किं मं कुणेह एव नाणेण ।

बहुएहिँ को विरोहो, सलभेहिँ व नागपोयस्स ? ॥

गतार्था ।

अथावश्यंगमनद्वारमाह-

गच्छसि ण ताव गच्छं, किं ण जासि त्ति पुच्छितो भणति ।

वेला ण ताव जायति, परलोगं वा वि मोक्खं वा ॥

कोऽपि साधुः केनापि साधुना पृष्ट-आर्य ! गमिष्यसि [illegible]म । स प्राह-अवश्यं गमिष्यामि । इतरेण साधुना [illegible] चेतन चलित, व्रजामः स प्राह-न तावद्यावद्गच्छामि [illegible] ण भणितम्-किं त्वरितं वितर्के । न यामि गच्छसि, [illegible] भणितम्-अवश्यं गमिष्यामि ? । एवं पृष्टो भणति-न तावत्परलोकं गन्तुं वेला जायते, अतो न गच्छामि । [illegible] नाद्यापि वेला, अतो न गच्छामि । अपि: संभावने । [illegible] वदति-अवश्यं परलोकं मोक्षं वा गमिष्यामीति ।

अथ 'दिसासु त्ति' पदं व्याख्यानयति-

कतरिं दिसिं गमिस्ससि, पुव्वं अवरं गतो [illegible] ।

किं वा ण होति पुव्वा, इमा दिसा अवरगामस्स ॥

एकः साधुरेकेन साधुना पृष्टः-आर्य ! कतरां दिशं गमिष्यसि ? । स एवं पृष्टो ब्रवीति-पूर्वां गमिष्यामि । [illegible] साधुः [illegible] दिशं गतः । [illegible] प्रतिक्रान्तो तामेवापरां दिशं गतः । तेन साधुना [illegible] [illegible]मीति भणित्वा कस्मादपरामायातः ? । स प्राह-[illegible] इत्य ग्रामस्येयं दिक् पूर्वा न भवति, [illegible]

अथैककुलद्वारमाह-

[illegible]कुलं गच्छं, वयह बहुइत्तपरिणामी पुट्ठो ।

[illegible] कहं दोण्णि कुले, एगम्मि [illegible] ॥

[illegible] स प्राह-[illegible] गमिष्यामीति भणित्वा [illegible]

[illegible]

[illegible]

अवगाहलक्षण आकाशास्तिकायः, उपयोगलक्षणो जीवास्तिकायः, ग्रहणलक्षणः पुद्गलास्तिकायः । एषां च पञ्चानां द्रव्याणां मध्यात्पुद्गलानामेव ग्रहणरूपं लक्षणं, नान्येषां धर्मास्तिकायादीनाम्, तेन ग्रहमेकमेव द्रव्यं गृह्णामि न बहूनीति व्याख्यातं द्वितीयद्वारगाथायाः पूर्वार्द्धम् । अथ "प-डिणाइक्खिताय भुंजणाय त्ति" पश्चार्द्धं व्याख्यायते-प्रत्याख्याय 'नाहं गच्छामीति प्रतिषिध्य' गमनं करोति । प्रत्याख्याय च 'नाहं भुञ्जे इति भणित्वा' भुङ्क्ते । अपरेण च साधुना पृष्टो ब्रवीति-गम्यमानं गम्यते नागम्यमानम्, भुज्यमानमेव भुज्यते नाभुज्यमानम् । अनेन पश्चार्द्धेन गमनद्वारप्रत्याख्यानद्वारे व्याख्याते इति प्रतिपत्तव्यम् । इह सर्वत्रापि प्रथमवारं भणतो मासलघु । अथाभिनिवेशेन बहून् निकाचयति तदा पूर्वोक्तनीत्या पाराञ्चिकं यावद् द्रष्टव्यम् । तदेवं येषु स्थानेषु अलीकं संभवति यादृशी च यत्र शोधिः तदभिहितम् । संप्रति ये अपायास्ते सापवादा इति द्वारम् । तत्रानन्तरोक्तान्यलीकानि भणतो द्वितीयसाधुना सहासंखडाद्युत्पत्तिः संयमात्मविराधनाद्या समपञ्चं सुधिया वक्तव्या । अपवादपदं तु पुरस्ताद् भणिष्यते । वृ०६ उ०। जीत०।

अलीकवचनाख्याधर्मद्वारस्य व्याख्या-

जंबू ! बितियं च अलियवयणं लहुसगलहुचवलभणियं भयकरदुहकरअयसकरवेरकरगं अरतिरतिरागदोसमणसंकिलेसवियरणं अलियनियडिसाइजोयबहुलं णीयजणणिसेवियं निस्संसं अप्पच्चयकारगं परमसाहुगरहणिज्जं परपीलाकारगं परमकण्हलेसमसहियं दुग्गतिविणिपायवड्ढणं भवपुणब्भवकरं चिरपरिचियमणुगयं दुरंतं कित्तियं बितियं अहम्मदारं ॥

'जम्बू !' इति शिष्यामन्त्रणवचनम् । 'द्वितीयं च'-द्वितीयं पुनरधर्मद्वारम्, अलीकवचनं मृषावादः । इदमपि पञ्चत्रिंशद्यथाकादिद्वारैः प्ररूप्यते । तत्र यादृशमिति द्वारमाश्रित्याऽलीकवचनस्य स्वरूपमाह-लघुर्गुणगौरवरहितः, स्व आत्मा येषां ते लघुस्वकाः, तेभ्योऽपि ये लघवस्ते लघुस्वकलघवः, ते च ते चपलाश्च, कायादिभिरिति कर्मधारयः । तैरेव भणितं यत्तत्तथा । तथाभयकरं दुःखकरमयशःकरं वैरकरं च यत्तत्तथा । अरतिरतिरागद्वेषलक्षणं मनःसंक्लेशं वितरति यत्तत्तथा । अलीकः शुभफलापेक्षया निष्फलो यो निकृतिर्वञ्चनप्रच्छादनार्थं वचनस्य, (सा इ त्ति) अविश्रम्भस्य च अविश्वासवचनस्य योगो व्यापारस्तेन बहुलं प्रचुरं यत्तत्तथा । नीचैर्जात्यादिहीनैः प्राय इदं निषेवितं तत्तथा । नृशंसं मृषावर्जितं, निःशंसं वा श्लाघारहितम्, अप्रत्ययकारकं विश्वासविनाशकम् । इतः पदचतुष्टयं कण्ठ्यम् । तथा-भवे संसारे पुनर्भवं पुनः पुनर्जन्म करोतीति, तच्च पुनर्भवकरम्, चिरपरिचितमनादिसंसारेऽभ्यस्तम्, अनुगतमव्यवच्छेदेनानुवृत्तं, दुरन्तं विपाकदारुणं, द्वितीयमधर्मद्वारं कीर्तितम् । एतेन यादृश इत्युक्तम् ।

अथ यन्नामेत्यभिधातुकाम आह-

तस्स य णामाणि गोणाणि हुंति तीसं । तं जहा-अलियं १ सढं २ अणज्जं ३ मायामोसो ४ असंतगं ५ कूडकवडमवत्थुं ६ निरत्थयमवत्थयं च ७ विद्देसगरहणिज्जं ८ अणुज्जुगं ९ कक्कणकारणा य १० वंचणा य ११ मिच्छापच्छाकडं च १२ साती १३ उच्छन्नं १४ उक्कूलं च १५ अट्टं १६ अब्भक्खाणं च १७ किव्विसं १८ वलयं १९ गहणं च २० मम्मणं च २१ नूमं २२ नियती २३ अपच्चओ २४ असमओ २५ असच्चसंधत्तणं २६ विवक्खो २७ अवहीयं २८ उवहिअसुद्धं २९ अवलोवो त्ति अविय ३० ; तस्स एयाणि एवमाईणि णामधेज्जाणि हुंति तीसं सावज्जस्स अलियस्स वइजोगस्स अणेगाइं ।

"तस्स" इत्यादि सुगमं यावत्तद्यथा । अलीकं १, शठः, शठस्य मायिनः कर्तृत्वात् २, अनार्यवचनत्वादनार्यः ३, मायालक्षणकषायानुगतत्वात्, मृषारूपत्वाच्च मायामृषा ४, (असंतगं ति) असदर्थाभिधानरूपत्वादसत्यम् ५, (कूडकवडमवत्थुं त्ति) कूटं परवञ्चनार्थं न्यूनाधिकभाषणं, कपटं भाषाविपर्ययकरणम्, अविद्यमानवस्त्वभिधेयोऽर्थो यत्र तदवस्तु; पदत्रयस्याप्येतस्य कथञ्चित् समानार्थत्वेनैकतमस्यैव गणनादिदमेकं नाम ६, (निरत्थयमवत्थयं चेति) निरर्थकं सत्यार्थनिष्क्रान्तम्, अपार्थकम्-अपगतसत्यार्थम्, इहापि द्वयोः समानार्थतया एकतरस्यैव गणनादेकत्वम् ७, (विद्देसगरहणिज्जं ति) विद्वेषो मत्सरस्तस्माद् गर्हन्ति निन्दन्ति येन, अथवा-तत्रैव विद्वेषाद् गर्हति साधुर्जनस्तद्विद्वेषगर्हणीयमिति ८, अनृजुकं वक्रमित्यर्थः ९, कल्कं पापं माया वा, तत्कारणं कल्कं माया पापं च १०, वञ्चना च ११, (मिच्छापच्छाकडं च त्ति) मिथ्येति कृत्वा पश्चात्कृतं निराकृतं न्यायवादिभिर्यत्तत्तथा १२, (साती त्ति) अविश्रम्भः १३, (उच्छन्नं ति) अपसदं विरूपं छन्नं स्वदोषाणां परगुणानां वाऽऽवरणमपच्छन्नम्, उच्छन्नं वा न्यूनत्वम् १४, (उक्कूलं च त्ति) उत्कूलयति सन्मार्गादपध्वंसयति, कूलाद्वा न्यायसरित्तटादतटादुत्कूलं पतद् उत्कूलम् । पाठान्तरेण-उत्कूलम्-ऊर्ध्वं धर्मकलाया यत्तत्तथा १५, आर्तम्-ऋतस्य पीडितस्येदं वचनमिति कृत्वा १६, अभ्याख्यानं चोद्घाटनम्-असतां दोषाणामित्यर्थः १७, किल्बिषं किल्बिषस्य पापस्य हेतुत्वात् १८, वलयमिव वलयं वक्रत्वात् १९, गहनमिव गहनं, दुर्लक्ष्यान्तस्त्वात् २०, मन्मनमिव मन्मनं च, अस्फुटत्वात् २१, (नूम त्ति) प्रच्छादनम् २२, निकृतिर्मायायाः प्रच्छादनार्थं वचनम् २३, अप्रत्यय अप्रत्ययकारणम् २४, असमयोऽसम्यगाचारः २५, असत्यमलीकं संदधाति करोतीति असत्यसन्धस्तद्भावोऽसत्यसन्धत्वम् २६, विपक्षः-सत्यस्य, सुकृतस्य चेति भावः २७, (अवहीयं ति) अपसदानि-वा धीर्यस्मिंस्तदपधीकम् । पाठान्तरेण-'अवणाइयं' आज्ञां जिनादेशमतिगच्छत्यतिक्रामति यत्तदाज्ञातिगम् २८ । (उवहिअसुद्ध त्ति) उपधिना मायया अशुद्धं सावद्यमुपधिअशुद्धम् २९, अवलोपो वस्तुसद्भावप्रच्छादनम्, इत्येवंप्रकारार्थः । अपि चेति समुच्चयार्थः ३० । (तस्स एयाणि एवमाईणि नामधेज्जाणि हुंति तीसं सावज्जस्स अलियस्स वइजोगस्स अणेगाइं त्ति) इह वाक्ये पदसङ्घटना कार्या-तस्यालीकस्य सावद्यस्य वाग्योगस्य एतान्यनन्तरोदितानि त्रिंशत् एवमादीन्येवंप्रकाराणि चानेकानि नामधेयानि नामानि भवन्तीति ॥ यन्नामेति द्वारं प्रतिपादितम् ।

अथ ये यथा चालीकं वदन्ति तौ तथा चाऽऽह-

तं च पुण वदंति केइ अलियं पावा अस्संजया अविरया कवडकुडिलकडुयचडुलभावा कुद्धा लुद्धा भया-य हस्स-

[illegible]पारिहारिकाः समागताः । एवं छलाभिप्रायेण कथयत एव [illegible]मध्ये । मूलस्थे साधवः पारिहारिकसाधुदर्शनोत्सुकाः पृच्छन्ति-कुत्र ते दृष्टाः ? । स आह-उद्याने, एवं भणतो मासगुरु । [illegible] साधवः पारिहारिकदर्शनार्थं चलिताः, व्रजन्तो यावत्र प[illegible] तावत्तस्य कथयतश्चतुर्लघु । तत्र गतैर्दृष्टेष्वत्रसंस्तु क[illegible] चतुर्गुरुः । [illegible] इति कृत्वा निवृत्तेषु कथयतः [illegible] । ते साधव ईर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य गुरूणामालोच[illegible] उपहसनेन साधुनोक्तं, एवं ब्रुवाणेषु तस्य [illegible] । [illegible]-किमेवं विस्तारयसि ? । स चेत्युत्तरं [illegible]-परिहरन्तोऽपि कथमपरिहारिणो भवन्ति ?, एवं [illegible] । साधवो भणन्ति-किं ते परिहरन्ति येन प[illegible] ? । ततः प्राह-[illegible]कपट्टकादिकं तेऽपि [illegible] हसतो मूलम । ततस्तैः सर्वैरपि सा[illegible] दत्तेऽस्मि [illegible]त्युत्तरं ददासीति । ततः स [illegible] पुनरेकोऽसहायोऽनः प[illegible] भणितं अजिरम, एवं भणतोऽनवस्था[illegible] । [illegible] एवं भणति-सर्वेऽपि यूयं प्रवचन[illegible], एवं [illegible] पाराञ्चिकं भवति ।

[illegible]

कि [illegible], किं मं [illegible] एवऽज्ञाणंतं ।

बहुएहिँ को [illegible], सत्तभेहिँ व नागपोयस्स ? ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

यूयं सर्वेऽप्येकत्र मिलिता इति भणतो मूलम् । [illegible] करोमीति भणतोऽनवस्थाप्यम् । सर्वेऽपि [illegible] बाह्या इति वदति पाराञ्चिकम् ।

इदमेवान्त्यपदं व्याख्यानयति—

किं छागलेण जंपह, किं मं कुप्पेह एव जाणंता ।

बहुएहिँ को विरोहो, सलभेहिँ व नागपोयस्स ? ॥

गतार्था ।

अथावश्यंगमनद्वारमाह-

गच्छसि ण ताव गच्छं, किं खुण जासि त्ति पुच्छिओ [illegible]

वेला ण ताव जायति, परलोगं वा वि मोक्खं वा ॥

कोऽपि साधुः केनापि साधुना पृष्ट-आर्य ! गच्छसि [illegible] म । स आह-अवश्यं गमिष्यामि । इतरेण साधुना [illegible] संलप्त [illegible], व्रजामः स आह-न तावद् [illegible] ण भणितम्-किं स्पृरिति वितर्के । न यामि गच्छामि, [illegible] णितम्-अवश्यं गमिष्यामि ? । एवं पृष्टो भणति-[illegible] परलोकं गन्तुं वेला जायते, अतो न गच्छामि । [illegible] नाद्यापि वेला, अतो न गच्छामि । [illegible] भणति-अवश्यं परलोकं मोक्षं वा गमिष्यामीति ।

अथ 'दिसासु त्ति' पदं व्याख्यानयति-

कतरिं दिसिं गमिस्ससि, पुव्वं अवरं [illegible]

किं वा ण होंति पुव्वा, इमा दिसा अवरगास्स ॥

एकः साधुरेकेन साधुना पृष्टः-आर्य ! कतरां दिशं [illegible] गमिष्यसि ? । स एवं पृष्टो ब्रवीति-पूर्वां गमिष्यामि । [illegible] साधुः पाश्चात्यां [illegible] दिशं गत । [illegible] प्रतिहतो तामेवापरां दिशं गत । तेन साधुना पृष्ट-पूर्वां [illegible] ष्यामीति भणित्वा कस्मादपरामागतः ? । स आह-[illegible] रस्य ग्रामस्यैव दिक् पूर्वा न भवति, [illegible]

अथैककुलद्वारमाह-

अहमेगकुलं गच्छं, वच्चइ बहुकुलपवेसणे पुट्ठो ।

भणति कहं दोमि कुले, एगसरीरेण पविसिस्सं ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

अवगाहलक्षण आकाशास्तिकायः, उपयोगलक्षणो जीवास्तिकायः, ग्रहणलक्षणः पुद्गलास्तिकायः । एषां च पञ्चानां द्रव्याणां मध्यात्पुद्गलानामेव ग्रहणरूपं लक्षणं, नान्येषां धर्मास्तिकायादीनाम, तेन अहमेकमेव द्रव्यं गृह्णामि न बहूनीति व्याख्यातं द्वितीयद्वारगाथायाः पूर्वार्द्धम् । अथ " पडियाइक्खिताय भुंजणय त्ति " पश्चार्द्धं व्याख्यायते-प्रत्याख्याय 'नाहं गच्छामी'ति प्रतिषिध्य' गमनं करोति । प्रत्याख्याय च 'नाहं भुञ्जे इति भणित्वा' भुङ्क्ते । अपरेण च साधुना पृष्टो ब्रवीति-गम्यमानं गम्यते नागम्यमानम्; भुज्यमानमेव भुज्यते नाभुज्यमानम् । अनेन पश्चार्द्धेन गमनद्वारप्रत्याख्यानद्वारे व्याख्याते इति प्रतिपत्तव्यम् । इह सर्वत्रापि प्रथमवारं प्रणतो मासलघु । यथाभिनिवेशेन वदन् निकाचयति तदा पूर्वोक्तनीत्या पाराञ्चिकं यावद्द्रष्टव्यम् । तदेवं येषु स्थानेष्वलीकं संभवति यादृशी च यत्र शोधिः तदभिहितम् । संप्रति ये अपायास्ते सापवादा इति द्वारम् । तत्रानन्तरोक्तान्यलीकानि वदतो द्वितीयसाधुना सहासंखडाद्युत्पत्तिः संयमात्मविराधनाकृता समग्रस्वं सुधिया वक्तव्या । अपवादपदं तु पुरस्ताद् भणिष्यते । बृ० ६ उ० । जीत० ।

अलीकवचनाख्याधर्मद्वारस्य व्याख्या–

जंबू ! बितियं च अलियवयणं लहुसगलहुचवलभणियं भयकरदुहकरअयसकरवेरकरगं अरतिरतिरागदोसमणसंकिलेसवियरणं अलियनियडिसाइजोयबहुलं णीयजणणिसेवियं निसंसं अप्पच्चयकारगं परमसाहुगरहणिज्जं परपीलाकारकं परमकण्हलेससहियं दुग्गतिविणिवायवड्ढणं भवपुणब्भवकरं चिरपरिचियमणुगयं दुरंतं कित्तियं बितियं अहम्मदारं ॥

'जम्बू !' इति शिष्यामन्त्रणवचनम् । 'द्वितीयं च'-द्वितीयं पुनराश्रवद्वारम्, अलीकवचनं मृषावादः । इदमपि पञ्चभिर्यदृच्छकादिद्वारैः प्ररूप्यते । तत्र यादृशमिति द्वारमाश्रित्यालीकवचनस्य स्वरूपमाह-लघुर्गुणगौरवरहितः, स्व आत्मा येषां ते लघुस्वकाः, तेभ्योऽपि ये लघवस्ते लघुस्वकलघवः, ते च ते चपलाश्च, कायादिभिरिति कर्मधारयः । तैरेव भणितं यत्तत्तथा । तथा-भयकरं दुःखकरमयशःकरं वैरकरं च यत्तत्तथा । अरतिरतिरागद्वेषलक्षणं मनःसंक्लेशं वितरति यत्तत्तथा । अलीकः शुभफलापेक्षया निष्फलो यो निकृतेर्धूर्त्तप्रच्छादनार्थवचनस्य, (सा इ त्ति) अविश्रम्भस्य च अविश्वासवचनस्य योगो व्यापारस्तेन बहुलं प्रचुरं यत्तत्तथा । नीचैर्जात्यादिहीनैः प्राय इदं निषेवितं तत्तथा । नृशंसं नृशंसवर्जितं, निःशंसं वा श्लाघारहितम्, अप्रत्ययकारकं विश्वासविनाशकम् । इतः पदचतुष्टयं कण्ठ्यम् । तथा-भवे संसारे पुनर्भवं पुनःपुनर्जन्म करोतीति, भव पुनर्भवकरम्, चिरपरिचितमनादिसंसारेऽभ्यस्तम्, अनुगतमव्यवच्छेदेनानुवृत्तं, दुरन्तं विपाकदारुणं, द्वितीयमधर्मद्वारं कीर्तितम् । एतेन यादृश इत्युक्तम् ।

अथ यन्नामेत्यभिधातुकाम आह–

तस्स य णामाणि गोण्णाणि होंति तीसं । तं जहा–अलियं १ सढं २ अणज्जं ३ मायामोसो ४ असंतगं ५ कूडकवडमवत्थुं ६ निरत्थयमवत्थगं च ७ विद्देसगरहणिज्जं ८ अणुज्जुगं ९ कक्कणा य १० वंचणा य ११ मिच्छापच्छाकडं च १२ साती १३ उच्छन्नं १४ उक्कूलं च १५ अट्टं १६ अब्भक्खाणं च १७ किब्बिसं १८ वलयं १९ गहणं च २० मम्मणं च २१ नूमं २२ नियती २३ अपच्चओ २४ असमओ २५ असच्चसंधत्तणं २६ विवक्खो २७ अवहीयं २८ उवहिअसुद्धं २९ अवलोवो त्ति अविय ३०; तस्स एयाणि एवमाईणि णामधेज्जाणि होंति तीसं सावज्जस्स अलियस्स वइजोगस्स अणेगाइं ।

"तस्स" इत्यादि सुगमं यावत्तद्यथा । अलीकं १, शठः, शठस्य मायिनः कर्तृत्वात् २, अनार्यवचनत्वादनार्यः ३, मायालक्षणकषायानुगतत्वात्, मृषारूपत्वाच्च मायामृषा ४, (असंतगं ति) असदर्थाभिधानरूपत्वादसत्कम् ५, (कूडकवडमवत्थुं ति) कूटं परवञ्चनार्थं न्यूनाधिकभाषणं, कपटं भाषाविपर्ययकरणम्, अविद्यमानवस्त्वभिधेयोऽर्थो यत्र तदवस्तु, पदत्रयस्याप्येतस्य कथञ्चित् समानार्थत्वेनैकतमस्यैव गणनादिदमेकं नाम ६, (निरत्थयमवत्थयं चेति) निरर्थकं सत्यार्थनिष्क्रान्तम्, अपार्थकम् अपगतसत्यार्थम्, इहापि द्वयोः समानार्थतया एकतरस्यैव गणनादेकत्वम् ७, (विद्देसगरहणिज्ज त्ति) विद्वेषो मत्सरस्तद् गर्हति निन्दति यत्, अथवा-तेन विद्वेषं गर्हणीयं च पुनर्यत्साधूनां गर्हणीयमिति ८, अनृजुकं वक्रमित्यर्थः ९, कल्कं पापं माया वा, तत्कारणं कल्कं माया पाप च १०, वञ्चना च ११, (मिच्छापच्छाकडं च त्ति) मिथ्येति कृत्वा पश्चात्कृतं निराकृतं न्यायवादिभिर्यत्तत्तथा १२, (साती त्ति) अविश्रम्भः १३, (उच्छन्न त्ति) अपच्छन्नं विरूपं तच्च स्वदोषाणां परगुणानां चाऽऽच्छादकत्वम्, उच्छन्नं वा न्यूनत्वम् १४, (उक्कूलं च त्ति) उत्कूलयति सन्मार्गादपध्वंसयति, कूलाद्वा न्यायनदीतटाद्यत्तदुत्कूलम् । पाठान्तरेण-उत्कूलम् ऊर्ध्वं धर्मकलाया यत्तत्तथा १५, आर्तम्-अनृतस्य पीडितस्येदं वचनमिति कृत्वा १६, अभ्याख्यानं चासद्भावोद्भावनम्-असतां दोषाणामभिधानं १७ किल्बिषं किल्बिषस्य पापस्य हेतुत्वात् १८, वलयमिव वलयं वक्रत्वात् १९, गहनमिव गहनं, दुर्लक्ष्यान्तरत्वात् २०, मन्मनमिव मन्मनं च, अस्फुटत्वात् २१, (नूम त्ति) प्रच्छादनम् २२, निकृतिर्मायायाः प्रच्छादनार्थं वचनम् २३, अप्रत्ययः अविश्वासः २४, असमयोऽसम्यगाचारः २५, असत्यसन्धत्वमसत्यप्रतिज्ञत्वम् २६, विपक्षः सत्यस्य, सुकृतस्य चेति भाव० २७, (अवहीयं त्ति) अपगता निन्दा धीर्यस्मिंस्तदपधीकम् । पाठान्तरेण 'अवहीयं' आज्ञां जिनादेशमतिक्रान्तमिति यावत् २८ । (उवहिअसुद्धं त्ति) उपधिना मायया अशुद्धं सावद्यमुपध्यशुद्धम् २९, अवलोपो वस्तुसद्भावप्रच्छादनम्, इत्येवंप्रकारार्थं ; अपि चेति समुच्चयार्थः ३० । (तस्स एयाणि एवमाईणि नामधेज्जाणि होंति तीसं सावज्जस्स अलियस्स वइजोगस्स अणेगाइं त्ति) इह सावद्य वचनग्रहणेन सत्यमप्यलीकम् । असत्य सावद्यस्य वचोयोगस्य अनन्तरदर्शितानि त्रिंशन्नामानि, एवमादीनि नामधेयानि अनेकानि अनेकप्रकाराणि भवन्तीति । यन्नामेति द्वारं प्रतिपादितम् ।

अथ ये यथा अलीकं वदन्ति तं प्रपञ्चयन्नाह–

तं च पुण वदंति केइ अलियं पावा अस्संजया अविरया कवडकुडिलकडुयचटुलभावा कुद्धा लुद्धा भया य हस्स-

गुरवः परिहारिकाः समागताः । एवं छलाभिप्रायेण कथयत एव मासगुरु । तत्र साधवः परिहारिकसाधुदर्शनोत्सुकाः पृच्छन्ति-कुत्र ते स्थिताः ? । स आह-उद्याने, एवं भणतो मासगुरु । ततः साधवः परिहारिकदर्शनार्थं चलिताः, व्रजन्तो यावत्र पश्यन्ति तावत्तस्य कथयतश्चतुर्लघु । तत्र गतैर्दृष्टेष्वत्रसभेषु कथयतश्चतुर्गुरु । अयमसौ धर्मा इति कृत्वा निवृत्तेषु कथयतः षड्लघवः । ते साधव ईर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य गुरूणामालोचयन्ति-विप्रतारिता वयमनेन साधुनेति, एवं ब्रुवाणेषु तस्य षड्गुरु । आचार्यैरुक्तम्-किमेवं विप्रतारयसि ? । स चेष्टोत्तरं [illegible]-परिहरन्तीति कथमपरिहारिणो भवन्ति ?, एवं [illegible] । साधवो भणन्ति-किं ते परिहरन्ति येन परिहारिका उच्यन्ते ? । इतरः प्राह-स्थाणुकण्टकादिकं तेऽपि परिहरन्ति, [illegible] । ततस्तैः सर्वैरपि साधुभिः [illegible] दास्यामीति । ततः स प्राह-[illegible] एवं भणतोऽनवस्थाप्यम् । [illegible] पाराञ्चिकं भवति ।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

यूयं सर्वेऽप्येकत्र मिलिता इति भणतो मूलम् [illegible] करोमीति भणतोऽनवस्थाप्यम् । सर्वेऽपि [illegible] बाह्या इति वदति पाराञ्चिकम् ।

इदमेवान्त्यपदं व्याख्यानयति-

किं छागलेण जंपइ, किं मं कुणेह एव नासेह ।
वहुएहिँ को विरोहो, सलभेहिँ व नागसप्पो ? ॥

गतार्था ।

अथावश्यंगमनद्वारमाह-

गच्छसि ण ताव गच्छं, किं खुण जाणसि त्ति पुच्छितो [illegible]
वेला ण ताव जायति, परलोगं वा वि मोक्खं वा ॥

कोऽपि साधुः केनापि साधुना पृष्टः-आर्य ! गमिष्यसि [illegible] । स प्राह-अवश्यं गमिष्यामि । इतरेण साधुना [illegible] तत्र तिष्ठ, व्रजामः । स प्राह-न तावद् [illegible] ण भणितम्-किं त्वरितेति वितर्कः । न यामि गच्छामि, [illegible] णितम्-अवश्यं गमिष्यामि ? । एवं पृष्टो भणति-न तावत् [illegible] रलोकं गन्तुं वेला जायते, अतो न गच्छामि । [illegible] नाद्यापि वेला, अतो न गच्छामि । [illegible] वदति-अवश्यं परलोकं मोक्षं वा गमिष्यामीति ।

अथ 'दिसासु त्ति' पदं व्याख्यानयति-

कतरि दिसि गमिस्ससि, पुव्वं अवरं गतो [illegible]
किं वा ण होति पुव्वा, इमा दिसा अवरा [illegible] ॥

एकः साधुरेकेन साधुना पृष्टः-आर्य ! कतरां दिशं [illegible] गमिष्यसि ? । स एवं पृष्टो ब्रवीति-पूर्वां गमिष्यामि । [illegible] साधुः [illegible] दिशं गत । [illegible] प्रतिहतो [illegible] दिशं गत । तेन साधुना [illegible] ष्यामीति भणित्वा कस्मादपरामागतः ? । स प्राह-[illegible] [illegible] दिक् पूर्वा न भवति, [illegible]

अथैककुलद्वारमाह-

अहमेगकुलं गच्छं, वच्चइ वहुकुलपवेसणे पुट्ठो ।
जाणति कहं होमि कुलो, एगसरीरेण परिभिन्नं ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

अवगाहलक्षण आकाशास्तिकायः, उपयोगलक्षणो जीवास्तिकायः, ग्रहणलक्षणः पुद्गलास्तिकायः । एषां च पञ्चानां द्रव्याणां मध्यात्पुद्गलानामेव ग्रहणरूपं लक्षणं, नान्येषां धर्मास्तिकायादीनाम्, तेन ग्रहमेकमेव द्रव्यं गृह्णामि न बहूनीति व्याख्यातं द्वितीयद्वारगाथायाः पूर्वार्द्धम् । अथ " पडियाइक्खित्ताय भुंजएय त्ति " पश्चार्द्धं व्याख्यायते-प्रत्याख्याय 'नाहं गच्छामीति प्रतिषिध्य' गमनं करोति । प्रत्याख्याय च 'नाहं भुञ्जे इति भणित्वा' भुङ्क्ते । अपरेण च साधुना पृष्टो ब्रवीति-गम्यमानं गम्यते नागम्यमानम्; भुज्यमानमेव भुज्यते नाभुज्यमानम् । अनेन पश्चार्द्धेन गमनद्वारप्रत्याख्यानद्वारे व्याख्याते इति प्रतिपत्तव्यम् । इह सर्वत्रापि प्रथमवारं भणतो मासलघु । यथाभिनिवेशेन यदा निकाचयति तदा पूर्वोक्तनीत्या पाराञ्चिकं यावद् द्रष्टव्यम् । तदेवं येषु स्थानेष्वलीकं संभवति यावती च यत्र शोधिः तदभिहितम् । संप्रति ये अपायास्ते वक्तव्या इति द्वारम् । तत्रानन्तरोक्तान्यलीकानि भणतो द्वितीयसाधुना सहाऽसंखडाद्युत्पत्तिः संयमात्मविराधनारूपा सप्रपञ्चं सुधिया वक्तव्या । अपवादपदं तु पुरस्ताद् भणिष्यते । बृ० ६ उ० । जीत० ।

अलीकवचनाख्याधर्मद्वारस्य व्याख्या-

जंबू ! बितियं च अलियवयणं लहुसगलहुचवलभणियं भयकरदुहकरअयसकरवेरकरगं अरतिरतिरागदोसमणसंकिलेसवियरणं अलियनियडिसाइजोयबहुलं णीयजणणिसेवियं निस्संसं अप्पच्चयकारगं परमसाहुगरहणिज्जं परपीलाकारकं परमकण्हलेसमसहियं दुग्गतिविणिपायवड्ढणं भवपुणब्भवकरं चिरपरिचितमणुगयं दुरंतं कित्तियं बितियं अहम्मदारं ॥

'जम्बू !' इति शिष्यामन्त्रणवचनम् । 'द्वितीयं च'-द्वितीयं पुनराश्रवद्वारम्, अलीकवचनं मृषावादः । इदमपि पञ्चभिर्यादृशकादिद्वारैः प्ररूप्यते । तत्र यादृशमिति द्वारमाश्रित्यालीकवचनस्य स्वरूपमाह-लघुर्गुणगौरवरहितः, स्व आत्मा येषां ते लघुस्वकाः, तेभ्योऽपि ये लघवस्ते लघुस्वकलघवः, ते च ते चपलाश्च, कायादिभिरिति कर्मधारयः । तैरेव भणितं यत्तत्तथा । तथा-भयकरं दुःखकरमयशःकरं वैरकरं च यत्तत्तथा । अरतिरतिरागद्वेषलक्षणं मनःसंक्लेशं वितरति यत्तत्तथा । अलीकः शुभफलापेक्षया निष्फलो यो निकृतेर्वञ्चनप्रच्छादनार्थवचनस्य, (सा त्ति) अविश्रम्भस्य च अविश्वासवचनस्य योगो व्यापारस्तेन बहुलं प्रचुरं यत्तत्तथा । नीचैर्जात्यादिहीनैः प्राय इदं निषेवितं तथा । नृशंसं शूकावर्जितं, निःशंसं वा श्लाघारहितम्, अप्रत्ययकारकं विश्वासविनाशकम् । इतः परमसाधुगर्हणीयम् । भवान्तरे संसारे पुनरेव पुनःपुनर्जन्म करोतीति, भवपुनर्भवकरम्, चिरपरिचितमनादिसंसारेऽभ्यस्तम्, अनुगतमव्यवच्छेदानुवृत्तं, दुरन्तं विपाकदारुणं, द्वितीयमधर्मद्वारं कीर्तितम् । तन्नामद्वय इत्युक्तम् ।

अथ यथाभिधानमित्यभिधातुकाम आह-

तस्स य णामाणि गोण्णाणि हुंति तीसं । तं जहा-अलियं १ सढं २ अणज्जं ३ मायामोसो ४ असंतगं ५ कूडकवडमवत्थुं ६ निरत्थयमवत्थयं च ७ विद्देसगरहणिज्जं ८ अणुज्जुगं ९ कक्कणा य १० वंचणा य ११ मिच्छा-पच्छाकडं च १२ साती १३ उच्छन्नं १४ उक्कूलं च १५ अट्टं १६ अब्भक्खाणं च १७ किव्विसं १८ वलयं १९ गहणं च २० मम्मणं च २१ नूमं २२ नियती २३ अपच्चओ २४ असमओ २५ असच्चसंधत्तणं २६ विवक्खो २७ अवहीयं २८ उवहिअसुद्धं २९ अवलोवो त्ति अविय ३०; तस्स एयाणि एवमादीणि णामधेज्जाणि हुंति तीसं सावज्जस्स अलियस्स वइजोगस्स अणेगाइं ।

"तस्स" इत्यादि सुगमं यावत्तद्यथा । अलीकं १, शठं, शठस्य मायिनः कर्तृत्वात् २, अनार्यवचनत्वादनार्यं ३, मायानृषकषायानुगतत्वात्, मृषारूपत्वाच्च मायामृषा ४, (असंतगं ति) असद्वस्तुनोऽभिधानरूपत्वादसत्कम् ५, (कूडकवडमवत्थुं ति) कूटं परवञ्चनार्थं न्यूनाधिकभाषणं, कपटं भाषाविपर्ययकरणम्, अविद्यमानवस्त्वभिधेयोऽर्थो यत्र तदवस्तु, [illegible] कथञ्चित् समानार्थत्वेनैकमेवेदं [illegible] ६, [illegible] निरर्थकम् [illegible] ७, (विद्देसगरहणिज्जं ति) [illegible] ८, [illegible] ९, [illegible] पापं माया वा [illegible] १०, [illegible] ११, (मिच्छापच्छाकडं च त्ति) [illegible] १२, (साती ति) अविश्रम्भः १३, (उच्छन्नं ति) [illegible] १४, (उक्कूलं च त्ति) [illegible] सम्मार्गात् [illegible] । पाठान्तरेण [illegible] १५, आर्तस्य [illegible] १६, [illegible] १७, [illegible] पापस्य [illegible] १८, [illegible] १९, गहनमिव गहनं, दुर्लक्ष्यान्तःस्वरूपत्वात् २०, [illegible] अस्फुटत्वात् २१, (नूमं ति) प्रच्छादनम् २२, [illegible] २३, [illegible] २४, [illegible] असमयोऽसत्सिद्धान्तः २५, [illegible] २६, [illegible] २७, [illegible] २८, (उवहिअसुद्धं ति) [illegible] २९, [illegible] ३० । [illegible]

अथ ये यथा [illegible]

[illegible]

णंति, अहरगतिगमणं, अण्णं पि य जाइरूवकुलसीलप-
च्चयमायानिगुणं, चवला पिसुणं परमट्ठभेदकमसंतकं वि-
द्देसमणत्थकारकं पावकम्ममूलं दुद्दिट्ठं दुस्सुयं अमुणियं
निल्लज्जं लोगगरहणिज्जं वहबंधपरिकिलेसबहुलं जराम-
रणदुक्खसोगनेमं असुद्धपरिणामसंकिलिट्ठं भणंति ॥

यस्माच्छरीरं सादिकमित्यादि, तस्माद्दानव्रतपौषधानां वितर-
णनियमतपोपवासानां, तथा-तपोऽनशनादि, संयमः पृ-
थिव्यादिरक्षा, ब्रह्मचर्यं प्रतीतम् । एतान्येव कल्याणं कल्याणहेतु-
त्वाद्दानादीनां मे ज्ञानप्रकारादीनां तानि तथा, तेषां, नास्ति फलं
स्वर्गापवर्गसुगतिगमनादिक, नापि च प्राणिवधादीकवचनमशु-
भं चाऽस्यशुभफलसाधनम्, तथैव नैव च चौर्यकरणं,परदार-
परिमर्दं, तथ तत्पापकर्मकरणं च पातकक्रियासेवनं तदपि
नास्ति किञ्चित्, क्रोधमानाद्यासेवनरूपा नारकादिका च जगतो
विचित्रता स्वभावादेव न कर्मजनिता । तदुक्तम्-" कण्टकस्य
च तीक्ष्णत्वं, मयूरस्य च चित्रता । वर्णाश्च ताम्रचूडानां, स्व-
भावेन भवन्ति हि " ॥१॥ इति । मृषावादिता चैवमेतेषाम्-स्वभावो
हि जीवादिपदार्थान्तरभूतः, तदा प्राणातिपातादिजनितकर्मैक-
कत्वकरोऽस्वायत्तधर्मान्तरभूतः,ततो जीव एवासौ, तद्व्यतिरेका-
त्स्वरूपवत् । ततो निर्हेतुका नारकादिविचित्रता स्यात् । नच
निर्हेतुकं किमपि भवति,अतिप्रसङ्गादिति । तथा-न नैरयिकति-
र्यग्मनुष्ययोनीनां योनिरुत्पत्तिस्थानं पापपुण्यकर्मफलभूताऽस्तीति
प्रक्रमः । न देवलोको वाऽस्तीति पुण्यकर्मफलरूपः;नैवास्ति सि-
द्धिगमनं;सिद्धेः, सिद्धस्य वाऽनावात् । अम्बापितरावपि न स्तः,
उत्पत्तिमात्रनिबन्धनत्वाद् मातापितृत्वस्य । नचोत्पत्तिमात्रनिब-
न्धनस्य मातापितृतया विशेषो युक्तः ; यतः कुतोऽपि किञ्चिदु-
त्पद्यत एव । यथा-सचेतनाच्चेतनं यूकामत्कुणादि, अचेतन च
मूत्रपुरीषादि । अचेतनाच सचेतनं, यथा-काष्ठाद् घुणकी-
टकादि, अचेतनं च चूर्णादि । तस्माज्जन्यजनकभावमात्रमर्था-
नामस्ति नान्यो मातापितृपुत्रादिविशेष इति । तदभावाच्चाभिग-
मनविनाशापमाननादिषु न दोष इति भावः । मृषावादिता चैषां-
मातृत्वान्तरस्य पित्रोः स्वजनकत्वे समानेऽपि तयोरत्यन्तहिततया
विशेषवत्त्वेन सत्त्वात् । हितत्वं च तयोः प्रतीतमेव । आह च-
दुष्प्रतीकारौ पितरावित्यादि । नाप्यस्ति पुरुषकारः,न विनैव नियतितः
सर्वप्रयोजनानां सिद्धेः । उच्यते च-" प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण
योऽर्थः,सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा । भूतानां महति कृते-
ऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः " ॥ १ ॥
मृषावादिता चैवमेषाम्--सकललोकप्रतीतपुरुषकारापलापेन
प्रमाणातीतनियतिमतास्युपगमादिति । तथा-प्रत्याख्यानमपि ना-
स्ति, धर्मसाधनतया धर्मस्यैवाभावादिति । अस्य च सर्वज्ञव-
चनप्रामाण्येनास्तित्वात् तद्वादिनामसत्यता । तथा-नैवास्ति
कालमृत्यू, तत्र कालो नास्ति, अनुपलम्भात् । यच्च वनस्पति-
कुसुमादि कालखक्षणमाचक्षते,तत्तेषामेव स्वरूपमिति मन्तव्यम् ।
असत्यं तेषामपि-स्वरूपस्य वस्तुनोऽनतिरेकात् कुसुमादिकर-
णमकारणं तरूणां स्यात् । तथा-मृत्युः परलोकप्रयाणलक्षणः,
असावपि नास्ति, जीवाभावेन परलोकगमनाभावात् । अथवा
कालक्रमेण विचलितायुष्कर्मणः सामस्त्यनिर्जराऽवसरे मृत्युः
कालमृत्युः,तदभावश्च;आयुष एवाभावात् । तथा-अर्हदादयोऽ-

[नत्थि त्ति] न सन्ति, प्रमाणाविषयत्वात् । [नेवऽत्थि केइ रि-
सओ त्ति] नैव सन्ति केचिदपि ऋषयो गौतमादिमुनयः, प्रमा-
णाविषयत्वादेव, वर्तमानकाले वा ऋषित्वस्य साध्वनुष्ठानस्या-
भावात्, ततोऽपि वा निष्फलत्वादिति । अत्र च शिक्षाऽऽदिम-
वाह्यानुमेयत्वादर्हदादयस्तत्स्यानन्तरोक्तवादिनामसत्यता । ऋ-
षित्वस्यापि सर्वज्ञवचनप्रामाण्येन सर्वदा भावादित्येवमाद्यामा-
द्यार्थोऽपलापिनां सर्वत्रासत्यवादिता भावनीयेति । तथा-धर्मा-
धर्मफलमपि नास्ति किञ्चिद् बहुकं वा स्तोकं वा, धर्माधर्मयो-
रदृष्टत्वेन नास्तित्वात् । " नत्थि फलं सुकए " इत्यादि यदुक्तं
प्राक् तत्सामान्यजीवापेक्षया, यच्च "धम्माधम्म" इत्यादि,तद्-
विशेषापेक्षयेति न पुनरुक्ततेति । [तम्हा त्ति] यस्मादेवं तस्मादे-
वमुक्तप्रकारं वस्तु विज्ञाय [जहा सुबहुइंदियाणुकूलेसु त्ति]
यथा यत्प्रकारा सुबहुधा अत्यर्थमिन्द्रियानुकूला ये ते तथा, तेषु
सर्वेषु विषयेषु वर्तितव्यम् । नास्ति काचित् क्रिया वा-अक्रि-
याक्रिया वा पापक्रिया वा, उभयक्रिययोरास्तिककल्पितत्वेना-
परमार्थिकत्वात् । भणन्ति च-

" पिब खाद च चारुलोचने !, यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते ।
नहि भीरु! गतं निवर्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम् " ॥१॥

एवमित्यादिनिगमनम् । तथा--इदमपि द्वितीयं नास्तिकद-
र्शनापेक्षया कुदर्शनं कुमतमसद्भाववादिनः प्रज्ञापयन्ति
मूढाः व्यामोहवन्तः । कुदर्शनता च वक्ष्यमाणस्यार्थस्याप्रा-
माणिकत्वाद् वादिप्रोक्तप्रमाणस्य प्रमाणाभासत्वात् [illegible]
नीया । किंभूतं कुदर्शनम् ? [illegible]
जन्त[illegible]

[illegible] मतमित्यमाचक्षते-

" पुव्वं आसि जगमिणं, पंचमहब्भूयवज्जिय गंभीरं ।
एगण्णवं जलेणं, महप्पमाणं तहिं अंडं ॥ १ ॥
वीईपरंपरेणं, घोलंतं अत्थि उ सुइरकालं ।
फुटं दुभागजायं अद्धं भूमी य संवुत्तं ॥ २ ॥
तत्थ सुरासुरनारग-समणुय सचउप्पयं जगं सव्वं ।
उप्पन्न भणियमिणं, बंभंडपुराणसत्थम्मि " ॥ ३ ॥

तथा स्वयंभूनिर्मितजगद्वादिनो भणन्ति-

"आसीदिदं तमोभूत-मप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अवितर्क्यमविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ १ ॥
तस्मिन्नेकार्णवीभूते, नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
नष्टामरनरे चैव, प्रनष्टोरगराक्षसे ॥ २ ॥
केवलं गह्वरीभूते, महाभूतविवर्जिते ।
अचिन्त्यात्मा विभुस्तत्र, शयानस्तप्यते तपः ॥ ३ ॥
तत्र तस्य शयानस्य, नाभेः पद्मं विनिर्गतम् ।
तरुणरविमण्डलनिभं, हृद्यं काञ्चनकर्णिकम् ॥ ४ ॥
तस्मिन् पद्मे स भगवान्, दण्डी यज्ञोपवीतसंयुतः ।
ब्रह्मा तत्रोत्पन्न-स्तेन जगन्मातरः सृष्टाः ॥ ५ ॥
अदितिः सुरसंघानां, दितिरसुराणां मनुर्मनुष्याणाम्
विनता विहङ्गमानां, माता सर्वप्रकाराणाम्" ॥ ६ ॥

नकुलादीनामित्यर्थः ।

"कद्रूः सरीसृपाणां, सुलसा माता च
सुरनिम्नगुणरता--मिला पुनः

पतद्विपर्ययं चेति भावः । इह च संसारमोचकादयो निदर्शन-मिति । तथा-अपरे केचन, अधर्मतोऽधर्ममङ्गीकृत्य राजदुष्टं नृपविरुद्धम-'अभिमरोऽयमित्यादिकम्'अभ्याख्यानं परस्याभिमुखं दूषणवचनं,भणन्ति ब्रुवते,अलीकमसत्यम । अभ्याख्यानमेव दर्शयितुमाह-चौर इति भणन्तीति प्रकृतम् । कं प्रति?, इत्याह-अचौर्यं कुर्वन्तं चौर्यमकुर्वाणमित्यर्थः । तथा—डामरिको विग्रहकारी इति । अपिचेति समुच्चये । भणन्तीति प्रकृतमेव।(एमेव त्ति) एवमेव चौरादिकं प्रयोजनं विनैव,कथंभूतं पुरुषं प्रति?, इत्याह-उदासीनं डामरादीनामकारणम । तथा दुःशील इति च हेतोः परदारान् गच्छतीत्येवमभ्याख्यानेन मलिनयन्ति नाशयन्ति,शीलकलितं सुशीलतया परदारविरतम,तथा-अयमपि न केवलं स एव गुरुतल्पक इति दुर्विनीत इति; अन्ये केचन, मृषावादिनः,एवमेव निष्प्रयोजनं भणन्ति; उपघ्नन्तः विध्वंसयन्तः तद्वृत्तिकीर्त्यादिकामिति गम्यते । तथा-मित्रकलत्राणि सेवते सुहृद्दारान् भजते; अयमपि न केवलमसौ, पुनर्लुप्तधर्मा विगतधर्म इति । (इमो वि त्ति) अयमपि विश्रम्भघातकः पापकर्मकारीति वक्तव्यम् । अकर्मकारी स्वभूमिकाऽनुचितकर्मकारी,अगम्यगामी भगिन्याद्यभिगन्ता, अयं दुरात्मा (बहुएसु य पावगेसु त्ति) बहुभिश्च पातकैर्युक्त इत्येवं जल्पन्ति, मत्सरिण इति व्यक्तम् । भद्रके वा निर्दोषे विनयादिगुणयुक्ते पुरुषे वा, शब्दस्तद्रूपे वा, एवं जल्पन्तीति प्रक्रमः । किंभूतास्ते ?, इत्याह-गुण उपकारः, कीर्त्तिः प्रसिद्धा, स्नेहः प्रीतिः, परलोको जन्मान्तरम, एतेषु निष्पिपासा निराकाङ्क्षा एते । तथा-एवमुक्तक्रमेण,एतेऽलीकवचनदक्षाः,परदोषोत्पादनप्रसक्ताः, वेष्टयन्तीति पदत्रयं व्यक्तम । अक्षतिकर्षाजेन अक्षयेण दुःखहेतुनेत्यर्थः । आत्मानं स्व,कर्मबन्धनेन प्रतीतेन,[मुहरि त्ति] मुखमेव अरिः शत्रुरनर्थकारित्वाद्येषां ते मुखारयोऽसमीक्षितप्रलापिनः-अपर्यालोचितानर्थकवादिनः, निक्षेपान्मायकान्पहरन्ति, परस्य संबन्धिनि अर्थे द्रव्ये ग्रथितगृद्धाः अत्यन्तगृद्धिमन्तः । तथा-अभियोजयन्ति च परमसद्भिः, दूषणैरिति गम्यम । तथा—लुब्धाश्च कुर्वन्ति कूटसाक्षित्वमिति व्यक्तम् । तथा-जीवानामहितकारिणः; अर्थालीकं च द्रव्यार्थमसत्यं, भणन्तीति योगः । कन्यालीकं च कुमारीविषयमसत्यं , भूम्यलीकं च प्रतीतम । तथा-गवालीकं च प्रतीतं, गुरुकं बादरं स्वस्य जिह्वाच्छेदादिनर्थकरं परेषां च गाढोपतापादिहेतु,भणन्ति भाषन्ते।इह कन्याऽऽदिभिः पदैर्द्विपदापदचतुष्पदजातय उपलक्षणत्वेन संगृहीता द्रष्टव्याः।कथंभूतं तत्?, इत्याह-अधरगतिगमनम-अधोगतिगमनकारणम, अन्यदपि चोक्तव्यतिरिक्तं, जातिरूपकुलशीलानि प्रत्ययकारणं यस्य तत्तथा; तच्च मायया निगुणं निहतगुणं भवति समासः । तत्र जातिकुलं मातापितृपक्षः, तद्धेतुकं च प्रायोऽलीकं संभवति , यतो जात्यादिदोषात्केचिदली—कवादिनो भवन्ति। रूपमाकृतिः,शीलं स्वभावः,तत्प्रत्ययस्तु प्रत्यय,प्रशंसानिन्दाविषयत्वेन वा जात्यादीनामलीकप्रत्ययता भावनीयेति। कथंभूतास्ते?,चपला-मनश्चापल्यादिना। किंभूतं तत्?, पिशुनं परदोषाविष्करणरूपम, परमार्थभेदकं मोक्षप्रतिघातकम्। [असंतगं ति] असत्कमविद्यमानार्थम,असत्यमित्यर्थः। असत्त्वकं वा सत्त्वहीनं, विद्वेष्यमप्रियम,अनर्थकारक पुरुषार्थोपघातकं, पापकर्ममूलं क्लिष्टज्ञानावरणादिबीजं,दुष्टमसम्यक् दृष्टं दर्शनं यत्र तद् दुर्दृष्टम,दुष्टं श्रुतं श्रवणं यत्र तद् दुःश्रुतं,नास्ति मुणितं ज्ञानं यत्र तदमुणितम, निर्लज्जं लज्जारहितं, लोकगर्हणीयं प्रतीतम, वध-बन्धपरिक्लेशबहुलं, तत्र-वधो यष्ट्यादिभिस्ताडनं, बन्धः संयमनं, परिक्लेशस्त्वमुपतापः, ते बहुलाः प्रचुरा यत्र तत्तथा । भवन्ति चैते असत्यवादिनामिति।जरामरणदुःखशोकनेमम्-जरादीनां मूलमित्यर्थः । अशुद्धपरिणामेन संक्लिष्टं संक्लेशवत्तथा भणन्ति ।

के ते भणन्ति ?–

अलियाहिसंधिसंनिविट्ठा असंतगुणुदीरगा य संतगुणनासका य हिंसाभूतोवघातियं अलियसंपउत्ता वयणं सावज्जमकुसलं साहुगरहणिज्जं अधम्मजणणं भणंति अणभिगहियपुण्णपावा पुणो य अहिकरणकिरियापवत्तका बहुविहं अनत्थं अवमद्दं अप्पणो परस्स य करेंति एवमेव जंपमाणा,महिसे सूकरे य साहिंति घायकाणं, ससपसयरोहिए य साहिंति वागुरीणं, तित्तिरवट्टकलावके य कविंजलकवोयके य साहिंति सउणीणं,झसमगरकच्छभे य साहिंति मच्छियाणं, संखंके खुल्लए य साहिंति मकराणं, अयगरगोणसमंडलिदव्वीकरमउली य साहिंति वालिपाणं, गोहा सेहा य सल्लगसरडके य साहिंति लुद्धगाणं , गयकुलवानरकुले य साहिंति पासियाणं, सुकबरहिणमयणसालकोइलहंसकुले सारसे य साहिंति पोसगाणं, वधबंधजायणं च साहिंति गोम्मियाणं, धणधन्नगवेलए य साहिंति तक्कराणं, गामे नगरपट्टणे य साहिंति चोरियाणं, पारघातियपंथघातियाओ साहिंति गंथिभेयाणं, कयं च चोरियं णगरगुत्तियाणं साहिंति, लंछणनिल्लंछणधमणदुहणपोसणवणणदुवणवाहणादियाइं साहिंति बहूणि गोमियाणं, धाउमणिसिलप्पवालरयणागरे य साहिंति आगरीणं , पुप्फविहिं च फलविहिं च साहिंति मालियाणं, अग्घमहुकोसए य साहिंति वणचराणं, जंताइं, विसाइं, मूलकम्मआहेवणआभिओगमंतोसहिप्पओगे चोरियाए परदारगमणस्स बहुपावकम्मकरणे अवकंदणे गामघातिए वणदहणतलागभेयणाए बुद्धिविसए वसीकरण० भयमरणकिलेसुव्वेगजणिआइं जावबहुसंकिलिट्ठमलिणाणि भूयघाओवघाइयाइं सच्चाणि वि ताइं हिंसकाइं वयणाइं उदाहरंति पुट्ठा वा अपुट्ठा वा, परतत्तिवावडा य असमिक्खियभासिणो उवदिसंति–सहसा उट्टा गोणा गवया दमंतु, परिणयवया अस्सा हत्थीगवेलगकुक्कडा य किणंतु, किणावेय य, विक्केह, पयह , सयणस्स देह, पीयह दासीदासभयकभाइल्लगा य सिस्सा य पेसकजणो कम्मकरा किंकरा य एए सयणपरिजणे य कीस अत्थंति भारिया भे करेतु कम्मं, गहणाइं वणाइं खित्तखिलभूमिवल्लराइं उत्तणघणसंकडाइं डज्झंतु य सूडिज्जंतु य रुक्खा भिज्जंतु जंतं भंडाइयस्स उवहिस्स कारणाए,बहुविहस्स य अट्ठाए उच्छू दुज्जंतु, पीलियंतु य तिला, पयावेह इट्टकाओ मम

घरट्टयाए, खेत्ता य कसत, कसावेह वा, लहुं गामनगरखेडकब्बडं संनिवेसेह अडवीदेसेसु विपुलसीमं, पुप्फाणि कंदमूलाइं कालपत्ताइं गिएहह,करेह संचयं परिजणस्सऽहयाए, साली वीही जवा य लुच्चंतु मलिज्जंतु उप्पूयंतु य, लहुं च पविसंतु कोट्ठागारं, अप्पमहक्कोसगा य हंणंतु पोतसत्था, सेणा णिज्जाउ, जाउ डमरं, घोरा वट्टंतु, जयंतु य संगामा, पवहंतु य सगडवाहणाइं, उवणयणं चोलगं विवाहो जन्नो अमुगम्मि होउ दिवसे सुकरणे सुमुहुत्ते सुनक्खत्ते सुतिहिम्मि य अज्ज होउ एहवणं, मुदितं बहुखज्जपेज्जकलियं कोउकविएहावणसंतिकम्माणि कुणह, ससिरविगहोवरागविसमेसु, सजणस्स परिजणस्स य नियगस्स य जीवियस्स परिरक्खणट्ठयाए पडिसीसकाइं च देह, देह य सीसोवहारे विविहोसहिमज्जमंसभक्खअन्नपाणमल्लाणुलेवणपदीवजालिउज्जला सुगंधधूवोवयारपुप्फफलसमिद्धे, पायच्छित्ते करेह, पाणातिवायकरणेन बहुविहेण विवरीउप्पायदुसुविणपावसउणअसोमग्गहचरियअमंगलनिमित्तपडिघायहेउं वित्तिच्छेयं करेह मा देह किंचि दाणं,सुट्ठु हए २, सुट्ठु छिण्णो भिण्णो त्ति उवदिसंता,एवंविहं करेंति अलियं मणेणं वायाए कम्मुणा य।

अलीके योऽभिसंधिरभिप्रायस्तत्र निविष्टा अलीकाभिसन्धिनिविष्टाः, असद्गुणोदीरकाश्चेति व्यक्तम् । सद्गुणनाशकाश्च, तदपलापका इत्यर्थः । तथा—हिंसया भूतोपघातो यत्रास्ति तद् हिंसाभूतोपघातिकं, वचनं भणन्तीति योगः । अलीकसंप्रयुक्ताः संप्रयुक्तालीकाः, कथंभूतं वचनम्?, सावद्यं गर्हितं गर्हितकर्मयुक्तम् । अकुशलं, जीवानामकुशलकारित्वात्, अकुशलनरप्रयुक्तत्वाद्वा । अतएव साधुगर्हणीयम्, अधर्मजननं, भणन्तीति पदत्रयं प्रतीतम् । कथंभूताः?, इत्याह—अनधिगतपुण्यपापाः-अविदितपुण्यपापकर्महेतव इत्यर्थः । तदधिगमे हि नालीकवादे प्रवृत्तिः संभवति । पुनश्च-अज्ञानोत्तरकालम्,अधिकरणविषया या क्रिया व्यापारस्तत्प्रवर्त्तकाः । तत्राधिकरणक्रिया द्विविधा-निर्वर्त्तनाधिकरणक्रिया, संयोजनाधिकरणक्रिया च । तत्राद्या-खड्गादीनां तन्मुष्ट्यादीनां निर्वर्त्तनलक्षणा, द्वितीया तु तेषामेव सिद्धानां संयोजनलक्षणेति । अथवा-दुर्गतौ यकाभिरधिक्रियते प्राणी, ताः सर्वाः अधिकरणक्रिया इति; बहुविधमनर्थमनर्थहेतुत्वाद् अपमर्दमुपघर्त्तनम्, आत्मनः परस्य च कुर्वन्ति, एवमेव अबुद्धिपूर्वकं,जल्पन्तो भाषमाणाः। एतदेवाह-महिषान् शूकरांश्च प्रतीतान्, साधयन्ति प्रतिपादयन्ति, घातकानां तद्धिंसकानाम्, शशप्रशयरोहितांश्च साधयन्ति वागुरिणां, शशादय आटव्याश्चतुष्पदविशेषाः; वागुरा मृगबन्धनं,सा एषामस्ति ते वागुरिकाः तित्तिरवर्त्तकलावकांश्च कपिञ्जलकपोतकांश्च पक्षिविशेषान् साधयन्ति, शकुनेन श्येनादिना मृगयां कुर्वन्तीति शाकुनिकास्तेषाम्,'मउणीणं' इति च प्राकृतत्वात् । झषमकरान् कच्छपांश्च जलचरविशेषान् साधयन्ति, मत्स्याः पण्यं येषां ते मात्स्यिकास्तेषाम्, (संखंक त्ति) शङ्खाः प्रतीताः,अङ्काश्च कपर्दिकाः, शङ्खाकान्, क्षुल्लकांश्च कपर्दकान्, साधयन्ति मकरा इव मकरा जलविहारिण्योऽपि ह्याग, तेषाम् । पाठान्तरे-'मंगियाणं'

मागिगणां नक्रविरिणाम् । अजगरगोनसमण्डलिदर्वीकरमुकुलिनश्च साधयन्ति,तत्र अजगरादयः सर्पविशेषाः,दर्वीकराः फणभृताः, मुकुलिनस्त्वफणिनः, व्यालान् दुष्टगजान् चान्यानि व्यालान्ते विद्यन्ते येषां ते व्यालिनः, तेषाम् । अथवा-व्यालवतश्च प्राकृतत्वेन "वालवीति" प्रतिपादितम् । वाचनान्तरे-'वालियाणं ति' दृश्यते । तत्र व्यालैश्चरन्तीति; वैयालिकानामिति । तथा-गोधाः सेहाश्च शल्यकशरटकांश्च साधयन्तीति लुब्धकानाम्, गोधादयो भुजपरिसर्पविशेषाः, शरटकाः कृकलासाः । गजकुलवानरकुलानि च साधयन्ति पाशिकानां कुलं कुटुम्बं,यूथं मन्दं वा पाशेन बन्धनविशेषेण चरन्तीति पाशिकास्तेषाम् । तथा-शुकाः कीराः, बर्हिणो मयूराः,मदनशालाः शारिकाः,कोकिलाः परभृताः,हंसाः प्रतीताः,तेषां यानि कुलानि वृन्दानि तानि,तथा-सारसांश्च साधयन्ति, पोषकाणां पक्षिपोषकाणामित्यर्थः। तथा-वधबन्धयातनं,बन्धः संयमनं,यातनं च कदर्थनमिति समाहारद्वन्द्वः तच्च साधयन्ति गौल्मिकानां गुप्तिपालानाम् । तथा-धनधान्यगवेलकांश्च साधयन्ति,तस्कराणामिति प्रतीतम्। किं तु गावो बलीवर्दसुरभयः, एलकाः उरभ्राः। तथा-ग्रामनगरपत्तनानि साधयन्ति चौरिकाणाम्,नकरं करवर्जितम्,पत्तनं द्विविधम्-जलपत्तनं, स्थलपत्तनं च। यत्र जलपथेन मालकानामागमस्तदाद्यम्, यत्र च स्थलपथेन तदितरत् । चौरिकाणां प्रणिधिपुरुषाणाम् । तथा पारपर्यन्ते मार्गे घातिका गन्तॄणां हननं पारघातिकाः (पंथघायत्ति) पथि मार्गे, अर्द्धपथे इत्यर्थः । घातिका गन्तॄणां हनन, पथिघातिकाः, अनयोर्द्वन्द्वोऽतस्ते साधयन्ति च ग्रन्थिभेदानां चौरविशेषाणां, कृतां च चौरिकां चौरत्वं, नगरगुप्तिकानां नगररक्षिकाणां, साधयन्तीति वर्त्तते । तथा-लाञ्छनं कर्णादिकर्त्तनादिभिः , निर्लाञ्छनं वर्द्धितकरणं, (धमणं ति) ध्मानं वायुपूरणं, दोहनं प्रतीतं महिष्यादीनाम्,पोषणं यवसादिदानतः पुष्टीकरणं, वननं वत्सस्यान्यमातरि योजनं,(दुवण त्ति) दवनमुपतापनमित्यर्थः । वाहनं शकटाद्याकर्षणम्, एतदादिकानि तानि साधयन्ति बहूनि,गौमिकानां गोमताम् । तथा-धातुगैरिकं, धातवो लोहादयः, मणयश्चन्द्रकान्ताद्याः, शिला दृषदः, प्रवालानि विद्रुमाणि, रत्नानि कर्केतनादीनि, तेषामाकरा उत्पत्तिस्थानानि, तान् साधयन्ति,आकरिणाम् आकरवताम् । पुष्पफलादि प्रतीतम्, नवरं विधिः प्रकारे तत्र । अर्थश्च मूल्यमानं,मधुकोशकाश्च क्षौद्रोत्पत्तिस्थानम्-अर्थमधुकोशकाः, तान् साधयन्ति, वनचराणां पुलिन्द्रानाम् । तथा-यन्त्राणि उच्चाटनाद्यर्थकलेखनप्रकारान्, जलसंग्रामादियन्त्राणि वा, प्रदाहरन्तीति योगः । विषाणि स्थावरजङ्गमभेदानि हालाहलानि, मूलकर्म मूलादिप्रयोगतो गर्भपातनादि (आहेवण त्ति) आक्षेपणं पुरक्षोभादिकरणम् । पाठान्तरेण-(आहिव्वणं ति) आहित्थं आहितत्वं शत्रुभावम, पाठान्तरेण (अविंधण ति) अभ्याधनं मन्त्रादेशनमित्यर्थः । आभियोग्यं वशीकरणादि, तच द्रव्यतो द्रव्यसंयोगजनितं, भावतो विद्यामन्त्रादिजनितं, बलात्कारो वा मन्त्रौषधिप्रयोगाभानाप्रयोजनेषु तद्व्यापारणानीति द्वन्द्वः,तान् । तथा-चौरिकायाः परदारगमनस्य बहुपापस्य च कर्मणो व्यापारस्करणं तत्तथा, अवस्कन्दनाः छलेन परदलमर्दनानि, ग्रामघातिकाः प्रतीताः, वनदहनतडागभेदनानि च प्रतीतान्येव बुद्धेर्विषयस्य च यानि च तानि । तथा-वशीकरणादिकानि प्रतीतानि, भयमरणक्लेशोद्वेगजनितानि, कर्तुरिति गम्यते । भयेनाध्यवसायेन बहुसंक्लिष्टेन मलिनानि कलुषानि यानि,तथा-भूतानां प्राणिनां घातश्च हननम्,उपघातश्च परम्पराघातः, तौ विधे

येषु तानि भूतघातोपघातकानि,सत्यान्यपि द्रव्यतस्तानीति यानि पूर्वमुपदर्शितानि हिंसकानि हिंस्राणि वचनान्युदाहरन्ति।तथा-पृष्टा वा अपृष्टा वा प्रतीताः, परतृप्तिव्यापृताश्च परकृत्यचिन्त-नाऽऽज्ञप्तिकाः, असमीक्षितभाषिणः अपर्यालोचितवक्तारः, उपदिशन्ति अनुशासति, सहसा अकस्मात्-यदुत उष्ट्राः करभाः, गोणा गावो, गवयाः अटव्याः पशुविशेषाः, दम्यन्तां विनीयन्ताम्। तथा-परिणतवयसः संपन्नावस्थाविशेषाः, तरुणा इत्यर्थः। अश्वाः, हस्तिनः प्रतीताः; गवेलकाः कुक्कुटाश्च प्रतीताः प्रचुराश्च क्रीयन्तां मूल्येन गृह्यन्तां, क्रापयत च एतान्येव ग्राहयत च, विक्रीणीध्वं विक्रेतव्यम्। तथा-पचत पचनीयं, स्वजनाय च दत्त, पिबत च पातव्यं मदिरादि। वाचनान्तरेण-खादत पिबत दत्त च। तथा-दासचेटिकाः, दासाश्चेटकाः, भृतका भक्तदानादिना पोषिताः, (भाइल्लग त्ति) ये लाभस्य भागं चतुर्भागादिकं लभन्ते, एतेषां द्वन्द्वः ततस्ते च, शिष्याश्च विनेयाः, प्रेष्यकजनः प्रयोजनेषु प्रेषणीयलोकः, कर्मकरा नियतकालमादेशकारिणः, किंकराश्च आदेशसमाप्तावपि पुनः पुनः प्रश्नकारिणः, एते पूर्वोक्ताः, स्वजनपरिजनं च कस्मादासते अवस्थानं कुर्वन्ति ? (भारिया भे करिउ कम्म त्ति) कृत्वा विधाय, कर्म कृत्यं, तत्स्वामी यतो भार्याः दुर्निर्वाह्याः 'भे' भवतां "करेतु त्ति" क्वचित्पाठः। तत्र (भारिय त्ति) भार्या 'भे' भवतः सम्बन्धिन्यः, कर्म कुर्वन्तु। अन्यान्यपि पाठान्तराणि सन्ति, तानि च स्वयं गमनीयानि। तथा-गहनानि गह्वराणि, वनानि वनखण्डानि, क्षेत्राणि च धान्यवपनभूमयः, खिलभूमयश्च हलैरकृष्टाः, वल्लराणि च क्षेत्रविशेषाः, उत्तणानि उच्चैस्तृणानि घनानि तृणैः, घनमत्यर्थं, संकटानि संकीर्णानि यानि तानि तथा, तानि दह्यन्ताम्। पाठान्तरेण-गहनानि वनानि छिद्यन्तां, खिलभूमिवल्लराणि तृणघनसंकटानि दह्यन्ताम्। (रुक्खिज्जंतु य त्ति) छिद्यन्तां च वृक्षाः, भिद्यन्तां छिद्यन्तां वा यन्त्राणि च तिलयन्त्रादिकानि, भाण्डानि च भाजनानि कुण्डादीनि, भाण्डी वा गन्त्री, एतान्यादिर्यस्य तत्। तथा-उपधिः उपकरणं तस्य (कारणाए त्ति) कारणाय हेतवे। वाचनान्तरे तु-यत्र प्रासादस्योपकरणस्य कारणाद् हेतोः। तथा-बहुविधस्य च,कार्यसमुदयस्येति गम्यम्। अर्थाय इक्षवो (दुज्जंतु त्ति) दूयन्तां लूयन्तामिति, धातूनामनेकार्थत्वात्। तथा-पील्यन्तां च तिलाः, पाचयत चेष्टकाः गृहार्थम्। तथा-क्षेत्राणि कृष्यन्तां कर्षयत वा। तथा-लघु शीघ्रं, ग्रामादीनि निवेशयत, तत्र ग्रामो जनपदप्रायजनाश्रितः, नगरमविद्यमानकरस्थानं, कर्बटं कुनगरम्। क्व ?, अटवीदेशेषु। किंभूतानि ग्रामादीनि?, विपुलसीमानि। तथा पुष्पादीनि प्रतीतानि। [कालपत्ताइं ति] अवसरप्राप्तानि गृहीत, कुरुत संचयं परिजनार्थम्। तथा शालयः प्रतीताः,लूयन्तां,मर्द्यन्ताम्,उत्पूयन्तां च,लघु च प्रविशन्तु कोष्ठागारम्। [अप्पमहुक्कोसगा य त्ति] अल्पा लघवो, महान्तस्तदपेक्षया, मध्यमा इत्यर्थः। उत्कृष्टा उत्तमाश्च, हन्यन्तां पोतसार्थाः-बोहित्थसमुदायाः, वाहकसमूहा वा। तथा-सेना सैन्यं, निर्यातु निर्गच्छतु। निर्यान्तु वा गच्छतु डमरं विड्वरस्थानम्। तथा-घोरा रौद्रा वर्तन्तां च, जायन्तां संग्रामा रणाः। तथा-प्रवहन्तु च प्रवर्तन्तां शकटवाहनानि-गन्त्र्यो यानपात्राणि च। तथा-उपनयनं बालानां कलाग्रहणं [चोलगं ति] चूडोपनयनं बालकप्रथममुण्डनम्, विवाहः पाणिग्रहणं, यज्ञो यागः, अमुष्मिन् भवतु दिवसे। तथा-सुकरणं बवादिकानामेकादशानामन्यतरदभिमतं, सुमुहूर्तो रौद्रादीनां त्रिंशतोऽन्यतरोऽभिमतो यः, एतदौ समादाय, नन्दा-

तस्तत्र। तथा-सुनक्षत्रेषु पुष्यादौ, तिथौ च पञ्चम्यां नन्दादीनामन्यतरस्यामभिमतायाम्। 'अज्ज' अस्मिन्नहनि, भवतु स्नपनं सौभाग्यपुत्राद्यर्थं वध्वादेर्मज्जनं, मुदितं प्रमोदवत्, बहुखाद्यपेयकलितं प्रभूतमांसमत्स्यादिकम्। तथा-कौतुकं रक्षादिक (विण्हावण त्ति) विविधैर्मन्त्रौषधिभिः संस्कृतजलैः स्नापनकं, शान्तिकर्मं च ग्रहादिशान्तिकर्माणि दत्त। तस्मै [illegible] कुरुत। किं ?, इत्याह-शशिरव्योरुपरागेषु राहुग्रस्तत्वेन उपरागे उपरञ्जनं, ग्रहणमित्यर्थः; दुःस्वप्नादिषु [illegible]। च विषमाणि च विधुराणि [illegible] [illegible], स्वजनस्य च परिजनस्य च निजकस्य वा [illegible] परिरक्षणार्थमिति प्रक्रमः। [illegible] रूपाणि पिष्टादिमयाणि [illegible] दत्त, [illegible] इत्यर्थः। तथा दत्त च [illegible] शिरोबलीन्, देवताभ्य इति गम्यते। [illegible] वा [illegible] च, [illegible], सुगन्धिधूपोपचार[illegible] च, तैः संयुक्ताः [illegible] कुरुत। तथा-प्राणातिपात[illegible], [illegible] च, [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible]। तथा [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] च [illegible]। तथा-[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।

[illegible]

[illegible]

[illegible] मेघा य [illegible] कमोवि या, अहं गामनगरसे- [illegible] विपुलमीयं, [illegible] [illegible] मंचयं पारेमज्झमज्झ- [illegible] य [illegible] [illegible] कोट्ठागारं, [illegible] [illegible] मेघा [illegible], [illegible] [illegible] य [illegible], [illegible] य [illegible]. [illegible] [illegible] नत्थि [illegible] होउ [illegible] [illegible] [illegible] होउ [illegible]. [illegible] [illegible]. [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible]

मार्गयतां तक्ष्येविराम् । [illegible] साधयन्ति, तत्र [illegible] मृताः, [illegible] स्ते ध्रियन्ते येषां ते [illegible], तेषाम् । [illegible] प्राकृतत्वेन "चालयीति" प्रतिपादितम् । [illegible] ति' इश्यते । तत्र [illegible] गोधाः [illegible] साधयन्ति [illegible] गोधादयो भुजपरिसर्पविशेषाः, [illegible] [illegible] साधयन्ति [illegible] [illegible] पाशेन बन्धनविशेषेण [illegible] शुकाः कीराः, बर्हिणो मयूराः, [illegible] [illegible], हंसाः प्रतीताः, तेषां [illegible] सारसांश्च साधयन्ति, [illegible] [illegible], बन्धः संयमनं, [illegible] [illegible] साधयन्ति [illegible] [illegible] साधयन्ति, [illegible] [illegible]

[illegible]

येषु तानि भूतघातोपघातकानि, सत्यान्यपि दूषणवन्तानीति यानि पूर्वमुपदर्शितानि हिंसकानि हिंस्राणि वचनान्युदाहरन्ति। तथा-पृष्टा वा अपृष्टा वा प्रतीताः, परतप्तिव्यापृताश्च परकृत्यचिन्ता-नाज्ञापिकाः, असमीक्षितभाषिणः अपर्यालोचितवक्तारः, उपदिशन्ति अनुशासति, सहसा अकस्माद्-यदुत उष्ट्राः कलभाः, गोणा गावो, गवया अटव्याः पशुविशेषाः, दम्यन्तां विनीयन्ताम्। तथा-परिणतवयसः संपन्नावस्थाविशेषाः, तरुणा इत्यर्थः। अश्वाः, हस्तिनः प्रतीताः; गवेलककुक्कुटाश्च उरभ्रताम्रचूडाश्च क्रीयन्तां मूल्येन गृह्यन्तां, क्रापयत च एतान्येव ग्राहयत च, विक्रीणीध्वं विक्रेतव्यम्। तथा-पचत पचनीयं, स्वजनाय च दत्त, पिबत च पातव्यं मदिरादि। वाचनान्तरेण-खादत पिबत दत्त च। तथा-दास्यश्चेटिकाः, दासाश्चेटकाः, भृतका भक्तदानादिना पोषिताः, (भाइल्लग त्ति) ये लाभस्य भागं चतुर्भागादिकं लभन्ते, एतेषां द्वन्द्वः ततस्ते च, शिष्याश्च विनेयाः, प्रेष्यकजनः प्रयोजनेषु प्रेषणीयलोकः, कर्मकरा नियतकालमादेशकारिणः, किंकराश्च आदेशसमाप्तावपि पुनः पुनः प्रश्नकारिणः, एते पूर्वोक्ताः, स्वजनपरिजनं च कस्मादासते भवन्त्यानं कुर्वन्ति? (भारिया भे करिंतु कम्म त्ति) कृत्या विधाय, कर्म कृत्यं, तत्समाप्तौ यतो भारिका दुर्निर्वाहाः ' भे ' भवतां " करेतु त्ति " क्वचित्पाठः । तत्र (भारय त्ति) भार्या ' भे ' भवतः सम्बन्धिन्यः, कर्म कुर्वन्तु। अन्यान्यपि पाठान्तराणि सन्ति, तानि च स्वयं गमनीयानि। तथा-गहनानि गह्वराणि, घनानि वनखण्डानि, क्षेत्राणि च धान्यवपनभूमयः, खिलभूमयश्च हलैरकृष्टाः, वल्लराणि च क्षेत्रविशेषाः, उत्तृणानि उत्तृणैरूर्ध्वगतैस्तृणैः, घनमत्यर्थं, संकटानि संकीर्णानि यानि तानि तथा, तानि दह्यन्ताम्। पाठान्तरेण-गहनानि घनानि छिद्यन्तां, खिलभूमिवल्लराणि उत्तृणघनसंकटानि दह्यन्ताम्। (रुक्खा भिज्जंतु य त्ति) सूद्यन्तां च वृक्षाः, भिद्यन्तां छिद्यन्तां वा यन्त्राणि च तिलयन्त्रादिकानि, भाण्डानि च भाजनानि कुण्डादीनि, भाण्डी वा गन्त्री, एतान्यादिर्यस्य तत्। तथा-उपधिरुपकरणं तस्य (कारणाए त्ति) कारणाय हेतवे। वाचनान्तरे तु-यत्र भाण्डस्योपकरणस्य कारणाद्धेतोः। तथा-बहुविधस्य च, कार्यसमूहस्येति गम्यम्। अर्थाय इक्षवो (दुज्जंतु त्ति) दूयन्तां लूयन्तामिति, धातूनामनेकार्थत्वात्। तथा-पीड्यन्तां च तिलाः, पाचयत च इष्टकाः गृहार्थम्। तथा-क्षेत्राणि कृषत कर्षयत वा। तथा-लघु शीघ्रं, ग्रामादीनि निवेशयत, तत्र ग्रामो जनपदप्रायजनाश्रितः, नगरमविद्यमानकरदानं, कर्बटं कुनगरम्। क्व?, अटवीदेशेषु। किंभूतानि ग्रामादीनि?, विपुलसीमानि। तथा पुष्पादीनि प्रतीतानि। [कालपत्ताई ति] प्राप्तकालानि गृहीत, कुरुत संचयं परिजनार्थम्। तथा-शालयः प्रतीताः, लूयन्तां, मल्यन्ताम्, उत्पूयन्तां च, लघु च प्रविशन्तु कोष्ठागारम्। [अप्पमहुक्कोसगा य त्ति] अल्पा लघवो, महान्तस्तदपेक्षया, मध्यमा इत्यर्थः। उत्कृष्टा उत्तमाश्च, हन्यन्तां पोतसार्थाः बोहित्थसमुदायाः, श्रावकसमूहा वा। तथा-सेना सैन्यं, निर्यातु निर्गच्छतु। निर्गत्य च यातु गच्छतु डमरं विड्वरस्थानम्। तथा-घोरा रौद्रा वर्तन्तां च, जयन्तां संग्रामा रणाः। तथा-प्रवहन्तु च प्रवर्तन्तां शकटवाहनानि-गन्त्र्यो यानपात्राणि च। तथा-उपनयनं बालानां कलाग्रहणं [चोलगं ति] चूडोपनयनं बालकप्रथममुण्डनम्, विवाहः पाणिग्रहणं, यज्ञो यागः, अमुष्मिन् भवतु दिवसे। तथा-सुकरणं बवादिकानामेकादशानामन्यतरदभिमतं, सुमुहूर्तो रौद्रादीनां त्रिंशतोऽन्यतरोऽभिमतो यः, एतयोः समाहारद्वन्द्वः, तत्-तस्तत्र। तथा-सुनक्षत्रेषु पुष्यादौ, सुतिथौ च पञ्चम्यां नन्दादीनामन्यतरस्यामभिमतायाम्। 'अज्ज' अस्मिन्नहनि, भवतु स्नपनं सौभाग्यपुत्राद्यर्थं वध्वादेर्मज्जनं, मुदितं प्रमोदवत्, बहुखाद्यपेयकलितं प्रभूतमांसमद्याद्युपेतम्। तथा-कौतुकं रक्षादिकं (विण्हावण त्ति) विविधैर्मन्त्रमूलाभिः संस्कृतजलैः स्नापनकं विस्नापनकं, शान्तिकर्म चाग्निकारिकादिकमिति द्वन्द्वः। ततस्ते कुरुत। केषु?, इत्याह-शशिरव्योश्चन्द्रसूर्ययोर्ग्रहेण राहुलक्षणेन उपराग उपरञ्जनं, ग्रहणमित्यर्थः; शशिरविग्रहोपरागः। स च विषमाणि च विधुराणि दुःस्वप्नाशिवादीनि, तेषु। किमर्थम्?, इत्याह-स्वजनस्य च परिजनस्य च निजकस्य वा जीवितस्य परिरक्षणार्थमिति व्यक्तम्। प्रतिशीर्षकाणि च दत्त स्वशिरःप्रतिरूपाणि पिष्टादिमयशिरांसि आत्मशिरोरक्षार्थं यच्छत, चण्डिकादिभ्य इत्यर्थः। तथा दत्त च शीर्षोपहारान् पश्वादिशिरोबलीन्, देवतानामिति गम्यते। विविधौषधिमद्यमांसभक्ष्यान्नपानमाल्यानुलेपनानि च, प्रदीपाश्च ज्वलितोज्ज्वलाः, सुगन्धिधूपस्योपकारश्चोपकरणम्-अङ्गारोपरि क्षेपः, पुष्पफलानि च, तैः समृद्धाः संपूर्णा ये शीर्षोपहाराः, ते तथा, तान्, दत्त चेति प्रकृतम्। तथा-प्रायश्चित्तानि प्रतिविधानानि कुरुत। केन?, प्राणातिपातकरणेन हिंसया, बहुविधेन नानाविधेन। किमर्थम्?, इत्याह-विपरीतोत्पाता अशुभसूचकाः प्रकृतिविकाराः, दुःस्वप्नाः, पापशकुनाश्च प्रतीताः। असौम्यग्रहचरितं च क्रूरग्रहचाराः, अमङ्गलानि च यानि निमित्तानि अङ्गस्फुरितादीनि, एतेषां द्वन्द्वः, तत एतेषां प्रतिघातहेतुमुपहननानिमित्तमिति। तथा वृत्तिच्छेदं कुरुत, मा दत्त किञ्चिद्दानमिति। तथा सुष्ठु हत हत, हत तु संभ्रमे द्वित्वम्। सुष्ठु छिन्नो भिन्नश्च विदारितः कोऽपीति, एवमुपादिशन्त। एवंविधं नानाप्रकारम्। पाठान्तरं वा-त्रिविधं त्रिप्रकारं, कुर्वन्त्यलीकं, कृष्यतो नास्तिकमपि सत्योपघातहेतुत्वाद् भावतोऽलीकमेव। त्रैविध्यमेवाह-मनसा, वाचा, [कम्मुणा य त्ति] कायक्रियया। तदेतावतो यथा क्रियतेऽलीकं, येऽपि मन् कुर्वन्तीत्येतद् द्वारद्वयं मिश्रं परस्परेणोक्तम्।

अथ ये तान् कुर्वन्ति तान् भेदानाह-

अकुसला अणज्जा अलियाणा अलियधम्मनिरया अलियासु कहासु अभिरमंता तुट्ठा अलियं करेउ हुंति य बहुप्पगारं, तस्स य अलियस्स फलस्स विवागं अयाणमाणा वड्ढेंति महब्भयं अविस्सामवेयणं दीहकालबहुदुक्खसंकडं णरयतिरियजोणिं, तेण य अलिएण समणुबद्धा आइद्धा पुणब्भवंधकारे भमंति, भीमे दुग्गइवसहिमुवगया ते य दीसंति इह दुग्गया दुरंता परव्वसा अत्थभोगपरिवज्जिया असुहिता फुडियच्छवी-बीभच्छविवन्ना, खरफरुसविरत्तज्झामज्झुसिरा निच्छाया लल्लविफलवाया असक्कयमसक्कया अगंधा अचेयणा दुभगा अकंता काकस्सरा हीणभिन्नघोसा विहिंसा जडबहिरमूया य मम्मणा अकंतविकयकरणा णीया णीयजणनिसेविणो लोगगरहणिज्जा भिच्चा असरिसजणस्स पेस्सा दुम्मेहा लोगवेदअज्झप्पसमयसुतिवज्जिया नरा धम्मबुद्धिवियला अलिएण य तेण य डज्झमाणा असंतएणं अवमाणणपिट्ठि-

परट्टयाए, खेत्ता य कसत्त, कसावेह था, इहुं गामनगरखेडकब्बडं संनिवेसेह अडवीदेसेसु विपुलसीमं, पुप्फाणि कंदमूलाइं कालपत्ताइं गिण्हह, करेह संचयं परिजणस्सऽट्ठयाए, साली वीही जवा य लुच्चंतु मलिज्जंतु उप्पुणंतु य, लहुं च पविसंतु कोट्ठागारं, अप्पमहुक्कोसगा य हंणंतु पोतसत्था, सेणा णिज्जाउ, जाउ डमरं, घोरा वट्टंतु, जयंतु य संगामा, पवहंतु य सगडवाहणाइं, उवणयणं चोलगं विवाहो जन्नो अमुगम्मि होउ दिवसे करणे मुहुत्ते णक्खत्ते तिहिम्मि य अज्ज होउ ण्हवणं, मुदितं बहुखज्जपेज्जकलियं कोउकविण्हावणसंतिकम्माणि कुणह, ससिरविगहोवरागविसमेसु, सजणस्स परिजणस्स य नियस्स य जीवियस्स परिरक्खणट्ठयाए पडिसीसकाइं च देह, देह य सीसोवहारे विविहोसहिमज्जमंसभक्खअन्नपाणमल्लाणुलेवणपईवजालिउज्जल सुगंधधूवावयारपुप्फफलसमिद्धे, पायच्छित्ते करेह, पाणातिवायकरणेणं बहुविहेणं विवरीउप्पायदुस्सुविणपावसउणअसोमग्गहचरियअमंगलानिमित्तपडिघायहेउं वित्तिच्छेयं करेह मा देह किंचि दाणं, सुट्ठु हओ, सुट्ठु छिण्णो भिण्णो त्ति उवदिसंता, एवंविहं करेंति अलियं मणेणं वायाए कम्मुणा य।

[illegible] निषिद्धा मृषीकानि [illegible] अपरगुणोदीरका [illegible] । सद्गुणनाशकाश्च, [illegible] । तथा—हिंसया भूतोपघातो यत्रास्ति तद् हिंसाभूतोपघातिकं, वचनं जल्पन्तीति योगः । अलीक- [illegible], अपमृषं वचनम्?, सावद्यं गर्हितं [illegible] । [illegible], [illegible] । [illegible] । अधर्मजननं, [illegible] । [illegible] इत्यर्थः । [illegible] [illegible]

[illegible]

मार्गयतां तस्करैषिणाम् । अजगरगोनसमण्डलिदर्वीकरकुलानि च साधयन्ति, तत्र अजगरादयः उरगविशेषाः, दर्वीकराः फणभृताः, मुकुलिनस्तदितरे, व्यालान् भुजङ्गान् पालयन्ति ये ते व्यालपालिनः, ते विद्यन्ते येषां ते व्यालपिनः, तेषाम् । अथवा-व्यालवन्तः प्राकृतत्वेन "वालवीति" प्रतिपादितम् । वाचनान्तरे- [illegible] ति' दृश्यते । तत्र व्यालैश्चरन्तीति; वैयालिकास्तेषामिति । तथा- गोधाः सेहाश्च शल्यकशरटकांश्च साधयन्तीति [illegible] गोधादयो भुजपरिसर्पविशेषाः, शरटकाः कृकलासाः । तथा- सचामरकुलानि च साधयन्ति पाशिकानां कुलं कुटुम्बं, [illegible] धः। पाशेन बन्धनविशेषेण चरन्तीति पाशिकास्तेषाम् । तथा- शुकाः कीराः, बर्हिणो मयूराः, मदनशालाः शारिकाः, कोकिलाः परभृतः, हंसाः प्रतीताः, तेषां यानि कुलानि वृन्दानि [illegible] सारसांश्च साधयन्ति, पोषकाणां पक्षिपोषकाणामित्यर्थः । तथा- बधस्ताडनं, बन्धः संयमनं, यातनं च कदर्थनामिति समाहारद्वन्द्वः, तच्च साधयन्ति गौल्मिकानां गुप्तिपालानाम् । तथा धनधान्यगवेलकांश्च साधयन्ति, तस्कराणामिति प्रतीतम् । किन्तु गवेलका उरभ्रमयः, एलकाः छगलाः । तथा-ग्रामनगरपत्तनानि साधयन्ति चौरिकाणाम्, नकरं करवर्जितम्, पत्तनं द्विविधम्-जलपत्तनं स्थलपत्तनं च । यत्र जलपथेन भाण्डानामागमस्तज्जलपत्तनम्, यत्र स्थलपथेन तदितरत् । चौरिकाणां प्रणिधिपुरुषाणाम् । तथा- पर्यन्ते मार्गे घातिका गन्तॄणां हनने पारघातिकाः ([illegible] त्ति) पथि मार्गे, अर्द्धपथे इत्यर्थः । घातिका गन्तॄणां हननं, ग्रन्थिभेदादि- घातिकाः, अनयोर्द्वन्द्वोऽन्तले साधयन्ति च ग्रन्थिभेदकानां [illegible] रविशेषाणां, कृतां च चौरिकां चोरणं, नगरगुप्तिकानां आरक्षिकाणां, साधयन्तीति वर्तते । तथा-लाञ्छनं कर्णादिकर्तनं [illegible] इत्यादिभिः, निर्लाञ्छनं वर्धितकरणं, ([illegible] त्ति) [illegible] वायुपूरणं, दोहनं प्रतीतं महिष्यादीनाम्, पोषणं [illegible] पुष्टीकरणं, वनजं [illegible] योजनं, ([illegible] त्ति) [illegible] [illegible] इत्यर्थः । वाहनं शकटादाकर्षणम्, [illegible] अनुष्ठानानि साधयन्ति बहूनि, गौल्मिकानां गोमताम् । तथा-धातुरीरिकं, धातवो लोहादयः, मणयश्चन्द्रकान्तादयः, शिला [illegible] प्रवालानि विद्रुमाणि, रत्नानि कर्केतनादीनि, तेषामाकरा [illegible] स्थलाः साधयन्ति, आकरिणाम् आकरवताम् । पुष्पविधिं [illegible] प्रतीतम्, तथा विधिः प्रकारे तत्र । [illegible] [illegible] काश्च [illegible] वनचराणां पुलिन्दानाम् । तथा-[illegible] नमस्कारान्, अनुसंधानादि [illegible] [illegible] [illegible] ([illegible] त्ति) [illegible] करणम् । [illegible] ([illegible] त्ति) [illegible] [illegible] ([illegible] त्ति) [illegible]

[illegible]

देतु तानि भूमय लोपयानकानि,तथा पवि दुर्गवनकानां)ति यानि पुर्वेद्युरदीयन्ति छिन्नकानि दिवसानि यवमासुरादकमितानथा- दूता वा अदूता वा प्रतीताः, परस्परानुप्राधा परस्परविन्त- नाहर्णिताः, अरमीहितभावितः अपर्योलोचितवचनाः, सपदि- कानि अनुष्ठानानि, महत्या अकस्मात्-प्रचुर बहुः कलनाः, गोः एको गावो, गवया अरण्याः पशुविशेषाः, अश्वरथो विमीयताम्। तथा-परिलनवपनः संयमादयापविशेषाः, लक्षणा इत्यर्थः । कम्बाः, हस्तिनः प्रतीताः,गोमलकपुकपुष्पाश्च कतुमाश्वपूमाश्च कोथयां मुदवेन पूरयन्तां, क्षापयत च यत्नेन प्रादयत च, दिव्यौषीध विकेताकम्। तथा-पचत पचनीयं,पथजनाय च दत्त, पिबत च पानार्थ मदिरादि । पाठान्तरेण-खादत पिबत दत्त च । तथा-दासचेटकाः, दासाश्चेटकाः, भृतका मत्तत्रामादिना पोषिताः,(भागगुत्त त्ति) ये लाभस्य भागं चतुर्भागादिकं लभन्ते, एतेषां द्वन्द्वः।नतश्च च, शिल्पाश्च विशेषाः, प्रेष्यकजनाः प्रयोजनेषु प्रेषणीयलोकः,कर्मकरा नियतकालमादेशकारिणः,किं- कराश्च आदेशसमाप्तावपि पुनः पुनः प्रश्नकारिणः, एते पूर्वोक्ताः, स्वजनपरिजनं च कथादयस्ते अपथ्याल्लं कुर्वन्ति !(भारिया मे क- रेउ कम्म त्ति)इत्या विभाव, कर्म कृत्यं, तत्समासो यतो भारि- या दुर्निवारा ' मे ' भवनां " करेंतु त्ति " कचित्पाठः । तत्र (भारिय त्ति) भार्या ' मे ' भवतः सम्बन्धिन्यः, कर्म कुर्वन्तु। अन्यान्यपि पाठान्तराणि सन्ति, तानि च स्वयं गमनीयानि । तथा-गहनानि गह्वराणि,वनानि वनखण्डानि, क्षेत्राणि च धान्य- वपनभूमयः, खिलभूमयश्च हलैरकृष्टाः, वल्लराणि च क्षेत्रविशेषाः, उत्तरणानि अत्युच्चैस्तृणनिकुञ्जैः, घनमात्यर्थ, संकटानि सङ्की- र्णानि यानि तानि तथा, तानि दह्यन्ताम् । पाठान्तरेण-गहना- नि वनानि छिद्यन्तां, खिलभूमिवल्लराणि तृणघनसंकटानि दह्यन्ताम् ।(रुंक्खंतु य त्ति) गुल्मन्तां च वृक्षाः, भिद्यन्तां छि- द्यन्तां वा यन्त्राणि च तिलयन्त्रादिकानि,भाण्डानि च भाजना- नि कुण्डादीनि,भाण्डी वा गन्त्री,एतत्प्रयादिर्यस्य तत्।तथा-उप- धिरूपकरणं तस्य (कारणाए त्ति) कारणाय हेतवे । पाठान्तरं तु-बहु प्रभादुर्यील कस्य कारणाद् हेतोः । तथा-बहुविधस्य च,कार्यसमूहस्येति गम्यम । तथा इक्षवो (डुज्झंतु त्ति) दू- यन्तां लूयन्तामिति, धातूनामनेकार्थत्वात् । तथा-पीड्यन्तां च तिलाः,पाचयत चेष्टकाः गृहार्थम्। तथा-क्षेत्राणि इयन्तां कर्षयतां वा।तथा-लघु शीघ्रं,ग्रामादीनि निवेशयत, तत्र ग्रामो जनपद- प्रायजनाश्रितः, नगरमविद्यमानकरस्थानं, कर्बटं कुनगरम । क्व?, अटवीदेशेषु।किंभूतानि ग्रामादीनि?,विपुलसीमानि।तथा-पुष्पा- दीनि प्रतीतानि । [कालपत्ताइं ति] प्राप्तकालानि गृहीत, कुरुत च्छत्र परिजनार्थम्।तथा-शालयः प्रतीताः,लूयन्तां,मल्य- न्ताम्,उत्पूयन्तां च,लघु च प्रविशन्तु कोष्ठागारम । [अप्पमहुको- सगा य त्ति] अल्पा लघवो, महान्तस्तदपेक्षया, मध्यमा इत्य- र्थः । उत्कृष्टा कनमाश्च, हन्यन्तां पोतसार्थाः-बोहित्थसमुदायाः, शावकसमूहा वा।तथा-सेना सैन्यं, नियातु निर्गच्छतु ।निर्गत्य च यातु गच्छतु डमरं विड्वरस्थानम्। तथा-घोरा रौद्रा वर्तन्तां च, अयन्तां संग्रामा रणाः। तथा-प्रवहन्तु च प्रवर्तन्तां शकटवा- हनानि-गन्त्र्यो यानपात्राणि च । तथा-उपनयनं बालानां क- लापग्रहणं[चोलगं ति] चूडोपनयनं बालकप्रथममुण्डनम, विवाहः पाणिग्रहणं, यज्ञो यागः, अमुष्मिन् भवतु दिवसे। तथा-सु- करणं बवादिकानामेकादशानामन्यतरदभिमतं, सुमुहूर्तो रौ- द्रादीनां त्रिंशतोऽन्यतरोऽभिमतो यः, एतयोः समाहारद्वन्द्वः;त-

त्तरतत्र। तथा-सुनक्षत्रेषु पुष्यादौ, सुतिथौ च पञ्चम्यां नन्दादौ- नामन्यतरस्यामभिमतायाम। 'अज्ज' अस्मिन्नहनि, भवतु स्नपनं सौभाग्यपुत्राद्यर्थं वध्वादेर्मज्जनं, मुदितं प्रमोदवत्, बह्वाद्य- पेयकलितं प्रभूतमांसमत्स्यादियुक्तम। तथा-कौतुकं रक्षादिकं (वि- ण्हावण त्ति) विविधैर्मन्त्रमूलाभिः संस्कृतजलैः स्नापनकं वि- स्नापनकं, शान्तिकर्म चाग्निकारिकादिकमिति द्वन्द्वः। ततस्ते कु- रुत।केषु?, इत्याह-शशिरव्योः क्रमसूर्ययोर्ग्रहेण राहुलक्षणेन उ- परागे उपरञ्जनं, ग्रहणमित्यर्थः; शशिरविग्रहोपरागः। स च वि- षमाणि च विधुराणि दुःस्वप्नाशिवादीनि,तेषु।किमर्थम्?,इत्या- ह-स्वजनस्य च परिजनस्य च निजकस्य वा जीवितस्य प- रिरक्षणार्थमिति व्यक्तम्। प्रतिशीर्षकाणि च दत्त स्वशिरःप्रति- रूपाणि पिष्टादिमयशिरांसि आत्मशिरोरक्षार्थ चण्डिकादिभ्य इत्यर्थः। तथा दत्त च शीर्षोपहारान् पश्वादि- शिरोबलीन्, देवतानामिति गम्यते। विविधौषधिमद्यमांसभ- क्ष्यान्नपानमाल्यानुलेपनानि च, प्रदीपाश्च ज्वलितोज्ज्वलाः, सुगन्धिधूपस्योपकारश्चोपकरणम-अङ्गारोपरि क्षेप ,पुष्पफलानि च, तैः समृद्धाः संपूर्णा ये शीर्षोपहाराः, ते तथा, तान् , दत्त चेति प्रकृतम्। तथा-प्रायश्चित्तानि प्रतिविधानानि कुरुत। केन?, प्राणातिपातकरणेन हिंसया, बहुविधेन नानाविधेन।किमर्थम?, इत्याह-विपरीतोत्पाता अशुभसूचकाः प्रकृतिविकाराः, दुःस्व- प्नाः, पापशकुनाश्च प्रतीताः। असौम्यग्रहचरितं च क्रूरग्रहचा- राः,अमङ्गलानि च यानि निमित्तानि अङ्गस्फुरितादीनि, एतेषां द्वन्द्वः, तत एतेषां प्रतिघातहेतुमुपहननिमित्तमिति। तथा वृ- त्तिच्छेदं कुरुत,मा दत्त किञ्चिद्दानमिति।तथा सुष्ठु हत हत,इद- ष्ठु सम्यक् छिन्नम।सुष्ठु छिन्नो भिन्नश्च विवक्षितः कश्चिदिति, एवमुपादिशन्त.। एवंविधं नानाप्रकारम। पाठान्तरं वा-त्रिविधं त्रिप्रकारं,कुर्वन्त्यलीकं, दृश्यते नास्तिकमपि सत्त्वोपघातहेतुत्वा- द् भावतोऽलीकमेव। त्रैविध्यमेवाह-मनसा, वाचा,[कम्मुणा य त्ति] कायक्रियया।तदेतावता यथा क्रियतेऽलीकं,येऽपि तत् कुर्वन्तीत्येतद् द्वारद्वयं मिश्रं परस्परेणोक्तम्।

अथ ये तत् कुर्वन्ति तान् भेदानाह-

अकुसला अणज्जा अलियाणा अलियधम्मनिरया अलियासु कहासु अभिरमंता तुट्ठा अलियं करेउ हुंति य बहुप्पगारं, तस्स य अलियस्स फलस्स विवागं अ- याणमाणा वडूति महब्भयं अविस्सामवेयणं दीहका- लबहुदुक्खसंकडं णरयतिरियजोणिं, तेण य अलि- एण समणुबद्धा आइद्धा पुणब्भवंधकारे जमंति, भीमे दुग्गइवसहिमुवगया ते य दीसंति इह दुग्गया दुरंता पर- वसा अत्थभोगपरिवज्जिया असुहिता फुडितच्छवी-बीभ- च्छविवरणा, खरफरुसविरत्तज्झामज्झुसिरा निच्छाया ल- ल्लविफलवाया असक्कयमसक्कया अगंधा अचेयणा दुभगा अकंता काकस्सरा हीणभिन्नघोसा विहिंसा जडबहिरमूया य मम्मणा अकंतविकंतकरणा णीया णीयजणणिसेविणो लोगगरहणिज्जा भिच्चा असरिसजणस्स पेसा दुम्मेहा लो- गवेदअज्झप्पसमयसुतिवज्जिया नरा धम्मबुद्धिवियला अ- लिएण य तेण य डज्झमाणा असंतएणं अवमाणणपिट्ठि-

परट्ठयाए, खेत्ता य कसत, कसावेह वा, लहुं गामनगरखेडकव्वडं संनिवेसेह अडवीदेसेसु विपुलसीमं, पुप्फाणि कंदमूलाइं कालपत्ताइं गिरहह,करेह संचयं परिजणस्सऽट्ठयाए, साली वीही जवा य लुच्चंतु मलिज्जंतु उप्पूयंतु य, लहुं च पविसंतु कोट्ठागारं, अप्पमहुक्कोसगा य हंणंतु पोतसत्था, सेणा णिज्जाउ, जाउ डमरं, घोरा वट्टंतु, जयंतु य संगामा, पवहंतु य सगडवाहणाइं, उवणयणं चोलगं विवाहो जन्नो अमुगम्मि होउ दिवसे करणे सुमुहुत्ते सुनक्खत्ते सुतिहिम्मि य अज्ज होउ एहवणं, मुदितं बहुखज्जपेज्जकलियं कोउकविएहावणसंतिकम्माणि कुणह, ससिरविगहोवरागविसमेसु, सजणस्स परिजणस्स य नियगस्स य जीवियस्स परिरक्खणट्ठयाए पडिसीसकाइं च देह, देह य सीसोवहारे विविहोसहिमज्जमंसभक्खअन्नपाणमल्लाणुलेवणपदीवजालिउज्जला सुगंधधूवावयारपुप्फफलसमिद्धे, पायच्छित्ते करेह, पाणातिवायकरणेन बहुविहेण विवरीउप्पायदुसुविणपावसउणअसोमग्गहचरियअमंगलनिमित्तपडिघायहेउं वित्तिच्छेयं करेह मा देह किंचि दाणं,सुट्ठु हण २, सुट्ठु छिण्णो भिण्णो त्ति उवदिसंता,एवंविहं करेंति अलियं मणेणं वायाए कम्मुणा य।

[illegible] योऽनिसंधिरभिप्रायस्तत्र निविष्टा अलीकाभिसन्धिनिविष्टाः, असद्गुणोदीरकाश्चेति व्यक्तम् । सद्गुणनाशकाश्च, तद्पलापका इत्यर्थः । तथा—हिंसया भूतोपघातो यत्रास्ति तद् हिंसाभूतोपघातिकं, वचनं भणन्तीति योगः । अलीकसंप्रयुक्ताः संप्रयुक्तालीकाः, कथम्भूतं वचनम्?, सावद्यं गर्हितं [illegible] । अकुशलं, [illegible], [illegible] । अत एव साधुगर्हणीयम्, अधर्मजननं, [illegible] । कथंभूताः?, इत्याह—अनधिगतपुण्यपापाः—अविदितपुण्यपापकर्महेतव इत्यर्थः । तदधिगमे हि [illegible] प्रवृत्तिः संभवति ।पुनश्च-बहुनोऽस्तकालम्,अधिकरणं [illegible] । तत्राधिकरणक्रिया द्विविधा-[illegible], संयोजनाधिकरणक्रिया च । [illegible]-खड्गादीनां [illegible] निवर्त्तनलक्षणा, द्वितीया तु [illegible] संयोजनलक्षणेति । अथवा-दुर्गतौ [illegible], सा सर्वा अधिकरणक्रिया इति; बहुविधम-[illegible], आत्मनः परस्य च दुर्ग-[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

मार्गयतां तस्करेषिणाम् । अजगरगोनसमण्डलिदर्वीकरमुकुलीश्च साधयन्ति,तत्र अजगरादयः उरगविशेषाः,दर्वीकराः फणभृताः, मुकुलिनस्तदितरे, व्यालान् भुजङ्गान् पालीति रक्षन्ति [illegible] येषां ते व्यालपिनः, तेषाम् । अथवा-[illegible] प्राकृतत्वेन "वालवीति" प्रतिपादितम् । वाचनान्तरे-'[illegible]ति' दृश्यते । तत्र व्यालैश्चरन्तीति; वैयालिकानामिति । [illegible] गोधाः सेहांश्च शल्यकशरटकांश्च साधयन्तीति लुब्धकाः, गोधादयो भुजपरिसर्पविशेषाः, शरटकाः कृकलासाः [illegible] [illegible]वानरकुलानि च साधयन्ति पाशिकानां कुलं कुटुम्बं,[illegible] [illegible]र्थः। पाशेन बन्धनविशेषेण चरन्तीति पाशिकास्तेषाम् । [illegible] शुकाः कीराः, बर्हिणो मयूराः,मदनशालाः शारिकाः,कोकिलाः परभृतः,हंसाः प्रतीताः,तेषां यानि कुलानि वृन्दानि तानि,[illegible] सारसांश्च साधयन्ति, पोषकाणां पक्षिपोषकाणामित्यर्थः । [illegible] वधस्ताडनं,बन्धः संयमनं,यातनं च कदर्थनमिति समाहार[illegible] तच्च साधयन्ति गौल्मिकानां गुप्तिपालानाम् । तथा-धनधान्य[illegible] धेनुकांश्च साधयन्ति,तस्कराणामिति प्रतीतम् । किन्तु गावः [illegible] [illegible]सुरभयः, पलकाः उरभ्राः । तथा-ग्रामनगरपत्तनानि साधय[illegible]न्ति चौरिकाणाम्,नकरं करवर्जितम्,पत्तनं द्विविधम्-जलपत्तनं स्थलपत्तनं च। यत्र जलपथेन माण्डानामागमस्तज्जलपत्तनम्, [illegible] स्थलपथेन तदितरत् । चौरिकाणां प्रणिधिपुरुषाणाम् । तथा [illegible] पर्यन्ते मार्गे घातिका गन्तॄणां हननं पारघातिकाः (पंथघ[illegible]त्ति) पथि मार्गे, अर्द्धपथे इत्यर्थः । घातिका गन्तॄणां हननं, [illegible] थिघातिकाः, अनयोर्द्वन्द्वोऽस्तस्ते साधयन्ति च ग्रन्थिभेदानां [illegible] रविशेषाणां, कृतां च चौरिकां चौरणं, नगरगुप्तिकानां [illegible] त्तिकानां, साधयन्तीति वर्त्तते । तथा-लाञ्छनं कर्णा[illegible] हलादिभिः, निर्लाञ्छनं वर्द्धितकरणं, (धमणं ति) [illegible] वायुपूरणं, दोहनं प्रतीतं महिष्यादीनाम्,पोषणं यवसादि[illegible] पुष्टीकरणं, वननं वत्सस्यान्यमातरि योजनं,(दुवण त्ति) [illegible] नमुपतापनमित्यर्थः । वाहनं शकटाद्याकर्षणम्, एतदादि[illegible] अनुष्ठानानि साधयन्ति बहूनि,गौमिकानां गोमताम् । तथा-[illegible] गैरिकं, धातवो लोहादयः, मणयश्चन्द्रकान्तादयः,शिला [illegible] प्रवालानि विद्रुमाणि, रत्नानि कर्केतनादीनि, तेषामाकरा [illegible] यस्ताः साधयन्ति,आकरिणाम् आकरवताम् । पुष्पविधि[illegible] प्रतीतम्, नवरं विधिः प्रकारे तत्र । अर्थं च मूल्यमानं, मधु [illegible] काश्च क्षौद्रोत्पत्तिस्थानम्-अर्थमधुकोशकाः, तान् साधय[illegible] वनचराणां पुलिन्द्रानाम् । तथा-यन्त्राणि [illegible] [illegible], [illegible] वा, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] प्रयोगतो गर्भपातनादि (आहेवण त्ति) आवेशनं पुरा[illegible] करणम् । पाठान्तरेण-(आहिवण त्ति) आदिश्य [illegible] [illegible], पाठान्तरेण (अविधण त्ति) [illegible] [illegible]र्थः । आभियोग्यं वशीकरणादि, [illegible] [illegible]नितं, भावतो विद्यामन्त्रादिभावितं, [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

येषु तानि भूतघातोपघातकानि,सत्यान्यपि द्रव्यतस्तानीति यानि पूर्वमुपदर्शितानि हिंसकानि हिंस्राणि वचनान्युदाहरन्ति।तथा-पृष्टा वा अपृष्टा वा प्रतीताः, परतप्तिव्यापृताश्च परकृत्यचिन्तनाहाणिकाः, असमीक्षितभाषिणः अपर्यालोचितवक्तारः, उपदिशन्ति अनुशासति, सहसा अकस्माद्-यदुत उष्ट्राः करभाः, गोणा गावो, गवया अटव्याः पशुविशेषाः, दम्यन्तां विनीयन्ताम्। तथा-परिणतवयसः संपन्नावस्थाविशेषाः, तरुणा इत्यर्थः । अश्वाः, हस्तिनः प्रतीताः;गवेलककुक्कुटाश्च उरभ्रताम्रचूडाश्च क्रीयन्तां मूल्येन गृह्यन्तां, क्रापयत च एतान्येव ग्राहयत च, विक्रीणीध्वं विक्रेतव्यम्।तथा-पचत पचनीयं, स्वजनाय च दत्त, पिबत च पातव्यं मदिरादि । वाचनान्तरेण-खादत पिबत दत्त च । तथा-दास्यश्चेटिकाः, दासाश्चेटकाः, भृतका भक्तदानादिना पोषिताः,(भाइल्लग त्ति) ये लाभस्य भागं चतुर्भागादिकं लभन्ते, एतेषां द्वन्द्वः। ततस्ते च, शिष्याश्च विनेयाः, प्रेष्यकजनः प्रयोजनेषु प्रेषणीयलोकः,कर्मकरा नियतकालमादेशकारिणः,किंकराश्च आदेशसमाप्तावपि पुनःपुनः प्रश्नकारिणः, एते पूर्वोक्ताः, स्वजनपरिजनं च कस्मादासते अवस्थाने कुर्वन्ति ? (भारिया भे करिउ कम्मं ति)हत्वा विधाय, कर्म कृत्यं, तत्समाप्तौ यतो भारिका दुर्निर्वाहाः ' भे ' भवतां " करेतु त्ति " क्वचित्पाठः । तत्र (भारय त्ति) भार्या ' भे ' भवतः सम्बन्धिन्यः, कर्म कुर्वन्तु। अन्यान्यपि पाठान्तराणि सन्ति, तानि च स्वयं गमनीयानि । तथा-गहनानि गह्वराणि, वनानि वनखण्डानि, क्षेत्राणि च धान्यवपनभूमयः, खिलभूमयश्च हलैरकृष्टाः, वल्लराणि च क्षेत्रविशेषाः, उत्तनस्तानि तत्तृणैरूर्ध्वगतैस्तृणैः, घनमत्यर्थं, संकटानि सकीर्णानि यानि तानि तथा, तानि दह्यन्ताम् । पाठान्तरेण-गहनानि वनानि छिद्यन्तां, खिलभूमिवल्लराणि उत्तृणघनसंकटानि दह्यन्ताम् ।(लुडिज्जंतु य त्ति) लूयन्तां च वृक्षाः, भिन्दन्तां छिद्यन्तां वा यन्त्राणि च तिलयन्त्रादिकानि, भाण्डानि च भाजनानि कुण्डादीनि,भाण्डी वा गन्त्री,एतान्यादिर्यस्य तत् । तथा-उपधिरुपकरणं तस्य (कारणाए त्ति) कारणाय हेतवे । वाचनान्तरे तु-यत्र जाण्डस्योत्कटस्य कारणाद् हेतोः । तथा-बहुविधस्य च,कार्यसमूहस्येति गम्यम । अर्थाय इक्षवो (दुज्जंतु त्ति) दूयन्तां लूयन्तामिति, धातूनामनेकार्थत्वात् । तथा-पीड्यन्तां च तिलाः,पाचयत चेष्टका-गृहार्थम्। तथा-क्षेत्राणि इष्यन्तां कर्षयत वा।तथा-लघु शीघ्रं, ग्रामादीनि निवेशयत, तत्र ग्रामो जनपदप्रायजनाश्रितः, नगरमविद्यमानकरदानं, कर्बट कुनगरम । कीदृशेषु?।किंभूतानि ग्रामादीनि?,विपुलसीमानि। तथा पुष्पादीनि प्रतीतानि । [कालपत्ताइं ति] प्राप्तावसरप्राप्तानि गृहीत, कुरुत संचयं परिजनार्थम्। तथा-शालयः प्रतीताः,लूयन्तां,मल्यन्ताम्,उत्पूयन्तां च,लघु च प्रविशन्तु कोष्ठागारम् । [अप्पमहुक्कोसगा य त्ति] अल्पा लघवो, महान्तस्तदपेक्षया, मध्यमा इत्यर्थः । उत्कृष्टा उत्तमाश्च, हन्यन्तां पोतसार्थाः-बोहित्थसमुदायाः, श्रावकसमूहा वा। तथा-सेना सैन्यं, निर्यातु निर्गच्छतु । निर्गत्य च यातु गच्छतु डमरं विड्वरस्थानम्। तथा-घोरा रौद्रा वर्तन्तां च, जयन्तां संग्रामा रणाः। तथा-प्रवहन्तु च प्रवर्तन्तां शकटवाहनानि-गन्त्र्यो यानपात्राणि च । तथा-उपनयनं बालानां कलाग्रहणं[चोलगं ति] चूडोपनयनं बालकप्रथममुण्डनम, विवाहः पाणिग्रहणं, यज्ञो यागः, एषु एतेषु भवतु दिवसे। तथा-सुकरणं बवादिकानामेकादशानामन्यतरदभिमतं, सुमुहूर्तो रौद्रादीनां त्रिंशतोऽन्यतरोऽभिमतो यः, एतयोः समाहारद्वन्द्वः।तत्तत्र। तथा-सुनक्षत्रेषु पुष्यादौ, सुतिथौ च पञ्चम्यां नन्दादीनामन्यतरस्यामभिमतायाम।'यज्ञ' अस्मिन्नहनि, भवतु स्नपनं सौभाग्यपुत्राद्यर्थं वध्वादेर्मज्जनं, मुदितं प्रमोदवत् , बहुखाद्यपेयकलितं प्रभूतमांसमत्स्यादिकम्। तथा-कौतुकं रक्षादिकं (विपहावण त्ति) त्रिविधैर्मन्त्रमूलाभिः सम्स्कृतजलैः स्नापनकं विस्नापनकं, शान्तिकर्म चाग्निकारिकादिकमिति द्वन्द्वः । ततस्ते कुरुत । केषु?, इत्याह-शशिरव्योश्चन्द्रसूर्ययोर्ग्रहणं राहुमुखेन उपराग उपरञ्जनं, ग्रहणमित्यर्थः; शशिरविग्रहोपरागः। स च विषमाणि च विधुराणि दुःस्वप्नाशिवादीनि,तेषु।किमर्थम्?,इत्याह-स्वजनस्य च परिजनस्य च निजकस्य वा जीवितस्य परिरक्षणार्थमिति व्यक्तम्। प्रतिशीर्षकाणि च दत्त स्वशिरःप्रतिरूपाणि पिष्टादिमयशिरांसि आत्मशिरोरक्षार्थं चण्डिकादिभ्य इत्यर्थः । तथा दत्त च शीर्षोपहारान् पश्वादिशिरोबलीन्, देवतानामिति गम्यते । विविधौषधिमद्यमांसभक्ष्यान्नपानमाल्यानुलेपनानि च, प्रदीपाश्च ज्वलितोज्ज्वलाः, सुगन्धिधूपस्योपकारश्चोपकरणम-ङ्गारोपरि क्षेपः,पुष्पफलानि च, तैः समृद्धाः संपूर्णा ये शीर्षोपहाराः, ते तथा, तान् , दत्त चेति प्रकृतम्।तथा-प्रायश्चित्तानि प्रतिविधानानि कुरुत।केन?, प्राणातिपातकरणेन हिंसया, बहुविधेन नानाविधेन।किमर्थम्?, इत्याह-विपरीतोत्पाता अशुभसूचकाः प्रकृतिविकाराः, दुःस्वप्नाः, पापशकुनाश्च प्रतीताः । असौम्यग्रहचरितं च क्रूरग्रहचाराः,अमङ्गलानि च यानि निमित्तानि अङ्गस्फुरणादीनि,तेषां द्वन्द्वः, तत एतेषां प्रतिघातहेतुमुपहननार्थमिति। तथा वृत्तिच्छेदं कुरुत,मा दत्त किञ्चिद्दानमिति।तथा सुष्ठु हत हत,सुष्ठु संग्रामे छिन्दत। सुष्ठु छिन्नो भिन्नो विदारित इत्यादि, पाठमुपादिशन्ति। एवंविधं भाषावत्यम् । एतच्च वा-त्रिविधं त्रिप्रकारं, कुर्वन्त्यलीकं, उपघाते भाषां कर्मणि मनोवचःकायैः ... द् मानसेनालीकमेव । त्रिविधमेवाह-मनसा, वाचा, [कम्मुणा य त्ति] कायक्रियया । तदेवंभावतो यथा विधनेऽनार्थ, केऽपि मनुष्याः कुर्वन्तीत्येतद् ग्राहयन्ति भिन्नं परस्परेणेत्यर्थः ।

अथ ये तत् कुर्वन्ति तान् भेदेनाह-

अकुसला अणज्जा अलियाणा अलियधम्मणिरया अलियासु कहासु अभिरमंता तुट्ठा अलियं करेत्तु होंति य बहुप्पगारं, तस्स य अलियस्स फलविवागं अयाणमाणा वड्ढेंति महब्भयं अविस्सामवेयणं दीहकालं बहुदुक्खसंकडं णरयतिरियजोणिं, तेण य अलिएण समणुबद्धा आइद्धा पुणब्भवंधकारे भमंति, भीमे दुग्गइवसहिमुवगया ते य दीसंति इह दुग्गया दुरंता परवस्सा अत्थभोगपरिवज्जिया असुहिया फुडियच्छवी-बीभच्छा विवन्ना, खरफरुसविरत्तज्झामज्झुसिरा निच्छाया लल्लविफलवाया असक्कयमसक्कया अगंधा अचेयणा दुभगा अकंता काकस्सरा हीणभिन्नघोसा विहिंसा जडबहिरमूया य मम्मणा अकंतविकयकरणा णीया णीयजणनिसेविणो लोगगरहणिज्जा भिच्चा असरिसजणस्स पेस्सा दुम्मेहा लोयवेयअज्झप्पसमयसुतिवज्जिया नरा धम्मबुद्धि[illegible] अलिएण य तेण य डज्झमाणा असंतएण [illegible] हि-

पंमाहिक्खेवपिसुणभेयणगुरुबंधवसयणमित्तऽवक्खारणाऽऽदियाइं अब्भक्खाणाइं बहुविहाइं पावंति अमणोरमाइं हिययमणदूमगाइं जावजीवं दुरुद्धराइं अणिट्ठखरफरुसवयणतज्जणणिब्भत्थणदीणवयणविमणा कुभोयणा कुवाससा कुवसहीसु किलिस्संता नेव सुहं नेव निव्वुइं उवलभंति, अच्चंतविपुलदुक्खसयसंपलित्ता, एसो सो अलियवयणस्स फलविवाओ इहलोइओ परलोइओ अप्पसुहो बहुदुक्खो महब्भओ बहुरयप्पगाढो दारुणो कक्कसो असाओ वाससहस्सेहिं मुच्चती ण य अवेदयित्ता अत्थि हु मोक्खो त्ति, एवमाहंसु नायकुलनंदणो महप्पा जिणो उ वीरवरनामधेज्जो कहेसी य अलियवयणस्स फलविवागं; एयं तं बितियं पि अलियवयणं लहुस्सगलहुचवलभणियं भयकरदुहकरअयसकरवेरकरणं अरतिरतिरागदोसमणसंकिलेसवियरणं अलियनियडिसातिजोगबहुलं नीयजणनिसेवियं निस्संसं अप्पच्चयकारकं परमसाहुगरहणिज्जं परपीलाकारकं परमकिण्हलेससहियं दुग्गतिविणिवायवड्डणं भवपुणब्भवकरं चिरपरिचियमणुगयदुरंतं ति बेमि ॥

[illegible] वचनस्य विभागानिपुणा अनार्याः पापकर्मणो दुष्प्रयोगाः [अलियद्ध त्ति] अलीका आहा आगमो येषां ते तथा, न यथार्थधर्मनिरताः, अलीकासु कथास्वभिरममाणाः । तथा-[तुहा अलियं करेंउ हुंति य बहुप्पगारं ति] [illegible] बहुप्रकारं कृत्वा उत्कर्षयमकरघटना [illegible] । अथाऽलीकविपाकाभिधानायाह-[तस्स त्ति] तस्या- [illegible] फलस्य कर्मणो विपाक उदय, [illegible] । [illegible] महाभयविषमवेदनां, दीर्घकालबहुदुःखसंकटां, नरकतिर्यग्योनिं, तथा- [illegible] । तेन चालीकेन, तथोऽज्ञानकर्मणेत्यर्थः । [illegible] पुनर्नरकान्धकारे [illegible] दुर्गतिवसतिमुपगताश्च दृश्यन्ते इह जीवलोके । किंभूता ?, इत्याह-दुर्गता दुःस्थाः, दुरन्ताः [illegible] अधर्मोपार्जिताः [illegible] [असुंहिय त्ति] असुखिताः, अविद्यमान- [illegible] विकृतवर्णा इति [illegible]

[illegible]

मनीयानि विकृतानि च करणानीन्द्रियाणि कृत्यानि वा येषां ते तथा । वाचनान्तरे-अकृतानि न कृतानि विकृतानि विरूपतया कृतानि करणानि येस्ते तथा । नीचा क्षुद्र-दिभिः, नीचजननिषेविणो, लोकगर्हणीया इति परोक्षं सर्वम् । भृत्या भर्त्तव्या एव । तथा-असदृशजनस्य असमानशीललोकस्य द्वेष्या द्वेषस्थानं, प्रेष्या वा आदेश्या, दुर्मेधसो दुर्बुद्धयः । [लोगेत्यादि] श्रुतशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धात् लोकश्रुतिः लोकाभिमतं शास्त्रं भारतादि, वेदश्रुतिः ऋक्‌प्रभृति वेदशास्त्रम्, अध्यात्मश्रुतिः चित्तजयोपायप्रतिपादकं शास्त्रं, समयश्रुतिः आर्हतबौद्धादिसिद्धान्तशास्त्रं, ताभिर्वर्जिता ये ते तथा । क एते एवंभूताः ?, इत्याह-नरा मानवाः, धर्मबुद्धिकलाः प्रतीतम् । अलीकेन च अलीकवादजनितकर्माग्निना, तेन कालान्तरकृतेन, दह्यमानाः [असंतयणं ति] अप्रशान्तेन, अप्रशान्तेन असता वा अशान्तत्वेन रागादिप्रवृत्तेनेत्यर्थः । अपमाननादि प्राप्नुवन्तीति सम्बन्धः । तत्रापमाननं च मानहानिः, पृष्ठमांसं च परोक्षस्य दूषणाविष्करणम् । अधिक्षेपश्च तिरस्कारविशेषः, पिशुनभेदनं च-परस्परं प्रेमसम्बद्धयोः प्रेमच्छेदनं, गुरुबान्धवस्वजनमित्राणां सत्कमपकारणं च [illegible] सानियमाणं वञ्चनपराजितस्य वा यथाभङ्गकरणं, सानिध्यमित्यर्थः । एतानि आदिर्येषां तानि तदादिकानि । तथा-अभ्याख्यानानि असद्दूषणाभिधानानि बहुविधानि, प्राप्नुवन्ति लभन्ते इति । अनुपमानि । पाठान्तरेण-अमनोरमाणि हृदयस्य उरसो, मनसश्च चेतसो, [दूमगा इति] दावकानि [illegible] तानि तथा । यावज्जीवं दुर्धराणि आजन्मव्याप्तानि [illegible] अनिष्टेन खरपरुषेण चातिकठोरेण वचनेन तर्जनम्-रे ! [illegible] सत्पुरुषेण भणितव्यमित्यादि । निर्भर्त्सनम्-अरे दुष्टकर्मकारिन् ! अपसर दृष्टिमार्गादित्यादिरूपं, ताभ्यां दीनं वदनं, [विमण त्ति] विगतं मनो येषां ते तथा । कुभोजनाः, कुवाससः, कुवसतिषु क्लिश्यन्तो, नैव सुखं शारीरं, नैव निर्वृतिं मनःस्वास्थ्यम्, [illegible] उपलभन्ते प्राप्नुवन्ति; अत्यन्तविपुलदुःखशतसंप्रदीप्ताः, [illegible] एता अलीकस्य फलमुक्तम् । 'एसो' इत्यादिना [illegible] निगमनमिति । व्याख्या स्वस्य प्रथमाध्ययनवत् [illegible] मयम् । (एयं तं बितियं पि) इत्यादिना [illegible] "पढमं [illegible]" [illegible] प्रश्न०२ आश्र० द्वा० । अपवादपदे-"पढम [illegible]" [illegible] अलीकवचनम्, [illegible] विवेचनार्थं वदेत । [illegible]

अलुत्थि (ण्)-अरुक्षिन्-त्रि० । [illegible] त्रि० । स्निग्धस्पर्शवति, स० ११ श० ४ उ० ।

अलुद्ध-अलुब्ध-त्रि० । अलम्पटे लोभरहिते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० । " आरादुक्खेस जो, कडुयं तयं न [illegible] । [illegible] सो सारं, ... " [illegible] । गच्छा० ।

अले-अरे-अव्य० । नीचसंबोधने, " अले किं [illegible] अले " प्रा० ४ पाद ।

अलेव-अलेप-पुं० । अभिसनापाप, प्रव० ४ द्वार । [illegible]

[illegible]

अलेवकड-अलेपकृत-न० । [illegible] त्रि० । पञ्चा० ।

तत्रालेपकृतानि तावदाह—

कंजुसिणचाउलोदे, संसट्ठापामकट्ठमूलरसे ।
कंजियकढिए लोणे, कुट्टा पिज्जा य निलुप्पा ॥
कंजियउदगविलेवी, ओदणकुम्मासमत्तुए पिट्ठो ।
मंडगसामियोसिचे, कंजियपत्ते अलेवकडं ॥

काञ्जिकमारनालम,उष्णोदकमुद्वृत्य त्रिदण्डम, (चाउलोदगं ति) तन्दुलधावनम,मंसट्ठं नाम गोरससंसृष्टे भाजने प्रक्षिप्तं सद् यदुदकं गोरसेन परिणामितम,आयाममवश्रवणम्, (कट्ठमूलरसे त्ति) काष्ठमूलं चणकचल्लकादिच्छिदलं, तदीयेन रसेन यत्परिणामितं तत्काष्ठमूलरसं नाम पानकम । तथा-यत्काञ्जिककथितं, [लोणे त्ति]लवणं यावत।कुट्टा चिञ्चिनिका,पेया च प्रतीता,निलुप्पा-अचंप्पडा अवग्धारिता वा । तथा-विलेपिका द्विविधा-एका काञ्जिकविलेपिका, द्वितीया उदकविलेपिका । ओदनस्तन्दुलादिभक्तम्,कुल्माषा चडदाः,राजमाषा वा।सक्तवो भृष्टयवक्षोदरूपाः,पिष्टं मुद्गादिचूर्णं,मण्डकाः सकणिकामयाः,समितम-मट्टकः,उत्स्विन्नं मुकुरकादि, काञ्जिकपत्रं काञ्जिकेन वासितम्-अपणिकादिशाकम,एतानि काञ्जिकादीन्यलेपकृतानि मन्तव्यानि।बृ० १ उ०।ध०।अलेपकृतपात्रस्य त्ववश्यं कल्पो दातव्यः।ध०३अधि०।

अलेसी–अलेश्यिन्–पुं० । लेश्यारहिते अयोगिनि, सिद्धे च । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

अलोग (य)–अलोक–पुं० । न० त० । धर्मादीनां द्रव्याणां वृत्तिर्भवति यत्र तत्, तादृशक्षेत्रमिह लोकः; तद्विपरीतं ह्यलोकाख्यं क्षेत्रम् । आव० ४ अ० । लोकविरुद्धे अनन्ताकाशास्तिकायमात्रे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । आ० म० । प्रव० । यत्र क्षेत्रे समवगाढौ धर्मास्तिकायाधर्मास्तिकायौ, तावत्प्रमाणो लोकः, शेषस्त्वलोकः । जी० १ प्रति० । "एगे अलोए" एकोऽलोकोऽनन्तप्रदेशोऽपि द्रव्यार्थतया । स० १ समo । सू० प्र० ।

लोगस्सऽत्थि विवक्खो, सुद्धत्तणओ घडस्स अघडो व्व ।
स घडाइ चेव मई, न निसेहाओ तदणुरूवो ॥

अस्ति लोकस्य विपक्षः,व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदाभिधेयत्वात् । इह यद् व्युत्पत्तिमता शुद्धपदेनाभिधीयते तस्य विपक्षो दृष्टः,यथा घटस्याघटः।यश्च लोकस्य विपक्षः सोऽलोकः। अथ स्यान्मतिर्न लोकोऽलोक इति।योऽलोकस्य विपक्षः स घटादिपदार्थानामन्यतम एव भविष्यति, किमिह वस्त्वन्तरपरिकल्पनया?। तदेतन्न। पर्युदासनञा निषेधान्निषेध्यस्यैवानुरूपोऽत्र विपक्षोऽन्वेषणीयः। न-लोकोऽलोक इत्यत्र च लोको निषेध्यः,स चाकाशविशेषः,अतोऽलोकेनापि तदनुरूपेण भवितव्यम्।यथेहापण्डित इत्युक्ते विशिष्टज्ञानविकलब्राह्मण एव पुरुषविशेषो गम्यते, नाचेतनो घटादिः, एवमिहापि लोकानुरूप एवाऽलोको मन्तव्यः । उक्तं च-"नञ्युक्तमिवयुक्तं वा, यद्धि कार्यं विधीयते । तुल्याधिकरणेऽन्यस्मिंल्लोकेऽप्यर्थगतिस्तथा" ॥१॥ "नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः" । तल्लोकविपक्षत्वादस्त्यलोक इति । विशे० । प्रेरक. प्राह-" स घडाई चेव मती," गुरुः प्राह-" न निसेहाओ तदणुरूवो" । स्था० १ ठा० १ उ० । "सिद्धा निगोयजीवा,वणस्सई कालपुग्गला चेव । सव्वमलोगागासं,उप्पेपऽणंतया णेया" प्रव० २४६ द्वार । (अलोके द्रव्यक्षेत्रकालभावाः सन्ति नवेति 'भङ्गभोग'

शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३४३ पृष्ठे दशमाधिकारे समुक्तम् । किंयानलोक इति तु ' लोग ' शब्दे वक्ष्यते)

अलोभया–अलोभता–स्त्री० । लोभत्यागरूपेऽष्टमे योगसंग्रहे, स० ३२ सम० । प्रश्न० । आव० ।

अलोभतामाह–

साएए पुंडरिए, कंडरिए चेव देवि जसभद्दा ।
सावत्थि अजियसेणे, कित्तिमई खुड्डगकुमारे ॥ १ ॥
जसभद्दे सिरिकंता, जयसिरियो चेव कडगपासे अ ।
नट्टविहीपरिक्रोसे, दाणं पुच्छाइ पव्वज्जा ॥ २ ॥
सुट्ठु वाइअं सुट्ठु गाइअं,सुट्ठु नच्चिअं सामसुंदरि ! ।
अणुपालिअ दीहराइया-ओ सुमिणंते मा पमायए ॥३॥

अर्थः कथातो ज्ञेयः–

" साकेतं नाम नगरं, पुण्डरीकोऽत्र नरेश्वरः ।
युवराजः कण्डरीको, यशोभद्रा च तत्प्रिया ॥ १ ॥
रक्तस्तां वीक्ष्य दुर्योचे, सा नैच्छद् मारितोऽनुजः ।
नंष्ट्वा सार्थेन तत्पत्नी, श्रावस्तीं नगरीं ययौ ॥ २ ॥
तत्राऽऽचार्योऽजितसेनः, कीर्तिमती महत्तरा ।
तत्र साऽपि प्रवव्राज, धार्त्तिर्गर्भसद्भस्मितं ॥ ३ ॥
परं न साऽस्यव्रतपुत्रं, किन्तु प्रव्रज्यावरम् ।
स एव दृष्टो गर्भं कर्तु-मक्षमो जननी जगौ ॥ ४ ॥
यामीति स्थापितो मात्रा-परोक्ष्य द्वादशाब्दिकाय ।
एवं महत्तराऽऽचार्यो—पाध्यायैरपि स प्रभद् ॥ ५ ॥
स्थापितोऽध्याहतैः क्षुल्लो-ऽष्टाचत्वारिंशद्दिवाष ।
तथाऽप्यतिष्ठन् प्रैषि मा-त्रोचे त्वं माऽन्यतो गमः ॥ ६ ॥
साकेते पुण्डरीकस्ते, पितृव्योऽस्ति नृपस्ततः ॥
मुद्रां कम्बलरत्नं चा-ऽऽदाय तत्र प्रजः पुनः ॥ ७ ॥
ततोऽस्थाद् यानशालायां, राज्ञः श्वो नृपमीक्षितुम् ।
पर्यक्षाप्यन्तरायां स, प्रेक्षणं प्रेक्षणं निशि ॥ ८ ॥
नर्त्तकी तत्र नर्त्तित्वा, रञ्जयन्त्यखिलां निशाम् ।
विभातायां विभावर्यां, निनिद्रासुरनूनकः ॥ ९ ॥
तन्मातार्भचिन्तयत्पर्षं-बोधिता नटक वद्र् ।
क्षेभमादोऽस्या मुद्रां-क्ष-स्तनो गीतिमिमां जगौ ॥ १० ॥
" सुट्ठु वाइयं सुट्ठु गाइयं, सुट्ठु नच्चियं सामसुंदरि ! " इत्यर्थः ।
अत्रान्तरे स च कुल्ल-कुमारो रत्नकम्बलम् ।
युवराजो यशोभद्रो, निर्ममे रत्नकुण्डलम् ॥ ११ ॥
सार्थवाही निजं हारं, राज्ञ्याऽऽमात्योऽङ्कुशम् ।
मन्त्री च कटकं लक्ष-मूल्यानि निखिलान्यपि ॥ १२ ॥
त्यागं यत्नात्र दृष्टे स्म, न प्रसन्नेऽप्यलिखन ।
ज्ञात्वा त्यागे हते राज-ख्यापो पृष्टोऽन्वयं पुनः ॥ १३ ॥
सर्वेऽपि प्राणदानाः, क्षुल्लः पूर्वं स्मर्त्तिदेशम् ।
यावत्तन्मूलमत्पानो, राज्यमर्द्धमर्पदयत ॥ १४ ॥
गृहाण राज्यं नार्हेऽहं, न कैवल्यमर्हसिदवाह ।
अतं निर्वाहयिष्यामि, क्षुल्लो राज्यं उपता ऽनुभवत ॥ १५ ॥
युवराजोऽवदद्राज्ञः, क्षुल्लो राज्यं इच्छति न ।
मारयित्वा नरावाहं हरि निःशंक ऽनुवृत्तम् ॥ १६ ॥
रत्ने राज्यपुनाऽपेत्य, एतन्मन्त्रोऽपि मैत्रम ।
सार्थपती जगौ पत्नु-शंसत द्वादशवर्षमद्युम् ॥ १७ ॥

तयोऽन्याऽऽनयनेच्छातः, श्रुत्वा गीतिमिमां स्थिता ।
मञ्जूषेभ्यस्तूर्यैः सार्द्धं, घटनातः स्थितोऽधुना ॥ १८ ॥
मण्डलस्तात्रमिमिषतः, प्रोक्तो हस्तिनमानय ।
यद्वा मारय तन्मेने, निवृत्तं गीतिकाश्रुतेः ॥ १९ ॥
अवमन्तेऽन्यया गातं, किमेति प्रतिबोधनः ।
इत्येवमादिभिः प्रतो ! स्याग-स्तुष्टः सर्वेषु भूपतिः ॥ २० ॥
सर्वे प्रबुद्धमारभ्य, मार्गतमाः प्रव्रजुः ।
अहोलनैव कर्तव्या, सर्वैरपि महात्मभिः" ॥ २१ ॥ आ० क० ।

अलोल-अलोल-त्रि० । अलुब्धे, नि० चू० १० उ० । अप्राप्त-प्रार्थनापरे, दश० १० अ० ।

अलोलुय-अलोलुप-पुं० । सरसाहारादिलाम्पट्यरहिते, उत्त० ३ अ० ।

अल्ल-आर्द्र-त्रि० । जलसंपृक्ते, "अल्लं चम्मं दुरूहइ" । आर्द्र-चर्माधिरोहति । ज्ञा० १२ अ० ।

अल्लइकुसुम-अल्लकीकुसुम-न० । पीतवर्णे लोकप्रसिद्धे पुष्पे, प्रज्ञा० १ पद । जं० । रा० ।

अल्लइकपूर-आर्द्रकपूर-पुं० । तिलकायविशेषे, प्रव० ४ द्वार ।

अल्लग-आर्द्रक-न० । शृङ्गबेरे, (आदा इति ख्याते) ध० २ अधि० । प्रव० । जं० ।

अल्लिय-अङ्ग-ईर्-धा० । आगमने, "अल्लिअपरित्यज्ज[illegible]" । ८ । ४ । १६२ । अल्लियइ-उप-सर्पति । प्रा० ४ पाद ।

अल्लुगा-आर्द्रदुगा-स्त्री० । (आलम्बीया इति ख्याते) [illegible] प्रव० ४ द्वार । ध० ।

अल्लापुर-[illegible]

[illegible]

अल्ली-[illegible] " । ८ । ४ । ५४ । इत्यालीयतेरल्लीत्यादेशः । अल्लि-यते । प्रा० ४ पाद ।

अल्लीउं-आलीतुम्-अव्य० । आश्रयितुमित्यर्थे, बृ० १ उ० ।

अल्लीण-आलीन-त्रि० । आ-ईषद् लीनः । जीवा० । [illegible] आतु० । कल्प० । प्रति० । ज्ञा० । गुरुसमाश्रिते सर्वेन्द्रियैर्गुप्ते ज्ञातासर्वासु क्रियासु लीनो गुप्तः । मनुलग्नचेष्टाकारिणि, प्रति । सं० । गुरुजनमाश्रितेऽनुशासनेऽपि न गुरुद्वेषाकारिणि, जं० २ वक्ष० । ज्ञा० । ज्ञानादिष्वासमन्ताल्लीने, ध० । उ० ।

अल्लीणपलीणगुत्त-आलीनप्रलीनगुप्त-त्रि० । [illegible] सम्यक्संयमयति, दश० ८ अ० ।

अव-अव-अव्य० । आधिक्ये, स० १ सम० । [illegible] प्रव० २१६ द्वार । विशे० । आ० म० । प्रज्ञा० । सं० । [illegible] "तुदादिभ्यो न को" इत्यधिकारे "अविनो वा" (उणा०) [illegible] मेन औणादिकोऽकारप्रत्ययः । गमने येष्टने, आ० म० [illegible] विशे० । स्था० ।

अवअक्ख-दृश्-धा० । प्रेक्षणे, " दृशो निअच्छ-पेच्छावयक्ख-यक्ख-सच्चय-देक्खौअक्खावक्खाऽवअक्ख-पुलोअ-पु-लअ-निआऽवआस-पासाः" । ८ । ४ । १८१ । इति सूत्रेण दृशः ' अवअक्ख ' आदेशः । अवअक्खइ-पश्यति । प्रा० ४ पाद ।

अवअक्खिअ-देशी-नियापितमुखे, दे० ना० १ वर्ग ।

अवअच्छ-देशी-कक्षायले, दे० ना० १ वर्ग ।

अवअच्छ-ह्वादि-धा० । आह्लादोत्पादने, " ह्लादेरवअच्छः " ८ । ४ । १२२ । ह्लादेर्ण्यन्तस्याण्यन्तस्य च ' अवअच्छ ' इत्यादेशः । अवअच्छइ-ह्लादयति । प्रा० ४ पाद ।

अवअच्छिअ-देशी-नियापितमुखे, दे० ना० १ वर्ग ।

अवअणिअ-देशी-असंघाटिते, दे० ना० १ वर्ग ।

अवआस-दृश्-धा० । " दृशो निअच्छ-" । ८ । ४ । १८१ । इत्यादिना सूत्रेण दृशः ' अवआस ' इत्यादेशः । अवआसइ-पश्यति । प्रा० ४ पाद ।

अवइ-अव्रतिन्-पुं० । अविरतसम्यग्दृष्टौ, बृ० १ उ० ।

अवउज्झिय-अवकुब्ज्य-अव्य० । अधोऽवनमय्येत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ७ उ० ।

अवउडिय-आपीड्य-अव्य० । पीडयित्वेत्यर्थे, " अवउडि[illegible] " । बृ० ३ उ० ।

अवउडग-अवकोटक-न० । कृकाटिकायां अधोनयने, नि० चू० १ उ० । प्रश्न० ।

अवउडगबंधण-अवकोटकबन्धन-त्रि० । अवकोटकेन कृकाटिकायां अधोनयनेन बन्धनं यस्य स तथा । [illegible] नयनेन बद्धे, विपा० १ श्रु० २ अ० । [illegible] प्रश्न० । आचा० ।

[illegible]

[illegible]

अवंग-अपाङ्ग-पुं० । नयनोपान्ते, अं० १ वक्ष०। ज्ञा०। आचा०।

अवंगुयदुवार-अपावृतद्वार-त्रि० । कपाटादिभिरस्थगितगृहद्वारे, "अवंगुयदुवारा" सद्दर्शनलाभेन कुतोऽपि पाषण्डिकाद् बिभ्यति शोभनमार्गपरिग्रहेणोद्घाटद्वारस्तिष्ठन्तीति भाव इति वृद्धव्याख्या । अन्ये त्वाहुः-भिक्षुकप्रवेशार्थमौदार्यादस्थगितगृहद्वारा इत्यर्थः । भ० २ श० ५ उ० । दशा० । औ० । उद्घाटितद्वारे, न० । सू० १ श्रु० । रा० ।

अवंचक-अवञ्चक-त्रि० । पराऽव्यसनहेतौ, " अवंचिगा किरिया" । अवञ्चिका पराव्यसनहेतु क्रिया मनोवाक्कायव्यापाररूपेति द्वितीयसूत्रस्यवहारलक्षणम् । ध० २० । ध० ।

अवंचगजोग-अवञ्चकयोग-पुं० । वञ्चकत्वविकले योगे, षो० । अवञ्चकयोगाश्च त्रयः। तद्यथा-सद्योगाऽवञ्चकः, क्रियाऽवञ्चकः, फलावञ्चकः । तत्स्वरूप चेदम्-

"सद्भिः कल्याणसंपन्नै-र्दर्शनादपि पावनैः ।
तथादर्शनतो योग, आद्योऽवञ्चक उच्यते ॥ १ ॥
तेषामेव प्रणामादि-क्रिया नियम इत्यलम् ।
क्रियाऽवञ्चकयोगः स्या-न्महापापक्षयोदयः ॥ २ ॥
फलावञ्चकयोगस्तु, सद्भ्य एव नियोगतः ।
सानुबन्धफलावाप्ति-र्धर्मसिद्धौ सतां मता " ॥ ३ ॥ षो० ९ विव० ।

अवंजणजाय-अव्यञ्जनजात-त्रि० । व्यञ्जनान्युपस्थरोमाणि जातानि यस्य स तथा । अजातोपस्थरोमणि, व्य० १० उ० ।

अवंजणिज्ज-अवन्द्य-त्रि० । निष्कारणे वन्दनानर्हे, यथा-
"पासत्थो ओसन्नो, होइ कुसीलो तहेव संसत्तो । अहछंदो वि य एए, अवंजणिज्जा जिणमयम्मि "। ध० २ अधि० ।

अवंतरसामण्ण-अवान्तरसामान्य-न० । द्रव्यत्वकर्मत्वादौ-सत्तापेक्षयाऽपरसत्तायाम्, स्या० म० द्वि० ।

अवंतिवद्धण-अवन्तिवर्द्धन-पुं० । अवन्तिराजप्रद्योतात्मजपालकराजस्य पुत्रे, आव० ४ अ० । आ० क० । आ० चू० ।

अवंतिसुकुमाल-अवन्तिसुकुमार-पुं० । भद्राश्रेष्ठिनीपुत्रे, दर्श० ।
" उज्जेणीए नयरीए जीवंतसामिपडिमाए अज्जसुहत्थिणामेण सूरिवरा पज्जुवासणत्थं उज्जाणे समोसढा । भणिया य साहुणो- जहा वसहिं मग्गह । तओ साहुणो विहरमाणा गया भद्दाए सेट्ठिणीए घरं । तीए वि वंदिऊण पुच्छिया-जहा कओ भयवंताण आगमणं ? । तेहिं सिट्ठं-दंसणतराओ अज्जसुहत्थिसूरिसंतिया वसहिं जाएमो । ताए वि हट्ठतुट्ठाए जाणसाला दरिसिया । अन्नया आयरिया सहुसवाणीए नलिणिगुम्मं नाम अज्झयणं परियट्टंति । तीसे पुत्तोऽवंतिसुकुमालो णाम । सो वि देवकुमारोवमो सत्तनवपासायतलगओ वत्तीसाए भज्जाहिं समं दोगुंदुगो व्व देवो ललइ । तेण वि सुत्तविबुद्धेण निसुयं । चिंतियं च-न एयं नाडगसरिसं ति सणिआ उवरिभूमीओ भूमीं संपहारेइ, कत्थमन्ने गए परिसं सुयमणुभूयपुव्वं । एवं ईहापोहमग्गण गवेसणं कुणंतस्स भवियव्वयावसेण तयाऽवरणिज्जकम्मक्खओवसमेणं जाइस्सरणं संपन्नं । तओ य आयरियाण पायमूले वंदिऊण भणियं-भयवं ! एयं सव्वं मज्झ चरियं-अहं नाह देवो आसि, ता सयमं देहि वयं, उस्सुगोऽहं निहि वास-
स्स । सूरिहिं भणियं-वच्छ ताव जाव पभाए मायरं ते पुच्छामो । तओ तेण सयमेव लोयं काउं पयट्टो । सूरीहिं चिंतियं-मा एस सयं गिहीयलिंगो होउ त्ति कहिउं से समप्पिओ वेसो, दिक्खा दिक्खा । तओ नियमिऊण चलणेसु भणितो-असमत्थोऽहं दीहपज्जयापरियायपरियालणस्स, ता संपयं चेव अणसणं काऊण इंगिणिं करेमि । तओ एएण अणुन्नाओ निग्गओ सहाणाओ एसो कंथारिकुडंगम्मि, इंगियं एस काऊण ठिओ काउस्सग्गेणं । अवंतिसुकुमारयाए सरीरस्स चलणस्सफाससंजायरुहिरगंधेण समागया सियाली सह सुएहिं पिल्लएहिं । तओ एगं जंघं सियालीए खाइयं, बीयं पिल्लएहिं पढमजामे, एवं ऊरू बिइयजामे, तइयजामे पेट्टं, एवं सो भयवं तं वेयणं सममहियासिऊण चउत्थजामे समाहीए कालं काऊण गओ नलिणिगुम्मे चेव विमाणे । तओ समागया पच्चासन्नदेवा, मुक्कं गंधोदयं कुसुमवरिसं, आहयाओ देवदुंदुहीओ, उग्घुट्ठं च हरिसभरनिब्भरेहिं-अहो ! एस महाभागो । पेच्छंति य से भज्जाओ परोप्परं समालोचेंतीओ आओ, तेसिं सिट्ठं-एसो काय वि गओ । तओ य से भद्दा पुच्छिया । तीए वि समाहियमणाए सूरीहिं सव्वं साहियं । तओ पभायाए रयणीए सहिरण्णए भीहरिया भद्दा, सह सव्वसुण्हाहिं सुसाणं पत्ता । दिट्ठं च कुडंगाओ नेरइयदिसाए आसन्नठिय कलेवरं । तओ सोगभरपीडिया गुरुसुकण्णोदं अपेच्छमाणाणं तहा रोइयं जहा पासाणं पि य फुट्टंति हिययाइं । तओ बहूसु वि संठविया नयरं पविट्ठा, सिप्पाए नईए तडे, काउं तस्स अग्गिसक्कारं, पच्छा सोयपरव्वसा जाव यक्खाणि य पाणाविऊण सहाए कड सवेगाओ सह सुण्हाहिं पव्वइया एगा उण गुव्विणि त्ति ठाऊण ठिया घरं । जाओ पुत्तो । तेण पिउमरणठाणे कारविया जिणपडिमा, अज्ज वि य महाकालो त्ति भण्णइ आययणं । तं च संपयं लोएहिं परिग्गहियं महाकालो त्ति विक्खायं । अवंतिसुकुमारकहाणयं समत्तमिति ॥ दर्श० । संथा० ॥

अवंतिसेण-अवन्तिसेन-पुं० । [illegible] पुत्रे, आ० क० । (' महापउम ' शब्देऽस्य कथा अस्मिन्नेव भागे पृष्ठेऽस्य कथोक्ता)

अवंती-अवन्ती-स्त्री० । उज्जयिन्यां नगर्यां मालवदेशविशेषे, आ० म० द्वि० ।

अवंतीगंगा-अवन्तीगङ्गा-स्त्री० । [illegible] "एगा अवंतीगंगा सत्त अवंतीगंगाओ, सा एगा परमावंतीगंगा " । भ० १५ श० १ उ० ।

अवंदिम-अवन्द्य-त्रि० । वन्दनानर्हे, " [illegible] होइ अवंदिमो " । दशा० ६ चू० ।

अवकंखमाण-अवकाङ्क्षत्-त्रि० । [illegible], सूत्र० १ श्रु० ।

अवकंखा-अवकाङ्क्षा-स्त्री० । अभिलाषे, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । सूत्र० । अं. [illegible], व्य० ४ उ० ३ श्रु० ।

अवकारि (न्)-अपकारिन्-त्रि० । [illegible], ध० २१ अष्ट० ।

अवकिरण-अवकिरण-न० । [illegible], स्था० ५ ठा० ।

अवकिरियव्व-अवकिरितव्य-न० । [illegible], स्था० ५ ठा० ।

ततोऽन्याऽऽनयनेच्छातः, श्रुत्वा गीतिमिमां स्थिता ।
मन्त्रिबेम्यनृपैः सार्द्धं, घटनातः स्थितोऽधुना ॥ १८ ॥
मत्वन्तराजभिर्मिषतः, प्रोक्तो हस्तिनमानय ।
यद्वा मारय तन्मेने, निवृत्तं गीतिकाश्रुतेः ॥ १९ ॥
अस्मत्तेऽनया गीतं, किन्नेति प्रतिबोधतः ।
दत्तोऽस्माभिः मनो ! त्याग-स्तुष्ट- सर्वेषु भूपतिः ॥ २० ॥
सर्वे क्षुल्लकुमारस्य, मार्गलग्नाः प्रवव्रजुः ।
अलोभेनैवं कर्त्तव्या, सर्वैरपि महात्मभिः" ॥ २१ ॥ आ० क० ।

अल्लोल-अल्लोल-त्रि० । अलुब्धे, नि० चू० १० उ० । अमात-प्रार्थनाऽवसरे, दश० १० अ० ।

अलोलुप-अलोलुप-पुं० । सरसाहारादिलाम्पट्यरहिते, उत्त० २ अ० ।

अल्ल-आर्द्र-त्रि० । जलसंपृक्ते, "अल्लं चम्मं दुरूहइ" । आर्द्रं चर्माधिरोहति । दश० १२ अ० ।

अल्लइकुसुम-अल्लकीकुसुम-न० । पीतवर्णे लोकप्रसिद्धे पुष्पविशेषपुष्पे, प्रज्ञा० १ पद । जं० । रा० ।

अल्लकच्चूर-आर्द्रकच्चूर-पुं० । तिक्तद्रव्यविशेषे, प्रव० ४ द्वार ।

अल्लग-आर्द्रक-न० । शृङ्गबेरे, (आदा इति ख्याते) ध० २ अधि० । प्रव० । जं० ।

अल्लत्थ-रुह्-(आरुह्)-धा० । ऊर्ध्वक्षेपे, " [illegible]-लग्गुच्छोत्थल्ला-[illegible]-दत्तुया: " । ८ । ४ । १४३ । अल्लत्थइ-उत्-क्षिपति । प्रा० ४ पाद ।

अल्लमुत्था-आर्द्रमुस्ता-स्त्री० । (नागरमोथा इति ख्याते) [illegible] प्रव० ४ द्वार । ध० ।

अल्लावपुर-न० । [illegible] नगरभेदे, [illegible] प्रतिबोधिताः । " [illegible] " । ती० ४९ कल्प ।

अल्लावपुरीयगुणस्थान-[illegible]-स्था० स्था० । [illegible] ती० ३६ कल्प ।

अल्लिअ-उप-सृप्-धा० । समीपगमने, " उपसर्पेरल्लिअः " । ८ । ४ । १३९ । इत्यनेन सूत्रेण उपपूर्वस्य सृपेः 'अल्लिअ' इत्यादेशः । अल्लिअइ-उपसर्पति । प्रा० ४ पाद । " [illegible] " । [illegible] ।

अल्लियावणबंध-[illegible]-पुं० । [illegible] " से किं तं अल्लियावणबंधे ? । अल्लियावणबंधे [illegible] । तं जहा-लेसणाबंधे, उच्चय-बंधे, समुच्चयबंधे, साहणणाबंधे " । भ० ८ श० ९ उ० । ([illegible])

अल्लीणकरणगुणस्थान-[illegible]-न० । [illegible] आचा० २ श्रु० ।

अल्लीण-आ-लि-श्लिष्-धातु । आश्लेषे, " आश्लिषेरालिङ्गल-[illegible] " । ८ । ४ । १९० । [illegible] इत्यालीयतेरल्लीयादेशः । अल्लीयइ-आलीयते । प्रा० ४ पाद ।

अल्लीउं-आलीतुम्-अव्य० । आश्रयितुमित्यर्थे, बृ० १ उ० ।

अल्लीण-आलीन-त्रि० । आ-ईषद् लीनः । जीवा० । आचा० । आतु० । कल्प० । प्रति० । ज्ञा० । गुरुसमाश्रिते संलीने, ज्ञाता-न्तरसर्वासु क्रियासु लीनो गुप्तः । अनुल्वणचेष्टाकारिणि, औ० । प्रति । तं० । गुरुजनमाश्रिते ऽनुशासनेऽपि न गुरुषु द्वेषमापन्-ने, जं० २ वक्ष० । ज्ञा० । ज्ञानादिष्वासमन्ताल्लीने, भ० ११ ।

अल्लीणपलीणगुत्त-आलीनप्रलीनगुप्त-त्रि० । [illegible] सम्यक्संयमयति, दश० ८ अ० ।

अव-अव-अव्य० । आधिक्ये, स० १ सम० । [illegible] प्रव० २१६ द्वार । विशे० । आ० म० । प्रज्ञा० । नं० । [illegible] "तुदादिभ्यो न क्षौ" इत्यधिकारे "अकितो वा" (उणा-) इत्यनेन औणादिकोऽकारप्रत्ययः । गमने वेदने, आ० म० । विशे० । स्था० ।

अवअक्ख-दृश्-धा० । प्रेक्षणे, " दृशो निअच्छ-पेच्छावयच्छ-अवयज्झ-वज्ज-सव्वव-देक्खौअक्खावक्खाऽवअक्ख-पुलोअ-पुलअ-निआऽवआस-पासाः" । ८ । ४ । १८१ । इतिसूत्रेण दृशः 'अवअक्ख' आदेशः । अवअक्खइ-पश्यति । प्रा० ४ पाद ।

अवअक्खिअ-देशी-निर्वापितमुखे, दे० ना० १ वर्ग ।

अवअच्छ-देशी-कक्षायाम्, दे० ना० १ वर्ग ।

अवअच्छ-ह्लादि-धा० । आह्लादोत्पादने, " ह्लादेरवअच्छः " ८ । ४ । १२२ । ह्लादतेर्ण्यन्तस्याण्यन्तस्य च 'अवअच्छ' इत्यादेशः । अवअच्छइ-ह्लादयति । प्रा० ४ पाद ।

अवअच्छिअ-देशी-निर्वापितमुखे, दे० ना० १ वर्ग ।

अवअणिअ-देशी-असंघटिते, दे० ना० १ वर्ग ।

अवआस-दृश्-धा० । " दृशो निअच्छ०-" । ८ । ४ । १८१ । इत्यादिना सूत्रेण दृशेः 'अवआस' इत्यादेशः । अवआसइ-पश्यति । प्रा० ४ पाद ।

अवइ-अव्रतिन्-पुं० । अविरतसम्यग्दृष्टौ, बृ० १ उ० ।

अवउज्झिय-अवउज्झ्य-अव्य० । अधोऽवनम्येत्यर्थे, आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

अवउज्झिऊण-अपोह्य-अव्य० । परित्यज्येत्यर्थे, " [illegible] ऊण इहं " । बृ० ३ उ० ।

अवउडग-अवकोटक-न० । कृकाटिकाया अधोनयने, विपा० १ श्रु० २ अ० । प्रश्न० ।

अवउडगबंधण-अवकोटकबन्धन-त्रि० । [illegible] कृकाटिकाया अधोनयनेन बन्धनं यस्य स तथा । [illegible] बद्धे, विपा० १ श्रु० २ अ० । [illegible] प्रश्न० ३ आश्र० द्वा० ।

अवऊगमण-[illegible] [illegible]

अवऊढ-अवगूढ-पुं० । [illegible] [illegible]

अवंग-अपाङ्ग-पुं० । नयनोपान्ते, जं० १ वक्ष० । ज्ञा० । आचा० ।

अवंगुयदुवार-अपावृतद्वार-त्रि० । कपाटादिभिरस्थगितगृहद्वारे, "अवंगुयदुवारा" सद्दर्शनलाभेन कुतोऽपि पाषण्डिकाद् बिभ्यति शोभनमार्गपरिग्रहेणोद्घाटितद्वारास्तिष्ठन्तीति भाव इति वृद्धव्याख्या । अन्ये त्वाहुः -भिक्षुकप्रवेशार्थमौदार्यादस्थगितगृहद्वारा इत्यर्थः । भ० २ श० ५ उ० । दशा० । औ० । उद्घाटितद्वारे, स० । सू० १ श्रु० । ज्ञा० ।

अवंचक-अवञ्चक-त्रि० । परास्यमवञ्चके, "अवंचिया किरिया" । अवञ्चिका परान्यवञ्चयन्तु क्रिया मनोवाक्कायव्यापाररूपाम् त्रिभिरप्यकुटिलव्यवहारलक्षणाम् । ध० र० । ध० ।

अवंचकजोग-अवञ्चकयोग-पुं० । अवञ्चकत्वविशिष्टे योगे, षो० । अवञ्चकयोगास्त्रयः तद्यथा-सद्योगावञ्चकः, क्रियावञ्चकः, फलावञ्चकः । तत्स्वरूपं चेदम्-

"सद्भिः कल्याणसंपन्नै-र्दर्शनादपि पावनैः ।
तथादर्शनतो योग, आद्योऽवञ्चक उच्यते ॥ १ ॥
तेषामेव प्रणामादि-क्रिया नियम इत्यलम् ।
क्रियाऽवञ्चकयोगः स्या-न्महापापक्षयोदयः ॥ २ ॥
फलावञ्चकयोगस्तु, सद्भ्य एव नियोगतः ।
सानुबन्धफलावाप्ति-र्धर्मसिद्धौ सतां मता" ॥ ३ ॥ षो० ८ विव० ।

अवंजणजाय-अव्यञ्जनजात-त्रि० । अव्यञ्जनान्युपस्थरोमाणि जातानि यस्य स तथा । अजातोपस्थरोमणि, व्य० १० उ० ।

अवंजणिज्ज-अवन्द्य-त्रि० । निष्कारणे वन्दनानर्हे, यथा- "पासत्थो ओसन्नो, होइ कुसीलो तहेव संसत्तो । अहछंदो वि य एए, अवंदणिज्जा जिणमयम्मि" । ध० २ अधि० ।

अवंतरसामन्न-अवान्तरसामान्य-न० । द्रव्यत्वकर्मत्वादौ-सत्तापेक्षयाऽपरसामान्याम्, स्या० म० द्वि० ।

अवंतिवद्धण-अवन्तिवर्द्धन-पुं० । अवन्तिराजप्रद्योतात्मजपालकराजस्य पुत्रे, आव० ४ अ० । आ० क० । आ० चू० ।

अवंतिसुकुमाल-अवन्तिसुकुमार-पुं० । भद्राश्रेष्ठिनीपुत्रे, दर्श० । "उज्जेणीए नयरीए जीवंतसामिपडिमाए अज्जसुहत्थिणामेण सूरिया पज्जुवासणत्थं उज्जाणे समोसढे । भणिया य साहुणो- जहा वसहिं मग्गह । ततो साहुणो विहरमाणा गया भद्दाए सेट्ठिणीए घरे । तीए वि वंदिऊण पुच्छिया-जहा कओ भयवंताणं आगमणं ? । तेहिं सिट्ठं-देसंतराओ अज्जसुहत्थिस्स भयवंताणं आगमणं ? । तेहिं सिट्ठं-देसंतराओ अज्जसुहत्थिसूरिसंतिया वसहिं अत्थमो । ताए वि हट्टतुट्ठाए जाणसाला दरिसिया । अन्नया आयरिया सट्टरत्तीए नलिणिगुम्मं नाम अज्झयणं परियट्टंति । तीसे पुत्तोऽवन्तिसुकुमालो णाम । सो वि देवलोगचुओ सत्तभूमिपासायवरगओ बत्तीसाए भज्जाहिं समं पासायवरगओ वत्तीसाए भज्जाहिं समं चिट्ठइ । तेण वि सुत्तविबुद्धेण निसुयं । चिंतियं च-न एयं नाडयसरणं ति तत्तओ उवरिभूमीओ भूमी सयं दोगुंदगो व्व देवो ललइ । तेण वि सुत्तविबुद्धेण निसुयं । चिंतियं च-न एयं नाडयसरणं ति । तत्तओ उवरिभूमीओ भूमी सयं ईहापोहं करेइ, कत्थमन्ने गए परिसं सुयमणुभूयपुव्वं । एवं ईहापोहं करेइ, कत्थमन्ने गए परिसं सुयमणुभूयपुव्वं । एवं ईहापोहं करेंतस्स मयिदव्ववसेण तयाऽऽवरणिज्जकम्मक्खओवसमेणं जाइसरणं संपन्नं । तओ य आयरियाण पायमूले वंदिऊण भणियं-भयवं ! एत्थ सव्वं मज्झ चरियं-अहं नलिणिगुम्मे विमाणे देवो आसि, ता सपयं देह वयं, उस्सुगोऽहं तत्थ गंतुं । सूरिहिं भणियं-वच्छ ताव जाव पभाए मायरं ते पुच्छामो । ततो तेण सयमेव लोयं काउं पयट्टो । सूरीहिं चिंतियं-मा एस सयं गिहीयलिंगो होउ त्ति कप्पियं से समप्पिओ वेसो, दिक्खा दिक्खिया । ततो निवडिऊण चलणेसु भणितो-असमत्थोऽहं दीहपव्वज्जापरियायपरिपालणस्स, ता संपयं चेव अणसणं काऊण इंगिणिं करेमि । ततो एएण अणुजाणाविओ नीहरिउ सहाणाओ पत्तो कंथारिकुडंगिसमीवे, इंगियं एस काऊण ठिओ काउस्सग्गेणं । अइसुकुमारयाए सरीरस्स धरणितलफाससंजायरुहिरगंधेण समागया सियाली सह सत्तहिं पिल्लएहिं । ततो एगं जंघं सियालीए खाइयं; बीयं पिल्लएहिं पढमजामे, एवं ऊरू बिइयजामे, तइयजामे पेट्टं, एवं सो नयणं तं वेयणं सम्ममहियासिऊण तइयजामे समाहीए कालं काऊण गतो तम्मि चेव विमाणे । ततो समागया पच्चासन्नदेवा, मुक्कं गंधोदयं कुसुमवरिसं, आहयाओ देवदुंदुहीओ, उग्घुट्टं च हरिसभरनिब्भरेहिं-अहो ! एस महाकालो । घरे य से भज्जाणं परोप्परं समालोओ जाओ, तेसिं सिट्ठं-उट्ठो कत्थ वि गओ । ततो य से भद्दा पुच्छिया । तीए वि समावलम्बणाए सूरीहिं सव्वं साहियं । ततो पभायाए रयणीए सव्विड्ढीए नीहरिया भद्दा, सह सव्वसुण्हाहिं सुमाए पत्ता । दिट्ठं च कुडंगाओ नेरइयदिसाए आसयट्ठिय कलेवरं । ततो सोयभरविउरिया उम्मुक्ककंठं भणेगपलावगेणं तहा रोइयं जहा वसीलं पि य तुज्जंति हिययाइ । ततो कहमवि संठविया सयणवग्गेणं, गया य सिप्पाए नईए तडे, कयं तस्स संकुद्धरणं, पच्छालोइयाकिच्चाणि, आयवणाणि य काराविऊण भद्दाए थइ संवेगाओ सह सुण्हाहिं गहिया पव्वज्जा । एगा उण गुब्बिणि त्ति काऊण ठिया घरे । जातो पुत्तो । तेण पिउमरणठाणे काराविया पिउपडिमा, समुग्घोसियं महाकालो त्ति नामेण आययणं । तं च संपयं लोइएहिं परिग्गहियं महाकालो त्ति विक्खायं । अवन्तिसुकुमारकथानकं समाप्तमिति ॥ दर्श० । संथा० ॥

अवंतिसेण-अवन्तिसेन-पुं० । चण्डप्रद्योतपौत्रे पालकस्य राज्ञः पुत्रे, आ० क० । ('अणाययण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४०८ पृष्ठेऽस्य कथोक्ता)

अवंती-अवन्ती-स्त्री० । उज्जयिनीनगरीप्रतिबद्धे जनपदविशेषे, आ० म० द्वि० ।

अवंतीगंगा-अवन्तीगङ्गा-स्त्री० । गोशालकमतप्रसिद्धे कालविशेषे, "एगा अवंतीगंगा सत्त अवंतीगंगाओ, सा एगा परमाऽवंतीगंगा" । भ० १५ श० १ उ० ।

अवंदिम-अवन्द्य-त्रि० । वन्दनानर्हे, "पच्छा होइ अवंदिमो" । दश० १ चू० ।

अवकंखमाण-अवकाङ्क्षत्-त्रि० । पश्चाद्भागमवलोकयति, ज्ञा० ६ अ० ।

अवकंखा-अवकाङ्क्षा-स्त्री० । अभिलाषे, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । सूत्र० । औत्सुक्ये, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अवकारि (न्)-अपकारिन्-त्रि० । अपकारकरणशीले, हा० २१ अष्ट० ।

अवकिरण-अवकिरण-न० । उत्सर्गे, आव० ५ अ० ।

अवकिरियव्व-अवकिरणीय-न० । विक्षेपणीये त्याज्ये, प्रश्न० ५ आश्र० द्वा० ।

[illegible]

आलीउं-आलीतुम्- [illegible]

आलीण-आलीन- [illegible]

आलीणगत्तीणगुत्त-आलीनगत्तीनगुप्त- [illegible]

आव-आव- [illegible]

आवभावस्- [illegible]

[illegible]

अवंग-अपाङ्ग-पुं० । नयनोपान्ते, जं० १ वक्ष०। ज्ञा०। आचा०।

अवंगुयदुवार-अपावृतद्वार-त्रि० । कपाटादिभिरस्थगितगृहद्वारे, "अवंगुयदुवारा" सद्दर्शनलाभेन कुतोऽपि पाषण्डिकाद् बिभ्यति शोभनमार्गपरिग्रहेणोद्घाटशिरसस्तिष्ठन्तीति भाव इति वृद्धव्याख्या । अन्ये त्वाहुः-भिक्षुकप्रवेशार्थमौदार्यादस्थगितगृहद्वारा इत्यर्थः । भ० २ श० ५ उ० । दशा० । औ० । उद्घाटितद्वारे, न० । सू० १ श्रु० । रा० ।

अवंचक-अवञ्चक-त्रि० । पराऽप्रतारणहेतौ, " अवंचिगा किरिया" । अवञ्चिका पराप्रतारणहेतुः क्रिया मनोवाक्कायव्यापाररूपेति द्वितीयमृजुव्यवहारलक्षणम् । ध० र० । ध० ।

अवंचकजोग-अवञ्चकयोग-पुं० । अवञ्चकत्रयविकल्पे योगे, यो०। अवञ्चकयोगाश्च त्रयः तद्यथा-सद्योगाऽवञ्चकः, क्रियाऽवञ्चकः, फलावञ्चकः । तत्स्वरूपं चेदम्-

"सद्भिः कल्याणसंपन्नै-र्दर्शनादपि पावनैः ।
तथादर्शनतो योगः, आद्योऽवञ्चक उच्यते ॥ १ ॥
तेषामेव प्रणामादि-क्रिया नियम इत्यलम् ।
क्रियाऽवञ्चकयोगः स्या-न्महापापक्षयोदयः ॥ २ ॥
फलावञ्चकयोगस्तु, सद्भ्य एव नियोगतः ।
सानुबन्धफलावाप्ति-र्धर्मसिद्धौ सतां मता " ॥ ३ ॥ यो० ८ विव० ।

अवंजणजाय-अव्यञ्जनजात-त्रि० । व्यञ्जनान्युपस्थरोमाणि जातानि यस्य स तथा । अजातोपस्थरोमणि, व्य० १० उ० ।

अवंजणिज्ज-अवन्द्य-त्रि० । निष्कारणं वन्दनानर्हे, यथा-"पासत्थो ओसन्नो, होइ कुसीलो तहेव संसत्तो । अहछंदो वि य एए, अवंजणिज्जा जिणमयम्मि " । ध० २ अधि० ।

अवंतरसामन्न-अवान्तरसामान्य-न० । द्रव्यत्वकर्मत्वादौ-सत्तापेक्षयाऽपरसत्तायाम्, आ० म० द्वि० ।

अवंतिवद्धण-अवन्तिवर्द्धन-पुं० । अवन्तिराजप्रद्योतात्मजपालकराजस्य पुत्रे, आव० ४ अ० । आ० क० । आ० चू० ।

अवंतिसुकुमाल-अवन्तिसुकुमार-पुं० । भद्राश्रेष्ठिनीपुत्रे, दर्श० । " उज्जेणीए नयरीए जीवंतसामिपडिमाए अज्जसुहत्थिणामेण सूरिवरा पज्जुवासणत्थं उज्जाणे समोसढे । भणिया य साहुणो-जहा वसहिं मग्गह । तओ साहुणो विहरमाणा गया भद्दाए सेट्ठिणीए घरे । तीए वि वंदिऊण पुच्छिया-जहा कओ भयवंताणं आगमणं ? । तेहिं सिट्ठं-देसंतराओ अज्जसुहत्थिसूरिसंतिया वसहिं जायमो । ताए वि हट्ठतुट्ठाए जाणसाला दरिसिया । अन्नया आयरिया महुरयाणीए नलिणिगुम्मं नाम अज्झयणं परियट्टंति । तीसे पुत्तोऽवंतिसुकुमालो णाम । सो वि देवकुमारोवमो सत्ततले पासायवरगओ वत्तीसाए भज्जाहिं समं दोगुंदुगो व्व देवो ललइ । तेण वि सुत्तविउद्धेण निसुयं । चिंतियं च-न एयं नाडयस्स त्ति सत्तभूमीओ उपरिभूमीओ भूमी संपत्तो तओ ईहापोहं करेइ, कत्थमन्ने मए एरिसं सुयमणुभूयपुव्वं । एवं ईहापोहं करेंतस्स तयावरणिज्जकम्माणं खओवसमेणं जाइसरणं संपत्तं । तओ य आयरियाणं पायमूले वंदिऊण भणियं-भयवं ! एयं सव्वं मज्झ चरियं-अहं तत्थ देवो आसि, ता सयं देह वयं, उस्सुगोऽहं तत्थ वास-

स्स । सूरिहिं भणइ-वच्छ ताव जाव पभाए मायरं ते पुच्छामो । तओ तेण सयमेव लोओ काउं पयट्टो । सूरीहिं चिंतियं-मा एस सयं गिहीयलिंगो होउ त्ति कहिउं से समप्पिओ वेसो, दिक्खा दिक्खिओ । तओ निवडिऊण चलणेसु भणिओ-असमत्थोऽहं दीहपव्वज्जापरियायपरिपालणस्स, ता संपयं चेव अणसणं काऊण इंगिणिं करेमि । तओ एएण अणुजाणियओ नीहरिउं मसाणाओ पत्तो कंथारिकुडंगस्स मज्झे, इंगियं एस काऊण ठिओ काउस्सग्गेणं । अइसुकुमारयाए सरीरस्स धरणितलफाससंजायरुहिरगंधेण समागया सियाली सह सचेट्टेहिं पिल्लएहिं । तओ एगं जंघं सियालीए खाइयं; बीयं पिल्लएहिं पढमजामे, एवं ऊरु बिइयजामे, तइयजामे पेट्टं, एवं सो भयवं तं वेयणं सम्ममहियासिऊण तइयजामे समाहीए कालं काऊण गओ नलिणिगुम्मे चेव विमाणे । तओ समागया पच्चासन्नदेवा, मुक्कं गंधोदयं कुसुमवरिसं, आहयाओ देवदुंदुहीओ, उग्घुट्ठं च हरिसभरनिब्भरेहिं-अहो ! एस महाकालो । घरे य से भज्जाणं परोप्परं समालोओ जाओ, तेसिं सिट्ठं-उट्ठो कत्थ वि गओ । तओ य से भद्दा पुच्छिया । ताए वि समासन्नसमणाए सूरीहिं सव्वं साहियं । तओ पभायाए रयणीए सब्विड्ढीए नीहरिया भद्दा, सह सव्वसुण्हाहिं सुसाणे पत्ता । दिट्ठं च कुडंगाओ नेरइयदिसाए आसपडियं कलेवरं । तओ सोयभरविउरिया उम्मुक्ककंठं अणेगपलावगेणं तहा रोइयं जहा वसीणे वि य मुज्झंति हिययाइं । तओ कहमवि संठविया सयणवग्गेणं, गया य सिप्पाए नईए तडे, कयं तत्थ मतकुकरणं, पच्छा लोइयाकिच्चाणि, आयवणाणि य काराविऊण भद्दाए अइ संवेगाओ सह सुण्हाहिं गहिया पव्वज्जा । एगा उण गुव्विणि त्ति काऊण ठिया घरे । जाओ पुत्तो । तेण पिउमरणट्ठाणे काराविया पिउपडिमा, समुग्घोसियं महाकालो त्ति नामेण आययणं । तं च संपयं लोएहिं परिगहियं महाकालो त्ति विक्खायं । अवन्तिसुकुमारकथानकं समाप्तमिति ॥ दर्श० । संथा० ॥

अवंतिसेण-अवन्तिसेन-पुं० । अवन्तिप्रद्योतनरेन्द्र पालकस्य राज्ञः पुत्रे, आ० क० । (' अच्छायणा ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४७७ पृष्ठेऽस्य कथोक्ता)

अवंती-अवन्ती-स्त्री० । उज्जयिनीनगरीप्रतिबद्धे जनपदविशेषे, आ० म० द्वि० ।

अवंतीगंगा-अवन्तीगङ्गा-स्त्री० । गोशालकमतप्रसिद्धे कालविशेषे, "एगा अवंतीगंगा सत्त अवंतीगंगाओ, सा एगा परमावंतीगंगा " । भ० १५ श० १ उ० ।

अवंदिम-अवन्द्य-त्रि० । वन्दनानर्हे, " पच्छा होइ अवंदिमो " । दश० १ चू० ।

अवकंखमाण-अवकाङ्क्षत्-त्रि० । पश्चाद्भागमवलोकयति, ज्ञा० १ अ० ।

अवकंखा-अवकाङ्क्षा-स्त्री० । अभिलाषे, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । सूत्र० । औत्सुक्ये, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अवकारि (ण्)-अपकारिन्-त्रि० । अपकारकरणशीले, हा० २१ अष्ट० ।

अवकिरण-अवकिरण-न० । क्षेपणे, आव० ५ अ० ।

अवकिरियव्व-अवकिरणीय-न० । विक्षेपणीये स्थाने, प्रश्न० ५ आश्र० द्वा० ।

अवचय-अपचय-पुं० । अपचये, अनु० । दश० । सूत्र० । देशतोऽपगमे, भ० ११ श० ११ उ० । कर्मापगमे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

अवचिय-अपचित-त्रि० । शोषिते, भ० २५ श० । जीवप्रदेशैर्विरहिते, अनु० ।

अवचियमंससोणिय-अपचितमांसशोणित-न० । शोषितमांसरुधिरे, भ० २५ श० ।

अवचुल्ली-अवचुल्ली-स्त्री० । चुल्ल्या अव पश्चाद् अवचुल्ली । राजदन्तादित्वादवशब्दस्य पूर्वनिपातः । अवहके, पिं० ।

अवच्च-अपत्य-न० । न पतन्ति यस्मिन्नुत्पन्ने दुर्गतौ अयशःपङ्के वा पूर्वजास्तदपत्यम् । पुत्रादौ, कल्प० ८ क्ष० । पुत्रे, पुत्र्यां च । आव० १ अ० । संयत्या अपत्ये जनिते आगन्तव्यव्यवहारः व्य० ।

सांप्रतमन्यं व्यवहारमुपदर्शयति-

अहवा अण्णकुला, पडिभज्जिउकाम समणसमणीओ ।
अणुगहा पर ण ठिया, करेंति वायंति-ववहारं ॥

अथवेति व्यवहारस्य प्रकारान्तरोपदर्शने । श्रमणः श्रमणी चेति द्वावप्यन्यान्यकुलौ; अन्यकुलः श्रमणः, अन्यकुला श्रमणी, प्रतिभङ्क्तुकामौ प्रतिपतितुकामौ, स्वस्वाचार्येण च तौ प्रभूतमनुशिष्टौ, परं न स्थितौ स्वस्वकुलममत्वेन यावान्तिकव्यवहारं यावदन्तः परिसमाप्तिर्यावन्तः, तत्र भवो यावान्तिकः, स चासौ व्यवहारश्च, तं कुरुतः । तद्यथा-यानि अस्माकमपत्यानि जनिष्यन्ते तेषां मध्ये ये पुरुषास्ते सर्वे मम, याः स्त्रियस्ताः सर्वास्तव । अथवाऽश्रमणीभूते ये पुरुषास्ते सर्वे मम, स्त्रियः सर्वास्तव । यदि चेदं भणति-सर्वाण्यपत्यानि तव, अथवा-सर्वाण्यपत्यानि ममेति, तयोः संसारे स्थित्वा पुनः प्रव्रज्यां प्रत्युपस्थितयोर्यदेव यावान्तिकेन व्यवहारेण निश्चितं तदेव तयोः संभवति ।

अह न कतो सो पच्छा, तेसिं अब्भुट्ठियाण ववहारो ।
गोणीआमुब्भामिग-कुडुंबि खरए य खरिया य ॥

अथ न कृतः पूर्वं यावान्तिको व्यवहारः, पश्चात्तयोः प्रव्रज्यायामभ्युत्थितयोः स्वस्वकुलममत्वेन व्यवहारो जल्पनमभूत् । तत्र संयतीकुलसत्काः गोदृष्टान्तमुद्भ्रामिकादृष्टान्तं खरकखरिकादृष्टान्तं चान्तराऽन्तरोपन्यस्यन्ति । संयतकुलसत्काः-अश्वदृष्टान्तं, कौटुम्बिकदृष्टान्तं च ।

अथ चेयमन्या दृष्टान्तपरिपाटी-

गोणीणं संगिल्लं, उब्भामइला य नीयपरदेसं ।
वत्तो खेत्ते देवी, रण्णो अभिसेयणे चेव ॥

संयतीसमानकुलकाः गवां संगिल्लं समुदायं दृष्टान्तीकुर्वन्ति । तदनन्तरं संयतसकुलकाः या उद्भ्रामिका परदेशं नीता, तां दृष्टान्तीकुर्वन्ति । ततः पुनरपि संयतीसकुलकाः क्षेत्रं बीजम् । ततः संयतकुलकाः देवीं राज्ञोऽभिषेचनं चेति ।

तत्र भण्डने जाते यथा संयतीसकुलका गोदृष्टान्तं कुर्वन्ति तथा प्रतिपादयति-

संजइच्च भणंती,-संडे अण्णस्स जं तु गोणीए ।
जायति तं गोणिवइ-स्स होति एवऽम्ह पयाई ॥

(संजइच्चा) संयतीसत्काः समानकुलकाः ब्रुवते अन्यस्य सत्केन षण्ढेन यद् गोर्जायतेऽपत्यं तत् सर्वं गोपतेर्गोस्वामिनो भवति, न षण्ढस्वामिनः । एवमनेनैव दृष्टान्तेनास्माकमप्येतान्यपत्यान्यभवन्ति, न युष्माकमिति ।

एवमुक्ते-

बेंतियरे अम्हं तू, जइ वडवाए अ अण्णआसेणं ।
जं जायति मोल्लि नो, दिन्ने तं अस्सिगस्सेव ॥

इतरे संयतसमानकुलका ब्रुवते-अस्माकमेतान्यपत्यानि भवन्ति, यथा-मूल्ये अदत्ते यदन्येनाश्वसत्केनाश्वेन वडवाया जायतेऽपत्यं तद् अश्विकस्यैव-अश्वस्वामिन एव; व्यावहारिकैरेवमेव व्यवहारनिश्चयात् । एवमेतान्यप्यस्माकमिति ।

एवमुक्ते-

जस्स महिलाए जायति, उब्भामइलाएँ तस्स तं होइ ।
संजइच्च भणंती, इयरो वेंती इमं सुणसु ॥

यस्य महेलाया भार्यायाः, उद्भ्रामिलायाः स्वैरिण्याः, जायते सुतः परतश्च तस्य तत्सर्वमाभवति; एवमस्माकमपि, इति (संजइच्चा) संयतीसत्काः समानकुलका भणन्ति । इतरे ब्रुवन्ते-इदं वक्ष्यमाणमुद्भ्रामिककौटुम्बिकदृष्टान्तं शृणुत-

तेणं कुडुंबिएणं, उब्भामइलेण दोहलं वी दंसे ।
दिण्णो सा वि य तस्सा, जाया एवऽम्ह पयाई ॥

येन स्वैरिण्या अपत्यानि जनितानि तेन कौटुम्बिकेन उद्भ्रामिलेन राजकुले गत्वा कथितम्-यथाऽहं देव ! तस्याः सर्वं भोगभरं वहामि स्म, सोऽपि च तत्पतिर्मदीयेन भोगतोयेन निर्वृत्यात्, तस्मात्प्रसादं कृत्वा मदीयान्यपत्यानि दापयेति । तत एवमुक्ते राजा कुपितः, तथा-भोगतत्संवाददर्शनेन एवमिमावपराधकारणाविति ज्ञात्वापि सर्वस्यापहरणतो दापितवान् । तथा चाहद्वयोरपि दण्डो दत्तः, दापित इत्यर्थः । सा चापत्यापहरणतोऽनन्यगतिका सती तस्य जाता । एवमस्माकमेतान्यपीति ।

पुणरवि य संजइच्चा, बेंति खरियाएँ अण्णखरएण ।
जं जायति खरियाहिव-तिस्स होंति एवऽम्ह पयाइं ॥

पुनरपि संयतीसत्का ब्रुवते-खरिकायां गर्दभ्यामन्यखरकेणान्यसत्केन गर्दभेन, यद् जायते तत्सर्वं खरिकाधिपतेर्भवति, एवमस्माकमप्येतानीति । तदेवं प्रथमदृष्टान्तपरिपाटी भाविता ॥

संप्रति द्वितीयां विभावयिषुः प्रथमतो गोवर्गदृष्टान्तं भावयति-

गोणीणं संगिल्लो, नट्ठ अडवीएँ अण्णगोणेणं ।
जणियाइँ वच्छगाइं, गोणाहिवतीओ गेण्हंति ॥

गवां स्त्रीगवानां संगिल्लः समुदायो नष्टोऽटव्यां पतितः, तत्र च तस्यान्यगवेनान्यसत्केन पुङ्गवेन, जनितानि वत्सकानि वत्सकरूपाणि तानि, गवेषयन्तः कथमपि गवां स्वामिनो गवाधिपतयः स्त्रीगवीस्वामिनो गृह्णन्ति, न पुङ्गवस्वामिनः । एवमेतान्यप्यस्माकमिति ।

एवमुक्ते संयतसत्का उद्भ्रामिकादृष्टान्तं पूर्वोक्तमुपन्यस्यन्ति, तथा चाऽऽह-

उब्भामिय पुच्छुत्ता, अहवा नीया उ ण्ण परदेसं ।
तस्सेव सा आभवती, एवं अम्हं तु आभवति ॥

उद्भ्रामिका पूर्वमुक्ता । यथा-जायमाना तस्य जाता । अथवा सा

परं विदेशं नीता सा तस्यैवाजनाति, पश्चादपि नान्यस्य । एवमेतान्यपत्यान्येवं चाऽस्माकमाजयतीति ।

एवमुक्ते-

इयरे भणंति वीयं, तुब्भं तं नीयमन्नखेत्तं तु ।

तं होइ सेविपस्सा, एवं अम्हं तु एयाइं ॥

इतरे संयतीसत्का भणन्ति-बीजं युष्मदीयं तत्कालक्षेत्रसादृश्यविप्रलम्भतः कथमपि पापकैरन्यत्र क्षेत्रं नीतम्; अन्यत्र क्षेत्रे उप्त-मिन्धर्थः । तद् लोके क्षैत्रिकस्य भवति; एवमेतान्यपत्यान्यस्माकमिति ।

संयतसत्का अत्र प्रत्युत्तरमाह-

रण्णो धूयाओ खलु, न माउछंदाउ ताउ दिज्जंति ।

न वि पुत्तो अभिसिज्जइ, तासिं छंदेण एवऽम्हं ॥

न खलु या राज्ञो दुहितरः ता मातृच्छन्दतो मातृणामभिप्रायेण दीयन्ते; नापि पुत्रोऽभिषिच्यते तासां मातृणां छन्देनाभिप्रायेण । किन्तु राज्ञः स्वाभिप्रायेण । ततो यथा-राजा प्रधानमिति सर्वं राज्ञ आयत्तम्, एवमत्रापि पुरुषः प्रधानमिति सर्वं पुरुषस्यायत्तमतः सर्वमस्माकमायत्तमिति ।

एवं व्यवहारे वर्तमाने युगधर आचार्यो व्यवहारं [illegible] इदमाह-

एमाइपुव्वावर-दिट्ठंता बहुविहा न उ पमाणं ।

पुरिसोत्तरिओ धम्मो, होइ पमाणं पवयणे तु ॥

एवमादय पूर्वापरदृष्टान्ता बहुविधा अभिप्रेयमाना न प्रमाणम्, किन्तु प्रवचने पुरुषोत्तरिको धर्म इति पुरुषः प्रमाणम् । अतः सर्वे पुरुषा [illegible], [illegible] इति । व्य० ४ उ० ।

अवच्चामेलिय-अप्रत्याम्रेडित-न० । [illegible] शास्त्रेऽन्यान्यस्थानगतानि [illegible] समानीय पठतो [illegible] । [illegible] प्रतिच्छिन्नानि [illegible] । [illegible] अत्यान्रेडितम् । अत्याम्रेडि-[illegible] अनु० । [illegible] । विशे० । पं० चू० ।

अवच्चलुस-[illegible]-न० [illegible], [illegible] १ उ० ।

अवच्छेद-अवच्छेद-पुं० । [illegible], स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

अवज्झाणंत-[illegible]-त्रि० । [illegible], सूत्र० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० ।

अवज्झाय-[illegible]-पुं० । [illegible] किन्तु [illegible] । [illegible] । [illegible] १ उ० ॥

अवट्टुय-[illegible]-[illegible], [illegible] ३ उ० [illegible], त्रि० [illegible] १६ उ० ।

[illegible]

२ उ० । विशे० । "कम्ममवज्जं जं गर-हियं ति कोहादओ व [illegible] चारि" । कर्मानुष्ठानमवद्यं भण्यते । किंविशेषेण ?, तेन्याह-गर्हितं निन्द्यम्, अथवा क्रोधादयश्चत्वारोऽवद्यं, तेषां सर्व[illegible] वद्यहेतुतया कारणे कार्योपचारात् । आ० म० द्वि० । म० ॥

अवज्जकर-अवद्यकर-पुं० । अवद्यं पापं तत्करणशीलः । [illegible] नि, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

अवज्जभीरु-अवद्यभीरु-त्रि० । पापभीरौ, ओघ० । पापवर्जि[illegible] ते, बृ० ३ उ० ।

अवज्झाण-अपध्यान-न० । अप्रशस्तं ध्यानमपध्यानम् । [illegible] र्त्तौद्रध्याने, औ० । पापकर्मोपदेशे हिंसकार्पणे, ध० २ अधि० [illegible] देवदत्तश्रावककोङ्कणसाधुप्रभृतय उदाहरणानि । आव० ६ अ० [illegible]

अवज्झाणया-अपध्यानता-स्त्री० । आर्त्तरौद्रादिध्याने[illegible] स्था० ३ ठा० ३ उ० ॥

अवज्झाणायरिय-अपध्यानाचरित-पुं० । अपध्यानमार्त्तरौद्र[illegible] रूपं तेनाचरित आसेवितो योऽनर्थदण्डः स तथा । अनर्थदण्ड[illegible] भेदे, उत्त० ३ अ० । ध० ।

अवज्झाय-अपध्यात-त्रि० । दुर्ध्यानविषयीकृते, उत्त० ६ अ० [illegible] दुष्टचिन्ताविषये, आ० १४ अ० ॥

अवट्टु-अवट्टु-पुं० । कृकाटिकायाम्, भ० १५ श० १ उ० । विपा[illegible]

अवट्ठंभ-अवष्टम्भ-पुं० । स्तम्भाद्यवलगने, ध० ३ अधि० ।

इदानीमवष्टम्भद्वारं प्रतिपादयन्नाह-

अव्वोच्छिन्ना तसा पाणा, पडिलेहा न सुज्झई ।

तम्हा हट्ठसमत्थस्स, अवट्ठंभो न कप्पइ ॥ ५०७ ॥

अवष्टम्भः स्तम्भादौ न कर्त्तव्यः, यस्मात्प्रत्युपेक्षितेऽपि तस्मि[illegible] पश्चादपि अव्यवच्छिन्ना अनवरतं त्रसाः प्राणा भवन्ति, तस्मात्[illegible] प्रत्युपेक्षणा न शुध्यति । [तम्हा हट्ठसमत्थस्स त्ति] तस्माद् हृष्टो नीरोगः, समर्थस्तरुणः, तस्य एवंविधस्य, साधोरवष्टम्भो न क[illegible] [illegible] ।

इदानीं के ते त्रसाः प्राणिनः ?, इत्येतत् प्रदर्शयन्नाह-

संचरकुंथुद्देहिय-लूआ वा होइ दाली य ।

एवं घरकोइलिया, सप्पे वीसंभरे गाहे ॥ ५०८ ॥

तत्रावष्टम्भे स्तम्भादौ, संचरन्ति प्रसर्पन्ति, के ते ?, कुन्थुमत्का[illegible] उद्देहिकाश्च लूता कोलियकः, तत्कृतो तेषां भवति, [illegible] तथा च दाली राजिर्भवति, तस्यां च [illegible] भवन्ति, तथा च-गृहकोकिलिका [illegible], [illegible] भवति, [illegible] भवति । सर्पो वा [illegible], [illegible] वा [illegible], [illegible] करोति ।

इदानीं [illegible]-

[illegible], [illegible] ॥ ५०९ ॥

[illegible]

...दिर्नाशतः, ततश्च अवष्टम्भं कुर्वत उपरि पतति, पु-
...राधना तदुत्थे भवति, आत्मनि संयमे च भवति, भे-
...पकश्च भवति ॥

...आइ य मढणे सं-जमम्मि आयाइ विच्छुगाईया ।
...घरकोइलिया-अहिउंदुरसरडमाईसु ॥ ५१० ॥

...गादौ च मढने मर्दने संयमविषया विराधना भवति, आत्म-
...राधना च वृश्चिकादिभिः क्रियते, एवं गृहकोकिलिकाहि-
...दुरसरटादिविषया संयमविराधना, आत्मविराधना च भव-
...तयुक्त उत्सर्गः ॥

इदानीमपवाद उच्यते-

अनरंतस्स च पाया, गाढं दुक्खंति तेणऽवट्ठंभो ।
संजयपिट्ठे थंभे, सेलगुहाकुड्डचेटीए ॥ ५११ ॥

असमर्थस्य च तिष्ठतो ग्लानादेः पार्श्वानि गाढमत्यर्थं दुःख-
न्ति, तेन कारणेन अवष्टम्भं कुर्वीत । क ?, अत आह—संयत-
पृष्ठे स्तम्भे वा [सेल त्ति] पाषाणमये स्तम्भे, सुधाऽर्जिते कुड्ये
वा अवष्टम्भं कुर्वीत । अवधिकायां घेटिकायां वा कुड्यादौ
कृत्वा ततोऽवष्टम्भं करोति । चकमवष्टम्भद्वारम् । ओघ० । ध०।
... प्रा० १६ द्वार ।

अवट्ठग-अपार्थक-त्रि० । अपगतपरमार्थप्रयोजने, प्रा० १६ द्वार ।

अवट्ठाण-अवस्थान-न० । व्यवस्थायाम्, व्यवस्था संस्थितिः
स्थितिरवस्थानमवस्था चैतान्येकार्थिकानि पदानि । सू० ५
व० । स्थितौ, आव० ४ अ० । (तत्र साधोः किमवस्थानं श्रेयः
इत्यादि ' आवस्सिया ' शब्दे द्वितीयभागे ४६३ पृष्ठे
... । अवधिज्ञानस्याऽवस्थानं द्रव्यादिभेदभिन्नमिति ' अप-
...इ्यते, ' शब्दे अत्रैव भागे ५६५ पृष्ठे, ' ओहि ' शब्दे
...इ्याद (ण) ' शब्दे अत्रैव भागे ५६५ पृष्ठे, ' ओहि ' शब्दे
तृतीयभागे १५१ पृष्ठे च द्रष्टव्यम्)

अवट्ठिइ-अवस्थिति-स्त्री० । मर्यादायाम्, स्था० ३ ठा० ४
उ० । अवस्थाने निष्प्रकम्पतया वृत्तौ, आव० ४ अ० ।

अवट्ठिय-अवस्थित-त्रि० । शाश्वते, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।
" सिद्धायरपिंडे य १, चाउज्जामे य २,
... निच्चे, ह्रा० ५ अ० । " ... पुरिसजेट्ठे य ३ । किइकम्मस्स य करणे ४, चत्तारि अवट्ठिया
कप्पा " ॥ १ ॥ स्था० ६ ठा० । निश्चले, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।
अवधिणौ, जी० ३ प्रति० । यन्न हीयमानं न वा वर्द्धमानम् ।
सं० । म० । " अवट्ठियसुविभत्तचित्तमंसू " । अवस्थितान्यव-
र्द्धिष्णूनि सुविभक्तानि विविक्तानि चित्राणि अतिरम्यतया-
ऽद्भुतानि श्मश्रूणि कूर्चरूपा येषां तेऽवस्थितसुविभक्तचित्र-
श्मश्रवः । जी० ३ प्रति० । अनन्तपर्यायात्मके वस्तुनि, तत्र
पर्यायाणामानन्त्येन अविरहाद् द्रव्यावस्थितत्वम् । म० २ श०
... उ० । स्वप्रमाणे स्थिते, जी० ३ प्रति० । अनवस्थितावलक्षणे
अनुयोगद्वारनयोक्ते स्थालिद्वारावस्थिते, संक्षिप्तविहारावस्थिते च ।
सू० १ उ० । [' अणवट्ठिय ' शब्देऽत्रैव भागे ३०१ पृष्ठे स्था-
...] स्थित्या रहिते, " अवट्ठिए भासाए भासाए
यत्रि भवइ " । आचा० २ श्रु० १५ अ० ३ सू० ।

अवट्ठियबंध-अवस्थितबन्ध-पुं० । यदा तु यावतीः प्रथमसम-
ये बध्नाति तावतीरेव द्वितीयादिष्वपि समयेषु बध्नाति, तदा
... [illegible]

द्वितीयादिसमयेषु तन्मात्रस्यावस्थानतया प्रवर्तमानोऽवस्थि-
तबन्धो भवति । कर्म० ५ कर्म० ।

अवड-अवट-पुं० । कूपे, स्था० २ ठा० ४ उ० । अनु० । प्रश्न० ।
आ० म० ।

अवड्ढ-अपार्द्ध-न० । अपगतमर्द्धं यस्य तदपार्द्धम् । अर्द्धमात्रे,
सू० प्र० १० पाहु० । चं० प्र० । अर्द्धदिवसे, भ० ११ श० ३ उ० ।

अवड्ढखेत्त-अपार्द्धक्षेत्र-न० । अपगतमर्द्धं यस्य तदपार्द्धम्-
र्द्धमात्रम् । अपार्द्धमर्द्धमात्रं क्षेत्रमहोरात्रप्रमितं येषां चन्द्रयोग-
स्यादिमधिकृत्य तान्यपार्द्धक्षेत्राणि । च० प्र० १० पाहु० । सू०
प्र० । समयक्षेत्रापेक्षया पञ्चदशमुहूर्तेषु. स्था० ६ ठा० ।

अवड्ढगोलगोलच्छाया-अपार्द्धगोलगोलच्छाया-स्त्री० । गो-
... [illegible] ... गोलगोलस्य च्छाया
छाया गोलगोलच्छाया, अपार्द्धमात्रस्य गोलगोलस्य च्छाया
अपार्द्धगोलगोलच्छाया । अर्द्धमात्रगोलगोलच्छायायाम्,
सू० प्र०, चं० प्र० ८ पाहु० ।

अवड्ढगोलच्छाया-अपार्द्धगोलच्छाया-स्त्री० । अपार्द्धमात्रस्य
गोलस्य छायायाम्, सू० प्र० ८ पाहु० । चं० प्र० ।

अवड्ढगोलपुंजच्छाया-अपार्द्धगोलपुञ्जच्छाया-स्त्री० । गो-
लानां पुञ्जो गोलोत्कर इत्यर्थः । तस्य छाया गोलपुञ्जच्छाया । अप-
अपार्द्धस्य गोलपुञ्जस्य छाया अपार्द्धगोलपुञ्जच्छाया । सू० प्र० ।
र्द्धमात्रगोलपुञ्जच्छायायाम्, च० प्र० ८ पाहु० । सू० प्र० ।

अवड्ढगोलावलिच्छाया-अपार्द्धगोलावलिच्छाया-स्त्री० । गो-
लानामावलिर्गोलावलिस्तस्याश्छाया गोलावलिच्छाया, अपार्द्धा या
गोलावलिच्छाया अपार्द्धगोलावलिच्छाया । अपार्द्धमात्रगो-
लावलिच्छायायाम्, च० प्र० ८ पाहु० । सू० प्र० ।

अवड्ढचंदसंठाण-अपार्द्धचन्द्रसंस्थान-न० । ... [illegible]
...स्यापार्द्धचन्द्रः, तस्य यत् संस्थानम् ... [illegible]
स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अवड्ढभाग-अपार्द्धभाग-पुं० । चतुर्थभागे, ... [illegible]
अ० १ उ० ।

अवड्ढोमोयरिया-अपार्द्धावमोदरिका-स्त्री० । ... [illegible]
... [illegible]

अवण-अवन-न० । ... [illegible]

अवणंत-अपनयत्-त्रि० । ... [illegible]

अवणयंत-अपनयत्-त्रि० । ... [illegible]

अवणय-अपनय-पुं० । ... [illegible]

अवणिय-त्रि० । ... [illegible]

[illegible]-अवनयन-न० । निवेपने, विशे० ।

अवनीतपर्नीतवचन-न० । [illegible] किन्तु [illegible] वचनानां द्वादशे, आचा० २ [illegible] ।

अवनीतवरक-पुं० । अपनीतं देयद्रव्यमस्याद्-[illegible], [illegible] । तदर्थमभिमदत आरति [illegible] अवनीतवरकः । [illegible] ।

अवनीतवचन-न० । कुत्सा [illegible] वचनभेदे, [illegible] ।

[illegible]-[illegible] । [illegible] विधः [illegible] ।

[illegible]

कोऽयं संघः?, यः समवायबलेन पशुसंघ इव [illegible] करोतीति । न चैतत्, साधुदर्शनादिगुणसमुदायात्मकस्य [illegible] च मार्गस्यैव मार्गीकरणादिति ॥ तथा-[illegible] [illegible]-पर्यन्तमुपगतमित्यर्थः तपश्च ब्रह्मचर्यं च [illegible] पक्वं वा उदयागतं तपो ब्रह्मचर्यं [illegible] ते तथा, तेषामवर्णं वदन्, न सन्त्येव देवाः [illegible] मानत्वात् । किञ्च-तैर्विटैरिव कामासक्तमनोभिः [illegible] निर्मितैरिव [illegible] प्रवचनकार्यानुपयोगिभिः [illegible] कम् । इहोत्तरम्-सन्ति देवाः, [illegible] नात् । कामसक्तता च मोहसातकर्मोदयात् । [illegible] गा० ९ ज० ।

अथ (ज्ञानादीनां) [illegible]-

काया वया य ते च्चिय, ते चेव पमाय अप्पमाया य ।
मोक्खाहिगारियाणं, जोइसजोणीहिं किं पुणो ॥

इह केचिद्दुर्विदग्धाः प्रवचनाशातनापातकमगणयन्त [illegible] [illegible] कुरुते । यथा-षड्जीवनिकायामपि बहुधा [illegible] [illegible]-यामपि त एव, अन्येष्वप्यध्ययनेषु [illegible] एवं प्रमादाप्रमादौ पुनः पुनस्तावेव प्रतिपाद्येते । [illegible] प्रमादाप्रमादाः पुनः पुनर्वर्ण्यन्ते । [illegible] च । एवं च पुनरुक्तदोषः । किञ्च-यदि केवलमेव मोक्षाय [illegible] [illegible] मोक्षाधिकारिणां साधूनां [illegible] [illegible] ज्योतिःशास्त्रेण, योनिप्राभृतेन वा किं पुनः कार्यम्? [illegible] [illegible] । तेषामिमान् [illegible]-इह प्रवचने [illegible] [illegible] भूयो भूयः प्ररूप्यन्ते, [illegible] [illegible] । " [illegible] " ॥ १ ॥ [illegible]

[illegible]

अथ [illegible]-

[illegible]

[illegible]

अथ धर्माचार्योऽवर्णवादमाह—

जच्चाईहिँ अवन्नं, भासइ वट्टइ न यावि उववाए ।
अहितो छिद्दप्पेही, पगासवादी अणणुकूले ॥

जात्या, आदिशब्दात् कुलादिभिश्च दोषैरवर्णं भाषते । यथा-नैते विशुद्धजातिकुलोत्पन्नाः, न वा लोकव्यवहारकुशलाः, नाप्येते औ- [illegible] नित्यं विदन्तीत्यादि । नचापि वर्तते उपपाते गुरूणां सेवावृत्तौ, अहितोऽनुचितविधायी । छिद्रप्रेक्षी—मत्सरितया गुरोर्दोषस्थानानि- रीक्षणपरायणः, प्रकाशवादी—सर्वसमक्षं गुरुदोषभाषी, अननुकूलो- गुरूणामेव प्रत्यनीकः, कूलवालकवत् । एष धर्माचार्यावर्णवादः ॥

अथ सर्वसाधूनामवर्णवादमाह—

अविसहणाऽतुरियगई, अणाणुवत्ती य अवि गुरूणं पि ।
खणमित्तपीयरोसा, गिहिवच्छलकाऽइसंचइआ ॥

अहो ! अमी साधवोऽविसहणा न कस्यापि पराभवं सहन्ते, अपि तु स्वपक्षपरपक्षापमाने संजाते सति देशान्तरं गच्छन्ति । (तुरियगइ त्ति) अकाण्डेऽप्यत्वरितगतयो मायया लोकाव- र्जनाय मन्दगामिनः । अननुवर्तिनः प्रकृत्यैव निष्ठुराः, गुरूणामपि महतामपि, आस्तां सामान्यलोकस्येत्यपिशब्दार्थः । द्वितीयोऽपि- शब्दः संभावनायाम् । संभाव्यन्त एवंविधा अपि साधव इति । क्षणमात्रप्रीतिरोषाः—तदैव रुष्टाः तदैव च तुष्टाः, अनवस्थितचि- त्ता इत्यर्थः । गृहिवत्सलाः—तैस्तैश्चाटुवचनैरात्मानं गृहस्थस्य रोचयन्ति । अतिसंचयिनः—सुबहुपतद्ग्रहवस्त्रादिसंग्रहशीलाः, लोभबहुला इति भावः ॥ अत्र निर्वचनानि—इह साधवः स्वपक्षा- पमाने यद्देशान्तरं गच्छन्ति तदप्रीतिपरिहारार्थम् [illegible] न परानपायाऽसहिष्णुतया । अत्वरितगमनमपि ईर्यापथसंशुद्ध्यर्थं संयम- पीडापरिहारार्थं, न तु लोकरञ्जनार्थम् । अननुवर्तिनोऽपि संयम- बाधाविधायिन्या अनुवर्तनाया अकरणात्, न प्रकृतिनिष्ठुरत- या । क्षणमात्रप्रीतिरोषा अपि प्रतनुकषायतया न निर्घर्षत्वेन [illegible] चित्ततया । गृहवत्सला अपि कथं नु नामामी धर्मदेशनादिना यथानुरूपोपायेन धर्मं प्रतिपद्येरन्निति बुद्ध्या, न पुनश्चाटुका- रितया । संचयवन्तोऽपि मा भूदुपकरणाभावे संयमाऽऽत्मवि- राधनेति बुद्ध्या, न तु लोभबहुलतयेत्युक्तम् ॥ स्था० १ ठा० । (अर्हतामवर्णं वदन्, अर्हत्प्रज्ञप्तस्य धर्मस्यावर्णं वदन्, आचा- र्योपाध्यायानामवर्णं वदन्, चातुर्वर्णस्य संघस्य चाऽवर्णं वदन् [illegible] उन्मादं प्राप्नुयादिति 'उम्माद' शब्दे द्वितीयभागे [illegible] वक्ष्यते ।) ज्ञानावर्णवादेन ज्ञानावरणीयं कर्म बध्यते । कर्म० ।

अत्र प्रायश्चित्तमाह—

जे भिक्खू धम्मस्स अवण्णं वदइ, अवण्णं वदंतं वा सा- इज्जइ ॥ ११२ ॥

धृञ् धारणे, धारयतीति धर्मः । स च द्विविधो—श्रुतधर्मः, चरणधर्मश्च, अवर्णो निन्देत्यर्थः । वद व्यक्तायां वाचि ।

दुविहो य होइ धम्मो, सुयधम्मो समणधम्मो य ।
सुयधम्मो खलु दुविहो, सुत्ते अत्थे य होति नायव्वो ॥२४॥
दुविहो य चरणधम्मो, अगारमणगारियं चेव ।
दुविहो तस्स अवण्णो, देसे सव्वे य होति नायव्वो ॥२५॥
मूलगुणउत्तरगुणे, देसे सव्वे य चरणधम्मो य ।
अह देस एत्थ तइगा, सुत्ते अत्थम्मि गुत्थादी ॥२५॥
सव्वम्मि तु सुयणाणे, भूया वा ते य निरत्थगो सुत्तं ।
गणि आयरिए सवइ, उ दोसमावन्नगा चरियं ॥२६॥
गिहिणं मूलगुणेसु, देसे गुत्था तु सव्वहिं सुत्तं ।
उत्तरगुणेसु देसे, तइगा गुत्था तु सव्वेसि ॥२७॥
मूलगुणउत्तरगुणे, गुत्था देसम्मि होंति साहूणं ।
सुत्तणिव्वाणो देसे, तं सेवंतस्स आणादी ॥२८॥
मामादिपयादी वं, सुयधम्मं जाव पुव्वगतं ।
सापाइयरादिं प—हारमसा उ जाव अणगा सो ॥२९॥

पंचविहो अणगारधम्मो सुयधम्मो । सो पुणो दुविहो—सुत्ते अत्थे य । चरित्तधम्मो दुविहो—अगारधम्मो, अणगारधम्मो य [illegible] दुविहो—मूलुत्तरगुणेसु देसे सव्वे वा [illegible] [illegible]

कहं पुण वदेति [illegible]

जीव विरहिए देहा, [illegible] ॥३०॥
दोसा य दव्वदेसु, [illegible]
काया वया य ते चिय, ते चेव [illegible] ॥३१॥

[illegible]

[illegible] करेंति, सो य उ पायादिवलयन्तो त- [illegible] । नि० चू० ११ उ० । (अधमंस्यापर्यायाद [illegible] शब्दे [illegible] वक्ष्यते । रात्रिभोजनस्यापर्यायादो [illegible] शब्दे [illegible])

[illegible]–[illegible]–स्त्री० । अनादरे, औ० । पं० ॥

[illegible]–[illegible]–न० । मृगदण्डे, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

[illegible]–[illegible]–न० । [illegible] स्नाने, नि० चू० १ उ० । [illegible] स्नाने, आ० ११ अ० ।

[illegible]–[illegible]–त्रि० । [illegible], सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

[illegible]–[illegible]–पुं० । [illegible], वृ० १ उ० । [illegible] । [illegible] नाम [illegible] । नि० चू० । [illegible], नि० चू० ३ उ० ।

[illegible]–[illegible]–त्रि० । [illegible], दशा० ३ अ० । [illegible], अनु० । [illegible]

[illegible]

मित्यर्थः । यथा-[illegible] [illegible] । [illegible] लघुकुम्भीसा, उंबरफलकुसुमालिया सुरभी । [illegible] वि रायइ, श्रोलइया अगासिंगेसु " ॥ १ ॥ वृ० १ उ० ।

अवत्थव–अवास्तव–त्रि० । वस्तु पदार्थः तस्येदं वास्तवम् । वास्तवमवास्तवम् । परसंयोगोद्भवे, अष्ट० १ अष्ट० ।

अवत्था–अवस्था–स्त्री० । भूमिकायाम्, हा० २१ अष्ट० ।

अवत्थातिग–अवस्थात्रिक–न० । [illegible] पर्यायकेवल्यवस्थासिद्धावस्थास्वभावे त्रिकर्मी [illegible] स्थित्वे, दर्श० ।

अवत्थापरिणाम–अवस्थापरिणाम–पुं० । [illegible] पर्ययोः क्षणयोः सदवस्थयोरन्यथात्वमेव परिणामे, द्वा० २४ द्वा० ।

अवत्थाभरण–अवस्थाभरण–न० । [illegible] स्थाने, दशा० ८ अ० ।

अवत्थिय–अवस्तृत–त्रि० । प्रसारिते, दशा० ८ अ० ।

अवत्थु–अवस्तु–न० । असति, आ० म० द्वि० । [illegible] तन्निषेधोऽर्थो यत्र तदवस्तु । असमर्थके, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ।

अवत्थोचिय-अवस्थोचित-त्रि० । भूमिकानुरूपे, पञ्चा० [illegible]

अवदग्ग–अवदग्र–न० । पर्यन्ते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । [illegible], सूत्र० २ श्रु० ४ अ० ॥

अवदा–अवदन्ना–पुं० । [illegible] निवारि [illegible] । [illegible] नामः । [illegible], दशा० ४ अ० ४ उ० ।

अवदाय–अवदात–पुं० । गौरे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वा० ।

अवदालिय-अवदारित-त्रि० । विकाशिते, [illegible] "अवदालियपुंडरीयनयणा (नयना) " [illegible] तत्र [illegible] वा येषां ते तथा । अ० २ वक्ष० ।

अवदार–अपद्वार–न० । [illegible], हा० ३ अ० । "[illegible] [illegible], सो [illegible] " । [illegible] नि० चू० १ उ० ।

अवदारण–अवदारण–न० । [illegible], नि० चू० १ उ० ।

[illegible]–[illegible]–पुं० । [illegible] विशेष, [illegible] ।

[illegible] अवदाहे दम्भते । [illegible] [illegible], दंडिदियि ॥

[illegible]

विपदा-सु कप्पमत्ताणु गइए यावि चि । सो तव्विहेसु गच्छइ, सुरेसु भइओ चरणहीणो" ॥ १ ॥ इति । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अवधारियव्व-अवधारयितव्य-न० । संप्रधारणीये, पश्चा० ३ विव० ।

अवधीरिय-अवधीरित-त्रि० । अपमानिते, सू० ४ उ० ।

अवधूय-अवधूत-पुं० । अव-धू-क्त । धानिहूते, निवर्तिते, चालिते, कम्पिते च । "यो विलङ्घ्याऽऽश्रमान् वर्णान्, आत्मन्येव स्थितः पुमान् । अतिवर्णाश्रमी योगी, अवधूतः स उच्यते" ॥१॥ इत्युक्तलक्षणे परमहंसे, वाच० । स्वनामख्याते लौकिके अध्यात्मचिन्तके आचार्ये, यदाहावधूताचार्यः-न प्रत्ययानुग्रहमन्तरेण तत्त्वबुभुत्सादयः, उदके पयःपूर्णकुम्भज्ञानजनकत्वात् । स० । विधिंसे, भाव० ४ अ० ।

अवप्पओग-अवप्रयोग-पुं० । विरुद्धौषधियोगे, सू० १ अ० ।

अवबद्ध-अवबद्ध-त्रि० । अर्थग्रहणपूर्वकं विद्याऽऽदिग्रहणनिमित्तं विवक्षितकालमपरायत्ते, ध० ३ अधि० । ग० ।

अवबुद्ध-अवबुद्ध-त्रि० । अवगते, ध० २ अधि० ।

अवबोह-अवबोध-पुं० । निद्रापरिहारे, ध० २ अधि० । ज्ञाने, विशे० । संज्ञायाम, स्मृतौ, संज्ञा स्मृतिरवबोध इत्यनर्थान्तरम् । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अवबोहण-अवबोधन-न० । प्रतारणे, वञ्चने, शिक्षणे च । द्वया० ८ अध्या० ।

अवबोहि-अवबोधि-पुं० । निश्चयार्थप्रतिपत्तौ, आ० चू० १ अ० ।

अवब्भंस-अपभ्रंश-पुं० । अपभ्रश्यते इत्यपभ्रंशः । संस्कृतभाषाविकृतौ, "षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः" तत्परिज्ञानमेकोनविंशः कलाभेदः । कल्प० ७ क्ष० ।

अवभास-अवभास-पुं० । तेजसो ज्ञानस्य च प्रतिभासे, सू० प्र० ३ पाहु० ।

अवभासिय-अवभासित-त्रि० । प्रकाशिते, विशे० ।

अपभाषित-त्रि० । दुष्टभाषिते, व्य० १ उ० ॥

अवमण्णंत-अवमन्यमान-त्रि० । परिहरति, "मा एयं अवमन्नंता, अप्पेणं लुंपहा बहुं" । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

अवमद्द-अपमर्द-पुं० । अपवर्तने, "अवमद्द अप्पणो परस्स य करेंति" । प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

अवमाण-अपमान-न० । अनादरे, उत्त० १९ अ० । विनयभ्रंशे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

अवमान-न० । हस्तादौ क्षेत्रप्रमाणे, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अवमाणण-अपमानन-न० । यूयमित्यादिवाच्ये त्वमित्यादिरूपे अपूजावचने, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । अनभ्युत्थानादिनि अपूजने, ध० । प्रश्न० ॥

अवमाणिय-अपमानित-त्रि० । अपमानं प्राहिते, "अवमाणिओ नरिंदेण" । व्य० १ उ० । वृ० ॥

अवमाणियदोहला-अवमानितदोहदा-स्त्री० । क्षणमपि लेशेनापि च अनापूर्णमनोरथायाम, ज्ञा० ११ श्रु० ११ उ० ।

अवमार-अपस्मार-पुं० । चित्तविकृतिजे गदे, स च वातपित्तश्लेष्मसंनिपातजत्वाच्चतुर्धा । तदुक्तम्-"भ्रमाऽऽवेशः ससंरम्भो-द्वेषोद्रेको हतस्मृतिः । अपस्मार इति ज्ञेयो, गदो घोरश्चतुर्विधः" ॥ १ ॥ आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अवमारिय-अपस्मारित-त्रि० । अपस्मारः संजातोऽस्य । अपस्माररोगवति-अपगतसदसद्विवेकभ्रममूर्च्छादिकामवस्थामनुभवति, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ॥

अवमिय-अवमित-त्रि० व्रणिते, वृ० ३ उ० ॥

अवय-अपद-न० । वृत्तादौ, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । गोशीर्षचन्दनप्रभृतौ, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । आ० चू० । पदहीने, वाच० ।

अब्ज-न० पद्मे, प्रज्ञा० १ पद ।

अवच-त्रि० । अनुच्चे, उत्त० ३ अ० । जघन्ये, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

अवयक्खंत-अवप्रेक्षमाण-त्रि० । पृष्ठतोऽभिमुखं निरूपयति, ओघ० ।

अवयक्खमाण-अपेक्षमाण-त्रि० । अपेक्षमाणे, अवकाङ्क्षति च । "भग्गे कवाड अवयक्खमाणस्स" अवकाङ्क्षतोऽपेक्षमाणस्य वा । भ० १० श० २ उ० ।

अवयग्ग-देशी-न० । पर्यन्ते, स्था० २ ठा० १ उ० । "अवयग्गं" इति देशीवचनोऽन्तवाचकः । भ० १ श० १ उ० ।

अवयज्झ-दृश्-धा० । "दृशो निअच्छ०" ८ । ४ । १८१ । इत्यादिना दृशेरवयज्झादेशः । अवयज्झइ-पश्यति । प्रा० ४ पाद ।

अवयण-अवचन-न० । नञः कुत्सार्थत्वात् कुत्सिते वचने, स्था० ६ ठा० ।

अवचनानि-

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा इमाइं छ अवयणाइं वइत्तए । तं जहा-अलियवयणे, हीलियवयणे, खिंसियवयणे, फरुसवयणे, गारत्थियवयणे, विउवसमियं वा पुणो उदीरित्तए ॥

[नो कप्पइ त्ति] वचनव्यत्ययाद् नो कल्पन्ते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा इमानि प्रत्यक्षासन्नानि, षडिति षट्संख्याकानि, अवचनानि-नञः कुत्सार्थत्वादप्रशस्तानि वचनानि, वदितुं भाषितुम् । तद्यथा-अलीकवचनं, हीलितवचनं, खिंसितवचनं, परुषवचनम्, अगारस्थिता गृहिणस्तेषां वचनं, व्यवशमित वा इत्यवचनम, पुनः भूयोऽपि, उदीरयितुं न कल्पत इति क्रमः । उपशमितकरणं, अनेन व्यवशमितस्य पुनरुदीरणवचनं नाम षष्ठमवचनमुक्तमिति सूत्रसंक्षेपार्थः ।

अथ भाष्यकारो विस्तरार्थमभिधित्सुराह—

छच्चेव अवत्तव्वा, अलिगे हीलिय-खिंस-फरुसे य ।
गारत्थ-विओसमिए, तेसिं च परूवणा इणमो ॥

षडेवावचनान्यवक्तव्यानि साधूनां वक्तुमयोग्यानि । तद्यथा-अलीकवचनं, हीलितवचनं खिंसितवचनं, परुषवचनं, गृहस्थवचनं, व्यवशमितोदीरणवचनम्, तेषां च वक्ष्यमाणा यथाक्रमं प्ररूपणा ॥ बृ० ६ उ० । (अलीकवचनव्याख्याऽस्मिन्नेव भागे 'अलियवयण' शब्दे ७७४ पृष्ठे निरूपिता)

अथ प्रायश्चित्तम्-

दंतेर य हीनाए, खिमा फरुसवयणं च वदमाणो ।
गारत्थ-वइ ओसविए, इयं च जं तेसि णाणत्तं ॥

[illegible] खिसावचनं, खिमावचनं, परुषवचनमगारस्थ वचनं, [illegible] च वदतः प्रायश्चित्तं मन्तव्यम् । [illegible]-

[illegible] चउरो, तिसुवि गुरुगादि जिणपासंता ।
[illegible] विगडाओ, विसंसितो विनिय पडिलोमं ॥

[illegible] शोधि-[illegible] मन्तव्या । [illegible] उवज्झायं हीलय-[illegible]

[illegible]

अथ [illegible]-

[illegible]

[illegible]

मपि गणितं भवति; यदि नाम गौरवेणापि पठेत्। [illegible] स्वपि याचकादिषु पदेषु द्वितीयपदं योजयेत्-योजनं कुर्यात्।

खिसावयणविहाणा, जे खिय आतीकुमारिया वुत्ता।
कारणियादिविखयाणं, ते चेव खिगिच्छोया ॥

खिसावचनविधानानि [illegible] आतिकुमारिके पूर्वमुक्ते, [illegible] कारणिकदीक्षितानामपेतानां [illegible] परिज्ञापने उपाया मन्तव्याः ।

सरसज्झ मउयवयं, अगणेमाणं भणंति फरुसं व ।
दन्तओ फरुसवयणं, वयंति देसि मणासत्त ॥

इह यः कठोरवचनभणनमन्तरेण शिक्षां न प्रतिपद्यते [illegible] सारय उच्यते । तं सरसाल्पे मृदुवाचमगणय [illegible] न्ति । देशी देशनाम्नां समासाद्य इत्यतः परुषवचनं [illegible] इत्यतो नाम न इत्थभावतया परुषं भणन्ति, किन्तु [illegible] यथा-मालवादयामिति: अथवा यथा यथा लोको भणति, तथा तथा देशी देशभाषामाश्रित्य साधवोऽपि भणन्ति ।

साधियदोसनिवाइं, उप्पाएऊण दव्वओ कट्टुं ।
कारणदिक्खिय अत्तं, अणेसईओ त्ति धारेंति ॥

यः कारणे भगलो दीक्षितस्तेन समं सामाचारि कार्येषु [illegible] तद्गुणापरायणाधिकारत्वादुक्तो न क्वचित् [illegible] यदि: इत्थिमान् [illegible] । [illegible] पारवर्ति [illegible] यन्ति । वृ० ६ उ० ।

अयरा-अगरा-पुं० । [illegible] । [illegible] कीकदेशानु, ते च पञ्च-[illegible] यथाः । स्था० ६ ठा० । सूत्र० । [illegible] विशुद्धिः, हेतुर्हेतु विशुद्धिः, [illegible] विशुद्धिः, [illegible] निगमन निगमना [illegible] । स्था० १ ठा० ।

से किं तं आयरोग ? । आयरोगे-

[illegible] ॥ १ ॥
[illegible] ॥ २ ॥

[illegible]

[illegible]

अत्र प्रायश्चित्तम्-

एमेव य हीलाए, खिसा फरुसवयणं च वदमाणो ।
गारत्थ-वि ओसामिए, इमं च जं तेसि णाणत्तं ॥

एवमेव हीलितवचनं, खिसावचनं, परुषवचनमगारस्थवचनं, व्यवशमितोदीरणवचनं च वदतः प्रायश्चित्तं मन्तव्यम् । यच्चै-तेषां नानात्वं तदिदं भवति-

आदिल्लेसु चउसुं, विसोहि गुरुगादि भिन्नमासंता ।
चउरो भिन्नो विसाओ, विसेसितो विविध पडिलोमं ॥

आदिमेषु चतुर्ष्वपि हीलितखिंसितपरुषगृहस्थवचनेषु शोधि-श्चतुर्गुरुकादिका भिन्नमासान्ता आचार्यादीनां मन्तव्या । तद्यथा-आचार्यं आचार्यो हीलयति चतुर्गुरु १, उपाध्यायं हीलय-ति चतुर्लघु २, भिक्षुं हीलयति मासगु० ३, स्थविरं हीलयति मासलघु ४, क्षुल्लकं हीलयति भिन्नमासः ५। एतान्याचार्यस्य त-पःकालाभ्यां गुरुकाणि भवन्ति, एते आचार्यस्य पञ्च संयोगा उ-क्ताः। उपाध्यायादीनामपि अनुगामित्वमेव पञ्च पञ्च संयोगा भव-न्ति। सर्वसङ्ख्यया ते पञ्चविंशतिर्भवन्ति । अत्र पश्चाद्-पञ्चविंश-तिकः पञ्चविधभङ्गसमासतो विभागोऽत्र भवति । स च तपः-कालाभ्यां विशेषितः कर्त्तव्यः । द्वितीयादेशेन चैतदेव प्रायश्चि-त्तं प्रतिलोमं विशेषम्, भिन्नमासाद्यं चतुर्गुरुकान्तमित्यर्थः । एवं खिंसितपरुषगृहस्थवचनेष्वपि शोधिर्मन्तव्या । बृ० ६ उ० ।

अथ द्वितीयपदमाह-

[illegible] [illegible], [illegible] य दोसु जवे ।
[illegible] य दोसु, इट्ठं च [illegible] [illegible] ॥

[illegible] विवेचनार्थं वदेत्, द्वयोस्तु [illegible] कारणे भव-[illegible] । परुषवचनं तु [illegible] पुनर्देशी देशभा-[illegible] । [illegible] [illegible] व्यवशमितोदीरणवचने, [illegible] [illegible] ।

[illegible]

[illegible] [illegible], [illegible] अगलं तु ।
[illegible], होइ [illegible] य [illegible] ॥

[illegible]

मपि गणितं भवति; यदि नाम गौरवेणापि पठेत्। एवमेव[illegible] ष्वपि याचकादिषु पदेषु द्वितीयपदं योजयेत्-योजनां [illegible]

खिसावयणविहाणा, जे चिय जातीकुलादिया वुत्ता ।
कारणियदिक्खियाणं, ते चेव विगिंचणोवाया ॥

खिंसावचनविधानानि यान्येव जातिकुलादीनि पूर्वमुक्तानि, [illegible] एव कारणिकदीक्षितानामयोग्यानां कारणप्रव्रजितानां विवे[illegible] परिष्ठापने उपाया मन्तव्याः ।

खरसज्झं मउयवयं, अगणेमाणं भणंति फरुसं च ।
दव्वओ फरुसवयणं, वयंति देसिं समासज्ज ॥

इह यः कठोरवचनभणनमन्तरेण शिक्षां न प्रतिपद्यते स खर-साध्य उच्यते। तं खरसाध्यं मृदुवाक्यमगणयन्तं परुषमपि भण-न्ति। देशीं देशभाषां समासाद्य द्रव्यतः परुषवचनमपि वद[illegible] द्रव्यतो नाम न दुष्टभावतया परुषं भणन्ति, किन्तु तत्स्थानाप[illegible] यथा-मालवादयामिति; अथवा यथा यथा लोको भणति, तथा तथा देशीं देशभाषामाश्रित्य साधवोऽपि भणन्ति ।

खामियवोसवियाई, उप्पाएऊण दव्वतो दुट्ठो ।
कारणदिक्खिय अनलं, अगंखईओ त्ति पारेति ॥

यः कारणे अनलो दीक्षितस्तेन सम समापिते कार्ये पुनः [illegible] तव्युत्सृष्टान्यधिकारणान्युत्पाद्य द्रव्यतो दुष्टभावं विना [illegible] पितो यदि: छ[illegible] कोपविकारान् दर्शयन्नित्यर्थः। असं[illegible] कोऽयमिति दोषमुत्पाद्य तमनलं शैक्षं परिष्ठापयति-त्याज[illegible] यति । बृ० १ उ० ।

अवयव-अवयव-पुं०। अवयविन एकदेशे, अनु० । अनुमान[illegible] वयवैकदेशेषु, ते च पञ्च-प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनरू[illegible] पयाः । दशा० १ अ० । सूत्र० । दशावयवा वा-प्रतिज्ञा प्रतिज्ञा-विशुद्धिः, हेतुर्हेतुविशुद्धिः, दृष्टान्तो दृष्टान्तविशुद्धिः, उपसं[illegible] उपसंहारविशुद्धिः, निगमनं निगमनविशुद्धिः । दशा० १ अ०

से किं तं अवयवेणं ? । अवयवेणं-

सिंगी सिही विसाणी, दाढी पक्खी खुरी नही वाली ।
दुपय चउप्पय बहुपय, लंगूली केसरी कउही ॥१॥
परिअरबंधेण भडं जा-णिज्जा महिलियं निवसणेणं ।
सित्थेण दोणवायं, कविं च एक्काए गाहाए ॥२॥

सेत्तं अवयवेणं ।

(से किं त अवयवेणमित्यादि) अवयवोऽवयविन एकदेशो [illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible]

अवदरिष (न) [illegible] ... स्या० । स्था० ।

[illegible]

...अष्टा० । सम्म० । आचा० । सम्म० ।

...ण—अवधारान—न० । पुष्पादीनां प्रभावेन धारणे, प०

[illegible]

...विय—अवरोपित—त्रि० । आलिङ्गिते, विपा० १ श्रु० ४ अ० ।

...ण अवराह्य—अव्य० । प्रकारेण प्रकारार्थेऽत्र पर्यायार्थे, सं० ।

...र—त्रि० । अन्यस्मिन्, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । प्रश्न० । नि०

...अ० । द्वा० । "अपरं चो..." अपरमिति उक्तादन्यद् च

...श्रु० १ अ० २ उ० । द्वितीयस्मिन्, च० प्र० ३

...आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

... "अपरेण पतासं ताहि लिंगुदेहिं ओपेद" ।

... । न परोऽपरः । स्वस्मिन्, सू० १ उ० ।

...पराइया—स्त्री० । धातकीखण्डभरतक्षेत्रराजधा-

...अ० । (तत्र द्रुपदो द्रौपदी आनयनाय कृष्णस्य

नामकं 'दुपई' शब्दे वक्ष्यते) एतदर्थप्रतिपादके ज्ञाताधर्मकथा-

याः षोडशेऽध्ययने, स० १८ सम० । प्रश्न० । ज्ञा० । आव० ।

स्था० । "कण्हस्स अवरकंका" कृष्णस्य नवमवासुदेवस्य द्रौ-

पदीनिमित्तमपरकंकागमनमाश्चर्यम् । कल्प० २ क्ष० ॥

अवरङ्ग—अपराङ्ग—न० । अविद्यमानानि परेषामङ्गानि यस्य-

त्वया यत्र तदपराङ्गम् । असमङ्गे, त्रिशत्तमे गौणचौर्ये च ।

प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

अवरज्झंत—अपराध्यत्—त्रि० । दोषमापद्यति, सूत्र० १ श्रु० ३

अ० १ उ० । रजसा त्रिध्यमाणे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

नश्यति, उत्त० ७ अ० ।

अवरण्ह—अपराह्ण—पुं० । दिनस्य चरमप्रहरे, स्था० ४ ठा०

२ उ० । "पुव्वावरण्हकालसमयंसि" । पाश्चात्यापराह्णका-

लसमयो दिवस्य चतुर्थप्रहरलक्षणः । नि० ३ वर्ग ॥

अवरण्हकाल—अपराह्णकाल—पुं० । सूर्यस्य गतिपरिणतस्य

पश्चिमेन गमने, आ० चू० १ अ० ।

अवरत्त—अपररात्र—पुं० । रात्रेरपरे भागे, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

"पुव्वावरत्तकालसमयंसि" । विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

अवरद्दारिय—अपरद्वारिक—न० । पश्चिमद्वारिकेषु नक्षत्रेषु,

स०७सम०। "पुस्साइया णं सत्त णक्खत्ता अवरदारिया पण्णत्ता ।

तं जहा-पुस्सो, असिलेसा, मघा, पुव्वाफग्गुणी, उत्तराफग्गु-

णी, हत्थो, चित्ता" । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अवरदाहिण—अपरदक्षिण—पुं० । अपरदक्षिणदिग्भागे, पञ्चा०

२ विव० ।

अवरदाहिणा—अपरदक्षिणा—स्त्री० । नैर्ऋत्यां दिशि, व्य०७ उ० ।

अवरद्ध—अपराद्ध—न० । अपराधनमपराद्धम् । पीडाजनकता-

याम्, पिं० । विनाशिते, त्रि० । ज्ञा० १ अ० ।

अवरद्धिय-अपराद्धिक-पुं० । अपराधनमपराद्धम्-पीडाजनकता;

तदस्यास्तीति अपराद्धिकः । लूतास्फोटे, सर्पादिदंशे च । पिं० ।

अवरफाणू -अपरपार्ष्णी--स्त्री० । पार्ष्णिकायाम्, व्य० ८ उ० ।

अवरमम्मवेहित्त—अपरमर्मवेधित्व—न० । परमर्मानुद्घट्टनस्वरू-

पत्वे त्रिंशत्तमे सत्यवचनातिशये, स० ३५ सम० ।

अवरराय--अपररात्र—पुं० । रात्रेः पाश्चात्ये यामद्वये, आचा० १

श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

अवरविदेह—अपरविदेह—पुं० । अपरश्चासौ विदेहश्च । स्था० २

ठा० ३ उ० । जम्बूद्वीपे पश्चिमतो महाविदेहभागे, स्था० १०

ठा० । तत्र सदा दुष्षमसुषमोत्तमर्द्धिः । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

अ० । "दो अवरविदेहाइं" स्था० २ ठा० ३ उ० ।

अवरविदेहकूड—अपरविदेहकूट न० । निषधस्य वर्षधरपर्वतस्य

नीलवर्षधरपर्वतस्य च स्वनामख्याते कूटे, जं०४ वक्ष० । स्था० ॥

अवरसामण्ण—अपरसामान्य—न० । द्रव्यत्वादौ-सामान्यापा-

न्यसामान्ये, स्या० ।

अवरहा—अपरथा—अव्य० । अन्यथाऽर्थे, पञ्चा० ८ विव० ॥

अवराइया—अपराजिता—स्त्री० । महावत्सविजयक्षेत्रस्य रा-

अत्र प्रायश्चित्तम्-

एमेव य हीलाए, खिसा फरुसवयणं च वदमाणो ।
गारत्थ-त्ति ओमाविए, इमं च अं तेसि णाणत्तं ॥

एवमेव हीलितवचने, खिंसावचने, परुषवचनमगारस्थ वचनं, व्यवशमितोदीरणवचनं च वदतः प्रायश्चित्तं मन्तव्यम् । यत्पुनरेतेषां नानात्वं तदिदं भवति-

आदिढेगुं चउगुं, विसोहि गुरुगादि भिन्नमासंता ।
चउगुरुभिन्नो भिन्नाओ, विसेसितो विनिय पडिलोमं ॥

आचार्यादिषु चतुर्ष्वपि हीलितखिंसितपरुषगृहस्थवचनेषु शोधिश्चतुर्गुरुकादिका भिन्नमासान्ता आचार्यादीनां यावद् मन्तव्या । तद्यथा-आचार्यं आचार्यो हीलयति चतुर्गुरु १, उपाध्यायं हीलयति चतुर्लघु २, भिक्षुं हीलयति मासगु० ३, स्थविरं हीलयति मासलघु ४, क्षुल्लकं हीलयति भिन्नमासः ५। एतान्याचार्यस्य तपःकालाभ्यां गुरुकाणि भवन्ति, एते आचार्यस्य पञ्च संयोगा उक्ताः । उपाध्यायादीनामपि अनुगमेनैव पञ्च पञ्च संयोगा भवन्ति । सर्वेऽप्येकत्र ते पञ्चविंशतिर्भवन्ति । अत एवाह-पञ्चविंशतिः पञ्चविंशतिमङ्कुरभ्यासो विभागोऽत्र भवति । स च तपःकालाभ्यां विशेषितः कर्तव्यः । द्वितीयादेशेन चैतदेव प्रायश्चित्तं प्रतिलोमं विज्ञेयम्, भिन्नमासादि चतुर्गुरुकान्तमित्यर्थः । एवं खिंसितपरुषगृहस्थवचनेष्वपि शोधिर्मन्तव्या । बृ० ६ उ० ।

अथ द्वितीयपदमाह-

एयं बिइयपदा, खवगं गेलिन्नगा य होज्ज जवे ।
अणुसासणा य देसी, हट्टं व विगिंचणा भणिता ॥

[illegible]

[illegible] विकरणमाह-

[illegible], [illegible] अहंति अगतं तु ।
[illegible], होइ [illegible] य पहाइ ॥

[illegible]

[illegible]

मपि गणितं भणति; यदि नाम गौरवेणापि पठेत् । एतेष्वपि याचकादिषु पदेषु द्वितीयपदं योजयेत्-योजनां कुर्यात् ।

खिंसावयणविहाणा, जे चिय जातीकुलादिया वुत्ता ।
कारणियदिक्खियाणं, ते चेव विगिंचणोवाया ॥

खिंसावचनविधानानि यान्येव जातिकुलादीनि पूर्वमुक्तानि, त एव कारणिकदीक्षितानामयोग्यानां कारणमपनीतानां विवेके परिष्ठापने उपाया मन्तव्याः ।

खरसज्झं मउयवयं, अगणेमाणं भणंति फरुसं च ।
दव्वओ फरुसवयणं, वयंति देसिं समासज्ज ॥

इह यः कठोरवचनभणनमन्तरेण शिक्षां न प्रतिपद्यते स खरसाध्य उच्यते । तं खरसाध्यं मृदुवाक्यमगणयन्तं परुषमपि भणन्ति । देशीं देशभाषां समासाद्य द्रव्यतः परुषवचनमपि वदन्ति । द्रव्यतो नाम न दुष्टभावतया परुषं भणन्ति, किन्तु तद्भाषा[illegible], यथा-मालवादिष्वामिति; अथवा यथा यथा लोको भणति, तथा तथा देशीं देशभाषामाश्रित्य साधवोऽपि भणन्ति ।

खामियवोसवियाई, उप्पाएऊण दव्वतो रुट्ठो ।
कारणदिक्खिय अनलं, असंखडीओ त्ति पाडेति ॥

यः कारणे अनलो दीक्षितस्तेन समं समापिते कार्ये पुनः [illegible] तदनुलक्ष्याध्यधिकरणमुत्पाद्य द्रव्यतो दुष्टभावं विना [illegible] यदिः कृत्रिमात् कोपविकारात् दर्शयन्नित्यर्थः । [illegible] कोऽयमिति दोषमुत्पाद्य तमनलं दीक्षं पातयति-गच्छाद्विमोचयति । बृ० ६ उ० ।

अवयव-अवयव-पुं० । अवयवान्ति एकदेशे, अनु० । [illegible] एकदेशेषु, ते च पञ्च-प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनरूपाः । दशा० १ अ० । सूत्र० । दशावयवा वा-प्रतिज्ञा प्रतिज्ञाविशुद्धिः, हेतुर्हेतुविशुद्धिः, दृष्टान्तो दृष्टान्तविशुद्धिः, उपसंहार उपसंहारविशुद्धिः, निगमनं निगमनविशुद्धिः । दशा० १ अ० ।

से किं तं अवयवेणं ? । अवयवेणं-

सिंगी सिही विसाणी, दाढी पक्खी खुरी नही वाली ।
दुपय चउप्पय बहुपय, लंगूली केसरी ककुही ॥१॥
परियरबंधेण भडं, जाणिज्जा महिलियं निवसणेणं ।
सित्थेण दोणपागं, कविं च एक्काए गाहाए ॥२॥

सेत्तं अवयवेणं ।

(से किं तं अवयवेणमित्यादि) अवयवोऽवयविन एकदेशः [illegible]

[illegible]

[illegible] करोति तदा प्रवर्त्तत इति सामान्यवचन- [illegible] इति । इदं [illegible] इति [illegible] [illegible] इति ॥ अनु० ॥

अवरवि (द्) - अपरविद् - त्रि० । परेषितार्थे, स्था० । [illegible] [illegible] ॥ [illegible] सर्वात्मना [illegible] स्यात्, [illegible] ॥ [illegible] स्यात् [illegible] [illegible] ॥ [illegible] स्या० १ ठा० १ उ० । दशा० । आचा० । सम्म० ।

[illegible] - अपवासन - न० । [illegible] प्रमाणेन चालने, पं० [illegible] ।

[illegible] सू० १ श्रु० ।

[illegible] - अवक्षेपित - त्रि० । आलिङ्गिते, विपा० १ श्रु० ४ अ० ।

[illegible] - अव्य० । [illegible]

[illegible] - त्रि० । [illegible], सूत्र० २ श्रु० २ अ० । प्रश्न० । नि० [illegible] । "अवरं वोच्छं" अपरमिति [illegible] सू० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । द्वितीयस्मिन्, सं० प्र० [illegible] आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । [illegible], "अपरेण पत्तासं ताहे सिंधुदेवि [illegible]" । [illegible] न परोऽपरः । इतरस्मिन्, सू० ३ उ० ।

[illegible] - स्त्री० । धातकीखण्डभरतक्षेत्रराजधा- [illegible] । (तत्र कृष्णस्य द्रौपद्या आनयनाय कृष्णस्य

गमनं 'दुवई' शब्दे वक्ष्यते) एतदर्थप्रतिपादके ज्ञाताधर्मकथा- याः षोडशेऽध्ययने, स० १८ सम० । प्रश्न० । ज्ञा० । आव० । स्था० । "कपदस्सऽवरकंका" कृष्णस्य नवमवासुदेवस्य द्रौ- पदीनिमित्तमपरकङ्कागमनमाश्चर्यम् । कल्प० २ क्ष० ॥

अवरत्तु - अपरोक्ष - न० । अविद्यमानानि परेषामक्षीणि द्रष्ट- व्यतया यत्र तदपरोक्षम् । असमक्षे, त्रिरात्रे गौणवीर्ये च । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

अवरज्झंत - अपराध्यत् - त्रि० । दोषमावहति, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । रजसा लिप्यमाने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । नश्यति, उत्त० ७ अ० ।

अवरएह - अपराह्ण - पुं० । दिनस्य चरमप्रहरे, स्था० ४ ठा० २ उ० । "पुव्वावरण्हकालसमयंसि" । पाश्चात्यापराह्णका- लसमये दिनस्य चतुर्थप्रहरलक्षणः । नि० ३ वर्ग ॥

अवरएहकाल - अपराह्णकाल - पुं० । सूर्यस्य गतिपरिणतस्य पश्चिमेन गमने, आ० चू० १ अ० ।

अवररत्त - अपररात्र - पुं० । रात्रेरपरे भागे, स्था० ४ ठा० २ उ० । "पुव्वावरत्तकालसमयंसि " । विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

अवरदारिय - अपरद्वारिक - न० । पश्चिमद्वारिकेषु नक्षत्रेषु, स० ७ सम० । "पुस्साइया णं सत्त णक्खत्ता अवरदारिया पण्णत्ता । तं जहा - पुस्सो, असिलेसा, मघा, पुव्वाफग्गुणी, उत्तराफग्गु- णी, हत्थो, चित्ता" । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अवरदाहिण - अपरदक्षिण - पुं० । अपरदक्षिणदिग्भागे, पञ्चा० २ विव० ।

अवरदाहिणा - अपरदक्षिणा - स्त्री० । नैर्ऋत्यां दिशि, व्य० ७ उ० ।

अवरद्ध - अपराद्ध - न० । अपराधनमपराद्धम् । पीडाजनकता- याम्, पिं० । विनाशिते, त्रि० । ज्ञा० १ अ० ।

अवरद्धिय - अपराद्धिक - पुं० । अपराधनमपराद्धम् - पीडाजनकता; तदस्यास्तीति अपराद्धिकः । लूतास्फोटे, सर्पादिदंशे च । पिं० ।

अवरफाणु - अपरपार्ष्णी - स्त्री० । पार्ष्णिकायाम्, व्य० ८ उ० ।

अवरम्मवेहित्त - अपरमर्मवेधित्व - न० । परमर्मानुद्घट्टनस्वरू- पत्वे विंशतितमे सत्यवचनातिशये, स० ३५ सम० ।

अवरराय - अपररात्र - पुं० । रात्रेः पाश्चात्ये यामद्वये, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

अवरविदेह - अपरविदेह - पुं० । अपरश्चासौ विदेहश्च । स्था० २ ठा० ३ उ० । जम्बूद्वीपे पश्चिमतो महाविदेहभागे, स्था० १० अं० । तत्र सदा दुष्षमसुषमोत्तमर्द्धिः । स्था० २ ठा० ३ उ० । "दो अवरविदेहाई" स्था० २ ठा० ३ उ० ।

अवरविदेहकूड - अपरविदेहकूट - न० । निषधस्य वर्षधरपर्वतस्य नीलवर्षधरपर्वतस्य च स्वनामख्याते कूटे, जं० ४ वक्ष० । स्था० ॥

अवरसामण्ण - अपरसामान्य - न० । द्रव्यत्वादौ - सामान्यव्या- प्यसामान्ये, स्या० ।

अवरहा - अपरथा - अव्य० । अन्यथाऽर्थे, पञ्चा० ७ विव० ॥

अवराइया - अपराजिता - स्त्री० । महावत्सविजयक्षेत्रस्य रा-

[illegible] ।

अवरावर [illegible] ।

[illegible]

तेमि पडिरक्खणट्ठा, अवराहपए उ वज्जेज्जा ॥१॥

महाव्रत महाजानिः गुरुपारणे महाव्रतैः [illegible] परिरक्षणार्थं परित्यागनिमित्तं, [illegible] वर्जयेदू अपराहणि गाथार्थः । [illegible]

अवराइमल्लसवनर–अपराधपरायणवर–त्रि० । [illegible] निषादकरणप्रयाणनिमित्त, पञ्चा० ११ विव० ।

अवराइल–अपराधुर–पुं० । पश्चान्मुखे, " [illegible] " । आव० ४ अ० ।

अवरिं–उपरि–अव्य० । " वोपरी " ८ । १ । १०८ । [illegible] । " पकारागमः " ८ । १ । २६ । [illegible] । प्रा० १ पाद । [illegible]

अवरिल्ल–(न०) उपरि–अव्य० । मावले, " [illegible] " । ८ । ४ । १६६ । इति [illegible] । प्रा० २ पाद ।

अवरीणग–अपरीण–न० । अपानीयपाने, [illegible] ।

अवरोसर–अपरोसर–पुं० । [illegible] ।

अवरोमरा–अपरोमरा–स्त्री० । [illegible] ।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

का। म०। अवलम्बनं दृढप्रमाणम्। ऐहिकायाम्, अवल- म्बनं च। नि० चू०।

अवलंबणं तु दुविहं, भूमीए संकमे य णायव्वं।
दुरुहो व पतणो वा, विवेदिया वा तु णायव्वा॥

अवलम्बनं द्विविधं-भूमिप वा, संकमे वा भवति। भूमीए विस- मे लम्बतीति बोध्यम्। संकमे वि लम्बणमित्यर्थः। सो पुण दुरुहो पतणो य भवति। सा पुण (वेइय त्ति) मन्तव्यम्, नि० चू० १ उ०। आर्य द्रष्टुः, कर्णेन बाह्वादि गृहीत्वा धारणे, "अवलम्बिय तु गहणं, करेण अवलंबणं तु देसम्मि" त्ति। व्य० २ उ०। (एतेनाऽऽदौ पतमया निर्गन्थ्या अवलम्बने 'गहण' शब्दे वक्ष्यते)

अवलंबणया-अवलम्बनता-स्त्री०। अवलम्बनस्य भावोऽवल- म्बनता, अवग्रहे, नं०।

अवलंबणबाहा-अवलम्बनबाहा-स्त्री०। उभयोः पार्श्वयोरव- लम्बनमात्रालम्बनभूतायां भित्तौ, आव० म० द्वि०। जं०। जी० ३।

अवलंबित्ता-अवलम्ब्य-अव्य०। आश्रित्येत्यर्थे, पं० व० २ द्वार। ग०। विधर्यालम्ब्येत्यर्थे, आव० ५ अ०।

अवलंबिउं-अवलम्बितुम्-अव्य०। आवर्जयितुमित्यर्थे, दशा० ७ अ०।

अवलंबिय-अवलम्बित-त्रि०। अर्पायत्त्ये, द्वा० १ अ०।

अवलम्ब्य-अव्य०। आश्रित्येत्यर्थे, "णो णाणायतिपुरस्स दुपा- स्माहं अवलंबिय अवलंबिय चिट्ठेज्जा"। आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ०।

अवलद्ध-अपलब्ध-त्रि०। अपकारपूर्वकतया लब्धे, स्था० ४ ठा० ४ उ०। "परपरात्पर्यन्मं भवायवस्थाऽऽर्य"। आत० ५ वर्ग।

अवलाव-अपलाप-पुं०। निह्नवे, नि० चू०। यथा कस्य सकाशेऽधीतम्?, इति प्रश्ने अन्यसकाशेऽधीतमन्यस्मै कथ- यति। नि० चू० १ उ०। आव०।

अवलिंब-अवलिम्ब-पुं०। देशविशेषे, स्था० २ ठा० ४ उ०।

अवलिहणिया-अवलेखनिका-स्त्री०। अवलिख्यमानस्य वंश- शलाकादेर्या भवन्त्यां त्वचि, स्था० ४ ठा० २ उ०। वर्षावास- कर्दमस्फेटनिकायां पादलेखनिकायाम्, नि० चू० १ उ०।

अवलेहिया-अवलेहिका-स्त्री०। तन्दुलकचूर्णकमिश्रे दुग्धे, निर्दे शेतविशेषे, प्रव० ४ द्वार।

अवलोअण-अवलोकन-न०। दर्शने, स्वाध्यायादौ मृते क- ल्पमध्यायापद्य कार्यः। ततोऽन्यदिने परिष्ठापनायावलोक- नं कार्यम्। आव० ४ अ०।

अवलोयणसिहरसिला-अवलोकनशिखरशिला-स्त्री०। उ- ज्जयन्तपर्वतशिलाविशेषे, तद्वच-"अवलोयणसिहरसिला, अ- पेल्लं ताय परमो सयइ। सुमणकलसरिसवर्ण,करेइ सुमवरं देमं" ॥१७॥ ती० ४ कल्प।

अवलोव-अवलोप-पुं०। वस्तुसद्भावप्रच्छादने निह्नवे गौ- णाहीते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

अवल्लग-अवल्लक-न०। नौकाक्षेपणोपकरणभेदे, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ०।

अवव-अवव-न०। संख्याविशेषे, चतुरशीतिरववाङ्गशतसह- स्राणि एकमववम्। जी० ३ प्रति०। भ०। कर्म०। जं०। अनु०। स्था०।

अववंग-अववाङ्ग-न०। संख्याविशेषे, चतुरशीतिरडडसहस्रा- णि एकमववाङ्गम्। जी० ३ प्रति०। कर्म०। अनु०। स्था०।

अववका-अवपाक्या-स्त्री०। तापिकायाम्, भ० ११ श० ११ उ०।

अववग्ग-अपवर्ग-पुं०। मोक्षे, आ० म० द्वि०।

अववट्टण-अपवर्त्तन-न०। कर्मपरमाणूनां दीर्घस्थितिकालता- मपगमय्य ह्रस्वस्थितिकालतया व्यवस्थापने, पं० सं० ५ द्वार।

अववट्टणा-अपवर्त्तना-स्त्री०। अपवर्त्यते ह्रस्वीक्रियते स्थि- त्यादि यया साऽपवर्त्तना। स्थित्यनुभागयोर्ह्रस्वीकरणे, क० प्र०।

तत्र स्थितिविषयाऽपवर्त्तनामाह-

ओवट्टंतो य ठिइं, उदयावलिबाहिरा ठिइविसेसा।
निक्खिवइ से तिभागे, समयाहिए सेसमवई य॥१८॥
वड्ढइ तत्तो अतित्थ-वणा य जावालिगा हवइ पुण्णा।
ता निक्खेवो समया-हिगालिगुणकम्मठिइगाणा॥१६॥

स्थितिमपवर्त्तयन् उदयावलिकाबाह्यान् स्थितिविशेषान् स्थि- तिभेदान् अपवर्त्तयति। के ते स्थितिविशेषाः?, इति चेत्। उ- च्यते-उदयावलिकाया उपरि समयमात्रा स्थितिः द्विसमयमात्रा स्थितिः, एवं तावद्वाच्यं यावद् बन्धावलिकोदयाऽऽवलिका ही- ना सर्वा कर्मस्थितिः। एते स्थितिविशेषाः। उदयावलिकाग- ता च स्थितिः सकलकरणायोग्येति कृत्वा तां नापवर्त्तयति। तत उक्तम्-उदयावलिकाबाह्यानिति। कुत्र निक्षिपतीति चेत्?। उ- च्यते। अत आह-निक्षिपति-आवलिकायास्त्रिभागे तृतीये भागे समयाधिके शेषे समयं न मुक्त्वाऽपरितनं त्रिभागद्वयमतिक्रम्य। इयमत्र भावना-उदयावलिकाया उपरितनी या स्थितिस्तस्या दलिकमपवर्त्तयद् उदयावलिकाया उपरितनौ द्वौ त्रिभागौ समयोनावतिक्रम्याधस्तने समयाधिके तृतीये भागे निक्षिपति; एष जघन्यो निक्षेपः, जघन्या चातिस्थापना। यदा तदुदयाव- लिकाया उपरितनौ द्वौ त्रिभागौ द्वितीया स्थितिरपवर्त्यते तदा अतिस्थापना प्रागुक्तप्रमाणा द्विसमयाधिका भवति। नि- क्षेपस्तु तावन्मात्र एव। एवमतिस्थापना प्रतिसमयं तावद्वृद्धि- मुपनेतव्या यावदावलिका परिपूर्णा भवति। ततः परमतिस्था- पना सर्वत्रापि तावन्मात्रैव भवति; निक्षेपस्तु वर्द्धते। स च ता- वद् यावद् बन्धावलिकाऽतिस्थापनाऽऽवलिकारहिता सर्वाऽपि कर्मस्थितिः। उक्तं च-"समयाहि अइत्थवणा, बंधावलिया य मोत्तु निक्खेवो। कम्मठिई बंधोदय-आवलिसं मुत्तु ओवट्टे"॥१॥ कर्मस्थितिबन्धावलिकामुदयावलिकां च मुक्त्वा शेषां सर्वामपि अपवर्त्तयति इत्यर्थः। तदेवमुदयावलिकाया उपरितनं समय- मात्रं स्थितिस्थानं प्रतीत्य वर्त्तमानायामपवर्त्तनायां समया- धिके आवलिकायास्त्रिभागे निक्षेपः प्राप्यते। स च सर्वजघ- न्यः। सर्वोपरितनं च स्थितिस्थानं प्रतीत्य प्रवर्त्तमानायामपव- र्त्तनायां यथोक्तरूप उत्कृष्टो निक्षेपः। उक्तं च-"उदयावलि उप- रित्थं, ठाणं अहिकिच होइ अइहीणो। निक्खेवो सव्वोपरि,ठि- इठाणवसा भवे परमो" ॥२॥ एष निर्व्याघाते अपवर्त्तनाऽधि- कारविधिरुक्तः।

[illegible]काभिरुद्धयोः-अभिनवप्रव्रजितचिरप्रव्रजितयोः, अभिनव-[illegible]रोषां, संवेगस्थैर्ये द्वयोरपि [illegible], पञ्चसुखेन [illegible], [illegible] वा [illegible] अपाया इति । तत्र संवेगो [illegible] पुन[illegible]त्यागः । ततश्च कथं [illegible] संवेगस्थैर्ये स्यातां, [illegible] वा [illegible] इति गाथार्थः । तथा चाऽऽह-

[illegible] [illegible]गहियं, [illegible] च ।
[illegible] एम [illegible], [illegible]विवेगभावम्मि ॥५८॥

[illegible] अधिकं [illegible]प्रासादि, [illegible] [illegible]कारणगृहं । तमपि तत्परिस-[illegible] । [illegible] कारणगृहं तं [illegible] [illegible]

[illegible]

दुक्तं भवति-शाह्ख एवाऽयं शार्ङ्ग एवायमित्याद्यवधारणात्मकः प्रत्ययोऽवाय इति । व्यवसायमेवावायं ब्रुवत इति । [illegible] ।

भेदास्तस्य—

से किं तं अवाए । अवाए छव्विहे पएणत्ते । तं जहा-सो-इंदियअवाए, चक्खिदियअवाए, घाणिंदिअवाए, जिब्भिंदियअवाए, फासिंदियअवाए, नोइंदियअवाए । तस्स णं इमे एगट्ठिया नाणाघोसा नाणावंजणा पंच नामधिज्जा भवंति । तं जहा-आउट्टणया पच्चाउट्टणया अवाए बुद्धी विण्णाणे । सेत्तं अवाए ।

'से किं तमित्यादि' । अत्र श्रोत्रेन्द्रियेणावायः श्रोत्रेन्द्रियावायः श्रोत्रेन्द्रियनिमित्तमर्थावग्रहमधिकृत्य यः प्रवृत्तोऽवाय स श्रोत्रेन्द्रियावाय इत्यर्थः । एवं शेषा अपि भावनीयाः । 'तस्स णमित्यादि' । [illegible] अत्रापि सामान्यत एकार्थिकानि, विशेषचिन्तायां पुनर्नानार्थानि । तत्र आवर्त्तनं-ईहातो निवृत्त्याऽपायभावाभिमुखो यो [illegible] बोधपरिणामेन स आवर्त्तनः, तद्भाव आवर्त्तनता १ । तथा आवर्त्तनं प्रति ये गता अर्थविशेषेषूत्तरोत्तरेषु [illegible] बोधविशेषास्ते प्रत्यावर्त्तनाः, तद्भाव प्रत्यावर्त्तनता २ तथा-अपायो निश्चयः सर्वं [illegible] ईहाऽभावाद्विनिवृत्तस्यावधारणात्मकार्थमवगच्छतो बोधविशेषः सोऽवाय इत्यर्थः ३ । तदनन्तरमेवाव-[illegible]मर्थं क्षयोपशमविशेषात् स्थिरतया पुनः पुनः [illegible] [illegible]मानस्य या बोधपरिणतिः सा बुद्धिः ४ । तथा-विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानं क्षयोपशमविशेषादेवावधारितार्थविषय एव तीव्रतरधारणाहेतुर्बोधविशेषः । " सेत्तं अवाए " इति निगमनम् । नं० ।

अवायणा-अव्याकृता-स्त्री० । गम्भीरशब्दार्थायाम, [illegible] विभागेऽथाम् अव्यक्ताक्षरयुक्तायां वा भाषायाम, प्र० ३ प्राभृ० ।

अवायणिज्ज-अवाचनीय-पुं० । वाचनाया अयोग्ये, स्था० ३ ठा० ४ उ० । "तओ अवायणिज्जा पण्णत्ता । तं जहा-अविणीए, विगईपडिबद्धे, अविओसवियपाहुडे, माई" । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अवायदंसि (ण्)-अपायदर्शिन्-पुं० । [illegible]

[illegible]

[illegible]

न्ते पर्य्यालोच्यन्ते वा यस्मिंस्तदपायविचयम्) प्राकृतत्वेन विजयमिति। अपाया वा विजीयन्ते अधिगमद्वारेण परिचिती-क्रियन्ते यस्मिन्नित्यपायविजयम् ॥ स्था० ४ ठा० १ उ० । ध० । सम्म० । रागद्वेषकषायाश्रवादिक्रियासु प्रवर्त्तमानानामिहपरलोकयोरपायानां ध्यान, ध० २ अधि० । दुष्टमनोवाक्कायव्यापारविशेषाणामपायः कथं नु मे न स्यादित्येवभूते संकल्पप्रबन्धे,दोषपरिवर्जनस्य कुशलप्रवृत्तित्वात्। सम्म० १ काण्ड। धर्मध्यानस्य प्रथमे भेदे, आव०४ अ०। आ० चू० । (विस्तरतोऽस्य स्वरूपं ' धम्मज्झाण ' शब्दे वक्ष्यते)

अवायसंचिमालिण्ण–अपायशक्तिमालिन्य–न०।नरकाद्यपायशक्तिमलिनत्वे, द्वा० २२ द्वा० ।

अवायहेउत्तदेसणा–अपायहेतुत्वदेशना–स्त्री० । असदाचारानर्थहेतुतादेशनायाम् , ध० । अपायहेतुत्वदेशनेति । अपायानामनर्थानाम् इहलोकपरलोकगोचराणां हेतुत्वं प्रस्तावादसदाचारस्य यो हेतुभावस्तस्य देशना विधेया । यथा-" यत्र प्रयान्ति पुरुषाः, स्वर्गं यत्र प्रयान्ति विनिपातम् । तत्र निमित्तमनार्यः, प्रमाद इति निश्चितमिदं मे " ॥१॥ प्रमादश्चासदाचार इति । ध० १ अधि० ।

अवायाण–अपादान–न० । अपादीयते वियुज्यते यस्मात्तद्वियुज्यमानावधिभूतम्-अपादानम् । अनु० । दोऽवखण्डने । दान खण्डनम् । अपसृत्य आ मर्य्यादया दान खण्डन वियोजनं यस्मात्तदपादानम् । विशे० । आ० चू० । अपादीयते अपायतो विश्लेषतः आ मर्यादया दीयते दोऽवखण्डने इति वचनात् खण्ड्यते भिद्यते, आदीयते वा गृह्यते यस्मात्तदपादानम् । अवधिमात्रे तत्र पञ्चमी भवति । यथा-अपनय गृहाद् धान्यम् , इतो वा कुशूलाद् गृहाणेति ॥ स्था० ८ ठा० ।

अवायाणुप्पे (पे) हा–अपायानुप्रेक्षा–स्त्री० । अपायानां प्राणातिपाताद्याश्रवद्वारजन्यानर्थानामनुप्रेक्षाऽनुचिन्तनमपायानुप्रेक्षा । ग० १ अधि० । भ० । शुक्लध्यानस्यानुप्रेक्षाभेदे, यथा-"कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोभो य पवड्ढमाणा। चत्तारि एते कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स" ॥१॥ इह गाथा-" आसवदारावाए, तह संसारासुहाणुभावं च । भवसंताणमणंतं, वत्थूण विपरिणाम च" ॥१॥ इति । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अवारिय–अवारित–त्रि० । अनिवारिते, अकृत्यं कुर्वति तत्प्रवर्तकतानिषिद्धे, निरङ्कुशे, "अद्धा अवारियाओ, इत्थीरज्जे न तं गच्छं" । ग० २ अधि० ।

अवतार्य-अव्य० । अथ वक्तारयेत्यर्थे, दशा० ५ अ० २ उ० ।

अवावकहा–अवापकथा–स्त्री० । शाकघृतादीन्येतावन्ति तस्यां रसवत्यामुपयुज्यन्त इत्येवंरूपायां कथायाम्, स्था०४ठा०२उ०।

अवि–अपि–अव्य० । सम्भावने, उत्त० १ अ० । स्था० । आचा० । सूत्र० । व्य० । नि० चू० । दश० । आ० म० द्वि० । पदार्थसंभावने, नि० चू० ४ उ० । समुच्चये, भ० १ श० १ उ० । अनु० । दर्श० । अवधारणायाम्, नि० चू० १ उ० । आचा० । वाक्योपन्यासे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । प्रश्ने, याम्, निर्णयभवनहेतौ च । दर्श० । समर्थे, व्य० १ उ० ।

अविअ–अपिच–अव्य० । समुच्चये, दं० ४ पद० ।

अविअवखंत–अवीक्षमाण–त्रि० । पृष्ठतो निरूपयति, ध० ३ अधि० ।

अविइय–अद्वितीय–त्रि० । द्वितीयरहिते, द्वितीयभिन्ने च । भ० ३ श० २ उ० ।

अविउट्टमाण–अवित्रुट्यमान–त्रि० । पीड्यमाने, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अविउप्पगडा–अव्युत्प्रकटा–स्त्री० । न विशेषतः [illegible] तथ प्रकटा अव्युत्प्रकटा । विशेषतोऽप्रकटायाम्, भ० ७ श० १० उ० ।

अविउप्पकडा–स्त्री० । अविद्वद्भिरज्ञानद्भिः प्रकृता प्रस्तुता वा अविद्वत्प्रकृता । भ० १८ श० ७ उ० । अविद्वत्प्रकृतायाम्, भ० १ श० १ उ० । "अयह इमा कहा अविउप्पकडा" । भ०१८श०७उ० । " अविउप्पकडे त्ति " [illegible] । [illegible] प्रस्तुता प्रकटा [illegible] वा, अथवा अविद्वद्भिरज्ञानद्भिः प्रकृता प्रस्तुता वा अविद्वत्प्रकृता । भ० १८ श० ७ उ० ।

अविउस्सरणया–अव्युत्सर्जनता–स्त्री० । [illegible] भ० १ श० ४ उ० ।

अविउस्सग्ग–अव्युत्सर्ग–पुं० । [illegible], स्थ० १ उ० ।

अविओग–अवियोग–पुं० । [illegible] ।

अविओसिय–अव्यवसित–त्रि० । अनुपशान्ते, बृ० ४ उ० । अनुपशान्ते क्रन्दे, " अविओसिय घासिए पावकम्मी " सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

अविओसियपाहुड–अव्यवसितप्राभृत–त्रि० । [illegible] पशान्तं प्राभृतमिव प्राभृतं (कलह [illegible]) यं स तथा [illegible] यस्यासावव्यवसितप्राभृत । बृ० ४ उ० । [illegible] वे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । [illegible] मियत च । [illegible] ॥ १ ॥ पापमाणि [illegible] । व्य० ३ ठा० ४ उ० । ('वायणा' [illegible])

अविंदमाण–अविन्दमान–त्रि० । [illegible], विपा० १ श्रु० २ अ० ।

अविकंप–अविकम्प–त्रि० । [illegible], पञ्चा० १८ विव० । नि स्पन्दे, पञ्चा० १२ विव० ।

अविकंपमाण–अविकम्पमान–त्रि० । [illegible] " विणिय कोई अविकंपमाणे" । [illegible] आचा० १ श्रु० ४ अ० ३ उ० ।

अविकत्थण–अविकत्थन–पुं० । [illegible] १४ द्वा० । ग० । [illegible], आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अविकरण–अविकरण–न० । [illegible] "संधाय [illegible]" [illegible] बृ० ३ उ० ।

अविकार–अविकार–त्रि० । [illegible], बृ० १ उ० ।

अविकारि (ण्)-अविकारिन्-पुं० । अनुद्भटवेषे, अकन्दर्प-
दर्शने च । वृ० ३ उ० ।

अविकोविदसमन्द-अविकोविदसमार्ध-त्रि० । अविज्ञापित-
[illegible]

अविगइय-अविकृतिक-त्रि० । निर्विकृतिके घृतादिविकृतिरहि-
[illegible]

अविगडिय-अविकटित-त्रि० । अनालोचिते, व्य० १ उ० ।

अविगप्प-अविकल्प-पुं० । निश्चये, आ० म० द्वि० । निर्भेदे च ।
[illegible]

अविगल-अविकल-त्रि० । अखण्डे, वि० ।

अविगल-अविकल-त्रि० । परिपूर्णे, पो० १ विव० । पञ्चा० ।
[illegible]

अविगलकुल-अविकलकुल-त्रि० । अविकलकुले, न० ८
[illegible]

[illegible]

अतत्त्वमनने, अग्रहणे, अतत्त्वग्रहणे च । सम्म० ३ काण्ड । इति
वेदान्तिनां क्लेशाः । द्वा० १६ द्वा० । योगशास्त्रप्रसिद्धे क्लेशे, द्वा०
१५ द्वा० । "नित्यशुच्यात्मताख्याति-रनित्याशुच्यनात्मसु । अ-
विद्या" । सूत्र० १४ अष्ट० । अविद्योपप्लुतादविद्यमानमपि दृ-
श्यते । यत उक्तम्-"कामस्वप्नभयोन्माद-रविद्योपप्लवात्तथा ।
पश्यन्त्यसन्तमप्यर्थं जनः केशेन्दुकादिवत्" इति । [illegible]

अविणय-अविनय-पुं० । कुशास्त्र, उत्त० ३४ अ० । [illegible]
यो विनयः प्रतिपत्तिविशेषः, तत्प्रतिषेधोऽविनयः । [illegible]
शेषे, स्था० ।

अविणए तिविहे पन्नत्ते । तं जहा-देसच्चाई, णिरा-
लंबणया, णाणपेज्जदोसे ॥

(अस्येषां सर्वेषां शब्दानां स्वस्वस्थाने व्याख्या) [illegible]
भावना-आराध्यविषयमाराध्यसम्मतविषयं वा प्रेम, [illegible]
राध्यसम्मतविषयो द्वेष इत्येव नियतावितौ विनयः स्यात् । [illegible]
च-" सद्भि नतिस्तुतिवचनं, तदभिमते प्रेम तद्द्विषि द्वेष
दानमुपकारकीर्तन-ममन्त्रमूलं वशीकरणम्" ॥ १ ॥ [illegible]
मानाप्रकारो न तथाराध्य तत्सम्मतेतरप्रहणाद्विशेषतोऽ[illegible]
मानियतविषयाविनय इति । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

अविणासि (ण्)-अविनाशिन्-त्रि० । क्षणविनाशाद्यभावे [illegible]
स्वयनाशधर्मिणि, दश० ४ अ० । पा० ।

अविणिच्छय-अविनिश्चय-पुं० । प्रमाणाभावे, [illegible]
मति० ।

अविणीय-अविनीत-त्रि० । अविनयवति, उत्त० १ अ० । [illegible]
विरहिते, उत्त० ११ अ० । अविनीतलक्षणमाह-

अह चउदसठाणेहिं, वट्टमाणे उ संजए ।
अविणीए वुच्चई सो उ, निव्वाणं च न गच्छइ ॥

[illegible]

कानि पुनस्तानि चतुर्दश स्थानानि ?, इत्याह-

अभिक्खणं कोही हवइ, पबंधं च पकुव्वइ ।
मित्तिज्जमाणो वमइ, सुयं लद्धूण मज्जइ ॥ ७ ॥
अवि पावपरिक्खेवी, अवि मित्तेसु कुप्पइ ।
सुप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे भासइ पावगं ॥ ८ ॥
पइन्नवाई दुहिले, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ।
असंविभागी अचियत्ते, अविणीए त्ति वुच्चई ॥ [illegible]

[illegible]

मरं मित्रो वा । किमुक्तं भवति?-यदि कश्चिदधार्मिकतया वक्ति,यथा-त्वं मे वैद्योऽसीत्यहं तव पात्रं लेपयामि । ततोऽस्मै प्रत्युपकारभीरुतया प्रत्यर्पयति-ममाप्यनेन । छलमपि वा छलप्रकारान्न मन्यत इति यमनमिति गृह्यते । तथा (सुयं ति) श्रुतेऽर्थसमानत्वात् श्रुतमपि आगममपि, एतदवाप्य मान्यतेऽहं दर्पं यानि । किमुक्तं भवति?-श्रुत हि मदापहारि, स तु तेनापि दृप्यति । तथा-अपि:-संभावनायाम् । संभावयत एतत्-यथा-समितौ पापैः कथञ्चित्स्खलितादिषु स्वामितिरस्कार्यः पापपरिक्षेपी,आचार्यादीन् कर्मणि गच्छते । तथा-अपि मित्रेभ्यः,यतो मित्रेभ्योऽपि सुहृद्रूपेऽपि, आस्तामन्येभ्यः कुप्यति क्रुध्यति । सूत्रे चतुर्थ्यर्थे सप्तमी । "कुधद्रुहेर्ष्याऽसूयार्थानां यं प्रति कोपः" ।१।४।३७। इत्यनेन (पाणि०) सूत्रेणेह चतुर्थीविधानात् । तथा-सुप्रियस्यापि वल्लभस्यापि मित्रस्य, रहस्येकान्ते, भाषते वक्ति, पापमेव पापकम् । किमुक्तं भवति?-अग्रतः प्रियं वक्ति, पृष्ठतस्तु प्रतिसेवकोऽयमित्यादिदूषणमावनोन्मेषाधिकारेण । तथा-प्रकीर्णमितस्ततो विक्षिप्तम्, असम्बद्धमित्यर्थः । वदति जल्पतीत्येवंशीलः प्रकीर्णवादी । यस्तु सम्यगविचार्याऽपि यत्किञ्चनवादीत्यर्थः । अथवा-यः पात्रमिदमपात्रमिति वाऽपरीक्ष्यैव कथञ्चिदधिगतं श्रुतरहस्यं वदति, सोऽप्येवंशीलः प्रकीर्णवादीति । प्रतिज्ञया यदिदमित्थमेवेत्येकान्ताभ्युपगमरूपया वदनशीलः प्रतिज्ञावादी । तथा-(दुहिल त्ति) द्रोहणशीलो द्रोग्धा,न मित्रमप्यनभिद्रुह्यास्ते । तथा-स्तब्धः तपस्व्यहमित्याद्यहङ्कृतिमान् । तथा-लुब्धोऽशनादिष्वभिकाङ्क्षावान् । तथा-अनिग्रहः अजय्यः । तथा-असंविभागी नाऽसंविभागी, नाहारादिकमवाप्यातिगृद्धितोऽन्यस्मै स्वल्पमपि यच्छति,किन्त्वात्मानमेव पोषयति । तथा-(अचियत्त त्ति) अप्रीतिकरो,दृश्यमानः संभाष्यमाणो वा सर्वस्याप्रीतिमेवोत्पादयति । एवंविधदोषान्वितोऽविनीत इत्युच्यते इति निगमनम् ॥ उत्त० ११ अ० । ('विणय' शब्दे सर्वमधिकारं व्याख्यास्यामि) सूत्रार्थदातुर्वन्दनादिविनयरहिते, बृ० ४ उ० । अविनीता नाम ये चतुरोऽपि प्रतिनोद्यमानाः प्रमाद्यन्ति । बृ० १ उ० ॥ सूत्रार्थदातुर्वन्दनादिविनयरहिते, स्था० ३ ठा० ४ उ० । (अस्यावाचनीयत्वं ' वायणा ' शब्दे वक्ष्यते)

अविणीयप्प (ण्)-अविनीतात्मन्-पुं० । विनयरहिते अनात्मनि, प्रश्न० ३ पद । दश० ।

अविण्णा-अविज्ञा-स्त्री० । अविज्ञानमविज्ञा । अनाभोगकृते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अविण्णाय-अविज्ञात-त्रि० । अविदिते, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ॥

अविण्णायकम्म(ण्)-अविज्ञातकर्मन्-न० । अविज्ञानमविदितं कर्म क्रिया व्यापारो मनोवाक्कायलक्षणो यस्य । अज्ञानमन आदिव्यापारे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अविण्णायधम्म-अविज्ञातधर्मन्-त्रि० । पापादनिवृत्ते अज्ञातधर्मणि, अविरतसम्यग्दृष्टौ च । भ० ८ श० १० उ० ।

अविण्णोवचय-अविज्ञोपचित-न० । अविज्ञानमविज्ञा,तयोपचितम् । अनाभोगकृते कर्मणि, सूत्र० । तच्च वर्ण्यते शाक्यसमये । यथा-मातुः स्तनादिग्रहणेन पुत्रस्यापत्त्यवयवनाभोगाद् कर्मोपचीयते । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । केवलकायक्रियोच्छेदे कर्मणि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अवितक्क-अवितर्क-पुं० । न विद्यते वितर्कोऽप्रधानक्रियापलं देहरूपो यस्य (जिह्मः) सोऽवितर्कः । कुतर्करहिते, "सुसमाहितलेसस्स अवितक्कस्स भिक्खुणो" । दशा० ५ अध्या० ।

अवितह-अवितथ-त्रि० । न वितथमवितथम्-सत्यम् । आव० ४ अ० । अव्यभिचारिणि, पञ्चा० १५ विव० । "णिग्गंथं पावयणं अवितहमेयं" । पूर्वमभिमतप्रकारयुक्तमपि सदन्यदा विगताभिमतप्रकारमपि किञ्चित्स्यात् । अत उच्यते-अवितथमेतत्, न कालान्तरेऽपि विगताभिमतप्रकारमिति । भ० १० श० ५ उ० । प्रश्न० । आचा० । तथ्ये, आ० चू० ४ अ० । यथाऽऽस्थिते, कल्प० १ क्ष० । याथातथ्येन व्यवस्थिते, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । यथावदनुष्ठिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । यथाऽवस्थितपिण्डितार्थवचने, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । सद्भूतार्थे, औ० ।

अवितिण्ण-अवितीर्ण-त्रि० । तितीर्षौ पारमगते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अविदिण्ण-अवितीर्ण-त्रि० । अदत्ते, बृ० ३ उ० । आ० म० । नि० चू० ।

अविदिय-अविदित-त्रि० । न विदितमविदितम् । वस्तुतोऽपरिज्ञाते, "संवेदनमात्रमविदितं त्वन्यत् ।" संवेदनमात्रं वस्तुस्वरूपपरामर्शशून्यमविदितं त्वन्यत्, कथञ्चिद्वस्तुग्राहित्वेऽपि न विदितं वस्तु तदित्यविदितमुच्यते । षो० १२ विव० ।

अविद्दुय-अविद्रुत-त्रि० । उपद्रवरहिते अनुपसर्गे,षो० १२ विव० ।

अविद्धत्थ-अविध्वस्त-त्रि० । अव्युत्क्रान्ते, अपरिणते, आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० । अप्रासुके, आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० । प्ररोहसमर्थे बीजादौ, दशा० ४ अ० ।

अविधि-अविधि-पुं० । असमाचार्याम्, बृ० ३ उ० ॥

अविधिपरिहारि (ण्)-अविधिपरिहारिन्-पुं० । संयमार्थे आयुक्ते, "संजमट्ठाए त्ति वा आउत्ते त्ति वा अविधिपरिहारि त्ति वा एगट्ठा" । आ० चू० १ अ० ।

अविप्पओग-अविप्रयोग-पुं० । रक्षायाम्, "सुक्खाणं अविप्पओगेणं" स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अविप्पकट्ठ-अविप्रकृष्ट-त्रि० । न विप्रकृष्टं दूरम् । आसन्ने, ज्ञा० १ अ० ।

अविप्पणास-अविप्रणाश-पुं० । शाश्वतत्वे, विशे० ।

अविबुद्ध-अविबुद्ध-त्रि० । भावसुप्ते, व्य० ३ उ० ।

अविभज्ज-अविभाज्य-त्रि० । विभक्तुमशक्ये, स्था० ३ ठा० २ उ० । ज्यो० ।

अविभत्त-अविभक्त-त्रि० । अकृतविभागे, बृ० । तत्र यावान् सागारिकादीनां साधारणोऽस्त्युपस्कृतस्तावानप्यस्त्यस्तरः पुञ्ज एव अधस्तनात् तदादीविवक्षा कृता सा अदेशिका अविभक्तेत्युच्यते ॥ बृ० २ उ० ।

अविभाति-अविभक्ति-स्त्री० । विभागाभावे, स्था० ३ उ० ।

अविभव-अविभव-पुं० । अदरिद्रे, व्य० ६ उ० ।

अविभाइम-अविभागिम-त्रि० । अविभागेन निर्वृत्तोऽविभागिमः । एकरूपे, भ० २० श० ५ उ० । विभागेन निर्वृत्तो विभागिमः, तन्निषेधादविभागिमः प्रागरूपे, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

अविभाइय-अविभाज्य-त्रि० । विभक्तुमशक्ये, " तओ अवि-भाइया पएणत्ता । तं जहा-समए, पएसे, परमाणू " । स्था० ३ ठा० २ उ० ।

अविभाग-अविभाग-पुं० । संबद्धो विभागो नैरन्तर्याभावः, तदभावोऽविभागः । नैरन्तर्ये, पिं० ॥

अविभागपलिच्छेय-अविभागपरिच्छेद-पुं० । परिच्छिद्यन्त इति परिच्छेदा अंशाः, ते च सविभागा भवन्त्यतो विशेष्यन्ते । अविभागाश्च ते परिच्छेदाश्चेत्यविभागपरिच्छेदाः । निरंशेषु अंशेषु, क० प्र० १० उ० । केवलिप्रज्ञया छिद्यमानो यः परमनिकृष्टोऽनुभागांशोऽभिमुखमनयाऽर्द्धं न ददाति सोऽविभागपरिच्छेद उच्यते । उक्तं च-" बुद्धीइ छिज्जमाणो, अणुभागं सो न देइ जो अर्द्धं । अविभागपलिच्छेओ, सो इह अणुभागबंधम्मि " ॥ १ ॥ कर्म० ५ कर्म० । पृ० ।

अविभागुत्तरिय-अविभागोत्तर-त्रि० । एकैकस्नेहाधिभागेषु, क० प्र० ।

अविभाव-अविभाव्य-त्रि० । अविभावनीयस्वरूपे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

अविभूसिय-अविभूषित-त्रि० । विभूषारहिते, बृ० १ उ० ।

अविभूसियप्प (ण्)-अविभूषितात्मन्-त्रि० । विभूषाविरहितदेहे, प्रव० ७२ द्वार । माचा० ।

अविमण-अविमनस्-त्रि० । अविगतचेतसि, अनु० । अशून्यचित्ते, प्रश्न० ७ वर्ग । प्रश्न० । महामादिदोषात् अविगतमानसे, प्रश्न० १ संवर० द्वार ।

अविमुत्तया-अविमुक्तता-स्त्री० । सपरिग्रहतायाम्, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

अविमुत्ति-अविमुक्ति-स्त्री० । ममीभावताम्, पञ्चा० १७ विव० । मुक्तौ, नि० चू० २ उ० ।

अविमुक्तिद्वारमाह-

दव्वे भावेऽविमुत्ती, दव्वे वीरल्लगाउबंधणता ।
भावम्मि दुट्ठे बद्धे, एत्थ मुत्ती वि आएइ ॥

[illegible]

तत्र दृष्टान्तमाह-

[illegible]

[illegible]

अविमोयणया-अविमोचनता-स्त्री० । वस्त्रादीनामत्यागे, भ० १ श० ३३ उ० ।

अविय-अपिच-अव्य० । अभ्युच्चये, तं० । भ० ।

अविक-पुं० । मेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

अवियत्त-अव्यक्त-त्रि० । अपरिस्फुटे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । मुग्धे, सहजविवेकविकले च । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०

अवियत्त-देशी-न० । अप्रीतिकं, आ० म० प्र० । स्था० । न० अप्रीतिकारणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । उत्त० । प्रति० दश० । स्था० ।

अवियत्तजंभग-अव्यक्तजृम्भक-त्रि० । अन्नाद्यविभागेन जृम्भके, भ० १४ श० ८ उ० ।

अवियत्तविसोहि-अवियत्तविशोधि-पुं० । अवियत्तस्याप्रीतिकस्याविशोधिः, तन्निवर्त्तनादवियत्तविशोधिः । विशोधिभेदे स्था० १० ठा० ।

अवियत्तोवघाय-अवियत्तोपघात-पुं० । अप्रीतिकेन विनयादेरुपघाते, स्था० १० ठा० ।

अवियाउरी-अविजनित्री-स्त्री० । अपत्यानामविजननशीलायां स्त्रियाम्, ज्ञा० २ अ० । " तस्स धंधुमई भज्जा, अवियाउरी" । आ० म० प्र० ।

अवियाणय-अविज्ञायक-त्रि० । विशिष्टावबोधरहिते, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अवियार-अविचार-न० । न विद्यते विचारोऽर्थव्यञ्जनयोरितरस्मादितरत्र, तथा-मनःप्रभृतीनामन्यतरस्मादन्यत्र, यस्य तद् विचार इति । ग० १ अधि० । अर्थव्यञ्जनयोगान्तरतोऽसंक्रमे आव० ४ अ० । भ० । ध० । "एगत्तवितक्कं अवियारं" शुक्लध्यानभेदे, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

अवियारमणवयणकायवक्क-अविचारमनोवचनकायवाक्य-त्रि० । अविचाराण्यविचारितरमणीयानि परमार्थाविचारसुभगतायुक्तया या विचार्यमाणानि मनोवाक्कायवाक्यानि यस्य स तथा । अविचाराण्यविचारणीयानि अशोभनतया निरूपणीयानि अनालोचनीयानि मनोवाक्कायवाक्यानि यस्य स तथा । अविचारस्युगन्मकरणवाग्देहवाक्ये, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० ।

अवियारसोहणट्ठ-अविचारशोधनार्थ-पुं० । संयमस्खलितविशुद्धिनिमित्ते, प० व० २ द्वार ।

अविरइ-अविरति-स्त्री० । सावद्ययोगेभ्यो निवृत्त्यभावे, [illegible] आदिप्रकाराऽविरतिः । कथम् ?, इत्याह-मनः स्वान्तं, करणानीन्द्रियाणि पञ्च, तेषां स्वस्वविषये प्रवर्त्तमानानामनियमोऽनियन्त्रणं, तथा षण्णां पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायानां जीवानां वधो हिंसेति । कर्म० ४ कर्म० । प्राणातिपातादावनिवृत्तौ, [illegible] प्रवृत्ति, स्था० १ ठा० । "अविरइं पडुच्च बाले आहिज्जइ" [illegible] सव्वसावज्जविरतिविरहितं, तां अविरतिं प्रतीत्य बालवद् बाल इत्युच्यते । "... अविरतिं पडुच्च बाले आहिज्जइ ..." [illegible] सर्वात्मना सर्वेभ्यस्ताभ्योऽनिवृत्तिः । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । "... " [illegible]

हा०।१ हा०। अविरमणेण, प्रश्न० १ संवर० द्वार। सप्रत्याख्याने, स्था० १० हा०। "जाव य न जाइ सम्म-त्थ कोइ देवेण माणवो पय। अविरइभावबंधो, तदा वि निर्चा भवे तस्स" ॥१॥ ध० २ अधि०।

अविरइ(य)वाय-अविरति (क) वाद-पुं०। अविरतिप्रधान, तद्वादो वार्ता। मैथुनचर्चायाम, स्था० ६ ठा०।

अविरइया-अविरतिका-स्त्री०। न विद्यते विरतिर्यस्याः सा अविरतिका। स्त्रियाम, स्था० ६ ठा०। सू०।

अविरत्त-अविरक्त-त्रि०। अनुरक्ते, औ०।

अविरय-अविरत-त्रि०। अविरमति स्म सावद्ययोगेभ्यो निवर्तते स्मेति। पं० सं० १ द्वार। सावद्याद्विरते, स्था०२ ठा० १ उ०। उत्त०। चं० प्र०। पापस्थानेभ्योऽनिवृत्ते, दशा० १० अ०। प्रश्न०। ध०। प्राणातिपातादिविरतिरहिते विशेषेण तपस्यरते, भ० १ श० १ उ०। गृहस्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। मिथ्यादृष्टौ च। आव० ४ अ०।

अविरयवाइ(ण्)-अविरतवादिन्-पुं०। वदनशीलो वादी; अविरतस्य वादविरतवादी। परिग्रहवति, आचा० १ श्रु०४अ० १उ०।

अविरयसम्मत्त-अविरतसम्यक्त्व-पुं०। अविरतसम्यग्दृष्टौ, कर्म० ५ कर्म० ॥

अविरयसम्मद्दिट्ठि-अविरतसम्यग्दृष्टि-पुं०। विरतिर्विरतम्; क्तादि भावप्रत्ययः। तत्पुनः सावद्ययोगे प्रत्याख्यानं, तच्च जानाती ति नाभ्युपगच्छति, न तत्पालनाय च यतत इति त्रयाणां पदानामष्टौ भङ्गाः। स्थापना—

ऽ	ऽ	ऽ
ऽ	ऽ	।
ऽ	।	ऽ
ऽ	।	।
।	ऽ	ऽ
।	ऽ	।
।	।	ऽ
।	।	।

तत्र प्रथमेषु चतुर्षु भङ्गेषु मिथ्यादृष्टिः, अज्ञानित्वात्। शेषेषु सम्यग्दृष्टिः, ज्ञानित्वात्। समस्तु भङ्गेषु नास्य विरतमस्तीत्यविरतः। "अभ्रादिभ्यः" ।७।२।४६। इति अप्रत्ययः। चरमभङ्गेषु विरतिरस्तीति। यद्वा-विरमति स्म सावद्ययोगेभ्यो निवर्तते स्मेति विरतः। "गत्यर्थाकर्मकपिबभुजेः" ।५।१।११। इति कर्तरि क्तप्रत्यये विरतः। न विरतोऽविरतः, स चासौ सम्यग्दृष्टिश्चाविरतसम्यग्दृष्टिः। इदमुक्तं भवति-यः पूर्ववर्णितौपशमिकसम्यग्दृष्टिः शुद्धदर्शनमोहपुञ्जोदयवर्ती क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिर्वा क्षीणदर्शनसप्तको वा क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्वा परममुनिप्रणीतां सावद्ययोगविरतिं सिद्धिसौधाध्यारोहणनिश्रेणिकल्पां जानन्नप्रत्याख्यानकषायोदयविघ्नितत्वान्नाभ्युपगच्छति, न च तत्पालनाय यतते इत्यसावविरतसम्यग्दृष्टिरुच्यते ॥ कर्म० २ कर्म०। देशविरते श्रावके, स० १४ सम०। आव०। प्रव०। पं० सं०। दर्श०।

अविरयसम्मद्दिट्ठिगुणट्ठाण-अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान-न०। अविरतसम्यग्दृष्टेः गुणस्थानमविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम्। चतुर्थे गुणस्थाने, कर्म०।

उक्तं च—

" बंधं अविरइहेउं, जाणंतो रागदोसदुक्खं च ।
विरइं काउं च असमत्थो ॥ १ ॥
... जो, निंदंतो पावकम्मकरणं च ।
... अविरयदिट्ठी चलियमोहो " ॥ २ ॥
... । पं० सं० ।

अविरल-अविरल-त्रि०। घने, औ०। " अविरलसमसहियचंद्रमंडलसमप्पभेहिं"। अविरलानि घनशलाकात्वेन समानि तुल्यशलाकात्वया सहितानि सहितानि अनिम्नाऽनुन्नतशलाकायोगात् चन्द्रमण्डलसमप्रभाणि च शशिधरबिम्बवत् प्रभान्ति वृत्ततया शोभन्ते यानि तानि तथा तैः (छत्रैः) ॥ प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

अविरलदंत-अविरलदन्त-त्रि०। अविरला दन्ता यस्य। घनरदने, औ०। यस्य हि यथा अनेकदन्ता अपि सन्त एकाकारदन्तपङ्क्तय इव लक्ष्यन्ते। तं०।

अविरलपत्त-अविरलपत्र-त्रि०। घनपत्रे, " अविरलपत्ता अच्छिद्दपत्ता"। अत्र हेतौ प्रथमा। ततोऽयमर्थः-यतोऽविरलपत्रा अतोऽच्छिद्रपत्राः। जी० ३ प्रति०। रा०।

अविरह-अविरह-पुं०। विरहाऽभावे, व्य० १ उ०। सातत्येनावस्थाने, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ०।

अविरहिय-अविरहित-त्रि०। सन्तते, प्रज्ञा० १० विव०।

अविराहिऊण-अविराध्य-अव्य०। अखण्डमनुपाल्येत्यर्थे, पा०। सम्यक्पालयित्वेत्यर्थे, ध० ३ अधि०।

अविराहिय-अविराधित-त्रि०। न विराधितोऽविराधितः। देशभग्ने, उ०। अपराद्धे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

अविराहियसंजम-अविराधितसंयम-पुं०। प्रव्रज्याकालादारभ्याऽभग्नचारित्रपरिणामे संज्वलनकषायसामर्थ्यात् प्रमत्तगुणस्थानकसामर्थ्याद्वा स्वल्पमायाऽऽदिदोषसम्भवेऽप्यनाचरितचरणोपघाते, भ० १ श० २ उ०।

अविराहियसामण्ण-अविराधितश्रामण्य-त्रि०। आराधितचरणे, भ० १५ श० १ उ०। अघाऽतिकृतस्वकसमुद्घातिसमाचारे, दर्श०। (अस्योपपात- 'ववहार' शब्दे द्वितीयभागे ९८१ पृष्ठे द्रष्टव्य)

अविरिक्क-अविरिक्त-त्रि०। अविभक्तरिक्ते, व्य० ९ उ०।

अविरिक्थ-त्रि०। अविभक्तरिक्थे, व्य० २ उ०।

अविरिय-अवीर्य-त्रि०। वीर्यरहिते, विपा० १ श्रु० ३ अ०।

अविरुद्ध-अविरुद्ध-त्रि०। सङ्गते, प्रज्ञा० ६ विव०। युक्ते, प्रज्ञा० १७ विव०। पूर्वपुरुषमर्यादाऽनतिक्रमेणाविरोधमाश्रिते, व्य० १ उ०। वैनयिके, उक्तं च-"अविरुद्धो विणयकारी, देवाईणं पराए भत्तीए ॥ जह वेसियायणसुओ, एवं अन्ने वि नायव्वा " ॥ १ ॥ ज्ञा० १४ अ०। औ०। धर्माद्यप्रतिरोधिनि, "अविरुद्धकुलाचार-पालने मितभाषिता"। (अविरुद्धस्येति) धर्माद्यप्रतिषेधिनः कुलाचारस्य पालनमनुवर्तनम्। द्वा० १२ द्वा०। विरुद्धराज्यविरहिते ग्रामादौ, बृ० १ उ०।

अविरुद्धवेणइय-अविरुद्धवैनयिक-पुं०। देवादीनामविरोधेन विनयकारिणि, अनु०।

अविलंबिय-अविलम्बित-त्रि०। नातिमन्थरे, भ० १ श० ७ उ०। दशा०।

अविला-अवी-स्त्री०। उरभ्याम्, पि०।

अविलि... [illegible]

अविवज्जय-अविपर्यय-पुं० । अतस्मिंस्तद्बुद्धिर्विपर्ययः,न विपर्ययोऽविपर्ययः । तत्त्वाध्यवसाये सम्यक्त्वे, विशे० ।

अविवेग-अविवेक-पुं० । असदुपयोगे, अष्ट० १५ अष्ट० ।

अविवेगपरिच्चाग-अविवेकपरित्याग-पुं० । भावतोऽज्ञानपरित्यागे, पं० व० १ द्वार ।

अविसंधि-अविसन्धि-पुं० । अव्यवच्छेदे, आव० ४ अ० । आ० चू० । ध० ।

अविसंवाइ (ण्)-अविसंवादिन्-त्रि० । दृष्टेष्टाऽविरोधिनि, पा० ।

अविसंवाइय-अविसंवादित-त्रि० । सद्भूतप्रमाणाबाधिते, पा० ।

अविसंवाद-अविसंवाद-पुं० । संवादे, स च प्राप्तिनिमित्तं प्रवृत्तिहेतुभूतार्थक्रियासमर्थवस्तुप्रदर्शनम् । सम्म १ काण्ड ।

अविसंवायण (णा) जोग-अविसंवादन (ना) योग-पुं० । विसंवादनमन्यथाप्रतिपन्नस्यान्यथाकरणं, तद्रूपो योगो व्यापारः, तेन वा योगः संबन्धो विसंवादनयोगः, तद्विपरीतोऽविसंवादनयोगः । [illegible] । [illegible] यद्वदति, [illegible] सा विसंवादना, [illegible] योगः [illegible] अविसंवादनायोगः । संवादनासंबन्धे, [illegible] ४ ठा० १ उ० ।

[illegible]-[illegible]-त्रि० । [illegible], सं० ।

[illegible]-[illegible]-न० । [illegible] निर्णये, [illegible] ४ विव० ।

[illegible]-[illegible]-त्रि० । [illegible] , सू० १ अ० ।

अविहार (ण्)-अविहारिन्-त्रि० । [illegible], [illegible] २ वर्ग । [illegible] । [illegible], पं० ३ [illegible] । [illegible], [illegible] ७ वर्ग । [illegible] । [illegible], पं० व० १ द्वार ।

[illegible]-[illegible]-त्रि० । [illegible], [illegible] २८ प्र० ।

[illegible]-[illegible]-त्रि० । [illegible], [illegible] ३ [illegible] ।

[illegible]-[illegible]-त्रि० । [illegible], [illegible] २ [illegible] । [illegible] । [illegible])

[illegible]-[illegible]-त्रि० । [illegible], [illegible] १३ विव० । [illegible] । [illegible], [illegible] ३ [illegible] ।

[illegible]-[illegible]-त्रि० । [illegible], [illegible] ।

[illegible]-[illegible]-स्त्री० । [illegible] ।

[illegible]-[illegible]-पुं० । [illegible] ।

अविसोहिकोडि-अविशोधिकोटि-स्त्री० । आधाकर्मादिदुष्टे विशुद्धवर्गे, ताश्च षड्भिमाः-स्वतो हन्ति घातयति घ्नन्तमनुजानीते । तथा-पचति, पाचयति, पचन्तमनुजानीते इति । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अविस्स-अविश्र-न० । मांसरुधिरे, प्रव० ४० द्वार ।

अविस्ससणिज्ज-अविश्वसनीय-त्रि० । विश्वासकर्तुमयोग्ये, तं० ।

अविस्सामवेयणा-अविश्रामवेदना-स्त्री० । विश्रान्तिरहितायामसातवेदनायाम, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

अविहडा-देशी-पुं० । बालके, "सीहं पासेइ गुहा, अविहडं तेव सा महद्दी य" । वृ० १ उ० ।

अविहम्ममाण-अविहन्यमान-त्रि० । न विहन्यमानोऽविहन्यमानः । विविधपरिषहोपसर्गैरहन्यमाने, "अविहम्ममाणे फलगावयट्ठी" । विघातमक्रियमाणे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अविहववहू-अविधववधू-स्त्री० । जीवत्पतिकनार्याम्, भ० १२ श० २ उ० ।

अविहाड-अविघाट-स्त्री० । अविकटायते, व्य० ७ उ० ।

अविहिंस-अविहिंस-त्रि० । न विद्यते विहिंसा येषां तेऽविहिंसाः । विविधैरुपायैरहिंसकेषु, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

अविहिंसा-अविहिंसा-स्त्री० । विविधा हिंसा विहिंसा, न विहिंसा अविहिंसा । विविधप्राणातिपातवर्जने, "अविहिंसामेव पव्वए, अणुधम्मो मुणिणा पवेइओ" । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अविहिकय-अविधिकृत-त्रि० । अविधिना कृतमविधिकृतम् । अशक्त्यादिना न्यूनाधिककरणे, दर्श० ।

अविहिण्णु-अविधिज्ञ-त्रि० । न्यायमार्गाऽप्रवेदिनि, दर्श० १ [illegible] ।

अविहिभोयण-अविधिभोजन-न० । "[illegible] [illegible] । [illegible] उ हवे अविही" । [illegible] काकशृगालादिभोजने, ओघ० ।

अविहिसेवा-अविधिसेवा-स्त्री० । अविधेर्विधिविपर्ययस्य सेवा सेवनम्-अविधिसेवा । निषिद्धाचरणे, पं० ५ विव० ।

अविहेडय-अविहेठक-पुं० । न [illegible] , "[illegible] [illegible] स भिक्खू" । दश० १० अ० ।

अवीइदव्व-अवीचिद्रव्य न० । [illegible] । [illegible], [illegible] च । भ० १३ श० ४ उ० । ('वीइदव्व' शब्दे [illegible])

अवीइमंत-अवीचिमत् त्रि० । [illegible], भ० १० श० २ उ० ।

अवीइय-अविचिन्त्य-अव्य० । [illegible], भ० १० [illegible] ।

[illegible]-अव्य० । [illegible], भ० १० [illegible] ।

[illegible]-त्रि० । [illegible] । [illegible], [illegible] १ [illegible] [illegible], [illegible] १ [illegible] ।

[illegible]-[illegible]-पुं० । [illegible], भ० [illegible]

अवीसंभ-अविश्रम्भ-पुं० । अविश्वासे, गौणे तृतीये प्राणातिपाते च । प्रश्न० । प्राणवधप्रवृत्तो हि जीवानामविश्रम्भणीयो भवतीति प्राणवधस्याविश्रम्भकारणत्वादविश्रम्भव्यपदेशः । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ॥

अवीसत्थ-अविश्वस्त-त्रि० । विश्वासरहिते, ग० २ अधि० ।

अवुग्गहट्ठाण-अविग्रहस्थान-न० । कलहाऽभाश्रये, स्था० । "आयरियउवज्झायस्स णं गणंसि पंच अवुग्गहट्ठाणा पण्णत्ता । तं जहा-आयरियउवज्झाए णं गणंसि आणं वा धारणं वा सम्मं पउंजित्ता भवइ १, एवं अहारायणियाए सम्म० २, आयरियउवज्झाए णं गणंसि जेसु य पज्जवजाए धारेइ ते काले सम्मं० ३, एवं गिलाणसेहवेयावच्चं सम्मं० ४, आयरियउवज्झाए णं गणंसि आपुच्छियचारी यावि भवइ, णो अणापुच्छियचारी । " स्था० ५ ठा० १ उ० ।

अवुत्त-अनुक्त-त्रि० । केनाप्यप्रेरिते, स्था० ८ ठा० ।

अवुसराइय-अवसुराज-पुं० । रत्नश्रेष्ठे, तद्वद्दीप्तिमति पदार्थमात्रे, नि० चू० ।

वसुराजमवसुराजं भणति-

जे भिक्खू वुसराइयं अवुसराइयं वदइ, वदंतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥

वसूणि रयणाणि, तेसु राओ वसुराओ । अथवा-राई दीप्तिमान्, राजते शोभत इत्यर्थः । तं विवरीयं जो भणति, तस्स चउलहु ।

इमा णिज्जुत्ती--

वसुयं ति वा त्ति वसिमं, वसतिरातिणिओ पज्जवा चरणे ।
तेसु रतो वुसराई, अवुसिम्मि ततो अवुसराई ॥ ३२८ ॥

ते दुविधा-दव्वे, भावे य । दव्वे मणिरयणादिया, भावे णाणादिया । इह भाववसुहिं अधिकारो । ताणि जस्स अत्थि सो वसुम त्ति भण्णति । अहवा-इंदियाणि जस्स वसे वट्टंति, सो वसिमं भण्णति । अहवा-णाणदंसणचरित्तेसु जो वसति णिच्चकालं सो वसतिरातिणिओ भण्णति । अहवा-व्युत्सृजति पापम्-अन्यपदार्थाख्यानं, चारित्रं वा वसुमं ति वुच्चति । वसति वा चारित्रे वसुरातीभण्णति । अहवा-(पज्जवाचरणे त्ति) एते चारित्तट्ठियस्स पज्जाया, एगट्ठिया इत्यर्थः । एस वुसराई भण्णति । पडिपक्खे अवुसराई ।

अहवा-

वुसि संविग्गो भणितो, अवुसि असंविग्ग ते तु वोच्चत्थं ।
जे भिक्खू उ वएज्जा, सो पावति आणमादीणि ॥ ३२९ ॥

कंठा । 'वोच्चत्थं ति' वुसिराइयं अवुसिराइयं, अवुसिराइयं वुसिराइयं भणति ।

एत्थ पढमं वुसिराइयं अवुसिराइयं भणति इमेहिं कारणेहिं--

रोसेण पडिणिवेसे--ण वा वि अकयंत मिच्छभावेणं ।
संतग पोच्छाएत्ता, भासति अगुणेसणे ते उ ॥ ३३० ॥

कोइ कस्स वि कारणे अकारणे वा रुट्ठो पडिणिवेसेण 'सो पूइज्जति, अहं ण पूइज्जामि' । एवमादिविभासा . . . तस्स उवयारो कओ, ताहे मा एयस्स . . . होहि' त्ति मिच्छभावेणं मिच्छत्तेणं अदिट्ठेण । सेसं

असंविग्गा संविग्गजणं इमेण आलंबणेण हीलंति-

धीरपुरिसपरिहाणी, नाऊणं मंदधम्मिया केइ ।
हीलंति विहरमाणं, संविग्गजणं असंविग्गो ॥ ३३१ ॥

कंठा । के पुण धीरपुरिसा ?, इमे-

केवलमादि हि चोद्दस, णवपुव्वीहिं विरहिए एण्हिं ।
सुद्धमसुद्धं चरणं, को जाणति कस्स भावं च ? ॥ ३३२ ॥
बाहिरकरणेण समं, अब्भिंतरयं करेंति अमुणेत्ता ।
णेगंतेणं च भवे, विवज्जिओ दिस्सते जेण ॥ ३३३ ॥

एते संपदं णत्थि, जदि एते होंता तो जाणंता, अम्हीदंताणं चरणं सुद्धं, इयरेसिं असुद्धं । केवलमादिणो णाउं पडिचोयंता पच्छित्तं च जहारिहं देंता चिंतंति, अब्भिंतरगो वि परिसो चेव भावो । ण य एगंतेण बाहिरकरणजुत्तो अब्भंतरकरणयुक्तो भवति । कहं ? । उच्यते-जेण विवज्जितो दीसति-जहा-उदाइमारगस्स पसन्नचंदस्स य बाहिरे अविसुद्धो, इतरो विसुद्धो चेव ।

जइ दाणि णिरतिचारा, हवेज्ज तव्वज्जिआ व सुज्झेज्जा ।
न य हुंति निरतिचारा, संघयणधितीण दोब्बल्ला ॥ ३३४ ॥

संपयकाले जदि णिरतिचारा हवेज्ज, अहवा-तव्वज्जिया णाम ओहिणाणादिवज्जिआ जइ चरित्तसुद्धी हवेज्ज, तो जुत्तं वत्तुं-इमे अविसुद्धचरणा संघयणधितीण दुब्बलत्तणओ य पच्छित्तं करेंति ।

संघयणधितिदुब्बलत्तओ चेव इमं च ओसण्णा भणंति-

को वा ! तहा समत्थो, जं तेहिं कयं तु धीरपुरिसेहिं ।
जहसत्ती पुण कीरति, दढा पइण्णा हवइ एवं ॥ ३३५ ॥

धीरपुरिसा तित्थकरादी जहासत्तिए कीरति एवं भणमाणे दढा पइण्णा भवति जो एवं भणति, जो पुण अण्णहा वदति, अण्णहा य करेति, तस्स सच्चा पइण्णा ण भवति ।

आयरिओ भणति--

सव्वेसिं एव चरणं, पुणो य मोयावगं दुहसयाणं ।
मा रागदोसवसगा, अप्पण सरणं पलीवेह ॥ ३३६ ॥

सव्वेसिं भवसिद्धियाणं, चरणं-सारीरमाणसाणं दुक्खाण विमोक्खणकरं, तं तुज्झे सयं सीयमाणो अप्पणो चरित्तेण रागाणुगता उज्जयचरणाणं दोसमावण्णा मा भणह-चरणं णत्थि, मा तत्थेव वसह, तं चेव सरणं पलीवेह, णो महेत्यर्थः ।

किंच-

संतगुणणासणा खलु, परपरिवाओ य होति अलियं वा ।
धम्मे य अबहुमाणो, साहुपदोसे य संसारो ॥ ३३७ ॥

चरणं णत्थि त्ति एवं भणंतेहिं साधूणं संतगुणणासो कतो भवति; पवयणस्स य परिवाओ कतो भवति; अलियवयणं च भवति । चरणधम्मे पओविज्जंते, चरणधम्मे अबहुमाणो कतो भवति, साधूण य पदोसो कतो . . . य संसारो वड्ढितो भवति ॥

किंच--

खय-उवसम-मीसं पि य . . .
मिस्सातो चिय पावति, . . .

[illegible] नि [illegible] इयमादिदं, [illegible] [illegible] चारित्ताओ [illegible] । अणुत्तरा य [illegible] ।

[illegible] —

[illegible] ॥ ३३६ ॥

[illegible] । जहा-जएहं [illegible] [illegible] सुत्तमित्ति ।

[illegible] सुत्तमित्ति-

[illegible] ॥ ३४० ॥

[illegible]

[illegible] ॥ ३४१ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ ३४२ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

चरणमग्गं गुहति, इमेहिं कारणेहिं इमं च से इच्छुत्तरो [illegible] फलं । अहवा-

गुणसयसहस्सकलियं, गुणंतरं वा अभिलसंतं ।
चरणकरणाभिलासी, गुणुत्तरतरं तु सो लाइ ॥ ३४३ ॥

गुणानां शतं गुणशतं, गुणशतानां सहस्सं, [illegible] सहस्सता कला, ते य अट्ठारस सीलंगसहस्सा [illegible] तं संकियं वा । किं तत्?, चारित्तं, तं जो य पसंसा [illegible] सो उत्तरं च गुणोत्तरम् । अहवा-अन्येऽपि गुणा [illegible] तेसामुत्तरत्तं च गुणुत्तरं सामाइयं । गुणुत्तर [illegible] कसायचारित्तं भन्नति, तं च जो अभिलसति से च [illegible] इत्यर्थः । से य कत्थइ जो ओसण्णो अप्पणा य [illegible] होइ त्ति चरणकरणाभिलासी भण्णति, स पचंपारी गुणुत्तरं भणति, अहक्खायचारित्रमित्यर्थः । अहवा-गुणुत्तरं मोक्खसुहं भण्णति, तं लभति ।

जो पुण ओसण्णो-

[illegible] गुणुत्तरं सो वि [illegible] ।
चरणकरणाभिलासी, गुणुत्तरतरं तु सो हवति ॥ ३४४ ॥

गुणुत्तरतरं चारित्तं, [illegible] य [illegible] । [illegible] गुणुत्तरं-चारित्तं, मोक्खसुहं वा, [illegible] [illegible] ति ।

जो आहाय [illegible] —

सो [illegible], [illegible] ।
[illegible] ॥ ३४५ ॥

[illegible]

[illegible] भवति ।

[illegible] —

[illegible] ।
[illegible] ॥ ३४६ ॥

[illegible]

[illegible] ॥

[illegible] ।
[illegible] ।

[illegible]

[illegible] ॥ ३४७ ॥

[illegible]

इमं च भणंति-

दुक्करयं खु जहुत्ता, वाहडिया विसीदंति ।
एसो निविदृपमग्गो, जस्स भवती य चरणसुद्धी ३५१॥

एवं भणंते इमे दोसा-

अब्भक्खाणं णिस्संक-कयाइ असंजमस्स य थिरत्तं ।
उप्पा उम्मग्गठिओ, अवराणवादो य तित्थस्स ॥ ३५२ ॥

असंजतभावमावणं अब्भक्खाणं ऊसुसिरातियं भणति। सो य एवंमिभण्णमाणो णिस्संको भवति। मंदधम्माण वि असंजमे थिरीकरणं करेति। अप्पं च उम्मग्गसंसेमणाए अप्पणा य उम्मग्गट्ठितो, ततो तित्थस्स य अम्पपदार्थेन अवर्णवादः कृतो भवति।

किंच—

जो जत्थ होइ मग्गो, ओयासं सो परस्स अविदंतो ।
गंतुं तत्थ चएंतो, इमं पहाणं ति घोसंति ॥ ३५३ ॥

महाणिसीहदिट्ठेतेण ओसण्णो उवसंथारयव्वो। सेसं कंठं।

किंच—

पुव्वगयकालियसुय-संतासंतेहिं केइ खोभेंति ।
ओसण्णचरणकरणा, इमं पहाणं ति घोसंति ॥ ३५४ ॥

पुव्वगयकालियसुयणिवंधपयंचयतो दीसंति। तत्थ कालियसुये इमेरिसो आलावगो-"बहुमोहो वि य णं पुव्वं विहरित्ता पच्छा संवुडे काल करेज्जा किं आराहए, विराहए ? गोयमा! आराहए, णो विराहए"। एवं पुव्वगहिए वि जे के वि आलावगा ते उच्चरित्ता परं खोभेंति; अप्पणा वा दुभेंति। सीदंतीत्यर्थः । ते य ओसण्णचरणकरणा इमं ति अप्पणो चरियं पहाणं घोसंति।

इमंमि पुरतो-

अवहुस्सुए अगीयत्थे, तरुणे मंदधम्मिणो ।
परियारपूयाहेउं, संमोहेउ निरुंभति ॥ ३५५ ॥

जेण आयारपकप्पो णज्झाइओ एस अवहुस्सुतो; जेण आवस्सगादियाणं अत्थो ण सुओ सो अगीयत्थो, सोलसवरिसाण आढवेत्तु जाव चत्तालीसवरिसो एस तरुणो, असंवेगी मंदधम्मो। एते पुरिसे विपरिणामेति अप्पणो परिचारहेउं, एतेहिं य परियते पुरिसे विपरिणामेति अप्पणो परिचारहेउं, एतेहिं य परिचारिओ लोगस्स पूयणिज्जो होउ, कालियं दिट्ठियायं भणितेहिं अहवा अभणितेहिं वा संमोहेउं अप्पणो पासे णिरुंभति, धारयतीत्यर्थः। अहवा-जो एवं पवयति एसो चेव अवहुस्सुओ अगीयत्थो तरुणो वा मंदधम्मो वा। सेसं कंठं।

जत्थाविओ विहारो, तं चेव पसंसए सुलभवोही ।
ओसण्णविहारं पुण, पसंसए दीहसंसारी ॥ ३५६ ॥

जो संविग्गविहाराओ जुओ तं पसंसति जो सो सुलभवोही। जो पुण ओसण्णविहारं पसंसति सो असुलभवोही दीहसंसारी भवति॥

बितियपदमणप्पज्झो, वएज्ज अविकोविए व अप्पज्झो।
जो जाणंता वि पुणो, भयसातव्वादिगच्छट्ठा ॥३५७॥

पूर्ववत् ।

जे भिक्खू अमराइयाओ गणाओ अवुसराइयं गणं संकमइ, सकमंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

वुसिराइयागणाओ, जे भिक्खू संकमे अवुसिराइं ।

पढमवितितियचउत्थे, सो पावति आणमादीणि ॥३५८॥

तो वुसिरातियं चउभंगो कायव्वो। चउत्थभंगे अवत्थुं, ततियभंगे अणुण्णे, पढमवितिएसु संकमो पडिसिद्धो। पढमे संकमतस्स मासलहु, बितिए चउलहु। चोदगाह-जुत्त बितिए पडिसेहो, पढमभंगे किं पडिसेहो ?। आचार्याह-तत्थ णिक्कारणे पडिसेहो, कारणे पुण पढमभंगे उवसंपदं करेति।

सा य उवसंपया कालं पडुच्च तिविहा इमा—

छम्मासे उवसंपद, जहण्ण वारससमा उ मज्झिमिया ।
आवकहा उक्कोसा, पडिच्छसीसे तु आजीवं ॥ ३५६ ॥

उवसंपदा तिविहा-जहण्णा, मज्झिमा, उक्कोसा य । जहण्णा छम्मासं, मज्झिमा वारसवरिसे, उक्कोसा जावज्जीवं। एवं पडिच्छगस्स एगविहा चेव जावज्जीवं आयरिओ ण मोत्तव्वो।

छम्मासेऽपूरेंता, गुरुगा वारससमासु चउलहुगा ।
तेण परं मासियत्तं, भणितं पुण आरते कज्जे ॥३६०॥

जेण पडिच्छगेण छम्मासिया उवसंपया कया,सो जदि छम्मासे अपूरित्ता जाति, तस्स चउगुरुगा।जेण वारस वरिसा कया, ते अपूरित्ता जाइ तो चउलहुं। जेण जावज्जीवं उवसंपदा कता, तस्स मासलहुं। छम्मासाणं परेणं णिक्कारणे गच्छंतस्स मासलहुं। जेण वारससमा उवसंपया कया, तस्स वि छम्मासे अपूरेंतस्स चउगुरुगा चेव, तस्सेव वारससमाओ अपूरेंतस्स चउलहुगा। एस सोही गच्छतो भिक्खुस्स भणिता॥ नि० चू० १६ उ० ।

अवेक्खमाण-अपेक्षमाण-त्रि० । निरीक्षमाणे, दशा० ६ अ० ।

अवेज्ज-अवेद्य-त्रि० । स्वसमानाधिकरणसमानकालीनसाक्षात्काराऽविषये, द्वा० २० द्वा० ।

अवेज्जसंवेज्जपय-अवेद्यसंवेद्यपद-न० । महामिथ्यात्वनिबन्धने पशुत्वादिशब्दवाच्ये, द्वा० २३ द्वा० ।

अवेय-अवेद-पुं० । पुरुषवेदादिवेदरहिते, प्रज्ञा० २ पद । सिद्धादौ, स्था० २ ठा० १ उ० ।

अवेयइत्ता-अवेदयित्वा-अव्य० । वेदनमकृत्वेत्यर्थे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

अवेयण-अवेदन-त्रि० । न विद्यते वेदना यस्य स अवेदनः । अल्पवेदने वेदनारहिते, उत्त० १६ अ० । साताऽसातवेदनाभावात् सिद्धे च । प्रज्ञा०१ पद ।

अवेयवत्त-अपेतवाच्य-त्रि० । वचनीयतारहिते, सू० १ उ० ।

अवेरमणज्झाण-अविरमणध्यान-न० । न विरमणमविरमणम्; अविरमणस्य ध्यानम् । मा भूत् पुत्रयोर्विरतिबुद्धिरित्यङ्कोटनादिर्वा देशविरतिं परित्यज्य प्रान्तग्राममध्यासितयोः ' एवं साधवो मांसाशिनो राक्षसाः' इत्युक्त्वाऽत्र न गन्तव्यमिति तत्पितुरविरतिचिन्ता । तारणयोर्भृगुपुत्रयोरिव, अयदेव प्रतिबोधकमानस्यापि मुहुर्मुहुः विरतिं त्याजतस्तच्चातुरिव, मेनायंकेव वा दुर्ध्यानं, आतु० ।

अवोगडा-अव्याकृता-स्त्री० । अतिगम्भीरशब्दार्थायाम्-प्रश्न० १ श्राकरप्रमुखायां वा अविभाविताभिन्नत्वाद् भाषायाम्, प्रश्न० १ संवर० द्वार। "अवोगिडमवऽ ययोगडाय"। स० १ सम०। अव्याकृता, यथा-बालकादीनां भाषणिका । दश० ७ अ० ।

कया?, जिनबुद्ध्या, कथंभूतस्य?, विशुद्धाध्यवसायस्य। यद्येवं ततो यतिबुद्ध्या यतिरूपं विशुद्धस्य नमस्यतः को दोषो येन भवन्तः परस्परं न वन्दन्ते?। अत्रापरः कश्चिदाह-यद्येवं, लिङ्गमात्रधारिणं पार्श्वस्थादिकमपि यतिबुद्ध्याऽविशुद्धस्य नमस्यतो न दोषः। तदयुक्तम्; पार्श्वस्थादीनां सम्यग्यतिरूपस्याप्यभावात् । तत्राप्यत्र 'आलपणं विहारेण' इत्यादियतिलिङ्गस्यानुपलम्भात्। ततः प्रत्यक्षदोषवतः पार्श्वस्थादीन्वन्दमानस्य तत्सावद्यानुज्ञानलक्षणो दोष एव। उक्तं च-"जह वेलंबगलिंगं, जाणंतस्स नमिउं हवइ दोसो। निद्धंधसं पि नाउं, ण वंदमाणे धुवो दोसो" ॥१॥ इत्यादि । प्रतिमायास्तु दोषाभावात्तद्वन्दने सावद्यानुज्ञानाभावतो न दोष इति।

अत्र पुनरपि पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

अह पडिमं पि न वंदह, देवासंकाए तो न घेत्तव्वा ।
आहारोवहिसेज्जा-ओ देवकया भवे जं नु ॥

अथ प्रतिमामपि न वन्दध्वे यूयम् । हन्त ! यद्येवं शङ्काचारी भवान्, तर्हि-मा देवकृता भवेयुरित्याहारोपधिशय्यादयोऽपि न ग्राह्या इति ।

किञ्चैवमतिशङ्कालुतायां समस्तव्यवहारोच्छेदप्रसङ्ग, कुतः?, इत्याह—

को जाणइ किं भत्तं, किमओ किं पाणयं जलं मज्जं ।
किमलाबुं माणिक्कं, किं सप्पो चीवरं हारो ? ॥
को जाणइ किं सुद्धं, किमसुद्धं किं सजीवनिज्जीवं ।
किं भक्खं किमभक्खं, पत्तमभक्खं तओ सव्वं ? ॥

को जानाति किमिदं भक्तं, कृमयो वेत्यादिशङ्कायां भक्तादावपि कृम्यादिभ्रान्त्यनिवृत्तेः सर्वमभक्ष्यमेव प्राप्तं भवतः। तथा-ऽलाबुचीवरादौ मणिमाणिक्यसर्पादिभ्रान्त्यनिवृत्तेः सर्वमभोग्यं च प्राप्तमिति।

तथा—

समणा वि न संवासो, सेयो पभवा-कुमीससंका वा ।
[illegible] गिरी व जइ नि य, तम्हाऽऽसीसा न दायव्वा ॥
न य मो दिक्खेयव्वो, भव्वोऽभव्वो त्ति जेण को मुणइ? ।
चोरो त्ति चारिओ त्ति य, होज्ज य परदारगामि त्ति ॥
को जाणइ को सीसो, को वा गुरुओ न तत्तिसमो त्ति ।
[illegible] न वोदव्वा, को जाणइ सव्वमलियं ति ॥
किं बहुणा सव्वं चिय, संदिद्धं जिणमयं जिणिंदा य ।
[illegible] रसा, दिक्खाए किमत्थ आरंभो ? ॥
अह संति जिणवरिंदा, तव्वयणाओ य सव्वसंसिद्धी ।
[illegible] चिय अह-वंदणयं किं ने वहुं न मयं ?॥

[illegible] । नवरं " समणा वि न संवासो " इ-[illegible] । (अह संतीत्यादि) अथ [illegible] । [illegible]

अपि च—

जइ जिणमयं पमाणं, मुणि त्ति [illegible] विसुद्धं ।
[illegible] विसुद्धो त्ति ॥

यदि जिनमतं भवतां प्रमाणं तर्हि मुनिरित्यनया बुद्ध्या आलयविहारादिबाह्यकरणपरिशुद्धं देवमप्यमरमपि वन्दमानो विशुद्धभावो भवद्दोषरहितो विशुद्ध एव । उक्तं चागमे-" परारहस्समिसीणं, समत्तगणिपिडगभमसाराणं । परिणामियं पमाणं, निच्छयमवलंबमाणाणं " ॥ १ ॥ इत्यादि ।

जइ वा सो जइरूवो, दिट्ठो तह केत्तिया सुरा अन्ने ।
तुब्भेहिँ दिट्ठपुव्वा, सव्वत्थापच्चओ जं भे ॥

वा इति अथवा, यथा आर्याषाढदेवो यतिरूपधरोऽत्र दृष्ट, तथा कियन्तः सुरास्ततोऽन्ये भवद्भिर्दृष्टपूर्वाः, यद्येतावन्मात्रेणापि सर्वत्राप्रत्ययो (भे) भवतां नहि कदाचित्कथञ्चित् क्वचिदाश्चर्यकल्पे कस्मिंश्चित्तथाभावाशङ्का युज्यत इति भावः। तस्माद्व्यवहारनयमाश्रित्य युक्तं भवतामन्योऽन्यवन्दनादिकम् । उक्तं च-"निच्छयउ दुन्नियंको, भावे कम्मि वट्टए समणो। ववहारओ य जुज्जइ, जो पुव्वठिओ चरित्तम्मि " ॥१॥ इत्यादि ।

एतदेव समर्थयन्नाह-

छउमत्थसमयचज्जा, ववहारनयाणुसारिणी सव्वा ।
तं तह समायरंतो, सुज्झइ सव्वो विसुद्धमणो ॥
संववहारो वि बली, जमसुद्धं पि गहियं सुयविहीए ।
कोवेइ न सव्वण्णू, वंदइ यस्स जाइ छउमत्थं ॥
निच्छयववहारनओ-वणीयमिह सासणं जिणिंदाणं ।
एगयरपरिच्चाओ, मिच्छं संकादओ जे य ॥
जइ जिणमयं पवज्जह, तो मा ववहारनयमयं मुयह ।
ववहारपरिच्चाए, तित्थुच्छेओ जओऽवस्सं ॥

एतद्योऽपि सुगमाः। नवरं (कोवेइ इत्यादि) न कोपयति-अप्रमाणीकरोति न परिहरति, शुद्धं इत्यर्थः। (संकादओ इत्यादि) येऽपि शङ्काकाङ्क्षादयस्ते हि मिथ्यात्वमिति संबन्धः ।

एतावत्युक्ते तत् किं तत्र संजातम् ?, इत्याह-

इय ते नाणगाहिं, सुयंति जाहे बहुं पि भणंता ।
ता संघपरिच्चत्ता, रायगिहे निवइणा नाउं ॥
बलभद्देण पयाया, भणंति सावयं तरासि भि ।
मा कुण संकमसंका-सहंसु जणिए भणइ राया ॥
को जाणइ के तुब्भे, किं चोरा चारिया अभिमरे त्ति ।
संजयरूवच्छन्ना, अज्ज मए भे विवाएमि ॥
नाणचरियाहिँ नज्जइ, समणोऽसमणो व कीस जाणंतो ।
तं सावयसंदेहं, करेसि भणिए निवो भणइ ॥
तुब्भं चिय न परोप्पर-वीसंभो साहवो त्ति किह मज्झं ।
नाणचरियाहिँ सा जइ, चोराण व किं न सा संति ॥
[illegible] भयाउ य, पडिवन्ना ते समयमग्गाहिं ।
निस्संकियाइ जिणमयं, गुरुमूलं ते पडिक्कंता ॥

[illegible] सुगमाश्च, नवरं [illegible] । (नाणचरियाहिं ति) [illegible]

मे जायते। यदि च किं ते इत्थिमे ज्ञानक्रिये घोराणामपि न स्तः, न भवतः इति प्रथमत्रिशत्गाथाऽर्थः ॥३८१॥ इति तृतीयोऽन्यत्राभिधाननिह्नवः समाप्तः। विशे० । आ० म० । आ० चू० ॥

अन्नय-अन्वय-पुं० । म० त० । अन्वयरूपे, कथमप्यात्मनोऽन्वयात् । द्वा० ८ द्वा० । कियतामप्यवयवानां व्यपायाऽभावात् । मा० ४ अ० । सदाऽवस्थायिनि, विशे० । स्था० । सूत्र० । "धुवं चियए सासए अक्खए अव्वए" अव्ययः,तत्प्रदेशानामव्ययत्वात् । भ० २ श० १ उ० । द्वादशाङ्गे प्रवचनसमये, मानुषोत्तराद् बहिःसमुद्रवदव्ययत्वादिप्य । नं० । ननु 'परभृत्कोकिलः किल मधौ' इत्यत्र पञ्चम्यादौ का विभक्तिः?,'तथाऽऽम्रचूतकलिका' इत्यत्र तत्पञ्चम्यादौ च का विभक्तिः ?। अत्र यत्पञ्चम्याद्यव्ययी वा, अनव्ययी वेति प्रश्ने-पञ्चम्यादौ क्रियाविशेषणत्वे द्वितीया विभक्तिर्व्याकरणादाय,अव्ययत्वे तु प्रथमाऽपि संभवति। तत्पञ्चम्यादौ तु तस्य पूर्वपदसामानाधिकरण्येन प्रथमा विभक्तिः; व्यवधानान्तरेण समस्यमाने पञ्चम्याद्यव्ययानव्ययी च घटेते इति सर्वं सुस्थमिति । सेन० ३, उल्ला० १५३ प्रश्न० ।

अन्नवसिय-अव्यवसित-त्रि० । अनिश्चयवति, पराक्रमवति च । स्था० ।

तओ ठाणा अव्ववसिअस्स अहियाए असुहाए अखमाए अणिस्सेसाए अणाणुगामियत्ताए भवंति । तं जहा-से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए णिग्गंथे पावयणे संकिए कंखिए वितिगिच्छिए भेदसमावन्ने कलुससमावन्ने णिग्गंथं पावयणं णो सद्दहइ, णो पत्तियइ, णो रोएइ; तं परीसहा अभिजुंजिय अभिजुंजिय अभिभवंति । नो से परीसहे अभिजुंजिय अभिजुंजिय अभिभवइ । से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए पंचहिं महव्वएहिं संकिए० जाव कलुससमावन्ने; पंच महव्वयाइं णो सद्दहइ० जाव नो से परीसहे अभिजुंजिय अभिजुंजिय अभिभवइ । से णं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए छहिं जीवनिकाएहिं० जाव अभिभवइ ॥

त्रीणि स्थानानि प्रवचनसद्दाद्यत्रीणि [illegible] अव्यवसितस्यानिश्चयवतोऽपराक्रमवतो वाऽहितायाऽपथ्याय, असुखाय दुःखाय, अक्षमाय असङ्गतत्वाय, अनिःश्रेयसाय अकल्याणाय अनानुगामिकत्वाय-अशुभानुबन्धाय भवन्ति [illegible] त्रीणि स्थानानि अहितादित्वाय भवन्ति, [illegible] संशयवान्, [illegible] [illegible] भेदसमापन्नो [illegible] कलुषसमापन्नो [illegible] प्रथमं वा वचनमिति प्रवचनम्-आगमः [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ठा० ३ ठा० ४ उ० ।

अन्वमण-अव्ययमन-पुं० । [illegible] जं० ७ वक्ष० ।

अन्वइ-अव्यय-न० । [illegible] तद्भावात् । [illegible] ७ उ० । स्था० । भ० । जं० ॥

अन्वहिय-अव्याहित-त्रि० । [illegible] सू० । [illegible]

अन्वाइद्ध-अव्याविद्ध-न० । [illegible]

अन्वाइद्धक्खर-अव्याविद्धाक्षर-न० । [illegible]

अन्वागड-अव्याकृत-त्रि० । [illegible]

अन्वावाह-अव्याबाध-न० । [illegible]

[illegible]

पवाहं वा वावाहं वा उप्पाएइ, छविच्छेदं वा करेइ, ए सुहुमं च णं उवदंसेज्जा; से तेणट्ठेणं० जाव अव्वावाहा ॥२॥

(अच्छिपत्तंसि त्ति) अक्षिपत्रे अक्षिपक्ष्मणि (आबाहं व त्ति) ईषद्बाधां (पवाहं व त्ति) प्रकृष्टबाधां (वावाहं ति) क्वचित्, तत्र तु व्याबाधां विशिष्टाबाधां (छविच्छेयं ति) शरीरच्छेदं (ए सुहुमं च णं ति) । सूक्ष्ममेवं सूक्ष्मं यथा भवत्येवमुपदर्शयेत्; नाट्यविधिमिति प्रकृतम । भ० १४ श० ८ उ० ।

अव्वावड-अव्यापृत-त्रि० । व्यापारवर्जिते, "सडियपडियं न की-रइ, जीइयं अव्वावडं तयं वत्थु" । यत् शटितपतिते यत्र व्यापारः कोऽपि न क्रियते तद्वस्तु अव्यापृतमुच्यते । इति सक्रिय-[illegible], बृ० ३ उ० ।

अव्वाविद्ध-अव्याविद्ध-त्रि० । अविभिन्ने, व्य० १ उ० । अविनष्टे, भ० १ श० ३ उ० ।

अव्वावारपोसह-अव्यापारपौषध-पुं० । व्यापारप्रत्याख्यान-पूर्वकं [illegible], "अव्वावारे पोसहे दुविहे-देसे सव्वे य । देसे अमुगं वावारं करेमि, सव्वे ववहारे से पव-[illegible] न करेइ" । आव० ६ अ० ।

अव्वावारसुहिय-अव्यापारसुखित-त्रि० । [illegible] [illegible] सुखिते, सू० १ श्रु० ।

अव्वाहय-अव्याहत-त्रि० । अनुपहते, पं० १४ विव० । [illegible], व्य० १ उ० । [illegible], पं० ।

अव्वाहयपुव्वावरत्त-अव्याहतपूर्वापरत्व-न० । पूर्वापरा-[illegible] [illegible], रा० । स० ।

अव्वाहिय-अव्याहृत-त्रि० । अनुक्ते, औ० ३ प्रति० । अ-[illegible], "[illegible]" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

अव्वुग्गह-अव्युद्ग्रह-त्रि० । [illegible], ग० । ३ अधि० ।

अव्वो-अव्वो-अव्य० । [illegible], प्रा० ३ पा० ।

अव्वो सूचना-दुःख-संभाषणापराध-विस्मयानन्दादर-भयखेदविषादपश्चात्तापे ८ । २ । २०४ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

अव्वोच्छिन्न-अव्यवच्छिन्न-त्रि० । [illegible], सू० ३ उ० । (अत्र दृष्टान्तः ' उग्गह ' शब्दे द्वितीय-भागे ७०० पृष्ठे द्रष्टव्यः) अविसंस्मृते, दशा० ३ अ० ।

अव्वोच्छिन्न-अव्यवच्छिन्न-त्रि० । स्वयंशास्य परम्परया समा-गते; स्था० ७ ठा० ।

अव्वोच्छित्ति-अव्यवच्छित्ति-त्रि० । "समानोनाः प्रतिषेधे" अ व्युच्छित्तिरव्युच्छित्तिः । प्रतिपत्तौ, यः स्वयं कृतार्थोऽप्युत्तममार्ग धर्म परेभ्य उपदिशति । पं० चू० । अव्यवच्छित्त्या धुरं धारयेत्, भुवस्य शिष्यप्रशिष्यपरम्परागततया अव्यवच्छित्तिर्न स्यादिति प-श्रममव्यवच्छित्तिः कारणम् । भा० म० प्र० ॥

अव्वोच्छित्तिणयट्ठ-अव्यवच्छित्तिनयार्थ-पुं० । अव्यवच्छि-त्तिप्रधानो नयोऽव्यवच्छित्तिनयः, तस्यार्थः । द्रव्ये, म० ७ श० ३ उ० ।

अव्वोयडा-अव्याकृता-स्त्री० । गम्भीरशब्दार्थायां मन्मन-स्वरप्रयुक्तायां वा अविभावितार्थायां वा भाषायाम्, भ० १० श० ३ उ० ।

असइ-असृति-स्त्री० । अश्नुते तत्प्रमयेन समस्तधान्यमानानि व्याप्नोति इत्यसृतिः । अवाङ्मुखहस्ततलरूपे, तत्परिच्छिन्ने धान्ये च । अनु० । प्रसृतेरर्धे, ठा० ७ ठा० । " दो असईओ पसई " । ज्यो० ।

असृति---स्त्री० । असरणे, ध० २ अधि० ।

असइं-असकृत्-अव्य० । अनेकश इत्यर्थे, पञ्चा० १० विव० । आचा० । भ० । "असइं तु मणुस्सेहिं, मिच्छादंडो पउंजइ" अ-सकृद् वारंवारम् । उत्त० ९ अ० । पं० व० । औ० । पो० । "असइं वोसट्ठचत्तदेहे" । न सकृदसकृत्, सर्वदेत्यर्थः । दश० १० अ० ।

असई-असती-स्त्री० । दुःशीलायाम, ध० २ अधि० । [illegible], भ० ७ श० ६ उ० । प्रव० ।

असईजणपोसणया-(स्त्री०)असतीजनपोषण-न० । असतीज-नस्य दासीजनस्य पोषणं तद्भाटिकोपजीवनार्थं यत् तत्तथा । एवमन्यदपि क्रूरकर्मकारिणः प्राणिनः पोषणमसतीजनपोषण-मेवेति । दासीजनस्य क्रूरकर्मकारिणो वा पोषणं, उपा० १ अ० ।

असईपोस-असतीपोष-पुं० । असत्यो दुःशीलास्तासां दासी-[illegible] पोषणं पोषोऽसतीपोषः । तत्र निमित्तमाह, तेन शुकसारिकादीनामपि पुंसां पोषणमसतीपोषः । यदाह-"[illegible] [illegible] । [illegible] पोषणं असईपोसणं " ॥ १ ॥ प्रव० ६ द्वार । दुःशी-लानां शुकसारिकामयूर[illegible] [illegible] पोषणे, मार्जारकुक्कुटादीनां [illegible], [illegible] व्यवहारः । [illegible] दुःशीलानां पोषणं [illegible] [illegible] । [illegible] । ध० २ अधि० । धा० । भ० । [illegible] । ([illegible] ' पोसण ' शब्दे [illegible])

असउण-असकुन-पुं० । [illegible]

[illegible]

असंक-[illegible]

[illegible]

असंकणिज्ज--अशङ्कनीय--त्रि० । कूटपाशादिरहिते अशङ्काहें स्थाने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

असंकप्पिय-असङ्कल्पित-त्रि० । स्वार्थं संस्कुर्वता साधर्मिकतया मनसाऽप्यकल्पिते, भ० ७ श० १ उ० ।

असंकम-असङ्क्रम-पुं० । परस्परममीलने, अष्ट० १४ अष्ट० ।

असंकमण-अशङ्कमनस्-त्रि० । अशङ्कं मनो यस्यासौ अशङ्कमनाः । तपोदमनियमफलत्वाऽऽशङ्कारहिते आस्तिक्यमत्युपेते, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

असंकि (ण्)-अशङ्किन्-त्रि० । शङ्कामकुर्वाणे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

असंकिय-अशङ्कित-त्रि० । अशङ्कनीये, "असंकियाइं संकंति, संकियाइं असंकिणो ।" सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

असंकिलिट्ठ-असंक्लिष्ट-त्रि० । विशुद्धाध्यवसाये, आतु० । विशुद्धे, "असंकिलिट्ठाइं वत्थाइं" । औ० । विशुध्यमानपरिणामवति, प्रश्न० १ सम्ब० द्वार ।

असंकिलिट्ठायार-असंक्लिष्टाचार-पुं० । असंक्लिष्ट इहपरलोकाशंसाद्यपसंक्लेशविप्रमुक्त आचारो यस्य सोऽसंक्लिष्टाचारः । स्था० ३ उ० । सकलदोषपरिहारिणि, स्था० ३ उ० ।

असंकिलेस-असंक्लेश-पुं० । विशुद्ध्यमानपरिणामहेतुके संक्लेशाभावे, " तिविहे असंकिलेसे- णाणसंकिलेसे, दंसणसंकिलेसे, चरित्तसंकिलेसे" । स्था० ३ ठा० ४ उ० । "दसविहे असंकिलेसे पण्णत्ते । तं जहा-उवहिअसंकिलेसे० जाव चरित्तअसंकिलेसे" स्था० १० ठा० । (अस्य 'संकिलेस' शब्दे व्याख्या)

असंख-असङ्ख्य-त्रि० । अविद्यमानसङ्ख्ये, उत्त० ४ अ० । अविद्यमानपरिमाणे च । द्वा० २६ अष्ट० ।

असंखगुणवीरिय-असंख्यगुणवीर्य-त्रि० । असंख्यातगुणयोगे, कर्म० ५ कर्म० । अष्ट० ।

असंखड-असंखड-न० । वाचिके कलहे, नि० चू० १ उ० । ग० । बृ० ॥

असंखडिय-असंखडिक-पुं० । कलहशीले, बृ० १ उ० ।

असंखय-असंस्कृत-त्रि० । उत्तरकरणेनानुहिते पटादिवत्सं-धातुमशक्ये, उत्त० ।

[illegible] विलमित्युक्तमतस्तद्व्याचिख्यासुराह निर्युक्तिकृत्-
[illegible] कयं, जं किं वी संखयं तु णायव्वं ।
असंखयं खलु, असंखयस्सेस णिज्जुत्ती ॥
नि० १ स्पष्ट ।
[illegible] तेन उत्तरकरण पुनरुत्तरकालं विशेषाधानरूपं [illegible] तेन कृतं निर्वर्तितं यत् किञ्चिद् दिति [illegible] (पतद्दोर्नित्यमभिसंबन्धनात्) तत् संस्कृतम् । गुरुवचा- [illegible] योजयते-यदुत्तरकरणकृतं तदेव संस्कृतं ज्ञातव्यम् । [illegible] संस्कारानुगमं विशेषमुपस्थापयन्नसंस्कृतमसुदाहरस्यैवकार्यार्थत्वात् । असंस्कृतमित्यस्य सूत्रा- [illegible] [illegible] [illegible] प्रतिज्ञातम् । अथवा-[illegible]

'मायंती' इत्यादिना पदेन नाम, तथाऽस्याप्यसंस्कृतमिति [illegible] । तत्रासंस्कृतनाम्नोऽस्यैवाध्ययनस्यैषा [illegible] निर्युक्तिः, तत्प्रस्ताव एव व्याख्यानस्येति गाथार्थः । उत्त० ४ अ० ।

येन करणेनात्र प्रकृतं तदाह-

कम्मगसरीरकरणं, आउयकरणं असंखयं तं तु ।
तेणऽहिगारो तम्हा, उ अप्पमादो इह चरित्तम्मि ॥

कर्मकशरीरकरणं कार्मणदेहनिर्वर्तनं, तदपि ज्ञानावरणादिभेदतोऽनेकविधमित्याह-आयुष्करणमिति । आयुः पञ्चमकर्मप्रकृत्यात्मकस्य करणं निर्वर्तनमायुष्करणम् । [illegible] (असंखयं तं तु त्ति) तत्पुनरायुष्करणमसंस्कृतमुत्तरकरणेन त्रुटितमपि पटादिवत्सन्धातुं न शक्यम् । [illegible] पड़माही [illegible] जीविय जीए " ॥ १ ॥ [illegible] ति । [illegible] व्याख्यातम् । [illegible] यतः । इदानीं सूत्रस्योदाहरणे-([illegible]) [illegible] कर्मणा [illegible] सम्प्रति सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेपावसरः, [illegible]

[illegible]

असंखयं जीविय मा पमायए, [illegible]
एवं वियाणाहि जणे पमत्ते, [illegible]

[illegible]

असंखलोगसम-[illegible]

असंखेज्ज-असंख्येय-त्रि०। संख्यातीते, भ० १ श० ५ उ० । गणनामतिक्रान्ते, आ० चू० १ अ० ।

असंखेज्जकालसमयट्ठिइ-असङ्ख्येयकालसमयस्थिति-पुं० । पल्योपमाऽसङ्ख्येयभागादिस्थितिषु नैरयिकादिषु एकेन्द्रियविकलेन्द्रियवर्जे वैमानिकपर्यन्तेषु, स्था० । "दुविहा णेरइया पण्णत्ता। तं जहा-संखेज्जकालसमयट्ठिइया चेव,असंखेज्जकालसमयट्ठिइया चेव । एवं पर्गिदियविगलेंदियवज्जा० जाव वाणमंतरा" । स्था० २ ठा० २ उ० ॥

असंखेज्जगुणपरिहीण-असंख्यातगुणपरिहीण-त्रि० । असंख्यातगुणेन परिहीणो यः स तथा । असंख्येयभागमात्रे,औ० ।

असंखेज्जजीविय-असङ्ख्यातजीवित-पुं० । असंख्यजीवात्मकेषु वृक्षेषु, भ० । " से किं तं असंखेज्जजीविया ? । असंखेज्जजीविया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-एगट्ठिया,बहुट्ठिया य " । भ० ८ श० ३ उ० ।

असंखेज्जय--असंख्येयक--न० । गणनासंख्याभेदे, अनु० ।

से किं तं असंखेज्जए ? । असंखेज्जए तिविहे पण्णत्ते । तं जहा—परित्तासंखेज्जए, जुत्तासंखेज्जए, असंखेज्जासंखेज्जए । से किं तं परित्तासंखेज्जए ?। परित्तासंखेज्जए तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-जहण्णए, उक्कोसए, अजहण्णमणुक्कोसए । से किं तं जुत्तासंखेज्जए ? । जुत्तासंखेज्जए तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-जहण्णए, उक्कोसए, अजहण्णमणुक्कोसए । से किं तं असंखेज्जासंखेज्जए ?। असंखेज्जासंखेज्जए तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-जहण्णए, उक्कोसए, अजहण्णमणुक्कोसए ॥

असंख्येयकं तु-परीतासंख्येयकं, युक्तासंख्येयकं, असंख्येयासंख्येयकम् । पुनरेकैकं जघन्यादिभेदात् त्रिविधमिति सर्वमपि नवविधम् ॥

अथ नवविधमसङ्ख्येयकं प्रागुद्दिष्टं निरूपयितुमाह-

एवामेव उक्कोसए संखेज्जए रूवे पक्खित्ते जहण्णयं परित्तासंखेज्जयं भवइ । तेण परं अजहण्णमणुक्कोसयाइं ठाणाइं जाव उक्कोसयं परित्तासंखेज्जयं न पावइ । उक्कोसयं परित्तासंखेज्जयं केवइअं होइ ?। जहण्णयं परित्तासंखेज्जयं,जहण्णयपरित्तासंखेज्जमेत्ताणं रासीणं अन्नमण्णब्भासो रूवूणो उक्कोसं परित्तासंखेज्जयं होइ ।

(एवामेव त्ति) असंख्येयकेऽपि निरूप्यमाणे एवमेवानवस्थितपल्यादिनिरूपणा क्रियत इत्यर्थः । तावद्यावदुत्कृष्टसंख्येयकमागतं, तस्मिंश्च यावदेकं रूपं पूर्वमधिकं दर्शितं तदा तत्रैव राशौ प्रक्षिप्यते तदा जघन्यं परीतासंख्येयकं भवति। (तेण परमित्यादि) ततः परं परीतासंख्येयकस्यैवाजघन्योत्कृष्टानि स्थानानि भवन्ति यावदुत्कृष्टं परीतासंख्येयकं न प्राप्नोति।शिष्यः पृच्छति-कियत्पुनरुत्कृष्टं परीतासंख्येयकं भवति ?। अत्रोत्तरम्-(जहण्णयं परित्तासंखेज्जयं ति) जघन्यपरीतासंख्येयकं यत्प्रमाणं भवतीति शेषः, तावत्प्रमाणानां जघन्यपरीतासंख्येयकमात्राणां, जघन्यपरीतासंख्येयकगतरूपसंख्यानामित्यर्थः । राशीनामन्योन्यमभ्यासः परस्परं गुणनात्मकः एकेन रूपेणोन उत्कृष्टं परीतासंख्येयकं भवतीति।

इदमत्र हृदयम्-प्रत्येकं जघन्यपरीतासंख्येयस्वरूपा जघन्यपरीतासंख्येयके एव यावन्ति रूपाणि भवन्ति तावन्तः पुञ्जा व्यवस्थाप्यन्ते । तैश्च परस्परं गुणितैर्यो राशिर्भवति स एकेन रूपेण हीनमुत्कृष्टं परीतासंख्येयकं मन्तव्यम् । अत्र सुखप्रतिपत्यर्थमुदाहरणं दर्श्यते-जघन्यपरीतासंख्येयके किलासत्कल्पनया पञ्च रूपाणि संप्रधार्यन्ते। ततः पञ्चैव वाराः पञ्च पञ्च व्यवस्थाप्यन्ते।तथाहि-५ । ५ । ५ । ५ । ५ । अत्र पञ्चभिः पञ्च गुणिताः पञ्चविंशतिः । सा च पञ्चभिराहता जातं पञ्चविंशशतमित्यादिक्रमेणामीषां राशीनां परस्पराभ्यासे जातानि एकत्रिंशत्यधिकान्येकत्रिंशच्छतानि । एतत्प्रकल्पनया एतावन्मानः । सद्भावतस्त्वसंख्येयरूपो राशिरेकेन रूपेण गुणहीन उत्कृष्टं परीतासंख्येयमित्यायनन्तरोक्ताद्वियुक्तसंख्येयकादेकस्मिन् रूपे समाकर्षिते उत्कृष्टं परीतासंख्येयकं निष्पद्यते इति प्रतीयत एव । इत्युक्तं जघन्यादिभेदभिन्नं त्रिविधं परीतासंख्येयकम् ॥

अथ तावद्भेदभिन्नस्यैव युक्तासंख्येयकस्य निरूपणार्थमाह-

जहण्णयं जुत्तासंखेज्जयं केवइअं होइ ? । जहण्णयं जुत्तासंखेज्जयं जहण्णयपरित्तासंखेज्जयमेत्ताणं रासीणं अन्नमण्णब्भासो पडिपुण्णो जहण्णयं जुत्तासंखेज्जयं होइ। अहवा उक्कोसए परित्तासंखेज्जए रूवं पक्खित्तं जहण्णयं जुत्तासंखेज्जयं होइ। आवलिआ वि तत्तिआ चेव। तेण परं अजहण्णमणुक्कोसयाइं ठाणाइं० जाव उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयं न पावइ । उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयं केवइअं होइ ? । जहण्णएणं जुत्तासंखेज्जएणं आवलिआ गुणिआ अन्नमण्णब्भासो रूवूणो उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयं होइ । अहवा जहण्णयं असंखेज्जासंखेज्जयं रूवूणं उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयं होइ ॥

(जहण्णयं जुत्तासंखेज्जयं केवइअमित्यादि) । अत्रोत्तरम्-(जहण्णयं परित्तासंखेज्जमित्यादि) व्याख्या पूर्ववदेव। नवरं-(अन्नमण्णब्भासो पडिपुण्णो त्ति) अन्योन्याभ्यस्तः स परिपूर्ण एव राशिरिह गृह्यते,न तु रूपं पात्यत इति भावः। (अहवा उक्कोसए परित्तासंखेज्जए इत्यादि) भावितार्थमेव । (आवलिया तत्तिया चेव त्ति) यावन्ति जघन्ययुक्तासंख्येयके सर्षपरूपाणि प्राप्यन्ते आवलिकायामपि तावन्तः समया भवन्तीत्यर्थः । ततः सूत्रे यत्रावलिका गृह्यते तत्र जघन्ययुक्तासंख्येयकतुल्यसमयराशिमाना सा द्रष्टव्या । (तेण परमित्यादि) ततो जघन्ययुक्तासंख्येयकात्परत एकोत्तरया वृद्ध्या असंख्येयान्यजघन्योत्कृष्टानि युक्तासंख्येयस्थानानि भवन्ति, यावदुत्कृष्टं युक्तासंख्येयकं न प्राप्नोति । अत्र शिष्यः पृच्छति-(उक्कोसयं जुत्तासंखेज्जयमित्यादि) अत्र प्रतिवचनम्-(जहण्णएणमित्यादि) जघन्येन युक्तासंख्येयकेनावलिका समयराशिर्गुण्यते । किमुक्तं भवति?-अन्योन्यमभ्यासः क्रियते,जघन्ययुक्तासंख्येयराशिस्तेनैव राशिना गुण्यत इति तात्पर्यम्। एवं च कृते यो राशिर्भवति स एव एकेन रूपेणोन उत्कृष्टयुक्तासंख्येयकं भवति । यदि पुनस्तदेव तद्रूपं गुण्यते तदा जघन्यमसंख्येयासंख्येयकं जायते । अत एवाह-(अहवा जहण्णयं असंखेज्जासंखेज्जयं रूवूणमित्यादि) गतार्थम् । उक्तं युक्तासंख्येयकं त्रिविधम् ॥

इदानीमसंख्येयासंख्येयकं त्रिविधं विभणिषुराह-

जहएणयं असंखेज्जासंखेज्जयं केवइयं होइ ? । जहएणएणं जुत्तासंखेज्जएणं आवलिआ गुणिआ अएणमएणब्भासो पडिपुण्णो जहण्णयं असंखेज्जासंखेज्जयं होइ । अहवा उक्कोसए जुत्तासंखेज्जए रूवं पक्खित्तं जहणयं असंखेज्जासंखेज्जयं होइ । तेण परं अजहएणमणुक्कोसयाइं० जाव उक्कोसयं असंखेज्जासंखेज्जयं ण पावइ । उक्कोसयं असंखेज्जासंखेज्जयं केवइयं होइ ? । जहएणयअसंखेज्जासंखेज्जयमेत्ताणं रासीणं अएणमएणब्भासो रूवूणो उक्कोसयं असंखेज्जासंखेज्जयं होइ ॥

(जहएणयं असंखेज्जासंखेज्जयमित्यादि) इदं तु सूत्रं भावितार्थमेव । नवरं (पडिपुण्णो त्ति) परिपूर्णो रूपं न पात्यत इत्यर्थः । 'अहवा' इत्याद्यपि गतार्थम् । (तेण परमित्यादि) ततः परं (असंखेज्जासंखेज्जकं केत्तियमित्यादि) अत्रोत्तरम्-(जहएणयं असंखेज्जासंखेज्जयेत्यादि) जघन्यमसंख्येयकं यावद्भवतीति शेषः । तावत्प्रमाणानां जघन्यासंख्येयकरूपं संख्यानामित्यर्थः । राशीनामन्योन्यमभ्यासः परस्परं गुणनास्वरूपः, एकेन रूपेणोन उत्कृष्टमसंख्येयासंख्येयकं भवति । अयमत्र भावार्थः-प्रत्येकं जघन्यासंख्येयासंख्येयकरूपा जघन्याऽसंख्येयाऽसंख्येयका एव यावन्ति रूपाणि भवन्ति तावन्तो राशयो व्यवस्थाप्यन्ते । तैश्च परस्परगुणितैर्यो राशिर्भवति स एकेन रूपेण हीन उत्कृष्टमसंख्येयासंख्येयकं प्रतिपत्तव्यम् । उदाहरणं चात्राप्युत्कृष्टपरीतासंख्येयकोक्तानुसारेण वाच्यम् । अनु० ॥

साम्प्रतमसंख्यातानन्तकस्वरूपमाह—

इय सुत्तुत्तं अन्ने, वग्गियमेक्कंसि चउत्थयमसंखं ।
होइ असंखासंखं, लहु रूवजुयं तु तं मज्झं ॥ ८० ॥

(अन्ने वग्गियमित्यादि) अन्ये आचार्या एके भूय एवमाहुः-यथा-चतुर्थकमसंख्यं जघन्ययुक्तासंख्यातकरूपं, वर्गितं तावतैव राशिना गुणितं सत्, (एक्कंमिति) एकवारं, भवति जायते संपद्यतेऽसंख्यासंख्यं,लघु जघन्य,जघन्यासंख्यातासंख्यातकं भवतीत्यर्थः । अत्रापि मतेऽसंख्यातकमुद्दिश्य मध्यमोत्कृष्टभेदप्ररूपणा पूर्वोक्तेवेति दर्शयन्नाह-(रूवजुय तु तं मज्झं ति) रूपेण सर्वपलक्षणेन युतं रूपयुतम् । तुरवधारणे, व्यवहितसम्बन्धश्च । तदिति-तदेवानन्तराभिहितं जघन्यासंख्येयासंख्येयादिकम् । किं भवतीत्याह-मध्यं मध्यमासंख्येयासंख्येयादिकं भवति ॥ ८० ॥

रूवूणमाइमं गुरु, तिवग्गिउं तं इमं दसक्खेवे ।
लोगागासपएसा, धम्माधम्मेगजीवदेसा य ॥ ८१ ॥

तदेव जघन्यासंख्येयासंख्येयादिकं रूपोनमेकेन रूपेण रहितं सत्,आदिमं तदपेक्षयाऽऽद्यस्य राशेः संबन्धि गुरु उत्कृष्टं भवतीति । अयमत्राशयः-जघन्यासंख्येयासंख्येयकं रूपोनं सद् युक्तासंख्यातकमुत्कृष्टं भवति, जघन्यपरीतानन्तकं रूपोनमसंख्येयासंख्येयकमुत्कृष्टं भवति, जघन्ययुक्तानन्तकं तु रूपोनमुत्कृष्टं परीतानन्तकं भवति, जघन्यानन्तानन्तकं तु रूपोनमुत्कृष्टं युक्तानन्तकं भवतीति । अधुना जघन्यपरीतानन्तकं मतान्तरेण प्ररूपयन्नाह-(तिवग्गिउं तं इत्यादि) तदिति प्रागभिहितं जघन्यासंख्येयासंख्येयकं त्रिर्वर्गयित्वा सदृशद्विराशी, परस्परं त्रीन् वारानभ्यस्येत्यर्थः । अयमत्राशयः-जघन्यासंख्येयासंख्येयकराशेः सदृशद्विराशिगुणनलक्षणो वर्गो विधीयते, तस्यापि वर्गराशेः पुनर्वर्गः क्रियते, तस्यापि वर्गराशेः पुनरपि वर्गो निष्पाद्यते इति । ततः किमित्याह-इमान् वक्ष्यमाणस्वरूपान्, (दसेति) दशासंख्यान् क्षिप्यन्त इति । "कर्मणि घञ्" क्षेपाः-प्रक्षेपणीयराशयस्तान् क्षिपस्व निधेहीत्युत्तरगाथायां सम्बन्धः । तथाहि-लोकाकाशस्य प्रदेशाः, धर्मश्चाधर्मश्चैकजीवश्च धर्माधर्मैकजीवाः, तेषां देशाः प्रदेशाः । अयमत्रार्थः-धर्मास्तिकायप्रदेशाः, अधर्मास्तिकायप्रदेशाः, एकजीवप्रदेशाश्च ॥ ८१ ॥

तथा-

ठिइबंधज्झवसाया, अणुभागा जोगछेयपलिभागा ।
दुएह य समाण समया, पत्तेयनिगोयए खिवसु ॥ ८२ ॥

स्थितिबन्धस्य कारणभूतान्यध्यवसायस्थानानि कषायोदयरूपाण्यध्यवसायशब्देनोच्यन्ते, तान्यसंख्येयान्येव । तथाहि-ज्ञानावरणस्य जघन्यान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणः स्थितिबन्धः, उत्कृष्टतस्तु त्रिंशत्सागरोपमकोटाकोटिप्रमाणः, मध्यमपदे त्वेकद्वित्रिचतुरादिसमयाधिकान्तर्मुहूर्त्तादिकोऽसंख्येयभेदः । एषां स्थितिबन्धानां निर्वर्त्तकान्यध्यवसायस्थानानि प्रत्येकमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि भिन्नान्येव । एवं च सर्वेकस्मिन्नपि ज्ञानावरणेऽसंख्येयानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानानि लभ्यन्ते । एवं दर्शनावरणादिष्वपि वाच्यम् । (अणुभाग त्ति) अनुभागा ज्ञानावरणादिकर्मणां जघन्यमध्यमादिभेदभिन्ना रसविशेषाः, एतेषां चानुभागविशेषाणां निर्वर्त्तकान्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि । ततस्ततोऽनुभागविशेषा अप्येतावन्त एव द्रष्टव्याः, कारणभेदाधीनत्वात्कार्यभेदानाम् । (जोगछेयपलिभाग त्ति) योगो मनोवाक्कायविषयं वीर्यं, तस्य केवलिप्रज्ञाच्छेदेन प्रतिविशिष्टा निर्विभागा भागा योगच्छेदपरिभागाः । ते च निगोदादीनां संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तानां जीवानामाश्रित्य जघन्यादिभेदभिन्ना असंख्येया मन्तव्याः । (दुएह य समाण समय त्ति) द्वयोश्च समयोरवसर्पिण्युत्सर्पिणीकालस्वरूपयोः समया असंख्येयस्वरूपाः । (पत्तेयनिगोयए त्ति) अनन्तकायिकान् वर्जयित्वा शेषाः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिप्रमाः प्रत्येकशरीरिणः, सर्वेऽपि जीवा इत्यर्थः, ते चासंख्येया भवन्ति । निगोदाः सूक्ष्माणां बादराणां चानन्तकायिकवनस्पतिजीवानां शरीराणीत्यर्थः, ते चासंख्याताः । एवमेते प्रत्येकमसंख्येयस्वरूपा दश क्षेपास्तस्मिन् क्षिपस्व ॥ ८२ ॥

अथ राशिदशकप्रक्षेपानन्तरं तस्यैव राशेर्यस्मिन् विहिते यद्भवति तदाह—

पुणरवि तम्मि तिवग्गिए, परित्तऽणंत लहु तस्स रासीणं ।
अब्भासे लहु जुत्ता-णंतं अभव्वजियमाणं ॥ ८३ ॥

पुनरपि (तम्मि त्ति) तस्मिन्ननन्तरोदिते प्रक्षिप्तदशराशौ, त्रिवर्गिते त्रीन् वारान् वर्गिते सति, परीतानन्तं लघु जघन्यं भवति । इदमुक्तं भवति—जघन्यासंख्येयासंख्येयकस्वरूपे वारत्रयं वर्गिते राशौ ते दश क्षेपाः क्षिप्यन्ते । तत इत्थं पिण्डितो यो राशिः संपद्यते स पुनरपि वारत्रयं वर्ग्यते । ततो जघन्यं परीतानन्तकं भवतीति । इदानीं जघन्ययुक्तानन्तकनिरूपणायाह-(तस्स रासीणमित्यादि) तस्य जघन्यपरी-

अधुना 'वियाताए' इति व्याख्यानार्थमाह-

अजराउ तिण्णि पोरिसि, जराउयाणं जरे पडिए तिण्णि ।
निज्जंतुस्सपुरतो, गलियज्जति निग्गलं होज्जा ॥

अजरायुप्रसूतानां तिस्रः पौरुषीः स्वाध्यायं घ्नन्ति अहोरात्रच्छेदं मुक्त्वा, अहोरात्रे तु छिन्ने आसन्नायामपि प्रसूतायां कल्पते स्वाध्यायः, जरायुजानां यावज्जरायुर्लम्बते तावदस्वाध्यायः, जरायौ पतितेऽपि सति तदनन्तरं तिस्रः पौरुषीर्यावदस्वाध्यायः। तथा-उपाश्रयस्य पुरतो नीयमानं तदस्वाध्यायिकं गलितं भवति, तदा पौरुषीत्रयवदस्वाध्यायः । यदि पुनर्निर्गलं भवेत्तदा तस्मिन्नीते स्वाध्यायः ।

"रायपह वूढे" इति व्याख्यानार्थमाह-

रायपहे न गणिज्जति, अह पुण आणत्थ पोरिसी तिण्णि ।
अह पुण वूढं हुस्सा, वासोदेणं ततो सुद्धं ॥

राजपथे यद्यस्वाध्यायिकबिन्दवो गलितास्तदा तदस्वाध्यायिकं न गण्यते। किं कारणमिति चेत् ?, उच्यते-यतस्ततः सर्वतोऽप्यत आगच्छतां गच्छतां च मनुष्यतिरश्चां पदनिपातैस्तोऽशितं भवति। जिनाज्ञा चात्र प्रमाणमतो न दोषः। अतः पुनस्तदस्वाध्यायिकं तैरश्चं राजपथादन्यत्र षष्टिहस्ताभ्यन्तरे पतति तदा तिस्रः पौरुषीर्यावदस्वाध्यायः। अथ तदपि वर्षोदकेन व्यूढं भवेत, उपलक्षणमेतत्-प्रदीपनकेन च दग्धं, तदा शुद्धं तत्स्थानमिति कल्पते स्वाध्यायः ।।

संप्रति " परवयणे साणमादीए " इति व्याख्यानयति-

चोदेति समुद्दिसिउं, मा जो जइ पोग्गलं तु पल्लाहि ।
उदरगतेणं चिट्ठइ, जा ताव उ हो असज्झाओ ॥

अत्र परश्चोदयति-श्वा यदि पौद्गलं तैरश्चं मांसं बहिः समुद्दिश्य (निगाल्य) तत्रागच्छेत, तर्हि यावत्स तत्र तिष्ठति तावत्तेनोदरगतेन पौद्गलेन अस्वाध्यायः कस्मान्न भवति ? ।

सूरिराह—

भण्णति जइ ते एवं, सज्झाओ एव तो उ नत्थि तुहं।
असज्झाइयस्स जेणं, पुण्णोसि तुमं सयाकालं ॥

भण्यते-अत्रोत्तरं दीयते-यदि ते एवं पूर्वोक्तप्रकारेण मतिः, ततस्तव स्वाध्यायः कदाचनापि नास्त्येव। एवकारो भिन्नक्रमः, स च यथास्थानं योजितः। कस्मान्न स्वाध्यायः कदाचनापीति ?, अत आह-येन कारणेन सदाकालं सर्वकालं त्वमस्वाध्यायिकस्य पूर्णः, शरीरस्य रुधिरादिचतुष्टयात्मकत्वात् ।

जइ फुसती तहिँ तुंडं, जइ वा लेढारिएण संचिट्ठे ।
इहरा न होति चोयग, वंतं तं परिणयं जम्हा ॥

यदि श्वा खरण्टितेन मुखेन तत्रागत्याऽऽत्मीयं तुण्डं क्वापि स्पृशति। यदि वा खरण्टितेनैव मुखेन संतिष्ठते, तदा भवत्यस्वाध्यायः, इतरथा यदि पुनर्बहिरेव शुद्धं लीढ्वा समागच्छति तदा न भवति। तथा-यद्यप्यागत्य वमति, तथापि चोदक ! नास्वाध्यायिकम्, यस्मात्तद् वान्तं परिणतम्। एवं मार्जारादिकमप्यधिकृत्य भावनीयम्। गतं तैरश्चम् ।

अधुना मानुषमाह—

माणुस्सगं चउद्धा, अट्ठिं मुत्तूण सयमहोरत्तं ।
परियावण्णविवण्णा, सेसे तिग सत्त अट्ठे वा ॥

मानुषकं मानुषसम्बन्ध्यस्वाध्यायिकं चतुर्द्धा। तद्यथा-चर्म, रुधिरं, मांसमस्थि च। तत्रास्थीनि मुक्त्वा शेषत्रयस्य हस्तशताभ्यन्तरे न कल्पते स्वाध्यायः कालतोऽहोरात्रम्। (परियावन्नविवन्न त्ति) मानुषं तैरश्चं वा यद् रुधिरं तद् यदि पर्यापन्नं तेन स्वभावपरित्यागेन विवर्णान्तरं भवति खादिरकाष्ठसमानमालादिकृतं, तदा स्वाध्यायिकं भवतीति विवर्णं, तस्मिन् पतितेऽपि स्वाध्यायः। (सेस त्ति) पर्यापन्नं विवर्णं मुक्त्वा शेषं स्वाध्यायिकं भवति। (तिग त्ति) तत्र स्त्रियो मासि मासि आर्त्तवमस्वाध्यायिकमागच्छति तत्त्रीणि दिनानि यावदस्वाध्यायः। त्रयाणां दिवसानां परतोऽपि कस्याश्चिद् भवति, परं तदार्त्तवं न भवति, किं तु तद्रक्तं नियमात् परिणतं विवर्णं भवतीति नाऽस्वाध्यायिकं गण्यते। तथा-यदि प्रसूताया दारको जातस्तदा सप्त दिनान्यस्वाध्यायिकम्, अष्टमे च दिवसे स्वाध्यायः कर्त्तव्यः। अथ दारिका जाता तर्हि सा रक्तोत्कटेति, तस्यां जातायामष्टौ दिनान्यस्वाध्यायः, नवमे दिने स्वाध्यायः कल्पते ।

एतमेव गाथाऽवयवं व्याचिख्यासुराह—

रत्तुक्कडा उ इत्थी, अट्ठ दिणा तेण सत्त सुक्कऽहिए ।
तिण्हं दिणाण परेणं, अणाउयं तं महारत्तं ॥

निषेककाले यदि रक्तोत्कटता, तदा स्त्री इति, तस्यां जातायां दिनान्यष्टावस्वाध्यायः। दारकः शुक्राधिकः, तेन तस्मिन् जाते सप्त दिनान्यस्वाध्यायः। तथा-स्त्रीणां त्रयाणां दिनानां परतस्तन्महारक्तमनार्त्तवं भवति, ततो न गणनीयम् ।

दंते दिट्ठे विगिंचए, सेसऽट्ठिग बारसे व वासाइं ।
झामित वूढे सीया-ण पाणमादीण रुद्दघरे ॥

यत्र हस्तशताभ्यन्तरे दारकादीनां दन्तः पतितो भवति तत्र निभालनीयं, यदि दृश्यते तदा परिष्ठाप्यः। अथ सम्यग्मृगयमाणैरपि न दृष्टस्तदा शुद्धमिति कल्पते स्वाध्यायः। अन्ये तु ब्रुवते-तस्य अन्वेषणार्थं कायोत्सर्गः करणीयः। दन्तं मुक्त्वा शेषाङ्गोपाङ्गादिसंबन्धिन्यस्थीनि हस्तशताभ्यन्तरे पतिते द्वादश वर्षाणि न कल्पते स्वाध्यायः। अथ तत्स्थानमग्निकायेन ध्यामितं, पानीयेन वा व्यूढं, तदा शुद्धमिति; ध्यामिते व्यूढे वा स्वाध्यायः कल्पते। तथा-(सीयाण त्ति) श्मशाने यानि कलेवराणि दग्धानि तान्यस्वाध्यायिकानि न भवन्ति, यानि पुनस्तत्र अनाथकलेवराणि न दग्धानि, निखातीकृतानि वा तानि द्वादश वर्षाणि स्वाध्यायं घ्नन्ति। यद्यपि च नाम श्मशानं वर्षोदकेन प्रव्यूढं, तथापि तत्र न कल्पते स्वाध्यायः, मानुषास्थिबहुलत्वात्। (पाणमादीण त्ति) पाणनामाऽऽडम्बरो नाम यक्षो हिरिमिक्कापरनामा दैवतं, तस्याऽऽयतनस्याधस्तात् मानुषाण्यस्थीनि निक्षिप्यन्ते-ततस्तत्र। तथा-मातृगृहे चामुण्डायतने, रुद्रगृहे वाऽधस्तात् मानुषकपालं निक्षिप्येत। ततस्तयोरपि द्वादश वर्षाण्यस्वाध्यायः ।

अमुमेव गाथाऽवयवं व्याचिख्यासुराह-

सीयाणे जं दड्ढं, न तं तु मुत्तूणऽणाहनिहयाइं ।
आडंबर रुद्दमादी-घरेसु हेट्ठऽट्ठिया बारा ॥

श्मशाने यत् दग्धमस्थिजातं तदस्वाध्यायिकं न भवति। तन्मुक्त्वा, शेषाणि यानि न दग्धानि, निखातानि वा, तानि द्वादश वर्षाणि स्वाध्यायं घ्नन्ति। तथा-आडम्बरे आडम्बरयक्षायतने, रुद्र

रुद्रायतने मातृगृहेषु आडम्बराद्दीनामधस्तादस्थीनि सन्ति, तेन कारणेन तत्र द्वादश वर्षाण्यस्वाध्यायः।

असिवोमघायणेसुं, बारस अवमोहियम्मि न करेंति ।
कामिय वूढे कीरइ, आघामियसोहिए चेव ॥

यत्र ग्रामे समुत्पन्नेनाशिवेन भूयान् जनः कालगतः, न च निष्काशितः,यदि वा-अवमौदर्येण प्रभूतो जनो मृतो, न च निष्काशितः, अथवा-आघातस्थानेषु भूयान् जनो मारयित्वा निक्षिप्तो वर्तते। एतेष्वशिवावमौदर्यायतनस्थानेषु पूर्वं विशोधनं क्रियते,विशोधने च क्रियमाणे यद् दृष्टं तत्परित्यज्यते। अदृष्टविषये च देवतायाः कायोत्सर्गं कृत्वा पठन्ति। अथ न क्रियते विशोधनं, ततस्तस्मिन्नविशोधिते द्वादश वर्षाणि यावत् स्वाध्यायं न कुर्वन्ति। अथ तत् अशिवादिस्थानमग्निकायेन ध्यामितं,उदकेन वा प्लावितं, तदा क्रियते तत्र स्वाध्यायः (आघामियसोहिए चेव त्ति) श्मशानं यदि भूयोजनैराघामितं ततस्तस्मिन्नाघामिते शोधनं क्रियते, यद् दृश्यते तद् विविच्यते। एवं शोधिते तस्मिन् भद्रकापुग्रघाताय देवतायाः कायोत्सर्गं कृत्वा स्वाध्यायं प्रस्थापयन्ति ।

डहरग्गामम्मि मए, न करेंती जा न नीणियं होति ।
पुरगामे य महंते, वाडगसाहिं परिहरंति ॥

डहरके क्षुल्लके ग्रामे कोऽपि मृतः, तस्मिन् मृते तावत्स्वाध्यायो न क्रियते यावत् कलेवरं न निष्काशितं भवति । पुरे पत्तने महति वा ग्रामे वाटके साह्यां वा यदि मृतो भवति तदा तं वाटकं साहिं वा परिहरन्ति । किमुक्तं भवति ?, तत्र न कुर्वन्ति स्वाध्यायं यावत्तद्वाटकात् साहीतो वा निष्काशितं भवति, वाटकात् साहीतोऽन्यत्र मृते नास्वाध्यायः ।

जइ य उवस्सयपुरतो, नीइज्जइ तं महव्वियं ताहे ।
हत्थसयंतो जावउ, तावउ न करेंति सज्झायं ॥

यदि तत् कलेवरं मृतकं नीयमानं संयतानामुपाश्रयस्य पुरतो हस्तशताभ्यन्तरेण नीयते, ततो यावत् हस्तशतान्तो हस्तशतं व्यतिक्रामति, तावत् कुर्वन्ति स्वाध्यायम्, हस्तशतं व्युत्क्रान्ते पठन्ति ।

अत्र पर आह-

कोवी तत्थ भणेज्जा, पुप्फादी जाव तत्थ परिसाडी ।
जा दीसंती तावउ, न कीरए तत्थ सज्झाओ ॥

कोऽपि तत्र ब्रूयात्-या तत्र मृतके नीयमाने पुष्पादीनाम्,आदिशब्दात् जीर्णवस्त्रखण्डादीनामुपाश्रयस्य पुरतो हस्तशताभ्यन्तरे परिशाटिः, सा यावत् दृश्यते तावत्तत्र न क्रियते स्वाध्यायः।

अत्र सूरिराह-

भण्णइ न य तं तु तहिं, निज्जंतो मोत्तु हो असज्झायं ।
जम्हा चउप्पगारं, सारीरमतो न वज्जंति ॥

भण्यते-अत्रोत्तरं दीयते-तत्र नीयमानं मृतकं मुक्त्वा अन्यत् पतितकपुष्पादिकं पतितमस्वाध्यायिकं न भवति,यस्मात् शारीरमस्वाध्यायिकं चतुःप्रकारं रुधिरादिभेदतश्चतुर्विधम् । पुष्पादिकं च ततोऽतिरिक्तम्, अतो न स्वाध्यायिकतया तत्र वर्जयन्ति। व्याख्यानमुखं स्वयंतनरुक्तं व्याख्यापयते। व्य०७ उ०। 'ईद' दिने ऽस्वाध्यायः यथा-मदाहिसावधैनाऽप्यभिनवैरदिनानि मिथ्यात्वबाधितेषु अस्वाध्यायदिनानीति कृत्वा त्यज्यन्ते, तद्वत् 'ईद' दिनमपि, केन हेतुना कथं न त्यज्यते ?, केचित्र मतिमन्तस्तद्दिनं त्यजन्ति,आत्मनां का मर्यादा ?,इति प्रश्ने, उत्तरम्-'ईद' दिनास्वाध्यायविषये वृद्धाऽनाचरणमेव निमित्तमवसीयते। ही० ३ प्रका० ११ प्र०।

जे भिक्खू असज्झाए सज्झायं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

जम्मि जम्मि कारणे सज्झाओ ण कीरति तं सव्वं असज्झायं,तं च बहुविहं वक्खमाणं;तत्थ जो करेइ,तस्स चउलहुं, आणाभंगो, अणवत्था, मिच्छत्तं, आयसंजमविराहणा य । नि० चू० १९ उ०। (स्वाध्याये एव स्वाध्यायः कर्तव्य इति ' सज्झाय ' शब्दे चतुर्थभागे वक्ष्यते)

णो कप्पइ णिग्गंथाणं वा णिग्गंथीणं वा अप्पणो असज्झाइए सज्झायं करित्तए, कप्पति णं अण्णमण्णस्स वायणं दित्तिइत्तए ॥

न कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वाऽऽत्मनः समुत्थेऽस्वाध्यायिके स्वाध्याय कर्तुं,किन्तु कल्पते परस्परस्य वाचनां दातुमन्योन्यम्। यदि वा प्रश्नालनानन्तर शाटकबन्ध प्रदत्ते [illegible] तथापि स्वयमपि वाचनां दातुं कल्पते इति वाक्यशेषः।

एतदेव भाष्यकारः सप्रपञ्चमाह-

आयसमुत्थमसज्झा-इयं तु एगविह होइ दुविहं वा ।
एगविहं समणाणं, दुविहं पुण होइ समणीणं ॥

आत्मनः शारीरात्समुत्थं संभूतमात्मसमुत्थमस्वाध्यायिकमेकविधमात्मवति,द्विविधं वा। तत्र यत् एकविधम्-व्रणो भगन्दरादिविषयम, तत् श्रमणानां भवति । श्रमणीनां पुनर्भवति द्विविधम्-व्रणो भगन्दरादिसमुत्थम् , ऋतुभवं च।

तत्र यतनामाह-

धोयम्मि य निप्पगले, बंधा तिन्नेव होंति उक्कोसा ।
परिगलमाणे जयणा, दुविहम्मी होइ कायव्वा ॥

व्रणादौ निःप्रगले धौते [illegible] बद्धे बन्धा उत्कर्षतो भवन्ति । तथाऽपि परिगलति द्विविधेऽपि [illegible] च यतना वक्ष्यमाणा कर्तव्या ।

एतदेव सप्रपञ्चं भावयति-

समणो उ वणे व भगं-दरे व बंधेक्को व वाएइ ।
तह वाउंते बहं, दोहं दो तिन्नि बंधाओ ॥

श्रमणो व्रणे वा,भगन्दरे वा परिगलति हस्तशतात् बहिर्गत्वा विप्रगलं प्रक्षाल्य [illegible] हित्वा [illegible] [illegible] प्रमाणं वा बध्नाति, तत वाचनां [illegible] । यदि तथापि परिगलत्यऽस्वाध्यायिकं,तत [illegible] द्वितीयं बन्धं ददाति, ततो वाचयति । [illegible] [illegible] ददाति [illegible] त्रयो बन्धा [illegible] ।

[illegible] तिन्नि तिन्नि, [illegible] हत्थसयंतरेण धोइं ।
बंधित्ता पुणो वि वाए, गंतुं [illegible] व करेंति ॥

यदा [illegible] [illegible] [illegible]
तदा हस्तशताद् बहिर्गत्वा [illegible] [illegible]

परि चीवरेण बध्वा पुनरपि वाचयति, अन्यत्र वा गन्तुं पठन्ति।

एमेव य समणीणं, वणम्मि इयरम्मि सत्त बंधा उ।
तह वि य अठायमाणे, धोऊणं अहव अन्नत्थ ॥

एवमेव श्रमणीनामपि व्रणविषये यतना कर्त्तव्या भवति। इतरस्मिन्नार्त्तवे सप्त बन्धाः पूर्वप्रकारेण भवन्ति। तथापि व्रणे इतरस्मिन् वाऽतिष्ठति हस्तशतादू बहिः प्रक्षाल्य तथैव बन्धान् दत्त्वा वाचयति, अन्यत्र वा गत्वा पठन्ति।

एतेसामन्नयरे, असज्झाए अप्पणो उ सज्झायं।
जो कुणइ अजयणाए, सो पावइ आणमादीणि ॥

एतेषामनन्तरोदितानामन्यतरस्मिन्नात्मनोऽस्वाध्यायिके सति यः स्वाध्यायं करोति, तत्राप्ययतनया, स प्राप्नोत्याज्ञादीनि तीर्थकराज्ञाभङ्गादीनि दूषणानि, आदिशब्दादनवस्थादिपरिग्रहः।

न केवलमिमे दोषाः किं त्विमे-

सुयनाणम्मि अभत्ती, लोगविरुद्धं पमत्तछलणा य।
विज्जा साहणवेगु-ण्णधम्मया एव मा कुणसु ॥

अस्वाध्यायिके पठने श्रुतज्ञानस्याऽभक्तिर्विराधना कृता भवति, तद्विराधनायां दर्शनविराधना, चारित्रविराधना च, तद्भावे मोक्षाभावः। तथा-लोकविरुद्धमिदं यदात्मनोऽस्वाध्यायिके पठनम्। तथा हि-लौकिका अपि व्रणे आर्त्तवे च परिगलति परिवेषणं देवतार्चनादिकं वा न कुर्वन्ति। तथा-प्रमत्तीभूतस्य प्रान्तदेवतया छलना स्यात्। तथा-यथा विद्या उपचारमन्तरेण साध्यसाधनवैगुण्यधर्मतया न सिध्यति, तथा श्रुतज्ञानमपि। तस्मादू मैवं कार्षीः।

अत्र परावकाशमाह—

चोएइ जइ एवं सो-णियमादीहि होइ सज्झाओ।
तो भरितो च्चिय देहो, एएसिं किह णु कायव्वं ? ॥

परश्चोदयति-यद्येवमुक्तप्रकारेणास्वाध्यायो भवति। तत एतेषां शोणितादीनां देहो भृत इति तत्र कथं स्वाध्यायः ?।

अत्र सूरिराह—

कामं भरितो तेसिं, दंतादी अवजुया तह वि वज्जा।
अणवजुया उ अवज्जा, लोए तह उत्तरे चेव ॥

कामं मन्यामहे एतत्-तेषां शोणितादीनां भृतो देहः, तथापि ये दन्तादयोऽवयुताः पृथग्भूताः, ते वर्ज्या वर्जनीयाः, ये त्वनवयुताः अपृथग्भूता लोके उत्तरे च अवर्ज्या अपरिहर्त्तव्याः।

एतदेव भावयति-

अब्भंतरगमललित्तो, कुणती देवाणमच्चणं लोए।
बाहिरमललित्तो हण, ण कुणइ अवणेइ व ततो णं ॥

आभ्यन्तरमललिप्तोऽपि देवानामर्चनं लोके करोति; बाह्यमललिप्तः पुनर्न करोति। अपनयति वा मलं ततः शरीरात्। एवमत्रापि भावनीयम्।

आउट्टियावराहं, सन्निहिया न खमए जह पडिमा।
इय परलोए दंडो, पमत्तछलणा इह सिया उ ॥

उपेत्य कृतमपराधं सन्निहितामन्निहितप्रातिहार्यप्रतिमा यथा न क्षाम्यति, इति एवममुना प्रकारेण श्रुतज्ञानमपि कृतमपराधं न क्षमते। तत्र परलोकेषु गतिप्रघातो दण्डः, इह लोके प्रान्तदेवताछलना स्यात्।

रागो दोसो मोहो, असज्झाए जो करेइ सज्झायं।
आसायणा व का से, को वा भणितो अणायारो ? ॥

रागात् द्वेषात् मोहाद्वा योऽस्वाध्याये स्वाध्यायं करोति तस्य का कीदृशी फलत आशातना ?, को वा कीदृशः फलद्वारेण भणितोऽनाचारः ?।

तत्र रागद्वेषमोहान् व्याख्यानयति-

गणिसद्दमाइमहितो, रागे दोसम्मि न सहते सद्दं।
सव्वमसज्झायमयं, एमादी होइ मोहे उ ॥

गणी आचार्यः, आदिशब्दादुपाध्यायो गणावच्छेदक इत्यादिपरिग्रहः। एवमादिभिः शब्दैर्महित उत्कर्षितो योऽस्वाध्याये स्वाध्यायं करोति, स रागे द्रष्टव्यः। यस्त्वन्यस्य गणिशब्दमुपाध्यायशब्दं वा न सहते-अहमपि पठित्वा गणी उपाध्यायो भविष्यामीति विचिन्त्य यत्नादरपरोऽस्वाध्यायेऽपि स्वाध्यायं विदधाति, स द्वेषवशातव्यः। यस्तु सर्वमस्वाध्यायमयमित्येवमादि विचिन्त्यास्वाध्यायं करोति, एष भवति मोह इति।

सम्प्रत्याचार्यः फलद्वारेणाऽऽशातनामाह-

उम्मायं व लभेज्जा, रोगायंकं व पाउणे दीहं।
तित्थयरभासिआओ, भस्सइ सो संजमाओ वा ॥
इहलोए फलमेयं, परलोए फलं न देंति विज्जाओ।
आसायणा सुयस्स य, कुव्वइ दीहं तु संसारं ॥

उन्माद वा लभेत, रोगाऽऽतङ्कं वा दीर्घं प्राप्नुयात, तीर्थकरभाषिताद्वा संयमाद् भ्रश्यति, इहलोके विद्या मङ्गश्रुतस्कन्धादिमन्त्रणाः फलं, परलोके च मोक्षलक्षणं न ददति न प्रयच्छन्ति। न केवलं फलदानाभावः, किं तु श्रुतस्याऽऽशातना दीर्घं संसारं करोति। तदेवं फलत आशातनाऽभिहिता।

साम्प्रतमनाचारं फलत आह-

नाणायार विराहिए, दंसणयारो वि तह चरित्तं च।
चरणविराहणयाए, मुक्खाभावो मुणेयव्वो ॥

अस्वाध्याये स्वाध्यायं कुर्वता ज्ञानाचारो विराधितः, तद्विराधनायां दर्शनाचारश्चारित्रं च विराधितम्। चरणविराधनतायां मोक्षाभावः।

अत्रैवापवादमाह—

बितियागाढे सागा-रियादि कालगय असति वुच्छेए।
एएहि कारणेहिं, जयणाए कप्पए काउं ॥

अस्य व्याख्या प्राग्वत्। व्य० ७ उ०। ध०।

जे भिक्खू अप्पणो असज्झाइए सज्झायं करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

अप्पणो सरीरे समुत्थे असज्झाइए ति सज्झाओ अप्पणो ण कायव्वो। परस्स पुण ण वायणा दायव्वा महंतेसु गच्छेसु।

अज्जाउलाण णिच्चो-दयाण व होज्ज ति सज्झाओ।
अरिसाभगंदराणं, इति वायणसुत्तसंबंधो ॥ ११६ ॥

असज्झाइयपच्चओ समणेण य गिलाणोदुपसंनयो णाम सज्झाओ ण भविस्सति, तेण वायणसुत्तं दिट्ठी भण्णति ॥ नि० चू० १४ उ०। अस्वाध्यायदिनत्रयानन्तरं कृत उपवास आलोचना तपसि पतति, न वा? इति पण्डितवरश्रीमानसागरगणिकृतप्रश्नस्य हीरविजयसूरिकृतमुत्तरम्—अस्वाध्यायदिनत्रयानन्तरं कृत उपवास आलोचना तपसि मायाति। ही० २ प्रका०। चैत्राश्विनमासचतुर्मासकद्विकसत्का अस्वाध्यायाः पञ्चमीचतुर्दशीमध्याह्नानन्तरं लगन्ति तथामवयं तिथिभोगापेक्षया, किं वा औदयिकापेक्षयेति प्रश्ने, चैत्राश्विनमासयोः पञ्चमीतिथेरर्द्धोदस्वाध्याया लगन्ति, न तु सूर्योदयात्; एवं चतुर्मासकस्याऽस्वाध्यायोऽपि चतुर्दशीतिथेरर्द्धाल्लगतीति वृद्धसंप्रदाय इति (१५६)। तथा-निर्ग्रन्थोऽपि मरणं भजति, तस्यास्वाध्यायिकं कियतः प्रहरान् यावल्लगतीति प्रश्ने, तिर्यगपि त्रिप्रहराणामुपरि यावत् यस्मिन् तावदऽस्वाध्यायिकं प्रवर्तते इति ज्ञायते (२१३)। तथा-ऽऽश्विनमासाऽस्वाध्यायदिनेषु सिद्धान्तगाथापञ्चकं पठन्ति, तस्य तत्तत्वं कल्पते नवेति प्रश्ने, अस्वाध्यायदिनेषु सिद्धान्तसंबन्धेकगाथापाठोऽपि न शुद्ध्यतीति (२३७)।तथा-सूर्यग्रहणे यद् भवति तदस्वाध्यायिकं कुत आरभ्य कियद्यावद्भवति?, तथा-योगिकानां कियन्ति प्रवेदनानि न शुद्ध्यन्तीति प्रश्ने,यत्सूर्यग्रहणं भवति तत आरभ्याऽहोरात्रं यावदस्वाध्यायिकं, तदनुसारेणैव प्रवेदनमप्युक्तं ज्ञायत इति (२१०)। (सेन० ३ उल्ला०) तथाऽऽश्विनाऽस्वाध्यायिकदिनत्रयमुपदेशमालादिकं गण्यते, तथा चतुर्मासकत्रयास्वाध्यायिके तद्गण्यते नवेति प्रश्ने, तदस्वाध्यायिके दिनत्रयमुपधानमध्ये, न तथा चतुर्मासकत्रये, तस्माच्चतुर्मासकत्रयास्वाध्यायिके उपदेशमालादि गण्यते (५४)। सेन० ४ उल्ला०।

असज्झाइयणिज्जुत्ति—अस्वाध्यायिकनिर्युक्ति-स्त्री०। अस्वाध्यायिकप्रतिपादकाऽऽवश्यकान्तर्गतप्रतिक्रमणाध्ययनमध्यगते भद्रबाहुस्वामिकृते निर्युक्तिग्रन्थे, आव०।

"असज्झाइयनिज्जुत्तिं, वुच्छामी धीरपुरिसपन्नत्तं।
जं नाऊण सुविहिया, पवयणसारं उवलहंति" ॥ १ ॥
"असज्झाइयनिज्जुत्ती, कहिया भे धीरपुरिसपन्नत्ता।
संजमतवड्ढगाणं, निग्गंथाणं महरिसीणं ॥ १० ॥
असज्झाइयनिज्जुत्तिं, जुत्तं जं ताव चरणकरणमाउत्ता।
साहू खवंति कम्मं, अणेगभवसंचियमणंतं" ॥ ११ ॥

गाथाद्वयं निगदसिद्धम्। आव० ४ अ०।

असढ—अशठ-पुं०। शठभावरहिते, ओघ०। रागद्वेषरहिते कालिकाचार्यादिवत्प्रमाणस्थे, बृ० ३ उ०। अभ्रान्ते, द्वा० २ द्वा०। अमायाविनि, जीत०। सरलात्मनि, जीत०। आ० म०। पराऽवञ्चके, ध० १ अधि०। ध० र०। अनुष्ठानं प्रति अनालस्यवति, दर्श०। इन्द्रियविषयनिग्रहकारिणि, नि० चू० १० उ०। सप्तमगुणवत्साधौ, शठो हि वञ्चनप्रपञ्चचतुरतया सर्वस्याप्यविश्वसनीयो भवति। प्रव० २३६ द्वार।

साम्प्रतमशठ इति सप्तमं रत्नमाह–

असढो परं न वंचइ, वीससणिज्जो पसंसणिज्जो य।
उज्जमइ भावसारं, उचिओ धम्मस्स तेणेसो ॥ १४ ॥

शठो मायावी; तद्विपरीतोऽशठः परमन्यं न वञ्चयति नाभिसंधत्तेऽत एव विश्वसनीयः,प्रत्ययस्थानं भवति।इतरः पुनःपुनः वञ्चयन्नपि न विश्वासकारणम्। यदुक्तम्—"मायाशीलः पुरुषो, यद्यपि न करोति किञ्चिदपराधम्। सर्प इवाऽविश्वास्यो, भवति तथाऽप्यात्मदोषहतः"॥१॥ तथा-प्रशंसनीयः श्लाघनीयश्च स्यात्, अशठ इति प्रक्रमः। यदऽवाचि-"यथा चित्तं तथा वाचो,यथा वाचस्तथा क्रियाः। धन्यास्ते त्रितये येषां, विसंवादो न विद्यते" ॥१॥ तथोद्यच्छति प्रवर्त्तते, धर्मानुष्ठाने इति शेषः। भावसारं सद्भावसुन्दरं स्वचित्तरञ्जनानुगतं, न पुनः पररञ्जनायेति; दुष्प्राप च स्वचित्तरञ्जनम्। तथा चोक्तम्-" भूयांसो भूरिलोकस्य, चमत्कारकरा नराः। रञ्जयन्ति स्वचित्तं ये, भूतले तेऽथ पञ्चषाः" ॥ १ ॥ तथा—" कृत्रिमैर्डम्बरैश्चित्रैः, शक्यस्तोषयितुं परः। आत्मा तु वास्तवैरेव, हतकः परितुष्यति" ॥१॥ इति। उचितो योग्यो, धर्मस्य पूर्वव्यावर्णितस्वरूपस्य, तेन कारणेनैषोऽशठः; सार्थवाहपुत्रचक्रदेववत्।

चक्रदेवचरितं त्वेवम्–

अत्थि विदेहे चंपा-ऽऽवासपुरं पउरपउरपरिकलियं।
तत्थाऽऽसि सत्थवाहो, भद्दद्दो रुद्ददेवु त्ति ॥ १ ॥
तस्स य भज्जा सोमा, सहावसोमा कयाइ गिहिधम्मं।
सा पडिवज्जइ गणिणी-पं बालचंदाएँ पासम्मि ॥ २ ॥
तं किंचि विसयविमुहं, दट्ठुं पउट्ठो भणेइ से भत्ता।
मुंच पिए ! धम्ममिमं, भोगंं पि व भोगविग्घकरं ॥ ३ ॥
सा साहइ भोगेहिं, रोगेहि व मह कयं, इमो आह।
किं चइअं दिट्ठमदि-ट्ठकप्पणं कुणसि तं मूढ ! ॥ ४ ॥
सा भणइ इमे विसया, पसुगणसाहारणा वि पच्चक्खा।
आलिस्सारियाफलओ, विकिस्सधम्मो समक्खो ते ॥ ५ ॥
सत्तरदुगाणअसत्तो, विलक्खचित्तो अइय स विरत्तो।
आलवणाइविरत्तो, तीए समं थयइ सव्वत्तो ॥ ६ ॥
अन्नं मग्गइ कन्नं, सोमा अत्थि त्ति सहइ न य तोसो।
तम्मारणहेउमहिं, ठवइ गिहंतो घडे खिविउं ॥ ७ ॥
भणइ पिए ! अमुगघडा-व दाममाणेसु सा वि सरलमणा।
जा खिवइ करं कुंभे, ता डक्का कसिणउरगेण ॥ ८ ॥
डक्का अहं ति पडणो, सा साहइ सो वि गाढसढयाए।
गारुडिया गारुडिया, इच्चाइ करेइ हलबोलं ॥ ९ ॥
सिग्घ तं उग्घडियं, चिउरेहिं निवडिय व दसणेहिं।
विसभीएहि व पाणे-हिं दूरदूरेण ओसरियं ॥ १० ॥
अचइय सोमा सोहं-मकप्पलीलाथयंसमुवमाणे।
पलिओवमट्ठिइया, सोमा सुरसुंदरी जाया ॥ ११ ॥
रुद्दो स रुद्ददेवो, नागसिरिं नागदत्तसिट्ठिसुयं।
परिणीय नीइवाहा-इ हुंजिउं पंचविहविसए ॥ १२ ॥
रुद्दज्झाणोवगओ, नरयावासम्मि पढमपुढवीए।
आउक्खडाभिहाणे, पलियाऊ नारओ जाओ ॥ १३ ॥
अह सो सोमाजीवो, चविउं सोहम्मओ विदेहम्मि।
मेलम्मि सुंसुमारे, जाओ दंती धवलकंती ॥ १४ ॥
इयरो वि तओव्वट्टिय, जाओ कीरो तहिं चिय गिरिम्मि।
कीरीएँ सह रमंतो, गरमासामासिरो भमइ ॥ १५ ॥
कइया वि तं गइंदं, करेणुयानियरपरिगयं दट्ठुं।
पुव्वजवब्भासाओ, बहुलीबहुलो विचिंतेइ ॥ १६ ॥
विसयसुहाउ इमाओ, किह णु मए वंचियव्वओ एस।
एवं उवायचिंतण-पवणो पत्तो सए नीडे ॥ १७ ॥
ता तत्थ चंदलेहा-भिहाणखयरिं हारिउं भंपत्तो।
हीलाइय इति खयरी, भयभीओ भणइ तं कीरं ॥ १८ ॥
भो ! इय गिरिनिउंजे, चिंतामेगो इहागमो खयरो।

न हु से कहियव्वोऽहं, गओऽयमसो कहेयव्वो ॥ १९ ॥
तो कीर ! खीरमहुमहुर-वयण ! मह एयमुवकयं तुमए ।
तुज्झ वि अहं अवस्सं, करिस्समणुरूवमुवयारं ॥ २० ॥
अह आगओ स खयरो, अदट्ठु लीलारइं पडिनियत्तो ।
कहियं सुएण एयं, इमस्स सो हरिसिओ हियए ॥ २१ ॥
इत्थंतरम्मि तत्था-गयं गयं तं जहिच्छिया भमिरं ।
पासित्तु चिंतइ सुओ, अहह अहो ! सुंदरोऽवसरो ॥ २२ ॥
तो नियडिनियडिनाडिओ, ठावं कारिसंनिहिम्मि भणइ पियं ।
भणियं घोसिहारिसिणा, कामियतित्थं इमं खित्तं ॥ २३ ॥
जो इत्थ भिगुनिवायं, करेइ सो लहइ कामियं खु फलं ।
इय भणिय पियाए समं, तहिं वि पत्तो निलुक्को य ॥ २४ ॥
तव्वयणपेरिओ पुण, लीलारइखेयरो पियासहिओ ।
चलचवलकुंडलधरो, उप्पइओ गयणमग्गम्मि ॥ २५ ॥
तं दट्ठु चिंतइ करी, कामियतित्थं इमं खु जं इइयं ।
खेयरमिहुणं जायं, पक्खियं किर कीरमिहुणं पि ॥ २६ ॥
ता किं इमिणा तिरिय-त्तणेण मज्झं ति चिंतिय नगाओ ।
झंपावइ सो तहियं, अहुट्ठियं कीरमिहुणं तं ॥ २७ ॥
संचुन्नियंगुवंगो, हत्थी गरुदट्टियाओ वि विवणाए ।
मरिय सुहज्झवसाओ, जाओ वंतरसुरो पवरो ॥ २८ ॥
अइमयकिलिट्ठचित्तो, विसयपमत्तो सुओ वि संपत्तो ।
रयणाइलोहियक्खे, नरए अइतिक्खदुक्खक्खे ॥ २९ ॥

इतश्च–

अत्थि विदेहे सिरिच-क्कवालनयरम्मि सत्थवाहवरो ।
अप्पडिहयचक्कम्मो, सुमंगला पणइणी तस्स ॥ ३० ॥
अह सो करिदजीवो, चविऊणं ताण नंदणो जाओ ।
नामेण चक्कदेवो, सया वि गुरुजणविहियसेवो ॥ ३१ ॥
उव्वट्टिय रयणे वि दु, जाओ तत्थेय जन्नदेवु त्ति ।
सोमपुरोहियपुत्तो, दुवे वि तरुणत्तमणुपत्ता ॥ ३२ ॥
अब्भासवसपवंहि, जाया मित्ती तेसिमन्नोन्नं ।
पुव्वभवकम्मदोसा, कया वि चिंतइ पुरोहियसुओ ॥ ३३ ॥
कह एस चक्कदेवो, इमाउ धणुप्फलच्छियिप्परओ ।
पाविहिइ पुडं भंसं, हुं नायं अत्थि इह उवाओ ॥ ३४ ॥
चंदणसत्थाहगिहं, मुसिउं दविणं खिवित्तु एयगिहे,
काहं निवस्स पुरओ, मंसिस्सं संपयाउ इमं ॥ ३५ ॥
काउं तहेव स भणइ, वयंस ! गोवेसु मज्झ दविणमिणं ।
नियगेहे सो वि भणइ, एवं चिय कुणइ सरलमणो ॥ ३६ ॥
अन्ना दुरे पवत्ता, मुट्ठं चंदणगिहं ति सो पुट्ठो ।
सत्थाहसुयवेसो, दविणमिणं कस्स भो मित्त ! ? ॥ ३७ ॥
सो भणइ मज्झ दव्वं, नायभया गोविय तुह गिहम्मि ।
[illegible] ॥ ३८ ॥
[illegible] ॥ ३९ ॥
[illegible] ॥ ४० ॥
[illegible] ॥ ४१ ॥
[illegible] ॥ ४२ ॥
(राजा) मो संतोससुहारस-पाणप्पवणो सुणिज्जए सययं ।
(यज्ञदेवः) अवि तरुणो दविणमिणं, पाविय पावेहि पसरंति ॥ ४३ ॥
(राजा) नणु सो महाकुलीणो,
(यज्ञदेवः) को दोसो इह कुलस्स विमलस्स ? ।
अइपयरलपरिमलेसु वि,
कुसुमेसु न हुंति किं किमओ ? ॥ ४५ ॥
(राजा) जइ एवं ता किज्जउ, समंतओ गेहसोहणं तस्स ।
(यज्ञदेवः) एवं किं देवस्स वि, पुरओ जंपिज्जए अए अलियं ॥ ४६ ॥
तो निवइणा तलारो, चंदणभंडारिएण सह भणिओ ।
भो ! चक्कदेवगेहे, नट्ठं दव्वं गवेसेहि ॥ ४७ ॥
सो चिंतइ नरवइणा, अहह ! असंभावणिज्जमाइट्ठं ।
किं कइया पाविज्जइ, रविबिंबे तिमिरपब्भारो ? ॥ ४८ ॥
अहवा पहुणो आणं, करेमि पत्तो तओ गिहे तस्स ।
पभणइ चंदणदव्वं, नट्ठं जाणेसि भो भद्द ! ॥ ४९ ॥
(चक्रदेवः) नहु नहु मुणेमि किंचि वि,
(तलवरः) तो भो ! तुमए न कुप्पियव्वं मे ।
जं रायसासणेणं, तुह गेहं किंपि जोइस्सं ॥ ५० ॥
(चक्रदेवः) कोवस्स को णु समओ,
सया पयापालणत्थमेव जओ ।
नयकुलहरस्स देव-स्स एस सयलो वि संरंभो ॥ ५१ ॥
तो तलवरो गिहंतो, पविसिय जा निउणयं निहालेइ ।
ता कंचणवासणयं, चंदणनामंकियं लद्धं ॥ ५२ ॥
तो भणइ सदुक्खमिमो, कुओ नए चक्रदेव ! एसमिणं ।
किह मित्तत्थवणीयं, पयडेमि नियं ति सो भणइ ॥ ५३ ॥

तलवरः–

कह चंदणनामंकं, (चक्र०) नामविवज्जासओ कह वि जायं ।

तलवरः–

जइ एवं ता कित्तिय-मित्तं इह वासणे कणगं ॥ ५४ ॥

चक्रदेवः–

चिर गोवियं ति न तहा, सुमरेमि अहं सयंचिय निएह ।

तलवरः–

भंडारिय ! किमित्तं, धणमिह सो आह अतुलमियं ॥ ५५ ॥
तो छोडाविय नउलं, नियंति सव्व तहेव त मिलियं ।
भणइ पुणो रक्खिवई, भो भद्द ! फुडक्खरं कहसु ॥ ५६ ॥
अह धीमत्थं सहयं, गुज्झमिय कीलियं पवित्तम्मी ।
मित्तं दूसेमि कह, तो चक्रदेवो पुणाह नियं ॥ ५७ ॥

तलवरः–

कित्तियमित्तं परमं-तियं धणं तुह गिहम्मि चिट्ठेइ ।

चक्रदेवः–

नियं पि अत्थि बहुयं, पच्चक्खं मम परधणेणं ॥ ५८ ॥
तो तलवरेण सव्वं, गिहं नियंतेण तं धणं पत्तं ।
कुविएण चक्कदेवो, हडेण नीओ निवसमीवे ॥ ५९ ॥
रन्ना भणियं नणु जह, अणहियवक्कमप्पयवाहएणुए ।
भद्द ! चिंतवइ इमं भो, करेसु को इत्थ परमत्थो ? ॥ ६० ॥
परदोसकहणविमुहो, न किंचि जा जंपए एसो ताहे ।
बहुयं विडंबिऊण, निव्विसओ कारिओ रन्ना ॥ ६१ ॥
अह सो विणावराहं, गुरुपरिनवदुहदुमसमाहियसरीरो ।
चिंतइ किं मम एयं, पलयमाणस्स जीवणं ? ॥ ६२ ॥
"वरं प्राणपरित्यागो, मा मानपरिखण्डना ।
प्राणत्यागे क्षणं दुःखं, मानभङ्गे दिने दिने" ॥ ६३ ॥

इय चिंतिय पुरपाहिं, पइविकाविणि जाव बंधए अप्पं।
ता तग्गुणगणरंजिय-हियया पुरदेवया भणि ॥ ६४ ॥
जाउं निरञ्जणाभिमुहे, निवपुरओ तं कहेइ वुत्तंतं ।
उल्लंघणपरंतं, तो दुहिओ चिंतए राया ॥ ६५ ॥
"उपकारिणि विश्रब्धे, आर्यजने यः समाचरति पापम् ।
तं जनमसत्यसंधं, भगवति वसुधे! कथं वहसि ?" ॥ ६६ ॥
इय परिभाविय रन्ना, पुरोहिपुत्तं धराविउं तुरियं ।
तस्स गयणं दिट्ठो, सत्थाहसुओ तह कुणंतो ॥ ६७ ॥
छिंदिय झत्ति पासं, सो गयमारोविऊण हिट्ठेण ।
महया वि वित्थरेणं, पवेसिओ नयरमज्झम्मि ॥ ६८ ॥
भणिओ य भो महायस !, तुज्झ कुलीणस्स जुत्तमेव इमं ।
तह पुच्छिरस्स वि ममं, जं परदोसो न ते कहिओ ॥ ६९ ॥
किं तु तुह जमवरद्धं, अयाणमाणएहिं इह ऽम्हेहिं ।
तं खमियव्वं सव्वं, खमापहाणा हु सप्पुरिसा ॥ ७० ॥
इत्थंतरे भडेहिं, बंधिय तत्थाऽऽणिओ पुरोहिसुओ ।
रोसारुणनयणेणं, रन्ना वज्झो समाणत्तो ॥ ७१ ॥
तो भणइ चक्कदेवो, बद्धंजलिहियएण पणइसरलेण ।
महमित्तेण इमेणं, किं नाम विरूवमायरियं ? ॥ ७२ ॥
पुरदेवयाएँ कहियं, कहइ निवो दुट्ठचिट्ठियं तस्स ।
अन्नुन्नरनरियचित्तो, सो चिंतइ सत्थवइपुत्तो ॥ ७३ ॥
अमयरसाउ विसं पि व, ससहरबिंबाउ अग्गिवुट्ठि व्व ।
परिसमित्ताउ इमं, किमसममसमंजसं जायं ? ॥ ७४ ॥
एवं सो परिभाविय, गाढं निवडित्तु निवइचलणेसु ।
मोयावइ नियमित्तं, तो हिट्ठो भणइ नरनाहो ॥ ७५ ॥
"उपकारिणि वीतमत्सरे वा, सदयत्वं यदि तत्र कोऽतिरेकः ?।
अहिते सहसाऽपराधलब्धे, सघृणं यस्य मनः सतां स धुर्यः ७६।
अह सत्थवाहपुत्तो, सयवत्तसुपत्तनिम्मलचरित्तो ।
भडचडगपरीयरिओ, नियगेहे पेसिओ रन्ना ॥ ७७ ॥
तेणावि जन्नदेवो, आहविओ पणयसारवयणेहिं ।
सक्कारिय संमाणिय, पट्ठविओ नियगभवणम्मि ॥ ७८ ॥
जाओ जणप्पवाओ, धन्नो एसेव सत्थवाहसुओ ।
अवयारपरे वि नरे, इय जस्स मई परिप्फुरइ ॥ ७९ ॥
वेरग्गमग्गलग्गो, कयावि सिरिधम्मभूइगुरुपासे ।
गिण्हेइ चक्कदेवो, दिक्खं दुहकक्खदहणसमं ॥ ८० ॥
बहुकालं परिपालिय, सामन्नं सो अपावसामन्नं ।
जाओ अजियविमाणे, नवअयराऊ सुरो धन्नो ॥ ८१ ॥
तत्तो चविय विदेहे, अरिअजिए मंगलावईविजए ।
बहुरयणे रयणउरे, सत्थप्पहुरयणसारस्स ॥ ८२ ॥
सिरिमइपियाएँ जाओ, चंदणसार त्ति नंदणो तस्स ।
कंता य चंदकंता, दुवे वि जिणधम्मपरिकलिया ॥ ८३ ॥
मरिउं स जन्नदेवो, वि दुक्खपुढवीएँ नारओ जाओ ।
पुण आहेडयसुणओ, मरिउं तत्थेव उववन्नो ॥ ८४ ॥
तत्तो भमिय बहुभवं, जाओ सो रयणसारदासिसुओ ।
अहणगनामा वीई, पुत्तुत्ता तेसि संजाया ॥ ८५ ॥
अन्नदिणे रयणउरं, दिसि असाण गयम्मि निवइम्मि ।
सबरवइ विज्झकेऊ, भंजिय गिण्हइ बहुं बंदं ॥ ८६ ॥
हरिया य चंदकंता, सेसजणो को वि कत्थ वि य नट्ठो ।
आवासिओ य पल्लिं, सबरवई जिणकूवतडे ॥ ८७ ॥
अन्नदिणे सयसद्दिणे, निम्मायसेसे पयाणकालम्मि ।
अइरहसवसपुरक्खलइ-निवनियकिंकरेसु निवेसु ॥ ८८ ॥
वत्तालकाहलातर-लयइलरवपसरभरियनहविवरे ।
अग्गाणीयम्मि गए-तयम्मि दीणे य बंदिजणे ॥ ८९ ॥
सा चंदणपाणपिया, सहीसनियसीलखंडणभएण ।
पंचनमुक्कारपरा, झंपावइ तम्मि कूवम्मि ॥ ९० ॥
भवियव्वयानिओगा, पडिया नीरम्मि जीविया तेण ।
पडिकूवयम्मि ठाउं, गमेइ सा वासरे कइ वि ॥ ९१ ॥
इत्तो य गया धाडि-त्ति चंदणो नियपुरे समणुपत्तो ।
दइया हड त्ति नाउं, जाओ अइविरहदुहदुहिओ ॥ ९२ ॥
तो तीएँ मोयणत्थं, संबलयं दविणजायय गहियं ।
अहणगवीओ चलिओ, वारेण वहंति त भारं ॥ ९३ ॥
पत्ता कमेण तं जि-ण्णकूवदेसं तया पुणो अत्थि ।
धणजायं पासे दा-सयस्स इयरस्स पाहेयं ॥ ९४ ॥
तो पुव्वजवञ्झासा, दासो चिंतइ सुहं-रयणिमणं ।
अत्थमिओ गयणमणी, ओच्छसिओ गरुयतिमिरभरो ॥ ९५ ॥
ता इत्थ कूवकुहरे, खिविऊणं सत्थवाहसुहमेयं ।
धणजाएण इमेणं, भवामि भोगाण आभागी ॥ ९६ ॥
तो भणइ निविडनियडी, जिमं तिसा वाहए ममं सामि!।
सोवि हु सहावसरलो, जा कूवे नियइ तत्थ जलं ॥ ९७ ॥
ता तेण पावपन्ना-रपिल्लिएण स पिल्लिओ अयडे ।
तस्स वि पएसाओ, पाविट्ठो अहणगो णट्ठो ॥ ९८ ॥
अह चंदणो झलतो, सिरठियपाहेयपुट्टलो पडिओ ।
पडिकूवे लहु लग्गो, य चंदकंता कह वि छित्ता ॥ ९९ ॥
भयविहला भणइ नमो, अरिहंताणं ति तं सरेण फुडं ॥
उवलक्खिय आह इमो, जिनधम्माणं अजयमजयं ॥ १०० ॥
तं सुणिय सुणिय दइयं, सरेण रोयइ तारतारमिमा ।
तो अन्नुन्न सुहदुह-वत्ताहिं गमंति तं रयणिं ॥ १०१ ॥
उइए सहस्सकिरणे, तं पाहेयं दुवे वि भुंजंति ।
कइवयदिणेसु एवं, पक्खीणं संबलं सव्वं ॥ १०२ ॥
अह चंदणो पयंपइ, दइए! पयाउ वियडअवडाओ ।
गंभीराउ नवाउ य, उत्तारो दुत्तरो नूणं ॥ १०३ ॥
तम्हा कुणिमोऽणसणं, मा मणुयभवं निरत्थयं नेमो ।
इय जा कहेइ ता से, दाहिणनयणेण विप्फुरियं ॥ १०४ ॥
इयरीए वामेण, सो आह पिए! अंगफुरणेहिं ।
एस किलेसो न चिरं, होही अम्हं ति तक्केमि ॥ १०५ ॥
इत्थऽन्तरम्मि पत्तो, सत्थवई नंदिवद्धणो तत्थ ।
रयणउरनयरगामी, उदयत्थं पेसए पुरिसे ॥ १०६ ॥
ते जा नियंति कूवं, ता चंदणचंदकंतमभिदट्ठुं ।
साहिंसु सत्थवइणो, कड्ढंति य मंचियाएँ लहुं ॥ १०७ ॥
पुट्ठो य सत्थवइणा, वुत्तंतं कहइ चंदणो सव्वं ।
संचलिओ नियनयरा-भिमुहं धूओ य दिणगणगं ॥ १०८ ॥
दिट्ठो तेण निवपहे, छुट्ठदिणे हरिविदारिओ पुरिसो ।
नाउं धणोवलंभा, हहा! वराओ अहणगु त्ति ॥ १०९ ॥
तं दव्वं गहिऊणं, पत्तामसुविसुज्झमाणपरिणामो ।
रयणउरे संपत्तो, पत्ते सुनिउंजिउं दव्वं ॥ ११० ॥
गिण्हिय विजयवद्धण-सूरिसमीवेऽप्पवज्जपव्वज्जं ।
जाओ य सुक्कपत्ते, सोलससागरठिई अमरो ॥ १११ ॥
सो चविउं इह भरहे, रहवीरपुराभिहाणनयरम्मि ।
गेहवइनंदिवद्धण-सुंदरिपुत्तो इमो जाओ ॥ ११२ ॥
सामेणऽणगदेवो, अरागदेसु व्व वहलकम्मेण ।
सिरिदेवसेणगुरुणो, पासे पडिवन्नगिहिधम्मो ॥ ११३ ॥

योगविधिभिर्गानुष्ठानकारके, वृ० ६ उ० । " असदक्करणो नाम साव-धाइमनो श्राण मायाए भति असदो होऊण करणिज्जं करेति " । (न शठो धर्मादौ विषादाभिप्रायेण) नि० चू० १० उ० ।

असदलाव-असदालाप-पुं० । अमायाविनि, व्य० ४ उ० । गुणाधिके, आव० ६ अ० । स्वपर्यायं प्रति मान्द्यं कुर्वाणे, नि०चू० १० उ० ।

असण-अशन-न० । अश भोजने, ल्युट् । भोजने, नि० चू० ११ उ० । स्था० । सूत्र० । अश्यते इत्यशनम् । अश भोजने इत्यस्मात् ल्युट् । ध० २ अधि० । तच्च लौके, लोकोत्तरिके तु प्रायः क्षुधां शमयति इति "ओदनादिपक्वान्नं वा" आ० चू० ६ अ० । ओदनादिभेदे, प्रव० ४ द्वार । दश० । आचा० । आव० । उपा० । दर्श० ।

तत्र अशनमाह–

असणं ओअणसत्तुग–मुग्गजगाराइ खज्जगविही य ।
खीराइ सूरणाई, मंडगपभिई उ विन्नेयं ॥

आदिशब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः सर्वत्र संबध्यते । तत्र ओदनादि, सक्त्वादि, मुद्गादि, जगार्यादि, जगारीशब्देन समयभाषया "रब्बा" भण्यते । तथा खज्जकविधिश्च– खाद्यक-मण्डिका-मोदक-सुकुमारिका-घृतपूर-लपनश्री-स्वर्यच्युतप्रभृतिपक्वान्नविधिः । तथा–क्षीरादि, आदिशब्दाद्दधि-घृत-तक्र-तीमन-रम्भाद्यादिपरिग्रहः । तथा–सूरणादि, आदिशब्दादार्द्रकादिसकलवनस्पतिविकारस्य ग्रहणपरिग्रहः । मण्डकप्रभृति च-मण्डका प्रभृतिर्यस्य वटिका-सुखरिका-चूरीयका-दुर्दुरिका-प्रमुखस्य खज्जकस्य तन्मण्डकप्रभृति, विज्ञेयं ज्ञातव्यमशनम् । प्रव० ४ द्वार । " असणाणि य चउसट्ठी " स० ।

" असणं ओयण सत्तुय, मंडग पयरय विद्द जगराइ ।
कंदयमाई सव्वा, खज्जयविही सत्त विगई य ॥ ३९ ॥
असणम्मि सत्त विगई, माहम गुल महु सुरा य पाणम्मि ।
खाइम पक्क फला–ण उहणय सत्तमसणम्मी ॥ ४० ॥
चण ओइ मसुर तुवरी, कुलत्थ निप्फाव मुग्ग मासा य ।
चवल कलाया राई, पसुदं डुहसं च निद्दह ॥ ४१ ॥
तिल अयसि सिद्धिद कंगू, कुद्दव धणुयादयं सिणेहजं ।
भणंति केइ दुहसे, पायं धन्नु व्व तं सव्वं ॥ ४२ ॥
कट्टहयं पक्कसं, तक्कर दहि दुद्धपाय मीसं जं ।
जमणंतकायजायं, पत्त फलं पुप्फ बीयं च ॥ ४३ ॥

प्रज्ञा० । स्था० । ह्रा० ।

असणग-अशनक-पुं० । बीजकाभिधाने वनस्पतिभेदे, औ० ।

असणदाण-अशनदान-न० । अश्यत इत्यशनमोदनादि, तस्य दानमशनदानम् । तस्मिन्नशनदाने अशनशब्दः पानाद्युपलक्षणार्थः । आहारदाने, पं० व० २ द्वार । श्राव० ।

असणाइणिमंतण-अशनादिनिमन्त्रण-न० । गुरोराहारनिमन्त्रणे, ध० । अशनादिनिमन्त्रणमिति । अशनादिभिरशन-पान-खादिम-स्वादिम-वस्त्र-पात्र-कम्बल-पादप्रोञ्छन-प्रातिहारिकपीठफलक-शय्यासंस्तारकौषधभैषज्यादिभिः निमन्त्रणं, प्रस्तावाद्गुरोरेव । तत्र गुरोः पादयोर्लगित्वा "इच्छकारि भगवन् ! पसायकरी फासुएण एसणिज्जेण असणपाणखाइमसाइमेणं वत्थपडिग्गहकम्बलपायपुञ्छणेणं पाडिहारियपीढफलगसिज्जासंथारएणं ओसहभेसज्जेण य भयवं ! अणुग्गहो कायव्वो त्ति" पाठपूर्वं भक्त्या कार्यम् । एतच्चोपलक्षणं शेषकृत्यप्रश्नस्यापि । यतो दिनकृत्ये "पच्चक्खाणं च काऊण, पुच्छए सेसकिच्चयं । कायव्वं मणसा काउं, ओभणं च करे क्रमं" ति । 'पुच्छए' इत्यादिना पृच्छति साधुधर्मनिर्वाहशरीरनिराबाधवार्त्तादिशेषकृत्यम् । यथा-निर्वहति युष्माकं संयमयात्रा, सुखं रात्रिर्गता भवतां, निराबाधाः शरीरेण यूयं, न बाधते वः कश्चिद्व्याधिः, न प्रयोजनं किञ्चिदौषधादिना, नार्थः कश्चित् पथ्यादिनेत्यादि । एवं प्रश्नश्च महानिर्जराहेतुः । यदुक्तम्–'अभिगमणवंदणनमं-सणेण पडिपुच्छणेण साहूणं । चिरसंचिअं पि कम्मं, खणेण विरलत्तणमुवेइ' ॥ १ ॥ प्राग्वन्दनावसरे च सामान्यतः 'सुहराइं सुहतवसरीरनिराबाध' इत्यादिप्रश्नकरणेऽपि, विशेषेणात्र प्रश्नः सम्यग्स्वरूपपरिज्ञानार्थः, तदुपायकरणार्थश्चेति प्रश्नपूर्वं निमन्त्रणं युक्तिमदेवेति । संप्रति त्विदं निमन्त्रणं गुरूणां बृहद्वन्दनदानानन्तरं श्राद्धाः कुर्वन्ति, ये च प्रतिक्रमणं गुरुभिः सह कृतं, स सूर्योदयादनु यदा स्वगृहात् याति, तदा तत्करोति; येन च प्रतिक्रमणं बृहद्वन्दनकं चेत्युभयमपि न कृतं, तेनापि वन्दनावसरे एवं निमन्त्रणं क्रियते; तत्रश्च यथाविधि तत्कालमिति । एष बहिर्द्वारस्य विधिः । कारणविशेषे तु तत्प्रतिषेधेऽपि गम्यते, तत्राप्येष एव विधिः, अप्रेतनोऽपि च ।

कारणान्याह–

परियाय-परिस-पुरिसे, खेत्तं कालं च आगमं नच्चा ।
कारणजाए जाए, जहारिहं जस्स जं जोग्गं ॥ ४ ॥

पर्यायो ब्रह्मचर्यं, तत् प्रभूतकालं येन पालितं, परिषद् विनीता साधुसंहतिः, तत्प्रतिबद्धं पुरुषं ज्ञात्वा; कथम् ?, कुलगुणमहत्कार्याण्यभ्यासे यस्यानीति; एवं तदर्थानं क्षेत्रमिति; कालमवमप्रतिजागरणमस्य गुण इति, आगमं सूत्रार्थोभयरूपमस्यास्तीति ज्ञात्वेति ।

साम्प्रतमेतदकरणे दोषमाह–

एआइ अकुव्वंतो, जहारिहं अरिहदेसिए मग्गे ।
ण भवइ पवयणभत्ती, अभत्तिमंताइआ दोसा ॥ ५ ॥

तथा–

उप्पन्नकारणम्मी, किइकम्मं जो न कुज्ज दुविहं पि ।
पासत्थाईआणं, उग्घाया तस्स चत्तारि ॥ ६ ॥

(दुविहं पीति) अभ्युत्थानवन्दनलक्षणम्, इत्यलं प्रसङ्गेन । ध० २ अधि० ।

असणि-अशनि-पुं० । पविरित्यस्य पर्यायः । दे० । आकाशे पतन्त्यग्निमये कणे, प्रज्ञा० १ पद । विशेषे, सू० प्र० २० पाहु० । सं० । विद्युत्पुञ्जे, वाच० ।

असणिमेह-अशनिमेघ-पुं० । करकादिनिपातवति पर्वतादिदारणसमर्थजलत्वेन वा वज्रमेघे, भ० ७ श० ६ उ० ।

असणी-अशनी-स्त्री० । बलेः सोमस्य महाराजस्याग्रमहिष्याम्, भ० १० श० ५ उ० । स्था० ।

असण्णि (ण्)-असंज्ञिन्-पुं० । संज्ञिविपरीतोऽसंज्ञी । विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानविकले, कर्म० ४ कर्म० । "नेरइया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–सण्णि चेव, असण्णि चेव । एवं पंचिंदिया

सव्वे विगलिंदियवज्ज० जाव वेमाणिया" स्था० २ ठा० ४ उ०। पं० सं० । नं० । " असणि दुविहा-अणागाढमिच्छदिट्ठी, आगाढमिच्छदिट्ठी य " नि० चू० ५ उ० ।

असण्णिआउय-असंज्ञ्यायुष्-न० । असंज्ञिना सता बद्धे परभवप्रायोग्ये आयुषि, भ० १ श० २ उ० । ("आउ" शब्दे द्वितीयभाग १५ पृष्ठे १३ अधिकारे चैतद् व्याख्यास्यते)

असण्णिभूय-असंज्ञिभूत-पुं० । मिथ्यादृष्टौ, भ० १ श० २ उ० ।

असण्णिसुय-असंज्ञिश्रुत-न० । मिथ्यादृष्टिश्रुते, तच्च कालिकोपदेशेन हेतूपदेशेन दृष्टिवादोपदेशेन च त्रिविधम् । नं० । आ० चू० (' सण्णिसुय ' शब्दे चैतत् वक्ष्यते) ।

असण्णिहिसंचय-असंनिधिसंचय-पुं० । न विद्यते संनिधेः पर्युषितखाद्यादेः सञ्चयो धारणं येषां ते तथा। संनिधिशून्ये युगलिकमनुष्ये, जं० २ वक्ष० । तं० । जी० ।

असती-असती-स्त्री० । असंप्राप्तौ, नि० चू० १२ उ० । " पमाएण वा असती चुक्कखलिएण वा " महा० ५ अ० ।

असत्त-अशक्त-त्रि० । असमर्थे, दर्श० । पिं० ।

असक्त-त्रि०। अपाकृतमदनतया समतृणमणिलेष्टुकाञ्चने समतापन्ने, आचा०। "जे असत्ता पावेहिं कम्मेहिं" ये अपाकृतमदनतया समतृणमणिलेष्टुकाञ्चनाः समतापन्नाः पापेषु कर्मस्वसक्ताः पापोपादानानुष्ठानारताः । आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

असत्त्व-न० । नास्तित्वे, स्था० । पररूपेणाविद्यमानत्वे, नं० ।

असत्ति-अशक्ति-स्त्री० । असंयोगे, असंपर्के, पो० ४ विव० ।

असत्थ-अशस्त्र-न० । निरवद्यानुष्ठानरूपे संयमे, " से असत्थस्स खेयण्णे, जे असत्थस्स खेयण्णे से पज्जवजातस्स खेयण्णे " आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

असत्थपरिणय-अशस्त्रपरिणत-त्रि० । अशस्त्रोपहते, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० । (' अपरिणय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६०१ पृष्ठेऽस्य सूत्राण्युक्तानि)

असदायार-असदाचार-पुं० । सदाचारविलक्षणे हिंसाऽनृतादौ, ध० । असदाचारः सदाचारविलक्षणो हिंसाऽनृतादिर्दशविधः पापहेतुर्भेदरूपः । यथोक्तम्-" हिंसाऽनृतादयः पञ्च, तत्त्वाश्रद्धानमेव च । क्रोधादयश्च चत्वारः, इति पापस्य हेतवः " ॥ १ ॥ तस्य गर्हा यथा—

" न मिथ्यात्वसमः शत्रु-र्न मिथ्यात्वसमं विषम् ।
न मिथ्यात्वसमो रोगो, न मिथ्यात्वसमं तमः ॥ १ ॥
द्विषद्विषतमोरोगैर्दुःखमेकत्र दीयते ।
मिथ्यात्वेन दुरन्तेन, जन्तोर्जन्मनि जन्मनि ॥ २ ॥
वरं ज्वालाकुले क्षिप्तो, देहिनाऽऽत्मा हुताशने ।
न तु मिथ्यात्वसंयुक्तं, जीवितव्यं कदाचन ॥ ३ ॥

इति तत्त्वाश्रद्धानं गर्हितं एवं हिंसादिष्वपि गर्हायोजना कार्या। तथा-तस्याऽसदाचारस्य हिंसादेः स्वरूपकथनं यथा-प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा, असदभिधानं मृषा, अदत्तादानं स्तेयं, मैथुनमब्रह्म, मूर्छा परिग्रह इत्यादि। तथा-स्वयमाचारवर्णनेन परिहारोऽसदाचारस्य संपादनीयः; यतः स्वयमसदाचारपरिहरतो धर्मकथनं नटवैराग्यकथनमिवानादेयमं स्यात्, न तु सात्त्वमिति(?) । तथा-प्रभुतानां(?) दौर्गत्यत्यागरूपस्यासिवनमनुष्ठानं देशतेनैव कार्यम् । एवं हि नरिमित्ता(?)विप्रतारणकारिणि संभाविते मति शिष्यास्तदुपदेशान् कुतोऽपि दूरवर्ती स्यादिति ॥ ध० १ अधि० ।

असदारंभ-असदारम्भ-पुं० । प्राणवधादौ, पं० व० ३ द्वार । "वातो ह्यसदारम्भः" वातो हि पूर्वोक्तः, असन् असुन्दर आरम्भोऽस्येत्यसदारम्भः, अविद्यमानं वा यदागमं व्यवच्छिन्नं, तदारम्भ इत्यसदारम्भः । न सदा सर्वदा स्वलिकालापेक्ष आरम्भोऽस्येति वा । " वृत्तं चारित्रं त्वसदारम्भविनिवृत्तिमच्च । सदनुष्ठानम्" असदारम्भोऽशोभनारम्भः प्राणातिपाताद्याश्रवपञ्चकरूपः, ततो विनिवृत्तिमद् हिंसादिनिवृत्तिरूपमहिंसात्मकम् । पो० १ विव० । पञ्चा० ।

असद्द-अशब्द-पुं० । अर्द्धदिग्रूत्याप्यसाधुवादे, ग० २ अधि० । ध० स० । शब्दवर्जिते, सू० ३ उ० ।

असद्दहंत-अश्रद्दधत्-त्रि० । अक्षामकुर्वति, "मरुअच्छे वाणिओ असद्दहंतो उज्जोणिए " वृ० ३ उ० । "एको देवो असद्दहंतो" नि० चू० १ उ० ।

असद्दहण-अश्रद्धान-न० । निगोदादिविचाराविप्रत्यये, ध० । २ अधि० ।

असप्पवित्ति-असत्प्रवृत्ति-स्त्री० । असुन्दरप्रवृत्तौ, षो० १६ विव० ।

असप्पलावि (ण्)-असत्प्रलापिन्-त्रि० । असद्भावप्रलापिनि, नि० चू० ११ उ० ।

असबल-अशबल-पुं० । मालिन्यमात्ररहिते, प्रश्न० १ संव० द्वार । शबलस्थानदूरवर्तिनि, आतु० । निरतिचारे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । अतिचारपङ्काभावात् एकान्तविशुद्धचरणे, भ० २५ श० ७ उ० ।

असबलायार-अशबलाचार-पुं० । विशुद्धाचारे, अशबलः सितासितवर्णोपेतबलीवर्द इवाकर्बुर आचारो विनयशिक्षाभाषागोचरादिको यस्य सोऽशबलाचारः । व्य० ३ उ० ।

असब्भ-असभ्य-त्रि० । सभोपवेशनाऽयोग्ये खले, औ० । आव० । स्था० । अशोभने असद्भावप्ररूपकेऽसभ्ये, यथा-'श्यामाकतण्डुलमात्रोऽयमात्मा' इतिवदन्त. पण्डिताः । नि० चू० १६ उ० ।

असब्भवयण-असभ्यवचन-त्रि० । खरकर्कशादिके दुर्वचने, "असब्भवयणेहि य कलुणा विवन्नया" दश० ८ अ० २ उ० ।

असब्भाव-असद्भाव-त्रि० । अविद्यमानार्थे, औ० । प्रश्न० । द्वा० । अतथ्यभावे, आव० ५ अ० । सद्भावस्याभावे, पिं० । न विद्यमानाः, सन्त.-परमार्थसन्तः, भावा जीवाद्योऽभिधेयभूता यस्मिंस्तदसद्भावम् । सर्वव्याप्यादिरूपात्मादिप्रतिपादके कुप्रवचने, सूत्र० ३ अ० ।

असब्भावट्ठवणा-असद्भावस्थापना-स्त्री० । अक्षादिषु मुख्याकारवत्यां स्थापनायाम्, साध्याकारस्य तत्रासद्भावात् । अनु० ।

असब्भावपट्ठवणा-असद्भावप्रस्थापना-स्त्री० । असद्भूतार्थकल्पनायाम, भ० ११ श० १० उ० । जी० ।

असब्भावुब्भावणा-असद्भावोद्भावना-स्त्री० । ६ त० । अविद्यमानार्थानामुत्प्रेक्षणे, औ० । यथाऽस्यात्मा सर्वगत., श्यामा-

असद्भावमाश्रो वेत्यादि (दशा० ४ अ०) अघोरेऽपि घोरोऽयमित्यादि वा । भ० ५ श० ६ उ० ।

असब्भूय-असद्भूत-न० । न सद्भूतमसद्भूतम् । अनृते, आव० ४ अ० ।

असमंजस-असमञ्जस-त्रि० । अघटमानके, " असमंजसं केइ भणंति" । ध० । आचा० ।

असमंजसचेट्ठिय-असमञ्जसचेष्टित-न० । शास्त्रोत्तीर्णभाषितकरणे (दर्श० १० अ०) प्रापिषधारी, पञ्चा० २ विव० ।

असमण-अश्रमण-पुं० । श्रामण्याद्विच्युते, " गंतुं ताय पुणो गच्छे, ण य तेणासमणो सिया । " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

असमणपाउग्ग-अश्रमणप्रायोग्य-त्रि० । साधूनामनाचरणीये, ध० ३ अधि० ।

असमणुन्न-असमनोज्ञ-त्रि० । अनिष्टे, स्था० ४ ठा० १ उ० । शाक्यादौ, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । त्रिषष्ट्यधिके प्रावादुकशतत्रये, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । असमनोज्ञेभ्यस्तु दानग्रहणं प्रति सर्वनिषेध इति । आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० ।

असमणुण्णय-असमनुज्ञात-त्रि० । 'यदि भवान् कस्मैचिद्ददाति तदा ददातु' इत्येवमननुज्ञाते, आचा० २ श्रु० १ अ०८ उ० । "असमणुण्णायस्स अदेंतस्स" नि० चू० १ उ० ।

असमत्त-असमाप्त-त्रि० । अपूर्णे, नि० चू०२ उ० । असमाप्तकल्पे, व्य० ४ उ० ।

असमत्तकप्प-असमाप्तकल्प-पुं० । असमाप्तश्चापरिपूर्णश्च कल्पः । अपरिपूर्णसहाये विपरीते, ध० ३ अधि० । "उतुबद्धे वासासु उ-सत्तरसमत्तो तदूणगो इयरो । असमत्तो जायाणं, ओहेण ण किंचि आहव्वं" ॥१॥ पञ्चा० ११ विव० । पं० व० ।

असमत्तदंसि (ण्)-असम्यक्त्वदर्शिन्-पुं० । न सम्यगसम्यक्, तस्य भावोऽसम्यक्त्वम, तद् द्रष्टुं शीलमस्य स तथा । मिथ्यादृष्टौ, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

असमत्थ-असमर्थ-त्रि० । अशक्ते, पं० व०१ द्वार । क्लीबप्रायशरीरे, सूत्र०१ श्रु०४ अ०१ उ० । हेतुदोषे, यथाऽयं हेतुर्न स्वसाध्यगमकः इत्यर्थनासौ स्वसाध्यघातक इति । रत्ना०७ परि० ।

असमय-असमय-पुं० । असम्यगाचारे पञ्चविधे गौणालीके, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । दुष्टकाले, अयोग्यकाले च । वाच० ।

असरिसवेसग्गहण-असदृशवेषग्रहण-न० । आर्यादिरनार्यादिनेपथ्यकरणे, पं० व०४ द्वार । स्वयमार्यः सन् अनार्यवेषं करोति; पुरुषो वा स्वरूपमन्तर्हितः सन् स्त्रीरूपं विदधातीत्यादि । तदेतदसदृशवेषग्रहणम् । बृ० १ उ० ।

असमवाइकारण-असमवायिकारण-न० । न समवैति, सम-अव-इण्-णिनि । न० त० । समवायिकारणभिन्ने कारणभेदे, वाच० । यथा-तन्तुसंयोगाः कारणरूपद्रव्यान्तरस्य दृश्यत्वाद्समवायिन., त एव कारणमसमवायिकारणम् । आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

असमाण-असमान-पुं० न विद्यते समानो यस्य सोऽसमानः गृहस्थान्यतीर्थिकेभ्यः सर्वोत्कृष्टे, "असमाणो चरे भिक्खू" उत्त० । न विद्यते समानोऽस्य गृहिष्वाश्रयमूर्च्छितत्वेनान्यतीर्थिकेषु वा नियतविहारादिनाऽनन्यसमानोऽसदृशः । यद्वा-समानः साहङ्कारो,न तथेत्यसमानः अथवा-'समाणो त्ति' प्राकृतत्वाद् सन्निव सन् यथाऽऽस्ते तत्राप्यसन्निहित इति । हृदयसन्निहितो हि सर्वः स्वाश्रयस्योदन्तमावहति, अयं तु न तथेति; एवंविधः स चरेदप्रतिबद्धविहारितया विहरेद्, भिक्षुर्यतिः । उत्त०२ अ० ।

असमारंभ-असमारम्भ-पुं० । समारम्भाऽभावे, "सत्तविहे असमारंभे पण्णत्ते । तं जहा पुढविकाइयअसमारंभे० जाव अजीवकायअसमारंभे । " स्था० ७ ठा० ।

असमारंभमाण-असमारम्भमाण-त्रि० । अव्यापादयति, स्था० ६ ठा० । असमारम्भमाणानां पञ्चविधादिसंयमः-

एगिंदिया णं जीवा असमारंभमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जइ । तं जहा-पुढविकाइयसंजमे जाव वणस्सइकाइयसंजमे । एगिंदिया णं जीवा समारंभमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ । तं जहा-पुढविकाइय असंजमे० जाव वणस्सइकाइयअसंजमे । पंचिंदिया णं जीवा णं असमारंभमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जइ । तं जहा-सोइंदियसंजमे० जाव फासिंदियसंजमे । पंचिंदियाणं जीवा समारंभमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ । तं जहा-सोइंदियअसंजमे० जाव फासिंदियअसंजमे । सव्वपाणभूयजीवसत्ताणं असमारंभमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जइ । तं जहा-एगिंदियसंजमे पंचिंदियसंजमे । सव्वपाणभूयजीवसत्ताणं समारंभमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ । तं जहा-एगिंदियअसंजमे० जाव पंचिंदियअसंजमे ।

(एगिंदिया णं जीवे त्ति) एकेन्द्रियान्, णमिति वाक्यालङ्कारे । जीवान्, असमारम्भमाणस्य सङ्घट्टादीनामविषयीकुर्वतः, सप्तदशप्रकारस्य संयमस्य मध्ये पञ्चविधसंयमो व्युपरमोऽनाश्रवः, क्रियते भवति । तद्यथा-पृथिवीकायिकेषु विषये संयमः संघट्टाद्युपरमः-पृथिवीकायिकसंयमः । एवमन्यान्यपि पदानि । असंयमसूत्रं संयमसूत्रविपर्ययेण व्याख्येयमिति । (पंचिंदियाणमित्यादि) इह सप्तदशप्रकारसंयमभेदस्य पञ्चेन्द्रियसंयमलक्षणस्येन्द्रियभेदेन भेदविवक्षणात्पञ्चविधत्वं, तत्र पञ्चेन्द्रियानारम्भे श्रोत्रेन्द्रियस्य व्याघातपरिवर्जनं-श्रोत्रेन्द्रियसंयमः । एवं चक्षुरिन्द्रियसंयमादयोऽपि वाच्याः । असंयमसूत्रमेतद्विपर्यासेन बोद्धव्यमिति । (सव्वपाणेत्यादि) पूर्वमेकेन्द्रियपञ्चेन्द्रियजीवाश्रयेण संयमासंयमावुक्तौ, इह तु सर्वजीवाश्रयेण; अत एव सर्वग्रहणं कृतमिति । प्राणादीनां चायं विशेषः-" प्राणा द्वित्रिचतुः प्रोक्ताः, भूतास्तु तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वा उदीरिताः " ॥ १ ॥ स्था० ५ ठा० २ उ० ।

बेइंदिया णं जीवा असमारंभमाणस्स छव्विहे संजमे कज्जइ । तं जहा-घाणामाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, घाणामएणं दुक्खेणं असंजोएत्ता भवइ, जिब्भामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, एवं चेव फासामयाओ वि । तेइंदिया णं जीवा समारंभमाणस्स छव्विहे असंजमे कज्जइ । तं जहा-घाणामाओ सोक्खाओ ववरोवेत्ता भवइ, घाणाम-

मन्ये विगलिंदियपज्जा० जाव वेमाणिया" स्था० २ ठा० २ उ०। पं० सं०। नं०। "असंणि दुविहा-अणागाढमिच्छद्दिट्ठी, आगाढमिच्छद्दिट्ठी य" नि० चू० ५ उ०।

असण्णिआउय-असंज्ञ्यायुष्-न०। असंज्ञिना सता बद्धे परभवप्रायोग्ये आयुषि, भ० १ श० २ उ०। ("आउ" शब्दे द्वितीयभागे १५ पृष्ठे १२ अधिकारे चैतद् व्याख्यास्यते)

असण्णिभूय-असंज्ञिभूत-पुं०। मिथ्यादृष्टौ, भ० १ श० २ उ०।

असण्णिसुय-असंज्ञिश्रुत-न०। मिथ्यादृष्टिश्रुते, तच्च कालिकोपदेशेन हेतूपदेशेन दृष्टिवादोपदेशेन च त्रिविधम्। नं०। आ० चू० ('सण्णिसुय' शब्दे चैतद् वक्ष्यते)।

असण्णिहिसंचय-असंनिधिसंचय-पुं०। न विद्यते संनिधेः पर्युषितखाद्यादेः सञ्चयो धारणं येषां ते तथा। संनिधिशून्ये युगलिकमनुष्ये, जं० २ वक्ष०। तं०। जी०।

असती-असती-स्त्री०। असंयतायाम्, नि० चू० १२ उ०। "पमायण वा असती सुद्धासिएण वा" महा० ५ अ०।

असत्त-अशक्त-त्रि०। असमर्थे, दर्श०। पिं०।

असत्त-त्रि०। अपहृतमदनतया समतृणमणिलेष्टुकाञ्चने समतापन्ने, आचा०। "जे असत्ता पावेहिं कम्मेहिं" ये अपहृतमदनतया समतृणमणिलेष्टुकाञ्चनाः समतापन्नाः पापेषु कर्मस्वसक्ताः पापोपादानानुष्ठानारताः। आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ०।

असत्त्व-न०। नास्तित्वे, स्या०। परकीयेष्वविद्यमानत्वे, नं०।

असत्ति-असक्ति-स्त्री०। असंयोगे, असंपर्के, षो० ४ विव०।

असत्थ-अशस्त्र-न०। निरवद्यानुष्ठानरूपे संयमे, "से असत्थस्स खेयण्णे, जे असत्थस्स खेयण्णे से पज्जवजातस्स खेयण्णे" आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

असत्थपरिणय-अशस्त्रपरिणत-त्रि०। अशस्त्रोपहते, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ०। ('सत्थपरिणय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे [illegible] पृष्ठेऽस्य सूत्रमुक्तम् [illegible])

असदायार-असदाचार-पुं०। सदाचारविलक्षणे हिंसाऽनृतादौ, ध०। असदाचारः सदाचारविलक्षणो हिंसाऽनृतादिः [illegible]। यदाह-" हिंसाऽनृतादयः पञ्च, [illegible] च। [illegible] धर्मस्य हेतवः" ॥ १ ॥ [illegible]—

"[illegible] ॥ १ ॥
[illegible] ॥ २ ॥
[illegible] ॥ ३ ॥

[illegible]

असदारंभ-असदारम्भ-पुं०। प्राणवधादौ, पं० व० ३ द्वार। "यतो ह्यसदारम्भः" यतो हि पूर्वोक्तः, असन् असुन्दर आरम्भोऽस्येत्यसदारम्भः, अविद्यमानं वा यदागमे व्यवच्छिन्नं, तदारभते इत्यसदारम्भः। न सदा सर्वदा स्वस्तिकालाद्यपेक्ष आरम्भोऽस्येति वा। "वृत्तं चारित्रं स-ह्यसदारम्भविनिवृत्तिमत्तच्च। सदनुष्ठानम्" असदारम्भोऽशोभनारम्भः प्राणातिपाताद्याश्रवपञ्चकरूपः, ततो विनिवृत्तिमद् हिंसादिनिवृत्तिरूपमहिंसात्मकम्। षो० १ विव०। पञ्चा०।

असद्द-अशब्द-पुं०। असद्दिग्ध्याप्यसाधुवादे, ग० २ अधि०। ध० स०। शब्दवर्जिते, बृ० ३ उ०।

असद्दहंत-अश्रद्दधत्-त्रि०। श्रद्धामकुर्वति, "अण्णयरे पाणिओ असद्दहंतो उड्डेण्णिए" बृ० ३ उ०। "एक्को देवो असद्दहंतो" नि० चू० १ उ०।

असद्दहण-अश्रद्धान-न०। निगोदादिविचाराप्रत्यये, ध० २ अधि०।

असप्पवित्ति-असत्प्रवृत्ति-स्त्री०। असुन्दरप्रवृत्तौ, षो० १६ विव०।

असप्पलावि (ण्)-असत्प्रलापिन्-त्रि०। असद्भावप्रलापिनि, नि० चू० १६ उ०।

असबल-अशबल-पुं०। मालिन्यमात्ररहिते, प्रश्न० १ संव० द्वार। शबलस्थानदूरवर्तिनि, आतु०। निरतिचारे, स्था० ५ ठा० ३ उ०। अतिचारपङ्काभावात् एकान्तविशुद्धचरणे, भ० २५ श० ७ उ०।

असबलायार-अशबलाचार-पुं०। विशुद्धाचारे, अशबलः सितासितवर्णोपेतबलीवर्दवत्कर्बुर आचारो विनयवैयावृत्त्यादिको यस्य सोऽशबलाचारः। व्य० ३ उ०।

असब्भ-असभ्य-त्रि०। सभोपवेशनाऽयोग्ये खरे, औ०। आव०। स्था०। अशोभने असद्भावरूपकेऽनर्थे, यथा 'श्यामाकतण्डुलमात्रोऽयमात्मा' इति वदन्तः पण्डिताः। नि० चू० १ उ०।

असब्भवयण-असभ्यवचन-त्रि०। जकारमकारादिके दुर्वचने, "असब्भवयणेहिं य कलुणा विवण्णया" दशा० ८ अ० २ उ०।

असब्भाव-असद्भाव-त्रि०। अविद्यमानार्थे, औ०। प्रश्न०। असत्यभाषे, आव० ५ अ०। सद्भावरूपाभावे, नि०। अविद्यमानाः, [illegible], भावा जीवादयोऽभिधेयभूता [illegible] । सर्वशून्यवादिकृता [illegible] प्रश्न० २ आश्र०।

असब्भावुब्भावणा-असद्भावोद्भावना-स्त्री०। [illegible]

असब्भावुब्भावणा-असद्भावोद्भावना-स्त्री०। [illegible], स्था० १० ठा० [illegible]। औ०।

[illegible]

कारणमसमर्था येयादि (दश० ४ अ०) अर्थोऽपि धीरोऽधमि- र्दाद्[illegible] । प्र० ५ श० ६ उ० ।

असंभूय–असद्भूत–न० । न सद्भूतमसद्भूतम् । अनृते, दश० ४ अ० ।

असमंजस–असमञ्जस–त्रि० । अघटमानके, " असमंजसं केइ जंपंति " । धा० । आचा० ।

असमंजसचेट्ठिय–असमञ्जसचेष्टित–न० । शास्त्रेऽलोकेऽभावित- करणे (दश० १० अ०) मायिकयादी, पञ्चा० २ विव० ।

असमण–अश्रमण–पुं० । श्रामण्यपर्यायविच्युते, " संतुं नाम पुणो गच्छे, ए य मेतासमणो मिया । " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

असमणपाउग्ग–अश्रमणप्रायोग्य–त्रि० । साधूनामनाचरणीये, ध० ३ अधि० ।

असमणुण्ण–असमनोज्ञ–त्रि० । अनिष्टे, स्था० ४ ठा० १ उ० । शाक्यादौ, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । विपर्ययधिके श्रावक- मात्रके, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । असमनोज्ञेभ्यस्तु दान- ग्रहणं अपि सर्वनिषेध इति । आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० ।

असमणुणाय–असमनुज्ञात–त्रि० । 'यदि भवान् कस्मैचिद्दा- ति तदा ददातु' इत्येवमननुज्ञाते, आचा० २ श्रु० १ अ०८ उ० । "असमणुण्णायस्स अदत्तस्स" नि० चू० १ उ० ।

असमत्त–असमाप्त–त्रि० । अपूर्णे, नि० चू०२ उ० । असमासक- ल्पे, व्य० ४ उ० ।

असमत्तकप्प–असमाप्तकल्प–पुं० । असमाप्तश्चापरिपूर्णश्च क- ल्प । अपरिपूर्णसहाये विपरीते, ध० ३ अधि० । "उउवद्धे वा- सासु उ-सत्तसमत्तो तदूणगो इयरो । असमत्ता जायाण, ओ- हेण ण किंचि आहव्वं" ॥१॥ पञ्चा० ११ विव० । पं० व० ।

असमत्तदंसि (ण्)–असम्यक्त्वदर्शिन्–पुं० । न सम्यगसम्यक्, तस्य भावोऽसम्यक्त्वम्, तद् द्रष्टुं शीलमस्य स तथा । मिथ्यादृष्टौ, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

असमत्थ–असमर्थ–त्रि० । अशक्ते, पं० व० १ द्वार । अलेपमा- त्रके, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । हेतुदोषे, यथाऽयं हेतुर्न स्व- साध्यगमक इत्यर्थेनासौ इयमाऽप्यघातक इति । रत्ना० ६ परि० ।

असमय–असमय–पुं० । असम्यगाचारे पञ्चविंशे गौणालीके, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । दुष्टकाले, अयोग्यकाले च । वाच० ।

असमसिवेसग्गहण–असदृशनेपथ्यग्रहण–न० । आर्यादिरनार्यादि- नेपथ्यकरणे, पं० व० ४ द्वार । स्वयमार्यः सन् अनार्यवेषं करो- ति; पुरुषो वा स्वरूपमन्तर्हितः सन् स्त्रीरूपं विदधातीत्यादि । लेदेनरसदृशवेषग्रहणम् । वृ० १ उ० ।

असमवाइकारण–असमवायिकारण–न० । न समवैति, सम- अव-इण्–णिनि । न० त० । समवायिकारणभिन्ने कार- णभेदे, वाच० । यथा-तन्तुसंयोगा. कारणरूपद्रव्यान्तरस्य दूरवर्तित्वादसमवायिनः, स एव कारणमसमवायिकारणम् । आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

असमाण–असमान–पुं० । न विद्यते समानो यस्य सोऽसमान । गृह- स्था-न्यतीर्थिकेभ्यः सर्वोत्कृष्टे, "असमाणो चरे भिक्खू" उत्त० । न विद्यते समानोऽस्य गृहिष्वाश्रयामूर्छि[illegible] [illegible]

वा नियतविहारादिनाऽनन्यसमानोऽसदृशः । यद्वा-समानः साहङ्कारो,न तथेत्यसमानः । अथवा-'समाणो त्ति' प्राकृतत्वाद् सन्निव सन् यत्राऽऽस्ते तत्राप्यसन्निहित इति । इदमसन्निहितो हि सर्वः स्वाश्रयस्योद्यममाश्रयति, अयं तु न तथेति; एवंविधः स चरेदप्रतिबद्धविहारितया विहरेद्, भिक्षुर्यतिः । उत्त० २ अ० ।

असमारंभ–असमारम्भ–पुं० । समारम्भाऽभावे, "सत्तविहे असमारंभे पण्णत्ते । तं जहा पुढविकाइयअसमारम्भे० जाव अ- जीवकायअसमारंभे । " स्था० ७ ठा० ।

असमारंभमाण–असमारम्भमाण–त्रि० । अव्यापादयति, स्था० ६ ठा० । असमारम्भमाणानां पञ्चविधादिसंयमः–

एगिंदिया णं जीवा असमारंभमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जइ । तं जहा–पुढविकाइयसंजमे जाव वणस्सइकाइयसं- जमे । एगिंदिया णं जीवा समारंभमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ । तं जहा–पुढविकाइय असंजमे० जाव वणस्सइकाइ- यअसंजमे । पंचिंदिया णं जीवा णं असमारंभमाणस्स पंच- विहे संजमे कज्जइ । तं जहा–सोइंदियसंजमे० जाव फा- सिंदियसंजमे । पंचिंदियाणं जीवा समारंभमाणस्स पं- चविहे असंजमे कज्जइ । तं जहा–सोइंदियअसंजमे० जाव फासिंदियअसंजमे । सव्वपाणभूयजीवसत्ताणं असमारं- भमाणस्स पंचविहे संजमे कज्जइ । तं जहा–एगिंदिय- संजमे पंचिंदियसंजमे । सव्वपाणभूयजीवसत्ताणं समारं- भमाणस्स पंचविहे असंजमे कज्जइ । तं जहा–एगिंदियअ- संजमे० जाव पंचिंदियअसंजमे ।

(एगिंदिया णं जीव त्ति) एकेन्द्रियान्, णमिति वाक्याल- ङ्कारे । जीवान्, असमारभमाणस्य सङ्घट्टादीनामविषयीकुर्वतः, सप्तदशप्रकारस्य संयमस्य मध्ये पञ्चविधसंयमो व्युपरमोऽ- नाश्रव., क्रियते भवति । तद्यथा-पृथिवीकायिकेषु विषये संयमः संघट्टाद्युपरमः -पृथिवीकायिकसंयमः । एवमन्यान्यपि पदानि । असंयमसूत्र संयमसूत्रवद्विपर्ययेण व्याख्येयमिति । (पंचिंदियाण- मित्यादि) इह सप्तदशप्रकारसंयमभेदस्य पञ्चेन्द्रियसंयमल- क्षणस्येन्द्रियभेदेन भेदविवक्षणात्पञ्चविधत्वं, तत्र पञ्चेन्द्रिया- नारम्भे श्रोत्रेन्द्रियस्य व्याघातपरिवर्जनं-श्रोत्रेन्द्रियसंयमः । एवं चक्षुरिन्द्रियसंयमादयोऽपि वाच्याः । असंयमसूत्रमेतद्विपर्यये- णैव बोद्धव्यमिति । (सव्वपाणित्यादि) पूर्वमेकेन्द्रियपञ्चेन्द्रि- यजीवाश्रयेण संयमासंयमावुक्तौ, इह तु सर्वजीवाश्रयेण; अत एव सर्वग्रहणं कृतमिति । प्राणादीनां चायं विशेषः-" प्राणा द्वित्रिचतुः प्रोक्ताः, भूतास्तु तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वा उदीरिताः " ॥ १ ॥ स्था० ५ ठा० २ उ० ।

तेइंदिया णं जीवा असमारंभमाणस्स छव्विहे संजमे क- ज्जइ । तं जहा–घाणामाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, घाणामएणं दुक्खेणं असंजोएत्ता भवइ, जिब्भामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, एवं चेव फासामयाओ वि । तेइंदिया णं जीवा समारंभमाणस्स छ[illegible] [illegible] । तं जहा–घाणामाओ सोक्खाओ व[illegible] [illegible]

[illegible] ... आसमरणं दुक्खेणं [illegible] ।

[illegible]

दवदवचारिया वि जवति १, अपमज्जियचारिया वि भवति २, दुपमज्जियचारिया वि भवति ३, अतिरित्तसेज्जासणि[illegible] रायणियपरिभासी ५, थेरोवघातिए ६, भूतोवघातिए ७, संजलणे ८, कोहणे ९, पिट्ठिमंसए यावि भवति १०, अभिक्खणं अभिक्खणं ओहारिए ११, [illegible] अधिकरणाइं अणुप्पण्णाइं उप्पाए वा जवति १२, पोराणाइं अधिकरणाइं खामितविउसमिताइं उदीरित्ता [illegible] १३, अकाले सज्झायकारिया वि जवति १४, ससरक्खपाणिपाए १५ सहकरे १६ भेदकरे झंझकरे १७ कलहकरे असमाहिकरे १८ सूरप्पमाणभोइए १९ एसणाअसमिते यावि जवति २० । एवं खलु थेरेहिं भगवंतेहिं [illegible] असमाहिठाणा पण्णत्ता । त्ति बेमि पढमा दसा सम्मत्ता ।

ननु यथाकथञ्चित् गुरुविनयशीला गुरुपादुपि[illegible] वा सकाशात्, यथोच्यते— " परिसुद्धियाणे पासे [illegible] सो विणयपरिभासि त्ति " । यदुक्तं स्थविरैः [illegible] [illegible]

[illegible]

मिन्दकः । तैः कथ वा-"खद्धो सबुमलीणं त्ति य, दुम्मेहो दुमगमइत्तुदि त्ति । भांड मच्छरभत्थरी, लीणो परिभवति आयरियं" ॥१॥ इति । एवं च गुरुं परिभवन् आशातनां वा कुर्वन् आत्मानमन्यांश्चासमाधौ योजयत्येव ५ । तथा-(पडिणीए त्ति) स्थविरा आचार्यादिगुरवः, तान् आचारदोषेण शीलदोषेण ज्ञानादिभिर्दोषदर्शनेन हीलाः, स एवं वर्ति स्वविरोपघातिकः ६ । तथा-(भूओवघाइय त्ति) भूतान्येकेन्द्रियादीनि तानि उपहन्तीति भूतोपघातिकः; प्रयोजनमन्तरेण, आद्रिकमातगीरवैर्वा, विभूषानिमित्तं वा, आधाकर्मादिकं वा, पुष्पालम्बनेऽपि समारम्भात् ; अन्यद्वा तादृशं किञ्चन जल्पेन वा करोति, येन भूतोपघातो भवति ७ । (संजलणे त्ति) संज्वलतीति संज्वलनः-प्रतिक्षणं रोषणः, स च तेन कोपेनात्मीयं चारित्रं सम्यक्त्वं वा हन्ति, दहति वा ज्वलनवत् ८ । तथा-(कोहणे त्ति) क्रोधनः सकृत् क्रुद्धोऽत्यन्तक्रुद्धो भवति, अनुपशान्तवैरपरिणाम इति भावः ९ । तथा-(पिट्ठिमंसए त्ति) पृष्ठमांसाशिकः, पराङ्मुखस्य परस्यावर्णवादकारी, अगुणभाषीति भावः, स चैवं कुर्वन् आत्मपरयोरपायं च इह परत्र चासमाधौ योजयत्येव । अपियाव्दात् साक्षाद् वा वक्ति इति १० । तथा-(अभिक्खणं २ ओहारइ त्ति) अभीक्ष्णं अभीक्ष्णं अवधारयिता शङ्कितस्याप्यर्थस्य निःशङ्कितस्येव-एवमेवायमिति वक्ता । अथ वा-अवहारयिता परगुणानामपहारकारी यथा तथा दासादिकमपि परं प्रति तथा जल्पति दासश्चौरस्त्वमित्यादि ११ । तथा-(णवाइं इत्यादि) नवानामनुत्पन्नानामधिकरणानां कलहानामुत्पादयिता, तांश्चोत्पादयन् आत्मानं परं चाऽसमाधौ योजयति । यथा-

" वादो भेदो अयसो, हाणी दंसणचरित्तणाणाणं ।
साहुपदोसो संसा-रवद्धणो साहिकरणस्स ॥ १ ॥
अतिभणिइ अभणिए वा, ताधो भेडो चरित्तजीवाणं ।
कयमासेसं ण मालं, जिणइ त्ति य सो चरति लोए ॥ २ ॥
जं अज्जियं समीसल्लं-एहिं तवनियमबंभमइएहिं ।
मा हु तयं छड्डेहिह, बहुसालासागपत्तेहिं " ॥ ३ ॥

अथवा नवानि अधिकरणानि यन्त्रादीनि तेषाम्-"न चावस्सतहो वि ण, पढति अयच्छलउ दंसणे हीणो । जह कोयादिविसुद्धी, तह हाणी होति चरणे वि " ॥ १ ॥ तयोत्पादयिता १२ । (पोराणाइं ति) पुरातनानां कलहानां क्षमितव्यवशमितानां मर्षितत्वेनोपशान्तानां पुनरुदीरयिता भवति १३ । तथा-(अकाले सज्झायेत्यादि) अकाले स्वाध्यायकारकः । तत्र काल-उत्कालिकसूत्रस्य दशवैकालिकादिकस्य संध्याचतुष्टयं त्यक्त्वाऽनवरतं भणनम्, कालिकस्य पुनराचाराङ्गादिकस्याद्यपाश्चात्यपौरुषीद्वयग्रहणम् । अवसानयामं च दिवसस्य, निशायाश्चाद्ययामं च त्यक्त्वा अपरस्त्वकाल एव । अकालस्वाध्यायकरणदूषणानि तु बृहत्कल्पवृत्तितोऽवसेयानि नेह विस्तरत्वादुक्तानि १४ । तथा-(ससरक्खपाणीत्यादि) सरजस्कपाणिपादो-यः सचेलनादिरजोगुण्डितेन दीयमानां भिक्षां गृह्णाति । तथा-यो हि स्थण्डिलादौ संक्रामन् न पादौ प्रमार्ष्टि । अथ वा-वस्त्रपात्रविधकारणे सचित्तादिपृथिव्यां कम्बलादिनाऽनन्तरितायामासनादि करोति स सरजस्कपाणिपाद इति । स चैवं कुर्वन् संयमे असमाधिना आत्मानं संयोजयति १५ । तथा-(सद्दकरे त्ति) शब्दकरः सुप्तेषु प्रहरमात्रादूर्ध्वं रात्रौ महता शब्देनोल्लापस्वाध्यायादिकारको गृहस्थभाषाभाषको वा वैयात्रिकं वा कालमहणं कुर्वन् महता शब्देनोद्घपानि; दोषाश्चेहोत्तराध्ययनवृत्तेरवसेयाः १६ । तथा-(भेदकरे त्ति) येन छलेन गच्छस्य भेदो भवति तत्तदाचिष्ठते (झंझकरे त्ति) तत्करोति येन गणस्य मनोदुःखमुत्पद्यते, तद्भाषते वा १७ । तथा-(कलहकरे त्ति) आक्रोशादिना येन कलहो भवति तत्करोति; स चैवं गुणयुक्तो हि असमाधिस्थानं भवति इति वाक्यशेषः १८ । तथा-(सूरप्पमाणभोई) सूरप्रमाणभोजी सूर्योदयादस्तसमयं यावदशनपानाद्यभ्यवहारी; उचितकाले स्वाध्यायादि न करोति, प्रतिप्रेरितो रुष्यति, अजीर्णे च बह्वाहारेऽसमाधि संजायत इति दोषः १९ । तथा-(एसणाऽसमिए असमिए यावि भवति त्ति) एषणायां समितश्चापि संयुक्तोऽपि अनेषणां परिहरति, प्रतिप्रेरितश्चासौ साधुभिः सह कलहायते । अनेषणीयं भां परिहरन् जीवोपरोधे वर्तते । एवं चात्मपरयोरसमाधिकरणादसमाधिस्थानमिदं विंशतितममिति २० । (एवं खल्वित्यादि) एवमित्यनन्तरोक्तेन विधिना, समुपाक्यालक्षणौ । शेषं व्याख्यातार्थम् । (इति बेमि त्ति) इति परिसमाप्त्यर्थो वा । एतानि असमाधिस्थानानि अनेन वा प्रकारेण ब्रवीमीति गणधरादिगुरूपदेशतो, न तु स्वोत्प्रेक्षयेत्युक्तोऽनुगमः; नयप्रस्तारस्त्वन्यतोऽवसेयः । दशा० १ अ० । स० । आ० चू० । आव० ॥

असमाहिमरण-असमाधिमरण-न० । बालमरणे, आतु० ।

असमाधिमरणे दोषाः-

जे पुण अट्ठमईया, पयलियसंना य वक्कभावा य ।
असमाहिणा मरंति उ, न हु ते आराहगा भणिया ॥५०॥

ये पुनर्जीवाः, अष्टौ मदस्थानानि येषां तेऽष्टमादिकाः । 'अत्तमईआ' इति पाठे आर्ते आर्तध्याने मतिर्येषां ते आर्तमतिकाः । स्वार्थे इकक्प्रत्ययः, प्रचलिता विषयकषायादिभिः सन्मार्गात्परिभ्रष्टा संज्ञा बुद्धिर्येषां ते प्रचलितसंज्ञाः । प्रगलितसंज्ञा वा, चः समुच्चये; वञ्च्यते संवञ्च्यते आत्मा परो वा ऐहिकपारत्रिकफलाभावेन स वक्रः, कुटिलो वा भावो येषां ते तथा, एव पर्यंविधा ज्ञान एवाऽसमाधिना चित्तास्वास्थ्यरूपेण म्रियन्ते । न हु नैव, दुरेवार्थे, ते आराधका उत्तमार्थसाधका भवन्तीत्यर्थः । आतु० ।

असमाहिमरणज्झाण-असमाधिमरणध्यान-न० । 'असमाधिना एव म्रियताम्' इति चिन्तनमसमाधिमरणध्यानम् । स्कन्दकाचार्यप्रतिकुष्टे प्रथमं, यन्त्रे पीलयतो भव्यपालकस्येव दुर्ध्याने, आतु० ।

असमाहिय-असमाहित-त्रि० । अशोभने चीर्णे रूपे च । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । असाधुधर्मेभ्योऽशुभाध्यवसायाहिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । मोक्षमार्गाख्यात् भावसमाधेरसंवृततया दूरेण वर्तमाने, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

असमिक्खियकारि (ण्)-असमीक्षितकारिन्-त्रि० । अपर्यालोचितकारिणि, दशा० ६ अ० ।

असमिक्खियपलावि (ण्)-असमीक्षितप्रलापिन्-पुं० । अपर्यालोचितानर्थकवादिनि, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । " अणुहितं पुव्वावरं इहपरलोगगुणदोसं वा जो सहसा भणइ, सो असमिक्खियपलावी " । नि० चू० ८ उ० । ('वयण' शब्दे एतत्स्वरूपं वक्ष्यते)

असमिक्खियभासि (ण्)-असमीक्षितभाषिन्-पुं० । अपर्यालोचितवक्तरि, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

असमिय-असमित-पुं० । समितिषु प्रमत्ते, पञ्चा० १६ विव० । ईर्यादिषु समितिषु अनुपयुक्ते, कल्प० ६ क्ष० । "एसो समिओ भणिओ, अओ पुण असमिओ इमो होइ । सो काइयमोमाई, एक्कें नवरि पडिलेहे ॥१॥ नव तिन्नि तिन्नि गेहे, येति किमत्थं निविट्ठोहो ।" ओघ० ४ घ० ।

असम्यच्-त्रि० । असङ्गते, आचा० ।

असमियं ति मण्णमाणस्स एगदा समिया होइ, समियं ति मण्णमाणस्स एगदा असमिया होइ ।

कस्यचिन्मिथ्यात्वलेश्यानुविद्धस्य-कथं पौद्गलिकः शब्दः ?, इत्यादिकमसम्यगिति मन्यमानस्यैकदेति मिथ्यात्वपरिमाणुपशमतया शङ्काविचिकित्साऽऽद्यभावे गुर्वाद्युपदेशतः सम्यगिति भवति । आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० ॥

असमोहय-असमवहत-त्रि० । दण्डादुपरते, अकृतसमुद्घाते च । भ० १७ श० ३ उ० ।

असम्मत्त-असम्यक्त्व-न० । दर्शनादुद्वेगे, आव० ४ अ० ।

असम्मत्तपरीसह-असम्यक्त्वपरीषह-पुं० । असम्यक्त्वसहनकारिणि, सर्वपापस्थानेभ्यो विरतः प्रकृष्टतपोऽनुष्ठायी निस्सङ्गश्चाहं, तथाऽपि धर्माधर्मात्मदेवनारकादिभावं नेक्षे, अतो मृषा समस्तमेतदिति असम्यक्त्वपरीषहः। तत्रैवमालोच्यते-धर्माधर्मौ पुण्यपापप्रकर्णौ यदि कर्मरूपौ पुद्गलात्मकौ, ततस्तयोः कार्यदर्शनादनुमानसमाधिगम्यत्वम् । अथ क्षमाक्रोधादिकौ धर्माधर्मौ, ततः स्वानुभवत्वादात्मपरिणामरूपत्वात्प्रत्यक्षविरोधः। देवास्त्वत्यन्तसुखासक्तत्वान्मनुष्यलोके च कार्याभावादमनुष्यभावाच्च न दर्शनगोचरमायान्ति । नारकास्तु तीव्रवेदनार्ताः पूर्वकृतकर्मोदयनिगडबन्धनवशीकृतत्वादस्वतन्त्राः कथमायान्तीत्येवमालोचयतोऽसम्यक्त्वपरीषहजयो भवति । आव० ४ अ० ।

असयं-अस्वयम्-अव्य० । परत इत्यर्थे, भ० ६ श० ३२ उ० ।

असरण-अशरण-त्रि० । अत्राणे, स्था० ४ ठा० १ उ० । स्वार्थप्रापकवर्जिते, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । शरणम्—नाश्रयमाने, आचा० । शरणं गृहं, नात्र शरणमस्तीति अशरणः । संयमे, "सोगं अदक्खू एताइं सोउलाइं गच्छति णायपुत्ते असरणाए" आचा० १ श्रु० ७ अ० १ उ० ।

असरणभावणा-अशरणभावना-स्त्री० । आत्मनोऽशरणत्वपर्यालोचनायाम, प्रव० । सा च अशरणभावना-

" पितुर्मातुर्भ्रातुस्तनयदयितादेश्च पुरतः,
प्रभूताऽऽधिव्याधिव्रजनिगडिताः कर्मचरटैः ।
रटन्तः क्षिप्यन्ते यममुखगृहान्तस्तनुभृतो,
हहा ! कष्टं लोकः शरणरहितः स्थास्यति कथम ? ॥ १ ॥
ये जानन्ति विचित्रशास्त्रविसरं ये मन्त्रतन्त्रक्रिया-
प्रावीण्यं प्रथयन्ति ये च दधति ज्योतिःकलाकौशलम् ।
तेऽपि प्रेतपतेरमुष्य सकलत्रैलोक्यविध्वंसन-
व्यग्रस्य प्रतिकारकर्मणि न हि प्रागल्भ्यमाबिभ्रति ॥ २ ॥
नानाशस्त्रपरिग्रहोत्कटभटैरावेष्टिताः सर्वतो,
गत्युद्दाममदान्धसिन्धुरघनैः केनाप्यगम्याः क्वचित् ।
शक्राद्यावतिचक्रिणोऽपि महसा कीनाशदासैर्बला-
दाकृष्टा यमवेश्म यान्ति हह हा ! निस्त्राणता प्राणिनाम ॥ ३ ॥
उद्दण्डं ननु दण्डमात्सुरगिरिं पृथ्वीं पृथुच्छत्रसात्,
ये कर्तुं प्रभविष्णवः श्रुतमपि कृतं जिनेशात्मनः ।
निःसामान्यपराक्रमगुणकर्माणिकाः केऽप्यहो !,
नैवाशेषजनीनमृत्युसमयान्ते त्रातुं क्षमाः ॥ ४ ॥
कलत्रमित्रपुत्रादि-स्नेहग्रहनिगृहीते ।
इति शुद्धमतिः कुर्या-दशरणत्वमावनाम्" ॥५॥ प्रव० ६७ द्वार ।

अशरणभावना चैवम्-

" इन्द्रोपेन्द्रादयोऽप्येते, यन्मृत्योर्यान्ति गोचरम् ।
अहो ! तदन्तकातङ्के, कः शरण्यः शरीरिणाम् ? " ॥ १ ॥
शरणे साधुः शरण्यः । तथा-
" पितुर्मातुः स्वसुर्भ्रातु-स्तनयानां च पश्यताम् ।
अत्राणो नीयते जन्तुः, कर्मभिर्यमसद्मनि ॥ २ ॥
शोचन्ति स्वजनानन्तं, नीयमानान् स्वकर्मभिः ।
नेष्यमाणं न शोचन्ति, नात्मानं मूढबुद्धयः ॥ ३ ॥
संसारे दुःखदावाग्नि-ज्वलज्ज्वालाकरालिते ।
वने मृगार्भकस्येव, शरणं नास्ति देहिनः" ॥४॥ ध० ३ अधि० ।

असरणाणुपेहा-अशरणानुप्रेक्षा-स्त्री० । जन्मजरामरणभयैरभिद्रुते व्याधिवेदनाग्रस्ते जिनवरवचनादन्यत्रास्ति शरणं क्वचिल्लोके इत्येवमशरणस्य (अत्राणस्य) अनुप्रेक्षायाम्, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

असरिस-असदृश-त्रि० । विसदृशे, "असरिसजणउल्लावा न हु सहियव्वा" आव० ४ अ० ।

असरिसवेसग्गहण-असदृशवेषग्रहण-न० । आर्यादेरनार्यादिनेपथ्यकरणे, पं० व० ४ द्वार ।

असरीर-अशरीर-त्रि० । अविद्यमानशरीरेऽशरीरः । औदारिकादिपञ्चविधशरीररहिते, आ० म० द्वि० । सिद्धे, "असरीरा जीवघणा दसणनाणोवउत्ता" औ० । स्था० ।

असरीरपडिवद्ध-अशरीरप्रतिबद्ध-त्रि० । त्यक्तसर्वशरीरे, भ० १८ श० ३ उ० ।

असलाहा-अश्लाघा-स्त्री० । अकीर्तिसाधने असाधुवादे, ग० २ अधि० ।

असलिलप्पलाव-असलिलप्लाव-पुं० । अजलप्लावे, जलं विना रेखिरित्यर्थः । तं० ।

असलिलप्पवाह-असलिलप्रवाह-पुं० । अजलप्रवाहे, तं० ।

असवणया-अश्रवणता-स्त्री० । अनाकर्णने, "इमस्स धम्मस्स असवणयाए" ध० ३ अधि० ।

असव्वउज्झण-असद्व्ययोज्झन-न० । पुरुषार्थानुपयोगिविनविनियोगत्याग, न सद्व्ययोऽसद्व्ययस्तत्र धनोज्झनम । द्वा० १२ द्वा० ।

असव्वग्ग-असर्वाग्र-न० । न विद्यते सर्वाग्रं यत्र तदसर्वाग्रम । केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणरहिते आवरणे, पं०सं०४ द्वार ।

असव्वण्णु-असर्वज्ञ-त्रि० । छद्मस्थे अर्वाग्दर्शिनि, "सर्वज्ञोऽसावित्ति ह्यतत, तत्कालेऽपि बुभुत्सुभिः । तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानरहितैर्गम्यते कथम ?" ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

असव्वदरिसि(ण्)-असर्वदर्शिन्-त्रि० । छद्मस्थे, द्वा० २३द्वा० ।

असव्वय-असद्वचन-न० । असत्ये, "मिच्छ त्ति वा, वितह त्ति

वा, असच्चं ति वा, असच्चवं ति वा, अकरणीयं ति वा एगट्ठा" आ० चू० १ अ० ।

असव्वासि (ण्)-असर्वाशिन्-त्रि० । अल्पभोजिनि, व्य० १ उ० ।

असह-असह-त्रि० । असमर्थे, व्य० १ उ० । ओघ० ।

असहाय-असहाय-त्रि० । एकाकिनि, बृ० ४ उ० । आ० म० । अविद्यमानसहाये, यः कुतीर्थिकप्रेरितोऽपि सम्यक्त्वाद्यविचलनं प्रति परसाहाय्यमनपेक्षमाणस्तस्मिन्, दशा० १० अ० । आ० क० ।

असहिज्ज-असाहाय्य-त्रि० । न विद्यते साहाय्योऽस्य । साहाय्यमनपेक्षमाणे, उपा० १ अ० ('आणंद' शब्दे द्वितीयभागे ११० पृष्ठेऽस्य सूत्रं वक्ष्यते)

असहीण-अस्वाधीन-त्रि० । अस्ववशे, "असहीणेहिं सारही-वाउरगेहिं" । दश० ८ अ० ।

असहु-असह-त्रि० । चरणकरणे अशक्ते, पं० भा० । सुकुमारे राजपुत्रादौ प्रव्रजिते, स्था० ३ ठा० ३ उ० । असमर्थे, ओघ० । ग्लाने, नि० चू० १ उ० ।

असहुपुरिस-त्रि० । राजादिदीक्षिते सुकुमारपादे, बृ० ३ उ० ।

असहुवग्ग-असहुवर्ग-पुं० । असमर्थे राजपुत्रादौ, ध० २ अधि० । पं० चू० ।

असहेज्ज-असाहाय्य-पुं० । अविद्यमानं साहाय्यं परसाहायिक-मत्यन्तसमर्थत्वाद् येषां तेऽसाहाय्याः । आपद्यपि देवादिसाहाय्यकानपेक्षेषु स्वयं कृतं कर्म स्वयमेव भोक्तव्यमित्यदीनमनोवृत्तिषु, भ० २ श० ५ उ० । ये पाखण्डिभिः प्रारब्धाः सम्यक्त्वाद् विचलनं प्रति, किन्तु न परसाहायिकमपेक्षन्ते स्वयमेव तन्निराकरणसमर्थत्वाज्जिनशासनात्यन्तभावितत्वात्, तेषु तथाविधेषु श्रावकेषु, भ० २ श० ५ उ० ।

असागारिय-असागारिक-त्रि० । सागारिकसंपातरहिते प्रदेशादौ, व्य० ३ उ० । गृहस्थैरनालोक्यमाने, नि० चू० १ उ० ।

असाधा (हा) रण-असाधारण-त्रि० । अनन्यसदृशे, दर्श० । उपादानहेतौ, अने० २ अधि० ।

असाधारणाणेगंतिय-असाधारणानैकान्तिक-पुं० । नित्यः शब्दः, श्रावणत्वात्, इत्यादिसपक्षविपक्षव्यावृत्तत्वेन संशयजनके हेत्वाभासे, रत्ना० ६ परि० ।

असाय (त)-असात-न० । न०त० । दुःखे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० १ उ० । असुखे, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । स्था० । असातवेदकर्मणि-सविपाकजे, आचा० १ श्रु० ४ अ० ६ उ० । मनःप्रतिकूले दुःखे, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । अप्रीत्युत्पादके, अनु० । असातवेदनीयकर्मोदये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । "छव्विहे असाए पण्णत्ते । तं जहा-सोइंदियअसाए० जाव नोइंदियअसाए" । स्था० ६ ठा० । असातवेदनीये कर्मणि, उत्त० ३२ अ० । असाताख्यवेदनीयवेदनीयकर्मभेदप्रभवायाम् (प्रश्न० १ आश्र० द्वार) दुःखरूपायां वेदनायाम्, स्त्री० । प्रज्ञा० ३५ पद ।

असायण्णण-असादन-न० । अननुमनने, व्य० ३ उ० ।

असा (स्सा) यण-आश्वायन-पुं० । अश्विनीनक्षत्रगोत्रे, जं० ७ वक्ष० ।

असायबहुल-असातबहुल-त्रि० । दुःखप्रचुरे, संथा० । "इमो असायबहुला मणुस्सा" । दश० १ चू० । (एतच्च तृतीयं स्थानम् 'अट्ठारसट्ठाण' शब्देऽत्रैव भागे २४६ पृष्ठे व्याख्यातम्)

असाय (या) वेयणिज्ज-असातवेदनीय-न० । असातं दुःखं, तद्रूपेण यद् वेद्यते, तदसातवेदनीयम् । कर्म० ६ कर्म० । पं० सं० । प्रज्ञा० । दीर्घत्वं प्राकृतत्वात् । स० ३७ सम० । वेदनीयकर्मभेदे, स्था० ७ ठा० ।

असार-असार-त्रि० । साररहिते तं० । "उग्गमुप्पायणासुद्धं, एसणादोसवज्जियं । साहारणं अयाणंतो, साहू होइ असारओ" ॥१॥ ओघ० ।

असारंभ-असारम्भ-पुं० । प्राणिवधार्थमसंकल्पे, "सत्तविहे असारंभे पण्णत्ते । तं जहा-पुढविकाइयअसारंभे० जाव अजीवकाइयअसारंभे ।" स्था० ७ ठा० ।

असावगपाउग्ग-अश्रावकप्रायोग्य-त्रि० । न० त० । श्रावकानुचिते, ध० २ अधि० ।

असावज्ज-असावद्य-त्रि० । अपापे, "असावज्जमककसं" दश० ७ अ० । "अहो जिणेहिं असावज्जा, वित्ती साहूण देसिया" । दश० ५ अ० । चौर्यादिगर्हितकर्मानालम्बने प्रशस्तमनोविनयभेदे, स्था० ७ ठा० ।

असासय-अशाश्वत-त्रि० । तेन तेन रूपेणोदकधारावच्छश्वद् भवतीति शाश्वतं, ततोऽन्यदशाश्वतम् । आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । अशश्वद्भवनस्वभावे, रा० । प्रतिक्षणं विशरणे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार । क्षणं क्षणं प्रति विनश्वरे, नं० । आ० म० । भ० । आचा० । अपराऽपरपर्यायप्राप्ति, स्था० १० ठा० । उत्त० । स्वर्गमोक्षासदृशे अनित्ये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । समीरिते, स्था० २ ठा० १ उ० । "अशाश्वतानि स्थानानि, सर्वाणि दिवि चेह च । देवासुरमनुष्याणा-मृद्धयश्च सुखानि च" ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । जन्ममरणादिसहितत्वात् संसारिणि, स्था० ४ ठा० ४ उ० । (नायप्राधान्येन तु) विनाशे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । अविद्यमानं शाश्वतमस्मिन्नित्यशाश्वतः संसारः । अशाश्वतं हि सकलमिह राज्यादि । तथा हारिलवाचकः-

" चलं राज्यैश्वर्यं धनकनकसारः परिजनो,
नृपत्वाद् यल्लभ्यं चलममरसौख्यं च विपुलम् ।
चलं रूपारोग्यं चलमिह चलं जीवितमिदं,
जनो दृष्टो यो वै जनयति सुखं सोऽपि हि चलः" ॥ १ ॥ उत्त० ८ अ० ।

असाहीण-अस्वाधीन-त्रि० । परवशे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

असाहु-असाधु-त्रि० । अमङ्गले, बृ० १ उ० । अशोभने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । असद्वृत्ते, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । अकर्तव्ये, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । निर्वाणगमनपदं प्रत्यनुपायहेतौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । निर्वाणपदं प्रति दर्शितं तथा (दश० ७ अ०) आजीविकादौ दुर्दर्शिनि, नि० चू० १ उ० । षड्जीवनिकायवधप्रवृत्ते औद्देशिकासेवने, स्था० ७ ठा० । अब्रह्मचारिणि, स्था० १० ठा० । औद्देशिकादिभोजिनि अब्रह्मचारिणि, स्था० १० ठा० । असत्कर्मकारिणि, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

असाहुकम्म-असाधुकर्मन्-न० । क्रूरकर्मणि, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । अनार्यकर्मानुष्ठाने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

असाहुदिट्ठि-असाधुदृष्टि-पुं० । दश० ७ अ० ।

असाहुधम्म–असाधुधर्म–पुं० । यस्तुदानस्नानतर्पणादिके अ-संयतधर्मे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

असाहुया–असाधुता–स्त्री० । कुगतिगमनादिकरूपायाम्, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । द्रोहस्वभावतायाम्, उत्त० ३ अ० ।

असाहुवं–असाधुवत्–अव्य० । असाधुमर्हति यत्प्रेक्षणं भ्रुकुटिमुद्रादियुक्तं तस्मिन्, असाधुना तुल्यं वर्त्तने, उत्त० ३ अ० ।

असि–असि–पुं० । खड्गे, उपा० २ अ० । नि०चू० । जी० । रा० । प्रश्न० । विपा० । सं० । औ० । "असिमोग्गरसत्तिकुंतहत्था" । असिमुद्गरशक्तिकुन्ता हस्ते येषां ते असिमुद्गरशक्तिकुन्तहस्ताः । "प्रहरणात्" ॥३।१।१५४॥ इति सप्तम्यन्तस्य पाक्षिकः परनिपातः । जी० ३ प्रति० । अस्युपलक्षिते सेवकपुरुषे, "असिमषीकृषीवाणिज्यवर्जिताः" तत्रासिनोपलक्षिताः सेवकाः पुरुषाः असंयमाः, मष्युपलक्षिता लेखनवृत्तिनः मषयः, कृषिरिति–कृषिकर्मोपजीविनः, वाणिज्यमिति–वणिग्जनोचितवाणिज्यकलोपजीविनः । सं० । असिना यो देवो नारकान् छिनत्ति सोऽसिदेव । परमाधार्मिकनिकाये, भ० ३ श० ६ उ० ।

> हत्थे पाए ऊरू, बाहु सिरा पाय अंगमंगाणि ।
> छिंदंति पगामं तू, असि णेरइए निरयपाला ॥ ७८ ॥

(हस्त्यादि) असिनामानो नरकपाला अशुभकर्मोदयवर्तिनो नारकानेवं कदर्थयन्ति । तद्यथा–हस्तपादोरुबाहुशिरःपार्श्वादीन्यङ्गप्रत्यङ्गानि छिन्दन्ति प्रकाममत्यर्थं खण्डयन्ति, तुशब्दोऽपरदु:खोत्पादनविशेषणार्थं इति ॥ सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । वाराणस्यां नदीभेदे, ती० ३८ कल्प० ।

असिकुंडतित्थ–असिकुण्डतीर्थ–न० । स्वनामख्याते मथुरास्थे तीर्थे, ती० ९ कल्प० ।

असिक्खग–असिक्षक–त्रि० । चिरप्रव्रजिते, दश० १ अ० ।

असिखुरधार–असिक्षुरधार–पुं० । क्षुरस्येव धारा यस्य असेः । अतिच्छेदके खड्गे, उपा० २ अ० ।

असिखेडग–असिखेटक–न० । असिना सह फलके, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

असिचम्मपाय–असिचर्मपात्र–न० । स्फुरके, भ० । "असिचम्मपायं गहाय" । असिचर्मपात्रं स्फुरकः । अथवा–असिश्च खड्गः, चर्मपात्रं च स्फुरकः, खड्गकोशको वा असिचर्मपात्रं, तद् गृहीत्वा । "असिचम्मपायहत्थकिच्चगयएणं अप्पाणेणं ति" । असिचर्मपात्रं हस्ते यस्य स तथा, कृत्यं संघादिप्रयोजनं गतः [illegible] हस्तगतः, ततः कर्मधारयः, अतस्तेन आत्मना । अथवा–असिचर्मपात्रं हस्ते हस्ते कृतं येनासौ असिचर्मपात्रहस्त-[illegible] , तेन । [illegible] समासः अथवा–असिचर्मपात्र-[illegible] हस्तगतः प्राप्तो यः स तथा, तेन । भ० ३ श० ४ उ० ।

असिट्ठ–असिष्ट–त्रि० । [illegible] , नि० चू० २ उ० । अक-[illegible] , सू० १ [illegible] ।

असिणाण–अस्नान–न० । [illegible] , पंचा० १० विव० । "[illegible]" [illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।

जावज्जीवं वयं घोरं, असिणाणमहिट्ठिया " ॥ ६३ ॥
दश० ६ अ० । ध० ।

असित्थ–असिक्थ–न० । सिक्थवर्जिते पानकाहारे, पञ्चा० ५ विव० ।

असिद्ध–असिद्ध–पुं० । संसारिणि. नं० । जी० । स्था० । सूत्र० हेत्वाभासभेदे, रत्ना० ।

तत्रासिद्धमभिदधति–

यस्यान्यथाऽनुपपत्तिः प्रमाणेन न प्रतीयते सोऽसिद्धः ॥ ४८ ॥

अन्यथाऽनुपपत्तेर्विपरीताया अनिश्चिताया विरुद्धानैकान्तिकत्वेन कीर्त्तयिष्यमाणत्वादिह हेतुस्वरूपा प्रतीतिद्वारकैवान्यथाऽनुपपत्त्यप्रतीतिरवशिष्टा द्रष्टव्या; हेतुस्वरूप प्रतीतिश्चाप्यज्ञानात्, सन्देहाद्, विपर्ययाद् वा विज्ञेया ॥ ४८ ॥

अथामुं भेदतो दर्शयन्ति–

स द्विविध उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धश्च ॥ ४९ ॥

उभयस्य वादिप्रतिवादिसमुदायस्यासिद्धः; अन्यतरस्य वादिनः प्रतिवादिनो वाऽसिद्धः ॥ ४९ ॥

तत्राद्यभेदं वदन्ति–

उभयासिद्धो यथा-परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात् ॥ ५० ॥

चक्षुषा गृह्यत इति चाक्षुषः, तस्य भावश्चाक्षुषत्वं, तस्मात् । अयं च वादिप्रतिवादिनोरुभयोरप्यसिद्धः, श्रावणत्वाच्छब्दस्य ॥ ५० ॥

द्वितीयं भेदं वदन्ति–

अन्यतरासिद्धो यथा-अचेतनास्तरवो, विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणमरणरहितत्वात् ॥ ५१ ॥

ताथागतो हि तरूणामचैतन्यं साधयन् विज्ञानेन्द्रियायुर्निरोधलक्षणमरणरहितत्वादिति हेतूपन्यासं कृतवान् । स च जैनानां तरुचैतन्यवादिनामसिद्धः । तदागमे द्रुमेष्वपि विज्ञानेन्द्रियायुषां प्रमाणतः प्रतिष्ठितत्वात् । इदं च प्रतिवाद्यसिद्धस्योदाहरणम् । वाद्यसिद्धापेक्षया तु–अचेतनाः सुखादय, उत्पत्तिमत्त्वादिति । अत्र हि वादिनः साङ्ख्यस्योत्पत्तिमत्त्वमसिद्धम्, तेनाविर्भावमात्रस्यैव सर्वत्र स्वीकृतत्वात् ।

ननु चित्रमसिद्धप्रकारप्रकाशनं परैश्चक्रे–स्वरूपेणासिद्धः, स्वरूपं वाऽसिद्धं यस्य सोऽयं स्वरूपासिद्धः, यथा–अनित्यः शब्दः, चाक्षुषत्वादिति । ननु चाक्षुषत्वं रूपादावस्ति, तेनास्य व्यधिकरणासिद्धत्वं युक्तम् । न । रूपाद्यधिकरणत्वेनाप्रतिपादितत्वात् । शब्दधर्मिणि चोपदिष्टं चाक्षुषत्वं न स्वरूपतोऽस्तीति स्वरूपासिद्धम् । विरुद्धमधिकरणं यस्य, स चासावसिद्धश्चेति व्यधिकरणासिद्धः; यथा–अनित्यः शब्दः, पटस्य कृतकत्वादिति । ननु शब्देऽपि कृतकत्वमस्ति, सत्यं, न तु तथा प्रतिपादितम् । मचान्यत्र प्रतिपादितमन्यत्र सिद्धं भवति । मीमांसकस्य वा व्यधिकरणासिद्धम् । २ । विशेष्यमसिद्धं यस्यासौ विशेष्यासिद्धः; यथा–अनित्यः शब्दः, सामान्यवत्त्वे सति चाक्षुषत्वात् । ३ । विशेषणासिद्धः, यथा–अनित्यः शब्दः, चाक्षुषत्वे सति सामान्यवत्त्वात् । ४ । पक्षैकदेशासिद्धस्तथा पक्षासिद्धः [illegible] । स भागासिद्धः यथा–अनित्यः शब्दः, प्रयत्नानन्तरीयकत्वात् कथं ननु स वाद्यादिसमुदायशब्दानामप्रयत्नानन्तरीयकत्वात् [illegible] भागासिद्धत्वम् ? । नैतत्, प्रयत्नस्य तालुव्यापारादिना [illegible]

श्वरः तथाभावो हि प्रधानान्तर्गतीयत्वं निश्चितम । सत्येश्वरस्य प्रदन्तस्य सौधादिभावोऽस्ति, नित्यत्वात् । अनभ्युपगतेश्वरं प्रति वा साधारणासिद्धश्च ।५। आश्रयासिद्धः यथा-अस्ति प्रधानं, विश्वस्य परिणामिकारणत्वात् । ६ । आश्रयैकदेशासिद्धः; यथा-नित्याः प्रधानपुरुषेश्वराः, अकृतकत्वात् । अत्र जैनस्य पुरुषः सिद्धो, न प्रधानेश्वरौ । ७ । सन्दिग्धाश्रयासिद्धः, यथा-गोत्वेन संदिह्यमाने गवयं आरण्यकोऽयं गौः, जनदर्शनोत्पन्नत्रासत्वात् ।८। संदिग्धाश्रयैकदेशासिद्धः ; यथा-गोत्वेन संदिह्यमाने गवये गवि च आरण्यकावेतौ गावौ, जनदर्शनोत्पन्नत्रासत्वात् । ९ । आश्रयसंदिग्धवृत्त्यसिद्धः; यथा-आश्रयहेत्वोः स्वरूपनिश्चये आश्रये हेतुवृत्तिसंशये मयूरवानयं प्रदेशः, केकायितोपेतत्वात् । १० । आश्रयैकदेशसंदिग्धवृत्त्यसिद्धः; यथा-आश्रयहेत्वोः स्वरूपनिश्चये सत्येवाऽऽश्रयैकदेशे हेतुवृत्तिसंशये मयूरवन्तावेतौ सहकारकर्णिकारौ, तत एव । ११ । व्यर्थविशेष्यासिद्धः यथा-अनित्यः शब्दः, सामान्यवत्त्वे सति कृतकत्वात् । १२ । व्यर्थविशेषणासिद्धः, यथा-अनित्यः शब्दः, कृतकत्वे सति सामान्यवत्त्वात् । १३ । संदिग्धासिद्धः; यथा-धूमवाष्पादिविवेकानिश्चये कश्चिदाह-वह्निमानयं प्रदेशः, धूमवत्त्वात् । १४ । संदिग्धविशेष्यासिद्धः; यथा-अद्यापि रागादियुक्तः कपिलः, पुरुषत्वे सत्यद्याप्यनुत्पन्नतत्त्वज्ञानत्वात् । १५ । संदिग्धविशेषणासिद्धः; यथा-अद्यापि रागादियुक्तः कपिलः, सर्वदा तत्त्वज्ञानरहितत्वे सति पुरुषत्वात् । १६ । एकदेशासिद्धः; यथा-प्रागभावो वस्तु, विनाशोत्पादधर्मकत्वात् । १७ । विशेषणैकदेशासिद्धः; यथा-तिमिरमभावस्वभावम्, द्रव्यगुणकर्मातिरिक्तत्वे सति कार्यत्वात् । अत्र जैनान् प्रति तिमिरे द्रव्यातिरेको न सिद्धः । १८ । विशेष्यैकदेशासिद्धः; यथा-तिमिरमभावस्वभावं, कार्यत्वे सति द्रव्यगुणकर्मातिरिक्तत्वात् । ।१९। संदिग्धैकदेशासिद्धः; यथा-नायं पुरुषः सर्वज्ञः, रागवक्तृत्वोपेतत्वात् । अत्र लिङ्गद्वितीयांशे रागित्वे संदेहः । २० । संदिग्धविशेषणैकदेशासिद्धः; यथा-नायं पुरुषः सर्वज्ञः, रागवक्तृत्वोपेतत्वे सति पुरुषत्वात् । २१ । संदिग्धविशेष्यैकदेशासिद्धः; यथा-नायं पुरुषः सर्वज्ञः, पुरुषत्वे सति रागवक्तृत्वोपेतत्वात् । २२ । व्यर्थैकदेशासिद्धः; यथा-अग्निमानयं पर्वतप्रदेशः, प्रकाशधूमोपेतत्वात् । २३ । व्यर्थविशेषणैकदेशासिद्धः; यथा-गुणः शब्दः, प्रमेयत्वसामान्यवत्त्वे सति बाह्येकेन्द्रियग्राह्यत्वात् । अत्र बाह्येकेन्द्रियग्राह्यस्यापि रूपत्वादिसामान्यस्य गुणत्वाभावाद् व्यभिचारपरिहाराय सामान्यवत्त्वे सतीति सार्थकम्, प्रमेयत्व तु व्यर्थम् । २४ । व्यर्थविशेष्यैकदेशासिद्धः; यथा-गुणः शब्दः, बाह्येकेन्द्रियग्राह्यत्वे सति प्रमेयत्वसामान्यवत्त्वात् । २५ । एवमन्येऽप्येकदेशासिद्धादिद्वारेण भूयांसोऽसिद्धभेदाः स्वयमभ्यूह्य वाच्याः । उदाहरणेषु चैतेषु दूषणान्तरस्य सम्भवोऽप्यप्रकृतत्वादनुपदर्शनम । त एते भेदा भवद्भिः कथं नाभिहिताः ? ॥

उच्यते—एतेषु ये हेत्वाभासतां भजन्ते, ते यदोभयवादिसिद्धत्वेन विवक्ष्यन्ते, तदोभयासिद्धेऽन्तर्भवन्ति । यदा त्वन्यतरासिद्धत्वेन तदाऽन्यतरासिद्ध इति । व्यधिकरणासिद्धस्तु हेत्वाभासो न भवत्येव । व्यधिकरणादपि पित्रोर्ब्राह्मण्यात्पुत्रे ब्राह्मण्यानुमानदर्शनात्, नदीपूरादीनामपि ब्राह्मण्यं कस्मादयं साधयतीति चेत् ? । पक्षधर्मोऽपि पर्वतद्रव्यता तत्र चित्रभानुं किमिति नानुमापयति ?, इति समानम् । व्यभिचारत्वेन, तदपि तुल्यम् । तत्पित्रोर्ब्राह्मण्यं हि तद्गमकम । एवं तर्हि प्रयोजकसम्बन्धेन सम्बन्धो हेतुः कथं व्यधिकरणः ? इति चेत । ननु यदि साध्याधिगमप्रयोजकसम्बन्धाभावाद् वैयधिकरण्यमुच्यते, तदानीं संमतमेवैतदस्माकं दोषः, किन्तु प्रमेयत्वादयोऽपि व्यधिकरणा एव वाच्याः स्युर्न व्यभिचारादयः । तस्मात्पक्षान्यधर्मत्वाभिधानादेव व्यधिकरणो हेत्वाभासस्ते सम्मतः, स चागमक इति नियमं प्रत्याचक्ष्महे । अथ प्रतिमोहशक्त्याऽन्यथाभिधानेऽपि ब्राह्मणजन्यत्वादित्येवं हेत्वर्थं प्रतिपद्य साध्यं प्रतिपद्यते इति चेत्, एवं तर्हि प्रतिमोहशक्त्यैव पटस्य कृतकत्वादित्यभिधानेऽपि पटस्य कृतकत्वादनित्यत्वं दृष्टम । एवं शब्दस्यापि तत एव तद्वस्त्विति प्रतिपत्तौ नायमपि व्यधिकरणः स्यात्; तस्माद्यथोपात्तो हेतुस्तथैव तद्गमकत्वं चिन्तनीयम । न च यस्मात्पटस्य कृतकत्वं तस्मात्तदन्येनाप्यनित्येन भवितव्यमित्यस्ति व्याप्तिः । अतोऽसौ व्यभिचारादेवागमकः । एवं काककार्ष्ण्यादिरपि । कथं वा व्यधिकरणोऽपि जलचन्द्रो नभश्चन्द्रस्य, कृत्तिकोदयो वा शकटोदयस्य गमकः स्यात् ?, इति नास्ति व्यधिकरणो हेत्वाभासः । आश्रयासिद्धताऽपि न युक्ता । अस्ति सर्वज्ञः, चन्द्रोपरागादिज्ञानान्यथाऽनुपपत्तेरित्यादेरपि गमकत्वनिर्णयात् । कथमत्र सर्वज्ञधर्मिणः सिद्धिः ? इति चेत, असिद्धिरपि कथमिति कथ्यताम ? । प्रमाणागोचरत्वादस्येति चेत्, एवं तर्हि तथापि तदसिद्धिः कथं स्यात् ? । ननु को नाम सर्वज्ञधर्मिणमभ्युपगत, येनैव पर्यनुयोगः सोपयोगः स्यादिति चेत् ?। नैवम । प्रमाणागोचरत्वादित्यतः सर्वज्ञो धर्मी न भवतीति सिषाधयिषितत्वात । अन्यथेदमस्वरं प्रति निशिततर-तरवारिव्यापारप्रायं प्रथेत । एव च-

" आश्रयासिद्धता तेऽनुमाने न चेत्,
साऽनुमाने मदीये तदा किं भवेत ? ।
आश्रयासिद्धता तेऽनुमानेऽस्ति चेत्,
साऽनुमाने मदीये, तदा किं भवेत् ?" ॥

यदि त्वदीयानुमानेनाश्रयासिद्धिरस्ति, तदा मदनुमानेऽप्यसौ मा भूत्; धर्मिण उभयवाद्यविषयत्वात्; अन्यस्यास्य प्रश्नानुयोगित्वात् । अथास्ति तत्राश्रयासिद्धिः, तदा बाधकाभावात् एषा कथं मदीयेऽनुमाने स्यादिति भावः ।

तथा च—

" विकल्पाद्धर्मिणः सिद्धिं, क्रियतेऽथ निषिध्यते ।
द्विधाऽपि धर्मिणः सिद्धि-र्विकल्पाद्वै समागता " ॥ १ ॥

द्वयमपि नाहिम करोमीत्यप्यनभिधेयम, विधिप्रतिषेधयोर्युगपद्विधानस्य प्रतिषेधस्य चासंभवात् । यदि च द्वयमपि न करोषि तदा व्यक्तममूल्यक्रयी कथं नोपहासाय जायेथाः । तथाचाश्रयासिद्धपुङ्गवनाऽघटनात् । ननु यदि विकल्पसिद्धेऽपि धर्मिणि प्रमाणमन्वेषणीयम, तदा प्रमाणसिद्धेऽपि प्रमाणान्तरमन्विष्यताम । अन्यथा तु विकल्पसिद्धेऽपि पर्याप्तं प्रमाणान्वेषणेन, अतः इसिकया प्रमाणलक्षणपरीक्षणे परीक्षकाणामवर्णनीय ... च स्यात्; तावन्मात्रेणैव सर्वस्यापि सिद्धेः । तथा च बाह्यस्यादेरपि शब्दानित्यत्वे साध्ये सम्यग्हेतुत्वं भवेदिति चेत । तदसत्यम् । विकल्पादि सत्यासत्यसाधारणं धर्मिमात्रं प्रतीयेत, न तु तावन्मात्रेणैव तदस्तित्वमपि प्रमाणनिरपेक्षं प्रमेयमपि ... ऽसर्वथयं भवेत् । अन्यथा पृथिवीधरस्तोऽभ ... धमप्यपार्थकं भवेत् ।... ... धर्मिमतो वा सन्तं ...

ष्यात्। धर्मिसत्ताऽनभिमतत्वविशेषणशून्यस्य हेतुमात्रस्य प्रत्य-
क्षेण परिच्छेदाद् नानुमानानर्थक्यमिति चेत्; तर्ह्यस्तित्वना-
स्तित्वविशेषणशून्यस्य सर्वज्ञमात्रस्य विकल्पेनाऽऽकलनात् प-
क्षधर्मत्वानुमानानर्थक्यं स्यात्?। अस्तित्वनास्तित्वव्यतिरेकेण
कीदृशो सर्वज्ञमात्रो गोचरीति चेत्?; अभिमतत्वानभिमतत्वव्य-
तिरेकेण हेतुर्धर्मिमात्रोऽपि कीदृशो? इति वाच्यम्। धी-
र्मित्वेऽप्यस्मिन्नेवाऽस्मात्सत्ताऽसिद्धेचेति चेत्, इतश्चापि सर्वज्ञ इ-
त्येतावन्मात्रस्यैव सिद्धिरस्तु; कथमनेका प्रमाणलक्षणोपपन्न-
त्वात् प्रमाणसिद्धैः, तद्व्यावृत्तिस्तु नहि धर्मपक्षीकृतिरिति। ननु कि-
मेव दुर्मतासंमतमात्रमपेक्ष्य विकल्पेन प्रामाणिकः कुर्या-
दिति चेत्?। तदयुक्तम्। यतः प्रामाणिकोऽपि पर्तकीपरित-
र्कककर्कशमुर्विशिन्नमहत्त्वार्थर्विराजितमयमायां सदसि प्राप-
मोहः कृतः वेति केनापि प्रमर्दर्पोद्धुरकन्धरेण सापेक्षं प्र-
स्तुतोऽसत्यं दुरन्तमानं। किञ्चिद् ब्रूयाद्, न तूष्णीमेव पु-
र्णीयात्; कतरेण च विकल्पेन तत्र सोऽपि स्वनिकार निस्तारितः प्र-
ष्टव्यं तु विकल्पमिदं धर्मिणं विहाय काऽन्या गतिरास्ते?।
[illegible] वस्तुनि मुक्तानुरुक्तयोः कथं प्रवर्तते इति स्वय-
मेव विकल्पयतु वादी कः? इति चेत्। ननु यथा कथमेव
[illegible] मूर्खस्य धर्मांश्च पृच्छति निष्प्रमाणके
वस्तुनीति विकल्पादं धर्मिण विचार्य मुक्तास्वार्थ च विद्या-
[illegible]। [illegible] विकल्पेन धर्मिकल्पनेन नापि
[illegible]। कथं तेन वर्तताम्, इत्यप्रमाणमिति वाच्यम्।
[illegible]। यद्यपि विकल्पयति प्रतिवा-
दी [illegible] विकल्प्य प्रतिपद्यताम्?। प्रमाणमु-
[illegible] धर्मे पुरुषोऽपि कः कि
कुर्यात्?। [illegible] तु धर्मिणि [illegible]
[illegible]
[illegible] तत्र कथं वस्तुतश्चापि
सिद्धमिति चेत्?। [illegible] यदि त-
[illegible]
[illegible]
[illegible] ततः [illegible]
[illegible] हेत्वाभासः
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

कोऽपि न साधुः; यतो यदि पक्षधर्मत्वं गमकत्वाङ्गमङ्गीकृतं
स्यात् तदा स्यादयं दोषः,नचैवम्। तत्किमाश्रयवृत्त्यसिद्धेऽपि
केकायितान्नियतदेशाधिकरणमयूरसिद्धिर्भवतु?। नैवम्। के-
कायितमात्रं हि मयूरमात्रेणैवाविनाभूतं निश्चितमिति तदेव ग-
मयति। देशविशेषविशिष्टमयूरसिद्धौ तु देशविशेषविशिष्टस्यै-
व केकायितस्याविनाभावावसाय इति केकायितमात्रस्य तद्व्य-
भिचारसंभवादेवागमकत्वम्। एवमाश्रयैकदेशासंदिग्धवृत्ति-
रप्यसिद्धो न भवतीति। स्वरूपविशेषणविशेष्यासिद्धावपि ना-
सिद्धभेदौ; वस्तुरूपकौशलमात्रत्वादस्यैवपर्यवसानात्। एवं व्य-
र्थैकदेशासिद्धादयोऽपि वाच्याः। ततः स्थितमेतद्-परेषामि-
द्धभेदेषु संभवन्त उभयासिद्धान्यतरासिद्धयोरन्तर्भवन्ति। अ-
न्यान्यतरासिद्धो हेत्वाभास एव नास्ति। तथाहि-परेणासिद्ध
इत्युद्भाविते यदि वादी न तत्साधकं प्रमाणमाचक्षीत,तदा प्रमा-
णाभावादुभयोरप्यसिद्धः। अथाचक्षीत, तदा प्रमाणस्यापक्ष-
पातित्वादुभयोरप्यसौ सिद्धः। अथवा-यावद् न परं प्रति प्रमा-
णेन प्रसाध्यते तावत् सोऽन्यसिद्ध इति चेत्; गौण तर्ह्यसिद्धत्वम्,
नहि रत्नादिपदार्थस्तत्त्वतोऽप्रतीयमानस्तावत्कालमपि कालं मु-
ख्यतस्तदाभासः। किञ्च-अन्यतरासिद्धो यदा हेत्वाभास-
स्तदा वादी निगृहीतः स्यात्, न च निगृहीतस्य पश्चादनिग्रह
इति युक्तम्,नापि हेतुसमर्थनं पश्चाद् युक्तम्; निग्रहान्तत्वाद्वाद-
स्येति। अथोच्यते-यदा वादी सम्यग्हेतुत्वं प्रतिपद्यमानोऽपि
तत्समर्थनन्यायविस्मरणादिनिमित्तेन प्रतिवादिनं प्राश्निकान् वा
प्रतिबोधयितुं न शक्नोत्यसिद्धतामपि नानुमन्यते, तदाऽ-
न्यतरासिद्धत्वेनैव निगृह्यते। तथा-स्वयमनभ्युपगतोऽपि प-
रस्य सिद्ध इत्येतावतैवोपन्यस्तो हेतुरन्यतरासिद्धो निग्र-
हाधिकरणम्। यथा-साङ्ख्यस्य जैनं प्रत्यचेतनाः सुखादय
उत्पत्तिमत्त्वाद्घटवदिति। ननु कथं तर्हि प्रसङ्गसाधनं गृ-
वाद स्यात्?; तथा च प्रमाणप्रसिद्धव्याप्तिकेन वाक्येन पर-
स्यानिष्टापादनाय प्रसञ्जनं प्रसङ्गः। यथा-यत्सर्वथैकं तन्ना-
नेकत्र वर्तते, वर्तते च सामान्यमनेकत्र, तथा च सामान्यमिति कथमने-
कव्यक्तिवर्ति स्यात्?; अनेकव्यक्तिवर्तित्वान्यथानुपपत्तेः व्यापकस्य
सर्वथैकत्वस्य व्याप्यस्यानुपपत्तेः। अत्र हि वादिना स्याद्वादिना
सर्वथैकत्वमसिद्धमिति कथं धर्मान्तरस्यानेकव्यक्तिवर्तित्वाभा-
वस्य गमकं स्यादिति चेत्? तदयुक्तम्। एकधर्मोपगमे ध-
र्मान्तरोपगमसंदर्शनमात्रतत्परत्वेनास्य वस्तुनिश्चायकत्वाभा-
वात्, प्रसङ्गविपर्ययरूपेण मौलहेतोरपेक्षितत्वाच्च। प्र-
सङ्ग-[illegible] व्यापकविरुद्धोपलब्धिः। अनेकव्यक्तिवर्ति-
त्वस्य हि व्यापकमनेकत्वम्, एकानेकत्वयोरनेकव्यक्तिवर्ति-
त्वविरोधात्। एकानेकत्वस्य सामान्यस्य प्रतिनियतव्यक्त्या-
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]। अथ [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

पक्षमणोरपि न सिद्धः सामान्ये जैनयौगाभ्यां तदभ्युपगमात । ततोऽयमेव मौलो हेतुरयमेव च वस्तुनिश्चायकः । ननु च-दयमेव वस्तुनिश्चायकः वादीक्रियते,नर्हि किं प्रसङ्गोपन्यासेन ?, भ्रमोऽयमेवोपन्यस्तनाम। निश्चयाङ्गमेव हि मुखाणां वादी वादिनामप्येयधर्मा भवतीति चेत् । मैवम्। मौलहेतुपरिकरत्वादस्य। अवश्यमेव हि प्रसङ्गं कुर्वतोऽर्थः कश्चिन्निश्चायितुमिष्टो, निश्चयश्च सिद्धहेतुनिमित्त इति यस्तत्र सिद्धो हेतुरिष्टस्तस्य व्याप्यव्यापकभावसाधने प्रकारान्तरमेवैतत् । यत्सर्वथैकं तन्नानेकत्र वर्तते इति व्यासिदर्शनमात्रमपि हि बाधकं विरुद्धधर्माध्यासमाक्षिपतीत्यन्योऽयं साधनप्रकारः । एवं च नान्यतरासिद्धस्य कस्यापि गमकत्वमिति ॥ ५१ ॥ रत्ना० ६ परि० ।

असिद्धिमग्ग-असिद्धिमार्ग-न० । न विद्यते सिद्धेर्मोक्षस्य विशिष्टस्थानोपलक्षितस्य मार्गो यस्मिंस्तदसिद्धिमार्गम् । सिद्धहेतौ, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

असिधारव्वय-असिधाराव्रत-न० । असिधारायां संचरणीयमित्येवं रूपे नियमे, ज्ञा० १ अ० ।

असिधारग-असिधारक-न० । असेर्धारा यस्मिन् व्रते आक्रमणीयतया, तदसिधारकम् । असिधारावदनाक्रमणीये, भ० । " असिधारगं वयं चरियव्वं " असेर्धारा यस्मिन् व्रते आक्रमणीयतया तदसिधारकं, व्रतं नियमः,चरितव्यमासेवितव्यम्; तदेतत्प्रवचनानुपालनं तद्वद् दुष्करमित्यर्थः। भ० ९ श०३३उ०।

असिधारागमण-असिधारागमन-न० । ७ त० । खड्गधारायां चङ्क्रमे; उत्त० १६ अ० ।

असिपंजर-असिपञ्जर-न० । खड्गशक्तिपञ्जरे,प्रश्न० २ संव०द्वार।

असिपंजरगय-असिपञ्जरगत-त्रि० । असिपञ्जरे शक्तिपञ्जरे गतः । खड्गशक्त्यादिप्रकरसुपुरुषवेष्टिते, प्रश्न० २ संव० द्वार ।

असिपत्त-असिपत्र-न० । असि: खड्गः, स एव पत्रम् । स्था० ४ ठा० ४ उ० । असिः खड्गस्तस्य पत्रमसिपत्रम् । जी० ३ प्रति० । असयाकारपत्रे, भ०३ श० ६ उ० । खड्गे, ज्ञा० १६ अ० । स० । असिः खड्गस्तदाकारपत्रवद्वनं विकुर्व्य यस्तस्समाश्रितनारकानसिपत्रपातनेन तिलशश्छिनत्ति सोऽसिपत्रः । पुं० । स० १५ सम० । न० । नवमे परमाधार्मिके, प्रश्न० १८ द्वार ।

अत्र निर्युक्तिः-

कण्णोट्टणासकरचरण-दसणत्थणफुग्गऊरुबाहूणं ।
छेयण भेयण साडण, असिपत्तधणूहि पाडंति ॥ ७९ ॥

(कर्णोष्ठ इत्यादि) असिप्रधानाः पत्रधनुर्नामानो नरकपाला असिपत्रवनं बीभत्सं कृत्वा तत्र छायार्थिनः समागतान् नारकान् वराकान् असयादिभिः पाटयन्ति, तथा-कर्णौष्ठनासिकाकरचरणदशनस्तनस्फिगूरुबाहूनां छेदनभेदनशातनादीनि विकुर्वितवाताहतचलितत्पातितासिपत्रादिभिः कुर्वन्तीति । तदुक्तम-" छिन्नपादभुजस्कन्धाः-छिन्नकर्णौष्ठनासिकाः । भिन्नतालुशिरोमेढ्राः, भिन्नाक्षिहृदयोदराः " ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । आ० चू० ।

असिप्पजीवि (ण्)-अशिल्पजीविन्-पुं० । न शिल्पजीवी अशिल्पजीवी । चित्रकरणादिविज्ञानेनाऽऽजीविकामकुर्वति, उत्त० १५ अ० । "असिप्पजीवी अगिहे अमित्ते" उत्त० १५ अ० ।

असिमसिसरिच्छ-असिमषिसदृक्ष-त्रि० । करवालकज्जलतुल्ये, त० ।

असिय (त) असित-त्रि० । कृष्णे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । आ० म० । श्यामे, जं० १ वक्ष० । असुभे, विशे० । अनवद्ये मूर्च्छामकुर्वाणे पङ्काधारपङ्कजवत्तत्कर्मणा दिह्यमाने, त्रि०। सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । असङ्गं कुर्वति, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

असियकेस-असितकेश-त्रि० । असिताः कृष्णाः केशाः येषां ते असितकेशाः । कृष्णकेशे (सुशिके), जी० ३ प्रति० ।

असियग-असितक-न० । दात्रे, भ० १४ श० ७ उ० । आचा० ।

असियगिरि-असितगिरि-पुं० । स्वनामख्याते पर्वते, " सव्वाणि वि असियगिरिम्मि तावसा समं तत्थ गया " आव० ४ अ० । आ० चू० ।

असिरयण-असिरत्न-न० । चक्रवर्तिनां रत्नोत्कृष्टे खड्गे, स्था० ७ ठा० । स० ।

असिरावणिकूवखननसम-असिरावनिकूपखननसम-त्रि० । असिरायामवनौ कूपखननमखननमेव, अनुदकप्राप्तिफलत्वात्, तेन समम् । अविवक्षितफले, पं० १० विव० ।

असिलक्खण-असिलक्षण-न० । खड्गलक्षणपरिज्ञाने, जं० ।

तथैवम्-

"अङ्गुलशतार्द्धमुत्तम ऊनः स्यात् पञ्चविंशतिः खड्गः ॥
अङ्गुलमानाद् ज्ञेयो, व्रणोऽशुभो विषमपर्वस्थः " ॥ १ ॥

अङ्गुलशतार्द्धमुत्तमः खड्गः पञ्चविंशत्यङ्गुलेन ऊनः, अनयोः प्रमाणयोर्मध्यस्थितः । प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमादिष्वङ्गुलेषु यः स्थितो व्रणः स अशुभः, पर्वादिषु समाङ्गुलेषु द्वितीयचतुर्थषष्ठाष्टमादिषु यः स्थितः स शुभः, विषमेषु समविषमाङ्गुलेषु मरणम् इत्यादि । जं० २ वक्ष० । ज्ञा० । औ० । असिलक्षणप्रतिपादके शास्त्रे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

असिलट्ठि-असियष्टि-स्त्री० । खड्गलतायाम, विपा० १ श्रु० ३ अ० । ज्ञा० । औ० ।

असिलाहा-अश्लाघा-स्त्री० । असद्दोषोद्घट्टने, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

असिलील-अश्लील-न० । अमङ्गलजुगुप्साव्रीडाव्यञ्जके दोषविशेषे, यथा-मोदनार्थे धकारादिपदम । रत्ना० ७ परि० ।

असिलेसा-अश्लेषा-स्त्री० । सर्पदेवताके नक्षत्रभेदे, ज्यो० ६ पाहु० । सू० प्र० । " असिलेसामहणक्खत्ते दुत्तारे पण्णत्ते " । स्था० ७ ठा० ।

असिलोग-अश्लोक-पुं० । अकीर्तौ, स० ७ सम० । अयशसि, आव० ४ अ० । अप्रशंसायाम, आव० १ अ० अकीर्तौ, स्था०६ ठा०।

असिलोगभय-अश्लोकभय-न० । अश्लोकोऽयशस्तद्भयमश्लोकभयम् । स एव भयमश्लोकभयम् । अकीर्तिभये, यथा केनचिद्विज्ञानादिना यदुपार्जिता,पश्चादपि तन्निनाशमौक्त्या प्रागप्रस्य दानादौ प्रवर्तेत इति । दर्श० । एवं हि क्रियमाणे महदयशो भवतीति तद्भयाद प्रवर्तत इति । स्था० ७ ठा० । आव० । स्था० ।

असिव-अशिव-न० । क्षुद्रदेवताकृतज्वराद्युपद्रवे, व्य० २ उ०। औघ०। व्यन्तरकृते व्यसने, आव० ४ अ०। नि० चू०। मारौ, व्य० ४ उ०।

असिवग-आसिवक-न०। शस्त्राकारणग्रथने,प्रश्न०१ आश्र०द्वार।

असिवप्पसमणी-अशिवप्रशमनी-स्त्री०। कृष्णवासुदेवस्य भेर्याम्, " सा तस्स तालिज्जइ जस्स छम्मासे भत्तरोगा पसमंति जो तं सद्दं सुणति। " वृ० १ उ० ।

असिवाइखेत्त-अशिवादिक्षेत्र-न० । अशिवादिप्रधानक्षेत्रे, " तिगिविचयन्नमसिवाइखेत्तं च। " दश० १ अ० ।

असिवावण-अशिवापन-न०। विनाशप्राप्तौ, व्य० ७ उ० ।

असिह-अशिख-पुं०। यः शिरसो मुण्डनमात्रं कारयति न च रजोहरणदण्डककपालादिकं धारयति तस्मिन् गृहस्थभेदे, व्य० ४ उ०।

असीइ-अशीति-स्त्री० । विंशत्यूनशतसंख्यायाम्, प्रज्ञा० २ पद। तं०।

असीभरक-असीभरक-पुं० असीभरो नाम ब्रह्मपत् परं शालया निर्ग्रंथ,तद्गतिरिचारद्दर्श।नरः। प्राकृत्यावाच्यार्थिकप्रत्यय विधानहृत।नरकः। सामदा पश्यमिश्रति, व्य० ३ उ०।

असीलया-अशीलता-स्त्री०। चारित्रवर्जिते,प्रश्न० २ आश्र०द्वार।

असीलमंत-अशीलवत्-त्रि० । सावद्ययोगाविरते, अविरतमात्रे च। सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

असुअ-असुत-त्रि०। अपुत्रे, उत्त० २ अ०।

असुआगइ-असदाकृति-स्त्री०। स्वधर्मोपरिमण्डलादिषु अप्रशस्तसंस्थानेषु, कर्म० ५ कर्म०।

असुइ-अशुचि-त्रि० । न० त० । अपवित्रे, आ० म० द्वि० । प्रज्ञा० । अशुचिमलमूत्र (शु०६ पद) आर्द्रं वहति, औं०। विष्ठाऽशुचि[illegible] प्रधाने, सूत्र० २ श्रु० २ उ०। दशा०। [illegible] जिनत्वात [illegible] सार्धे, भ० ३ श० ६ उ०। तद्दोऽधिशुद्धे, तं०। विष्ठायाम्, [illegible] त्रि०। अमेध्ये, स्था० ७ ठा०। औ०। " अमं च अस्द्द किंचि असुई अवर्णि,सदं हरण य भहियाय य पच्चाविमे सुई भवामि,एवं खलु अम्हे देवाणुप्पिया सुइसुइसमायारा भवित्ता [illegible] अभिसेयजलपूयप्पाणो अविग्घेण सग्गं गमिस्सामो" [illegible] । " असुइदिव्वंपि [illegible]स्थावच्चा [illegible] " । [illegible] (विगयं इति) [illegible] तस्मिन् स तथा, [illegible] । ततो विशेषण-[illegible] । औ० ३ अधि०। [illegible] ।

[illegible] प्रज्ञापयति-

दव्वे भावे असुई, [illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible]

धन्दननीचैर्नृत्यादिना वा तोषितः; यदि वा एष मम स्वगच्छसंबन्धी स्वकुलसंबन्धी स्वगणसंबन्धीति रागतः, अथवा-न मामेष वन्दते,विरूपं वा भाषितवानित्यादिद्वेषतोऽयं मुनोपदेशनामाव्यमनाभाव्यं करोति, अनाभाव्यमप्याभाव्यम, सोऽयथाहारी भावतोऽशुचिः ।

एतदेव सुव्यक्तमाह-

दव्वे भावे असुई, दव्वम्मी विट्ठमाईहिंतो उ ।
पाणऽतिवायाईहिं, भावम्मी होइ असुईओ ॥

अशुचिर्द्विधा-द्रव्ये भावे च । तत्र द्रव्ये-विष्ठादिना लिप्तः, आदिशब्दान्मूत्रश्लेष्मादिपरिग्रहः । भावे-प्राणातिपातादिभिर्भवत्यशुचिः । व्य० ३ उ० ।

अशुचि-त्रि० । शास्त्रवर्जिते, भ० ७ श० ६ उ० । प्रश्न० ।

असुइकुणिम-अशुचिकुणिम-न० । अपवित्रमांसे, तं० ।

असुइजायकम्मकरण-अशुचिजातकर्मकरण-न० । अशुचीनां जातकर्मणां करणे, भ० ११ श० ११ उ० । रा० । नालच्छेदादिकरणे, कल्प० ५ क्ष० ।

असुइट्ठाण-अशुचिस्थान-न० । विट्प्रधाने स्थाने, आव० ३ अ० । विष्ठास्थाने, दश० ।

असुइत्तभावणा-अशुचित्वभावना-स्त्री० । देहस्याऽशुचित्वपर्यालोचनायाम्, ध० ।

अशुचित्वभावना त्वेवम्-

रसासृग्मांसमेदोऽस्थि-मज्जाशुक्रान्त्रवर्चसाम् ।
अशुचीनां पदं कायः, शुचित्वं तस्य तत्कुतः ? ॥१॥
नवस्रोतःस्रवद्विस्र-रसनिःस्यन्दपिच्छिले ।
देहेऽपि शुचिसंकल्पो, महन्मोहविजृम्भितम् ॥२॥

नवभ्यो नेत्र २ श्रोत्र २ नासा २ मुख १ पायूपस्थेभ्यः १ स्रोतेभ्यो निर्गमद्वारेभ्यः स्रवन् विस्र आमगन्धियो रसः,तस्य निस्यन्दो निर्यासः,तेन पिच्छिले विच्छिले । शेषं सुगमम् । ध० ३ अधि० ।

अथाशुचित्वभावना-

" लवणाकरे पदार्थाः, पतिता लवणं यथा भवन्तीह ।
काये तथा मलाः स्यु-स्तदस्मादशुचिः सदा कायः ॥ १ ॥
कायः शोणितशुक्रमिश्रणभवो गर्भे जरायोर्वृतो,
माताऽऽस्वादितखाद्यपेयरसकैर्वृद्धिं समाप्यापितः ।
क्लिन्नधातुसमाकुलः कृमिकजालगण्डूपदाद्यास्पदं,
केनेत्येन शुचिर्विभः सुचिरया सर्वैर्मलैः सङ्कुलः ॥ २ ॥
सुस्वादं सुभगन्धि मोदकदधिक्षीरेक्षुशाल्योदनं-
द्राक्षापर्पटिकामृतान्नघृतपूरस्वर्गच्युताऽऽम्रादिकम् ।
भुक्तं यत्क्षणतश्च यत्र मलसात्संपद्यते सर्वतः,
तं कायं सकलाशुचिं शुचिमहो ! मोहान्धिता मन्वते ॥ ३ ॥
यस्य स्नानेऽनुदिनेषु बहिर्मुखाः शुचित्वं कियत्
कालं लालयतोऽस्य विग्रहस्य कस्तूरिकाचन्दना ।
विष्टासंघटमिवच्छुभमहो ! मन्ये तु शौच कथ-
कार भेदस्य मूत्रविकृत कायकारं च सर्वोऽस्य ! ॥ ४ ॥
[illegible] कर्पूरकस्तूरिका-
कर्पूरागुरुकुङ्कुमप्रभृतयो भावा यद्रसंगतः ।
[illegible] सततं यान्ति सोऽशुचिः !

देहं केवलम् मन्यते मुनिरिया वैधयमां पश्यत ॥ ५ ॥
इत्याद्यैव द्वादशस्य, विभाव्य परमार्थतः ।
सुमतिमिमतां नश्र, न कुर्वीत कदाचन ॥ ६ ॥ प्रव० ६७ द्वार ।

असुइविल–अशुचिविल–न० । परमाऽपवित्रविवरे, तं० ।

असुइय–अशुचिक–त्रि० । अपवित्रस्वरूपे, तं० । ज्ञा० । स्था० । अमेध्ये मूत्रपुरीषादौ, स्था० १० ठा० ।

असुइसंकिलिट्ठ–अशुचिसंक्लिष्ट–न० । न० त० । अमेध्येन दुष्टे, भ० ६ श० ३३ उ० ।

असुइसमुप्पण्ण–अशुचिसमुत्पन्न–त्रि० । अपवित्रोत्पन्ने, तं० ।

असुइसामंत–अशुचिसामन्त–न० । अमेध्यानां मूत्रपुरीषादीनां समीपे, स्था० १० ठा० ।

असुखगइ–असुखगति–स्त्री० । अप्रशस्तविहायोगतौ, कर्म० ५ कर्म० ।

असुजाइ–असुजाति–स्त्री० । एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिलक्षणासु अप्रशस्तजातिषु, कर्म० ५ कर्म० ।

असुज्झमाण–अशुध्यत्–त्रि० । अनपगच्छति, " असुज्झमाणे लेयविसेसा विसोहंति " पञ्चा० १६ विव० । नि० चू० ।

असुद्ध–अशुद्ध–त्रि० । सावद्ये, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । अविशुद्धकारिणि, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । "असुद्धपरिणामसंकिलिट्ठं भणति" । अशुद्धपरिणामेन संकिलष्टं संक्लेशयत्तत् तथा भणन्ति । प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

असुद्धभाव–अशुद्धभाव–पुं० । अनन्तानुबन्ध्यादिसङ्गतमातृस्थानरूपे अप्रशस्ताऽध्यवसाये, पञ्चा० १८ विव० ।

असुद्धसभाव–अशुद्धस्वभाव–पुं० । औपाधिके–उपाधिजनितबहिर्भावपरिणमनयोग्ये, द्रव्या० १२ अध्या० ।

असुभ(ह)–अशुभ–त्रि० । अशोभने, दर्श० । अशुभरसगन्धस्पर्शयुक्ते, जी० १ प्रति० । अशुभकारिणि, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । पापप्रकृतिरूपे कर्मणि, स्था० ४ ठा० ४ उ० । आव० । अपुण्यबन्धे, स्था० ५ ठा० १ उ० । अशर्मणि, दशा० ८ अ० ।

असुभ (ह) कम्मबहुल–अशुभकर्मबहुल–त्रि० । कलुषकर्मप्रचुरे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

असुभ (ह) किरियादिरहिय–अशुभक्रियादिरहित–त्रि० । अप्रशस्तकायचेष्टाप्रभृतिविकले, आदिशब्दादशुभवाग्मनोयोगविकलतापरिग्रहः । पञ्चा० १३ विव० ।

असुभ (ह) ज्झवसाण–अशुभाध्यवसान–न० । क्लिष्टपरिणामे, पञ्चा० १६ विव० ।

असुभ (ह) णाम–अशुभनामन्–न० । अशुभानुबन्धि नामकर्मभेदे, कर्म०३३ अ० । यदुदयान्नाभेरधः पादादीनामवयवानामशुभता भवति, तदशुभनाम । पादादिना हि स्पृष्टः परो रुष्यतीति तेषामशुभत्वम् । कामिनीव्यवहारेण व्यभिचार इति चेत् । नैवम् । तस्य मोहनिबन्धनत्वात् । वस्तुस्थितिश्चेह चिन्त्यत इति ततोऽदोषः । पं० सं० ३ द्वार । कर्म० । अशुभनामकर्मणः प्रकृतयो मध्यमभेदविवक्षया चतुस्त्रिंशद्भेदा भवन्ति । तद्यथा–नरकगति १ तिर्यग्गति २ एकेन्द्रिय ३ द्वीन्द्रिय ४ त्रीन्द्रिय ५ चतुरिन्द्रियजाति ६ ऋषभनाराच ७ नाराच ८ अर्द्धनाराच ९ कीलिका १० सेवार्तसंहननानि ११ न्यग्रोधमण्डलसंस्थान १२ सादि १३ वामन १४ कुब्ज १५ हुण्डक १६ अप्रशस्तवर्ण १७ अप्रशस्तगन्ध १८ अप्रशस्तरस १९ अप्रशस्तस्पर्श २० नरकानुपूर्वी २१ तिर्यगानुपूर्वी २२ उपघात २३ अप्रशस्तविहायोगति २४ स्थावर २५ सूक्ष्म २६ साधारण २७ अपर्याप्त २८ अस्थिर २९ अशुभ ३० दुर्भग ३१ दुःस्वर ३२ अनादेय ३३ अयशोऽकीर्तिः ३४ इति । उत्त० ३३ अ० । प्रव० । अशुभमनादेयत्वादि । अपूज्ये च कर्मभेदे, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

असुभ (ह) तरंडुत्तरणप्पाय–अशुभ (असुख) तरण्डोत्तरणप्राय–त्रि० । अशुभमशोभनं, कण्टकादियोगादसुखं वा, तत एव दुःखहेतुत्वात् तच्च तत् तरणं च काष्ठादि, तेन यदुत्तरणं पारगमनं, तत्प्रायस्तत्कल्पो यः स तथा । पञ्चा० ६ विव० । कण्टकानुगतशाल्मलीतरण्डोत्तरणतुल्ये, " असुहतरंडुत्तरणप्पाओ दव्वत्थओ असमत्थो । " प्रति० ।

असुभ (ह)त्त–अशुभत्व–न० । अमङ्गलतायाम्, भ० ६ श० ३ उ० ।

असुभ (ह) दुक्खभागि (ण्)–अशुभदुःखभागिन्–त्रि० । अशुभानुबन्धि यद् दुःखं, तद्भागिनः । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । अशुभानुबन्धिदुःखभागिषु, भ० ७ श० ६ उ० ।

असुभ (ह) विवाग–अशुभविपाक–न० । असातादिरसोदयवति कर्मणि, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

असुभा (हा)–अशुभा–स्त्री० । न विद्यते शुभो विपाको यासां ता अशुभाः । पं० सं० ३ द्वार । विपाकदारुणकटुकरसासु पापकर्मप्रकृतिषु, पं० सं० ३ द्वार । (सर्वा एताः 'कम्म' शब्दे तृतीयभागे २७२ पृष्ठे वक्ष्यन्ते)

असुभा (हा) णुप्पेहा–अशुभानुप्रेक्षा–स्त्री० । संसाराऽशुभत्वानुचिन्तने, भ० २५ श० ७ उ० । ग० । "कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोभो य पवड्ढमाणा । चत्तारि एते कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स" ॥ स्था० ४ ठा० १ उ० ।

असुय–अश्रुत–त्रि० । अनाकर्णिते, स्था० ८ ठा० । आचा० । प्रवचनद्वारेणानुपलब्धे, भ० २ श० ५ उ० ।

असुयणिस्सिय–अश्रुतनिश्रित–न० । सर्वथा शास्त्रसंस्पर्शरहितस्य तथाविधक्षयोपशमभावत एवमेव यथावस्थितवस्तुसंस्पर्शमतिज्ञानरूपे बुद्धिचतुष्के, नं० । ('आभिणिबोहियणाण' शब्दे द्वितीयभागे २५१ पृष्ठेऽस्य व्याख्या वक्ष्यते)

असुर–असुर–पुं० । भवनपतिव्यन्तरलक्षणे देवभेदद्वये, स्था० ३ ठा० १ उ० । पदैकदेशे पदसमुदायोपचारादसुरकुमारे, प्रव० १९४ द्वार । नं० । प्रश्न० । भ० । औ० । आ० म० । सूत्र० । स्था० । असुरस्थानोत्पन्नेषु नागकुमारादिषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । दानवे, अनु० ।

असुरकुमार–असुरकुमार–पुं० । असुराश्च ते सर्वाङ्गसुन्दरतया कुमाराश्चेत्यसुरकुमाराः । स्था० १ ठा० १ उ० । भवनपतिभेदेषु, प्रज्ञा० १ पद । स्था० ('ठाण' शब्दे तद्वासाः वक्ष्यन्ते)

भवस्थिति–

नगरं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता एवं वयासी–अत्थि णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए

पुढवीए अहे असुरकुमारा देवा परिवसंति ? । णो इणट्ठे समट्ठे, एवं जाव अहे सत्तमाए पुढवीए सोहम्मस्स कप्पस्स अहे जाव। अत्थि णं भंते ! ईसिपब्भाराए पुढवीए असुरकुमारा देवा परिवसंति ? । णो इणट्ठे समट्ठे । से कहिं खाइ णं भंते ! असुरकुमारा देवा परिवसंति ? । गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए असीउत्तरजोयणसयसहस्सबाहल्लाए एवं असुरदेववत्तव्वयाए० जाव दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरंति। अत्थि णं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं अहे गतिविसए ? । हंता अत्थि । केवइयाणं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं अहे गतिविसए पन्नत्ते ? । गोयमा ! जाव अहे सत्तमाए पुढवीए, तच्चं पुण पुढविं गया य गमिस्संति य । किं पत्तियं णं भंते ! असुरकुमारा देवा तच्चं पुढविं गया य गमिस्संति य ? । गोयमा ! पुव्ववेरियस्स वा वेदणउदीरणयाए पुव्वसंगइयस्स वा वेदणउवसामणयाए, एवं खलु असुरकुमारा देवा तच्चं पुढविं गया य गमिस्संति य । अत्थि णं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं तिरियं गतिविसए पन्नत्ते ? । हंता अत्थि । केवइयाणं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं तिरियं गतिविसए पन्नत्ते ? । गोयमा ! जाव असंखेज्जा दीवसमुद्दा, नंदिस्सरवरं पुण दीवं गया य गमिस्संति य । किं पत्तियं णं भंते ! असुरकुमारा देवा नंदिस्सरवरं दीवं गया य गमिस्संति य ? । गोयमा ! जे इमे अरिहंता भगवंतो एएसि णं जम्मणमहेसु वा निक्खमणमहेसु वा नाणुप्पायमहिमासु वा परिनिव्वाणमहिमासु वा एवं खलु असुरकुमारा देवा नंदिस्सरवरं दीवं गया य गमिस्संति य । अत्थि णं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं उड्ढं गतिविसए ? । हंता अत्थि । केवइयं च णं भंते ! असुरकुमाराणं देवाणं उड्ढं गतिविसए ? । गोयमा ! जाव अच्चुए कप्पे सोहम्मं पुण कप्पं गया य गमिस्संति य । किं पत्तियं णं भंते ! असुरकुमारा देवा सोहम्मं कप्पं गया य गमिस्संति य ? । गोयमा ! तेसि णं देवाणं भवपच्चइयवेराणुबंधे, ते णं देवा विकुव्वेमाणा वा परियारेमाणा वा आयरक्खे देवे वित्तासेंति, अहालहुस्सगाइं रयणाइं गहाय आयाए एगंतमंतं अवक्कमंति । अत्थि णं भंते ! तेसिं देवाणं अहालहुस्सगाइं रयणाइं ? । हंता अत्थि । से कहमियाणिं पकरेंति ? । तओ से पच्छा कायं पव्वहंति । पभू णं भंते ! ते असुरकुमारा देवा तत्थ गया चेव समाणा ताहिं अच्छराहिं सद्धिं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरित्तए ? । [illegible] असुरकुमारा देवा [illegible] भुंजमाणा विहरित्तए, अह णं ताओ अच्छराओ नो आढायंति नो परियाणंति, णो णं पभू ! ते असुरकुमारा देवा ताहिं अच्छराहिं सद्धिं दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरित्तए । एवं खलु गोयमा ! असुरकुमारा देवा सोहम्मं कप्पं गया य गमिस्संति य। केवइकालस्स णं भंते ! असुरकुमारा देवा उड्ढं उप्पयंति० जाव सोहम्मं कप्पं गया य गमिस्संति य ? । गोयमा ! अणंताहिं ओसप्पिणीहिं अणंताहिं अवसप्पिणीहिं समइक्कंताहिं अत्थि णं एस भावे लोयच्छेरयभूए समुप्पज्जइ । जण्णं असुरकुमारा देवा उड्ढं उप्पयंति०, जाव सोहम्मे कप्पे ।

(एवं खलु असुरकुमारेत्यादि) एवमनेन सूत्रक्रमेणेति । स चैवम् "उवरिं एगं जोयणसहस्सं ओगाहेत्ता हेट्ठा चेगं जोयणसहस्सं वज्जेत्ता मज्झे अट्ठहत्तरे जोयणसयसहस्से, एत्थ णं असुरकुमाराणं देवाणं चोसट्ठिं भवणावाससयसहस्सा भवंतीति अक्खायमित्यादि"। (विउव्वेमाणा य त्ति) संरम्भेण महावैक्रियशरीरं कुर्वन्तः। (परियारेमाणा य त्ति) परिचारयन्तः परकीयदेवीनां भोगं कर्तुकामा इत्यर्थः । (अहालहुस्सगाइं ति) यथोचितानि लघुस्वकानि अमहास्वरूपाणि, महतां हि तेषां नेतुं गोपयितुं वा अशक्यत्वादिति यथालघुस्वकानि । अथवा-सर्वाणि महान्ति परिहरन्तीति च वृद्धाः। (आयाए त्ति) आत्मना, स्वयमित्यर्थः। (एगंतं ति) विजनं (अंतं ति) देशं (से कहमियाणिं पकरेंति त्ति) अथ किमिदानीं रत्नग्रहणानन्तरमेकान्तापक्रमणकाले प्रकुर्वन्ति वैमानिकाः, रत्नादातॄणामिति। (तओ से पच्छा कायं पव्वहंति त्ति) ततो रत्नादानात् (पच्छ त्ति) अनन्तरं (से त्ति) एषां रत्नादातॄणामसुराणां कायं देहं प्रव्यथन्ते प्रहरैः प्रघ्नन्ति वैमानिका देवाः, तेषां च प्रव्यथितानां वेदना भवति जघन्येनान्तर्मुहूर्तम्, उत्कर्षतः षण्मासान् यावत्। भ० ३ श० २ उ० ।

किं निस्साए णं भंते ! असुरकुमारा देवा उड्ढं उप्पयंति० जाव सोहम्मे कप्पे ? । गोयमा ! से जहा नामए इह सबरा इ वा बब्बराइ वा टंकणाइ वा चुच्चुयाइ वा पल्हयाइ वा पुलिंदाइ वा एगं महं रण्णं वा गड्डं वा दुग्गं वा दरिं वा विसमं वा पव्वयं वा णीसाए सुमहल्लमवि आसबलं वा हत्थिबलं वा जोहबलं वा धणुबलं वा आगलेंति, एवामेव असुरकुमारा देवा णण्णत्थ अरिहंते वा अरिहंतचेइयाणि वा अणगारे वा भावियप्पणो निस्साए उड्ढं उप्पयंति० जाव सोहम्मे कप्पे । सव्वे वि णं भंते ! असुरकुमारा देवा उड्ढं उप्पयंति० जाव सोहम्मे कप्पे ? । गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । महिड्ढिया णं असुरकुमारा देवा उड्ढं उप्पयंति० जाव सोहम्मे कप्पे ।

[illegible]

सुखं सैद्धिकं-सिद्धौ मोक्षे भवं सैद्धिकं,यदि वा दुःखमसैद्धिकं सांसारिकम् । अथवा-सैद्धिकमसैद्धिकं च सुखम् । यथा-स्रक्चन्दनाङ्गनाद्युपभोगक्रियासिद्धौ भवं सैद्धिकम, आन्तरं सुखमानन्दरूपमसैद्धिकम् । तथा-सैद्धिकमसैद्धिकं च दुःखम् । यथा-कशाताडनाङ्गनादिक्रिया-सिद्धौ भवं सैद्धिकम; ज्वरशिरोऽर्तिशूलादिरूपमङ्गोत्थमसैद्धिकं दुःखम् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

असोग-अशोक-पुं० । कङ्केलीनामके एकास्थिकवृक्षभेदे, औ० । प्रज्ञा० । कल्प० । स्था० । अशोकादयः पञ्च वर्णा भवन्ति ततो विशेषणम्-"किण्हासोएइ वा" रा० । आचा० । अनु० । मल्लिजिनस्य चैत्यवृक्षोऽशोकः । स० । चम्पायां स्वनामख्याते पार्श्वनाथे,ती० १० कल्प । पूर्वभवे चतुर्थबलदेवजीवे,स० । ति० । चतुःसप्ततितमे महाग्रहे, "दो असोगा ।" स्था० २ ठा० ३ उ० । चं० प्र० । सू० प्र० । कल्प० । अशोकवनदेवे च, जी० ३ प्रति० । वीतशोके, त्रि० । वाच० ।

असोगचंद-अशोकचन्द्र-पुं० । श्रेणिकपुत्रे कूणिके, स च पितुः श्रेणिकस्य पूर्ववैरीति दास्या अशोकवाटिकायामुज्झित इत्यशोकचन्द्रनामाऽभवत । आ० चू० ४ अ० । आव० । ती० । ('कूणिय' शब्दे चैतद् दर्शयिष्यते) "राया तए असोगचंदए वेसालिं नगरिं गहेति" आ० म० प्र० । आ० चू० । ('पारिणामिया' 'कूलवालुक' शब्दयोश्चोदाहरिष्यते)

असोगजक्ख-अशोकयक्ष-पुं० । विजयपुरे नगरे नन्दनवने उद्याने स्वनामख्याते यक्षे, विपा० २ श्रु० ३ अ० ।

असोगदत्त-अशोकदत्त पुं० । साकेतनगरे स्वनामख्याते इभ्ये, यस्य समुद्रदत्तसागरदत्तनामानौ भ्रातरौ । दर्श० ।

असोगराय-अशोकराज-पुं० । चम्पायां वासुपूज्यजिनेन्द्रपुत्रमघवनृपतिपुत्र्यां लक्ष्म्यां [illegible] रोहिणीनाम्न्या अष्टभ्रातृभगिन्याः स्वयंवरे वृते पत्यौ, ती० ३५ कल्प ।

असोगलया-अशोकलता-स्त्री० । तिर्यग्गताबाभ्रप्रसरणभावावृक्षादिनिश्रिताशोकवृक्षेषु, जं० १ वक्ष० ।

असोगवडिंसग-अशोकावतंसक-न० । सौधर्मादिविमानानां पूर्वस्यां दिश्यवतंसके; रा० । प्रज्ञा० । जी० ।

असोगवण-अशोकवन-न० । अशोकप्रधाने वने, अनु० ।

असोगवणिया-अशोकवनिका-स्त्री० । अशोकप्रधाने लघुवने, ज्ञा० अ० [illegible] ।

असोगवरपायव-अशोकवरपादप-पुं० । प्रधानेऽशोकवृक्षे, "ईसिं असोगवरपायवसमुट्ठिया य" जी० ३ प्रति० । रा० ।

असोगसिरि-अशोकश्री-पुं० । [illegible] चन्द्रगुप्तस्य पौत्रे बिन्दुसारस्य पुत्रे, पाटलिपुत्रे नगरे [illegible] चन्द्रगुप्तो-बिन्दुसा[illegible] [illegible] [illegible] महा-[illegible] । [illegible] । "[illegible] बिन्दुसा-[illegible] [illegible] " [illegible] । [illegible] ।

असोगा-अशोका-स्त्री० । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।

द्वार । नलिनविजयक्षेत्रपुरीयुगले, नलिनो विजयस्य अशोका पुः । जं० ४ वक्ष० । 'दो असोगाओ' । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

असोच्चा-अश्रुत्वा-अव्य० । प्राकृतधर्मानुरागादेव धर्मफलादिप्रतिपादकवचनमनाकर्ण्येत्यर्थे, भ० ।

अथाश्रुत्वा केवलपर्यन्तं लभते न वा ?-

रायगिहे० जाव एवं वयासी-असोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा केवलिसावगस्स वा केवलिसावियाए वा केवलिउवासगस्स वा केवलिउवासियाए वा तप्पक्खियस्स वा तप्पक्खियसावगस्स वा तप्पक्खियसावियाए वा तप्पक्खियउवासगस्स वा तप्पक्खियउवासियाए वा केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए ?; गोयमा ! असोच्चा णं केवलिस्स वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा अत्थेगइए केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, अत्थेगइए केवलिपण्णत्तं धम्मं नो लभेज्ज सवणयाए । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ असोच्चा णं० जाव नो लभेज्ज सवणयाए ? । गोयमा ! जस्स णं नाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवइ । से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए । जस्स णं नाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ, से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केवलिपण्णत्तं धम्मं नो लभेज्ज सवणयाए । से तेणट्ठे णं गोयमा ! एवं वुच्चइ, तं चेव० जाव नो लभेज्ज सवणयाए । असोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केवलं बोहिं बुज्झेज्जा ?। गोयमा ! असोच्चा णं केवलिस्स वा० जाव अत्थेगइए केवलं बोहिं बुज्झेज्जा, अत्थेगइए केवलं बोहिं नो बुज्झेज्जा, से केणट्ठेणं भंते !० जाव नो बुज्झेज्जा ?। गोयमा ! जस्स णं दरिसणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवइ, से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव केवलं बोहिं बुज्झेज्जा, जस्स णं दरिसणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ, से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव केवलं बोहिं नो बुज्झेज्जा, से तेणट्ठेणं० जाव नो बुज्झेज्जा । असोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केवलं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा ?। गोयमा ! असोच्चा णं केवलिस्स वा० जाव उवासियाए वा अत्थेगइए केवलं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा, अत्थेगइए केवलं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं नो पव्वएज्जा । से केणट्ठेणं० जाव नो पव्वएज्जा ?। गोयमा ! जस्स णं धम्मंतराइयाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवइ, से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव केवलं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा ।

जस्स णं धम्मंतराइयाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ, से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव मुंडे भवित्ता० जाव नो पव्वएज्जा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! ० जाव नो पव्वएज्जा । असोच्चा णं भंते ! केवलिस्स० जाव उवासियाए वा केवलं बंभचेरवासं आवसेज्जा ?। गोयमा ! अत्थेगइए केवलं बंभचेरवासं आवसेज्जा, अत्थेगइए नो आवसेज्जा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ० जाव नो आवसेज्जा ?। गोयमा ! जस्स णं चरित्तावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवइ से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव केवलं बंभचेरवासं आवसेज्जा, जस्स णं चरित्तावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ, से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव नो आवसेज्जा, से तेणट्ठेणं० जाव नो आवसेज्जा । असोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा० जाव केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा ?। गोयमा ! असोच्चा णं केवलिस्स वा जाव० उवासियाए वा अत्थेगइए केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, अत्थेगइए केवलेणं संजमेणं नो संजमेज्जा । से केणट्ठेणं० जाव नो संजमेज्जा ?। गोयमा ! जस्स णं जयणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवइ, से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, जस्स णं जयणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ, से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव नो संजमेज्जा, से तेणट्ठेणं गोयमा ! ० जाव अत्थेगइए नो संजमेज्जा । असोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा० जाव उवासियाए वा केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा ?। गोयमा ! असोच्चा णं केवलिस्स वा० जाव अत्थेगइए केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा, अत्थेगइए केवलेणं० जाव नो संवरेज्जा । से केणट्ठेणं० जाव नो संवरेज्जा ?। गोयमा ! जस्स णं अज्झवसाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवइ, से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा, जस्स णं अज्झवसाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ, से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव नो संवरेज्जा, से तेणट्ठेणं० जाव नो संवरेज्जा । असोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा० जाव केवलं आभिणिबोहियनाणं उप्पाडेज्जा ?। गोयमा ! असोच्चा णं केवलिस्स वा० जाव उवासियाए वा अत्थेगइए केवलं आभिणिबोहियनाणं उप्पाडेज्जा, अत्थेगइए केवलं आभिणिबोहियनाणं नो उप्पाडेज्जा । से केणट्ठेणं० जाव नो उप्पाडेज्जा ?। गोयमा ! जस्स णं आभिणिबोहियनाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवइ से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव केवलं आभिणिबोहियनाणं उप्पाडेज्जा, जस्स णं आभि[illegible]
[illegible]णाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे

असोच्चा केवलिस्स वा० जाव केवलं आभिणिबोहियनाणं नो उप्पाडेज्जा, से तेणट्ठेणं० जाव नो उप्पाडेज्जा । असोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा० जाव केवलं सुयनाणं उप्पाडेज्जा ?। एवं जहा आभिणिबोहियनाणस्स वत्तव्वया भणिया, तहा सुयणाणस्स वि भाणियव्वा, नवरं सुयनाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमो भाणियव्वो । एवं चेव केवलं ओहिनाणं भाणियव्वं, नवरं ओहिनाणावरणिज्जाणं खओवसमो भाणियव्वो । एवं केवलं मणपज्जवणाणं उप्पाडेज्जा, नवरं मणपज्जवनाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे भाणियव्वे, असोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केवलनाणं उप्पाडेज्जा एवं चेव, नवरं केवलणाणावरणिज्जाणं कम्माणं खए भाणियव्वे, सेसं तं चेव । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ० जाव केवलनाणं नो उप्पाडेज्जा ॥

शुद्धदन्तोद्देशक इति उक्तरूपाश्चार्थाः केवलिधर्मात्प्राप्यन्ते, तच्चाश्रुत्वाऽपि कोऽपि लभत इत्याद्यर्थप्रतिपादनार्थमाह—(रायगिहेत्यादि) तत्र च (असोच त्ति) अश्रुत्वा धर्मफलादिप्रतिपादकवचनमनाकर्ण्य, प्राकृतधर्मानुरागादित्यर्थः (केवलिस्स व त्ति) केवलिनो जिनस्य । (केवलिसावगस्स त्ति) केवली येन स्वयमेव पृष्टः, श्रुतं वा येन तद्वचनमसौ केवलिश्रावकः, तस्य (केवलिउवासगस्स व त्ति) । केवलिन उपासनां विदधानेन केवलिनैवान्यस्य कथ्यमानं श्रुतं येनासौ केवल्युपासकः । (तप्पक्खियस्स त्ति) केवलिपाक्षिकस्य स्वयंबुद्धस्य (धम्मं ति) श्रुतचारित्ररूपम् (लभेज्ज त्ति) प्राप्नुयात् । (सवणयाए त्ति) श्रवणतया श्रवणरूपतया, श्रोतुमित्यर्थः । (नाणावरणिज्जाणं ति) बहुवचनं ज्ञानावरणीयस्य मतिज्ञानावरणादिभेदेनावग्रहमत्यावरणादिभेदेन च बहुत्वात् । इह च क्षयोपशमग्रहणाद् मत्यावरणादेव तद् ग्राह्यं, न तु केवलावरणम्, तत्र क्षयस्यैव भावात् ज्ञानावरणीयस्य क्षयोपशमश्च गिरिसरिदुपलघोलनान्यायेनापि कस्यचित्स्यात्, तत्क्षये चाश्रुत्वाऽपि धर्मं लभेत, श्रोतुं क्षयोपशमस्यैव तल्लाभेऽन्तरङ्गकारणत्वादिति । (केवलं बोहिं ति) शुद्धं सम्यग्दर्शनं (बुज्झेज्ज त्ति) बुध्येतानुभवेदित्यर्थः । यथा प्रत्येकबुद्धादिरेवमुत्तरत्राप्युदाहर्तव्यम् । (दरिसणावरणिज्जाणं ति) । इह दर्शनावरणीयं दर्शनमोहनीयमभिगृह्यते बोधः, सम्यग्दर्शनपर्यायत्वात् । तल्लाभस्य च तत्क्षयोपशमजन्यत्वादिति । (केवलं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं ति) केवलां शुद्धां सम्पूर्णां वाऽनगारतामिति योगः । (धम्मंतराइयाणं ति) अन्तरायो विघ्नः, सोऽस्ति येषु तान्यन्तरायिकाणि धर्मस्य चारित्रप्रतिपत्तिलक्षणस्यान्तरायिकाणि धर्मान्तरायिकाणि, तेषां, वीर्यान्तरायचारित्रमोहनीयभेदानामित्यर्थः (चरित्तावरणिज्जाणं ति) इह वेद[illegible] [illegible]विशेषो ग्राह्याणि, [illegible] [illegible] । ([illegible] संजमे- [illegible] उज त्ति) इह [illegible] अध्यवसानाख [illegible] पतनाविशेषः [illegible] तु मननावरणी-

यानि चारित्रविशेषविषयवीर्यान्तरायलक्षणानि मन्तव्यानि। (अज्झवसाणावरणिज्जाणं ति) संवरशब्देन शुभाध्यवसायवृत्तेर्विवक्षितत्वात्तस्याश्च भावचारित्ररूपत्वेन तदावरणक्षयोपशमस्य भावादध्यवसानावरणीयशब्देनेह भावचारित्रावरणीयान्युक्तानीति।

पूर्वोक्तानेवार्थान् पुनः समुदायेनाह-

असोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, केवलं बोहिं बुज्झेज्जा, केवलं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइज्जा, केवलं बंभचेरवासं आवसेज्जा, केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, केवलेणं संवरेणं संवरेज्जा, केवलं आभिणिबोहियनाणं उप्पाडेज्जा० जाव केवलं मणपज्जवनाणं उप्पाडेज्जा० जाव केवलनाणं उप्पाडेज्जा ?। गोयमा ! असोच्चा णं केवलिस्स वा० जाव उवासियाए वा अत्थेगइए केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, अत्थेगइए केवलिपन्नत्तं धम्मं नो लभेज्ज सवणयाए, अत्थेगइए केवलं बोहिं बुज्झेज्जा, अत्थेगइए केवलं बोहिं नो बुज्झेज्जा, अत्थेगइए केवलं मुंडे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वएज्जा, अत्थेगइए० जाव नो पव्वएज्जा, अत्थेगइए केवलं बंभचेरवासं आवसेज्जा, अत्थेगइए केवलं० जाव नो आवसेज्जा, अत्थेगइए केवलेणं संजमेणं संजमेज्जा, अत्थेगइए केवलेणं संजमेणं नो संजमेज्जा, एवं संवरेण वि अत्थेगइए केवलं आभिणिबोहियनाणं उप्पाडेज्जा, अत्थेगइए० जाव नो उप्पाडेज्जा, एवं० जाव मणपज्जवनाणं अत्थेगइए केवलनाणं उप्पाडेज्जा, अत्थेगइए केवलनाणं नो उप्पाडेज्जा। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ असोच्चा णं तं चेव० जाव अत्थेगइए केवलनाणं नो उप्पाडेज्जा ?। गोयमा ! जस्स नाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ, जस्स णं दंसणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ, जस्स णं धम्मंतराइयाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ, एवं चरित्तावरणिज्जाणं जयणावरणिज्जाणं अज्झवसाणावरणिज्जाणं आभिणिबोहियनाणावरणिज्जाणं० जाव मणपज्जवनाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे नो कडे भवइ, जस्स णं केवलनाणावरणिज्जाणं० जाव खए नो कडे भवइ, से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव केवलिपन्नत्तं धम्मं नो लभेज्ज सवणयाए, केवलं बोहिं नो बुज्झेज्जा० जाव केवलनाणं नो उप्पाडेज्जा, जस्स णं नाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवइ, जस्स णं दंसणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवइ, जस्स णं धम्मंतराइयाणं एवं जाव जस्स णं केवलनाणावरणिज्जाणं कम्माणं खए कडे भवइ, से णं असोच्चा केवलिस्स वा० जाव केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, केवलं बोहिं बुज्झेज्जा केवलनाणं उप्पाडेज्जा ॥

(असोच्चा णं भंते ! इत्यादि) अथाश्रुत्वैव केवल्यादिवचनं यथा कश्चित्केवलज्ञानमुत्पादयेत् तथा दर्शयितुमाह-

तस्स णं भंते ! छट्ठं छट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय सूराभिमुहस्स आयावणभूमीए आयावेमाणस्स पगइभद्दयाए पगइउवसंतयाए पगइपयणुकोहमाणमायालोभयाए मिउमद्दवसंपन्नयाए अल्लीणयाए भद्दयाए विणीययाए अन्नया कयाइ सुभेणं अज्झवसाणेणं सुभेणं परिणामेणं लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं विसुज्झमाणीहिं अल्लीणयाए तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं ईहापोहमग्गणगवेसणं करेमाणस्स विभंगे नामं अन्नाणे समुप्पज्जइ, से णं तेणं विभंगनाणसमुप्पन्नेणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं जाणइ पासइ, से णं तेणं विभंगनाणेणं समुप्पन्नेणं जीवे वि जाणइ, अजीवे वि जाणइ, पासंडत्थे सारंभे सपरिग्गहे संकिलिस्समाणे वि जाणइ, विसुज्झमाणे वि जाणइ, से णं पुव्वामेव सम्मत्तं पडिवज्जइ, समणधम्मं रोएइ २ चरित्तं पडिवज्जइ, लिंगं पडिवज्जइ, तस्स णं तेहिं मिच्छत्तपज्जवेहिं परिहायमाणेहिं सम्मदंसणपज्जवेहिं वड्ढमाणेहिं, से विभंगे अन्नाणे सम्मत्तपरिग्गहिए खिप्पामेव ओही परावत्तइ ॥

(तस्स त्ति) योऽश्रुत्वैव केवलज्ञानमुत्पादयेत् तस्य कस्यापि " छट्ठं छट्ठेणमित्यादि " च यदुक्तम्, तत्प्रायः षष्ठतपश्चरणवतो बालतपस्विनो विभङ्गज्ञानविशेष उत्पद्यत इति ज्ञापनार्थमिति । (पगिज्झिय त्ति) प्रगृह्य, धृत्वेत्यर्थः । "पगइभद्दयाए " इत्यादीनि तु प्राग्वत् । (तयावरणिज्जाणं ति) विभङ्गज्ञानावरणीयानां (ईहापोहमग्गणगवेसणं करेमाणस्स त्ति) ईहा सदर्थाभिमुखा ज्ञानचेष्टा, अपोहस्तु विपक्षनिरासः, मार्गणं चान्वयधर्मालोचनं, गवेषणं तु व्यतिरेकधर्मालोचनमिति (से णं ति) असौ बालतपस्वी (जीवे वि जाणइ त्ति) कथंचिदेव न तु साक्षात्, मूर्त्तगोचरत्वात्तस्य । (पासंडत्थे त्ति) व्रतस्थान् (सारंभे सपरिग्गहे त्ति) सारम्भान् सपरिग्रहान् [illegible] (संकिलिस्समाणे वि जाणइ त्ति) महत्या संक्लिश्यमानतया संक्लिश्यमानानपि जानाति (विसुज्झमाणे वि जाणइ त्ति) अल्पीयस्या विशुद्ध्यमानतया विशुद्ध्यमानानपि जानाति, आरम्भादिमतामेव तत्प्रायत्वात् । (से णं त्ति) असौ विभङ्गज्ञानी जीवाजीवस्वरूपपाषण्डस्थसंक्लिश्यमानतादिज्ञायकः सन् (पुव्वामेव त्ति) चारित्रप्रतिपत्तेः पूर्वमेव (सम्मत्तं ति) सम्यक्त्वं (समणधम्मं ति) साधुधर्मं । (रोएइ त्ति) श्रद्धत्ते रोचयति वा । (लिंगं पडिवज्जइ त्ति) [illegible] । इह च यद्यपि चारित्रप्रतिपत्तेः [illegible] सम्यक्त्वं परिगृहीतं, विभङ्गज्ञानस्य [illegible] पूर्वं सम्यक्त्वपर्यायोपेतस्य [illegible]

ज्ञानस्याऽवधिभावो व्यपदेश्यः; सम्यक्त्वचारित्रभावे विभङ्गज्ञानस्याभावादिति ।

अथैनमेव लेश्यादिभिर्निरूपयन्नाह-

से णं भंते ! कइसु लेस्सासु होज्जा ? । गोयमा ! तिसु विसुद्धलेस्सासु होज्जा । तं जहा-तेउलेस्साए पम्हलेस्साए सुक्कलेस्साए । से णं भंते ! कइसु णाणेसु होज्जा ? । गोयमा ! तिसु आभिणिबोहियनाणसुयनाणओहिनाणेसु होज्जा । से णं भंते ! किं सजोगी होज्जा, अजोगी होज्जा ? । गोयमा ! सजोगी होज्जा, नो अजोगी होज्जा । जदि सजोगी होज्जा, किं मणजोगी होज्जा, वइजोगी कायजोगी वा होज्जा ? । गोयमा ! मणजोगी होज्जा, वइजोगी होज्जा, कायजोगी वा होज्जा । से णं भंते ! किं सागारोवउत्ते होज्जा, अणागारोवउत्ते वा होज्जा ? । गोयमा ! सागारोवउत्ते वा होज्जा, अणागारोवउत्ते वा होज्जा । से णं भंते ! कयरम्मि संघयणे होज्जा ? । गोयमा ! वइरोसभनारायसंघयणे होज्जा । से णं भंते ! कयरम्मि संठाणे होज्जा ? । गोयमा ! छण्हं संठाणाणं अन्नयरे संठाणे होज्जा । से णं भंते ! कयरम्मि उच्चत्ते होज्जा ? । जहन्नेणं सत्तरयणीए उक्कोसेणं पंचधणुसइए होज्जा । से णं भंते ! कयरम्मि आउए होज्जा ? । गोयमा ! जहन्नेणं साइरेगट्ठवासाउए उक्कोसेणं पुव्वकोडिआउए होज्जा । से णं भंते ! किं सवेदए होज्जा, अवेदए होज्जा ? । गोयमा ! सवेदए होज्जा, नो अवेदए होज्जा । जइ सवेदए होज्जा, किं इत्थिवेदए होज्जा, पुरिसवेदए होज्जा, पुरिसनपुंसगवेदए होज्जा, नपुंसगवेदए होज्जा ? । गोयमा ! नो इत्थिवेदए होज्जा, पुरिसवेदए वा होज्जा, नो नपुंसगवेदए होज्जा, पुरिसनपुंसगवेदए वा होज्जा । से णं भंते ! किं सकसाई होज्जा, अकसाई होज्जा ? । गोयमा ! सकसाई होज्जा, नो अकसाई होज्जा ? । जइ सकसाई होज्जा से णं भंते ! कइसु कसाएसु होज्जा ? । गोयमा ! चउसु संजलणकोहमाणमायालोभेसु होज्जा । तस्स णं भंते ! केवइया अज्झवसाणा पण्णत्ता ? । गोयमा ! असंखेज्जा अज्झवसाणा पण्णत्ता । ते णं भंते ! किं पसत्था, अप्पसत्था ? । गोयमा ! पसत्था, नो अप्पसत्था । से णं भंते ! तेहिं पसत्थेहिं अज्झवसाणेहिं वट्टमाणेहिं अणंतेहिं नेरइयभवग्गहणेहिंतो अप्पाणं विसंजोएइ, अणंतेहिं तिरिक्खजोणिय० जाव विसंजोएइ, अणंतेहिं मणुस्सभवग्गहणेहिंतो अप्पाणं विसंजोएइ, अणंतेहिं देवभवग्गहणेहिं अप्पाणं विसंजोएइ, जाओ वि य से इमाओ नेरइयतिरिक्खजोणियमणुस्सदेवगइनामाओ चत्तारि उत्तरपगडीओ य, तासिं च णं उवग्गहिए अणंताणुबंधी कोहमाणमायालोभे खवेइ, खवेइत्ता अपच्चक्खाणकसाए कोहमाणमायालोभे खवेइ, खवेइत्ता पच्चक्खाणावरणे कोहमाणमायालोभे खवेइ, खवेइत्ता संजलणे कोहमाणमायालोभे खवेइ, खवेइत्ता पंचविहं नाणावरणिज्जं नवविहं दरिसणावरणिज्जं पंचविहं अंतराइयं तालमत्थाकडं च णं मोहणिज्जं कट्टु कम्मरयविकिरणकरं अपुव्वकरणं पविट्ठस्स अणंते अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे केवलवरनाणदंसणे समुप्पज्जइ ॥

[से णं भंते ! इत्यादि] तत्र [से णं ति] स यो विभङ्गज्ञानी भूत्वाऽवधिज्ञानं चारित्रं च प्रतिपन्नः । [तिसु विसुद्धलेसासु होज्ज त्ति] यतो भावलेश्यासु प्रशस्तास्वेव सम्यक्त्वादि प्रतिपद्यते, नाविशुद्धास्विति । [तिसु आभिणिबोहियेत्यादि] सम्यक्त्वमतिश्रुतावधिज्ञानानां विभङ्गविनिवर्त्तनकाले तस्य युगपद्भावादाद्ये ज्ञानत्रय एवासौ तदा वर्त्तत इति । [णो अजोगी होज्ज त्ति] अवधिज्ञानकाले अयोगित्वस्याभावात् । 'मणजोगी' इत्यादि च एकतरयोगप्राधान्यापेक्षयाऽवगन्तव्यम् । [सागारोवउत्ते वेत्यादि] तस्य हि विभङ्गज्ञानान्निवर्त्तमानस्योपयोगद्वयेऽपि वर्त्तमानस्य सम्यक्त्वावधिज्ञानप्रतिपत्तिरस्तीति । ननु-"सव्वाओ लद्धीओ सागारोवओगोवउत्तस्स भवंति" इत्यागमादनाकारोपयोगे सम्यक्त्वावधिज्ञानविरोधः ? । नैवम् । प्रवर्द्धमानपरिणामजीवविषयत्वात्तस्यागमस्यावस्थितपरिणामापेक्षया चानाकारोपयोगेऽपि लब्धिलाभस्य सम्भवादिति । [वइरोसभनारायसंघयणे होज्ज त्ति] प्राप्तव्यकेवलज्ञानत्वात्तस्य, केवलज्ञानप्राप्तिश्च प्रथमसंहनन एव भवतीति । एवमुत्तरत्रापीति । [सवेयए होज्ज त्ति] विभङ्गस्यावधिभावकाले न वेदक्षयोऽस्तीत्यसौ सवेद एव । [नो इत्थिवेयए होज्ज त्ति] स्त्रिया एवंविधस्य व्यतिकरस्य स्वभावत एवाभावात् । [पुरिसनपुंसगवेयए व त्ति] वर्द्धितकत्वादित्वेन नपुंसकः पुरुषनपुंसकः । [सकसाई होज्ज त्ति] विभङ्गावधिकाले कषायक्षयस्याभावात् । [चउसु संजलणकोहमाणमायालोभेसु होज्ज त्ति] स ह्यवधिज्ञानपरिणतविभङ्गज्ञानश्चरणं प्रतिपन्नकः, तस्य च तत्काले चरणयुक्तत्वात्; संज्वलना एव क्रोधादयो भवन्तीति [पसत्थ त्ति] विभङ्गस्यावधिभावो हि नाप्रशस्ताध्यवसानस्य भवतीत्यत उक्तम्-प्रशस्तान्यध्यवसायस्थानानीति । [अणंतेहिं ति] अनन्तैरनन्तानागतकालभाविभिः । [विसंजोएइ त्ति] विसंयोजयति, तत्प्राप्तियोग्यताऽपनोदादिति । (जाओ वि य त्ति) या अपि च । (नेरइयतिरिक्खजोणियमणुस्सदेवगतिनामाओ त्ति) एतदभिधानाः । (उत्तरपयडीओ य त्ति) नामकर्माभिधानाया मूलप्रकृतेरुत्तरभेदभूताः । (तासिं च णं ति) तासां च नैरयिकगत्याद्युत्तरप्रकृतीनां, चशब्दादन्यासां च, (उवग्गहिए त्ति) औपग्रहिकान् उपष्टम्भप्रयोजनान् अनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभान् क्षपयति । तथा प्रत्याख्यानादींश्च तथाविधानेव क्षपयतीति । (पंचविहं नाणावरणिज्जं ति) मतिज्ञानावरणादिभेदात् (नवविहं दरिसणावरणिज्जं ति) चक्षुर्दर्शनावरणादिचतुष्कस्य, निद्रापञ्चकस्य च मीलनान्नवविधत्वमस्य । (पंचविहमंतराइयं ति) दानलाभभोगोपभोगवीर्यविशेषितत्वात् पञ्चविधस्यान्तरायस्य, तत्क्षपयतीति संबन्धः । किं कृत्वेत्यत आह (तालमत्थाकडं च णं मोहणिज्जं कट्टु त्ति) मस्तकं मस्तकसूची छिन्नं यस्यासौ मस्तकच्छिन्नस्तालश्चासौ मस्तकच्छश्च तालमस्तकः तद्वदात्मा यस्य तत् तालमस्तकं कृत्वेत्यर्थः; तालमस्तककृतमिव यत्तत्तालमस्तककृतम्, अयमर्थः-छिन्नमस्तकतालकल्पं च मोहनीयं कृत्वा । यदाह-छिन्नमस्तकस्तालः

क्षीणो भवति, एवं मोहनीयं च कृत्वा क्षीणकृत्वेति भावः । इदं चोक्तमोहनीयभेदशेषापेक्षया द्रष्टव्यमिति । अथ कस्मादनन्तानुबन्ध्यादिस्वभावे तत्र क्षपिते सति ज्ञानावरणीयादि क्षपयत्येवेत्यत आह-(तालमत्थेत्यादि) तालमस्तकस्येव कृत्तं क्रिया यस्य तत्तालमस्तककृत्तं, तदेवंविधं च मोहनीयम् । (कट्टु त्ति) इतिशब्दस्येह गम्यमानत्वात्, इतिकृत्वा इति हेतोः, तत्र क्षपिते ज्ञानावरणीयादि क्षपयत्येवेति, तालमस्तकमोहनीययोश्च क्रियासाधर्म्यमेव । यथा-तालमस्तकविनाशक्रियाऽवश्यंभाविताल-विनाशा, एवं मोहनीयकर्मविनाशक्रियाऽप्यवश्यभाविशेषकर्मविनाशेति । आह च-" मस्तकसूचिविनाशे, तालस्य यथा ध्रुवो भवति नाशः। तद्वत्कर्मविनाशोऽपि मोहनीयक्षये नित्यम्" ॥ १ ॥ ततश्च कर्मरजोविकिरणकरं तद्विक्षेपकमपूर्वकरणम-असदृशाध्यवसायविशेषमनुप्रविष्टस्याऽनन्तम्, विषयानन्त्यात्; अनुत्तरं सर्वोत्तमत्वात्, निर्व्याघातं कुड्यादिभिरप्रतिहननात्, निरावरणं सर्वथा स्वावरणक्षयात्, कृत्स्नं सकलार्थग्राहकत्वात्, प्रतिपूर्णं सकलस्वांशयुक्ततयोत्पन्नत्वात्, केवलवरज्ञानदर्शनं केवलमभिधानतो वरज्ञानान्तरापेक्षया, ज्ञानं च दर्शनं च ज्ञानदर्शनम् । समाहारद्वन्द्वः । ततः केवलादीनां कर्मधारयः । इह च क्षपणाक्रमः "अणमिच्छमीससम्मं, अट्ठ नपुंसित्थिवेयछक्कं च । पुमवेयं च खवेइ, कोहाईए य संजलणे " ॥१॥ इत्यादिग्रन्थान्तरप्रसिद्धो नचायमिहाश्रितः; यथा कथञ्चित्क्षपणामात्रस्यैव विवक्षितत्वादिति ।

से णं भंते ! केवलिपण्णत्तं धम्मं आघवेज्ज वा पन्नवेज्ज वा परूवेज्ज वा ?। णो इणट्ठे समट्ठे । नण्णत्थ एगणाएण वा एगवागरणेण वा । से णं भंते ! पव्वावेज्ज वा मुंडावेज्ज वा ?। नो इणट्ठे समट्ठे, उवदेसं पुण करेज्जा । से णं भंते ! किं सिज्झइ० जाव अंतं करेइ ?। हंता सिज्झइ० जाव करेइ । से णं भंते ! किं उड्ढं होज्जा, अहे होज्जा, तिरियं होज्जा ?। गोयमा ! उड्ढं वा होज्जा, अहे वा होज्जा, तिरियं वा होज्जा, उड्ढं होज्जमाणे सद्दावइ वियडावइ गंधावइ मालवंतपरियाएसु वट्टवेयड्ढपव्वएसु होज्जा, साहरणं पडुच्च सोमणसवणे वा पंडगवणे वा होज्जा, अहे होज्जमाणे गड्डाए वा दरीए वा होज्जा, साहरणं पडुच्च पायाले वा भवणे वा होज्जा, तिरियं होज्जमाणे पण्णरससु कम्मभूमीसु होज्जा, साहरणं पडुच्च अड्ढाइज्जदीवसमुद्दतदेक्कदेसभाए होज्जा । ते णं भंते ! एगसमएणं केवइया होज्जा ?। गोयमा ! जहण्णेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा उक्कोसेणं दस, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ, असोच्चा णं केवलिस्स वा० जाव अत्थेगइए केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, अत्थेगइए केवलि० जाव नो लभेज्ज सवणयाए० जाव अत्थेगइए केवलनाणं उप्पाडेज्जा, अत्थेगइए केवलनाणं नो उप्पाडेज्जा ।

[आघवेज्ज त्ति] आग्राहयेच्छिष्यानर्थापयेद्वा, प्रतिपादनतः पूजां प्रापयेत् । [पन्नवेज्ज त्ति] प्रज्ञापयेद् भेदभणनतो बोधयेद्वा । [परूवेज्ज त्ति] उपपत्तिकथनतः [णऽण्णत्थएगनाएण व त्ति] न इति योऽयं निषेधः सोऽन्यत्र एकज्ञातादेकमुदाहरणं वर्जयित्वेत्यर्थः; तथाविधकल्पत्वादस्येति । [एगवागरणेण व त्ति] एकव्याकरणादेकोत्तरादित्यर्थः [पव्वावेज्ज व त्ति] प्रव्राजयेद् रजोहरणादिद्रव्यलिङ्गदानतः [मुंडावेज्ज व त्ति] मुण्डयेत् शिरोलुञ्चनतः [उवएसं पुण करेज्ज त्ति] अमुष्य पार्श्वे प्रव्रजेत्यादिकमुपदेशं कुर्यात् । " सद्दावईत्यादि " शब्दापातिप्रभृतयो यथाक्रमं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्यभिप्रायेण हैमवतहरिवर्षरम्यकैरण्यवतेषु, क्षेत्रसमासाभिप्रायेण तु हैमवतैरण्यवतहरिवर्षरम्यकेषु भवन्ति, तेषु च तस्य भाव आकाशगमनलब्धिसंपन्नस्य तत्र गतस्य केवलज्ञानोत्पादसद्भावे सति [साहरणं पडुच्च त्ति] देवेन नयनं प्रतीत्य [सोमणसवणे त्ति] सौमनसवनं मेरौ तृतीयं [पंडगवणे त्ति] मेरौ चतुर्थं (गड्डाए व त्ति) गर्ते निम्ने भूभागे अधोलोकग्रामादौ (दरीए व त्ति) तत्रैव निम्नतरप्रदेशे (पायाले व त्ति) महापातालकलशे वलयामुखादौ (भवणे व त्ति) भवनवासिदेवनिवासे (पण्णरससु कम्मभूमीसु त्ति) पञ्चभरतानि पञ्चैरवतानि पञ्च महाविदेहा इत्येवंलक्षणासु कर्माणि कृषिवाणिज्यादीनि तत्प्रधानभूमयः कर्मभूमयस्तासु (अड्ढाइ इत्यादि) अर्द्धं तृतीयं येषां तेऽर्द्धतृतीयाः, ते च ते द्वीपाश्चेति समासः, अर्द्धतृतीयद्वीपाश्च समुद्रौ च तत्परिमितावर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्राः, तेषां, स चासौ विवक्षितो देशरूपो भागोंऽशोऽर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रतदेकदेशभागः, तत्र ।

अनन्तरं केवल्यादिवचनाश्रवणे यत्स्यात् तदुक्तम्, अथ तच्छ्रवणे यत्स्यात्तदाह-

सोच्चा णं भंते ! केवलिस्स वा० जाव तप्पक्खियउवासियाए वा केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए ?। गोयमा ! सोच्चा णं केवलिस्स वा० जाव अत्थेगइए केवलिपण्णत्तं धम्मं एवं जा चेव असोच्चाए वत्तव्वया, सा चेव सोच्चाए वि भाणियव्वा, नवरं अभिलावो सोच्च त्ति, सेसं तं चेव णिरवसेसं० जाव जस्स णं मणपज्जवणाणावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमे कडे भवइ, जस्स णं केवलणाणावरणिज्जाणं कम्माणं खए कडे भवइ, से णं सोच्चा केवलिस्स वा० जाव उवासियाए वा केवलिपण्णत्तं धम्मं लभेज्ज सवणयाए, बोहिं बुज्झेज्ज० जाव केवलणाणं उप्पाडेज्जा, तस्स णं अट्ठमेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणस्स पगइभद्दयाए तहेव० जाव गवेसणं करेमाणस्स ओहिणाणे समुप्पज्जइ, से णं तेणं ओहिणाणेणं जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं असंखेज्जाइं लोअप्पमाणमेत्ताइं खंडाइं जाणइ पासइ । से णं भंते ! कइसु लेस्सासु होज्जा ?। गोयमा ! छसु लेस्सासु होज्जा, तं जहा-कण्हलेस्साए० जाव सुक्कलेस्साए । से णं भंते ! कइसु णाणेसु होज्जा ?। गोयमा ! तिसु वा चउसु वा होज्जा, तिसु होज्जमाणे तिसु आभि[illegible] हिणाणेसु होज्जा, चउसु होज्जमाणे आभि[illegible] सुअणाण ओहिणाणमणपज्जवणाणेसु होज्जा। से णं भंते ! किं सजोगी होज्जा ?। एवं, जोगोवओगो संघयणसंठाणं उच्चत्तं आउयं च, एयाणि सव्वाणि जहा असोच्चाए तहेव

धालियच्छाणी । से णं भंते ! किं सवेदए पुच्छा ?। गोयमा ! सवेदए वा होज्जा, अवेदए वा होज्जा । जइ अवेदए वा होज्जा, किं उवसंतवेदए, खीणवेदए होज्जा ?। गोयमा ! णो उवसंतवेदए होज्जा खीणवेदए होज्जा । जइ सवेदए होज्जा किं इत्थीवेदए होज्जा पुच्छा ?। गोयमा ! इत्थीवेदए वा होज्जा, पुरिसवेदए वा होज्जा, पुरिसणपुंसगवेदए वा होज्जा । से णं भंते ! सकसाई होज्जा, अकसाई होज्जा ?। गोयमा ! सकसाई वा होज्जा, अकसाई वा होज्जा । जइ अकसाई होज्जा, किं उवसंतकसाई होज्जा, खीणकसाई होज्जा ?। गोयमा ! णो उवसंतकसाई होज्जा, खीणकसाई होज्जा । जइ सकसाई होज्जा से णं भंते ! कइसु कसाएसु होज्जा ?। गोयमा ! चउसु वा तिसु वा दोसु वा एक्कम्मि वा होज्जा, चउसु होज्जमाणे चउसु संजलणकोहमाणमायालोभेसु होज्जा, तिसु होज्जमाणे तिसु संजलणमाणमायालोभेसु होज्जा, दोसु होज्जमाणे दोसु संजलणमायालोभेसु होज्जा, एगम्मि होज्जमाणे एगम्मि संजलणलोभे होज्जा । तस्स णं भंते ! केवइया अज्झवसाणा पण्णत्ता ?। गोयमा !। असंखेज्जा, एवं जहा असोच्चाए तहेव० जाव केवलणाणं समुप्पज्जइ । से णं भंते ! केवलिपण्णत्तं धम्मं आघवेज्ज वा पण्णवेज्ज वा परूवेज्ज वा ?। हंता गोयमा ! आघवेज्ज वा पण्णवेज्ज वा परूवेज्ज वा । से णं भंते ! पव्वावेज्ज वा मुंडावेज्ज वा ?। हंता पव्वावेज्ज वा मुंडावेज्ज वा । से णं भंते ! सिज्झइ बुज्झइ० जाव अंतं करेइ । तस्स णं भंते ! सिस्सा वि सिज्झंति० जाव अंतं करेंति ?। हंता सिज्झंति० जाव अंतं करेंति । तस्स णं भंते ! पसिस्सा वि सिज्झंति ?। एवं चेव,० जाव अंतं करेंति । से णं भंते ! किं उड्ढं होज्जा, अहे वा ?। जहा असोच्चाए० जाव तदेक्कदेसभाए होज्जा । से णं भंते ! एगसमएणं केवइया होज्जा ?। गोयमा ! जहणेणं एक्को वा दो वा तिण्णि वा, उक्कोसेणं अट्ठसयं, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ, सोच्चा णं केवलिस्स वा० जाव केवलिउवासियाए वा० जाव अत्थेगइया केवलणाणं उप्पाडेज्जा, अत्थेगइया केवलणाणं णो उप्पाडेज्जा ॥

(सोच्चा णमित्यादि) अथ यथैव केवल्यादिवचनाश्रवणावाप्तबोध्यादेः केवलज्ञानमुत्पद्यते, न तथैव तच्छ्रवणावाप्तबोध्यादेः, किन्तु प्रकारान्तरेणेति दर्शयितुमाह–" तस्स णमित्यादि " [तस्स त्ति] यः श्रुत्वा केवलज्ञानमुत्पादयेत्तस्य कस्यापि, अर्थात्प्रतिपन्नसम्यग्दर्शनचारित्रलिङ्गस्य "अट्ठमं अट्ठमेणं" इत्यादि च यदुक्तं, तत्प्रायो विकृष्टतपश्चरणवतः साधोरवधिज्ञानमुत्पद्यत इति ज्ञापनार्थमिति । [लोयस्स पमाणमेत्ताइं ति] लोकस्य यत्प्रमाणं मात्रा, तदेव परिमाणं येषां तानि तथा । अथैनमेव लेश्यादिभिर्निरूपयन्नाह–[से णं भंते ! इत्यादि] तत्र [से ण ति] सोऽनन्तरोक्तविशेषणोऽवधिज्ञानी [छसु लेसासु होज्ज त्ति] यद्यपि भावलेश्यासु प्रशस्तास्वेव तिसृष्ववधिज्ञानं लभते, तथापि द्रव्यलेश्याः प्रतीत्य षट्स्वपि लेश्यासु लभते, सम्यक्त्वश्रुतवत् । यदाह– "सम्मत्तसुयं सव्वासु लभइ त्ति" तल्लाभे चासौ षट्स्वपि भवतीत्युच्यत इति । [तिसु व त्ति] अवधिज्ञानस्याऽऽद्यज्ञानद्वयाविनाभूतत्वादवधिज्ञानी त्रिषु ज्ञानेषु भवेदिति । [चउसु वा होज्ज त्ति] मतिश्रुतमनःपर्यवज्ञानिनोऽवधिज्ञानोत्पत्तौ ज्ञानचतुष्टयभावाच्चतुर्षु ज्ञानेष्ववधिज्ञानी भवेदिति । [सवेयए वेत्यादि] अक्षीणवेदस्यावधिज्ञानोत्पत्तौ सवेदकः सन्नवधिज्ञानी भवेत्, क्षीणवेदस्य त्ववधिज्ञानोत्पत्तावदेकः सन्नयं स्यात् [णो उवसंतवेयए होज्ज त्ति] उपशान्तवेदोऽयमवधिज्ञानी न भवति, प्राप्तव्यकेवलज्ञानस्यास्य विवक्षितत्वादिति । [सकसाई वेत्यादि] यः कषायक्षये सत्यवधिं लभते स सकषायी सन्नवधिज्ञानी भवेत्, यस्तु कषायक्षयेऽसावकषायीति [चउसु वेत्यादि] यद्यक्षीणकषायः सन्नवधिं लभते तदाऽयं चारित्रयुक्तत्वाच्चतुर्षु संज्वलनकषायेषु भवति । यदा तु क्षपकश्रेणिवर्तित्वेन संज्वलनक्रोधे क्षीणेऽवधिं लभते, तदा त्रिषु संज्वलनमानादिषु, यदा तु तथैव संज्वलनक्रोधमानयोः क्षीणयोस्तदा द्वयोः, एवमेकत्रेति । भ० ९ श० ३१ उ० ।

भगवनीजयमशतकोक्तोऽश्रुत्वाकेवली धर्मोपदेशं दत्ते न वेत्यत्र एकं ज्ञातं एकं प्रश्नं च मुक्त्वा धर्मोपदेशं न दत्ते इति तत्रैवोक्तमस्तीति । ही० २ प्रका० ।

असोणिय–अशोणित–त्रि० । अरुधिरप्राप्ते, पञ्चा० १६ विव० ।

असोम्मगहचरिय–असौम्यग्रहचरित–न० । क्रूरग्रहचारे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

असोयणया–अशोचनता–स्त्री० । शोकानुत्पादने, पा० । ध० । प्र० ।

असोहिट्ठाण–अशोधिस्थान–न० । कुशीलसंसर्गाम, ओघ० ।

अस्स–अश्व–पुं० । घोटके, दश० १ अ० । तं० । प्रज्ञा० । अश्विनीनक्षत्रदेवतायाम्, ज्यो० १५ पाहु० । सू० प्र० । " दो अस्सा " स्था० १ ठा० १ उ० ।

अस्स–पुं० । न विद्यते स्वं द्रव्यमस्य सोऽयमस्वः । निर्ग्रन्थे, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अस्सकण्ण–अश्वकर्ण–पुं० । अश्वमुखस्य परतोऽन्तर्द्वीपे, नं० ।

अस्सकण्णी–अश्वकर्णी–स्त्री० । कन्दभेदे, भ० ७ श० ३ उ० । जी० । प्रज्ञा० ।

अस्सकरण–अश्वकरण–न० । यत्राऽश्वानुद्दिश्य किञ्चित् क्रियते तस्मिन् स्थाने, आचा० २ श्रु० १० अ० ।

अस्सचोरग–अश्वचोरक–पुं० । घोटकचौरे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

अस्सतर–अश्वतर–पुं० । एकखुर [खच्चर] भेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

अस्समुह–अश्वमुख–पुं० । आदर्शमुखस्य परतोऽन्तर्द्वीपे, प्रज्ञा० १ पद । नं० । (' अंतरदीव ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६८ पृष्ठेऽस्य वर्णकं उक्तः) अश्वाकारमुखे पुरुषाकारोऽन्योऽपि च किंनरे, वाच० ।

चउत्तेण वि तुमए गंतव्वं भरुयच्छे पुरम्मि रायहाणी तस्स । अगच्छ को वि दसे ते भवाइ तुमं तुज्झ ताणं संतिदेवयावयणं सुणियं । पर्युपासियं मुणिसुव्वयसामिणा चक्कमणपावणाइ दाखिओ धम्मो । जो जे अवसवणयणाणमग्गे अस्ससण्णा बुज्झिओ तेण कयाणसणं जा मर्णति ज्झाणपरो सहस्सारे उववन्नो, सोमं सणंकुमारकप्पे उववन्नो ति । तुमं तत्थ मुणिसुव्वयसामिणो अस्सस्स पुव्वभवं चरियं वि मुणिऊणं सिरिसुव्वयसामि भवं ति। एवं एसो इत्थीओ वि धम्मं चिच्चा जिणवरेण कुणेइ सव्वं। ति वेइ पहाणमुत्तं निसामिय उस्सारयं कारेइ । दाणसालाओ खणावियाओ सहस्सारेसु करेइ । अयं च अभिहाणं । धन्नो नत्थि जो । इंदियसुत्तं संपूरेइ । अट्ठावयपच्चासपत्तेण वंदित्ता कोडीहिं पुण्णो पुव्वं जीवो अणंतजिणवाणीए संभरइ। एतं निवत्तो सुसाहुणो चेइयं अस्सावबोहतित्थं ति ।

मुणिवइ सुव्वयसामिणा बहूणं भवियाणं महुरसरेण देसणा दिण्णा । अणंतनाणे जाए सव्वया दिव्वं अट्ठहिं पाडिहेरेहिं तित्थयरत्तपवरं । संखेवाओ विहरंतस्स चउदसपुव्वस्स पुव्विमा सिद्धिसुहं पत्ते जणेहिं एवं भणियं ति । अस्सावबोहतित्थं ति अज्ज वि पसिद्धं जायं । एयम्मि उग्गपुरे महातित्थम्मि सिरिसंघस्स मंदिरं कारियं, तदणु पेच्छियं पुरो अट्ठावयपयाणं सिरिचंदसूरीहिं । "अस्सावबोह-तित्थ-कप्प एस कहिओ समासओ इत्थो । सिरिजिणपहसूरीहिं, भ-वियाण पढिज्जउ निच्चं" ॥ १ ॥ अस्वावबोधकल्पः समाप्तः ॥ ती० १० कल्प ।

अस्साविरे(ण्)–आस्राविन्–त्रि० । आ समन्तात् स्रवति तच्छील-स्सावी । सच्छिद्रे, सूत्र० । "जहा अस्साविणिं नावं, जाइ अंधो दुरूहए ।" सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अस्सि-अश्रि-पुं० । चतुर्दिग्विभागोपलक्षितासु कोटिषु, स्था० ६ ठा० ।

अस्सिन्-पुं० । अश्विन्या देवतायाम्, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

अस्सिणी-अश्विनी-स्त्री० । नक्षत्रभेदे, जं० ७ वक्ष० । स्था० । अनु० । अश्विन्या अश्वौ देवता । सू० प्र० १० पाहु० । "अस्सि-णी नक्खत्ते तितारे पण्णत्ते ।" स० ३ सम० ।

अस्सेसा-अश्लेषा-स्त्री० । नक्षत्रभेदे, जं० ७ वक्ष० । विशे० ।

अस्सोईया-अश्वोत्क्रान्ता-स्त्री० । मध्यमग्रामस्य पञ्चम्यां मूर्च्छनायाम्, स्था० ७ ठा० ।

अस्सोती-आश्वयुजी-स्त्री० । अश्वयुजि भवाऽश्वयुजी । आ-श्वयुजमासभाविन्याममायां, पौर्णमास्यां च । चं० प्र० १० पाहु० । सू० प्र० ।

अस्सपति-अश्वपति-पुं० । "कथयोः स्तः" । ८ । ४ । २६१ । इति थस्य स्तः । "पो वः" । ८ । १ । २३१ । इति पस्य वः । भवतीति, प्रा० ४ पाद । पुं० ।

अह-अथ-अव्य० । आनन्तर्ये, आ० चू० ४ अ० । सूत्र० । नि० चू० । दशा० । अनु० । क० प्र० । उपन्यासे, जं० । पक्षान्तरोप-न्यासे, उत्त० ३ अ० । प्रश्नमानमङ्गलार्थे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । वाक्योपन्यासे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । सूत्र० । उप-प्रदर्शने, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । उत्त० । पक्षान्तरद्योतने, स० ५ श्रु० ६ उ० । विकल्पे, औ० । प्रति० । विशेषे, स्था० ३ ठा० । प्रक्रियादिष्वर्थेषु, यत उक्तम्-अथ प्रक्रिया प्रश्नानन्तर्यमङ्गलोपन्यासप्रतिवचनसमुच्चयेषु । वृ० १ उ० । औ० । आ० म० । दशा० । अनु० । स्था० । प्रश्न० । यथार्थे, आ० म० प्र० । वाक्यालङ्कारे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । पादपूरणे, पञ्चा० १९ विव० ।

अधस्-न० । अधस्तादित्यर्थे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । स्था० । सू० प्र० । जीवा० । अधोगतौ, "अहो विदुयं" प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । अधोलोके, स्था० ३ ठा० ४ उ० । दिग्भेदे, स्था० ६ ठा० ।

अहं-अहम्-अस्मदः मिना सहाऽहमादेशः । प्रा० । "ऐ मं मि अम्मि०" ॥ ८ । ३ । १०७ ॥ इत्यादिसूत्रेण अस्मदोऽमा सहाऽह-मादेशः । प्रा० ३ पाद । आत्मनिर्देशे, आ० म० प्र० । प्रश्न० ।

अहंकार-अहङ्कार-पुं० । अहोऽहं, नमो मह्यमित्येवमहङ्करणम-हङ्कारः । निजगुणेषु बहुमाने, विशे० । ऐश्वर्यज्ञानादिमदजन्-निते अभिमाने, सूत्र० १ श्रु० ९ अ० । सुखमहं न दुःखमित्येव-मात्मनः प्रत्यये, सूत्र० १ श्रु० २ अ० । आ० म० । अहमिति स्वस्वार्थनेोत्पादको यः सामर्थ्यं कर्तुं भावे, अष्ट० ४ अष्ट० । सूत्र० । अहं रूपेऽहं स्पर्शेऽहं गन्धेऽहं रसेऽहं श-ब्दे अहमीश्वरोऽस्मि मया हतः, ममत्वाभ्युदयेनिष्टानिष्टादिस्व-रूपे, स्था० १ ठा० । अभिमाने, आव० ३ अ० । परतत्त्वार्थप-दमित्युक्तेमनवित्वर्थं येद्यते । द्वा० २० द्वा० । बुद्धिरहङ्कारोऽपरा-पार्श्वं ज्ञानपश्च अहङ्कार इत्युच्यते । द्वा० ११ द्वा० ।

अहक्कम-यथाक्रम-अव्य० । यथापरिपाटि इत्यर्थे, दशा० ५ अ० ।

अहक्खाय-अथा(यथा)ख्यात-न० । अथशब्दो यथार्थे, आङ् अभिविधौ, याथातथ्येन, अभिविधिना च यत् अकषायं चारित्र-मकषायं चारित्रमिति । तदुपास्थानम् । यथा सर्वस्मिन् जीवलोके ख्यातं प्रसिद्धमकषायं भवति चारित्रमिति तदेव यत् तद् य-थाख्यातं प्रसिद्धम् । आ० म० प्र० । आर्षे यथाख्यातः । प्रा० २ पाद । अकषाये चारित्रे, आ० चू० १ अ० । पञ्चा० । पं० सं० । विशे० ।

अथ यथाख्यातं विवृण्वन्नाह–

अहसद्दो जाहत्थे, आङोऽभिविहीएँ कहियमकसायं ।
चरणमहक्खायमिदं, तमहक्खायं जहक्खायं ॥ १२८५ ॥

अथशब्दो यथाशब्दार्थे, आङ् अभिविधौ, ततश्च याथातथ्येना-भिविधिना वाऽऽख्यातं कथितं यदकषायं च चरणं तदथाख्या-तम्, यथाख्यातं वा उच्यत इति ॥ १२८५ ॥

तत्र भेदद्वयमाह–

तं दुविगप्पं छउमत्थ-केवलिविहाणओ पुणेक्केक्कं ।
खयसमजं सजोगाजो-गिकेवलिविहाणओ दुविहं ॥ १२८६ ॥

तच्च यथाख्यातचारित्रं छद्मस्थकेवलिस्वामिभेदाद् द्विविधम् । छद्म-स्थसंबन्धि पुनरपि द्विविधं क्षयोपशमजन्मत्वभेदतः ।

[illegible] दिवसमिति । [illegible]

[illegible] अहम्म- [illegible]

[illegible] तं अहम्मं [illegible]

[illegible]

स्वाती धर्मो ज्ञानदर्शनचारित्ररूपस्तस्माद्वा सकाशाद्यस्ततः प्रधा-
नः स यदैत्तरिकः। (अहोयाहिय त्ति) नियतमेवाधिकरणं ध-
स्यादूर्ध्वं ज्ञानदर्शनं प्रतीतमिति ॥ दशा० १० अ०।

अहम्मदिट्ठि (ण्)-अधर्मदर्शिन्-त्रि० । अधर्मामिदं
दर्शयति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

अहम्म-अधर्म-पुं० । पापे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । दश०।
सावद्यानुष्ठाने, दशा० ६ अ०। अधर्मस्य वर्णं वदति, नि० चू०।
जे भिक्खू अधम्मस्स वण्णं वदइ, वदंतं वा साइज्जइ ॥१३॥

इह अहम्मो आरंभमाणपाणाइ पायतुत्तं, परमाहिण्य वा-
अरंभिगिनवाइणा यवाभिमेसा, अहम्मा-पाणाइणा मिच्छं-
समरथगागाणा अठारस पावठाणा, एतेसिं वण्णं वदीरयणं।

एसेइ गमो णियमा, संजयत्थे होति तं अहम्मेवि ।
देसे सव्वे य तहा, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥ १३ ॥

पंचगमो, विस्तरं पूर्वमायं पदतीत्यर्थः । सेसं कंठं ।

इवाइ वि णाव कोए, मिच्छत्तं दिप्पए सहाणं ।
किं पुण अइ उराइति, माहू अणयाण परकरणमि ॥ १४ ॥

(इदाइ वि त्ति) सहायेण प्रदीप्यते प्रज्वलते । किमिति निर्दिष्ट,
पुनरित्यर्थे । किं विवेकपति ?, तुष्टं दीप्यते इत्यर्थः । कविज्ञतृ-
णामे । "सतना भगतो उपबृंहति, साहे थिरतरं तेसिं मिच्छत्त
प्रतीत्यर्थः । शेषं पूर्ववत् । नि० चू० ११ उ० । धर्मसंग्र०,
विशे० १ श्रु० २ अ० ।

अहम्मओ-अधर्मतस्-अव्य० । अधर्ममाश्रित्येत्यर्थे, प्रश्न० २
आश्र० द्वार ।

अहम्मके (के)उ-अधर्मकेतु-पुं० । केतुर्ग्रहविशेषः, स इव यः स तथा ।
पापप्रधाने, सूत्र० १८ अ० ।

[illegible]

…।०। …।०।
-ढाम-… । … । …, …० म० म० । जी० ।
… ० ८ श० ६ उ० । … । … । यथासूत्रादिमनुगतेन मय-
…, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । … । … । यथाक्रम-
… ० १ अ० ।

…ट-… -पुं० । …, आव० ३ अ० । …।
…, धौ० । प्रश्न० । सं० ।

…ागमन- … -न० । अथागमनिगमनकारणे,
प्रश्न० ५ आश्र० द्वार ।

अहारायणिय-यथारत्नाधिक-अव्य० । यथारत्नपर्यायपर्ये,
पं० व० ३ द्वार ।

अहरी-अधरी-स्त्री० । पेषणशिलायाम्, दश० ।

अहर(रो)ट्ठ-अधरोष्ठ-पुं० । "दन्ताः संयोगे" ॥ ८ । १ । ८४ ॥
इति दीर्घस्य ह्रस्वः । प्रा०१ पाद । दंष्ट्रिकायाम्, कल्प १ क्ष० ।

अहव-अथवा-अव्य० । " वाऽव्ययोत्खातादावदातः " ।
८ । १ । ६७ । इत्यादोऽत्वम्, अहव अहवा । विकल्पे, प्रा० १
पाद । दश० ।

अहवण-(अथवा -अव्य० । 'अहवण त्ति' अथवाशब्दार्थमव्ययपद-
म । … । निपातानां विकल्पप्रदर्शने, नि० चू० १
उ० । वाक्यालङ्कारे, अनु० ।

अहवा-अथवा -अव्य० । अथवा प्रकारान्तरोपदर्शने, व्य० १
उ० । पूर्वोक्तप्रकारापेक्षया प्रकारान्तरप्रद्योतने, पञ्चा०३ विव० ।
नि० चू० । ध० । पं० सं० । ग० । भ० । पक्षान्तरे, सूत्र० १ श्रु०
१२ अ० । वाक्योपन्यासे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

अहव्वण-अथर्वन्-पुं० । ऋग्वेदादीनां चतुर्थे वेदे, भ० २ श०
१ उ० । अनु० । धौ० ।

अहम्मे-अहम्य-न० । हास्यपरित्यागे, आव० ४ अ० ।
अहाम्य-… । अहं जहाति, अहम+हा-क-पृषो० । स-

अहह-अहह-अव्य० । अद्भुते, आश्चर्ये, खेदे, क्लेशे, प्रकर्षे च । वाच० । प्रा०२ पाद ।
संबोधने, आश्चर्ये, खेदे, क्लेशे, प्रकर्षे च । वाच० । प्रा०२ पाद ।

अहा-अधस्-अव्य० । निम्ने, स्था० ६ ठा० ।

अथ-अव्य० । पापान्तरे, विशे० । आनन्तर्ये, "अहा पंडुरग-
माए" । रजनीविरामानन्तरम् । दीर्घत्वमार्षत्वात् । कल्प०३ क्ष० ।

अहाअन्य-यथार्थ-अव्य० । नियुक्त्यादिष्वाख्यानातिक्रमे,
स्था० ७ ठा० ।

अहाउअोवक्कमकाल-यथायुष्कोपक्रमकाल-पुं० । यथा यदस्या-
युष्कस्योपक्रमणं दीर्घकालस्यापवर्तनं यथायुष्कोपक्रमणं
स यस्मिन् कालश्च यथायुष्कोपक्रमकालः । कालभेदे, विशे० ।

अहाउणिव्वत्तिकाल-यथायुर्निर्वृत्तिकाल-पुं० । कालभेदे,
स्था० । यथा यत्प्रकारं नारकादिभेदेनायुः कर्मविशेषो यथाऽऽ-
युः तस्य रौद्रादिध्यानादिना निर्वृत्तिर्बन्धनं, तस्याः सकाशात्
यः कालो नारकादित्वेन स्थितिर्जीवानां स यथायुर्निर्वृत्तिका-
लः । अथवा-यथाऽऽयुषो निर्वृत्तिस्तथा यः कालो नारकादिभव-
वेऽवस्थानं, स तथेति । अयमप्यद्धाकाल एवायुष्ककर्मानुभव-
विशिष्टः सर्वसंसारिजीवानां वर्तनादिरूप इति । …
…, स एव जीवाद्य वर्तनाऽऽदिमयो ।

…, यत्र इ जो जं नि… तेण " ॥ १ ॥ स्था० ४
ठा० १ उ० । "से किं तं अहाउणिव्वत्तिकाले?, अहाउणिव्वत्तिय-
काले जं णं जेणं नेरइएण वा तिरिक्खजोणिएण वा मणुस्सेण वा
देवेण वा अहाउणिव्वत्तियं तेणं पालेमाणे अहाउणिव्वत्तिका-
ले " ॥ भ० ११ श० ११ उ० ।

अहाउग-यथायुष्क-न० । देवाद्यायुष्कलक्षणे कालभेदे, आ०म०
द्वि० । ('काल' शब्दे तृतीयभागे चैतद्व्याख्यास्यते) यथाबद्धे
आयुषि च । स्था० ।

दो अहाउयं पालेइ । तं जहा-देवच्चेव नेरइयच्चेव ॥
(दो इत्यादि) यथाबद्धमायुर्यथायुः, पालयन्त्यनुभवन्ति नोपक्र-
मयन्ते तदिति यावदिति । "देवा नेरइया वि य, असंखवासाउ-
या तिरियमणुया । उत्तमपुरिसा य तहा, चरमसरीरा निरुवक-
मा" ॥ १ ॥ इति वचने सत्यपि देवनारकयोरेवेह भणनं, द्वि-
स्थानकानुरोधादिति । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

अहाक (ग) ड-यथाकृत-त्रि० । आत्मार्थमभिनिर्वर्तिते आहा-
रादौ, "अहागडेसु रीयंति, पुप्फेसु भमरो जहा" दश० १ अ० ।
नि० चू० । सू० ।

अहाकप्प-यथाकल्प-अव्य० । यथाऽऽप्तोक्त तथाकरणे कल्पोऽ-
स्यथा स्थविरकल्पादि इति यथाकल्पम् । कल्प० ८ क्ष० । प्रतिमाकल्पा-
नतिक्रमे तत्कल्पवस्त्वनतिक्रमे, दशा० ७ अ० । स्था० । हा० । क-
ल्पानतिक्रान्ते, स्थविरकल्पोचिते कल्पनीये च । न० । पा० । ध० ।

अहाकम्म-यथाकर्म-अव्य० । कर्मानतिक्रमे, द्वा० १६ द्वा० ।

अहापडिगहिय-यथाप्रतिगृहीत-त्रि० । यथाप्रतिपन्ने पुनर्दास-
मर्तीते, भ० २ श० ५ उ० ।

अहाछंद-यथाछन्द-पुं० । यथा छन्दोऽभिप्राय इच्छा, तथैवाऽऽ-
गमनिरपेक्षं यो वर्तते स यथाछन्दः । व्य० १ उ० । प्रव० । ध० ।
… । यथाकथंचिद नागमपरतन्त्रतया छन्दोऽभिप्रायो यो…
नि० चू० । यथाकथंचिद नागमपरतन्त्रतया छन्दोऽभिप्रायो … । भ० १ श० ४ उ० । स्वच्छन्द…
प्रवचनार्थेषु यस्य स यथाछन्दः । …
तिविकल्पिते, आव० ३ अ० ।

जे भिक्खू गणाओ अवक्कम्म अहाछंदं विहारं विहरेज…
से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ता णं वि…
रित्तए अच्छिया इच्छा से पुणो आलोएज्जा, पुणो …
क्कमेज्जा, पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठाएज्जा ॥

यः भिक्षुर्गणादपक्रम्य यथाछन्दविहारेण विहर्तुम, तत्र स…
द्वितीयमपि वारं तमेव गणमुपसंपद्य विहर्तुम, …
लोचयेत्, पुनः प्रतिक्रामेत, पुनश्छेदपरिहारस्यालो…
व्य० श० २ उ० ।

इदानीं यथाछन्दःस्वरूपमुपवर्णयति-

उस्सुत्तमायरंतो, उस्सुत्तं चेव पन्नवेमाणो ।
एसो य अहाछंदो, इच्छा छंदो य एगट्ठा ॥

… उत्सूत्रं (परिभ्रमणमित्यर्थः) उत्सूत्रं, तत्र …
सूत्रादूर्ध्वम्-उत्तीर्णम् (परिभ्रमणमित्यर्थः) उत्सूत्रं, तत्र …
सेवमानः, तदेव यः परेभ्यः प्रज्ञापयन् वर्तते, एष …
अभिधीयते । सम्प्रति छन्दःशब्दार्थं पर्यायेण व्याच…
इच्छा … । किमुक्तं भवति?-छन्दो नाम इच्छेति …
… छन्द-शब्दस्य प्राग्व्याख्यर्शिता ।

उत्सूत्रमित्युक्तम्, तत्सूत्रं व्याख्यान…
उस्सुत्तमणुवदिट्ठं, सच्छंदविगप्पियं अणा…

प्रथमरणे नाम प्रथमवर्षाकालः,अत्र सूत्र-यथा प्रथमसमवसरणे उद्गमादिदोषपरिशुद्धं वस्त्रं पात्रं वा किं न कल्पते गृहीतुम्? द्वि-तीयसमवसरणेऽपि इदुद्गमादिदोषपरिशुद्धमिति कृत्वा गृह्यते । सा च दोषशुद्धिरुभयत्राप्यविशिष्टेति। (तद् य नितिपसु (त्ति)तथा-नित्यपु नित्यवासेषु प्रकल्पते-यथा-नित्यवासेऽपि यथुक्रमेणा-एनेवगायुद्ध प्रभवते नकरणादि, ततः को दोषः ? प्रत्युत कार्य (सुप्र-दीर्घेनैकत्रैव वसतां सूत्रार्थादयः प्रभूता भवन्ति । तथा-(सुप्र-(त्ति) वपुपकरणं न केनापि छिद्यते, ततः शून्यायां वसतौ क्षिप-भाषायां को दोषः ? । अथोत्सघट्टनेनापहन्यते, तत्र चैत्यस्योप-धिक उपघातः (तथा अकल्पिय (त्ति) अकल्पिको नामागीतार्थः, तद् विषये सूत्र-यथा-अकल्पिकेन प्रथमतो [illegible] सूक्ष्मग्रा-तोऽर्थं वस्त्रपात्राध्यानीत किं न परिभुज्यते ? ; तस्य इतोऽन्यत्र सं-या विशेषतः परिभोगोऽर्हत्वात्। (संभोय इति) तथा स सोऽपि सूत्र-यथा-सर्वे पञ्च महाव्रतधारिणः साधवः,सामोगिका एव युक्ता सांभोगिका इति ।

सम्प्रतमकल्पिकोचितं विवृणोति-

किंवा अकप्पिएणं, गहियं फासुयं तु होइ उ अभोज्जं ।
अग्गहियं को वा, होइ गुणो कप्पिए गहिए ? ॥

किं वा केन वा कारणेन अकल्पिकेन अगीतार्थेन गृहीत प्रासु-कमप्यतीतभोज्यमपरिभोगत्वं भवति । को वा कल्पि-केन (अत्र गाथायां सप्तमी तृतीयाऽर्थे) गृहीते गुणो भवति, उभयत्रापि शुद्धत्वाविशेषात् ।

अधुना (संभोय) इति व्याख्यानयति-

पंचमहव्वयधारी, समणा सव्वेसि किं न भुंजंति ।
इय चरण-वितहवादी, एत्तो वोच्छं गतीसुं तु ॥

पञ्चमहाव्रतधारिणः सर्वे श्रमणाः किमेकत्र भुञ्जते ?, किं सा-विशेषेण सर्वे सांभोगिका भवन्ति ?,येनैके सांभोगिकाः, अपरे असांभोगिकाः क्रियन्ते इति। इत्येवमुपदर्शितेन प्रकारेण यथा-च्छन्दोऽनाचारप्रगुणदोषः, चरणविषये वितथवादी ।

अत ऊर्ध्वं तु गतिषु वितथवादिनं वक्ष्यामि ।

यथाप्रतिज्ञातमेव करोति-

वेत्तं गतो य अदवि, एक्को संचिद्दए तहिं चेव ।
वित्तं पुण भावतो सिद्धी ॥ निव्वाणं त्ति य वियरं,

"एगो लह-" यथाच्छन्दो गतिषु वितथं एवं प्ररूपणां करोति-" एगो लह-निव्वाणं त्ति य वियरं, [illegible] गतिषु विषये एवं प्ररूपणां करोति- [illegible] सर्वे [illegible] कर्म्म अहाणक्खं करेह । यतिः, तस्स तिण्णि पुत्ता, ते सव्वे [illegible] । अग्गेगो अडवि गतो, इमं हेमवं छिदइ इत्यर्थः । एगो अग्गिमत्ता इसुवुलादिसु अच्छति । कालमरणेण तिण्णि विया मतो । तेहिं इमं पिनिमियं नि काउं सव्वं सम्मं विरिद्धं । एव तोमि जं डिमला इयकुलादिसु अच्छति । एवं अहं पिया एगाय उयाजियं तं सव्वेसिं सामंत्तं आवं । एवं अहं पिया नित्थयरो,तस्स यथायरिमणं सव्वे समणा कायाकिलेसं कु-ब्वंति । अम्हे न करेमो, जं तुम्हेहिं कयं । अम्हे सामंत्तं उत्ता मु-एमं देवलोगं सुकुलपच्चयाई वा सिद्धिं वा गच्छइ, तहा अम्हे वि गच्छिस्सामो" । एष गाथाभावार्थः । अक्षरयोजना त्वियम्-एकः पुत्रः क्षेत्रं गतः। एकोऽटवीं,देशान्तरेषु परिभ्रमतीत्यर्थः । अपर एकत्रैव संनिष्ठते । पितरि च मृते धनं सर्वेषामपि स-मानम् । एवमत्रापि पिता तीर्थकरः परमार्थतः सिद्धि, तां सूनामिव पुत्राणामिव [illegible] । विवक्षितं धनं पुनर्विभावनः [illegible]

२१७

संप्रति तेषां यथाच्छन्दानामेवंवदतां दोषमुपदर्शयति-

एवमपि गमिष्यामः । उक्ता गतिष्वपि यथाच्छन्दस्य वितथ-प्ररूपणा ।

संप्रति तेषां यथाच्छन्दानामेवंवदतां दोषमुपदर्शयति-

जिणवयण सव्वसारं, मूलं संसारदुक्खमुक्खस्स ।
सम्मत्तं मइलेत्ता, ते दोग्गइवड्ढगा होंति ।

ते यथाच्छन्दाश्चलेष्वु गतिषु वैयर्थ्यगुणाः सम्यक्त्वं मलयन्तः । जिन-नम । कथंभूतमित्याह-जिनानां सर्वज्ञानां वचनं जिनवचन द्वाद-शाङ्गं,तस्य सार प्रधानं,प्रधानत्वोऽय तद्नन्तरेण बुद्धस्य चरि-तस्याप्यभूतत्वात् । पुनः किंविशिष्टमित्याह-मूलं प्रथमं कारणं,सं-सारदुःखमोक्षस्य समस्तसांसारिकदुःखविमोक्षमोक्षस्य, तदेवं-भूतं सम्यक्त्वं मलिनयित्वा आत्मनो दुर्गतिवर्द्धका भवन्ति । इह दुर्गतिवर्धकाः दुर्गतिमेवंवदतां फलमभिमतमायः । इह पूर्वसूत्रमुक्त-वा गृहीतस्य पार्श्वस्थस्य प्रायश्चित्तमुक्तम् ।

तत्र उत्सवप्ररूपणामाह-

सक्कमहादीया पुण, पासत्थे ऊसवा मुणेयव्वा ।
अट्ठाईद ऊसवो पुण, तीए परिमाणे उ अट्ठ ॥

शक्रमहादीया पुनः शक्रमहादयः इन्द्र-महादय-पार्श्वस्थस्य, उत्सवा ज्ञातव्याः शक्रमहादयः । यथाच्छन्द-महादयः। आदिशब्दात् इन्द्रस्कन्दमहादिपरिग्रहः। यथाच्छन्दः स्वयमूर्ध्वैव-स्य पुनरुत्सवी वस्याः पार्श्वे पुण्यं ज्ञातव्यः । एतदपि च उत्सवभूतं विधिं प्रकटयति सा पर्व ज्ञातव्या । [illegible] अनुमोदयत् स्वयम् । तत्र पार्श्व-यः पर्वादि [illegible] , तत एषु [illegible] विशेषं करोति, अतीतस्य वा, तत एषु [illegible] अस्याऽऽगमानुसारेण इदम् ।

तत्र आह-

जहिँ सहुगो तहिँ सहुगा,तहिँ सहुगा चउगुरु तहिँ, ठाणे ।
जहिँ चउगुरुगा, उस्सग्गेण तत्थ छ, मासा ॥
जहिँ पुण छम्मासा तहिँ, छेयं पुण उक्कोसेण मूलं ।
जहिँ पुण छम्मासा तहिँ, अट्ठाहि विसोहियं जाण ॥

पासत्थे जं भणियं, अट्ठाईद विसोहियं जाण ।

[illegible] यत्र पार्श्वस्थस्य मासलघु प्रायश्चित्तमुक्तं तत्र यथाच्छन्दस्य चत्वारो लघुकाः, तत्र [illegible] । यत्र पुनः पार्श्वस्थस्य चत्वारो लघुकाः, तत्र चत्वारो गुरुकाः । यत्र पार्श्वस्थस्य [illegible] यत्र चत्वारो गुरुकास्तत्र षण्मासाः [illegible] । यत्र षण्मासा लघुका [illegible] । [illegible] गुरुकाः । [illegible] । [illegible] मूलम् । [illegible] । [illegible] । [illegible] । [illegible] ।

(व्यवहार २ उ०) पार्श्वस्थे यत् [illegible]

अहारायणिय-यथारात्निक-अव्य० । यथा यथा रत्नैरधिको म-
वेत्तदनतिक्रमे, सू० २ उ० । " अहारायणियं गामाणुगामं दू-
इज्जेज्जा " आचा० २ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

अहारि (न्)-अहारिन्-त्रि० । मनसोऽनिष्टे, आचा० १ श्रु०
६ अ० २ उ० ।

अहारिय-यथर्जु-अव्य० । ऋजुताऽनतिक्रमे, "अहारियं रिएज्जा"
यथा ऋजु भवति तथा गच्छेद्, नार्दवितर्दं, विकारं वा कुर्वन्
गच्छेत् । आचा० २ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

यथारीत-अव्य० । रीतं रीतिः, स्वभाव इत्यर्थः । तदनतिक्रमे-
ण यथारीतम् । स्वभावानतिक्रमे, "अहारीयं रीयइ" यथारीतं
रीयते गच्छति, यथा स्थानादिकीदारिकशरीरगत्या गच्छतीत्य-
र्थः । भ० ५ श० २ उ० ।

यथार्ह-त्रि० । यथोचिते, स्था० २ ठा० १ उ० । यथार्हो या य-
स्योचिता लोकयात्रा-लोकोचितानुवृत्तिरूपो व्यवहारः, सा
विधेया । यथार्हलोकयात्राऽतिक्रमे हि लोकचित्तविराधनेन ते-
षामात्मन्यनादेयतया परिणामापादनेन स्वलाघवमेवोत्पादितं
भवति । एवं चान्यस्यापि स्वगतस्य सम्यगाचारस्य लघुत्व-
मेवोपनीतं स्यादिति । उक्तं च-" लोकः खल्वाधारः, सर्वेषां
धर्मचारिणां यस्मात् । तस्माल्लोकविरुद्धं, धर्मविरुद्धं च संत्या-
ज्यम् " ॥ ३२ ॥ ध० १ अधि० । औचित्ये, पं० १० विव० ।

अहालंद-अथ (यथा) लन्द-पुं० । यावन्मात्रे काले, आचा०
२ श्रु० ७ अ० १ उ० । अथेत्यव्ययम, लन्दशब्देन काल उच्यते ।
तत्र यावता कालेनोदकार्द्रः करः शुष्यति, जघन्यतस्तावति का-
ले, कल्प० ८ क्ष० ।

भेदाः-

लंदं तु होइ कालो, सो पुण उक्कोसमज्झिमजहन्नो ।
उदउल्ल करो जाविह, सुक्कइ सो होइ उ जहन्नो ॥६१९॥

लन्दं तु भवति कालः । समयपरिभाषया लन्दशब्देन कालो भ-
ण्यत इत्यर्थः । स पुनः कालस्त्रिधा-उत्कृष्टो मध्यमो जघन्यश्च ।
तत्र उदकार्द्रः करो यावता कालेन इह सामान्येन लोकेषु शु-
ष्यति, तावान् कालविशेषो भवति जघन्यः । अस्य च जघन्यत्वं
प्रत्याख्याननियमविशेषादिषु विशेषत उपयोगित्वात्, अन्यथा-
ऽतिसूक्ष्मतरस्यापि समयादिलक्षणस्य सिद्धान्तोक्तस्य कालस्य
सत्वात् ।

उक्कोस पुव्वकोडी, मज्झे पुण हुंति णेगठाणाइं ।
इत्थ पुण पंचरत्तं, उक्कोसं होइ अहलंदं ॥ ६२० ॥

उत्कृष्टः पूर्वकोटीप्रमाणः; अयमपि चारित्रकालमानमाश्रित्य
उत्कृष्ट उक्तः, अन्यथा पल्योपमादिरूपस्यापि कालस्य संभवात् ।
मध्ये पुनर्भवन्त्यनेकानि स्थानानि वर्षादिभेदेन कालस्य । अत्र
पुनर्यथालन्दकस्य प्रक्रमे पञ्चरात्रं यथोक्तागमानतिक्रमेण लन्द-
काल उत्कृष्टं भवति; तेनैवात्रोपयोगात् ।

जम्हा उ पंचरत्तं, चरंति तम्हा उ हुंति अहलंदी ।
पंचेव होइ गच्छो, तेसिं उक्कोसपरिमाणं ॥ ६२१ ॥

यस्मात्पञ्चरात्रं चरन्ति पेटार्द्धे, पेटाद्यन्यतमायां वीथ्यां भैक्षनि-
मित्तं पञ्च रात्रिंदिवान्यटन्ति, तस्माद्भवन्ति यथालन्दिनः; विव-
क्षितयथालन्दभावात् । तथा पञ्चैव पुरुषा भवन्ति गच्छो गणः,
तेषां यथालन्दिकानां पञ्चको हि गणोऽमुं कल्पं प्रतिपद्यते ।
इति उत्कृष्टमेकैकस्य गच्छस्य पुरुषपरिमाणमेतदिति ।

अथ बहुवक्तव्यत्वान्निरवशेषाभिधाने ग्रन्थगौरवप्रसक्त्या
यथालन्दिककल्पस्यातिदेशमाह-

जा चेव य जिणकप्पे, मेरा सा चेव लंदियाणं पि ।
नाणत्तं पुण सुत्ते, भिक्खायरि मासकप्पे य ॥६२२॥

यैव च जिनकल्पे जिनकल्पविषया ' मेरा ' मर्यादा पञ्चवि-
धतुलनादिरूपा, सैव च यथालन्दिकानामपि प्रायशः, नानात्वं
भेदः पुनर्जिनकल्पिकेभ्यो यथालन्दिकानां सूत्रे सूत्रविषये,
तथा भिक्षाचर्यायां, मासकल्पे च । चकारात्प्रमाणविषयं चेति ।

अथातिदेशपूर्वकमल्पवक्तव्यत्वात्प्रथमं मासकल्पनानात्वमेवाह-

अहलंदियाण गच्छे, अप्पडिबद्धाण जह जिणाणं तु ।
नवरं कालविसेसो, उउवासे पणगचउमासो ॥६२३॥

यथालन्दिका द्विधा-गच्छे प्रतिबद्धा अप्रतिबद्धाश्च । गच्छे च प्रति-
बन्धोऽमीषां कारणतः, किञ्चिदश्रुतस्यार्थस्य श्रवणार्थमिति म-
न्तव्यम् । ततो यथालन्दिकानां गच्छे अप्रतिबद्धानाम्, उपलक्षण-
त्वात्प्रतिबद्धानां च, 'तवेण सत्तेण' इत्यादिभावनारूपा सर्वाऽपि
सामाचारी यथा जिनकल्पिकानां पूर्वमुक्ता, तथैव समवसेया ।
'नवरं' केवलं द्विविधानामपि यथालन्दिकानां जिनकल्पिकेभ्यः
काले कालविषये विशेषो भेदो ज्ञातव्यः । तमेवाह-(उउवासे
पणगचउमासो त्ति) ऋतौ ऋतुबद्धकाले, वर्षे वर्षाकाले च, य-
थासंख्यं दिनपञ्चकं मासचतुष्टयं चैकत्रावस्थानं भवति । इयम-
त्र भावना-ऋतुबद्धे काले यथालन्दिकसाधवो यदि विस्तीर्णो
ग्रामादिर्भवति, तदा तं गृहपङ्क्तिरूपाभिः षड्भिर्वीथीभिः परिक-
ल्प्य एकैकस्यां वीथ्यां पञ्च दिवसानि भिक्षामटन्ति, तत्रैव च
वसन्ति । एवं षड्भिर्वीथीभिरेकस्मिन् ग्रामे मासः परिपूर्णो भव-
ति । तथाविधविस्तीर्णग्रामाभावे तु निकटतमेषु षट्सु ग्रामेषु
पञ्चपञ्चदिवसं वसन्ति । उक्तं च कल्पभाष्ये-

एक्केक्कं पंचदिणे,पण पण छ निट्ठिओ मासो । पं०भा० ।

एतच्चूर्णिश्च-"जइ एगो चेव गामो सवियारो त्ति वित्थिन्नो,
तो छव्वीहीओ काउ एक्केक्कीए पंच पंच दिवसाणि हिंडंति । वि-
याए वि पंचदिवसे० जाव छट्ठीए वि पंचदिवसा । एवं एगगामे
मासो भवइ । अह नत्थि एगो गामो सवियारो, तो इयं जहालंदि-
याण छग्गामखित्तस्स परिपेरंतेणं तेसिं एक्केक्कं पंचदिवसाणि
अत्थंति । एवं मासो विभिज्जमाणो पण पण निट्ठिओ होइ त्ति" ।

अथ यथालन्दिकानामेव परस्परं भेदमाह-

गच्छे पडिबद्धाणं, अहलंदीणं तु अह पुण विसेसो ।
ओग्गह जो तेसिं तु, सो आयरियाण आभवइ ॥

गच्छप्रतिबद्धानां पुनर्यथालन्दिकानां गच्छाप्रतिबद्धेभ्यः सका-
शाद् विशेषो भेदो भवति । तमेवाह-तेषां गच्छप्रतिबद्धयथाल-
न्दिकानां यत्क्षेत्रपञ्चकलक्षणोऽवग्रहः, स आचार्याणामेव भ-
वति । यस्याऽऽचार्यस्य निश्रया ते विहरन्ति तस्यैव स क्षेत्रावग्र-
हो भवतीति भावः । गच्छाप्रतिबद्धानां तु जिनकल्पिकवत् क्षे-
त्रावग्रहो नास्तीति ।

अथ द्विविधानामपि यथालन्दिकानां भिक्षाचर्यानानात्वं
विवक्षुराह-

एगवसहीए पणगं, छव्वीहीओ य गामि कुव्वंति ।

दिवसे दिवसे अन्नं, अडंति वीहीसु नियमेण ॥६२५॥

ऋतुबद्धे काले एकस्यां वसतौ पञ्चकं पञ्च दिवसानि यावदवतिष्ठन्ते । वर्षासु पुनश्चतुरो मासान् यावदेकस्यां वसतौ तिष्ठन्ति । ग्रामे षट् वीथीः कुर्वन्ति । अयमर्थः-यथालन्दिका गृहपङ्क्तिकाभिः षड्भिर्वीथीभिर्ग्रामं परिकल्पयन्ति । एकैकस्यां च वीथ्यां पञ्च पञ्च दिवसानि भिक्षां पर्यटन्ति । तत्रैव च वसन्ति विद्यन्ति । उक्तं च पञ्चकल्पचूर्णौ-"छम्मासे गामो कीरइ, एगेगो पंचदिवसे भिक्खं हिंडंति, तत्थेव वसंति वासासु एगत्थ चउम्मासा त्ति"। तासु च वीथीषु दिवसे दिवसे नियमतोऽन्यामन्यां भिक्षामटन्ति; कल्पत्वादिति तत्पञ्चकमध्यादेकस्मिन् दिवसे यां निश्रामटन्ति न पुनर्द्वितीयेऽपि दिने तामेवाटन्ति,किन्त्वन्यामन्यामिति भावः । इत्थं तावदस्माभिर्व्याख्यातं, सुधिया तु समयाविरोधेनान्यथाऽपि व्याख्येयमिति ।

अथ सूत्रनानात्वं निर्दिदिक्षुर्यथालन्दिकभेदानेवाह-

पडिबद्धा इयरे वि य, इक्किका ते जिणा य थेरा य ।

अत्थस्स उ देसम्मि य, असमत्ते तेसि पडिबंधो ॥६२६॥

यथालन्दिका द्विविधाः—गच्छप्रतिबद्धाः, इतरे च गच्छाप्रतिबद्धाः । ते पुनरेकैकशो द्विभेदाः-जिनकल्पिकाः स्थविरकल्पिकाश्च । तत्र यथालन्दिककल्पपरिसमाप्त्यनन्तरं ये जिनकल्पं प्रतिपत्स्यन्ते ते जिनकल्पिकाः,ये तु स्थविरकल्पमेवाश्रयिष्यन्ति ते स्थविरकल्पिकाः । इह च ये गच्छे प्रतिबद्धास्तेषां प्रतिबन्धो अनेन कारणेन भवति-(अत्थस्सेत्यादि) अर्थस्यैव,न सूत्रस्य, देश एकदेशोऽद्याप्यसमाप्तो,न गुरुसमीपे परिपूर्णो गृहीत इति तद्ग्रहणाय गच्छे प्रतिबन्धः,तेषां तदर्थ्यावदर्थं गुरुसमीपे गृहीष्यमाणत्वादिति ।

अथ परिपूर्ण सूत्रार्थे गुरुसमीपे गृहीतेव कथं कल्पं न प्रतिपद्यन्त इत्याह-

लग्गाइसु भरंते, तो पडिवज्जितु खेत्तवाहिरिआ ।

गिण्हंति जं अगहियं, तत्थ य गंतूण आयरिओ ॥६२७॥

सेसि गयं पयच्छइ, सेसं इंताण तेसिमे दोसा ।

वंदणवंदणे, लोगस्सी होइ परिवाओ ॥ ६२८ ॥

न तरेज्ज जइ गंतुं, आयरिओ ताहि एइ सो चेव ।

अंतरपल्लि पडिवस–गामावरमहिं व वसहि वा ॥६२९॥

गीय य अगीयजोगे, ते वंदेते न वंदई सो उ ।

ते वि गुरुं वंदंता, ताहि अहिच्छंदं विहरंति ॥६३०॥

[illegible]

स्थित्यैव आचार्यं मुक्त्वा अन्यस्य साधोः प्रणामं कर्तुं न कल्पते; गच्छसाधवश्च महान्तोऽपि तान् वन्दन्ते, ततो लोको वदेत्-यथा दुष्टशीला निर्गुणाश्च एते, येन अन्यान् साधून् वन्दमानानपि न व्याहरन्ति, न वन्दन्ति वा । गच्छसंबन्धिसाधूनां वा उपरि श्रुत्वाऽऽशङ्का भवेत्-अवश्यमेते दुःशीला निर्गुणाश्च, ये न वन्द्यन्ते, आत्मार्थिका वा एते, येन अप्रतिवन्दमानानपि वन्दन्ते इति । अथ यदि जङ्घाबलक्षीणतया तत्सकाशं गन्तुं (न तरेज्ज त्ति) न शक्नुयात् । आचार्यस्तदा एति आगच्छति । केत्याह-अन्तरपल्लीं मूलक्षेत्रात् सार्द्धद्विगव्यूतिस्थं ग्रामविशेषं,यद्वा, प्रतिवृषभग्रामाद् मूलक्षेत्राद् द्विगव्यूतिस्थात् भिक्षाचर्याग्रामात्, अथ वा बहिर्मूलक्षेत्राद् मूलक्षेत्र एव वा अन्यवसतिं, वाशब्दात् मूलवसतिम् । इयमत्र भावना—यद्याचार्यो यथालन्दिकसमीपे गन्तुं न शक्नोति तदा यस्तेषां यथालन्दिकानां मध्ये धारणकुशलः, सोऽन्तरपल्लीमागच्छति, आचार्यस्तु तत्र गत्वा अर्थं कथयति । अत्र पुनः साधुसंघाटको मूलक्षेत्राद्भक्तं पानं गृहीत्वा आचार्याय ददाति, स्वयमाचार्यः संध्यासमये मूलक्षेत्रमायाति । अथान्तरपल्लीमागन्तुं न शक्नोति तदा अन्तरपल्लीप्रतिवृषभग्रामयोरन्तराले गत्वा अर्थं कथयति । तत्रापि गन्तुं शक्त्यभावे प्रतिवृषभग्रामे, तत्रापि गन्तुमशक्तौ प्रतिवृषभग्राममूलक्षेत्रयोरन्तराले; तत्रापि गन्तुमसामर्थ्ये मूलक्षेत्रस्यैव बहिर्विजने प्रदेशे; अथ तत्रापि गन्तुमसमर्थास्तदा मूलक्षेत्रमध्य एवान्यस्यां वसतौ गत्वा, तत्रापि गमनशक्त्यभावे मूलवसतावेव प्रच्छन्नमाचार्यस्तस्मै यथालन्दिकायार्थं प्रयच्छतीति । उक्तं च कल्पचूर्णौ-"आयरिए सुत्तपोरिसिं अत्थपोरिसिं च गच्छे नियाए दाउ अहालंदियाणं सगास गंतु,अत्थं सावेइ । अह न तरइ, दो वि पोरिसीओ दाउं गंतुं तो सुत्तपोरिसिं दाउं वच्चइ, अत्थपोरिसिं सीसेण दवावेइ । अत्थसुत्तपोरिसिं पि दाउं गंतुं न तरइ,तो दो वि पोरिसीओ सीसेण वावेइ अप्पणा अहालंदिए वाएइ । जइ न सक्केइ आयरिओ खेत्तबाहिं अहालंदियसगासं गंतुं, ताहे जो तेसिं अहालंदियाणं धारणाकुसलो सो अंतरपल्लियामज्झे खेत्तबाहिं एति, आयरियो तस्स गंतुं अत्थं कहेति । पच्छा पुण संघाडो भत्तपाणं गहाय आयरियस्स नेइ, गुरू वेयालियं पडिएइ त्ति । एवं पि असमत्थे गुरू अंतरपल्लियाए पडिवसभगामस्स य अंतरा वाएइ त्ति । असति पडिवसभे वाएइ, असति पडिवसभगामस्स मूलगामस्स य अंतरा वाएति, असति मूलगामस्स बहियाए वाएति । असति मूलगामे अण्णाए वसहीए, असति एगवसहीए चेव अपरिभोगे उवासे वाएति इत्यादि" ॥ (गीए य अगीयजोगे त्ति) तस्यां च मूलवसतावपरिभोगे तथाविधप्रच्छन्ने स्थाने, शेषैरदृश्यः प्रयच्छतीति योगः । तत्र च ये गच्छसाधवो महान्तोऽपि यथालन्दिकं वन्दन्ते, स पुनर्यथालन्दिकस्तान्न वन्दत इति । एवं तमर्थं सर्वं गृहीत्वा परिनिष्ठितप्रयोजनत्वाद् गच्छे अप्रतिबद्धाः सन्तो यथालन्दिका भूयो यथा स्वकल्पानुरूपं विहरन्ति निजकल्पं परिपालयन्ति इति । प्रव० ७० द्वार । वृ० । पं० । विशे० ।

अथ जिनकल्पिकस्थविरकल्पिकभेदभिन्नानां यथालन्दिकानां विशेषमाह-

जिणकप्पिया य तहियं, किंचि तिगिच्छं पि ते न कारेंति ।

निप्पडिकम्मसरीरा, अवि अच्छिमलं पि नऽवणेंति ॥६३१॥

जिनकल्पिकाश्च यथालन्दिकाः,तदा कदाचित् [illegible]

ध्याधेरुत्पन्नेऽपि न कामपि चिकित्सां ते कारयन्ति, तथाक्षणोरपि मलं (?) । अपि च-निष्प्रतिकर्मशरीराः प्रतिकर्मरहितदेहास्ते भगवन्तस्तत्र आस्तां तावदन्यत्, अक्षिमलमपि नापनयन्ति, अप्रमादातिशयादिति ।

थेराणं नाणत्तं, अनरेनं अप्पिणंति गच्छस्स ।

ते वि य से फासुएणं, करिंति सव्वं पि पडिकम्मं ॥६३२॥

स्थविरकल्पिकयथालन्दिकानां जिनकल्पिकयथालन्दिकेभ्यो नानात्वं भेदः, यथा अशक्नुवन्तं व्याधिबाधितं सन्तं स्वसाधुमर्पयन्ति गच्छस्य गच्छवासिसाधुसमूहस्य स्वकीयं पञ्चकगणपरिपूरणार्थं च तस्य स्थाने विशिष्टधृतसंहननादिसमन्वितमन्यं मुनिं स्वकल्पे प्रवेशयन्ति । तेऽपि च गच्छवासिनः साधवः (से त्ति) तस्य अशक्नुवतः प्रासुकेन निरवद्येनान्नपानादिना कुर्वन्ति सर्वमपि परिकर्म प्रतिजागरणमिति ।

किञ्च—

एक्केक्कपडिग्गहगा, सप्पाउरणा हवंति थेराओ ।

जे पुण सिं जिणकप्पे, नावे तिं वत्थपायाणि ॥६३३॥

स्थविरकल्पिका यथालन्दिका अवश्यमेव एकैकपतद्ग्रहकाः प्रत्येकमेकैकपतद्ग्रहधारिणः, तथा सप्रावरणाश्च भवन्ति । ये पुनरेषां यथालन्दिकानां जिनकल्पे भविष्यन्ति, जिनकल्पिकयथालन्दिका इत्यर्थः । भावे तेषां वस्त्रपात्रे सप्रावरणाः प्रावरणपतद्ग्रहधारिपाणिपात्रभेदभिन्नभाविजिनकल्पापेक्षया केषांचिद्वस्त्रपात्रलक्षणमुपकरणं भवति, केषां च नेत्यर्थः । प्रव० ७० द्वार । वृ० ।

अथ सामान्येन यथालन्दिकप्रमाणमाह—

गणमाणओ जहन्ना, तिन्नि गणा सयग्गसो य उक्कोसा ।

पुरिसपमाणे पनरस, सहस्ससो चेव उक्कोसो ॥ ६३४ ॥

गणमानतो गणमाश्रित्य जघन्यतस्त्रयो गणाः प्रतिपद्यमानका भवन्ति । शताग्रशश्च शतपृथक्त्वमुत्कृष्टतो गणमानं, पुरुषप्रमाणं त्वेतेषां प्रतिपद्यमानकानां जघन्यतः पञ्चदश, पञ्चको हि गणोऽमुं कल्पं प्रतिपद्यते । गणाश्च जघन्यतस्त्रयः, ततः पञ्चभिर्गुणिताः पञ्चदश, उत्कृष्टतः पुनः पुरुषप्रमाणं सहस्रशः सहस्रपृथक्त्वम् ।

पुरुषप्रमाणमेवाश्रित्य पुनर्विशेषमाह—

पडिवज्जमाणगा वा, इक्काइ हवेज्ज ऊणपक्खेवे ।

होंति जहन्ना एए, सयग्गसो चेव उक्कोसा ॥ ६३५ ॥

पुव्वपडिवन्नगाण वि, उक्कोसजहन्नसो परीमाणं ।

कोडिपहुत्तं भणियं, होइ अहालंदियाणं तु ॥६३६॥

प्रतिपद्यमानका एते जघन्यत एकादयो वा भवेयुर्न्यूनप्रक्षेपे सति, यथालन्दिककल्पे हि पञ्चमुनिमयो गच्छः, तत्र च यदा म्लानत्वादिकारणवशतो गच्छसमर्पणादिना तेषां न्यूनता भवति तदैकादिकः साधुस्तं कल्पं प्रवेश्यते, येन पञ्चको गच्छो भवति, एवं जघन्यापत्तेः प्रतिपद्यमानकास्तथा शताग्रश उत्कृष्टाः प्रतिपद्यमानका भवन्ति ॥६३५॥ पूर्वप्रतिपन्नानामपि सामान्येनोत्कृष्टतो जघन्यतश्च परिमाणं कोटिपृथक्त्वं भणितं भवति यथालन्दिकानाम् । उक्तं च कल्पचूर्णौ-"पडिवज्जमाणगा जहन्नेणं तिन्नि गणा, उक्कोसेणं सयपुहत्तं गणाण पुरिसप्पमाणेणं पडिवज्जमाणगा, जहन्नेणं पन्नरस पुरिसा उक्कोसेणं सहस्सपुहत्तं पुव्वपडिवन्नगाणं जहन्नेणं कोडिपुहत्तं, उक्कोसेण वि कोडिपुहत्तमिति" । केवलं जघन्यादुत्कृष्टं विशिष्टतरं ज्ञेयमिति । प्रव० ७० द्वार । वृ० ।

अथ गच्छप्रतिबद्धयथालन्दिकद्वारमाह—

पडिबद्धे को दोसो, आगमणेगागिणस्स वासासु ।

सुयसंघयणादीओ, सो चेव गमो निरवसेसो ॥

प्रतिबन्धनं प्रतिबन्धः, गच्छप्रतिबन्ध इत्यर्थः । तत्र कारणे यथालन्दिकानां च वक्तव्य (को दोस त्ति) को नाम दोषो भवति यत्ते यथालन्दिका आचार्याधिष्ठिते क्षेत्रे न तिष्ठन्ति । (आगमणेगागिणस्स त्ति) यद्याचार्याः स्वयं क्षेत्रबहिर्गन्तुं न शक्नुवन्ति तत एकाकिनो यथालन्दिकस्यागमनं भवति (वासासु त्ति) वर्षासु उपयोगं दत्त्वा यदि जानाति वर्षं न पतिष्यति तत आगच्छति, अन्यथा तु नेति । श्रुतसंहननादिकस्तु गमः स एव निरवशेषो वक्तव्यो यो जिनकल्पिकानाम्; यस्तु विशेषः स प्रागेवोक्तः ।

अथ प्रतिबद्धपदं व्याख्याति—

सुत्तत्थसावसेसो, पडिबंधो तेसिमो भवे कप्पो ।

आयरिए किइकम्मं, अंतर बहिया य वसहीए ॥

सूत्रार्थस्तैर्गृहीतः परमद्यापि सावशेषो न संपूर्णः, एष तेषां गच्छविषयप्रतिबन्धः । तेषां चायं वक्ष्यमाणः कल्पः, यथा-आचार्यस्यैव कृतिकर्म वन्दनकं दातव्यं, तथा-यद्याचार्यो न शक्नोति गन्तुं ततोऽन्तरा वा ग्रामस्य, बहिर्वा वसतौ, यथालन्दिकस्य वाचनां ददाति । एतदुत्तरत्र भावयिष्यते ।

अथ को दोष इति द्वारं शिष्यः पृच्छति । यथाऽथाचार्याधिष्ठिते क्षेत्रे ते तिष्ठेयुस्ततः को दोषः स्यात् ?, उच्यते—

नमणं पुव्वब्भासा, अणमण दुस्सीलयप्पगासंका ।

आयप कुरुकुचि य बद्दो लोगे ठिई चेव ॥

यथालन्दिकानां न वर्त्तते आचार्यं मुक्त्वा अन्यस्य साधोः प्रणामं कर्तुं, तथाकल्पत्वात् । ततस्ते क्षेत्रान्तस्तिष्ठन्तः पूर्वाभ्यासान्नमने प्रणामं साधूनां कुर्युः, गच्छवासिनश्च यथालन्दिकान् वन्दन्ते ते पुनर्यथालन्दिकास्तान् भूयो न प्रतिवन्दन्ते, ततस्तेषामनमने लोको ब्रूयात्-दुःशीला अशीलाः स्तम्भकल्पा अमी, यतोऽन्येषामित्थं वन्दमानानामपि न प्रतिवन्दनं प्रयच्छन्ति, न वा कमप्यालापं कुर्वन्ति । गच्छवासिषु वा लोकस्य स्यादाशङ्का नूनं भवति-अवश्यं स्यात् दुःशीलत्वादवन्दनीयाः कृता अमी, अन्यथा कथं न प्रतिवन्दन्ते । आत्मार्थिका वा अमी येनाप्रतिवन्दमानानपि वन्दन्ते, कौटिल्यका वा मातृस्थानकारिणोऽमी लोकपङ्क्तिनिमित्तमित्थं वन्दन्ते । एवं लोके वाद उपजायते, कारणैः क्षेत्रबहिस्तिष्ठन्ति । अपि च स्थितिरेव कल्प एवायममीषां, यत् क्षेत्राभ्यन्तरे न तिष्ठन्ति ।

अथामीषामेव कल्पमाह—

दोन्नि वि दाउं गमणं, धारणकुसलम्मि देसम वहि देइ ।

कइकम्मं चोलपट्टे, ओरग्गहिया निसिज्जा य ॥

आचार्यः सूत्रार्थपौरुष्यौ द्वे अपि गच्छवासिनां दत्त्वा यथालन्दिकानां समीपे गमनं करोति, गत्वा च तत्र तेषामर्थं कथयति । अथाचार्यो न शक्नोति तत्र गन्तुं ततो यस्तेषां ...

धारणाकुशलोऽथ धारणाशक्तिम ... प्र-

त्यासन्ने भूतानि समायाति, ... इदा-

ति। स च श्रुतभक्तिहेतोराचार्याणां कृतिकर्म वन्दनकं दत्त्वा चोलपट्टकाद्वितीय औपग्राहिक्यां निषद्यायामुपविष्टोऽर्थं शृणोति।

अथ " दोन्नि वि दाउं गमणं " इत्येव दर्शयन्नाह-

अत्थं दो व अदाउं, वच्चइ वायावए व अन्नेणं ।
एवं ता उउबद्धे वासासु य काउमुवओगं ॥

यद्याचार्यो द्वे अपि पौरुष्यौ दत्त्वा गन्तुं न शक्नोति ततोऽर्थमदत्त्वा, तथाऽप्यशक्तो द्वावपि सूत्रार्थावदत्त्वा व्रजति, अन्येन वा शिष्येण स्वशिष्यान् वाचयति वाचनां दापयति। अथाचार्यस्तत्र गन्तुमशक्तस्ततो यथालन्दिकः सूरिसमीपमायाति, एवं तावत् ऋतुबद्धे द्रष्टव्यम्। वर्षासु, चशब्दः पुनरर्थे। वर्षासु पुनरयं विशेषः-उपयोगं कृत्वा किं वर्षं पतिष्यति नवेति विमृश्य यदि जानाति पतिष्यति ततो न आचार्याणां समीपमायाति।

अथ गुरवस्तत्र गताः कथं समुद्दिशन्तीत्याह-

संघाडो मग्गेणं, भत्तं पाणं च नेइ उ गुरूणं ।
अच्चुण्हे थेरा वा, तो अंतरपल्लिए एइ ॥

गुरूणां यथालन्दिकसमीपमुपगतानां योग्यं भक्तं पानं च गृहीत्वा संघाटको मार्गेण पृष्ठतो गत्वा गत्वा तत्र नयति। अथ यावता कालेन यथालन्दिकानामुपाश्रयं गुरवो व्रजन्ति तावता, अत्युष्णमतो वा तपश्चरन्ति, स्थविरा वा वार्द्धिक्यवयःप्राप्तास्त आचार्यास्ततोऽन्तरपल्लिकायामेको यथालन्दिको धारणासंपन्नः समायाति, तत्र गुरवोऽपि गत्वा तस्य वाचनां दत्त्वा संघाटकेनाऽऽनीतं भक्तपानं समुद्दिश्य संध्यासमये मूलक्षेत्रमायान्ति।

अथान्तरपल्लिमपि गन्तुमसमर्था गुरवः, ततः किमित्याह-

अंतरपल्लिगमज्झे वा, विइयंतर वाहि वसभगामस्स ।
अन्नाए वसहीए, अपरीभोगम्मि वाएइ ॥

अन्तरपल्लिकाप्रतिवृषभग्रामयोरन्तराले गत्वा यथालन्दिकं वाचयति, तत्र गन्तुमशक्तो प्रतिवृषभग्रामे, अथ तत्रापि गन्तुं न शक्नोति ततो (विइयंतरं ति) द्वितीयं प्रतिवृषभमूलक्षेत्रयोरपान्तरालक्षणं यदन्तरं तत्र गत्वा वाचनां प्रयच्छति, तत्रापि गमनाशक्तौ वृषभग्रामस्य मूलक्षेत्रस्य बहिर्विजने प्रदेशे गत्वा वाचयति, यदि तत्रापि गन्तुं न प्रभविष्णुः ततो मूलक्षेत्र एवान्यस्यां वसतौ, तत्रापि गन्तुमशक्तौ तस्यामेव मूलवसतौ अपरिभोग्ये अवकाशे वाचयति।

तत्र चेयं सामाचारी-

तस्स जई किइकम्मं, करिंति सो पुण न तेसि पकरेइ ।
मा पढउ ताव गुरुणो, करेइ न करेइ उ परेसिं ॥

तस्य यथालन्दिकस्य यतयो गच्छवासिनः साधवः कृतिकर्म कुर्वन्ति स पुनर्यथालन्दिकस्तेषां गच्छवासिनां कृतिकर्म न करोति, यावच्च पठति अर्थं तावदर्थयति गुरोरपि तावदेव करोति, परतस्तु न करोति, तथाकल्पत्वात्।

यथालन्दिकानामेव मासकल्पविधिमाह-

एक्को मासविभागो, इंतऽहालंदियाण छग्गामा ।
मासो विभज्जमाणो, पणगेण उ निट्ठिओ होइ ॥

यदि मूलक्षेत्रस्य बहिरेको ग्रामः सविचारः सविस्तरो वर्त्तते, आह च सूरिः-" सवियारो त्ति विस्तृतः ततस्तस्मिन् ग्रामे षट् वीथीः परिकल्प्य यथालन्दिका एकैकस्यां वीथ्यां पञ्च पञ्च दिवसान् भिक्षामटन्ति तस्यामेव च वीथ्यां वसतिमपि गृह्णन्ति"। एवं प्रतिवीथ्यां 'पणगेणं' रात्रिंदिवपञ्चकेन मासो विभज्यमानः सन् षड्भिरहोरात्रपञ्चकैर्निष्ठितः सम्पूर्णो भवति। अथ नास्ति विस्तीर्णो ग्रामस्ततो (इयंतऽहालंदियाण छग्गामा इति) मूलक्षेत्रपार्श्वतो ये लघुतराः षट् ग्रामा भवन्ति, तेषु प्रत्येकं पञ्च पञ्च दिवसान् पर्यटतां यथालन्दिकानां तथैव षड्भिरहोरात्रपञ्चकैर्मासः परिपूर्णो भवतीति। बृ० १ उ०।

अहालहुस्सय-यथालघुस्वक-न०। यथेति यथोचितानि लघुस्वकानि अमहास्वरूपाणि, महतां हि तेषां नेतुं गोपयितुं वा शक्यत्वादिति यथालघुस्वकानि। अथवा लघूनि महान्ति चरिष्ठानीति च वृद्धाः। अमहास्वरूपेषु, भ०। "देवाणं अहालहुसगाइं रयणाइं हंता अत्थि"। भ० ३ श० २ उ०। अनेकान्तलघुके वीणाग्रहणग्राह्ये, व्य० ७ उ०। स्तोके, व्य०।

यथालघुस्वकादिव्यवहारप्ररूपणामाह-

गुरुओ गुरुस्सतरगो, अहागुरुस्सो य होइ ववहारो ।
लहुओ लहुस्सतरगो, अहालहुस्सो य होइ ववहारो ॥
एएसिं पच्छित्तं, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए ।

व्यवहारस्त्रिविधः। तद्यथा-गुरुको गुरुस्तरको यथागुरुस्वकश्च। तत्र यो गुरुकः स त्रिविधः। तद्यथा-लघुको लघुस्तरको यथालघुस्वकश्च। एतेषां व्यवहाराणां, यथानुपूर्व्या यथोक्तपरिपाट्या, प्रायश्चित्तं वक्ष्यामि। किमुक्तं भवति ?, एतेषु व्यवहारेषु समुपस्थितेषु यथापरिपाट्या प्रायश्चित्तपरिमाणं अभिधास्ये।

यथाप्रतिज्ञातमेव करोति-

गुरुगो य होइ मासो, गुरुगतरागो चउम्मासो ।
अहगुरुओ छम्मासो, गुरुगयपक्खम्मि पडिवत्ती ॥

गुरुको नाम व्यवहारो मासो मासपरिमाणः, गुरुके व्यवहारे समापतिते मास एकः प्रायश्चित्तं दातव्य इति भावः। एवं गुरुतरको भवति चतुर्मासपरिमाणः। यथागुरुकः षण्मासः, षण्मासपरिमाणः। एषा गुरुकपक्षे गुरुकव्यवहारे त्रिविधे यथाक्रमं प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिः।

सम्प्रति लघुस्वकव्यवहारविषयं प्रायश्चित्तप्रमाणमाह-

तीसा य पणवीसा, पन्नरसे पणवीसा य ।
दस पंच य दिवसाइं, लहुसगपक्खम्मि पडिवत्ती ॥

लघुको व्यवहारस्त्रिंशत् त्रिंशद्दिवसपरिमाणः। एवं लघुतरकः पञ्चविंशतिदिनमानः। एषा लघुकव्यवहारे त्रिविधे यथाक्रमं प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिः। यथालघुको व्यवहारः पञ्चदशपञ्चविंशतिदिवसप्रायश्चित्तपरिमाणः। एवं लघुस्वतरको दशदिवसमानः। यथालघुस्वकः पञ्च दिवसानि पञ्चदिवसप्रायश्चित्तानि परिमाणः। एषा लघुस्वकव्यवहारपक्षे प्रायश्चित्तपरिमाणप्रतिपत्तिः। व्य० २ उ०।

सम्प्रति भाष्यकृत् यथालघुस्वकग्रहणं, तृतीयसूत्रगतमन्यतरग्रहणं च व्याख्यानयति-

दुविहो य अहालहुसे, जहण्णओ मज्झिमो य उक्कोसो ।
अन्नयरग्गहणेण उ, घेप्पइ तिविहो उ उवहीओ ॥

यथालघुस्वके उपधिस्त्रिविधो भवति—जघन्यो मध्यमश्च । अन्यतरमहृत्येन तु त्रिविधोऽप्युपधिः परिगृह्यते । तदेवं कृता विषमपदव्याख्या भाष्यकृता । व्य० ६ उ० ।

अहावगास–यथावकाश–अव्य० । यो यस्यावकाशः यथावकाशं तस्मिन्नित्यानम्–अथवा भूम्यम्बुकाशाऽऽकाशयोरसंयोगः,तद्व्यतिक्रमे, सूत्र० । "तेसिं च णं अहावगासेणं अहावगासमेयं कप्पोए" । यथावकाशेनेति । यो यस्यावकाशो मातुलुङ्गकुड्यादिकस्तत्रापि किल यावा त्रियो, दाडिमा कुक्षिः पुरुषयोमयाधितः यदृ दृशि । अत्र चार्विषयस्या यानितरविधस्त्वं बीजमिति चत्वारो भङ्गाः । तत्राप्याद्य एव भङ्गः सत्यसंस्यकाशो, न शेषेषु त्रिवित्ति । सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

अहावच्च–यथापत्य–पुं० । यथाऽपत्यानि तथा ये,ते यथापत्याः । पुत्रस्थानीयेषु, भ० ३ श० ६ उ० । कल्प० ।

अहावच्चाभिण्णाय–यथापत्याभिज्ञान–त्रि० । यथाऽपत्यमेवमभिज्ञाता अथवा यथापत्याभिज्ञाताः अथवा–यथापत्याश्च तेऽभिज्ञाताश्चेति कर्मधारयः । पुत्रस्थानीयेष्वभिज्ञातेषु, भ० ३ श० ६ उ० ।

अहाविह–यथाविध अव्य० । यथान्यायमित्यर्थे, ज्ञा० ७ अ० ।

अहासंगह–यथासंग्रह–न० । निषकल्पे यथादी, नि०चू० २ उ० ।

अहासंथड–यथासंस्तृत–न० । शयनयोग्ये, आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

यथासंस्कृत–न० । यत्र तृणादि यथोपभोगार्हं भवति तथैव लभ्यते तस्मिन्, स्था० ३ ठा० ४ उ० । आचा० ।

अहासंविभाग–यथा (आथा) संविभाग–पुं० । यथा सिद्धस्य स्वार्थं निर्वर्तितस्येत्यर्थः, अशनादेः समाश्रितस्तु भवेत पश्चात्कर्मादिदोषपरिहारेण विभजनं साधवे दानद्वारेण विभागकरण यथासंविभागः । अतिथिसंविभागव्रते, उपा० १ अ० । "अहासंविभागो नाम जं अहाकम्मं देति तो साहुमहे भत्ति देहिंतेहिं संजमट्ठाणेहिं उवणेति, तेण आहाकम्मेण सो अहासंविभागो भवति । जो अहापवत्ताणं आहाराणं पवत्तो–सदोसमपीडणलगणेमञ्चारंभासणाईण संविभागो सो अहासंविभागो भवति । पातु एवाणि संविभागो त्ति भणियं होइ" । पा० चू० १ अ० । आथासंविभाग इत्यनुर्वर्तितव्यः । अस्यातिचाराः–"तयाऽणंतरं च णं अहासंविभागस्स पंच अइयारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा । तं जहा–सचित्तनिक्खेवणया १ सचित्तपिहणया २ कालाइक्कमदाणे ३ परोवदेसे मच्छरिया ४" । उपा० १ अ० । ('अतिहिसंविभाग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३४ पृष्ठे अयंऽस्य विस्तरः)

अहासच्च–यथासत्य–न० । यथातथ्ये, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

अहासत्ति–यथाशक्ति–अव्य० । स्वशक्त्यनतिक्रमे, द्वा० २१ द्वा० । शक्त्यनुरूपे, पं० सू० ४ सू० । स्वशक्त्यनुसारे, पं० सू० २ सू० ।

अहासुत्त–यथासूत्र–अव्य० । सामान्यतः सूत्रानतिक्रमे, दशा० ७ अ० । स्था० । उत्त० । ज्ञा० । सूत्रानुसारेणाविदिनमार्गेणे, स्था० ७ ठा० । सूत्राविरुद्धे, कल्प० ६ क्ष० ।

अहासुह–यथासुख–अव्य० । सुखस्य निकमे, ज्ञा० १ अ० ।

अहासुहुम–यथासूक्ष्म–त्रि० । सारे, भ० ३ श० १ उ० । "अहाबायरे पुग्गले परिसाडेइ" । कल्प० २ क्ष० ।

अहाह–अहाह–अव्य० । खेदे, सम्बोधने, आश्चर्ये, प्रकर्षे, प्रकर्षे च । वाच० । प्रा० ।

अहि–अहि–पुं० । उरःपरिसर्पभेदे, प्रज्ञा० १६ अ० । सर्पे, प्रज्ञा० १४ अ० । ज्ञा० । सूत्र० ।

अस्य भेदाः–

से किं तं अही ? । अही दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–दव्वीकरा य, मउलिणो य ॥

अथ के ते अहयः ? । गुरुराह—अहयो द्विविधाः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा–दर्वीकराश्च मुकुलिनश्च । तत्र दर्वीव दर्वी फणा, तत्करणशीला दर्वीकराः, मुकुलं फणाविरहयोग्या शरीरावयवविशेषाकारः, सा विद्यते येषां ते मुकुलिनः, फणाकरणशक्तिविकला इत्यर्थः । [illegible] प्रज्ञा० १ पद । जीवा० । (दर्वीकरमुकुलिनोः [illegible] द्रष्टव्याः)

अहिअ–अहित–त्रि० । हितादपरस्मिन्, भ० १५ श० ।

अहिअणिपट्टि–अहितनिवृत्ति–स्त्री० । [illegible], पं० व० २ द्वार ।

अ (आ) हिआइ–अभिजाति–स्त्री० पुं० । " [illegible] " ८ । १ । १८७ । इति सूत्रे ह्रस्वः "[illegible]" ८ । १ । १३७ । [illegible] । " [illegible] " ८ । १ । ४४ । इति आकारस्य दीर्घः । कुलीनत्वे, प्रा० १ पाद । दे० ना० १ वर्ग ।

अहिआहिअसंवहि–[illegible] । ज्यौ०, पं० व० ४ द्वार ।

अहिउल–[illegible]–धा०–अर्दनार्थे, प्रा० "[illegible]" ८ । ४ । १०७ । इति [illegible] । [illegible], दहति । प्रा० ४ पाद ।

अहिंसअ–अहिंसक–त्रि० । अवधके, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

अहिंसण–अहिंसन–न० । अव्यापादने, प्र० १ अ० २ ।

अहिंसा–अहिंसा–स्त्री० । न हिंसाऽहिंसा । नि० चू० १ उ० । प्राणातिपातविरतौ, द्वा० २१ द्वा० । [illegible], पं० व० १ द्वार ।

(१) अहिंसास्वरूपवर्णनम् ।

(२) अहिंसाप्रशंसनम् ।

(३) अहिंसा[illegible] ।

(४) [illegible] ।

(५) अहिंसा[illegible] ।

(६) [illegible] ।

(७) [illegible] ।

(८) [illegible] ।

(९) [illegible] ।

(१०) अहिंसा[illegible] ।

(११) [illegible] ।

(१२) [illegible]

[illegible] ।

(१३) अहिंसाविवेचनम् ।

(१४) [illegible] हिंसा न भवत इति निरूपणम्।

(१५) [illegible] हिंसाया अविरोधनिरूपणम्।

(१६) [illegible] यदि [illegible] एव स्युरिति तदा [illegible] निरर्थक इति हिंसाऽपि असंभवा [illegible] विचारः ।

(१७) [illegible] देहाद्भिन्नाभिन्नत्वस्य च साधनं [illegible] ।

(१८) [illegible] गुणवर्णनम् ।

(१) [illegible] –

हिंसाए पडिवक्खो, होइ अहिंसा चउव्विहा सा उ ।
दव्वे भावे य तहा, अहिंसऽजीवाइवाउ त्ति ।४५। दश० नि० ।

तत्र प्रमत्तयोगात् [illegible] हिंसा । तस्या हिंसायाः, किम् ?, प्रतिकूलः पक्षः [illegible] गुणयोगपूर्वकं प्राणाव्य- परोपणमित्यर्थः किम् ?, भवत्य हिंसेति । तत्र चतुर्विधा चतुष्प- कारा अहिंसा । (दव्वे भावे य त्ति) [illegible] भावतश्चेत्येको भ- ङ्गः [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible]

(२) अहिंसाख्यसंवरद्वारस्यैवाऽशेषा वक्तव्यता–

तत्थ पढमं अहिंसा, तसथावरसव्वभूयखेमकरी ।
तीसे सभावणाए, उ किंचि वोच्छं गुणुद्देसं ॥

(तत्थ त्ति) तत्र तेषु पञ्चसु मध्ये प्रथमं संवरद्वारमहिंसा (तसथावरसव्वभूयखेमकरि त्ति) त्रसस्थावराणां सर्वेषां भू- तानां क्षेमकरणशीला । तस्या अहिंसायाः सभावनायास्तु भाव- नापञ्चकोपेताया एव (किंचि त्ति) किञ्चनाल्पं, वक्ष्ये गुणो- द्देशं गुणलेशमिति । प्रश्न० ।

अथ प्रथमसंवरनिरूपणायाह–

तत्थ पढमं अहिंसा जा सा सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स भवति दीवो, ताणं, सरणगती, पइट्ठा, निव्वाणं, निव्वुई, समाही, सत्ती, कित्ती, कंती, रइय विरइय सुयंग तित्ती, दया, विमुत्ती, खंती, सम्मत्ताराहणा, महंती, बोही, बुद्धी, धिती, समिद्धी, रिद्धी, विद्धी, ठिती, पुट्ठी, नंदी, भद्दा, विसुद्धी, लद्धी, विसिट्ठदिट्ठी, कल्लाणं, मंगलं, पमोओ, विभूति, सिद्धावासो, रक्खा, अणासवो, केवलीणं ठाणं, सिव समिती, सील संजमो त्ति य, सीलघरो, संवरो य, गुत्ती, ववसाओ, उस्सओ य, जण्णो, आयतणं, जयण- मप्पमाओ, अस्सासो, वीसासो, अभओ, सव्वस्स वि अमाघाओ, चोक्खपवित्ता, सुती, पूया, विमलपभासा य, निम्मलतर त्ति । एवमादीणि नियगुणनिम्मियाइं पज्ज- वनामाणि हुंति अहिंसाए भगवतीए ।

(तत्थेत्यादि) तत्र तेषु पञ्चसु संवरद्वारेषु मध्ये प्रथमं यत्सं- वरद्वारमहिंसा । किंभूता ?, या सा सदेवमनुजासुरस्य लोकस्य भवति (दीव त्ति) [illegible]

[illegible]

निर्वाणम्। तथा-निर्वृत्तिः स्वास्थ्यम्, समाधिः समता, शक्तिः, शक्तिहेतुत्वात्। शान्तिः द्रोहविरतिः, कीर्तिः, ख्यातिहेतुत्वात्। कान्तिः, कमनीयताकारणत्वात्। रतिश्च रतिहेतुत्वात्। विरतिश्च निवृत्तिः पापात्। श्रुतं श्रुतज्ञानमङ्गं कारणं यस्याः सा श्रुताङ्गा। आह च-"पढमं नाणं तओ दया" इत्यादि। तृप्तिहेतुत्वात् तृप्तिः। ततः कर्मधारयः। तथा दया देहिरक्षा। तथा-विमुच्यन्ते प्राणी सकलबन्धनेभ्यो यया सा विमुक्तिः। तथा-क्षान्तिः क्रोधनिग्रहः, तज्जन्यत्वादहिंसाऽपि क्षान्तिरुक्ता। सम्यक्त्वं सम्यग्बोधरूपमाराध्यते यया सा सम्यक्त्वाराधना। (महंति त्ति) महती सर्वधर्मानुष्ठानानां बृहती। आह च-"एकुच्चिय एत्थ वयं, निद्दिट्ठं जिणवरेहिं सव्वेहिं। पाणाइवायविरमण-मवसेसा तस्स रक्खट्ठा" ॥ १॥ बोधिः सर्वज्ञधर्मप्राप्तिः, अहिंसारूपत्वाच्च तस्या अहिंसा-बोधिरुक्ता। अथवाऽहिंसा सानुकम्पा, सा च बोधिकारणमिति बोधिरेवोच्यते। बोधिकारणत्वं चानुकम्पायाः-"अणुकंपा कामनिज्जर-बालतवे दाणविणयविब्भंगे। संजोगविप्पओगे, वसणूसवइड्ढिसक्कारे" ॥ १॥ इति वचनादिति। तथा-बुद्धिः, साफल्यकारणत्वाद् बुद्धिः। यदाह-"बावत्तरिकलकुसला, पंडियपुरिसा अपंडिया चेव। सव्वकलाणं पवरं, जे धम्मकलं न याणंति" ॥१॥ धर्मश्चाहिंसैव। धृतिश्चित्तदार्ढ्यं, तत्परिपालनीयत्वादस्या धृतिरेवोच्यते। समृद्धिहेतुत्वेन समृद्धिरुच्यते। एवं ऋद्धिवृद्धी। तथा-सादिपर्यवसितमुक्तिस्थितिहेतुत्वात् स्थितिः। तथा-पुष्टिः, पुण्योपचयकारणत्वात्। आह च-"पुष्टिः पुण्योपचयनम्"। नन्दयति समृद्धिं नयतीति नन्दा। भन्दते कल्याणीकरोति देहिनामिति भद्रा। विशुद्धिः पापक्षयोपायत्वेन जीवनिर्मलतास्वरूपत्वात्। आह च-"शुद्धिः पापक्षयेण जीवनिर्मलता"। तथा-केवलज्ञानादिलब्धिनिमित्तत्वाल्लब्धिः। विशिष्टदृष्टिः प्रधानदर्शनमतमित्यर्थः, तद्दर्शनस्य प्राधान्यात्। आह च-"किं तीए पढियाए, पयकोडीए पलालभूयाए। जत्थेत्तियं न नायं, परस्स पीडा न कायव्वा" ॥१॥ कल्याणं, कल्याणप्रापकत्वात्। मङ्गलं, दुरितोपशान्तिहेतुत्वात्। प्रमोदः, प्रमोदोत्पादकत्वात्। विभूतिः, सर्वविभूतिनिबन्धनत्वात्। रक्षा, जीवरक्षणस्वभावत्वात्। सिद्धावासः, मोक्षावासनिबन्धनत्वात्। अनाश्रवः, कर्मबन्धनिरोधोपायत्वात्। केवलिनां स्थानं, केवलिनामहिंसायां व्यवस्थितत्वात्। (सिवसमिइसीलसंजमो त्ति य) शिवहेतुत्वेन शिवम्। समितिः सम्यक्प्रवृत्तिः, तद्रूपत्वादहिंसा शिवसमितिः। शीलं समाधानं, तद्रूपत्वाच्छीलम्। संयमोऽहिंसातः उपरमः। इति रूपदर्शने, चः समुच्चये। (सीलघरो त्ति) शीलगृहं चारित्रस्थानम्। संवरश्च प्रतीतः। गुप्तिरशुभानां मनःप्रभृतीनां निरोधः। विशिष्टोऽवसायो निश्चयो व्यवसायः। उच्छ्रयः स्वभावोन्नतत्वम्। यज्ञो भावतो देवपूजा। आयतनं गुणानामाश्रयः। यजनमभयस्य दानं, यतनं वा प्राणिरक्षणं प्रति यत्नः। अप्रमादः प्रमादवर्जनम्। आश्वास आश्वासनं प्राणिनामेव। विश्वासो विश्रम्भः। (अभओ त्ति) अभयं सर्वस्यापीति प्राणिगणस्य। अमाघात अमारिः। चोक्षपवित्रा, चोक्षं पवित्रं, तदर्थं च सा पवित्रा चातिशयपवित्रा। शुचिर्भावशौचरूपा। आह च-"सत्यं शौचं तपः शौचं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः। सर्वभूतदया शौचं, जलशौचं च पञ्चमम्" ॥ १॥ इति। (पूय त्ति) पवित्रा, पूजा वा भावतो देवताया अर्चनम्। विमलप्रभासा, तन्निबन्धनत्वात्। (निम्मलतर त्ति) निर्मलं जीवं करोति या सा तथा, अतिशयेन वा निर्मला निर्मलतरा। इति शब्दो समाप्ती। एवमादीन्येवंप्रकाराणि निजकगुणनिर्मितानि, यथार्थानीत्यर्थः। अत एवाह-पर्यायनामानि तत्तद्धर्माभिधानाभिधानानि भवन्त्यहिंसायाः भगवत्या इति पूजावचनम्।

एसा भगवती अहिंसा, जा सा भीयाणं पिव सरणं, पक्खीणं पिव गयणं, तिसियाणं पिव सलिलं, खुहियाणं पिव असणं, समुद्दमज्झे व पोतवहणं, चउप्पयाणं व आसमपयं, दुहट्ठियाणं च ओसहिबलं, अडवीमज्झे च सत्थगमणं, एत्तो विसिट्ठतरिका अहिंसा जा सा पुढवी-जल-अगणि-मारुय-वणस्सइ-बीज-हरिय-जलचर-थलचर-खहचर-तस-थावर-सव्वभूयखेमकरी।

एषा सा भगवत्यहिंसा या सा [illegible] [illegible]स्वरूपा, देहिनामिति [illegible]। (पक्खीणं पिव गयणं त्ति) पक्षिणामिव गगनं, हिता, देहिनामिति [illegible]। [illegible] पद पदानि [illegible]। [illegible] त्याह-(एत्तो त्ति) [illegible] विशिष्टतरिका प्रधानतरिका अहिंसा [illegible] हिंसा [illegible] [illegible] [illegible] प्रतीतानि, [illegible] [illegible] प्रधान [illegible] [illegible] प्रतीतानि, [illegible] तथा, एषा एव, भगवती अहिंसा, [illegible] [illegible]-"[illegible]" ॥ १॥ [illegible] [illegible] तत्सम्बन्धाऽहिंसाऽभ्यन्तरा [illegible] [illegible] [illegible]स्वरूपा न स्वरूपहिंसेति।

(४) अथ दैवादिपूजिताऽहिंसा च [illegible]-

एसा भगवती अहिंसा जा सा अपरिमियनाणदंसणधरेहिं सीलगुणविणयतवसंजमनायकेहिं तित्थंकरेहिं सव्वजगवच्छलेहिं तिलोगमहिएहिं जिणचंदेहिं सुट्ठुदिट्ठा ओहिजिणेहिं विण्णाया उज्जुमतीहिं विदिट्ठा विपुलमतीहिं विदिता पुव्वधरेहिं अधीता वेउव्वीहिं पतिन्ना आभिणिबोहियनाणीहिं सुयनाणीहिं मणपज्जवनाणीहिं केवलनाणीहिं आमोसहिपत्तेहिं खेलोसहिपत्तेहिं जल्लोसहिपत्तेहिं विप्पोसहिपत्तेहिं सव्वोसहिपत्तेहिं बीजबुद्धीहिं कोट्ठबुद्धीहिं पयाणुसारीहिं संभिन्नसोतेहिं सुयधरेहिं मणबलिएहिं वयबलिएहिं कायबलिएहिं नाणबलिएहिं दंसणबलिएहिं चरित्तबलिएहिं खीरासवेहिं महुआसवेहिं सप्पियासवेहिं अक्खीणमहाणसिएहिं चारणेहिं विज्जाहरेहिं चउत्थभत्तिएहिं छट्ठभत्तिएहिं अट्ठमभत्तिएहिं दसमभत्तिएहिं एवं दुवालसचउदससोलसअद्धमासमासदोमासतेमासचउमासपंचमासछम्मासभत्तिएहिं उक्खित्तचरा-

[illegible]

गवेसियव्वं, अन्नाए अगढिए अदुट्ठे अदीणे अविमणे अकलुसे अविसादी अपरितंतजोगी जयणघडणकरणचरियविनयगुणजोगसंपउत्ते भिक्खू भिक्खेसणाए निरए इमं च सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं अत्तहियं पेच्चाभावियं आगमेसिभद्दं सुद्धं नेयाउयं अकुडिलं अणुत्तरं सव्वदुक्खपावाण विउसमणं ॥

(इमं चेत्यादि) [illegible] इति सम्बन्धः। प्रश्न० १ संव० द्वार। [illegible]

तत्र यदुक्तं "[illegible]" इति, तत्र का भावना?, इत्यतो जिज्ञासायामाह-

(१) प्रथमव्रतस्य (अहिंसाव्रतस्य) पञ्च भावना-

तस्स इमा पंच भावणाओ पढमस्स वयस्स हुंति, पाणाइवायवेरमणपरिरक्खणट्ठयाए पढमं ठाणगमणगुणजोगजुंजणजुगंतरनिवातियाए दिट्ठीए इरियव्वं कीडपयंगतसथावरदयावरेण निच्चं पुप्फफलतयपवालकंदमूलदगमट्टियबीयहरियपरिवज्जएण सम्मं, एवं खु सव्वे पाणा न हीलियव्वा न निंदियव्वा न गरहियव्वा न हिंसियव्वा न छिंदियव्वा न भिंदियव्वा न वहेयव्वा न भयं दुक्खं च किंचि लब्भा पावेउं जे, एवं इरियासमितिजोगेण भाविओ भवति अंतरप्पा असबलमसंकिलिट्ठनिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए संजए सुसाहू १ ॥

[illegible]

विध इत्याह—अकालेन मालिन्यमात्ररहितेन, असंक्लिष्टेन विशुद्ध्यमानपरिणामवतो, निर्व्रणनाकृतेनाव्रणकेनेति यावत् । चारित्रेण सामायिकादिना भावना वासना यस्य सोऽशबला-सङ्क्लिष्टनिर्व्रणचारित्रभावनाकः । अथवा-अशबलाक्लिष्टनि-र्व्रणचारित्रभावनया हेतुभूतया अहिंसकोऽसंयकः, संयतो मु-मुक्षुः, पादादापुरस्माद् मोक्षसाधक इति । प्रश्न० १ संव० द्वार ।

अभिहणेज्ज वा वत्तेज्ज वा परियावेज्ज वा लेसेज्ज वा उ-द्दवेज्ज वा इरियासमिए से णिग्गंथे णो इरियाअसमिए त्ति पढमा भावणा ॥

ईरणं गमनमीर्या, तस्यां समितो दत्तावधानः, पुरतो युगमात्र-भूभागन्यस्तदृष्टिगामी।अयं: तस्यसमितो भवेत्। किमिति?, यतः केवली ब्रूयात् कर्मोपादानमेतद्, गमनक्रियायामसमितो हि प्राणि-नोऽभिहन्यात् पादेन ताडयेत्, तथा-वर्त्तयेदन्यत्र पातयेत्, तथा-परितापयेत्पीडामुत्पादयेत्, अपद्रावयेद्वा जीविताद् व्यपरोप-येदित्यत ईर्यासमितेन भावितव्यमिति प्रथमा भावना । आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

बितियं च मणेण पावएण पावकं अहम्मियदारुणं नि-स्संसं वहबंधपरिकिलेसबहुलं जरामरणपरिकिलेससंकिलिट्ठं न कया वि मणेणं पावएणं पावगं किंचि वि झायव्वं, एवं मणसमितिजोगेण भावितो भवति अंतरप्पा असबलसंकि-लिट्ठनिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए संजए सुसाहू २॥

द्वितीयं पुनर्भावनावस्तु मनःसमितिलक्षणं मनसा पापं न ध्यातव्य-मिति, काका ध्येयम् । एतच्च सूत्रकृदाह-मनसा पापकेन पापकमिति कदाचिदपि न-पापकेन दुष्टेन सता मनसा यत्पापकमशुभं तत्र कदाचिदम-ना पापकं किञ्चिद्ध्यातव्यमिति वक्ष्यमाणवाक्येन संबन्धः पुनः किंभूतं पापकमित्याह-अधर्मिकाणामिदमाधर्मिकं, तत् तदारुणं चेति आधर्मिकदारुणं, नृशंसं घृणावर्जितं, वधेन हन-नेन, बन्धेन संयमेन, परिक्लेशेन च परितापनेन हिंसाजनेन बहुलं प्रचुरं यत्तत्तथा । जरामरणपरिक्लेशैः फलभूतैः, बाध-नान्तरे-'भयमरणपरिक्लेशैः' संक्लिष्टमशुभं यत्तत्तथा न कदा-चिदपि कथञ्चनापि काले (मणेण पावएणं ति) पापकेनैव मनसा (पावगं ति)प्राणातिपातादिकं पापं किञ्चिदल्पमपि ध्यातव्यमेवा-मनसा चिन्तनीयम् । एवमनेन प्रकारेण मनःसमितियोगेन चि-त्तसम्भूतिप्रवृत्तिव्यापारेण भावितो वासितो भवत्यन्तरात्मा जीवः । किंविध इत्याह-असबलासंक्लिष्टनिर्व्रणचारित्रभाव-नाकः, अशबलासंक्लिष्टनिर्व्रणचारित्रभावनया वा अहिंसकः, संयतः सुसाधुरिति प्राग्वत् । प्रश्न० १ संव० द्वार ।

अहावरा दोच्चा भावणा मणं परिजाणइ, से णिग्गंथे जे य मणे पावए सावज्जे सकिरिए अण्हयकरे छेयकरे भेयकरे अधिकरणिए पाउसिए परिताविए पाणाइवाए भू-ओवघाइए तहप्पगारं मणं णो पधारेज्जा, मणं परिजाणति, से णिग्गंथे जे य मणे अपावए त्ति दोच्चा भावणा ॥

द्वितीयभावनायां तु मनसा दुष्प्रणिहितेन नो भाव्यम् । त-(अपावए त्ति) दर्शयति-यन्मनः पापकं सावद्यं सक्रियं (अण्हयकरं कर-कर्माश्रवकारि, तथा-छेदभेदकरं, ...

इकरं, प्रद्वेषकं प्रदोषिकं, तथा-प्राणिनां परितापकारि प्राण्यादि न विधेयमिति । आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

तइयं च वइए पावए पावगं अहम्मियदारुणं निस्संसं वहबंधपरिकिलेसबहुलं जरामरणपरिकिलेससंकिलिट्ठं न कयावि वइए पावियाए अं पावगं किंचि वि भासियव्वं, एवं वइसमितिजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा असबलसंकि-लिट्ठनिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसओ संजओ सुसाहू ३॥

(तइयं च त्ति) तृतीयं पुनर्भावनावस्तु वचनसमितिर्वचसा पापं न भणितव्यम् । इत्येतद्दर्शयति-(वइए पावियाए इत्यादि) प्रश्न० १ संव० द्वार । एतद् व्याख्यानं च प्राग्वत् ।

अहावरा तच्चा भावणा वइं परिजाणति, से णिग्गंथे जाव वइ पाविया सावज्जा सकिरिया जाव भूओवघाइया तहप्पगारं वइं णो उच्चारेज्जा वइं परिजाणति, से णिग्गंथे जाव वइं अपाविय त्ति तच्चा भावणा ॥

अथापरा तृतीया भावना, तत्र निर्ग्रन्थेन ... आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

चउत्थं आहारएसणाए सुद्धं उंछं गवेसियव्वं, अन्नाए अकहिए असिट्ठे अदुट्ठे अदीणे अकलुणे [illegible]

[illegible]

[illegible]

साधु भुञ्जीत न बलरूपनिमित्तं, विषयलौल्येन वा। कथं तर्हि भोजनसंयमसाधनं शरीरं धारयितुं समर्थो भवतीति (भुंजेज्ज त्ति) भुञ्जीत भोजनं कुर्वीत। तथा भोजने कायोऽस्माद्-प्राणधारणार्थतया जीवितव्यसंरक्षणार्थः। संवरः साधुः समिति वाक्यालङ्कारे। (समियं ति) सम्यक्। [illegible] [illegible] हेतु-भूतया वा अहिंसकः संयतः सुसाधुरिति। प्रश्न० १ संब० द्वार।

अहावरा चउत्था भावणा आयाणभंडनिक्खेवणासमिए से णिग्गंथे णो अणायाणभंडणिक्खेवणासमिए णिग्गंथे केवली बूया आयाणभंडणिक्खेवणाअसमिए णिग्गंथे पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं अभिहणेज्ज वा० जाव उद्देवेज्ज वा आयाणभंडणिक्खेवणासमिए, से णिग्गंथे णो आयाणभंडणिक्खेवणा असमिए त्ति चउत्था भावणा ॥

तथा चतुर्थी भावना आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमितिः, तत्र निर्ग्रन्थेन साधुना समितेन भवितव्यमिति। आचा० २ श्रु० ३ चू०।

पंचमगं पीढफलगसेज्जासंथारगवत्थपत्तकंबलदंडगरयहरणचोलपट्टगमुहपोत्तियपायपुंछणादि एयं पि संजमस्स उववूहणट्ठयाए वातातवदंसमसगसीयपरिरक्खणट्ठयाए उवगरणं रागदोसरहियं परिहरियव्वं संजएणं णिच्चं पडिलेहणपप्फोडणपमज्जणाए अहो य राओ य अप्पमत्तेण होइ सययं निक्खिवियव्वं च गिण्हियव्वं च भायणभंडोवहिउवगरणं, एवं आयाणभंडनिक्खेवणासमिईजोगेण भाविओ भवति अंतरप्पा असबलमसंकिलिट्ठनिव्वणचरित्तभावणाए अहिंसए संजए सुसाहू ५ ॥

(पञ्चमगं ति) [illegible]

[illegible]

णो अणालोइयपाणभोयणभोई केवली बूया अणालोइय-
पाणभोयणभोई से निग्गंथे पाणाणि वा० ४ अभिहणेज्ज
वा० जाव उद्दवेज्ज वा तम्हा आलोइयपाणभोयणभोई से
णिग्गंथे णो अणालोइयपाणभोई त्ति पंचमा भावणा ॥

तथा एवं पञ्चमी भावना आलोकित प्रत्युपेक्षितमशनादि भो-
क्तव्य, तदकरणे दोषसंभवात् । आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

अथाध्ययनार्थं निगमयन्नाह-

एवमिणं संवरस्स दारं सम्मं संवरियं होइ, सुप्पणिहियं, इ-
मेहिं पंचहि वि कारणेहिं मणवयकायपरिरक्खिएहिं, नि-
च्चं आमरणंतं च एस जोगो नियव्वो धितिमया मतिमया
अणासवो अकलुसो अच्छिद्दो अपरिस्सावी असंकिलिट्ठो
सुद्धो सव्वजिणमणुण्णातो, एवं पढमं संवरदारं फासियं पा-
लियं सोहियं तीरियं किट्टियं आराहियं आणाए अणु-
पालियं भवति, एवं नायमुणिणा भगवया पण्णवियं परू-
वियं पसिद्धं सिद्धं सिद्धवरसासणमिणं आघवियं सुदेसियं
पसत्थं पढमं संवरदारं सम्मत्तं ति बेमि ॥

एवमिति उक्तक्रमेण, इदमहिंसालक्षणं, संवरस्याश्रयस्य, द्वार-
मुपायः, सम्यक् सम्यक्त्वेन संवरितं भवति, किंविधं सदित्याह-
सुप्रणिहितं सुप्रणिधानवत्, सुरक्षितमित्यर्थः । कैः किमिति चेदि-
त्याह-एभिः पञ्चभिः कारणैः भावनाविशेषैः अहिंसापालनहे-
तुभिः, मनोवाक्कायपरिरक्षितैरिति । तथा-नित्यं सदा आमरणा-
न्तं च मरणरूपमन्तं यावत् मरणान्तरतोऽप्यसम्भवात्, एष यो-
गोऽनन्तरोदितभावनापञ्चकरूपो व्यापारो, नेतव्यो योढव्य इति
भावः । केन ?-धृतिमता स्वस्थचित्तेन, मतिमता बुद्धिमता, कि-
भूतोऽयं योगः ?-अनाश्रवः नवकर्मानुपादानरूपः, यतोऽकलु-
षोऽपापरूपः, छिद्रमिव छिद्रं कर्म जलप्रवेशापेक्षयेना-
च्छिद्रः, अपरिस्रावी कर्मोदकस्यापरिस्रावी न परिस्रवति कर्म ज-
लग्रहण, असंक्लिष्टो न चित्तसंक्लेशरूपः, शुद्धो निर्दोषः,
सर्वजिनैरनुज्ञातः, सर्वार्हतामनुमतः, एवमित्यादि-
भावनापञ्चकयोगेन, प्रथमं संवरद्वारमहिंसालक्षणं, (फासियं-
ति) स्पृष्टमुचितेन काले विधिना प्रतिपन्नं, पालितं सततं स-
म्यगुपयोगेन प्रतिचरितं, (सोहियं ति) शोभितमन्येषामपि
तदुचितानां दानादिनाचारजनाद्वा, शोधितं वा निरतिचारं कृतं,
तीरितं तीरं पारं प्रापितं, कीर्तितमन्येषामुपदिष्टम्, आराधितमे-
भिरेव प्रकारैर्निष्ठां नीतम्, आज्ञया सर्वज्ञवचनेनानुपालितं भ-
वति पूर्वकालसाधुभिः पालितत्वादित्याह-एवमित्युक्तरूपं, ज्ञा-
ताख्याः क्षत्रियविशेषास्तत्प्रसूतेन यतिना, श्रीमन्महावीरेणेत्यर्थः भ-
गवता ऐश्वर्यादियुक्तेन, प्रज्ञापितं सामान्यतो विनेयेभ्यः कथितं,
प्ररूपितं भेदानुभेदकथनेन, प्रसिद्धं प्रख्यातं, सिद्धं प्रमाणप्रतिष्ठितं,
सिद्धानां प्रतिष्ठितार्थानां वरशासनं प्रधानाज्ञा सिद्धवरशासनम्,
(आघवियं ति) अर्थः पूजा तस्य आप्ति: प्राप्तिः आख्यातं
वा आपितं प्रापितं यथार्थदर्शितं, सु-
देशितं सुष्ठु दर्शितं, सदेवमनुजासुरायां पर्षदि नानाविधनय-
प्रमाणैरभिहितं सुदेशितं, प्रशस्तं मङ्गल्यमिति, प्रथमं संवरद्वा-
रं समाप्तमिति । प्रश्न० १ संव० द्वार ।

पंचमा भावणा एत्तावता य महव्वयं सम्मं काएण फा-
सिए पालिए तीरिए किट्टिए अवट्ठिते आणाए आरा-
हिए यावि भवति, पढमे भंते महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं ।

इति एवं पञ्चभिर्भावनाभिः प्रथमव्रतं स्पर्शितं पालितं तीर्णं
कीर्तितमवस्थितमाज्ञयाऽऽराधितं भवतीति । आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

(७) सर्वे प्राणा न हन्तव्याः-

सेबेमि जे य अतीता जे य पडुप्पण्णा जे य आगमिस्सा
अरहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खंति एवं भासंति
एवं पण्णवेंति एवं परूवेंति सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे
जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेतव्वा ण परि-
घेतव्वा ण परितावेयव्वा ण उद्दवेयव्वा ॥

येऽतीता अतिक्रान्ता, ये च प्रत्युत्पन्ना वर्त्तमानकालभाविनः, ये
चागामिनः, त एवं प्ररूपयन्तीति सम्बन्धः । तत्रातिक्रान्तास्ती-
र्थकृतः कालस्यानादित्वादिति यत्समतिक्रान्ताः, अनागता अ-
प्यनन्ता आगामिकालस्यानन्तत्वादिति । वर्त्तमानतीर्थकृतां प्र-
ज्ञापकापेक्षितयाऽनवस्थितत्वे सत्युत्कृष्टजघन्यपदेन एव क-
थ्यन्ते, तत्रोत्सर्गतः समयक्षेत्रसम्भवेन सप्तत्युत्तरशतं पञ्च-
स्वपि विदेहेषु प्रत्येकं द्वात्रिंशत् कृत्वा-एकैकस्मिन् द्वात्रिं-
शत्, पञ्चस्वपि भरतेषु पञ्च, एवमैरावतेष्वपीति, तत्र द्वात्रिंशत् प-
ञ्चभिर्गुणिताः षष्ट्युत्तरं शतं भरतैरावतदशप्रक्षेपेण सप्तत्यधिकं
शतमिति, जघन्यतस्तु विंशतिः, सा चैवं पञ्चस्वपि महाविदेहेषु
विदेहान्तर्महानद्युभयतटसद्भावात्तीर्थकृतां प्रत्येकं चत्वारः, तेऽ-
पि पञ्चभिर्गुणिता विंशतिर्भरतैरावतयोस्त्वेकान्तसुषमादाव-
भाव एवेति । अन्ये तु व्याचक्षते-मेरोः पूर्वापरविदेहैकैकसद्भावा-
न्महाविदेहद्वय एव पञ्चस्वपि दर्शयन्ति । तथा ते आहुः-"सत्तरसय-
मुक्कोसं, इयरे दस समयखेत्तजिणमाणं । चोत्तीस पढमदीवे, अ-
णंतरद्धे य दुगुण त्ति" । क इमे अर्हन्त ?, अर्हन्ति पूजासत्कारादि-
कमिति । तथा-ऐश्वर्यादियुक्ता भगवन्तः, ते सर्वे एव परप्रज्ञापनार्थं
वर्त्तमाननिर्देशस्योपलक्षणार्थ-
त्वात् एवमाचक्षते, यदुत्तरत्र वक्ष्यते, एवमाख्यान्ति, एवं सामा-
न्यादिदमपि द्रव्यमेवमाचचक्षिरे; एवमाख्यास्यन्ति, सर्वसत्त्वभाषानुगा-
मिन्या भाषया भाषन्ते, एवं प्रकर्षेण संशीत्यपनोदायान्तेवासि-
भ्यः सदेवमनुजायां पर्षदि ज्ञापयन्ति,
जीवाजीवास्रवसंवरबन्धनिर्जरामोक्षपदार्थान् ज्ञापयन्ति, "मिथ्या-
दर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः" इत्यादिना प्रकारेण प्ररूपयन्ति, ए-
वं 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इत्यादिना सद्गती ।
तत्त्वं सामान्यविशेषात्मकमित्यादिना प्रकारेण प्ररूपयन्ति-यथा सर्वे
प्राणा इति दर्शयति । किं तदेवमाचक्षत इति दर्शयति-यथा सर्वे
कार्याणि चैतानीति । किं तदेवमाचक्षत इति द्वित्रिचतुष्प-
ञ्चेन्द्रियाः, सर्वे एव पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः प्राणधारणात्प्रा-
णाः, सर्वाणि भवन्ति भविष्यन्त्यभूवन्निति चतुर्दश-
भूतग्रामान्तःपातीनि, एवं सर्वे एव जीवन्ति जीविष्यन्त्यजी-
विषुरिति जीवाः नारकतिर्यग्नरामरलक्षणाश्चतुर्गतिकाः, तथा-
सर्वे एव स्वकृतसातासातोदयसुखदुःखभाजः सत्त्वा एकार्थाः
चैते शब्दास्तत्त्वभेदपर्यायैः प्रतिपादनमिति कृत्वेति एते च
सर्वेऽपि प्राणिनः पर्यायशब्दाभिहिता न हन्तव्या दण्डकशाऽऽ-
दिभिः, नाज्ञापयितव्याः प्रसह्याभियोगदानतः, न परिग्राह्या
भृत्यदासादिरूपतया ममत्वपरिग्रहतो, न परितापयितव्याः शारीर-

[illegible]

(८) [illegible]

[illegible]

उपदेशमाह-

उरालं जगतो जोगं, विवज्जासं पलिंति य ।

सव्वे अक्कंतदुक्खा य, अओ सव्वे अहिंसिया ॥९॥

(उरालमित्ति) [illegible]

(९) [illegible]

एयं खु नाणिणो सारं, जन्न हिंसइ किंचण ।

अहिंसासमयं चेव, एतावंतं वियाणिया ॥ १० ॥

(एयं खु इत्यादि) [illegible]

(१०) [illegible]

पुढवी आऊ अगणी वाऊ, तणरुक्खसबीयगा ।

अंडया पोयजराऊ, रससंसेयउब्भिया ॥ ८ ॥

[illegible]

एतेहिं छहिं काएहिं, तं विज्जं परिजाणिया ।

मणसा कायवक्केणं, णारंभी ण परिग्गही ॥ ९ ॥

[illegible]

यांस्तावदपर्याप्तकभेदभिन्नेनारभते साऽपि परिग्रही इत्यादिति सं-बन्धः। तदेवमिहाद्य मधुरेको ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यान-परिज्ञया मनोवाक्कायकर्मभिर्जीवोपमर्दकारिणमारम्भं परिग्र-हं च परिहरेदिति ॥ ६ ॥ सूत्र० १ श्रु० ९ अ०।

सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं, मतिमं पडिलेहिया।
सव्वे अक्कंतदुक्खा य, अतो सव्वे अहिंसया ॥ ९ ॥

सर्वा याः काश्चनानुरूपाः पृथिव्यादिजीवनिकायसाधनत्वेना-नुकूला युक्तयः साधनानि। यदि वा-ऽसिद्धविरुद्धानैकान्तिकपरि-हारेण पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तिरूपतया युक्तिसङ्गता युक्तयस्ताभिर्मतिमान् सद्विवेकी, पृथिव्यादिजीवनिकायान् प्रत्यु-पेक्ष्य पर्यालोच्य जीवत्वेन प्रसाध्य, तथा सर्वेऽपि प्राणिनोऽक्रा-न्तदुःखा दुःखद्विषः सुखलिप्सवश्च मत्वाऽसौ मतिमान् सर्वान-पि प्राणिनो न हिंस्यादिति। युक्तयश्च तत्प्रसाधिकाः संक्षेपेण-मा इति-सात्मिका पृथिवी, तदात्मनां विद्रुमलवणोपलादीनां समानजातीयाङ्कुरसद्भावाद्यथाधिकारादङ्कुरवत्। तथा-सा-त्मकमम्भो, भूमिखननादाविष्कृतस्वभावसम्भवाद्दर्दुरवत्। तथा-सा-त्मकं तेज, तद्योग्याहारवृद्ध्या वृद्ध्युपलब्धेर्बालकवत्। तथा-सा-त्मको वायुः, अपरप्रेरितनियततिर्यग्गतिमत्त्वाद्गोवत्।

तथा-सचेतना वनस्पतयो, जन्मजरामरणरोगादीनां समुदितानां सद्भावात्, स्त्रीवत्। तथा-क्षतसंरोहणाहारोपादानदोहदसद्भा-वस्पर्शसंकोचसायाह्नस्वापप्रबोधाश्रयोपसर्पणादिभ्यो हेतुभ्यो वनस्पतेश्चैतन्यसिद्धिः। द्वीन्द्रियादीनां तु पुनः कृम्यादीनां स्पष्ट-मेव चैतन्यम्, तद्वेदनाश्चोपक्रमिकाः स्वाभाविकाश्च समुपलक्ष्य-माना मनोवाक्कायैः कृतकारितानुमतिभिश्च नवकेन भेदेन तत्पी-डाकारिणि उपमर्दाद् निवर्त्तितव्यमिति ॥ ९ ॥

एतदेव (पुनः) समर्थयन्नाह—

एवं खु णाणिणो सारं, जं न हिंसति कंचण।
अहिंसासमयं चेव, एतावंतं विजाणिया ॥ १० ॥

(एवं खु इत्यादि) खुशब्दो वाक्यालङ्कारेऽवधारणे वा। एत-देव ज्ञानिनः सारं, ज्ञानिनो जीवस्वरूपतद्रक्षणोपायवेदिनः, सारं परमार्थप्रधानम्। पुनरप्यादरख्यापनार्थमे-कर्मबन्धवेदिनः, सारं परमार्थप्रधानम्। पुनरप्यादरख्यापनार्थम-तदेवाह-यत्कञ्चन प्राणिनमनिष्टदुःखं सुखैषिणं न हिनस्ति, प्र-भूतवेदितोऽपि ज्ञानिन एतदेव सारतरं ज्ञानं, यत्प्राणातिपातनि-वर्त्तनमिति। ज्ञानमपि तदेव परमार्थतो, यत्परपीडातो निवर्त्तनम्। यथोक्तम्-"किं ताए पढियाए, पयकोडीए पलालभूयाए॥ जत्थि-त्तियं ण णायं, परस्स पीडा न कायव्वा" ॥ १ ॥ तदेवमहिंसा-प्रधानः समय आगमः संकेतो वाऽपदेशरूपः, तदेवभूतमहिंसा-समयमेतावन्तमेव विज्ञाय, किमन्येन बहुना परिज्ञानेनैतावतैव परिज्ञानेन मुमुक्षोर्विवक्षितकार्यपरिसमाप्तेरतो न हिंस्यात्क-ञ्चनेति ॥ १० ॥ सूत्र० १ श्रु० ११ अ०॥

(११) मतान्तरेऽहिंसा न तादृशी—

आहुः-कथमेते प्रावादुका मिथ्यावादिनो भवन्ति? अत्रोच्यते-यद्यप्येतेऽहिंसां प्रतिपादयन्ति, न च तां प्रधानमोक्षाङ्गभूतां सम्य-गनुतिष्ठन्ति। कथम्? सांख्यानां तावज्ज्ञानादेव धर्मो न तेषामहिं-सा प्राधान्येन व्यवस्थिता, किन्तु पञ्च यमा इत्यादिको विशेष इति। तथा-शाक्यानामपि दश कुशला धर्मास्तथा अहिंसाऽपि तत्रोक्ता, न तु सैव गरीयसी धर्मसाधनत्वेन तैराश्रिता। वैशेषिकाणाम-पि-अभिषेचनोपवाससब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवानप्रस्थदानयज्ञादि-दक्षत्रमन्त्रकालनियमा इष्टाः, तेषु चाभिषेचनादिषु पर्यालोच्यमा-नेषु हिंसैव सम्पद्यते, वैदिकानां हिंसैव गरीयसी धर्मसाधनं, य-ज्ञोपदेशात्। तस्य च तया विनाऽभावादित्यभिप्रायः। उक्तं च-" ध्रुवः प्राणिवधो यज्ञे " ॥ ७१ ॥

(१२) तदेवं सर्वे प्रावादुका मोक्षाङ्गभूतामहिंसां न प्राधान्येन प्रतिपद्यन्त इति दर्शयितुमाह-

ते सव्वे पावाउया आदिकरा धम्माणं णाणापन्ना णा-णाछंदा णाणासीला णाणादिट्ठी णाणारुई णाणारंभा णाणाज्झवसाणसंजुत्ता एगं महं मंडलिबंधं किच्चा सव्वे एगयाउ चिट्ठंति ॥ ८० ॥

(ते सव्वे इत्यादि) प्रवदनशीलाः प्रावादुकाः सर्वेऽपि त्रिष-ष्ट्युत्तरत्रिशतपरिमाणा अपि, आदिकरा यथास्वं धर्माणाम्; ये-ऽपि च तच्छिष्यास्तेऽपि सर्वे; नाना भिन्ना प्रज्ञा ज्ञानं येषां ते ना-नाप्रज्ञाः। आदिकरा इत्यनेनेदमाह-स्वरुचिविरचितास्ते न-त्वनादिप्रवाहायाताः। ननु चार्हतानामपि आदित्वविशेषणम-स्त्येव। सत्यमस्ति। किन्तु अनादिहेतुपरम्परेत्यनादित्वमेव, तेषां च सर्वज्ञप्रणीतागमानाश्रयणान्निबन्धनाभावः, तदनायत्त भि-न्नाभिप्रायः; छन्दोऽभिप्रायः; जिनाभिप्रा-यपरिज्ञानमत एव नानाछन्दाः; सत्त्वावित्तबद्धी (?) नानाच्छन्दा-या इत्यर्थः। तथाहि-उत्पादव्ययध्रौव्यात्मके वस्तुनि सांख्य-मेकान्तेनाविर्भावतिरोभावाश्रयणादन्वयिनमेव पदार्थं सत्र-त्वेनाश्रित्य नित्यपक्षं समाश्रिताः। तथा-शाक्या अत्यन्तक्षणि-केषु पूर्वोत्तरभिन्नेषु पदार्थेषु सत्सु स एवायमिति प्रत्यभिज्ञा-प्रत्ययः सदृशापरापरोत्पत्तिवितथानां भवतीत्येतत्पक्षसमाश्रय-णादनित्यपक्षं समाश्रिता इति। तथा-नैयायिकवैशेषिकाः केचि-त्कार्यद्रव्याणां नित्यत्वमेव, कार्यद्रव्याणा-मेकान्तेन नित्यत्वम्, एवमनयाऽस्था-श्रिदाकाशपरमाण्वादीनामेकान्तेनानित्यत्वमाश्रिताः। एवमनयाऽस्था-च घटपटादीनामेकान्तेनानित्यत्वमाश्रिता इति। तथा-ते तीर्थिका अन्येऽपि मीमांसकतापसादयोऽप्यूह्या इति। तथा-ते तीर्थिका नानाशीलं येषां ते तथा, शील व्रतविशेषः, स च भिन्नत्वेनामनु-भवसिद्ध एव। तथा-नाना दृष्टिर्दर्शनं येषां ते। तथा-नाना रुचि-र्येषां ते नानारुचयः। तथा-नानारूपमध्यवसानमन्तःकरणप्रवृत्ति-र्येषां ते तथा। इदमुक्तं भवति-अहिंसा परमं धर्माङ्गम्। सा च तेषां नानाभिप्रायत्वादविकलत्वेन व्यवस्थिता। तस्या एव सूत्र-कारः प्राधान्यं दर्शयितुमाह-ते सर्वेऽपि प्रावादुका यथास्वपक्ष-माश्रिता एकत्र प्रदेशे संयुता मण्डलिबन्धमाधाय तिष्ठन्ति ॥ ८० ॥

(१३) अहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं विवेचनमाह-

पुरिसे य सागणियाणं इंगालाणं पाइं बहुपडिपुन्नं गहाय अ-तोमएणं संडासएणं गहाय ते सव्वे पावाउए आइगरा धम्मा-णं णाणापन्ना० जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ते एवं वयासी-हंभो पावाउया! आइगरा धम्माणं णाणापन्ना० जाव णाणा-ज्झवसाणसंजुत्ता! इमं ताव तुम्हे सागणियाणं इंगाला-णं पाइं बहुपडिपुन्नं गहाय मुहुत्तयं पाणिणा धरेह, णो बहु संडासगं संसारियं कुज्जा, णो बहु अग्गिथंभणियं कुज्जा, णो बहु साहम्मियं वेयावडियं कुज्जा, णो बहु परध-म्मियं वेयावडियं कुज्जा, उज्जुया णियागपडिवन्ना अमायं कुव्वमाणा पाणिं पसारेह, इति वुच्चा से पुरिसे तेसिं पावा-दुयाणं तं सागणियाणं इंगालाणं पाइं बहुपडिपुन्नं अ-

समएण सडासएणं गहाय पाणिसु णिसिरिति, तए णं ते पावादुया आइगरा धम्माणं णाणापन्ना० जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ता पाणिं पडिसाहरंति । तए णं से पुरिसे ते सव्वे पावाउए आदिगरे धम्माणं० जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ता एवं वयासी-हंभो पावादुया! आइगरा धम्माणं णाणापन्ना० जाव णाणाज्झवसाणसंजुत्ता कम्हा णं तुब्भे पाणिं पडिसाहरह, पाणिं नो डहिज्जा, दड्ढे किं भविस्सइ, दुक्खंति मन्नमाणा पडिसाहरह, एस तुला एस पमाणे एस समोसरणे पत्तेयं तुला पत्तेयं पमाणे पत्तेयं समोसरणे, तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्खंति० जाव परूवेंति-सव्वे पाणा० जाव सत्ता हंतव्वा अज्जावेयव्वा परिघेतव्वा परितावेयव्वा किलामेतव्वा उद्दवेतव्वा ते आगंतु छेयाए ते आगंतु भेयाए० जाव ते आगंतु जाइजरामरणजोणिजम्मणसंसारपुणब्भवगब्भवासभवपवंचकलंकलीभागिणो भविस्संति ॥ ८१ ॥

तेषां चैवंप्रवादिनामेकः कश्चित्पुरुषः, तेषां संविदर्थं ज्वलतामङ्गाराणां प्रतिपूर्णां पात्रीमयोमयं भाजनमयोमयेनैव संदंशकेन गृहीत्वा तेषां ढौकितवान् उपात्तवान् -यथा भोः प्रावादुकाः! [illegible] इदमङ्गारभृतं भाजनमेकं मुहूर्तं [illegible] विधत्त, नापि च साधर्मिकाऽन्यधर्मिकाणामभिदाहोपशमादिनोपकारं कुरुत इति, [illegible] पाणिं प्रसारयत । तेऽपि च तथैव कुर्युः [illegible] पुनः तत्राऽङ्गारं पाणौ समर्पयति । तेऽपि च दाहरूपा [illegible] तानुपायविशेषमिति पाणिं प्रतिसंहरन्त एवम्? एवमभिहितास्ते ऊचुः-दाहनयादिति । [illegible] भवति-भवद्भ्यः [illegible] पाणिं दहन [illegible] पाणिना दग्धेनापि किं भवतां भविष्यति? दुःखमिति चेत्, यद्येवं [illegible] दुःखम् [illegible] सर्वेषां [illegible] यथा मम नाभिमतं दुःखं [illegible] ॥

[illegible]

[illegible]

तास्तेजोवायुपृथ्वीभोद्दलनेन कलंकलीभावभाजो भवन्ति,बहुशो भविष्यन्ति च ॥ ८१ ॥

ते बहूणं दंडणाणं बहूणं मुंडणाणं तज्जणाणं तालणाणं अदुबंधणाणं० जाव घोलणाणं माउमरणाणं पितामरणाणं भाइमरणाणं भगिणीमरणाणं भज्जापुत्तधूतसुण्हामरणाणं दारिद्दाणं दोहग्गाणं अप्पियसंवासाणं पियविप्पओगाणं बहूणं दुक्खदोम्मणस्साणं आभागिणो भविस्संति अणादियं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं भुज्जो भुज्जो अणुपरियट्टिस्संति, ते णो सिज्झिस्संति, णो बुज्झिस्संति० जाव णो सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्संति, एस तुला एस पमाणे एस समोसरणे पत्तेयं तुला पत्तेयं पमाणे पत्तेयं समोसरणे ॥ ८२ ॥

तथा-ते बहूनां दण्डादीनां शारीराणां दुःखानामात्मानं भाजनं कुर्वन्ति,तथा-ते निर्विवेका मातृवधादीनां मानुषाणां दुःखानां तथाऽन्येषामप्रियसंयोगार्थनाशादिनिर्दुःखदौर्मनस्यानामाभागिनो भविष्यन्तीति । किं बहुनोक्तेनोपसंहारव्याजेन गुरुतरमर्थसंबन्धं दर्शयितुमाह-(अणादियं इत्यादि) नास्यादिरस्तीत्यनादिः संसारः तदनेनेदमुक्तं भवति-यत्कैश्चिदभिहितं यथाऽयमण्डकादिक्रमेणेत्यादि इति । एतदपास्तम् । न विद्यतेऽवदग्रं पर्यन्तो यस्य सोऽयमनवदग्रोऽपर्यन्त इत्यर्थः । तदनेनेदमुक्तं भवति-यदुक्तं कैश्चिद्यथा प्रलयकालेऽशेषसागरजलप्लावनं,द्वादशादित्योद्गमेन चात्यन्तदाहः, इत्यादिकं सर्वं मिथ्येति । दीर्घमित्यनन्तपुद्गलपरावर्त्तरूपं कालावस्थानम्, तथा-चत्वारोऽन्ता गतयो यस्य स तथा, चातुर्गतिक इत्यर्थः । तत्संसार एव कान्तारः संसारकान्तारो निर्जलः सभयत्राणरहितोऽरण्यप्रदेशः कान्तार इति । तदेवंभूतं भूयो भूयः पौनःपुन्येनानुपरिवर्तिष्यन्ते अरहट्टघटीन्यायेन तत्रैव भ्रमन्तः स्थास्यन्तीति । अत एवाह-यतस्ते प्राणिनां हन्तारः कुत एतदिति चेत्, सावद्योपदेशात् । एतदपि कथमिति चेदुत औद्देशिकादिपरिभोगानुज्ञया [illegible] सिध्यन्ति [illegible] नैव सेत्स्यन्ति नैव ते लोकाग्रस्थानमाक्रमिष्यन्ति । तथा-न ते सर्वपदार्थान् केवलज्ञानावाप्त्या बोत्स्यन्ते; अनेन ज्ञानातिशयाभावमाह । तथा-न तेऽष्टप्रकारेण कर्मणा मोक्ष्यन्ते । अनेनाप्यसिद्धेरेवैकत्वावयोरनेकं कारणमाह । तथा-परिनिर्वृतिः परिनिर्वाणमानन्दसुखावाप्तिः, तां ते नैव प्राप्स्यन्ते, तेनापि सुखातिशयाभावः प्रदर्शितो भवतीति । तथा-नैते शारीरमानसानां दुःखानामात्यन्तिकमन्तं करिष्यन्तीत्यनेनाप्यपायातिशयाभावः प्रदर्शितो भवति । एषा तुला, तदेतदुपमानं, यथा सावद्यानुष्ठानपरायणाः सावद्यभाषिणश्च कुप्रावचनिका न सेत्स्यन्त्येवं स्वयूथ्या अप्यौद्देशिकादिपरिभोगिनो न सेत्स्यन्तीति । तदेतत्प्रमाणं प्रत्यक्षानुमानादिकम् । तथादिप्रत्येकमेव ओदनाद्याहार धौतादिकल्पनाच्च भुज्यते । एतत्समवसरणमनुमानादिकमप्यायोज्यम् । तथा-तदेतत्समवसरणमागमविचारः [illegible] प्रतिज्ञा प्रतिपादयितव्यमिति ॥ ८३ ॥

तत्थ णं जे ते समणा माहणा एवमाइक्खंति० जाव परूवेंति सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण उद्दवेयव्वा,

ते णो आगंतुछेयाए ते णो आगंतुभेयाए० जाव जाइजरामरणजोणिजम्मणसंसारपुणब्भवगब्भवासभवपवंचकलंकलीभागिणो भविस्संति, ते णो बहूणं दंडणाणं० जाव णो बहूणं मुंडणाणं० जाव बहूणं दुक्खदोम्मणस्साणं णो भागिणो भविस्संति, अणादियं च णं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं भुज्जो भुज्जो णो अणुपरियट्टिस्संति ते सिज्झिंसु० जाव सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्संति ॥ ८१ ॥

ये पुनर्विदितनत्त्वा आत्मौपम्येनात्मतुलया सर्वजीवेष्वहिंसां कुर्वाणा एवमाचक्षते । तद्यथा-सर्वेऽपि जीवा दुःखद्विषः सुखलिप्सवस्ते न हन्तव्या इत्यादि । तदेवं पूर्वोक्तं दण्डनादिकं सप्रतिषेधं भणनीयं यावत्संसारकान्तारान्निरेणैव ते व्यतिक्रमिष्यन्तीति ॥ ८१ ॥ सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

" अविहिंसामेव पव्वए, अणुधम्मो मुणिणा पवेदिओ । " सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

(१५) यद्येकान्तेन नित्येऽनित्ये चात्मनि हिंसादयो न घटन्ते, तर्हि क घटन्त इत्यत आह-

नित्यानित्ये तथा देहा-द्भिन्नाभिन्ने च तत्त्वतः ।
घटन्ते चात्मनि न्याया-द्धिंसादीन्यविरोधतः ॥ १ ॥

नित्यश्चासावनित्यश्चेति नित्यानित्ये, तत्र नित्यानित्ये आत्मन्यभ्युपगम्यमाने हिंसादीनि, घटन्ते इति संबन्धः । न ह्येकान्तेन नित्यमनित्यं वा वस्तु किमपि कस्यापि कार्यस्य करणक्षमम् । तथाहि-मृत्पिण्डस्य कार्यं घटो न भवति, एकरूपत्वेनानतिक्रान्तमृत्पिण्डभावत्वात्, मृत्पिण्डवत् । मृत्पिण्डत्वानिवृत्तौ चानित्यत्वप्राप्तेः । तथा-मृत्पिण्डस्य कार्यं घटो न भवति, सर्वथैवानुगमाभावेनाऽनतिक्रान्तमृत्पिण्डस्वलक्षणपर्यायत्वात्, पटवत् । मृत्पिण्डस्वलक्षणपर्यायातिक्रमाभ्युपगमे वाऽनुयायित्वेन नित्यत्वं वस्तुनः स्यादिति । आह च-घटः कार्यं न, पिण्डनाशानतिक्रमात्, पिण्डवत् घटवद्वोन । स्यात् कपित्वादिरन्यथा । तदेवं नित्यानित्यमेव वस्तु कार्यकरणक्षममिति, ननु नित्यानित्यत्वधर्मयोर्विरुद्धत्वात् कथमेकाधिकरणत्वम् । अत्रोच्यते-यथा ज्ञानस्य भ्रान्ताभ्रान्तत्वे परमार्थसंव्यवहारापेक्षया न विरुद्धे, एवं द्रव्यतो नित्यत्वं, पर्यायतश्चानित्यत्वं न विरुद्धम् । न च द्रव्यपर्याययोः परस्परं भेदः, यतो यदेव वस्त्वनपेक्षितविशिष्टरूपं द्रव्यमिति व्यपदिश्यते, तदेवापेक्षितविशिष्टरूपं पर्याय इति । तथेति वाक्यान्तरोपक्षेपार्थः । देहाच्छरीरात् । किमित्याह-भिन्नो व्यतिरिक्तः, स चासावभिन्नश्च व्यतिरेकी भिन्नाभिन्नः, तत्र भिन्नाभिन्न एव च जीवः, शरीरात्तस्यानुपलभ्यमानत्वात् । तथाहि-जीवस्यामूर्तत्वाद्देहस्य च मूर्तत्वान्मूर्तामूर्तयोरात्यन्तविलक्षणत्वाद्भेदः । तयोर्देहस्पर्शेन च जीवस्य वेदनोत्पत्तेरभेदश्चेति । आह च-"जीवसरीराण वि हु, भेयाभेओ तहोवलंभाओ । मुत्तामुत्तत्तणओ, छिक्कम्मि य वेयणाओ य" ॥१॥ सर्वथा भेदे हि शरीरकृतकर्मणो भवान्तरेऽनुभवानुपपत्तिः स्यात् । अभेदे च परलोकहानिः, शरीरनाशे जीवनाशादिति । चशब्दोऽनुक्तसमुच्चये । ततश्च सदसन्नित्याद्यपि द्रष्टव्यम् । आह च-"संतम्मि सरूवेणं, तहा विरूवे असंतस्स । हंदि विसिट्ठत्तणओ, होंति विचित्ता सुहाईया" ॥१॥ या विशिष्टाः प्रतिप्राणिवेद्याः । तत्त्वत इति परमार्थतः, नित्यानित्यादौ, न पुनः कल्पनया, पारमार्थिकत्वं च नित्यानित्यत्वादीनां दर्शितमेव । घटन्ते युज्यन्ते, आत्मनि जीवे, न्यायात् परिणामिस्वरूपस्यात्मनोऽपरापरपर्यायसंगत्युपपत्तिलक्षणया नीत्या, हिंसादीन्याश्रवसंवरबन्धमोक्षसुखादीनि । कथमित्याह-अविरोधतः अविरोधेन, एकान्तपक्षे ये हिंसादिष्वभ्युपगम्यमानेषु विरोधा दर्शिताः, तत्परिहारेणेति भाव इति ॥ १ ॥

(१५) आत्मनः परिणामित्वे हिंसाया अविरोधदर्शनायाह-

पीडाकर्तृत्वयोगेन, देहव्यापत्त्यपेक्षया ।
तथा हन्मीति संक्लेशा-द्धिंसैषा सनिबन्धना ॥ २ ॥

पीडा दुःखवेदना, तस्याः कर्ता विधाता, तद्भावः पीडाकर्तृत्वं, तस्य तेन वा योगः संबन्धः, तेन पीडाकर्तृत्वयोगेन । तथा-देहस्य शरीरस्य, व्यापत्तिर्विनाशो देहव्यापत्तिः, तस्या अपेक्षा निश्रा देहव्यापत्त्यपेक्षा, तया । तथेति निबन्धनान्तरसमुच्चये । हन्मि मारयामि, प्राणिनमित्येवंरूपात्संक्लेशाच्चित्तकालुष्यात्, हिंसा प्राणव्यपरोपणा, या परिणामवादिभिरभ्युपगतेति गम्यम् । एषा इयं हिंसा, सनिबन्धना सनिमित्ता । परिणामवादे हि पीडकस्य पीडनीयस्य च परिणामित्वात् पीडाकर्तृत्वमुपपद्यते । देहविनाशसंक्लेशौ च एकान्तवादे तु पीडाकर्तृत्वादीनां पूर्वोक्तन्यायेनायुज्यमानत्वात् हिंसा निर्निबन्धनेति । यदोच्यते-नाशहेतुना देहाद्भिन्नो नाशः क्रियतेऽभिन्नो वा? । यदि भिन्नः, तदा देहस्य तादवस्थ्यं स्यात् । अथाभिन्नः तदा देह एव कृतो भवतीति । तदयुक्तम् । अभिन्ननाशकरणे हि वस्तु नाशितमेव भवति, न कृतं, यथा भिन्नोत्पादकरणे सत्पादितमेव भवतीति, अनेन च तदुक्तेन स्थानान्तरप्रसिद्धस्त्रिविधो वधो निर्दिष्टः । तथा च-"तप्पज्जायविणासो, दुक्खुप्पाओ य संकिलेसो य । एस वहो जिणभणिओ, वज्जेयव्वो पयत्तेण" ॥१॥ नन्वन्यस्माद् घातकाद् मरणमनेन देहिना प्राप्तव्यमित्येवंप्रकारात् स्वकृतकर्मणो वशाद् हिंसा भवत्यन्यथा वा? । यद्याद्यः पक्षः, तदा हिंसकस्याहिंसकत्वमेव, स्वकर्मकृतत्वात् हिंसायाः, पुरुषान्तरकृतहिंसायामिव तथा कर्मनिर्जराहेतुत्वेन हिंसकस्य वैयावृत्त्यकरस्येव कर्मक्षयावाप्तिलक्षणो गुणः स्यात् । अथान्यथेति पक्षः, तदा निर्विशेषत्वात्सर्वं हिंसनीयं स्यात् ॥ २ ॥

(१६) तथा स्वर्गसुखादयोऽपि स्वकृतकर्मोपपादिता एव स्युरिति कर्माभ्युपगमोऽनर्थक इत्येवमार्हतानामपि हिंसाया असंभव एवेत्याशङ्क्याह—

हिंस्यकर्मविपाकेऽपि, निमित्तत्वनियोगतः ।
हिंसकस्य भवेदेषा, दुष्टाऽदुष्टाऽनुबन्धतः ॥ ३ ॥

हिंस्यते मार्यते इति हिंस्यः, तस्य यत्कर्म, तस्य विपाक उदयो हिंस्यकर्मविपाकः, तत्रापि हिंस्यकर्मविपाकरूपत्वे हिंसायाः, आस्तां हिंस्यकर्मविपाकाभावकल्पनायां, निमित्तत्वस्य निमित्तकारणभावस्य नियोगोऽवश्यंभावो निमित्तत्वनियोगः, ततः, हिंसकस्य व्यापादकस्य, भवेत् जायेत । एषा हिंसा । अयमभिप्रायः-यद्यपि प्रधानहेतुभावेन कर्मोदयाद्धिंस्यस्य हिंसा भवति, तथाऽपि हिंसकस्य तस्यां निमित्तभावेनापेक्ष्यमाणत्वात्तस्याऽसौ भवतीत्युच्यते । न च वाच्यं हिंस्यकर्मणैव हिंसकस्य हिंसायां प्रेरितत्वात्तस्य न दोष इति । अभिमानादेः परप्रेरितस्यापि लोके दोषदर्शनादिति । ननु यदि निमित्तभावेऽपि हिंसा स्यादित्युच्यते । तदा वैद्यादीनामपि तत्प्रसङ्गः । सत्यम् । केवलं सा तेषां न,

[illegible] । अन्यैरप्युक्तम्-"[illegible] ॥१॥ ननु [illegible] हिंसको [illegible] ॥२॥ [illegible] हिंसकस्य कर्मनिर्जरणमहा- [illegible] । यतो न हिंसको वे- [illegible] । [illegible] "[illegible] ॥ ३ ॥

[illegible] हिंसाया- [illegible]-

[illegible], [illegible] ।

[illegible] ॥ ४ ॥

[illegible]

[illegible] ॥ ५ ॥

[illegible]

[illegible]

[illegible]

इत्येतद्धर्मस्पर्शवेदनमिति। एतद्द्वयस्यास्य समाहारद्वन्द्वः, तस्य- [illegible], नित्यादिसिद्धिः नित्यानित्यत्वदेहाद्भिन्नाभिन्नत्व- [illegible], चशब्दः पुनरर्थः। नित्यानित्यत्वादिविशेषणे [illegible] हिंसादिसिद्धिः, नित्यानित्यत्वादिसिद्धिः पुनः स्मरणादेरिति भावः। प्रयोगश्चात्र-नित्यानित्य आत्मा, स्वयंनिहितद्रव्यादिसंस्मरणा- न्यथानुपपत्तेः । तथाहि-न तावदेकान्तनित्यः स्मरत्यनन्तः, [illegible], इतरथा नि- त्यताहानिः, नाप्यनित्यः स्मरणे [illegible] एव कर्तुर्विनष्टत्वात्कस्य स्मरणमस्तु ? ; नह्यन्येनानुभूतमन्यः स्मरति । अथानुभवजनितसंस्कारात्तथाविधः स्मरणज्ञानः समुत्पद्यते । नैवम् । यतोऽनुगमसंस्कारोऽपि [illegible] पूर्वकालीनानुभवजनितसंस्कारो यदि पर [illegible] न युक्ति- [illegible] । परिणामपक्षे तु प्राग- [illegible] स्मरणज्ञाना- [illegible] इति । न च [illegible] संस्कारो [illegible] इति कथं [illegible] स्मर- [illegible] इति । तथा-नित्यानित्य आत्मा, प्रत्यभिज्ञा- [illegible] । तथाहि-एकान्तानित्यत्वे [illegible] प्रत्यभिज्ञानसंभवः। अनित्यत्वे तु अनित्यत्वादेव पूर्वदृ- [illegible] प्रत्यभिज्ञानम- [illegible] प्रत्यभिज्ञानमस्ति, तथा [illegible] प्रत्यभिज्ञानमस्तीति [illegible] । नैवम् । [illegible] इति । तथा-दे- हाद्भिन्नाभिन्न आत्मा, [illegible] । तथाहि यद्यसौ देहाद् [illegible] । [illegible] इति ॥ ६ ॥

(१८) [illegible]

[illegible]-

[illegible] ।

[illegible] ॥ ७ ॥

[illegible]

यणां" इत्यादिक वचनमपि गदन्ते । यथार्थ निरवद्यमिति, सर्वमेव निरवद्यमेव, मुग्धाः पूरयन्ति इति ॥ ७ ॥

उपसंहरन्नाह–

विमार्गमेवमज्ञतया, भगवत्स्वेनान्यगतमना ।
अनिराकृत्यैवेति, न स्वयं सर्वा नयः ॥ ८ ॥

विमार्गं विचारणीयम, एतत्पूर्वमन्तरमहिंसादि विचारितं, सद्बुद्ध्या सोऽमनवद्यया, भावेनानुपकारिणेन, अन्तरात्मना आधेन, धनवता वा न केवलं विचार्य, तथा प्रतिपत्तव्यमेव न तु न स्वीकर्तव्यम् । इतिशब्दो विधिहितार्थसमाप्तौ । अथ कस्मात्प्रतिपत्तव्यमेवेत्याह–न खलु नैष,अन्य उत्तमगतिमन्तः, सतां सत्पुरुषाणां,मयो न्याय इति ॥८॥ द्वा०१६ द्वा०। द्वा०। विशे०।

अहिंसालक्खण–अहिंसालक्षण–पुं० । अहिंसा प्राणिसंरक्षणं, लक्षणं चिह्नं यस्य स अहिंसालक्षणः । सत्त्वानुकम्पानुमेयधर्मभेदे, पा० । दयाचिह्न, ध० ३ अधि० ।

अहिंसासमय–अहिंसासमय–पुं० । अहिंसाप्रधाने आगमे,'संकेतेन धोपदेशरूपे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

अहिंसिय–अहिंसित–त्रि० । अमारिते,सूत्र० १ श्रु० १ अ०४उ० ।

अहिकंखंत–अभिकाङ्क्षत्–त्रि० । अभिप्रयति, " अहिकंखंतेहिं सुभासियाइं " । पं० व० ४ द्वार ।

अहिकरण–अधिकरण–न० । नरकातिर्यग्गतिषु, आत्मनोऽधिकरणं वा तुल्यमस्ये इत्यर्थः । कलहे, नि० चू० ४ उ० ।

अहिकरणी–अधिकरणी–स्त्री० । सुवर्णकारोपकरणे,स्था०८ठा० ।

अहिकिञ–अधिकृत्य–अव्य० । प्रतीत्येत्यर्थे, " पडुच त्ति वा पप्प त्ति वा अहिकिञ त्ति वा एगट्ठा" । आ० चू० १ अ० ।

अहिग–अधिक–त्रि० । विशिष्टे, पञ्चा० ३ विव० ।

अहिगगुणत्थ–अधिकगुणस्थ–त्रि० । अधिकगुणवर्तिनि, षो० ७ विव० ।

अहिगत–अधिकत्व–न० । विशिष्टतरत्वे, पञ्चा० ३ विव० ।

अहिगम–अधिगम–पुं० । विशिष्टपरिज्ञाने, प्रव० १४१ द्वार । अवबोधे,स्था० ७ ठा० । "णाणं ति वा संवेदणं ति वा अहिगमो त्ति वा वेयणि त्ति " । आ० चू० १ अ० ।

अभिगम–पुं० । उपचारे, "अभिगमेणं अभिगच्छंति" । औ० । ('अभिगम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ७१२ पृष्ठेऽस्य भेदा उक्ताः)

अहिगमण–अधिगमन–न० । परिच्छेदने, विशे० ।

अहिगमरुइ–अधिगमरुचि–पुं० । स्त्री० । सम्यक्त्वभेदे, तद्वति च । प्रव० १४५ द्वार । (७६७ पृष्ठे तथा ७१२ पृष्ठे चास्मिन्नेव भागे अधि० अभि० प्रकरणे द्रष्टव्यम्)

अहिगमास–अधिकमास–पुं० । अभिवर्द्धितमासे,ज्यो० १ पाहु० ।

अहिगय–अधिकृत–त्रि० । प्रस्तुते, विशे० । पञ्चा० । आधिकृत, अधिकारे, न० । विशे० ।

अधिगत–त्रि० । परिज्ञाते,प्रज्ञ० । गीतार्थे, व्य० १ उ० । दीक्षादिप्रतिपत्त्याऽङ्गीकृते प्राप्ते, पञ्चा० २ विव० ।

अहिगयगुणवुड्ढि–अधिकृतगुणवृद्धि–स्त्री० । सम्यक्त्वादिगुणवर्द्धने, पञ्चा० २ विव० ।

अहिगयजीव–अधिकृतजीव–पुं० । प्रस्तुतसत्त्वे,यथा दीक्षाधिकारे दीक्षणीय इति । पञ्चा० २ विव० ।

अहिगयजीवाजीव–अधिगतजीवाजीव–त्रि० । अधिगतौ सम्यग्विज्ञातौ जीवाजीवौ येन स तथा । जीवाजीवयोः परमार्थतो विज्ञातयति, रा० ।

अहिगयट्ठ–अधिगतार्थ–पुं० । अधिगतोऽर्थो येन स तथा, अधिगतार्थो धार्यार्थधारणात् । सर्वज्ञ, दशा० १० अ० ।

अहिगयतित्थविहाया–अधिकृततीर्थविधातृ–पुं० । वर्त्तमानप्रवचनकर्तरि भगवति महावीरे, पञ्चा० ९ विव० ।

अहिगयरगुण–अधिकतरगुण–पुं० । प्रकृष्टतरगुणे, पञ्चा० १८ विव० ।

अहिगयविसिट्ठभाव–अधिगतविशिष्टभाव–पुं० । प्रस्तुतप्रकृष्टगुणाध्यवसाये, पञ्चा० १६ विव० ।

अहिगयसुंदरभाव–अधिकृतसुन्दरभाव–पुं० । प्रस्तुतशोभनपरिणामे, पञ्चा० १७ विव० ।

अहिगरण–अधिकरण–न० । अधिक्रियतेऽधिकारीक्रियते दुर्गतावात्मा येन तदधिकरणम् । बाह्ये वस्तुनि, स्था० २ ठा० १ उ० । आव० । प्रव० । पापोत्पत्तिस्थाने, आतु० । दुरनुष्ठाने, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार । स्वपक्षपरपक्षविषये विग्रहे, स्था० ७ ठा० । रात्रौ, तत्कारवचने च । कल्प० ९ क्ष० । कलहे, ग० २ अधि० । खड्गादिषु शस्त्रादौ, ज्ञा० ५ अ० । औ० । सूत्र० । कषायाद्याश्रयभूते हलशकटादौ, भ० ७ श० १ उ० । (अधिकरणस्य कर्त्तव्यता क्षामणा च 'अधिगरण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४७२ पृष्ठे ४७१ पृष्ठे च उक्ता, नवरं चातुर्मास्ये)

वासावासं पज्जोसवियाणं नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा परं पज्जोसवणाओ अहिगरणं वइत्तए, जे णं निग्गंथो वा निग्गंथी वा परं पज्जोसवणाओ अहिगरणं वयइ, से णं 'अकप्पेणं अज्जो वयसि' त्ति वत्तव्वे सिया, जे णं निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा परं पज्जोसवणाओ अहिगरणं वयइ, से णं निज्जूहियव्वे सिया ॥ ५७ ॥

(वासावासं पज्जोसवियाणमित्यादि) चतुर्मासकं स्थितानां नो कल्पते साधूनां साध्वीनां च पर्युषणातः परम्, अधिकरणं राटिः, तत्कारं वचनमपि अधिकरणं, तत् वक्तुं न कल्पते । अथ यः कोऽपि साधुर्वा साध्वी वा परं पर्युषणातः अधिकरणं प्रत्यवहारि वचनं वदति, स एवं वक्तव्यः स्यात्–यत् हे आर्य ! त्वमकल्पेन अनाचारेण वदसि, यतः पर्युषणादिनतोऽर्वाक्,तद्दिने एव वा यदधिकरणमुत्पन्नं तत्पर्युषणायां क्षामितं, यच्च त्वं पर्युषणातः परमपि अधिकरणं वदसि, सोऽयमकल्प इति भावः । यश्चैवं निवारितोऽपि साधुर्वा साध्वी वा पर्युषणातः परम्, अधिकरणं वदति स निर्यूहितव्यः ।ताम्बूलिकपर्णदृष्टान्तेन सङ्घाद् बहिः कर्त्तव्यः । यथा–ताम्बूलिकेन विनष्टपत्रमन्यपत्रविनाशनभयात् बहिः क्रियते, तद्वदयमप्यनन्तानुबन्धिकषायोदये विनष्ट इत्यतो बहिः कर्त्तव्य इति भावः । तथा–

ऽप्योऽपि द्विजदृष्टान्तः । यथा-केदारास्तव्यो रुद्रनामा द्विजो वर्षाकाले केदारान् कर्तुं हलं लात्वा क्षेत्रं गतः । हलं वाहयतस्तस्य गली बलीवर्दः उपविष्टः । तोत्रेण ताड्यमानोऽपि यावन्नोत्तिष्ठति तदा क्रुद्धेन तेन केदारखण्डमृन्मयढेलैराहन्यमानो मृत्तिकाढेलघनस्थगितमुखः श्वासरोधान्मृतः । पश्चात् पश्चात्तापं बिभ्राणो महास्थाने गत्वा स्ववृत्तान्तं कथयन्नुपशान्तो न चेति द्विजैः पृष्टो, नाद्यापि ममोपशान्तिरिति वदन् द्विजैरपाङ्क्तेयः कृतः । एवमनुपशान्तकोपतया वार्षिकपर्वणि श्रमणः सांवत्सरिकमपि उपशान्तोपस्थितस्यैव मूलं दातव्यम् ॥ ५८ ॥

वासावासं पज्जोसवियाणं० इह खलु निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अज्जेव कक्खडे कडुए विग्गहे समुप्पज्जिज्जा, सेहे राइणियं खामिज्जा, राइणिए वि सेहं खामिज्जा, खमियव्वं खमावियव्वं उवसमियव्वं उवसमावियव्वं सुमइसंपुच्छणाबहुलेणं होयव्वं, जो उवसमइ तस्स अत्थि आराहणा, जो न उवसमइ तस्स नत्थि आराहणा; तम्हा अप्पणा चेव उवसमियव्वं । से किमाहु भंते !, उवसमसारं खु सामण्णं ॥ ५९ ॥

वर्षासु स्थितानामिह खलु निश्चयेन साधुसाध्वीनां च (अज्जेव त्ति) अद्यैव पर्युषणादिने एव च 'कक्खडे' उच्चशब्दत्वेन कटुको जकारमकारादिरूपो विग्रहः कलहः समुत्पद्येत, तदा (सेहे त्ति) शैक्षो लघुः रात्निकं ज्येष्ठं क्षामयेत् । यद्यपि ज्येष्ठः स्वापराधवान् तथापि लघुना ज्येष्ठः क्षमणीयः, व्यवहारात् । अथ [illegible] न क्षमयति तदा किं कर्तव्यमित्याह-(राइणिए वि सेहं खामिज्जा त्ति) ज्येष्ठोऽपि शिष्यं क्षमयति । ततः स्वयमेव क्षमितव्यम् [illegible] (सुमइ त्ति) शोभना मतिः सुमतिः [illegible] संपृच्छना सूत्रार्थविषया [illegible] बहुलेन भवितव्यम् [illegible] । (से किमाहु त्ति) [illegible] उपशमसारमेव श्रामण्यम् [illegible] । कल्प० ९ क्ष० ।

स चैवंभूतस्य इत्याह-

[illegible]

[illegible]

ज्याख्या प्राग्वत् । अथ सोऽनुपशान्तः सन् कुर्याद्द्विभेदं द्विप्रकारं, संयमभेदं जीवितभेदं चेत्यर्थः ।

तत्र आह-

संजमजीवियभेदे, संरक्खण साहुणो य कायव्वं ।
पडिवक्खनिराकरणं, तस्स ससत्तीए कायव्वं ॥

संयमभेदे जीवितभेदे वा तेन क्रियमाणे संरक्षणं साधोः कर्तव्यम । तथा-तस्य साधोर्यः प्रतिपक्षः, तस्य निराकरणं स्वशक्त्या कर्तव्यम ॥

कथं कर्तव्यमित्यत आह-

अणुसासणभेसणया, जा लद्धी जस्स तं न हावेज्जा ।
किं वा सति सत्तीए, होइ सपक्खे उवेक्खाए ? ॥

तस्य प्रथमतः कोमलवचनैरनुशासनं कर्तव्यम । तथाप्यतिष्ठति भीषणमुत्पादनीयम । तथाऽप्यतिष्ठति यस्य या लब्धिः स तां न हापयेत, प्रयुञ्जीतेत्यर्थः । एतदेव विपक्षे फलाभावोपदर्शनेन द्रढयति-किं वा सत्यां शक्तौ भवति स्वपक्षे स्वपक्षस्य उपेक्षा ?, नैव किञ्चिदिति भावः । केवलं स्वशक्तिवैफल्यमुपेक्षानिमित्तं, प्रायश्चित्तापत्तिश्च भवति । तस्मादवश्यं स्वशक्तिः परिस्फोरणीयेति । व्य० २ उ० । कल्प० । "अधिकरणं प्रायः कश्चित्कलहं कुर्यात् करेज्जा गच्छइयाओ" महा० ७ अ० । "अहिगरणं पयट्टइ, साहू न करेइ" । आव० ६ अ० । व्यवं, पो० ३ विव० । सन्निधाने आधारे, स च देशकालादिः । यथा कलमस्तकादौ स्वव्यापारे च निष्पाद्ये घट इति; एवं पटादावपि भाव्यम । आ० चू० १ अ० । आ० म० । स चतुर्भेदः । तद्यथा-व्यापक औपश्लेषिकः, सामीप्यको, वैषयिकश्च । तत्र व्यापको यथा-तिलेषु तैलम, औपश्लेषिको यथा-कटे आस्ते, सामीप्यको यथा-गङ्गायां घोषः, वैषयिको यथा-रूपे चक्षुः । आ० म० द्वि० । नि० चू० । विशे० । व्याकरणे च सामायिकस्याधारे भवतीत्यधिकरणम । अधिकरणविवक्षायां सामायिककर्तरि साध्वादौ, विशे० ।

अहिगरणकर (र)-अधिकरणकर-त्रि० । अधिकरणं कलहं करोतीति तच्छीलकोऽप्यधिकरणकरः । कलहकारे, "अहिगरणकडस्स भिक्खुणो" सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । आचा० ।

अहिगरणकडाण-अधिकरणकृत्स्थान-न० । अधिकरणं यानपात्रादिहेतुस्थानं, तस्य स्थानमधिकरणस्थानम्, यानपात्रस्थानस्य गन्धस्य अधिकरणकारकत्वेन । सूत्रांग, आनु० ।

अहिगरणसाला-अधिकरणशाला-स्त्री० । आहारादिकसंग्रहे, भ० १६ श० १ उ० ।

अहिगरणसिद्धंत-अधिकरणसिद्धान्त-पुं० । यत्सिद्धावन्यस्यार्थस्यानुषङ्गेण सिद्धिः, तस्मिन् सिद्धान्तभेदे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । "स आयरिए अहिगरणे, जं दिय सिद्धं तेण अणुत्तमपि सिद्धं, जह निच्चं सिद्धं अप्पा अणुत्तणोत्ति" यस्मिन् सिद्धे अनुक्तमपि सिध्यति, यथाऽऽत्मनो नित्यत्वे सिद्धे, [illegible] । सूत्र० ।

अहिगरणि-अधिकरणि-स्त्री० । अधिक्रियते कुट्टनार्थं लोहादि यस्यां साऽधिकरणिः । लोहकारोपकरणविशेषे, भ० १६ श० १ उ० । स्था० ।

अहिगरणिखोडि–अधिकरणखोडि–स्त्री० । अधिकरणनिवेशनकाष्ठे, यत्र काष्ठेऽधिकरणी निवेश्यते । भ० १६ श० १ उ० ।

अहिगरणिया–अधिकरणिकी–स्त्री० । अधिकरणविषये व्यापारे, प्रश्न० । सा च द्विविधा निवर्त्तनाधिकरणक्रिया, संयोजनाधिकरणक्रिया च । तत्राद्या खड्गादीनां तन्मुष्ट्यादीनां निवर्तनलक्षणा । द्वितीया तु–तेषामेव सिद्धानां संयोजनलक्षणेति । दुर्गतौ यकाभिरधिक्रियते प्राणी तासु, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । प्रति० । आव० । "अहिगरणिया णं भंते ! किरिया कतिविहा पण्णत्ता ? । गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता । तं जहा–संजोयणाहिगरणिया य, णिव्वत्तणाहिगरणिया य" । प्रज्ञा० २२ पद ।

अहिगा(या)र–अधिकार–पुं० । प्रयोजने, प्रस्तावे च । विशे० । आ० म० । दश० । नि० चू० । व्यापारे आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । संथा० । अधिक्रियन्ते समाधियन्ते इत्यधिकाराः । प्रस्तावविशेषेषु, प्रश्न० १ द्वार ।

अहिगारि–(न्) अधिकारिन्–त्रि० । तद्योग्ये, प्रश्न० २ द्वार । आलम्बनापरपर्याये योग्ये, संथा० । पञ्चा० । दर्श० ।

अहिच्छत्ता–अहिच्छत्रा–स्त्री० । जङ्गलदेशप्रतिबद्धे पुरीभेदे, "अहिच्छत्ता जंगलो चेव" अहिच्छत्रा नगरी, जङ्गलो देशः, आर्यक्षेत्राणि । प्रव० १४८ द्वार । सूत्र० । "चंपाए नयरीए उत्तरपुरच्छिमे दिसि भाए अहिच्छत्ता नाम नयरी होत्था" ज्ञा० १६ अ० । तत्कल्पश्च–

"तिहुयणभाणु तिजयं, पयई नमिऊण पासजिणचंदं ।
अहिछत्ताए कप्पं, जहासुयं किंपि जंपेमि" ॥ १ ॥

"इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे मज्झमखंडे कुरुजंगलजणवए संखावई नाम नयरी रिद्धिसमिद्धा हुत्था । तत्थ भयवं पासमामी छउमत्थविहारेण विहरंतो काउस्सग्गे ठिओ पुव्वनिबद्धवेरेण कमठासुरेण अविच्छिन्नधाराए धाराहिं वरिसंतो अंबुहरो विउव्विओ । तेण सयले महीमंडले एगण्णवीभूए आकंठमग्गं भगवंतं ओहिणा आभोएऊण पंचग्गिसाहणजुयं कमठमुणि आणाविय कट्ठा खंडी अंतरमज्झंतसप्पभयवयारे सुमरेण धरणिंदेण नागराएण अग्गमहिसीहिं सह आगंतूण मणिरयणविचइअं सहस्ससंखफणामंडलछत्तं सामिणो उवरिं करेऊण हिट्ठे कुंडलीकयभोयेणं गिण्हइअ सो उवसग्गो निवारिओ । तओ परं तीसे नयरीए अहिच्छत्त त्ति नामं संजायं । तत्थ पायारम्मि जहा जहा पुरओ ठिओ उरगरूवो धरणिंदो कुडिलगईए सप्पइ तहा तहा इट्टानिवेसो कओ । अज्ज वि तहेव पायारे रयणा दीसइ । सिरिपाससामिणो चेइय भवणं कारियं, चेइयाओ पुव्वदिसि दसमहुरपयसोहगाणि कमठजलहरोज्झियजलपुण्णाणि सत्त कुंडाणि चिट्ठंति । तज्जल मुंबाविअ पइ-पाओ निंदूआ थिरवच्छाओ हवंति । तेसिं कुंडाण मट्टियाए धाउवाइया धाउसिद्धिं भणंति, पाहाणलद्धिगुडिम सदासिद्धरसकूविआ य इत्थ दीसइ । तत्थ निव्वुद्धरायवणस्स अतो अआसायणाइभयहरिणोयक्कमा निप्फलीहूआ । तीसे पुरीए अंगो बहिं पत्तेय कच्चाणं धीदियाण च मज्झाय लक्खं अंधए महुरोदगाणं । जत्तागयजणाण पासमामिभवस्स पवणं हुंणाण अम्मोर कमठो सरयरहुदिणकुंमाईविसहुमाई दरिसेइ । मूलचेइयाओ नाइदूरे सिद्धक्खित्ति पासमामिणो धरणिंदपउमावईसहियस्स चेइयं पायारनईए सि-

द्धिमिगुत्तिसहिआ सिद्धुद्धकलिआ अंबमुंचिहत्था सिद्धाइणा रूवा देवी चिट्ठइ । ससिकरनिम्मलसलिलपडिपुण्णा उत्तराभिहाणा वावी । तत्थ मज्जणे कए तयट्ठ मट्टिआलेवे य कुट्ठीणं कुट्ठरोगोवसमो हवइ । धन्नंतरिकूवस्स य पिंजरवणाए मट्टिआए गुरुवएसा कंचणं उप्पज्जइ । बंभकुंडतडवकडाए मइकयंतीए दत्तचुण्णेण एगवण्णगावी खीरेण सम्मं पीएण पण्णामहासपण्णो निरोगो किन्नरस्सरो अ होइ । तत्थ य वाएण उववणेसु सव्वमहोसहीणं चंदया उवलब्भंति, ताणि ताणि अ कज्जाणि साहंति । तहा जयंती-नागदमणी-सहदेवी-अपराजिआ-लक्खणा-तिवण्णी-नउली-सउली-सप्पक्खी-सुवण्णसिला-मोहली-सोमली-रविभत्ता-निव्विसी-मोरसिहा-सल्ला-विसल्लापमुहाओ महोसहीओ एत्थ वट्टंति । होइआणि अ अणेगाणि हरिहरहिरण्णगब्भचंडिआजयणथंभकुंडाईणि तित्थाणि । तहा एसा नयरी महानरिंदस्स सुगिहीयनामधेयस्स कण्णदेविसिणो जम्मभूमि त्ति, नगयपकयपरागकलिनिकएण वणिवलोकयाए य धम्मगरस पासस्सामिस्स संभरणेण आहिवाहिमण्णिभदरिकारेण चोरजलजलणरायभट्टग्गहमारिदुयविमकमाणीरमुद्दतुरोपहवा न हवंति भविआणं ति" ।

"इय एस अहिच्छत्ता-कप्पो उवयाणिओ समासेणं ।
सिरिजिणपहसूरीहिं, पउमावइधरणकमढगिओ" ॥ १ ॥

इति अहिच्छत्राकल्पः समाप्तः । ती० ७ कल्प० । आचा० ।

अहिजाय–अभिजात–त्रि० । कुलीने, "अहिजायं महव्वयं" अभिजात कुलीन महती क्षमा यत्र तथा पूर्णं क्षमं समर्थं यस्य तथा । ततः कर्मधारयः । अथ वा–अभिजातानां मध्ये महत् पूर्णं क्षमं समर्थं च यत्तथा । आ० ए श्रु० ३१ उ० ।

अहिज्जग–अधीयान–त्रि० । प्रकृति-प्रत्यय-लोप-आगम वर्णविकार-काल-कारकादिवेदिनि, दश० ५ अ० ।

अहिज्जमाण–अधीयमान–त्रि० । पठति, दश० ४ अ० । सूत्र० ।

अहिज्जिउं–अध्येतुम्–अव्य० । पठितुमित्यर्थे, दश० ४ अ० ।

अहिज्जित्ता–अधीत्य–अव्य० । अध्ययनं कृत्वेत्यर्थे, उत्त० १ अ० । पठित्वेत्यर्थे, उत्त० १ अ० ।

अहिज्झियत्ता–अभिध्यितता–स्त्री० । भिध्या लोभः, सा संजाता यस्य स भिध्यितः । न भिध्यितोऽभिध्यितः । तद्भावस्तत्ता । असंभे, भ० ६ श० ३ उ० ।

अहिट्ठाण–अधिष्ठान–न० । सन्निपाताधिपत्ये पर्यवसाने, नि० चू० २ उ० । भावे ल्युट्–आश्रयणे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । 'अहिट्ठाणं कारणं ठिओ' आ० म० द्वि० । पतिते, स्वामित्वे च । आचा० २ श्रु० ७ अ० १ उ० ।

अहिट्ठिज्जमाण–अधिष्ठीयमान–त्रि० । समाक्रम्यमाणे, दश० ४ उ० १ अ० ।

अहिट्ठिए–अधिष्ठातुम्–अव्य० । निवर्त्तयितुम् परिभोक्तुमित्यर्थे, सू० ३ अ० ।

अहिट्ठिय–अधिष्ठित–त्रि० । आक्रान्ते, उ० १४ अ० "...सं-यो जुदमहिट्ठिओ" । आ० म० प्र० । आ... ... परप्रासने, "रज्जमहिट्ठिआ" ... उ० १४ अ० ।

अहिगउत्तमपरमयाहिवयमुद्द—अधिकनकुलमृगमृगाधिपमयुख— त्रि० । कुमुदस्यकुमुदादिप्रभृतिके, प्रमुखप्रद्युम्नादयमहि- ष्यादिपरिग्रहः । प्रश्न० २ द्वि० ।

अहिणंदण—अभिनन्दन—पुं० । अस्यामवसर्पिण्यां जाते भर- तक्षेत्रे चतुर्थे तीर्थंकरे, ध० २ अधि० ।

" अवन्तिषु प्रसिद्धस्य, सिद्धक्षेत्रतयापते ।
श्रीमदभिनन्दनदेवस्य, कल्पं जल्पामि लेशतः " ॥ १ ॥

इह हि [illegible] श्रीमद्वर्धमानमुनेः सिद्धा- न्तसूत्रानुसारेण [illegible] सिद्धार्थकुक्षिसरसीराजहंसस्य क- पिध्वजस्य [illegible] अयोध्यापुरस्य [illegible] चतुर्थतीर्थेश्वरस्य श्रीमद- भिनन्दनदेवस्य चैत्यं [illegible] मालवदेशान्तर्वर्तिमङ्गलपुरप्रत्यासन्नायां महाटवीपरिसरे [illegible] आसीत् । तस्यां [illegible] कर्म- [illegible] भक्त्याऽऽत्र संवसन्ति स्म । अन्यदा तुरुष्कम्लेच्छ- [illegible] तत्पूर्वकृतं च । [illegible] दुर्भिक्षादि [illegible] भगवतोऽभिनन्दनदेव- [illegible] तानि च खण्डानि संज्ञान- [illegible] । एवं [illegible] प्रणामपूर्वकं [illegible] । ततः [illegible] देव- [illegible] । [illegible] । ततः [illegible]

[illegible]

...ष्यतीति प्रबुद्धेन मानजातप्रमोदेन तथैव चक्रे । समपादि भगवानखण्डवपुः, सन्धयश्च मिलिताश्चन्दनलेपमात्रेण तत्क्ष- णेन । भगवन्तं विशुद्धश्रद्धया संपूज्य भुक्तवान् । पण्याजीवः पीवरां मुदमुद्वहन् ददौ च गुडादि मेदेभ्यः । तदनन्तरं तेन वणिजा मणिजातमिव प्राप्य प्रहर्षेण शून्यस्थाने पिप्पलतरो- स्तले वेदिकाबन्धं विधाय सा प्रतिमा स्थापिता । ततः प्रभृति श्रावकसंघाश्चातुर्वर्ण्यलोकाश्च तुर्दिगन्तादागत्य यात्रोत्सवं सूत्र- यितुं प्रवृत्ताः । तत्र प्रत्यर्थी [illegible] राजकुलास्तत्र मठपत्याचार्याश्चैत्यचिन्तां कुर्वते स्म । अथ प्राग्वाटवंशावतंसे- न धाराकाख्येन साधुहालाकेन निरपत्येन पुत्रार्थिना विरचितमु- पयाचितकम्—यदि मम तनुजो जनिता तदाऽत्र चैत्यं कारयि- ष्यामीति । क्रमेणाधिष्ठायकत्रिदशसान्निध्यतः पुत्रस्तस्योदप- द्यत कामदेवाख्यः । ततश्चैत्यमुच्चैस्तरशिखरमचीकरत्साधुहा- लाकः । क्रमात्साधुनाथडस्य दुहितरं परिणायितः कामदेवः । पित्राऽपि [illegible] मलयसिंहादयो देवार्चकाः स्था- पिताः । महणियाभिख्यो मेदः क्वापि [illegible] कृतवान्- किलाहमस्य भगवतोऽङ्गुलीवर्धिनः सेवक इति । भगवद्विलेप- नचन्दनगलनाच्च तस्याङ्गुलिः पुनर्नवीबभूव । तमतिशयमतिशा- यिनं निशम्य श्रीजयसिंहदेवो मालवेश्वरः स्फुरद्भक्तिप्राग्भा- रभास्वरान्तःकरणः स्वामिनं स्वयमपूजयत् । देवपूजार्थं चतुर्वि- शतिहलकृष्यां भूमिमदत्त मठपतिभ्यः । प्राग्वाटवंशीया यावती देवार्चकेभ्यः प्रददावपनिपतिः । अद्यापि [illegible] तथैव पूज्यमानोऽस्ति ।

" अभिनन्दनदेवस्य, कल्प एव यथाश्रुतम् ।
लेशतो रचयांचक्रे श्रीजिनप्रभसूरिभिः " ॥ १ ॥

इति सकलभूवलयनियासिलोकाभिनन्दनस्य श्रीअभिनन्दन- देवस्य कल्पः । ती० ४२ कल्प ।

अहिणव—अभिनव—त्रि० । नूतनविशिष्टवर्णादिगुणोपेते, रा० ।

अहिणरसङ्ग—अभिनरश्राद्ध—पुं० । श्रुतपञ्चमादिके, दि० ।

अहिणिबोह—आभिनिबोध—पुं० । अर्थाभिमुखो नियतः प्र- तिस्वरूपको बोधविशेषोऽभिनिबोधः । मतिज्ञाने, अभिनिबु- ध्यतेऽस्मादस्मिन् वेति अभिनिबोधः । मत्यावरणक्षयोपशमे, प्रज्ञा० २१ पद ।

अहिण्णु—अभिज्ञ—त्रि० । संयोगादेश्चस्य हुश्च आस्य नाम्नि, "ह्रो जम्मे अभिज्ञादौ" ।८।१।५६। इति णकारादेशात्स्थाने वा अहिण्णू । प्रा० १ पाद । "ज्ञो णः" ।८।२।८३। इति मध्य- युक्त, अहिण्णो । प्रा० २ पाद । प्राज्ञे, वाच० ।

अहिणव—अभिनव—त्रि० । मायप्रयोगरहिते, उत्त० २ अ० ।

अहिणा—अधीन्य—अव्य० । पर्यालोच्येत्यर्थे, " अनुगमेव बहूनं अ- हिणा, कूर्णमि जातानि अणागताइं " । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अहिरट्ठ—अधिराष्ट्र—न० । सर्वदेशे, पञ्चा० १८ विव० ।

अहिरदार—अधिरदारि—त्रि० । सर्वदारप्रमुखे, " अहिरदार [illegible] नाइ भेसं " । पञ्चा० १८ विव० ।

अहिगरणा—अधिकरणी—स्त्री० । प्रतिबन्धः यत्र कोट्टयते लोहम् [illegible] आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

अहिपज्जुम्न—अधि० प्रा० । "अहो वज्र-तीरेंद-हर-हय-विशेषण-

...न्तु-पुं० । "स्वयमहरुओ स्मः" । ७ । ४ ।
...ः स्मः । प्रा० ४ पाद । "अभिमन्यो अरुओ वा"
...कमागस्य ओ स्मओ । पक्षे—' अहिमन्नू ' ।

...–पुं० । गृहादिरंहे, औ० ३ प्रति० । सर्वक्ले-
... १ अ० ।

...–पुं० । अभिमुखाः परं मारयन्ति ये तेऽभि-
...व० द्वार । दंदरचोरेषु मम्बहरेषु, नि० चू०

...द्दि–पुं० । वरपरिसर्पादौ, कल्प० ११ अ० ।

...गम–पुं० । अभिवर्द्धितमासे, आव० १ अ० ।

...त्रि० । अधिकयाविशिष्टे, " आरुडो सोहइ
...मणि जहा" उत्त० २२ अ० । अं० । औ० । अस-
...श्रम धिकं, अनु० । हेतोर्दृष्टान्तस्य चाधिक्ये स-
...नस्य, दाम्द.. कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वा-
...त्यादि । एकस्मिन् साध्ये एकैव हेतुर्दृष्टान्तश्च
...रपेक्ष तयाभिधानाधिक्यमिति भावः । अनु० ।
...क यत्स्वानामवचानामन्तरेण समधिकम् ।
...म० द्वि० । " अहियसस्सिरीयं " अधिकरूपे-
...ोय. स तथा तम् । कल्प० ३ क्ष० । अधिकम-
...ाधि च । तत्र द्रव्याधिके यथैव द्वेऽधिरात्रिके
...ाहकेन च (एवं तावद्स्वरपदादिभिरधिके
...पुरायाभिनादयः " हीणक्खर " शब्दे च-
... मात्राधिक पयोदाहरणमाह–
...दुग्गालि, उज्जेणी सेहरलिहए सयमेव ।
...ता–ऽहियण सयमेव वायणया ॥
...हया, घाणा सयमेअरं निवे णाणे ।
...ठमं, गंधव्वाउहूणा कंइ ॥
..., विंदुमारकम नत्तुओ ।
...त्तो, अधो आयइ कायणि" ॥ बृ० १ उ० । विशे० ।
...पथ्ये, भ० ७ श० ६ उ० । स्था० । अपाये,
...० । माधप्रधानोऽयं निर्देशः । परिणामासुन्द-
...० ।

...दिन–न० । दिनवृद्धौ, स्था० ६ ठा० ।

...अधिकपौरुषीक–त्रि० । पुरुषप्रमाणाधिके,
...रिसीया, समूसिता लोहियपूयपुण्णा " ।
... १ उ० ।

...हितप्रज्ञान–त्रि० । आहितं प्रज्ञानं बोधो
...तः । अहितबोधे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

...–अधिकरूपसश्रीक–त्रि० । अतिशोभिते,

...हित–त्रि० । अहितङ्कारादिषु तथाविधे

दहितेहि समाजोगा, अहिओ खीरदहिकंजियाणं च ।
पत्थं पुण रोगहरं, न य हेऊ होइ रोगस्स ॥ ६१० ॥

दधितैलयोः,तथा-क्षीरदधिकाञ्जिकानां च यः समायोगः सोऽहितो, विरुद्ध इत्यर्थः । तथा चोक्तम्-" शाकमूलफलपिण्याककपित्थलवणैः सह । करीरदधिमत्स्यैश्च, प्रायः क्षीरं विरुध्यते " ॥ १ ॥ इत्यादि । अविरुद्धद्रव्यमेलनं पुनः पथ्यं, तच्च रोगहरं प्रादुर्भूतरोगविनाशकरम् । न च भावितो रोगस्य हेतुः कारणम् । तदुक्तम्-" अहिताशनसंपर्कात्-सर्वरोगोद्भवो यतः । तस्मात्तदहितं त्याज्यं, न्याय्यं पथ्यनिषेवणम् " ॥ १ ॥ पिं० ।

अहियास–अध्यास–पुं० । परीषहादीनां सम्यक्तितिक्षायाम्, आचा० १ श्रु० ६ अ० ६ उ० । सूत्र० । वर्तने पालने, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

" क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न सन्तोषतः,
सोढा दुःसहतापशीतपवनाः क्लेशान्न तप्तं तपः ।
ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमितं द्वन्द्वैर्न तत्त्वं परं,
यद्यत्कर्म कृतं सुखार्थिभिरहो ! तैस्तैः फलैर्वञ्चिताः " ॥ १ ॥

सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । आचा० । उत्त० । स्था० । अविचलकायतया (स्था० १ अ०) सोढव्यातिरेकेण सहने, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अहियासणया–अहिताऽऽसनता–स्त्री० । अहितमननुकूलं पीठफलकाद्यासनं यस्य स तथा, तद्भावस्तत्ता । अननुकूलासने, स्था० ६ ठा० ।

अध्यशनता–स्त्री० । अध्यशनमेवाध्यशनता । दीर्घत्वं तु प्राकृतत्वात् । अजीर्णे भोजने, " अजीर्णे भुज्यते यत्तु, तदध्यशनमुच्यते " इतिवचनात् । स्था० ६ ठा० ।

अहियासित्तए–अध्यासयितुम्–अव्य० । अधिसोढुमित्यर्थे, आचा० १ श्रु० ७ अ० ४ उ० ।

अहियासित्ता–अधिसह्य–अव्य० । सोढ्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

अहियासिय–अध्यासित–त्रि० । भावे क्तः । कृतेऽधिसहने, " दुविधाण वासअहियासियं । " आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

अहियासेउं–अध्यासितुम्–अव्य० । अधिकमासितुम् । सम्यक् सोढुमित्यर्थे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अहियासेमाण–अध्यासयत्–त्रि० । सम्यक्तितिक्षमाणे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अहिरण्णसोवण्णिय–अहिरण्यसौवर्णिक–पुं० । हिरण्यं रजतं, सुवर्णं च हेम, ते विद्येते यस्य स हिरण्यसौवर्णिकः । तथा न । प्रश्न० ३ संव० द्वार । हिरण्यं रजतं सौवर्णिकं सुवर्णमयं कनककलशादि, न विद्येते हिरण्यसौवर्णिके यत्राऽसौ अहिरण्यसौवर्णिक । उपलक्षणत्वात् सर्वपरिग्रहरहिते, पा० । रजतसुवर्णमयकलशादिरहिते, ध० ३ अधि० ।

अहिराय–अधिराज–पुं० । मेदिनीपृथिवीपतौ, सू० ३ अ० ।

अहिजउलनयरमयाहिवयपुड—अहिनकुलनगरमृगाधिपमुख—त्रि० । नकुलनगरसिंहप्रभृतिके, प्रमुखग्रहणाद् दवमहिष्यादिनिमित्तः । पञ्चा० २ विव० ।

अहिणंदण—अभिनन्दन—पुं० । अस्यामवसर्पिण्यां जाते भरतक्षेत्रीये चतुर्थे तीर्थंकरे, ध० २ अधि० ।

" कल्याणानि प्रसिद्धस्य, सिद्धक्षेत्रदानायने ।
अभिनन्दनदेवस्य, कल्पं जल्पामि केशतः " ॥ १ ॥

इह पूर्वं इक्ष्वाकुवंशमुक्तामणेः श्रीसंवरराजसूनोः सिद्धार्थाकुक्षिसरसीराजहंसस्य कपिलाञ्छनस्य कामितफलकल्पद्रुमस्य श्रीकोशलापुरस्य भावत्कनगरीमण्डनस्य चतुर्थतीर्थंकरस्य श्रीमदभिनन्दनदेवस्य बिम्बं आलयसंसारघोरदुःखपुरपत्तनसमायां महादेवनगर्यां मेदःस्थानामासीत् । तस्यां विविधदिग्वराह कर्मणामागमज्ञाननिर्देशा मेदाः प्रतिवसन्ति स्म । अन्यदा तुरुष्कम्लेच्छसैन्येन सर्वेऽपि मठाः भञ्जिता, देवगृहाणि च । प्रभासपुरपथा दुर्गाशृङ्गपत्र श्रीमालिवसद्गुणसिलानामकलनीयसया प्रतिहतप्रतापकर्मदक्षमांसनवकैः अभिनन्दनदेवस्य बिम्बं [illegible] । तानि च सकलानि संजातमनोरथेन [illegible] एवं [illegible] ततःप्रभृति [illegible] देवपूजार्थं न [illegible] । ततः [illegible] ॥

[illegible]

स्यतीति प्रबुद्धेन मातर्जातप्रमोदेन तथैव चक्रे । समपादि भगवानखण्डवपुः, सन्धयश्च मिलिताश्चन्दनलेपमात्रेण क्षणमात्रेण । भगवन्तं विशुद्धश्रद्धया संपूज्य मुक्तवान् । पवयात्रिकः पीवरां मुदमुद्वहन् ददौ च गुडादि मेदेभ्यः । तदनन्तरं तेन धार्मिकेण मणिजातमिव प्राप्य महर्षेण शून्यदेवके पिप्पलतरोस्तले वेदिकाबन्धं विधाय सा प्रतिमा स्थापिता । ततः प्रभृति श्रावकसंघाश्चातुर्वर्ण्यलोकाश्चतुर्दिगन्तादागत्य यात्रोत्सवं स्रपयितुं प्रवृत्ताः । तत्र अजयकीर्तिभानुकीर्तिप्रमुखा राजकुलाधिपश्च मठपत्याचार्याश्चैत्यचिन्तां कुर्वते स्म । अथ प्राग्वाटवंशावतंसेन धारलाभजेन साधुहालाकेन निरपत्येन पुत्रार्थिना चिरात्तमुपयाचितकम्—यदि मम तनुजो जनिता तदाऽत्र चैत्यं कारयिष्यामीति । क्रमेणाधिष्ठायकत्रिदशसान्निध्यतः पुत्रस्तस्योदपादि कामदेवाख्यः । ततश्चैत्यमुच्चस्तरशिखरमचीकरत्साधुहालाकः । क्रमात्साधुनाथडस्य दुहितरं परिणायितः कामदेवः पित्राऽपि साह्राममाहाहूय मलयसिंहादयो देवार्चकाः स्थापिताः । महणिकाभिख्यां मेदः स्याहुली नगधडेन इत्थमत्-किलाहमस्य भगवतोऽदृष्टदर्शिनः सेवक इति । भगवद्भिलपमयन्त्रनगलनाथ तस्याहुलिः पुनर्नवीबभूव । तमतिशयमतिशायिनं निशम्य श्रीजयसिंहदेवो मालवेश्वरः स्फुरद्भक्तिप्राग्भारभास्वरान्तःकरणः स्वामिनं स्वयमपूजयत् । देवपूजार्थं चतुर्विंशतिहलवाह्यां भूमिमदत्त मठपतिभ्यः । द्वादशहलवाह्यां चावनीं देवार्चकेभ्यः प्रददाववनिपतिः । अद्यापि दिग्मण्डलव्यापिप्रतापधनयो भगवानभिनन्दनदेवस्तत्र तथैव पूज्यमानोऽस्ति ।

" अभिनन्दनदेवस्य, कल्प एष यथाश्रुतम् ।
अल्पीयान् रचयांचक्रे श्रीजिनप्रभसूरिभिः " ॥ १ ॥

इति सकलमनुजनयनिवासिलोकाभिनन्दनस्य श्रीअभिनन्दनदेवस्य कल्पः । ती० ३२ कल्प ।

अहिणव—अभिनव—त्रि० । नूतनविशिष्टवर्णादिगुणोपेते, रा० ।

अहिणरमड—अभिनरथाढ्य—पुं० । स्पुल्ल(?)प्रधावके, पिं० ।

आहिणिबोह—आभिनिबोध—पुं० । अर्थाभिमुखो नियतः प्रतिनियतरूपो बोधविशेषोऽभिनिबोधः । मतिज्ञाने, अभिनिबुध्यतेऽस्मादस्मिन् वेति अभिनिबोधः । मत्यावरणक्षयोपशमे, प्रज्ञा० २९ पद ।

अहिण्हु—अभिज्ञ—त्रि० । ज्ञः पञ्चदशपञ्चम इत्यनेन ज्ञ इत्यस्य णा इति । "ह्रो णः" । ८ । २ । ७५ । इति ह्रस्य स्थाने णहः । प्रा० २ पाद । "हो घः" । ८ । २ । ८३ । इति प्रथम लुक्, अहिण्णो । प्रा० २ पाद । प्राज्ञे, वाच० ।

अहिणिम—अभिनम्र—त्रि० । अत्यन्तपीडिते, उत्त० २ अ० ।

अहिता—अहीन्द्र—अव्य० । परिणामपर्वे, " अहुणमेव वएसं अहिता, आगसि कणाणि मणाणणाई " । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

अहिरद्द—अहिरद्द—अ० । संरक्षणे, पञ्चा० १८ विव० ।

अहिरद्दार—अहिरद्वारि—त्रि० । संरक्षणप्रवृत्तौ, "अहिरद्दारेसु कुणय उज्ज्वीहु जइ सेसं " । पञ्चा० १८ विव० ।

अहिदारणा—अभिदारणा—स्त्री० । प्रतिपन्थिजनस्य परिहरण[illegible], आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

अहिपञ्चु—[illegible] । "अहो [illegible]

हिरण्मुखः" । ८ । ४ । २०१ । इति अहेरहिपच्चुम आदेशः । अहिपच्चुअइ-स्पृहाति । प्रा० ४ पाद ।

अहिमन्नु-अभिमन्यु-पुं० । "म्यणयज्ञां म्मः" । ८ । ४ । २६१ । इति द्वित्वं म्मः । प्रा० ४ पाद । "अभिमन्यौ जज्जौ वा" ८ । १ । ४५ । इत्यभिमन्यव जो म्मश्च । पक्षे—'अहिमन्नू' । प्रा० २ पाद ।

अहिमड-आहिमृत-पुं० । मृताहिदेहे, औ० १ प्रति० । सर्पकलेवरे, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

अहिमर-अभिमर-पुं० । अभिमुखाः परं मारयन्ति ये तेऽभिमराः । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । द्वेरकौटेषु प्रभञ्जहरेषु, नि० चू० १ उ० ।

अहिमाद-अमादि-पुं० । हरःपरिसर्पात्ते, कल्प० ३६ अ० ।

अहिमास-अधिमास-पुं० । अभिवर्द्धितमासे, आव० १ अ० ।

अहिय-अधिक-त्रि० । आधिक्यविशिष्टे, "आकढो सोहइ अहियं सिरे चूडामणि जहा" उत्त० २२ अ० । अं० । औ० । अन्यस्पर्धाद्विरनिमात्रमधिके, अनु० । हेतोर्दृष्टान्तस्य चाधिक्ये सति, अधिक यथा-अनित्यः शब्दः, कृतकत्वप्रयत्नानन्तरीयकत्वाभ्याम्, घटपटवदित्यादि । एकस्मिन् साध्ये एकस्य हेतुर्दृष्टान्तश्च वक्तव्यः । अत्र च प्रत्येकं द्वयाभिधानादाधिक्यमिति भावः । अनु० । विशे० । सू० । आधिकं यस्य स्वानामवयवानामन्तरेण समधिकम् । सू० १ उ० । आ० म० द्वि० । "अहियससिरीयं" अधिकरूपेण सश्रीकः शोभनो यः स तथा तम । कल्प० ३ क्ष० । अधिकमपि द्विधा-द्रव्ये भावे च । तत्र द्रव्याधिके तथैव प्रेऽविरतिके दशास्य वीरेपीः पौद्हलेन च (एवं नायदक्षरपदादिभिरधिके सूत्रे दोषा आमसद्युदायधिकादयः "हीणक्खर" शब्दे वक्ष्यन्ते) सम्प्रति भावाधिक यथोदाहरणमाह-

" पाडलीउसाग कुणाले, उज्जेणी लेहलिहण सयमेव ।
अहिय मयणंसत्ता-ऽहिएण सयमेव वायणया ॥
मुरियाण अप्पडिहया, णाणा सयमंजण निवे णाणं ।
गामम सुपक्स अम्मं, गंधव्वाउट्टणा कंह ॥
चंदगुत्तपपुत्तो य, विंदुसारस्स नत्तुओ ।
असोगसिरिणो पुत्तो, अंधो जायइ कागणिं" ॥ वृ० १ उ० । विशे० ।

अहित-त्रि० । अपथ्ये; भ० ७ श० ६ उ० । स्था० । अपाये, स्था० ५ ठा० १ उ० । भावप्रधानोऽयं निर्देशः । परिणामासुन्दरत्वे, दशा० ६ अ० ।

अहियदिण-अधिकदिन-न० । दिनवृद्धौ, स्था० ६ ठा० ।

अहियपोरिसीय-अधिकपौरुषीक-त्रि० । पुरुषप्रमाणाधिके, " कुंभीमहंताहियपोरिसीया, समूसिता लोहियपूयपुष्या " । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अहियप्पण्णाण-अहितप्रज्ञान-त्रि० । अहितं प्रज्ञानं बोधो यस्य सोऽहितप्रज्ञानः । अहितबोधे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

अहियरूवससिरीय-अधिकरूपसश्रीक-त्रि० । अतिशोभिते, कल्प० ३ क्ष० ।

अहियहिय-अहितहित-त्रि० । अतिबहुकादिषु तथाविधे भोजने, पिं० ।

सांप्रतमहितहितस्वरूपमाह-

दहितेल्लु सयाजोगा, अहिओ खीरदहिकंजियाणं च ।
पत्थं पुण रोगहरं, न य हेऊ होइ रोगस्स ॥ ६१० ॥

दधितैलयोः, तथा क्षीरदधिकाञ्जिकानां च यः समायोगः सोऽहितो, विरुद्ध इत्यर्थः । तथा चोक्तम्-" शाकमूलफलपिण्याककपित्थलवणैः सह । करीरदधिमत्स्यैश्च, प्रायः क्षीरं विरुध्यते " ॥ १ ॥ इत्यादि । अविरुद्धद्रव्यमेलनं पुनः पथ्यं, तच्च रोगहरं प्रादुर्भूतरोगविनाशकरम् । न च भाविनो रोगस्य हेतुः कारणम् । उक्तञ्च-" अहिताशनसंपर्कात्-सर्वरोगोद्भवो यतः । तस्मात्तदहितं त्याज्यं, न्याय्यं पथ्यनिषेवणम् " ॥ १ ॥ पिं० ।

अहियास-अध्यास-पुं० । परीषहादीनां सम्यक्तितिक्षायाम्, आचा० १ श्रु० ६ अ० ६ उ० । सूत्र० । वर्त्तने पालने, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

" क्षान्तं न क्षमया गृहोचितसुखं त्यक्तं न सन्तोषतः,
सोढा दुःसहतापशीतपवनाः क्लेशान्न तप्तं तपः ।
ध्यातं वित्तमहर्निशं नियमितं द्वन्द्वैर्न तत्त्वं परं,
यद्यत्कर्म कृतं सुखार्थिभिरहो ! तैस्तैः फलैर्वञ्चिताः " ॥ १ ॥

सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । आचा० । उत्त० । स्था० । अविचलकायतया (द्वा० १ अ०) सौहृदातिरेकेण सहने, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अहियासणया-अहिताऽऽसनता-स्त्री० । अहितमननुकूलं स्तम्भपाषाणाद्यासनं यस्य स तथा, तद्भावस्तत्ता । अननुकूलासने, स्था० ६ ठा० ।

अध्यशनता-स्त्री० । अध्यशनमेवाध्यशनता । दीर्घत्वं तु प्राकृतत्वात् । अजीर्णे भोजने, " अजीर्णे भुज्यते यत्तु, तदध्यशनमुच्यते " इतिवचनात् । स्था० ६ ठा० ।

अहियासित्तए-अध्यासयितुम्-अव्य० । अधिसोढुमित्यर्थे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ० ।

अहियासित्ता-अधिसह्य-अव्य० । सोढ्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

अहियासिय-अध्यासित-त्रि० । भावे क्तः । क्तेऽधिसहने, " दवियाण पासमहियासियं । " आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

अहियासेत्तु-अध्यासह्य-अव्य० । अधिकमासह्य । अत्यर्थं सोढ्वेत्यर्थे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अहियासेमाण-अध्यासयत्-त्रि० । सम्यक्तितिक्षमाणे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

अहिरण्णसोवण्णिय-अहिरण्यसौवर्णिक-पुं० । हिरण्यं रजतं, सुवर्णं च हेम, न विद्येते यस्य स हिरण्यसौवर्णिकः । तथा भ । प्रश्न० ३ संव० द्वार । हिरण्यं रजतं सौवर्णिकं सुवर्णमयं कनककलशादि, न विद्येते हिरण्यसौवर्णिके यत्रासौ अहिरण्यसौवर्णिकः । उपलक्षणत्वात् सर्वपरिग्रहरहिते, पा० । [illegible] मयकलशादिरहिते, ध० ३ अधि० ।

अहिराय-अधिराज-पुं० ।

अहिरियया–अन्हीकता–स्त्री० । निर्लज्जतायाम्, उत्त० ३४ अ० । नि० ।

अहिरीमण–अन्हीमनस्–त्रि० । कष्टाकारिणि शीतोष्णादी परीषहे, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

अहिरेद–पूरि–धा० । पूरणे । " पूरेरग्घाडोग्घवोद्धुमाङ्गुमाहिरेमाः " । ८ । ४ । १६९ । अहिरेमइ पुरइ, पूरयते । प्रा० ४ पाद ।

अहिलं(ल)घ–काङ्क्ष–धा० । अभिलाषे, " काङ्क्षेराहाहिलङ्घाहिलङ्खवच्च० । ८ । ४ । १९२ । इत्यादिसूत्रेण काङ्क्षेराहिलङ्घादेशः । अहिलंघइ, अहिलङ्खइ । प्रा० ४ पाद ।

अहिलाण–अहिज्ञान–न० [illegible], ज्ञा० १७ अ० । मु[illegible]दमने, जं० ३ वक्ष० । भं० । [illegible], ज्ञा० ४ अ० ।

अहिलाविणी–अभिलापिनी–स्त्री० । अभिलप्यत वस्तु निलाप, [illegible] । [illegible] शब्दे, यथा–[illegible] । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १० उ० ।

अहिलोयण–अभिलोकन–न० । अभिलोक्यते अवलोक्यते [illegible] अभिलोकनम् । [illegible], प्रश्न० ४ संव० द्वार ।

अहिवइ–अधिपति–पु० । नायके, स्था० ५ ठा० १ उ० । स्वामिके, जं० १ वक्ष० । [illegible], प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

अहिवासंकग–अधिवासितक–पुं० । [illegible] सू० १४ श० ७ उ० ।

अहिवडंत–अधिपतत्–त्रि० । आगच्छति, औप० ।

अहिवासण–अधिवासन–न० । [illegible], पञ्चा० ८ विव० ।

अहिसक्कण–अभिष्वष्कण–न० । [illegible], कल्प० १ उ० । [illegible]

अहिसिय–अभिसृत–त्रि० । [illegible] ।

अहिसासण–अभिस[illegible]–न० । [illegible], कल्प० १ उ० ।

अहीगार–अधीकार–न० । [illegible] ।

[illegible] [illegible] ।

अहीण–अहीन–त्रि० । [illegible], प्रश्न० ४ संव० द्वार ।

अहीण–त्रि० । [illegible] [illegible]

[illegible]

अहीणमाण–[illegible] [illegible]

अहीणेंदिय–अहीनेन्द्रिय–त्रि० [illegible]

अहीण–[illegible] [illegible]

अहीयसुत्त–अधीतसूत्र–त्रि० । गृहीतसूत्रे, " सम्मं अहीयसुत्तो ततो विमलयरबोहजोगाओ " पं० व० १ द्वार ।

अहीरग–अहीरक–न० । छिद्यमानस्यैव न विद्यते हीरिकासन्तुलक्षणा मध्ये यस्य तदहीरकम् । तन्तुहीने, प्रश्न० ४ द्वार ।

अहुणाधोय–अधुनाधौत–त्रि० । अचिरधौते, अपरिणते च । दश० ५ अ० ।

अहुणुव्वासिय–अधुनोद्वासित–त्रि० । अचिरोद्वासिते, औप० । साम्प्रतोद्वासिते, स्था० ४ ठा० ।

अहुणोवलित्त–अधुनोपलिप्त–त्रि० । साम्प्रतोपलिप्ते, दशा० ५ अ० ।

अहुणोववन्नग–अधुनोपपन्नक–त्रि० । अचिरोपपन्ने, स्था० ।

अधुनोपपन्नो देवो देवलोके–

तिहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए, णो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए । तं जहा–अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववन्ने से णं माणुस्सए कामभोगे णो आढाइ, णो परियाणाइ, णो अट्ठं बंधइ, णो णियाणं पगरेइ, णो ठिइपकप्पं पकरेइ, अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववन्ने, तस्स णं माणुस्सए पेमे वोच्छिन्ने दिव्वे संकंते भवइ २ अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए० जाव अज्झोववन्ने, तस्स णं एवं भवइ इयण्हिं गच्छं मुहुत्तं गच्छं, तेणं कालेणमप्पाउया मणुस्सा कालधम्मुणा संजुत्ता भवइ । इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए, णो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए, अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु अमुच्छिए अगिद्धे अगढिए अणज्झोववन्ने तस्स णं एवं भवइ, अत्थि णं मम माणुस्सए भवे आयरिए वा उवज्झाए वा पवत्तेइ वा थेरेइ वा गणीइ वा गणहरेइ वा गणावच्छेइए वा जेसिं पभावेणं मए इमा एयारूवा दिव्वा देवड्ढी दिव्वा देवजुई दिव्वे देवाणुभावे लद्धे पत्ते अभिसमन्नागए तं गच्छामि णं ते भगवंते वंदामि णमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासेमि ॥ १ ॥ अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु अमुच्छिए० जाव अणज्झोववन्ने तस्स णं एवं भवइ, एस णं माणुस्सए भवे णाणीइ वा तवस्सीइ वा अइदुक्करदुक्करकारगे तं गच्छामि णं भगवंतं वंदामि णमंसामि० जाव पज्जुवासामि ॥ २ ॥ अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु जाव अणज्झोववन्ने तस्स णं एवं भवइ, अत्थि णं मम माणुस्सए भवे माताइ वा० जाव सुण्हाइ वा तं गच्छामि णं [illegible] पाउब्भवामि, पासंतु ता मे इमं एयारूवं [illegible]

देवहिं दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभावं लद्धं पत्तं अभिसमन्नागयं । इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु इच्छेज्ज माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए संचाएत्तए हव्वमागच्छित्तए ॥ ३ ॥

अधुनोपपन्नो देवः, केत्याह-(देवलोगेसु त्ति) इह च बहुवचनमेकस्यैकदाऽनेकेषूत्पादासम्भवादेकार्थे द्रष्टव्यम्, वचनव्यत्ययाद्देवलोकानेकत्वोपदर्शनार्थं वा; देवलोकेषु मध्ये कस्मिंश्चिद्देवलोक इति, इच्छेदभिलषेत् पूर्वसङ्गतिकदर्शनार्थं मानुषाणामयं मानुषस्तम् । (हव्वं ति) शीघ्रम् (संचाए त्ति) शक्नोति । दिवि देवलोके भवा दिव्यास्तेषु कामौ च शब्दरूपलक्षणौ भोगाश्च गन्धरसस्पर्शाः कामभोगास्तेषु । अथवा-काम्यन्त इति कामा मनोज्ञाः, ते च इति भुज्यन्त इति भोगाः [illegible]

इत्यर्थः । अध्युपपन्न आधिक्येनासक्तोऽत्यन्ततन्मना इत्यर्थः । नो आद्रियते-न तेष्वादरवान् भवति, नो परिजानाति-एतेऽपि च वस्तुतुला इत्येवं न मन्यते । तथा तेष्विति गम्यते । नो इदं सन्नाति-बन्धनेनेदं प्रयोजनमिति न निश्चयं करोति । तथा-तेषु नो निदानं प्रकरोति-एते मे भूयासुरित्येवमिति । तथा-तेष्वेव नो स्थितिप्रकल्पमवस्थानं विकल्पनम्-एतेष्वहं तिष्ठेयमिति, एते वा मम तिष्ठन्तु स्थिरीभवन्त्वित्येवंरूप स्थित्या वा मर्यादया विशिष्टप्रकल्प आचार आसेवेत्यर्थः । तं प्रकरोति कर्तुमारभते, प्रशब्दस्यादिकर्मार्थत्वादिति । एवं दिव्यविषयप्रसक्तिरित्येकं कारणम् । तथा यतोऽसावधुनोपपन्नो देवो दिव्येषु कामभोगेषु मूर्च्छितादिविशेषणो भवति, अतस्तस्य मानुष्यकं मनुष्यविषयं, प्रेम स्नेहो, येन मनुष्यलोके आगम्यते तद्व्यवच्छिन्नम्, दिवि भवं दिव्यं स्वर्गगतवस्तुविषयं संक्रान्तं तत्र देवे प्रविष्टं भवतीति दिव्यप्रेमसंक्रान्तिरिति द्वितीयम् ॥२॥ तथाऽसौ देवो यतो दिव्यकामभोगेषु मूर्च्छितादिविशेषणो भवति ततस्तत्प्रतिबन्धात् (तस्स णं ति) तस्य देवस्य (एवं ति) एवंप्रकारं चित्तं भवति, यथा (इयण्हिं ति) इदानीं गच्छामि (मुहुत्तं ति) मुहूर्तेन गच्छामि, स्वल्पसमासादित्यर्थः । (तेणं कालेणं ति) येन तत्कृत्यं समाप्यते स च कृतकृत्यत्वादागमनशक्तो भवति, तेन कालेन, गतेनेति शेषः । तस्मिन्वा काले गते, 'ण' शब्दो वाक्यालङ्कारे । अल्पायुषः स्वतातादय मनुष्यमात्रादयो यद्दर्शनार्थमाजिगमिषति तेन कालधर्मेण मरणेन संयुक्तो भवति । कस्यासौ दर्शनार्थमागच्छति असमाप्तकर्तव्यता नाम तृतीयमिति (इच्चेयाइ) निगमनम् ॥३॥ देवः कामेषु कश्चिदमूर्च्छितादिविशेषणो भवति । तस्य च मन इति गम्यते । एवंभूतं भवति आचार्यप्रतिबोधकप्रव्राजकादिरनुयोगाचार्यो वा । इति एवंप्रकारार्थो, वाशब्दो विकल्पार्थः । प्रयोगस्त्वेवम्-मनुष्यभवेऽयं ममाचार्योऽस्तीति वा, उपाध्यायः सूत्रदाता, सोऽस्तीति वा । एवं सर्वत्र, नवरं प्रवर्तयति साधूनाचार्योपदिष्टेषु वैयावृत्त्यादिष्विति प्रवर्ती । उक्तं च-"तवसंजमजोगेसुं, जो जोगो तत्थ तं पवट्टेइ । असुहं च नियत्तेइ, गणतत्तिल्लो पवत्तीओ " ॥ १ ॥ प्रवर्तितव्यापारितान् साधून् संयमयोगेषु सीदतः स्थिरीकरोतीति स्थविरः । उक्तञ्च-" थिरकरणा पुण थेरो, पवत्ति वावारिएसु अत्थेसु । जो जत्थ सीयइ जइ, संतबलो तं थिरं कुणइ " ॥ १ ॥ गणोऽस्यास्तीति गणी गणाचार्यः गणधरो-जिनशिष्यविशेषः । आर्यिकाप्रतिजागरको वा साधुविशेषः । उक्तञ्च-" पियधम्मे दढधम्मे, संविग्गो उज्जुओ य तेयंसी । संगहुवग्गहकुसलो, सुत्तत्थविऊ गणाहिवई " ॥ १ ॥ गणस्यावच्छेदो विभागोंऽशोऽस्यास्तीति । यो हि गणात् संगृहीत्वा गच्छोपष्टम्भायैवोपधिमार्गणादिनिमित्तं विहरति स गणावच्छेदिकः । आह च-" उद्धावणापहावण-खेत्तोवहिमग्गणासु अविसाई । सुत्तत्थतदुभयविऊ, गणवच्छो एरिसो होइ " ॥ १ ॥ (इम त्ति) इयं प्रत्यक्षासन्ना, एतदेव रूपं यस्या न कालान्तरे रूपान्तरभाक् सा एतद्रूपा, दिव्या स्वर्गसम्भवा प्रधाना वा देवानां सुराणामृद्धिः श्रीर्विमानरत्नादिसंपद्वैभवः, एवं सर्वत्र, नवरं द्युतिर्दीप्तिः शरीराभरणादिप्रभवा, युतिर्वा युक्तिरिष्टपरिवारादिसंयोगलक्षणाऽनुभावोऽचिन्त्या वैक्रियकरणादिका शक्तिः लब्धा उपार्जिता जन्मान्तरे प्राप्ता इदानीमुपनतः, अभिसमन्वागतो भोग्यतां गतः । तदिति तस्मात्तान् भगवतः पूज्यमानान् वन्दे स्तुतिभिर्नमस्यामि प्रणामेन सत्करोमीत्यादरकरणेन वस्त्रादिना वा संमानयाम्युचितप्रतिपत्त्या कल्याणं मङ्गलं दैवतं चैत्यमिति बुद्ध्या पर्युपासे सेव इत्येकम् । (एस णं ति) एषोऽध्यक्षादिप्रत्यक्षीकृतः मानुष्यके भवे, वर्तमान इतिशेषः । मनुष्य इत्यर्थः । ज्ञानीति वा कृत्वा तपस्वीति वा कृत्वा, किमिति दुष्कराणां सिंहगुहाकायोत्सर्गकरणादीनां मध्ये दुष्करमतुरकपूर्वोपभुक्तप्रार्थनापरवेश्यामन्दिरवासाप्रकाममहाव्रतानुपालनादिकं करोतीति अतिदुष्करकारकः, स्थूलभद्रवत् , तस्मात् । (गच्छामि त्ति) पूर्वमेकवचननिर्देशेऽपीह पूज्यविवक्षया बहुवचनमिति । तान् दुष्करकारकान् भगवतो वन्दे इति द्वितीयम् । तथा-" मायाइ वा पियाइ वा भज्जाइ वा भइणीइ वा पुत्ताइ वा धूयाइ वा " इति । वाचस्त्वन्द्राद्विताः स्नुषा पुत्रनार्यः । तदिति तस्मात्तेषामन्तिके समीपे प्रादुर्भवामि प्रकटीभवामि । (ता मे त्ति) तावत् मे ममेति तृतीयम् ॥ स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

चउहिं ठाणेहिं अहुणोववण्णे णेरइए णिरयलोगंसि इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए णो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए ॥१॥ अहुणोववण्णे णेरइए णिरयलोगंसि समुब्भूयं वेयणं वेयमाणे इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए, णो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए ॥२॥ अहुणोववण्णे णेरइए णिरयलोगंसि णिरयपालेहिं भुज्जो भुज्जो अहिट्ठिज्जमाणे इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए, णो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए ॥३॥ अहुणोववण्णे णेरइए णिरयवेयणिज्जंसि कम्मंसि अक्खीणंसि अवेइयंसि अणिज्जिण्णंसि इच्छेज्जा, णो चेव णं संचाएइ, एवं णिरइया आउअंसि कम्मंसि अक्खीणंसि० जाव णो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए ॥४॥ इच्चेएहिं चउहिं ठाणेहिं अहुणोववण्णे णेरइए० जाव णो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए ॥५॥

अधुना श्रीसमाधसर्यावस्कशीवसाधिन्य तदाह-(चउहिं इत्यादि) सुगमं, केवलं (ठाणेहिं ति) कारणैः । (अहुणोववण्णे त्ति) अधुनोत्पन्नोऽचिरोत्पन्नो निरयोऽय इष्टमस्मादिति

निरयो नरकः,तत्र भवो नैरयिकः। तस्य चाऽनन्योत्पत्तिस्थानतां दर्शयितुमाह-निरयलोके तस्मादिच्छेन्मानुषाणामयं मानुषस्तं लोकं क्षेत्रविशेषं (हव्वं) शीघ्रमागन्तुं (नो चेव त्ति) नैव, 'णं' वाक्यालङ्कारे। (संचाएइ) सम्यक् शक्नोति आगन्तुं (समुब्भूयं ति) समुद्भूता अतिप्रबलतयोत्पन्ना। पाठान्तरेण-संमुच्छन्तीमेकहेलोत्पन्नाम्। पाठान्तरेण-समहतो महतो भवनं महद्भूतं तेन सह या सा समहद्भूता,तां समहद्भूतां वा वेदनां दुःखरूपां वेदयमानोऽनुभवन् इच्छेदिति मनुष्यलोकागमनेच्छायाः कारणेनदेव वाऽगतस्य,तीव्रवेदनाभिभूतो हि न शक्त आगन्तुमिति। तथा-निरयपालैरम्बादिभिः भूयोभूयः पुनःपुनरधिष्ठीयमानः समाक्रम्यमाण आगन्तुमिच्छेदित्यागमनेच्छाकारणमेतदेव चाऽऽगमनाशक्तिकारणं,नैरयिकाक्रान्तस्यागन्तुमशक्यत्वादिति। तथा-निरये वेद्यते अनुभूयते यद् निरयवेद्यं वा यद्वेदनीयम् अत्यन्ताशुभनामकर्मादि,असातवेदनीयं वा, तत्र कर्मणि अक्षीणे स्थित्या अवेदितेऽननुभूतानुभागतया अनिर्जीर्णे जीवप्रदेशेभ्योऽपरिशाटिते इच्छेन्मानुषं लोकमागन्तुं, न च शक्नोति अवश्यवेद्यकर्मनिगडयन्त्रितत्वादित्यागमनादावेतदेव कारणमिति। तथा-(एवमिति) "अहुणोववन्ने " इत्याद्यभिलापसंसूचनार्थः। निरयायुष्के कर्मणि अक्षीणे, यावत्करणात् 'अवेइए' इत्यादि दृश्यमिति निगमयन्नाह-(इच्चेएहिं ति)। इति एवंप्रकारैरेतैः प्रत्यक्षैरनन्तरोक्तत्वादिति। अनन्तरं नारकस्वरूपमुक्तम्। ते चासंयमोपार्जनकर्माणो दुःखमनुभवन्त इति ॥ स्था० ४ ठा० १ उ० ॥

अधुनोपपन्नो देवो देवलोकेषु—

चउहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए णो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए। तं जहा-अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववन्ने से णं माणुस्सए कामभोगे णो आढाइ, णो परियाणाइ, णो अट्ठं बंधइ, णो णियाणं पगरेइ,णो ठिइप्पगप्पं पगरेइ ॥१॥ अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए० ४ तस्स णं माणुस्सए पेम्मे वोच्छिन्ने दिव्वे संकंते भवइ ॥२॥ अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए० ४ तस्स णं एवं भवइ इयाणिं गच्छं मुहुत्तेणं गच्छं तेणं कालेणमप्पाउया मणुस्सा कालधम्मुणा संजुत्ता भवंति ॥३॥ अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए० ४ तस्स णं माणुस्सए गंधे पडिकूले पडिलोमे यावि भवइ, उड्ढं पि य णं माणुस्सए गंधे चत्तारि पंच जोयणसयाइं हव्वमागच्छइ ॥४॥ इच्चेएहिं चउहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए, णो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए।

[illegible] देवलोकेषु, देवमध्ये इत्यर्थः। (हव्वं) शीघ्रम् (संचाएइ) शक्नोति। कामभोगेषु मनोज्ञशब्दादिषु मूर्च्छित इव मूर्च्छितो मूढस्तत्स्वरूपस्यानित्यत्वादेर्विबोधाक्षमत्वात्, गृद्धः,तदाकाङ्क्षावान् अतृप्त इत्यर्थः। ग्रथित इव ग्रथितः,तद्विषयस्नेहरज्जुभिः संदर्भित इत्यर्थः। अध्युपपन्नोऽत्यन्ततन्मना इत्यर्थः। नाद्रियते-न तेष्वादरवान् भवति। न परिजानाति एतेऽपि वस्तुभूता इत्येवं न मन्यते-तथा तेष्विति गम्यते। नोऽर्थं प्रतिपद्यते-एतैरिदं प्रयोजनमिति निश्चयं करोति। तथा-नो तेषु निदानं प्रकरोति-एते मे भूयासुरित्येवमिति। तथा-नो तेषु स्थितिप्रकल्पमवस्थानविकल्पनम्-एतेष्वहं तिष्ठामि, एते वा मम तिष्ठन्तु स्थिरा भवन्त्वित्येवंरूपं स्थित्या वा मर्यादया प्रकृष्टः कल्प आचारः स्थितिप्रकल्पः,तं प्रकरोति कर्तुमारभते;प्रशस्तस्यादिकर्मार्थत्वादिति। एवं दिव्यविषयप्रसक्तिरेकं कारणं, तथा-यतोऽसावधुनोत्पन्नो देवः कामेषु मूर्च्छितादिविशेषणोऽतस्तस्य मानुष्यकमित्यादीति दिव्यप्रेमसंक्रान्तिर्द्वितीयम्। तथाऽसौ देवो यतो भोगेषु मूर्च्छितादिविशेषणो भवति ततस्तत्प्रतिबन्धात्। (तस्स णमित्यादीति) देवकार्यायत्ततया मनुष्यकार्यानायत्तत्वं तृतीयम्। तथा-दिव्यभोगमूर्च्छितादिविशेषणतयास्तस्य मनुष्याणामयं मानुष्यः, स एव मानुष्यको गन्धः प्रतिकूलो दिव्यगन्धविपरीतवृत्तिः प्रतिलोमश्चापि इन्द्रियमनसोरनाह्लादकत्वादकार्यो चैतावत्यन्तामनोज्ञताप्रतिपादनायोक्ताविति। यावदिति परिमाणार्थः। (चत्तारि पंचेति) विकल्पदर्शनार्थं कदाचिद्भरतादिष्वेकान्तसुषमादौ चत्वार्येव, अन्यदा तु पञ्चापि मनुष्यपञ्चेन्द्रियतिरश्चां बहुत्वेनौदारिकशरीराणां तदवयवतन्मलानां च बहुत्वेन दुरभिगन्धप्राचुर्यादिति। आगच्छति मनुष्यक्षेत्रादाजिगमिषुं देवं प्रतीति। इदञ्च मनुष्यक्षेत्रस्याशुभस्वरूपस्यमेवोक्तम्। न च देवोऽन्यो वा नवभ्यो योजनेभ्यः परत आगतं गन्धं जानातीति। अथवा मत एव वचनात् यदिन्द्रियविषयप्रमाणमुक्तं तदौदारिकशरीरेन्द्रियापेक्षयैव संभाव्यते, कथमन्यथा विमानेषु योजनलक्षाभिमानेषु दूरस्थिता देवा घण्टाशब्दं शृणुयुः, यदि परं प्रति शास्त्रकारेणान्यथा चेति नरभवाशुभत्वं चतुर्थमनागमनकारणमिति। एवं निगमनम्। स्था० ४ ठा० ३ उ०।

चउहिं ठाणेहिं अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए संचाएइ हव्वमागच्छित्तए। तं जहा-अहुणोववन्ने देवे देवलोगेसु कामभोगेसु अमुच्छिए० जाव अणज्झोववन्ने तस्स णं एवं भवइ-अत्थि खलु मम माणुस्सए भवे आयरिए इ वा उवज्झाए इ वा पवत्ती इ वा थेरे इ वा गणी इ वा गणहरे इ वा गणावच्छेए इ वा जेसिं पभावेणं मए इमा एयारूवा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवज्जुई लद्धा पत्ता अभिसमन्नागया तं गच्छामि णं, ते भगवंते वंदामि० जाव पज्जुवासामि। अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु० जाव अणज्झोववन्ने तस्स णमेवं भवइ, एस णं माणुस्सए भवे णाणी इ वा तवस्सी इ वा अइदुक्करदुक्करकारए तं गच्छामि णं ते भगवंते वंदामि० जाव पज्जुवासामि ॥२॥ अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु० जाव अणज्झोववन्ने तस्स

णमेवं भवइ, अत्थि णं मम माणुस्सए भवे मायाइ वा० जाव सुण्हाइ वा तं गच्छामि णं, तेसिमंतियं पाउब्भवामि, पासंतु ता मे इममेयारूवं दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवजुइं लद्धं पत्तं अभिसमन्नागयं ॥३॥ अहुणोववन्नो देवे देवलोएसु० जाव अणज्झोववन्ने तस्स णमेवं भवइ, अत्थि णं मम माणुस्सए भवे मित्तेइ वा सुहीइ वा सहाएइ वा संगइएइ वा तेसिं च णं अम्हे अन्नमन्नस्स संगारे पडिसुए भवइ, जो मे पुव्विं चयइ से संबोहियव्वे इच्चेएहिं० जाव संचाएइ ह-व्वमागच्छित्तए ॥ ४ ॥

आगमनकारणानि प्रायः प्राग्वत्, तथापि किञ्चिदुच्यते-कामभोगेष्वमूर्च्छितादिविशेषणो यो देवस्तस्य (एवमिति) एवंभूतं मनो भवति-पद्धत्ति अस्ति मे, किं तदित्याह-आचार्य इति वाऽऽचार्यः पञ्चप्रकारेण रूपप्रदर्शने, वा विकल्पे। एवमुत्तरत्रापि। क्वचिदिति-शब्दो न दृश्यते, तत्र सूत्रं सुगमसंबन्धि। इह चाचार्यः प्रतिबोधप्रव्राजकादिरनुयोगाचार्यो वा, उपाध्यायः सूत्रदाता, प्रवर्तयति सा-धूनाचार्योपदिष्टेषु वैयावृत्त्यादिष्विति प्रवर्ती, प्रवर्तिव्यापारितान् साधून् संयमयोगेषु सीदतः स्थिरीकरोतीति स्थविरो, गणोऽस्यास्तीति गणी, गणाचार्यो गणधरो वा जिनशिष्यविशेष आर्यिका-प्रतिजागरको वा साधुविशेषः, समयसिद्धान्तो गणस्यावच्छेदोऽस्यास्तीति गणावच्छेदकः। यो हि तं गृहीत्वा गच्छोपष्टम्भायैवोपधिमार्गणादिनिमित्तं विहरति (इमे त्ति) इयं प्रत्यक्षासन्ना एतद्रूपं रूपं यस्या न कालान्तरादावपि रूपान्तरभाक् सा, तथा दिव्या स्वर्गसंभवा प्रधाना वा देवर्द्धिर्विमानरत्नादिका द्युतिः। शरीरादिसम्भवा द्युतिर्वा युक्तिरिष्टपरिवारादिसंयोगलक्षणा लब्धा उपार्जिता जन्मान्तरे प्राप्तेदानीमुपगता, अभिसमन्वागता भोग्यावस्थां गता (तं ति) तस्मात् भगवतः पूज्यान् वन्दे स्तुतिभिर्नमस्यामि प्रणामेन सत्करोमि, आदरकरणेन वस्त्रादिना वा संमानयाम्युचितप्रतिपत्त्या कल्याणं मङ्गलं दैवतं चैत्यमिति बुद्ध्या पर्युपास्य सेवामीत्येकम्। तथा-ज्ञानेन सहज्ञानादिनेत्यादि द्वितीयम्। तथा-(मायाइ वा भज्जाइ वा भ-इणीइ वा सुण्हाइ वा धूयाइ वेति) यावत् शब्दाक्षेपः, स्नुषा पुत्रजायां (तं) तस्माद्गच्छामि अन्तिकं समीपं प्रादुर्भवामि प्रकटीभवामि (ता) तावत् (मे) मम इति पाठान्तरमिति तृतीयम्। तथा-मित्रं पश्चात् स्नेहवत् सखा वाल्यवयस्यः सुहृत्सख्यतो हितैषी सहायः सहचरस्तदेककार्यप्रवृत्तो वा, संगतं विद्यते यस्यासौ साङ्गतिकः परिचितस्तेषां (अम्हे त्ति) अस्माभिः (अन्नमन्नस्स त्ति) अन्योन्यं (संगारे त्ति) संकेतः प्रतिश्रुतोऽभ्युपगतो भवति स्मेति। (जो मे त्ति) योऽस्माकं पूर्वं च्यवते देवलोकात्स संबोधयितव्य इति चतुर्थम्। इदं च मनुष्यभवे कृतसंकेतयोरेकस्य पूर्वलक्षादिजीविषु भवनपत्यादिषूत्पद्य च्युत्वा च भरतयोत्पन्नस्यान्यः पूर्वलक्षादि जीवित्वा सौधर्मादिषूत्पद्य संबोधनार्थं यदिहागच्छति तद्घटयामिति। इत्येतैरित्यादि नि-गमनमिति ॥ स्था० ४ ठा० ३ उ०।

अहे-अधस्-दिग्भेदे, नि० चू० १० उ०। भ०। 'अहे णं से अम्माणियरं' अथ चैतत्, णमिति वाक्यालङ्कारे। स्था० ३ ठा० १ उ०। आचा०। अथ-अव्य०। प्रथार्थे, भ० १ श० ६ उ०।

अनुमानानुक्षेपे, नियोगे च। स०।

अहेउ-अहेतु-पुं०। यथोक्तहेतुप्रतिपक्षे, स०। अनुमानानुत्थापके हेत्वाभासे, स्था०।

पंच अहेऊ पण्णत्ता। तं जहा-अहेउं ण जाणइ० जाव अहेउछउमत्थमरणं मरइ ॥ ६ ॥ पंच अहेऊ पण्णत्ता। तं जहा-अहेउणा न जाणइ० जाव अहेउणा छउमत्थमरणं मरइ ॥ ७ ॥ पंच अहेऊ पण्णत्ता। तं जहा-अहेउं जाणइ० जाव अहेउकेवलिमरणं मरइ ॥ ८ ॥

तथा पञ्चाऽहेतवो यः प्रत्यक्षज्ञानादितयाऽनुमानानपेक्षः स धूमादिकमहेतुनाऽयं हेतुर्मनानुमानोत्पादक इत्ययं जानातीत्यतो हेतुभूतं तं जानन्नहेतुरेवासावुच्यते। एवं दर्शनबोधाभिसमागमापेक्षयाऽपि तदेवमहेतुचतुष्टयं छद्मस्थमाश्रित्य देशनिषेधत आह-(अहेतुमिति) धूमादिकं हेतुमहेतुभावेन न जानाति न सर्वथाऽवगच्छति, कथञ्चिदेवावगच्छतीत्यर्थः। नञो देशनिषेधार्थत्वात्, ज्ञातुश्छाद्मस्थ्यादिकेवलित्वेनानुमानाव्यवहर्तृत्वादित्येकोऽयमहेतुर्देशप्रतिषेधत उक्तः। एवमहेतुत्वा धूमादिकं न पश्यतीति द्वितीयः। न बुध्यते न श्रद्धत्ते इति तृतीयः। नाभिसमागच्छतीति चतुर्थः। तथा-अहेतुमध्यवसानादिहेतुनिरपेक्षं निरुपक्रमतया छद्मस्थमरणमनुमानव्यवहर्तृत्वेऽप्यकेवलित्वात्तस्यायं च स्वरूपत एव पञ्चमो हेतुरुक्तः। तथा-पञ्चाहेतवो योऽहेतुना हेत्वज्ञानेनावध्यादिकेवलित्वात् जानात्यसावहेतुरेवेत्येवं पश्यतीत्यादयोऽपि। एवं च छद्मस्थमाश्रित्य पदचतुष्टयेनाहेतुचतुष्टयं देशप्रतिषेधत आह। तथाऽहेतुनोपक्रमाभावेन छद्मस्थमरणं म्रियत इति पञ्चमोऽहेतुः स्वरूपत एव उक्तः। ६। तथा-पञ्चाहेतवोऽहेतुं न हेतुभावेन विकल्पितं धूमादिकं जानाति केवलितया योऽनुमानाव्यवहारित्वात्सोऽहेतुरेव। एवं यः पश्यतीत्यादि। तथा अहेतुं निर्हेतुकमनुपक्रमत्वात् केवलिमरणमनुमानाव्यवहारित्वाद् म्रियते चास्यपञ्चमः। एते पञ्चापीह स्वरूपत उक्ताः। ७। एव तृतीयासावहेतुः पञ्चमः। ८। गमनिकामात्रमेतत्, तत्त्वं तु बहुश्रुता विदन्तीति ॥ स्था० ५ ठा० १ उ०। न विद्यते हेतुरस्येति, अनाद्यपर्यवसिते नित्ये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। भ०।

अहेउवाय-अहेतुवाद-पुं०। हिनोति गमयत्यर्थमिति हेतुः, तद्व्यतिरिक्तोऽर्थोऽपि हेतुः, तं वदति य आगमः स हेतुवादः। यस्तु वस्तुस्वरूपप्रतिपादकत्वेऽपि तद्विपरीतोऽसावहेतुवादः। दृष्टिवादादन्यस्मिन्, सम्म०।

(दुविहो धम्मावाओ, अहेउवाओ य हेउवाओ य)।
तत्थ उ अहेउवाओ, भवियाभवियादओ भावा ॥ १४० ॥

भव्याभव्यस्वरूपप्रतिपादक आगमः, तद्विभागप्रतिपादके भव्यत्वाद्यागमः। नह्ययं भव्योऽयमभव्य इत्यत्रागमादेः प्रमाणान्तरस्याप्रवृत्तेः। नह्ययं भव्योऽयमभव्य इत्यत्र तु तद्विभागप्रमाणेन प्रमाणान्तरप्रवृत्तिसंभवः। असदाद्यपेक्षया न तु तद्विभागप्रतिपादकं वचो यथार्थमर्हद्वचनत्वात्, अनेकान्तागमवस्तुप्रतिपादकवचोवदित्यनुमानात् तद्विभागप्रतिपत्तेस्तद्व्यतिरेकेण प्रतिपत्ता। न। एवमप्यागमादेव तद्विभागप्रतिपत्तेः। अर्हदागमस्य च प्रमाणान्तरस्य तत्प्रतिपत्तिनिबन्धनस्याभावात्।

[illegible]

अप्पुरीयणए देवे देवत्त उव—

[illegible]

सेसेसु. देवमणे इत्यर्थः। (दर्भ) दर्भिस (संथारए) दर्भोपरि। कल्लालेसु मवेहमत्ता तेसु मुंडेण हव मुंडेणो मुहलवन-काम्पानिकरोगविरोषाव्यवाद ... इत्यर्थः। अपि च कविच अविग्रहेषु ... सएमिन इत्यर्थः। ... इत्यर्थः। ... लंगा-इत्यत् भवति। न वरिक्रोमाति परेऽपि ... इत्येव न मन्ये-गण्य लेखिते नत्यते। ... प्रतिकल्पानि-... मर्म-ज्ञमिति निरन्तरं करोति। तथा—यो तेषु निराले प्रकरोति-यो मे सुबन्धुरोगेऽस्मिनि। तथा—यो तेषु शिरोविनकामयोपयादि-कल्मनम-यो नाहं निष्क्रमि, यो च मम निष्क्रम्य स्थिता मानोऽ-न्येकरं विध्यया वा मर्यादया महाः कल माधारः विरो-प्रकृत्यतं प्रकरोति कर्तुमारलेः प्रयात्वचादिकमर्यादिति। एवं निरविषयमसिरेकं करणं, तथा—यदोऽभावपुणो यो देवः कामेषु मूर्छितः पारविरोषणोऽमलदम्भानुष्यकाभिमानि-विप्रेमकारिताडीयम। तथाऽसौ देवो यतो भोगेषु मूर्छि-तादिविशेषणो भवति ततस्तस्यति कथात्। (तस्य आभियोगि-कि) देवकल्यावलत्वात मनुष्यकायोनायत्वं नृपीवम। तथा—वि-ज्ञ भोगमूर्छितं पादिविशेषणायात्वस्य मनुष्याणामयं मानुष्य, स च मानुष्यको मत्यः प्रतिकूलो विश्वमधविपरीतपूर्वः प्रति-लोमप्रमाण ... प्रमत्तो ... ... विनायाप्रमाणमलो-च सर्वविनाशनायो ... । पावादिति परिमाणार्थे। (अपर्याप्त) ... विकलवर्तीनां कडास्विप्रलादिके कालापमारी भ-वति, अन्यदा नु तस्मात् मनुष्याप्रे विग्रहविल्लो बहुलेनो-पूरिकारी ताली तथवनयस्याप्रालो न बहुलेन पुर्वाग्रय-प्रापुन्नोति। ... मनुष्यसंजापासिमिति देवं प्रतीति। ... मनुष्यशेषस्य शुभलक्षणम्भवसंयोगस। न च देवोऽन्यो वा ... आगतो आगनो न ... गतवात् जानातीति। तथा तथ ... कामपालनसमन्वितः तत्रीदारिकशरीरे विग्र-... दीयं संप्राप्तेन, कदाचन्यदा विमानेषु ... सत्स्वपि ... सूरिनिवसा देवा ... यदि पर यदि ... ... सति ... मानुष्यकमनुपगतानामवतामिति। ... नियमवल्ल। स्था० ४ ठा० ३ उ०।

चउहिं ठाणेहिं अप्पुरीयणए देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा मा-णुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए, संचाएइ हव्वमागच्छित्तए। तं जहा—अप्पुरीयणए देवे देवलोगेसु कामभोगेसु अमुच्छि-ए ... अणज्झोववण्णे तस्स णं एवं भवइ—अत्थि खलु मम माणुस्सए भवे आयरिएइ वा उवज्झाएइ वा पवत्तीइ वा थेरेइ वा गणीइ वा गणहरेइ वा गणावच्छेएइ वा जेसिं पभावेणं मए इमा एयारूवा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देव-जुई लद्धा पत्ता अभिसमण्णागया तं गच्छामि णं ते भ-गवंते वंदामि णमंसामि सक्कारेमि। अप्पुरीयणए देवे देव-लोगेसु ... कामभोगेसु अमुच्छिए ... तस्स णं एवं भवइ—अत्थि णं इमम्मि माणुस्सए भवे णाणीइ वा तवस्सीइ वा अइदुक्करदुक्करकारए तं गच्छामि णं ते ... अप्पुरीयणए देवे देवलोगेसु अप्पुरीयणए ... तस्स

[illegible]

णमेवं भवइ, अत्थि णं मम माणुस्सए भवे मायाइ वा० जाव सुण्हाइ वा तं गच्छामि णं, तेसिमंतियं पाउब्भवामि, पासंतु ता मे इममेयारूवं दिव्वं देवड्ढिं दिव्वं देवजुइं लद्धं पत्तं अभिसमण्णागयं ॥३॥ अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु० जाव अणज्झोववन्ने तस्स णमेवं भवइ, अत्थि णं मम माणुस्सए भवे मित्तेइ वा सुहीइ वा सहाएइ वा संगइएइ वा तेसिं च णं अम्हे अण्णमण्णस्स संगारे पडिसुए भवइ, जो मे पुव्विं चयइ से संबोहियव्वे इच्चेएहिं० जाव संचाएइ हव्वमागच्छित्तए ॥ ४ ॥

आगमनकारणानि प्रायः प्रागवत्, तथापि किञ्चिदुच्यते-कामभोगेष्वमूर्च्छितादिविशेषणो यो देवस्तस्य (एवमिति) एवंभूतं मनो [illegible]

[illegible]

[illegible]

आचार्योऽनुयोगाचार्यो वा, उपाध्यायः सूत्रदाता, प्रवर्त्तयति साधूनाचार्योपदिष्टेषु वैयावृत्यादिष्विति प्रवर्त्ती, प्रवर्त्तिव्यापारितान् साधून् संयमयोगेषु सीदतः स्थिरीकरोतीति स्थविरः, गणोऽस्यास्तीति गणी, गणाचार्यो गणधरो वा जिनशिष्यविशेष आर्यिकाप्रतिजागरको वा साधुविशेषः, समयसिद्धान्तो गणस्यावच्छेदोऽस्यास्तीति गणावच्छेदकः। यो हि तं गृहीत्वा गच्छोपष्टम्भायैवोपधिमार्गणादिनिमित्तं विहरति (इमे त्ति) इयं प्रत्यक्षासन्ना पतद्देव रूपं यस्या न कालान्तराद्यपि रूपान्तरमाप्ता सा, तथा दिव्या स्वर्गसंभवा प्रधाना वा देवर्द्धिर्विमानरत्नादिका द्युतिः। शरीरादिसम्भवा द्युतिर्वा युतिरिष्टपरिवारादिसंयोगलक्षणा लब्धा उपार्जिता जन्मान्तरे प्राप्तेदानीमुपगता, अभिसमन्वागता भोग्यावस्थां गता (तं ति) तस्मात् भगवतः पूज्यान् वन्दे स्तुतिभिर्नमस्यामि प्रणामेन सत्करोमि, आदरकरणेन वस्त्रादिना वा संमानयाम्युचितप्रतिपत्त्या कल्याणं मङ्गलं दैवतं चैत्यमिति बुद्ध्या पर्युपास्य सेवामीत्येकम् । तथा-ज्ञाने श्रुतज्ञानादिनेत्यादि द्वितीयम्। तथा-(मायाइ वा भज्जाइ वा भइणीइ वा धूयाइ वा सुण्हाइ वेति) यावत् शब्दात्, स्नुषा पुत्रभार्या (तं) तस्मात्तेषामन्तिकं समीपं प्रादुर्भवामि प्रकटीभवामि (ता) तावत् (मे) मम इति पाठान्तरमिति तृतीयम् । तथा-मित्रं पश्चात् स्नेहवत् सखा बाल्यवयस्यः सुहृत्सखाऽसौ हितैषी सहायः सहचरस्तदेककार्यप्रसूतो वा, संगतं विद्यते यस्यासौ साङ्गतिकः परिचितस्तेषां (अम्हे त्ति) अस्माभिः (अण्णमण्णस्स त्ति) अन्योन्यं (संगारे त्ति) संकेतः प्रतिश्रुतोऽभ्युपगतो भवति स्मेति। (जो मे त्ति) योऽस्माकं पूर्वं च्यवते देवलोकात्स संबोधयितव्य इति चतुर्थम्। इदं च मनुष्यभवे कृतसंकेतयोरेकस्य पूर्वभवलब्धादिर्ज्ञेयेषु भवनपत्यादिष्वपच्युत्य च मनुष्योपपन्नस्यान्यः पूर्वसत्त्वादि जीवित्वा सौधर्मादिष्वपच्य संबोधनार्थं यदिहागच्छति तद्वर्णयमिति । इच्चेतेहित्यादि निगमनमिति ॥ स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

अहे-अधस्-त्रिभेदे, नि० चू० १७ उ० । स० ।

अध-अव्य० । मतार्थे, भ० १ श० ३ उ० । 'अहे णं से समाणियं'

अथ चैतत्, णमिति वाक्यालङ्कारे स्था० ३ ठा० १ उ० । आचा० । स्पे, निपोगे च । स० ।

अहेउ-अहेतु-पुं० । यथोक्तहेतुप्रतिपक्षे, स० । अनुमानानुत्थापके हेत्वाभासे, स्था० ।

पंच अहेऊ पण्णत्ता । तं जहा-अहेउं ण जाणइ० जाव अहेउछउमत्थमरणं मरइ ॥ ६ ॥ पंच अहेऊ पण्णत्ता । तं जहा-अहेउणा न जाणइ० जाव अहेउणा छउमत्थमरणं मरइ ॥ ७ ॥ पंच अहेऊ पण्णत्ता । तं जहा-अहेउं जाणइ० जाव अहेउकेवलिमरणं मरइ ॥ ८ ॥

तथा पञ्चाऽहेतवो यः प्रत्यक्षज्ञानादित्वादनुमानानपेक्षः स धूमादिकमहेतुनाऽयं हेतुमनुमानोत्थापक इत्येवं जानाती- त्यतो हेतुभूतं तं ज्ञानमहेतुरित्युच्यते । एवं दर्शनबोधाभिसमागमापेक्षयाऽपि मद्यमहेतुमनुष्यं [illegible] विशेषेण आह-(अहेतुमिति) धूमादिकं हेतुमहेतुभावेन न जानाति न सर्वथाऽवगच्छति, [illegible] [illegible] देशविशेषकत्वात्, [illegible] [illegible] [illegible] द्वितीयः । न बुध्यते न [illegible] इति तृतीयः । नाभिसमागच्छतीति चतुर्थः । तथा-अहेतुम [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] तथा-पञ्चाहेतवो योऽहेतुना [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हेतुलोपकमाभावेन [illegible] म्रियत इति पञ्चमोऽहेतु [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] स्था० ५ ठा० १ उ० । न विद्यते हेतु [illegible] [illegible] सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । अ० ।

अहेउवाय-अहेतुवाद-पुं० । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] सम्म० ।

(दुविहो धम्मवाओ, अहेउवाओ य हेउवाओ य)।
तत्थ उ अहेउवाओ, भवियाऽभवियादओ भावा ॥१४०॥

[illegible]

निरयो नरकः,तत्र भवो नैरयिकः। तस्य चाऽनन्योत्पत्तिस्थानतां दर्शयितुमाह-निरयलोके नरकादिल्लक्षणमानुषाणामयं मानुषस्तं लोकं शीघ्रमागन्तुं (इच्छं) शीघ्रमागन्तुं (नो चेव त्ति) नैव, 'णं' वाक्यालङ्कारे। (संचाएइ) सम्यक् शक्नोति आगन्तुं (समुन्भूयं ति) समुद्भूता भविष्यमनवेदनया। पाठान्तरेण-संमुच्छनुणामेकाह-मात्रकाम्। पाठान्तरेण-महतो महती भवनं महद्भूतं तेन सह या सा समहद्भूता, तां समहद्भूतां वा वेदनां दुःखरूपां वेदयमानोऽनुभवन् इच्छेदिति मनुष्यलोकागमनेच्छायाः कारणमेतदेव वाऽऽगन्तुं, शीघ्रवेदनाभिभूतो हि न शक्नोति आगन्तुमिति। तथा-निरयपालैः धर्मादिभिः भूयोभूयः पुनःपुनरधिष्ठीयमानः समाक्रम्यमाणः आगन्तुमिच्छेदित्यागमनेच्छाकारणमेतदेव चाऽऽगमनाशक्तिकारणं, नैरयिकपालाक्रान्तस्यागन्तुमशक्तत्वादिति। तथा-निरये वेदने अनुभूयते यत् निरयवेद्यं वा यद्वेदनीयम् अत्यन्ताशुभमसातं हि,असातवेदनीयं वा, तत्र कर्मणि अक्षीणे स्थितवा अवेदिते अननुभूतानुभागतया अनिर्जीर्णे जीवप्रदेशेभ्योऽपरिशाटिते इच्छेन्मानुषं लोकमागन्तुं, न च शक्नोति अवश्यवेद्यकर्मनिगडबन्धनस्यान्यत्रागमनाशक्तत्वाद् एष कारणमिति। तथा-(एवमिति) "अहुणोववन्ने " इत्याद्यभिलापसंसूचनार्थः। निरयायुष्के कर्मणि अक्षीणे, आयुष्काभावात् 'अवेद' इत्यादि द्रष्टव्यमिति निगमयन्नाह-(इच्चेएहिं ति)। इति एवंप्रकारैरेतैः प्रत्यक्षैरनन्तरोक्तत्वादिति। अनन्तरं नारकस्वरूपमुक्तमाले चासंबोधतः नरकादिति प्रत्यासत्तेः इति ॥ स्था० ४ ठा० १ उ० ॥

अहुणोववण्णो देवो देवलोएसु—

चउहिं ठाणेहिं अहुणोववण्णे देवे देवलोगेसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए णो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए। तं जहा-अहुणोववण्णे देवे देवलोगेसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववण्णे से णं माणुस्सए कामभोगे णो आढाइ, णो परियाणाइ, णो अट्ठं बंधइ, णो णियाणं पगरेइ,णो ठिइपगप्पं पगरेइ ॥१॥ अहुणोववण्णे देवे देवलोएसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए० ४ तस्स णं माणुस्सए पेम्मे वोच्छिण्णे दिव्वे संकंते भवइ ॥२॥ अहुणोववण्णे देवे देवलोएसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए० ४ तस्स णं एवं भवइ इयण्हिं गच्छं मुहुत्तेणं गच्छं तेणं कालेणमप्पाउया मणुस्सा कालधम्मुणा संजुत्ता भवंति ॥३॥ अहुणोववण्णे देवे देवलोएसु दिव्वेसु कामभोगेसु मुच्छिए० ४ तस्स णं माणुस्सए गंधे पडिकूले पडिलोमे यावि भवइ, उड्ढं पि य णं माणुस्सए गंधे जाव चत्तारि पंच जोयणसयाइं हव्वमागच्छइ ॥४॥ इच्चेएहिं चउहिं ठाणेहिं अहुणोववण्णे देवे देवलोएसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए, णो चेव णं संचाएइ हव्वमागच्छित्तए।

दिव्यस्वर्गे सूत्र [illegible] ... [illegible] ... [illegible] देव

लोकेषु, देवमध्ये इत्यर्थः। (हव्वं) शीघ्रम् (संचाएइ) शक्नोति। कामभोगेषु मनोज्ञशब्दादिषु मूर्च्छित इव मूर्च्छितो मूढस्तत्स्वरूपस्यानित्यत्वादेर्विवेकाक्षमत्वात् गृद्धः,तदाकाङ्क्षावान् अतृप्त इत्यर्थः। ग्रथित इव ग्रथितः,तद्विषयस्नेहरज्जुभिः संदर्भित इत्यर्थः। अध्युपपन्नोऽत्यन्ततन्मना इत्यर्थः। नाद्रियते-न तेष्वादरवान् भवति। न परिजानाति एतेऽपि वस्तुतया इत्येवं न मन्यते-तथा तेष्वीति गम्यते। नोऽर्थं प्रतिपद्नाति-एतैर्मे प्रयोजनमिति निश्चयं करोति। तथा-नो तेषु निदानं प्रकरोति-एते मे भूयासुरित्येवमिति। तथा-नो तेषु स्थितिप्रकल्पमवस्थानविकल्पनम्-एतेष्वहं तिष्ठामि, एते वा मम तिष्ठन्तु स्थिरा भवन्त्वित्येवंरूपं स्थित्या वा मर्यादया प्रकृष्टः कल्प आचारः स्थितिप्रकल्पः,तं प्रकरोति कर्तुमारभते,ममागमनस्यादिकर्मार्थत्वादिति। एवं दिव्यविषयप्रसक्तिरेकं कारणं, तथा-यतोऽसावधुनोत्पन्नो देवः कामेषु मूर्च्छितादिविशेषणोऽतस्तस्य मानुष्यकामित्यादि दिव्यप्रेमसंक्रान्तिर्द्वितीयम्। तथाऽसौ देवो यतो भोगेषु मूर्च्छितादिविशेषणो भवति ततस्तत्प्रतिबन्धात्। (तस्स णमित्यादि) देवकार्यापन्नतया मनुष्यकार्यानायत्तत्वं तृतीयम्। तथा-दिव्यभोगमूर्च्छितादिविशेषणत्वात्तस्य मनुष्याणामयं मानुष्यः, स एव मानुष्यको गन्धः प्रतिकूलो दिव्यगन्धविपरीतवृत्तिः प्रतिलोमश्चापि इन्द्रियमनसोरनाह्लादकत्वादकार्यो चैतावस्यतामनोज्ञताप्रतिपादनायोक्तावित्ति। यावदिति परिमाणार्थः। (चत्तारि पंचेति) विकल्पदर्शनार्थं कदाचिदरतादिष्वेकान्तसुषमादौ चत्वार्येव, अन्यदा तु पञ्चापि मनुष्यपश्चेन्द्रियतिरश्चां बहुत्वेनोच्चारप्रस्रवणशरीराणां तदवयवजन्मज्ञानां च बहुत्वेन दुरभिगन्धबाहुल्यादिति। आगच्छति मनुष्यदेशाद्राजिताभिमुखं देवं प्रतीति। इदञ्च मनुष्यक्षेत्रस्याशुभस्वरूपस्याभिधेयोक्तम्। न च देवोऽन्यो वा भवन्त्यां योजनेभ्यः परत आगतं गन्धं जानातीति। अथवा अत एव वचनात् यदिन्द्रियविषयप्रमाणमुक्तं तदौदारिकशरीरेन्द्रियापेक्षयैव संभाव्यते, कथमन्यथा विमानेषु योजनलक्षप्रमाणेषु दूरस्थिता देवा घण्टाशब्दं शृणुयुः यदि पर अति [illegible] शरीरेणान्यथा वेति अरमनाशुभमन्यं चतुर्थमनागमनकारणमिति। शेषं निगमनम्। स्था० ४ ठा० ३ उ०।

चउहिं ठाणेहिं अहुणोववण्णे देवे देवलोएसु इच्छेज्जा माणुसं लोगं हव्वमागच्छित्तए संचाएइ हव्वमागच्छित्तए। तं जहा-अहुणोववण्णे देवे देवलोगेसु कामभोगेसु अमुच्छिए० जाव अणज्झोववण्णे तस्स णं एवं भवइ-अत्थि खलु मम माणुस्सए भवे आयरिए वा उवज्झाए वा पवत्ती वा थेरे वा गणी वा गणहरे वा गणावच्छेए वा जेसिं पभावेणं मए इमा एयारूवा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवजुई लद्धा पत्ता अभिसमण्णागया तं गच्छामि णं, ते भगवंते वंदामि० जाव पज्जुवासामि। अहुणोववण्णे देवे देवलोएसु० जाव अणज्झोववण्णे तस्स णं एवं भवइ, एस णं माणुस्सए भवे णाणीइ वा तवस्सीइ वा अइदुक्करदुक्करकारए, तं गच्छामि णं ते भगवंते वंदामि० जाव पज्जुवासामि ॥२॥ अहुणोववण्णे देवे देवलोएसु० जाव अणज्झोववण्णे तस्स

णमेवं जवइ, अत्थि णं मम माणुस्सए जवे मायाइ वा० जाव सुण्हाइ वा तं गच्छामि णं, तेसिमंतियं पाउब्भवामि, पासंतु ता मे इममेयारूवं दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवजुइं लद्धं पत्तं अभिसमणागयं ॥३॥ अहुणोववन्ने देवे देवलोएसु० जाव अणज्झोववन्ने तस्स णमेवं भवइ, अत्थि णं मम माणुस्सए भवे मित्तेइ वा सुहीइ वा सहाएइ वा संगइएइ वा तेसिं च णं अम्हे अण्णमण्णस्स संगारे पडिसुए जवइ, जो मे पुव्विं चयइ से संबोहियव्वे इच्चेएहिं० जाव संचाएइ हव्वमागच्छित्तए ॥ ४ ॥

आगमनकारणानि प्रायः प्राग्वत्, तथापि किञ्चिदुच्यते-कामभोगेष्वमूर्च्छितादिविशेषणो यो देवस्तस्य (एवमिति) एवंभूतं मनो भवति-यदुत अस्ति मे, किं तदित्याह-आचार्य इति वाऽऽचार्य एतदस्ति, इति रूपप्रदर्शने, वा विकल्पे। एवमुत्तरत्रापि। क्वचिदितिशब्दो न दृश्यते, तत्र सूत्रं सुगममेवेति। इह चाचार्यः प्रतिबोधकप्रव्राजकादिरनुयोगाचार्यो वा, उपाध्यायः सूत्रदाता, प्रवर्त्तयति साधूनाचार्योपदिष्टेषु वैयावृत्त्यादिष्विति प्रवर्त्ती, प्रवर्त्तिव्यापारितान् साधून् संयमयोगेषु सीदतः स्थिरीकरोतीति स्थविरो, गणोऽस्यास्तीति गणी, गणाचार्यो गणधरो वा जिनशिष्यविशेष आर्यिकाप्रतिजागरको वा साधुविशेषः, समयसिद्धान्तो गणस्यावच्छेदोऽस्यास्तीति गणावच्छेदकः। यो हि तं गृहीत्वा गच्छोपष्टम्भायैवोपधिमार्गणादिनिमित्तं विहरति (इमे त्ति) इयं प्रत्यक्षासन्ना एतदेव रूपं यस्या न कालान्तरादावपि रूपान्तरमाप्नोति सा, तथा दिव्या स्वर्गसंभवा प्रधाना वा देवर्द्धिर्विमानरत्नादिका द्युतिः। शरीरादिसम्भवा द्युतिर्वा युक्तिरिष्टपरिवारादिसंयोगलक्षणा लब्धा उपार्जिता जन्मान्तरे प्राप्तेदानीमुपगता, अभिसमन्वागता भोग्यावस्थां गता (तं ति) तस्माद्भगवतः पूज्यान् वन्दे स्तुतिभिर्नमस्यामि प्रणामेन सत्करोमि, आदरकरणेन वस्त्रादिना वा संमानयाम्युचितप्रतिपत्त्या कल्याणं मङ्गलं दैवतं चैत्यमिति बुद्ध्या पर्युपास्य सेवामीत्येकम्। तथा-ज्ञानं श्रुतज्ञानादिनेत्यादि द्वितीयम्। तथा-(मायाइ वा भज्जाइ वा भइणीइ वा पुत्ताइ वा धूयाइ वेति) यावत् शब्दाक्षेपः, स्नुषा पुत्रभार्या (तं) तस्मात्तेषामन्तिकं समीपं प्रादुर्भवामि प्रकटीभवामि (ता) तावत् (मे) मम इति पाठान्तरमिति तृतीयम्। तथा-मित्रं पश्चात् स्नेहवत् सखा बाल्यवयस्यः सुहृत्सज्जनो हितैषी सहायः सहचरस्तदेककार्यप्रवृत्तो वा, संगतं विद्यते यस्यासौ साङ्गतिकः परिचितस्तेषां (अम्हे त्ति) अस्माभिः (अण्णमण्णस्स त्ति) अन्योन्यं (संगारे त्ति) संकेतः प्रतिश्रुतोऽभ्युपगतो भवति स्मेति। (जो मे त्ति) योऽस्माकं पूर्वं च्यवते देवलोकात्स संबोधयितव्य इति चतुर्थम्। इदं च मनुष्यभवे कृतसंकेतयोरेकस्य पूर्वतरादिजीवितेषु भवनपत्यादिषूत्पद्य च्युत्वा च नरतयोत्पन्नस्यान्यः पूर्वतरादि जीवित्वा सौधर्मादिषूत्पद्य संबोधनार्थं यदिहागच्छति तदवसेयमिति। इत्येतैरित्यादि निगमनमिति ॥ स्था० ४ ठा० ३ उ०।

अहे-अधम्-दिग्भेदे, नि० चू० १० उ०। भ०।

अध-अध०। अधार्थे, भ० १ श० ६ उ०। 'अहे णं से धम्मामियरं'

अथ चैतत्, णमिति वाक्यालङ्कारे। स्था० ३ ठा० १ उ०। आचा०। शेषे, नियोगे च। स०।

अहेउ-अहेतु-पुं०। यथोक्तहेतुप्रतिपक्षे, स०। अनुमानानुत्थापके हेत्वाभासे, स्था०।

पंच अहेऊ पण्णत्ता। तं जहा-अहेउं ण जाणइ० जाव अहेउछउमत्थमरणं मरइ ॥ ६ ॥ पंच अहेऊ पण्णत्ता। तं जहा-अहेउणा न जाणइ० जाव अहेउणा छउमत्थमरणं मरइ ॥ ७ ॥ पंच अहेऊ पण्णत्ता। तं जहा-अहेउं जाणइ ०जाव अहेउकेवलिमरणं मरइ ॥ ८ ॥

तथा पञ्चाऽहेतवो यः प्रत्यक्षज्ञानादित्वादनुमानानपेक्षः स धूमादिकमहेतुनाऽयं हेतुर्ममानुमानोत्थापक इत्येवं जानाति स्वतो हेतुभूतं तं जानन्नहेतुरेवासावुच्यते। एवं दर्शनबोधाभिसमागमापेक्षयाऽपि तदेवमहेतुचतुष्टयं छद्मस्थमाश्रित्य देशनिषेधत आह-(अहेतुमिति) धूमादिकं हेतुमहेतुभावेन न जानाति न सर्वथाऽवगच्छति, कथञ्चिदेवावगच्छतीत्यर्थः। नञो देशनिषेधार्थत्वात्, छद्मस्थत्वादिकं वा लिङ्गेनानुमानावयवहेतुत्वादित्येकोऽयमहेतुरेतन्निषेधेन कृतः। एवमहेतुं कृत्वा धूमादिकं न पश्यतीति द्वितीयः। न बुध्यते न श्रद्धत्ते इति तृतीयः। नाभिसमागच्छतीति चतुर्थः। तथा-अहेतुमरणं अध्यवसानादिहेतुनिरपेक्षं निरुपक्रमतया छद्मस्थमरणमनुमानप्रवृत्त्यनर्हत्वेऽप्यकेवलित्वात् स्वार्थं च स्वरूपेण एव पञ्चमो हेतुरुक्तः। तथा-पञ्चाहेतवो योऽहेतुना हेतुभावेनावयवादिकं वा लिङ्गात् जानात्यसावहेतुरेवेत्येवं पश्यतीत्यादयोऽपि। एवं च छद्मस्थमाश्रित्य पदचतुष्टयेनाहेतुचतुष्टयं देशनिषेधेन आह। तथाऽहेतुनोपक्रमाभावेन छद्मस्थमरणं म्रियत इति पञ्चमोऽहेतुः स्वरूपत एवोक्तः ६। तथा-पञ्चाहेतवोऽहेतुं अहेतुभावेन निश्चितं धूमादिकं जानाति केवलितया योऽनुमानाव्यवहारित्वात्सोऽहेतुरेव। एवं यः पश्यतीत्यादि। तथा अहेतुं निर्हेतुकमनुपक्रमत्वात् केवलिमरणमनुमानाव्यवहारित्वात् म्रियते चासावहेतुः पञ्चमः। एते पञ्चापीह स्वरूपत उक्ताः ७ एवं पूर्वोक्तान्तसूत्रमप्यनुसर्त्तव्यमिति ८। नवरं निकायमात्रमेतत्, तत्त्वं तु बहुश्रुता विदन्तीति ॥ स्था० ५ ठा० १ उ०। न विद्यते हेतुरस्येति, यथाऽपर्यवसिते नित्ये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। भ०।

अहेउवाय-अहेतुवाद-पुं०। हिनोति गमयत्यर्थमिति हेतुः, तस्यापरिच्छेद्योऽप्यर्थोऽपि हेतुः, तं वदति च आगमः स हेतुवादः। यस्तु वस्तुस्वरूपप्रतिपादकत्वेऽपि तद्विपरीतोऽसावहेतुवादः। इत्यादावन्यस्मिन्, सम्म०।

(दुविहो धम्मावाओ, अहेउवाओ य हेउवाओ य)।
तत्थ उ अहेउवाओ, भवियाभवियादओ भावा ॥ १४० ॥

सव्याभव्यस्वरूपप्रतिपादक आगमः, न हि हेत्वन्तरप्रतिपादके अध्यक्षादेः प्रमाणान्तरस्य प्रवृत्तिः। अतएव अयमुद्धस्य [illegible] प्रमाणेन प्रमाणान्तरप्रवृत्तिसंभवः भव्यादावेव स तु [illegible] प्रतिपादकं वचो यथार्थमर्हद्वचनत्वात्, [illegible] इदं च [illegible] [illegible] प्रमाणान्तरस्य [illegible]

पन्यार्थसंवादनिबन्धनतत्प्रणीतत्वविशेषेऽनुमानतोऽतीन्द्रियार्थविषये प्रामाण्यं निश्चित्य स्वयमुपगम्यत एव । आगमनिरपेक्षस्य तु प्रमाणान्तरस्याप्यहेतुवादस्तत्र प्रवृत्तिं विघ्न इत्येतावता अहेतुवादत्वमेव निरपागमस्योच्यते इति वचनव्यापारं केवलमेवोपायं क्रमः । यदा तु ज्ञानदर्शनचारित्रत्रितये यथा तदनुष्ठानप्रवृत्तस्यादृष्टकस्य पुरुषः प्रतीयते, तदाऽनुमानगम्योऽपि तद्विनाशो भवति । यथा भव्योऽभव्यो वाऽयं पुरुषः, सम्यग्ज्ञानादिपरिपूर्णत्वान्यथा, लोकप्रसिद्धभव्यादिपुरुषवत् । अहेतुवादागमात्मके धर्मिणि भव्याभव्यस्वरूपे तद्विपरीतनिरूपणो हेतुवादः, प्रकृते योऽयमागमे भव्यादिरभिहितः स तथैव, यथोक्तहेतुग्रहणादिति । आह-

भविओ सम्मदंसण-णाणचारित्तपडिवत्तिसंपन्नो ।
णियमा दुक्खंतकडो, त्ति लक्खणं हेउवायस्स ॥१४१॥

भव्योऽयं सम्यग्दर्शनचारित्रप्रतिपत्तिसंपूर्णत्वात्, तत्पुरुषवत्, सम्यक्पूर्णत्वादेव नियमाद्भवान्तदुःखानां करिष्यति, कर्मसंबन्धस्य [illegible] विनाशमनुभविष्यति, भविष्यत्वाभिव्यक्त्यादिप्रतिपक्षत्वस्य तत्प्रतीतत्वात्, व्याधिनिदाननिवृत्त्याचरणप्रवृत्तव्याधितोऽनुरूपवत्, यः पुनर्न सम्यग्निरवशेषसम्यक्त्वयुक्तो दुःखान्तकृत् भविष्यति, [illegible] तथाविधाऽऽतुरवद् इति हेतुवादस्य लक्षणम् । हेतुवादः प्रायो दृष्टिवादस्य द्रव्यानुयोगात्, 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इत्यादेरनुमानादिगम्यत्वात् [illegible] । यथाऽनुमानादिगम्यत्वात् तथा [illegible] मेह प्रदर्शने, प्रत्यक्षत्वात् ॥ सम्म० ३ काण्ड ।

अहेकम्म-अधःकर्मन्-न० । विशुद्धसंयमस्थानेभ्यः प्रतिपत्याऽधःस्तनेषु विशुद्धसंयमस्थानेषु यदधोऽधः करोति तदधःकर्म । सू० ४ उ० । [illegible] । दश० १ अ० । [illegible] संयमादिस्थानेऽधोऽधस्तनगमने, पिं० । आधाकर्मणि, पिं० । ('अहेकम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भाग १०१ पृष्ठेऽस्य व्याख्या)

अहेकाय-अधःकाय-पुं० । [illegible], सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

अहेगारवपरिणाम-अधोगौरवपरिणाम-पुं० । [illegible] भवति, [illegible], आ० ७ ठ० ।

अहेचर-अधश्चर-पुं० । [illegible], आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० ।

अहेवाय-अधोवात-पुं० । [illegible], प्रज्ञा० १ पद ।

अहेसंभूत-[illegible]-त्रि० । [illegible] ।

अहेसंपन्न-[illegible]-त्रि० । [illegible] । आचा० १ श्रु० ८ अ० ५ उ० ।

अहेसत्तमा-अधःसप्तमी-स्त्री० । तमस्तमायां पृथिव्याम्, अधोग्रहणं विना सप्तमी उपरिष्टाच्चिन्त्यमाना रत्नप्रभाऽपि स्यादित्यधोग्रहणम् । " अहेसत्तमाए पुढवीए " स्था० २ ठा० ४ उ० ।

अहो-अहो-अव्य० । न हा-को । शोके, धिगर्थे, विषादे, दयायाम्, सम्बोधने, प्रशंसायाम्, वितर्के, असूयायां च । वाच० । विस्मये, पा० म० प्र० । दश० । भ० । स्था० । उत्त० । सूत्र० । आश्चर्ये, अष्ट० १८ अष्ट० । प्रति० । आचा० । विपा० । दैन्ये, आमन्त्रणे च । ग० २ अधि० । अनु० । सूत्र० ।

अहोकरण-अधःकरण-न० । अधोऽधस्तादात्मनः करणम् । कलहे, नि० चू० १० उ० ।

अहोकाय-अधःकाय-पुं० । अधस्तात्कायोऽधः कायः । पादे, आव० ३ अ० ।

अहोणिस-अहर्निश-न० । अहोरात्रे, " णिरये णेरइयाणं अहोणिसं पच्चमाणाणं " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

अहोतरण-अधस्तरण-न० । अधोऽधस्तादवतारभूमिगृहनिवेशवत् इव करणमधःकरणम् । कलहे, नि० चू० १० उ० ।

अहोदाण-अहोदान-न० । विस्मयनीये दाने, " अहोदाणं घुटुं" अहो इति विस्मये, विस्मयनीयमिदं दानं कोऽन्यो दाता ! । उत्त० २ अ० । कल्प० । आ० म० । अहोदानस्यायमर्थः-एवं दीयते एवं हि दत्तं भवतीति । आव० १ अ० ।

अहोदिसिवय-अधोदिग्व्रत-न० । दिगधोऽधोदिक्, तत्संबन्धि, तस्या वा व्रतमधोदिग्व्रतम् । एतावती दिगध इत्यादिरूपमधोव्रतम् [illegible] नाऽऽरूढा इत्येवंरूपे दिग्व्रतभेदे, आव० ६ अ० ।

अहोभागि (ण्)-अधोभागिन्-त्रि० । अधस्ताद् भागिनि, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

अहोरत्त-अहोरात्र-पुं० । त्रिंशन्मुहूर्तात्मके, ज्यो० २ पाहु० । जं० । कर्म० । भ० । दिवसरात्र्युभयात्मके, सू० प्र० १० पाहु० । सूत्र० । विशे० । अनु० । आ० म० । उत्त० । स्था० । कालभेदे, भ० । "तिविहे अहोरत्ते पन्नत्ते, पडुप्पन्ने, अणागए" । स्था० ३ ठा० ४ उ० । अहोरात्रे, आ० चू० १ अ० । आ० म० । (विस्तरतोऽयं 'काल' शब्दे तृतीयभागे वक्ष्यते)

अहोराइया-अहोरात्रिकी-स्त्री० । त्रिभिर्दिवसैर्या प्रतिमा । अहोरात्रपर्यन्ते षष्ठभक्तकरणात् प्रतिमाभेदे, दशा० १० अ० । [illegible] "अहोराइयं णं भिक्खुपडिमं सम्मं अणुपालेमाणस्स [illegible] पाणिस्स ठाणं ठाइत्तए, सेसं तं चेव जाव अणुपालिया भवइ" आ० चू० ४ अ० ।

अहोलोय-अधोलोक-पुं० । लोकस्य केवलिदृष्टस्य [illegible] ते इति लोकः । अधोव्यवस्थितो लोकोऽधोलोकः । अथवा-ऽध-शब्दोऽशुभपर्यायः, तत्र च क्षेत्रानुभावाद् बाहुल्येनाऽशुभ एव परिणामो द्रव्याणां [illegible] येनाऽसौ अशुभो लोकोऽधोलोकः ॥

अहवा अहो परिणामो, खेत्ताणुभावेण जेण उस्सणं ।

असुनो अहोवि भणिओ, दव्वाणं तेणऽहोलोगो त्ति ॥

लोकभेदे, स च अस्यां रत्नप्रभायां बहुसमभूभागे मेरुमध्ये नभः प्रतरद्वयस्य प्रदेशो रुचकः, समस्थितस्य च प्रतरद्वयस्य मध्ये ... कस्मादधस्तनप्रतरादारभ्याधोऽभिमुखं नवयोजनशतानि परित्यज्य परतः सातिरेकसप्तरज्ज्वायतोऽधोलोकः । अनु० । चमरोद्देशके, भग० १ श० । स्था० । प्रज्ञा० । आ० म० । अधोलौकिकेषु ग्रामेषु, नं० । "अहोलोएणं चत्तारि वि सरीरा अहोलोए णं सत्त पुढवीओ पण्णत्ताओ, सत्त घणोदहीओ पण्णत्ताओ, सत्त घणवाया पण्णत्ताओ, सत्त तणुवाया पण्णत्ताओ, सत्त उवासंतरा पण्णत्ता, एएसु णं सत्तसु उवासंतरेसु सत्त तणुवाया पइट्ठिया, एएसु णं सत्तसु तणुवाएसु सत्त घणवाया पइट्ठिया, एएसु घणवाएसु सत्त घणोदही पइट्ठिया, एएसु णं सत्तसु घणोदहीसु पिंडलगपिहुलसंठाणसंठियाओ सत्त पुढवीओ पण्णत्ताओ । तं जहा–पढमा० जाव सत्तमा" । स्था० ७ ठा० ।

अहोवाय–अधोवात–पुं० । अधो गच्छन् यो याति वातः सोऽधोवातः । प्रज्ञा० १ पद । अधोनिमज्जति वायुभेदे, आ० १ ॥ अपानजे वायौ च । जीत० । आ० म० ।

अहोवियड–अधोविकट–त्रि० । अधः कुड्यादिरहिते, परि तद्भावे च । आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

अहोविहार–अहोविहार–पुं० । अहो इत्याश्चर्ये, विहारः । आश्चर्यभूतोऽहोविहारः संयमानुष्ठाने, "समुट्ठियविहारए" आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

अहोसिर–अधःशिरस्–त्रि० । अधोमुखे, "अहोसिरा जायंति" अधोमुखाः कण्टकाः भवन्तीति चतुर्देशोऽतिशयः । स० ३४ सम० । अधोमस्तके, दश० २१ ... आणू अहोसिरे" अधोमुखो नोर्द्धं तिर्यग्वा विक्षिप्तदृष्टिः नियतभूभागनियमितदृष्टिः । दश० १ अ० । विपा० । ... भ० । म० । औ० । पं० व० । नि० ।

अहोहि–अधोऽवधि–पुं० । परमावधेरधोवर्त्त्यवधिर्योऽधोवधिः । परमावधेरधोवर्त्त्यवधियुक्ते, दश० । स्था० ।

अहोहिय–यथावधि–त्रि० । योऽवधिरस्ति ... नियतक्षेत्रविषयावधिज्ञानिनि, स्था० ६ ठा० ९ उ० ।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय–कलिकालसर्वज्ञ–

श्रीमद्भट्टारक–जैनश्वेताम्बराचार्य श्रीश्री १००८ श्री–

विजयराजेन्द्रसूरिविरचिते अभिधानराजेन्द्रे

हस्वाऽकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।

॥ समाप्तश्चायं प्रथमो भागः ॥